॥ श्रीहरिः ॥

कल्याण

भक्त-चरिताङ्क

छब्बीसवें वर्षका विशेषाङ्क
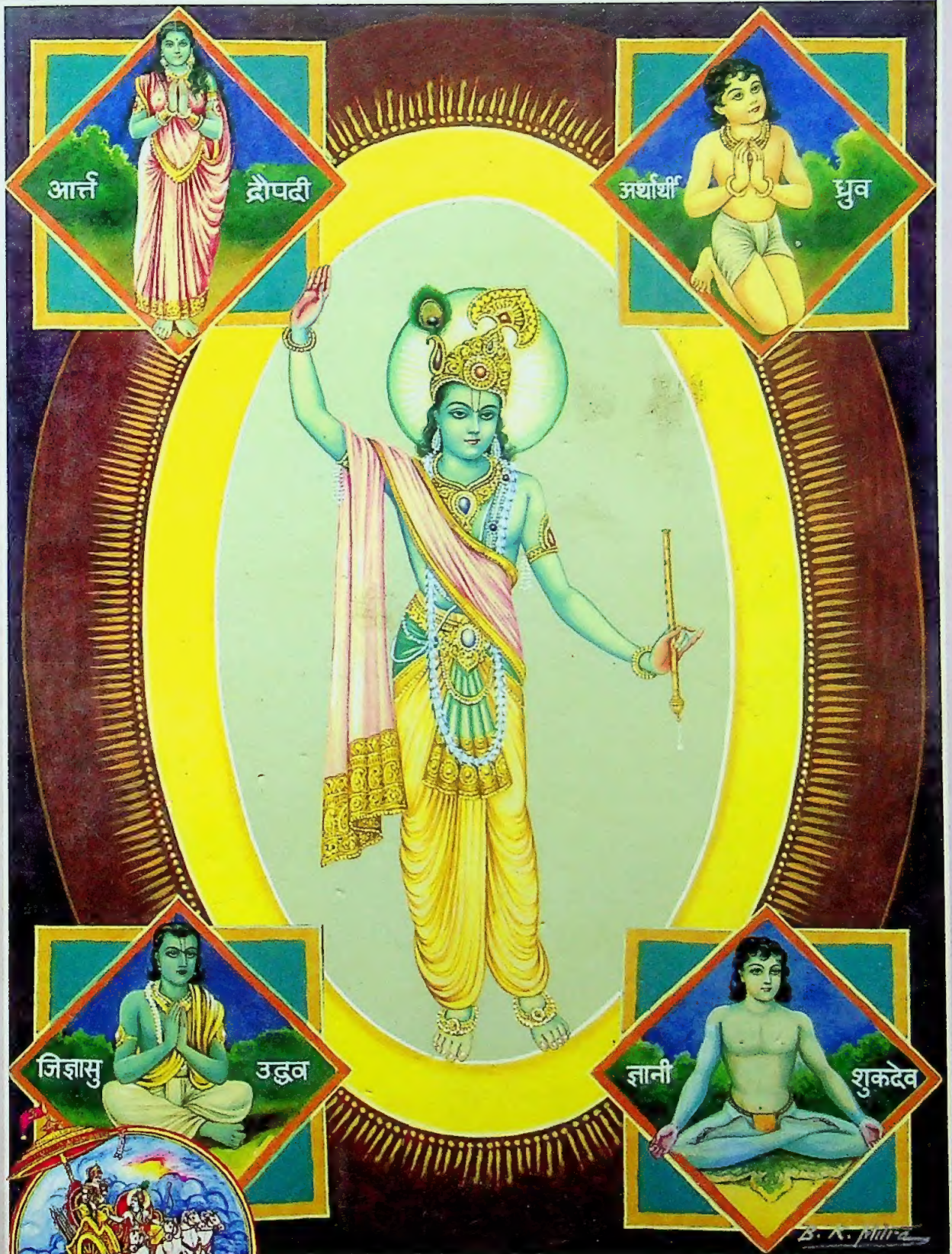
गीताप्रेस, गोरखपुर

गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित 'कल्याण' के पुनर्मुद्रित विशेषाङ्क

1184 श्रीकृष्णाङ्क
749 ईश्वराङ्क
635 शिवाङ्क
41 शक्ति-अङ्क
616 योगाङ्क
627 संत-अङ्क
604 साधनाङ्क
1104 भागवताङ्क
1002 सं० वाल्मीकीय रामायणाङ्क
44 संक्षिप्त पद्मपुराण
539 संक्षिप्त मार्कण्डेयपुराण
1111 संक्षिप्त ब्रह्मपुराण
43 नारी-अङ्क
659 उपनिषद्-अङ्क
518 हिन्दू-संस्कृति-अङ्क
279 सं० स्कन्दपुराणाङ्क
40 भक्त-चरिताङ्क
573 बालक-अङ्क
1183 सं० नारदपुराण
667 संतवाणी-अङ्क
587 सत्कथा-अङ्क
636 तीर्थाङ्क
660 भक्ति-अङ्क
1133 सं० देवीभागवत-मोटा टाइप
574 संक्षिप्त योगवासिष्ठ
789 सं० शिवपुराण-(मोटा टाइप)

[चरित्र

प्रथम खण्ड]

दुर्गति-नाशिनि दुर्गा जय जय, काल-विनाशिनि काली जय जय।
उमा-रमा-ब्रह्माणी जय जय, राधा-सीता-रुक्मिणि जय जय॥
साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, जय शंकर।
हर हर शंकर दुखहर सुखकर अघ-तम-हर हर हर शंकर॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जय जय दुर्गा, जय मा तारा। जय गणेश, जय शुभ-आगारा॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। गौरीशंकर सीताराम॥
जय रघुनन्दन जय सियाराम। व्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम॥
रघुपति राघव राजाराम। पतितपावन सीताराम॥

सं० २०६८ चौदहवाँ पुनर्मुद्रण ५,०००

कुल मुद्रण ६६,०००

❖ **मूल्य—१६० रु०**
(एक सौ साठ रुपये)

ISBN 81-293-0113-X

भक्त-वाणी

जो लोग अपना सर्वस्व लूटनेवाले छः (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर या श्रोत्र, चक्षु, नासा, जिह्वा, त्वचा और मन—) डाकुओंपर तो पहले विजय नहीं प्राप्त करते और ऐसा मान बैठते हैं कि हमने दसों दिशाओंको जीत लिया है, वे मूर्ख हैं। वस्तुत: जिस ज्ञानी और जितेन्द्रिय महात्माको समस्त प्राणियोंके प्रति समता प्राप्त हो जाती है, उसीके अपने अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले काम-क्रोधादि शत्रु मरते हैं। फिर उसके बाहरके शत्रु तो रहते ही कहाँसे! (वास्तवमें वही सच्चा विजयी है।)

—भक्त प्रह्लाद

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

सम्पादक—हनुमानप्रसादजी पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम० ए०, शास्त्री
केशोराम अग्रवालद्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

e-mail : **booksales@gitapress.org** | website : **www.gitapress.org** | © (0551) 2334721

॥ श्रीहरिः ॥

नम्र निवेदन

भक्तवाञ्छा-कल्पतरु भगवान् श्रीहरिको अपने भक्त अतिशय प्रिय हैं। अतएव भगवान्के नाते ही उनके प्यारे भक्त प्रातःस्मरणीय और नित्य वन्दनीय हैं। '*भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥*'—श्रीरामचरितमानसकी इस उक्तिके अनुसार भगवान्के भक्त चाहे किसी भी कुल, गोत्र और जातिके क्यों न हों, उन परम प्रभुको वे सभी अपने प्राणोंके समान ही प्रिय हैं। भगवान्का यह उद्घोष अपने भक्तोंके प्रति अगाध प्रेम, भक्तवत्सलता और भक्तोंकी महिमाका प्रबल परिचायक है।

भगवद्भक्तोंकी ऐसी महिमा और महानताको सादर नमन करते हुए गीताप्रेसद्वारा वर्षों पूर्व (सन् १९५२ ई०में) 'कल्याण' के छब्बीसवें वर्षके विशेषाङ्कके रूपमें 'भक्त-चरिताङ्क' प्रकाशित किया गया था, जो अत्यधिक लोकप्रिय हुआ। वस्तुतः भक्तोंके पावन चरित्र स्वयंमें मूर्तिमान् उपदेश हैं। यह विशेषाङ्क भगवान्के प्रति भक्तोंकी अनन्य निष्ठा, निष्काम प्रेम, स्वाभाविक त्याग और सर्वस्व समर्पणसहित उनके आदर्श और अनुकरणीय चरित्रोंका बृहत् संकलन है। इन मङ्गलमय चरित्रोंके अध्ययन-अनुशीलनसे श्रद्धालु भावुक पाठकोंके हृदयपर भगवद्भक्तिसहित परमात्मप्रेमकी अमिट छाप पड़ती है।

बहुत समयसे 'कल्याण' के प्रेमी पाठकों और भगवत्प्रेमी महानुभावोंद्वारा इस विशेषाङ्कके पुनर्मुद्रणके लिये विशेषरूपसे निरन्तर प्रेमाग्रह था। तदनुसार इस प्रेमानुरोधको सहज भावसे स्वीकार करते हुए इससे पहले भी इसके कुछ पुनर्मुद्रित संस्करण प्रकाशित किये जा चुके हैं। इस निरन्तरताको आगे भी बनाये रखनेके उद्देश्यसे अब वही 'भक्त-चरिताङ्क' ग्रन्थाकारमें आप सभी श्रद्धालु पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत है।

इसमें पौराणिक (पुरातन) कालसे लेकर अबतकके प्रायः सभी सुप्रसिद्ध भगवद्भक्तोंके संक्षिप्त चरित्र-चित्रणसहित अनेक विदेशी भक्तों और ईश्वर-विश्वासी महापुरुषोंके प्रेरणादायी जीवन-प्रसङ्गोंका भी बृहत् संकलन है। ये भगवद्भक्तों, ईश्वरोपासकों और संत-महात्माओंके जीवनकी ऐसी मधुर, शिक्षाप्रद और भगवद्विश्वासको बढ़ानेवाली विभिन्न, विचित्र भावपूर्ण सरस कथाएँ हैं, जो मानव-मनको प्रेम, भक्ति और करुणाके सुधारससे अनायास अभिभूत (सराबोर) कर देती हैं।

भगवान्के भक्तोंका स्मरण और उनके नामोंका उच्चारणमात्र भी अन्तःकरणको पवित्र और भगवान्में सहज प्रीति उत्पन्न करनेवाला है। अतएव रोचक, ज्ञानप्रद और निरन्तर अनुशीलनयोग्य इन भक्तगाथाओंके अधिकाधिक अध्ययनद्वारा सभी जिज्ञासुओं, भगवद्भक्तों और प्रेमी पाठकोंको विशेष (आध्यात्मिक) लाभ उठाना चाहिये।

विनीत—
प्रकाशक

॥ श्रीहरिः॥

'भक्त-चरिताङ्क' की विषय-सूची

नोट—अकारादि क्रमसे भक्तोंकी अनुक्रमणिका पृष्ठ-संख्या ७ से ११ तकमें दी गयी है।

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ-सं०

कविता

संगृहीत

अकारादि क्रमसे—भक्तोंकी अनुक्रमणिका

आरती

(रचयिता—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, आचार्य)

जय लक्ष्मी-विष्णो!

जय लक्ष्मी-नारायण जय लक्ष्मी-विष्णो । जय माधव जय श्रीपति जय जय जय जिष्णो॥ १॥ जय०
जय चम्पा-सम-वर्णे जय नीरदकान्ते । जय मन्द-स्मित-शोभे जय अद्भुत-शान्ते॥ २॥ जय०
कमल वराभयहस्ते शंखादिकधारिन् । जय कमलालयवासिनि गरुडासनचारिन्॥ ३॥ जय०
सच्चिन्मयकरचरणे सच्चिन्मयमूर्ते । दिव्यानन्दविलासिनि जय सुखमयमूर्ते॥ ४॥ जय०
तुम त्रिभुवनकी माता तुम सबके त्राता । तुम लोकत्रय-जननी तुम सबके धाता॥ ५॥ जय०
तुम धन-जन-सुख-सन्तति-जय देनेवाली । परमानन्द-विधाता तुम हो वनमाली॥ ६॥ जय०
तुम हो सुमति घरोंमें तुम सबके स्वामी । चेतन और अचेतनके अन्तर्यामी॥ ७॥ जय०
शरणागत हूँ मुझपर कृपा करो माता । जय लक्ष्मी-नारायण नव-मङ्गल-दाता॥ ८॥ जय०
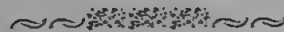
ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

यत्कृष्णप्रणिपातधूलिधवलं तद्वर्ष्म तद्वच्छुभं नेत्रे चेत्तपसोर्जिते सुरुचिरे याभ्यां हरिर्दृश्यते।
सा बुद्धिर्विमलेन्दुशङ्खधवला या माधवव्यापिनी सा जिह्वा मृदुभाषिणी नृप मुहुर्या स्तौति नारायणम्॥

—नारद

वर्ष २६ } गोरखपुर, सौर माघ २००८, जनवरी १९५२ { संख्या १ पूर्ण संख्या ३०२

भक्त-भक्ति-भगवान्‌की वन्दना

ये मुक्तावपि निःस्पृहाः प्रतिपदप्रोन्मीलदानन्ददां
यामास्थाय समस्तमस्तकमणिं कुर्वन्ति यं स्वे वशे।
तान् भक्तानपि तां च भक्तिमपि तं भक्तिप्रियं श्रीहरिं
वन्दे सन्ततमर्थयेऽनुदिवसं नित्यं शरण्यं भजे॥

जो मुक्तिकी भी परवा नहीं करते, उन भक्तोंकी मैं निरन्तर वन्दना करता हूँ; जो पद-पदपर बढ़नेवाले आनन्दका स्रोत बहाती है और जिसका आश्रय लेकर भक्तलोग सबके मुकुटमणि भगवान्‌को अपने वशमें कर लेते हैं, उस भक्तिकी ही मैं प्रतिदिन याचना करता हूँ; और जिन्हें वह भक्ति अत्यन्त प्रिय है, उन शरणागतवत्सल भगवान् श्रीहरिका मैं नित्य भजन करता हूँ।

श्रीनारदीयभक्तिसूत्राणि

अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः॥ १॥
सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा॥ २॥
अमृतस्वरूपा च॥ ३॥
यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति॥ ४॥
यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति॥ ५॥
यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति॥ ६॥
सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात्॥ ७॥
निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः॥ ८॥
तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च॥ ९॥
अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता॥ १०॥
लोके वेदेषु तदनुकूलाचरणं तद्विरोधिषूदासीनता॥ ११॥
भवतु निश्चयदार्ढ्यादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणम्॥ १२॥
अन्यथा पातित्याशङ्कया॥ १३॥
लोकोऽपि तावदेव किन्तु भोजनादिव्यापारस्त्वाशरीरधारणावधि॥ १४॥
तल्लक्षणानि वाच्यन्ते नानामतभेदात्॥ १५॥
पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः॥ १६॥
कथादिष्विति गर्गः॥ १७॥
आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः॥ १८॥
नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति॥ १९॥
अस्त्येवमेवम्॥ २०॥
यथा व्रजगोपिकानाम्॥ २१॥
तत्रापि न माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः॥ २२॥
तद्विहीनं जाराणामिव॥ २३॥
नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुखसुखित्वम्॥ २४॥
सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा॥ २५॥
फलरूपत्वात्॥ २६॥
ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च॥ २७॥
तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके॥ २८॥
अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये॥ २९॥
स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः॥ ३०॥
राजगृहभोजनादिषु तथैव दृष्टत्वात्॥ ३१॥
न तेन राजपरितोषः क्षुधाशान्तिर्वा॥ ३२॥
तस्मात्सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः॥ ३३॥
तस्याः साधनानि गायन्त्याचार्याः॥ ३४॥
तत्तु विषयत्यागात् सङ्गत्यागाच्च॥ ३५॥
अव्यावृतभजनात्॥ ३६॥
लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्तनात्॥ ३७॥
मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा॥ ३८॥
महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च॥ ३९॥
लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव॥ ४०॥
तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्॥ ४१॥
तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम्॥ ४२॥
दुःसङ्गः सर्वथैव त्याज्यः॥ ४३॥
कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाशसर्वनाशकारणत्वात्॥ ४४॥
तरङ्गायिता अपीमे सङ्गात्समुद्रायन्ति॥ ४५॥
कस्तरति कस्तरति मायाम्? यः सङ्गांस्त्यजति यो महानुभावं सेवते, निर्ममो भवति॥ ४६॥
यो विविक्तस्थानं सेवते, यो लोकबन्धमुन्मूलयति, निस्त्रैगुण्यो भवति, योगक्षेमं त्यजति॥ ४७॥
यः कर्मफलं त्यजति, कर्माणि संन्यस्यति, ततो निर्द्वन्द्वो भवति॥ ४८॥
वेदानपि संन्यस्यति, केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते॥ ४९॥
स तरति स तरति स लोकांस्तारयति॥ ५०॥
अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्॥ ५१॥
मूकास्वादनवत्॥ ५२॥
प्रकाशते क्वापि पात्रे॥ ५३॥
गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्॥ ५४॥
तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति॥ ५५॥
गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा॥ ५६॥
उत्तरस्मादुत्तरस्मात्पूर्वपूर्वा श्रेयाय भवति॥ ५७॥
अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ॥ ५८॥
प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात् स्वयंप्रमाणत्वात्॥ ५९॥
शान्तिरूपात्परमानन्दरूपाच्च॥ ६०॥
लोकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्मलोकवेदत्वात्॥ ६१॥
न तदसिद्धौ लोकव्यवहारो हेयः किन्तु फलत्यागस्तत्साधनं च कार्यमेव॥ ६२॥
स्त्रीधननास्तिकवैरिचरितं न श्रवणीयम्॥ ६३॥
अभिमानदम्भादिकं त्याज्यम्॥ ६४॥
तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम्॥ ६५॥
त्रिरूपभङ्गपूर्वकं नित्यदासनित्यकान्ताभजनात्मकं वा प्रेमैव कार्यम्, प्रेमैव कार्यम्॥ ६६॥
भक्ता एकान्तिनो मुख्याः॥ ६७॥
कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च॥ ६८॥
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि॥ ६९॥
तन्मयाः॥ ७०॥
मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति॥ ७१॥
नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः॥ ७२॥
यतस्तदीयाः॥ ७३॥
वादो नावलम्ब्यः॥ ७४॥
बाहुल्यावकाशादनियतत्वाच्च॥ ७५॥
भक्तिशास्त्राणि मननीयानि तदुद्बोधककर्माण्यपि करणीयानि॥ ७६॥
सुखदुःखेच्छालाभादित्यक्ते काले प्रतीक्ष्यमाणे क्षणार्द्धमपि व्यर्थं न नेयम्॥ ७७॥
अहिंसासत्यशौचदयास्तिक्यादिचारित्र्याणि परिपालनीयानि॥ ७८॥
सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तितैर्भगवानेव भजनीयः॥ ७९॥
स कीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवति अनुभावयति च भक्तान्॥ ८०॥
त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी॥ ८१॥
गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्तिपूजासक्तिस्मरणासक्तिदास्यासक्तिसख्यासक्तिकान्तासक्तिवात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्तितन्मयतासक्तिपरमविरहासक्तिरूपा एकधाप्येकादशधा भवति॥ ८२॥
इत्येवं वदन्ति जनजल्पनिर्भया एकमताः कुमारव्यासशुकशाण्डिल्यगर्गविष्णुकौण्डिन्यशेषोद्धवारुणिबलिहनुमद्विभीषणादयो भक्त्याचार्याः॥ ८३॥
य इदं नारदप्रोक्तं शिवानुशासनं विश्वसिति श्रद्धत्ते स प्रेष्ठं लभते स प्रेष्ठं लभत इति॥ ८४॥

श्रीशाण्डिलीयभक्तिसूत्राणि

अथातो भक्तिजिज्ञासा॥ १॥
सा परानुरक्तिरीश्वरे॥ २॥
तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशात्॥ ३॥
ज्ञानमिति चेन्न द्विषतोऽपि ज्ञानस्य तदसंस्थितेः॥ ४॥
तयोपक्षयाच्च॥ ५॥
द्वेषप्रतिपक्षभावाद्रसशब्दाच्च रागः॥ ६॥
न क्रिया कृत्यनपेक्षणाज्ज्ञानवत्॥ ७॥
अत एव फलानन्त्यम्॥ ८॥
तद्वतः प्रपत्तिशब्दाच्च न ज्ञानमितरप्रपत्तिवत्॥ ९॥
सा मुख्येतरापेक्षितत्वात्॥ १०॥
प्रकरणाच्च॥ ११॥
दर्शनफलमिति चेन्न तेन व्यवधानात्॥ १२॥
दृष्टत्वाच्च॥ १३॥
अत एव तदभावाद्वल्लवीनाम्॥ १४॥
भक्त्या जानातीति चेन्नाभिज्ञप्त्या साहाय्यात्॥ १५॥
प्रागुक्तं च॥ १६॥
एतेन विकल्पोऽपि प्रत्युक्तः॥ १७॥
देवभक्तिरितरस्मिन् साहचर्यात्॥ १८॥
योगस्तूभयार्थमपेक्षणात् प्रयाजवत्॥ १९॥
गौण्या तु समाधिसिद्धिः॥ २०॥
हेया रागत्वादिति चेन्नोत्तमास्पदत्वात् सङ्गवत्॥ २१॥
तदेव कर्मिज्ञानियोगिभ्य आधिक्यशब्दात्॥ २२॥
प्रश्ननिरूपणाभ्यामाधिक्यसिद्धेः॥ २३॥
नैव श्रद्धा तु साधारण्यात्॥ २४॥
तस्यां तत्त्वे चानवस्थानात्॥ २५॥
ब्रह्मकाण्डं तु भक्तौ तस्यानुज्ञानाय सामान्यात्॥ २६॥
बुद्धिहेतुप्रवृत्तिराविशुद्धेरवघातवत्॥ २७॥
तदङ्गानां च॥ २८॥
तामैश्वर्यपरां काश्यपः परत्वात्॥ २९॥
आत्मैकपरां बादरायणः॥ ३०॥
उभयपरां शाण्डिल्यः शब्दोपपत्तिभ्याम्॥ ३१॥
वैषम्यादसिद्धमिति चेन्नाभिज्ञानवदवैशिष्ट्यात्॥ ३२॥
न च क्लिष्टः परः स्यादनन्तरं विशेषात्॥ ३३॥
ऐश्वर्यं तथेति चेन्न स्वाभाव्यात्॥ ३४॥
अप्रतिषिद्धं परैश्वर्यं तद्भावाच्च नैवमितरेषाम्॥ ३५॥
सर्वानृते किमिति चेन्नैवम्बुद्ध्यानन्त्यात्॥ ३६॥
प्रकृत्यन्तरालादवैकार्यं चित्सत्त्वेनानुवर्तमानात्॥ ३७॥
तत्प्रतिष्ठा गृहपीठवत्॥ ३८॥
मिथोऽपेक्षणादुभयम्॥ ३९॥
चेत्याचितोर्न तृतीयम्॥ ४०॥
युक्तौ च सम्परायात्॥ ४१॥
शक्तित्वान्नानृतं वेद्यम्॥ ४२॥
तत्परिशुद्धिश्च गम्या लोकवल्लिङ्गेभ्यः॥ ४३॥
सम्मानबहुमानप्रीतिविरहेतरविचिकित्सामहिमख्यातितदर्थप्राणस्थानतदीयतासर्वतद्भावाप्रातिकूल्यादीनि च स्मरणेभ्यो बाहुल्यात्॥
द्वेषादयस्तु नैवम्॥ ४५॥
तद्वाक्यशेषात् प्रादुर्भावेष्वपि सा॥ ४६॥
जन्मकर्मविदश्चाजन्मशब्दात्॥ ४७॥
तच्च दिव्यं स्वशक्तिमात्रोद्भवात्॥ ४८॥
मुख्यं तस्य हि कारुण्यम्॥ ४९॥
प्राणित्वान्न विभूतिषु॥ ५०॥
द्यूतराजसेवयोः प्रतिषेधाच्च॥ ५१॥
वासुदेवेऽपीति चेन्नाकारमात्रत्वात्॥ ५२॥
प्रत्यभिज्ञानाच्च॥ ५३॥
वृष्णिषु श्रैष्ठ्येन तत्॥ ५४॥
एवं प्रसिद्धेषु च॥ ५५॥
भक्त्या भजनोपसंहाराद्गौण्या परायैतद्धेतुत्वात्॥ ५६॥
रागार्थप्रकीर्त्तिसाहचर्याच्चेतरेषाम्॥ ५७॥
अन्तराले तु शेषाः स्युरुपास्यादौ च काण्डत्वात्॥ ५८॥
ताभ्यः पावित्र्यमुपक्रमात्॥ ५९॥
तासु प्रधानयोगात् फलाधिक्यमेके॥ ६०॥
नाम्नेति जैमिनिः सम्भवात्॥ ६१॥
अत्राङ्गप्रयोगाणां यथाकालसम्भवो गृहादिवत्॥ ६२॥
ईश्वरतुष्टेरेकोऽपि बली॥ ६३॥
अबन्धोऽर्पणस्य मुखम्॥ ६४॥
ध्याननियमस्तु दृष्टसौकर्यात्॥ ६५॥
तद्यजिः पूजायामितरेषां नैवम्॥ ६६॥
पादोदकं तु पाद्यमव्याप्तेः॥ ६७॥
स्वयमर्पितं ग्राह्यमविशेषात्॥ ६८॥
निमित्तगुणाव्यपेक्षणादपराधेषु व्यवस्था॥ ६९॥
पत्रादेर्दानमन्यथा हि वैशिष्ट्यम्॥ ७०॥
सुकृतजत्वात् परहेतुभावाच्च क्रियासु श्रेयस्यः॥ ७१॥
गौणं त्रैविध्यमितरेण स्तुत्यर्थत्वात् साहचर्यम्॥ ७२॥
बहिरन्तरस्थमुभयमवेष्टिसर्ववत्॥ ७३॥
स्मृतिकीर्त्त्योः कथादेश्चार्तौ प्रायश्चित्ताभावात्॥ ७४॥
भूयसामननुष्ठितिरिति चेदाप्रयाणमुपसंहारान्महत्स्वपि॥ ७५॥
लघ्वपि भक्ताधिकारे महत्क्षेपकमपरसर्वहानात्॥ ७६॥
तत्स्थानत्वादनन्यधर्मः खले वालीवत्॥ ७७॥
आनिन्द्ययोन्यधिक्रियते पारम्पर्यात् सामान्यवत्॥ ७८॥
अतो ह्यविपक्वभावानामपि तल्लोके॥ ७९॥
क्रमैकगत्युपपत्तेस्तु॥ ८०॥
उत्क्रान्तिस्मृतिवाक्यशेषाच्च॥ ८१॥
महापातकिनां त्वार्तौ॥ ८२॥
सैकान्तभावो गीतार्थप्रत्यभिज्ञानात्॥ ८३॥
परां कृत्वैव सर्वेषां तथा ह्याह॥ ८४॥
भजनीयेनाद्वितीयमिदं कृत्स्नस्य तत्स्वरूपत्वात्॥ ८५॥
तच्छक्तिर्माया जडसामान्यात्॥ ८६॥
व्यापकत्वाद्व्याप्यानाम्॥ ८७॥
न प्राणिबुद्धिभ्योऽसम्भवात्॥ ८८॥
निर्मायोच्चावचं श्रुतींश्च निर्मिमीते पितृवत्॥ ८९॥
मिश्रोपदेशान्नेति चेन्न स्वल्पत्वात्॥ ९०॥
फलमस्माद्बादरायणो दृष्टत्वात्॥ ९१॥
व्युत्क्रमादप्ययस्तथा दृष्टम्॥ ९२॥
तदैक्यं नानात्वैकत्वमुपाधियोगहानादादित्यवत्॥ ९३॥
पृथगिति चेन्न परेणासम्बन्धात् प्रकाशानाम्॥ ९४॥
न विकारिणस्तु करणविकारात्॥ ९५॥
अनन्यभक्त्या तद्बुद्धिर्बुद्धिलयादत्यन्तम्॥ ९६॥
आयुश्चिरमितरेषां तु हानिरनास्पदत्वात्॥ ९७॥
संसृतिरेषामभक्तिः स्यान्नाज्ञानात् कारणासिद्धेः॥ ९८॥
त्रीण्येषां नेत्राणि शब्दलिङ्गाक्षभेदाद्रुद्रवत्॥ ९९॥
आविस्तिरोभावाविकाराः स्युः क्रियाफलसंयोगात्॥ १००॥

भक्तमाल

(रचयिता—साकेतवासी भक्तराज श्रीनाभाजी महाराज)

मङ्गलाचरण

दोहा

भक्त भक्ति भगवंत गुरु चतुर नाम बपु एक।
इन के पद बंदन किएँ नासत बिघ्न अनेक॥
मंगल आदि बिचारि रहि बस्तु न और अनूप।
हरिजन को जस गावते हरिजन मंगलरूप॥
संतन निरनै कियो मथि श्रुति पुरान इतिहास।
भजिबे को दोई सुघर कै हरि कै हरिदास॥
(श्रीगुरु) अग्रदेव आग्या दई भक्तन को जस गाउ।
भवसागर के तरन को नाहिन और उपाउ॥

छप्पय

जय जय मीन बराह कमठ नरहरि बलि-बावन।
परसुराम रघुबीर कृष्ण कीरति जग पावन॥
बुद्ध कलक्की ब्यास पृथू हरि हंस मन्वंतर।
जग्य रिषभ हयग्रीव धुरुव बरदैन धन्वंतर॥
बद्रीपति दत कपिलदेव सनकादिक करुना करौ।
चौबीस रूप लीला रुचिर (श्री) अग्रदास उर पद धरौ॥

अंकुस अंबर कुलिस कमल जव धुजा धेनुपद।
संख चक्र स्वस्तिक जंबूफल कलस सुधाहृद॥
अर्धचंद्र षटकोन मीन बिंदु ऊरधरेखा।
अष्टकोन त्रयकोन इंद्रधनु पुरुषविशेषा॥
सीतापति पद नित बसत एते मंगलदायका।
चरन चिह्न रघुबीर के संतन सदा सहायका॥

बिधि नारद संकर सनकादिक कपिलदेव मनुभूप।
नरहरिदास जनक भीषम बलि सुकमुनि धर्मस्वरूप॥
अंतरंग अनुचर हरिजू के जो इन कौ जस गावै।
आदि अंत लौं मंगल तिन को श्रोता बक्ता पावै॥
अजामेल परसँग यह निरनै परम धर्म को जान।
इन की कृपा और पुनि समझै द्वादस भक्त प्रधान॥

बिष्वकसेन जय बिजय प्रबल बल मंगलकारी।
नंद सुनंद सुभद्र भद्र जग आमयहारी॥
चंड प्रचंड बिनीत कुमुद कुमुदाच्छ करुनालय।
सील सुसील सुषेन भाव भक्तन प्रतिपालय॥
लक्ष्मीपति प्रीणन प्रबीन भजनानँद भक्तन सुहृद।
मो चितबृति नित तहँ रहौ जहँ नारायन (पद) पारषद॥

कमला गरुड़ सुनंद आदि षोडस प्रभु पद रति।
हनु जमवंत सुग्रीव बिभीषन सबरी खगपति॥
ध्रुव उद्धव अँबरीष बिदुर अक्रूर सुदामा।
चंद्रहास चित्रकेतु ग्राह गज पांडव नामा॥
कौषारव कुंती बधू पट ऐंचत लज्जा हरी।
हरि बल्लभ सब प्रारथौं (जिन) चरन रेनु आसा धरी॥

जोगेस्वर श्रुतदेव अंग मुचु (कुंद) प्रियब्रत जेता।
पृथू परीच्छित सेष सूत सौनक परचेता॥
सतरूपा त्रयसुता सुनीति सती (सबाह) मंदालस।
जग्यपत्नि ब्रजनारि किए केसव अपने बस॥
ऐसे नर नारी जिते तिनही के गाऊँ जसैं।
पद पंकज बांछौं सदा जिन के हरि नित उर बसैं॥

प्राचिनबर्हि सत्यब्रत रहुगन सगर भगीरथ।
बालमीक मिथिलेस गए जे जे गोबिंद पथ॥
रुकमांगद हरिचंद भरत्त दधीचि उदारा।
सुरथ सुधन्वा सिबिर सुमति अति बलि की दारा॥
नील मोरध्वज ताम्रध्वज अलरक कीरति राचिहौं।
अंघ्री अंबुज पांसु को जनम जनम हौं जाचिहौं॥

रिभु इक्ष्वाकु रु ऐल गाधि रघु (रै) गै सतधन्वा।
अमुरत रंति उतंक भूरि देवल (बैबस्वत) मन्वा॥
नहुष जजाति दिलीप पूरु जदु गुह मांधाता।
पिप्पल निमि भरद्वाज दच्छ सरभंग सँघाता॥
संजय समीक उत्तानपद जाग्यबल्क जस जग भरे।
तिन चरन धूरि मो भूरि सिर जे जे हरिमाया तरे॥

कबि हरि करभाजन भक्ती रत्नाकर भारी।
अंतरिच्छ अरु चमस अननिता पधति उधारी॥
प्रबुध प्रेम की रासि भूरिदा आबिरहोता।
पिप्पल द्रुमिल प्रसिद्ध भवाब्धि पार के पोता॥
जयंति नंदन जगत के त्रिबिध ताप आमय हरन।
निमि अरु नव जोगेस्वरा पादत्रान की हौं सरन॥

श्रवन परीच्छित सुमति ब्यास सावक संकीरतन।
सुठि सुमिरन प्रहलाद पृथु पूजा कमला चरनन मन॥
बंदन सुफलक सुवन दास्य दीपत्ति कपीस्वर।
सख्यत्वे पारत्थ समर्पन आतम बलि धर॥
उपजीवी इन नाम के एते त्राता अगति के।
पद पराग करुना करौ (जे) नेता नवधा भगति के॥

संकर सुक सनकादि कपिल नारद हनुमाना।
बिष्वकसेन प्रहलाद बलि रु भीषम जग जाना॥
अर्जुन ध्रुव अँबरीष बिभीषन महिमा भारी।
अनुरागी अक्रूर सदा उद्धव अधिकारी॥
भगवत भुक्त अवशिष्ट की कीरति कहन सुजान।
हरि प्रसाद रस स्वाद के भक्त इते परमान॥

पुलह अगस्त्य पुलस्त्य च्यवन सौभरि बसिष्ठ रिषि।
कर्दम अत्रि रिचीक गर्ग गौतम सुब्यास सिषि॥
लोमस भृगु दालभ्य अंगिरा सृंगि प्रकासी।
मांडब बिस्वामित्र द्रुबासा सहस अठासी॥
जाबालि जमदग्नि मायादर्श कस्यप परबत पारासर पद रज धरौं।
ध्यान चतुर्भुज चित धर्‌यो तिन्हें सरन हौं अनुसरौं॥
ब्रह्म बिष्नु सिव लिंग पद्म अस्कँद बिस्तारा।
बामन मीन बराह अग्नि कूरम ऊदारा॥
गरुड़ नारदी भविष्य ब्रह्मबैबर्त श्रवन सुचि।
मार्कंडेय ब्रह्मंड कथा नाना उपजै रुचि॥
परम धर्म श्रीमुख कथित चातुश्लोकी निगम सत।
साधन साध्य सत्रह पुरान फलरूपी श्रीभागवत॥
मनुस्मृति अत्रै बैष्नवीय हारीतक यामी।
जाग्यबल्क्य अंगिरा सनैश्चर सँवृतक नामी॥
कात्यायनि सांखिल्य गौतमी बसिठी दाषी।
सुरगुरु सातातप पारासर क्रतु मुनि भाषी॥
आसा पास उदार धी परलोक लोक साधन्न सो।
दस आठ सुमृति जिन उच्चरी तिन पद सरसिज भाल मो॥
धृष्टी बिजय जयंत नीतिपर सुचिर बिनीता।
राष्टरबर्धन निपुन सुराष्टर परम पुनीता॥
असोक सदा आनंद धर्मपालक तत्ववेता।
मन्त्रीबर्य सुमंत्र चतुर्भुज मंत्री जेता॥
अनायास रघुपति प्रसन भवसागर दुस्तर तरैं।
पावैं भक्ति अनपाइनी (जे) राम सचिव सुमिरन करैं॥
दिनकर सुत हरिराज बालिबछ केसरि औरस।
दधिमुख द्विबिद मयंद रिच्छपति सम को पौरस॥
उल्का सुभट सुषेन दरीमुख कुमुद नील नल।
सरभ रु गवै गवाच्छ पनस गँधमादन अतिबल॥
पद्म अठारह जूथपति रामकाज भट भीर के।
सुभ दृष्टि बृष्टि मो पर करौ जे सहचर रघुबीर के॥
धरानंद ध्रुवनंद तृतिय उपनंद सु नागर।
चतुर्थ तहाँ अभिनंद नंद सुखसिंधु उजागर॥
सुठि सुनंद पसुपाल निर्मल निस्चै अभिनंदन।
कर्मा धर्मानंद अनुज बल्लभ जग बंदन॥
आस पास वा बगर के (जहँ) बिहरत पसुप सुछंद।
ब्रज बड़े गोप पर्जन्य के सुत नीके नव नंद॥
नंद गोप उपनंद ध्रुव धरानंद (महरि) जसोदा।
कीरतिदा बृषभानु कुंअरि सहचरि (बिहरति) मन मोदा॥
(मधु) मंगल सुबल सुबाहु भोज अर्जुन श्रीदामा।
मंडल ग्वाल अनेक स्याम संगी बहु नामा॥
घोष निवासिन की कृपा सुर नर बांछत आदि अज।
बाल बृद्ध नर नारि गोप हौं अर्थी उन पाद रज॥

रक्तक पत्रक और पत्रि सबही मन भावैं।
मधुकंठौ मधुबर्त रसाल बिसाल सुहावैं॥
प्रेमकंद मकरंद सदा-आनँद चंद्रहासा।
पयद बकुल रसदान सारदा बुद्धिप्रकासा॥
सेवा समय बिचारि कै चारु चतुर चित की लहैं।
ब्रजराज सुवन सँग सदन बन अनुग सदा तत्पर रहैं॥
जंबू और पलच्छ सालमलि बहुत राजरिषि।
कुस पवित्र पुनि क्रौंच कौन महिमा जानै लिखि॥
साक बिपुल बिस्तार प्रसिध नामी अति पुहकर।
पर्बत लोकालोक ओक टापू कंचनधर॥
हरिभृत्य बसत जे जे जहाँ तिन सों नित प्रति काज।
सप्त दीप में दास जे ते मेरे सिरताज॥
इलाबर्त अधिईस सँकर्षन अनुग सदासिव।
रमनक मछ मनु दास हिरन्य कूरम अर्यम इव॥
कुरु बराह भू भृत्य बर्ष हरि सिंह प्रहलादा।
किंपुरुष राम कपि भरत नरायन बीना नादा॥
भद्रासु ग्रीवहय भद्रस्त्रव केतु काम कमला अनूप।
मध्य दीप नव खंड में भक्त जिते मम भूप॥
श्रीनारायन (को) बदन निरंतर ताही देखैं।
पलक परै जो बीच कोटि जमजातन लेखैं॥
तिन के दरसन काज गए तहँ बीनाधारी।
स्याम दई कर सैन उलटि अब नहिं अधिकारी॥
नारायन आख्यान दृढ़ तहँ प्रसंग नाहिन तथा।
स्वेतद्वीप में दास जे श्रवन सुनौ तिन की कथा॥
इलापत्र मुख अनँत अनँत कीरति बिसतारत।
पद्म संकु पन प्रगट ध्यान उर ते नहिं टारत॥
अँसु कंबल बासुकी अजित आग्या अनुबरती।
करकोटक तच्छक सुभट्ट सेवा सिर धरती॥
आगमोक्त सिवसंहिता अगर एकरस भजन रति।
उरग अष्टकुल द्वारपति सावधान हरिधाम थिति॥
(श्री) रामानुज ऊदार सुधानिधि अवनि कल्पतरु।
बिष्नुस्वामि बोहित्थ सिंधु संसार पार करु॥
मध्वाचारज मेघ भक्ति सर ऊसर भरिया।
निम्बादित्य अदित्य कुहर अग्यान जु हरिया॥
जनम करम भागवत धरम संप्रदाय थापी अघट।
चौबीस प्रथम हरि बपु धरे (त्यों) चतुर्ब्यूह कलिजुग प्रगट॥
(रमा पधति रामानुज बिष्नुस्वामि त्रिपुरारि।
निंबादित्य सनकादिका मधुकर गुरु मुखचारि॥)
बिष्वकसेन मुनिबर्य सुपुनि सठकोप प्रनीता।
बोपदेव भागवत लुप्त उधर्‌यौ नवनीता॥
मंगल मुनि श्रीनाथ पुंडरीकाच्छ परम जस।
राममिश्र रस रासि प्रगट परताप परांकुस॥

जामुन मुनि रामानुज तिमिर हरन उदय भान।
सँप्रदाय सिरोमनि सिंधुजा रच्यो भक्ति बित्तान॥
गोपुर ह्वै आरूढ ऊँच स्वर मंत्र उचारयो।
सूते नर परे जागि बहत्तरि श्रवननि धारयो॥
तितनेई गुरुदेव पधति भईं न्यारी न्यारी।
कुर तारक सिष्य प्रथम भक्ति बपु मंगलकारी॥
कृपनपाल करुना समुद्र रामानुज सम नहिं बियो।
सहस आस्य उपदेस करि जगत उद्धरन जतन कियो॥
श्रुतिप्रज्ञा श्रुतिदेव रिषभ पुहकर इभ ऐसे।
श्रुतिधामा श्रुति उदधि पराजित बामन जैसे॥
(श्री) रामानुज गुरुबंधु बिदित जग मंगलकारी।
सिवसंहिता प्रनीत ग्यान सनकादिक सारी॥
इँदिरा पधति उदारधी सभा साखि सारँग कहैं।
चतुर महँत दिग्गज चतुर भक्ति भूमि दाबे रहैं॥
(कोउ) मालाधारी मृतक बह्यो सरिता में आयो।
दाह कृत्य ज्यों बंधु न्योति सब कुटुँब बुलायो॥
नाम सकोचहिं बिप्र तबहिं हरिपुर जन आए।
जेंवत देखे सबनि जात काहू नहिं पाए॥
लालाचारज लच्छधा प्रचुर भई महिमा जगति।
(श्री) आचारज जामात की कथा सुनत हरि होइ रति॥
गुरू गमन (कियो) परदेस सिष्य सुरधुनी दृढ़ाई।
एक मंजन एक पान हृदय बंदना कराई॥
गुरु गंगा में प्रबिसि सिष्य को बेगि बुलायो।
बिष्नुपदी भय जानि कमलपत्रन पर धायो॥
पाद पद्‌म ता दिन प्रगट, सब प्रसन्न मन परम रुचि।
श्रीमारग उपदेस कृत श्रवन सुनौ आख्यान सुचि॥
देवाचारज दुतिय महामहिमा हरियानँद।
तस्य राघवानंद भए भक्तन को मानद॥
पृथ्वी पत्रावलँब करी कासी अस्थाई।
चारि बरन आश्रम सबहीको भक्ति दृढ़ाई॥
तिन के रामानँद प्रगट बिश्वमँगल जिन्ह बपु धरयो।
(श्री) रामानुज पद्धति प्रताप अवनि अमृत ह्वै अनुसरयो॥
अनँतानंद कबीर सुखा (सुरसुरा) पद्मावति नरहरि।
पीपा भावानँद रैदास धना सेन सुरसुर की घरहरि॥
औरौ सिष्य प्रसिष्य एक ते एक उजागर।
बिस्वमँगल आधार सर्वानँद दसधा आगर॥
बहुत काल बपु धारि कै प्रनत जनन कौं पार दियो।
(श्री) रामानँद रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जग तरन कियो॥
जोगानंद गयेस करमचँद अल्ह पैहारी।
(सारी) रामदास श्रीरंग अवधि गुन महिमा भारी॥
तिन के नरहरि उदित मुदित मेहा मंगलतन।
रघुबर जदुबर गाइ बिमल कीरति संच्यो धन॥
हरिभक्ति सिंधु बेला रचे पानि पद्मजा सिर दए।
अनँतानँद पद परसि कै लोकपाल से ते भए॥
जाके सिर कर धरयो तासु कर तर नहिं अड्‌‌यो।
आप्यो पद निर्बान सोक निर्भय करि अड्‌‌यो॥
तेजपुंज बल भजन महामुनि ऊरधरेता।
सेवत चरन सरोज राय राना भुवि जेता॥
दाहिमा बंस दिनकर उदय संत कमल हिय सुख दियो।
निर्बेद अवधि कलि कृष्नदास अन परिहरि पय पान कियो॥
कील्ह अगर केवल्ल चरन ब्रत हठी नरायन।
सूरज पुरुषा पृथू तिपुर हरि भक्ति परायन॥
पद्मनाभ गोपाल टेक टीला गदाधारी।
देवा हेम कल्यान गंग गंगासम नारी॥
बिष्नुदास कन्हर रँगा चाँदन सबिरि गोबिंद पर।
पैहारी परसाद तें सिष्य सबै भए पार कर॥
राम चरन चिंतवनि रहति निसि दिन लौ लागी।
सर्ब भूत सिर नमित सूर भजनानँद भागी॥
सांख्य जोग मत सुदृढ़ किए अनुभव हस्तामल।
ब्रह्मरंध्र करि गौन गए हरि तन करनी बल॥
सुमेरदेव सुत जग बिदित भू बिस्तारयो बिमल जस।
गांगेय मृत्यु गंज्यो नहीं त्यों कील्ह करन नहिं काल बस॥
सदाचार ज्यों संत प्रात जैसे करि आए।
सेवा सुमिरन सावधान (चरन) राघव चित लाए॥
प्रसिध बाग सों प्रीति सुहथ कृत करत निरंतर।
रसना निर्मल नाम मनहुँ बर्षत धाराधर।
(श्री) कृष्णदास कृपा करि भक्ति दत मन बच क्रम करि अटल दयो।
(श्री) अग्रदास हरि भजन बिन काल बृथा नहिं बित्तयो॥
उतसृंखल अग्यान जिते अनईस्वरबादी।
बुद्ध कुतर्की जैन और पाखंडहि आदी॥
बिमुखनि को दियो दंड ऐंचि सन्मारग आने।
सदाचार की सींव बिस्व कीरतिहि बखाने॥
ईस्वरांस अवतार महि मरजादा माँड़ी अघट।
कलिजुग धर्मपालक प्रगट आचारज संकर सुभट॥
बालदसा बीठल्ल पानि जाके पय पीयौ।
मृतक गऊ जीवाय परचौ असुरन कौं दीयौ॥
सेज सलिल तें काढ़ि पहिल जैसी ही होती।
देवल उलट्यो देखि सकुचि रहे सबही सोती॥
पँडुरनाथ कृत अनुग ज्यों छानि स्वकर छइ घास की।
नाम देव प्रतिग्या निर्बही (ज्यों) त्रेता नरहरिदास की॥
प्रचुर भयो तिहुँ लोक गीतगोबिंद उजागर।
कोक काव्य नव रस्स सरस सिंगार को सागर॥
अष्टपदी अभ्यास करैं तेहि बुद्धि बढ़ावैं।
राधारमन प्रसन्न सुनन निश्चै तहँ आवैं॥

संत सरोरुह षंड कों पद्मापति सुखजनक रबि।
जयदेव कबी नृप चक्कवै खँडमँडलेस्वर आन कबि॥
तीनि कांड एकत्व सानि कोउ अग्य बखानत।
कर्मठ ग्यानी ऐंचि अर्थ कौ अनरथ बानत॥
परमहंस संहिता बिदित टीका बिसतार्यो।
षट सास्त्रनि अबिरुद्ध बेद संमतहि बिचार्यो॥
परमानंद प्रसाद तें माधौ सुकर सुधार दियो।
श्रीधर श्रीभागवत में परम धरम निरनय कियो॥
करुनामृत सुकबित्त जुक्ति अनुचिष्ट उचारी।
रसिक जनन जीवन जु हृदय हारावलि धारी॥
हरि पकरायो हाथ बहुरि तहँ लियो छुटाई।
कहा भयो कर छुटैं बदौं जौ हिय तें जाई॥
चिंतामनि सँग पाय कें ब्रजबधू केलि बरनी अनुप।
कृष्ण कृपा कां पर प्रगट बिल्वमँगल मंगलस्वरुप॥
भगवत धर्म उतंग आन धर्म आन न देखा।
पीतर पटतर बिगत निकष ज्यों कुंदन रेखा॥
कृष्ण कृपा कहि बेलि फलित सतसंग दिखायो।
कोटि ग्रंथ को अर्थ तेरह बिरचन में गायो॥
महा समुद्र भागवत तें भक्ति रतन राजी रची।
कलि जीव जँजाली कारने बिष्णुपुरी बड़ि निधि सँची॥
नाम तिलोचन सिष्य सूर ससि सदृस उजागर।
गिरा गंग उनहारि काव्य रचना प्रेमाकर॥
आचारज हरिदास अतुल बल आनँद दायन।
तेहिं मारग बल्लभ्भ बिदित पृथु पधति परायन॥
नवधा प्रधान सेवा सुदृढ़ मन बच क्रम हरि चरन रति।
बिष्णुस्वामि सँप्रदाइ दृढ़ ग्यानदेव गंभीर मति॥
भक्तदास इक भूप श्रवन सीता हर कीनो।
मार मार करि खड़ग बाजि सागर मैं दीनो॥
नरसिंह को अनुकरन होइ हिरनाकुस मार्यो।
वहै भयो दसरत्थ राम बिछुरत तन छार्यो॥
कृष्नदास बाँधे सुने तिहि छन दीयो प्रान।
संत साखि जानैं सबै प्रगट प्रेम कलिजुग प्रधान॥
हौं कहा कहौं बनाइ बात सबही जग जानै।
करतैं दौना भयो स्याम सौरभ मन मानै॥
छपन भोग तैं पहिल खीच करमा कौ भावै।
सिलपिल्ले के कहत कुँअरि पै हरि चलि आवै॥
भक्तन हित सुत बिष दियो भूपनारि प्रभु राखि पति।
परसाद अवग्या जानि के पानि तज्यो एकै नृपति॥
रंगनाथ को सदन करन बहु बुद्धि बिचारी।
कपट धर्म रचि जैन द्रब्य हित देह बिसारी॥
हंस पकरने काज बधिक बानौं धरि आए।
तिलक दाम की सकुच जानि तिन आप बँधाए॥
सुत बध हरिजन देखि कै दै कन्या आदर दियो।
आसय अगाध दुहुँ भक्त को हरितोषन अतिसय कियो॥
दारुमई तरवार सारमय रची भुवन की।
देवा हित सित केस प्रतिग्या राखी जन की॥
कमधुज के कपि चारु चिता पर काष्ठ जु ल्याए।
जैमल के जुध माहिं अस्व चढ़ि आपुन धाए॥
भैंस चौगुनी घृत सहित श्रीधर सँग सायक धरन।
चारौ जुग चत्रभुज सदा भक्त गिरा साँची करन॥
निहकिंचन इक दास तासु के हरिजन आए।
बिदित बटोही रूप भए हरि आपु लुटाए॥
साखि देन कौ स्याम खुरदहा प्रभुहि पधारे।
रामदास के सदन राय रनछोर सिधारे॥
आयुध छत तन अनुग के बलि बंधन अपु बपु धरैं।
भक्तनि सँग भगवान नित (ज्यों) गऊ बच्छ गोहन फिरैं॥
जसू स्वामि के बृषभ चोरि ब्रजबासी ल्याए।
तैसेई दिए स्याम बरष दिन खेत जुताए॥
नामा ज्यों नँददास मुई इक बच्छि जिवाई।
अंब अल्ह कों नए प्रसिध जग गाथा गाई॥
बारमुखी के मुकुट को (श्री) रंगनाथ को सिर नयो।
बच्छ हरन पाछें बिदित सुनो संत अचरज भयो॥
बीच दिए रघुनाथ भक्त सँग ठगिया लागे।
निर्जन बन में जाय दुष्ट कर्म कियो अभागे॥
बीच दियो सो कहाँ राम कहि नारि पुकारी।
आए सारँगपानि सोक सागर ते तारी॥
दुष्ट किए निर्जीव सब दास प्रान संग्या धरी।
और जुगन तें कमलनैन कलिजुग बहुत कृपा करी॥
तिलक दाम धरि कोइ ताहि गुरु गोबिंद जानै।
षटदरसनी अभाव सर्बथा घट करि मानै॥
भाँड़ भक्त को भेष हाँसि हित भँड़ कुट ल्याए।
नरपति कै दृढ़ नेम ताहि ये पाँव धुवाए॥
भाँड़ भेष गाढ़ो गह्यो दरस परस उपजी भगति।
एक भूप भागौत की कथा सुनत हरि होय रति॥
हरि सुमिरन हरि ध्यान आन काहू न जनावै।
अलगन इहि बिधि रहै अंगना मरम न पावै॥
निद्रा बस सों भूप बदन तें नाम उचार्यो।
रानी पति पर रीझि बहुत बसु तापर वार्यो॥
रिषिराज सोचि कह्यो नारि सों आज भक्ति मेरी कजी।
अंतरनिष्ठ नृपाल इक परम धरम नाहिन धुजी॥
अनुचर आग्या माँगि कह्यो कारज कों जैहौं।
आचारज इक बात तोहि आए तैं कहिहौं॥
स्वामी रह्यो समाय दास दरसन कों आयो।
गुरु की गिरा बिस्वास फेरि सब घर मैं ल्यायो॥

सिषपन साँचो करन कों (बिभु) सबै सुनत सोई कह्यो।
गुरु गदित बचन सिष सत्य अति दृढ़ प्रतीति गाढ़ो गह्यो॥
सदाचार श्रुति सास्त्र बचन अविरुद्ध उचार्‌यो।
नीर खीर बिबरन्न परम हंसनि उर धार्‌यो॥
भगवत कृपा प्रसाद परम गति इहि तन पाई।
राजसिंहासन बैठि ग्याति परतीति दिखाई॥
बरनाश्रम अभिमान तजि पद रज बंदहिं जासु की।
संदेह ग्रंथि खंडन निपुन बानि बिमल रैदास की॥
भक्ति बिमुख जो धर्म सोइ अधरम करि गायो।
जोग जग्य ब्रत दान भजन बिनु तुच्छ दिखायो॥
हिंदू तुरक प्रमान रमैनी सबदी साखी।
पच्छपात नहिं बचन सबहि के हित की भाषी॥
आरूढ़ दसा ह्वै जगत पर मुख देखी नाहिंन भनी।
कबिर कानि राखी नहीं बरनाश्रम षटदरसनी॥
प्रथम भवानी भक्त मुक्ति माँगन को धायो।
सत्य कह्यो तिहिं सक्ति सुदृढ़ हरि सरन बतायो॥
(श्री) रामानँद पद पाइ भयो अति भक्ति की सीवाँ।
गुन असंख्य निर्मोल संत धरि राखत ग्रीवाँ॥
परसि प्रनाली सरस भइ सकल बिस्व मंगल कियो।
पीपा प्रताप जग बासना नाहर कों उपदेस दियो॥
घर आए हरिदास तिनहि गोधूम खवाए।
तात मात डर खेत थोथ लांगलहिं चलाए॥
आस पास कृषिकार खेत की करत बड़ाई।
भक्त भजे की रीति प्रगट परतीति जु पाई॥
अचरज मानत जगत मैं कहुँ निपज्यौ कहुँवै बयो।
धन्य धना के भजन कों बिनहिं बीज अंकुर भयो॥
प्रभू दास के काज रूप नापित को कीनो।
छिप्र छुरहरी गही पानि दर्पन तहँ लीनो॥
तादृस ह्वै तिहिं काल भूप के तेल लगायो।
उलटि राव भयो सिष्य प्रगट परचो जब पायो॥
स्याम रहत सनमुख सदा ज्यों बच्छा हित धेन के।
बिदित बात जग जानिए हरि भए सहायक सेन के॥
सुखसागर की छाप राग गौरी रुचि न्यारी।
पद रचना गुरु मंत्र मनों आगम अनुहारी॥
निसि दिन प्रेम प्रबाह द्रवत भूधर ज्यों निर्झर।
हरि गुन कथा अगाध भाल राजत लीला भर॥
संत कंज पोषन बिमल अति पियूष सरसी सरस।
भक्ति दान भय हरन भुज सुखानंद पारस परस॥
एक समै पथ चलत बाक्य छल बरा सुपाए।
देखादेखी सिष्य तिन्हुँ पाछै ते खाए॥
तिन पर स्वामी खिजे बमन करि बिन बिस्वासी।
तिन तैसे परतच्छ भूमि पर कीनी रासी॥

सुरसुरी सुवर पुनि उदगले पुहुप रेनु तुलसी हरी।
महिमा महाप्रसाद की सुरसुरानंद साँची करी॥
अति उदार दंपती त्यागि गृह बन को गवने।
अचरज भयो तहँ एक संत सुन जिन हो बिमने॥
बैठे हुते एकांत आय असुरनि दुख दीयो।
सुमिरे सारँगपानि रूप नरहरि को कीयो॥
सुरसुरानंद की घरनि को सत राख्यो नरसिंह जह्यो।
महासती सत ऊपमा (त्यों) सत्त सुरसुरी को रह्यो॥
झर घर लकरी नाहिं सक्ति को सदन उदारैं।
सक्ति भक्त सों बोलि दिनहिं प्रति बरही डारैं॥
लगी परोसी हौंस भवानी भ्वै सो मारै।
बदले की बेगारि मूड़ वाके सिर डारै॥
भरत प्रसंग ज्यों कालिका लड़ू देखि तन में तई।
निपट नरहर्‌यानंदको करदाता दुरगा भई॥
नाम महानिधि मंत्र नाम ही सेवा पूजा।
जप तप तीरथ नाम नाम बिन और न दूजा॥
नाम प्रीति नाम बैर नाम कहि नामी बोलैं।
नाम अजामिल साखि नाम बंधन ते खोलैं॥
नाम अधिक रघुनाथ तें राम निकट हनुमत कह्यो।
कबिर कृपा ते परम तत्व पद्मनाभ परचो लह्यो॥
भक्ति सुधा जल समुद भए बेलावलि गाढ़ी।
पूरबजा ज्यों रीति प्रीति उतरोतर बाढ़ी॥
रघुकुल सदृस सुभाव सिष्ट गुन सदा धर्म रत।
सूर धीर ऊदार दयापर दच्छ अननि ब्रत॥
पदमखंड पदमा पधति प्रफुलित कर सबिता उदित।
तत्वाजीवा दछिन देस बंसोद्धर राजत बिदित॥
पहिले बेद बिभाग कथित पूरान अष्टदस।
भारत आदि भागवत मथित उद्धार्‌यो हरि जस॥
अब सोधे सब ग्रंथ अर्थ भाषा बिस्तार्‌यो।
लीला जै जै जैति गाय भव पार उतार्‌यो॥
जगनाथ इष्ट बैराग्य सिंव करुना रस भीज्यो हियो।
बिनै ब्यास मनो प्रगट ह्वै जग को हित माधो कियो॥
सीत लगत सकलात बिदित पुरुषोत्तम दीनी।
सौच गए हरि संग कृत्य सेवक की कीनी॥
जगन्नाथ पद प्रीति निरंतर करत खवासी।
भगवत धर्म प्रधान प्रसन नीलाचल बासी॥
उत्कल देस उड़िसा नगर बैनतेय सब कोउ कहैं।
(श्री) रघुनाथ गोसाईं गरुड़ ज्यों सिंह पौरि ठाढ़े रहैं॥
गौड़ देस पाखंड मेटि कियो भजन परायन।
करुना सिंधु कृतग्य भए अगनित गति दायन॥
दसधा रस आक्रांति महत जन चरन उपासे।
नाम लेत निहपाप दुरित तिहि नर के नासे॥

अवतार बिदित पूरब मही उभै महँत देही धरी।
नित्यानंद कृष्न चैतन्य की भक्ति दसो दिसि बिस्तरी॥
उक्ति चोज अनुप्रास बरन अस्थिति अति भारी।
बचन प्रीति निर्बाह अर्थ अद्भुत तुकधारी॥
प्रतिबिंबित दिबि दिष्टि हृदय हरि लीला भासी।
जनम करम गुन रूप सबै रसना परकासी॥
बिमल बुद्धि गुन और की जो यह गुन श्रवननि धरै।
सूर कबित सुनि कौन कबि जो नहिं सिर चालन करै॥
पौगँड बाल कैसोर गोपलीला सब गाई।
अचरज कहा यह बात हुतौ पहिलौ जु सखाई॥
नैननि नीर प्रबाह रहत रोमांच रैन दिन।
गदगद गिरा उदार स्याम सोभा भीज्यो तन॥
सारंग छाप ताकी भई श्रवन सुनत आबेस देत।
ब्रजबधू रीति कलिजुग बिषे परमानँद भयो प्रेम केत॥
कस्मीरी की छाप पाप तापनि जग मंडन।
दृढ़ हरि भक्ति कुठार आन धर्म बिटप बिहंडन॥
मथुरा मध्य मलेछ बाद करि बरबट जीते।
काजी अजित अनेक देखि परचै भयभीते॥
बिदित बात संसार सब संत साखि नाहिन दुरी।
केसौभट नर मुकुट मनि जिन की प्रभुता बिस्तरी॥
मधुर भाव संमिलित ललित लीला सुबलित छबि।
निरखत हरषत हृदै-प्रेम बरषत सुकलित कबि॥
भव निस्तारन हेतु देत दृढ़ भक्ति सबनि नित।
जासु सुजस ससि उदै हरत अति तम भ्रम श्रम चित॥
आनंद कंद श्रीनंदसुत श्रीबृषभानुसुता भजन।
श्रीभट्ट सुभट प्रगट्यो अघट रस रसिकन मन मोद घन॥
खेचरि नर की सिष्य निपट अचरज यह आवै।
बिदित बात संसार संत मुख कीरति गावै॥
बैरागिन के बृंद रहत सँग स्याम सनेही।
ज्यों जोगेस्वर मध्य मनो सोभित बैदेही॥
श्रीभट्ट चरन रज परस तें सकल सृष्टि जाकों नई।
हरि ब्यास तेज हरि भजन बल देबी कों दीच्छा दई॥
उपदेसे नृपसिंह रहत नित आग्याकारी।
पक्व बृच्छ ज्यों नाय संत पोषक उपकारी॥
बानी भोलाराम सुहृद सबहिन पर छाया।
भक्त चरन रज जाचि बिसद राघौ गुन गाया॥
करमचंद कस्यप सदन बहुरि आय मनो बपु धर्‌यो।
अग्यान ध्वांत अंतहि करन द्वितिय दिवाकर अवतर्‌यो॥
राग भोग नित बिबिध रहत परिचर्या तत्पर।
सय्या भूषन बसन रचित रचना अपने कर॥
वह गोकुल वह नंदसदन दीछित को सोहै।
प्रगट बिभव जहँ घोष देखि सुरपति मन मोहै॥

बल्लभ सुत बल भजन के कलिजुग में द्वापर कियो।
बिठलनाथ ब्रजराज ज्यों लाल लड़ाय कै सुख लियो॥
श्रीगिरधर जू सरससील गोबिंद जु साथहि।
बालकृष्ण जसबीर धीर श्रीगोकुलनाथहि॥
श्रीरघुनाथ जु महाराज श्रीजदुनाथहि भजि।
श्रीघनस्याम जु पगे प्रभू अनुरागी सुधि सजि॥
ए सात प्रगट बिभु भजन जग तारन तस जस गाइये।
श्रीबिट्ठलेस सुत सुहृद श्रीगोबरधन धर ध्याइये॥
श्रीबल्लभ गुरु दत्त भजन सागर गुन आगर।
कबित नोख निर्दोष नाथ सेवा में नागर॥
बानी बंदित बिदुष सुजस गोपाल अलंकृत।
ब्रज रज अति आराध्य वहै धारी सर्बसु चित॥
सान्निध्य सदा हरि दास बर गौर स्याम दृढ़ ब्रत लियो।
गिरिधरन रीझि कृष्णदास कों नाम माझ साझो दियो॥
श्रीभागवत बखानि अमृतमै नदी बहाई।
अमल करी सब अवनि ताप हारक सुखदाई॥
भक्तन सों अनुराग दीन सों परम दयाकर।
भजन जसोदानंद संत संघट के आगर॥
भीषमभट अंगज उदार कलिजुग दाता सुगति के।
बर्द्धमान गंगल गँभिर उभै थंभ हरि भगति के॥
रघुनंदन को दास प्रगट भूमंडल जानै।
सर्बस सीताराम और कछु उर नहिं आनै॥
धनुष बान सों प्रीति स्वामि के आयुध प्यारे।
निकट निरंतर रहत होत कबहूँ नहिं न्यारे॥
सूरबीर हनुमत सदृस परम उपासक प्रेम भर।
रामदास परताप तें खेम गुसाईं खेमकर॥
तिलक दाम सों प्रीति गुनहिं गुन अंतर धार्‌यो।
भक्तन को उत्कर्ष जनम भरि रसन उचार्‌यो॥
सरल हृदै संतोष जहाँ तहँ पर उपकारी।
उत्सव में सुत दान कियौ क्रम दुसकर भारी॥
हरि गोबिंद जै जै गुबिंद गिरा सदा आनंददा।
बिठलदास माथुर मुकुट भयो अमानी मानदा॥
उग्र तेज ऊदार सुघर सुथराई सींवा।
प्रेम पुंज रस रासि सदा गदगद सुर ग्रीवा॥
भक्तन को अपराध करै ताको फल गायो।
हिरनकसिपु प्रहलाद परम दृष्टांत दिखायो॥
सस्फुट बकता जगत में राज सभा निधरक हियो।
हरिराम हठीले भजन बल राना को उत्तर दियो॥
पंडित कला प्रबीन अधिक आदर दें आरज।
संप्रदाय सिर छत्र द्वितिय मनों मध्वाचारज॥
जेतिक हरि अवतार सबै पूरन करि जानै।
परिपाटी ध्वजबिजै सदृस भागवत बखानै॥

श्रुति स्मृती संमत पुरान तप्त मुद्राधारी भुजा।
कमलाकर भट जगत में तत्वबाद रोपी धुजा॥
गोप्य स्थल मथुरा मँडल जिते बाराह बखाने।
(ते) किए नरायन प्रगट प्रसिध पृथ्वी में जाने॥
भक्ति सुधा को सिंधु सदा सतसंग समाजन।
परम रसग्य अनन्य कृष्न लीला को भाजन॥
ग्यान समारत पच्छ को नाहि न कोउ खंडन बियो।
ब्रजभूमि उपासक भट्ट सो रचि पचि हरि एकै कियो॥
नृत्य गान गुन निपुन रास में रस बरषावत।
अब लीला ललितादि बलित दंपतिहि रिझावत॥
अति उदार निस्तार सुजस ब्रज मंडल राजत।
महा महोत्सव करत बहुत सबही सुख साजत॥
श्रीनारायन भट्ट प्रभु परम प्रीति रस बस किए।
ब्रजबल्लभ बल्लभ परम दुर्लभ सुख नैननि दिए॥
गौड़ देस बंगाल हुते सबही अधिकारी।
हय गय भवन भँडार बिभव भूभुज उनहारी॥
यह सुख अनित बिचारि बास बृंदाबन कीन्हो।
जथा लाभ संतोष कुंज करवा मन दीन्हो॥
ब्रज भूमि रहस राधाकृषन भक्त तोष उद्धार कियो।
संसार स्वाद सुख बांत ज्यों (दुहुं) रूप सनातन तजि दियो॥
राधा चरन प्रधान हृदय अति सुदृढ़ उपासी।
कुंज केलि दंपती तहाँ की करत खवासी॥
सर्बसु महाप्रसाद प्रसिध ताके अधिकारी।
बिधि निषेध नहिं दास अननि उतकट ब्रत धारी॥
ब्यास सुवन पथ अनुसरै सोइ भलें पहिचानिहै।
(श्री) हरिबंस गुसाईं भजन की रीति सकृत कोउ जानिहै॥
जुगल नाम सों नेम जपत नित कुंजबिहारी।
अवलोकत रहैं केलि सखी सुख के अधिकारी॥
गान कला गंधर्ब स्याम स्यामा कों तोषैं।
उत्तम भोग लगाय मोर मरकट तिमि पोषैं॥
नृपति द्वार ठाढ़े रहैं दरसन आसा जास की।
आसधीर उद्योत कर रसिक छाप हरिदास की॥
काहू के आराध्य मच्छ कछ नरहरि सूकर।
बामन फरसाधरन सेतबंधन जु सैल कर॥
एकन के यह रीति नेम नवधा सों लाएँ।
सुकुल सुमोखन सुवन अच्युत गोत्री जु लड़ाएँ॥
नै गुन तोरि नूपुर गुह्यो महत सभा मधि रास कें।
उतकर्ष तिलक अरु दाम को भक्त इष्ट अति ब्यास कें॥
बेला भजन सुपक्व कषाय न कबहूँ लागी।
बृंदाबन दृढ़ बास जुगल चरननि अनुरागी॥
पोथी लेखन पान अघट अच्छर चित दीनो।
सदग्रंथनि को सार सबै हस्तामल कीनो॥
संदेह ग्रंथि छेदन समर्थ (रस) रास उपासक परम धिर।
(श्री) रूप सनातन भक्ति जल जीव गुसाईं सर गँभिर॥
सर्बस राधारमन भट्ट गोपाल उजागर।
हृषीकेस भगवान बिपुल बीठल रस सागर॥
थानेस्वरि जग (नाथ) लोकनाथ महमुनि मधु श्रीरँग।
कृष्नदास पंडित्त उभै अधिकारी हरि अँग।
घमँडी जुगलकिसोर भृत (भू) गर्भ जीव दृढ़ ब्रत लियो।
बृंदाबन की माधुरी इन मिलि आस्वादन कियो॥
तन मन धन परिवार सहित सेवत संतन कहँ।
दिब्य भोग आरती अधिक हरि हू ते हिय महँ॥
श्रीबृंदाबनचंद स्याम स्यामा रँग भीने।
मगन प्रेम पीयूष पयधि परचै बहु दीने॥
(श्री) हरिप्रिय स्यामानंद बर भजन भूमि उद्धार कियो।
(श्री) रसिक मुरारि उदार अति मत्त गजहि उपदेस दियो॥
सोझा सींव अधार धीर हरिनाम त्रिलोचन।
आसाधर द्योराजनीर सधना दुखमोचन॥
कासीस्वर अवधूत कृष्न किंकर कटहरिया।
सोभू ऊदाराम, नाम डूँगर ब्रतधरिया॥
पदम पदारथ रामदास बिमलानंद अमृत श्रए।
भव प्रबाह निस्तार हित अवलंबन ये जन भए॥
जतीराम रावल्य स्याम खोजी सँतसीहा।
दल्हा पद्म मनोरत्थ राँक द्यौगू जप जीहा॥
जाड़ा चाचा गुरू सवाई चाँदा नापा।
पुरुषोत्तम सों साच चतुर कीता मन कौ जिहि मेट्यो आपा॥
मति सुंदर धीधांगश्रम संसार नाच नाहिन नचे।
करुना छाया भक्ति फल ए कलिजुग पादप रचे॥
लछिमन लफरा लड्डू संत जोधापुर त्यागी।
सूरज कुंभनदास बिमानी खेम बिरागी॥
भावन बिरही भरत नफर हरिकेस लटेरा।
हरिदास अजोध्या चक्रपानि (दियो) सरजू तट डेरा॥
तिलोक पुखरदी बिजुली उद्धव बनचर बंसजे।
पर अर्थ परायन भक्त ये कामधेनु कलिजुग्ग के॥
सोम भीम सोमनाथ बिको बिसाखा लमध्याना।
महदा मुकुँद गयेस त्रिबिक्रम रघु जग जाना॥
बालमीक बृधब्यास जगन झाँझू बिठल अचारज।
हरिभू लाला हरिदास बाहुबल राघव आरज॥
लाखो छीतर उद्धव कपुर घाटम घूरा कियो प्रकास।
अभिलाष अधिक पूरन करन ये चिंतामनि चतुरदास॥
देवानंद नरहर्‌यानंद मुकुंद महीपति संतराम तंमोरी।
खेम श्रीरंग नंद बिष्नु बीदा बाजू सुत जोरी॥
छीतम द्वारकादास माधव मांडन रूपा दामोदर।
भल नरहरि भगवान बाल कान्हर केसौ सोहैं धर॥

दास प्रयाग लोहंग गुपाल नागू सुत गृह भक्त भीर।
भक्तपाल दिग्गज भगत ए थानाइत सूर धीर॥
केसव पुनि हरिनाथ भीम खेता (गोबिंद) ब्रह्मचारी।
बालकृष्ण बड़ भरथ अच्युत अप्पा ब्रतधारी॥
पंडा गोपीनाथ मुकुँद गजपती महाजस।
गुननिधि जसगोपाल देइ भक्तनि को सरबस॥
श्रीअंग सदा सानिधि रहैं (कृत) पुन्य पुंज भल भाग भर।
बद्रिनाथ उड़ीसे द्वारका सेवक सब हरि भजन पर॥
बिद्यापति ब्रह्मदास बहोरन चतुरबिहारी।
गोबिंद गंगा रामलाल बरसानियाँ मंगलकारी॥
प्रियदयाल परसराम भक्त भाई खाटी को।
नंदसुवन की छाप कबित केसव को नीको॥
आसकरन पूरन नृपति (भीषम) जन दयाल गुन नहिन पार।
हरि सुजस प्रचुर कर जगत मैं ये कविजन अतिसय उदार॥
रघूनाथ गोपीनाथ रामभद्र दासूस्वामी।
गुँजामालि चित उतम बिठल मरहठ निहकामी॥
जदुनंदन रघुनाथ रामानँद (गोबिंद) मुरली सोती।
हरिदास मिश्र भगवान मुकुँद केसव दंडौती॥
चतुर्भुज चरित बिष्णुदास बेनी पद मो सिर धरौ।
जे बसे बसत मथुरा मँडल (ते) दयादृष्टि मो पर करौ॥
सीता झाली सुमति सोभा प्रभुता उमा भटियानी।
गंगा गौरी कुँवरि उबीठा गोपाली गनेसदे रानी॥
कला लखा कृतगढ़ौ मानमति सुचि सतिभामा।
जमुना केली रामा मृगा देवा दे भक्तन बिश्रामा॥
जुगजीवा की कमला देवकी हीरा हरिचेरी पोषे भगत।
कलिजुग जुबती जन भक्तराज महिमा सब जानै जगत॥
नरबाहन बाहन बरीस जापू जैमल बीदावत।
जयंत धारा रुपा अनभई ऊदा रावत॥
गंभीरा अर्जुन्न जनार्दन गोबिंद जीता।
दामोदर साँपिले (गदा) ईस्वर हेमबिदीता॥
मयानंद महिमा अनँत गुढिले तुलसीदास।
हरि के संमत जे भगत ते दासनि के दास॥
यहै बचन परमान दास गाँवरी जटियाने भाऊ।
बूँदी बनियां राम मँडौते मोहनबारी दाऊ॥
माडौठी जगदीसदास लछिमन चटुथावल भारी॥
सुरपथ में भगवान सबै सलखान गुपाल उधारी॥
जोबनेर गोपाल के भक्त इष्टता निरबही।
श्रीमुख पूजा संत की आपुन तें अधिकी कही॥
मुरधरखंड निवास भूप सब आग्याकारी।
राम नाम बिस्वास भक्त पद रज ब्रतधारी॥
जगन्नाथ के द्वार डँडौतनि प्रभु पै धायो।
दई दास की दादि हुँडी करि फेरि पठायो॥

सुरधुनी ओघ संसर्ग तें नाम बदल कुच्छित नरो।
परमहंस बंसनि मैं भयो बिभागी बानरो॥
महा समारत लोग भक्ति लौलेस न जानैं।
माला मुद्रा देखि तासु की निंदा ठानैं॥
ऐसे कुल उतपन्न भयौ भागवत सिरोमनि।
ऊसर तें सर कियो षंड दोषहि खोयो जिनि॥
बहुत ठौर परचो दियो रस रीति भक्ति हिरदै धरी।
जगत बिदित नरसी भगत (जिन) गुज्जर धर पावन करी॥
सुत कलत्र संमत्त सबै गोबिंद परायन।
सेवत हरि हरिदास द्रवत मुख राम रसायन॥
सीतापति को सुजस प्रथम ही गवन बखान्यो।
द्वै सुत दीजै मोहि कबित सबही जग जान्यो॥
गिरा गदित लीला मधुर संतनि आनँद दायनी।
दिवदास बंस जसुधर सदन भई भक्ति अनपायनी॥
लीलापद रस रीति ग्रंथ रचना में नागर।
सरस उक्ति जुत जुक्ति भक्ति रस गान उजागर॥
प्रचुर पयध लौं सुजस रामपुर ग्राम निवासी।
सकल सुकुल संबलित भक्त पद रेनु उपासी॥
चंद्रहास अग्रज सुहृद परम प्रेम पथ मैं पगे।
(श्री) नंददास आनंदनिधि रसिक सु प्रभु हित रगमगे॥
भक्ति तेज अति भाल संत मंडल को मंडन।
बुधि प्रबेस भागवत ग्रंथ संसय को खंडन॥
नरहड़ ग्राम निवास देस बागड़ निस्तार्‌यो।
नवधा भजन प्रबोध अननि दासन ब्रत धार्‌यो॥
भक्त कृपा बांछी सदा पद रज राधालाल की।
संसार सकल ब्यापक भई जकरी जन गोपाल की॥
प्रसिध प्रेम की बात गढ़ागढ़ परचो दीयो।
ऊँचे तें भयो पात स्याम साँचौ पन कीयो॥
सुत नाती पुनि सदृस चलत ऊही परिपाटी।
भक्तनि सों अति प्रेम नेम नहिं किहुँ अँग घाटी॥
नृत्य करत नहिं तन सँभार सम सर जनकन की सकति।
माधव दृढ़ महि ऊपरै प्रचुर करी लोढा भगति॥
नग अमोल इक ताहि सबै भूपति मिलि जाचैं।
साम दाम बहु करैं दास नाहिन मत काचैं॥
एक समै संकट में लेबैं पानी महि डार्‌यो।
प्रभू तिहारी वस्तु बदन ते बचन उचार्‌यो॥
पाँच दोय सत कोस ते हरि हीरा लै उर धर्‌यो।
अभिलाष भक्त अंगद्द को पुरुषोत्तम पूरन कर्‌यो॥
भक्तागमन सुनत सनमुख जोजन इक जाई।
सदन आनि सतकार सदृस गोबिंद बड़ाई॥
पाद प्रछालन सुहथ राय रानी मन सांचैं।
धूप दीप नैबेद्य बहुरि तिन आगें नाचैं॥

यह रीति करौलीधीस की तन मन धन आगें धरै।
चत्रभुज्ज नृपति की भगति कौं कौन भूप सरवरि करै॥
सदृस गोपिका प्रेम प्रगट कलिजुगहिं दिखायो।
निरअंकुस अति निडर रसिक जस रसना गायो॥
दुष्टनि दोष बिचारि मृत्यु को उद्यम कीयो।
बार न बाँको भयो गरल अमृत ज्यों पीयो॥
भक्ति निसान बजाय कै काहूँ ते नाहिन लजी।
लोक लाज कुल संृखला तजि मीराँ गिरिधर भजी॥
(श्री) कृष्णदास उपदेस परम तत्व परचो पायो।
निरगुन सगुन निरूप तिमिर अग्यान नसायो॥
काछ बाच निकलंक मनौ गांगेय जुधिष्ठिर।
हरि पूजा प्रहलाद धर्मध्वज धारी जग पर॥
पृथीराज परचो प्रगट (तन) संख चक्र मंडित कियो।
आँबेर अछित कूरम्म को द्वारकानाथ दरसन दियो॥
लघु मथुरा मेड़ता भक्त अति जैमल पोषे।
टोड़े भजन निधान रामचँद हरिजन तोषे॥
अभैराम एक रसहिं नेम नीमा के भारी।
करमसि सुरतान भगवान बीर भूपति ब्रतधारी॥
ईस्वर अखैराज रायमल्ल (कन्हर) मधुकर नृप सरबसु दियो।
भक्तनि को आदर अधिक राजबंस में इन कियो॥
रैना पर गुन राम भजन भागवत उजागर।
प्रेमी प्रेम किसोर उदर राजा रतनाकर॥
हरिदासन के दास दसा ऊँची ध्वजधारी।
निर्भय अननि उदार रसिक जस रसना भारी॥
दसधा संपति संत बल सदा रहत प्रफुलित बदन।
खेमाल रतन राठौर के अटल भक्ति आई सदन।
अजर धर्म आचर्‌यो लोक हित मनो नीलकँठ।
निंदक जग अनिराय कहा (महिमा) जानैगो भूसठ॥
बिदित गँधर्बी ब्याह कियो दुसवंत प्रमानै।
भरत पुत्र भागवत स्वमुख सुकदेव बखानै॥
और भूप कोउ छ्वै सकै दृष्टि जाय नाहिन धरी।
कलिजुग भक्ति करारी कमान रामरैन कैं रिजु करी॥
आरज को उपदेस सुतौ उर नीकें धार्‌यो।
नवधा दसधा प्रीति आन धर्म सबै बिसार्‌यो॥
अच्युत कुल अनुराग प्रगट पुरुषारथ जान्यो।
सारासार बिबेक बात तीनों मन मान्यो॥
दासत्व अनन्य उदारता संतन मुख राजा कही।
हरि गुरु हरिदासन्हि सों राम घरनि साँची रही॥
पायनि नूपुर बाँधि नृत्य नगधर हित नाच्यो।
राम कलस मन रली सीस तातें नहिं बाँच्यो॥
बानी बिमल उदार भक्ति महिमा बिस्तारी।
प्रेम पुंज सुठि सील बिनय संतनि रुचिकारी॥

सृष्टि सराहै राम सुव लघु बैस लछन आरज लिया।
अभिलाष उभै खेमाल का ते किसोर पूरा किया॥
हरीदास हरिभक्त भक्ति मंदिर को कलसो।
भजन भाव परिपक्व हृदय भागीरथि जल सो॥
त्रिधा भाँति अति अननि राम की रीति निबाही।
हरि गुरु हरि बल भाँति तिनहि सेवा दृढ़ साही॥
पुरन इंदु प्रमुदित उदधि त्यों दास देखि बाढ़े रली।
खेमाल रतन राठौर के सुफल बेलि मीठी फली॥
गायो भक्ति प्रताप सबहिं दासत्व दृढ़ायो।
राधा बल्लभ भजन अननिता गर्ब बढ़ायो॥
मुरलीधर की छाप कबित अति ही निर्दूषन।
भक्तनि की अँघ्रि रेनु वहै धारी सिर भूषन॥
सतसंग महा आनंद मैं प्रेम रहत भीज्यो हियो।
(श्री) हरिबंस चरन बल चतुरभुज गोंड देस तीरथ कियो॥
सक्र कोप सुठि चरित प्रसिध पुनि पंचाध्याई।
कृष्न रुक्मिनी केलि रुचिर भोजन बिधि गाई॥
गिरिराज धरन की छाप गिरा जलधर ज्यों गाजै।
संत सिखंडी खंड हृदै आनँद के काजै॥
जाड़ा हरन जग जाड़ता कृष्नदास देही धरी।
चालक कि चरचरी चहूँ दिसि उदधि अंत लौं अनुसरी॥
गोपीनाथ पद राग भोग छप्पन भुंजाए।
पृथु पद्धति अनुसार देव दंपति दुलराए॥
भगवत भक्त समान ठौर द्वै को बल गायो।
कबित सूर सों मिलत भेद कछु जात न पायो॥
जन्म कर्म लीला जुगति रहसि भक्ति भेदी मरम।
बिमलानंद प्रबोध बँस संतदास सीवाँ धरम॥
गान काब्य गुन रासि सुहृद सहचरि अवतारी।
राधाकृष्न उपास्य रहसि सुख के अधिकारी॥
नवरस मुख्य सिंगार बिबिधि भाँतिनि करि गायो।
बदन उच्चरित बेर सहस पायनि ह्वै धायो॥
अँगीकार की अवधि यह ज्यों आख्या भ्राता जमल।
(श्री) मदनमोहन सुरदास की नाम संृखला जुरि अटल॥
मारग जात अकेल गान रसना जु उचारै।
ताल मृदंगी बृच्छ रीझि अंबर तहँ गारै॥
गोप नारि अनुसारि गिरा गदगद आबेसी।
जग प्रपंच ते दूरि अजा परसैं नहिं लेसी॥
भगवान रीति अनुराग की संत साखि मेली सही।
कात्यायनि के प्रेम की बात जात कापै कही॥
बिदित बिलौंदा गाँव देस मुरधर सब जानै।
महा महौछे मध्य संत परिषद परवानै॥
पगनि घूँघुरु बाँधि राम को चरित दिखायो।
देसी साराँगपानि हंस ता संग पठायो॥

उपमा और न जगत में पृथा बिना नाहिन बियो।
कृष्ण बिरह कुंती सरीर त्यों मुरारि तन त्यागियो॥
त्रेता काब्य निबंध करी सतकोटि रमायन।
इक अच्छर उच्चरें ब्रह्महत्यादि पलायन॥
अब भक्तनि सुख दैन बहुरि लीला बिस्तारी।
राम चरन रस मत्त रटत अह निसि ब्रतधारी॥
संसार अपार के पार को सुगम रूप नौका लयो।
कलि कुटिल जीव निस्तार हित बालमीकि तुलसी भयो॥
करुना बीर सिंगार आदि उज्ज्वल रस गायो।
पर उपकारक धीर कबित कबिजन मन भायो॥
कोसलेस पद कमल अननि दासत ब्रत लीनो।
जानकि जीवन सुजस रहत निसि दिन रँग भीनो॥
रामायन नाटक की रहसि उक्ति भाषा धरी।
गोप्य केलि रघुनाथ की मानदास परगट करी॥
अर्थ धर्म काम मोच्छ भक्ति अनपायनि दाता।
हस्तामल श्रुति ग्यान सबहि सास्त्रन को ग्याता॥
परिचर्या ब्रजराज कुँवर के मन कौं कर्षै।
दरसन परम पुनीत सभा तन अमृत बर्षै॥
बिट्ठलेस नंदन सुभाव जग कोऊ नहिं ता समान।
बल्लभजू के बंस में सुरतरु गिरिधर भ्राजमान॥
उदधि सदा अच्छोभ सहज सुंदर मितभाषी।
गुरुबर्तन गिरिराज भलप्पन सब जग साखी॥
बिट्ठलेस की भक्ति भयो बेला दृढ़ ताकै।
भगवत तेज प्रताप नमित नरबर पद जाकै॥
निर्बिलीक आसय उदार भजन पुंज गिरिधरन रति।
बल्लभजू के बंस में गुननिधि गोकुलनाथ अति॥
बात कबित बड़ चतुर चोख चौकस अति जानै।
सारासार बिबेक परम हंसनि परवानै॥
सदाचार संतोष भूत सब कों हितकारी।
आरज गुन तन अमित भक्ति दसधा ब्रतधारी॥
दरसन पुनीत आसय उदार आलाप रुचिर सुख धाम को।
रसिक रँगीलो भजन पुंज सुठि बनवारी स्याम को॥
नाम नरायन मिश्र बंस नवला जु उजागर।
भक्तन की अति भीर भक्ति दसधा को आगर॥
आगम निगम पुरान सार सास्त्रनि सब देखे।
सुरगुरु सुक सनकादि ब्यास नारद जु बिसेषे॥
सुधा बोध मुख सुरधुनी जस बितान जग में तन्यो।
भागवत भली बिधि कथन को धनि जननी एकै जन्यो॥
काम क्रोध मद मोह लोभ की लहर न लागी।
सूरज ज्यों जल ग्रहै बहुरि ताही ज्यों त्यागी॥
सुंदर सील सुभाव सदा संतन सेवा ब्रत।
(गुरु) धर्म निकष निर्बह्यो बिस्व में बिदित बड़ो भृत॥

अल्ह राम रावल कृपा आदि अंत धुकती धरी।
कलिकाल कठिन जग जीति यों राघौ की पूरी परी॥
अच्युत कुल सों दोष सुपनेहूँ उर नहिं आनै।
तिलक दाम अनुराग सबनि गुरुजन करि मानै॥
सदन माहिं बैराग्य बिदेहिन की सी भाँती।
राम चरन मकरंद रहति मनसा मदमाती॥
जोगानंद उजागर बंस करि निसि दिन हरि गुन गावनो।
हरिदास भलप्पन भजन बल बावन ज्यों बढ़्यो बावनो॥
ज्यों चंदन को पवन नीब पुनि चंदन करई।
बहुत काल तम निबिड़ उदय दीपक ज्यों हरई॥
श्रीभट पुनि हरिब्यास संत मारग अनुसरई।
कथा कीरतन नेम रसन हरि गुन उच्चरई॥
गोबिंद भक्ति गद रोग गति तिलक दाम सद बैद हद।
जंगली देस के लोग सब (श्री) परसुराम किए पारषद॥
सज्जन सुहृद सुसील बचन आरज प्रतिपालय।
निर्मत्सर निहकाम कृपा करुना को आलय॥
अननि भजन दृढ़ करन धर्‍यो बपु भक्तनि काजै।
परम धरम को सेतु बिदित बृंदाबन गाजै॥
भागवत सुधा बरषै बदन काहू कों नाहिन दुखद।
गुन निकर गदाधर भट्ट अति सब ही को लागै सुखद॥
चौमुख चौरा चंड जगत ईस्वर गुन जाने।
करमानँद अरु कोल्ह अल्ह अच्छर परवाने॥
माधौ मथुरा मध्य साधु जीवानँद सींवा।
दुदा नरायनदास नाम माँड़न नतग्रीवा॥
चौरासी रूपक चतुर बरनत बानी जूजुवा।
चरन सरन चारन भगत हरि गायक एता हुआ॥
सवया गीत सलोक बेलि दोहा गुन नवरस।
पिंगल काब्य प्रमान बिबिधि बिधि गायो हरिजस॥
पर दुख बिदुख सलाध्य बचन रचना जु बिचारै।
अर्थ बित्त निर्मोल सबै सारँग उर धारै॥
रुक्मिनी लता बरनन अनुप बागीस बदन कल्यान सुव।
नरदेव उभय भाषा निपुन पृथीराज कबिराज हुव॥
असुर अजीज अनीति अगिनि में हरिपुर कीधौ।
साँगन सुत नै सादराय रनछोरै दीधौ॥
धराधाम धन काज मरन बीजा हूँ माँड़ै।
कमधुज कुट कै हुवौ चौक चत्रभुजनी चांड़ै॥
बाढ़ेल बाढ कीवी कटक चाँद नाम चाँड़ै सबल।
द्वारका देखि पालंटती अचढ़ सीवै कीधी अटल॥
कथा कीरतन प्रीति भीर भक्तनि की भावै।
महामहोछौ मुदित नित्य नँदलाल लड़ावै॥
मुकुँद चरन चिंतवन भक्ति महिमा ध्वजधारी।
पति पर लोभ न कियो टेक अपनी नहिं टारी॥

भलपन सबै बिसेबहीं आँबेर सदन सुनखा जिती।
पृथीराज नृप कुलबधू भक्त भूप रतनावती॥
(श्री) रामानुज की रीति प्रीति पन हिरदैं धार्‌यो।
संसकार सम तत्व हंस ज्यों बुद्धि बिचार्‌यो॥
सदाचार मुनिबृत्ति इंदिरा पधति उजागर।
रामदास सुत संत अननि दसधा को आगर॥
पुरुषोत्तम परसाद तें उभै अंग पहिर्‌यो बरम।
पारीष प्रसिध कुल काँथड्या जगन्नाथ सीवाँ धरम॥
सदाचार संतोष सुहृद सुठि सील सुभासै।
हस्तक दीपक उदय मेटि तम बस्तु प्रकासै॥
हरि को हियँ बिस्वास नंदनंदन बल भारी।
कृष्ण कलस सों नेम जगत जानै सिर धारी॥
(श्री) बर्द्धमान गुरु बचन रति सो संग्रह नहिं छंडयो।
कीरतन करत कर सपने हूँ मथुरादास न मंडयो॥
पद लीनो परसिद्ध प्रीति जामें दृढ़ नातो।
अच्छर तनमय भयो मदनमोहन रँग रातो॥
नाचत सब कोउ आहि काहि पै यह बनि आवै।
चित्र लिखित सो रह्यो त्रिभँग देसी जु दिखावै॥
हँड़िया सराय देखत दुनी हरिपुर पदवी को कढ़्यो।
नृतक नरायनदास को प्रेम पुंज आगे बढ़्यो॥
बोहित राम गुपाल कुँवरबर गोबिंद माँडिल।
छीतस्वामि जसवंत गदाधर अनँतानँद भल॥
हरिनाभामिश्र दीनदास बछपाल कन्हर जस गायन।
गोसू रामदास नारद स्याम पुनि हरिनारायन॥
कृष्नजिवन भगवान जन स्यामदास बिहारी अमृतदा।
गुन गन बिसद गुपाल के एते जन भए भूरिदा॥
उधव रामरेनु परस (राम) गँगा धूषेत निवासी।
अच्युतकुल ब्रह्मदास बिश्राम सेषसाइ के बासी॥
किंकर कुंडा कृष्नदास खेम सोंठा गोपानँद।
जैदेव राघौ बिदुर दयाल दामोदर मोहन परमानंद॥
उद्धव रघुनाथी चतुरोनगन कुंज ओक जे बसत अब।
निरबर्त्त भए संसार तें ते मेरे जजिमान सब॥
सदा जुक्त अनुरक्त भक्त मंडल कों पोषत।
पुर मथुरा ब्रज भूमि रमत सबही को तोषत॥
परम धरम दृढ़ करन देव श्री गुरु आराध्यो।
मधुर बैन सुठि ठौर ठौर हरिजन सुख साध्यो॥
संत महंत अनंत जन जस बिस्तारत जासु नित।
श्रीस्वामी चतुरोनगन मगन रैन दिन भजन हित॥
गोमा परमानंद (प्रधान) द्वारिका मथुरा खोरा।
कालुष साँगानेर भलौ भगवान को जोरा॥
बीठल टोड़े खेम पँडा गूनो रै गाजैं।
स्यामसेन के बंस बिधर पीपा रबि राजैं॥

जैतारन गोपाल को केवल कूबै मोल लियो।
मधुकरी माँगि सेवैं भगत तिनपर हौं बलिहार कियो॥
जंगी प्रसिध प्रयाग बिनोदि पूरन बनवारी।
नरसिंह मल भगवान दिवाकर दृढ़ ब्रतधारी॥
कोमलहृदय किसोर जगत जगनाथ सलूधौ।
औरौ अनुग उदार खेम खीची धरमधीर लघु ऊधौ॥
त्रिबिधि ताप मोचन सबै सौरभ प्रभु जिन सिर भुजा।
(श्री) अग्र अनुग्रह तें भए सिष्य सबै धर्म कि धुजा॥
अंगज परमानंद दास जोगी जग जागै।
खरतर खेम उदार ध्यान (केसो) हरिजन अनुरागै॥
सस्फुट त्योला शब्द लोहकर बंस उजागर।
हरीदास कपि प्रेम सबै नवधा के आगर॥
अच्युत कुल सेवैं सदा दासन तन दसधा अघट।
भरतखंड भूधर सुमेर टीला लाहा (की) पद्धति प्रगट॥
चारि बरन आश्रम्म रंक राजा अन पावै।
भक्तनि को बहुमान बिमुख कोऊ नहिं जावै॥
बीरी चंदन बसन कृष्ण कीरत्तन बरषै।
प्रभु के भूषन देय महामन अतिसय हरषै॥
बीठल सुत बिमल्यो फिरै दास चरन रज सिर धरै।
मधुपुरी महोछौ मँगलरूप कान्हर कैसो को करै॥
आवहिं दास अनेक उठि सुआदर करि लीजै।
चरन धोय दंडौत सदन में डेरा दीजै॥
ठौर ठौर हरिकथा हृदय अति हरिजन भावैं।
मधुर बचन मुँह लाय बिबिधि भांतिन्ह जु लड़ावैं॥
सावधान सेवा करै निर्दूषन रति चेतसी।
भक्तनि सों कलिजुग भलें निबही निंबा खेतसी॥
यह अचरज भयो एक खाँड़ घृत मैदा बरषै।
रजत रुक्म की रेल सृष्टि सबही मन हरषै॥
भोजन रास बिलास कृष्ण कीरत्तन कीनो।
भक्तनि को बहुमान दान सबही को दीनो॥
कीरति कीनी भीमसुत (सुनि) भूप मनोरथ आन के।
बसन बढ़े कुंतीबधू त्यों तूँबर भगवान के॥
भक्तनि सों अति भाव निरंतर अंतर नाहीं।
कर जोरे इक पाय मुदित मन आग्या माहीं॥
श्रीबृंदाबन बास कुंज क्रीडा रुचि भावै।
राधाबल्लभ लाल नित्य प्रति ताहि लड़ावै॥
परम धरम नवधा प्रधान सदन साँच निधि प्रेम जड़।
जसवंत भक्ति जैमाल की रूड़ा राखी राठवड़॥
अमित महागुन गोप्य सार बित सोई जानै।
देखत को तुलाधार दूर आसै उनमानै॥
देय दमामौ पैज बिदित बृंदाबन पायो।
राधाबल्लभ भजन प्रगट परताप दिखायो॥

परम धरम साधन सुदृढ़ कलिजुग कामधेनु में गन्यो।
हरिदास भक्तनि हित धनि जननी एकै जन्यो॥
बाँबोली गोपाल गुननि गंभीर गुना रट।
दच्छिन दिसि बिष्नुदास गाँव कासीर भजन भट॥
भक्तनि सों यह भाय भजैं गुरु गोबिंद जैसे।
तिलक दाम आधीन सुबर संतनि प्रति तैसे॥
अच्युत कुल पन एकरस निबह्यो ज्यौं श्रीमुख गदित।
भक्ति भार जूड़ैं जुगल धर्म धुरंधर जग बिदित॥
आसकरन रिषिराज रूप भगवान भक्त गुर।
चतुरदास जग अभै छाप छीतर जु चतुर बर॥
लाखै अद्भुत रायमल्ल खेम मनसा क्रम बाचा।
रसिक रायमल गोंदु देवा दामोदर हरि रँग राचा॥
सबै सुमंगल दास दृढ़ धर्म धुरंधर भजन भट।
कील्ह कृपा कीरति बिसद परम पारषद सिष प्रगट॥
आगम निगम पुरान सार सास्त्रनि जु बिचारयो।
ज्यों पारो दै पुटहि सबनि को सार उधारयो॥
(श्री) रूप सनातन जीव भट्ट नारायन भाष्यो।
सो सर्बसु उर साँच जतन करि नीकें राख्यो॥
फनी बंस गोपाल सुव रागा अनुगा को अयन।
रस रास उपासक भक्तराज नाथ भट्ट निर्मल बयन॥
नस्वर पति रति त्यागि कृष्न पद सों रति जोरी।
सबै जगत की फाँसि तरकि तिनुका ज्यों तोरी॥
निर्मल कुल काँथड्या धन्य परसा जिहिं जाई।
बिदित बृँदाबन बास संत मुख करत बड़ाई॥
संसार स्वाद सुख बांत करि फेर नहीं तिन तन चही।
कठिन काल कलिजुग्ग में करमैती निकलँक रही॥
गोपी ग्वाल पितु मातु नाम निरनै कियो भारी।
दान केलि दीपक्क प्रचुर अति बुद्धि उचारी॥
सखा सखी गोपाल काल लीला में बितयो।
कायथ कुल उद्धार भक्ति दृढ़ अनत न चितयो॥
गौतमी तंत्र उर ध्यान धरि तन त्याग्यो मंडल सरद।
गोबिंदचंद गुन ग्रथन को खडगसेन बानी बिसद॥
स्यामा जू की सखी नाम आगम बिधि पायो।
ग्वाल गाय ब्रजगाँव पृथक नीकें करि गायो॥
कृष्नकेलि सुख सिंधु अघट उर अंतर धरई।
ता रस में नित मगन असद आलाप न करई॥
ब्रजबास आस ब्रजनाथ गुरु भक्त चरन रज अननि गति।
सखा स्याम मन भावतो गंग ग्वाल गंभीरमति॥
परम भक्ति परताप धर्मध्वज नेजा धारी।
सीतापति को सुजस बदन सोभित अति भारी॥
जानकि जीवन चरन सरन थाती थिर पाई।
नरहरि गुरु परसाद पूत पोतें चलि आई॥
राम उपासक छाप दृढ़ और न कछु उर आनियो।
सोति स्लाघ्य संतनि सभा दुतिय दिवाकर जानियो॥
हृदै हरी गुन खानि सदा सतसँग अनुरागी।
पद्मपत्र ज्यों रह्यो लोभ की लहर न लागी॥
बिष्नुरात सम रीति बधेरै त्यों तन त्याज्यो।
भक्त बराती बृंद मध्य दूलह ज्यों राज्यो॥
खरी भक्ति हरिषांपुरै गुरु प्रताप गाढ़ी गही।
जीवत जस पुनि परम पद लालदास दोनों लही॥
निसि दिन यहै बिचार दास जिहिं बिधि सुख पावैं।
तिलक दाम सों प्रीति हृदै अति हरिजन भावैं॥
परमारथ सों काज हिएँ स्वारथ नहिं जानै।
दसधा मत्त मराल सदा लीला गुन गानै॥
आरत हरि गुन सील सम प्रीति रीति प्रति पाल की।
भक्तनि हित भगवत रची देही माधौ ग्वाल की॥
मानस बाचक काय राम चरननि चित दीनो।
भक्तनि सों अति प्रेम भावना करि सिर लीनो॥
रास मध्य निर्जान देह दुति दसा दिखाई।
आड़ो चलियो अंक महोछौ पूरी पाई॥
क्यारे कलस औली ध्वजा बिदुष संलाघा भाग की।
श्रीअगर सुगुरु परताप तें पूरी परी प्रयाग की॥
सुंदर सील सुभाव मधुर बानी मंगल कर।
भक्तनि कों सुख दैन फर्‌यो बहुधा दसधा तरु॥
सदन बसत निर्बेद सारभुक जगत असंगी।
सदाचार ऊदार नेम हरिदास प्रसंगी॥
दया दृष्टि बसि आगरैं कथा लोग पावन कर्‌यो।
प्रगट अमित गुन प्रेमनिधि धन्य बिप्र जेहिं नाम धर्‌यो॥
सदाचार गुरु सिष्य त्याग बिधि प्रगट दिखाई।
बाहेर भीतर बिसद लगी नहिं कलिजुग काई॥
राघौ रुचिर सुभाव असद आलाप न भावै।
कथा कीरतन नेम मिलें संतनि गुन गावै॥
ताप तोल पूरौ निकष (ज्यों) घन अहरनि हीरो सहँत।
दूबरो जाहि दुनियाँ कहै सो भक्त भजन मोटो महँत॥
हरिनारायन नृपति पदम बेरछैं बिराजै।
गाँव हुसंगाबाद अटल ऊधौ भल छाजै॥
भेलै तुलसीदास ख्यात भट देवकल्यानो।
बोहित बीरा रामदास सुहेलै परम सुजानो॥
औली परमानंद कै ध्वजा सबल धर्म कि गड़ी।
दासनि के दासत्र को चौकस चौकी ए मड़ी॥
देमा प्रगट सब दुनी रामाबाई (बीरां) हीरामनि।
लाली नीरा लच्छि जुगल पार्बती जगत धनि॥
खीचनि केसी धना गोमती भक्त उपासिनि।
बादररानी बिदित गंग जमुना रैदासिनि॥

जेवा हरसा जोइसिनि कुवँरिराय कीरति अमल।
अबला सरीर साधन सबल ए बाई हरिभक्ति बल॥
श्रीगुरु सरनै आय भक्ति मारग सत जान्यो।
संसारी धर्म छाँड़ि झूँठ अरु साँच पिछान्यो॥
ज्यों साखा द्रुम चंद जगत सों इहिं बिधि न्यारो।
सर्ब भूत समदृष्टि गुननि गंभीर अति भारो॥
भक्त भलाई बदन नित कुबचन कबहूँ नहिं कह्यो।
कन्हरदास संतनि कृपा हरि हिरदै लावो लह्यो॥
कहनी रहनी एक एक प्रभु पद अनुरागी।
जस बितान जग तन्यो संत संमत बड़भागी॥
तैसोइ पूत सपूत नूत फल जैसोइ परसा।
हरि हरिदासनि टहल कबित रचना पुनि सरसा॥
(श्री) सुरसुरानंद संप्रदा दृढ़ केसव अधिक उदार मन।
लट्यो लटेरा आन बिधि परम धरम अति पीन तन॥
भक्ति भागवत बिमुख जगत गुरु नाम न जानैं।
ऐसे लोक अनेक ऐंचि सनमारग आनैं॥
निर्मल रति निहकाम अजा तें सदा उदासी।
तत्वदरसि तम हरन सील करुना की रासी॥
तिलक दाम नवधा रतन कृष्न कृपा करि दृढ़ दिया।
केवलराम कलिजुगा के पतित जीव पावन किया॥
धर्मसील गुनसींव महाभागवत राजरिष।
पृथीराज कुलदीप भीमसुत बिदित कील्ह सिष॥
सदाचार अति चतुर बिमल बानी रचना पद।
सूर धीर ऊदार बिनय भलपन भक्तनि हद॥
सीतापति राधा सुबर भजन नेम कूरम धर्यो।
(श्री) मोहन मिश्रित पद कमल आसकरन जस बिस्तर्यो॥
कथा कीरतन प्रीति संत सेवा अनुरागी।
खरिया खुरपा रीति ताहि ज्यों सर्बसु त्यागी॥
संतोषी सुठि सील असद आलाप न भावै।
काल बृथा नहिं जाय निरंतर गोबिंद गावै॥
सिष सपूत श्रीरंग को उदित पारषद अंस के।
निहकिंचन भक्तनि भजै हरि प्रतीति हरिबंस के॥
नवकिसोर दृढ़ब्रत अनन्य मारग इक धारा।
मधुर बचन मन हरन सुखद जानत संसारा॥
पर उपकार बिचार सदा करुना की रासी।
मन बच सर्बस रूप भक्त पद रेन उपासी॥
धर्मदास सुत सील सुठि (मन) मान्यो कृष्न सुजान के।
हरिभक्ति भलाई गुन गँभीर बाँटे परी कल्यान के॥
आदि अंत निर्बाह भक्त पद रंज ब्रतधारी।
रह्यो जगत सों ऐंड़ तुच्छ जानै संसारी॥
प्रभुता पति की पधति प्रगट कुल दीप प्रकासी।
महत सभा मैं मान जगत जानै रैदासी॥
पद पढ़त भई परलोक गति गुरु गोबिंद जुग फल दिया।
बिठलदास हरि भक्ति के दुहूँ हाथ लाडू लिया॥
क्राहब श्रीरँग सुमति सदानँद सर्बसु त्यागी।
स्यामदास लघुलंब अननि लाखै अनुरागी॥
मारू मुदित कल्यान परसबंसी नारायन।
चेता ग्वाल गुपाल सँकर लीला पारायन॥
संत सेय कारज किया तोषत स्याम सुजान कों।
भगवंत रचे भारी भगत भक्तनि के सनमान कों॥
सरनागत कों सिबिर दान दाधीच टेक बलि।
परम धरम प्रहलाद सीस जगदेव देन कलि॥
बीकावत बानैत भक्त पन धर्म धुरंधर।
तूँवर कुल दीपक्क संत सेवा नित अनुसर॥
पार्थ पीठ आचरज कौन सकल जगत में जस लियो।
तिलक दाम परकास कों हरीदास हरि निर्मयो॥
तान मान सुर ताल सुलय सुंदर सुठि सोहै।
सुधा अंग भ्रूभंग गान उपमा कों को है॥
रतनाकर संगीत राग माला रँग रासी।
रिझये राधालाल भक्त पद रेनु उपासी॥
स्वर्नकार खरगू सुवन भक्त भजन पद दृढ़ लियो।
नंदकुँवर कृष्नदास कों निज पग तें नूपुर दियो॥
चितसुख टीकाकार भक्ति सर्बोपर राखी।
श्रीदामोदर तीर्थ राम अर्चन बिधि भाषी॥
चंद्रोदय हरिभक्ति नरसिंहारन्य जु कीनी।
माधौ मधुसूदन्न (सरस्वती) परमहँस कीरति लीनी॥
परबोधानँद रामभद्र जगदानँद कलिजुग्ग धनि।
परमधर्म प्रतिपोष कौं संन्यासी ये मुकुटमनि॥
सरिता कूकस गाँव सलिल में ध्यान धर्यो मन।
राम चरन अनुराग सुदृढ़ जाकें साँचो पन॥
सुत कलत्र धन धाम ताहि सों सदा उदासी।
कठिन मोह को फंद तरकि तोरी कुल फाँसी॥
कील्ह कृपा बल भजन के ग्यान खड्ग माया हनी।
अष्टांग जोग तन त्यागियो द्वारकादास जानै दुनी॥
उदै अस्त परबत्त गहिर मधि सरिता भारी।
जोग जुगति बिस्वास तहाँ दृढ़ आसन धारी॥
ब्याघ्र सिंह गुँजै खरा मनहिं कछु संक न मानैं।
अर्ध न जातैं पौंन उलटि ऊरध कों आनैं॥
साखि सब्द निर्मल कहा कथिया पद निर्बान।
पूर्न प्रगट महिमा अनँत करिहै कौन बखान॥
सदाचार मुनिबृत्ति भजन भागवत उजागर।
भक्तनि सों अति प्रीति भक्ति दसधा को आगर॥
संतोषी सुठि सील हृदय स्वारथ नहिं लेसी।
परम धर्म प्रतिपाल संत मारग उपदेसी॥

श्रीभागवत बखानि कै नीर छीर बिबरन करयौ।
(श्री) रामानुज पद्धति प्रताप भट्ट लच्छिमन अनुसरयौ॥
कृष्णदास कलि जीति न्यौति नाहर पल दीयो।
अतिथि धर्म प्रतिपाल प्रगट जस जग में लीयो॥
उदासीनता अवधि कनक कामिनि नहिं रातो।
राम चरन मकरंद रहत निसि दिन मदमातो॥
गलतें गलित अमित गुन सदाचार सुठि नीति।
दधीचि पाछें दूसरी (करी) कृष्णदास कलि जीति॥
लाल बिहारी जपत रहत निसि बासर फूल्यौ।
सेवा सहज सनेह सदा आनँद रस झूल्यौ॥
भक्तनि सों अति प्रीति रीति सबही मन भाई।
आसय अधिक उदार रसन हरि कीरति गाई॥
हरि बिस्वास हिय आनि कै सपनेहुँ आन न आस की।
भली भाँति निबही भगति सदा गदाधरदास की॥
भक्ति जोग जुत सुदृढ़ देह निज बल करि राखी।
हिएँ सरूपानंद लाल जस रसना भाषी।
परिचय प्रचुर प्रताप जान मनि रहस सहायक।
श्रीनारायन प्रगट मनो लोगनि सुखदायक॥
नित सेवत संतनि सहित दाता उत्तर देस गति।
हरि भजन सींव स्वामी सरस श्रीनारायनदास अति॥
भजन भाव आरूढ़ गूढ़ गुन बलित ललित जस।
श्रोता श्रीभागवत रहसि ग्याता अच्छर रस॥
मथुरापुरी निवास आस पद संतनि इकचित।
श्रीजुत खोजी स्याम धाम सुखकर अनुचर हित॥
अति गंभीर सुधीर मति हुलसत मन जाके दरस।
भगवानदास श्रीसहित नित सुहृद सील सज्जन सरस॥
जगन्नाथ को दास निपुन अति प्रभु मन भायो।
परम पारषद समुझि जानि प्रिय निकट बुलायो॥
प्रान पयानो करत नेह रघुपति सों जोरयो।
सुत दारा धन धाम मोह तिनुका ज्यों तोरयो॥
कौंधनी ध्यान उर में लस्यो, राम नाम मुख जानकी।
भक्त पच्छ ऊदारता, यह निबही कल्यान की॥
संतदास सदबृत्ति जगत छोई करि डारयो।
महिमा महा प्रबीन भक्ति बित धर्म बिचारयो॥
बहुरयो माधौदास भजन बल परचौ दीनो।
करि जोगिनि सों बाद बसन पावक प्रतिलीनो॥
परम धर्म बिस्तार हित प्रगट भए नाहिन तथा।
सोदर सोभूराम के सुनौ संत तिन की कथा॥
कृष्न भक्ति को थंभ ब्रह्मकुल परम उजागर।
छमासील गंभीर सर्ब लच्छन को आगर॥
सर्बसु हरिजन जानि हृदय अनुराग प्रकासै।
असन बसन सनमान करत अति उज्वल आसै॥
सोभूराम प्रसाद तें कृपादृष्टि सब पर बसी।
बूड़िए बिदित कन्हर कृपाल आतमाराम आगम दर्सी॥
रुचिरसील घननील लील रुचि सुमति सरित पति।
बिबिधि भक्त अनुरक्त ब्यक्त बहु चरित चतुर अति॥
लघु दीरघ सुर सुद्ध बचन अबिरुद्ध उचारन।
बिस्वबास बिस्वास दास परिचय बिस्तारन॥
जानि जगत हित सब गुननि सुसम नरायनदास दिय।
भक्त रतनमाला सुधन गोबिंद कंठ बिकास किय॥
श्रीजुत नृपमनि जगतसिंह दृढ़ भक्ति परायन।
परम प्रीति किए सुबस सील लक्ष्मीनारायन॥
जासु सुजसु सहजहीं कुटिल कलि कल्प जु धायक।
आग्या अटल सुप्रगट सुभट कटकनि सुखदायक॥
अतिही प्रचंड मार्तंड सम तम खंडन दोर्दंड बर।
भक्तेस भक्त भव तोषकर संत नृपति बासो कुँवर॥
प्रेमी भक्त प्रसिद्ध गान अति गदगद बानी।
अंतर प्रभु सों प्रीति प्रगट रहै नाहिन छानी॥
नृत्य करत आमोद बिपिन तन बसन बिसारै।
हाटक पट हित दान रीझि तत्काल उतारै॥
मालपुरै मंगल करन रास रच्यो रस रंग को।
गिरिधरन ग्वाल गोपाल को सखा साँचिलो संग को॥
प्रगट अंग में प्रेम नेम सों मोहन सेवा।
कलिजुग कलुष न लग्यो दास तें कबहुँ न छेवा॥
बानी सीतल सुखद सहज गोबिंद धुनि लागी।
लच्छन कला गँभीर धीर संतनि अनुरागी॥
अंतर सुद्ध सदा रहै रसिक भक्ति निज उर धरी।
गोपाली जन पोष कों जगत जसोदा अवतरी॥
सीतल परम सुसील बचन कोमल मुख निकसै।
भक्त उदित रबि देखि हृदय बारिज जिमि बिकसै॥
अति आनँद मन उमँगि संत परिचर्जा करई।
चरन धोय दंडौत बिबिधि भोजन बिस्तरई॥
बछबन निवास बिस्वास हरि जुगल चरन उर जगमगत।
(श्री) रामदास रस रीति सों भली भाँति सेवत भगत॥
भक्ति ग्यान बैराग जोग अंतर गति पाग्यो।
काम क्रोध मद लोभ मोह मतसर सब त्याग्यो॥
कथा कीरतन मगन सदा आनँद रस भूल्यो।
संत निरखि मन मुदित उदित रबि पंकज फूल्यो॥
बैर भाव जिन द्रोह किय तासु पाग खसि भ्वै परी।
बिप्र सारसुत घर जनम रामराय हरि रति करी॥
कुंजबिहारी केलि सदा अभ्यंतर भासै।
दंपति सहज सनेह प्रीति परमिति परकासै॥
अननि भजन रस रीति पुष्ट मारग करि देखी।
बिधि निषेध बल त्यागि पागि रति हृदय बिसेषी॥

माधव सुत संमत रसिक तिलक दाम धरि सेव लिय।
भगवंत मुदित ऊदार जस रस रसना आस्वाद किय॥
गौर स्याम सों प्रीति प्रीति जमुना कुंजनि सों।
बंसीबट सों प्रीति प्रीति ब्रज रज पुंजनि सों॥
गोकुल गुरुजन प्रीति प्रीति घन बारह बन सों।
पुर मथुरा सों प्रीति प्रीति गिरि गोबर्द्धन सों॥
बास अटल बृंदा बिपिन दृढ़ करि सो नागरि कियो।
दुर्लभ मानुष देह को लालमती लाहो लियो॥
कबिजन करत बिचार बड़ो कोउ ताहि भनिजै।
कोउ कह अवनी बड़ी जगत आधार फनिजै॥
सो धारी सिर सेस सेस सिव भूषन कीनो।
सिव आसन कैलास भुजा भरि रावन लीनो॥
रावन जीत्यो बालि (पुनि) बालि राम इक सर दँडे।
अगर कहै त्रैलोक में हरि उर धारैं ते बड़े॥
नेह परसपर अघट निबहि चारौं जुग आयो।
अनुचर को उतकर्ष स्याम अपने मुख गायो॥
ओत प्रोत अनुराग प्रीति सबही जग जानैं।
पुर प्रबेस रघुबीर भृत्य कीरति जु बखानैं॥
अगर अनुग गुन बरनते सीतापति नित होयँ बस।
हरि सुजस प्रीति हरि दास के त्यों भावैं हरि दास जस॥
दुर्बासा प्रति स्याम दासबसता हरि भाषी।
ध्रुव गज पुनि प्रहलाद राम सबरी फल साषी॥
राजसूय जदुनाथ चरन धोय जूँठ उठाई।
पांडव बिपति निवारि दिए बिष बिषया पाई॥
कलि बिसेष परचो प्रगट आस्तिक ह्वै कै चित धरौ।
उतकर्ष सुनत संतनि को अचरज कोऊ जिनि करौ॥

दोहा

पादप पेड़हि सींचते पावै अँग अँग पोष।
पूरबजा ज्यों बरनते सब मानियो सँतोष॥
भक्त जिते भूलोक में कथे कौन पै जायँ।
समुँद पान श्रद्धा करै कहँ चिरि पेट समायँ॥
श्रीमूरति सब बैष्नव लघु बड़ गुननि अगाध।
आगे पीछे बरनते जिनि मानौ अपराध॥
फल की सोभा लाभ तरु तरु सोभा फल होय।
गुरू सिष्य की कीर्ति में अचरज नाहीं कोय॥
चारि जुगन में भगत जे तिन के पद की धूरि।
सर्बसु सिर धरि राखिहौं मेरी जीवन मूरि॥
जग कीरति मंगल उदै तीनौं ताप नसायँ।
हरिजन को गुन बरनते हरि हृदि अटल बसायँ॥
हरिजन को गुन बरनते (जो) करै असूया आय।
इहाँ उदर बाढ़ै बिथा औ परलोक नसाय॥
(जो) हरि प्रापति की आस है तौ हरिजन गुन गाव।
नतरु सुकृत भुंजे बीज ज्यौं जनम जनम पछिताव॥
भक्त दास संग्रह करै कथन श्रवन अनुमोद।
सो प्रभु प्यारौ पुत्र ज्यों बैठै हरि की गोद॥
अच्युत कुल जस बेर इक जाकी मति अनुरागि।
उन की भक्ती सुकृत को निहँचै होय बिभागि॥
भक्त दास जिन जिन कथी तिन की जूँठनि पाय।
मो मति सार अच्छर द्वै कीनौं सिलौ बनाय॥
काहू के बल जोग जग्य कुल करनी की आस।
भक्त नाम माला अगर (उर) बसौ नारायनदास॥

इति श्रीभक्तमाल मूल श्रीनारायणदासजी (नाभाजी) कृत समास।

भक्त-वाणी

पार्वती ! भगवान् विष्णुके सहस्त्रनामोंमें जो सारभूत नाम है, मैं उसीका नित्य-निरन्तर चिन्तन करता हूँ। मैं राम-नाम जपता हूँ और उसीके अङ्ककी मालाके द्वारा गिनती करता हूँ। ××× राम-नाम कोटि मन्त्रोंसे अधिक फल देनेवाला है। 'राम' इस दो अक्षरके नामका जप सब पापोंका नाश करनेवाला है। मनुष्य चलते, खड़े होते और सोते समय भी श्रीराम-नामका कीर्तन करनेसे इह लोकमें सुख पाता है और अन्तमें भगवान्का पार्षद होता है। ××× इस भूमितलपर राम-नामसे बढ़कर कोई पाठ नहीं है। जो राम-नामकी शरण ले चुके हैं, उन्हें कभी यमलोककी यातना नहीं भोगनी पड़ती। जो-जो विघ्नकारक दोष हैं, सब राम-नामका उच्चारण करनेमात्रसे नष्ट हो जाते हैं। ××× 'राम' यह मन्त्रराज भय तथा व्याधियोंका नाश करनेवाला है, युद्धमें विजय देनेवाला तथा समस्त कार्यों एवं मनोरथोंका सिद्ध करनेवाला है। (स्कन्दपुराण ब्राह्मखण्ड चातुर्मास्यमाहात्म्य)। —भगवान् शङ्कर

उत्तरार्द्ध भक्तमाल

(रचयिता—भक्तप्रवर भारतेन्दु श्रीहरिश्चन्द्र)

दोहा

राधाबल्लभ बल्लभी बल्लभ बल्लभताइ।
चार नाम बपु एक पद बंदत सीस नवाइ॥
है प्रतच्छ बसि गृह निकट दियो प्रेम को दान।
जय जय जय हरि मधुर बपु गुरु रस रीति निधान॥
जग के बिषय छुड़ाइ सब सुद्ध प्रेम दिखराइ।
बसे दूर है सहज पुनि जै जै जादवराइ॥
धन जन हरि निहचिंत करि फिर डार्यौ भव जाल।
सोचि जुगति कछु मोहि जिन जै जै सो नँदलाल॥
कछु गीता मैं भाषि कै सुक है करुना धारि।
कही भागवत मैं प्रगट प्रेम रीति निरुवारि॥
पुनि बल्लभ है सो कही कबहूँ कही जु नाहिं।
सुद्ध प्रेम रस रीति सब निज ग्रंथन के माहिं॥
बंस रूप करि कै द्विबिध थापी पुनि जग सोय।
अब लौं जाके लेस सों पामर प्रेमी होय॥
ब्यास कृष्नचैतन्य हरिदास सु हित हरिबंस।
बिबिध गुप्त रस पुनि कहे धरि बपु परम प्रसंस॥
भाँति भाँति अनुभव सरस जिन दिखरायो आप।
अधमहु को सो नित जयति समन समन पुर दाप॥
अतिहि अघी अति हीन निज अपराधी लखि दीन।
जदपि छमा के जोग नहिं तऊ दया अति कीन॥
छत्रानी सों यों कह्यौ या कहँ जानहु संत।
अहो कृपाल! कृपालुता तुमरी को नहिं अंत॥
ज्वर तापित हिय में प्रगट जुगल हँसत आसीन।
स्वर्ण सिंहासन पर लिएँ कर जुग कंज नवीन॥
अगिनि बरत चारहुँ दिसा पै मधि सीतल नीर।
ताहि उजारत चरन सों देत दास कहँ धीर॥
बहु नट बपु है आपुही कसरत करत अनेक।
कबहूँ पौढ़े महल मैं तानि झीन पट एक॥
कबहुँ सेत पाषान की कोच जुगल छबि धाम।
बैठे बाग बहार मैं गल भुज दिएँ ललाम॥
साँझ समय आरति करत सब मिलि गोपी ग्वाल।
कबहुँ अकेले ही मिलत पिय नँदलाल दयाल॥
कबहुँ गौर दुति बाल बपु रजत अभूषन अंग।
पंचनदी पोसाक तन धरें किएँ सोइ ढंग॥
कबहुँ जुगल आवत चले साँझ समय बरसात।
कै बसंत जहँ हरित धर चारहुँ ओर दिखात॥
देखि दीन भुव मैं लुठत फूल छरी सिर मारि।
हँसत परसपर रस भरे जिय अति दया बिचारि॥
कबहुँ प्रगट कबहूँ सुपन कबहुँ अचेतन माहिं।
निज जय दृढ़ता हेत जो बारंबार दिखाहिं॥
होत बिमुख रोकत तुरत करत बिबिध उपदेस।
जै जै जै हरि राधिका बितरन नेह बिसेस॥
मायाबाद मतंग मद हरत गरजि हरि नाम।
जयति कोऊ सो केसरी बृंदाबन बन धाम॥
तम पाखंडहि हरत करि जन मन जलज बिकास।
जयति अलौकिक रबि कोऊ श्रुति पथ करन प्रकास॥

अथ परम्परा

तन्नमामि निज परम गुरु कृष्न कमल दल नैन।
जाको मन श्रीराधिका नाम जपत दिन रैन॥
श्रीगोपीजन पद जुगल बंदत करि पुनि नेम।
जिन जग मैं प्रगटित कियो परम गुप्त रस प्रेम॥
श्रीसिव पद निज जानि गुरु बंदत प्रेम प्रमान।
परम गुप्त निज प्रगट किय भक्ति पंथ अभिधान॥
बंदौं श्री नारद चरन भव पारद अभिराम।
परम बिसारद कृष्न गुन गान सदा गतकाम॥
पुनि बंदत श्री ब्यास पद बेद भाग जिन कीन।
कृष्न तत्व को ग्यान सब सूत्र बिरचि कहि दीन॥
बंदत श्री सुकदेव जिन सोध प्रेम को पंथ।
हमसे कलि मल ग्रसित हित कह्यो भागवत ग्रंथ॥
बिष्नुस्वामि पद जुगल पुनि प्रनवत बारंबार।
जिन प्रगटायो प्रेम पथ बहत जानि संसार॥
गोपीनाथ अरंभि जैदेवादिक मध थामि।
बिल्वमँगल लौं सप्त सत गुरु अवली प्रनमामि॥
नमो बिल्वमंगल चरन भक्ति बीज उतकर्ष।
सूक्ष्म रूप सों तरु रहे जो अनेक सत बर्ष॥
यह मारग डूबत निरखि जिन प्रगटायो रूप।
नमो नमो गुरुबर चरन श्रीबल्लभ द्विजभूप॥
जुगल सुअन तिन के तनय जिनहिं आठ निरधारि।
भक्ति रूप दसधा प्रगट बंदत तिनहि बिचारि॥
एक भक्ति के दान हित थापित परम प्रसंस।
भयो अहै अरु होइगो जै श्री बल्लभ बंस॥
प्रगट न प्रेम प्रभाव नित नासन सोग कुरोग।
जै जै जग आरति हरन बिदित बल्लभी लोग॥
जे प्रेमी जन कोउ पथ हरि पद नित अनुरक्त।
बंदत तिन के चरन हम करहु कृपा सब भक्त॥

अथ उपक्रम

नाभा जी महराज ने भक्तमाल रस जाल।
आलबाल हरि प्रेम की बिरची होइ दयाल॥

भगवान् श्रीराधा-मनमोहनकी झाँकी

परम भक्त श्रीहनूमान्जी
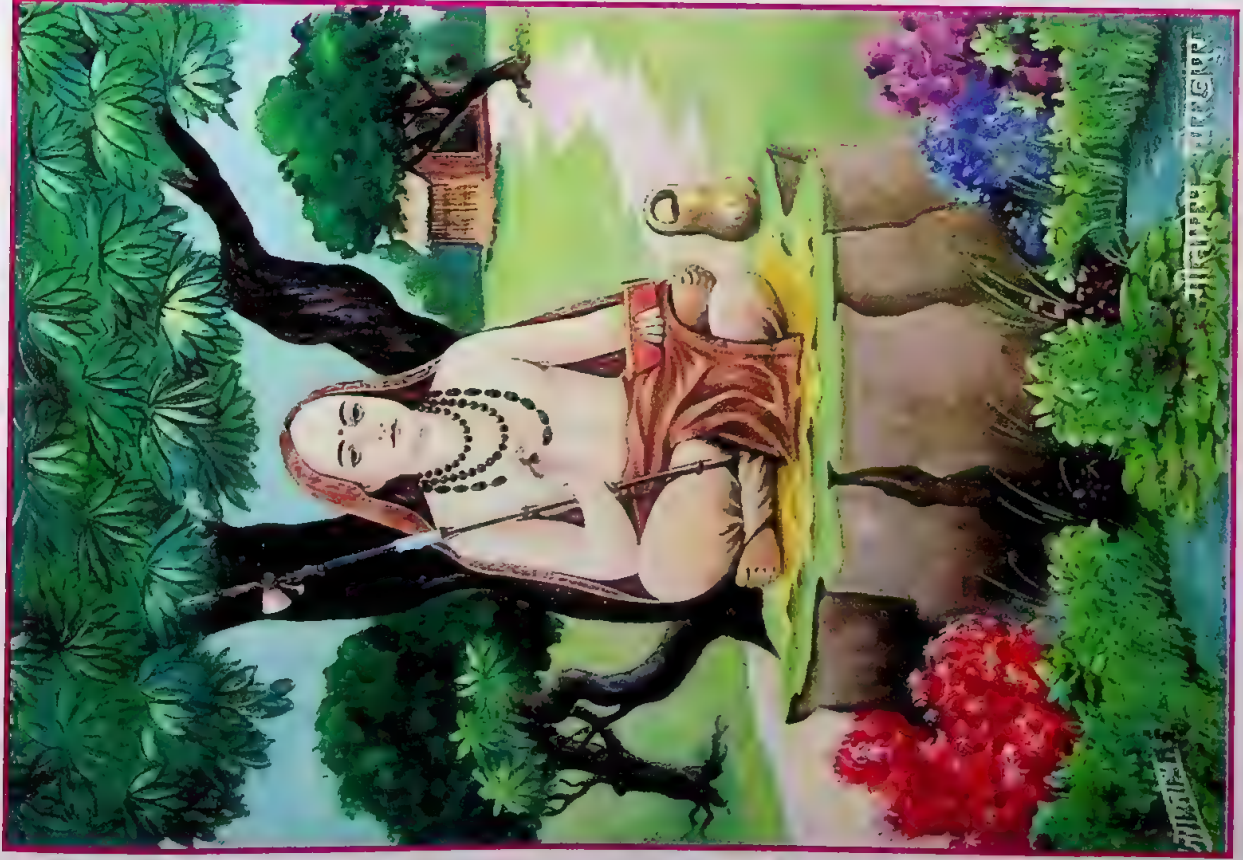
भगवान् श्रीशंकराचार्य
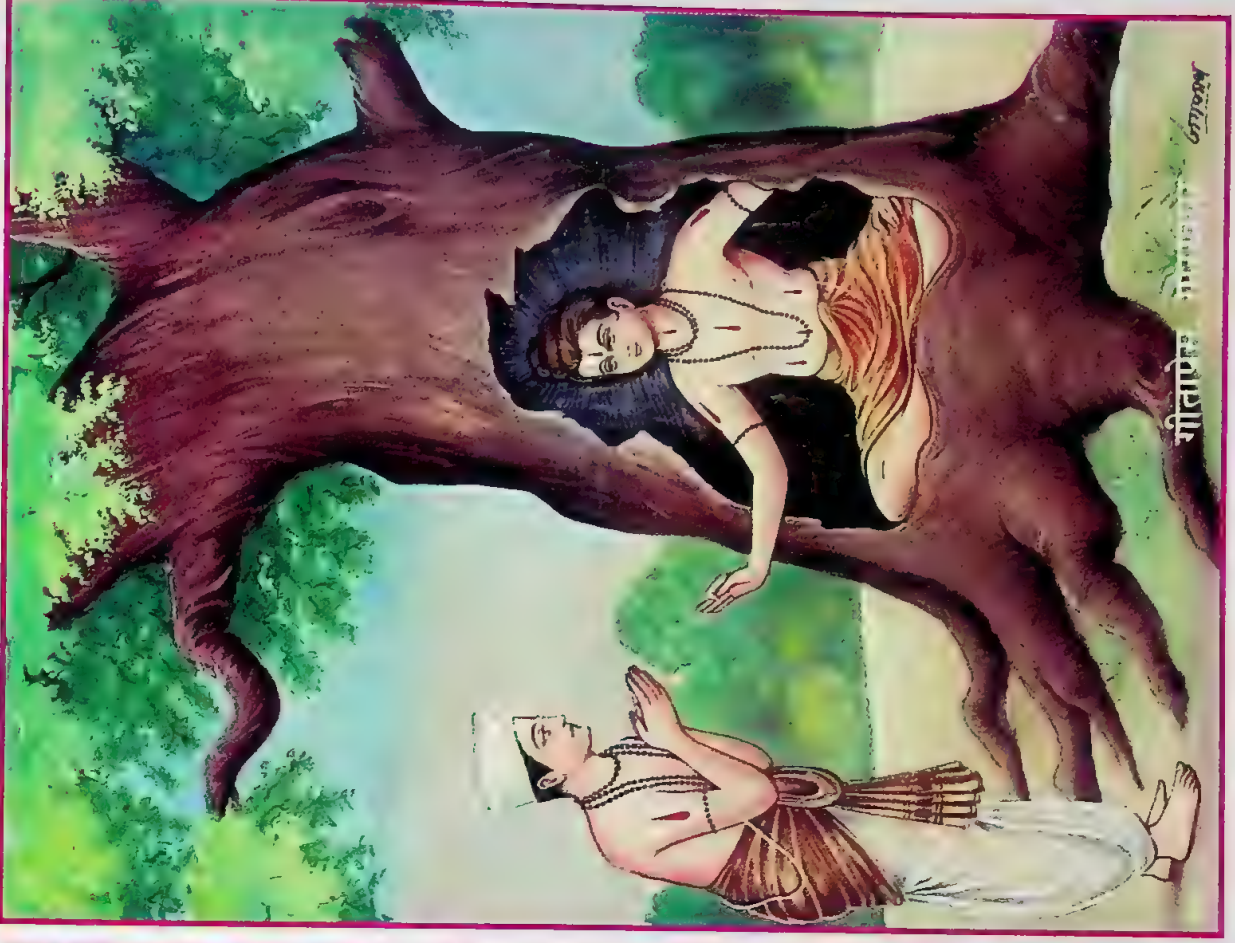
संत श्रीशठकोपाचार्य

भगवान् श्रीरामचन्द्रकी झाँकी
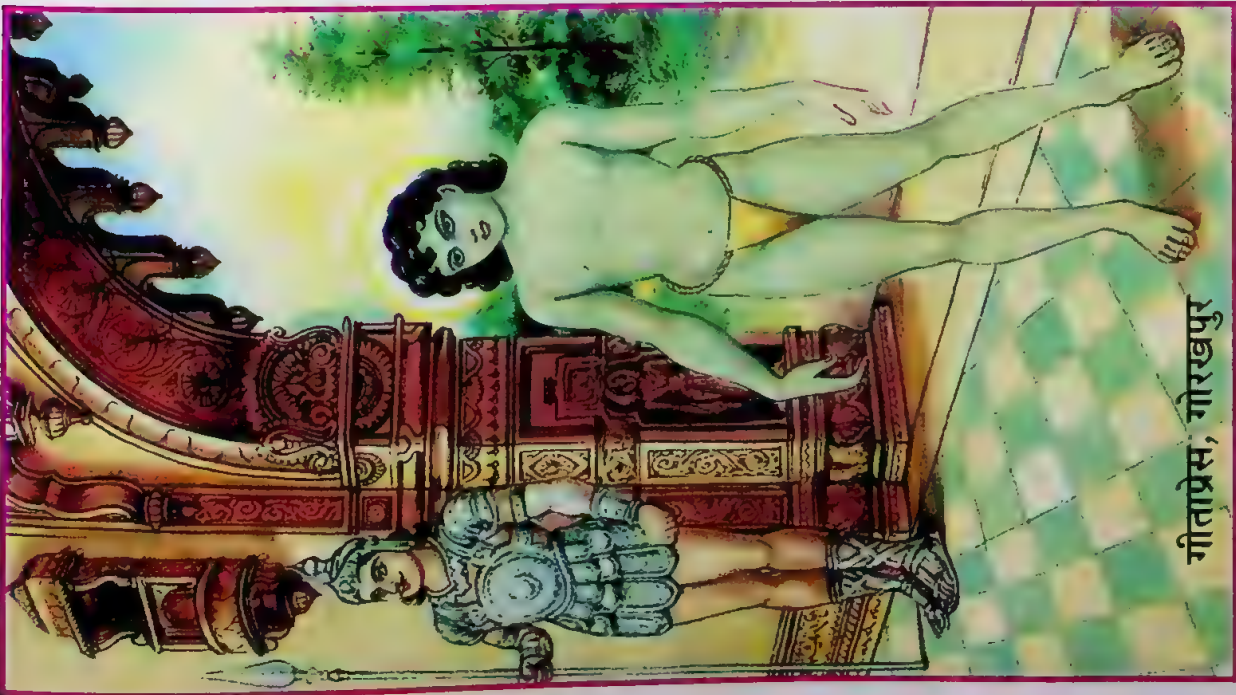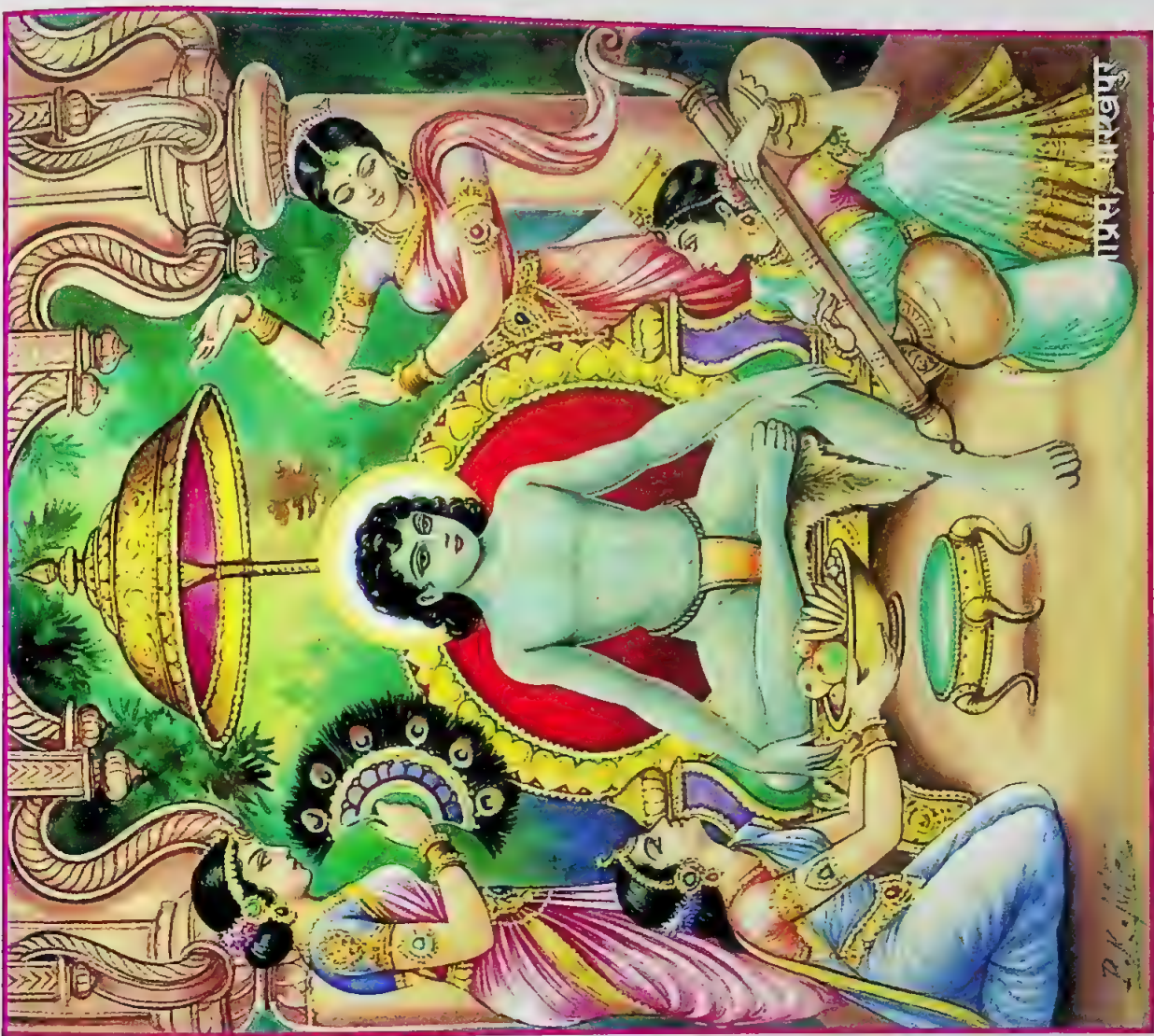
द्वारपर असत्कार

समदृष्टि श्रीशुकदेवजी

प्रमदावनमें सत्कार

महाराष्ट्र संत ज्ञानेश्वरजी
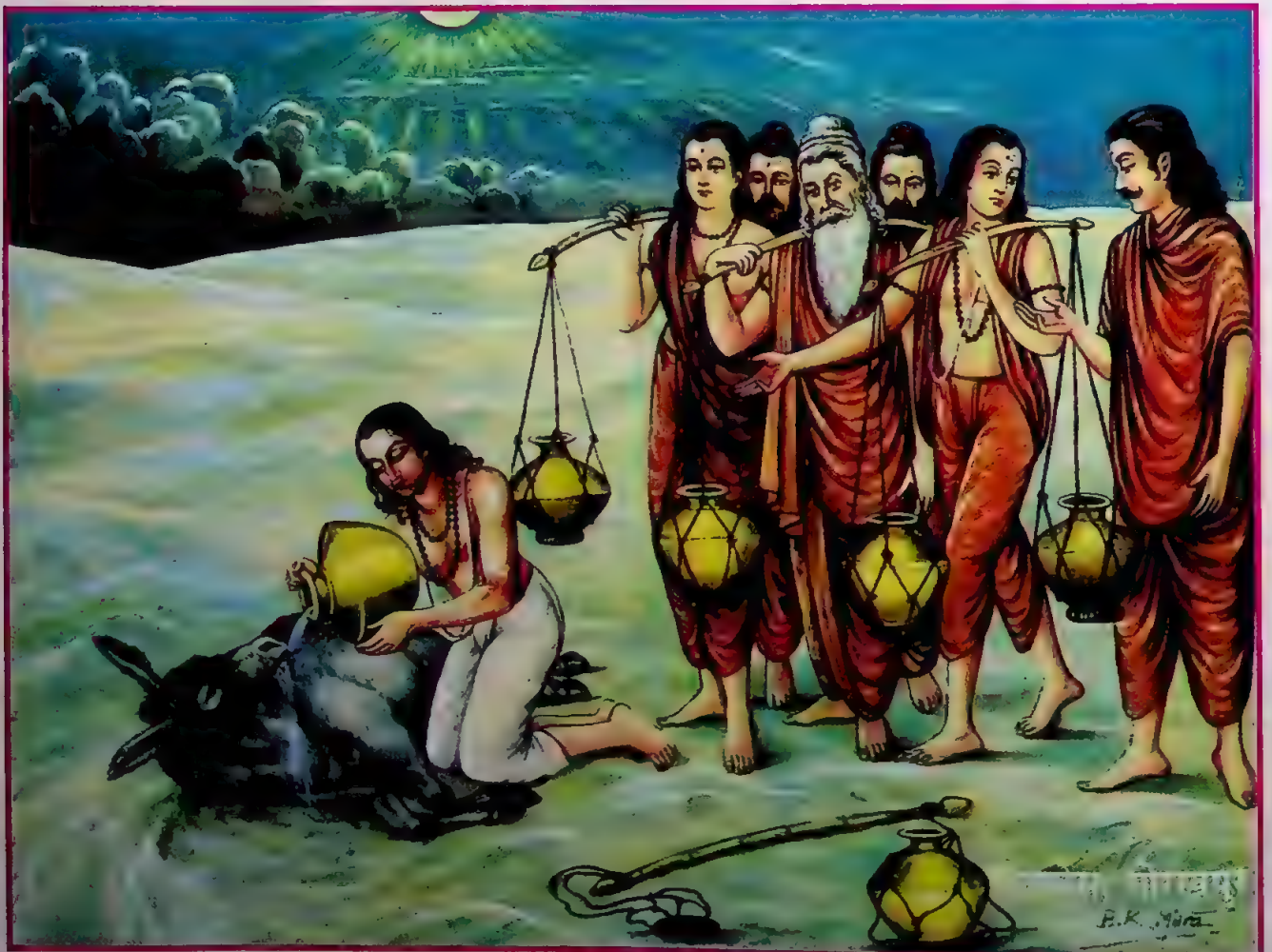
संत एकनाथजी प्यासे गदहेको जल पिला रहे हैं।

संत सूरदासजी

'सूर' किसोर कृपातें सब बल हारेको 'हरिनाम'

गीताप्रेस, गोरखपुर
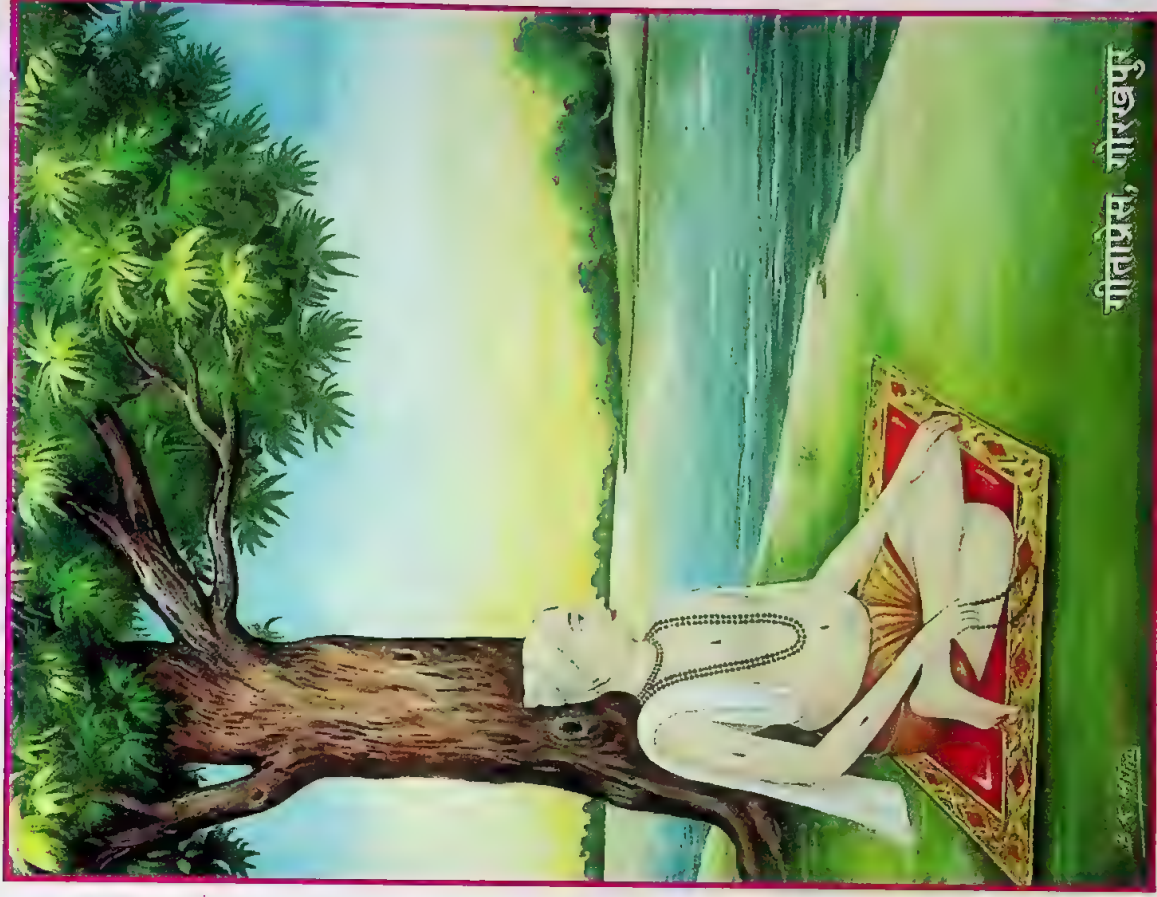
गोस्वामी तुलसीदासजी

भक्तिके नौ प्रकार

ता पाछें अब लौं भए जे हरि पद रत संत।
तिन के जस बरनन करत सोइ हरि कहँ अति कंत॥
कबहूँ कबहुँ प्रसंग बस फिर सों प्रेमी नाम।
ऐहैं या नव ग्रंथ मैं पूरब कथित ललाम॥
भक्तमाल जो ग्रंथ है, नाभा रचित बिचित्र।
ताही को एहि जानियो उत्तर भाग पवित्र॥
भक्तमाल उत्तर अरध याही सों सुभ नाम।
गुथी प्रेम की डोर मैं संत रतन अभिराम॥
नव माला हरि गल दई नाभाजी रचि जौन।
दुगुन आजु करि कृष्न कों पहिरावत हौं तौन॥
लिखे कृष्न हिय मैं सदा जदपि नवल कोउ नाहिं।
नाम धाम हरि भक्त के आदि समय हू माँहि॥
तदपि सदा निज प्रेम पथ दीपक प्रगटन काज।
समय समय पठवत अवनि निज भक्तन ब्रजराज॥
ताही सों जब आवहीं भुब तब जानहिं लोग।
भक्त नाम गुन आदि सब नासन भव भय रोग॥
तिनही भक्त दयाल की परम दया बल पाइ।
तिन को चरित पवित्र यह कहत अहौं कछु गाइ॥

स्ववंश-वर्णन

बैस्य अग्रकुल मैं प्रगट बालकृष्न कुलपाल।
ता सुत गिरिधर चरन रत बर गिरधारीलाल॥
अमीचंद तिन के तनय फतेचंद ता नंद।
हरषचंद जिन कें भए निज कुल सागर चंद॥
श्रीगिरिधर गुरु सेइ कै घर सेवा पधराइ।
तारे निज कुल जीव सब हरि पद भक्ति दृढ़ाइ॥
तिन के सुत गोपाल ससि प्रगटित गिरिधरदास।
कठिन करम गति मेटि जिन कीनी भक्ति प्रकास॥
मेटि देव देबी सकल छोड़ि कठिन कुल रीति।
थाप्यौ गृह मैं प्रेम जिन प्रगटि कृष्न पद प्रीति॥
पारबती की कूख सों तिन सों प्रगट अमंद।
गोकुलचंद्राग्रज भयो भक्त दास हरिचंद॥
तिन श्रीबल्लभ बर कृपा बिरची माल बनाइ।
रही जौन हरिकंठ मैं नित नव ह्वै लपटाइ॥
लहिहैं भक्त अनंद अति ह्वै हैं पतित पवित्र।
पढ़ि पढ़ि कै हरिभक्त को चित्र बिचित्र चरित्र॥

छप्पय

श्रीसुक सों लहि ग्यान आंध भुव पावन कीनी।
नृप प्रधानता जगत जाल गुनि कै तजि दीनी॥
हठ करि हरि कों अपुने कर नित भोग लगायो।
भक्ति प्रचारन द्विबिध बंस भुव माहिं चलायो॥
जग मैं अनेक सत बरस बसि नाम दान भुव उद्धरी।
श्रीबिष्नुस्वामि संसार मैं प्रगट राजसेवा करी॥

द्रावड़ि भुव मैं अरुन गेह द्विज ह्वै प्रगटाए।
तम पखंड दल मलन सुदरसन बपु कहवाए॥
सकल बेद को सार कह्यौ दसही छंदन महँ।
सुक मुख सों भागवत सुनी नृप देवरात जहँ॥
बनि अरक बृच्छ चढ़ि दरस दै अतिथि संक सब हरि लई।
श्रीनिंबादित्य सरूप धरि आपु तुंगबिद्या भई॥
अगनित तम पाखंड प्रगट ह्वै धूरि मिलायो।
बीर बनक सों सुदृढ़ भक्ति को पंथ चलायो॥
बादी गनन प्रतच्छ सेस बनि दरसन दीनो।
गुरु को चार मनोरथ पन करि पूरन कीनो॥
जा सरन जाइ निरदुंद ह्वै जीव नरक भय तजि जियो।
मायाबादी घननाद मद रामानुज मर्द्दन कियो॥
प्रथम सास्त्र पढ़ि सकल अरंभन खंडन ठान्यौ।
द्वैतबाद प्रगटाइ दासभावहि दृढ़ मान्यौ॥
थापि दैव गोपाल धरनि निज बिजय प्रचारयौ।
मतिमंडित पंडितगन बल खंडित करि डारयौ॥
दै संख चक्र की छाप भुज दई मुक्ति सारूप्य झट।
दृढ़ भेद भगति जग मैं करन मध्व अचारज भुव प्रगट॥
तिलँग बंस द्विजराज उदित पावन बसुधा तल।
भारद्वाज सुगोत्र यजुर साखा तैत्तिर कल॥
जग्यनरायन कुलमनि लछिमनभट्ट तनूभव।
इल्लमगारू गर्भ रत्नसम श्रीलक्ष्मी धव॥
श्री गोपिनाथ बिट्ठल पिता भाष्यादिक बहु ग्रंथकर।
श्रीबिष्नुस्वामि पथ उद्धरन जै जै बल्लभ राजबर॥
श्री श्री बल्लभ सुअन बिप्रकुल तिलक जगत बर।
माया मत तम तोम बिमर्दन ग्रीष्म दिवाकर॥
जन चकोर हित चंद भक्ति पथ भुव प्रगटावन।
अंतरंग सखि भाव स्वामिनी दास्य दृढ़ावन॥
दैवी जन मिलि अवलंब हित इक जा पद दृढ़ करि गह्यौ।
निज प्रेम पंथ सिद्धांत हरि बिट्ठल बपु धरि कै कह्यौ॥
गुरुबर गोपीनाथ प्रगट पुरुषोत्तम प्यारे।
श्री गिरिधर गोबिंदराय रुक्मिनी दुलारे॥
बालकृष्न श्रीबल्लभ माला बिजय प्रकासन।
श्री रघुपति जदुनाथ स्यामघन भव भय नासन॥
मुरलीधर दामोदर सुकल्यानराय आदिक कुँवर।
निज फलित प्रफुल्लित जगत मैं जय बल्लभ कुल कलपतर॥
श्री गोपीजन सम हरि हित सब सों मुख मोरयौ।
लोक लाज भव जाल सकल तिनुका सो तोरयौ॥
बेद सार हरिनाम दान करि प्रगट चलायो।
अनुदिन हरि रस निरतत जुग दृग नीर बहायो॥
नित मत्त कृष्न मधु पान करि सपनेहुँ ध्यान न अन्य को।
जग कठिन संखला सिथिल करि प्रगट प्रेम चैतन्य को॥

बिजयध्वज अति निपुन बहुत बादी जिन जीते।
माधवेंद्र नरसिंह भारती हरि पद प्रीते॥
ईस्वरपुरी प्रकासभट्ट रघुनाथ अचारज।
त्रिपुर गंग श्रीजीव प्रबोधानंद सु आरज॥
अद्वैत सुनित्यानंद प्रभु प्रेम सूर ससि से उदित।
ये मध्व संप्रदा के परम प्रेमी पंडित जग बिदित॥
निंबारक मत बिदित प्रेम को सारहि जान्यौ।
जुगल केलि रस रीति भलें करि इन पहिचान्यौ॥
सखीभाव अति चाव महल के नित अधिकारी।
पियहू सों बढ़ि हेत करत जिन पैं निज प्यारी॥
जग दान चलायो भक्ति को ब्रज सरबर जल जलज खिलि।
जान्यौ बृंदाबन रूप हरिदास ब्यास हरिबंस मिलि॥
मौनीदास गुबिंददास निंबार्कसरन जू।
ललितमोहनी चतुरमोहनी आसकरन जू॥
सखीचरन राधाप्रसाद गोबर्द्धन देवा।
कंबल ललित गरीबदास भीमासखि सेवा॥
श्रीबल्लभदास अनन्य लघु बिट्ठल मोहन रस पगे।
ये बृंदाबन के संत सब जुगल भाव के रँग रँगे॥
किय रसाब्धि नव काब्य कृष्न रस रास मनोहर।
श्री गोकुल ससि सेइ लहे अनुभव बहु सुंदर॥
पिता पितामह प्रपितामह की पंडितताई।
भक्ति रीति हरि प्रीति भलें करि आपु निभाई॥
जानकी उदर अंबुधि रतन पितु गुन जिन मैं बिदित षट।
रघुनाथ सुअन पंडित रतन श्री देवकिनंदन प्रगट॥
श्रीबल्लभ पाछें बुधि बल आचार्य कहाए।
निरनय बाद बिबाद अनेकन ग्रंथ बनाए॥
गाड़ा पैं धुज रोपि जयति बल्लभ लिखि तापर।
ग्रंथ साथ सब लिएँ फिरे जीतत चहुँ दिसि धर॥
श्रीबालकृष्न सेवा निरत निज बल प्रगटायो अमित।
पीतांबर सुत बिद्या निपुन पुरुषोत्तम बादींद्रजित॥
सेवा भाव अनेक गुप्त इन प्रगट दिखाए।
श्रीजुगल नित्य रस रास कीरतन बहुत बनाए॥
सुद्ध पुष्टि अनुभवत उच्छलित रस हिय माहीं।
सपनेहुँ जिनकी बृत्ति कबहुँ लौकिकमय नाहीं॥
श्रीबल्लभ को सिद्धांत सब थित जिनके चित नित बिमल।
श्रीद्वारकेस ब्रजपति ब्रजाधीस भए निज कुल कमल॥
रसिक नाम सौ ग्रंथ रचे भाषा के भारे।
नाम राखि हरिदास तथा संस्कृत के न्यारे॥
परम गुप्त रस प्रगट बिरह अनुभव जिन कीनो।
सेवा महँ सब त्यागि सदा हरि की चित दीनो॥
हरि इच्छा लखि बिनु समयहू मंदिर इन खुलवाइयो।
श्री श्री हरिराय स्वभक्ति बल नाथहि फिर बुलवाइयो॥

सात सरूपहि फिर श्रीजी पासहिं पधराए।
पहिले ही की भाँति अन्नकुट भोग लगाए॥
सब रितु उच्छव प्रगट एक रितु माहिं दिखाए।
हून परस करि सो कर फिर नहिं प्रभुहि छुवाए॥
करि लाखन ब्यय सेवा करी किय गोकुल मेवाड़ अट।
जो अनुभव श्रीबिट्ठल कियो सोइ दाऊजी मैं उघट॥
बालकपन खेलत ही मैं पाषान तिरायो।
बादी दच्छिन जीति पंथ निज सुदृढ़ दृढ़ायो॥
श्रीमुकुंद भव दुंद हरन कासीं पधराए।
थापी कुल मरजादा अनुभव प्रगट दिखाए॥
पूरे करि ग्रंथ अनेक पुनि आपहुँ बहु बिरचे नए।
लखि कठिन काल फिर आपुही आचारज गिरिधर भए॥
श्रीगिरिधर की सुता सतोगुनमय सब अंगा।
हरि सेवा मैं चतुर पतित पावनि जिमि गंगा॥
षट रितु छप्पन भोग मनोरथ करि मन भायो।
बृंदाबन को अनुभव कासी प्रगटि दिखायो॥
थिर थापी करि सब रीति निज सुजस दसहु दिसि मैं छयो।
बारानसि प्रगट प्रभाव श्रीस्यामा बेटी को भयो॥
मोम चिरैया रचि कै श्री रनछोर उड़ाई।
पुरुषोत्तम प्रभु पद रचि लीला ललित सुनाई॥
बिट्ठलनाथ दयाल सतोगुनमय बपु धारे।
तैसेहिं गोबिंदलाल गोकुलाधीस पियारे॥
जीवनजी जन जीवन करन बिबिध ग्रंथ बिरचे नए।
ये बल्लभ कुल के रत्न मनि बालक सब भुव मैं भए॥
बल्लभ सागर बिट्ठल जाहि जहाज बखान्यौ।
जग कबि कुल मद हर्‌यौ प्रेम नीकें पहिचान्यौ॥
एक बृत्ति नित सवा लाख हरि पद रचि गाए।
श्रीबल्लभ बल्लभ अभेद करि प्रगट जनाए॥
जा पद बल अब लौं नर सकल गाइ गाइ हरि गुनि जियो।
अघ निकर सूर कर सूर पथ सूर सूर जग मैं उयो॥
राधा माधव बिनु कोउ पद निज कबहुँ न गायो।
बिरह रीति हरि प्रीति पंथ करि प्रगट दिखायो॥
सुनत कृष्न को नाम श्रवन हियरो भरि आवत।
प्रेम मगन नित नव पद रचि हरि सनमुख गावत॥
श्रीबल्लभ गुरु पद जुग पदुम प्रगट सरस मकरंद जनु।
श्रीकुंभनदास कृपाल अति मूरति धारें प्रेम मनु॥
हिय हरि रस उच्छलित निरखि गुरु कर धरि रोक्यौ।
जिन के दृग जुग जुगल रूप रसिकन अवलोक्यौ॥
लाखन पद रचि कहे बिरह ब्यापी अनुछिन गति।
सखी सखा बात्सल्य महातम भाव सिद्ध श्रुति॥
श्रीबल्लभ प्रभु पद प्रेम सों जागरूक जग जस लह्यौ।
परमानँददास उदार अति परमानँद ब्रज बसि लह्यौ॥

अंतरंग हरिसखा स्वामिनी के एकंगी।
जासु गान मुनि नचत मुदित ह्वै ललित त्रिभंगी॥
जगत प्रीति अभिमान द्वेष हरि को अपनावन।
इन के गुन औगुन प्रगटे तनहू तजि पावन॥
नव बारबधू हरि भेंट करि बल्लभ पद कर सुदृढ़ गह।
श्रीकृष्नदास अधिकार करि कृष्न दास्य अधिकार लह॥
हरि सँग खेलत फिरत तुरग बनि कबहूँ धावत।
भूख लगत बन छाक लेन तब इनहि पठावत॥
अनुछिन साथहि रहत केलि परतच्छ निहारत।
गाइ रिझावत हरिहि प्रेम जग में बिस्तारत॥
द्वै सै बावन पद जुगल रस केलि मए बिरचे नए।
गोबिंदस्वामी श्रीदाम बपु सखा अंतरंगी भए॥
तुलसिदास के अनुज सदा बिट्ठल पदचारी।
अंतरंग हरिसखा नित्य जेहि प्रिय गिरिधारी॥
भाषा मैं भागवत रची अति सरस सुहाई।
गुरु आगें द्विज कथन सुनत जल माहिं डुबाई॥
पंचाध्यायी हठि करि रखी तब गुरुबर द्विज भय हरत।
श्री नंददास रस रास रत प्रान तज्यौ सुधि सो करत॥
निज मुख कुंभनदास पुत्र पूरो जेहि भाष्यौ।
गाइ गाइ पद नवल कृष्न रस नित जिन चाख्यौ॥
बिछुरि बिरह अनुभयो संग रहि जुगल केलि रस।
सब छिन सोइ रँग रँगे बल्लभी जन के सरबस॥
सेयो श्रीबिट्ठल भाव करि जगत बासना सों बिरत।
श्री दास चतुर्भुज तोक बपु सख्य दास्य दोऊ निरत॥
गुरुहि परिच्छन हेत प्रथम सनमुख जब आए।
पोलो नरियर खोटो रुपया भेंट चढ़ाए॥
श्रीबिट्ठल तेहि साँचो किय लखि अचरज धारी।
सरन गए कहि छमहु नाथ यह चूक हमारी॥
पद बिरचि सेइ श्रीनाथ कहँ बिबिध गुप्त अनुभव चखे।
श्रीछीतस्वामि हरि और गुरु प्रगट एक करि कै लखे॥
चौरासी परसंग मैं मम आयसु धरि सीस।
छंद रचे ब्रजचंद कछु सुमिरि गोकुलाधीस॥

अथ चौरासी वैष्णव-प्रसङ्ग

जिन कहँ श्रीप्रभु* कह्यौ कियो तेरे हित मारग।
एकमात्र ये रहे रहस्यन के नित पारग॥
बल्लभ पथ के खंभ समर्पन प्रथम किये जिन।
अनुदिन छाया सरिस संग रहि भेद लहे इन॥
रहिहैं जब लौं भुव पंथ यह अंतरंग नँदलाल के।
दामोदरदास दयाल भे सूत्ररूप यह माल के॥
जब गुरु बल्लभ बेदब्यास ढिग मिलन पधारे।
तीनि दिवस लौं जल बिनु ठाढ़े रहे दुआरे॥
निसि मैं गंगा तरि गुरु के हित चूड़ा लाए।
करि प्रसन्न श्रीप्रभुहि परम उत्तम बर पाए॥
गिरि सिला हाथ रोकी गिरत भूमि परिक्रम सँग गए।
दृढ़ दास्य परम बिस्वास के कृष्नदास मेघन भए॥
हरि सेयो तजि लाज सबै भय लीक मिटाई।
नारी सिर घट धारि प्रगट गागरी भराई॥
तृन सम धन के मोह तजे सेवा हित धारी।
अन्याश्रय को त्याग सदा भक्तन हितकारी॥
नित सेवत मथुरानाथ को प्रकट संप्रदा फल लहे।
दामोदरदास कनौज के सँभलवार खत्री रहे॥
नाम दान लै ब्यास बृत्ति प्रभु रुख लै त्यागी।
भीषौ अनुचित जानि पुष्टि मारग अनुरागी॥
कौड़ी लकड़ी बेंचि भागवत कृत निरबाहे।
छोला ही तें तोषि इष्ट ऐश्वर्ज न चाहे॥
सरबग्य भक्त अरु दीन हित जानि एक कृष्नहि भजे।
पद्मनाभदास कन्नौज कों श्रीमथुरानाथ न तजे॥
सखरी महाप्रसाद जाति भय भगत न लीनी।
जिय में यही बिचारि बैष्नवी पूरी कीनी॥
पै दोउन कों श्रीमथुरापति कही सपन में।
सखरिहि महाप्रसाद जाति भय करौ न मन में॥
श्रीगोस्वामी हू मुदित भे सानुभावता अति लषी।
तनया पद्मनाभदास की तुलसा बैष्नव रुचि रषी॥
लिख्यौ कुष्ट बिरतांत महाप्रभु निकट पठायो।
सेवक दुख सुनि कै प्रभुहूँ कछु जिय दुख पायो॥
दृढ़ बिस्वास सुहेत दई अग्या प्रभु सेवहु।
बर पुरुषोत्तमदास कथा को समझ्यौ भेवहु॥
सेवत ही चारहि मास के भई पूर्ब गति पीय की।
पद्मनाभदास की बहू की ग्लानि गई सब जीय की॥
श्रीगोस्वामी चरन कमल बंदे गोकुल मैं।
पाई सुगम सुराह तिगुनमय या बपु कुल मैं॥
श्री मथुरापति प्रगट भावबस बिहरत भूले।
या कुल की मरजाद जान जापैं अनुकूले॥
परमानँद सोनी संग तें परम भागवत पद लहे।
नाती पद्मनाभदास के रघुनाथदास सास्त्री रहे॥
श्राद्ध लच्छिमन भट्ट सरपि कछु थोरो हो तहँ।
महाप्रभुन घृत हेत पठाए सेवक तेहि पहँ॥
दिए नहीं बहु भाँति माँगि थकि पारिष लीने।
इन ठाकुर घी देनो अति अनुचित दृढ़ कीने॥
श्राधहु दिन प्रभुहि जिवाँइ कै लोक मेटि हरि गति लही।
छत्रानी रजो अड़ेल की परम भागवतरूप ही॥

*चौरासी वार्त्ता-प्रसङ्गमें 'प्रभु' शब्दसे श्रीमहाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजीका नाम जानना चाहिये।

नाम दान सनमान जासु गिरिजापति कीने।
निसि दिन भैरौ द्वारपाल सिव सासन दीने॥
अन्याश्रय गत बिरज मदनमोहन अनुरागी।
महाप्रभुन की कृपापात्रता जिन सिर जागी॥
जिन घर नंदादिक कूप सों प्रगटि जनम उत्सव लहे।
पुरुषोत्तमदास सुसेठ बर छत्री श्री कासी रहे॥
गंगास्नानहु सों बढ़ि जिन सेवा गुनि लीनी।
श्रीगोस्वामी श्रीमुख जासु बड़ाई कीनी॥
गहन नहानी एक बार चौबीस बरष में।
सेठौ सुनि भे मगन भजन सुखसिंधु हरष में॥
सेवक स्वामी एकै अहैं यातैं नित एकतै रहत।
जाई पुरुषोत्तमदास की रुकमिनि मोहन मदन रत॥
भगवद नामस्मरन हुँकारी प्रगट आप भर।
श्रीगोस्वामी श्रीमुख जिनहिं सराहत निरभर॥
भगवद लीला सदा नित्त नव अनुभव करते।
तिलक सुबोधनि पाठ कीरतन चित हित धरते॥
पुरुषोत्तमदास सुबंस में अति अनुपम अवतंस मन।
गोपालदास तिन तनय कों सुमिरत श्री मोहन मदन॥
देनो दियो चुकाइ जासु नवनीत पियारे।
श्री आचारज महाप्रभुन धनि धन्य उचारे॥
बालभाव निज इष्टहि सेवत बालक पाए।
सेवा मैं बसु जाम लीन तन धन बिसराए॥
नित सकल काम पूरन परम दृढ़ बिस्वास सरूप ये।
सारस्वत ब्राह्मन रामदास ठाकुर हित चाकर भये॥
जजमानाश्रय भोग मदनमोहन के राषे।
जो आवै सो सकल तुरत अपने अभिलाषे॥
जा दिन नहिं कछु मिलै छानि जल अर्पन करते।
भूषे ही रहि आप बैष्नवनि हित अनुसरते॥
सागौ स्वादित अति जासु घर भक्त भाव सों नहिं टरे।
गदाधरदास द्विज सारसुत अतिहि कठिन पन चित धरे॥
बेनीदास महान भागवत बड़े भ्रात हे।
बिषई माधवदास अनुज पैं नहिं रिसात हे॥
बाँटि सकल धन भए बिलग कामिनि अनुकूले।
मुक्तमाल लिय मोल इष्ट हित आपुहि भूले॥
प्रगटे ठाकुर बोरन लगे भए बिषय तें तब बिरत।
बेनीदास रु माधवदास दोउ श्री नवनीतप्रिया निरत॥
द्वै दिन पटना रहे तहाँ हाकिम चित ऐसी।
अनुसरिहैं हम तुरत करैं ये आग्या जैसी॥
सपनें ठाकुर कही डोल झूलन हम चाहत।
हाकिम तें है बिदा तयारी करी बचन रत॥
श्रीकासी में आए तुरत डोल झुलाए प्रेम बस।
हरिबँस पाठक सारसुत ब्राह्मन श्रीकासी निवस॥

चारि भाग निज द्रब्य प्रभुन आग्या तें कीने।
एक भाग श्रीनाथै इक निज गुरु कहँ दीने॥
एक भाग दै तजी नारि एक आपुहि लीने।
सोउ बैष्नवन हेत कियो सब ब्यय भय हीने॥
तजि देव अंस गुरु अंस लहि सेवा केसवराय नित।
गोबिंददास भल्ला तज्यौ प्रानहु प्रिय निज इष्ट हित॥
अम्मा बालक दोय ताहि करि प्यार पुकारैं।
मरे एक के ता रोवत हरि दुख जिय धारैं॥
रोवत रोवत मरो सोऊ सुत बहु बिलाप कर।
श्रीगोस्वामी समुझावन हित आए तेहि घर॥
मंदिर को टेरा खोलि कै देषे पय पीवत निकट।
अम्मा पैं नित अनुकूल श्रीबालकृष्ण ठाकुर प्रगट॥
जिन बिन ठाकुर महाप्रभू घरहू नहिं रहते।
जे ठाकुर बिन अतिहि दुसह दुख सहत न कहते॥
छन बिछुरत इन देह दहत जर वे न अरोगत।
इन दोउन की प्रीति परसपर कौन कहि सकत॥
सब भावहि बस नितही रहे दिए जिनहिं निज परम पद।
गंजन धावन छत्री हुते श्रीनवनीतप्रिया सुखद॥
धन कहँ गुन्यौ बिगार देखि निज सेज चहूँ कित।
दिय बुहारि फिंकवाइ बहुरि लिपवायो हँसि हित॥
श्रीगोकुलचंद्रमा षीर खाई जिनके घर।
आरोगाई प्रभुन कही मति डरौ जाति डर॥
तबहीं तैं सखरी खीर नहिं यहै रीति या पुष्टिमत।
ब्रह्मचारि नरायनदास जू बसत महाबन भजन रत॥
पृथ्वी परिक्रम करत महाप्रभु तहाँ पधारे।
पाए श्रुति सरबस्व आपने प्रान अधारे॥
चार बेद के सार चार हरि बिग्रह रूरे।
आस पास ही बसन मनोरथ निज जन पूरे॥
तिन मैं यह प्रेम सुरंग रँगि रही धरे अति भक्ति हिय।
छत्रानी एक महाबनहिं सेवत नित नवनीतप्रिय॥
उभय तनय पुरुषोत्तमदास छबीलदास जिन।
सेवा कीनी कछुक दिवस इन पै संतति बिन॥
तिन के मामा कृष्नदास पुनि सेवा कीनी।
तिन पीछे तिन मित्र सोई सेवा सिर लीनी॥
तहुँ डेढ़ बरस रहि पुनि गए मंदिर निज प्रिय प्रान के।
जियदास भजन रत जाम चहुँ श्री लाड़िले सुजान के॥
देवा पत्नी सहित सरस सेवा चित दीन्ही।
तिनही लौं तहँ रहे ठाकुरौ भावहि चीन्ही॥
रहे तनय तिन चारि लई नहिं तिन तें सेवा।
भाव बस्य भगवान जासु कर्मादि कलेवा॥
अंतरध्यान भे भौन तें निज इच्छा बिचरन मही।
श्री ललित त्रिभंगी लाल की सेवा देवा सिर रही॥

तुरतहिं धावत सुनत महाप्रभु कथा कहत अब।
काचिहि लीटी पाइ लेत सुधि रहति न तन तब॥
जानि कही प्रभु अति अनुचित तुम करी कथा हित।
भोग लगाइ प्रसाद पाइ अब तें ऐहौ नित॥
येई श्रोता अब आजु तें श्रीमुख यह आपै कही।
रसिकाई दिनकरदास की कथा सुननि में अकथ ही॥
श्री आचारज महाप्रभुन पद प्रीति जिनहि अति।
याही तें प्रभु तिलक सुबोधनि भै तिन की मति॥
निज मुख श्रीभागवत कहैं नहिं सुनैं अपर मुख।
कर्म सुभासुभ जनित पंडितनि सुलभ न वह सुख॥
बरनाश्रम धर्मनि बंचकनि सहजहि में इन ठगि लिए।
मुकुँददास कायस्थ हे जिन मुकुंदसागर किए॥
यह मारग अति बिषम कृष्नचैतन्य सुनत ही।
मूर्छित ह्वै ह्वै जाहिं सु जिन कहँ सुलभ सुखद ही॥
बृंदाबन प्रति बृच्छ पत्र ब्रज प्रगट दिखाए।
अवगाहन नहिं दीन प्रभुन परसाद पवाए॥
सेवा श्री मोहन मदन की जिनहि सावधानी दई।
छत्री प्रभुदास जलोटिया टका मुक्ति दै दधि लई॥
सेवत नीकी भाँति ठाकुरहि बृद्ध भए अति।
तीर्थ पृथूदक पहुँचाए सब अन्याश्रित मति॥
अन्याश्रय लषि सावधान आए निज घर कहँ।
करि सेवा निज सेब्य ललन की तनी देह तह॥
निंदा करि कीरति चौधरी मार खाइ पद बंदियो।
प्रभुदास भाट सिंहनंद के तीर्थ पृथूदक निंदियो॥
श्रीगोस्वामी एक समै आए तिन के घर।
भई रसोई भोग समर्प्यौ किए अनौसर॥
पुनि सादर निज सेब्य ठाकुरै के भाजन में।
आरोगाए जस आरोगे नंद भवन में॥
श्रीठाकुरही की सेज पै पौढ़ाए सेवत रहे।
पुरुषोत्तमदास जु आगरे राजघाट पै रहत हे॥
श्रीहरि के रँग रँगे प्रभुन पद पदुम प्रीति अति।
सही कैद दइ जिनहिं तुरुक बहु मार मंदमति॥
बिन चरनोदक महाप्रसाद लिए न पियत जल।
इन कहँ खेदित जानि ठाकुरहु परत न छन कल॥
गजी की फरगुल इनहिं की हरे सीत श्रीनाथ के।
घर तिपुरदास को सेरगढ़ हुते सुकायथ जात के॥
आयसु लहि श्रीनाथ हेतु मंदिर समराए।
सुभ मुहूर्त में जहँ श्रीनाथहि प्रभु पधराए॥
अति सुगंध अरगजा समर्पे जिन अपने कर।
दिय ओढ़ाय आपने उपरना गोस्वामीबर॥
गहल परसादी नाथ के बरस बरस पावत रहे।
पूरनमल छत्री प्रभुन के कृपापात्र अतिही रहे॥

श्रीगोस्वामी संग कहूँ परदेस चलत जब।
एक दिवस की सामग्री के भार बहत सब॥
सेवा करहिं रसोई निसि में पहरा देते।
मास दिवस के काम एकही दिन करि लेते॥
जे कूप खोदि निज कर कमल खारो जल मीठो करत।
जादवेंद्रदास कुम्हार श्रीगोस्वामी आयसु निरत॥
ठाकुर सेवा महाप्रभुन इन सिर पधराए।
सेये नीकी भाँति ठाकुरहि अतिहि रिझाए॥
ठाकुर आयसु पाइ बदरिकाश्रमहि पधारे।
ठाकुर सेवा काहु भागवत माथे धारे॥
जिन यह इन सों निरधार किय ठाकुर देव न इहि तनैं।
गोसाँईदास सारस्वत देह तजी बदरी बनैं॥
अतिहि दीन ह्वै लिखी सुबोधनि महाप्रभुन पैं।
सेवा में अपराध पर्यौ अनजाने उन पैं॥
लघु बाधा में तजी देह चोरनि सर लागे।
श्री आचारज महाप्रभुन पद रति रस पागे॥
श्रीनाथौ जिनकी कानि तें निज पासहिं पधराइयो।
माधवभट कसमीर के मरे बालकहि ज्याइयो॥
आवत श्री द्वारिका पद्मरावल निवसे जहँ।
सुनि गोपालदास सेवा सो पहुँचि गए तहँ॥
पूछि कुसल लखि द्वारिकेस दरसन अभिलाषी।
कही प्रगट रनछोर अड़ेल लषौ निज आँषी॥
सुनि बिरजो माव पटेल लै आइ दरस लहि भे मुदित।
गोपालदास पै सदन बहु पथिकनि के बिश्राम हित॥
परमारथी गुपालदास सिषए ये आए।
महाप्रभुन दरसन करि निज अभिमत फल पाए॥
लै प्रभु पद चंदन चरनामृत भे विद्याधर।
श्रीठाकुर आयसु तें गए कोऊ सेवक घर॥
पथ बहु रोटी अरपन करी घी चुपरी न रुषी परी।
दुज साँचोरे रावल पदुम श्रीरनछोर कही करी॥
आए ये उज्जैन पद्मरावल के सुत घर।
रहे तहाँ पै तिन सब इन को कीन अनादर॥
बड़े पुत्र तिन कृष्णभट्ट निज घर पधराए।
राखे तहँ दिन चारि प्रसादहु भले लिवाए॥
सुनि सतसंगी हरिबंस के गोस्वामी मुख भगत हित।
पुरुषोत्तम जोसी दुज हुते कृष्नभट्ट पैं अति मुदित॥
श्रीठाकुर अर्पित असुद्ध गुनि अति दुख पाए।
ताती षीर समर्पि सिषे जो प्रभुन सिषाए॥
ज्वार भोग अनकुट पैं पेट कुपीर उपाई।
इरिषा सों दुरजन इन पैं तरवारि चलाई॥
तेहि श्रीकर सों गहि कै कही मारै मति ये महत जन।
ऐसे भूले रजपूत कों जगन्नाथ लीने सरन॥

इक इक मुहर भेंट हित दै पठए दोउ भाइन।
नाम निवेदन हेतु प्रभुन पैं अति चित चाइन॥
मिले कृपा करि दियो दरस पुरुषोत्तम नगरी।
भई स्वरूपासक्ति तुरत भूली सुधि सगरी॥
पुनि माँगि भेंट की मुहर प्रभु लिए सरन दोउन तहीं।
जननी नरहर जगनाथ की महाप्रभुन छबि छकि रहीं॥
भोग अरोगन आए सिसु ह्वै अपन बिसारी।
पै इन प्रभु की कानि रंचकौ चित न बिचारी॥
सावधान भे सुनत अनुज सों प्रभु की करनी।
गोस्वामी के सरन किए जजमान सघरनी॥
तेहि जरत बचाए आगि तें ऐसे ये सुखदान हे।
नरहर जोसी जगनाथ के भाई बड़े महान हे॥
जगन्नाथ जोसी गर मुद्गर तपित लाइ कै।
हाकिम पैं अबिकारी इन कों किए जाइ कै॥
जिन की मति लहि राजपुतानी सती भई नहिं।
सुद्ध होइ आई ताकों तिन दिए नाम तहिं॥
पुनि सरनागत करि प्रभुन के पर उपकारी पद लहे।
साँचोरा राना ब्यास दुज सिद्धपूर निवसत रहे॥
श्री नटवर गोपाल पादुका गुरु सेयौ इन।
श्रीरनछोर सु कहे ग्रहन किय निज नारिहु जिन॥
ठाकुरही आयसु तें तिय कों नामहु दीने।
तब ताके कर महाप्रसाद मुदित मन लीने॥
पुनि नाम निवेदन प्रभुन पैं करवाए कहि कानि सत।
धनि राजनगर बासी हुते रामदास दुज सारस्वत॥
श्रीगोस्वामी पत्र पाइ मीरहि द्रुत त्यागी।
श्री ठाकुर रनछोर बारता रस अनुरागी॥
प्रभुन थार के महाप्रसाद दिए नहिं इक दिन।
सकल बैष्णवनि सहित उपास किए तिहि दिन तिन॥
सुनि भूखे श्रीरनछोर सो थार महापरसाद दिय।
गोबिंद दूबे साँचोर द्विज नवरत्नहि नित पाठ किय॥
रामकृष्न हरिकृष्न बड़े छोटे दोउ भाई।
बड़े पढ़े बहु कथा कहैं लघु मूढ़ सदाई॥
भावज की कटु सुनि दूबे के सरनहिं आए।
अष्टोत्तर सतनाम बार द्वै जपि सब पाए॥
पुनि पाइ नाम श्रीप्रभुन पैं भे निज कुल के कलस धुज।
राजा माधौ दूबे हुते दोउ भाई साँचोर दुज॥
करैं रसोई प्रीति समेत परोसि लिवावैं।
याही तें श्रीनाथ सेवकनि कों अति भावैं॥
श्रीगोस्वामी रीझि रहे लषि सुद्ध प्रेम पन।
रस बात्सल्य अलौकिक जानि सिहाहिं मनहिं मन॥
मन सुद्धाद्वैत सरूप मति कृष्नभक्ति तजि तन लह्यौ।
जननी स्लोकोत्तमदास कों नाथ सेवकनि मिलि कह्यौ॥

स्लोकोत्तम जन नाम धन्य येऊ पुनि पाए।
नाथ सेवकनि अधिक घीय दै मातु कहाए॥
अबिरल भक्ति विसुद्ध गुसाईं सों इन लीन्ही।
महाप्रभुन पथ प्रीति रीति इन दृढ़ करि चीन्ही॥
पाई सेवा श्रीअंग की सरन अनाथनि नाथ के।
ईस्वर दूबे साँचोर के मुखिया भे श्रीनाथ के॥
श्रीगोपीपति मुहर गुसाईं पैं पहुँचाई।
करी दंडवत लाइ पहुँच पत्रिका सुहाई॥
मथुरा तें आगरे गए आए जुग जामैं।
सीहनंद बैष्नवनि उछाहनि में अभिरामैं॥
मन डेढ़ नित्त ये खात हैं ढाल गुरज इक कर लिए।
बासुदेव जन जन्मस्थली काजी मद मरदन किए॥
श्रीकेसव के कीर्तनिया ये अरु जादव जन।
कृष्नदास तहँ गिरिबरधर ध्यावत त्यागे तन॥
नाथ दरस करि गिरि नीचे बेनू तन त्यागे।
जादवदासौ सर रचि नाथ धुजा के आगे॥
कहि नाथ देह तजि आगि धरि बायु बहे तिन तन दहे।
बाबा बेनू के अनुजबर कृष्नदास घघरी रहे॥
एक स्लोक के अर्थ प्रभुन त्रय जाम बिताए।
कही मास द्वै तीनि बीतिहैं सुनि सिर नाए॥
देहु नाम इन बिनय करी तब प्रभु अपनाए।
पुनि श्रीमहाप्रभुन कों नित निज घर पधराए॥
तहँ नित सेवा बिधि तिनहिं कहि सावधान सेवन कहे।
जगतानँद दुज सारसुत थानेसर निवसत रँहे॥
आनँददास बड़े भाई नित बैठि अनुज सँग।
महाप्रभुन के चरित कृष्न गुन कहत पुलकि अँग॥
सोइ जात जब दास बिसंभर भरत हुँकारी।
भरत आप तब श्रीहरिजू निज जन हितकारी॥
कहि कथा पूछि अनुजहि मुदित जानि ठाकुरहि ठगि गये।
दोऊ भाई छत्री हुते महाप्रभुन रस रँग रँये॥
माटी के सब पात्र सदन साँकरो सुहायो।
बृद्ध भई निज ठाकुर रत अपरस बिसरायो॥
लषि बैष्नव श्रीमहाप्रभुन पधराए तेहि घर।
प्रीति भाव लखि भे प्रसन्न अतिही जिय प्रभुबर॥
सेवकन कह्यौ मरजाद तजि इन प्रभु पद दृढ़ करि गहे।
इक निपट अकिंचन ब्राह्मनी जिन हरि कहँ निज कर लहे॥
दिन दस के लड़ुआ इक ही दिन करि कै राखे।
सो प्रभु आप उठाइ अंक लै तुरतहि चाखे॥
यह मरजादा भंग देखि रोई भय होई।
आरति के हित कियो कह्यौ तब प्रभु दुख जोई॥
तब नित सामग्री नव करति ऐसी चतुर सुजानि ही।
छत्रानी इक हरि नेह रत बत्सलता की खानि ही॥

सास गौरजा महाप्रभुन के दरस पधारी।
तब यह हरि सनमुख लाई रचि रुचि कै थारी॥
जब न अरोगे तब इन कछु आपहु नहिं खायो।
ऐसेहीं हठ करि जल बिनु दिन कछुक बितायो॥
तब आपु प्रगट ह्वै प्रेम सों जल लै याहि पिबाइयौ।
समराई हठ करि प्रभुन कों निज कर भोग लगाइयौ॥
जब गोस्वामी कहँ चतुर्थ बालक प्रगटाए।
तब श्रीबल्लभ गोस्वामी बर नाम धराए॥
कृष्ना भाष्यो इन कों गोकुलनाथ पुकारो।
तासों जग में यहै नाम सब लेत हँकारो॥
गोस्वामीहू जा कानि सों यहै नाम भाषे तुरत।
दासी कृष्ना मति रुचि भरी गुरु सेवा मैं अति निरत॥
जिजमानहि हरिबंस एक ही छंद सुनाई।
करम लिखीहू उलटन पतनी गोद भराई॥
छत्री को इन सकल मनोरथ पूरन कीनो।
करुना चित मैं धारि दान बालक को दीनो॥
हरि गुरु बल जो मुख सों कह्यौ सोई हठ करि कै कियो।
श्रीबूला मिश्र उदार अति बिनु रितुहू बालक दियो॥
हरि गुरु परम अभेद भाव हिय रहत सदाई।
याही तें गुरु कीरति इन हरि सनमुख गाई॥
मीरा भाष्यौ हरि चरित्र गाओ द्विजराई।
सुनि अति कोपे इन जाने नहिं बल्लभराई॥
लखि द्वैधभाव तजि गाँव सों दूर बसे मति गुरु भई।
मीराबाई की प्रोहिती रामदास जू तजि दई॥
जब प्रगटे प्रभु प्रथम गुबरधन गिरि के ऊपर।
नाम नवल गोपाललाल त्रय दमन मनोहर॥
तब श्रीबल्लभ इन कों सेवा हरि की दीनी।
रहै मँड़ैया छाइ परम रति मैं मति भीनी॥
नित ब्रज को गोरस अरपि कै सेवत हरि सुख खान हे।
सेवक गोबरधननाथ के रामदास चौहान हे॥
गुरु रिस करि कै तज्यौ तऊ हरि जेहि नहिं त्याग्यौ।
दरसायो सिद्धांत यहै पथ को अनुराग्यौ॥
बिकल पथहि पथ फिरत खात तन की सुधि नाहीं।
निरखि जलेबी हरिहि समर्पी अति चित चाही॥
ताको रस हरि के बसन मैं देख्यौ गुरुबर भावनिधि।
द्विज रामानंद बिछिप्त बनि जगहि सिखाई प्रेम बिधि॥
हरि सेवक बिन लेत न जलहू प्रेम बढ़ावन।
भट्टनहू के परस लेत नहिं जानि अपावन॥
श्रीगोस्वामी चरन कमल मधुकर ये ऐसे।
स्वाती अंबर कों चातक चाहत है जैसे॥
धनि धनि जिन के प्रेम पन अन्याश्रय गत धीर चित।
छीपा कुल पावन भे प्रगट बिष्नुदास बादींद्रजित॥

एक समै श्रीमहाप्रभू दरसन करिबे हित।
आवत हे सब सीहनंद के बैष्नव इक चित॥
लागे करन रसोईं मग में घन घिरि आए।
निहचै जानि अकाज अनन्यनि अति अकुलाए॥
चढ़ि आई गुर की कानि चित मघवा मद जिन हरि लए।
जन जीवन प्रभु की आनि दै मेघनि नहिं बरसन दए॥
श्रीआचारज जाइ बिराजे इन के घर जहँ।
नित उठि प्रातहि करहिं दंडवत ये सादर तहँ॥
तातें कोउ नहिं धरत पाँव तेहि पूजित ठौरहि।
ठाकुर जिन सों सानुभाव कहिए का औरहि॥
सेये जिन अपन बिसारि कै भरी निरंतर भाँवरी।
भगवानदास सारस्वतै दई प्रभुन श्रीपाँवरी॥
कछु सामग्री द.झि गई इक दिन अनजाने।
गोस्वामी सेवा तें बाहिर किए रिसाने॥
सुनि जन अच्युत गोस्वामी सों रोइ बिनय की।
नाथ हाथ गति प्रभु संबंधी जीव निचय की॥
सुनि कर गहि लै गिरिराज पै कही सेइ अब तें सुमति।
भगवानदास श्रीनाथ के हुते भितरिया सुखद अति॥
आवैं नित सिंगार समै श्रीनाथ दरस हित।
पुनि निज थल कों जात हुते ऐसो साहस चित॥
नाथ परिक्रम दंडवती इन तीन करी जव।
श्रीगोस्वामी श्रीमुख करी बड़ाई बहु तब॥
हे गुनातीत ये भगवदी प्रभुन भगति रस बहत हे।
दुज अच्युतदास सनोड़िया चक्रतीर्थ पै रहत हे॥
सेवा पधराई श्री मोहन मदन लाल की।
आपहु बैठे पाट प्रगटि तन छबि रसाल की॥
सेये नीकी भाँति मदनमोहन रिझवारे।
श्रीगोस्वामी जिनहि नमत लषि अपन बिसारे॥
प्रभु असुर बिमोहन चरित लषि बद्रिनाथ दरसन लहे।
दुज गौड़ दास अच्युत तहीं प्रभु बिरहानल तन दहे॥
प्रभु सँग पृथी परिक्रम करि पद पाँवरि पूजत।
प्रभु के लौकिक करम धरम तिन कहँ नहिं सूझत॥
जिन लषि नर सुर असुर बिमोहि परत भवसागर।
गुनातीत प्रभु चरित मगन मन जन नव नागर॥
मोहित जन लषि प्रभु दरस दै कहे सगुन प्रागट्य निज।
श्रीप्रभुन सरूप सुजान सुभ अच्युत अच्युतदास द्विज॥
नृप नौकर अवसर न पावते प्रभु दरसन कों।
उतकंठित दिन राति धन्य धनि जिन के मन कों॥
कब जैहौ भैया श्रीबल्लभ के दरसन हित।
चाकर राषे सुरति देन कों यों छन छन तित॥
बहु भेंट पठावत हे प्रभुहि ऐसे ये भागवत हे।
नरायनदास प्रभु पद निरत अंबालय में बसत हे॥

जिन कों आयसु दई मदनमोहन गुनि प्रभु जन।
बाहिर मुहिं पधराउ काढ़िहौं गुप्त इतै बन॥
मथुरा तें निकसाइ तुरत बाहिर पधराए।
पुनि श्रीगोपीनाथ सिंहासन पै बैठाए॥
तातें दरसन करि सबै सहजहिं अभिमत फल लहे।
दासनरायन भाट जाति मथुरा में निवसत रहे॥
पातसाह ठट्ठा के ये दीवान हेत हे।
दुसह दंड में परि नित पाँच हजार देत हे॥
रुपया लाख पचास भरन लौं कैद किए तिन।
इक दिन के द्वै गुरभाइन को देइ दिये जिन॥
छुटि पातसाह सों साँच कहि सहस मुहर प्रभु पद धरे।
नरिया नारायनदास भे सरन प्रभुन के अनुसरे॥
श्रीनवनीतप्रिया की करति अकिंचन सेवा।
तरकारी हित सिसु लौं झगरत जासों देवा॥
माया बिद्या अनसखरी सखरी कै त्यागी।
भावहि भूषे घी चुपरी रोटिहि अनुरागी॥
माया बिसिष्ट प्रगटत सदा प्रेमहि तें प्रभु तुरत ही।
छत्रानी एक अकेलियै सीहनंद मैं बसत ही॥
जिन की जुबती हुती बीरबाई प्रसूतिका।
श्रीठाकुर सेवा की सोई सुचि बिभूतिका॥
लई सूतकौ मैं सेवा जासों प्रभु पावन।
सेवक प्रभुन सरूप होत नहिं कबहुँ अपावन॥
नहिं आतम सुद्धासुद्ध कहुँ सोइ प्रभु सोइ सेवक सज्यौ।
कायथ दामोदरदास जिन श्रीकपूररायहि भज्यौ॥
निपटै लघु घर हुतो मेड़ ठाकुर पौढ़ाए।
जिन के डर सों सोवत निसि आँगन सचु पाए॥
पावस रितु में भींजत जानि पुकारि कही सुनि।
घर मैं सोवहु भींजौ मति न करौ ऐसो पुनि॥
तौऊ साँस न पावै बजन सोए या आनंद में।
छत्री दोउ स्त्री पुरुष हे रहे आइ सिहनंद में॥
प्रभुन दरस बिन किए रहे नहिं जे एकौ दिन।
छुटे सकल गृहकाज भए घर के सब सुख बिन॥
याही तें प्रभु आपै आवत हुते सदन जिन।
बहुत बारता करत हुते धनि जिन सों अनुदिन॥
पै दिन चौथे पचयें न कछु जननी रिस जिय धारते।
श्रीमहाप्रभुन सूतार घर श्रम पिछानि पग धारते॥
अन्यमारगी भवन नेह बस गए एक दिन।
किए पाक तेहि ठाकुर आगें नाथ अरपि तिन॥
भोग सराए ताहि लिवाए लिय आपौ पुनि।
भूषे ठाकुर ताहि जगाय कही सब सों सुनि॥
परभाव जानि या पंथ को भयो सरन सोऊ बिकल।
अन्यमारगी मित्र इक छत्री सेवक अति बिमल॥

श्री आचारज महाप्रभुन पद रति रस भीने।
आपै के गुन श्रवन कीरतन सुमिरन कीने॥
आपै कहँ आतम अरपे सेये पूजे जन।
सखा दास आपहि के बंदे आपहि कों इन॥
आपहु जिन कों अतिही चहे भक्ति भाव धरि जीय महिं।
चित लघु पुरुषोत्तमदास के गुरु ठाकुर मैं भेद नहिं॥
तीनों भाई नाम पाइ कैं किए निवेदन।
नाथ निकट बहु कबित पढ़े प्रभु भए मुदित मन॥
धनि धनि धनि वे कबित धन्य वे धन्य भगति जिन।
धनि धनि धनि श्रीप्रभुन नाम उद्धारन अगतिन॥
किय कबित अनेकनि प्रभुन के सदा प्रभुन मन भावते।
कबिराज भाट श्रीनाथ कों नित नव कबित सुनावते॥
मार्कंडे पूजत हे प्रभु निज जन्मोत्सव दिन।
इक दिन आगें आए हे गाए पद तेहिं छिन॥
सुनि माधव में बल्लभ हरि अवतरे दास मुख।
कृष्न भगति मुद मगन भए तजि ग्यानादिक सुख॥
बहु छंद प्रबंध प्रबीन ये वारे रसिक दुहून पै।
गोपालदास टोरा हुते अति आसक्त प्रभून पै॥
दरसन करत प्रभुन पूरन पुरुषोत्तम जाने।
करी बिनय कर जोरि सरन मोहि लेहु सुजाने॥
आपौ आग्या दई न्हाइ आवौ ते आए।
पाइ नाम पुनि किए समर्पन अति चित चाए॥
ये संनिधान श्रीनाथ के न्यारे ह्वै भव पास तें।
जनार्दनदास छत्री भए सरन पूर्न बिस्वास तें॥
गए प्रभुन पैं न्हाइ दंडवत करी बिनय कै।
कही सरन मोहि लेहु नाथ अब देहु अभय कै॥
कही आप मुसिकाय कहौ स्वामी किमि सेवक।
पुनि तिन बंदन करी कही आग्या मुहि देवक॥
लहि नाम सेवकनि सहित निज किए निबेदन मुद लहे।
गडुस्वामी ब्रह्म सनोड़िया प्रभुन सरन भे प्रभु कहे॥
श्रीमद्गोस्वामीजू जिन सों पढ़े ग्रंथ बहु।
इनकी कहा बड़ाई करिए मुख अतिही लहु॥
प्रेम दास्य बिस्वास रूप ये नीकें जानत।
श्रीहरि गुरु की भगति भाव करि कै पहिचानत॥
निज गमन समय राख्यौ इन्हैं थापन कों भुव पंथ निज।
कन्हैयालाल छत्री जिन्हैं प्रभुल पढ़ाए ग्रंथ निज॥
जिन घर बैठे पाट मदनमोहन पिय प्यारे।
सोए सहित सनेह जानि प्रेमहि पर वारे॥
पुनि पधराए श्रीगोस्वामी पैं यह गुनि जिय।
ये सुख पैहैं यहीं लाल हैं इनहीं के प्रिय॥
पुनि गोस्वामी पधराइयो श्रीरघुनाथ सदन सुखद।
गौड़िया सु नरहरिदासजू प्रभुन कृपा पाए सुपद॥

आछे भट तें सुने भागवत नाम पाइ कैं।
जाते श्रीरनछोर प्रभुन तहँ टिके आइ कैं॥
पाए प्रभु पैं नाम समर्पन किए मए सँग।
दरसन करि पुनि आइ मोरबी रँगे प्रभुन रँग॥
पुनि रहे तहँ आयसु प्रभुन आपुन श्रीगोकुल गए।
बादा श्रीप्रभु की कृपा ते दास बादरायन भए॥
देवदमन जिन सदन पियत पय नरो पियावति।
जात कटोरौ भूलि ताहि मुखियहि दै आवति॥
माँगि प्रभुन सों गाय नाम गोपाल धराए।
निज प्रागट्य जनाइ प्रभुन तिन गृह पधराए॥
प्रभु कृपापात्र सुचि भगवदी मूरति ब्रह्मानंद की।
नरो सुता तिय आदि सब सद्दू मानिकचंद की॥
एक समै श्रीमहाप्रभू द्वारिका पधारे।
बेना कोठारिहु लै एऊ संग सिधारे॥
तहाँ बिनय करि किए सुसेवक सरन प्रभुन के।
जिन के सरनागत पै बस नहिं चलत तिगुन के॥
सेवा अपराधौ तिगुन सिर भेद भगति यह दृढ़ मती।
सन्यासी नरहरदास पैं सुगुरुकृपा अतिसय हुती॥
ग्रीषम भोग अरोगि जामिनी जगमोहन में।
पौढ़त जहँ श्रीनाथ स्वामिनी के गोहन में॥
आँखि मींचि चहुँ जाम करत बीजन तहँ ठाढ़े।
प्रभु आयसु तें आलस गत अति आनँद बाढ़े॥
ठाकुर सेवक कहँ दंड दै बादि बिरह मैं तन दहे।
गोपालदास जटाधारी नाथ खवासी करत हे॥
बैष्नव धर्म अकिंचनता तेहि प्रगटि दिखाई।
जिन की तिय करि कौल बनिक सों सीधो लाई॥
करी रसोई भोग अरपि पुनि भोग सराए।
बहुरि अनौसर करि कै सब बैष्नवनि जिंवाए॥
लषि ग्यानचंद पै प्रभु कृपा आपुहि कौल चिताइयौ।
सति धर्म मूल तिय बनिक गृह कृष्नदास पहुँचाइयौ॥
श्रीहरि पद अरबिंद मरंद मते मिलिंद में।
गावन में हरि चरित मौन में अति अमंद ये॥
अनआश्रय अरु बैष्नव धन बिष जिनहिं बिषहु तें।
याही तें ये हुते नियारे द्वंद दुखहु तें॥
कौड़ी बेंचत हे ढाइयै पैसनि हित अधिक न चहे।
श्रीगोस्वामी के प्रानप्रिय संतदास छत्री रहे॥
माधवदास कृष्नचैतन्य सुसेवक दृढ़मति।
जाको भोग समर्पित पावत प्रेत दुष्ट अति॥
पै तिहि दृढ़ बिस्वास जु श्रीठाकुरै अरोगत।
श्री आचारज प्रभुन निंदि सो लह्यौ दंड द्रुत॥
अपराध आपनो जानि कैं महाप्रभुन की आस भे।
सुंदरदासहि के संग तें बैष्नव माधवदास भे॥

श्रीगोकुल द्वै बेर साल में सदा आवते।
गाड़ा गाड़ा गुड़ घृत सौंजनि सहित लावते॥
एक पाष श्री गोकुल इक श्रीनाथद्वार रह।
खिरक लिवावत भोग समर्पित सब ग्वालनि कहँ॥
पुरुषोत्तम खेतहि बैष्नवनि सबै लिवाए मुद भरे।
बिरजो मावजी पटेल दोउ बैष्नव ही हित अवतरे॥
एक समै गोपालदास श्रीनाथहिं आए।
आयो ज्वर द्वै चारि भए लंघन दुख पाए॥
लागी प्यास कही सेवक सों सोइ गयो सो।
आपुहि झारी लै प्याए जल दुख बिसरो सो॥
श्रीगोस्वामी की सीष सों प्रभुता मद रंच न रहे।
गोपालदास रोड़ा दिए नाम दान प्रभु के कहे॥
श्रीबिट्ठलसुत जेहि काका सम आदर करहीं।
बैष्नव पर अति नेह सुअन सम नित अनुसरहीं॥
नाम दान दै जगत जीव फिरि फिरि के तारे।
ठौर ठौर हरि सुजस भक्ति हित बहु बिस्तारे॥
प्रिय कंस धंस के होइ कै छत्रिहु बल्लभ बंस भे।
काका हरिबंस प्रसंस मति धरम परम के हंस भे॥
जवन उपद्रव जब श्रीप्रभु मेवाड़ पधारे।
मारग मैं यह साथ रहीं हिय भगति बिचारे॥
जब रथ कहुँ अड़ि जात तबै सब इनहिं बुलावैं।
श्रीजी के ढिग भेजि नाथ इच्छा पुछवावैं॥
श्रीबिट्ठल गिरिधर नाम सों पद रचि हरि लीला गईं।
गंगा बाई श्रीनाथ की अतिहि अंतरंगिनि भईं॥
नंददास अग्रज द्विज-कुल मति गुन गन मंडित।
कबि हरिजस गायक प्रेमी परमारथ पंडित॥
रामायन रचि राम भक्ति जग थिर करि राखी।
थोरे मैं बहु कह्यौ जगत सब याको साखी॥
जग लीन दीनहू जा कृपा बल न रामचरितहि तजे।
श्रीतुलसिदास परताप तें नीच ऊँच सब हरि भजे॥
भट्ट नागजी कृष्नभट्ट पद्मा रावल सुत।
माधोदास हिसार बास कायथ निज पितु जुत॥
बिट्ठलदास निहालचंद श्रीरूपमुरारी।
रूपचंद नंदा खत्री भाइला कुठारी॥
राजा लाखा हरिदास भाई जलौट हरि नाम रट।
गोस्वामी बिट्ठलनाथ के ये सेवक जग में प्रगट॥
कृष्नदास कायस्थ नरायनदास निहाला।
ग्यानचंद ब्रह्मनी सहारनपुर के लाला॥
जनअर्दन परसाद गुपालदास पाथी गनि।
मानिकचँद मधुसूदनदास गनेस ब्यास पुनि॥
जदुनाथ दास कान्हो अजब गोपीनाथ गुआल सत।
गोस्वामी बिट्ठलनाथ के ये सेवक हरि चरन रत॥

कही जुगल रस केलि माधुरीदास मनोहर।
बिट्ठलबिपुल बिनोदबिहारिनि तिमि अति सुंदर॥
रसिकबिहारी त्यौंही पद बहु सरस बनाए।
तिमि श्रीभट्टहु कृष्नचरित गुप्तहु बहु गाए॥
कल्यानदेव हित कमलदृग नरबाहन आनंदघन।
हित रामराय भगवान बलि हठी अली जगनाथ जन॥
भट्ट गदाधर मिश्र गदाधर गंग गुआला।
कृष्नजिवन हरि लछीराम पद रचत रसाला॥
जन हरिया घनस्याम गोबिंदा प्रभु कल्याना।
बिचित्रबिहारी प्रेमसखी हरि सुजस बखाना॥
रस रसिकबिहारी गिरिधरन प्रभु मुकुंद माधव सरस।
श्रीललितकिसोरी भाव सों नित नव गायो कृष्नजस॥
बसत अजुध्या नगर कृष्न सों नेह बढ़ावत।
कृष्न कुतूहल कहि गुपाल लीला नित गावत॥
दोऊ कुल की बृत्ति तिनूका सी तजि दीनी।
ब्याह कियो नहिं जानि दुखद हरि पद मति भीनी॥
करि बाद पंथ थापन कियो ग्रंथ रचे नव तीन गनि।
श्रीबल्लभ आचारज अनुज रामकृष्ण कबि मुकुटमनि॥
बल्लभ पथहि दृढ़ाइ कृष्नगढ़ राजहि छोड़्यौ।
धन जन मान कुटुंबहि बाधक लखि मुख मोड़्यौ॥
केवल अनुभव सिद्ध गुप्त रस चरित बखाने।
हिय सँजोग उच्छलित और सपनेहुँ नहिं जाने॥
करि कुटी रमन रेती बसत संपद भक्ति कुबेर भे।
हरि प्रेम माल रस जाल के नागरिदास सुमेर भे॥
बारबधू ढिग बसत सबै कछु पीयो खायो।
पै छनहूँ हिय सों नहिं सो अनुभव बिसरायो॥
सुनतहिं बिट्ठल नाम भक्त मुख श्रवन मँझारी।
प्रान तज्यो कहि अहो तिनहिं सुधि अजहुँ हमारी॥
दरसन ही दै हरिभक्त अपराध कुष्ट जन दुख दहे।
हिय गुप्त बियोगहि अनुभवत बड़े नागरीदास हे।
निज गुरु हित हरिबंस कृष्नचैतन्य चरन रत।
हरि सेवा में सुदृढ़ काम क्रोधादि दोष गत॥
अद्भुत पद बहु किए दीन जन दै रस पोषे।
प्रभु पद रति बिस्तारि भक्तजन मन संतोषे॥
दृढ़ सखीभाव जिय में बसत सपनेहुँ नहिं कहुँ और मन।
श्रीबृंदाबन के सूर ससि उभय नागरीदास जन॥
अलीखान पाठान सुता सह ब्रज रखवारे॥
सेख नबी रसखान मीर अहमद हरि प्यारे॥
निरमलदास कबीर ताजखाँ बेगम बारी।
तानसेन कृष्नदास बिजापुर नृपति दुलारी॥
पिरजादी बीबी रास्ती पद रज नित सिर धारियै।
इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिन हिंदुन वारियै॥

बार बार निज सौज साधुजन लखत लुटाई।
बेदी बंस प्रसंस प्रगटि रस रीति दृढ़ाई॥
गुप्त भाव हरि प्रियतम को निज हिये पुरायो।
गाइ गाइ प्रभु सुजस जगत अघ दूरि बहायो॥
जग ऊँच नीच जन करि कृपा एक भाव अपनाइ लिय।
बाबा नानक हरिनाम दै पंचनदहि उद्धार किय॥
सेन बंस श्रीसिवानंद सुत बंग उजागर।
सुर बानी मैं निपुन सकल रस के मनु सागर॥
अति छोटे तन गुरु महिमा करि छंद बखानी।
जननि गोद सों किलकि हँसे निज गुरु पहिचानी॥
परमानँद सों चैतन्य ससि नाम पलटि दूजो दियो।
कबि करनपूर हरि गुर चरित करनपूर सब को कियो॥
नाम नरायनदास बिदित हनुमत कुल जायो।
अग्र कील्ह गुरु कृपा नयन खोयोहू पायो॥
गुरु आयसु धरि सीस भक्त कीरति जिन गाई।
भक्तमाल रस जाल प्रेम सों गूथि बनाई॥
नितही नव रूप सुबास सम सुमन संत करनी कथित।
बनमाली के माली भए नाभाजी गुन गन गथित॥
कृष्नदास बंगाल कृष्न पद पदुम परम रत।
प्रियादास सुखदास प्रिया जुग चरन कुमुद नत॥
ललित लालजीदास एक औरहु कोउ लाला।
लाल गुमानी तुलसिराम पुनि अग्गरवाला॥
परतापसिंह सिधुआपती भूपति जेहि हरि चरन रति।
ये भक्तमाल रस जाल के टीकाकार उदारमति॥
छोड़ि सकल धन धाम बास ब्रज को जिन लीनो।
माँगि माँगि मधुकरी उदर पूरन नित कीनो॥
हरि मंदिर अति रुचिर बहुत धन दै बनवायो।
साधु संत के हेत अन्न को सत्र चलायो॥
जिनकी मृत देहहु सब लखत ब्रज रज लोटन फल लहे।
लाला बाबू बंगाल के बृंदाबन निवसत रहे॥
प्रथम लखनऊ बसि श्रीबन सों नेह बढ़ायो।
तहँ श्री जुगल सरूप थापि मंदिर बनवायो॥
द्वापर को सुखरास रास कलिजुग में कीनी।
सोइ भजन आनंद भाव सहचरि रँग भीनी॥
लाखन पद ललित किसोरिका नाम प्रगटि बिरचे नए।
कुल अग्रवाल पावन करन कुंदनलाल प्रगट भए॥
रामायन भागवत गरगसंहिता कथामृत।
भाषा करि करि रचे बहुत हरि चरित सुभाषित॥
दान मान करि साधु भक्त मन मोद बढ़ायो।
सब कुलदेवन मेटि एक हरिपंथ दृढ़ायो॥
लच्छावधि ग्रंथन निरमए श्रीबल्लभ बिस्वास अट।
गिरिधरनदास कबि कुल कमल बैस्य बंस भूषन प्रगट॥

श्रीरामानुज बृद्ध हरिचरन बिनु सब त्यागी।
भाई सिंह दयाल भजन मैं अति अनुरागी॥
कबिबर दास अमीर कृष्न पद मैं मति पागी।
मयाराम रस रास ललित प्रेमी बैरागी॥
श्रीहरि के प्रेम प्रचार हित जिन उपदेस बहुत दए।
यह चार भक्त पंजाब में चार बेद पावन भए॥
छत्रिय बंस गुलाबसिंह सुत मत रामानुज।
रामकुमारी गर्भ रत्न त्यागी मंडल धुज॥
सुबसु बेद बसु चंद आठ कातिक प्रगटाए।
श्रीहरि महिमा ग्रंथ ललित बत्तीस* बनाए॥
रनजीत सिंह नृप बहु कह्यौ तदपि नाहिं दरसन दियो।
श्री भक्त रत्नहरिदास जू पावन अमृतसर कियो॥
अग्रज कुंदनलाल सदा दैवत सम मान्यौ।
परम गुप्त हरि बिरह अमृत सों हियरो सान्यौ॥
अंतरंग सखिभाव कबहुँ काहू न लखायो।
करम जाल बिध्वंसि प्रेम पथ सुदृढ़ चलायो॥
श्री कुंदनलाल उदार मति बंधु भगति अति धारि हिय।
त्रेता में जो लछिमन करी सो इन कलिजुग माहिं किय॥
नित्य पाँच पद बिरचि कृष्न अरचन तब ठानत।
गान तान बंधान बाँधि हरि सुजस बखानत॥
देस देस प्रति घूमि घूमि नर पावन कीनो।
निज नयनन के प्रेम बारि हियरो नित भीनो॥
घर त्यागि फिरत इत उत भ्रमत भक्त-बनज बन प्रगट रबि।
नित स्याम सखी सम नेह नव स्याम सखा हरि सुजस कबि॥
तुकाराम चोखा महार सावंता माली।
नामदेव गोरा कुम्हार पंढ़री सुचाली॥
रामदास पुनि एकनाथ मायूर कन्हाई।
कृष्ना साबू और कृष्न अर्पन रत बाई॥
दामाजी दत्त वधूत ग्यानेस्वर अमृतराव कह।
दच्छिन के ये सब भक्तबर संत मामलेदार सह॥
गट्टूजी महराज काठजिभ कृष्नदास धरि।
तुलाराम रघुनाथदास बिसुनाथसिंह हरि॥
युगुलानन्य सुप्रियादास राधिकादास कहि।
हरिबिलास नवनीत गोप जै श्रीकृष्ना लहि॥
मथुरा ससि हरख अजीत हरिराम गुलाम गुपाल के।
नारायन सालग्राम हरिभक्त प्रगट यहि काल के॥
रामसखा हरिहरप्रसाद लछमीनारायन।
अवधदास चौपई उमादत जन रामायन॥
रामचरन सुक लोटा गट्टू रामप्रसादा।
सेवक सीताराम पौहरी गल्लू दादा॥

---

* श्रीरघुनाथके परम भक्त अति रसिक विद्वज्जनमान्य महानुभाव श्रीरत्नहरिदासजीने ३२ ग्रन्थ नवीन बनाये हैं। इन ग्रन्थोंमें प्रतिपद यमक-अनुप्रासादि अलंकार भरे हैं और वर्णमैत्रीकी तो प्रतिज्ञा है कि एक पद वर्णमैत्री बिना नहीं होगा। तथा उनके पढ़नेसे ऐसा आनन्द प्रकट होता है कि कथनमें नहीं आता। जो पुरुष सुनते हैं, वही मोहित हो जाते हैं। कुछ ग्रन्थोंके नाम इस प्रकार हैं—

१—रामरहस्य—चौपाई-दोहादि छन्दोंमें बाल्यलीला रघुनाथजीकी, श्लोक ५०००।
२—प्रश्नोत्तरी—दोहा ४०। शुकप्रोक्त प्रश्नोत्तरीकी भाषा है।
३—रामललाम—ललित पद छन्दोंमें रामायण है। श्लोक ६०००। रामकलेवा ग्रन्थवत्।
४—सार-संगीत—उक्त छन्दोंमें श्लोक ६०००। भागवतकी कथा।
५—नानक-चन्द्र-चन्द्रिका—चौपाई-दोहादि छन्दोंमें श्रीनानकशाहका जीवन-चरित-वर्णन।
६—दाशरथी-दोहावली—दोहा ११००। रामायण है अति चमत्कारयुत।
७—जमकदमक दोहावली—दोहा १२५, प्रति दोहेमें ४ जमक हैं।
८—गूढ़ार्थ दोहावली—दोहा १०० फुटकर हैं।
९—एकादशस्कन्ध-भागवतका चौपाई-दोहोंमें।
१०—कौशलेश कवितावली—कवित्त १०८, रामायण-क्रमसे।
११—गुरु-कीरति-कवितावली—१०८। नानकशाहका चरित्र है।
१२—कुसुमक्यारी—कवित्त ३६, दशमस्कन्धके समाससे।
१३—दशमस्कन्ध-कवितावली—कवित्त १६७, अति विचित्र हैं।
१४—महिम्न-कवितावली—कवित्त २७।
१५—नानक-नवक—कवित्त ९। नानकशाहकी स्तुति।
१६—रासपञ्चाध्यायी—कवित्त ६०।
१७—व्रजयात्रा—कवित्त १५०। व्रजकी यात्राका वर्णन।
१८—कवित्त-कादम्बिनी—भागवत-क्रमसे कवित्त १५०।
१९—रघूत्तमसहस्रनाम—श्लोक २५। वाल्मीकिरामायणकी कथा भी क्रमसे।
२०—पदरत्नावली—विष्णुपदोंमें रामायण। इसी प्रकार और भी उत्तम ग्रन्थ हैं।

बलि रामनिरंजन जुगल जुगराज परमहंसादि ये।
द्विज ब्रह्मदत्त सह प्रगट एहि समय भक्त हरि के भये॥
राम नाम रत रामदास हापड़ के बासी।
त्यागि संपदा भए सुनत सप्ताह उदासी॥
जागो भट्ट प्रसिद्ध भजनप्रिय सेवत कासी।
राम नाम रत माजी नागर बंस प्रकासी॥
श्रीहरिभाऊ हरिभाव रत सूलटंक सिव ढिग बसत।
ये चार भक्त एहि काल के औरहु हरि पद कंज रत॥

दोहा

उनइस सै तैंतीस बर संबत भादों मास।
पूनो सुभ ससि दिन कियो भक्तचरित्र प्रकास॥
जे या संबत लौं भए जिनको सुन्यौ चरित्र।
ते राखे या ग्रंथ में हरिजन परम पबित्र॥
प्राननाथ आरति हरन सुमिरि पिया नँद-नंद।
भक्तमाल उत्तर अरध लिखी दास हरिचंद॥
जो जग नर ह्वै अवतरयौ प्रेम प्रगट जिन कीन।
तिनहीं उत्तर अरध यह भक्तमाल रचि दीन॥
जय बल्लभ बिट्ठल जयति जै जै पिय नँदलाल।
जिन बिरची यह प्रेम-गुन गुथी भक्तिकी माल॥
नहिं तो समरथ यह कहाँ हरिजन गुन सक गाय।
ताहू मैं हरिचंद सो पामर है केहि भाय॥
जगत जाल मैं नित बँध्यो परयौ नारि के फंद।
मिथ्या अभिमानी पतित झूठो कबि हरिचंद॥
धोबी बच सों सिय तजन ब्रज तजि मथुरा गौन।
यह द्वै संका जा हिये करत सदा ही भौन॥
दुखी जगत गति नरक कहँ देखि क्रूर अन्याय।
हरि दयालुता मैं उठत संका जा जिय आय॥
ऐसे संकित जीअ सों हरि हरि भक्त चरित्र।
कबहूँ गायो जाइ नहिं यह बिनु संक पबित्र॥
हरि चरित्र हरि ही कह्यौ हरिहि सुनत चित लाय।
हरिहि बड़ाई करत हरि ही समुझत मन भाय॥
हम तो श्रीबल्लभ कृपा इतनो जान्यौ सार।
सत्य एक नँदनंद है झूठो सब संसार॥
तासों सब सों बिनय करि कहत पुकार पुकार।
कान खोलि सबही सुनौ जौ चाहौ निस्तार॥
मोरौ मुख घर ओर सों तोरौ भव के जाल।
छोरौ जग साधन सबै भजौ एक नँदलाल॥
हरिश्चन्द्रो माली हरिपदगतानां सुमनसां
सदाम्लानां भक्तिप्रकटतरगन्धां च सुगुणाम्।
अगुम्फत् सन्मालां कुरुत हृदयस्थां रसपदा
यतोऽन्येषां स्वस्य प्रणयसुखदात्रीयमतुला॥

अवतार-वन्दना

('गीतगोविन्द' के एक पदका भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रकृत अनुवाद)

जय जय जय जगदीश हरे।
प्रलय भयानक जलनिधि जल धँसि प्रभु तुम बेद उधारे।
करि पतवार पुच्छ निज बिहरे मीन सरीरहि धारे॥ ध्रु०॥
कठिन पीठ मंदर मंथन किन छिति भर तिल सम राजै।
गिरि घूमनि सुहरानि नींद-बस कमठ रूप अति छाजै॥ जय०॥
कनक नयन बध रुधिर छींट मिलि कनक बरन छबि छायो।
रद आगें धर ससि कलंक मनु रूप बराह सुहायो॥ जय०॥
कर नख केतकिपत्र अग्र अलि कनककसिपु तन फार्‌यौ।
खंभ फारि निज जन रच्छन हित हरि नरहरि बपु धार्‌यौ॥ जय०॥
अद्भुत बामन बनि बलि छलि कै तीन पैंड़ जग नाप्यौ।
दरसन मज्जन पान समन अघ निज नख जल थिर थाप्यौ॥ जय०॥
अभिमानी छत्रीगन बधि तिन रुधिर सींचि धर सारी।
इकइस बार निछत्र करी भुव हरि भृगुपति बपु धारी॥ जय०॥
दस दिसि दस सिरमौलि दियो बलि सब सुरगन भय हारे।
सिय लछमन सह सोभित सुंदर रामरूप हरि धारे॥ जय०॥
सुंदर गौर सरीर नील पट ससि मैं घन लपटायो।
करसन कर हल सों जमुना जल हलधर रूप सुहायो॥ जय०॥
अति करुना करि दीन पसुन पैं निंदे निज मुख बेदा।
कलिजुग धरम कहे हरि ह्वै कै बुद्ध रूप हर खेदा॥ जय०॥
म्लेच्छ बधन हित कठिन धार तरवार धारि कर भारी।
नासे जवन सत्यजुग थाप्यौ कलकि रूप हरि धारी॥ जय०॥
नंद नँदन जग बदन दस बपु धरि लीला बिस्तारी।
गाई कबि जयदेव सोई 'हरिचंद' भक्त भय हारी॥ जय०॥

उत्तरार्द्ध भक्तमाल एवं अवतार-वन्दना नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशीके द्वारा प्रकाशित 'भारतेन्दु-ग्रन्थावली भाग २' से उद्धृत है। इसके लिये हम सभाके कृतज्ञ हैं।

श्रीभक्तनाममालिका

(श्रीभक्तसहस्त्रनाम)

स्रग्धरावृत्तमेतत्

श्रीकृष्णं प्रापयन्ती सकलजनमनोदोहदं दापयन्ती
पापाद्रिं दारयन्ती गुरुभवजलधेरञ्जसा तारयन्ती।
कामादीन्नाशयन्ती निखिलरिपुगणान् वासनां शासयन्ती
भक्तानां नामगङ्गावतु मम रसनाभूमिभागे पतन्ती॥

वसन्ततिलकावृत्तमेतत्

लोपं विलोक्य भुवि सख्यरसस्य तस्य
सञ्चारणाय हरिणा कलकण्ठनामा।
सम्प्रेषितो य इह तं व्यतरजनेभ्य-
स्तं श्रीगुरुं स्वकमहं शरणं व्रजामि॥

इतः श्लोकपञ्चके पञ्चचामरवृत्तं ज्ञेयम्

हरिः प्रसन्नतां तथा न याति नामकीर्तनैः
स्वकैर्यथा निसर्गतः स्वभक्तनामकीर्तनैः।
इतीव चिन्तयन्नहं करोमि भक्तमालिका-
क्रमेण कृष्णप्रीतये तु भक्तनाममालिकाम्॥
नमामि भक्तमालिकागतानहं पुरा सत-
स्ततस्तु प्रार्थये भृशं विनीतभावतः स्थितः।
यदि व्यतिक्रमः* क्वचित्तु वृत्तभङ्गभीरुणा
मया कृतो भवेत्तदापि मर्षयन्तु सज्जनाः॥
विरिञ्चिनारदौ शिवः कुमारकर्दमात्मजौ
मनुः कयाधुनन्दनो विदेहजश्च भीष्मकः।
बलिः शुकश्च धर्मराडिमेऽवयन्ति द्वादश
सुधर्ममन्तरङ्गमन्तरङ्गतां गता अतः॥
अजामिलस्ततो हरेरमी प्रधानपार्षदाः
सुषेणविश्वगर्वसेनकौ जयो विपूर्वकः।
जयो बलः प्रपूर्वको बलः सुनन्दनन्दकौ
सुभद्रभद्रकौ ततः प्रचण्डचण्डकौ मतौ॥
कुपूर्वको मुदः कुपूर्वको मुदाक्षकस्ततः
सुशीलशीलकौ मतौ कप्रत्ययोऽत्र स्वार्थिकः।
इमे हरिं सदैव प्रीणयन्ति सर्वभावतो
मनोगतिर्ममास्तु तत्र यत्र पार्षदा हरेः॥

इतः श्लोकपञ्चके शार्दूलविक्रीडितम्

श्रीलक्ष्मीर्गरुडः समीरतनयः श्रीजाम्बवानुद्धवः
सुग्रीवः शबरी विभीषणजटायू अम्बरीषो ध्रुवः।
अक्रूरो विदुरः सुदामगजराजग्राहभीमार्जुना
मैत्रेयो नकुलो युधिष्ठिरसदेवौ चन्द्रहासः कृती॥
कुन्ती द्रौपदिका सदा विजयते श्रीचित्रकेतुः कृती
अङ्गः श्रीश्रुतदेवकश्च मुचुकुन्दः श्रीपरीक्षित्पृथू।
शेषः शौनकमुख्यकाः प्रियव्रतः सूतः प्रचेतोगण
आकूतिश्च प्रसूतिरस्ति शतरूपा देवहूतिः सती॥
गोप्यो यज्ञसती सुनीतिरपरा† मन्दालसा पार्वती
वाल्मीकिश्च भगीरथश्च सगरो वाल्मीकिरन्योऽपि च।
श्रीसत्यव्रतताम्रकेतुसुरथाः प्राचीनबर्हिः शिबिः
श्रीरुक्माङ्गदराडलर्कभरतौ नीलो‡ मयूरध्वजः॥
श्रीविन्ध्यावलिजीरहूगणसुधन्वानो हरिश्चन्द्रक
इक्ष्वाकुश्च दधीचिरैल ऋभुगाधी श्रीरघुः श्रीगयः।
उत्तङ्कश्च रयोऽप्यमूर्तिनहुषौ वैवस्वतः श्रीमनु-
र्भूरिर्देवलरन्तिदेवशतधन्वानो ययातिर्यदुः॥
मान्धाता निमिपिप्पलायनभरद्वाजा दिलीपो गुहः
पूरुर्दक्षशमीकसञ्जयवरा उत्तानपादस्तथा।
मातङ्गः शरभङ्गको विजयते श्रीयाज्ञवल्क्यो मुनि-
रेतेषां चरणाब्जधूलिषु मनः स्नातुं ममोत्कण्ठते॥

हरिणीवृत्तमेतत्

कविरथ हरिः पूज्यः श्रीपिप्पलः करभाजनो
द्रुमिलचमसावाविर्होत्रोऽन्तरिक्षप्रबुद्धकौ ।
भजनचतुरा जायन्तेया इमे गदिता नव
निमिसदसि ते पूज्यन्ते कौ यथा च नवग्रहाः॥

पञ्चचामरवृत्तमेतत्

अगस्त्यसौभरी पुलस्त्यगर्गगौतमा भृगु-
र्वसिष्ठकर्दमात्रिलोमशा ऋचीककश्यपौ।
पराशरोऽङ्गिराश्च दूर्विकाशनश्च पर्वतो
विभाण्डकश्च व्यासशिष्य ऋष्यशृङ्गदाल्भ्यकौ॥

---

* अर्थात् पूर्ववर्तमानस्य नाम्नः पश्चाल्लेखनं पश्चाद्वर्तमानस्य च पूर्वलेखनं यन्मया विहितं तत्तु वृत्तस्य भङ्गो मा भूदिति भियैव न तु पूज्यापूज्यविवेकेनेति वृत्ततत्त्वविद एव विदाङ्कुर्वन्तुतराम्।

† सुरुचिर्ध्रुवस्य विमाता। ‡ नीलध्वजः।

इतः श्लोकद्वये उपजातिः

अरिष्टनेमिः कवषः सुतीक्ष्णो मेधातिथीन्द्रप्रेमदेध्मवाहाः।
उतथ्य और्वोऽप्यरुणः शरद्वान् धौम्योऽप्ययोध्याधिप आर्ष्टिषेणः॥
सरस्वती तुम्बुरुरुग्रसेनो व्याधो गणेशो नृगदारुकौ च।
अरुन्धती गार्ग्यनसूयिका च मैत्रेयिका वायक* एव कुब्जा॥

इतः श्लोकाष्टके अनुष्टुब्वृत्तम्

कौशल्या च सुमित्रा च कैकेयी सरमा रुमा।
सुनयनाप्यञ्जनाहल्या तारा मन्दोदरी तथा॥
पिङ्गला च सुदामा† च वैशम्पायन आरुणिः।
जैमिनिर्वरुणश्चैव कुबेरतनयौ तथा॥
वीतिहोत्रो मधुच्छन्दा वीरसेनोऽकृतव्रणः।
अथर्वा सुमतिः पैलः सुमन्तुर्द्रोण आसुरिः॥
विश्वामित्रोऽथ जाबालिर्माण्डव्यश्च्यवनस्तथा।
मार्कण्डेयोऽथ पुलहो जमदग्निस्तथैव च॥
द्वैपायनः शतानन्दो वामदेवोऽसितोऽरुणिः।
द्वितस्त्रितश्चैकतश्च कण्वो रामश्च गालवः॥
रुक्मिणी सत्यभामा च सत्या जाम्बवती तथा।
मित्रविन्दा च कालिन्दी भद्रान्या लक्ष्मणा तथा॥
भौमगेहगताः कन्याः सहस्राणि च षोडश।
कृष्णेन मोचिताः काराज्जरासन्धस्य भूभुजः॥
अष्टादशपुराणानि स्मृतयोऽष्टादशैव च।
एते च स्मृतिकर्तारो ज्ञेया निम्नाङ्किता बुधैः॥

श्लोकद्वये वसन्ततिलकावृत्तम्

अत्रिर्मनुर्यमबृहस्पतियाज्ञवल्क्या
हारीतगौतमशनैश्चरदक्षशङ्खाः।
कात्यायनक्रतुवसिष्ठपराशराश्च
विष्णुः शतातपवराङ्गिरसौ सँवर्तः॥
धृष्टिर्जयन्तविजयौ खलु धर्मपालः
श्रीराष्ट्रवर्धनसुराष्ट्रसुमन्त्रवर्याः।
निष्कोप एत इह राघवमन्त्रिवर्या
अष्टौ मया निगदिता हरिभक्तिप्राप्त्यै॥

तोटकवृत्तमेतत्

पनसोऽङ्गदगन्धमदद्विविदाः
कुमुदो नलनीलदरीवदनाः।
शरभो दधितुण्डसुषेणमयन्द-
गवाक्षवराः सुभटो गवयः॥

इतः श्लोकद्वये इन्द्रवज्रावृत्तम्

श्रीदेवमीढस्य बभूवतुर्द्वे भार्ये हि विट्क्षत्रियवंशजाते।
पर्जन्यनामाजनि वैश्यपुत्र्या राजन्यपुत्र्यापि च शूरसेनः॥
श्रीशूरसेनाद् वसुदेवनामा भार्याभवद् यस्य च देवकीति।
पर्जन्यनाम्नोऽपि च गोपराजान्नन्दादयो वै नव संबभूवुः॥

पज्झटिकावृत्तम्

उपनन्दो नन्दोऽप्यभिनन्दः कर्मानन्दो धर्मानन्दः।
धरानन्दध्रुवनन्दसुनन्दा वल्लभनन्द इमे नव नन्दाः॥

शिखरिणीवृत्तमेतत्

यशोदारोहिण्यावपि च वृषभानुश्च जयति
सुकीर्तिः श्रीराधा पशुपयुवतीमण्डलगता।
कदम्बाद्या वृक्षा भ्रमरमृगवृन्दावनलता
रवेः पुत्री गोवर्धनगिरिरथान्यच्च सकलम्॥

इतः श्लोकद्वये अनुष्टुब्वृत्तम्

ललिता च विशाखा च रङ्गदेवी सुदेविका।
चित्रा च चम्पकलता तुङ्गविद्येन्दुलेखिका॥
श्रीराधिकासखीव्यूहे त्वष्टसख्य इमाः स्मृताः।
आसां पदरजश्चित्तं मूर्ध्ना वोढुं ममोत्सुकम्॥

द्रुतविलम्बितवृत्तम्

सुवलकोकिलभङ्गुरभारतीसुमधुमङ्गलबन्धवसन्तकाः।
गृहलगन्धकडारसनन्दनार्जुनविदग्धकसांधिकहंसकाः॥

श्लोकद्वये स्वागतावृत्तम्

गोभटर्षभसुबाहुकभोजाः श्रीसुदामविजयौ कलविङ्कः।
देवप्रस्थवसुदामसुयक्षाः श्रीलदामवृषभेन्द्रभटाश्च॥
वीरभद्रबलभद्रसुभद्राः स्तोककृष्णमणिबन्धविटङ्काः।
भद्रसेनसुविशालकरण्डा दामकिङ्किणिवरूथपवेधाः॥

इतः श्लोकद्वये पज्झटिकावृत्तम्

भद्रवर्धनशिवौ च सुकण्ठो मङ्गलांशुकपिलाः कलकण्ठः।
उज्ज्वलश्च सुमना ओजस्वी पल्लवश्च वकुलस्तेजस्वी॥
पुण्डरीककुलवीरमिलिन्दा महाभीमरणभीमकलिन्दाः।
सुरेशविलासिशरप्रभकुन्दाः पुष्पहासरणधीरमरन्दाः॥

उपजातिवृत्तमेतत्

इमे सखायो व्रजराजसूनोः सर्वप्रकारैः सुखयन्ति नित्यम्।
कुर्वन्तु दीने करुणां मयीमे यथा भवेयं सखिषु प्रविष्टः॥

श्लोकद्वये पज्झटिकावृत्तम्

रक्तकवकुलः प्रेमाकन्दः पत्रकमधुवर्तो मकरन्दः।
पत्रिरसालविशालशारदाश्चन्द्रहासमधुकण्ठपयोदाः॥

* श्रीरामकृष्णयोर्मथुरावलोकनसमये यो वेशमकल्पयत् स इत्यर्थः।

† मथुरावलोकनसमये श्रीरामकृष्णयोर्गले यो मालामर्पयत् स इत्यर्थः।

सदानन्दरसबुद्धिप्रकाशा उक्ताः कृष्णस्यैते दासाः।
गृहे वने सर्वत्र दिनान्ते हरिं यथासमयं सेवन्ते॥

शार्दूलविक्रीडितमेतत्

सप्तद्वीपनिवासिनश्च नवखण्डान्तर्गता ये जनाः
श्वेतद्वीपनिवासिनश्च किल ते भक्तास्तु भूपा मम।
एलापत्रवशेषकम्बलमहापद्मास्तथा वासुकिः
शङ्खस्तक्षक इत्यमी उरगराजोऽष्टौ सकर्कोटकाः॥

पञ्चचामरमेतत्

कृतादिकत्रिकेऽभवन्निमे समेऽपि वैष्णवा
अनन्तकोटिवैष्णवेष्विमे प्रसिद्धिमागताः।
अतोऽङ्किता मया सहर्षमन्यवैष्णवानहं
कथं लिखामि दिव्यदृष्टिरस्ति नाल्पमेधसः॥

उपजातिरेषा

एवं कृतादित्रिकजातभक्तनामावलीं हर्षभरेण गायन्।
प्रवर्तते श्रीकलिजातभक्तनामानि गातुं वनमालिदासः॥

इतः श्लोकाष्टके पज्झटिकावृत्तम्

कलिहतजीवानां तरणाय श्रीहरिपादाम्बुजवरणाय।
चत्वारश्चतुरैरतिललिता मार्गाः पूर्वाचार्यैः कलिताः॥
तेषां नामानीह लिखामः पूर्वं मूर्ध्ना तान् प्रणमामः।
श्रीरामानुजमध्वाचार्यौ श्रीलविष्णुनिम्बार्काचार्यौ॥
श्रीशठकोपबोपदेवौ च नाथमुनिपुण्डरीकाक्षौ च।
राममिश्रजिपराङ्कुशवर्यौ श्रीयामुनमुनिपूर्णाचार्यौ॥
कूरेशश्च धनुर्दासश्च श्रुतिप्रज्ञः श्रीश्रुतिदेवश्च।
श्रुतिधामा श्रीश्रुत्युदधिश्च लालाचार्यपादपद्मौ च॥
देवाचार्यो हर्यानन्दो राघवानन्दो रामानन्दः।
श्रीलकबीरोऽनन्तानन्दः सुखानन्दसुरसुरानन्दकौ॥
पद्मावती नृहर्यानन्दः श्रीपीपाः श्रीभावानन्दः।
गालवानन्दो योगानन्दो रैदासश्च धनाः कर्मचन्दः॥
सेनोऽल्हः सुरसुरी गयेशः पयोव्रतः श्रीलकृष्णदासः।
राणाः सारी रामसुदासः श्रीरङ्गः श्रीनरहरिदासः॥
कुल्हुराजकील्हावग्रदासः केवलदासश्चरणसुदासः।
व्रते हठी नारायणदासः पृथुदासः पुरुषोत्तमदासः॥

इतः श्लोकद्वये इन्द्रवज्रावृत्तम्

श्रीसूर्यदासस्त्रिपुरस्य दासो गोपालदासश्च हि पद्मनाभः।
श्रीटेकरामश्च गदाधरः श्रीटीलास्ततः श्रीयुतदेवपण्डाः॥
कल्याणदासः खलु हेमदासो गङ्गा च रङ्गा च हि विष्णुदासः।
श्रीचाँदनः कान्हनरदासवर्यो गोविन्ददासश्च सवीरिवयः॥

उपजातिवृत्तम्

सुमेरदेवश्च हि मानसिंहो नाभावरः श्रीयुतशङ्करार्यः।
पद्मार्यपृथ्वीधरकार्यवर्यौ श्रीतोटकाचार्यस्वरूपकार्यौ॥

इन्द्रवज्रावृत्तम्

श्रीवामदेवश्च हि नामदेवः श्रीज्ञानदेवश्च त्रिलोचनश्च।
पद्मावती श्रीजयदेववर्यः श्रीश्रीधरो बिल्वसुमङ्गलश्च॥

पज्झटिकावृत्तम्

चिन्तामणिलक्ष्मणभट्टौ च परमानन्दो वल्लभभट्टः।
विष्णुपुरीः कुलशेखरभक्तो रतिमन्ती लीलारतभक्तः॥

उपजातिवृत्तमेतत्

प्रसादनिष्ठः पुरुषोत्तमे नृपः
सिल्पिल्लभक्तेऽलमुभे हि बालिके।
कर्मा च भक्तार्थविषप्रदे ह्युभे
स्वस्त्रीयभक्तश्च हि मातुलस्तथा॥

शार्दूलविक्रीडितम्

हंसाश्चैव सदाव्रती भुवनचौहानश्च कामध्वजो
ग्वालः श्रीहरिपालको जयमलः श्रीसाक्षिगोपालकः।
सस्त्रीकद्विजरामदासवरजः सुस्वामिवाराङ्गना
अन्तर्निष्ठसुवेषनिष्ठनृपती श्रीनन्ददासस्तथा॥

इतः श्लोकद्वये पज्झटिकावृत्तम्

गुरुनिष्ठो लड्डूभक्तश्च पद्मनाभतत्त्वाजीवाश्च।
माधवदासविज्ञगोस्वामी श्रीरघुनाथदासगोस्वामी॥
श्रीबलदेवकृष्णनामानौ याववतीर्णौ भुवि भूमानौ।
नित्यानन्दकृष्णचैतन्यौ तावेव हि गदितौ न हि चान्यौ॥

इतः श्लोकपञ्चके शार्दूलविक्रीडितम्

अद्वैतश्च सनातनश्च वररूपो माधवेन्द्रः पुरी
जीवः श्रीरघुनाथभट्ट इतरो गोपालभट्टस्तथा।
श्यामानन्दगदाधरावपि शची लक्ष्मीश्च विष्णुप्रिया
श्रीगोपालगुरुस्तथा नरहरिः श्रीमज्जगन्नाथकः॥
श्रीमत्केशवभारतीश्वरपुरीवर्यौ च विद्यानिधिः
श्रीनाथश्च मुकुन्दरामहरिदासाः श्रीनृसिंहस्तथा।
श्रीवासश्च हि सार्वभौमजगदानन्दौ प्रतापो नृपः
श्रीदामोदरशङ्करावपि मनोहारिप्रियादासकौ॥
श्रीवक्रेश्वरचन्दनेश्वरमुरारिश्रीस्वरूपप्रबो-
धानन्दाश्च हि विश्वनाथबलदेवश्रीलगोविन्दकाः।
श्रीशुक्लाम्बरकृष्णदासकविराजश्रीशिवानन्दकाः
श्रीकान्तः कविकर्णपूर उदितः श्रीविश्वरूपस्तथा॥
श्रीहाड़ाइरुवीरचन्द्रवसुधापद्मावतीजाह्नवा
गौरीदासनरोत्तमौ नकुलवर्णी श्रीनिवासस्तथा।
भूगर्भश्च सनातनश्च वसुरामानन्दकः श्रीधरः
सीता भट्टगदाधरौ तपनमिश्रो माधवाचार्यकः॥

श्रीनीलाम्बरको मुरारिरसिकः श्रीवल्लभाचार्यकः
प्रद्युम्नश्च हि रामचन्द्रतुलसीमिश्रौ सुखानन्दकः।
कृष्णानन्दपुरी नृसिंहसुपुरी श्रीलक्ष्मणाचार्यकः
श्रीवृन्दावनदासहर्षहृदयानन्दाश्च काशीश्वरः॥

वसन्ततिलकावृत्तमेतत्

श्रीसूरदासमदनादिकमोहनश्च
श्रीचन्द्रशेखरहलायुधविष्णुदासाः।
वंशीमुखश्च मधुराघवपण्डितौ च
श्रीवासुदेवनिधिलोचनठक्कुराश्च॥

विद्युन्मालावृत्तमेतत्

गोपीनाथाचार्यो ब्रह्मानन्दः श्रीमत्काशीमिश्रः।
गङ्गादासः श्रीमद्रामानन्दः श्रीमद्वाणीनाथः॥

इतः श्लोकद्वये इन्द्रवज्रावृत्तम्

आचार्यरत्नः प्रभुवासुदेवा-
चार्यस्तथा श्रीपतिलोकनाथौ।
चैतन्यभक्ताः खलु भक्तमाला-
कारैरनुक्ता अपि ते मयोक्ताः॥
चैतन्यभक्ता अपि भक्तमाला-
मध्ये निरुक्ताश्च पृथक्तया ये।
एकत्र संयोज्य मया निरुक्ता-
स्ते चापि सम्यक्परिशीलनाय॥

इतः पज्झटिकावृत्तत्रयम्

सूरदासश्रीकेशवभट्टौ परमानन्ददासश्रीभट्टौ।
श्रीहरिव्यासदिवाकरनाथौ त्रिपुरदासश्रीविट्ठलनाथौ॥
गिरिधरगोविन्दगोकुलनाथा बालकृष्णरघुनाथयदुनाथाः।
श्रीघनश्यामकृष्णदासौ च गंगलवर्धमानभक्तौ च॥
भीष्मभट्टकमलाकरभट्टौ विट्ठलदासनारायणभट्टौ।
हरिरामहठी क्षेमगोस्वामी वल्लभश्च हरिवंशस्वामी॥

वसन्ततिलकावृत्तमेतत्

श्रीआशुधीरतनयो हरिदासवर्यः
श्रीव्यासकोऽलिभगवान् मधुगोपतिश्च।
श्रीविट्ठलादिविपुलश्च घमण्डिरङ्गौ
श्रीकृष्णदासबुधवर्णिवरौ* च सोझाः॥

इतः पज्झटिकापञ्चकम्

जगन्नाथथानेश्वरवर्यः सीवाँ युगलकिशोरो वर्यः।
आधारो हरिनामसुवर्य आशाधरस्त्रिलोचनवर्यः॥
हृषीकेशद्योराजनिवर्यौ श्रीसदनाकाशीश्वरवर्यौ।
कृष्णकिङ्करः कटहरियाजिः सोभूराम उदारामाजिः॥
पद्मो डूँगरपदारथौ च रामदासविमलानन्दौ च।
रामरावलः श्यामः खोजिः श्रीसोहा दलहा पद्माजिः॥
मनोरथो राँका बाँकाजिः द्यौगुर्जाड़ा गुरुचाचाजिः।
श्रीलसवाईचाँदानीपाः श्रीपुरुषोत्तमचतुरौ कीताः॥
लक्ष्मणलड्डूत्यागीलफराः सूरजकुम्भनदासौ नफराः।
खेमविरागिविमानिभावना विरहिभरतहरिकेशपावनाः॥

वसन्ततिलकावृत्तमेतत्

श्रीचक्रपाणिहरिदासतिलोकवर्या
विज्जुस्तथा पुरखदीरपि सोमनाथः।
सोमस्तथा वनचरान्वयजोद्धवश्च
श्रीभीमविक्कलमध्यानवरा विशाखाः॥

इतः श्लोकत्रये अनुष्टुब्वृत्तम्

महदाश्च मुकुन्दश्च गणेशश्च त्रिविक्रमः।
वाल्मीकिश्च रघुश्चैव जननो वृद्धव्यासकः॥
झाँझूश्च विट्ठलाचार्यो हरिभूर्हरिदासकः।
लाला बाहुबलो लाखा राघवाचार्यछीतरौ॥
उद्धवश्च कपूरश्च घाटमो घूरिरेव च।
देवानन्दमुकुन्दौ च नृहर्यानन्द एव च॥

वसन्ततिलकावृत्तमेतत्

श्रीरङ्गछीतममहीपतिसन्तरामाः
श्रीनन्दविष्णुबजुमाधवखेमरामाः।
दामोदरो नृहरिमण्डनवींदरूपाः
श्रीद्वारिकाशरणको† भगवांश्च बालः॥

इन्द्रवज्रावृत्तमेतत्

श्रीकान्हरः केशवकेशवौ च लोहंगनागूजप्रयागदासाः।
गोपालखेताहरिनाथभीमा गोविन्दवर्णी किल बालकृष्णः॥

पज्झटिकावृत्तम्

बड़भरतोऽच्युतमुकुन्दलालौ गुणनिधिरपया जसगोपालौ।
विद्यापति गोपीनाथौ‡ च ब्रह्मदासजिबहोरनकौ च॥

इतः श्लोकद्वये अनुष्टुब्वृत्तम्

रामलालो विहारी च गोविन्दस्वामिकस्ततः।
भक्तभाईप्रियदयालौ गंगारामकस्ततः॥
श्रीमत्परशुरामश्च खाटीकः केशवस्तथा।
आशकरनपूरनभीष्मा जनदयालकः॥

इतः पज्झटिकावृत्तद्वयम्

दासूस्वामी श्रीरघुनाथो गुञ्जामाली गोपीनाथः।
रामभद्रवीठलभक्तौ च चितउत्तममरहठभक्तौ च॥

* पं० कृष्णदासजी, ब्रह्मचारी कृष्णदासजी। † द्वारिकादासः। ‡ गोपीनाथपण्डा।

गोविन्दयदुनन्दनरघुनाथा भगवत्केशवमुकुन्दनाथाः।
मुरलीश्रोत्रियरामानन्दौ श्रीहरिदासमिश्रजिमुकुन्दौ॥

इतः श्लोकद्वये उपजातिः

चरित्रभक्तश्च चुतुर्भुजश्च श्रीविष्णुदासोऽपि च वेनिभक्तः।
झाली च सीता सुमतिश्च शोभा उमा च गङ्गा प्रभुता कुमारी॥
गोपाल्युवीठा च गणेशदेवी कला लखा चैव कृतङ्गढौजी।
श्रीसत्यभामा यमुना च कोली रामा मृगा मानवती च देवा॥

इन्द्रवज्रावृत्तम्

कीकी च जेवाद्वयमेव हीरा श्रीदेवकी श्रीकमला च गौरी।
जापूस्तथा श्रीहरिचेरिका च धारा च रूपा नरवाहनश्च॥

पज्झटिकावृत्तमेतत्

मधुकरशाहवाहनवरीशौ जयमलबीदावतकावीशौ*।
गम्भीरार्जुनकश्च जयन्तः श्रीगोविन्द उदा रावन्तः॥

उपजातिरेषा

जनार्दनश्चानुभवी च जीता दामोदरः सांपिलको गदाश्च।
श्रीलेश्वरो हेमविदीतकश्च श्रीमन्मयानन्दगुढ़ीलकौ च॥

इतः श्लोकचतुष्टये पज्झटिकावृत्तम्

मोहनवारीतुलसीदासौ वनियाँरामगाँवरीदासौ।
दाऊरामजगदीशदासौ श्रीमल्लक्ष्मणभगवद्दासौ॥
श्रीगोपालो लाखाभक्तो गोपालश्च जोबनेरस्थः।
नरसीभक्तश्रीदिवदासौ श्रीलयशोधरनन्दसुदासौ॥
खिन्नदास उ चतुर्भुजदासश्चेतस्वामी माधवदासः।
चतुर्भुजोऽङ्गदजनगोपालौ मीरा पृथ्वीराड्जयमालौ॥
लघुजनरामचन्द्रनीवाश्च अभयरामभगवद्विरमाश्च।
रायमलोऽक्षयराज ईश्वरो मधुकरशाहः श्रीलकान्हरः॥

उपजातिवृत्तमेतत्

खेमालरत्नश्च किशोरसिंहः स्वधर्मपत्नीयुतरामरेनः।
चतुर्भुजश्रीहरिदाससन्तदासास्तथा चालककृष्णदासः॥

इन्द्रवज्रावृत्तमेतत्

कात्यायनी चैव मुरारिदासो गोस्वामिपूर्वस्तुलसीसुदासः।
श्रीमानदासो गिरिधारिलालो गोस्वामिश्रीगोकुलनाथवर्यः॥

इतः श्लोकपञ्चके शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्

चौड़ाचौमुखचण्डकोल्हकरमानन्दाल्हका माधवः
श्रीसाधुर्वनमालिदासदुदुकौ चौरासिको माण्डनः।
श्रीनारायणमिश्रवावनकजीवानन्दसीवास्तथा
सीवांराघवदासकौ परशुरामो दासनारायणः॥

पृथ्वीराजजिप्रेमसिंहजुजुवाः कल्याणसिंहस्तथा
श्रीमन्माधवसिंहवोहिथवरौ राज्ञी च रत्नावती।
श्रीनारायणदासनर्तकमणिः श्रीरामदासस्तथा
गोविन्दश्च हि वर्धमान उ जगन्नाथादिपारीषकः॥
छीतस्वामिगदाधरौ च मथुरादासस्तथा मांडिलः
श्रीगोसूयशवन्तकन्हरवराः श्रीरामगोपालकः।
श्रीश्यामश्च कुमारवर्यहरिनाभामिश्रकौ नारदो
दीनादासकवत्सपालकवरौ श्रीरामदासस्तथा॥
श्रीगङ्गाभगवज्जनावलमनन्तानन्दकश्चोद्धवो
विश्रामश्च हि कृष्णजीवनवरो नारायणान्तो हरिः।
कुंडाकिङ्करब्रह्मदासपरसा रामा विहारी तथा
श्रीखेमाच्युतरामरेणुजयदेवश्यामदासास्तथा॥
गोपानन्ददयालराघववरा दामोदरो मोहनः
श्रीसोठाविदुरोद्धवाश्च परमानन्दः प्रधानस्तथा
श्रीखोरा चतुरोनगानरघुनाथाः कृष्णदासस्तथा।
†श्रीखेमा ‡भगवद्द्वयी च परमानन्दश्च 卐गोमोद्धवः॥

वसन्ततिलकावृत्तमेतत्

श्रीश्यामदासजयतारणविट्ठलाश्च
गोपालचीधडजिकेवलदासपीपाः।
जंगी च पूरनविनोदिप्रयागदासाः
श्रीमद्दिवाकरवरो वनमालिदासः॥

इतः श्लोकसप्तके पज्झटिकावृत्तम्

नृसिंहदासो भगवद्दासः किशोरदासश्च जगतदासः।
सल्लूधो जगन्नाथदासः श्रीखांचीः श्रीखेमादासः॥
टीला लघूद्धवो धर्मदासः श्रीलीहाः परमानन्ददासः।
खेमदासकः खरतरदासो ध्यानदासकः केशवदासः॥
श्रीमत्योलाः श्रीहरिदासः श्रीवीठलसुतकान्हरदासः।
नीवास्तूवा भगवद्दासो जसवन्तो भीमो हरिदासः॥
विष्णुदासको गोपालश्च आसकरनराजर्षिवरश्च।
रूपदासको भगवद्दासश्चतुरदासकश्छीतरदासः॥
रसिकरायमलदेवादासौ गौरदासजिरायमलदासौ।
लाखैदामोदरभक्तौ च गोपालदासनाथभट्टौ च॥
तूँवरदासगंगग्वालौ च परशुरामजा करमेती च।
शेषावतिराडपि तत्रस्थः § श्रीमत्खड्गसेनकायस्थः॥
सोतीप्रेमनिधी लालदासो माधवग्वालः प्रयागदासः।
पद्मा राघवदासदुर्बलो हरिनारायण ऊधा अटलः॥

* समर्थावित्यर्थः। †खेमा पण्डा। ‡कालखेके, साँगानेरके। 卐 गोमावाले। §यत्र करमेती उत्पन्ना तत्रस्थ इत्यर्थः।

इतः श्लोकत्रये शार्दूलविक्रीडितम्

देमाखीचनिपूनिराश्च तुलसीदासश्च हीरामणि-
र्वीरा रामसुदासकश्च परमानन्दश्च रैदासिनी।
श्रीरामापि च गोमती च यमुना श्रीदेवकल्याणको
वीरा पर्वतजाद्वयी* किल धना लाली च लक्ष्मीस्तथा॥
श्रीजेवा हरिषा तथा जयसिनी गङ्गा च केशी तथा
श्रीमत्कान्हरदासकेशवलटेरौ बादरानी तथा।
कल्याणो हरिवंशकः कुमरिरायो भीमसिंहस्तथा
रङ्गः केवलराम आसकरनः श्रीधर्मदासस्तथा॥
लाखैवीठलदासकौ परशुरामः श्रीसदानन्दकः
कल्याणोऽपि च श्यामदासहरिदासौ वंशनारायणः।
श्रीमच्छङ्करकृष्णदासजगदेवा ग्वालगोपालकः
श्रीदामोदरतीर्थकः खड़गुकः श्रीचित्सुखानन्दकः॥

अनुष्टुब्वृत्तमेतत्

माधवानन्दकः श्रीलमधुसूदनसरस्वती।
नृसिंहारण्यकश्चैव रामभद्रसरस्वती॥

इतः पज्झटिकात्रयम्

जगदानन्दद्वारिकादासौ लक्ष्मणभट्टगदाधरदासौ।
पयोव्रतः श्रीयुतकृष्णदासः पूर्णः श्रीनारायणदासः॥
कल्याणसिंहो भगवद्दासः सन्तदासको माधवदासः।
आनन्दसिंहः कान्हरदासो जगतसिंहको गोविन्ददासः॥
दीपकुमारी वासोदेवी जयसिंहो गोपालीदेवी।
गिरिधरग्वालरामदासौ च रामरायश्रीभगवन्तौ च॥

उपजातिवृत्तमेतत्

श्रीरामदासश्च विलासदासः किशोरदासस्त्रय एव चैते।
व्यासात्मजा लालमती च भक्ता पीपाश्रितो भूपतिसूर्यसेनः॥

शार्दूलविक्रीडितमेतत्

इत्येषा गदिता मयाघदमनी श्रीभक्तनामावली
यां श्रुत्वा मुदितो भवत्यतितरां श्रीकृष्णचन्द्रः स्वयम्।
तस्माद् येऽभिलषन्ति लब्धुमचिरात्पादाम्बुजं श्रीहरे-
स्ते नित्यं प्रपठन्तु प्रीतिसहिता उद्दिश्य प्रीतिं हरेः॥

शिखरिणीवृत्तमेतत्

हरेर्भक्ता ये सन्त्यपि च भवितारः समभवन्
समस्तांस्तान्नत्वा लघुमतिरहं प्रार्थय इदम्।
अये भक्ता यूयं कुरुत रतिहीने मयि कृपां
ममाक्ष्णोः पन्थानं हरिरटतु रामेण सहितः॥

स्रग्धरावृत्तमेतत्

यस्याः पाठस्य मुख्यं फलमपि गदितं श्रीहरिप्राप्तिरेव
या दातुं तं समर्था परमपि पुरुषं भोग्यमन्यत्तु किन्नो।
तस्माद् भावानुसारं सकलजनमनोदोहदं पूरयन्ती
सा नित्यं प्रादुरास्तां मम रसनतरौ चिन्मयी काल्पवल्ली॥

एतां मालां श्रीहरिगले समर्पयति पञ्चचामरवृत्तेन—

विचित्रवृत्तगुच्छकैर्विचित्रभावगन्धकै-
र्विचित्रनामपुष्पकैर्विचित्रभक्तिसूत्रकैः।
हरे मुदा विनिर्मिता समर्पिता गले च ते
मुदं तनोतु भक्तनाममालिकेयमाशु ते॥

अधुना ग्रन्थसमाप्तिकालमभिधत्ते तूणकवृत्तेन-

पक्षशून्यशून्यपक्षकैमिते तु वत्सरे
विक्रमार्कभूपतेश्च मार्गशीर्षमासके।
शुक्लपक्षपञ्चमीतिथावियं समापिता
सूर्यजातटीकुटीरवासिना तु केनचित्॥

अधुना स्वकृतज्ञताप्रकाशनाय यस्य दयया भक्तिभागभवं स इमां मम कृतिं दृष्ट्वा प्रसन्नो भवतु जीयाच्चेत्याह सनामनिर्देशमार्यावृत्तद्वयेन—

यस्य दयालवबलतो बलहरिपदयोर्ममानुरागोऽभूत्।
स कृतिमिमां मम दृष्ट्वा तुष्टः प्रेष्ठो हरेर्भूयात्॥
श्रीलरामहरिदास इत्यपराख्यापि यस्य विख्याता।
शिक्षानिदेशिको मे यः शास्त्रज्ञः स संजीयात्॥

(माहात्म्यम्)

श्रीभक्तनामस्रगियं मनुजैः स्वकण्ठे
यैर्धास्यते प्रतिदिनं हरिसन्निधाने।
भुक्त्वा हरेः करुणया भुवि सर्वसौख्यं
सम्प्राप्स्यते सुखतया हरिसन्निधिस्तैः॥

इति श्रीनिखिलशास्त्रपारावारपारदृश्वसख्यवताराष्टोत्तरशतश्रीस्वामिश्रीकृष्णानन्ददासजीमहाराजशिष्येण काव्यवेदान्ततीर्थेन घटिकाशतकेन महाकविना श्रीवनमालिदासशास्त्रिणा गुम्फिता भक्तसहस्रनामे-त्युपनाम्नी श्रीभक्तनाममालिका सम्पूर्णा॥

---

*दोनों पार्वती।

श्रीगणेशजी

महिमा जासु जान गनराऊ। प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ॥
(श्रीरामचरितमानस)

सर्वमय सर्वरूप करुणासागर भगवान् जीवोंपर कृपा करके स्वयं ही उनको अपनाते हैं। संसारके नाना प्रकारके रोग-शोक, जन्म-मृत्यु आदि कष्टोंमें पड़े हुए, काम-क्रोध-लोभ-मोहादि विकारोंसे अन्धे बने जीवोंको सन्मार्गपर लानेके लिये, उनको कल्याणका ठीक-ठीक मार्ग बतलानेके लिये एक होकर भी वे दयामय अनेक दिव्य मङ्गलमय रूप धारण किये हुए हैं और अपने उन चिन्मय आनन्दमय रूपोंसे ऐसी लीलाएँ करते हैं, जिनका ध्यान करके, जिनका श्रवण एवं कीर्तन करके संसार-सागरमें डूबते-उतराते प्राणी सरलतासे इससे पार हो जाते हैं। वे परम उदार प्रभु अपनी अहैतुकी कृपासे ऐसी लीलाएँ करते हैं, जो जीवको उसके उद्धारका मार्ग बतलाती हैं। प्राणियोंके उद्धारके लिये ही वे परम प्रकाशक, सबके परमाराध्य स्वयं अपने द्वारा अपनी ही आराधना करते हैं। भक्तिका मङ्गलमय मार्ग अपने आचरणसे वे प्रभु दिखलाते हैं और फिर उस मार्गपर चलनेवालेको स्वयं अपनाते हैं।

भगवान्के मङ्गलमय लीलारूपोंकी गणना करना तो सम्भव ही नहीं है। भगवान्के रूप अनन्त हैं, उनकी लीलाएँ अनन्त हैं और उनके लीलाविलास भी अनन्त हैं। भगवान्के सभी रूप परस्पर अभिन्न—एक तथा सम्पूर्ण दिव्य नित्य शक्तियोंसे युक्त हैं। भगवान्के इन अनन्त नित्य चिन्मय रूपोंमें पाँच रूप हमारे सामाजिक संस्कारोंमें प्रमुखतासे पूजित होते हैं—१. भगवान् नारायण, २. भगवान् शिव, ३. भगवती महाशक्ति, ४. भगवान् सूर्य, एवं ५. भगवान् गणपति। इनमें भी भगवान् गणपति सभी आराधनाओं एवं मङ्गल कार्योंमें प्रथम पूज्य माने जाते हैं।

श्रीगणेशजीके प्रथम पूज्य होनेकी अनेक कथाएँ मिलती हैं। वे रुद्रगणोंके अधिपति हैं, अतः उनकी प्रथम पूजा करनेसे कार्य निर्विघ्न समाप्त होता है। उस कार्यमें रुद्रगण कोई विघ्न उपस्थित नहीं करते। जब सृष्टिके प्रारम्भमें देवताओंमें प्रथम पूज्य किसे माना जाय, यह प्रश्न उठा तब सब देवता ब्रह्माजीके पास गये। ब्रह्माजीने उन्हें बताया कि जो कोई पूरी पृथ्वीकी प्रदक्षिणा सबसे पहले कर ले, वही प्रथम पूज्य माना जाय। सब देवता अपने-अपने वाहनोंपर बैठकर प्रदक्षिणाके लिये चल पड़े। गणेशजीका शरीर स्थूल है, वे लम्बोदर हैं और उनका वाहन है चूहा। देवताओंमें अनेकोंके वाहन पक्षी हैं। कुछ रथपर, अश्वपर या हाथीपर विराजते हैं। उन सबके साथ भला गणेशजी कैसे दौड़ सकते थे? देवर्षि नारदजीकी सम्मतिसे गणेशजीने भूमिपर 'राम' यह भगवान्का नाम लिखा और उसीकी सात प्रदक्षिणा करके ब्रह्माजीके पास पहुँच गये। सृष्टिकर्ता ब्रह्माजीने उन्हींको प्रथम पूज्य बताया; क्योंकि 'राम' नाम तो साक्षात् श्रीरामका स्वरूप है और श्रीरामके तो रोम-रोममें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड हैं। श्रीगणेशजीने राम-नामकी परिक्रमा करके समस्त ब्रह्माण्डोंकी परिक्रमा कर ली थी।

एक कथा ऐसी भी है कि श्रीगणेशजीने भगवान् शङ्कर एवं पार्वतीजीकी ही प्रदक्षिणा की; क्योंकि **'माता साक्षात् क्षितेस्तनुः'** अर्थात् माता साक्षात् पृथ्वीरूप एवं पिता प्रजापतिके स्वरूप हैं। कल्पभेदसे दोनों ही कथाएँ सत्य हैं। श्रीगणेशजी तो भगवान्के ही स्वरूप हैं और नित्य हैं। उन्होंने इस प्रकार भगवन्नामकी श्रेष्ठता तथा माता-पिताकी भक्तिका आदर्श स्थापित किया और बताया कि केवल शरीरके बल या दूसरे लौकिक साधनोंसे होनेवाली सफलता झूठी है और उसपर विश्वास करनेवाला कभी भी धोखा खा सकता है। कोई किसी प्रकारकी भी सफलता चाहता हो, उसे भगवान्का ही आश्रय लेना चाहिये। मङ्गलमूर्ति गणेशजीकी प्रथम पूजा सभी विघ्नोंको तो दूर करती ही है, भगवान्के चरणोंमें ही सब ओरसे लगनेका आदर्श भी उसमें है। गणेशजीकी बड़ी विस्तृत कथाएँ हैं। उनका उपनिषद् है, गणेश-गीता है। सभी मनन करने योग्य हैं।

भगवान् शङ्कर

'नाम प्रभाउ जान सिव नीको। कालकूट फल दीन्ह अमी को॥

(श्रीरामचरितमानस)

भगवान् शङ्कर एवं भगवान् नारायण सदा ही अभिन्न हैं। आराधकोंकी रुचि एवं अधिकारभेदसे उन्हें अभीष्ट आराध्य रूपका अवलम्बन देनेके लिये वे एक सच्चिदानन्दघन ही नित्य मङ्गलमय दो रूपोंमें स्थित हैं। कर्पूरगौर, अहिभूषण, चर्माम्बर, विभूति-भूषण, गङ्गाधर, चन्द्रशेखर, नीलकण्ठ, मुण्डमाली, त्रिशूलधारी, वृषभवाहन, उमानाथ और नव-जलधर सुन्दर, रत्नाभरणभूषित, पीताम्बरधारी, श्रीवत्सवक्षाङ्कित कौस्तुभकण्ठ, वनमाली, शङ्ख-चक्रादिधारी, गरुडवाहन, श्रीपति—ये दोनों एक ही तत्त्वके दो नित्य चिन्मय लीला-विग्रह हैं। इनमेंसे किसीमें भेदबुद्धि करनेवाला किसी एकका आराधक हो तो वह अपनी भेदबुद्धिसे अपने ही आराध्यका अपमान कर रहा है—यह उसे समझना चाहिये। भगवान् श्रीरामने स्वयं कहा है—

सिव द्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहुँ मोहि न भावा॥

भगवान् नारायण, मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम एवं लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्र परम शैव हैं। भगवान् विष्णुने शङ्करजीकी पूजामें सहस्र कमल चढ़ानेका सङ्कल्प किया और जब उनमें एक कमल घट गया, तब अपना कमलरूपी नेत्र ही चढ़ा दिया। भगवान् श्रीरामने रामेश्वरलिङ्गकी स्थापना की। श्रीकृष्णचन्द्रने भगवान् शङ्करकी आराधना करके स्वामिकार्तिकको ही महारानी जाम्बवतीके पुत्र साम्बके रूपमें पाया। इसी प्रकार भगवान् शङ्कर परम वैष्णव हैं। द्वादश भागवताचार्योंमें शङ्करजी प्रमुख हैं। उन भोले बाबाको निरन्तर राम-नाम-जप तथा भगवान् श्रीहरिके चिन्तनके अतिरिक्त और कोई काम ही नहीं। अपने अविमुक्तधाम काशीपुरीमें मरनेवाले प्रत्येक प्राणीको 'राम' इस तारकमन्त्रका उपदेश मृत्यु-क्षणमें करके शङ्करजी उसे मुक्त कर दिया करते हैं। श्रीवल्लभाचार्यका पुष्टिमार्ग (शुद्धाद्वैत-) वैष्णव सम्प्रदाय मूलमें भगवान् शङ्करसे ही प्रवर्तित हुआ है। अनेक अन्य वैष्णव आराधनाग्रन्थ एवं ऐसी उपासना-परम्पराएँ हैं, जिनके आदि आचार्य भगवान् शङ्करजी हैं।

भगवान् विष्णु और भगवान् शङ्कर दोनों ही नित्य एवं चिन्मय हैं। भगवान् ब्रह्माके भ्रूमध्यसे तो नीललोहित रूपमें रुद्रकी अभिव्यक्ति हुई है। कर्पूरगौर, त्रिनयन भगवान् शिवका श्रीविग्रह नित्य है। भगवान् शङ्करकी मङ्गलमयी अनन्त लीलाएँ हैं। उनमेंसे उनका हलाहलपान तो लोकमङ्गलका मूल ही है। देवता और दैत्य—दोनों मिलकर क्षीरसिन्धुका मन्थन कर रहे थे। मन्दराचलको मथानी बनाकर, उसमें वासुकि नागको लपेटकर वे समुद्र मथ रहे थे। भगवान् नारायणने कच्छपरूपसे मन्दराचलको अपनी पीठपर ले रखा था। जब देवता और दैत्य थक गये और कोई परिणाम न हुआ, तब स्वयं भगवान् विष्णु अपने हाथोंमें वासुकिका सिर तथा उसकी पूँछ पकड़कर समुद्र मथने लगे। अमृत पानेके इस प्रयत्नमें पहले समुद्रसे घोर हलाहल विष निकला। भगवान् विष्णु तथा सभी देवता समुद्र मथनेमें लगे थे। प्रजापतिगणने देखा कि हलाहल संसारमें व्यापक होता जा रहा है और उसकी ज्वालासे संसारके जीव नष्ट हो रहे हैं। प्रजाकी रक्षाका उत्तरदायित्व प्रजापतिगणपर है। वे लोग दूसरा कोई रक्षक न देखकर भगवान् शङ्करकी शरणमें गये और स्तुति करके उन्होंने आशुतोष प्रभुको प्रसन्न किया। भगवान् विश्वनाथने विषसे आर्त एवं पीड़ित जीवोंको देखा और उन दयामयने भवानीसे कहा—'देवि ! ये बेचारे प्राणी बड़े ही व्याकुल हैं। ये प्राण बचानेकी इच्छासे मेरी शरण आये हैं। मेरा कर्तव्य है कि मैं इन्हें अभय करूँ; क्योंकि जो समर्थ हैं, उनकी सामर्थ्यका उद्देश्य ही यह है कि वे दीनोंका पालन करें। साधुजन अपने क्षणभङ्गुर जीवनकी बलि देकर भी प्राणियोंकी रक्षा करते हैं। कल्याणी ! जो पुरुष प्राणियोंपर कृपा करता है, उससे सर्वात्मा श्रीहरि संतुष्ट होते हैं और जिसपर वे श्रीहरि सन्तुष्ट होते हैं, उससे मैं तथा समस्त चराचर जगत् भी सन्तुष्ट होता है।'

महाशक्तिको अपने आराध्यकी अनुकम्पामें बाधा तो देनी नहीं थी। उन ममतामयीको भगवान् विश्वनाथका

प्रभाव सर्वथा ज्ञात था। उन्होंने अनुमोदन किया और भगवान् शङ्करने उस व्यापक हलाहल विषको अपनी हथेलीपर एकत्र करके भगवान्का नाम लेकर पान कर लिया। शङ्करजीने उस विषको अपने कण्ठमें रख लिया, इससे उनके कण्ठका उज्ज्वल वर्ण नीला हो गया। भगवान् शिवके कण्ठकी वह नीलिमा विश्वमङ्गलका उज्ज्वल पदक है। वह उन विश्वनाथकी मूर्तिमती कृपा ही है, जो उनको भूषित करती है। उन नीलकण्ठ प्रभुके पावन पदपङ्कजकी महिमा अतुलनीय है।

हमारे वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास और तन्त्र भगवान् श्रीशङ्करकी महिमा, गौरव-गरिमा, विविध लीला तथा उनके विविध उपदेशों और उनकी बतलायी हुई असंख्य साधन-प्रणालियोंसे भरे हैं। पद्मपुराणमें उन्होंने एक जगह भगवान्के गुण-लीला-रसिक देवर्षि नारदजीसे श्रीराधाकृष्णकी उपासना, उनके स्वरूप और मन्त्रादिके विषयमें बड़े रहस्य और महत्त्वकी बातें बतलायी हैं। यहाँ भक्ति-साधकोंके लाभार्थ उनमेंसे कुछका अनुवाद दिया जाता है। श्रीशङ्करजी कहते हैं—

श्रीकृष्णके 'मन्त्रचिन्तामणि' नामक दो अत्युत्तम मन्त्र हैं—एक षोडशाक्षर है और दूसरा दशाक्षर।

मन्त्र

षोडशाक्षर मन्त्र है—

'गोपीजनवल्लभचरणान् शरणं प्रपद्ये।'

और दशाक्षर है—

'नमो गोपीजनवल्लभाभ्याम्'

इन मन्त्रोंके अधिकारी सभी वर्णोंके, सभी आश्रमोंके और सभी जातियोंके वे स्त्री-पुरुष हैं, जिनकी सर्वेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्णमें भक्ति है—(**'भक्तिर्भवेदेषां कृष्णे सर्वेश्वरेश्वरे।'**) श्रीकृष्णभक्तिसे रहित याज्ञिक, दानशील, तान्त्रिक, सत्यवादी, वेदवेदाङ्गपारग, कुलीन, तपस्वी, व्रती और ब्रह्मनिष्ठ—कोई भी इनके अधिकारी नहीं हैं। इसलिये ये मन्त्र श्रीकृष्णके अभक्त, कृतघ्न, दुरभिमानी और श्रद्धारहित मनुष्योंको नहीं बतलाने चाहिये।

दम्भ, लोभ, काम और क्रोधादिसे रहित, श्रीकृष्णके अनन्य भक्तको ही ये मन्त्र देने चाहिये। इनका यथाविधि न्यास करके श्रीकृष्णकी पूजा करनी चाहिये। फिर उनका इस प्रकार ध्यान करना चाहिये—

ध्यान

सुन्दर वृन्दावनमें कल्पवृक्षके नीचे सुरम्य रत्नसिंहासनपर भगवान् श्रीकृष्ण श्रीप्रियाजीके साथ विराजमान हैं। श्रीकृष्णका वर्ण नवजलधरके समान नील-श्याम है, पीताम्बर धारण किये हुए हैं, द्विभुज हैं, विविध रत्नोंकी और पुष्पोंकी मालाओंसे विभूषित हैं, मुखमण्डल करोड़ों चन्द्रमाओंसे भी सुन्दर है। तिरछे नेत्र हैं, ललाटपर मण्डलाकृति तिलक हैं, जो चारों ओर चन्दनसे और बीचमें कुङ्कुमबिन्दुसे बनाये हुए हैं। कानोंमें सुन्दर कुण्डल शोभायमान हैं, उन्नत नासिकाके अग्रभागमें मोती लटक रहा है। पके बिम्बफलके समान अरुणवर्ण अधर हैं, जो दाँतोंकी प्रभासे चमक रहे हैं। भुजाओंमें रत्नमय कड़े और बाजूबंद हैं और अँगुलियोंमें रत्नोंकी अँगूठियाँ शोभा पा रही हैं। बायें हाथमें मुरली और दाहिनेमें कमल लिये हुए हैं। कमरमें मनोहर रत्नमयी करधनी है, चरणोंमें नूपुर सुशोभित हैं। बड़ी ही मनोहर अलकावली है, मस्तकपर मयूरपिच्छ शोभा पा रहा है। सिरमें कनेरके पुष्पोंके आभूषण हैं। भगवान्की देहकान्ति नवोदित कोटि-कोटि दिवाकरोंके सदृश स्निग्ध ज्योतिर्मय है। उनके दर्पणोपम कपोल स्वेदकणोंसे सुशोभित हैं। चञ्चल नेत्र श्रीराधिकाजीकी ओर लगे हुए हैं। वामभागमें श्रीराधिकाजी विराजिता हैं, तपे हुए सोनेके समान उनकी देहप्रभा है, नील वस्त्र धारण किये हैं, मन्द-मन्द मुसकरा रही हैं। चञ्चल नेत्रयुगल स्वामीके मुखचन्द्रकी ओर लगे हुए हैं और चकोरीकी भाँति उनके द्वारा वे श्याम-मुख-चन्द्र-सुधाका पान कर रही हैं। अङ्गुष्ठ और तर्जनी अँगुलियोंके द्वारा वे प्रियतमके मुखकमलमें पान दे रही हैं। उनके गलेमें दिव्य रत्नोंके और मुक्ताओंके हार हैं। क्षीण कटि करधनीसे सुशोभित है। चरणोंमें नूपुर, कड़े और चरणाङ्गुलियोंमें अङ्गुलीय आदि शोभा पा रहे हैं। उनके प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्गसे लावण्य छिटक रहा है। उनके चारों ओर तथा आगे-पीछे यथास्थान खड़ी हुई सखियाँ विविध प्रकारसे सेवा कर रही हैं।

श्रीराधिकाजी कृष्णमयी हैं, वे श्रीकृष्णकी आनन्द-रूपिणी ह्लादिनी शक्ति हैं। त्रिगुणमयी दुर्गा आदि शक्तियाँ

उनकी करोड़वीं कलाके करोड़वें अंशके समान हैं। सब कुछ वस्तुतः श्रीराधाकृष्णसे ही भरा है। उनके सिवा और कुछ भी नहीं है। यह जड-चेतन अखिल जगत् श्रीराधाकृष्णमय है—

चिदचिल्लक्षणं सर्वं राधाकृष्णमयं जगत्।

परन्तु वे इतने ही नहीं हैं। अनन्त अखिल ब्रह्माण्डसे परे हैं, सबसे परे हैं, सबके अधिष्ठान हैं, सबमें हैं और सबसे सर्वथा विलक्षण हैं। यह श्रीकृष्णका किञ्चित् ऐश्वर्य है।

साधन

बहुत दिनोंसे विदेश गये हुए पतिकी पतिपरायणा पत्नी जैसे एकमात्र अपने पतिमें ही अनुरागिणी होकर, एकमात्र पतिका ही सङ्ग चाहती हुई, दीनभावसे सदा-सर्वदा उस स्वामीके गुणोंका चिन्तन, गान और श्रवण किया करती है, वैसे ही श्रीकृष्णमें आसक्तचित्त होकर साधकको श्रीकृष्णके गुण-लीलादिका चिन्तन, गायन और श्रवण करते हुए ही समय बिताना चाहिये। और बहुत लंबे समयके बाद पतिके घर आनेपर जैसे पतिव्रता स्त्री अनन्य प्रेमके साथ तद्गतचित्त होकर पतिकी सेवा, उसका आलिङ्गन आदि तथा नयनोंके द्वारा उसके रूपसुधारसका पान करती है, वैसे ही साधकको उपासनाके समय शरीर, मन, वाणीसे परमानन्दके साथ श्रीहरिकी सेवा करनी चाहिये।

एकमात्र श्रीकृष्णके ही शरणापन्न होना चाहिये और वह भी श्रीकृष्णके लिये ही; दूसरा कोई भी प्रयोजन न रहे। अनन्य मनसे श्रीकृष्णकी सेवा करनी चाहिये। श्रीकृष्णके सिवा न किसीकी पूजा करनी चाहिये और न किसीकी निन्दा। किसीका जूँठा नहीं खाना चाहिये और न किसीका पहना हुआ वस्त्र ही पहनना चाहिये। भगवान्‌की निन्दा करनेवालोंसे न तो बातचीत करनी चाहिये और न भगवान् और भक्तोंकी निन्दा सुननी ही चाहिये।

जीवनभर चातकीवृत्तिसे अर्थ समझते हुए युगलमन्त्रकी उपासना करनी चाहिये। चातक जैसे सरोवर, नदी और समुद्र आदि सहज ही मिले हुए जलाशयोंको छोड़कर एकमात्र मेघजलकी आशासे प्याससे तड़पता हुआ जीवन बिताता है; प्राण चाहे चले जायँ, पर मेघके सिवा किसी दूसरेसे जलकी प्रार्थना नहीं करता, इसी प्रकार साधकको एकाग्र मनसे एकमात्र श्रीकृष्णगतचित्त होकर साधना करनी चाहिये।

परम विश्वासके साथ श्रीयुगलसरकारसे निम्नलिखित प्रार्थना करनी चाहिये—

संसारसागरान्नाथौ पुत्रमित्रगृहाकुलात्।
गोप्तारौ मे युवामेव प्रपन्नभयभञ्जनौ॥
योऽहं ममास्ति यत्किञ्चिदिहलोके परत्र च।
तत्सर्वं भवतोरद्य चरणेषु समर्पितम्॥
अहमस्म्यपराधानामालयस्त्यक्तसाधनः।
अगतिश्च ततो नाथौ भवन्तावेव मे गतिः॥
तवास्मि राधिकाकान्त कर्मणा मनसा गिरा।
कृष्णकान्ते तवैवास्मि युवामेव गतिर्मम॥
शरणं वां प्रपन्नोऽस्मि करुणानिकराकरौ।
प्रसादं कुरुतं दास्यं मयि दुष्टेऽपराधिनि॥

(पद्मपुराण, पातालखण्ड)

'नाथ ! पुत्र, मित्र और घरसे भरे हुए इस संसारसागरसे आप ही दोनों मुझको बचानेवाले हैं। आप ही शरणागतके भयका नाश करते हैं। मैं जो कुछ भी हूँ और इस लोक तथा परलोकमें मेरा जो कुछ भी है, वह सभी आज मैं आप दोनोंके चरणकमलोंमें समर्पण कर रहा हूँ। मैं अपराधोंका भण्डार हूँ। मेरे अपराधोंका पार नहीं है। मैं सर्वथा साधनहीन हूँ, गतिहीन हूँ। इसलिये नाथ ! एकमात्र आप ही दोनों प्रिया-प्रियतम मेरी गति हैं। श्रीराधिकाकान्त श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णकान्ते राधिके ! मैं तन-मन-वचनसे आपका ही हूँ और आप ही मेरी एकमात्र गति हैं। मैं आपकी शरण हूँ। आपके चरणोंपर पड़ा हूँ। आप अखिल कृपाकी खान हैं। कृपापूर्वक मुझपर दया कीजिये और मुझ दुष्ट अपराधीको अपना दास बना लीजिये।'

जो भगवान् श्रीराधाकृष्णकी सेवाका अधिकार बहुत शीघ्र प्राप्त करना चाहते हैं, उन साधकोंको भगवान्‌के चरणकमलोंमें स्थित होकर इस प्रार्थनामय मन्त्रका नित्य जप करना चाहिये।

भगवान् शङ्करने फिर नारदजीसे कहा—

देवर्षि! मैं भगवान्‌के मन्त्रका जप और उनका ध्यान करता हुआ बहुत दिनोंतक कैलासपर रहा, तब भगवान्‌ने प्रकट होकर मुझे दर्शन दिये और वर माँगनेके लिये कहा। मैंने बारम्बार प्रणाम करके उनसे प्रार्थना की—'कृपासिन्धो! आपका जो सर्वानन्ददायी समस्त आनन्दोंका आधार नित्य मूर्तिमान् रूप है, जिसे विद्वान् लोग निर्गुण, निष्क्रिय, शान्तब्रह्म कहते हैं, हे परमेश्वर! मैं उसी रूपको अपनी आँखोंसे देखना चाहता हूँ।'

भगवान्‌ने कहा—'आप श्रीयमुनाजीके पश्चिमतटपर मेरे वृन्दावनमें जाइये, वहाँ आपको मेरे स्वरूपके दर्शन होंगे।' इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। मैंने उसी क्षण मनोहर यमुनातटपर जाकर देखा—समस्त देवताओंके ईश्वरोंके ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण मनोहर गोपवेष धारण किये हुए हैं। उनकी सुन्दर किशोर अवस्था है। श्रीराधाजीके कंधेपर अपना अति मनोहर बायाँ हाथ रखे वे सुन्दर त्रिभङ्गी-से खड़े मुसकरा रहे हैं। उनके चारों ओर गोपियोंका मण्डल है। शरीरकी कान्ति सजल जलदके सदृश स्निग्ध श्यामवर्ण है। वे अखिल कल्याणके एकमात्र आधार हैं।

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने अमृतोपम मधुर वाणीमें मुझसे कहा—

यदद्य मे त्वया दृष्टमिदं रूपमलौकिकम्।
घनीभूतामलप्रेमसच्चिदानन्दविग्रहम्॥
नीरूपं निर्गुणं व्यापि क्रियाहीनं परात्परम्।
वदन्त्युपनिषत्सङ्घा इदमेव ममानघ॥
प्रकृत्युत्थगुणाभावादनन्तत्वात्तथेश्वर।
असिद्धत्वान्मद्गुणानां निर्गुणं मां वदन्ति हि॥
अदृश्यत्वान्ममैतस्य रूपस्य चर्मचक्षुषा।
अरूपं मां वदन्त्येते वेदाः सर्वे महेश्वर॥
व्यापकत्वाच्चिदंशेन ब्रह्मेति च विदुर्बुधाः।
अकर्तृत्वात्प्रपञ्चस्य निष्क्रियं मां वदन्ति हि॥
मायागुणैर्यतो मेऽशाः कुर्वन्ति सर्जनादिकम्।
न करोमि स्वयं किञ्चित् सृष्ट्यादिकमहं शिव॥

'शङ्करजी ! आपने आज मेरा यह परम अलौकिक रूप देखा है। सारे उपनिषद् मेरे इस घनीभूत निर्मल प्रेममय सच्चिदानन्दघन रूपको ही निराकार, निर्गुण, सर्वव्यापी, निष्क्रिय और परात्पर 'ब्रह्म' कहते हैं। मुझमें प्रकृतिसे उत्पन्न कोई गुण नहीं है और मेरे गुण अनन्त हैं—उनका वर्णन नहीं हो सकता। और मेरे वे गुण प्राकृत दृष्टिसे सिद्ध नहीं होते, इसलिये ये सब मुझको 'निर्गुण' कहते हैं। महेश्वर ! मेरे इस रूपको चर्मचक्षुओंके द्वारा कोई देख नहीं सकता, इसलिये वेद इसको अरूप या 'निराकार' कहते हैं। मैं अपने चैतन्यांशके द्वारा सर्वव्यापी हूँ, इसलिये विद्वान् लोग मुझको 'ब्रह्म' कहते हैं। और मैं इस विश्वप्रपञ्चका रचयिता नहीं हूँ, इसलिये पण्डितगण मुझको 'निष्क्रिय' बतलाते हैं। शिव! वस्तुतः सृष्टि आदि कोई भी कार्य मैं स्वयं नहीं करता। मेरे अंश ही (ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र) मायागुणोंके द्वारा सृष्टि-संहारादि कार्य किया करते हैं।'

देवर्षि! भगवान्‌के इस प्रकार कहने और कुछ अन्य उपदेश करनेपर मैंने उनसे पूछा—'नाथ! आपके इस युगलस्वरूपकी प्राप्ति किस उपायसे हो सकती है? इसे कृपा करके बतलाइये।' भगवान्‌ने कहा—'हम दोनोंके शरणापन्न होकर जो गोपीभावसे हमारी उपासना करते हैं, उन्हींको हमारी प्राप्ति होती है, अन्य किसीको नहीं।'

गोपीभावेन देवेश स मामेति न चेतरः।

'एक सत्य बात और है—वह यह है कि पूरे प्रयत्नोंके साथ इस भावकी प्राप्तिके लिये श्रीराधिकाकी उपासना करनी चाहिये। हे रुद्र ! यदि आप मुझे वशमें करना चाहते हैं तो मेरी प्रिया श्रीराधिकाजीकी शरण ग्रहण कीजिये—

'आश्रित्य मत्प्रियां रुद्र मां वशीकर्तुमर्हसि।'

× × × ×

इसी प्रकार भगवान् शङ्करने विविध उपासनाओंके अमोघ उपदेश किये हैं।

भगवान्‌के भक्त, सखा और स्वामी भगवान् श्रीशङ्करजीको कोटि-कोटि प्रणाम।

भगवान् ब्रह्मा

स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः।
प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्॥
द्वादशैते विजानीमो धर्मं भागवतं भटाः।
गुह्यं विशुद्धं दुर्बोधं यं ज्ञात्वामृतमश्नुते॥

(श्रीमद्भा० ६। ३। २०-२१)

श्रीयमराजजीने अपने दूतोंको भागवताचार्योंका वर्णन करते हुए कहा—'शूरो ! जिस रहस्यमय दुर्बोध विशुद्ध भागवतधर्मको जानकर प्राणी अमृतत्व प्राप्त कर लेता है, उसे भगवान् ब्रह्मा, भगवान् शङ्कर, देवर्षि नारद, सनकादि कुमार, महर्षि कपिल, महाराज मनु, भक्तराज प्रह्लाद, महाराज जनक, श्रीभीष्मजी, दैत्यराज बलि, महामुनि शुकदेवजी और मैं—ये बारह आचार्य ही जानते हैं।'

ऊपरके इन बारह भागवताचार्योंमें भी भगवान् ब्रह्माका नाम प्रथम है। सृष्टिके आदिमें भगवान् शेषशायीकी नाभिसे एक निखिललोकात्मक ज्योतिर्मय कमल प्रलय-सिन्धुमें प्रकट हुआ और उसी कमलकी कर्णिकापर ब्रह्माजी प्रकट हुए। पहले तो ब्रह्माजीने यह देखनेके लिये कि यह कमल कहाँसे निकला है, उसके नाल-छिद्रमें प्रवेश किया और सहस्र दिव्य वर्षोंतक वे उस नालका पता लगाते रहे। जब कोई पता न लगा, तब निराश होकर वे कमलपर लौट आये। उसी समय उन्हें अव्यक्त वाणीमें 'तप' यह शब्द दो बार सुनायी पड़ा। दीर्घकालतक ब्रह्माजी तप करते रहे। तपके द्वारा चित्तके सर्वथा निश्चल होनेपर उन्हें अपने अन्तः-करणमें ही भगवान् शेषशायीके दर्शन हुए। ब्रह्माजीके द्वारा स्तुति किये जानेपर भगवान्ने उन्हें भागवत-तत्त्वका चार श्लोकोंमें उपदेश किया। वही मूल चतुःश्लोकी भागवत है। भगवान्ने कहा—

'ब्रह्माजी ! विज्ञानके सहित जो मेरा परम गोपनीय ज्ञान है, उसे उसके रहस्य एवं अङ्गोंके साथ मैं उपदेश कर रहा हूँ, आप उसे ग्रहण करें। मैं जिस प्रकारका हूँ, मेरा जो भाव है, जो रूप है, जो गुण है और जो कर्म हैं, उन सबका यथावत् तत्त्वज्ञान आपको मेरी कृपासे हो।' इस प्रकार दो श्लोकोंमेंसे पहलेमें ज्ञानकी महत्ता बताकर दूसरेमें भगवान्ने बताया कि उपदेशमें न आनेवाला भगवत्स्वरूप, भगवद्भाव, भगवान्के लीलारूप, गुण एवं कर्मादि भगवान्के अनुग्रहसे स्वयं ब्रह्माजीके हृदयमें स्फुरित हो जायँगे। इन दोनों श्लोकोंके पश्चात् चार श्लोकोंमें मूल भागवतका भगवान्ने उपदेश किया—

'सृष्टिसे पूर्व केवल मैं ही था। सत्, असत् या उससे परे मुझसे भिन्न कुछ नहीं था। सृष्टि न रहनेपर (प्रलयकालमें) भी मैं ही रहता हूँ। यह सब सृष्टिस्वरूप भी मैं ही हूँ और जो कुछ इस सृष्टि, स्थिति तथा प्रलयसे बच रहता है, वह भी मैं ही हूँ।'

'जो मुझ मूल तत्त्वको छोड़कर प्रतीत होता है और आत्मामें प्रतीत नहीं होता, उसे आत्माकी माया समझो। जैसे (वस्तुका) प्रतिबिम्ब अथवा अन्धकार (छाया) होता है।'

'जैसे पञ्चमहाभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) संसारके छोटे-बड़े सभी पदार्थोंमें प्रविष्ट होते हुए भी उनमें प्रविष्ट नहीं हैं, वैसे ही मैं भी विश्वमें व्यापक होनेपर भी उससे असम्पृक्त हूँ।'

'आत्मतत्त्वको जाननेकी इच्छा रखनेवालेके लिये इतना ही जानने योग्य है कि अन्वय (सृष्टि) तथा व्यतिरेक (प्रलय) क्रममें जो तत्त्व सर्वत्र एवं सर्वदा रहता है, वही आत्मतत्त्व है।'

इस चतुःश्लोकीका उपदेश करके भगवान्ने एक श्लोकमें उसका माहात्म्य बतलाते हुए कहा—'ब्रह्माजी! आप परम समाधिके द्वारा इस मत (विचार)-पर स्थिर हों। ऐसा करनेपर कल्पोंका विकल्प (संकल्प-सृष्टि) करते हुए आप कभी मोहित नहीं होंगे।'*

* ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम्। सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया॥
यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः। तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्॥
अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत्सदसत्परम्। पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥
ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि। तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः॥
यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु। प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्॥
एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात् सर्वत्र सर्वदा॥

इस प्रकार साक्षात् भगवान्से ब्रह्माजीने सृष्टिके आदिमें तत्त्वज्ञान प्राप्त किया एवं उनके हृदयमें भगवान्की अनुकम्पासे भगवान्की अपार महिमा तथा उनके अनन्त दिव्य नित्य रूप, गुण एवं लीलाओंका प्रकाश हुआ। ब्रह्माजीने देवर्षि नारदके पूछनेपर उन्हें इस भागवत-तत्त्वका उपदेश किया और भगवत्कृपासे हृदयमें स्फुरित भगवल्लीलाओंमेंसे मुख्य चौबीस अवतारोंके चरित सूत्ररूपमें सुनाये। देवर्षि नारदजीने वह तत्त्वज्ञान एवं भगवच्चरित भगवान् व्यासको सुनाया और व्यासजीने उसे श्रीमद्भागवतके रूपमें अठारह सहस्र श्लोकोंका रूप देकर शुकदेवजीको पढ़ाया। इस क्रमसे श्रीमद्भागवतका लोकमें विस्तार हुआ।

जब भी पृथ्वी असुरोंके अधर्म-भारसे पीड़ित होती है तो वह देवताओंके साथ सृष्टिकर्ताके समीप जाकर अपना दुःख निवेदन करती है। भगवान् ब्रह्मा देवताओंके साथ उन जगदाधार परम प्रभुकी स्तुति करते हैं और तब जैसा भी भगवान्का आदेश होता है, वैसा कार्य करनेका आदेश वे देवताओंको देते हैं। इस प्रकार अधिकांश भगवान्के अवतार ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे ही होते हैं और उन अवतारोंके समय ब्रह्माजी समय-समयपर भगवान्की लीलाके दर्शन करने पधारते हैं।

जब भगवान् वामनने दैत्यराज बलिके यज्ञमें बलिसे तीन पग पृथ्वीके दानका संकल्प करा लिया और पृथ्वी नापते समय अपने विराट् रूपको प्रकट करके उन्होंने अपना दाहिना पैर स्वर्गकी ओर उठाया, तब भगवान्का वह चरण ब्रह्मलोकतक पहुँच गया। उस समय ब्रह्माजीने बड़ी ही श्रद्धासे भगवान्के उस चरणको धोया और उसकी पूजा की। भगवान्के उस चरणके अँगूठेके नखसे इस ब्रह्माण्डका बाह्यावरण तनिक फट गया और उस छिद्रसे ब्रह्माण्डसे बाहरका ब्रह्मवारि भगवान्के श्रीचरणपर आ गया। ब्रह्माजीने भगवान्का चरणोदक वह 'ब्रह्मद्रव' अपने कमण्डलुमें भर लिया और वे सदा उस चरणोदकको अपने साथ ही रखते हैं। महाराज भगीरथके तप करनेपर उसी कमण्डलुसे जो थोड़ा जल ब्रह्माजीने छोड़ दिया, वही तीन रूपमें हो गया। स्वर्गमें मन्दाकिनी, पातालमें भोगवती तथा पृथ्वीपर गङ्गाजीके रूपमें भगवान्का वही परमपावन चरणोदकरूप साक्षात् ब्रह्मद्रव प्रवाहित हो रहा है।

ब्रह्माजीने स्वयं अपने हृदय एवं मनकी स्थितिका वर्णन करते हुए कहा है—'मेरी वाणी कभी असत्यकी ओर प्रवृत्त नहीं होती, मेरा मन कभी असत्यकी ओर नहीं जाता, मेरी इन्द्रियाँ कभी असन्मार्गकी ओर नहीं झुकतीं; क्योंकि मैं हृदयमें सदा ही बड़ी उत्कण्ठासे श्रीहरिको धारण किये रहता हूँ।* बस, यही तो 'भागवतधर्मका' आदर्श है।'

इस प्रकार भागवतधर्मके प्रथमाचार्य ब्रह्माजीने अपनी स्थितिके द्वारा प्राणियोंको यह भी बताया है कि वाणीसे असत्य भाषण न हो, मन कुमार्गमें न जाय, इन्द्रियाँ विषयोंमें प्रवृत्त न हों, इसका एकमात्र उपाय है कि भगवान्को उत्कण्ठापूर्वक हृदयमें धारण किया जाय। चित्तको सब प्रकारसे उन प्रभुमें ही लगाये रखा जाय।

भगवान्की शरणागति—भगवान्का हो जाना ही सारे दुःख, क्लेश और बन्धनोंका नाश करनेवाला है। इसपर ब्रह्माजी भगवान्की स्तुति करते हुए कहते हैं—'जबतक मनुष्य आपके अभयप्रद चरणारविन्दोंका आश्रय नहीं लेता, तभीतक उसे धन, घर और बन्धुजनोंके कारण प्राप्त होनेवाले भय, शोक, दीनता और अत्यन्त लोभ आदि सताते हैं और तभीतक उसे 'मेरेपन' का आग्रह रहता है, जो दुःखकी एकमात्र जड़ है।'† श्रीकृष्ण ! तभीतक राग-द्वेष आदि चोर पीछे लगे हैं, तभीतक घर कैदखानेकी तरह बाँधे हुए है और तभीतक मोहकी बेड़ियाँ पैरोंमें पड़ी हैं—जबतक यह जीव आपकी शरणमें नहीं आ जाता—आपका नहीं हो जाता।'‡

एतन्मतं समातिष्ठ परमेण समाधिना। भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित्॥
(श्रीमद्भा० २। ९। ३०—३६)

* न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः। न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः॥
(श्रीमद्भा० २। ६। ३३)

† तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः। तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः॥
(श्रीमद्भा० ३। ९। ६)

‡ तावद्रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्। तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। ३६)

श्रीयमराजजी

जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं
चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम्।
कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि
तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान् ॥
(श्रीमद्भा० ६। ३। २९)

'जिनकी जीभ भगवान्के मङ्गलमय गुणों एवं परम पवित्र नामोंका वर्णन नहीं करती, जिनका चित्त भगवान्के चरणकमलोंका चिन्तन नहीं करता, जिनका सिर एक बार भी श्रीकृष्णचन्द्रको प्रणाम करनेके लिये नहीं झुका, भगवान् विष्णुके पावन कर्मोंसे सर्वथा पृथक् रहनेवाले केवल उन दुष्टोंको ही तुमलोग यहाँ (यमपुरीमें) लाया करो।' यह यमराजजीने अपने दूतोंको आदेश दिया है।

जब भी यमदूत हाथमें पाश लेकर मर्त्यलोकके मरणासन्न प्राणियोंको लेने चलते हैं, तभी उन्हें पास बुलाकर उनके कानमें यमराजजी समझाते हैं—'जो लोग भगवान्की कथाको कहने-सुननेमें लगे रहनेवाले हैं, उनके पास तुम मत जाना। उन्हें तो तुम छोड़ ही देना, क्योंकि मैं दूसरे सब प्राणियोंको कर्मका दण्ड देनेवाला स्वामी हूँ, पर भगवान्के भक्तोंको दण्ड देनेकी शक्ति मुझमें नहीं है। मैं उनका स्वामी नहीं हूँ।'

नित्य देव होनेपर भी यमराजजी भगवान् सूर्यनारायणके पुत्र हैं। वे देवशिल्पी विश्वकर्माकी पुत्री संज्ञासे उत्पन्न हुए हैं। उनके शरीरका रंग श्याम वर्णका है और वे हाथमें भयङ्कर दण्ड लिये रहते हैं। उनका वाहन भैंसा है। भगवान् ब्रह्माकी आज्ञासे ही प्राणियोंके कर्मोंके अनुसार फलका निर्णय करने-जैसा कठोर कर्म उन्होंने स्वीकार किया। वैसे तो वे भगवान्के अंश हैं और कारक पुरुष हैं। कल्पान्ततक संयमनीपुरीमें रहकर वे जीवोंको उनके कर्मानुसार फलका विधान करते रहते हैं।

पुण्यात्मा जीवोंको यमराजजी धर्मराजके रूपमें बड़े सौम्य दीखते हैं। पुण्यात्मा जीव शरीर छोड़नेपर धर्मराजके सौम्य, सुन्दर, शीलवान् दूतोंद्वारा बड़े सुख एवं आदरपूर्वक संयमनी पहुँचाया जाता है और धर्मराज उसको उसके पुण्यके अनुसार उच्च लोकोंमें भेजते हैं; किंतु पापियोंको उग्ररूपमें दर्शन देना, उन्हें नरकोंमें डालना आदि भयङ्कर कर्म भी वे दयासे ही करते हैं। यमराज प्रधान भागवताचार्योंमें हैं, अतएव उनके द्वारा निष्ठुरता तो सम्भव ही नहीं है। वे तो दण्ड इसलिये देते हैं, जिससे प्राणी पापोंसे छूटकर पवित्र हो जाय। वह शुद्ध होकर फिर पृथ्वीपर जानेयोग्य हो और उसे भगवान्को पानेका अवसर प्राप्त हो सके। जैसे अशुद्ध सोनेको अग्निमें तपाते हैं शुद्ध करनेके लिये, वैसे ही यमराजजीके द्वारा नरककी विविध यातनाएँ जीवके पापकर्मोंके मलको दूर करनेके लिये ही दी जाती हैं।

यमराजजीने अपने दूतोंको भक्तितत्त्वका उपदेश करते हुए कहा है—'जीवके समस्त पापोंको दूर करनेके लिये इतना ही साधन पर्याप्त है कि वह भगवान्के दिव्य गुण, मङ्गलमय चरित एवं परम पावन नामोंका कीर्तन करे। जो बुद्धिमान् पुरुष हैं, वे ऐसा सोचकर अनन्त स्वरूप भगवान्में ही सम्पूर्ण भावनाओंके साथ चित्तको लगाते हैं। ऐसे महापुरुष मेरे द्वारा दण्ड पानेयोग्य नहीं हैं। उन्होंने यदि पहले कुछ पाप किया भी हो तो भगवद्गुणानुवाद उसका नाश कर देता है। जो समदर्शी भगवच्छरणागत साधुजन हैं, उनके पवित्र चरित तो देवता तथा सिद्धगण भी गाया करते हैं। मेरे दूतो! भगवान्की गदा सदा उनकी रक्षा किया करती है। तुमलोग उनके पास मत जाना। मेरा कोई सेवक या स्वयं मैं भी उन्हें दण्ड देनेमें समर्थ नहीं। निष्किञ्चन वीतराग परमहंस जन रसज्ञ होकर भगवान्के चरण-कमलोंके जिस मकरन्दमें निरन्तर लगे रहते हैं, भगवान् मुकुन्दके उस पादारविन्दमकरन्दसे विमुख होकर तृष्णाके द्वारा नरकके द्वाररूप घरोंमें जो बँधे हैं, उन (काम-क्रोध-परायण स्त्री-पुत्रादि-संसारासक्त) असत् पुरुषोंको ही तुमलोग यहाँ (यमपुरीमें) लाया करो।'

सनकादि कुमार

भाग्योदयेन बहुजन्मसमर्जितेन
सत्सङ्गमं च लभते पुरुषो यदा वै।
अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकार-
नाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः॥
(श्रीमद्भा० माहात्म्य २। ७६)

'अनेक जन्मोंके किये हुए पुण्योंसे जब जीवके सौभाग्यका उदय होता है और वह सत्पुरुषका सङ्ग प्राप्त करता है, तब अज्ञानके मुख्य कारणरूप मोह एवं मदके अन्धकारको नाश करके उसके चित्तमें विवेकके प्रकाशका उदय होता है।'

सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माजीने जैसे ही रचनाका प्रारम्भ करना चाहा, उनके संकल्प करते ही उनसे चार कुमार उत्पन्न हुए—सनक, सनन्दन, सनातन एवं सनत्कुमार। ब्रह्माजीने सहस्र दिव्य वर्षोंतक तप करके हृदयमें भगवान् शेषशायीका दर्शन पाया था। भगवान्ने ब्रह्माजीको भागवतका मूल-ज्ञान दिया था। इसके पश्चात् ही ब्रह्माजी मानसिक सृष्टिमें लगे थे। ब्रह्माजीका चित्त अत्यन्त पवित्र एवं भगवान्में लगा हुआ था। उस समय सृष्टिकर्ताके अन्तः-करणमें शुद्ध सत्त्वगुण ही था। फलतः उस समय जो चारों कुमार प्रकट हुए, वे शुद्ध सत्त्वगुणके स्वरूप हुए। उनमें रजोगुण तथा तमोगुण था ही नहीं। न तो उनमें प्रमाद, निद्रा, आलस्य आदि थे और न सृष्टिके कार्यमें उनकी प्रवृत्ति थी। ब्रह्माजीने उन्हें सृष्टि करनेको कहा तो उन्होंने सृष्टिकर्ताकी यह आज्ञा स्वीकार नहीं की। विश्वमें ज्ञानकी परम्पराको बनाये रखनेके लिये स्वयं भगवान्ने ही इन चारों कुमारोंके रूपमें अवतार धारण किया था। कुमारोंकी जन्मजात रुचि भगवान्के नाम तथा गुणका कीर्तन करने, भगवान्की लीलाओंका वर्णन करने एवं उन पावन लीलाओंको सुननेमें थी। भगवान्को छोड़कर एक क्षणके लिये भी उनका चित्त संसारके किसी विषयकी ओर जाता ही नहीं। ऐसे सहज स्वभावसिद्ध विरक्त भला कैसे सृष्टिकार्यमें कब लग सकते थे?

उनके मुखसे निरन्तर '**हरिः शरणम्**' यह मङ्गलमय मन्त्र निकलता रहता है। वाणी इसके जपसे कभी विराम लेती ही नहीं। चित्त सदा श्रीहरिमें लगा रहता है। इसका फल है कि चारों कुमारोंपर कालका कभी कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे सदा पाँच वर्षकी अवस्थाके ही बने रहते हैं। भूख-प्यास, सर्दी-गरमी, निद्रा-आलस्य—कोई भी मायाका विकार उनको स्पर्शतक नहीं कर पाता। वैसे तो कुमारोंका अधिक निवासधाम जनलोक है—जहाँ विरक्त, मुक्त, भगवद्भक्त तपस्वीजन ही निवास करते हैं। उस लोकमें सभी नित्यमुक्त हैं। परंतु वहाँ सब-के-सब भगवान्के दिव्य गुण एवं मङ्गलमय चरित सुननेके लिये सदा उत्कण्ठित रहते हैं। वहाँ सदा-सर्वदा अखण्ड सत्सङ्ग चलता ही रहता है। किसीको भी वक्ता बनाकर वहाँके शेष लोग बड़ी श्रद्धासे उसकी सेवा करके, नम्रतापूर्वक उससे भगवान्का दिव्य चरित सुनते ही रहते हैं। परन्तु सनकादि कुमारोंका तो जीवन ही सत्सङ्ग है। वे तो सत्सङ्गके बिना एक क्षण रह नहीं सकते। मुखसे भगवन्नामका जप, हृदयमें भगवान्का ध्यान, बुद्धिमें व्यापक भगवत्तत्त्वकी स्थिति और श्रवणोंमें भगवद्-गुणानुवाद—बस, यही उनकी सर्वदाकी दिनचर्या है।

चारों कुमारोंकी गति सभी लोकोंमें अबाध है। वे नित्य पञ्चवर्षीय दिगम्बर कुमार इच्छानुसार विचरण करते रहते हैं। पातालमें भगवान् शेषके समीप और कैलासपर भगवान् शङ्करके समीप वे बहुत अधिक रहते हैं। भगवान् शेष एवं शङ्करजीके मुखसे भगवान्के गुण एवं चरित सुनते रहनेमें उनकी कभी तृप्ति ही नहीं होती। जनलोकमें अपनेमेंसे ही किसीको वक्ता बनाकर भी वे श्रवण करते हैं। कभी-कभी किसी परम अधिकारी भगवद्भक्तपर कृपा करनेके लिये वे पृथ्वीपर भी पधारते हैं। महाराज पृथुको उन्होंने ही तत्त्वज्ञानका उपदेश किया। देवर्षि नारदजीने भी कुमारोंसे श्रीमद्भागवतका श्रवण किया। अन्य भी अनेक महाभाग कुमारोंके दर्शनसे एवं उनके उपदेशामृतसे कृतार्थ हुए हैं। भगवान् विष्णुके द्वाररक्षक जय-विजय कुमारोंका अपमान करनेके कारण वैकुण्ठसे भी च्युत हुए और तीन जन्मोंतक उन्हें आसुरी योनि मिलती रही।

सत संगति मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला॥

सनकादि चारों कुमार भक्तिमार्गके मुख्याचार्य हैं। सत्सङ्गके वे मुख्य आराधक हैं। श्रवणमें उनकी गाढतम निष्ठा है। ज्ञान, वैराग्य, नाम-जप एवं भगवच्चरित्र सुननेकी अबाध उत्कण्ठाका आदर्श ही उनका स्वरूप है।

देवर्षि नारद

प्रगायतः स्ववीर्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः।
आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि॥

(श्रीमद्भा० १।६।३४)

स्वयं देवर्षि नारदजीने अपनी स्थितिके विषयमें कहा है—'जब मैं उन परमपावनचरण उदारश्रवा प्रभुके गुणोंका गान करने लगता हूँ, तब वे प्रभु अविलम्ब मेरे चित्तमें बुलाये हुएकी भाँति तुरंत प्रकट हो जाते हैं।'

श्रीनारदजी नित्य परिव्राजक हैं। उनका काम ही है—अपनी वीणाकी मनोहर झंकारके साथ भगवान्‌के गुणोंका गान करते हुए सदा पर्यटन करना। वे कीर्तनके परमाचार्य हैं, भागवतधर्मके प्रधान बारह आचार्योंमें हैं और भक्तिसूत्रके निर्माता भी हैं; साथ ही उन्होंने प्रतिज्ञा भी की है—सम्पूर्ण पृथ्वीपर घर-घर एवं जन-जनमें भक्तिकी स्थापना करनेकी। निरन्तर वे भक्तिके प्रचारमें ही लगे रहते हैं।

पूर्व कल्पमें नारदजी उपबर्हण नामके गन्धर्व थे। बड़े ही सुन्दर थे शरीरसे। और अपने रूपका गर्व भी था उन्हें। एक बार भगवान् ब्रह्माके यहाँ सभी गन्धर्व, किन्नर आदि भगवान्‌का गुण-कीर्तन करने एकत्र हुए। उस समूहमें उपबर्हण स्त्रियोंको साथ लेकर गये। जहाँ भगवान्‌में चित्त लगाकर उन मङ्गलमयके गुणगानसे अपनेको और दूसरोंको भी पवित्र करना चाहिये, वहाँ कोई स्त्रियोंको लेकर शृङ्गारके भावसे जाय और कामियोंकी भाँति चटक-मटक करे, यह बहुत बड़ा अपराध है। ब्रह्माजीने उपबर्हणका यह प्रमाद देखकर उन्हें शूद्रयोनिमें जन्म लेनेका शाप दे दिया।

महापुरुषोंका क्रोध भी जीवके कल्याणके लिये ही होता है। ब्रह्माजीने गन्धर्व उपबर्हणपर कृपा करके ही शाप दिया था। उस शापके फलसे वे सदाचारी,संयमी, वेदवादी ब्राह्मणोंकी सेवा करनेवाली शूद्रा दासीके पुत्र हुए। भगवान् ब्रह्माकी कृपासे बचपनसे ही उनमें धीरता, गम्भीरता, सरलता, समता, शील आदि सद्‌गुण आ गये। उस दासीके और कोई नहीं रह गया था। वह अपने एकमात्र पुत्रसे बहुत ही स्नेह करती थी। जब बालककी अवस्था पाँच वर्षके लगभग थी, तब कुछ योगी संतोंने वर्षाऋतुमें एक जगह चातुर्मास्य किया। बालककी माता उन साधुओंकी सेवामें लगी रहती थी। वहीं वे भी उनकी सेवा करते थे। स्वयं नारदजीने भगवान् व्याससे कहा है—'व्यासजी ! उस समय यद्यपि मैं बहुत छोटा था; फिर भी मुझमें चञ्चलता नहीं थी, मैं जितेन्द्रिय था, दूसरे सब खेल छोड़कर साधुओंके आज्ञानुसार उनकी सेवामें लगा रहता था। वे संत भी मुझे भोला-भाला शिशु जानकर मुझपर बड़ी कृपा करते थे। मैं शूद्र-बालक था और उन ब्राह्मण-संतोंकी अनुमतिसे उनके बर्तनोंमें लगा हुआ अन्न दिनमें एक बार खा लिया करता था। इससे मेरे हृदयका सब कल्मष दूर हो गया। मेरा चित्त शुद्ध हो गया। संत जो परस्पर भगवान्‌की चर्चा करते थे, उसे सुननेमें मेरी रुचि हो गयी।'

चातुर्मास्य करके जब वे साधुगण जाने लगे, तब उस दासीके बालककी दीनता, नम्रता आदि देखकर उसपर उन्होंने कृपा की। बालकको उन्होंने भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान तथा नामके जपका उपदेश किया। साधुओंके चले जानेके कुछ समय पश्चात् वह शूद्रा दासी रातको अँधेरेमें अपने स्वामी ब्राह्मणदेवताकी गाय दुह रही थी कि उसे पैरमें सर्पने काट लिया। सर्पके काटनेसे उसकी मृत्यु हो गयी। नारदजीने माताकी मृत्युको भी भगवान्‌की कृपा ही समझा। स्नेहवश माता उन्हें कहीं जाने नहीं देती थी। माताका वात्सल्य भी एक बन्धन ही था, जिसे भक्तवत्सल प्रभुने दूर कर दिया। पाँच वर्षकी अवस्था थी, न देशका पता था और न कालका। नारदजी दयामय विश्वम्भरके भरोसे ठीक उत्तरकी ओर वनके मार्गसे चल पड़े और बढ़ते ही गये। बहुत दूर जाकर जब वे थक गये, तब एक सरोवरका जल पीकर उसके किनारे पीपलके नीचे बैठकर, साधुओंने जैसा बताया था वैसे ही, भगवान्‌का ध्यान करने लगे। ध्यान करते समय एक क्षणके लिये सहसा हृदयमें भगवान् प्रकट हो गये। नारदजी आनन्दमग्न हो गये। परंतु वह दिव्य झाँकी तो विद्युत्‌की भाँति आयी और चली गयी। अत्यन्त व्याकुल

हो बार-बार नारदजी उसी झाँकीको पुनः पानेका प्रयत्न करने लगे। बालकको बहुत ही व्याकुल होते देख आकाशवाणीने आश्वासन देते हुए बतलाया—'इस जन्ममें तुम मुझे देख नहीं सकते। जिनका चित्त पूर्णतः निर्मल नहीं है, वे मेरे दर्शनके अधिकारी नहीं। यह एक झाँकी मैंने तुम्हें कृपा करके इसलिये दिखलायी कि इसके दर्शनसे तुम्हारा चित्त मुझमें लग जाय।'

नारदजीने वहाँ भूमिमें मस्तक रखकर दयामय प्रभुके प्रति प्रणाम किया और वे भगवान्‌का गुण गाते हुए पृथ्वीपर घूमने लगे। समय आनेपर उनका वह शरीर छूट गया। उस कल्पमें उनका फिर जन्म नहीं हुआ। कल्पान्तमें वे ब्रह्माजीमें प्रविष्ट हो गये और सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माजीके मनसे प्रकट हुए। वे भगवान्‌के मनके अवतार हैं। दयामय भक्तवत्सल प्रभु जो कुछ करना चाहते हैं, देवर्षिके द्वारा वैसी ही चेष्टा होती है।

प्रह्लादजी जब माताके गर्भमें थे, तभी गर्भस्थ बालकको लक्ष्य करके देवर्षिने उन दैत्यसाम्राज्ञीको उपदेश किया था। देवर्षिकी कृपासे प्रह्लादजीको वह उपदेश भूला नहीं। उसी ज्ञानके कारण प्रह्लादजीमें इतना दृढ़ भगवद्विश्वास हुआ। इसी प्रकार ध्रुव जब सौतेली माताके वचनोंसे रूठकर वनमें तप करने जा रहे थे, तब मार्गमें उन्हें नारदजी मिले। नारदजीने ही ध्रुवको मन्त्र देकर उपासनाकी पद्धति बतलायी। प्रजापति दक्षके हर्यश्व नामक दस सहस्र पुत्र पिताकी आज्ञासे सृष्टिविस्तारके लिये तप कर रहे थे। देवर्षिने देखा कि ये शुद्धहृदय बालक तो भगवत्प्राप्तिके अधिकारी हैं, अतः उन्हें उपदेश देकर नारदजीने सबको विरक्त बना दिया। दक्ष इस समाचारसे बहुत दुःखी हुए। उन्होंने दूसरी बार एक सहस्र पुत्र उत्पन्न किये। ये शबलाश्व नामक दक्षपुत्र भी तपमें लगे और इन्हें भी कृपा करके देवर्षिने भगवन्मार्गपर अग्रसर कर दिया। प्रजापति दक्षको जब यह समाचार मिला, तब वे अत्यन्त क्रोधित हुए। उन्होंने देवर्षिको शाप दिया कि 'तुम दो घड़ीसे अधिक कहीं ठहर नहीं सकोगे।' नारदजीने शापको सहर्ष स्वीकार कर लिया। उन्हें इसमें तनिक भी क्षोभ नहीं हुआ, क्योंकि वे तो इसे अपने आराध्य प्रभुकी इच्छा समझकर सन्तुष्ट हो रहे थे।

देवर्षि नारदजी वेदान्त, योग, ज्यौतिष, वैद्यक, सङ्गीत शास्त्रादि अनेक विद्याओंके आचार्य हैं और भक्तिके तो वे मुख्याचार्य हैं। उनका पाञ्चरात्र भागवत-मार्गका मुख्य ग्रन्थ है। देवर्षिने कितने लोगोंपर कब कैसे कृपा की है, इसकी गणना कोई नहीं कर सकता। वे कृपाकी ही मूर्ति हैं। जीवोंपर कृपा करनेके लिये वे निरन्तर त्रिलोकीमें घूमते रहते हैं। उनका एक ही व्रत है कि जो भी मिल जाय, उसे चाहे जैसे हो, भगवान्‌के श्रीचरणोंतक पहुँचा दिया जाय। जो जैसा अधिकारी होता है, उसे वे वैसा मार्ग बतलाते हैं। प्रह्लाद तथा ध्रुवको उनके अनुसार और हिरण्यकशिपु तथा कंसको उनके अनुसार मार्ग उन्होंने बताया। उनका उद्देश्य रहता है कि जीव जल्दी-से-जल्दी भगवान्‌को प्राप्त करे। देवर्षि ही एकमात्र ऐसे हैं जिनका सभी सुर, असुर समानरूपसे आदर करते रहे हैं। सभी उनको अपना हितैषी मानते रहे हैं और वे सचमुच सबके सच्चे हितैषी हैं।

भगवान् व्यास जब वेदोंका विभाजन तथा महाभारतकी रचना करके भी प्राणियोंकी कल्याण-कामनासे खिन्न हो रहे थे, तब उन्हें भागवत-तत्त्वका उपदेश करते हुए नारदजीने बताया—'वह वाणी वाणी नहीं है, जिसके विचित्र पदोंमें त्रिभुवनपावन श्रीहरिके यशोंका वर्णन न हुआ हो। वह कौओंका तीर्थ है, जहाँ मानसरोवरविहारी सुशिक्षित हंस क्रीडा नहीं करते अर्थात् जैसे घृणित विष्ठापर चोंच मारनेवाले कौओंके समान मलिन विषयानुरागी कामी मनुष्योंका मन उस वाणीमें रमता है, वैसा मानसरोवरमें विहरण करनेवाले राजहंसोंके समान परमहंस भागवतोंका मन उसमें कभी नहीं रमता। उस वाणीको बोलना तो संसारपर वज्रपात करनेके समान तथा लोगोंको पापमग्न करनेवाला है, जिसके प्रत्येक पदमें भगवान्‌के वे मङ्गलमय नाम एवं यश नहीं हैं, जिनको साधुजन सुनते हैं, गाते हैं और वर्णन करते हैं। भगवान्‌की भक्ति-भावनासे शून्य निर्मल निरञ्जन नैष्कर्म्य ज्ञान भी शोभा नहीं देता; फिर वह सदा अकल्याणकारी कर्म तो कैसे शोभा दे सकता है, जो निष्कामभावसे भगवान्‌को समर्पित नहीं कर दिया गया है।'

भगवान् श्रीकृष्णने नारदजीके गुणोंकी प्रशंसा करते हुए एक बार राजा उग्रसेनसे कहा था—

अहं हि सर्वदा स्तौमि नारदं देवदर्शनम्।
महेन्द्रगदितेनैव स्तोत्रेण शृणु तन्नृप॥
उत्सङ्गाद्ब्रह्मणो जातो यस्याहन्ता न विद्यते।
अगुप्तश्रुतिचारित्रं नारदं तं नमाम्यहम्॥
अरतिः क्रोधचापल्ये भयं नैतानि यस्य च।
अदीर्घसूत्रं तं धीरं नारदं प्रणमाम्यहम्॥
कामाद्वा यदि वा लोभाद् वाचं यो नान्यथा वदेत्।
उपास्यं सर्वजन्तूनां नारदं तं नमाम्यहम्॥
अध्यात्मगतितत्त्वज्ञं ज्ञानशक्तिं जितेन्द्रियम्।
ऋजुं यथार्थवक्तारं नारदं तं नमाम्यहम्॥
तेजसा यशसा बुद्ध्या नयेन विनयेन च।
जन्मना तपसा वृद्धं नारदं प्रणमाम्यहम्॥
सुखशीलं सुसंवेषं सुभोजं भास्वरं शुचिम्।
सुचक्षुषं सुवाक्यं च नारदं प्रणमाम्यहम्॥
कल्याणं कुरुते बाढं पापं यस्मिन्न विद्यते।
न प्रीयते परार्थेन योऽसौ तं नौमि नारदम्॥
वेदस्मृतिपुराणोक्तं धर्मं यो नित्यमास्थितः।
प्रियाप्रियविमुक्तं तं नारदं प्रणमाम्यहम्॥
अशनादिष्वलिप्तं च पण्डितं नालसं द्विजम्।
बहुश्रुतं चित्रकथं नारदं प्रणमाम्यहम्॥
नार्थे क्रोधे च कामे च भूतपूर्वोऽस्य विभ्रमः।
येनैते नाशिता दोषा नारदं तं नमाम्यहम्॥
वीतसम्मोहदोषो यो दृढभक्तिश्च श्रेयसि।
सुनयं सत्रपं तं च नारदं प्रणमाम्यहम्॥
असक्तः सर्वसङ्गेषु यः सक्तात्मेव लक्ष्यते।
अदीर्घसंशयो वाग्मी नारदं प्रणमाम्यहम्॥
नासूयत्यागमं किञ्चित् तपःकृत्येन जीवति।
अवंध्यकालो वश्यात्मा तमहं नौमि नारदम्॥
कृतश्रमं कृतप्रज्ञं न च तृप्तं समाधितः।
नित्ययत्नाप्रमत्तं च नारदं तं नमाम्यहम्॥
न हृष्यत्यर्थलाभेन योऽलाभे न व्यथत्यपि।
स्थिरबुद्धिरसक्तात्मा तमहं नौमि नारदम्॥
तं सर्वगुणसम्पन्नं दक्षं शुचिमकातरम्।
कालज्ञं च नयज्ञं च शरणं यामि नारदम्॥
इमं स्तवं नारदस्य नित्यं राजन् जपाम्यहम्।
तेन मे परमां प्रीतिं करोति मुनिसत्तमः॥
अन्योऽपि यः शुचिर्भूत्वा नित्यमेतां स्तुतिं जपेत्।
अचिरात्तस्य देवर्षिः प्रसादं कुरुते परम्॥
एतान् गुणान्नारदस्य त्वमप्याकर्ण्य पार्थिव।
जप नित्यं स्तवं पुण्यं प्रीतस्ते भविता मुनिः॥

(स्कन्द० माहे० कुमारिका० ५४। २७—४६)

''मैं देवराज इन्द्रद्वारा किये गये स्तोत्रसे दिव्यदृष्टिसम्पन्न श्रीनारदजीकी सदा स्तुति करता हूँ। वह स्तोत्र श्रवण कीजिये—

'जो ब्रह्माजीकी गोदसे प्रकट हुए हैं, जिनके मनमें अहङ्कार नहीं है, जिनका शास्त्र-ज्ञान और चरित्र किसीसे छिपा नहीं है, उन देवर्षि नारदको मैं नमस्कार करता हूँ। जिनमें अरति (उद्वेग), क्रोध, चपलता और भयका सर्वथा अभाव है,जो धीर होते हुए भी दीर्घसूत्री (किसी कार्यमें अधिक विलम्ब करनेवाले) नहीं हैं, उन नारदजीको मैं प्रणाम करता हूँ। जो कामना अथवा लोभवश झूठी बात मुँहसे नहीं निकालते और समस्त प्राणी जिनकी उपासना करते हैं, उन नारदजीको मैं नमस्कार करता हूँ। जो अध्यात्मगतिके तत्त्वको जाननेवाले, ज्ञानशक्तिसम्पन्न तथा जितेन्द्रिय हैं, जिनमें सरलता भरी है तथा जो यथार्थ बात कहनेवाले हैं, उन नारदजीको मैं प्रणाम करता हूँ। जो तेज, यश, बुद्धि, नय, विनय, जन्म तथा तपस्या सभी दृष्टियोंसे बढ़े हुए हैं, उन नारदजीको मैं नमस्कार करता हूँ। जिनका स्वभाव सुखमय, वेष सुन्दर तथा भोजन उत्तम है, जो प्रकाशमान, पवित्र, शुभदृष्टिसम्पन्न तथा सुन्दर वचन बोलनेवाले हैं, उन नारदजीको मैं प्रणाम करता हूँ। जो उत्साहपूर्वक सबका कल्याण करते हैं, जिनमें पापका लेश भी नहीं है तथा जो परोपकार करनेसे कभी अघाते नहीं हैं, उन नारदजीको मैं नमस्कार करता हूँ। जो सदा वेद, स्मृति और पुराणोंमें बताये हुए धर्मका आश्रय लेते हैं तथा प्रिय और अप्रियसे रहित हैं, उन नारदजीको मैं प्रणाम करता हूँ। जो खान-पान आदि भोगोंमें कभी लिप्त नहीं होते हैं, जो पण्डित, आलस्यरहित तथा बहुश्रुत ब्राह्मण हैं, जिनके मुखसे अद्‌भुत बातें—विचित्र कथाएँ सुननेको मिलती हैं, उन नारदजीको मैं प्रणाम करता हूँ। जिन्हें अर्थ (धन)-के लोभ, काम अथवा क्रोधके कारण भी

पहले कभी भ्रम नहीं हुआ है, जिन्होंने इन (काम, क्रोध और लोभ) तीनों दोषोंका नाश कर दिया है, उन नारदजीको मैं प्रणाम करता हूँ। जिनके अन्तःकरणसे सम्मोहरूप दोष दूर हो गया है, जो कल्याणमय भगवान् और भागवतधर्ममें दृढ़ भक्ति रखते हैं, जिनकी नीति बहुत उत्तम है तथा जो सङ्कोची स्वभावके हैं, उन नारदजीको मैं प्रणाम करता हूँ। जो समस्त सङ्गोंसे अनासक्त हैं, तथापि सबमें आसक्त हुए-से दिखायी देते हैं, जिनके मनमें किसी संशयके लिये स्थान नहीं है,जो बड़े अच्छे वक्ता हैं, उन नारदजीको मैं नमस्कार करता हूँ। जो किसी भी शास्त्रमें दोषदृष्टि नहीं करते, तपस्याका अनुष्ठान ही जिनका जीवन है, जिनका समय कभी भगवच्चिन्तनके बिना व्यर्थ नहीं जाता और जो अपने मनको सदा वशमें रखते हैं, उन श्रीनारदजीको मैं प्रणाम करता हूँ। जिन्होंने तपके लिये श्रम किया है, जिनकी बुद्धि पवित्र एवं वशमें है, जो समाधिसे कभी तृप्त नहीं होते, अपने प्रयत्नमें सदा सावधान रहनेवाले उन नारदजीको मैं नमस्कार करता हूँ। जो अर्थ-लाभ होनेसे हर्ष नहीं मानते और लाभ न होनेपर मनमें क्लेशका अनुभव नहीं करते, जिनकी बुद्धि स्थिर तथा आत्मा अनासक्त है, उन नारदजीको मैं नमस्कार करता हूँ। जो सर्वगुणसम्पन्न, दक्ष, पवित्र, कातरतारहित, कालज्ञ और नीतिज्ञ हैं, उन देवर्षि नारदको मैं भजता हूँ।'

नारदजीके इस स्तोत्रका मैं नित्य जप करता हूँ। इससे वे मुनिश्रेष्ठ मुझपर अधिक प्रेम रखते हैं। दूसरा कोई भी यदि पवित्र होकर प्रतिदिन इस स्तुतिका पाठ करता है तो देवर्षि नारद बहुत शीघ्र उसपर अपना अतिशय कृपाप्रसाद प्रकट करते हैं। राजन्! आप भी नारदजीके इन गुणोंको सुनकर प्रतिदिन इस पवित्र स्तोत्रका जप करें, इससे वे मुनि आपपर बहुत प्रसन्न होंगे।''

देवर्षि नारदजीका स्तवन करके भगवान् कई रहस्योंको खोलते हैं—(१) भक्तोंमें कैसे आदर्श गुण होने चाहिये। (२) भक्तोंके गुणोंका स्मरण करनेसे मनुष्य उनका प्रीतिभाजन होता है और उसमें भी वे गुण आते हैं। (३) भक्तके गुण-स्मरणसे अन्तःकरण पवित्र होता है। (४) भक्तकी इतनी महिमा है कि स्वयं भगवान् भी उसकी स्तुति-भक्ति करते हैं और (५) भक्तकी स्मृति तथा गुणचर्चासे जगत्का मङ्गल होता है; क्योंकि भक्तोंके गुणोंको धारण करनेसे ही जगत्के अमङ्गलोंका नाश तथा मङ्गलोंकी प्राप्ति होती है। गुणोंका धारण-स्मरण कथा-चर्चाके बिना होता नहीं। ऐसे परमपुण्यजीवन देवर्षिके चरणोंमें हमारे अनन्त प्रणाम।

ब्रह्मर्षि वसिष्ठ

सब साधन कर यह फल भाई। भजिअ राम सब काम बिहाई॥

मित्रावरुणसे वसिष्ठजीकी उत्पत्ति कही गयी है और फिर निमिके शापसे देह त्यागकर वे आग्नेय-पुत्र हुए। वैसे वे सृष्टिके प्रथम कल्पमें ब्रह्माजीके मानस पुत्र थे। सतीशिरोमणि भगवती अरुन्धती उनकी पत्नी हैं। जब ब्रह्माजीने इन्हें सूर्यवंशका पुरोहित बननेको कहा, तब ये उसे अस्वीकार करने लगे। शास्त्रोंमें पुरोहितका पद ब्राह्मणके लिये श्रेष्ठ नहीं माना गया है। जिसमें धनका लोभ न हो, विषय-भोगोंकी इच्छा न हो, वह भला क्यों ऐसे छोटे कामको स्वीकार करे। परन्तु ब्रह्माजीने समझाया—'बेटा! मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम इसी वंशमें आगे चलकर प्रकट होंगे। तुम उनके गुरुका गौरवशाली पद पाकर कृतार्थ हो जाओगे।' इससे वसिष्ठजीने यह पद स्वीकार कर लिया।

पहले पूरे सूर्यवंशके वसिष्ठजी ही पुरोहित थे; किन्तु निमिसे विवाद हो जानेके कारण सूर्यवंशकी दूसरी शाखाओंका पुरोहित-कर्म इन्होंने छोड़ दिया और ये अयोध्याके समीप आश्रम बनाकर रहने लगे। ये केवल इक्ष्वाकुके वंशका ही पौरोहित्य करते थे। जब कभी अनावृष्टि होती, अकाल पड़ता, तब अपने तपोबलसे वृष्टि करके ये प्रजाकी रक्षा करते थे। जब भी अयोध्याके राजकुलपर कोई सङ्कट आया, वसिष्ठजीने अपने तपोबलसे उसे दूर कर दिया। भगीरथ जब तपस्या करते हुए गङ्गाजीको लानेके विषयमें निराश हो गये, तब वसिष्ठजीने

ही उन्हें प्रोत्साहित किया और मन्त्र बताया। महाराज दिलीपके कोई सन्तान नहीं होती थी, तब सन्तानके लिये नन्दिनी गौकी सेवा बताकर राजाका मनोरथ वसिष्ठजीने ही पूर्ण किया।

एक बार जब विश्वामित्रजी राजा थे, सेनाके साथ वसिष्ठजीके अतिथि हुए। वसिष्ठजीने अपनी कामधेनु गौके प्रभावसे भलीभाँति राजाका तथा सेनाका अनेक प्रकारकी भोजनसामग्रीसे सत्कार किया। गौका प्रभाव देखकर विश्वामित्र उसे लेनेको उद्यत हो गये। परन्तु किसी भी मूल्यपर किसी भी पदार्थके बदले कोई ऋषि गो-विक्रय नहीं कर सकता। अन्तमें विश्वामित्रजी बलपूर्वक गायको छीन लेनेको उद्यत हो गये; किन्तु वसिष्ठजीने अपने ब्रह्मबलसे अपार सेना उत्पन्न करके विश्वामित्रको पराजित कर दिया। पराजित होनेपर विश्वामित्रजीका द्वेष और बढ़ गया। वे तपस्या करके शङ्करजीसे अनेक दिव्यास्त्र प्राप्तकर फिर आये; किंतु महर्षि वसिष्ठके ब्रह्मदण्डके सम्मुख उन्हें पराजित ही होना पड़ा। अब उन्होंने उग्र तप करके ब्राह्मणत्व प्राप्त करनेका निश्चय किया। विश्वामित्रजीने महर्षि वसिष्ठके सौ पुत्र मार दिये; किंतु ये महर्षि तो क्षमाकी मूर्ति थे। विश्वामित्रपर इनका तनिक भी रोष नहीं था। एक दिन रात्रिमें छिपकर विश्वामित्रजी जब इन्हें मारने आये, तब उन्होंने सुना कि एकान्तमें वसिष्ठ अपनी पत्नीसे कह रहे हैं—'इस सुन्दर चाँदनी रातमें तप करके भगवान्‌को सन्तुष्ट करनेका प्रयत्न तो विश्वामित्र-जैसे बड़भागी ही करते हैं!' शत्रुकी एकान्तमें भी प्रशंसा करनेवाले महापुरुषसे द्वेष करनेके लिये विश्वामित्रजीको बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वे शस्त्र फेंककर महर्षिके चरणोंपर गिर पड़े। वसिष्ठजीने उन्हें हृदयसे लगा लिया और ब्रह्मर्षि स्वीकार किया।

भगवान् श्रीरामको शिष्यरूपमें पाकर वसिष्ठजीने अपने पुरोहित पदको धन्य माना। योगवासिष्ठ-जैसे ज्ञानके मूर्तरूप ग्रन्थका उन्होंने श्रीरामको उपदेश किया। वसिष्ठसंहिताके द्वारा उन्होंने कर्मके महत्त्व एवं आचरणका आदर्श लोकमें स्थापित किया। उनके अनेक विस्तृत चरित पुराणों तथा अन्य शास्त्रीय ग्रन्थोंमें हैं। उनका जीवन तो श्रीरामके प्रेमकी मूर्ति ही है। उनका एक ही दृढ़ निश्चय था—

'राखे राम रजाइ रुख हम सब कर हित होइ।'

श्रीभरतलाल जानते थे कि यदि गुरुदेव आज्ञा करें तो रघुनाथजी वनसे अयोध्या लौट चलेंगे; किंतु वे यह भी जानते थे—*'मुनि पुनि कहब राम रुख जानी।'* श्रीरामकी क्या इच्छा है, यह जानकर महर्षि सदा उसके अनुकूल ही चलेंगे। श्रीरामकी इच्छामें अपनी इच्छाको उन्होंने एक कर दिया था। आज भी जगत्‌के कल्याणके लिये वसिष्ठजी देवी अरुन्धतीके साथ सप्तर्षियोंमें स्थित हैं।
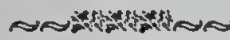
भक्त-वाणी

न हि भगवन्नघटितमिदं त्वद्दर्शनान्नृणामखिलपापक्षयः।
यन्नामसकृच्छ्रवणात् पुल्कसकोऽपि विमुच्यते संसारात्॥
अथ भगवन् वयमधुना त्वदवलोकपरिमृष्टाशयमलाः।

—चित्रकेतु

भगवन्! आपके दर्शनमात्रसे ही मनुष्योंके सारे पाप क्षीण हो जाते हैं—यह असम्भव नहीं है; क्योंकि आपका तो नाम ही एक बार सुननेसे नीच चाण्डाल भी संसारसे मुक्त हो जाता है। भगवन्! इस समय आपके दर्शनमात्रसे ही मेरे अन्तःकरणका सारा मल धुल गया है—सो ठीक ही है।

महर्षि अत्रि

नमामि भक्त वत्सलं। कृपालु शील कोमलं॥
भजामि ते पदांबुजं। अकामिनां स्वधामदं॥

(अत्रि)

ये ब्रह्माके मानसपुत्र और प्रजापति हैं। ये दक्षिण दिशामें रहते हैं, इनकी पत्नी अनसूया भगवदवतार भगवान् कपिलकी भगिनी तथा कर्दम प्रजापतिकी पत्नी देवहूतिके गर्भसे पैदा हुई हैं। जैसे महर्षि अत्रि अपने नामके अनुसार त्रिगुणातीत परम भक्त थे, वैसे ही अनसूया भी असूयारहित भक्तिमती थीं। इन दम्पतीको जब ब्रह्माने आज्ञा की कि सृष्टि करो, तब इन्होंने सृष्टि करनेके पहले तपस्या करनेका विचार किया और बड़ी घोर तपस्या की। इनके तपका लक्ष्य सन्तानोत्पादन नहीं था, बल्कि इन्हीं आँखोंसे भगवान्के दर्शन प्राप्त करना था। इनकी श्रद्धापूर्वक दीर्घकालकी निरन्तर साधना और प्रेमसे आकृष्ट होकर ब्रह्मा, विष्णु, महेश—तीनों ही देवता प्रत्यक्ष उपस्थित हुए। उस समय ये दोनों उनके चिन्तनमें इस प्रकार तल्लीन थे कि उनके आनेका पतातक न चला। जब उन्होंने ही इन्हें जगाया, तब ये उनके चरणोंपर गिर पड़े, किसी प्रकार सँभलकर उठे और गद्गद वाणीसे उनकी स्तुति करने लगे। इनके प्रेम, सत्य और निष्ठाको देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने वरदान माँगनेको कहा। इन दम्पतीके मनमें अब संसारी सुखकी इच्छा तो थी ही नहीं, परंतु ब्रह्माकी आज्ञा थी सृष्टि करनेकी और वे इस समय सामने ही उपस्थित थे; तब इन्होंने और कोई दूसरा वरदान न माँगकर उन्हीं तीनोंको पुत्ररूपमें माँगा और भक्तिपरवश भगवान्ने इनकी प्रार्थना स्वीकार करके 'एवमस्तु' कह दिया। समयपर तीनोंने ही इनके पुत्ररूपसे अवतार ग्रहण किया। विष्णुके अंशसे 'दत्तात्रेय', ब्रह्माके अंशसे 'चन्द्रमा' और शङ्करके अंशसे 'दुर्वासा'का जन्म हुआ।

जिनकी चरणधूलिके लिये बड़े-बड़े योगी और ज्ञानी तरसते रहते हैं, वे ही भगवान् अत्रिके आश्रममें बालक बनकर खेलने लगे और दोनों दम्पती उनके दर्शन और वात्सल्य स्नेहके द्वारा अपना जीवन सफल करने लगे। अनसूयाको तो अब कुछ दूसरी बात सूझती ही न थी। अपने तीनों बालकोंको खिलाने-पिलानेमें ही वे लगी रहतीं।

इन्हींके पातिव्रत्य, सतीत्व और भक्तिसे प्रसन्न होकर वनगमनके समय स्वयं भगवान् श्रीराघवेन्द्र श्रीसीताजी और लक्ष्मणजीके साथ इनके आश्रमपर पधारे और इन्हें जगज्जननी माँ सीताको उपदेश करनेका गौरव प्रदान किया।

उस समय अत्रिजीने बड़े ही सुन्दर शब्दोंमें भगवान् श्रीरामचन्द्रकी स्तुति करते हुए अन्तमें एक हाथ जोड़कर प्रार्थना की—

बिनती करि मुनि नाइ सिरु, कह कर जोरि बहोरि।
चरनसरोरुह नाथ जनि, कबहुँ तजै मति मोरि॥

महर्षि भृगु

भृगुजी ब्रह्माके मानसपुत्रोंमेंसे एक हैं। वे एक प्रजापति भी हैं,चाक्षुष मन्वन्तरमें इनकी सप्तर्षियोंमें गणना होती है। इनकी तपस्याका अमित प्रभाव है। दक्षकी कन्या ख्यातिको इन्होंने पत्नीरूपमें स्वीकार किया था; उनसे धाता, विधाता नामके दो पुत्र और श्री नामकी एक कन्या हुई। इन्हीं श्रीका पाणिग्रहण भगवान् नारायणने किया था। इनके और बहुत-से पुत्र हैं, जो विभिन्न मन्वन्तरोंमें सप्तर्षि हुआ करते हैं। वाराहकल्पके दसवें द्वापरमें महादेव ही भृगुके रूपमें अवतीर्ण होते हैं। कहीं-कहीं स्वायम्भुव मन्वन्तरके सप्तर्षियोंमें भी भृगुकी गणना है। सुप्रसिद्ध महर्षि च्यवन इन्हींके पुत्र हैं। इन्होंने अनेकों यज्ञ किये-कराये हैं और अपनी तपस्याके प्रभावसे अनेकोंको सन्तान प्रदान की है। ये श्रावण और भाद्रपद दो महीनोंमें भगवान् सूर्यके रथपर निवास करते हैं। प्रायः सभी पुराणोंमें महर्षि भृगुकी चर्चा आयी है। उसका अशेषतः वर्णन तो किया ही नहीं जा सकता। हाँ, उनके जीवनकी एक बहुत प्रसिद्ध घटना, जिसके कारण सभी भक्त उन्हें याद करते हैं, लिख दी जाती है।

एक बार सरस्वती नदीके तटपर ऋषियोंकी बहुत बड़ी परिषद् बैठी थी। उसमें यह विवाद छिड़ गया कि

ब्रह्मा, विष्णु और महेश—इन तीनोंमें कौन बड़ा है। इसका जब कोई सन्तोषजनक समाधान नहीं हुआ, तब इस बातका पता लगानेके लिये सर्वसम्मतिसे महर्षि भृगु ही चुने गये। ये पहले ब्रह्माकी सभामें गये और वहाँ अपने पिताको न तो नमस्कार किया और न उनकी स्तुति की। अपने पुत्रकी इस अवहेलनाको देखकर ब्रह्माजीके मनमें बड़ा क्रोध आया; परन्तु उन्होंने अपना पुत्र समझकर इन्हें क्षमा कर दिया, अपने क्रोधको दबा लिया। इसके बाद ये कैलासपर्वतपर अपने बड़े भाई रुद्रदेवके पास पहुँचे। अपने छोटे भाई भृगुको आते देखकर आलिङ्गन करनेके लिये वे बड़े प्रेमसे आगे बढ़े, परन्तु भृगुने यह कहकर कि 'तुम उन्मार्गगामी हो'—उनसे मिलना अस्वीकार कर दिया। उन्हें बड़ा क्रोध आया और वे त्रिशूल उठाकर इन्हें मारनेके लिये दौड़ पड़े। अन्ततः पार्वतीने उनके चरण पकड़कर प्रार्थना की और क्रोध शान्त किया। अब विष्णु भगवान्‌की बारी आयी। ये बेखटके वैकुण्ठमें पहुँच गये। वहाँ ब्राह्मण-भक्तोंके लिये कोई रोक-टोक तो है नहीं। ये पहुँच गये भगवान्‌के शयनागारमें। उस समय भगवान् विष्णु सो रहे थे और भगवती लक्ष्मी उन्हें पंखा झल रही थीं, उनकी सेवामें लगी हुई थीं। इन्होंने बेधड़क वहाँ पहुँचकर उनके वक्षःस्थलपर एक लात मारी। तुरंत भगवान् विष्णु अपनी शय्यापरसे उठ गये और इनके चरणोंपर अपना सिर रखकर नमस्कार किया और बोले—'भगवन्! आइये-आइये, विराजिये। आपके आनेका समाचार न जाननेके कारण ही मैं आपके स्वागतसे वञ्चित रहा। क्षमा कीजिये। क्षमा कीजिये! कहाँ तो आपके कोमल चरण और कहाँ यह मेरी वज्रकर्कश छाती। आपको बड़ा कष्ट हुआ।' यह कहकर उनके चरण अपने हाथों दबाने लगे। उन्होंने कहा—'ब्राह्मणदेवता! आपने मुझपर बड़ी कृपा की। आज मैं कृतार्थ हो गया। अब यह आपके चरणोंकी धूलि सर्वदा मेरे हृदयपर ही रहेगी।' कुछ समय बाद महर्षि भृगु वहाँसे लौटकर ऋषियोंकी मण्डलीमें आये और अपना अनुभव सुनाया। इनकी बात सुनकर ऋषियोंने एक स्वरसे यह निर्णय किया कि जो सात्त्विकताके प्रेमी हैं, उन्हें एकमात्र भगवान् विष्णुका ही भजन करना चाहिये। महर्षि भृगुका साक्षात् भगवान्‌से सम्बन्ध है, ये परम भक्त हैं। इनकी स्मृति हमें भगवान्‌की स्मृति प्रदान करती है।

महर्षि ऋभु

महर्षि ऋभु ब्रह्माके मानस-पुत्रोंमेंसे एक हैं। ये स्वभावसे ही ब्रह्मतत्त्वज्ञ तथा निवृत्तिपरायण भक्त हैं। तथापि सद्गुरुमर्यादाकी रक्षाके लिये इन्होंने श्रद्धाभक्तियुक्त होकर अपने बड़े भाई सनत्सुजातकी शरण ली थी। उनसे सम्प्रदायगत मन्त्र, योग और ज्ञान प्राप्त करके ये सर्वदा सहज स्थितिमें ही रहने लगे। मल, विक्षेप तथा आवरणसे रहित होकर ये जहाँ कहीं भी पड़े रहते। शरीरके अतिरिक्त इनकी कोई कुटी नहीं थी।

यों ही विचरते हुए महर्षि ऋभु एक दिन पुलस्त्य ऋषिके आश्रमके समीप जा पहुँचे। वहाँ पुलस्त्यका पुत्र निदाघ वेदाध्ययन कर रहा था। निदाघने आगे आकर नमस्कार किया। उसके अधिकारको देखकर महर्षि ऋभुको बड़ी दया आयी। उन्होंने कहा—'इस जीवनका वास्तविक लाभ आत्मज्ञान प्राप्त करना है। यदि वेदोंको सम्पूर्णतः रट जाय और वस्तुतत्त्वका ज्ञान न हो तो वह किस कामका है? निदाघ! तुम आत्मज्ञानका सम्पादन करो।'

महर्षि ऋभुकी बात सुनकर उसकी जिज्ञासा जग गयी। उसने इन्हींकी शरण ली। अपने पिताका आश्रम छोड़कर वह इनके साथ भ्रमण करने लगा। उसकी सेवामें तन्मयता और त्याग देखकर महर्षिने उसे तत्त्वज्ञानका उपदेश किया। उपदेशके पश्चात् आज्ञा की कि 'निदाघ! जाकर गृहस्थधर्मका अवलम्बन लो। मेरी आज्ञाका पालन करो।'

गुरुदेवकी आज्ञा पाकर निदाघ अपने पिताके पास आया। उन्होंने उसका विवाह कर दिया। इसके पश्चात्

देविका नदीके तटपर वीरनगरके पास एक उपवनमें निदाघने अपना आश्रम बनाया और वहाँ वह अपनी पत्नीके साथ गार्हस्थ्यका पालन करने लगा। कर्मपरायण हो गया।

बहुत दिनोंके बाद ऋभुको उसकी याद आयी। अपने अङ्गीकृत जनका कल्याण करनेके लिये वे वहाँ पहुँच गये। महापुरुष जिसे एक बार स्वीकार कर लेते हैं, उसे फिर कभी नहीं छोड़ते। वे बलिवैश्वदेवके समय निदाघके द्वारपर उपस्थित हुए। निदाघने उन्हें न पहचाननेपर भी गृहस्थधर्मानुसार अतिथिको भगवद्रूप समझकर उनकी रुचिके अनुसार भोजन कराया। अन्तमें उसने प्रश्न किया कि 'महाराज! भोजनसे तृप्त हो गये क्या? आप कहाँ रहते हैं? कहाँसे आ रहे हैं? और किधर पधारनेकी इच्छा है?' महर्षि ऋभुने अपने कृपालु स्वभावके कारण उपदेश करते हुए उत्तर दिया—'ब्राह्मण! भूख और प्यास प्राणोंको ही लगती है। मैं प्राण नहीं हूँ। जब भूख-प्यास मुझे लगती ही नहीं, तब तृप्ति-अतृप्ति क्या बताऊँ? स्वस्थता और तृप्ति मनके ही धर्म हैं। आत्मा इनसे सर्वथा पृथक् है। रहने और आने-जानेके सम्बन्धमें जो पूछा, उसका उत्तर सुनो। आत्मा आकाशकी भाँति सर्वगत है। उसका आना-जाना नहीं बनता। मैं न आता हूँ, न जाता हूँ और न किसी एक स्थानपर रहता ही हूँ। तृप्ति-अतृप्तिके हेतु ये सब रस आदि विषय परिवर्तनशील हैं। कभी अतृप्तिकर पदार्थ तृप्तिकर हो जाते हैं और कभी तृप्तिकर अतृप्तिकर हो जाते हैं। अतः विषमस्वभाव पदार्थोंपर आस्था मत करो; इनकी ओरसे दृष्टि मोड़कर त्रिगुण, त्र्यवस्था और समस्त अनात्म वस्तुओंसे ऊपर उठकर अपने-आपमें स्थिर हो जाओ। ये सब संसारी लोग मायाके चक्करमें पड़कर अपने स्वरूपको भूले हुए हैं। तुम इस मायापर विजय प्राप्त करो।' महर्षि ऋभुके इन अमृतमय वचनोंको सुनकर निदाघ उनके चरणोंपर गिर पड़े। फिर उन्होंने बतलाया कि 'मैं तुम्हारा गुरु ऋभु हूँ।' निदाघको बड़ी प्रसन्नता हुई, महर्षि चले गये।

बहुत दिनोंके पश्चात् फिर महर्षि ऋभु वहाँ पधारे। संयोगवश उस दिन वीरपुरनरेशकी सवारी निकल रही थी। सड़कपर बड़ी भीड़ थी। निदाघ एक ओर खड़े होकर भीड़ हट जानेकी प्रतीक्षा कर रहे थे। इतनेमें ही महर्षिने इनके पास आकर पूछा—'यह भीड़ कैसी है?'

निदाघने उत्तर दिया—'राजाकी सवारी निकलनेके कारण भीड़ है।' उन्होंने पूछा—'तुम तो जानकार जान पड़ते हो। मुझे बताओ इनमें कौन राजा है और कौन दूसरे लोग हैं ?' निदाघने कहा—'जो इस पर्वतके समान ऊँचे हाथीपर सवार हैं, वे राजा हैं। उनके अतिरिक्त दूसरे लोग हैं।' ऋभुने पूछा—'महाराज! मुझे हाथी और राजाका ऐसा लक्षण बताओ कि मैं समझ सकूँ कि ऊपर क्या है? नीचे क्या है?' यह प्रश्न सुनकर निदाघ झपटकर उनपर सवार हो गये और कहा—'देखो, मैं राजाकी भाँति ऊपर हूँ। तुम हाथीके समान नीचे हो। अब समझ जाओ राजा और हाथी कौन हैं।' महर्षि ऋभुने बड़ी शान्तिसे कहा—'यदि तुम राजा और मैं हाथीकी भाँति स्थित हूँ तो बताओ तुम कौन हो और मैं कौन हूँ?' यह बात सुनते ही निदाघ उनके चरणोंपर गिर पड़े, वह हाथ जोड़कर कहने लगे—'प्रभो! आप अवश्य ही मेरे गुरुदेव ऋभु हैं। आपके समान अद्वैतसंस्कार-संस्कृतचित्त और किसीका नहीं है। आप अवश्य-अवश्य मेरे गुरुदेव हैं, मैंने अनजानमें बड़ा अपराध किया। संत स्वभावतः क्षमाशील होते हैं। आप कृपया मुझे क्षमा करें।' ऋभुने हँसते हुए कहा—

'कौन किसका अपराध करता है ? यदि एक वृक्षकी दो शाखाएँ परस्पर रगड़ खायँ तो उनमें किसका अपराध है? मैंने तुम्हें पहले व्यतिरेक मार्गसे आत्माका उपदेश किया था। उसे तुम भूल गये। अब अन्वय-मार्गसे किया है। इसपर परिनिष्ठित हो जाओ। यदि इन दोनों मार्गोंपर विचार करोगे तो संसारमें रहकर भी तुम इससे अलिप्त रहोगे।' निदाघने उनकी बड़ी स्तुति की। वे स्वच्छन्दतया चले गये।

ऋभुकी इस क्षमाशीलताको सुनकर सनकादि गुरुओंको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने ब्रह्माके सामने इनकी महिमा गायी और इनका नाम क्षमाका एक अक्षर लेकर ऋभुक्ष रख दिया। तबसे साम्प्रदायिक लोग इन्हें ऋभुक्षानन्दके नामसे स्मरण करते हैं। इनकी कृपासे निदाघ आत्मनिष्ठ हो गये। आज भी महर्षि ऋभु हमारे पास न जाने किस रूपमें आते होंगे। उन्होंने न जाने निदाघ-जैसे कितनोंको संसारसागरसे पार उतारा होगा।

महर्षि कश्यप

इतिहासपुराणानि तथाख्यानानि यानि च।
महात्मनां च चरितं श्रोतव्यं नित्यमेव च॥

समस्त लोकोंके पितामह भगवान् ब्रह्माने ही इस चराचर सृष्टिको उत्पन्न किया है। सृष्टिकी इच्छासे उन्होंने छः मानसिक पुत्र उत्पन्न किये—जिनके नाम मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु हैं। मरीचिके पुत्र कश्यप हुए। दक्ष प्रजापतिने अपनी तेरह कन्याओंका विवाह इनके साथ कर दिया। उनके नाम ये हैं—अदिति, दिति, दनु, काला, दनायु, सिंहिका, क्रोधा, प्राधा, विश्वा, विनता, कपिला, मनु और कद्रू। इन सबकी इतनी सन्तानें हुईं कि उन्हींसे यह सम्पूर्ण सृष्टि भर गयी। अदितिसे समस्त देवता तथा बारह आदित्य हुए। सभी दैत्य दितिके पुत्र हैं। दनुके दानव हुए। काला और दनायुके भी दानव ही हुए। सिंहिकासे सिंह-व्याघ्र हुए। क्रोधाके क्रोध करनेवाले असुर हुए। विनताके गरुड, अरुण आदि छः पुत्र हुए। कद्रूके सर्प, नाग आदि हुए। मनुसे समस्त मनुष्य उत्पन्न हुए। इस प्रकार समस्त स्थावर-जङ्गम, पशु-पक्षी, देवता-दैत्य, मनुष्य—हम सब सगे भाई हैं। एक कश्यपभगवान्‌की ही हम सन्तान हैं। वृक्ष, पशु, पक्षी—हम सब कश्यपगोत्री ही हैं।

इन तेरह कन्याओंमें 'अदिति' भगवान् कश्यपकी सबसे प्यारी पत्नी थीं। उन्हींसे इन्द्रादि समस्त देवता हुए और भगवान् वामनने भी इन्हींके यहाँ अवतार लिया। इनका तप अनन्त है, इनकी भगवद्भक्ति अटूट है। ये दम्पती भगवान्‌के परम प्रिय हैं। तीन बार भगवान्‌ने इनके घरमें अवतार लिया। अदिति और कश्यपके महातपके प्रभावसे ही जीवोंको निर्गुण भगवान्‌के सगुणरूपमें दर्शन हो सके।

कस्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन्ह कहुँ मैं पूरब बर दीन्हा॥

भगवान् जिनके पुत्र बने, उनके विषयमें अधिक क्या कहा जा सकता है? भगवान् कश्यपकी पुराणोंमें बहुत-सी कथाएँ हैं। यहाँ उनके सम्बन्धमें इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ये महानुभाव अपने भक्तिबलसे भगवान्‌को निर्गुणसे सगुण-साकार बनानेवाले हैं तथा हम सब जीवोंके आदि-पिता हैं।

महर्षि कपिल

अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा॥

(श्रीमद्भा० ३। २५। ३३)

भगवान् ही इस सृष्टिके आदिकारण हैं। वे सर्वेश्वर अपने संकल्पसे ही इस जगत्‌का विस्तार करते हैं और फिर वे ही सर्वशक्तिमान् इसका पालन भी करते हैं। जीवोंके कल्याणके लिये वे दयामय विभिन्न रूप धारण करके जगत्‌में आते हैं। वे ही परम प्रभु मनु एवं प्रजापतिरूपसे जगत्‌के प्राणियोंका पालन करते हैं। वे उदारचरित ही ऋषि एवं योगेश्वररूपसे इस भवसागरसे पार होनेका मार्ग बतलाते हैं और उसपर स्वयं चलकर आदर्श रखते हैं संसारके लिये। उन लीलामयकी इस विश्वलीलाका तात्पर्य ही है कि अनादिकालसे माया-मोहित त्रितापतप्त जीव उन दयाधाम आनन्द-सागरको प्राप्त कर ले। अतः वे प्राणियोंके जीवनका ही रक्षण नहीं करते, उन प्राणियोंके कल्याणके साधनोंका भी वे ही प्रवर्तन एवं रक्षण करते हैं। ज्ञान एवं साधनोंकी परम्परा वे अपने उपदेशोंसे विस्तृत करते हैं और अपने तपसे फिर उसकी रक्षा करते हैं। श्रीनर-नारायण, कपिल, व्यास आदि भगवान्‌के ऐसे ही अवतार-स्वरूप हैं।

तत्त्वज्ञानका प्राणियोंको उपदेश करनेके लिये सृष्टिके प्रारम्भिक पाद्मकल्पके स्वायम्भुव मन्वन्तरमें ही प्रजापति कर्दमके यहाँ उनकी पत्नी देवहूतिसे भगवान्‌ने कपिलरूपमें अवतार ग्रहण किया। अपनी माता देवहूतिको ही

भगवान्ने सर्वप्रथम तत्त्वज्ञान एवं भक्तिका उपदेश किया। मर्त्यलोकमें परमविरक्ता वे मनुपुत्री देवहूतिजी ही सर्वप्रथम भागवत-ज्ञानकी अधिकारिणी हुईं और उसे प्राप्त करके उनका स्थूल शरीर भी दिव्य हो गया। जब देवहूतिजी भगवान् कपिलद्वारा उपदेश किये भागवत-ज्ञानमें चित्तको एक करके सिद्धावस्थाको प्राप्त हो गयीं, तब उन्हें पतातक नहीं चला कि उनका शरीर कब गिर गया। उनका वह पावन देह द्रव होकर सरिता बन गया और अब प्राणियोंके लिये वह तीर्थ है।

माताको भगवान् कपिलने जिस ज्ञानका उपदेश किया, उसका बड़ा सुन्दर वर्णन श्रीमद्भागवतके तीसरे स्कन्धमें है। ज्ञानके लिये आवश्यक है कि प्राणीके मनमें संसारके समस्त भोगोंसे वैराग्य हो। इस देहमें हड्डी, मज्जा, मांस, रक्त आदि अपवित्र वस्तुओंको छोड़कर और तो कुछ है नहीं। ऐसे घृणित देहमें आसक्त होकर प्राणी नाना प्रकारके अनर्थ करता है। फल यह होता है कि बड़े कष्टसे उसकी मृत्यु होती है। मृत्युके पश्चात् यमदूत उसे नाना प्रकारकी भीषण यातनाएँ देते हैं। अनेक नरकोंमें सहस्रों वर्ष वह भयंकर कष्ट भोगता है। कदाचित् भगवान्की कृपासे ही वह इस लोकमें मनुष्ययोनिमें आ पाता है। यहाँ भी गर्भमें दुःख-ही-दुःख है। बाल्यकाल पराधीनता, विवशताके कष्टोंसे भरा है और युवावस्थामें काम-क्रोधादि विकार मनुष्यको अंधा कर देते हैं। वह नाना चिन्ताओंमें बराबर जलता रहता है। वृद्धावस्था तो दुःखरूप है ही। इस प्रकार यह समस्त जीवन क्लेशपूर्ण है। जब बराबर विचार करनेसे सत्कर्मोंके पुण्य-प्रभावसे वैराग्यका चित्तमें उदय होता है, तब मनुष्य इस संसारके दुःखको समझ पाता है। भगवान्के चरणोंमें अनुराग होनेसे, भगवान्के नामका जप, उनकी मङ्गलमयी लीलाओंका ध्यान, उनके दिव्य गुणोंका कीर्तन करनेसे हृदय शुद्ध होता है। निष्काम भक्तिके द्वारा भगवान्में चित्तको लगाये रहनेसे जीवको बन्धनमें रखनेवाले पाँचों कोश स्वयं धीरे-धीरे नष्ट हो जाते हैं। भक्तिसे निर्मल चित्तमें ही ज्ञानका उदय होता है। बिना भगवान्की शरण लिये हृदय शुद्ध नहीं होता। अतः मनुष्यको बड़ी सावधानीसे संसारके दुःखरूप भोगोंसे मनको हटाकर भगवान्के चरणोंमें लगाना चाहिये। यह भगवान् कपिलके उपदेशका बहुत ही संक्षिप्त तात्पर्य है।

माताको उपदेश देकर कपिलजी, आज जहाँ गङ्गासागर-संगम है, वहाँ चले गये। समुद्रने उन्हें स्थान दिया। सागरके भीतर वे अबतक तपस्या कर रहे हैं। भगवान् कपिल भागवतधर्मके मुख्य बारह आचार्योंमें हैं। निरीश्वर सांख्य तो पीछेके तर्क-प्रधान लोगोंकी कल्पना है। भगवान् तो अपने तप तथा संकल्पसे विश्वकी ज्ञानपरम्पराकी रक्षा करते हुए स्थित हैं। अनेक अधिकारी साधक अनेक युगोंमें भगवान्के दर्शन एवं उपदेश पाकर कृतार्थ हुए हैं।

महर्षि शुक्राचार्य

भगवान् ब्रह्माजीके तीसरे मानसिक पुत्र भृगु हुए। इन भृगुके कवि हुए और कविके असुरगुरु महर्षि शुक्राचार्य हुए। ये योगविद्यामें पारङ्गत थे। इनकी 'शुक्रनीति' बहुत प्रसिद्ध है। यद्यपि ये असुरोंके गुरु थे, किंतु मनसे भगवान्के—अनन्य भक्त थे। असुरोंमें रहते हुए भी ये उन्हें सदा धार्मिक शिक्षा देते रहते थे। इन्हींके प्रभावसे प्रह्लाद, विरोचन, बलि आदि भगवद्भक्त बने और श्रीविष्णुके प्रीत्यर्थ बहुत-से यज्ञ-याग आदि करते रहे।

इनके पास 'मृतसंजीवनी विद्या' थी। इससे ये संग्राममें मरे हुए असुरोंको जिला लेते थे। बृहस्पतिजीके पास यह विद्या नहीं थी। इसलिये उन्होंने अपने पुत्र कचको इनके पास यह विद्या सीखनेके लिये भेजा। इन्होंने उसे बृहस्पतिजीका पुत्र जानकर बड़े ही स्नेहसे वह विद्या सिखायी। असुरोंको जब यह बात मालूम हुई, तब उन्होंने कई बार कचको जानसे मार डाला, किंतु शुक्राचार्यजीने अपनी विद्याके प्रभावसे उसे फिर जीता ही बुला लिया। अन्तमें दैत्योंने कचको मारकर उसकी राखको शुक्राचार्यजीको धोखेमें सुराके साथ पिला दिया। ऋषिने ध्यानसे देखा और कचसे कहा, मैं तुझे पेटमें ही विद्या सिखाता हूँ। मेरा पेट फाड़कर निकल आ, फिर

मुझे जिला लेना।' कचने ऐसा ही किया। वह सिद्ध हो गया। तबसे शुक्राचार्यजीने नियम बना दिया—

यो ब्राह्मणोऽद्य प्रभृतीह कश्चिन्मोहात्सुरां पास्यति मन्दबुद्धिः।
अपेतधर्मा ब्रह्महा चैव स स्यादस्मिँल्लोके गर्हितः स्यात्परे च॥
मया चैतां विप्रधर्मोक्तिसीमां मर्यादां वै स्थापितां सर्वलोके।
सन्तो विप्राः शुश्रुवांसो गुरूणां देवा लोकाश्चोपशृण्वन्तु सर्वे॥

'मैं आजसे ब्राह्मणोंके धर्मकी यह मर्यादा बाँधता हूँ, मेरी मर्यादाको देवता एवं श्रेष्ठ ब्राह्मण, जो अपने बड़ोंकी बात सुनना चाहते हों तथा अन्य समस्त प्राणी सुनें। जो मन्दबुद्धि ब्राह्मण भूलसे भी आजसे मदिरा पीयेगा, उसके समस्त धर्मका नाश हो जायगा और उसे ब्रह्महत्याका पाप लगेगा तथा वह इस लोक और परलोक दोनोंमें निन्दित होगा।'

इस प्रकार शुक्राचार्यने मर्यादा बाँध दी, जिसे समस्त लोगोंने स्वीकार किया। बलिके यज्ञमें भगवान् शुक्राचार्यने यजमानकी श्रद्धा देखनेके लिये उसे बहुत मना किया कि तुम वामनरूपधारी भगवान्को भूमिदान न करो; किंतु बलिने उन्हें भूमिदान कर ही दिया।

शुक्राचार्यकी एक कन्या देवयानी महाराज ययातिके साथ विवाही थी, ये अबतक आकाशमें एक नक्षत्रके रूपमें स्थित हैं और वर्षा आदिकी सूचना देती हैं। शुक्राचार्य बड़े भगवद्भक्त हैं। बलिके यज्ञमें पधारे हुए भगवान्से शुक्राचार्य कहते हैं—

मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः।
सर्वं करोति निश्छिद्रं नामसङ्कीर्तनं तव॥

(श्रीमद्भा० ८। २३। १६)

'भगवन्! मन्त्रकी, तन्त्रकी (अनुष्ठान-पद्धतिकी), देश, काल, पात्र और वस्तुकी सारी भूलें आपके नाम-संकीर्तनमात्रसे सुधर जाती हैं। आपका नाम सारी त्रुटियोंको पूरी कर देता है।'

ब्रह्मर्षि विश्वामित्र

सोह न राम प्रेम बिनु ग्यानू। करनधार बिनु जिमि जल जानू॥

कुशिकवंशमें महाराज गाधिके पुत्र विश्वामित्रजी हुए। वंशके नामपर इन्हें कौशिक कहा जाता है। महर्षि वसिष्ठके आश्रमपर एक बार ये सेनासहित पहुँचे। अपनी कामधेनुकी शक्तिसे महर्षिने इनका यथोचित सत्कार किया। उस गौका प्रभाव देखकर राजा विश्वामित्रजीने उसे लेना चाहा। जब महर्षिने स्वेच्छासे देना अस्वीकार कर दिया, तब वे बलात् उसे ले जाने लगे; किंतु वसिष्ठजीकी अनुमतिसे कामधेनुने अपने शरीरसे लाखों सैनिक प्रकट करके इनकी सेनाको पराजित कर दिया। अब ये तप करके वसिष्ठको पराजित करनेमें लगे। जब तपस्या करके शङ्करजीद्वारा प्राप्त दिव्यास्त्र भी ब्रह्मर्षि वसिष्ठके ब्रह्मदण्डमें लीन हो गये, तब विश्वामित्रजीने स्वयं ब्राह्मणत्व प्राप्त करनेका निश्चय किया।

तपस्यामें, साधनमें, भगवान्के भजनमें—जीवके कल्याणके जितने मार्ग हैं, उन सबमें काम, क्रोध और लोभ ही सबसे बड़े बाधक हैं। ये तीनों नरकके द्वार हैं। **'त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।'** कोई कितना विद्वान्, बुद्धिमान्, तपस्वी क्यों न हो, यदि काम-क्रोध-लोभमेंसे एकके भी वश हो जाता है, तो उसकी विद्या, बुद्धि, तपका कोई अर्थ नहीं। ये तीनों विकार बुद्धिको मोहमें डाल देते हैं और बुद्धिभ्रमसे जीवका सर्वनाश हो जाता है। विश्वामित्रजी-जैसा महान् तप कदाचित् ही किसीने किया हो; किंतु अनेक बार काम, क्रोध या लोभने उनके बड़े कष्टसे उपार्जित तपका नाश कर दिया। इन्द्रकी भेजी मेनका अप्सराने एक बार उन्हें प्रलुब्ध कर लिया। दूसरी बार राजा त्रिशङ्कु वसिष्ठजीका शाप होनेपर भी इनके पास सशरीर स्वर्ग जानेके लिये आया। विश्वामित्रजीने उसे यज्ञ कराना स्वीकार कर लिया। उस यज्ञमें दूसरे सब ऋषि आये, किंतु वसिष्ठके सौ पुत्रोंमेंसे कोई न आया। रोषमें आकर विश्वामित्रने वसिष्ठके सभी पुत्रोंको मार डाला, अपने तपोबलसे त्रिशङ्कुको सदेह स्वर्ग भेज दिया और जब देवताओंने उसे नीचे ढकेल दिया, तब मध्यमें ही वह रुका रहे, यह व्यवस्था विश्वामित्रजीने तपोबलसे कर दी। इस प्रकार बार-बार तपके नाशसे भी वे महाभाग निराश नहीं हुए। तपस्याके

प्रभावसे वे इतने समर्थ हो गये कि दूसरी सृष्टि करने लगे। अनेकों नवीन प्राणिशरीर, जो ब्राह्मी सृष्टिमें नहीं थे, उन्होंने बनाये। भगवान् ब्रह्माने उनको इस सृष्टिकार्यसे रोका और ब्राह्मणत्व प्रदान किया। वसिष्ठजीने उन्हें 'ब्रह्मर्षि' स्वीकार किया।

काम, क्रोध और लोभके कारण अनेक बार विघ्न पड़नेसे विश्वामित्रजीने इन तीनों विकारोंकी नाशक शक्तिको पहचान लिया था। उन्होंने भगवान्का आश्रय लेकर इन तीनोंको सर्वथा छोड़ दिया। उनके आश्रममें प्रत्येक पर्वके समय रावणके अनुचर मारीच और सुबाहु राक्षसी सेना लेकर चढ़ आते और हड्डी, रक्त, मांस, मल-मूत्र आदि अपवित्र वस्तुओंकी वर्षा करके यज्ञको दूषित कर देते। महर्षि विश्वामित्र इन राक्षसोंके उपद्रवसे यज्ञ कर नहीं पाते थे। इतनेपर भी शाप देकर राक्षसोंको भस्म करनेका सङ्कल्पतक उनके मनमें नहीं उठा। समर्थ होनेपर भी क्रोधको उन्होंने वशमें रखा। लोभको तो फिर आने ही नहीं दिया। जब इन्हें पता लगा कि भगवान्ने पृथ्वीका भार हरण करनेके लिये अयोध्यामें अवतार ले लिया है, तब ये अयोध्या गये और वहाँसे श्रीराम-लक्ष्मणको ले आये। जब श्रीरामने एक ही बाणसे ताड़काको मार दिया, तब इनको श्रीरामके परात्पर स्वरूपका पूरा निश्चय हो गया। अनेक प्रकारके दिव्यास्त्र तथा विद्याएँ इन्होंने दोनों भाइयोंको प्रदान कीं।

महर्षि विश्वामित्रजीने ही श्रीराम-लक्ष्मणको जनकपुर पहुँचाया। इन्हींकी प्रेरणासे धनुष टूटा और श्रीजनकराज-कुमारीका श्रीरामभद्रने पाणिग्रहण किया। महाराज दशरथ जब जनकपुरसे बारात बिदा कराके लौटे, तब विश्वामित्रजी भी उनके साथ अयोध्या आये। वहाँ पर्याप्त समयतक महाराजसे सत्कृत, पूजित होकर रहे और तब अपने आश्रमपर गये। चित्रकूटमें जब महाराज जनक श्रीरामसे मिलने गये, तब विश्वामित्रजी भी उनके साथ वहाँ पधारे। जनकजीके साथ ही महर्षि लौटे भी। महर्षि विश्वामित्रजीका पूरा जीवन ही तप एवं परोपकारमें व्यतीत हुआ। वे वेदमाता गायत्रीके द्रष्टा हैं। उनके अनेक धर्मग्रन्थ हैं। साक्षात् भगवान् श्रीराघवेन्द्र जिन्हें महर्षि वसिष्ठके समान ही अपना 'गुरुदेव मानते थे और अपने कमल-कोमल करोंसे जिनके चरण दबाते थे, उनके सौभाग्य तथा उनकी महिमाका वर्णन कौन कर सकता है?'

आदिकवि वाल्मीकि

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम्।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम्॥

अङ्गिरागोत्रमें उत्पन्न एक ब्राह्मण था रत्नाकर। लुटेरे-डाकुओंके सङ्गसे वह भी क्रूरहृदय डाकू हो गया था। धर्म-कर्म तो कभी किया ही नहीं था, बचपनसे ही कुसङ्गमें पड़नेसे विद्या भी नहीं प्राप्त की। वनमें छिपा रहता और उधरसे निकलनेवाले यात्रियोंको लूट-मारकर जो कुछ मिलता, उससे अपने परिवारका भरण-पोषण करता। संयोगवश एक दिन उधरसे नारदजी निकले। रत्नाकरने उन्हें भी ललकारा। देवर्षिने निर्भय होकर बड़े स्नेहसे कहा—'भैया ! मेरे पास धरा ही क्या है। परंतु तुम प्राणियोंको क्यों व्यर्थ मारते हो? जीवोंको पीड़ा देने और मारनेसे बड़ा दूसरा कोई पाप नहीं है। इस पापसे परलोकमें प्राणीको भयङ्कर नरकोंमें पड़ना पड़ता है।'

जब अकारण कृपालु श्रीहरि दया करते हैं, जब अनेक जन्मोंके पुण्योंका उदय होता है, जब जीवके कल्याणका समय आ पहुँचता है, तभी उसे सच्चे साधुके दर्शन होते हैं। रत्नाकर जिसे लूटता वह रोता, गिड़गिड़ाता, भयभीत होता। आज उसने एक अद्भुत तेजस्वी साधु देखा था, जो तनिक भी उससे डरा नहीं, जिसने अपनी प्राणरक्षाके लिये एक शब्द नहीं कहा, जो उलटा उसे उपदेश दे रहा था। क्रूर डाकूपर प्रभाव पड़ा। उसके निष्ठुर हृदयमें रोने,कलपनेवालोंका गिड़गिड़ाना दया नहीं उत्पन्न करता था; किन्तु इस साधुकी निर्भयता और स्नेहपूर्ण वाणीने उसे प्रभावित कर दिया। वह बोला—'मेरा परिवार बड़ा है। उन सबका पालन-पोषण अकेले मुझे करना पड़ता है। मैं यदि लूटकर धन न ले जाऊँ तो वे भूखों मर जायँ।'

देवर्षिने कहा—'भाई! तुम जिनका भरण-पोषण करनेके लिये इतने पाप करते हो, वे तुम्हारे इस पापमें भाग लेंगे या नहीं—यह उनसे पूछ आओ। डरो मत, मैं भागकर कहीं नहीं जाऊँगा। विश्वास न हो तो मुझे एक वृक्षसे बाँध दो।'

नारदजीको बाँधकर रत्नाकर घर आया। उसने घरके सभी लोगोंसे पूछा। सबने उसे एक ही उत्तर दिया—'हमारा पालन-पोषण करना तुम्हारा कर्तव्य है। हमें इससे कोई मतलब नहीं कि तुम किस प्रकार धन ले आते हो। हाय! हाय! जिनके लिये खून-पसीना एक करके, घोर वनमें भूखे-प्यासे दिन-रात वह छिपा रहता है, वर्षा, सर्दी, गरमी तथा दूसरे किसी कष्टकी जिनके लिये चिन्ता नहीं करता, जिनके लिये इतने प्राणियोंको उसने मारा, इतना पाप किया, उन्हें उसके पाप-पुण्यसे कुछ मतलब नहीं? मारे शोकके रत्नाकर पागल-सा हो गया। एक क्षणमें उसके मोहका सारा बन्धन टूट गया। रोता हुआ वह वनमें गया और ऋषिके बन्धन काटकर उनके चरणोंपर गिर पड़ा। वह छटपटाता हुआ क्रन्दन करने लगा—'मेरे-जैसे अधमका कैसे उद्धार होगा?'

देवर्षि भी सोच-विचारमें पड़ गये। भगवन्नाम भगवान्‌का साक्षात् स्वरूप है। वह दया करके ही सौभाग्यशाली जीवोंके मुखपर स्वयं आता है। पापी रत्नाकर 'राम' यह सीधा सरल नाम भी नहीं ले पाता था। सोचकर नारदजीने उसे 'मरा' यह उलटा नाम जपनेका आदेश दिया और चले गये। रत्नाकर वहीं बैठकर जपने लगा—मरामरामरामरामरामरा……………………। मास बीते, ऋतुएँ बीतीं, वर्ष बीता और युग बीत गया; किंतु रत्नाकर उठा नहीं। उसने नेत्र नहीं खोले। उसका जप अखण्ड चलता रहा। उसके शरीरपर दीमकोंने घर बना लिया। वह उनकी बाँबी—वल्मीकसे ढक गया। अन्तमें ब्रह्माजी इस तपस्वीके पास आये। उन्होंने अपने कमण्डलुका अमृत-जल छिड़ककर उसके दीमकोंद्वारा खाये हुए अङ्गोंको सुन्दर, पुष्ट बना दिया। उन सृष्टिकर्ताने ही उसे ऋषि वाल्मीकि कहकर पुकारा। वल्मीकसे निकलनेके कारण उस दिनसे वह वाल्मीकि हो गया।

जो कभी क्रूर दस्यु था, प्राणियोंको मारना ही जिसका कर्म था, भगवन्नाम-जपके प्रभावसे वह परम दयालु ऋषि हो गया। जब उसके सामने एक दिन एक व्याधने क्रौंच पक्षीके जोड़ेमेंसे एकको मार दिया, तब दयाके कारण व्याधको शाप देते समय उसके मुखसे श्लोक निकला। वैदिक छन्द तो अनादि हैं, किंतु लौकिक छन्दोंका वह प्रथम छन्द था। उसी छन्दसे वाल्मीकिजी आदिकवि हुए।

वनवासके समय मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम भाई लक्ष्मण एवं जानकीजीके साथ वाल्मीकिजीके आश्रममें पधारे। वहाँ श्रीरामके पूछनेपर जो चौदह स्थान ऋषिने उनके रहने योग्य बताये, उनमें भक्तिके सभी साधन आ जाते हैं। इन चौदह स्थानोंका सुन्दर वर्णन गोसाईंजीकी भाषामें ही देखिये—

सुनहु राम अब कहउँ निकेता। जहाँ बसहु सिय लखन समेता॥
जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्ह के हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे॥
लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे॥
निदरहिं सरित सिंधु सर भारी। रूप बिंदु जल होहिं सुखारी॥
तिन्ह कें हृदय सदन सुखदायक। बसहु बंधु सिय सह रघुनायक॥

जसु तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु।
मुकताहल गुन गन चुनइ राम बसहु हियँ तासु॥१२८॥

प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा। सादर जासु लहइ नित नासा॥
तुम्हहि निबेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं॥
सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी। प्रीति सहित करि बिनय बिसेषी॥
कर नित करहिं राम पद पूजा। राम भरोस हृदयँ नहिं दूजा॥
चरन राम तीरथ चलि जाहीं। राम बसहु तिन्ह के मन माहीं॥
मंत्रराजु नित जपहिं तुम्हारा। पूजहिं तुम्हहि सहित परिवारा॥
तरपन होम करहिं बिधि नाना। बिप्र जेवाँइ देहिं बहु दाना॥
तुम्ह तें अधिक गुरहि जियँ जानी। सकल भायँ सेवहिं सनमानी॥

सबु करि मागहिं एक फलु राम चरन रति होउ।
तिन्ह कें मन मंदिर बसहु सिय रघुनंदन दोउ॥१२९॥

काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा॥
जिन्ह कें कपट दंभ नहिं माया। तिन्ह कें हृदय बसहु रघुराया॥
सब के प्रिय सब के हितकारी। दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी॥
कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी॥

तुम्हहि छाड़ि गति दूसरि नाहीं। राम बसहु तिन्ह के मन माहीं॥
जननी सम जानहिं परनारी। धनु पराव बिष तें बिष भारी॥
जे हरषहिं पर संपति देखी। दुखित होहिं पर बिपति बिसेषी॥
जिन्हहि राम तुम्ह प्रानपिआरे। तिन्ह के मन सुभ सदन तुम्हारे॥
स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्ह के सब तुम्ह तात।
मन मंदिर तिन्ह कें बसहु सीय सहित दोउ भ्रात॥१३०॥
अवगुन तजि सब के गुन गहहीं। बिप्र धेनु हित संकट सहहीं॥
नीति निपुन जिन्ह कइ जग लीका। घर तुम्हार तिन्ह कर मनु नीका॥
गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा॥
राम भगत प्रिय लागहिं जेही। तेहि उर बसहु सहित बैदेही॥
जाति पाँति धनु धरमु बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई॥
सब तजि तुम्हहि रहइ उर लाई। तेहि के हृदयँ रहहु रघुराई॥
सरगु नरकु अपबरगु समाना। जहँ तहँ देख धरें धनु बाना॥
करम बचन मन राउर चेरा। राम करहु तेहि कें उर डेरा॥
जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥१३१॥

अन्तिम समयमें जब मर्यादापुरुषोत्तमने लोकापवादके कारण श्रीविदेहनन्दिनीका त्याग कर दिया, तब वे वाल्मीकिजीके ही आश्रममें रहीं। वहीं लव-कुशकी उत्पत्ति हुई। महर्षिने रामायण-गानकी शिक्षा लव-कुशको ही पहले दी। महर्षि वाल्मीकिका रामायण पञ्चम वेदके समान परम सम्मान्य तथा भवसागरसे पार करनेवाला है। महर्षिने अपने दिव्य ज्ञानके प्रभावसे रामायणकी रचना रामावतारसे पहले ही कर दी थी।

भरद्वाज मुनि

महामोहु महिषेसु बिसाला। रामकथा कालिका कराला॥

भगवान्‌के मङ्गलमय चरितोंको सुननेसे त्रयतापसंतप्त प्राणीको शान्ति प्राप्त होती है। मायाके काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकार दूर होते हैं। हृदय निर्मल होता है। इसीलिये संत-सत्पुरुष सदा भगवत्कथा कहने-सुननेमें ही लगे रहते हैं। श्रीहरिके नित्य दिव्य गुणोंमें जिनका हृदय लग गया, उनको फिर संसारके सभी विषय फीके लगते हैं। उन्हें वैराग्य करना या जगाना नहीं पड़ता, अपने-आप उनका चित्त सभी लौकिक भोगोंसे विरक्त हो जाता है। आनन्दकन्द प्रभुके चरित भी आनन्दरूप ही हैं। उनकी सुधा-मधुरिमाका स्वाद एक बार मनको लगाना चाहिये, फिर तो वह अन्यत्र कहीं जाना ही नहीं चाहेगा।

देवगुरु बृहस्पतिजीके भाई उतथ्यके पुत्र भरद्वाजजी श्रीरामकथा-श्रवणके अनन्य रसिक थे। ये ब्रह्मनिष्ठ, श्रोत्रिय, तपस्वी और भगवान्‌के परम भक्त थे। तीर्थराज प्रयागमें गङ्गा-यमुनाके सङ्गमसे थोड़ी ही दूरपर भरद्वाजजीका आश्रम था। सहस्रों ब्रह्मचारी इनसे विद्याध्ययन करने आते और बहुत-से विरक्त साधक इनके समीप रहकर अपने अधिकारके अनुसार योग, उपासना, तत्त्वानुसंधान आदि पारमार्थिक साधन करते हुए आत्मकल्याणकी प्राप्तिमें लगे रहते। भरद्वाजजीके दो पुत्रियाँ थीं, जिनमें एक महर्षि याज्ञवल्क्यजीको विवाही थी और दूसरी विश्रवा मुनिकी पत्नी हुई, जिसके पुत्र लोकपाल कुबेरजी हुए।

भगवान् श्रीराममें भरद्वाजजीका अनन्य अनुराग था। जब श्रीराम वन जाने लगे, तब मुनिके आश्रममें प्रयागराजमें उन्होंने एक रात्रि निवास किया। मुनिने भगवान्‌से उस समय अपने हृदयकी निश्चित धारणा बतायी थी—

करम बचन मन छाड़ि छलु जब लगि जनु न तुम्हार।
तब लगि सुखु सपनेहुँ नहीं किएँ कोटि उपचार॥

जब श्रीभरतलालजी प्रभुको लौटानेके उद्देश्यसे चित्रकूट जा रहे थे, तब वे भी एक रात्रि मुनिके आश्रममें रहे थे। अपने तपोबलसे, सिद्धियोंके प्रभावसे मुनिने अयोध्याके पूरे समाजका ऐसा अद्भुत आतिथ्य किया कि सब लोग चकित रह गये। जो भगवान्‌के सच्चे भक्त हैं, उन्हें भगवान्‌के भक्त भगवान्‌से भी अधिक प्रिय लगते हैं। किसी भगवद्भक्तका मिलन उन्हें प्रभुके मिलनसे भी अधिक सुखदायी होता है। भरद्वाजजीको भरतजीसे

मिलकर ऐसा ही असीम आनन्द हुआ। उन्होंने कहा भी—

सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं॥
सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसनु पावा॥
तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा। सहित पयाग सुभाग हमारा॥

जब श्रीरघुनाथजी लङ्काविजय करके लौटे, तब भी वे पुष्पक विमानसे उतरकर प्रयागमें भरद्वाजजीके पास गये। श्रीरामके साकेत पधारनेपर भरद्वाजजी उनके भुवनसुन्दर रूपके ध्यान तथा उनके गुणोंके चिन्तनमें ही लगे रहते थे। माघ महीनेमें प्रतिवर्ष ही प्रयागराजमें ऋषि-मुनिगण मकरस्नानके लिये एकत्र होते थे। एक बार जब माघभर रहकर सब मुनिगण जाने लगे, तब बड़ी श्रद्धासे प्रार्थना करके भरद्वाजने महर्षि याज्ञवल्क्यको रोक लिया और उनसे श्रीरामकथा सुनानेकी प्रार्थना की। याज्ञवल्क्यजीने प्रसन्न होकर श्रीरामचरितका वर्णन किया। इस प्रकार भरद्वाजजीकी कृपासे लोकमें श्रीरामचरितका मङ्गल-प्रवाह प्रवाहित हुआ।

महर्षि शाण्डिल्य

कश्यपवंशी महर्षि देवलके पुत्र ही शाण्डिल्य नामसे प्रसिद्ध थे। ये रघुवंशीय नरपति दिलीपके पुरोहित थे। इनकी एक संहिता भी प्रसिद्ध है। कहीं-कहीं नन्दगोपके पुरोहितके रूपमें भी इनका वर्णन आता है। शतानीकके पुत्रेष्टि-यज्ञमें ये प्रधान ऋत्विक् थे। किसी-किसी पुराणमें इनके ब्रह्माके सारथि होनेका भी वर्णन आता है। इन्होंने प्रभासक्षेत्रमें शिवलिङ्ग स्थापित करके दिव्य सौ वर्षतक घोर तपस्या और प्रेमपूर्ण आराधना की थी। फलस्वरूप भगवान् शिव प्रसन्न हुए और इनके सामने प्रकट होकर इन्हें तत्त्वज्ञान, भगवद्भक्ति एवं अष्ट सिद्धियोंका वरदान दिया। विश्वामित्र मुनि जब राजा त्रिशङ्कुसे यज्ञ करा रहे थे, तब ये होताके रूपमें वहाँ विद्यमान थे। भीष्मकी शरशय्याके अवसरपर भी इनकी उपस्थितिका उल्लेख मिलता है। शङ्ख और लिखित, जिन्होंने पृथक्-पृथक् धर्मस्मृतियोंका निर्माण किया है, इन्हींके पुत्र थे। जैसे भगवान् वेदव्यासने समस्त श्रुतियोंका समन्वय करनेके लिये ज्ञानपरक ब्रह्मसूत्रोंका प्रणयन किया है, वैसे ही श्रुतियों और गीताका भक्तिपरक तात्पर्य-निर्णय करनेके लिये इन्होंने एक छोटे-से किन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भक्तिसूत्रका प्रणयन किया है। उसमें कुल तीन अध्याय हैं और एक-एक अध्यायमें दो-दो आह्निक हैं, इससे सूचित होता है कि इन्होंने इस ग्रन्थका निर्माण छः दिनमें किया होगा। इनके मतमें जीवोंका ब्रह्मभावापन्न होना ही मुक्ति है। जीव ब्रह्मसे अत्यन्त अभिन्न हैं। उनका आवागमन स्वाभाविक नहीं है; किंतु जपाकुसुमके सान्निध्यसे स्फटिकमणिकी लालिमाके समान, अन्तःकरणकी उपाधिसे ही होता है। किंतु केवल औपाधिक होनेके कारण ही वह ज्ञानसे नहीं मिटाया जा सकता, उसकी निवृत्ति तो उपाधि और उपाधेय—इन दोनोंमेंसे किसी एकको निवृत्तिसे या सम्बन्ध छूट जानेसे ही हो सकती है। चाहे जितना ऊँचा ज्ञान हो; किंतु जैसे स्फटिकमणि और जपाकुसुमका सान्निध्य रहते लालिमाकी निवृत्ति नहीं हो सकती, वैसे ही जबतक अन्तःकरण है, तबतक न तो उपाधि और उपाधेयका सम्बन्ध छुड़ाया जा सकता और न आवागमनसे ही जीवको बचाया जा सकता है। अतः उपाधिके नाशसे ही भ्रमकी निवृत्ति हो सकती है, आत्मज्ञानसे नहीं। उपाधि-नाशके लिये भगवद्भक्तिसे बढ़कर और कोई उपाय नहीं है। ब्रह्मभावोपलब्धिके लिये यही उपाय भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

इस भक्तिसे त्रिगुणात्मक अन्तःकरणका लय होकर ब्रह्मानन्दका प्रकाश हो जाता है। इससे आत्मज्ञानकी व्यर्थता भी नहीं होती; क्योंकि अश्रद्धारूपी मलको दूर करनेके लिये ज्ञानकी आवश्यकता है। गीतामें स्थान-स्थानपर भक्तिके साधनके रूपमें ज्ञानकी चर्चा आयी है। भक्तिका लक्षण है—भगवान्‌में परम अनुराग। '**सा परानुरक्तिरीश्वरे**' (शाण्डिल्य-सूत्र)। इस अनुरागसे ही जीव भगवन्मय हो जाता है। उसका अन्तःकरण अन्तःकरणके रूपमें पृथक् न रहकर भगवान्‌में समा जाता है। यही मुक्ति है।

इस प्रकार महर्षि शाण्डिल्यने भगवद्भक्तिकी उपयोगिता और ज्ञानकी अपेक्षा भी उसकी श्रेष्ठता सिद्ध की है। भक्तिके प्रकार, उसके साधन और उसके विघ्नोंकी निवृत्ति आदिका बड़ा सुस्पष्ट दार्शनिक विवेचन किया है। भक्तिप्रेमियोंको उसका अध्ययन करना चाहिये।

मार्कण्डेय मुनि

तस्मै नमो भगवते पुरुषाय भूम्ने विश्वाय विश्वगुरवे परदेवतायै।
नारायणाय ऋषये च नरोत्तमाय हंसाय संयतगिरे निगमेश्वराय॥

(श्रीमद्भा० १२। ८। ४७)

'उन ऐश्वर्याधीश, परमपुरुष, सर्वव्यापी, विश्वरूप, विश्वके परम गुरु एवं परम देवता, हंसस्वरूप, वाणीको वशमें रखनेवाले (मुनिरूपधारी), श्रुतियोंके भी आराध्य भगवान् नारायण तथा ऋषिश्रेष्ठ नरको नमस्कार।'

भगवान्ने तपका आदर्श स्थापित करनेके लिये ही नर-नारायणस्वरूप धारण किया है। वे सर्वेश्वर तपस्वी ऋषियोंके रक्षक एवं आराध्य हैं। मृकण्डु ऋषिके पुत्र मार्कण्डेयजी नैष्ठिक ब्रह्मचर्यव्रत लेकर हिमालयकी गोदमें पुष्पभद्रा नदीके किनारे उन्हीं ऋषिरूपधारी भगवान् नर-नारायणकी आराधना कर रहे थे। उनका चित्त सब ओरसे हटकर भगवान्में ही लगा रहता था। मार्कण्डेय मुनिको जब इस प्रकार भगवान्की आराधना करते बहुत वर्ष व्यतीत हो गये, तब इन्द्रको उनके तपसे भय होने लगा। देवराजने वसन्त, कामदेव तथा पुञ्जिकस्थली अप्सराको मुनिकी साधनामें विघ्न करनेके लिये वहाँ भेजा। वसन्तके प्रभावसे सभी वृक्ष पुष्पित हो गये, कोकिला कूजने लगी, शीतल-मन्द-सुगन्धित वायु चलने लगा। अलक्ष्य रहकर वहाँ गन्धर्व गाने लगे और अप्सरा पुञ्जिकस्थली मुनिके सम्मुख गेंद खेलती हुई अपने सौंदर्यका प्रदर्शन करने लगी। इसी समय कामदेवने अपने फूलोंके धनुषपर सम्मोहन बाण चढ़ाकर उसे मुनिपर छोड़ा। परंतु कामदेव तथा अप्सराके सब प्रयत्न व्यर्थ हो गये। मार्कण्डेयजीका चित्त भगवान् नर-नारायणमें लगा हुआ था, अत: भगवान्की कृपासे उनके हृदयमें कोई विकार नहीं उठा। मुनिकी ऐसी दृढ़ अवस्था देखकर काम आदि डरकर भाग गये। मार्कण्डेयजीमें कामको जीत लेनेका गर्व भी नहीं आया। वे उसे भगवान्की कृपा समझकर और भी भावनिमग्न हो गये।

भगवान्के चरणोंमें मार्कण्डेयजीका चित्त तो पहलेसे लगा था। अब भगवान्की अपनेपर इतनी बड़ी कृपाका अनुभव करके वे व्याकुल हो गये। भगवान्के दर्शनके लिये उनका हृदय आतुर हो उठा। भक्तवत्सल भगवान् उनकी व्याकुलतासे द्रवित होकर उनके सामने प्रकट हो गये। भगवान् नारायण सुन्दर जलभरे मेघके समान श्याम वर्णके और नर गौर वर्णके थे। दोनोंके ही कमलके समान नेत्र करुणासे पूर्ण थे। इस ऋषिवेशमें भगवान्ने जटाएँ बढ़ा रखी थीं और शरीरपर मृगचर्म धारण कर रखा था। भगवान्के मङ्गलमय भव्य स्वरूपको देखकर मार्कण्डेयजी हाथ जोड़कर भूमिपर गिर पड़े। भगवान्ने उन्हें स्नेहपूर्वक उठाया। मार्कण्डेयजीने किसी प्रकार कुछ देरमें अपनेको स्थिर किया। उन्होंने भगवान्की भलीभाँति पूजा की। भगवान्ने उनसे वरदान माँगनेको कहा।

मार्कण्डेयजीने स्तुति करते हुए भगवान्से कहा—'प्रभो! आपके श्रीचरणोंका दर्शन हो जाय, इतना ही प्राणीका परम पुरुषार्थ है। आपको पा लेनेपर फिर तो कुछ पाना शेष रह ही नहीं जाता; किंतु आपने वरदान माँगनेकी आज्ञा दी है, अत: मैं आपकी माया देखना चाहता हूँ।'

भगवान् तो 'एवमस्तु' कहकर अपने आश्रम बदरीवनको चले गये और मार्कण्डेयजी भगवान्की आराधना, ध्यान, पूजनमें लग गये। सहसा एक दिन ऋषिने देखा कि दिशाओंको काले-काले मेघोंने ढक दिया है। बड़ी भयंकर गर्जना तथा बिजलीकी कड़कके साथ मूसलके समान मोटी-मोटी धाराओंसे पानी बरसने लगा। इतनेमें चारों ओरसे उमड़ते हुए समुद्र बढ़ आये और समस्त पृथ्वी प्रलयके जलमें डूब गयी। मुनि उस महासागरमें विक्षिप्तकी भाँति तैरने लगे। भूमि, वृक्ष, पर्वत आदि सब डूब गये थे। सूर्य, चन्द्र तथा तारोंका भी कहीं पता नहीं था। सब ओर घोर अन्धकार था। भीषण प्रलयसमुद्रकी गर्जना ही सुनायी पड़ती थी। उस समुद्रमें बड़ी-बड़ी भयंकर तरङ्गें कभी मुनिको यहाँसे वहाँ फेंक देती थीं, कभी कोई जलजन्तु उन्हें काटने लगता था और कभी वे जलमें डूबने लगते थे। जटाएँ खुल गयी थीं, बुद्धि विक्षिप्त हो गयी थी, शरीर शिथिल होता जाता था। अन्तमें बहुत व्याकुल होकर उन्होंने भगवान्का स्मरण किया।

भगवान्‌का स्मरण करते ही मार्कण्डेयजीने देखा कि सामने ही एक बहुत बड़ा वटका वृक्ष उस प्रलयसमुद्रमें खड़ा है। पूरे वृक्षपर कोमल पत्ते भरे हुए हैं। आश्चर्यसे मुनि और समीप आ गये। उन्होंने देखा कि वटवृक्षकी ईशान कोणकी शाखापर पत्तोंके सट जानेसे बड़ा-सा सुन्दर दोना बन गया है। उस दोनेमें एक अद्‌भुत बालक लेटा हुआ है। वह नव-जलधर सुन्दर श्याम है। उसके कर एवं चरण लाल-लाल अत्यन्त सुकुमार हैं। उसके त्रिभुवनसुन्दर मुखपर मन्द-मन्द हास्य है। उसके बड़े-बड़े नेत्र प्रसन्नतासे खिले हुए हैं। श्वास लेनेसे उसका सुन्दर त्रिवलीभूषित पल्लवके समान उदर तनिक-तनिक ऊपर-नीचे हो रहा है। उस शिशुके शरीरका तेज इस घोर अन्धकारको दूर कर रहा है। शिशु अपने हाथोंकी सुन्दर अँगुलियोंसे दाहिने चरणको पकड़कर उसके अँगूठेको मुखमें लिये चूस रहा है। मुनिको बड़ा ही आश्चर्य हुआ। उन्होंने प्रणाम किया—

करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्।
वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं बालं मुकुन्दं शिरसा नमामि॥

उनकी सब थकावट उस बालकको देखते ही दूर हो गयी। वे उसको गोदमें लेनेके लिये लालायित हो उठे और उसके पास जा पहुँचे। पास पहुँचते ही उस शिशुके श्वाससे खिंचे हुए मुनि विवश होकर उसकी नासिकाके छिद्रसे उसीके उदरमें चले गये।

मार्कण्डेयजीने शिशुके उदरमें पहुँचकर जो कुछ देखा उसका वर्णन नहीं हो सकता। वहाँ उन्होंने अनन्त ब्रह्माण्ड देखे। वहाँकी विचित्र सृष्टि देखी। सूर्य, चन्द्र, तारागण प्रभृति सब उन्हें दिखायी पड़े। उनको वहाँ समुद्र, नदी, सरोवर, वृक्ष, पर्वत आदिसहित पृथ्वी भी सभी प्राणियोंसे पूर्ण दिखायी पड़ी। पृथ्वीपर घूमते हुए वे शिशुके उदरमें ही हिमालय पर्वतपर पहुँचे। वहाँ पुष्पभद्रा नदी और उसके तटपर अपना आश्रम भी उन्होंने देखा। यह सब देखनेमें उन्हें अनेक युग बीत गये। वे विस्मयसे चकित हो गये। उन्होंने नेत्र बंद कर लिये। इसी समय उस शिशुके श्वास लेनेसे श्वासके साथ वे फिर बाहर उसी प्रलयसमुद्रमें गिर पड़े। उन्हें वही गर्जन करता समुद्र, वही वट-वृक्ष और उसपर वही अद्भुत सौन्दर्यघन शिशु दिखलायी पड़ा। अब मुनिने उस बालकसे ही इस सब दृश्यका रहस्य पूछना चाहा। जैसे ही वे कुछ पूछनेको हुए, सहसा सब अदृश्य हो गया। मुनिने देखा कि वे तो अपने आश्रमके पास पुष्पभद्रा नदीके तटपर सन्ध्या करने वैसे ही बैठे हैं। वह शिशु, वह वटवृक्ष, वह प्रलयसमुद्र आदि कुछ भी वहाँ नहीं है। भगवान्‌की कृपा समझकर मुनिको बड़ा ही आनन्द हुआ।

भगवान्‌ने कृपा करके अपनी मायाका स्वरूप दिखलाया कि किस प्रकार उन सर्वेश्वरके भीतर ही समस्त ब्रह्माण्ड हैं, उन्हींसे सृष्टिका विस्तार होता है और फिर सृष्टि उनमें ही लय हो जाती है। इस कृपाका अनुभव करके मुनि मार्कण्डेय ध्यानस्थ हो गये। उनका चित्त दयामय भगवान्‌में निश्चल हो गया। इसी समय उधरसे नन्दीपर बैठे पार्वतीजीके साथ भगवान् शङ्कर निकले। मार्कण्डेयजीको ध्यानमें एकाग्र देख भगवती उमाने शङ्करजीसे कहा—'नाथ! ये मुनि कितने तपस्वी हैं। ये कैसे ध्यानस्थ हैं। आप इनपर कृपा कीजिये, क्योंकि तपस्वियोंकी तपस्याका फल देनेमें आप समर्थ हैं।'

भगवान् शङ्करने कहा—'पार्वती! ये मार्कण्डेयजी भगवान्‌के अनन्य भक्त हैं। ऐसे भगवान्‌के भक्त कामनाहीन होते हैं। उन्हें भगवान्‌की प्रसन्नताके अतिरिक्त और कोई इच्छा नहीं होती; किंतु ऐसे भगवद्भक्तका दर्शन तथा उनसे वार्तालापका अवसर बड़े भाग्यसे मिलता है, अतः मैं इनसे अवश्य बातचीत करूँगा।' इतना कहकर भगवान् शङ्कर मुनिके समीप गये, किन्तु ध्यानस्थ मुनिको कुछ पता न लगा। वे तो भगवान्‌के ध्यानमें शरीर और संसारको भूल गये थे। शङ्करजीने योगबलसे उनके हृदयमें प्रवेश किया। हृदयमें त्रिनयन, कर्पूरगौर शङ्करजीका अकस्मात् दर्शन होनेसे मुनिका ध्यान भंग हो गया। नेत्र खोलनेपर भगवान् शङ्करको आया देख वे बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने पार्वतीजीके साथ शिवजीका पूजन किया। भक्तवत्सल भगवान् शङ्करने उनसे वरदान माँगनेको कहा। मुनिने प्रार्थना की—'दयामय! आप मुझपर प्रसन्न हैं तो मुझे यही वरदान दें कि भगवान्‌में मेरी अविचल भक्ति हो। आपमें मेरी स्थिर श्रद्धा रहे। भगवद्भक्तोंके प्रति मेरे मनमें अनुराग रहे।'

शङ्करजीने 'एवमस्तु' कहकर मुनिको कल्पान्ततक अमर रहने और पुराणाचार्य होनेका वरदान दिया। मार्कण्डेयपुराणके उपदेशक मार्कण्डेय मुनि ही हैं।

मार्कण्डेयजीपर श्रीभगवान् शङ्करकी कृपा पहलेसे ही थी। पद्मपुराण उत्तरखण्डमें आया है कि इनके पिता मुनि मृकण्डुने अपनी पत्नीके साथ घोर तपस्या करके भगवान् शिवजीको प्रसन्न किया था और उन्हींके वरदानसे मार्कण्डेयको पुत्ररूपमें पाया था। भगवान् शङ्करने उसे सोलह वर्षकी ही आयु उस समय दी थी। अतः मार्कण्डेयकी आयुका सोलहवाँ वर्ष आरम्भ होनेपर मृकण्डु मुनिका हृदय शोकसे भर गया। पिताजीको उदास देखकर जब मार्कण्डेयने उदासीका कारण पूछा, तब मृकण्डुने कहा—'बेटा! भगवान् शङ्करने तुम्हें सोलह वर्षकी ही आयु दी है; उसकी समाप्तिका समय समीप आ पहुँचा है, इसीसे मुझे शोक हो रहा है।' इसपर मार्कण्डेयने कहा—'पिताजी ! आप शोक न करें। मैं भगवान् शङ्करको प्रसन्न करके ऐसा यत्न करूँगा कि मेरी मृत्यु हो ही नहीं।' तदनन्तर माता-पिताकी आज्ञा लेकर मार्कण्डेयजी दक्षिण-समुद्रके तटपर चले गये और वहाँ विधिपूर्वक शिवलिङ्गकी स्थापना करके आराधना करने लगे। समयपर 'काल' आ पहुँचा। मार्कण्डेयजीने कालसे कहा—'मैं शिवजीका मृत्युञ्जय स्तोत्रसे स्तवन कर रहा हूँ, इसे पूरा कर लूँ; तबतक तुम ठहर जाओ।' कालने कहा—'ऐसा नहीं हो सकता।' तब मार्कण्डेयजीने भगवान् शङ्करके बलपर कालको फटकारा। कालने क्रोधमें भरकर ज्यों ही मार्कण्डेयको हठपूर्वक ग्रसना चाहा, त्यों ही स्वयं महादेवजी उसी लिङ्गसे प्रकट हो गये। हुंकार भरकर मेघके समान गर्जना करते हुए उन्होंने कालकी छातीमें लात मारी। मृत्यु-देवता उनके चरण-प्रहारसे पीड़ित होकर दूर जा पड़े। भयानक आकृतिवाले कालको दूर पड़े देख मार्कण्डेयजीने पुनः इसी स्तोत्रसे भगवान् शङ्करजीका स्तवन किया—

स्तोत्र

रत्नसानुशरासनं रजताद्रिशृङ्गनिकेतनं
शिञ्जिनीकृतपन्नगेश्वरमच्युतानलसायकम् ।
क्षिप्रदग्धपुरत्रयं त्रिदशालयैरभिवन्दितं
चन्द्रशेखरमाश्रये मम किं करिष्यति वै यमः ॥

पञ्चपादपपुष्पगन्धिपदाम्बुजद्वयशोभितं
भाललोचनजातपावकदग्धमन्मथविग्रहम् ।
भस्मदिग्धकलेवरं भवनाशिनं भवमव्ययं
चन्द्रशेखरमाश्रये मम किं करिष्यति वै यमः ॥

मत्तवारणमुख्यचर्मकृतोत्तरीयमनोहरं
पङ्कजासनपद्मलोचनपूजिताङ्घ्रिसरोरुहम् ।
देवसिद्धतरङ्गिणीकरसिक्तशीतजटाधरं
चन्द्रशेखरमाश्रये मम किं करिष्यति वै यमः ॥

कुण्डलीकृतकुण्डलीश्वरकुण्डलं वृषवाहनं
नारदादिमुनीश्वरस्तुतवैभवं भुवनेश्वरम्।
अन्धकान्तकमाश्रितामरपादपं शमनान्तकं
चन्द्रशेखरमाश्रये मम किं करिष्यति वै यमः ॥

यक्षराजसखं भगाक्षिहरं भुजङ्गविभूषणं
शैलराजसुतापरिष्कृतचारुवामकलेवरम् ।
क्ष्वेडनीलगलं परश्वधधारिणं मृगधारिणं
चन्द्रशेखरमाश्रये मम किं करिष्यति वै यमः ॥

भेषजं भवरोगिणामखिलापदामपहारिणं
दक्षयज्ञविनाशिनं त्रिगुणात्मकं त्रिविलोचनम्।
भुक्तिमुक्तिफलप्रदं निखिलाघसङ्घनिबर्हणं
चन्द्रशेखरमाश्रये मम किं करिष्यति वै यमः ॥

भक्तवत्सलमर्चतां निधिमक्षयं हरिदम्बरं
सर्वभूतपतिं परात्परमप्रमेयमनूपमम्।
भूमिवारिनभोहुताशन सोमपालितस्वाकृतिं
चन्द्रशेखरमाश्रये मम किं करिष्यति वै यमः ॥

विश्वसृष्टिविधायिनं पुनरेव पालनतत्परं
संहरन्तमथ प्रपञ्चमशेषलोकनिवासिनम्।
क्रीडयन्तमहर्निशं गणनाथयूथसमावृतं
चन्द्रशेखरमाश्रये मम किं करिष्यति वै यमः ॥

रुद्रं पशुपतिं स्थाणुं नीलकण्ठमुमापतिम्।
नमामि शिरसा देवं किं नो मृत्युः करिष्यति॥
कालकण्ठं कलामूर्तिं कालाग्निं कालनाशनम्।
नमामि शिरसा देवं किं नो मृत्युः करिष्यति॥
नीलकण्ठं विरूपाक्षं निर्मलं निरुपद्रवम्।
नमामि शिरसा देवं किं नो मृत्युः करिष्यति॥
वामदेवं महादेवं लोकनाथं जगद्गुरुम्।
नमामि शिरसा देवं किं नो मृत्युः करिष्यति॥

देवदेवं जगन्नाथं देवेशमृषभध्वजम्।
नमामि शिरसा देवं किं नो मृत्युः करिष्यति॥
अनन्तमव्ययं शान्तमक्षमालाधरं हरम्।
नमामि शिरसा देवं किं नो मृत्युः करिष्यति॥
आनन्दं परमं नित्यं कैवल्यपदकारणम्।
नमामि शिरसा देवं किं नो मृत्युः करिष्यति॥
स्वर्गापवर्गदातारं सृष्टिस्थित्यन्तकारिणम्।
नमामि शिरसा देवं किं नो मृत्युः करिष्यति॥*

(पद्म० उत्तर० २३७। ७५—९०)

कैलासके शिखरपर जिनका निवासगृह है, जिन्होंने मेरुगिरिका धनुष, नागराज वासुकिकी प्रत्यञ्चा और भगवान् विष्णुको अग्निमय बाण बनाकर तत्काल ही दैत्योंके तीनों पुरोंको दग्ध कर डाला था, सम्पूर्ण देवता जिनके चरणोंकी वन्दना करते हैं, उन भगवान् चन्द्रशेखरकी मैं शरण लेता हूँ। यमराज मेरा क्या करेगा?

मन्दार, पारिजात, सन्तान, कल्पवृक्ष और हरिचन्दन—इन पाँच दिव्य वृक्षोंके पुष्पोंसे सुगन्धित युगल चरण-कमल जिनकी शोभा बढ़ाते हैं, जिन्होंने अपने ललाटवर्ती नेत्रसे प्रकट हुई आगकी ज्वालामें कामदेवके शरीरको भस्म कर डाला था, जिनका श्रीविग्रह सदा भस्मसे विभूषित रहता है, जो भव—सबकी उत्पत्तिके कारण होते हुए भी भव—संसारके नाशक हैं तथा जिनका कभी विनाश नहीं होता, उन भगवान् चन्द्रशेखरकी मैं शरण लेता हूँ। यमराज मेरा क्या करेगा?

जो मतवाले गजराजके मुख्य चर्मकी चादर ओढ़े परम मनोहर जान पड़ते हैं, ब्रह्मा और विष्णु भी जिनके चरण-कमलोंकी पूजा करते हैं तथा जो देवताओं और सिद्धोंकी नदी गङ्गाकी तरङ्गोंसे भीगी हुई शीतल जटा धारण करते हैं, उन भगवान् चन्द्रशेखरकी मैं शरण लेता हूँ। यमराज मेरा क्या करेगा?

गेंडुली मारे हुए सर्पराज जिनके कानोंमें कुण्डलका काम देते हैं, जो वृषभपर सवारी करते हैं, नारद आदि मुनीश्वर जिनके वैभवकी स्तुति करते हैं, जो समस्त भुवनोंके स्वामी, अन्धकासुरका नाश करनेवाले, आश्रितजनोंके लिये कल्पवृक्षके समान और यमराजको भी शान्त करनेवाले हैं, उन भगवान् चन्द्रशेखरकी मैं शरण लेता हूँ। यमराज मेरा क्या करेगा?

जो यक्षराज कुबेरके सखा, भग देवताकी आँखें फोड़नेवाले और सर्पोंके आभूषण धारण करनेवाले हैं, जिनके श्रीविग्रहके सुन्दर वामभागको गिरिराजकिशोरी उमाने सुशोभित कर रखा है, कालकूट विष पीनेके कारण जिनका कण्ठभाग नीले रंगका दिखायी देता है, जो एक हाथमें फरसा और दूसरेमें मृगमुद्रा धारण किये रहते हैं, उन भगवान् चन्द्रशेखरकी मैं शरण लेता हूँ। यमराज मेरा क्या करेगा?

जो जन्म-मरणके रोगसे ग्रस्त पुरुषोंके लिये औषधरूप हैं, समस्त आपत्तियोंका निवारण और दक्ष-यज्ञका विनाश करनेवाले हैं, सत्त्व आदि तीनों गुण जिनके स्वरूप हैं, जो तीन नेत्र धारण करते, भोग और मोक्षरूपी फल देते तथा सम्पूर्ण पापराशिका संहार करते हैं, उन भगवान् चन्द्रशेखरकी मैं शरण लेता हूँ। यमराज मेरा क्या करेगा?

जो भक्तोंपर दया करनेवाले हैं, अपनी पूजा करनेवाले मनुष्योंके लिये अक्षय निधि होते हुए भी जो स्वयं दिगम्बर रहते हैं, जो सब भूतोंके स्वामी, परात्पर, अप्रमेय और उपमारहित हैं; पृथ्वी, जल, आकाश, अग्नि और चन्द्रमाके द्वारा जिनका श्रीविग्रह सुरक्षित है, उन भगवान् चन्द्रशेखरकी मैं शरण लेता हूँ। यमराज मेरा क्या करेगा?

जो ब्रह्मारूपसे सम्पूर्ण विश्वकी सृष्टि करते, फिर विष्णुरूपसे सबके पालनमें संलग्न रहते और अन्तमें सारे प्रपञ्चका संहार करते हैं, सम्पूर्ण लोकोंमें जिनका निवास है तथा जो गणेशजीके पार्षदोंसे घिरकर दिन-रात भाँति-भाँतिके खेल किया करते हैं, उन भगवान् चन्द्रशेखरकी मैं शरण लेता हूँ। यमराज मेरा क्या करेगा?

रु अर्थात् दुःखको दूर करनेके कारण जिन्हें रुद्र कहते हैं, जो जीवरूपी पशुओंका पालन करनेसे पशुपति, स्थिर होनेसे स्थाणु, गलेमें नीला चिह्न धारण करनेसे

*इस स्तोत्रके श्रद्धापूर्वक कम-से-कम १०८ पाठसे मरणासन्न मनुष्य भी अच्छे हो जाते हैं, यह अनुभूत है।

नीलकण्ठ और भगवती उमाके स्वामी होनेसे उमापति नाम धारण करते हैं, उन भगवान् शिवको मैं मस्तक झुकाकर प्रणाम करता हूँ। मृत्यु मेरा क्या कर लेगी?

जिनके गलेमें काला दाग है, जो कलामूर्ति, कालाग्नि-स्वरूप और कालके नाशक हैं, उन भगवान् शिवको मैं मस्तक झुकाकर प्रणाम करता हूँ। मृत्यु मेरा क्या कर लेगी?

जिनका कण्ठ नील और नेत्र विकराल होते हुए भी जो अत्यन्त निर्मल और उपद्रवरहित हैं, उन भगवान् शिवको मैं मस्तक झुकाकर प्रणाम करता हूँ। मृत्यु मेरा क्या कर लेगी?

जो वामदेव, महादेव, विश्वनाथ और जगद्‌गुरु नाम धारण करते हैं, उन भगवान् शिवको मैं मस्तक झुकाकर प्रणाम करता हूँ। मृत्यु मेरा क्या कर लेगी?

जो देवताओंके भी आराध्यदेव, जगत्‌के स्वामी और देवताओंपर भी शासन करनेवाले हैं, जिनकी ध्वजापर वृषभका चिह्न बना हुआ है, उन भगवान् शिवको मैं मस्तक झुकाकर प्रणाम करता हूँ। मृत्यु मेरा क्या कर लेगी?

जो अनन्त, अविकारी, शान्त, रुद्राक्षमालाधारी और सबके दुःखोंका हरण करनेवाले हैं, उन भगवान् शिवको मैं मस्तक झुकाकर प्रणाम करता हूँ। मृत्यु मेरा क्या कर लेगी?

जो परमानन्दस्वरूप, नित्य एवं कैवल्यपद—मोक्षकी प्राप्तिके कारण हैं, उन भगवान् शिवको मैं मस्तक झुकाकर प्रणाम करता हूँ। मृत्यु मेरा क्या कर लेगी?

जो स्वर्ग और मोक्षके दाता तथा सृष्टि, पालन और संहारके कर्ता हैं, उन भगवान् शिवको मैं मस्तक झुकाकर प्रणाम करता हूँ। मृत्यु मेरा क्या कर लेगी ?

इस प्रकार शङ्करजीकी कृपासे मार्कण्डेयजीने मृत्युपर विजय लाभ किया था।

भक्त सुव्रत

सोमशर्मा नामक एक सुशील ब्राह्मण थे। उनकी पत्नीका नाम सुमना था। सुव्रत उन्हींके सुपुत्र थे। भगवान्‌की कृपासे ही ब्राह्मणदम्पतिको ऐसा भागवत पुत्र प्राप्त हुआ था। पुत्रके साथ ही ब्राह्मणका घर ऐश्वर्यसे पूर्ण हो गया था। सुव्रत पूर्वजन्ममें धर्माङ्गद नामक भक्त राजकुमार थे। पिताके सुखके लिये उन्होंने अपना मस्तक दे दिया था। पूर्वजन्मके अभ्यासवश लड़कपनमें ही वे भगवान्‌का चिन्तन और ध्यान करने लगे थे। वे जब बालकोंके साथ खेलते,तब अपने साथी बालकोंको भगवान्‌के ही हरि, गोविन्द, मुकुन्द, माधव आदि नामोंसे पुकारते। उन्होंने अपने सभी मित्रोंके नाम भगवान्‌के नामानुसार ही रख लिये थे। वे कहते—भैया केशव, माधव, चक्रधर! आओ। पुरुषोत्तम! आओ। हमलोग खेलें। मधुसूदन! मेरे साथ चलो। खेलते-खाते, पढ़ते-लिखते, हँसते-बोलते, सोते-जागते, खाते-पीते, देखते-सुनते—सभी समय वे भगवान्‌को ही अपने सामने देखते। घर-बाहर, सवारीपर, ध्यानमें, ज्ञानमें—सभी कर्मोंमें, सभी जगह उन्हें भगवान्‌के दर्शन होते और वे उन्हींको पुकारा करते। तृण, काठ, पत्थर तथा सूखे-गीले सभी पदार्थोंमें वे पद्म-पलाश-लोचन गोविन्दकी झाँकी करते। जल-थल, आकाश-पृथ्वी, पहाड़-वन, जड-चेतन जीवमात्रमें वे भगवान्‌के सुन्दर मुखारविन्दकी छवि देख-देखकर निहाल होते। लड़कपनमें ही वे गाना सीख गये थे और प्रतिदिनताललयके साथ मधुर स्वरसे भगवान्‌के गुण गा-गाकर भगवान् श्रीकृष्णमें प्रेम बढ़ाते। वे गाते—

'वेदके जाननेवाले लोग निरन्तर जिनका ध्यान करते हैं, जिनके एक-एक अङ्गमें अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड स्थित हैं,जो सारे पापोंका नाश करनेवाले हैं, मैं उन योगेश्वरेश्वर मधुसूदनभगवान्‌के शरण हूँ। जो सब लोकोंके स्वामी हैं, जिनमें सब लोक निवास करते हैं, मैं उन सर्वदोषरहित परमेश्वरके चरण-कमलोंमें निरन्तर नमस्कार करता हूँ। जो समस्त दिव्य गुणोंके भण्डार हैं, अनन्त-शक्ति हैं, इस अगाध अनन्त सागरसे तरनेके लिये मैं उन श्रीनारायणदेवकी शरण ग्रहण करता हूँ। जो योगिराजोंके मानस-सरोवरके राजहंस हैं, जिनका प्रभाव और माहात्म्य

सदा और सर्वत्र विस्तृत है, उन असुरोंके नाश करनेवाले भगवान्‌के विशुद्ध, विशाल चरण-कमल मुझ दीनकी रक्षा करें। जो दुःखके अँधेरेका नाश करनेके लिये चन्द्रमा हैं, जिन्होंने लोक-कल्याणको अपना धर्म बना रखा है, जो समस्त ब्रह्माण्डोंके अधीश्वर हैं, उस सत्यस्वरूप सुरेश्वर जगद्‌गुरु भगवान्‌का मैं ध्यान करता हूँ। जिनका स्मरण ज्ञानकमलके विकासके लिये सूर्यके समान है, जो समस्त भुवनोंके एकमात्र आराध्यदेव हैं, मैं उन महान् महिमान्वित आनन्दकन्द भगवान्‌के दिव्य गुणोंका तालस्वरके साथ गान करता हूँ। मैं उन पूर्णामृतस्वरूप सकलकलानिधि भगवान्‌का अनन्य प्रेमके साथ गान करता हूँ। पापी जीव जिनका दर्शन नहीं कर सकते, मैं सदा-सर्वदा उन भगवान् केशवकी ही शरणमें पड़ा हूँ।' इस प्रकार गान करते हुए सुव्रत हाथोंसे ताली बजा-बजाकर नाचते और बच्चोंके साथ आनन्द लूटते। उनका नित्यका यही खेल था। वे इस तरह भगवान्‌के ध्यानमें मस्त हुए बच्चोंके साथ खेलते रहते। खाने-पीनेकी कुछ भी सुधि नहीं रहती। तब माता सुमना पुकारकर कहती—'बेटा ! तुम्हें भूख लगी होगी। देखो, भूखके मारे तुम्हारा मुख कुम्हला रहा है। आओ, जल्दी कुछ खा जाओ।' माताकी बात सुनकर सुव्रत कहते—'मा! श्रीहरिके ध्यानमें जो अमृत-रस झरता है, मैं उसीको पी-पीकर तृप्त हो रहा हूँ।' जब मा बुला लाती और वे खानेको बैठते, तब मधुर अन्नको देखकर कहते—'यह अन्न भगवान् ही है, आत्मा अन्नके आश्रित है। आत्मा भी तो भगवान् ही है। इस अन्नरूपी भगवान्‌से आत्मारूप भगवान् तृप्त हों। जो सदा क्षीरसागरमें निवास करते हैं, वे भगवान् इस भगवत्स्वरूप जलसे तृप्त हों। ताम्बूल, चन्दन और इन मनोहर सुगन्धयुक्त पुष्पोंसे सर्वात्मा भगवान् तृप्त हों।' धर्मात्मा सुव्रत जब सोते, तब श्रीकृष्णका चिन्तन करते हुए कहते—'मैं योगनिद्रासम्पन्न श्रीकृष्णके शरण हूँ।' इस प्रकार खाने-पहनने, सोने-बैठने आदि सभी कार्योंमें वे श्रीभगवान्‌का स्मरण करते और उन्हींको सब कुछ निवेदन करते। यह तो उनके लड़कपनका हाल है।

वे जब जवान हुए, तब सारे विषयभोगोंका त्याग करके नर्मदाजीके दक्षिण तटपर वैदूर्य पर्वतपर चले गये और वहाँ भगवान्‌के ध्यानमें लग गये। यों तपस्या करते जब सौ वर्ष बीत गये, तब लक्ष्मीजीसहित श्रीभगवान् प्रकट हुए। बड़ी सुन्दर झाँकी थी। सुन्दर नील-श्याम शरीरपर दिव्य पीताम्बर और आभूषण शोभा पा रहे थे। तीन हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा सुशोभित थे। चौथे करकमलसे भगवान् अभयमुद्राके द्वारा भक्त सुव्रतको निर्भय कर रहे थे। उन्होंने कहा—'बेटा सुव्रत! उठो, उठो, तुम्हारा कल्याण हो। देखो, मैं स्वयं श्रीकृष्ण तुम्हारे सामने उपस्थित हूँ। उठो, वर ग्रहण करो।'

श्रीभगवान्‌की दिव्य वाणी सुनकर सुव्रतने आँखें खोलीं और अपने सामने दिव्यमूर्ति श्रीभगवान्‌को देखकर वे देखते ही रह गये। आनन्दके आवेशसे सारा शरीर पुलकित हो गया। नेत्रोंसे आनन्दाश्रुओंकी झड़ी लग गयी। फिर वे हाथ जोड़कर बड़ी ही दीनताके साथ बोले—

'जनार्दन ! यह संसार-सागर बड़ा ही भयानक है। इसमें बड़े-बड़े दुःखोंकी भीषण लहरें उठ रही हैं, विविध मोहकी तरङ्गोंसे यह उछल रहा है। भगवन्! मैं अपने दोषसे इस सागरमें पड़ा हूँ। मैं बहुत ही दीन हूँ। इस महासागरसे मुझको उबारिये। कर्मोंके काले-काले बादल गरज रहे हैं और दुःखोंकी मूसलधार वृष्टि कर रहे हैं। पापोंके सञ्चयकी भयानक बिजली चमक रही है। हे मधुसूदन! मोहके अँधेरेमें मैं अंधा हो गया हूँ। मुझको कुछ भी नहीं सूझता, मैं बड़ा ही दीन हूँ। आप अपने करकमलका सहारा देकर मुझे बचाइये। यह संसार बहुत बड़ा भयावना जंगल है। यह भाँति-भाँतिके असंख्य दुःख-वृक्षोंसे भरा है, मोहमय सिंह-बाघोंसे परिपूर्ण है। दावानल धधक रहा है। मेरा चित्त, हे श्रीकृष्ण! इसमें बहुत ही बुरी तरह जल रहा है, आप मेरी रक्षा कीजिये। यह बहुत पुराना संसार-वृक्ष करुणा और असंख्य दुःख-शाखाओंसे घिरा हुआ है। माया ही इसकी जड़ है। स्त्री-पुत्रादिमें आसक्ति ही इसके पत्ते हैं। हे मुरारे! मैं इस वृक्षपर चढ़कर गिर पड़ा हूँ, मुझे बचाइये। भाँति-भाँतिके मोहमय दुःखोंकी भयानक आगसे मैं जला जा रहा हूँ, दिन-रात शोकमें डूबा रहता हूँ। मुझे
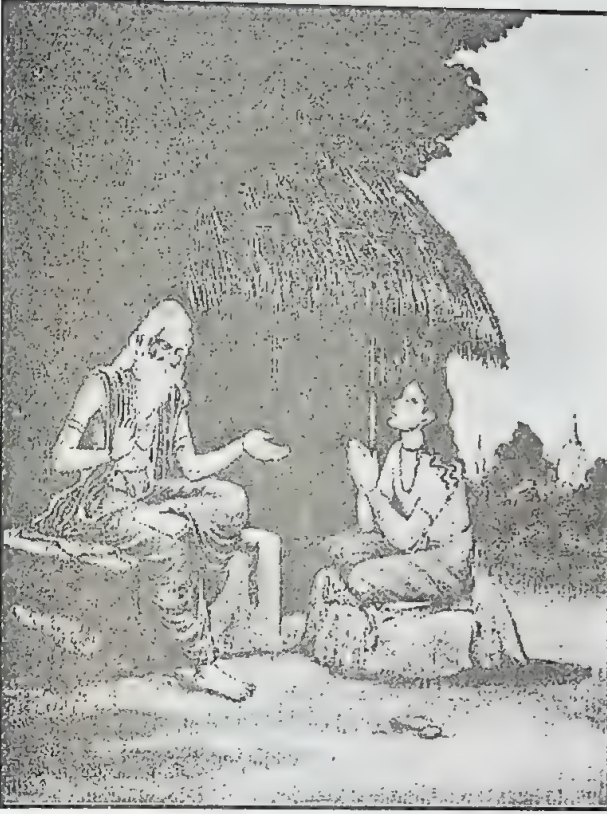
महर्षि ऋभु [पृ० ५२]
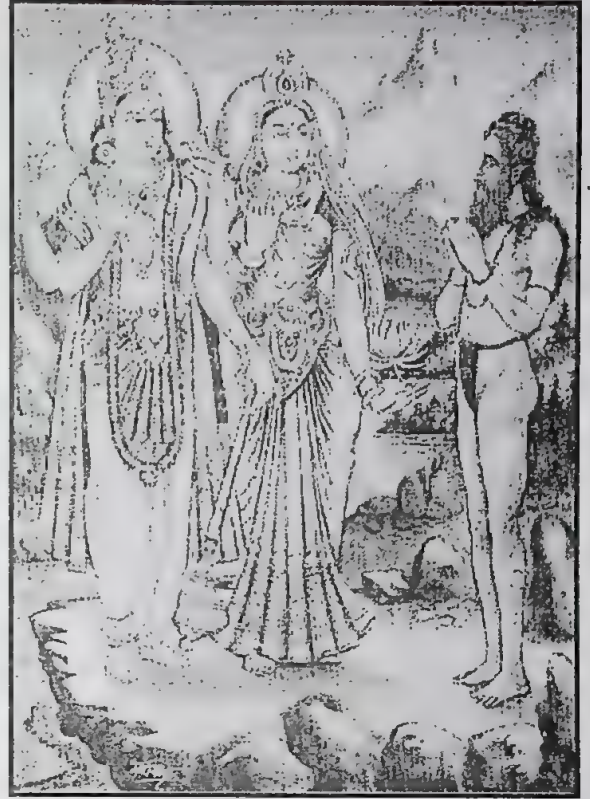
भक्त सुव्रत [पृ० ६५]

महर्षि अगस्त्य राजा शङ्ख [पृ० ६९]

भक्त कण्डु मुनि [पृ० ७३]
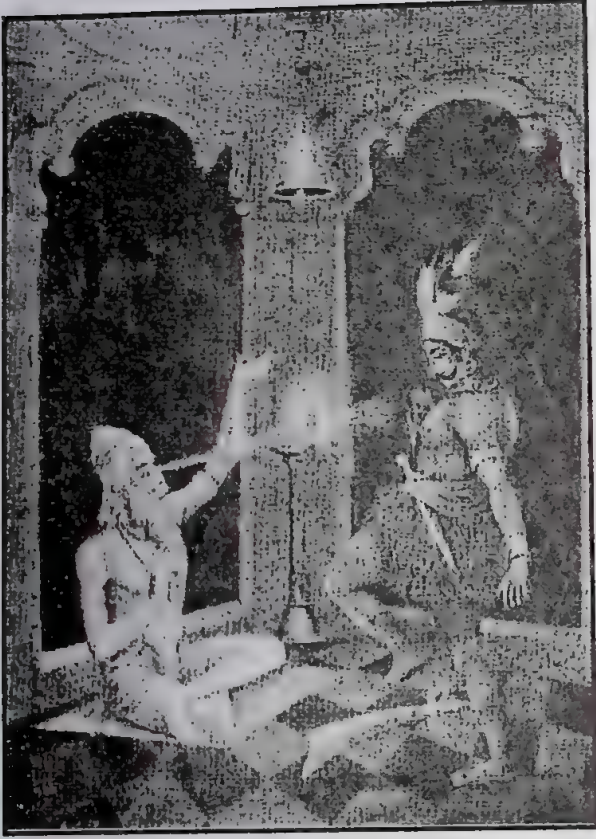
भक्त उतङ्क [पृ० ७७]

भक्त भद्रतनु [पृ० ८०]

महर्षि दधीचि [पृ० ७९]

इससे छुड़ाइये। अपने अनुग्रहरूप ज्ञानकी जलधारासे मुझे शान्ति प्रदान कीजिये। मेरे स्वामी! यह संसाररूपी गहरी खाई बड़े भारी अंधेरेसे छायी है। मैं इसमें पड़कर बहुत ही डर रहा हूँ। इस दीनपर आप कृपा कीजिये। मैं इस संसारसे विरक्त होकर आपकी शरण आया हूँ। जो लोग अपने मनको निरन्तर बड़े प्रेमसे आपमें लगाये रखते हैं, जो आपका ध्यान करते हैं, वे आपको प्राप्त करते हैं, देवता और किन्नरगण आपके परम पवित्र श्रीचरणोंमें सिर झुकाकर सदा उनका चिन्तन करते हैं। प्रभो! मैं भी न तो दूसरेकी चर्चा करता हूँ, न सेवन करता हूँ और न तो चिन्तन ही करता हूँ। सदा आपके ही नाम-गुण-कीर्तन, भजन और स्मरणमें लगा रहता हूँ। मैं आपके श्रीचरणोंमें निरन्तर नमस्कार करता हूँ। श्रीकृष्ण! मेरी मनःकामना पूरी कीजिये। मेरी समस्त पापराशि नष्ट हो जाय। मैं आपका दास हूँ, किङ्कर हूँ। ऐसी कृपा कीजिये जिससे मैं जब जहाँ भी जन्म लूँ, सदा-सर्वदा आपके चरणकमलोंका ही चिन्तन करता रहूँ। श्रीकृष्ण! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो मुझे उत्तम वरदान दीजिये। हे देवाधिदेव! मेरे माता और पिताके सहित मुझको अपने परम धाममें ले चलिये।' इस प्रकार स्तुति करके सुव्रत चुप हो गये। तब भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'ऐसा ही होगा। तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा।' इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये और सुव्रतने अपने पिता सोमशर्मा और माता सुमनाके साथ सशरीर भगवान्के नित्यधामकी शुभ यात्रा की।

महर्षि अगस्त्य और राजा शङ्ख

यह बर मागउँ कृपानिकेता। बसहु हृदयँ श्री अनुज समेता।
अबिरल भगति बिरति सतसंगा। चरन सरोरुह प्रीति अभंगा॥
(अगस्त्यजी)

महर्षि अगस्त्य वेदोंके एक मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं। इनकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें विभिन्न प्रकारकी कथाएँ मिलती हैं। कहीं मित्रावरुणके द्वारा वसिष्ठके साथ घड़ेमें पैदा होनेकी बात आती है तो कहीं पुलस्त्यकी पत्नी हविर्भूके गर्भसे विश्रवाके साथ इनकी उत्पत्तिका वर्णन आता है। किसी-किसी ग्रन्थके अनुसार स्वायम्भुव-मन्वन्तरमें पुलस्त्यतनय दत्तोलि ही अगस्त्यके नामसे प्रसिद्ध हुए। ये सभी बातें कल्पभेदसे ठीक उतरती हैं। इनके विशाल जीवनकी समस्त घटनाओंका वर्णन नहीं किया जा सकता। यहाँ संक्षेपतः दो-तीन घटनाओंका उल्लेख किया जाता है।

एक बार जब इन्द्रने वृत्रासुरको मार डाला, तब कालेय नामके दैत्योंने समुद्रका आश्रय लेकर ऋषियों-मुनियोंका विनाश करना शुरू किया। वे दैत्य दिनमें तो समुद्रमें रहते और रातको निकलकर पवित्र जंगलोंमें रहनेवाले ऋषियोंको खा जाते। उन्होंने वसिष्ठ, च्यवन, भरद्वाज—सभीके आश्रमोंपर जा-जाकर हजारोंकी संख्यामें ऋषि-मुनियोंका भोजन किया था। अब देवताओंने महर्षि अगस्त्यकी शरण ग्रहण की। उनकी प्रार्थनासे और लोगोंकी व्यथा तथा हानि देखकर उन्होंने अपने एक चुल्लूमें ही सारे समुद्रको पी लिया। तब देवताओंने जाकर कुछ दैत्योंका वध किया और कुछ भागकर पाताल चले गये।

एक बार ब्रह्महत्याके कारण इन्द्रके स्थानच्युत हो जानेपर राजा नहुष इन्द्र हुए थे। इन्द्र होनेपर अधिकारके मदसे मत्त होकर उन्होंने इन्द्राणीको अपनी पत्नी बनानेकी चेष्टा की। तब बृहस्पतिकी सम्मतिसे इन्द्राणीने उन्हें एक ऐसी सवारीसे अपने समीप आनेकी बात कही, जिसपर अबतक कोई सवार न हुआ हो। मदमत्त नहुषने सवारी ढोनेके लिये ऋषियोंको ही बुलाया। ऋषियोंको तो सम्मान-अपमानका कुछ खयाल था ही नहीं, आकर सवारीमें जुत गये। जब सवारीपर चढ़कर नहुष चले, तब शीघ्रातिशीघ्र पहुँचनेके लिये हाथमें कोड़ा लेकर 'जल्दी चलो! जल्दी चलो!' ('सर्प-सर्प') कहते हुए उन ब्राह्मणोंको विताड़ित करने लगे। यह बात महर्षि अगस्त्यसे देखी नहीं गयी। वे इसके मूलमें नहुषका अधःपतन और ऋषियोंका कष्ट देख रहे थे। उन्होंने

नहुषको उसके पापोंका उचित दण्ड दिया। शाप देकर उसे एक महाकाय सर्प बना दिया और इस प्रकार समाजकी मर्यादा सुदृढ़ रखी तथा धन-मद और पद-मदके कारण अन्धे लोगोंकी आँखें खोल दीं।

भगवान् श्रीराम वनगमनके समय इनके आश्रमपर पधारे थे और इन्होंने बड़ी श्रद्धा, भक्ति एवं प्रेमसे उनका सत्कार किया और उनके दर्शन, आलाप तथा संसर्गसे अपने ऋषिजीवनको सफल किया। साथ ही ऋषिने उन्हें कई प्रकारके शस्त्रास्त्र दिये और सूर्योपस्थानकी पद्धति बतायी। लङ्काके युद्धमें उनका उपयोग करके स्वयं भगवान् श्रीरामने उनके महत्त्वकी अभिवृद्धि की। इन्होंने भगवान् श्रीराघवेन्द्रका जो महत्त्वपूर्ण स्तवन किया है, उसका कुछ अंश अध्यात्मरामायणसे यहाँ उद्धृत किया जाता है—

लोके त्वद्भक्तिनिरतास्त्वन्मन्त्रोपासकाश्च ये।
विद्या प्रादुर्भवेत्तेषां नेतरेषां कदाचन॥
अतस्त्वद्भक्तिसम्पन्ना मुक्ता एव न संशयः।
त्वद्भक्त्यमृतहीनानां मोक्षः स्वप्नेऽपि नो भवेत्॥
किं राम बहुनोक्तेन सारं किञ्चिद्ब्रवीमि ते।
साधुसङ्गतिरेवात्र मोक्षहेतुरुदाहृता॥
साधवः समचित्ता ये निःस्पृहा विगतैषिणः।
दान्ताः प्रशान्तास्त्वद्भक्ता निवृत्ताखिलकामनाः॥
इष्टप्राप्तिविपत्त्योश्च समाः सङ्गविवर्जिताः।
संन्यस्ताखिलकर्माणः सर्वदा ब्रह्मतत्पराः॥
यमादिगुणसम्पन्नाः संतुष्टा येन केनचित्।
सत्सङ्गमो भवेद्यर्हि त्वत्कथाश्रवणे रतिः॥
समुदेति ततो भक्तिस्त्वयि राम सनातने।
त्वद्भक्तावुपपन्नायां विज्ञानं विपुलं स्फुटम्॥
उदेति मुक्तिमार्गोऽयमाद्यश्चतुरसेवितः।
तस्माद्राघव सद्भक्तिस्त्वयि मे प्रेमलक्षणा॥
सदा भूयाद्धरे सङ्गस्त्वद्भक्तेषु विशेषतः।
अद्य मे सफलं जन्म भवत्सन्दर्शनादभूत्॥
अद्य मे क्रतवः सर्वे बभूवुः सफलाः प्रभो।
सदा मे सीतया सार्धं हृदये वस राघव।
गच्छतस्तिष्ठतो वापि स्मृतिः स्यान्मे सदा त्वयि॥

(अरण्यकाण्ड ३ । ३४—४४)

'संसारमें जो लोग आपकी भक्तिमें तत्पर और आपके ही मन्त्रकी उपासना करनेवाले हैं, उन्हींके अन्तः-करणमें विद्याका प्रादुर्भाव होता है और किसीके कभी नहीं होता। अतः जो पुरुष आपकी भक्तिसे सम्पन्न हैं, वे निस्सन्देह मुक्त ही हैं। आपकी भक्तिरूप अमृतके बिना स्वप्नमें भी मोक्ष नहीं हो सकता। रामभद्र! और अधिक क्या कहूँ? इस विषयमें जो सार बात है, वह आपको बताये देता हूँ—संसारमें साधुसंग ही मोक्षका कारण है। संसारमें जो लोग संपद्-विपद्में समानचित्त, स्पृहारहित, पुत्र-वित्तादिकी एषणासे रहित, इन्द्रियोंका दमन करनेवाले, शान्तचित्त, आपके भक्त, सम्पूर्ण कामनाओंसे शून्य, इष्ट तथा अनिष्टकी प्राप्तिमें सम रहनेवाले, आसक्तिरहित, समस्त कर्मोंका मनसे त्याग करनेवाले, सर्वदा ब्रह्मपरायण रहनेवाले,यम आदि गुणोंसे सम्पन्न तथा जो कुछ मिल जाय, उसीमें संतुष्ट रहनेवाले होते हैं, वे ही साधु कहलाते हैं। जिस समय ऐसे साधु पुरुषोंका संग होता है, तब आपके कथा-श्रवणमें प्रेम हो जाता है। तदनन्तर हे राम! आप सनातन पुरुषमें भक्ति हो जाती है, तथा आपकी भक्ति हो जानेपर आपका विशद स्फुट ज्ञान प्राप्त होता है—यही चतुर-जनसेवित मुक्तिका आद्यमार्ग है। अतः राघव! आपमें मेरी सदा प्रेमलक्षणा भक्ति बनी रहे। मुझे अधिकतर आपके भक्तोंका संग प्राप्त हो। नाथ! आज आपके दर्शनसे मेरा जन्म सफल हो गया। हे प्रभो! आज मेरे सम्पूर्ण यज्ञ सफल हो गये। हे राघव! सीताके सहित आप सर्वदा मेरे हृदयमें निवास करें; मुझे चलते-फिरते तथा खड़े होते सदा आपका स्मरण बना रहे।

प्रेमभक्तिके मूर्तिमान्-स्वरूप भक्त सुतीक्ष्ण इन्हींके शिष्य थे। उनकी तन्मयता और प्रेमके स्मरणसे आज भी लोग भगवान्‌की ओर अग्रसर होते हैं। लंकापर विजय प्राप्त करके जब भगवान् श्रीराम अयोध्याको लौट आये और उनका राज्याभिषेक हुआ, तब महर्षि अगस्त्य वहाँ आये और उन्होंने भगवान् श्रीरामको अनेकों प्रकारकी कथाएँ सुनायीं। वाल्मीकीयरामायणके उत्तरकाण्डकी अधिकांश कथाएँ इन्हींके द्वारा कही हुई हैं। इन्होंने उपदेश और सत्संकल्पके द्वारा जगत्‌का बड़ा कल्याण किया। इनके द्वारा रचित अगस्त्यसंहिता नामका एक

उपासना-सम्बन्धी बड़ा सुन्दर ग्रन्थ है। जिज्ञासुओंको उसका अवलोकन करना चाहिये।

एक बार स्वामिपुष्करिणीके तटपर राजा शङ्खके साथ इनको भगवान् विष्णुके दिव्य दर्शन हुए थे, वह इतिहास संक्षेपमें इस प्रकार है—

हैहयवंशके नीतिज्ञ, प्रजावत्सल धर्मात्मा राजा शङ्ख सदा अपने मनको भगवान्‌में लगाये रहते थे। वे राजा श्रुताभिधानके पुत्र थे। धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करनेके साथ नियमितरूपसे वे भगवान्‌का पूजन एवं ध्यान करते थे। बिना किसी प्रकारकी कामनाके केवल भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये वे बराबर पुण्य, दान, व्रत तथा बड़ी-बड़ी दक्षिणाओंसे युक्त यज्ञ किया करते थें। उन्होंने यश तथा स्वर्ग पानेकी इच्छाको सर्वथा त्यागकर केवल भगवान्‌को सन्तुष्ट करनेके लिये स्थान-स्थानपर कुएँ, बावली, धर्मशाला आदि बनवायी थीं। विद्वान् ब्राह्मणोंसे वे भगवान्‌के मङ्गलमय चरित सुना करते थे। भगवान्‌के लिये पर्वोंपर धूमधामसे महोत्सव करते थे। भगवन्नामका कीर्तन, भगवान्‌का स्मरण—यही उनके परम प्रिय कार्य थे। इस प्रकार उनका चित्त सब ओरसे भगवान्‌में ही लगा रहता था। भगवान्‌में लगा चित्त अपने-आप निर्मल हो जाता है और उसमें अपने-आप ही वैराग्यका उदय होता है।

राजा शङ्खके मनमें वैराग्यके साथ भगवान्‌को पानेकी उत्कण्ठा जाग गयी। अब वे बराबर सोचते रहते—'मुझे भगवान्‌के कब दर्शन होंगे? वे दयामय मुझे कब अपनायेंगे, मैं तो इतना अधम हूँ कि उनके श्रीचरणोंके सम्मुख जानेका अधिकारी कभी हो ही नहीं सकता; किंतु वे मेरे हृदयधन तो कृपाके समुद्र ही हैं। वे मुझ-से क्षुद्रपर भी क्या कभी कृपा करेंगे? मैं क्या करूँ, कैसे उन सौन्दर्यसिन्धुकी एक झाँकी पाऊँ?' राजाकी व्याकुलताका कहीं पार नहीं था। उनके प्राण छटपटाने लगे।

सहसा बड़ी ही मधुर ध्वनि राजाने सुनी—'राजन्! तुम शोक छोड़ दो। तुम तो मुझे बहुत ही प्यारे हो। तुमने मेरे लिये बहुत कष्ट सहा है, बहुत तप किया है, मैं तुमपर संतुष्ट हूँ; किंतु अभी तुम्हें मेरे दर्शन होनेमें एक सहस्र वर्षकी देर है। तुम्हारी ही भाँति महर्षि अगस्त्य भी मेरे दर्शनके लिये व्याकुल हो रहे हैं। ब्रह्माजीके आदेशसे वे वेंकटेश पर्वतपर तप कर रहे हैं। अब तुम भी वहीं जाकर मुझमें मन लगाकर मेरा भजन करो। वहीं तुम्हें मेरे दर्शन होंगे।'

राजा शङ्ख तो इस वाणीको सुनते ही मारे हर्षके नाचने लगे। उनका हृदय शीतल हो गया। 'भला, मुझ अधमको भगवान्‌के दर्शन होंगे तो।' उन्हें तो एक हजार वर्ष एक क्षणसे भी छोटे लगे। थोड़े समयके साधनसे उकता जानेवाले लोगोंमें भगवान्‌का प्रेम नहीं होता। जिसके हृदयमें प्रेम है, उसे तो यह पता लग जाना कि 'कभी उसे प्रेमास्पद प्रभु मिलेंगे—बहुत बड़ा वरदान है।' जो भगवान् कल्प-कल्पकी साधनासे ऋषियोंको भी कदाचित् ही मिलते हैं, वे हजार वर्षमें मिलेंगे—यह तो बहुत ही सुगम बात हो गयी। वे हजार वर्षोंको कुछ गिनते ही नहीं। राजाने उसी समय अपने बड़े पुत्र वज्रका राज्याभिषेक कराया और वे वेङ्कटेशपर्वतकी ओर चल पड़े। भगवान्‌का दर्शन तो हजार वर्षोंमें होगा ही, फिर अब तप तथा भजन क्यों किया जाय—यह बात भक्तके मनमें नहीं आती। उसे तो दर्शन हो जानेपर भी भजनको छोड़ देना स्वीकार नहीं होता। राजाने तो अपनेपर भगवान्‌की कृपाका अनुभव कर लिया था, इससे उनकी भजनमें रुचि अत्यन्त बढ़ गयी थी। शिवजीने कहा है—*'उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजनु तजि भाव न आना॥'* पर्वतपर पहुँचकर स्वामितीर्थमें स्वामिपुष्करिणीके पास उन्होंने अपनी पर्णकुटी बना ली और चित्तको भगवान्‌में लगाकर कठोर तप करने लगे।

महर्षि अगस्त्य उसी पर्वतकी परिक्रमा कर रहे थे। देवताओं एवं ऋषियोंको पता लग गया कि अगस्त्यजीको दर्शन देनेके लिये भगवान् यहाँ प्रकट होनेवाले हैं। अतः वे लोग भी भगवान्‌के दर्शनकी इच्छासे वहाँ एकत्र हो गये। जब तप एवं पूजन करते हुए लगभग एक हजार वर्ष बीत गये और अगस्त्यजीको श्रीनारायणके दर्शन नहीं हुए, तब उन्हें बड़ी व्याकुलता हुई। वे बहुत ही दुःखी हो गये। भगवान्‌की अप्राप्तिका यह दुःख जब बढ़ जाता है, तब भगवान् तुरंत दर्शन देते हैं। उसी समय ब्रह्माजीके भेजे बृहस्पतिजी, शुक्राचार्य आदि

महर्षि-गणोंने आकर उनसे कहा—'भगवान् ब्रह्माने हमें कहा है कि हम आपको लेकर स्वामिपुष्करिणीके तटपर शङ्ख राजाके पास जायँ। वहीं भगवान् श्रीहरिके दर्शन होंगे।'

वे महर्षिगण तथा देववृन्द, जिनकी सब लोग आराधना करते हैं, स्वयं अगस्त्यजीको साथ लेकर राजा शङ्खकी कुटियापर पहुँचे। राजाने उन सबकी पूजा की। देवगुरु बृहस्पतिजीने ब्रह्माजीका सन्देश सुनाया। उसे सुनकर राजा भगवान्के प्रेममें मग्न होकर भगवान्के गुण एवं नामोंका कीर्तन करते हुए नृत्य करने लगे। सभी लोग श्रीगोविन्दके कीर्तनमें सम्मिलित होकर तन्मय हो गये। तीन दिन स्तुति, प्रार्थना तथा कीर्तनकी यह धारा अखण्ड चलती रही। तीसरे दिन रात्रिमें जब सब लोग विश्राम करने लगे, तब रात्रिके पिछले प्रहरमें उन्होंने स्वप्न देखा। स्वप्नमें उन्होंने शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज भगवान्के दर्शन किये। प्रातःकाल सबको निश्चय हो गया कि आज भगवान्के दर्शन होंगे। पुष्करिणीमें स्नान करके सब मिलकर भगवान्की नाना प्रकारसे स्तुति करने लगे। *'ॐ नमो नारायणाय'* इस अष्टाक्षर मन्त्रका जप करते हुए उनके हृदय अत्यन्त उत्कण्ठित हो गये भगवान्के दर्शन करनेके लिये। इसी समय उनके सामने एक अद्भुत तेज प्रकट हुआ। कोटि-कोटि सूर्य भी उतने प्रकाशमान नहीं हो सकते। इतनेपर भी उस तेजमें न तो ताप था और न नेत्र ही उससे चौंधियाते थे। वह बड़ा ही स्निग्ध, शीतल प्रकाश था। उस तेजको देखते ही सब भगवान् नारायणका ध्यान करने लगे। उन्होंने तत्काल उन श्रीहरिके दर्शन किये। भगवान्का वह स्वरूप मन तथा वाणीसे परे है। उनके सहस्त्रों मस्तक, सहस्त्रों नेत्र, सहस्त्रों नासिका, कर्ण तथा मुख हैं। उनके बाहु एवं चरणोंकी भी कोई गणना नहीं। भगवान्का दिव्य शरीर तपाये हुए सोनेके समान है। उनकी आकृति मनोहर होनेपर भी अत्यन्त भयंकर है। उनकी दाढ़ें कराल हैं, उनके मुखसे अग्निकी लपटें निकल रही हैं। उन अनादि, अनन्त, अचिन्त्य, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान्के इस स्वरूपको देखकर डरते हुए भी सब हर्षके साथ जय-जयकार करते हुए उनकी स्तुति करने लगे।

वहीं भगवान्के सभी शङ्ख, चक्र आदि आयुध मूर्तिमान् हो गये। सबने भगवान्की पूजा की। भगवान् ब्रह्मा, शङ्करजी, सनकादि ऋषि, सभी सिद्ध, योगी, भगवत्पार्षद वहाँ भगवान्के दर्शन करनेके लिये एकत्र हो गये। सब भगवान्के इस भयंकर रूपसे डर रहे थे। सब सौन्दर्यघन श्रीहरिको परम सुन्दर चतुर्भुजरूपमें ही देखना चाहते थे। भक्तवाञ्छाकल्पतरु प्रभुने सबकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये अपने उस विराट्रूपको अन्तर्हित कर लिया और दूसरे ही क्षण वे एक सुन्दर रत्नखचित विमानपर चतुर्भुज पीताम्बरधारी, परम सुन्दर स्वरूपमें प्रकट हो गये। सबने भगवान्की फिर बड़ी भक्तिसे स्तुति की, उनका पूजन किया। भगवान्के इस मधुरिमामय स्वरूपका दर्शन करके सबके हृदय आनन्दमग्न हो रहे थे। भगवान्ने अगस्त्यजीसे कहा—'तुमने मेरे लिये बड़ा तप किया है। मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। तुम मुझसे वरदान माँग लो।'

महर्षि अगस्त्यने भगवान्से उनके चरणोंमें भक्तिका वरदान माँगा और देवताओंकी प्रेरणासे यह प्रार्थना की कि भगवान् वेंकटेशपर्वतपर निवास करें और वहाँ जो दर्शन करने आयें, उनकी कामना पूर्ण हो। महर्षिपर कृपा करके उस पर्वतपर भगवान् श्रीविग्रहरूपमें अब भी विद्यमान हैं। वेंकटेशपर्वत उसी समयसे तीर्थ हो गया। भगवान्ने राजा शङ्खसे भी वरदान माँगनेको कहा। किसी भी सच्चे भक्तको भगवान्की भक्तिको छोड़कर और कुछ कभी अभीष्ट नहीं होता। राजाने भी वरदानमें भक्ति ही माँगी।

महर्षि अगस्त्य भगवान्की भक्तिके प्रतापसे सप्तर्षियोंमें स्थान पाकर कल्पान्ततक अमर हो गये। उनके तेजसे रावण-जैसे त्रिभुवनविजयी भी डरते थे। महर्षिने अपना आश्रम विन्ध्याचलसे दक्षिण बनाया था। वहाँ दण्डकारण्यमें राक्षसोंका उत्पात होनेपर महर्षिके आश्रममें वे उपद्रव करनेका साहस नहीं करते थे। जब विन्ध्याचलने बढ़कर सूर्यका मार्ग रोकना चाहा, तब महर्षिने ही उसे भूमिमें प्रणत पड़े रहनेका आदेश दिया और तबसे वह वैसे ही पड़ा है।

भगवान्के परम भक्त श्रीअगस्त्यजीको बार-बार नमस्कार!

कण्डु मुनि

ब्रह्माक्षरमजं नित्यं यथासौ पुरुषोत्तमः।
तथा रागादयो दोषाः प्रयान्तु प्रशमं मम॥

(ब्रह्मपुराण १७८। ११७)

'जैसे भगवान् पुरुषोत्तम सर्वव्यापक, निर्विकार, अजन्मा एवं नित्य हैं, वैसे ही (उनके स्मरणसे) मेरे रागादि दोष शान्त हो जायँ।'

मन बड़ा ही प्रबल है। जन्म-जन्मसे वासनाओंके संस्कार चित्तमें दबे पड़े हैं। कब कौन-सा दोष, कौन-सी वासना भड़क उठेगी—इसका कुछ ठिकाना नहीं है। जो दोष अपनेमें ढूँढ़नेसे भी नहीं जान पड़ते, वे ही समय पाकर इस प्रकार उभड़ पड़ते हैं कि मनुष्य उनका दास-सा बन जाता है। सारे संयम, सब विचार धरे रह जाते हैं। अपने बलपर जो संयम करना चाहता है, उसके संयमका भवन पानीपर खड़ा है। धर्मके स्वामी तो अच्युत हैं। भगवान्के भरोसे, उन्हींकी कृपाके सहारे धर्म एवं संयम जब चलते हैं, तभी वे सुदृढ़ होते हैं। भगवान्पर विश्वास होना ही धर्मका प्राण है। जहाँ प्राण नहीं है, वहाँ सामाजिक सदाचारके रूपमें संयम, सत्य आदि हों भी तो वे मृत हैं। वे कब नष्ट हो जायँगे, इसका कुछ ठिकाना नहीं।

प्राचीन कालमें कण्डु नामक एक मुनि गोमती नदीके तीरपर एकान्त स्थानमें तपस्या करते थे। उनका तपोवन फूलों-फलोंसे भरे वृक्ष-लताओंसे बड़ा ही सुहावना था। वहाँ वे मुनि व्रत, उपवास, मौन आदि नियम-संयमका पालन करते हुए कठोर तपमें लगे रहते थे। गरमीमें वे पञ्चाग्नि तापते, वर्षामें खुले स्थानमें भूमिपर पड़े रहते, जाड़ोंमें भीगा वस्त्र पहनते या जलमें खड़े रहते। मुनिका तप देखकर देवराज इन्द्र डर गये। उन्होंने तपमें विघ्न डालनेके लिये प्रम्लोचा नामकी अप्सराको कामादिके साथ भेजा। मुनिके आश्रममें आकर वह अप्सरा उनके सामने नाचने-गाने और उन्हें लुभाने लगी। कामदेवने मुनिके मनमें क्षोभ उत्पन्न कर दिया। मुनि अबतक अपने तपके ही बलपर रहनेवाले थे, भगवान्का आश्रय था नहीं; वे उस अप्सराके वशमें हो गये। कामवश हो प्रम्लोचाको उन्होंने आश्रममें रख लिया और तपोबलसे स्वयं सोलह वर्षके युवक बनकर उसके साथ रहने लगे। वे अप्सरामें आसक्त हो गये थे। उनके स्नान, सन्ध्या, हवन, तर्पण, व्रत, नियम, उपवास—सब छूट गये। इस प्रकार एकान्तमें स्त्रीका साथ बड़े-बड़े तपस्वियोंके लिये भी पतनका कारण होता है। आजकल अमर्यादितरूपसे स्त्री-पुरुषोंके मिलने तथा वयस्क लड़के-लड़कियोंके साथ पढ़नेपर जोर देनेवाले भाई नहीं समझना चाहते कि इससे कितने अनर्थ होंगे। साधकको तो एकान्तमें किसी भी पर-स्त्रीके साथ कुछ देर भी रहना, उससे बात करना सर्वथा त्याग देना चाहिये—वह स्त्री चाहे कोई भी हो और उससे अपना कोई भी सम्बन्ध क्यों न हो।

कण्डु मुनि कामवश उस अप्सरामें इतने आसक्त हो गये कि उन्हें रात-दिन, पक्ष-मास तो क्या वर्षोंका भी कुछ पता नहीं चलता था। इस प्रकार सौ वर्ष बीत जानेपर अप्सराने स्वर्ग जानेकी इच्छा की। मुनिने उसे कुछ दिन और ठहरनेको कहा। सौ वर्ष और बीतनेपर प्रम्लोचाने फिर आज्ञा माँगी, तब भी ऋषिने उसे कुछ दिन ठहरनेको कहा। इसी प्रकार शताब्दियाँ बीतती चली गयीं। मुनि आज्ञा देते नहीं थे और उनके शापके भयसे अप्सरा जा नहीं पाती थी। एक दिन पूर्वकृत पुण्योंके प्रभावसे मुनिको कुछ चेत हुआ। वे शीघ्रतापूर्वक कुटियासे बाहर जाने लगे। अप्सराने पूछा—'आप कहाँ जा रहे हैं? उन्होंने बताया—'सूर्यास्त हो रहा है, सन्ध्या करनी है। अन्यथा कर्मका लोप हो जायगा।' अप्सराने हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक कहा—'भगवन्! आज क्या नया सूर्यास्त हो रहा है? वह तो नित्य ही होता है। कितना समय बीत गया, आपने किसी और दिन तो सन्ध्या की नहीं।'

मुनिको आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा—'तुम यह क्या कह रही हो? आज सबेरे ही तो तुम आयी हो?' अप्सराने बताया—'भगवन्! यह तो ठीक है कि मैं जब आयी, तब प्रातःकालका ही समय था; किन्तु उसे

तो नौ सौ सात वर्ष, छः महीने, तीन दिन बीत चुके।'

मुनिको विश्वास ही नहीं होता था। अप्सराने समझाया—'आपके सम्मुख झूठ बोलनेका भला, कौन साहस करेगा। फिर जब आप आज सत्पथपर पुनः आरूढ़ हो रहे हैं, तब मैं इस समय आपसे झूठ कैसे बोल सकती हूँ।' प्रम्लोचाकी बात सुनकर मुनिको बड़ा दुःख हुआ। वे बोले—'पापिनि! तूने बहुत बुरा किया। तूने मेरे तपका नाश कर दिया। मैं तुझे शाप दे सकता हूँ; पर सत्पुरुष जिसके साथ सात पग भी चल लेते हैं, उसे अपना मित्र मान लेते हैं। मैं तो इतने दिन तेरे साथ रहा। तेरा दोष भी क्या है। मैं ही इन्द्रियोंका दास हूँ। मुझे धिक्कार है। मेरा मन मेरे वशमें नहीं। विषयलोलुपतामें फँसकर मैंने स्वयं अपना सर्वनाश किया है। अब तू यहाँसे शीघ्र चली जा।' प्रम्लोचा प्राण बचाकर भाग गयी। वह गर्भवती थी। उसके गर्भसे कन्या उत्पन्न हुई, जिसका नाम मारिषा हुआ। यही मारिषा दक्षप्रजापतिकी जननी हुई।

तपोभ्रष्ट होनेसे कण्डु मुनिको बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वे बहुत ही दुःखी हुए। उस स्थानको छोड़कर वे श्रीजगन्नाथ-धाम चले आये। उन पुण्यात्माके पूर्वकृत पुण्योंका उदय हुआ। पश्चात्तापसे व्याकुल होकर उन्होंने भगवान्‌की शरण ग्रहण की। वे श्रीपुरुषोत्तमका ध्यान करते हुए, कठोर नियम-व्रतोंका पालन करते तथा श्रद्धाके साथ एकाग्र मनसे उन करुणावरुणालय प्रभुकी ही स्तुति किया करते थे। भगवान्‌में लगते ही मुनिका मन निर्मल हो गया। उसमें भगवान्‌के दर्शनकी प्रबल उत्कण्ठा जाग गयी। उनके प्राण भगवान्‌की भुवनमोहन छविका दर्शन पानेके लिये तड़पने लगे। मुनिकी भक्ति एवं उत्कण्ठा देखकर भगवान् उनके सम्मुख प्रकट हो गये।

अलसीके फूलके समान रङ्गवाले, परम सुन्दर सुकुमार ज्योतिर्मय श्रीअङ्गपर पीताम्बर पहने, शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म धारण किये, वक्षपर श्रीवत्सके चिह्न तथा वनमालासे भूषित त्रिभुवनसुन्दर भगवान्‌को मुनिने अपने सामने ही देखा। भगवान्‌ने उनसे कहा—'सुव्रत! तुम क्या चाहते हो ? तुमको जो कुछ भी माँगना हो, माँग लो।'

कण्डु मुनि प्रभुके चरणोंपर गिर पड़े। उनके मुखसे निकला—'आज मेरा जन्म सफल हो गया।' उन्होंने भगवान्‌की पूजा की और फिर भगवान्‌के गुण, प्रभाव आदिका वर्णन करते हुए स्तुति की।

भगवान्‌के पुनः वरदान माँगनेको कहनेपर मुनिने कहा—'प्रभो! यह संसार बड़ा ही दुस्तर सागर है। है तो यह अनित्य, दुःखमय तथा केलेके पेड़के समान सारहीन। यह मायासे ही दीखता है, जलके बुलबुलेके समान क्षणभंगुर है; फिर भी इसमें महान् उपद्रव हैं। यह भयानक है, कष्ट-ही-कष्ट हैं इसमें। आपकी मायासे मैं इसमें मोहित होकर अनादिकालसे चक्कर लगा रहा हूँ। मैं इतने लंबे समयसे इसमें डूबा रहा, फिर भी इसका अन्त नहीं मिला। अब मैं इससे भयभीत होकर आपकी शरण आया हूँ। देवदेवेश! गोविन्द! आप मुझपर कृपा करें। मुझे इस संसार-सागरसे सदाके लिये पार कर दें।'

भगवान्‌ने कहा—'मुनि! तुम्हें अवश्य मोक्ष प्राप्त होगा। स्त्री या पुरुष—किसी वर्णका कोई भी मनुष्य हो, जो कोई मेरी शरण आता है, जो भी मेरी भक्ति करता है, वह अवश्य मुझे प्राप्त कर लेता है।' भक्तवत्सल श्रीहरि मुनिको वरदान देकर अन्तर्हित हो गये। कण्डु मुनिने भी समस्त कामनाओंको त्यागकर, ममता तथा अहंकारको छोड़कर, इन्द्रियोंको भलीभाँति संयत करके, मनको भगवान्‌में लगा दिया और वे देवदुर्लभ परम पदको प्राप्त हुए।

भक्त-वाणी

इदमेव हि माङ्गल्यमिदमेव धनार्जनम्। जीवितस्य फलं चैतद् यद् दामोदरकीर्तनम्।

यह जो दामोदरका नाम-गुण-कीर्तन है, यही मङ्गलकार्य है, यही यथार्थ धनसञ्चय है—यही जीवनका फल है। (पद्मपुराण, पातालखण्ड अ० ५८। ५९)।

—यमराज

आरण्यक मुनि

राम नाम बिनु गिरा न सोहा। देखु बिचारि त्यागि मद मोहा॥

त्रेतायुगमें भगवान् श्रीरामका अवतार हुआ, उससे पहलेकी बात है। आरण्यक मुनि परमात्मतत्त्वको जानकर परम शान्ति पानेके लिये घोर तपस्या कर रहे थे। दीर्घकालीन तपसे भी जब सफलता नहीं मिली, तब मुनि किसी ज्ञानी महापुरुषकी खोज करने लगे। वे अनेक तीर्थोंमें घूमे, बहुत लोगोंसे मिले; पर उनको सन्तोष नहीं हुआ। एक दिन उन्होंने तीर्थयात्राके लिये तपोलोकसे पृथ्वीपर उतरते दीर्घजीवी लोमश ऋषिके दर्शन किये। वे ऋषिके समीप गये और चरणोंमें प्रणाम करके नम्रतापूर्वक प्रार्थना की—'भगवन्! दुर्लभ मनुष्य-शरीर पाकर जीव किस उपायसे दुस्तर संसारसागरको पार कर सकता है? आप दया करके मुझे कोई ऐसा व्रत, दान, जप, यज्ञ या देवाराधन बतलाइये, जिससे मैं इस भवसागरसे पार हो सकूँ।'

महर्षि लोमशने कहा—'दान, तीर्थ, व्रत, यम, नियम, यज्ञ, योग, तप आदि सभी उत्तम कर्म हैं; किंतु इनका फल स्वर्ग है। जबतक पुण्य रहता है, प्राणी स्वर्गके सुख भोगता है और पुण्य समाप्त होनेपर नीचे गिर जाता है। जो लोग स्वर्गसुखके लिये ही पुण्यकर्म करते हैं, वे कुछ भी शुभ कर्म न करनेवाले मूढ़ लोगोंसे तो उत्तम हैं; पर बुद्धिमान् नहीं हैं। देखो, मैं तुम्हें एक उत्तम रहस्य बतलाता हूँ—'भगवान् श्रीरामसे बड़ा कोई देवता नहीं, रामसे उत्तम कोई व्रत नहीं, रामसे श्रेष्ठ कोई योग नहीं और रामसे उत्कृष्ट कोई यज्ञ नहीं। श्रीराम-नामका जप तथा श्रीरामका पूजन करनेसे मनुष्य इस लोक तथा परलोकमें भी सुखी होता है। श्रीरामकी शरण लेकर प्राणी अनायास संसार-सागरको पार कर जाता है। श्रीरामका स्मरण-ध्यान करनेसे मनुष्यकी सभी कामनाएँ पूर्ण होती हैं और उसे परम पद प्राप्त करानेवाली भक्ति भी श्रीराम देते हैं। जो उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए हैं, उनकी तो चर्चा ही क्या, चाण्डाल भी श्रीरामका प्रेमपूर्वक स्मरण करके परम गति पाता है। श्रीराम ही एकमात्र परम देवता हैं, श्रीरामका पूजन ही प्रधान व्रत है, राम-नाम ही सर्वोत्तम मन्त्र है और जिनमें रामकी स्तुति है, वे ही उत्तम शास्त्र हैं। अतएव तुम मन लगाकर श्रीरामका ही भजन, पूजन एवं ध्यान करो।'

आरण्यक मुनिको बड़ी प्रसन्नता हुई यह उपदेश सुनकर। उन्होंने महर्षि लोमशसे ध्यान करनेके लिये श्रीरामके स्वरूपको जानना चाहा। महर्षिने कहा—'रमणीय अयोध्या नगरीमें कल्पतरुके नीचे विचित्र मण्डपमें भगवान् श्रीरामचन्द्र विराजमान हैं। महामरकतमणि, नीलकान्तमणि और स्वर्णसे बना हुआ अत्यन्त मनोहर उनका सिंहासन है। सिंहासनकी प्रभा चारों ओर छिटक रही है। नवदूर्वादलश्याम सौन्दर्यसागर देवेन्द्रपूजित भगवान् श्रीरघुनाथजी सिंहासनपर बैठे अपनी छटासे मुनियोंका मन हरण कर रहे हैं। उनका मनोमुग्धकारी मुखमण्डल करोड़ों चन्द्रमाओंकी छविको लज्जित कर रहा है। उनके कानोंमें दिव्य मकराकृति कुण्डल झलमला रहे हैं, मस्तकपर किरीट सुशोभित है। किरीटमें जड़ी हुई मणियोंकी रंग-बिरंगी प्रभासे सारा शरीर रञ्जित हो रहा है। मस्तकपर काले घुँघराले केश हैं। उनके मुखमें सुधाकरकी किरणों-जैसी दन्तपंक्ति शोभा पा रही है। उनके होठ और अधर विद्रुममणि-जैसे मनोहर कान्तिमय हैं। जिसमें अन्यान्य शास्त्रोंसहित ऋक्, साम आदि चारों वेदोंकी नित्य-स्फूर्ति हो रही है, जवाकुसुमके समान ऐसी मधुमयी रसना उनके मुखके भीतर शोभा पा रही है। उनकी सुन्दर देह कम्बु-जैसे कमनीय कण्ठसे सुशोभित है। उनके दोनों कन्धे सिंह-स्कन्धोंकी तरह ऊँचे और मांसल हैं। उनकी लम्बी भुजाएँ घुटनोंतक पहुँची हुई हैं। अँगूठीमें जड़े हुए हीरोंकी आभासे अंगुलियाँ चमक रही हैं। केयूर और कङ्कण निराली ही शोभा दे रहे हैं। उनका सुमनोहर विशाल वक्षःस्थल श्रीलक्ष्मी और श्रीवत्सादि विचित्र चिह्नोंसे विभूषित है। उदरमें त्रिवली है, गम्भीर नाभि है और मनोहर कटिदेश मणियोंकी करधनीसे सुशोभित है। उनकी सुन्दर निर्मल जंघाएँ और मनोहर घुटने हैं। योगिराजोंके ध्येय उनके परम मङ्गलमय चरणयुगलमें वज्र, अङ्कुश, जौ और

ध्वजादिके चिह्न अङ्कित हैं। हाथोंमें धनुष-बाण और कन्धेपर तरकस शोभित है। मस्तकपर सुन्दर तिलक है और अपनी इस छविसे वे सबका चित्त जबरदस्ती अपनी ओर खींच रहे हैं।'

इस प्रकार भगवान्‌के मङ्गलमय तथा छविमय दिव्य स्वरूपका वर्णन करके लोमशजीने कहा—'मुनि ! तुम इस प्रकार भगवान् श्रीरामका ध्यान और स्मरण करोगे तो अनायास ही संसार-सागरसे पार हो जाओगे।'

लोमशजीकी बात सुनकर आरण्यक मुनिने उनसे विनम्र शब्दोंमें कहा—'भगवन्! आपने कृपा करके मुझे भगवान् श्रीरामका ध्यान बतलाया सो बड़ा ही अच्छा किया, मैं आपके उपकारके भारसे दब गया हूँ; परंतु नाथ ! इतना और बतलाइये कि ये श्रीराम कौन हैं, इनका मूलस्वरूप क्या है और ये अवतार क्यों लेते हैं?'

महर्षि लोमशजीने कहा—'हे वत्स! पूर्ण सनातन परात्पर परमात्मा ही श्रीराम हैं। समस्त विश्व-ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति इन्हींसे हुई है; यही सबके आधार, सबमें फैले हुए, सबके स्वामी, सबके सृजन, पालन और संहार करनेवाले हैं। सारा विश्व इन्हींकी लीलाका विकास है। समस्त योगेश्वरोंके भी परम ईश्वर दयासागर ये प्रभु जीवोंकी दुर्गति देखकर उन्हें घोर नरकसे बचानेके लिये जगत्‌में अपनी लीला और गुणोंका विस्तार करते हैं, जिनका गान करके पापी-से-पापी मनुष्य भी तर जाते हैं। ये श्रीराम इसी हेतु अवतार धारण करते हैं।'

इसके बाद लोमशजीने भगवान् श्रीरामका पवित्र चरित्र संक्षेपमें सुनाया और कहा—'त्रेताके अन्तमें भगवान् श्रीराम अवतार धारण करेंगे। उस समय जब वे अश्वमेध यज्ञ करने लगेंगे, तब अश्वके साथ उनके छोटे भाई शत्रुघ्नजी आपके आश्रममें पधारेंगे। तब आप श्रीरामके दर्शन करके उनमें लीन हो सकेंगे।'

महर्षि लोमशके उपदेशानुसार आरण्यक मुनि रेवा नदीके किनारे एक कुटिया बनाकर रहने लगे। वे निरन्तर राम-नामका जप करते थे और श्रीरामके पूजन-ध्यानमें ही लगे रहते थे। बहुत समय बीत जानेपर जब अयोध्यामें मर्यादापुरुषोत्तमने श्रीराघवेन्द्रके रूपमें अवतार धारण करके लंका-विजय आदि लीलाएँ सम्पन्न कर लीं और अयोध्यामें वे अश्वमेध यज्ञ करने लगे, तब यज्ञका अश्व छोड़ा गया। अश्वके पीछे-पीछे उसकी रक्षा करते हुए बड़ी भारी सेनाके साथ शत्रुघ्नजी चल रहे थे। अश्व जब रेवातटपर मुनिके आश्रमके समीप पहुँचा, शत्रुघ्नजीने अपने साथी सुमतिसे पूछा—'यह किसका आश्रम है?' सुमतिसे परिचय प्राप्त कर वे मुनिकी कुटियापर गये। मुनिने उनका स्वागत किया और शत्रुघ्नजीका परिचय पाकर तो वे आनन्दमग्न हो गये। 'अब मेरी बहुत दिनोंकी इच्छा पूरी होगी। अब मैं अपने नेत्रोंसे भगवान् श्रीरामके दर्शन करूँगा। मेरा जीवन धारण करना अब सफल हो जायगा।' इस प्रकार सोचते हुए मुनि अयोध्याकी ओर चल पड़े।

आरण्यक मुनि देवदुर्लभ परम रमणीय अयोध्या नगरीमें पहुँचे। उन्होंने सरयूके तटपर यज्ञशालामें यज्ञकी दीक्षा लिये, नियमके कारण आभूषणरहित, मृगचर्मका उत्तरीय बनाये, हाथमें कुश लिये, नवदूर्वादलश्याम श्रीरामको देखा। वहाँ दीन-दरिद्रोंको मनमानी वस्तुएँ दी जा रही थीं। विप्रोंका सत्कार हो रहा था। ऋषिगण मन्त्रपाठ कर रहे थे; परंतु आरण्यक मुनि तो एकटक श्रीरामकी रूप-माधुरी देखते हुए जहाँ-के-तहाँ खड़े रह गये। उनका शरीर पुलकित हो गया। वे बेसुध-से होकर उस भुवनमङ्गल छविको देखते ही रहे। मर्यादापुरुषोत्तमने तपस्वी मुनिको देखा और देखते ही वे उठ खड़े हुए। इन्द्रादि देवता तथा लोकपाल भी जिनके चरणोंमें मस्तक झुकाते हैं, वे ही सर्वेश्वर श्रीराम 'मुनिवर! आज आपके पधारनेसे मैं पवित्र हो गया।' यह कहकर मुनिके चरणोंपर गिर पड़े। तपस्वी आरण्यक मुनिने झटपट अपनी भुजाओंसे उठाकर श्रीरामको हृदयसे लगा लिया। इसके पश्चात् मुनिको उच्चासनपर बैठाकर राघवेन्द्रने स्वयं अपने हाथसे उनके चरण धोये और वह चरणोदक अपने मस्तकपर छिड़क लिया। भगवान् ब्रह्मण्यदेव हैं। उन्होंने ब्राह्मणकी स्तुति की—'मुनिश्रेष्ठ! आपके चरणजलसे मैं अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ पवित्र हो गया। आपके पधारनेसे मेरा अश्वमेध यज्ञ सफल हो गया। अब निश्चय ही मैं आपकी चरणरजसे पवित्र होकर इस यज्ञद्वारा रावण-कुम्भकर्णादि ब्राह्मण-सन्तानके वधके दोषसे छूट जाऊँगा।'

भगवान्‌की प्रार्थना सुनकर मुनिने कुछ हँसते हुए कहा—'प्रभो! मर्यादाके आप ही रक्षक हैं, वेद तथा ब्राह्मण आपकी ही मूर्ति हैं। अतएव आपके लिये ऐसी बातें करना ठीक ही है। दूसरे राजाओंके सामने उच्च आदर्श रखनेके लिये ही आप ऐसा आचरण कर रहे हैं। ब्रह्महत्याके पापसे छूटनेके लिये आप अश्वमेध यज्ञ कर रहे हैं, यह सुनकर मैं अपनी हँसी रोक नहीं पाता। मर्यादापुरुषोत्तम! आपका मर्यादापालन धन्य है। सारे शास्त्रोंके विपरीत आचरण करनेवाला सर्वथा मूर्ख और महापापी भी जिसका नाम-स्मरण करते ही पापोंके समुद्रको भी लाँघकर परमपद पा जाता है, वह ब्रह्महत्याके पापसे छूटनेके लिये अश्वमेध यज्ञ करे—यह क्या कम हँसीकी बात है? भगवन्! जबतक मनुष्य आपके नामका भलीभाँति उच्चारण नहीं करता, तभीतक उसे भय देनेके लिये बड़े-बड़े पाप गरजा करते हैं। रामनामरूपी सिंहकी गर्जना सुनते ही महापापरूपी गजोंका पतातक नहीं लगता। मैंने मुनियोंसे सुना है कि जबतक रामनामका भलीभाँति उच्चारण नहीं होता, तभीतक पापी मनुष्योंको पाप-ताप भयभीत करते हैं। श्रीराम! आज मैं धन्य हो गया। आज आपके दर्शन पाकर मैं संसारके तापसे छूट गया।'

भगवान् श्रीरामने मुनिके वचन सुनकर उनका पूजन किया। सभी ऋषि-मुनि भगवान्‌की यह लीला देखकर 'धन्य-धन्य' कहने लगे। आरण्यक मुनिने भावावेशमें सबसे कहा—'मुनिगण! आपलोग मेरे भाग्यको तो देखें कि सर्वलोकमहेश्वर श्रीराम मुझे प्रणाम करते हैं। ये सबके परमाराध्य मेरा स्वागत करते हैं। श्रुतियाँ जिनके चरण-कमलोंकी खोज करती हैं, वे मेरा चरणोदक लेकर अपनेको पवित्र मानते हैं। मैं आज धन्य हो गया!' यह कहते-कहते सबके सामने ही मुनिका ब्रह्मरन्ध्र फट गया। बड़े जोरका धड़ाका हुआ। स्वर्गमें दुन्दुभियाँ बजने लगीं। देवता फूलोंकी वर्षा करने लगे। ऋषि-मुनियोंने देखा कि आरण्यक मुनिके मस्तकसे एक विचित्र तेज निकला और वह श्रीरामके मुखमें प्रविष्ट हो गया!

भक्त मुनि उतङ्क

सठ सुधरहिं सत संगति पाई। पारस परस कुधातु सुहाई॥

सौवीर नगरमें एक सुन्दर बगीचेमें भगवान् विष्णुका बड़ा ही भव्य मन्दिर था। उस बगीचेमें महात्मा उतङ्कजी* रहते थे। उतङ्कजी परम शान्त, निःस्पृह, दयालु, ज्ञानी, भगवान्‌की सेवामें लगे रहनेवाले और तपस्वी थे। वे चित्तको सब ओरसे हटाकर भगवान्‌में ही लगाये रहते थे। उनकी सब क्रियाएँ भगवान्‌के लिये ही होती थीं। मन्दिरमें वे भगवान्‌की सेवा करते थे।

एक दिन कणिक नामक व्याध-डाकू मन्दिरके पाससे निकला। वह बड़ा ही क्रूर था। उसका काम ही दूसरोंकी निन्दा करना, दूसरोंका धन छीन लेना और प्राणियोंको मारना था। वह देवता, ब्राह्मण, गुरु—किसीको भी मानता नहीं था। मन्दिरके शिखरपर विशाल स्वर्ण-कलश देखकर उस डाकूने सोचा कि भीतर मन्दिरमें बहुत धन होगा। रातके समय वह मन्दिर लूटनेके लिये चुपके-से घुस पड़ा। उस समय महात्मा उतङ्क मन्दिरमें बैठे भगवान्‌का ध्यान कर रहे थे। डाकूने उन्हें मार डालनेका विचार किया। वह तलवार खींचकर उनके सामने खड़ा हो गया। जब इससे उतङ्कजीका ध्यान न टूटा, तब उसने उन मुनिको धक्का देकर पटक दिया और उनकी छातीपर पैर रखकर एक हाथसे उनके केश पकड़कर उनका सिर काटनेको उद्यत हो गया। उतङ्कजीने नेत्र खोले और डाकूकी ओर देखा। वे न तो डरे और न रुष्ट हुए। उनके नेत्रोंमें ऐसा तेज एवं इस प्रकारका स्नेह उमड़ रहा था कि डाकू कणिकपर जैसे जादू हो गया। उसके हाथसे तलवार छूटकर गिर

---

*मारवाड़के गुरुभक्त उत्तङ्कऋषि, जिनपर भगवान् श्रीकृष्णने कृपा की, इनसे भिन्न हैं।

पड़ी। वह दूर खड़ा होकर महात्माको एकटक आश्चर्यसे देखने लगा।

बड़े ही शीतल शब्दोंमें उतङ्कजीने डाकूसे कहा—'भाई! तुम मुझ निरपराधका वध क्यों करना चाहते थे? मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है? संसारमें जो अपराध करता है, उसीको दण्ड दिया जाता है। सौम्य! मैंने तुम्हारा कोई अपराध किया हो, ऐसा तो मुझे स्मरण नहीं आता। सज्जन लोग तो पापीको भी मारते नहीं, वे उसके पापका ही विनाश करते हैं। विरोधी मूर्ख भी हो, तो भी उसमें कोई गुण हो तो शान्तचित्त साधुजन उस गुणकी ही प्रशंसा करते हैं। पुरुषोत्तम भगवान्की उसीपर कृपा होती है, जो अनेक प्रकारसे सताये जानेपर भी सतानेवालेको क्षमा ही करता है, उसका कल्याण ही करना चाहता है। चन्दनका वृक्ष काटनेपर भी अपने काटनेवाले कुल्हाड़ेको सुगन्धित ही करता है; ऐसे ही संतजन किसीके द्वारा सताये जानेपर भी सतानेवालेसे शत्रुता न करके उसका हित ही करना चाहते हैं। यह विधाताका विधान ही कुछ विचित्र है कि सब प्रकारके सङ्गका त्याग करके भगवान्का भजन करनेवाले लोगोंको भी बुरे लोगोंसे कष्ट सहना पड़ता है। दुर्जनलोग सीधे-सादे साधुलोगोंको अकारण ही सताया करते हैं। बलवान्को कोई नहीं सताता। घास तथा जलपर सन्तोष करनेवाले मृगों तथा मछलियोंको ही व्याध तथा धीवरलोग मारा करते हैं। मनुष्य स्त्री-पुत्र तथा परिवारके मोहसे जान-बूझकर अपने ऊपर दुःख लेता है, यह मायाकी महिमा है। जो दूसरेका धन लूटकर अपने परिवारका पालन करता है, उसे भी सबको छोड़कर एक दिन जाना पड़ेगा। मेरे माता-पिता, मेरे स्त्री-पुत्र, मेरे मित्र-परिवार—इस प्रकारकी ममता ही जीवोंको सदा क्लेश देती है। मरनेके बाद तो मनुष्यके साथ उसके पाप और पुण्य ही जाते हैं। पापसे धन एकत्र करके जो परिवारका पालन करते हैं, मरनेपर पापका फल उन्हें अकेले ही भोगना पड़ता है। उस समय परिवारके लोग उनकी थोड़ी भी सहायता नहीं करते। विषयासक्त मनुष्य यह जानकर भी कि 'प्रारब्धमें जो है, वही होगा, उसे मिटाया नहीं जा सकता' मोहवश धन कमाकर सुखी होनेकी आशा करता है और इसी आशासे वह नाना प्रकारके पाप करता है। भाई! तुम क्या कर रहे हो, यह तुमने कभी सोचा है? इस पापका कितना भयङ्कर फल होगा, इसपर तुमने कभी विचार किया है? यह मनुष्य-जीवन पाप बटोरनेमें लगाया जाय, यह तो बड़ा ही अनर्थ है। यह जीवन तो भगवान्को पानेके लिये ही जीवको मिलता है। तुम मोहको छोड़कर जीवनको सफल बनाओ। पापोंसे अपनेको अलग करके भगवान्के भजनमें लगो। इससे तुम्हारा कल्याण होगा।'

सत्सङ्गकी महिमा अपार है। व्याधपर महात्मा उतङ्ककी वाणीका प्रभाव इतना अधिक पड़ा कि उसका हृदय पूर्णतया बदल गया। वह पश्चात्तापसे व्याकुल होकर उन महात्माके चरणोंपर गिर पड़ा। अपने घोर कर्मोंका स्मरण करके फूट-फूटकर रोने लगा। वह कहने लगा—'हाय! मैं बड़ा अधम हूँ। मैंने बड़े-बड़े पाप किये हैं। मेरी क्या गति होगी? हे भगवन्! हे अधमोंको तारनेवाले हरि! हे नारायण! मुझपर दया करो। तुमको छोड़कर अब मुझे कौन सहारा दे सकता है।'

मारे दुःखके व्याध धड़ामसे गिर पड़ा और उसी समय उसकी मृत्यु हो गयी। दयालु उतङ्कजीने व्याधके मृत शरीरपर भगवान्का चरणोदक छिड़क दिया। व्याधने मरते समय पापोंके लिये पश्चात्ताप किया था, भगवान्का स्मरण किया था और उसके शरीरपर भगवान्का चरणोदक पड़ा था, अतः वह सभी पापोंसे छूटकर भगवान्के परम धामका अधिकारी हो गया। भगवान्के पार्षद विमान ले आये। दिव्य देह धारण करके विमानपर बैठकर भगवान्के धामको जाते समय उसने बार-बार उतङ्कमुनिकी स्तुति की। उनसे क्षमा माँगकर वह दिव्यधाम चला गया।

व्याधकी यह सद्गति देखकर उतङ्कमुनि चकित हो गये। भगवान्की महिमा एवं उन दयामयकी असीम दयाका स्मरण करके उनका शरीर पुलकित हो गया। गद्गद कण्ठसे वे भगवान्की स्तुति करने लगे। उन विद्वान् महात्माने वेद-विहित तत्त्वोंसे, भक्तिपूर्ण हृदयसे भगवान्की स्तुति बहुत देरतक की। उनके स्तवनसे प्रभु प्रसन्न हो

गये। वे दयामय अपने परम भक्त उतङ्कके सामने प्रकट हो गये। उतङ्कमुनिने शोभासिन्धु प्रभुके दर्शन किये। भगवान्‌के तेजोमय अद्भुत लावण्यधाम स्वरूपको देखकर मुनिके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा चलने लगी। उनकी वाणी बंद हो गयी। 'मुरारि ! रक्षा करो, रक्षा करो!' इतना ही वे कह सके और भगवान्‌के चरणोंपर गिर पड़े।

गरुडध्वज श्रीहरिने अपनी विशाल भुजाओंसे मुनिको उठाकर अपने हृदयसे लगा लिया। भगवान्‌ने कहा—'वत्स! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। तुम्हारे लिये अब कुछ भी असाध्य नहीं है। तुम जो चाहो, वह माँग लो।'

मुनिने बड़ी नम्रतासे कहा—

किं मां मोहयसीश त्वं किमन्यैर्देव मे वरैः।
त्वयि भक्तिर्दृढा मेऽस्तु जन्मजन्मान्तरेष्वपि॥
कीटेषु पक्षिषु मृगेषु सरीसृपेषु
रक्षःपिशाचमनुजेष्वपि यत्र यत्र।
जातस्य मे भवतु केशव ते प्रसादात्
त्वय्येव भक्तिरचलाव्यभिचारिणी च॥

(बृहन्नारदीयपु० ३८। ४८-४९)

'प्रभो! आप मुझे मोहित क्यों करते हैं? मुझे कोई वरदान नहीं चाहिये। जन्म-जन्मान्तरमें मेरी आपके चरणोंमें अविचल भक्ति सदा बनी रहे। मैं कीट-पतङ्ग, पशु-पक्षी, सर्प-अजगर, राक्षस-पिशाच या मनुष्य—किसी भी योनिमें रहूँ, हे केशव! आपकी कृपासे आपमें मेरी सदा-सर्वदा अव्यभिचारिणी भक्ति बनी रहे।'

भगवान् बहुत ही प्रसन्न हुए। अपना दिव्य शङ्ख मुनिके शरीरसे स्पर्श कराके भगवान्‌ने मुनिको भक्तिके वरदानके साथ परम दुर्लभ ज्ञान भी प्रदान किया। मुनिकी पूजा स्वीकार करके भगवान् अन्तर्हित हो गये। भक्तश्रेष्ठ उतङ्कमुनि शेष जीवन भगवान्‌की सेवामें व्यतीत करके अन्तमें भगवद्धाम पधार गये।

महर्षि दधीचि

योऽध्रुवेणात्मना नाथा न धर्मं न यशः पुमान्।
ईहेत भूतदयया स शोच्यः स्थावरैरपि॥

(श्रीमद्भा० ६। १०। ८)

'जो पुरुष नाशवान् शरीरके द्वारा समर्थ होकर भी प्राणियोंपर दया करके धर्म या यश प्राप्त करनेकी इच्छा, चेष्टा, प्रयत्न नहीं करता, वह तो स्थावर वृक्ष-पर्वतादिके द्वारा भी शोचनीय है; क्योंकि वृक्ष-पर्वतादि भी अपने शरीरके द्वारा प्राणियोंकी सेवा करते हैं।'

देवराज इन्द्रने प्रतिज्ञा कर ली थी कि 'जो कोई अश्विनीकुमारोंको ब्रह्मविद्याका उपदेश करेगा, उसका मस्तक मैं वज्रसे काट डालूँगा।' वैद्य होनेके कारण अश्विनीकुमारोंको देवराज हीन मानते थे। अश्विनीकुमारोंने महर्षि दधीचिसे ब्रह्मविद्याका उपदेश करनेकी प्रार्थना की। एक जिज्ञासु अधिकारी प्रार्थना करे तो उसे किसी भय या लोभवश उपदेश न देना धर्म नहीं है। महर्षिने उपदेश देना स्वीकार कर लिया। अश्विनीकुमारोंने ऋषिका मस्तक काटकर औषधद्वारा सुरक्षित करके अलग रख दिया और उनके सिरपर घोड़ेका मस्तक लगा दिया। इसी घोड़ेके मस्तकसे उन्होंने ब्रह्मविद्याका उपदेश किया। इन्द्रने वज्रसे जब ऋषिका वह मस्तक काट दिया, तब अश्विनीकुमारोंने उनका पहला सिर उनके धड़से लगाकर उन्हें जीवित कर दिया। इस प्रकार ब्रह्मपुत्र अथर्वा ऋषिके पुत्र ये दधीचिजी घोड़ेका सिर लगनेसे अश्वशिरा भी कहे जाते हैं।

जब त्वष्टाके अग्नि-कुण्डसे उत्पन्न होकर वृत्रासुरने इन्द्रके स्वर्गपर अधिकार कर लिया और देवताओंने अपने जिन अस्त्रोंसे उसपर आघात किया, उन अस्त्र-शस्त्रोंको भी वह असुर निगल गया, तब निरस्त्र देवता बहुत डरे। कोई और उपाय न देखकर देवता ब्रह्माजीकी शरणमें गये। ब्रह्माजीने भगवान्‌की स्तुति की। भगवान्‌ने प्रकट होकर दर्शन दिया और बताया—'महर्षि दधीचिकी हड्डियाँ उग्र तपस्याके प्रभावसे दृढ़ तथा तेजस्विनी हो गयी हैं। उन हड्डियोंसे वज्र बने, तभी इन्द्र उस वज्रसे वृत्रको मार सकते हैं। महर्षि दधीचि मेरे आश्रित हैं, अतः उन्हें बलपूर्वक कोई मार नहीं सकता! तुमलोग उनसे जाकर याचना करो। माँगनेपर वे तुम्हें अपना शरीर दे देंगे।'

देवता साभ्रमती तथा चन्द्रभागाके सङ्गमपर दधीचिऋषिके आश्रममें गये। उन्होंने नाना प्रकारसे स्तुति करके ऋषिको सन्तुष्ट किया और उनसे उनकी हड्डियाँ माँगीं। महर्षिने कहा कि उनकी इच्छा तीर्थयात्रा करनेकी थी। इन्द्रने नैमिषारण्यमें सब तीर्थोंका आवाहन किया। वहाँ स्नान करके दधीचिजी आसन लगाकर बैठ गये। जिस इन्द्रने उनका सिर काटना चाहा था, उन्हींके लिये ऋषिने अपनी हड्डियाँ देनेमें भी सङ्कोच नहीं किया! शरीरसे उन्हें तनिक भी आसक्ति नहीं थी। एक-न-एक दिन तो शरीर छूटेगा ही। यह नश्वर देह किसीके भी उपयोगमें आ जाय, इससे बड़ा और कोई लाभ नहीं उठाया जा सकता। महर्षिने अपना चित्त भगवान्‌में लगा दिया। मन तथा प्राणोंको हृदयमें लीन करके वे शरीरसे ऊपर उठ गये। जङ्गली गायोंने अपनी खुरदरी जीभोंसे महर्षिके शरीरको चाट-चाटकर चमड़ा, मांसादि अलग कर दिया। इन्द्रने ऋषिकी हड्डी ले ली। उसी हड्डीसे विश्वकर्माने वज्र बनाया और उस वज्रसे इन्द्रने वृत्रको मारा। इस प्रकार एक तपस्वीके अनुपम त्यागसे इन्द्रकी, देवलोककी वृत्रसे रक्षा हुई।

भक्त भद्रतनु और उनके गुरु दान्त

जलबुद्बुदवन्मूढ क्षणविध्वंसि जीवनम्।
किमर्थं शाश्वतधिया करोषि दुरितं सदा॥

(पद्मपुराण, क्रियायोग० १६। ३२)

'अरे मूर्ख प्राणी! यह जीवन तो जलके बुलबुलेके समान एक क्षणमें नष्ट हो जानेवाला है, फिर तू क्यों इसे शाश्वत—अविनाशी मानकर सदा पाप ही करता है?'

प्राचीन समयमें पुरुषोत्तमपुरीमें एक ब्राह्मण रहता था। उसका नाम था भद्रतनु। वह देखनेमें सुन्दर था और पवित्र कुलमें उत्पन्न हुआ था। माता-पिता उसे बचपनमें ही अनाथ करके परलोक चले गये। कोई संरक्षक न होनेसे भद्रतनु युवावस्थामें कुसङ्गमें पड़ गया। युवावस्था, धन, स्वतन्त्रता और कुसङ्ग—इन चारमेंसे एक ही मनुष्यको पतनके मार्गपर ले जानेको पर्याप्त है; जहाँ चारों हों, वहाँ तो विनाश आया ही मानना चाहिये। भद्रतनु कुसङ्गके प्रभावसे स्वाध्याय, संयम, नित्यकर्म आदिसे विमुख हो गया। सत्य, अतिथि-सत्कार, उपासनादि सब उसके छूट गये। वह धर्मका निन्दक हो गया, सदा परधन तथा परस्त्रीको पानेकी घातमें रहने लगा। भोगासक्त और काम-क्रोध-परायण हो गया। जुआ, चोरी, मदिरापान प्रभृति दोष उसमें आ गये।

नगरके पास ही सुमध्या नामक एक सुन्दरी वेश्या रहती थी। बुरे सङ्गमें पड़कर उसका पतन हो गया था और परिस्थितिवश उसको वेश्या बनना पड़ा था; किंतु इस वृत्तिसे उसे बहुत घृणा थी। वह अपनी दशापर सदा दुःखी रहती, पछताती; पर उससे छूटनेका मार्ग नहीं था। मनुष्यका एक बार पतन हो जानेपर फिर सम्हलना बहुत कठिन होता है। भीड़में जो गिर पड़ता है, उसका कुचल जाना ही सहज सम्भाव्य है, वह कदाचित् ही उठ पाता है। कुछ ऐसी ही दशा होनेपर भी सुमध्याने साहस नहीं छोड़ा। उसके हृदयमें धर्मका भय था, परलोकपर विश्वास था, ईश्वरपर आस्था थी। अपने उद्धारके लिये वह भगवान्‌से सदा प्रार्थना करती रहती थी।

भद्रतनुका सुमध्यापर बड़ा प्रेम था। वह तो कामुक था और वेश्याके सौन्दर्यपर लट्टू था, पर सुमध्या उससे सचमुच प्रेम करती थी। अनेक स्थानोंसे ऊबकर वह उस ब्राह्मणकुमारसे अनुराग करने लगी थी। उसने भद्रतनुको अनेक बार समझाना चाहा। जुआ-शराब आदिके भयङ्कर परिणाम बतलाकर उसे दोषमुक्त करनेके प्रयत्नमें वह लगी ही रहती थी। इस ब्राह्मण-युवकके पतनसे उसे बड़ा दुःख होता था। परन्तु उसे यह भरोसा नहीं था कि वह छोड़ दे तो भद्रतनु सुधर जायगा तथा और कहीं न जायगा। फिर वेश्याके पेटका भी सवाल था; अतः भद्रतनुको वह इस कुमार्गसे रोक नहीं पाती थी, मन मारकर रह जाती थी।

एक दिन भद्रतनुके पिताका श्राद्ध-दिवस आया। श्रद्धा न होनेपर भी लोक-निन्दाके भयसे उसने श्राद्धकर्म किया। किंतु उसका चित्त सुमध्यामें लगा रहा। श्राद्धकार्यसे छुटकारा पाकर वह वेश्याके यहाँ पहुँच गया। देर होनेका कारण बतलाकर कामियोंके प्रलापके समान उसने सुमध्याके सौन्दर्य तथा अपनी आसक्तिकी लम्बी-चौड़ी बातें कीं। सुमध्या ब्राह्मण-कुमारकी मूर्खतापर हँस रही थी। उसे भद्रतनुपर क्रोध आया। उसने कहा—'अरे ब्राह्मण! धिक्कार है तुझे। तेरे-जैसे पुत्रके होनेसे अच्छा था कि तेरे पिता पुत्रहीन ही रहते। आज तेरे पिताका श्राद्ध-दिन है और तू निर्लज्ज होकर एक वेश्याके यहाँ आया है। तूने शास्त्र पढ़े हैं; तू जानता है कि जो मनुष्य श्राद्धके दिन स्त्री-सहवास करता है, परलोकमें उसके पितर तथा वह भी वीर्य-भक्षण करते हैं। मेरे इस शरीरमें हड्डी, मांस, रक्त, मज्जा, मेद, मल, मूत्र, थूक आदिके अतिरिक्त और क्या है? तू क्यों इस नरककुण्डमें कूदने आया है? ऐसे घृणित शरीरमें तूने क्यों सौन्दर्य मान लिया है? क्या मनुष्य-शरीर तुझे पाप कमानेके लिये ही मिला है? मैं तो वेश्या हूँ, अधम हूँ, मुझमें आसक्त होकर तो तेरी अधोगति ही होनी है। यही आसक्ति यदि तेरी भगवान्‌में होती तो, पता नहीं, अबतक तू कितनी ऊँची स्थितिको पा लेता। जीवनका क्या ठिकाना है, मृत्यु तो सिरपर ही खड़ी है। कच्चे घड़ेके समान काल कभी भी जीवनको नष्ट कर देगा। तू ऐसे अल्पजीवनमें क्यों पापमें लगा है? विचार कर। मनको मुझसे हटाकर भगवान्‌में लगा। भगवान् बड़े दयालु हैं, वे तुझे अवश्य अपना लेंगे।'

सुमध्याके वचनोंका भद्रतनुपर बहुत प्रभाव पड़ा। वह सोचने लगा—'सचमुच मैं कितना मूर्ख हूँ! एक वेश्यामें जितना ज्ञान है, उतना भी मुझ दुरात्मामें नहीं है। ब्राह्मणकुलमें जन्म लेकर भी मैं पाप करनेमें ही लगा रहा। जब मृत्यु निश्चित है, जब मृत्युके पश्चात् पापका दण्ड भोगनेके लिये यमराजके पास जाना भी निश्चित ही है, तब क्यों मैं और पाप करूँ? मैंने तो जप-तप, अध्ययन-पूजन, हवन-तर्पण आदि कोई सत्कर्म किये नहीं। मुझसे भगवान्‌की उपासना भी नहीं हुई। अब मेरी क्या गति होगी? कैसे मेरा पापोंसे छुटकारा होगा।' इस प्रकार पश्चात्ताप करता वह सुमध्याको पूज्यभावसे प्रणाम करके लौट आया। सुमध्याने भी उसी समयसे वेश्या-वृत्ति छोड़ दी और वह भगवान्‌के भजनमें लग गयी।

भद्रतनु पश्चात्ताप करता हुआ मार्कण्डेय मुनिके समीप गया। वह उनके चरणोंपर गिर पड़ा और फूट-फूटकर रोने लगा। मार्कण्डेयजीने भद्रतनुकी बात सुनकर उससे बड़े स्नेहसे कहा—'तुम पाप करनेवाले होकर भी पुण्यात्मा जान पड़ते हो। अपने पापोंके लिये पश्चात्ताप, पापसे घृणा और फिर पाप न करनेका निश्चय बड़े पुण्य-बलसे ही होता है। संसारके अधिकांश लोग तो पापको पाप मानते ही नहीं। वे बड़े उत्साहसे उसीमें लगे रहते हैं। तुम्हारी बुद्धि पापसे अलग हुई, यह तुमपर भगवान्‌की कृपा है। जो पहले पापी रहा हो, पर पापप्रवृत्ति छोड़कर भगवान्‌के भजनका निश्चय कर ले तो वह भगवान्‌का प्रिय पात्र है; भगवान् ही उसे पापसे दूर होनेकी सद्बुद्धि देते हैं। तुमने अनेक जन्मोंमें भगवान्‌की पूजा की है, अतः तुम्हारा कल्याण शीघ्र होगा। मैं इस समय एक अनुष्ठानमें लगा हूँ, अतः तुम दान्त मुनिके पास जाओ। वे सर्वज्ञ महात्मा तुम्हें उपदेश करेंगे।'

भद्रतनु वहाँसे दान्त मुनिके आश्रमपर गया। वहाँ उसने मुनिके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रार्थना की—'महात्मन्! मैं जातिसे ब्राह्मण होनेपर भी महापापी हूँ। मैने सदा पाप ही किये हैं। आप सर्वज्ञ हैं, दयालु हैं। कृपया मुझ पापीके लिये संसार-बन्धनसे छूटनेका उपदेश कीजिये।'

दान्त मुनिने कृपापूर्ण स्वरमें कहा—'भाई! भगवान्‌की कृपासे ही तुम्हारी बुद्धि ऐसी हुई है। मैं तुम्हें वे उपाय बतला रहा हूँ, जिनसे मनुष्य सहज ही भव-बन्धनसे छूट जाता है।' मुनिने भद्रतनुको पाखण्डका त्याग; काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, असत्य और हिंसाका त्याग—ये दो 'निषेध' रूप तथा दया-शान्ति-दमका सेवन करते हुए भगवान्‌की पूजा, भगवन्नामोंका जप तथा अहोरात्रव्रत, पञ्चमहायज्ञ और भगवद्गुणानुवाद-श्रवण—ये चार 'विधि' रूप उपदेश किये। भद्रतनुने इन साधनोंको

भलीभाँति समझानेकी प्रार्थना की तो मुनिने बताया—

१-वेद-शास्त्र-सम्मत कर्मोंको छोड़कर दूसरा कर्म करनेवाला पाखण्डी है और शास्त्रानुकूल अपने वर्णाश्रम-धर्मका पालन करनेवाला सज्जन है।

२-कामिनी-काञ्चन आदि विषयोंको सेवन करनेकी इच्छा 'काम' कहलाती है। अपने विपरीत काम होते देख या अपने अपमान तथा निन्दासे जो हृदयमें जलन होती है वह 'क्रोध' है। दूसरेके धनको पानेकी इच्छा 'लोभ' है। 'मेरी स्त्री, मेरा पुत्र, मेरा घर, मेरा परिवार' आदिरूप मेरापन 'मोह' है। अपने धन, बल, परिवार, गुणका गर्व होना 'मद' है। दूसरे अपनेसे श्रेष्ठ क्यों हैं, ऐसी डाहको 'मत्सर' कहते हैं। सबको सुख पहुँचानेवाले यथार्थ वचनको सत्य कहते हैं और जो वाणी इससे उलटी है, वह 'असत्य' है। दूसरेको हानि पहुँचानेका विचार और यत्न 'हिंसा' है। इन सबका त्याग करना चाहिये।

३-दूसरेके कष्टको दूर करनेकी इच्छा 'दया' है। जो कुछ प्राप्त हो, उस थोड़ेमें ही तृप्ति मान लेना 'शान्ति' है। बुरे कार्योंसे चित्तको हटाना 'दम' है। सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, सबमें एक-सा भाव रखना 'समदृष्टि' है। भगवान्‌पर विश्वास करके गन्ध, पुष्प, धूप, दीप आदिसे श्रद्धाके साथ भगवान्‌के श्रीविग्रहकी पूजा करना 'आराधना' है।

४-दोपहर और मध्यरात्रिमें भोजन न करना (पूरे चौबीस घंटेका उपवास) 'अहोरात्रव्रत' है तथा भगवान्‌के साथ आत्माके एकत्वका बराबर स्मरण रखना 'विष्णु-स्मरण' है।

५-ब्रह्मयज्ञ, नरयज्ञ, देवयज्ञ, पितयज्ञ और भूतयज्ञ—ये पाँच 'महायज्ञ' हैं।

६-'**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**'—यही द्वादशाक्षर मन्त्र जप करनेमें सर्वोत्तम है।

दान्त मुनिने ये साधन बताये और भद्रतनु एकान्तमें जाकर मन लगाकर श्रद्धापूर्वक उनका आचरण करता हुआ भजन करने लगा। भगवान्‌ने कहा ही है कि 'जो महापापी भी मेरा अनन्यभावसे भजन करता है, वह सब पापोंसे छूटकर साधु हो जाता है।' भगवान्‌की अनन्य भक्तिसे भद्रतनुका हृदय शुद्ध हो गया। अतः उसपर कृपा करनेके लिये उसके सम्मुख दयामय प्रभु प्रकट हो गये।

भगवान्‌का दर्शन करके भद्रतनुको बड़ा आनन्द हुआ; वह गद्‌गद स्वरसे स्तुति करने लगा। भगवान्‌की महिमाका वर्णन करते हुए उसने भगवद्भक्तोंके भावका बड़ा सुन्दर वर्णन किया। उसने कहा—'भगवन् ! जिनका भजन करके लोग समस्त विपत्तियोंसे छूट जाते हैं और परमपद प्राप्त कर लेते हैं, उन आपमें मेरा मन लगा रहे। जो धन, स्तुति, दान, तपस्याके बिना केवल भक्तिसे ही सन्तुष्ट होते हैं, उन आपमें मेरा मन लगा रहे। जो कृपापूर्वक गौ, ब्राह्मण और साधुओंका नित्य हित करते हैं; जो दीन, अनाथ, वृद्ध और रोगियोंका दुःख दूर करते हैं; जो देवता, नाग, मनुष्य, राक्षस और कीट-पतङ्गमें भी समान भावसे विराजमान हैं; जो पण्डित-मूर्ख, धनी-दरिद्र—सबमें समदृष्टि हैं; जिनके तनिक लीलापूर्वक रोष दिखलानेपर पर्वत भी तृणके समान हो जाता है और जिनके तुष्ट होनेपर तृण भी पर्वताकार हो जाता है—उन आपमें मेरा मन लगा रहे। जैसे पुण्यात्मा पुरुषका मन पुण्यमें, पिताका पुत्रमें तथा सती स्त्रीका अपने पतिमें लगा रहता है, वैसे ही मेरा मन आपमें लगा रहे। जैसे कामीका मन स्त्रीमें, लोभीका धनमें, भूखेका भोजनमें, प्यासेका जलमें, गरमीसे व्याकुलका चन्द्रमाकी शीतलतामें और जाड़ेसे ठिठुरतेका सूर्यमें लगा रहता है, वैसे ही मेरा मन आपमें लगा रहे।'*

इसके पश्चात् भद्रतनुको अपने पापोंका ध्यान आया। उसने उनका जो वर्णन किया, वह साधकोंके बड़े

* पुण्यात्मनां यथा पुण्ये निजपुत्रे यथा पितुः। यथा पतौ सतीनां च तथा त्वयि मनोऽस्तु मे॥
यूनां चित्तं यथा योनौ लुब्धानां च यथा धने। क्षुधितानां यथान्ने च तथा त्वयि मनोऽस्तु मे॥
धर्मार्त्तानां यथा चन्द्रे शीतार्त्तानां यथा रवौ। तृष्णार्त्तानां यथा तोये तथा त्वयि मनोऽस्तु मे॥
(पद्मपुराण, क्रियायोग० १७। ३९-४०)

कामका है। उनसे सबको बचना चाहिये। उसने कहा—'प्रभो! मैंने बुद्धिमान् होकर परस्त्री-सङ्ग किया, मोहवश अवध्यका वध किया, अज्ञानमें पड़कर विश्वासघात किया, अखाद्य खाया और न पीनेयोग्य सुरापान किया, लोभवश दूसरेका धन हरण किया; भ्रूणहत्या, व्यभिचार, परनिन्दा, हिंसा आदि पाप किये; शरणागतका अहित किया, दूसरेकी जीविका नष्ट की, दूसरोंको लज्जित करके नीचा दिखाया, अयोग्यसे दान लिया; रास्ते, देवस्थान, गोशाला आदिमें मल-मूत्र त्याग किया; हरे वृक्ष काटे, स्नान और भोजनको जाते मनुष्योंको रोका, पिता-माताके प्रति अभक्ति और अश्रद्धा की, घर आये अतिथिका सत्कार नहीं किया, जल पीनेके लिये दौड़कर जाती हुई गायोंको रोक दिया, प्रारम्भ किये व्रतको बीचमें ही छोड़ दिया, पति-पत्नीमें भेद डाला, भगवत्कथामें विघ्न किये, मन लगाकर दूसरोंकी निन्दा सुनी, जीविका चलानेवालोंका तिरस्कार किया, दूसरोंकी पापचर्चा सुनी, याचकों और ब्राह्मणोंका अपमान किया*—ऐसे-ऐसे सहस्रों पाप मैंने अनेक जन्मोंमें किये; परन्तु आज वे सब दूर हो गये! आज मैं आपका दर्शन करके कृतार्थ हो गया। प्रभो! दयामय! आपको नमस्कार।'

भगवान्‌की कृपाका अनुभव करके भद्रतनु विह्वल होकर उनके चरणोंपर गिर पड़ा। भगवान्‌ने उसे उठाकर हृदयसे लगा लिया। भगवान्‌का दर्शन करते ही भद्रतनुकी मुक्तिकी इच्छा दूर हो गयी थी। वह तो भक्तिका भूखा हो उठा था। उसने भगवान्‌से प्रार्थना की—'प्रभो! आपके दर्शनसे मैं कृतार्थ हो गया, फिर भी मैं आपसे एक वरदान माँगता हूँ। आपके चरणोंमें जन्म-जन्म मेरा अनुराग अविचल रहे।'

जन्मजन्मनि मे भक्तिस्त्वय्यस्तु सुदृढा प्रभो।

(पद्मपुराण, क्रियायोग० १७। ९१)

भगवान्‌ने उसे 'सख्य-भक्ति' प्रदान की। उसके अनुरोधपर उसके गुरु दान्त मुनिको भी भगवान्‌ने दर्शन दिये। दान्त मुनिने भी भगवान्‌से भक्तिका ही वरदान माँगा। गुरु-शिष्य दोनोंको कृतार्थ करके भगवान् अन्तर्धान हो गये। भक्तिमय जीवन बिताकर अन्तमें गुरु दान्त मुनि और उनके शिष्य भद्रतनु दोनों ही भगवान्‌के परम धामको प्राप्त हुए।

भक्त पुण्डरीक

स्मृतः सन्तोषितो वापि पूजितो वा द्विजोत्तम।
पुनाति भगवद्भक्तश्चाण्डालोऽपि यदृच्छया॥

(पद्मपुराण, उत्तर० ३०। ८०)

'स्मरण करनेपर, सन्तुष्ट करनेपर, पूजा करनेपर भगवान्‌का भक्त अनायास ही चाण्डालतकको भी पवित्र कर देता है।' पुण्डरीकजी ऐसे ही महाभागवत हो गये हैं। पुण्डरीकका जन्म ब्राह्मण-कुलमें हुआ था। वे वेद-शास्त्रोंके ज्ञाता, तपस्वी, स्वाध्यायप्रेमी, इन्द्रियविजयी एवं क्षमाशील थे। वे त्रिकाल सन्ध्या करते थे। प्रातः-सायं विधिपूर्वक अग्निहोत्र करते थे। बहुत दिनोंतक उन्होंने गुरुकी श्रद्धापूर्वक सेवा की थी और नियमित प्राणायाम तथा भगवान् विष्णुका चिन्तन तो वे सर्वदा ही करते थे। वे माता-पिताके भक्त थे। वर्णाश्रम-धर्मानुकूल अपने कर्तव्योंका भलीभाँति विधिपूर्वक पालन करते थे।

धर्मके मूल हैं भगवान्। धर्मके पालनका यही परम फल है कि संसारके विषयोंमें वैराग्य होकर भगवान्‌के चरणोंमें प्रीति हो जाय। भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही लौकिक-वैदिक समस्त कर्मोंका पुण्डरीक पालन करते थे। ऐसा करनेसे उनका हृदय शुद्ध हो गया। संसारके किसी भी पदार्थमें उनकी आसक्ति, ममता, स्पृहा या कामना नहीं रह गयी। वे माता-पिता, भाई-बन्धु, मित्र-सखा, सुहृद्-सम्बन्धी आदि स्नेहके—मोहके बन्धनोंसे छूट गये। उनके हृदयमें केवल एकमात्र भगवान्‌को प्राप्त करनेकी ही इच्छा रह गयी। वे अपने सम्पन्न घर एवं परिवारको तृणके समान छोड़कर भगवत्प्राप्तिके लिये निकल पड़े।

भक्त पुण्डरीक साग, मूल, फल—जो कुछ मिल जाता, उसीसे शरीरनिर्वाह करते हुए तीर्थाटन करने लगे। शरीरके सुख-दुःखकी उन्हें तनिक भी चिन्ता नहीं थी, वे तो अपने प्रियतम प्रभुको पाना चाहते थे। घूमते-घूमते वे शालग्राम नामक स्थानपर पहुँचे। यह स्थान रमणीक था, पवित्र था।

* यही सब पापकर्म हैं, ये किसीको भी नहीं करने चाहिये।

यहाँ अच्छे तत्त्वज्ञानी महात्मा रहते थे। अनेक पवित्र जलाशय थे। पुण्डरीकने उन तीर्थकुण्डोंमें स्नान किया। उनका मन यहाँ लग गया। यहीं रहकर अब वे भगवान्‌का निरन्तर ध्यान करने लगे। उनका हृदय भगवान्‌के ध्यानसे आनन्दमग्न हो गया। वे हृदयमें भगवान्‌का दर्शन पाने लगे।

अपने अनुरागी भक्तोंको दयामय भगवान् सदा ही स्मरण रखते हैं। प्रभुने देवर्षि नारदजीको पुण्डरीकके पास भेजा कि वे उसे भोले भक्तके भावको और पुष्ट करें। श्रीनारदजी परमार्थके तत्त्वज्ञ तथा भगवान्‌के हृदय-स्वरूप हैं। वे सदा भक्तोंपर कृपा करने, उन्हें सहायता पहुँचानेको उत्सुक रहते हैं। भगवान्‌की आज्ञासे हर्षित होकर वे शीघ्र ही पुण्डरीकके पास पहुँचे। साक्षात् सूर्यके समान तेजस्वी, वीणा बजाकर हरिगुण-गान करते देवर्षिको देखकर पुण्डरीक उठ खड़े हुए। उन्होंने साष्टाङ्ग प्रणाम किया। देवर्षिके तेजको देखकर वे चकित रह गये। संसारमें ऐसा तेज मनुष्यमें सुना भी नहीं जाता। पूछनेपर नारदजीने अपना परिचय दिया। देवर्षिको पहचानकर पुण्डरीकके हर्षका पार नहीं रहा। उन्होंने नारदजीकी पूजा करके बड़ी नम्रतासे प्रार्थना की—'प्रभो! मेरा आज परम सौभाग्य है जो मुझे आपके दर्शन हुए। आज मेरे सब पूर्वज तर गये। अब आप अपने इस दासपर कृपा करके ऐसा उपदेश करें, जिससे इस संसार-सागरमें डूबते इस अधमका उद्धार हो जाय। आप तो भगवान्‌के मार्गपर चलनेवालोंकी एकमात्र गति हैं, आप इस दीनपर दया करें।'

पुण्डरीककी अभिमानरहित सरल वाणी सुनकर देवर्षिने कहा—''द्विजोत्तम! इस लोकमें अनेक प्रकारके मनुष्य हैं और उनके अनेक मत हैं। नाना तर्कोंसे वे अपने मतोंका समर्थन करते हैं। मैं तुमको परमार्थ-तत्त्व बतलाता हूँ। यह तत्त्व सहज ही समझमें नहीं आता। तत्त्ववेत्तालोग प्रमाणद्वारा ही इसका निरूपण करते हैं। मूर्खलोग ही प्रत्यक्ष तथा वर्तमान प्रमाणोंको मानते हैं। वे अनागत तथा अतीत प्रमाणोंको स्वीकार नहीं करते। मुनियोंने कहा है कि जो पूर्वरूप है, परम्परासे चला आता है, वही आगम है। जो कर्म, कर्मफल-तत्त्व, विज्ञान, दर्शन और विभु है; जिसमें न वर्ण है, न जाति; जो नित्य आत्मसंवेदन है; जो सनातन, अतीन्द्रिय, चेतन, अमृत, अज्ञेय, शाश्वत, अज, अविनाशी, अव्यक्त, व्यक्त, व्यक्तमें विभु और निरञ्जन है—वही द्वितीय आगम है। वही चराचर जगत्‌में व्यापक होनेसे 'विष्णु' कहलाता है। उसीके अनन्त नाम हैं। परमार्थसे विमुख लोग उस योगियोंके परमाराध्य-तत्त्वको नहीं जान सकते।''

''यह हमारा मत है'—यह केवल अभिमान ही है। ज्ञान तो शाश्वत है और सनातन है। वह परम्परासे ही चला आ रहा है। भारतीय महापुरुष सदा इतिहासके रूपमें इसीसे ज्ञानका वर्णन करते रहे हैं कि उसमें अपने अभिमानकी क्षुद्रता न आ जाय। देवर्षि नारदजीने कहा कि ''मैंने एक बार सृष्टिकर्ता अपने पिता ब्रह्माजीसे पूछा था। उस समय परमार्थ-तत्त्वके विषयमें ब्रह्माजीने कहा—'भगवान् नारायण ही समस्त प्राणियोंके आत्मा हैं। वे ही प्रभु जगदाधार हैं। वे ही सनातन परमात्मा पचीस तत्त्वोंके रूपमें प्रकाशित हो रहे हैं। जगत्‌की सृष्टि, रक्षा तथा प्रलय नारायणसे ही होता है। विश्व, तैजस, प्राज्ञ—ये त्रिविध आत्मा नारायण ही हैं। वे ही सबके अधीश्वर, एकमात्र सनातन देव हैं। योगीगण ज्ञान तथा योगके द्वारा उन्हीं जगन्नाथका साक्षात्कार करते हैं। जिनका चित्त नारायणमें लगा है, जिनके प्राण नारायणको अर्पित हैं, जो केवल नारायणके ही परायण हैं, वे नारायणकी कृपा और शक्तिसे जगत्‌में दूर और समीप, भूत, वर्तमान और भविष्य, स्थूल और सूक्ष्म—सबको देखते हैं। उनसे कुछ अज्ञात नहीं रहता।'

''ब्रह्माजीने देवताओंसे एक दिन कहा था—'धर्म नारायणके आश्रित है। सब सनातन लोक, यज्ञ, शास्त्र, वेद, वेदाङ्ग तथा और भी जो कुछ है, सब नारायणके ही आधारपर हैं। वे अव्यक्त पुरुष नारायण ही पृथ्वी आदि पञ्चभूतरूप हैं। यह समस्त जगत् विष्णुमय है। पापी मनुष्य इस तत्त्वको नहीं जानता। जिनका चित्त उन विश्वेश्वरमें लगा है, जिनका जीवन उन श्रीहरिको अर्पित है, ऐसे परमार्थ-ज्ञाता ही उन परम पुरुषको जानते हैं। नारायण ही सब भूतरूप हैं, वे ही सबमें व्याप्त हैं, वे ही सबका पालन करते हैं। समस्त जगत् उन्हींसे उत्पन्न है, उन्हींमें प्रतिष्ठित है। वे ही सबके स्वामी हैं। सृष्टिके लिये वे ही ब्रह्मा, पालनके लिये विष्णु और संहारके लिये रुद्ररूप धारण किये हैं। वे ही लोकपाल हैं। वे परात्पर पुरुष ही सर्वाधार, निष्कल, सकल, अणु और महान् हैं। सबको उन्हींके शरण होना चाहिये।''

देवर्षिने कहा—'ब्रह्माजीने ऐसा कहा था, अतः द्विजश्रेष्ठ! तुम भी उन्हीं श्रीहरिकी शरण लो। उन नारायणको छोड़कर भक्तोंके अभीष्टको पूरा करनेवाला

और कोई नहीं है। वे ही पुरुषोत्तम सबके पिता-माता हैं; वे ही लोकेश, देवदेव, जगत्पति हैं। अग्निहोत्र, तप, अध्ययन आदि सभी सत्कर्मोंसे नित्य-निरन्तर सावधानीके साथ एकमात्र उन्हें ही सन्तुष्ट करना चाहिये। तुम उन पुरुषोत्तमकी ही शरण लो। उनकी शरण होनेपर न तो बहुत-से मन्त्रोंकी आवश्यकता है, न व्रतोंका ही प्रयोजन है। एक नारायण-मन्त्र—'**ॐ नमो नारायणाय**' ही सब मनोरथोंको पूरा करनेवाला है। भगवान्‌की आराधनामें किसी बाहरी वेषकी आवश्यकता नहीं। कपड़े पहने हो या दिगम्बर हो, जटाधारी हो या मूँड़ मुड़ाये हो, त्यागी हो या गृहस्थ हो—सभी भगवान्‌की भक्ति कर सकते हैं। चिह्न (वेष) धर्मका कारण नहीं है। जो लोग पहले निर्दय, पापी, दुष्टात्मा और कुकर्मरत रहे हैं, वे भी नारायण-परायण होनेपर परम धामको प्राप्त हो जाते हैं। भगवान्‌के परम भक्त पापके कीचड़में कभी लिप्त नहीं होते। अहिंसासे चित्तको जीतकर वे भगवद्भक्त तीनों लोकोंको पवित्र करते हैं। प्राचीनकालमें अनेक लोग प्रेमसे भगवान्‌का भजन करके उन्हें प्राप्त कर चुके हैं। श्रीहरिकी आराधनासे सबको परम गति मिलती है और उसके बिना कोई परमपद नहीं पा सकता। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी—कोई भी हो, परमपद तो भगवान्‌के भजनसे ही मिलता है। 'मैं हरिभक्तोंका दास हूँ'—यह सुबुद्धि सहस्रों जन्मोंके अनन्तर भगवान्‌की कृपासे ही प्राप्त होती है। ऐसा पुरुष भगवान्‌को प्राप्त कर लेता है। तत्त्वज्ञ पुरुष इसीलिये चित्तको सब ओरसे हटाकर नित्य-निरन्तर अनन्यभावसे उन सनातन परम पुरुषका ही ध्यान करते हैं।' देवर्षि यह उपदेश देकर चले गये।

पुण्डरीककी भगवद्भक्ति देवर्षिके उपदेशसे और भी दृढ़ हो गयी। वे नारायणमन्त्रका अखण्ड जप करते और सदा भगवान्‌के ध्यानमें निमग्न रहते। उनकी स्थिति ऐसी हो गयी कि उनके हृदयकमलपर भगवान् गोविन्द सदा प्रत्यक्ष विराजमान रहने लगे। सत्त्वगुणका पूरा साम्राज्य हो जानेसे निद्रा, जो पुरुषार्थकी विरोधिनी और तमोरूपा है, सर्वथा नष्ट हो गयी।

बहुत-से महापुरुषोंमें यह देखा और सुना जाता है कि उनके मन और बुद्धिमें भगवान्‌का आविर्भाव हुआ और वे दिव्य भगवद्रूपमें परिणत हो गये; किंतु किसीका स्थूल-शरीर दिव्य हो गया हो, यह नहीं सुना जाता। ऐसा तो कदाचित् ही होता है। पुण्डरीकमें यही लोकोत्तर अवस्था प्रकट हुई। उनका निष्पाप देह श्यामवर्णका हो गया, चार भुजाएँ हो गयीं; उन हाथोंमें शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म आ गये। उनका वस्त्र पीताम्बर हो गया। एक तेजोमण्डलने उनके शरीरको घेर लिया। पुण्डरीकसे वे 'पुण्डरीकाक्ष' हो गये। वनके सिंह, व्याघ्र आदि क्रूर पशु भी उनके पास अपना परस्परका सहज वैर-भाव भूलकर एकत्र हो गये और प्रसन्नता प्रकट करने लगे। नदी-सरोवर, वन-पर्वत, वृक्ष-लताएँ—सब पुण्डरीकके अनुकूल हो गये। सब उनकी सेवाके लिये फल, पुष्प, निर्मल जल आदि प्रस्तुत रखने लगे। पुण्डरीक भक्तवत्सल भगवान्‌की कृपासे उनके अत्यन्त प्रियपात्र हो गये थे। प्रत्येक जीव, प्रत्येक जड-चेतन उस परम वन्दनीय भक्तकी सेवासे अपनेको कृतार्थ करना चाहता था!

पुण्डरीकके मन-बुद्धि ही नहीं, शरीर भी दिव्य भगवद्रूप हो गया था; तथापि दयामय करुणासागर प्रभु भक्तको परम पावन करने, उसे नेत्रोंका चरम लाभ देने उसके सामने प्रकट हो गये। भगवान्‌का स्वरूप, उनकी शोभा, उनकी अङ्ग-कान्ति जिस मनमें एक झलक दे जाती है, वह मन, वह जीवन धन्य हो जाता है। उसका वर्णन कर सके, इतनी शक्ति कहाँ किसमें है। पुण्डरीक भगवान्‌के अचिन्त्य सुन्दर दिव्य रूपको देखकर प्रेम-विह्वल हो गये। भगवान्‌के श्रीचरणोंमें प्रणिपात करके भरे कण्ठसे उन्होंने स्तुति की। स्तुति करते-करते प्रेमके वेगसे पुण्डरीककी वाणी रुद्ध हो गयी।

भगवान्‌ने पुण्डरीकको वरदान माँगनेके लिये कहा। पुण्डरीकने विनयपूर्वक उत्तर दिया—'भगवन्! कहाँ तो मैं दुर्बुद्धि प्राणी और कहाँ आप सर्वेश्वर, सर्वज्ञ। मेरे परम सुहृद् स्वामी! आपके दर्शनके पश्चात् और क्या शेष रह जाता है, जिसे माँगा जाय—यह मेरी समझमें नहीं आता। मेरे नाथ! आप मुझे माँगनेका आदेश कर रहे हैं तो मैं यही माँगता हूँ कि मैं अबोध हूँ; अतः जिसमें मेरा कल्याण हो, वही आप करें।'

भगवान्‌ने अपने चरणोंमें पड़े पुण्डरीकको उठाकर हृदयसे लगा लिया। वे बोले—'वत्स! तुम मेरे साथ चलो। तुम्हें छोड़कर अब मैं नहीं रह सकता। अब तुम मेरे धाममें मेरे समीप मेरी लीलामें सहयोग देते हुए निवास करो।'

भगवान्‌ने पुण्डरीकको अपने साथ गरुड़पर बैठा लिया और अपने नित्यधाम ले गये।

सुतीक्ष्ण मुनि

राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुरान संत सब साखी॥

महर्षि अगस्त्यके शिष्य सुतीक्ष्णजी जब विद्याध्ययन कर चुके, तब गुरुदेवसे उन्होंने दक्षिणाके लिये प्रार्थना की। महर्षिने कहा—'तुमने जो मेरी सेवा की, वही बहुत बड़ी दक्षिणा है। मैं तुमसे प्रसन्न हूँ।' किंतु सुतीक्ष्णजीका संतोष गुरुदेवकी कुछ सेवा किये बिना नहीं हो सकता था। वे बार-बार आग्रह करने लगे। उनका हठ देखकर सर्वज्ञ महर्षिने उन्हें आज्ञा दी—'दक्षिणामें तुम मुझे भगवान्‌के दर्शन कराओ।' गुरुकी आज्ञा स्वीकार करके सुतीक्ष्णजी उनके आश्रमसे दूर उत्तर ओर दण्डकारण्यके प्रारम्भमें ही आश्रम बनाकर रहने लगे। उन्होंने गुरुदेवसे सुना था कि भगवान् श्रीराम अयोध्यामें अवतार लेकर इसी मार्गसे रावणका वध करने लंका जायँगे। अत: वे वहीं तपस्या तथा भगवान्‌का भजन करते हुए उनके पधारनेकी प्रतीक्षा करने लगे। जब श्रीरामने पिताकी आज्ञासे वनवास स्वीकार किया और चित्रकूटसे वे विराधको भूमिमें गाड़कर सद्गति देते, शरभंगऋषिके आश्रमसे आगे बढ़े, तब सुतीक्ष्णजीको उनके आनेका समाचार मिला। समाचार पाते ही वे उसी ओर दौड़ पड़े। उनका चित्त भाव-निमग्न हो गया। वे सोच रहे थे—

हे बिधि दीनबंधु रघुराया। मोसे सठ पर करिहहिं दाया॥
सहित अनुज मोहि राम गोसाईं। मिलिहहिं निज सेवककी नाईं॥
मोरे जियँ भरोस दृढ़ नाहीं। भगति बिरति न ग्यान मन माहीं॥
नहिं सतसंग जोग जप जागा। नहिं दृढ़ चरन कमल अनुरागा॥
एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥
होइहैं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदन पंकज भव मोचन॥

प्रेमकी इतनी बाढ़ हृदयमें आयी कि मुनि अपनेको भूल ही गये। उन्हें यह भी स्मरण नहीं रहा कि वे कौन हैं, कहाँ हैं, क्या कर रहे हैं और कहाँ जा रहे हैं। कभी वे कुछ दूर आगे चलते, कभी खड़े होकर 'श्रीराम, रघुनाथ, कौसल्यानन्दन' आदि दिव्य नाम लेकर कीर्तन करते हुए नृत्य करने लगते और कभी पीछे लौट पड़ते। श्रीराम, लक्ष्मण और जानकीजी वृक्षकी आड़में छिपकर मुनिकी यह अद्भुत प्रेम-विभोर दशा देख रहे थे। नृत्य करते-करते सुतीक्ष्णजीके हृदयमें श्रीरामकी दिव्य झाँकी हुई। वे मार्गमें ही बैठकर ध्यानस्थ हो गये। आनन्दके मारे उनका एक-एक रोम खिल उठा। उसी समय श्रीराम उनके पास आ गये। उन्होंने मुनिको पुकारा, हिलाया, अनेक प्रकारसे जगानेका प्रयत्न किया; किंतु वे तो समाधिदशामें थे। अन्तमें श्रीरामने जब उनके हृदयसे उनका आराध्य द्विभुज रूप दूर करके वहाँ अपना चतुर्भुजरूप प्रकट किया, तब मुनिने व्याकुल होकर नेत्र खोल दिये और अपने सम्मुख ही श्रीजानकीजी तथा लक्ष्मणजीसहित श्रीरामको देखकर वे प्रभुके चरणोंमें गिर पड़े। श्रीरघुनाथजीने दोनों हाथोंसे उठाकर उन्हें हृदयसे लगा लिया।

सुतीक्ष्णजी बड़े आदरसे श्रीरामको अपने आश्रमपर ले आये। वहाँ उन्होंने प्रभुकी पूजा की, कन्द-मूल-फलसे उनका सत्कार किया और उनकी स्तुति की। श्रीरामने उन्हें वरदान दिया—

अबिरल भगति ग्यान बिग्याना। होहु सकल गुन ग्यान निधाना॥

कुछ दिन श्रीराम मुनिसे पूजित-सत्कृत होकर उनके आश्रममें रहे। वहाँसे जब वे महर्षि अगस्त्यके पास जाने लगे, तब मुनिने साथ चलनेकी अनुमति माँगी। उनका तात्पर्य समझकर प्रभुने हँसकर आज्ञा दे दी। जब प्रभु अगस्त्याश्रमके पास पहुँचे, तब आगे जाकर दण्डवत् प्रणाम करके सुतीक्ष्णजीने अपने गुरुदेवसे निवेदन किया—

नाथ कोसलाधीस कुमारा। आए मिलन जगत आधारा॥
राम अनुज समेत बैदेही। निसि दिन देव जपत हहु जेही॥

गुरुदेवकी गुरुदक्षिणाके रूपमें इस प्रकार उनके द्वारपर सर्वेश्वर, सर्वाधार श्रीरामको लाकर खड़ा कर देनेवाले सुतीक्ष्णमुनि धन्य हैं और धन्य है उनकी भक्तिका प्रताप!

महर्षि शरभङ्ग

तपोभूमि दण्डकारण्य-क्षेत्रमें अनेकानेक ऊर्ध्वरेता ब्रह्मवादी ऋषियोंने घोर तपस्याएँ की हैं। कठिन योगाभ्यास एवं प्राणायामादिद्वारा संसारके समस्त पदार्थोंसे आसक्ति, ममता, स्पृहा एवं कामनाका समूल नाश करके अपनी उग्र तपस्याद्वारा समस्त इन्द्रियोंपर पूर्ण विजय प्राप्त करनेवाले अनेकानेक ऋषियोंमेंसे शरभङ्गजी भी एक थे।

अपनी उत्कट तपस्याद्वारा इन्होंने ब्रह्मलोकपर विजय प्राप्त कर ली थी। देवराज इन्द्र इन्हें सत्कारपूर्वक ब्रह्मलोकतक पहुँचानेके निमित्त आये। इन्होंने देखा कि पृथ्वीसे कुछ ऊपर आकाशमें देवराजका रथ खड़ा है। बहुत-से देवताओंसे घिरे वे उसमें विराजमान हैं। सूर्य एवं अग्निके समान उनकी शोभा है। देवाङ्गनाएँ उनकी स्वर्ण-दण्डिकायुक्त चमरोंसे सेवा कर रही हैं। उनके मस्तकपर श्वेत छत्र शोभायमान है। गन्धर्व, सिद्ध एवं अनेक ब्रह्मर्षि उनकी अनेक उत्तमोत्तम वचनोंद्वारा स्तुति कर रहे हैं। ये इनके साथ ब्रह्मलोककी यात्राके लिये तैयार ही थे कि इन्हें पता चला कि राजीवलोचन कोशलकिशोर श्रीराघवेन्द्र रामभद्र भ्राता लक्ष्मण एवं भगवती श्रीसीताजीसहित इनके आश्रमकी ओर पधार रहे हैं। ज्यों ही भगवान् श्रीरामके आगमनका शुभ समाचार इनके कानोंमें पहुँचा, त्यों ही तप:पूत अन्त:करणमें भक्तिका सञ्चार हो गया। वे मन-ही-मन सोचने लगे—'अहो! लौकिक और वैदिक समस्त धर्मोंका पालन जिन भगवान्के चरणकमलोंकी प्राप्तिके लिये ही किया जाता है—वे ही भगवान् स्वयं जब मेरे आश्रमकी ओर पधार रहे हैं, तब उन्हें छोड़कर ब्रह्मलोकको जाना तो सर्वथा मूर्खता है। ब्रह्मलोकके प्रधान देवता तो मेरे यहाँ ही आ रहे हैं—तब वहाँ जाना निष्प्रयोजनीय ही है। अत: मन-ही-मन यह निश्चय कर कि 'तपस्याके प्रभावसे मैंने जिन-जिन अक्षय लोकोंपर अधिकार प्राप्त किया है, वे सब मैं भगवान्के चरणोंमें समर्पित करता हूँ' इन्होंने देवराज इन्द्रको विदा कर दिया।

ऋषि शरभङ्गजीके अन्त:करणमें प्रेमजनित विरह-भावका उदय हो गया—

'चितवत पंथ रहेउँ दिन राती।'

वे भगवान् श्रीरामकी अल्प-कालकी प्रतीक्षाको भी युग-युगके समान समझने लगे। 'भगवान् श्रीरामके सम्मुख ही मैं इस नश्वर शरीरका त्याग करूँगा'—इस दृढ़ सङ्कल्पसे वे भगवान् रामकी क्षण-क्षण प्रतीक्षा करने लगे।

कमल-दल-लोचन श्यामसुन्दर भगवान् श्रीराम इनके आश्रमपर पधारे ही। सीता-लक्ष्मणसहित रघुनन्दनको मुनिवरने देखा। उनका कण्ठ गद्गद हो गया। वे कहने लगे—

चितवत पंथ रहेउँ दिन राती। अब प्रभु देखि जुड़ानी छाती॥
नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्ही कृपा जानि जनु दीना॥

भगवान् श्रीरामको देखते ही प्रेमवश इनके लोचन भगवान्के रूप-सुधा-मकरन्दका साग्रह पान करने लगे। इनके नेत्रोंके सम्मुख तो वे थे ही—अपने प्रेमसे इन्होंने उन्हें अपने अन्त:करणमें भी बैठा लिया—

सीता अनुज समेत प्रभु नील जलद तनु स्याम।
मम हियँ बसहु निरंतर सगुन रूप श्रीराम॥

भगवान्को अपने अन्त:करणमें बैठाकर मुनि योगाग्निसे अपने शरीरको जलानेके लिये तत्पर हो गये। योगाग्निने इनके रोम, केश, चमड़ी, हड्डी, मांस और रक्त—सभीको जलाकर भस्म कर डाला। अपने नश्वर शरीरको नष्टकर वे अग्निके समान तेजोमय शरीरसे उत्पन्न हुए। परम तेजस्वी कुमारके रूपमें वे अग्नियों, महात्मा ऋषियों और देवताओंके भी लोकोंको लाँघकर दिव्य धामको चले गये।

महर्षि मुद्गल

मुद्गल नामक ऋषि कुरुक्षेत्रमें रहते थे। ये बड़े धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, भगवद्भक्त एवं सत्यवक्ता थे। किसीकी भी निन्दा नहीं करते थे। बड़े कर्मनिष्ठ एवं महात्मा थे। ये शिलोञ्छवृत्तिसे अपना जीवन-निर्वाह करते थे। पंद्रह दिनोंमें एक द्रोण धान्य, जो करीब ३४ सेरके बराबर होता है, इकट्ठा कर लेते थे। उसीसे इष्टीकृत नामक यज्ञ करते और प्रत्येक पंद्रहवें दिन अमावास्या एवं पूर्णिमाको दर्श-पौर्णमास याग किया करते थे। यज्ञोंमें देवता और अतिथियोंको देनेसे जो अन्न बचता, उसीसे परिवारसहित निर्वाह किया करते थे। जैसे धर्मात्मा ब्राह्मण स्वयं थे, वैसे ही उनकी धर्मपत्नी और सन्तान भी थीं। मुद्गलजी सपरिवार महीनेमें केवल दो ही बार—अमावास्या और पूर्णिमाके दिन ही भोजन किया करते, सो भी अतिथि-अभ्यागतोंको भोजन करानेके बाद। कहते हैं कि उनका प्रभाव ऐसा था कि प्रत्येक पर्वके दिन साक्षात् देवराज इन्द्र देवताओंसहित उनके यज्ञमें आकर अपना भाग लेते थे। इस प्रकार मुनिवृत्तिसे रहना और प्रसन्नचित्तसे अतिथियोंको अन्न देना—यही उनके जीवनका व्रत था।

मुनिके इस व्रतकी ख्याति बहुत दूरतक फैल चुकी थी। एक दिन उनकी कीर्ति-कथा दुर्वासा मुनिके कानोंमें पड़ी। उनके मनमें उनकी परीक्षा करनेकी आ गयी। दुर्वासा महाराज जहाँ-तहाँ व्रतशील उत्तम पुरुषोंको व्रतमें पक्का करनेके लिये ही क्रोधित वेशमें घूमा करते हैं। वे एक दिन नंग-धड़ंग पागलोंका-सा वेष बनाये, मूँड़ मुँड़ाये, कटु वचन कहते हुए वहाँ आ पहुँचे। आते ही बोले—'विप्रवर! आपको मालूम होना चाहिये कि मैं भोजनकी इच्छासे यहाँ आया हूँ।' उस दिन पूर्णिमाका दिवस था। मुद्गलने आदर-सत्कारके साथ ऋषिकी अभ्यर्थना करके उन्हें भोजन कराने बैठाया। उन्होंने अपने भूखे अतिथिको बड़ी श्रद्धासे भोजन परोसकर जिमाया। मुनि भूखे तो थे ही, श्रद्धासे प्राप्त हुआ वह अन्न उन्हें बड़ा सरस भी लगा। वे बात-की-बातमें रसोईमें बना हुआ सब कुछ जीम गये, बचा-खुचा शरीरपर चुपड़ लिया। जूँठा अन्न शरीरपर लपेटकर वे जिधरसे आये थे, उधर ही निकल गये।

मुद्गल सपरिवार भूखे रहे। यों प्रत्येक पर्वपर दुर्वासाजी आते और भोजन करके चले जाते। मुनिको परिवारसहित भूखे रह जाना पड़ता। पंद्रह दिनोंतक कटे हुए खेतोंमें बिखरे दानोंको वे बीनते और स्वयं निराहार रहकर प्रत्येक पंद्रहवें दिन वे उसे दुर्वासा ऋषिके अर्पण कर देते। स्त्री-पुत्रने भी उनका साथ दिया। भूखसे उनके मनमें तनिक भी विकार या खेद उत्पन्न नहीं हुआ। क्रोध, ईर्ष्या एवं अनादरका भाव भी नहीं आया। वे ज्यों-के-त्यों शान्त बने रहे। इसी प्रकार वे लगातार छ: बार प्रत्येक पर्वपर आये। पंद्रह दिनोंमें एक बार भोजन करनेवाला तपस्वी कुटुम्ब तीन महीनेतक लगातार भूखा रहा—परंतु किसीके भी मनमें कुछ भी दु:ख, क्रोध, क्षोभ या अपमानका विकार नहीं हुआ। श्रीदुर्वासाजीने हर बार उनके चित्तको शान्त और निर्मल ही पाया।

दुर्वासाजी इनके धैर्यको देख अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने मुनि मुद्गलसे कहा—'मुने ! इस संसारमें तुम्हारे समान दाता कोई भी नहीं है। ईर्ष्या तो तुमको छूतक नहीं गयी है। भूख बड़े-बड़े लोगोंके धार्मिक विचारोंको डिगा देती है और धैर्यको हर लेती है। जीभ तो रसना ही ठहरी, वह सदा रसका स्वाद लेनेवाली है। मन तो इतना चञ्चल है कि इसको वशमें करना अत्यन्त कठिन जान पड़ता है। मन और इन्द्रियोंको काबूमें रखकर भूखका कष्ट उठाते हुए परिश्रमसे प्राप्त किये हुए धनको शुद्ध हृदयसे दान करना अत्यन्त कठिन है। देवता भी तुम्हारे दानकी महिमा गा-गाकर उसकी सर्वत्र घोषणा करेंगे।'

महर्षि दुर्वासा यों कह ही रहे थे कि देवदूत विमान लेकर मुद्गलके पास आया। देवदूतने कहा—'देव! आप महान् पुण्यवान् हैं, सशरीर स्वर्ग पधारें।'

देवदूतकी बात सुनकर महर्षिने उससे कहा—'देवदूत! सत्पुरुषोंमें सात पग एक साथ चलनेसे ही मित्रता हो जाती है; अत: मैं आपसे जो कुछ पूछूँ, उसके उत्तरमें जो सत्य और हितकर हो, वही बतलायें। मैं आपकी
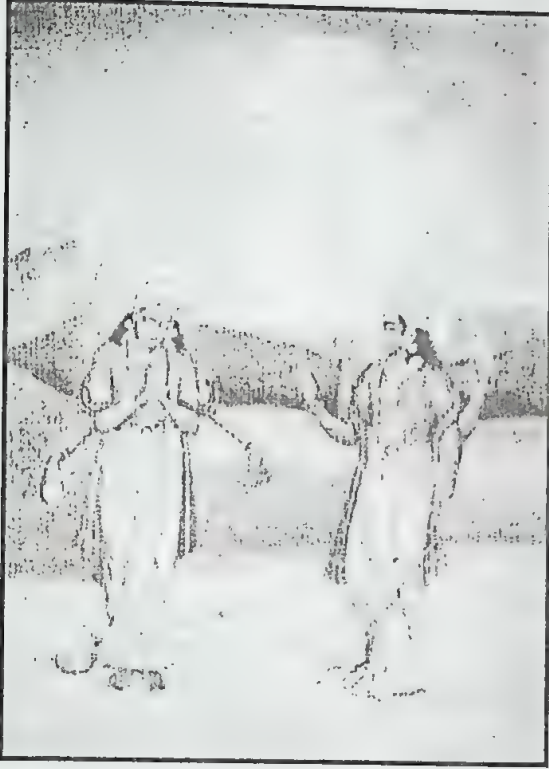
भक्त पुण्डरीकको भगवद्दर्शन [पृ० ८३]

दो मित्र भक्त [पृ० ९१]
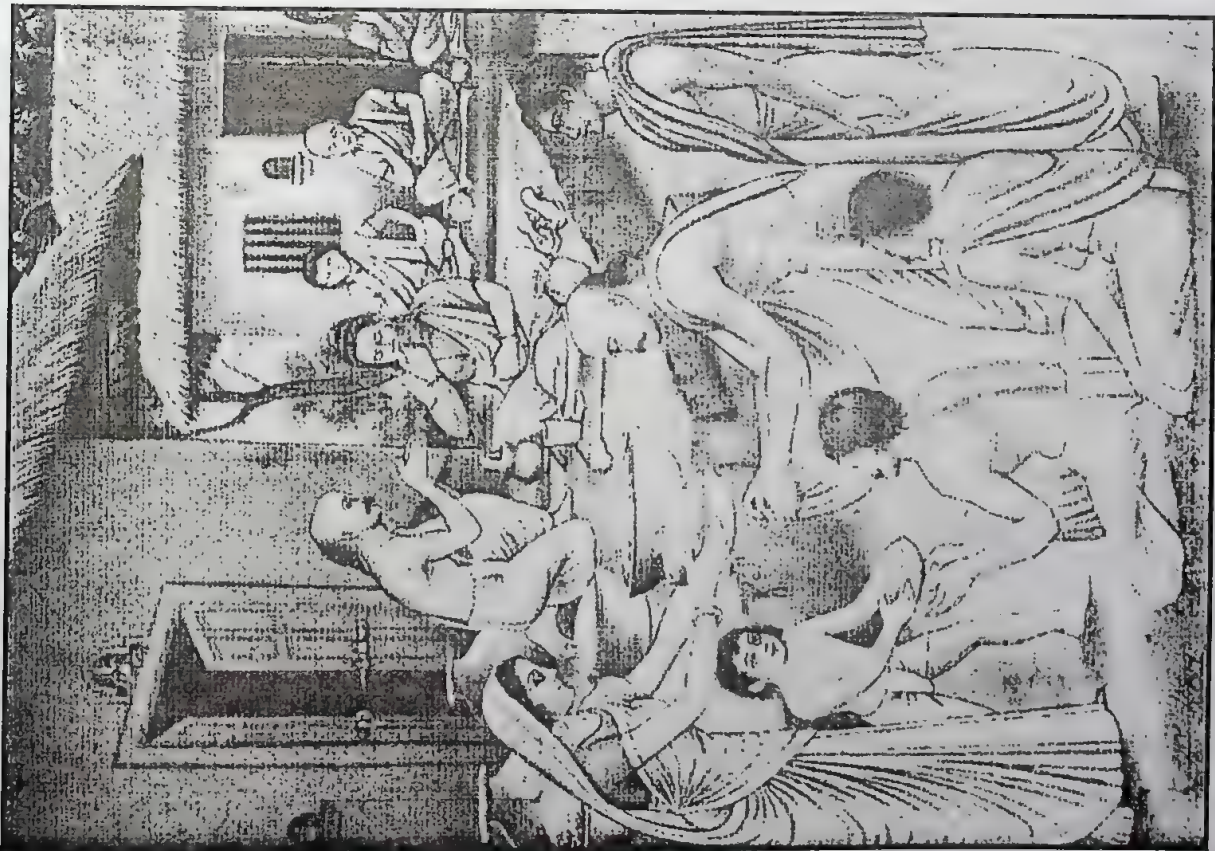
महर्षि मुद्गल [पृ० ८८]

भक्त वैश्वानर [पृ० ९२]

शिवभक्त महाकाल [पृ० ९६]

भक्त पद्मनाभ [पृ० १०८]

भक्त विष्णुचित्त और उनके शिष्य [पृ० १३०]

बात सुननेके बाद ही अपना कर्तव्य निश्चित करूँगा। देवदूत! मेरा प्रश्न यह है कि स्वर्गमें क्या सुख है एवं क्या दुःख है ?'

देवदूतने महर्षि मुद्गलके उत्तरमें स्वर्गलोक एवं उससे भी ऊपरके भोगमय लोकोंके सुखोंका वर्णन किया। तत्पश्चात् वहाँका सबसे बड़ा दोष यही बताया कि 'वहाँसे एक-न-एक दिन पतन हो ही जाता है। ब्रह्मलोकपर्यन्त सभी लोकोंमें पतनका भय जीवको सदा बना रहता है।' वे कहने लगे कि—'सुखद ऐश्वर्यका उपभोग करके उससे निम्न स्थानोंमें गिरनेवाले प्राणियोंको जो असन्तोष और वेदना होती है, उसका वर्णन करना कठिन है।'

यह सुनकर महर्षि मुद्गलने देवदूतको विधिपूर्वक नमस्कार किया तथा उन्हें अत्यन्त प्रेमसे यह कहकर लौटा दिया—

यत्र गत्वा न शोचन्ति न व्यथन्ति चरन्ति वा।
तदहं स्थानमत्यन्तं मार्गयिष्यामि केवलम्॥

(म० भा० वनपर्व २६१। ४४)

'हे देवदूत ! मैं तो उस विनाशरहित परम धामको ही प्राप्त करूँगा, जिसे प्राप्त कर लेनेपर शोक, व्यथा, दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है।'

देवदूत उनसे यह उत्तर पाकर उनकी बुद्धिमत्ताकी प्रशंसा करता हुआ लौट गया एवं तत्पश्चात् मुनि मुद्गल स्तुति-निन्दा, स्वर्ण तथा मिट्टीमें समभाव रखते हुए ज्ञान-वैराग्य तथा भगवद्भक्तिके साधनसे अविनाशी भगवद्धामको प्राप्त हुए।

दो मित्र भक्त

ललाटे लिखितं यस्य मृत्युरित्यक्षरद्वयम्।
स कथं कुरुते पापं समस्तक्लेशदायकम्॥

(पद्मपुराण, क्रियायोग० १६। ३३)

'जिसके ललाटपर (भाग्यमें) मृत्यु—ये दो अक्षर (निश्चित मरण) लिखे हैं, वह समस्त क्लेश देनेवाले पाप कैसे करता है।'

कुरुक्षेत्रमें एक ब्राह्मण पुण्डरीक और एक क्षत्रिय अम्बरीष रहते थे। दोनोंमें बड़ी मित्रता थी। खाना-पीना, टहलना-सोना, सब काम उनका साथ ही होता था। दोनों युवक थे, स्वतन्त्र थे; पासमें धन था और उसपर कुसङ्गमें पड़ गये। अब देव-पूजन, सन्ध्या-तर्पण, पढ़ना-लिखना तो सब छूट गया और वे कुमार्गमें लग गये। वेश्या और मदिरा उन्हें प्रिय हो गयी। धर्म और परलोकका स्वप्नमें भी उन्हें ध्यान नहीं रहा।

पापमें आधी उम्र बीतते-बीतते दोनोंका धन नष्ट हो गया। वेश्या और शराबके चक्करमें घर-द्वार नीलाम हो गये। माँगनेपर एक पैसा भी मिलना कठिन हो गया। उनके चरित्रहीन मित्रोंने साथ छोड़ दिया। वेश्याने धक्के देकर उन दरिद्रोंको अपने घरसे निकाल दिया। समाजमें कोई उनसे बोलनातक नहीं चाहता था। अत्यन्त दुःखी होकर दोनोंने अपनी जन्मभूमिका त्याग किया। उन्हें अब अपने कर्मोंपर बड़ा पश्चात्ताप हो रहा था।

भटकते हुए दोनों एक यज्ञमण्डपके पास पहुँचे। पश्चात्तापसे उनके पाप कुछ घट गये थे। पूर्वजन्मके किसी पुण्यका उदय हो आया। ऋषियोंकी वेदध्वनि कानमें पड़ी तो दोनोंको यज्ञ-दर्शनकी इच्छा हुई। वे यज्ञशालामें गये। यज्ञ-दर्शनसे उनका चित्त और शुद्ध हुआ। उनमें पश्चात्ताप विशेष वेगसे जागा। उनका हृदय दुःखित, पीड़ित होने लगा—'हमने जो भयंकर पाप किये हैं, वे कैसे नष्ट होंगे? हमारे उद्धारका मार्ग कौन बतायेगा?'

उन्होंने सोचा कि ब्राह्मण बड़े दयालु होते हैं, अतः अवश्य ये ऋषिगण हमपर कृपा करके कोई उपाय बतायेंगे। दोनों मित्र ऋषियोंके पास जाकर उनके चरणोंपर गिर पड़े। फूट-फूटकर रोते हुए अपने पापोंका वर्णन करके वे उनसे छूटनेका उपाय पूछने लगे। पाप और पुण्य दोनों ही ऐसे हैं कि वर्णन करनेसे इनका क्षय होता है। वर्णन करनेसे इन दोनोंके पाप और घटे। दयालु विप्रोंने धैर्यपूर्वक इन दोनोंकी बातें सुनीं, पर इन दोनोंके उपयुक्त कोई प्रायश्चित इन्हें सूझ ही न पड़ता था। अन्तमें

उनमेंसे एक भक्तने कहा—'तुम दोनों अपने पापोंके लिये पश्चात्ताप कर रहे हो, यह बड़ा शुभ लक्षण है। तुम अब भगवान्‌की शरण ले लो। जो अपने पिछले पापोंके लिये पश्चात्ताप करता है, आगे पाप न करनेका दृढ़ निश्चय करके भगवान्‌की शरण ले लेता है और उन सर्वेश्वरके भजनमें ही जीवन बिताता है, उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। वह भगवान्‌की कृपासे उनका देवदुर्लभ दर्शन पाकर कृतार्थ हो जाता है। अतएव तुम दोनों श्रीजगन्नाथधाम जाओ और वहाँ दारुमय पुरुषोत्तमके दर्शन करो। भगवान् जगन्नाथके दर्शन करके तुम सभी पापोंसे छूट जाओगे।'

वे दोनों उन महर्षिका उपदेश प्राप्तकर बड़ी उमंगसे पुरुषोत्तमक्षेत्रकी ओर चले। भगवान्‌का ध्यान और भगवन्नामका जप—यही अब उनका व्रत हो गया। श्रीजगन्नाथपुरी पहुँचकर उन्होंने समुद्र-स्नान किया। तदनन्तर वे भगवान्‌के दर्शन करने गये, पर उन्हें भगवान्‌की मूर्तिके दर्शन नहीं हुए। भगवान्‌के श्रीविग्रहके दर्शन न होनेसे उन्हें बड़ा दुःख हुआ। भगवान्‌के पापहारी नामोंका आर्तभावसे कीर्तन करते हुए वे तीन दिन निर्जल वहीं पड़े रहे। तीसरे दिन रात्रिमें उन्हें ज्योतिके दर्शन हुए। तीन दिन और वे उसी प्रकार उपवास किये कीर्तन करते रहे। सातवीं रात्रिको स्वप्नमें भगवान्‌ने अपने दिव्य रूपकी झाँकी दी। कोई कितना भी पापी क्यों न हो, यदि उसके मनमें पश्चात्ताप जाग पड़े, वह पुनः पाप न करनेका निश्चय करके भगवान्‌की शरण ले ले, तो अवश्य प्रभु उसे अपना लेते हैं। वे दोनों मित्र सात दिनसे भगवान्‌के द्वारपर निराहार रहकर उन मंगलमयके दिव्य नामोंका श्रद्धा-विश्वासपूर्वक आर्तभावसे कीर्तन कर रहे थे। उनके सारे पाप भस्म हो चुके थे। प्रभुने उनपर कृपा की। नेत्र खुलते ही स्वप्नमें होनेवाली भगवान्‌की ज्योतिर्मयी दिव्य झाँकीको प्रत्यक्ष देखकर वे कृतार्थ हो गये! भगवान्‌का प्रत्यक्ष दर्शन हुआ उन्हें। फिर तो वे भगवान्‌का भजन करते जीवनभर पुरुषोत्तमपुरीमें ही रहे।

शिवभक्त वैश्वानर

प्राचीन कालमें पुण्यसलिला नर्मदाके पावन तटपर नर्मपुर नामक एक अति रमणीय छोटा-सा गाँव था। उसमें विश्वानर नामक एक पुण्यात्मा ब्रह्मचारी रहते थे। उनके मुखपर ब्रह्मतेज था, इन्द्रियाँ वशमें थीं, हृदय पवित्र था और वे प्रायः स्वाध्यायमें लगे रहते थे। वे भगवान् शङ्करके अनन्य भक्त थे।

जब उन्होंने ब्रह्मचर्याश्रममें वेद-वेदाङ्गोंका अध्ययन पूरा कर लिया, तब उनकी व्यवहारक्षेत्रमें उतरनेकी इच्छा हुई। विश्वानरने मनमें विचार किया कि 'गृहस्थाश्रम ही अन्य तीन आश्रमोंका आधार है। देवता, पितर, मनुष्य और पशु-पक्षी भी गृहस्थोंका ही आश्रय लेते हैं। स्नान, हवन और दान गृहस्थके लिये आवश्यक धर्म हैं। इस आश्रममें जपके लिये भी कोई बाधा नहीं है। चित्त स्वभावसे ही चञ्चल है। गृहस्थका चित्त एक स्त्रीमें बँधा रहता है। चरित्रकी रक्षाके लिये धर्मपत्नी उसका कवच है। यदि मैं विवाह नहीं करूँ, हठसे, लोकलाजसे अथवा स्वार्थवश ब्रह्मचारीके ही वेशमें रहूँ और मेरे मनमें बुरी वासनाएँ आयें—आती रहें तो मेरा वह ब्रह्मचर्य किस कामका? यदि गृहस्थ परस्त्रीपर कुदृष्टि न डाले, अपनी स्त्रीसे ही सन्तुष्ट रहे और ऋतुकालमें सहवास करे तो वह गृहस्थ होनेपर भी ब्रह्मचारी ही है। जो राग-द्वेषसे रहित होकर सदाचारपूर्वक गृहस्थजीवन व्यतीत करता है, वह वानप्रस्थसे भी श्रेष्ठ है। क्षणिक वैराग्यके आवेशमें आकर कोई घर छोड़ दे और घरकी बातोंका ही चिन्तन करता रहे तो उसे त्यागका कोई फल नहीं मिलता। जो गृहस्थ किसीसे किसी वस्तुकी याचना नहीं करता, भगवान् जिस परिस्थितिमें रखें, उसीमें प्रसन्न रहता है, वह उन संन्यासियोंसे बहुत ही उत्तम है, जो भोजनके अतिरिक्त किसी भी वस्तुकी भिक्षा माँगते हैं। अतएव मुझे गृहस्थाश्रमको ही स्वीकार करना चाहिये।'

तदनन्तर शुभ मुहूर्तमें उन्होंने अपने अनुरूप कुलीन कन्यासे विवाह किया और गृहस्थधर्मके अनुसार सदाचारका

पालन एवं भगवान्‌का स्मरण-चिन्तन करते हुए अपना जीवन व्यतीत करने लगे। उनकी पत्नीका नाम शुचिष्मती था। वे अपने पतिको ही भगवान्‌का स्वरूप मानकर उनकी सेवा करती थीं। पञ्च-महायज्ञ—देवता, पितर और अतिथियोंकी पूजा-सेवा प्रतिदिन होती। विश्वानरके पूजा-पाठ एवं अर्थोपार्जनका समय निश्चित था। उनका प्रत्येक काम धर्मकी प्रेरणासे युक्त ही होता था। उनकी धर्मपत्नी उनके प्रत्येक कार्यमें निःसङ्कोच सहायता करती थीं। वे दो शरीर, एक प्राण थे। उनका जीवन सुखमय था। भगवान्‌का प्रेम दोनोंके हृदयसे छलकता रहता था। इस प्रकार बहुत दिन बीत गये।

सन्तान न होनेसे शुचिष्मतीका मन दुःखी रहता था। उसने एक दिन पतिसे कहा। उनके मनमें आयी, इसके लिये भगवान् शङ्करकी आराधना करनी चाहिये और इसके बाद अपनी पत्नीको आश्वासन देकर उन्होंने इस कार्यके लिये काशीकी यात्रा की।

काशी भगवान् शङ्करका नित्य निवासस्थान है। काशीमें पहुँचते ही विश्वानरके त्रिविध ताप शान्त हो गये, सैकड़ों जन्मोंके संस्कार धुल गये। उन्होंने गङ्गास्नान करके भगवान् शङ्करकी विविध लिङ्ग-मूर्तियोंका दर्शन और पूजन किया। यज्ञ करके सहस्र-सहस्र ब्राह्मण-संन्यासियोंको भोजन कराया। अन्तमें उन्होंने यह निश्चय किया कि भगवान् वीरेश्वरकी आराधना करनी चाहिये। 'अबतक बहुत-से स्त्री-पुरुषोंने वीरेश्वरकी आराधना करके अपनी-अपनी अभिलाषा पूर्ण की है। मैं इन्हींकी आराधना करूँगा, इन्हींकी सेवा-अर्चासे इन्हें पुत्ररूपमें प्राप्त करूँगा।' ऐसा दृढ़ निश्चय करके विश्वानर भगवान्‌की उपासनामें लग गये।

उन्होंने तेरह महीनेतक भगवान्‌की पूजा की। कभी एक समय खा लेते; कभी बिना माँगे जो कुछ मिल जाता, वही खाकर रह जाते; कभी दूध पी लेते; कभी फल खा लेते; कभी कुछ नहीं खाते। एक महीनेतक एक मुट्ठी तिल प्रतिदिन खाकर रह गये। किसी महीनेमें पानी ही पीकर रह गये तो किसी महीनेमें वह भी नहीं। इस प्रकार घोर तपस्या करते हुए उन्होंने बारह महीने व्यतीत किये। तेरहवें महीने एक दिन प्रातःकाल ही गङ्गास्नान करके भगवान्‌की पूजा करनेके लिये आये। उन्होंने जब मूर्तिकी ओर देखा, तब बीचो-बीच लिङ्गमें एक बालक दिखायी पड़ा। आठ वर्षकी अवस्था मालूम पड़ती थी। सब अङ्गोंमें भस्म लगा हुआ था। बड़ी-बड़ी आँखें थीं, लाल-लाल अधर थे, सिरपर पीली जटा और मुखपर हँसी थी। बालकोचित वेश था, शरीरपर वस्त्र नहीं था। लीलापूर्ण हँसीसे चित्तको मोह रहा था। यह बालक बालक नहीं, साक्षात् भगवान् शङ्कर थे। विश्वानर अपने इष्टदेवको पहचानकर उनके चरणोंपर गिर पड़े और आँखोंके जलसे उनका अभिषेक किया। रोमाञ्चित शरीर एवं गद्गद कण्ठसे अञ्जलि बाँधकर उन्होंने स्तुति की और उनके चरणोंपर गिर पड़े। भगवान् शङ्करने कहा—'तुम्हारी जो इच्छा हो, माँग लो।' विश्वानरने कहा—'प्रभो! आप सर्वज्ञ हैं; आपके लिये अज्ञात क्या है? एक तो मैंने इच्छा करके ही अपराध किया; दूसरे, अब आप याचना करनेको कह रहे हैं! याचना तो दीनताकी मूर्ति है। आप जान-बूझकर मुझे इसके लिये क्यों प्रेरित कर रहे हैं ?' भगवान् शङ्करने कहा—'तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण होगी। शुचिष्मतीकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये तुमने जो तपस्या की है, वह सर्वथा उचित है। मैं एक रूपसे तुम्हारा पुत्र बनूँगा। मेरा नाम गृहपति, अग्नि अथवा वैश्वानर होगा।' इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये और विश्वानर बड़े आनन्दके साथ भगवान्‌का स्मरण करते हुए अपने घर लौट आये।

समयपर शुचिष्मती गर्भवती हुईं। विश्वानरने शास्त्रके अनुसार सभी संस्कार किये। जिस दिन पुत्रजन्म हुआ, उस दिन सब दिशाएँ आनन्दसे परिपूर्ण हो गयीं। नवजात शिशुका जातकर्म-संस्कार और श्रुतिके अनुसार नामकरण किया गया। शिशुका नाम गृहपति रखा गया। पाँचवें वर्ष यज्ञोपवीत-संस्कारके साथ ही कुमारका वेदाध्ययन प्रारम्भ हुआ। कुल तीन वर्षके समयमें समस्त शास्त्रोंका साङ्गोपाङ्ग अध्ययन करके—जब कि दूसरोंके लिये इतने अल्पकालमें उनका परायण भी असम्भव है—वैश्वानर अपने पिताके पास लौट आये और उन्होंने अपने विनय, सेवा, सहिष्णुता आदिसे न केवल अपने माता-पिताको, बल्कि सभी लोगोंको चकित कर दिया। बालकोंका

एकमात्र कर्तव्य है—माता-पिताकी सेवा, उनकी आज्ञाका पालन और सबके साथ विनयका व्यवहार। वैश्वानर इसके आचार्य थे, आदर्श थे। विद्याके साथ विनय भी चाहिये, यही मणि-काञ्चनसंयोग है।

एक दिन घूमते-घामते देवर्षि नारद नर्मपुरमें विश्वानरके घर आये। शुचिष्मती और विश्वानरने प्रेम और आनन्दसे भरकर उनका आतिथ्य-सत्कार किया। वैश्वानर गृहपतिने आकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया। देवर्षि नारदने आशीर्वाद देकर विश्वानरसे बालककी प्रशंसा करते हुए कहा—'तुम्हारा दाम्पत्य-जीवन धन्य है! यह तुम्हारा बड़ा सौभाग्य है कि तुम्हें ऐसा आज्ञाकारी पुत्र प्राप्त हुआ है। पुत्रके लिये तो इससे बढ़कर और कोई कर्तव्य ही नहीं है। उसके लिये माता-पिता ही गुरु और देवता हैं, उनकी सेवा ही सदाचार है। उनके चरणोंका जल ही तीर्थ है। पुत्रके लिये संसारमें पिता ही परमात्मा है, पितासे भी बढ़कर माता है; क्योंकि दस महीनेतक पेटमें रखना और बचपनमें पालन-पोषण करना माताका ही काम है। गङ्गाके पवित्र जलसे अभिषेक करनेपर भी वैसी पवित्रता नहीं प्राप्त होती, जैसी माताके चरणामृतके स्पर्शसे प्राप्त होती है! संन्यास लेनेपर पुत्र पिताके लिये वन्दनीय हो जाता है, परंतु माता संन्यासी पुत्रके लिये भी वन्दनीया ही रहती है। तुम दोनों धन्य हो, क्योंकि तुम्हें ऐसा पुत्ररत्न प्राप्त हुआ है।' देवर्षि नारद जब यह कह रहे थे, माता-पिताके हृदयमें कितना हर्ष हुआ होगा—इसका अनुमान कौन कर सकता है।

देवर्षि नारदने वैश्वानरको अपने पास बुलाते हुए कहा—'बेटा! आओ, मेरी गोदमें बैठ जाओ, मैं तनिक तुम्हारे शरीरके लक्षणोंको तो देखूँ।' माता-पिताकी आज्ञासे वैश्वानर देवर्षि नारदको प्रणाम करके बड़ी नम्रतासे उनकी गोदमें बैठ गये। देवर्षि नारदने शरीरका एक-एक लक्षण देखा; तालू, जीभ और दाँत भी देखे। इसके पश्चात् गौरी-शङ्कर और गणेशको नमस्कार करके कुङ्कुमसे रँगे हुए सूतसे उत्तर मुँह खड़े हुए बालकको पैरसे लेकर सिरतक नाप लिया। उसके बाद कहा—'हे विश्वानर! एक सौ आठ अङ्गुल जिसके शरीरका परिमाण होता है, वह लोकपाल होता है! तुम्हारा बालक वैसा ही है। इसके शरीरमें उत्तम पुरुषके बत्तीसों लक्षण मिलते हैं। इसके पाँच अङ्ग दीर्घ हैं—दोनों नेत्र, ठोड़ी, जानु और नासिका। पाँच अङ्ग सूक्ष्म हैं—त्वचा, केश, दाँत, उँगलियाँ और उँगलियोंकी गाँठें। इसके तीन अङ्ग ह्रस्व हैं—ग्रीवा, जङ्घा और मूत्रेन्द्रिय। स्वर, अन्तःकरण और नाभि—ये तीन गम्भीर हैं। इसके छः स्थान ऊँचे हैं—वक्षःस्थल, उदर, मुख, ललाट, कंधे और हाथ। इसके सात स्थान लाल हैं—दोनों हाथ, दोनों आँखोंके कोने, तालु, जिह्वा, ओष्ठ, अधर और नख। तीन स्थान विस्तीर्ण हैं—ललाट, कटि और वक्षःस्थल। इन लक्षणोंसे यह सिद्ध होता है कि यह बालक महापुरुष है।' देवर्षि नारदने इनके अतिरिक्त माता-पिताको और बहुत-से लक्षण दिखाये, जिनसे इस बालककी असाधारणता सिद्ध होती थी। माता-पिता सुनते-सुनते अघाते न थे। वे चाहते थे देवर्षि और कुछ कहें। देवर्षिने भी अपनी ओरसे कोई बात उठा न रखी।

देवर्षिने अन्तमें कहा—'इस बालकमें सब गुण हैं, सब लक्षण हैं; यह निष्कलङ्क चन्द्रमा है; फिर भी ब्रह्मा इसे छोड़ेंगे नहीं। विधाताके विपरीत होनेपर सारे गुण दोष बन जाते हैं। अभी इसका नवाँ वर्ष चल रहा है, बारहवें वर्ष विद्युत्के द्वारा इसकी मृत्यु हो सकती है।' इतना कहकर देवर्षि नारद आकाशमार्गसे चले गये। माता-पिताके हृदयपर तो मानो अभी वज्रपात हो गया। वैश्वानरने देखा, मेरे मा-बाप बहुत दुःखी हो रहे हैं। उन्होंने मुसकराकर कहा—मा! तुमलोग इतने डर क्यों गये? तुम्हारे चरण-कमलोंकी धूलि जब मैं अपने सिरपर रखे रहूँगा, तब काल भी मेरा स्पर्श नहीं कर सकता—वज्रमें तो रखा ही क्या है। मेरे अनन्य स्नेही पूजनीयो! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि यदि मैं तुम्हारा पुत्र हूँ तो ऐसा काम कर दिखाऊँगा कि वज्र और मृत्यु दोनों मुझसे भयभीत रहेंगे। मैं भगवान् मृत्युञ्जयकी आराधना करूँगा। वे कालके भी काल हैं, उनकी कृपासे कुछ भी असम्भव नहीं है।' वैश्वानरकी वाणी क्या थी, अमृतकी वर्षा थी। माता-पिताका हृदय शीतल हो गया। उनके सुखकी सीमा न रही। वे बोले—'भगवान् शङ्कर बड़े दयालु हैं। उन्होंने एक नहीं, अनेकोंकी रक्षा की है। प्रलयकी

धधकती हुई आग वह हलाहल विष—जिसकी ज्वालासे त्रिलोकी भस्म हो जाती—करुणापरवश होकर भगवान् शङ्कर पी गये! उनसे बढ़कर दयालु और कौन हो सकता है। जाओ, तुम उन्हींकी शरणमें जाओ। उनका आराधन ही जीवनकी पूर्णता है।' वैश्वानरने पिता-माताके चरणोंमें प्रणाम किया, उन्हें आश्वासन दिया और प्रदक्षिणा करके काशीकी यात्रा की।

वैश्वानरका हृदय काशीके दर्शनमात्रसे खिल उठा। मणिकर्णिकाघाटपर स्नान करके विश्वेश्वरका दर्शन किया—इतना सुन्दर, इतना मनोहर दर्शन ! मानो परमानन्द ही उस लिङ्गके रूपमें प्रकट हो गया हो। वैश्वानरने सोचा—'मैं धन्य हूँ, त्रिलोकीके सारसर्वस्व शङ्करका दर्शन करके। मेरा बड़ा सौभाग्य है कि मैं अपने प्रभुके दर्शनसे सनाथ हुआ। देवर्षि नारदने मुझपर बड़ी कृपा की, जिससे जीवनका यह परम लाभ मुझे प्राप्त हुआ। मैं अब कृतकृत्य हूँ।' वैश्वानरके हृदयमें आनन्दमय भावोंकी बाढ़ आ गयी।

भगवान्की भक्तिका रहस्य भगवान् ही जानते हैं। अल्पज्ञ जीव अनन्त प्रेमार्णवके एक सीकरकी भी तो कल्पना नहीं कर सकता। इसीसे करुणापरवश भगवान् भक्तके वेशमें आते हैं। भक्त कभी भगवान्से विभक्त नहीं होते। चाहे भगवान् भक्तके हृदयमें प्रकट होकर प्रेमकी लीला करें, चाहे भक्तके रूपमें—दोनोंमें एक ही बात है। आज साक्षात् शङ्कर भी जीवोंके कल्याणके लिये भक्तोंका साज सज रहे हैं! यह उनके लिये तो एक लीला है; परंतु जीवोंके लिये भक्ति-भावनाका, आराधनाका एक सुन्दर आदर्श है। इस मार्गपर चलकर भला, कौन नहीं अपना कल्याण-साधन कर सकता।

वैश्वानरने शुभ मुहूर्तमें शिवलिङ्गकी स्थापना की। पूजाके बड़े कठोर नियम स्वीकार किये। प्रतिदिन गङ्गाजीसे एक सौ आठ घड़े जल लाकर चढ़ाना, एक हजार आठ नीले कमलोंकी माला चढ़ाना, छः महीनेतक सप्ताहमें एक बार कन्द-मूल खाकर रह जाना, छः महीनेतक सूखे पत्ते खाना, छः महीनेतक जल और छः महीनेतक केवल हवाके आधारपर रहना। जप, पूजा, पाठ, निरन्तर भगवान् शङ्करका चिन्तन। सरल हृदय भक्ति-भावनाओंसे परिपूर्ण। कभी भगवान्की कर्पूर-धवल, भस्मभूषित, सर्पपरिवेष्टित दिव्यमूर्तिका ध्यान, तो कभी करुणापूर्ण हृदयसे गद्गद प्रार्थना। दो वर्ष बीत गये पलक मारते-मारते। सुखके दिन, सौभाग्यके दिन यों ही बीत जाया करते हैं। एक दिन जब वैश्वानरका बारहवाँ वर्ष चल रहा था, मानो नारदकी बात सत्य करनेके लिये हाथमें वज्र लिये हुए इन्द्र आये। उन्होंने कहा—'वैश्वानर! मैं तुम्हारी नियम-निष्ठासे प्रसन्न हूँ। तुम्हारे हृदयमें जो अभिलाषा हो, मुझसे कहो; मैं उसे अवश्य पूर्ण करूँगा।' वैश्वानरने बड़े ही कोमल स्वरमें कहा—'देवेन्द्र! मैं आपको जानता हूँ, आप सब कुछ कर सकते हैं; परंतु मेरे स्वामी तो एकमात्र भगवान् शङ्कर हैं, मैं उनके अतिरिक्त और किसीसे वर नहीं ले सकता।' इन्द्रने कहा—'बालक! तू मूर्खता क्यों कर रहा है? मुझसे भिन्न शङ्करका कोई अस्तित्व नहीं है। मैं ही देवाधिदेव हूँ। जो तुझे चाहिये, मुझसे माँग ले।' वैश्वानरने कहा—'इन्द्र! आपका चरित्र किससे छिपा है। मैं तो शङ्करके अतिरिक्त और किसीसे वर नहीं माँग सकता।' इन्द्रका चेहरा लाल हो गया। उन्होंने अपने हाथमें स्थित भयङ्कर वज्रसे वैश्वानरको डराया। वज्रकी भीषण आकृति देखकर, जिसमेंसे विद्युत्की लपटें निकल रही थीं, वैश्वानर मानो मूर्छित हो गये। ठीक इसी समय भगवान् गौरीशङ्करने प्रकट होकर अपने कर-कमलोंके अमृतमय संस्पर्शसे वैश्वानरको उज्जीवित करते हुए कहा—'बेटा! तुम्हारा कल्याण हो! उठो, उठो; देखो तो सही तुम्हारे सामने कौन खड़ा है।' उस सुधा-मधुर वाणीको सुनकर वैश्वानरने अपनी आँखें खोलीं और देखा कि कोटि-कोटि सूर्यके समान प्रकाशमान भगवान् शङ्कर सामने खड़े हैं। ललाटपर लोचन, कण्ठमें कालिमा, बायीं ओर जगज्जननी पार्वती। जटामें स्थित चन्द्रमाकी किरणें आनन्दकी वर्षा कर रही थीं। कर्पूरोज्ज्वल शरीरपर गजचर्मका आच्छादन और साँपोंके आभूषण! आनन्दके उद्रेकसे वैश्वानरका गला भर आया, शरीर पुलकायमान हो गया, बोलनेकी इच्छा होनेपर भी जबान बंद हो गयी। वैश्वानर चित्रलिखेकी भाँति स्थिर हो गया। अपने-आपको भी भूल गया। न नमस्कार, न स्तोत्र और न तो

प्रार्थना। एक ओर गौरी-शङ्कर और दूसरी ओर वैश्वानर! वैश्वानर चकित था, भगवान् शङ्कर मुसकरा रहे थे।

भगवान् शङ्करने मौन भङ्ग किया। वे बोले—'बाल वैश्वानर! क्या तुम इन्द्रका वज्र देखकर भयभीत हो गये? डरो मत, मैंने ही इन्द्रका रूप धारण करके तुम्हें परखना चाहा था। जो मेरे प्रेमी भक्त हैं, वे तो मेरे स्वरूप ही हैं; और तुम, तुम तो मेरे स्वरूप हो ही। इन्द्र, वज्र अथवा यमराज मेरे भक्तका बाल भी बाँका नहीं कर सकते। तुम्हारी जो इच्छा हो, वह मैं पूर्ण कर सकता हूँ। तुम्हें मैंने अग्निका पद दिया। तुम समस्त देवताओंके मुख बनोगे। सब देवता तुम्हारे द्वारा ही अपना-अपना भाग ग्रहण कर सकेंगे। समस्त प्राणियोंके शरीरमें तुम्हारा निवास होगा। पूर्व दिशाके अधिपति इन्द्र हैं और दक्षिण दिशाके यमराज। तुम दोनोंके बीचमें दिक्पाल-रूपसे निवास करो। तुम आजसे आग्नेय कोणके अधिपति हुए। अपने पिता, माता और बन्धुजनोंके साथ विमानपर चढ़कर तुम अग्निलोकमें जाओ और अपने पदके अनुसार कार्य करो।' भगवान् शङ्करके इतना कहते ही वैश्वानरके माता-पिता, बन्धु-बान्धव सब वहाँ उपस्थित हो गये। सबके साथ भगवान् शङ्करके चरणोंमें नमस्कार करके वैश्वानर अग्नि अपने लोकको चले गये और भगवान् शङ्कर उसी लिङ्गमें समा गये, जिसकी पूजा वैश्वानर किया करते थे। भगवान् शङ्करने स्वयं उस लिङ्गकी बड़ी महिमा गायी है।

शिवभक्त महाकाल

प्राचीनकालमें वाराणसी नगरीमें माण्टि नामके एक महायशस्वी ब्राह्मण रहते थे। वे शिवजीके बड़े भक्त थे और सदा शिवमन्त्रका जप किया करते थे। प्रारब्धवश उनके कोई सन्तान नहीं थी। इसलिये उन्होंने पुत्रकी कामनासे दीर्घकालतक शिवमन्त्र-जपका अनुष्ठान किया। एक दिन भगवान् शङ्कर उनकी तपश्चर्यासे प्रसन्न हो उनके सामने प्रकट हुए और बोले—'वत्स माण्टि! मैं तुम्हारी आराधनासे प्रसन्न हूँ। तुम्हारा मनोरथ शीघ्र ही पूर्ण होगा और तुम्हें मेरे ही समान प्रभावशाली एवं शक्तिसम्पन्न मेधावी पुत्ररत्न प्राप्त होगा, जो तुम्हारे समग्र वंशका उद्धार करेगा।' यों कहकर शिवजी अन्तर्धान हो गये और माण्टि भगवान् शङ्करके योगिदुर्लभ, नयनाभिराम रूपका दर्शन करके और उनसे मनचाहा वरदान पाकर अत्यन्त हर्षित हुए।

माण्टिकी पत्नीका नाम चटिका था। वह महान् पतिव्रता एवं तपस्याकी मानो मूर्ति ही थी। समय पाकर तपोमूर्ति ब्राह्मणपत्नी गर्भवती हुई। क्रमशः गर्भ बढ़ने लगा और उसके साथ-साथ उस सतीका तेज और भी विकसित हो उठा; किंतु पूरे चार वर्ष व्यतीत हो गये, सन्तान गर्भसे बाहर नहीं आयी। इस घटनाको देखकर सभी आश्चर्यचकित हो गये। माण्टिने सोचा कि अवश्य ही यह कोई अलौकिक बालक है, जो गर्भसे बाहर नहीं आना चाहता। अतः वे अपनी पत्नीके पास जाकर गर्भस्थ शिशुको सम्बोधन करके कहने लगे—'वत्स! सामान्य पुत्र भी अपने माता-पिताके आनन्दको बढ़ानेवाले होते हैं; फिर तुम तो अत्यन्त पवित्र चरित्रवाली माताके उदरमें आये हो और भगवान् शङ्करके अनुग्रहसे हमारी दीर्घकालकी तपस्याके फलरूपमें प्राप्त हुए हो। ऐसी दशामें क्या तुम्हारे लिये यह उचित है कि तुम माताको इस प्रकार कष्ट दे रहे हो और हमारी भी चिन्ताके कारण बन रहे हो? हे पुत्र! यह मनुष्यजन्म ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका साधक है। शास्त्रोंमें इसे देवताओंके लिये भी दुर्लभ बताया गया है। फिर क्यों नहीं तुम शीघ्र ही बाहर आकर हम सब लोगोंको आनन्दित करते?'

गर्भ बोला—'हे तात! जो कुछ आपने कहा, वह सब मुझे ज्ञात है। मैं यह भी जानता हूँ कि इस भूमण्डलमें मनुष्यजन्म अत्यन्त दुर्लभ है; परंतु मैं कालमार्गसे अत्यन्त भयभीत हूँ। वेदोंमें काल और अर्चि नामके दो मार्गोंका वर्णन आता है। कालमार्गसे जीव कर्मोंके चक्करमें पड़ जाता है और अर्चिमार्गसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। कालमार्गसे चलनेवाले जीव चाहे पुण्यके प्रभावसे स्वर्गमें ही क्यों न चले जायँ, वहाँ भी उन्हें सुखकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष

निरन्तर इस चेष्टामें लगे रहते हैं कि जिससे उन्हें इस घोररूप गम्भीर कालमार्गमें न भटकना पड़े। अतः यदि आप कोई ऐसा उपाय कर सकें, जिससे मेरा मन नाना प्रकारके सांसारिक दोषोंसे लिप्त न हो, तो मैं इस मनुष्यलोकमें जन्म ले सकता हूँ।'

गर्भस्थ शिशुकी इस शर्तको सुनकर माण्टि और भी भयभीत हो गये। उन्होंने सोचा कि भगवान् शङ्करको छोड़कर कौन इस शर्तको पूरा कर सकता है! जिन्होंने कृपा करके मेरे मनोरथको पूर्ण किया है, वे ही इस शर्तको भी पूरा करेंगे। यों सोचकर वे मन-ही-मन भगवान् शङ्करकी शरणमें गये और उनसे प्रार्थना की। माण्टिकी प्रार्थना भगवान् आशुतोषने सुन ली। उन्होंने अपने धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्यादिको मूर्त्तरूपमें बुलाकर कहा कि 'देखो, माण्टिपुत्रको विपरीत ज्ञान हो गया है, अतः तुमलोग जाकर उसे समझाओ और ठीक रास्तेपर लाओ।' भगवान् महेश्वरकी आज्ञा पा, वे विभूतियाँ साकार विग्रह धारणकर गर्भस्थ शिशुके निकट गयीं और उसे सम्बोधित कर कहने लगीं—'महामति माण्टिपुत्र! तुम किसी प्रकारका भय न करो। भगवान् शङ्करकी कृपासे हम धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य कभी तुम्हारे मनका परित्याग नहीं करेंगे। अतः तुम निर्भय होकर गर्भसे बाहर निकल आओ।' यों कहकर वे चारों दिव्य मूर्तियाँ चुप हो गयीं। उनके चुप हो जानेपर अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य भी विकराल मूर्तियाँ धारणकर भगवान् शङ्करकी आज्ञासे वहाँ उपस्थित हुए तथा माण्टिपुत्रसे कहने लगे कि 'तुम यदि हमारे भयसे बाहर न आते होओ, तो इस भयका त्याग कर दो। भगवान् शङ्करकी आज्ञासे हम तुम्हारे भीतर कदापि प्रवेश नहीं कर सकेंगे।'

इस प्रकार धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य तथा उनके विरोधी अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्यकी आश्वासनवाणीको सुनते ही बालक माण्टिपुत्र अविलम्ब गर्भसे बाहर निकल आया और काँपते-काँपते रुदन करने लगा। उस समय भगवान् शङ्करकी विभूतियोंने माण्टिसे कहा—'देखो, माण्टि! तुम्हारा पुत्र अब भी कालमार्गके भयसे काँप और रो रहा है। अतः तुम्हारा यह पुत्र कालभीति नामसे विख्यात होगा।' यों कहकर विभूतिगण अपने स्वामी शङ्करजीके पास चले गये।

बालक कालभीति शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भाँति क्रमशः बढ़ने लगा। पिताने क्रमशः उसके उपनयनादि संस्कार किये और उसे पाशुपतव्रतमें परिनिष्ठितकर शिव-पञ्चाक्षर-मन्त्र (**नमः शिवाय**)-की दीक्षा दी। कालभीति अपने पिताके समान ही पञ्चाक्षरमन्त्रके परायण हो गये। उन्होंने तीर्थयात्राके प्रसङ्गसे विविध रुद्रक्षेत्रोंमें भ्रमण किया और घूमते-घूमते स्तम्भतीर्थ नामक क्षेत्रमें पहुँचे, जहाँका प्रभाव उन्होंने लोगोंसे पहले ही सुन रखा था। वहाँ वे घोर तपस्या करते हुए एकाग्र मनसे रुद्रमन्त्रका जप करने लगे। उन्होंने यह नियम ले लिया कि 'सौ वर्षतक भोजनकी तो कौन कहे, जलकी एक बूँद भी ग्रहण नहीं करूँगा।' ज्यों ही सौ वर्ष समाप्त होनेको आये कि एक अज्ञात पुरुष जलसे भरा हुआ एक घड़ा लेकर कालभीतिके पास आया और प्रणाम करके उस तपस्वी ब्राह्मणसे कहने लगा—'हे महामति कालभीति! आज तुम्हारा अनुष्ठान भगवान् शङ्करकी कृपासे पूर्ण हो गया है। तुम्हें भूख-प्यास सहते पूरे सौ वर्ष हो गये हैं। मैं बड़े प्रेमसे अत्यन्त पवित्र होकर यह जल तुम्हारे लिये ले आया हूँ। तुम कृपा करके इसे स्वीकार करो और मेरे श्रमको सफल करो।'

कालभीतिको वास्तवमें प्यास बहुत सता रही थी। अञ्जलिभर पानीके लिये उनके प्राण छटपटा रहे थे। परंतु सहसा एक अपरिचित व्यक्तिके द्वारा लाया हुआ जल ग्रहण करना उन्होंने उचित नहीं समझा। वे शङ्कापूर्ण नेत्रोंसे उस आगन्तुक पुरुषकी ओर देखते हुए बोले—'आप कौन हैं? आपकी जाति क्या है और आपका आचार कैसा है, कृपाकर बताइये। आपकी जाति और आचारको जान लेनेके बाद ही मैं आपके लाये हुए जलको ग्रहण कर सकता हूँ।' इसपर वह अपरिचित व्यक्ति बोला—'तपोधन! मेरे माता-पिता इस लोकमें हैं या नहीं, इसका भी मुझे पता नहीं है। उनके विषयमें मैं कुछ भी नहीं जानता। मैं सदा इसी ढंगसे रहता हूँ। आचार अथवा धर्मसे, मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। अतः आचारकी बात मैं क्या कह सकता हूँ? सच पूछिये तो मैं किसी आचार-विचारका पालन भी नहीं करता।'

कालभीति बोले—'यदि ऐसी बात है, तब तो मैं

आपसे क्षमा चाहता हूँ। मैं आपके दिये हुए जलको ग्रहण नहीं कर सकता। इस सम्बन्धमें मेरे गुरुदेवने जो श्रुतिसम्मत उपदेश मुझे दिया है, उसे मैं आपको सुनाता हूँ। जिसके कुलका हाल अथवा रक्तशुद्धिका पता न हो, साधु व्यक्ति उसके दिये हुए अन्न-जलको ग्रहण नहीं करते। इसी प्रकार जो व्यक्ति भगवान्के सम्बन्धमें कुछ भी ज्ञान नहीं रखता और न उनकी भक्ति करता है, उसके हाथका अन्न-जल भी ग्रहण करने योग्य नहीं होता। भगवान्को अर्पण किये बिना जो व्यक्ति भोजन करता है, उसे बड़ा पाप लगता है। गङ्गाजलसे भरे हुए घड़ेमें एक बूँद मदिराके मिल जानेसे जैसे वह अपवित्र हो जाता है, उसी प्रकार भगवान्की भक्ति न करनेवालेका अन्न चाहे कितनी ही पवित्रतासे बनाया गया हो, अपवित्र ही होता है। परंतु यदि कोई मनुष्य शिवभक्त भी हो, परंतु उसकी जाति और आचार भ्रष्ट हों तो उसका अन्न भी नहीं खाया जाता। अन्न-जलके सम्बन्धमें शास्त्रोंमें दोनों बातोंका विचार रखा गया है। अन्न या जल—जो कुछ भी ग्रहण किया जाय, वह भगवान्को अर्पित हो और जिसके द्वारा वह अन्न अथवा जल लाया गया है, वह जाति तथा आचारकी दृष्टिसे पवित्र हो।'

कालभीतिके इन वचनोंको सुनकर वह मनुष्य हँसने लगा और बोला—'अरे तपस्वी! तुम तप एवं विद्यासे सम्पन्न होनेपर भी मुझे नितान्त मूर्ख प्रतीत होते हो। तुम्हारी इस बातको सुनकर मुझे हँसी आती है। अरे नादान! क्या तुम नहीं जानते कि भगवान् शिव सभी भूतोंके अंदर समानरूपसे निवास करते हैं? ऐसी दशामें किसीको पवित्र और किसीको अपवित्र कहना कदापि उचित नहीं है। अपवित्र कहकर किसीकी निन्दा करना प्रकारान्तरसे उसके अंदर रहनेवाले भगवान् शङ्करकी ही निन्दा करना है। जो मनुष्य अपने अथवा दूसरेके अंदर भगवान्की सत्ताके सम्बन्धमें सन्देह करता है, मृत्यु उस भेदज्ञानी मनुष्यके लिये विशेष रूपसे भयदायक होती है। फिर जरा विचारो तो सही कि जलमें अपवित्रता आ ही कैसे सकती है। जिस पात्रमें इसे मैं ले आया हूँ, वह मिट्टीका बना हुआ है—मिट्टी भी ऐसी-वैसी नहीं, किंतु अवेंकी आगमें भलीभाँति तपायी हुई; और फिर वह जलके द्वारा शुद्ध हो चुकी है। मृत्तिका, जल और अग्नि—इनमेंसे कौन-सी वस्तु अपवित्र है? यदि कहो कि हमारे संसर्गसे यह जल अपवित्र हो गया है, तो यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि तुम और हम दोनों ही इस मिट्टीसे ही तो बने हैं और मिट्टीपर ही सदा रहते हैं। मेरे संसर्गसे यदि जल अशुचि हो सकता है तो जिस जमीनपर मैं खड़ा हूँ, वह जमीन भी मेरे संसर्गसे अपवित्र हो जानी चाहिये। तब तो तुम्हें भूमिको छोड़कर आकाशमें विचरण करना होगा। इन सब बातोंपर विचार करनेसे तुम्हारी उक्ति मुझे नितान्त मूर्खतापूर्ण प्रतीत होती है।'

कालभीतिने कहा—'अवश्य ही भगवान् शङ्करका सभी भूतोंमें निवास है। परंतु इस बातको लेकर जो सब भूतोंकी व्यवहारमें समानता करता है, वह अन्नादिका परित्याग करके मृत्तिका अथवा भस्मसे उदरपूर्ति क्यों नहीं करता? क्योंकि उसके मतानुसार अन्नमें जो भगवान् हैं, वे ही तो मृत्तिका और भस्ममें भी हैं। परंतु उसकी यह मान्यता ठीक नहीं। परमार्थ-दृष्टिसे सब कुछ शिवरूप होनेपर भी व्यवहारमें भेद आवश्यक है। इसीलिये शास्त्रमें नाना प्रकारकी शुद्धिके विधान पाये जाते हैं और उनके फल भी अलग-अलग निर्दिष्ट हुए हैं। शास्त्रकी आज्ञाके विरुद्ध आचरण करना कदापि उचित नहीं है। जो शास्त्र भगवान् शिवकी सत्ता सर्वत्र बतलाते हैं, वे ही व्यवहारमें भेदका भी विधान करते हैं। शास्त्रकी एक बात तो मानी जाय और दूसरी न मानी जाय, यह कहाँतक उचित है। दोनों ही बातें अपनी-अपनी दृष्टिसे ठीक हैं और दोनोंकी परस्पर सङ्गति भी है।'

'श्रुति कहती है कि बाहर-भीतरकी पवित्रता रखो। इसी बातको इतिहास-पुराण इन शब्दोंमें कहते हैं—यदि परलोकमें सुखी रहना चाहते हो और कष्टोंसे बचना चाहते हो, तो शौचाचारका पालन करो। पृथ्वीपर रहनेवाले व्यक्तियोंके लिये शौचाचारका पालन अवश्यकर्तव्य है। ऐसी दशामें यदि आप श्रुतियोंकी अवहेलना करके 'सब कुछ शिवमय है' यह कहकर व्यवहारके भेदको मिटाना चाहते हैं तो फिर बताइये, क्या श्रुति-पुराणादि शास्त्र व्यर्थ नहीं हो जायँगे? आप जो यह कहते हैं कि भगवान् शिव सभी भूतोंमें स्थित हैं, यह ठीक है। भगवान् शिव सर्वत्र

हैं, यह बात अक्षरशः सत्य है। फिर भी व्यक्तिभेदसे उनकी सत्तामें भी भेद कहा जा सकता है। इसके लिये मैं आपको एक दृष्टान्त देता हूँ। यद्यपि सभी सोनेके गहने सुवर्ण नामकी एक ही धातुसे बने हुए होते हैं, तब भी सबका सोना एक ही दामका अथवा एक ही रंगका नहीं होता। उनमेंसे एकका सोना एकदम शुद्ध—टकसाली होता है, दूसरेका उसकी अपेक्षा कुछ नीचे दर्जेका होता है और तीसरेका और भी निकृष्ट होता है। परंतु यह तो मानना ही पड़ेगा कि सभी सुवर्णके गहनोंमें सोना मौजूद है। साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि सभी गहनोंका सोना एक-सा नहीं है। इसी प्रकार भगवान् शिव भी सब भूतोंमें हैं अवश्य; परंतु एकके अंदर उनका प्रकाश अत्यन्त शुद्ध है, दूसरेके अंदर वह उतना शुद्ध नहीं है और तीसरेके अंदर वह और भी मलिन है। इस प्रकार समस्त पदार्थोंमें व्यवहारकी दृष्टिसे समता नहीं की जा सकती। जिस प्रकार निकृष्ट श्रेणीका सोना दाहादिके द्वारा शोधित होकर क्रमशः उत्कर्षको प्राप्त होता है, उसी प्रकार मलिन अन्तःकरण तथा मलिन देहवाले जीव शौचादिके द्वारा शुद्ध होकर ही शुद्ध शिवत्वके अधिकारी होते हैं। सामान्य शौचादिके द्वारा सहसा शुद्ध शिवत्वका लाभ सम्भव नहीं है, इसीलिये शास्त्रोंमें देह-शोधनकी आवश्यकता बतायी गयी है। देह शोधित होनेपर ही देही स्वर्गादि उच्च लोकोंको प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार जो बुद्धिमान् पुरुष देहशोधनकी इच्छा रखते हैं, वे चाहे जिस व्यक्तिसे अन्न-जल नहीं ग्रहण करते। इसके विपरीत जो लोग शौचाचारका विचार न करके चाहे जिसका अन्न-जल ग्रहण कर लेते हैं, वे पवित्र आचरणवाले होनेपर भी कुछ ही समयमें तमोगुणसे आच्छन्न होकर जडीभूत हो जाते हैं। इसलिये मैं आपका यह जल ग्रहण नहीं कर सकता। इसके लिये आप मुझे क्षमा करें।'

तपस्वीके इस शास्त्रानुमोदित एवं युक्तियुक्त भाषणको सुनकर वह अज्ञात मनुष्य चुप हो गया। उसने पैरके अँगूठेसे बात-की-बातमें एक बड़ा-सा गड्ढा खोद डाला और उसमें उस मटकेके जलको उँड़ेल दिया। वह बड़ा गड्ढा उस थोड़ेसे जलसे लबालब भर गया, फिर भी थोड़ा जल उस मटकेमें बच रहा। उस बचे हुए जलसे उसने निकटवर्ती एक सरोवरको भर दिया। इस अद्भुत व्यापारको देखकर कालभीति तनिक भी विस्मित नहीं हुए। उन्होंने सोचा, भूतादिकी उपासना करनेवाले बहुधा इस प्रकारकी आश्चर्यजनक घटनाएँ कर दिखाया करते हैं; परंतु इस प्रकारके आश्चर्योंसे श्रुतिमार्गमें कोई विरोध नहीं आ सकता।

भक्त कालभीतिके दृढ़ निश्चयको देखकर वह अपरिचित व्यक्ति सहसा जोरसे हँसता हुआ अन्तर्धान हो गया। कालभीति भी यह देखकर आश्चर्यमें डूब गये और उस व्यक्तिके सम्बन्धमें नाना प्रकारके ऊहापोह करने लगे। इस प्रकार जब वे विचारमें डूबे हुए थे कि उनकी दृष्टि सहसा उस बिल्ववृक्षके मूलकी ओर गयी। वहाँ उन्होंने देखा कि एक विशाल शिवलिङ्ग अकस्मात् प्रादुर्भूत हो गया है। उसके तेजसे दसों दिशाएँ उद्भासित हो उठी हैं। आकाशमें गन्धर्वगण सुमधुर गान कर रहे हैं और अप्सराएँ नृत्य कर रही हैं। देवराज इन्द्र उसके ऊपर पारिजातके पुष्पोंकी वर्षा कर रहे हैं तथा अन्यान्य देवता एवं मुनिगण भी जय-जयकार करते हुए नाना प्रकारसे भगवान् शङ्करकी स्तुति कर रहे हैं। इस प्रकार वहाँ बड़ा भारी उत्सव होने लगा। कालभीतिने भी अत्यन्त आनन्दित होकर उस स्वयम्भू लिङ्गको प्रणाम किया और स्तुति करते हुए कहा—

'जो पापराशिके काल हैं, संसाररूपी कर्दमके काल हैं, तथा कालके भी काल हैं, उन कलाधर, कालकण्ठ महाकालकी मैं शरण आया हूँ। आपको मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ। हे शिव! आपसे ही यह संसार उत्पन्न हुआ है और आप स्वयं अनादि हैं। जहाँ-जहाँ जिस-जिस योनिमें मैं जन्म लेता हूँ, वहाँ-वहाँ आप मेरे ऊपर करुणाकी निरन्तर वर्षा करते हैं। हे ईश्वर! जो संसारसे विरक्त होकर आपके षडक्षर मन्त्रका जप करते हैं, आप उन समस्त मुनिगणोंपर बहुत जल्दी प्रसन्न हो जाते हैं। हे प्रभो! मैं उसी '**ॐ नमः शिवाय**' इस षडक्षर मन्त्रका निरन्तर जप करता हूँ।'

भक्तश्रेष्ठ कालभीतिकी स्तुतिको सुनकर भगवान् शङ्कर अत्यन्त प्रसन्न हुए। वे उसी लिङ्गमेंसे अपने स्वरूपमें प्रकट हो गये और दिव्य प्रकाशसे त्रिलोकीको प्रकाशित करते हुए उस ब्राह्मणसे बोले—'द्विजश्रेष्ठ! तुमने इस महीतीर्थमें कठोर तपस्याके द्वारा जो मेरी आराधना की है, इससे मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। अब

मेरी कृपासे काल भी तुम्हारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं डाल सकेगा। मैंने ही मनुष्य-शरीर धारण करके तुम्हारे विश्वासकी परीक्षा ली थी और मुझे हर्ष है कि उस परीक्षामें तुम पूर्णतया सफल हुए। तुम्हारे-जैसे दृढविश्वासी पुरुष जिस धर्मका आचरण करते हैं, वही धर्म वास्तवमें श्रेष्ठ है। मैं तुम्हारे लिये जो जल ले आया था, वह समस्त तीर्थोंका जल है और अत्यन्त पवित्र है। मैंने उसके द्वारा ही उस गड्ढे एवं सरोवरको भरा है। अब तुम मुझसे अपना अभिलषित वर माँगो। तुम्हारी आराधनासे मैं इतना अधिक प्रसन्न हुआ हूँ कि तुम्हारे लिये मुझे कुछ भी अदेय न होगा।'

कालभीतिने कहा—'प्रभो! आपने मेरे प्रति जो प्रसन्नता प्रकट की है, उससे मैं वास्तवमें धन्य हो गया हूँ। वास्तवमें धर्म वही है, जिससे भगवान्‌की प्रसन्नता सम्पादित होती है। जिस धर्मसे आप भगवान्‌की सन्तुष्टि नहीं होती, वह धर्म धर्म ही नहीं है। अब आप यदि मुझपर प्रसन्न हुए हैं, तो मेरी आपके चरणोंमें यही प्रार्थना है कि आप अबसे सदा इस लिङ्गमें विराजमान रहें, जिससे कि इस लिङ्गके प्रति जो कुछ भी पूजा-अर्चा की जाय, वह अक्षय फल देनेवाली हो जाय।'

भगवान् शङ्करने कालभीतिकी इस निष्काम प्रार्थनाको स्वीकार करते हुए कहा—'वत्स! तुमने मेरी आराधनाके द्वारा कालमार्गपर विजय प्राप्त की है, इसलिये तुम भी महाकाल नामसे विख्यात होकर नंदीकी भाँति मेरे अनुचररूपमें चिरकालतक मेरे लोकमें सुखपूर्वक निवास करोगे। कुछ ही दिनों बाद इस स्थानपर करन्धम नामके राजर्षि तुमसे मिलने आयेंगे, उन्हें धर्मका उपदेश देकर तुम मेरे लोकमें चले आना।' भगवान् शिव यह कहकर उस लिङ्गके अंदर लीन हो गये। इसके बाद महाकाल भी आनन्दपूर्वक उस स्थानमें रहकर तपस्या करने लगे।

कुछ दिनों बाद राजा करन्धम महाकालतीर्थका माहात्म्य और महाकालके चरित्रकी कथा सुनकर धर्मके सम्बन्धमें विशेष तत्त्व जाननेकी इच्छासे वहाँ आये। महाकाल लिङ्गका दर्शन करके करन्धम राजाके आनन्दकी सीमा न रही। उन्होंने उस समय अपने जीवनको सफल समझा। इसके बाद महामहोपचारसे उन्होंने महाकाल लिङ्गकी पूजा की और फिर भक्तवर महाकालके पास पहुँचकर प्रणाम किया। राजाको आते देखकर महाकालको भगवान् शङ्करका वचन स्मरण हो आया और उन्होंने हास्ययुक्त वदनसे राजाके सामने आकर उनका स्वागत किया और अर्घ्य-पाद्यादि उपचारोंके द्वारा उनका सत्कार किया। राजा करन्धमने शान्तमूर्ति भक्तवर महाकालसे कुशल-प्रश्नके अनन्तर अनेकों धर्मविषयक प्रश्न किये और महाकालने उन सबका शास्त्रानुमोदित उत्तर देकर राजाका समाधान किया। उनके उपदेशका सार यही था कि घरमें ही रहकर इस लोकमें धर्म, अर्थ, काम तथा मृत्युके बाद मोक्ष प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय माहेश्वर-धर्मका पालन अर्थात् सब प्रकारसे भगवान् शङ्करके शरण होकर उनकी भक्ति करते हुए उन्हींकी प्रीतिके लिये वर्णाश्रमोचित कर्तव्यका पालन करना है।

इस प्रकार महाकाल विविध धर्मोंका उपदेश कर ही रहे थे कि सहसा आकाशमें बड़ा भारी शब्द होने लगा। महाकालने उस ओर ताका तो वे क्या देखते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, उनके अनुचर तथा भगवतीके सहित स्वयं भगवान् शङ्कर आ रहे हैं। उनके साथ इन्द्रादि देवता, वसिष्ठादि मुनीश्वर तथा तुम्बुरु प्रभृति गन्धर्व हैं। महामति महाकालने भक्तिनिर्भर चित्तसे उठकर सबकी अभ्यर्थना की और अनेक प्रकारसे पूजा की। ब्रह्मादि देवताओंने महाकालको उत्तम रत्नसिंहासनपर बिठाकर उस महीसागर-सङ्गम क्षेत्रमें उनका अभिषेक किया। देवी भगवतीने महाकालको वात्सल्य-भावसे आलिङ्गनकर गोदमें बिठाया और पुत्रवत् प्यार करती हुई बोलीं— 'शिवव्रतपरायण वत्स! यह ब्रह्माण्ड जबतक रहेगा, तबतक तुम शिवभक्तिके प्रभावसे शिवलोकमें निवास करोगे।'

उस समय ब्रह्मा, विष्णु प्रभृति देवगण साधु-साधु कहकर महाकालकी प्रशंसा और स्तुति करने लगे, चारणलोग उनका गुणगान करने लगे और गन्धर्वगण मनोहर गानके द्वारा उन्हें प्रसन्न करने लगे। करोड़ों शिवजीके गण उनकी स्तुति करते हुए उन्हें घेरकर चारों ओर खड़े हो गये। इस प्रकार अपूर्व समारोहके साथ भक्तश्रेष्ठ महाकाल अपने आराध्यदेवके साथ सशरीर शिवलोकको चले गये।

शिवभक्त उपमन्यु

भक्तराज उपमन्यु परम शिवभक्त, वेदतत्त्वके ज्ञाता महर्षि व्याघ्रपादके बड़े पुत्र थे। एक दिन उपमन्युने मातासे दूध माँगा। घरमें दूध था नहीं। माताने चावलोंका आटा जलमें घोलकर उपमन्युको दे दिया। उपमन्यु मामाके घर दूध पी चुके थे। अतएव उन्होंने यह जानकर कि यह दूध नहीं है, मातासे कहा—'मा! यह तो दूध नहीं है।' ऋषिपत्नी झूठ बोलना नहीं जानती थी; उन्होंने कहा—'बेटा! तू सत्य कहता है, यह दूध नहीं है। नदी-किनारे वनों और पहाड़ोंकी गुफाओंमें जीवन बितानेवाले हम तपस्वी मनुष्योंके यहाँ दूध कहाँसे मिल सकता है, हमारे तो सर्वस्व श्रीशिवजी महाराज हैं। तू यदि दूध चाहता है तो उन जगन्नाथ श्रीशिवजीको प्रसन्न कर! वे प्रसन्न होकर तुझे दूध-भात देंगे।'

माताकी बात सुनकर बालक उपमन्युने पूछा—'मा! भगवान् श्रीशिवजी कौन हैं? कहाँ रहते हैं? उनका कैसा रूप है, मुझे वे किस प्रकार मिलेंगे? और उन्हें प्रसन्न करनेका उपाय क्या है?'

बालकके सरल वचनोंको सुनकर स्नेहवश माताकी आँखोंमें आँसू भर आये। माताने उसे शिवतत्त्व बतलाया और कहा—'तू उनका भक्त बन, उनमें मन लगा, उनमें विश्वास रख, एकमात्र उनकी शरण हो जा, उन्हींका भजन कर उन्हींको नमस्कार कर। यों करनेसे वे कल्याणस्वरूप तेरा निश्चय ही कल्याण करेंगे। उनको प्रसन्न करनेका महामन्त्र है—'**नमः शिवाय**'।'

मातासे उपदेश पाकर बालक उपमन्यु शिवको प्राप्त करनेका दृढ़ सङ्कल्प करके घरसे निकल पड़े। वनमें जाकर प्रतिदिन '**नमः शिवाय**' मन्त्रके द्वारा वनके पत्र-पुष्पोंसे भगवान् शिवजीकी पूजा करते और शेष समय मन्त्र-जप करते हुए कठोर तप करने लगे। वनमें अकेले रहनेवाले तपस्वी उपमन्युको पिशाचोंने बहुत कुछ सताया; परन्तु उपमन्युके मनमें न तो भय हुआ और न विघ्न करनेवालोंके प्रति क्रोध ही! वे उच्च स्वरसे '**नमः शिवाय**' मन्त्रका कीर्तन करने लगे। इस पवित्र मन्त्रके सुननेसे मरीचिके शापसे पिशाचयोनिको प्राप्त हुए, उपमन्युके तपमें विघ्न करनेवाले वे मुनि पिशाचयोनिसे छूटकर पुनः मुनिदेहको प्राप्त हो कृतज्ञताके साथ उपमन्युकी सेवा करने लगे।

तदनन्तर देवताओंके द्वारा उपमन्युकी उग्र तपस्याका समाचार सुनकर सर्वान्तर्यामी भक्तवत्सल भोलेनाथ श्रीशङ्करजी भक्तका गौरव बढ़ानेके लिये उनके अनन्यभावकी परीक्षा करनेकी इच्छासे इन्द्रका रूप धारणकर श्वेतवर्ण ऐरावतपर सवार हो उपमन्युके समीप जा पहुँचे। मुनिकुमार भक्तश्रेष्ठ उपमन्युने इन्द्ररूपी भगवान् महादेवको देखकर धरतीपर सिर टेककर प्रणाम किया और कहा—'देवराज! आपने कृपा करके स्वयं मेरे समीप पधारकर मुझपर बड़ी कृपा की है। बतलाइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?' इन्द्ररूपी परमात्मा शङ्करने प्रसन्न होकर कहा—'हे सुव्रत! तुम्हारी इस तपस्यासे मैं बहुत ही प्रसन्न हूँ, तुम मुझसे मनमाना वर माँगो; तुम जो कुछ माँगोगे, वही मैं तुम्हें दूँगा।'

इन्द्रकी बात सुनकर उपमन्युने कहा—'देवराज! आपकी बड़ी कृपा है, परन्तु मैं आपसे कुछ भी नहीं चाहता। मुझे न तो स्वर्ग चाहिये, न स्वर्गका ऐश्वर्य ही। मैं तो भगवान् शङ्करका दासानुदास बनना चाहता हूँ। जबतक वे प्रसन्न होकर मुझे दर्शन नहीं देंगे, तबतक मैं तपको नहीं छोड़ूँगा। त्रिभुवनसार, सबके आदिपुरुष, अद्वितीय, अविनाशी भगवान् शिवको प्रसन्न किये बिना किसीको स्थिर शान्ति नहीं मिल सकती। मेरे दोषोंके कारण मुझे इस जन्ममें भगवान्के दर्शन न हों और यदि मेरा फिर जन्म हो तो उसमें भी भगवान् शिवपर ही मेरी अक्षय और अनन्य भक्ति बनी रहे।'

इन्द्रसे इस प्रकार कहकर उपमन्यु फिर अपनी तपस्यामें लग गये। तब इन्द्ररूपधारी शङ्करने उपमन्युके सामने अपने गुणोंद्वारा अपनी ही निन्दा करना आरम्भ किया। मुनिको शिवनिन्दा सुनकर बड़ा ही दुःख हुआ; कभी क्रोध न करनेवाले मुनिके मनमें भी इष्टकी निन्दा सुनकर क्रोधका सञ्चार हो आया और उन्होंने इन्द्रका वध करनेकी इच्छासे अघोरास्त्रसे अभिमन्त्रित भस्म लेकर इन्द्रपर फेंकी और शिवनिन्दा सुननेके प्रायश्चित्तस्वरूप

अपने शरीरको भस्म करनेके लिये आग्नेयी धारणाका प्रयोग करने लगे।

उनकी यह स्थिति देखकर भगवान् शङ्कर परम प्रसन्न हो गये। भगवान्‌के आदेशसे 'आग्नेयी धारणा' का निवारण हो गया और नन्दीने अघोरास्त्रका निवारण कर दिया। इतनेमें ही उपमन्युने चकित होकर देखा कि ऐरावत हाथीने चन्द्रमाके समान सफेद कान्तिवाले बैलका रूप धारण कर लिया और इन्द्रकी जगह भगवान् शिव अपने दिव्य रूपमें जगज्जननी उमाके साथ उसपर विराजमान हैं। वे करोड़ों सूर्योंके समान तेजसे आच्छादित और करोड़ों चन्द्रमाओंके समान सुशीतल सुधामयी किरणधाराओंसे घिरे हुए हैं। उनके शीतल तेजसे सब दिशाएँ प्रकाशित और प्रफुल्लित हो गयीं। वे अनेक प्रकारके सुन्दर आभूषण पहने थे। उनके उज्ज्वल सफेद वस्त्र थे। सफेद फूलोंकी सुन्दर माला उनके गलेमें थी। श्वेत मस्तकपर चन्दन लगा था। श्वेत ही ध्वजा थी, श्वेत ही यज्ञोपवीत था। धवल चन्द्रयुक्त मुकुट था। सुन्दर दिव्य शरीरपर सुवर्ण-कमलोंसे गुँथी हुई और रत्नोंसे जड़ी हुई माला सुशोभित हो रही थी। माता उमाकी शोभा भी अवर्णनीय थी। ऐसे देव-मुनिवन्दित भगवान् शङ्करके माता उमाके सहित दर्शन प्राप्तकर उपमन्युके हर्षका पार नहीं रहा। उपमन्यु गद्गद कण्ठसे प्रार्थना करने लगे।

भक्तकी निष्कपट और सरल प्रार्थनासे प्रसन्न होकर भगवान् शङ्करने कहा—'बेटा उपमन्यु! मैं तुझपर परम प्रसन्न हूँ। मैंने भलीभाँति परीक्षा करके देख लिया कि तू मेरा अनन्य और दृढ़ भक्त है। बता, तू क्या चाहता है? यह याद रख कि तेरे लिये मुझको कुछ भी अदेय नहीं है।' भगवान् शङ्करके स्नेहभरे वचनोंको सुनकर उपमन्युके आनन्दकी सीमा न रही। उनके नेत्रोंसे आनन्दके आँसुओंकी धारा बहने लगी। वे गद्गद स्वरसे बोले—'नाथ! आज मुझे क्या मिलना बाकी रह गया? मेरा यह जन्म सदाके लिये सफल हो गया। देवता भी जिनको प्रत्यक्ष नहीं देख सकते, वे देवदेव आज कृपा करके मेरे सामने विराजमान हैं—इससे अधिक मुझे और क्या चाहिये। इसपर भी आप यदि देना ही चाहते हैं तो यही दीजिये कि आपके श्रीचरणोंमें मेरी अविचल और अनन्य भक्ति सदा बनी रहे।'

भगवान् चन्द्रशेखरने उपमन्युका मस्तक सूँघकर उन्हें देवीके हाथोंमें सौंप दिया। देवीजीने भी अत्यन्त स्नेहसे उनके मस्तकपर हाथ रखकर उन्हें अविनाशी कुमारपद प्रदान किया। तदनन्तर भगवान् शिवजीने कहा—'बेटा! तू आज अजर, अमर, तेजस्वी, यशस्वी और दिव्य ज्ञानयुक्त हो गया। तेरे सारे दुःखोंका सदाके लिये नाश हो गया। तू मेरा अनन्य भक्त है। यह दूध-भातकी खीर ले।' यह कहकर शिवजी अन्तर्धान हो गये। उपमन्युने ही भगवान् श्रीकृष्णको शिवमन्त्रकी दीक्षा दी थी।

शिवभक्त मंकणक

पुण्यसलिला सरस्वती नदीके किनारे एक परम तपस्वी मंकणक नामके ब्राह्मण रहते थे। एक दिनकी बात है, अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मके लिये कुश लाते समय कुशकी नोंक उनके हाथमें गड़ गयी। उनके हाथोंसे खून बहने लगा। उसे देखकर उन्हें इतनी प्रसन्नता हुई कि वे हर्षावेशमें नाचने लगे। उनकी तपस्याके प्रभावसे प्रभावित होनेके कारण स्थावर-जंगम सम्पूर्ण जगत् ही उनके नृत्यकी गतिमें गति मिलाकर नृत्य करने लगा। उनके तेजसे सभी मोहित हो गये। उस समय इन्द्रादि देवगण एवं तपोधन ऋषियोंने मिलकर ब्रह्मासे प्रार्थना की कि 'आप ऐसा उपाय करें कि इनका नृत्य बंद हो जाय।' ब्रह्माने इसके लिये रुद्रसे कहा, क्योंकि मंकणकजी भगवान् रुद्रके परम भक्त थे। ब्रह्माकी बात मानकर रुद्रदेव वहाँ गये और उन ब्राह्मण देवतासे कहा—'विप्रश्रेष्ठ! तुम किसलिये नृत्य कर रहे हो? देखो, तुम्हारे नृत्य करनेसे सारा जगत् नृत्य कर रहा है।' रुद्रदेवकी इस बातको सुनकर मंकणकने कहा—'क्या आप नहीं देख रहे हैं कि मेरे हाथसे खून बह रहा है? उसीसे प्रसन्न और हर्षाविष्ट होकर मैं नाच रहा हूँ।' महादेवने कहा—'ब्राह्मण! तुम देखते नहीं कि तुम्हारे इस अखण्ड नृत्यसे मुझे जरा भी आश्चर्य नहीं हुआ है? तुम मेरी ओर देखो तो सही।' मंकणक सोचने लगे—'ये कौन हैं, जो मुझे नाचनेसे रोक रहे हैं।' उस समय महादेवने अपनी अँगुलियोंके अग्रभागसे अपने अँगूठेको

दबाया और उससे उसी समय बरफके समान श्वेत वर्णका भस्म निकलने लगा। यह देखकर उन ब्राह्मण देवताको बड़ी लज्जा आयी और वे घबराकर महादेवके चरणोंमें गिर पड़े। उनके मुँहसे बरबस ये शब्द निकल पड़े—'प्रभो! आपसे बढ़कर और कोई देवता है ही नहीं। सारे जगत्के आधार आप ही हैं; आप ही इसकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय करते हैं। प्रभो! मैंने आपके सामने बड़ा अपराध किया है। मुझसे अनजानमें आपका बड़ा अपमान हो गया है, मुझ बालककी चूकपर दृष्टि न डालिये। क्षमा कीजिये। क्षमा कीजिये।'

भगवान् शङ्करने बड़ी प्रसन्नतासे कहा—'ब्राह्मणदेव! इसमें अपराधकी क्या बात है? आवेशके कारण तुम नाच रहे थे, ऐसी स्थितिमें अपमानकी तो कोई बात ही नहीं है। मेरी इच्छासे नृत्य बंद कर देनेके कारण मैं तुमपर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। यह तुम्हारी तपस्या और भी हजारों गुना बढ़ जाय। इस प्राची सरस्वतीके किनारे ही मैं सर्वदा तुम्हारे साथ निवास करूँगा।' इतना कहकर शङ्करने सरस्वती नदीकी और भी महिमा बतलायी तथा ब्राह्मण मंकणकपर महान् भक्तवत्सलता प्रकट करके आशुतोष भगवान् शङ्कर उन्हींके साथ वहीं निवास करने लगे। आज भी भगवान् शङ्कर अपने आज्ञाकारी भक्त मंकणकके साथ सरस्वतीतटपर विचरते रहते हैं।

महात्मा जडभरत

प्राचीन कालमें भरत नामके एक महान् प्रतापी एवं भगवद्भक्त राजा हो गये हैं, जिनके नामसे यह देश 'भारतवर्ष' कहलाता है। अन्त समयमें उनकी एक मृगशावकमें आसक्ति हो जानेके कारण उन्हें मृत्युके बाद मृगका शरीर मिला और मृगशरीर त्यागनेपर वे उत्तम ब्राह्मणकुलमें जडभरतके रूपमें अवतीर्ण हुए। जडभरतके पिता आङ्गिरस गोत्रके वेदपाठी ब्राह्मण थे और बड़े सदाचारी एवं आत्मज्ञानी थे। वे शम, दम, सन्तोष, क्षमा, नम्रता आदि गुणोंसे विभूषित थे और तप, दान तथा धर्माचरणमें रत रहते थे। भगवान्के अनुग्रहसे जडभरतको अपने पूर्वजन्मकी स्मृति बनी हुई थी। अतः वे फिर कहीं मोहजालमें न फँस जायँ, इस भावसे बचपनसे ही निःसङ्ग होकर रहने लगे। उन्होंने अपना स्वरूप जान-बूझकर उन्मत्त, जड, अन्धे और बहिरेके समान बना लिया और इसी छद्मवेषमें वे निर्द्वन्द्व होकर विचरने लगे। उपनयनके योग्य होनेपर पिताने उनका यज्ञोपवीत-संस्कार करवाया और वे उन्हें शौचाचारकी शिक्षा देने लगे। परंतु वह आत्मनिष्ठ बालक जान-बूझकर पिताकी शिक्षाके विपरीत ही आचरण करता। ब्राह्मणने उन्हें वेदाध्ययन करानेके विचारसे पहले चार महीनोंतक व्याहृति, प्रणव और शिरके सहित त्रिपदा गायत्रीका अभ्यास कराया; परन्तु इतने दीर्घकालमें वे उन्हें स्वर आदिके सहित गायत्री-मन्त्रका उच्चारण भी ठीक तरहसे नहीं करा सके। कुछ समय बाद जडभरतके पिता अपने पुत्रको विद्वान् देखनेकी आशाको मनमें ही लेकर इस असार संसारसे चल बसे और इनकी माता इन्हें तथा इनकी बहिनको इनकी सौतेली माको सौंपकर स्वयं पतिका सहगमन कर पतिलोकको चली गयी।

पिताका परलोकवास हो जानेपर इनके सौतेले भाइयोंने, जिनका आत्मविद्याकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं था और जो कर्मकाण्डको ही सब कुछ समझते थे, इन्हें जडबुद्धि एवं निकम्मा समझकर पढ़ानेका आग्रह ही छोड़ दिया। जडभरतजी भी जब लोग इनके स्वरूपको न जानकर इन्हें जड, उन्मत्त आदि कहकर इनकी अवज्ञा करते, तब उन्हें जड और उन्मत्तका-सा ही उत्तर देते। लोग इन्हें जो कोई भी काम करनेको कहते, उसे ये तुरंत कर देते। कभी बेगारमें, कभी मजदूरीपर, किसी समय भिक्षा माँगकर और कभी बिना उद्योग किये ही जो कुछ बुरा-भला अन्न इन्हें मिल जाता, उसीसे ये अपना निर्वाह कर लेते थे। स्वादकी बुद्धिसे तथा इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये कभी कुछ न खाते थे। क्योंकि उन्हें यह बोध हो गया था कि स्वयं अनुभवरूप आनन्दस्वरूप आत्मा मैं ही हूँ और मान-अपमान, जय-पराजय आदि द्वन्द्वोंसे उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःखसे वे सर्वथा अतीत थे। वे सर्दी, गरमी, वायु तथा बरसातमें भी वृषभके समान सदा नग्न रहते। इससे उनका शरीर पुष्ट और दृढ़ हो गया था। वे भूमिपर शयन करते, शरीरमें कभी तेल आदि नहीं लगाते थे और स्नान भी नहीं करते थे, जिससे उनके

शरीरपर धूल जम गयी थी और उनके उस मलिन वेषके अंदर उनका ब्रह्मतेज उसी प्रकार छिप गया था, जैसे हीरेपर मिट्टी जम जानेसे उसका तेज प्रकट नहीं होता। वे कमरमें एक मैला-सा वस्त्र लपेटे रहते और शरीरपर एक मैला-सा जनेऊ डाले रहते, जिससे लोग इन्हें जातिमात्रका ब्राह्मण अथवा अधम ब्राह्मण समझकर इनका तिरस्कार करते। परंतु ये इसकी तनिक भी परवा नहीं करते थे। इनके भाइयोंने जब देखा कि ये दूसरोंके यहाँ मजदूरी करके पेट पालते हैं, तब उन्होंने लोकलज्जासे इन्हें धानके खेतमें क्यारी इकसार करनेके कार्यमें नियुक्त कर दिया; किंतु कहाँ मिट्टी अधिक डालनी चाहिये और कहाँ कम डालनी चाहिये—इसका इन्हें बिलकुल ध्यान नहीं रहता और भाइयोंके दिये हुए चावलके दानोंको, खलको, भूसीको, घुने हुए उड़द और बरतनमें लगी हुई अन्नकी खुरचन आदिको बड़े प्रेमसे खा लेते।

× × ×

एक दिन किसी लुटेरोंके सरदारने सन्तानकी कामनासे देवी भद्रकालीको नरबलि देनेका सङ्कल्प किया। उसने इस कामके लिये किसी मनुष्यको पकड़कर मँगवाया, किंतु वह मरणभयसे इनके चंगुलसे छूटकर भाग गया। उसे ढूँढ़नेके लिये उसके साथियोंने बहुत दौड़-धूप की, परंतु अंधेरी रातमें उसका कहीं पता न चला। अकस्मात् दैवयोगसे उनकी दृष्टि जडभरतजीपर पड़ी,जो एक टाँगपर खड़े होकर हरिन, सूअर आदि जानवरोंसे खेतकी रखवाली कर रहे थे। इन्हें देखकर वे लोग बहुत प्रसन्न हुए और 'यह पुरुष-पशु उत्तम लक्षणोंवाला है, इसे देवीकी भेंट चढ़ानेसे हमारे स्वामीका कार्य अवश्य सिद्ध होगा' यह समझकर वे लोग इन्हें रस्सीसे बाँधकर देवीके मन्दिरमें ले गये। उन्होंने इन्हें विधिवत् स्नान कराकर कोरे वस्त्र पहनाये और आभूषण, पुष्पमाला और तिलक आदिसे अलंकृतकर भोजन कराया; फिर गान, स्तुति एवं मृदङ्ग तथा मजीरोंका शब्द करते हुए इन्हें देवीके आगे ले जाकर बिठा दिया। तदनन्तर पुरोहितने उस पुरुष-पशुके रुधिररूप मद्यसे देवीको तृप्त करनेके लिये मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित किये हुए कराल खड्गको उठाया और चाहा कि एक ही हाथसे उनका काम तमाम कर दें। इतनेमें ही उसने देखा कि मूर्तिमेंसे बड़ा भयङ्कर शब्द हुआ और साक्षात् भद्रकालीने मूर्तिमेंसे प्रकट होकर पुरोहितके हाथसे तलवार छीन ली और उसीसे उन पापी दुष्टोंके सिर काट डाले।

× × ×

एक दिनकी बात है, सिंधुसौवीर देशोंका राजा रहूगण तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे कपिलमुनिके आश्रमको जा रहा था। इक्षुमती नदीके तीरपर पालकी उठानेवालोंमें एक कहारकी कमी पड़ गयी। दैवयोगसे महात्मा जडभरतजी आ पहुँचे। कहारोंने देखा कि 'यह मनुष्य हट्टा-कट्टा, नौजवान और गठीले शरीरका है, अतः यह पालकी ढोनेमें बहुत उपयुक्त होगा।' इसलिये उन्होंने इनको जबरदस्ती पकड़कर अपनेमें शामिल कर लिया। पालकी उठाकर चलनेमें हिंसा न हो जाय, इस भयसे ये बाणभर आगेकी पृथ्वीको देखकर वहाँ कोई कीड़ा, चींटी आदि तो नहीं है—यह निश्चय करके आगे बढ़ते थे। इस कारण इनकी गति दूसरे पालकी उठानेवालोंके साथ एक-सरीखी नहीं हुई और पालकी टेढ़ी होने लगी। तब राजाको उन पालकी उठानेवालोंपर बड़ा क्रोध आया और वह उन्हें डाँटने लगा। इसपर उन्होंने कहा कि 'हमलोग तो ठीक चल रहे हैं, यह नया आदमी ठीक तरहसे नहीं चल रहा है।' यह सुनकर राजा रहूगण, यद्यपि उनका स्वभाव बहुत शान्त था, क्षत्रियस्वभावके कारण कुछ तमतमा उठे और जडभरतजीके स्वरूपको न पहचान उन्हें बुरा-भला कहने लगे। जडभरतजी उनकी बातोंको बड़ी शान्तिपूर्वक सुनते रहे और अन्तमें उन्होंने उनकी बातोंका बड़ा सुन्दर और ज्ञानपूर्ण उत्तर दिया। राजा रहूगण भी उत्तम श्रद्धाके कारण तत्त्वको जाननेके अधिकारी थे। जब उन्होंने इस प्रकारका सुन्दर उत्तर उस पालकी ढोनेवाले मनुष्यसे सुना, तब उनके मनमें यह निश्चय हो गया कि हो-न-हो ये कोई छद्मवेषधारी महात्मा हैं। अतः वे अपने बड़प्पनके अभिमानको त्यागकर तुरंत पालकीसे नीचे उतर पड़े और लगे उनके चरणोंमें गिरकर गिड़गिड़ाने और क्षमा माँगने। तब जडभरतजीने राजाको अध्यात्मतत्त्वका बड़ा सुन्दर उपदेश दिया, जिसे सुनकर राजा कृतकृत्य हो गये और अपनेको धन्य मानने लगे।

भक्त रामकृष्ण मुनि

यह मनुष्य-जीवन बड़ा दुर्लभ है। इसकी प्राप्ति संसारका सुख भोगनेके लिये नहीं, भगवान्‌को प्राप्त करके संसार-बन्धनसे मुक्त हो जानेके लिये ही हुई है। वे लोग बड़े भाग्यशाली हैं, जो भगवान्‌के लिये लौकिक सुखोंपर लात मारकर कठिन-से-कठिन तपस्यामें प्रवृत्त हो जाते हैं। प्राचीन कालमें विप्रवर रामकृष्ण मुनि ऐसे ही महात्मा हो गये हैं। वे महान् सत्यवादी, शीलवान्, श्रेष्ठ भगवद्भक्त, समस्त प्राणियोंपर दया करनेवाले, शत्रु और मित्रके प्रति समान भाव रखनेवाले, जितात्मा, जितेन्द्रिय और तपस्वी तथा ब्रह्मनिष्ठ एवं तत्त्ववेत्ता थे। एक दिन भगवान्‌के सच्चिदानन्दमय सगुण साकार विग्रहका दर्शन करनेके लिये वे वेङ्कटाचलके मनोरम शिखरपर गये और एक सरोवरके तटपर तपस्या करने लगे। वे अपने सब अङ्गोंको स्थिर करके खड़े रहते थे। इस प्रकार कई सौ वर्ष व्यतीत हो गये। उनके शरीरपर वल्मीक (बाँबी)-की मिट्टी जम गयी, जिससे उनके सब अङ्ग आच्छादित हो गये। तो भी महामुनि रामकृष्ण तपस्यासे विचलित नहीं हुए। देवराज इन्द्रको उनकी तपस्यासे भय हो गया। वे यह नहीं जानते थे कि वीतराग महात्माकी दृष्टिमें स्वर्गके समस्त भोग सूकरविष्ठासे भी गये-बीते हैं। उन्होंने अपने स्वभावके अनुसार महर्षिको तपस्यासे विचलित करनेके लिये घोर प्रयत्न किया। मेघोंको भेजकर उनके ऊपर बड़े वेगसे मूसलधार वृष्टि करवायी। लगातार सात दिनोंतक वर्षा होती रही, फिर भी मुनिने अपने नेत्र बंद करके वर्षाके दुःसह कष्टको सहन किया। तत्पश्चात् बड़ी भारी गड़गड़ाहटके साथ बिजली ठीक वल्मीकके ऊपर गिरी। वल्मीक ढह गया परंतु मुनिपर आँच नहीं आयी। रामकृष्णने आँख खोलकर देखा तो सामने शङ्ख-चक्र-गदाधारी भगवान् विष्णु विराजमान हैं। वे गरुड़पर आरूढ़ थे। गलेमें मनोहर वनमाला उनकी शोभा बढ़ा रही थी। उनका त्रिभुवनमोहन रूप देखकर रामकृष्ण मुनि कृतार्थ हो गये। उनकी आँखें एकटक होकर भगवान्‌की रूपसुधाका पान करने लगीं। भगवान्‌ने मुनिके कानोंमें अमृत उँड़ेलते हुए मधुर वचनोंमें कहा—'रामकृष्ण! तुम वेद-शास्त्रोंके पारङ्गत विद्वान् और तपस्याकी निधि हो। तुम्हारे इस दुष्कर तपसे मैं बहुत सन्तुष्ट हूँ। आज मेरे प्रादुर्भावका दिन है, सूर्य मकरराशिपर विराजमान हैं, महातिथि पूर्णिमाका भी योग आ पहुँचा है। साथ ही पुष्यनक्षत्रका भी सुयोग आ गया है। आजके दिन तुम्हें स्नानपूर्वक मेरा दर्शन हुआ है, अतः तुम्हारा सम्पूर्ण मनोरथ सफल होगा। इस शरीरका अन्त होनेपर तुम मेरे योगिजनदुर्लभ वैकुण्ठ धाममें निवास करोगे। आजसे यह सरोवर तुम्हारे पवित्र नामकी स्मृतिसे युक्त होकर 'कृष्णतीर्थ' के नामसे विख्यात होगा। तुम्हारे-जैसे संतपुरुष ही महातीर्थरूप हैं। उनके सम्पर्कसे ही तीर्थोंमें तीर्थत्व प्रकट होता है। जो लोग यहाँ स्नान करेंगे, वे भी सब पापोंसे मुक्त होकर उत्तम गतिके भागी होंगे।'

यों कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। आज भी वह महातीर्थ मुनिवर रामकृष्णके भक्तिभावका पवित्र संस्मरण कराता हुआ वेंकटगिरिकी शोभा बढ़ा रहा है।

भक्त-वाणी

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्त्यजेः।
क्षमार्जवदयाशौचं सत्यं पीयूषवत् पिबेः॥

भाई! यदि तुझे मुक्तिकी इच्छा है तो विषयोंको विषके समान त्याग दे तथा क्षमा, सरलता, दया, पवित्रता और सत्यको अमृतके समान ग्रहण कर।

—अष्टावक्रमुनि

भक्त भद्रमति

प्राचीनकालमें भद्रमति नामसे प्रसिद्ध एक श्रेष्ठ ब्राह्मण हो गये हैं। वे बड़े विद्वान् और निःस्पृह थे। उन्होंने एक समय यह उद्गार प्रकट किया था कि जो आशाके दास हैं, वे समस्त संसारके दास हैं और जिन्होंने आशाको अपनी दासी बना लिया है, उनके लिये यह सम्पूर्ण जगत् दासके तुल्य है।*

एक समय धर्मात्मा भद्रमति अपनी पत्नीके साथ वेंकटाचलपर गये और भगवान् श्रीनिवासके मन्दिरमें जाकर उनके श्रीविग्रहका दर्शन किया। वे मन-ही-मन जिन अन्तर्यामी प्रभुका निरन्तर चिन्तन करते थे, उन्हींके दिव्य अर्चाविग्रहका दर्शन करके आज उनके हृदयमें प्रेमका अगाध सिन्धु उमड़ आया। उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बहने लगे। चित्त एकाग्र हो गया और वे भक्तिभावसे भगवान् श्रीनिवासकी इस प्रकार स्तुति करने लगे—

नमो नमस्तेऽखिलकारणाय नमो नमस्तेऽखिलपालकाय।
नमो नमस्तेऽमरनायकाय नमो नमो दैत्यविमर्दनाय॥
नमो नमो भक्तजनप्रियाय नमो नमः पापविदारणाय।
नमो नमो दुर्जननाशकाय नमोऽस्तु तस्मै जगदीश्वराय॥
नमो नमः कारणवामनाय नारायणायामितविक्रमाय।
श्रीशार्ङ्गचक्रासिगदाधराय नमोऽस्तु तस्मै पुरुषोत्तमाय॥
नमः पयोराशिनिवासकाय नमोऽस्तु लक्ष्मीपतयेऽव्ययाय।
नमोऽस्तु सूर्याद्यमितप्रभाय नमो नमः पुण्यगतागताय॥
नमो नमोऽर्केन्दुविलोचनाय नमोऽस्तु ते यज्ञफलप्रदाय।
नमोऽस्तु यज्ञाङ्गविराजिताय नमोऽस्तु ते सज्जनवल्लभाय॥
नमो नमः कारणकारणाय नमोऽस्तु शब्दादिविवर्जिताय।
नमोऽस्तु तेऽभीष्टसुखप्रदाय नमो नमो भक्तमनोरमाय॥
नमो नमस्तेऽद्भुतकारणाय नमोऽस्तु ते मन्दरधारकाय।
नमोऽस्तु ते यज्ञवराहनाम्ने नमो हिरण्याक्षविदारकाय॥
नमोऽस्तु ते वामनरूपभाजे नमोऽस्तु ते क्षत्रकुलान्तकाय।
नमोऽस्तु ते रावणमर्दनाय नमोऽस्तु ते नन्दसुताग्रजाय॥
नमस्ते कमलाकान्त नमस्ते सुखदायिने।
श्रितार्तिनाशिने तुभ्यं भूयो भूयो नमो नमः॥

'सबके कारणरूप आप भगवान्‌को नमस्कार है, नमस्कार है। सबको पालन करनेवाले आपको नमस्कार है, नमस्कार है। समस्त देवताओंके स्वामी आपको नमस्कार है, नमस्कार है। दैत्योंका संहार करनेवाले आपको नमस्कार है, नमस्कार है। जो भक्तजनोंके प्रियतम, पापोंके नाशक तथा दुष्टोंके संहारक हैं, उन जगदीश्वरको बार-बार नमस्कार है। जिन्होंने किसी विशेष हेतुसे वामनरूप धारण किया, जो नारस्वरूप जलमें निवास करनेके कारण नारायण कहलाते हैं, जिनके विक्रमकी कोई सीमा नहीं है तथा जो शार्ङ्ग, चक्र, खड्ग और गदा धारण करते हैं, उन भगवान् पुरुषोत्तमको बार-बार नमस्कार है। क्षीरसिन्धुमें निवास करनेवाले भगवान्‌को नमस्कार है। अविनाशी लक्ष्मीपतिको नमस्कार है। जिनके अनन्त तेजकी सूर्य आदिसे भी तुलना नहीं हो सकती, उन भगवान्‌को नमस्कार है तथा जो पुण्यकर्मपरायण पुरुषोंको स्वतः प्राप्त होते हैं, उन कृपालु श्रीहरिको बार-बार नमस्कार है। सूर्य और चन्द्रमा जिनके नेत्र हैं, जो सम्पूर्ण यज्ञोंका फल देनेवाले हैं, यज्ञाङ्गोंसे जिनकी शोभा होती है तथा जो साधुपुरुषोंके परम प्रिय हैं, उन भगवान् श्रीनिवासको बार-बार नमस्कार है। जो कारणके भी कारण, शब्दादि विषयोंसे रहित,अभीष्ट सुख देनेवाले तथा भक्तोंके हृदयमें रमण करनेवाले हैं, उन भक्तवत्सल भगवान्‌को बार-बार नमस्कार है। अद्भुत कारणरूप आपको नमस्कार है, नमस्कार है। मन्दराचल पर्वत धारण करनेवाले कच्छपरूपधारी आपको नमस्कार है। यज्ञवाराहरूपमें प्रकट होनेवाले आपको नमस्कार है। हिरण्याक्षको विदीर्ण करनेवाले आपको नमस्कार है। वामनरूपधारी आपको नमस्कार है। क्षत्रियकुलका अन्त करनेवाले परशुरामरूपमें आपको नमस्कार है। रावणका मर्दन करनेवाले श्रीरामरूपधारी आपको नमस्कार है तथा नन्दनन्दन श्रीकृष्णके बड़े भाई बलरामरूपमें आपको नमस्कार है। कमलाकान्त! आपको

*आशाया ये दासा दासास्ते सर्वलोकस्य । आशा दासी येषां तेषां दासायते लोकः॥
(स्क० पु० वै० वे० २०। १८)

नमस्कार है। सबको सुख देनेवाले आपको नमस्कार है। भगवन्! आप शरणागतोंकी पीड़ाका नाश करनेवाले हैं। आपको बारंबार नमस्कार है।'

ब्राह्मण भद्रमतिके इस प्रकार स्तुति करनेपर भक्तवत्सल भगवान् श्रीनिवास बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने भद्रमतिको अपने दिव्य स्वरूपका साक्षात् दर्शन कराया और स्नेहपूर्वक कहा—'वत्स! तुम्हारा कल्याण हो, मैं तुम्हारे इस महास्तोत्रसे बहुत सन्तुष्ट हूँ। तुम इस लोकमें पुत्र-पौत्र, धन-वैभव आदिसे सुखी रहोगे अन्तमें तुम्हें मेरे परमधामकी प्राप्ति होगी।'

यों कहकर भगवान् विष्णु अन्तर्धान हो गये। भद्रमतिने अपना शेष जीवन भगवान्के भजन-कीर्तनमें ही व्यतीत किया और अन्तमें उन्हें प्रभुके वैकुण्ठधामकी प्राप्ति हुई।

भक्त रामानुज

दक्षिणमें रामानुज नामसे प्रसिद्ध एक जितेन्द्रिय ब्राह्मण थे। भगवान् विष्णुके चरणोंमें उनका अटूट अनुराग था। उन्होंने क्रमशः ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रमको पार करके वानप्रस्थमें प्रवेश किया। वेंकटाचलके वनमें उन्होंने कुटी बनायी और आकाशगङ्गाके तटपर रहकर तपस्या प्रारम्भ की। ग्रीष्म-ऋतुमें वे पञ्चाग्नि सेवन करते हुए भगवान् विष्णुके ध्यानमें संलग्न रहते थे। वर्षामें खुले आकाशके नीचे बैठकर मुखसे अष्टाक्षर मन्त्र (ॐ नमो नारायणाय)-का जप और मनसे भगवान् जनार्दनका चिन्तन करते थे। जाड़ेकी रातमें भी जलके भीतर खड़े रहकर भगवान्का ध्यान किया करते थे। उनके हृदयमें सब प्राणियोंके प्रति दयाका भाव था। वे सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे दूर रहनेवाले थे। उन्होंने कितने ही वर्षोंतक सूखे पत्ते खाकर निर्वाह किया। कुछ कालतक जलके आहारपर ही जीवन-यापन किया और कितने ही वर्षोंतक वे केवल वायु पीकर रहे। उनकी कठिन तपस्या और निश्छल भक्ति देखकर भक्तवत्सल भगवान् विष्णु प्रसन्न हो गये। उन्होंने अपने प्रिय भक्त रामानुजको प्रत्यक्ष दर्शन दिया। भगवान्के हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा आदि आयुध शोभा पा रहे थे। उनके नेत्र विकसित कमलदलकी भाँति सुन्दर थे। श्रीअङ्गोंसे कोटि-कोटि सूर्योंके समान दिव्य प्रभा बरस रही थी। गरुड़पर बैठे हुए भगवान्के ऊपर छत्र तना हुआ था। पार्षदगण चँवर डुला रहे थे। दिव्य हार, भुजबन्ध, मुकुट और कङ्कण आदि आभूषण भगवान्के अङ्गोंका सुखद सङ्ग पाकर स्वयं विभूषित हो रहे थे। विष्वक्सेन, सुनन्दादि पार्षद उन्हें सब ओरसे घेरकर खड़े थे। नारदादि देवर्षि वीणा आदि बजाकर भगवान्की महिमाका गान कर रहे थे। उनके कटिभागमें पीताम्बर शोभा पा रहा था। वक्षः-स्थलमें श्रीवत्स-चिह्न सुशोभित था। मेघके समान श्याम प्रभा बड़ी मनोहर थी। भगवान्के मुखारविन्दपर मन्द मुसकानकी अद्भुत छटा छा रही थी। कोटि-कोटि सूर्योंको भी विलज्जित करनेवाले श्रीहरि अपनी दिव्य प्रभासे समस्त दिशाओंको उद्भासित कर रहे थे। दोनों पार्श्वोंमें खड़े हुए सनकादि योगेश्वर भगवान्की सेवामें संलग्न थे। भगवान्की यह अनुपम अदृष्टपूर्व झाँकी देखकर रामानुज निहाल हो गये। भक्तवत्सल प्रभुने अपनी चारों बाँहोंसे पकड़कर उन्हें हृदयसे लगा लिया और प्रेमपूर्वक कहा—'महामुने! तुम कोई वर माँगो। मैं तुम्हारी प्रेम-भक्ति और तपस्यासे बहुत प्रसन्न हूँ।'

रामानुजने कहा—'नारायण! रमानाथ! श्रीनिवास! जगन्मय! जनार्दन! आपको नमस्कार है। गोविन्द! नरकान्तक! वेंकटाचलशिरोमणे! मैं आपके दर्शनसे ही कृतार्थ हो गया। आप धर्मके रक्षक हैं। ब्रह्माजी और महादेवजी भी जिन्हें यथार्थरूपसे नहीं जानते, तीनों वेदोंको भी जिनका ज्ञान नहीं हो पाता, वे ही परमात्मा आप आज मेरे समक्ष आकर मुझे अपने दर्शनसे कृतार्थ कर रहे हैं— इससे बढ़कर और कौन-सा वरदान हो सकता है। प्रभो! मैं तो इतनेसे ही कृत्यकृत्य हो गया हूँ, फिर भी आपकी आज्ञाका पालन करनेके लिये मैं यही वर माँगता हूँ कि आपके युगल चरणारविन्दोंमें मेरी अविचल भक्ति बनी रहे।' श्रीभगवान्ने कहा—

'एवमस्तु'। मुझमें तुम्हारी दृढ़ भक्ति होगी। प्रारब्धके अनुसार जब इस शरीरका अन्त होगा, तब तुम्हें मेरे स्वरूपकी प्राप्ति होगी।'

प्रभुका यह वरदान पाकर रामानुज धन्य-धन्य हो गये। उन्होंने बड़ी विनयके साथ भगवान्से कहा—'प्रभो! आपके भक्तोंके लक्षण क्या हैं, किस कर्मसे उनकी पहचान होती है—यह मैं सुनना चाहता हूँ।'

भगवान् वेंकटेशने कहा—'जो समस्त प्राणियोंके हितैषी हैं, जिनमें दूसरोंके दोष देखनेका स्वभाव नहीं है, जो किसीसे भी डाह नहीं रखते और ज्ञानी, निःस्पृह तथा शान्तचित्त हैं, वे श्रेष्ठ भगवद्भक्त हैं। जो मन, वाणी और क्रियाद्वारा दूसरोंको पीड़ा नहीं देते और जिनमें संग्रह करनेका स्वभाव नहीं है, उत्तम कथा श्रवण करनेमें जिनकी सात्त्विक बुद्धि संलग्न रहती है तथा जो मेरे चरणारविन्दोंके भक्त हैं, जो उत्तम मानव माता-पिताकी सेवा करते हैं, देवपूजामें तत्पर रहते हैं, जो भगवत्पूजनके कार्यमें सहायक होते हैं और पूजा होती देखकर मनमें आनन्द मानते हैं, वे भगवद्भक्तोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं। जो ब्रह्मचारियों और संन्यासियोंकी सेवा करते हैं तथा दूसरोंकी निन्दा कभी नहीं करते, जो श्रेष्ठ मनुष्य सबके लिये हितकारक वचन बोलते हैं और जो लोकमें सद्गुणोंके ग्राहक हैं, वे उत्तम भगवद्भक्त हैं। जो सब प्राणियोंको अपने समान देखते हैं तथा शत्रु और मित्रमें समभाव रखते हैं, जो धर्मशास्त्रके वक्ता तथा सत्यवादी हैं और जो वैसे पुरुषोंकी सेवामें रहते हैं, वे सभी उत्तम भगवद्भक्त हैं। दूसरोंका अभ्युदय देखकर जो प्रसन्न होते हैं तथा भगवन्नामोंका कीर्तन करते रहते हैं, जो भगवान्के नामोंका अभिनन्दन करते, उन्हें सुनकर अत्यन्त हर्षमें भर जाते और सम्पूर्ण अङ्गोंसे रोमाञ्चित हो उठते हैं, जो अपने आश्रमोचित आचारके पालनमें तत्पर, अतिथियोंके पूजक तथा वेदार्थके वक्ता हैं, वे उत्तम वैष्णव हैं। जो अपने पढ़े हुए शास्त्रोंको दूसरोंके लिये बतलाते हैं और सर्वत्र गुणोंको ग्रहण करनेवाले हैं, जो एकादशीका व्रत करते, मेरे लिये सत्कर्मोंका अनुष्ठान करते रहते, मुझमें मन लगाते, मेरा भजन करते, मेरे भजनके लिये लालायित रहते तथा सदा मेरे नामोंके स्मरणमें तत्पर होते हैं, वे उत्तम भगवद्भक्त हैं। सद्गुणोंकी ओर जिनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है, वे सभी श्रेष्ठ भक्त हैं।'

इस प्रकार उपदेश देकर भगवान् विष्णु अन्तर्धान हो गये। मुनिवर रामानुजने आकाशगङ्गाके तटपर रहकर भगवान्के भजनमें ही शेष आयु व्यतीत की। अन्तमें करुणामय भगवान्की कृपासे उन्हें सारूप्य मुक्ति प्राप्त हुई।

भक्त पद्मनाभ

प्राचीन कालकी बात है। आजकल जहाँ श्रीबालाजीका मन्दिर है, वहाँसे थोड़ी दूर एक चक्रपुष्करिणी नामका तीर्थ था। उसके तटपर श्रीवत्सगोत्रीय पद्मनाभ नामके ब्राह्मण निवास करते थे। उनके पास न कोई संग्रह था, न परिग्रह। भगवान्के नामका जप, उन्हींका स्मरण, उन्हींका चिन्तन—यही उनके जीवनका व्रत था। इन्द्रियाँ उनके वशमें थीं, हृदयमें दीन-दुःखियोंके प्रति दया थी। सत्यसे प्रेम, विषयोंके प्रति उपेक्षा तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्मभाव—यही उनका जीवन था। अपने सुख-दुःखकी उन्हें कभी परवा नहीं होती थी। परंतु दूसरेके दुःखकी कल्पनासे ही उनका हृदय द्रवीभूत हो जाता था। कभी वे सूखे पत्ते खा लेते, तो कभी पानीपर ही निर्वाह कर लेते और कभी-कभी तो भगवान्के ध्यानमें इतने तन्मय हो जाते कि शरीरकी सुध ही नहीं रहती, फिर खाये-पीये कौन। परंतु यह सब तो बाहरकी बात थी। उनका हृदय भगवान्के लिये छटपटा रहा था। उनके सामने अपने जीवनका कोई मूल्य नहीं था। वे तो ऐसे-ऐसे सौ-सौ जीवन निछावर करके भगवान्को, अपने प्रियतम प्रभुको प्राप्त करना चाहते थे। उनके हृदयमें आशा और निराशाके भयङ्कर तूफान उठा ही करते।

कभी वे सोचने लगते कि ''भगवान् बड़े दयालु हैं, वे अवश्य ही मुझे मिलेंगे, मैं उनके चरणोंपर लोट

जाऊँगा, अपने प्रेमाश्रुओंसे उनके चरण भिगो दूँगा, वे अपने करकमलोंसे मुझे उठाकर हृदयसे लगा लेंगे, मेरे सिरपर हाथ रखेंगे, मुझे अपना कहकर स्वीकार करेंगे और मैं आनन्दके समुद्रमें डूबता-उतराता होऊँगा। कितना सौभाग्यमय होगा वह क्षण, कितना मधुर होगा उस समयका जीवन! वे कहेंगे 'वरदान माँगो' और मैं कहूँगा 'मुझे कुछ नहीं चाहिये, मैं तो तुम्हारी सेवा करूँगा, तुम्हें देखा करूँगा! तुम मुझे भूल जाओ या याद रखो, मैं तुम्हें कभी नहीं भूलूँगा।'' ऐसी भावना करते-करते पद्मनाभ आनन्द-विभोर हो जाते, उनके शरीरमें रोमाञ्च हो आता, आँखोंसे आँसू गिरने लगते। उनकी यह प्रेम-मुग्ध अवस्था बहुत देरतक रहती। वे सारे संसारको भूलकर प्रभुकी सेवामें लगे रहते।

कभी-कभी उनके चित्तमें ठीक इसके विपरीत भावना होने लगती—'कहाँ मैं एक क्षुद्र प्राणी—दीन-हीन, मलिनहृदय; कहाँ निखिल ब्रह्माण्डोंके अधिपति भगवान्! मेरे इस पापपूर्ण हृदयमें वे क्यों आने लगे? मैंने कौन-सी ऐसी साधना की है, जिसपर रीझकर वे मुझे दर्शन देंगे ? न जप न तप, न व्रत न समाधि। जिस हृदयसे उनका चिन्तन करना चाहिये, उससे संसारका चिन्तन! यह तो अपराध है, इसका दण्ड मिलना चाहिये। मैं दुःखकी ज्वालामें झुलस रहा हूँ, विषयोंके लिये भटक रहा हूँ संसारमें; फिर भी भगवत्प्राप्तिकी आशा! यह मेरी दुराशा नहीं तो क्या है? शरीरके लिये कितना चिन्तित हो जाता हूँ, विषयोंके लिये कितनी उत्सुकता आ जाती है मेरे हृदयमें; संसारके लिये कितनी बार रो चुका हूँ मैं, पर भगवान्के लिये आँखोंमें दो बूँद आँसूतक नहीं आते। कैसी विडम्बना है, कितना पराङ्मुख जीवन है! क्या यही जीवन भगवत्प्राप्तिके योग्य है? इसका तो विनाश ही उचित और श्रेयस्कर है।' यही सब सोचते-सोचते उनके हृदयमें इतनी वेदना होती कि ऐसा मालूम होता मानो अब उनका हृदय फट जायगा।

कई बार निराशा इतनी बढ़ जाती कि उन्हें अपना जीवन भाररूप हो जाता, कभी-कभी वे मूर्च्छित हो जाते और बेहोशीमें ही पुकारने लगते—'हे प्रभो, हे स्वामी, हे पुरुषोत्तम! क्या तुम मुझे अपना दर्शन नहीं दोगे? इसी प्रकार रोते-रोते, बिलखते-बिलखते मर जाना ही क्या मेरे भाग्यमें बदा है ? मैं मृत्युसे नहीं डरता, इस नीच जीवनका अन्त हो जाय—यही अच्छा है। परंतु मैं तुम्हें देख नहीं पाऊँगा। न जाने कितने जन्मोंके बाद तुम्हारे दर्शन हो सकेंगे। मेरी यह करुण पुकार क्या तुम्हारे विश्वव्यापी कानोंतक नहीं पहुँचती? अपना लो, प्रभो! मेरी ओर न देखकर अपनी ओर देखो।' इस प्रकार प्रार्थना करते-करते वे चेतनाशून्य हो जाते और उनका शरीर घंटोंतक यों ही पड़ा रहता।

लोग कहते हैं, भगवान्के लिये तप करो; परंतु तपका अर्थ क्या है—इसपर विचार नहीं करते। जेठकी दुपहरीमें जब सूर्य बारहों कलासे तप रहे हों, पाँच अथवा चौरासी अग्नियोंके बीचमें बैठना अथवा घोर सर्दीमें पानीमें खड़े रहना—तपकी केवल इतनी ही व्याख्या नहीं है। तपका अर्थ है—अपने किये हुए प्रमादके लिये पश्चात्ताप। अपने जीवनकी गिरी स्थितिसे असन्तोष और भगवान्के विरहकी वह ज्वाला, जो जीवनकी सम्पूर्ण कलुषताओंको जलाकर उसे सोनेकी भाँति चमका दे। वास्तवमें यही तपका अर्थ है। यही ताप देवदुर्लभ तप है। पद्मनाभका जीवन इसी तपस्यासे परिपूर्ण था और वे सच्चे अर्थमें तपस्वी थे। एक दिन उनकी यह तपस्या पराकाष्ठाको पहुँच गयी। उन्होंने सच्चे हृदयसे, सम्पूर्ण शक्तिसे भगवान्से प्रार्थना की—'हे प्रभो! अब मुझे अधिक मत तरसाओ। तुम्हारे दर्शनकी आशामें अब मैं और कितने दिनोंतक जीवित रहूँगा ? एक-एक पल कल्पके समान बीत रहा है, संसार सूना दीखता है और मेरा यह दग्ध जीवन, यह प्रभुहीन जीवन विषसे भी कटु मालूम हो रहा है। वे आँखें किस कामकी, जिन्होंने आजतक तुम्हारे दर्शन नहीं किये? अब इनका फूट जाना ही अच्छा है। यदि इस जीवनमें तुम नहीं मिल सकते तो इसे नष्ट कर दो। मुझे स्त्री-पुत्र, धन-जन, लोक-परलोक, कुछ नहीं चाहिये। मुझे

तो तुम्हारा दर्शन चाहिये, तुम्हारी सेवा चाहिये। एक बार तुम मुझे अपना स्वीकार कर लो—बस, इतना ही चाहिये। गज, ग्राह, गणिका और गीधपर जैसी कृपा तुमने की, क्या उसका पात्र मैं नहीं हूँ? तुम तो बड़े कृपालु हो, कृपापरवश हो; कृपालुता ही तुम्हारा विरद है! मेरे ऊपर भी अपनी कृपाकी एक किरण डालो।' इस प्रकार प्रार्थना करते-करते पद्मनाभ भगवान्‌की अहैतुकी कृपाके स्मरणमें तन्मय हो गये।

भगवान्‌के धैर्यकी भी एक सीमा है। वे अपने प्रेमियोंसे कबतक छिप सकते हैं। वे तो सर्वदा, सब जगह, सबके पास ही रहते हैं, केवल प्रकट होनेका अवसर ढूँढ़ा करते हैं। जब देखते हैं कि मेरे प्रकट हुए बिना अब काम नहीं चल सकता, तब उसी क्षण प्रकट हो जाते हैं। वे तो पद्मनाभके पास पहलेसे ही थे, उनके तप, उत्कण्ठा और प्रार्थनाको देख-देखकर मुग्ध हो रहे थे। जब उनकी अवधि पूरी हो गयी, तब वे पद्मनाभ ब्राह्मणके सम्मुख प्रकट हो गये। सारा स्थान भगवान्‌की दिव्य अङ्गज्योतिसे जगमगा उठा। पद्मनाभकी पलकें उस प्रकाशको रोक नहीं सकीं, उनकी आँखें बलात् खुल गयीं। सहस्र-सहस्र सूर्योंके समान दिव्य प्रकाश और उसके भीतर शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज भगवान्! हृदय शीतल हो गया। आँखें निर्निमेष होकर रूप-रसका पान करने लगीं। पद्मनाभका सम्पूर्ण हृदय उन्मुक्त होकर भगवान्‌के कृपापूर्ण नेत्रोंसे बरसती हुई प्रेम-धारामें डूबने-उतराने लगा। जन्म-जन्मकी अभिलाषा पूरी हुई। कुछ कहा नहीं जाता था। भगवान्‌ने एकाएक ऐसे अनुग्रहकी वर्षा की कि वे चकित—स्तम्भित रह गये। भगवान् केवल मुसकरा रहे थे।

कुछ क्षणोंतक निस्तब्ध रहकर गद्गद वाणीसे पद्मनाभने स्तुति की—'प्रभो! आप ही मेरे, निखिल जगत्‌के और जगत्‌के स्वामियोंके भी स्वामी हैं; सम्पूर्ण ऐश्वर्य और माधुर्य आपके ही आश्रित हैं। आप पतितपावन हैं, आपके स्मरणमात्रसे ही पापोंका नाश हो जाता है। आप घट-घटमें व्यापक हैं, जगत्‌के बाहर और भीतर केवल आप ही हैं। आप विश्वातीत, विश्वेश्वर और विश्वरूप होनेपर भी भक्तोंपर कृपा करके उनके सामने प्रकट हुआ करते हैं। ब्रह्मा आदि देवता भी आपका रहस्य नहीं जानते, केवल आपके चरणोंमें भक्तिभावसे नम्र होकर प्रणाम करते हैं। आपकी सुन्दरता, आपकी कोमलता और आपकी प्रेमपरवशता किसे आपकी ओर आकृष्ट नहीं कर लेती? आप क्षीरसागरमें शयन करते रहते हैं, फिर भी अपने भक्तोंकी विपत्तिका नाश करनेके लिये सर्वत्र चक्रधारी रूपमें विद्यमान रहते हैं। भक्त आपके हैं और आप भक्तोंके! जिसने आपके चरणोंमें अपना सिर झुकाया, उसको आपने समस्त विपत्तियोंसे बचाकर परमानन्दमय अपना धाम दिया। आप योगियोंके लिये समाधिगम्य हैं, वेदान्तियोंके ज्ञानस्वरूप आत्मा हैं और भक्तोंके सर्वस्व हैं। मैं आपका हूँ, आपके चरणोंमें समर्पित हूँ—नत हूँ।' इतना कहकर पद्मनाभ मौन हो गये। और कहना ही क्या था।

अब भगवान्‌की बारी आयी। वे जानते थे कि पद्मनाभ निष्काम भक्त हैं, इनके चित्तमें संसारके भोगोंकी तो बात ही क्या—मुक्तिकी भी इच्छा नहीं है। इसलिये उन्होंने पद्मनाभसे वर माँगनेको नहीं कहा। उनके चित्तकी स्थिति जानकर उनको सुधामयी वाणीसे सींचते हुए भगवान्‌ने कहा—'हे महाभाग ब्राह्मणदेव! मैं जानता हूँ कि तुम्हारे हृदयमें केवल मेरी सेवाकी ही इच्छा है। तुम लोक-परलोक, मुक्ति और मेरे धामतकका परित्याग करके मेरी पूजा-सेवामें ही सुख मानते हो और वही करना चाहते हो। तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो। कल्पपर्यन्त मेरी सेवा करते हुए यहीं निवास करो। अन्तमें तो तुम्हें मेरे पास आना ही पड़ेगा।' इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये और पद्मनाभ भगवान्‌की शारीरिक तथा मानसिक सेवा करते हुए अपना सर्वश्रेष्ठ एवं आनन्दमय जीवन व्यतीत करने लगे। भगवान्‌की सेवा-पूजासे बढ़कर और ऐसा कर्तव्य ही कौन-सा है, जिसके लिये भगवान्‌के प्रेमी भक्त जीवन धारण करें? पद्मनाभकी प्रत्येक क्रिया, उनकी प्रत्येक भावना भगवान्‌के लिये ही होती थी और

स्वभावसे ही उनके द्वारा जगत्का कल्याण सम्पन्न होता था। ऐसे भक्त एकान्तमें रहकर भी—भगवान्की सेवामें ही लगे रहकर भी अपने शुद्ध सङ्कल्पसे संसारकी जितनी सेवा कर सकते हैं, उतनी सेवा काममें लगे रहकर बड़े-बड़े कर्मनिष्ठ भी नहीं कर सकते।

इसी प्रकार भगवान्की सेवा-पूजा करते हुए पद्मनाभको अनेकों वर्ष बीत गये। वे एक दिन भगवान्का स्मरण करते हुए उनकी पूजाकी सामग्री इकट्ठी कर रहे थे। इसी समय एक भयङ्कर राक्षसने उनपर आक्रमण किया। उन्हें अपने शरीरका मोह नहीं था। मरनेके बाद मुझे किसी दुःखमय स्थानमें जाना पड़ेगा, यह आशङ्का भी उनके चित्तमें नहीं थी। परंतु राक्षस खा जायगा, इस कल्पनासे उनके चित्तमें यह प्रश्न अवश्य उठा कि 'तब क्या भगवान्ने मुझे अपनी सेवा-पूजाका जो अवसर दिया है, वह आज ही—इसी क्षण समाप्त हो जायगा? मेरे इस सौभाग्यकी यहीं इस प्रकार इतिश्री हो जायगी? भगवान्ने मुझे जो एक कल्पतक पूजा करनेका वरदान दिया है, वह क्या झूठा हो जायगा? यह तो बड़े दुःखकी बात है।' यह सोचकर उन्होंने भगवान्से प्रार्थना की। भगवान्ने भक्त पद्मनाभकी रक्षाके लिये अपने प्रिय आयुध सुदर्शन चक्रको भेजा। चक्रका तेज कोटि-कोटि सूर्योंके समान है। भक्तोंके भयको जला डालनेके लिये आगकी भीषण लपटें उससे निकला करती हैं। चक्रकी तेजोमय मूर्ति देखकर वह राक्षस भयभीत हो गया और ब्राह्मणको छोड़कर बड़े वेगसे भागा। परंतु सुदर्शन उसे कब छोड़नेवाले थे। इन्हें उस राक्षसका भी तो उद्धार करना था।

यह राक्षस आजसे सोलह वर्ष पहले गन्धर्व था। उसका नाम था सुन्दर। वसिष्ठजीके शापसे राक्षस हो गया था। इसकी स्त्रियोंके प्रार्थना करनेपर वसिष्ठजीने कहा था कि 'यह राक्षस तो होगा, परंतु आजके सोलहवें वर्ष जब वह भगवान्के भक्त पद्मनाभपर आक्रमण करेगा, तब सुदर्शन चक्र इसका उद्धार कर देगा।'

आज वही सोलहवाँ वर्ष पूरा होनेवाला था। राक्षस बड़े वेगसे भाग रहा था, परंतु सुदर्शन चक्रसे बचकर कहाँ जा सकता था। देखते-ही-देखते सुदर्शन चक्रने उसका सिर काट लिया और तत्क्षण वह राक्षस गन्धर्व हो गया। दिव्य शरीर, दिव्य वस्त्र एवं दिव्य आभूषणोंसे युक्त होकर सुन्दरने सुदर्शन चक्रको प्रणाम करते हुए उनकी स्तुति की। तदनन्तर उसने दिव्य विमानपर सवार होकर अपने लोकको यात्रा की।

भक्त पद्मनाभने सुन्दरके गन्धर्वलोकमें चले जानेपर सुदर्शन चक्रकी स्तुति की—'हे सुदर्शन! मैं तुम्हें बार-बार प्रणाम करता हूँ। तुम्हारे जीवनका व्रत है संसारकी रक्षा। इसीसे भगवान्ने तुम्हें अपने कर-कमलोंका आभूषण बनाया। तुमने समय-समयपर अनेक भक्तोंको महान् विपत्तियोंसे बचाया है, मैं तुम्हारी इस कृपाका ऋणी हूँ। तुम सर्वशक्तिमान् हो, मैं तुमसे यही प्रार्थना करता हूँ कि तुम यहीं रहो और सारे संसारकी रक्षा करो।' सुदर्शन चक्रने भक्त पद्मनाभकी प्रार्थना स्वीकार की और कहा—'भक्तवर! तुम्हारी प्रार्थना कभी व्यर्थ नहीं हो सकती, क्योंकि तुम भगवान्के परम कृपापात्र हो। मैं यहीं तुम्हारे समीप ही सर्वदा निवास करूँगा। तुम निर्भय होकर भगवान्की सेवा-पूजा करो। अब तुम्हारी उपासनामें किसी प्रकारका विघ्न नहीं पड़ सकता।' भक्त पद्मनाभको इस प्रकार वरदान देकर सुदर्शन चक्र सामनेकी पुष्करिणीमें प्रवेश कर गया। इसीसे उसका नाम चक्रतीर्थ हुआ।

भगवान्की कृपाका प्रत्यक्ष अनुभव करके भक्त पद्मनाभका हृदय प्रेम और आनन्दसे भर गया। वे और भी तन्मयता तथा तत्परतासे भगवान्की सेवा करते हुए अपना जीवन व्यतीत करने लगे। ऐसे प्रेमी भक्तोंका जीवन ही धन्य है, क्योंकि वे पल-पलपर और पग-पगपर भगवान्की अनन्त कृपाका अनुभव करके मस्त रहा करते हैं।

ब्राह्मण देवमाली

स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥

(श्रीमद्भा० ११। २३। १८-१९)

'चोरी, हिंसा, झूठ, दम्भ, काम, क्रोध, अहङ्कार, मद, भेदबुद्धि, शत्रुता, अविश्वास, डाह और स्त्री, सुरा एवं द्यूतके व्यसन—इन पंद्रह अनर्थोंकी जड़ धन ही है। अतएव जिसे आत्मकल्याणकी इच्छा हो, उसे इस अर्थ कहलानेवाले अनर्थको दूरसे ही त्याग देना चाहिये।'

रैवत देशमें एक देवमाली नामक ब्राह्मण रहता था। था तो वह वेद-वेदाङ्गोंका विद्वान्, शास्त्रज्ञ, प्राणियोंपर दया रखनेवाला और भगवान्‌की पूजा करनेवाला; किंतु घर और धनमें उसकी बहुत आसक्ति थी। धन प्राप्त करनेके लिये वह निषिद्ध कर्म करनेमें भी हिचकता न था। वह रसादिका विक्रय करता और चाण्डालसे भी दान ले लेता। अपने व्रत, तप, पाठ आदिको भी दक्षिणा लेकर दूसरोंके लिये सङ्कल्प कर देता। उसके दो पुत्र हुए—यज्ञमाली और सुमाली। बड़े होनेपर पुत्रोंको भी उस लोभी ब्राह्मणने धन कमानेके अनेक उपाय सिखलाने प्रारम्भ किये। इसी प्रकारका जीवन बिताते हुए वह वृद्ध हो गया। एक दिन वह अपने धनको गिनने बैठा। करोड़ों सोनेकी मुहरें गिनते-गिनते वह पहले तो बड़ा प्रसन्न हुआ, फिर उस धनराशिको देखकर भगवान्‌की कृपासे उसके चित्तमें विचारका उदय हुआ। वह सोचने लगा—'ओहो! अच्छे-बुरे नाना उपायोंसे मैंने इतना धन एकत्र कर लिया, यह धन एकत्र करते-करते मैं बूढ़ा हो गया, फिर भी अभी मेरा लोभ नहीं गया। अब भी मैं अपने घरमें सोनेका पर्वत देखनेकी तृष्णासे रात-दिन जल रहा हूँ। लोग कहते हैं कि धनसे सुख होता है; किंतु इस धनने मुझे क्या सुख दिया? बाहरसे मैं भले सुखी दीखता होऊँ, पर मेरे हृदयमें तो तनिक भी चैन नहीं है। मैं तो रात-दिन तृष्णा तथा चिन्ताकी आगसे जला करता हूँ। यह धनकी तृष्णा ही मेरे क्लेशोंका कारण है। जिसको तृष्णा है, वह कुछ पा जाय तो उसकी तृष्णा और बढ़ती ही है। बुढ़ापेमें नेत्र, कान, हाथ-पैर आदि सब इन्द्रियाँ और शरीर तो दुर्बल हो जाता है; किंतु तृष्णा तो और भी बलवान् होती जाती है। जिसको धनकी तृष्णा है, वह विद्वान् होनेपर भी मूढ़, शान्त होनेपर भी क्रोधी और बुद्धिमान् होनेपर भी मूर्ख है। धनके लिये मनुष्य बन्धु-बान्धवोंसे शत्रुता करता है, अनेक प्रकारके पाप करता है। बल, तेज, यश, विद्या, शूरता, कुलीनता और मान—सभीको धनकी तृष्णा नष्ट कर देती है। धनका लोभी अपमान और क्लेशकी चिन्ता नहीं करता, पापको पाप नहीं गिनता। वह अपने हाथों अपने लिये दुःख और नरकका मार्ग उत्साहपूर्वक बनाता है। हाय! हाय! मैंने धनकी तृष्णामें पड़कर सारी बहुमूल्य आयु नष्ट कर दी। मेरा शरीर जीर्ण हो गया। पाप बटोरनेमें ही मेरा जीवन लगा।' इस प्रकार पश्चात्तापसे ब्राह्मण व्याकुल हो गया। वह भगवान्‌से अपने उद्धारके लिये प्रार्थना करने लगा।

पश्चात्ताप एवं भगवान्‌की प्रार्थनासे हृदयमें बल आया। ब्राह्मणने शेष जीवन भजनमें लगानेका निश्चय किया। उसने स्वयं धन कमाया था, अतः आधा धन अपने पास रखकर शेष आधेमेंसे दोनों पुत्रोंको बराबर-बराबर दे दिया। अपने भागके धनको उसने मन्दिर, सरोवर, कुएँ, धर्मशाला बनवाने, वृक्ष लगवाने, अन्न दान करनेमें व्यय कर दिया। इस प्रकार अपने अपार धनको सत्कर्ममें लगाकर वह तपस्या करने बदरिकाश्रमको चला गया।

बदरिकाश्रममें देवमालीने पुष्प-फलोंसे सुशोभित सुन्दर वृक्षोंवाला एक आश्रम देखा। वहाँ शास्त्र-चिन्तनमें लगे, भगवत्सेवा-परायण अनेक वृद्ध मुनिगण निवास करते थे। मुनियोंके बीचमें एक परम शान्त तेजःपुञ्ज महात्मा भगवान्‌की स्तुति कर रहे थे। देवमालीने उनके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया। वे केवल सूखे पत्ते खाकर रहनेवाले परम तपस्वी महात्मा जानन्ति थे। ब्राह्मणने अपना सारा इतिहास सुनाकर नम्रतापूर्वक मुनिसे अपने उद्धारका उपाय पूछा।

महात्मा जानन्तिने कृपा करके ब्राह्मणसे कहा—'तुम नित्य-निरन्तर भगवान् विष्णुका ही स्मरण और भजन करो। किसीके दोष मत देखो। किसीकी चुगली मत करो। सदा परोपकारमें लगे रहो। मूर्खोंका साथ छोड़कर श्रीहरिकी पूजामें ही लगे रहो। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सरको त्यागकर सभी प्राणियोंको सर्वथा अपने समान समझो। न तो कभी किसीसे कोई कठोर वचन कहो और न कोई निर्दयताका व्यवहार करो। डाह, परनिन्दा, दम्भ और अहङ्कारको सावधानीपूर्वक छोड़ दो। सभी प्राणियोंपर दया करो। सत्पुरुषोंकी सेवा करो। जो पापी हैं, उन्हें पापसे छुड़ानेका प्रयत्न करो, उन्हें धर्मका सच्चा मार्ग बतलाओ। प्रतिदिन आदरपूर्वक अतिथियोंकी सेवा करो। पत्र, पुष्प, माला, फल, तुलसी आदिसे प्रतिदिन नियमपूर्वक भगवान् नारायणकी पूजा करो। देवता, ऋषि तथा पितृगणोंके लिये यथासमय विधिपूर्वक हवन, तर्पण तथा श्राद्ध करो। एकाग्रचित्तसे भगवान्के मन्दिरको स्वच्छ करना, लीपना, पुराने मन्दिरोंका जीर्णोद्धार करना, मन्दिरमें दीपक जलाना आदि तुम्हारे समस्त पापोंको दूर कर देंगे। भगवान्की पूजा, भगवान्की स्तुति, पुराण-श्रवण, पुराण-पाठ और शास्त्रोंका, वेदान्तका प्रतिदिन अध्ययन करना चाहिये। इन उपायोंसे शीघ्र ही तुम्हारा चित्त निर्मल हो जायगा। निर्मल चित्त होनेपर उसमें स्वयं ज्ञानका उदय होगा और तब तुम्हारे सभी दुःख दूर हो जायँगे। तुम्हें परम शान्ति प्राप्त होगी।'

मुनि जानन्तिकी आज्ञा मानकर देवमाली साधनमें लग गया। कभी कोई शङ्का होनेपर वह गुरुसे पूछकर सन्देह दूर कर लेता। इस प्रकार श्रद्धा एवं दृढ़तासे नियमपूर्वक साधन करनेसे वह शीघ्र निष्पाप हो गया। उसका हृदय निर्मल हो गया। भगवान्की कृपासे उसे बोध प्राप्त हुआ। अन्तमें गुरुदेवकी आज्ञासे वाराणसी (काशी)-में आकर देवमालीने भगवान्का परम पद प्राप्त किया।

महर्षि मैत्रेय

महर्षि मैत्रेय पुराणवक्ता ऋषि हैं। वे 'मित्र' के पुत्र होनेके कारण मैत्रेय कहाये। श्रीमद्भागवतमें इनके सम्बन्धमें इतना ही मिलता है कि ये महर्षि पराशरके शिष्य और वेदव्यासजीके सुहृद् सखा थे। पराशर मुनिने जो विष्णुपुराण कहा, उसके प्रधान श्रोता ये ही हैं। इन्होंने स्वयं कहा है—

त्वत्तो हि वेदाध्ययनमधीतमखिलं गुरो।
धर्मशास्त्राणि सर्वाणि तथाङ्गानि यथाक्रमम्॥
त्वत्प्रसादान्मुनिश्रेष्ठ मामन्ये नाकृतश्रमम्।
वक्ष्यन्ति सर्वशास्त्रेषु प्रायशो येऽपि विद्विषः॥

'हे गुरुदेव! मैंने आपसे ही सम्पूर्ण वेद, वेदाङ्ग और सकल धर्मशास्त्रोंका क्रमशः अध्ययन किया है। हे मुनिश्रेष्ठ! आपकी कृपासे मेरे विपक्षी भी मेरे लिये यह नहीं कह सकते कि मैंने सम्पूर्ण शास्त्रोंके अभ्यासमें परिश्रम नहीं किया है।' इससे यही स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार ये भगवान् वेदव्यासके सुहृद् और सखा थे, वैसे ही ये पूर्ण ज्ञानी और शास्त्रमर्मज्ञ भी थे। भगवान् श्रीकृष्णकी इनके ऊपर पूर्ण कृपा थी। उन्होंने निज लोकको पधारते समय अधिकारी समझकर अपना समस्त ज्ञान इन्हींको दिया था।

भगवान् जब परम धामको पधारने लगे, तब खोजते-खोजते उद्धवजी उनके पास पहुँचे। भगवान् एक अश्वत्थ वृक्षके नीचे सरस्वतीके तटपर प्रभासक्षेत्रके समीप सुखासीन थे। उद्धवजीने उन प्रभुके दर्शन किये। उसी समय महामुनि मैत्रेयजी भी वहाँ पहुँच गये। भगवान्ने उन्हें ज्ञानोपदेश दिया और आज्ञा की कि इसे महामुनि विदुरको भी देना। जब उद्धवजीसे यह समाचार सुनकर महामना विदुरजी इनके समीप पहुँचे, तब ये बड़े प्रसन्न हुए। उस भगवद्दत्त ज्ञानका, जिसे इन्होंने विदुरजीको दिया था, वर्णन श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धके चौथे अध्यायसे आरम्भ होता है। महामुनि मैत्रेयका नाम ऐसा है, जिसे समस्त पुराणपाठक भली प्रकार जानते हैं। मैत्रेयजी ज्ञानके भण्डार, भगवल्लीलाओंके परम रसिक और भगवान्के परम कृपापात्र थे। इनके गुरु महर्षि

पराशरने विष्णुपुराण सुनानेके अनन्तर अपनी गुरुपरम्परा बतलाते हुए इनसे कहा कि इस पुराणको, जिसे तुमने मुझसे सुना है, तुम भी कलियुगके अन्तमें शिनीकको सुनाओगे। इस प्रकार ये चिरजीवी हैं और अब भी किसी-न-किसी रूपमें इस धराधामपर विद्यमान हैं। भगवान्‌की कथाका महत्त्व बतलाते हुए ये कहते हैं—

को नाम लोके पुरुषार्थसारवित्
पुराकथानां भगवत्कथासुधाम्।
आपीय कर्णाञ्जलिभिर्भवापहा-
महो विरज्येत विना नरेतरम्॥

(श्रीमद्भा० ३। १३। ५०)

'संसारमें पशुओंको छोड़कर, अपने पुरुषार्थका सार जाननेवाला ऐसा कौन पुरुष होगा, जो आवागमनसे छुड़ा देनेवाली भगवान्‌की प्राचीन कथाओंमेंसे किसी भी अमृतमयी कथाका अपने कर्णपुटोंसे एक बार पान करके फिर उनकी ओरसे मन हटा लेगा ?'

भगवान् वेदव्यास

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति॥

(श्रीमद्भा० १। २। ६)

'इन्द्रियातीत परमपुरुष भगवान्‌में वह निष्काम एवं निर्बाध भक्ति हो, जिसके द्वारा वे आत्मस्वरूप सर्वेश्वर प्रसन्न होते हैं—यही पुरुषका परम धर्म है।'

कलियुगमें अल्प सत्त्व, थोड़ी आयु तथा बहुत क्षीण बुद्धिके लोग होंगे। वे सम्पूर्ण वेदोंको स्मरण नहीं रख सकेंगे, वैदिक अनुष्ठानों एवं यज्ञोंके द्वारा आत्म-कल्याण कर लेना कलियुगमें असम्भवप्राय हो जायगा—यह बात सर्वज्ञ दयामय भगवान्‌से छिपी नहीं थी। जीवोंके कल्याणके लिये भगवान् द्वापरके अन्तमें महर्षि वसिष्ठके पौत्र श्रीपराशर मुनिके अंशसे सत्यवतीमें प्रकट हुए। महर्षि कृष्णद्वैपायनके रूपमें भगवान्‌का यह अवतार कलियुगके प्राणियोंको शास्त्रीय ज्ञान सुलभ करनेके लिये हुआ था।

व्यासजीका जन्म द्वीपमें हुआ, इससे उनका नाम द्वैपायन है; शरीरका श्याम वर्ण है, इससे वे कृष्णद्वैपायन हैं और वेदोंका विभाग करनेसे वेदव्यास हैं। भगवान् व्यास प्रकट होते ही माताकी आज्ञा लेकर तप करने चले गये। उन्होंने हिमालयकी गोदमें भगवान् नर-नारायणकी तपोभूमि बदरीवनके शम्याप्रासमें अपना आश्रम बनाया। वेदोंको यज्ञकी पूर्तिके लिये व्यासजीने चार भागोंमें विभक्त किया। अध्वर्यु, होता, उद्‌गाता एवं ब्रह्मा—यज्ञके इन चार ऋत्विक्-कर्म करानेवालोंके लिये उनके उपयोगमें आनेवाले मन्त्रोंका पृथक्-पृथक् वर्गीकरण कर दिया। इस प्रकार वेद चार भागोंमें हो गया।

भगवान् व्यासने देखा कि वेदोंके पठन-पाठनका अधिकार तो केवल द्विजाति पुरुषोंको ही है, स्त्रियों, शूद्रों तथा अन्य वर्णबाह्य लोगोंका भी उद्धार होना चाहिये, उन्हें भी धर्मका ज्ञान होना चाहिये। इसलिये उन्होंने महाभारतकी रचना की। इतिहासके नाना आख्यानोंके द्वारा व्यासजीने धर्मके सभी अङ्गोंका महाभारतमें वर्णन किया बड़े सरल ढंगसे।

भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यासजीकी महिमा अगाध है। सारे संसारका ज्ञान उन्हींके ज्ञानसे प्रकाशित है। सब व्यासदेवकी जूँठन है। वेदव्यासजी ज्ञानके असीम और अनन्त समुद्र हैं, भक्तिके परम आदरणीय आचार्य हैं। विद्वत्ताकी पराकाष्ठा हैं, कवित्वकी सीमा हैं। संसारके समस्त पदार्थ मानो व्यासजीकी कल्पनाके ही अंश हैं। जो कुछ तीनों लोकोंमें देखने-सुननेको और समझनेको मिलता है, सब व्यासजीके हृदयमें था। इससे परे जो कुछ है, वह भी व्यासजीके अन्तस्तलमें था। व्यासजीके हृदय और वाणीका विकास ही समस्त जगत्‌का और उसके ज्ञानका प्रकाश और अवलम्बन है। व्यासजीके सदृश महापुरुष जगत्‌के उपलब्ध इतिहासमें दूसरा नहीं मिलता। जगत्‌की संस्कृतिने अबतक भगवान् व्यासके समान पुरुष उत्पन्न ही नहीं किया। व्यास व्यास ही हैं।

व्यासजी सम्पूर्ण संसारके परम गुरु हैं। प्राणियोंको परमार्थका मार्ग दिखानेके लिये ही उनका अवतार है।

उन सर्वज्ञ करुणासागरने ब्रह्मसूत्रका निर्माण करके तत्त्वज्ञानको व्यवस्थित किया। जितने भी आस्तिक सम्प्रदाय हैं, वे ब्रह्मसूत्रको प्रमाण मानकर उसके आधारपर ही स्थित हैं। परन्तु तत्त्वज्ञानके अधिकारी संसारमें थोड़े ही होते हैं। सामान्य समाज तो भावप्रधान होता है और सच तो यह है कि तत्त्वज्ञान भी हृदयमें तभी स्थिर होता है, जब उपासनाके द्वारा हृदय शुद्ध हो जाय। किंतु उपासना अधिकारके अनुसार होती है। अपनी रुचिके अनुसार ही आराधनामें प्रवृत्ति होती है। भगवान् व्यासने अनादिपुराणोंकी पुनः रचना आराधनाकी पुष्टिके लिये की। एक ही तत्त्वकी जो चिन्मय अनन्त लीलाएँ हैं, उन्हें इस प्रकार पुराणोंमें संकलित किया गया कि सभी लोग अपनी रुचि तथा अधिकारके अनुकूल साधन प्राप्त कर लें।

वेदोंका विभाजन एवं महाभारतका निर्माण करके भी भगवान् व्यासका चित्त प्रसन्न नहीं हुआ था। वे सरस्वतीके तटपर खिन्न बैठे थे। उन्हें स्पष्ट लग रहा था कि उनका कार्य अभी अधूरा ही है। प्राणियोंकी प्रवृत्ति कलियुगमें न तो वैदिक कर्म तथा यज्ञादिमें रहेगी और न वे धर्मका ही सम्यक् आचरण करेंगे। धर्माचरणका परम फल मोक्ष उन्हें सुगमतासे प्राप्त हो, ऐसा कुछ हुआ नहीं था। व्यासजी अनन्त करुणासागर हैं। जीवोंकी कल्याण-कामनासे ही वे अत्यन्त चिन्तित थे। उसी समय वहाँ देवर्षि नारदजी पधारे। देवर्षिने चिन्ताका कारण पूछा और तब श्रीमद्भागवतका उपदेश किया। देवर्षिके चले जानेपर भगवान् व्यासने श्रीमद्भागवतको अठारह सहस्र श्लोकोंमें व्यक्त किया।

जीवका परम कल्याण भगवान्के श्रीचरणोंमें चित्तको लगा देनेमें ही है। सभी धर्मोंका यही परम फल है कि उनके आचरणसे भगवान्के गुण, नाम, लीलाके प्रति हृदयमें अनुरक्ति हो। व्यासजीने समस्त प्राणियोंके कल्याणके लिये पुराणोंमें भगवान्की विभिन्न लीलाओंका अधिकारभेदके समस्त दृष्टिकोणोंसे वर्णन किया। भगवान् व्यास अमर हैं, नित्य हैं। वे उपासनाके सभी मार्गोंके आचार्य हैं और अपने संकल्पसे वे सभी परमार्थके साधकोंकी निष्ठाका पोषण करते रहते हैं।

श्रीशुकदेवजी

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(श्रीमद्भा० १। ७। १०)

'जो आत्माराम, आप्तकाम, मायाके समस्त बन्धनोंसे मुक्त मुनिगण हैं, वे भी भगवान्में निष्काम भक्ति रखते हैं, वे भी बिना किसी कारणके ही भगवान्से प्रेम करते हैं; क्योंकि भगवान्के मङ्गलमय दिव्य गुण ही ऐसे हैं।'

श्रीशुकदेवजी साक्षात् नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके स्वरूप ही हैं। भगवान्के नित्य गोलोकधाममें भगवान्की आह्लादिनी पराशक्ति श्रीराधाजीके वे लीलाशुक हैं और भगवद्धाम, वहाँके पदार्थ, वहाँके परिकर-पार्षद—सब भगवान्से नित्य अभिन्न उन आनन्दघनके स्वरूप ही होते हैं। शुकदेवजी तो स्वरूपसे भी नन्दनन्दनके समान ही सदा षोडश वर्षकी अवस्थामें रहनेवाले, नवघन-सुन्दर अङ्गकान्तिसे युक्त, कमल-लोचन, सर्वावयवमनोहर हैं और प्रभावसे तो वे आनन्दरूप हैं ही। श्रीश्यामसुन्दर जब अपनी लीला इस लोकमें व्यक्त करनेके लिये व्रजमें पधारे, तब श्रीराधिकाजीके वे लीलाशुक गोलोकधामसे उड़ते-घूमते भगवान् शिवके लोकमें पहुँचे। वहाँ शङ्करजी भगवती पार्वतीको भगवान्की वह अद्भुत लीला सुना रहे थे, जो श्रवणमात्रसे प्राणीको अमरत्व प्रदान कर देती है। पार्वतीजी कथा-श्रवणमें तल्लीन होकर आत्मविस्मृत हो गयीं। कथा रुके नहीं, इसलिये वे लीलाशुक मध्यमें हुंकृति देते रहे। अन्तमें भगवान् शङ्करको जब ज्ञात हुआ कि एक पक्षीने यह कथा सुन ली है, तब वे मारने दौड़े त्रिशूल लेकर; क्योंकि पक्षीदेह उस कथाको धारण करनेका अधिकारी नहीं था। शुक वहाँसे उड़े और व्यासाश्रममें आकर व्यासपत्नीके मुखसे उनके उदरमें प्रविष्ट हो गये। भगवान् शङ्कर सन्तुष्ट होकर लौट गये। अब भगवान् व्यासके पुत्र होकर शुक उस कथा एवं

ज्ञानको धारण किये रहें, इसमें कोई आपत्ति हो ही नहीं सकती थी।

श्रीशुकदेवजीकी जन्मसम्बन्धी विविध कथाएँ विभिन्न-विभिन्न पुराणों एवं इतिहास-ग्रन्थोंमें मिलती हैं। कल्पभेदसे वे सभी सत्य हैं। एक जगह आया है—इनकी माता वटिका एवं पिता बादरायण श्रीव्यासजीने पृथ्वी, जल, आकाश और वायुके समान धैर्यशील एवं तेजस्वी पुत्र प्राप्त करनेके लिये भगवान् गौरीशङ्करकी विहारस्थली सुमेरुशृङ्गपर अत्यन्त घोर तपस्या की। यद्यपि भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायनकी इच्छा और दृष्टिमात्रसे कई महापुरुषोंका जन्म हो सकता था और हुआ है, तथापि अपने ज्ञान तथा सदाचारके धारण करने योग्य पुत्रकी प्राप्तिके लिये एवं संसारमें किस प्रकारके पुत्रकी सृष्टि करनी चाहिये—यह बात बतानेके लिये ही उन्होंने तपस्या की। इनकी तपस्यासे प्रसन्न हो भगवान् शङ्करजीने तेजस्वी पुत्रकी प्राप्तिका वरदान दे इन्हें कृतकृत्य किया। समयपर गर्भस्थिति हुई।

शुकदेवजी माताके गर्भमें बारह वर्ष बने रहे। अपनी योगशक्तिसे वे इतने छोटे बने हुए थे कि माताको कोई कष्ट नहीं था। उन्हें गर्भसे बाहर आनेके लिये भगवान् व्यास तथा दूसरे ऋषियोंने भी आग्रह किया; पर वे सदा यही कहते थे कि 'जीव जबतक गर्भमें रहता है, उसका ज्ञान प्रकाशित रहता है। भगवान्‌के प्रति उसमें भक्ति रहती है और विषयोंसे वैराग्य रहता है; किंतु गर्भसे बाहर आते ही भगवान्‌की अचिन्त्यशक्ति माया उसे मोहित कर देती है। उसका समस्त ज्ञान विस्मृत हो जाता है, वह मायामोहित होकर दु:खरूप घृणित संसार एवं उसके विषयोंमें आसक्त हो जाता है, आसक्तिवश नाना अपकर्म करता है और फिर जन्म-मरणके चक्रसे उसका छुटकारा बहुत ही कठिन हो जाता है। अत: मैं गर्भसे बाहर नहीं आऊँगा।'

जब देवर्षि नारदजीके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका यह आश्वासन प्राप्त कर लिया कि गर्भसे बाहर आनेपर भी श्रीव्यासनन्दनको माया स्पर्श नहीं करेगी, अथवा कहीं कहा गया है कि जब भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं वहाँ आकर दर्शन दिया और आश्वासन दिया, तब शुकदेवजी माताके उदरसे बाहर आये। जन्मते ही ये वनकी ओर चल पड़े। इनका नालोच्छेदन-संस्कार भी नहीं हुआ था। इतने सुन्दर, सुकुमार, ज्ञानी पुत्रको इस प्रकार तत्काल विरक्त होकर वनमें जाते देख भगवान् व्यास व्याकुल हो गये। वे 'पुत्र! पुत्र!' पुकारते हुए शुकदेवजीके पीछे चलने लगे। शुकदेवजीमें भेदबुद्धिका लेश नहीं था। सचराचर जगत्‌में उनका अखण्ड एकात्मभाव जागरूक था। उनकी इस एकात्मताका इतना प्रभाव हुआ कि वृक्षोंसे वाणियाँ फूट पड़ीं और उनकी ओरसे वृक्षोंने व्यासजीकी पुकारका उत्तर दिया।

भगवान् व्यास शुकदेवजीको पुकारते हुए उनके पीछे विह्वल हुए चले जा रहे थे। एक स्थानपर उन्होंने देखा कि वनके एकान्त सरोवरमें कुछ देवाङ्गनाएँ स्नान कर रही थीं। वे व्यासजीको आते देख लज्जावश बड़ी शीघ्रतासे जलसे निकलकर अपने वस्त्र पहनने लगीं। आश्चर्यमें पड़कर व्यासजीने पूछा—'देवियो! मेरा पुत्र युवक है, दिगम्बर है, इधरसे अभी गया है। आप सब उसे देखकर तो जलक्रीड़ा करती रहीं, उसे देखकर आपने लज्जाका भाव नहीं प्रकट किया; फिर मुझ वृद्धको देखकर आपने लज्जाका भाव क्यों प्रकट किया?'

बड़ी नम्रतासे देवियोंने कहा—'महर्षे! आप हमें क्षमा करें। आप यह पहचानते हैं कि यह पुरुष है और यह स्त्री है; अत: आपको देखकर हमें लज्जा करनी ही चाहिये। किंतु आपके पुत्रमें तो स्त्री-पुरुषका भाव ही नहीं है। वे तो सबको एक ही देखते हैं। उनके सम्मुख वस्त्र पहने रहना या न पहने रहना एक-सा ही है।'

देवियोंकी बात सुनकर भगवान् व्यास लौट आये। उन्होंने समझ लिया कि ऐसे समदर्शीके लिये पिता-पुत्रका सम्बन्ध कोई अर्थ नहीं रखता। वह बुलानेसे नहीं लौटेगा। परंतु व्यासजीका स्नेह अपार था। वह बढ़ता ही जाता था। वे चाहते थे कि शुकदेव उनके समीप रहकर कुछ दिन शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करें। ब्रह्मनिष्ठ तो वे हैं ही, श्रोत्रिय भी हो जायँ। व्यासजी जानते थे कि ऐसे आत्माराम विरक्तोंको केवल भगवान्‌का दिव्यरूप एवं मङ्गलमय चरित ही आकर्षित करता है। अतएव व्यासजीने अपने शिष्योंको श्रीश्यामसुन्दरके परम मनोहर

स्वरूपकी झाँकीका वर्णन करनेवाला एक श्लोक* पढ़ाकर आदेश दिया कि वनमें वे उसे बराबर मधुर स्वरसे गान किया करें। ब्रह्मचारीगण समिधा, फल, पुष्प, कुश लेने वनमें जाते तो वह श्लोक गाया करते थे। शुकदेवजीके कानोंमें जब वह श्लोक पड़ा, तब जैसे मृग सुन्दर रागपर मुग्ध होकर खिंचा चला आता है, वे उन ब्रह्मचारियोंके पास चले आये और उस श्लोकको सीखनेका आग्रह करने लगे। ब्रह्मचारी उन्हें व्यासजीके पास ले आये और वहाँ पूरे श्रीमद्भागवतका अध्ययन किया शुकदेवजीने।

गुरुके द्वारा प्राप्त ज्ञान ही उत्तम होता है। फिर जिसे लोकमें आचार्य होना है, उसे शास्त्रीय मर्यादाका पूरा पालन करना ही चाहिये। भगवान् व्यासकी आज्ञा स्वीकार करके शुकदेवजी मिथिला गये और मिथिला पहुँचकर जब वे राजमहलमें घुसने लगे, तब द्वारपालने उन्हें वहीं डाँटकर रोक दिया। वे निर्विकार शान्तचित्तसे वहीं खड़े रह गये। न उन्हें रास्तेकी थकावटका कोई ध्यान था, न भूख-प्यासका और न प्रचण्ड घामका। कुछ समय बाद दूसरे एक द्वारपालने आकर आदरके साथ हाथ जोड़ तथा विधिके अनुसार पूजा करके उन्हें महलकी दूसरी कक्षामें पहुँचा दिया। अपमान और मानकी कुछ भी स्मृति न रखते हुए वे वहीं बैठकर आत्मचिन्तन करने लगे। धूप-छाँहका उन्हें कोई खयाल नहीं था। अब तीसरी परीक्षा हुई, उन्हें अन्तःपुरसे सटे हुए 'प्रमदावन' नामक सुन्दर बगीचेमें पहुँचा दिया गया और पचास खूब सजी हुई अति सुन्दरी नवयुवती वाराङ्गनाएँ उनकी सेवामें लग गयीं। वे बातचीत करने और नाचने-गानेमें निपुण थीं। मन्द मुसकानके साथ बातें करती थीं। वे वाराङ्गनाएँ श्रीशुकदेवजीकी पूजा करके उन्हें नहला तथा खिला-पिलाकर बगीचेकी सैर कराने ले गयीं। उस समय वे हँसती, गाती तथा नाना प्रकारकी क्रीड़ाएँ करती जाती थीं। परंतु श्रीशुकदेवजीका अन्तःकरण सर्वथा विशुद्ध था। वे सर्वथा निर्विकार रहे। स्त्रियोंकी सेवासे न उन्हें हर्ष हुआ, न क्रोध। तदनन्तर उन्हें देवताओंके बैठने योग्य दिव्य रत्नजड़ित पलंगपर बहुमूल्य बिछौने बिछाकर उसपर शयन करनेके लिये कहा गया। वे वहीं पवित्र आसनसे बैठकर मोक्षतत्त्वका विचार करते हुए ध्यानस्थ हो गये। रात्रिके मध्यभागमें सोये और फिर ब्राह्ममुहूर्तमें जग गये तथा शौचादिसे निवृत्त होकर पुनः ध्यानमग्न हो गये।

अब राजा स्वयं मन्त्री और पुरोहितोंको साथ लेकर वहाँ आये, उनकी राजाने पूजा की और अंदर महलमें ले गये। वहाँ महाराज जनकसे उन्होंने अध्यात्म-विद्याका उपदेश ग्रहण किया। वैसे तो वे जन्मसे ही परम विरक्त हैं। नंगे, उन्मत्तकी भाँति अपने-आपमें आनन्दमग्न, भगवान्की लीलाओंका अस्फुट स्वरमें गान करते तथा हृदयमें भगवान्की दिव्य झाँकीका दर्शन करते वे सदा विचरण करते रहते हैं। वे नित्य अवधूत किसी गृहस्थके यहाँ उतनी देरसे अधिक कभी नहीं रुके, जितनी देरमें गाय दुही जाती है।

जब ऋषिके शापका समाचार महाराज परीक्षित्को मिला कि उन्हें सात दिन पश्चात् तक्षक काट लेगा और उससे उनका शरीरपात हो जायगा, तब वे अपने ज्येष्ठ पुत्र जनमेजयको राजतिलक करके स्वयं निर्जल व्रतका निश्चय कर गङ्गातटपर आ बैठे। इस समाचारके फैलते ही दूर-दूरसे ऋषिगण महाभागवत परीक्षित्पर कृपा करने वहाँ पधारे। उसी समय कहींसे घूमते हुए अकस्मात् शुकदेवजी भी वहाँ पहुँच गये। उन्हें उन्मत्त समझकर बालक घेरे हुए थे। शुकदेवजीको देखते ही सभी ऋषि उठ खड़े हुए। सबने उनका आदर किया। परीक्षित्ने उच्चासनपर बैठाकर उनका पूजन किया। परीक्षित्के पूछनेपर शुकदेवजीने सात दिनमें उन्हें पूरे श्रीमद्भागवतका उपदेश किया।

श्रीशुकदेवजी भागवताचार्य तो हैं ही, वे शाङ्कर अद्वैत सम्प्रदायके भी आद्याचार्योंमें हैं। अगले मन्वन्तरमें वे सप्तर्षियोंमें स्थान ग्रहण करेंगे। वे अवधूत व्रजेन्द्रसुन्दरको हृदयमें धारण किये, उनके स्मरण एवं गुणगानमें मत्त सदा विचरण ही किया करते हैं। भगवत्कृपासे अनेक बार अधिकारी महापुरुषोंने उनका दर्शन प्राप्त किया है।

---

*श्रीमद्भागवतका वह श्लोक इस प्रकार है—

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं बिभ्रद् वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दैर्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः॥

(श्रीमद्भा० १०। २१। ५)

महर्षि शौनक

ये नैमिषारण्यके अठासी हजार ऊर्ध्वरेता ब्रह्मवादी ऋषियोंमें प्रधान ऋषि थे। भृगुवंशमें उत्पन्न होनेसे भार्गव और शुनकके पुत्र होनेके कारण इनका नाम शौनक पड़ा। समस्त पुराणोंको और महाभारतको इन्होंने ही सूतजीके मुखसे सुना था। पुराणोंको श्रवण करनेवाला ऐसा कौन-सा मनुष्य होगा, जो इनके नामको न जानता हो। समस्त पुराणोंमें '**शौनक उवाच**' पहले ही आता है। हमें पुराणोंमें व्रतोंका माहात्म्य तथा तीर्थोंकी महिमा जो कुछ भी सुनायी पड़ती है, सब शौनकजीकी ही कृपाका फल है। ये हजारों वर्षोंका श्रवणसत्र करते थे। एक जगह कहा है—

कलिमागतमाज्ञाय क्षेत्रेऽस्मिन् वैष्णवे वयम्।
आसीना दीर्घसत्रेण कथायां सक्षणा हरेः॥

'कलियुगको आया देखकर हम सब ऋषि इस वैष्णवक्षेत्रमें भगवान्‌की कथाओंका आनन्द लेते हुए दीर्घकालका सत्र कर रहे हैं।'

इनका समस्त समय भगवत्कथा-श्रवणमें ही व्यतीत होता था। ऋषियोंमें जैसा विशुद्ध और संयमयुक्त लीलाकथारसिक चरित्र महर्षि शौनकका मिलता है, वैसा अन्य किसी ऋषिका शायद ही हो। ये नियमसे हवन आदि नित्यकर्म करके कथाश्रवणके लिये बैठ जाते थे और फिर भगवान्‌की कथाओंमें ही पूरा समय लगाते थे। इस प्रकार शौनकजी हमें पुराण कैसे सुनने चाहिये, इसकी शिक्षा देते हैं। भगवच्चरित्र सुनकर कैसे अनुमोदन करना चाहिये, कथामें किस प्रकार एकाग्रता रखनी चाहिये और समयका कैसे सदुपयोग करना चाहिये—इन समस्त बातोंकी शिक्षा हमें शौनकजीके चरित्रसे मिलती है। भगवान्‌के भजनमें कितनी और कैसी निष्ठा इनकी थी, यह इनके निम्नलिखित वचनोंसे प्रकट है—

आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तं च यन्नसौ।
तस्यर्ते यत्क्षणो नीत उत्तमश्लोकवार्तया॥
तरवः किं न जीवन्ति भस्त्राः किं न श्वसन्त्युत।
न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामपशवोऽपरे॥
श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः।
न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः॥

(श्रीमद्भा २। ३। १७—१९)

'जिनका समय भगवान् श्रीकृष्णके गुणोंके गान अथवा श्रवणमें व्यतीत हो रहा है, उनके अतिरिक्त सभीकी आयु व्यर्थ जा रही है। ये भगवान् सूर्य प्रतिदिन उदय और अस्तसे उनकी आयु छीनते जा रहे हैं। जीनेके लिये तो वृक्ष भी जीते हैं—लुहारकी धौंकनी क्या श्वास नहीं लेती ? गाँवके पालतू जानवर क्या मनुष्योंकी ही तरह खाते-पीते या मल-मूत्र-त्याग नहीं करते—तब उनमें और मनुष्योंमें अन्तर ही क्या है। जिसने भगवान् श्रीकृष्णकी लीला-कथा कभी नहीं सुनी—वह नर-पशु कुत्ते, ग्राम-सूकर, ऊँट और गधेसे भी गया-बीता है।'

बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये
न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत
न चोपगायत्युरुगायगाथाः॥
भारः परं पट्टकिरीटजुष्ट-
मप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम्।
शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां
हरेर्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा॥
बर्हायिते ते नयने नराणां
लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये।
पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ
क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ॥
जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रिरेणुं
न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु।
श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याः
श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम्॥

(श्रीमद्भा० २। ३। २०—२३)

'सूतजी! मनुष्यके जो कान भगवान् श्रीकृष्णकी कथा कभी नहीं सुनते, वे (साँपके) बिलके समान हैं। जो जीभ भगवान्‌की लीलाओंका गायन नहीं करती, वह मेढककी जीभके समान टर्र-टर्र करनेवाली है, उसका

तो न रहना ही अच्छा है। जो सिर कभी भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें झुकता नहीं—वह रेशमी वस्त्रसे सुसज्जित और मुकुटसे युक्त होनेपर भी बोझामात्र ही है। जो हाथ भगवान्‌की सेवा-पूजा नहीं करते, वे सोनेके कंगनसे भूषित होनेपर भी मुर्देके हाथ हैं; जो आँखें भगवान्‌की याद दिलानेवाली मूर्ति, तीर्थ, नदी आदिका दर्शन नहीं करतीं, वे मोरोंकी पाँखोंमें बने हुए आँखोंके चिह्नके समान निरर्थक हैं। मनुष्योंके वे पैर चलनेकी शक्ति रखनेवाले होनेपर भी न चलनेवाले पेड़ोंके समान ही हैं,—जो भगवान्‌की लीलास्थलियोंकी यात्रा नहीं करते। जिस मनुष्यने भगवत्प्रेमी संतोंके चरणोंकी धूलि कभी सिरपर नहीं चढ़ायी, वह जीता हुआ भी मुर्दा ही है। और जिस मनुष्यने भगवान्‌के चरणोंमें चढ़ी तुलसीकी गंध नहीं ली, वह श्वास लेता हुआ भी श्वासरहित शव है।'

सखा सुदामा

स्वर्गापवर्गयोः पुंसां रसायां भुवि सम्पदाम्।
सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ८१। १९)

'पुरुषके लिये स्वर्गकी, पृथ्वीकी तथा पातालकी समस्त सम्पत्ति, मोक्ष एवं समस्त सिद्धियोंका मूल उन परम पुरुष पुरुषोत्तमके चरणोंकी पूजा ही है।'

विप्रवर सुदामा जन्मसे ही दरिद्र थे। श्रीकृष्णचन्द्र जब अवन्तीमें महर्षि सान्दीपनिके यहाँ शिक्षा प्राप्त करने गये, तब सुदामाजी भी वहीं गुरुके आश्रममें थे। वहाँ श्रीकृष्णचन्द्रसे उनकी मैत्री हो गयी। दीनबन्धुको छोड़कर दीनोंसे भला, और कौन मित्रता करेगा। श्यामसुन्दर तो गिने-चुने दिन गुरु-गृह रहे और उतने ही दिनोंमें वे समस्त वेद-वेदाङ्ग, शास्त्रादि तथा सभी कलाओंकी शिक्षा पूर्ण करके चले आये। वे द्वारकाधीश हो गये। सुदामाकी भी जब शिक्षा पूरी हुई, तब गुरुदेवकी आज्ञा लेकर वे भी अपनी जन्मभूमि लौट आये। विवाह करके उन्होंने भी गृहस्थाश्रम स्वीकार किया। एक टूटी झोंपड़ी, फूटे-टूटे दो-चार पात्र और लज्जा ढकनेको कुछ मैले चिथड़े—बस, इतनी ही गृहस्थी थी सुदामाकी। जन्मसे सरल, सन्तोषी सुदामा किसीसे कुछ माँगते नहीं थे। जो कुछ बिना माँगे मिल जाय, भगवान्‌को अर्पण करके उसीपर उनका एवं उनकी पत्नीका जीवन-निर्वाह होता था। प्रायः पति-पत्नीको उपवास करना पड़ता था। उन दोनोंके शरीर क्षीण—कङ्कालप्राय हो रहे थे।

जिसने श्यामसुन्दरकी स्वप्नमें भी एक झाँकी कर ली, उसके हृदयसे वह मोहिनी मूर्ति कभी हटती नहीं; फिर सुदामा तो उन भुवन-मोहनके सहपाठी रह चुके थे। उन वनमालीके साथ अनेक दिन उन्होंने पढ़ा था, गुरुकी सेवा की थी, वनमें साथ-साथ कुश, समिधा, फल-फूल एकत्र किये थे। उस मयूरमुकुटीने उनके चित्तको चुरा लिया था। वे उसीका बराबर ध्यान करते, उसीका गुणगान करते। पत्नीसे भी वे अपने सखाके रूप, गुण, उदारता आदिका बखान करते थकते न थे।

सुदामाकी पत्नी सुशीला थी, साध्वी थी, पतिपरायणा थी। उसे अपने कष्टकी कोई चिन्ता नहीं थी; किंतु उसके दुबले, क्षीणकाय, धर्मात्मा पतिदेवको जब उपवास करना पड़ता था, तब उसे अपार कष्ट होता था। एक बार जब कई दिनों उपवास करना पड़ा, तब उसने डरते-डरते स्वामीसे कहा—'महाभाग! ब्राह्मणोंके परम भक्त, साक्षात् लक्ष्मीपति, शरणागतवत्सल यादवेन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र आपके मित्र हैं। आप एक बार उनके पास जाइये। आप कुटुम्बी हैं, दरिद्रताके कारण क्लेश पा रहे हैं, वे अवश्य आपको प्रचुर धन देंगे। वे द्वारकाधीश अपने श्रीचरणोंकी सेवा करनेवालेको अपने-आपको दे डालते हैं; फिर धन दे देंगे, इसमें तो सन्देह ही क्या है। मैं जानती हूँ कि आपके मनमें धनकी रत्तीभर भी इच्छा नहीं है, पर आप कुटुम्बी हैं। आपके कुटुम्बका इस प्रकार कैसे निर्वाह होगा। आप अवश्य द्वारका जायँ।'

सुदामाने देखा कि ब्राह्मणी भूखके कष्टसे व्याकुल हो गयी है, दरिद्रतासे घबराकर वह मुझे द्वारका भेज रही है। किंतु श्यामसुन्दरके पास धनकी इच्छासे जानेमें उन्हें बड़ा संकोच हुआ। उन्होंने स्त्रीसे कहा—'पगली!

ब्राह्मणको धनसे क्या काम। तू कहे तो मैं भिक्षा माँग लाऊँ, पर धनके लिये द्वारका जाना मुझे अच्छा नहीं लगता। हमें तो सन्तोषपूर्वक भगवान्‌का भजन करनेमें ही सुख मानना चाहिये।'

ब्राह्मणीने बहुत आग्रह किया। वह चाहती थी कि सुदामा अपने मित्रसे केवल मिल आयें एक बार। सुदामाने भी सोचा कि श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शन हो जायँ, यह तो परम लाभकी बात है। परंतु मित्रके पास खाली हाथ कैसे जायँ? कहनेपर किसी प्रकार ब्राह्मणी किसी पड़ोसिनसे चार मुट्ठी रूखे चिउरे माँग लायी और उनको एक चिथड़ेमें बाँधकर दे दिया। वह पोटली बगलमें दबाकर सुदामाजी चल पड़े द्वारकाकी ओर।

जब कई दिनोंकी यात्रा करके सुदामा द्वारका पहुँचे, तब वहाँका ऐश्वर्य देखकर हक्के-बक्के रह गये। गगनचुम्बी स्फटिकमणिके भवन, स्वर्णके कलश, रत्नखचित दीवारें—स्वर्ग भी जहाँ फीका, झोपड़ी-सा जान पड़े, उस द्वारकाको देखकर दरिद्र ब्राह्मण ठक् रह गये। किसी प्रकार उन्हें पूछनेका साहस हुआ। एक नागरिकने श्रीकृष्णचन्द्रका भवन दिखा दिया। ऐसे कंगाल, चिथड़े लपेटे, मैले-कुचैले ब्राह्मणको देखकर द्वारपालको आश्चर्य नहीं हुआ। उसके स्वामी ऐसे ही दीनोंके अपने हैं, यह उसे पता था। उसने सुदामाको प्रणाम किया। परंतु जब सुदामाने अपनेको भगवान्‌का 'मित्र' बताया, तब वह चकित रह गया। देवराज इन्द्र भी अपनेको जहाँ बड़े संकोचसे 'दास' कह पाते थे, वहाँ यह कंगाल 'मित्र' कह रहा था। किंतु उन अशरणशरण कृपासिन्धुका कौन कैसा मित्र है, यह भला, कब किसीने जाना है। नियमानुसार सुदामाजीको द्वारपर ठहराकर द्वारपाल आज्ञा लेने भीतर गया।

त्रिभुवनके स्वामी, सर्वेश्वर यादवेन्द्र अपने भवनमें शय्यापर बैठे थे। श्रीरुक्मिणीजी अपने हाथमें रत्नदण्ड लेकर व्यजन कर रही थीं भगवान्‌को। द्वारपालने भूमिमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और कहा—'एक फटे चिथड़े लपेटे, नंगे सिर, नंगे बदन, शरीर मैला-कुचैला, बहुत ही दुर्बल ब्राह्मण द्वारपर खड़ा है। पता नहीं, वह कौन है और कहाँका है। बड़े आश्चर्यसे चारों ओर वह देखता है। अपनेको प्रभुका मित्र कहता, प्रभुका निवास पूछता है और अपना नाम 'सुदामा' बताता है।'

'सुदामा' यह शब्द कानमें पड़ा कि श्रीकृष्णचन्द्रने जैसे सुधि-बुधि खो दी। मुकुट धरा रहा, पटुका भूमिपर गिर गया, चरणोंमें पादुकातक नहीं, वे विह्वल दौड़ पड़े। द्वारपर आकर दोनों हाथ फैलाकर सुदामाको इस प्रकार हृदयसे लगा लिया, जैसे चिरकालसे खोयी निधि मिल गयी हो। सुदामा और श्रीकृष्णचन्द्र दोनोंके नेत्रोंसे अजस्र अश्रुप्रवाह चलने लगा। कोई एक शब्दतक नहीं बोला। नगरवासी, रानियाँ, सेवक—सब चकित हो देखते रह गये। देवता पुष्पवर्षा करते हुए ब्राह्मणके सौभाग्यकी प्रशंसा करने लगे।

बड़ी देरमें जब उद्धवादिने सावधान किया, तब श्यामसुन्दर सुदामाको लेकर अपने भवनमें पधारे। प्रिय सखाको उन्होंने अपने दिव्य पलंगपर बैठा दिया। स्वयं उनके चरण धोने बैठे। 'ओह, मेरे सखाके पैर इस प्रकार बिवाइयोंसे फट रहे हैं! इतनी दरिद्रता, इतना कष्ट भोगते हैं ये विप्रदेव!' हाथमें सुदामाका चरण लेकर कमललोचन अश्रु गिराने लगे। उनकी नेत्र-जलधारासे ही ब्राह्मणके चरण धुल गये। रुक्मिणीजीने भगवान्‌की यह भावविह्वल दशा देखकर अपने हाथों चरण धोये। जिन भगवती महालक्ष्मीकी कृपा-कोरकी याचना सारे लोकपाल करते हैं, वे आदरपूर्वक कंगाल ब्राह्मणका पाद-प्रक्षालन करती रहीं। द्वारकेशने वह चरणोदक अपने मस्तकपर छिड़का, तमाम महलोंमें छिड़कवाया। दिव्य गन्धयुक्त चन्दन, दूब, अगुरु, कुङ्कुम, धूप, दीप, पुष्प, माला आदिसे विधिपूर्वक सुदामाकी भगवान्‌ने पूजा की। उन्हें नाना प्रकारके पक्वान्नोंसे भोजन कराके तृप्त किया। आचमन कराके पान दिया।

जब भोजन करके सुदामा बैठ गये, तब भगवान्‌की पटरानियाँ स्वयं अपने हाथों उनपर पंखा झलने लगीं। श्रीकृष्णचन्द्र उनके समीप बैठ गये और उनका हाथ अपने हाथमें लेकर बातें करने लगे। श्यामसुन्दरने उनसे गुरुगृहमें रहनेकी चर्चा की, अपनी मित्रताके मधुर संस्मरण कहे, घरकी कुशल पूछी। सुदामाके मनमें कहीं कोई कामना नहीं थी। धनकी इच्छाका लेश भी उनके

मनमें नहीं था। उन्होंने कहा—'देवदेव! आप तो जगद्गुरु हैं। आपको भला, गुरुगृह जानेकी आवश्यकता कहाँ थी। यह तो मेरा सौभाग्य था कि मुझे आपका साथ मिला। सम्पूर्ण मङ्गलोंकी उत्पत्ति आपसे ही है। वेदमय ब्रह्म आपकी मूर्ति हैं। आपका गुरुगृहमें अध्ययन तो एक विडम्बनामात्र था।'

अब हँसते हुए लीलामयने पूछा—'भाई! आप मेरे लिये भेंट क्या लाये हैं? प्रेमियोंकी दी हुई जरा-सी वस्तु भी मुझे बहुत प्रिय लगती है और अभक्तोंका विपुल उपहार भी मुझे सन्तुष्ट नहीं करता।'

सुदामाका साहस कैसे हो द्वारकाके इस अतुल ऐश्वर्यके स्वामीको रूखे चिउरे देनेका। वे मस्तक झुकाकर चुप रह गये। सर्वान्तर्यामी श्रीहरिने सब कुछ जानकर यह निश्चय कर ही लिया था कि 'यह मेरा निष्काम भक्त है। पहले भी कभी धनकी इच्छासे इसने मेरा भजन नहीं किया और न अब इसे कोई कामना है; किंतु अपनी पतिव्रता पत्नीके कहनेसे जब यह यहाँ आ गया, तब मैं इसे वह सम्पत्ति दूँगा, जो देवताओंको भी दुर्लभ है।'

'यह क्या है? भाभीने मेरे लिये जो कुछ भेजा है, उसे आप छिपाये क्यों जा रहे हैं?' यह कहते हुए श्रीकृष्णचन्द्रने स्वयं पोटली खींच ली। पुराना जीर्ण वस्त्र फट गया। चिउरे बिखर पड़े। भगवान्ने अपने पीतपटमें कंगालकी निधिके समान उन्हें शीघ्रतासे समेटा और एक मुट्ठी भरकर मुखमें डालते हुए कहा—'मित्र! यही तो मुझको परम प्रसन्न करनेवाली प्रिय भेंट है। ये चिउरे मेरे साथ समस्त विश्वको तृप्त कर देंगे।'

नन्वेतदुपनीतं मे परमप्रीणनं सखे।
तर्पयन्त्यङ्ग मां विश्वमेते पृथुकतण्डुलाः॥

(श्रीमद्भा० १० । ८१ । ९)

'बड़ा मधुर, बहुत स्वादिष्ट। ऐसा अमृत-जैसा पदार्थ तो कभी कहीं मिला ही नहीं।' इस प्रकार प्रशंसा करते हुए जब श्रीकृष्णचन्द्रने दूसरी मुट्ठी भरी, तब रुक्मिणीजीने उनका हाथ पकड़ते हुए कहा—'प्रभो! बस कीजिये। मेरी कृपासे इस लोक और परलोकमें मिलनेवाली सब प्रकारकी सम्पत्ति तो इस एक मुट्ठी चिउरेसे ही इस ब्राह्मणको मिल चुकी। अब इस दूसरी मुट्ठीसे आप और क्या करनेवाले हैं? अब आप मुझपर दया कीजिये।' भगवान् मुट्ठी छोड़कर मुसकराने लगे।

कुछ दिनोंतक सुदामाजी वहाँ रहे। श्रीकृष्णचन्द्र तथा उनकी पटरानियोंने बड़ी सेवा की उनकी। अन्तमें अपने सखाकी आज्ञा लेकर वे घरको विदा हुए। लीलामयने दूरतक पहुँचाकर उनको विदा किया। सुदामाजीको धनकी तनिक भी इच्छा नहीं थी। श्रीकृष्णचन्द्र बिना माँगे ही बहुत कुछ देंगे, ऐसी भावना भी उनके हृदयमें नहीं उठी थी। द्वारकासे कुछ नहीं मिला, इसका उन्हें कोई खेद तो हुआ ही नहीं। उलटे वे सोचते जा रहे थे—'ओह! मैंने अपने परम उदार सखाकी ब्राह्मण-भक्ति देखी। कहाँ तो मैं दरिद्र, पापी और कहाँ वे लक्ष्मीनिवास पुण्यचरित्र! किंतु मुझे उन्होंने उल्लसित होकर हृदयसे लगाया, अपनी प्रियाके पलंगपर बैठाया, मेरे चरण धोये। साक्षात् श्रीलक्ष्मीजीकी अवतार रुक्मिणीजी मुझपर चँवर करती रहीं। मेरे परम सुहृद् श्रीकृष्ण कितने दयालु हैं! मनुष्यको उनके चरणोंकी सेवा करनेसे ही तीनों लोकोंकी सम्पत्ति, सब सिद्धियाँ और मोक्षतक मिल जाता है। उनके लिये मुझे धन देना कितना सरल था; किंतु उन दयामयने सोचा कि यह निर्धन धन पाकर मतवाला हो जायगा और मेरा स्मरण नहीं करेगा, अतः मेरे कल्याणके लिये उन्होंने धन नहीं दिया।'

धन्य सुदामा! घरमें भूखी स्त्रीको छोड़ आये हैं, अन्न-वस्त्रका ठिकाना नहीं, पत्नीको जाकर क्या उत्तर देंगे, इसकी चिन्ता नहीं; राजराजेश्वर मित्रसे मिलकर कोरे लौटे—इसकी ग्लानि नहीं। धनके लिये धनके भक्त भगवान्की आराधना करते हैं और धन न मिलनेपर उन्हें कोसते हैं; किंतु सुदामा-जैसे भगवान्के भक्त तो भगवान्को ही चाहते हैं। पर भगवान्के पास सुदामा पत्नीकी प्रेरणासे गये थे। सुदामाके मनमें कोई कामना नहीं थी, पर पत्नीने धन पानेकी इच्छासे ही प्रेरित किया था उन्हें। भक्तवाञ्छाकल्पतरु भगवान्ने विश्वकर्माको भेजकर उनके ग्रामको द्वारका-जैसी भव्य सुदामापुरी बनवा दिया था। एक रातमें झोपड़ीके स्थानपर देवदुर्लभ ऐश्वर्यसे पूर्ण मणिमय भवन खड़े हो गये थे। जब सुदामा

वहाँ पहुँचे, उन्हें जान ही न पड़ा कि जागते हैं कि स्वप्न देख रहे हैं। कहाँ मार्ग भूलकर पहुँच गये, यह भी वे समझ नहीं पाते थे। इतनेमें बहुत-से सेवकोंने उनका सत्कार किया, उन्हें भवनमें पहुँचाया। उनकी ब्राह्मणी अब किसी स्वर्गकी देवी-जैसी हो गयी थी। उसने सैकड़ों दासियोंके साथ आकर उनको प्रणाम किया। उन्हें घरमें ले गयी। सुदामाजी पहले तो विस्मित हो गये, पर पीछे सब रहस्य समझकर भाव-गद्गद हो गये। वे कहने लगे—'मेरे सखा उदार-चक्र-चूड़ामणि हैं। वे माँगनेवालेको लज्जित न होना पड़े, इसलिये चुपचाप छिपाकर उसे पूर्णकाम कर देते हैं। परंतु मुझे यह सम्पत्ति नहीं चाहिये। जन्म-जन्म मैं उन सर्वगुणागारकी विशुद्धि भक्तिमें लगा रहूँ, यही मुझे अभीष्ट है।'

सुदामा वह ऐश्वर्य पाकर भी अनासक्त रहे। विषयभोगोंसे चित्तको हटाकर भजनमें ही वे सदा लगे रहे। इस प्रकार वे ब्रह्मभावको प्राप्त हो गये।

गुरुभक्त आरुणि या उद्दालक

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

'गुरु ही ब्रह्मा हैं, गुरु ही विष्णु हैं, गुरु ही महेश्वर हैं और गुरु ही साक्षात् परब्रह्म हैं। उन गुरुको नमस्कार है।'

जीवनमें किसीपर श्रद्धा हो, किसीपर भी पूर्ण विश्वास हो तो बस, बेड़ा पार ही समझिये। किसीके वचनको माननेकी इच्छा हो, आज्ञापालनकी दृढ़ता हो तो उसके लिये जीवनमें कौन-सा काम दुर्लभ है। सबसे अधिक श्रद्धेय, सबसे अधिक विश्वसनीय, सबसे अधिक प्रेमास्पद श्रीसद्गुरु ही हैं, जो निरन्तर शिष्यका अज्ञान दूर करनेके लिये मनसे चेष्टा करते रहते हैं। गुरुके बराबर दयालु, उनके बराबर हितैषी जगत्में कौन होगा। जिन्होंने भी कुछ प्राप्त किया है, गुरुकृपासे ही प्राप्त किया है।

प्राचीन कालमें आजकी भाँति विद्यालय, हाईस्कूल और पाठशालाएँ तथा कॉलेज नहीं थे। विद्वान् तपस्वी गुरु जंगलोंमें रहते थे, वहीं शिष्य पहुँच जाते थे। वहाँ भी कोई नियमसे कापी-पुस्तक लेकर चार-छः घंटे पढ़ाई नहीं होती थी। गुरु अपने शिष्योंको काम सौंप देते थे, स्वयं भी काम करते थे। काम करते-करते बातों-ही-बातोंमें वे अनेकों प्रकारकी शिक्षा दे देते थे। और किसीपर गुरुकी परम कृपा हो गयी तो उसे स्वयं ही सब विद्याएँ आ जाती थीं।

ऐसे ही एक आयोदधौम्य नामके ऋषि थे। उनके यहाँ आरुणि, उपमन्यु और वेद नामके तीन विद्यार्थी पढ़ते थे। धौम्य ऋषि बड़े परिश्रमी थे, वे विद्यार्थियोंसे खूब काम लेते थे। किंतु उनके विद्यार्थी भी इतने गुरुभक्त थे कि गुरुजी जो भी आज्ञा देते, उसका पालन वे बड़ी तत्परताके साथ करते। कभी उनकी आज्ञाका उल्लङ्घन न करते। उनके कड़े शासनके ही कारण अधिक विद्यार्थी उनके यहाँ नहीं आये। पर जो आये, वे तपानेपर खरा सोना बनकर ही गये। तीनों ही विद्यार्थी आदर्श गुरुभक्त छात्र निकले।

एक दिन खूब वर्षा हो रही थी, गुरुजीने पाञ्चालदेशके आरुणिसे कहा—'बेटा आरुणि! तुम अभी चले जाओ और वर्षामें ही खेतकी मेड़ बाँध आओ, जिससे वर्षाका पानी खेतके बाहर न निकलने पाये। सब पानी बाहर निकल जायगा तो फसल अच्छी नहीं होगी। पानी खेतमें ही सूखना चाहिये।'

गुरुकी आज्ञा पाकर आरुणि खेतपर गया। मूसलाधार पानी पड़ रहा था। खेतमें खूब पानी भरा था, एक जगह बड़ी ऊँची मेड़ थी। वह मेड़ पानीके वेगसे बहुत कट गयी थी। पानी उसमेंसे बड़ी तेजीके साथ निकल रहा था। आरुणिने फावड़ीसे इधर-उधरकी बहुत-सी मिट्टी लेकर उस कटी हुई मेड़पर डाली। जबतक वह मिट्टी रखता और दूसरी मिट्टी रखनेके लिये लाता, तबतक पहली मिट्टी बह जाती। उसने जी-तोड़कर परिश्रम किया, किंतु जलका वेग इतना तीव्र था कि वह पानीको रोक न सका। तब उसे बड़ी चिन्ता हुई। उसने सोचा

गुरुकी आज्ञा है कि पानी खेतसे निकलने न पाये और पानी निरन्तर निकल रहा है। अतः उसे एक बात सूझी। फावड़ेको रखकर वह कटी हुई मेड़की जगह स्वयं लेट गया। उसके लेटनेसे पानी रुक गया। थोड़ी देरमें वर्षा भी बंद हो गयी। किंतु खेतमें पानी भरा हुआ था। वह यदि उठता है तो सब पानी निकल जाता है, अतः वह वहीं चुपचाप पानी रोके पड़ा रहा। वहाँ पड़े-पड़े उसे रात्रि हो गयी।

अन्तःकरणसे सदा भलाईमें निरत रहनेवाले गुरुने सन्ध्याको अपने सब शिष्योंको बुलाया, उनमें आरुणि नहीं था। गुरुजीने सबसे पूछा—'आरुणि कहाँ गया?' शिष्योंने कहा—'भगवन्! आंपने ही तो उसे प्रातः खेतकी मेड़ बनाने भेजा था।' गुरुने सोचा—'ओहो! प्रातःकालसे अभीतक नहीं आया! चलो, चलें, उसका पता लगायें।' यह कहकर वे शिष्योंके साथ प्रकाश लेकर आरुणिकी खोजमें चले। उन्होंने इधर-उधर बहुत ढूँढ़ा, किंतु आरुणि कहीं दीखा ही नहीं। तब गुरुजीने जोरोंसे आवाज दी—'बेटा आरुणि! तुम कहाँ हो? हम तुम्हारी खोज कर रहे हैं।' दूरसे आरुणिने पड़े-ही-पड़े उत्तर दिया—'गुरुजी! मैं यहाँ मेड़ बना हुआ पड़ा हूँ।' आवाजके सहारे-सहारे गुरुजी वहाँ पहुँचे। उन्होंने जाकर देखा कि आरुणि सचमुच मेड़ बना पड़ा है और पानीको रोके हुए है। गुरुजीने कहा—'बेटा! अब तुम निकल आओ।' गुरुजीकी आज्ञा पाकर आरुणि मेड़को काटकर निकल आया, गुरुजीका हृदय भर आया। उन्होंने अपने प्यारे शिष्यको छातीसे चिपटा लिया, प्रेमसे उसका माथा सूँघा और आशीर्वाद दिया—'बेटा! मैं तुम्हारी गुरुभक्तिसे बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हें बिना पढ़े ही सब विद्या आ जायगी, तुम जगत्‌में यशस्वी और भगवद्भक्त होओगे। आजसे तुम्हारा नाम उद्दालक हुआ।' वे ही आरुणि मुनि उद्दालकके नामसे प्रसिद्ध हुए, जिनका संवाद उपनिषद्‌में आता है।

गुरुभक्त उपमन्यु

महर्षि आयोदधौम्यके दूसरे शिष्यका नाम उपमन्यु था। गुरुने उसे गौएँ चरानेका कार्य दे रखा था। वह दिनभर जंगलोंमें गौएँ चराता, रात्रिमें गुरुगृहको लौट आता। एक दिन गुरुने उसे खूब हृष्ट-पुष्ट देखकर पूछा—'बेटा उपमन्यु! हम तुझे खानेको तो देते नहीं, तू इतना हृष्ट-पुष्ट कैसे है?'

उपमन्युने कहा—'भगवन्! मैं भिक्षा माँगकर अपने शरीरका निर्वाह करता हूँ।'

गुरुने कहा—'बेटा! बिना गुरुके अर्पण किये भिक्षाको पा लेना पाप है; अतः जो भी भिक्षा मिले, उसे पहले मुझे अर्पण किया करो। मैं दूँ, तब तुझे खाना चाहिये।' 'बहुत अच्छा' कहकर शिष्यने गुरुकी आज्ञा मान ली और वह प्रतिदिन भिक्षा लाकर गुरुके अर्पण करने लगा। गुरु तो उसकी परीक्षा ले रहे थे, उसे कसौटीपर कस रहे थे, अग्निमें तपाकर कुन्दन बना रहे थे। उपमन्यु जो भिक्षा लाता, वे उसे पूरी-की-पूरी रख लेते, उसको खानेके लिये कुछ भी न देते।

कुछ दिनों बाद गुरुने देखा उपमन्यु तो पहलेकी ही भाँति हृष्ट-पुष्ट है, तब उन्होंने कहा—'बेटा उपमन्यु! तुम आजकल क्या खाते हो?'

उपमन्युने कहा—'भगवन्! पहली भिक्षा माँगकर मैं आपके अर्पण कर देता हूँ। फिर दुबारा जाकर भिक्षा माँग लाता हूँ, उसीपर अपना निर्वाह करता हूँ।'

गुरुने कहा—'यह भिक्षा-धर्मके विरुद्ध है, इससे गृहस्थोंपर भी बोझा पड़ेगा और दूसरे भिक्षा माँगनेवालोंको भी संकोच होगा। अतः आजसे दुबारा भिक्षा मत माँगना।' शिष्यने गुरुकी आज्ञा शिरोधार्य की और दूसरी बार भिक्षा माँगना छोड़ दिया।

कुछ दिनों बाद गुरुने फिर उपमन्युको ज्यों-का-त्यों देखकर पूछा—'उपमन्यु! अब तुम क्या खाते हो?'

उपमन्युने कहा—'मैंने दुबारा भिक्षा लाना छोड़ दिया है, मैं अब केवल गौओंका दूध पीकर रहता हूँ।'

गुरुने कहा—'यह तुम बड़ा अनर्थ कर रहे हो, मेरे बिना पूछे गौओंका दूध कभी नहीं पीना चाहिये। आजसे गौओंका दूध मत पीना।'

शिष्यने गुरुकी यह बात मान ली और उसने गौओंका दूध भी छोड़ दिया। थोड़े दिनों बाद गुरुने फिर उपमन्युको हृष्ट-पुष्ट देखा और पूछा—'बेटा! तुम दुबारा भिक्षा भी नहीं लाते, गौओंका दूध भी नहीं पीते, फिर भी तुम्हारा शरीर ज्यों-का-त्यों बना है! तुम क्या खाते हो?'

उसने कहा—'भगवन्! मैं बछड़ोंके मुखमेंसे गिरनेवाले फेनको पीकर अपनी वृत्ति चलाता हूँ।'

गुरुने कहा—'देखो, यह तुम ठीक नहीं करते। बछड़े दयावश तुम्हारे लिये अधिक फेन गिरा देते होंगे। इससे वे भूखे रह जाते होंगे। तुम बछड़ोंका फेन भी मत पिया करो।' उपमन्युने इसे भी स्वीकार कर लिया और उस दिनसे फेन पीना भी छोड़ दिया।

अब वह उपवास करने लगा। प्रतिदिन उपवास करता और दिनभर गौओंके पीछे घूमता। भूखे रहते-रहते उसकी सब इन्द्रियाँ शिथिल पड़ गयीं। भूखके वेगमें वह बहुत-से आकके पत्तोंको खा गया। उन कड़वे, विषैले पत्तोंको खानेसे उसकी आँखें फूट गयीं। फिर भी उसे गौओंके पीछे तो जाना ही था, वह धीरे-धीरे आवाजके सहारे गौओंके पीछे चलने लगा। आगे एक कुआँ था, वह उसीमें गिर पड़ा।

गुरु उसके साथ निर्दयताके कारण ऐसा बर्ताव नहीं करते थे, वे तो उसे पक्का बनाना चाहते थे। कछुआ रहता तो जलमें है, किंतु अपने अण्डोंको सेता रहता है। इसीसे अण्डे वृद्धिको प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार ऊपरसे तो गुरुजी ऐसा बर्ताव करते थे, भीतरसे सदा उन्हें उपमन्युकी चिन्ता लगी रहती थी। रात्रिमें जब उपमन्यु नहीं आया, तब उन्होंने अपने दूसरे शिष्यसे पूछा—'उपमन्यु अभी लौटकर नहीं आया? गौएँ तो लौटकर आ गयीं। मालूम होता है, बहुत कष्ट सहते-सहते वह दुःखी होकर भूखके कारण कहीं भाग गया। चलो, उसे जंगलमें चलकर ढूँढ़ें।' यह कहकर गुरु जंगलमें उपमन्युको खोजने लगे। सर्वत्र वे जोरसे आवाज देते—'बेटा उपमन्यु! तुम कहाँ हो? जल्दी आओ।'

कुएँमें पड़े हुए उपमन्युने गुरुकी आवाज सुन ली। उसने वहींसे जोरसे कहा—'गुरुजी! मैं यहाँ कुएँमें पड़ा हूँ।'

गुरुजी वहाँ पहुँचे, सब हाल सुनकर वे हृदयसे बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—'बेटा! ऋग्वेदकी ऋचाओंसे तुम देवताओंके वैद्य अश्विनीकुमारकी स्तुति करो, वे तुम्हें आँखें दे देंगे।'

उसने वैसा ही किया। स्वरके साथ वैदिक ऋचाओंसे उसने अश्विनीकुमारोंकी प्रार्थना की। उससे प्रसन्न होकर अश्विनीकुमारोंने उसकी आँखें अच्छी कर दीं और उसे एक पूआ देकर कहा कि 'इसे तुम खा लो।'

उसने कहा—'देवताओ! मैं अपने गुरुको बिना अर्पण किये इस पूआको कभी नहीं खा सकता।'

अश्विनीकुमारोंने कहा—'पहले तुम्हारे गुरुने जब हमारी स्तुति की थी, तब हमने उन्हें भी पूआ दिया था और उन्होंने बिना गुरुके अर्पण किये ही उसे खा लिया था।'

उपमन्युने कहा—'चाहे जो हो, वे मेरे गुरु हैं; मैं ऐसा नहीं कर सकता।' तब अश्विनीकुमारोंने उसे सब विद्याओंके स्फुरित होनेका आशीर्वाद दिया। बाहर आनेपर गुरुने भी उन्हें छातीसे लगाया और देवताओंके आशीर्वादका अनुमोदन किया।

कालान्तरमें उपमन्यु भी आचार्य हुए। वे गुरुकुलके कष्टको जानते थे, अतः अपने किसी शिष्यसे कोई काम नहीं लेते थे, सबको प्रेमपूर्वक पढ़ाते थे।

गुरुभक्त उत्तङ्क

आयोदधौम्यके तीसरे शिष्य वेद थे। वेदऋषि जब विद्याध्ययन समाप्त कर चुके, तब वे घर गये और वहाँ वे गृहस्थधर्मका पालन करते हुए रहने लगे। उनके भी तीन शिष्य हुए। वेदमुनिको राजा जनमेजय और राजा पौष्यने अपना राजगुरु बनाया। वेदमुनिके प्यारे शिष्य उत्तङ्क थे। वे जब भी कहीं बाहर जाते, तब उत्तङ्कके ही ऊपर घरका सब भार सौंप जाते। एक बार वेदमुनि किसी कामसे बाहर जाने लगे, तब उन्होंने अपने प्रिय शिष्य उत्तङ्कसे कहा—'बेटा! मेरे घरमें जिस चीजकी जरूरत हो, उसका प्रबन्ध करना। मेरी अनुपस्थितिमें तुम्हीं सब कामोंको करना।' उत्तङ्कने गुरुकी आज्ञा शिरोधार्य की, गुरु चले गये। स्नेहमयी पवित्रहृदया शिष्योंके कल्याणकी इच्छा करनेवाली गुरुपत्नीने परीक्षाके निमित्त अपनी सहेलियोंसे कहलाया—'मैं ऋतुस्नान करके निवृत्त हुई हूँ। तुम्हारे गुरु यहाँ हैं नहीं। वे तुमसे अपनी अनुपस्थितिमें सब कार्य करनेको कह गये हैं; तुम ऐसा काम करो कि मेरा ऋतुकाल व्यर्थ न जाय।'

उत्तङ्कने जब यह बात सुनी, तब उसने बड़ी नम्रतासे कहा—'गुरुजी मुझसे अनुचित कार्य करनेको नहीं कह गये हैं। ऐसा कार्य मैं कभी नहीं करूँगा।'

कालान्तरमें जब गुरु लौटे, तब अपने शिष्यके इस सदाचारमय बर्तावको सुनकर वे बड़े प्रसन्न हुए और उसे सर्वशास्त्रविद् होनेका आशीर्वाद दिया।

उत्तङ्कका अध्ययन समाप्त हो गया। वे घर जाने लगे। विद्याध्ययनकी समाप्तिपर गुरुदक्षिणा अवश्य देनी चाहिये। वे गुरुजीसे बार-बार कहने लगे—'मैं आपको क्या दक्षिणा दूँ? मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ?' गुरुने बहुत समझाया कि 'तुमने मेरी मनसे सेवा की है, यही सबसे बड़ी गुरुदक्षिणा है।' किंतु उत्तङ्कने नहीं माना, वे बार-बार गुरुदक्षिणाके लिये आग्रह करने लगे। तब गुरुने कहा—'अच्छा, भीतर जाकर गुरुपत्नीसे पूछ आओ। उसे जो प्रिय हो, वही तुम कर दो, यही तुम्हारी गुरुदक्षिणा है।' यह सुनकर उत्तङ्क भीतर गये और गुरुपत्नीसे प्रार्थना की; तब गुरुपत्नीने कहा—'राजा पौष्यकी रानी जो कुण्डल पहने हुए हैं, उन्हें मुझे आजसे चौथे दिन पुण्यक नामक व्रतके अवसरपर अवश्य ला दो। उस दिन मैं उन कुण्डलोंको पहनकर ब्राह्मणोंको भोजन कराना चाहती हूँ।' यह सुनकर उत्तङ्क ऋषि गुरु और गुरुपत्नीको प्रणाम करके पौष्य राजाकी राजधानीको चल दिये।

रास्तेमें उन्हें धर्मरूपी बैलपर चढ़े हुए इन्द्र मिले। इन्द्रने कहा, 'उत्तङ्क! तुम इस बैलका गोबर खा लो। भय मत करो, तुम्हारे गुरुने भी इसे खाया है।' उनकी आज्ञा पाकर बैलका पवित्र गोबर और मूत्र उन्होंने ग्रहण किया। जल्दीमें साधारण आचमन करके वे पौष्य राजाके यहाँ पहुँचे। पौष्यने ऋषिके आगमनका कारण पूछा। तब उत्तङ्कने कहा—'गुरुदक्षिणामें गुरुपत्नीको देनेके लिये मैं आपकी रानीके कुण्डलोंकी याचना करने आया हूँ।' राजाने कहा—'आप स्नातक ब्रह्मचारी हैं। स्वयं ही जाकर रानीसे कुण्डल माँग लाइये।' यह सुनकर उत्तङ्क राजमहलमें गये, वहाँ उन्हें रानी नहीं दीखीं। तब राजाके पास आकर वे बोले—'महाराज ! क्या आप मुझसे हँसी करते हैं? रानी तो भीतर नहीं हैं।'

तब राजाने कहा—'ब्रह्मन्! रानी भीतर ही हैं। जरूर आपका मुख उच्छिष्ट है। सती स्त्रियाँ उच्छिष्ट-मुख पुरुषको दिखायी नहीं देतीं।' उत्तङ्कको अपनी गलती मालूम हुई। उन्होंने हाथ-पैर धोकर प्राणायाम करके तीन बार आचमन किया। तब वे भीतर गये। वहाँ जाते ही रानी दिखायी दीं। उत्तङ्कका उन्होंने सत्कार किया और आनेका कारण पूछा। उत्तङ्कने कहा—'गुरुपत्नीके लिये मैं आपके कुण्डलोंकी याचना करने आया हूँ।'

उसे स्नातक ब्रह्मचारी और सत्पात्र ही समझकर रानीने अपने कुण्डल उतारकर दे दिये और यह भी कह दिया कि 'बड़ी सावधानीसे इन्हें ले जाना। सर्पोंका राजा तक्षक इन कुण्डलोंकी तलाशमें सदा घूमा करता है।' उत्तङ्क मुनि रानीको आशीर्वाद देकर कुण्डलोंको लेकर चल दिये। रास्तेमें एक नदीपर वे नित्यकर्म कर रहे थे कि इतनेमें ही तक्षक मनुष्यका वेष बनाकर कुण्डलोंको

लेकर भागा। उत्तङ्कने भी उसका पीछा किया। किंतु वह अपना असली रूप धारणकर पातालमें चला गया। इन्द्रकी सहायतासे उत्तङ्क पातालमें गये और वहाँ इन्द्रको अपनी स्तुतिसे प्रसन्न करके नागोंको जीतकर तक्षकसे उन कुण्डलोंको ले आये। इन्द्रकी ही सहायतासे वे अपनी निश्चित समयसे पहले गुरुपत्नीके पास पहुँच गये। गुरुपत्नी उसे देखकर बहुत प्रसन्न हुईं और बोलीं—'यदि तुम थोड़ी देर और न आते तो मैं तुम्हें शाप देनेवाली थी। अब आशीर्वाद देती हूँ। तुम्हें सब सिद्धियाँ प्राप्त हों।'

गुरुपत्नीको कुण्डल देकर उत्तङ्क गुरुके पास गये। सब समाचार सुनकर गुरुने कहा—'इन्द्र मेरे मित्र हैं। वह गोबर अमृत था, इसीके कारण तुम पातालमें जा सके। मैं तुम्हारे साहससे बहुत प्रसन्न हूँ। अब तुम प्रसन्नतासे घर जाओ।' इस प्रकार गुरु और गुरुपत्नीका आशीर्वाद पाकर उत्तङ्क अपने घर आ गये।

उत्तङ्क बड़े ही प्रतापी, तपस्वी, ज्ञानी ऋषि थे। भगवान् श्रीकृष्णने महाभारतयुद्धके अनन्तर द्वारका लौटते समय इन्हें अपने महिमामय 'विराट् स्वरूप' का दर्शन कराया था।

भक्त गोकर्ण

पूर्वकालमें दक्षिण भारतकी तुङ्गभद्रा नदीके तटपर एक सुन्दर नगरी थी। वहाँ आत्मदेव नामक एक सदाचारी विद्वान् तथा धनवान् ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्रीका नाम धुन्धुली था। वह बड़ी कलहकारिणी थी। उस ब्राह्मण-दम्पतिको सब प्रकारके सांसारिक सुख प्राप्त होनेपर भी सन्तानका अभाव बहुत खटकता था। उन्होंने सन्तानके निमित्त बहुत-से उद्योग किये, परंतु सब निष्फल हुए। एक दिन इसी चिन्तामें ब्राह्मण घरसे निकल पड़ा और वनमें जाकर एक तालाबके किनारे बैठ गया। वहाँ उसे एक संन्यासी महात्माके दर्शन हुए। ब्राह्मणने उनसे अपने दुःखका वृत्तान्त कहा। महात्माको ब्राह्मणपर बड़ी दया आयी। उन्होंने ध्यानके द्वारा उसके प्रारब्धको जानकर कहा—'ब्राह्मण! तुम्हारे प्रारब्धमें सात जन्मोंतक सन्ततिका योग नहीं है। अतः तुम्हें सन्तानकी चिन्ता छोड़कर भगवान्में मन लगाना चाहिये।' परंतु ब्राह्मणको महात्माके वचनोंसे सन्तोष नहीं हुआ। वह बोला—'महाराज! मुझे आपका ज्ञान नहीं चाहिये। मुझे तो सन्तान दीजिये। नहीं तो, मैं अभी आपके सामने प्राण त्याग करता हूँ।' ब्राह्मणके इस हठको देखकर महात्माने कहा—'तुम्हारा इस प्रकार हठ करना ठीक नहीं है। विधाताके लेखके विरुद्ध पुत्र प्राप्त होनेसे भी तुम्हें सुख न होगा। किंतु फिर भी तुम न मानोगे तो यह फल ले जाओ। इसे तुम घर ले जाकर अपनी स्त्रीको खिला दो, इससे तुम्हें पुत्र होगा। परंतु तुम्हारी स्त्रीको चाहिये कि वह पुत्र उत्पन्न होनेके समयतक पवित्रतासे रहे, सत्य बोले, दान करे और एक समय भात खाकर जीवन-निर्वाह करे। इससे तुम्हें अच्छी सन्तान होगी।' यह कहकर ब्राह्मणको उन्होंने एक फल दिया।

ब्राह्मणने ले जाकर फल अपनी स्त्रीको दे दिया। उसकी स्त्रीने सोचा—'फल खानेसे मुझे नियमपूर्वक रहना पड़ेगा और गर्भधारणसे भी कष्ट होगा; और पुत्र उत्पन्न हो जानेपर उसके लालन-पालनमें बड़े कष्टोंका सामना करना पड़ेगा। इससे तो बाँझ रहना ही अच्छा है।' यह सोचकर उसने फल अपनी गौको खिला दिया और पतिसे झूठ-मूठ कह दिया कि 'मैंने फल खा लिया।' उन्हीं दिनों उसकी छोटी बहिन गर्भवती हुई। धुन्धुलीने उसके साथ यह तय कर लिया कि 'जो सन्तान उसे होगी, उसे लाकर वह धुन्धुलीको दे देगी।' समय आनेपर धुन्धुलीकी बहिनके एक पुत्र हुआ और उसने उसे लाकर धुन्धुलीको दे दिया। लोकमें यह प्रसिद्ध कर दिया गया कि धुन्धुलीके पुत्र हुआ है और उसका नाम धुन्धुकारी रखा गया।

तीन मासके अनन्तर गौको भी एक बालक उत्पन्न हुआ। उसके सभी अवयव मनुष्यके-से थे, केवल कान गौके-से थे। इसीलिये उसका नाम 'गोकर्ण', रखा गया। गोकर्ण देखनेमें बड़े सुन्दर, तेजस्वी और बुद्धिमान् थे।

ये थोड़ी ही अवस्थामें बड़े विद्वान् और ज्ञानी हो गये। इधर धुन्धुकारी बड़ा दुश्चरित्र, आचारहीन, क्रोधी, चोर, निर्दयी और वेश्यागामी निकला। वह माता-पिताको भी बहुत दुःख देता और उनका सब धन अपहरणकर वेश्याओंको दे आता। आत्मदेव उसके बर्तावसे बहुत दुःखी होकर रोने लगे; तब गोकर्णने उन्हें समझाया और ज्ञानका उपदेश दिया। पुत्रके उपदेशसे प्रभावित हो वह वृद्ध ब्राह्मण घरसे निकल पड़ा और वनमें जाकर भगवान् श्रीहरिके परायण हो उसने शरीर त्याग दिया।

पिताके चले जानेपर धुन्धुकारीने उनका सारा धन नष्ट कर दिया और वह अपनी माताको बहुत सताने लगा, जिससे दुःखी होकर उसने कुएँमें गिरकर प्राण त्याग दिये। गोकर्णने भी अब घरमें रहना उचित नहीं समझा और वे तीर्थयात्राके निमित्त वहाँसे चल दिये। उन्हें माताकी मृत्यु तथा पिताके वनवासका तथा घरकी सारी सम्पत्तिके नष्ट हो जानेका तनिक भी दुःख न हुआ। क्योंकि उनकी सर्वत्र समबुद्धि हो गयी थी; उनकी दृष्टिमें न कोई शत्रु था और न कोई मित्र था। इधर धुन्धुकारी पाँच वेश्याओंको लेकर स्वच्छन्दतापूर्वक घरमें ही रहने लगा। एक दिन उन वेश्याओंने उसे बड़ी निर्दयतापूर्वक मार डाला और उसके शरीरको किसी गड़हेमें डाल दिया। धुन्धुकारी अपने दूषित कर्मोंसे प्रेतयोनिको प्राप्त हुआ और इधर-उधर भटकता हुआ बहुत क्लेश पाने लगा। गोकर्णने जब उसकी मृत्युका समाचार सुना, तब गया जाकर वहाँ उसका श्राद्ध किया और फिर जिस-जिस तीर्थमें वे गये, वहाँ उन्होंने बड़ी श्रद्धाके साथ उसे पिण्डदान दिया।

× × ×

गोकर्ण तीर्थयात्रा करके लौट आये। वे जब रातको घरमें सोने गये, तब प्रेत बना हुआ धुन्धुकारी वहाँ अनेकों प्रकारके उत्पात मचाने लगा। गोकर्णने देखा कि अवश्य ही यह कोई प्रेत है और बड़े धैर्यके साथ उससे पूछा कि 'तू कौन है और तेरी यह दशा किस प्रकार हुई?' यह सुनकर धुन्धुकारी बड़े जोरसे रोने लगा, किंतु चेष्टा करनेपर भी कुछ बोल न सका। तब गोकर्णने अपनी अञ्जलिमें जल लेकर मन-ही-मन कोई मन्त्र पढ़ा और उस जलको उस प्रेतके ऊपर छिड़क दिया, जिससे वह पापमुक्त होकर बोलने लगा। उसने बड़े दीन शब्दोंमें अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया और उस भीषण यातनासे छूटनेका उपाय पूछा। गोकर्णने सोचा कि 'जब इसकी गयाश्राद्धसे भी मुक्ति नहीं हुई, तब इसके लिये कोई असाधारण उपाय सोचना पड़ेगा, साधारण उपायोंसे काम नहीं चलेगा।' उन्होंने प्रेतसे कहा—'अच्छा, इस समय तुम जाओ। तुम्हारे लिये अवश्य कोई उपाय सोचेंगे, भय न करो।' दूसरे दिन गोकर्णने कई विद्वान् योगी और ब्रह्मवादियोंसे इस विषयमें परामर्श किया। उन सबकी राय यह हुई कि भगवान् सूर्यनारायणसे इस विषयमें पूछा जाय और वे जो उपाय बतायें, वही किया जाय। गोकर्णने उसी समय सबके सामने मन्त्रबलसे भगवान् सूर्यदेवकी गतिको रोककर उनकी स्तुति की और उनसे इस सम्बन्धमें प्रश्न किया। सूर्यदेवने स्पष्ट शब्दोंमें यह कहा कि 'इसकी श्रीमद्भागवतसे मुक्ति हो सकती है, उसका सात दिनमें पाठ करो।' यह सुनकर गोकर्ण श्रीमद्भागवतके पारायणमें प्रवृत्त हुए।

गोकर्णके द्वारा श्रीमद्भागवतके पाठका समाचार सुनकर आस-पासके गाँवोंके बहुत-से लोग वहाँ एकत्रित हो गये। जिस समय व्यासासनपर बैठकर गोकर्णने कथा कहनी आरम्भ की, उस समय धुन्धुकारी प्रेत भी कथामण्डपमें आया और बैठनेके लिये इधर-उधर स्थान ढूँढ़ने लगा। उसने देखा कि वहाँ सात गाँठोंका एक ऊँचा-सा बाँस खड़ा है। वह वायुरूप तो था ही, उसी बाँसकी जड़के एक छिद्रमें घुसकर बैठ गया। ज्यों ही सायंकाल हुआ और पहले दिनकी कथा समाप्त हुई, लोगोंने देखा कि उस बाँसकी एक गाँठ बड़ी कड़कड़ाहटके साथ टूट गयी। दूसरे दिन दूसरी गाँठ और तीसरे दिन तीसरी गाँठ टूटी। इस प्रकार सात दिनोंमें उस बाँसकी सातों गाँठें टूट गयीं और कथा समाप्त होते-होते वह धुन्धुकारी प्रेतयोनिको त्यागकर दिव्यरूपको प्राप्त हो गया। लोगोंने देखा—उसके गलेमें तुलसीकी माला पड़ी हुई है, मस्तकपर मुकुट विराजमान है, कानोंमें कुण्डल सुशोभित हैं, उसका श्याम वर्ण है और वह पीताम्बर पहने है। वह गोकर्णके सामने आकर खड़ा हो गया

और हाथ जोड़कर कहने लगा—'भाई गोकर्ण! तुमने मुझपर बड़ी दया की जो मुझे इस प्रेतयोनिसे छुड़ाया। अब मैं इस दिव्य शरीरको प्राप्तकर भगवान्‌के परम धामको जा रहा हूँ। देखो, मेरे लिये यह विमान खड़ा है और भगवान् विष्णुके पार्षद मुझे बुला रहे हैं।' यह कहकर वह सब लोगोंके देखते-हुए विमानपर आरूढ़ होकर भगवान् विष्णुके परम धामको चला गया।

श्रावणके महीनेमें गोकर्णने फिर उसी प्रकार श्रीमद्भागवतकी कथा कही। कथा-समाप्तिके दिन स्वयं भगवान् अपने पार्षदोंसहित अनेक विमानोंको साथ लेकर वहाँ प्रकट हुए और जय-जयकारकी ध्वनिसे आकाश गूँज उठा। भगवान्‌ने स्वयं अपना पाञ्चजन्य शङ्ख बजाया और गोकर्णको हृदयसे लगाकर अपना चतुर्भुज रूप प्रदान किया। देखते-देखते मण्डपमें उपस्थित श्रोतागण भी विष्णुरूप हो गये और उस गाँवके और भी जितने लोग थे, वे सब-के-सब महात्मा गोकर्णकी कृपासे विमानोंपर बैठकर योगिदुर्लभ विष्णुलोकको चले गये। भक्तवत्सल भगवान् भी अपने भक्तको साथ लेकर गोलोकको चले गये। इस प्रकार उस महान् भक्तने अपनी भक्तिके प्रभावसे गाँवभरका उद्धार कर दिया।

भक्त महर्षि मुद्गल

दक्षिण महासागरके तटपर परम पवित्र देवीपुरके समीप फुल्लग्रामके नामसे एक तीर्थस्थान है। वहींसे प्रारम्भ करके भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने महासागरमें सेतु बाँधा था। पूर्वकालमें वहाँ वेदोक्त मार्गपर चलनेवाले एक मुनि रहते थे, जिनका नाम मुद्गल था। उन्होंने भगवान् विष्णुको प्रसन्न करनेके लिये एक उत्तम यज्ञका अनुष्ठान किया। उनके यज्ञ तथा भक्तिभावसे सन्तुष्ट होकर गरुड़की पीठपर बैठे हुए भगवान् विष्णुने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया। भगवान्‌की कान्ति मेघके समान श्याम थी। उनके श्रीअङ्गोंपर पीताम्बर शोभा पा रहा था। वक्षःस्थलपर कौस्तुभमणि अपना प्रकाश बिखेर रही थी। चारों हाथ क्रमशः शङ्ख, चक्र, गदा और पद्मसे सुशोभित थे। भगवान्‌का दर्शन पाकर महर्षि मुद्गल प्रेम-निमग्न हो गये। उनके शरीरमें रोमाञ्च हो आया। उन्होंने बड़ी भक्तिके साथ मधुर शब्दोंमें भगवान्‌का इस प्रकार स्तवन किया—'भगवन्! आप ही ब्रह्मा होकर संसारकी सृष्टि करते हैं, आप ही विष्णुरूपसे सम्पूर्ण जगत्‌का पालन और रुद्ररूपसे इसका संहार करते हैं। नारायण! आपको नमस्कार है। मच्छ, कच्छ आदि अवतार धारण करनेवाले सच्चिदानन्दमय प्रभु! आपको प्रणाम है। करुणासिन्धो! जगदीश्वर! आप मेरी रक्षा कीजिये। मैं निर्लज्ज, कृपण, क्रूर, दम्भी, दुर्बल, लोभी, विषयलोलुप तथा दूसरोंके दोष देखनेवाला हूँ। आप मेरे इन दोषोंको दूर कीजिये। मुझमें ऐसी शक्ति और साहस दीजिये, जिससे मैं आपके अनन्य भक्तोंके पावन पथपर चल सकूँ और निरन्तर आपके ही चिन्तनमें संलग्न रहूँ।'

भगवान्‌ने कहा—मुद्गल! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ और इस यज्ञमें तुम्हारे हविष्यको प्रत्यक्षरूपसे भोग लगानेके लिये आया हूँ।

मुद्गलने कहा—हृषीकेश! मैं कृतार्थ हो गया। मेरी धर्मपत्नी भी धन्य-धन्य हो गयी। मेरा जन्म, मेरा जीवन सफल हो गया। मेरी तपस्याका फल मिल गया। आज मेरा कुल, मेरा पुत्र, मेरा घर और मेरी ममताका आश्रयभूत सब कुछ आपके श्रीचरणोंमें समर्पित होकर धन्य-धन्य हो गया। योगीजन अपने हृदयमें सदैव जिनकी खोज करते हैं, वे ही साक्षात् भगवान् मेरी यज्ञशालामें हविष्य ग्रहण करनेके लिये पधारे हैं—यह मेरा कितना बड़ा सौभाग्य है!

यों कहकर मुद्गलने सुन्दर आसनपर भगवान्‌को विराजमान किया और चन्दन एवं पुष्प आदि उपचारोंसे भगवान्‌को अर्घ्य देकर विधिपूर्वक उनका पूजन किया। फिर बड़े प्रेमसे पुरोडाश अर्पण किया। भक्तवत्सल प्रभुने अपने प्रेमी भक्तके दिये हुए हविष्यको स्वयं अपने हाथमें लेकर भोजन किया। भगवान्‌के भोजन कर लेनेपर अग्निसहित सम्पूर्ण देवता तृप्त हो गये। सम्पूर्ण चराचर प्राणी सन्तुष्ट हो गये। तदनन्तर भगवान्‌ने मुद्गल

मुनिसे कहा—'सुव्रत! मैं प्रसन्न हूँ और तुम्हें वर देना चाहता हूँ; तुम्हारी जो इच्छा हो, माँग लो।'

मुद्गलने कहा—'प्रभो! आपने प्रत्यक्षरूपसे दर्शन देकर मेरी सेवा स्वीकार की है, इतनेसे ही मैं कृतार्थ हो गया। इससे अधिक और क्या वरणीय हो सकता है। तथापि आपकी आज्ञाका पालन करनेके लिये मैं दो वर माँगता हूँ। आपमें मेरी निश्चल एवं निश्छल भक्ति बनी रहे—यह मेरा पहला वर है। इसके सिवा मैं प्रतिदिन सायंकाल और प्रातःकाल आपके स्वरूपभूत अग्निकी तृप्ति एवं आपकी प्रीतिके लिये गायके दूधसे हवन करना चाहता हूँ। मेरी यह इच्छा पूर्ण हो—यही मेरे लिये द्वितीय वर होगा।

भक्तवाञ्छाकल्पतरु भगवान्ने अपने प्रेमी भक्त मुद्गलकी ये दोनों ही इच्छाएँ पूर्ण कीं। उन्होंने विश्वकर्माके द्वारा एक सरोवरका निर्माण कराया और सुरभिको आज्ञा दी कि तुम प्रतिदिन सबेरे और शामको यहाँ आकर इस सरोवरको अपने दूधसे भर दिया करो। सुरभिने 'बहुत अच्छा' कहकर भगवान्की आज्ञा स्वीकार की। भगवान्ने मुद्गलसे यह भी कहा—'महर्षे! तुम देहावसान होनेके पश्चात् सब बन्धनोंसे मुक्त हो मेरे परम धाममें आ जाओगे।' यों कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। महर्षिने आजीवन यज्ञ—होमके द्वारा भगवान्की आराधना की और अन्तमें उन्हींका सायुज्य प्राप्त किया। उनके जीवनकालतक सुरभि प्रतिदिन वहाँ दूध देती रही। आज भी वह सरोवर क्षीरसागरके नामसे विख्यात परम तीर्थ बनकर महर्षि मुद्गलके मूर्तिमान् सुयशकी भाँति शोभा पा रहा है।

भक्त हरिमेधा और सुमेधा

प्राचीन कालकी बात है—काश्मीर देशमें हरिमेधा और सुमेधा नामके दो ब्राह्मण थे, जो सदा भगवान् विष्णुके भजनमें संलग्न रहते थे। भगवान्में उनकी अविचल भक्ति थी। उनके हृदयमें सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति दया भरी हुई थी। वे सब तत्त्वोंका यथार्थ मर्म समझनेवाले थे। एक समय वे दोनों ब्राह्मण एक ही साथ तीर्थयात्राके लिये निकले। जाते-जाते किसी दुर्गम वनमें पहुँचकर वे बहुत थक गये। वहीं एक स्थानपर उन्होंने तुलसीका वन देखा। उनमेंसे सुमेधाने उस तुलसीवनकी परिक्रमा की और भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। यह देख हरिमेधाने भी वैसा ही किया और सुमेधासे पूछा—'ब्रह्मन्! तुलसीका माहात्म्य क्या है?' सुमेधाने कहा—'महाभाग! चलो, उस बरगदके नीचे चलें; उसकी छायामें बैठकर मैं सब बात बताऊँगा।' यह कहकर सुमेधा बरगदकी छायामें जा बैठे और हरिमेधासे बोले—'विप्रवर! पूर्वकालमें जब समुद्रका मन्थन किया गया था, उस समय उससे अनेक प्रकारके दिव्य रत्न प्रकट हुए। अन्तमें धन्वन्तरिरूप भगवान् विष्णु अपने हाथमें अमृतका कलश लेकर प्रकट हुए। उस समय उनके नेत्रोंसे आनन्दाश्रुकी कुछ बूँदें उस अमृतके ऊपर गिरीं। उनसे तत्काल ही मण्डलाकार तुलसी उत्पन्न हुईं। इस प्रकार समुद्रसे प्रकट हुई लक्ष्मी तथा अमृतसे उत्पन्न हुई तुलसीको सब देवताओंने श्रीहरिकी सेवामें समर्पित किया और भगवान्ने भी प्रसन्नतापूर्वक उन्हें ग्रहण किया। तबसे सम्पूर्ण देवता भगवत्प्रिया तुलसीकी विष्णुके समान ही पूजा करते हैं। भगवान् नारायण संसारके रक्षक हैं और तुलसी उनकी प्रियतमा हैं। इसलिये मैंने उन्हें प्रणाम किया।'

सुमेधा इस प्रकार तुलसीकी महिमा बता ही रहे थे कि सूर्यके समान तेजस्वी एक दिव्य विमान उनके निकट आता दिखायी दिया। इसी समय वह बरगदका वृक्ष भी उखड़कर गिर गया। उससे दो दिव्य पुरुष निकले, जो अपने तेजसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित कर रहे थे। उन दोनोंने हरिमेधा और सुमेधाको प्रणाम किया और अपना परिचय देते हुए कहा—'हम दोनों देवता हैं और अपने पूर्वपापके कारण ब्रह्मराक्षस होकर इस वटवृक्षपर निवास करते थे। आज आपके मुखसे यह भगवद्विषयक चर्चा सुनकर तथा आप दोनों महात्माओंका सङ्ग पाकर हम दोनों इस पापयोनिसे मुक्त हो गये हैं और अब दिव्यधामको जा रहे हैं।'

यों कहकर वे दोनों हरिमेधा और सुमेधाको बार-बार प्रणाम करके उनकी आज्ञा ले विमानद्वारा दिव्यलोकको चले गये। वास्तवमें भगवद्भक्तोंके सङ्गका ऐसा ही माहात्म्य है।

भक्त विष्णुचित्त और उनके शिष्य नरपति

सब के प्रिय सब के हितकारी। दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी॥
कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी॥
तुम्हहि छाड़ि गति दूसरि नाहीं। राम बसहु तिन्ह के मन माहीं॥
(रामचरितमानस)

दक्षिण भारतके पाण्ड्यदेशमें धन्विनगरमें मुकुन्द नामके एक ब्राह्मण रहते थे। वे सदाचारी, भगवद्भक्त, शास्त्रज्ञ और धर्मात्मा थे। उनके कोई सन्तान नहीं थी। भगवान्‌से सन्तानकी प्रार्थना करनेपर स्वप्नमें पुत्र-प्राप्तिका आश्वासन उन्हें मिला। समय आनेपर उन्हें पुत्र प्राप्त हुआ। बालकका नाम रखा गया विष्णुचित्त। बचपनसे ही उसमें दिव्य गुण थे। बड़े प्रेमसे वह भगवान्‌की कथा सुनता था। बच्चोंके साथ भी भगवान्‌की लीलाओंके ही खेल खेलता। माता-पिताकी आज्ञा मानता। उसे किसीसे लड़ते अथवा किसीकी निन्दा या शिकायत करते देखा ही नहीं गया। पिताने उसका यज्ञोपवीत-संस्कार कराया। इसके कुछ दिनों बाद पिताका परलोकवास हो गया।

विष्णुचित्त हृष्ट-पुष्ट थे, मधुरभाषी थे, शरीरसे सुन्दर थे; किंतु जवानीमें भी उनपर कभी प्रमादका अधिकार नहीं हुआ। सन्ध्योपासन, वेदाध्ययन तथा साधु-सेवा उनकी निर्बाध चलती रही। भगवान् श्रीकृष्णको उन्होंने अपना आराध्य माना तथा उन श्यामसुन्दरके चरणोंपर ही आत्मसमर्पण कर दिया। रात-दिन वे श्रीकृष्णके नामका जप करते और उनके गुण-लीलाके चिन्तनमें मग्न रहते। उनका शरीर भी भगवान्‌की सेवामें ही लगा रहता था। कभी भगवान्‌के लिये फूल चुनते, कभी माला गूँथते, कभी चन्दन घिसते, कभी नैवेद्य प्रस्तुत करते, कभी आरती उतारते। भगवान्‌के स्मरण, नाम-जप और पूजनके अतिरिक्त और कोई काम नहीं था उनके पास।

विष्णुचित्तजीने, भगवान्‌की सेवाके लिये पुष्प मिलें, इसलिये एक सुन्दर बगीचा लगाया था। उस बगीचेमें मन्दिर बनाकर उन्होंने भगवान्‌के श्रीविग्रहकी स्थापना की थी और स्वयं भी भगवान्‌की सेवा करते हुए वहीं रहते थे। उस देशके राजा उधरसे कहीं घोड़ेपर बैठे जा रहे थे। बगीचा देखकर वे विश्रामके लिये भीतर गये। घोड़ेसे उतरकर उन्होंने भगवान्‌के दर्शन किये। विष्णुचित्तके तेजस्वी शरीर एवं भजनमें लीन भावको देखकर राजाकी उनमें श्रद्धा हो गयी। राजाने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और उपदेश करनेकी प्रार्थना की।

विष्णुचित्तजीने कहा—'जैसे बनजारे आठ महीने देश-विदेशमें व्यापार करके चौमासेमें उसे घर बैठकर खाते हैं, वैसे ही जीवके लिये मनुष्य-जन्म कमाई करनेका और दूसरे सब जन्म भोगनेके हैं। मनुष्य-जन्ममें यदि कमाई ठीक न हो तो दूसरे जन्मोंमें उसका फल कष्ट भोगना ही पड़ेगा। मनुष्य-जन्ममें जो पुण्य करते हैं, उन्हें देवता आदिके उत्तम शरीर मिलते हैं और पाप करनेवाले नरकमें जाते हैं तथा कीट-पतङ्ग आदि शरीरोंमें जन्म लेकर भयंकर कष्ट भोगते हैं। इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको पाप तो भूलकर भी नहीं करना चाहिये। उसे पुण्य ही करना चाहिये। परंतु मनुष्य-जन्मकी सफलता पुण्य करनेमें भी नहीं है। पुण्य करनेसे भी जन्म तो लेना ही पड़ता है। मनुष्य-जन्मकी सफलता तो जन्म-मरणके बन्धनसे छूट जानेमें है। श्रीकृष्णके भजनसे ही यह बन्धन छूटता है। पता नहीं, पृथ्वीपर कितने राजा हुए। एक-से-एक प्रतापी राजाओंको भी काल खा गया। इसलिये तुम राजमदमें आकर जीवन नष्ट मत करो। पाप करके या विषय-भोगोंमें लगकर इस दुर्लभ जन्मको मत गँवाओ। भगवान् श्रीकृष्ण ही जीवके सच्चे स्वामी हैं। तुम अपनेको उन्हींके चरणोंमें समर्पित कर दो। उनके नामका जप करो। उनके गुण गाओ। उनके चरणोंका चिन्तन करो। सभी प्राणियोंको उनका रूप मानकर उनकी सेवा करो। राज्यको उन पुरुषोत्तमका मानो और तुम दीवान बन जाओ। अपने काममें उतना ही राज्य-धन लो, जितना शरीरके लिये अत्यन्त आवश्यक हो। केवल भगवान्‌को निवेदित प्रसाद ही सबको देकर ग्रहण करो। दयामय भगवान् इस प्रकार रहनेसे तुमपर कृपा करेंगे।'

राजाने उपदेश हृदयसे ग्रहण किया। उसकी विषयासक्ति दूर हो गयी। उसकी प्रत्येक क्रिया भगवत्प्रीत्यर्थ होने लगी। उसका जीवन ही पूजामय हो गया। कुछ समय बाद उसे और विष्णुचित्तको भगवान्‌ने प्रत्यक्ष दर्शन दिया। श्रीलक्ष्मीनारायणके दर्शन करके वे कृतार्थ हो गये। दोनों गुरु-शिष्य भगवत्कैङ्कर्य प्राप्तकर परम धाम सिधारे।

महाराज मनु

मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना।
मम जीवन तिमि तुम्हहि अधीना॥
(श्रीरामचरितमानस)

जब ब्रह्माजीने सृष्टिके प्रारम्भमें देखा कि उनकी मानसिक सृष्टि नहीं बढ़ रही है, तब अपने शरीरसे उन्होंने एक दम्पतिको प्रकट किया। ब्रह्माजीके दाहिने अङ्गसे मनु तथा बायें अङ्गसे उनकी पत्नी शतरूपा प्रकट हुईं। ब्रह्माजीने मनुको सृष्टि करनेका आदेश दिया। उस समय पृथ्वी जलमें डूब गयी थी। मनुने स्थलकी माँग की प्रजाविस्तारके लिये। ब्रह्माजीकी प्रार्थनापर भगवान्ने वाराहरूप धारण करके पृथ्वीका उद्धार किया। पृथ्वीका उद्धार हो जानेपर मनु अपनी पत्नीके साथ तप करने लगे। तपके द्वारा उन्होंने भगवान्को प्रसन्न किया। भगवद्दर्शन करके भगवान्की आज्ञासे महाराज मनुने प्रजा उत्पन्न करना स्वीकार किया; क्योंकि सन्तानोत्पादनका मुख्य उद्देश्य ही यह है कि सन्तान उत्तम गुणवाली तथा भगवद्भक्त हो और वह अपने पूर्वजोंको परलोकमें अपने कर्मोंसे सन्तुष्ट करे। कामवासनासे स्त्री-सेवन तो एक प्रकारका पाप ही है। वासनासे उत्पन्न की गयी सन्तानमें भी वासना ही प्रधान होगी। तप, भगवद्भजन आदिके द्वारा जब अपना चित्त निर्मल हो जाय, तभी सन्तानोत्पत्ति करनी चाहिये—यह हिंदू-धर्मकी बड़ी पवित्र मान्यता थी। भगवान्का दर्शन हो जानेके पश्चात् मनुने शतरूपासे दो पुत्र तथा तीन कन्याएँ उत्पन्न कीं। महाराज मनुके पुत्र हुए प्रियव्रत एवं उत्तानपाद तथा कन्याएँ हुईं आकूति, देवहूति तथा प्रसूति।

सृष्टिके प्रथम कल्पमें इन स्वायम्भुव मनु महाराजकी सन्तानोंसे ही पृथ्वीपर सभी मनुष्य-वंश बढ़े। महाराज मनुके प्रथम पुत्र प्रियव्रतजी परम भगवद्भक्त हुए। उन्होंने ही इस पृथ्वीको सप्तद्वीपवती बनाया। दूसरे पुत्र उत्तानपादजीके पुत्र ध्रुवजी-जैसे भक्तश्रेष्ठ हुए। मनुकी कन्या आकूतिका विवाह महर्षि रुचिसे हुआ, जिससे भगवान् यज्ञरूपमें अवतरित हुए। दूसरी कन्या देवहूतिका विवाह महर्षि कर्दमसे हुआ, जिससे भगवान्ने कपिलरूपमें अवतार लिया। तीसरी कन्या प्रसूति ब्रह्माजीके मानसपुत्र दक्षको विवाही गयीं। इनकी सन्तानोंसे ही जगत्‌में मनुष्यसृष्टिका सर्वाधिक विस्तार हुआ। महाराज मनुने अपनी सन्तानोंको कल्याणपथपर चलानेके लिये 'मानव-धर्मशास्त्र'का उपदेश किया। यह मनुस्मृति अब भी स्मृतियोंमें प्रधान मानी जाती है।

अपना मन्वन्तर-काल व्यतीत होनेपर मनुजीने राज्य पुत्रोंको दे दिया और स्वयं विरक्त होकर पत्नीके साथ तप करने वनमें चले गये। दीर्घकालीन अखण्ड राज्यमें मनुने देख लिया था कि विषयोंका कितना भी सेवन किया जाय, उनसे तृप्ति नहीं होती। इन दुःखदायी विषयोंसे मनको बलपूर्वक हटाकर ही प्राणी शान्ति पाता है। समस्त विषयभोगोंको त्यागकर वे वनमें पहुँचे और भगवत्प्राप्तिके लिये कठोर तप करने लगे। वे द्वादशाक्षर मन्त्रका निरन्तर जप करते और बराबर उनका चित्त भगवान् वासुदेवमें लगा रहता। उनके मनमें केवल एक ही इच्छा थी कि जो सर्वेश्वर, सर्वमय, परम प्रभु हैं, उनका इन चर्मचक्षुओंसे साक्षात्कार हो।

'वे दयामय प्रभु यद्यपि अखण्ड हैं, अनन्त हैं, निरुपाधिस्वरूप हैं; किंतु वे भक्तवत्सल भक्तोंके वशमें रहते हैं। भक्तोंपर कृपा करनेके लिये वे नाना मङ्गलमय रूप धारण करते हैं। अवश्य वे दयाधाम मुझपर दया करेंगे।' मनु इस अविचल विश्वाससे तपस्यामें लगे थे। उनके साथ उनकी साध्वी पत्नी शतरूपा भी तप कर रही थीं। दीर्घकालतक वे केवल जल पीकर रहे और फिर उसे भी छोड़ दिया। वे महान् दम्पति एक पैरसे खड़े होकर भगवान्‌में चित्त लगाये एकाग्र मनसे प्रतीक्षा कर रहे थे कि कब वे करुणामय कृपा करते हैं। अनेक बार ब्रह्माजी तथा दूसरे देवता मनुके समीप आये और उन्होंने वरदान माँगनेको कहा; किंतु मनुकी निष्ठामें अन्तर नहीं पड़ा। वे अपने निश्चयपर स्थिर थे। अपने आराध्यको छोड़ दूसरेसे उन्हें कुछ कहना नहीं था। तपस्या करते-करते दम्पतिके शरीर अस्थियोंके ढाँचेमात्र रह गये; किंतु उनका मन प्रसन्न था। उनके चित्तमें खेद या निराशाका नाम नहीं

था। भगवान्‌की कृपापर उन्हें पूरा भरोसा था। अन्ततः प्रभु द्रवित हुए। आकाशवाणीने महाराज मनुको वरदान माँगनेको कहा। वह साधारण आकाशवाणी नहीं थी, उसके कानोंमें पड़ते ही दोनोंके शरीर पुष्ट हो गये। प्राणोंमें जैसे अमृतसंचार हो गया। रोम-रोम खिल उठा। मनुने दण्डवत् करके बड़ी श्रद्धासे कहा—'प्रभो! यदि हम दोनोंपर आपका स्नेह है तो आप हमें दर्शन दें! श्रुतियाँ आपके जिस सौन्दर्य-माधुर्यमय रूपका वर्णन करती हैं, भगवान् शंकर आपके जिस रूपका ध्यान करते हैं, उस आपके भुवनमङ्गल रूपको हम भर नेत्र देखना चाहते हैं।'

भक्तवत्सल भगवान् मनुकी प्रार्थना सुनकर उनके सम्मुख प्रकट हो गये। प्रभुके नवीन-जलधर-सुन्दर श्रीअङ्गकी छटासे दिशाएँ आलोकित हो गयीं। एकटक मनु उस पीताम्बरधारी, सर्वाभरणभूषित मुनिमनहारी दिव्यरूपको देखते रह गये। प्रभु अकेले नहीं प्रकट हुए थे, उनके साथ उनकी पराशक्ति भी प्रकट हुई थीं।* भगवान्‌ने प्रकट होकर फिर वरदान माँगनेके लिये कहा। महाराज मनु एकटक उस दिव्यरूपको देख रहे थे। नेत्र तृप्त ही नहीं होते थे। हृदय कहता था कि यह रूप सदा नेत्रोंके सामने ही रहना चाहिये। मनुने बड़े संकोचसे कहा—'दयामय ! आप उदारचूड़ामणि हैं ! आपके लिये अदेय कुछ भी नहीं है। मेरे मनमें एक लालसा है तो सही; किंतु मुझे बड़ा संकोच हो रहा है—

दानि सिरोमनि कृपानिधि नाथ कहउँ सतिभाउ।
चाहउँ तुम्हहि समान सुत प्रभु सन कवन दुराउ॥

भगवान्‌ने जब बार-बार निःसङ्कोच माँगनेको कहा तब, मनुने माँगा—'आपके समान पुत्र मुझे प्राप्त हो।' भगवान् हँस पड़े। भला, उनके समान रूप-शील-गुणमें दूसरा कोई कहाँसे आ सकता है। उन्होंने स्वयं मनुका पुत्र होना स्वीकार किया।

श्रीशतरूपाजीने भगवान्‌के आग्रह करनेपर कहा—'मेरे पतिदेवने जो वरदान माँगा है, मुझे भी वही अत्यन्त प्रिय है। प्रभो! आपके जो अपने जन हैं, जो भक्त आपको परम प्रिय हैं, उनको जो सुख, जो गति, जो भक्ति, जो ज्ञान प्राप्त होता है, वही आप हमें प्रदान करें।'

महाराज मनुने हाथ जोड़कर भगवान्‌से पुनः प्रार्थना की—'दयाधाम! मेरा चित्त आपमें वात्सल्यभावसे लगा रहे। चाहे संसारमें मैं मोहमुग्ध अज्ञानी ही कहा जाऊँ, पर मेरा अनुराग आपमें ऐसा हो कि मेरा जीवन आपके बिना सम्भव न रहे। जैसे मणिके बिना सर्प तथा जलके बिना मछली जीवित नहीं रहती, वैसे ही मेरा जीवन आपपर अवलम्बित रहे।'

भगवान्‌ने मनुको आश्वासन दिया। त्रेतामें यही महाराज मनु अयोध्यानरेश दशरथजी हुए और उनकी पत्नी शतरूपा कौसल्या हुईं। भगवान्‌ने श्रीरामके रूपमें अवतार ग्रहण किया। अपने अंशोंके साथ वे महाराज दशरथके पुत्र बने और उनकी नित्यशक्ति मिथिलाराजकुमारीके रूपमें प्रकट होकर चक्रवर्ती महाराज दशरथकी पुत्रवधू बनीं।

---

* श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने भगवान्‌के स्वरूपका देखिये, कैसा सुन्दर वर्णन किया है—

नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम।
लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम॥
सरद मयंक बदन छबि सींवा। चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवा॥
अधर अरुन रद सुंदर नासा। बिधु कर निकर बिनिंदक हासा॥
नव अंबुज अंबक छबि नीकी। चितवनि ललित भावँती जी की॥
भृकुटि मनोज चाप छबि हारी। तिलक ललाट पटल दुतिकारी॥
कुंडल मकर मुकुट सिर भ्राजा। कुटिल केस जनु मधुप समाजा॥
उर श्रीबत्स रुचिर बनमाला। पदिक हार भूषन मनिजाला॥
केहरि कंधर चारु जनेऊ। बाहु बिभूषन सुंदर तेऊ॥
करि कर सरिस सुभग भुजदंडा। कटि निषंग कर सर कोदंडा॥
तड़ित बिनिंदक पीत पट उदर रेख बर तीनि।
नाभि मनोहर लेति जनु जमुन भवँर छबि छीनि॥

महाराज प्रियव्रत

महतां खलु विप्रर्षे उत्तमश्लोकपादयोः।
छायानिर्वृतचित्तानां न कुटुम्बे स्पृहामतिः॥

(श्रीमद्भा० ५। १। ३)

'जिन महापुरुषोंके चित्तमें उत्तम श्लोक, श्रीहरिके पाद-पद्मोंकी छायाने संसारके तुच्छ भोगोंसे विरक्ति उत्पन्न कर दी है, उनमें कुटुम्बी होनेकी स्पृहा या कुटुम्बासक्ति नहीं होती।'

स्वायम्भुव मनुके पुत्र प्रियव्रतजी जन्मसे ही भगवान्के परम भक्त थे। उन्हें भगवान्के गुणगान, उन उत्तमश्लोकके मङ्गलचरित-श्रवणको छोड़कर कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। देवर्षि नारदकी कृपासे उन परमभागवतने परमार्थतत्त्वको जान लिया था। वे देवर्षिके समीप गन्धमादनपर्वतपर रहकर निरन्तर भगवान्का चिन्तन करते और नारदजीसे भगवान्की परम पावन लीलाका श्रवण करते। जब मनुजी ब्रह्मसत्रकी दीक्षा लेने लगे, तब उन्होंने प्रियव्रतको राज्य करनेके लिये बुलाया; किंतु जिनका चित्त भगवान् वासुदेवमें ही सब ओरसे लगा था, उन प्रियव्रतजीको राज्यके सुख-भोग अच्छे न लगे। उन्होंने संसारके विषयोंको विषके समान समझ लिया था। अतएव राज्य-सञ्चालन उन्होंने अस्वीकार कर दिया।

जब हम संसारके विषयोंको अपने सुखके लिये, अपना मानकर भोगते हैं, तब वे हमारे लिये बन्धनके कारण बनते हैं और चित्त उनमें आसक्त होता है। परंतु सच्ची बात यह है कि यह सारा संसार भगवान्का स्वरूप है। यह भगवान्की लीला है। जीव इस भगवान्के रंगमञ्चपर उनकी लीलामें सहयोग देने आया है। जिसके लिये जो कर्तव्य इस लीलामें प्रभुने दिया है, उसे प्रभुकी सेवा समझकर उस कर्तव्यका पालन करना चाहिये। हम भगवान्की प्रसन्नताके लिये, उनकी लीलामें योग देनेके लिये कर्म कर रहे हैं—इस प्रकार जो भगवान्को बराबर स्मरण रखकर, कर्मोंमें अहंता न करके स्वकर्मके द्वारा भगवान्का निष्काम पूजन करता है, वह कभी मायाके जालमें नहीं फँसता। उसके सब कर्म भगवान्की सेवाके लिये होते हैं। उसका जीवन ही भगवत्पूजारूप हो जाता है।

प्रियव्रतने जब राज्य करना अस्वीकार कर दिया, तब स्वयं भगवान् ब्रह्मा उन्हें समझानेके लिये ब्रह्मलोकसे वहाँ पधारे। आकाशसे हंसवाहन सृष्टिकर्ताको आते देख नारदजी और प्रियव्रत खड़े हो गये। उन्होंने ब्रह्माजीको प्रणाम करके उनका पूजन किया। ब्रह्माजीने कहा—'बेटा प्रियव्रत! अप्रमेय, सर्वेश्वर प्रभुने जो कर्तव्य तुम्हें दिया है, उसमें तुम्हें दोषदृष्टि नहीं करनी चाहिये। मैं, शङ्करजी, महर्षिगण विवश होकर उन प्रभुके आदेशका पालन करते हैं। कोई भी देहधारी तपस्या, विद्या, योगबल, मनोबल, अर्थ या धर्मके द्वारा स्वयं या दूसरोंकी सहायतासे भी उन सर्वसमर्थके किये विधानको अन्यथा नहीं कर सकता। उन प्रभुको प्रसन्न करना ही तुम्हारा भी उद्देश्य है, अतः तुम्हें उनके विधानसे प्राप्त कर्तव्यका पालन करना चाहिये। देखो, जो मुक्त पुरुष हैं, उन्हें भी अभिमानशून्य होकर प्रारब्ध शेष रहनेतक देह धारण करना ही पड़ता है। वे भी प्रारब्धका भोग भोगते ही हैं; किंतु जैसे स्वप्नमें अनुभव किये भोग जाग जानेवालेको बाधित नहीं करते, वैसे ही वे प्रारब्धके भोग मुक्त पुरुषोंको दूसरा शरीर नहीं दे पाते। रही घरमें रहने और वनमें तप करनेकी बात, सो जो प्रमत्त है, उसके लिये वनमें भी पतनका भय है; क्योंकि उसके चित्तमें काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर—ये छः विकार लगे हैं। किंतु जो सावधान है, जितेन्द्रिय है, आत्मचिन्तनमें लगा है, भगवदाश्रयी है, उसकी गृहस्थाश्रम क्या हानि कर सकता है। जो कामादि छः रिपुओंको जीतना चाहता हो, उसे पहले गृहस्थाश्रममें रहकर ही इनको जीत

लेना चाहिये। क्योंकि गृहस्थाश्रमके भोगोंको भोगता हुआ किलेमें सुरक्षित राजाके समान शत्रुरूप इन विकारोंको वह सरलतासे जीत सकता है। तुम तो कमलनाभ नारायणके चरणकमलरूपी गढ़का आश्रय लेकर सभी विकारोंको जीत चुके हो; अतः अब भगवान्‌के दिये हुए भोगोंको भोगो और आसक्तिरहित होकर प्रजाका पालन करो।'

प्रियव्रतने अपनेसे श्रेष्ठ ब्रह्माजीकी आज्ञा स्वीकार की। लोकस्रष्टा उनसे सत्कृत होकर अपने लोकको चले गये। प्रियव्रत नगरमें आये। ब्रह्माजीके इस उपदेशमें आजके साधकोंके लिये बहुत ही महत्त्वकी बातें बतायी गयी हैं। किसी भी उत्तेजना या दुःखके कारण घरका त्याग करना कल्याणकारी नहीं है। घर छोड़कर बाहर जानेसे अधिक भजन होगा, यह भी मनका एक भ्रम ही है। जबतक मनमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर हैं, तबतक घर छोड़ देनेपर पतनका भय ही अधिक है। इन दोषोंपर घर रहकर जितनी सरलतासे विजय पायी जा सकती है, उतनी बाहर नहीं। भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लेकर, भगवन्नामका जप करते हुए, कर्तव्यका पालन करते हुए घर रहकर ही इन दोषोंको जीतना चाहिये। इन शत्रुओंसे बचे रहनेके लिये घर सुरक्षित किला है। जो घरमें इन दोषोंसे घबराता है, उसे जानना चाहिये कि बाहर उसकी कठिनाई और बढ़ जायगी, दोषोंको बढ़नेके लिये बाहर अधिक अवसर मिलेगा।

ब्रह्माजीकी आज्ञा मानकर प्रियव्रत राजधानीमें आये। उन्होंने राज्य और गृहस्थाश्रम स्वीकार किया। प्रजापति विश्वकर्माकी पुत्री बर्हिष्मतीसे उन्होंने विवाह किया। उनके दस पुत्र और एक कन्या हुई। प्रियव्रत सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके स्वामी थे। उन्हें यह अच्छा न लगा कि आधी पृथ्वीपर एक समय दिन और आधीपर रात्रि रहे। 'मैं रात्रिको भी दिन बना दूँगा।' यह सोचकर अपने ज्योतिर्मय दिव्य रथपर बैठकर वे सूर्य-रथकी गतिके समान ही वेगसे रात्रिवाले भागमें यात्रा करने लगे। इस प्रकार सात दिन-रात्रि वे घूमते रहे और उतने काल उन्होंने पूरे भूमण्डलपर दिनके समान प्रकाश बनाये रखा। ब्रह्माजीने इस कार्यसे उन्हें रोका। उनके रथके पहियोंसे ही सात समुद्र बन गये। उन समुद्रोंसे घिरे एक-एक द्वीपका अधिपति उन्होंने अपने एक-एक पुत्रको बनाया। आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, मेधातिथि और वीतिहोत्र—ये उनके सात पुत्र क्रमशः जम्बूद्वीप, प्लक्षद्वीप, शाल्मलिद्वीप, कुशद्वीप, क्रौञ्चद्वीप, शाकद्वीप तथा पुष्करद्वीपके स्वामी हुए। कवि, महावीर और सवन—ये तीन पुत्र आजन्म ब्रह्मचारी, आत्मवेत्ता परमहंस हो गये।

इतना बड़ा अखण्ड साम्राज्य, पूरे भूमण्डलका ऐश्वर्य, पुत्र-पुत्री, स्त्री आदि समस्त सुख और स्वर्गादि लोकोंके लोकपाल भी मित्र ही थे; किंतु भगवान्‌के परम भक्त प्रियव्रतको इन सबका तनिक भी मोह नहीं था। उन्हें लगता था कि व्यर्थ ही मैंने यह प्रपञ्च बढ़ाया। वे अपनेको गृहासक्त तथा पत्नीमें कामासक्त मानकर बराबर धिक्कारते थे। पुत्रोंको राज्य देकर वे सम्पूर्ण ऐश्वर्यका त्याग करके फिर गन्धमादनपर नारदजीके पास चले गये। भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन करना उन्होंने अपना एकमात्र व्रत बना लिया। कर्मके द्वारा, पुण्यके द्वारा और योगके द्वारा मिलनेवाला पृथ्वी और स्वर्गादि लोकोंका समस्त भोग उन्हें प्राप्त था; किंतु उन महाभागने उसे नरकके भोगके समान मानकर त्याग दिया। परमपुरुष भगवान्‌के अनन्त सुधा-सिन्धुमें जिनका चित्त निमग्न हो गया है, वे धन्यभाग्य भगवद्भक्त ही ऐसा त्याग कर सकते हैं!

भक्तश्रेष्ठ ध्रुव

धर्मार्थकाममोक्षाख्यं य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः।
एकमेव हरेस्तत्र कारणं पादसेवनम्॥

(श्रीमद्भा० ४। ८। ४१)

'जो कोई धर्म, अर्थ, काम या मोक्षरूप पुरुषार्थकी इच्छा करता हो, उसके लिये इन सबको देनेवाला इनका एकमात्र कारण श्रीहरिके श्रीचरणोंका सेवन ही है।'

स्वायम्भुव मनुके दो पुत्र हुए—प्रियव्रत एवं उत्तानपाद। महाराज उत्तानपादकी दो रानियाँ थीं—सुनीति एवं सुरुचि। सुनीतिके पुत्र थे ध्रुव और सुरुचिके उत्तम। राजाको अपनी छोटी रानी सुरुचि अत्यन्त प्रिय थीं। सुनीतिसे महाराज उदासीनप्राय रहते थे। एक दिन महाराज उत्तानपाद सुरुचिके पुत्र उत्तमको गोदमें लेकर उससे स्नेह कर रहे थे, उसी समय वहाँ ध्रुव भी खेलते हुए पहुँचे और पिताकी गोदमें बैठनेकी उत्सुकता प्रकट करने लगे। राजाने उन्हें गोदमें नहीं उठाया तो वे मचलने लगे। वहाँ बैठी हुई छोटी रानीने अपनी सौतके पुत्र ध्रुवको मचलते देख ईर्ष्या और गर्वसे कहा—'बेटा! तूने मेरे पेटसे तो जन्म लिया नहीं है, फिर महाराजकी गोदमें बैठनेका प्रयत्न क्यों करता है ? तेरी यह इच्छा दुर्लभ वस्तुके लिये है। बच्चा होनेसे ही तू नहीं समझता कि किसी दूसरी स्त्रीका पुत्र राज्यासनपर नहीं बैठ सकता। यदि उत्तमकी भाँति तुझे भी राज्यासन या पिताकी गोदमें बैठना हो तो पहले तपस्या करके भगवान्‌को प्रसन्न कर और उनकी कृपासे मेरे पेटसे जन्म ले।'

तेजस्वी बालक ध्रुवको विमाताके ये वचन-बाण लग गये। उनका मुख क्रोधसे लाल हो गया, श्वास जोर-जोरसे चलने लगा। रोते हुए वे वहाँसे अपनी माताके पास चल पड़े। महाराज भी छोटी रानीकी बातें सुनकर प्रसन्न नहीं हुए; किंतु वे कुछ बोल न सके। ध्रुवकी माता सुनीतिने अपने रोते पुत्रको गोदमें उठा लिया। बड़े स्नेहसे पुचकारकर कारण पूछा। सब बातें सुनकर सुनीतिको बड़ी व्यथा हुई। वे भी रोती हुई बोलीं—'बेटा! सभी लोग अपने ही भाग्यसे सुख या दुःख पाते हैं, अतः दूसरेको अपने अमङ्गलका कारण नहीं मानना चाहिये। तुम्हारी विमाता ठीक ही कहती है कि तुमने दुर्भाग्यके कारण ही मुझ अभागिनीके गर्भसे जन्म लिया। मेरा अभाग्य इससे बड़ा और क्या होगा कि मेरे आराध्य महाराज मुझे अपनी भार्याकी भाँति राजसदनमें रखनेमें लज्जित होते हैं; परंतु बेटा! तुम्हारी विमाताने जो शिक्षा दी है, वह निर्दोष है। तुम उसीका आचरण करो। यदि तुम्हें उत्तमकी भाँति राज्यासन चाहिये तो कमलनयन अधोक्षज भगवान्‌के चरण-कमलोंकी आराधना करो। जिनके पादपद्मकी सेवा करके योगियोंके भी वन्दनीय परमेष्ठी-पदको ब्रह्माजीने प्राप्त किया तथा तुम्हारे पितामह भगवान् मनुने यज्ञोंके द्वारा जिनका यजन करके दूसरोंके लिये दुष्प्राप्य भूलोक तथा स्वर्गलोकके भोग एवं मोक्ष प्राप्त किया, उन्हीं भक्तवत्सल भगवान्‌का आश्रय लो। अनन्यभावसे अपने मनको उनमें ही लगाकर उनका भजन करो। उन कमल-लोचन भगवान्‌के अतिरिक्त तुम्हारा दुःख दूर करनेवाला और कोई नहीं है। भगवान् तो समस्त ऐश्वर्योंके स्वामी हैं। जिन लक्ष्मीजीका दूसरे सब अन्वेषण करते हैं, वे भी हाथमें कमल लिये उन परम पुरुषके पीछे उनको ही ढूँढ़ती चलती हैं। अतएव तुम उन दयामय नारायणकी ही शरण लो।'

माताकी बात सुनकर ध्रुवने अपने चित्तको स्थिर किया और पिताके नगरको छोड़कर वे वनकी ओर चल पड़े। जब कोई भगवान्‌पर विश्वास करके उनकी ओर चल पड़ता है, तब वे दयामय उसकी सारी चिन्ता स्वयं करते हैं। आजकल गुरु ढूँढ़नेका, संत ढूँढ़नेका प्रयत्न बहुत लोग करते हैं; किंतु जाननेकी बात यह है कि ढूँढ़नेसे संत या गुरु नहीं मिला करते। संत तो भगवान्‌के स्वरूप होते हैं। भगवान्‌की कृपासे सच्चे अधिकारीको ही वे मिलते हैं। उनको पानेका प्रयत्न नहीं करना पड़ता, वे स्वयं आते हैं। ध्रुव जब सब कुछ छोड़कर चल पड़े, तब उन्हें मार्गमें नारदजी मिले। देवर्षिने ध्रुवको समझाकर उन्हें लोभ और भय दिखलाकर लौटाना चाहा; किंतु उनकी दृढ़ निष्ठा और निश्चय देखकर द्वादशाक्षर मन्त्र **'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'** की दीक्षा दी और भगवान्‌की पूजा तथा ध्यान-विधि बताकर यमुनातटपर मधुवनमें जानेका आदेश दिया। ध्रुवको भेजकर नारदजी महाराज उत्तानपादके पास आये। राजाने जबसे सुना था कि ध्रुव वनको चले गये, तबसे वे अत्यन्त चिन्तित थे।

अपने व्यवहारपर उन्हें बड़ी ग्लानि हो रही थी। देवर्षिने आश्वासन देकर शान्त किया।

भगवान् हैं, वे दयामय हैं और हमें मिलेंगे—जबतक ऐसी श्रद्धा पक्की न हो, तबतक भजनमें दृढ़ता तथा प्रेम नहीं आता। जो वस्तु मिलनी सम्भव न जान पड़ती हो, उसे पानेके लिये न तो इच्छा होती है और न प्रयत्न। जबतक मनमें यह बैठा है कि हमें भगवत्प्राप्ति भला कैसे होगी, तबतक भजनमें मन नहीं लगता। तभीतक हृदयमें अनुराग जाग्रत् नहीं होता। हम चाहे जैसे हों, चाहे जितने पापी और अधम हों; पर भगवान्की कृपा हमारे पाप एवं अपराधोंसे अनन्त महान् है। वे उदारचक्र-चूड़ामणि अवश्य-अवश्य हमें अपनायेंगे। हम उन्हें पायेंगे, अवश्य पायेंगे, पाकर रहेंगे; क्योंकि वे करुणासागर हमें अपनाये बिना रह नहीं सकते। ऐसा दृढ़ विश्वास हो जानेपर ही भजन होता है। ध्रुवको तनिक भी सन्देह नहीं था भगवत्प्राप्तिमें। वे मधुवनमें यमुनातटपर पहुँचे। श्रीकालिन्दीके पापहारी प्रवाहमें स्नान करके जो कुछ फल-पुष्प मिल जाता, उससे भगवान्की पूजा करते हुए वे नारदजीसे प्राप्त द्वादशाक्षर मन्त्रका अखण्ड जप करने लगे। पहले महीने तीन दिन उपवास करके, चौथे दिन कैथ और बेर खा लिया करते थे। दूसरे महीनेमें सप्ताहमें एक बार वृक्षसे स्वयं टूटकर गिरे पत्ते या सूखे तृणका भोजन करके ध्रुव भगवान्के ध्यानमें तन्मय रहने लगे। तीसरे महीने नौ दिन बीत जानेपर केवल एक बार वे जल पीते थे। चौथे महीने तो बारह दिनपर एक बार वायु-भोजन करना प्रारम्भ कर दिया उन्होंने और पाँचवें महीनेमें श्वास लेना भी छोड़ दिया। प्राणको वशमें करके भगवान्का ध्यान करते हुए पाँच वर्षके बालक ध्रुव एक पैरसे निश्चल खड़े रहने लगे।

पाँच वर्षके बालक ध्रुवने समस्त लोकोंके आधार, समस्त तत्त्वोंके अधिष्ठान भगवान्को हृदयमें स्थिररूपसे धारण कर लिया था। वे भगवन्मय हो गये थे। जब वे एक पैर बदलकर दूसरा रखते, तब उनके भारसे पृथ्वी जलमें नौकाकी भाँति डगमगाने लगती थी। उनके श्वास न लेनेसे तीनों लोकोंके प्राणियोंका श्वास बंद होने लगा। श्वासरोधसे पीड़ित देवता भगवान्की शरणमें गये। भगवान्ने देवताओंको आश्वासन दिया—'बालक ध्रुव सम्पूर्ण रूपसे मुझमें चित्त लगाकर प्राण रोके हुए है, अतः उसके प्राणायामसे ही आप सबका श्वास रुका है। अब मैं जाकर उसे इस तपसे निवृत्त करूँगा।'

भगवान् गरुड़पर बैठकर ध्रुवके पास आये; किंतु ध्रुव इतने तन्मय होकर ध्यान कर रहे थे कि उन्हें कुछ भी पता नहीं लगा। श्रीहरिने अपना स्वरूप ध्रुवके हृदयमेंसे अन्तर्हित कर दिया। हृदयमें भगवान्का दर्शन न पाकर व्याकुल होकर जब ध्रुवने नेत्र खोले तो अनन्त-सौन्दर्य-माधुर्यधाम भगवान्को सामने देखकर उनके आनन्दकी सीमा नहीं रही। हाथ जोड़कर वे भगवान्की स्तुति करनेके लिये उत्सुक हुए; पर क्या स्तुति करें, यह समझ ही न सके। दयामय प्रभुने ध्रुवकी उत्कण्ठा देखी। अपने निखिल-श्रुतिरूप शङ्खसे बालकके कपोलको उन्होंने छू दिया। बस, उसी क्षण ध्रुवके हृदयमें तत्त्वज्ञानका प्रकाश हो गया। वे सम्पूर्ण विद्याओंसे सम्पन्न हो गये। बड़े प्रेमसे बड़ी ही भावपूर्ण स्तुति की उन्होंने।

भगवान्ने ध्रुवको वरदान देते हुए कहा—'बेटा ध्रुव! तुमने माँगा नहीं, किंतु मैं तुम्हारी हार्दिक इच्छाको जानता हूँ। तुम्हें वह पद देता हूँ, जो दूसरोंके लिये दुष्प्राप्य है। उस पदपर अबतक दूसरा कोई भी पहुँचा नहीं है। सभी ग्रह, नक्षत्र, तारामण्डल उसकी प्रदक्षिणा करते हैं। पिताके वानप्रस्थ लेनेपर तुम पृथ्वीका दीर्घकालतक शासन करोगे और फिर अन्तमें मेरा स्मरण करते हुए उस सर्वश्रेष्ठ, ब्रह्माण्डके केन्द्रभूत धाममें पहुँचोगे, जहाँ जाकर फिर संसारमें लौटना नहीं पड़ता।' इस प्रकार वरदान देकर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

भगवान्के सच्चे भक्त अपने स्वामीसे उनके अतिरिक्त और कुछ नहीं माँगते। ध्रुवको भगवान्के अन्तर्धान होनेपर बड़ा खेद हुआ। वे मन-ही-मन कहने लगे—'मेरी बहिर्मुखता कितनी बड़ी है, मैं कितना मन्दभाग्य हूँ कि संसारचक्रको सर्वथा समाप्त कर देनेवाले श्रीनारायणके चरणोंको प्राप्त करके भी मैंने उनसे केवल नश्वर भोग माँगे (कल्पान्तमें अन्ततः वह ब्रह्माण्डकेन्द्र भी नष्ट ही होगा)। अवश्य ही असहिष्णु देवताओंने मेरी बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न कर दिया था। देवर्षिने तो मुझसे ठीक ही कहा था। उन्होंने तो मुझे मोक्षके लिये ही भगवान्को प्राप्त करनेका आदेश दिया और ईर्ष्या-द्वेष, मानापमानको तुच्छ मानकर छोड़ देनेको कहा; पर मैंने उनकी तथ्यपूर्ण वाणीको ग्रहण नहीं किया। मैंने जो श्रेष्ठ पद माँगा, वह तो नश्वर है; व्यर्थ ही

मैंने उसकी याचना की। जगदात्मा, परम दुर्लभ, भवभयहारी भगवान्‌को तपसे प्रसन्न करके भी मैंने संसार—संसारका ही भोग (ध्रुवपद) माँगा। मैं कितना अभागा हूँ!' इस प्रकार अपनेको धिक्कारते हुए वे घरको लौटे।

× × × ×

जो भगवान्‌की ओर लग जाता है, उसकी सभी प्रतिकूलताएँ अनुकूलतामें बदल जाती हैं। जिसपर वे निखिलात्मा भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं, उसपर सभी प्राणी प्रसन्न हो जाते हैं। सभी उसका आदर करते हैं। शत्रु भी शत्रुता छोड़कर उसके मित्र बन जाते हैं। ध्रुवके वन जाते ही महाराज उत्तानपादके हृदयमें बड़ा भारी परिवर्तन हो गया। वे पुत्रके अनुरागसे व्याकुल हो गये। वे ध्रुवकी माताका बहुत अधिक सम्मान करने लगे। राज्य, भोग तथा सब सुख उन्हें फीके लगने लगे। वे केवल ध्रुवका ही रात-दिन चिन्तन करने लगे। जब उन्हें ध्रुवके लौटनेका समाचार मिला, तब उनके हर्षका पार न रहा। बड़े उत्साहसे बाजे-गाजेसे हाथियोंको सजाकर रानियों, मन्त्रियों, ब्राह्मणोंके साथ वे पुत्रको आगे लेने गये। नगरसे बाहर जैसे ही बालक ध्रुव आते दीख पड़े, राजा हाथीसे भूमिपर उतर पड़े। उन्होंने भूमिपर लेटकर प्रणाम करते पुत्रको गोदमें उठाकर हृदयसे लगा लिया। उनके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा चलने लगी। ध्रुवने पिताके पश्चात् विमाता सुरुचिको प्रणाम किया। सुरुचिने भी उन्हें गोदमें ले लिया और वह कण्ठ रुक जानेसे केवल इतना बोल सकी—'बेटा! जीते रहो।' माता सुनीतिको तो अपने प्राणोंके समान पुत्र मिला था। सब लोग सुनीतिके पुण्य-प्रभावकी प्रशंसा कर रहे थे। नगर भलीभाँति सजाया गया था। बड़े सत्कारपूर्वक ध्रुवको महाराज राजभवनमें ले आये।

कुछ दिनोंके पीछे महाराजको वैराग्य हो गया। ध्रुवका उन्होंने राज्याभिषेक कर दिया और स्वयं भगवान्‌का भजन करने तपोवन चले गये। ध्रुवकी विमाता सुरुचिके पुत्र उत्तमका विवाह नहीं हुआ था। एक दिन वनमें आखेट करते समय वे कुबेरकी अलकापुरीके पास हिमालयपर पहुँच गये। वहाँ यक्षोंसे विवाद हो गया और यक्षोंने उन्हें मार डाला। भाईकी मृत्यु सुनकर ध्रुवको बड़ा क्षोभ हुआ। उन्होंने यक्षपुरीपर आक्रमण कर दिया। बड़ा ही प्रचण्ड संग्राम हुआ। बहुत-से यक्ष मारे गये। अन्तमें ब्रह्मलोकसे आकर भगवान् मनुने ध्रुवको समझाया—'बेटा! ये यक्ष उपदेव हैं। इनके स्वामी कुबेरजी भगवान् शङ्करके सखा हैं। तुम्हें उनका सम्मान करना चाहिये। प्राणी अपने ही कर्मसे जीवन या मृत्यु पाता है। यक्ष तो निरपराध हैं। यदि किसीने अपराध किया भी हो तो एकके अपराधके बदले दूसरे बहुतोंको दण्ड देना उचित नहीं हैं। क्रोध छोड़कर तुम कुबेरजीसे क्षमा माँग लो।' ध्रुवने पितामहकी आज्ञा स्वीकार कर ली। उनके युद्धसे अलग हो जानेपर कुबेरजीने उन्हें दर्शन दिया और वरदान माँगनेको कहा। ध्रुवने वरदान माँगा—'भगवान्‌के चरणोंमें मेरा अविचल अनुराग हो।' वरदान देकर कुबेरजी अदृश्य हो गये। ध्रुव अपनी राजधानीको लौट आये।

भोगोंसे विरक्त होकर, चित्तको भगवान्‌में लगाये हुए दीर्घकालतक ध्रुवने राज्य किया। अन्तमें वे सम्पूर्ण भूमण्डलके अधिपति भोगोंसे विरक्त होकर बदरिकाश्रम पहुँचे। वहाँ मन्दाकिनीमें स्नान करके वे भगवान्‌का एकान्त चित्तसे ध्यान करने लगे। उसी समय आकाशसे एक दिव्य विमान आया। विमानके साथ भगवान्‌के पार्षद भी आये। भगवत्पार्षदोंको देखकर भगवन्नामोंका कीर्तन करते हुए ध्रुवने उन्हें साष्टाङ्ग प्रणिपात किया। पार्षदोंने कहा—'राजन्! हम भगवान् नारायणके पार्षद हैं। आपने भगवान्‌को अपने तपसे प्रसन्न किया था। अब आप इस विमानपर बैठकर उस दिव्य लोकको चलें, जिसकी सभी ग्रह-नक्षत्रादि प्रदक्षिणा करते हैं।'

ध्रुवने स्नान किया। वहाँके ऋषि-मुनियोंको प्रणाम किया। उनका आशीर्वाद लेकर जब वे विमानमें बैठने लगे, तब उनका शरीर दिव्य हो गया। उसी समय वहाँ मृत्युदेवता आये। मृत्युने कहा—'मेरा स्पर्श किये बिना कोई इस लोकसे न जाय, ऐसी मर्यादा है।' ध्रुवने उन मृत्युदेवके मस्तकपर पैर रखा और विमानपर चढ़ गये। भगवान्‌के भक्तोंका चरण-स्पर्श पाकर मृत्युदेव भी धन्य होते हैं। विमानमें जाते हुए ध्रुवने अपनी माताका स्मरण किया। भगवान्‌के पार्षदोंने आगे-आगे विमानसे जाती सुनीतिदेवीको दिखाया। ऐसे पुत्रकी जननी धन्य है। भगवद्भक्त अपने पूरे कुलको तार देता है! ध्रुव आज भी अपने अविचल धाममें भगवान्‌का भजन करते निवास करते हैं। ध्रुवतारा उनका वही ज्योतिर्मय धाम है।

राजर्षि भरत

परम भगवद्भक्त राजर्षि भरत भगवान् ऋषभदेवके सौ पुत्रोंमें सबसे बड़े थे। इन्होंने पिताकी आज्ञासे राज्यभार स्वीकारकर विश्वरूपकी पञ्चजनी नामकी कन्याके साथ विवाह किया और उसके द्वारा पाँच पुत्र उत्पन्न किये। हमारा यह भारतवर्ष, जो पहले अजनाभखण्डके नामसे प्रसिद्ध था, इन्हीं महानुभावके नामपर भरतखण्ड अथवा 'भारतवर्ष' कहलाया। ये सब शास्त्रोंके मर्मको जाननेवाले और धर्मके अनुकूल बर्ताव करनेवाले थे और पिताके समान प्रजाका पालन करते थे। इन्होंने यज्ञक्रतुरूप भगवान्‌का समय-समयपर अपने अधिकारके अनुसार अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य, सोमयाग प्रभृति छोटे-बड़े यज्ञोंके द्वारा श्रद्धापूर्वक आराधन किया। ये यज्ञसे उत्पन्न होनेवाले धर्म-नामक अपूर्व कर्मफलकी सर्वान्तर्यामी, परमदेव, यज्ञपुरुष भगवान् वासुदेवके अंदर भावना करते हुए अपनी कुशलतासे रागादि मलोंका क्षय करके यज्ञके भोक्ता सूर्यादि देवताओंको भी भगवान् वासुदेवके नेत्र आदि अवयवोंमें एकत्वरूपसे चिन्तन करने लगे। इस प्रकार कर्मकी पूर्णतासे शुद्धचित्त हुए भरतके हृदयमें भगवान् वासुदेवके प्रति उत्तरोत्तर बढ़नेवाली विशुद्ध भक्ति उत्पन्न हुई। और उस भक्तियोगका आचरण करते उन्हें कई हजार वर्ष बीत गये। तदनन्तर वे अपने राज्यको पुत्रोंमें विभक्त कर घरको त्यागकर पुलह ऋषिके आश्रम हरिक्षेत्रको चले गये। वहाँ विद्याधर नामक कुण्डमें भक्तोंके ऊपर दया करनेवाले भगवान् अब भी वहाँ रहनेवाले अपने भक्तोंको स्वरूपसे सान्निध्यका सुख देते हैं और वहाँ गण्डकी नदी शालग्राम-शिलाके चक्रोंसे ऋषियोंके आश्रमोंको चारों ओरसे पवित्र करती है। उस क्षेत्रमें पुलहाश्रमकी पुष्पवाटिकामें रहते हुए राजर्षि भरत विषयवासनासे मुक्त होकर और अन्तः-करणको वशमें करके अनेक प्रकारके पत्र-पुष्प, तुलसीदल, जल, कन्द, मूल, फल आदि सामग्रियोंसे भगवान्‌की आराधना करने लगे। इस प्रकार निरन्तर भगवदाराधना करते-करते उनके हृदयमें भगवत्प्रेमकी इतनी बाढ़ आ गयी कि फिर उनसे आराधना भी विधिपूर्वक नहीं हो पाती थी। वे भगवत्प्रेममें इतने मस्त हो जाते थे कि उन्हें क्या करना है, इस बातको भूल जाते थे और घंटों भावावेशमें मग्न रहते थे।

एक दिन राजा भरत गण्डकी नदीमें स्नान-सन्ध्यादिक नित्य-नैमित्तिक कर्म करके प्रणवका जप करते हुए तीन घंटोंतक नदीतीरपर बैठे रहे। इतनेमें वहाँ जल पीनेकी इच्छासे अपनी टोलीसे बिछुड़ी हुई एक हरिणी आयी। उसने ज्यों ही जल पीना आरम्भ किया, त्यों ही सिंहके दहाड़नेकी आवाज आयी। वह बेचारी मारे भयके जल पीना तो भूल गयी और उसने बड़े वेगसे नदीके उस पार छलाँग मारी। छलाँग मारते समय उसके गर्भाशयमेंसे बच्चा बाहर निकल पड़ा और नदीके प्रवाहमें गिर गया। हरिणीने भी एक गुफामें जाकर प्राण त्याग दिये। इस सारे दृश्यको देखकर भरतका कोमल हृदय करुणासे भर गया। उन्होंने दयापरवश हो उस मातृहीन बच्चेको जलमेंसे बाहर निकाल लिया और उसे अनाथ समझकर वे अपने आश्रममें ले आये। धीरे-धीरे उस बच्चेमें उनकी आसक्ति और ममता हो गयी। वे बड़े चावसे उसे खिलाते-पिलाते, हिंस्र जन्तुओंसे उसकी रक्षा करते, प्रेमसे उसे पुचकारते और उसके शरीरको खुजलाते तथा सहलाते। इस प्रकार धीरे-धीरे उनकी उस बच्चेमें आसक्ति बद्धमूल हो गयी और उसके पीछे उनका सारा कर्म-धर्म छूट गया। वे रात-दिन उसीके लालन-पालनमें लगे रहते। उनकी आसक्ति कर्तव्यबुद्धिके रूपमें उनके सामने आकर उन्हें धोखा देने लगी। वे 'सोचते कि कालचक्रने ही इस बच्चेको अपने माता-पितासे छुड़ाकर मेरी शरणमें पहुँचाया है। अतः इस शरणागतकी सब प्रकारसे रक्षा करना मेरा धर्म है।' एक दिन वह मृगशावक खेलता-खेलता आश्रमसे बहुत दूर निकल गया और लौटा नहीं। अब तो राजर्षि उसके वियोगमें बहुत व्याकुल हो गये और उसे याद कर-करके रोने लगे। उन्होंने सोचा कि उसे किसी हिंस्र पशुने मार तो नहीं डाला और इस अनिष्टाशङ्काने उनके हृदयको व्यथित कर डाला। इस प्रकार उनके प्रारब्धने ही मानो हरिणके

बच्चेका रूप धारणकर उन्हें योगमार्गसे और भगवदाराधनारूप कर्मसे भ्रष्ट कर दिया; अन्यथा जिस राजर्षिने अपने औरस पुत्रों—अपने हृदयके टुकड़ों और अपनी पाणिगृहीता पत्नीका परित्याग कर दिया, उसकी एक पोसे हुए हरिणके बच्चेमें इतनी आसक्ति कैसे होती! अस्तु,

एक दिन राजा उसी मृगशावककी चिन्तामें बैठे थे कि अकस्मात् उनका मृत्युकाल उपस्थित हो गया और उन्होंने उसी मृगछौनेका ध्यान करते हुए प्राण त्याग दिये। **'अन्ते मतिः सा गतिः'** इस नियमके अनुसार उन्हें अगले जन्ममें हरिणका शरीर मिला, परंतु भगवदाराधनके प्रभावसे उनकी पूर्वजन्मकी स्मृति नष्ट नहीं हुई। उन्होंने सोचा 'अरे, मैंने यह क्या किया। एक हरिणके मोहमें दुर्लभ मनुष्य-जन्मको व्यर्थ ही खो दिया।' अब तो वे पूर्णतया सावधान हो गये। वे अपने परिवारको छोड़कर उसी पुलहाश्रममें चले आये और वहाँ सब प्रकारका सङ्ग त्यागकर मुनिकी भाँति अकेले ही विचरते और मृत्युकी बाट देखते रहे। जब मरणकाल निकट आया, तब उन्होंने गण्डकी नदीमें स्नानकर उस मृगशरीरको त्याग दिया। उन्हें तीसरे जन्ममें ब्राह्मणयोनि प्राप्त हुई। वहाँ वे जडभरत कहलाये और उसी शरीरसे वे मुक्त हो गये। जडभरतजीका चरित्र अन्यत्र दिया गया है।

महाराज पृथु

न कामये नाथ तदप्यहं क्वचि-
न्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो
विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः॥

(श्रीमद्भा० ४। २०। २४)

भगवान्से वरदान माँगते हुए पृथुने कहा—'नाथ! जहाँ आपके चरणकमलोंका मधु मकरन्द नहीं है, ऐसा कोई पद, कोई भोग—कुछ भी मैं कभी नहीं चाहता। महापुरुषोंके हृदयमें ही आपके चरणोंका वह अमृत रहता है। उन भगवद्भक्तोंके हृदयसे उनकी वाणीद्वारा आपके लीलागुणवर्णनरूपमें वह निकलता है। उसे पान करनेके लिये मेरे एक सहस्र कान हो जायँ—मैं हजार कानोंकी शक्तिसे आपके दिव्य गुण एवं चरित सुनता रहूँ, यही आप मुझे वरदान दें।'

राजर्षि अङ्गकी पत्नी सुनीथाका पुत्र वेन अपने मातामह कालके स्वभावपर चला। वह अत्यन्त उग्र और अधार्मिक था। लोगोंको कष्ट देने, मारनेमें ही उसे आनन्द आता था। राजा होनेपर उसने सब प्रकार धर्मका विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। जब ऋषियोंके बहुत समझानेपर भी वह अपनी धर्म-विरोधी, ईश्वर-विरोधी नीतिको छोड़नेके लिये तैयार न हुआ, तब ऋषियोंने हुंकार करके अपने तपके तेजसे उसे मार डाला। अपने पुत्रका शरीर सुनीथाने कुछ दिन सुरक्षित रखा। राजासे रहित राज्यमें चोर, डाकू, लुटेरे बढ़ गये। वे दीन, हीन, असहाय प्रजाको कष्ट देने लगे। यह देखकर ऋषियोंने वेनका शरीर लेकर उसका मन्थन किया। पहले तो एक नाटे कदके काले पुरुषकी उससे उत्पत्ति हुई, जो 'निषाद' कहलाया। उसके पश्चात् शरीरके दहिने भागसे आजानुबाहु, कमललोचन एक पुरुष और वाम भागसे एक सुन्दरी स्त्री उत्पन्न हुई। ये पुरुष ही भगवान्के अवतार आदिराज महाराज पृथु थे और स्त्री भगवती लक्ष्मीके अंशसे उत्पन्न उनकी पत्नी अर्चि थीं। ऋषियोंने पृथुके दाहिने हाथमें चक्र तथा चरणोंमें कमलका चिह्न देखकर समझ लिया कि ये भगवान्के अंशावतार हैं। विधिपूर्वक उनका अभिषेक हुआ। भविष्यज्ञाता ऋषियोंकी प्रेरणासे वन्दियोंने महाराज पृथुके आगामी पराक्रमोंका वर्णन करके उनकी स्तुति की।

जब अधर्म बढ़ता है, तब पृथ्वीपर अन्न, जल, फल-मूल—सबका ह्रास होने लगता है। दुर्भिक्ष, महामारी आदि उपद्रव अधर्मसे ही होते हैं। इसमें प्रधान कारण होता है—राजा। राजा वेनके पापाचारसे पृथ्वीपर अन्न नष्ट हो गया था। अकाल पड़नेसे प्रजा व्याकुल हो रही थी। भूखे-प्यासे लोग राजाके पास पुकार करते आये। पृथुने विचार करके देखा तो जान पड़ा कि पृथ्वीने ही बीजोंको ग्रस

लिया। बोये बीज उगे ही नहीं। अतः पृथ्वीको दण्ड देनेके लिये अपने धनुषपर उन्होंने बाण चढ़ाया। पृथुको क्रोध करते देख भूमिकी अधिष्ठातृ-देवी गौका रूप धारण करके भागीं; किन्तु जहाँ-जहाँ वे गयीं, पृथु उनके पीछे दौड़ते ही गये। अन्तमें पृथ्वीने उनकी स्तुति की। भूमिने कहा—'मैंने पापियोंके द्वारा दुरुपयोगमें आते देख बीजोंको अपनेमें रोक लिया; किन्तु अधिक समय होनेसे वे मुझमें जीर्ण हो गये—पच गये। अब तो कोई उपाय करना चाहिये।' पृथ्वीके बतानेसे पृथुने उसका दोहन करके उससे ओषधि-बीज-अन्नादिका उत्पादन किया। पृथ्वीके ऊँचे-नीचे भागोंको भी उन्होंने समान किया, जिससे कृषि हो सके। महाराज पृथुने ही नगर एवं ग्राम बसाये।

आदिराज महाराज पृथु परम भागवत थे। उन्हें सांसारिक विषय-भोगोंकी तनिक भी इच्छा नहीं थी। भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये वे बड़े-बड़े यज्ञ करते थे। जब वे निन्यानबे अश्वमेध यज्ञ कर चुके और सौवाँ करने लगे, तब इन्द्रने उसमें बाधा दी। इन्द्र शतक्रतु कहलाते हैं। दूसरा कोई सौ अश्वमेध करके शतक्रतु हो जाय, यह उन्हें सहन नहीं होता। पाखण्डसे अनेक प्रकारके वेष बनाकर वे यज्ञके घोड़ेको चुरा लेते। महर्षि अत्रिके आदेशसे पृथुपुत्र विजिताश्व बार-बार उनसे घोड़ा छीन लाते थे। जब कई बार इन्द्रने यह उत्पात किया तब स्वयं पृथु उन्हें दण्ड देनेको उद्यत हुए। ऋषियोंने कहा—'महाराज! यज्ञमें दीक्षित व्यक्ति किसीको दण्ड न दे, ऐसी मर्यादा है। हम आपके द्वेषी इन्द्रको अग्निमें आहुति डालकर भस्म कर देंगे।' जब ऋषिगण आहुति डालने लगे, तब ब्रह्माजीने प्रकट होकर उन्हें रोका। उन्होंने पृथुसे कहा—'राजन्! आपको सौ यज्ञ करके इन्द्र तो होना नहीं है। आप तो भगवान्‌के भक्त हैं। आपको तो मोक्ष प्राप्त करना है। अतः इस यज्ञको अब बंद कर दें। देवराज इन्द्रपर आपको क्रोध नहीं करना चाहिये।'

ब्रह्माजीकी आज्ञा मानकर पृथुने यज्ञकी वहीं पूर्णाहुति कर दी। उनकी इस नम्रता, सहनशीलता और निष्कामभावसे प्रसन्न होकर भगवान् प्रकट हो गये। इन्द्र भी भगवान्‌के साथ वहाँ आये। देवराजने लज्जित होकर पृथुके पैर पकड़ लिये। पृथुने उन्हें क्षमा कर दिया। उठाकर हृदयसे लगा लिया। भगवान्‌का दर्शन करके पृथुका शरीर पुलकित हो गया। उनके नेत्रोंसे अश्रुप्रवाह चलने लगा। भगवान्‌ने उनसे वरदान माँगनेको कहा, तब पृथु हाथ जोड़कर बोले—'नाथ! संसारके सभी विषयभोग तो नरकमें पड़े रहनेवाले जीवोंको भी मिलते हैं। मैं आपसे उन नारकीय भोगोंकी याचना कैसे कर सकता हूँ। आपके चरणकमलोंको छोड़कर मुझे कुछ नहीं चाहिये। प्रभो! मेरे कान आपकी कथा ही सुनते रहें। आपके जनोंके मुखसे निकले कथामृतको वे सहस्र कानोंके समान शक्तिशाली होकर सुनें—बस, यही वरदान मुझे चाहिये।'

'राजन्! तुम्हारी बुद्धि मुझमें लगी रहे!' इस प्रकार वरदान देकर, पृथुसे पूजित होकर भगवान् अपने धामको चले गये।

× × ×

गङ्गा-यमुनाके मध्य प्रयागराजमें पृथुने अपनी राजधानी बना ली थी। संसारमें सदा अनासक्त रहते हुए वे प्रजाका पालन करते थे। सम्पत्ति भगवान्‌के पूजनके लिये ही है—यह पृथुका दृढ़ निश्चय था। वे अनेक प्रकारके सत्र, पूजन-महोत्सव करते ही रहते थे। एक बार एक बड़े यज्ञमें सब देवता, ब्रह्मर्षि, राजर्षि एवं प्रजाजन उपस्थित थे। उसमें पृथुने सबके सम्मुख प्रजाको उपदेश देते हुए कहा—सभ्यो! जो राजा प्रजासे कर लेता है और प्रजाको दण्ड देता है, किन्तु प्रजाको धर्मकी शिक्षा देकर धर्मपथमें नहीं लगाता, वह प्रजाके समस्त पापका भागी होता है और अपने ऐश्वर्यको खो देता है। अतः आप सब लोग अपने समस्त लौकिक एवं पारलौकिक कर्म भगवान्‌की सेवाके लिये ही भगवत्सेवा-बुद्धिसे करें, यही आपका मुझपर बहुत अनुग्रह होगा।' भगवान्‌की महिमा बताकर पृथुने भगवद्भजनके द्वारा क्लेशोंकी निवृत्ति, मोक्षकी प्राप्ति बतलायी। ब्राह्मणोंका सम्मान करनेका आदेश दिया। धर्मकी शिक्षा दी। महाराजका उपदेश सुनकर सब लोग उनकी प्रशंसा करने लगे।

लोग परम पराक्रमी महाराजकी स्तुति कर ही रहे थे कि वहाँ लोगोंने आकाशसे सूर्यके समान तेजस्वी चार सिद्धोंको उतरते देखा। राजाने बड़े हर्षसे उन सनकादि कुमारोंको प्रणाम करके उच्चासनपर बैठाकर उनका

पूजन किया और फिर उनसे पूछा—'इस संसारमें प्राणीका कल्याण कैसे हो?' सनकादि कुमारोंने राजाको भगवान् मधुसूदनकी पराभक्तिका उपदेश किया। भगवद्भक्तका स्वरूप, भक्तिके श्रवण-कीर्तनादि अङ्ग, भगवान्‌की महिमा आदि बतायी। महाराजने उस उपदेशसे अपनेको कृतकृत्य माना। चारों कुमार अधिकारी राजाको उपदेश करके ब्रह्मलोक गये।

बहुत दिनोंतक पृथुने प्रजापालन किया। अन्तमें पुत्रको राज्य देकर वे पत्नीके साथ तपोवन चले गये। वहाँ वानप्रस्थाश्रमके कठोर नियमोंका पालन करते हुए सनकादिकुमारोंने जिस भक्तियोगका उपदेश किया था, उसके द्वारा भगवान्‌में चित्तको लगाकर स्थिर हो गये। इस प्रकार भगवान्‌में चित्त लगाकर एक दिन आसनपर वे बैठे और योगधारणाके द्वारा देहका त्याग कर दिया। उनकी सुकुमारी पत्नी अर्चि सदा अपने पतिकी सेवा करती थीं। वे साम्राज्ञी वनमें समिधा, फूल, फल, कुश, जल लाकर पतिके पूजन-भजनमें निरन्तर योग देती रहती थीं। जब उन्होंने पतिपूजनके समय देखा कि पतिदेवके देहमें उष्णता नहीं है, तब उन्हें पता लगा कि उनके पति परमधाम चले गये। उन्हें शोक हुआ। अबतक इस कठिन तपमें भी पतिसेवामें लगकर अपने कष्टका कभी स्मरणतक उन्हें नहीं हुआ था। उन्होंने पतिदेहको स्नान कराया, लकड़ियाँ चुनकर चिता बनायी और उसमें अग्नि लगाकर वे पृथुके शरीरके साथ चितामें बैठ गयीं। जैसे पृथु आदि राजा थे, वैसे ही उनकी पत्नी पतिके साथ सहानुगमन करनेवाली पहिली सती थीं। देवाङ्गनाओंकी पुष्पवर्षा और स्तुति होती रही। वे सती अपने पतिके लोक—परमधामको प्राप्त हो गयीं।

भक्त राजा इन्द्रद्युम्न

सत्ययुगकी बात है, मालवप्रदेशकी अवन्तिकापुरीमें इन्द्रद्युम्न नामसे प्रसिद्ध एक राजा राज्य करते थे। उनका जन्म सूर्यवंशमें हुआ था। वे ब्रह्माजीसे पाँच पीढ़ी नीचे थे। राजा इन्द्रद्युम्न महान् सत्यवादी, सदाचारी, शुद्धात्मा तथा सात्त्विक पुरुषोंमें अग्रगण्य थे। वे प्रजाको अपनी सन्तान समझते और सदा न्यायपूर्वक उसका पालन करते थे। वे अध्यात्मवेत्ता, शूरवीर, उद्यमशील, ब्राह्मणभक्त, विद्वान्, रूपवान्, सौभाग्यशाली, शीलवान्, दानी, प्रियवक्ता, यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले तथा सत्यप्रतिज्ञ थे। भगवान् विष्णुके चरणोंमें उनकी अनन्य भक्ति थी। वे अपने चर्मचक्षुओंसे भगवान् श्रीहरिका साक्षात् दर्शन पा लेनेके लिये सदैव उत्कण्ठित रहते थे।

एक दिन राजाके यहाँ देवर्षि नारद पधारे। राजाने पाद्य, अर्घ्य आदि देकर देवर्षिका पूजन किया और उन्हें सुन्दर सिंहासनपर बैठाकर विनयपूर्वक कहा—'भगवन्! आज आपके पदार्पणसे मेरा यह घर और कुल पवित्र हो गये। आपके दर्शन पाकर यह सेवक कृतकृत्य हो गया। योग्य सेवाके लिये आदेश देकर मुझे अनुगृहीत कीजिये।'

राजाकी यह विनयभरी बात सुनकर देवर्षि नारद मुसकराते हुए बोले—'नृपश्रेष्ठ! मैंने सुना है, तुम भगवान् श्रीहरिका साक्षात् दर्शन करनेकी इच्छासे नीलाचल जानेका विचार कर रहे हो। यदि ऐसी बात है तो तुमने यह बहुत उत्तम निश्चय किया है। यह संसार एक भयङ्कर वन है। इसमें पग-पगपर दुःख और संकटके काँटे बिछे हुए हैं। यहाँ भटकनेवाले मनुष्योंके लिये एकमात्र भगवान् विष्णुकी भक्ति ही सुखद आश्रय है। मनुष्योंके भारी-से-भारी पाप भी विष्णुभक्तिकी आगमें भस्म हो जाते हैं। प्रयाग, गङ्गा आदि तीर्थ, तपस्या, श्रेष्ठ अश्वमेध यज्ञ, बड़े-बड़े दान, व्रत, उपवास और नियम—इन सबका सहस्रों बार अनुष्ठान किया जाय और इन सबके सम्मिलित पुण्योंको कोटि-कोटिगुना करके रखा जाय तो भी वह विष्णुभक्तिके हजारवें अंशके बराबर भी नहीं कहा जा सकता।*

---

* अश्वमेधः क्रतुवरो दानानि सुमहान्ति च। व्रतोपवासनियमाः सहस्राण्यर्जिता अपि॥
समूह एषामेकत्र गणितः कोटिकोटिभिः। विष्णुभक्तेः सहस्रांशसमोऽसौ न हि कीर्तितः॥
(स्क० वै० उ० १०। ७३-७४)

राजाने पूछा—'भगवन्! भक्तका क्या स्वरूप है?'

नारदजीने कहा—राजन्! सावधान होकर सुनो। गुणोंके भेदसे भक्तिके तीन भेद हैं—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। इनके अतिरिक्त एक चौथी भक्ति भी है, जो निर्गुणा मानी गयी है। राजन्! जो लोग काम और क्रोधके वशीभूत हैं और प्रत्यक्ष (इस जगत्)-के सिवा और किसी (परलोक आदि)-की ओर दृष्टि नहीं रखते, वे अपनेको लाभ और दूसरोंको हानि पहुँचानेके लिये जो भजन करते हैं, उनकी वह भक्ति तामसी कही गयी है। अधिक यशकी प्राप्तिके लिये अथवा दूसरेकी स्पर्धा (लाग-डाट)-से, प्रसङ्गवश परलोकके लिये भी, जो भक्ति होती है, वह राजसी मानी गयी है। पारलौकिक लाभको स्थायी समझकर और इहलोकके समस्त पदार्थोंको नश्वर देखकर अपने वर्ण तथा आश्रमके धर्मोंका परित्याग न करते हुए आत्मज्ञानके लिये जो भक्ति की जाती है, वह सात्त्विकी है। यह जगत् जगन्नाथका ही स्वरूप है, उनसे भिन्न इसका कोई दूसरा कारण नहीं है, मैं भी भगवान्से भिन्न नहीं हूँ और वे भी मुझसे पृथक् नहीं हैं—यों समझकर भेद उत्पन्न करनेवाली बाह्य उपाधियोंका त्याग करना और अधिक प्रेमसे भगवत्-स्वरूपका चिन्तन करते रहना—यह अद्वैत (निर्गुणा) नामवाली भक्ति है, जो मुक्तिका साक्षात् साधन है। यह अत्यन्त दुर्लभ है।*

अब मैं विष्णुके भक्तोंके लक्षण बताता हूँ—जिनका चित्त अत्यन्त शान्त है, जो सबके प्रति कोमलभाव रखते हैं, जिन्होंने स्वेच्छानुसार अपनी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर ली है तथा जो मन, वाणी और क्रियाद्वारा कभी दूसरोंसे द्रोह करनेकी इच्छा नहीं रखते, जिनका चित्त दयासे द्रवीभूत रहता है, जो चोरी और हिंसासे सदा ही मुख मोड़े रहते हैं, सद्गुणोंके संग्रह तथा दूसरोंके कार्यसाधनमें जो प्रसन्नतापूर्वक संलग्न रहते हैं, सदाचारसे जिनका जीवन सदा उज्ज्वल (निष्कलङ्क) बना रहता है, जो दूसरोंके उत्सवको अपना उत्सव मानते हैं, सब प्राणियोंके भीतर भगवान् वासुदेवको विराजमान देखकर कभी किसीसे ईर्ष्या-द्वेष नहीं रखते, दीनोंपर दया करना जिनका स्वभाव बन् गया है और जो सदा परहितसाधनकी इच्छा रखते हैं, अविवेकी मनुष्योंका विषयोंमें जैसा प्रेम होता है, उससे सौ कोटि गुनी अधिक प्रीतिका विस्तार जो भगवान् श्रीहरिके प्रति करते हैं,† नित्य कर्तव्यबुद्धिसे विष्णुस्वरूप शङ्कर आदि देवताओंका भक्तिपूर्वक पूजन और ध्यान करते हैं, पितरोंमें भगवान् विष्णुकी ही बुद्धि रखते हैं, भगवान् विष्णुसे भिन्न दूसरी किसी वस्तुको नहीं देखते, समष्टि और व्यष्टि सब भगवान्के ही स्वरूप हैं, भगवान् जगत्से भिन्न होकर भी भिन्न नहीं हैं, 'हे भगवान् जगन्नाथ! मैं आपका दास हूँ, आपके स्वरूपमें भी मैं हूँ, आपसे पृथक् कदापि नहीं हूँ, जब आप भगवान् विष्णु अन्तर्यामीरूपसे सबके हृदयमें विराजमान हैं, तब सेव्य अथवा सेवक कोई भी आपसे भिन्न नहीं है' इस भावनासे सदा सावधान रहकर जो ब्रह्माजीके द्वारा वन्दनीय युगलचरणारविन्दोंवाले श्रीहरिको सदा प्रणाम करते, उनके नामोंका कीर्तन करते, उन्हींके भजनमें तत्पर रहते और संसारके लोगोंके समीप अपनेको तृणके समान तुच्छ मानकर विनयपूर्ण बर्ताव करते हैं, जगत्में सब लोगोंका उपकार करनेके लिये जो कुशलताका परिचय देते हैं, दूसरोंके कुशलक्षेमको अपना ही मानते हैं, दूसरोंका तिरस्कार देखकर उनके प्रति दयासे द्रवीभूत हो जाते हैं तथा सबके प्रति मनमें कल्याणकी भावना करते हैं, वे ही विष्णुभक्तके नामसे प्रसिद्ध हैं। जो पत्थर, परधन और मिट्टीके ढेलेमें, परायी स्त्री और कूटशाल्मली नामक नरकमें, मित्र, शत्रु, भाई तथा बन्धुवर्गमें समान बुद्धि रखनेवाले हैं, वे ही निश्चितरूपसे विष्णुभक्तके नामसे प्रसिद्ध हैं। जो दूसरोंकी

---

* जगच्चेदं जगन्नाथो नान्यच्चापि च कारणम्। अहं च न ततो भिन्नो मत्तोऽसौ न पृथक् स्थितः॥
हानं बहिरुपाधीनां प्रेमोत्कर्षेण भावनम्। दुर्लभा भक्तिरेषा हि मुक्तयेऽद्वैतसंज्ञिता॥
(स्क० वै० उ० १०। ८६, ८८)

† विषयेष्वविवेकानां या प्रीतिरुपजायते। वितन्वते तु तां प्रीतिं शतकोटिगुणां हरौ।
(स्क० वै० उ० १०। १०४-१०५)

गुणराशिसे प्रसन्न होते और पराये मर्मको ढकनेका प्रयत्न करते हैं, परिणाममें सबको सुख देते हैं, भगवान्‌में सदा मन लगाये रहते तथा प्रिय वचन बोलते हैं, वे ही वैष्णवके नामसे प्रसिद्ध हैं।*

नारदजीका यह उपदेश सुनकर राजा इन्द्रद्युम्न बहुत प्रसन्न हुए और इस प्रकार बोले—'भगवन्! आपके सङ्ग और सदुपदेशसे मेरे अज्ञानमय अन्धकारका नाश हो गया। इस समय मेरा मन भगवान् नीलमाधवके दर्शनके लिये उत्सुक एवं विकल है। अतः आप और हम दोनों रथपर बैठकर नीलाचल चलें और भगवान्‌के दर्शन करें।'

नारदजीके 'तथास्तु' कहनेपर महाराज इन्द्रद्युम्नने यात्राकी आवश्यक तैयारी कर ली और राजकीय मन्दिरमें भगवान् विष्णुके दर्शन करके वे नारदजीके साथ रथपर सवार हुए। मार्गमें महानदी तथा भुवनेश्वरक्षेत्र आदि पुण्यस्थानों एवं देवताओंका दर्शन करते हुए वे यथासमय दल-बलसहित पुरुषोत्तम-क्षेत्रमें जा पहुँचे। वहाँ राजा इन्द्रद्युम्नने नारदजीके साथ भगवान् नृसिंहजी, कल्पवट तथा श्रीनीलमाधवके स्थानके दर्शन किये।

नारदजीने जब वहाँ भगवान् नृसिंहकी प्रतिमाकी स्थापना की, उस समय राजाने भगवान्‌का स्तवन करते हुए कहा कि 'भगवन्! आप मुझे अपने चरणारविन्दोंकी श्रेष्ठ भक्ति दीजिये। आप मुझ अनाथपर कृपा कीजिये, जिससे मैं अपने इस चर्मचक्षुसे आपके दिव्य स्वरूपका दर्शन कर सकूँ।'

तत्पश्चात् उन्होंने एक हजार अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान आरम्भ किया। जब वे अश्वमेध यज्ञ नौ सौ निन्यानबेकी संख्यातक पहुँच गये, तब सोमरस निकालनेके सात दिनके बाद जो रात्रि आयी, उसके चौथे प्रहरमें राजा इन्द्रद्युम्नने अविनाशी भगवान् विष्णुका ध्यान किया। उस ध्यानमें उन्हें एक रत्नसिंहासनपर शङ्ख-चक्र-गदाधारी भगवान् विष्णुका दर्शन हुआ। उनके श्रीअङ्गोंकी कान्ति नीलमेघके समान श्याम थी। वे वनमालासे विभूषित थे। उनके दाहिने भागमें शेषजी विराजमान थे, जो फणरूपी मुकुटका विस्तार करके सुन्दर छत्रके आकारमें परिणत हो गये थे। भगवान्‌के वामभागमें भगवती लक्ष्मी विराजमान थीं। भगवान्‌के आगे ब्रह्माजी हाथ जोड़े खड़े थे। सनकादि मुनीश्वर उनकी स्तुति कर रहे थे। ध्यानमें भगवान्‌का इस प्रकार दर्शन पाकर राजा इन्द्रद्युम्नको बड़ा हर्ष हुआ। इन्द्रद्युम्नने भगवान्‌की स्तुति करके उन्हें प्रणाम किया। फिर ध्यानके अन्तमें राजाको अपने-आपका भान हुआ, तब उन्होंने नारदजीसे सब बातें कहीं। तब नारदजीने आश्वासन देते हुए कहा—'राजन्! इस यज्ञके अन्तमें तुम्हें भगवान् यहाँ प्रत्यक्ष दर्शन देंगे। ये सब बातें दूसरे किसीके आगे प्रकाशित न करना।'

राजा इन्द्रद्युम्नके अश्वमेध यज्ञके समाप्त होनेपर आकाशवाणी हुई। तदनुसार वहाँ भगवान् स्वयं चार विग्रहोंमें प्रकट हुए। बलभद्र, सुभद्रा और सुदर्शनचक्रके साथ भगवान् जगन्नाथजी दिव्य आसनपर विराजमान हुए। भगवान्‌के चार दिव्य रूप सम्पन्न हो जानेपर पुनः आकाशवाणी हुई कि 'इन चारों प्रतिमाओंकी नीलाचलपर कल्पवृक्षके वायव्यकोणमें सौ हाथकी दूरीपर और भगवान् नृसिंहके उत्तर भागमें जो मैदान है, उसमें मन्दिर बनवाकर स्थापना करो।' राजाने उसका प्रसन्नतापूर्वक पालन किया। राजा इन्द्रद्युम्नने भगवान् जगन्नाथजीकी स्थापना करके उनकी स्तुति की और फिर उन चारों काष्ठमयी प्रतिमाओंका विधिवत् पूजन किया। यह वही पुरुषोत्तमक्षेत्र है, जो चारों धामोंमेंसे एक है और जगन्नाथपुरीके नामसे प्रसिद्ध है। राजर्षि इन्द्रद्युम्न भगवान् पुरुषोत्तमको प्रसन्न करके नारदजीके साथ ब्रह्मलोकमें चले गये।

---

* दृषदि परधने च लोष्टखण्डे परवनितासु च कूटशाल्मलीषु । सखिरिपुसहजेषु बन्धुवर्गे सममतयः खलु वैष्णवाः प्रसिद्धाः॥
गुणगणसुमुखाः परस्य मर्मच्छदनपराः परिणामसौख्यदा हि । भगवति सततं प्रदत्तचित्ताः प्रियवचसः खलु वैष्णवाः प्रसिद्धाः॥
(स्क० वै० उ० पु० १०। ११-१२)

विष्णुभक्त राजा श्वेत

प्राचीन युगमें श्वेत नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं। वे उत्तम व्रतके पालनमें तत्पर रहकर भगवान् पुरुषोत्तमका भजन किया करते थे। पूर्वकालमें महाराज इन्द्रद्युम्नके द्वारा निश्चित किये हुए भोगोंकी मात्राके अनुसार वे प्रतिदिन प्रसन्नतापूर्वक भगवान् लक्ष्मीपतिके लिये भोग प्रस्तुत करते थे। अनेक भक्ष्य-भोज्य पदार्थ, भलीभाँति संस्कार किये हुए षड्विध रस, विचित्र माल्य, सुगन्ध, अनुलेपन तथा नाना प्रकारके राजोचित उपचार समय-समयपर भगवान्की सेवामें समर्पित करते रहते थे।

एक दिन राजा श्वेत प्रातःकाल पूजाके समय भगवान्के दर्शन करनेके लिये गये और पूजा होते समय उन्होंने श्रीहरिके दर्शन किये। देवाधिदेव जगदीशको प्रणाम करके दोनों हाथ जोड़े हुए प्रसन्नतापूर्वक वे मन्दिरके द्वारके समीप खड़े रहे। अपने ही द्वारा तैयार किये हुए उत्तम उपचारों तथा सहस्रों उपहारकी सामग्रियोंको राजाने भगवान्के सम्मुख उपस्थित देखा। तब वे ध्यानस्थ होकर मन-ही-मन इस प्रकार सोचने लगे—'क्या भगवान् श्रीहरि यह मनुष्य-निर्मित भोग ग्रहण करेंगे? यह बाह्य पूजनसामग्री भावदूषित होनेके कारण निश्चय ही भगवान्को प्रसन्न करनेवाली न होगी।'

इस प्रकार विचार करते हुए राजाने देखा, सामने ही दिव्य सिंहासनपर साक्षात् भगवान् विष्णु विराजमान हैं और दिव्य सुगन्ध, दिव्य वस्त्र एवं दिव्य हारोंसे विभूषित साक्षात् लक्ष्मीदेवी उनके आगे अन्न-पान आदि भोजन-सामग्री परोस रही हैं। भगवान् बड़ी प्रसन्नतासे वह सब सामान भोजन कर रहे हैं। यह अद्भुत झाँकी देखकर राजाने अपनेको कृतार्थ माना और आँखें खोल दीं। फिर उन्हें पहले देखी हुई सब बातें दिखायी दीं। इससे राजाको बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ। वे भगवान्को निवेदित किया प्रसाद खाकर ही रहते थे।

एक बार पुरुषोत्तमक्षेत्रमें राजा श्वेतने बड़ी भारी तपस्या की। मन्त्रराज आनुष्टुभका नियमपूर्वक जप करते हुए उन्होंने सौ वर्षोंतक तप किया। इससे संतुष्ट होकर लक्ष्मीसहित भगवान् नृसिंहने उनको प्रत्यक्ष दर्शन देकर अनुगृहीत किया। भगवान् नृसिंह योगासनपर कमलके ऊपर विराजमान थे। उनके वाम भागमें भगवती लक्ष्मी शोभा पा रही थीं। देवता, सिद्ध और मुक्त पुरुष उनकी स्तुतिमें लगे थे। भगवान्के इस प्रकार दर्शन पाकर राजा श्वेत आश्चर्यचकित हो गये और हर्षगद्गद वाणीमें बोले—'हे नाथ ! प्रसन्न होइये, होइये।' इतना कहकर राजा भगवान्के चरणोंमें गिर पड़े। उनका शरीर तपस्यासे अत्यन्त दुर्बल हो गया था। उस समय भक्तवत्सल भगवान् नृसिंहने मधुर वाणीमें कहा—'वत्स! उठो। मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। तुम कोई वर माँगो।'

राजा श्वेत उठे और दोनों हाथ जोड़कर बोले—'स्वामिन्! इस तुच्छ दासपर आपकी बड़ी भारी कृपा है। मेरी यही इच्छा है कि इस देहका अन्त होनेपर मैं आपका सारूप्य प्राप्त करके आपकी सेवामें संलग्न रहूँ और जबतक इस भूतलपर राजा होकर रहूँ, तबतक मेरे राज्यमें किसी भी मनुष्यकी अकाल मृत्यु न हो। साथ ही मेरे राज्यमें मरे हुए प्रत्येक मनुष्यको आपके परम पदकी प्राप्ति हो।' 'एवमस्तु' कहकर भगवान्ने अपने भक्तका मनोरथ पूर्ण किया। फिर वे राजाके देखते-देखते अन्तर्धान हो गये। राजा आजीवन भगवान्की सेवामें ही लगे रहे। अन्तमें उन्हें भी भगवान्का सारूप्य प्राप्त हुआ।

भक्त प्रचेतागण

तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः।
नृणां येनेह विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः॥

(श्रीमद्भा० ४। ३१। ९)

'वही जन्म सफल जन्म है, वे ही कर्म ठीक कर्म हैं, वही आयु आयु है, वही मन मन है और वही वाणी वाणी है, जिनके द्वारा मनुष्य सर्वसमर्थ विश्वात्मा श्रीहरिकी सेवा करते हैं।'

आदिराज पृथुके वंशमें बर्हिषद नामक एक पुण्यात्मा राजा हो गये हैं। उन्होंने इतने यज्ञ किये कि पृथ्वी उनके यज्ञिय कुशोंसे आच्छादित हो गयी। इनकी पत्नी शतद्रुतिसे दस पुत्र हुए, जो 'प्रचेता' कहे गये। ये सब-के-सब भगवान्‌के भक्त थे और परस्पर इनका इतना ऐक्य था कि इनके धर्म, शील, आचार, व्यवहारमें तनिक भी कहीं अन्तर नहीं रहा था। पिताने इन्हें विवाह करके सन्तान उत्पन्न करनेकी आज्ञा दी। आज तो विवाह और सन्तानोत्पादन भोग हो गये हैं। विषयसेवनके लिये आज विवाह होता है; किंतु शास्त्रोंका कहना है कि जो पुत्र अपने पूर्वजोंको नरकसे छुड़ा सके, वही पुत्र है। ऐसी सन्तति भगवान्‌की कृपाके बिना नहीं प्राप्त होती। भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये प्रचेतागण तप करने चल पड़े।

प्रचेताओंने पश्चिम समुद्रके किनारे एक विस्तृत स्वच्छ सरोवर देखा। वहाँ मृदङ्ग आदि बाजे बज रहे थे, गन्धर्व गान कर रहे थे। उस दिव्य गानको सुनकर राजकुमारोंको आश्चर्य हुआ। इसी समय उस सरोवरसे अपने उज्ज्वल वृषभपर बैठे भगवान् शङ्कर प्रकट हुए। शङ्करजीने राजपुत्रोंसे कहा—'राजपुत्रो! जो कोई भगवान् वासुदेवकी शरण लेता है, उससे बढ़कर मेरा और कोई प्रिय नहीं है। मुझे जितने प्रिय श्रीहरि हैं, उतने ही प्रिय उनके भक्त भी हैं और उन नारायणके भक्तोंका भी मैं अत्यन्त प्रिय हूँ। तुमलोग भगवान्‌के भक्त हो, अतः मुझे परम प्रिय हो। तुमपर कृपा करके मैं तुम्हारे पास आया हूँ। मैं तुम्हें एक दिव्य स्तोत्र बतलाता हूँ। इन्द्रियोंको वशमें करके, मनको एकाग्र करके भगवान्‌का स्मरण करते हुए इस स्तोत्रका जप करनेसे तुम्हारा कल्याण होगा। सर्वात्मा श्रीहरि तुमपर प्रसन्न होंगे।' भगवान् शङ्कर उस दिव्य स्तोत्रका उपदेश करके अन्तर्धान हो गये।

प्रचेतागणोंने अपना सौभाग्य माना कि उनपर आशुतोष प्रभुने स्वयं कृपा की। वे समुद्रके जलमें खड़े होकर उस स्तोत्रका जप करते हुए दस सहस्र वर्षतक तप करते रहे। उनके तपसे प्रसन्न होकर भगवान् नारायण उनके सम्मुख प्रकट हो गये। प्रचेतागणने आनन्दविह्वल होकर भगवान्‌की स्तुति की। भगवान्‌ने उनके सौ भ्रातृत्वकी प्रशंसा की। उन्हें लोकप्रसिद्ध पुत्र होनेका आशीर्वाद दिया। परंतु जो कोई भगवान्‌के श्रीचरणोंका आश्रय ले लेता है, उसने चाहे कामनापूर्वक ही भगवान्‌का भजन प्रारम्भ किया हो, भजनके प्रभावसे उसका हृदय शुद्ध अवश्य हो जाता है। उसकी समस्त कामनाएँ अपने-आप नष्ट हो जाती हैं। निष्पाप प्रचेतागणने पिताके आज्ञानुसार कर्तव्यबुद्धिसे सन्तानोत्पादनके लिये यह आराधना की थी। उनके चित्तमें पहले भी कामना नहीं थी। उन्होंने प्रार्थना की—'प्रभो! आप स्वयं हमपर प्रसन्न हुए, हमने इन चर्मचक्षुओंसे आपके आनन्दघन रूपके दर्शन किये—इससे महान् सौभाग्य हमारा और क्या होगा? आपसे हम इतना ही चाहते हैं कि आपकी मायासे मोहित होकर कर्म करते हुए उनके फलस्वरूप जबतक हम संसारमें घूमते रहें, तबतक प्रत्येक जन्ममें हमें आपके भक्तोंका सङ्ग प्राप्त होता रहे। सांसारिक भोगोंकी तो चर्चा ही क्या, स्वर्ग और मोक्ष भी साधुसमागमके सामने नगण्य हैं। स्वामी ! हमने जो जलमें खड़े होकर दीर्घकालतक तप किया है, वह तप आपको सन्तुष्ट करे। आप उसे स्वीकार कर लें।'

भक्तवत्सल प्रभु प्रचेताओंको सन्तुष्ट करके, उनका इच्छित वरदान देकर अपने धाम पधारे। वहाँसे घर आकर ब्रह्माजीके आदेशसे वृक्षोंके द्वारा समर्पित मारिषा नामकी कन्यासे उन्होंने विवाह किया। भगवान् शङ्करका अपराध करके शरीर त्यागनेवाले दक्षने फिर प्रचेताओंके पुत्ररूपसे जन्म लिया। जब ब्रह्माजीने दक्षको प्रजापति बना दिया, तब पत्नीको पुत्रके पास छोड़कर, प्रचेतागण समस्त भोगोंको त्यागकर भगवान्‌के ध्यानमें लग गये। उन्होंने प्राणायामादिसे इन्द्रियों तथा मनको संयत करके चित्तको ब्रह्मचिन्तनमें लगा दिया। उसी समय देवर्षि नारदजी उनके पास आये। देवर्षिने कृपा करके उनको तत्त्वज्ञानका उपदेश किया। उसे ग्रहण करके प्रचेता भगवान्‌के श्रीचरणोंका ध्यान करते हुए परमपदको प्राप्त हुए।

परदु:खकातर महाराज रन्तिदेव

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परा-
मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥
(श्रीमद्भा० ९ । २१ । १२)

चन्द्रवंशी राजा संकृतिके दो पुत्र थे—गुरु और रन्तिदेव। इनमें रन्तिदेव बड़े ही न्यायशील, धर्मात्मा और दयालु थे। दूसरोंकी दरिद्रता देखना उनसे सहा ही नहीं जाता था। अपनी सारी सम्पत्ति उन्होंने दीन-दु:खियोंको बाँट दी थी और स्वयं बड़ी कठिनतासे निर्वाह करते थे। ऐसी दशामें भी उन्हें जो कुछ मिल जाता था, उसे दूसरोंको दे देते थे और स्वयं भूखे ही रह जाते थे।

एक बार रन्तिदेव तथा उनके पूरे परिवारको अड़तालीस दिनोंतक भोजनकी तो कौन कहे, पीनेको जल भी नहीं मिला। देशमें घोर अकाल पड़ जानेसे जल मिलना भी दुर्लभ हो गया था। भूख-प्याससे राजा तथा उनका परिवार—सब-के-सब मरणासन्न हो गये। उनचासवें दिन कहींसे उनको घी, खीर, हलवा और जल मिला। अड़तालीस दिनोंके निर्जल व्रती थे वे। उनका शरीर काँप रहा था। कण्ठ सूख गया था। शरीरमें उठनेकी शक्ति नहीं थी। भूखा मनुष्य ही रोटीका मूल्य जानता है। रन्तिदेव ऐसी दशामें भोजन करने जा ही रहे थे कि एक ब्राह्मण अतिथि आ गये। करोड़ों रुपयोंमेंसे दस-पाँच लाखका दान कर देना सरल है। अपना पूरा धन दान करनेवाले उदार भी मिल सकते हैं; किंतु जब अन्नके बिना प्राण निकल रहे हों, तब अपना पेट काटकर दान करनेवाले महापुरुष विरले ही होते हैं। रन्तिदेवने बड़ी श्रद्धासे उन विप्रको उसी अन्नमेंसे भोजन कराया।

विप्रके भोजन कर लेनेपर बचे हुए अन्नको राजाने अपने परिवारके लोगोंमें बाँट दिया। वे सब भोजन करने जा ही रहे थे कि एक शूद्र अतिथि आ गया। उस दरिद्र शूद्रको भी राजाने आदरपूर्वक भोजन करा दिया। अब एक चाण्डाल कई कुत्तोंके साथ आया और कहने लगा—'राजन्! मेरे ये कुत्ते भूखे हैं और मैं भी बहुत भूखा हूँ।'

रन्तिदेवने उन सबका भी सत्कार किया। सभी प्राणियोंमें श्रीहरिको देखनेवाले उन महापुरुषने बचा हुआ सारा अन्न कुत्तों और चाण्डालके लिये दे दिया। अब केवल इतना जल बचा था, जो एक मनुष्यकी प्यास बुझा सके। राजा उससे अपना सूखा कण्ठ गीला करना चाहते थे कि एक और चाण्डाल आकर दीन स्वरसे कहने लगा—'महाराज! मैं बहुत थका हूँ। मुझ अपवित्र नीचको पीनेके लिये थोड़ा पानी दीजिये।'

चाण्डाल थका था और बहुत प्यासा था। उसकी वाणी बड़े परिश्रमसे निकलती जान पड़ी थी। उसकी दशा देखकर राजाको बड़ी दया आयी। उन्होंने भगवान्से प्रार्थना की—'प्रभो! मैं अणिमादिक अष्ट सिद्धियाँ या मुक्ति नहीं चाहता। मैं तो यही चाहता हूँ कि सब प्राणियोंके अन्तःकरणमें रहकर मैं ही उनके सब दु:ख भोगूँ, जिससे वे लोग दु:खसे छूट जायँ।'

'इस मनुष्यके प्राण जलके बिना निकल रहे हैं। यह प्राण-रक्षाके लिये मुझसे जल माँग रहा है। इसे यह जल देनेसे मेरी भूख-प्यास, थकावट, चक्कर, दीनता, क्लान्ति, शोक-विषाद और मोहादि सब मिट जायँगे।' इतना कहकर स्वयं प्यासके मारे मरणासन्न रहनेपर भी परम दयालु राजा रन्तिदेवने वह जल आदर एवं प्रसन्नताके साथ चाण्डालको पिला दिया।

भक्तोंकी कामना पूर्ण करनेवाले त्रिभुवनके स्वामी ब्रह्मा, विष्णु और महेश ही रन्तिदेवकी परीक्षाके लिये इन रूपोंमें आये थे। राजाका धैर्य देखकर वे प्रकट हो गये। राजाने उनको प्रणाम किया, उनका पूजन किया। बहुत कहनेपर भी रन्तिदेवने कोई वरदान नहीं माँगा। जैसे जगनेपर स्वप्न लीन हो जाता है, वैसे ही भगवान् वासुदेवमें चित्तको तन्मय कर देनेसे राजा रन्तिदेवके सामनेसे त्रिगुणमयी माया लीन हो गयी। रन्तिदेवके प्रभावसे उनके परिवारके सब लोग भी नारायणपरायण होकर योगियोंकी परम गतिको प्राप्त हुए।

शरणागतवत्सल राजा शिबि

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

'मुझे राज्य नहीं चाहिये, स्वर्ग नहीं चाहिये और मोक्ष भी मैं नहीं चाहता। मैं तो नाना प्रकारके दुःखोंसे पीड़ित प्राणियोंकी आर्ति—पीड़ाका नाश चाहता हूँ।'

उशीनरके पुत्र शरणागत-वत्सल महाराज शिबि यज्ञ कर रहे थे। शिबिकी दयालुता तथा भगवद्भक्तिकी ख्याति पृथ्वीसे स्वर्गतक फैली थी। देवराज इन्द्रने राजाकी परीक्षा करनेका निश्चय किया। इन्द्रने बाज पक्षीका रूप धारण किया और अग्निदेव कबूतर बने। बाजके भयसे डरता, काँपता, घबराया कबूतर उड़ता आया और राजा शिबिकी गोदमें बैठकर उनके वस्त्रोंमें छिप गया। उसी समय वहाँ एक बड़ा भारी बाज भी आया। वह मनुष्यकी भाषामें राजासे कहने लगा—'राजन्! आप धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ हैं, परन्तु आज यह धर्मविरुद्ध आचरण क्यों कर रहे हैं? आपने कृतघ्नको धनसे, झूठको सत्यसे, निर्दयको क्षमासे तथा दुर्जनको अपनी साधुतासे ही सदा जीता है। आप तो अपनी बुराई करनेवालेका भी उपकार ही करते हैं। जो आपका अहित सोचते हैं, उनका भी आप भला ही करना चाहते हैं; पापियोंपर भी आप दया करते हैं। जो आपमें दोष ढूँढ़ते रहते हैं, उनके भी आप गुण ही देखते हैं। मैं भूखसे व्याकुल हूँ और भाग्यसे मुझे यह कबूतर आहारके रूपमें मिला है। अब आप मुझसे मेरा आहार छीनकर अधर्म क्यों कर रहे हैं?'

कबूतरने राजासे बड़ी कातरतासे कहा—'महाराज! मैं इस बाजके भयसे प्राणरक्षाके लिये आपकी शरण आया हूँ। आप मेरी रक्षा करें।'

राजाने बाजसे कहा—'पक्षी ! जो मनुष्य समर्थ रहते भी शरणागतकी रक्षा नहीं करते या लोभ, द्वेष अथवा भयसे उसे त्याग देते हैं, उनको ब्रह्महत्याके समान पाप लगता है, सर्वत्र उनकी निन्दा होती है। मैं मरूँगा—इस प्रकार सभीको मृत्युका भय तथा दुःख होता है। अपनेसे ही दूसरेके दुःखका अनुमान करके उसकी रक्षा करनी चाहिये। जैसे तुम्हें अपना जीवन प्यारा है, जैसे तुम भूखसे नहीं मरना चाहते, उसी प्रकार दूसरेकी जीवनरक्षा भी तुम्हें करनी चाहिये। मैं शरण आये हुए भयभीत कबूतरको तुम्हें नहीं दे सकता। तुम्हारा काम और किसी प्रकार हो सके तो बतलाओ।'

बाजने कहा—'वह धर्म धर्म नहीं है, जो दूसरेके धर्ममें बाधा दे। भोजनसे ही जीव उत्पन्न होते हैं, बढ़ते हैं तथा जीवित रहते हैं। बिना भोजन कोई जीवित नहीं रह सकता। मैं भूखसे मर जाऊँ तो मेरे बाल-बच्चे भी मर जायँगे। एक कबूतरको बचानेमें अनेकों प्राण जायँगे। आप परस्पर-विरोधी इन धर्मोंमें सोच-समझकर निर्णय करें कि एकको प्राण-रक्षा ठीक है या कईकी।'

राजाने कहा—'बाज! भयभीत जीवोंकी रक्षा ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। दयासे द्रवित होकर जो दूसरोंको अभयदान देता है, वह मरनेपर संसारके महान् भयसे छूट जाता है। यश और स्वर्गके लिये तो बहुत लोग दान-पुण्य करते हैं; किन्तु सब जीवोंकी निःस्वार्थ भलाई करनेवाले पुरुष थोड़े ही हैं। यज्ञोंका फल चाहे जितना बड़ा हो, अन्तमें क्षय हो जाता है, पर प्राणीको अभयदान देनेका फल कभी क्षय नहीं होता। मैं सारा राज्य तथा अपना शरीर भी तुम्हें दे सकता हूँ, पर इस भयभीत दीन कबूतरको नहीं दे सकता। तुम तो केवल आहारके लिये ही उद्योग कर रहे हो, अतः कोई भी दूसरा आहार माँग लो, मैं तुम्हें दूँगा।'

बाजने कहा—'राजन् ! मैं मांसभक्षी प्राणी हूँ। मांस ही मेरा आहार है। कबूतरके बदले आप और किसी प्राणीको मारें या मरने दें, इससे कबूतरको मरने देनेमें मुझे तो कोई अन्तर नहीं जान पड़ता। हाँ, आप चाहें तो अपने शरीरसे इस कबूतरके बराबर मांस तौलकर मुझे दे सकते हैं। मुझे अधिक नहीं चाहिये।'

राजाको बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने कहा—'बाज! तुमने मुझपर बड़ी कृपा की। यदि यह शरीर प्राणियोंके उपकारमें न आये तो प्रतिदिनका इसका पालन-पोषण व्यर्थ ही है। इस नाशवान् अनित्य शरीरसे नित्य, अविनाशी धर्म किया जाय, यही तो शरीरकी सफलता है।'

एक तराजू मँगाया गया। एक पलड़ेमें कबूतरको रखकर दूसरेमें राजा शिबि अपने हाथों अपने शरीरका मांस काट-काटकर रखने लगे। कबूतरके प्राण बचे और बाजको भी भूखका कष्ट न हो, इसलिये वे राजा बिना पीड़ा या खेद प्रकट किये अपना मांस काटकर पलड़ेपर रखते जाते थे; किंतु कबूतरका वजन बढ़ता ही जाता था। अन्तमें राजा स्वयं तराजूपर चढ़ गये। उनके ऐसा करते ही आकाशमें बाजे बजने लगे। ऊपरसे फूलोंकी वर्षा होने लगी।

'ये मनुष्यभाषा बोलनेवाले बाज और कबूतर कौन हैं? ये बाजे क्यों बजते हैं? राजा शिबि यह सोच ही रहे थे कि उनके सामने अग्निदेव और इन्द्र अपने वास्तविक रूपमें प्रकट हो गये। देवराज इन्द्रने कहा—'राजन्! तुमने बड़ोंसे कभी ईर्ष्या नहीं की, छोटोंका कभी अपमान नहीं किया और बराबरवालोंसे कभी स्पर्धा नहीं की; अतः तुम संसारमें सर्वश्रेष्ठ हो। जो मनुष्य अपने प्राणोंको त्यागकर भी दूसरोंकी प्राण-रक्षा करता है, वह परमधामको जाता है। पशु भी अपना पेट तो भर ही लेते हैं; पर प्रशंसनीय वे पुरुष हैं, जो परोपकारके लिये जीते हैं। संसारमें तुम्हारे समान अपने सुखकी इच्छासे रहित केवल परोपकार-परायण साधु जगत्की रक्षाके लिये ही जन्म लेते हैं। तुम दिव्यरूप प्राप्त करो और चिरकालतक पृथ्वीका सुख भोगो। अन्तमें तुम्हें परमपद प्राप्त होगा।' यों कहकर इन्द्र और अग्नि स्वर्ग चले गये।

राजा शिबि भगवान्में मन लगाकर चिरकालतक पृथ्वीका शासन करते रहे और अन्तमें भगवद्धाम पधारे।

भक्त चन्द्रहास

जाको राखै साइँयाँ, मार न सकिहै कोय।
बार न बाँका करि सकै, जो जग बैरी होय॥

केरलदेशमें एक मेधावी नामक राजा राज्य करते थे। शत्रुओंने उनके देशपर चढ़ाई की। युद्धमें महाराज मारे गये। उनकी रानी पतिके साथ सती हो गयीं। उस समयतक राजाके एक ही पुत्र थे—चन्द्रहास। राजकुमारकी अभी शिशु अवस्था ही थी। धायने चुपकेसे उन्हें नगरसे निकाला और कुन्तलपुर ले गयी। वह स्वामिभक्ता धाय मेहनत-मजदूरी करके राजकुमारका पालन-पोषण करने लगी। चन्द्रहास बड़े ही सुन्दर थे और बहुत सरल तथा विनयी थे। सभी स्त्री-पुरुष ऐसे भोले सुन्दर बालकसे स्नेह करते थे।

जो अनाथ हो जाता है, जिसके कोई नहीं होता, जिसका कोई सहारा नहीं होता, उसके अनाथनाथ, अनाश्रयोंके आश्रय श्रीकृष्ण अपने हो जाते हैं, वे उसके आश्रय बन जाते हैं। अनाथ बालक चन्द्रहासको उनके बिना और कौन आश्रय देता। उन दयामयकी प्रेरणासे एक दिन नारदजी घूमते हुए कुन्तलपुर पहुँचे। बालकको अधिकारी समझकर वे उसे एक शालग्रामकी मूर्ति देकर 'रामनाम' का मन्त्र बता गये। नन्हा बालक देवर्षिकी कृपासे हरिभक्त हो गया। अब जिस समय वह अपने-आपको भूलकर अपने कोमल कण्ठसे भगवन्नामका गान करते हुए नृत्य करने लगता, देखनेवाले मुग्ध हो उठते। चन्द्रहासको प्रत्यक्ष दीखता कि उसीकी अवस्थाका एक परम सुन्दर साँवरा-सलोना बालक हाथमें मुरली लिये उसके साथ नाच रहा है, गा रहा है। इससे चन्द्रहास और भी तन्मय हो जाता।

कुन्तलपुरके राजा परम भगवद्भक्त एवं संसारके विषयोंसे पूरे विरक्त थे। उनके कोई पुत्र तो था नहीं; केवल चम्पकमालिनी नामकी एक कन्या थी। महर्षि गालवको राजाने अपना गुरु बनाया था और गुरुके उपदेशानुसार वे भगवान्के भजनमें ही लगे रहते थे। राज्यका पूरा प्रबन्ध मन्त्री धृष्टबुद्धि करता था। मन्त्रीकी पृथक् भी बहुत बड़ी सम्पत्ति थी और कुन्तलपुरके तो एक प्रकारसे वे ही शासक थे। उनके सुयोग्य पुत्र मदन तथा अमल उनकी राज्यकार्यमें सहायता करते थे। उनके 'विषया' नामकी एक सुन्दरी कन्या थी। मन्त्रीकी रुचि केवल राजकार्य और धन एकत्र करनेमें ही थी; किंतु उनके पुत्र मदनमें भगवान्की भक्ति थी। वह साधु-सन्तोंका सेवक था। इसलिये मन्त्रीके महलमें जहाँ
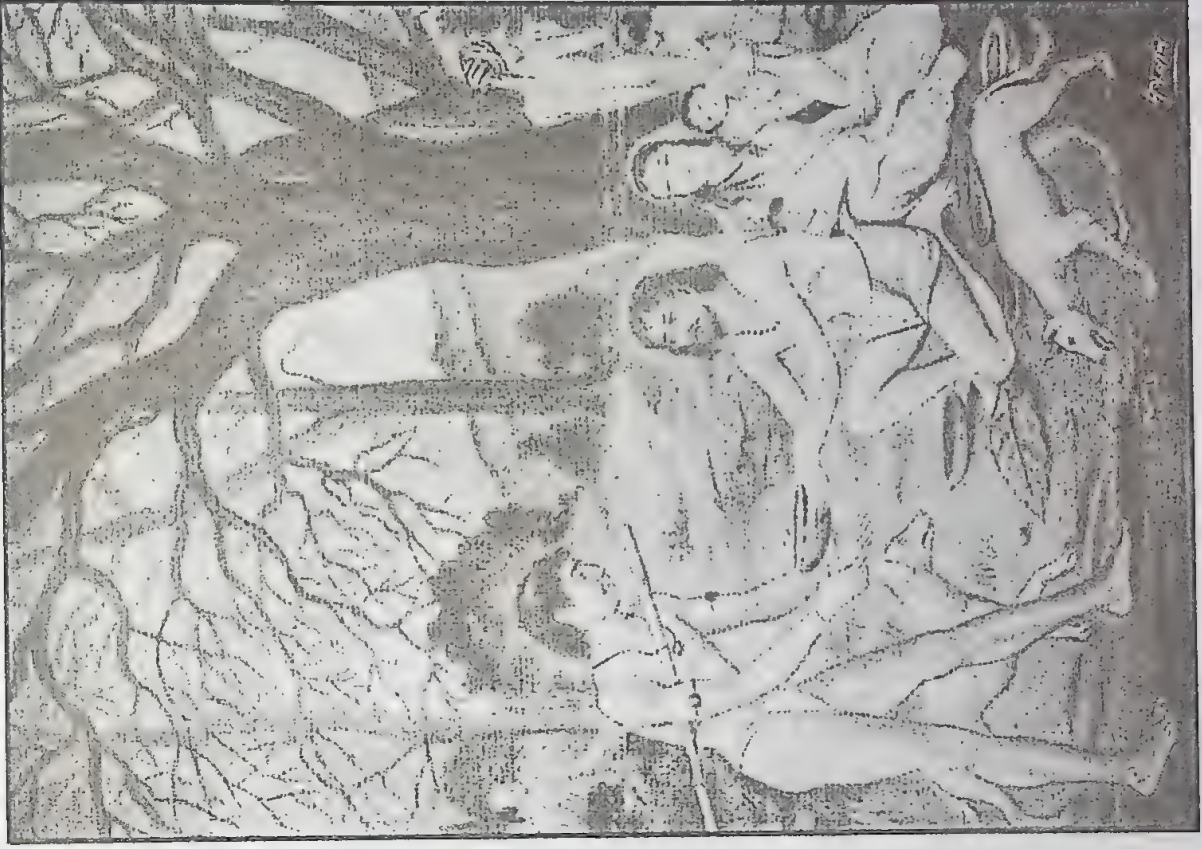
भक्त शिबि [पृ० १४७]

भक्त रन्तिदेव [पृ० १४६]
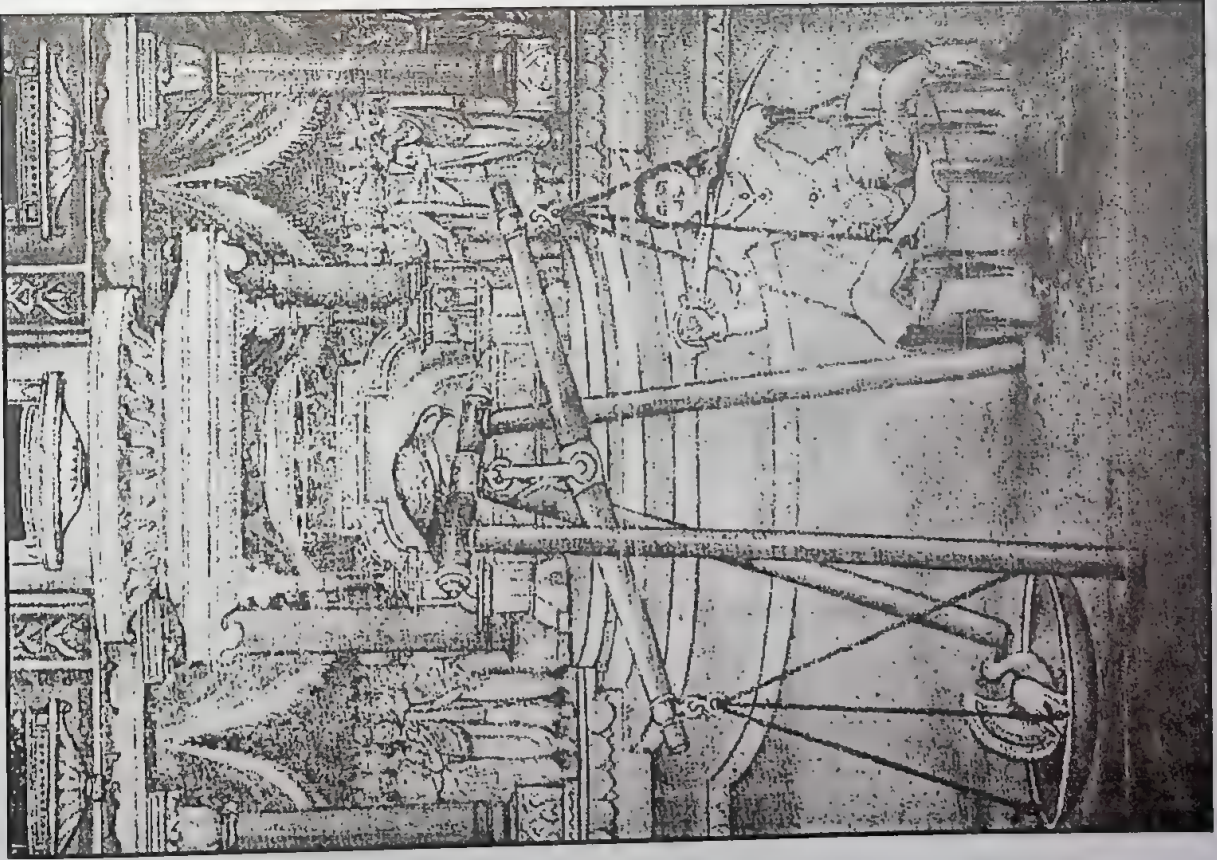
भक्तिके बारह आचार्य

विलास तथा राग-रङ्ग चलता था, वहीं कभी-कभी संत भी एकत्र हो जाते थे। भगवान्‌की पावन कथा भी होती थी। अतिथि-सत्कार तथा भगवन्नाम-कीर्तन भी होते थे। इन कार्योंमें रुचि न होनेपर भी मन्त्री अपने पुत्रको रोकते नहीं थे। एक दिन मन्त्रीके महलमें ऋषिगण बैठे थे। भगवान्‌की कथा हो रही थी। उसी समय सड़कपर भवनके सामनेसे भगवन्नाम-कीर्तन करते हुए चन्द्रहास बालकोंकी मण्डलीके साथ निकले। बच्चोंकी अत्यन्त मधुर कीर्तन-ध्वनि सुनकर ऋषियोंके कहनेसे मदनने सबको वहीं बुला लिया। चन्द्रहासके साथ बालक नाचने-गाने लगे। मन्त्री धृष्टबुद्धि भी इसी समय वहाँ आ गये। मुनियोंने तेजस्वी बालक चन्द्रहासको तन्मय होकर कीर्तन करते देखा। वे मुग्ध हो गये। कीर्तन समाप्त होनेपर स्नेहपूर्वक समीप बुलाकर ऋषियोंने उन्हें बैठा लिया और उनके शरीरके लक्षणोंको देखने लगे। ऋषियोंने चन्द्रहासके शारीरिक लक्षण देखकर धृष्टबुद्धिसे कहा—'मन्त्रिवर! तुम इस बालकका प्रेमपूर्वक पालन करो। इसे अपने घर रखो। यही तुम्हारी सम्पूर्ण सम्पत्तिका स्वामी तथा इस देशका नरेश होगा।'

'एक अज्ञात-कुल-शील, राहका भिखारी बालक मेरी सम्पत्तिका स्वामी होगा।' यह बात धृष्टबुद्धिके हृदयमें तीर-सी लगी। वे तो अपने लड़केको राजा बनानेका स्वप्न देख रहे थे। अब एक भिक्षुक-सा लड़का उनकी सारी इच्छाओंको नष्ट कर दे, यह उन्हें सहन नहीं हो रहा था। उन्होंने किसीसे कुछ कहा नहीं, पर सब लड़कोंको मिठाई देनेके बहाने घरके भीतर ले गया। मिठाई देकर दूसरे लड़कोंको तो उन्होंने विदा कर दिया, केवल चन्द्रहासको रोक लिया। एक विश्वासी वधिकको बुलाकर उसे चुपचाप समझाकर उसके साथ चन्द्रहासको भेज दिया।

वधिकको पुरस्कारका भारी लोभ मन्त्रीने दिया था। चन्द्रहासने जब देखा कि मुझे यह सुनसान जंगलमें रातके समय लाया है, तब इसका उद्देश्य समझकर कहा—'भाई! तुम मुझे भगवान्‌की पूजा कर लेने दो, तब मारना।' वधिकने अनुमति दे दी। चन्द्रहासने शालग्रामजीकी मूर्ति निकालकर उनकी पूजा की और उनके सम्मुख गद्गद कण्ठसे स्तुति करने लगा। भोले बालकका सुन्दर रूप, मधुर स्वर तथा भगवान्‌की भक्ति देखकर वधिककी आँखोंमें भी आँसू आ गये। उसका हृदय एक निरपराध बालकको मारना स्वीकार नहीं करता था। परंतु उसे मन्त्रीका भय था। उसने देखा कि चन्द्रहासके एक पैरमें छः अँगुलियाँ हैं। वधिकने तलवारसे जो एक अँगुली अधिक थी, उसे काट लिया और बालकको वहीं छोड़कर वह लौट गया। धृष्टबुद्धि वह अँगुली देखकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्हें लगा कि 'अपने बुद्धि-कौशलसे ऋषियोंकी अमोघ वाणी मैंने झूठी कर दी।'

कुन्तलपुर राज्यके अधीन एक छोटी रियासत थी—चन्दनपुर। वहाँके नरेश कुलिन्दक किसी कार्यसे बड़े सबेरे वनकी ओरसे घोड़ेपर चढ़े जा रहे थे। उनके कानोंमें बड़ी मधुर भगवन्नाम-कीर्तन-ध्वनि पड़ी। कटी अँगुलीकी पीड़ासे भूमिमें पड़े-पड़े चन्द्रहास करुण-कीर्तन कर रहे थे। राजाने कुछ दूरसे बड़े आश्चर्यसे देखा कि एक छोटा देवकुमार-जैसा बालक भूमिपर पड़ा है। उसके चारों ओर अद्‌भुत प्रकाश फैला है। वनकी हरिणियाँ उसके पैर चाट रही हैं। पक्षी उसके ऊपर पंख फैलाकर छाया किये हुए हैं और उसके लिये वृक्षोंसे पके फल ला रहे हैं। राजाके और पास जानेपर पशु-पक्षी वनमें चले गये। राजाके कोई सन्तान नहीं थी। उन्होंने सोचा कि 'भगवान्‌ने मेरे लिये ही यह वैष्णव देवकुमार भेजा है।' घोड़ेसे उतरकर बड़े स्नेहसे चन्द्रहासको उन्होंने गोदमें उठाया। उनके शरीरकी धूलि पोंछी और उन्हें अपने राजभवनमें ले आये।

चन्द्रहास अब चन्दनपुरके युवराज हो गये। यज्ञोपवीत-संस्कार होनेके पश्चात् गुरुके यहाँ रहकर उन्होंने वेद, वेदाङ्ग तथा शास्त्रोंका अध्ययन किया। राजकुमारके योग्य अस्त्र-शस्त्र चलाना तथा नीतिशास्त्रादि सीखा। अपने सद्गुणोंसे वे राजपरिवारके लिये प्राणके समान प्रिय हो गये। राजाने उन्हींपर राज्यका भार छोड़ दिया। राजकुमारके प्रबन्धसे छोटी-सी रियासत हरिगुण-गानसे पूर्ण हो गयी। घर-घर हरिचर्चा होने लगी। सब लोग एकादशीव्रत करने लगे। पाठशालाओंमें हरिगुणगान अनिवार्य हो गया।

चन्दनपुर रियासतकी ओरसे कुन्तलपुरको दस हजार स्वर्णमुद्राएँ 'कर' के रूपमें प्रतिवर्ष दी जाती थीं। चन्द्रहासने उन मुद्राओंके साथ और भी बहुत-से धन-रत्नादि उपहार भेजे। धृष्टबुद्धिने जब चन्दनपुर राज्यके ऐश्वर्य एवं वहाँके युवराजके सुप्रबन्धकी बहुत प्रशंसा सुनी, तब स्वयं वहाँकी व्यवस्था देखने वे चन्दनपुर आये। राजा तथा राजकुमारने उनका हृदयसे स्वागत किया। यहाँ आकर जब धृष्टबुद्धिने चन्द्रहासको पहचाना, तब उनका हृदय व्याकुल हो गया। उन्होंने इस लड़केको मरवा डालनेका पूरा निश्चय कर लिया। स्नेह दिखाते हुए वे राजकुमारसे मिले। उन्होंने एक पत्र देकर कहा—'युवराज! बहुत ही आवश्यक काम है और दूसरे किसीपर मेरा विश्वास नहीं। तुम स्वयं यह पत्र लेकर कुन्तलपुर जाओ। मार्गमें पत्र खुलने न पाये। कोई इस बातको न जाने। इसे मदनको ही देना।'

चन्द्रहास घोड़ेपर चढ़कर अकेले ही पत्र लेकर कुन्तलपुरको चल पड़े। दिनके तीसरे पहर वे कुन्तलपुरके पास वहाँके राजाके बगीचेमें पहुँचे। बहुत प्यासे और थके थे, अतः घोड़ेको पानी पिलाकर एक ओर बाँध दिया और स्वयं सरोवरमें जल पीकर एक वृक्षकी शीतल छायामें लेट गये। लेटते ही उन्हें निद्रा आ गयी। उसी समय उस बगीचेमें राजकुमारी चम्पकमालिनी अपनी सखियों तथा मन्त्रीकी कन्या 'विषया' के साथ घूमने आयी थी। संयोगवश अकेली विषया उधर चली आयी, जहाँ चन्द्रहास सोये थे। इस परम सुन्दर युवकको देखकर वह मुग्ध हो गयी और ध्यानसे उसे देखने लगी। उसे निद्रित कुमारके हाथमें एक पत्र दीख पड़ा। कुतूहलवश उसने धीरेसे पत्र खींच लिया और पढ़ने लगी। पत्र उसके पिताका था। उसमें मन्त्रीने अपने पुत्रको लिखा था—'इस राजकुमारको पहुँचते ही विष दे देना। इसके कुल, शूरता, विद्या आदिका कुछ भी विचार न करके मेरे आदेशका तुरंत पालन करना।' मन्त्रीकी कन्याको एक बार पत्र पढ़कर बड़ा दुःख हुआ। उसकी समझमें ही न आया कि पिताजी ऐसे सुन्दर देवकुमारको क्यों विष देना चाहते हैं। सहसा उसे लगा कि पिताजी इससे मेरा विवाह करना चाहते हैं। वे मेरा नाम लिखते समय भूलसे 'या' अक्षर छोड़ गये। उसने भगवान्‌के प्रति कृतज्ञता प्रकट की कि 'पत्र मेरे हाथ लगा; कहीं दूसरेको मिलता तो कितना अनर्थ होता।' अपने नेत्रके काजलसे उसने पत्रमें 'विष' के आगे उससे सटाकर 'या' लिख दिया, जिससे 'विषया दे देना' पढ़ा जाने लगा। पत्रको बंद करके निद्रित राजकुमारके हाथमें ज्यों-का-त्यों रखकर वह शीघ्रतासे चली गयी।

चन्द्रहासकी जब निद्रा खुली, तब वे शीघ्रतापूर्वक मन्त्रीके घर गये। मन्त्रीके पुत्र मदनने पत्र देखा और ब्राह्मणोंको बुलाकर उसी दिन गोधूलि मुहूर्तमें चन्द्रहाससे उन्होंने अपनी बहिनका विवाह कर दिया। विवाहके समय कुन्तलपुरनरेश स्वयं भी पधारे। चन्द्रहासको देखकर उन्हें लगा कि 'मेरी कन्याके लिये भी यही योग्य वर है।' उन्होंने चन्दनपुरके इस युवराजकी विद्या, बुद्धि, शूरता आदिकी प्रशंसा बहुत सुन रखी थी। अब राजपुत्रीका विवाह भी चन्द्रहाससे करनेका उन्होंने निश्चय कर लिया।

धृष्टबुद्धि तीन दिन बाद लौटे। यहाँकी स्थिति देखकर वे क्रोधके मारे पागल हो गये। उन्होंने सोचा—'भले मेरी कन्या विधवा हो जाय, पर इस शत्रुका वध मैं अवश्य कराके रहूँगा।' द्वेषसे अंधे हुए हृदयकी यही स्थिति होती है। अपने हृदयकी बात मन्त्रीने किसीसे कही नहीं। नगरसे बाहर पर्वतपर एक देवीका मन्दिर था। धृष्टबुद्धिने एक क्रूर वधिकको वहाँ यह समझाकर भेज दिया कि 'जो कोई देवीकी पूजा करने आये, उसे तुम मार डालना।' चन्द्रहासको उसने यह बताकर कि 'भवानीकी पूजा उसकी कुलप्रथाके अनुसार होनी चाहिये' सायंकाल देवीकी पूजा करनेका आदेश दिया।

इधर कुन्तलपुर-नरेशके मनमें वैराग्य हुआ। ऐसे उत्तम कार्यको करनेमें सत्पुरुष देर नहीं करते। राजाने मन्त्रीपुत्र मदनसे कहा—'बेटा! तुम्हारे बहनोई चन्द्रहास बड़े सुयोग्य हैं। उन्हें भगवान्‌ने ही यहाँ भेजा है। मैं आज ही उनके साथ राजकुमारीका ब्याह कर देना चाहता हूँ। प्रातःकाल उन्हें सिंहासनपर बैठाकर मैं तपस्या करने वन चला जाऊँगा। तुम उन्हें तुरंत मेरे पास भेज दो।'

मनुष्यकी कुटिलता, दुष्टता, प्रयत्न क्या अर्थ रखते हैं। वह दयामय गोपाल जो करना चाहे, उसे कौन टाल सकता है। चन्द्रहास पूजाकी सामग्री लिये मन्दिरकी ओर जा रहे थे। मन्त्रिपुत्र मदन राजाका सन्देश लिये बड़ी उमंगसे उन्हें मार्गमें मिला। मदनने पूजाका पात्र स्वयं ले लिया यह कहकर कि—'मैं देवीकी पूजा कर आता हूँ' चन्द्रहासको उसने राजभवन भेज दिया। जिस मुहूर्तमें धृष्टबुद्धिने चन्द्रहासके वधकी व्यवस्था की थी, उसी मुहूर्तमें राजभवनमें चन्द्रहास राजकुमारीका पाणिग्रहण कर रहे थे और देवीके मन्दिरमें वधिकने उसी समय मन्त्रीके पुत्र मदनका सिर काट डाला!

धृष्टबुद्धिको जब पता लगा कि चन्द्रहास तो राजकुमारीसे विवाह करके राजा हो गये, उनका राज्याभिषेक हो गया और मारा गया मेरा पुत्र मदन, तब व्याकुल होकर वे देवीके मन्दिरमें दौड़े गये। पुत्रका शरीर देखते ही शोकके कारण उन्होंने तलवार निकालकर अपना सिर भी काट लिया। धृष्टबुद्धिको उन्मत्तकी भाँति दौड़ते देख चन्द्रहास भी अपने श्वशुरके पीछे दौड़े। वे तनिक देरमें ही मन्दिरमें आ गये। अपने लिये दो प्राणियोंकी मृत्यु देखकर चन्द्रहासको बड़ा क्लेश हुआ। उन्होंने निश्चय करके अपने बलिदानके लिये तलवार खींची। उसी समय भगवती साक्षात् प्रकट हो गयीं। मातृहीन चन्द्रहासको उन्होंने गोदमें उठा लिया। उन्होंने कहा—'बेटा! यह धृष्टबुद्धि तो बड़ा दुष्ट था। यह सदा तुझे मारनेके प्रयत्नमें लगा रहा। इसका पुत्र मदन सज्जन और भगवद्भक्त था; किंतु उसने तेरे विवाहके समय तुझे अपना शरीर दे डालनेका संकल्प किया था, अतः वह भी इस प्रकार उऋण हुआ। अब तू वरदान माँग।'

चन्द्रहासने हाथ जोड़कर कहा—'माता! आप प्रसन्न हैं तो ऐसा वर दें, जिससे श्रीहरिमें मेरी अविचल भक्ति जन्म-जन्मान्तरतक बनी रहे और इस धृष्टबुद्धिके अपराधको आप क्षमा कर दें। मेरे लिये मरनेवाले इन दोनोंको आप जीवित कर दें और धृष्टबुद्धिके मनकी मलिनताका नाश कर दें।'

देवी 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गयीं। धृष्टबुद्धि और मदन जीवित हो गये; धृष्टबुद्धिके मनका पाप मर गया। चन्द्रहासको उन्होंने हृदयसे लगाया और वे भी भगवान्‌के परम भक्त हो गये। मदन तो भक्त था ही। उसने चन्द्रहासका बड़ा आदर किया। सब मिलकर सानन्द घर लौट आये।

महाराज मुचुकुन्द

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः॥

सूर्यवंशमें इक्ष्वाकुकुल बड़ा ही प्रसिद्ध है, जिसमें साक्षात् परब्रह्म परमात्मा श्रीरामरूपसे अवतीर्ण हुए। इसी वंशमें महाराज मान्धाता-जैसे महान् प्रतापशाली राजा हुए। महाराज मुचुकुन्द उन्हीं मान्धाताके पुत्र थे। ये सम्पूर्ण पृथ्वीके एकच्छत्र सम्राट् थे। बल-पराक्रममें ये इतने बढ़े-चढ़े थे कि पृथ्वीके राजाओंकी तो बात ही क्या, देवराज इन्द्र भी इनकी सहायताके लिये लालायित रहते थे।

एक बार असुरोंने देवताओंको दबा लिया, देवता बड़े दुःखी हुए। उनके पास कोई योग्य सेनापति नहीं था, अतः उन्होंने महाराज मुचुकुन्दसे सहायताकी प्रार्थना की। महाराजने देवराजकी प्रार्थना स्वीकार की और वे बहुत समयतक देवताओंकी रक्षाके लिये असुरोंसे लड़ते रहे। बहुत कालके पश्चात् देवताओंको शिवजीके पुत्र स्वामिकार्तिकेयजी योग्य सेनापति मिल गये। तब देवराज इन्द्रने महाराज मुचुकुन्दसे कहा—'राजन्! आपने हमारी बड़ी सेवा की, अपने स्त्री-पुत्रोंको छोड़कर आप हमारी रक्षामें लग गये। यहाँ स्वर्गमें जिसे एक वर्ष कहते हैं, पृथ्वीमें उतने ही समयको तीन सौ साठ वर्ष कहते हैं। आप हमारे हजारों वर्षोंसे

यहाँ हैं। अतः अब आपकी राजधानीका कहीं पता भी नहीं है; आपके परिवारवाले सब कालके गालमें चले गये। हम आपपर बड़े प्रसन्न हैं। मोक्षको छोड़कर आप जो कुछ भी वरदान माँगना चाहें, माँग लें; क्योंकि मोक्ष देना हमारी शक्तिके बाहरकी बात है।'

महाराजको मानवीय बुद्धिने दबा लिया। स्वर्गमें वे सोये नहीं थे। लड़ते-लड़ते बहुत थक भी गये थे। अतः उन्होंने कहा—'देवराज! मैं यही वरदान माँगता हूँ कि मैं पेटभर सो लूँ, कोई भी मेरी निद्रामें विघ्न न डाले। जो मेरी निद्रा भंग करे, वह तुरंत भस्म हो जाय।'

देवराजने कहा—'ऐसा ही होगा, आप पृथ्वीपर जाकर शयन कीजिये। जो आपको जगायेगा, वह तुरंत भस्म हो जायगा।' ऐसा वरदान पाकर महाराज मुचुकुन्द भारतवर्षमें आकर एक गुफामें सो गये। सोते-सोते उन्हें कई युग बीत गये। द्वापर आ गया, भगवान्ने यदुवंशमें अवतार लिया। उसी समय कालयवनने मथुराको घेर लिया। उसे अपने-आप ही मरवानेकी नीयतसे और महाराज मुचुकुन्दपर कृपा करनेकी इच्छासे भगवान् श्रीकृष्ण कालयवनके सामनेसे छिपकर भागे। कालयवनको अपने बलका बड़ा घमंड था, वह भी भगवान्को ललकारता हुआ उनके पीछे पैदल ही भागा। भागते-भागते भगवान् उस गुफामें घुसकर छिप गये, जहाँ महाराज मुचुकुन्द सो रहे थे। उन्हें सोते देखकर भगवान्ने अपना पीताम्बर धीरेसे उन्हें ओढ़ा दिया और आप छिपकर तमाशा देखने लगे; क्योंकि उन्हें छिपकर तमाशा देखनेमें बड़ा आनन्द आता है। द्रष्टा ही जो ठहरे!

कालयवन बलके अभिमानमें भरा हुआ गुफामें आया और महाराज मुचुकुन्दको ही भगवान् समझकर जोरोंसे दुपट्टा खींचकर जगाने लगा। महाराज जल्दीसे उठे। सामने कालयवन खड़ा था। दृष्टि पड़ते ही वहीं जलकर भस्म हो गया। अब तो महाराज-इधर-उधर देखने लगे। भगवान्के तेजसे सम्पूर्ण गुफा जगमगा रही थी। उन्होंने नवजलधरश्याम पीतकौशेयवासा वनमालीको सामने मन्द-मन्द मुसकराते हुए देखा। देखते ही वे अवाक् रह गये। अपना परिचय दिया। प्रभुका परिचय पूछा। गर्गाचार्यके वचन स्मरण हो आये। ये साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं, यह समझकर वे भगवान्के चरणोंपर लोट-पोट हो गये।

भगवान्ने उन्हें उठाया, छातीसे चिपटाया, भाँति-भाँतिके वरोंका प्रलोभन दिया, किंतु वे संसारी-पदार्थोंकी निःसारता समझ चुके थे। अतः उन्होंने कोई भी सांसारिक वर नहीं माँगा। उन्होंने यही कहा—'प्रभो! मुझे देना हो तो अपनी भक्ति दीजिये, जिससे मैं सच्ची लगनके साथ भलीभाँति आपकी उपासना कर सकूँ; मैं श्रीचरणोंकी भलीभाँति भक्ति कर सकूँ, ऐसा वरदान दीजिये।' प्रभु तो मुक्तिदाता हैं, मुकुन्द हैं। उनके दर्शनोंके बाद फिर जन्म-मरण कहाँ! किंतु महाराजने अभीतक भलीभाँति उपासना नहीं की थी और वे मुक्तिसे भी बढ़कर उपासनाको चाहते थे। अतः भगवान्ने कहा—'अब तुम ब्राह्मण होओगे, सर्वजीवोंमें समान दृष्टिवाले होओगे, तब मेरी जी खोलकर अनन्य उपासना करना। तुम मेरे तो बन ही गये। तुम्हारी उपासना करनेकी जो अभिलाषा है, उसके लिये तुम्हें विशुद्ध ब्राह्मणवंशमें जन्म लेना पड़ेगा और वहाँ तुम उपासना-रसका भलीभाँति आस्वादन कर सकोगे।' वरदान देकर भगवान् अन्तर्धान हो गये और महाराज मुचुकुन्द ब्राह्मण-जन्ममें उपासना करके अन्तमें प्रभुके साथ अनन्य भावसे मिल गये।

राजा चित्रकेतु

अयं हि देहिनो देहो द्रव्यज्ञानक्रियात्मकः।
देहिनो विविधक्लेशसन्तापकृदुदाहृतः॥

(श्रीमद्भा० ६। १५। २५)

'जीवका यह स्थूल शरीर द्रव्य (पञ्चभूतादि), ज्ञान (अहंकार) तथा कर्म (प्रारब्ध)-से बना है और शास्त्रोंका कहना है कि यह देह जीवके लिये नाना प्रकारके क्लेश तथा सन्ताप ही देनेवाला है।'

शूरसेन देशमें प्राचीन समयमें चित्रकेतु नामके एक राजा थे। बुद्धि, विद्या, बल, धन, यश, सौन्दर्य, स्वास्थ्य आदि सब था उनके पास। उनमें उदारता, दया, क्षमा, प्रजावात्सल्य आदि सद्गुण भी पूरे थे। उनके सेवक नम्र और अनुकूल थे। मन्त्री नीति-निपुण तथा स्वामिभक्त थे। राज्यमें भीतर-बाहर कोई शत्रु नहीं था। राजाके बहुत-सी सुन्दरी रानियाँ थीं। इतना सब होनेपर भी राजा चित्रकेतु सदा दुःखी रहते थे। उनकी किसी रानीके कोई सन्तान नहीं थी। वंश नष्ट हो जायगा, इस चिन्तासे राजाको ठीक निद्रातक नहीं आती थी। एक बार अङ्गिरा ऋषि सदाचारी भगवद्भक्त राजा चित्रकेतुके यहाँ पधारे। महर्षि राजापर कृपा करके उन्हें तत्त्वज्ञान देने आये थे; किंतु उन्होंने देखा कि मोहवश राजाको पुत्र पानेकी प्रबल इच्छा है। ऋषिने सोच लिया कि जब यह पुत्र-वियोगसे दुःखी होगा, तभी इसमें वैराग्य होगा और तभी कल्याणके सच्चे मार्गपर चलने योग्य होगा। अतः राजाकी प्रार्थनापर ऋषिने त्वष्टा देवताका यज्ञ किया और यज्ञसे बचा अन्न राजाको देकर यह कह दिया कि 'इसको तुम किसी रानीको दे देना।' महर्षिने यह भी कहा कि 'इससे जो पुत्र होगा, वह तुम्हें हर्ष-शोक दोनों देगा।'

उस अन्नको खाकर राजाकी एक रानी गर्भवती हुई। उसके पुत्र हुआ। राजा तथा प्रजा दोनोंको अपार हर्ष हुआ। अब पुत्रस्नेहवश राजा उसी रानीसे अनुराग करने लगे। दूसरी रानियोंकी याद ही अब उन्हें नहीं आती थी। राजाकी उपेक्षासे उनकी दूसरी रानियोंके मनमें सौतियाडाह उत्पन्न हो गया। सबने मिलकर उन नवजात बालकको एक दिन विष दे दिया और बच्चा मर गया। बालककी मृत्युसे मारे शोकके राजा पागल-से हो गये। राजाको ऐसी विपत्तिमें देख उसी समय वहाँ देवर्षि नारदके साथ महर्षि अङ्गिरा आये। वे राजाको मृत बालकके पास पड़े देख समझाने लगे—'राजन्! तुम जिसके लिये इतने दुःखी हो रहे हो, वह तुम्हारा कौन है? इस जन्मसे पहले वह तुम्हारा कौन था? अब आगे वह तुम्हारा कौन रहेगा? जैसे रेतके कण जलके प्रवाहसे कभी एकत्र हो जाते हैं और फिर अलग-अलग हो जाते हैं, वैसे ही कालके द्वारा विवश हुए प्राणी मिलते और अलग होते हैं। यह पिता-पुत्रका सम्बन्ध कल्पित है। ये शरीर न जन्मके पूर्व थे, न मृत्युके पश्चात् रहेंगे। अतः तुम इनके लिये शोक मत करो।'

राजाको इन वचनोंसे कुछ सान्त्वना मिली। उसने पूछा—'महात्मन् ! आप दोनों कौन हैं? मेरे-जैसे विषयोंमें फँसे मूढ़बुद्धि लोगोंको ज्ञान देनेके लिये आप-जैसे भगवद्भक्त सिद्ध महापुरुष निःस्वार्थ भावसे पृथ्वीमें विचरा करते हैं। आप दोनों मुझपर कृपा करें। मुझे ज्ञान देकर इस शोकसे बचायें।'

महर्षि अङ्गिराने कहा—'राजन्! मैं तो तुम्हें पुत्र देनेवाला अङ्गिरा हूँ और मेरे साथ ये ब्रह्मपुत्र देवर्षि नारदजी हैं। तुम ब्राह्मणोंके और भगवान्‌के भक्त हो, अतः तुम्हें क्लेश नहीं होना चाहिये। मैं पहले ही तुम्हें ज्ञान देने आया था, पर उस समय तुम्हारा चित्त पुत्र-प्राप्तिमें लगा था। अब तुमने पुत्रके वियोगका क्लेश देख लिया। इसी प्रकार स्त्री, धन, ऐश्वर्य आदि भी नश्वर हैं। उनका वियोग भी चाहे जब सम्भव है और ऐसा ही दुःखदायी है। ये राज्य, गृह, भूमि, सेवक, मित्र, परिवार आदि सब शोक, मोह, भय और पीड़ा ही देनेवाले हैं। ये स्वप्नके दृश्योंके समान हैं। इनकी यथार्थ सत्ता नहीं है। अपनी भावनाके अनुसार ही ये सुखदायी प्रतीत होते

भक्त चन्द्रहास [पृ० १४८]

भक्त राजा चित्रकेतु [पृ० १५५]
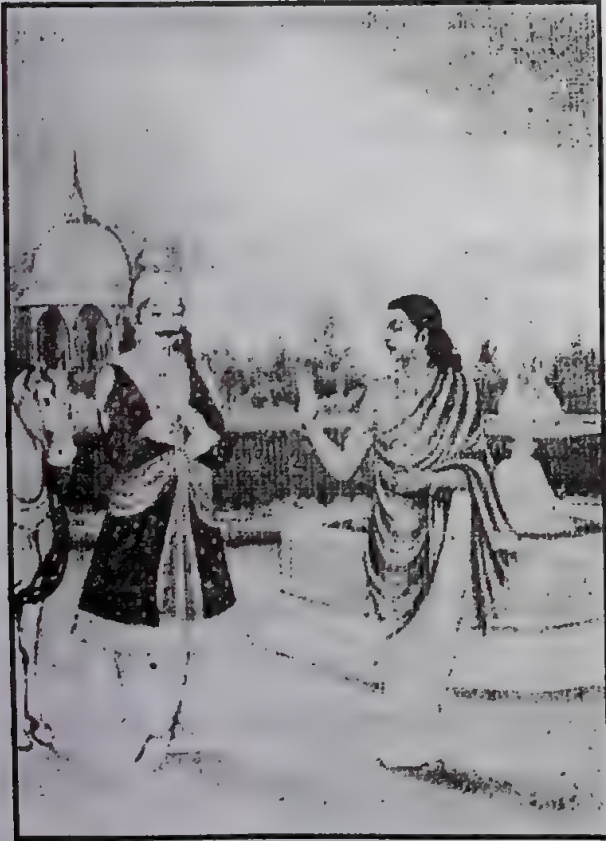
भक्त राजा सुरथ [पृ० १७६]

भक्त रत्नग्रीवका विमानारोहण [पृ० १८०]

भक्त राजा पुण्यनिधि [पृ० १८३]

भक्त सुधन्वा [पृ० २०५]

भक्त वृत्रासुर [पृ० २७९]
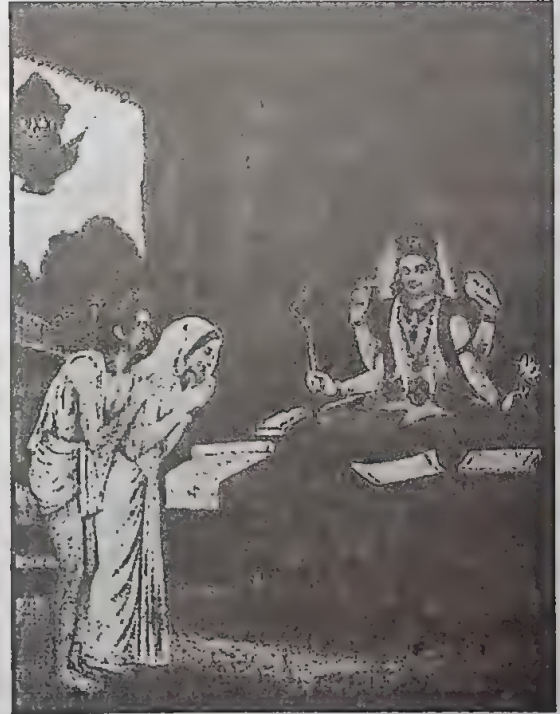
भक्त तुलाधार शूद्र [पृ० २९९]

हैं। द्रव्य, ज्ञान और क्रियासे बना इस शरीरका अभिमान ही जीवको क्लेश देता है। एकाग्रचित्तसे विचार करो और एकमात्र भगवान्‌को ही सत्य समझकर उन्हींमें चित्त लगाकर शान्त हो जाओ।'

राजाको बोध देनेके लिये देवर्षि नारदने जीवका आवाहन करके बालकको जीवितकर उससे कहा—'जीवात्मन्! देखो। ये तुम्हारे पिता-माता, बन्धु-बान्धव तुम्हारे लिये व्याकुल हो रहे हैं। तुम इनके पास क्यों नहीं रहते?'

जीवात्माने कहा—'ये किस-किस जन्ममें मेरे माता-पिता हुए थे? मैं तो अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि योनियोंमें अनन्तकालसे जन्म लेता आ रहा हूँ। सभी जीव परस्पर कभी पिता, कभी पुत्र, कभी मित्र, कभी शत्रु, कभी सजातीय, कभी विजातीय, कभी रक्षक, कभी विनाशक, कभी आत्मीय और कभी उदासीन बनते हैं। ये लोग मुझे अपना पुत्र मानकर रोते क्यों हैं? शत्रु मानकर प्रसन्न क्यों नहीं होते? जैसे व्यापारियोंके पास वस्तुएँ आती और चली जाती हैं, एक पदार्थ आज उनका है, कल उनके शत्रुका है, वैसे ही कर्मवश जीव नाना योनियोंमें जन्म लेता घूमता है। जितने दिन जिस शरीरका साथ है, उतने दिन ही उसके सम्बन्धी अपने हैं। यह स्त्री-पुत्र-घर आदिका सम्बन्ध यथार्थ नहीं है। आत्मा न जन्मता न मरता है। वह नित्य, अविनाशी, सूक्ष्म, सर्वाधार, स्वयंप्रकाश है। वस्तुतः भगवान् ही अपनी मायासे गुणोंके द्वारा विश्वके नाना रूपोंमें व्यक्त हो रहे हैं। आत्माके लिये न कोई अपना है, न पराया। वह एक है और हित-अहित करनेवाले शत्रु-मित्र आदि नाना बुद्धियोंका साक्षी है। साक्षी आत्मा किसी भी सम्बन्ध तथा गुण-दोषको ग्रहण नहीं करता। आत्मा तो कभी मरता नहीं, वह नित्य है और शरीर नित्य है नहीं, फिर ये लोग क्यों व्यर्थ रो रहे हैं?'

राजपुत्रका जीवात्मा इतना कहकर चला गया। उसकी बातोंसे सबका मोह दूर हो गया। मृतकका अन्त्येष्टि संस्कार करके राजा शान्त हो गये। जब बालकको विष देनेवाली रानियोंने यह ज्ञान सुना, तब उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ। यमुनातटपर जाकर उन्होंने अपने पापका प्रायश्चित्त किया। राजा चित्रकेतु ऋषियोंके उपदेशसे शोक, मोह, भय और क्लेश देनेवाले दुस्त्यज गृहके स्नेहको छोड़कर महर्षि अङ्गिरा और देवर्षि नारदजीके पास जाकर उनसे भगवत्प्राप्तिका साधन पूछने लगे। नारदजीने उन्हें भगवान् शेषका ध्यान तथा स्तुति-मन्त्र बतलाया। उपदेश करके दोनों ऋषि चले गये। राजाने सात दिन केवल जलपर रहकर एकाग्र चित्तसे उस स्तुतिरूप विद्याका अखण्ड जप किया। उसके प्रभावसे वे विद्याधरोंके स्वामी हो गये। कुछ दिनोंमें राजा चित्रकेतु विद्याके बलसे मनोगतिके अनुसार भगवान् शेषके समीप पहुँच गये। यहाँ उन्होंने सनत्कुमारादि महर्षियोंसे सेवित संकर्षणभगवान्‌के दर्शन किये। राजाने प्रेमविह्वल होकर भगवान्‌के चरणोंमें प्रणिपात किया और वे भगवान्‌की स्तुति करने लगे। दयामय भगवान् प्रसन्न हुए। उन्होंने चित्रकेतुको परम तत्त्वका उपदेश किया। तत्त्वज्ञानका उपदेश करते हुए अन्तमें संकर्षण प्रभुने कहा—'राजन्! मनुष्यशरीरमें ही ज्ञानकी प्राप्ति होती है। जो मानव-देह पाकर भी ज्ञान नहीं पाता—आत्माको नहीं जानता, उसका फिर किसी योनिमें कल्याण नहीं होता। विषयोंमें लगनेसे ही दुःख होता है, उन्हें छोड़ देनेमें कोई भय नहीं है; अतः बुद्धिमान् पुरुषको विषयोंसे निवृत्त हो जाना चाहिये। जगत्‌के सभी स्त्री-पुरुष दुःखोंको दूर करने और सुख पानेके लिये अनेक प्रकारके कर्म करते हैं; पर उन कर्मोंसे न तो दुःख दूर हो पाते और न सुख ही मिलता है। जो लोग अपनेको बुद्धिमान् मानकर कर्मोंमें लगे हैं, वे दुःख ही पाते हैं। आत्मा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंसे पृथक् है—यों समझकर बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि इन अवस्थाओंमें प्राप्त होनेवाले विषयोंसे निवृत्त हो जाय, लोक-परलोकसे चित्त हटा ले और ज्ञान-विज्ञानसे संतुष्ट होकर मेरी भक्ति करे। एक परमात्मा ही सब स्थानोंमें सर्वदा है, यह योगमार्गमें लगनेवालोंको जान लेना

चाहिये।' इस प्रकार दिव्य उपदेश देकर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

चित्रकेतु द्वन्द्वरहित समदर्शी हो गये थे। वे कामना, स्पृहा, अहंकार छोड़कर सदा परमात्मामें ही चित्त लगाये रहते थे। तपोबलसे इच्छानुसार चौदहों भुवनोंमें वे घूम सकते थे। एक दिन विमानपर बैठकर वे आकाशमार्गसे जा रहे थे। उसी समय उन्होंने मुनियोंकी सभामें पार्वतीजीको भगवान् शङ्करकी गोदमें बैठे देखा। चित्रकेतुको यह व्यवहार अनुचित लगा। उन्होंने इसकी कड़ी आलोचना की। भगवान् शङ्कर तो आलोचना सुनकर हँसकर रह गये, पर पार्वतीजीको क्रोध आ गया। उन्होंने शाप दिया—'तू बड़ा अविनीत हो गया है, अतः भगवान्‌के चरणोंमें रहनेयोग्य नहीं है। जाकर असुरयोनिमें जन्म ग्रहण कर।'

शाप सुनकर चित्रकेतुको न डर लगा, न दुःख हुआ। असुरयोनिमें भी सर्वव्यापी भगवान् तो हैं ही, यह वे जानते थे। शिष्ट व्यवहार करनेके लिये विमानसे वे उतर पड़े और उन्होंने पार्वतीजीके चरणोंमें प्रणाम करके कहा—'माता! आपने जो शाप दिया है, उसे मैं सादर स्वीकार करता हूँ। मैं जानता हूँ कि देवतालोग मनुष्यके लिये जो कुछ कहते हैं, वह उसके कर्मानुसार ही कहते हैं। अज्ञानसे मोहित प्राणी इस संसारचक्रमें घूमता हुआ सदा, सब कहीं सुख-दुःख भोगता ही रहता है। गुणोंके इस प्रवाहमें शाप-वरदान, स्वर्ग-नरक, सुख-दुःख—कुछ भी वास्तविक नहीं है। स्वयं मायातीत भगवान् अपनी मायासे प्राणियोंको रचते और उनके सुख-दुःख, बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था करते हैं। उन ईश्वरका न कोई अपना है, न पराया; न कोई प्रिय है, न अप्रिय। वे सर्वत्र समान और असङ्ग हैं। जब उन सर्वेश्वरको सुखसे प्रेम नहीं है, तब क्रोध तो होगा ही कैसे। परंतु उनकी मायासे मोहित जीव जो पुण्य-पापरूप कर्मोंको करता है, वे कर्म ही उसके सुख-दुःखादिके कारण होते हैं। देवि! मैं शापसे छूटनेके लिये आपको प्रसन्न नहीं कर रहा हूँ। आपको मेरे वचन बुरे लगे, इसके लिये आप मुझे क्षमा करें।'

इस प्रकार क्षमा माँगकर चित्रकेतु विमानपर बैठकर चले गये। उनकी यह असङ्ग स्थिति देखकर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। शङ्करजीने कहा—'देवि! तुमने भगवान्‌के दासानुदासोंका माहात्म्य देखा ? भगवान् नारायणके परायण भक्त किसीसे भी डरते नहीं। वे स्वर्ग, नरक तथा मोक्षमें भी एक-सी दृष्टि रखते हैं। भगवान्‌की लीलासे ही जीव देह धारण करके सुख-दुःख, जन्म-मरण, शाप-अनुग्रहका भागी होता है। जैसे रस्सीमें अज्ञानसे सर्पका भ्रम होता है, वैसे ही इष्ट-अनिष्टका बोध अज्ञानसे ही है। भगवान्‌के आश्रित भक्त ज्ञान-वैराग्यके बलसे किसी भी सांसारिक पदार्थको अच्छा मानकर ग्रहण नहीं करते। जब मैं, ब्रह्माजी, सनत्कुमार, नारद, महर्षिगण तथा इन्द्रादि देवता भी परमेश्वरकी लीलाका रहस्य नहीं जान पाते, तब अपनेको समर्थ माननेवाले क्षुद्र अभिमानी उन परम प्रभुका स्वरूप कैसे जान सकते हैं। उन श्रीहरिका न कोई अपना है, न पराया। वे सबके आत्मा होनेसे सबके प्रिय हैं। फिर भी यह महाभाग चित्रकेतु उन्हीं भगवान्‌का प्यारा भक्त है, उन्हींकी रुचिसे चलनेवाला है, शान्त और समदर्शी है। मैं भी उन्हीं अच्युतका भक्त हूँ। अतः मुझको उसपर क्रोध नहीं आया। ऐसे शान्त, समदर्शी, भगवद्भक्त महापुरुषोंके चरित्रपर आश्चर्य नहीं करना चाहिये।'

सतीका आश्चर्य इन वचनोंसे दूर हो गया। शाप देनेमें समर्थ होनेपर भी चित्रकेतुने पार्वतीको शाप नहीं दिया था, उलटे उनका शाप स्वीकार करके क्षमा माँगी। इसी शापके फलसे त्वष्टाके यज्ञमें दक्षिणाग्निसे वे वृत्रासुरके रूपमें प्रकट हुए।

वृत्रासुरका चरित्र इसी अङ्कमें आगे दिया जायगा।

राजर्षि खट्वाङ्ग

किं धनैर्धनदैर्वा किं कामैर्वा कामदैरुत।
मृत्युना ग्रस्यमानस्य कर्मभिर्वोत जन्मदैः॥

(श्रीमद्भा० ११। २३। २७)

'जो मृत्युके फंदेमें जकड़ा है, उस प्राणीके लिये धनसे या धन देनेवालोंसे क्या प्रयोजन। कामनाओंसे तथा कामनाओंको पूर्ण करनेवालोंसे ही उसे क्या लाभ और जन्म देनेवाले (जन्म-मृत्युके चक्रमें डालनेवाले) कर्मोंसे ही उसका क्या हित होना है।'

महाराज सगरके वंशमें विश्वसहके पुत्र हुए महाराज खट्वाङ्ग। जन्मसे ही वे परम धार्मिक थे। अधर्ममें उनका चित्त कभी जाता ही नहीं था। उत्तमश्लोक भगवान्‌को छोड़कर और कोई वस्तु उन्हें स्वभावसे ही प्रिय नहीं थी। न तो स्वर्गादि लोक देनेवाले सकाम कर्मोंमें उनका अनुराग था न लक्ष्मी, राज्य, ऐश्वर्य, स्त्री-पुत्र तथा परिवारमें ही उनकी आसक्ति थी। कर्तव्यबुद्धिसे भगवत्सेवा मानकर ही वे प्रजापालन करते थे।'

महाराज खट्वाङ्गने शरणागतकी रक्षाका व्रत ले रखा था। उनका इतना महान् पराक्रम तथा प्रभाव था कि जब भी देवता असुरोंसे पराजित हो जाते, तब महाराजकी शरण लेते। उन दिनों असुर प्रबल हो रहे थे। पराजित होनेपर भी वे बार-बार स्वर्गपर आक्रमण करते थे। महाराजको बार-बार देवताओंकी सहायता करने जाना पड़ता था। एक बार असुरोंको पराजित करके महाराज स्वर्गसे पृथ्वीपर लौट रहे थे, तब देवताओंने उनसे इच्छानुसार वरदान माँगनेको कहा।

महाराज पहलेसे ही भोगोंसे विरक्त थे। संसारके मिथ्या प्रलोभनोंमें उनकी आसक्ति नहीं थी। उन्होंने सोचा—'यदि जीवनके दिन अधिक शेष हों, तब तो यह कर्तव्यपालन, राज्यशासनादि ठीक ही हैं; किंतु यदि आयु थोड़ी ही हो तो इस प्रकार भोगोंमें लगे रहना बड़ी मूर्खता होगी। इस मनुष्य-शरीरका पाना कठिन है। इसी शरीरसे भवसागर पार न किया तो फिर पता नहीं, किस-किस योनिमें जाना पड़े। ये देवता भी इन्द्रियोंके वशमें हैं। इनकी इन्द्रियाँ भी चञ्चल हैं। इनकी बुद्धि भी स्थिर नहीं। दूसरोंकी तो चर्चा ही क्या, ये देवगण भी अपने हृदयमें निरन्तर स्थित परमप्रियस्वरूप आत्मतत्त्वको नहीं जानते। जब ये स्वयं आत्मज्ञानरहित हैं, तब मुझे कैसे मुक्त कर सकते हैं।' यह सब सोचकर उन्होंने देवताओंसे पूछा—'आपलोग कृपाकर पहले यह बताइये कि मेरी आयु कितनी शेष है।'

देवताओंने बताया कि 'महाराजकी आयु दो घड़ी ही बाकी है।' जब दो ही घड़ी आयु शेष है, तब भोगोंको लेकर क्या होगा। देवगण दीर्घायु दे सकते थे; किंतु महाराजको शरीरका मोह नहीं था। वे शीघ्रतापूर्वक परम पवित्र भारतवर्षमें पहुँचे और भगवान्‌के ध्यानमें मग्न हो गये। महाराज खट्वाङ्गका मन एकाग्र भावसे भगवान्‌में लगा था। शरीर कब गिर गया, इसका उन्हें पतातक न लगा।

धन्य हैं महाराज खट्वाङ्ग! महाराजकी आयु तो उस समय दो घड़ी बची थी; किंतु हम सबको तो यह भी पता नहीं कि दो पल भी आयु शेष है या नहीं। भगवान्‌को पानेमें कुछ दस, बीस या सौ, दो सौ वर्ष नहीं लगते। सच्चे हृदयसे एक बार पुकारनेपर वे आ जाते हैं। चित्तको एकाग्र भावसे उनके चरण-चिन्तनमें लगाकर एक क्षणमें प्राणी उन्हें पा लेता है। खट्वाङ्गजीकी भाँति सिरपर मृत्युको खड़ी देखकर भोगोंसे चित्त हटाकर उसे तुरंत भगवान्‌के चरणोंमें ही लगा देना चाहिये।

परमभागवत राजा अम्बरीष

दुष्करः को नु साधूनां दुस्त्यजो वा महात्मनाम्।
यैः संगृहीतो भगवान् सात्वतामृषभो हरिः॥

(श्रीमद्भा० ९। ५। १५)

'जिन लोगोंने सत्त्वगुणियोंके परमाराध्य श्रीहरिको हृदयमें धारण कर लिया है, उन महात्मा साधुओंके लिये भला, कौन-सा काम दुष्कर है और ऐसा कौन-सा त्याग है, जिसे वे नहीं कर सकते। अर्थात् वे सब कुछ करनेमें समर्थ हैं और सब कुछ त्यागनेमें भी समर्थ हैं।'

अम्बरीषजी सप्तद्वीपवती सम्पूर्ण पृथ्वीके स्वामी थे और उनकी सम्पत्ति कभी समाप्त होनेवाली नहीं थी। उनके ऐश्वर्यकी संसारमें कोई तुलना न थी। कोई दरिद्र मनुष्य भोगोंके अभावमें वैराग्यवान् बन जाय, यह तो सरल है; किंतु धन-दौलत होनेपर, विलास-भोगकी पूरी सामग्री प्राप्त रहते वैराग्यवान् होना, विषयोंसे दूर रहना महापुरुषोंके ही वशका है और यह भगवान्‌की कृपासे ही होता है। थोड़ी सम्पत्ति और साधारण अधिकार भी मनुष्यको मदान्ध बना देता है; किंतु जो भाग्यवान् अशरण-शरण दीनबन्धु भगवान्‌के चरणोंका आश्रय ले लेते हैं, जो उन मायापति श्रीहरिकी रूप-माधुरीका सुधास्वाद पा लेते हैं, मायाकी मादकता उन्हें रूखी लगती है। मोहनकी मोहिनी जिनके प्राण मोहित कर लेती है, मायाका ओछापन उन्हें लुभानेमें असमर्थ हो जाता है। वे तो जलमें कमलकी भाँति सम्पत्ति एवं ऐश्वर्यके मध्य भी निर्लिप्त ही रहते हैं। वैवस्वत मनुके प्रपौत्र तथा राजर्षि नाभागके पुत्र अम्बरीषको अपना ऐश्वर्य स्वप्नके समान असत् जान पड़ता था। वे जानते थे कि सम्पत्ति मिलनेसे मोह होता है और बुद्धि मारी जाती है। भगवान् वासुदेवके भक्तोंको पूरा विश्व ही मिट्टीके ढेलों-सा लगता है। विश्वमें तथा उसके भोगोंमें नितान्त अनासक्त अम्बरीषजीने अपना सारा जीवन परमात्माके पावन पाद-पद्मोंमें ही लगा दिया था।

अम्बरीषने अपने मनको श्रीकृष्णके चरण-चिन्तनमें, वाणीको उनके गुण-गानमें, हाथोंको श्रीहरिके मन्दिरको झाड़ने-बुहारनेमें, कानोंको अच्युतके पवित्र चरित सुननेमें, नेत्रोंको भगवन्मूर्तिके दर्शनमें, अङ्गोंको भगवत्सेवकोंके स्पर्शमें, नासिकाको भगवान्‌के चरणोंपर चढ़ी तुलसीकी गन्ध लेनेमें, जिह्वाको भगवत्प्रसादका रस लेनेमें, पैरोंको श्रीनारायणके पवित्र स्थानोंमें जानेमें और मस्तकको हृषीकेशके चरणोंकी वन्दनामें लगा रखा था। दूसरे संसारी लोगोंकी भाँति वे विषय-भोगोंमें लिप्त नहीं थे। श्रीहरिके प्रसादरूपमें ही वे भोगोंको स्वीकार करते थे। भगवान्‌के भक्तोंको अर्पण करके उनकी प्रसन्नताके लिये ही भोगोंको ग्रहण करते थे। अपने समस्त कर्म यज्ञपुरुष परमात्माको अर्पण करके, सबमें वही एक प्रभु आत्मरूपसे विराजमान हैं—ऐसा दृढ़ निश्चय रखकर भगवद्भक्त ब्राह्मणोंकी बतलायी रीतिसे वे न्यायपूर्वक प्रजापालन करते थे।

निष्कामभावसे यज्ञोंका राजाने अनुष्ठान किया, विविध वस्तुओंका प्रचुर दान किया और अनन्त पुण्य-धर्म किये। इन सबसे वे भगवान्‌को ही प्रसन्न करना चाहते थे। स्वर्गसुख तो उनकी दृष्टिमें तुच्छ था। अपने हृदय-सिंहासनपर वे आनन्दकन्द गोविन्दको नित्य विराजमान देखते थे। उनको भगवत्प्रेमकी दिव्य माधुरी प्राप्त थी। गृह, स्त्री, पुत्र, स्वजन, गज, रथ, घोड़े, रत्न, वस्त्र, आभरण आदि कभी न घटनेवाला अक्षय भण्डार और स्वर्गके भोग उनको नीरस, स्वप्नके समान असत् लगते थे। उनका चित्त सदा भगवान्‌में ही लगा रहता था।

'जैसा राजा, वैसी प्रजा।' महाराज अम्बरीषके प्रजाजन, राजकर्मचारी—सभी लोग भगवान्‌के पवित्र चरित सुनने, भगवान्‌के नाम-गुणका कीर्तन करने और भगवान्‌के पूजन-ध्यानमें ही अपना समय लगाते थे। भक्तवत्सल भगवान्‌ने देखा कि मेरे ये भक्त तो मेरे चिन्तनमें ही लगे रहते हैं, तो भक्तोंके योगक्षेमकी रक्षा करनेवाले प्रभुने अपने सुदर्शनचक्रको अम्बरीष तथा उनके राज्यकी रक्षामें नियुक्त कर दिया। जब मनुष्य अपना सब भार उन सर्वेश्वरपर छोड़कर उनका हो जाता है, तब वे दयामय उसके योगक्षेमका दायित्व अपने ऊपर लेकर उसे सर्वथा निश्चिन्त कर देते हैं। चक्र

अम्बरीषके द्वारपर रहकर राज्यकी रक्षा करने लगा।

राजा अम्बरीषने एक बार अपनी पत्नीके साथ श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेके लिये वर्षकी सभी एकादशियोंके व्रतका नियम किया। वर्ष पूरा होनेपर पारणके दिन उन्होंने धूम-धामसे भगवान्‌की पूजा की। ब्राह्मणोंको गोदान किया। यह सब करके जब वे पारण करने जा रहे थे, तभी महर्षि दुर्वासा शिष्योंसहित पधारे। राजाने उनका सत्कार किया और उनसे भोजन करनेकी प्रार्थना की। दुर्वासाजीने राजाकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और स्नान करने यमुना-तटपर चले गये। द्वादशी केवल एक घड़ी शेष थी। द्वादशीमें पारण न करनेसे व्रत भङ्ग होता। उधर दुर्वासाजी आयेंगे कब, यह पता नहीं था। अतिथिसे पहले भोजन करना अनुचित था। ब्राह्मणोंसे व्यवस्था लेकर राजाने भगवान्‌के चरणोदकको लेकर पारण कर लिया और भोजनके लिये ऋषिकी प्रतीक्षा करने लगे।

दुर्वासाजीने स्नान करके लौटते ही तपोबलसे राजाके पारण करनेकी बात जान ली। वे अत्यन्त क्रोधित हुए कि मेरे भोजनके पहले इसने क्यों पारण किया। उन्होंने मस्तकसे एक जटा उखाड़ ली और उसे जोरसे पृथ्वीपर पटक दिया। उससे कालाग्निके समान कृत्या नामकी भयानक राक्षसी निकली। वह राक्षसी तलवार लेकर राजाको मारने दौड़ी। राजा जहाँ-के-तहाँ स्थिर खड़े रहे। उन्हें तनिक भी भय नहीं लगा। सर्वत्र सब रूपोंमें भगवान् ही हैं, यह देखनेवाला भगवान्‌का भक्त भला, कहीं अपने ही दयामय स्वामीसे डर सकता है? अम्बरीषको तो कृत्या भी भगवान् ही दीखती थी। परंतु भगवान्‌का सुदर्शनचक्र तो भगवान्‌की आज्ञासे पहलेसे ही राजाकी रक्षामें नियुक्त था। उसने पलक मारते कृत्याको भस्म कर दिया और दुर्वासाकी भी खबर लेने उनकी ओर दौड़ा। अपनी कृत्याको इस प्रकार नष्ट होते और ज्वालामय कराल चक्रको अपनी ओर आते देख दुर्वासाजी प्राण लेकर भागे। वे दसों दिशाओंमें, पर्वतोंकी गुफाओंमें, समुद्रमें—जहाँ-जहाँ छिपनेको गये, चक्र वहीं उनका पीछा करता गया। आकाश-पातालमें सब कहीं वे गये। इन्द्रादि लोकपाल तो उन्हें क्या शरण देते, स्वयं ब्रह्माजी और शङ्करजीने भी आश्रय नहीं दिया। दया करके शिवजीने उनको भगवान्‌के ही पास जानेको कहा। अन्तमें वे वैकुण्ठ गये और भगवान् विष्णुके चरणोंपर गिर पड़े। दुर्वासाने कहा—'प्रभो! आपका नाम लेनेसे नारकी जीव नरकसे भी छूट जाते हैं, अतः आप मेरी रक्षा करें। मैंने आपके प्रभावको न जानकर आपके भक्तका अपराध किया, इसलिये आप मुझे क्षमा करें।'

भगवान् अपनी छातीपर भृगुकी लात तो सह सकते हैं, अपना अपराध वे कभी मनमें ही नहीं लेते; पर भक्तका अपराध वे क्षमा नहीं कर सकते। प्रभुने कहा—'महर्षि! मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ। मैं तो भक्तोंके पराधीन हूँ। साधु भक्तोंने मेरे हृदयको जीत लिया है। साधुजन मेरे हृदय हैं और मैं उनका हृदय हूँ। मुझे छोड़कर वे और कुछ नहीं जानते और उनको छोड़कर मैं भी और कुछ नहीं जानता। साधु भक्तोंको छोड़कर मैं अपने इस शरीरको भी नहीं चाहता और इन लक्ष्मीजीको जिनकी एकमात्र गति मैं ही हूँ, उन्हें भी नहीं चाहता। जो भक्त स्त्री-पुत्र, घर-परिवार, धन-प्राण, इहलोक-परलोक सबको त्यागकर मेरी शरण आया है, भला मैं उसे कैसे छोड़ सकता हूँ। जैसे पतिव्रता स्त्री पतिको अपनी सेवासे वशमें कर लेती है, वैसे ही समदर्शी भक्तजन मुझमें चित्त लगाकर मुझे भी अपने वशमें कर लेते हैं। नश्वर स्वर्गादिकी तो चर्चा ही क्या, मेरे भक्त मेरी सेवाके आगे मुक्तिको भी स्वीकार नहीं करते। ऐसे भक्तोंके मैं सर्वथा अधीन हूँ। अतएव ऋषिवर! आप उन महाभाग नाभागतनयके ही पास जायँ। वहीं आपको शान्ति मिलेगी।'

इधर राजा अम्बरीष बहुत ही चिन्तित थे। उन्हें लगता था कि 'मेरे ही कारण दुर्वासाजीको मृत्युभयसे ग्रस्त होकर भूखे ही भागना पड़ा। ऐसी अवस्थामें मेरे लिये भोजन करना कदापि उचित नहीं है।' अतः वे केवल जल पीकर ऋषिके लौटनेकी पूरे एक वर्षतक प्रतीक्षा करते रहे। वर्षभरके बाद दुर्वासाजी जैसे भागे थे, वैसे ही भयभीत दौड़ते हुए आये और उन्होंने राजाका पैर पकड़ लिया। ब्राह्मणके द्वारा पैर पकड़े जानेसे राजाको बड़ा संकोच हुआ। उन्होंने स्तुति करके सुदर्शनको शान्त किया।

महर्षि दुर्वासा मृत्युके भयसे छूटे। सुदर्शनका अत्युग्र ताप, जो उन्हें जला रहा था, शान्त हुआ। अब प्रसन्न होकर वे कहने लगे—'आज मैंने भगवान्के दासोंका महत्त्व देखा। राजन्! मैंने तुम्हारा इतना अपराध किया था पर तुम मेरा कल्याण ही चाहते हो। जिन प्रभुका नाम लेनेसे ही जीव समस्त पापोंसे छूट जाता है, उन तीर्थपाद श्रीहरिके भक्तोंके लिये कुछ भी कार्य शेष नहीं रह जाता। राजन्! तुम बड़े दयालु हो। मेरा अपराध न देखकर तुमने मेरी प्राण-रक्षा की!'

अम्बरीषके मनमें ऋषिके वाक्योंसे कोई अभिमान नहीं आया। उन्होंने इसको भगवान्की कृपा समझा। महर्षिके चरणोंमें प्रणाम करके बड़े आदरसे राजाने उन्हें भोजन कराया। उनके भोजन करके चले जानेपर एक वर्ष पश्चात् उन्होंने वह पवित्र अन्न प्रसादरूपसे लिया। बहुत कालतक परमात्मामें मन लगाकर प्रजापालन करनेके पश्चात् अम्बरीषजीने अपने पुत्रको राज्य सौंप दिया और भगवान् वासुदेवमें मन लगाकर वनमें चले गये। वहाँ भजन तथा तप करते हुए उन्होंने भगवान्को प्राप्त किया।

राजा रुक्माङ्गद

प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीक-
व्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान्।
रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणादीन्
पुण्यानिमान् परमभागवतान् नमामि॥

इक्ष्वाकुवंशमें अयोध्यानरेश ऋतध्वजके पुत्र महाराज रुक्माङ्गद हुए। ये धर्मात्मा तथा भगवान् नारायणके प्रिय भक्त थे। इनकी पत्नी सन्ध्यावलीसे एक सुशील पितृभक्त पुत्र हुआ। उसका नाम था—धर्माङ्गद। महाराज रुक्माङ्गदकी निष्ठा एकादशी-व्रतमें थी। एकादशी-व्रत श्रीहरिको अत्यन्त प्रिय है। जो दशमीको दोपहरमें एक ही समय भोजन करके रात्रिको ब्रह्मचर्यपूर्वक भूमि या तख्तेपर सोता है, एकादशीको प्रातः व्रतका सङ्कल्प करके निर्जल व्रत करता है और यथासम्भव समस्त उपचारोंसे श्रद्धापूर्वक भगवान्का पूजन करता है, रात्रिमें जागरण करते हुए भगवान्के नाम एवं गुणोंका कीर्तन करता है और दूसरे दिन भगवान्का पूजन करके ब्राह्मणोंको भोजन कराके व्रतका पारण करता है, उसपर सर्वेश्वर विष्णुभगवान् शीघ्र प्रसन्न होते हैं। एकादशी-व्रतके दिन इन्द्रियोंको संयत करके दिन-रात केवल भगवान्के पूजन, अर्चन, कीर्तन तथा भगवान्की कथा सुननेमें ही लगाना चाहिये। उस दिन काम-क्रोध-लोभादिका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। असत्य तथा कटुवाणी भूलकर भी नहीं बोलनी चाहिये। और न किसीकी निन्दा ही करनी चाहिये। धर्मसे द्वेष करनेवाले, नास्तिक, शास्त्रनिन्दक, भगवान्में विश्वास न करनेवाले लोगोंसे उस दिन बात भी नहीं करनी चाहिये। महाराज रुक्माङ्गद बड़ी सावधानीसे इन नियमोंका पालन करते थे। राजाकी धर्मपरायणताके कारण उनकी समस्त प्रजा धार्मिक थी। प्रजाके भी सब लोग एकादशीका व्रत पूरी विधिसे करते थे।

जो नियमपूर्वक विधिसहित एकादशी-व्रत करता है, उसके घरमें यमराजके दूत प्रवेश ही नहीं कर सकते। महाराज रुक्माङ्गदके राज्यमें यमदूतोंका प्रवेश नहीं था; परंतु सृष्टि तो जन्म-मरणरूप है। यमराजजीने सृष्टिकर्तासे कहा कि अयोध्याके राज्यभरमें लोग अमर बने रहेंगे तो मर्त्यलोककी मर्यादा नष्ट हो जायगी। ब्रह्माजीने एक परम सुन्दर मोहिनी स्त्री बनाकर उसे पृथ्वीपर भेजा। उस स्त्रीको देखकर महाराज मुग्ध हो गये। उसने भी इस शर्तपर राजाको पति बनाना स्वीकार किया कि वह जो कहेगी, उसे महाराज अस्वीकार नहीं करेंगे। महाराजने यह शर्त मान ली। एकादशी आनेपर मोहिनीने कहा कि 'राजा व्रत न करें।' महाराज तो सुनते ही सन्न रह गये। उन्होंने कहा—'रानी! तुम कहो तो मैं अपने प्राण भी दे सकता हूँ; किंतु भगवान् नारायणका एकादशी-व्रत मैं नहीं छोड़ सकता। इसके बदले तुम और कुछ माँग लो।'

मोहिनीने कहा—'आप एकादशी-व्रत नहीं छोड़ना चाहते तो अपने हाथसे कुमार धर्माङ्गदका मस्तक

काटकर मुझे दे दें।'

महाराज कैसे अपने एकमात्र पुत्रका मस्तक काटें? इसपर राजकुमारने कहा—'पिताजी! आप सङ्कोच न करें। शरीर अमर तो है नहीं; कल नष्ट हो या आज, यह नष्ट तो होकर रहेगा; फिर इस देहसे धर्मकी रक्षा हो, पिताके व्रत तथा सत्यकी रक्षामें यह देह लगे—इससे बड़ा सौभाग्य कहाँ मिलना है। आप अपने सत्यकी रक्षा करें।'

राजकुमारकी माता परम सती रानी सन्ध्यावलीने भी पुत्रकी बातका समर्थन किया। अन्तमें महाराज खड्ग लेकर पुत्रका मस्तक काटनेको उद्यत हुए। जैसे ही राजाने तलवार उठायी, अनन्त करुणाधाम श्रीहरिने प्रकट होकर उन्हें दर्शन दिया। भगवान्‌की कृपासे विमान आया और उसमें बैठकर सपरिवार महाराज भगवद्धाम पधारे।

सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र

सत्य मूल सब सुकृत सुहाए। बेद पुरान प्रगट मनु गाए॥

महर्षि विश्वामित्रजीकी कृपासे सशरीर स्वर्ग जानेवाले और वहाँसे देवताओंद्वारा गिराये जानेपर बीचमें ही अबतक स्थित रहनेवाले महाराज त्रिशङ्कु विख्यात ही हैं। इन्हींके पुत्र महाराज हरिश्चन्द्रजी थे। ये प्रसिद्ध दानी, भगवद्भक्त तथा धर्मात्मा थे। इनकी धार्मिकताके प्रभावसे इनके राज्यमें कभी अकाल नहीं पड़ता था, महामारी नहीं फैलती थी, दूसरे भी कोई दैविक या भौतिक उत्पात नहीं होते थे। प्रजा सुखी थी, प्रसन्न थी, धर्मपरायण थी। महाराज हरिश्चन्द्रकी सत्य-निष्ठा त्रिभुवनमें विख्यात थी। देवर्षि नारदसे महाराजकी प्रशंसा सुनकर देवराज इन्द्रको भी ईर्ष्या हुई और उन्होंने परीक्षा लेनेका निश्चय करके विश्वामित्रजीको इसके लिये तैयार किया।

विश्वामित्रजीने अपने तपके प्रभावसे स्वप्नमें राजासे सम्पूर्ण राज्य दानमें ले लिया और दूसरे दिन अयोध्या जाकर उसे माँगा। सत्यवादी राजाने स्वप्नके दानको भी सत्य ही माना और पूरा राज्य तथा कोष मुनिको सौंप दिया। हरिश्चन्द्रजी पूरी पृथ्वीके चक्रवर्ती राजा थे। राज्य तो दान हो गया। शास्त्र कहते हैं कि काशीपुरी भगवान् शङ्करके त्रिशूलपर बसी है, अतः पृथ्वीके राज्यमें उसे नहीं गिना जाता। हरिश्चन्द्रने काशी जानेका निश्चय किया। अब ऋषि विश्वामित्रने कहा—'इतने बड़े दानकी साङ्गताके लिये दक्षिणा दीजिये।'

आज राजा हरिश्चन्द्र, जो कलतक पृथ्वीके एकच्छत्र सम्राट् थे, कंगाल हो गये। उनके पास एक कौड़ी भी नहीं थी। इतनेपर भी उन्होंने ऋषिको दक्षिणा देना स्वीकार किया। अपने पुत्र रोहिताश्व तथा पत्नी शैब्याके साथ वे काशी आये। दक्षिणा देनेका दूसरा कोई उपाय न देखकर पत्नीको उन्होंने एक ब्राह्मणके हाथ बेंच दिया। बालक रोहित भी माताके साथ गया। विश्वामित्रजी जितनी दक्षिणा चाहते थे, वह इतनेसे पूरी नहीं हुई। राजाने अपनेको भी बेंचना चाहा। उन्हें काशीके एक चाण्डालने श्मशानपर पहरा देनेके लिये और मृतक-कर वसूल करनेके लिये खरीद लिया। इस प्रकार हरिश्चन्द्रने ऋषिको दक्षिणा दी।

सोना अग्निमें पड़कर जल नहीं जाता, वह और चमकने लगता है। इसी प्रकार सङ्कटोंमें पड़नेसे धर्मात्मा पुरुष धर्मसे पीछे नहीं हटते। उनकी धर्मनिष्ठा विपत्तिकी अग्निमें भस्म होनेके बदले और उज्ज्वलतम होती है, और विशेषरूपसे चमकने लगती है। हरिश्चन्द्र चाण्डालके सेवक हो गये। एक चक्रवर्ती सम्राट् श्मशानमें रात्रिके समय पहरा देनेके कामपर लगनेको विवश हुए। परंतु हरिश्चन्द्रका धैर्य अडिग रहा। उन्होंने इसे भी भगवान्‌का कृपा-प्रसाद ही समझा!

महारानी शैब्या आज पतिके धर्मका निर्वाह करनेके लिये ब्राह्मणकी दासी हो गयीं। वे वहाँ बर्तन मलने, झाड़ू देने, घर लीपने, गोबर उठाने आदिका काम करने लगीं। जिस राजकुमार रोहिताश्वके सङ्केतपर चलनेके

लिये सैकड़ों सेवक सदा हाथ जोड़े खड़े रहते थे, वह नन्हा सुकुमार बालक ब्राह्मणके यहाँ आज्ञाका पालन करता, डाँटा जाता और चुपचाप रो लेता! एक दिन सन्ध्या-समय कुछ अन्धकार होनेपर रोहिताश्व ब्राह्मणकी पूजाके लिये फूल तोड़ने गया था, वहाँ उसे सर्पने काट लिया। बालक गिर पड़ा और प्राणहीन हो गया। बेचारी शैब्या—वह जब महारानी थी, तब थी। आज एकमात्र पुत्र मरा पड़ा था उसका उसके सामने; न तो कोई उसे दो शब्द कहकर धीरज दिलानेवाला था और न कोई उसके पुत्रके शवको श्मशान ले जानेवाला था। रात्रिमें अकेली, रोती-विलखती बेचारी अपने हाथोंपर पुत्रके देहको लेकर उसे जलाने श्मशान गयी। विपत्तिका यहीं अन्त नहीं हुआ। श्मशानके स्वामी चाण्डालने हरिश्चन्द्रको आज्ञा दे रखी थी कि बिना कर दिये कोई भी लाश जलाने न पाये। शैब्याका रोना सुनकर हरिश्चन्द्र वहाँ आ पहुँचे और कर माँगने लगे। हाय! हाय! अयोध्याके चक्रवर्तीकी महारानीके पास था क्या आज जो वह करमें दे। आज अयोध्याके युवराजकी लाश उसकी माताके सामने पड़ी थी। माता कर दिये बिना उसे जला नहीं पाती थी। शैब्याके रुदन-क्रन्दनसे हरिश्चन्द्रने उसे पहचान लिया। कितनी भयङ्कर स्थिति हो गयी—अनुमान किया जा सकता है। पिताके सामने उसके एकमात्र पुत्रका देह लिये पत्नी रो रही थी और पिताको उस कंगालिनीसे कर वसूल करना था। बिना कर लिये अपने ही पुत्रके शरीरका दाह रोकना था उन्हें। परंतु हरिश्चन्द्रका धर्म अविचल था। उन्होंने कहा—'भद्रे! जिस धर्मके लिये मैंने राज्य छोड़ा, तुम्हें छोड़ा और रोहितको छोड़ा, जिस धर्मके लिये मैं यहाँ चाण्डालका सेवक बना, तुम दासी बनी, उस धर्मको मैं नहीं छोड़ूँगा। तुम मुझे धर्मपर डटे रहनेमें सहायता दो।'

शैब्या पतिव्रता थीं। पतिकी धर्मरक्षाके लिये जिस महारानीने राज्य छोड़कर दासी बननातक स्वीकार किया था, वे पतिके धर्मका आदर न करें—यह कैसे सम्भव था। परंतु आज माताके सामने उसके पुत्रका निर्जीव शरीर था और उसे दाह करना था। पतिका धर्म कर माँग रहा था और देनेको क्या रखा था वहाँ। अन्तमें उस देवीने कहा—'नाथ! मेरे पास तो दूसरा वस्त्र भी नहीं है। मेरी यही एक मैली साड़ी है, जिसे मैं पहिने हूँ। इसीके अञ्चलसे ढककर अपने बेटेको मैं ले आयी हूँ। आपके पुत्रके देहपर कफनतक नहीं है। आप मेरी इस साड़ीको ही आधा फाड़कर ले लें 'कर'के रूपमें।

हरिश्चन्द्रने इस दशामें भी साड़ीका आधा भाग लेना स्वीकार कर लिया। जैसे ही शैब्याने साड़ी फाड़ना चाहा, स्वयं भगवान् विष्णु प्रकट हो गये वहाँ। सत्य और धर्म भगवान्‌का स्वरूप है। जहाँ सत्य तथा धर्म है, वहीं स्वयं भगवान् प्रत्यक्ष हैं। देवराज इन्द्र तथा विश्वामित्रजी भी देवताओंके साथ वहाँ आ गये। धर्मने प्रकट होकर बताया कि 'मैं स्वयं चाण्डाल बना था।' इन्द्रने अमृतवर्षा करके कुमार रोहिताश्वको जीवित कर दिया।

भगवान्‌ने हरिश्चन्द्रको भक्तिका वरदान दिया। इन्द्रने उनसे पत्नीके साथ सशरीर स्वर्ग चलनेकी प्रार्थना की। हरिश्चन्द्रने कहा—'मेरी प्रजा मेरे वियोगमें इतने दिन दुःखी रही। मैं अपने प्रजाजनोंको छोड़कर स्वर्ग नहीं जाऊँगा।'

इन्द्रने कहा—'राजन्! आपके इतने पुण्य हैं कि आप अनन्त कालतक स्वर्गमें रहें। यह तो भगवान्‌का विधान है। प्रजाके लोगोंके कर्म भिन्न-भिन्न हैं। सब एक साथ कैसे स्वर्ग जा सकते हैं?'

राजा हरिश्चन्द्रने कहा—'मैं अपना समस्त पुण्य अपने प्रजाजनोंको देता हूँ। मैं स्वयं स्वर्ग जाना नहीं चाहता। आप उन्हीं लोगोंको स्वर्ग ले जायँ। मेरी प्रजाके लोग स्वर्गमें रहें। मैं उन सबके पाप भोगने अकेला नरक जाऊँगा।' महाराजकी यह उदारता, यह प्रजावत्सलता देखकर देवता सन्तुष्ट हो गये। महाराजके प्रभावसे समस्त अयोध्यावासी अपने स्त्री-पुत्रादिके साथ सदेह स्वर्ग गये। पीछे विश्वामित्रजीने अयोध्याको फिरसे बसाया और कुमार रोहिताश्वको वहाँ सिंहासनपर बैठाकर सम्पूर्ण पृथ्वीका एकच्छत्र सम्राट् बना दिया।

महाराज दिलीप

गावो मे अग्रतः सन्तु गावो मे सन्तु पृष्ठतः।
गावो मे सर्वतः सन्तु गवां मध्ये वसाम्यहम्॥

इक्ष्वाकुवंशमें महाराज दिलीप बड़े ही प्रसिद्ध राजर्षि हो गये हैं। वे बड़े भक्त, धर्मात्मा और प्रजापालक राजा थे। चारों वर्ण उनके शासनसे सन्तुष्ट थे। महाराजको सभी प्रकारके सुख थे, किन्तु उनके कोई सन्तान नहीं थी। एक बार ये इसके लिये अपने कुलगुरु महर्षि वसिष्ठजीके आश्रमपर गये और अपने आनेका कारण बताकर उनसे उपाय पूछा।

महर्षि वसिष्ठने दिव्यदृष्टिसे सब बातें समझकर कहा—'राजन्! आप एक बार देवासुर-संग्राममें गये थे। वहाँसे लौटकर जब आप आ रहे थे, तब रास्तेमें आपको सुरनन्दिनी कामधेनु मिली। आपके सामने होनेपर भी आपकी दृष्टि उनपर नहीं पड़ी, इसलिये आपने उन्हें प्रणाम नहीं किया। कामधेनुने इसे अविनय समझकर आपको सन्तानहीनताका शाप दे दिया। उस समय आकाशगङ्गा बड़े जोरोंसे शब्द कर रही थी, इससे आपने उस शापको सुना नहीं। अब इसका एक ही उपाय है कि किसी भी प्रकार उस गौको आप प्रसन्न कीजिये। वह गौ तो अब यहाँ है नहीं। उसकी बछिया मेरे पास है, आप उसकी सेवा करें। भगवान्‌ने चाहा तो आपका मनोरथ शीघ्र ही पूरा होगा।'

गुरुकी आज्ञा शिरोधार्यकर महाराज अपनी महारानीके सहित गौकी सेवामें लग गये। वे प्रातः बड़े ही सबेरे उठते, उठकर गौकी बछियाको दूध पिलाते, ऋषिके हवनके लिये दूध दुहते और फिर गौको लेकर जंगलमें चले जाते। गौ जिधर भी जाती, उसके पीछे-पीछे चलते। वह बैठ जाती तो स्वयं भी बैठकर उसके शरीरको सहलाते। हरी-हरी दूब उखाड़कर उसे खिलाते। जिधरसे भी वह चलती, उधर ही चलते। सारांश कि महाराज छायाकी तरह गौके साथ-साथ रहते। इस प्रकार महाराजको इक्कीस दिन हो गये।

एक दिन वे गौके पीछे-पीछे जंगलमें जा रहे थे। गौ एक बहुत बड़े गहन वनमें घुस गयी। महाराज भी पीछे-पीछे धनुषसे लताओंको हटाते हुए चले। एक वृक्षके नीचे जाकर उन्होंने क्या देखा कि गौ नीचे है, उसके ऊपर एक सिंह चढ़ बैठा है और गौका वध करना चाहता है। महाराजने भाथेसे बाण निकालकर उस सिंहको मारना चाहा, किन्तु उनका हाथ जहाँ-का-तहाँ जडवत् रह गया। अब वे क्या करते। उन्होंने अत्यन्त दीनतासे कहा—'आप कोई सामान्य सिंह नहीं हैं, आप देवता हैं। इस गौको छोड़ दीजिये; इसके बदलेमें आप मुझे जो भी आज्ञा दें, मैं करनेको तैयार हूँ।' सिंहने कहा—'यह वृक्ष भगवती पार्वतीको अत्यन्त प्रिय है, मुझे शिवजीने स्वयं अपनी इच्छासे उत्पन्न करके इसकी रक्षामें नियुक्त किया है। यहाँ जो भी आता है, वही मेरा आहार है। यह गौ यहाँ आयी है, इसे ही खाकर मैं पेट भरूँगा। इस विषयमें आप कुछ भी नहीं कर सकते।'

महाराजने कहा—'सिंहराज! यह गौ मेरे गुरुदेवकी है, मै इसके बदले आपको सब कुछ देनेको तैयार हूँ; आप मुझे खा लें और इसे छोड़ दें।'

सिंहने बहुत समझाया कि 'आप महाराज हैं, प्रजाके प्राण हैं, गुरुको ऐसी लाखों गौएँ देकर सन्तुष्ट कर सकते हैं।' किन्तु महाराजने एक न मानी। अन्तमें सिंह तैयार हो गया, महाराज जमीनपर पड़ गये। थोड़ी देरमें उन्होंने देखा तो न वहाँ सिंह था, न वृक्ष; केवल कामधेनु वहाँ खड़ी थी। उसने कहा—'राजन्! मैं आपपर बहुत प्रसन्न हूँ, यह सब मेरी माया थी; आप मेरा दूध अभी दुहकर पी लें, आपके पुत्र होगा।' महाराजने कहा—'देवि! आपका आशीर्वाद शिरोधार्य है; किन्तु जबतक आपका बछड़ा न पी लेगा, गुरुके यज्ञके लिये दूध न दुह लिया जायगा और गुरुजीकी आज्ञा न होगी, तबतक मैं दूध नहीं पीऊँगा।'

इसपर गौ बहुत सन्तुष्ट हुईं। गौ सन्ध्याको महाराजके आगे-आगे भगवान् वसिष्ठके आश्रमपर पहुँचीं। सर्वज्ञ ऋषि तो पहले ही सब जान गये थे। महाराजने जाकर जब यह सब वृत्तान्त कहा, तब वे प्रसन्न होकर बोले—'राजन्! आपका मनोरथ पूरा हुआ। गौकी कृपासे आपके बड़ा पराक्रमी पुत्र होगा। आपका वंश उसके नामसे चलेगा।'

नियत समयपर ऋषिने नन्दिनीका दूध राजा और रानीको दिया। महाराज अपनी राजधानीमें आये और रानी गर्भवती हुई। यथासमय उनके पुत्र उत्पन्न हुआ। यही बालक रघुकुलका प्रतिष्ठाता रघु नामसे विख्यात हुआ। महाराज दिलीप भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके वृद्ध-प्रपितामह हैं।

महाराज रघु

सूर्यवंशमें जैसे इक्ष्वाकु, अजमीढ आदि राजा बहुत प्रसिद्ध हुए हैं, उसी प्रकार महाराज रघु भी बड़े प्रसिद्ध पराक्रमी, धर्मात्मा, भगवद्भक्त और पवित्रजीवन हो गये हैं। इन्हींके नामसे 'रघुवंश' प्रसिद्ध हुआ। इसीलिये सच्चिदानन्दघन परमात्मा भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके रघुवर, राघव, रघुपति, रघुवंशविभूषण, रघुनाथ आदि नाम हुए। ये बड़े धर्मात्मा थे। इन्होंने अपने पराक्रमसे समस्त पृथ्वीको अपने अधीन कर लिया था। चारों दिशाओंमें दिग्विजय करके ये समस्त भूमिखण्डके एकच्छत्र सम्राट् हुए। ये प्रजाको बिलकुल कष्ट नहीं देना चाहते थे, 'राज्यकर' भी ये बहुत ही कम लेते थे और विजित राजाओंको भी केवल अधीन बनाकर छोड़ देते थे, उनसे किसी प्रकारका कर वसूल नहीं करते थे।

एक बार ये दरबारमें बैठे थे कि इनके पास कौत्स नामके एक स्नातक ऋषिकुमार आये। अपने यहाँ स्नातकको देखकर महाराजने उनका विधिवत् स्वागत-सत्कार किया। पाद्य-अर्घ्यसे उनकी पूजा की। ऋषिकुमारने विधिवत् उनकी पूजा ग्रहण की और कुशल-प्रश्न पूछा। थोड़ी देरके अनन्तर ऋषिकुमार चलने लगे, तब महाराजने कहा—'ब्रह्मन्! आप कैसे पधारे और बिना कुछ अपना अभिप्राय बताये आप लौटे क्यों जा रहे हैं?'

ऋषिकुमारने कहा—'राजन्! मैंने आपके दानकी ख्याति सुनी है, आप अद्वितीय दानी हैं। मैं एक प्रयोजनसे आपके पास आया था; किंतु मैंने सुना है कि आपने यज्ञमें अपना समस्त वैभव दान कर दिया है। यहाँ आकर मैंने प्रत्यक्ष देखा कि आपके पास अर्घ्य देनेके लिये भी कोई धातुका पात्र नहीं है और आपने मुझे मिट्टीके पात्रसे अर्घ्य दिया है, अतः अब मैं आपसे कुछ नहीं कहता।'

राजाने कहा—'नहीं, ब्रह्मन्! आप मुझे अपना अभिप्राय बताइये; मैं यथासाध्य उसे पूरा करनेकी चेष्टा करूँगा।'

स्नातकने कहा—'राजन्! मैंने अपने गुरुके यहाँ रहकर साङ्गोपाङ्ग वेदोंका अध्ययन किया। अध्ययनके अनन्तर मैंने गुरुजीसे गुरुदक्षिणाके लिये प्रार्थना की। उन्होंने कहा—'हम तुम्हारी सेवासे ही संतुष्ट हैं, मुझे और कुछ भी दक्षिणा नहीं चाहिये।' गुरुजीके यों कहनेपर भी मैं बार-बार उनसे गुरुदक्षिणाके लिये आग्रह करता ही रहा। तब अन्तमें उन्होंने झल्लाकर कहा—'अच्छा तो चौदह लाख सुवर्णमुद्रा लाकर हमें दो।' मैं इसीलिये आपके पास आया था।''

महाराजने कहा—'ब्रह्मन्! मेरे हाथोंमें धनुष-बाणके रहते हुए कोई विद्वान् ब्रह्मचारी ब्राह्मण मेरे यहाँसे विमुख जाय तो मेरे राज-पाट, धन-वैभवको धिक्कार है। आप बैठिये, मैं कुबेर-लोकपर चढ़ाई करके उनके यहाँसे धन लाकर आपको दूँगा।'

महाराजने सेनाको सुसज्जित होनेकी आज्ञा दी। बात-की-बातमें सेना सज गयी। निश्चय हुआ कि कल प्रस्थान होगा। प्रातःकाल कोषाध्यक्षने आकर महाराजसे निवेदन किया कि महाराज! रात्रिमें सुवर्णकी वृष्टि हुई और समस्त कोष सुवर्णमुद्राओंसे भर गया है। महाराजने जाकर देखा कि सर्वत्र सुवर्णमुद्राएँ भरी हैं। वहाँ जितनी सुवर्णमुद्राएँ थीं, उन सबको महाराजने ऊँटोंपर लदवाकर ऋषिकुमारके साथ भेजना चाहा। ऋषिकुमारने देखा, ये मुद्राएँ तो नियत संख्यासे बहुत अधिक हैं, तब उन्होंने राजासे कहा—'महाराज! मुझे तो केवल चौदह लाख ही चाहिये। इतनी मुद्राओंका मैं क्या करूँगा, मुझे तो केवल कामभरके लिये चाहिये।' इस त्यागको धन्य है।

महाराजने कहा—'ब्रह्मन्! ये सब आपके ही निमित्त आयी हैं, आप ही इन सबके अधिकारी हैं, आपको ये सब मुद्राएँ लेनी ही होंगी। आपके निमित्त आये हुए द्रव्यको भला, मैं कैसे रख सकता हूँ?'

ऋषिकुमारने बहुत मना किया, किंतु महाराज मानते ही नहीं थे, अन्तमें ऋषिको जितनी आवश्यकता थी, वे उतना ही द्रव्य लेकर अपने गुरुके यहाँ चले गये। शेष जो धन बचा, वह सब ब्राह्मणोंको लुटा दिया गया। ऐसा दाता पृथ्वीपर कौन होगा, जो इस प्रकार याचकोंके मनोरथ पूर्ण करे। अन्तमें महाराज अपने पुत्र अजको राज्य देकर तपस्या करने वनमें चले गये। अजके पुत्र महाराज दशरथ हुए, जिन्हें साक्षात् परब्रह्म परमात्मा श्रीरामचन्द्रके पिता होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ।

विदेह-भक्त राजा जनक

(लेखक—श्रीकृपानारायणजी चौधरी)

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(श्रीमद्भा० १।७।१०)

'जिनकी माया-ग्रन्थियाँ टूट गयी हैं, ऐसे आत्माराम, आप्तकाम, जीवन्मुक्त मुनिगण भी भगवान् श्रीहरिकी अहैतुकी भक्ति करते हैं; क्योंकि श्रीहरिमें ऐसे ही गुण हैं।'

महाराज निमिका शरीर मन्थन करके ऋषियोंने जिस कुमारको प्रकट किया, वह 'जनक' कहा गया। माताके देहसे न उत्पन्न होनेके कारण 'विदेह' और मन्थनसे उत्पन्न होनेके कारण 'मैथिल' भी उनकी उपाधि हुई। इस वंशमें आगे चलकर जो नरेश हुए, वे सभी जनक और विदेह कहलाये। महर्षि याज्ञवल्क्यकी कृपासे वे सभी योगी और आत्मज्ञानी हुए। इसी वंशमें उत्पन्न सीताजीके पिता महाराज 'सीरध्वज' जनकको कौन नहीं जानता। आप सर्वगुणसम्पन्न और सर्वसद्भावाधार, परम तत्त्वज्ञ, कर्मज्ञ, असाधारण ज्ञानी, धर्म-धुरन्धर और नीति-निपुण महान् पण्डित थे। आपकी विमल कीर्ति विविध भाँतिसे गायी गयी है, परंतु आपके यथार्थ महत्त्वका पता बहुत थोड़े लोगोंको लग सका है। श्रीगुसाईंजी महाराज आपको प्रणाम करते हुए कहते हैं—

प्रनवउँ परिजन सहित बिदेहू। जाहि राम पद गूढ़ सनेहू॥
जोग भोग महँ राखेउ गोई। राम बिलोकत प्रगटेउ सोई॥

पूर्णब्रह्म सच्चिदानन्दघन महाराज श्रीराघवेन्द्रके साथ श्रीजनकजीका जो अत्यन्त 'गूढ़ सनेह' और नित्य 'योग' (प्रेमका अभेद सम्बन्ध) है, वह सर्वथा अनिर्वचनीय है। कहना तो दूर रहा, कोई उसे सम्यक् प्रकारसे समझ भी नहीं सकता। उस प्रेमतत्त्वको तो बस आप ही दोनों जानते हैं। आपने उस अकथनीय अनुपम दिव्य प्रेम-धनको पूरे लोभीकी भाँति इन्द्रिय-व्यवसायरूप प्रपञ्चोंमें छिपा रखा है और एक धन-प्राण विषयी मनुष्यके सदृश उसी परम धनके चिन्तनमें निरन्तर निमग्न रहते हैं। लोग आपको एक महान् ऐश्वर्यसम्पन्न राजा, नीतिकुशल प्रजारञ्जक नरपति समझते हैं, कुछ लोग ज्ञानियोंका आचार्य भी मानते हैं; परंतु आपके अन्तस्तलके 'निगूढ़ प्रेम'का परिचय बहुत कम लोगोंको है।

प्यारी—दुलारी श्रीसीताजीके स्वयंवरकी तैयारी हुई है, देश-विदेशके राजा-महाराजाओंको निमन्त्रण दिया गया है। पराक्रमकी परीक्षा देकर सीताको प्राप्त करनेकी लालसासे बड़े-बड़े रूप-गुण और बल-वीर्यसे सम्पन्न राजा-महाराजा मिथिलामें पधार रहे हैं।

इसी अवसरपर गाधि-तनय मुनि विश्वामित्रजी अपने तथा अन्यान्य ऋषियोंके यज्ञोंकी रक्षाके लिये अवधराज महाराज दशरथजीसे उनके प्राणाधिक प्रिय पुत्रद्वय श्रीराम-लक्ष्मणको माँगकर आश्रममें लाये थे। यह कथा प्रसिद्ध है। श्रीविश्वामित्र मुनि भी महाराज जनकका निमन्त्रण पाते हैं और दोनों राजकुमारोंको साथ लेकर मिथिलाकी ओर प्रस्थान करते हैं। रास्तेमें शापग्रस्ता मुनि-पत्नी अहल्याका उद्धार करते हुए परम कृपालु श्रीकोशलकिशोरजी कनिष्ठ भ्रातासहित गङ्गा-स्नान करके वनोपवनके प्राकृतिक सौन्दर्यको देखते हुए जनकपुरीमें पहुँचते हैं और मुनिसहित नगरसे बाहर मनोरम आम्रवाटिकामें ठहरते हैं।

मिथिलेश महाराज इस शुभ संवादको पाकर श्रेष्ठ समाजसहित विश्वामित्रजीके दर्शन और स्वागतार्थ आते हैं और मुनिको साष्टाङ्ग प्रणाम करके आज्ञा पाकर बैठ जाते हैं। इतनेमें ही फुलवारी देखकर—

स्याम गौर मृदु बयस किसोरा। लोचन सुखद बिस्व चित चोरा॥

—श्याम-गौर-शरीर, किशोर वयवाली, नेत्रोंको परम सुख देनेवाली, अखिल विश्वके चित्तको चुरानेवाली 'जुगल जोड़ी' वहाँ आ पहुँची। ये थे तो बालक; परंतु इनके आते ही लोगोंपर ऐसा प्रभाव पड़ा कि सब लोग उठ खड़े हुए—*'उठे सकल जब रघुपति आए।'* विश्वामित्र सबको बैठाते हैं। दोनों प्रभु शील-संकोचके साथ गुरुके चरणोंमें बैठ जाते हैं। यहाँ जनकरायजीकी बड़ी ही विचित्र दशा होती है। उनकी प्रेमरूपी सूर्यकान्तमणि श्रीरामरूपी प्रत्यक्ष प्रचण्ड सूर्यकी रश्मियोंको प्राप्तकर द्रवित होकर बह चलती है। गुप्त प्रेम-धन श्रीरामकी

मधुर छबि देखते ही सहसा प्रकट हो गया। युगोंके सञ्चित धनका खजाना अकस्मात् खुल पड़ा।

मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥
प्रेम मगन मनु जानि नृपु करि बिबेकु धरि धीर।
बोलेउ मुनि पद नाइ सिरु गदगद गिरा गभीर॥
कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक। मुनिकुल तिलक कि नृपकुल पालक॥
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥
सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
ताते प्रभु पूछउँ सतिभाऊ। कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ॥

जनकजी कहते हैं—'मुनिनाथ! छिपाइये नहीं, सच बतलाइये—ये दोनों कौन हैं? मैं जिस ब्रह्ममें लीन रहता हूँ, क्या वह वेदवन्दित ब्रह्म ही इन दो रूपोंमें प्रकट हो रहा है? मेरा स्वाभाविक ही वैरागी मन आज चन्द्रमाको देखकर चकोरकी भाँति थका जाता है।' जनकजीकी इस दशापर विचार कीजिये।

जनकका मन आत्यन्तिक प्रेमके कारण बलात् ब्रह्मसुखको छोड़कर रामरूपके गम्भीर मधुर सुधा-समुद्रमें निमग्न हो गया।

इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

जो मन-बुद्धि अपनेसे अगोचर ब्रह्मके निरतिशय सुखकी अनुभूतिमें लगे थे, उन्होंने आज उस अगोचरको प्रत्यक्ष नयनगोचर देखकर उस अगोचरके सुखको तुरंत त्याग दिया। गोदका छोड़कर पेटवालेकी आशा कौन करे। ऐसा कौन समझदार होगा, जो 'नयनगोचर' के मिल जानेपर 'अगोचर'के पीछे लगा रहे। धीरबुद्धि महाराज जनकके लिये यही उचित था। अभेद भक्ति-निष्ठ विदेहराजकी पराभक्ति संशयरहित है।

इसी प्रकार वे बारातकी बिदाईके समय जब अपने जामातासे मिलते हैं, तब भी उनका प्रेमसागर मर्यादा तोड़ बैठता है। उस समयके उनके वचनोंमें असीम प्रेमकी मनोहर छटा है—जरा, उस समयकी झाँकी भी देखिये। बारात बिदा हो गयी। जनकजी पहुँचानेके लिये साथ-साथ जा रहे हैं। दशरथजी लौटाना चाहते हैं, परन्तु प्रेमवश राजा लौटते नहीं। दशरथजीने फिर आग्रह किया तो आप रथसे उतर पड़े और नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंकी धारा बहाते हुए उनसे विनय करने लगे। इसके बाद मुनियोंसे स्तुति-प्रार्थनाएँ कीं। तदनन्तर श्रीरामके—अपने प्यारे जामाता रामके—समीप आये और कहने लगे—

राम करौं केहि भाँति प्रसंसा। मुनि महेस मन मानस हंसा॥
करहिं जोग जोगी जेहि लागी। कोहु मोहु ममता मदु त्यागी॥
ब्यापकु ब्रह्मु अलखु अबिनासी। चिदानन्दु निरगुन गुनरासी॥
मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥
महिमा निगमु नेति कहि कहई। जो तिहुँ काल एकरस रहई॥
नयन बिषय मो कहुँ भयउ सो समस्त सुख मूल।
सबइ लाभु जग जीव कहँ भएँ ईसु अनुकूल॥
सबहि भाँति मोहि दीन्हि बड़ाई। निज जन जानि लीन्ह अपनाई॥
होहिं सहस दस सारद सेषा। करहिं कलप कोटिक भरि लेखा॥
मोर भाग्य राउर गुन गाथा। कहि न सिराहिं सुनहु रघुनाथा॥
मैं कछु कहउँ एक बल मोरें। तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरें॥
बार बार मागउँ कर जोरें। मनु परिहरै चरन जनि भोरें॥

धन्य जनकजी! धन्य आपकी गुप्त प्रेमाभक्ति!

जब मिथिला यह समाचार पहुँचा कि महाराज दशरथने श्रीरामको वनवास दे दिया, तब जनकजीने कुशल राजनीतिज्ञकी भाँति अयोध्याका समाचार—भरतकी गतिविधि जाननेके लिये गुप्तचर भेजे। भरतलालके अनुरागका परिचय पाकर वे चित्रकूट अपने समाजके साथ पहुँचे। चित्रकूटमें महाराजकी गम्भीरता जैसे मूर्तिमान् हो जाती है। वे न तो कुछ भरतजीसे कह पाते हैं और न कुछ श्रीरामसे ही कहते हैं। उन्हें भरतकी अपार भक्ति तथा श्रीरामके परात्पर स्वरूपपर अटूट विश्वास है। महारानी कौसल्यातक उनके पास सुनयनाजीद्वारा सन्देश भिजवाती हैं; किन्तु वे कहते हैं कि भरत और श्रीरामका जो परस्पर अनुराग है, उसे समझा ही नहीं जा सकता, वह अतर्क्य है—

देबि परंतु भरत रघुबर की। प्रीति प्रतीति जाइ नहिं तरकी॥

स्वयं महाराजके बोधरूप चित्तमें कितना निगूढ़ प्रेम है, इसका कोई भी अनुमान नहीं कर सकता। जनक कर्मयोगके सर्वश्रेष्ठ आदर्श हैं, ज्ञानियोंमें अग्रगण्य हैं और बारह प्रधान भागवताचार्योंमें हैं।

जनकजी परम ज्ञानी थे; परंतु परम ज्ञानकी अवधि तो यही है कि ज्ञानमें स्थित रहते हुए ही परम ज्ञानस्वरूप भगवान्‌की मूर्तिमान् माधुरीको देखकर उसपर रीझ जाय। ज्ञानका प्रेमके पवित्र द्रवरूपमें परिणत होकर अपनी अजस्र सुधाधारासे जगत्‌को प्लावित कर देना ही उसकी महानता है! जनकजीने यही प्रत्यक्ष दिखला दिया!

वात्सल्यभक्त महाराज दशरथ

बंदउँ अवध भुआल सत्य प्रेम जेहि राम पद।
बिछुरत दीनदयाल प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ॥

जिनके यहाँ भक्ति-प्रेमवश साक्षात् सच्चिदानन्दघन प्रभु पुत्ररूपसे अवतीर्ण हुए, उन परम भाग्यवान् महाराज श्रीदशरथकी महिमाका वर्णन कौन कर सकता है। महाराज दशरथजी मनुके अवतार थे, जो भगवान्‌को पुत्ररूपसे प्राप्तकर अपरिमित आनन्दका अनुभव करनेके लिये ही धराधाममें पधारे थे और जिन्होंने अपने जीवनका परित्याग और मोक्षतकका संन्यास करके श्रीरामप्रेमका आदर्श स्थापित कर दिया।

श्रीदशरथजी परम तेजस्वी मनु महाराजकी भाँति ही प्रजाकी रक्षा करनेवाले थे। वे वेदके ज्ञाता, विशाल सेनाके स्वामी, दूरदर्शी, अत्यन्त प्रतापी, नगर और देशवासियोंके प्रिय, महान् यज्ञ करनेवाले, धर्मप्रेमी, स्वाधीन, महर्षियोंके सदृश सद्गुणोंवाले, राजर्षि, त्रैलोक्य-प्रसिद्ध पराक्रमी, शत्रुनाशक, उत्तम मित्रोंवाले, जितेन्द्रिय, अतिरथी,* धन-धान्यके सञ्चयमें कुबेर और इन्द्रके समान, सत्यप्रतिज्ञ एवं धर्म, अर्थ तथा कामका शास्त्रानुसार पालन करनेवाले थे। (देखिये वा० रा० १। ६। १ से ५ तक)

इनके मन्त्रिमण्डलमें महामुनि वसिष्ठ, वामदेव, सुयज्ञ, जाबालि, काश्यप, गौतम, मार्कण्डेय, कात्यायन, धृष्टि, जयन्त, विजय, सुराष्ट्र, राष्ट्रवर्धन, अकोप और धर्मपाल आदि विद्या-विनयसम्पन्न, अनीतिमें लजानेवाले, कार्यकुशल, जितेन्द्रिय, श्रीसम्पन्न, पवित्र-हृदय, शास्त्रज्ञ, शस्त्रज्ञ, प्रतापी, पराक्रमी, राजनीति-विशारद, सावधान, राजाज्ञाका अनुसरण करनेवाले, तेजस्वी, क्षमावान्, कीर्तिमान्, हँसमुख, काम-क्रोध और लोभसे बचे हुए एवं सत्यवादी पुरुषप्रवर विद्यमान थे। (वा० रा० १। ७)

आदर्श राजा और मन्त्रिमण्डलके प्रभावसे प्रजा सब प्रकारसे धर्मरत, सुखी और सम्पन्न थी। महाराज दशरथकी सहायता देवतालोग भी चाहते थे। महाराज दशरथने अनेक यज्ञ किये थे। अन्तमें पितृ-मातृ-भक्त श्रवणकुमारके वधका प्रायश्चित्त करनेके लिये अश्वमेध, तदनन्तर ज्योतिष्टोम, आयुष्टोम, अतिरात्र, अभिजित्, विश्वजित् और आप्तोर्याम आदि यज्ञ किये। इन यज्ञोंमें दशरथने अन्यान्य वस्तुओंके अतिरिक्त दस लाख दुग्धवती गायें, दस करोड़ सोनेकी मुहरें और चालीस करोड़ चाँदीके रुपये दान दिये थे।

इसके बाद पुत्रप्राप्तिके लिये ऋष्यशृङ्गको ऋत्विज् बनाकर राजाने पुत्रेष्टि यज्ञ किया, जिसमें समस्त देवतागण अपना-अपना भाग लेनेके लिये स्वयं पधारे थे। देवता और मुनि-ऋषियोंकी प्रार्थनापर साक्षात् भगवान्‌ने दशरथके यहाँ पुत्ररूपसे अवतार लेना स्वीकार किया और यज्ञपुरुषने स्वयं प्रकट होकर पायसान्नसे भरा सुवर्णपात्र देते हुए दशरथसे कहा—'राजन्! यह खीर अत्यन्त श्रेष्ठ, आरोग्यवर्धक और प्रजाकी उत्पत्ति करनेवाली है। इसको अपनी कौसल्यादि तीनों रानियोंको खिला दो।' राजाने प्रसन्न होकर मर्यादाके अनुसार कौसल्याको बड़ी समझकर उसे खीरका आधा भाग, मँझली सुमित्राको चौथाई भाग और कैकेयीको आठवाँ भाग दिया। सुमित्राजी बड़ी थीं, इससे उनको सम्मानार्थ अधिक देना उचित था; इसीलिये बचा हुआ अष्टमांश राजाने फिर सुमित्राजीको दे दिया, जिससे कौसल्याके श्रीराम, सुमित्राके (दो भागोंसे) लक्ष्मण और शत्रुघ्न एवं कैकेयीके भरत हुए। इस प्रकार भगवान्‌ने चार रूपोंसे अवतार लिया।

राजाको चारों ही पुत्र परम प्रिय थे। परंतु इन सबमें श्रीरामपर उनका विशेष प्रेम था। होना ही चाहिये; क्योंकि इन्हींके लिये तो जन्म धारणकर सहस्रों वर्ष प्रतीक्षा की गयी थी! वे रामका अपनी आँखोंसे क्षणभरके लिये भी ओझल होना नहीं सह सकते थे।

* जो दस हजार धनुर्धारियोंके साथ अकेला लड़ सकता है, उसे 'महारथी' कहते हैं और जो ऐसे दस हजार महारथियोंके साथ अकेला लोहा लेता है, वह 'अतिरथी' कहलाता है।

जब विश्वामित्रजी यज्ञरक्षार्थ श्रीराम-लक्ष्मणको माँगने आये, उस समय श्रीरामका वय पंद्रह वर्षसे अधिक था; परंतु दशरथने उनको अपने पाससे हटाकर विश्वामित्रके साथ भेजनेमें बड़ी आनाकानी की। आखिर वसिष्ठके बहुत समझानेपर वे तैयार हुए। श्रीरामपर अत्यन्त प्रेम होनेका परिचय तो इसीसे मिलता है कि जबतक श्रीराम सामने रहे, तबतक प्राणोंको रखा और अपने वचन सत्य करनेके लिये, रामके बिछुड़ते ही राम-प्रेमानलमें अपने प्राणोंकी आहुति दे डाली।

श्रीरामके प्रेमके कारण ही दशरथ महाराजने राजा केकयके साथ शर्त हो चुकनेपर भी भरतके बदले श्रीरामको युवराज-पदपर अभिषिक्त करना चाहा था। अवश्य ही ज्येष्ठ पुत्रके अभिषेककी कुलपरम्परा एवं भरतके त्याग, आज्ञावाहकता, धर्मपरायणता, शील और रामप्रेम आदि सद्गुण भी राजाके इस मनोरथमें कारण और सहायक हुए थे। परंतु भगवान्‌ने कैकेयीकी मति फेरकर एक ही साथ कई काम करा दिये। जगत्‌में आदर्श मर्यादा स्थापित हो गयी, जिसके लिये श्रीभगवान्‌ने अवतार लिया था। इनमें निम्नलिखित १२ आदर्श मुख्य हैं—

(१) दशरथकी सत्यरक्षा और श्रीरामप्रेम।

(२) श्रीरामके वनगमनसे राक्षस-वधादिरूप कार्योंके द्वारा दुष्ट-दलन।

(३) श्रीभरतका त्याग और आदर्श भ्रातृ-प्रेम।

(४) श्रीलक्ष्मणजीका ब्रह्मचर्य, सेवाभाव, रामपरायणता और त्याग।

(५) श्रीसीताजीका आदर्श पवित्र पातिव्रतधर्म।

(६) श्रीकौसल्याजीका पुत्रप्रेम, पुत्रवधूप्रेम, पातिव्रत, धर्मप्रेम और राजनीति-कुशलता।

(७) श्रीसुमित्राजीका श्रीरामप्रेम, त्याग और राजनीति-कुशलता।

(८) कैकेयीका बदनाम और तिरस्कृत होकर भी प्रिय 'रामकाज' करना।

(९) श्रीहनुमान्‌जीकी निष्काम प्रेमाभक्ति।

(१०) श्रीविभीषणजीकी शरणागति और अभय-प्राप्ति।

(११) सुग्रीवके साथ श्रीरामकी आदर्श मित्रता।

(१२) रावणादि अत्याचारियोंका अन्तमें विनाश और उद्धार।

यदि भगवान् श्रीरामको वनवास न होता तो इन मर्यादाओंकी स्थापनाका अवसर ही शायद न आता। ये सभी मर्यादाएँ आदर्श और अनुकरणीय हैं।

जो कुछ भी हो, महाराज दशरथने तो श्रीरामका वियोग होते ही अपनी जीवन-लीला समाप्तकर प्रेमकी टेक रख ली।

जिअन मरन फलु दसरथ पावा।
अंड अनेक अमल जसु छावा॥
जिअत राम बिधु बदनु निहारा।
राम बिरह करि मरनु सँवारा॥

श्रीदशरथजीकी मृत्यु सुधर गयी, रामके विरहमें प्राण देकर उन्होंने आदर्श स्थापित कर दिया। दशरथके समान भाग्यवान् कौन होगा, जिन्होंने श्रीराम-दर्शन-लालसामें अनन्य भावसे रामपरायण हो, रामके लिये और 'राम-राम' पुकारते हुए प्राणोंका त्याग किया।

श्रीरामायणमें लङ्का-विजयके बाद पुनः दशरथके दर्शन होते हैं। श्रीमहादेवजी भगवान् श्रीरामको विमानपर बैठे हुए दशरथजीके दर्शन कराते हैं। फिर तो दशरथ सामने आकर श्रीरामको गोदमें बैठा लेते हैं और आलिङ्गन करते हुए उनसे प्रेमालाप करते हैं। यहाँ लक्ष्मणको उपदेश करते हुए महाराज दशरथ स्पष्ट कहते हैं कि 'हे सुमित्रासुखवर्धन लक्ष्मण! श्रीरामकी सेवामें लगे रहना, तेरा इससे बड़ा कल्याण होगा। इन्द्रसहित तीनों लोक, सिद्ध पुरुष और सभी महान् ऋषि-मुनि पुरुषोत्तम श्रीरामका अभिवन्दन करके उनकी पूजा करते हैं। वेदोंमें जिस अव्यक्त अक्षर ब्रह्मको देवताओंका हृदय और गुप्त तत्त्व कहा है, ये परम तपस्वी राम वही हैं।' (वा० रा० ६। ११९। २७—३०)

श्रीभरतजी

भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम रामु जप जेही॥

श्रीभरतजी श्रीरामके ही स्वरूप हैं। वे व्यूहावतार माने जाते हैं और उनका वर्ण ऐसा है कि—

भरत राम ही की अनुहारी। सहसा लखि न सकहिं नर नारी॥

विश्वका भरण-पोषण करनेवाले होनेसे ही उनका नाम 'भरत' पड़ा। धर्मके आधारपर ही सृष्टि है। धर्म ही धराको धारण करता है। धर्म है, इसीलिये संसार चल रहा है। संसारकी तो बात जाने दीजिये, यदि एक गाँवमेंसे पूरा-पूरा धर्म चला जाय, वहाँ कोई धर्मात्मा किसी रूपमें न रहे तो उस गाँवका तत्काल नाश हो जायगा। भरतजीने धर्मके उसी धुरे—आदर्शको धारण किया।

जौं न होत जग जनम भरत को। सकल धरम धुर धरनि धरत को॥

जन्मसे ही भरतलाल श्रीरामके प्रेमकी मूर्ति थे। वे सदा श्रीरामके सुख, उनकी प्रसन्नतामें ही प्रसन्न रहते थे। मैंपनका भान उनमें कभी आया ही नहीं। उन्होंने स्वयं कहा है—

महूँ सनेह सकोच बस सनमुख कही न बैन।
दरसन तृपित न आजु लगि पेम पिआसे नैन॥

बड़ा ही संकोची स्वभाव था भरतलालका। अपने बड़े भाईके सामने वे संकोचकी ही मूर्ति बने रहते थे। ऐसे संकोची, ऐसे अनुरागी, ऐसे भ्रातृभक्तभावमयको जब पता लगा कि माता कैकेयीने उन्हें राज्य देनेके लिये श्रीरामको वनवास दे दिया है, तब उनकी व्यथाका पार नहीं रहा। कैकेयीको उन्होंने बड़े कठोर वचन कहे। परंतु ऐसी अवस्थामें भी वे दयानिधि किसीका कष्ट नहीं सह पाते थे। जिस मन्थराने यह सब उत्पात किया था, उसीको जब शत्रुघ्नलाल दण्ड देने लगे, तब भरतजीने छुड़ा दिया। धैर्यके साथ पिताका और्ध्वदैहिक कृत्य करके, भरतजी श्रीरामको वनसे लौटानेके लिये चले। राज्यकी रक्षाका उन्होंने प्रबन्ध कर दिया था। अयोध्याका जो साम्राज्य देवताओंको भी लुभाता था, उस राज्यको, उस सम्पत्तिको भरतने तृणसे भी तुच्छ मानकर छोड़ दिया! वे बार-बार यह सोचते थे—'श्रीराम, माता जानकी और लक्ष्मण अपने सुकुमार चरणोंसे वनके कठोर मार्गमें भटकते होंगे।' यही व्यथा उन्हें व्याकुल किये थी। वे भरद्वाजजीसे कहते हैं—

राम लखन सिय बिनु पग पनहीं। करि मुनि बेष फिरहिं बन बनहीं॥
अजिन बसन फल असन महि सयन डासि कुस पात।
बसि तरु तर नित सहत हिम आतप बरषा बात॥
एहि दुख दाहँ दहइ दिन छाती। भूख न बासर नीद न राती॥

वे स्वयं मार्गमें उपवास करते, कन्द-मूल खाते और भूमिपर शयन करते थे। साथमें रथ, अश्व, गज चल रहे थे; किंतु भरतलाल पैदल चलते थे। उनके लाल-लाल कोमल चरणोंमें फफोले पड़ गये थे; किंतु उन्होंने सवारी अस्वीकार कर दी। सेवकोंसे उन्होंने कह दिया—

रामु पयादेहि पायँ सिधाए। हम कहँ रथ गज बाजि बनाए॥
सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। सब तें सेवक धरमु कठोरा॥

भरतका प्रेम, भरतका भाव, भरतकी विह्वलताका वर्णन तो श्रीरामचरितमानसके अयोध्याकाण्डमें ही देखने योग्य है। ऐसा अलौकिक अनुराग कि जिसे देखकर पत्थरतक पिघलने लगे! कोई 'श्रीराम' कह दे, कहीं श्रीरामके स्मृति-चिह्न मिलें, किसीसे सुन पड़े श्रीरामका समाचार, वहीं, उसीसे भरत विह्वल होकर लिपट पड़ते हैं! सबसे उन्हें अविचल रामचरणानुराग ही माँगना है। चित्रकूट पहुँचकर वे अपने प्रभुके जब चरणचिह्न देखते हैं, तो—

हरषहिं निरखि राम पद अंका। मानहुँ पारसु पायउ रंका॥
रज सिर धरि हियँ नयनन्हि लावहिं। रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं॥

महर्षि भरद्वाजने ठीक ही कहा था—

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू॥

चित्रकूटमें श्रीरामजी मिलते हैं। अयोध्याके समाजके पीछे ही महाराज जनक भी वहाँ पहुँच जाते हैं। महर्षि वसिष्ठ तथा विश्वामित्रजी और महाराज जनकतक कुछ कह नहीं पाते। सब लोग परिस्थितिकी विषमता देखकर थकित हो जाते हैं। सारी मन्त्रणाएँ होती हैं और अनिर्णीत रह जाती हैं। केवल जनकजी ठीक स्थिति जानते हैं। वे भरतको पहचानते हैं। एकान्तमें रानी सुनयनासे उन्होंने कहा—

परमारथ स्वारथ सुख सारे । भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे॥
साधन सिद्धि राम पग नेहू । मोहि लखि परत भरत मत एहू॥
भोरेहुँ भरत न पेलिहहिं मनसहुँ राम रजाइ।

श्रीराम क्या आज्ञा दें? वे भक्तवत्सल हैं। भरतपर उनका असीम स्नेह है। वे भरतके लिये सब कुछ त्याग सकते हैं। उन्होंने स्पष्ट कह दिया—

मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु।

परंतु धन्य हैं भरतलाल! धन्य है उनका अनुराग! आराध्यको जो प्रिय हो, जिसमें श्रीरामको प्रसन्नता हो, जो करनेसे श्रीरघुनाथको संकोच न हो, वही उन्हें प्रिय है। उन्हें चाहे जितना कष्ट सहना पड़े; किंतु श्रीरामको तनिक भी संकोच नहीं होना चाहिये। उनका अविचल निश्चय है—

जो सेवक साहिबहि सँकोची । निज सुख चहइ तासु मति पोची॥

अतएव श्रीरामकी प्रसन्नताके लिये उनकी चरणपादुका लेकर भरत अयोध्या लौट आये। राजसिंहासनपर पादुकाएँ पधरायी गयीं। राम वनमें रहें और भरत राजसदनके सुख भोगें, यह सम्भव नहीं था। अयोध्यासे बाहर नन्दिग्राममें भूमिमें गड्ढा खोदकर कुशका आसन बिछाया उन्होंने। चौदह वर्ष वे महातापस बिना लेटे बैठे रहे। गोमूत्र-यावकव्रत ले रखा था उन्होंने। गायको जौ खिला देनेपर वह जौ गोबरमें निकलता है। उसीको गोमूत्रमें पकाकर वे ग्रहण करते थे। चौदह वर्ष उनकी अवस्था कैसी रही, यह गोस्वामी तुलसीदासजी बतलाते हैं—

पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू । जीह नामु जप लोचन नीरू॥

भरतजीने इसी प्रकार वे अवधिके वर्ष बिताये। उनका दृढ़ निश्चय था—

बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना । अधम कवन जग मोहि समाना॥

श्रीराम भी इसे भलीभाँति जानते थे। उन्होंने भी विभीषणसे कहा—

बीतें अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर॥

इसीलिये श्रीरघुनाथजीने हनुमान्‌जीको पहले ही भरतके पास भेज दिया था। जब पुष्पकसे श्रीराघवेन्द्र आये, उन्होंने अपने तपस्यासे कृश हुए, जटा बढ़ाये भाईको देखा। उन्होंने देखा कि भरतजी उनकी चरण-पादुकाएँ मस्तकपर रखे चले आ रहे हैं। प्रेमविह्वल रामने भाईको हृदयसे लिपटा लिया।

तत्त्वतः भरत और राम नित्य अभिन्न हैं। अयोध्यामें या नित्य साकेतमें भरतलाल सदा श्रीरामकी सेवामें संलग्न, उनके समीप ही रहते हैं।

श्रीलक्ष्मणजी

बंदउँ लछिमन पद जलजाता । सीतल सुभग भगत सुखदाता॥
रघुपति कीरति बिमल पताका । दंड समान भयउ जस जाका॥

श्रीरामके चतुर्व्यूह स्वरूपमेंसे ही एक रूप उनका लक्ष्मणजी हैं। वाल्मीकिजीने उन्हें जो *'सहस सीसु अहीसु महिधरु'* कहकर भगवान् शेषका अवतार बताया है। श्रीरामकी सेवा करना ही उनके जीवनका एकमात्र व्रत है। जब वे बहुत छोटे थे, पलनेमें रहते थे, तभीसे श्रीराघवके अनुयायी थे।

बारेहि तें निज हित पति जानी । लछिमन राम चरन रति मानी॥

जब विश्वामित्रजीकी यज्ञ-रक्षा करने ये रामजीके साथ गये, तब बड़े भाईकी सम्पूर्ण सेवा स्वयं ही करते थे। रात्रिमें जब दोनों भाई मुनि विश्वामित्रके चरण दबाकर उनकी आज्ञासे विश्राम करने आते, तब लक्ष्मणजी बड़े भाईके चरण दबाने लगते और बार-बार बहुत कहनेपर तब कहीं सोनेके लिये जाते। प्रातःकाल भी वे श्रीरामसे पहले ही जग जाते थे।

लक्ष्मणजी बड़े ही स्नेहमय, कोमल स्वभावके थे। उनके इस स्वभावका अनेक बार लोगोंको पता लगा; किंतु कोई श्रीरामका किसी भी प्रकार अपमान या अनिष्ट करता जान पड़े, यह इन्हें सहन नहीं होता था। फिर ये अत्यन्त उग्र हो उठते थे और तब किसीको कुछ भी नहीं गिनते थे। जब जनकपुरमें राजाओंके द्वारा धनुष न उठनेपर जनकजीने कहा—'मैंने समझ लिया कि अब पृथ्वीमें कोई वीर नहीं रहा।' *(बीर बिहीन मही मैं जानी)* तब कुमार लक्ष्मणको लगा कि इससे तो श्रीरामके बलका भी तिरस्कार होता है। वे यह सोचते ही उग्र हो

उठे। उन्होंने जनकजीको चुनौती देकर अपना शौर्य प्रकट किया। इसी प्रकार जब परशुरामजी बिगड़ते-डाँटते आये, तब भी लक्ष्मणजीसे उनका दर्प सहा नहीं गया। ये श्रीरामको अपना स्वामी मानते थे। सेवकके रहते स्वामीका तिरस्कार हो, ऐसे सेवकको धिक्कार है। परशुरामजीको इन्होंने उत्तर ही नहीं दिया, उनकी युद्धकी चुनौतीतकका उपहास कर दिया! ऐसे परम भक्त लक्ष्मणने जब सुना कि पिताने माता कैकेयीके कहनेसे रामको वनवास देना निश्चित किया है, तब कैकेयी और राजापर इन्हें बड़ा क्रोध आया। परंतु श्रीरामकी इच्छाके विरुद्ध कुछ भी करना इन्हें अभीष्ट नहीं था। 'यदि रामजी वनको जाते हैं तो लक्ष्मण कहाँ अयोध्यामें रहनेवाले हैं।' यह बात सभी जानते थे। जब प्रभुने राजधर्म, पिता-माताकी सेवाका कर्तव्य समझाकर इन्हें रहनेको कहा, तब इनका मुख सूख गया। व्याकुल होकर बड़े भाईके चरण पकड़ लिये इन्होंने और रोते-रोते प्रार्थना करने लगे—

गुर पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥
धरम नीति उपदेसिअ ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥
मन क्रम बचन चरन रत होई। कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई॥

अयोध्याका राजसदन, माता-पिताका प्यार, राज्यके सुखभोग छोड़कर घोर वनमें भटकना स्वीकार किया लक्ष्मणने। श्रीरामने उन्हें साथ चलनेकी आज्ञा दी तो उन्हें यह वरदान प्रतीत हुआ। वल्कल वस्त्र धारण करके अयोध्यासे इन्होंने श्रीरामका अनुगमन किया। माता सुमित्राने अपने इस पुत्रको आदेश दिया था—

रागु रोषु इरिषा मदु मोहू। जनि सपनेहुँ इन्ह के बस होहू।
सकल प्रकार बिकार बिहाई। मन क्रम बचन करेहु सेवकाई॥

जिसने अपना चित्त श्रीरामके चरणोंमें लगा दिया है, उसमें राग-रोष, ईर्ष्या-द्वेष, मद-मोह आदि विकार आ ही कैसे सकते हैं। लक्ष्मणजीने तो वनमें सेवाव्रत लेकर भूख-प्यास, निद्रा-थकावट आदि सबपर विजय प्राप्त कर ली। वे सदा सावधान रहते थे। मार्गमें चलते समय भी—

सीय राम पद अंक बराएँ। लखन चलहिं मग दाहिन लाएँ॥

कहीं प्रभुके चरण-चिह्नोंपर अपने पैर न पड़ जायँ, इसके लिये सतत सावधान रहते थे। जल, फल, कन्द, पुष्प, समिधा आदि लाना, अनुकूल स्थानपर कुटिया बनाना, रात्रिमें जागते हुए पहरा देना प्रभृति सब छोटी-बड़ी सेवाएँ लक्ष्मणजी बड़े उत्साहसे वनमें करते रहे। जैसे अज्ञानी पुरुष बड़े यत्नसे अपने शरीरकी सेवामें लगा रहता है, वैसे ही लक्ष्मणजी यत्नपूर्वक श्रीरामकी सेवामें लगे रहते थे। शृङ्गवेरपुरमें जब श्रीरामको पृथ्वीपर सोते देख निषादराज दुःखी हो गये, तब लक्ष्मणजीने उन्हें तत्त्वज्ञान तथा रामजीके स्वरूपका उपदेश किया। वनवासके समय भगवान् स्वयं लक्ष्मणजीको अनेक बार ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदिके उपदेश करते रहे।

श्रीलक्ष्मणजीका संयम, ब्रह्मचर्य-व्रत आश्चर्यजनक है। अपने चौदह वर्षके अखण्ड ब्रह्मचर्यके बलपर ही ये मेघनादको युद्धमें जीत सके थे। जब सुग्रीवने ऋष्यमूक पहुँचनेपर सीताजीके द्वारा गिराये आभूषण दिये, तब श्रीरघुनाथजी उन्हें लक्ष्मणको दिखाकर पूछने लगे—'देखो, ये जानकीके ही आभूषण हैं न?' उस समय लक्ष्मणजीने उत्तर दिया—

केयूरे नैव जानामि नैव जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वेव जानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्॥

'प्रभो! मैं केयूरों तथा कुण्डलोंको नहीं पहचानता। मैं तो केवल नूपुरोंको नित्य चरणवन्दनके समय देखते रहनेसे पहचानता हूँ।' इस निष्ठा और संयमकी कोई क्या महिमा वर्णन करेगा। लगभग चौदह वर्ष बराबर साथ रहे, अनेक बार श्रीरामके वनमें जानेपर अकेले रक्षक बने रहे, सब प्रकारकी छोटी-बड़ी सेवा करते रहे; किंतु कभी जानकीजीके चरणोंसे ऊपर दृष्टि गयी ही नहीं! धन्य मर्यादा!

मारीचके छलसे जब श्रीरामजी उसके पीछे धनुषपर बाण चढ़ाकर दौड़ गये और उस राक्षसकी कपटभरी पुकार सुनकर सीताजीने भगवान्‌की लीला सम्पन्न करनेके लिये लक्ष्मणजीकी नीयतपर ही सन्देह-नाट्य किया, तब भगवान्‌की आज्ञा न होनेपर भी वे एकाकिनी श्रीजानकीको छोड़कर श्रीरामके पास चले गये। जहाँ किसी प्रकारकी आशङ्का हो, वहाँ किसी भी सत्पुरुषको रहना नहीं चाहिये।

जब श्रीराम समुद्रके पास मार्गकी प्रार्थना करनेके विचारसे कुश बिछाकर बैठे, तब यह बात लक्ष्मणजीको नहीं रुची। ये पुरुषार्थ-प्रिय हैं। इन्होंने कहा 'दैवके भरोसे तो कादरलोग बैठे रहते हैं।' असलमें तो इन्हें यह सह्य नहीं था कि उनके सर्वसमर्थ स्वामी समुद्रसे प्रार्थना करें।

श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मण कठोर-से-कठोर कार्य भी करनेको उद्यत रहते थे। सीताजीको वनमें छोड़ आनेका काम भरत और शत्रुघ्नजीने स्पष्ट अस्वीकार कर दिया। लक्ष्मणजीके लिये वह हृदयपर पत्थर रखकर करनेका काम था; किंतु श्रीरामकी आज्ञा वे किसी प्रकार टाल नहीं सकते थे। यह कार्य भी उन्होंने स्वीकार किया। उनका आत्मत्याग महान् है। श्रीराम एकान्तमें कालके साथ बात कर रहे थे। उन्होंने यह निश्चय किया था कि इस समय यदि कोई यहाँ आ जायगा तो उसे प्राणदण्ड दिया जायगा। लक्ष्मणजीको द्वारपर नियुक्त किया गया था। उसी समय वहाँ दुर्वासाजी आये और तुरंत श्रीरामसे मिलनेका आग्रह करने लगे। विलम्ब होनेपर शाप देकर पूरे राजकुलको नष्ट कर देनेकी धमकी दी उन्होंने! लक्ष्मणजीने भगवान्‌को जाकर संवाद दिया। श्रीरामने दुर्वासाजीका सत्कार किया। ऋषिके चले जानेपर श्रीरघुनाथजी बहुत दुःखी हुए। प्रतिज्ञाके अनुसार लक्ष्मणजीको उस समय भीतर जानेके लिये प्राणदण्ड होना चाहिये था। स्वामीको दुःख न हो, उनकी प्रतिज्ञा रक्षित रहे, इसलिये उन्होंने स्वयं माँगकर निर्वासन स्वीकार कर लिया; क्योंकि प्रियजनका निर्वासन प्राणदण्डके ही समान है। इस प्रकार आजन्म श्रीरामकी सेवा करके, श्रीरामके लिये ही उनका वियोग भी लक्ष्मणजीने स्वीकार किया।

श्रीशत्रुघ्नकुमारजी

रिपुसूदन पद कमल नमामी। सूर सुसील भरत अनुगामी॥

संसारमें भगवान्‌के कई प्रकारके भक्त होते हैं। सबके आचार तथा सबके व्यवहार भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं। शत्रुघ्नकुमार उन सब भक्तोंमें विलक्षण हैं। वे मूक कर्मयोगी हैं। उन्हें न कुछ कहना रहता, न पूछना रहता। भगवान्‌के भक्तका अनुगमन करना, भक्तकी सेवा करना, भक्तके ही पीछे लगे रहना—यह सबसे सुगम साधन है। भगवान् क्या करते हैं, कब कृपा करेंगे, कैसे कृपा करेंगे, इन बातोंको सोचना छोड़कर किसी सच्चे प्रेमी संतकी शरण ले लेना और निश्चिन्त होकर उसकी सेवा करना, उसीपर अपनेको छोड़ देना अनेक महाभाग पुरुषोंमें देखा गया है। शत्रुघ्नकुमारने भी इसी प्रकार भगवान्‌के परम प्रिय भक्त श्रीभरतलालजीकी सेवाको अपना आदर्श बना लिया था और इससे वे कभी भी विचलित नहीं हुए।

शत्रुघ्नजीके विषयमें ग्रन्थोंमें बहुत ही कम चर्चा आयी है; पर जो आयी है, उससे उनकी एकान्त निष्ठाका पूरा परिचय मिलता है। उन्होंने भरतजीका आश्रय लिया और फिर एक बार भी उस आश्रयसे पृथक् नहीं हुए। कोई भी यह सोचतक नहीं सकता था कि शत्रुघ्न कभी भरतसे अलग रह सकते हैं। चित्रकूटमें परीक्षाके लिये जब वसिष्ठजीने भरतलालसे कहा—'श्रीराम-लक्ष्मण अयोध्या लौट जायँ और तुम दोनों भाई वनको जाओ।' तब बिना एक क्षणके विलम्बके भरतजीने इसे स्वीकार कर लिया। शत्रुघ्नसे भी पूछना चाहिये, यह सोचनेकी आवश्यकता मानना तो शत्रुघ्नके भावपर अविश्वास करना होता।

एक बार ननिहालसे जब भरत-शत्रुघ्न लौटे, तब मन्थरापर छोटे कुमारका रोष प्रकट हुआ। वे उस कुटिलाको बहुत कठोर दण्ड देना चाहते थे। दया करके भरतजीने उन्हें रोक दिया। इसके पश्चात् वे शान्त हो गये। फिर किसीसे वे रुष्ट नहीं हुए। चित्रकूटसे लौटनेपर भरतजी नन्दिग्राममें तपस्वी बनकर रहने लगे। माताओंकी, राज-परिवारकी, सेवकोंकी, सभीकी व्यवस्थाका भार शत्रुघ्नजीपर पड़ा। शत्रुघ्नजीको क्या किसीसे कम दुःख था? श्रीरामके वनवाससे उन्हें कम पीड़ा हुई थी? ऐसी व्यथामें सारे भोग-सुख काटने दौड़ते हैं। उस समय सब कुछ छोड़कर व्रत, उपवास, संयम, नियम, तप करनेसे आत्मतोष होता है। हृदयकी पीड़ा कुछ घटती है। परंतु

जब हृदय पीड़ासे हाहाकार कर रहा हो, जब वस्त्र-आभूषण जलती अग्नि-से लगते हों, तब दूसरोंको प्रसन्न करनेके लिये, दूसरोंको सुख देनेके लिये हृदय दबाकर, मुखपर हँसी बनाये रखकर उन सबको स्वीकार करना कितना बड़ा तप है—इसका कोई सहृदय अनुभवी पुरुष ही अनुमान कर सकता है। शत्रुघ्नजीपर माताओंकी सेवाका भार था। उन दु:खिनी माताओंको समान भावसे प्रसन्न रखना था। शत्रुघ्न स्वयं वस्त्राभरणसे सजे न रहें, प्रसन्न न दीखें तो माताओंका शोक जग जायगा। उन्हें अपार पीड़ा होगी। अतएव शत्रुघ्नजीने चौदह वर्ष अंदरसे भगवान्‌के साथ पूर्ण योग रखते हुए, पूर्ण संयम पालते हुए भोगको स्वीकार करके, प्रसन्न रहनेकी मुद्रा रखनेका सबसे कठोर तप किया। उन्होंने सबसे कठिन कर्तव्यका पूरे चौदह वर्ष निर्वाह किया।

श्रीरामराज्याभिषेकके पश्चात् रघुनाथजीकी आज्ञासे लवण नामक असुरको मारकर शत्रुघ्नजीने मधुपुरी बसायी, वहाँ राज्यकी स्थापना की और पीछे वहाँका राज्य अपने पुत्रोंको देकर फिर वे श्रीरामके समीप पहुँच गये। पूरे जीवनमें वे भरतलालकी आज्ञाके अनुवर्ती थे।

रामभक्त राजा सुरथ

सब साधन कर फल यह भाई। भजिअ राम सब काम बिहाई॥

कुण्डलपुरके राजा सुरथ परम धार्मिक एवं भगवद्भक्त थे। जब उनके पास कोई मनुष्य किसी कामसे जाता, तब वे उससे पूछते—'भाई! तुम्हें अपने वर्णाश्रमधर्मका ज्ञान तो है? तुम एकपत्नीव्रतका पालन तो करते हो? दूसरेके धनको लेने और दूसरेकी निन्दा करनेमें तो तुम्हारा मन नहीं जाता? वेदके विरुद्ध तो तुम कोई आचरण नहीं करते? भगवान् श्रीरामका तुम सदा स्मरण तो करते हो? जो धर्म-विरुद्ध चलनेवाले पापी हैं, वे तो मेरे राज्यमें थोड़ी देर भी नहीं रह सकते।'

उनके राज्यमें कोई मनसे भी पाप करनेवाला नहीं था। पर-धन तथा पर-स्त्रीकी ओर किसीका चित्त भूलकर भी नहीं जाता था। सब निष्पाप थे। सब भगवान् श्रीरामके नाम और गुणोंकी चर्चा छोड़कर उससे विपरीत बातें या कठोर शब्द बोलना नहीं जानते थे। फलत: उस राज्यमें यमदूतोंका प्रवेश ही नहीं था। सब जीवन्मुक्त थे वहाँ।

एक समय स्वयं यम जटाधारी मुनिका वेष बनाकर राजाकी भक्तिको परखने वहाँ आये। उन्होंने देखा कि वहाँकी राजसभा साक्षात् सत्सङ्ग-मन्दिर है। सबके मस्तकोंपर तुलसीदल रखा है। बात-बातमें सब भगवान्‌का नाम लेते हैं। भगवान्‌की चर्चा छोड़कर दूसरी बात ही वहाँ नहीं उठती। राजाने तपस्वीको देखा तो आदरपूर्वक उठ खड़े हुए। ऊँचे आसनपर बैठाकर उनका पूजन किया और कहने लगे—'आज मेरा जीवन धन्य हो गया। आप-जैसे सत्पुरुषोंका दर्शन बड़ा ही दुर्लभ है। अब मुझपर कृपा करके भुवनपावनी हरि-कथा सुनाइये।'

राजाकी बात सुनकर बड़े जोरसे हँसते हुए मुनि बोले—'कौन हरि? किसकी कथा? यह तुम क्या मूर्खों-जैसी बात करते हो? संसारमें कर्म ही प्रधान है। जो जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल पाता है। तुम भी सत्कर्म किया करो। व्यर्थ हरि-हरि क्यों करते हो?'

भगवद्भक्त राजाको मुनिकी बातसे बड़ा क्षोभ हुआ। उन्होंने नम्रतासे कहा—'आप भगवान्‌की निन्दा क्यों करते हैं? आपको स्मरण रखना चाहिये कि कर्मोंका सर्वोत्तम फल भोगनेवाले देवराज इन्द्र तथा ब्रह्माजीको भी भोग समाप्त होनेपर गिरना पड़ता है, किंतु श्रीरामके सेवकोंका पतन नहीं होता। ध्रुव, प्रह्लाद आदिका चरित आप जानते ही हैं। भगवान्‌की निन्दा करनेवालोंको यमराजके दूत घोर नरकोंमें पटक देते हैं। आप तो ब्राह्मण हैं; फिर आप भगवान्‌की निन्दा करें, यह तो उचित नहीं है।'

राजाकी भक्तिसे प्रसन्न होकर यमराज अपने रूपमें प्रकट हो गये और उन्होंने राजासे वरदान माँगनेको कहा। राजा सुरथ उन भागवताचार्यके चरणोंमें गिर पड़े।

उन्होंने वरदान माँगा—'जबतक भगवान् श्रीरामावतार लेकर यहाँ न पधारें, तबतक मेरी मृत्यु न हो।' यमराज 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गये।

राजा सुरथ बड़ी उत्कण्ठासे अपने आराध्यके पधारनेकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्हें भगवान्‌के अयोध्यामें अवतारग्रहणका समाचार मिला, मिथिलामें श्रीरामके द्वारा धनुष तोड़नेका समाचार मिला, वनवासका समाचार मिला और रावण-वध आदिका समाचार भी मिला। उनकी उत्कण्ठा बढ़ती ही जाती थी। भगवान् श्रीराम जब अश्वमेध यज्ञ करने लगे, तब राजाने अपने दूत राज्यके चारों ओर सावधानीसे नियुक्त कर दिये। एक दिन कुछ दूतोंने आकर समाचार दिया 'अयोध्याधिपति महाराज श्रीरामके अश्वमेधका अश्व राज्यसीमाके पाससे जा रहा है। उसके भालपर विजयपट्ट लगा हुआ है।'

राजा इस संवादसे बड़े ही प्रसन्न हुए। उन्होंने सोचा कि 'अब मुझे अवश्य अपने आराध्यके दर्शन होंगे।' सेवकोंको उन्होंने यज्ञिय अश्व पकड़ लेनेकी आज्ञा दी। राजाज्ञासे घोड़ा पकड़ लिया गया। युद्धकी तैयारी होने लगी। राजा सुरथ अपने दस पुत्रोंके साथ युद्ध-क्षेत्रमें आ डटे। शत्रुघ्नजी अश्वकी रक्षा सेनाके साथ कर रहे थे। उनको घोड़ेके पीछे-पीछे चलना था। घोड़ा पकड़ा गया, यह समाचार पाकर उन्होंने अङ्गदको दूत बनाकर सुरथके पास भेजा। अङ्गदजीने बल-प्रतापका वर्णन करके घोड़ा छोड़ देनेके लिये राजासे कहा। राजाने कहा—'आप जो भी कह रहे हैं, सब सत्य है। अयोध्याके प्रतापको मैं जानता हूँ। अपने आराध्यके छोटे भाई शत्रुघ्नजीकी शूरताका मुझे ज्ञान है। मेरा राज्य छोटा है, मेरी शक्ति अल्प है—यह भी मैं जानता हूँ; किंतु शत्रुघ्नजीके भयसे मैं अश्व नहीं छोड़ूँगा। मैं उन दयामय श्रीरामके भरोसे ही धर्मयुद्ध करनेको तैयार हुआ हूँ। श्रीरामके तेज-बल-प्रतापसे मैं शत्रुघ्नजीसहित सबको जीतकर बंदी कर लूँगा, यह मुझे पूरा विश्वास है। मैं तो श्रीरामका दास हूँ। उनके चरणोंमें मुझे पुत्रोंसहित पूरा राज्य, सब कोष, परिवारादि, समस्त सेना और अपनेको भी चढ़ा देना है; किंतु जबतक मेरे प्रभु स्वयं यहाँ न पधारें, मैं युद्धसे पीछे नहीं हटूँगा।'

अङ्गद लौट गये। युद्ध प्रारम्भ हो गया। भयङ्कर संग्राम हुआ। राजा सुरथने रामास्त्रका प्रयोग करके शत्रुघ्नजीके साथ पुष्कल, अङ्गद, हनुमान् आदि सबको बाँध लिया। बंदी हुए हनुमान्‌जीने राजाके कहनेपर श्रीरामका स्मरण किया। हनुमान्‌जीके स्मरण करते ही पुष्पकपर बैठकर भरत तथा लक्ष्मणसे सेवित भगवान् श्रीरघुनाथजी ऋषि-मुनियोंके साथ वहाँ आ पहुँचे। भगवान्‌को पधारे देख राजा सुरथ प्रेमसे उन्मत्त हो गये। वे बार-बार भगवान्‌के चरणोंमें नमस्कार करने लगे। उनका यह अनवरत प्रणिपात रुकता ही नहीं था। श्रीरामने उनका प्रेम देखकर चतुर्भुज रूपसे उन्हें दर्शन दिया और हृदयसे लगा लिया।

राजा सुरथ भगवान्‌के चरणोंमें गिरकर अपने अपराधकी क्षमा माँगने लगे। श्रीराघवेन्द्रकी कृपा-दृष्टि पड़ते ही सबके बन्धन छूट गये और सब घाव भर गये। मर्यादापुरुषोत्तमने राजाके शौर्यकी प्रशंसा की। उन्हें आश्वासन दिया—'राजन्! क्षत्रियोंका धर्म ही ऐसा है कि कर्तव्यवश स्वामीसे भी युद्ध करना पड़ता है। इसमें कोई दोष नहीं है। तुमने तो मेरे लिये, मेरी प्रीतिके लिये, मुझे पानेके लिये ही युद्ध किया। तुम्हारी इस 'समरपूजा'से मैं बहुत सन्तुष्ट हुआ हूँ।'

भगवान् चार दिन वहाँ राजाके आग्रहसे रहे। पुत्रोंसहित राजाने भगवान् तथा उनके पूरे परिकरकी बड़ी ही भक्तिसे सेवा की। चौथे दिन मुनिमण्डलीके साथ श्रीराघवेन्द्र अयोध्या पधारे। राजा सुरथने अपने पुत्र चम्पकको राज सौंप दिया और वे स्वयं सेना लेकर शत्रुघ्नजीके साथ घोड़ेके पीछे भगवान्‌की सेवाके निमित्त चल दिये। पूरा जीवन उन्होंने श्रीराम-सेवामें ही बिताया और अन्तमें दिव्य साकेत धामको पधारे।

भक्त चोलराज और भक्त विष्णुदास ब्राह्मण

भगवान् भक्ति-भावके भूखे हैं, धन-वैभवके नहीं। वे भक्तका हृदय देखते हैं। उसके द्वारा भेंट की जानेवाली वस्तु बहुमूल्य है या तुच्छ, इसकी ओर उनकी दृष्टि नहीं जाती। वे अपने प्रेमी भक्तके द्वारा प्रेमपूर्वक अर्पित किये हुए पत्र, पुष्प, फल, जल आदिको बड़े प्रेमसे भोग लगाते हैं। भक्त पुरुष चक्रवर्ती नरेश हो या अकिञ्चन भिक्षु—दोनोंके लिये उनके हृदयमें समान आदर है। भक्तके हृदयमें तनिक भी अभिमानका अङ्कुर उदित हो, यह भगवान्‌को सह्य नहीं है। अभिमानशून्य अकिञ्चन भक्त भक्तिभावका अभिमान रखनेवाले समृद्धिशाली पुरुषकी अपेक्षा भगवान्‌के दरबारमें पहले पहुँचता है।

प्राचीन कालकी बात है। दक्षिण भारतकी काञ्ची नगरीमें चोल नामसे प्रसिद्ध एक राजा राज्य करते थे। उन्हींके नामपर उनके अधीनस्थ प्रदेशको भी चोल कहा जाने लगा। राजा बड़े धर्मात्मा थे; उनके राज्यमें कोई भी मनुष्य दरिद्र, दुःखी और पापाचारी नहीं था। एक दिन महाराज चोल अनन्तशयन नामक तीर्थमें गये। यह वही स्थान है, जहाँ जगदीश्वर भगवान् विष्णुने योगनिद्राका आश्रय लेकर शयन किया था। वहाँ राजाने भगवान् विष्णुके शेषशायी दिव्य विग्रहकी विधिपूर्वक पूजा की, दिव्य मणियोंकी जगमगाती हुई माला भेंट की, मोतियोंके हार चढ़ाये तथा सुवर्णमय सुन्दर पुष्पोंसे भगवान्‌के श्रीअङ्गोंको सजाया। फिर साष्टाङ्ग प्रणाम करके वे वहीं कुछ कालतक बैठे रहे। इसी समय एक ब्राह्मण-देवता वहाँ आये। वे भी काञ्ची नगरीके ही निवासी थे। उनका नाम विष्णुदास था। उन्होंने भगवान्‌की पूजाके लिये अपने हाथमें तुलसीदल और जल ले रखा था। भगवद्-विग्रहके निकट जाकर ब्रह्मर्षि विष्णुदासने विष्णुसूक्तका पाठ करते हुए देवाधिदेव भगवान्‌को स्नान कराया और तुलसीदल एवं तुलसीमञ्जरीसे उनकी विधिवत् पूजा की। राजा चोलने दिव्य रत्नोंद्वारा जो भगवान्‌की पूजा की थी, वह सब तुलसीदलोंसे आच्छादित हो गयी। यह देख धन-वैभवका ही समादर करनेवाले राजा चोल कुपित होकर बोले—'विष्णुदास! मैंने मणियों और सुवर्णोंसे भगवान्‌का जो शृङ्गार किया था, उसकी कितनी शोभा हो रही थी। तुमने तुलसीदल चढ़ाकर उसे ढँक दिया। बताओ तो ऐसा क्यों किया ? मैं समझता हूँ—तुम दरिद्र और गँवार हो, इसीलिये तुम्हारे द्वारा ऐसी भूल हुई है। तुम्हारे मनमें भगवान् विष्णुके प्रति भक्तिभावका सर्वथा अभाव प्रतीत होता है।'

राजाके इस प्रकार आक्षेप करनेपर विष्णुदासने कहा—'महाराज! भक्ति क्या वस्तु है, इससे आप सर्वथा अपरिचित हैं। केवल राजलक्ष्मीके कारण आपको अपनी श्रेष्ठताका अहङ्कार हो गया है। बतलाइये, आजसे पहले आपने कितने वैष्णव-व्रतोंका पालन किया है?'

विष्णुदासकी यह बात सुनकर राजा चोल हँस पड़े और उनका तिरस्कार करते हुए बोले—'ब्राह्मण! तुम सदाके दरिद्र हो, मणियों तथा रत्नोंका मूल्य क्या जानो। भला, भगवान् विष्णुके प्रति तुममें भक्ति ही कितनी है। क्या तुमने भगवान् विष्णुको संतुष्ट करनेवाला कोई महान् यज्ञ किया है? कभी बहुमूल्य वस्तुएँ दानमें दी हैं? आजतक एक भी भगवान्‌का मन्दिर बनवाया है? इतनेपर भी तुम्हें यह गर्व है कि मैं भगवान्‌का बड़ा भारी भक्त हूँ। अच्छा, मैं देखूँगा, तुममें कितनी भक्ति है। आज यहाँ जितने ब्राह्मण उपस्थित हैं, वे सब मेरी बात सुन लें। आपलोग देखें, भगवान् विष्णुका दर्शन पहले मुझे होता है या इस विष्णुदासको। इसीसे किसमें कितनी भक्ति है, इसका निर्णय हो जायगा।'

यों कहकर राजा अपने भवनको चले गये। वहाँ उन्होंने महर्षि मुद्गलको आचार्य बनाकर महान् वैष्णवयज्ञ प्रारम्भ किया। उधर विष्णुदास भगवान् विष्णुको सन्तुष्ट करनेवाले व्रत एवं नियमोंका पालन करते हुए वहीं भगवान्‌के मन्दिरके समीप टिक गये। वे माघ एवं कार्तिकके व्रतोंका पालन करते, तुलसीके बगीचे लगाते, सींचते और उनकी रक्षा करते थे। एकादशीको द्वादशाक्षर मन्त्रका जप तथा नृत्य, गीत आदि मङ्गलमय आयोजनोंके साथ षोडशोपचारसे भगवान्‌की पूजा करते। चलते, फिरते, सोते भगवान्‌का ही चिन्तन करते। उनकी दृष्टि सर्वत्र सम हो गयी थी। वे सब प्राणियोंके भीतर एकमात्र भगवान् विष्णुको ही स्थित देखते थे। इस प्रकार राजा

चोल और विष्णुदास दोनों भगवान्‌की आराधनामें संलग्न थे।

एक दिन विष्णुदासने नित्य-कर्म करनेके पश्चात् भोजन तैयार किया। किंतु जब वे भगवान्‌को भोग अर्पण करनेके लिये गये, उस समय किसी अलक्षित व्यक्तिने आकर उसको चुरा लिया। विष्णुदासने लौटकर देखा भोजन नहीं है। परंतु उन्होंने दुबारा भोजन नहीं बनाया। क्योंकि ऐसा करनेपर सायङ्कालकी पूजाके लिये उन्हें अवकाश नहीं मिलता था। उन्होंने जो नियम ले रखा था, उसमें किसी भी कारणसे किञ्चित् भी त्रुटि हो, यह उन्हें स्वीकार नहीं था। दूसरे दिन पुनः उसी समयपर वे भोजन बनाकर ज्यों ही भगवान्‌को अर्पण करने लगे त्यों ही किसी अदृश्य व्यक्तिने पुनः सारा भोजन हड़प लिया। इस प्रकार लगातार सात दिनोंतक वे भूखे रह गये। इससे उनके मनमें बड़ा विस्मय हुआ। वे सोचने लगे 'कौन प्रतिदिन आकर मेरी रसोई उठा ले जाता है। यदि दुबारा रसोई बनाकर भोजन करता हूँ तो सायङ्कालकी उपासनामें त्रुटि आती है। यदि रसोई बनाकर तुरंत ही भोजन कर लेनेकी बात सोचूँ तो यह भी मुझसे न होगा। क्योंकि भगवान् विष्णुको सब कुछ अर्पण किये बिना कोई भी वैष्णव भोजन नहीं करता। आज सात दिन हो गये, मुझे अन्न नहीं मिला। इस प्रकार मैं व्रतपालनमें कबतक स्थिर रह सकता हूँ। अच्छा, आज रसोईकी रक्षापर भलीभाँति दृष्टि रखूँगा।'

ऐसा निश्चय करके वे भोजन बनानेके पश्चात् एकान्त स्थानमें छिपकर खड़े हो गये। इतनेमें ही उन्हें एक चाण्डाल दिखायी दिया, जो रसोईका अन्न उठा ले जानेके लिये तैयार खड़ा था। उसका शरीर अत्यन्त दुर्बल था। मुखपर दीनता छा रही थी। देहमें हाड़ और चामके सिवा और कुछ नहीं था। उसकी दयनीय दशा देख सबमें भगवान्‌का दर्शन करनेवाले विष्णुदासका हृदय दयासे भर आया। उन्होंने चाण्डालकी ओर देखकर कहा—'भैया! जरा ठहरो तो, क्यों रूखा-सूखा खाते हो? यह घी तो ले लो।' विष्णुदासकी आवाज सुनते ही चाण्डाल भयभीत होकर बड़े वेगसे भागा और थोड़ी ही दूर जाते-जाते मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। विष्णुदास हाथमें घीकी कटोरी लिये दौड़ते हुए उसके पास गये और उसे मूर्च्छित देख करुणावश अपने वस्त्रके छोरसे हवा करने लगे। इतनेमें वह उठकर खड़ा हो गया। विष्णुदासने देखा—वह चाण्डाल नहीं, साक्षात् भगवान् नारायण सामने खड़े हैं। सब ओर दिव्य प्रकाश छा रहा है। चार हाथोंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म शोभा पा रहे हैं। मुखपर मन्द-मन्द मुसकान सुशोभित है और नेत्रोंसे स्नेह एवं वात्सल्यकी वर्षा हो रही है। अपने प्रभुको प्रत्यक्ष देखकर विष्णुदास हर्ष, रोमाञ्च एवं अश्रुपात आदि सात्त्विक भावोंके वशीभूत हो गये। स्तुति और नमस्कार करनेमें भी समर्थ न हो सके। भगवान्‌ने अपनी भुजाएँ फैलाकर विष्णुदासको छातीसे लगा लिया और उन्हें अपने ही-जैसा रूप देकर वे वैकुण्ठधामको ले चले।

उस समय यज्ञमें दीक्षित हुए राजा चोलने देखा, आकाशमें एक दिव्य विमान जा रहा है। उसपर विष्णुदास भगवान्‌के साथ बैठकर विष्णुधाममें जा रहे हैं। यह देखकर राजाने महर्षि मुद्गलको बुलाया और इस प्रकार कहा—'जिसके साथ होड़ करके मैंने यह महायज्ञ प्रारम्भ किया था, वह ब्राह्मण मुझसे पहले ही वैकुण्ठ-धामको जा रहा है! मैंने होम, यज्ञ, दान आदिके द्वारा महान् धर्मका अनुष्ठान किया, तथापि अभीतक भगवान् मुझपर प्रसन्न नहीं हुए। विष्णुदासको केवल भक्तिके ही कारण भगवान्‌ने मुझसे पहले ही अपना लिया। जान पड़ता है भगवान् श्रीहरि केवल दान और यज्ञोंसे प्रसन्न नहीं होते। उनकी प्राप्तिमें विशुद्ध भक्ति ही प्रधान कारण है।'

यों कहकर राजाने अपने भानजेको राजसिंहासनपर अभिषिक्त कर दिया और स्वयं यज्ञशालामें जाकर यज्ञकुण्डके सामने खड़े हो गये। फिर भगवान् विष्णुको सम्बोधित करके तीन बार उच्चस्वरसे निम्नाङ्कित वचन बोले—'भगवान् विष्णु! आप मुझे मन, वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा होनेवाली अविचल भक्ति प्रदान कीजिये।' यों कहकर वे सबके देखते-देखते अग्निकुण्डमें कूद पड़े। राजाका अभिमान गल चुका था। भक्तवत्सल भगवान् विष्णु उसी क्षण अग्निकुण्डमें प्रकट हो गये। उन्होंने राजाको छातीसे लगाकर एक श्रेष्ठ विमानपर बैठाया और उन्हें साथ ले वैकुण्ठधामको प्रस्थान किया।

यही विष्णुदास और चोल वैकुण्ठधाममें भगवान् विष्णुके 'पुण्यशील' और 'सुशील' नामक पार्षद हुए।

राजा रत्नग्रीव

यो नरो जन्मपर्यन्तं स्वोदरस्य प्रपूरकः।
न करोति हरेः पूजां स नरो गोवृषः स्मृतः॥

'जो मनुष्य जीवनभर अपना पेट भरनेमें ही लगा रहता है और श्रीहरिकी पूजा नहीं करता, वह तो मनुष्यरूपमें बैलके समान है।'

त्रेतायुगकी बात है, काञ्चीनगरमें रत्नग्रीव नामके एक भगवद्भक्त प्रजावत्सल आदर्श राजा राज्य करते थे। उनमें अहङ्कारका नामतक नहीं था। राज्यकोषको वे अपने विलासका साधन नहीं मानते थे। उनका मत था कि कोष तो प्रजाका है और प्रजा साक्षात् जनार्दनका स्वरूप है। राजाकी धर्मनिष्ठाके कारण पूरा राज्य आदर्श हो गया था। सब लोग वर्णाश्रमधर्मके अपने कर्तव्योंका यथोचित पालन करते थे। ब्राह्मण वेदाध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन तथा स्वीकार किये हुए दानको दान कर देनेमें तत्पर रहते थे। क्षत्रिय सदा धर्मयुद्धके लिये प्रस्तुत, प्राणियोंकी रक्षामें उद्यत शूरवीर थे और वैश्य न्यायसंगत रीतिसे कृषि या वाणिज्यके द्वारा उपार्जन करते थे। शूद्र समाजकी सेवा अपना कर्तव्य समझकर करते थे। स्त्रियाँ पतिव्रता, कलहसे विमुख, गृहकार्यमें कुशल, मधुरभाषिणी तथा सुशीला थीं और पुरुष उद्योगी, धीर, परस्त्रीको माता समझनेवाले तथा सदाचारी थे। सब लोग सदा भगवन्नामके जपमें लगे रहते थे। सब भगवद्भक्त थे। दया, सत्य, शम, दम, दान आदि पूरे राज्यमें व्यापक थे। कहीं कोई असत्य बोलनेवाला, चोर, आचारहीन, कटुभाषी नहीं था। राजा प्रजासे उत्पादनका केवल छठा भाग ही लेते थे। दूसरा कोई भी 'कर' प्रजापर नहीं था। यह 'कर' भी प्रायः प्रजाके हितमें ही लगाया जाता था।

राजाकी आयुका बड़ा भाग कर्तव्यपालन करते हुए व्यतीत हो गया। अब राजाने अपना शेष समय तीर्थवास और भगवान्के भजनमें लगानेका निश्चय किया। उन्होंने रानीसे सम्मति ली। पतिव्रता पत्नीने पतिका समर्थन किया। राजाने राज्यका भार पुत्रको सौंपकर तीर्थयात्राकी तैयारी की। उस दिन रात्रिमें उन्होंने स्वप्नमें एक तेजस्वी ब्राह्मणको देखा। दूसरे दिन राजाके पास एक जटा-वल्कलधारी तपस्वी ब्राह्मण आये। विप्रदेवका यथाविधि सत्कार-पूजन करके पूछा—'मैं किस तीर्थमें जाकर निवास करूँ? कहाँ रहकर भगवान्का भजन करूँ कि जिससे मैं जन्म-मरणके चक्रसे छूट जाऊँ?'

ब्राह्मणने अयोध्या, हरद्वार, अवन्तिका, काञ्ची, काशी आदि तीर्थोंका माहात्म्य बतलाते हुए बताया कि राजाको श्रीपुरुषोत्तमपुरीमें जाकर निवास करना चाहिये। तीर्थयात्राकी विधि पूछनेपर उन्होंने कहा—'तीर्थयात्राके लिये श्रद्धापूर्वक निश्चय करके भगवान्में ही मन लगाना चाहिये। स्त्री-पुत्र, घर-सम्पत्तिको अनित्य समझकर इनका मोह सर्वथा त्याग देना चाहिये। तीर्थयात्री भगवन्नामका उच्चारण करता हुआ घरसे निकले और एक कोस जाकर किसी जलाशयपर क्षौर कराके स्नान करे। तीर्थोंमें मनुष्योंके पाप उनके केशोंके आश्रयसे ही रह जाते हैं, इसीसे मुण्डन करानेकी विधि है। लोभ छोड़कर दण्ड (लाठी), कमण्डलु (पात्र) और आसन लेकर तीर्थयात्रीके वेशमें चले। श्रीहरिके क्षेत्रकी ओर जिसके चरण जा रहे हैं, भगवान्की सेवामें जिसके हाथ लगे हैं, श्रीनारायणके चिन्तनमें जिसका चित्त लगा है, जिसकी जीभपर अखण्ड भगवन्नाम विराजमान हैं, जो भगवान्के ज्ञानको ही विद्या, भगवत्प्राप्तिके साधनको ही तप और नारायणकी सेवाको ही अपनी कीर्ति मानता है, उसीकी तीर्थयात्रा सफल है। भगवन्नामोंका उच्चस्वरसे कीर्तन करते हुए तीर्थयात्रीको पैदल ही चलना चाहिये। कोई भी सवारी काममें लेनेसे तीर्थयात्राका फल कम हो जाता है।'

राजाने विधिपूर्वक तीर्थयात्राका निश्चय किया। उन्होंने राज्यमें घोषणा कर दी कि यमदण्डसे मुक्त होकर भगवान्को पानेकी इच्छासे जो भी मेरे साथ चलना चाहें, चलें। इस राजाज्ञाकी घोषणा होनेपर बहुत-से नर-नारी उत्साहपूर्वक राजाके साथ पुरुषोत्तमक्षेत्र जानेको उद्यत हो गये। मनको कामादि दोषोंसे अलग करके भगवान्में लगाकर भगवन्नामका कीर्तन करते हुए वे सब लोग एक कोस गये और वहाँ क्षौर कराके स्नान किया। मार्गमें भगवान्की कथा कहते-सुनते, भगवान्की लीला एवं

गुणोंके ललित पदोंका गान करते, दीन-दुःखियोंको दान देते सब लोग गण्डकीके किनारे पहुँचे। ब्राह्मणने राजासे कहा—'राजन्! जिसके मस्तकपर तुलसीदल हो, हृदयपर सुन्दर शालग्राम-शिला हो, मुँहसे राम-नामका उच्चारण या कानसे उसका श्रवण होता हो, वह संसारसे निश्चय मुक्त हो जाता है।' राजाने सबके साथ वहाँ गण्डकीतीर्थमें स्नान-तर्पण आदि करके भगवान् शालग्रामका पूजन किया।

वहाँसे चलकर जब सब लोग गङ्गा-सागर-सङ्गमपर पहुँचे, तब राजाकी भगवद्दर्शन-लालसा बहुत तीव्र हो गयी। जब ब्राह्मणने बताया कि हम नीलपर्वतके घेरेमें आ गये हैं, जहाँ भगवान्की महिमाका प्रत्यक्ष प्रभाव है, तब तो राजा और भी उत्सुक हो उठे। उनकी उत्कण्ठा देखकर ब्राह्मणने आदेश दिया—'जबतक भगवान्के दर्शन न हो जायँ, तबतक सब लोग यहीं बैठकर भगवान्का नामकीर्तन करें। वे भक्तवत्सल प्रभु कभी भक्तकी उपेक्षा नहीं करते।'

सब लोग निर्जल उपवास कर रहे थे। सबके मनमें भगवान्के दर्शनोंकी तीव्र लालसा थी। बड़े प्रेमसे, एकाग्रचित्तसे सब मिलकर भगवन्नामोंका कीर्तन कर रहे थे। अनेक प्रकारसे सब भगवान्की स्तुति कर रहे थे। इस प्रकार जब उपवासव्रती राजाको पाँच दिन कीर्तन तथा स्तवन करते बीत गये, तब उन निष्पाप महाभागके सम्मुख वे लीलामय एक संन्यासीके वेशमें प्रकट हुए। राजाने '**ॐ विष्णवे नमः**' कहकर उन्हें नमस्कार किया। पाद्य-अर्घ्य आदिसे पूजन किया। राजाने कहा—'प्रभो! जब मुझे आपने दर्शन दिया है, तब अब अवश्य श्रीगोविन्द भी मुझे दर्शन देंगे।'

संन्यासीने कहा—राजन्! मैं अपने ज्ञानबलसे तीनों कालकी बातें जानता हूँ। मुझे इसीसे पता है कि कल मध्याह्नके समय आपको भगवान्के परम दुर्लभ दर्शन होंगे। केवल दर्शन ही नहीं होंगे, बल्कि आप, आपके मन्त्री, आपकी रानी, ये तपस्वी ब्राह्मण और आपके नगरका करम्ब नामक साधुचरित जुलाहा—ये सभी परम पद प्राप्त करेंगे।' इतना कहकर वे संन्यासी वहीं अदृश्य हो गये। राजाने बहुत खोज करायी, पर उनका कहीं पता न चला। ब्राह्मणदेवताने बताया कि 'इस वेशमें भक्तवत्सल, दयामय श्रीहरि स्वयं कृपा करके पधारे थे। अब कल मध्याह्नको वे अपने दिव्यरूपका दर्शन देंगे।'

राजाको उस समय बड़ा ही आनन्द हुआ। कल प्रभुके दर्शन होंगे, यह स्मरण करके उनके आनन्दका पार नहीं रहा। वे कभी भगवन्नाम एवं भगवान्के गुणोंका गान करते हुए नाचने लगते, कभी हँसने लगते, कभी भूमिपर लोटते, कभी स्तुति करते और कभी पद गाते। इस प्रकार दिन बीत गया। रातमें राजाको स्वप्नमें ऐसा दिखायी पड़ा कि शङ्ख-चक्रादिधारी चतुर्भुज भगवान् नारायण अपने पार्षदों तथा शङ्करजी आदिके साथ नृत्य कर रहे हैं। जागनेपर उन्होंने अपना स्वप्न ब्राह्मणदेवताको सुनाया तो वे बहुत हर्षित हुए। उन्होंने कहा—'भगवान् आपको अपना सारूप्य देना चाहते हैं, ऐसा लगता है।'

सब लोग भगवन्नाम-कीर्तनमें लग गये। दोपहर होते ही आकाशसे फूलोंकी वर्षा होने लगी। देवताओंकी दुन्दुभियाँ बजने लगीं। इसी समय करोड़ों सूर्योंके तेजको अपनी ज्योतिसे मलिन करनेवाले तेजोमय नीलाचलके दर्शन हुए। उसके शिखर स्वर्ण एवं चाँदीके थे। इसी समय भगवान् प्रकट हुए। राजाने पत्नी तथा सेवकोंके साथ भगवान्का पूजन करके स्तुति की। भगवान्ने राजाको अपना नैवेद्य-प्रसाद देकर शीघ्र ग्रहण करनेका आदेश दिया। भगवान्का नैवेद्य पाकर राजा कृतार्थ हो गये। उस दिव्य प्रसादको पाते ही उनका शरीर तुरंत दिव्य श्यामवर्ण, चतुर्भुज हो गया। उसी समय एक दिव्य विमान उतरा। भगवान्की आज्ञासे राजा रत्नग्रीव, उनकी पत्नी, सत्य नामका उनका मन्त्री, तापस ब्राह्मण, करम्ब जुलाहा—ये सभी उसमें बैठकर भगवान्के चिन्मय धामको चले गये। प्रजाके लोग भगवान्का दर्शन पाकर राजाकी प्रशंसा करते हुए तीर्थस्नान करके घर लौटे।

एक भक्त राजा

एक बहुत ही धर्मात्मा राजा भगवान्‌का बड़ा भक्त था। धर्मपूर्वक राज्य करनेपर यथाकाल उसकी मृत्यु हो गयी। पुण्यात्मा होनेपर भी किसी एक पापका फल भुगतानेके लिये यमदूत उसे सम्मानपूर्वक नरकमार्गसे ले गये। नरकोंका दृश्य देखकर राजाका हृदय दहल गया। वहाँके पीड़ित प्राणियोंका चीत्कार उससे सुना नहीं जाता था। वहाँका दृश्य देखकर ज्यों ही वह यमसेवकोंके साथ नरक छोड़कर जाने लगा, त्यों ही नरककी असह्य पीड़ा भोगनेवाले सब-के-सब नरकवासी बड़े जोरोंसे चिल्ला उठे और करुण विलाप करते हुए पुकारकर राजासे कहने लगे—'राजन्! आप कृपा कीजिये। घड़ीभर तो आप यहाँ और ठहर जाइये। आपके अङ्गसे स्पर्श करके आनेवाली हवासे हमें बड़ा ही सुख मिल रहा है, इस सुखद-शीतल वायुके स्पर्शमात्रसे हमारी सारी नारकी पीड़ा और जलन एकदम चली गयी है और हमपर मानो आनन्दकी वर्षा हो रही है; दया कीजिये।' राजाने यह सुनकर यमदूतोंसे पूछा—'मेरे यहाँ रहनेसे इन लोगोंको सुख मिलनेका क्या कारण है? मैंने ऐसा कौन-सा कार्य किया है, जिसके कारण इनपर आनन्दकी वर्षा हो रही है?' यमदूतोंने कहा—'महाराज! आपने पितृ, देवता, अतिथि और आश्रितोंका भरण-पोषण पहले करके उनसे बचे हुए द्रव्यसे अपना भरण-पोषण किया है तथा श्रीहरिका स्मरण किया है, इसीलिये आपके शरीरसे स्पर्श की हुई हवासे इन पापियोंकी नरक-यातना सहज ही नष्ट हो रही है। आपके तेज और आपके दर्शनसे पापियोंको पीड़ा पहुँचानेवाले यमराजके अस्त्र-शस्त्र, तीक्ष्ण चोंचवाले पक्षी, नरकाग्नि आदि सभी तेजहत होकर मृदु हो गये हैं; इसीलिये नरकवासी पापियोंको इतना सुख मिल रहा है।' यह सुनकर राजाने कहा—'इनके सुखसे मुझे बड़ा सुख मिल रहा है; मेरी ऐसी मान्यता है कि आर्त प्राणियोंकी रक्षा करनेमें जो सुख होता है, स्वर्ग या ब्रह्मलोकमें भी वैसा सुख नहीं होता। यदि मेरे यहाँ रहनेसे इनकी पीड़ा दूर होती है तो दूतो! मैं तो पत्थरकी तरह अचल होकर यहीं रहूँगा।' राजाकी यह बात सुनकर दूतोंने कहा—'चलिये, यह तो पापियोंके नरकभोगका स्थान नरक है। आप यहाँ क्यों रहेंगे—आप दिव्यलोकोंमें अपने पुण्योंका फल भोगिये।'

राजाने कहा—'जबतक इनका दुःखोंसे छुटकारा नहीं होगा, तबतक मैं यहाँसे नहीं हटूँगा; क्योंकि मेरे यहाँ रहनेसे इन्हें सुख मिल रहा है। आर्त और आतुर होकर शरण चाहनेवाले शत्रुपर भी जो मनुष्य अनुग्रह नहीं करता, उसके जीवनको धिक्कार है। दुःखियोंके दुःख दूर करनेमें जिसका मन नहीं है, उसके यज्ञ, दान, तप आदि कुछ भी इस लोक और परलोकमें सुखके कारण नहीं होते। बालक, आतुर, दुःखी और वृद्धोंके प्रति जिसका चित्त कठोर है, मेरी समझमें वह मनुष्य नहीं, राक्षस है। इन लोगोंके पास रहनेसे मुझे नारकीय अग्निके तापसे अथवा भूख-प्यासके कारण बेसुध कर देनेवाला महान् दुःख क्यों न भोगना पड़े, इनको सुखी करनेसे मिले हुए उस दुःखको मैं अपने लिये स्वर्गसुखसे भी बढ़कर समझूँगा। मुझ एकके दुःख पानेसे यदि इतने आर्त जीवोंको सुख होता है, तो इससे बढ़कर मुझे और क्या लाभ होगा।'

यमदूतोंने कहा—'महाराज! देखिये, ये साक्षात् धर्म और देवराज इन्द्र आपको ले जानेके लिये यहाँ आये हैं; अब आपको जाना ही पड़ेगा, अतएव पधारिये।' धर्मने कहा—'राजन्! आपने सम्यक् प्रकारसे मेरी उपासना की है, इसीलिये मैं स्वयं आपको स्वर्गमें ले जाऊँगा; आप देर न करें, विमानपर जल्दी सवार हों।' राजाने कहा—'धर्मराज! हजारों जीव नरकमें दुःख पा रहे हैं और मेरे यहाँ रहनेसे इनका दुःख दूर होता है; ऐसी हालतमें मैं यहाँसे नहीं जा सकता।' इन्द्र बोले—'राजन्! अपने-अपने कर्मफलसे ये पापीलोग नरक भोग रहे हैं। आपको भी अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये स्वर्गमें चलना चाहिये। इन नरकवासियोंपर दया करनेसे आपका पुण्य लाखों गुना और भी बढ़ गया है। अतएव इस पुण्यफलके भोगके लिये आप अवश्य स्वर्ग चलिये।' राजाने कहा—'जब मेरे पुण्यसे इनको सुख मिलता है, तब मैं अपना सब पुण्य इनको देता हूँ। इस पुण्यसे ये सारे यातनाभोगी पापी नरकसे छूट जायँ। मैं यहीं रहूँगा!' इन्द्रने कहा—'महाराज! आपके पुण्यदानसे देखिये, सारे पापी नरकसे छूटकर विमानोंपर सवार होकर जा रहे हैं। पर इस पुण्यदानसे आपका पुण्य इतना बढ़ गया है कि अब आप और भी ऊँची गतिमें जायँगे।'

राजापर पुष्पवृष्टि होने लगी और इन्द्र उन्हें विमानपर चढ़ाकर स्वर्गमें ले गये। नरकके सारे प्राणियोंका उद्धार हो गया।
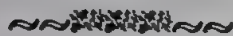
भक्त राजा पुण्यनिधि

दक्षिण देशमें पाण्ड्य और चोलवंशियोंके राज्य चिरकालसे प्रसिद्ध हैं। दोनों ही वंशोंमें बड़े-बड़े धर्मात्मा, न्यायशील, भगवद्भक्त राजा हो गये हैं। जिन दिनोंकी बात कही जा रही है, उन दिनों पाण्ड्यवंशकी राजधानी मधुरा थी—जिसे आजकल मदुरा कहते हैं। उसके एकच्छत्र अधिपति थे राजा पुण्यनिधि। पुण्यनिधिका नाम सार्थक था, वास्तवमें वे पुण्योंके खजाने ही थे। उनका सादा जीवन इतना उच्च और आदर्श था कि जो भी उन्हें देखता, प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। उनके जीवनमें शान्ति थी, उनके परिवारमें शान्ति थी और उनके राज्यमें शान्ति थी। उनके पुण्य-प्रतापसे, उनके शुद्ध व्यवहारसे सम्पूर्ण प्रजा पुण्यात्मा हो रही थी। शासनकी तो आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी, सब लोग बड़े प्रेमसे अपने-अपने कर्तव्यका पालन करते थे। उनके पास सेना प्रथाकी रक्षाके लिये ही थी। उनका सारा व्यवहार प्रेम और आत्मबलसे ही चलता था। वे समय-समयपर तीर्थयात्रा करते, यज्ञ करते, दान करते और दिल खोलकर दीन-दुःखियोंकी सहायता करते। सबसे बड़ा गुण उनमें यह था कि वे जो कुछ भी करते थे, सब भगवान्‌के लिये, भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये और भगवान्‌के प्रेमके लिये। उनके चित्तमें लोक-परलोककी कोई भी कामना नहीं थी।

एक बार अपने परिवार और सेनाके साथ राजा पुण्यनिधिने सेतुबन्ध रामेश्वरकी यात्रा की। इस बार इनकी यह इच्छा थी कि समुद्रके पवित्र तटपर, गन्धमादन पर्वतकी उत्तम भूमिमें अधिक दिनोंतक निवास किया जाय, इसलिये उन्होंने राज्यका सारा भार पुत्रको सौंप दिया था और वे आवश्यक सामग्री एवं सेवकोंको लेकर वहीं जाकर निवास करने लगे। राजा पुण्यनिधिका मन वहीं रम गया। वे बहुत दिनोंतक वहीं रह गये। उनके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति थी। वे जहाँ जाते, जहाँ रहते, वहीं भगवान्‌का स्मरण-चिन्तन किया करते। मनमें कोई कामना तो थी नहीं, इसलिये उनका अन्तःकरण शुद्ध था। शुद्ध अन्तःकरणमें जो भी सङ्कल्प उठता है, वह भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये होता है और उस सङ्कल्पके अनुसार जो क्रिया होती है, वह भी भगवान्‌के लिये ही होती है। राजाके चित्तमें विष्णु और शिवके प्रति कोई भेद-भाव नहीं था। वे कभी भगवान् शङ्करकी पूजा करते-करते मस्त हो जाते तो कभी जंगलोंमें घूम-घूमकर भगवान् श्रीरामकी लीलाओंका अनुसन्धान करते। एक बार राजा धनुष्कोटि-तीर्थमें गये। उस तीर्थमें स्नान करके राजाको बड़ा आनन्द हुआ। भगवान्‌की स्मृतिके साथ जो भी काम किया जाता है, वह आनन्ददायक होता ही है।

राजा पुण्यनिधि जब स्नान, दान, नित्यकर्म और भगवान्‌की पूजा करके वहाँसे लौटने लगे, तब उन्हें रास्तेमें एक बड़ी सुन्दर कन्या मिली। वह कन्या क्या थी, सौन्दर्यकी प्रत्यक्ष प्रतिमा थी। वास्तवमें वह भगवान्‌की प्रसन्नता ही थी। न जाननेपर भी राजाका चित्त उसकी ओर खिंच गया, मानो वह उनकी अपनी ही लड़की हो। उन्होंने वात्सल्य-स्नेहसे भरकर पूछा—'बेटी! तुम कौन हो, किसकी कन्या हो, यहाँ किसलिये आयी हो?' कन्याने कहा—'मेरे मा-बाप नहीं हैं, भाई-बन्धु भी नहीं हैं, मैं अनाथा हूँ। मैं आपकी पुत्री बननेके लिये आयी हूँ। मैं आपके महलमें रहूँगी, आपको देखा करूँगी; लेकिन एक शर्त है, यदि कोई मुझे बलपूर्वक स्पर्श करेगा अथवा मेरा हाथ पकड़ लेगा तो आपको उसे दण्ड देना पड़ेगा। यदि आप ऐसा करेंगे तो बहुत दिनोंतक मैं आपके पास रहूँगी।' राजाने कहा—'बेटी! तुम जो कह रही हो, वह सब मैं करूँगा। मेरे घर कोई लड़की नहीं है, एक लड़का है; तुम अन्तःपुरमें मेरी धर्मपत्नीके साथ पुत्रीके रूपमें निवास करो। जब तुम्हारी अवस्था विवाहके योग्य होगी, तब तुम जैसा चाहोगी, वैसा कर दूँगा।' कन्याने राजाकी बात स्वीकार की और उनके साथ समयपर राजधानीमें चली गयी। राजा पुण्यनिधिकी धर्मपत्नी विन्ध्यावली अपने पतिके समान ही शुद्ध हृदयकी थीं। अपने पतिको ही भगवान्‌की मूर्ति समझकर उनकी पूजा करती थीं। उनकी प्रसन्नताके लिये ही प्रत्येक चेष्टा करती थीं। उनका मन राजाका मन था,

उनका जीवन राजाका जीवन था। यह कन्या पाकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। राजाने कहा—'यह हमलोगोंकी लड़की है, इसके साथ परायेका-सा व्यवहार कभी नहीं होना चाहिये।' विन्ध्यावलीने प्रेमसे उस कन्याका हाथ पकड़ लिया और अपनी गर्भजात पुत्रीके समान ही उसका पालन-पोषण करने लगीं। इस प्रकार कुछ दिन बीते।

भगवान्की लीला बड़ी विचित्र है। वे कब किस बहाने किसपर कृपा करते हैं, यह उनके सिवा और कोई नहीं जानता। राजा पुण्यनिधिपर कृपा करनेके लिये ही तो यह लीला रची गयी थी। अब वह अवसर आ पहुँचा। एक दिन वह कन्या सखियोंके साथ महलके पुष्पोद्यानमें फूल चुन रही थी। एक ही उम्रकी सब लड़कियाँ थीं। हँस-खेलकर आपसमें मनोरञ्जन कर रही थीं। उसी समय वहाँ एक ब्राह्मण आया। उसके कंधेपर एक घड़ा था, जिसमें जल भरा हुआ था। एक हाथसे वह उस घड़ेको पकड़े हुए था और दूसरे हाथमें छाता लिये हुए था, मानो अभी गङ्गा-स्नान करके लौट रहा हो। उसके शरीरमें भस्म लगा हुआ था और मस्तकपर त्रिपुण्ड्र था। हाथमें रुद्राक्षकी माला और मुखमें भगवान् शङ्करका नाम। इस ब्राह्मणको देखकर वह कन्या स्तब्ध-सी हो गयी; वह मन-ही-मन जान गयी कि ब्राह्मणके वेशमें यह कौन है? यह छद्मवेशी ब्राह्मण इसी कन्याको तो ढूँढ़ रहा था। कन्याकी ओर दृष्टि जाते ही ब्राह्मणने पहचान लिया और जाकर उस कन्याका हाथ पकड़ लिया। कन्या चिल्ला उठी। उसकी सखियोंने भी साथ दिया। उनकी आवाज सुनते ही कई सैनिकोंके साथ राजा पुण्यनिधि वहाँ पहुँच गये और उन्होंने पूछा—'बेटी! तुम्हारे चिल्लानेका क्या कारण है, किसने तुम्हारा अपमान किया है?' कन्याकी आँखोंमें आँसू थे। वह खेद और रोषसे कातर हो रही थी। उसने कहा—'पाण्ड्यनाथ! इस ब्राह्मणने बलात् मेरा हाथ पकड़ लिया, अब भी यह निडर होकर पेड़के नीचे खड़ा है।' राजा पुण्यनिधिको अपनी प्रतिज्ञा याद हो आयी। वे सोचने लगे कि 'मैंने इस कन्याको वचन दिया है कि यदि कोई तुम्हारी इच्छाके विपरीत तुम्हारा हाथ पकड़ लेगा तो मैं उसे दण्ड दूँगा। इस कन्याको मैंने अपनी पुत्री माना है, मुझे अवश्य ही इस ब्राह्मणको दण्ड देना चाहिये।' उनके चित्तमें इस बातकी कल्पना भी नहीं हो सकती थी कि मेरे भगवान् इस रूपमें मुझपर कृपा करने आये होंगे। उन्होंने सैनिकोंको आज्ञा दी और ब्राह्मणदेवता पकड़ लिये गये। हाथोंमें हथकड़ी और पैरोंमें बेड़ी डालकर उन्हें रामनाथके मन्दिरमें डाल दिया गया। कन्या प्रसन्न होकर अन्तःपुरमें गयी और राजा अपनी बैठकमें गये।

रात हुई। राजाने स्वप्नमें देखा कि जिस ब्राह्मणको कैद किया गया है, वह तो ब्राह्मण नहीं है, साक्षात् भगवान् हैं। वर्षाकालीन मेघके समान श्यामल छबि, चारों करकमलोंमें शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म, शरीरपर पीताम्बर एवं वक्षःस्थलपर कौस्तुभमणि और वनमाला धारण किये हुए हैं। मन्द-मन्द मुसकराते हुए मुखमेंसे दाँतोंकी किरणें निकलकर दिशाओंको उज्ज्वल कर रही हैं। मकराकृति कुण्डलोंकी छटा निराली ही है। गरुड़के ऊपर शेषशय्यापर विराजमान हैं। साथ ही राजाकी वह कन्या लक्ष्मीके रूपमें खिले हुए कमलपर बैठी है। काले-काले घुँघराले बाल हैं, हाथमें कमल है, बड़े-बड़े दिग्गज स्वर्ण-कलशोंमें अमृत भरकर अभिषेक कर रहे हैं। अमूल्य रत्न और मणियोंकी माला पहने हुए हैं। विष्वक्सेन आदि पार्षद, नारदादि मुनिगण उनकी सेवा कर रहे हैं। महाविष्णुके रूपमें उस ब्राह्मणको और महालक्ष्मीके रूपमें अपनी पुत्रीको देखकर राजा पुण्यनिधि चकित—स्तम्भित हो गये। स्वप्न टूटते ही वे अपनी कन्याके पास गये। परंतु यह क्या? कन्या कन्याके रूपमें नहीं है; स्वप्नमें जो रूप देखा था वही रूप सामने है। महालक्ष्मीको साष्टाङ्ग प्रणाम करके वे उनके साथ ही रामनाथ-मन्दिरमें गये। वहाँ ब्राह्मणको भी उसी रूपमें देखा, जिस रूपमें स्वप्नके समय देखा था। अपने अपराधका स्मरण करके राजा मूर्च्छित-से हो गये। 'हाय! त्रिलोकीके नाथको मैंने कैदमें डाल दिया। जिसकी पूजा करनी चाहिये, उसको बेड़ीसे जकड़ दिया! धिक्कार है, मुझे सौ-सौ बार धिक्कार है। भगवान्के हाथोंमें मैंने हथकड़ी डाल दी! मुझसे बड़ा अपराधी भला, और कौन हो सकता है।' राजा पुण्यनिधिका हृदय फटने लगा, शरीर शिथिल हो गया, उनकी मृत्युमें अब आधे क्षणका भी विलम्ब नहीं था। इतनेमें ही उन्हें भगवान्की कृपाका

स्मरण हो आया। 'ऐसी अद्भुत लीला! भला, उन्हें कौन बाँध सकता है। यशोदाने बाँधा था प्रेमसे और मैंने बाँधा अपनी शक्तिके घमंडसे, रोषसे। पर मुझसे भी बँध गये! प्रभो! यह तुम्हारी कृपापरवशता नहीं तो और क्या है।'

राजा पुण्यनिधिने प्रेममुग्ध हृदयसे, गद्गद कण्ठसे, आँसूभरी आँखोंसे, सिर झुकाकर, रोमाञ्चित शरीरसे, हाथ जोड़कर स्तुति की—'प्रभो! मैं आपके चरणोंमें कोटि-कोटि प्रणाम करता हूँ। आप मुझपर कृपा करें, प्रसन्न हों; मैंने अनजानमें यह अपराध किया है। परंतु अपराध चाहे जैसे किया गया हो, है अपराध ही। आपकी मूर्ति कृपामयी है। आप यदि अपनेको प्रकट न करें तो संसारी लोग भला, आपको कैसे पहचान सकते हैं। दयामूर्ते! मैंने आपको हथकड़ी-बेड़ीसे जकड़कर महान् अन्याय और अपराध किया है। यदि आप मुझपर कृपा नहीं करेंगे तो मेरे निस्तारका कोई साधन नहीं है। मैं आपके चरणोंमें बार-बार नमस्कार करता हूँ।'

राजा पुण्यनिधिने महालक्ष्मीकी ओर दृष्टि करके कहा—'हे देवि! हे जगद्धात्री! मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ। आपका निवास भगवान्का वक्षःस्थल है। मैंने साधारण कन्या समझकर आपको कष्ट दिया है। आपकी महिमाका भला, कौन वर्णन कर सकता है। सिद्धि, सन्ध्या, प्रभा, श्रद्धा, मेधा, आत्मविद्या आदिके रूपमें आप ही प्रकट हो रही हैं। हे मा! संसारकी रक्षाके लिये आप ही वेदोंके रूपमें प्रकट हुई हैं। हे ब्रह्मस्वरूपिणी! अपनी कृपादृष्टिसे मुझे जीवनदान दो।' इस प्रकार स्तुति करके राजाने भगवान्से प्रार्थना की—'प्रभो! मैंने अनजानमें जो अपराध किया है, उसे आप क्षमा कर दीजिये। मधुसूदन! शिशुओंका अपराध गुरुजन क्षमा करते ही आये हैं। प्रभो! जिन दैत्योंने अपराध किया था, उनको तो आपने अपने स्वरूपका दान किया। भगवन्! आप मेरे इस अपराधको भी क्षमा करें। हे कृपानिधे! हे लक्ष्मीकान्त! आप अपनी कृपा-कोमल दृष्टि मेरे ऊपर भी डालें।'

पुण्यनिधिकी प्रार्थना सुनकर भगवान्ने कहा—'राजन्! मुझे कैद करनेके कारण भयभीत होना उचित नहीं है। मैं तो स्वभावसे ही प्रेमियोंका बंदी हूँ, भक्तोंके वशमें हूँ। जो मेरी प्रसन्नताके लिये कर्म करते हैं, वे मेरे भक्त हैं; तुम्हारी सेवासे मैं तुम्हारे अधीन हो गया हूँ। इसीसे चाहे तुम हथकड़ी-बेड़ी पहनाओ या मत पहनाओ, मैं तुम्हारे प्रेमकी बेड़ीमें सदा बँधा हूँ। मैं अपने भक्तोंके अपराधको अपराध ही नहीं गिनता। इसलिये डरनेकी कोई बात नहीं है। ये महालक्ष्मी मेरी अर्द्धाङ्गिनी शक्ति हैं। तुम्हारी भक्तिकी परीक्षाके लिये ही मेरी सम्मतिसे ये तुम्हारे पास आयी थीं। तुमने इनकी रक्षा करके, अनाथ बालिकाके रूपमें होनेपर भी इन्हें अपने घरमें रखकर और सेवा करके मुझे सन्तुष्ट किया है। इनके साथ तुमने जो प्रतिज्ञा की थी, उसकी रक्षाके लिये मुझे कैदमें डालना किसी प्रकार अनुचित नहीं है। तुमने इनकी रक्षा की है। अनाथकी रक्षा किस प्रकार करनी चाहिये, यह तुमने दिखा दिया। इसलिये मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। ये लक्ष्मी तुम्हारी पुत्री हैं, ऐसा ही समझो। यह सत्य है, इसमें सन्देह नहीं।'

महालक्ष्मीने कहा—'राजन्! तुमने बहुत दिनोंतक मेरी रक्षा की है, इसलिये मैं तुमपर बहुत ही प्रसन्न हूँ। भगवान्ने और मैंने तुम्हारी भक्तिको शुद्ध करनेके लिये ही प्रेमकलहका बहाना बनाया और इस प्रकार हम दोनों ही तुम्हारे सामने प्रकट हुए। तुमने कोई अपराध नहीं किया। हम तुमपर प्रसन्न हैं। हमारी कृपासे तुम सर्वदा सुखी रहोगे। सारे भूमण्डलका ऐश्वर्य तुम्हें प्राप्त होगा। जबतक जीवित रहोगे, हमारे चरणोंमें तुम्हारी अविचल भक्ति बनी रहेगी। तुम्हारी बुद्धि कभी पापमें न जायगी, सदा धर्ममें ही लगी रहेगी। तुम्हारा हृदय निरन्तर भक्ति-रसमें डूबा रहेगा। इस जीवनके अन्तमें तुम हमारा सायुज्य प्राप्त करोगे।' इतना कहकर महालक्ष्मी भगवान्के वक्षःस्थलमें समा गयीं। भगवान्ने कहा—'राजन्! यह जो तुमने मुझे बाँधा है, यह बड़ा मधुर बन्धन है। मैं नहीं चाहता कि इससे छूट जाऊँ और इसकी स्मृति यहीं लुप्त हो जाय। इसलिये अब मैं यहाँ इसी रूपमें निवास करूँगा और मेरा नाम 'सेतुमाधव' होगा। इतना कहकर भगवान् चुप हो गये।

राजा पुण्यनिधिने भगवान्की इस अर्चा-मूर्तिकी पूजा की और रामनाथ-लिङ्गकी सेवा करके अपने घर गये। जीवनपर्यन्त वे अपनी पत्नीके साथ भगवान्का स्मरण-चिन्तन करते रहे। अन्तमें दोनों भगवान्की सायुज्य-मुक्ति प्राप्त करके भगवान्से एक हो गये।

भक्तराज भीष्मपितामह

परित्यजेयं त्रैलोक्यं राज्यं देवेषु वा पुनः।
यद्वाप्यधिकमेताभ्यां न तु सत्यं कथञ्चन॥

—भीष्म (महाभारत)

महर्षि वसिष्ठके शापसे आठों वसुओंको मनुष्यलोकमें जन्म लेना था। श्रीगङ्गाजीने उनकी माता होना स्वीकार किया। वे महाराज शन्तनुकी पत्नी हुईं। सात वसुओंको तो जन्मते ही उन्होंने अपने जलमें डालकर उनके लोक भेज दिया, पर आठवें वसु द्यौको शन्तनुजीने रख लिया। इसी बालकका नाम 'देवव्रत' हुआ। महाराज शन्तनु दाशराजकी पालिता पुत्री सत्यवतीपर मुग्ध हो गये; किंतु दाशराज चाहते थे कि उनकी पुत्रीकी सन्तान ही सिंहासनपर बैठनेकी अधिकारिणी मानी जाय, तब वे महाराजको अपनी कन्या दें। महाराज अपने ज्येष्ठ सुशील पुत्र देवव्रतका स्वत्व छीनना नहीं चाहते थे और सत्यवतीकी आसक्ति भी उनमें थी। वे उदास रहने लगे। मन्त्रियोंसे पिताकी उदासीका पता लगाकर देवव्रत दाशराजके पास गये और उन्होंने कहा—'मैं राज्यासन नहीं लूँगा।' जब दाशराजने शङ्का की कि तुम तो राजगद्दीपर नहीं बैठोगे, पर तुम्हारी सन्तान राज्यके लिये झगड़ सकती है, तब उन्होंने आजन्म अविवाहित रहनेकी प्रतिज्ञा की। देवताओंने इस प्रतिज्ञासे प्रसन्न होकर उनपर पुष्पवर्षा की, और ऐसी भीषण प्रतिज्ञा करनेके कारण उनको 'भीष्म' कहकर सम्बोधित किया। महाराज शन्तनु अपने पुत्रकी पितृभक्तिसे परम सन्तुष्ट हुए। उन्होंने भीष्मको आशीर्वाद दिया—'बेटा! जब तुम चाहोगे, तभी तुम्हारा शरीर छूटेगा। तुम्हारी इच्छाके बिना मृत्यु तुम्हारा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकेगी।'

भीष्मजीने भगवान् परशुरामसे धनुर्वेद सीखा था। जब परशुरामजी काशिराजकी कन्या अम्बाकी प्रार्थना मानकर भीष्मजीके पास आये और उनसे कहने लगे कि 'तुम उस कन्यासे विवाह कर लो' तब भीष्मजीने बड़ी नम्रतासे कहा—'गुरुजी! मैं त्रिलोकीके राज्यके लिये या स्वर्गके सिंहासनके लिये अथवा दोनोंसे भी अधिक महान् पदके लिये भी सत्यको कभी नहीं छोड़ सकता।'

परशुरामजीने भय दिखाया और अन्तमें वे भीष्मसे युद्ध करने लगे। बड़ा ही उग्र संग्राम हुआ। ऋषियोंने भीष्मको समझाना चाहा, पर उन तेजस्वीने कहा—'भय, दया, धनके लोभ और कामनासे मैं क्षात्रधर्मका त्याग नहीं कर सकता। मैं युद्धमें पीठ नहीं दिखाऊँगा। मेरी प्रतिज्ञा है कि मैं प्रतिपक्षका आघात सहता हुआ पैर पीछे नहीं रखूँगा।' अन्तमें देवताओंके कहनेसे परशुरामजीको ही मानना पड़ा। भीष्मका व्रत अटल रहा।

जब सत्यवतीके दोनों पुत्र मर गये, तब भरतवंशकी रक्षा एवं राज्यके पालनके निमित्त सत्यवतीने भीष्मको सिंहासनपर बैठने तथा सन्तानोत्पादन करनेके लिये कहा। भीष्मने मातासे कहा—'पञ्चभूत चाहे अपना गुण छोड़ दें, सूर्य चाहे तेजोहीन हो जायँ, चन्द्रमा चाहे शीतल न रहें, इन्द्रमेंसे बल और धर्मराजमेंसे धर्म चाहे चला जाय; पर त्रिलोकीके राज्यके लिये भी मैं अपनी प्रतिज्ञा छोड़ नहीं सकता। माता! तुम इस विषयमें मुझसे कुछ मत कहो।'

युधिष्ठिरके राजसूय-यज्ञमें भीष्मजीने ही पहले कहा—'तेज, बल, पराक्रम तथा सभी गुणोंमें श्रीकृष्ण ही सर्वश्रेष्ठ हैं और वे ही अग्रपूजा पानेके अधिकारी हैं।' जब इस बातसे जलकर शिशुपाल तथा उसके समर्थक उनकी भर्त्सना करने लगे, तब उन्होंने खुलकर घोषणा करते हुए कहा—'हम जानते हैं कि श्रीकृष्ण ही समस्त लोकोंकी उत्पत्ति तथा विनाशके मूल कारण हैं। इन्हींके द्वारा यह सचराचर विश्व रचा गया है। ये ही अव्यक्त प्रकृति हैं, ये ही कर्ता ईश्वर हैं, ये ही समस्त भूतोंसे परे सनातन ब्रह्म हैं। ये ही सबसे बड़े एवं सबके पूज्य हैं। समस्त सद्गुण श्रीकृष्णमें ही प्रतिष्ठित हैं।'

आश्रयदाताकी सहायता करना धर्म है, इसीलिये भीष्मजीने महाभारतके युद्धमें दुर्योधनका पक्ष लिया। वे दुर्योधनको उसके अन्यायोंके लिये सदा धिक्कारते रहते थे। युद्धमें भी वे दुर्योधनको समझाते रहते थे। अवश्य ही वे पूरी शक्तिसे दुर्योधनके पक्षमें लड़ रहे थे; पर हृदयसे धर्मपर स्थित पाण्डवोंकी विजय ही उन्हें अभीष्ट थी। उन्होंने स्वयं अपनी मृत्युका उपाय बताया और युधिष्ठिरको अपने वधके लिये आज्ञा दी।

महाभारतके युद्धमें भगवान् श्रीकृष्णने शस्त्र ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा की थी। दुर्योधनद्वारा उत्तेजित किये जानेपर भीष्मजीने प्रतिज्ञा कर ली कि 'भगवान्‌को शस्त्र ग्रहण करा दूँगा।' दूसरे दिनके युद्धमें भीष्मने अर्जुनको अपनी बाण-वर्षासे विकल कर दिया। भक्तवत्सल भगवान् अपने भक्तके प्रणकी रक्षाके लिये अपनी प्रतिज्ञा भंग करके सिंहनाद करते हुए अर्जुनके रथसे कूद पड़े

और हाथमें रथका टूटा पहिया लेकर भीष्मकी ओर दौड़े। सेनामें हाहाकार मच गया। लोग चिल्लाने लगे—'भीष्म मारे गये! भीष्म मारे गये।' पृथ्वी काँपने लगी; किन्तु भीष्म देख रहे थे कि श्रीकृष्णचन्द्रका पीताम्बर कन्धेसे गिरकर भूमिमें लोटता जा रहा है। उन श्यामसुन्दरके चरण युद्धभूमिमें रक्तसे लथपथ होते दौड़े आ रहे हैं। अलकें उड़ रही हैं। भालपर स्वेद तथा शरीरपर कुछ रक्तकी बूँदें झलमला रही हैं। भृकुटियाँ कठोर किये श्रीकृष्ण हुंकार करते आ रहे हैं। भीष्म मुग्ध हो गये भगवान्की भक्तवत्सलतापर। वे उनका स्वागत करते हुए बोले—

'पुण्डरीकाक्ष! देवदेव! आओ! आओ! तुमको मेरा नमस्कार। पुरुषोत्तम! आज इस युद्धभूमिमें तुम मेरा वध करो। परमात्मन्! श्रीकृष्ण! गोविन्द! तुम्हारे हाथसे मरनेपर अवश्य मेरा कल्याण होगा! आज मैं त्रिलोकीमें सम्मानित हूँ! निष्पाप प्रभो! इच्छानुसार तुम अपने इस दासपर प्रहार करो!'

अर्जुनने दौड़कर पीछेसे भगवान्के चरण पकड़ लिये और बड़ी कठिनाईसे उन्हें रथपर लौटा ला सके।

भीष्मजीके हृदयमें भगवान्की यह मूर्ति बस गयी। वे उसे अन्ततक नहीं भूल सके। सूरदासजीने भीष्मजीका मनोभाव इस प्रकार प्रकट किया है—

वा पट पीत की फहरान।
कर धरि चक्र चरन की धावनि, नहिं बिसरति वह बान॥
रथ तें उतरि अवनि आतुर ह्वै, कच रजकी लपटान।
मानों सिंह सैल तें निकस्यो, महामत्त गज जान॥
जिन गुपाल मेरो प्रन राख्यो, मेटि बेद की कान।
सोई सूर सहाय हमारे निकट भए हैं आन॥

भीष्मजीने अपनेको रणशय्या देनेकी विधि स्वयं बतायी थी। जब शिखण्डीको आगे करके अर्जुन उनपर बाण चलाने लगे, तब भी उन्होंने शिखण्डीपर आघात नहीं किया। पितामह भीष्मका रोम-रोम बाणोंसे बिंध गया। रथसे जब वे गिरे तो उनका शरीर उन बाणोंपर ही उठा रह गया। केवल उनका मस्तक लटक रहा था। पितामहने अर्जुनसे कहा—'वत्स! मेरे योग्य तकिया दो!' अर्जुनने तीन बाण उनके मस्तकमें मारकर सिरको ऊपर उठा दिया। दुर्योधनके भेजे चिकित्सक जब वहाँ आये, तब पितामहने उन्हें आदरपूर्वक लौटा दिया।

महायुद्ध समाप्त होनेपर जब युधिष्ठिरका अभिषेक हो गया, वे रात्रिमें एक दिन भगवान् श्रीकृष्णके पास गये। युधिष्ठिरने भगवान्को प्रणाम करके कुशल पूछी, पर उन्हें कोई उत्तर नहीं मिला। उन्होंने देखा कि श्रीकृष्णचन्द्र ध्यानस्थ हैं। उनका रोम-रोम पुलकित हो रहा है। युधिष्ठिरने पूछा कि—'प्रभो! भला आप किसका ध्यान कर रहे हैं?' भगवान्ने बताया—'शरशय्यापर पड़े हुए पुरुषश्रेष्ठ भीष्म मेरा ध्यान कर रहे थे; उन्होंने मेरा स्मरण किया था, अतः मैं भी उनका ध्यान करनेमें लगा था। मैं उनके पास चला गया था।

भगवान्ने फिर कहा—'युधिष्ठिर! वेद एवं धर्मके सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता, नैष्ठिक ब्रह्मचारी पितामह भीष्मके न रहनेपर जगत्के ज्ञानका सूर्य अस्त हो जायगा। अतः वहाँ चलकर तुमको उनसे उपदेश लेना चाहिये।'

युधिष्ठिर श्रीकृष्णचन्द्रको लेकर भाइयोंके साथ जहाँ भीष्मजी शरशय्यापर पड़े थे, वहाँ गये। बड़े-बड़े ब्रह्मवेत्ता ऋषि-मुनि वहाँ पहलेसे उपस्थित थे। श्रीकृष्णचन्द्रने पितामहसे कहा—'आप युधिष्ठिरको उपदेश करें।' भीष्मजीने बताया कि 'मेरे शरीरमें बाणोंकी अत्यधिक पीड़ा है, इससे मन स्थिर नहीं है।' उन्होंने स्पष्ट कहा—'आप जगद्गुरुके सामने मैं उपदेश करूँ, यह साहस मैं नहीं कर सकता।'

भगवान्ने स्नेहपूर्ण वाणीमें कहा—'पितामह! आपके शरीरका क्लेश, मूर्च्छा, दाह, ग्लानि, क्षुधा-पिपासा, मोह आदि सब अभी नष्ट हो जायँ और आपके अन्तःकरणमें सब प्रकारके ज्ञानका स्फुरण हो। आप जिस विद्याका चिन्तन करेंगे, वह आपके चित्तमें प्रत्यक्ष हो जायगी।' भगवान्ने बताया—'मैं स्वयं उपदेश न करके आपसे इसलिये उपदेश करनेको कहता हूँ, जिसमें मेरे भक्तकी कीर्तिका विस्तार हो।' भगवान्की कृपासे पितामहकी सारी पीड़ा दूर हो गयी। उनका चित्त स्थिर हो गया। उनके हृदयमें भूत, भविष्य, वर्तमानका समस्त ज्ञान प्रकट हो गया। उन्होंने बड़े उत्साहसे युधिष्ठिरको धर्मके समस्त अङ्गोंका उपदेश किया।

अन्तमें सूर्यके उत्तरायण होनेपर एक सौ पैंतीस वर्षकी अवस्थामें माघ शुक्ल अष्टमीको सैकड़ों ब्रह्मवेत्ता ऋषि-मुनियोंके बीचमें शरशय्यापर पड़े हुए पितामहने अपने सम्मुख खड़े पीताम्बरधारी श्रीकृष्णचन्द्रका दर्शन करते हुए, उनकी स्तुति करते हुए, चित्तको उन परम पुरुषमें एकाग्र करके शरीरका त्याग कर दिया।
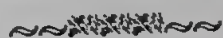
महाराज उग्रसेन

बिधि बस सुजन कुसंगति परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं॥

महाराज उग्रसेन प्रजावत्सल, धर्मात्मा और भगवद्भक्त थे। विधिका विधान ही कुछ विचित्र है। अनेक बार हिरण्यकशिपु-जैसे देवता, धर्म तथा ईश्वरविरोधी असुर-सदृश लोगोंके कुलमें प्रह्लाद-जैसे भगवद्भक्त उत्पन्न होते हैं और अनेक बार ठीक इससे उलटी बात हो जाती है। उग्रसेनजीका पुत्र कंस बचपनसे क्रूर था। धर्मके प्रति सदासे उसकी उपेक्षा थी। असुरों तथा आसुरी प्रकृतिके लोगोंसे ही उसकी मित्रता थी। इतना होनेपर भी कंस बलवान् था, तेजस्वी था और शूर था। उसने दिग्विजय की थी। महाराज उग्रसेन अपने पुत्रकी धर्मविरोधी रुचिसे बहुत दुःखी रहते थे; किंतु कंस पिताकी सुनता ही नहीं था। सेनापर उसीका प्रभुत्व था। महाराज विवश-जैसे थे।

जब कंसने वसुदेव-देवकीको बन्दीगृहमें डाल दिया, तब महाराज उग्रसेन बहुत असन्तुष्ट हुए। इसका परिणाम उलटा ही निकला। दुरात्मा कंसने अपने पिता उग्रसेनजीको भी कारागारमें बंद कर दिया और स्वयं राजा बन बैठा। धन और पदके लोभसे नीच पुरुष माता-पिता, भाई-मित्र तथा गुरुका भी अपमान करते नहीं हिचकते। वे इनकी हत्यातक कर डालते हैं। नश्वर शरीरमें मोहवश आसक्त होकर मनुष्य नाना प्रकारके पाप करता है। कंस भी शरीरके मोह तथा अहङ्कारसे अन्धा हो गया था।

कारागारमें महाराज उग्रसेनको सन्तोष ही हुआ। उन्होंने सोचा—'भगवान्ने कृपा करके पापी पुत्रके दुष्कर्मोंका भागी होनेसे मुझको बचा दिया।' वे अपना सारा समय भगवान्के चिन्तनमें बिताने लगे। श्रीकृष्णचन्द्रने कंसको पछाड़कर परम धाम भेज दिया और महाराजको कारागारसे छुड़ाया। उग्रसेनजीकी इच्छा राज्य करनेकी नहीं थी; किंतु श्रीकृष्णके आग्रहको वे टाल नहीं सकते थे। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'महाराज! मैं आपका सेवक होकर आपकी आज्ञाका पालन करूँगा। देवतातक आपकी आज्ञाको स्वीकार करेंगे।'

द्वारकाका ऐश्वर्य अकल्पनीय था। देवराज इन्द्र भी महाराजके चरणोंमें प्रणाम करते थे। त्रिभुवनके स्वामी मधुसूदन जिनको प्रणाम करें, जिनसे आज्ञा माँगें, उनसे श्रेष्ठ और कौन हो सकता है? परंतु कभी भी महाराज उग्रसेनको अपने प्रभाव, ऐश्वर्य या सम्पत्तिका गर्व नहीं आया। वे तो श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये ही सिंहासनपर बैठते थे। अपना सर्वस्व श्रीकृष्णको ही उन्होंने बना लिया था। श्रीकृष्णकी इच्छा पूर्ण हो, वे केशव सन्तुष्ट रहें, इसीके लिये उग्रसेनजीके सब कार्य होते थे।

महाराज उग्रसेनने अश्वमेधादि बड़े-बड़े यज्ञ भगवान्को प्रसन्न करनेके लिये किये। नित्य ही ब्राह्मणों, दीनों, दुःखियोंको वे बहुत अधिक दान किया करते थे। इस प्रकार निरन्तर श्रीकृष्णके सान्निध्यमें, उन कमललोचनका ध्यान करते हुए महाराजका जीवन बीता और भगवान्के लीलासंवरण करनेपर वे भी भगवान्के अनुगामी हुए।
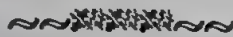
भक्त-वाणी

कीटेषु पक्षिषु मृगेषु सरीसृपेषु रक्षःपिशाचमनुजेष्वपि यत्र यत्र।
जातस्य मे भवतु केशव ते प्रसादात् त्वय्येव भक्तिरचलाऽव्यभिचारिणी च॥ —द्रुपद

कीड़े-मकोड़ोंमें, पशु-पक्षियोंमें, साँप आदि रेंगनेवाले जीवोंमें, राक्षस, पिशाच अथवा मनुष्योंमें जहाँ-कहीं भी मेरा जन्म हो, केशव ! तुम्हारी कृपासे मेरी तुम्हारे चरणोंमें अडिग एवं अनन्य भक्ति बनी रहे।

वात्सल्यभक्त श्रीवसुदेवजी

किं दुःसहं नु साधूनां विदुषां किमपेक्षितम्।
किमकार्यं कदर्याणां दुस्त्यजं किं धृतात्मनाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १। ५८)

'साधु पुरुषोंके लिये कोई कष्ट दुःसह नहीं होता। विद्वानोंको किसीकी अपेक्षा नहीं होती। कदर्य पुरुषोंके लिये कोई भी कार्य अकरणीय नहीं जान पड़ता और धैर्यशील पुरुषोंके लिये कुछ भी दुस्त्यज नहीं है।'

यदि ऐसे लोकोत्तर साधु धैर्यशील पुरुष लोकमें न हों, तो धर्मपर ही स्थित रहनेवाला संसार एक क्षण भी न टिके। भगवान् पृथ्वीपर अवतार लेते हैं ऐसे ही साधु भक्तोंको संतुष्ट करनेके लिये। भक्तोंकी भावना ही उन भक्तवत्सलको संसारमें बुला पाती है। धर्मस्थापन आदि कार्य तो गौण होते हैं—भगवान्‌के लिये।

पूर्वकल्पमें प्रजापति सुतपा तथा उनकी पत्नी पृश्निने बहुत दिनोंतक तपस्या करके भगवान्‌को संतुष्ट किया। जब भगवान्‌ने उन्हें दर्शन देकर वरदान माँगनेको कहा, तब उन लोगोंने भगवान्‌को ही अपने पुत्ररूपमें पानेकी इच्छा प्रकट की। प्रभुने तीन बार उनसे 'दिया, दिया, दिया' कहा। उस कल्पमें भगवान्‌का अवतार माता पृश्निसे हुआ और वे 'पृश्निगर्भ' कहलाये। दूसरे कल्पमें प्रजापति सुतपा हुए कश्यपजी और पृश्नि हुईं देवमाता अदिति। भगवान्‌ने 'वामन'रूपसे उनके यहाँ अवतार लिया। क्योंकि तीन बार भगवान्‌ने 'दिया, दिया, दिया' कहा था, अतः तीसरी बार प्रजापति सुतपा यदुवंशमें शूरसेनजीके पुत्र वसुदेवजी हुए। इनके जन्मके समय देवताओंकी दुन्दुभियाँ स्वयं बज उठी थीं, इसलिये इनको लोग आनकदुन्दुभि भी कहते थे। माता पृश्नि मथुरानरेश उग्रसेनके भाई देवकजीकी सबसे छोटी कन्या देवकी हुईं।

वसुदेवजीके कुल अठारह विवाह हुए थे। देवककी छः कन्याएँ तो वसुदेवजीको विवाही ही गयी थीं; जब देवकीजीका भी विवाह उनसे हो गया, तब उग्रसेनजीका ज्येष्ठ पुत्र कंस अपनी छोटी चचेरी बहिनके स्नेहवश स्वयं वसुदेव-देवकीके रथका सारथि बनकर उन्हें घर पहुँचाने चला। मार्गमें आकाशवाणीने उससे कहा—'मूर्ख! तू जिसे पहुँचाने जा रहा है, उसकी आठवीं सन्तानके हाथसे तेरी मृत्यु होगी।' इतना सुनते ही कंसने तलवार खींच ली और वह देवकीको मारनेके लिये उद्यत हो गया। वसुदेवजीने उसे बहुत समझाया। 'शरीर तो नश्वर है। मृत्यु एक-न-एक दिन होगी ही। मनुष्यको कोई ऐसा काम इस दो क्षणके जीवनके लिये नहीं करना चाहिये कि मरनेपर लोग उसकी निन्दा करें। जो प्राणियोंको मोहवश कष्ट देता है, मरनेपर यमके दूत घोर नरकमें डालकर युगोंतक उसे भयङ्कर पीड़ा देते हैं।' कंसके ऊपर ऐसी बातोंका कोई प्रभाव पड़ता न देख अन्तमें वसुदेवजीने कहा—'तुम्हें इस देवकीसे तो कोई भय है नहीं। तुमको इसके पुत्रोंसे भय है, सो मैं उत्पन्न होते ही इसकी सन्तानोंको तुम्हारे पास पहुँचा दिया करूँगा।' कंस जानता था कि वसुदेवजी इतने धर्मात्मा हैं, इतने सत्यनिष्ठ हैं कि वे अपनी बात टाल नहीं सकते। उसने देवकीको मारनेका प्रयत्न छोड़ दिया।

समय आनेपर देवकीके पुत्र हुआ। वसुदेवजी-जैसे संत, सत्पुरुषके लिये कोई भी त्याग दुष्कर नहीं। अपने प्राणप्रिय पुत्रको वे जन्मते ही कंसके पास उठा ले गये। पहले तो कंसने उनकी सत्यनिष्ठा देखकर बालकको लौटा दिया; पर पीछे नारदजीने जब उसे उलटा-सीधा समझा दिया, तब उस बालकको उसने मार डाला और वसुदेव-देवकीको भी कारागारमें डाल दिया। देवकीके पुत्र उत्पन्न होते ही कंस उसे मार डालता था। छः पुत्र उसने इसी प्रकार मार दिये। सातवें गर्भमें सङ्कर्षणजी थे। योगमायाने उन्हें देवकीके पेटसे रोहिणीजीमें आकर्षित कर दिया। अष्टम तो भाद्रपद कृष्णपक्षकी अष्टमीको आधी रातमें स्वयं श्रीकृष्णचन्द्र ही प्रकट हुए। भगवान्‌के आदेशसे वसुदेवजी रात्रिमें ही उन्हें गोकुल नन्दभवनमें पहुँचा आये और वहाँसे यशोदाजीकी नवजात बालिका ले आये। कंस जब उस बालिकाको मारने चला तो वह उसके हाथसे छूटकर आकाशमें चली गयी। अष्टभुजादेवीके रूपमें प्रकट होकर उसने कंससे कहा—'तेरा वध

करनेवाला शत्रु कहीं प्रकट हो गया।' कंसने यह सुनकर वसुदेव-देवकीको कारागारसे छोड़ दिया।

दुरात्मा कंस जान गया कि उसे मारनेवाला नन्दगृहमें ही आया है। उसके जो असुर व्रजमें गये, वे सभी श्रीकृष्णके हाथों सद्गति पा गये! जब नारदजीसे पता लगा कि श्रीकृष्ण-बलराम तो वसुदेवजीके ही पुत्र हैं, तब तो वह बहुत रुष्ट हुआ। उसने हथकड़ी-बेड़ीसे वसुदेव-देवकीको जकड़कर पुनः बंदीगृहमें डाल दिया। अन्ततः श्रीकृष्णचन्द्र मथुरा आये। कंसको उन्होंने मारकर मुक्त कर दिया। पिता-माताकी बेड़ियाँ काटकर जब राम-श्याम उनके पदोंमें प्रणाम करने लगे, वसुदेवजी आश्चर्यसे खड़े रह गये। वे जानते थे कि श्रीकृष्णचन्द्र साक्षात् परमात्मा हैं। परंतु लीलामय श्यामसुन्दरने पिता-मातासे क्षमा माँगी, मीठी बातें कीं और उनमें वात्सल्य-भाव जाग्रत् कर दिया।

श्रीवसुदेवजीकी महिमा, उनके सौभाग्यका कोई अनुमान भी कैसे कर सकता है। जगन्नाथ बलराम-श्याम उन्हें पिता कहकर सदा आदर करते थे। नित्य प्रातःकाल उनके पास जाकर उनको प्रणाम करते थे। उनकी सब प्रकारकी सेवा करते थे। कुरुक्षेत्रमें सूर्य-ग्रहणके समय वसुदेवजीने ऋषियोंको कर्मके द्वारा संसारसे मुक्त होनेका मार्ग पूछा। ऋषियोंने उनसे यज्ञानुष्ठान कराया। वहाँ ऋषियोंने उनसे कहा था—'श्रीकृष्ण ही साक्षात् ब्रह्म हैं।' द्वारकामें वसुदेवजीने जब श्यामसुन्दरसे यही बात कही, तब उन मयूरमुकुटधारीने पिताको एक ही आत्मा सबमें, सर्वत्र, एकरस व्याप्त है, यह तत्त्वज्ञानका उपदेश किया। इसके पश्चात् देवर्षि नारदने वसुदेवजीको अध्यात्मज्ञान तथा भक्तिका तत्त्व बताया।

जब प्रभासक्षेत्रमें श्रीकृष्णचन्द्रने लीलासंवरण कर ली और दारुकसे यह संवाद प्राप्त हुआ, तब वसुदेवजी भी शङ्खोद्धार-तीर्थसे प्रभास गये और वहाँ उन्होंने भी श्रीकृष्णका अनुगमन किया।

भक्त अक्रूर

देहंभृतामियानर्थो हित्वा दम्भं भियं शुचम्।
सन्देशाद्यो हरेर्लिङ्गदर्शनश्रवणादिभिः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३८। २७)

प्राणियोंके देहधारण करनेकी सफलता इसीमें है कि निर्दम्भ, निर्भय और शोकरहित होकर अक्रूरजीके समान भगवत्चिह्नोंके दर्शन तथा उनके गुणोंके श्रवणादिके द्वारा वह भाव उत्पन्न करे, जो कंसका सँदेसा मिलनेके समयसे उन अक्रूरजीमें प्रकट हुआ था।

भक्तिशास्त्रमें श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, वन्दन, अर्चन, सख्य, दास्य और आत्मनिवेदन—इस तरह नौ प्रकारकी भक्ति बतलायी गयी है। इसके उदाहरणमें एक-एक भक्तका नाम लेते हैं—जैसे श्रवणमें परीक्षित्, कीर्तनमें वेदव्यास आदि-आदि। इसी तरह वन्दन-भक्तोंमें अक्रूरजीको बतलाया गया है। ये भगवान्के वन्दन-प्रधान भक्त थे। इनका जन्म यदुवंशमें ही हुआ था। ये वसुदेवजीके कुटुम्बके नातेसे भाई लगते थे। इनके पिताका नाम श्वफल्क था। ये कंसके दरबारके एक दरबारी थे। कंसके अत्याचारोंसे पीड़ित होकर बहुत-से यदुवंशी इधर-उधर भाग गये थे, किंतु ये जिस किसी प्रकार कंसके दरबारमें ही पड़े हुए थे।

जब अनेक उपाय करके भी कंस भगवान्को नहीं मरवा सका, तब उसने एक चाल चली। उसने एक धनुषयज्ञ रचा और उसमें मल्लोंके द्वारा मरवा डालनेके लिये गोकुलसे गोप-ग्वालोंके सहित श्रीकृष्ण-बलरामको बुलवाया। उन्हें आदरपूर्वक लानेके लिये अक्रूरजीको भेजा गया। कंसकी आज्ञाको पाकर अक्रूरजीकी प्रसन्नताका ठिकाना नहीं रहा। वे भगवान्के दर्शनके लिये बड़े उत्कण्ठित थे। किसी-न-किसी प्रकार वे भगवान्के दर्शन करना चाहते थे। भगवान्ने स्वतः ही कृपा करके ऐसा संयोग जुटा दिया। जीव अपने पुरुषार्थसे प्रभुके दर्शन करना चाहे तो यह उसकी अनधिकार चेष्टा है। कोटि जन्ममें भी उतनी पवित्रता, वैसी योग्यता जीव नहीं प्राप्त कर सकता कि जिससे वह परात्पर प्रभुके सामने पुरुषार्थके बलपर पहुँच सके। जब प्रभु ही अपनी

अहैतुकी कृपाके द्वारा जीवको अपने समीप बुलाना चाहें, तभी वह वहाँ जा सकता है। प्रभुने कृपा करके घर बैठे ही अक्रूरजीको बुला लिया!

प्रातःकाल मथुरासे रथ लेकर वे नन्दगाँव भगवान्‌को लेने चले। रास्तेमें अनेक प्रकारके मनोरथ करते जाते थे। सोचते थे—'अहा! उन पीताम्बरधारी बनवारीको मैं इन्हीं चक्षुओंसे देखूँगा; उनके सुन्दर मुखारविन्दको, घुँघराली काली-काली अलकावलीसे युक्त सुकपोलोंको निहारूँगा! वे जब मुझे अपने सुकोमल करकमलोंसे स्पर्श करेंगे, उस समय मेरे समस्त शरीरमें बिजली-सी दौड़ जायगी। वे मुझसे हँस-हँसकर बातें करेंगे। मुझे पास बिठायेंगे। बार-बार प्रेमपूर्वक 'चाचा', 'चाचा' कहेंगे। मेरे लिये वह कितने सुखकी स्थिति होगी।' इस प्रकार भाँति-भाँतिकी कल्पनाएँ करते हुए वे वृन्दावनके समीप पहुँचे। वहाँ उन्होंने वज्र, अङ्कुश, यव, ध्वजा आदि चिह्नोंसे विभूषित श्यामसुन्दरके चरणचिह्नोंको देखा। बस, फिर क्या था। वे उन घनश्यामके चरणचिह्नोंको देखते ही रथसे कूद पड़े और उनकी वन्दना करके उस धूलिमें लोटने लगे। उन्हें उस धूलिमें लोटनेमें कितना सुख मिल रहा था, यह कहनेकी बात नहीं है। जैसे-तैसे व्रज पहुँचे। सर्वप्रथम बलदेवजीके साथ श्यामसुन्दर ही उन्हें मिले। उन्हें छातीसे लगाया, घर ले गये। कुशल पूछी, आतिथ्य किया और सब समाचार जाने।

दूसरे दिन रथपर चढ़कर अक्रूरके साथ श्यामसुन्दर और बलराम मथुरा चले। गोपियोंने उनका रथ घेर लिया, बड़ी कठिनतासे वे आगे बढ़ सके। थोड़ी दूर चलकर यमुनाकिनारे अक्रूरजी नित्य-कर्म करने ठहरे। स्नान करनेके लिये ज्यों ही उन्होंने डुबकी लगायी कि भीतर चतुर्भुज श्रीश्यामसुन्दर दिखायी दिये। घबराकर ऊपर आये तो दोनों भाइयोंको रथपर बैठे देखा। फिर डुबकी लगायी तो फिर वही मूर्ति जलके भीतर दिखायी दी। अक्रूरजीको ज्ञान हो गया कि जलमें, स्थलमें, शून्यमें—कोई भी ऐसा स्थान नहीं, जहाँ श्यामसुन्दर विराजमान न हों। भगवान् उन्हें देखकर हँस पड़े। वे भी प्रणाम करके रथपर बैठ गये। मथुरा पहुँचकर भगवान् रथपरसे उतर पड़े और बोले—'हम अकेले ही पैदल जायँगे।' अक्रूरजीने बहुत प्रार्थना की—'आप रथपर पहले मेरे घर पधारें, तब कहीं अन्यत्र जायँ।' भगवान्‌ने कहा—'आपके घर तो तभी जाऊँगा, जब कंसका अन्त हो जायगा।' अक्रूरजी दुःखी मनसे चले गये।

कंसको मारकर भगवान् अक्रूरजीके घर गये। अब अक्रूरजीके आनन्दका क्या ठिकाना। जिनके दर्शनके लिये योगीन्द्र-मुनीन्द्र हजारों-लाखों वर्ष तपस्या करते हैं, वे स्वतः ही बिना प्रयासके घरपर पधार गये। अक्रूरजीने उनकी विधिवत् पूजा की और कोई आज्ञा चाही। भगवान्‌ने अक्रूरजीको अपना अन्तरङ्ग सुहृद् समझकर आज्ञा दी कि 'हस्तिनापुरमें जाकर हमारी बूआके लड़के पाण्डवोंके समाचार ले आइये। हमने सुना है, धृतराष्ट्र उन्हें दुःख देता है।' भगवान्‌की आज्ञा पाकर अक्रूरजी हस्तिनापुर गये और धृतराष्ट्रको सब प्रकारसे समझाकर और पाण्डवोंके समाचार लेकर लौट आये।

भगवान् जब मथुरापुरीको त्यागकर द्वारका पधारे, तब अक्रूरजी भी उनके साथ ही गये। अक्रूरजी इतने पुण्यशील थे कि वे जहाँ रहते, वहाँ खूब वर्षा होती, अकाल नहीं पड़ता। किसी प्रकारका कष्ट और महामारी आदि उपद्रव नहीं होते। एक बार वे जब किसी कारणवश द्वारकासे चले गये थे, तब द्वारकामें दैविक और भौतिक दुःखोंसे प्रजाको बड़ा भारी मानसिक और शारीरिक कष्ट सहना पड़ा था। आखिर भगवान्‌ने उनको ढुँढ़वाकर वापस बुलवाया। ये सम्बन्धमें भगवान् श्रीकृष्णके चाचा होनेपर भी उनके सच्चे भक्त थे। अन्तमें भगवान्‌के साथ ही वे परम धामको पधारे।

वात्सल्य-भक्त नन्दबाबा

श्रुतिमपरे स्मृतिमपरे भारतमपरे भजन्तु भवभीताः।
अहमिह नन्दं वन्दे यस्यालिन्दे परं ब्रह्म॥

वैसे तो नन्दबाबा नित्य-गोलोकधाममें सदा ही विराजमान रहते हैं। भगवान् श्रीकृष्णके नित्य सिद्ध पिता हैं। जब श्यामसुन्दरको पृथ्वीपर आना होता है, तब गोप, गोपियाँ, गायें और पूरा व्रजमण्डल नन्दबाबाके साथ पहले ही पृथ्वीपर प्रकट हो जाता है। किंतु जब भी इस प्रकारके भगवान्के नित्यजन पृथ्वीपर पधारते हैं, कोई-न-कोई जीव जो सृष्टिमें उनका अंशरूप होता है, उनसे एक हो जाता है। इसलिये ऐसा भी वर्णन आता है कि पूर्वकल्पमें वसुश्रेष्ठ द्रोण और उनकी पत्नी धरादेवीने भगवान्को प्रसन्न करनेके लिये बहुत कठिन तपस्या की। जब ब्रह्माजी उन्हें वरदान देकर तपस्यासे निवृत्त करनेके लिये उनके समीप आये, तब उन्होंने सृष्टिकर्तासे वरदान माँगा—'जब विश्वेश्वर श्रीहरि धरापर प्रकट हों, तब हमारा उनमें पुत्रभाव हो।' ब्रह्माजीके उसी वरदानके प्रभावसे द्रोण व्रजमें नन्द हुए और धरादेवी यशोदा हुईं।

मथुरामें वृष्णिवंशमें सर्वगुणालङ्कृत राजा देवमीढजी हुए। इनके दो पत्नियाँ थीं—एक क्षत्रियकन्या और दूसरी वैश्यपुत्री। क्षत्रियकन्यासे इनके पुत्र हुए—शूरसेनजी। इन्हीं शूरसेनजीके पुत्र वसुदेवजी हुए। वैश्यकन्यासे हुए—पर्जन्यजी। ये अपनी माताके कारण गोप-जातिके माने गये और मथुराके अन्तर्गत बृहद्वनमें—यमुनाजीके उस पार महावनमें इन्होंने अपना निवास बनाया। मथुरामण्डलकी गो-सम्पत्तिके ये प्रमुख अधिकारी हुए। इनके पुत्र हुए—उपनन्द, अभिनन्द, नन्द, सन्नन्द और नन्दन। पिताके पश्चात् व्रजमण्डलके गोष्ठनायकों तथा भाइयोंकी सम्मतिसे योग्य होनेके कारण मझले भाई होनेपर भी नन्दजी व्रजेश्वर हुए। वसुदेवजी इनके भाई ही लगते थे और उनसे नन्दबाबाकी घनिष्ठ मित्रता थी। जब मथुरामें कंसका अत्याचार बढ़ने लगा, तब वसुदेवजीने अपनी पत्नी रोहिणीको नन्दजीके यहाँ भेज दिया। गोकुलमें ही रोहिणीजीकी गोदमें बलरामजी पधारे। श्रीकृष्णचन्द्रको भी वसुदेवजी चुपचाप नन्दगृहमें रख आये। राम-श्याम नन्दगृहमें लालित-पालित हुए। नन्दबाबा वात्सल्य-रसके अधिदेवता हैं। उनके प्राण श्रीकृष्णमें ही बसते हैं। अपने श्यामके लिये ही वे उठते-बैठते, खाते-पीते, चलते-फिरते, प्राण धारण करते तथा दान-धर्म, पूजा-पाठ आदि करते थे। कन्हैया प्रसन्न रहे, सकुशल रहे—बस, एकमात्र यही चिन्तन और यही इच्छा उनमें थी।

जब गोकुलमें नाना प्रकारके उत्पात होने लगे, शकटका गिरना, यमलार्जुनका टूटना आदि घटनाएँ हुईं, तब नन्दबाबा अपने पूरे समुदायके साथ वहाँसे बरसानेके पास नन्दगाँव चले गये। एक बार बाबाने एकादशीका व्रत किया था। रात्रि-जागरण करके वे गोपोंके साथ हरिकीर्तनमें लगे थे। कुछ अधिक रात्रि शेष थी, तभी प्रातःकाल समझकर वे स्नान करने यमुनाजीमें उतर गये। वरुणका एक दूत उन्हें पकड़कर वरुणजीके पास ले गया। व्रजवासी नन्दबाबाको न देखकर विलाप करने लगे। उसी समय श्रीकृष्णचन्द्र यमुनामें कूदकर वरुणलोक पहुँचे। जलके अधिदेवता वरुणने भगवान्का बड़ा आदर किया, ससम्मान पूजा की। बाबाको वहाँसे लेकर श्यामसुन्दर लौट आये। इसी प्रकार शिवरात्रिको अम्बिका-वनकी यात्रामें रातको सोते समय जब बाबाको अजगरने आकर पकड़ लिया और गोपोंद्वारा जलती लकड़ियोंसे मारे जानेपर भी वह टस-से-मस नहीं हुआ, तब श्रीकृष्णचन्द्रने अपने चरणोंसे छूकर उसे सद्गति दी और बाबाको छुड़ाया।

अक्रूरजी व्रजमें आये। नन्दबाबा गोपोंके साथ राम-श्यामको लेकर मथुरा चले गये। मथुरामें श्रीकृष्णचन्द्रने कंसको मारकर अपने नाना उग्रसेनको राजा बनाया। वसुदेव-देवकीको कारागारसे छुड़ाया। यह सब तो हुआ, किंतु राम-श्याम व्रज नहीं लौटे। वे मथुरा ही रह गये। नन्दबाबाको लौट आना पड़ा व्रज। जब उद्धवजी श्यामका सन्देश लेकर व्रज आये, तब बाबाने उनसे व्याकुल होकर पूछा—'उद्धवजी! क्यां कभी श्यामसुन्दर हम सबको देखने यहाँ आयेंगे? क्या हम उनके हँसते

हुए कमल-मुखको एक बार देख सकेंगे? हमारे लिये उन्होंने दावाग्निपान किया, कालियदमन किया, इन्द्रकी वर्षासे हमें बचाया, अजगरसे मेरी रक्षा की। अनेक सङ्कटोंसे व्रजका परित्राण किया उन्होंने। उनका पराक्रम, उनकी हँसी, उनका बोलना, उनका चलना, उनकी क्रीड़ा आदिका जब हम स्मरण करते हैं और जब हम उनके चरण-कमलोंसे अङ्कित पर्वत, पृथ्वी, वन एवं यमुना-पुलिनको देखते हैं, तब अपने-आपको भूल जाते हैं। हमारी सब क्रियाएँ शिथिल पड़ जाती हैं।'

श्रीबलरामजी द्वारकासे एक बार व्रज आये और दो महीने वहाँ रहे। फिर सूर्यग्रहणके समय कुरुक्षेत्रमें पूरा व्रजमण्डल और द्वारकाका समाज एकत्र हुआ। यहीं बाबाने अपने श्यामको फिर देखा। कुरुक्षेत्रसे लौटनेपर तो व्रजमण्डल, उसके सभी दिव्य तरु, लता, पादपतक अन्तर्हित हो गये। जैसे नन्दबाबा गोप, गोपी, गौएँ तथा व्रजमण्डलके साथ नित्यलोकसे पृथ्वीपर प्रकट हुए थे, वैसे ही नित्यलोकको चले गये सबको साथ लेकर।

भक्तश्रेष्ठ युधिष्ठिर

सदानधर्माः सजनाः सदाराः
सबान्धवास्त्वच्छरणा हि पार्थाः।

(युधिष्ठिर)

धर्मराज युधिष्ठिर पाण्डवोंमें सबसे बड़े थे। युधिष्ठिर सत्यवादी, धर्ममूर्ति, सरल, विनयी, मद-मान-मोहवर्जित, दम्भ-काम-क्रोधरहित, दयालु, गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक, महान् विद्वान्, ज्ञानी, धैर्यसम्पन्न, क्षमाशील, तपस्वी, प्रजावत्सल, मातृ-पितृ-गुरु-भक्त और श्रीकृष्णभगवान्के परम भक्त थे। धर्मके अंशसे उत्पन्न होनेके कारण वे धर्मके गूढ़ तत्त्वको खूब समझते थे। धर्म और सत्यकी सूक्ष्मतर भावनाओंका यदि पाण्डवोंमें किसीके अंदर पूरा विकास था तो वह धर्मराज युधिष्ठिरमें ही था। सत्य और क्षमा तो इनके सहजात सद्गुण थे। बड़े-से-बड़े विकट प्रसङ्गोंमें इन्होंने सत्य और क्षमाको खूब निबाहा। द्रौपदीका वस्त्र उतर रहा है। भीम-अर्जुन-सरीखे योद्धा भाई इशारा पाते ही सारे कुरुकुलका नाश करनेको तैयार हैं। भीम वाक्यप्रहार करते हुए भी बड़े भाईके संकोचसे मन मसोस रहे हैं; परंतु धर्मराज धर्मके लिये चुपचाप सब सुन और सह रहे हैं !

नित्यशत्रु दुर्योधन अपना ऐश्वर्य दिखलाकर दिल जलानेके लिये द्वैतवनमें जाता है। अर्जुनका मित्र चित्रसेन गन्धर्व कौरवोंकी बुरी नीयत जानकर उन सबको जीतकर स्त्रियोंसहित कैद कर लेता है। युद्धसे भागे हुए कौरवोंके अमात्य युधिष्ठिरकी शरण आते हैं और दुर्योधन तथा कुरुकुलकामिनियोंको छुड़ानेके लिये अनुरोध करते हैं। भीम प्रसन्न होकर कहते हैं—'अच्छा हुआ, हमारे करनेका काम दूसरोंने ही कर डाला!' परंतु धर्मराज दूसरी ही धुनमें हैं, उन्हें भीमके वचन नहीं सुहाते; वे कहते हैं—'भाई ! यह समय कठोर वचन कहनेका नहीं है। प्रथम तो ये लोग हमारी शरण आये हैं, भयभीत आश्रितोंकी रक्षा करना क्षत्रियोंका कर्तव्य है; दूसरे अपनी जातिमें आपसमें चाहे जितना कलह हो, जब कोई बाहरका दूसरा आकर सताये या अपमान करे, तब उसका हम सबको अवश्य प्रतीकार करना चाहिये। हमारे भाइयों और पवित्र कुरुकुलकी स्त्रियोंको गन्धर्व कैद करें और हम बैठे रहें, यह सर्वथा अनुचित है।'

ते शतं हि वयं पञ्च परस्परविवादने।
परैस्तु विग्रहे प्राप्ते वयं पञ्चाधिकं शतम्॥

'आपसमें विवाद होनेपर वे सौ भाई और हम पाँच भाई हैं। परंतु दूसरोंका सामना करनेके लिये तो हमें मिलकर एक सौ पाँच होना चाहिये।' युधिष्ठिरने फिर कहा, 'भाइयो! पुरुषसिंहो! उठो! जाओ! शरणागतकी रक्षा और कुलके उद्धारके लिये चारों भाई जाओ और शीघ्र कुलकामिनियोंसहित दुर्योधनको छुड़ाकर लाओ।' कैसी अजातशत्रुता, धर्मप्रियता और नीतिज्ञता है! धन्य!

अजातशत्रु धर्मराजके वचन सुनकर अर्जुन प्रतिज्ञा करते हैं कि 'यदि दुर्योधनको उन लोगोंने शान्ति और प्रेमसे नहीं छोड़ा तो—

अद्य गन्धर्वराजस्य भूमिः पास्यति शोणितम्।

(महा०, वन० ३४। ३। २१)

'आज गन्धर्वराजके तप्त रुधिरसे पृथ्वीकी प्यास बुझायी जायगी।' परस्पर लड़कर दूसरोंकी शक्ति बढ़ानेवाले भारतवासियो! इस चरित्रसे शिक्षा ग्रहण करो।

वनमें द्रौपदी और भीम युद्धके लिये धर्मराजको बेतरह उत्तेजित करते हैं और मुँह आयी सुनाते हैं; पर धर्मराज सत्यपर अटल हैं। वे कहते हैं—'बारह वर्ष वन और एक सालके अज्ञातवासकी मैंने जो शर्त स्वीकार की है, उसे मैं नहीं तोड़ सकता।'

मम प्रतिज्ञां च निबोध सत्यां
वृणे धर्मममृताजीविताच्च।
राज्यं च पुत्राश्च यशो धनं च
सर्वं न सत्यस्य कलामुपैति॥

'मेरी सत्य प्रतिज्ञाको सुनो; मैं धर्मको अमरता और जीवनसे श्रेष्ठ मानता हूँ। सत्यके सामने राज्य, पुत्र, यश और धन आदिका कोई मूल्य नहीं है।'

एक बार युद्धके समय द्रोणाचार्यवधके लिये असत्य बोलनेका काम पड़ा; पर धर्मराज शेषतक पूरा असत्य न रख सके, सत्य शब्द 'कुञ्जर' का उच्चारण हो ही गया। कैसी सत्यप्रियता है!

युधिष्ठिर महाराज निष्काम धर्मात्मा थे। एक बार उन्होंने अपने भाइयों और द्रौपदीसे कहा—'सुनो! मैं धर्मका पालन इसलिये नहीं करता कि मुझे उसका फल मिले; शास्त्रोंकी आज्ञा है, इसलिये वैसा आचरण करता हूँ। फलके लिये धर्माचरण करनेवाले सच्चे धार्मिक नहीं हैं, परंतु धर्म और उसके फलका लेन-देन करनेवाले व्यापारी हैं।'

वनमें यक्षरूप धर्मके प्रश्नोंका यथार्थ उत्तर देनेपर जब धर्म युधिष्ठिरसे कहने लगे कि 'तुम्हारे इन भाइयोंमेंसे तुम कहो उस एकको जीवित कर दूँ' तब युधिष्ठिरने कहा—'नकुलको जीवित कर दीजिये।' यक्षने कहा—'तुम्हें कौरवोंसे लड़ना है, भीम और अर्जुन अत्यन्त बलवान् हैं; तुम उनमेंसे एकको न जिलाकर नकुलके लिये क्यों प्रार्थना करते हो?' युधिष्ठिरने कहा—'मेरे दो माताएँ थीं—कुन्ती और माद्री; कुन्तीका तो मैं एक पुत्र जीवित हूँ, माद्रीका भी एक रहना चाहिये। मुझे राज्यकी परवा नहीं है।' युधिष्ठिरकी समबुद्धि देखकर धर्मने अपना असली स्वरूप प्रकटकर सभी भाइयोंको जीवित कर दिया।

भगवान् श्रीकृष्णने जब वनमें उपदेश दिया, तब हाथ जोड़कर वे बोले—'केशव! निस्सन्देह पाण्डवोंकी आप ही गति हैं। हम सब आपकी ही शरण हैं, हमारे जीवनके अवलम्बन आप ही हैं।' कैसी अनन्यता है!

द्रौपदीसहित पाँचों पाण्डव हिमालय जाते हैं। एक कुत्ता साथ है। द्रौपदी और चारों भाई गिर पड़े, इन्द्र रथ लेकर आते हैं और कहते हैं—'महाराज! रथपर सवार होकर सदेह स्वर्ग पधारिये!' धर्मराज कहते हैं, 'यह कुत्ता मेरे साथ आ रहा है, इसको भी साथ ले चलनेकी आज्ञा दें।' देवराज इन्द्रने कहा—'धर्मराज! यह मोह कैसा! आप सिद्धि और अमरत्वको प्राप्त हो चुके हैं, कुत्तेको छोड़िये।' धर्मराजने कहा—'देवराज! ऐसा करना आर्योंका धर्म नहीं है; जिस ऐश्वर्यके लिये अपने भक्तका त्याग करना पड़ता हो, वह मुझे नहीं चाहिये। स्वर्ग चाहे न मिले, पर इस भक्त कुत्तेको मैं नहीं त्याग सकता।' इतनेमें कुत्ता अदृश्य हो गया, साक्षात् धर्म प्रकट होकर बोले—'राजन्! मैंने तुम्हारे सत्य और कर्तव्यकी निष्ठा देखनेके लिये ही ऐसा किया था। तुम परीक्षामें उत्तीर्ण हुए।'

इसके बाद धर्मराज साक्षात् धर्म और इन्द्रके साथ रथमें बैठकर स्वर्गमें जाते हैं। वहाँ अपने भाइयों और द्रौपदीको न देखकर अकेले स्वर्गमें रहना पसंद नहीं करते। एक बार मिथ्याभाषणके कारण धर्मराजको मिथ्या नरक दिखलाया जाता है। उसमें वे सब भाइयोंसहित द्रौपदीका कल्पित आर्तनाद सुनते हैं और वहीं नरकके दुःखोंमें रहना चाहते हैं। कहते हैं—'जहाँ मेरे भाई रहते हैं, मैं भी वहीं रहूँगा।' इतनेमें प्रकाश छा जाता है, मायानिर्मित नरकयन्त्रणा अदृश्य हो जाती है, समस्त देवता प्रकट होते हैं और महाराज युधिष्ठिर अपने भ्राताओंसहित भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करते हैं। धन्य धर्मराज!

सख्यभक्त अर्जुन

एष नारायणः कृष्णः फाल्गुनश्च नरः स्मृतः।
नारायणो नरश्चैव सत्त्वमेकं द्विधा कृतम्॥

(महाभारत, उद्योगपर्व ४९। २०)

साक्षात् श्रीहरि ही भक्तोंपर कृपा करनेके लिये, जगत्के कल्याणके लिये और संसारमें धर्मकी स्थापनाके लिये नाना अवतार धारण करते हैं। नर-नारायण इन दो रूपोंमें बदरिकाश्रममें तप करते हैं लोकमङ्गलके लिये। श्रीकृष्णचन्द्र और अर्जुनके रूपमें वे ही द्वापरके अन्तमें पृथ्वीपर अवतीर्ण हुए। अर्जुन पाण्डवोंमें मझले भाई थे अर्थात् युधिष्ठिर तथा भीमसेनसे अर्जुन छोटे थे और नकुल तथा सहदेवसे बड़े। श्रीकृष्णचन्द्रके समान ही उनका वर्ण नवजलधर-श्याम था। वे कमलनेत्र एवं आजानुबाहु थे।

भगवान् व्यासने तथा भीष्मपितामहने अनेक बार महाभारतमें कहा है कि वीरता, स्फूर्ति, ओज, तेज, शस्त्र-सञ्चालनकी कुशलता और अस्त्रज्ञानमें अर्जुनके समान दूसरा कोई नहीं है। सभी पाण्डव धर्मात्मा, उदार, विनयी, ब्राह्मणोंके भक्त तथा भगवान्‌को परम प्रिय थे; किंतु अर्जुन तो श्रीकृष्णचन्द्रसे अभिन्न, उन श्यामसुन्दरके समवयस्क सखा और उनके प्राण ही थे।

दृढ़ प्रतिज्ञाके लिये अर्जुनकी बड़ी ख्याति है। पूर्वजन्मके कई शाप-वरदानोंके कारण पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीका विवाह पाँचों पाण्डवोंसे हुआ। संसारमें कलहकी मूल तीन ही वस्तुएँ हैं—स्त्री, धन और पृथ्वी। इन तीनोंमें भी स्त्रीके लिये जितना रक्तपात हुआ है, उतना और किसीके लिये नहीं हुआ। एक स्त्रीके कारण भाइयोंमें परस्पर वैमनस्य न हो, इसलिये देवर्षि नारदजीकी आज्ञासे पाण्डवोंने नियम बनाया कि 'प्रत्येक भाई दो महीने बारह दिनके क्रमसे द्रौपदीके पास रहे। यदि एक भाई एकान्तमें द्रौपदीके पास हो और दूसरा वहाँ उसे देख ले तो वह बारह वर्षका निर्वासन स्वीकार करे।' एक बार रात्रिके समय चोरोंने एक ब्राह्मणकी गायें चुरा लीं। वह पुकारता हुआ राजमहलके पास आया। वह कह रहा था—'जो राजा प्रजासे उसकी आयका छठा भाग लेकर भी रक्षा नहीं करता, वह पापी है।' अर्जुन ब्राह्मणको आश्वासन देकर शस्त्र लेने भीतर गये। जहाँ उनके धनुष आदि थे, वहाँ युधिष्ठिर द्रौपदीके साथ एकान्तमें स्थित थे। एक ओर ब्राह्मणके गोधनकी रक्षाका प्रश्न था और दूसरी ओर निर्वासनका भय। अर्जुनने निश्चय किया—'चाहे कुछ हो, मैं शरणागतकी रक्षासे पीछे नहीं हटूँगा।' भीतर जाकर वे शस्त्र ले आये और लुटेरोंका पीछा करके उन्हें दण्ड दिया। गौएँ छुड़ाकर ब्राह्मणको दे दीं। अब वे धनञ्जय निर्वासन स्वीकार करनेके लिये उद्यत हुए। युधिष्ठिरजीने बहुत समझाया—'बड़े भाईके पास एकान्तमें छोटे भाईका पहुँच जाना कोई बड़ा दोष नहीं। द्रौपदीके साथ साधारण बातचीत ही तो हो रही थी। ब्राह्मणकी गायें बचाना राजधर्म था, अतः वह तो राजाका ही कार्य हुआ।' परंतु अर्जुन इन सब प्रयत्नोंसे विचलित नहीं हुए। उन्होंने कहा—'महाराज! मैंने आपसे ही सुना है कि धर्मपालनमें बहानेबाजी नहीं करनी चाहिये। मैं सत्यको नहीं छोड़ूँगा। नियम बनाकर उसका पालन न करना तो असत्य है।' इस प्रकार बड़े भाईके वचनोंका लाभ लेकर अर्जुन विचलित नहीं हुए। उन्होंने स्वेच्छासे निर्वासन स्वीकार किया।

× × × ×

व्यासजीकी आज्ञासे अर्जुन तपस्या करके शस्त्र प्राप्त करने गये। अपने तप तथा पराक्रमसे उन्होंने भगवान् शङ्करको प्रसन्न करके पाशुपतास्त्र प्राप्त किया। दूसरे लोकपालोंने भी प्रसन्न होकर अपने-अपने दिव्यास्त्र उन्हें दिये। इसी समय देवराज इन्द्रका सारथि मातलि रथ लेकर उन्हें बुलाने आया। उसपर बैठकर वे स्वर्ग गये और देवताओंके द्रोही असुरोंको उन्होंने पराजित किया। वहीं चित्रसेन गन्धर्वसे उन्होंने नृत्य-गान-वाद्यकी कला सीखी।

एक दिन अर्जुन इन्द्रके साथ उनके सिंहासनपर बैठे थे। देवराजने देखा कि पार्थकी दृष्टि देवसभामें नाचती

हुई उर्वशी अप्सरापर लगी है। इन्द्रने समझा कि अर्जुन उस अप्सरापर आसक्त हैं। पराक्रमी धनञ्जयको प्रसन्न करनेके लिये उन्होंने एकान्तमें चित्रसेन गन्धर्वके द्वारा उर्वशीको रात्रिमें अर्जुनके पास जानेका सन्देश दिया। उर्वशी अर्जुनके भव्य रूप एवं महान् पराक्रमपर पहलेसे ही मोहित थी। इन्द्रका सन्देश पाकर वह बहुत प्रसन्न हुई। उसी दिन चाँदनी रातमें वस्त्राभरणसे अपनेको भलीभाँति सजाकर वह अर्जुनके पास पहुँची। अर्जुनने उसका आदरसे स्वागत किया। जो उर्वशी बड़े-बड़े तपस्वी-ऋषियोंको खूब सरलतासे विचलित करनेमें समर्थ हुई थी, भगवान् नारायणकी दी हुई जो स्वर्गकी सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी थी, एकान्तमें वह रात्रिके समय अर्जुनके पास गयी थी। उसने इन्द्रका सन्देश कहकर अपनी वासना प्रकट की। अर्जुनके मनमें इससे तनिक भी विकार नहीं आया। उन्होंने कहा—'माता! आप हमारे पूरुवंशके पूर्वज महाराज पुरूरवाकी पत्नी रही हैं। आपसे ही हमारा वंश चला है। भरतकुलकी जननी समझकर ही देवसभामें मैं आपको देख रहा था और मैंने मन-ही-मन आपको प्रणाम किया था। देवराजको समझनेमें भूल हुई। मैं तो आपके पुत्रके समान हूँ। मुझे क्षमा करें।'

उर्वशी काममोहिता थी। उसने बहुत समझाया कि स्वर्गकी अप्सराएँ किसीकी पत्नी नहीं होतीं। उनका उपभोग करनेका सभी स्वर्ग आये लोगोंको अधिकार है। परंतु अर्जुनका मन अविचल था। उन्होंने कहा—'देवि! मैं जो कहता हूँ, उसे आप, सब दिशाएँ और सब देवता सुन लें! जैसे मेरे लिये माता कुन्ती और माद्री पूज्य हैं, जैसे शची मेरी माता हैं, वैसे ही मेरे वंशकी जननी आप भी मेरी माता हैं। मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ।'

रुष्ट होकर उर्वशीने एक वर्षतक नपुंसक रहनेका शाप दे दिया। अर्जुनके इस त्यागका कुछ ठिकाना है! सभाओंमें दूसरोंके सामने बड़ी ऊँची बातें करना तो सभी जानते हैं; किंतु एकान्तमें युवती स्त्री प्रार्थना करे और उसे 'मा' कहकर वहाँसे अछूता निकल जाय, ऐसे तो विरले ही होते हैं। अर्जुनका यह इन्द्रियसंयम तो इससे भी महान् है। उन्होंने उस उर्वशीको एकान्तमें रोती, गिड़गिड़ाती लौटा दिया, जिसके कटाक्षमात्रसे बड़े-बड़े तपस्वी क्षणभरमें विचलित हो जाते थे!

× × × ×

श्रीकृष्णचन्द्र क्यों अर्जुनको इतना चाहते थे, क्यों उनके प्राण धनञ्जयमें ही बसते थे—यह बात जो समझ जाय, उसे श्रीकृष्णका प्रेम प्राप्त करना सरल हो जाता है। प्रेमस्वरूप भक्तवत्सल श्यामसुन्दरको जो जैसा, जितना चाहता है, उसे वे भी उसी प्रकार चाहते हैं। उन पूर्णकामको बल, ऐश्वर्य, धन या बुद्धिकी चतुरतासे कोई नहीं रिझा सकता। अर्जुनमें लोकोत्तर शूरता थी, वे आडम्बरहीन इन्द्रियविजयी थे और सबसे अधिक यह कि सब होते हुए अत्यन्त विनयी थे। उनके प्राण श्रीकृष्णमें ही बसते थे। युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञका पूरा भार श्रीकृष्णचन्द्रपर ही था। श्यामने ही अपने परम भक्त धर्मराजके लिये समस्त राजाओंको जीतनेके लिये पाण्डवोंको भेजा। उन मधुसूदनकी कृपासे ही भीमसेन जरासन्धको मार सके। इतनेपर भी अपने मित्र अर्जुनको प्रसन्न करनेके लिये युधिष्ठिरको चौदह सहस्र हाथी भगवान्ने भेंटस्वरूप दिये।

जिस समय महाभारतके युद्धमें अपनी ओर सम्मिलित होनेका निमन्त्रण देने दुर्योधन श्रीद्वारकेशके भवनमें गये, उस समय श्रीकृष्णचन्द्र सो रहे थे। दुर्योधन उनके सिरहाने एक आसनपर बैठ गये। अर्जुन भी कुछ पीछे पहुँचे और हाथ जोड़कर श्यामसुन्दरके श्रीचरणोंके पास नम्रतापूर्वक बैठ गये। भगवान्ने उठकर दोनोंका स्वागत-सत्कार किया। दुर्योधनने कहा—'मैं पहले आया हूँ, अतः आपको मेरी ओर आना चाहिये।' श्रीकृष्णचन्द्रने बताया कि 'मैंने पहले अर्जुनको देखा है।' लीलामयने तनिक हँसकर कहा—''एक ओर तो मेरी 'नारायणी सेना' के वीर सशस्त्र सहायता करेंगे और दूसरी ओर मैं अकेला रहूँगा; परंतु मैं शस्त्र नहीं उठाऊँगा। आपमेंसे जिन्हें जो रुचे, ले लें; किंतु मैंने अर्जुनको पहले देखा है, अतः पहले माँग लेनेका अधिकार अर्जुनका है।''

एक ओर भगवान्‌का बल, उनकी सेना और दूसरी ओर शस्त्रहीन भगवान्। एक ओर भोग और दूसरी ओर श्यामसुन्दर। परंतु अर्जुन-जैसे भक्तको कुछ सोचना नहीं पड़ा। उन्होंने कहा—'मुझे तो आपकी आवश्यकता है। मैं आपको ही चाहता हूँ।' दुर्योधन बड़ा प्रसन्न हुआ। उसे अकेले शस्त्रहीन श्रीकृष्णकी आवश्यकता नहीं जान पड़ी। भोगकी इच्छा करनेवाले विषयी लोग इसी प्रकार विषय ही चाहते हैं। विषयभोगका त्याग कर श्रीकृष्णको पानेकी इच्छा उनके मनमें नहीं जगती। श्रीकृष्णचन्द्रने दुर्योधनके जानेपर अर्जुनसे कहा— 'भला, तुमने शस्त्रहीन अकेले मुझे क्यों लिया ? तुम चाहो तो तुम्हें दुर्योधनसे भी बड़ी सेना दे दूँ।' अर्जुनने कहा—'प्रभो! आप मुझे मोहमें क्यों डालते हैं। आपको छोड़कर मुझे तीनों लोकोंका राज्य भी नहीं चाहिये। आप शस्त्र लें या न लें, पाण्डवोंके तो एकमात्र आश्रय आप ही हैं।'

अर्जुनकी यही भक्ति, यही निर्भरता थी, जिसके कारण श्रीकृष्णचन्द्र उनके सारथि बने। अनेक तत्त्ववेत्ता ऋषि-मुनियोंको छोड़कर जनार्दनने युद्धके आरम्भमें उन्हें ही अपने श्रीमुखसे गीताके दुर्लभ और महान् ज्ञानका उपदेश किया। युद्धमें इस प्रकार उनकी रक्षामें वे दयामय लगे रहे, जैसे माता अबोध पुत्रको सारे संकटोंसे बचानेके लिये सदा सावधान रहती है।

× × ×

युद्धमें जब द्रोणाचार्यके चक्रव्यूहमें फँसकर कुमार अभिमन्युने वीरगति प्राप्त कर ली, तब अर्जुनने अभिमन्युकी मृत्युका मुख्य कारण जयद्रथको जानकर प्रतिज्ञा की—'यदि जयद्रथ मेरी, धर्मराज युधिष्ठिरकी या श्रीकृष्णचन्द्रकी शरण न आ गया तो कल सूर्यास्तसे पूर्व उसे मार डालूँगा। यदि ऐसा न करूँ तो मुझे वीर तथा पुण्यात्माओंको प्राप्त होनेवाले लोक न मिलें। पिता-माताका वध करनेवाले, गुरुस्त्रीगामी, चुगलखोर, साधु-निन्दा और परनिन्दा करनेवाले, धरोहर हड़प जानेवाले, विश्वासघाती, भुक्तपूर्वा स्त्रीको स्वीकार करनेवाले, ब्रह्महत्यारे, गोघाती आदिकी जो गति होती है, वह मुझे मिले, यदि मैं कल जयद्रथको न मार दूँ। वेदाध्ययन करनेवाले तथा पवित्र पुरुषोंका अपमान करनेवाले, वृद्ध, साधु एवं गुरुका तिरस्कार करनेवाले, ब्राह्मण, गौ तथा अग्निको पैरसे छूनेवाले, जलमें थूकने तथा मल-मूत्र त्यागनेवाले, नंगे नहानेवाले, अतिथिको निराश लौटानेवाले, घूसखोर, झूठ बोलनेवाले, ठग, दम्भी, दूसरोंको मिथ्या दोष देनेवाले, स्त्री-पुत्र एवं आश्रितको न देकर अकेले ही मिठाई खानेवाले, अपने हितकारी, आश्रित तथा साधुका पालन न करनेवाले, उपकारीकी निन्दा करनेवाले, निर्दयी, शराबी, मर्यादा तोड़नेवाले, कृतघ्न, अपने भरण-पोषणकर्ताके निन्दक, गोदमें भोजन रखकर बायें हाथसे खानेवाले, धर्मत्यागी, उषाकालमें सोनेवाले, जाड़ेके भयसे स्नान न करनेवाले, युद्ध छोड़कर भागनेवाले क्षत्रिय, वेदपाठरहित तथा एक कुएँवाले ग्राममें छः माससे अधिक रहनेवाले, शास्त्र-निन्दक, दिनमें स्त्रीसङ्ग करनेवाले, दिनमें सोनेवाले, घरमें आग लगानेवाले, विष देनेवाले, अग्नि तथा अतिथिकी सेवासे विमुख, गौको जल पीनेसे रोकनेवाले, रजस्वलासे रति करनेवाले, कन्या बेचनेवाले तथा दान देनेकी प्रतिज्ञा करके लोभवश न देनेवाले जिन नरकोंमें जाते हैं, वे ही मुझे मिलें, यदि मैं कल जयद्रथको न मारूँ। यदि कल सूर्यास्ततक मैं जयद्रथको न मार सका तो चिता बनाकर उसमें जल जाऊँगा।'

भक्तके प्रणकी चिन्ता भगवान्‌को ही होती है। अर्जुनने तो श्रीकृष्णचन्द्रसे कह दिया—'आपकी कृपासे मुझे किसीकी चिन्ता नहीं। मैं सबको जीत लूँगा।' बात सच है; अर्जुनने अपने रथकी, अपने जीवनकी बागडोर जब मधुसूदनके हाथोंमें दे दी, तब वह क्यों चिन्ता करे। दूसरे दिन घोर संग्राम हुआ। श्रीकृष्णचन्द्रको अर्जुनकी प्रतिज्ञाकी रक्षाके लिये सारी व्यवस्था करनी पड़ी। सायंकाल श्रीहरिने सूर्यको ढककर अन्धकार कर दिया। सूर्यास्त हुआ समझकर अर्जुन चितामें प्रवेश करनेको उद्यत हुए। सभी कौरवपक्षके महारथी उन्हें इस दशामें देखने आ गये। उन्हींमें जयद्रथ भी आ गया। भगवान्‌ने कहा—'अर्जुन! शीघ्रता करो। जयद्रथका मस्तक काट लो, पर वह भूमिपर न गिरे! सावधान!' भगवान्‌ने अन्धकार दूर कर दिया। सूर्य अस्ताचल जाते दिखायी

पड़े। जयद्रथके रक्षक चकरा गये। अर्जुनने उसका सिर काट लिया। श्रीकृष्णने बताया—'जयद्रथके पिताने तप करके शंकरजीसे वरदान पाया है कि जो जयद्रथका सिर भूमिपर गिरायेगा, उसके सिरके सौ टुकड़े हो जायँगे।' केशवके आदेशसे अर्जुनने जयद्रथका सिर बाणसे ऊपर-ही-ऊपर उड़ाकर जहाँ उसके पिता सन्ध्याके समय सूर्योपस्थान कर रहे थे, वहाँ पहुँचाकर उनकी अञ्जलिमें गिरा दिया। झिझक उठनेसे पिताके द्वारा ही सिर भूमिपर गिरा। फलतः उनके सिरके सौ टुकड़े हो गये।

× × ×

इन्द्रने कर्णको एक अमोघ शक्ति दी थी। एक ही बार उस शक्तिका कर्ण प्रयोग कर सकते थे। नित्य रात्रिको वे संकल्प करते थे दूसरे दिन अर्जुनपर उसका प्रयोग करनेके लिये, किंतु श्रीकृष्णचन्द्र उन्हें सम्मोहित कर देते थे। वे शक्तिका प्रयोग करना भूल जाते थे। भगवान्ने भीमके पुत्र घटोत्कचको रात्रि-युद्धके लिये भेजा। उसने राक्षसी मायासे कौरव-सेनामें 'त्राहि-त्राहि' मचा दी। दुर्योधनादिने कर्णको विवश किया—'यह राक्षस अभी सबको मार देगा। यह जब दीखता ही नहीं, तब इसके साथ युद्ध कैसे हो, इसे चाहे जैसे भी हो मारो।' अन्तमें कर्णने वह शक्ति घटोत्कचपर छोड़ी। वह राक्षस मर गया। घटोत्कचकी मृत्युसे जब पाण्डव दुःखी हो रहे थे, तब श्रीकृष्णको प्रसन्न होते देख अर्जुनने कारण पूछा। भगवान्ने बताया—'कर्णने तुम्हारे लिये ही शक्ति रख छोड़ी थी। शक्ति न रहनेसे अब वह मृत-सा ही है। घटोत्कच ब्राह्मणोंका द्वेषी, यज्ञद्रोही, पापी और धर्मका लोप करनेवाला था; उसे तो मैं स्वयं मार डालता; किंतु तुमलोगोंको बुरा लगेगा, इसलिये अबतक छोड़ दिया था।'

कर्णके युद्धमें अर्जुनने अपने सखासे पूछा—'यदि कर्ण मुझे मार डाले तो आप क्या करेंगे?' भगवान्ने कहा—'चाहे सूर्य भूमिपर गिर पड़े, समुद्र सूख जाय, अग्नि शीतल बन जाय, पर ऐसा कभी नहीं होगा। यदि किसी प्रकार कर्ण तुम्हें मार दे तो संसारमें प्रलय हो जायगी। मैं अपने हाथोंसे ही कर्ण और शल्यको मसल डालूँगा।'

भगवान्ने तो बहुत पहले घोषणा की थी—'जो पाण्डवोंके मित्र हैं, वे मेरे मित्र हैं और जो पाण्डवोंके शत्रु हैं, वे मेरे शत्रु हैं।' उन भक्तवत्सलके लिये भक्त सदासे अपने हैं। जो भक्तोंसे द्रोह करते हैं, श्रीकृष्ण सदा ही उनके विपक्षी हैं।

कर्णने अनेक प्रयत्न किये। उसने सर्पमुख बाण छोड़ा, दिशाओंमें अग्नि लग गयी। दिनमें ही तारे टूटने लगे। खाण्डवदाहके समय बचकर निकला हुआ अर्जुनका शत्रु अश्वसेन नामक नाग भी अपना बदला लेने उसी बाणकी नोकपर चढ़ बैठा। बाण अर्जुनतक आये, इससे पहले ही भगवान्ने रथको अपने चरणोंसे दबाकर पृथ्वीमें धँसा दिया। बाण केवल अर्जुनके मुकुटमें लगा, जिससे मुकुट भूमिपर जलता हुआ गिर पड़ा।

महाभारतके युद्धमें इस प्रकार अनेक अवसर आये, अनेक बार अर्जुनकी बुद्धि तथा शक्ति कुण्ठित हुई। किंतु धर्मात्मा धैर्यशाली अर्जुनने कभी धर्म नहीं छोड़ा। उनके पास एक ही बाणसे प्रलय कर देनेवाला पाशुपतास्त्र था; परंतु प्राण संकटमें होनेपर भी उसको काममें लेनेकी उन्होंने इच्छा नहीं की। इसी प्रकार श्रीकृष्णके चरणोंमें उनका विश्वास एक पलको भी शिथिल नहीं हुआ। इसी प्रेम और विश्वासने भगवान्को बाँध लिया था। भगवान् उनका रथ हाँकते, घोड़े धोते और आपत्तिमें सब प्रकार उनकी रक्षा करते। श्रीकृष्णके प्रतापसे ही पाण्डव महाभारतके युद्धमें विजयी हुए। विजय हो जानेपर अन्तिम दिन छावनीपर आकर भगवान्ने अर्जुनको रथसे पहले उतरनेको कहा। आज यह नयी बात थी, पर अर्जुनने आज्ञापालन किया। अर्जुनके उतरनेपर जैसे ही भगवान् उतरे कि रथकी ध्वजापर बैठा दिव्य वानर भी अदृश्य हो गया और वह रथ घोड़ोंके साथ तत्काल भस्म हो गया। भगवान्ने बताया—'दिव्यास्त्रोंके प्रभावसे यह रथ भस्म तो कभीका हो चुका था। अपनी शक्तिसे मैं इसे अबतक बचाये हुए था। आज तुम पहले न उतर जाते तो रथके साथ ही भस्म हो जाते।'

× × ×

अश्वत्थामाने जब ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया, तब

भगवान्ने ही पाण्डवोंकी रक्षा की। अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रके तेजसे उत्तराका गर्भस्थ बालक मरा हुआ उत्पन्न हुआ, उसे श्रीकृष्णचन्द्रने जीवित कर दिया। सुधन्वाको मारनेकी अर्जुनने प्रतिज्ञा कर ली, तब भी मधुसूदनने ही उनकी रक्षा की।

द्वारकामें एक ब्राह्मणका पुत्र उत्पन्न होते ही मर जाया करता था। दुःखी ब्राह्मण मृत शिशुका शव राजद्वारपर रखकर बार-बार पुकारता—'पापी, ब्राह्मणद्रोही, शठ, लोभी राजाके पापसे ही मेरे पुत्रकी मृत्यु हुई है। जो राजा हिंसारत, दुश्चरित्र, अजितेन्द्रिय होता है, उसकी प्रजा कष्ट पाती है और दरिद्र रहती है।' ब्राह्मणके आठ बालक इसी प्रकार मर गये। किसीके किये कुछ होता नहीं था। जब नवें बालकका मृत शव लेकर वह ब्राह्मण आया, तब अर्जुन, राजभवनमें ही थे। वे श्रीकृष्णके साथ द्वारका आये हुए थे। उन्होंने ब्राह्मणकी करुण पुकार सुनी तो पास आकर कारण पूछा और आश्वासन दिया। उन्होंने कहा कि 'मैं आपकी रक्षा करूँगा।' ब्राह्मणने अविश्वास प्रकट किया तो अर्जुनने प्रतिज्ञा की—'यदि आपके बालकको न बचा सकूँ तो मैं अग्निमें प्रवेश करके शरीर त्याग दूँगा।'

दसवें बालकके उत्पन्न होनेके समय ब्राह्मणने समाचार दिया। उसके घर जाकर अर्जुनने सूतिकागारको ऊपर-नीचे चारों ओर बाणोंसे इस प्रकार ढक दिया कि उसमेंसे चींटी भी न जा सके। परंतु इस बार बड़ी विचित्र बात हुई। बालक उत्पन्न हुआ, रोया और फिर सशरीर अदृश्य हो गया। ब्राह्मण अर्जुनको धिक्कारने लगा। वे महारथी कुछ बोले नहीं। उनमें अब भी अहङ्कार था। भगवान्से भी उन्होंने कुछ नहीं कहा। योगविद्याका आश्रय लेकर वे यमपुरी गये। वहाँ ब्राह्मणपुत्र न मिला तो इन्द्र, अग्नि, निर्ऋति, चन्द्र, वायु, वरुण आदि लोकपालोंके धाम, अतल, वितल आदि नीचेके लोक भी ढूँढ़े; परंतु कहीं भी उन्हें ब्राह्मणका पुत्र नहीं मिला। अन्तमें द्वारका आकर वे चिता बनाकर जलनेको तैयार हो गये।

भगवान्ने अब उन्हें रोका और कहा—'मैं तुम्हें द्विजपुत्र दिखलाता हूँ, मेरे साथ चलो।' भगवान्को तो अर्जुनमें जो अपनी शक्तिका गर्व था, उसे दूर करना था। वह दूर हो चुका। अपने दिव्यरथमें अर्जुनको बैठाकर भगवान्ने सातों द्वीप, सभी पर्वत और सातों समुद्र पार किये। लोकालोक पर्वतको पार करके अन्धकारमय प्रदेशमें अपने चक्रके तेजसे मार्ग बनाकर अनन्त जलके समुद्रमें पहुँचे। अर्जुनने वहाँकी दिव्य ज्योति देखनेमें असमर्थ नेत्र बंद कर लिये। इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनको लेकर भगवान् शेषशायीके समीप पहुँचे। अर्जुनने वहाँ भगवान् अनन्त—शेषजीकी शय्यापर सोये नारायणके दर्शन किये। उन भूमा पुरुषने दोनोंका सत्कार करके उन्हें ब्राह्मणके बालक देते हुए कहा—'तुमलोगोंको देखनेके लिये ही मैंने ये बालक यहाँ मँगाये थे। तुम नारायण और नर हो। मेरे ही स्वरूप हो। पृथ्वीपर तुम्हारा कार्य पूरा हो गया। अब शीघ्र यहाँ आ जाओ।' वहाँसे आज्ञा लेकर दोनों लौट आये। अर्जुनने ब्राह्मणको बालक देकर अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की।

× × × ×

महाभारतके तो मुख्य नायक ही श्रीकृष्ण और अर्जुन हैं। अर्जुनकी शूरता, धर्मनिष्ठा, उदारता, भगवद्भक्ति तथा उनपर भगवान् मधुसूदनकी कृपाका महाभारतमें विस्तारसे वर्णन है। दूसरे पुराणोंमें भी अर्जुनका चरित है। उन ग्रन्थोंको अवश्य पढ़ना चाहिये। यहाँ तो थोड़ेसे चरित संकेतरूपसे दिये गये हैं। अर्जुन भगवान्के नित्य पार्षद हैं। नारायणके नित्य संगी नर हैं। धर्मराज युधिष्ठिर जब परम धाम गये, तब वहाँ अर्जुनको उन्होंने भगवान्के पार्षदोंमें देखा। दुर्योधनतकने कहा—'अर्जुन श्रीकृष्णकी आत्मा हैं और श्रीकृष्ण अर्जुनकी आत्मा हैं। श्रीकृष्णके बिना अर्जुन जीवित नहीं रहना चाहते और अर्जुनके लिये श्रीकृष्ण अपना दिव्यलोक भी त्याग सकते हैं। भगवान् स्वयं अर्जुनको अपना प्रिय सखा और परम इष्टतक कहते रहे हैं और उन्होंने अपना-अर्जुनका प्रेम बने रहने तथा बढ़नेके लिये अग्निसे वरदानतक चाहा था।'

भक्त पाण्डव

धर्मो विवर्धति युधिष्ठिरकीर्तनेन
पापं प्रणश्यति वृकोदरकीर्तनेन।
शत्रुर्विनश्यति धनञ्जयकीर्तनेन
माद्रीसुतौ कथयतां न भवन्ति रोगाः॥

जैसे शरीरमें पाँच प्राण होते हैं, वैसे ही महाराज पाण्डुके पाँच पुत्र हुए—कुन्तीदेवीके द्वारा धर्म, वायु तथा इन्द्रके अंशसे युधिष्ठिर, भीम तथा अर्जुन और माद्रीके गर्भसे अश्विनीकुमारोंके अंशसे नकुल और सहदेव। महाराज पाण्डुका इनके बचपनमें ही परलोकवास हो गया। माद्री अपने पतिके साथ सती हो गयीं। पाँचों पुत्रोंका लालन-पालन कुन्तीदेवीने किया। ये पाँचों भाई जन्मसे ही धार्मिक, सत्यवादी, न्यायी थे। ये क्षमावान्, सरल, दयालु तथा भगवान्‌के परम भक्त थे।

महाराज पाण्डुके न रहनेपर उनके पुत्रोंको राज्य मिलना चाहिये था; किंतु इनके बालक होनेसे अन्धे राजा धृतराष्ट्र सिंहासनपर बैठे। उनके पुत्र स्वभावसे क्रूर और स्वार्थी थे। उनका ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन अकारण ही पाण्डवोंसे द्वेष करता था। भीमसेनसे तो उसकी पूरी शत्रुता थी। उसने भीमसेनको विष देकर गङ्गाजीमें मूर्च्छित दशामें फेंक दिया; परंतु भीम बहते हुए नागलोक पहुँच गये। वहाँ उन्हें सर्पोंने काटा, जिससे खाये विषका प्रभाव दूर हो गया। नागलोकसे वे लौट आये। दुर्योधनने पाण्डवोंको लाक्षागृह बनवाकर उसमें रखा और रात्रिको उसमें अग्नि लगा दी। परंतु विदुरजीने पहले ही इन लोगोंको सचेत कर दिया था। ये अग्निसे बचकर चुपचाप वनमें निकल गये और गुप्तरूपमें यात्रा करने लगे।

भीमसेन शरीरसे बहुत विशाल थे। बलमें उनकी जोड़का मिलना कठिन था। वे बड़े-बड़े हाथियोंको उठाकर सहज ही फेंक देते थे। वनमें माता कुन्ती और सभी भाइयोंको वे कन्धोंपर बैठाकर मजेसे यात्रा करते थे। अनेक राक्षसोंको उन्होंने वनमें मारा। धनुर्विद्यामें अर्जुन अद्वितीय थे। इसी वनवासमें पाण्डव द्रुपदके यहाँ गये और स्वयंवरसभामें अर्जुन मत्स्यवेध करके द्रौपदीको प्राप्त किया। माता कुन्तीके सत्यकी रक्षाके लिये द्रौपदी पाँचों भाइयोंकी रानी बनीं। धृतराष्ट्रने समाचार पाकर पाण्डवोंको हस्तिनापुर बुलवा लिया और आधा राज्य दे दिया। युधिष्ठिरके धर्मशासन, अर्जुन तथा भीमके प्रभाव एवं भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे पाण्डवोंका ऐश्वर्य विपुल हो गया। युधिष्ठिरने दिग्विजय करके राजसूय-यज्ञ किया और वे राजराजेश्वर हो गये; परंतु दुर्योधनसे पाण्डवोंका यह वैभव सहा न गया। धर्मराजको महाराज धृतराष्ट्रकी आज्ञासे जुआ खेलना स्वीकार करना पड़ा। जुएमें सब कुछ हारकर पाण्डव बारह वर्षके लिये वनमें चले गये। एक वर्ष उन्होंने अज्ञातवास किया। यह अवधि समाप्त हो जानेपर भी जब दुर्योधन उनका राज्य लौटानेको राजी नहीं हुए, तब महाभारत हुआ। उस युद्धमें कौरव मारे गये। युधिष्ठिर सम्राट् हुए। छत्तीस वर्ष उन्होंने राज्य किया। इसके बाद जब पता लगा कि भगवान् श्रीकृष्ण परम धाम पधार गये, तब पाण्डव भी अर्जुनके पौत्र परीक्षित्‌को राज्य देकर सब कुछ छोड़कर हिमालयकी ओर चल दिये। वे भगवान्‌में मन लगाकर महाप्रस्थान कर गये।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र तो धर्म और भक्तिके साथ हैं। जहाँ धर्म है, वहीं श्रीकृष्ण हैं और जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहीं धर्म है। पाण्डवोंमें धर्मराज युधिष्ठिर साक्षात् धर्मराज थे और भगवान्‌के अनन्य भक्त थे और अर्जुन तो श्रीकृष्णके प्राणप्रिय सखा ही थे। उन महाराज युधिष्ठिर तथा महावीर धनञ्जयके चरित पृथक् दिये गये हैं। भीमसेन श्यामसुन्दरको बहुत मानते थे। भगवान् भी उनसे बहुत हास-परिहास कर लेते थे; किंतु कभी भी भीमसेनने श्रीकृष्णके आदेशपर आपत्ति नहीं की। कोई युधिष्ठिर या श्रीकृष्णका अपमान करे, यह उन्हें तनिक भी सहन नहीं होता था। जब राजसूय यज्ञमें शिशुपाल श्यामसुन्दरको अपशब्द कहने लगा, तब भीम क्रोधसे गदा लेकर उसे मारनेको उद्यत हो गये।

पाण्डवोंकी भक्तिकी कोई क्या प्रशंसा करेगा। जिनके प्रेमके वश होकर स्वयं त्रिभुवननाथ द्वारकेश

उनके दूत बने, सारथि बने और सब प्रकारसे उनकी रक्षा करते रहे, उनके सौभाग्यकी क्या सीमा है। ऐसे ही पाण्डवोंका भ्रातृप्रेम भी अद्वितीय है। धर्मराज युधिष्ठिर अपने चारों भाइयोंको प्राणके समान मानते थे और चारों भाई अपने बड़े भाईकी ऐसी भक्ति करते थे, जैसे वे उनके खरीदे हुए सेवक हों। युधिष्ठिरने जुआ खेला, उनके दोषसे चारों भाइयोंको वनवास हुआ और अनेक प्रकारके कष्ट झेलने पड़े; पर बड़े भाईके प्रति पूज्यभाव उनके मनमें ज्यों-का-त्यों बना रहा। क्षोभवश भीम या अर्जुन आदिने यदि कभी कोई कड़ी बात कह भी दी तो तत्काल उन्हें अपनी बातका इतना दुःख हुआ कि वे प्राणतक देनेको उद्यत हो गये।

पाण्डवोंके चरित्रमें ध्यान देने योग्य बात है कि उनमें भीमसेन-जैसे बली थे, अर्जुन-जैसे अस्त्रविद्यामें अद्वितीय कुशल शूरवीर थे, नकुल-सहदेव-जैसे नीतिनिपुण एवं व्यवहारकी कलाओंमें चतुर थे; किंतु ये सब लोग धर्मराज युधिष्ठिरके ही वशमें रहकर, उन्हींके अनुकूल चलते थे। बल, विद्या, शस्त्रज्ञान, कला-कौशल आदि सबकी सफलता धर्मकी अधीनता स्वीकार करनेमें ही है। धर्मराज भी श्रीकृष्णचन्द्रको ही अपना सर्वस्व मानते थे। वे श्रीकृष्णकी इच्छाके अनुसार ही चलते थे। भगवान्‌में भक्ति होना, भगवान्‌के प्रति सम्पूर्ण रूपसे आत्मसमर्पण कर देना ही धर्मका लक्ष्य है। यही बात, यही आत्मनिवेदन पाण्डवोंमें था और इसीसे श्यामसुन्दर उन्हींके पक्षमें थे। पाण्डवोंकी विजय इसी धर्म तथा भक्तिसे हुई।

~~~

व्रजसखा गोपकुमार

यत्पादपांसुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो
धृतात्मभिर्योगिभिरप्यलभ्यः ।
स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः
किं वर्ण्यते दिष्टमतो व्रजौकसाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। १२)

व्रजके गोप, गोपियाँ, गोपकुमार, गायें, वनके पशु-पक्षी आदि सभी धन्य हैं। जिनकी ध्यानमयी मूर्ति एक क्षणको हृदयमें आ जाय तो जन्म-जन्मान्तरके पाप-ताप भस्म हो जाते हैं और जीव कृतार्थ हो जाता है, जिनकी चरण-रज इन्द्रिय एवं मनको संयमित करके ध्यान-धारणादि करनेवाले योगियोंके अनेक जन्मोंकी कठोर साधनाके पश्चात् भी दुर्लभ ही रहती है, वे स्वयं जिनके सम्मुख रहे, जिनके साथ खेले-कूदे, नाचे-गाये, लड़े-झगड़े, जिनसे रीझे और स्वयं जिन्हें रिझाया, उन व्रजवासियोंके सौभाग्यका कोई क्या वर्णन करेगा।

व्रजमें गोप, गोपियाँ, गायें, गोपबालक आदि सभी वर्गोंमें कई प्रकारके लोग हैं। एक तो श्यामसुन्दर मदन-मोहनके नित्यजन, उन गोलोकविहारीके शाश्वत सखा ! दूसरे वेदोंकी श्रुतियाँ, तीसरे बहुत-से ऋषि-मुनि तथा अन्य लोग जो किसी-न-किसी अवतारके समय भगवान्‌की रूपमाधुरीपर मुग्ध हुए और उनको किसी रूपमें अपना बनानेको उत्कण्ठित हो गये, देवता तथा देवाङ्गनाएँ और पाँचवें वे धन्यभाग जीव, जो अपनी आराधनासे भगवान्‌के समीप पहुँचनेके अधिकारी हो चुके थे, जिन्होंने अनेक जन्मोंमें इसीलिये जप-तप, भजन-ध्यान किये थे कि वे परम ब्रह्म परमात्माको इसी पृथ्वीपर अपने किसी सुहृद्‌के रूपमें प्राप्त करें।

व्रज—श्रीकृष्णका व्रज तो है ही प्रेमका दिव्यधाम। वहाँ सभी प्रेमकी ही मूर्तियाँ रहती हैं। वहाँके किसीका प्रेम लौकिक मनकी सीमामें नहीं आता। उनमें भी गोपकुमारोंके प्रेमका तो कहना ही क्या। सुबल, सुभद्र, भद्र, मणिभद्र, वरूथप, तोककृष्ण आदि तो श्रीकृष्णके चचेरे भाई ही थे। श्रीदाम थे श्रीराधिकाजीके भाई। इनके अतिरिक्त सहस्रों सखा थे। इन बालकोंके तो श्रीकृष्ण ही जीवन थे, श्रीकृष्ण ही प्राण थे, श्रीकृष्ण ही सर्वस्व थे। ये श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये दौड़ते, कूदते, गाते, नाचते और भाँति-भाँतिकी क्रीड़ाएँ तथा मनोविनोद करते। श्याम गाता तो ये ताली बजाते; कन्हाई नाचता तो प्रशंसा करते; वह तनिक दूर हो जाता तो इनके प्राण तड़पने लगते और ये अपने उस जीवनसर्वस्वको छूने
~~~

दौड़ पड़ते। मोहनको ये पुष्पों, किसलयों, गुञ्जा तथा वनधातुओंसे सजाते। वह थक जाता तो उसके चरण दबाते। उसके ऊपर कमलके पत्तेसे पंखा झलते। श्यामसे ये खेलते, लड़ते-झगड़ते और रूठा भी करते; किंतु मोहनके नेत्रोंमें तनिक भी दुःख या क्षोभकी छाया इन्हें सहन नहीं हो सकती थी।

श्रीकृष्णचन्द्र दूसरोंके लिये चाहे जो और जैसे रहे हों, अपने इन सखाओंके लिये सदा स्नेहमय, सुकुमार प्राणप्रिय सखा ही रहे—न कम, न अधिक! सखाओंका मान रखना उनका सदाका व्रत रहा। गोपकुमारोंका उनपर कितना विश्वास था, यह इसीसे स्पष्ट है कि सामने पर्वताकार अघासुरको देखकर भी उन्होंने उसे कोई कुतूहलप्रद गिरिगुफा ही समझा। किसीने सन्देह भी किया—'यदि यह सचमुच अजगर ही हो तो?' बालकोंने हँसीमें उड़ा दी यह बात। उन्होंने कितने विश्वाससे कहा—'हो अजगर तो हुआ करे। यदि यह अजगर हुआ और इसने हमें भक्षण करनेका मन किया तो श्याम इसे वैसे ही फाड़कर फेंक देगा, जैसे उसने बगुले (बकासुर)-को फाड़ दिया था।' ऐसे निश्चिन्त विश्वाससे जो श्यामपर निर्भर करते हैं, श्याम उन्हींका तो है। अपने सखाओंके लिये वह भुवनपावन अघासुरके मुखमें गया और उसका मस्तक फोड़कर अपने सखाओंका उसने उद्धार किया। इतना ही नहीं; क्योंकि गोपकुमारोंने अघासुरको खेलनेकी गुफा समझा था, श्रीकृष्णने असुरको निष्प्राण करके उसके देहको सखाओंके खेलनेकी गुफा बना दिया। इसी प्रकार व्योमासुर जब बालकोंमें गोपबालक बनकर आ मिला और खेलके बहाने छिपे-छिपे उन्हें गुफामें बंद करने लगा, तब श्यामने उसे पकड़कर घूसे-थप्पड़ोंसे ही मार डाला।

श्यामसुन्दरने सखाओंके लिये दावाग्निका पान किया और जब बालकोंने तालवनके फल खानेकी इच्छा प्रकट की, तब धेनुकासुरको बड़े भाईके द्वारा परंधाम भिजवाकर कन्हाईने उस वनको ही निर्विघ्न कर दिया। कालियह्रदका जल कालियनागके विषसे दूषित हो गया था, उसे अनजानमें पीकर गायें तथा गोपबालक मूर्छित हो गये। यह बात श्रीकृष्णचन्द्रसे भला, कैसे सही जाती। अपनी अमृतदृष्टिसे सबको उन्होंने जीवन दिया तथा कालियके ह्रदमें कूदकर उस महानागके गर्वको चूर-चूर कर दिया और उसे वहाँसे निर्वासित कर दिया।

श्रीकृष्ण मथुरा गये और फिर व्रज नहीं आये—यह बात दूसरे सब लोगोंके लिये सत्य है, संसारके लिये भी सत्य है; किंतु मोहनके भोले सखाओंके लिये यह सत्य सदा ही असत्य रहा और रहेगा। जो कन्हाईको एक घड़ी तो क्या, एक क्षण कालियके बन्धनमें निश्चेष्ट पड़ा देखकर मूर्छित हो गये, मृतप्राय हो गये, वे क्या अपने मयूरमुकुटी सखाका वियोग सह सकते थे? वे कन्हाईके बिना जीवित रहते? श्रुति इसीसे तो श्रीकृष्णको सर्वसमर्थ, विभु और सर्वशक्तिमान् कहती है। वे व्रजसे गये मथुरा और फिर नहीं लौटे; किंतु व्रजके गोपकुमारों-जैसे परम प्रेमियोंके हृदयमें उनके चरण प्रेमकी रज्जुसे इतने ढीले नहीं बँधे थे कि वहाँसे वे खिसक सकें। अतएव गोपकुमारोंके लिये तो वे कहीं गये ही नहीं। शास्त्र कहता है—'वे वृन्दावन छोड़कर एक पग भी कहीं बाहर नहीं जाते*।'
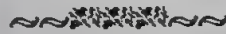
भक्त-वाणी

अकिञ्चनत्वं राज्यं च तुलया समतोलयत् । अकिञ्चनत्वमधिकं राज्यादपि हितात्मनः ॥

अकिञ्चनता और राज्य दोनों काँटेपर रखकर तौले गये थे। (परम ज्ञानी महर्षियोंने दोनोंके परिणामपर विचार करके निश्चय किया) तो यही पता लगा कि अपना हित चाहनेवाले मनुष्यके लिये राज्यकी अपेक्षा अकिञ्चनता ही श्रेष्ठ है।

---

* वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।

भक्त उद्धवजी

दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः ।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। २४)

'दान, व्रत, तपस्या, यज्ञ, जप, वेदाध्ययन, इन्द्रियसंयम तथा अन्य अनेक प्रकारके पुण्यकर्मोंद्वारा श्रीकृष्णचन्द्रकी भक्ति ही प्राप्त की जाती है। भक्तिकी प्राप्तिमें ही इन सब साधनोंकी सफलता है।'

उद्धवजी साक्षात् देवगुरु बृहस्पतिके शिष्य थे। इनका शरीर श्रीकृष्णचन्द्रके समान ही श्यामवर्णका था और नेत्र कमलके समान सुन्दर थे। ये नीति और तत्त्व-ज्ञानकी मूर्ति थे। मथुरा आनेपर श्यामसुन्दरने इन्हें अपना अन्तरङ्ग सखा तथा मन्त्री बना लिया। भगवान्ने अपना सन्देश पहुँचाने तथा गोपियोंको सान्त्वना देने इनको व्रज भेजा। वस्तुतः दयामय भक्तवत्सल प्रभु अपने प्रिय भक्त उद्धवजीको व्रज एवं व्रजवासियोंके लोकोत्तर प्रेमका दर्शन कराना चाहते थे। उद्धवजी जब व्रज पहुँचे, नन्दबाबाने इनका बड़े स्नेहसे सत्कार किया। एकान्त मिलनेपर गोपियोंने घेरकर श्यामसुन्दरका समाचार पूछा। उद्धवजीने कहा—'व्रजदेवियो! श्रीकृष्णचन्द्र तो सर्वव्यापी हैं। वे तुम्हारे हृदयमें तथा समस्त जड-चेतनमें व्याप्त हैं। उनसे तुम्हारा वियोग कभी हो नहीं सकता। उनमें भगवद्बुद्धि करके तुम सर्वत्र उनको ही देखो।'

गोपियाँ रो पड़ीं। उनके नेत्र झरने लगे। उन्होंने कहा—'उद्धवजी! आप ठीक कहते हैं। हमें भी सर्वत्र वे मयूर-मुकुटधारी ही दीखते हैं। यमुना-पुलिनमें, वृक्षोंमें, लताओंमें, कुञ्जोंमें—सर्वत्र वे कमललोचन ही दिखायी पड़ते हैं हमें। उनकी वह श्याममूर्ति हृदयसे एक क्षणको भी हटती नहीं।' अनेक प्रकारसे वे विलाप करने लगीं।

उद्धवजीमें जो तनिक-सा तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिका गर्व था, वह व्रजके इस अलौकिक प्रेमको देखकर गल गया। वे कहने लगे—'मैं तो इन गोपकुमारियोंकी चरण-रजकी वन्दना करता हूँ, जिनके द्वारा गायी गयी श्रीहरिकी कथा तीनों लोकोंको पवित्र करती है। इस पृथ्वीपर जन्म लेना तो इन गोपाङ्गनाओंका ही सार्थक है; क्योंकि भवभयसे भीत मुनिगण तथा हम सब भी जिसकी इच्छा करते हैं, निखिलात्मा श्रीनन्दनन्दनमें इनका वही दृढ़ अनुराग है। श्रुति जिन भगवान् मुकुन्दका अबतक अन्वेषण ही करती है, उन्हींको इन लोगोंने स्वजन तथा घरकी आसक्ति एवं आर्यपथ—लौकिक मर्यादाका मोह छोड़कर प्राप्त कर लिया। अतः मेरी तो इतनी ही लालसा है कि मैं इस वृन्दावनमें कोई भी लता, वीरुध्, तृण आदि हो जाऊँ, जिसमें इनकी पदधूलि मुझे मिलती रहे।'

उद्धवजी व्रजके प्रेम-रससे आप्लुत होकर लौटे। भगवान्के साथ वे द्वारका गये। द्वारकामें श्यामसुन्दर इन्हें सदा प्रायः साथ रखते थे और राज्यकार्योंमें इनसे सम्मति लिया करते थे। जब द्वारकामें अपशकुन होने लगे, तब उद्धवजीने पहले ही भगवान्के स्वधाम पधारनेका अनुमान कर लिया। भगवान्के चरणोंमें इन्होंने प्रार्थना की—'प्रभो! मैं तो आपका दास हूँ। आपका उच्छिष्ट प्रसाद, आपके उतारे वस्त्राभरण ही मैंने सदा उपयोगमें लिये हैं। आप मेरा त्याग न करें। मुझे भी आप अपने साथ ही अपने धाम ले चलें।' भगवान्ने उद्धवजीको आश्वासन देकर तत्त्वज्ञानका उपदेश किया और बदरिकाश्रम जाकर रहनेकी आज्ञा दी।

श्रीकृष्णचन्द्रने कहा है—'उद्धव ही मेरे इस लोकसे चले जानेपर मेरे ज्ञानकी रक्षा करेंगे। वे गुणोंमें मुझसे तनिक भी कम नहीं हैं। अतएव अधिकारियोंको उपदेश करनेके लिये वे यहाँ रहें।'

भगवान्के स्वधाम पधारनेपर उद्धवजी द्वारकासे मथुरा आये। यहीं विदुरजीसे उनकी भेंट हुई। अपने एक स्थूलरूपसे तो वे बदरिकाश्रम चले गये भगवान्के आज्ञानुसार। और दूसरे सूक्ष्मरूपसे व्रजमें गोवर्धनके पास लता-वृक्षोंमें छिपकर निवास करने लगे। महर्षि शाण्डिल्यके उपदेशसे वज्रनाभने जब गोवर्धनके समीप संकीर्तन-महोत्सव किया, तब लताकुञ्जोंसे उद्धवजी प्रकट हो गये और एक महीनेतक व्रज तथा श्रीकृष्णकी रानियोंको श्रीमद्भागवत सुनाकर अपने साथ नित्य व्रजभूमिमें वे ले गये।

श्रीभगवान्ने स्वयं भक्तोंकी प्रशंसा करते हुए उद्धवसे कहा है—

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १५)

'मुझे तुम्हारे-जैसे प्रेमी भक्त जितने प्रिय हैं, उतने प्रिय मेरे पुत्र ब्रह्मा, आत्मा शङ्कर, श्रीबलरामजी, श्रीलक्ष्मीजी भी नहीं हैं। अधिक क्या, मेरा आत्मा भी मुझे उतना प्रिय नहीं है।'

मिथिलाके राजा बहुलाश्व और ब्राह्मण श्रुतदेव

देवाः क्षेत्राणि तीर्थानि दर्शनस्पर्शनार्चनैः।
शनैः पुनन्ति कालेन तदप्यर्हत्तमेक्षया॥
(श्रीमद्भा० १०। ८६। ५२)

'देवता, पुण्यक्षेत्र और तीर्थ आदि तो धीरे-धीरे बहुत दिनोंमें पवित्र करते हैं। परंतु महापुरुष अपनी दृष्टिसे ही सबको पवित्र कर देते हैं।'

मिथिलामें वहाँके नरेश महाराज बहुलाश्व भगवान्के भक्त, अहङ्कारहीन तथा प्रजावत्सल थे। उसी नगरमें श्रुतदेव नामके भगवान्के परम भक्त दरिद्र ब्राह्मण भी रहते थे। श्रुतदेव विद्वान् थे, बुद्धिमान् थे और गृहस्थ थे। किंतु वे अत्यन्त शान्त स्वभावके थे, विषयोंमें उनकी तनिक भी आसक्ति नहीं थी। भगवान्की भक्तिसे ही वे सन्तुष्ट थे। बिना माँगे जो कुछ मिल जाता, उसीसे वे जीवन-निर्वाह करते थे। एक दिनका घरका काम चल जाय, इससे अधिक वस्तु बिना माँगे मिलनेपर भी वे लेते नहीं थे। वे 'कलके लिये' संग्रह नहीं करते थे। सन्ध्यातर्पण, देवाराधन आदि शास्त्रसम्मत अपना कर्तव्य विधिपूर्वक करते थे और भगवान्की पूजा तथा ध्यानमें लगे रहते थे। महाराज बहुलाश्व भी सदा भगवान्के स्मरण-पूजनमें ही लगे रहते थे। भगवान्को प्रसन्न करनेके लिये महाराज यज्ञ, दान एवं गौ, ब्राह्मण तथा अतिथिका पूजन आदि बड़ी श्रद्धासे करते थे।

जब श्रीसत्यभामाजीके पिता सत्राजित्को शतधन्वाने रातमें छिपकर भवनमें प्रवेश करके मार दिया, उस समय श्रीराम-कृष्ण द्वारकामें नहीं थे। समाचार पाकर वे हस्तिनापुरसे आये। शतधन्वा भयके मारे घोड़ेपर बैठकर भागा। बलरामजीके साथ श्रीकृष्णचन्द्रने उसका रथमें बैठकर पीछा किया। मिथिला-नगरके बाहरी उपवनमें पहुँचकर शतधन्वा मारा गया। उस समय श्रीकृष्णचन्द्र तो द्वारका लौट गये, किंतु बलरामजी मिथिलामें महाराज बहुलाश्वके समीप चले आये। महाराजकी भक्ति, सेवा तथा प्रेमसे प्रसन्न होकर, द्वारकासे बार-बार सन्देश आते रहनेपर भी, श्रीबलरामजी मिथिलामें लगभग तीन वर्ष रह गये। फिर मिथिलानरेशको सन्तुष्ट करके वे द्वारका गये।

जबसे महाराज बहुलाश्व और विप्र श्रुतदेवने सुना कि भगवान् श्रीकृष्ण मिथिलाके बाहरी उद्यानतक आकर लौट गये, तबसे उनका हृदय व्याकुल रहने लगा। दोनोंको ही लगा कि 'अवश्य हमारी भक्तिमें, हमारे प्रेममें ही कमी है। भगवान् तो दयासागर हैं। वे तो अकारण दया करते हैं। अवश्य हममें कोई बड़ी त्रुटि है, जिससे इतने समीप आकर भी भगवान्ने हमें दर्शन नहीं दिये।' दोनों और भी प्रेमसे भगवान्की पूजा तथा उनके नाम-जपमें लग गये। सच्चे प्रेमका यही लक्षण है कि निराश होनेसे प्रेमी भक्तका भजन छूटता नहीं। उसे अपनेमें ही कुछ त्रुटि जान पड़ती है। इससे उसका भजन और बढ़ जाता है।

ब्राह्मण श्रुतदेव तथा राजा बहुलाश्वपर कृपा करके उन्हें दर्शन देनेके लिये श्रीद्वारकानाथ रथपर बैठकर मिथिला पधारे। भगवान्के साथ देवर्षि नारद, वामदेव, अत्रि, व्यासजी, परशुरामजी, असित, आरुणि, शुकदेवजी, बृहस्पति, कण्व, मैत्रेय, च्यवन आदि ऋषि-मुनि भी द्वारकासे मिथिला आये। भगवान्के आनेका समाचार पाकर सभी नगरवासी नाना प्रकारके उपहार लेकर नगरसे बाहर आये और उन्होंने भूमिपर लेटकर भगवान्को प्रणाम किया। राजा बहुलाश्व तथा ब्राह्मण श्रुतदेव दोनोंको ऐसा लगा कि भगवान् मुझपर कृपा करने पधारे हैं। अतएव दोनोंने एक साथ भगवान्को प्रणाम किया और फिर एक साथ हाथ जोड़कर अपने-अपने घर पधारनेकी प्रार्थना की। सर्वज्ञ भगवान्ने दोनोंका भाव समझकर ऋषि-मुनियोंसहित दो रूप धारण कर लिये। श्रुतदेव और बहुलाश्व दोनोंके साथ वे उनके घर गये। प्रत्येकने यही समझा कि भगवान् मेरे ही घर पधारे हैं।

विदेहराज जनक (बहुलाश्व) ने अपने राजभवनमें भगवान्को तथा ऋषियोंको स्वर्णके सिंहासनोंपर बैठाकर उनके चरण धोये। विधिपूर्वक पूजा की। भगवान्के चरण अपनी गोदमें लेकर धीरे-धीरे दबाते हुए उन्होंने भगवान्की स्तुति की और प्रार्थना की—'प्रभो ! कुछ दिन यहाँ निवास करके अपनी सेवासे मुझे कृतार्थ

होनेका अवसर दें।' भगवान्ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली।

दूसरी ओर श्रुतदेव अपनी कुटियापर भगवान्को लेकर पहुँचे। वे भगवान्की कृपाका अनुभव करके प्रेममें इतने तन्मय हो गये कि सब सुधि-बुधि भूल गये। अपना दुपट्टा फहराते-उड़ाते हुए भगवान्के मङ्गलमय नामोंका कीर्तन करके नाचने लगे। जब कुछ देरमें सावधान हुए, तब कुशकी चटाई, पीढ़ा, वेदिका आदिपर उन्होंने सबको आसन दिये। कंगाल ब्राह्मणकी झोपड़ीमें सबके बैठनेके लिये चटाई भी पूरी कहाँसे आती। श्रुतदेवने भगवान्के चरण धोये और वह चरणोदक मस्तकपर चढ़ाया। पूजा किस क्रमसे करनी चाहिये, वे इस बातको भूल ही गये। भगवान्को कन्द, मूल तथा फल और खस पड़ा हुआ शीतल जल उन्होंने निवेदित किया। तुलसीके नीचेकी सुगन्धित मिट्टी ही उनके लिये चन्दन था, दूर्वादल, कुश, तुलसीदल और कमलके फूल—बस, इतनी सामग्री थी उनके पास पूजा करनेकी। इन्हींसे उन्होंने भगवान्की पूजा की।

श्रुतदेव भक्तिके आवेशमें आत्मविस्मृत हो गये थे। भगवान् चुपचाप भक्तके इस भावको देखकर प्रसन्न हो रहे थे। श्रुतदेव जब पूजा करके, स्तुति करके कुछ सावधान हुए, तब भगवान्ने उन्हें संतोंका माहात्म्य समझाया और ऋषियोंका पूजन करनेको कहा। अबतक श्रुतदेवने जानबूझकर ऋषियोंका पूजन न किया हो, ऐसी बात नहीं थी। वे तो अपनेको भी भूल गये थे। अब उन्होंने उसी श्रद्धा, उसी सम्मानसे प्रत्येक ऋषिका पूजन किया, जिस प्रकार भगवान्का पूजन किया था। सबको उन्होंने भगवान्का स्वरूप ही मानकर उनकी सेवा की। श्रुतदेवकी जिस झोपड़ीमें बैठनेके लिये पूरे पीढ़े और चटाइयाँ भी नहीं थीं, उसी झोपड़ीमें ऋषियोंके साथ समस्त ऐश्वर्योंके स्वामी द्वारकानाथ प्रभु उतने ही दिनोंतक रहे, जितने दिन वे जनकके राजमहलमें रहे। एक कंगाल और एक राजाधिराज दोनों श्रीकृष्णचन्द्रके लिये समान हैं—यह उन्होंने वहाँ प्रत्यक्ष दिखा दिया। कुछ दिन वहाँ रहकर राजा बहुलाश्व तथा ब्राह्मण श्रुतदेवसे विदा लेकर वे द्वारका लौट आये। बहुलाश्व तथा श्रुतदेव उन आनन्दकन्द मुकुन्दका चिन्तन करते हुए अन्तमें उनके धामको प्राप्त हुए।

भक्त सुधन्वा

ये स्मरन्ति च गोविन्दं सर्वकामफलप्रदम्।
तापत्रयविनिर्मुक्ता जायन्ते दुःखवर्जिताः॥

'जो लोग सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करनेवाले, समस्त फलोंके दाता श्रीगोविन्दका स्मरण करते हैं, वे तीनों तापोंसे छूटकर सर्वथा दुःखरहित हो जाते हैं।'

चम्पकपुरीके राजा हंसध्वज बड़े ही धर्मात्मा, प्रजापालक, शूरवीर और भगवद्भक्त थे। उनके राज्यकी यह विशेषता थी कि राजकुल तथा प्रजाके सभी पुरुष 'एकपत्नीव्रत'का पालन करते थे। जो भगवान्का भक्त न होता या जो एकपत्नीव्रती न होता, वह चाहे जितना विद्वान् या शूरवीर हो, उसे राज्यमें आश्रय नहीं मिलता था। पूरी प्रजा सदाचारी, भगवान्का भक्त, दानपरायण थी। पाण्डवोंके अश्वमेध यज्ञका घोड़ा जब चम्पकपुरीके पास पहुँचा, तब महाराज हंसध्वजने सोचा—'मैं वृद्ध हो गया, पर अबतक मेरे नेत्र श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शनसे सफल नहीं हुए। अब इस घोड़ेको रोकनेके बहाने मैं युद्धभूमिमें जाकर भगवान् पुरुषोत्तमके दर्शन करूँगा। मेरा जन्म उन श्यामसुन्दर भुवनमोहनके श्रीचरणोंके दर्शनसे सफल हो जायगा।'

घोड़ेकी रक्षाके लिये गाण्डीवधारी अर्जुन प्रद्युम्नादि महारथियोंके साथ उसके पीछे चल रहे थे, यह सबको पता था; किंतु राजाको तो पार्थ-सारथि श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शन करने थे। अश्व पकड़कर बाँध लिया गया। राजगुरु शङ्ख तथा लिखितकी आज्ञासे यह घोषणा कर दी गयी कि 'अमुक समयतक सब योद्धा रणक्षेत्रमें उपस्थित हो जायँ। जो ठीक समयपर नहीं पहुँचेगा, उसे उबलते हुए तेलके कड़ाहेमें डाल दिया जायगा।'

राजा हंसध्वजके पाँच पुत्र थे—सुबल, सुरथ, सम,

सुदर्शन तथा सुधन्वा। छोटे राजकुमार सुधन्वा अपनी माताके पास आज्ञा लेने पहुँचे। वीरमाताने पुत्रको हृदयसे लगाया और आदेश दिया—'बेटा! तू युद्धमें जा और विजयी होकर लौट! परंतु मेरे पास चार पैरवाले पशुको मत ले आना। मैं तो मुक्तिदाता 'हरि' को पाना चाहती हूँ। तू वही कर्म कर, जिससे श्रीकृष्ण प्रसन्न हों। वे भक्तवत्सल हैं। यदि तू अर्जुनको युद्धमें छका सके तो वे पार्थकी रक्षाके लिये अवश्य आयेंगे। वे अपने भक्तको कभी छोड़ नहीं सकते। देख, तू मेरे दूधको लज्जित मत करना। श्रीकृष्णको देखकर डरना मत। श्रीकृष्णके सामने युद्धमें मरनेवाला मरता नहीं, वह तो अपनी इक्कीस पीढ़ियाँ तार देता है। युद्धमें लड़ते हुए पुरुषोत्तमके सम्मुख तू यदि वीरगति प्राप्त करेगा तो मुझे सच्ची प्रसन्नता होगी।' धन्य माता!

सुधन्वाने माताकी आज्ञा स्वीकार की। बहिन कुबलासे आज्ञा तथा प्रोत्साहन प्राप्तकर वे अपने अन्तःपुरमें गये। द्वारपर उनकी सती पत्नी प्रभावती पहलेसे पूजाका थाल सजाये पतिकी आरती उतारनेको खड़ी थी। उसने पतिकी पूजा करके प्रार्थना की—'नाथ! आप अर्जुनसे संग्राम करने जा रहे हैं। मैं चाहती हूँ कि आपके चले जानेपर एक अञ्जलि देनेवाला पुत्र रहे।'

सुधन्वाने पत्नीको समझाना चाहा, पर वह पतिव्रता थी। उसने कहा—'मेरे स्वामी! मैं जानती हूँ कि श्रीकृष्णचन्द्रके समीप जाकर कोई इस संसारमें लौटता नहीं। मैं तो आपकी दासी हूँ। आपकी इच्छा और आपके हितमें ही मेरा हित है। मैं आपके इस मङ्गल-प्रस्थानमें बाधा नहीं देना चाहती। इस दासीकी तो एक तुच्छ प्रार्थना है। आपको वह प्रार्थना पूर्ण करनी चाहिये।'

अनेक प्रकारसे सुधन्वाने समझाना चाहा; किंतु अन्तमें प्रभावतीकी विजय हुई। सती नारीकी धर्मसम्मत प्रार्थना वे अस्वीकार नहीं कर सके। वहाँसे फिर स्नान-प्राणायाम करके वे युद्धके लिये रथपर बैठे।

उधर युद्ध-भूमिमें महाराज हंसध्वज अपने चारों राजकुमारोंके साथ पहुँच गये। सभी शूर एकत्र हो गये; किंतु समय हो जानेपर भी जब सुधन्वा नहीं पहुँचे, तब राजाने उन्हें पकड़ लानेके लिये कुछ सैनिक भेजे। सैनिकोंको सुधन्वा मार्गमें ही मिल गये। पिताके पास पहुँचकर जब उन्होंने विलम्बका कारण बताया, तब क्रोधमें भरकर महाराज कहने लगे—'तू बड़ा मूर्ख है। यदि पुत्र होनेसे ही सद्गति होती हो तो सभी कूकर-शूकर स्वर्ग ही जायँ। तेरे धर्म तथा विचारको धिक्कार है। श्रीकृष्णचन्द्रका नाम सुनकर भी तेरा मन कामके वश हो गया! ऐसे कामी, भगवान्से विमुख कुपुत्रका तो तेलमें उबलकर ही मरना ठीक है।'

राजाने व्यवस्थाके लिये पुरोहितोंके पास दूत भेजा। धर्मके मर्मज्ञ, स्मृतियोंके रचयिता ऋषि शङ्ख और लिखित बड़े क्रोधी थे। उन्होंने दूतसे कहा—'राजाका मन पुत्रके मोहसे धर्मभ्रष्ट हो गया है। जब सबके लिये एक ही आज्ञा थी, तब व्यवस्था पूछनेकी क्यों आवश्यकता हुई!' जो मन्दबुद्धि लोभ, मोह या भयसे अपने वचनोंका पालन नहीं करता, उसे नरकके दारुण दुःख मिलते हैं। हंसध्वज पुत्रके कारण अपने वचनोंको आज झूठा करना चाहता है। ऐसे अधर्मी राजाके राज्यमें हम नहीं रहना चाहते।' इतना कहकर वे दोनों ऋषि चल पड़े।

दूतसे समाचार पाकर राजाने मन्त्रीको आदेश दिया—'सुधन्वाको उबलते तेलके कड़ाहेमें डाल दो।' इतना आदेश देकर वे दोनों पुरोहितोंको मनाने चले गये। मन्त्रीको बड़ा दुःख हुआ; किंतु सुधन्वाने उन्हें कर्तव्यपालनके लिये दृढ़तापूर्वक समझाया। पिताकी आज्ञाका सत्पुत्रको पालन करना ही चाहिये, यह उसने निश्चय किया। उसने तुलसीकी माला गलेमें डाली और हाथ जोड़कर भगवान्से प्रार्थना की—'प्रभो! गोविन्द, मुकुन्द! मुझे मरनेका कोई भय नहीं है। मैं तो आपके चरणोंमें देहत्याग करने ही आया था; परंतु मैं आपका प्रत्यक्ष दर्शन न कर सका, यही मुझे दुःख है। मैंने आपका तिरस्कार करके बीचमें कामकी सेवा की, क्या इसीलिये आप मेरी रक्षाको अपने अभय हाथ नहीं बढ़ाते? पर मेरे स्वामी! जो लोग कष्टमें पड़कर, भयसे व्याकुल होकर आपकी शरण लेते हैं, उन्हें क्या सुखकी प्राप्ति नहीं होती? मैं आपका ध्यान करते हुए शरीर छोड़ रहा हूँ, अतः आपको अवश्य प्राप्त होऊँगा; किंतु लोग कहेंगे कि सुधन्वा वीर होकर भी

कड़ाहेमें जलकर मरा। मैं तो आपके भक्त अर्जुनके बाणोंको अपना शरीर भेंट करना चाहता हूँ। आपने अनेक भक्तोंकी टेक रखी है, अनेकोंकी इच्छा पूर्ण की है, मेरी भी इच्छा पूर्ण कीजिये। अपने इस चरणाश्रितकी टेक भी रखिये। इस अग्निदाहसे बचाकर इस शरीरको अपने चरणोंमें गिरने दीजिये।' इस प्रकार प्रार्थना करके 'हरे! गोविन्द! श्रीकृष्ण!' आदि भगवन्नामोंको पुकारते हुए सुधन्वा कड़ाहेके खौलते तेलमें कूद पड़े।

एक दिन प्रह्लादके लिये अग्निदेव शीतल हो गये थे, एक दिन व्रजबालकोंके लिये मयूरमुकुटीने दावाग्निको पी लिया था, आज सुधन्वाके लिये खौलता तेल शीतल हो गया! सुधन्वाको तो शरीरका भान ही नहीं था। वे तो अपने श्रीकृष्णको पुकारने, उनका नाम लेनेमें तल्लीन हो गये थे; किंतु देखनेवाले आश्चर्यमूढ़ हो रहे थे। खौलते तेलमें सुधन्वा जैसे तैर रहे हों। उनका एक रोमतक झुलस नहीं रहा था। यह बात सुनकर राजा हंसध्वज भी दोनों पुरोहितोंके साथ वहाँ आये। श्रद्धारहित तार्किक पुरोहित शङ्खको सन्देह हुआ—'अवश्य इसमें कोई चालाकी है। भला, तेल गरम होता तो उसमें सुधन्वा बचा कैसे रहता। कोई मन्त्र या ओषधिका प्रयोग तो नहीं किया गया?' तेलकी परीक्षाके लिये उन्होंने एक नारियल कड़ाहेमें डाला। उबलते तेलमें पड़ते ही नारियल तड़ाकसे फूट गया। उसके दो टुकड़े हो गये और उछलकर वे बड़े जोरसे शङ्ख तथा लिखितके सिरमें लगे। अब उनको भगवान्‌के महत्त्वका ज्ञान हुआ। सेवकोंसे उन्होंने पूछा कि 'सुधन्वाने कोई ओषधि शरीरमें लगायी क्या? अथवा उसने किसी मन्त्रका जप किया था?' सेवकोंने बताया कि 'राजकुमारने ऐसा कुछ नहीं किया। वे प्रारम्भसे भगवान्‌का नाम ले रहे हैं।' अब शङ्खको अपने अपराधका पता लगा। उन्होंने कहा—'मुझे धिक्कार है! मैंने भगवान्‌के एक सच्चे भक्तपर सन्देह किया। प्रायश्चित्त करके प्राण त्यागनेका निश्चय कर शङ्खमुनि उसी उबलते तेलके कड़ाहेमें कूद पड़े; किंतु सुधन्वाके प्रभावसे उनके लिये भी तेल शीतल हो गया। मुनिने सुधन्वाको हृदयसे लगा लिया। उन्होंने कहा—'कुमार! तुम्हें धन्य है। मैं तो ब्राह्मण होकर, शास्त्र पढ़कर भी असाधु हूँ। मूर्ख हूँ मैं। बुद्धिमान् और विद्वान् तो वही है, जो भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण करता है। तुम्हारे स्पर्शसे मेरा यह अधम देह भी आज पवित्र हो गया। तुम-जैसे भगवान्‌के भक्तोंका तो दर्शन ही मनुष्य-जीवनकी परम सफलता है राजकुमार! अब तुम इस तेलसे निकलो। अपने पिता, भाइयों और सेनाको पावन करके मेरा भी उद्धार करो! त्रिलोकीके स्वामी श्रीकृष्ण जिनके सारथि बनते हैं, उन धनुर्धर अर्जुनको संग्राममें तुम्हीं सन्तुष्ट कर सकते हो।'

मुनिके साथ सुधन्वा कड़ाहेसे बाहर आये। राजा हंसध्वजने अपने भगवद्भक्त पुत्रका समादर किया और उन्हें आशीर्वाद दिया। पिताकी आज्ञासे सुधन्वा सेनानायक हुए। अर्जुनकी सेनासे उनका संग्राम होने लगा। सुधन्वाके शौर्यके कारण पाण्डवदलमें खलबली मच गयी। वृषकेतु, प्रद्युम्न, कृतवर्मा, सात्यकि आदि वीरोंको उस तेजस्वीने घायल करके पीछे हटनेको विवश कर दिया। अन्तमें अर्जुन सामने आये। अर्जुनको अपनी शूरताका कुछ दर्प भी था; किन्तु सुधन्वा तो केवल श्यामसुन्दरके भरोसे युद्ध कर रहे थे। भगवान्‌को अपने भक्तका प्रभाव दिखलाना था। बालक सुधन्वाको अपने सामने देख पार्थको बड़ा आश्चर्य हुआ। सुधन्वाने उनसे कहा—'विजय! सदा आपके रथपर श्रीकृष्णचन्द्र सारथिके स्थानपर बैठे आपकी रक्षा किया करते थे, इसीसे आप सदा विजयी होते रहे। आज आपने अपने उन समर्थ सारथिको कहाँ छोड़ दिया? मेरे साथ युद्ध करनेमें श्रीकृष्णने तो आपको नहीं छोड़ दिया? आप अब उन मुकुन्दसे रहित हैं, ऐसी दशामें मुझसे संग्राम कर भी सकेंगे या नहीं?'

सुधन्वाकी बातोंसे अर्जुन क्रुद्ध हो गये। उन्होंने बाण-वर्षा आरम्भ कर दी। परंतु हँसते हुए सुधन्वाने उनके बाणोंके टुकड़े-टुकड़े उड़ा दिये। अर्जुनके दिव्यास्त्रोंको भी राजकुमारने व्यर्थ कर दिया। स्वयं पार्थ घायल हो गये। उनका सारथि मरकर गिर पड़ा। सुधन्वाने फिर हँसकर कहा—'धनञ्जय! मैं तो पहले ही कहता था कि अपने सर्वज्ञ सारथिको छोड़कर आपने अच्छा नहीं किया। आपका सारथि मारा गया। आप मेरे बाणोंसे घायल हो गये हैं। अब भी शीघ्रतासे अपने उस

श्यामरूप सारथिका स्मरण कीजिये।'

अर्जुनने बायें हाथसे घोड़ोंकी डोरी पकड़ी। एक हाथसे युद्ध करते हुए वे भगवान्‌को मन-ही-मन पुकारने लगे। उनके स्मरण करते ही श्रीकृष्णचन्द्र प्रकट हो गये। उन्होंने अर्जुनके हाथसे रथकी रश्मि ले ली। सुधन्वा और अर्जुन दोनोंने भगवान्‌को प्रणाम किया। सुधन्वाके नेत्र आनन्दसे खिल उठे। जिसके लिये उसने युद्धमें अर्जुनको छकाया था, वह कार्य तो अब पूरा हुआ। कमललोचन श्रीकृष्णचन्द्र आ गये। उनके दर्शन करके वह कृतार्थ हो गया। अब उसे भला, और क्या चाहिये। उसने अर्जुनको ललकारा—'पार्थ ! आपके ये सर्वसमर्थ सारथि तो आ गये। अब तो आप मुझपर विजय पानेके लिये कोई प्रतिज्ञा करें।'

अर्जुनको भी आवेश आ गया। उन्होंने तीन बाण निकालकर प्रतिज्ञा की—'इन तीन बाणोंसे यदि मैं तेरा सुन्दर मस्तक न काट दूँ तो मेरे पूर्वज पुण्यहीन होकर नरकमें गिर पड़ें।'

अर्जुनकी प्रतिज्ञा सुनकर सुधन्वाने हाथ उठाकर कहा—'ये श्रीकृष्ण साक्षी हैं। इनके सामने ही मैं तुम्हारे इन तीनों बाणोंको काट न दूँ तो मुझे घोर गति प्राप्त हो।' यह कहकर सुधन्वाने श्रीकृष्ण तथा अर्जुनको बाणोंसे घायल कर दिया। उनके रथको कुछ तोड़ डाला। बाणोंसे मारकर उनके रथको कुम्हारके चाककी भाँति घुमाने लगा। चार सौ हाथ पीछे हटा दिया उस रथको। भगवान्‌ने कहा—'अर्जुन! सुधन्वा बहुत बाँका वीर है। मुझसे पूछे बिना प्रतिज्ञा करके तुमने अच्छा नहीं किया। जयद्रथ-वधके समय तुम्हारी प्रतिज्ञाने कितना सङ्कट उपस्थित किया था, यह तुम भूल कैसे गये। सुधन्वा 'एकपत्नीव्रत' के प्रभावसे महान् है और इस विषयमें हम दोनों पिछड़े हुए हैं।'

अर्जुनने कहा—'गोविन्द! आप आ गये हैं, फिर मुझे चिन्ता ही क्या। जबतक आपके हाथमें मेरे रथकी डोरी है, मुझे कौन सङ्कटमें डाल सकता है। मेरी प्रतिज्ञा अवश्य पूरी होगी।' अर्जुनने एक बाण चढ़ाया। भगवान्‌ने अपने गोवर्धन-धारणका पुण्य उस बाणको अर्पित किया। बाण छूटा। कालाग्निके समान वह बाण चला। सुधन्वाने गोवर्धनधारी श्रीकृष्णका स्मरण करके बाण मारा और अर्जुनका बाण दो टुकड़े होकर गिर पड़ा। पृथ्वी काँपने लगी। देवता भी आश्चर्यमें पड़ गये। भगवान्‌की आज्ञासे अर्जुनने दूसरा बाण चढ़ाया। भक्तवत्सल प्रभुने उसे अपने बहुत-से पुण्य अर्पण किये। सुधन्वाने—'श्रीकृष्णचन्द्रकी जय!' कहकर अपने बाणसे उसे भी काट दिया। अर्जुन उदास हो गये। रणभूमिमें हाहाकार मच गया। देवता सुधन्वाकी प्रशंसा करने लगे।

अब तीसरे बाणको भगवान्‌ने अपने रामावतारका पूरा पुण्य दिया। बाणके पिछले भागमें ब्रह्माजीको तथा मध्यमें कालको प्रतिष्ठित करके नोकपर वे स्वयं एक रूपसे बैठे। अर्जुनने वह बाण भगवान्‌के आदेशसे धनुषपर चढ़ाया। सुधन्वाने कहा—'नाथ! तुम मेरा वध करने स्वयं बाणमें स्थित होकर आ रहे हो, यह मैं जान गया हूँ। मेरे स्वामी! आओ। रणभूमिमें मुझे अपने श्रीचरणोंका आश्रय देकर कृतार्थ करो। अर्जुन! तुम्हें धन्य है! साक्षात् नारायण तुम्हारे बाणको अपना पुण्य ही नहीं देते, स्वयं बाणमें स्थित भी होते हैं। विजय तो तुम्हारी है ही; किन्तु भूलो मत! मैं इन्हीं श्रीकृष्णकी कृपासे इस बाणको भी अवश्य काट दूँगा!'

बाण छूटा। सुधन्वाने पुकार की—'भक्तवत्सल गोविन्दकी जय!' और बाण मार दिया। भक्तके प्रभावको काल देवता रोक लें, यह सम्भव नहीं। अर्जुनका बाण बीचमेंसे कटकर दो टुकड़े हो गया। सुधन्वाकी प्रतिज्ञा पूरी हुई। अब अर्जुनका प्रण पूरा होना था। बाण कट गया, पर उसका अगला भाग गिरा नहीं। उस आधे बाणने ही ऊपर उठकर सुधन्वाका मस्तक काट दिया। मस्तकहीन सुधन्वाके शरीरने पाण्डवसेनाको तहस-नहस कर दिया और उसका सिर भगवान्‌के चरणोंपर जाकर गिरा। श्रीकृष्णचन्द्रने—'गोविन्द, मुकुन्द, हरि' कहते उस मस्तकको अपने हाथोंमें उठा लिया। इसी समय परम भक्त सुधन्वाके मुखसे एक ज्योति निकली और सबके देखते-देखते वह श्रीकृष्णचन्द्रके मुखमें प्रविष्ट हो गयी।

भक्त मयूरध्वज

द्वापरके अन्तमें रत्नपुरके अधिपति महाराज मयूरध्वज एक बहुत बड़े धर्मात्मा तथा भगवद्भक्त संत हो गये हैं। इनकी धर्मशीलता, प्रजावत्सलता एवं भगवान्‌के प्रति स्वाभाविक अनुराग अतुलनीय ही था। इन्होंने भगवत्प्रीत्यर्थ अनेकों बड़े-बड़े यज्ञ किये थे, करते ही रहते थे।

एक बार इनका अश्वमेधका घोड़ा छूटा हुआ था और उसके साथ इनके वीर पुत्र ताम्रध्वज तथा प्रधान मन्त्री सेनाके साथ रक्षा करते हुए घूम रहे थे। उधर उन्हीं दिनों धर्मराज युधिष्ठिरका भी अश्वमेध यज्ञ चल रहा था और उनके घोड़ेके रक्षकरूपमें अर्जुन और उनके सारथि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण साथ थे। मणिपुरमें दोनोंकी मुठभेड़ हो गयी।

उन दिनों भगवान्‌के सारथ्य और अनेकों वीरोंपर विजय प्राप्त करनेके कारण अर्जुनके मनमें कुछ अपनी भक्ति तथा वीरताका गर्व-सा हो आया था। सम्भव है इसीलिये अथवा अपने एक छिपे हुए भक्तकी महिमा प्रकट करनेके लिये भगवान्‌ने एक अद्भुत लीला रची। परिणामतः युद्धमें श्रीकृष्णके ही बलपर मयूरध्वजके पुत्र ताम्रध्वजने विजय प्राप्त की और श्रीकृष्ण तथा अर्जुन दोनोंको मूर्च्छित करके वह दोनों घोड़ोंको अपने पिताके पास ले गया। पिताके पूछनेपर मन्त्रीने बड़ी प्रसन्नतासे सारा समाचार कह सुनाया। किन्तु सब कुछ सुन लेनेके पश्चात् मयूरध्वजने बड़ा खेद प्रकट किया। उन्होंने कहा—'तुमने बुद्धिमानीका काम नहीं किया। श्रीकृष्णको छोड़कर घोड़ेको पकड़ लेना या यज्ञ पूरा करना अपना उद्देश्य नहीं है! तुम मेरे पुत्र नहीं, बल्कि शत्रु हो, जो भगवान्‌के दर्शन पाकर भी उन्हें छोड़कर चले आये।' इसके बाद वे बहुत पश्चात्ताप करने लगे।

उधर जब अर्जुनकी मूर्च्छा टूटी, तब उन्होंने श्रीकृष्णसे घोड़ेके लिये बड़ी व्यग्रता प्रकट की। भगवान् अपने भक्तकी महिमा दिखानेके लिये स्वयं ब्राह्मण बने और अर्जुनको अपना शिष्य बनाया तथा दोनों मयूरध्वजकी यज्ञशालामें उपस्थित हुए। इनके तेज और प्रभावको देखकर मयूरध्वज अपने आसनसे उठकर नमस्कार करनेवाले ही थे कि इन्होंने पहले ही 'स्वस्ति' कहकर आशीर्वाद दिया। मयूरध्वजने इनके इस कर्मको अनुचित बतलाते हुए इन्हें नमस्कार किया और स्वागत-सत्कार करके अपने योग्य सेवा पूछी। ब्राह्मणवेशधारी भगवान्‌ने अपनी इच्छित वस्तु लेनेकी प्रतिज्ञा कराकर बतलाया—'मैं अपने पुत्रके साथ इधर आ रहा था कि मार्गमें एक सिंह मिला और उसने मेरे पुत्रको खाना चाहा। मैंने पुत्रके बदले अपनेको देना चाहा, पर उसने स्वीकार नहीं किया। बहुत अनुनय-विनय करनेपर उसने यह स्वीकार किया है कि राजा मयूरध्वज पूर्ण प्रसन्नताके साथ अपनी स्त्री और पुत्रके द्वारा अपने आधे शरीरको आरेसे चिरवाकर मुझे दे दें, तो मैं तुम्हारे पुत्रको छोड़ सकता हूँ।' राजाने बड़ी प्रसन्नतासे यह बात स्वीकार कर ली। उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि इस वेशमें स्वयं भगवान् ही मेरे सामने उपस्थित हैं। यह बात सुनते ही सम्पूर्ण सदस्योंमें हलचल मच गयी। साध्वी रानीने अपनेको उनका आधा शरीर बताकर देना चाहा, पर भगवान्‌ने दाहिने अंशकी आवश्यकता बतलायी। पुत्रने भी अपनेको पिताकी प्रतिमूर्ति बताकर सिंहका ग्रास बननेकी इच्छा प्रकट की; पर भगवान्‌ने उसके द्वारा चीरे जानेकी बात कहकर उसकी प्रार्थना भी अस्वीकार कर दी।

अन्तमें दो खंभे गाड़कर उनके बीचमें हँसते हुए और उच्चस्वरसे भगवान्‌के 'गोविन्द', 'मुकुन्द', 'माधव' आदि मधुर नामोंका सस्वर उच्चारण करते हुए मयूरध्वज बैठ गये और उनके स्त्री-पुत्र आरा लेकर उनके सिरको चीरने लगे। सदस्योंने आपत्ति करनेका भाव प्रकट किया; परन्तु महाराजने यह कहकर कि 'जो मुझसे प्रेम करते हों, मेरा भला चाहते हों, वे ऐसी बात न सोचें' सबको मना कर दिया। जब उनका शरीर चीरा जाने लगा, तब उनकी बायीं आँखसे आँसूकी कुछ बूँदें निकल पड़ीं, जिन्हें देखते ही ब्राह्मणदेवता बिगड़ गये और यह कहकर चल पड़े कि 'दुःखसे दी हुई वस्तु मैं नहीं लेता।' फिर अपनी स्त्रीकी प्रार्थनासे मयूरध्वजने उन ब्राह्मणदेवताको बुलाकर बड़ा आग्रह किया और

समझाया कि 'भगवन्! आँसू निकलनेका यह भाव नहीं है कि मेरा शरीर काटा जा रहा है; बल्कि बायीं आँखसे आँसू निकलनेका यह भाव है कि ब्राह्मणके काम आकर दाहिना अङ्ग तो सफल हो रहा है, परन्तु बायाँ अङ्ग किसीके काम न आया! बायीं आँखके खेदका यही कारण है।'

अपने परम प्रिय भक्त मयूरध्वजका यह विशुद्ध भाव देखकर भगवान्ने अपने-आपको प्रकट कर दिया। शङ्ख-चक्र-गदाधारी, चतुर्भुज, पीताम्बर पहने हुए, मयूरमुकुटी प्रभुने अभयदान देते हुए उनके शरीरका स्पर्श किया और स्पर्श पाते ही मयूरध्वजका शरीर पहलेकी अपेक्षा अधिक सुन्दर, हृष्ट-पुष्ट एवं बलिष्ठ हो गया। वे भगवान्के चरणोंपर गिरकर स्तुति करने लगे। भगवान्ने उन्हें सान्त्वना दी और वर माँगनेको कहा। उन्होंने भगवान्के चरणोंमें अविचल प्रेम माँगा और आगे चलकर 'वे भक्तोंकी ऐसी परीक्षा न लें' इसका अनुरोध किया। भगवान्ने बड़े प्रेमसे उनकी अभिलाषा पूर्ण की और स्वयं अपने सिरपर कठोरताका लाञ्छन लेकर भी अपने भक्तकी महिमा बढ़ायी। अर्जुन उनके साथ-ही-साथ सब लीला देख रहे थे। उन्होंने मयूरध्वजके चरणोंपर गिरकर अपने गर्वकी बात कही और भक्तवत्सल भगवान्की इस लीलाका रहस्य अपने घमंडको चूर करना बतलाया। अन्तमें तीन दिनोंतक उनका आतिथ्य स्वीकार करनेके पश्चात् घोड़ा लेकर वे दोनों चले गये और मयूरध्वज निरन्तर भगवान्के प्रेममें छके रहने लगे।

महाराज परीक्षित्

यत्प्रातः संस्कृतं चान्नं सायं तच्च विनश्यति।
तदीयरससम्पुष्टे काये का नाम नित्यता॥

'जो भोजन आज प्रातःकाल बनाया गया है, शामतक वह नष्ट हो जायगा—सड़ने लगेगा। ऐसे अन्नके रससे ही वह शरीर पुष्ट हुआ है, फिर उसमें नित्यता या टिकाऊपन कैसा?'

सुभद्राकुमार अभिमन्युकी पत्नी महाराज विराटकी पुत्री उत्तरा गर्भवती थीं। उनके उदरमें कौरव एवं पाण्डवोंका एकमात्र वंशधर था। अश्वत्थामाने उस गर्भस्थ बालकका विनाश करनेके लिये ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया। भयविह्वल उत्तरा भगवान् श्रीकृष्णकी शरणमें गयी। भगवान्ने उसे अभयदान दिया और बालककी रक्षाके लिये वे सूक्ष्मरूपसे उत्तराके गर्भमें स्वयं पहुँच गये। गर्भस्थ शिशुने देखा कि एक प्रचण्ड तेज चारों ओरसे समुद्रकी भाँति उमड़ता हुआ उसे भस्म करने आ रहा है। इसी समय बालकने अँगूठेके बराबर ज्योतिर्मय भगवान्को अपने पास देखा। भगवान् अपने कमलनेत्रोंसे बालकको स्नेहपूर्वक देख रहे थे। उनके सुन्दर श्याम-वर्णपर पीताम्बरकी अद्भुत शोभा थी। मुकुट, कुण्डल, अङ्गद, किङ्किणी प्रभृति मणिमय आभरण उन्होंने धारण कर रखे थे। उनके चार भुजाएँ थीं और उनमें शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म थे। अपनी गदाको उल्काके समान चारों ओर शीघ्रतासे घुमाकर भगवान् उस उमड़ते आते अस्त्र-तेजको बराबर नष्ट करते जा रहे थे। बालक दस महीनेतक भगवान्को देखता रहा। वह सोचता ही रहा—'ये कौन हैं?' जन्मका समय आनेपर भगवान् वहाँसे अदृश्य हो गये। बालक मृत-सा उत्पन्न हुआ; क्योंकि जन्मके समय उसपर ब्रह्मास्त्रका प्रभाव पड़ गया था। तुरंत श्रीकृष्णचन्द्र प्रसूतिकागृहमें आये और उन्होंने उस शिशुको जीवित कर दिया। यही बालक परीक्षित्के नामसे प्रसिद्ध हुआ।

जब परीक्षित् बड़े हुए, पाण्डवोंने इन्हें राज्य सौंप दिया और स्वयं हिमालयपर चले गये। प्रतापी एवं धर्मात्मा परीक्षित्ने राज्यमें पूरी सुव्यवस्था स्थापित की। एक दिन जब ये दिग्विजय करने निकले थे, इन्होंने एक उज्ज्वल साँड़ देखा, जिसके तीन पैर टूट गये थे। केवल एक ही पैर शेष था। पास ही एक गाय रोती हुई उदास खड़ी थी। एक काले रंगका शूद्र राजाओंकी भाँति मुकुट पहने, हाथमें डंडा लिये गाय और बैलको पीट रहा था। यह जाननेपर कि गौ पृथ्वीदेवी हैं और वृषभ साक्षात्

धर्म है तथा यह कलियुग शूद्र बनकर उन्हें ताड़ना दे रहा है—परीक्षित्‌ने उस शूद्रको मारनेके लिये तलवार खींच ली। शूद्रने अपना मुकुट उतार दिया और वह परीक्षित्‌के पैरोंपर गिर पड़ा। महाराजने कहा—'कलि! तुम मेरे राज्यमें मत रहो। तुम जहाँ रहते हो, वहाँ असत्य, दम्भ, छल-कपट आदि अधर्म रहते हैं।' कलिने प्रार्थना की—'आप तो चक्रवर्ती सम्राट् हैं; अतः मैं कहाँ रहूँ, यह आप ही मुझे बता दें। मैं कभी आपकी आज्ञा नहीं तोड़ूँगा।' परीक्षित्‌ने कलिको रहनेके लिये जुआ, शराब, स्त्री, हिंसा और स्वर्ण—ये पाँच स्थान बता दिये। ये ही पाँचों अधर्मरूप कलिके निवास हैं। इनसे प्रत्येक कल्याणकामीको बचना चाहिये।

एक दिन आखेट करते हुए परीक्षित् वनमें भटक गये। भूख और प्याससे व्याकुल वे एक ऋषिके आश्रममें पहुँचे। ऋषि उस समय ध्यानस्थ थे। राजाने उनसे जल माँगा, पुकारा; पर ऋषिको कुछ पता नहीं लगा। इसी समय कलिने राजापर अपना प्रभाव जनाया। उन्हें लगा कि जान-बूझकर ये मुनि मेरा अपमान करते हैं। पासमें ही एक मरा सर्प पड़ा था। उन्होंने उसे धनुषसे उठाकर ऋषिके गलेमें डाला—यह परीक्षा करनेके लिये कि ऋषि ध्यानस्थ हैं या नहीं, और फिर वे राजधानी लौट गये। बालकोंके साथ खेलते हुए उन ऋषिके तेजस्वी पुत्रने जब यह समाचार पाया, तब शाप दे दिया—'इस दुष्ट राजाको आजके सातवें दिन तक्षक काट लेगा।'

घर पहुँचनेपर परीक्षित्‌को स्मरण आया कि 'मुझसे आज बहुत बड़ा अपराध हो गया।' वे पश्चात्ताप कर ही रहे थे, इतनेमें शापकी बातका उन्हें पता लगा। इससे राजाको तनिक भी दुःख नहीं हुआ। अपने पुत्र जनमेजयको राज्य देकर वे गङ्गातटपर जा बैठे। सात दिनोंतक उन्होंने निर्जल व्रतका निश्चय किया। उनके पास उस समय बहुत-से ऋषि-मुनि आये। परीक्षित्‌ने कहा—'ऋषिगण! मुझे शाप मिला, यह तो मुझपर भगवान्‌की कृपा ही हुई। मैं विषयभोगोंमें आसक्त हो रहा था, दयामय भगवान्‌ने शापके बहाने मुझे उनसे अलग कर दिया। अब आप मुझे भगवान्‌का पावन चरित सुनाइये।' उसी समय वहाँ घूमते हुए श्रीशुकदेवजी पहुँच गये। परीक्षित्‌ने उनका पूजन किया। उनके पूछनेपर शुकदेवजीने सात दिनोंमें उन्हें पूरे श्रीमद्भागवतका उपदेश किया। अन्तमें परीक्षित्‌ने अपना चित्त भगवान्‌में लगा दिया। तक्षकने आकर उन्हें काटा और उसके विषसे उनका देह भस्म हो गया; पर वे तो पहले ही शरीरसे ऊपर उठ चुके थे। उनको इस सबका पतातक नहीं चला।

कुमार वज्रनाभ

को नाम तृप्येद्रसवित्कथायां
महत्तमैकान्तपरायणस्य ।
नान्तं गुणानामगुणस्य जग्मु-
र्योगेश्वरा ये भवपाद्ममुख्याः॥

(श्रीमद्भा० १। १८। १४)

श्रीअनिरुद्धजीके पुत्र वज्रनाभ ही यदुकुलके महासंहारमेंसे बचे थे। स्त्रियों, सेवकों आदिके साथ अर्जुन उन्हें हस्तिनापुर ले आये। वहीं युधिष्ठिरजीने मथुरामण्डलका उनको राजा बना दिया। उस समय वज्रनाभकी अवस्था छोटी ही थी। पाण्डवोंके महाप्रस्थानके पश्चात् परीक्षित्‌जी स्वयं वज्रनाभको मथुराका राज्य सौंपने आये। उस समय पूरा व्रजमण्डल उजाड़ पड़ा था। वहाँ कोई पशु-पक्षी भी नहीं रहा था। मथुरामें केवल सूने भवन थे साधारण पत्थरोंके। परीक्षित्‌ने वज्रनाभसे कहा—'तुम राज्य, कोष, सेना आदिके लिये चिन्ता मत करना। यह सब मैं तुम्हें बहुत अधिक दूँगा। कोई शत्रु मेरे जीते-जी तुम्हारी ओर देखतक नहीं सकता। तुम तो केवल माताओंकी सेवा करो। इनको जैसे प्रसन्नता हो, वही तुम्हें करना चाहिये।'

वज्रनाभने कहा—'चाचाजी! यद्यपि मैं अभी बालक हूँ, फिर भी मुझे सभी अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञान है। राज्य, धन या शत्रुकी मुझे कोई चिन्ता नहीं; किन्तु मैं यहाँ राज्य किसपर करूँ ? यहाँ तो प्रजा ही नहीं है। आप इसकी कोई व्यवस्था करें।'

परीक्षित्‌जीने पता लगाया तो यमुना-किनारे महर्षि शाण्डिल्यजीका आश्रम मिल गया। राजाके बुलानेपर वे व्रजराज श्रीनन्दरायके पुरोहित आये। उन ऋषिश्रेष्ठने

बताया—'राजन्! व्रजभूमि तो दिव्यभूमि है। साधारण नेत्रोंसे तो उसके तभीतक दर्शन होते हैं, जबतक श्रीकृष्णचन्द्र इस लोकमें अपनी लीला प्रकटरूपसे करते हैं। श्रीकृष्णके अपने धाम पधारनेपर व्रज भी अदृश्य हो गया। अब तो उसका दर्शन अधिकारी पुरुष ही कर पाते हैं। तुम मथुराके मणिमय भवनोंको तो इन पत्थरोंके रूपमें बदला देखते भी हो; पर व्रजमें तो कूप, सरोवर आदितक नहीं दीखेंगे। वहाँ तो अब केवल कँटीली लताएँ, सूखे वृक्ष, रेतीली भूमि वियोगकी सूचनारूपमें रह गयी है; परंतु तुम चिन्ता मत करो। मैं तुम्हें श्रीकृष्णकी सभी लीलास्थलियाँ बताऊँगा। तुम वहाँ लीलाके अनुरूप सरोवर, कुण्ड, कूप बनवाओ तथा भगवान्के श्रीविग्रहकी स्थापना करो। बाहरसे कपि, मयूर, गौ आदि वे पशु-पक्षी यहाँ लाकर बसाओ, जो श्यामसुन्दरको प्यारे थे और व्रजके लोगोंके जो सम्बन्धी अन्यत्र मिलें, उनको भी यहाँ ले आकर धन-धान्यसे सन्तुष्ट करके बसाओ।' महर्षिकी आज्ञासे परीक्षित् तथा वज्रनाभ व्रजमें सरोवर, मन्दिर आदि बनाने तथा लोगोंको बाहरसे लाकर वहाँ बसानेमें लग गये।

एक दिन श्रीकृष्णचन्द्रकी पत्नियोंने श्रीयमुनाजीके साक्षात् दर्शन किये। यमुनाजीको सौभाग्यवतीके वेशमें देखकर आश्चर्यसे उन्होंने कारण पूछा। दयावश भगवती कालिन्दीने बताया—'श्रीकृष्णचन्द्रसे तो हम सबका कभी वियोग होता ही नहीं। वे व्रजराजकुमार व्रजेश्वरी श्रीराधिकाजीके साथ ही नित्य रहते हैं। जिन्हें श्रीराधाका दास्य प्राप्त है, नन्दनन्दनका नित्य सामीप्य उन्हें प्राप्त रहता है। तुमलोग उद्धवजीके दर्शन करो। गोवर्धनके समीप उद्धवजी लता-कुञ्जोंमें एक होकर रहते हैं। श्यामसुन्दरके लीला-गुण-नाम-कीर्तनसे वे प्रत्यक्ष हो जायँगे। उनके दर्शनसे तुम्हें श्रीनन्दनन्दनकी प्राप्ति होगी।'

श्रीकृष्णचन्द्रकी पत्नियोंने वज्रनाभसे यह बात कही। वज्रनाभने गिरिराज गोवर्धनके समीप सङ्कीर्तन-महोत्सव प्रारम्भ किया। उद्धवजी लता-गुल्मोंसे प्रकट होकर उस महोत्सवमें आ गये। सबने उद्धवजीकी पूजा की। परीक्षित्को उद्धवजीने कलियुगका निरोध करनेके लिये आग्रहपूर्वक भेज दिया। शेष सबको उन्होंने एक महीनेमें वैष्णवी रीतिसे श्रीमद्भागवतकी कथा सुनायी। कथाकी पूर्णाहुतिपर नन्दनन्दन श्यामसुन्दर व्रजमण्डलके साथ व्यक्त हो गये। वज्रनाभ तथा रानियोंने उस नित्य धाममें अपना स्थान देख लिया। जगत्के नेत्रोंके लिये जैसे वह चिन्मयधाम अलक्षित हुआ, वैसे ही उस धाममें पहुँचकर वज्रनाभ तथा रानियाँ भी अदृश्य हो गयीं।

शिवभक्त राजा चन्द्रसेन और श्रीकर गोप

भगवान् शिव गुरु हैं, शिव देवता हैं, शिव ही प्राणियोंके बन्धु हैं, शिव ही आत्मा और शिव ही जीव हैं। शिवसे भिन्न दूसरा कुछ नहीं है। वही जिह्वा सफल है, जो भगवान् शिवकी स्तुति करती है। वही मन सार्थक है, जो भगवान् शिवके ध्यानमें संलग्न होता है। वे ही कान सफल हैं, जो उनकी कथा सुननेके लिये उत्सुक रहते हैं और वे ही दोनों हाथ सार्थक हैं, जो शिवजीकी पूजा करते हैं। वे नेत्र धन्य हैं, जो भगवान् शिवजीकी पूजाका दर्शन करते हैं। वह मस्तक धन्य है, जो भगवान् शिवके सामने झुक जाता है। वे पैर धन्य हैं, जो भक्तिपूर्वक शिवके क्षेत्रोंमें सदा भ्रमण करते हैं। जिसकी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ भगवान् शिवके कार्योंमें लगी रहती हैं, वह संसार-सागरसे पार हो जाता है और भोग तथा मोक्ष प्राप्त कर लेता है। भगवान् शिवकी भक्तिसे युक्त मनुष्य चाण्डाल, पुल्कस, नारी, पुरुष अथवा नपुंसक—कोई भी क्यों न हो, तत्काल संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।* जिसके हृदयमें भगवान् शिवकी लेशमात्र भी भक्ति है, वह समस्त देहधारियोंके लिये वन्दनीय है।

---

* शिवो गुरुः शिवो देवः शिवो बन्धुः शरीरिणाम्। शिव आत्मा शिवो जीवः शिवादन्यन्न किञ्चन॥
सा जिह्वा या शिवं स्तौति तन्मनो ध्यायते शिवम्। तौ कर्णौ तत्कथालोलौ तौ हस्तौ तस्य पूजकौ॥
ते नेत्रे पश्यतः पूजां तच्छिरः प्रणतं शिवे। तौ पादौ यौ शिवक्षेत्रं भक्त्या पर्यटतः सदा॥

उज्जयिनीके राजा चन्द्रसेन इसी श्रेणीके शिवभक्त थे। वे भगवान् महाकालके अनन्य उपासक थे। शिवपार्षदोंमें अग्रगण्य श्रीमणिभद्रजी, राजाकी अनन्य भक्ति देख, उनके सखा हो गये थे। उन्होंने प्रसन्न होकर महाराज चन्द्रसेनको एक ऐसी दिव्य चिन्तामणि प्रदान की थी, जो सूर्य तथा कौस्तुभमणिके समान देदीप्यमान थी। वह चिन्तन करनेमात्रसे ही मनोवाञ्छित वस्तु प्रदान करनेवाली थी। उस चिन्तामणिको कण्ठमें धारण करके राजा जब सिंहासनपर बैठते, तब देवताओंके बीचमें भगवान् सूर्यकी भाँति उनकी शोभा होती थी। महाराज चन्द्रसेनकी इस चिन्तामणिके प्रति बहुत-से राजाओंके मनमें लोभ पैदा हो गया था। एक दिन कई राजाओंने एक साथ बहुत-सी सेना लाकर मालवपर आक्रमण किया और उज्जयिनीके चारों द्वारोंको घेर लिया।

महाराज चन्द्रसेनको जब यह समाचार मिला, तब वे भगवान् महाकालकी ही शरणमें गये। उनके तो सब कुछ महाकाल ही थे। भगवान् शिवसे सारी परिस्थिति बताकर वे उन्हींकी आराधनामें संलग्न हो गये। भक्तवत्सल भगवान् शिवने भक्तकी रक्षाका निश्चय करके तदनुकूल उपायपर विचार किया। उन दिनों उज्जयिनीमें एक विधवा ग्वालिन रहती थी। उसके पाँच वर्षका एक बालक था। उस बालकको गोदमें लेकर वह महाकालजीके मन्दिरमें गयी। वहाँ उसने राजा चन्द्रसेनद्वारा की हुई गौरीपतिकी महापूजाका दर्शन किया। उस आश्चर्यमय पूजोत्सवको देखकर ग्वालिनने भगवान्को प्रणाम किया और वह अपने निवासस्थानपर लौट आयी। ग्वालिनके उस बालकने भी वह सारी पूजा देखी थी। बालक अनुकरणशील तो होते ही हैं। घर आकर उसने भी शिवजीकी पूजा प्रारम्भ कर दी। एक सुन्दर पत्थर लाकर घरसे थोड़ी दूर एकान्तमें रख दिया। वही उसके लिये मानो भगवान् शिवका प्रतीक था। फिर उसने अपने हाथसे प्राप्त होने लायक बहुत-से फूलोंका संग्रह किया। तत्पश्चात् उस शिवलिङ्गको स्नान कराया और भक्तिभावसे उसकी पूजा की। कृत्रिम अलङ्कार, चन्दन, धूप, दीप और अक्षत आदि उपचार चढ़ाये। भाँति-भाँतिके सुन्दर पत्रों और पुष्पोंसे भगवान्का शृङ्गार किया और मानसिक नैवेद्य निवेदन करके भगवान्के चरणोंमें मस्तक झुकाया। इसके बाद भावावेशसे उसने नृत्य भी किया। इसी समय ग्वालिनने भोजन तैयार करके उस बालकको बुलाया। जब वह नहीं आया, तब वह स्वयं उसके पास गयी। उसने देखा उसका लाड़ला भगवान् शिवकी पूजा करके ध्यान लगाये बैठा है। ग्वालिनने हाथ पकड़कर खींचा, तब भी बालक नहीं उठा। इसपर वह खीझ उठी और बालकको पीटने लगी। इतनेपर भी जब वह उठनेको राजी नहीं हुआ, तब उसकी माँने वह पत्थर उठाकर दूर फेंक दिया। उसपर चढ़ी हुई सारी पूजा-सामग्री इधर-उधर बिखर गयी। यह देख बालक 'हाय! हाय!' करके रो उठा। 'देवदेव महादेव!' की रट लगाता हुआ वह सहसा मूर्च्छित होकर गिर पड़ा।

थोड़ी देरमें जब उसे चेत हुआ, तब आँखें खोलकर उसने देखा, उसका वही निवास-स्थान एक परम रमणीय शिवालय बन गया था। मणियोंके जगमगाते हुए खंभे उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। उसके द्वार, किंवाड़ तथा सदर फाटक सभी सुवर्णमय थे। वहाँकी भूमि बहुमूल्य नीलमणि तथा हीरोंके चबूतरोंसे शोभा पा रही थी। यह सब देखकर बालक उठा और हर्षके पारावारमें निमग्न हो गया। उसे यह समझते देर न लगी कि यह सब कुछ भगवान् शिवकी पूजाका प्रभाव है। उसने भगवान् शिवको साष्टाङ्ग प्रणाम किया और इस प्रकार प्रार्थना की—'देव उमापते! मेरी माताका अपराध क्षमा करें।' भगवान् शिवको संतुष्ट करके बालक जब सन्ध्याके समय मन्दिरसे बाहर निकला, तब अपने घरमें गया। वह स्थान इन्द्रनगरकी भाँति शोभा पा रहा था। भवनके भीतर प्रवेश करके उसने देखा, उसकी माता बहुमूल्य पलँगपर राजोचित वस्त्राभूषणोंको धारण करके सो रही है। उसने माताको जगाया। ग्वालिनने उठनेपर सब कुछ अपूर्ववत्

यस्येन्द्रियाणि सर्वाणि वर्तन्ते शिवकर्मसु । स निस्तरति संसारं भुक्तिं मुक्तिं च विन्दति॥
शिवभक्तियुतो मर्त्यश्चाण्डालः पुल्कसोऽपि च । नारी नरो वा षण्ढो वा सद्यो मुच्येत संसृतेः॥
(स्क० पु० ब्रा० ब्रह्मो० ४। १, ७—१०)

देखा। पुत्रके मुखसे यह जानकर कि सब कुछ भगवान् शिवकी कृपाका प्रसाद है, वह बहुत प्रसन्न हुई। उसने इस घटनाका समाचार महाराजको दिया। महाराज चन्द्रसेनने पुरोहित और मन्त्रियोंके साथ आकर यह सारा वैभव देखा और भगवान् शिवकी भक्तवत्सलताका विचार करके प्रेमके आँसू बहाते हुए उन्होंने गोपबालकको हृदयसे लगा लिया।

इस अद्भुत घटनाका समाचार सब ओर बिजलीकी तरह फैल गया। युद्धके लिये आये हुए राजाओंने जब यह बात सुनी, तब उनके हृदयसे वैरभाव जाता रहा। वे भी राजाकी आज्ञासे नगरमें आये और भगवान् शिवकी महिमाको प्रत्यक्ष देखकर उनके चरणोंमें मन लगाया। यही बालक श्रीकर गोपके नामसे प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार भगवान् शिवने अपने शरणागत भक्तकी रक्षा की और अन्तमें वे दोनों भक्त भगवान् शिवके परम धाममें गये।

भक्त राजा तोण्डमान

चन्द्रवंशमें सुवीर नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं। दक्षिण भारतके नारायणपुरमें उनकी राजधानी थी। महाराज सुवीरके रानी नन्दिनीके गर्भसे एक पुत्र हुआ, जिसका नाम तोण्डमान रखा गया। राजकुमार तोण्डमान बड़े वीर थे। पाँच ही वर्षकी अवस्थासे उनके हृदयमें भगवान् विष्णुकी भक्ति प्रकट हो गयी थी। युवा होनेपर पाण्ड्य-नरेशकी सुन्दरी पुत्री पद्माके साथ उनका विवाह हुआ। विभिन्न देशोंकी अनेक राजकुमारियोंने भी स्वयंवरसभामें उनका वरण किया था। उन्हें देवराज इन्द्रकी भाँति ऋद्धि, सिद्धि एवं सुख-भोगकी सामग्री सुलभ थी; तो भी वे उनमें आसक्त न होकर सदा भगवान्‌के चिन्तनमें ही संलग्न रहते थे।

एक दिन राजकुमार तोण्डमान पिताकी आज्ञासे वेङ्कटगिरिके समीप शिकार खेलनेके लिये गये। शिकारमें वे उन्हीं हिंसक जीवोंका वध करते थे, जो प्रजाके लिये भय उपस्थित करनेवाले थे। स्वर्णमुखरी नदी पार करके ब्रह्मर्षि शुक और रेणुका देवीका दर्शन करते हुए तोण्डमान जब पश्चिम दिशाकी ओर बढ़े, तब एक जगह उन्हें पँचरंगा तोता दिखायी दिया। वह देखनेमें बड़ा ही सुन्दर था और भगवान् श्रीनिवासका नाम रट रहा था। उसकी दिव्य आकृति और मधुर बोलीपर राजकुमार मुग्ध हो गये और उसे पकड़नेके लिये उसका पीछा करने लगे। तोता उड़कर वेङ्कटाचलके शिखरपर जा पहुँचा। तोण्डमान भी उसका अनुसरण करते हुए गिरिराजपर चढ़ गये। परंतु वहाँ वह तोता कहीं नहीं दिखायी दिया। पास ही श्यामाकवन था। निषादराज वसु, जो भगवान् श्रीनिवासके अनन्य भक्त थे, उस वनकी रखवाली कर रहे थे। राजकुमारको आते देख उन्होंने उनकी अगवानी की और उन्हें प्रणाम करके विनीतभावसे दोनों हाथ जोड़कर कहा—'युवराज! स्वागत है! कहिये, आपकी क्या सेवा करूँ?'

राजकुमार बोले—'वनेचर! इधर एक पँचरंगा तोता उड़ता हुआ आया है। क्या तुमने उसे देखा है? वह 'श्रीनिवास! श्रीनिवास!' की रट लगा रहा था। मैं उसीको ढूँढ़ता हूँ; बताओ, वह किधर गया है?'

वसुने कहा—'युवराज! वह भगवान् श्रीनिवासका तोता है, उसे श्रीदेवी और भूदेवीने पाल-पोसकर बड़ा किया है। उसे कोई पकड़ नहीं सकता। भगवान्‌को वह शुक बहुत ही प्रिय है। अब मैं भगवान्‌की आराधनाके लिये जाता हूँ; जबतक लौटकर न आऊँ, तबतक आप यहीं वृक्षके नीचे विश्राम करें।'

राजाने कहा—'निषादराज! मैं भी भगवान्‌के दर्शन करूँगा, मुझे अपने साथ ले चलो।'

वसुने 'बहुत अच्छा' कहकर युवराजको अपने साथ ले लिया। स्वामिपुष्करिणीमें युवराजसहित विधिपूर्वक स्नान करके वह दिव्य विमानमें विराजमान भगवान् श्रीनिवासके समीप गया। तोण्डमानने देखा, बिल्ववृक्षके नीचे भगवान्‌का दिव्य विमान प्रकाशित हो रहा है।

उसके भीतर भगवान् श्रीनिवास विराज रहे हैं, परम सुन्दरी श्रीदेवी और भूदेवी उनकी सेवामें संलग्न हैं। उनके श्रीअङ्गोंकी श्यामलता अलसीके फूल-सी सुशोभित हो रही थी। नेत्र खिले हुए कमलदलकी भाँति सुन्दर एवं विशाल थे। चार भुजाएँ थीं। भगवान्‌के अङ्ग-अङ्गसे उदारता प्रकट हो रही थी। उनके मुखारविन्दपर मन्द मुसकराहटकी छटा मनको मोह लेती थी। श्रीअङ्गोंपर पीताम्बरकी अपूर्व शोभा थी। शङ्ख, चक्र आदि आयुध मूर्तिमान् होकर भगवान्‌की सेवा कर रहे थे। युवराज भगवान्‌का यह अद्भुत स्वरूप देखकर मुग्ध हो गये और उन्होंने अपना तन, मन, धन एवं जीवन उन्हींके चरणोंमें न्यौछावर कर दिया। उन दिनों वहाँ गये हुए सभी बड़भागी भक्तोंको उनके प्रत्यक्ष दर्शन होते थे। निषादराजने भगवान्‌का पूजन करके उन्हें मधुमिश्रित सावाँका भात निवेदन किया और प्रसाद लेकर राजकुमारके साथ वे पुनः अपनी कुटीपर लौट आये। रातमें उनकी कुटीपर रहकर राजकुमारने सत्सङ्गका सुख उठाया और प्रातःकाल सेवकोंसहित अपने नगरको प्रस्थान किया। मार्गमें उन्हें शुकमुनि तथा रेणुका देवीका भी कृपाप्रसाद प्राप्त हुआ।

कुछ दिनों बाद राजा सुवीरने अपने पुत्रको राज्य दे स्वयं वानप्रस्थ-आश्रम ग्रहण किया। महाराज तोण्डमान धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करते हुए भगवान्‌की आराधनामें तत्पर रहने लगे। एक दिन निषादराज वसु राजद्वारपर उपस्थित हुए। सूचना पाकर महाराजने उन्हें दरबारमें बुलाया और स्वागत-सत्कार करके पूछा—'निषादराज! कैसे पधारे हो?'

वसुने कहा—'राजन्! मैंने वनमें एक बड़े आश्चर्यकी बात देखी है। रातमें एक श्वेत रंगका वाराह आकर मेरा सावाँ चरने लगा। यह देख मैंने हाथमें धनुष लेकर उसका पीछा किया। वाराह मुझे देखते ही हवा हो गया। मैंने भी पीछा नहीं छोड़ा। स्वामिपुष्करिणीके तटपर जाकर वह वाराह एक बाँबीमें घुस गया। तब मैं क्रोधमें आकर उस बाँबीको ही खोदने लगा। इतनेमें ही मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। उसी समय मेरा पुत्र भी वहाँ आ पहुँचा। मुझे मूर्छित देख वह भगवान् मधुसूदनकी स्तुति करने लगा। तब भगवान् वाराहका मुझमें आवेश हुआ। उन्होंने मेरे पुत्रसे कहा—'निषादराज वसु शीघ्र ही महाराज तोण्डमानके पास जाकर मेरा सारा वृत्तान्त उनसे कहे। राजा काली गौके दूधसे मेरा अभिषेक करते हुए इस वल्मीकको धो डालें। इसके भीतर एक सुन्दर शिला प्राप्त होगी, उसे लेकर शिल्पीद्वारा मेरी वाराह-मूर्तिका निर्माण करायें, जिसमें मैं भूमिदेवीको अपने बायें अङ्कमें लेकर खड़ा रहूँ। मूर्ति तैयार हो जानेपर बड़े-बड़े मुनीश्वरों और वैखानस महात्माओंद्वारा उसकी स्थापना कराकर स्वयं तोण्डमान भी उसकी पूजा करें।' यों कहकर भगवान् वाराहने मुझे छोड़ दिया। तब मैं पूर्ववत् स्वस्थ हो गया। देवाधिदेव भगवान् वाराह आपसे क्या कराना चाहते हैं, यह बतानेके लिये ही मैं आपकी सेवामें उपस्थित हुआ हूँ।'

राजाने भगवान्‌की इस आज्ञाको बड़ी प्रसन्नताके साथ शिरोधार्य किया। ग्वालोंको आज्ञा दे दी—'मेरे यहाँ जितनी भी काली और कपिला गौएँ हैं, उन सबको वेङ्कटाचलपर ले चलो।' मन्त्रियोंको आदेश मिला—'कल ही यात्रा करनी है, इसकी समुचित व्यवस्था की जाय।' तदनन्तर तोण्डमान अन्तःपुरमें गये और सभी रानियोंसे वाराहभगवान्‌का वह आदेश सुनाकर रातमें वहीं सोये। सपनेमें भगवान् श्रीनिवासने उन्हें बिलका मार्ग दिखलाया और राजद्वारसे लेकर बिलके समीपतक पल्लव बिछवा दिये। सबेरे उठनेपर राजाने अपना स्वप्न लोगोंपर प्रकट किया और द्वारपर बिछे हुए पल्लव वहाँ प्रत्यक्ष दिखायी दिये।

महाराजने शुभ मुहूर्तमें यात्रा की और बिलके समीप पहुँचकर वहाँ एक सुन्दर नगर बसाया। भगवान्‌के आदेशके अनुसार उन्होंने मूर्ति-निर्माण, प्रतिष्ठा और पूजनका कार्य बड़ी धूम-धामसे सम्पन्न किया। वे प्रतिदिन बिलके मार्गसे आकर भगवान्‌को प्रणाम करते और लौट जाते थे। एक दिन राजाके यहाँ एक ब्राह्मण देवता अपनी पत्नीके साथ पधारे और इस प्रकार

बोले—'महाराज! मैं वसिष्ठकुलमें उत्पन्न सामवेदी ब्राह्मण हूँ। मेरा नाम वीरशर्मा है। हम दोनों दम्पति घरसे तीर्थयात्राके लिये निकले हैं; परंतु गर्भवती होनेके कारण मेरी पत्नीसे चला नहीं जाता। अतः आप इसे अन्तः-पुरमें रखकर तबतक इसकी रक्षा करें, जबतक मैं तीर्थयात्रासे लौट न आऊँ।' राजाने 'तथास्तु' कहकर उसकी रक्षाका भार ले लिया। ब्राह्मणदेवता निश्चिन्त होकर चले गये। महाराजने सेवकोंको आज्ञा देकर ब्राह्मणीके लिये अन्तःपुरमें एक एकान्त गृहकी व्यवस्था करा दी और एक बार छः महीनेके लिये अन्न दिलवा दिया। ब्राह्मणी पतिव्रता और लज्जावती थी। वह किसी भी परपुरुषसे बात नहीं करती थी। छः महीनेतक वह उस अन्नसे निर्वाह करती रही। दैववश राजाको ब्राह्मणीकी याद न रही। छः महीने बाद अन्नका अभाव हो गया, तो भी ब्राह्मणीने स्वयं मुँह खोलकर माँगा नहीं। बेचारी भूखकी पीड़ा सहती हुई मर गयी। ब्राह्मणदेवता तीर्थयात्रा पूरी करके दो वर्ष बाद लौटे, तबतक ब्राह्मणीके एकान्त निवासमें कोई नहीं गया था। ब्राह्मणने महाराजके दरबारमें उपस्थित हो गङ्गाजलसे भरी हुई एक शीशी भेंट की और अपनी पत्नीका कुशल-समाचार पूछा। महाराजको अब याद आयी। वे शङ्कित होकर अन्तःपुरमें गये। ब्राह्मणीकी मृत्यु हो चुकी है—यह जानकर वे चुपचाप बिलके मार्गसे भगवान् श्रीनिवासके समीप वेङ्कटाचलपर चले गये और भगवान्‌से सब समाचार कह सुनाया। भक्तवत्सल प्रभुने देखा, राजा तोण्डमान ब्रह्मशापसे भयभीत हैं। तब उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—'राजन्! यहाँसे पूर्वभागमें जो अस्थिसरोवर है, उसीमें द्वादशी तिथिको आकर ब्राह्मणीके शवको स्नान कराओ। वह जीवित हो जायगी।'

भगवान् श्रीनिवासका यह वचन सुनकर राजा अपने नगरमें आये। फिर अपनी रानियों तथा ब्राह्मणीके शवको भी अलग-अलग डोलियोंमें बिठाकर भगवान्‌का दर्शन करनेके ब्याजसे चले। अस्थिसरोवरमें पहुँचकर उन्होंने रानियोंको स्नान करनेकी आज्ञा दी। रानियोंने स्वयं स्नान करते समय ब्राह्मणीके शवको भी उस सरोवरके जलमें डाल दिया। भगवान्‌की कृपासे वह जी उठी। उसके सभी अङ्ग पूर्ववत् हो गये। तत्पश्चात् ब्राह्मणी रानियोंके साथ सरोवरसे बाहर आयी और तीर्थयात्रासे लौटे हुए अपने पूज्य पतिसे प्रसन्नतापूर्वक मिली। राजाने बहुत धन देकर ब्राह्मणदम्पतिको आदरपूर्वक विदा किया। ब्राह्मणने अपनी स्त्रीका समाचार और भगवान् वेङ्कटेश्वरका अद्भुत प्रभाव सुना। वे राजाको आशीर्वाद देकर प्रसन्नतापूर्वक अपने देशको लौट गये। एक दिन महाराजने एक भगवद्भक्त कुम्हार दम्पतिके परमधामगमनकी अद्भुत घटना अपनी आँखों देखी। फिर तो उनका मन इस संसारके सुखभोगसे सर्वथा विरक्त हो गया। उन्होंने अपने पुत्र श्रीनिवासको राज्य देकर स्वयं वेङ्कटाचलपर बड़ी भारी तपस्या की। भगवान्‌ने प्रत्यक्ष दर्शन दिया और कहा—'राजन्! वर माँगो।' राजाने भगवान्‌के नित्य धाममें रहकर उनकी सेवाका सौभाग्य माँगा। भगवान्‌ने 'एवमस्तु' कहकर भक्तको अनुगृहीत किया। राजाने प्रभुके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम करके इस नश्वर देहको त्याग दिया और विष्णु-सारूप्य प्राप्त करके दिव्य विमानपर जा बैठे। उस समय देवता और गन्धर्व आकाशसे फूलोंकी वृष्टि करते हुए उनके सौभाग्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। इस प्रकार राजा तोण्डमानने अपनी अनन्य भक्तिके प्रभावसे भक्तवत्सल श्रीहरिका जरा-मृत्युरहित पुनरावृत्तिशून्य वैकुण्ठधाम प्राप्त किया।

भक्त-वाणी

पतितः स्खलितश्चार्तः क्षुत्त्वा वा विवशो ब्रुवन्। हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात्॥

(श्रीमद्भा० १२। १२। ४६)

जो मनुष्य गिरते-पड़ते, फिसलते, दुःख भोगते अथवा छींकते समय विवशतासे भी ऊँचे स्वरसे बोल उठता है—'**हरये नमः**', वह सब पापोंसे छूट जाता है। —सूतजी

भक्तराज सुदर्शन

(लेखक—पं० श्रीश्यामानन्दजी झा, सा० आ०, पु० शास्त्री)

सरयूके तटपर समृद्धिशालिनी अयोध्या नगरी पुष्पपुत्र महाराज ध्रुवसन्धिके सुप्रबन्धसे अमरावतीको भी लज्जित कर रही थी, जिसमें महाराज ध्रुवसन्धि देवराजसदृश सुशोभित थे। उनकी दो स्त्रियाँ थीं, पटरानी कलिङ्गराजतनया मनोरमा और छोटी उज्जयिनीपति-दुहिता लीलावती। मनोरमासे सर्वलक्षणसम्पन्न भक्तराज सुदर्शनका और लीलावतीसे शत्रुजित्का जन्म हुआ। महाराजकी दोनोंपर समदृष्टि थी। दोनोंका लालन-पालन साथ ही होने लगा।

महाराजको आखेटका व्यसन था। दैववश एक दिन सिंहके शिकारमें उसके साथ ही महाराजकी भी मृत्यु हो गयी। मन्त्रियोंने महाराजकी पारलौकिक क्रिया करवाकर सुदर्शनको राज्य देनेका विचार किया। इतनेमें उज्जयिनीपति युधाजित् और कलिङ्गनरेश वीरसेन दोनों अपने-अपने दौहित्रोंके हितके लिये सैन्यसहित अयोध्यामें आ डटे। बात-ही-बातमें लड़ाई छिड़ गयी। वीरसेन युधाजित्से लड़कर वीरगतिको प्राप्त हुए। बालपुत्रा मनोरमा भयभीत हो, मन्त्री विदल्लसे परामर्श करके सुदर्शनको लेकर विदल्ल और धायके साथ निकल गयी।

गङ्गा पार होकर सब महर्षि भारद्वाजके आश्रममें आये और उनसे आश्वासन पाकर वहीं रहने लगे।

उधर युधाजित् भी अपने दौहित्र शत्रुजित्को सिंहासनपर बैठा, मन्त्रियोंको राज्यभार सौंप, अपनी राजधानीको चले गये। मार्गमें दूतमुखसे सुदर्शनको मुनिके आश्रममें जानकर उसे मारनेके लिये आश्रममें आये; किंतु मुनिके प्रभावसे उन्हें वहाँसे निराश लौटना पड़ा।

मन्त्री विदल्ल नपुंसक थे, जिसे संस्कृतमें 'क्लीब' कहते हैं। आश्रममें बार-बार मुनिकुमारोंके मुँहसे 'क्लीब', 'क्लीब' सुनकर बालक सुदर्शन भी 'क्ली', 'क्ली' करने लगा। पूर्वपुण्यके उदयसे वही अभ्यासरूपमें परिणत हो गया। इस तरह बालभक्त सुदर्शन सोते, जागते, खाते, पीते, वही 'क्ली', 'क्ली' रटने लगा। लीलामयीकी लीला, जगदम्बाकी महिमा, कुछ ही दिनोंमें उस अबोध बालकके निरन्तर स्मरणसे प्रभावित होकर जगज्जननी स्वप्नमें दर्शन देकर बीजको शुद्ध कर गयीं। अब तो भक्त बालक सुदर्शन अनुक्षण 'क्लीं' मन्त्रमें लीन रहने लगा। महर्षि भारद्वाजकी अनुकम्पासे उसके क्षत्रियोचित उपनयनादि संस्कार भी समयपर सम्पन्न हुए। शस्त्र-शास्त्र-विद्याएँ भी देवीकी दया और महर्षिके स्वल्प उद्योगसे ही मानो स्वयमेव उपस्थित हो गयीं। वनमें खेलनेके समय अक्षय तूणीरके साथ दिव्य धनुष पड़ा हुआ मिला। उसी समय निषादराज 'बल' सुसज्जित रथ लेकर उपस्थित हुआ और भक्तराजसे मित्रता जोड़ गया। क्यों न हो—

ते सम्मता जनपदेषु धनानि तेषां
तेषां यशांसि न च सीदति धर्मवर्गः।
धन्यास्त एव निभृतात्मजभृत्यदारा
येषां सदाभ्युदयदा भवती प्रसन्ना॥

'उन्हींका देशमें सम्मान होता है, उन्हींको धनकी प्राप्ति होती है, उन्हींको यश मिलता है, उन्हींके धर्मादि पुरुषार्थ अविकलरूपसे सिद्ध होते हैं, वे ही धन्य हैं और वे ही पुत्र, भृत्य एवं पत्नी आदिसे सम्पन्न रहते हैं, जिनपर ऐश्वर्यदात्री आप प्रसन्न होती हैं।'

परंतु इतनेसे ही माँको सन्तोष कहाँ? ऐसे ही अनन्य भक्तोंके लिये तो उनका वचन है—'**योगक्षेमं वहाम्यहम्**'। फिर तो भक्तराजके विवाहकी तैयारी होने लगी।

काशिराज सुबाहुकी कन्या शशिकला महाविदुषी और भक्तिमती थी। स्वप्नमें सुदर्शनको दिखाकर माँने उससे कहा—मेरे भक्त सुदर्शनको तू वरण कर—

वरं वरय सुश्रोणि मम भक्तः सुदर्शनः।
सर्वकामप्रदस्तेऽस्तु.................................. ॥

'सुन्दरि! तुम सुदर्शनको वररूपमें स्वीकार करो। यह मेरा भक्त है, यह तुम्हारी सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करेगा।'

शशिकला प्रमुदित हो उसी समय भक्त सुदर्शनको मनसा वरण कर चुकी। पुत्रीके रोकनेपर भी महाराज सुबाहु 'वनवासी सुदर्शनको कन्या नहीं देंगे' यही निश्चय कर स्वयंवरकी तैयारियाँ करने लगे। सुदर्शनको आमन्त्रित भी नहीं किया गया। यह सब देख-सुनकर दुःखित हो शशिकलाने

एक ब्राह्मणको संवाद देकर भारद्वाजाश्रम भेज दिया।

धीरे-धीरे स्वयंवरमें आनेवाले नरपतियोंसे काशी मुखरित हो उठी। अपने दौहित्रके साथ युधाजित् भी पधारे। उधर माँका स्मरण कर माँको साथ ले, ऋषियोंसे आशीर्वाद ग्रहण कर, भक्तराज सुदर्शन भी स्वयंवर देखने काशी आये। सबका यथोचित सत्कार किया गया।

अब राजाओंके बीचमें भक्तराजकी चर्चा चली। किसीने कहा—'सुनते हैं, सुदर्शन भी अपनी माँके साथ स्वयंवर देखने आया है, कन्या भी उसीको वरण करेगी।' युधाजित् जल उठा। सुबाहु बुलाये गये। 'आपका क्या अभीष्ट है? आप किसे कन्या देना चाहते हैं ?' यही उनसे पूछा गया। लड़की कहती है—'मैं तो सुदर्शनको वर चुकी हूँ। मेरे समझानेपर भी नहीं मानती।' सुबाहुका छोटा-सा उत्तर था।

अब तो युधाजित्की अद्भुत अवस्था थी। 'मैं सुबाहु-सहित सुदर्शनको मारकर कन्याका हरण करके अपने दौहित्रको दे दूँगा, नहीं तो कन्याको स्वयंवरमें लाओ।' इस तरह युधाजित्का प्रलाप सुन अन्य राजाओंने एकान्तमें सुदर्शनको बुलाया। सबने कहा—'युधाजित् तुमको मारना चाहता है, हमलोगोंको दया आयी, इसीसे तुम्हें बुलाया है, तुम स्वयंवरमें बिना सैन्यके क्यों आये? अब तुम्हारी क्या इच्छा है?' इसपर भक्तराजने वहाँ अपने निष्कपट हृदयको खोल दिया—

न बलं न सहायो मे न कोषो दुर्गसंश्रयः।
न मित्राणि न सौहार्दी न नृपा रक्षका मम॥
इमं स्वयंवरं श्रुत्वा द्रष्टुकाम इहागतः।
स्वप्ने देव्या प्रेरितोऽस्मि भगवत्या न संशयः॥
नान्यच्चिकीर्षितं मेऽद्य मामाह जगदीश्वरी।
तया यद्विहितं तच्च भविताद्य न संशयः॥
न शत्रुरस्ति संसारे कोऽप्यत्र जगदीश्वराः।
सर्वत्र पश्यतो मेऽद्य भवानीं जगदम्बिकाम्॥
यः करिष्यति शत्रुत्वं मया सह नृपात्मजाः।
शास्ता तस्य महाविद्या नाहं जानामि शत्रुताम्॥

'राजाओ! मेरे पास न सैन्य-बल है, न मेरा कोई सहायक है; न कोष है, न दुर्गका आश्रय है; न मित्र हैं, न हितू हैं; न कोई मेरे रक्षक हैं। मैं तो स्वयंवरकी चर्चा सुनकर उसे देखनेकी अभिलाषासे यहाँ चला आया हूँ। अवश्य ही मुझे स्वप्नमें देवी भगवतीकी प्रेरणा हुई है। मैं आज और कुछ भी नहीं करना चाहता। मुझे तो जगदीश्वरी देवीने जो कुछ कहा है और जो कोई विधान मेरे लिये उन्होंने रच रखा है, निःसन्देह वही होगा। हे जगदीश्वरो! संसारमें आज मेरा कोई भी शत्रु नहीं है; क्योंकि मुझे सर्वत्र जगदम्बा भवानीके दर्शन होते हैं। राजकुमारो! जो कोई मेरे साथ शत्रुता करेगा, उसका शासन वे महाविद्या ही करेंगी। मैं तो जानता भी नहीं कि शत्रुता किसे कहते हैं।'

क्या ही विशुद्ध भाव है। कहीं छल-कपटका गन्धतक नहीं। जैसे हमारे प्रातःस्मरणीय श्रीतुलसीदासजी विश्वको *'सीयराममय'* देखते थे, वैसे ही भक्तराज सुदर्शन निखिल चराचरमें भवानीको ही देखते थे।

राजाओंके पाससे भक्तराज डेरेपर आये। प्रातःकाल स्वयंवरका कार्य आरम्भ हुआ। शशिकला नहीं आयी। सुबाहु समझाकर हार गये। आती कैसे? वह भक्तराजका वरण जो कर चुकी थी। अब दूसरोंके लिये स्थान कहाँ? पिताके अत्यन्त आग्रहको देख शशिकलाने कहा—

बिभेषि यदि राजेन्द्र नृपेभ्यः किल कातरः।
सुदर्शनाय दत्त्वा मां विसर्जय पुराद्बहिः॥
स मां रथे समारोप्य निर्गमिष्यति ते पुरात्।

'राजेन्द्र! यदि तुम कायरतावश राजाओंसे डरते हो तो मुझे सुदर्शनके हवाले करके नगरसे बाहर छोड़ आओ। वे मुझे रथपर चढ़ाकर तुम्हारी राजधानीसे बाहर चले जायँगे।'

इतनेपर भी सुबाहुकी चिन्ता नहीं गयी। इसपर उसने कहा—

मा चिन्तां कुरु राजेन्द्र देहि सुदर्शनाय माम्।
विवाहं विधिना कृत्वा शं विधास्यति चण्डिका॥
यन्नामकीर्तनादेव दुःखौघो विलयं व्रजेत्।
तां स्मृत्वा परमां शक्तिं कुरु कार्यमतन्द्रितः॥

'राजेन्द्र! आप चिन्ता न करें; मेरा सुदर्शनके साथ विधिपूर्वक विवाह करके मुझे उनके हाथ सौंप दें। भगवती चण्डिका आपका और हमारा कल्याण करेंगी। जिनके नामोच्चारणसे ही दुःखराशिका नाश हो जाता है, उन्हीं पराशक्तिका स्मरण करके आलस्यरहित होकर कार्य कीजिये।'

अब सुबाहुके हृदयमें भी विश्वास हो आया। कन्याके वचनानुसार राजाओंसे जाकर वे बोले—'आज आपलोग जायँ। कल स्वयंवर होगा।' सब इस वचनको सत्य समझ चले गये। इधर उसी रातमें सुदर्शनको बुलाकर विधिवत् पाणिग्रहण करा दिया। प्रातःकाल मंगलवाद्य सुनकर राजाओंने समझा—'विवाह हो गया।' युधाजित् ससैन्य काशीको घेर बैठे कि 'रास्तेमें ही सुदर्शनको मारकर कन्या-हरण किया जाय।' और राजागण भी 'क्या होता है' यह देखनेके लिये ठहर गये।

भक्तराज सस्त्रीक रथपर बैठकर भारद्वाजाश्रम चले। सुबाहु भी जामाताकी रक्षाके लिये अपने सैन्यसहित पीछे हो लिये। भक्तराजको निर्भय होकर आते देख सब कोलाहल कर उठे। युधाजित् शत्रुजित्के साथ उनको मारनेके लिये आगे आये। दोनोंमें युद्ध छिड़ गया। परंतु—

धर्मो जयति नाधर्मः।

'धर्मकी ही विजय होती है, अधर्मकी नहीं।'

भक्तराजके स्मरणमात्रसे जगज्जननी दुर्गा सिंहपर सवार हो प्रकट हो गयीं। देखते ही भक्तराज गद्‌गद हो गये। अपने सेनापतिसे कहने लगे—'निर्भय होकर आगे बढ़िये। सहायताके लिये माँ आ पहुँची हैं।'

साहाय्यं जगदम्बा मे करिष्यति न संशयः।
जगदम्बापदस्मर्तुः सङ्कटं न कदाचन॥

'जगदम्बा निश्चय ही मेरी सहायता करेंगी। जगदम्बाका चरण-चिन्तन करनेवालेपर किसी प्रकारका संकट नहीं आ सकता।'

उधर श्रीदुर्गादर्शनसे भयभीत अपने सैन्यको देखकर युधाजित् शत्रुजित्के साथ आगे बढ़ आये, किंतु हुआ वही, जो होना था……माँके शस्त्रसे कटकर दोनों सुरलोक सिधारे। सेना भी छिन्न-भिन्न हो गयी।

अब सुबाहु आगे आये और स्तुतिके बाद उन्होंने वरदान माँगा—

तव भक्तिः सदा मेऽस्तु निश्चला ह्यनपायिनी।
नगरेऽत्र त्वया मातः स्थातव्यं मम सर्वदा॥
दुर्गा देवीति नाम्ना वै त्वं शक्तिरिह संस्थिता।
यथा सुदर्शनस्त्रातो रिपुसङ्घादनामयः।
तथात्र रक्षा कर्तव्या वाराणस्यास्त्वयाम्बिके॥
यावत् पुरी भवेद्भूमौ सुप्रतिष्ठा सुसंस्थिता।
तावत्त्वयात्र स्थातव्यं दुर्गे देवि कृपानिधे॥

'तुम्हारे चरणोंमें मेरी सदा-सर्वदा अविचल एवं अटूट भक्ति हो। माँ! तुम्हें सदा मेरे इस नगरमें निवास करना चाहिये। दुर्गादेवीके नामसे तुम महाशक्ति यहीं विराजमान हो जाओ। जिस प्रकार तुमने शत्रुओंसे सुदर्शनकी रक्षा की और उसका बाल भी बाँका नहीं हुआ, उसी प्रकार माँ! तुम्हें इस वाराणसी नगरीकी रक्षा करनी चाहिये। जबतक यह नगरी भूमण्डलपर सुप्रतिष्ठित और सुस्थिर न हो जाय, तबतक हे दुर्गे! हे कृपानिधान देवि! तुम्हें यहीं रहना चाहिये।'

इसी वरदानके कारण माँ अभी भी श्रीदुर्गाके रूपमें काशीकी रक्षा कर रही हैं। अब भक्तराज सुदर्शन पुलकित होकर स्तुति करते-करते कहने लगे—

करोमि किं ते वद देवि कार्यं क्व वा व्रजामीत्यनुमोदयाशु।
कार्ये विमूढोऽस्मि तवाज्ञयाहं गच्छामि तिष्ठे विहरामि मातः॥

'देवि! बताओ, मैं तुम्हारा कौन-सा कार्य करूँ? अथवा कहाँ जाऊँ? शीघ्र अनुमति प्रदान करो। मैं स्वयं किंकर्तव्यविमूढ हो रहा हूँ। माता! तुम जैसी आज्ञा करो—मैं यहाँसे चला जाऊँ, ठहरूँ अथवा स्वेच्छापूर्वक विचरूँ?'

अहा! इनका तो अपना कुछ है ही नहीं, फिर क्यों नहीं पूछें कि 'हम कहाँ जायँ? क्या करें?' इसपर माँने कहा—

गच्छायोध्यां महाभाग कुरु राज्यं कुलोचितम्।
स्मरणीया सदाहं ते पूजनीया प्रयत्नतः।
शं विधास्याम्यहं नित्यं राज्यं ते नृपसत्तम॥

'महाभाग्यवान् सुदर्शन! तुम अयोध्या जाकर अपनी कुल-परम्पराके अनुकूल वहाँका शासन करो। तुम मुझे सदा स्मरण करते रहना और यत्नके साथ मेरी पूजा-उपासना करना। हे नृपश्रेष्ठ! मैं सदा तुम्हारा कल्याण करूँगी और तुम्हारे राज्यकी रक्षा करूँगी।'

—इत्यादि उपदेश देकर माँ अन्तर्हित हो गयीं।

इसके बाद सब राजाओंने भक्तराजका आधिपत्य स्वीकार किया। वहाँसे आनन्दपूर्वक वे अयोध्या आये। देखिये इनका हृदय, पहले सौतेली माँके पास जाते हैं। प्रणाम करके कहते हैं—

दासोऽस्मि तव हे मातर्यथा मम मनोरमा।
तथा त्वमपि धर्मज्ञे न भेदोऽस्ति मनागपि॥
अहं वनगतो मातर्नाभवं दुःखमानसः।
चिन्तयन् स्वकृतं कर्म भोक्तव्यमिति वेद्मि च॥
दुःखं न मे तदा ह्यासीत् सुखं नाद्य धनागमे।
न वैरं न च मात्सर्यं मम चित्ते तु कर्हिचित्॥
मानुष्यं दुर्लभं मातः खण्डेऽस्मिन् भारते शुभे।
आहारादिसुखं नूनं भवेत्सर्वासु योनिषु॥
प्राप्य तं मानुषं देहं कर्तव्यं धर्मसाधनम्।
स्वर्गमोक्षप्रदं नृणां दुर्लभं चान्ययोनिषु॥

'माँ! मैं तुम्हारा सेवक हूँ। धर्मज्ञे! मेरे लिये जैसी माता मनोरमा हैं, वैसी ही तुम भी हो। मेरी दृष्टिमें तुम दोनोंके बीच कोई अन्तर नहीं है। वनमें रहते हुए मेरे चित्तको तनिक भी क्लेश नहीं हुआ; क्योंकि मैं सोचता था कि यह मेरे ही किसी कर्मका फल है और मैं यह भी जानता था कि उसका फल अवश्य भोगना होगा। उस समय मुझे कोई दुःख नहीं था और आज धनकी प्राप्ति हो जानेपर मुझे कोई सुख नहीं है। मेरे हृदयमें न किसीसे वैर है और न डाह ही है। माता! इस पवित्र भारतभूमिमें मनुष्य-जन्म बड़ी कठिनतासे मिलता है; आहार, निद्रा, मैथुन आदिका सुख तो निश्चय ही सभी योनियोंमें प्राप्त होता है। इस मनुष्य-शरीरको पाकर धर्मका अनुष्ठान करना चाहिये; क्योंकि मनुष्योंको इसीसे स्वर्गादि लोकों तथा मोक्षतककी प्राप्ति होती है, जो अन्य योनियोंके लिये दुर्लभ है।'

ऐसा उदाराशय भक्त अब कहाँ?

इसके बाद पहले स्वर्ण-सिंहासनपर माँकी मूर्ति स्थापित कर, पीछे भक्तराज उन्हींका काम मानकर, उन्हींकी आज्ञासे राज्यसिंहासनपर विराजे। अभी भी कोसलदेशमें 'अम्बिकादेवी' के नामसे माँ विद्यमान हैं।

इस तरह भक्तराज सुदर्शन श्रीजगदम्बाके प्रसादसे यावज्जीवन अखण्ड राज्य भोगकर अन्तमें मणिद्वीपको सिधारे।

कुमारी सन्ध्या

एक समयकी बात है, लोकपितामह ब्रह्माजी कमलके आसनपर बैठे भगवान्‌का ध्यान कर रहे थे। उस समय उनके मनमें सृष्टिका संकल्प हो आया और तत्काल ही एक त्रिभुवनसुन्दरी कन्या उनके मनसे प्रकट हो गयी। ब्रह्माकी वह मानस-कन्या सम्यक् ध्यान करते समय उत्पन्न हुई थी, इसलिये उसका नाम 'सन्ध्या' हुआ। वह तपस्या करनेके लिये चन्द्रभाग पर्वतपर गयी। वहाँ जाकर उसे इस बातकी चिन्ता हुई कि तपस्या कैसे करूँ। वह चाहती थी, कोई संत-महात्मा सद्‌गुरु मिल जायँ और मुझे तपस्याका मार्ग बता दें। इसी विचारसे वह 'बृहल्लोहित' नामक सरोवरके पास इधर-उधर घूमने लगी। भगवान्‌की दयासे वहाँ महर्षि वसिष्ठ आ गये। उन्होंने सन्ध्याको वहाँ अकेली देखकर पूछा—'भद्रे! तुम कौन हो, किसकी कन्या हो, इस भयङ्कर वनमें अकेली कैसे घूमती हो? यदि कोई गोपनीय बात न हो तो अपना उद्देश्य बतलाओ।'

सन्ध्याने अपने मनकी बात बता दी। तब वसिष्ठजीने दयापरवश हो उसे द्वादशाक्षर मन्त्र बतलाकर तप करनेके नियम बतला दिये और कहा, 'जबतक भगवान्‌के दर्शन न हों, उत्साह और प्रेमके साथ इस नियमको चलाते रहना चाहिये। वृक्षोंका वल्कल पहनना और जमीनपर सोना—इस नियमके साथ मौन तपस्या करती हुई निरन्तर भगवान्‌के स्मरणमें लगी रहो; इससे प्रसन्न होकर भगवान् विष्णु निश्चय ही तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण करेंगे।'

इस प्रकार उपदेश देकर महर्षि वसिष्ठ चले गये। सन्ध्याको तपस्याका मार्ग मिल गया, अतः उसके हर्षकी सीमा न रही। वह बड़े आनन्द और उत्साहके साथ भगवान्‌की पूजामें लग गयी। महर्षिके बताये हुए नियमोंका वह बड़ी सावधानीके साथ पालन करती थी। इस प्रकार बराबर चार युगोंतक उसने अपनी तपस्याको चालू रखा। उसका व्रत, उसका नियम तथा उसकी भगवान्‌के प्रति सुदृढ़ निष्ठा देखकर सबको बड़ा आश्चर्य होता था। सन्ध्याकी तपस्या पूर्ण हुई—भगवान् विष्णु उसकी भावनाके अनुसार मनोहर रूप धारण कर उसके नेत्रोंके समक्ष प्रकट हुए। वे गरुड़पर विराजमान थे। अपने प्रभुकी वह मनोहारिणी छबि देखकर सन्ध्या शीघ्र

ही आसनसे उठकर खड़ी हो गयी। आनन्दातिरेकसे उसकी अवस्था जडवत् हो गयी। उसे यह स्फुरित नहीं होता था कि मैं इस समय क्या करूँ और क्या कहूँ। उसके मनमें भगवान्‌की स्तुति करनेकी अभिलाषा हुई, किंतु असमर्थतावश वह कुछ बोल नहीं पा रही थी। भगवान्‌ने उसकी मनोदशाकी ओर लक्ष्य किया और दया करके उसे दिव्य ज्ञान, दिव्य दृष्टि तथा दिव्य वाणी प्रदान की। अब वह बड़े उत्साहके साथ भगवान्‌की स्तुति करने लगी। उसके एक-एक वाक्यमें हृदयके प्रेम और भक्तिका स्रोत उमड़ा पड़ता था। ज्ञानपूर्ण स्तुति करते-करते सन्ध्या भगवान्‌के चरणोंमें गिर पड़ी। उसका शरीर तपस्यासे अत्यन्त दुर्बल हो गया था। यह देखकर भगवान्‌का हृदय करुणासे भर आया। उन्होंने अपनी अमृतवर्षिणी दृष्टिसे देखकर उसे पहलेकी भाँति हृष्ट-पुष्ट बना दिया और स्नेहभरे मधुर वचनोंमें कहा—'भद्रे! मैं तुम्हारी तपस्यासे बहुत सन्तुष्ट हूँ। तुम अपने इच्छानुसार वर माँगो।' सन्ध्याने कहा—'भगवन्! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं और वर देकर मुझे अनुगृहीत करना चाहते हैं तो मैं पहला वर यही माँगती हूँ कि 'संसारमें पैदा होते ही किसी भी प्राणीके मनमें कामके विकारका उदय न हो।' दूसरा वर मुझे यह दीजिये कि 'मेरा पातिव्रत कभी खण्डित न होने पाये।' इसके सिवा एक तीसरे वरके लिये भी मैं प्रार्थना करती हूँ; वह यह है कि 'अपने भगवत्स्वरूप पतिके अतिरिक्त और कहीं भी मेरी सकाम दृष्टि न हो। जो पुरुष मेरी ओर कामभावसे देखे, वह पुरुषत्वहीन—नपुंसक हो जाय।'

भगवान्‌ने कहा—'कल्याणी! शरीरकी चार अवस्थाएँ होती हैं—बाल्य, कौमार्य, यौवन और जरा। इनमेंसे दूसरी अवस्थाके अन्तमें लोगोंके अन्तःकरणमें कामभावनाका उदय होगा। तुम्हारी इस तपस्याके प्रभावसे आज मैंने यह मर्यादा स्थिर कर दी है कि कोई भी प्राणी पैदा होते ही कामभावनासे युक्त नहीं होगा। तुम्हारे सतीत्वकी प्रसिद्धि तीनों लोकोंमें होगी और तुम्हें तुम्हारे पतिके अतिरिक्त जो भी कामदृष्टिसे देखेगा, वह नपुंसक हो जायगा। तुम्हारे पति बड़े भाग्यवान्, तपस्वी, सुन्दर तथा तुम्हारे साथ-साथ सात कल्पोंतक जीवित रहनेवाले होंगे। तुमने जो-जो वर माँगे, वे सब मैंने दे दिये। अब तुम्हारे मनकी बात बताता हूँ, सुनो। तुमने पहले आगमें जलकर अपने इस शरीरको त्याग देनेकी प्रतिज्ञा की थी; यह प्रतिज्ञा तुम्हें इसलिये करनी पड़ी कि तुमपर किसीकी कामदृष्टि पड़ चुकी थी और इसीसे तुम अपने इस शरीरको निर्दोष होनेपर भी त्याग देने योग्य मान चुकी हो। यहाँसे पास ही चन्द्रभागा नदी है, उसके तटपर महर्षि मेधातिथि एक ऐसा यज्ञ कर रहे हैं, जो बारह वर्षोंमें पूर्ण हुआ करता है। उसी यज्ञमें जाकर तुम अपनी प्रतिज्ञा पूरी करो; किंतु वहाँ ऐसे वेशमें जाओ, जिससे मुनियोंकी दृष्टि तुम्हारे ऊपर न पड़ सके। मेरी कृपासे अब तुम अग्निदेवकी पुत्री हो जाओगी। जिसे तुम अपना पति बनाना चाहती हो, उसका चिन्तन करते-करते अग्निमें ही अपने शरीरको त्याग दो।'

यों कहकर भगवान्‌ने अपने पवित्र करकमलोंद्वारा सन्ध्याके शरीरका स्पर्श किया। उनके स्पर्श करते ही सन्ध्याका शरीर पुरोडाश (यज्ञका हविष्य) बन गया। भगवान्‌ने ऐसा इसलिये किया कि मुनिके उस यज्ञमें, जो सम्पूर्ण लोकोंके कल्याणके लिये हो रहा था, अग्निदेव मांसभोजी न हो जायँ। तदनन्तर सन्ध्या अदृश्य होकर उस यज्ञमण्डपमें जा पहुँची। उस समय उसके मनमें एक ही भावना थी कि 'मूर्तिमान् ब्रह्मचर्यस्वरूप ब्रह्मर्षि वसिष्ठ मेरे पति हों।' उन्हींका चिन्तन करते-करते सन्ध्याने अपने पुरोडाशमय शरीरको पुरोडाशके ही रूपमें अग्निदेवको समर्पित कर दिया। भगवान्‌की आज्ञासे अग्निदेवने सन्ध्याके शरीरको जलाकर सूर्यमण्डलमें प्रवेश करा दिया। सूर्यने उसके शरीरके दो भाग करके देवता और पितरोंकी प्रसन्नताके लिये अपने रथपर स्थापित कर दिया। उसके शरीरके ऊपरी भागका, जो दिनका प्रारम्भ अर्थात् प्रातःकाल है, नाम 'प्रातःसन्ध्या' हुआ और शेष भाग दिनका अन्त 'सायं-सन्ध्या' हुआ।

इस प्रकार कुमारी सन्ध्याने, जो त्याग-तपस्याकी मूर्ति थी, अग्निमें प्रवेश करके अपने उस जीवनको समाप्त कर दिया। भगवान्‌के वरदानसे वही दूसरे जन्ममें 'अरुन्धती'के रूपमें प्रकट हो ब्रह्मर्षि वसिष्ठकी पतिव्रता-शिरोमणि धर्मपत्नी हुई।

सती देवहूति

देवहूति ब्रह्मावर्तदेशके अधिपति एवं बर्हिष्मतीपुरीके निवासी महाराज स्वायम्भुव मनुकी पुत्री थीं। इनकी माताका नाम शतरूपा था। ये महर्षि कर्दमको ब्याही गयी थीं और इन्हींके गर्भसे सिद्धोंके स्वामी भगवान् कपिलका प्रादुर्भाव हुआ था। ये बचपनसे ही बड़ी सद्गुणवती थीं। रूप और लावण्यमें तो इनकी समानता करनेवाली उस समय कोई दूसरी स्त्री थी ही नहीं। देवहूति भारतवर्षके सम्राट्की लाड़िली कन्या होकर भी राजवैभवके प्रति आसक्त नहीं थीं। इनके मनमें धर्मके प्रति स्वाभाविक अनुराग था। त्याग और तपस्याका जीवन इन्हें अधिक प्रिय था। ये चाहतीं तो देवता, गन्धर्व, नाग, यक्ष तथा मनुष्योंमें किसी भी ऐश्वर्यशाली वरके साथ विवाह कर सकती थीं; किंतु इन्हें अच्छी तरह ज्ञात था कि 'यह जीवन भोगविलासके लिये नहीं मिला है। मानवभोगोंसे स्वर्गका भोग उत्कृष्ट बताया जाता है; किंतु वह भी चिरस्थायी नहीं है, अन्तमें दुःख ही देनेवाला है। जीवनका उद्देश्य है—आत्माका कल्याण, इसे ममता और आसक्तिके बन्धनोंसे मुक्त करके भगवान्से मिलाना। जिसने मनुष्यका शरीर पाकर इस उद्देश्यकी सिद्धि नहीं की, उसने अपने ही हाथों अपना विनाश कर लिया। जिसने इस मोक्ष-साधक शरीरको विषयभोगोंमें ही लगा रखा है, वह अमृत देकर विषका संग्रह कर रहा है।' इन्हीं उच्च विचारोंके कारण देवहूति किसी राजाको नहीं, तपस्वी मुनिको ही अपना पति बनाना चाहती थीं।

देवर्षि नारदजीकी सम्मतिसे महाराज मनु महारानी शतरूपा तथा पुत्री देवहूतिको साथ लेकर महर्षि कर्दमके आश्रमपर गये और वहाँ जाकर मनुजीने उनको प्रणाम किया। रानी और कन्याने भी मस्तक झुकाया। कर्दमजीने आशीर्वाद दे राजाका यथोचित सामग्रीसे विधिवत् सत्कार किया तथा उनके राजोचित गुणोंकी प्रशंसा करते हुए आश्रमपर पधारनेका कारण पूछा। मनुजीने कहा—'ब्रह्मन्! मेरा बड़ा भाग्य है जो आज मुझे आपके दर्शन मिले और मैं आपके चरणोंकी मङ्गलमयी धूल मस्तकपर चढ़ा सका। आपलोगोंकी कृपा सदा ही मुझपर रही है और इस समय भी उस कृपाका मैं पूर्णरूपसे अनुभव कर रहा हूँ। जिस उद्देश्यको लेकर आज मैंने आपका दर्शन किया है, वह बतलाता हूँ, सुनिये। यह मेरी कन्या, जो प्रियव्रत और उत्तानपादकी बहन है, अवस्था, शील और गुण आदिमें अपने योग्य पति प्राप्त करनेकी इच्छा रखती है। इसने देवर्षि नारदजीके मुखसे आपके शील, रूप, विद्या, आयु और उत्तम गुणोंका वर्णन सुना है और तभीसे आपको ही अपना पति बनानेका निश्चय कर चुकी है। मैं बड़ी श्रद्धासे अपनी यह कन्या आपकी सेवामें समर्पित करता हूँ। आप इसे स्वीकार करें।'

कर्दमजीको भगवान्की आज्ञा मिल चुकी थी; अतः उन्होंने महाराज मनुके वचनोंका अभिनन्दन किया तथा कुमारी देवहूतिके रूप और गुणोंकी प्रशंसा करते हुए उनके साथ विवाह करनेकी स्वीकृति दे दी। इतनी शर्त अवश्य लगा दी कि 'सन्तानोत्पत्तिकालतक ही मैं गृहस्थ-आश्रममें रहूँगा, इसके बाद संन्यास लेकर भगवान्के भजनमें ही शेष जीवन बिताऊँगा।' मनुजीने देखा—इस सम्बन्धमें महारानी शतरूपा तथा राजकुमारीकी भी स्पष्ट अनुमति है। अतः उन्होंने कर्दमजीके साथ अपनी गुणवती कन्याका विवाह कर दिया। महारानी शतरूपाने भी बेटी और जामाताको बड़े प्रेमपूर्वक बहुत-से बहुमूल्य वस्त्र, आभूषण और गृहस्थोचित पात्र आदि दहेजमें दिये।

देवहूति तन, मन, प्राणसे प्रेमपूर्वक पतिकी सेवा करने लगीं। उन्होंने कामवासना, कपट, द्वेष, लोभ और मद आदि दोषोंको कभी अपने मनमें नहीं आने दिया। विश्वास, पवित्रता, उदारता, संयम, शुश्रूषा, प्रेम और मधुर भाषण आदि सद्गुण उनके हृदयमें स्वभावतः बढ़ते रहे। इन्हीं सद्गुणोंके द्वारा देवहूतिने अपने परम तेजस्वी पतिको पूर्णतः सन्तुष्ट कर लिया। निरन्तर कठोर व्रत आदिका पालन करते रहनेसे उनका शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया था। वे पतिको परमेश्वर मानतीं और उन्हें सर्वथा प्रसन्न रखना ही अपना परम धर्म समझती थीं। इस प्रकार पतिकी सेवा करते-करते उन्हें

कितने ही वर्ष बीत गये।

एक दिन देवहूतिकी सेवा, तपस्या और आराधनापर विचार करके तथा निरन्तर व्रत आदिके पालनसे उन्हें दुर्बल हुई देखकर महर्षि कर्दमको दयावश कुछ खेद हुआ और वे प्रेमपूर्ण गद्गदवाणीमें कहने लगे—'देवि! तुमने मेरी बड़ी सेवा की है, सभी देहधारियोंको अपना शरीर बहुत प्रिय होता है; किंतु तुमने मेरी सेवाके आगे उसके क्षीण होनेकी कोई चिन्ता नहीं की। अतः मैंने भगवान्‌की कृपासे तप, समाधि, उपासना और योगके द्वारा जो भय और शोकसे रहित विभूतियाँ प्राप्त की हैं, उनपर मेरी सेवाके प्रभावसे अब तुम्हारा अधिकार हो गया है। मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि प्रदान करता हूँ, उसके द्वारा तुम उन्हें देखो। पातिव्रत्य-धर्मका पालन करनेके कारण तुम्हें सभी प्रकारके दिव्य भोग सुलभ हैं, तुम इच्छानुसार उनका उपभोग कर सकती हो।' इसपर देवहूतिने सन्तानविषयक अभिलाषा प्रकट की। कर्दमजीने अपनी प्रियाकी इच्छा पूर्ण करनेका निश्चय किया। उनके संकल्पमात्रसे एक अत्यन्त सुन्दर विमान प्रकट हो गया, जो इच्छानुसार सर्वत्र आ-जा सकता था।

पतिके साथ दिव्य विमानपर बैठकर सहस्रों दासियोंसे सेवित हो उन्होंने अनेक वर्षोंतक इच्छानुसार विहार किया। कुछ कालके पश्चात् देवहूतिके गर्भसे नौ कन्याएँ उत्पन्न हुईं, जो अद्वितीय सुन्दरी थीं। उनके अङ्गोंसे भी कमलकी सुगन्ध निकलती थी। कन्याओंके जन्मके पश्चात् अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण हो जानेसे कर्दम ऋषि वनमें जानेको उद्यत हो गये। उन्हें संन्यासके लिये जाते देख देवहूतिने उमड़ते हुए आँसुओंको किसी प्रकार रोका और विनययुक्त वचनोंमें कहा—'भगवन्! आपकी प्रतिज्ञा तो अब पूरी हो गयी, अतः आपका यह वनकी ओर प्रस्थान करना आपके स्वरूपके अनुरूप ही है; तथापि मैं आपकी शरणमें हूँ, अतः मेरी दो-एक विनय और सुन लीजिये। इन कन्याओंको योग्य वरके हाथमें सौंप देना पिताका ही कार्य है, अतः यह आपको ही करना पड़ेगा। साथ ही, जब आप वनको चले जायँ, उस समय मेरे जन्म-मरणरूप शोक और बन्धनको दूर करनेवाला भी कोई यहाँ होना चाहिये। प्रभो! अबतक भगवान्‌की सेवासे विमुख रहकर मेरा जो जीवन इन्द्रिय-सुख भोगनेमें बीता है, वह तो व्यर्थ ही गया। आपके प्रभावको न जाननेके कारण ही मैंने विषयासक्त रहकर आपसे अनुराग किया है, तो भी यह मेरे संसारबन्धनको दूर करनेवाला ही होना चाहिये; क्योंकि साधुपुरुषोंका सङ्ग सर्वथा कल्याण करनेवाला ही होता है। निश्चय ही, भगवान्‌की मायाद्वारा मैं ठगी गयी, तभी तो आप-जैसे मुक्तिदाता पतिको पाकर भी मैं संसारबन्धनसे छूटनेका कोई उपाय न कर सकी।'

देवहूतिके ये वैराग्ययुक्त वचन सुनकर कर्दमजी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने पत्नीको सान्त्वना देते हुए कहा—'प्रिये! तुम मनमें दुःखी न होओ, कुछ ही दिनोंमें साक्षात् भगवान् तुम्हारे गर्भसे प्रकट होंगे। अब तुम संयम, नियम, तप और दान आदिका अनुष्ठान करती हुई श्रद्धा और भक्तिके साथ भगवान्‌की आराधना करो।' पतिकी इस आज्ञाके अनुसार देवहूति पूर्ण श्रद्धा और अटल विश्वासके साथ भगवान्‌के भजनमें लग गयीं। समयानुसार देवहूतिके गर्भमें भगवान्‌का अंश प्रकट हुआ। इसी बीचमें ब्रह्माजी नौ प्रजापतियोंके साथ वहाँ आये। उनके आदेशसे कर्दमजीने अपनी नौ कन्याओंका विवाह नौ प्रजापतियोंके साथ कर दिया। कला मरीचिको, अनसूया अत्रिको, श्रद्धा अङ्गिराको, हविर्भू पुलस्त्यको, गति पुलहको, क्रिया क्रतुको, ख्याति भृगुको और अरुन्धती वसिष्ठ मुनिको तथा शान्ति अथर्वाको ब्याही गयी।

तदनन्तर शुभमुहूर्तमें देवहूतिके गर्भसे भगवान् कपिलने अवतार ग्रहण किया और अपने पिता कर्दमको उपदेश दिया। तत्पश्चात् वे विरक्त होकर जंगलमें चले गये और सर्वत्र सर्वात्मभूत भगवान्‌का अनुभव करके उन्होंने परम पद प्राप्त कर लिया। देवहूतिने भी विषयोंकी असारताका अनुभव कर लिया था। उनकी दुःखरूपता और असत्यताकी बात उनके मन बैठ गयी थी। भगवान् कपिलसे उन्होंने अपने उद्धारके लिये प्रार्थना की। भगवान्‌ने उन्हें योग, ज्ञान और भक्तिके उपदेश दिये। अपना अभिमत सांख्यमत माताको स्पष्टरूपसे बतलाया। उनका उपदेश श्रीमद्भागवत तृतीय स्कन्धके पचीसवें अध्यायसे आरम्भ होकर बत्तीसवें अध्यायमें पूर्ण होता है। आत्मकल्याणकी इच्छा रखनेवाले

पुरुषोंको उसका अध्ययन अवश्य करना चाहिये। भगवान्‌के उपदेशसे देवहूतिका मोहरूप आवरण हट गया, अज्ञान दूर हो गया। वे कृतकृत्य होकर भगवान् कपिलकी स्तुति करने लगीं। स्तुति पूर्ण होनेपर कपिलदेवजी माताकी आज्ञा ले वनमें चले गये और देवहूति वहीं आश्रमपर रहकर भगवान्‌का ध्यान करने लगीं। भगवान्‌के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु अब उनके मनमें नहीं आती थी। वे भगवान्‌में इतनी तन्मय हो गयीं कि उन्हें अपने शरीरकी भी सुध नहीं रह गयी। उस समय उनके शरीरका पालन-पोषण केवल दासियोंके ही प्रयत्नसे होता था। शरीरपर धूल पड़ी रहती, फिर भी उसका तेज कम नहीं होता था। वे धूमसे आच्छादित अग्निकी भाँति तेजोमयी दिखायी देती थीं। बाल खुले रहते, वस्त्र भी गिर जाता; फिर भी उनको इसका पता नहीं चलता था। निरन्तर श्रीभगवान्‌में चित्तवृत्ति लगी रहनेके कारण और किसी बातका उन्हें भान ही नहीं होता था। कपिलदेवजीके बताये हुए मार्गका आश्रय लेकर थोड़े ही समयमें उन्होंने नित्यमुक्त परमात्मस्वरूप श्रीभगवान्‌को प्राप्त कर लिया। उन्हींके परमानन्दमय स्वरूपमें स्थित हो गयीं। जिस स्थानपर देवहूतिको सिद्धि प्राप्त हुई थी, वह आज भी सिद्धिपदके नामसे सरस्वतीके तटपर स्थित है। देवहूतिका शरीर सब प्रकारके दोषोंसे रहित एवं परम विशुद्ध बन गया था; वह एक नदीके रूपमें परिणत हो गया, जो सिद्धगणोंसे सेवित तथा सब प्रकारकी सिद्धि देनेवाली है।

सती अनसूया

भारतवर्षकी सती-साध्वी स्त्रियोंमें अनसूयाजीका स्थान बहुत ऊँचा है। इनका जन्म अत्यन्त उच्च कुलमें हुआ था। स्वायम्भुव मनुकी पुत्री देवी देवहूति इनकी माता और ब्रह्मर्षि कर्दम इनके पिता थे। भगवान् विष्णुके अवतार सिद्धेश्वर कपिल इनके छोटे भाई हैं। अनसूयाजीमें अपने वंशके अनुरूप ही सत्य, धर्म, शील, सदाचार, विनय, लज्जा, क्षमा, सहिष्णुता तथा तपस्या आदि सद्‌गुणोंका स्वाभाविकरूपसे विकास हुआ था। ब्रह्माजीके मानसपुत्र परम तपस्वी महर्षि अत्रिको इन्होंने पतिरूपमें प्राप्त किया था। अपनी सतत सेवा तथा पावन प्रेमसे अनसूयाने महर्षि अत्रिके हृदयको जीत लिया था। पतिव्रता तो ये थीं ही, तपस्यामें भी बहुत चढ़ी-बढ़ी थीं; किंतु पतिकी सेवाको ही ये नारीके लिये परम कल्याणका साधन मानती थीं। पातिव्रत्यके प्रभावसे ही इन्होंने ब्रह्मा, विष्णु, शंकरको शिशु बनाकर गोदमें खेलाया था।

× × × ×

जिस समय भगवान् श्रीरामका वनवास हुआ था और वे सीता तथा लक्ष्मणको साथ लेकर वनमें गये, उस समय वे महर्षि अत्रिके भी अतिथि हुए थे। वहाँ अनसूयाजीने सीताका बड़ा सत्कार किया। स्वयं महर्षि अत्रिने श्रीरामके सामने अपने मुखसे अनसूयाके प्रभावका वर्णन करते हुए कहा था—'श्रीराम! ये वे ही अनसूया देवी हैं, ये तुम्हारे लिये माताकी भाँति पूजनीया हैं। विदेहराजकुमारी सीता इनके पास जायँ, ये सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये वन्दनीया हैं।' अत्रि-जैसे महर्षि जिनका गुणगान इस तरह करते हैं, उन पतिपरायणा अनसूयाजीकी महिमाका वर्णन कौन कर सकता है।

महर्षि अत्रि तथा श्रीरघुनाथजीकी आज्ञासे सीताने आश्रमके भीतर जाकर शान्तभावसे अनसूयाजीके चरणोंमें प्रणाम किया, अपना नाम बतलाया और हाथ जोड़कर बड़ी प्रसन्नतासे उन तपस्विनी देवीका कुशल-समाचार पूछा। उस समय अनसूयाजीने सीताको सान्त्वना देते हुए जिस प्रकार सतीधर्मका महत्त्व बतलाया, वह प्रत्येक नारीके लिये अनुकरणीय तथा कण्ठहार बनाने योग्य है। अनसूयाजी बोलीं—'सीते! यह जानकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है कि तुम सदा धर्मपर दृष्टि रखती हो; बन्धु-बान्धवोंको छोड़कर और उनसे प्राप्त होनेवाली मान-प्रतिष्ठाका परित्याग करके तुम वनमें भेजे हुए रामका अनुसरण कर रही हो, यह बड़े सौभाग्यकी बात है। अपने स्वामी नगरमें रहें या वनमें, भले हों या बुरे, जिन स्त्रियोंको वे प्रिय होते हैं, उन्हें महान् अभ्युदयशाली लोकोंकी प्राप्ति होती है। पति बुरे स्वभावका, मनमाना बर्ताव करनेवाला अथवा धनहीन ही क्यों न हो वह उत्तम स्वभाववाली नारियोंके लिये श्रेष्ठ देवताके समान

है। वैदेही! मैं बहुत विचार करनेपर भी पतिसे बढ़कर कोई हितकारी बन्धु नहीं देखती। तपस्याके अविनाशी फलकी भाँति वह इस लोक और परलोकमें सर्वत्र सुख पहुँचानेमें समर्थ होता है। जो असाध्वी स्त्रियाँ अपने पतिपर भी शासन करती हैं, वे इस प्रकार पतिका अनुसरण नहीं करतीं, उन्हें गुण-दोषोंका ज्ञान नहीं होता। ऐसी नारियाँ अनुचित कर्मोंमें फँसकर धर्मसे भ्रष्ट हो जाती हैं और संसारमें उन्हें अपयशकी प्राप्ति होती है; किंतु जो तुम्हारे-जैसी लोक-परलोकको जाननेवाली साध्वी स्त्रियाँ हैं, वे उत्तम गुणोंसे युक्त होकर पुण्यकर्मोंमें संलग्न रहती हैं। अतः तुम उसी प्रकार अपने पतिदेव श्रीरामचन्द्रजीकी सेवामें लगी रहो। सतीधर्मका पालन करो। पतिको प्रधान देवता समझो और प्रत्येक समय उनका अनुसरण करती हुई उनकी सहधर्मिणी बनो। इससे तुम्हें धर्म और सुयश दोनोंकी प्राप्ति होगी।'

तदनन्तर सीताजीने भी सतीधर्मकी महिमा सुनायी। उसे सुनकर अनसूयाको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने कहा—'सीते! तुम्हें आवश्यकता हो या न हो, तुम्हारी निर्लोभतासे मुझे जो हर्ष हुआ है, उसे मैं अवश्य सफल करूँगी। ये हार, वस्त्र, आभूषण, अङ्गराग और उत्तम-उत्तम अनुलेपन मैं तुम्हें देती हूँ। इनसे तुम्हारे अङ्गोंकी शोभा होगी। ये सब तुम्हारे ही योग्य हैं। बेटी! पहले मेरे सामने ही इन दिव्य वस्त्र और आभूषणोंको धारण कर लो और इनसे सुशोभित होकर मुझे प्रसन्न करो।'

इस प्रकार सीताका सत्कार करके अनसूयाजीने प्रेमपूर्वक उनको विदा किया।

गोस्वामी तुलसीदासजीने रामचरितमानसमें अनसूयाजीके उपदेशका बड़ा मार्मिक वर्णन किया है। वह सरल, सुबोध एवं सरस पद्यमय होनेके कारण प्रत्येक स्त्रीके लिये सदा स्मरण रखने योग्य है; इसलिये उसे यहाँ अविकलरूपसे उद्धृत किया जाता है—

मातु पिता भ्राता हितकारी। मितप्रद सब सुनु राजकुमारी॥
अमित दानि भर्ता बयदेही। अधम सो नारि जो सेव न तेही॥
धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद काल परिखिअहिं चारी॥
बृद्ध रोगबस जड़ धनहीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥
ऐसेहु पति कर किएँ अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना॥
एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा॥
जग पतिब्रता चारि बिधि अहहीं। बेद पुरान संत सब कहहीं॥
उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥
मध्यम परपति देखइ कैसें। भ्राता पिता पुत्र निज जैसें॥
धर्म बिचारि समुझि कुल रहई। सो निकिष्ट त्रिय श्रुति अस कहई॥
बिनु अवसर भय तें रह जोई। जानेहु अधम नारि जग सोई॥
पति बंचक परपति रति करई। रौरव नरक कल्प सत परई॥
छन सुख लागि जनम सत कोटी। दुख न समुझ तेहि सम को खोटी॥
बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिब्रत धर्म छाड़ि छल गहई॥
पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई। बिधवा होइ पाइ तरुनाई॥
सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभ गति लहइ।
जसु गावत श्रुति चारि अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय॥

जननी कौसल्या

बंदउँ कौसल्या दिसि प्राची। कीरति जासु सकल जग माची॥
प्रगटेउ जहँ रघुपति ससि चारू। बिस्व सुखद खल कमल तुसारू॥

रामायणमें महारानी कौसल्याजीका चरित्र बहुत ही उदार और आदर्श है। ये महाराज दशरथकी सबसे बड़ी पत्नी और भगवान् श्रीरामचन्द्रकी जननी थीं। प्राचीन कालमें मनु-शतरूपाने तप करके श्रीभगवान्को पुत्ररूपसे प्राप्त करनेका वरदान पाया था; वे ही मनु-शतरूपा यहाँ दशरथ-कौसल्यां हैं और भगवान् श्रीराम ही पुत्ररूपसे उनके घर अवतरित हुए हैं। श्रीकौसल्याजीके चरित्रका प्रारम्भ अयोध्याकाण्डसे होता है। भगवान् श्रीरामका राज्याभिषेक होनेवाला है। नगरभरमें उत्सवकी तैयारियाँ हो रही हैं। आज माता कौसल्याके आनन्दका पार नहीं है; वे रामकी मङ्गल-कामनासे अनेक प्रकारके यज्ञ, दान, देवपूजन और उपवास-व्रतमें संलग्न हैं। श्रीसीतारामको राज्यसिंहासनपर देखनेकी निश्चित आशासे उनका रोम-रोम खिल रहा है। परंतु श्रीराम दूसरी ही लीला करना चाहते हैं। सौन्दर्योपासक महाराज दशरथ कैकेयीके साथ वचनबद्ध होकर श्रीरामको वनवास देनेके लिये बाध्य हो जाते हैं।

धर्मके लिये त्याग

प्रातःकाल श्रीरामचन्द्र माता कैकेयी और पिता दशरथ महाराजसे मिलकर वनगमनका निश्चय कर लेते

हैं और माता कौसल्यासे आज्ञा लेनेके लिये उनके महलमें पधारते हैं। कौसल्या उस समय ब्राह्मणोंके द्वारा अग्निमें हवन करवा रही हैं और मन-ही-मन सोच रही हैं कि 'मेरे राम इस समय कहाँ होंगे, शुभ लग्न किस समय है?' इतनेमें ही नित्य प्रसन्नमुख और उत्साहपूर्ण हृदयवाले श्रीरामचन्द्र माताके समीप जा पहुँचते हैं। रामको देखते ही माता तुरंत उठकर वैसे ही सामने जाती हैं जैसे घोड़ी बछेरेके पास जाती है। राम माताको पास आयी देख उनके गले लग जाते हैं और माता भी भुजाओंसे पुत्रको आलिङ्गन कर उनका सिर सूँघने लगती हैं। (वा० रा० २। २०। २०-२१)

इस समय कौसल्याके हृदयमें वात्सल्य-रसकी बाढ़ आ गयी, उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंकी धारा बहने लगी। कुछ देरतक तो यही अवस्था रही, फिर कौसल्या रामपर निछावर करके बहुमूल्य वस्त्राभूषण बाँटने लगीं। श्रीराम चुपचाप खड़े थे। अब स्नेहमयी मातासे रहा नहीं गया। उन्होंने हाथ पकड़कर पुत्रको नन्हें-से शिशुकी भाँति गोदमें बैठा लिया और लगीं प्यार करने।

बार बार मुख चुंबति माता। नयन नेह जलु पुलकित गाता॥

जैसे रंक कुबेरके पदको प्राप्तकर फूला नहीं समाता, आज वही दशा कौसल्याकी है। इतनेमें स्मरण आया कि दिन बहुत चढ़ गया है। मेरे प्यारे रामने अभी कुछ खाया भी नहीं होगा। अतएव माँ कहने लगीं—

तात जाउँ बलि बेगि नहाहू। जो मन भाव मधुर कछु खाहू॥

माता सोच रही हैं कि 'लगनमें बहुत देर होगी, मेरा राम इतनी देर भूखा कैसे रह सकेगा। कुछ मिठाई ही खा ले, दो-चार फल ही ले ले तो ठीक है।' उन्हें यह पता नहीं था कि राम तो दूसरे ही कामसे यहाँ आये हैं। भगवान् रामने कहा—'माता! पिताजीने मुझको वनका राज्य दिया है, जहाँ सभी प्रकारसे मेरा बड़ा कल्याण होगा।' तुम प्रसन्न चित्तसे मुझको वन जानेके लिये आज्ञा दे दो, चौदह साल वनमें निवासकर पिताजीके वचनोंको सत्य करके पुनः इन् चरणोंके दर्शन करूँगा। माता! तुम किसी तरह दुःख न करो।'

रामके ये वचन कौसल्याके हृदयमें शूलकी भाँति बिंध गये! हा! कहाँ तो चक्रवर्ती साम्राज्यके ऊँचे सिंहासनपर बैठनेकी बात और कहाँ अब प्राणाराम रामको वन जाना पड़ेगा। कौसल्याजीके हृदयका विषाद कहा नहीं जाता, वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ीं और थोड़ी देर बाद जगकर भाँति-भाँतिसे विलाप करने लगीं।

कौसल्याके मनमें आया कि पिताकी अपेक्षा माताका स्थान ऊँचा है; यदि महाराजने रामको वनवास दिया है तो क्या हुआ, मैं नहीं जाने दूँगी। परंतु फिर सोचा कि 'यदि बहिन कैकेयीने आज्ञा दे दी होगी तो मेरा रोकनेका क्या अधिकार है; क्योंकि मातासे भी सौतेली माताका दर्जा ऊँचा माना गया है।' इस विचारसे कौसल्या श्रीरामको रोकनेका भाव छोड़कर मार्मिक शब्दोंमें कहती हैं—

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

मातासे कहा गया कि 'पिताकी ही नहीं, माता कैकेयीकी भी यही सम्मति है।' यहाँपर कौसल्याने बड़ी बुद्धिमानीके साथ यह भी सोचा कि यदि मैं श्रीरामको हठपूर्वक रखना चाहूँगी तो धर्म जायगा ही, साथ ही दोनों भाइयोंमें परस्पर विरोध भी हो सकता है।

राखउँ सुतहि करउँ अनुरोधू। धरमु जाइ अरु बंधु बिरोधू॥

अतएव सब तरहसे सोचकर धर्मपरायणा साध्वी कौसल्याने हृदयको कठिन करके रामसे कह दिया कि 'बेटा! जब पिता-माता दोनोंकी आज्ञा है और तुम भी इसको धर्मसम्मत समझते हो तो मैं तुम्हें रोककर धर्ममें बाधा नहीं देना चाहती; जाओ और धर्मका पालन करते रहो।' मेरा एक अनुरोध अवश्य है—

मानि मातु कर नात बलि सुरति बिसरि जनि जाइ॥

पातिव्रतधर्म

कह तो दिया; परंतु फिर हृदयमें तूफान आया। अब कौसल्या साथ ले चलनेके लिये आग्रह करने लगीं और बोलीं—

यथा हि धेनुः स्वं वत्सं गच्छन्तमनुगच्छति।
अहं त्वानुगमिष्यामि यत्र वत्स गमिष्यसि॥

(वा० रा० अ० २। २४। ९)

'बेटा! जैसे गाय अपने बछड़ेके पीछे, जहाँ वह जाता है वहीं जाती है, वैसे ही मैं भी तुम्हारे साथ तुम जहाँ जाओगे, वहीं जाऊँगी।' इसपर भगवान् श्रीरामने

माताको अवसर जानकर पातिव्रत-धर्मका बड़ा ही सुन्दर उपदेश दिया, जो स्त्रीमात्रके लिये मनन करने योग्य है। भगवान् बोले—

'माताजी! पतिको परित्याग कर देना स्त्रीके लिये बहुत बड़ी क्रूरता है; तुमको मनसे भी ऐसा सोचना नहीं चाहिये, करना तो दूर रहा। जबतक ककुत्स्थवंशी मेरे पिताजी जीवित हैं, तबतक तुमको उनकी सेवा ही करनी चाहिये; यही सनातन धर्म है। सधवा स्त्रियोंके लिये पति ही देवता है और पति ही प्रभु है। महाराज तो तुम्हारे और मेरे स्वामी और राजा हैं। भाई भरत भी धर्मात्मा और प्राणिमात्रके साथ प्रिय आचरण करनेवाले हैं; वे भी तुम्हारी सेवा ही करेंगे, क्योंकि उनका धर्ममें नित्य प्रेम है। माता! मेरे जानेके बाद तुमको बड़ी सावधानीके साथ ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि जिससे महाराज दु:खी होकर दारुण शोकसे अपने प्राण न त्याग दें। सावधान होकर सर्वदा वृद्ध महाराजके हितकी ओर ध्यान दो। व्रत-उपवासादि नियमोंमें तत्पर रहनेवाली धर्मात्मा स्त्री भी यदि अपने पतिके अनुकूल नहीं रहती तो वह अधम गतिको प्राप्त होती है; परंतु जो देवताओंका पूजन-वन्दन आदि बिलकुल न करके भी पतिकी सेवा करती है, उसको उसीके फलस्वरूप उत्तम स्वर्गकी प्राप्ति होती है। अतएव पतिका हित चाहनेवाली प्रत्येक स्त्रीको केवल पतिकी सेवामें ही लगे रहना चाहिये। स्त्रियोंके लिये श्रुति-स्मृतिमें एकमात्र यही धर्म बतलाया गया है।' (वा० रा० २। २४)

साध्वी कौसल्या तो पतिव्रता-शिरोमणि थीं ही, पुत्र-स्नेहसे रामके साथ जानेको तैयार हो गयी थीं; अब पुत्रके द्वारा पातिव्रत-धर्मका महत्त्व सुनते ही पुनः कर्तव्यपर डट गयीं और श्रीरामको वन-गमन करनेके लिये उन्होंने आज्ञा दे दीं। कौसल्याके पातिव्रतके सम्बन्धमें निम्नलिखित उदाहरण और भी ध्यान देने योग्य है—जिस समय श्रीसीताजी स्वामी श्रीरामके साथ वन जानेको तैयार होती हैं, उस समय कौसल्याजी उत्तम आचरणवाली सीताको हृदयसे लगाकर और उनका सिर सूँघकर निम्नलिखित उपदेश करती हैं—

'पुत्री! जो स्त्रियाँ पतिके द्वारा सब प्रकारसे सम्मान पानेपर भी गरीबीकी हालतमें उनकी सेवा नहीं करतीं, वे असती मानी जाती हैं। जो स्त्रियाँ सती हैं, वे ही शीलवती और सत्यवादिनी होती हैं, बड़ोंके उपदेशके अनुसार उनका बर्ताव होता है, वे अपने कुलकी मर्यादाका कभी उल्लङ्घन नहीं करतीं और अपने एकमात्र पतिको ही परम पूज्य देवता मानती हैं। बेटी! आज मेरे पुत्र रामको पिताने वनवासी बना दिया है; वह धनी हो या निर्धन, तेरे लिये तो वही देवता है। अतः कभी उसका तिरस्कार न करना।'

यद्यपि परम सती सीताजीको पातिव्रतका उपदेश करना सूर्यको दीपक दिखाना है, तथापि सीताने सासके वचनोंसे कुछ बुरा नहीं माना या अपना अपमान नहीं समझा और उनकी बातें धर्मार्थयुक्त समझ हाथ जोड़कर कहा—'माताजी! मैं आपके उपदेशानुसार ही करूँगी; पतिके साथ किस प्रकारका बर्ताव करना चाहिये, इस विषयका उपदेश माता-पिताके द्वारा मुझको प्राप्त हो चुका है। आप असाध्वी स्त्रियोंके साथ मेरी तुलना न करें—

धर्माद्विचलितुं नाहमलं चन्द्रादिव प्रभा॥
नातन्त्री वाद्यते वीणा नाचक्रो विद्यते रथः।
नापतिः सुखमेधेत या स्यादपि शतात्मजा॥
मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः।
अमितस्य तु दातारं भर्तारं का न पूजयेत्॥

(वा० रा० २। ३९। २८—३०)

'मैं कदापि धर्मसे विचलित न हो सकूँगी। जिस प्रकार चन्द्रमासे चाँदनी अलग नहीं होती, जिस प्रकार बिना तारके वीणा नहीं बजती, जिस प्रकार बिना पहियेके रथ नहीं चल सकता, उसी प्रकार स्त्री चाहे सौ पुत्रोंकी भी माँ क्यों न हो जाय, पति बिना वह कभी सुखी नहीं हो सकती। पिता, माता, भाई और पुत्र आदि जो कुछ सुख देते हैं, वह परिमित होता है और केवल इसी लोकके लिये होता है; परंतु पति तो मोक्षरूप अपरिमित सुखका दाता है। अतएव ऐसी कौन दुष्टा स्त्री है, जो अपने पतिकी सेवा न करेगी।'

जब श्रीराम वनको चले जाते हैं और महाराज दशरथ दु:खी होकर कौसल्याके भवनमें आते हैं, तब आवेशमें आकर वे उन्हें कुछ कठोर वचन कह बैठती

हैं; इसके उत्तरमें जब दु:खी महाराज आर्तभावसे हाथ जोड़कर कौसल्यासे क्षमा माँगते हैं, तब कौसल्या भयभीत होकर अपने कृत्यपर बड़ा भारी पश्चात्ताप करती हैं। उनकी आँखोंसे निर्झरकी तरह आँसू बहने लगते हैं, और वे महाराजके हाथ पकड़ उन्हें अपने मस्तकपर रखकर घबराहटके साथ कहती हैं—'नाथ! मुझसे बड़ी भूल हुई। मैं धरतीपर सिर टेककर प्रार्थना करती हूँ, आप मुझपर प्रसन्न होइये। मैं पुत्रवियोगसे पीड़ित हूँ, आप क्षमा कीजिये। देव! आपको जब मुझ दासीसे क्षमा माँगनी पड़ी, तब मैं आज पातिव्रत-धर्मसे भ्रष्ट हो गयी। आज मेरे शीलपर कलङ्क लग गया। अब मैं क्षमाके योग्य नहीं रही, मुझे अपनी दासी जानकर उचित दण्ड दीजिये। अनेक प्रकारकी सेवाओंके द्वारा प्रसन्न करनेयोग्य बुद्धिमान् स्वामी जिस स्त्रीको प्रसन्न करनेके लिये बाध्य होता है, उस स्त्रीके लोक-परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं। हे स्वामिन्! मैं धर्मको जानती हूँ; आप सत्यवादी हैं, यह भी मैं जानती हूँ। मैंने जो कुछ कहा सो पुत्र-शोककी अतिशय पीड़ासे घबराकर कहा है।' कौसल्याके इन वचनोंसे राजाको कुछ सान्त्वना हुई और उनकी आँख लग गयी।

उपर्युक्त अवतरणोंसे यह पता लगता है कि कौसल्या पातिव्रत-धर्मके पालनमें बहुत ही आगे बढ़ी हुई थीं। स्त्रियोंको इस प्रसङ्गसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

कर्तव्यनिष्ठा

दशरथजी श्रीरामके वियोगमें व्याकुल हैं, खान-पान छूट गया है, मृत्युके चिह्न प्रत्यक्ष दीख पड़ने लगे हैं, नगर और महलोंमें हाहाकार मचा हुआ है। ऐसी अवस्थामें धीरज धारणकर अपने दु:खको भुला श्रीरामकी माता कौसल्या, जिनका प्राणाधार पुत्र वधूसहित वनवासी हो चुका है, अपने उत्तरदायित्व और कर्तव्यको समझती हुई महाराजसे कहती हैं—

नाथ समुझि मन करिअ बिचारू। राम बियोग पयोधि अपारू॥
करनधार तुम्ह अवध जहाजू। चढ़ेउ सकल प्रिय पथिक समाजू॥
धीरजु धरिअ त पाइअ पारू। नाहिं त बूड़िहि सबु परिवारू॥
जौं जियँ धरिअ बिनय प्रिय मोरी। रामु लखनु सिय मिलहिं बहोरी॥

धन्य! रामजननी देवी कौसल्या ऐसी अवस्थामें तुम्हीं ऐसे आदर्श वचन कह सकती हो, धन्य तुम्हारे धैर्य, साहस, पातिव्रत, विश्वास और तुम्हारी आदर्श कर्तव्य-निष्ठाको।

वधू-प्रेम

कौसल्याको अपनी पुत्रवधू सीताके प्रति कितना वात्सल्य-प्रेम था, इसका दिग्दर्शन नीचेके कुछ शब्दोंसे होता है। जब सीताजी रामके साथ वन जाना चाहती हैं, तब रोती हुई कौसल्या कहती हैं—

मैं पुनि पुत्रबधू प्रिय पाई। रूप रासि गुन सील सुहाई॥
नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई। राखेउँ प्रान जानकिहिं लाई॥
पलँग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सियँ न दीन्ह पगु अवनि कठोरा॥
जिअनमूरि जिमि जोगवत रहऊँ। दीप बाति नहिं टारन कहऊँ॥

जब सुमन्त श्रीसीता-राम-लक्ष्मणको वनमें छोड़कर अयोध्या आते हैं, तब कौसल्या अनेक प्रकार चिन्ता करती हुई पुत्रवधूका कुशल-समाचार पूछती हैं। फिर जब चित्रकूटमें सीताको देखती हैं, तब बड़ा ही दु:ख करती हुई कहती हैं—'बेटी! धूपसे सूखे हुए कमलके समान, मसले हुए कुमुदके समान, धूलसे लिपटे हुए सोनेके समान और बादलोंसे छिपाये हुए चन्द्रमाके समान तेरा यह मलिन मुख देखकर मेरे हृदयमें जो दु:खरूपी अरणीसे उत्पन्न शोकाग्नि है, वह मुझे जला रही है।'

यदि आज सभी सासुओंका बर्ताव पुत्रवधुओंके साथ ऐसा हो जाय, तो घर-घरमें सुखका स्रोत बहने लगे।

राम-भरतमें समानभाव और प्रजा-हित

कौसल्या राम और भरतमें कोई अन्तर नहीं मानती थीं। उनका हृदय विशाल था। जब भरतजी ननिहालसे आते हैं और अनेक प्रकारसे विलाप करते हुए एवं अपनेको धिक्कारते हुए, सारे अनर्थोंका कारण अपनेको मानते हुए माता कौसल्याके सामने फूट-फूटकर रोने लगते हैं, तब माता सहसा उठकर आँसू बहाती हुई भरतको हृदयसे लगा लेती हैं और ऐसा मानती हैं मानों राम ही लौट आये। उस समय शोक और स्नेह उनके हृदयमें नहीं समाता, तथापि वे बेटे भरतको धीरज बँधाती हुई कोमल वाणीसे कहती हैं—

अजहुँ बच्छ बलि धीरज धरहू। कुसमउ समुझि सोक परिहरहू॥

जनि मानहु हियँ हानि गलानी। काल करम गति अघटित जानी॥

× × ×

राम प्रानहु तें प्रान तुम्हारे। तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु तें प्यारे॥
बिधु बिष चवै स्त्रवै हिमु आगी। होइ बारिचर बारि बिरागी॥
भएँ ग्यानु बरु मिटै न मोहू। तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू॥
मत तुम्हार यहु जो जग कहहीं। सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहहीं॥
अस कहि मातु भरतु हियँ लाए। थन पय स्त्रवहिं नयन जल छाए॥

कैसे आदर्श वाक्य हैं! रामकी माता ऐसी न हों तो और कौन होगी!

महाराजकी दाह-क्रियाके उपरान्त जब वसिष्ठजी और नगरके लोग भरतको राजगद्दीपर बैठाना चाहते हैं और जब भरत किसी प्रकार भी नहीं मानते, तब माता कौसल्या प्रजाके सुखके लिये धीरज धरकर कहती हैं—

× × × । पूत पथ्य गुर आयसु अहई॥
सो आदरिअ करिअ हित मानी। तजिअ बिषादु काल गति जानी॥
बन रघुपति सुरपति नरनाहू। तुम्ह एहि भाँति तात कदराहू॥
परिजन प्रजा सचिव सब अंबा। तुम्हही सुत सब कहँ अवलंबा॥
लखि बिधि बाम काल कठिनाई। धीरजु धरहु मातु बलि जाई॥
सिर धरि गुर आयसु अनुसरहू। प्रजा पालि परिजन दुख हरहू॥

प्रजा-हितका इतना ध्यान श्रीराम-माताको होना ही चाहिये। माताने रामके वन जाते समय भी कहा था—'मुझे इस बातका तनिक भी दुःख नहीं है कि रामको राज्यके बदले वन मिल रहा है; मुझे तो इसी बातकी चिन्ता है कि रामके बिना महाराज दशरथ, पुत्र भरत और प्रजाको महान् क्लेश होगा—

राजु देन कहि दीन्ह बनु मोहि न सो दुख लेसु।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेसु॥

पुत्र-प्रेम

कौसल्याकी पुत्र-वत्सलता आदर्श है। रामके वनवाससे कौसल्याको प्राणान्त क्लेश है; परन्तु प्यारे पुत्र श्रीरामकी धर्मरक्षाके लिये कौसल्या उन्हें रोकती नहीं, वरं कहती है।

न शक्यसे वारयितुं गच्छेदानीं रघूत्तम।
शीघ्रं च विनिवर्तस्व वर्तस्व च सतां क्रमे॥
यं पालयसि धर्मं त्वं प्रीत्या च नियमेन च।
स वै राघवशार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षतु॥

(वा० रा० २। २५। २-३)

'बेटा! मैं तुझे इस समय वन जानेसे रोक नहीं सकती। तू जा और शीघ्र ही लौटकर आ। सत्पुरुषोंके मार्गका अनुसरण करता रह। तू प्रेम और नियमके साथ जिस धर्मका पालन कर रहा है, वह धर्म ही तेरी रक्षा करे।' इस प्रकार धर्मपर दृढ़ रहने और महात्माओंके सन्मार्गका अनुसरण करनेकी शिक्षा देती हुई माता पुत्रकी मङ्गलरक्षा करती हैं और कहती हैं—

पितु बनदेव मातु बनदेवी। खग मृग चरन सरोरुह सेवी॥
अंतहुँ उचित नृपहि बनबासू। बय बिलोकि हियँ होइ हरासू॥

कर्तव्यपरायणा धर्मशीला त्यागमूर्ति माता कौसल्या इस प्रकार पुत्रको सहर्ष वनमें भेज देती हैं। वियोगके दावानलसे हृदय दग्ध हो रहा है; परंतु पुत्रके धर्मकी टेक और उसकी हर्ष-शोक-रहित सुख-दुःख-शून्य आनन्दमयी मञ्जुल मूर्तिकी ओर देख-देखकर अपनेको गौरवान्वित समझती हैं। यह है सच्चा प्रेम! यहाँ मोहको तनिक भी अवकाश नहीं। भरतजीके सामने कौसल्या गौरवके साथ प्यारे पुत्र श्रीरामकी प्रशंसा करती हुई कहती हैं—'बेटा! महाराजने तेरे बड़े भाई रामको राज्यके बदले वनवास दे दिया; परंतु इससे रामके मुखपर म्लानता भी नहीं आयी।

पितु आयस भूषन बसन तात तजे रघुबीर।
बिसमउ हरषु न हृदयँ कछु पहिरे बलकल चीर॥
मुख प्रसन्न मन रंग न रोषू। सब कर सब बिधि करि परितोषू॥
चले बिपिन सुनि सियसँग लागी। रहइ न राम चरन अनुरागी॥
सुनतहिं लखनु चले उठि साथा। रहहिं न जतन किए रघुनाथा॥
तब रघुपति सबही सिरु नाई। चले संग सिय अरु लघु भाई॥

यह सब होनेपर भी माताका हृदय पुत्रका मधुर मुखड़ा देखनेके लिये निरन्तर व्याकुल है। चौदह साल बड़ी ही कठिनतासे श्रीरामके ध्रुव सत्य वचनोंकी आशापर बीतते हैं। लङ्का विजयकर श्रीराम जब अयोध्या लौटते हैं और जब माताको यह समाचार मिलता है, तब वे सुनते ही इस प्रकार दौड़ती हैं, जैसे गाय बछड़ेके लिये दौड़ा करती है।

कौसल्यादि मातु सब धाई। निरखि बच्छ जनु धेनु लवाई॥

जनु धेनु बालक बच्छ तजि
गृहँ चरन बन परबस गईं।
दिन अस्त पुर रुख स्त्रवत थन
हुंकार करि धावति भईं॥

माता कैकेयी

कैकेयी पद कमल सुचि बंदौं बारं बार।
राम काज-हित जिन कुजस बिपुल लियौ सिर धार॥

रामायणमें महारानी कैकेयीका चरित्र सबसे अधिक बदनाम है। जिसने सारे विश्वके परमप्रिय प्राणाराम रामको बिना अपराध वनमें भिजवानेका अपराध किया—उसका पापिनी, कलंकिनी, राक्षसी, कुलविनाशिनी कहलाना कोई आश्चर्यकी बात नहीं। समस्त सद्‌गुणोंके आधार, जगदाधार राम जिसकी आँखोंके काँटे हो गये, उसपर गालियोंकी बौछार न हो तो किसपर हो। इसीसे लाखों वर्ष बीत जानेपर भी आज जगत्‌के नर-नारी कैकेयीका नाम सुनते ही नाक-भौं सिकोड़ लेते हैं और मौका पानेपर उसे दो-चार ऊँचे-नीचे शब्द सुनानेसे बाज नहीं आते। परंतु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि कैकेयी सर्वथा दुर्गुणोंकी ही खान थीं, उनमें कोई सद्‌गुण था ही नहीं। सच्ची बात तो यह है कि यदि कैकेयीके श्रीरामवनवासका कारण होनेका प्रसङ्ग निकाल लिया जाय तो कैकेयीका चरित्र रामायणके प्राय: सभी स्त्री-चरित्रोंमें शायद बढ़कर समझा जाय। कैकेयीके रामवनवासका कारण होनेमें एक बड़ा भारी रहस्य छिपा हुआ है, जिसका उद्‌घाटन होनेपर यह सिद्ध हो जाता है कि श्रीरामके अनन्य और अनुकूल भक्तोंमें कैकेयीजीका स्थान सबसे ऊँचा है। इस विषयपर आगे चलकर यथामति विचार प्रकट किये जायँगे। पहले कैकेयीके अन्य गुणोंकी ओर दृष्टि डालिये।

कैकेयी महाराज कैकयकी पुत्री और दशरथजीकी छोटी रानी थीं। ये केवल अप्रतिम सुन्दरी ही नहीं थीं, प्रथम श्रेणीकी पतिव्रता और वीराङ्गना भी थीं। बुद्धिमत्ता, सरलता, निर्भयता, दयालुता आदि सद्‌गुणोंका कैकेयीके जीवनमें पूर्ण विकास था। इन्होंने अपने प्रेम और सेवाभावसे महाराजके हृदयपर इतना अधिकार कर लिया था कि महाराज तीनों पटरानियोंमें कैकेयीको ही सबसे अधिक मानते थे। कैकेयी पति-सेवाके लिये सभी कुछ कर सकती थीं। एक समय महाराज दशरथ देवताओंकी सहायताके लिये शम्बरासुर नामक राक्षससे युद्ध करने गये। उस समय कैकेयीजी भी पतिके साथ रणाङ्गणमें गयी थीं—आराम या भोग भोगनेके लिये नहीं, सेवा और शूरतासे पतिदेवको सुख पहुँचानेके लिये। कैकेयीका पातिव्रत और वीरत्व इसीसे प्रकट होता है कि उन्होंने एक समय महाराज दशरथके सारथिके मर जानेपर स्वयं बड़ी ही कुशलतासे सारथिका कार्य करके महाराजको संकटसे बचाया था। उसी युद्धमें दूसरी बार एक घटना यह हुई कि महाराज घोर युद्ध कर रहे थे, इतनेमें उनके रथके पहियेकी धुरी गिर पड़ी। राजाको इस बातका पता नहीं लगा। कैकेयीने इस घटनाको देख लिया और पतिकी विजय-कामनासे महाराजसे बिना कुछ कहे-सुने तुरंत धुरीकी जगह अपना हाथ डाल दिया और बड़ी धीरतासे बैठी रहीं। उस समय वेदनाके मारे कैकेयीके आँखोंके कोये काले पड़ गये, परंतु उन्होंने अपना हाथ नहीं हटाया। इस विकट समयमें यदि कैकेयीने बुद्धिमत्ता और सहनशीलतासे काम न लिया होता तो महाराजके प्राण बचने कठिन थे।

शत्रुओंका संहार करनेके बाद जब महाराजको इस घटनाका पता लगा, तब उनके आश्चर्यका पार नहीं रहा। उनका हृदय कृतज्ञता तथा आनन्दसे भर गया। ऐसी वीरता और त्यागपूर्ण क्रिया करनेपर भी उनके मनमें कोई अभिमान नहीं, वे पतिपर कोई अहसान नहीं करतीं। महाराज वरदान देना चाहते हैं तो वे कह देती हैं कि 'मुझे तो आपके प्रेमके सिवा अन्य कुछ भी नहीं चाहिये।' जब महाराज किसी तरह नहीं मानते और दो वर देनेके लिये हठ करने लगते हैं, तब दैवी प्रेरणावश 'आवश्यक होनेपर माँग लूँगी' कहकर अपना पिण्ड छुड़ा लेती हैं। उनका यह अपूर्व त्याग सर्वथा सराहनीय है।

भरत, शत्रुघ्न ननिहाल चले गये हैं। पीछेसे महाराजने चैत्रमासमें श्रीरामके राज्याभिषेककी तैयारी की। किसी भी कारणसे हो, उस समय महाराज दशरथने इस महान् उत्सवमें भरत और शत्रुघ्नको बुलवानेकी भी आवश्यकता नहीं समझी, न कैकयराजको ही निमन्त्रण दिया गया। कहा जाता है कि कैकेयीके विवाहके समय महाराज दशरथने इन्हींके द्वारा उत्पन्न होनेवाले पुत्रको राज्यका अधिकारी मान लिया था; परंतु रघुवंशकी प्रथा और

श्रीरामके प्रति अधिक अनुराग होनेके कारण चुपचाप युवराजपद प्रदान करनेकी तैयारी कर ली गयी। यही कारण था कि रानी कैकेयीके महलोंमें भी इस उत्सवके समाचार पहलेसे नहीं पहुँचे थे। रानी कैकेयी अपना स्वत्व जानती थीं, उन्हें पता था कि भरतको मेरे पुत्रके नाते राज्याधिकार मिलना चाहिये; परंतु कैकेयी इस बातकी कुछ भी परवा न करके राम-राज्याभिषेककी बात सुनते ही प्रसन्न हो गयीं। देवप्रेरित कुबड़ी मन्थराने आकर जब उन्हें यह समाचार सुनाया, तब वे आनन्दमें डूब गयीं। वे मन्थराको पुरस्कारमें एक दिव्य उत्तम गहना देकर—'**दिव्यमाभरणं तस्यै कुब्जायै प्रददौ शुभम्**'—कहती हैं—

इदं तु मन्थरे मह्यमाख्यातं परमं प्रियम्।
एतन्मे प्रियमाख्यातं किं वा भूयः करोमि ते॥
रामे वा भरते वाहं विशेषं नोपलक्षये।
तस्मात्तुष्टास्मि यद्राजा रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति॥
न मे परं किञ्चिदितो वरं पुनः
प्रियं प्रियार्हे सुवचं वचोऽमृतम्।
तथा ह्यवोचस्त्वमतः प्रियोत्तरं
वरं परं ते प्रददामि तं वृणु॥

(वा० रा० २। ७। ३४—३६)

'मन्थरे! तूने मुझको यह बड़ा ही प्रिय संवाद सुनाया है, इसके बदले मैं तेरा और क्या उपकार करूँ? यद्यपि भरतको राज्य देनेकी बात हुई थी, फिर भी राम और भरतमें मैं कोई भेद नहीं देखती। मैं इस बातसे बहुत प्रसन्न हूँ कि महाराज कल रामका राज्याभिषेक करेंगे। हे प्रियवादिनी! रामके राज्याभिषेकका संवाद सुननेसे बढ़कर मुझे अन्य कुछ भी प्रिय नहीं है। ऐसा अमृतके समान सुखप्रद वचन सब नहीं सुना सकते। तूने यह वचन सुनाया है, इसके लिये तू जो चाहे सो पुरस्कार माँग ले; मैं तुझे देती हूँ।'

इसपर मन्थरा गहनेको फेंककर कैकेयीको बहुत कुछ उलटा-सीधा समझाती है; परंतु फिर भी कैकेयी तो श्रीरामके गुणोंकी प्रशंसा करती हुई यही कहती हैं कि 'श्रीरामचन्द्र धर्मज्ञ, गुणवान्, संयतेन्द्रिय, सत्यव्रती और पवित्र हैं। वे राजाके ज्येष्ठ पुत्र हैं, अतएव हमारी कुलप्रथाके अनुसार उन्हें युवराजपदका अधिकार है। दीर्घायु राम अपने भाइयों और सेवकोंको पिताकी तरह पालन करेंगे। मन्थरा! तू ऐसे रामचन्द्रके अभिषेककी बात सुनकर क्यों दुःखी हो रही है? यह तो अभ्युदयका समय है। ऐसे समयमें तू जल क्यों रही है? इस भावी कल्याणमें तू क्यों दुःख कर रही है?

यथा वै भरतो मान्यस्तथा भूयोऽपि राघवः।
कौसल्यातोऽतिरिक्तं च मम शुश्रूषते बहु॥
राज्यं यदि हि रामस्य भरतस्यापि तत्तदा।
मन्यते हि यथाऽऽत्मानं तथा भ्रातॄंस्तु राघवः॥

(वा० रा० २। ८। १८-१९)

'मुझे भरत जितना प्यारा है, उससे कहीं अधिक प्यारे राम हैं; क्योंकि राम मेरी सेवा कौसल्यासे भी अधिक करते हैं। रामको यदि राज्य मिलता है तो वह भरतको ही मिलता है, ऐसा समझना चाहिये; क्योंकि राम सब भाइयोंको अपने ही समान समझते हैं।'

इसपर जब मन्थरा महाराज दशरथकी निन्दा करके कैकेयीको फिर उभाड़ने लगी, तब तो कैकेयीने बड़ी बुरी तरह उसे फटकार दिया—

ईदृशी यदि रामे च बुद्धिस्तव समागता।
जिह्वायाश्छेदनं चैव कर्तव्यं तव पापिनि॥

पुनि अस कबहुँ कहसि घरफोरी। तौ धरि जीभ कढ़ावउँ तोरी॥

इस प्रसङ्गसे पता लगता है कि कैकेयी श्रीरामको कितना अधिक प्यार करती थीं और उन्हें श्रीरामके राज्याभिषेकमें कितना बड़ा सुख था। इसके बाद मन्थराके पुनः बहकानेपर कैकेयीके द्वारा जो कुछ कार्य हुआ, उसे यहाँ लिखनेकी आवश्यकता नहीं। उसी कुकार्यके लिये तो कैकेयी आजतक पापिनी और अनर्थकी मूलकारणरूपा कहलाती हैं; परंतु विचार करनेकी बात है कि श्रीरामको इतना चाहनेवाली, कुलप्रथा और कुलकी रक्षाका सर्वदा ध्यान रखनेवाली, परम सुशीला कैकेयीने राज्यलोभसे ऐसा अनर्थ क्यों किया। जो थोड़ी देर पहले रामको भरतसे अधिक प्रिय बतलाकर उनके राज्याभिषेकके सुसंवादपर दिव्याभरण पुरस्कार देती थीं और राम तथा दशरथकी निन्दा करनेपर, भरतको राज्य देनेकी प्रतिज्ञा जाननेपर भी, मन्थराको *'घरफोरी'* कहकर उसकी जीभ निकलवाना चाहती थीं, वे ही जरा-सी देरमें इतनी कैसे बदल जाती

हैं कि वे रामको चौदह सालके लिये वनके दुःख सहन करनेके लिये भेज देती हैं और भरतके शील-स्वभावको जानती हुई भी उनके लिये राज्यका वरदान चाहती हैं?

इसमें रहस्य है; वह रहस्य यह है कि कैकेयीका जन्म भगवान् श्रीरामकी लीलामें प्रधान कार्य करनेके लिये ही हुआ था। कैकेयी भगवान् श्रीरामको परब्रह्म परमात्मा समझती थीं और श्रीरामके लीलाकार्यमें सहायक बननेके लिये उन्होंने श्रीरामकी रुचिके अनुसार यह जहरकी घूँट पी थी। यदि कैकेयी श्रीरामको वन भिजवानेमें कारण न बनतीं तो श्रीरामका लीलाकार्य ही सम्पन्न न होता। न सीताका हरण होता और न राक्षसराज रावण अपनी सेनासहित मरता। श्रीरामने अवतार धारण किया था—'दुष्कृतोंका विनाश करके साधुओंका परित्राण करनेके लिये।' दुष्टोंके विनाशके लिये हेतुकी आवश्यकता थी। बिना अपराध मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम किसीपर आक्रमण करने क्यों जाते। आजकलके राज्यलोभी लोगोंकी भाँति वे जबरदस्ती परस्वापहरण करना तो चाहते ही नहीं थे। मर्यादाकी रक्षा करके ही सारा काम करना था उन्हें। रावणको मारनेका कार्य भी दयाको लिये हुए था, मारकर ही उसका उद्धार करना था। दुष्टकार्य करनेवालोंका वध करके ही साधु और दुष्टोंका—दोनोंका परित्राण करना था। साधुओंको दुष्टोंसे बचाकर सदुपदेशसे और दुष्टोंका कालमूर्ति होकर मृत्युरूपसे—एक ही वारसे दो शिकार करने थे। पर इस कार्यके लिये भी कारण चाहिये, वह कारण था सीताहरण। इसके सिवा अनेक शाप-वरदानोंको भी सच्चा करना था, पहलेके हेतुओंकी मर्यादा रखनी थी; परंतु वन गये बिना सीताहरण होता कैसे? राज्याभिषेक हो जाता तो वन जानेका कोई कारण नहीं रह जाता। महाराज दशरथकी मृत्युका समय समीप आ पहुँचा था, उसके लिये भी किसी निमित्तकी रचना करनी थी। अतएव इस निमित्तके लिये देवी कैकेयीका चुनाव किया गया और महाराज दशरथकी मृत्यु एवं रावणका वध, इन दोनों कार्योंके लिये कैकेयीके द्वारा राम-वनवासकी व्यवस्था करायी गयी।

सर्वनियन्ता भगवान् श्रीरामकी ही प्रेरणासे देवताओंके द्वारा प्रेरित होकर जब सरस्वती देवी कैकेयीकी बुद्धि फेर गयीं और जब उनपर उसका पूरा असर हो गया—*'भावी बस प्रतीति उर आई'*—तब भगवदिच्छानुसार बरतनेवाली कैकेयी भगवान्के मायावश ऐसा कार्य कर बैठीं, जो अत्यन्त क्रूर होनेपर भी भगवान्की लीलाकी सम्पूर्णताके लिये अत्यन्त आवश्यक था।

अब प्रश्न यह है कि जब कैकेयी भगवान्की परम भक्त थीं, प्रभुकी इस आभ्यन्तरिक गुह्यलीलाके अतिरिक्त प्रकाशमें भी श्रीरामसे अत्यन्त प्यार करती थीं, राज्यमें और परिवारमें उनकी बड़ी सुख्याति थी, सारा कुटुम्ब कैकेयीसे प्रसन्न था, फिर भगवान्ने उसीके द्वारा यह भीषण कार्य कराकर उसे कुटुम्बियों और अवधवासियोंके द्वारा तिरस्कृत, पुत्रद्वारा अपमानित और इतिहासमें सदाके लिये लोकनिन्दित क्यों बनाया? जब भगवान् ही सबके प्रेरक हैं, तब साध्वी सरला कैकेयीके मनमें सरस्वतीके द्वारा ऐसी प्रेरणा ही क्यों करवायी, जिससे उनका जीवन सदाके लिये दुःखी और नाम सदाके लिये बदनाम हो गया?' इसीमें तो रहस्य है। भगवान् श्रीराम साक्षात् सच्चिदानन्द परमात्मा हैं, कैकेयी उनकी परम अनुरागिणी सेविका हैं। जो सबसे गुह्य और कठिन कार्य होता है, उसको सबके सामने न तो प्रकाशित ही किया जा सकता है और न हर कोई उसे करनेमें ही समर्थ होता है। वह कार्य तो किसी अत्यन्त कठोरकर्मी, घनिष्ठ और परम प्रेमीके द्वारा ही करवाया जाता है। खास करके जिस कार्यमें कर्ताकी बदनामी हो, ऐसे कार्यके लिये तो उसीको चुना जाता है, जो अत्यन्त ही अन्तरङ्ग हो। रामका लोकापवाद मिटानेके लिये श्रीसीताजी वनवास स्वीकार करती हुई सन्देशा कहलाती हैं कि 'मैं जानती हूँ मेरी शुद्धतामें आपको सन्देह नहीं है; केवल आप लोकापवादके भयसे मुझे त्याग रहे हैं। तथापि मेरे तो आप ही परम गति हैं। आपका लोकापवाद दूर हो, मुझे अपने शरीरके लिये कुछ भी शोक नहीं है।' यहाँ सीताजी 'रामकाज' के लिये कष्ट सहती हैं। परंतु उनकी बदनामी नहीं होती, प्रशंसा होती है; उनके पातिव्रतकी आजतक पूजा होती है। परंतु कैकेयीका कार्य इससे अत्यन्त महान् है। उसे तो 'रामकाज' के लिये रामविरोधी प्रख्यात होना पड़ेगा। **'यावच्चन्द्रदिवाकरौ'** गालियाँ सहनी पड़ेंगी। पापिनी, कलंकिनी, कुलघातिनीकी उपाधियाँ ग्रहण करनी पड़ेंगी, वैधव्यका दुःख स्वीकारकर पुत्र

और नगरवासियोंके द्वारा तिरस्कृत होना पड़ेगा तथापि 'रामकाज' जरूर करना पड़ेगा! यही रामकी इच्छा है और इस 'रामकाज' के लिये रामने कैकेयीको ही प्रधान पात्र चुना है। इसीसे यह कलङ्कका चिर टीका उन्हींके सिर पोता गया है। यह इसीलिये कि वे परब्रह्म श्रीरामकी परम अन्तरङ्ग प्रेमपात्री हैं, वे श्रीरामकी लीलाओंमें सहायिका हैं, उन्हें बदनामी-खुशनामीसे कोई काम नहीं, उन्हें तो सब कुछ सहकर भी 'रामकाज' करना है। रामरूपी सूत्रधार जो कुछ पार्ट दें, उनके नाटककी साङ्गताके लिये उनके आज्ञानुसार इन्हें तो वही खेल खेलना है, चाहे वह कितना ही क्रूर क्यों न हो। कैकेयी अपना पार्ट बड़ा अच्छा खेलती हैं। राम अपने 'काज' के लिये सीता और लक्ष्मणको लेकर खुशी-खुशी वनके लिये विदा होते हैं। कैकेयी इस समय पार्ट खेल रही थीं, इसीलिये उनको उस सूत्रधारसे, नाटकके स्वामीसे, जिसके इंगितसे जगन्नाटकका प्रत्येक परदा पड़ रहा है और उसमें प्रत्येक क्रिया सुचारुरूपसे हो रही है, एकान्तमें मिलनेका अवसर नहीं मिलता। इसीलिये वे भरतके साथ वन जाती हैं और वहाँ श्रीरामसे—नाटकके स्वामीसे एकान्तमें मिलकर अपने पार्टके लिये पूछती हैं और साधारण स्त्रीकी भाँति लीलासे ही लीलामयसे उनको दुःख पहुँचानेके लिये क्षमा चाहती हैं, परंतु लीलामय भेद खोलकर साफ कह देते हैं कि 'यह तो मेरा ही कार्य था, मेरी ही इच्छासे, मेरी मायासे हुआ था। तुम तो निमित्तमात्र थी; सुखसे भजन करो और मुक्त हो जाओ।' वहाँका प्रसङ्ग इस प्रकार है। जब भरत श्रीरामको लौटा ले जानेका बहुत आग्रह करते हैं, किसी प्रकार नहीं मानते, तब भगवान् श्रीरामका रहस्य जाननेवाले मुनि वसिष्ठ श्रीरामके संकेतसे भरतको अलग ले जाकर एकान्तमें समझाते हैं—'पुत्र! आज मैं तुझे एक गुप्त रहस्य सुना रहा हूँ। श्रीराम साक्षात् नारायण हैं; पूर्वकालमें ब्रह्माजीने इनसे रावण-वधके लिये प्रार्थना की थी, इसीसे इन्होंने दशरथके यहाँ पुत्ररूपसे अवतार लिया है। श्रीसीताजी साक्षात् योगमाया हैं। श्रीलक्ष्मण शेषके अवतार हैं, जो सदा श्रीरामके साथ उनकी सेवामें लगे रहते हैं। श्रीरामको रावणका वध करना है, इससे वे जरूर वनमें रहेंगे; तेरी माताका कोई दोष नहीं है—

> कैकेय्या वरदानादि यद्यन्निष्ठुरभाषणम्॥
> सर्वं देवकृतं नोचेदेवं सा भाषयेत्कथम्।
> तस्मात्त्यजाग्रहं तात रामस्य विनिवर्तने॥
>
> (अ० रा० २। ९। ४५-४६)

'कैकेयीने जो वरदान माँगे और निष्ठुर वचन कहे थे, सो सब देवका कार्य था—रामकाज था। नहीं तो भला, कैकेयी कभी ऐसा कह सकती? अतएव तुम रामको अयोध्या लौटा ले चलनेका आग्रह छोड़ दो।'

रास्तेमें भरद्वाज मुनिने भी संकेतसे कहा था—

'भरत! तू माता कैकेयीपर दोषारोपण मत कर। रामका वनवास समस्त देव-दानव और ऋषियोंके परम हित और परम सुखका कारण होगा।' अब श्रीवसिष्ठजीसे स्पष्ट परिचय प्राप्तकर भरत समझ जाते हैं और श्रीरामकी चरण-पादुका सादर लेकर अयोध्या लौटनेकी तैयारी करते हैं। इधर कैकेयीजी एकान्तमें श्रीरामके समीप जाकर आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहाती हुई व्याकुल-हृदयसे हाथ जोड़कर कहती हैं—'श्रीराम! तुम्हारे राज्याभिषेकमें मैंने विघ्न किया था। उस समय मेरी बुद्धि देवताओंने बिगाड़ दी थी और मेरा चित्त तुम्हारी मायासे मोहित हो गया था। अतएव मेरी इस दुष्टताको तुम क्षमा करो; क्योंकि साधु क्षमाशील हुआ करते हैं। फिर तुम तो साक्षात् विष्णु हो, इन्द्रियोंसे अव्यक्त सनातन परमात्मा हो, मायासे मनुष्यरूपधारी होकर समस्त विश्वको मोहित कर रहे हो। तुम्हींसे प्रेरित होकर लोग साधु-असाधु कर्म करते हैं। यह सारा विश्व तुम्हारे अधीन है, अस्वतन्त्र है, अपनी इच्छासे कुछ भी नहीं कर सकता। जैसे कठपुतलियाँ नचानेवालेके इच्छानुसार ही नाचती हैं, वैसे ही यह बहुरूपधारिणी नर्तकी माया तुम्हारे ही अधीन है। तुम्हें देवताओंका कार्य करना था, अतएव तुमने ही ऐसा करनेके लिये मुझे प्रेरणा की। हे विश्वेश्वर! हे अनन्त! हे जगन्नाथ! मेरी रक्षा करो। मैं तुम्हें नमस्कार करती हूँ। तुम अपनी तत्त्वज्ञानरूपी निर्मल तीक्ष्णधार तलवारसे मेरी पुत्र-वित्तादि विषयोंमें स्नेहरूपी फाँसी काट दो। मैं तुम्हारे शरण हूँ।' (अध्यात्मरामायण)

कैकेयीके स्पष्ट और सरल वचन सुनकर भगवान्ने हँसते हुए कहा—'हे महाभागे! तुम जो कुछ कहती हो, सत्य कहती हो; इसमें किञ्चित् भी मिथ्या नहीं है।

देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये मेरी ही प्रेरणासे उस समय तुम्हारे मुखसे वैसे वचन निकले थे। इसमें तुम्हारा कुछ भी दोष नहीं है। तुमने तो मेरा ही काम किया है। अब तुम जाओ और हृदयमें सदा मेरा ध्यान करती रहो। तुम्हारा स्नेहपाश सब ओरसे टूट जायगा और मेरी इस भक्तिके कारण तुम शीघ्र ही मुक्त हो जाओगी। मैं सर्वत्र समदृष्टि हूँ। मेरे न तो कोई द्वेष्य है और न प्रिय। मुझे जो भजता है, मैं भी उसीको भजता हूँ; परंतु हे माता! जिनकी बुद्धि मेरी मायासे मोहित है, वे मुझको तत्त्वसे न जानकर सुख-दुःखोंका भोक्ता साधारण मनुष्य मानते हैं। यह बड़े सौभाग्यका विषय है कि तुम्हारे हृदयमें मेरा यह भवनाशक तत्त्वज्ञान हो गया है। अपने घरमें रहकर मेरा स्मरण करती रहो। तुम कभी कर्मोंसे लिप्त नहीं होओगी।' (अध्यात्मरामायण)

भगवान्‌के इन वचनोंसे कैकेयीकी स्थितिका पता लगता है। भगवान्‌के कथनका सार यही है कि ''तुम 'महाभाग्यवती' हो, लोग चाहे तुम्हें अभागिनी मानते रहें। तुम निर्दोष हो, लोग चाहे तुम्हें दोषी समझें। तुम्हारे द्वारा तो यह कार्य मैंने ही करवाया था। जिन लोगोंकी बुद्धि मायामोहित है, वे ही तुमको मामूली स्त्री समझते हैं, तुम्हारे हृदयमें तो मेरा तत्त्वज्ञान है, तुम धन्य हो!''

भगवान् श्रीरामके इन वचनोंको सुनकर कैकेयी आनन्द और आश्चर्यपूर्ण हृदयसे सैकड़ों बार साष्टाङ्ग प्रणाम और प्रदक्षिणा करके सानन्द भरतके साथ अयोध्या लौट गयीं।

उपर्युक्त स्पष्ट वर्णनसे यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि कैकेयीने जान-बूझकर स्वार्थबुद्धिसे कोई अनर्थ नहीं किया था। उन्होंने जो कुछ किया, सो श्रीरामकी प्रेरणासे 'रामकाज' के लिये! इस विवेचनसे यह प्रमाणित हो जाता है कि कैकेयी बहुत ही उच्चकोटिकी भक्तहृदया देवी थीं। वे सरल, स्वार्थहीन, प्रेममय, स्नेह-वात्सल्ययुक्त, धर्मपरायणा, बुद्धिमती, आदर्श पतिव्रता, निर्भय वीराङ्गना होनेके साथ ही भगवान् श्रीरामकी अनन्य भक्ता थीं। उनकी जो कुछ बदनामी हुई और हो रही है, सो सब श्रीरामकी अन्तरङ्ग प्रीतिका निदर्शनरूप ही है। जिस देवीने जगत्‌के आधार, प्रेमके समुद्र, अनन्य रामभक्त भरतको जन्म दिया, वह देवी कदापि तिरस्कारके योग्य नहीं हो सकती, ऐसी प्रातः-स्मरणीया देवीके चरणोंमें बार-बार अनन्त प्रणाम हैं।

माता देवकी

विश्वं यदेतत् स्वतनौ निशान्ते
यथावकाशं पुरुषः परो भवान्।
बिभर्ति सोऽयं मम गर्भगोऽभू-
दहो नृलोकस्य विडम्बनं हि तत्॥

(श्रीमद्भा० १०। ३। ३१)

श्रीदेवकीजी कहती हैं—'प्रलयके अन्तमें जब आप इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको अपनेमें लीन कर लेते हैं, तब सम्पूर्ण विश्व आपके उदरमें समा जाता है, किसीको भी अवकाशकी न्यूनता नहीं होती। वे ही आप मेरे गर्भमें आये हैं, यह लोगोंके लिये एक आश्चर्यकी बात है—इसपर भला, कौन विश्वास करेगा।'

महाराज उग्रसेनके एक भाई थे, उनका नाम देवक था। महाभाग्यवती देवकीजी उन्हींकी पुत्री थीं। कंस इनका भाई था। ये कंससे छोटी थीं, अतः वह इन्हें बहुत प्यार करता था। इनका विवाह यदुवंशी राजा श्रीवसुदेवजीसे हुआ। देवकजीने अपनी पुत्रीका विवाह बड़े ही उल्लासके साथ किया। बहुत-सा दहेज वसुदेवजीको दिया गया और बड़ी धूमधामसे विवाहका समस्त कार्य सम्पन्न हुआ। कंस अपनी बहिनके प्रति स्नेह प्रदर्शित करनेके लिये विदाईके समय उसके रथको स्वयं हाँकने लगा। रथमें नवविवाहिता देवकीजी और वसुदेवजी बैठे थे। कंस घोड़ोंको हाँक रहा था। इसी समय आकाशवाणी हुई—'अरे ओ मूढ़ कंस! तू जिस बहिनके रथको इतनी प्रीतिसे हाँक रहा है, इसीका अष्टम गर्भ तुझे मारेगा।' बस, फिर क्या था, रंगमें भंग पड़ गया, अमृतमें विष मिल गया। हर्षके स्थानमें उदासी छा गयी, स्नेहका स्थान द्वेषने ग्रहण कर लिया। क्रोधके आवेशमें कंस रथसे कूद पड़ा। उसने तलवार निकाल ली और देवकीजीकी चोटी पकड़कर वह बड़े क्रोधके साथ बोला—'बस, न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी। विषके वृक्षको बढ़ने ही क्यों दिया जाय कि फिर उसके फलोंसे मृत्युकी सम्भावना हो। बढ़नेके पहले वृक्षको काट ही देना बुद्धिमानी है। मैं अभी इस देवकीका अन्त किये देता हूँ।'

पासमें बैठे हुए वसुदेवजीने बड़े धैर्यके साथ उसे समझाया, ज्ञानकी बातें बतायीं, धर्म सुझाया और अन्तमें

विश्वास दिलाया कि 'इसके जितने भी पुत्र होंगे, हम सब तुम्हें दे जाया करेंगे। तुम इस अबलाको, जो तुम्हारी छोटी बहिन है, नवविवाहिता है, क्यों मारते हो?' भगवान्‌की प्रेरणा, उसके मनमें यह बात बैठ गयी। उसने देवकीको छोड़ दिया; परंतु पीछेसे वसुदेवजीके सहित देवकीको कारावासमें बंद कर दिया।

क्रमशः देवकीजीके गर्भसे सात संतानें हुईं। अपने प्रतिज्ञानुसार वसुदेवजीने उन्हें कंसको सौंप दिया और उस दुष्टने सभीको मार डाला। अष्टम गर्भमें साक्षात् श्रीभगवान् चतुर्भुजरूपमें प्रकट हुए। यह गर्भ देवकीके लिये '**हर्षशोकविवर्धनः**' हुआ। हर्ष तो इस बातका था कि साक्षात् भगवान् अवतीर्ण हुए हैं, शोक कंसके अत्याचारोंको लेकर। जब भगवान् अपनी प्रभासे दसों दिशाओंको जगमगाते हुए शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मके साथ चतुर्भुजरूपमें प्रकट हुए, तब देवकीमाताने उनकी बड़ी स्तुति की और प्रार्थना की—'प्रभो! मैं कंससे बहुत डरती हूँ, वह तुम्हें भी मार डालेगा। अतः उससे मेरी रक्षा करो और अपना यह अलौकिक रूप छिपा लो।' लीलामय भगवान्‌ने कहा—'यदि ऐसा ही है तो मुझे नन्दजीके गोकुलमें भेज दो; वहाँ यशोदाजीके गर्भसे मेरी माया उत्पन्न हुई है, उसे ले आओ।' यह कहकर प्रभु साधारण शिशु हो गये। वसुदेवजी भगवान्‌को नन्दजीके यहाँ पहुँचा आये और वहाँसे कन्याको ले आये। बालक उत्पन्न हुआ है, यह सुनकर कंस आया और उसने उस शिशु-कन्याको ज्यों ही पत्थरपर पटका त्यों ही वह असाधारण कन्या आकाशमें उड़कर अष्टभुजाके रूपमें परिवर्तित हो गयी।

भगवान् व्रजमें ही बड़े हुए। देवकीमाता अपने हृदयके टुकड़ेको देखनेके लिये तरसती रहीं। उनका मन उस श्यामसुन्दर सलोनी मनमोहिनी मूर्तिके लिये तरसता रहा। कंसको मारकर जब भगवान् देवकीजी और वसुदेवजीके पास आये, तब भगवान्‌ने अत्यन्त स्नेह प्रदर्शित करते हुए कहा—'आपलोग सदा मेरे लिये उत्कण्ठित रहे; किंतु मैं आपलोगोंकी कुछ भी सेवा-शुश्रूषा नहीं कर सका। बाल्य-कालकी क्रीड़ाएँ करके बालक माता-पिताको प्रमुदित करता है; मेरे द्वारा यह भी नहीं हो सका, अतः आप क्षमा करें—

तत् क्षन्तुमर्हथस्तात मातर्नौ परतन्त्रयोः।
अकुर्वतोर्वां शुश्रूषां क्लिष्टयोर्दुर्हृदा भृशम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ४५। ९)

इस प्रकार भगवान्‌ने मातृ-पितृ-भक्ति प्रदर्शित की। जब श्रीमथुरापुरी छोड़कर भगवान् द्वारका पधारे, तब देवकीजी द्वारकामें ही भगवान्‌के समीप रहती थीं। वे उन्हें अपना प्रिय पुत्र ही समझती थीं। पुत्र-स्नेह भी कैसा मधुमय सम्बन्ध है! भगवत्ताका उन्हें स्मरण भी नहीं होता था। उनके लिये तो श्यामसुन्दर बालक ही थे; उन्हें अपने हाथसे खिलातीं-पिलातीं, भाँति-भाँतिकी शिक्षाएँ देतीं। मातृ-स्नेहको व्यक्त करनेके लिये भगवान् भी देवकीजीकी हर प्रकारसे सेवा करते। जन्मके समय भगवान्‌ने अपने चतुर्भुजरूपसे जो माताको दर्शन दिया था; उसे वे भूल गयीं और अब उन्हें फिर अपना पुत्र ही मानने लगीं। भगवान् तो माताको असली ज्ञान कराना चाहते थे, अतः उनके मनमें एक प्रेरणा की।

माताने जब सुना कि मेरे पुत्र राम-कृष्णने गुरुदक्षिणामें गुरुके मृतक पुत्रको ला दिया, तब उन्होंने भी प्रार्थना की कि 'मेरे भी कंसके द्वारा जो पुत्र मारे गये हैं, उन्हें ला दो।' माताकी ऐसी प्रार्थना सुनकर भगवान् वासुदेव बलदेवजीके साथ पाताल-लोकमें गये और वहाँसे उन पुत्रोंको ले आये। माताने देखा, वे तो अभी उसी अवस्थाके हैं। माता अपने-आपको भूल गयीं। उनके स्तनोंमेंसे दूध टपकने लगा। बड़े स्नेहसे उन्हें गोदीमें बिठाकर वे दूध पिलाने लगीं। वे भी श्रीकृष्णोच्छिष्ट स्तनका पान करके देवलोकको चले गये। अब माताको ज्ञान हुआ कि 'ये मेरे साधारण पुत्र नहीं। ये तो चराचरके स्वामी हैं, विश्वके एकमात्र अधीश्वर हैं।' माताकी मोह-ममता दूर हो गयी, वे भगवान्‌के ध्यानमें मग्न हो गयीं।

अन्तमें जब प्रभास-क्षेत्रकी महायात्रा हुई और उसमें सब यदुवंशियोंका नाश हो गया तथा भगवान् भी अपने लोकको पधार गये, तब यह समाचार दारुकके द्वारा वसुदेव-देवकीजीने भी सुना। वे दौड़े-दौड़े प्रभास-क्षेत्रमें आये। वहाँ आनन्दकन्द श्रीकृष्ण और बलरामको न देखकर माता देवकीजीने श्रीवसुदेवजीके साथ भगवान्‌के विरहमें पाञ्चभौतिक शरीरसे उसी क्षण सम्बन्ध त्याग दिया। वे उस भगवद्धामको चली गयीं, जहाँ उनके प्यारे प्रभु नित्य निवास करते हैं।

माता रोहिणी

जब कश्यपजीने वसुदेवके रूपमें जन्म धारण किया, तब उनकी पत्नी सर्पोंकी माता कद्रू भी रोहिणीके रूपमें उत्पन्न हुईं।* समय आनेपर वसुदेवजीसे रोहिणीका विवाह हुआ। इनके अतिरिक्त पौरवी, भद्रा, मदिरा, रोचना, इला और देवकी आदि और बहुत-सी पत्नियाँ वसुदेवजीके थीं।

जब क्रूर कंसने वसुदेव-देवकीको कारागारमें बंद कर दिया, तब रोहिणीजी बड़ी व्याकुल हुईं; पर कंससे इनको पति-सेवाके लिये कारागारमें जानेकी आज्ञा मिल गयी। ये वहाँ जाया करतीं। इससे इनका दुःख बहुत कुछ कम हो गया। वहीं जब देवकीजीमें सातवें गर्भका प्रकाश हुआ, तब इनमें भी साथ-ही-साथ गर्भके लक्षण दीख पड़े। वसुदेवजीको चिन्ता हुई कि जैसे यह कंस देवकीके पुत्रोंको मार दे रहा है, वैसे ही रोहिणीके पुत्रको भी कहीं शङ्कावश न मार दे। इस भयसे उन्होंने रोहिणीको अपने भाई व्रजराज नन्दके यहाँ गुप्तभावसे भेज दिया।

जब रोहिणीजी नन्दालय आयी थीं; तब उनके तीन मासका गर्भ था। व्रजपुर आनेके चार मास पश्चात् योगमायाने इनके गर्भको तो अन्तर्धान कर दिया तथा देवकीजीके सातवें गर्भको वहाँसे आकर्षितकर रोहिणीजीमें स्थापित कर दिया। इस प्रकार बलरामजीकी जननी बननेका परम सौभाग्य रोहिणीजीको प्राप्त हुआ। योगमायाद्वारा गर्भस्थापनाके सात मास पश्चात्—सब मिलाकर चौदह मास गर्भ-धारणकी लीला हो जानेपर रोहिणीजीने श्रावणी पूर्णिमाके दिन, श्रीकृष्ण-जन्मसे आठ दिन पूर्व, अनन्तको प्रकट किया। अनन्तरूप बलराम रोहिणीके गर्भसे अवतरित हुए।

जिस दिनसे रोहिणी नन्दालय पधारी थीं, उसी दिनसे यशोदा एवं रोहिणीमें इतना प्रेम हो गया कि मानो दोनों दो देह, एक प्राण हों। रोहिणीको पाकर यशोदाके आनन्दकी सीमा न रही। उनके आनन्दका एक यह भी कारण था कि रोहिणी अपने पातिव्रत्यके लिये विख्यात थीं। अतः व्रजरानी सोचने लगीं—जब ऐसी सतीके चरण घरमें आ गये हैं, तब मेरी गोद भी अवश्य भर जायगी। हुआ भी यही, सती रोहिणीके पधारनेपर यशोदाका अङ्क भी श्रीकृष्णचन्द्रसे विभूषित हो ही गया।

व्रजरानी तो रोहिणीके गुणोंको देख-देखकर मुग्ध रहतीं। उन्होंने अपने घरका सारा भार रोहिणीजीके हाथमें सौंप रखा था, व्रजरानीके घरकी मालकिन तो रोहिणीजी बन गयी थीं। अस्तु, जब रोहिणीजीको पुत्र हुआ, तब नन्दालयमें सर्वत्र आनन्द छा गया। अवश्य ही यह आनन्द प्रकट नहीं हुआ, यशोदारानी जी भरकर उत्सव भी न मना सकीं; क्योंकि भाई वसुदेवका नन्दजीको यह आदेश मिल चुका था कि रोहिणीके पुत्रजन्मकी बात सर्वथा गुप्त रखी जाय। व्रजराजने गुप्तभावसे ही रोहिणीजीके पुत्रका जातकर्म पवित्र ब्राह्मणोंके द्वारा करवाया और दक्षिणामें एक लाख गायें दीं। रोहिणीजी पहलेसे ही नन्ददम्पतिके व्यवहारको देखकर उनपर न्यौछावर थीं। पुत्र होनेके अवसरपर जब यह उदारता देखी, तब तो उनका रोम-रोम कृतज्ञतासे भर गया। उनके नेत्रोंसे अश्रुधारा बह चली। साथ ही पुत्रकी छबि देख-देखकर वे आत्मविस्मृत भी होती जा रही थीं। वह छबि ही जो ऐसी थी—

शुभ्रांशुवक्त्रं तडिदालिलोचनं
नवाब्दकेशं शरदभ्रविग्रहम्।
भानुप्रभावं तमसूत रोहिणी
तत्तत्र युक्तं स हि दिव्यबालकः॥

समुदित चन्द्रके समान तो उसका मुख था, विद्युत्-रेखा-जैसी नेत्रोंकी शोभा थी, उसके सिरपर नवजलधर-कृष्ण केश थे; समस्त अङ्गोंकी आभा शारदीय शुभ्र मेघके समान थी, वह बालक सूर्यके समान दुष्प्रधर्ष तेजःशाली था। ऐसे परम सुन्दर बालकको श्रीरोहिणीने जन्म दिया। बालकका इस तरह शोभासम्पन्न होना सर्वथा उपयुक्त ही था; क्योंकि यह अस्थि-मज्जा-मेद-मांसनिर्मित प्राकृत शिशु तो था नहीं—यह तो परम दिव्य बालक था। बालक भी कथनमात्रका ही, वास्तवमें तो स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनका 'अनन्त'—'शेष' नामसे अभिहित रूप ही बालक बनकर आया था।

रोहिणीजीको एक दुःख भूलता न था। वह था पति-वियोगका। पुत्रको देखकर वह दुःखभार बहुत कुछ कम हो गया। फिर भी रह-रहकर भीतर वह स्मृति जाग

---

* यह वर्णन भी मिलता है कि कश्यपपत्नी अदितिके ही दो भाग हो गये। एक भागसे वे देवकीके रूपमें उत्पन्न हुईं, दूसरेसे रोहिणीके रूपमें। कल्प-भेदसे दोनों ही वर्णन सत्य हैं।

उठती और रोहिणीजी पतिके लिये व्याकुल हो जातीं; किंतु जिस दिनसे यशोदानन्दनका जन्म हुआ, जिस क्षणसे रोहिणीजीने उन्हें देखा, बस, उसी क्षणसे रोहिणीजी मानो सर्वथा बदल गयीं। उनके हृदयकी सारी वेदना, सारी जलन यशोदानन्दनके मुखचन्द्रने हर ली, उनके प्राण शीतल हो गये। व्रजपुरमें आज पहली बार रोहिणीको गोपियोंने वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित देखा।

ग्यारह वर्ष, छः महीने राम-श्यामकी मधुर बाल-लीलाओंसे झरती हुई दिव्यातिदिव्य रसमन्दाकिनी व्रजपुरमें प्रवाहित होती रही; उसमें निरन्तर अवगाहनकर रोहिणी धन्य होती रहीं। इसके पश्चात् राम-श्याम मधुपुर चले गये। कंसका निधन हुआ, वसुदेव कारागारसे मुक्त हुए, पुत्रोंको हृदयसे लगाकर वसुदेवने छाती ठंडी की। यह होनेपर उन्होंने रोहिणीजीको बुलानेके लिये व्रजपुरमें दूत भेजा। पतिका आह्वान सुनकर रोहिणीजीकी विचित्र ही अवस्था हुई। वे व्याकुल होकर मन-ही-मन सोचने लगीं—

आज्ञा पत्युर्दिदृक्षाप्यथ नवसुतयोर्जातु हातुं न शक्या
सेयं गोविन्दमाता बत कथमिव वा हेयतामाशु यातु।
तस्मादेकैकनेत्राद्यवयवमपि चेद्भागमेकं तनोर्मे
पुर्य्यां जीवे न कुर्यादपरमिह विधिस्तर्ह्यहं निस्तरेऽयम्॥

'आह! एक ओर पतिकी आज्ञा है, उसे मैं टाल नहीं सकती; अपने दोनों पुत्रोंको देखनेकी इच्छा छोड़ देना भी मेरे वशकी बात नहीं। पर, हाय! श्रीकृष्णजननी यशोदाको भी सहसा कैसे छोड़ दूँ। आह! कदाचित् विधाता मेरे शरीरके दो भाग कर देता—एक नेत्र एवं आधे अवयव एक शरीरमें, बचा हुआ नेत्र एवं अवशिष्ट अवयव दूसरे शरीरमें, एक तो मधुपुरीके जीवनके लिये एवं एक यहाँ यशोदाकी सँभालके लिये—इस क्रमसे इस उद्देश्यको लेकर यदि दैव मेरे अङ्गोंको बाँट दे, तो ही मैं इस विपत्तिसागरको पार कर सकूँगी। अन्यथा और कोई उपाय नहीं है।'

रोहिणीजीको अतिशय विषण्ण देखकर यशोदाने रोकर समझाया—'बहिन! तेरे प्राण एवं मेरे प्राण तो एक हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि हम दोनोंने क्षणभरके लिये भी राम-श्याममें भेद नहीं देखा। तो बहिन! मेरी बात मान! मैं मन्दभागिनी तो जा नहीं सकती, तू चली जा। राम-श्यामको देखकर तेरे प्राण शीतल हो जायँगे तथा पुत्रोंको देखकर यदि तेरे प्राण रह गये तो मैं भी जी आऊँगी; क्योंकि तेरे-मेरे प्राण सर्वथा अभिन्न हैं। इसके सिवा मेरे प्राण बचानेका और कोई दूसरा उपाय मुझे नहीं दीखता।' वास्तवमें रोहिणीजी यही सोचकर मधुपुरी चली आयीं।

× × × ×

मथुरासे जब वसुदेवजीको लेकर श्रीकृष्णचन्द्र द्वारका चले गये, तब रोहिणीजी भी द्वारका चली गयीं। उनके मनमें आनन्द तो यह रहता था कि वे निरन्तर राम-श्यामकी लीलाएँ देखती थीं, सुनती थीं; पर जब यशोदाका स्मरण होता, तब प्राणोंमें टीस चलने लगती, वे फुफकार मारकर रो उठतीं।

कुरुक्षेत्रमें रोहिणीजीका यशोदासे पुनः मिलन हुआ। यशोदाको कण्ठसे लगाकर, उनके अनन्त गुणोंको सबसे कह-कहकर न जाने वे कितनी देरतक रोती ही रहीं।

एक बार रोहिणीजी फिर व्रजपुरी पधारी थीं। दन्तवक्त्रका विनाश करके जब श्रीकृष्णचन्द्र व्रजपुर गये, तब उन्होंने रामके सहित रोहिणी मैयाको बुलाया। रोहिणी मैया अपने पुत्र बलरामके साथ आयीं।* तथा जब व्रजेश्वरी यशोदा एवं नन्द अन्तर्धान होने लगे, तब ये भी नित्य लीलाकी रोहिणीमें मिल गयीं। अवश्य ही जनसाधारणकी दृष्टिमें तो रोहिणीजी व्रजपुरसे लौट आयीं तथा श्रीकृष्णचन्द्रकी शेष लीलामें योगदान करती रहीं। जब यदुकुल ध्वंस हुआ और दारुक इस समाचारको लेकर द्वारका लौटे, तब वसुदेव-देवकीके सहित रोहिणीजी चीत्कार करती हुई वहाँ गयीं, जहाँ यदुवंशियोंके मृत शरीर पड़े थे। वहाँ जब राम-कृष्णको—अपने पुत्रोंको नहीं पाया, तब वे मूर्च्छित होकर गिर पड़ीं। रोहिणीजीकी यह मूर्च्छा फिर नहीं टूटी। रोहिणीजीके साथ ही वसुदेव-देवकीकी भी यही दशा हुई—

देवकी रोहिणी चैव वसुदेवस्तथा सुतौ।
कृष्णरामावपश्यन्तः शोकार्ता विजहुः स्मृतिम्॥
प्राणांश्च विजहुस्तत्र भगवद्विरहातुराः।

---

* रोहिणीजीके और भी बहुत-से पुत्र थे। उनके गर्भसे वसुदेवजीने बलराम, गद, सारण, दुर्मद, विपुल, ध्रुव और कृत आदि पुत्र उत्पन्न किये थे।

माता यशोदा

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत्प्राप विमुक्तिदात्॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। २०)

'मुक्तिदाता भगवान्से जो कृपाप्रसाद नन्दरानी यशोदा मैयाको मिला, वैसा न ब्रह्माजीको, न शङ्करको, न अर्धाङ्गिनी लक्ष्मीजीको भी कभी प्राप्त हुआ।'

वसुश्रेष्ठ द्रोणने पद्मयोनि ब्रह्मासे यह प्रार्थना की—'देव! जब मैं पृथ्वीपर जन्म धारण करूँ, तब विश्वेश्वर स्वयं भगवान् श्रीहरि श्रीकृष्णचन्द्रमें मेरी परमा भक्ति हो।' इस प्रार्थनाके समय द्रोणपत्नी धरा भी वहीं खड़ी थीं। धराने मुखसे कुछ नहीं कहा; पर उनके अणु-अणुमें भी यही अभिलाषा थी, मन-ही-मन धरा भी पद्मयोनिसे यही माँग रही थीं।' पद्मयोनिने कहा—'तथास्तु—ऐसा ही होगा।' इसी वरके प्रतापसे धराने व्रजमण्डलके एक सुमुख नामक गोप* एवं उनकी पत्नी पाटलाकी कन्याके रूपमें भारतवर्षमें जन्म धारण किया—उस समय जब कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके अवतरणका समय हो चला था, श्वेतवाराहकल्पकी अट्ठाईसवीं चतुर्युगीके द्वापरका अन्त हो रहा था। पाटलाने अपनी कन्याका नाम यशोदा रखा। यशोदाका विवाह व्रजराज नन्दसे हुआ। ये नन्द पूर्वजन्ममें वही द्रोण नामक वसु थे, जिन्हें ब्रह्माने वर दिया था।

भगवान्की नित्यलीलामें भी एक यशोदा हैं। वे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी नित्य माता हैं। वात्सल्यरसकी घनीभूत मूर्ति ये यशोदारानी सदा भगवान्को वात्सल्यरसका आस्वादन कराया करती हैं। जब भगवान्के अवतरणका समय हुआ, तब इन चिदानन्दमयी, वात्सल्यरसमयी यशोदाका भी इन यशोदा (पूर्वजन्मकी धरा)-में ही आवेश हो गया। पाटलापुत्री यशोदा नित्ययशोदासे मिलकर एकमेक हो गयीं।

तथा इन्हीं यशोदाके पुत्रके रूपमें आनन्दकन्द परब्रह्म पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अवतीर्ण हुए।

जब भगवान् अवतीर्ण हुए थे, उस समय यशोदाकी आयु ढल चुकी थी। इससे पूर्व अपने पति नन्दके साथ यशोदाने न जाने कितनी चेष्टा की थी कि पुत्र हो; पर पुत्र हुआ नहीं। अतः जब पुत्र हुआ, तब फिर आनन्दका कहना ही क्या है—

सूखत धानन कौं ज्यौं पान्यो, यौं पायौ या पनमें।

—यशोदाको पुत्र हुआ है, इस आनन्दमें सारा व्रजपुर निमग्न हो गया।

× × ×

छठे दिन यशोदाने अपने पुत्रकी छठी पूजी। इसके दूसरे दिनसे ही मानो यशोदा-वात्सल्य-सिन्धुका मन्थन आरम्भ हो गया, मानो स्वयं जगदीश्वर अपनी जननीका हृदय मथते हुए राशि-राशि भावरत्न निकाल-निकालकर बिखेरने लगे, बतलाने लगे, घोषणा करने लगे—'जगत्की देवियो! देखो, यदि तुममेंसे कोई मुझ परब्रह्म पुरुषोत्तमको अपना पुत्र बनाना चाहो तो मैं पुत्र भी बन सकता हूँ; पर पुत्र बनाकर मुझे कैसे प्यार किया जाता है, वात्सल्यभावसे मेरा भजन कैसे होता है—इसकी तुम्हें शिक्षा लेनी पड़ेगी। इसीलिये इन सर्वथा अनमोल रत्नोंको निकालकर मैं जगत्में छोड़ दे रहा हूँ, ये ही तुम्हारे आदर्श होंगे; इन्हें पिरोकर अपने हृदयका हार बना लेना। हृदय आलोकित हो जायगा; उस आलोकमें आगे बढ़कर पुत्ररूपसे मुझे पा लोगी, अनन्तकालके लिये सुखी हो जाओगी।' अस्तु,

कंसप्रेरित पूतना यशोदानन्दनको मारने आयी। उसने अपना विषपूरित स्तन यशोदानन्दनके श्रीमुखमें दे दिया। किंतु यशोदानन्दन विषमय दूधके साथ ही पूतनाके प्राणोंको भी पी गये। शरीर छोड़ते समय श्रीकृष्णचन्द्रको लेकर ही पूतना मधुपुरीकी ओर दौड़ी। आह! उस क्षण यशोदाके प्राण भी मानो पूतनाके पीछे-पीछे दौड़ चले। यशोदाके प्राण तभी लौटे, तभी उनमें जीवनका सञ्चार हुआ, जब पुत्रको लाकर गोपसुन्दरियोंने उनके वक्षःस्थलपर रखा। यशोदाने स्नेहवश उस समय परमात्मा श्रीकृष्णपर गो-पुच्छ फिराकर उनकी मङ्गल-कामना की।

× × ×

* सुमुखका एक नाम महोत्साह भी था।

क्रमशः यशोदानन्दन बढ़ रहे थे एवं उसी क्रमसे मैयाका आनन्द भी प्रतिक्षण बढ़ रहा था। यशोदा मैया पुत्रको देख-देखकर फूली नहीं समाती थीं—

जसुमति फूली फूली डोलति।
अति आनंद रहत सगरे दिन हसि हसि सब सों बोलति॥
मंगल गाय उठति अति रस सो अपने मनको भायौ।
बिकसित कहति देख व्रजसुंदरि कैसो लगत सुहायौ॥

कभी पालनेपर पुत्रको सुलाकर आनन्दमें निमग्न होती रहतीं—

पलना स्याम झुलावति जननी।
अति अनुराग परस्पर गावति, प्रफुलित मगन होति नँद घरनी॥
उमँगि उमँगि प्रभु भुजा पसारत, हरषि जसोमति अंकम भरनी।
सूरदास प्रभु मुदित जसोदा, पूरन भई पुरातन करनी॥

इस प्रकार जननीका प्यार पाकर श्रीकृष्णचन्द्र तो आज इक्यासी दिनके हो गये; पर जननीको ऐसा लगता था मानो कुछ देर पहले ही मैंने अपने पुत्रका यह सलोना मुख देखा है। आज वे अपने पुत्रको एक विशाल शकटके नीचे पलनेपर सुला आयी थीं। इसी समय कंसप्रेरित उत्कच नामक दैत्य आया और उस गाड़ीमें प्रविष्ट हो गया; शकटको यशोदानन्दनपर गिराकर वह उनको पीस डालना चाहता था। पर इससे पूर्व ही यशोदानन्दनने अपने पैरसे शकटको उलट दिया, शकटासुरके संसरणका अन्त कर दिया! इधर जब जननीने शकट-पतनका भयङ्कर शब्द सुना, तब ये सोच बैठीं कि मेरा लाल तो अब जीवित रहा नहीं। बस, ढाढ़ मारकर एक बार चीत्कार कर उठीं और फिर सर्वथा प्राणशून्य-सी होकर गिर पड़ीं। बड़ी कठिनतासे गोपसुन्दरियाँ उनकी मूर्च्छा तोड़नेमें सफल हुईं। उन्होंने आँखें खोलकर अपने पुत्रको देखा, देखकर रोती हुई ही अपनेको धिक्कार देने लगीं—

'हाय रे हाय! मेरा यह नीलमणि नवनीतसे भी अधिक सुकोमल है, केवल तीन महीनेका है और इसके निकट शकट हठात् भूमिपर गिरकर टूट गया। यह बात सुनकर भी मेरे प्राण न निकले, मैं उन्हीं प्राणोंको लेकर अभीतक जीवित हूँ, तो यही सत्य है कि मैं वज्रसे भी अधिक कठोर हूँ। मैं कहलानेमात्रको माता हूँ; मेरे ऐसे मातृत्वको, मातृवत्सलताको धिक्कार है।'

× × ×

यशोदारानी कभी तो प्रार्थना करतीं—हे विधाता! मेरा वह दिन कब आयेगा, जब मैं अपने लालको बकैयाँ चलते देखूँगी, दूधकी दँतुलियाँ देखकर मेरे नेत्र शीतल होंगे, इसकी तोतली बोली सुनकर कानोंमें अमृत बहेगा—

नंद घरनि आनँदभरी, सुत स्याम खिलावै।
कबहिं घुटुरुवनि चलहिंगे, कहि बिधिहि मनावै॥
कबहिं दँतुलि द्वै दूध की देखौं इन नैननि।
कबहिं कमल मुख बोलिहैं, सुनिहौं उन बैननि॥
चूमति कर पग अधर भ्रू, लटकति लट चूमति।
कहा बरनि सूरज कै, कहँ पावै सो मति॥

—कभी श्रीकृष्णचन्द्रसे ही निहोरा करने जातीं—

नान्हरिया गोपाल लाल, तू बेगि बड़ौ किन होहि।
इहिं मुख मधुर बचन हँसि कैधौं जननि कहै कब मोहि॥

जननीका मनोरथ पूर्ण करते हुए क्रमशः श्रीकृष्णचन्द्र बोलने भी लगे; बकैयाँ भी चलने लगे और फिर खड़े होकर भी चलने लगे। इतनेमें वर्ष पूरा हो गया, यशोदारानीने अपने पुत्रकी प्रथम वर्षगाँठ मनायी। इसी समय कंसने तृणावर्त दैत्यको भेजा। वह आया और यशोदाके नीलमणिको उड़ाकर आकाशमें चला गया। यशोदा मृतवत्सा गौकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ीं। इस बार जननीके जीवनकी आशा किसीको न थी। पर जब श्रीकृष्णचन्द्र तृणावर्तको चूर्ण-विचूर्णकर लौटे, गोपियाँ उन्हें दैत्यके छिन्न-भिन्न शरीरपरसे उठा लायीं, तब तत्क्षण यशोदाके प्राण भी लौट आये—

शिशुमुपसद्य यशोदा दनुजहृतं द्राक् चिचेत लीनापि।
वर्षाजलमुपलभ्य प्राणिति जातिर्यथेन्द्रगोपाणाम्॥

'दैत्यके द्वारा अपहृत शिशुको पाकर महाप्रयाण-(मृत्यु)-में लीन होनेपर भी यशोदा उसी क्षण वैसे ही चैतन्य हो गयीं जैसे वर्षाका जल पाकर इन्द्रगोप (बीरबहूटी) कीटकी जाति जीवित हो जाती है।'

× × ×

यशोदा एवं श्रीकृष्णचन्द्रमें होड़ लगी रहती थी। यशोदाका वात्सल्य उमड़ता, उसे देखकर उससे सौगुने

परिमाणमें श्रीकृष्णचन्द्रका लीलामाधुर्य प्रकाशित होता; फिर इस लीलामाधुरीको देखकर सहस्रगुनी मात्रामें यशोदाका भावसिन्धु तरङ्गित हो उठता, इन भावलहरियोंसे धुलकर पुनः श्रीकृष्णचन्द्रकी लीलाकिरणें निखर उठतीं, क्षणभर पूर्व जो थीं उससे लक्षगुणित परिमाणमें चमक उठतीं—इस क्रमसे बढ़कर यशोदाका वात्सल्य अनन्त, असीम, अपार बन गया था। उसमें डूबी हुई यशोदा और सब कुछ भूल गयी थीं, केवल नीलमणि ही उनके नेत्रोंमें नाचते रहते थे। कब दिन हुआ, कब रात्रि आयी—यशोदाको यह भी किसीके बतानेपर ही भान होता था। उनको क्षणभरके लिये भावसमाधिसे जगानेके लिये ही मानो यशोदानन्दनने मृत्तिका-भक्षणकी लीला की। श्रीकृष्णने मिट्टी खायी है, यह सुनकर यशोदा उनका मुख खुलाकर मिट्टी ढूँढ़ने गयीं और उनके मुखमें सारा विश्व अवस्थित देखा, देखकर एक बार तो वे काँप उठीं। किंतु इतनेमें ही श्रीकृष्णचन्द्रकी वैष्णवी मायाका विस्तार हुआ। यशोदा-वात्सल्यसागरमें एक लहर उठी, वह यशोदाके इस विश्वदर्शनकी स्मृतितकको बहा ले गयी, नीलमणिको गोदमें लेकर यशोदा अपने प्यारसे उन्हें स्तनपान कराने लगीं—

अंक में लगाइ नंद नंद को अनंद माइ।
ग्यान गूढ़ भूलि गौ, भये सुपुत्र प्रेम आइ॥
देखि बाल लाल कौं फँसी सु मोह फाँस आइ।
सीस सूँघि चूमि चारु दूध द हिये अघाइ॥

× × ×

यशोदा भूली रहती थीं। पर दिन तो पूरे होते ही थे। यशोदाके अनजानमें ही उनके पुत्रकी दूसरी वर्षगाँठ भी आ पहुँची। फिर देखते-देखते ही उनके नीलमणि दो वर्ष दो महीनेके हो गये। पर अब नीलमणि ऐसे, इतने चञ्चल हो गये थे कि यशोदाको एक क्षण भी चैन नहीं। गोपियोंके घर जाकर तो न जाने कितने दहीके भाँड फोड़ आया करते थे; एक दिन मैयाका वह दहीभाँड भी फोड़ दिया, जो उनके कुलमें वर्षोंसे सुरक्षित चला आ रहा था। जननीने डरानेके उद्देश्यसे श्रीकृष्णचन्द्रको ऊखलमें बाँधा। सारा विश्व अनन्त कालतक यशोदाकी इस चेष्टापर बलिहार जायगा—

जिन बाँध्यो सुर असुर नाग मुनि प्रबलकर्म की डोरी।
सोइ अबिछिन्न ब्रह्म जसुमति हठि बाँध्यो सकत न छोरी॥

इस बन्धनको निमित्त बनाकर यशोदाके नीलमणिने दो अर्जुनवृक्षोंको जड़से उखाड़ दिया। फिर तो व्रजवासी यशोदानन्दनकी रक्षाके लिये अतिशय व्याकुल हो गये। पूतनासे, शकटसे, तृणावर्तसे, वृक्षसे—इतनी बार तो नारायणने नीलमणिको बचा लिया; अब आगे यहाँ इस गोकुलमें तो एक क्षण भी नहीं रहना चाहिये। गोपोंने परामर्श करके निश्चय कर लिया—बस, इसी क्षण वृन्दावन चले जाना है। यही हुआ, यशोदा अपने नीलमणिको लेकर वृन्दावन चली आयीं।

× × ×

वृन्दावन आनेके पश्चात् श्रीकृष्णचन्द्रकी अनेकों भुवनमोहिनी लीलाओंका प्रकाश हुआ। उन्हें गोपबालकोंके मुखसे सुन-सुनकर तथा कुछको अपनी आँखों देखकर यशोदा कभी तो आनन्दमें निमग्न हो जातीं, कभी पुत्रकी रक्षाके लिये उनके प्राण व्याकुल हो उठते।

श्रीकृष्णचन्द्रका तीसरा वर्ष अभी पूरा नहीं हुआ था, फिर भी वे बछड़ा चराने वनमें जाने लगे। वनमें वत्सासुर-वकासुर आदिको मारा। जब इन घटनाओंका विवरण जननी सुनती थीं, तब पुत्रके अनिष्टकी आशङ्कासे उनके प्राण छटपटाने लगते। पाँचवें वर्षकी शुक्लाष्टमीसे श्रीकृष्णचन्द्रका गोचारण आरम्भ हुआ तथा इसी वर्ष ग्रीष्मके समय उनकी कालियदमन-लीला हुई। कालियके बन्धनमें पुत्रको बँधा देखकर यशोदाकी जो दशा हुई थी, उसे चित्रित करनेकी क्षमता किसीमें नहीं। छठे वर्षमें जैसी-जैसी विविध मनोहारिणी गोष्ठक्रीडा श्रीकृष्णचन्द्रने की, उसे सुन-सुन यशोदाको कितना सुख हुआ था, इसे भी वर्णन करनेकी शक्ति किसीमें नहीं। सातवें वर्ष धेनुक-उद्धारकी लीला हुई, आठवें वर्ष गोवर्धनधारणकी लीला हुई, नवें वर्षमें सुदर्शनका उद्धार हुआ, दसवें वर्ष अनेकों आनन्दमयी बालक्रीड़ाएँ हुईं, ग्यारहवें वर्ष अरिष्ट-उद्धार हुआ, बारहवें वर्षके गौण फाल्गुनमासकी द्वादशीको केशी दैत्यका उद्धार हुआ। इन-इन अवसरोंपर यशोदाके हृदयमें हर्ष अथवा

दुःखकी जो धाराएँ फूट निकलती थीं, उनमें यशोदा स्वयं तो डूब ही जातीं, सारे व्रजको भी निमग्न कर देती थीं।

इस प्रकार ग्यारह वर्ष, छः महीने यशोदारानीके भवनको श्रीकृष्णचन्द्र आलोकित करते रहे; किंतु अब यह आलोक मधुपुरी जानेवाला था। श्रीकृष्णचन्द्रको मधुपुरी ले जानेके लिये अक्रूर आ ही गये। वही फाल्गुन द्वादशीकी सन्ध्या थी, अक्रूरने आकर यशोदाके हृदयपर मानो अतिक्रूर वज्र गिरा दिया। सारी रात व्रजेश्वर व्रजरानी यशोदाको समझाते रहे; पर यशोदा किसी प्रकार भी सहमत नहीं हो रही थीं, किसी हालतमें पुत्रको कंसकी रंगशाला देख आनेकी अनुमति नहीं देती थीं। आखिर योगमायाने मायाका विस्तार किया, यशोदा भ्रान्त हो गयीं। अनुमति तो उन्होंने फिर भी नहीं दी; पर अबतक जो विरोध कर रही थीं, वह न करके आँसू ढालने लगीं। विदा होते समय यशोदारानीकी जो करुण दशा थी, उसे देखकर कौन नहीं रो पड़ा। आह!

यात्रामङ्गलसम्पदं न कुरुते व्यग्रा तदात्वोचितां
वात्सल्यौपयिकं च नोपनयते पाथेयमुद्भ्रान्तधीः।
धूलीजालमसौ विलोचनजलैर्जम्बालयन्ती परं
गोविन्दं परिरभ्य नन्दगृहिणी नीरन्ध्रमाक्रन्दति॥

व्यग्र हुई यशोदा यात्राके समय करनेयोग्य मङ्गलकार्य भी नहीं कर रही हैं। इतनी भ्रान्तचित्त हो गयी हैं कि अपने वात्सल्यके उपयुक्त पुत्रको कोई पाथेय (राहखर्च)-तक नहीं दे रही हैं, देना भूल गयी हैं। श्रीकृष्णचन्द्रको हृदयसे लगाकर निरन्तर रो रही हैं, उनके अजस्र अश्रुप्रवाहसे भूमि पङ्किल हो रही है।

रथ श्रीकृष्णचन्द्रको लेकर चल पड़ा। रथचक्रों-(पहियों)-के चिह्न भूमिपर अङ्कित होने लगे, मानो धरारूपिणी यशोदाके छिदे हुए हृदयको पृथ्वीदेवी व्यक्त कर रही थीं।

× × ×

श्रीकृष्णचन्द्रके विरहमें जननी यशोदाकी क्या दशा हुई, इसे यथार्थ वर्णन करनेकी सामर्थ्य सरस्वतीमें भी नहीं। यशोदा मैया वास्तवमें विक्षिप्त हो गयीं। जहाँ श्रीकृष्णचन्द्र रथपर बैठे थे, वहाँ प्रतिदिन चली आतीं। उन्हें दीखता अभी-अभी मेरे नीलमणिको अक्रूर लिये जा रहे हैं। वे चीत्कार कर उठतीं—'अरे! क्या व्रजमें कोई नहीं, जो मेरे जाते हुए नीलमणिको रोक ले, पकड़ ले। वह देखो, रथ बढ़ा जा रहा है, मेरे प्राण लिये जा रहा है, मैं दौड़ नहीं पा रही हूँ; कोई दौड़कर मेरे नीलमणिको पकड़ लो, भैया!'

कभी जड-चेतन, पशु-पक्षी, मनुष्य—जो कोई भी दृष्टिके सामने आ जाता, उसीसे वसुदेवपत्नी देवकीको अनेकों संदेश भेजतीं।

सँदेसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तुम्हारे सुत की, मया करत नित रहियो॥
जदपि टेव तुम जानत उन की, तऊ मोहि कहि आवै।
प्रातहि उठत तुम्हारे सुत कौं माखन रोटी भावै॥
तेल उबटनौ अरु तातौ जल देखत ही भजि जावै।
जोइ जोइ माँगत, सोइ सोइ देती, क्रम क्रम करि करि न्हावै॥
सूर पथिक सुनि मोहि रैन दिन बढ़्यौ रहत उर सोच।
मेरौ अलक लड़ैतौ मोहन ह्वैहै करत सकोच॥

किसी पथिकने यशोदाका यह संदेश श्रीकृष्णचन्द्रसे जाकर कह भी दिया। सान्त्वना देनेके लिये श्रीकृष्णचन्द्रने उद्धवको भेजा। उद्धव आये, पर जननीके आँसू पोंछ नहीं सके।

× × ×

यशोदारानीका हृदय तो तब शीतल हुआ, जब वे कुरुक्षेत्रमें श्रीकृष्णचन्द्रसे मिलीं। राम-श्यामको हृदयसे लगाकर, गोदमें बैठाकर उन्होंने नव-जीवन पाया।

कुरुक्षेत्रसे जब यशोदारानी लौटीं, तब उनकी जानमें उनके नीलमणि उनके साथ ही वृन्दावन लौट आये। यशोदाका उजड़ा हुआ संसार फिरसे बस गया।

× × ×

श्रीकृष्णचन्द्र अपनी लीला समेटनेवाले थे। इसीलिये अपनी जननी यशोदाको भी पहलेसे भेज दिया। जब भानुनन्दिनी गोलोकविहारिणी श्रीराधाकिशोरीको वे विदा करने लगे, तब गोलोकके उसी दिव्यातिदिव्य विमानपर जननीको भी बिठाया तथा राधाकिशोरीके साथ ही यशोदा अन्तर्धान हो गयीं, गोलोकमें पधार गयीं।

भाग्यवती यज्ञपत्नियाँ

तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवन्तं यथाश्रुतम्।
हृदोपगुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धनम्॥

(श्रीमद्भा० १०। २३। ३४)

'उनमेंसे एकको उसके पतिने जबर्दस्ती पकड़कर रखा। वह भगवान्‌के पहले सुने हुए रूपका ध्यान करती हुई कर्मबन्धनोंसे मुक्त होकर, चैतन्य होकर भगवत्स्वरूपमें जा मिली।'

वृन्दावनमें कुछ याज्ञिक ब्राह्मण यज्ञ कर रहे थे। भगवान् श्रीकृष्णने अपने सखाओंको भूखा जान उनके पास अन्नके लिये भेजा। याज्ञिकोंने उन्हें फटकारकर खदेड़ दिया। तब भगवान्‌ने याज्ञिक ब्राह्मणोंकी पत्नियोंके पास उनको भेजा। वे श्रीकृष्णका मधुर नाम सुनते ही विविध भोजनोंके थाल सजाकर चल दीं।

जब यज्ञशालासे सभी याज्ञिकोंकी पत्नियाँ श्यामसुन्दरके समीप जाने लगीं, तब एक याज्ञिक-पत्नीके पति भोजन कर रहे थे। वे बड़े ही क्रोधी और कृपण थे। उनकी पत्नीने जब सभीको जाते देखा, तब उसका हृदय भर आया। श्यामसुन्दरकी सलोनी सूरतको देखनेकी कितने समयकी उसकी साध थी। मनमोहनकी मञ्जुल मूर्तिका ध्यान करते-करते ही उसने अनेकों दिन तथा रात्रियोंको बिताया था। वे ही घनश्याम आज समीप ही आ गये हैं और सङ्गकी सभी सहेलियाँ उस मनोहारिणी मूर्तिके दर्शनसे अपने नेत्रोंको सार्थक बनायेंगी। इस बातके स्मरणसे उसे ईर्ष्या-सी होने लगी। उसने भी जल्दी-जल्दी एक थाल सजाया।

उसके पतिने पूछा—'क्यों, कहाँकी तैयारी हो रही है?'

उसने सरलताके स्वरमें कहा—'सुन्दरताके सागर श्यामसुन्दरके दर्शनके लिये मैं सहेलियोंके साथ जाऊँगी।'

उसने कहा—'मैं भोजन जो कर रहा हूँ?'

उसने अत्यन्त ही विनय और स्नेहके स्वरमें कहा—'आप भोजन तो कर ही चुके हैं, अब मुझे जानेकी आज्ञा दीजिये। देखिये, मेरी सब सहेलियाँ आगे निकली जा रही हैं?'

क्रोधी ब्राह्मण एकदम अग्निशर्मा बन गये और कठोर स्वरमें बोले—'बड़ी उतावली लगी है! क्या धरा है वहाँ?'

उसने कहा—'वहाँ त्रिभुवनमोहन श्यामकी झाँकी है, मेरा मन बिना गये नहीं मानता।'

ब्राह्मण—'तब क्या तू बिना गये न मानेगी?'

उसने कहा—हाँ, मैं उन मदनमोहनके दर्शनके लिये अवश्य जाऊँगी।' क्रोधके स्वरमें ब्राह्मणने कहा—'न जाय तब?'

उसने दृढ़तासे कहा—'न कैसे जाऊँगी? जरूर जाऊँगी और सबसे आगे जाऊँगी। भला, जो मेरे प्राणोंके प्राण हैं, मनके मन हैं और आत्माके आत्मा हैं, उन सच्चे स्वामीके पास न जाऊँगी, तो क्या जगत्‌के झूठे—बनावटी सम्बन्धोंमें फँसी रहूँगी?'

ब्राह्मणने कहा—'तेरा स्वामी तो मैं ही हूँ। मुझे भी छोड़कर तेरा कोई दूसरा स्वामी है क्या?'

उसने कहा—'आप मेरे शरीरके स्वामी हैं, आत्माके प्रभु तो वे सारे जगत्‌के समस्त प्राणियोंके अधीश्वर—सर्वलोकमहेश्वर परमात्मा श्रीमदनमोहन ही हैं। उन्हीं सच्चे स्वामीके दर्शनसे आज इन नेत्रोंको सार्थक करूँगी।'

ब्राह्मण खाना-पीना भूल गये, उन्हें पत्नीपर बड़ा क्रोध आया। मुझे स्वामी न मानकर और मेरी उपेक्षा करके यह दूसरेके पास जाती है, इससे वे अभिमानी ब्राह्मण जल उठे। अत्यन्त ही हठके साथ उन्होंने क्रोध और दृढ़ताके स्वरमें कहा—'अच्छी बात है, देखता हूँ तू मेरी आज्ञाके बिना कैसे जाती है!'

उसने कहा—'आप व्यर्थ ही क्रोध करते हैं। मेरा-उनका ऐसा सम्बन्ध है कि कोई लाख प्रयत्न करे, मुझे उनके दर्शन करनेसे रोक नहीं सकता।'

ब्राह्मणने उसी स्वरमें कहा—'हाथ कंगनको आरसी क्या! देखना है, तू कैसे मदनमोहनके दर्शन करती है।' यह कहकर उन क्रोधी ब्राह्मणने पत्नीके हाथ-पैरोंको कसकर बाँध दिया और स्वयं उसके पास ही बैठ गया।

यज्ञपत्नीने दृढ़ताके स्वरमें कहा—'बस, इतना ही

करेंगे या और भी कुछ?'

उसने कहा—'और यह करूँगा कि जबतक वे सब लौटकर नहीं आयेंगी, तबतक यहीं बैठा-बैठा पहरा देता रहूँगा।'

उसने सूखी हँसी हँसकर कहा—'पहरेकी अब क्या आवश्यकता है। शरीरपर आपका अधिकार है, उसे आपने बाँध ही लिया। प्राण और आत्मा तो उन्हीं परमात्मा श्रीनन्दनन्दनके हैं, उनपर तो उन्हींका एकमात्र अधिकार है। शरीरसे न सही, तो मेरे प्राणोंके और आत्माके साथ उनका मेल होगा।' यह कहकर उसने आँखें मूँद लीं।

जिस सुन्दरी मालिनको मनमोहनने अपनाकर निहाल कर दिया था, अपना यथार्थ स्वरूप-ज्ञान करवाकर कृतार्थ कर दिया था, वही मालिन मथुरामें इन ब्राह्मणोंके घरोंमें फूल-माला देने जाया करती थी। वही प्रतिदिन जा-जाकर इन विप्रपत्नियोंके सामने श्यामसुन्दरके स्वरूप-सौन्दर्यका बखान किया करती। उसीके मुखसे इसने यशोदानन्दनके स्वरूपकी व्याख्या और प्रशंसा सुनी थी। उसने जिस प्रकार व्रजेन्द्रनन्दनके स्वरूपका वर्णन सुना था, उसी रूपका वह आँखें मूँद धीरे-धीरे ध्यान करने लगी।

ध्यानमें उसने देखा, नीलमणिके समान तो शरीरकी सुन्दर आभा है, भरे हुए गोल-गोल मुखके ऊपर काली-काली घुँघराली लटें लटक रही हैं। गलेमें सुन्दर फूलोंकी माला तथा कंठे आदि आभूषण पड़े हुए हैं। कमरमें सुन्दर पीली धोती बँधी है। कंधोंपर जरीका दुपट्टा फहरा रहा है। हाथमें छोटी-सी मुरली शोभायमान है। ऐसे मन्द-मन्द मुसकराते हुए श्यामसुन्दर अत्यन्त ही ममताके साथ देखते हुए मेरी ओर आ रहे हैं। उन्हें देखते ही ब्राह्मणीका श्वास रुक गया। उसके नेत्रोंके दोनों कोरोंमेंसे अश्रु ढलक पड़े। मुख्य प्राण उसके शरीरसे निकलकर प्रियतमके शरीरमें समा गये। ब्राह्मणीका वचन सत्य हुआ। उसकी आत्मा सबसे पहले श्यामसुन्दरके पास पहुँच गयी। ब्राह्मणने देखा उसकी पत्नीका प्राणहीन शरीर उसके पास पड़ा है। वह हाय-हाय करके अपने भाग्यको कोसने लगा।

हे प्राणोंके प्राण! हे सभीके प्रिय स्वामिन्! इस ब्राह्मणीकी-सी उत्कट अभिलाषा और ऐसी एकाग्रता कभी इस प्रेमहीन जीवनमें भी एक-आध क्षणके लिये हो सकेगी क्या?
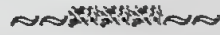
भक्तिकी परम आदर्श श्रीगोपीजन

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'उन गोपियोंका मन मेरा मन हो गया है; उनके प्राण, उनका जीवनसर्वस्व मैं ही हूँ। मेरे लिये उन्होंने अपने शरीरके सारे सम्बन्धोंको छोड़ दिया है। उन्होंने अपनी बुद्धिसे केवल मुझको ही अपना प्यारा, प्रियतम और आत्मा मान लिया है।'

कलिन्दनन्दिनी श्रीयमुनाजीके तटपर बृहद्वन नामका एक अतिशय सुन्दर वन था। इस वनमें एवं वनके पार्श्व-देशोंमें अनेकों व्रज बसे हुए थे। इन व्रजोंमें अगणित गोप निवास करते थे। प्रत्येक गोपके पास अपार गोधनकी सम्पत्ति थी। गोपालन ही इनकी एकमात्र जीविका थी। सब घरोंमें दूध-दधिकी धारा बहा करती। बड़े सुखसे इनका जीवन बीतता था। छल-कपट ये जानते ही नहीं थे। धर्ममें पूर्ण निष्ठा थी। इन्हीं गोपोंके घर श्रीगोपीजनोंका अवतरण हुआ था—विश्वमें श्रीकृष्णप्रेमका आदर्श स्थापित करनेके लिये, एक नवीन मार्ग दिखाकर त्रितापसे जलते हुए जगत्के प्राणियोंको और उधर परमहंस मुनिजनोंको भगवत्प्रेमसुधाकी धारासे सिक्त कर, उस प्रवाहमें बहाकर अचिन्त्य अनिर्वचनीय चिन्मय आनन्दमय लीलारससिन्धुमें सदाके लिये निमग्न कर देनेके लिये।

लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्वकी बात है, उपर्युक्त व्रजोंके गोपोंके एकच्छत्र अधिपति महाराज नन्दके पुत्ररूपमें यशोदा रानीके गर्भसे परब्रह्म पुरुषोत्तम गोलोकविहारी स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका अवतार हुआ। व्रजपुरकी वसुन्धरापर यशोदानन्दनकी विश्वमोहिनी लीला प्रसरित हुई। सबको अपने सौभाग्यका परम फल प्राप्त होने

लगा। इनमें सर्वप्रथम अवसर मिला वहाँकी वात्सल्यवती गोपियोंको। इन व्रजोंमें जितनी पुत्रवती गोपियाँ थीं, सबने अखिल ब्रह्माण्डनायक यशोदानन्दनको अपने अङ्कमें धारण किया, वे उन्हें अपना स्तनदुग्ध पिलाकर कृतार्थ हुईं। योगीन्द्र-मुनीन्द्रगण अपने ध्यानपथमें भी जिनका स्पर्श पा लेनेके लिये सदा लालायित रहते हैं, उन अनन्तैश्वर्यनिकेतन महामहेश्वरको, अपने विशुद्ध वात्सल्यमय प्रेमकी भेंट चढ़ाकर इन गोपियोंने—मानो वे उनके ही हाथकी कठपुतली हों—इस रूपमें पाया। सर्वेश्वरकी वह प्रेमाधीनता, भक्तवश्यता देखने ही योग्य थी—

देत करताल वे लाल गोपाल सों
पकर ब्रजबाल कपि ज्यों नचावैं॥
कोउ कहै ललन पकराव मोहि पाँवरी,
कोउ कहै लाल बलि लाऔ पीढ़ी।
कोउ कहै ललन गहाव मोहि सोहनी,
कोऊ कहै लाल चढ़ि जाउ सीढ़ी॥
कोउ कहै ललन देखौ मोर कैसे नचैं,
कोउ कहै भ्रमर कैसे गुँजारैं।
कोउ कहै पौर लगि दौर आऔ लाल!
रीझ मोतीन के हारु वारैं॥
जो कछु कहैं ब्रजबधू सोइ सोइ करत,
तोतरे बैन बोलन सुहावैं।
रोय परत बस्तु जब भारी न उठै तबै,
चूम मुख जननी उर सौं लगावैं॥
दन कहि लौनी पुनि चाहि रहत बदन,
हँस स्वभुज बीच लै लै कलोलैं।
धाम के काम ब्रजबाम सब भूल रहीं,
कान्ह बलराम के संग डोलैं॥
सुर गिरिधरन मधु चरित मधु पान कै,
और अमृत कछू आन लागै।
और सुख रंक की कौन इच्छा करै,
मुक्तिहू लौन सी खारी लागै॥

किंतु इन वात्सल्यवती गोपिकाओंकी अपेक्षा भी निर्मलतर, निर्मलतम प्रेमका निदर्शन व्यक्त हुआ मधुरभावसे श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति आत्मनिवेदन, सर्वसमर्पण करनेवाली श्रीगोपीजनोंमें। व्रजकी इन गोपकुमारिकाओंका, गोपसुन्दरियोंका श्रीकृष्णप्रेम जगत्के अनादि इतिहासमें सर्वथा अप्रतिम बना रहेगा। प्रेमकी जैसी अनन्यता इनमें हुई और फिर सर्वथा निर्बाध भगवत्सेवाका जो अधिकार इन्हें प्राप्त हुआ, वह अन्यत्र कहीं है ही नहीं।

उस समयकी बात है जब व्रजराजकुमार रेंगते हुए अपने आँगनमें खेल रहे थे। कुछ बड़ी आयुकी गोपकुमारिकाएँ भी अपनी जननियोंके साथ नन्दभवनमें इन्हें देखने आया करतीं। सब-की-सब सरलमति बालिकाएँ थीं, पर श्रीकृष्णचन्द्रके महामरकत-श्यामल अङ्गोंपर दृष्टि पड़ते ही इनकी दशा विचित्र हो जाती। ये ऐसी निष्पन्द हो जातीं मानो सचमुच कनकपुत्तलिका ही हों। न जाने, इनकी समस्त शैशवोचित चञ्चलता उस समय कहाँ चली जाती। जो गोपबालक थे, वे जब श्रीकृष्णचन्द्रके समीप आते, उनकी माताएँ जब उन्हें नीलसुन्दरके पास लातीं, तब वे तो अतिशय उल्लासमें भरकर किलकने लगते, अत्यन्त चञ्चल हो उठते। पर उनसे सर्वथा विपरीत दशा इन बालिकाओंकी होती, वे विचित्र गम्भीर हो जातीं। केवल इनकी ही नहीं; जो बहुत छोटी थीं, अथवा श्रीकृष्णचन्द्रकी समवयस्का या उनसे कुछ मास बड़ी थीं, उनकी भी यही दशा होती। वृद्धा गोपिकाएँ स्पष्ट देखतीं—'यह सुकुमार कलिका-सी नन्हीं बालिका—जिसे जन्मे एक वर्ष भी पूरा नहीं हुआ है, उसने देखा यशोदाके नीलमणिकी ओर केवल आधे क्षणभर ही, और बस, माताकी गोदमें वह सर्वथा स्थिर हो गयी, उसके नेत्रोंका स्पन्दन भी रुद्ध हो गया।' माताएँ एक बार तो आश्चर्य करने लगतीं। पर फिर तुरंत ही उनका समाधान हो जाता—'इस साँवरे शिशुका रूप ही ऐसा है—जडमें विकृति हो जाती है, ये तो चेतन हैं।' उन माताओंको क्या पता कि ये समस्त बालिकाएँ व्रजमें जन्मी ही हैं श्रीकृष्णचन्द्रके लिये। वे नहीं जानतीं कि ये नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र ही त्रेताके दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र हैं। कोशलपुरसे ये मिथिला पधारे थे। श्रीजनकनन्दिनीका स्वयंवर था। धनुर्भङ्गके अनन्तर श्रीवैदेहीने जयमाला राघवेन्द्रके गलेमें डाली। रघुकुलचन्द्रका विवाह सम्पन्न हुआ। उस समय मिथिलाकी पुरन्ध्रियाँ उनका कोटि-मदन-सुन्दर रूप देखकर विमोहित हो गयीं। प्राणोंमें

उत्कण्ठा जाग उठी—'आह, हमारे पति ये होते!' किंतु सर्वसमर्थ श्रीराघव उस समय तो मर्यादापुरुषोत्तम थे। इसीलिये सत्यसङ्कल्प प्रभुने यही वरदान दिया—'देवियो! शोक मत करो, '**मा शोकं कुरुत स्त्रियः**'; द्वापरके अन्तमें तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा—

द्वापरान्ते करिष्यामि भवतीनां मनोरथम्।

परा श्रद्धा एवं भक्तिके द्वारा तुम सब व्रजमें गोपी बनोगी—

श्रद्धया परया भक्त्या व्रजे गोप्यो भविष्यथ।

उसीके परिणामस्वरूप वे मिथिलाकी ललनाएँ ही बालिकाएँ बनकर उनके घर पधारी हैं, श्रीकृष्णचन्द्रके चारु पादपद्मोंमें न्यौछावर होनेके लिये ही आयी हैं—भला, इस रहस्यको वे वृद्धा भोली गोपिकाएँ क्या जानें? इसके अतिरिक्त कोशल देशकी ओर लौटते हुए दूल्हा श्रीरामको देखकर न जाने कितनी पुर-रमणियाँ विमोहित हुईं और अशेषदर्शी कोशलेन्द्रनन्दनने उन्हें भी यह मूक स्वीकृति दी थी—'**व्रजे गोप्यो भविष्यथ।**' अपने वनवासी रूपके दर्शनसे मुग्ध हुए दण्डकारण्यके ऋषियोंको भी उन्होंने द्वापरके अन्तमें गोपी बननेका वरदान दिया था। प्रजारञ्जनका पवित्र आदर्श रखते हुए राजा रामचन्द्रने अपनी प्राणप्रिया श्रीजानकीका—उनके सर्वथा नित्य पवित्र रहनेपर भी—परित्याग किया। तथा फिर जब-जब वे यज्ञ करने बैठे, तब-तब प्रत्येक यज्ञमें ही उनकी अर्द्धाङ्गिनीके स्थानपर स्वर्णनिर्मित सीता विराजतीं। सर्वेश्वरकी मायाका क्या कहना है—एक दिन वे अगणित स्वर्णसीता-मूर्तियाँ चैतन्यघन बन गयीं और सबके लिये राघवेन्द्रके मुखसे यह वरदान घोषित हुआ था—'तुम सभी पुण्य वृन्दावनमें गोपी बनोगी, मैं तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करूँगा।' रुचिपुत्र श्रीयज्ञभगवान्‌के सौन्दर्यसे विमोहित हुई देवाङ्गनाओंने तपस्या करके, परमा भक्तिसे श्रीहरिको संतुष्टकर गोपी बननेका अधिकार पाया था। श्रुतियोंको गोपी बननेका वरदान मिला था। न जाने किन-किनने श्रीहरिके विभिन्न अवतारोंके द्वारा प्रत्यक्ष या मूक 'एवमस्तु' का वरदान पाकर द्वापरके शेषकालमें गोपीपदका सौभाग्य लाभ किया था। प्रपञ्चगत कितने बड़भागी जीवोंने, बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंने, साक्षात् ब्रह्मविद्या आदिने शत-सहस्र जन्मोंकी उपासनासे जगदीश्वरकी कृपा प्राप्त की थी और उनके मुखसे निर्गत 'तथास्तु' का बल लेकर व्रजकी गोपी बननेके अधिकारी हुए थे। इन सबकी गणना किसके पास है? एकमात्र श्रीकृष्णचन्द्रकी अचिन्त्यलीला-महाशक्तिको ही इसका पूर्ण विवरण ज्ञात रहता है। व्रजकी सीधी-सादी वृद्धा गोपियोंको इस रहस्यका क्या पता। इतना ही नहीं, वे बेचारी नहीं जानतीं कि स्वयं गोलोकविहारी ही व्रजमें पधारे हैं। और जब वे आये हैं, तब गोलोकविहारिणी भी आयी ही होंगी, उनके नित्य परिकरोंका भी अवतरण अवश्य हुआ होगा। धराका दुःसह दैत्यभारसे पीड़ित होना, विधाताके समीप जाकर अपना दुःख निवेदन करना, ब्रह्माका जगन्नाथकी स्तुति करना, परमपुरुषके अवतरणका संदेश प्राप्त करना, परमपुरुषकी प्राणप्रियाकी सेवाके लिये सुरवनिताओंके प्रति भूतलपर उत्पन्न होनेका आदेश होना—यह कथा इन आभीर-गोपिकाओंने सुनी नहीं है। इसलिये वे कल्पना ही नहीं कर सकतीं कि इन गोपबालिकाओंके रूपमें नित्यलीलाके महामहिम परिकर हैं, अपने स्वामीकी भुवनपावनी लीलामें योगदान करने आये हैं; देवाङ्गनाएँ हैं, श्रुतिगण हैं, प्रपञ्चके अगणित सौभाग्यशाली साधनसिद्ध प्राणी हैं, जो यहाँ गोपी बनकर कृतार्थ होने आये हैं। वे स्वयं कौन हैं, यही उन्हें पता नहीं है। फिर अपनी पुत्रियों—इन गोप-बालिकाओंके सम्बन्धमें वे कैसे जानें। श्रीकृष्णचन्द्रकी अघटन-घटना-पटीयसी योगमायाकी यवनिकाकी ओटमें क्या है, इसे कोई जान नहीं सकता। स्मृतिका जितना अंश लीलारस-पोषणके लिये आवश्यक होता है, उतने अंशपरसे योगमाया आवरण हटा लेती है; शेष भाग पूर्णतया आवृत ही रहता है। यही कारण है कि यशोदानन्दनको देखते ही इन नन्हीं-सी बालिकाओंकी, अथवा किञ्चित्-वयस्का गोपकुमारिकाओंकी दशा ऐसी क्यों हो जाती है, इसका वास्तविक रहस्य वे वृद्धा गोपियाँ नहीं जान सकती थीं।

दिन बीतते क्या देर लगती है। जो वयस्का गोपकुमारिकाएँ थीं, वे ब्याहके योग्य हो गयीं। गोपोंने इन विभिन्न व्रजोंमें अच्छे घर-वर देखकर उनका ब्याह किया। विवाहके सभी संस्कार विधिवत् सम्पन्न हुए,

भाँवरें फिरीं। पर आदिसे अन्ततक एक अतिशय आश्चर्यमयी घटना उन दुलहिन बनी हुई गोपबालिकाओंकी आँखोंके सामने घटित हो रही थी। इसे और तो किसीने नहीं देखा; पर बालिका स्पष्टरूपसे अनुभव कर रही थी, वरके—उसके भावी पतिके अणु-अणुमें नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र समाये हुए हैं, उसके साथ भाँवरें नन्दनन्दनने ही दी हैं, उसका पाणिग्रहण श्रीकृष्णचन्द्रने किया है। वह स्वप्न देख रही है, या जाग्रत्‌में ही सचमुच ऐसा हो रहा है—वह कुछ समझ नहीं पाती थी। उसका रोम-रोम एक अनिर्वचनीय आनन्दमें परिप्लुत हो रहा था। भ्रान्त-सी हुई वह अपने ब्याहकी विधि देखती जा रही थी। जिसके साथ उसने अपनी सगाईकी बात सुन रखी थी, वह वर क्षणभरके लिये भी उसके दृष्टिपथमें न आया। अञ्चलकी ओटमें विस्फारित नेत्रोंसे वह एकत्रित समुदायकी ओर कभी देखती, पर कुछ भी निर्णय नहीं कर पाती। निर्णय कर लेना उसके वशकी बात ही नहीं है। वास्तवमें तो बात यह है—गोपी न तो स्वप्न देख रही थी, न उसे मतिभ्रम हुआ था। वह सर्वथा सत्यका ही दर्शन कर रही थी। सचमुच श्रीकृष्णचन्द्रने ही उसका पाणिग्रहण किया था। जो एकमात्र उनकी ही हो चुकी हैं, उनके लिये ही व्रजमें आयी हैं, उन्हें परपुरुष स्पर्श भी कैसे कर सकता है। यह तो लीलारसकी वृद्धिके लिये विवाहका अभिनय था। इसका नियन्त्रण कर रही थीं श्रीकृष्णचन्द्रकी अचिन्त्यमहाशक्ति योगमाया। लोकदृष्टिमें यह प्रतीति हुई कि अमुक गोपबालाका अमुक गोपबालकके साथ विवाह हुआ। पर सनातन सत्य सिद्धान्त है—व्रजसुन्दरियोंका कभी क्षणभरके लिये भी मायिक पतियोंसे मिलन होता ही नहीं—

'न जातु व्रजदेवीनां पतिभिः सह सङ्गमः।'

एक कालमें एक ही स्थानपर सत्यको आवृत कर योगमाया किसे कब प्रतीति करा देंगी, इसे वे ही जानती हैं। गोपबालाने अभी-अभी सत्यको प्रत्यक्ष देखा है; किंतु पुनः उसकी स्मृतिमें आगे कितना उलट-फेर वे करती रहेंगी और परिणामस्वरूप उसका श्रीकृष्णप्रेम उत्तरोत्तर कितना निखरता जायगा—इसकी इयत्ता नहीं है। जो हो, प्रायः प्रत्येक विवाहमें ही दुलहिन गोपीको औरोंकी प्रतीतिसे सर्वथा विरुद्ध उपर्युक्त अनुभूति ही हुई। और जहाँ ऐसी अनुभूति नहीं हुई, वहाँ आगे चलकर श्रीकृष्णमिलनमें, भगवत्पादपद्मोंके स्पर्शमें किञ्चित् व्यवधान हो ही गया। उन-उन व्रजसुन्दरियोंको श्रीकृष्णचन्द्रकी चरणसेवा मिली अवश्य; पर इस देहसे नहीं—इस देहको छोड़ देनेके अनन्तर।

जो गोपकुमारिकाएँ श्रीकृष्णचन्द्रकी समवयस्का थीं या उनसे कुछ ही छोटी या बड़ी थीं—उनके लिये एक दूसरी ही बात हुई। समस्त व्रज बृहद्वनसे उठकर वृन्दावन चला आया और वहाँ श्रीकृष्णचन्द्रकी वत्सचारणलीला आरम्भ हुई। फिर उनकी आयुका चौथा वर्ष आरम्भ होनेपर शरद् ऋतुमें ब्रह्माने समस्त गोवत्स एवं गोपशिशुओंका अपहरण किया। एक वर्षके लिये स्वयं श्रीकृष्णचन्द्र ही विभिन्न व्रजोंके असंख्य बालक एवं गोवत्सोंका रूप धारणकर लीला करते रहे। किसी व्रजवासी गोपको गन्धतक न मिली कि उनके पुत्र तो ब्रह्माकी मायासे मुग्ध होकर कहीं अन्यत्र पड़े हैं और नन्दनन्दन ही उनकी सन्तानके रूपमें खेल रहे हैं। इसी बीचमें योगमायाकी प्रेरणासे सबने अपनी कन्याओंकी सगाई की। धर्मकी साक्षी देकर सबने व्रजबालक बने हुए श्रीकृष्णचन्द्रको ही अपनी कन्या देनेका वचन दे डाला। सबके अनजानमें ही श्रीकृष्णचन्द्र उन समस्त गोपकुमारिकाओंके भावी पति बन गये।

इस प्रकार गोपसुन्दरियोंके, गोपकुमारिकाओंके श्रीकृष्णसेवाधिकार प्राप्त होनेकी भूमिका प्रस्तुत हुई। और जब नन्दनन्दनको आठवाँ वर्ष लगा एवं लगभग एक मास और बीत गया; वृन्दावनमें शरद्‌की शोभा विकसित होने लगी, तब श्रीगोपीजनोंमें श्रीकृष्णमिलनकी उत्कण्ठा (पूर्वराग) जगानेका कार्य भी सम्पन्न हो गया। अवश्य ही एक प्रकारसे नहीं। स्वेच्छामय श्रीकृष्णचन्द्रने श्रीगोपीजनोंके प्रेमविवर्धनके लिये जहाँ जो पद्धति उपयुक्त थी, उसीको अपनाया। उनके पौगण्डवयःश्रित श्यामल अङ्गोंके अन्तरालसे कैशोर झाँक-सा रहा था। और सच तो यह है कि वे तो नित्यकिशोर हैं। इसी कैशोर रूपकी आवश्यकता थी श्रीगोपीजनोंकी आँखोंके लिये, उनके प्रेमोपहारको ग्रहण करनेके लिये। इसीलिये

वह उनके समक्ष व्यक्त होने लगा। और फिर एक दिन गूँज उठी वंशीध्वनि। इससे पूर्व भी वंशीका स्वर व्रज-सुन्दरियोंने सुना अवश्य था। पर आजकी तान निराली थी। कर्णरन्ध्रोंमें प्रवेश करते ही गोपसुन्दरियोंकी दशा कुछ-की-कुछ हो गयी—

ललना गन अंग अनंग तये। कर तान सरासन बान हये॥
इक मूर्छि गिरी न सम्हार तहाँ। उर माँझ मनोभव पीर महाँ॥
इक आनन चंद लखै ललकै। दृग चाहि चकोर लगै चलकै॥
इक तान बिंधी दृग कौं बरखै। इक चालन सीस करैं हरखै॥
इक रूप अमी धर ध्यान रही। इक चित्र लिखी इमि भोइ गई॥

वे सचमुच ही क्षणोंमें ही सर्वथा बदल गयीं। हृदयका सञ्चित श्रीकृष्ण-प्रेम उमड़ा और उसके प्रवाहमें उनके प्राण, मन, इन्द्रियाँ, शरीर—सभी बह चले। योगमायाने इस अवसरपर भी अपने अञ्चलकी किञ्चित् छाया-सी डाल दी। गोपसुन्दरियोंकी स्मृतिका कुछ अंश ढक गया और वे सोचने लगीं, अनुभव करने लगीं कि इससे पूर्व उन्होंने कभी श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शन नहीं किये, कभी वंशीकी यह अमृतधारा कर्णपथमें आयी ही नहीं। प्रथम बार श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शन हुए हैं, प्रथम बार वंशीसे झरते हुए पीयूषका वे पान कर सकी हैं। कितनी तो यह भी भूल गयीं कि यह श्यामवर्ण सौन्दर्यनिधि बालक कौन हैं और परस्पर एक-दूसरीसे परिचय पूछने लगीं—'री बहिन! ये किनके पुत्र हैं?'

गोपसुन्दरियोंके लिये श्रीकृष्णचन्द्रके अतिरिक्त अब अन्य कुछ रहा ही नहीं। वे मन-ही-मन नन्दनन्दनपर न्योछावर हो गयीं। घर, माता-पिता, भाई-बन्धु, पति, सगे-सम्बन्धी—सबकी ममता सिमटकर श्रीकृष्णचन्द्रमें केन्द्रित हो गयी। अब वे अन्यमनस्क-सी रहने लगीं। निरन्तर उनके नेत्र सजल रहने लगे। प्राणोंमें एक विचित्र व्यथा थी, जिसे वे प्रकट भी नहीं कर पाती थीं, सह भी नहीं सकती थीं। श्रीकृष्णदर्शनके लिये सतत व्याकुल रहतीं। प्रातः एवं सायं अपने द्वारपर खड़ी हो जातीं। वन जाते हुए, व्रज लौटते हुए श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शन जहाँ जिस स्थानसे हो सकते, वहीं वे चली जातीं। गृहकार्य पड़ा रहता। गुरुजन खीझते, झल्लाते, समझाते; किंतु सिर नीचा कर लेनेके अतिरिक्त वे और कोई उत्तर न देतीं। कितनोंके अङ्ग पीले पड़ गये। अभिभावकोंने समझा ये रुग्ण हो गयी हैं। उनके लिये वैद्य बुलाये गये। वैद्योंने बताया—किसी गहरी चिन्ताके कारण इनकी ऐसी अवस्था हो गयी है। पर क्या चिन्ता है—यह किसीको पता नहीं लग सका। भाव बढ़ते-बढ़ते यह दशा हुई कि उनके द्वारा गृहकार्य होना सर्वथा असम्भव हो गया। वे करें तो क्या करें। उनके नेत्रोंमें, मनमें श्रीकृष्णचन्द्र समा गये थे। सचेत करनेपर वे कार्यभार सँभालने अवश्य चलतीं, पर ज्यों चलतीं कि दीखता, आगे-पीछे दाहिने-बाँयें—चारों ओरसे हमें घेरकर श्रीकृष्णचन्द्र साथ चल रहे हैं। झाड़ू देने चलती, तो प्रतीत होता झाड़ूके कण-कणमें श्रीकृष्णचन्द्र समाये हुए हैं। दहीके भाँडमें, मन्थन-डोरीमें, मथानीमें श्रीकृष्णचन्द्र खड़े हँसते दीखते। वे कैसे दही बिलोयें? बर्तन माँजने जातीं, उनके कङ्कणसे झन्-झन् शब्द होता और उन्हें अनुभव होने लगता—श्रीकृष्णचन्द्रके नूपुरकी रुनझुन-रुनझुन ध्वनि है। वे चकित नेत्रोंसे द्वारकी ओर देखने लगतीं और उन्हें यही भान होता—'वह देखो, द्वारपर वे खड़े हैं।' दीपक सँजोकर वे दीपदान करने चलतीं, पर दीपककी लौमें श्रीकृष्णचन्द्र नाचते दीखते और दीपक हाथसे गिर जाता। चलते-फिरते, सोते-जागते किसी ओर भी दृष्टि फेरते समय श्रीकृष्णचन्द्र उनके सामने निरन्तर बने रहते थे। इस परिस्थितिमें घरके काम कैसे हों। कितनी तो उन्मत्तप्राय हो गयीं। सिरपर दहीका माट लिये वे आतीं नन्दव्रजमें दही बेचने और 'दही लो' के बदले पुकार उठतीं 'श्रीकृष्ण लो!' 'श्रीकृष्ण लो।' लोग चकित नेत्रोंसे देखते और वे बावरी-सी इस वीथीसे उस वीथीमें फिरती रहतीं। जिनका बाह्य-ज्ञान लुप्त नहीं हुआ था एवं हृदयमें निरन्तर श्रीकृष्णकी स्फूर्ति रहनेपर भी किसी प्रकार अपनेको सँभालनेमें समर्थ थीं, उनका कार्य रह गया था—केवल श्रीकृष्णनामका गान—पनघटपर, यमुना-तटपर, गोष्ठमें, व्रजपुरकी गलियोंमें, हाटमें मिलकर परस्पर-एक दूसरीके प्रति अपने प्राणवल्लभ श्रीकृष्णचन्द्रके सम्बन्धकी चर्चा करते रहना—

हे सखि सुनु यह बचन अनूपा। नयनवंत कहँ यह फल रूपा॥
नंदसुअन दरसन तें आना। अपर लाभ कछु मैं नहिं जाना॥

अपर कहत यह बात, अति बिचित्र लखु वेष बर।
ठाढ़े ये दोउ भ्रात, गोप भाग महँ सुभग अति॥
द्वै नटवर सुभ बेष, गावत सुभग सुराग बर।
अस मैं कबहुँ न पेख, गौर स्याम सखि लसत जुग॥
हे सखि यह बंसी बड़भागी। कौन सुकृत इन किय अनुरागी॥
दामोदर अधराधर लागी। रहत निरंतर छन नहिं त्यागी॥
अपर कहै सुनु सखी सयानी। यह बृंदाबन भू सुखदानी॥
स्वर्गहुतें अति सुभग सुहानी। कीरति बिसद भई जग जानी॥
नंदसुअन पद अंकित गाता। अति बिचित्र सब कहँ सुख दाता॥
गिरि के चहुँ दिसि जीव गन, नचत देखि गन मोर।
रहे थकित ह्वै तजि क्रिया, निरखत नंदकिसोर॥
अस सुख अपर लोक नहिं देखा। एहि तें यह छिति सुखद बिसेषा॥

× × ×

हे सखि! दिखि इहि बनकी हरिनी। जदपि मूढ़मति इनकी बरनी॥
बेनु नाद सुनि अति सचु पावति। पतिन सहित चलि हरि पै आवति॥
सुंदर नंद कुँवर बर बेषा। निरखत लगत न नैन निमेषा॥
प्रेम सहित अवलोकति दूजे। आदर सहित हरिहि जनु पूजे॥
हे सखि! अवर चित्र इक चहौ। गगन मैं सुरबनिता किन लहौ॥
बैठी जदपि बिमानन महियाँ। अपने पतिन सौं दै गरबहियाँ॥
दृष्टि परे साँवरे अनूपा। निपटहिं बनिता उत्सव रूपा॥
पुनि सुनि बेनु गीत गति नई। कल नहिं परत बिकल ह्वै गई॥
हे सखि! देवबधुन की रहौ। तुम इन गाइन तन किन चहौ॥
हरि मुख तैं जु स्त्रवत है बाल। बेनु गीत पीयूष रसाल॥
श्रवन उठाइ पिवत हैं ऐसें। नैंक कहूँ छरि जाइ न जैसें॥
हे सखि! बन बिहंग किन हेरौ। सुनत जु बेनु गीत पिय केरौ॥
बैठे रुचिर द्रुमन की डारैं। इकटक मोहन बदन निहारैं॥
हे सखि! चेतन जन की रहौ। ये जु अचेतन ते किन चहौ॥
बेनु गीत सुनि सरिता जिती। उमगि मनोभव बिथकित तिती॥
बन में बल अरु सुंदर स्याम। पसु चारत, परसत दिखि घाम॥
निरखहु सजनि मेह कौ नेह। छत्र करि लियौ अपनौ देह॥
देखौ सखी गोबर्धन कहियाँ। परम श्रेष्ठ हरिदासन महियाँ॥
रामकृष्न पद परसन करि के। रह्यौ जु अति आनंदहि भरि के॥
हे सखि गिरि गोधन की रहौ। सुंदर नंदकुँअर तन चहौ॥
अद्भुत गोपबेष बर करैं। सेली कंध सु मनि मन हरैं॥
ठाढ़े गाइ गहन के काज। किए फिरत ग्वालन कौ साज॥
तैसिय रूप माधुरी सरसै। रंग रली मुरली मधु बरसै॥
ता करि हरे सबन के हिए। चर कीने थिर, थिर चर किए॥

इन गोपिकाओंमें न रही थी लज्जा और न रहा था कोई भय। ये निश्चय कर चुकी थीं—

हौं तो चरन कमल लपटानी जो भावै सो होय री।

× × ×

जो मेरौ यह लोक जायेगो औ परलोक नसाय री।
नंदनंदन को तऊ न छाँड़ू, मिलूँगी निसान बजाय री॥

× × ×

परमानँद स्वामी के ऊपर सर्बस डारों वार री।

दिन-रात श्रीकृष्णचिन्तन, श्रीकृष्णचरित्रकी चर्चा करती रहकर वे तन्मय हो गयीं—

वर्णयन्त्यो मिथो गोप्यः क्रीडास्तन्मयतां ययुः॥

(श्रीमद्भा० १०। २१। २०)

उन गोपकुमारियोंकी दशा भी विचित्र थी। ये प्रायः श्रीकृष्णचन्द्रके समान वयकी ही थीं। किंतु जैसे नन्दनन्दन कैशोर शोभासे मण्डित हो चुके थे, वैसे ही इनके शैशवकी ओरसे नवयौवन व्यक्त होनेकी प्रस्तावना कर रहा था। सब-की-सब अविवाहिता थीं। इन सबने देखा व्रजराजतनयकी उस सौन्दर्यराशिको; इनके प्राण, मनमें भी वह रूप समा गया। फिर तो आराधना आरम्भ हुई नन्दनन्दनको पतिरूपमें पानेके लिये। हेमन्तके प्रथम मासमें दल-की-दल ये श्रीयमुनाके तटपर अरुणोदयसे पूर्व एकत्र हो जातीं। परस्परका स्नेह भी अद्भुत ही था। एक-दूसरीका हाथ पकड़े उच्चकण्ठसे श्रीकृष्णचन्द्रकी लीलाका गान करती चलतीं। स्नान करके जलके समीप भगवती कात्यायनी महामाया देवीकी बालुकामयी प्रतिमा बनाकर विविध उपचारोंसे पूजा करतीं और अन्तस्तलकी श्रद्धासे प्रार्थना करतीं—'माता! नन्दनन्दनको हमारा पति बना दो, हम तुम्हें नमस्कार कर रही हैं—**'नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः।'** एक मासतक निर्बाध यह व्रत चलता रहा। योगेश्वरेश्वर श्रीकृष्णचन्द्रका हृदय द्रवित हो उठा इनकी यह अतुलनीय लगन देखकर। चराचरके अधीश्वर, सर्वव्यापक, अन्तर्यामी, विश्वात्मा, व्रजराजनन्दन स्वयं पधारे उनके व्रतको सफल करनेके लिये। चीरहरण—श्रीकृष्णमिलनमें बाधक समस्त आवरणोंको दूर कर देनेकी पवित्रतम लीला सम्पन्न हुई। आज इन

गोपकुमारिकाओंका सर्वस्व-समर्पण-संस्कार पूर्ण हुआ स्वयं अखिलात्मा महामहेश्वर—उनके ही प्रियतम प्राणवल्लभ व्रजराज-दुलारेके हाथ सेवाधिकारप्राप्तिका वचन पाकर वे कृतार्थ हुईं। प्राणोंमें गूँज उठा श्रीकृष्णचन्द्रके द्वारा दिया हुआ उस समयका यह वरदान—'देखो, आगामी शारदीय रात्रियोंमें तुम सब मेरे साथ रमण करोगी—मेरे स्वरूपानन्दका निर्बाध उपभोग, मेरी सेवाका सुख पाओगी **'मयेमा रंस्यथ क्षपाः।'**

इसके दूसरे वर्ष शारदीय पूर्णिमाकी उज्ज्वल रात्रिमें गोपसुन्दरियोंका, गोपकुमारिकाओंका महारासके लिये आह्वान हुआ। इनकी मिलनोत्कण्ठा चरम सीमाको स्पर्श करने लगी थी। ठीक उसी समय श्रीकृष्णचन्द्रकी वंशी पुनः बज उठी। आज इस समयकी ध्वनि प्रविष्ट भी हुई केवल उनके ही कानोंमें। ध्वनि पुकार रही थी उन्हें ही—उनके नाम ले-लेकर। उनका मन तो श्रीकृष्णचन्द्रके पास था ही। शरीरमें मनकी छायामात्र थी। वह भी आज ध्वनिके साथ ही चली गयी और तब दौड़ीं उस स्वरके पीछे-पीछे सब-की-सब गोपबालाएँ। जो जहाँ जिस अवस्थामें थी, वह वहींसे वैसे ही दौड़ पड़ी। दूध दुहना बीचमें ही रह गया; दुग्धपूर्ण पात्र, सिद्ध हुए भोज्य अन्न चूल्हेपर ही रह गये; भोजन परोसनेका कार्य जितना हो चुका था, उतना ही रह गया; घरके शिशुओंका संलालन, अपने पतियोंकी सेवा धरी रही; अपने सामने भोजनके लिये परसी हुई थाली पड़ी ही रह गयी; अपने शरीरमें अङ्गरागलेपनकी, अङ्ग-मार्जनकी, नेत्रोंमें अञ्जनदानकी क्रिया भी जितनी हो चुकी थी, उतनी ही रही; और वे सब कुछ छोड़कर, भूलकर चल पड़ीं श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर। कहाँ पहननेके वस्त्र कहाँ पहन लिये गये, किस अङ्गके आभूषण कहाँ धारण कर लिये गये—कितनी उलट-पुलट हो गयी है, कैसी विचित्र वेशभूषासे सज्जित होकर वे जा रही हैं, यह ज्ञान भी उन्हें नहीं। पति आदि गुरुजनोंने उन्हें रोकनेका कम प्रयास नहीं किया। पर वे तो चली ही गयीं; जा पहुँचीं श्रीकृष्णचन्द्रके चरणप्रान्तमें। हाँ, कुछ अवश्य रोक ली गयीं। पतियोंने द्वार बंद कर दिये; किंतु पतियोंका अधिकार, बल-प्रयोग शरीरपर ही था न? मन एवं प्राणपर तो नहीं? फिर विलम्ब क्यों? वे रुद्ध हुईं, विरहसे जलती गोपसुन्दरियाँ ध्यानस्थ हो गयीं। श्रीकृष्णचन्द्रके चरण उनके ध्यानपथमें उतर आये। और इधर टूटा उनका समस्त बन्धन। इस गुणमय देहको सदाके लिये छोड़कर वे भी जा खड़ी हुईं अपने प्रियतम प्राणवल्लभ श्रीकृष्णचन्द्रके अत्यन्त समीप **'जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः।'** उनके ये शरीर सचमुच पतिभुक्त हो चुके थे, श्रीकृष्णचन्द्रकी सेवाके अयोग्य थे। प्राकृतांश किञ्चित् अवशिष्ट था उनमें। इसीलिये उनका परित्याग करके ही श्रीकृष्णचन्द्रकी साक्षात् सेवा, सर्वथा निर्बाध परिपूर्ण सेवाका अधिकार वे पा सकीं।

उधर जो वंशीरवसे आकर्षित होकर राशि-राशि गोप-सुन्दरियाँ एकत्रित हुई थीं, उनकी पहले तो अत्यन्त कठिन प्रेम-परीक्षा हुई। पर इसमें वे सब-की-सब उत्तीर्ण हुईं। उनके परमोज्ज्वल भावके मूल्यमें विश्वात्मा उनके हाथों बिक गये। गोपसुन्दरियाँ श्रीकृष्णचन्द्रके हृदयसे लगकर कृतार्थ हो गयीं। उसी समय वियोगकी लीला भी हुई, श्रीकृष्णचन्द्र कुछ समयके लिये अन्तर्धान हुए और तब निखरा गोपसुन्दरियोंके प्रेमका रूप। श्रीकृष्णविरहमें उनके द्वारा घटित चेष्टाएँ, उनका श्रीकृष्णगान, प्रलाप, करुण-क्रन्दन—सभी सदा अद्वितीय ही रहेंगे। श्रीकृष्णचन्द्र कहीं गये थोड़े थे। वहीं थे, छिपकर प्रेमसुख ले रहे थे। वे उनके बीचमें ही मन्मथ-मन्मथरूपमें प्रकट हो गये। गोपसुन्दरियोंने उनके लिये अपने उत्तरीयका आसन बिछाया। स्नेहभारसे दबे हुए वे विराजे उसी ओढ़नीके आसनपर। कौन? वे विराजे, जिनके लिये अपने हृदयमें आसन बिछाकर योगेश्वर-मुनीश्वर प्रतीक्षा करते रहते हैं। जो हो, अपने दर्शनसे, प्रेमभरी वाणीसे श्रीकृष्णचन्द्रने सबके प्राण शीतल कर दिये। फिर महारास हुआ। इस प्रकार गोपसुन्दरियोंके सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण हुए। आदिसे अन्ततक यह ऐसी विश्वपावन लीला हुई कि जिसे श्रद्धापूर्वक निरन्तर सुनकर, गाकर विश्वके प्राणी आज भी महा भयङ्कर हृद्रोग—काम-विकारसे त्राण पा लेते हैं।

दो वर्ष, कुछ महीनोंतक गोपीजन प्रतिदिन ही अतुलनीय परमानन्दरसका उपभोग करती रहीं। दिनके समय तो वे श्रीकृष्णभावनाके स्रोतमें अवगाहन करती

रहतीं एवं रात्रिके समय निमग्न हो जातीं रास-रस-सिन्धुमें। पर सहसा एक दिन उनकी एकमात्र निधि ही छिन गयी, श्रीकृष्णचन्द्र मथुरा चले गये। प्रियतमके विरहमें उनकी क्या दशा हुई—इसे कोई कैसे चित्रित करे। उनके अन्तरकी व्यथाको उन्हींके प्राणोंकी छायामें अपने प्राण मिलाकर कोई अतिशय बड़भागी अनुभव भले कर ले, अन्यथा वाणीमें तो वह आनेसे रही। बाह्य दशाके सम्बन्धमें वाणी संक्षेपमें इतना ही कह सकती है—उसके बाद गोपबालाओंने अपने केश नहीं सँवारे, उनकी वे सुचिक्कण काली घुँघराली अलकें—जिन्हें अखिलात्मा स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र स्पर्शकर प्रेमविह्वल हो जाते—उलझकर जटा-सी बनती गयीं। किसीने फिर गोपसुन्दरियोंके अधरोंपर पानकी लाली नहीं देखी, अङ्गोंपर उन्हें आभूषण धारण करते नहीं देखा। उनका शरीर क्षीण-क्षीणतर होता गया। मलिन वस्त्र धारण किये यमुनाके तटपर वन-वृक्षोंके नीचे गिरिराजके चरणप्रान्तमें—जहाँ-जहाँ श्रीकृष्णचन्द्रके चरण-चिह्नकी भावना होती, वहीं वे बैठी रहतीं। उनके नेत्र निरन्तर झरते रहते। पहले भी वेश-विन्यास ये अपने लिये तो करती नहीं थीं, करती थीं श्रीकृष्णचन्द्रके सुखके लिये। अपने अङ्गोंको सजानेके रूपमें इनके द्वारा विशुद्ध भगवत्सेवा होती थी। इनके इस सजे हुए रूपको देखकर श्रीकृष्णचन्द्र सुखी होते हैं, इसीलिये ये शृङ्गार धारण करती थीं। जब श्रीकृष्ण ही चले गये, तब फिर क्या सजना। यही काम और प्रेममें अन्तर है। 'काम चाहता है अपना सुख, अपनी इन्द्रियोंकी तृप्ति' और 'प्रेम चाहता है एकमात्र सबके नित्य प्रेमास्पदस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्रका सुख, अपने द्वारा वे सुखी हों।' श्रीगोपीजनोंमें आदिसे अन्ततक विशुद्ध प्रेमका प्रवाह है। इन्होंने श्रीकृष्णचन्द्रके लिये लोकधर्म—लोकाचारका त्याग किया; वेदधर्म—कर्माचरणको जलाञ्जलि दी; देहधर्म—क्षुत्-पिपासा आदिको भी सर्वथा भूलकर इनके साधनोंकी उपेक्षा कर दी; कौन क्या कहता है, इसकी परवा—लज्जा छोड़ दी। और तो क्या, ये सत्कुलरमणी थीं, आर्यपथमें पूर्ण प्रतिष्ठित थीं, यह इनके लिये दुस्त्यज था, इसे भी इन्होंने श्रीकृष्णचन्द्रके लिये छोड़ दिया; आत्मीय स्वजनोंका भी परित्याग किया; उनके द्वारा की हुई समस्त ताड़नाकी, भर्त्सनाकी भी उपेक्षा कर दी। अपने सुखके सभी साधनोंको विसर्जनकर इन्होंने श्रीकृष्णचन्द्रसे प्रेम किया। अपने सुखकी वासना, हम श्रीकृष्णसे सुखी हों—यह वृत्ति कभी इनमें जागी ही नहीं। इसीलिये ये श्रीकृष्णचन्द्रके लिये निरन्तर तड़पती रहीं, पर इतना निकट होनेपर भी वे कभी मधुपुरी नहीं गयीं। क्या पता, हमारे जानेसे प्रियतमके सुखमें व्याघात हो—इस भावनाने कभी उन्हें वृन्दावनकी सीमासे पार नहीं जाने दिया। इसीको कहते हैं वास्तविक श्रीकृष्णप्रेम। इनके इस निर्मलतम प्रेममें कहीं कामकी गन्ध भी नहीं है। श्रीकृष्ण-सुखके लिये ही इनका श्रीकृष्ण-सम्बन्ध है।

कुछ दिन पश्चात् श्रीकृष्णचन्द्रके भेंजे हुए उद्धव आये इन्हें सान्त्वना देने। बड़े ही तत्त्वज्ञानी थे उद्धव, पर आकर डूब गये वे व्रजसुन्दरियोंके प्रेमपयोधिमें—

उमग्यौ ज्यों तहँ सलिल, सिंधु लतन की धारन।
भीजत अंबुज नीर, कंचुकी भूषन हारन॥
ताही प्रेम प्रबाह मैं, ऊधौ चले बहाय।
भले ग्यान की मैंड हौं, व्रज मैं प्रगट्यौ आय॥
कूलके त्रन भए॥

उद्धव चाहने लगे—'किसी प्रकार इस वृन्दावनमें लता-पत्रके रूपमें उत्पन्न हो जाऊँ और श्रीगोपीजनकी चरणरज मुझपर निरन्तर पड़ती रहे।'

वास्तवमें श्रीकृष्ण-वियोगकी यह लीला तो हुई थी प्रेमकी परिपुष्टिके लिये—'**न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते।**' साथ ही यदि यह लीला न होती तो प्रेमकी चरम परिणतिका रूप एवं भगवान्‌की प्रेमाधीनताका उच्चतम निदर्शन जगत्‌में अप्रकट ही रह जाता। श्रीगोपीजन जैसे श्रीकृष्णचन्द्रके लिये व्याकुल थीं, वैसे ही श्रीकृष्णचन्द्र भी उनके लिये सतत व्याकुल रहते थे। केवल द्वारकेशकी रानियाँ—विशेषतः पट्टमहिषियाँ ही जानती थीं कि उनके स्वामीकी क्या दशा है वृन्दावनकी, श्रीगोपीजनोंकी स्मृतिको लेकर। उन्हें आश्चर्य होता था, वे समझ नहीं पाती थीं। कभी वे सोचने लगतीं कि हममें ऐसी कौन-सी त्रुटि है, जो हमारे नाथके हृदयमें आज भी हमारी अपेक्षा बहुत-बहुत अधिक स्थान सुरक्षित है श्रीगोपीजनोंके

लिये। द्वारकेशने उनकी इस शङ्काका एक दिन समाधान कर दिया। कहते हैं कि सहसा द्वारकेश्वर रुग्ण हो गये। उस चिदानन्दमय शरीरमें भी कहीं रोग होता है? यह तो प्रभुका अभिनय था। जो हो, उदरमें पीड़ा थी। सब उपचार हो चुके, पर पीड़ा मिटी नहीं। देवर्षि नारद पधारे। प्रभुने बताया—'देवर्षे! पीड़ा हो रही है; इसकी ओषधि भी है। पर अनुपान तुम ला दो। किसी सच्चे भक्तकी चरणधूलि ला दो, फिर मैं उसे सिरपर धारणकर स्वस्थ हो जाऊँगा। फिर तो पूरी द्वारावती छान डाली नारदने और सारे भूतलपर घूम आये। किंतु किसीने भी नरकके भयसे त्रिभुवनपतिको चरणधूलि नहीं दी। वे निराश लौट आये। केवल व्रजमें जाना वे भूल गये थे। प्रभुने आग्रह करके इस बार वहीं भेजा। वियोगिनी व्रजबालाओंने घेर लिया देवर्षिको। वे पूछने लगीं अपने प्रियतमकी कुशल। उन्होंने भी सारी बात बता दी। सबके नेत्र बहने लगे। तुरंत एक साथ ही सबने अपने चरण आगे कर दिये और गद्गद कण्ठसे वे बोलीं—'देवर्षे! जितनी रज चाहिये, ले जाओ। हमारे प्रियतमकी पीड़ा मिट जाय, वे सुखी हो जायँ। इसके बदले यदि हमें अनन्त जन्मोंतक नरकमें जलना पड़े तो यही होने दो। इसीमें हमें परम सुख है। प्रियतमका सुख ही हमारा सुख है, बाबा!' देवर्षिने एक बार तो स्वयं उस पावन रजमें स्नान किया और द्वारका लौट आये। भगवान् तो नित्य स्वस्थ थे ही। पर पट्टमहिषियोंकी आँखें खुल गयीं।

कुरुक्षेत्रमें गोपसुन्दरियोंका श्रीकृष्णचन्द्रसे मिलन हुआ। प्रियतमसे मिलकर वे शीतल हुईं। इसके अनन्तर जब लीला समेटनेका समय आया, गोलोकविहारिणी अपने नित्य धाममें पधारने लगीं, तब श्रीगोपीजन भी उनके साथ ही अन्तर्हित हो गयीं। जो नित्य गोपिकाएँ हैं, उनके लिये तो कोई प्रश्न ही नहीं है। जो साधनसिद्धा गोपिकाएँ थीं, वे भी नित्यलीलामें सदाके लिये प्रविष्ट हो गयीं।

जदपि जसोदा नंद अरु ग्वालबाल सब धन्य।
पै या जगमें प्रेम को गोपी भईं अनन्य॥

× × ×

गोपी पद पंकज पराग कीजै महाराज,
तृन कीजै रावरेई गोकुल नगर कौ।

श्रीकुन्तीदेवी

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥

(श्रीमद्भा० १। ८। २५)

कुन्तीजी भगवान्से प्रार्थना करती हैं—जगद्गुरो! हमपर जहाँ-तहाँ सदा विपत्तियाँ ही आती रहें, क्योंकि विपत्तियोंमें ही आपके दर्शन होते हैं और आपके दर्शन होनेपर फिर इस संसारके दर्शन नहीं होते, अर्थात् जन्म-मृत्युसे छुटकारा मिल जाता है।'

कुन्तीदेवी एक परम आदर्श आर्य-नारी थीं। ये महात्मा पाण्डवोंकी माता एवं भगवान् श्रीकृष्णकी बूआ थीं। ये वसुदेवजीकी सगी बहिन थीं तथा राजा कुन्तिभोजको गोद दी गयी थीं। जन्मसे इन्हें लोग पृथाके नामसे पुकारते थे, परंतु राजा कुन्तिभोजके यहाँ इनका लालन-पालन होनेसे ये कुन्तीके नामसे विख्यात हुईं। ये बालकपनसे ही बड़ी सुशीला, सदाचारिणी, संयमशीला एवं भक्तिमती थीं। राजा कुन्तिभोजके यहाँ एक बार एक बड़े तेजस्वी ब्राह्मण अतिथिरूपमें आये। इनकी सेवाका कार्य बालिका कुन्तीको सौंपा गया। इसकी ब्राह्मणोंमें बड़ी भक्ति थी और अतिथि-सेवामें बड़ी रुचि थी। राजपुत्री पृथा आलस्य और अभिमानको त्यागकर ब्राह्मणदेवताकी सेवामें तन-मनसे संलग्न हो गयी। उसने शुद्ध मनसे सेवा करके ब्राह्मणदेवताको पूर्णतया प्रसन्न कर लिया। ब्राह्मणदेवताका व्यवहार बड़ा अटपटा था। कभी वे अनियमित समयपर आते, कभी आते ही नहीं और कभी ऐसी चीज खानेको माँग बैठते, जिसका मिलना अत्यन्त कठिन होता। किंतु पृथा उनके सारे काम

इस प्रकार कर देती मानो उसने उनके लिये पहलेसे ही तैयारी कर रखी हो। उसके शील-स्वभाव एवं संयमसे ब्राह्मणको बड़ा सन्तोष हुआ। कुन्तीकी यह बचपनकी ब्राह्मण-सेवा उनके लिये बड़ी कल्याणप्रद सिद्ध हुई और इसीसे उनके जीवनमें संयम, सदाचार, त्याग एवं सेवाभावकी नींव पड़ी। आगे चलकर इन गुणोंका उनके अंदर अद्भुत विकास हुआ।

कुन्तीके अंदर निष्कामभावका विकास भी बचपनसे ही हो गया था। इन्हें बड़ी तत्परता एवं लगनके साथ महात्मा ब्राह्मणकी सेवा करते पूरा एक वर्ष हो गया। इनके सेवामन्त्रका अनुष्ठान पूरा हुआ। इनकी सेवामें ढूँढ़नेपर भी ब्राह्मणको कोई त्रुटि नहीं दिखायी दी। तब तो वे इनपर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—'बेटी! मैं तेरी सेवासे बहुत प्रसन्न हूँ। मुझसे कोई वर माँग ले।' कुन्तीने ब्राह्मणदेवताको बड़ा ही सुन्दर उत्तर दिया। श्रीकृष्णकी बूआ और पाण्डवोंकी भावी माताका वह उत्तर उनके सर्वथा अनुरूप था। कुन्तीने कहा—'भगवन्! आप और पिताजी मुझपर प्रसन्न हैं, मेरे सब कार्य तो इसीसे सफल हो गये। अब मुझे वरोंकी कोई आवश्यकता नहीं है।' एक अल्पवयस्का बालिकाके अंदर विलक्षण सेवाभावके साथ-साथ ऐसी निष्कामताका संयोग मणि-काञ्चन-संयोगके समान था। हमारे देशकी बालिकाओंको कुन्तीके इस आदर्श निष्काम सेवाभावसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। अतिथि-सेवा हमारे सामाजिक जीवनका प्राण रही है और उसकी शिक्षा भारतवासियोंको बचपनसे ही मिल जाया करती थी। सच्ची एवं सात्त्विक सेवा वही है, जो प्रसन्नतापूर्वक की जाय—जिसमें भार अथवा उकताहट न प्रतीत हो और जिसके बदलेमें कुछ न चाहा जाय। आजकलकी सेवामें प्रायः इन दोनों बातोंका अभाव देखा जाता है। प्रसन्नतापूर्वक निष्कामभावसे की हुई सेवा कल्याणका परम साधन बन जाती है।

जब कुन्तीने ब्राह्मणसे कोई वर नहीं माँगा, तब उन्होंने उससे देवताओंके आवाहनका मन्त्र ग्रहण करनेके लिये कहा। वे कुछ-न-कुछ कुन्तीको देकर जाना चाहते थे। अबकी बार ब्राह्मणके अपमानके भयसे वह अस्वीकार न कर सकी। तब उन्होंने उसे अथर्ववेदके शिरोभागमें आये हुए मन्त्रोंका उपदेश दिया और कहा कि 'इन मन्त्रोंके बलसे तू जिस-जिस देवताका आवाहन करेगी, वही तेरे अधीन हो जायगा।' यों कहकर वे ब्राह्मण वहीं अन्तर्धान हो गये। ये ब्राह्मण और कोई नहीं, उग्रतपा महर्षि दुर्वासा थे। इनके दिये हुए मन्त्रोंके प्रभावसे वह आगे चलकर धर्म आदि देवताओंसे युधिष्ठिर आदिको पुत्ररूपमें प्राप्त कर सकी।

कुन्तीका विवाह महाराज पाण्डुसे हुआ था। महाराज पाण्डु बड़े ही धर्मात्मा थे। इनके द्वारा एक बार भूलसे मृगरूपधारी किन्दम मुनिकी हिंसा हो गयी। इस घटनासे इनके मनमें बड़ी ग्लानि और निर्वेद हुआ और इन्होंने सब कुछ त्यागकर वनमें रहनेका निश्चय कर लिया। देवी कुन्ती बड़ी पतिभक्ता थीं। ये भी अपने पतिके साथ इन्द्रियोंको वशमें करके तथा कामजन्य सुखको तिलाञ्जलि देकर वनमें रहनेके लिये तैयार हो गयीं। तबसे इन्होंने जीवनपर्यन्त नियमपूर्वक ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया और संयमपूर्वक रहीं। पतिका स्वर्गवास होनेपर इन्होंने अपने बच्चोंकी रक्षाका भार अपनी छोटी सौत माद्रीको सौंपकर अपने पतिका अनुगमन करनेका विचार किया। परंतु माद्रीने इसका विरोध किया। उसने कहा—'बहिन! मैं अभी युवती हूँ, अतः मैं ही पतिदेवका अनुगमन करूँगी। तुम मेरे बच्चोंकी सँभाल रखना।' कुन्तीने माद्रीकी बात मान ली और अन्ततक उसके पुत्रोंको अपने पुत्रोंसे बढ़कर समझा। सपत्नी एवं उसके पुत्रोंके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये, इसकी शिक्षा भी हमारी माता-बहिनोंको कुन्तीके जीवनसे लेनी चाहिये। पतिके जीवनकालमें इन्होंने माद्रीके साथ छोटी बहिनका-सा बर्ताव किया और उसके सती होनेके बाद उसके पुत्रोंके प्रति वही भाव रखा, जो एक आदर्श विमाताको रखना चाहिये। सहदेवके प्रति तो इनकी विशेष ममता थी और वे भी इन्हें बहुत अधिक प्यार करते थे।

पतिकी मृत्युके बादसे कुन्तीदेवीका जीवन बराबर कष्टमें बीता। परंतु ये बड़ी ही विचारशीला एवं धैर्यवती थीं। अतः इन्होंने कष्टोंकी कुछ भी परवा नहीं की और अन्ततक धर्मपर आरूढ़ रहीं। दुर्योधनके अत्याचारोंको भी ये चुपचाप सहती रहीं। इनका स्वभाव बड़ा ही

कोमल और दयालु था। इन्हें अपने कष्टोंकी कोई परवा नहीं थी, परंतु ये दूसरोंका कष्ट नहीं देख सकती थीं। लाक्षाभवनसे निकलकर जब ये अपने पुत्रोंके साथ एकचक्रा नगरीमें रहने लगी थीं, उन दिनों वहाँकी प्रजापर एक बड़ा भारी संकट छाया था। उस नगरीके पास ही एक वकासुर नामका राक्षस रहता था। उस राक्षसके लिये नगरवासियोंको प्रतिदिन एक गाड़ी अन्न तथा दो भैंसे पहुँचाने पड़ते थे। जो मनुष्य इन्हें लेकर जाता, उसे भी वह राक्षस खा जाता। वहाँके निवासियोंको बारी-बारीसे यह काम करना पड़ता था। पाण्डवगण जिस ब्राह्मणके घरमें भिक्षुकोंके रूपमें रहते थे, एक दिन उसके घरके राक्षसके लिये आदमी भेजनेकी बारी आयी। ब्राह्मणपरिवारमें कुहराम मच गया। कुन्तीको जब इस बातका पता लगा, तब उनका हृदय दयासे भर आया। उन्होंने सोचा—'हमलोगोंके रहते ब्राह्मण-परिवारको कष्ट भोगना पड़े, यह हमारे लिये बड़ी लज्जाकी बात होगी। फिर हमारे तो ये आश्रयदाता हैं, इनका प्रत्युपकार हमें किसी-न-किसी रूपमें करना ही चाहिये। अवसर आनेपर उपकारीका प्रत्युपकार न करना धर्मसे च्युत होना है। जब इनके घरमें हमलोग रह रहे हैं, तब इनका दु:ख बँटाना हमारा कर्तव्य हो जाता है।' यों विचारकर कुन्ती ब्राह्मणके घर गयीं। उन्होंने देखा कि ब्राह्मण अपनी पत्नी और पुत्रके साथ बैठे हैं। वे अपनी स्त्रीसे कह रहे हैं—'तुम कुलीन, शीलवती और बच्चोंकी माँ हो। मैं राक्षससे अपने जीवनकी रक्षाके लिये तुम्हें उसके पास नहीं भेज सकता।' पतिकी बात सुनकर ब्राह्मणीने कहा—'नहीं, मैं स्वयं उसके पास जाऊँगी। पत्नीके लिये सबसे बढ़कर सनातन कर्तव्य यही है कि वह अपने प्राणोंकी बलि देकर पतिकी भलाई करे। स्त्रियोंके लिये यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि वे अपने पतिसे पहले ही परलोकवासिनी हो जायँ। यह भी सम्भव है कि स्त्रीको अवध्य समझकर वह राक्षस मुझे न मारे। पुरुषका वध निर्विवाद है और स्त्रीका सन्देहग्रस्त; इसलिये भी मुझे ही उसके पास भेजिये।' माँ-बापकी दु:खभरी बात सुनकर कन्या बोली—'आप क्यों रो रहे हैं? देखिये, धर्मके अनुसार आप दोनों मुझे एक-न-एक दिन छोड़ देंगे। इसलिये आज ही मुझे छोड़कर अपनी रक्षा क्यों नहीं कर लेते? लोग सन्तान इसीलिये चाहते हैं कि वह हमें दु:खसे बचाये।' कन्याकी बात सुनकर माँ-बाप दोनों रोने लगे, कन्या भी रोये बिना न रह सकी। सबको रोते देखकर नन्हा-सा ब्राह्मण-बालक कहने लगा—'पिताजी! माताजी! बहिन! मत रोओ।' फिर उसने एक तिनका उठाकर हँसते हुए कहा—'मैं इसीसे राक्षसको मार डालूँगा।' तब सब लोग हँस पड़े। कुन्ती यह सब देख-सुन रही थीं। वे आगे बढ़कर उनसे बोलीं—'महाराज! आपके तो एक पुत्र और एक ही कन्या है। मेरे आपकी दयासे पाँच पुत्र हैं। राक्षसको भोजन पहुँचानेके लिये मैं उनमेंसे किसीको भेज दूँगी, आप घबरायें नहीं।' ब्राह्मणदेवताने कुन्तीदेवीके इस प्रस्तावको अस्वीकार कर दिया। उन्होंने कहा—'देवि! आपका इस प्रकार कहना आपके अनुरूप ही है; परंतु मैं तो अपने लिये अपने अतिथिकी हत्या नहीं करा सकता।' कुन्तीने उन्हें बतलाया कि 'मैं अपने जिस पुत्रको राक्षसके पास भेजूँगी, वह बड़ा बलवान्, मन्त्रसिद्ध और तेजस्वी है; उसका कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता।' इसपर ब्राह्मण राजी हो गये। तब कुन्तीने भीमसेनको उस कामके लिये राक्षसके पास भेज दिया। भला, दूसरोंकी प्राण-रक्षाके लिये इस प्रकार अपने हृदयके टुकड़ेका जान-बूझकर कोई माता बलिदान कर सकती है? कहना न होगा कि कुन्तीके इस आदर्श त्यागका संसारपर बहुत ही अच्छा प्रभाव पड़ा। अतएव सभीको इससे शिक्षा लेनी चाहिये।

कुन्तीदेवीका जीवन आरम्भसे अन्ततक बड़ा ही त्यागपूर्ण, तपस्यामय और अनासक्त था। पाण्डवोंके वनवास एवं अज्ञातवासके समय ये उनसे अलग हस्तिनापुरमें ही रहीं और वहींसे इन्होंने अपने पुत्रोंके लिये अपने भतीजे भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा क्षत्रियधर्मपर डटे रहनेका सन्देश भेजा। इन्होंने विदुला और सञ्जयका दृष्टान्त देकर बड़े ही मार्मिक शब्दोंमें उन्हें कहला भेजा कि—'पुत्रो! जिस कार्यके लिये क्षत्राणी पुत्र उत्पन्न करती है, उस कार्यके करनेका समय आ गया है।* इस समय तुमलोग

* एतद्धनञ्जयो वाच्यो नित्योद्युक्तो वृकोदरः। यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः॥
(महा० उद्योग० १३७। ९-१०)

मेरे दूधको न लजाना।' महाभारतयुद्धके समय भी ये वहीं रहीं और युद्ध-समाप्तिके बाद जब धर्मराज युधिष्ठिर सम्राट्के पदपर अभिषिक्त हुए और इन्हें राजमाता बननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ, उस समय इन्होंने पुत्रवियोगसे दुःखी अपने जेठ-जेठानीकी सेवाका भार अपने ऊपर ले लिया और द्वेष एवं अभिमानसे रहित होकर उनकी सेवामें अपना समय बिताने लगीं। यहाँतक कि जब वे दोनों युधिष्ठिरसे अनुमति लेकर वन जाने लगे, तब ये भी चुपचाप उनके सङ्ग हो लीं और युधिष्ठिर आदिके समझानेपर भी अपने दृढ़ निश्चयसे विचलित नहीं हुईं। जीवनभर दुःख और क्लेश भोगनेके बाद जब सुखके दिन आये, उस समय भी सांसारिक सुख-भोगको ठुकराकर स्वेच्छासे त्याग, तपस्या एवं सेवामय जीवन स्वीकार करना कुन्तीदेवी-जैसी पवित्र आत्माका ही काम था। जिन जेठ-जेठानीसे उन्हें तथा उनके पुत्रों एवं पुत्रवधुओंको कष्ट, अपमान एवं अत्याचारके अतिरिक्त कुछ नहीं मिला, उन जेठ-जेठानीके लिये इतना त्याग संसारमें कहाँ देखनेको मिलता है। हमारी माताओं एवं बहिनोंको कुन्तीदेवीके इस अनुपम त्यागसे शिक्षा लेनी चाहिये।

कुन्तीदेवीको वन जाते समय भीमसेनने समझाया कि 'माता! यदि तुम्हें अन्तमें यही करना था तो फिर व्यर्थ हमलोगोंके द्वारा इतना नर-संहार क्यों करवाया? हमारे वनवासी पिताकी मृत्युके बाद हमें वनसे नगरमें क्यों लायीं?' उस समय कुन्तीदेवीने उन्हें जो उत्तर दिया, वह हृदयमें अङ्कित करनेयोग्य है। वे बोलीं—'बेटा! तुमलोग कायर बनकर हाथ-पर-हाथ धरकर न बैठे रहो, क्षत्रियोचित पुरुषार्थको त्यागकर अपमानपूर्ण जीवन न व्यतीत करो, शक्ति रहते अपने न्यायोचित अधिकारसे सदाके लिये हाथ न धो बैठो—इसीलिये मैंने तुमलोगोंको युद्धके लिये उकसाया था, अपने सुखकी इच्छासे ऐसा नहीं किया था। मुझे राज्य-सुख भोगनेकी इच्छा नहीं है। मैं तो अब तपके द्वारा पतिलोकमें जाना चाहती हूँ। इसलिये अपने वनवासी जेठ-जेठानीकी सेवामें रहकर मैं अपना शेष जीवन तपमें ही बिताऊँगी। तुमलोग सुखपूर्वक घर लौट जाओ और धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करते हुए अपने परिजनोंको सुख दो।' इस प्रकार अपने पुत्रोंको समझा-बुझाकर कुन्तीदेवी अपने जेठ-जेठानीके साथ वनमें चली गयीं और अन्त समयतक उनकी सेवामें रहकर उन्होंने उन्हींके साथ दावाग्निमें जलकर योगियोंकी भाँति शरीर छोड़ दिया। कुन्तीदेवी-जैसी आदर्श महिलाएँ संसारके इतिहासमें बहुत कम मिलेंगी।

माता कुन्तीने कभी सांसारिक सुख नहीं भोगा; जबसे वे विवाहित होकर आयीं, उन्हें विपत्तियोंका ही सामना करना पड़ा। पति रोगी थे, उनके साथ जंगलोंमें भटकती रहीं। वहीं पुत्र पैदा हुए, उनकी देख-रेख की, थोड़े दिन हस्तिनापुरमें पुत्रोंके साथ रहीं, वह भी दूसरेकी आश्रिता बनकर। फिर लाक्षागृहसे किसी प्रकार अपने पुत्रोंको लेकर भागीं और भिक्षाके अन्नपर जीवन बिताती रहीं। थोड़े दिन राज्यसुख भोगनेका समय आया कि धर्मराज युधिष्ठिर कपटके जुएमें सर्वस्व हारकर वनवासी बने। विदुरके घरमें रहकर कुन्तीजी जैसे-तैसे जीवन बिताती रहीं। युद्ध हुआ। परिवारवालोंका संहार हुआ। पाण्डवोंकी विजय हुई। पर वे पाण्डवोंके साथ राज्य-भोगमें सम्मिलित नहीं हुईं। इस प्रकार उनका जीवन सदा विपत्तिमें ही कटा। इस विपत्तिमें भी उन्हें सुख था। वे इस विपत्तिको भगवान्से चाहती थीं और हृदयसे इसे विपत्ति मानती भी नहीं थी—

विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः।
विपद् विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः॥

'विपत्ति यथार्थमें विपत्ति नहीं है, सम्पत्ति भी सम्पत्ति नहीं। भगवान्का विस्मरण होना ही विपत्ति है और उनका स्मरण बना रहे, यही सबसे बड़ी सम्पत्ति है।' सो उन्हें भगवानका विस्मरण कभी हुआ नहीं, अतः वे वस्तुतः सदा सुखमें ही रहीं।

परम भक्तिमती द्रौपदी

भगवान्‌की सखी आदर्श भगवद्-विश्वासकी मूर्ति देवी द्रौपदी पाञ्चालनरेश राजा द्रुपदकी अयोनिजा कन्या थीं। इनकी उत्पत्ति यज्ञवेदीसे हुई थी। इनका रूप-लावण्य अनुपम था। अङ्गकान्ति श्याम-सुन्दर होनेसे इनको लोग 'कृष्णा' भी कहते थे। इनके शरीरसे तुरंतके खिले हुए कमलकी मधुर सुगन्ध निकलकर एक कोसतक फैलती रहती थी। इनके प्राकट्यके समय आकाशवाणी हुई थी—'देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये क्षत्रियोंके संहारके उद्देश्यसे इस रमणी-रत्नका प्राकट्य हुआ है। इसके कारण कौरवोंको बड़ा भय होगा।' पूर्वजन्ममें दिये हुए भगवान् शङ्करके वरदानसे इन्हें इस जन्ममें पाँच पति प्राप्त हुए। अकेले अर्जुनके द्वारा स्वयंवरमें जीती जानेपर भी माता कुन्तीकी आज्ञासे इन्हें पाँचों भाइयोंने ब्याहा था।

द्रौपदी उच्च कोटिकी पतिव्रता एवं भगवद्भक्ता थीं। इनकी भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें अविचल प्रीति थी। ये उन्हें अपना सखा, रक्षक, हितैषी एवं परम आत्मीय तो मानती ही थीं; उनकी सर्वव्यापकता एवं सर्वशक्तिमत्तामें भी इनका पूर्ण विश्वास था। जब कौरवोंकी सभामें दुष्ट दु:शासनने इन्हें नंगी करना चाहा और सभासदोंमेंसे किसीका साहस न हुआ कि इस अमानुषी अत्याचारको रोके, उस समय अपनी लाज बचानेका कोई दूसरा उपाय न देख इन्होंने अत्यन्त आतुर होकर भगवान् श्रीकृष्णको पुकारा—

गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय॥
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव।
हे नाथ! हे रमानाथ! व्रजनाथार्त्तिनाशन!॥
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन!।
कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन॥
प्रपन्नां पाहि गोविन्द! कुरुमध्येऽवसीदतीम्।

(महा० सभा० ६८। ४१—४४)

'हे गोविन्द! हे द्वारकावासी! हे सच्चिदानन्दस्वरूप प्रेमघन! हे गोपीजनवल्लभ! हे केशव! मैं कौरवोंके द्वारा अपमानित हो रही हूँ, इस बातको क्या आप नहीं जानते? हे नाथ! हे रमानाथ! हे व्रजनाथ, हे आर्तिनाशन जनार्दन! मैं कौरव-समुद्रमें डूब रही हूँ, आप मुझे इससे निकालिये। कृष्ण! कृष्ण! महायोगी! विश्वात्मा! विश्वके जीवनदाता गोविन्द! मैं कौरवोंसे घिरकर बड़े संकटमें पड़ी हुई हूँ, आपकी शरण हूँ, मेरी रक्षा कीजिये।'

सच्चे हृदयकी करुण पुकार भगवान् तुरंत सुनते हैं। श्रीकृष्ण उस समय द्वारकामें थे। वहाँसे वे तुरंत दौड़े आये और धर्मरूपसे द्रौपदीके वस्त्रोंके रूपमें प्रकट होकर उनकी लाज बचायी। भगवान्‌की कृपासे द्रौपदीकी साड़ी अनन्तगुना बढ़ गयी। दु:शासन उसे जितना ही खींचता था, उतना ही वह बढ़ती जाती थी। देखते-देखते वहाँ वस्त्रका ढेर लग गया। महाबली दु:शासनकी दस हजार हाथियोंके बलवाली प्रचण्ड भुजाएँ थक गयीं, परन्तु साड़ीका छोर हाथ नहीं आया। *'दस हजार गजबल थक्यौ, घट्यौ न दस गज चीर।'* उपस्थित सारे समाजने भगवद्भक्ति एवं पातिव्रतका अद्भुत चमत्कार देखा। अन्तमें दु:शासन हारकर लज्जित हो बैठ गया। भक्तवत्सल प्रभुने अपने भक्तकी लाज रख ली। धन्य भक्तवत्सलता!

एक दिनकी बात है—जब पाण्डव द्रौपदीके साथ काम्यक वनमें निवास कर रहे थे, दुर्योधनके भेजे हुए महर्षि दुर्वासा अपने दस हजार शिष्योंको साथ लेकर पाण्डवोंके पास आये। दुष्टमति दुर्योधनने जान-बूझकर उन्हें ऐसे समय भेजा जब कि सब लोग भोजन करके विश्राम कर रहे थे। महाराज युधिष्ठिरने अतिथिसेवाके उद्देश्यसे ही भगवान् सूर्यदेवसे एक ऐसा चमत्कारी बर्तन प्राप्त किया था, जिसमें पकाया हुआ थोड़ा-सा भी भोजन अक्षय हो जाता था; परंतु उसमें शर्त यही थी कि जबतक द्रौपदी भोजन नहीं कर चुकती थीं, तभीतक उस बर्तनमें यह चमत्कार रहता था। युधिष्ठिरने महर्षिको शिष्यमण्डलीके सहित भोजनके लिये आमन्त्रित किया और दुर्वासाजी स्नानादि नित्यकर्मसे निवृत्त होनेके लिये सबके साथ गङ्गातटपर चले गये।

दुर्वासाजीके साथ दस हजार शिष्योंका एक पूरा-का-पूरा विश्वविद्यालय चला करता था। धर्मराजने उन

सबको भोजनका निमन्त्रण तो दे दिया और ऋषिने उसे स्वीकार भी कर लिया; परन्तु किसीने भी इसका विचार नहीं किया कि द्रौपदी भोजन कर चुकी है, इसलिये सूर्यके दिये हुए बर्तनसे तो उन लोगोंके भोजनकी व्यवस्था हो नहीं सकती थी। द्रौपदी बड़ी चिन्तामें पड़ गयी। उन्होंने सोचा—'ऋषि यदि बिना भोजन किये वापस लौट जाते हैं तो वे बिना शाप दिये नहीं मानेंगे।' उनका क्रोधी स्वभाव जगद्विख्यात था। द्रौपदीको और कोई उपाय नहीं सूझा। तब उन्होंने मन-ही-मन भक्तभयभञ्जन भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण किया और इस आपत्तिसे उबारनेकी उनसे विश्वासपूर्ण आर्त प्रार्थना करते हुए अन्तमें कहा—आपने जैसे राजसभामें दुःशासनके अत्याचारसे मुझे बचाया था, वैसे ही यहाँ भी इस महान् संकटसे तुरंत बचाइये—

दुःशासनादहं पूर्वं सभायां मोचिता यथा।
तथैव सङ्कटादस्मान्मामुद्धर्तुमिहार्हसि॥

(महा० वन० २६३। १६)

श्रीकृष्ण तो सदा सर्वत्र निवास करते और घट-घटकी जाननेवाले हैं, वे तुरंत वहाँ आ पहुँचे। उन्हें देखकर द्रौपदीके शरीरमें मानो प्राण लौट आये, डूबते हुएको मानो सच्चा सहारा मिल गया। द्रौपदीने संक्षेपमें उन्हें सारी बात सुना दी। श्रीकृष्णने अधीरता प्रदर्शित करते हुए कहा—'और सब बात पीछे होगी। पहले मुझे जल्दी कुछ खानेको दो। मुझे बड़ी भूख लगी है। तुम जानती नहीं हो मैं कितनी दूरसे हारा-थका आया हूँ।' द्रौपदी लाजके मारे गड़-सी गयीं। उन्होंने रुकते-रुकते कहा—'प्रभो! मैं अभी-अभी खाकर उठी हूँ। अब तो उस बर्तनमें कुछ भी नहीं बचा है।' श्रीकृष्णने कहा—'जरा अपना बर्तन मुझे दिखाओ तो सही।' कृष्णा उसे ले आयीं। श्रीकृष्णने हाथमें लेकर देखा तो उसके गलेमें उन्हें एक सागका पत्ता चिपका हुआ मिला। उन्होंने उसीको मुँहमें डालकर कहा—'इस सागके पत्तेसे सम्पूर्ण जगत्के आत्मा यज्ञभोक्ता परमेश्वर तृप्त हो जायँ।' इसके बाद उन्होंने सहदेवसे कहा—'भैया! अब तुम मुनीश्वरोंको भोजनके लिये बुला लाओ।' सहदेवने गङ्गातटपर जाकर देखा तो वहाँ उन्हें कोई नहीं मिला। बात यह हुई कि जिस समय श्रीकृष्णने सागका पत्ता मुँहमें डालकर वह सङ्कल्प किया, उस समय मुनीश्वरलोग जलमें खड़े होकर अघमर्षण कर रहे थे। उन्हें अकस्मात् ऐसा अनुभव होने लगा मानो उन सबका पेट गलेतक अन्नसे भर गया हो। वे सब एक-दूसरेके मुँहकी ओर ताकने लगे और कहने लगे कि 'अब हमलोग वहाँ जाकर क्या खायेंगे।' दुर्वासाने चुपचाप भाग जाना ही श्रेयस्कर समझा; क्योंकि वे यह जानते थे कि पाण्डव भगवद्भक्त हैं और अम्बरीषके यहाँ उनपर जो कुछ बीती थी, उसके बादसे उन्हें भगवद्भक्तोंसे बड़ा डर लगने लगा था। बस, सब लोग वहाँसे चुपचाप भाग निकले। सहदेवको वहाँ रहनेवाले तपस्वियोंसे उन सबके भाग जानेका समाचार मिला और उन्होंने लौटकर सारी बात धर्मराजसे कह दी। इस प्रकार द्रौपदीकी श्रीकृष्णभक्तिसे पाण्डवोंकी एक भारी विपत्ति सहज ही टल गयी। श्रीकृष्णने प्रकट होकर उन्हें महर्षि दुर्वासाके दुर्दमनीय क्रोधानलसे बचा लिया और इस प्रकार अपनी शरणागतवत्सलताका परिचय दिया।

× × ×

राजसूय यज्ञकी समाप्तिपर श्रीकृष्णचन्द्र द्वारका चले गये थे। शाल्वने अपने कामचारी विमान सौभके द्वारा उत्पात मचा रखा था। पहुँचते ही केशवने शाल्वपर आक्रमण किया। सौभको गदाघातसे चूर्ण करके, शाल्व तथा उसके सैनिकोंको परमधाम भेजकर जब वे द्वारकामें लौटे, तब उन्हें पाण्डवोंके जुएमें हारनेका समाचार मिला। वे सीधे हस्तिनापुर आये और वहाँसे जहाँ वनमें पाण्डव अपनी स्त्रियों, बालकों तथा प्रजावर्ग एवं विप्रोंके साथ थे, पहुँचे। पाण्डवोंसे मिलकर उन्होंने कौरवोंके प्रति रोष प्रकट किया।

द्रौपदीने श्रीकृष्णसे वहाँ कहा—'मधुसूदन! मैंने महर्षि असित और देवलसे सुना है कि आप ही सृष्टिकर्ता हैं। परशुरामजीने बताया था कि आप साक्षात् अपराजित विष्णु हैं। आप ही यज्ञ, ऋषि, देवता तथा पञ्चभूतस्वरूप हैं। जगत् आपके एक अंशमें स्थित है। त्रिलोकीमें आप व्याप्त हैं। निर्मलहृदय महर्षियोंके हृदयमें आप ही स्फुरित होते हैं। आप ही ज्ञानियों तथा योगियोंकी परम गति हैं। आप विभु हैं, सर्वात्मा हैं,

आपकी शक्तिसे ही सबको शक्ति प्राप्त होती है। आप ही मृत्यु, जीवन एवं कर्मके अधिष्ठाता हैं। आप ही परमेश्वर हैं। मैं अपना दु:ख आपसे न कहूँ तो किससे कहूँ।'

यों कहते-कहते द्रौपदीके नेत्रोंसे आँसुओंकी झड़ी लग गयी। वे फुफकार मारती हुई कहने लगीं—'मैं महापराक्रमी पाण्डवोंकी पत्नी, धृष्टद्युम्नकी बहिन और आपकी सखी हूँ। कौरवोंकी भरी सभामें मेरे केश पकड़कर मुझे घसीटा गया। मैं एकवस्त्रा रजस्वला थी, मुझे नग्न करनेका प्रयत्न किया गया। ये मेरे पति मेरी रक्षा न कर सके। इसी नीच दुर्योधनने भीमको विष देकर जलमें बाँधकर फेंक दिया था। इसी दुष्टने पाण्डवोंको लाक्षाभवनमें भस्म करनेका प्रयत्न किया था। इसी पिशाचने मेरे केश पकड़कर घसीटवाया और आज भी वह जीवित है।'

पाञ्चाली फूट-फूटकर रोने लगीं। उनकी वाणी अस्पष्ट हो गयी। वे श्रीकृष्णको उलाहना दे रही थीं—'तुम मेरे सम्बन्धी हो, मैं अग्निसे उत्पन्न गौरवमयी नारी हूँ, तुमपर मेरा पवित्र अनुराग है, तुमपर मेरा अधिकार है और रक्षा करनेमें तुम समर्थ हो। तुम्हारे रहते मेरी यह दशा हो रही है!!'

भक्तवत्सल और न सुन सके। उन्होंने कहा—'कल्याणी! जिनपर तुम रुष्ट हुई हो, उनका जीवन समाप्त हुआ समझो। उनकी स्त्रियाँ भी इसी प्रकार रोयेंगी और उनके अश्रु सूखनेका मार्ग नष्ट हो चुका रहेगा। थोड़े दिनोंमें अर्जुनके बाणोंसे गिरकर वे श्रृगाल और कुत्तोंके आहार बनेंगे। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम सम्राज्ञी बनकर रहोगी। आकाश फट जाय, समुद्र सूख जायँ, हिमालय चूर हो जाय; पर मेरी बात असत्य न होगी, न होगी।'

× × ×

इसी यात्रामें एक दिन बातों-ही-बातोंमें सत्यभामाजीने द्रौपदीसे पूछा—'बहिन! मैं तुमसे एक बात पूछती हूँ। मैं देखती हूँ कि तुम्हारे शूरवीर और बलवान् पति सदा तुम्हारे अधीन रहते हैं; इसका क्या कारण है? क्या तुम कोई जंतर-मंतर या औषध जानती हो? अथवा क्या तुमने जप, तप, व्रत, होम या विद्यासे उन्हें वशमें कर रखा है? मुझे भी कोई ऐसा उपाय बताओ, जिससे भगवान् श्यामसुन्दर मेरे वशमें हो जायँ।' देवी द्रौपदीने कहा—'बहिन! आप श्यामसुन्दरकी पटरानी एवं प्रियतमा होकर कैसी बातें कर रही हैं। सती-साध्वी स्त्रियाँ जंतर-मंतर आदिसे उतनी ही दूर रहती हैं, जितनी साँप-बिच्छूसे। क्या पतिको जंतर-मंतर आदिसे वशमें किया जा सकता है? भोली-भाली अथवा दुराचारिणी स्त्रियाँ ही पतिको वशमें करनेके लिये इस प्रकारके प्रयोग किया करती हैं। ऐसा करके वे अपना तथा अपने पतिका अहित ही करती हैं। ऐसी स्त्रियोंसे तो सदा दूर रहना चाहिये।'

इसके बाद उन्होंने बतलाया कि अपने पतियोंको प्रसन्न रखनेके लिये वे किस प्रकारका आचरण करती थीं। उन्होंने कहा—'बहिन! मैं अहङ्कार और काम-क्रोधका परित्याग करके बड़ी सावधानीसे सब पाण्डवोंकी और उनकी स्त्रियोंकी सेवा करती हूँ। मैं ईर्ष्यासे दूर रहती हूँ और मनको वशमें रखकर केवल सेवाकी इच्छासे ही अपने पतियोंके मन रखती हूँ। मैं कटुभाषणसे दूर रहती हूँ, असभ्यतासे खड़ी नहीं होती, खोटी बातोंपर दृष्टि नहीं डालती, बुरी जगहपर नहीं बैठती, दूषित आचरणके पास नहीं फटकती तथा पतियोंके अभिप्रायपूर्ण संकेतका अनुसरण करती हूँ। देवता, मनुष्य, गन्धर्व, युवा, धनी अथवा रूपवान्—कैसा ही पुरुष क्यों न हो, मेरा मन पाण्डवोंके सिवा और कहीं नहीं जाता। अपने पतियोंके भोजन किये बिना मैं भोजन नहीं करती, स्नान किये बिना स्नान नहीं करती और बैठे बिना स्वयं नहीं बैठती। जब-जब मेरे पति घर आते हैं, तब-तब मैं खड़ी होकर उन्हें आसन और जल देती हूँ। मैं घरके बर्तनोंको माँज-धोकर साफ रखती हूँ, मधुर रसोई तैयार करती हूँ, समयपर भोजन कराती हूँ। सदा सजग रहती हूँ, घरमें अनाजकी रक्षा करती हूँ और घरको झाड़-बुहारकर साफ रखती हूँ। मैं बातचीतमें किसीका तिरस्कार नहीं करती, कुलटा स्त्रियोंके पास नहीं फटकती और सदा ही पतियोंके अनुकूल रहकर आलस्यसे दूर रहती हूँ। मैं दरवाजेपर बार-बार जाकर खड़ी नहीं होती तथा खुली अथवा कूड़ा-करकट डालनेकी जगहपर भी अधिक नहीं ठहरती, किन्तु सदा ही सत्यभाषण और पतिसेवामें तत्पर रहती हूँ। पतिदेवके बिना अकेली रहना मुझे बिलकुल पसंद नहीं है। जब किसी कौटुम्बिक कार्यसे

पतिदेव बाहर चले जाते हैं, तब मैं पुष्प और चन्दनादिको छोड़कर नियम और व्रतोंका पालन करती हुई समय बिताती हूँ। मेरे पति जिस चीजको नहीं खाते, नहीं पीते अथवा सेवन नहीं करते, मैं भी उससे दूर रहती हूँ। स्त्रियोंके लिये शास्त्रने जो-जो बातें बतायी हैं, उन सबका मैं पालन करती हूँ। शरीरको यथाप्राप्त वस्त्रालङ्कारोंसे सुसज्जित रखती हूँ तथा सर्वदा सावधान रहकर पतिदेवका प्रिय करनेमें तत्पर रहती हूँ।

'सासजीने मुझे कुटुम्ब-सम्बन्धी जो-जो धर्म बताये हैं, उन सबका मैं पालन करती हूँ। भिक्षा देना, पूजन, श्राद्ध, त्यौहारोंपर पकवान बनाना, माननीयोंका आदर करना तथा और भी मेरे लिये जो-जो धर्म विहित हैं, उन सभीका मैं सावधानीसे रात-दिन आचरण करती हूँ; मैं विनय और नियमोंको सर्वदा सब प्रकार अपनाये रहती हूँ। मेरे विचारसे तो स्त्रियोंका सनातनधर्म पतिके अधीन रहना ही है, वही उनका इष्टदेव है। मैं अपने पतियोंसे बढ़कर कभी नहीं रहती, उनसे अच्छा भोजन नहीं करती, उनसे बढ़िया वस्त्राभूषण नहीं पहनती और न कभी सासजीसे वाद-विवाद करती हूँ, तथा सदा ही संयमका पालन करती हूँ। मैं सदा अपने पतियोंसे पहले उठती हूँ तथा बड़े-बूढ़ोंकी सेवामें लगी रहती हूँ। अपनी सासकी मैं भोजन, वस्त्र और जल आदिसे सदा ही सेवा करती रहती हूँ। वस्त्र, आभूषण और भोजनादिमें मैं कभी उनकी अपेक्षा अपने लिये कोई विशेषता नहीं रखती। पहले महाराज युधिष्ठिरके दस हजार दासियाँ थीं। मुझे उन सबके नाम, रूप, वस्त्र आदि सबका पता था और इस बातका भी ध्यान रहता था कि किसने क्या काम कर लिया है और क्या नहीं। जिस समय इन्द्रप्रस्थमें रहकर महाराज युधिष्ठिर पृथ्वी-पालन करते थे, उस समय उनके साथ एक लाख घोड़े और उतने ही हाथी चलते थे। उनकी गणना और प्रबन्ध मैं ही करती थी और मैं ही उनकी आवश्यकताएँ सुनती थी। अन्तःपुरके ग्वालों और गड़रियोंसे लेकर सभी सेवकोंके काम-काजकी देख-रेख भी मैं ही किया करती थी।

'महाराजकी जो कुछ आय, व्यय और बचत होती थी, उस सबका विवरण मैं अकेली ही रखती थी। पाण्डवलोग कुटुम्बका सारा भार मेरे ऊपर छोड़कर पूजा-पाठमें लगे रहते थे और आये-गयोंका स्वागत-सत्कार करते थे; और मैं सब प्रकारका सुख छोड़कर उसकी सँभाल करती थी। मेरे पतियोंका जो अटूट खजाना था, उसका पता भी मुझ एकको ही था। मैं भूख-प्यासको सहकर रात-दिन पाण्डवोंकी सेवामें लगी रहती। उस समय रात और दिन मेरे लिये समान हो गये थे। मैं सदा ही सबसे पहले उठती और सबसे पीछे सोती थी। सत्यभामाजी! पतियोंको अनुकूल करनेका मुझे तो यही उपाय मालूम है।' एक आदर्श गृहपत्नीको घरमें किस प्रकार रहना चाहिये—इसकी शिक्षा हमें द्रौपदीके जीवनसे लेनी चाहिये।

× × ×

द्रौपदीके जिन लंबे-लंबे, काले बालोंका कुछ ही दिन पहले राजसूय यज्ञमें अवभृथ-स्नानके समय मन्त्रपूत जलसे अभिषेक किया गया था, उन्हीं बालोंका दुष्ट दुःशासनके द्वारा भरी सभामें खींचा जाना द्रौपदीको कभी नहीं भूला। उस अभूतपूर्व अपमानकी आग उनके हृदयमें सदा ही जला करती थी। इसीलिये जब-जब उनके सामने कौरवोंसे सन्धि करनेकी बात आयी, तब-तब इन्होंने उसका विरोध ही किया और बराबर अपने अपमानकी याद दिलाकर अपने पतियोंको युद्धके लिये प्रोत्साहित करती रहीं। अन्तमें जब यही तय हुआ कि एक बार कौरवोंको समझा-बुझाकर देख लिया जाय, और जब भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवोंकी ओरसे सन्धिका प्रस्ताव लेकर हस्तिनापुर जाने लगे, उस समय भी इन्हें अपने अपमानकी बात नहीं भूली और इन्होंने अपने लंबे-लंबे काले बालोंको उन्हें दिखाते हुए श्रीकृष्णसे कहा—'श्रीकृष्ण! तुम सन्धि करने जा रहे हो सो तो ठीक है; परंतु तुम मेरे इन खुले केशोंको न भूल जाना—

> जाहु भलें कुरुराज पै धारि दूत को वेस।
> भूलि न जैयो पै वहाँ केसौ! कृष्णा-केस॥

'मधुसूदन! क्या मेरे ये केश आजीवन खुले ही रहेंगे? यदि पाण्डव युद्ध नहीं करना चाहते तो मैं अपने पाँचों पुत्रोंको आदेश दूँगी, बेटा अभिमन्यु उनका नेतृत्व करेगा, मेरे वृद्ध पिता और भाई सहायता करेंगे। पर

श्रीकृष्ण! तुम्हारा चक्र क्या शान्त ही रहेगा?'

इसपर श्रीकृष्णने गम्भीरताके साथ कहा—'कृष्णे! आँसुओंको रोको; मैंने प्रतिज्ञा की है, और प्रकृतिके सारे नियमोंके पलट जानेपर भी वह मिथ्या नहीं होगी। तुम्हारा जिनपर कोप है, उनकी विधवा पत्नियोंको तुम शीघ्र ही रोते देखोगी।'

× × ×

काम्यक-वनमें जब दुष्ट जयद्रथ द्रौपदीको बलपूर्वक ले जानेकी चेष्टा करने लगा, तब इन वीराङ्गनाने उसे इतने जोरसे धक्का दिया कि वह कटे हुए पेड़की तरह जमीनपर गिर पड़ा; किंतु फिर तुरंत ही उठ खड़ा हुआ और इन्हें बलपूर्वक रथपर बैठाकर ले चला। जब भीम-अर्जुन उसे पकड़ लाये और उसको अपने दुष्कर्मका पर्याप्त दण्ड मिल गया, तब इन्होंने दया करके उसे छुड़ा दिया। क्रोधके साथ-साथ क्षमाका कैसा अपूर्व मेल है! इनका पातिव्रत-तेज तो अपूर्व था ही। जिस किसीने भी इनके साथ छेड़-छाड़ की, उसीको प्राणोंसे हाथ धोने पड़े। दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण, जयद्रथ, कीचक आदि सबकी यही दशा हुई। महाभारत-युद्धमें जो कौरवोंका सर्वनाश हुआ, उसका मूल सती द्रौपदीका अपमान ही था।

× × ×

महाभारत समाप्त हुआ। पाण्डव-सेना शान्तिसे शयन कर रही थी। श्रीकृष्ण पाँचों पाण्डवों तथा द्रौपदीको लेकर उपप्लव्य नगर चले गये थे। प्रातः दूतने समाचार दिया कि रात्रिमें शिविरमें अग्नि लगाकर अश्वत्थामाने सबको निर्दयतापूर्वक मार डाला। यह सुनते ही सब रथमें बैठकर शिविरमें पहुँचे। अपने मृत पुत्रोंको देखकर द्रौपदीने बड़े करुण स्वरमें क्रन्दन करते हुए कहा—'मेरे पराक्रमी पुत्र यदि युद्धमें लड़ते हुए मारे गयें होते तो मैं सन्तोष कर लेती। क्रूर ब्राह्मणने निर्दयतापूर्वक उन्हें सोते समय मार डाला है!'

द्रौपदीको धर्मराजने समझानेका प्रयत्न किया; परंतु पुत्रके शवोंके पास रोती माताको क्या समझायेगा कोई। भीमने क्रोधित होकर अश्वत्थामाका पीछा किया। श्रीकृष्णने बताया कि नीच अश्वत्थामा भीमपर ब्रह्मास्त्र-प्रयोग कर सकता है। अर्जुनको लेकर वे भी पीछे रथमें बैठकर गये। अश्वत्थामाने ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया। उसे शान्त करनेको अर्जुनने भी उसी अस्त्रसे उसे शान्त करना चाहा। दोनों ब्रह्मास्त्रोंने प्रलयका दृश्य उपस्थित कर दिया। भगवान् व्यास तथा देवर्षि नारदने प्रकट होकर ब्रह्मास्त्रोंको लौटा लेनेका आदेश दिया। अर्जुनने ब्रह्मास्त्र लौटा लिया। पकड़कर द्रोण-पुत्रको उन्होंने बाँध लिया और अपने शिविरमें ले आये।

अश्वत्थामा पशुकी भाँति बँधा हुआ था। निन्दित कर्म करनेसे उसकी श्री नष्ट हो गयी थी। उसने सिर झुका रखा था। अर्जुनने उसे लाकर द्रौपदीके सम्मुख खड़ा कर दिया। गुरुपुत्रको इस दशामें देखकर द्रौपदीको दया आ गयी। उन्होंने कहा—'इन्हें जल्दी छोड़ दो। जिनसे सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंकी आपलोगोंने शिक्षा पायी है, वे भगवान् द्रोणाचार्य ही पुत्ररूपमें स्वयं उपस्थित हैं। जैसे पुत्रोंके शोकमें मुझे दुःख हो रहा है, मैं रो रही हूँ, ऐसा ही प्रत्येक स्त्रीको होता होगा। इनकी माता देवी कृपीको यह शोक न हो! वे पुत्रशोकमें मेरी तरह न रोयें! ब्राह्मण सब प्रकार पूज्य होता है। इन्हें शीघ्र छोड़ दो! ब्राह्मणोंका हमारे द्वारा अनादर नहीं होना चाहिये।' धन्य माताका हृदय!

भीमसेन अश्वत्थामाके वधके पक्षमें थे। अन्तमें श्रीकृष्णकी सम्मतिसे द्रोणपुत्रके मस्तकपर रहनेवाली मणि छीनकर अर्जुनने उसे शिविरसे बाहर निकाल दिया।

× × ×

द्वारकासे लौटकर अर्जुनने जब यदुवंशके संक्षयका समाचार दिया, तब परीक्षित्‌का राज्याभिषेक करके धर्मराजने अपने राजोचित वस्त्रोंका त्याग कर दिया। मौन-व्रत लेकर वे निकल पड़े। भाइयोंने भी उन्हींका अनुकरण किया। द्रौपदीने भी वल्कल पहना और पतियोंके पीछे चल पड़ीं। धर्मराज सीधे उत्तर चलते गये। बदरिकाश्रमसे ऊपर वे हिमप्रदेशमें जा रहे थे। द्रौपदी सबके पीछे चल रही थीं। सब मौन थे। कोई किसीकी ओर देखता नहीं था। द्रौपदीने अपना चित्त सब ओरसे एकाग्र करके परात्पर भगवान् श्रीकृष्णमें लगा दिया था। उन्हें शरीरका पता नहीं था। हिमपर फिसलकर वे गिर पड़ीं। शरीर उसी श्वेत हिमराशिमें विलीन हो गया। महारानी द्रौपदी तो परम तत्त्वसे एक हो चुकी थीं। वे तो वस्तुतः भगवान्‌की अभिन्न शक्ति ही थीं।

सती उत्तरा

महाराज विराटने कल्पना भी नहीं की थी कि अज्ञातवासमें पाण्डव उन्हींके यहाँ छिपे हैं। जब उन्होंने सुना कि उनके पुत्र उत्तरने अकेले ही भीष्म, कर्ण, द्रोण, कृप प्रभृति समस्त कौरवपक्षीय महारथियोंको दुर्योधनके साथ पराजित करके अपनी गायोंको लौटा लिया है, तब वे आनन्दातिरेकमें पुत्रकी प्रशंसा करने लगे। उन्हें असह्य हो गया कि राजसभामें पासा बिछानेको नियुक्त ब्राह्मण कङ्क उनके पुत्रके बदले नपुंसक बृहन्नलाकी प्रशंसा करे। उन्होंने पासा खींचकर मार दिया। कङ्ककी नासिकासे रक्त निकलने लगा। सैरन्ध्री बनी हुई द्रौपदी दौड़ी आयी और उसने कटोरी सामने रखकर रक्तको भूमिपर गिरनेसे बचाया। इसी समय कुमार उत्तरने राजसभामें प्रवेश करके महाराजको समझाया और महाराजने ब्राह्मणसे क्षमा माँगी।

तीसरे दिन महाराज विराटको पता लगा कि कङ्कके वेशमें पाण्डवराज महाराज युधिष्ठिरका ही उन्होंने अपमान किया था। बड़ा खेद हुआ उन्हें। पाण्डवोंका परिचय प्राप्त करके महाराजने अनजाने अपराधोंके परिमार्जन तथा स्थायी मैत्री-स्थापनके उद्देश्यसे प्रस्ताव किया कि अर्जुन उनकी पुत्री उत्तराका पाणिग्रहण करें। अर्जुनने बड़ी गम्भीरतासे उत्तर दिया—'राजन्! बृहन्नलाके वेशमें मैं कुमारी उत्तराको वर्षभर नृत्य एवं सङ्गीतकी शिक्षा देता रहा हूँ। अनेक बार एकान्तमें राजकुमारीको मैंने शिक्षा दी है। अब यदि मैं उन्हें स्वीकार कर लूँ तो संसारमें मेरे चरित्रपर सन्देह किया जायगा। आपकी पुत्रीके चरित्रपर भी लोग सन्देह करेंगे। मैंने सदा पुत्रीकी भाँति मानकर राजकुमारीको शिक्षा दी है। राजकुमारीने भी मुझे सदा आदर दिया है और पूज्य माना है। अतएव राजकुमारी मेरे लिये पुत्रीके समान हैं। अपने पुत्र अभिमन्युकी पत्नीके रूपमें मैं उन्हें स्वीकार करता हूँ। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके भानजेको जामातारूपमें स्वीकार करना आपके लिये भी गौरवकी बात होगी।'

सभीने अर्जुनकी धर्मनिष्ठाकी प्रशंसा की। यथावसर उत्तराका विवाह सुभद्राजीके परम तेजस्वी पुत्र कुमार अभिमन्युसे हो गया!

× × ×

महाभारतके विकट संग्राममें जब अर्जुन शत्रुओंके ललकारनेपर दूर उनके साथ संग्राम करने चले गये, तब आचार्य द्रोणने चक्रव्यूहका निर्माण किया। भगवान् शङ्करके वरदानके प्रतापसे जयद्रथ पाण्डवपक्षके सभी शूरोंको व्यूहमें प्रवेश करनेसे रोकनेमें उस दिन समर्थ हो गया। अकेले अभिमन्यु व्यूहमें जा सके। भयङ्कर संग्राममें जब सभी कर्णादि महारथी उस तेजस्वी बालकसे पराजित हो गये, तब अधर्मपूर्वक आठ महारथियोंने एक साथ उसपर आक्रमण कर दिया। अभिमन्यु वीरगतिको प्राप्त हुए। उत्तरा उस समय गर्भवती थीं। श्रीकृष्णचन्द्रने उन्हें आश्वासन देकर पतिके साथ सती होनेसे रोक लिया।

× × × ×

'हे देवदेव! हे त्रिभुवनके स्वामी! हे शरणागतवत्सल! मेरी रक्षा करो! यह प्रज्वलित बाण मेरी ओर आ रहा है। भले ही यह मेरा विनाश कर दे, किंतु मेरे उदरमें मेरे स्वामीकी जो एकमात्र धरोहर है, वह सुरक्षित रहे!' पाण्डवोंसे विदा लेकर श्रीकृष्णचन्द्र द्वारका जानेके लिये रथपर बैठने ही जा रहे थे कि अन्तःपुरसे कातर चीत्कार करती भयविह्वला उत्तरा उनके पैरोंपर आ गिरी। उसके वस्त्र अस्त-व्यस्त हो गये थे। केश खुले हुए थे और नेत्र कातर हो रहे थे। इसी समय पाण्डवोंने देखा कि उनकी ओर भी पाँच प्रज्वलित बाण आ रहे हैं।

'मत डरो!' कहकर चक्रपाणिने चक्र उठाया और पाण्डवोंकी ओर आते हुए बाणोंको शान्त कर दिया। सूक्ष्मरूपसे उत्तराके गर्भमें प्रविष्ट होकर उन्होंने शिशुकी रक्षा की। अश्वत्थामाने जब द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंको मार डाला तथा शिविरमें अग्नि लगाकर वह भाग गया, तब

प्रातः अर्जुन उसे पकड़ लाये। यद्यपि वह वध्य था, किंतु पाञ्चालीने उसे मुक्त करा दिया। उसकी शिर:स्थ मणि छीनकर अर्जुनने उसे निकाल दिया। कृतज्ञ होनेके बदले अश्वत्थामाने अपमानका अनुभव किया। उसने पाण्डुके वंशका ही उन्मूलन करनेका सङ्कल्प करके वह ब्रह्मास्त्र प्रयुक्त किया था। जबतक उत्तराको बालक न हो जाय, तबतकके लिये श्रीकृष्णका द्वारका जाना स्थगित हो गया।

सींकपर इषीकास्त्रसंयुक्त ब्रह्मास्त्रका अश्वत्थामाने प्रयोग किया था। गर्भमें श्रीकृष्णने शिशुके चारों ओर गदा घुमाते हुए अस्त्रके प्रभावको दूर रखा; किंतु उत्पन्न होते ही बालक अस्त्रप्रभावसे जीवनहीन-सा हो गया। यह समाचार पाकर जनार्दन सूतिकागृहकी ओर चले। उन्होंने अश्वत्थामाको डाँटकर कहा था—'ब्राह्मणाधम! यदि तेरे ब्रह्मास्त्रसे अभिमन्युका पुत्र मर भी गया तो मैं उसे पुनर्जीवन दूँगा।' उन्हें अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करनी थी। मार्गमें ही कुन्तीदेवी मिलीं। उन्होंने बड़े कातर स्वरोंमें उस बालकको जीवित करनेके लिये प्रार्थना की। पैरोंमें पड़कर उसी समय सुभद्राने कहा—'मुझे बहिन समझकर, पुत्रहीना समझकर या एक अनाथ अबला ही समझकर मेरी रक्षा करो। तुम सब कर सकते हो! मेरे पौत्रको जीवन दान दो।'

'ये तुम्हारे श्वशुरतुल्य श्रीद्वारकेश पधार रहे हैं!' द्रौपदीने उत्तराको सूचना दी। वह उसी दु:खियाकी सेवामें लगी थी। सूतिकागृह श्वेत पुष्पोंकी मालाओंसे भलीभाँति सुसज्जित था। तीक्ष्ण शस्त्र चारों ओर लटक रहे थे। तिन्दुक (तेंदू) काष्ठकी प्रज्वलित अग्निमें घृतकी आहुतियाँ पड़ रही थीं। चारों कोनोंमें अग्नि प्रज्वलित थी। अनेक निपुण चिकित्सक तथा वृद्धा स्त्रियाँ उपस्थित थीं। रक्षोघ्न द्रव्य भलीभाँति यथास्थान रखे थे।

उत्तराने वस्त्रसे अपने सारे अङ्गोंको ढककर भूमिपर मस्तक रखकर श्रीकृष्णको प्रणाम किया। वह रोती हुई कहने लगी—'मेरे पतिदेवने मुझे यही एक थाती दी थी। इसे खोकर मैं अब क्या मुख उन्हें दिखाऊँगी। वे कहा करते थे कि यह बालक द्वारकामें जाकर शस्त्रशिक्षा प्राप्त करेगा। वे कभी झूठ नहीं बोले थे। हाय, उनकी अन्तिम बात झूठी हो रही है। यही एकमात्र पाण्डवोंके वंशमें बचा था। अब कौन पूर्वजोंको पिण्ड देगा। इसके बिना मैं, आपकी बहिन, माता कुन्ती तथा कोई भी जीवन-धारण नहीं करेगा। पार्थका पौत्र मरा हुआ उत्पन्न हुआ, इसे सुनकर धर्मराज मुझे क्या कहेंगे? मेरे श्वशुर ही मुझे क्या कहेंगे? आपका अपने भानजेपर अत्यन्त प्रेम था। उन्हींका यह पुत्र निर्दयतासे ब्रह्मास्त्रद्वारा मार डाला गया है। मैं आपसे इसकी भिक्षा माँगती हूँ।'

पगलीकी भाँति उत्तराने मृत बालकको गोदमें उठा लिया और कहने लगी—'बेटा! यह त्रिभुवनके स्वामी तेरे सम्मुख खड़े हैं। तू धर्मात्मा तथा शीलवान् पिताका पुत्र है। यह अशिष्टता अच्छी नहीं। इन सर्वेश्वरको प्रणाम कर। इनके मङ्गलमय मुखारविन्दका दर्शन करके अपने नेत्रोंको सार्थक कर। मैंने सोचा था कि तुझे गोदमें लेकर इन उत्पत्ति-पालन-प्रलय-समर्थ सर्वाधारके श्रीचरणोंपर मस्तक रखूँगी। मेरी सारी आशाएँ नष्ट हो गयीं।'

श्रीकृष्णने पवित्र जल लेकर आचमन किया और ब्रह्मास्त्रको शमित कर दिया। इतना करके वे बोले—'यदि धर्म और ब्राह्मणोंमें मेरा सच्चा प्रेम हो तो यह बालक जीवित हो जाय। यदि मुझमें सत्य और धर्मकी निरन्तर स्थिति रहती हो तो अभिमन्युका यह बालक जीवनलाभ करे। यदि मैंने राग-द्वेषरहित बुद्धिसे केशी और कंसको मारकर धर्म किया हो तो यह ब्रह्मास्त्रसे मृत शिशु अभी जी उठे।'

सहसा बालकका श्वास चलने लगा। उसने नेत्र खोल दिये। चारों ओर आनन्दकी लहर दौड़ गयी। पाण्डवोंका वंशधर यही शिशु परीक्षित् था। विष्णुके द्वारा रक्षित होनेके कारण उसका एक नाम **'विष्णुरात' भी पड़ा।**

प्रह्लादकृत श्रीनृसिंहजीकी स्तुति

नरहरि कर परसत तुरत, झरत नयन तें नीर। करन लगे प्रह्लादजी अस्तुति गिरा गँभीर॥
जब परी जननीपै भीर तबहिं दुख टारे। हे कृपानाथ! करुणेश! जगत-रखवारे॥
नित सत्त्व-प्रकृति सुर तुमहि रिझावैं, ध्यावैं। अज-सिव-सनकादिक पार न पावैं, गावैं॥
हम नीच असुर अति क्रूर, अधम कहलावैं। क्यों करी कृपा शुभ दरशन दीन्हे प्यारे॥ हे कृपा०
नहिं कोई तुमकूँ तप प्रभाव तैं पावैं। यदि भक्त होय तो पशु हू पै ढुरि जावैं॥
हों भक्तहीन द्विज, नहिं तिन मख महँ आवैं। अगनित खलश्वपचहु भक्त भक्तितें तारे॥ हे कृपा०
जो जैसे तुमकूँ नरहरि भगवन्! ध्यावै। वह तैसो दरशन नाथ! तुम्हारो पावै॥
ज्यों दरपनमें प्रतिबिम्ब-स्वरूप लखावै। ह्वै प्रकट खंभते मेटे दुःख हमारे॥ हे कृपा०
भक्तनि हित नित नव कच्छ-मच्छ वपु धारौ। जो शत्रु भावतैं भजैं तिनहिं संहारौ॥
असुरनिकूँ दैकें मुक्ति सुरनि दुख टारे। जग जीवनि हित अति मधुर चरित बिस्तारे॥ हे कृपा०
नित तुमरे चरितनि भक्त-जनन में गाऊँ। नित रूप मनोहर तुमरो नरहरि! ध्याऊँ॥
भव-तरनि चरन गहि नाथ! पार ह्वै जाऊँ। हैं जग-जीवन अति सुखमय चरन तिहारे॥ हे कृपा०
यह जीव जगतमें तुमकौं तजिकै भटक्यो। मायाके फंदे फँस्यो गुननिमहँ अटक्यो॥
चौरासी चक्कर माहिं अविद्या पटक्यो। हो तुम ही नरहरि केवल एक सहारे॥ हे कृपा०
नहिं उत्तम मध्यम अधम बुद्धि है तुमरी। है तुमकूँ सृष्टि समान चराचर सबरी॥
हम काल-व्यालसे डसे, लेउ सुधि हमरी। ये काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह अहि कारे॥ हे कृपा०
यह मन मेरो है नरहरि! चंचल भारी। नहिं सुनै तुम्हारी कथा सकल अघहारी॥
हौं दीन हीन अति छीन गँवार भिखारी। हे नाथ लगाओ डूबत नाव किनारे॥ हे कृपा०
है माया अपरम्पार तुम्हारी स्वामी। कैसे पावें हम तुम्हें असुर खल कामी॥
हो घट-घट-व्यापी प्रभुवर अन्तरयामी। निगमागम सबरे नेति-नेति कहि हारे॥ हे कृपा०
हे कृपानाथ, करुणेश, जगत-रखवारे। जब परी जननिपै भीर, तबहिं दुख टारे॥

—श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारीकृत 'श्रीभागवत-चरित'से

भक्त-वाणी

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो। भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥
जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान्। नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिञ्चनगोचरम्॥

(श्रीमद्भा० १। ८। २५-२६)

जगद्गुरो! हमारे जीवनमें सदा पद-पदपर विपत्तियाँ आती रहें; क्योंकि विपत्तियोंमें निश्चितरूपसे आपके दर्शन हो जानेपर फिर जन्म-मृत्युके चक्करमें नहीं आना पड़ता। ऊँचे कुलमें जन्म, ऐश्वर्य, विद्या और सम्पत्तिके कारण जिसका घमंड बढ़ रहा है, वह मनुष्य तो आपका नाम भी नहीं ले सकता; क्योंकि आप तो उन लोगोंको दर्शन देते हैं, जो अकिञ्चन हैं।

—कुन्ती

भक्त प्रह्लाद

रामनाम जपतां कुतो भयं सर्वतापशमनैकभेषजम्।
पश्य तात मम गात्रसन्निधौ पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना॥

जब भगवान् वाराहने पृथ्वीको रसातलसे लाते समय हिरण्याक्षको मार दिया, तब उसका बड़ा भाई दैत्यराज हिरण्यकशिपु बहुत ही क्रोधित हुआ। उसने निश्चय किया कि 'मैं अपने भाईका बदला लेकर रहूँगा।' अपनेको अजेय एवं अमर बनानेके लिये हिमालयपर जाकर वह तप करने लगा। उसने सहस्रों वर्षोंतक उग्र तप करके ब्रह्माजीको सन्तुष्ट किया। ब्रह्माजीने उसे वरदान दिया कि 'तुम किसी अस्त्र-शस्त्रसे, ब्रह्माजीद्वारा निर्मित किसी प्राणीसे, रातमें, दिनमें, जमीनपर, आकाशमें—कहीं मारे नहीं जाओगे।'

जब हिरण्यकशिपु तपस्या करने चला गया था, तभी देवताओंने दैत्योंकी राजधानीपर आक्रमण किया। कोई नायक न होनेसे दैत्य हारकर दिशाओंमें भाग गये। देवताओंने दैत्योंकी राजधानीको लूट लिया। देवराज इन्द्रने हिरण्यकशिपुकी पत्नी कयाधूको बंदी कर लिया और स्वर्गको ले चले। रास्तेमें देवर्षि नारद मिल गये। उन्होंने इन्द्रको रोका कि 'तुम दैत्यराजकी पतिव्रता पत्नीको मत ले जाओ।' इन्द्रने बताया कि 'कयाधू गर्भवती है। उसके जब सन्तान हो जायगी, तब उसके पुत्रका वध करके उसे छोड़ दिया जायगा।' देवर्षिने कहा—'इसके गर्भमें भगवान्‌का परम भक्त है। उससे देवताओंको भय नहीं है। उस भागवतको मारा नहीं जा सकता।' इन्द्रने देवर्षिकी बात मान ली। वे 'कयाधूके गर्भमें भगवान्‌का भक्त है' यह सुनकर उसकी परिक्रमा करके अपने लोकको चले गये।

जब कयाधू देवराजके बन्धनसे छोड़ दी गयी, तब वह देवर्षिके ही आश्रममें आकर रहने लगी। उसके पति जबतक तपस्यासे न लौटें, उसके लिये दूसरा निरापद आश्रय नहीं था। देवर्षि भी उसे पुत्रीकी भाँति मानते थे और बराबर गर्भस्थ बालकको लक्ष्य करके उसे भगवद्भक्तिका उपदेश किया करते थे। गर्भस्थ बालक प्रह्लादने उन उपदेशोंको ग्रहण कर लिया। भगवान्‌की कृपासे वह उपदेश उन्हें फिर भूला नहीं।

जब वरदान पाकर हिरण्यकशिपु लौटा, तब उसने सभी देवताओंको जीत लिया। सभी लोकपालोंको जीतकर वह उनके पदका स्वयं उपभोग करने लगा। उसे भगवान्‌से घोर शत्रुता थी, अतः ऋषियोंको वह कष्ट देने लगा। यज्ञ उसने बंद करा दिये। धर्मका वह घोर विरोधी हो गया। उसके गुरु शुक्राचार्य उस समय तप करने चले गये थे। अपने पुत्र प्रह्लादको उसने अपने गुरुपुत्र शण्ड तथा अमर्कके पास शिक्षा पाने भेज दिया। प्रह्लाद उस समय पाँच ही वर्षके थे। एक बार प्रह्लाद घर आये। माताने उनको वस्त्राभरणोंसे सजाया। पिताके पास जाकर उन्होंने प्रणाम किया। हिरण्यकशिपुने प्रह्लादको गोदमें बैठा लिया। स्नेहपूर्वक उनसे उसने पूछा—'बेटा! तुमने जो कुछ पढ़ा है, उसमेंसे कोई अच्छी बात मुझे भी सुनाओ तो।'

प्रह्लादजीने कहा—'पिताजी! संसारके सभी प्राणी असत् संसारमें आसक्त होकर सदा उद्विग्न रहते हैं। मैं तो सबके लिये यही अच्छा मानता हूँ कि अपना पतन करानेवाले जलहीन अन्धकूपके समान घरोंको छोड़कर मनुष्य वनमें जाकर श्रीहरिका आश्रय ले।'

हिरण्यकशिपु जोरसे हँस पड़ा। उसे लगा कि किसी शत्रुने मेरे बच्चेको बहका दिया है। उसने गुरुपुत्रोंको सावधान किया कि 'वे प्रह्लादको सुधारें। उसे दैत्यकुलके उपयुक्त अर्थ, धर्म, कामका उपदेश दें।' गुरुपुत्र प्रह्लादको अपने यहाँ ले आये। उन्होंने प्रह्लादसे पूछा कि 'तुमको यह उलटा ज्ञान किसने दिया है?' प्रह्लादने कहा—'गुरुदेव! यह मैं हूँ और यह दूसरा है, यह तो अज्ञान है। भगवान्‌की इस मायासे ही जीव मोहित हो रहे हैं। वे दयामय जिसपर दया करते हैं, उसीका चित्त उनमें लगता है। मेरा चित्त तो उनकी अनन्त कृपासे ही उन परम पुरुषकी ओर सहज खिंच गया है।'

गुरुपुत्रोंने बहुत डाँटा-धमकाया और वे प्रह्लादको अर्थशास्त्र, दण्डनीति, राजनीति आदिकी शिक्षा देने लगे। गुरुद्वारा पढ़ायी विद्याको प्रह्लाद ध्यानपूर्वक सीखते थे। वे गुरुका कभी अपमान नहीं करते थे और न उन्होंने विद्याका ही तिरस्कार किया; पर उस विद्याके प्रति उनके मनमें

कभी आस्था नहीं हुई। गुरुपुत्रोंने जब उन्हें भलीभाँति सुशिक्षित समझ लिया, तब दैत्यराजके पास ले गये। हिरण्यकशिपुने अपने विनयी पुत्रको गोदमें बैठाकर फिर पूछा—'बताओ, बेटा! तुम अपनी समझसे उत्तम ज्ञान क्या मानते हो?' प्रह्लादजीने कहा—'भगवान्‌के गुण एवं चरित्रोंका श्रवण, उनकी लीलाओं तथा नामोंका कीर्तन, उन मङ्गलमयका स्मरण, उनके श्रीचरणोंकी सेवा, उन परम प्रभुकी पूजा, उनकी वन्दना, उनके प्रति दास्यभाव, उनसे सख्य, उन्हें आत्मनिवेदन—यह नवधा भक्ति है। इस नवधा भक्तिके आश्रयसे भगवान्‌में चित्त लगाना ही समस्त अध्ययनका सर्वोत्तम फल मैं मानता हूँ।'

हिरण्यकशिपु तो क्रोधसे लाल-पीला हो गया। उसने गोदसे प्रह्लादको धक्का देकर भूमिपर पटक दिया। गुरुपुत्रोंको उसने डाँटा कि 'तुमलोगोंने मेरे पुत्रको उलटी शिक्षा देकर शत्रुका व्यवहार किया है।' गुरुपुत्रोंने बताया कि 'इसमें हमारा कोई दोष नहीं है।' प्रह्लादजी पिताद्वारा तिरस्कृत होकर भी शान्त खड़े थे। उन्हें कोई क्षोभ नहीं था। उन्होंने कहा—'पिताजी! आप रुष्ट न हों। गुरुपुत्रोंका कोई दोष नहीं है। जो लोग विषयासक्त हैं—घरके, परिवारके मोहमें जिनकी बुद्धि बँधी है, वे तो, उगले हुएको खानेके समान, नरकमें ले जानेवाले विषयोंके, जो बार-बार भोगे गये हैं, सेवन करनेमें लगे हैं। उनकी बुद्धि अपने-आप या दूसरेकी प्रेरणासे भी भगवान्‌में नहीं लगती। जैसे एक अन्धा दूसरे अन्धेको मार्ग नहीं बता सकता, वैसे ही जो सांसारिक सुखोंको ही परम पुरुषार्थ माने हुए हैं, वे भगवान्‌के स्वरूपको नहीं जानते। वे भला, किसीको क्या मार्ग दिखा सकते हैं। सम्पूर्ण क्लेशों, सभी अनर्थोंका नाश तो तभी होता है, जब बुद्धि भगवान्‌के श्रीचरणोंमें लगे। परन्तु जबतक महापुरुषोंकी चरण-रज मस्तकपर धारण न की जाय, तबतक बुद्धि निर्मल होकर भगवान्‌में लगती नहीं।'

नन्हा-सा बालक त्रिभुवनविजयी दैत्यराजके सामने निर्भय होकर इस प्रकार उनके शत्रुका पक्ष ले, यह असह्य हो गया दैत्यराजको। चिल्लाकर हिरण्यकशिपुने अपने क्रूर सभासद् दैत्योंको आज्ञा दी—'जाओ, तुरंत इस दुष्टको मार डालो।' असुर भाले, त्रिशूल, तलवार आदि लेकर एक साथ 'मारो! काट डालो।' चिल्लाते हुए पाँच वर्षके बालकपर टूट पड़े। पर प्रह्लाद निर्भय खड़े रहे। उन्हें तो सर्वत्र अपने दयामय प्रभु ही दिखायी पड़ते थे। डरनेका कोई कारण ही नहीं जान पड़ा उन्हें। असुरोंने पूरे बलसे अपने अस्त्र-शस्त्र बार-बार चलाये; किंतु प्रह्लादको कोई क्लेश नहीं हुआ। उनको तनिक भी चोट नहीं लगी। उनके शरीरसे छूते ही वे हथियार टुकड़े-टुकड़े हो जाते थे।

अब हिरण्यकशिपुको आश्चर्य हुआ। उसने प्रह्लादको मारनेका निश्चय कर लिया। अनेक उपाय करने लगा वह। मतवाले हाथीके सामने हाथ-पैर बाँधकर प्रह्लाद डाल दिये गये, पर हाथीने उन्हें सूँड़से उठाकर मस्तकपर बैठा लिया। कोठरीमें उन्हें बंद किया गया और वहाँ भयंकर सर्प छोड़े गये, पर वे सर्प प्रह्लादके पास पहुँचकर केंचुओंके समान सीधे हो गये। जंगली सिंह जब वहाँ छोड़ा गया, तब वह पालतू कुत्तेके समान पूँछ हिलाकर प्रह्लादके पास जा बैठा। प्रह्लादको भोजनमें उग्र विष दिया गया; किंतु उससे उनके ऊपर कोई प्रभाव न हुआ, विष जैसे उनके उदरमें जाकर अमृत हो गया हो। अनेक दिनोंतक भोजन तो क्या, जलकी एक बूँदतक प्रह्लादको नहीं दी गयी; पर वे शिथिल होनेके बदले ज्यों-के-त्यों बने रहे। उनका तेज बढ़ता ही जाता था। उन्हें ऊँचे पर्वतपरसे गिराया गया और पत्थर बाँधकर समुद्रमें फेंका गया। दोनों बार वे सकुशल भगवन्नामका कीर्तन करते नगरमें लौट आये। बड़ा भारी लकड़ियोंका पर्वत एकत्र किया गया। हिरण्यकशिपुकी बहिन होलिकाने तप करके एक वस्त्र पाया था। वह वस्त्र अग्निमें जलता नहीं था। होलिका वह वस्त्र ओढ़कर प्रह्लादको गोदमें लेकर उस लकड़ियोंके ढेरपर बैठ गयी। उस ढेरमें अग्नि लगा दी गयी। होलिका तो भस्म हो गयी। पता नहीं, कैसे उसका वस्त्र उड़ गया उसके देहसे; किंतु प्रह्लाद तो अग्निमें बैठे हुए पिताको समझा रहे थे—'पिताजी! आप भगवान्‌से द्वेष करना छोड़ दें। राम-नामका यह प्रभाव तो देखें कि यह अग्नि मुझे अत्यन्त शीतल लग रही है। आप भी राम-नाम लें और संसारके समस्त तापोंसे इसी प्रकार निर्भय हो जायँ।'

दैत्यराज हिरण्यकशिपुके अनेक दैत्योंने मायाके प्रयोग किये; किंतु माया तो प्रह्लादके सम्मुख टिकती ही

नहीं। उनके नेत्र उठाते ही मायाके दृश्य अपने-आप नष्ट हो जाते हैं। गुरुपुत्र शण्ड तथा अमर्कने अभिचारके द्वारा प्रह्लादको मारनेके लिये कृत्या उत्पन्न की; परंतु उस कृत्याने गुरुपुत्रोंको ही उलटे मार दिया। प्रह्लादने भगवान्‌की प्रार्थना करके गुरुपुत्रोंको फिरसे जीवित किया। यों मारनेकी चेष्टा करनेवालोंको उनके मरनेपर जिला दिया। धन्य है! इस प्रकार दैत्यराजने अनेकों उपाय कर लिये प्रह्लादको मारनेके, पर कोई सफल न हुआ। जिसका चित्त भगवान्‌में लगा है, जो सर्वत्र अपने दयामय प्रभुको प्रत्यक्ष देखता है, भला, उसकी तनिक-सी भी हानि वे सर्वसमर्थ प्रभु कैसे होने दे सकते हैं।

अब दैत्यराजको भय लगा। वे सोचने लगे कि 'कहीं यह नन्हा-सा बालक मेरी मृत्युका कारण न हो जाय।' गुरुपुत्रोंके कहनेसे वरुणके पाशमें बाँधकर प्रह्लादको उन्होंने फिर गुरुगृह भेज दिया। शिक्षा तथा सङ्गके प्रभावसे बालक सुधर जाय, यह उनकी इच्छा थी। गुरुगृहमें प्रह्लादजी अपने गुरुओंकी पढ़ायी विद्या पढ़ते तो थे, पर उनका चित्त उसमें लगता नहीं था। जब दोनों गुरु आश्रमके काममें लग जाते, तब प्रह्लाद अपने सहपाठी बालकोंको बुला लेते। एक तो ये राजकुमार थे, दूसरे अत्यन्त नम्र तथा सबसे स्नेह करनेवाले थे; अतएव सब बालक खेलना छोड़कर इनके बुलानेपर इनके समीप ही एकत्र हो जाते थे। प्रह्लादजी बड़े प्रेमसे उन बालकोंको समझाते थे—'भाइयो! यह जन्म व्यर्थ नष्ट करने योग्य नहीं है। यदि इस जीवनमें भगवान्‌को न पाया गया तो बहुत बड़ी हानि हुई। घर-द्वार, स्त्री-पुत्र, राज्य-धन आदि तो दुःख ही देनेवाले हैं। इनमें मोह करके तो नरक जाना पड़ता है। इन्द्रियोंके विषयोंसे हटा लेनेमें ही सुख और शान्ति है। भगवान्‌को पानेका साधन सबसे अच्छे रूपमें इस कुमारावस्थामें ही हो सकता है। बड़े होनेपर तो स्त्री, पुत्र, धन आदिका मोह मनको बाँध लेता है और भला, वृद्धावस्थामें कोई कर ही क्या सकता है। भगवान्‌को पानेमें कोई बड़ा परिश्रम भी नहीं। वे तो हम सबके हृदयमें ही रहते हैं। सब प्राणियोंमें वे ही भगवान् हैं, अतः किसी प्राणीको कष्ट नहीं देना चाहिये। मनको सदा भगवान्‌में ही लगाये रहना चाहिये।'

सीधे-सादे सरल-चित्त दैत्यबालकोंपर प्रह्लादजीके उपदेशका प्रभाव पड़ता था। बार-बार सुनते-सुनते वे उस उपदेशपर चलनेका प्रयत्न करने लगे। शुक्राचार्यके पुत्रोंने यह सब देखा तो उन्हें बहुत भय हुआ। उन्होंने प्रह्लादको दैत्यराजके पास ले जाकर सब बातें बतायीं। अब हिरण्यकशिपुने अपने हाथसे प्रह्लादको मारनेका निश्चय किया। उसने गरजकर पूछा—'अरे मूर्ख! तू किसके बलपर मेरा बराबर तिरस्कार करता है? मैं तेरा वध करूँगा। कहाँ है तेरा वह सहायक? वह अब तुझे आकर बचाये तो देखूँ!'

प्रह्लादजीने नम्रतासे उत्तर दिया—'पिताजी! आप क्रोध न करें। सबका बल उस एक निखिल शक्तिसिन्धुके सहारे ही है! मैं आपका तिरस्कार नहीं करता। संसारमें जीवका कोई शत्रु है तो उसका अनियन्त्रित मन ही है। उत्पथगामी मनको छोड़कर दूसरा कोई किसीका शत्रु नहीं। भगवान् तो सब कहीं हैं। वे मुझमें हैं, आपमें हैं, आपके हाथके इस खड्गमें हैं, इस खम्भेमें हैं, सर्वत्र हैं।

'वे इस खम्भेमें भी हैं?' हिरण्यकशिपुने प्रह्लादकी बात पूरी होने नहीं दी। उसने सिंहासनसे उठकर पूरे जोरसे एक घूँसा खम्भेपर मारा। घूँसेके शब्दके साथ ही एक महाभयङ्कर दूसरा शब्द हुआ, जैसे सारा ब्रह्माण्ड फट गया हो। सब लोग भयभीत हो गये। हिरण्यकशिपु भी इधर-उधर देखने लगा। उसने देखा कि वह खम्भा बीचसे फट गया है और उससे मनुष्यके शरीर एवं सिंहके मुखकी एक अद्भुत भयङ्कर आकृति प्रकट हो रही है। भगवान् नृसिंहके प्रचण्ड तेजसे दिशाएँ जल-सी रही थीं। वे बार-बार गर्जन कर रहे थे। दैत्यने बहुत उछल-कूद की, बहुत पैंतरे बदले उसने; किंतु अन्तमें नृसिंहभगवान्‌ने उसे पकड़ लिया और राजसभाके द्वारपर ले जाकर अपने जानुपर रखकर नखोंसे उसका हृदय फाड़ डाला।

दैत्यराज हिरण्यकशिपु मारा गया, किंतु भगवान् नृसिंहका क्रोध शान्त नहीं हुआ। वे बार-बार गर्जना कर रहे थे। ब्रह्माजी, शंकरजी तथा दूसरे सभी देवताओंने दूरसे ही उनकी स्तुति की। पास आनेका साहस तो भगवती लक्ष्मीजी भी न कर सकीं। वे भी भगवान्‌का वह विकराल क्रुद्ध रूप देखकर डर गयीं। अन्तमें ब्रह्माजीने प्रह्लादको नृसिंहभगवान्‌को शान्त करनेके लिये उनके पास भेजा। प्रह्लाद निर्भय भगवान्‌के पास जाकर उनके चरणोंपर गिर गये। भगवान्‌ने स्नेहसे उन्हें उठाकर

अपनी गोदमें बैठा लिया। वे बार-बार अपनी जीभसे प्रह्लादको चाटते हुए कहने लगे—'बेटा प्रह्लाद! मुझे आनेमें बहुत देर हो गयी। तुझे बहुत कष्ट सहने पड़े। तू मुझे क्षमा कर दे।'

प्रह्लादजीका कण्ठ भर आया। आज त्रिभुवनके स्वामी उनके मस्तकपर अपना अभय कर रखकर उन्हें स्नेहसे चाट रहे थे। प्रह्लादजी धीरेसे उठे। उन्होंने दोनों हाथ जोड़कर भगवान्‌की स्तुति की। बड़े ही भक्तिभावसे उन्होंने भगवान्‌का गुणगान किया। अन्तमें भगवान्‌ने उनसे वरदान माँगनेको कहा। प्रह्लादजीने कहा—'प्रभो! आप वरदान देनेकी बात करके मेरी परीक्षा क्यों लेते हैं? जो सेवक स्वामीसे अपनी सेवाका पुरस्कार चाहता है, वह तो सेवक नहीं, व्यापारी है। आप तो मेरे उदार स्वामी हैं। आपको सेवाकी अपेक्षा नहीं है और मुझे भी सेवाका कोई पुरस्कार नहीं चाहिये। मेरे नाथ! यदि आप मुझे शुद्ध वरदान ही देना चाहते हैं तो मैं आपसे यही माँगता हूँ कि मेरे हृदयमें कभी कोई कामना ही न उठे।'

फिर प्रह्लादजीने भगवान्‌से प्रार्थना की—'मेरे पिता आपकी और आपके भक्त मेरी निन्दा करते थे, वे इस पापसे छूट जायँ।'

भगवान्‌ने कहा—'प्रह्लाद! जिस कुलमें मेरा भक्त होता है, वह पूरा कुल पवित्र हो जाता है। तुम जिसके पुत्र हो, वह तो परम पवित्र हो चुका। तुम्हारे पिता तो इक्कीस पीढ़ियोंके साथ पवित्र हो चुके। मेरा भक्त जिस स्थानपर उत्पन्न होता है, वह स्थान धन्य है। वह पृथ्वी तीर्थ हो जाती है, जहाँ मेरा भक्त अपने चरण रखता है।' भगवान्‌ने वचन दिया कि 'अब मैं प्रह्लादकी सन्तानोंका वध नहीं करूँगा।' कल्पपर्यन्तके लिये प्रह्लादजी अमर हुए। वे भक्तराज अपने महाभागवत पौत्र बलिके साथ अब भी सुतलमें भगवान्‌की आराधनामें नित्य तन्मय रहते हैं!

दैत्यराज विरोचन

ननु स्वार्थपरो लोको न वेद परसङ्कटम्।
यदि वेद न याचेत नेति नाह यदीश्वरः॥

(श्रीमद्भा० ६। १०। ६)

श्रीप्रह्लादजीके पुत्र दैत्यराज विरोचन परम ब्राह्मणभक्त थे। इन्द्रके साथ ही ब्रह्मलोकमें ब्रह्माजीके पास ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए उन्होंने निवास किया था। ब्रह्माजीके द्वारा उपदेश किया हुआ तत्त्वज्ञान यद्यपि वे यथार्थरूपसे ग्रहण नहीं कर सके, तथापि धर्ममें उनकी श्रद्धा थी और उनकी गुरुभक्तिके कारण महर्षि शुक्राचार्य उनपर बहुत प्रसन्न थे। विरोचनके दैत्याधिपति होनेपर दैत्यों, दानवों तथा असुरोंका बल बहुत बढ़ गया था। इन्द्रको कोई रास्ता ही नहीं दीखता था कि कैसे वे दैत्योंकी बढ़ती हुई शक्तिको दबाकर रखें।

विरोचनने स्वर्गपर अधिकार करनेकी इच्छा नहीं की थी; किन्तु इन्द्रका भय बढ़ता जाता था। इन्द्र देखते थे कि यदि कभी दैत्योंने आक्रमण किया तो हम धर्मात्मा विरोचनको हरा नहीं सकते। अन्तमें देवगुरु बृहस्पतिकी सलाहसे एक दिन वे वृद्ध ब्राह्मणका रूप धारण करके विरोचनके यहाँ गये। ब्राह्मणोंके परम भक्त और उदार शिरोमणि दैत्यराजने उनका स्वागत किया, उनके चरण धोये और उनका पूजन किया। इन्द्रने विरोचनके दान और उनकी उदारताकी बहुत ही प्रशंसा की।

विरोचनने नम्रतापूर्वक वृद्ध ब्राह्मणसे कहा कि 'आपको जो कुछ माँगना हो, उसे आप संकोच छोड़कर माँग लें।' इन्द्रने बातको अनेक प्रकारसे पक्की कराके तब कहा—'दैत्यराज! मुझे आपकी आयु चाहिये।' बात यह थी कि यदि विरोचनको किसी प्रकार मार भी दिया जाता तो शुक्राचार्य उन्हें अपनी संजीवनी विद्यासे फिर जीवित कर सकते थे।

विरोचनको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे कहने लगे—'मैं धन्य हूँ। मेरा जन्म लेना सफल हो गया। आज मेरा जीवन एक विप्रने स्वीकार किया, इससे बड़ा सौभाग्य मेरे लिये और क्या हो सकता है।'

अपने हाथमें खड्ग लेकर स्वयं उन्होंने अपना मस्तक काटकर वृद्ध ब्राह्मण बने हुए इन्द्रको दे दिया। इन्द्र उस मस्तकको लेकर भयके कारण शीघ्रतासे स्वर्ग चले आये और यह अपूर्व दान करके विरोचन तो भगवान्‌के नित्य धाममें ही पहुँच गये। भगवान्‌ने उन्हें अपने निज जनोंमें ले लिया।

महादानी बलि

किमात्मनानेन जहाति योऽन्ततः
किं रिक्थहारैः स्वजनाख्यदस्युभिः।
किं जायया संसृतिहेतुभूतया
मर्त्यस्य गेहैः किमिहायुषो व्ययः॥

(श्रीमद्भा० ८। २२। ९)

भक्तश्रेष्ठ प्रह्लादके पुत्र विरोचनकी पत्नी सुरोचनासे दैत्यकुलकी कीर्तिको अमर करनेवाले उदारमना बलिका जन्म हुआ था। विरोचनके पश्चात् ये ही दैत्येश्वर हुए। जब दुर्वासा ऋषिके शापसे इन्द्रकी श्री नष्ट हो गयी, तब दैत्य-दानवोंकी सेना लेकर बलिने देवताओंपर चढ़ाई की और स्वर्गपर पूरा अधिकार कर लिया। देवता पराजित होकर ब्रह्माजीके पास गये। ब्रह्माजीने भगवान्‌की स्तुति की। वे प्रभु प्रकट हुए और उन्होंने क्षीरसिन्धुके मन्थनका आदेश दिया। भगवान् विष्णुकी सम्मतिसे इन्द्रने बलिसे सन्धि कर ली। अमृतकी प्राप्तिके लिये देवता एवं दैत्य दोनोंने मिलकर समुद्रका मन्थन किया, परंतु सफलता तो सदा श्रीहरिके चरणोंमें ही रहती है। भगवान्‌का आश्रय लेनेके कारण देवताओंको अमृत मिला और भगवान्‌से विमुख दैत्य उससे वञ्चित ही रह गये।

भगवान्‌ने मोहिनीरूप धारण करके क्षीरसमुद्रसे निकले अमृत-कलशको, जिसे दैत्योंने छीन लिया था, ले लिया और युक्तिपूर्वक देवताओंको अमृत पिला दिया। इस भेदके प्रकट होनेपर दैत्य बहुत ही क्रुद्ध हुए। देवताओं एवं दैत्योंमें बड़ा भयंकर युद्ध छिड़ गया। भगवान्‌की कृपा देवताओंपर थी, अतः उनको विजयी होना ही था। दैत्य पराजित हुए। बहुत-से मारे गये। स्वयं दैत्यराज बलि युद्धभूमिमें वज्रद्वारा मारे गये थे। बचे हुए दैत्योंने बलि तथा दूसरे सभी अपने पक्षके सैनिकोंके मृत या घायल शरीरोंको उठा लिया और वे उन्हें अस्ताचल पर्वतपर ले गये। वहाँ दैत्यगुरु शुक्राचार्यजीने अपनी सञ्जीवनी विद्यासे सभी मृत दैत्योंको जीवित कर दिया।

बलि पहलेसे ही ब्राह्मणोंके परम भक्त थे। अब तो आचार्य शुक्रने उन्हें जीवन ही दिया था। वे सब प्रकारसे गुरु एवं विप्रोंकी सेवामें लग गये। उनकी निश्छल सेवासे आचार्य बड़े ही प्रसन्न हुए। शुक्राचार्यजीने बलिसे यज्ञ कराना प्रारम्भ किया। उस विश्वजित् यज्ञके सम्पूर्ण होनेपर सन्तुष्ट हुए अग्निने प्रकट होकर बलिको घोड़ोंसे जुता रथ, दिव्य धनुष, अक्षय त्रोण एवं अभेद्य कवच प्रदान किये। आचार्यकी आज्ञासे उनको प्रणाम करके बलि उस रथपर सवार हुए और उन्होंने स्वर्गपर चढ़ाई कर दी। इस बार उनका तेज असह्य था। देवगुरु बृहस्पतिके आदेशसे देवता बिना युद्ध किये ही स्वर्ग छोड़कर भाग गये। बलि अमरावतीको अधिकारमें करके त्रिलोकीके अधिपति हो गये। आचार्य शुक्रने उनसे अश्वमेधयज्ञ कराना प्रारम्भ किया। बिना सौ अश्वमेधयज्ञ किये कोई इन्द्र नहीं बन सकता, आचार्य शुक्र सौ अश्वमेध कराके बलिको नियमित इन्द्र बना देना चाहते थे।

देवमाता अदितिको बड़ा दुःख हुआ कि मेरे पुत्रोंको स्वर्ग छोड़कर इधर-उधर पर्वतोंकी गुफाओंमें छिपे हुए बड़े कष्टसे दिन बिताने पड़ते हैं। वे महासती अपने पति महर्षि कश्यपकी शरण गयीं और महर्षिके आदेशानुसार उन्होंने भगवान्‌की आराधना की। भगवान्‌ने दर्शन देकर देवमाताको बताया—'माता! जिसपर देवता तथा ब्राह्मण प्रसन्न हों, जो धर्मपर स्थिर हो, उसके विरुद्ध बलप्रयोग सफल नहीं होता। वहाँ तो विरोध करके कष्ट ही मिलता है। बलि धर्मात्मा और ब्राह्मणोंके परम भक्त हैं। मैं भी उनका तिरस्कार नहीं कर सकता, किंतु मेरी आराधना कभी व्यर्थ नहीं जाती। मैं आपकी इच्छा किसी प्रकार अवश्य पूरी करूँगा।'

भगवान् वामनरूपसे देवमाता अदितिके यहाँ पुत्र बनकर प्रकट हुए। महर्षि कश्यपने ऋषियोंके साथ उन वामनजीका यज्ञोपवीत-संस्कार कराया। वहाँसे भगवान् बलिकी यज्ञशालाकी ओर चले। नर्मदाके उत्तर तटपर शुक्राचार्यकी अध्यक्षतामें बलिका सौवाँ (१०० वाँ) अश्वमेधयज्ञ चल रहा था। निन्यानबे अश्वमेध वे पूरे कर चुके थे। सबने देखा कि सूर्यके समान तेजस्वी, वामनरूपके एक ब्रह्मचारी छत्ता, पलाशदण्ड तथा कमण्डलु लिये यज्ञशालामें पदार्पण कर रहे हैं। शरीरके अनुरूप बड़े ही सुन्दर छोटे-छोटे सुकुमार अङ्गवाले भगवान्‌को देखकर सभी लोग खड़े हो गये। बलिने वामन ब्रह्मचारी-रूपधारी भगवान्‌को सिंहासनपर बैठाकर उनके चरण धोये। वह पवित्र चरणोदक मस्तकपर चढ़ाया। भलीभाँति पूजन करके बलिने कहा—'ब्रह्मचारीजी! आपके आगमनसे आज

मैं कृतार्थ हो गया। मेरा कुल धन्य हो गया। अब आप जिस लिये पधारे हैं, वह निःसंकोच कहें; क्योंकि मुझे लगता है कि आप किसी उद्देश्यसे ही यहाँ आये हैं।'

भगवान्ने बलिकी प्रशंसा की। उनके कुलकी शूरता, दानशीलताकी प्रशंसा की और तब तीन पद भूमि माँगी। बलिको हँसी आ गयी। उन्होंने अधिक भूमि माँग लेनेका भगवान्से आग्रह किया। भगवान्ने कहा—'राजन्! तृष्णाकी तृप्ति तो कभी होती नहीं। मनुष्यको अपने प्रयोजनसे अधिककी इच्छा नहीं करनी चाहिये; अन्यथा उसे कभी शान्ति न मिलेगी। जिसकी भूमिमें कोई तप, जप आदि किया जाता है, उस भूस्वामीको भी उसका भाग मिलता है; अतः मैं तीन पद भूमि अपने लिये चाहता हूँ। मुझे इससे अधिक नहीं चाहिये।'

बलि जब भूमिदानका संकल्प देने लगे, तब आचार्य शुक्रने उन्हें रोका। शुक्राचार्यने बताया कि 'ये ब्रह्मचारीरूपमें साक्षात् विष्णु हैं और त्रिलोकी नाप लेने आये हैं।' आचार्यने यह भी कहा कि 'तीनों लोक इनके दो पदमें ही आ जायँगे। तीसरे पदको स्थान नहीं रहनेसे दानका संकल्प पूरा न होगा और उसके फलस्वरूप तुम्हें नरक भी मिल सकता है।' परंतु बलिने सोचकर आचार्यसे कह दिया कि 'मुझे ऐश्वर्यके नाश या नरकका भय नहीं है। मैं दान देनेको कहकर अस्वीकार नहीं करूँगा।' शुक्राचार्यने रुष्ट होकर बलिको शाप दे दिया—'तू मेरी आज्ञा नहीं मानता, अतः तेरा यह ऐश्वर्य नष्ट हो जायगा।'

आचार्यके शापसे भी बलि डरे नहीं। उन्होंने स्थिर चित्तसे श्रद्धापूर्वक वामनभगवान्को भूमिका दान किया। भूमि-दानका संकल्प हो जानेपर वामनभगवान्ने अपना रूप बढ़ाया। वे विराट्रूप हो गये। उन्होंने एक पदमें समस्त पृथ्वी नाप ली और उनका दूसरा चरण ब्रह्मलोकतक पहुँच गया। आक्रमणके लिये उद्यत दैत्योंको भगवान्के पार्षदोंने मारकर भगा दिया। वे सब पाताल चले गये। भगवान्की आज्ञासे गरुड़जीने बलिको वरुणपाशमें बाँध लिया। अब भगवान्ने कहा—'बलि! तुम्हें अपनी सम्पत्तिका बड़ा गर्व था। तुमने मुझे तीन पद भूमि दी थी; किंतु तुम्हारा समस्त राज्य दो पदमें तुम्हारे सामने मैंने नाप लिया। अब मेरी एक पद भूमि और दो।'

धर्मात्मा, सत्यवादी, ब्राह्मण-भक्त बलि राज्य छिन जाने और बन्धनमें होनेपर भी स्थिर थे। उन्हें तनिक भी दुःख या क्षोभ नहीं हुआ था। उन्होंने नम्रतासे कहा—'भगवन्! सम्पत्तिका स्वामी उस सम्पत्तिसे बड़ा होता है। आपने दो पदमें मेरा राज्य ले लिया, अब एक पदमें मेरा शरीर ले लें। तीसरा पद आप मेरे मस्तकपर रखें।' बलि धन्य हो गये!

भगवान्ने तीसरा पद बलिके मस्तकपर रख दिया। भगवान् ब्रह्मा यह सब देखकर स्वयं आये। यदि धर्मात्मा पुरुष बन्धनमें पड़े तो धर्मके आधारपर स्थित विश्व कैसे रहेगा। ब्रह्माजीने भगवान्से प्रार्थना की—'प्रभो! आपके चरणोंमें जो श्रद्धापूर्वक एक चुल्लू जल और दूर्वाके कुछ अंकुर चढ़ाता है; वह भी सम्पूर्ण बन्धनोंसे सदाके लिये छूट जाता है, फिर जिसने स्थिरचित्तसे श्रद्धापूर्वक आपको त्रिलोकीका राज्य दान कर दिया, वह बन्धनमें कैसे रह सकता है।'

यह बलिका बन्धन थोड़े ही था, यह तो वस्तुतः भगवान्ने स्वयं अपने बँधनेके लिये ही अपने मनका एक प्रकारका बन्धन-रज्जु प्रस्तुत किया था।

भगवान्ने ब्रह्माजीकी ओर देखा और फिर स्नेहसे बलिकी ओर देखते हुए वे बोले—'ब्रह्माजी! धर्मका फल ही है मुझे सन्तुष्ट करना। मैं प्रह्लादके इस धर्मात्मा पौत्रकी परीक्षा ले रहा था। आप जानते ही हैं कि जो अपने-आपको मुझे दे देता है, मैं भी अपनेको उसे दे देता हूँ। इस बलिने मुझे जीत लिया है। बेटा बलि! उठो! अब तुम अपने पितामह प्रह्लादके साथ सुतलमें जाओ। उस सुतलका राज्य करो, जिसके वैभवकी तुलनामें स्वर्ग किसी गणनामें नहीं है। मैं स्वयं अब बराबर गदा लिये वहाँ सदा-सर्वदा तुम्हारे द्वारपर उपस्थित रहूँगा। जो भी दैत्य-दानव तुम्हारी आज्ञा नहीं मानेंगे, उन्हें मेरा चक्र दण्ड देगा। तुम्हें नित्य मेरे दर्शन होंगे। पुत्र! तुम्हें इन्द्र ही तो होना था। मैं स्वयं तुम्हें अगले सावर्णि मन्वन्तरमें इन्द्रपदपर बैठाऊँगा।'

बलिके नेत्रोंसे अश्रुका प्रवाह चलने लगा। वे बोलनेमें असमर्थ हो गये। 'ये करुणामय प्रभु इतनी तुच्छ सेवासे द्रवित हो गये। वे सम्पूर्ण भुवनोंके स्वामी अब दैत्योंके द्वारपर द्वाररक्षक बनेंगे।' बलिने भगवान्के चरणोंपर मस्तक रख दिया। भगवान्की आज्ञासे शुक्राचार्यने वह यज्ञ पूर्ण कराया। बलि अब सुतलमें भगवान् वामनके द्वारा सुरक्षित विराजते हैं।

शिवभक्त बाणासुर

बाणः पुत्रशतज्येष्ठो बलेरासीन्महात्मनः।
येन वामनरूपाय हरयेऽदायि मेदिनी॥
तस्यौरसः सुतो बाणः शिवभक्तिरतः सदा।
मान्यो वदान्यो धीमांश्च सत्यसन्धो दृढव्रतः॥

'जिन्होंने वामनरूपधारी श्रीविष्णुभगवान्‌को यह समस्त पृथ्वी दान दे दी, उन्हीं महात्मा बलिके सौ पुत्र थे; उन सौमें बाणासुर सबसे बड़े थे। ये बड़े मान्य, उदार, बुद्धिमान्, सत्यप्रतिज्ञ, दृढव्रत और शिवजीके परम भक्त थे।'

असुरवंशमें प्रह्लादजी ऐसे कुलदीपक हुए कि उनके प्रभावसे उनका सारा वंश ही भक्त हो गया। प्रह्लादजी स्वयं परम भागवत विष्णुभक्त थे। पुण्यवान् परम भागवतोंकी जहाँ गणना होती है, वहाँ प्रह्लादजीका सर्वप्रथम नाम लिया जाता है। इनके पुत्र विरोचन थे; विरोचनके पुत्र बलि दानिशिरोमणि और इतने सत्यवादी हुए कि साक्षात् विष्णुभगवान्‌को उनके यज्ञमें आना पड़ा और छद्मवेशसे उन्हें बाँधकर अन्तमें स्वयं बलिके प्रेमपाशमें बँध जाना पड़ा। और तबसे अबतक उनके दरवाजेपर द्वारपाल बनकर आप विराजमान हैं। बलिके सौ पुत्र हुए, उनमें बाणासुर सबसे ज्येष्ठ थे। इन्होंने हिमालय प्रान्तमें केदारनाथजीके पास शोणितपुरको अपनी राजधानी बनाया। ये परम शिवभक्त और दृढ़प्रतिज्ञ थे। इनके हजार हाथ थे। यह हजारों वर्षोंतक शिवजीकी आराधना करते रहे। जब ताण्डव-नृत्यके समय शंकरजी लयके साथ नाचते, तब ये हजार हाथोंसे बाजे बजाते। इनकी सेवासे भूतनाथ भवानीपति परम प्रसन्न हुए। उन्होंने इन्हें वरदान माँगनेको कहा। इन्होंने प्रार्थना की—'प्रभो! मुझे तो आपकी कृपा चाहिये। जैसे मेरे पिताके यहाँ सदा विष्णुभगवान् विराजमान रहकर उनकी पुरीकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार आप भी मेरी राजधानीके निकट सदा निवास करें और मेरी रक्षा करते रहें।' आशुतोषभगवान्‌ने कहा, 'अच्छी बात है, ऐसा ही होगा।' यह कहकर शंकरजी वहाँ रहने लगे।

अधिक बल, विद्या, धन, वैभव आदि पाकर अभिमानका होना स्वाभाविक है; किंतु जिनके कोई इष्ट हैं, जो भक्त हैं, उनके अभिमानरूपी रोगको कल्याणकारी श्रीइष्टदेव शीघ्र ही नष्ट कर देते हैं। इसी प्रकार बाणासुरको भी अपने बलका और हजार भुजाओंका अभिमान हो गया था। वह पृथ्वीमें लड़ाईके लिये अपने समान बलवालेको खोजता रहा। दिग्गज उसके बलको देखकर भाग गये, देवता डर गये और इन्द्रने हार मान ली। तीनों लोकोंमें बाणासुरको कोई भी परास्त नहीं कर सका। इससे उसका अभिमान और बढ़ गया। उसने शिवजीके पास जाकर उनके चरणोंमें प्रणाम करके कहा—'भगवन्! ये सहस्र बाहु मेरे लिये भाररूप ही हैं, इनसे युद्ध करनेके लिये कोई बली मुझे मिलता ही नहीं। क्या करूँ? कैसे इनकी खुजली मिटाऊँ?'

सर्वान्तर्यामी शिव उसकी दर्पभरी वाणीका अभिप्राय समझ गये। वे तो दर्पहारी हैं ही, उन्होंने बाणासुरको एक झंडी दी और कहा—'जिस दिन यह झंडी स्वतः ही गिर पड़ेगी, उसी दिन समझना कि तुझसे अधिक बली तुझसे लड़ने आयेगा और तेरे दर्पको चूर्ण करेगा।' झंडी लेकर बाणासुर प्रसन्नताके साथ घर लौट गया। कालान्तरमें भगवान् वासुदेवने आकर उसके मदको चूर्ण किया और उसकी हजार भुजाओंमेंसे केवल चारको छोड़कर सभीको काट डाला। इतिहास इस प्रकार है—

बाणासुरकी एक ऊषा नामकी षोडशवर्षीया विवाहयोग्य कन्या थी, उसने एक दिन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीके पौत्र अनिरुद्धको स्वप्नमें देखा। ऐसी मनोहर मूर्तिको देखते ही वह उसपर अनुरक्त हो गयी। उसकी एक चित्ररेखा नामकी सखी थी, वह चित्रविद्या और आकाशमें उड़नेकी विद्या जानती थी। जब ऊषा जागी और घबरायी, तब चित्ररेखाने सबके चित्र बनाये। जब अनिरुद्धजीका चित्र बनाया, तब ऊषाने कहा—'ये ही हैं!' चित्ररेखा योगबलसे वहाँ गयी और रात्रिमें सोते हुए अनिरुद्धको उठा लायी और उन्हें ऊषाके महलोंमें रख दिया।

बहुत दिनोंतक अन्तःपुरमें रहनेसे धीरे-धीरे यह बात ऊषाके पिता बाणासुरके कानोंतक पहुँची। उसे बड़ा

क्रोध आया और उसने एक दिन स्वयं जाकर अनिरुद्धको पकड़ लिया और उन्हें कारागारमें बाँधकर डाल दिया। इधर-की-उधर खबर देनेवाले, वायुसे भी अधिक वेगवान्, चतुर्दश भुवनोंमें बिना रोक-टोक घूमनेवाले देवर्षि नारदजीने यह सब वृत्तान्त द्वारकापुरीमें जाकर समस्त यादवोंसे और श्रीकृष्णभगवान्से कहा। इसे सुनकर भगवान् बड़ी भारी सेनासहित शोणितपुरपर चढ़ आये। आकर बाणासुरसे युद्ध किया। अन्तमें उसने अपने इष्टदेव शंकरजीको स्मरण किया। शंकरजी तो औढरदानी ठहरे, भक्तसे पूछा—'क्या चाहते हो?' उसने कहा, 'मेरे लिये आप युद्ध करें।' 'एवमस्तु' कहकर भगवान् भोलेनाथ युद्ध करने लगे। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीका और शिवजीका परस्पर बड़ा घोर युद्ध हुआ। दोनों ही ईश्वर थे। एक ही भगवान् दो रूपोंमें प्रकट थे। उनका युद्ध ही क्या था, भक्तको मान देने और भक्तिकी मर्यादा बढ़ानेके लिये ही उन्होंने यह लीला रची थी। अन्तमें दोनों ओरसे प्रेमसन्धि हुई। शिवजीने भगवान्से कहा—'प्रभो! आपको भला, कौन जीत सकता है! यह बाणासुर मेरा बड़ा भक्त है, इसपर कृपा कीजिये, इसे अभयदान दीजिये।'

भगवान्ने कहा—'एक तो यह आपका भक्त, दूसरे प्रह्लादका प्रपौत्र, मैं इसे मारूँगा नहीं। मैंने प्रह्लादके वंशजोंको न मारनेकी प्रतिज्ञा की है। इसकी भाररूप जो ये हजार भुजाएँ हैं, उन्हें मैं काटे देता हूँ; केवल चार भुजाएँ इसकी सदा रहेंगी। यह आजसे आपका प्रधान पार्षद माना जायगा और सदा अजर-अमर रहेगा।' यह कहकर भगवान्ने बाणासुरको अभयदान दे दिया। उसी दिनसे परम शिवभक्त बाणासुर अजर-अमर हो गये।

भक्तहृदय कुम्भकर्ण

रामहि केवल प्रेमु पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥

भगवान्‌की लीला अद्भुत है। जो तर्क करना चाहते हैं, वे उसमें अविश्वास करके अशान्त होते हैं और जो श्रद्धालु हैं, विश्वासी हैं, वे उन लीलामयकी अद्भुत क्रीड़ाओंमें आनन्द प्राप्त करते हैं। रावणका छोटा भाई कुम्भकर्ण सृष्टिका ही प्राणी था, फिर भी वह सृष्टिकर्ताके लिये ही एक समस्या हो गया था। जब तपस्या करते हुए कुम्भकर्णके पास ब्रह्माजी वरदान देने पहुँचे, तब वरदान देना तो दूर, उन्हें दूसरी ही चिन्ता हो गयी। वे सोचने लगे—'यदि कहीं यह नित्य भोजन करेगा तो सारा विश्व कुछ ही कालमें ही इसके द्वारा नष्ट हो जायगा।' सरस्वतीके द्वारा ब्रह्माजीने कुम्भकर्णकी बुद्धि भ्रमित करा दी और उसने छः महीने सोते रहनेका वरदान माँग लिया।

पाप-पुण्य, धर्म-कर्मसे भला, कुम्भकर्णको क्या काम। वह तो छः महीनेतक खर्राटे लेता पड़ा रहता था एक पहाड़की बड़ी भारी गुफामें। छः महीनेपर केवल एक दिनके लिये जागता था। वह दिन भोजन करने तथा कुशल-मङ्गल पूछनेमें ही बीत जाता था। रावणके अपकर्मोंमें कुम्भकर्णका कोई हाथ नहीं था, न हो ही सकता था। उस महाकायका हृदय निर्मल था। वह इतना शुद्ध अधिकारी था कि स्वयं देवर्षि नारदने उसे तत्त्वज्ञानका उपदेश दिया था।

जब लङ्काकी सेना वानर-रीछोंकी मारसे संत्रस्त हो गयी, जब अवनि, अकम्पन आदि राक्षसनायक कपियोंके हाथ मारे गये, तब रावणने कुम्भकर्णको जगानेका आदेश दिया। अनेक उपायोंके द्वारा किसी प्रकार राक्षस कुम्भकर्णको जगा सके। जागनेपर सब बातें सुनकर कुम्भकर्णको बड़ा दुःख हुआ। उसने रावणसे कहा—

जगदंबा हरि आनि अब सठ चाहत कल्यान।
भल न कीन्ह तैं निसिचरनाहा। अब मोहि आइ जगाएहि काहा॥
अजहूँ तात त्यागि अभिमाना। भजहु राम होइहि कल्याना॥

परंतु बड़े भाईका अनादर करना कुम्भकर्णको अभीष्ट नहीं था। वह तो अपने नेत्रोंको सफल करना चाहता था। उसने अपनी एकमात्र इच्छा व्यक्त की—

स्याम गात सरसीरुह लोचन। देखौं जाइ तापत्रय मोचन॥

विभीषणजी जानते थे कुम्भकर्णके निष्कपट हृदयको। वे युद्धके लिये आते हुए उस अपने भाईके समीप गये।

कुम्भकर्णने उनको बड़ी सुन्दर शिक्षा दी—

धन्य धन्य तैं धन्य बिभीषन। भएहु तात निसिचरकुल भूषन॥
बंधु बंस तैं कीन्ह उजागर। भजेहु राम सोभा सुख सागर॥
बचन कर्म मन कपट तजि भजेहु राम रनधीर।

हृदयमें भक्तिका यह निर्मल भाव लेकर कर्तव्यसे विवश वह महाकाय युद्धमें आया। वह *'देखौं जाइ तापत्रय मोचन'* का संकल्प लेकर चला था। अत: भक्तवत्सल प्रभुने भी कहा—*'मैं देखउँ खल बल दलहि'* और वे 'राजिवनैन' स्वयं *'कर सारंग साजि कटि भाथा'* कुम्भकर्णके सम्मुख पहुँचे। संग्राममें पराक्रम प्रदर्शित करके, श्रीरामके बाणोंसे शरीर त्यागकर कुम्भकर्ण उन प्रभुमें ही लीन हो गया।

तासु तेज प्रभु बदन समाना। सुर मुनि सबहिं अचंभव माना॥

परंतु इसमें आश्चर्य करनेकी कोई बात नहीं है। यह ठीक है कि कुम्भकर्ण राक्षस था, राक्षसी आहार करनेवाला था, तमोगुणरूपा घोर निद्रामें पड़ा रहता था और रावणका पक्ष लेकर लड़ने आया था; किंतु श्रीराम तो भाव देखते हैं और कुम्भकर्णका भावपूर्ण हृदय श्रीरघुनाथजीको परम ब्रह्म ही मानता था। वह उनके दर्शन करके, उनके बाणोंसे देह-त्याग कर कृतार्थ होने ही आया था और तब उसकी परमगति हो, इसमें आश्चर्यकी भला, कौन-सी बात है।

शरणागत भक्त श्रीविभीषणजी

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥
(वा० रा० ६। १८। ३३)

भगवान्‌ने कहा है—जो एक बार भी शरणागत होकर कहता है 'प्रभो! मैं तुम्हारा हूँ' उसे मैं सम्पूर्ण प्राणियोंसे अभय कर देता हूँ। यह मेरा व्रत है।

ब्रह्माजीके मानसपुत्र महर्षि पुलस्त्य, पुलस्त्यजीके विश्रवा मुनि और विश्रवा मुनिकी एक पत्नीसे कुबेरजी, दूसरीसे रावण, कुम्भकर्ण तथा विभीषण हुए। रावण-कुम्भकर्णके साथ विभीषणजी भी कठोर तप करने लगे। जब ब्रह्माजी इन्हें वरदान देने आये, तब इन्होंने कहा—'नाथ! मुझे तो भगवान्‌की अविचल भक्ति ही चाहिये।' लोकस्रष्टा 'तथास्तु' कहकर चले गये। रावणने असुरोंकी प्राचीन राजधानी लङ्कापर अधिकार किया और अपने भाइयों तथा अनुचरोंके साथ वह वहीं रहने लगा। रावण देवताओंका शत्रु था और स्वयं उसे भजन-पूजन आदिसे एक प्रकारका द्वेष भी था; किंतु अपने छोटे भाईको इन कामोंसे रोककर उसने कष्ट देना नहीं चाहा। विभीषण लङ्कामें भगवान्‌का भजन-पूजन करते रहते थे और जब रावण दिग्विजयके लिये चला जाता था, तब लङ्काका राज्यकार्य भी वही देखते थे; क्योंकि कुम्भकर्ण तो सोया ही करता था।

रावणकी अनीति, उसका अधर्म विभीषणजीको सदा ही क्लेश देता था। वे अनेक बार समझाना भी चाहते थे; किंतु रावण अहङ्कारी था। विभीषण बड़े भाईका पूरा आदर भी करते थे। जब दशानन श्रीसीताजीको चुरा लाया, तब उन्होंने बहुत समझाया—'परस्त्रीका सेवन यश, आयु और पुण्यका नाश करनेवाला है। इस पापसे नरक होता है। किसी सतीको इस प्रकार ले आना और पीड़ा देना बहुत ही अनुचित है।' परंतु रावणने उनकी एक भी बातपर ध्यान नहीं दिया।

जब हनुमान्‌जी लङ्का पहुँचे, तब रात्रिमें श्रीजानकीजीको ढूँढ़ते हुए उन्हें विभीषणका घर दीख पड़ा। उस घरके पास भगवान्‌का मन्दिर बना था। घरकी दीवालोंपर चारों ओर भगवान्‌का मङ्गलमय नाम सुन्दर अक्षरोंमें अङ्कित था। तुलसीके नवीन वृक्ष घरके सामने लगे थे। हनुमान्‌जी आश्चर्यमें पड़ गये कि लङ्कामें यह भगवद्भक्त-जैसा घर किसका है। उस समय रात्रिके चौथे प्रहरके प्रारम्भमें ही विभीषणजीकी निद्रा टूटी। वे जगते ही भगवान्‌का स्मरण-कीर्तन करने लगे। हनुमान्‌जी 'साधु' समझकर ब्राह्मण-वेशमें उनके पास गये। ब्राह्मणको देख विभीषणजीने बड़े आदरसे उनको प्रणाम किया। लङ्कामें सामान्य ब्राह्मण आ नहीं सकता था। उन्हें सन्देह हुआ कि 'मेरे दयामय प्रभुने अपने किसी भक्तको मुझ अधमपर कृपा करके तो नहीं भेजा है? स्वयं वे भक्तवत्सल श्रीराम ही तो मुझ दीनको कृतार्थ करने नहीं

पधारे हैं?' हनुमान्‌जीने जब अपना परिचय दिया, तब बड़े ही करुण स्वरमें उन्होंने कहा—

तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानुकुलनाथा॥
तामस तनु कछु साधन नाहीं। प्रीति न पद सरोज मन माहीं॥
अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता॥

हनुमान्‌जीने आश्वासन दिया। प्रभुके परम उदार कोमल स्वभावका वर्णन किया। विभीषणजीसे पता पाकर वे श्रीजानकीजीके समीप गये और उनसे मिलकर बातचीत की। जब मेघनाद नागपाशसे हनुमान्‌जीको बाँधकर राजसभामें ले आया और रावणने उनके वधकी आज्ञा दी, तब विभीषणने *'नीति बिरोध न मारिअ दूता'* कहकर उनकी रक्षा की।

हनुमान्‌जी लङ्का जलाकर लौट गये। सभी राक्षस भयसे सशङ्कित रहने लगे। एक दिन समाचार मिला कि श्रीराम बहुत बड़ी वानरी सेना लेकर समुद्रके उस पार आ पहुँचे हैं। रावण अपनी राजसभामें आगेके कर्तव्यका निश्चय करने बैठा। चाटुकार मन्त्री उसकी मिथ्या प्रशंसा करने लगे। उस समय विभीषणने प्रणाम करके नम्रतापूर्वक कहा—

जो आपन चाहै कल्याना। सुजसु सुमति सुभ गति सुख नाना॥
सो परनारि लिलार गोसाईं। तजउ चउथि के चंद कि नाईं॥
चौदह भुवन एक पति होई। भूत द्रोह तिष्टइ नहिं सोई॥
गुन सागर नागर नर जोऊ। अलप लोभ भल कहइ न कोऊ॥
काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।
सब परिहरि रघुबीरहि भजहु भजहिं जेहि संत॥

इतनी नीति बताकर भगवान् श्रीरामके स्वरूपका वर्णन करते हुए उन्होंने कहा—

तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेस्वर कालहु कर काला॥
ब्रह्म अनामय अज भगवंता। ब्यापक अजित अनादि अनंता॥
गो द्विज धेनु देव हितकारी। कृपासिंधु मानुष तनु धारी॥
जन रंजन भंजन खल ब्राता। बेद धर्म रच्छक सुरत्राता॥
ताहि बयरु तजि नाइअ माथा। प्रनतारति भंजन रघुनाथा॥
देहु नाथ प्रभु कहँ बैदेही। भजहु राम सब भाँति सनेही॥
सरन गएँ प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्व द्रोह कृत अघ जेहि लागा॥
जासु नाम त्रय ताप नसावन। सोइ प्रभु प्रगट समुझु जियँ रावन॥

परंतु रावणके सिरपर तो काल नाच रहा था। उसे ऐसी कल्याणकारिणी शिक्षा अच्छी न लगी। भरी सभामें विभीषणको लात मारकर उसने लङ्कासे निकल जानेकी आज्ञा दी। इतना अपमान सहकर भी विभीषणजीने उसे प्रणाम किया। संतजन अपना अहित करनेवालेका भी हित ही चाहते हैं। विभीषणने तब भी कहा—

तुम्ह पितु सरिस भलेहिं मोहि मारा। राम भजें हित होइ तुम्हारा॥

तदनन्तर मन्त्रियोंको साथ लेकर विभीषण आकाशमार्गसे भगवान्‌के पास पहुँचनेके लिये चल पड़े। मार्गमें वे सोचते जा रहे थे—

देखिहउँ जाइ चरन जल जाता। अरुन मृदुल सेवक सुखदाता॥
जे पद परसि तरी रिषि नारी। दंडक कानन पावन कारी॥
जे पद जनकसुता उर लाए। कपट कुरंग संग धर धाए॥
हर उर सर सरोज पद जेई। अहोभाग्य मैं देखिहउँ तेई॥
जिन पायन्ह के पादुकन्हि भरत रहे मन लाइ।
ते पद आजु बिलोकिहउँ इन्ह नयनन्हि अब जाइ॥

धन्य है वह हृदय, जिसमें उन 'अरुन मृदुल' चरणोंको देखनेकी तीव्र लालसा जागती है। विभीषण समुद्रपार पहुँचे। प्रभुको सन्देश मिला। सुग्रीवने शङ्का की; किंतु कहीं उन शरणागतवत्सल अशरण-शरणकी शरण लेनेमें कोई बाधा खड़ी होनेका साहस कर सकती है? प्रभुकी आज्ञासे हनुमान्‌जी तथा अंगद बड़े आदरसे विभीषणको ले गये प्रभुके पास। राघवेन्द्रकी वह जटामुकुटधारी, दूर्वादल श्याम-शरीरकी अनुपम शोभा देखकर नेत्र निहाल हो गये। विभीषणने अपना परिचय दिया और भूमिपर प्रणाम करते वे चरणोंपर गिर पड़े—

श्रवन सुजस सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर॥

श्रीराघवेन्द्र झपटकर उठे और विभीषणको उठाकर उन्होंने हृदयसे लगा लिया। उसी दिन सर्वेश्वर श्रीरामके करोंने सागरके जलसे विभीषणको लङ्काके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया। 'लङ्केश' तो वे उसी दिन हो गये। रावणसे युद्ध हुआ और राक्षसराज अपने समस्त परिकरोंके साथ मारा गया। विभीषणको लङ्काके सिंहासनपर बैठाकर तिलक करनेकी विधि भी पूरी हो गयी।

विभीषणका प्रभु बहुत सम्मान करते थे। उनकी सम्मति मानकर लक्ष्मणजीके विरोध करनेपर भी और यह जानकर भी कि इससे कुछ लाभ न होगा, केवल विभीषणकी सम्मतिका मान रखनेके लिये वे तीन दिनोंतक कुश बिछाकर समुद्रके किनारे निर्जल व्रत करते हुए समुद्रसे मार्ग पानेकी प्रार्थना करते रहे थे। रावणके मारे जानेके पश्चात् जब विभीषणजी राजा हो गये, तब

उन्होंने वानर-रीछोंका खूब सत्कार किया। पुष्पकविमान उन्होंने प्रभुकी सेवामें अर्पण कर दिया और उस विमानसे प्रभुके साथ ही वे अयोध्या आये—अयोध्यामें श्रीराघवेन्द्रका राज्याभिषेक हो जानेपर कुछ दिन वहाँ रहकर तब भगवान्‌की आज्ञासे लङ्का लौटे।

श्रीरामकी पुनः लङ्कायात्रा और सेतु-भङ्ग

लङ्काविजयके बहुत दिनों बाद एक समय भगवान् श्रीरामको भक्त विभीषणका स्मरण हो आया। उन्होंने सोचा कि 'विभीषण धर्मपूर्वक शासन कर रहा है या नहीं? देवविरोधी व्यवहार ही राजाके विनाशका सूत्र है। मैं विभीषणको लङ्काका राज्य दे आया हूँ, अब जाकर उसे सँभालना भी चाहिये। कहीं राज्यमदमें उससे अधर्माचरण तो नहीं हो रहा है। अतएव मैं स्वयं लङ्का जाकर उसे देखूँगा और हितकर उपदेश दूँगा, जिससे उसका राज्य अनन्त कालतक स्थायी रहेगा।' श्रीराम यों विचार कर ही रहे थे कि भरतजी भी आ पहुँचे। भरतजीने कभी लङ्का देखी नहीं थी, अतएव श्रीरामजीकी आज्ञा लेकर वे भी साथ हो लिये। दोनों भाई पुष्पकविमानपर सवार होकर मुनियोंके आश्रमोंमें होते हुए किष्किन्धापुरीमें जाकर भक्त सुग्रीवसे मिले। सुग्रीवने राजघरानेके सब स्त्री-पुरुषों तथा नगरीके समस्त नर-नारियोंसमेत महाराज श्रीराम और भरतका बड़ा स्वागत किया। फिर सुग्रीवको साथ लेकर विमानपरसे भरतको विभिन्न स्थान दिखलाते और उसकी कथा सुनाते हुए भगवान् लङ्कामें जा पहुँचे। विभीषणको दूतोंने यह शुभ समाचार सुनाया। श्रीरामके लङ्का पधारनेका संवाद सुनकर विभीषणको बड़ी प्रसन्नता हुई। सारा नगर बात-की-बातमें सजाया गया और अपने मन्त्रियोंको साथ लेकर विभीषण अगवानीके लिये चले। सुमेरुस्थित सूर्यकी भाँति विमानस्थ श्रीरामको देखकर साष्टाङ्ग प्रणामपूर्वक विभीषणने कहा—'प्रभो! आज मेरा जन्म सफल हो गया, आज मेरे सारे मनोरथ सिद्ध हो गये; क्योंकि आज मैं जगद्वन्द्य अनिन्द्य आप दोनों स्वामियोंके दर्शन कर रहा हूँ। आज स्वर्गवासी देवगण भी मेरे भाग्यकी श्लाघा कर रहे हैं। मैं आज अपनेको त्रिदशपति इन्द्रकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ समझ रहा हूँ।'

सर्वरत्नसुशोभित उज्ज्वल भवनमें महोत्तम सिंहासनपर श्रीराम विराजे, विभीषण अर्घ्य देकर हाथ जोड़कर भरत और सुग्रीवकी स्तुति करने लगे। लङ्कानिवासी प्रजाकी रामदर्शनार्थ भीड़ लग गयी। प्रजाने विभीषणको कहलाया—'प्रभो! हमको उस अनोखी रूपमाधुरीको देखे बहुत दिन हो गये। युद्धके समय हम सब देख भी नहीं पाये थे। आज हम दीनोंपर दया करके हमारा हित करनेके लिये करुणामय हमारे घर पधारे हैं, अतएव शीघ्र ही हमलोगोंको उनके दर्शन कराइये।' विभीषणने श्रीरामसे पूछा और दयामयकी आज्ञा पाकर प्रजाके लिये द्वार खोल दिये। लङ्काके नर-नारी राम-भरतकी झाँकी देखकर पवित्र और मुग्ध हो गये। यों तीन दिन बीते। चौथे दिन रावणमाता कैकसीने विभीषणको बुलाकर कहा—'बेटा! मैं भी श्रीरामके दर्शन करूँगी। उनके दर्शनसे महामुनिगण भी महापुण्यके भागी होते हैं। श्रीराम साक्षात् सनातन विष्णु हैं, वे ही यहाँ चार रूपोंमें अवतीर्ण हैं। सीताजी स्वयं लक्ष्मी हैं। तेरे भाई रावणने यह रहस्य नहीं जाना। तेरे पिताने कहा था कि रावणको मारनेके लिये भगवान् रघुवंशमें दशरथके यहाँ प्रादुर्भूत होंगे।' विभीषणने कहा—'माता! आप नये वस्त्र पहनकर कञ्चन थालमें चन्दन, मधु, अक्षत, दधि, दूर्वाका अर्घ्य सजाकर भगवान् श्रीरामके दर्शन करें। सरमा (विभीषणपत्नी)-को आगे करके और अन्यान्य देवकन्याओंको साथ लेकर आप श्रीरामके समीप जायँ। मैं पहले ही वहाँ पहुँच जाता हूँ।'

विभीषणने श्रीरामके पास जाकर वहाँसे सब लोगोंको बिलकुल हटा दिया और श्रीरामसे कहा—'देव! रावणकी, कुम्भकर्णकी और मेरी माता कैकसी आपके चरणकमलोंके दर्शनार्थ आ रही हैं, आप कृपापूर्वक उन्हें दर्शन देकर कृतार्थ करें।' श्रीरामने कहा, ''भाई! तुम्हारी माँ तो मेरी 'माँ' ही हैं। मैं ही उनके पास चलता हूँ, तुम जाकर उनसे कह दो।'' इतना कहकर विभु श्रीराम उठकर चले और कैकसीको देखकर मस्तकसे उसे प्रणाम किया तथा बोले—'आप मेरी धर्ममाता हैं, मैं आपको प्रणाम करता हूँ। अनेक पुण्य और महान् तपके प्रभावसे ही मनुष्यको विभीषणके सदृश भक्तोंकी जननीके चरण-दर्शनका सौभाग्य मिलता है। आज मुझे आपके दर्शनसे बड़ी प्रसन्नता हुई। जैसे श्रीकौसल्याजी हैं, वैसे ही मेरे लिये आप हैं।' बदलेमें कैकसीने मातृभावसे आशीर्वाद दिया और भगवान् श्रीरामको विश्वपति जानकर उनकी स्तुति की। इसके बाद 'सरमा' ने भगवान्‌की स्तुति की।

भरतको सरमाका परिचय जाननेकी इच्छा हुई, उनके संकेतको समझकर 'इंगितविद्' श्रीरामने भरतसे कहा—'यह विभीषणकी साध्वी भार्या हैं, इनका नाम 'सरमा' है। ये महाभागा सीताकी प्रिय सखी हैं और इनकी सखिता बहुत दृढ़ है।' इसके बाद सरमाको समयोचित उपदेश दिया। फिर विभीषणको विविध उपदेश देकर कहा—'निष्पाप! देवताओंका प्रिय कार्य करना, उनका अपराध कभी न करना। लङ्कामें कभी मनुष्य आयें तो उनका कोई राक्षस वध न करने पायें।' विभीषणने आज्ञानुसार चलना स्वीकार किया। तदनन्तर वापस लौटनेके लिये सुग्रीव और भरतसहित श्रीराम विमानपर चढ़े। तब विभीषणने कहा—'प्रभो! यदि लङ्काका पुल ज्यों-का-त्यों बना रहेगा तो पृथ्वीके सभी लोग यहाँ आकर हमलोगोंको तंग करेंगे; इसलिये क्या करना चाहिये?' भगवान्ने विभीषणकी बात सुनकर पुलको बीचमें तोड़ डाला और दस योजनके बीचके टुकड़ेके फिर तीन टुकड़े कर दिये। तदनन्तर उस एक-एक टुकड़ेके फिर छोटे-छोटे टुकड़े कर डाले, जिससे पुल टूट गया और यों लङ्काके साथ भारतका मार्ग पुनः विच्छिन्न हो गया।

विभीषण तथा उनके परिवारके प्रति भगवान्का कितना स्नेह था, इस कथासे इसका पता लगता है।

इतना ही नहीं, विभीषणके प्रति रामका कितना स्नेह था—इसकी एक कथा और पढ़िये—

विभीषणके बदले स्वयं दण्ड ग्रहण करनेको तैयार

एक समय श्रीरामको मुनियोंके द्वारा समाचार मिलता है कि लङ्काधिपति विभीषण द्रविड़ देशमें कैद हैं। भगवान् श्रीराम अब नहीं ठहर सके, वे विभीषणका पता लगाने और उन्हें छुड़ानेके लिये निकल पड़े। खोजते-खोजते विप्रघोष नामक गाँवमें पहुँचे। विभीषण वहीं कैद थे। वहाँके लोगोंने श्रीरामको दिखलाया कि विभीषण जमीनके अंदर एक कोठरीमें जंजीरोंसे जकड़े पड़े हैं। श्रीरामके पूछनेपर ब्राह्मणोंने कहा—'राजन्! विभीषणने ब्रह्महत्या की थी; एक अति धार्मिक वृद्ध ब्राह्मण निर्जन उपवनमें तप कर रहा था, विभीषणने वहाँ जाकर उसे पददलित करके मार डाला। ब्राह्मणकी मृत्यु होते ही विभीषणके पैर वहीं रुक गये, वह एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सका, ब्रह्महत्याके पापसे उसकी चाल बंद हो गयी। हमलोगोंने इस दुष्ट राक्षसको बहुत मारा-पीटा, परंतु इस पापीके प्राण किसी प्रकार नहीं निकले। अब हे श्रीराम! आप पधारे हैं; आप चक्रवर्ती राजराजेश्वर हैं, इस पापात्माका वध करके धर्मकी रक्षा कीजिये।' यह सुनकर श्रीराम असमञ्जसमें पड़ गये। एक ओर विभीषणका भारी अपराध है और दूसरी ओर विभीषण श्रीरामके ही एक सेवक हैं। यहाँपर श्रीरामने ब्राह्मणोंसे जो कुछ कहा, वह बहुत ही ध्यान देने योग्य है। शरणागत भक्तके लिये भगवान् कहाँतक करनेको तैयार हैं, इस बातका पता भगवान्के शब्दोंसे लग जायगा। भगवान् श्रीराम स्वयं अपराधीकी तरह नम्रतासे कहने लगे—

वरं ममैव मरणं मद्भक्तो हन्यते कथम्।
राज्यमायुर्मया दत्तं तथैव स भविष्यति॥
भृत्यापराधे सर्वत्र स्वामिनो दण्ड इष्यते।
रामवाक्यं द्विजाः श्रुत्वा विस्मयादिदमब्रुवन्॥

(पद्मपुराण, पातालखण्ड)

'द्विजवरो! विभीषणको तो मैं अखण्ड राज्य और आयु दे चुका, वह तो मर नहीं सकता। फिर उसके मरनेकी जरूरत ही क्या है। वह तो मेरा भक्त है, भक्तके लिये मैं स्वयं मर सकता हूँ। सेवकके अपराधकी जिम्मेवारी तो वास्तवमें स्वामीपर ही होती है। नौकरके दोषसे मालिक ही दण्डका पात्र होता है, अतएव विभीषणके बदले आपलोग मुझे दण्ड दीजिये।' श्रीरामके मुखसे ऐसे वचन सुनकर ब्राह्मणमण्डली आश्चर्यमें डूब गयी। जिसको श्रीरामसे दण्ड दिलवाना चाहते थे, वह तो श्रीरामका सेवक है और सेवकके लिये उसके स्वामी स्वयं श्रीराम ही दण्ड ग्रहण करना चाहते हैं। अहा हा! स्वामी हो तो ऐसा हो। भ्रान्त मनुष्यो! ऐसे स्वामीको बिसारकर अन्य किस साधनसे सुखी होना चाहते हो?

ब्राह्मण उसे दण्ड देना भूल गये। श्रीरामके मुखसे ऐसे वचन सुनकर ब्राह्मणोंको यह चिन्ता हो गयी कि विभीषण जल्दी छूट जाय और अपने घर जा सके तो अच्छी बात है। वे विभीषणको छोड़ तो सकते थे, परंतु छोड़नेसे क्या होता। ब्रह्महत्याके पापसे उसकी तो गति रुकी हुई थी। अतएव ब्राह्मणोंने कहा—'रामभद्र! इस प्रकार उन्हें बन्धनमें पड़े रखना उचित नहीं है। आप वसिष्ठ प्रभृति मुनियोंकी रायसे उन्हें छुड़ानेका प्रयत्न कीजिये।' अनन्तर श्रीरामने प्रधान-प्रधान मुनियोंसे

पूछकर विभीषणके लिये तीन सौ साठ गोदानका प्रायश्चित्त बतलाकर उन्हें छुड़ा लिया। प्रायश्चित्तद्वारा विशुद्ध होकर जब विभीषण भगवान् श्रीरामके सामने आकर सादर प्रणाम करने लगे, तब श्रीरामने उन्हें सभामें ले जाकर हँसते हुए यह शिक्षा दी—'ऐसा कार्य कभी नहीं करना चाहिये। जिसमें अपना हित हो, वही कार्य करना चाहिये। हे राक्षसराज! तुम मेरे सेवक हो, अतएव तुम्हें साधुशील होना चाहिये, सर्वत्र दयालु रहना चाहिये।'

विभीषणजी वस्तुतः भगवान्के श्रेष्ठ भक्त हैं और सात चिरजीवियोंमेंसे एक हैं। स्वयं श्रीरामने इन्हें अपना सखा कहकर बार-बार इनकी बड़ी प्रशंसा की है।

असुर भक्त गुडाकेश

बहुत पहले, सृष्टिके प्रारम्भमें ही महासुर गुडाकेश ताँबेका शरीर धारण करके चौदह हजार वर्षतक अडिग श्रद्धा और बड़ी दृढ़ताके साथ भगवान्की आराधना करता रहा। उसकी निश्चयपूर्ण तीव्र तपस्यासे सन्तुष्ट होकर भगवान् उसके रमणीय आश्रमपर प्रकट हुए। तपस्यानिरत गुडाकेश भगवान्को देखकर कितना आनन्दित हुआ, यह बात कही नहीं जा सकती। शङ्ख-चक्र-गदाधारी, चतुर्बाहु, पीताम्बर पहने, मन्द-मन्द मुसकराते हुए भगवान्के चरणोंपर वह गिर पड़ा। उसके सारे शरीरमें रोमाञ्च हो आया, आँखोंसे आँसू बहने लगे, हृदय गद्गद हो गया, गला रुँध गया और वह उनसे कुछ भी बोल नहीं सका। थोड़ी देरके बाद जब कुछ सँभला, तब अञ्जलि बाँधकर, सिर झुकाकर भगवान्के सामने खड़ा हो गया। भगवान्ने मुसकराते हुए कहा—'निष्पाप गुडाकेश! तुमने कर्मसे, मनसे, वाणीसे जिस वस्तुको वाञ्छनीय समझा हो, जो चीज तुम्हें अच्छी लगती हो, माँग लो। मैं आज तुम्हें सब कुछ दे सकता हूँ।' भगवान्की बात सुनकर गुडाकेशने विशुद्ध हृदयसे कहा—'भगवन्! यदि आप मुझपर पूर्णरूपसे प्रसन्न हैं तो ऐसी कृपा करें कि मैं जहाँ-जहाँ जन्म लूँ, हजारों जन्मतक आपके चरणोंमें ही मेरी दृढ़ भक्ति बनी रहे। भगवन्! एक बात और चाहता हूँ। आपके हाथसे छूटे हुए चक्रके द्वारा ही मेरी मृत्यु हो और जब चक्रसे मैं मारा जाऊँ, तब मेरे मांस, मज्जा आदि ताँबेके रूपमें हो जायँ और वे अत्यन्त पवित्र हों। उनकी पवित्रता इसीमें है कि उनमें भोग लगानेसे आपकी प्रसन्नता सम्पादित हो। अर्थात् मरनेपर भी मेरा शरीर आपके ही काममें आता रहे।' भगवान्ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की और कहा—'तबतक तुम ताँबा होकर ही रहो। यह ताँबा मुझे बड़ा प्रिय होगा। वैशाख शुक्ल द्वादशीके दिन मेरा चक्र तुम्हारा वध करेगा और तब तुम सदाके लिये मेरे पास चले जाओगे।' यह कहकर भगवान् अन्तर्हित हो गये। और वह मनमें इस उत्सुकताके साथ बड़ी तपस्या करने लगा कि कब वैशाख शुक्ल द्वादशी आये और कब अपने प्रियतमके हाथोंसे छूटे हुए चक्रके द्वारा मेरी मृत्यु हो, जो मुझे उनके प्यारसे भी मीठी होगी। अन्तमें वह द्वादशी आ गयी। बड़े उत्साहके साथ वह भगवान्की पूजा करके प्रार्थना करने लगा—

मुञ्च मुञ्च प्रभो! चक्रमपि वह्निसमप्रभम्।
आत्मा मे नीयतां शीघ्रं निकृत्याङ्गानि सर्वशः॥

'प्रभो! शीघ्रातिशीघ्र धधकती हुई आगके समान जाज्वल्यमान चक्र मुझपर छोड़ो, अब विलम्ब मत करो। नाथ! मेरे शरीरको टुकड़े-टुकड़े करके मुझे शीघ्रातिशीघ्र अपने चरणोंकी सन्निधिमें बुला लो।' अपने भक्तकी सच्ची प्रार्थना सुनकर भगवान्ने तुरंत ही चक्रके द्वारा उसके शरीरको टुकड़े-टुकड़े करके अपने पास बुला लिया और अपने प्यारे भक्तका शरीर होनेके कारण वे आज भी ताँबेसे बहुत प्रेम करते हैं और वैष्णवलोग बड़े प्रेमसे ताँबेके पात्रमें भगवान्को अर्घ्यपादादि समर्पित करते हैं। इसीके मलसे सीसा, लाख, काँसा, रूपा और सोना आदि भी बने हैं। तभीसे भगवान्को ताँबा अत्यन्त प्रिय है।

असुर भक्त गय

नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता॥
(श्रीमद्भा० ७। ७। ५१)

'असुरपुत्रो! भगवान् मुकुन्दको प्रसन्न करनेके लिये न तो ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यवर्णरूप द्विज होना पर्याप्त है और न देवता अथवा ऋषि होना। वे दयामय न तो आचारसे प्रसन्न होते हैं, न बहुत-से शास्त्रोंका ज्ञान होनेसे।' यह उपदेश प्रह्लादजीने पाद्मकल्पमें अपने सहपाठी दैत्यपुत्रोंको दिया था।

असुरवंशमें उत्पन्न होनेपर भी गय परम भागवत था, उसमें अधर्मका लेश भी नहीं था। उसने दैत्यकुलतिलक अपने पूर्वज प्रह्लादजीके उपदेशको हृदयमें धारण कर लिया और तपस्या करने लगा।

गयकी तपस्या अत्यन्त कठोर थी। वह एक पैरसे सहस्रों वर्ष निर्जल, निराहार खड़ा रहा। भगवान्में उसका चित्त लगा हुआ था। उसके हृदयमें भगवान्की मनमोहिनी मूर्ति प्रत्यक्ष हो गयी थी। हृदयमें भगवान्की जो अमृतमयी दिव्य झाँकी होती थी, उससे गयका शरीर सदा पुलकित रहता था। उसे भूख-प्यास, सर्दी-गरमी आदिका पतातक नहीं था। उसका शरीर भीतरके अनन्त आह्लादके कारण बिना कुछ खाये-पिये भी सुपुष्ट था। उसका बल तनिक भी घटता नहीं था। उसका तेज दिशाओंमें बढ़ता ही जाता था। अनेक बार ब्रह्माजी, शंकरजी वरदान देने गयके पास आये; किंतु उसे तो कोई वरदान ही नहीं चाहिये था। वह तो भगवान्को प्रसन्न करनेके लिये तप कर रहा था और तप करते ही रहना चाहता था। इस तपको छोड़ना भी चाहिये, यह उसका मन सोच ही नहीं सकता था। इन्द्र, वरुण आदिने उसे मार देनेके लिये अनेक प्रयत्न किये। किंतु गयके शरीरपर किसी अस्त्र-शस्त्रका कोई प्रभाव नहीं होता था और वह महात्मा क्रोध करना तो दूर, किसीकी ओर नेत्र उठाकर देखतातक नहीं था।

तपस्यासे तेज बढ़ता है। गयका तेज बढ़ता ही जाता था। देवता भी उसके आगे हतप्रभ हो गये। दिशाएँ उस तेजसे ढक गयीं। ब्रह्माजी सोचने लगे कि 'अब क्या हो? गयका तेज इसी प्रकार बढ़ता ही गया तो सारी सृष्टिका रजोगुण और तमोगुण इस तपस्वीके प्रभावसे नष्ट हो जायगा। सत्त्वगुण सीमा छोड़कर बढ़ जाय तो भी प्रलय हो जायगी।' अन्तमें ब्रह्माजीने भगवान्की शरण ली। भगवान्की शिक्षाके अनुसार गयके पास आकर वे बोले—'असुरश्रेष्ठ! तुम तो मुझसे कोई वरदान माँगते नहीं। किंतु आज मैं तुमसे वरदान माँगने आया हूँ। मुझे यज्ञ करना है। सृष्टिमें तुम्हारे शरीर-जैसा पवित्र स्थल कोई नहीं है। यज्ञ करनेके लिये मैं भूमिके रूपमें तुमसे तुम्हारा शरीर चाहता हूँ।'

गयने कहा—'प्रजापति! मेरा सौभाग्य है कि मेरा शरीर किसी अच्छे काममें आयेगा। मेरे शरीरपर यज्ञ करके आप मेरे स्वामी यज्ञपुरुष नारायणका भजन करेंगे, इससे बड़ा फल इस देहका मुझे और क्या मिलना है। आप प्रसन्नतासे यज्ञ करें।' इतना कहकर असुर गय लेट गया। ब्रह्माजीने उसकी देहपर यज्ञवेदी, कुण्ड आदि बनाये। ऋषियोंके साथ सैकड़ों वर्षमें समाप्त होनेवाला बड़ा भारी यज्ञ उन्होंने किया। सृष्टिकर्ताके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा। गयका शरीर थोड़ा भी जला नहीं था। बिना हिले-डुले, बिना श्वास लिये वह महाभाग इतने समयतक चुपचाप पड़ा रहा। अब यज्ञ समाप्त होनेपर उसने उठना चाहा। ब्रह्माजी बहुत डरे। उन्होंने फिर भगवान्को पुकारा। अब भगवान्ने गयके विभिन्न अङ्गोंपर विभिन्न देवताओंको स्थापित किया और स्वयं गदा लेकर उस तपस्वी असुरके हृदयपर खड़े हो गये। गयने कहा—'ब्रह्माजी! मैं चाहूँ तो अब भी सहज ही उठकर खड़ा हो सकता हूँ; क्योंकि इन सर्वात्मा नारायणने कृपा करके मुझे पहले ही अपरिमित शक्ति दे दी है। किंतु मेरे स्वामी स्वयं जबतक मेरे ऊपर खड़े हैं, तबतक मैं हिल भी नहीं सकता। अपने आराध्यका अपमान मैं नहीं करूँगा। हाँ, यदि भगवान् मेरे ऊपरसे चले गये तो तुरंत उठ खड़ा होऊँगा। आप सबमें कोई मुझे दबाये नहीं रख सकता।'

भगवान्से गयने वरदान माँगा—'जो कोई मेरे शरीरपर अपने पितरोंके लिये पिण्डदान करे, उसके पितर मुक्त हो जायँ।' भगवान्ने गयको यह वरदान दिया। गयाका पूरा तीर्थक्षेत्र गयके शरीरपर ही है और भगवान् गदाधर उसके हृदयदेशपर अब भी श्रीविग्रहरूपमें स्थित हैं। विष्णुपदके उस तीर्थमें पितरोंको पिण्डदान करनेसे अक्षय तृप्ति प्राप्त होती है और वे सारे क्लेशोंसे छूट जाते हैं।

असुरराज भक्त वृत्र

ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं
संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः।
त्वन्माययाऽऽत्मात्मजदारगेहे-
ष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात्॥

(श्रीमद्भा० ६। ११। २७)

'हे पुण्यकीर्ति प्रभो! अपने कर्मोंसे संसारचक्रमें घूमते हुए मेरी मित्रता आपके भक्तोंसे—आपके जनोंसे ही हो। हे स्वामी! मेरा चित्त आपकी मायाके कारण स्त्री-पुत्र-घर आदिमें जो आसक्त हो रहा है, ऐसा न हो! यह अब आपको छोड़ और कहीं आसक्ति न करे।'

एक बार देवराज इन्द्रने आचार्य बृहस्पतिके देवसभामें आनेपर गर्ववश उनका सत्कार नहीं किया, इससे बृहस्पतिजी रुष्ट होकर योगबलसे ऐसे स्थानपर चले गये कि ढूँढ़नेपर भी देवताओंको मिले नहीं। गुरुहीन देवताओंपर असुरोंने चढ़ाई कर दी और देवता हार गये। ब्रह्माजीकी सम्मतिसे देवताओंने त्वष्टाके पुत्र विश्वरूपको पुरोहित बनाया। विश्वरूपको 'नारायणकवच' का ज्ञान था। उसके प्रभावसे बलवान् होकर इन्द्रने असुरोंको पराजित किया। किंतु विश्वरूपकी माता असुर-कन्या थीं। इन्द्रको सन्देह हुआ कि विश्वरूप प्रत्यक्ष तो हमारी सहायता करते हैं, पर गुप्तरूपसे असुरोंको भी हविर्भाग पहुँचाते हैं। इस सन्देहसे क्रोधवश इन्द्रने विश्वरूपको मार डाला। पुत्रकी मृत्युसे दुःखी त्वष्टाने इन्द्रसे बदला लेनेके लिये उसका शत्रु उत्पन्न हो, ऐसा संकल्प करके अभिचार-यज्ञ किया। उस यज्ञसे अत्यन्त भयंकर वृत्रका जन्म हुआ। यह वृत्रासुर पूर्वजन्ममें भगवान्के 'अनन्त' स्वरूपका परम भक्त चित्रकेतु नामक राजा था। पार्वतीजीके शापसे उसे यह असुरदेह मिला था। असुर होनेपर भी पूर्वजन्मके अभ्याससे वृत्रकी भगवद्भक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी।

साठ हजार वर्ष कठोर तप करके वृत्रासुरने अमित शक्ति प्राप्त की। वह तीनों लोकोंको जीतकर उनके ऐश्वर्यका उपभोग करने लगा। वृत्र असुर था, उसका शरीर असुर-जैसा था; किंतु उसका हृदय निष्पाप था। उसमें वैराग्य था और भगवान्की निर्मल-निष्काम प्रेमरूपा भक्ति थी। भोगोंकी नश्वरता वह जानता था। एक बार संयोगवश वह देवताओंसे हार गया। तब असुरोंके आचार्य शुक्र उसके पास आये। उस समय आचार्यको यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वृत्रके मुखपर राज्यच्युत होनेका तथा पराजयका कोई खेद नहीं है। उन्होंने इसका कारण पूछा। उस महान् असुरने कहा—'भगवन्! सत्य और तपके प्रभावसे मैं जीवोंकी जन्म-मृत्यु तथा सुख-दुःखके रहस्यको जान गया हूँ। इससे मुझे किसी भी अवस्थामें हर्ष या शोक नहीं होता। जीव अपने कर्मोंके अनुसार पुण्यका फल भोगने स्वर्ग तथा पापका फल भोगने नरक जाता है और वहाँके फलभोगसे बचे कर्मोंके परिणाम-स्वरूप उसे मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियोंमें जन्म लेना पड़ता है। मरकर फिर वह इसी प्रकार स्वर्ग-नरकादिमें जाता है। भगवान्ने कृपा करके मुझे अपने तत्त्वका ज्ञान करा दिया है, इससे जीवोंके आवागमन तथा भोगोंके मिलने-न-मिलनेमें मुझे विकार नहीं होता। मैंने घोर तप करके ऐश्वर्य पाया और फिर अपने कर्मोंसे ही उसका नाश कर दिया। मुझे उस ऐश्वर्यके जानेका तनिक भी शोक नहीं है। इन्द्रसे युद्ध करते समय मैंने अपने स्वामी श्रीहरिके दर्शन किये थे। भगवान्की कृपासे और पहले किये तपके अवशिष्ट पुण्यप्रभावसे मेरी बुद्धि अभी शुद्ध है। मैं आपसे और कोई इच्छा न करके यही प्रार्थना करता हूँ कि किस कर्मसे, किस प्रकार भगवान्की प्राप्ति हो, यह आप मुझे उपदेश करें।'

शुक्राचार्यने वृत्रकी भगवद्भक्तिकी प्रशंसा की और भगवान्के प्रति नमस्कार किया। उसी समय सनकादि कुमार वहाँ घूमते हुए आ पहुँचे। शुक्राचार्य तथा वृत्रने उनका आदरपूर्वक पूजन किया। शुक्राचार्यके पूछनेपर सनत्कुमारजीने कहा—'जो भगवान् सम्पूर्ण विश्वमें स्थित हैं, जो सृष्टि, पालन तथा संहारके परम कारण हैं, वे श्रीनारायण शास्त्रज्ञान, उग्र तप और यज्ञके द्वारा नहीं मिलते। मनसहित सब इन्द्रियोंको सांसारिक विषयोंसे हटाकर उनमें लगानेसे ही वे प्राप्त होते हैं। जो दृढ़तर

अध्यवसायसे निष्कामभावपूर्वक भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये कर्तव्यकर्म करते हैं और शम-दम आदि साधनोंको करके चित्तशुद्धि प्राप्त कर लेते हैं, वे ही इस आवागमन-चक्रसे छूटते हैं। जैसे बार-बार तपानेपर सोना शुद्ध होता है, वैसे ही अनेक जन्मोंतक प्रयत्न करते रहनेसे जीव भी शुद्ध हो जाता है। जैसे थोड़ी सुगन्धिसे सरसोंका तेल अपनी गन्ध नहीं छोड़ता, वैसे ही थोड़े यत्नसे चित्तका मल नहीं मिटता। शरीरके मैलके समान हृदयका मैल भी साधनोंसे दूर होता है। प्रबल प्रयत्न करनेवाला पुरुष एक जन्ममें भी हृदयको शुद्ध कर लेता है। बुद्धिके विषयासक्ति आदि दोष बार-बारके महान् प्रयत्नसे नष्ट हो जाते हैं। सचराचरमें एकमात्र भगवान् ही व्याप्त हैं। सभी रूपोंमें वे नारायण ही दिखलायी पड़ रहे हैं। निर्मलहृदय पुरुष ज्ञान-दृष्टिसे सबको नारायणस्वरूप देखते हैं। इस समदृष्टिसे वे ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाते हैं। सभी जीव मरकर अपने प्रारब्धानुसार नाना योनियोंमें जन्म लेते हैं और फिर मृत्युको प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार यह ब्रह्माण्ड भी सृष्टि-प्रलयके चक्रमें है; किन्तु जो इन्द्रियोंको संयत करके सुख-दुःखमें सम रहते हैं, जो निर्मल मनसे परम पवित्र भगवद्गतिको जानना चाहते हैं, वे ब्रह्म-साक्षात्कार करके दुर्लभ मोक्षस्वरूप अविनाशी परब्रह्मको प्राप्त कर लेते हैं।'

वृत्रासुर अब दृढ़ निश्चयसे सर्वत्र सबमें भगवान्‌का अनुभव करने लगा। वह ऐसा भगवद्भावयुक्त हो गया कि उसकी तुलना कहीं सम्भव ही नहीं। राज्यहीन होनेपर भी निर्भय होकर वह अपने शत्रु देवताओंके बीचमें रहने लगा। इन्द्रादि देवताओंने उसे मारनेका बहुत प्रयत्न किया; पर वे सफल न हुए। मारनेवालोंके तेजको वह हरण कर लेता था और उनके अस्त्र-शस्त्र निगल जाता था। तब देवताओंने भगवान्‌की शरण ली। उन्होंने भगवान्‌की बहुत ही ज्ञानमयी स्तुति की। भगवान्‌ने प्रकट होकर कहा—'देवताओ! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। मेरे प्रसन्न होनेपर फिर जीवको कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता; किन्तु जिनकी बुद्धि अनन्यभावसे मुझमें लगी है, जो मेरे तत्त्वको जानते हैं, वे मुझे छोड़कर और कुछ नहीं चाहते। विषयोंको ही यथार्थ माननेवाला पुरुष विषयोंकी ही इच्छा करता है; क्योंकि वह अपने वास्तविक कल्याणको जानता नहीं। ऐसे विषयकी इच्छा करनेवालेको कोई विषय ही दे तो वह भी अज्ञानी ही कहा जायगा। जैसे अच्छा वैद्य रोगीके चाहनेपर भी उसे कुपथ्य नहीं देता वैसे ही सत्पुरुष अज्ञानी विषयेच्छुको बन्धनकारी भोग देनेवाले कर्मोंका उपदेश नहीं करते।'

भगवान्‌के इस उपदेशका तात्पर्य स्पष्ट है। बहुत ज्ञानमयी स्तुति करके भी देवता वृत्रका वध चाहते थे। उन्हें स्वर्गके भोगोंको निर्विघ्न भोगनेकी तुच्छ कामना थी। दयामय भगवान् उनपर प्रसन्न थे, फिर भी वे भगवान्‌को सर्वदाके लिये पानेकी प्रार्थना नहीं कर रहे थे। किन्तु देवताओंको बोलते न देख अपार कृपासिन्धु प्रभुने देख लिया कि ये विषयाभिलाषी ही हैं। प्रभुको अपने परम भक्त वृत्रको असुर-शरीरसे मुक्त करके अपने पास बुलाना था, अतः उन्होंने इन्द्रसे कहा—'अच्छा, तुम महर्षि दधीचिके पास जाकर उनसे उनका शरीर माँग लो। वे महात्मा तुम्हें अपनी देह दे देंगे। उनकी हड्डियोंसे बने वज्रके द्वारा तुम असुरराज वृत्रको मार सकोगे।'

इन्द्रके माँगनेपर महर्षि दधीचिने योगद्वारा शरीर छोड़ दिया। विश्वकर्माने इनकी हड्डियोंसे वज्र बनाया। वज्र लेकर ऐरावतपर सवार हो बड़ी भारी सेनाके साथ इन्द्रने वृत्रपर आक्रमण किया। इस प्रकार इन्द्रको अपने सामने देखकर वह महामना असुर तनिक भी घबराया या डरा नहीं। वह निर्भय, निश्चल हँसता हुआ युद्ध करने लगा। इसी समय भगवान् विष्णुने इन्द्रके शरीरमें प्रवेश किया। भगवान् शङ्करके ज्वरने वृत्रके शरीरमें प्रवेश करके उसे शिथिल कर दिया। इतनेपर भी ज्वरग्रस्त वृत्र इन्द्रसे पराक्रममें प्रबल पड़ रहा था। उसने ऐरावतपर एक गदा मारी तो ऐरावत रक्त वमन करता अट्ठाईस हाथ पीछे हट गया। अपने शत्रुको ऐसे संकटमें पड़े देख वृत्र उलटे आश्वासन और प्रोत्साहन देता हुआ बोला—'इन्द्र! घबराओ मत! अपने इस अमोघ वज्रसे मुझे मारो। शङ्का मत करो,' वज्र खाली नहीं जायगा। तुम्हारा वज्र तो महर्षि दधीचि और भगवान्‌के तेजसे सम्पन्न है। जहाँ भगवान् हैं, वहीं विजय है, वहीं लक्ष्मी है और सारे गुण भी वहीं हैं। भगवान्‌की सच्ची कृपा मुझपर है। मैं अपने मनको भगवान्‌के चरणकमलोंमें लगाकर तुम्हारे वज्रद्वारा

इस शरीरके बन्धनसे छूटकर योगियोंके लिये भी दुष्प्राप्य परम धामको प्राप्त कर लूँगा। इन्द्र! जिनकी बुद्धि भगवान्में लगी है, उन श्रीहरिके भक्तोंको स्वर्ग, पृथ्वी या पातालकी सम्पत्ति भगवान् कभी नहीं देते; क्योंकि ये सम्पत्तियाँ राग-द्वेष, उद्वेग-आवेग, आधि-व्याधि, मद-मोह, अभिमान-क्षोभ, व्यसन-विवाद, परिश्रम-क्लेश आदिको ही देती हैं। अपनेपर निर्भर अबोध शिशुको माता-पिता कभी अपने हाथों क्या विष दे सकते हैं? मेरे स्वामी दयामय हैं, वे अपने प्रिय जनको विषय-रूप विष न देकर उसके अर्थ-धर्म-कामसम्बन्धी प्रयत्नका ही नाश कर देते हैं। मुझपर भगवान्की कृपा है, इसीसे तो मेरे ऐश्वर्यको उन्होंने छीन लिया और तुम्हें वज्र देकर भेजा कि तुम इस शरीरसे मुझे छुड़ाकर उनके चरणोंमें पहुँचा दो। परंतु इन्द्र! तुम्हारा अभाग्य है। तुमपर प्रभुकी कृपा नहीं है; इसीसे अर्थ, धर्म, कामके प्रयत्नमें तुम लगे हो। भगवान्की कृपाका रहस्य तो उनके निष्किञ्चन भक्त ही जानते हैं।'

असुरराज वृत्र भगवान्की कृपाका अनुभव करके भावमग्न हो गया। वह भगवान्को प्रत्यक्ष देखता हुआ-सा उनसे प्रार्थना करने लगा—'हरे! मैं मरकर भी तुम्हारे ही चरणोंके आश्रयमें रहूँ, तुम्हारा ही दास बनूँ। मेरा मन तुम्हारे गुणोंका सदा स्मरण करता रहे, मेरी वाणी तुम्हारे ही गुण-कीर्तनमें लगी रहे, मेरा शरीर तुम्हारी सेवा करता रहे। मेरे समर्थ स्वामी! मुझे स्वर्ग, ब्रह्माका पद, सार्वभौम राज्य, पातालका स्वामित्व, योगसिद्धि और मोक्ष भी नहीं चाहिये। मैं तो चाहता हूँ कि पक्षियोंके जिन बच्चोंके अभी पंख न निकले हों, वे जैसे चुगा लाने गयी हुई अपनी माताके आनेकी उत्सुक प्रतीक्षा करते हैं, जैसे रस्सीसे बँधे भूखसे व्याकुल छोटे बछड़े अपनी माता गौका स्तन पीनेके लिये उतावले रहते हैं, जैसे पतिव्रता स्त्री अपने दूरदेश गये पतिका दर्शन पानेको उत्कण्ठित रहती है, वैसे ही आपके दर्शनके लिये मेरे प्राण व्याकुल रहें। इस संसारचक्रमें मैं अपने कर्मोंसे जहाँ भी जाऊँ, वहीं आपके भक्तोंसे मेरी मित्रता हो और आपकी मायासे जो यह देह-गेह, स्त्री-पुत्रादिमें आसक्ति है, वह मेरे चित्तका स्पर्श न करे।'*

प्रार्थना करते-करते वृत्र ध्यानमग्न हो गया। कुछ देरमें सावधान होनेपर वह इन्द्रकी ओर त्रिशूल उठाकर दौड़ा। इन्द्रने वज्रसे वृत्रकी वह दाहिनी भुजा काट दी। वृत्रने फिर परिघ उठाकर बायें हाथसे इन्द्रकी ठोढ़ीपर मारा। इस आघातसे इन्द्रके हाथसे वज्र गिर पड़ा और वे लज्जित हो गये। इन्द्रको लज्जित देख असुर वृत्रने हँसकर कहा—'शक्र! यह खेद करनेका समय नहीं है। वज्र हाथसे गिर गया तो हुआ क्या। उसे उठा लो और सावधानीसे मुझपर चलाओ। सभी जीव सर्वसमर्थ भगवान्के वशमें हैं। सबको सर्वत्र विजय नहीं मिलती। जैसे जालमें बँधे पक्षी हों, इसी प्रकार सब जीव परमात्माकी इच्छाके वशमें हैं। सबके संचालक भगवान् काल हैं, वे ही जय-पराजयके हेतु हैं। ओज, साहस, शक्ति, प्राण, अमृत और मृत्युरूपसे सबमें वे काल भगवान् ही स्थित हैं। मोहवश ही लोग जड शरीरको कारण मानते हैं। कठपुतलीके समान सभी जीव भगवान्के हाथके यन्त्र हैं। जो लोग नहीं जानते कि ईश्वरके अनुग्रहके बिना प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार, पञ्चभूत, इन्द्रियाँ, मन आदि कुछ नहीं कर सकते, वे लोग ही अज्ञानवश पराधीन देहको स्वाधीन मानते हैं। प्राणियोंका उत्पत्ति-विनाश कालकी प्रेरणासे ही होता है। जैसे बिना चाहे प्रारब्ध एवं कालकी प्रेरणासे दु:ख, अयश, दरिद्रता

* अहं हरे तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि भूयः। मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः॥
न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्। न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥
अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः। प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥
ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः। त्वन्माययाऽऽत्मात्मजदारगेहेष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात्॥
(श्रीमद्भा० ६। ११। २४—२७)

मिलती है, उसी प्रकार भाग्यसे ही लक्ष्मी, आयु, यश और ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं। जब ऐसी बात है, तब यश-अपयश, जय-पराजय, सुख-दु:ख, जीवन-मरणके लिये कोई क्यों हर्ष-विषाद करे। सुख-दु:ख तो गुणोंके कार्य हैं और सत्त्व, रज, तम—ये तीनों गुण प्रकृतिके हैं, आत्माके नहीं। जो अपनेको तीनों गुणोंका साक्षी आत्मा जानता है, वह सुख-दु:खसे लिप्त नहीं होता।'

इन्द्रने वृत्रासुरके निष्कपट दिव्य भावकी प्रशंसा की—'दानवेन्द्र! तुम तो सिद्धावस्थाको प्राप्त हो गये हो। तुम सबमें एक ही आत्माको देखनेवाले भगवान्‌के परम भक्त हो। तुम आसुरीभावको छोड़कर महापुरुष हो गये हो। तुम सबको मोहित करनेवाली भगवान्‌की मायासे पार हो चुके हो। आश्चर्यकी बात है कि रजोगुणी स्वभाव होनेपर भी तुमने अपने चित्तको दृढ़तासे सत्त्वमूर्ति भगवान् वासुदेवमें लगा रखा है। तुम्हारा स्वर्गादिके भोगोंमें अनासक्त होना ठीक ही है। आनन्दसिन्धु भगवान्‌की भक्तिके अमृतसागरमें जो विहार कर रहा है, उसे स्वर्गादि सुख-जैसे नन्हे गढ़ोंमें भरे खारे गंदे जलसे प्रयोजन भी क्या।'

इसके बाद वृत्रने मुख फैलाकर ऐरावतसहित इन्द्रको ऐसे निगल लिया, जैसे कोई बड़ा अजगर हाथीको निगल ले। निगले जानेपर भी इन्द्र नारायणकवचके प्रभावसे मरे नहीं। वज्रसे असुरका पेट फाड़कर वे निकल आये और फिर उसी वज्रसे उन्होंने उस दानवका सिर काट डाला। वृत्रके शरीरसे एक दिव्य ज्योति निकली, जो भगवान्‌के स्वरूपमें लीन हो गयी।

भगवान् शेष

शास्त्रोंमें भगवान्‌के पञ्चविध स्वरूप माने गये हैं। इनमें एक रूप 'व्यूह' के नामसे परिचित है। यह रूप सृष्टि, पालन और संहार करनेके लिये, संसारीजनोंका संरक्षण करनेके लिये और उपासकोंपर अनुग्रह करनेके लिये ग्रहण किया जाता है। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—ये चार व्यूह हैं। वास्तवमें संकर्षणादि तीन ही व्यूह हैं। वासुदेव तो व्यूहमण्डलमें आकर व्यूहरूपमें केवल गिने जाते हैं। इनमेंसे संकर्षण जीवतत्त्वके अधिष्ठाता हैं। इनमें ज्ञान और बल—इन दो गुणोंकी प्रधानता है। यही 'शेष' अथवा 'अनन्त' के रूपमें पातालमूलमें रहते हैं और प्रलयकालमें इन्हींके मुखमेंसे संवर्तक अग्नि प्रकट होकर सारे जगत्‌को भस्म कर देती है। ये ही भगवान् आदिपुरुष नारायणके पर्यङ्क-रूपमें क्षीरसागरमें रहते हैं। ये अपने सहस्र मुखोंके द्वारा निरन्तर भगवान्‌का गुणानुवाद करते रहते हैं और अनादि कालसे यों करते रहनेपर भी अघाते या ऊबते नहीं। ये भक्तोंके परम सहायक हैं और जीवको भगवान्‌की शरणमें ले जाते हैं। इनकी सारे देवता वन्दना करते हैं और इनके बल, पराक्रम, प्रभाव और स्वरूपको जानने अथवा वर्णन करनेकी सामर्थ्य किसीमें भी नहीं है। गन्धर्व, अप्सरा, सिद्ध, किन्नर, नाग आदि कोई भी इनके गुणोंकी थाह नहीं लगा सकते—इसीसे इन्हें 'अनन्त' कहते हैं। ये पञ्चविध ज्योति:सिद्धान्तके प्रवर्तक माने गये हैं। ये सारे विश्वके आधारभूत भगवान् नारायणके श्रीविग्रहको धारण करनेके कारण सब लोकोंमें पूज्य और धन्यतम कहे जाते हैं। ये सारे ब्रह्माण्डको अपने मस्तकपर धारण किये रहते हैं। ये भगवान्‌के निवास—शय्या, आसन, पादुका, वस्त्र, पादपीठ, तकिया तथा छत्रके रूपमें शेष अर्थात् अङ्गीभूत होनेके कारण 'शेष' कहलाते हैं। त्रेतायुगमें श्रीलक्ष्मणजीके रूपमें और द्वापरमें श्रीबलरामजीके रूपमें ये ही अवतीर्ण होकर भगवान्‌की लीलामें सहायक बनते हैं। ये भगवान्‌के नित्य परिकर, नित्यमुक्त एवं अखण्ड ज्ञानसम्पन्न माने जाते हैं।

भक्तराज गरुड़जी

ये भी भगवान्‌के अन्य परिकरोंकी भाँति नित्यमुक्त एवं अखण्ड ज्ञानसम्पन्न माने जाते हैं। ये वेदोंके अधिष्ठातृदेवता एवं वेदात्मा कहे जाते हैं। अतएव इन्हें शास्त्रोंमें सर्वज्ञ भी कहा गया है। इनका भगवान्‌के दास, सखा, वाहन, आसन, ध्वजा, वितान एवं व्यजनके रूपमें वर्णन आता है। श्रुतिमें इन्हें 'सर्ववेदमयविग्रह' कहा गया है।* श्रीमद्भागवतमें एक जगह वर्णन आता है कि बृहद्रथ और रथन्तर नामक सामवेदके दो भेद ही इनके पंख हैं और उड़ते समय इन पंखोंसे सामगानकी ध्वनि निकलती है।† ये भगवान्‌के नित्य संगी हैं और सदा उनकी सेवामें रत रहते हैं। इनके सम्बन्धमें यह कहा जाता है कि इनकी पीठपर भगवान्‌के चरण सदा स्थापित रहते हैं, जिससे इनके चमड़ेपर घट्ठा-सा पड़ गया है। यह परम सौभाग्य इन्हींको प्राप्त है। भगवान्‌के उच्छिष्ट प्रसादको ग्रहण करनेका अधिकार भी इन्हींको मिला हुआ है। असुरादिके साथ युद्धमें भगवान् इन्हें अपने सेनापतिका पद देकर अपना सारा भार इनपर छोड़ देते हैं; क्योंकि ये भगवान्‌के अत्यन्त विश्वासपात्र सेवक हैं। भगवान्‌के नित्य परिकर होनेपर भी इनका जन्म कश्यप और विनतासे हुआ था। अतएव ये 'वैनतेय' कहलाते हैं। भगवान्‌ने गीतामें इन्हें अपनी विभूति बतलाया है। ये भगवान्‌के नित्य परिकर होनेके नाते भक्तोंके सर्वस्व एवं महान् सहायक हैं। अष्टादशपुराणान्तर्गत गरुड़पुराण इन्हींके नामसे प्रसिद्ध है। भगवान्‌की कृपा एवं प्रेरणासे इन्होंने ही इस पुराणका कथन कश्यपजीके सामने किया था और उसीको फिर व्यासजीने सङ्कलन करके प्रसिद्ध किया।

भक्तराज काकभुशुण्डि

बारि मथें घृत होइ बरु सिकता तें बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥

जब लङ्काके युद्धमें मेघनादने नागपाशमें श्रीरामको बाँध लिया, तब नारदजीने पक्षिराज गरुड़को वहाँ भेजा। गरुड़जीने नागोंको भक्षण तो कर लिया, किंतु उन्हें सन्देह हो गया—'जिसे एक राक्षस बाँध ले, वे सर्वसमर्थ सर्वेश्वर कैसे हो सकते हैं।' अपने सन्देहको दूर करनेके लिये वे कई स्थानोंपर गये। अन्तमें शङ्करजीने उन्हें काकभुशुण्डिजीके आश्रमपर भेजा। उस आश्रमका प्रभाव ही ऐसा था कि वहाँ प्रवेश करते ही गरुड़का मोह अपने-आप दूर हो गया। गरुड़ने वहाँ भुशुण्डिजीसे पूरा रामचरित सुना।

गरुड़जीके पूछनेपर काकभुशुण्डिजीने बताया कि 'पूर्वके किसी कल्पमें मेरा जन्म अयोध्यामें हुआ था। मैं जातिसे शूद्र था। जब देशमें अकाल पड़ गया, तब जन्मभूमि छोड़कर मैं उज्जयिनी पहुँचा। वहाँ एक त्यागी, धर्मात्मा, भगवद्भक्त ब्राह्मणसे मैंने शिवमन्त्रकी दीक्षा ली। उस समय मेरे मनमें बड़ा भेदभाव था। मैं शङ्करजीका भक्त होनेपर भी भगवान् विष्णु तथा राम-कृष्णसे द्वेष करता था। श्रीनारायणकी मैं निन्दा करता था। मेरे गुरुदेव सच्चे संत थे। मेरी इस द्वेष-बुद्धिसे उन्हें खेद होता था। मेरे कल्याणके लिये वे बार-बार समझाते थे—'भगवान् शङ्कर और भगवान् विष्णु परस्पर अभिन्न हैं। शङ्करजी तो श्रीराम-नामका जप करते रहते हैं। तुम द्वेष-बुद्धि छोड़ दो। हरि और हरमें भेद मानना तथा

---

* 'सुपर्णोऽसि गरुत्मान् त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुः' इत्यादि। 'तस्य गायत्री जगती च पक्षावभवतामुष्णिक् च त्रिष्टुप् च पंक्तिश्च धुर्यौ बृहत्येवोक्तिरभवत् स एतं छन्दोरथमास्थाय एतमध्वानमनुसमचरत्।' (सौपर्णश्रुतिः)

† आकर्णयन् पत्ररथेन्द्रपक्षैरुच्चारितं स्तोममुदीर्णसाम। (श्रीमद्भा० ३। २१। ३४)

दोनोंमेंसे किसी भी एककी निन्दा करना बड़ा भारी अपराध है। इससे पतन होता है।' पर मैं अहङ्कारके कारण गुरुकी बातपर ध्यान नहीं देता था। मैं गर्वमें चूर होकर गुरुदेवकी उपेक्षा करने लगा।

'एक दिन शूद्ररूपमें मैं भगवान् शङ्करके मन्दिरमें बैठा शिव-मन्त्रका जप कर रहा था। उसी समय मेरे गुरु वहाँ आये, पर मैंने न तो उन्हें प्रणाम किया और न उठकर खड़ा ही हुआ। संतस्वभाव ब्राह्मणको तो कुछ भी बुरा नहीं लगा; किंतु भगवान् शङ्कर शूद्रका यह अपराध नहीं देख सके। उसी समय मन्दिरमें आकाशवाणीने शूद्रको शाप दिया—'तुम्हें एक हजार बार कीट-पतंग आदिकी योनियोंमें जन्म लेना पड़ेगा।' यह आकाशवाणी सुनकर दयालु ब्राह्मणको बड़ी व्यथा हुई। उन्होंने बड़ी ही भक्तिसे शङ्करजीकी स्तुति करके प्रार्थना की—'नाथ! यह तो अज्ञानी है। इसे क्षमा कर दें।' भगवान् शङ्कर ब्राह्मणके इस दयाभावसे सन्तुष्ट हो गये। उन्होंने आशीर्वाद दिया—'इसे जन्म-मरणका कष्ट नहीं होगा। जो भी देह इसे मिलेगी, उसे यह बिना कष्टके शीघ्र ही छोड़ देगा। मेरी कृपासे इसे ये सब बातें स्मरण रहेंगी। अन्तिम जन्ममें यह ब्राह्मण होगा। उस समय श्रीराममें इसका अनुराग होगा और इसे अव्याहत गति भी प्राप्त होगी।'

शापके अनुसार अनेक योनियोंमें भटकनेके बाद मुझे ब्राह्मण-शरीर मिला। माता-पिता बचपनमें ही परलोक चले गये थे। शङ्करजीकी कृपासे अव्याहत गति थी। अब एक ही इच्छा मनमें थी कि किसी भी प्रकार सर्वेश्वर, सर्वाधार श्रीरामके दर्शन हों। ऋषि-मुनियोंके आश्रमोंमें मैं घूमने लगा। सभी लोग निर्गुण, निराकार, सर्वव्यापी ब्रह्मका मुझे उपदेश करते थे; पर मेरा हृदय तो त्रिभुवनसुन्दर साकार ब्रह्मके दर्शनको छटपटा रहा था। घूमता हुआ मैं महर्षि लोमशके पास पहुँचा। महर्षिने भी मुझ विरक्त ब्राह्मणबालकको परम अधिकारी समझकर ब्रह्मज्ञानका उपदेश देना प्रारम्भ किया। महर्षि निर्गुणतत्त्वका प्रतिपादन करने लगे तो मैं उसका खण्डन करके सगुणका समर्थन करने लगा। बार-बार लोमशजी निर्गुण ब्रह्मको समझाना चाहते और प्रत्येक बार मैं उसका खण्डन करके सगुणकी प्राप्तिका उपाय पूछता। अन्तमें महर्षिको क्रोध आ गया। उन्होंने शाप दिया—'दुष्ट! तुझे अपने पक्षपर बड़ा दुराग्रह है, अतः तू पक्षियोंमें अधम कौआ हो जा।' तुरंत मैं काकदेहधारी हो गया; किंतु इसका मुझे कोई खेद नहीं हुआ। ऋषिको प्रणाम करके मैं उड़कर जाने लगा। मुझ-जैसे क्षमाशील, नम्रको शाप देनेका ऋषिके मनमें पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने स्नेहपूर्वक पास बुलाकर मुझको राम-मन्त्र दिया और श्रीरामके बालरूपका ध्यान बताया तथा आशीर्वाद दिया—'तुम्हारे हृदयमें श्रीरामकी अविचल भक्ति निवास करे। मेरे आशीर्वादसे तुम अब इच्छानुसार रूप धारण कर सकोगे और मृत्यु भी तुम्हारी इच्छाके वश रहेगी। तुममें ज्ञान और वैराग्य पूर्णरूपसे रहेंगे। तुम जिस आश्रममें रहोगे, वहाँ एक योजनतक अविद्याका प्रभाव नहीं रहेगा।'

गुरु-आज्ञा लेकर मैं नीलाचलपर चला आया। जब कभी रामावतार होता है, तब मैं श्रीरामकी पाँच वर्षकी आयुतक उनकी बाललीलाओंका दर्शन करता हुआ अयोध्यामें रहता हूँ। भगवन्नामका जप, ध्यान, मानसिक पूजा और दिव्य राजहंसोंको भगवान्‌की कथा सुनाना, यही मेरा नित्यका कर्म है। स्वयं भगवान् शङ्कर राजहंस बनकर मेरे आश्रममें रामकथा सुननेके लिये निवास कर चुके हैं। गरुड़जीको श्रीकाकजीने श्रीरामकी भक्तिका जो उपदेश किया, वह श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें देखने योग्य है।
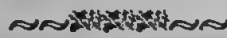
भक्त-वाणी

स्वकर्मफलनिर्दिष्टां यां यां योनिं व्रजाम्यहम्। तस्यां तस्यां हृषीकेश! त्वयि भक्तिर्दृढास्तु मे॥—कुन्ती

अपने कर्मफलके द्वारा निर्दिष्ट की हुई जिस-किसी भी योनिमें मुझे जन्म लेना पड़े, हृषीकेश! वहीं तुम्हारे प्रति मेरी दृढ़ भक्ति बनी रहे।

प्रेमी जटायु

सर्वत्र खलु दृश्यन्ते साधवो धर्मचारिणः।
शूराः शरण्याः सौमित्रे तिर्यग्योनिगतेष्वपि॥

श्रीराम कहते हैं—'लक्ष्मण! सर्वत्र—यहाँतक कि पशु-पक्षी आदि योनियोंमें भी शूरवीर, शरणागतरक्षक, धर्मपरायण साधुजन मिलते हैं।'

प्रजापति कश्यपजीकी पत्नी विनतासे दो पुत्र हुए—अरुण और गरुड़। इनमेंसे भगवान् सूर्यके सारथि अरुणजीके दो पुत्र हुए—सम्पाती और जटायु। बचपनमें सम्पाती और जटायु उड़ानकी होड़ लगाकर ऊँचे जाते हुए सूर्यमण्डलके पासतक चले गये। असह्य तेज न सह सकनेके कारण जटायु तो लौट आये, किंतु सम्पाती ऊपर ही उड़ते गये। सूर्यके अधिक निकट जानेपर सम्पातीके पंख सूर्यतापसे भस्म हो गये। वे समुद्रके पास पृथ्वीपर गिर पड़े। जटायु लौटकर पञ्चवटीमें आकर रहने लगे। महाराज दशरथसे आखेटके समय इनका परिचय हो गया और महाराजने इन्हें अपना मित्र बना लिया।

वनवासके समय जब श्रीरामजी पञ्चवटी पहुँचे, तब जटायुसे उनका परिचय हुआ। मर्यादापुरुषोत्तम अपने पिताके सखा गीधराजका पिताके समान ही सम्मान करते थे। जब छलसे स्वर्णमृग बने मारीचके पीछे श्रीराम वनमें चले गये और जब मारीचकी कपटपूर्ण पुकार सुनकर लक्ष्मणजी बड़े भाईको ढूँढ़ने चले गये, तब सूनी कुटियासे रावणने सीताजीको उठा लिया। बलपूर्वक रथमें बैठाकर वह उन्हें ले चला। श्रीविदेहराज-दुहिताका करुण-क्रन्दन सुनकर जटायु क्रोधमें भर गये। वे ललकारते-धिक्कारते रावणपर टूट पड़े और एक बार तो राक्षसराजके केश पकड़कर उसे भूमिमें पटक ही दिया।

जटायु वृद्ध थे। वे जानते थे कि रावणसे युद्धमें वे जीत नहीं सकते। परन्तु नश्वर शरीर राम-काजमें लग जाय, इससे बड़ा सौभाग्य और क्या होगा। रावणसे उनका भयंकर संग्राम हुआ। अन्तमें रावणने उनके पंख तलवारसे काट लिये। वे भूमिपर गिर पड़े। जानकीजीको लेकर रावण भाग गया। श्रीराम विरह-व्याकुल जानकीजीको ढूँढ़ते वहाँ आये। जटायु मरणासन्न हो रहे थे। उनका चित्त श्रीरामके चरणोंमें लगा था। उन्होंने कहा—'राघव! राक्षसराज रावणने मेरी यह दशा की है। वही दुष्ट सीताजीको लेकर दक्षिण दिशाकी ओर चला गया है। मैंने तो तुम्हारे दर्शनके लिये ही अबतक प्राणोंको रोक रखा था। अब वे विदा होना चाहते हैं। तुम आज्ञा दो।'

श्रीराघवके नेत्र भर आये। उन्होंने कहा—'आप प्राणोंको रोकें। मैं आपके शरीरको अजर-अमर तथा स्वस्थ बनाये देता हूँ।' जटायु परम भागवत थे। शरीरका मोह उन्हें था नहीं। उन्होंने कहा—'श्रीराम! जिनका नाम मृत्युके समय मुखसे निकल जाय तो अधम प्राणी भी मुक्ति प्राप्त कर लेता है—ऐसी तुम्हारी महिमा श्रुतियोंमें वर्णित है। आज वही तुम प्रत्यक्ष मेरे सम्मुख हो; फिर मैं शरीर किस लाभके लिये रखूँ?'

दयाधाम श्रीरामभद्रके नेत्रोंमें जल भर आया। वे कहने लगे—'तात! मैं तुम्हें क्या दे सकता हूँ। तुमने तो अपने ही कर्मसे परम गति प्राप्त कर ली है। जिनका चित्त परोपकारमें लगा रहता है, उन्हें संसारमें कुछ भी दुर्लभ नहीं है। अब इस शरीरको छोड़कर आप मेरे धाममें पधारें।'

श्रीरामने जटायुको गोदमें उठा लिया था। अपनी जटाओंसे वे उन पक्षिराजकी देहमें लगी धूलि झाड़ रहे थे। जटायुने श्रीरामके मुख-कमलका दर्शन करते हुए उनकी गोदमें ही शरीर छोड़ दिया—उन्हें भगवान्‌का सारूप्य प्राप्त हुआ। वे तत्काल नवजलधरसुन्दर, पीताम्बरधारी, चतुर्भुज तेजोमय शरीर धारण करके वैकुण्ठ चले गये। जैसे सत्पुत्र श्रद्धापूर्वक पिताकी अन्त्येष्टि करता है, वैसे ही श्रीरामने जटायुके शरीरका सम्मानपूर्वक दाहकर्म किया और उन्हें जलाञ्जलि देकर श्राद्ध किया। पक्षिराजके सौभाग्यकी महिमाका कहाँ पार है। त्रिभुवनके स्वामी श्रीराम, जिन्होंने दशरथजीकी अन्त्येष्टि नहीं की, वे जटायुकी अन्त्येष्टि विधिपूर्वक करते रहे। उस समय उन्हें श्रीजानकीजीका वियोग भी भूल गया था।

भक्त ऋक्षराज जाम्बवान्

स्वारथ साँच जीव कहँ एहा। मन क्रम बचन रामपद नेहा॥

भगवान् ब्रह्माने देखा कि सृष्टिकार्यमें लगे रहते पूरा समय भगवान्की सेवामें नहीं दिया जा सकता। अतः वे अपने एक रूपसे ऋक्षराज जाम्बवान् होकर पृथ्वीपर आ गये। भगवान्की सेवा, भगवान्के नित्यमङ्गलमय रूपका ध्यान, भगवान्की लीलाओंका चिन्तन—यही जाम्बवान्जीकी दिनचर्या थी। सत्ययुगमें जब भगवान् वामनने विराट्रूप धारण करके बलिको बाँध लिया, उस समय उस विराट्रूप प्रभुको देखकर ऋक्षराज जाम्बवन्तजीको बड़ा ही आनन्द हुआ। वे भेरी लेकर विराट्-भगवान्का जयघोष करते हुए दिशाओंमें सर्वत्र महोत्सवकी घोषणा कर आये और दो घड़ियोंमें ही दौड़ते हुए उन्होंने सात प्रदक्षिणाएँ विराट्-भगवान्की कर लीं!

त्रेतामें जाम्बवन्तजी सुग्रीवके मन्त्री हो गये। आयु, बुद्धि, बल एवं नीतिमें सबसे श्रेष्ठ होनेके कारण वे ही सबको उचित सम्मति देते थे। वानर जब सीतान्वेषणको निकले और समुद्रके तटपर हताश होकर बैठ गये, तब जाम्बवन्तजीने ही हनुमान्जीको उनके बलका स्मरण दिलाकर लङ्का जानेके लिये प्रेरित किया। भगवान् श्रीरामके युद्धकालमें तो जैसे ये प्रधान मन्त्री ही थे। सभी कार्योंमें भगवान् इनकी सम्मति लेते और उसका आदर करते थे। लङ्का-युद्धमें मेघनादने अपनी मायासे सभीको व्याकुल कर दिया था, पर जाम्बवन्तजीको वह माया स्पर्श भी नहीं कर सकी। मेघनाद और रावण भी इनके मुष्टि-प्रहारसे मूर्छित हो जाते थे। जब भगवान् अयोध्या लौट आये और राज्याभिषेकके अनन्तर सबको विदा करने लगे, तब जाम्बवन्तजीने अयोध्यासे जाना तभी स्वीकार किया, जब प्रभुने उन्हें द्वापरमें फिर दर्शन देनेका वचन दिया।

जाम्बवन्तजीकी इच्छा थी कि कोई मुझे द्वन्द्वयुद्धमें सन्तुष्ट करे। लङ्काके युद्धमें रावण भी उनके सम्मुख टिक नहीं सका था। भगवान् तो भक्तवाञ्छाकल्पतरु हैं। अपने भक्तकी इच्छा पूर्ण करना ही उनका व्रत है। द्वापरमें श्रीकृष्णचन्द्रका अवतार हुआ। द्वारका आनेपर यादवश्रेष्ठ सत्राजित्ने सूर्यकी आराधना करके स्यमन्तक मणि प्राप्त की। एक दिन श्रीकृष्णचन्द्रने सत्राजित्से कहा कि 'वह मणि महाराज उग्रसेनको दे दो।' किंतु लोभवश सत्राजित्ने यह बात स्वीकार नहीं की। संयोगवश उस मणिको गलेमें बाँधकर सत्राजित्का भाई प्रसेनजित् आखेटके लिये वनमें गया और वहाँ उसे सिंहने मार डाला। सिंह मणि लेकर गुफामें गया तो जाम्बवन्तजीने सिंहको मारकर मणि ले ली और गुफाके भीतर अपने बच्चेको खेलनेके लिये दे दी। द्वारकामें जब प्रसेन नहीं लौटा, तब सत्राजित्को शङ्का हुई कि 'श्रीकृष्णचन्द्रने मेरे भाईको मारकर मणि छीन ली है।' धीरे-धीरे यह बात फैलने लगी। इस अयशको दूर करनेके लिये श्रीकृष्णचन्द्र मणिका पता लगाने निकले। मरे घोड़ेको, फिर मृत सिंहको देखते हुए जाम्बवन्तकी गुफामें पहुँचे। एक अपरिचित पुरुषको देख बच्चेकी धाय चिल्ला उठी। जाम्बवन्त इस चिल्लाहटको सुन क्रोधमें भरे दौड़े। केशवके साथ उनका द्वन्द्वयुद्ध होने लगा। सत्ताईस दिन-रात बिना विश्राम किये दोनों एक-दूसरेपर वज्रके समान घूँसे मारते रहे। अन्तमें जाम्बवन्तका शरीर मधुसूदनके घूँसोंसे शिथिल होने लगा। जाम्बवन्तजीने सोचा—'मुझे पराजित कर सके, ऐसा कोई देवता या राक्षस तो हो नहीं सकता। अवश्य ये मेरे स्वामी श्रीराम ही हैं।' वे यह सोचकर रुक गये। भगवान्ने उसी समय उन्हें अपने धनुषधारी रामरूपका दर्शन दिया। जाम्बवन्तजी प्रभुके चरणोंपर गिर पड़े। श्रीकृष्णचन्द्रने अपना हाथ उनके शरीरपर फेरकर समस्त पीड़ा, श्रान्ति, क्लेशको दूर कर दिया। अपनी कन्या जाम्बवतीको ऋक्षराजने श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंमें समर्पित किया और उस मणिको भी दे दिया। इस प्रकार अपने जीवनको ही भगवान्के चरणोंमें उन्होंने अर्पित कर दिया।

महात्मा बालि

उमा दारु जोषित की नाईं। सबहि नचावत रामु गोसाईं॥

देवराज इन्द्रके अंशसे उत्पन्न किष्किन्धानरेश वानरराज बालि अमित पराक्रमी थे। वे सन्ध्या, पूजन, देवाराधन करते थे। ब्राह्मणों तथा गौओंके भक्त थे। उनमें न कोई अधर्म था और न उनको प्रमाद ही स्पर्श करता था। उनका अपार ऐश्वर्य और महान् धन-वैभव था। पराक्रम इतना महान् था कि युद्धके लिये आये राक्षसराज रावणको उन्होंने नन्हें-से कीड़ेकी भाँति पकड़कर अपनी काँख (बगल)-में छः महीने दबाये रखा और फिर लाकर घरमें बाँध दिया। महर्षि पुलस्त्यके कहनेपर उन्होंने दशाननको छोड़ा। बालिके भयसे राक्षस उनके राज्यमें उत्पात नहीं करते थे। परंतु प्रारब्धकी महिमा अपार है। अपने छोटे भाई सुग्रीवसे उनको चिढ़ हो गयी। सुग्रीवको मारकर उन्होंने निकाल दिया और उसकी सम्पत्ति तथा स्त्री छीन ली।

बालिको सुग्रीव प्राणोंके समान प्रिय थे और सुग्रीव भी बालिका पिताके समान आदर करते थे। एक दिन मयका पुत्र मायावी नामक राक्षस आया और आधी रातको नगरद्वारपर आकर उसने बालिको युद्धके लिये ललकारा। बालि दौड़ पड़े। राक्षस भागकर एक गुफामें घुस गया। सुग्रीव भी बड़े भाईके साथ दौड़े आये थे। उन्हें द्वारपर पन्द्रह दिनतक प्रतीक्षा करनेको कहकर बालि गुफामें चले गये। सुग्रीव एक महीने वहीं बैठे रहे। अन्तमें जब गुफासे रक्तकी धारा निकली, तब उन्होंने निश्चय किया कि 'राक्षसने मेरे भाईको मार दिया।' तब गुफाद्वारपर शिला रखकर प्राणभयसे वे भाग आये। मन्त्रियोंने आते ही उन्हें राज्यतिलक कर दिया। कुछ समय बाद असुरको मारकर बालि लौटे। गुफाद्वार बन्द देखकर उन्हें क्रोध आया। शिला हटाकर नगरमें आनेपर जब उन्होंने सुग्रीवको राजा बना देखा, तब उन्हें ऐसा लगा कि जान-बूझकर सुग्रीवने ही मुझे गुफामें बन्द करके मार डालना चाहा था; अतः वे सुग्रीवपर टूट पड़े। घायल होकर सुग्रीव भाग खड़े हुए। इस प्रकार केवल भ्रमके कारण इतना बड़ा अनर्थ हो गया।

बालिने दुन्दुभि नामक राक्षसको मारकर एक बार ऋष्यमूक पर्वतपर फेंक दिया था। उस राक्षसके रक्तसे मतंग ऋषिका आश्रम अपवित्र हो गया। इससे ऋषिने शाप दिया—'बालि इस पर्वतपर आते ही मर जायगा।' इससे बालि वहाँ नहीं जाते थे। सुग्रीव उसी पर्वतपर रहने लगे। वहीं मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामसे उनकी मित्रता हुई। श्रीरामने उन्हें बालिसे युद्ध करने भेजा। जब सुग्रीवकी ललकार सुनकर बालि दौड़े, तब ताराने पैर पकड़कर उन्हें समझाना चाहा। उस समय बालिने कहा—'तारा! श्रीराम तो समदर्शी हैं और यदि कदाचित् वे मुझे मारेंगे भी, तो मैं सदाके लिये सनाथ हो जाऊँगा।'

बालि श्रीरामके स्वरूपको जानते थे। जब प्रभुने उनकी छातीमें बाण मारा और वे गिर पड़े, तब सर्वेश्वर उनके सम्मुख आये। बालिने उन्हें उलाहना दिया छिपकर मारनेके लिये; किंतु *'हृदयँ प्रेम मुख बचन कठोरा'* को वे सर्वान्तर्यामी भलीभाँति जानते थे। बालि कहें कुछ भी, उनकी अवस्था तो दूसरी ही थी—

पुनि पुनि चितइ चरन चित दीन्हा। सुफल जन्म माना प्रभु चीन्हा॥

भगवान्ने भी बालिके वचनका उत्तर देकर बताया कि यह जानकर भी कि सुग्रीव भगवान्के आश्रित हैं, उन्हें मारनेका प्रयत्न अहङ्कारवश ही किया गया। बालिके हृदयमें प्रेम था। वे विवाद करनेकी स्थितिमें भी नहीं थे। उन्होंने कहा—'नाथ! आप स्वामी हैं, समर्थ हैं। आपसे मेरी चतुराई नहीं चल सकती; किंतु अब अन्त समयमें जब मैं आपकी परम गति पा रहा हूँ, तब भी क्या पापी ही हूँ?'

दयामयने बालिके शरीरको अमर कर देनेको कहा। बालिने उत्तर दिया—'प्रभु! ऐसा सुअवसर बार-बार हाथ नहीं लगता।'

जन्म जन्म मुनि जतनु कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं॥
जासु नाम बल संकर कासी। देत सबहि सम गति अबिनासी॥
मम लोचन गोचर सोइ आवा। बहुरि कि प्रभु अस बनिहि बनावा॥

बालिने भगवान्‌की स्तुति की और वरदान माँगा—'नाथ! कर्मवश जिस भी योनिमें जन्म ग्रहण करूँ, वहीं मेरा आपके श्रीचरणोंमें प्रेम रहे—

जेहिं जोनि जन्मौं कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ॥

वह दिव्य झाँकी उस धन्यभाग्यके सम्मुख थी—

स्याम गात सिर जटा बनाएँ। अरुन नयन सर चाप चढ़ाएँ॥

श्रीरामके चरणोंमें चित्तको लगाकर इस छविका दर्शन करते बालिने इस प्रकार शरीर छोड़ दिया—

'सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग॥

सखा सुग्रीव

न सर्वे भ्रातरस्तात भवन्ति भरतोपमाः।
मद्विधा वा पितुः पुत्राः सुहृदो वा भवद्विधाः॥

श्रीरामजी सुग्रीवजीसे कहते हैं—'भैया! सब भाई भरतके समान आदर्श नहीं हो सकते। सब पुत्र हमारी तरह पितृभक्त नहीं हो सकते और सब सुहृद् तुम्हारी तरह दुःखके साथी नहीं हो सकते।'

सब सम्बन्धोंके एकमात्र स्थान श्रीहरि ही हैं। उनसे जो भी सम्बन्ध जोड़ा जाय, उसे वे पूरा निभाते हैं। सच्ची लगन होनी चाहिये, एकनिष्ठ प्रेम होना चाहिये। प्रेमपाशमें बँधकर प्रभु स्वामी बनते हैं। वे सखा, सुहृद्, भाई, पुत्र, सेवक सभी कुछ बननेको तैयार हैं। उन्हें शिष्टाचारकी आवश्यकता नहीं, वे तो सच्चा स्नेह चाहते हैं।

प्रभु तरु तर कपि डार पर ते किए आपु समान।
तुलसी कहूँ न राम सो साहिब सीलनिधान॥

सुग्रीवको भगवान्ने स्थान-स्थानपर अपना सखाभक्त माना है। बालि और सुग्रीव—ये दो भाई थे। दोनोंमें ही परस्पर बड़ा स्नेह था। बालि बड़ा था, इसलिये वही वानरोंका राजा था। एक बार एक राक्षस रात्रिमें किष्किन्धा आया। आकर बड़े जोरसे गरजने लगा। बालि उसे मारनेके लिये नगरसे अकेला ही निकला। सुग्रीव भी भाईके स्नेहके कारण उसके पीछे-पीछे चला। वह राक्षस एक बड़े भारी बिलमें घुस गया। बालि अपने छोटे भाईको द्वारपर बैठाकर उस राक्षसको मारने उसके पीछे-पीछे उस गुफामें चला गया। सुग्रीवको बैठे-बैठे एक महीना बीत गया, किंतु बालि उस गुफामेंसे नहीं निकला। एक महीने बाद गुफामेंसे रक्तकी धार निकली। सुग्रीवने समझा, मेरा भाई मर गया है; अतः उस गुफाको एक बड़ी भारी शिलासे ढककर वह किष्किन्धापुरीमें लौट गया। मन्त्रियोंने जब राजधानीको राजासे हीन देखा तो उन्होंने सुग्रीवको राजा बना दिया। थोड़े ही दिनोंमें बालि आ गया। सुग्रीवको राजगद्दीपर बैठा देखकर वह बिना ही जाँच-पड़ताल किये क्रोधसे आगबबूला हो गया और उसे मारनेको दौड़ा। सुग्रीव भी अपनी प्राणरक्षाके लिये भागा। भागते-भागते वह मतंग ऋषिके आश्रमपर पहुँचा। बालि वहाँ शापवश जा नहीं सकता था, अतः वह लौट आया और सुग्रीवका धन-स्त्री आदि सभी उसने छीन लिया। राज्य, स्त्री और धनके हरण होनेपर दुःखी सुग्रीव अपने हनुमान् आदि चार मन्त्रियोंके साथ ऋष्यमूक पर्वतपर रहने लगा।

सीताजीके हरण हो जानेपर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अपने भाई लक्ष्मणजीके साथ उन्हें खोजते-खोजते शबरीके बतानेपर ऋष्यमूक पर्वतपर आये। सुग्रीवने दूरसे ही श्रीराम-लक्ष्मणको देखकर हनुमान्जीको भेजा। हनुमान्जी उन्हें आदरपूर्वक ले आये। अग्निको साक्षी करके दोनोंमें मित्रता हुई। सुग्रीवने अपना सब दुःख भगवान्को सुनाया। भगवान्ने कहा—'मैं बालिको एक ही बाणसे मार दूँगा।' सुग्रीवने परीक्षाके लिये अस्थिसमूह दिखाया। श्रीरामजीने उसे पैरके अँगूठेसे ही गिरा दिया। फिर सात ताड़ोंको एक बाणसे गिरा दिया। सुग्रीवको विश्वास हो गया कि श्रीरामजी बालिको मार देंगे। सुग्रीवको लेकर श्रीरामजी बालिके यहाँ गये। बालि लड़ने आया, दोनों भाइयोंमें बड़ा युद्ध हुआ। अन्तमें श्रीरामचन्द्रजीने एक ऐसा बाण तककर बालिको मारा कि वह मर गया।

बालिके मरनेपर श्रीरामजीकी आज्ञासे सुग्रीव राजा बनाये गये और बालिके पुत्र अंगदको युवराजका पद दिया गया। तदनन्तर सुग्रीवने वानरोंको इधर-उधर श्रीसीताजीकी खोजके लिये भेजा और श्रीहनुमान्जीद्वारा सीताजीका समाचार पाकर सुग्रीव अपनी असंख्य वानरी सेना लेकर लंकापर चढ़ गये। वहाँ उन्होंने बड़ा पुरुषार्थ दिखलाया। सुग्रीवने संग्राममें रावणतकको इतना छकाया कि वह भी इनके नामसे डरने लगा।

लंका-विजय करके ये भी श्रीरामजीके साथ श्रीअवधपुरी आये और वहाँ श्रीरामजीने उनका परिचय कराते हुए गुरु वसिष्ठजीसे कहा—

ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे॥
मम हित लागि जनम इन्ह हारे। भरतहु तें मोहि अधिक पिआरे॥

श्रीरामजीने सुग्रीवजीको स्थान-स्थानपर 'प्रिय सखा' कहा है और अपने मुखसे स्पष्ट कहा है कि तुम्हारे

समान आदर्श निःस्वार्थ सखा संसारमें बिरले ही होते हैं। श्रीरामजीने थोड़े दिन इन्हें अवधपुरीमें रखकर विदा कर दिया और ये भगवान्‌की लीलाओंका स्मरण-कीर्तन करते हुए अपनी पुरीमें रहने लगे। अन्तमें जब भगवान् निजलोक पधारे, तब ये भी आ गये और भगवान्‌के साथ ही साकेत गये। सुग्रीव-जैसे भगवत्कृपाप्राप्त सखा संसारमें बिरले ही होते हैं। उनका समस्त जीवन रामकाज और रामस्मरणमें ही बीता। यही जगमें जीवनका परम लाभ है। भगवान्‌से प्रार्थना करते हुए सुग्रीवजी कहते हैं—

त्वत्पादपद्मार्पितचित्तवृत्तिस्त्वन्नामसङ्गीतकथासु वाणी।
त्वद्भक्तसेवानिरतौ करौ मे त्वदङ्गसङ्गं लभतां मदङ्गम्॥
त्वन्मूर्तिभक्तान् स्वगुरुं च चक्षुः पश्यत्वजस्रं स शृणोतु कर्णः।
त्वज्जन्मकर्माणि च पादयुग्मं व्रजत्वजस्रं तव मन्दिराणि॥
अङ्गानि ते पादरजोविमिश्रतीर्थानि बिभ्रत्वहिशत्रुकेतो।
शिरस्त्वदीयं भवपद्मजाद्यैर्जुष्टं पदं राम नमत्वजस्रम्॥

'प्रभो! मेरी चित्तवृत्ति सदा आपके चरणकमलोंमें लगी रहे, मेरी वाणी सदा आपके नामका गान करती रहे, हाथ आपके भक्तोंकी सेवामें लगे रहें और मेरा शरीर (आपके पाद-स्पर्श आदिके मिससे) सदा आपका अंग-संग करता रहे। मेरे नेत्र सर्वदा आपकी मूर्ति, आपके भक्त और अपने गुरुका दर्शन करते रहें; कान निरन्तर आपके दिव्य जन्म-कर्मोंकी कथा सुनते रहें और मेरे पैर सदा आपके मंदिरोंकी यात्रा करते रहें। हे गरुड़ध्वज! मेरा शरीर आपकी चरण-रजसे युक्त तीर्थोदकको धारण करे और मेरा सिर निरन्तर आपके उन चरणोंमें प्रणाम किया करे, जिनकी शिव और ब्रह्मादि देवगण भी सदैव सेवा करते हैं।'

रामहृदय श्रीहनूमान्‌जी

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम्।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम्॥

प्रनवउँ पवनकुमार खल बन पावक ग्यान घन।
जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर॥

भगवान् शङ्करके अंशसे वायुके द्वारा कपिराज केसरीकी पत्नी अञ्जनामें हनूमान्‌जीका प्रादुर्भाव हुआ। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामकी सेवा शङ्करजी अपने रूपसे तो कर नहीं सकते थे; अतएव उन्होंने ग्यारहवें रुद्ररूपको इस प्रकार वानररूपमें अवतरित किया। जन्मके कुछ ही समय पश्चात् महावीर हनुमान्‌जीने उगते हुए सूर्यको कोई लाल-लाल फल समझा और उसे निगलने आकाशकी ओर दौड़ पड़े। उस दिन सूर्यग्रहणका समय था। राहुने देखा कि कोई दूसरा ही सूर्यको पकड़ने आ रहा है, तब वह उस आनेवालेको पकड़ने चला; किंतु जब वायुपुत्र उसकी ओर बढ़े, तब वह डरकर भागा। राहुने इन्द्रसे पुकार की। ऐरावतपर चढ़कर इन्द्रको आते देख पवनकुमारने ऐरावतको कोई बड़ा-सा सफेद फल समझा और उसीको पकड़ने लपके। घबराकर देवराजने वज्रसे प्रहार किया। वज्रसे इनकी ठोड़ी (हनु)-पर चोट लगनेसे वह कुछ टेढ़ी हो गयी, इसीसे ये हनूमान् कहलाने लगे। वज्र लगनेपर ये मूर्च्छित होकर गिर पड़े। पुत्रको मूर्च्छित देखकर वायुदेव बड़े कुपित हुए। उन्होंने अपनी गति बन्द कर ली। श्वास रुकनेसे देवता भी व्याकुल हो गये। अन्तमें हनुमान्‌को सभी लोकपालोंने अमर होने तथा अग्नि-जल-वायु आदिसे अभय होनेका वरदान देकर वायुदेवको सन्तुष्ट किया।

जातिस्वभावसे चञ्चल हनुमान् ऋषियोंके आश्रमोंमें वृक्षोंको सहज चपलतावश तोड़ देते तथा आश्रमकी वस्तुओंको अस्त-व्यस्त कर देते थे। अतः ऋषियोंने इन्हें शाप दिया—'तुम अपना बल भूले रहोगे। जब कोई तुम्हें स्मरण दिलायेगा, तभी तुम्हें अपने बलका भान होगा।' तबसे वे सामान्य वानरकी भाँति रहने लगे। माताके आदेशसे सूर्यनारायणके समीप जाकर वेद, वेदाङ्ग प्रभृति समस्त शास्त्रों एवं कलाओंका इन्होंने अध्ययन किया। उसके पश्चात् किष्किन्धामें आकर सुग्रीवके साथ रहने लगे। सुग्रीवने इन्हें अपना निजी सचिव बना लिया। जब बालिने सुग्रीवको मारकर निकाल दिया, तब भी ये सुग्रीवके साथ ही रहे। सुग्रीवके विपत्तिके साथी होकर

ऋष्यमूकपर ये उनके साथ ही रहते थे।

बचपनमें माता अञ्जनासे बार-बार आग्रहपूर्वक इन्होंने अनादि रामचरित सुना था। अध्ययनके समय वेदमें, पुराणोंमें श्रीरामकथाका अध्ययन किया था। किष्किन्धा आनेपर यह भी ज्ञात हो गया कि परात्पर प्रभुने अयोध्यामें अवतार धारण कर लिया। अब ये बड़ी उत्कण्ठासे अपने स्वामीके दर्शनकी प्रतीक्षा करने लगे। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—'जो निरन्तर भगवान्की कृपाकी आतुर प्रतीक्षा करते हुए अपने प्रारब्धसे प्राप्त सुख-दुःखको सन्तोषपूर्वक भोगते रहकर हृदय, वाणी तथा शरीरसे भगवान्को प्रणाम करता रहता है—हृदयसे भगवान्का चिन्तन, वाणीसे भगवान्के नाम-गुणका गान-कीर्तन और शरीरसे भगवान्का पूजन करता रहता है, वह मुक्तिपदका स्वत्वाधिकारी हो जाता है।' श्रीहनुमान्जी तो जन्मसे ही मायाके बन्धनोंसे सर्वथा मुक्त थे। वे तो अहर्निश अपने स्वामी श्रीरामके ही चिन्तनमें लगे रहते थे। अन्तमें श्रीराम अपने छोटे भाई लक्ष्मणके साथ रावणके द्वारा सीताजीके चुरा लिये जानेपर उन्हें ढूँढ़ते हुए ऋष्यमूकके पास पहुँचे। सुग्रीवको शङ्का हुई कि इन राजकुमारोंको बालिने मेरे मारनेको न भेजा हो। हनुमान्जीको परिचय जाननेके लिये उन्होंने भेजा। विप्रवेष धारणकर हनुमान्जी आये और परिचय पूछकर जब अपने स्वामीको पहचाना, तब वे उनके चरणोंपर गिर पड़े। वे रोते-रोते कहने लगे—

एकु मैं मंद मोहबस कुटिल हृदय अग्यान।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान॥

श्रीरामने उठाकर उन्हें हृदयसे लगा लिया। तभीसे हनुमान्जी श्रीअवधेशकुमारके चरणोंके समीप ही रहे। हनुमान्जीकी प्रार्थनासे भगवान्ने सुग्रीवसे मित्रता की और बालिको मारकर सुग्रीवको किष्किन्धाका राज्य दिया। राज्यभोगमें सुग्रीवको प्रमत्त होते देख हनुमान्जीने ही उन्हें सीतान्वेषणके लिये सावधान किया। वे पवनकुमार ही वानरोंको एकत्र कर लाये। श्रीरामजीने उनको ही अपनी मुद्रिका दी। सौ योजन समुद्र लाँघनेका प्रश्न आनेपर जब जाम्बवन्तजीने हनुमान्जीको उनके बलका स्मरण दिलाकर कहा कि 'आपका तो अवतार ही रामकार्य सम्पन्न करनेके लिये हुआ है, तब अपनी शक्ति-का बोधकर केसरीकिशोर उठ खड़े हुए। देवताओंके द्वारा भेजी हुई नागमाता सुरसाको सन्तुष्ट करके समुद्रमें छिपी राक्षसी सिंहिकाको मारकर हनुमान्जी लङ्का पहुँचे। द्वाररक्षिका लङ्किनीको एक घूँसेमें सीधा करके छोटा रूप धारणकर ये लङ्कामें रात्रिके समय प्रविष्ट हुए। विभीषणजीसे पता पाकर अशोकवाटिकामें जानकीजीके दर्शन किये। उनको आश्वासन देकर अशोकवनको उजाड़ डाला। रावणके भेजे राक्षसों तथा रावणपुत्र अक्षयकुमारको मार दिया। मेघनाद इन्हें किसी प्रकार बाँधकर राजसभामें ले गया। वहाँ रावणको भी हनुमान्जीने अभिमान छोड़कर भगवान्की शरण लेनेकी शिक्षा दी। राक्षसराजकी आज्ञासे इनकी पूँछमें आग लगा दी गयी। इन्होंने उसी अग्निसे सारी लङ्का फूँक दी। सीताजीसे चिह्नस्वरूप चूड़ामणि लेकर भगवान्के समीप लौट आये।

समाचार पाकर श्रीरामने युद्धके लिये प्रस्थान किया। समुद्रपर सेतु बाँधा गया। संग्राम हुआ और अन्तमें रावण अपने समस्त अनुचर, बन्धु-बान्धवोंके साथ मारा गया। युद्धमें श्रीहनुमान्जीका पराक्रम, उनका शौर्य, उनकी वीरता सर्वोपरि रही। वानरीसेनाके संकटके समय वे सदा सहायक रहे। राक्षस उनकी हुंकारसे ही काँपते थे। लक्ष्मणजी जब मेघनादकी शक्तिसे मूर्च्छित हो गये, तब मार्गमें पाखण्डी कालनेमिको मारकर द्रोणाचलको हनुमान्जी उखाड़ लाये और इस प्रकार संजीवनी ओषधि आनेसे लक्ष्मणजीको चेतना प्राप्त हुई। मायावी अहिरावण जब माया करके राम-लक्ष्मणको युद्धभूमिसे चुरा ले गया, तब पाताल जाकर अहिरावणका वध करके हनुमान्जी श्रीरामजीको भाई लक्ष्मणजीके साथ ले आये। रावणवधका समाचार श्रीजानकीजीको सुनानेका सौभाग्य और श्रीराम लौट रहे हैं—यह आनन्ददायी समाचार भरतजीको देनेका गौरव भी प्रभुने अपने प्रिय सेवक हनुमान्जीको ही दिया।

हनुमान्जी विद्या, बुद्धि, ज्ञान तथा पराक्रमकी मूर्ति हैं, किंतु इतना सब होनेपर भी अभिमान उन्हें छू-तक नहीं गया। जब वे लङ्का जलाकर अकेले ही रावणका मानमर्दन करके प्रभुके पास लौटे और प्रभुने पूछा कि

'त्रिभुवन-विजयी रावणकी लङ्काको तुम कैसे जला सके?' तब उन्होंने उत्तर दिया—

साखामृग कै बड़ि मनुसाई। साखा तें साखा पर जाई॥
नाघि सिंधु हाटकपुर जारा। निसिचर गन बधि बिपिन उजारा॥
सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछू मोरि प्रभुताई॥

हनुमान्जीकी भक्ति तो अतुलनीय है। अयोध्यामें राज्याभिषेक हो जानेपर भगवान्ने सबको पुरस्कृत किया। सबसे अमूल्य अयोध्याके कोषकी सर्वश्रेष्ठ मणियोंकी माला श्रीजानकीजीने अपने कण्ठसे उतारकर हनुमान्जीके गलेमें डाल दी। हनुमान्जी मणियोंको ध्यानसे देख-देखकर तोड़ने लगे और मुखमें डालकर फोड़ने भी लगे। दुर्लभ रत्नोंको इस प्रकार नष्ट होते देख कुछ लोगोंको बड़ा कष्ट हुआ। कुछने उन्हें रोका। हनुमान्जीने कहा—'मैं इनमें भगवान्का नाम तथा उनकी मूर्ति ढूँढ़ रहा हूँ। जिस वस्तुमें मेरे स्वामी श्रीसीतारामका नाम न हो, जिसमें उनकी मूर्ति न हो, वह तो व्यर्थ है।' प्रश्न करनेवालेने पूछा—'क्या आपके शरीरमें वह मूर्ति और नाम है?' तुरन्त अपने नखोंसे हनुमान्जीने छातीका चमड़ा फाड़कर सबको दिखाया। उनके रोम-रोममें 'राम' यह परम दिव्य नाम अङ्कित था और उनके हृदयमें श्रीजनकनन्दिनीजीके साथ सिंहासनपर बैठे महाराजाधिराज श्रीअवधेशकी भुवनसुन्दर मूर्ति विराजमान थी। सब लोग 'जयजयकार' करने लगे। भगवान्ने हनुमान्जीको हृदयसे लगा लिया।

हनुमान्जी आजन्म नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। व्याकरणके महान् पण्डित हैं, वेदज्ञ हैं, ज्ञानिशिरोमणि हैं, बड़े विचारशील, तीक्ष्णबुद्धि तथा अतुलपराक्रमी हैं। श्रीहनुमान्जी बहुत निपुण संगीतज्ञ और गायक भी हैं। एक बार एक देव-ऋषि-दानवोंके महान् सम्मेलनमें जलाशयके तटपर भगवान् शङ्कर तथा देवर्षि नारदजी आदि गा रहे थे। अन्यान्य देवर्षि-दानव भी योग दे रहे थे। इतनेमें ही हनुमान्जीने मधुर स्वरसे ऐसा सुन्दर गान आरम्भ किया कि जिसे सुनकर उन सबके मुख म्लान हो गये, जो बड़े उत्साहसे गा-बजा रहे थे और सभी अपना-अपना गान छोड़कर मोहित हो गये और चुप होकर सुनने लगे। उस समय केवल हनुमान्जी ही गा रहे थे—

म्लानमम्लानमभवत् कृशाः पुष्टास्तदाभवन्।
स्वां स्वां गीतिमतः सर्वे तिरस्कृत्यैव मूर्छिताः॥
तूष्णीम्भूतं समभवद् देवर्षिगणदानवम्।
एकः स हनुमान् गाता श्रोतारः सर्व एव ते॥

(पद्मपुराण, पातालखंड)

जबतक पृथ्वीपर श्रीरामकी कथा रहेगी, तबतक पृथ्वीपर रहनेका वरदान उन्होंने स्वयं प्रभुसे माँग लिया है। श्रीरामजीके अश्वमेधयज्ञमें अश्वकी रक्षा करते समय जब अनेक महासंग्राम हुए, तब उनमें हनुमान्जीका पराक्रम ही सर्वत्र विजयी हुआ। महाभारतमें भी केसरीकुमारका चरित है। वे अर्जुनके रथकी ध्वजापर बैठे रहते थे। उनके बैठे रहनेसे अर्जुनके रथको कोई पीछे नहीं हटा सकता था। कई अवसरोंपर उन्होंने अर्जुनकी रक्षा भी की। एक बार भीम, अर्जुन और गरुड़जीको आपने अभिमानसे भी बचाया था।

कहते हैं कि हनुमान्जीने अपने वज्रनखसे पर्वतकी शिलाओंपर एक रामचरित-काव्य लिखा था। उसे देखकर महर्षि वाल्मीकिको दुःख हुआ कि यदि वह काव्य लोकमें प्रचलित हुआ तो मेरे आदिकाव्यका समादर न होगा। ऋषिको सन्तुष्ट करनेके लिये हनुमान्जीने वे शिलाएँ समुद्रमें डाल दीं। सच्चे भक्तमें यश, मान, बड़ाईकी इच्छाका लेश भी नहीं होता। वह तो अपने प्रभुका पावन यश ही लोकमें गाता है।

श्रीरामकथा-श्रवण, राम-नामकीर्तनके हनुमान्जी अनन्यप्रेमी हैं। जहाँ भी रामनामका कीर्तन या रामकथा होती है, वहाँ वे गुप्तरूपसे आरम्भमें ही पहुँच जाते हैं। दोनों हाथ जोड़कर सिरसे लगाये सबसे अन्ततक वहाँ वे खड़े ही रहते हैं। प्रेमके कारण उनके नेत्रोंसे बराबर आँसू झरते रहते हैं। उन अनन्य तथा अतुलनीय श्रीरामभक्तके पावन पदकमलोंमें अनन्त नमस्कार!

युवराज अङ्गद

भूल भला कैसे सकें ये जगजन भूले हुए।
नीलकान्त प्रभु बाहुके अङ्गद स्वर्णाङ्गद हुए॥

वनवासके समय भगवती जानकीका अन्वेषण करते हुए मर्यादापुरुषोत्तम ऋष्यमूकपर पहुँचे। वहाँ उन्होंने सुग्रीवसे मित्रता की। सुग्रीवका पक्ष लेकर उन्होंने वानरराज बालिको मारा। मरते समय बालिने अपने पुत्र अङ्गदको उन सर्वेश्वरके चरणोंमें अर्पित किया। बालिने कहा—

यह तनय मम सम बिनय बल कल्यानप्रद प्रभु लीजिऐ।
गहि बाँह सुर नर नाह आपन दास अंगद कीजिऐ॥

प्रभुने अङ्गदको स्वीकार किया। सुग्रीवको किष्किन्धाका राज्य मिला, किंतु युवराजपद बालिकुमार अङ्गदजीका ही रहा। अङ्गदने भगवान्‌की इस कृपाको हृदयसे ग्रहण किया। श्रीसीताजीको ढूँढ़ते हुए जब वानर-वीरोंका दल दक्षिण समुद्रतटपर निराश होकर बैठ गया, तब अङ्गदजीने अपने भाव स्पष्ट व्यक्त किये—

पिता बधे पर मारत मोही। राखा राम निहोर न ओही॥

सौ योजन समुद्र पार करके लङ्कामें जाना और वहाँसे सकुशल लौट आना सन्देहकी बात थी; फिर भी युवराज रामकाजके लिये लङ्का जानेको उद्यत हो गये थे। जाम्बवन्तजीने ही उन्हें नहीं जाने दिया। हनुमान्‌जी लङ्का गये और वहाँके समाचार ले आये। भगवान्‌की कृपासे समुद्रपर सेतु बाँधा गया। असंख्य वानरी सेना लङ्काके त्रिकूटपर्वतपर उतर गयी। अब प्रभुने अङ्गदको दूत बनाकर रावणके पास भेजा। श्रीरामजीने अङ्गदके विषयमें वहाँ कहा है—

बहुत बुझाइ तुम्हहि का कहऊँ। परम चतुर मैं जानत अहऊँ॥

अङ्गदजीके इस दौत्यकर्मको ठीक-ठीक समझना चाहिये। श्रीहनुमान्‌जी रावणसे मिल चुके थे। जो सामनीति, जो समझानेका प्रयत्न उन्होंने किया, वह असफल हो चुका था। उसीको फिर दुहराना बुद्धिमानी नहीं थी। रावण अहङ्कारी है, शिक्षा सुनना ही नहीं चाहता, प्रलोभनका उसपर कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता—यह पता लग चुका था। अब तो हनुमान्‌जीके कार्यको आगे बढ़ाना था। डाँटकर, भय दिखाकर ही बुद्धिहीन अहङ्कारी लोगोंको रास्तेपर लाया जा सकता है। यदि रावण न भी माने तो उसके साहसको तोड़ देना, उसके अनुचरोंको भयभीत कर देना आनेवाले युद्धके लिये बड़ा उपयोगी होगा। अङ्गदजीने यही किया। रावणकी राजसभामें उनकी तेजस्विता, उनका शौर्य अद्वितीय रहा। 'श्रीराम सर्वेश्वर हैं, उनके सेवककी प्रतिज्ञा त्रिलोकीमें कोई भंग नहीं कर सकता।' यह अविचल विश्वास अङ्गदमें था, इसीसे उन्होंने रावणकी सभामें प्रतिज्ञा की—

जौं मम चरन सकसि सठ टारी। फिरहिं रामु सीता मैं हारी॥

इस प्रतिज्ञाका दूसरा कोई अर्थ करना अङ्गदके दृढ़ विश्वासको न समझना है। रावण नीतिज्ञ था। उसने अनेक प्रकारकी भेदनीतिसे काम लिया। उसने सुझाया—'बालि मेरा मित्र था। वे राम-लक्ष्मण तो बालिको—तुम्हारे पिताको मारनेवाले हैं। यह तो बड़ी हीनता है कि तुम अपने पितृघातीका पक्ष ले रहे हो।' अङ्गदने रावणको स्पष्ट फटकार दिया—

सुनु सठ भेद होइ मन ताकें। श्रीरघुबीर हृदय नहिं जाकें॥

जब रावण भगवान्‌की निन्दा करने लगा, तब युवराज उसे सह नहीं सके। क्रोध करके उन्होंने मुट्ठी बाँधकर दोनों भुजाएँ भूमिपर बड़े जोरसे दे मारीं। भूमि हिल गयी। रावण गिरते-गिरते बचा। उसके मुकुट पृथ्वीपर गिर पड़े। उनमेंसे चार मुकुट अङ्गदने उठाकर भगवान्‌के पास फेंक दिये। इतना शौर्य दिखाकर, इतना पराक्रम प्रकट करके जब वे प्रभुके पास आये और जब उन दयामयने पूछा—

रावन जातुधान कुल टीका। भुजबल अतुल जासु जग लीका॥
तासु मुकुट तुम्ह चारि चलाए। कहहु तात कवनी बिधि पाए॥

परंतु जिनपर प्रभुकी कृपा है, जो भगवान्‌के चरणोंके अनन्य भक्त हैं, उनमें कभी किसी प्रकार भी अहङ्कार नहीं आता। उस समय अङ्गदजीने बड़ी सरलतासे उत्तर दिया—

सुनु सर्बग्य प्रनत सुखकारी। मुकुट न होहिं भूप गुन चारी॥
साम दान अरु दंड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा॥
नीति धर्म के चरन सुहाए। अस जियँ जानि नाथ पहिं आए॥

जैसे अङ्गदने कुछ किया हो, इसका उन्हें बोधतक नहीं। वे सर्वथा निरभिमान हैं। इसके पश्चात् युद्ध हुआ। रावण मारा गया। उस युद्धमें युवराज अङ्गदका पराक्रम वर्णनातीत है। लङ्का-विजय करके श्रीराम अयोध्या पधारे। राज्याभिषेक हुआ। अन्तमें कपिनायकोंको विदा करनेका अवसर आया। भगवान् एक-एकको वस्त्राभरण देकर विदा करने लगे। अङ्गदका हृदय धक्-धक् करने लगा। वे एक कोनेमें सबसे पीछे दुबककर बैठ गये। 'कहीं प्रभु मुझे भी जानेको न कह दें!' इस आशङ्कासे—श्रीरामके चरणोंसे पृथक् होना होगा, इस कल्पनासे ही वे व्याकुल हो गये। जब सभी वानर एवं रीछ नायकोंको भगवान्ने अपने उपहार दे लिये, जब सब आज्ञा पाकर उठ खड़े हुए, तब अन्तमें प्रभुने अङ्गदजीकी ओर देखा। अङ्गदका शरीर काँपने लगा। नेत्रोंसे आँसूकी धारा बहने लगी। वे हाथ जोड़कर खड़े हो गये और कहने लगे—

सुनु सर्बग्य कृपा सुख सिंधो। दीन दयाकर आरत बंधो॥
मरती बेर नाथ मोहि बाली। गयउ तुम्हारेहिं कोंछें घाली॥
असरन सरन बिरद संभारी। मोहि जनि तजहु भगत हितकारी॥
मोरें तुम्ह प्रभु गुर पितु माता। जाउँ कहाँ तजि पद जलजाता॥
तुम्हहि बिचारि कहहु नरनाहा। प्रभु तजि भवन काज मम काहा॥
बालक ग्यान बुद्धि बल हीना। राखहु सरन जानि जन दीना॥
नीचि टहल गृह कै सब करिहउँ। पद पंकज बिलोकि भव तरिहउँ॥

'नाथ! मेरे पिताने मरते समय मुझे आपके चरणोंमें डाला है, अब आप मेरा त्याग न करें। मुझे जिस किसी भी प्रकार अपने चरणोंमें ही पड़ा रहने दें!' यह कहकर अङ्गद श्रीरघुनाथजीके चरणोंपर गिर पड़े। करुणासागर प्रभुने उठाकर उन्हें हृदयसे लगा लिया। अपने निजी वस्त्र, अपने आभरण और अपने कण्ठकी माला श्रीराघवने अङ्गदको पहनायी और स्वयं अङ्गदको पहुँचाने चले। अङ्गद बार-बार प्रभुको दण्डवत्-प्रणाम करते हैं। बार-बार उस कमलमुखकी ओर देखते हैं। बार-बार सोचते हैं—'अब तो मुझे प्रभु कह दें कि 'अच्छा, तुम यहीं रहो।'

दूरतक दयाधामने अङ्गदको पहुँचाया। जब हनुमान्जी सुग्रीवसे अनुमति लेकर श्रीरामके पास लौटने लगे, तब अङ्गदजीने उनसे कहा—

कहेहु दंडवत प्रभु सैं तुम्हहि कहउँ कर जोरि।
बार बार रघुनायकहि सुरति कराएहु मोरि॥

महाभाग! आपकी 'सुरति' क्या रघुनायकको करानेकी आवश्यकता है? वे दयाधाम क्या अपने ऐसे प्रेमियोंको कभी भूल सकते हैं?
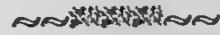
भक्त गजेन्द्र

यः कश्चनेशो बलिनोऽन्तकोरगात्
प्रचण्डवेगादभिधावतो भृशम्।
भीतं प्रपन्नं परिपाति यद्भया-
न्मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि॥

(श्रीमद्भा० ८। २। ३३)

'अत्यन्त बलवान्, प्रचण्ड वेगसे निरन्तर दौड़ते हुए कालरूपी अजगरके भी जो स्वामी हैं, जो भयभीत होकर शरणमें आये हुएकी रक्षा करते हैं, जिनके भयसे मृत्यु भी दौड़ती है—क्रियाशील है, मैं उन्हीं परम रक्षककी शरण हूँ।'

द्रविड़ देशमें पहले पाण्ड्यराज्यके एक राजा थे इन्द्रद्युम्न। वे सदा भगवान्के स्मरण, ध्यान, पूजन तथा नामजपमें ही लगे रहते थे। एक बार वे कुलाचल पर्वतपर मौन होकर वानप्रस्थ आश्रम स्वीकार करके श्रीहरिकी अर्चा करते थे। उसी समय वहाँ शिष्योंके साथ अगस्त्यजी पधारे। राजा उस समय भगवान्के पूजनमें लगे थे, अतः न तो कुछ बोले और न उन्होंने उठकर मुनिका सत्कार ही किया। अगस्त्यजीको इससे क्रोध आ गया। उन्होंने शाप देते हुए कहा—'यह मूर्ख मतवाले हाथीकी भाँति बन गया है, ब्राह्मणका यह अपमान करता है; अतः इसे हाथीकी योनि प्राप्त हो।'

शाप देकर अगस्त्यजी चले गये। उनके शापके प्रभावसे शरीर छूटनेपर राजा इन्द्रद्युम्न क्षीरसागरके मध्य

त्रिकूट पर्वतपर हाथी हुए। वे बड़े ही बलवान् थे। उनके भयसे वहाँ व्याघ्र, सिंह भी गुफाओंमें छिप जाते थे। एक बार वे गजराज अपने यूथकी हथिनियों, दूसरे हाथियों और कलभों (हाथीके बच्चों)-के साथ वनमें घूम रहे थे। धूप लगनेपर जब प्यास लगी, तब कमलकी गन्ध सूँघते हुए वह यूथ वहाँके सरोवरमें पहुँचा। वह सरोवर बहुत ही विशाल था। उसमें स्वच्छ जल भरा था। कमल खिले थे। सभी हाथियोंने जल पिया, स्नान किया और परस्पर सूँड़में जल लेकर उछालते हुए जलक्रीडा करने लगे।

उस सरोवरमें महर्षि देवलके शापसे ग्राह होकर हूहू नामक गन्धर्व रहता था। वह ग्राह जलक्रीडा करते हुए गजराजके पास चुपकेसे आया और पैर पकड़कर उन्हें जलमें खींचने लगा। गजराजने चिग्घाड़ मारी, दूसरे हाथियोंने भी सहारा देना चाहा; किंतु ग्राह बहुत बलवान् था। दूसरे हाथी शीघ्र ही थक गये। कभी ग्राह जलकी ओर खींच ले जाता और कभी गजराज उसे किनारेके पास खींच लाते। इस प्रकार बराबर दोनों एक-दूसरेको खींचते रहे। गजराजमें हजारों हाथियोंके समान बल था, पर वह घटता जाता था। वे थकते जाते थे। ग्राह तो जलका प्राणी था। वह इनसे जलमें बलवान् पड़ने लगा। जब ग्राहके द्वारा खींचे जाते गजेन्द्र बिलकुल थक गये, उन्हें लगा कि वे अब डूब जायँगे, तब उन्होंने भगवान्की शरण लेनेका निश्चय किया। पूर्वजन्मकी आराधनाके प्रभावसे उनकी बुद्धि भगवान्में लगी। पाससे एक कमल-पुष्प तोड़कर सूँड़में उठाकर वे भगवान्की स्तुति करने लगे।

जब कोई अत्यन्त कातर होकर भगवान्को पुकारता है, तब वे दयामय एक क्षणकी भी देर नहीं करते। कातर कण्ठसे गजराज भगवान्की स्तुति* कर रहे थे। देवता भी उनके स्वरमें स्वर मिलाकर भगवान्का स्तवन कर रहे थे। उसी समय भगवान् गरुड़पर बैठे वहाँ प्रकट हुए। भगवान्का दर्शन करके गजराजने वह पुष्प ऊपर उछालकर कहा—'नारायण! निखिल जगत्के गुरु, भगवन्! आपको नमस्कार!'

आते ही भगवान्ने एक हाथसे गजराजको ग्राहके सहित जलमेंसे निकालकर पृथ्वीपर रख दिया। अपने चक्रसे ग्राहका मुख फाड़कर भगवान्ने गजराजको छुड़ाया। भगवान्के चक्रसे मरकर ग्राह ऋषिके शापसे छूटकर फिर गन्धर्व हो गया। उसने भगवान्की स्तुति की और उनकी आज्ञा लेकर अपने लोकको चला गया। गजराजको भगवान्का स्पर्श मिला था। उनके अज्ञानका बन्धन तत्काल नष्ट हो गया। उनका हाथीका शरीर सुन्दर दिव्य चतुर्भुजरूपमें परिणत हो गया। भगवत्पार्षदोंका रूप पाकर वे भगवान्के साथ उनके नित्य-धाममें पहुँच गये।
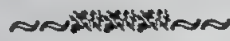
भक्त समाधि वैश्य

कलिङ्ग देशके वैश्य राजा विराधके पौत्र और दुर्मिलके पुत्र समाधि वैश्यको भला, कौन नहीं जानता। हिंदुओंके घर-घरमें विराजनेवाली सप्तशतीका प्राकट्य इन्हींके कारण हुआ, जिसके कारण हम इन्हें चिरकालतक स्मरण करते रहेंगे।

समाधिके घरमें किसी बातकी कमी नहीं थी। बड़ी सम्पत्ति थी और अतुल ऐश्वर्य था। परंतु उनके स्त्री-पुत्रोंने ही धनपर सर्वथा अपना स्वामित्व स्थापित करनेके लिये इन्हें धोखा दिया और गुरुजनोंने भी इनकी उपेक्षा की। ये बहुत दुःखी होकर जंगलमें चले गये। वहाँ एक मुनिके आश्रमपर पहुँचकर इन्होंने उनका आश्रय लिया, परंतु अभी मनमें शान्ति नहीं थी। ये अपने सम्बन्धियोंके ही सुख-दुःखकी चिन्तामें पड़े थे। उसी समय इन्हें सुरथ नामके एक राजा मिले, जो अपने मन्त्रियों, सेनापतियों और स्वजनोंसे ही धोखा खाकर शिकार खेलनेके बहाने घरसे भाग आये थे। दोनोंमें परस्पर

*गजेन्द्रकी यह स्तुति कई प्राचीन ग्रन्थोंमें है। श्रीमद्भागवतमें आठवें स्कन्धके तीसरे अध्यायमें है। इस तीसरे अध्यायका आर्तभावसे पाठ करनेपर ऋणमुक्ति, संकटसे मुक्ति और भगवान्में प्रीति उत्पन्न होती है। महामना मालवीयजी महाराजने इसका कई बार प्रयोग करके अनुभव किया था।

परिचयके बाद वैश्यने अपनी करुण कथा और मानसिक दशा राजाको कह सुनायी। समाधिकी बात सुनकर राजा सुरथने कहा—'जिन दुष्ट और लोभी स्वजनोंने तुम्हें धोखा दिया और घरसे निकाल दिया, उनके कुशल-क्षेमकी चिन्ता तुम क्यों कर रहे हो? उनके प्रति इतना स्नेह, इतनी ममता क्यों हो रही है?' समाधिने कहा—'महाराज! क्या कहूँ, मेरी समझमें भी यह बात नहीं आती। मैं बहुत चाहता हूँ कि मेरा मन निर्मम हो जाय; परन्तु इसका ऐसा स्वभाव हो गया है कि जिस स्त्रीने पतिभाव और पुत्रने पितृभावका परित्याग करके धनके लालचसे मुझे घरसे निकाल दिया, उन्हींके प्रति मेरा मन स्नेहशिथिल हो रहा है। क्या करूँ, कुछ समझमें नहीं आता।'

दोनोंकी मनोदशा और बाह्य परिस्थिति एक-सी ही थी। दोनोंने मुनिके पास जाकर अपने दुःख तथा मनकी स्थितिका निष्कपट होकर सचाईके साथ वर्णन किया। उन्होंने कहा—'भगवन्! हम जानते हैं कि इन विषयोंमें दुःख-ही-दुःख है; फिर भी इन्हींके प्रति हमारी ममता होती है, इसका क्या कारण है?' उन कृपालु मुनिने कहा—'भैया! यों साधारण ज्ञान तो सभी प्राणियोंको रहता ही है। क्या ये पशु-पक्षी ज्ञानसे शून्य हैं? परन्तु महामायाका कुछ ऐसा ही प्रभाव है कि लोग उसके द्वारा मोहित हो रहे हैं। ये महामाया इतनी प्रभावशालिनी हैं कि बड़े-बड़े ज्ञानियोंका चित्त भी बलात् खींचकर मोहके पंजेमें डाल देती हैं। यह सारी दुनिया इन्हींकी माया है। इनकी आराधना और प्रसन्नतासे ही इससे मुक्ति प्राप्त हो सकती है।' इसके बाद उन दोनोंने महामायाकी महिमा और उनकी पूजा-पद्धति पूछी, जिसके उत्तरमें इन्हें सम्पूर्ण 'दुर्गासप्तशती' सुनायी गयी और अन्तमें दोनों संसारके विषयोंकी ममता छोड़कर भगवतीकी आराधना करने लगे। नदीके किनारे मृत्तिकाकी मूर्ति बनाकर पुष्प, धूप, दीप आदि षोडशोपचारसे पूजा करते और आहार-विहार नियमित करके बड़ी सावधानीके साथ निरन्तर भगवतीका ही चिन्तन करते। इस तरह तीन वर्ष आराधना करनेपर भगवती साक्षात् उनके सामने प्रकट हुईं और वर माँगनेको कहा। राजा सुरथके मनमें संसारकी वासना थी। इसलिये उन्होंने संसारी भोग ही माँगे। परन्तु समाधि वैश्यके मनमें संसारकी किसी वस्तुकी कामना नहीं रह गयी थी। उनकी दुःखरूपता, अनित्यता और असत्यता इनकी समझमें आ चुकी थी। विद्यास्वरूपिणी महामायाको प्रसन्न करके और उन्हें साक्षात् अपने सामने 'वर माँगो' यह कहती हुई पाकर भी उनसे संसारी भोग माँगना इन्हें ठीक न जँचा। इन्होंने भगवतीसे प्रार्थना की कि "देवि! अब ऐसा वर दो कि 'यह मैं हूँ' और 'यह मेरा है' इस प्रकारकी अहंता-ममता और आसक्तिको जन्म देनेवाला अज्ञान नष्ट हो जाय और मुझे विशुद्ध ज्ञानकी उपलब्धि हो।" भगवतीने बड़ी प्रसन्नतासे समाधि वैश्यको ज्ञानदान किया और ये स्वरूपस्थित होकर परमात्माको प्राप्त हो गये।

भक्त तुलाधार वैश्य

ये तुलाधार वैश्य अत्यन्त भगवद्भक्त और सत्यपरायण पुरुष थे। इनकी प्रशंसा सभी लोग करते थे। ये व्यापारमें लगे रहकर भी इतने धर्मनिष्ठ और भगवच्चिन्तनपरायण थे कि इनकी समता करनेवाला उस समय और कोई न था।

इन्हीं दिनों 'जाजलि' नामके एक ब्राह्मण समुद्रके किनारे घोर तपस्या कर रहे थे। वे अपने आहार-विहारको नियमित करके वस्त्रके स्थानपर वल्कलका उपयोग करते हुए मन-प्राण आदिको रोककर योगसाधनाकी बहुत ऊँची भूमिकामें पहुँच गये थे। एक दिन जलमें खड़े होकर ध्यान करते-करते उनके मनमें सृष्टिके ज्ञानका उदय हुआ। भूगोल-खगोल आदिके विषय उन्हें करामलकवत् प्रत्यक्ष होने लगे। उनके मनमें यह अभिमान हो गया कि 'मेरे समान कोई दूसरा नहीं है।' उनके इस भावको जानकर आकाशवाणी हुई—'महाशय! आपका यह सोचना ठीक नहीं। काशीमें एक तुलाधार नामके व्यापारी रहते हैं, वे भी ऐसी बात नहीं कह सकते; आपको तो अभी ज्ञान ही क्या हुआ है।' इसपर

जाजलि तुलाधारके दर्शनके लिये उत्कण्ठित हो गये और मार्गका ज्ञान प्राप्त करके वे काशीकी ओर चल पड़े। तीर्थाटन करते हुए वे काशी पहुँचे और उन्होंने देखा कि महात्मा तुलाधार अपनी दूकानपर बैठे व्यापारका काम कर रहे हैं। जाजलिको देखते ही वे उठ खड़े हुए और बड़ा स्वागत-सत्कार करके नम्रताके साथ बोले—'ब्रह्मन्! आप मेरे ही पास आये हैं, आपकी तपस्याका मुझे पता है। आपने सर्दी-गरमी और वर्षाकी परवा न करके केवल वायु पीते हुए ठूँठकी तरह खड़े रहकर तपस्या की है। जब आपको सूखा वृक्ष समझकर जटामें चिड़ियोंने घोंसले बना लिये, तब भी आपने उनकी ओर दृष्टि नहीं डाली। कई पक्षियोंने आपकी जटामें ही अंडे दिये और वहीं उनके अंडे फूटे और बच्चे सयाने हुए। यह सब देखते-देखते आपके मनमें तपस्याका घमंड हो आया, तब आकाशवाणी सुनकर आप यहाँ पधारे हैं। अब बतलाइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?'

तुलाधारकी ये बातें सुनकर जाजलिको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने पूछा कि 'आपको इस प्रकारका निर्मल ज्ञान और व्यवसायात्मिका बुद्धि कैसे प्राप्त हुई?' तुलाधारने सत्य, अहिंसा आदि साधारण धर्मोंकी बात सुनाकर अपने विशेषधर्म, सनातन वर्णाश्रमधर्मपर बड़ा जोर दिया। उन्होंने बतलाया कि—'अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार कर्तव्य-कर्मका पालन करते हुए जो लोग किसीका अहित नहीं करते और मनसा-वाचा-कर्मणा सबके हितमें ही तत्पर रहते हैं, उन्हें कोई वस्तु दुर्लभ नहीं। इन्हीं बातोंके यत्किञ्चित् अंशसे मुझे यह थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्त हुआ है। यह सारा जगत् भगवान्का स्वरूप है, इसमें कोई अच्छा या बुरा नहीं। मिट्टी और सोनेमें तनिक भी अन्तर नहीं। इच्छा, द्वेष और भय छोड़कर जो दूसरोंको भयभीत नहीं करता और किसीका बुरा नहीं सोचता, वही सच्चे ज्ञानका अधिकारी है। जो लोग सनातन सदाचारका उल्लङ्घन करके अभिमान आदिके वशमें हो जाते हैं, उन्हें वास्तविक ज्ञानकी उपलब्धि नहीं होती।' यह कहकर तुलाधारने जाजलिको सदाचारका उपदेश किया। यह कथा महाभारतके शान्तिपर्वमें आती है। इसमें श्रद्धा, सदाचार, वर्णाश्रमधर्म, सत्य, समबुद्धि आदिपर बड़ा जोर दिया गया है। प्रत्येक कल्याणकामी पुरुषको इसका अध्ययन करना चाहिये। तुलाधारके उपदेशोंसे जाजलिका अज्ञान नष्ट हो गया और वे ज्ञानसम्पन्न होकर अपने धर्मके आचरणमें लग गये। बहुत दिनोंतक धर्मपालनका आदर्श उपस्थित करके और लोगोंको उपदेशादिके द्वारा कल्याणकी ओर अग्रसर करके दोनोंने सद्गति प्राप्त की।

सचिव सुमन्त्र

सोइ जीवन सोई जनम, सोइ तन सफल सनाथ।
अपनो कहि जानत जिनहिं, सतकारत रघुनाथ॥

सुमन्त्रजीका जन्म सूतकुलमें हुआ था। अयोध्यासम्राट् महाराज दशरथके ये बालमित्र थे, सखा थे और महाराजके निजी सारथि भी थे। उत्तर कोसल-साम्राज्यके यही महामन्त्री थे। इनकी सम्मतिसे ही महाराज राज्यके सब कार्य करते थे और सभी राज्यसेवकोंके ये अध्यक्ष भी थे। यात्रा, विवाह, राज्याभिषेक आदि जितने भी बृहत् कर्म अयोध्यामें होते थे, उनकी पूरी व्यवस्था सुमन्त्रजी ही करते थे। श्रीराम अपने पिताके इन सखा एवं मन्त्रीको पिताके समान ही आदर देते थे। महारानियाँ भी सुमन्त्रका सम्मान करती थीं।

गुरु वसिष्ठजीसे आज्ञा लेकर महाराज दशरथने सुमन्त्रसे सम्मति ली और श्रीरामको दूसरे ही दिन युवराजपद देना निश्चित हो गया। सुमन्त्र उस महोत्सवका प्रबन्ध करनेमें लग गये; किन्तु दूसरे दिन प्रातःकाल महाराज बहुत देरतक राजभवनसे निकले ही नहीं। सुमन्त्र ही अन्तःपुरमें जाकर महाराजको जगा सकते थे। सुमन्त्र भीतर गये। उन्होंने कोपभवनमें भूमिपर मूर्च्छित पड़े हुए महाराजको और पास बैठी रोषकी मूर्ति कैकेयीको देखा। यहींसे उनकी व्यथाके अपार समुद्रका प्रारम्भ हो गया। कैकेयीके कहनेसे वे श्रीरामको वहाँ बुला लाये। कैकेयीके मुखसे उन्होंने श्रीरामको वनवास देनेकी बात सुनी और एक शब्दतक व्यथाके मारे उनके मुखसे नहीं निकल सका।

श्रीराम भाई लक्ष्मण और जानकीजीके साथ वनको

चले। महाराजकी आज्ञासे सुमन्त्रने उन्हें रथपर बैठाया। शृङ्गवेरपुरतक रथ आया। शृङ्गवेरपुरमें गङ्गातटपर श्रीरामने अपनी घुँघराली काली अलकोंको वटके दूधसे चिपकाकर जटा बना लिया। सुमन्त्रका हृदय फटा जाता था। उन्होंने महाराज दशरथका सन्देश सुनाकर श्रीरामको लौटनेके लिये कहा; श्रीजनकराजकुमारीको वनके क्लेश बताकर अयोध्या चलनेकी प्रार्थना की; किन्तु कोई फल न हुआ। श्रीराम और वैदेही तो सदासे उनको पिताकी भाँति मानते आये हैं। आज भी वही सम्मान, वही आदर, वही संकोचपूर्ण विनय; किन्तु कोई भी लौटकर साथ नहीं चलना चाहता। सुमन्त्रने बहुत प्रयत्न किया कि 'उसे ही वनमें साथ चलनेकी अनुमति मिल जाय, पर ऐसा कब सम्भव था। सुमन्त्रकी दशा क्या हो गयी?'

नयन सूझ नहिं सुनइ न काना। कहि न सकइ कछु अति अकुलाना॥

बहुत प्रकार समझा-बुझाकर श्रीरघुनाथजीने उन्हें लौटाया। पर सुमन्त्र लौट न सके। वे बार-बार लौट आते थे। केवटने नाव चला दी। अयोध्याके जीवन-धन वन चले गये। जब निषादराज कुछ दूर श्रीराघवको पहुँचाकर लौटे, तब उन्होंने जलसे बाहर पड़ी मछलीकी भाँति तड़पते सुमन्त्रको देखा। साथमें चार सेवक देकर किसी प्रकार उन्हें अयोध्या लौटाया। सुमन्त्रकी अन्तर्वेदनाका पार नहीं है। वे क्या मुख लेकर अयोध्या जायँ। पुरवासियोंको, सेवकोंको, महारानी कौसल्याको और महाराजको कौन-सा संवाद सुनायें। किसी प्रकार अन्धकार होनेपर वे नगरमें गये। रथ राजद्वारपर छोड़कर भवनमें प्रवेश किया। किसी प्रकार महाराजके पास पहुँचे। सुमन्त्रका सन्देश—उन्होंने बहुत प्रयत्न किया महाराजको धैर्य देनेका; किन्तु उन्हींका हृदय हाहाकार कर रहा था। उन्होंने सन्देशके अन्तमें कहा—

मैं आपन किमि कहौं कलेसू। जिअत फिरेउँ लेइ राम सँदेसू॥

महाराज दशरथने शरीर त्याग दिया। अयोध्या अनाथ हो गयी। सुमन्त्र धैर्य धारण न करें तो उनके हृदयधन श्रीरामका साम्राज्य व्यवस्थित कैसे रहे? ननिहालसे भरतजी लौटे और पिताकी अन्त्येष्टि करके वे निष्पाप चित्रकूट पहुँचे बड़े भाईको मनाने। वहाँसे वे श्रीरामकी चरण-पादुका ले आये। सिंहासनपर वे पादुकाएँ प्रतिष्ठित हुईं। सुमन्त्रने धैर्यपूर्वक व्यवस्था सँभाल ली और वे चौदह वर्ष उसे सँभाले रहे। अन्तमें अयोध्याके स्वामी अयोध्या लौटे। श्रीरामने सुमन्त्रको सदा पिताकी भाँति ही आदर दिया और सुमन्त्र राम-राज्यमें भी उस साम्राज्यके महामन्त्रीपदपर प्रतिष्ठित रहे।

भक्त निषादराज तथा केवट भक्त

स्वपच सबर खस जमन जड़ पावँर कोल किरात।
रामु कहत पावन परम होत भुवन बिख्यात॥

गङ्गातटपर शृंगवेरपुरमें निषादोंके राजा गुहका निवास था। ये बचपनसे ही श्रीरामके सखा थे। जब श्रीराम आखेट करने वनमें जाते थे, तब ये भी उनके साथ रहते और राजकुमारकी सुविधाका पूरा प्रबन्ध करते थे। जब पिताकी आज्ञा स्वीकार करके श्रीराम लक्ष्मणजी तथा जानकीजीके साथ रथमें बैठकर शृंगवेरपुर पहुँचे, तब निषादराज समाचार पाते ही फल-मूल-कन्द आदि उपहार लेकर मिलने आये। उन्होंने प्रार्थना की—

देव धरनि धनु धामु तुम्हारा। मैं जनु नीचु सहित परिवारा॥
कृपा करिअ पुर धारिअ पाऊ। थापिय जनु सबु लोगु सिहाऊ॥

महाराज दशरथने श्रीरामको वनवास दिया है, यह सुनकर आजके स्वार्थी मित्रोंके समान संकटमें पड़े मित्रसे मुख फेर लेनेकी बात सोचना ही गुहके लिये सम्भव नहीं था। श्रीराम तो उनके प्राण थे। एक क्षणमें उन्होंने अपनेको, अपने परिवारको, राज्यको श्रीरामके चरणोंमें समर्पित कर दिया। उनकी प्रार्थना थी—'मैं तो नीच हूँ। मेरा राज्य भी तुच्छ है; किन्तु कृपा करके आप इसे स्वीकार कर लें। मैं पूरे परिवारके साथ तुच्छ दास बनकर आपकी प्रत्येक आज्ञाका पालन करूँगा।'

मर्यादापुरुषोत्तमने सखाको समझाया। पिताकी आज्ञा बतायी। रात्रिमें विदेहराजकुमारीके साथ श्रीरामको वृक्षके नीचे कुशकी साथरीपर सोते देख निषादराज अत्यन्त व्याकुल हो गये। उस समय लक्ष्मणजीने उन्हें तत्त्वज्ञानका उपदेश किया। दूसरे दिन राघवको गङ्गा पार करनी थी।

उन्होंने घाटपर आकर नौका माँगी। घाटके भक्त मल्लाहने सरलतासे कहा—'दयामय! मैंने सुना है कि आपकी चरणरज लगनेसे एक पत्थर ऋषि-पत्नी बन गया। मेरी नौका तो लकड़ीकी है और बराबर जलमें रहनेसे वह लकड़ी भी सड़कर दुर्बल हो गयी है। कहीं यह नौका भी स्त्री बन गयी तो मेरे बाल-बच्चे भूखों मर जायँगे। पेट पालनेका दूसरा कोई उपाय मेरे पास नहीं। अतः यदि आपको मेरी नौकासे ही पार जाना हो तो आज्ञा दीजिये, मैं आपके चरण धो लूँ और तब आपको नौकापर चढ़ा लूँ।'

निषादराज चाहे जितनी नौकाओंका प्रबन्ध कर सकते थे, परन्तु वे केवटके प्रेमको पहिचानकर चुप ही रहे। श्रीरामने भी अपने इस भोले भक्तसे अनेक प्रकारसे अनुरोध किया; किन्तु वह तो अपनी हठपर अड़ा ही रहा। वह कह रहा था—'इस घाटसे थोड़ी ही दूरपर गङ्गाजी एक स्थानपर उथल हैं। वहाँ कुल कटितक जल है। आप चलें तो मैं वह स्थान दिखा दूँगा। मुझे अपनी नौका नहीं खोनी है। मैं आपकी और महाराज दशरथकी शपथ खाकर कहता हूँ कि भले मुझे ये छोटे कुमार लखनलाल अपने बाणसे मार डालें, पर मैं बिना चरण धोये आपको अपनी नौकापर नहीं चढ़ाऊँगा।'

भक्तका हठ रखना उन दयामयको ही आता है। उन्होंने आज्ञा की—'अच्छा भाई! तू झटपट जल लाकर मेरे पैर धो ले। मुझे देर हो रही है, पार तो उतार किसी प्रकार।' प्रेमी केवटको तो जैसे परम निधि मिल गयी। पूरे कठौतेभर जल लेकर वह आ बैठा श्रीरामके सम्मुख। उन सुरमुनि-दुर्लभ चरणोंको अपने हाथसे भलीभाँति उसने धीरे-धीरे धोया। उस चरणोदकको स्वयं उसने पान किया, घरवालोंको पिलाया, परिवारवालोंको पिलाया, दूसरोंको दिया जो वहाँ एकत्र थे और तब श्रीरामको भाई लक्ष्मण तथा जानकीजीके साथ नौकामें बैठाकर उस पार ले गया। रघुनाथजी उसे जानकीजीके हाथकी मुद्रिका लेकर उतराई देने लगे, तब व्याकुल होकर वह चरणोंपर गिर पड़ा। उसने प्रार्थना की—'मेरे स्वामी! आज मुझे क्या नहीं मिला? जीवनभर मैं श्रम करता रहा, पर मुझे पारिश्रमिक तो आज ही मिला है। आप लौटते समय इसी घाटसे आयें। उस समय आप जो प्रसाद देंगे, उसे मैं मस्तकपर धारण करूँगा।'

केवटको परम दुर्लभ भक्तिका वरदान प्राप्त हुआ। निषादराज भी नौकासे पार आये थे। उन्होंने कुछ दूर साथ चलनेकी प्रार्थना की। श्रीरामके साथ वे कुछ दूर गये। दो-एक दिन साथ रहकर मर्यादापुरुषोत्तमके आग्रहसे उन्हें लौट आना पड़ा। शृंगवेरपुर रहते हुए भी वनके कोल-किरातोंसे निषादराज श्रीरामका पूरा संवाद नित्य पाते रहते थे। उन्होंने ऐसी व्यवस्था कर ली थी कि वनमें रहते हुए राम, लक्ष्मण या जानकीजीकी छोटी-बड़ी सभी बातें, प्रतिदिनके सब कार्य उनको ज्ञात होते रहें। इसीलिये जब भरतजीको लेकर वे चित्रकूट पहुँचे, तब उन्होंने उस स्थानका इस प्रकार वर्णन किया, जैसे वे वहीं रहे हों। वटके नीचेकी वेदिका स्वयं जानकीजीने अपने हाथों बनायी है, तुलसीके वृक्षोंमें किसे लक्ष्मणजीने और किसे श्रीसीताजीने लगाया है, इसे वे जानते थे।

जब श्रीरामको मनानेके लिये भरतजी पूरे समाजके साथ चित्रकूटको चले, तब उनके साथ सेना होनेका समाचार पाकर निषादराजको सन्देह हो गया! उन्हें आशङ्का हुई कि वनमें एकाकी श्रीरामका अनिष्ट करनेके विचारसे तो भरत सेना लेकर वनमें नहीं जा रहे हैं। ऐसी शङ्काका होना स्वाभाविक था। शङ्का होते ही गुहने भरतको रोकनेका निश्चय कर लिया। 'प्राण देकर भी मैं भरतको गङ्गापार नहीं होने दूँगा।' यह दृढ़ सङ्कल्प कर लिया उन्होंने। युद्धके लिये अपने सहायकों, सैनिकोंके साथ वे उद्यत हो गये। अयोध्याकी प्रबल सेनाके साथ संग्रामका क्या फल होगा, यह सब जानते थे; किन्तु वहाँ प्राणोंका मोह था ही नहीं। निषादराजने कहा अपने सैनिकोंसे—

समर मरनु पुनि सुरसरि तीरा। राम काजु छनभंगु सरीरा॥

उनका अविचल निश्चय हो गया—

तजउँ प्रान रघुनाथ निहोरें। दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरें॥

सब तैयारी हो गयी, पर एक वृद्धकी सलाहसे पहले भरतसे मिलकर उनका भाव जानना उचित प्रतीत हुआ। बहुत-सी भेंट लेकर निषादराज भरतजीसे मिलने गये। भरतलालको जैसे ही पता लगा कि ये 'रामसखा' हैं, वे रथ छोड़कर उतर पड़े और उन्हें हृदयसे लगा लिया।

निषादराजने भरतजीका पूरे समाजके साथ सत्कार किया। भरतजी तो पूरी यात्राभर उनको ही साथ लिये रहे।

चित्रकूट पहुँचनेपर निषादराज गुहके श्रीरामप्रेमका अद्भुत परिचय मिलता है। वे भरतजीके साथ श्रीरामके पास पहुँचे और अपने उन पूज्य सखासे मिले। मिलते ही भूल गये कि वे अभी शृंगवेरपुरसे भरतजीके साथ आये हैं। जैसे वे चित्रकूटमें श्रीरामके ही साथ रहे हैं, श्रीरामके ही साथ हैं, ऐसा ही उन्हें प्रतीत होने लगा। श्रीराघव यह सुनकर कि गुरुदेव तथा माताएँ भी पूरे समाजके साथ आयी हैं, उनके दर्शन करने शीघ्रतासे चल पड़े। लक्ष्मणजीके साथ निषादराज भी आये और जैसे श्रीराम-लक्ष्मणने गुरुदेव, विप्रवर्ग, माताओंको प्रणाम किया, वैसे ही गुह भी पीछे सबको प्रणाम करते गये। उनकी यह प्रेमविह्वल, आत्मविस्मृत दशा देखकर वसिष्ठजीने उन्हें हृदयसे लगा लिया। माताओंने बड़े स्नेहसे उन्हें आशीर्वाद दिया।

चित्रकूटसे भरतजीके साथ ही निषादराजको भी लौटना पड़ा। चौदह वर्ष व्यतीत होनेपर प्रभु लौटे। वे राज्यसिंहासनपर आसीन हुए। निषादराज इस महोत्सवमें प्रारम्भसे अन्ततक सेवा-संलग्न रहे। जब प्रभु सब लोगोंको विदा करने लगे, तब उपहारादिसे सत्कृत करके विदा करते समय निषादराजसे उन्होंने कहा—

जाहु भवन मम सुमिरन करेहू। मन क्रम बचन धर्म अनुसरेहू॥
तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता। सदा रहेहु पुर आवत जाता॥

निष्काम भक्त तुलाधार

अकामाच्च व्रतं सर्वमक्रोधात्तीर्थसेवनम्।
दया जप्यसमा शुद्धं सन्तोषो धनमेव च॥

(पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड ५३। ६०)

'निष्काम होना ही सर्वव्रत है, क्रोधको त्याग देना ही तीर्थसेवन है, दया ही जपके तुल्य है और सन्तोष ही शुद्ध धन है।'

एक छोटे-से गाँवमें तुलाधार नामक एक शूद्र रहते थे। वे स्वयं सत्यवादी, निर्लोभी, वैराग्यवान् और अनन्य भगवद्भक्त थे। घरमें साध्वी पत्नी थी। संसारके विषयोंमें वैराग्य होनेके कारण दम्पति भगवान्के भजनमें ही समय लगाते थे। जीवन-निर्वाहके लिये कोई विशेष काम न करके खेतमें अन्न कटनेपर गिरे हुए दाने बीनकर एकत्र कर लेना (शिलोञ्छवृत्ति) उन्होंने अपनी वृत्ति बनायी थी। भरपेट अन्न और पहननेको पूरे वस्त्र कभी न मिलनेपर भी उन्हें क्षोभ नहीं होता था। पतिव्रता पत्नीको पतिकी दरिद्रता अखरती अवश्य थी, पर वह पतिसे कुछ कहती नहीं थी और न तो पतिकी रुचिके विपरीत किसी दूसरे उपायसे (मजदूरी आदि करके) पैसे कमानेका ही यत्न करती थी। पति जैसा चाहें, वैसे ही चलना उसने अपना धर्म बना लिया था।

भगवान् बड़े दयालु और भक्तवत्सल हैं। सर्वान्तर्यामी होनेपर भी भक्तकी महिमा जगत्में विख्यात करनेके लिये वे भक्तकी परीक्षा जब-तब लिया करते हैं। उन लीलामयने तुलाधारकी परीक्षा लेनेका निश्चय किया। तुलाधारके पास वस्त्रके नामपर एक फटी धोती और एक चिथड़े-जैसा गमछा था। इन नाममात्रके वस्त्रोंसे तुलाधारका काम चलता नहीं था। भगवान्ने दो उत्तम वस्त्र नदी-किनारे, जहाँ तुलाधार नित्य स्नान करने आते थे, रख दिये। भक्त तुलाधार आये, उन्होंने वस्त्रोंको देखा भी; किंतु दूसरेकी वस्तु लेनेका लोभ उनके मनमें तनिक भी नहीं आया। स्नान करके वे सहज ही लौट आये।

दूसरे दिन भगवान्ने तुलाधारके स्नान करनेके स्थानपर एक बड़ी डलिया गूलर-जैसी बड़ी-बड़ी सोनेकी डलियोंसे भरकर रख दी। तुलाधारने सोनेकी डलियोंको देखा और उनको अपनी दरिद्रताका ध्यान भी आया; परंतु उनके हृदयने कहा—"इस धनको ले लेनेसे मेरा 'अलोभव्रत' नष्ट हो जायगा। धनसे अहङ्कार आता है। लाभसे लोभ बढ़ता है। मनुष्य निन्यानबेके चक्करमें पड़ जाता है। लोभीको कभी शान्ति नहीं मिलती। धन होनेसे पापकी रुचि होती है। लोभ नरकका द्वार है। धन होनेसे स्त्री-पुत्र सब मदसे मतवाले हो जाते हैं। धन काम तथा क्रोधको बढ़ाकर बुद्धिका नाश कर देता है। धनसे तप

नष्ट हो जाता है और मनुष्यका पतन होता है।'' इस प्रकार सोचकर तुलाधार सोनेको वहीं छोड़कर सहज घर चले आये।

इधर भगवान् ज्योतिषी बनकर उस गाँवमें पहुँचे। लोगोंका हाथ देखने और भूत-भविष्य बतलाने लगे। तुलाधारकी स्त्री भी लोगोंके साथ उनसे अपना भविष्य पूछने पहुँची। भगवान्ने कहा—'तेरे भाग्यमें दरिद्रता ही लिखी है। तेरा पति इतना मूर्ख है कि घर आयी लक्ष्मीका भी वह अनादर करता है। उसे आज ही सौभाग्यसे धन मिल रहा था, पर वह उसे छोड़ आया। घर जाकर पूछ तो सही कि उसने ऐसा क्यों किया?'

वह स्त्री घर आयी। पतिसे उसने सब बातें कहीं। तुलाधार उसे लेकर इसलिये ज्योतिषीके पास आये कि ज्योतिषीको उनके धन मिलनेकी बातका पता कैसे लगा। ज्योतिषीजीने उनसे भी वही बात कही, जो स्त्रीसे कही थी और वे समझाने लगे कि 'अब भी जाकर वह धन ले आओ।' तुलाधारने कहा—'धनमें मेरा जरा भी मोह नहीं। मैं यह समझता हूँ कि धन मनुष्यको फँसानेवाला बड़ा भारी जाल है। जिसकी धनमें आसक्ति है, उसकी मुक्ति कभी नहीं हो सकती। धनमें मादकता है, मोह है, माया है और झूठ है। धन मिलते ही चोरसे, राजासे, यहाँतक कि अपने ही परिवारके लोगोंसे भय लगने लगता है। अविश्वास हो जाता है सबपर। सब धनके लिये ही परस्पर द्वेष करते हैं। काम, क्रोध, अहङ्कारका तो धन निवास है। यह दुर्गति करानेवाला है, अतः मुझे धन नहीं चाहिये।' ज्योतिषीजीने धनकी प्रशंसा की—'धनसे इस लोकमें सब सुख मिलते हैं। जिसके पास धन है, उसीके मित्र, बान्धव, कुल, शील, पाण्डित्य, रूप, सौभाग्य और यश हैं। स्त्री-पुत्रादि भी उसीका आदर करते हैं। निर्धनको कोई नहीं पूछता। सर्वत्र उसका तिरस्कार होता है। धनहीनका न कोई मित्र है न धर्म। उसका जन्म ही सार्थक नहीं। यज्ञ, दान, परोपकार—सब धनसे ही होते हैं। मन्दिर, कुआँ, तालाब आदि धनसे ही बनाये जाते हैं। धनसे ही धर्म करनेपर स्वर्ग मिलता है। व्रत, तीर्थ, जप, जीविका, भोग आदि सब धनसे ही होते हैं। शत्रुविजय, स्त्रीसुख, विद्या, रोगका प्रतीकार, ओषधि, आत्मरक्षा अर्थात् सभी अच्छे-बुरे काम धनसे ही सम्पन्न होते हैं। जिसके पास धन है, वही इस लोकमें उत्तम भोग भोग सकता है और दानादि करके वही स्वर्ग भी जा सकता है।'

तुलाधारने नम्रतासे उत्तर दिया—'भगवन्! यहाँके भोग और स्वर्ग, ये दोनों अनित्य हैं। भोगोंमें सुख मानना ही मोह है। अहिंसा ही परम धर्म है। शिलोञ्छ ही उत्तम वृत्ति है। शाकाहार ही मेरे लिये अमृतके समान है। उपवास ही मेरा तप है। जो मिले, उसमें सन्तुष्ट रहना ही मेरे भोग हैं। मेरे लिये परस्त्री माताके समान और पराया धन मिट्टीके ढेलेके समान है। ज्योतिषीजी! मैं धन नहीं लूँगा। कीचड़को हाथोंमें लगाकर फिर उसे धोनेकी अपेक्षा तो उससे दूर रहना ही अच्छा है।'

इतना कहनेपर तुलाधारके मनमें विचार आया कि 'ये ज्योतिषी कौन हैं? इतना सुन्दर रूप, इतनी मधुर वाणी और फिर एक दरिद्रपर इतनी कृपा कोई संसारी मनुष्य बिना कारण क्यों करेगा?' यह सोचकर तुलाधारने निश्चित किया कि अवश्य ये मेरे दयाधाम स्वामी ही हैं। उसने भगवान्के दोनों चरण पकड़ लिये। प्रार्थना करने लगा—'प्रभो! जब आप इस दीनपर दया करने पधारे हैं, तब फिर यह छद्मवेष क्यों? अब तो कृपा करके अपने इस दासको अपने त्रिभुवनसुन्दर रूपकी झाँकी दिखलाकर कृतार्थ कीजिये।'

भक्तकी कातर प्रार्थना सुनकर भगवान्का हृदय द्रवित हो गया। वे तुरंत वहाँ अपने वास्तविक रूपमें प्रकट हो गये। भगवान् विष्णुकी उस ज्योतिर्मयी चतुर्भुज दिव्य छटाको देखकर तुलाधार अपनी स्त्रीके साथ भगवान्की स्तुति करने लगा। दोनोंने भगवान्की पूजा की और अन्तमें भगवान्की आज्ञासे दिव्य विमानपर बैठकर दोनों उनके दिव्य धामको पधार गये।

प्रेमी चक्रिक भील

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चान्येऽन्त्यजास्तथा।
हरिभक्तिं प्रपन्ना ये ते कृतार्था न संशयः॥

(पद्मपुराण, क्रियायोग० अ० २६)

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अन्य अन्त्यज लोगोंमेंसे भी जो हरिभक्तिद्वारा भगवान्‌के शरणागत हुए, वे कृतार्थ हो गये—इसमें कोई सन्देह नहीं।'

द्वापरमें चक्रिक नामक एक भील वनमें रहता था। भील होनेपर भी वह सच्चा, मधुरभाषी, दयालु, प्राणियोंकी हिंसासे विमुख, क्रोधरहित और माता-पिताकी सेवा करनेवाला था। उसने न तो विद्या पढ़ी थी, न शास्त्र सुने थे; किंतु था वह भगवान्‌का भक्त। केशव, माधव, गोविन्द आदि भगवान्‌के पावन नामोंका वह बराबर स्मरण किया करता था। वनमें एक पुराना मन्दिर था। उसमें भगवान्‌की मूर्ति थी। सरलहृदय चक्रिकको जब कोई अच्छा फल वनमें मिलता, तब वह उसे चखकर देखता। यदि फल स्वादिष्ट लगा तो लाकर भगवान्‌को चढ़ा देता और मीठा न होता तो स्वयं खा लेता। उस भोले अपढ़को 'जूठे फल नहीं चढ़ाने चाहिये'—यह पता ही नहीं था।

एक दिन वनमें चक्रिकको पियाल वृक्षपर एक पका फल मिला। फल तोड़कर उसने स्वाद जाननेके लिये उसे मुखमें डाला। फल बहुत ही स्वादिष्ट था, पर मुखमें रखते ही वह गलेमें सरक गया। 'सबसे अच्छी वस्तु भगवान्‌को देनी चाहिये' यह चक्रिककी मान्यता थी। एक स्वादिष्ट फल उसे आज मिला तो वह भगवान्‌का था। भगवान्‌के हिस्सेका फल वह स्वयं खा ले, यह तो बड़े दुःखकी बात थी। दाहिने हाथसे अपना गला उसने दबाया, जिससे फल पेटमें न चला जाय। मुखमें अँगुली डालकर वमन किया, पर फल निकला नहीं। चक्रिकका सरल हृदय भगवान्‌को देने योग्य फल स्वयं खा लेनेपर किसी प्रकार प्रस्तुत नहीं था। वह भगवान्‌की मूर्तिके पास गया और कुल्हाड़ीसे गला काटकर उसने फल निकालकर भगवान्‌को अर्पण कर दिया। इतना करके पीड़ाके कारण वह गिर पड़ा।

सरल भक्तकी निष्ठासे सर्वेश्वर जगन्नाथ रीझ गये। वे श्रीहरि चतुर्भुजरूपसे वहीं प्रकट हो गये और मन-ही-मन कहने लगे—

यथा भक्तिमतानेन सात्त्विकं कर्म वै कृतम्।
यद्दत्त्वानृण्यमाप्नोमि तथा वस्तु किमस्ति मे॥
ब्रह्मत्वं वा शिवत्वं वा विष्णुत्वं वापि दीयते।
तथाप्यानृण्यमेतस्य भक्तस्य न हि विद्यते॥

(पद्मपुराण, क्रियायोग० १५। २२, २४)

'इस भक्तिमान् भीलने जैसा सात्त्विक कर्म किया है, मेरे पास ऐसी कौन-सी वस्तु है, जिसे देकर मैं इसके ऋणसे छूट सकूँ? ब्रह्माका पद, शिवका पद या विष्णुका पद भी दे दूँ तो भी इस भक्तके ऋणसे मैं मुक्त नहीं हो सकता।'

फिर भक्तवत्सल प्रेमाधीन प्रभुने चक्रिकके मस्तकपर अपना अभय करकमल रख दिया। भगवान्‌के कर-स्पर्श पाते ही चक्रिकका घाव मिट गया। उसकी पीड़ा चली गयी। वह तत्काल स्वस्थ होकर उठ बैठा। देवाधिदेव नारायणने अपने पीताम्बरसे उसके शरीरकी धूलि इस प्रकार झाड़ी, जैसे पिता पुत्रके शरीरकी धूलि झाड़ता है। भगवान्‌को सामने देख चक्रिकने गद्गद होकर, दोनों हाथ जोड़कर सरल भावसे स्तुति की—'केशव! गोविन्द! जगदीश! मैं मूर्ख भील हूँ। मुझे आपकी प्रार्थना करनी नहीं आती, इसलिये मुझे क्षमा करो। मेरे स्वामी! मुझपर प्रसन्न हो जाओ। आपकी पूजा छोड़कर जो लोग दूसरेकी पूजा करते हैं, वे महामूर्ख हैं।'

भगवान्‌ने वरदान माँगनेको कहा। चक्रिकने कहा—'कृपामय! जब मैंने आपके दर्शन कर लिये, तब अब और क्या पाना रह गया? मुझे तो कोई वरदान चाहिये नहीं। बस, मेरा चित्त निरन्तर आपमें ही लगा रहे, ऐसा कर दो।'

भगवान् उस भीलको भक्तिका वरदान देकर अन्तर्धान हो गये। चक्रिक वहाँसे द्वारका चला गया और जीवनभर वहीं भगवद्भजनमें लगा रहा।

भक्त निषाद वसु और उसका पुत्र

दक्षिण भारतमें वेंकटगिरि (बालाजी) सुप्रसिद्ध तीर्थ है। महर्षि अगस्त्यकी प्रार्थनासे भगवान् विष्णुने वेङ्कटाचलको अपनी नित्य निवास-भूमि बनाकर पवित्र किया है। पर्वतके मनोरम शिखरपर स्वामिपुष्करिणी तीर्थ है, जहाँ रहकर पार्वतीनन्दन स्कन्द स्वामी प्रतिदिन श्रीहरिकी उपासना करते हैं। उन्हींके नामपर उस तीर्थको स्वामिपुष्करिणी कहते हैं। उसके पास ही भगवान्का विशाल मन्दिर है, जहाँ वे श्रीदेवी और भूदेवीके साथ विराजमान हैं। सत्ययुगमें अञ्जनगिरि, त्रेतामें नारायणगिरि, द्वापरमें सिंहाचल और कलियुगमें वेङ्कटाचलको ही भगवान्का नित्य निवास-स्थान बताया गया है। कितने ही प्रेमी भक्त यहाँ भगवान्के दिव्य विमान एवं दिव्य चतुर्भुज-स्वरूपका सुदुर्लभ दर्शन पाकर कृतार्थ हो चुके हैं। श्रद्धालु पुरुष सम्पूर्ण पर्वतको ही भगवत्स्वरूप मानते हैं।

पूर्वकालमें वेंकटाचलपर एक निषाद रहता था। उसका नाम था वसु। वह भगवान्का बड़ा भक्त था। प्रतिदिन स्वामिपुष्करिणीमें स्नान करके श्रीनिवासकी पूजा करता और श्यामाक (सावाँ)-के भातमें मधु मिलाकर वही श्रीभूदेवियोंसहित उन्हें भोगके लिये निवेदन करता था। भगवान्के उस प्रसादको ही वह पत्नीके साथ स्वयं पाता था। यही उसका नित्यका नियम था। भगवान् श्रीनिवास उसे प्रत्यक्ष दर्शन देते और उससे वार्तालाप करते थे। उसके और भगवान्के बीचमें योगमायाका पर्दा नहीं रह गया था। उस पर्वतके एक भागमें सावाँका जंगल था। वसु उसकी सदा रखवाली किया करता था, इसलिये कि उसीका चावल उसके प्राणाधार प्रभुके भोगमें काम आता था। वसुकी पत्नीका नाम था चित्रवती। वह बड़ी पतिव्रता थी। दोनों भगवान्की आराधनामें संलग्न रहकर उनके सान्निध्यका दिव्य सुख लूट रहे थे। कुछ कालके बाद चित्रवतीके गर्भसे एक सुन्दर बालक उत्पन्न हुआ। वसुने उसका नाम 'वीर' रखा। वीर यथानाम-तथागुणः था। उसके मनपर शैशवकालसे ही माता-पिताके भगवच्चिन्तनका गहरा प्रभाव पड़ने लगा। जब वह कुछ बड़ा हुआ, तब प्रत्येक कार्यमें पिताका हाथ बँटाने लगा। उसके अन्तःकरणमें भगवान्के प्रति अनन्य भक्तिका भाव भी जग चुका था।

भगवान् बड़े कौतुकी हैं। वे भक्तोंके साथ भाँति-भाँतिके खेल खेलते और उनके प्रेम एवं निष्ठाकी परीक्षा भी लेते रहते हैं। एक दिन वसुको ज्ञात हुआ कि घरमें मधु नहीं है। भगवान्के भोगके लिये भात बन चुका था। वसुने सोचा—'मधुके बिना मेरे प्रभु अच्छी तरह भोजन नहीं कर सकेंगे।' अतः वह वीरको सावाँके जंगल और घरकी रखवालीका काम सौंपकर पत्नीके साथ मधुकी खोजमें चल दिया। बहुत विलम्बके बाद दूरके जंगलमें मधुका छत्ता दिखायी दिया। वसु बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने युक्तिसे मधु निकाला और घरकी ओर प्रस्थान किया।

इधर निषाद-कुमार वीरने यह सोचकर कि 'भगवान्के भोगमें विलम्ब हो रहा है' तैयार किये हुए भातको एक पात्रमें निकाला। उसमेंसे कुछ अग्निमें डाल दिया और शेष सब भात वृक्षकी जड़में स्थापित करके भगवान्का आवाहन किया। भगवान्ने प्रत्यक्ष प्रकट होकर उसका दिया हुआ भोग स्वीकार किया। तत्पश्चात् प्रभुका प्रसाद पाकर बालक वीर माता-पिताके आनेकी बाट देखने लगा। वसु अपनी पत्नीके साथ जब घर पहुँचा, तब देखता है, वीरने भातमेंसे कुछ अंश निकालकर खा लिया है। इससे उसे बड़ा दुःख हुआ। 'प्रभुके लिये जो भोग तैयार किया गया था, उसे इस नादान बालकने उच्छिष्ट कर दिया! यह इसका अक्षम्य अपराध है।' यह सोचकर वसु कुपित हो उठा। उसने तलवार खींच ली और वीरका मस्तक काटनेके लिये हाथ ऊँचा किया। इतनेमें ही किसीने पीछेसे आकर वसुका हाथ पकड़ लिया। वसुने पीछे वृक्षकी ओर घूमकर देखा तो भक्तवत्सल भगवान् स्वयं उसका हाथ पकड़े खड़े हैं।

उनका आधा अङ्ग वृक्षके सहारे टिका हुआ है। हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा सुशोभित हैं। मस्तकपर किरीट, कानोंमें मकराकृति कुण्डल, अधरोंपर मन्द-मन्द मुसकान और गलेमें कौस्तुभमणिकी छटा छा रही है। चारों ओर दिव्य प्रकाशका पारावार-सा उमड़ पड़ा है।

वसु तलवार फेंककर भगवान्के चरणोंमें गिर पड़ा और बोला—'देवदेवेश्वर! आप क्यों मुझे रोक रहे हैं? वीरने अक्षम्य अपराध किया है!'

भगवान् अपनी मधुर वाणीसे कानोंमें अमृत उड़ेलते हुए बोले—'वसु! तुम उतावली न करो! तुम्हारा पुत्र मेरा अनन्य भक्त है। यह मुझे तुमसे भी अधिक प्रिय है। इसीलिये मैंने इसे प्रत्यक्ष दर्शन दिया है। इसकी दृष्टिमें मैं सर्वत्र हूँ, किंतु तुम्हारी दृष्टिमें केवल स्वामिपुष्करिणीके तटपर ही मेरा निवास है।'

भगवान्का यह वचन सुनकर वसु बड़ा प्रसन्न हुआ। वीर और चित्रवती भी प्रभुके चरणोंमें लोट गये। उनका दुर्लभ कृपा-प्रसाद पाकर यह निषाद-परिवार धन्य-धन्य हो गया!
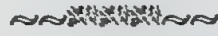
भक्त भीम कुम्हार और उसकी पत्नी

दक्षिणमें वेंकटाचलके समीप कूर्मग्राममें एक कुम्हार रहता था। उसका नाम था भीम। वह भगवान्का बड़ा भक्त था। साधारण लोगोंको उसकी भाव-भक्तिका कुछ भी पता नहीं था। परन्तु अन्तर्यामी वेंकटनाथ उसकी प्रत्येक सेवा बड़ी प्रसन्नताके साथ स्वीकार करते थे। कुम्हार और उसकी पत्नी दोनों भगवान् श्रीनिवासके अनन्य भक्त थे।

इन्हीं दिनों भक्तप्रवर महाराज तोण्डमान प्रतिदिन भगवान् श्रीनिवासकी पूजा सुवर्णमय कमल-पुष्पोंसे किया करते थे। एक दिन उन्होंने देखा, भगवान्के ऊपर मिट्टीके बने हुए कमल तथा तुलसीपुष्प चढ़े हुए हैं। इससे विस्मित होकर राजाने पूछा—'भगवन्! ये मिट्टीके कमल और तुलसीपुष्प चढ़ाकर कौन आपकी पूजा करता है?' भगवान्ने कहा—'कूर्मग्राममें एक कुम्हार है, जो मुझमें बड़ी भक्ति रखता है। वह अपने घरमें बैठकर मेरी पूजा करता है और मैं उसकी प्रत्येक सेवा स्वीकार करता हूँ।'

राजा तोण्डमानके हृदयमें भगवद्भक्तोंके प्रति बड़े आदरका भाव था। वे उस भक्तशिरोमणि कुम्हारका दर्शन करनेके लिये स्वयं उसके घरपर गये। राजाको आया देख कुम्हार उन्हें प्रणाम करके हाथ जोड़कर खड़ा हुआ। राजाने कहा—'भीम! तुम अपने कुलमें सबसे श्रेष्ठ हो; क्योंकि तुम्हारे हृदयमें भगवान् श्रीनिवासके प्रति परम पावन अनन्य भक्तिका उदय हुआ है। मैं तुम्हारा दर्शन करने आया हूँ। बताओ, तुम भगवान्की पूजा किस प्रकार करते हो?'

कुम्हार बोला—'महाराज! मैं क्या जानूँ, भगवान्की पूजा कैसे की जाती है। भला, आपसे किसने कह दिया कि कुम्हार पूजा करता है?'

राजाने कहा—'स्वयं भगवान् श्रीनिवासने तुम्हारे पूजनकी बात बतायी है।'

राजाके इतना कहते ही कुम्हारकी सोयी हुई स्मृति जाग उठी। वह बोला—'महाराज! पूर्वकालमें भगवान् वेंकटनाथने मुझे वरदान दिया था कि 'जब तुम्हारी की हुई पूजा प्रकाशित हो जायगी और जब राजा तोण्डमान तुम्हारे द्वारपर आ जायँगे तथा उनके साथ तुम्हारा वार्तालाप होगा, उसी समय तुम्हें परमधामकी प्राप्ति होगी।' उसकी यह बात पूर्ण होते ही आकाशसे एक दिव्य विमान उतर आया। उसके ऊपर साक्षात् भगवान् विष्णु विराजमान थे। कुम्हार और उसकी पत्नीने भगवान्को प्रणाम करते हुए प्राण त्याग दिये तथा राजाके देखते-देखते वे दोनों दिव्य रूप धारण करके विमानपर जा बैठे। विमान उन्हें लेकर परमधाम वैकुण्ठको चला गया।

भक्त रोमहर्षणजी

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा॥

'सब शास्त्रोंका मन्थन करके तथा पुनः-पुनः विचार करके यही निष्कर्ष निकाला है कि भगवान् नारायण ही सदा ध्यान करने योग्य हैं।'

श्रीरोमहर्षणजी सूत जातिके थे। ये भगवान् वेदव्यासजीके परम प्रिय शिष्य थे। भगवान् व्यासने इन्हें समस्त पुराणोंको पढ़ाया और आशीर्वाद दिया कि 'तुम समस्त पुराणोंके वक्ता होओगे।' इसीलिये ये समस्त पुराणोंके वक्ता माने जाते हैं। ये सदा ऋषियोंके आश्रमोंमें घूमते रहते थे और सबको पुराणोंकी कथा सुनाया करते थे। नैमिषारण्यमें अठासी हजार ऋषि निवास करते थे। सूतजी उनके यहाँ सदा कथा कहा करते थे। यद्यपि ये सूत जातिके थे, फिर भी पुराणोंके वक्ता होनेके कारण समस्त ऋषि इनका आदर करते थे और उच्चासनपर बिठाकर इनकी पूजा करते थे। इनकी कथा इतनी अद्भुत होती थी कि आसपासके ऋषिगण जब सुन लेते थे कि अमुक जगह सूतजी आये हैं, तब सभी दौड़-दौड़कर इनके पास आ जाते और विचित्र कथाएँ सुननेके लिये इन्हें घेरकर चारों ओर बैठ जाते। पहले तो ये सब ऋषियोंकी पूजा करते, उनका कुशल-प्रश्न पूछते और कहते—'ऋषियो! आप कौन-सी कथा मुझसे सुनना चाहते हैं?' इनके प्रश्नको सुनकर शौनक या कोई वृद्ध ऋषि किसी तरहका प्रश्न कर देते और कह देते—'रोमहर्षण सूतजी! यदि हमारा यह प्रश्न पौराणिक हो और पुराणोंमें गाया हो, तो इसका उत्तर दीजिये।'

ऐसी कौन-सी बात है, जो पुराणोंमें न हो। पहले तो सूत उनके प्रश्नका अभिनन्दन करते और फिर कहते—'आपका यह प्रश्न पौराणिक ही है। इसके सम्बन्धमें मैंने अपने गुरु भगवान् व्याससे जो कुछ सुना है, उसे आपके सामने कहता हूँ, सावधान होकर सुनिये।' इतना कहकर सूतजी कथाका आरम्भ करते और यथावत् समस्त प्रश्नोंका उत्तर देते हुए कथाएँ सुनाते। इस प्रकार ये सदा भगवल्लीलाकीर्तनमें लगे रहते थे। इनसे बढ़कर भगवान्का कीर्तनकार कौन होगा। इनकी मृत्यु भगवान् बलदेवजीके द्वारा हुई। नैमिषारण्यमें तीर्थयात्रा करते हुए बलदेवजी पहुँचे। ये उस समय व्यासासनपर बैठे थे। उन्हें देखकर उठे नहीं। इसपर बलरामजीको क्रोध आ गया और उन्होंने इनका सिर काट लिया। ऋषियोंने बलरामजीसे कहा—'यह आपने अच्छा नहीं किया, हमने इन्हें दीर्घ आयु देकर इस उच्चासनपर बिठाया था। आपको ब्रह्महत्याका पाप लगा है, आप प्रायश्चित्त करें।' ऋषियोंकी आज्ञा बलदेवजीने शिरोधार्य की और उन्होंने जैसा प्रायश्चित्त बताया था, वैसा किया। उस समयसे इनके पुत्र उग्रश्रवाको वह गद्दी दी गयी और तबसे रोमहर्षणकी जगह उग्रश्रवा पुराणोंके वक्ता हुए। **'आत्मा वै जायते पुत्रः'** के नाते उग्रश्रवामें अपने पिताके समस्त गुण मौजूद थे।

भक्त दर्जी और सुदामा माली

रामहि केवल प्रेम पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥

मथुरामें एक भगवद्भक्त दर्जी रहता था। कपड़े सीकर अपना तथा अपने परिवारका पालन करता एवं यथासम्भव दान करता था। भगवान्का स्मरण, पूजन, ध्यान ही उसे सबसे प्रिय था। इसी प्रकार सुदामा नामक एक माली भी मथुरामें था। भगवान्की पूजाके लिये सुन्दर-से-सुन्दर मालाएँ, फूलोंके गुच्छे वह बनाया करता था। दर्जी और माली दोनों ही अपना-अपना काम करते हुए बराबर भगवान्के नामका जप करते रहते थे और उन श्यामसुन्दरके स्वरूपका ही चिन्तन करते थे।

भगवान् न तो घर छोड़कर वनमें जानेसे प्रसन्न होते हैं और न तपस्या, उपवास या और किसी प्रकार शरीरको कष्ट देनेसे। उन सर्वेश्वरको न तो कोई अपनी बुद्धिसे सन्तुष्ट कर सकता है और न विद्यासे। बहुत-से ग्रन्थोंको पढ़ लेना या अद्भुत तर्क कर लेना, काव्य तथा अन्य कलाओंकी शक्ति अथवा बहुत-सा धन परमात्माको प्रसन्न करनेमें समर्थ नहीं है। दर्जी और माली दोनोंमें कोई ऊँची जातिका नहीं था। किसीने वेद-शास्त्र नहीं

पढ़े थे, कोई उनमें तर्क करनेमें चतुर नहीं था और न उन लोगोंने कोई बड़ी तपस्या या अनुष्ठान ही किया था। दोनों गृहस्थ थे। दोनोंके बाल-बच्चे थे। दोनों अपने-अपने काममें लगे रहते थे। परंतु एक बात दोनोंमें थी—दोनों भगवान्‌के भक्त थे। दोनों धर्मात्मा थे। अपने-अपने कामको बड़ी सचाईसे दोनों करते थे। ईमानदारीसे परिश्रम करके जो मिल जाता, उसीमें दोनोंको सन्तोष था। झूठ, छल, कपट, चोरी, कठोर वचन, दूसरोंकी निन्दा करना आदि दोष दोनोंमें नहीं थे। भगवान्‌पर दोनोंका पूरा विश्वास था। भगवान्‌को ही दोनोंने अपना सर्वस्व मान रखा था और 'राम, कृष्ण, गोविन्द' आदि पवित्र भगवन्नाम उनकी जिह्वापर निरन्तर नाचा करते थे। भगवान्‌को तो यह निश्छल सरल भक्ति-भाव ही प्रसन्न करता है।

अक्रूरजीके साथ बलरामजी और श्रीकृष्णचन्द्र मथुरा आये। अक्रूरको घर भेजकर भोजन तथा विश्राम करनेके पश्चात् दिनके चौथे पहर वे सखाओंसे घिरे हुए मथुरा नगर देखने निकले। कंसके घमंडी धोबीको मारकर श्यामसुन्दरने राजकीय बहुमूल्य वस्त्र छीन लिये। वस्त्रोंको स्वयं पहना, बड़े भाईको पहनाया और सखाओंमें बाँट दिया। वे वस्त्र कुछ राम-श्याम तथा बालकोंके नापसे तो बने नहीं थे, अतः ढीले-ढाले उनके शरीरमें लग रहे थे। भक्त दर्जीने यह देखा और दौड़ आया वह। त्रिभुवनसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र हँसते हुए उसके सम्मुख खड़े हो गये। जिनकी एक झाँकीके लिये बड़े-बड़े योगीन्द्र-मुनीन्द्र तरसते रहते हैं, वे श्यामसुन्दर दर्जीके सम्मुख खड़े थे। महाभाग दर्जीने उनके वस्त्रोंको काट-छाँटकर, सीकर ठीक कर दिया। श्रीबलरामजी तथा सभी गोपबालकोंके वस्त्र उसने उनके शरीरके अनुरूप बना दिये। प्रसन्न होकर भगवान्‌ने दर्जीसे कहा—'तुम्हें जो माँगना हो, माँगो।' दर्जी तो चुपचाप मुख देखता रह गया श्रीकृष्णचन्द्रका। उसने किसी इच्छासे, किसी स्वार्थसे तो यह काम किया नहीं था। हाथ जोड़कर उसने प्रार्थना की—'प्रभो! मैं नीच कुलका ठहरा, मुझे आपलोगोंकी सेवाका यह सौभाग्य मिला, यही क्या कम हुआ।' भगवान्‌ने दर्जीको वरदान दिया—'जबतक तुम इस लोकमें रहोगे, तुम्हारा शरीर स्वस्थ, सबल, आरोग्य रहेगा। तुम्हारी इन्द्रियोंकी शक्ति क्षीण नहीं होगी। तुम्हें सदा मेरी स्मृति रहेगी। ऐश्वर्य तथा लक्ष्मी तुम्हारे पास भरपूर रहेंगी। इसके पश्चात् मेरा रूप धारण करके तुम मेरे लोकमें मेरे पास रहोगे। तुम्हें मेरा सारूप्य प्राप्त होगा।'

इसके पश्चात् श्रीकृष्णचन्द्र सुदामा मालीके घर गये। सुदामा तो राम-श्यामको देखते ही आनन्दके मारे नाचने लगा कीर्तन करते हुए। उसने भूमिमें लोटकर दण्डवत्-प्रणाम किया। सबको आसन देकर बैठाया। सखाओं तथा बलरामजीके साथ श्यामसुन्दरके उसने चरण धोये। सबको चन्दन लगाया, मालाएँ पहनायीं, विधिवत् सबकी पूजा की। पूजा करके वह हाथ जोड़कर स्तुति करने लगा। उसने कहा—'भगवन्! मैंने ऋषि-मुनियोंसे सुना है कि आप दोनों ही इस जगत्‌के परम कारण हैं। आप जगदीश्वर हैं। संसारके प्राणियोंका कल्याण करनेके लिये, जीवोंके अभ्युदयके लिये आपने अवतार लिया है। आप तो सारे संसारके आत्मस्वरूप हैं। सभी प्राणियोंके सुहृद् हैं। आपमें विषमदृष्टि नहीं है। सभी प्राणियोंमें समरूपसे आप स्थित हैं। फिर भी जो आपका भजन करते हैं, उनपर आपका अनुग्रह होता है। मैं आपका दास हूँ, अतएव मुझे कोई सेवा करनेकी आज्ञा अवश्य करें; क्योंकि आपकी सबसे बड़ी कृपा जीवपर यही होती है कि आप उसे अपनी सेवाका अधिकार दें। आपकी आज्ञाका पालन करना ही जीवका परम सौभाग्य है।'

सुदामाने सखाओंके साथ भगवान्‌की पूजा कर ली थी, उन्हें मालाएँ पहनायी थीं; फिर भी उसे प्रसन्न करनेके लिये श्रीकृष्णचन्द्रने कहा—'सुदामा! हम सबको तुम्हारी सुन्दर मालाएँ और फूलोंके गुच्छे चाहिये।' माली सुदामाने बड़ी श्रद्धासे बहुत ही सुन्दर-सुन्दर मालाएँ फिर भगवान्‌को तथा सभी गोपबालकोंको पहनायीं, उन्हें फूलोंसे संजाया और उनके हाथोंमें फूलोंके सुन्दर गुच्छे बनाकर दिये।

भगवान्‌ने कहा—'सुदामा! मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ। तुम वरदान माँगो।'

सुदामा भगवान्‌के चरणोंमें लोट गया। हाथ जोड़कर उसने फिर प्रार्थना की—'प्रभो! आप अखिलात्मामें मेरी अविचल भक्ति रहे, आपके भक्तोंसे मेरी मैत्री रहे और

सभी प्राणियोंके प्रति मेरे मनमें दया-भाव रहे—मुझे यही वरदान आप दें।'

भगवान्‌ने 'एवमस्तु' कहकर फिर कहा—'तुमने जो माँगा, वह तो तुम्हें मिल ही गया। तुम्हें दीर्घायु प्राप्त होगी। तुम्हारे शरीरका बल तथा कान्ति कभी क्षीण नहीं होगी। लोकमें तुम्हारा सुयश होगा और तुम्हारे पास पर्याप्त धन होगा। वह धन तुम्हारी सन्तानपरम्परामें बढ़ता ही जायगा।' मालीको यह वरदान देकर श्रीकृष्णचन्द्र नगर-दर्शन करने चले गये।

वे दर्जी और माली जीवनभर भगवान्‌का स्मरण-भजन करते रहे और अन्तमें भगवान्‌के लोकमें उनके नित्यपार्षद हुए।

महात्मा विदुरजी

वासुदेवस्य ये भक्ताः शान्तास्तद्गतमानसाः।
तेषां दासस्य दासोऽहं भवे जन्मनि जन्मनि॥

माण्डव्य ऋषिके शापसे यमराजजीने ही दासी-पुत्रके रूपमें धृतराष्ट्र तथा पाण्डुके भाई होकर जन्म लिया था। यमराजजी भागवताचार्य हैं। अपने इस रूपमें, मनुष्य-जन्म लेकर भी वे भगवान्‌के परम भक्त तथा धर्मपरायण ही रहे। विदुरजी महाराज धृतराष्ट्रके मन्त्री थे और सदा इसी प्रयत्नमें रहते थे कि महाराज धर्मका पालन करें। नीतिशास्त्रके ये महान् पण्डित और प्रवर्तक थे। इनकी विदुरनीति बहुत ही उपादेय और प्रख्यात है।

जब कभी पुत्र-स्नेहवश धृतराष्ट्र पाण्डवोंको क्लेश देते या उनके अहितकी योजना सोचते, तब विदुरजी उन्हें समझानेका प्रयत्न करते। स्पष्टवादी और न्यायका समर्थक होनेपर भी धृतराष्ट्र इन्हें बहुत मानते थे। दुर्योधन अवश्य ही इनसे जला करता था। धर्मरत पाण्डुके पुत्रोंसे ये स्नेह करते थे। जब दुरात्मा दुर्योधनने लाक्षाभवनमें पाण्डवोंको जलानेका षड्यन्त्र किया, तब विदुरजीने उन्हें बचानेकी व्यवस्था की और गुह्य भाषामें संदेश भेजकर युधिष्ठिरको पहले ही सावधान कर दिया तथा उस भयङ्कर गृहसे बच निकलनेकी युक्ति भी बता दी।

सज्जनोंको सदा न्याय एवं धर्म ही अच्छा लगता है। अन्याय तथा अधर्मका विरोध करना उनका स्वभाव होता है। इसके लिये अनेकों बार दुर्जनोंसे उन्हें तिरस्कृत तथा पीड़ित भी होना पड़ता है। विदुरजी दुर्योधनके दुष्कर्मोंका प्रबल विरोध करते थे। जब कौरवोंने भरी सभामें द्रौपदीको अपमानित करना प्रारम्भ किया, तब वे रुष्ट होकर सभा-भवनसे चले गये। पाण्डवोंके वनवासके समय विदुरजीको दुर्योधनके भड़कानेसे धृतराष्ट्रने कह दिया—'तुम सदा पाण्डवोंकी ही प्रशंसा करते हो, अतः उन्हींके पास चले जाओ।' विदुरजी वनमें पाण्डवोंके पास चले गये। उनके चले जानेपर धृतराष्ट्रको उनकी महत्ताका पता लगा। विदुरसे रहित अपनेको वे असहाय समझने लगे। तब दूत भेजकर विदुरजीको उन्होंने फिर बुलाया। मानापमानमें समान भाव रखनेवाले विदुरजी लौट आये।

पाण्डवोंके वनवासके तेरह वर्ष कुन्तीदेवी विदुरजीके यहाँ ही रही थीं। जब श्रीकृष्णचन्द्र सन्धि कराने पधारे, तब दुर्योधनका स्वागत-सत्कार उन्होंने अस्वीकार कर दिया। उन मधुसूदनको कभी ऐश्वर्य सन्तुष्ट नहीं कर पाता, वे तो भक्तके भावभरे तुलसीदल एवं जलके ही भूखे रहते हैं। श्रीकृष्णचन्द्रने धृतराष्ट्र, भीष्म, भूरिश्रवा आदि समस्त लोगोंका आतिथ्य अस्वीकार कर दिया और विदुरजीके घर वे बिना निमन्त्रणके ही पहुँच गये। अपने सच्चे भक्तका घर तो उनका अपना ही घर है। विदुरके शाकको उन त्रिभुवनपतिने नैवेद्य बनाया। विदुरानीके केलेके छिलकेकी कथा प्रसिद्ध है। महाभारतके अनुसार विदुरजीने विविध व्यञ्जनादिसे उनका सत्कार किया था।

महाराज धृतराष्ट्रको भरी सभामें श्रीकृष्णचन्द्रके सम्मुख तथा केशवके चले जानेपर अकेले भी विदुरने समझाया—'दुर्योधन पापी है। इसके कारण कुरुकुलका विनाश होता दीखता है। इसे बाँधकर आप पाण्डवोंको दे दें।' दुर्योधन

इससे बहुत बिगड़ा। उसने कठोर वचन कहे। विदुरजीको युद्धमें किसीका पक्ष लेना नहीं था, अतः शस्त्र छोड़कर वे तीर्थाटनको चले गये। अवधूतवेशमें वे तीर्थोंमें घूमते रहे। बिना माँगे जो कुछ मिल जाता, वही खा लेते। नंगे शरीर कन्द-मूल खाते हुए वे तीर्थोंमें लगभग ३६ वर्ष विचरते रहे। अन्तमें मथुरामें उन्हें उद्धवजी मिले। उनसे महाभारतके युद्ध, यदुकुलके क्षय तथा भगवान्‌के स्वधाम-गमनका समाचार मिला। भगवान्‌ने स्वधाम पधारते समय महर्षि मैत्रेयको आदेश दिया था विदुरजीको उपदेश करनेका। उद्धवजीसे यह समाचार पाकर विदुरजी हरद्वार गये। वहाँ मैत्रेयजीसे उन्होंने भगवदुपदिष्ट तत्त्वज्ञान प्राप्त किया और फिर हस्तिनापुर आये। हस्तिनापुर विदुरजी केवल बड़े भाई धृतराष्ट्रको आत्मकल्याणका मार्ग प्रदर्शन करने आये थे। उनके उपदेशसे धृतराष्ट्र एवं गान्धारीका मोह दूर हो गया और वे विरक्त होकर वनको चले गये। विदुरजी तो सदासे विरक्त थे। वनमें जाकर उन्होंने भगवान्‌में चित्त लगाकर योगियोंकी भाँति शरीरको छोड़ दिया।

भक्त सञ्जय

श्रीमद्भगवद्गीतामें सञ्जय प्रधान व्यक्ति हैं। सञ्जयके मुखसे ही श्रीमद्भगवद्गीता धृतराष्ट्रने सुनी थी। सञ्जय विद्वान् गावल्गण नामक सूतके पुत्र थे। ये बड़े शान्त, शिष्ट, ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न, सदाचारी, निर्भय, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, धर्मात्मा, स्पष्टभाषी और श्रीकृष्णके परम भक्त तथा उनको तत्त्वसे जाननेवाले थे। अर्जुनके साथ सञ्जयकी लड़कपनसे मित्रता थी; इसीसे अर्जुनके उस अन्तःपुरमें, जहाँ अभिमन्यु और नकुल-सहदेवका भी प्रवेश निषिद्ध था, सञ्जयको प्रवेश करनेका अधिकार था। जिस समय सञ्जय कौरवोंकी ओरसे पाण्डवोंके यहाँ गये थे, उस समय अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्ण अन्तःपुरमें थे। वहीं देवी द्रौपदी और महाभागा सत्यभामाजी भी थीं। सञ्जयने वापस जाकर वहाँका वर्णन सुनाते हुए धृतराष्ट्रसे कहा था—'मैंने अर्जुनके अन्तःपुरमें जाकर देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण अपने दोनों चरण अर्जुनकी गोदमें रखे हुए हैं तथा अर्जुनके चरण द्रौपदी और सत्यभामाकी गोदमें हैं। अर्जुनने बैठनेके लिये एक सोनेका पादपीठ (पैर रखनेकी चौकी) मेरी ओर सरका दी। मैं उसे हाथसे स्पर्श करके जमीनपर बैठ गया। उन दोनों महापुरुषोंको इस प्रकार अत्यन्त प्रेमसे एक आसनपर बैठे देखकर मैं समझ गया कि ये दोनों जिनकी आज्ञामें रहते हैं, उन धर्मराज युधिष्ठिरके मनका सङ्कल्प ही पूरा होगा।'

महाभारत-युद्ध आरम्भ होनेसे पूर्व त्रिकालदर्शी भगवान् व्यासने धृतराष्ट्रके पास जाकर युद्धका अवश्यम्भावी होना बतलाते हुए यह कहा कि 'यदि तुम युद्ध देखना चाहो तो मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि देता हूँ।' धृतराष्ट्रने अपने कुलका नाश देखनेकी अनिच्छा प्रकट की; पर श्रीवेदव्यासजी जानते थे कि इससे युद्धकी बातें जाने-सुने बिना रहा नहीं जायगा। अतएव वे सञ्जयको दिव्य-दृष्टि देकर कहने लगे कि 'युद्धकी सब घटनाएँ सञ्जयको मालूम होती रहेंगी, वह दिव्य-दृष्टिसे सर्वज्ञ हो जायगा और प्रत्यक्ष-परोक्ष या दिन-रातमें जहाँ जो कोई घटना होगी—यहाँतक कि मनमें चिन्तन की हुई भी सारी बातें सञ्जय जान सकेगा।' (महा० भीष्म० अ० २) इसके बाद जब कौरवोंके प्रथम सेनापति भीष्मपितामह दस दिनोंतक घमासान युद्ध करके एक लाख महारथियोंको अपार सेनासहित वध करनेके उपरान्त शिखण्डीके द्वारा आहत होकर शरशय्यापर पड़ गये, तब सञ्जयने आकर यह समाचार धृतराष्ट्रको सुनाया। तब भीष्मके लिये शोक करते हुए धृतराष्ट्रने सञ्जयसे युद्धका सारा हाल पूछा। तदनुसार सञ्जयने पहले दोनों ओरकी सेनाओंका वर्णन करके फिर गीता सुनाना आरम्भ किया। गीता भीष्मपर्वके २५ वेंसे ४२ वें अध्यायतक है।

महर्षि व्यास, सञ्जय, विदुर और भीष्म आदि कुछ ही ऐसे महानुभाव थे, जो भगवान् श्रीकृष्णके यथार्थ स्वरूपको पहचानते थे। धृतराष्ट्रके पूछनेपर सञ्जयने कहा था कि 'मैं स्त्री-पुत्रादिके मोहमें पड़कर अविद्याका

सेवन नहीं करता, मैं भगवान्‌के अर्पण किये बिना (वृथा) धर्मका आचरण नहीं करता, मैं शुद्ध भाव और भक्तियोगके द्वारा ही जनार्दन श्रीकृष्णके स्वरूपको यथार्थ जानता हूँ।' भगवान्‌का स्वरूप और पराक्रम बतलाते हुए सञ्जयने कहा—'उदारहृदय श्रीवासुदेवके चक्रका मध्यभाग पाँच हाथ विस्तारवाला है, परंतु भगवान्‌के इच्छानुकूल वह चाहे जितना बड़ा हो सकता है। वह तेजःपुञ्जसे प्रकाशित चक्र सबके सारासार बलकी थाह लेनेके लिये बना है। वह कौरवोंका संहारक है और पाण्डवोंका प्रियतम है। महाबलवान् श्रीकृष्णने लीलासे ही भयानक राक्षस नरकासुर, शंबरासुर और अभिमानी कंस, शिशुपालका वध कर दिया था। परम ऐश्वर्यवान् सुन्दर-श्रेष्ठ श्रीकृष्ण मनके सङ्कल्पसे ही पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्गको अपने वशमें कर सकते हैं।……एक ओर सारा जगत् हो और दूसरी ओर अकेले श्रीकृष्ण हों तो साररूपमें वही उस सबसे अधिक ठहरेंगे। वे अपनी इच्छामात्रसे ही जगत्‌को भस्म कर सकते हैं; परंतु उनको भस्म करनेमें सारा विश्व भी समर्थ नहीं है—

यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः॥

'जहाँ सत्य, धर्म, ईश्वरविरोधी कार्यमें लज्जा और हृदयकी सरलता होती है, वहीं श्रीकृष्ण रहते हैं और जहाँ श्रीकृष्ण रहते हैं, वहीं निःसन्देह विजय है।' सर्वभूतात्मा पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण लीलासे पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्गका सञ्चालन किया करते हैं, वे श्रीकृष्ण सब लोगोंको मोहित करते हुए-से पाण्डवोंका बहाना करके तुम्हारे अधर्मी मूर्ख पुत्रोंको भस्म करना चाहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रभावसे काल-चक्र, जगच्चक्र और युग-चक्रको सदा घुमाया (बदला) करते हैं। मैं यह सत्य कहता हूँ कि भगवान् श्रीकृष्ण ही काल, मृत्यु और स्थावर-जङ्गमरूप जगत्‌के एकमात्र अधीश्वर हैं। जैसे किसान अपने ही बोये हुए खेतको (पक जानेपर) काट लेता है, इसी प्रकार महायोगेश्वर श्रीकृष्ण समस्त जगत्‌के पालनकर्ता होनेपर भी स्वयं उसके संहारके लिये कर्म करते हैं। वे अपनी महामायाके प्रभावसे सबको मोहित किये रहते हैं परंतु जो उनकी शरण ग्रहण कर लेते हैं, वे मायासे कभी मोहको प्राप्त नहीं होते।

ये त्वामेव प्रपद्यन्ते न ते मुह्यन्ति मानवाः।

इसके बाद धृतराष्ट्रने भगवान् श्रीकृष्णके नाम और उनके अर्थ पूछे। तब परम भागवत सञ्जयने कहा—'भगवान् श्रीकृष्णके नाम-गुण अपार हैं। मैं जो कुछ सुना-समझा हूँ, वही संक्षेपसे कहता हूँ। श्रीकृष्ण मायासे आवरण करते हैं और सारा जगत् उनमें निवास करता है तथा वे प्रकाशमान हैं—इससे उनको 'वासुदेव' कहते हैं। अथवा सब देवता उनमें निवास करते हैं, इसलिये उनका नाम 'वासुदेव' है। सर्वव्यापक होनेके कारण उनका नाम 'विष्णु' है। 'मा' यानी आत्माकी उपाधिरूप बुद्धि-वृत्तिको मौन, ध्यान या योगसे दूर कर देते हैं, इससे श्रीकृष्णका नाम 'माधव' है। मधु अर्थात् पृथ्वी आदि तत्त्वोंके संहारकर्ता होनेसे या वे सब तत्त्व इनमें लयको प्राप्त होते हैं, इससे भगवान्‌को 'मधुहा' कहते हैं। मधु नामक दैत्यका वध करनेवाले होनेके कारण श्रीकृष्णका नाम 'मधुसूदन' है। 'कृषि' शब्द सत्तावाचक है और 'ण' सुखवाचक है, इन दोनों धातुओंके अर्थरूप सत्ता और आनन्दके सम्बन्धसे भगवान्‌का नाम 'कृष्ण' हो गया है। अक्षय और अविनाशी परम स्थानका या हृदयकमलका नाम है पुण्डरीक। भगवान् वासुदेव उसमें विराजित रहते हैं और कभी उसका क्षय नहीं होता, इससे भगवान्‌को 'पुण्डरीकाक्ष' कहते हैं। दस्युओंका दलन करते हैं, इससे भगवान्‌का नाम 'जनार्दन' है। वे सत्त्वसे कभी च्युत नहीं होते और सत्त्व उनसे कभी अलग नहीं होता, इससे उनको 'सात्त्वत' कहते हैं। वृषभका अर्थ वेद है और ईक्षणका अर्थ है ज्ञापक अर्थात् वेदके द्वारा भगवान् जाने जाते हैं, इसलिये उनका नाम 'वृषभेक्षण' है। वे किसीके गर्भसे जन्म ग्रहण नहीं करते, इससे उनको 'अज' कहते हैं। इन्द्रियोंमें स्वप्रकाश हैं तथा इन्द्रियोंका अत्यन्त दमन किये हुए हैं, इसलिये भगवान्‌का नाम 'दामोदर' है। हर्ष, स्वरूप-सुख और ऐश्वर्य—तीनों ही भगवान् श्रीकृष्णमें हैं, इसीसे उनको 'हृषीकेश' कहते हैं। अपनी दोनों विशाल भुजाओंसे उन्होंने स्वर्ग और पृथ्वीको धारण कर रखा है इसलिये वे 'महाबाहु' कहलाते हैं। वे कभी अधःप्रदेशमें क्षय

नहीं होते यानी संसारमें लिप्त नहीं होते, इसलिये उनका नाम 'अधोक्षज' है। नरोंके आश्रय होनेके कारण उन्हें 'नारायण' कहते हैं। वे सब भूतोंके पूर्ण कर्ता हैं और सभी भूत उन्हींमें लयको प्राप्त होते हैं, इसलिये उनका नाम 'पुरुषोत्तम' है। वे सब कार्य और कारणोंकी उत्पत्ति तथा प्रलयके स्थान हैं तथा सर्वज्ञ हैं; इसलिये उनको 'सर्व' कहा जाता है। श्रीकृष्ण सत्यमें हैं और सत्य उनमें है तथा वे गोविन्द व्यावहारिक सत्यकी अपेक्षा भी 'परम सत्यरूप' हैं, इससे उनका नाम 'सत्य' है। चरणोंद्वारा विश्वको व्याप्त करनेवाले होनेसे 'विष्णु' और सबपर विजय प्राप्त करनेके कारण भगवान्‌को 'जिष्णु' कहते हैं। शाश्वत और अनन्त होनेसे उनका नाम 'अनन्त' है और गो यानी इन्द्रियोंके प्रकाशक होनेसे 'गोविन्द' कहे जाते हैं। वास्तवमें तत्त्वहीन (असत्य) जगत्‌को भगवान् अपनी सत्ता-स्फूर्तिसे तत्त्व (सत्य)-सा बनाकर सबको मोहित करते हैं।'

यह सञ्जयकी श्रीकृष्णभक्ति और श्रीकृष्ण-तत्त्व-ज्ञानका एक उदाहरण है।

भक्त किरात और नन्दी वैश्य

प्राचीन कालमें नन्दी नामक वैश्य अपनी नगरीके एक धनी-मानी और प्रतिष्ठित पुरुष थे। वे बड़े सदाचारी और वर्णाश्रमोचित धर्मका दृढ़तासे पालन करते थे। प्रतिदिन श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान् शङ्करकी पूजा करनेका तो उन्होंने नियम ही ले रखा था। जिस मन्दिरमें नन्दी वैश्य पूजा करते थे, वह बस्तीसे कुछ दूर जंगलमें था। एक दिनकी बात है कि कोई किरात शिकार खेलता हुआ उधरसे निकला। वह प्राणियोंकी हिंसा करता था, उसकी बुद्धि जडप्राय थी, उसमें विवेकका लेश भी नहीं था। दोपहरका समय था, वह भूख-प्याससे व्याकुल हो रहा था। मन्दिरके पास आकर वहाँके सरोवरमें उसने स्नान किया और जलपान करके अपनी प्यास बुझायी। जब वह वहाँसे लौटने लगा, तब उसकी दृष्टि मन्दिरपर पड़ी और उसके मनमें यह इच्छा हुई कि मन्दिरमें चलकर भगवान्‌का दर्शन कर लूँ। उसने मन्दिरमें जाकर भगवान् शङ्करका दर्शन किया और अपनी बुद्धिके अनुसार उनकी पूजा की।

उसने कैसी पूजा की होगी, इसका अनुमान सहज ही लग सकता है। न उसके पास पूजाकी सामग्री थी और न वह उसे जानता ही था। किस सामग्रीका उपयोग किस विधिसे किया जाता है, यह जाननेकी भी उसे आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई। उसने देखा, लोगोंने स्नान कराकर बिल्वपत्र आदि चढ़ाये हैं। उसने एक हाथसे बिल्वपत्र तोड़ा, दूसरे हाथमें मांस पहलेसे ही था। गण्डूष-जलसे स्नान कराकर उसने बिल्वपत्र और मांस चढ़ा दिया। मांसभोजी भील था। उसको इस बातका पता नहीं था कि देवताको मांस नहीं चढ़ाना चाहिये। यही काम यदि कोई जान-बूझकर करे तो वह दोषका भागी होता है। परंतु उसने तो भावसे, अपनी शक्ति और ज्ञानके अनुसार पूजा की थी। बड़ा आनन्द हुआ उसे, प्रेममुग्ध होकर वह शिवलिङ्गके सम्मुख साष्टाङ्ग दण्डवत् करने लगा। उसने दृढ़तासे यह निश्चय किया कि आजसे मैं प्रतिदिन भगवान् शङ्करकी पूजा करूँगा। उसका यह निश्चय अविचल था; क्योंकि यह उसके गम्भीर अन्तस्तलकी प्रेरणा थी।

दूसरे दिन प्रातःकाल नन्दी वैश्य पूजा करने आये। मन्दिरकी स्थिति देखकर वे अवाक् रह गये। कलकी पूजा इधर-उधर बिखरी पड़ी थी। मांसके टुकड़े भी इधर-उधर पड़े थे। उन्होंने सोचा—'यह क्या हुआ? मेरी पूजामें ही कोई त्रुटि हुई होगी, जिसका यह फल है। इस प्रकार मन्दिरको भ्रष्ट करनेवाला विघ्न तो कभी नहीं हुआ था। अवश्य ही यह मेरा दुर्भाग्य है।' यही सब सोचते हुए उन्होंने मन्दिर साफ किया और पुनः स्नानादि करके भगवान्‌की पूजा की। घर लौटकर उन्होंने पुरोहितसे सारा समाचार कह सुनाया और बड़ी चिन्ता प्रकट की। पुरोहितको क्या पता था कि इस काममें भी किसीका भक्ति-भाव हो सकता है। उन्होंने कहा—'अवश्य ही यह किसी मूर्खका काम है; नहीं तो रत्नोंको इधर-उधर

बिखेरकर भला कोई मन्दिरको अपवित्र एवं भ्रष्ट क्यों करता। चलो, कल हम भी तुम्हारे साथ चलेंगे और देखेंगे कि कौन दुष्ट ऐसा काम करता है।' नन्दी वैश्यने बड़े दुःखसे वह रात्रि व्यतीत की।

प्रातःकाल होते-न-होते नन्दी वैश्य अपने पुरोहितको लेकर शिव-मन्दिर पहुँच गये। देखा वही हालत आज भी थी, जो कल थी। वहाँ मार्जन आदि करके नन्दीने शिवजीकी पञ्चोपचार पूजा की और रुद्राभिषेक किया। ब्राह्मण स्तुतिपाठ करने लगे। वेद-मन्त्रोंकी ध्वनिसे वह जंगल गूँज उठा। सबकी आँख लगी हुई थी कि देखें मन्दिरको भ्रष्ट करनेवाला कब किधरसे आता है।

दोपहरके समय किरात आया। उसकी आकृति बड़ी भयङ्कर थी। हाथोंमें धनुष-बाण लिये हुए था। शङ्करभगवान्‌की कुछ ऐसी लीला ही थी कि किरातको देखकर सब-के-सब डर गये और एक कोनेमें जा छिपे। उनके देखते-देखते किरातने उनकी की हुई पूजा नष्ट-भ्रष्ट कर दी एवं गण्डूष-जलसे स्नान कराकर बिल्वपत्र और मांस चढ़ाया। जब वह साष्टाङ्ग प्रणाम करके चला गया, तब नन्दी वैश्य और ब्राह्मणोंके जी-में-जी आया और सब बस्तीमें लौट आये। नन्दीको व्यवस्था मिली कि उस लिङ्गमूर्तिको ही अपने घर ले आना चाहिये। व्यवस्थाके अनुसार शिवलिङ्ग वहाँसे उखाड़ लाया गया और नन्दी वैश्यके घरपर विधिपूर्वक उसकी प्रतिष्ठा की गयी। उनके घर सोने और मणि-रत्नोंकी कमी तो थी ही नहीं, संकोच छोड़कर उनका उपयोग किया गया; परन्तु भगवान्‌को धन-सम्पत्तिके अतिरिक्त कुछ और भी चाहिये!

प्रतिदिनके नियमानुसार किरात अपने समयपर भगवान् शङ्करकी पूजा करने आया; परंतु मूर्तिको न पाकर सोचने लगा—'यह क्या, भगवान् तो आज हैं ही नहीं।' मन्दिरका एक-एक कोना छान डाला, एक-एक छिद्रको उसने ध्यानपूर्वक देखा; परंतु सब व्यर्थ! उसके भगवान् उसे नहीं मिले। किरातकी दृष्टिमें वह मूर्ति नहीं थी, स्वयं भगवान् थे। अपने प्राणोंके लिये वह भगवान्‌की पूजा नहीं करता था, किन्तु उसने अपने प्राणोंको उनपर निछावर कर रखा था। अपने जीवन-सर्वस्व प्रभुको न पाकर वह विह्वल हो गया और बड़े आर्त्तस्वरसे पुकारने लगा—'महादेव! शम्भो! मुझे छोड़कर तुम कहाँ चले गये? प्रभो! अब एक क्षणका भी विलम्ब सहन नहीं होता। मेरे प्राण तड़फड़ा रहे हैं, छाती फटी जा रही है, आँखोंसे कुछ सूझता नहीं। मेरी करुण पुकार सुनो, मुझे जीवनदान दो। अपने दर्शनसे मेरी आँखें तृप्त करो! जगन्नाथ! त्रिपुरान्तक!! यदि तुम्हारे दर्शन नहीं होंगे तो मैं जीकर क्या करूँगा? मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ और सच कहता हूँ, तुम्हारे बिना मैं जी नहीं सकता।' इस प्रकार प्रार्थना करते-करते किरातकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा अविरलरूपसे बहने लगी। वह विकल हो गया, अपने हाथोंको पटकने तथा शरीरको पीटने लगा। उसने कहा—'अपनी जानमें मैंने कोई अपराध नहीं किया है; फिर क्या कारण है कि तुम चले गये? अच्छा, यही सही; मैं तो तुम्हारी पूजा करूँगा ही।' किरातने अपने हाथसे शरीरका बहुत-सा मांस काटकर उस स्थानपर रखा, जहाँ पहले शिवलिङ्ग था। स्वस्थ हृदयसे, क्योंकि अब उसने प्राणत्यागका निश्चय कर लिया था, फिर सरोवरमें स्नान करके सदाकी भाँति पूजा की और साष्टाङ्ग प्रणाम करके ध्यान करने बैठ गया।

किरातके चित्तमें अब एक भी वासना अवशेष न थी, वह केवल भगवान्‌का दर्शन चाहता था। ध्यान अथवा मृत्यु, यही उसकी साधना थी। यही कारण है कि बिना किसी विक्षेपके उसने लक्ष्यवेध कर लिया और उसका चित्त भगवान्‌के लीलालोकमें विचरण करने लगा। उसकी अन्तर्दृष्टि भगवान्‌के कर्पूरोज्ज्वल, भस्मभूषित, गङ्गा-तरङ्ग-रमणीय जटाकलापसे शोभित एवं सर्प-परिवेष्टित अङ्गोंकी सौन्दर्यसुधाका पान करने लगी और वह उनकी लीलामें सम्मिलित होकर विविध प्रकारसे उनकी सेवा करने लगा। उसे बाह्य जगत्, शरीर अथवा अपने-आपकी सुधि नहीं थी; वह केवल अन्तर्जगत्‌की अमृतमयी सुरभिसे छक रहा था। बाहरसे देखनेपर उसका शरीर रोमाञ्चित था, आँखोंसे आँसूकी बूँदें ढुलक रही थीं, रोम-रोमसे आनन्दकी धारा फूट पड़ती थी। उस क्रूरकर्मा किरातके अन्तरालमें इतना माधुर्य कहाँ सो रहा था, इसे कौन जान सकता है।

किरातकी तन्मयता देखकर शिवजीने अपनी समाधि
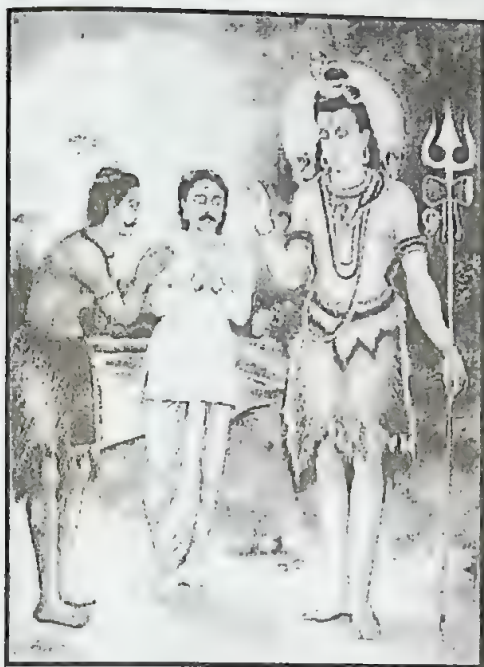
भक्त किरात और नन्दी वैश्य [पृ० ३०९]

प्रेममतवाली विदुरानी [पृ० ३२२]

भक्त चक्रिक भील [पृ० ३०१]

भक्तिमती शबरी [पृ० ३१६]
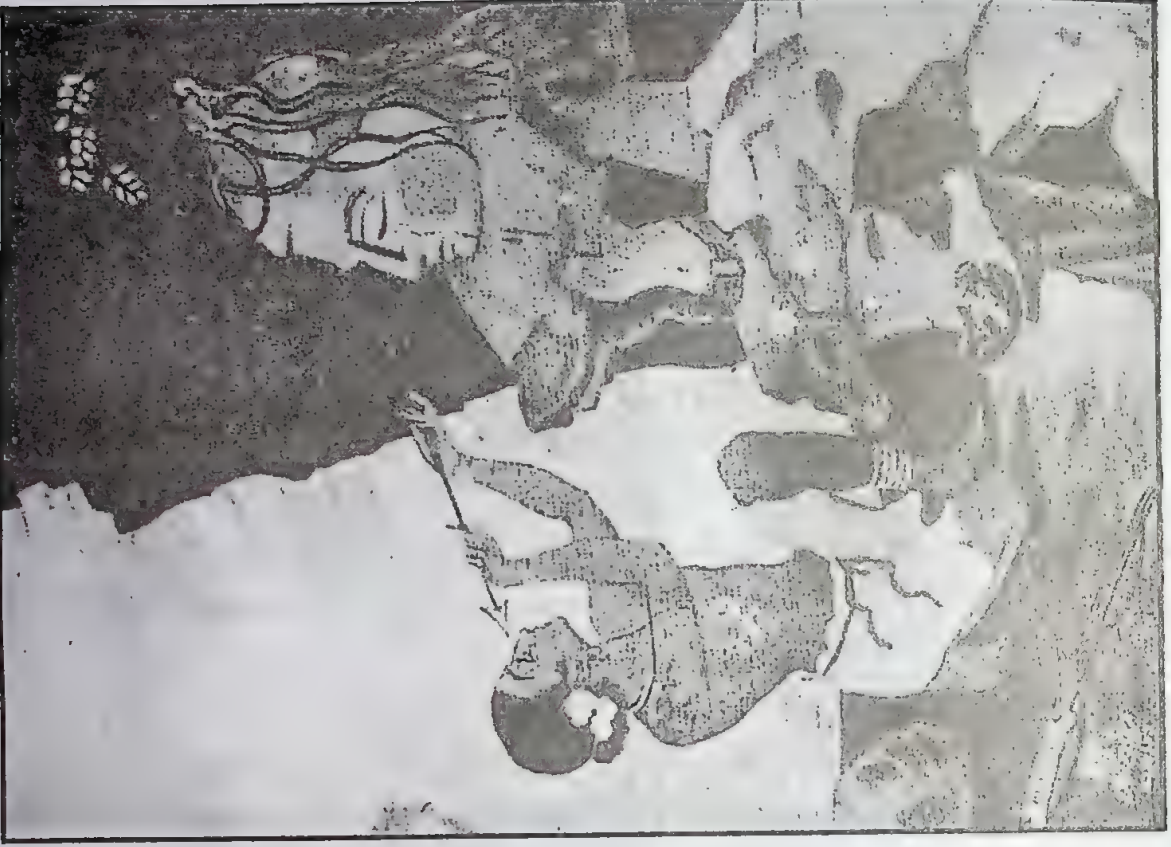
भक्त माणिक्क वाचक [पृ० ४३१]

भक्त कणण्प [पृ० ४२५]

भङ्ग की। वे उसके चर्मचक्षुओंके सामने प्रकट हो गये। उनके ललाटदेशस्थित चन्द्रने अपनी सुधामयी रश्मियोंसे किरातकी काया उज्ज्वल कर दी। उसके शरीरका अणु-अणु बदलकर अमृतमय हो गया। परन्तु उसकी समाधि ज्यों-की-त्यों थी। भगवान्‌ने मानो अपनी अनुपस्थितिके दोषका परिमार्जन करते हुए किरातसे कहा—'महाप्राज्ञ! वीर!! मैं तुम्हारे भक्तिभाव और प्रेमका ऋणी हूँ, तुम्हारी जो बड़ी-से-बड़ी अभिलाषा हो, वह मुझसे कहो; मैं तुम्हारे लिये सब कुछ कर सकता हूँ।' भगवान्‌की वाणी और सङ्कल्पने किरातको बाहर देखनेके लिये विवश किया। परंतु जब उसने जाना कि मैं जो भीतर देख रहा था, वही बाहर भी है, तब तो उसकी प्रेमभक्ति पराकाष्ठाको पहुँच गयी और वह सर्वाङ्गसे नमस्कार करता हुआ श्रीभगवान्‌के चरणोंमें लोट गया। भगवान्‌के प्रेमपूर्वक उठानेपर और प्रेरणा करनेपर उसने प्रार्थना की—'भगवन्! मैं तुम्हारा दास हूँ, तुम मेरे स्वामी हो—मेरा यह भाव सर्वदा बना रहे और मुझे चाहे जितनी बार जन्म लेना पड़े, मैं तुम्हारी सेवामें संलग्न रहूँ। प्रतिक्षण मेरे हृदयमें तुम्हारा प्रेम बढ़ता ही रहे। प्रभो! तुम्हीं मेरी दयामयी माँ हो और तुम्हीं मेरे न्यायशील पिता हो। मेरे सहायक बन्धु और प्राणप्रिय सखा भी तुम्हीं हो। मेरे गुरुदेव, मेरे इष्टदेव और मेरे मन्त्र भी तुम्हीं हो। तुम्हारे अतिरिक्त तीनों लोकोंमें और कुछ नहीं है, और तीनों लोक भी कुछ नहीं हैं, केवल तुम्हीं हो।' किरातकी निष्काम प्रेमपूर्ण प्रार्थना सुनकर भगवान् बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने सदाके लिये उसे अपना पार्षद बना लिया। उसे पार्षदरूपमें प्राप्त करके भगवान् शङ्करको बड़ा आनन्द हुआ और वे अपने उल्लासको प्रकट करनेके लिये डमरू बजाने लगे।

भगवान्‌के डमरूके साथ ही तीनों लोकोंमें भेरी, शङ्ख, मृदङ्ग और नगारे बजने लगे। सर्वत्र 'जय-जय' की ध्वनि होने लगी। शिवभक्तोंके चित्तमें आनन्दकी बाढ़ आ गयी। यह आनन्द-कोलाहल तत्क्षण नन्दी वैश्यके घर पहुँच गया। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और वे अविलम्ब वहाँ पहुँचे। किरातके भक्तिभाव और भगवत्-प्रसादको देखकर उनका हृदय गद्‌गद हो गया और जो कुछ अज्ञानरूप मल था उनके चित्तमें कि 'भगवान् धन आदिसे प्राप्त हो सकते हैं' वह सब धुल गया। वे मुग्ध होकर किरातकी स्तुति करने लगे—'हे तपस्वी! तुम भगवान्‌के परम भक्त हो; तुम्हारी भक्तिसे ही प्रसन्न होकर भगवान् यहाँ प्रकट हुए हैं। मैं तुम्हारी शरणमें हूँ। अब तुम्हीं मुझे भगवान्‌के चरणोंमें अर्पित करो।' नन्दीकी बातसे किरातको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने तत्क्षण नन्दीका हाथ पकड़कर भगवान्‌के चरणोंमें उपस्थित किया। उस समय भोलेबाबा सचमुच भोले बन गये। उन्होंने किरातसे पूछा—'ये कौन सज्जन हैं? मेरे गणोंमें इन्हें लानेकी क्या आवश्यकता थी?' किरातने कहा—'प्रभो! ये आपके सेवक हैं, प्रतिदिन रत्नमाणिक्यसे आपकी पूजा करते थे। आप इनको पहचानिये और स्वीकार कीजिये।' शङ्करने हँसते हुए कहा—'मुझे तो इनकी बहुत कम याद पड़ती है। तुम तो मेरे प्रेमी हो, सखा हो; परन्तु ये कौन हैं? देखो भाई! जो निष्काम हैं, निष्कपट हैं और हृदयसे मेरा स्मरण करते हैं, वे ही मुझे प्यारे हैं; मैं उन्हींको पहचानता हूँ।' किरातने प्रार्थना की—'भगवन्! मैं आपका भक्त हूँ और यह मेरा प्रेमी है। आपने मुझे स्वीकार किया और मैंने इसे, हम दोनों ही आपके पार्षद हैं।' अब तो भगवान् शङ्करको बोलनेके लिये कोई स्थान ही नहीं था। भक्तकी स्वीकृति भगवान्‌की स्वीकृतिसे बढ़कर होती है। किरातके मुँहसे यह बात निकलते ही सारे संसारमें फैल गयी। लोग शत-शत मुखसे प्रशंसा करने लगे कि किरातने नन्दी वैश्यका उद्धार कर दिया।

उसी समय बहुत-से ज्योतिर्मय विमान वहाँ आ गये। भगवान् शङ्करका सारूप्य प्राप्त करके दोनों भक्त उनके साथ कैलाश गये और माँ पार्वतीके द्वारा सत्कृत होकर वहीं निवास करने लगे। यही दोनों भक्त भगवान् शङ्करके गणोंमें 'नन्दी' और 'महाकालके' नामसे प्रसिद्ध हुए। इस प्रकार नन्दीकी भक्तिके द्वारा किरातकी भक्तिको उत्तेजित करके और किरातकी भक्तिके द्वारा नन्दीकी भक्तिको पूर्ण करके आशुतोष भगवान् शङ्करने दोनोंको स्वरूप-दान किया और कृतकृत्य बनाया।

प्रह्लादजननी कयाधू

माता ही पुत्रकी सच्ची गुरु है। गर्भस्थ बालकपर माताके स्वभाव, आचरण एवं विचारोंका जो प्रभाव पड़ता है, वह बालकके सम्पूर्ण जीवन-निर्माणका आधार होता है। यदि माता शिशुके उदरमें आनेपर सात्त्विक आहार, धार्मिक जीवनचर्या, यम-नियमका पालन और भगवद्गुणानुवाद-श्रवणादिमें लग गयी तो उसका बालक अवश्य धार्मिक एवं भगवद्भक्त होगा तथा अपने कुलको पवित्र करेगा।

दैत्यमाता दितिने परम प्रतापी हिरण्यकशिपु एवं हिरण्याक्ष—इन दो पुत्रोंको उत्पन्न किया। दोनों त्रिभुवनविजयी, सुरासुरोंसे अजेय एवं दुर्धर्ष हुए। दोनों भाइयोंमें परम स्नेह था। सृष्टिके प्रारम्भमें ही भगवान् नारायणने **'जलौघमग्ना सचराचरा धरा'** का उद्धार करते समय महावाराहरूप धारण करके छोटे भाई हिरण्याक्षको मार डाला। हिरण्यकशिपुको बड़ा दु:ख हुआ। अत्यन्त क्रोध आया। उसने अपनेको अमर बनानेके लिये तपस्या करनेका निश्चय किया। माता दिति, भाईकी पत्नी तथा भ्रातृपुत्रोंको सदुक्तियोंसे आश्वासन देकर, राज्यका भार नमुचि, शम्बर, पुलोमा आदि मन्त्रियोंपर छोड़कर वह मन्दराचलपर कठोर तपस्या करने चला गया।

इन्द्रने देखा कि दैत्यराज्य इस समय नरेशहीन हो गया है। उन्होंने देवताओंके साथ उसपर आक्रमण कर दिया। देवताओंसे पराजित दैत्य इधर-उधर, जहाँ शरण जान पड़ी, वनों एवं पर्वतोंमें भाग गये। देवताओंने दैत्यपुरीको लूट लिया और जला दिया। दैत्यराज हिरण्यकशिपुके प्रबल पराक्रमसे महेन्द्र अत्यन्त भयभीत थे। उन्हें भय था कि पराक्रमी पिताके पुत्र भी कहीं वैसे ही महान् न हों। ऐसा होनेपर तो देवताओंपर घोर विपत्ति आ जायगी। महेन्द्रने दैत्यराजके तीनों बालक पुत्र—ह्राद, अनुह्राद और संह्रादको मार डाला।

हिरण्यकशिपुकी पत्नी दैत्येश्वरी कयाधू इस समय गर्भवती थीं। उनके सभी अनुचर, समस्त दैत्य भाग गये थे। इन्द्रने बलपूर्वक उन्हें रथमें बैठाया और अमरावतीकी ओर ले चले। वे साध्वी अत्यन्त करुणस्वरसे विलाप कर रही थीं और किसीसे भी सहायताकी प्रार्थना कर रही थीं। इन्द्रको उन्होंने बहुत धिक्कारा, बड़ी भर्त्सना की। क्या लाभ? **'स्वार्थी दोषं न पश्यति।'**

'महेन्द्र! तुम देवराज हो! तुम्हें शोभा नहीं देता कि परस्त्रीका हरण करो! इस पतिव्रताको शीघ्र छोड़ दो, शीघ्र!' वह आर्तक्रन्दन देवर्षि नारदके कानोंमें पड़ा। कोमल हृदय द्रवित हो गया। आगे बढ़कर देवराजको उन्होंने रोका।

'इसके गर्भमें दैत्येन्द्रका अविषह्य तेज है। हमें उससे अत्यन्त भय है। हम उसे मार डालना चाहते हैं। भ्रूणहत्यासे बचनेके लिये मैं इसे अमरावती ले जा रहा हूँ। पुत्र उत्पन्न हो जानेपर इसे छोड़ दूँगा। वहाँ इसको कोई कष्ट नहीं होगा और न कोई इसका अपमान करेगा।' देवर्षिको प्रणाम करके इन्द्रने नम्रतापूर्वक निवेदन किया।

'तुम नहीं जानते कि इसका गर्भस्थ बालक चिरजीवी है। उसका वध तुम्हारी शक्तिके बाहरकी बात है। उससे देवताओंको कोई भय नहीं। वह तो तुम्हारे कल्याणका कारण बनेगा। भगवान्का परम भक्त है दैत्यराज्ञीके इस गर्भमें।' देवर्षिने बताया।

'भगवान्का परम भक्त इनके गर्भमें है!' महेन्द्रने आदरपूर्वक कयाधूकी परिक्रमा की। उन्हें प्रणाम करके, रथसे उतारकर वे चले गये।

'बेटी! तुम्हारा दैत्यपुर तो ध्वस्त हो गया। अब तुम मेरे आश्रममें चलकर तबतक सुखपूर्वक रहो, जबतक दैत्येश्वर तपस्या समाप्त करके लौटते नहीं।' उस समयतक देवर्षिको प्रजापति दक्षने शाप नहीं दिया था। वे अविश्रान्त परिव्राजक नहीं बने थे। आश्रम बनाकर भगवान्का भजन करते हुए निवास करते थे। कयाधूने उनकी आज्ञा स्वीकार कर ली और उनके साथ-साथ आश्रम पहुँचीं।

बड़ी श्रद्धासे कयाधू देवर्षिकी सेवा करतीं। वे सम्राज्ञी होकर भी तपस्विनी हो गयी थीं। अपने हाथों आश्रमको स्वच्छ करतीं, लीपतीं और नदीसे जल ले आतीं। देवर्षिके आदेशानुसार बड़े भक्तिभावसे भगवान्का

पूजन करतीं, नाम-जप करतीं। अपने पुत्रकी मङ्गल-कामनासे वे सब प्रकार देवर्षिको प्रसन्न करनेका यत्न करतीं। वेदीपर कुशासन डालकर शयन करतीं, वल्कल-वस्त्र पहनतीं, कठिन व्रतोंका पालन करतीं तथा नीवार एवं कन्द-मूलसे क्षुधा शान्त कर लेतीं। अवसर मिलते ही देवर्षि उन्हें भगवान्‌के दिव्य स्वरूप, अनन्त गुण एवं अद्भुत माहात्म्यका श्रवण कराते। गर्भस्थ शिशुको लक्ष्यकर देवर्षि योग, सांख्य, भक्ति तथा तत्त्वज्ञानके गूढ़ तत्त्वोंका उपदेश करते। संसारकी असारता बताकर वैराग्यका प्रतिपादन करते।

दैत्यपत्नियाँ स्वेच्छा-प्रसवमें समर्थ होती हैं। देवताओंके भयसे कयाधूने प्रसव नहीं किया। कई सहस्र वर्षोंपर जब दैत्यराज वरदान पाकर लौटे, तब देवर्षिने कयाधूको उनके पतिके समीप पहुँचा दिया। साध्वी कयाधूके इसी गर्भसे समस्त सुरासुर-वन्दित 'परम भागवत' प्रह्लादजीका जन्म हुआ।

रावणपत्नी मन्दोदरी

त्रिपुरनिर्माता, दानवराज मयने अप्सरा हेमासे परिणय किया। अप्सरा कबतक दानवपुरीमें रहेगी। देवताओंके आह्वानपर वह स्वर्ग चली गयी। नवजात पुत्रीको वह मयके समीप छोड़ती गयी। मयने पुत्रीका नाम मन्दोदरी रखा। पत्नीके वियोगसे व्याकुल मयका सारा स्नेह पुत्रीमें केन्द्रित हो गया। वे स्त्री-वियोगसे कातर इधर-उधर घूमते रहते थे। स्वर्णपुरीमें उन्हें विश्राम नहीं मिलता था। अपनी कन्याको वे सदा अपने साथ ही रखते थे।

मय अपनी कन्याको लिये पृथ्वीपर घोर अरण्यमें घूम रहे थे। मन्दोदरीने पंद्रहवें वर्षकी आयुमें प्रवेश किया था। उस सौन्दर्यमयी किशोरीमें तारुण्यने प्रवेश पाया था। अकस्मात् राक्षसराज रावणसे मयका वहीं साक्षात् हो गया। अभी रावण था अविवाहित। दानवेन्द्र और राक्षसेन्द्रका परस्पर परिचय हुआ। पितामह ब्रह्माके प्रपौत्र रावणने अपने वंशका परिचय देकर मयसे कन्याकी याचना की। दानवेन्द्रको सुयोग्य पात्र मिला। उन्होंने वहीं रावणको विधिवत् कन्यादान किया। दहेजमें अनेक दिव्यास्त्र तथा अमोघ शक्ति दी। इस प्रकार मन्दोदरी रावणकी पट्टमहिषी हुई।

रावणने अनेक देव, गन्धर्व एवं नागकन्याओंसे विवाह किया; परंतु मन्दोदरी सर्वप्रधान तथा सदा रावणको सबसे प्रिय रही। मन्दोदरीने सदा रावणका कल्याण चाहा और उसे सदा सत्पथपर बनाये रखनेके प्रयत्नमें रही। उसने रावणके दुष्कृत्योंका सदा नम्रतापूर्वक विरोध किया।

सतीत्व स्वयं एक महासाधन है और उससे समस्त सिद्धियाँ स्वतः प्राप्त हो जाती हैं। सती नारी केवल पतिसेवासे निःश्रेयसको भी सरलतासे प्राप्त कर लेती है। मन्दोदरीके सतीत्वने उसके हृदयमें स्वयं यह प्रकाश प्रकट कर दिया कि परात्पर पुरुषोत्तमका अवतार अयोध्यामें हो चुका है। जब रावणने छलसे श्रीजनकनन्दिनीका हरण किया, तब मन्दोदरीने बड़ी नम्रता एवं शिष्टतापूर्वक उसे समझाया—'नाथ! श्रीराम मनुष्य नहीं हैं; वे सर्वेश्वर, सर्वसमर्थ, सच्चिदानन्दघन साक्षात् परम पुरुष हैं। उनका अनादर मत करें। वैदेही साक्षात् जगज्जननी योगमाया हैं। यह वैर आपके लिये योग्य नहीं। श्रीजनकनन्दिनीको श्रीरामके समीप पहुँचा दें। लङ्काका राज्य मेघनादको दे दें। हम दोनों वनमें कहीं उन कोसलकुमारका ध्यान करें। वे करुणामय अवश्य आपपर कृपा करेंगे।'

एक-दो नहीं, अनेक बार चरण पकड़कर मन्दोदरीने पतिको समझाया। जब भी लङ्केश्वर अन्तःपुरीमें मिलता, यह साध्वी उससे आग्रहपूर्वक प्रार्थना करती। पूरी रात्रि अनुनय एवं उपदेशमें व्यतीत हो जाती। जिस अहङ्कारीने '*सीता देहु राम कहँ*' कहनेपर विभीषणको लात मारकर लङ्कासे निकाल दिया था, जिसने वृद्ध नाना माल्यवन्तको भरी सभामें डाँटनेमें कोई संकोच नहीं किया, वही रावण कभी भी मन्दोदरीका तिरस्कार न कर सका। हँसकर टाल जाता या उठकर चल देता। वह जानता था कि पत्नी सच्चे हृदयसे उसका कल्याण चाहती है।

जो होना था, हो गया। सर्वात्माके संकल्पमें बाधा देना सम्भव नहीं। श्रीराघवेन्द्र पृथ्वीका भार दूर करने साकेतसे पधारे थे। उन्हें तो रावण-वध करना ही था। रणक्षेत्रमें दशाननके शवपर रोती-बिलखती मयपुत्रीको उन्होंने कृपाकी दृष्टिसे देखा। शुद्ध हृदयपर भगवत्कृपा हुई। मायाका आवरण छिन्न हो गया। कहाँका शोक और कैसा मोह?

भक्तिमती शबरी

त्रेतायुगका समय है, वर्णाश्रम-धर्मकी पूर्ण प्रतिष्ठा है, वनोंमें स्थान-स्थानपर ऋषियोंके पवित्र आश्रम बने हुए हैं। तपोधन ऋषियोंके यज्ञधूमसे दिशाएँ आच्छादित और वेदध्वनिसे आकाश मुखरित हो रहा है। ऐसे समय दण्डकारण्यमें पति-पुत्र-विहीना, भक्ति-श्रद्धा-सम्पन्ना एक वृद्धा भीलनी रहती थी, जिसका नाम था शबरी।

शबरीने एक बार मतंग ऋषिके दर्शन किये। संतदर्शनसे उसे परम हर्ष हुआ और उसने विचार किया कि यदि मुझसे ऐसे महात्माओंकी सेवा बन सके तो मेरा कल्याण होना कोई बड़ी बात नहीं है। यह सोचकर उसने ऋषियोंके आश्रमोंसे थोड़ी दूरपर अपनी छोटी-सी कुटिया बना ली और कन्द-मूल-फलसे अपना उदर-पोषण करती हुई अपनेको नीच समझकर वह अप्रकटरूपसे ऋषियोंकी सेवा करने लगी। जिस मार्गसे ऋषिगण स्नान करने जाया करते, उषःकालके पूर्व ही उसको झाड़-बुहारकर साफ कर देती, कहीं भी कंकड़ या काँटा नहीं रहने पाता। इसके सिवा वह आश्रमोंके समीप ही प्रातः-कालके पहले-पहले ईंधनके सूखे ढेर लगा देती। कँकरीले और कँटीले रास्तेको निष्कण्टक और कंकड़ोंसे रहित देखकर तथा द्वारपर समिधाका संग्रह देखकर ऋषियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने अपने शिष्योंको यह पता लगानेकी आज्ञा दी कि प्रतिदिन इन कामोंको कौन कर जाता है। आज्ञाकारी शिष्य रातको पहरा देने लगे और उसी दिन रातके पिछले पहर शबरी ईंधनका बोझा रखती हुई पकड़ी गयी। शबरी बहुत ही डर गयी। शिष्यगण उसे मतंग मुनिके सामने ले गये और उन्होंने मुनिसे कहा कि 'महाराज! प्रतिदिन रास्ता साफ करने और ईंधन रख जानेवाले चोरको आज हमने पकड़ लिया है। यह भीलनी ही प्रतिदिन ऐसा किया करती है।' शिष्योंकी बातको सुनकर भयकातरा शबरीसे मुनिने पूछा, 'तू कौन है और किसलिये प्रतिदिन मार्ग बुहारने और ईंधन लानेका काम करती है?' भक्तिमती शबरीने काँपते हुए अत्यन्त विनयपूर्वक प्रणाम करके कहा, 'नाथ! मेरा नाम शबरी है, मन्दभाग्यसे मेरा जन्म नीच कुलमें हुआ है, मैं इसी वनमें रहती हूँ और आप-जैसे तपोधन मुनियोंके दर्शनसे अपनेको पवित्र करती हूँ। अन्य किसी प्रकारकी सेवामें अपना अनधिकार समझकर मैंने इस प्रकारकी सेवामें ही मन लगाया है। भगवन्! मैं आपकी सेवाके योग्य नहीं। कृपापूर्वक मेरे अपराधको क्षमा करें।' शबरीके इन दीन और यथार्थ वचनोंको सुनकर मुनि मतंगने दयापरवश हो अपने शिष्योंसे कहा कि 'यह बड़ी भाग्यवती है, इसे आश्रमके बाहर एक कुटियामें रहने दो और इसके लिये अन्नादिका उचित प्रबन्ध कर दो।' ऋषिके दयापूर्ण वचन सुनकर शबरीने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और कहा—'कृपानाथ! मैं तो कन्द-मूलादिसे ही अपना उदर-पोषण कर लिया करती हूँ। आपका अन्न-प्रसाद तो मुझे इसीलिये इच्छित है कि इससे मुझपर आपकी वास्तविक कृपा होगी, जिससे मैं कृतार्थ हो सकूँगी। मुझे न तो वैभवकी इच्छा है और न मुझे यह असार संसार ही प्रिय लगता है। दीनबन्धो! मुझे तो आप ऐसा आशीर्वाद दें कि जिससे मेरी भगवान्‌में प्रीति हो।' विनयावनत श्रद्धालु शबरीके ऐसे वचन सुनकर मुनि मतंगने कुछ देर सोच-विचारकर प्रेमपूर्वक उससे कहा—'कल्याणि! तू निर्भय होकर यहाँ रह और भगवान्‌के नामका जप किया कर।' ऋषिकी कृपासे शबरी जटा-चीर-धारिणी होकर भगवद्भजनमें निरत हो आश्रममें रहने लगी। अन्यान्य ऋषियोंको यह बात अच्छी नहीं लगी। उन्होंने मतंग ऋषिसे कह दिया कि 'आपने नीच जाति शबरीको आश्रममें स्थान दिया है, इससे हमलोग आपके साथ भोजन करना तो दूर रहा, सम्भाषण भी करना नहीं चाहते।' भक्तितत्त्वके मर्मज्ञ मतंगने इन शब्दोंपर कोई ध्यान नहीं दिया। वे इस बातको जानते थे कि ये सब भ्रममें हैं, शबरीके स्वरूपका इन्हें ज्ञान नहीं है, शबरी केवल नीच जातिकी साधारण स्त्री ही नहीं है, वह एक भगवद्भक्तिपरायणा उच्च आत्मा है। उन्होंने इसका कुछ भी विचार नहीं किया और वे अपने उपदेशसे शबरीकी भक्ति बढ़ाते रहे।

इस प्रकार भगवद्गुण-स्मरण और गान करते-करते

बहुत समय बीत गया। मतंग ऋषिने शरीर छोड़नेकी इच्छा की, यह जानकर शिष्योंको बड़ा दुःख हुआ, शबरी अत्यन्त क्लेशके कारण क्रन्दन करने लगी। गुरुदेवका परमधाममें पधारना उसके लिये असहनीय हो गया। वह बोली—'नाथ! आप अकेले ही न जायँ, यह किङ्करी भी आपके साथ जानेको तैयार है।' विषण्णवदना कृताञ्जलि दीना शबरीको सम्मुख देखकर मतंग ऋषिने कहा—'सुव्रते! तू यह विषाद छोड़ दे, कोसलकिशोर भगवान् श्रीरामचन्द्र इस समय चित्रकूटमें हैं। वे यहाँ अवश्य पधारेंगे। उन्हें तू इन्हीं चर्म-चक्षुओंसे प्रत्यक्ष देख सकेगी, वे साक्षात् परमात्मा नारायण हैं। उनके दर्शनसे तेरा कल्याण हो जायगा। भक्तवत्सल भगवान् जब तेरे आश्रममें पधारें, तब उनका भलीभाँति आतिथ्य करके अपने जीवनको सफल करना। तबतक तू श्रीराम-नामका जप करती हुई उनकी प्रतीक्षा कर।'

शबरीको इस प्रकार आश्वासन देकर मुनि दिव्यलोकको चले गये। इधर शबरीने श्रीराम-नाममें ऐसा मन लगाया कि उसे दूसरी किसी बातका ध्यान ही नहीं रहा। शबरी कन्द-मूल-फलोंपर अपना जीवन-निर्वाह करती हुई भगवान् श्रीरामके शुभागमनकी प्रतीक्षा करने लगी। ज्यों-ही-ज्यों दिन बीतते हैं, त्यों-ही-त्यों शबरीकी राम-दर्शन-लालसा प्रबल होती जाती है। जरा-सा शब्द सुनते ही वह दौड़कर बाहर जाती है और बड़ी आतुरताके साथ प्रत्येक वृक्ष, लता, पत्र, पुष्प और फलोंसे तथा पशु-पक्षियोंसे पूछती है कि 'अब श्रीराम कितनी दूर हैं, यहाँ कब पहुँचेंगे?' प्रातःकाल कहती है कि भगवान् आज सन्ध्याको आयेंगे। सायंकाल फिर कहती है, कल सबेरे तो अवश्य पधारेंगे। कभी घरके बाहर जाती है, कभी भीतर आती है। कहीं मेरे रामके कोमल चरण-कमलोंमें चोट न लग जाय, इसी चिन्तासे बार-बार रास्ता साफ करती और काँटे-कंकड़ोंको बुहारती है। घरको नित्य गोबर-गोमूत्रसे लीप-पोतकर ठीक करती है। नित नयी मिट्टी-गोबरकी चौकी बनाती है। कभी चमककर उठती है, कभी बाहर जाती है और सोचती है, भगवान् बाहर आ ही गये होंगे। वनमें जिस पेड़का फल सबसे अधिक सुस्वाद और मीठा लगता है, वही अपने रामके लिये बड़े चावसे रख छोड़ती है। इस प्रकार शबरी उन राजीवलोचन रामके शुभ दर्शनकी उत्कण्ठासे '**रामागमनकाङ्क्षया**' पागल-सी हो गयी है। सूखे पत्ते वृक्षोंसे झड़कर नीचे गिरते हैं तो उनके शब्दको शबरी अपने प्रिय रामके पैरोंकी आहट समझकर दौड़ती है। इस तरह आठों पहर उसका चित्त श्रीराममें रमा रहने लगा, परंतु राम नहीं आये। एक बार मुनिबालकोंने कहा—'शबरी! तेरे राम आ रहे हैं।' फिर क्या था! बेर आदि फलोंको आँगनमें रखकर वह दौड़ी सरोवरसे जल लानेके लिये। प्रेमके उन्मादमें उसे शरीरकी सुधि नहीं थी। एक ऋषि स्नान करके लौट रहे थे। शबरीने उन्हें देखा नहीं और उनसे उसका स्पर्श हो गया। मुनि बड़े क्रुद्ध हुए। वे बोले—'कैसी दुष्टा है! जान-बूझकर हमलोगोंका अपमान करती है।' शबरीने अपनी धुनमें कुछ भी नहीं सुना और वह सरोवरपर चली गयी। ऋषि भी पुनः स्नान करनेको उसके पीछे-पीछे गये। ऋषिने ज्यों ही जलमें प्रवेश किया, त्यों ही जलमें कीड़े पड़ गये और उसका वर्ण रुधिर-सा हो गया। इतनेपर भी उनको यह ज्ञान नहीं हुआ कि यह भगवद्भक्तिपरायणा शबरीके तिरस्कारका फल है। इधर जल लेकर शबरी पहुँचने ही नहीं पायी थी कि दूरसे भगवान् श्रीराम 'मेरी शबरी कहाँ है?' पूछते हुए दिखायी दिये। यद्यपि अन्यान्य मुनियोंको भी यह निश्चय था कि भगवान् अवश्य पधारेंगे, फिर भी उनकी ऐसी धारणा थी कि वे सर्वप्रथम हमारे ही आश्रमोंमें पदार्पण करेंगे। परंतु दीनवत्सल भगवान् श्रीरामचन्द्र जब पहले उनके यहाँ न जाकर शबरीकी मँढ़ैयाका पता पूछने लगे, तब उन तपोबलके अभिमानी मुनियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। शबरीके कानोंमें भी सरल ऋषिबालकोंके द्वारा यह बात पहुँची। श्रीरामका अपने प्रति इतना अनुग्रह देखकर शबरीको जो सुख हुआ, उसकी कल्पना कौन कर सकता है।

इतनेमें ही भगवान् श्रीराम लक्ष्मणसहित शबरीके आश्रममें पहुँचे—

सबरी देखि राम गृहँ आए। मुनि के बचन समुझि जियँ भाए॥
सरसिज लोचन बाहु बिसाला। जटा मुकुट सिर उर बनमाला॥

स्याम गौर सुंदर दोउ भाई। सबरी परी चरन लपटाई॥
प्रेम मगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा॥
(रामचरितमानस)

आज शबरीके आनन्दका पार नहीं है। वह प्रेममें पगली होकर नाचने लगी। हाथसे ताल दे-देकर नृत्य करनेमें वह इतनी मग्न हुई कि उसे अपने उत्तरीय वस्त्रतकका ध्यान नहीं रहा, शरीरकी सारी सुध-बुध जाती रही। इस तरह शबरीको आनन्दसागरमें निमग्न देखकर भगवान् बड़े ही सुखी हुए और उन्होंने मुसकराते हुए लक्ष्मणकी ओर देखा। तब श्रीलक्ष्मणजीने हँसते हुए गम्भीर स्वरसे कहा कि 'शबरी! क्या तू नाचती ही रहेगी? देख! श्रीराम कितनी देरसे खड़े हैं? क्या इनको बैठाकर तू इनका आतिथ्य नहीं करेगी?' इन शब्दोंसे शबरीको चेत हुआ और उस धर्मपरायणा तापसी सिद्धा संन्यासिनीने धीमान् श्रीराम-लक्ष्मणको देखकर उनके चरणोंमें हाथ जोड़कर प्रणाम किया और पाद्य, आचमन आदिसे उनका पूजन किया। (वा० रा० ३। ७४। ६-७)

सादर जल लै चरन पखारे। पुनि सुंदर आसन बैठारे॥

भगवान् श्रीराम उस धर्मनिरता शबरीसे पूछने लगे—'तपोधने! तुमने साधनके समस्त विघ्नोंपर तो विजय पायी है? तुम्हारा तप तो बढ़ रहा है? तुमने कोप और आहारका संयम तो किया है? चारुभाषिणि! तुम्हारे नियम तो सब बराबर पालन हो रहे हैं? तुम्हारे मनमें शान्ति तो है? तुम्हारी गुरुसेवा सफल तो हो गयी? अब तुम क्या चाहती हो?' (वा० रा० ३। ७४। ८-९)

श्रीरामके ये वचन सुनकर वह सिद्धपुरुषोंमें मान्य वृद्धा तापसी बोली—भगवन्! आप मुझे 'सिद्धा' 'सिद्धसम्मता' 'तापसी' आदि कहकर लज्जित न कीजिये। मैंने तो आज आपके दर्शनसे ही जन्म सफल कर लिया है।

हे भगवन्! आज आपके दर्शनसे मेरे सभी तप सिद्ध हो गये हैं, मेरा जन्म सफल हो गया। आज मेरी गुरुओंकी पूजा सफल हो गयी; मेरा तप सफल हो गया। हे पुरुषोत्तम! आप देवताओंमें श्रेष्ठ रामकी कृपासे अब मुझे अपने स्वर्गापवर्गमें कोई सन्देह नहीं रहा। (वा० रा० ३। ७४। ११-१२)

शबरी अधिक नहीं बोल सकी। उसका गला प्रेमसे रुँध गया। थोड़ी देर चुप रहकर फिर बोली—'प्रभो! आपके लिये संग्रह किये हुए कन्द-मूल-फलादि तो अभी रखे ही हैं। भगवन्! मुझ अनाथिनीके फलोंको ग्रहणकर मेरा मनोरथ सफल कीजिये।' यों कहकर शबरी फलोंको लाकर भगवान्‌को देने लगी और भगवान् बड़े प्रेमसे पवित्र प्रेम-रससे पूर्ण उन फलोंकी बार-बार सराहना करते हुए उन्हें खाने लगे।

पद्मपुराणमें भगवान् व्यासजीने कहा है—

फलानि च सुपक्वानि मूलानि मधुराणि च।
स्वयमास्वाद्य माधुर्यं परीक्ष्य परिभक्ष्य च॥
पश्चान्निवेदयामास राघवाभ्यां दृढव्रता।
फलान्यास्वाद्य काकुत्स्थस्तस्यै मुक्तिं परां ददौ॥

शबरी वनके पके हुए मूल और फलोंको स्वयं चख-चखकर परीक्षा करके भगवान्‌को देने लगी।* जो अत्यन्त मधुर फल होते वही भगवान्‌के निवेदन करती और भगवान् मानो कई दिनोंके भूखे हों, ऐसे चाव और भावसे उनको पाने लगे।

बेर बेर बेर लै सराहैं बेर बेर बहु,
'रसिकबिहारी' देत बंधु कहँ फेर फेर।
चाखि चाखि भाखैं यह वाहू तें महान मीठो,
लेहु तो लखन यों बखानत हैं हेर हेर॥

---

*वाल्मीकिरामायणके वर्णनसे यह प्रतीत होता है कि शबरी कोई नीच जातिकी नहीं थी, उसका नाम शबरी था। शबर भीलको कहते हैं, इससे लोग उसे सम्भवतः भीलनी कहने लगे। शबरी संन्यासिनी थी और तपस्यामें बहुत ही बढ़ी-चढ़ी हुई थी, इसीलिये उसको भगवान् श्रीरामने 'श्रमणी, धर्मसंस्थिता, सिद्धा, सिद्धसम्मता, तापसी' आदि कहा है। इसके सिवा यह भी सिद्ध नहीं होता कि उसने उसी समय चख-चखकर भगवान्‌को जूठे फल दिये थे। पद्मपुराणके वर्णनका यह अर्थ होगा कि वह जब फल लाती थी, तब उस पेड़के फलको पहले चखकर देख लेती थी। जिस पेड़के फल अच्छे होते, उसीको लाकर भगवान्‌के लिये संग्रहमें रखती। 'स्वयमास्वाद्य माधुर्यं परीक्ष्य परिभक्ष्य च' का यही भाव उचित प्रतीत होता है।

वास्तवमें प्रेममें कोई नियम नहीं होता, परंतु भगवान् श्रीरामकी जीवन-लीला मर्यादाकी है; इसीसे ऐसा समझना ही उचित है; परंतु जो सज्जन प्रेमवश वैसा अर्थ करते हैं, वे भी प्रेमके कारण सर्वदा स्तुत्य हैं, 'भिलनीके बेर' तो प्रसिद्ध ही हैं।

बेर बेर देवेको सबरी सुबेर बेर,
तोऊ रघुबीर बेर बेर ताहि टेर टेर।
बेर जनि लाओ बेर बेर जनि लाओ बेर,
बेर जनि लाओ बेर लाओ कहें बेर बेर॥

यही नहीं, भगवान् श्रीराघवेन्द्र शबरीजीके इन प्रेमसुधा-रसपूर्ण फलोंका स्वाद कभी नहीं भूले—घरमें, गुरुजीके यहाँ, मित्रोंके घरपर, ससुरालमें—जहाँ कहीं इनका स्वागत-सत्कार हुआ, भोजन कराया गया, वहीं ये शबरीके फलोंकी सराहना करना नहीं भूले—

घर, गुरुगृहँ, प्रियसदन, सासुरें भइ जब जहँ पहुनाई।
तब तहँ कहि सबरी के फलनि को रुचि माधुरी न पाई॥

अस्तु, इस तरह भक्तवत्सल भगवान्‌के परम अनुग्रहसे शबरीने अपनी मनोगत अभिलाषा पूर्ण हुई जानकर परम प्रसन्नता लाभ की। तदनन्तर वह हाथ जोड़कर सामने खड़ी हो गयी। प्रभुको देख-देखकर उसकी प्रीति-सरितामें अत्यन्त बाढ़ आ गयी। उसने कहा—

केहि बिधि अस्तुति करौं तुम्हारी।
अधम जाति मैं जड़मति भारी॥
अधम ते अधम अधम अति नारी।
तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी॥
(रामचरितमानस)

आर्त्तत्राणपरायण पतितपावन भक्तवत्सल श्रीरामने उत्तरमें कहा, 'भामिनि! तुम मेरी बात सुनो। मैं एकमात्र भक्तिका नाता मानता हूँ। जो मेरी भक्ति करता है, वह मेरा है और मैं उसका हूँ। जाति-पाँति, कुल, धर्म, बड़ाई, द्रव्य, बल, कुटुम्ब, गुण, चतुराई—सब कुछ हो; पर यदि भक्ति न हो तो वह मनुष्य बिना जलके बादलोंके समान शोभाहीन और व्यर्थ है।'

अध्यात्मरामायणमें भगवान् श्रीराम कहते हैं—

पुंस्त्वे स्त्रीत्वे विशेषो वा जातिनामाश्रमादयः।
न कारणं मद्भजने भक्तिरेव हि कारणम्॥
यज्ञदानतपोभिर्वा वेदाध्ययनकर्मभिः।
नैव द्रष्टुमहं शक्यो मद्भक्तिविमुखैः सदा॥
(३। १०। २०-२१)

'पुरुष, स्त्री या अन्यान्य जाति और आश्रम आदि मेरे भजनमें कारण नहीं हैं; केवल भक्ति ही एक कारण है।' 'जो मेरी भक्तिसे विमुख हैं, यज्ञ, दान, तप और वेदाध्ययन करके भी वे मुझे नहीं देख सकते।' यही घोषणा भगवान्‌ने गीतामें की है।

इसके बाद भगवान्‌ने शबरीको नवधा भक्तिका स्वरूप बतलाया और कहा—

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं।
सावधान सुनु धरु मन माहीं॥
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा।
दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥
गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान॥
मन्त्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा।
पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥
छठ दम सील बिरति बहु करमा।
निरत निरंतर सज्जन धरमा॥
सातवँ सम मोहिमय जग देखा।
मोतें संत अधिक करि लेखा॥
आठवँ जथालाभ संतोषा।
सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा॥
नवम सरल सब सन छलहीना।
मम भरोस हियँ हरष न दीना॥
नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई।
नारि पुरुष सचराचर कोई॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें।
सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें॥

× × ×

जोगि बृंद दुरलभ गति जोई।
तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई॥

उसी समय दण्डकारण्यवासी अनेक ऋषि-मुनि शबरीजीके आश्रममें आ गये। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम और लक्ष्मणने खड़े होकर मुनियोंका स्वागत किया और उनसे कुशल-प्रश्न किया। सबने उत्तरमें यही कहा—'रघुश्रेष्ठ! आपके दर्शनसे हम सब निर्भय हो गये हैं।'

त्वद्दर्शनाद् रघुश्रेष्ठ जाताः स्मो निर्भया वयम्॥

'प्रभो! हम बड़े अपराधी हैं। इस परम भक्तिमती शबरीके कारण हमने मतंग-जैसे महानुभावका तिरस्कार

किया। योगिराजोंके लिये भी जो परम दुर्लभ हैं—ऐसे आप साक्षात् नारायण जिसके घरपर पधारे हैं, वह भक्तिमती शबरी सर्वथा धन्य है। हमने बड़ी भूल की।' इस प्रकार सब ऋषि-मुनि पश्चात्ताप करते हुए भगवान्से विनय करने लगे। आज दण्डकारण्यवासी ज्ञानाभिमानियोंकी आँखें खुलीं!

'हमारे तीन जन्मोंको (एक गर्भसे, दूसरे उपनयनसे और तीसरे यज्ञदीक्षासे), विद्याको, ब्रह्मचर्यव्रतको, बहुत जाननेको, उत्तम कुलको, यज्ञादि क्रियाओंमें चतुर होनेको बार-बार धिक्कार है; क्योंकि हम श्रीहरिके विमुख हैं। निःसन्देह भगवान्की माया बड़े-बड़े योगियोंको मोहित कर देती है। अहो! हम लोगोंके गुरु ब्राह्मण कहलाते हैं, परंतु अपने ही सच्चे स्वार्थसे (हरिकी भक्तिमें) चूक गये।' अस्तु।

ऋषि-मुनियोंको पश्चात्ताप करते देखकर श्रीलक्ष्मणजीने उनके तपकी प्रशंसा करके उन्हें कुछ सान्त्वना दी। तदनन्तर एक ऋषिने कहा—'शरणागतवत्सल! यहाँके सुन्दर सरोवरके जलमें कीड़े क्यों पड़ रहे हैं तथा वह रुधिर-सा क्यों हो गया है?' लक्ष्मणजीने हँसते हुए कहा—

'मतंग मुनिके साथ द्वेष करने तथा शबरी-जैसी रामभक्ता साध्वीका अपमान करनेके कारण आपके अभिमानरूपी दुर्गुणसे ही यह सरोवर इस दशाको प्राप्त हो गया है।'

मतङ्गमुनिविद्वेषाद् रामभक्तावमानतः।
जलमेतादृशं जातं भवतामभिमानतः॥

इसके फिर पूर्ववत् होनेका एक यही उपाय है कि शबरी एक बार फिरसे उसका स्पर्श करे। भगवान्की आज्ञासे शबरीने जलाशयमें प्रवेश किया और तुरंत ही जल पूर्ववत् निर्मल हो गया। यह है भक्तोंकी महिमा!

भगवान्ने प्रसन्न होकर फिर शबरीसे कहा कि 'तू कुछ वर माँग।' शबरीने कहा—

यत्त्वां साक्षात्प्रपश्यामि नीचवंशभवाप्यहम्।
तथापि याचे भगवंस्त्वयि भक्तिर्दृढा मम॥

'मैं अत्यन्त नीच कुलमें जन्म लेनेपर भी आपका साक्षात् दर्शन कर रही हूँ, यह क्या साधारण अनुग्रहका फल है; तथापि मैं यही चाहती हूँ कि आपमें मेरी दृढ़ भक्ति सदा बनी रहे।' भगवान्ने हँसते हुए कहा—'यही होगा।'

शबरीने पार्थिव देह परित्याग करनेके लिये भगवान्की आज्ञा चाही, भगवान्ने उसे आज्ञा दे दी। शबरी मुनिजनोंके सामने ही देह छोड़कर परम धामको प्रयाण कर गयी और सब ओर जय-जयकारकी ध्वनि होने लगी।

जीवन्ती वेश्या

(सुआ पढ़ावत गणिका तारी)

मृत्युकाले द्विजश्रेष्ठ रामेति नाम यः स्मरेत्।
स पापात्मापि परमं मोक्षमाप्नोति जैमिने॥

(भगवान् वेदव्यासजी)

प्राचीन कालकी कथा है, एक नगरमें जीवन्ती नामकी एक वेश्या रहती थी। लोक-परलोकके भयसे रहित होकर वह वेश्या व्यभिचारवृत्तिसे उदर-पोषण किया करती। एक दिन एक तोता बेचनेवालेसे उसने सुन्दर देखकर एक छोटा-सा सुग्गेका बच्चा खरीद लिया। वेश्याके कोई सन्तान नहीं थी, इसलिये वह उस पक्षि-शावकका पुत्रवत् पालन करने लगी। प्रातःकाल उठते ही उसके पास बैठकर उसे 'राम-राम' पढ़ाती। जब वह नहीं बोलता, तब उसे अच्छे-अच्छे रसभरे फल खानेको देती। सूआ 'राम-राम' सीख गया और अभ्यासवश बड़े सुन्दर स्वरोंसे वह रात-दिन राम-राम बोलने लगा। वेश्या छुट्टी पाते ही उसके पास आकर बैठ जाती और उसीके साथ वह भी 'राम-राम' का उच्चारण किया करती। एक दिन एक ही समय दोनोंका मृत्युकाल आ गया। 'राम' उच्चारण करते-करते दोनोंने प्राण त्याग दिये। सूआ भी पहलेका पापी था। अतएव दोनों पापियोंको लेनेके लिये चण्ड आदि यमराजके कई दूत हाथोंमें फाँसी और अनेक प्रकारके शस्त्र लिये वहाँ पहुँचे। इधर विष्णुतुल्य-पराक्रमी शङ्ख-चक्र-गदाधारी

भगवान् विष्णुके दूत भी आ उपस्थित हुए। उन्होंने यमदूतोंसे कहा—'तुमलोग इन दोनों निष्पाप जीवोंको क्यों फाँसीमें बाँध रहे हो, तुम किसके दूत हो?'

यमदूत—हम महाराज सूर्यपुत्र यमराजके किङ्कर हैं। इन दोनों पापात्माओंको यमपुरीमें ले जाते हैं।

विष्णुदूत—(क्रोधसे हँसकर) इन यमदूतोंकी बात तो सुनो! क्या भगवन्नाम लेनेवाले हरिभक्त भी यमराजसे दण्ड पाने योग्य हैं? दुष्टोंका चरित्र कभी उत्तम नहीं होता, वे सर्वदा ही साधुओंसे द्वेष रखते हैं। पापी मनुष्य अपने ही समान सबको पापी समझा करते हैं। पुण्यात्मा पुरुषोंको सारा जगत् निष्पाप दीखता है। धार्मिक पुरुष पुण्यात्माओंके पुण्यचरित्र सुनकर प्रसन्न होते हैं और पापियोंको पापकथासे प्रसन्नता होती है। भगवान्की कैसी माया है! पापसे महान् पीड़ा होती है, यह समझते हुए भी लोग पाप करनेसे नहीं चूकते।

विष्णुदूतोंने इतना कहकर चक्रसे दोनोंके बन्धन काट दिये। इसपर यमदूतोंको बहुत क्रोध आया और वे विष्णुदूतोंको ललकारकर बोले—'तुमलोग पापियोंको लेने आये हो, यह जानकर बड़ा आश्चर्य होता है। यदि तुमलोग बलपूर्वक उन्हें ले जाना चाहते हो तो पहले हमसे युद्ध करो।'

दोनों पक्षके दूतोंमें घोर युद्ध होने लगा। अन्तमें विष्णुदूतोंसे पराजित होकर अपने मूर्च्छित सेनापति चण्डको उठाकर हाहाकार करते हुए यमदूत यमपुरीको भाग गये। इधर विष्णुदूतोंने हर्षके साथ जयध्वनि करके दोनोंको विमानमें बैठाया और विष्णुलोकको ले गये।

रक्ताक्त-कलेवर यमदूत यमराजके सामने जाकर रोने लगे और बोले—

'सूर्यपुत्र महाबाहो! हम आपके आज्ञाकारी सेवकोंकी विष्णुदूतोंने बहुत ही दुर्गति की है। आपका प्रभुत्व अब कौन मानेगा। यह पराभव हमारा नहीं, परंतु आपका है।'

यमराजने कहा—'दूतो! यदि उन्होंने मरते समय 'राम' इन दो अक्षरों का स्मरण किया है तो वे मुझसे कभी दण्डनीय नहीं हैं। उस 'राम' नामके प्रतापसे भगवान् नारायण उनके प्रभु हो गये—

दूता यदि स्मरन्तौ तौ रामनामाक्षरद्वयम्।
तदा न मे दण्डनीयौ तयोर्नारायणः प्रभुः॥

संसारमें ऐसा कोई पाप नहीं है, जिसका रामनाम-स्मरणसे नाश न हो जाय। किङ्करगण! सुनो, जो प्रतिदिन भक्तिपूर्वक मधुसूदनका नाम लेते हैं, जो गोविन्द, केशव, हरे, जगदीश, विष्णो, नारायण, प्रणतवत्सल और माधव—इन नामोंका भक्तिपूर्वक सतत उच्चारण करते हैं, जो सदा इस प्रकार कहते हैं—'हे लक्ष्मीपते! सकलपापविनाशकारी! श्रीकृष्ण! केशिनिषूदन! आप हमलोगोंको अपना दास बनायें!' वे लोग मुझसे दण्ड पानेके योग्य नहीं हैं। जिनकी जीभपर दामोदर, ईश्वर, अमरवृन्दसेव्य, श्रीवासुदेव, पुरुषोत्तम और यादव आदि नाम विराजमान रहते हैं, मैं उन लोगोंको प्रतिदिन प्रणाम करता हूँ। जगत्के एकमात्र स्वामी नारायण मुरारिका माहात्म्य कीर्तन करनेमें जिन लोगोंका अनुराग है, हे वीरो! मैं उनके अधीन हूँ।

'जो भक्त भगवान् विष्णुकी पूजामें लगे रहते हैं, जो कपटरहित हो एकादशीका व्रत करते हैं, जो विष्णुचरणामृतको मस्तकपर धारण करते हैं, जो भोग लगानेके बाद प्रसाद ग्रहण करते हैं, जो तुलसी-सेवी हैं, जो अपने माता-पिताके चरणोंको पूजनेवाले हैं, जो ब्राह्मणोंकी पूजा और गुरुकी सेवा करते हैं, जो दीन-दु:खियोंके हृदयको सुख पहुँचाते हैं, जो सत्यवादी, लोकप्रिय और शरणागतपालक हैं, जो दूसरोंके धनको विषके समान समझते हैं, जो अन्न, जल, भूमिका दान करते हैं, जो प्राणिमात्रके हितैषी हैं, जो बेकारोंको आजीविका देते हैं, जो शान्तचित्त हैं, जो जातिके सेवक हैं, जो दम्भ-क्रोध मद-मत्सरसे रहित हैं, जो पापदृष्टिसे बचे हुए हैं और जो जितेन्द्रिय हैं, उनको मैं प्रणाम करता हूँ, मैं उनके अधीन हूँ; ऐसे लोगोंकी मैं कभी नरकके लिये चर्चा भी नहीं करता।'

भगवान् व्यासने कहा—यमदूत इस प्रकार यमराजके द्वारा समझाये जानेपर भगवान्का माहात्म्य जान गये। 'भगवन्नाम वेदसे भी अधिक है'—'**सर्ववेदाधिकानि वै**'। तत्त्वज्ञ पुरुष रामनामका स्मरण करते हैं। 'राम' मन्त्र सब मन्त्रोंसे अधिक महत्त्वका है। रामनामका पूरा प्रभाव भगवान् महादेवजी ही जानते हैं, अन्य कोई भी देवता नहीं जानते। रामनामके उच्चारणमें कोई श्रम नहीं होता,

सुननेमें भी बड़ा सुन्दर है; तो भी दुष्ट मनुष्य इसका स्मरण नहीं करते। जब अत्यन्त दुर्लभ मुक्ति रामनामसे मिल सकती है, तब रामनामको छोड़कर और करनेयोग्य काम ही कौन-सा है। जबतक रामनामका स्मरण चालू नहीं होता, तभीतक पाप रहते हैं। अतएव सबको श्रीरामनामका जप करना चाहिये।

मृत्युकाले द्विजश्रेष्ठ रामेति नाम यः स्मरेत्।
स पापात्मापि परमं मोक्षमाप्नोति जैमिने॥

व्यासदेव फिर कहने लगे—'जैमिने! मृत्युसमयमें रामनाम-स्मरण करनेसे पापात्मा भी मोक्षको प्राप्त होता है। रामनाम समस्त अमङ्गलका नाश करनेवाला, मनोरथ पूर्ण करनेवाला और मोक्ष देनेवाला है; इसलिये बुद्धिमानोंको सदा रामनाम स्मरण करना चाहिये।'

रामेति नाम विप्रर्षे यस्मिन्न स्मर्यते क्षणे।
क्षणः स एव व्यर्थः स्यात् सत्यमेतन्मयोच्यते॥
रामनामामृतस्वादभेदज्ञा रसना च या।
तन्नाम रसनेत्याहुर्मुनयस्तत्त्वदर्शिनः॥
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमेतन्मयोच्यते।
स्मरन्तो रामनामानि नावसीदन्ति मानवाः॥

(पद्मपुराण)

'जिस समय मनुष्य रामनाम-स्मरण नहीं करता, वही समय व्यर्थ जाता है—यह मैं सत्य कहता हूँ। जो रसना रामनामके रस-भेदको जानती है, तत्त्वदर्शी मुनिगण कहते हैं कि बस, वही रसना है। मैं सत्य, सत्य और फिर सत्य कहता हूँ कि राम-नाम-स्मरण करनेवाले मनुष्य कभी विषादको प्राप्त नहीं हो सकते!'

भाग्यवती विदुरपत्नी

विदुर आदर्श भगवद्भक्त, उच्चकोटिके साधु और स्पष्टवादी थे। दुर्योधन इनकी स्पष्टवादितापर सदा ही नाराज रहता। विदुरजीका धृतराष्ट्रपर बहुत प्रेम था। इसीसे वे समय-समयपर दुर्योधनके द्वारा अपमान सहकर भी वहाँ रहते थे। इनके लिये कौरव-पाण्डव दोनों ही समान थे। पर धर्मके मार्गपर स्थित होनेके कारण पाण्डव इनको विशेष प्रिय थे। ये सदा पाण्डवोंकी मङ्गल-कामना किया करते। श्रीकृष्णमें इनकी अनुपम प्रीति थी। इनकी धर्मपत्नी भी परम साध्वी, त्यागमूर्ति तथा भगवद्भक्तिमयी थी। भगवान् जब दूत बनकर हस्तिनापुर पधारे, तब दुर्योधनके प्रेमरहित महान् स्वागत-सत्कारका परित्याग करके उन्होंने इन्हींके घर ठहरकर इनके घरकी रूखी-सूखी शाक-भाजी खायी थी। कहा जाता है कि जिस समय भगवान् दुर्योधनके यहाँसे बिना भोजन किये प्रस्थानकर विदुरके घर पहुँचे, उस समय विदुरपत्नी घरके भीतर नहा रही थी। विदुर घरपर थे नहीं, परिग्रहके अभावसे या स्वेच्छाकृत दरिद्रतासे विदुरके घरमें वस्त्रोंका अत्यन्त अभाव था। अतएव वह नंगी नहा रही थी। दरवाजेपर पहुँचकर भगवान् श्रीकृष्णने आवाज की—'किवाड़ खोलो, मैं कृष्ण खड़ा हूँ; मुझे बड़ी भूख लगी है।' भगवान्‌की आवाज सुनते ही वह सुध-बुध भूल गयी और उन्मत्त-सी होकर उसी दशामें किवाड़ खोलनेको दौड़ी आयी। झटसे किवाड़ खोल दिये। भगवान्‌ने उसकी प्रेमोन्मत्त स्थिति समझकर उसी क्षण अपना पीताम्बर उसके शरीरपर डाल दिया, दिव्य पीतपटने उसके समस्त शरीरको ढक लिया। तदनन्तर वह प्रेमोन्मादिनी भगवान्‌को हाथ पकड़कर भीतर ले गयी, उसे बस, इतना ही याद था—'मैं कृष्ण भूखा हूँ।' जल्दी-से-जल्दी क्या खिलाऊँ? अंदर ले जाकर उसने एक उलटे पीढ़ेपर उन्हें बैठा दिया और खिलानेके लिये केले लेकर उनके पास बैठ गयी। प्रेम और प्रसन्नतासे मतवाली विदुरपत्नी केले छील-छीलकर उसका गूदा तो फेंकने लगी और छिलके भगवान्‌को देने लगी। भगवान्‌की तो प्रतिज्ञा ही ठहरी—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(गीता ९। २६)

भगवान् बड़े प्रेमसे सराह-सराहकर छिलके खाने

लगे। दोनों प्रेमदान तथा प्रेमसुधापानमें तन्मय थे। इतनेमें विदुरजी आ गये। वे कुछ देर तो स्तम्भित होकर खड़े रहे, फिर उन्होंने यह व्यवस्था देखकर पत्नीको डाँटा; तब उसे चेत हुआ और वह पश्चात्ताप करनेके साथ ही अपने मनकी सरलतासे श्रीकृष्णको उलाहना देने लगी—

छिलका दीन्हे स्याम कहँ, भूली तन मन ज्ञान।
खाए पै क्यों आपने, भूलि गए क्यों भान॥

भगवान् इस सरल वाणीपर हँस दिये। भगवान्ने कहा—'विदुरजी! आप बड़े बेमौकेके आये। मुझे बड़ा ही सुख मिल रहा था। मैं तो ऐसे ही भोजनके लिये सदा अतृप्त रहता हूँ।' अब विदुरजी भगवान्को केलेका गूदा खिलाने लगे। भगवान्ने कहा—'विदुरजी! आपने केले तो मुझे बड़ी सावधानीसे खिलाये; पर न मालूम क्यों इनमें छिलके-जैसा स्वाद नहीं आया!'

विदुर-पत्नीके नेत्रोंसे प्रेमके आँसू झर रहे थे।

भाग्यवती मालिन

फलविक्रयिणी तस्य च्युतधान्यं करद्वयम्।
फलैरपूरयद्रत्नैः फलभाण्डमपूरि च॥
(श्रीमद्भा० १०। ११। ११)

फलोंका नाम सुनते ही दोनों हाथोंकी पसरमें अन्न भरे हुए श्रीकृष्ण फल लेनेके निमित्त दौड़े। उनकी पसरमेंसे धीरे-धीरे अन्न गिरता जाता था। श्रीकृष्णको देखकर मालिनने उनके दोनों हाथ फलोंसे भर दिये। भगवान्ने भी अपने हाथके शेष अन्नसे उसकी टोकरी रत्नोंसे पूर्ण कर दी।

मथुराकी एक भाग्यवती मालिन व्रजमें साग-भाजी तथा फूल-फल बेचनेके लिये आया करती थी। नन्हें-से साँवरेकी सलोनी सूरतपर वह अनुरक्त थी। मुरलीमनोहरकी मनोहर मूर्ति उसके मन-मन्दिरमें सदा बसी रहती और वह भावोंके पुष्प चढ़ाकर अहर्निश उनकी अर्चा-पूजा किया करती। श्यामसुन्दर उसके मनोभावको जानते थे, किंतु उसके अनुरागको बढ़ानेके निमित्त उससे बोलते नहीं थे। वह जब भी आती, तभी आप खेलनेके बहाने बाहर निकल जाते। वह बेचारी मन मसोसकर रह जाती और मन-ही-मन कहती—'श्यामसुन्दर! तुम इतने निष्ठुर क्यों हो? जो तुम्हें चाहते हैं, उनसे तुम दूर भागते हो और जो तुमसे वैर करते हैं, उन्हें प्रसन्नतासे पास बुला लेते हो। तुम्हारी इस वक्रताका असली रहस्य क्या है, इसे कौन जान सकता है।'

मालिनके मनसे मदनमोहन कभी दूर हटते ही नहीं थे, किंतु शरीरसे सदा अलग ही रहते, मानो वे उससे डरते हों। मालिन घंटों नन्दभवनमें बैठी रहती, किंतु नन्दलालके साथ आजतक उसका कभी संलाप नहीं हुआ। कभी उस बिहारीने मालिनकी ओर हँसकर नहीं देखा!

प्रेमकी कुछ उलटी ही रीति है, प्रेमी ज्यों-ही-ज्यों अपनी ओर उपेक्षाके भाव दिखाता है, त्यों-त्यों अनुरागके भाव अधिकाधिक उमड़ने लगते हैं। प्रेमका स्वारस्य वियोगमें ही है। विकलता उस आनन्दका परिवर्द्धन करती है। वेदना ही उसका फल है, 'चाह' ही उसतक पहुँचाती है। मालिनका मन-विहङ्गम अब दूसरी जगह न जाकर सदा नन्दके आँगनमें ही उड़-उड़कर चक्कर लगाने लगा।

वैसे तो मालिन साग-पात बेचकर मथुरा चली जाती, किंतु उसका मन गोकुलमें रह जाता। प्रातःकाल उठते ही वह मनकी खोजमें फिर गोकुल आती और मनमोहनकी मन्द-मन्द मुसकानके साथ अपने मनको क्रीडा करते देखकर वह अपने-आपको भूल जाती। उसका शरीर साँवलेकी सुन्दर अरुणवर्ण पतली-पतली अँगुलियोंको स्पर्श करनेके लिये सदा उत्सुक रहता। मनकी एकमात्र यही साध थी कि मेरे रहनेका घर भी श्यामसुन्दरके सुखद स्पर्शसे पावन बन जाय। जब मालिनकी चाह पराकाष्ठाको पहुँच गयी, जब उसे संसारमें मोहनके सिवा कुछ भी नहीं दीखने लगा, तब फिर मोहनके मिलनमें क्या देर थी। मोहन तो चाहनेवालोंसे दौड़कर लिपटनेवाले हैं, किंतु वह चाह होनी चाहिये असली। अब मालिनकी चाहमें किसी प्रकारका आवरण

नहीं रहा, उसकी चाह मोहनमयी बन गयी।

एक दिन वह मोहनकी मञ्जुल मूर्तिका ध्यान करती हुई व्रजमें आवाज दे रही थी 'फल ले लो री फल'। सम्पूर्ण फलोंके एकमात्र दाता श्रीहरि मालिनसे फल खरीदनेके लिये घरसे दौड़े। अरुण-वर्णके छोटे-छोटे दोनों हाथोंमें धान्य भरकर जल्दी-जल्दी हाँफते हुए वे मालिनकी ओर आ रहे थे। कोमल करोंकी सन्धियोंमेंसे अनाज बिखरता चला आता था। मोहन उस मालिनसे फल लेनेको अधीर थे, मालिनका मन भी मोहनमय बना हुआ उस अवर्णनीय दृश्यमें तन्मय था। चिरकालकी साधको पूरी होते देखकर मालिन अपने-आपको भूल गयी। कन्हैयाके परम दुर्लभ कोमल कर-स्पर्शके सुखके लिये अधीर हुई उस मालिनने कमलकी पँखुड़ियोंके समान खिले हुए उन दोनों जुड़े हुए हाथोंको फलोंसे भर दिया। अहा! उस समय उसकी क्या दशा हुई होगी, उसका वर्णन कौन कवि अपनी कविताद्वारा करनेमें समर्थ हो सकता है। श्यामसुन्दरके लिये उसने सर्वस्व समर्पण कर दिया। सम्पूर्ण अभिलाषाओंको पूर्ण करनेवाले हरिने भी प्रेमके अमूल्य मोतियोंसे उसके रिक्त भाण्डको भर दिया। मालिनका जीवन सफल हुआ। उसने साधारण फल देकर फलोंका भी परम फल, दिव्य फल प्राप्त किया। मनमोहनका ध्यान करते-करते वह उन्हींकी नित्यकिङ्करी हो गयी। प्रभुने उसे अपना लिया। उसी क्षण वह धन्य हो गयी।

त्यागमयी भीलनी

चण्ड नामक एक सरल हृदयका भील जंगलमें रहता था। वहाँ टूटा-फूटा पुराना शिवालय था। उसमें कोई पूजा नहीं करता था। चण्ड उस मूर्तिको उठाकर अपने घर ले आया और किसीसे पूछकर जल, चिताभस्म, बेलपत्र और धतूरेके फूल आदिसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान् शिवजीकी पूजा करने लगा। जल, बेलपत्र, धतूरेके फूल तो जंगलमें थे ही। श्मशानसे जाकर वह सात दिनोंके लिये चिताभस्मकी पोटली बाँध लाता। एक दिन रातको इतनी जोरकी वर्षा हुई कि श्मशानकी सारी राख बह गयी। उसी दिन चण्डकी पूजाके लिये लायी हुई चिताभस्म समाप्त हो गयी थी। उसने बहुत प्रयत्न किया, कोसों भटक आया; पर कहीं चिताकी भस्म नहीं मिली। उसके मनमें बड़ा ही दुःख था, आज भगवान्की पूजा कैसे होगी! उसके नेत्रोंसे आँसू बहने लगे और वह सिर पकड़कर बैठ गया। उसकी यह दशा देखकर चण्डपत्नीने विनयसे पूछा—'आप आज इतने दुःखी क्यों हैं?'

उसने कहा—'क्या बताऊँ, मैं बड़ा अभागा हूँ। आज कहीं भी चिताभस्म नहीं मिली। आज भगवान्की पूजा कैसे होगी। भला, पूजा किये बिना मैं जल भी कैसे पी सकता हूँ। आज भगवान् बिना पूजाके रहेंगे। हाय!' पतिकी विषादभरी बात सुनकर उसको तुरंत एक युक्ति सूझी और वह बोली—

'बस, इतनी-सी बातके लिये आप इतने व्याकुल हैं? स्नान कीजिये। चिताभस्म अभी मिल जायगी।' तदनन्तर वह वहाँसे चल दी और द्वारके सम्मुख थोड़ी दूरीपर एक पीपलका वृक्ष था। वहाँ जाकर उसने मिट्टीकी वेदी बनायी और झोंपड़ीका सब सामान निकाल-निकालकर उस वृक्षके नीचे रखने लगी। पत्नीकी इस चेष्टाको देखकर चण्डने पूछा—'तुम यह सब क्या कर रही हो?' और वह हक्का-बक्का होकर पत्नीकी ओर देखने लगा। उसके कुछ भी समझमें नहीं आया।

पत्नी बोली—'आप जल्दी स्नान करके भगवान्को पीपलके नीचे वेदीपर बैठा दें। झोंपड़ी तो दूसरी आज आप सन्ध्यातक बना ही लेंगे। उसमें अग्नि लगाकर मैं जल जाती हूँ। आपके भगवान्की पूजाके लिये बहुत दिनोंको चिताभस्म हो जायगी।'

जिस निरपेक्षासे भील वन-पशुओंका आखेट करता था, उसी निरपेक्षासे भीलनी अपने शरीरकी आहुति देनेकी बात कह रही थी। जैसे वह एक साधारण खेल करने जा रही है।

चण्डने पत्नीके मुखकी ओर देखा। पत्नीके त्याग, प्रेम और भक्तिने उसे प्रेम-विह्वल कर दिया। भरे कण्ठसे

उसने कहा—'शरीर ही सुख, धर्म और पुण्यका कारण है। तुम अपने शरीरको मत जलाओ।'

भीलनीने पतिके चरणोंपर सिर रखकर कहा—

'मेरे मालिक! एक दिन तो मैं मरूँगी ही। मेरा शरीर भगवान्‌की सेवामें लगे, इससे बड़ा पुण्य और क्या होगा। मैं बड़ी भाग्यवती हूँ कि मेरा शरीर भगवान्‌की पूजामें लगेगा। मुझे रोको मत! आज्ञा दो!' भीलके नेत्रोंसे आँसू बहने लगे। वह बोलनेमें असमर्थ हो गया।

भीलनीने फिर स्नान किया। शङ्करजीको पीपलके नीचेकी वेदीपर बैठाया और झोंपड़ीमें अग्नि लगा दी। पतिको पुनः प्रणाम करके वह भगवान् शङ्करकी स्तुति करने लगी। श्रद्धा, पातिव्रत्य एवं त्यागने उसके हृदयको शुद्ध बना दिया। उसके सारे आवरण ध्वस्त हो गये। विशुद्ध ज्ञान तो अन्तःकरणमें ही है। उस दिव्य ज्ञानसे परिपूत उसकी वाणी प्रेमसे गद्गद हो रही थी—

वाञ्छामि नाहमपि सर्वधनाधिपत्यं
न स्वर्गभूमिमचलां न पदं विधातुः।
भूयो भवामि यदि जन्मनि नाथ नित्यं
त्वत्पादपङ्कजलसन्मकरन्दभृङ्गी ॥
किं जन्मना सकलवर्णजनोत्तमेन
किं विद्यया सकलशास्त्रविचारवत्या।
यस्यास्ति चेतसि सदा परमेशभक्तिः
कोऽन्यस्ततस्त्रिभुवने पुरुषोऽस्ति धन्यः॥

(ब्र० सं० भ० १७)

'हे प्रभो! न तो मैं कुबेरका पद चाहती हूँ; न स्वर्ग, न ब्रह्मलोक और न मोक्ष ही। मेरे चाहे जितने जन्म हों, मैं सदा आपके चरणकमलोंकी रजकी भ्रमरी रहूँ। आपके चरणोंमें मेरा नित्य अनुराग बना रहे। सर्वोच्च वर्णमें जन्म लेने, सम्पूर्ण शास्त्र-विचारमें समर्थ होने, विद्या पढ़ने आदिसे क्या लाभ। जिसका चित्त आप परमेश्वरकी भक्तिमें लगा है, उससे अधिक त्रिभुवनमें और कौन धन्य है।'

प्रार्थना करते हुए उसने प्रज्वलित अग्निमें प्रवेश किया। शरीर भस्म हो गया। चण्डने स्नान किया। पुष्प एकत्र किये। जल डालकर थोड़ी-सी चिताभस्म शीतल करके उससे पूजा की। आज उसके हृदयमें अपूर्व भाव था। अन्तरमें पत्नीके त्यागने प्रेमकी धारा प्रवाहित कर दी थी। नैवेद्य लगाकर वह उन्मत्तकी भाँति भगवान्‌के सम्मुख नृत्य करने खड़ा हुआ। आजसे पूर्व पति-पत्नी दोनों भगवान्‌के सम्मुख नाचते थे। आज वह अकेले नाचेगा।

'हैं! मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ? तुम यहाँ कैसे? तुम तो अग्निमें जल गयी थी न?' चण्ड चौंक पड़ा। उसने देखा कि उसकी बायीं ओर नित्यकी भाँति साथ नाचनेको उसकी पत्नी खड़ी है।

'सपना काहेका? आपके सामने आपकी दासी मैं ही तो खड़ी हूँ। मुझे तो स्मरण नहीं कि मैं कब आगमें जली।' भीलनीने पतिकी बातोंसे आश्चर्य प्रकट किया।

भील-दम्पति अभी आश्चर्यसे छुटकारा नहीं पा सके थे कि एक दिव्य विमान आकाशसे उतरा और एक भगवान् शङ्करके पार्षदने दोनोंसे प्रार्थना की—'आपलोग कैलास पधारें। भगवान् गङ्गाधर आपका स्मरण कर रहे हैं।' और आदरपूर्वक दोनोंको विमानमें बैठाकर शिवपार्षद उन्हें शिवलोकको ले गये।

भक्त-वाणी

असंतोषः परं दुःखं संतोषं परमं सुखम्। सुखार्थी पुरुषस्तस्मात्सन्तुष्टः सततं भवेत्॥ —गौतम

संतोषरूपी अमृतके पानसे तृप्त शान्तचित्त पुरुषोंको जो सुख है, धनके लोभसे इधर-उधर दौड़नेवालोंके नसीबमें वह सुख कहाँ है। असंतोष ही परम दुःख है और संतोष ही परम सुख है। इसलिये सुख चाहनेवाले पुरुषको (भगवान्‌की दी हुई प्रत्येक स्थितिमें) सदा संतुष्ट रहना चाहिये।

शिवभक्त चाण्डाली

पुण्यतीर्थ गोकर्ण-क्षेत्रमें शिवरात्रिका पर्व है, असंख्य नर-नारी इस पावन पर्वपर भगवान् शिवके दर्शन-पूजनके लिये एकत्र हैं। अक्षत, चन्दन, बिल्वपत्र और पुष्प आदिसे पूजाका थाल सजाये श्रद्धालु भक्तजन मन्दिरकी ओर चले जा रहे हैं। 'भगवान् शिवकी जय!' 'हर! हर! महादेव!' आदिकी ध्वनिसे आकाशमण्डल गूँज उठा है। धार्मिक जनतामें आज उत्साह और उमङ्गकी अद्भुत लहर उठती दिखायी देती है।

मन्दिरसे कुछ ही दूरीपर एक चाण्डाली चकित, थकित, भयभीत-सी खड़ी है। जनसमाजके स्पर्शसे बचती हुई वह पीछे हटती जा रही है। शरीर अत्यन्त दुर्बल, कंकालमात्र रह गया है। गलित कुष्ठसे भरे हुए अङ्गोंपर मक्खियाँ भिनभिना रही हैं। बीभत्सताकी मूर्ति-सी वह वृद्धा रुग्णा नारी समस्त नर-नारियोंकी घृणाका पात्र हो रही है। शरीरपर रक्त और पीबसे सना फटा-पुराना वस्त्र दर्शकोंमें जुगुप्साका भाव उत्पन्न कर रहा है। जीवनसे ऊबकर उसने अनशन किया है या अन्नके अभावसे—यह कहना कठिन है। जैसे भी हो, शिवरात्रिके एक दिन पहलेसे ही वह निराहार है; लड़खड़ाती हुई मन्दिरके निकटतक आ गयी है। मनमें एक ही साध है, मेरे हाथका बिल्वपत्र भगवान्‌के चरणोंमें किसी प्रकार पहुँच जाता। किसी दयालु पुरुषने उसकी यह साध पूरी कर दी। मन-ही-मन उसने भगवान् शिवके स्वरूपका चिन्तन किया और मनसे ही उनकी सेवा-पूजा कर ली। दयासिन्धु महेश्वरने उसकी भाव-भक्तिकी भेंट स्वीकार कर ली।

भीड़ छँट गयी। दूरसे ही भगवान्‌का दर्शन करके उसने धरतीपर मस्तक रखकर प्रणाम किया और 'शिव-शिव' का जप करती हुई एक ओर चली गयी। रातभर उस क्षेत्रमें जागरण करके दूसरे दिन वह क्षेत्रसे बाहर निकली। दोपहरका समय है। भगवान् भास्कर तप रहे हैं। एक सरोवरके तटपर बरगदकी सघन छाया है। चाण्डाली वहाँतक आते-आते मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। जीवनी शक्तिने जवाब दे दिया। मृत्युकी घड़ी आ पहुँची। इसी समय आकाशसे एक दिव्य विमान उतरा। चारों ओर प्रकाश छा गया। विमान वहीं आकर आकाशमें रुक गया। महर्षि गौतम बड़ी देरसे उसी पेड़की छायामें बैठे थे। उन्होंने चाण्डालीकी वह दुर्दशा देखी और भगवान् शिवके पार्षदोंद्वारा लाये हुए उस दिव्य विमानपर भी दृष्टिपात किया। उनसे नहीं रहा गया। वे पूछ बैठे—'देवेश्वरो! आप भगवान् शिवके पार्षद हैं, आपको नमस्कार है। इस दिव्य विमानको लेकर आपलोग यहाँ कैसे रुके हैं? आपके मनमें कोई विनोद तो नहीं सूझा है?' भगवान् शिवके पार्षदोंने चाण्डालीकी ओर सङ्केत करके कहा—'हमलोग इसीको लेनेके लिये आये हैं।'

गौतमजीने चकित होकर पूछा—'अहो! यह तो आजीवन पाप-पङ्कमें डूबी रहनेके कारण अत्यन्त निन्दित चाण्डालयोनिमें उत्पन्न हुई है। इसके रोग ही बता रहे हैं कि पूर्वजन्ममें इसने बड़े-बड़े पाप किये होंगे। फिर आपलोग इसे दिव्यलोकमें ले जानेयोग्य कैसे मानते हैं? ईश्वरकी क्या लीला है, यह समझमें नहीं आता।'

भगवान् शिवके पार्षदोंने कहा—'मुने! आपका कहना ठीक है। पूर्वजन्ममें इसके द्वारा सचमुच बड़े भयंकर पाप हुए हैं, तथापि अब यह भगवान् शिवकी शरण ले चुकी है, उनके नामोंका इसने उच्चारण किया है। जो भगवान् शिवकी शरण ले लेता है और उनके नामोंका कीर्तन करता है, वह सब पातकोंसे तर जाता है। गोकर्णक्षेत्रमें उपवास करके रातमें इसने जागरण किया है और इसके हाथका बिल्वपत्र तथा मानसिक पूजन भगवान् शिवने स्वीकार किया है। इसी अनुपम पुण्यका अक्षय फल भोगनेके लिये यह आशुतोष शिवके मङ्गलमय धाममें जा रही है।'

ऐसा कहकर भगवान् शिवके दूतोंने उस जीवको चाण्डालयोनिसे खींचकर दिव्य नारीका शरीर प्रदान किया। वह तत्काल अद्भुत तेजसे सम्पन्न दिखायी देने लगी। दिव्य नारियोंने स्वागतपूर्वक उसे विमानपर बिठाया। चाण्डाली अब देवी हो गयी। उसके शरीरसे दिव्य सुगन्ध और दिव्य प्रकाश फैल रहे थे। विमानपर बैठकर वह साक्षात् नित्य शिव-धाममें पहुँचकर पार्वतीजीकी सहचरी हो गयी। उसकी वह दिव्य गति देखकर समस्त लोकपाल आश्चर्यसे चकित रह गये।

गन्धर्वराज पुष्पदन्त

शैव भारत ही नहीं, आसेतु हिमाचलके विशाल भूमि-भागमें शिवमहिम्नस्तोत्रकी जो प्रतिष्ठा है, जो पूज्य-भावना है, जो आदर-बुद्धि है, उससे सिद्ध होता है कि श्रीविष्णु और श्रीराम-कृष्णकी तरह ही भगवान् शिवका भी भारतीय मस्तिष्कपर पूर्ण प्रभाव रहता चला आया है। शिवमहिम्नस्तोत्र शिवविषयक साहित्यका अत्यन्त विशिष्ट और प्रधान अङ्ग है। इसके रचयिता परम शिवभक्त गन्धर्वराज पुष्पदन्त थे। शिवकी यश-भागीरथीमें उनकी पवित्र वाणीने अवगाहन कर शैव-जगत्को जो रत्न प्रदान किये हैं, वे भक्ति-साहित्यकी श्रीवृद्धिमें सदा अमूल्य योग देते रहेंगे।

गन्धर्वराज पुष्पदन्त प्रतिदिन प्रातःकाल ही एक राजाके उपवनसे ताजे पुष्प तोड़ लाया करते थे। राजा पुष्पोंको न पाकर मालियोंको कठोर दण्ड दिया करता था। मालियोंने बड़े-बड़े प्रयत्न किये, पर फूल ले जानेवालेका पता नहीं लगता था। वे सब इस निर्णयपर पहुँचे कि फूल ले जानेवाला उपवनमें आते ही किसी विशेष शक्तिकी कृपासे अदृश्य हो जाया करता है। सचिवोंने समस्याका समाधान निकाला; सर्वसम्मतिसे निश्चय हुआ कि 'उपवनके चारों ओर शिव-निर्माल्य फैला दिया जाय, शिव-निर्माल्यको लाँघते ही चोरकी अदृश्य होनेकी शक्ति क्षीण हो जायगी।' ऐसा ही किया गया। गन्धर्वराजको निर्माल्यका उल्लङ्घन करते ही मालियोंने देख लिया। वे पकड़ लिये गये, कारागारमें डाल दिये गये।

उन्हें जब यह पता चला कि 'मैंने शिव-निर्माल्य लाँघकर महान् अपराध किया है' उन्होंने भगवान् आशुतोषको प्रसन्न करने और उनकी दया प्राप्त करनेका दृढ़ संकल्प किया। एक दीन-हीनकी तरह, असमर्थ और सर्वथा विवश होकर गन्धर्वराजने भगवान् शिवका कारागारमें स्मरण किया। अपराध-मार्जनका एकमात्र उपाय शिवाराधन ही था। उन्होंने भगवान् शिवकी प्रसन्नताके लिये स्तोत्र रचा। आशुतोष भगवान् भोलेनाथकी तो गति न्यारी ही है, भक्तने सच्चे हृदयसे पुकारा था, योगियोंकी अखण्ड समाधि, मुनियों और ध्यानी ज्ञानियोंकी तपस्याकी भी उपेक्षा कर देनेवाले शङ्कर भक्तकी पुकारपर दौड़ पड़े। कारागारमें दिव्य प्रकाश छा गया। गन्धर्वराजने देखा कि भगवान् शिवके मस्तकपर गङ्गा मुसकरा रही हैं, कण्ठ नीला है, गौर वर्णपर सर्पोंकी मालाएँ बड़ी सुन्दर लग रही हैं, गजकी खालसे प्रतिक्षण उनकी सुन्दरता बढ़ती जा रही है। लोक-लोकान्तरकी समस्त सम्पदा उनके चरणोंपर लोट रही है। भगवान् शिवके साक्षात्कारने उनकी भीषण तपस्याको सफल कर दिया, उनका अपराध मिट गया। उन्होंने अनेक प्रकारसे उनकी स्तुति की। चरण-धूलि मस्तकपर चढ़ाकर निवेदन किया—'भगवन्! आपकी महिमाकी परमावधिको न जानते हुए यदि मेरी स्तुति अनुचित है तो सर्वज्ञ ब्रह्मा आदिकी वाणी भी तो पहले आपके यशःस्तवनमें थक चुकी है। ऐसी अवस्थामें स्तुति करनेवालेपर कोई दोष नहीं लगाया जा सकता। आपके स्तोत्रमें मेरा उद्योग अखण्ड और निर्विघ्न हो।' भगवान् शङ्करने भक्तको अभय-दान दिया। उनके जन्म-जन्मके बन्धन कट गये। दूसरे दिन राजाने कारागारमें स्वयं उपस्थित होकर उनके दर्शनसे अपने सौभाग्यकी सराहना की; जिन्हें भगवान् शिवने अपने दिव्य दर्शनसे मुक्त कर दिया, उनको कारागारमें बन्द रखनेका साहस दूसरा व्यक्ति भला, किस तरह कर सकता। राजाने उनसे अपने अपराधके लिये क्षमा माँगी।

गन्धर्वराज पुष्पदन्तकी गणना महान् शिवभक्तोंमें की जाती है। उन्होंने प्रभासक्षेत्रमें पुष्पदन्तेश्वर शिवलिङ्गकी स्थापना की थी। उन्होंने शिवमहिम्नस्तोत्रके रूपमें जो साहित्य दान किया है, उससे असंख्य जीवोंका कल्याण हो रहा है। शिवमहिम्नस्तोत्रके साथ-ही-साथ परम भक्तप्रवर गन्धर्वराज पुष्पदन्तका भी नाम अमिट और अमर है।

महान् भक्त विष्णुस्वामी

धर्मराज युधिष्ठिरके संवत् २५०० व्यतीत होनेपर अर्थात् विक्रमसे ६०० वर्ष पूर्व द्रविडदेशके एक क्षत्रिय राजाके मन्त्री भक्त ब्राह्मणने भगवान्की बड़ी आराधना करके विष्णुस्वामीको पुत्रके रूपमें प्राप्त किया था। कोई-कोई इनका समय विक्रमके बाद भी मानते हैं। भगवद्विभूतिस्वरूप होनेके कारण बचपनमें ही इनमें अलौकिक गुण प्रकट हुए थे। इनकी जैसी अद्भुत प्रतिभा थी, वैसा ही सुन्दर शरीर भी था। यज्ञोपवीत-संस्कारके अनन्तर थोड़े ही दिनोंमें इन्होंने सम्पूर्ण वेद-वेदाङ्ग, पुराणादिका यथावत् ज्ञान प्राप्त कर लिया। '**यो यदंशः स तं भजेत्**' के नियमानुसार अब ये परम सुखके अन्वेषणकी ओर अग्रसर हुए। इन्होंने मर्त्यलोकसे लेकर ब्रह्मलोकतकपर विचार किया, परंतु इन्हें इनकी अभीष्ट वस्तुके दर्शन नहीं हुए।

अन्ततः इन्होंने उपनिषदोंकी शरण ली। बृहदारण्यक-उपनिषद्के अध्याय ४ के ब्राह्मण ४ में '**स वा एष महानज आत्मा सर्वस्व वशी**'से लेकर '**एष सेतुर्विधारण एषां लोकानामसंभेदाय**' तक जो वर्णन हुआ है, उसीके अनुसार ईश्वरका निश्चय करके इन्होंने उपासना प्रारम्भ कर दी। इनका निश्चय दृढ़ था। प्रभुके साक्षात्कारपर इन्हें पूर्ण विश्वास था। इनकी उपासना बहुत दिनोंतक बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ एक-सी चलती रही; परंतु अभिलाषा पूर्ण न हुई।

अब इन्होंने भगवद्वियोगमें अन्न-जलका त्याग कर दिया, परंतु भगवत्सेवा पूर्ववत् चलती रही। छः दिन बीत गये, शरीर शिथिल पड़ गया, परंतु उत्साहमें न्यूनता नहीं आयी। सातवें दिन इनकी विरह-व्यथा इतनी तीव्र हो गयी कि इन्हें एक-एक क्षण कल्पके समान जान पड़ने लगा, जीना भारस्वरूप हो गया। तब इन्होंने अपने शरीरको विरहाग्निमें जला देनेका निश्चय किया। इसी समय इनका हृदय प्रकाशसे भर गया और भगवत्प्रेरणासे आँखें खुलनेपर इन्होंने—'**सन्तं वयसि कैशोरे**' आदि श्लोकोंमें वर्णित किशोराकृति, वेणुवादनतत्पर श्रृंगाररसमूर्ति, पीताम्बरधारी, सखीद्वयसेवित, त्रिभङ्गललित भगवान् श्यामसुन्दरका सुर-मुनिदुर्लभ दर्शन प्राप्त किया। उस समय इनकी जो दशा हुई, वह सर्वथा अवर्णनीय है। आनन्दपूर्ण हृदयसे इन्होंने भगवान्के चरणकमलोंपर सिर रख दिया एवं पुलकित शरीरसे अश्रुधारा बहाते हुए वहीं लोटने लगे। भगवान्ने इन्हें निज करकमलोंसे उठाकर हृदयसे लगाया एवं इनके सिर तथा पीठपर हाथ फेरकर कृतार्थ किया। थोड़ी देर बाद सँभलकर अञ्जलि बाँधकर इन्होंने भगवान्की स्तुति की। इनके मनमें उपनिषदोंके अभिप्रायके सम्बन्धमें कुछ सन्देह था, अतः उसका निवारण करनेके लिये भगवान्ने इन्हें अपने गुह्यतम तत्त्वका रहस्य बताया। भगवान्ने कहा—'अपने मनमें इस सन्देहको तो स्थान ही मत दो कि मुझ पुरुषोत्तम भगवान्के, जो तुम्हारे सामने साकाररूपसे, साक्षात् प्रत्यक्ष होकर बात कर रहा हूँ, अतिरिक्त भी कोई दूसरा तत्त्व है। इसी साकाररूपसे एक, अद्वितीय त्रिविधभेदशून्य अनिर्वचनीय परम तत्त्व मैं हूँ। माया, जगत् आदि कुछ नहीं, सब मैं ही हूँ। जितने विरुद्ध धर्म दीखते हैं, सब मुझमें हैं। मैं ही सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, सविशेष-निर्विशेष—सब कुछ हूँ। अतः यह शङ्का छोड़कर सर्वभावसे मेरा ही भजन करो।'

इसके पश्चात् विष्णुस्वामीसे भगवान्की बहुत देरतक बातचीत होती रही। इन्होंने आग्रह किया कि 'अब आप अन्तर्धान न हों, सर्वदा मुझे दर्शन दिया करें या अपने साथ ले चलें।' भगवान्को तो इनसे भक्तिका प्रचार कराना था। अतः एक मूर्ति बनानेवालेको बुलाकर दर्शन दिया और वैसी ही मूर्ति बनाकर स्थापित करके अर्चा-सेवा करनेका आदेश दिया और स्वयं उसमें प्रवेश कर गये। विष्णुस्वामी उस विग्रहको साक्षात् भगवद्रूप मानकर अर्चा-पूजा करते हुए आनन्दसे जीवन बिताने लगे। ये '**श्रीकृष्ण तवास्मि**' इस मन्त्रका जप करते थे।

भगवत्प्रेरणासे भक्तिकी संवर्द्धना करते-करते इनकी वृद्धावस्था आ गयी, तब इन्होंने शास्त्रमर्यादाके रक्षणके लिये त्रिदण्डसंन्यास ग्रहण किया और भगवच्चिन्तन करते-करते भगवान्के नित्यधाममें प्रवेश किया।

इनके सम्प्रदायमें सात सौ आचार्य हुए हैं, उनमें एक बिल्वमंगल भी थे। ये बिल्वमंगल तीन-चार प्रसिद्ध बिल्वमंगलोंसे भिन्न हैं। जब इनके उपदेशसे अनधिकारी भी भक्तिराज्यमें प्रवेश करने लगे, तब इन्हें संसारकी व्यवस्था ठीक करनेके लिये अन्तर्धान होकर रहनेकी आज्ञा हुई। जिस समय आचार्य वल्लभ एक-दूसरे मतमें मिलने जा रहे थे, तब स्वप्नमें प्रकट होकर बिल्वमंगलने उन्हें भगवान्‌का आदेश बताया और शुद्धाद्वैत अथवा पुष्टिमार्गका उपदेश किया।

इन्हीं श्रीविष्णुस्वामीके सिद्धान्तके आधारपर आचार्य वल्लभने अपना सिद्धान्त स्थिर किया और समय-समयपर भगवान्‌ने उनके सामने प्रकट होकर उसका समर्थन किया।

भगवान् शङ्कराचार्य

शङ्करावतार भगवान् श्रीशङ्कराचार्यके जन्मसमयके सम्बन्धमें बड़ा मतभेद है। कुछ लोगोंके मतानुसार ईसासे पूर्वकी छठी शताब्दीसे लेकर नवम शताब्दीपर्यन्त किसी समय इनका आविर्भाव हुआ था। 'कल्याण'के 'वेदान्ताङ्क'में यह सिद्ध किया है कि आचार्यपादका जन्मसमय ईसासे लगभग चार सौ वर्ष पूर्व ही है। मठोंकी परम्परासे भी यही बात प्रमाणित होती है। अस्तु, किसी भी समय हो, केरल प्रदेशके पूर्णा नदीके तटवर्ती कलान्दी नामक गाँवमें बड़े विद्वान् और धर्मनिष्ठ ब्राह्मण श्रीशिवगुरुकी धर्मपत्नी श्रीसुभद्रा* माताके गर्भसे वैशाख शुक्ल पञ्चमीके दिन इन्होंने जन्म ग्रहण किया था। इनके जन्मके पूर्व वृद्धावस्था निकट आ जानेपर भी इनके माता-पिता सन्तानहीन ही थे। अतः उन्होंने बड़ी श्रद्धाभक्तिसे भगवान् शङ्करकी आराधना की। उनकी सच्ची और आन्तरिक आराधनासे प्रसन्न होकर आशुतोष देवाधिदेव भगवान् शङ्कर प्रकट हुए और उन्हें एक सर्वगुणसम्पन्न पुत्ररत्न होनेका वरदान दिया। इसीके फलस्वरूप न केवल एक सर्वगुणसम्पन्न पुत्र ही, बल्कि स्वयं भगवान् शङ्करको ही इन्होंने पुत्ररूपमें प्राप्त किया। नाम भी उनका शङ्कर ही रखा गया।

बालक शङ्करके रूपमें कोई महान् विभूति अवतरित हुई है, इसका प्रमाण बचपनसे ही मिलने लगा। एक वर्षकी अवस्था होते-होते बालक शङ्कर अपनी मातृभाषामें अपने भाव प्रकट करने लगे और दो वर्षकी अवस्थामें मातासे पुराणादिकी कथा सुनकर कण्ठस्थ करने लगे। तीन वर्षकी अवस्थामें उनका चूडाकर्म करके उनके पिता स्वर्गवासी हो गये। पाँचवें वर्षमें यज्ञोपवीत करके उन्हें गुरुके घर पढ़नेके लिये भेज दिया गया और केवल सात वर्षकी अवस्थामें ही वेद, वेदान्त और वेदाङ्गोंका पूर्ण अध्ययन करके वे घर वापस आ गये। उनकी असाधारण प्रतिभा देखकर उनके गुरुजन आश्चर्यचकित रह गये।

विद्याध्ययन समाप्तकर शङ्करने संन्यास लेना चाहा; परंतु जब उन्होंने मातासे आज्ञा माँगी तब उन्होंने नाहीं कर दी। शङ्कर माताके बड़े भक्त थे, उन्हें कष्ट देकर संन्यास लेना नहीं चाहते थे। एक दिन माताके साथ वे नदीमें स्नान करने गये। उन्हें एक मगरने पकड़ लिया। इस प्रकार पुत्रको सङ्कटमें देखकर माताके होश उड़ गये। वह बेचैन होकर हाहाकार मचाने लगी। शङ्करने मातासे कहा—'मुझे संन्यास लेनेकी आज्ञा दे दो तो मगर मुझे छोड़ देगा।' माताने तुरंत आज्ञा दे दी और मगरने शङ्करको छोड़ दिया। इस तरह माताकी आज्ञा प्राप्तकर वे आठ वर्षकी उम्रमें ही घरसे निकल पड़े। जाते समय माताकी इच्छाके अनुसार यह वचन देते गये कि 'तुम्हारी मृत्युके समय मैं घरपर उपस्थित रहूँगा।'

घरसे चलकर शङ्कर नर्मदा-तटपर आये और वहाँ स्वामी गोविन्द भगवत्पादसे दीक्षा ली। गुरुने इनका नाम भगवत्पूज्यपादाचार्य रखा। इन्होंने गुरूपदिष्ट मार्गसे साधना आरम्भ कर दी और अल्पकालमें ही बहुत बड़े योगसिद्ध महात्मा हो गये। इनकी सिद्धिसे प्रसन्न होकर गुरुने इन्हें

* कहीं-कहीं इनका नाम 'विशिष्टा' भी मिलता है। सम्भवतः दो नाम रहे हों।

काशी जाकर वेदान्तसूत्रका भाष्य लिखनेकी आज्ञा दी और तदनुसार ये काशी चले गये। काशी आनेपर इनकी ख्याति बढ़ने लगी और लोग आकर्षित होकर इनका शिष्यत्व भी ग्रहण करने लगे। इनके सर्वप्रथम शिष्य सनन्दन हुए, जो पीछे पद्माचार्यके नामसे प्रसिद्ध हुए। काशीमें शिष्योंको पढ़ानेके साथ-साथ ये ग्रन्थ भी लिखते जाते थे। कहते हैं, एक दिन भगवान् विश्वनाथने चाण्डालके रूपमें इन्हें दर्शन दिये और इनके पहचानकर प्रणाम करनेपर ब्रह्मसूत्रपर भाष्य लिखने और धर्मके प्रचार करनेका आदेश दिया।

इसके बाद इन्होंने काशी, कुरुक्षेत्र, बदरिकाश्रम आदिकी यात्रा की, विभिन्न मतवादियोंको परास्त किया और बहुत-से ग्रन्थ लिखे। प्रयाग आकर कुमारिलभट्टसे उनके अन्तिम समयमें भेंट की और उनकी सलाहसे माहिष्मतीमें मण्डन मिश्रके पास जाकर शास्त्रार्थ किया। शास्त्रार्थमें मण्डनकी पत्नी भारती मध्यस्था थीं। अन्तमें मण्डनने शङ्कराचार्यका शिष्यत्व ग्रहण किया और उनका नाम सुरेश्वराचार्य पड़ा। तत्पश्चात् आचार्यने विभिन्न मठोंकी स्थापना की और उनके द्वारा औपनिषद-सिद्धान्तकी शिक्षा-दीक्षा होने लगी।

एक बार एक कापालिकने आचार्यसे एकान्तमें प्रार्थना की कि 'आप तत्त्वज्ञ हैं, आपको शरीरका मोह नहीं; मैं एक ऐसी साधना कर रहा हूँ, जिससे मुझे एक तत्त्वज्ञके सिरकी आवश्यकता है; यदि आप देना स्वीकार करें तो मेरा मनोरथ पूर्ण हो जाय।' आचार्यने कहा—'भाई! किसीको मालूम न होने पाये; मैं अभी समाधि लगा लेता हूँ, तुम सिर काट ले जाना।' आचार्यने समाधि लगायी और वह सिर काटनेवाला ही था कि पद्माचार्यके इष्टदेव नृसिंहभगवान्‌ने ध्यान करते समय उन्हें सूचना दे दी और पद्मपादने आवेशमें आकर उसे मार डाला।

आचार्यने अनेकों मन्दिर बनवाये, अनेकोंको सन्मार्गमें लगाया और कुमार्गका खण्डन करके भगवान्‌के वास्तविक स्वरूपको प्रकट किया। इन्होंने मार्गमें सभी मतोंकी उपयोगिता यथास्थान स्वीकार की है। और सभी साधनोंसे अन्तःकरण शुद्ध होता है, ऐसा माना है। अन्तःकरण शुद्ध होनेपर ही वास्तविकताका बोध हो सकता है। अशुद्ध बुद्धि और मनके निश्चय एवं संकल्प भ्रमात्मक ही होते हैं। अतः इनके सिद्धान्तमें सच्चा ज्ञान प्राप्त करना ही परम कल्याण है और उसके लिये अपने धर्मानुसार कर्म, योग, भक्ति अथवा और भी किसी मार्गसे अन्तःकरणको शुद्ध बनाते हुए वहाँतक पहुँचना चाहिये।

भगवान् शङ्करने भक्तिको ज्ञानप्राप्तिका प्रधान साधन माना है, तथापि वे स्वयं बड़े भक्त थे। कुछ लोग उन्हें 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहते हैं; परन्तु वस्तुतः वे ज्ञानसिद्धान्तके अन्तरालमें छिपे 'महान् भक्त' थे। अतः उन्हें 'प्रच्छन्न भक्त' कह सकते हैं। प्रबोधसुधाकरके नीचे उद्धृत श्लोकोंसे तो यह सिद्ध होता है कि आचार्यपाद भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य भक्त थे और उनकी वनभोजन-लीलाकी झाँकी किया करते थे और उनसे प्रार्थना करते थे। नीचे उस झाँकी तथा प्रार्थनाको देखिये—

भगवान्‌की झाँकी

यमुनातटनिकटस्थितवृन्दावनकानने महारम्ये।
कल्पद्रुमतलभूमौ चरणं चरणोपरि स्थाप्य॥
तिष्ठन्तं घननीलं स्वतेजसा भासयन्तमिह विश्वम्।
पीताम्बरपरिधानं चन्दनकर्पूरलिप्तसर्वाङ्गम्॥
आकर्णपूर्णनेत्रं कुण्डलयुगमण्डितश्रवणम्।
मन्दस्मितमुखकमलं सुकौस्तुभोदारमणिहारम्॥
वलयाङ्गुलीयकाद्यानुज्ज्वलयन्तं स्वलङ्कारान्।
गलविलुलितवनमालं स्वतेजसापास्तकलिकालम्॥
गुञ्जारवालिकलितं गुञ्जापुञ्जान्विते शिरसि।
भुञ्जानं सह गोपैः कुञ्जान्तरवर्तिनं हरिं स्मरत॥

'श्रीयमुनाजीके तटपर स्थित वृन्दावनके किसी महामनोहर बगीचेमें जो कल्पवृक्षके नीचेकी भूमिमें चरणपर चरण रखे बैठे हैं, जो मेघके समान श्यामवर्ण हैं और अपने तेजसे इस निखिल ब्रह्माण्डको प्रकाशित कर रहे हैं, जो सुन्दर पीताम्बर धारण किये हुए हैं तथा समस्त शरीरमें कर्पूरमिश्रित चन्दनका लेप लगाये हुए हैं, जिनके कर्णपर्यन्त विशाल नेत्र हैं, कान कुण्डलके जोड़ेसे सुशोभित हैं, मुखकमल मन्द-मन्द मुसका रहा है तथा जिनके वक्षःस्थलपर कौस्तुभमणियुक्त सुन्दर हार है और जो अपनी कान्तिसे कङ्कण और अँगूठी आदि सुन्दर

आभूषणोंकी भी शोभा बढ़ा रहे हैं, जिनके गलेमें वनमाला लटक रही है और अपने तेजसे जिन्होंने कलिकालको परास्त कर दिया है तथा जिनका गुञ्जावलिविभूषित मस्तक गूँजते हुए भ्रमरसमूहसे सुशोभित है, किसी कुञ्जके भीतर बैठकर ग्वालबालोंके साथ भोजन करते हुए उन श्रीहरिका स्मरण करो।'

मन्दारपुष्पवासितमन्दानिलसेवितं परानन्दम्।
मन्दाकिनीयुतपदं नमत महानन्ददं महापुरुषम्॥

'जो कल्पवृक्षके पुष्पोंकी गन्धसे युक्त मन्द-मन्द वायुसे सेवित हैं, परमानन्दस्वरूप हैं तथा जिनके चरणकमलोंमें श्रीगङ्गाजी विराजमान हैं, उन महानन्ददायक महापुरुषको नमस्कार करो।'

सुरभीकृतदिग्वलयं सुरभिशतैरावृतं सदा परितः।
सुरभीतिक्षपणमहासुरभीमं यादवं नमत॥

'जिन्होंने समस्त दिशाओंको सुगन्धित कर रखा है, जो चारों ओरसे सैकड़ों कामधेनु गौओंसे घिरे हुए हैं तथा देवताओंके भयको दूर करनेवाले और बड़े-बड़े राक्षसोंके लिये भयङ्कर हैं, उन यदुनन्दनको नमस्कार करो।'

कन्दर्पकोटिसुभगं वाञ्छितफलदं दयार्णवं कृष्णम्।
त्यक्त्वा कमन्यविषयं नेत्रयुगं द्रष्टुमुत्सहते॥

'जो करोड़ों कामदेवोंसे भी सुन्दर हैं, वाञ्छित फलके देनेवाले हैं, दयाके समुद्र हैं, उन श्रीकृष्णचन्द्रको छोड़कर ये नेत्रयुगल और किस विषयको देखनेके लिये उत्सुक होते हैं?'

ब्रह्माण्डानि बहूनि पङ्कजभवान् प्रत्यण्डमत्यद्भुतान्
गोपान् वत्सयुतानदर्शयदजं विष्णूनशेषांश्च यः।
शम्भुर्यच्चरणोदकं स्वशिरसा धत्ते च मूर्तित्रयात्
कृष्णो वै पृथगस्ति कोऽप्यविकृतः सच्चिन्मयो नीलिमा॥

'जिन्होंने ब्रह्माजीको अनेक ब्रह्माण्ड, प्रत्येक ब्रह्माण्डमें पृथक्-पृथक् अति अद्भुत ब्रह्मा, वत्सोंके सहित समस्त गोप तथा [भिन्न-भिन्न ब्रह्माण्डोंके] समस्त विष्णु दिखाये और जिनके चरणोदकको श्रीशङ्कर अपने सिरपर धारण करते हैं, वे श्रीकृष्ण त्रिमूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु, महेश)-से भिन्न कोई अविकारिणी सच्चिदानन्दमयी नीलिमा हैं।'

कृपापात्रं यस्य त्रिपुररिपुरम्भोजवसतिः
सुता जह्नोः पूता चरणनखनिर्णेजनजलम् ।
प्रदानं वा तस्य त्रिभुवनपतित्वं विभुरपि
निदानं सोऽस्माकं जयति कुलदेवो यदुपतिः॥

'त्रिपुरारि शिव और कमलासन ब्रह्मा जिनकी कृपाके पात्र हैं, परमपावनी श्रीगङ्गाजी जिनके चरणनखका धोवन हैं तथा त्रिलोकीका राज्य जिनका दान है, वे सर्वव्यापक और हम सबके आदिकारण तथा कुलदेव श्रीयदुनाथ सदा विजयी हो रहे हैं।'

मायाहस्तेऽर्पयित्वा भरणकृतिकृते मोहमूलोद्भवं मां
मातः कृष्णाभिधाने चिरसमयमुदासीनभावं गतासि।
कारुण्यैकाधिवासे सकृदपि वदनं नेक्षसे त्वं मदीयं
तत्सर्वज्ञे न कर्तुं प्रभवति भवती किं नु मूलस्य शान्तिम्॥

'हे कृष्णनाम्नी मातेश्वरि! मोहरूपी मूलनक्षत्रमें उत्पन्न हुए मुझ पुत्रको भरण-पोषणके लिये मायाके हाथोंमें सौंपकर तू बहुत दिनोंसे मेरी ओरसे उदासीन हो गयी है। अरी! एकमात्र करुणामयी मैया! तू एक बार भी मेरे मुखकी ओर नहीं देखती? हे सर्वज्ञे! क्या तू उस मोहरूपी मूलकी शान्ति करनेमें समर्थ नहीं है?'

नित्यानन्दसुधानिधेरधिगतः सन्नीलमेघः सता-
मौत्कण्ठ्यप्रबलप्रभञ्जनभरैराकर्षितो वर्षति।
विज्ञानामृतमद्भुतं निजवचोधाराभिराराददिदं
चेतश्चातक चेन्न वाञ्छसि मृषाक्रान्तोऽसि सुप्तोऽसि किम्॥

'नित्यानन्दरूपी अमृतके समुद्रसे निकला हुआ और सज्जनोंकी उत्कण्ठारूप प्रबल वायुसे उड़ाकर लाया हुआ सत्स्वरूप नील मेघ तेरे पास ही अद्भुत विज्ञानामृतकी अपने वचनरूपी धाराओंसे वर्षा कर रहा है। अरे चित्तरूपी पपीहे! यदि तुझे उसे पीनेकी इच्छा नहीं होती तो तुझे व्यर्थ ही किसीने पकड़ रखा है, या तू सो गया है?'

चेतश्चञ्चलतां विहाय पुरतः सन्धाय कोटिद्वयं
तत्रैकत्र निधेहि सर्वविषयानन्यत्र च श्रीपतिम्।
विश्रान्तिर्हितमप्यहो क्व नु तयोर्मध्ये तदालोच्यतां
युक्त्या वानुभवेन यत्र परमानन्दश्च तत्सेव्यताम्॥

'अरे चित्त! चञ्चलताको छोड़कर अपने सामने तराजूके दोनों पलड़ोंको रख; उनमेंसे एकमें समस्त विषयोंको और दूसरेमें भगवान् श्रीपतिको रख। उन दोनोंमेंसे किसमें अधिक शान्ति और हित है—इसका

विचार कर, और युक्ति तथा अनुभवसे जिसमें परमानन्दकी प्रतीति हो, उसीका सेवन कर।'

काम्योपासनयार्थयन्त्यनुदिनं किञ्चित्फलं स्वेप्सितं
केचित्स्वर्गमथापवर्गमपरे योगादियज्ञादिभिः।
अस्माकं यदुनन्दनाङ्घ्रियुगलध्यानावधानार्थिनां
किं लोकेन दमेन किं नृपतिना स्वर्गापवर्गैश्च किम्॥

'कोई लोग तो सकाम उपासनाके द्वारा नित्यप्रति अपने किसी अभीष्ट फलकी प्रार्थना किया करते हैं और कोई योग तथा यज्ञादि अन्य साधनोंसे स्वर्ग और अपवर्गकी याचना करते हैं; किंतु श्रीयदुनाथके चरणकमलोंके ध्यानमें ही सदा लगे रहनेके इच्छुक हमलोगोंको लोकसे, दमसे, राजासे, स्वर्गसे और मोक्षसे क्या काम है।'

सुतरामनन्यशरणाः क्षीराद्याहारमन्तरा यद्वत्।
केवलया स्नेहदृशा कच्छपतनयाः प्रजीवन्ति॥

'जिनका कोई अन्य आश्रय नहीं है, ऐसे कछुईके बच्चे जिस प्रकार दूध आदि आहारके बिना ही केवल माताकी स्नेहदृष्टिसे ही पलते हैं, उसी प्रकार अनन्य भक्त भी भगवान्‌की दयादृष्टिके सहारे ही जीवन-निर्वाह करते हैं।'

इससे भगवान् श्रीकृष्णके सम्बन्धमें इनकी अनुभूति और भक्तिका पता लग जाता है। इनके द्वारा रचित ग्रन्थोंकी बड़ी लम्बी सूची है। परंतु प्रधान-प्रधान ग्रन्थ ये हैं--ब्रह्मसूत्रभाष्य, उपनिषद् (ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, नृसिंहपूर्वतापनीय, श्वेताश्वतर आदि)-भाष्य, गीताभाष्य, विष्णुसहस्रनामभाष्य, सनत्सुजातीयभाष्य, हस्तामलकभाष्य, ललितात्रिशतीभाष्य, विवेकचूडामणि, प्रबोधसुधाकर, उपदेशसाहस्री, अपरोक्षानुभूति, शतश्लोकी, दशश्लोकी, सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह, वाक्यसुधा, पञ्चीकरण, प्रपञ्चसार, आत्मबोध, मनीषापञ्चक, आनन्दलहरी, विविध स्तोत्र इत्यादि।

इनका सिद्धान्त भी बहुत ऊँचा था तथा अधिकारी पुरुषोंके ही समझनेकी चीज है। सभी देशोंके दार्शनिकोंने उसके सामने सिर झुकाया है और सभी विचारशीलोंने मुक्त कण्ठसे उसकी महिमाका गान किया है।

आचार्य श्रीकण्ठ

श्रीकण्ठाचार्यके जीवनके सम्बन्धमें विशेष कोई बात नहीं मिलती। अनुमान होता है कि उनका जन्म कहीं दक्षिण भारतमें हुआ था और वे चौथी शताब्दीके अन्तिम भागसे लेकर पाँचवीं शताब्दीके आरम्भतक वर्तमान थे। कुछ लोगोंका मत है कि श्रीकण्ठ श्रीशङ्करसे भी पहले हुए थे; परंतु यह बात उतनी प्रामाणिक नहीं मालूम होती। श्रीरामानुज, श्रीमध्व आदि सब आचार्योंसे तो वे अवश्य ही पहले हुए थे; परंतु श्रीशङ्करसे वे बादमें ही हुए थे। श्रीकण्ठने स्पष्टरूपमें अपने भाष्यमें श्रीशङ्करमतका उल्लेख किया है। इससे मालूम होता है, वे श्रीशङ्करके बाद ही हुए थे।

श्रीकण्ठके विषयमें अप्पय्य दीक्षितने अपने ग्रन्थ 'शिवार्कमणिदीपिका' में लिखा है—

महापाशुपतज्ञानसम्प्रदायप्रवर्तकान्।
अंशावतारानीशस्य योगाचार्यानुपास्महे॥

इससे मालूम होता है कि श्रीकण्ठ एक महान् शिवभक्त तथा परम योगी थे और वे भगवान् शिवके अंशावतार माने जाते थे। उन्होंने ब्रह्मसूत्रपर जो 'शैवभाष्य' लिखा है, उससे उनके अगाध पाण्डित्यका परिचय मिलता है। अप्पय्य दीक्षितने श्रीकण्ठको दहरविद्याका उपासक लिखा है। उनकी असाधारण शिवभक्ति भी उनके ग्रन्थोंमें सर्वत्र परिस्फुटित हुई है।

श्रीकण्ठने दो ग्रन्थोंकी रचना की—ब्रह्मसूत्रका भाष्य और मृगेन्द्रसंहिताकी वृत्ति। श्रीकण्ठका भाष्य ही शैवभाष्य कहलाता है। इस भाष्यके विषयमें स्वयं श्रीकण्ठने लिखा है—'**मधुरो भाष्यसन्दर्भो महार्थो नातिविस्तरः।**'

वास्तवमें उस भाष्यकी भाषा बड़ी मधुर तथा प्राञ्जल है और वह संक्षेपमें ही लिखा गया है।

श्रीअभिनवगुप्ताचार्य

श्रीअभिनवगुप्ताचार्यका जन्म काश्मीरमें हुआ था। उन्होंने अपने गीताभाष्यमें अपने वंशका परिचय दिया है। वररुचि-जैसे विद्वान् और ज्ञानी कात्यायन उनके पूर्वज थे। उनके वंशमें स्थिरबुद्धि और अत्यन्त विद्वान् सौचुकने जन्म ग्रहण किया था। सौचुकके पुत्र महात्मा श्रीभूतिराज थे। भूतिराजकी प्रतिभासे समस्त लोक आलोकित हो उठा था। उन्हींके चरणारविन्दके मधुप अभिनवगुप्त थे। वे स्वयं भी बहुत बड़े विद्वान् और भगवद्भक्त थे। उन्होंने भगवान्का साक्षात्कार किया था और इसी कारण गीताका अर्थ लिखनेमें समर्थ हुए थे। उन्होंने यह भी लिखा है कि ब्राह्मणोंके अनुरोधसे मैंने गीताभाष्य लिखा। गीताभाष्यके अन्तमें उन्होंने शिवके साथ अपनी अभिन्नता प्रकट की है। वे लिखते हैं—

अभिनवरूपा शक्तिस्तद्गुप्तो यो महेश्वरो देवः।
तदुभयथात्मकरूपमभिनवगुप्तं शिवं वन्दे॥

अभिनवगुप्ताचार्यके गीताभाष्यका नाम 'गीतार्थसंग्रह' है। इसके अतिरिक्त उन्होंने शिवसूत्रकी व्याख्या भी लिखी थी; परंतु यह कहींसे प्रकाशित हुई या नहीं, मालूम नहीं।

महाराज भर्तृहरि

योगिराज भर्तृहरिका पवित्र नाम वैराग्यका ज्वलन्त प्रतीक है। वे त्याग, वैराग्य और तपके प्रतिनिधि थे। हिमालयसे कन्याअन्तरीपतकके भूमिभागमें उनकी पद्यबद्ध पवित्र जीवन-गाथा भिन्न-भिन्न भाषाओंमें योगियों और वैरागियोंद्वारा एक अनिश्चित कालसे गायी जा रही है और भविष्यमें भी बहुत दिनोंतक यही क्रम चलता रहेगा।

महाराज भर्तृहरि निःसन्देह विक्रमकी पहली सदीमें उपस्थित थे। उज्जैनके अधिपति थे। उनके पिता महाराज गन्धर्वसेन बहुत योग्य शासक थे। उनके दो विवाह हुए। पहलेसे महाराज भर्तृहरि और दूसरेसे महाराज विक्रमादित्य हुए थे। पिताकी मृत्युके बाद भर्तृहरिने राजकार्य सँभाला। विक्रमके सबल कन्धोंपर शासनभार सन्निहित कर वे निश्चिन्त हो गये। उनका जीवन कुछ विलासी हो गया था। वे असाधारण कवि और राजनीतिज्ञ तथा संस्कृतके प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने अपने पाण्डित्य और नीतिज्ञता तथा काव्य-ज्ञानका सदुपयोग शृङ्गार और नीतिपूर्ण रचना तथा साहित्यसंवर्धनमें किया। विक्रमादित्यने उनकी विलासी मनोवृत्तिके प्रति विद्रोह किया। देश उस समय विदेशी आक्रमणसे भयाक्रान्त था, समाज और धर्मपर बौद्धधर्मके विकृत रूपका ताण्डव हो रहा था। भर्तृहरिने विक्रमादित्यको राज्यसे निर्वासित कर दिया, पर समय सबसे अधिक बलवान् होता है। विधाताने भर्तृहरिके भालमें योग-लिपि लिखी थी। एक दिन जब उन्हें पूर्णरूपसे पता चल गया कि जिस पिङ्गलाको वे प्राणोंसे भी प्रिय समझते हैं, वह तो काली नागिन है—वह तो अश्वशालाके अध्यक्षके प्रेम-पाशमें आबद्ध है—उनको वैराग्य हो गया। वे असार-संसारका त्याग करके राजमहलसे बाहर निकल पड़े। उन्हें विश्वास हो गया कि 'विषय-भोगमें रोगका भय है, कुलमें च्युतिका, धनमें राज्यका, शास्त्रमें विवादका, गुणमें दुर्जनका, शरीरमें मृत्युका—यों संसारकी सभी वस्तुएँ भयावह हैं, केवल वैराग्य ही अभय है।' उनके शृङ्गार और नीतिपरक जीवनमें वैराग्यका समावेश हो गया, उनके अधरोंपर शिवनामामृततरङ्गिणीका नृत्य होने लगा, तृष्णा और वासनाने त्याग और तपस्याकी विशेषता सिद्ध की। उन्होंने अपने आत्मामें परमात्माकी व्याप्ति पायी, ब्रह्मानुभूति की, वेदान्तके सत्यका वरण किया। उन्होंने अपने-आपको धिक्कारा कि 'विषयोंको हमने नहीं भोगा है, उन्होंने हमें ही भोग डाला है; हमने तप नहीं किया, तपोंने हमको ही तपा डाला है; कालका अन्त नहीं हुआ, उसीने हमारा अन्त कर डाला है; हम जीर्ण हो चले, पर तृष्णाका अभाव नहीं हुआ।' उनका जीवन साधनमय और ज्ञानपूर्ण हो उठा। उन्होंने शिवतत्त्वकी प्राप्ति की। ज्ञानोदयने शिवके रूपमें उन्हें शान्तिका अधिकारी बनाया।

संसारके आघात-प्रतिघातसे दूर रहकर उन्होंने ब्रह्मके शिवरूपकी साधना की, वैराग्यका अद्भुत सागर उँडेलकर आध्यात्मिक चेतनाको नया जीवन दिया। उन्होंने दसों दिशाओं और तीनों कालोंमें परिपूर्ण, अनन्त चैतन्यस्वरूप अनुभवगम्य, शान्त और तेजोमय ब्रह्मकी उपासना की। विरक्ति ही उनकी एकमात्र सङ्गिनी हो चली। महादेव ही उनके एकमात्र देव थे। वे आशाकी कर्मनासासे पार होकर भक्तिकी भागीरथीमें गोते लगाने लगे।

उन्होंने शृङ्गार-नीति-शास्त्रोंकी तो रचना की ही थी, अब उन्होंने वैराग्यशतककी रचना की। व्याकरण-शास्त्रका परम प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' उनके महान् पाण्डित्यका परिचायक है। वे शब्द-विद्याके मौलिक आचार्य थे। शब्द 'ब्रह्म' का साक्षात् रूप है। अतएव वे 'शिवभक्त' होनेके साथ-ही-साथ 'शब्दभक्त' भी थे। शब्द-ब्रह्मका ही अर्थरूप नानात्मक जगत्-विवर्त है। योगी शब्दब्रह्मसे तादात्म्य हो जानेको मोक्ष मानते हैं। भर्तृहरि शब्द-ब्रह्मके योगी थे। उनका वैराग्यदर्शन परमात्माके साक्षात्कारका पर्याय है।

उनकी समाधि अलवर राज्यके एक सघन वनमें अब भी विद्यमान है। उसके सातवें दरवाजेपर एक अखण्ड दीपक जलता रहता है। उसे 'भर्तृहरिकी ज्योति' स्वीकार किया जाता है। भर्तृहरि महान् शिवभक्त और सिद्ध योगी थे।
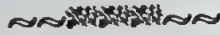
श्रीविष्णुचित्त (पेरि-आळवार)

आळवार भक्तोंमें श्रीविष्णुचित्तका नाम पहले आता है। इनका प्रसिद्ध नाम 'पेरि-आळवार' (महान् आळवार) है, जिनके पदोंको वैष्णवलोग मङ्गलाचरणके रूपमें देखते हैं।

पाण्ड्यवंशके बलदेव नामक राजा थे, जो मदुरा और तिन्नेवेली जिलोंपर शासन करते थे। उन दिनों राजालोग अपनी प्रजाके हितका इतना अधिक ध्यान रखते थे कि बहुधा प्रजाके कष्टोंका पता लगाने और उनका निवारण करनेके लिये रात्रिके समय भेष बदलकर घूमा करते थे। बलदेव भी प्रजाको किसी प्रकारका कष्ट न हो, इस बातका बड़ा ध्यान रखते थे। एक दिन रातके समय जब वे मदुरा नगरीमें इसी प्रकार भेष बदलकर घूम रहे थे, उन्होंने किसी आगन्तुकको एक वृक्षके नीचे विश्राम करते देखा। राजाने आगन्तुकसे पूछा—'तुम कौन हो और कहाँसे आये हो?' आगन्तुकने कहा—'महाशय! मैं एक ब्राह्मण हूँ, गङ्गा-स्नान करके मैं अब सेतू नदीमें स्नान करनेके लिये जा रहा हूँ। रातभर विश्राम करनेके लिये यहाँ ठहर गया हूँ।' राजाने कहा—'अच्छी बात है, आपकी बातोंसे मालूम होता है कि आप बड़े विद्वान् हैं और देशाटन किये हुए हैं। अतः आप मुझे अपने अनुभवकी कोई बात कहिये।' आगन्तुकने कहा, अच्छा सुनिये—

वर्षार्थमष्टौ प्रयतेत मासान्निशार्थमर्धं दिवसं यतेत।
वार्द्धक्यहेतोर्वयसा नवेन परत्रहेतोरिह जन्मना च॥

राजाने कहा—'कृपया इसका अर्थ समझाइये।' आगन्तुकने कहा, 'मनुष्यको चाहिये कि आठ महीनेतक खूब परिश्रम करे, जिससे वह वर्षा-ऋतुमें सुखपूर्वक खा सके, दिनभर इसलिये परिश्रम करे कि रातमें सुखकी नींद सो सके, जवानीमें बुढ़ापेके लिये संग्रह करे और इस जन्ममें परलोकके लिये कमाई करे।' राजाने कहा—'ब्राह्मणदेवता! आप बहुत ठीक कहते हैं, मुझे अपनी भूल मालूम हो गयी। हाय! मैंने अपने अबतकके जीवनको संसारके पचड़ेमें फँसाकर व्यर्थ ही खोया। अब मेरी बड़ी अभिलाषा है कि मैं उन गुणोंका अर्जन करूँ, जिनसे मुझे सच्चा सुख प्राप्त हो सके। कृपा करके आप तीर्थयात्रासे लौटकर जल्दी आइये और कुछ दिन मेरे पास रहकर मुझे सच्चा मार्ग दिखलाइये।'

ब्राह्मण राजाको भक्तिमार्गकी दीक्षा देकर वहाँसे विदा हो गये। अब राजाके हृदयमें परमात्माके तत्त्वको जाननेकी उत्कण्ठा जाग्रत् हो गयी। उन्होंने अपने पुरोहित चेल्वनम्बिको बुलाया, जो बड़े सदाचारी और सच्चे विष्णुभक्त थे और कहा—'महाराज! मैं धर्माचरण करके अपने जीवनको सुधारना चाहता हूँ, जिससे मैं भगवान्‌के चरणोंके निकट पहुँच सकूँ। आप कृपया

बताइये कि मुझे क्या करना चाहिये।' पुरोहितने कहा—'राजन्! संतों और भक्तोंकी सेवा करना, उनके उपदेशोंका श्रवण करना, उनके संग रहना और उनके आचरणोंका अनुकरण करना—यही सच्चा सुख प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय है और यही मनुष्यमात्रका कर्तव्य है।' 'ऐसे संत कहाँ मिलेंगे, कृपाकर बताइये और उन्हें कैसे पहचाना जाय?' राजाने कहा। पुरोहितने उत्तर दिया—'राजन्! भक्तोंके बाह्य वेशको देखकर पहचानना बड़ा कठिन है। वे किसी स्थानविशेषमें नहीं रहते और न उनके रहनेका कोई निश्चित प्रकार ही है। वे चाहे जहाँ और चाहे जिस रूपमें रह सकते हैं। अतः उनका दर्शन प्राप्त करनेका एक ही उपाय है—वह यह कि देशभरके धर्मों, सम्प्रदायों और मजहबोंके प्रतिनिधियोंकी एक सभा एकत्रित कीजिये और उसमें यह घोषणा कर दीजिये—'मैं उस सच्चे और सरल मार्गको जानना चाहता हूँ, जिसपर चलकर हम आनन्दरूप भगवान्‌को प्राप्त कर सकें।' साथ ही यह भी घोषणा करवा दें कि 'जो मनुष्य हमारे प्रश्नका संतोषजनक एवं यथार्थ उत्तर देगा, उसे कई भार सोना उपहाररूपमें दिया जायगा।' यों करनेसे आपको कम-से-कम उस सभामें एकत्रित होनेवाले संतों और भक्तोंको देखनेका और उनसे सम्भाषण करनेका सौभाग्य तो प्राप्त हो ही जायगा।' राजाने पुरोहितकी आज्ञाके अनुसार मदुरामें सारे धर्मोंके प्रतिनिधियोंकी एक सभा एकत्रित की। शैव, वैष्णव, शाक्त, सूर्योपासक, गाणपत्य, मायावादी, सांख्य, वैशेषिक, पाशुपत, जैन और बौद्ध—सभी धर्मोंके प्रतिनिधि उस सभामें उपस्थित हुए। उनमें परस्पर बड़ा विवाद हुआ, परंतु राजाका समाधान कोई भी नहीं कर सका। उनका हृदय किसी महान् भक्तकी खोजमें था। हमारे चरित्रनायक विष्णुचित्तके सिवा दूसरा कोई भक्त उन्हें कहाँ मिलता। अब उनके पवित्र जीवनका कुछ वृत्तान्त सुनिये।

मद्रासप्रदेशके तिन्नेवेली जिलेमें विल्लीपुतूर नामका पवित्र स्थान है। वहाँ मुकुन्दाचार्य नामके एक सदाचारी ब्राह्मण रहते थे। उनकी पत्नीका नाम पद्मा था। मुकुन्दाचार्य और उनकी पतिव्रता स्त्री दोनों वटपत्रशायी भगवान् महाविष्णुके मन्दिरमें जाकर प्रतिदिन उनसे एक दिव्य पुत्रके लिये प्रार्थना किया करते थे। उनकी प्रार्थना स्वीकार हुई। हमारे चरित्रनायक उसी ब्राह्मण-दम्पतिके यहाँ अवतीर्ण हुए। ये गरुड़के अवतार माने जाते हैं। इनका जन्म एकादशी रविवारको स्वाति-नक्षत्रमें हुआ था। इनकी माताको प्रसवके समय कोई वेदना नहीं हुई। बालक देखनेमें बड़ा सुन्दर था और उसके शरीरके चारों ओर एक दिव्य तेजोमण्डल था। सामान्य बालकोंसे यह बालक कुछ विलक्षणता लिये हुए था। माता-पिताने बालकका बड़े प्रेमके साथ लालन-पालन किया और उसके ब्राह्मणोचित सभी संस्कार करवाये। सातवें वर्षमें उसका यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ। बालकने भगवान् विष्णुको बिना जाने-पहचाने ही अपने अन्तरात्माको उन्हींके चरणोंमें लगा दिया था। अतएव उन्हें लोग विष्णुचित्तके नामसे पुकारने लगे। वे अपना अधिकांश समय भगवान्‌के मन्दिरमें ही बिताते थे और संत हरिदासकी भाँति भगवान् नारायणके स्वरूपका ध्यान और उनके नामका जप किया करते और विष्णुसहस्रनामको गाया करते थे। 'नारायण ही सारी विद्याओंके सार हैं और सारे धर्मोंके एकमात्र ध्येय हैं। अतः मैं उन्हींकी शरण ग्रहण करूँगा' ऐसा दृढ़ निश्चय करके उन्होंने अपनेको भगवान् विष्णुके चरणोंमें समर्पित कर दिया। भक्तिके आवेशमें उन्हें संसारकी भी सुध-बुध न रही। अभी वे नवयुवक ही थे कि उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति बेच डाली और बदलेमें एक सुन्दर उपजाऊ भूमि खरीदकर वहाँ एक सुन्दर बगीचा लगाया। प्रतिदिन सबेरे 'नारायण' शब्दका उच्चारण करते हुए वे फूल चुनते और उनके सुन्दर हार गूँथकर भगवान् नारायणको धारण कराते। उन हारोंसे अलङ्कृत भगवान्‌की दिव्य मूर्तिको देखकर वे मुग्ध हो जाते और निर्निमेष नेत्रोंसे उनकी अनूप रूप-माधुरीका आस्वादन करते। उन्हें भगवत्प्रेमके अतिरिक्त कोई दूसरी बात सुहाती ही न थी। एक दिन रातको विष्णुचित्त बहुत देरतक भजन-ध्यान करनेके बाद विश्राम कर रहे थे कि उन्हें भगवान् नारायणने स्वप्नमें दर्शन दिये और उनसे कहा कि 'तुम तुरंत मदुरामें जाकर वहाँके धर्मात्मा राजा बलदेवसे मिलो। वहाँ सारे धर्मोंके प्रतिनिधि एकत्र हुए हैं और राजाने यह घोषणा की है कि जो पुरुष सच्चे

आनन्दकी प्राप्तिका सर्वश्रेष्ठ मार्ग बतलायेगा, उसे उपहाररूपमें कई भार सोना दिया जायगा। वहाँ जाकर मेरी विजयपताका फहराओ। मेरे प्रेम और भक्तिका महत्त्व लोगोंपर प्रकट करो। वहाँ जाकर यह प्रमाणित कर दो कि भगवान्के सविशेष रूपकी उपासना ही आनन्द प्राप्त करनेका एकमात्र सच्चा और सरल मार्ग है।'

विष्णुचित्त भगवान्के स्वप्नादेशको पाकर मारे हर्षके फूले न समाये और भगवान्से इस प्रकार कहने लगे—'प्रभो! मुझे आपकी आज्ञा स्वीकार है, मैं अभी मदुराके लिये रवाना होता हूँ। किंतु मुझे शास्त्रोंका ज्ञान बिलकुल नहीं है, मैं तो आपका एक तुच्छ सेवक हूँ। आपके चरणोंको हृदयमें रखकर मैं उस सभामें जाता हूँ। ऐसी कृपा कीजिये कि आपका यह यन्त्र आपकी इच्छाको पूर्ण कर सके।' यों कहकर विष्णुचित्त मदुरा चले गये। राजाने इनका बड़ा सत्कार किया और वहाँकी पण्डितमण्डलीमें विष्णुचित्त नक्षत्रोंमें चन्द्रमाके समान सुशोभित हुए। उन्होंने सबकी शङ्काओंका यथोचित उत्तर देते हुए यह सिद्ध किया कि—'भगवान् नारायण ही सर्वोपरि हैं और उनके चरणोंमें अपनेको सर्वतोभावेन समर्पित कर देना ही कल्याणका एकमात्र उपाय है। भगवान् नारायण ही हमारे रक्षक हैं, वे अपनी योगमायासे साधुओंकी रक्षा और दुष्टोंका दलन करनेके लिये समय-समयपर अवतार लेते हैं। वे समस्त भूतोंके हृदयमें स्थित हैं। भगवान् ही मायासे परे हैं और उनकी उपासना ही मायासे छूटनेका एकमात्र उपाय है। उनपर विश्वास करो, उनकी आराधना करो, उनके नामकी रट लगाओ और उनका गुणानुवाद करो। **ॐ नमो नारायणाय।**'

विष्णुचित्तके उपदेशका राजापर बड़ा प्रभाव पड़ा। वह उनके चरणोंपर गिर पड़ा और उन्हें अपने गुरुके रूपमें वरणकर बड़ी धूमधामके साथ उनका जुलूस निकाला। किंतु विष्णुचित्त इस सम्मानसे प्रसन्न नहीं हुए। उन्होंने बड़े करुणापूर्ण नेत्रोंसे ऊपर आकाशकी ओर देखा तो वहाँ उन्हें साक्षात् भगवान् नारायण महालक्ष्मीके साथ गरुड़पर विराजे हुए दिखायी दिये। वे अपने भक्तका सम्मान देखकर तथा लाखों नर-नारियोंके मुखसे 'नारायण' मन्त्रकी ध्वनि सुनकर बड़े प्रसन्न हो रहे थे। विष्णुचित्त अपने इष्टदेवका दर्शन पाकर कृतार्थ हो गये। वे राजासे विदा लेकर विल्लीपुतूर चले गये और वहाँ उन्होंने कई सुन्दर पद रचकर उनके द्वारा भगवान्की अर्चा की। उनके एक पदका भाव नमूनेके तौरपर नीचे दिया जाता है। वे कहते हैं—'वे वास्तवमें दयाके पात्र हैं, जो भगवान् नारायणकी उपासना नहीं करते। उन्होंने अपनी माताको व्यर्थ ही प्रसवका कष्ट दिया। जो लोग नारायण-नामका उच्चारण नहीं करते, वे पाप ही खाते हैं और पापमें ही रहते हैं। जो लोग भगवान् माधवको अपने हृदयमन्दिरमें स्थापितकर प्रेमरूपी सुमनसे उनकी पूजा करते हैं, वे ही मृत्युपाशसे छूटते हैं।'

विष्णुचित्त भगवान्की वात्सल्यभावसे उपासना करते थे।

भक्तिमती आण्डाळ या रङ्गनायकी

प्राचीन कालमें दक्षिण भारतमें कावेरी-तटपर स्थित एक गाँवमें विष्णुचित्त नामके एक परम वैष्णव भक्त रहते थे। वे बड़े ही आस्तिक एवं धर्मनिष्ठ पुरुष थे। अहर्निश वे भगवद्भजन, हरिकीर्तन और नाम-जपमें निरत रहते थे। उन्हें भगवान्के सिवा और कुछ सुहाता ही न था। बड़ा ही सुरम्य उनका एक तुलसीका उपवन था। वे नित्य प्रातःकाल तुलसीके थाल्होंमें जल डालते और तुलसीदलकी ही माला बनाकर भगवान्का शृङ्गार करते। एक समय प्रातःकाल जब वे घड़ेमें जल भरकर तुलसी सींचने गये, तब वहाँ उन्हें एक परम मनोहर नवजात कन्या दिखायी पड़ी। उन्होंने बड़े स्नेहसे उस बालिकाको उठा लिया तथा उसे वटपत्रशायी भगवान् नारायणके चरणोंमें रखकर कहा—'प्रभो! यह तुम्हारी ही सम्पत्ति है, जो तुम्हारी सेवाके लिये आयी है। इसे अपने पादपद्मोंमें आश्रय दो।' इसपर मूर्तिमेंसे शब्द आया—'इस लड़कीका नाम 'कोदई' रखो और इसे अपनी ही लड़की मानकर इसका लालन-पालन करो।' 'कोदई' का अर्थ है—'फूलोंके हारके समान कमनीय।' इसी

लड़कीको आगे चलकर जब भगवान्‌का प्रेम और उनकी कृपा प्राप्त हो गयी, तब लोग 'आण्डाळ' कहने लगे थे।

रातमें भगवान्‌ने स्वप्नमें विष्णुचित्तजीको कन्याका सारा हाल बताया—'वाराहावतारमें मैंने पृथ्वीका उद्धार किया था, तब पृथ्वीने मुझसे पूछा कि 'आपको किस प्रकारकी पूजा परम प्रिय है?' उस समय मैंने बतलाया था कि 'मुझे नाम-कीर्तन तथा पत्र-पुष्प-फल-तोयकी पूजा सर्वप्रिय है। मुझे प्राप्त करनेके लिये भक्त मेरे नामका कीर्तन करे और प्रेम-भक्तिके साथ मेरी पूजा-अर्चा करे।' मेरी उस बातको हृदयमें धारणकर पृथ्वी इस कन्याके रूपमें प्रकट हुई है और अब तुम्हारे घरमें बसना चाहती है। यदि तुम इस कन्याकी सेवा करते रहोगे तो अवश्य परमपदको प्राप्त होओगे।' ब्राह्मण-ब्राह्मणी इस कन्याको पाकर परम प्रसन्न हुए। यथासमय उन्होंने कन्याके जातकर्मादि संस्कार कराये।

लड़की जब बोलने लगी, तब उसके मुखसे 'विष्णु' के अतिरिक्त कोई दूसरा नाम ही नहीं निकलता था। जब वह कुछ सयानी हुई, तब भगवान्‌के गीत गाने लगी। पिताके मन्दिर चले जानेपर वह उनके पीछे उपवनकी रखवाली करती और भगवान्‌की पूजाके लिये फूलोंके हार गूँथती। कन्याकी बनायी मालाको लेकर विष्णुचित्त ब्राह्मण श्रीरङ्गनाथजीके मन्दिरमें जाते और माला भगवान्‌को चढ़ा आते। जब वह कुछ और बड़ी हुई, तब भगवान् रङ्गनाथको अपने पतिके रूपमें भजने लगी। वह अपने प्रियतमके प्रेममें अपने-आपको इतना भूल जाती कि भगवान्‌के लिये गूँथे हुए हारको स्वयं पहनकर दर्पणके सम्मुख खड़ी हो जाती और अपने सौन्दर्यकी स्वयं प्रशंसा करती हुई कहती—'क्या मेरा सौन्दर्य मेरे प्रियतमको आकर्षित कर सकेगा ?'

एक दिन मन्दिरके पुजारीने विष्णुचित्तकी माला यह कहकर लौटा दी कि उसमें किसी मनुष्यके सिरका बाल लगा हुआ है। ब्राह्मणको यह सुनकर बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने ताजे पुष्प चुने, नवीन हार बनाया और भगवान्‌को अर्पण किया। दूसरे दिन भी पुजारीने कहा कि माला कुछ मुरझायी हुई है। विष्णुचित्तने अपने मनमें सोचा कि अवश्य ही इसमें कोई-न-कोई रहस्य होना चाहिये। वे जब इसका कारण घरपर ढूँढ़नेमें लगे, तब उनकी दृष्टि अकस्मात् अपनी लड़कीपर गयी। उन्होंने देखा कि वह परदेके पीछे नवीन पुष्पोंका हार पहने दर्पणके सम्मुख खड़ी है और मन-ही-मन अपने प्रियतम भगवान्‌से कुछ बातें कर रही है। वे दौड़कर लड़कीके पास गये और चिल्लाकर बोले—'बेटी! यह तूने क्या किया? तू पागल तो नहीं हो गयी जो भगवान्‌के लिये तैयार किये हारोंको स्वयं धारण करके जूँठा कर रही है ?' विष्णुचित्तने फिरसे दूसरे हार बनाये और प्रभुको चढ़ाये, परंतु आण्डाळ तो अपनेको प्रभुके चरणोंमें समर्पित कर चुकी थी। समर्पण जब सम्पूर्ण होता है, तब देवताको स्वीकार होता ही है। आवश्यकता इस बातकी है कि हृदयको प्रभुके चरणोंमें चढ़ाते समय वह सर्वथा शून्य, सर्वथा निरावरण रहे। आण्डाळका मधुर और सम्पूर्ण समर्पण भला भगवान्‌को अङ्गीकार क्यों न हो ? उसी दिन रातको विष्णुचित्तको भगवान्‌ने स्वप्नमें आदेश दिया। 'मुझे आण्डाळकी पहनी हुई माला धारण करनेमें विशेष सुख मिलता है, इसलिये वही हार मुझे चढ़ाया करो।' अब तो विष्णुचित्तको अपनी कन्याके महत्त्वका पूरा निश्चय हो गया। कुछ दिनों बाद आण्डाळकी धारण की हुई मालाओंको ही वे भगवान्‌को निवेदन करने लगे।

आण्डाळ अहर्निश प्रभुके प्रेममें मतवाली रहती। एक दिन उसने अपने धर्मपितासे बड़े ही अनुनय-विनयके साथ दिव्य धामों तथा तीर्थस्थानोंके विषयमें पूछा। विष्णुचित्तका चित्त प्रभुके चरणोंका अनुरागी था ही। उन्होंने बहुत प्रेम और श्रद्धाभरे शब्दोंमें अपनी बेटीसे भगवान्‌के वैकुण्ठ आदि दिव्य धामोंके नाम बतलाये और अन्तमें कहा, 'दक्षिणमें कावेरीके तटपर भगवान् श्रीरङ्गनाथका वास है।' भगवान् श्रीरङ्गनाथका नाम सुनते ही आण्डाळके रोमाञ्च हो आया और उसकी आँखोंसे प्रेमाश्रुओंकी धारा बरस पड़ी। उनसे विह्वल होकर अपने इष्टदेवके सम्बन्धमें अधिक जाननेकी इच्छा प्रकट की। तब विष्णुचित्त सुनाने लगे—'इक्ष्वाकुके यज्ञकी पूर्तिके लिये ब्रह्माजीकी प्रार्थनापर भगवान् विष्णु वहाँ प्रकट हुए। भगवान्‌का साक्षात्कार हो जानेपर इक्ष्वाकु कृतार्थ हो गये और ब्रह्माकी आज्ञासे वे सरयूके

तटपर अयोध्यामें तपस्या करने लगे। तपस्यासे प्रसन्न होकर ब्रह्माने इक्ष्वाकुसे वर माँगनेके लिये कहा। इक्ष्वाकुने यही वर माँगा कि 'भगवान् विष्णुका यहीं अवधमें अवतार हो और वे श्रीरङ्गनाथजीके रूपमें उनके कुलदेव रहें।' ब्रह्माने उन्हें मुँहमाँगा वरदान दे दिया।

'भगवान् श्रीरामचन्द्रजी जब लङ्काको जीतकर अयोध्या आये, तब उनके साथ विभीषण भी पधारे थे। वे जब लङ्का जाने लगे, तब उन्होंने भगवान्से कहा कि 'आपका वियोग मेरे लिये सर्वथा असह्य है। अतएव मुझे ऐसी कोई वस्तु दीजिये, जिससे मेरे हृदयको धीरज हो। विभीषणके अटल प्रेमको देखकर भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने उन्हें श्रीरङ्गनाथजीकी प्रतिमा दी। जब विभीषण कावेरी-तटपर आये, तब वे किसी दूसरे यज्ञ-अनुष्ठानमें संलग्न हो गये। फिर भगवान् श्रीरङ्गनाथजीने लङ्का जाना अस्वीकार कर दिया और विभीषणने वहीं भगवान्की मूर्ति स्थापित की। विभीषण भगवान्की पूजा-अर्चाके लिये नित्य लङ्कासे यहाँ आया करते थे।'

भगवान् श्रीरङ्गनाथका वर्णन सुनकर आण्डाळकी उत्कण्ठा और भी तीव्र हो गयी। उसने पितासे भगवान्की प्राप्तिका साधन पूछा। अब आण्डाळके लिये एक क्षणका वियोग भी असह्य था।

आण्डाळकी विरहव्यथा बढ़ती ही गयी। उसके प्राण रात-दिन जीवनधनमें अटके रहते थे। वह उसीका नाम जपती, उसीका कीर्तन करती और उसीकी धुनमें डूबी रहती। उसकी आँखोंमें, हृदयमें, प्राणोंमें, रोम-रोममें श्रीरङ्गनाथजी ही छाये हुए थे। वह रोती और दहाड़ मारकर छाती पीटती—'प्रियतम! स्वप्नमें आकर तुमने मिलनेका जो उपक्रम किया है, उससे तो मेरे भीतरकी विरहाग्नि और भी धधक उठी है। यों तड़पानेमें तुम्हें कौन-सा रस मिलता है। हाय! एक क्षण भी तुम्हारे बिना रहा नहीं जाता। देव! मेरे जीवनधन! यदि मेरे प्राणोंकी इस आकुल तड़पसे तुम्हारा कठोर हृदय तनिक भी पसीजे तो अभी आकर मुझे अपने चरणोंमें स्वीकार कर लो। प्रभो! ओ मेरे प्राणाधार! सीताकी सुधि लेनेके लिये तुमने समुद्रमें पुल बँधवाया और रावणको मारकर उसे अयोध्या लौटा लाये। शिशुपालका वध करके रुक्मिणीको अपनी शरणमें ले लिया। द्रौपदी, गज, गणिका और गोपियोंकी टेर सुन ली; परंतु मेरी ही बार इतना विलम्ब क्यों कर रहे हो? मैं जानती हूँ कि मैं अपराधिनी हूँ; परंतु जैसी भी हूँ, तुम्हारी हूँ—तुम्हीं मेरे प्राणवल्लभ, हृदयेश्वर, जीवनसर्वस्व और अवलम्ब हो! तुम्हें छोड़कर किसकी शरणमें जाऊँ? जिस प्रकार चकोर चन्द्रमाको और चातक श्यामघनको चाहता है, वैसे ही मेरा हृदय तुम्हें देखनेके लिये व्याकुल है।'

आण्डाळ सदा अपने शरीरसे ऊपर उठी रहती थी, वह अपने बाहर-भीतर सर्वत्र अपने प्राणवल्लभ प्रभुके अतिरिक्त और किसी वस्तुको देखती ही न थी। वह शरीरसे विष्णुचित्तके बगीचेमें रहती थी; किन्तु उसका मन नित्य वृन्दावनमें विचरता रहता था। वह गोपियोंके साथ खेलती और मिट्टीके घरोंदे बनाती। इतनेमें ही श्रीकृष्ण आकर उसके घरोंदोंको ढहा देते और हँसने लगते। कभी वह गोपियोंके साथ सरोवरमें स्नान करने लगती और प्रियतम श्रीकृष्ण आकर उन सबके वस्त्रोंको उठाकर ले जाते और कदम्बपर चढ़कर बैठ जाते। कभी-कभी वह मनसे ही वृन्दावनमें विचरती और रास्ता चलनेवालोंसे पूछती, 'क्या तुमने मेरे प्राणवल्लभको इधर कहीं देखा है? क्या किसीको मेरे कमलनयनका पता है?' और अपने-आप ही अपने प्रश्नोंका उत्तर भी देती—'अजी, देखा क्यों नहीं? वह तो वृन्दावनमें बाँसुरी बजाकर गोपियोंके साथ विहार कर रहा है।'

वसन्त-ऋतुमें वह कोयलको सम्बोधन करके बड़े करुण स्वरमें कहती—'अरी कोयल! मेरा प्राणवल्लभ मेरे सामने क्यों नहीं आता? वह मेरे हृदयमें प्रवेश करके मुझे अपने वियोगसे दुःखी कर रहा है। मैं तो उसके लिये इस प्रकार तड़प रही हूँ और उसके लिये यह सब मानो निरा खिलवाड़ ही है।'

एक दिन जब वह अपने प्रियतम भगवान्के विरहमें अत्यन्त व्याकुल हो गयी, भगवान् रङ्गनाथने स्वप्नमें मन्दिरके अधिकारियोंको दर्शन देकर कहा—'मेरी प्रियतमा आण्डाळको मेरे पास ले आओ।' इधर उन्होंने विष्णुचित्तको भी स्वप्नमें दर्शन देकर कहा—'तुम आण्डाळको लेकर शीघ्र मेरे पास चले आओ, मैं उसका पाणिग्रहण करूँगा।' यही नहीं, उन्होंने स्वप्नमें आण्डाळको भी

दर्शन दिये और उसने देखा कि मेरा विवाह बड़ी धूमधामके साथ श्रीरङ्गनाथजीके साथ हो रहा है। उनका स्वप्न सच्चा हो गया। दूसरे ही दिन श्रीरङ्गजीके मन्दिरसे आण्डाळ और उसके धर्मपिता विष्णुचित्तको लेनेके लिये कई पालकियाँ और दूसरे प्रकारका लवाजमा भी आया। ढोल बजने लगे, शङ्खकी ध्वनि होने लगी, वेदपाठी ब्राह्मण वेद पढ़ने लगे और भक्तलोग आण्डाळ और उसके स्वामी श्रीरङ्गनाथजीकी जय बोलने लगे। आण्डाळने प्रेममें मतवाली होकर मन्दिरमें प्रवेश किया और तुरंत वह भगवान्‌की शेष-शय्यापर चढ़ गयी। इतनेमें ही लोगोंने देखा कि सर्वत्र एक दिव्य प्रकाश छा गया और उस प्रकाशमें देवी आण्डाळ सबके देखते-ही-देखते बिजली-सी चमककर विलीन हो गयी। प्रेमी और प्रेमास्पद एक हो गये। आण्डाळके जीवनका कार्य आज पूरा हो गया। वह भगवान् नारायणमें जाकर मिल गयी।

दक्षिणके वैष्णव-मन्दिरोंमें आज भी आण्डाळके विवाहका उत्सव प्रतिवर्ष सर्वत्र मनाया जाता है। विष्णुचित्तने भी अपना शेष जीवन भगवान् श्रीरङ्गनाथ और उनकी प्रियतमा श्रीआण्डाळदेवीकी उपासनामें व्यतीतकर भगवद्धामको प्रयाण किया!

श्रीकुलशेखर आळवार

कोल्लिनगर (केरल)-के राजा दृढ़व्रत बड़े धर्मात्मा थे, किंतु उनके कोई सन्तान न थी। उन्होंने पुत्रके लिये तप किया और भगवान् नारायणकी कृपासे द्वादशीके दिन पुनर्वसु नक्षत्रमें उनके घर एक तेजस्वी बालकने जन्म लिया। बालकका नाम कुलशेखर रखा गया। ये भगवान्‌की कौस्तुभमणिका अवतार माने जाते हैं। राजाने कुलशेखरको विद्या, ज्ञान और भक्तिके वातावरणमें संवर्धित किया। कुछ ही दिनोंमें कुलशेखर तमिळ और संस्कृत भाषामें पारङ्गत हो गये और इन दोनों प्राचीन भाषाओंके सभी धार्मिक ग्रन्थोंका उन्होंने आलोडन कर डाला। उन्होंने वेद-वेदान्तका अध्ययन किया और चौंसठ कलाओंका ज्ञान प्राप्त किया। यही नहीं, वे राजनीति, युद्धविद्या, धनुर्वेद, आयुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा नृत्यकलामें भी प्रवीण हो गये। जब राजाने देखा कि कुलशेखर सब प्रकारसे राज्यका भार उठानेमें समर्थ हो गया है, तब कुलशेखरको राज्य देकर वे स्वयं मोक्षमार्गमें लग गये। कुलशेखरने अपने देशमें रामराज्यकी पुनः स्थापना की। प्रत्येक गृहस्थको अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार शिक्षा देनेका समुचित प्रबन्ध किया। उन्होंने व्यवसायों तथा उद्योगधन्धोंको सुव्यवस्थित रूप देकर प्रजाके दारिद्र्यको दूर किया। अपने राज्यको धन, ज्ञान और सन्तोषकी दृष्टिसे एक प्रकारसे स्वर्ग ही बना दिया। यद्यपि वे हाथमें राजदण्ड धारण करते थे, उनके हृदयने भगवान् विष्णुके चरण-कमलोंको दृढ़तापूर्वक पकड़ रखा था। उनका शरीर यद्यपि सिंहासनपर बैठता था, हृदय भगवान् श्रीरामका सिंहासन बन गया था। राजा होनेपर भी उनकी विषयोंमें तनिक भी प्रीति नहीं थी। वे सदा यही सोचा करते 'वह दिन कब होगा, जब ये नेत्र भगवान्‌के त्रिभुवनसुन्दर मङ्गलविग्रहका दर्शन पाकर कृतार्थ होंगे ? मेरा मस्तक भगवान् श्रीरङ्गनाथके चरणोंके सामने कब झुकेगा ? मेरा हृदय भगवान् पुण्डरीकाक्षके मुखारविन्दको देखकर कब द्रवित होगा, जिनकी इन्द्रादि देवता सदा स्तुति करते रहते हैं ? ये नेत्र किस कामके हैं, यदि इन्हें भगवान् श्रीरङ्गनाथ और उनके भक्तोंके दर्शन नहीं प्राप्त होते ? मुझे उन प्यारे भक्तोंकी चरण-धूलि कब प्राप्त होगी ? वास्तवमें 'बुद्धिमान्' वे ही हैं, जो भगवान् नारायणके पीछे पागल हुए घूमते हैं और जो उनके चरणोंको भुलाकर संसारके विषयोंमें फँसे रहते हैं, वे ही 'पागल' हैं।'

भक्तकी सच्ची पुकार भगवान् अवश्य सुनते हैं। एक दिन रात्रिके समय भगवान् नारायण अपने दिव्य विग्रहमें भक्त कुलशेखरके सामने प्रकट हुए। कुलशेखर उनका दर्शन प्राप्तकर शरीरकी सुध-बुध भूल गये, उसी समयसे उनका एक प्रकारसे कायापलट ही हो गया। वे सदा भगवद्भावमें लीन रहने लगे। भगवद्भक्तिके रसके सामने राज्यसुख उन्हें फीका लगने लगा। वे अपने मनमें सोचने

लगे—'मुझे इन संसारी लोगोंसे क्या काम है, जो इस मिथ्या प्रपञ्चको सत्य माने बैठे हैं। मुझे तो भगवान् विष्णुके प्रेममें डूब जाना चाहिये। ये संसारी जीव कामदेवके बाणोंके शिकार होकर नाना प्रकारके भोगोंके पीछे भटकते रहते हैं। मुझे केवल भक्तोंका ही सङ्ग करना चाहिये। सांसारिक भोगोंकी तो बात ही क्या, स्वर्गका सुख भी मेरे लिये तुच्छ है।' ऐसा निश्चय करके वे अपना सारा समय सत्सङ्ग, कीर्तन, भजन, ध्यान और भगवान्के अलौकिक चरित्रोंके श्रवणमें ही व्यतीत करने लगे। उनके इष्टदेव श्रीराम थे और वे दास्यभावसे उनकी उपासना करते थे।

एक दिन वे बड़े प्रेमके साथ श्रीरामायणकी कथा सुन रहे थे। प्रसङ्ग यह था कि भगवान् श्रीराम सीताजीकी रक्षाके लिये लक्ष्मणको नियुक्तकर स्वयं अकेले खर-दूषणकी विपुल सेनासे युद्ध करनेके लिये उनके सामने जा रहे हैं। पण्डितजी कह रहे थे—

चतुर्दशसहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम्।
एकश्च रामो धर्मात्मा कथं युद्धो भविष्यति॥

अर्थात् धर्मात्मा श्रीराम अकेले चौदह हजार राक्षसोंसे युद्ध करने जा रहे हैं, इस युद्धका परिणाम क्या होगा?

कुलशेखर कथा सुननेमें इतने तन्मय हो रहे थे कि उन्हें यह बात भूल गयी कि यहाँ रामायणकी कथा हो रही है। उन्होंने समझा कि 'भगवान् वास्तवमें खर-दूषणकी सेनाके साथ अकेले युद्ध करने जा रहे हैं।' यह बात उन्हें कैसे सह्य होती, वे तुरंत कथामेंसे उठ खड़े हुए। उन्होंने उसी समय शङ्ख बजाकर अपनी सारी सेना एकत्र कर ली और सेनानायकको आज्ञा दी कि 'चलो, हमलोग श्रीरामकी सहायताके लिये राक्षसोंसे युद्ध करने चलें।' ज्यों ही वे वहाँसे जानेके लिये तैयार हुए, उन्होंने पण्डितजीके मुँहसे सुना कि 'श्रीरामने अकेले ही खर-दूषणसहित सारी राक्षससेनाका संहार कर दिया।' तब कुलशेखरको शान्ति मिली और उन्होंने सेनाको लौट जानेका आदेश दिया।

भक्तिका मार्ग भी बाधाओंसे शून्य नहीं है। मन्त्रियों और दरबारियोंने जब यह देखा कि महाराज राजकाजको भुलाकर रात-दिन भक्तिरसमें डूबे रहते हैं और उनके महलोंमें चौबीसों घंटे भक्तोंका जमाव रहता है, तब उन्हें यह बात अच्छी नहीं लगी। उन्होंने सोचा—'कोई ऐसा उपाय रचना चाहिये, जिससे राजाका इन भक्तोंकी ओरसे मन फिर जाय।' परंतु यह कब सम्भव था। एक दिनकी बात है, राज्यके रत्नभंडारसे एक बहुमूल्य हीरा गुम हो गया। दरबारियोंने कहा—'हो-न-हो, यह काम उन भक्तनामधारी धूर्तोंका ही है।' राजाने कहा—'ऐसा कभी हो नहीं सकता।' मैं इस बातको प्रमाणित कर सकता हूँ कि 'वैष्णव भक्त इस प्रकारका आचरण कभी नहीं कर सकते।' उन्होंने उसी समय अपने नौकरोंसे कहकर एक बर्तनमें बन्द कराकर एक विषधर सर्प मँगवाया और कहा—'जिस किसीको हमारे वैष्णव भक्तोंके प्रति सन्देह हो, वह इस बर्तनमें हाथ डाले, यदि उसका अभियोग सत्य होगा तो साँप उसे काट नहीं सकेगा।' उन्होंने यह भी कहा— 'मेरी दृष्टिमें वैष्णव भक्त बिलकुल निरपराध हैं। किंतु यदि वे अपराधी हैं तो सबसे पहले इस बर्तनमें मैं हाथ डालता हूँ। यदि ये लोग दोषी नहीं हैं तो साँप मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता।' यों कहकर उन्होंने अपना हाथ झट उस बर्तनके अंदर डाल दिया और लोगोंने आश्चर्यके साथ देखा कि साँप अपने स्थानसे हिला भी नहीं, वह मन्त्रमुग्धकी भाँति ज्यों-का-त्यों बैठा रहा। दरबारीलोग इस बातपर बड़े लज्जित हुए और अन्तमें वह हीरा भी मिल गया। इधर कुलशेखर तीर्थयात्राके लिये निकल पड़े और अपनी भक्तमण्डलीके साथ भजन-कीर्तन करते हुए भिन्न-भिन्न तीर्थोंमें घूमने लगे।

वे कई वर्षोंतक श्रीरङ्गक्षेत्रमें रहे। उन्होंने वहाँ रहकर 'मुकुन्दमाला' नामक संस्कृतका एक बहुत सुन्दर स्तोत्र-ग्रन्थ रचा, जिसका संस्कृत जाननेवाले अब भी बड़ा आदर करते हैं। इसके बाद ये तिरुपतिमें रहने लगे और वहाँ रहकर इन्होंने बड़े सुन्दर भक्तिरससे भरे हुए पदोंकी रचना की। उनके कुछ पदोंका भाव नीचे दिया जाता है। वे कहते हैं—

'मुझे न धन चाहिये, न शरीरका सुख चाहिये; न मुझे राज्यकी कामना है, न मैं इन्द्रका पद चाहता हूँ और न मुझे सार्वभौमपद चाहिये। मेरी तो केवल यही अभिलाषा है कि मैं तुम्हारे मन्दिरकी एक सीढ़ी बनकर

रहूँ, जिससे तुम्हारे भक्तोंके चरण बार-बार मेरे मस्तकपर पड़ें। अथवा प्रभो! जिस रास्तेसे भक्तलोग तुम्हारे श्रीविग्रहका दर्शन करनेके लिये प्रतिदिन जाया करते हैं, उस मार्गका मुझे एक छोटा-सा रजःकण ही बना दो, अथवा जिस नलीसे तुम्हारे बगीचेके वृक्षोंकी सिंचाई होती है, उस नलीका जल ही बना दो अथवा अपने बगीचेका एक चम्पाका पेड़ ही बना दो, जिससे मैं अपने फूलोंके द्वारा तुम्हारी नित्य पूजा कर सकूँ, अथवा मुझे अपने यहाँके सरोवरका एक छोटा-सा जलजन्तु ही बना दो।'

इन्होंने मथुरा, वृन्दावन, अयोध्या आदि कई उत्तरके तीर्थोंकी भी यात्रा की थी और श्रीकृष्ण तथा श्रीरामकी लीलाओंपर भी कई पद रचे थे। इनके सबसे उत्तम पद अनन्य शरणागतिपरक हैं, जिनमेंसे कुछका भाव नीचे दिया जाता है।

वे कहते हैं—

'यदि माता खीझकर बच्चेको अपनी गोदसे उतार भी देती है तो भी बच्चा उसीमें अपनी लौ लगाये रहता है और उसीको याद करके रोता-चिल्लाता और छटपटाता है। उसी प्रकार हे नाथ! तुम चाहे मेरी कितनी ही उपेक्षा करो और मेरे दुःखोंकी ओर ध्यान न दो तो भी मैं तुम्हारे चरणोंको छोड़कर और कहीं नहीं जा सकता, तुम्हारे चरणोंके सिवा मेरे लिये कोई दूसरी गति ही नहीं है। यदि पति अपनी पतिव्रता स्त्रीका सबके सामने तिरस्कार भी करे तो भी वह उसका परित्याग नहीं कर सकती। इसी प्रकार चाहे तुम मुझे कितना ही दुतकारो, मैं तुम्हारे अभय चरणोंको छोड़कर अन्यत्र कहीं जानेकी बात भी नहीं सोच सकता। तुम चाहे मेरी ओर आँख उठाकर भी न देखो, मुझे तो केवल तुम्हारा और तुम्हारी कृपाका ही अवलम्बन है। मेरी अभिलाषाके एकमात्र विषय तुम्हीं हो। जो तुम्हें चाहता है, उसे त्रिभुवनकी सम्पत्तिसे कोई मतलब नहीं।'

श्रीविप्रनारायण (भक्तपदरेणु)

भगवान्‌की लीला विचित्र है। किसी-किसीपर वे बहुत शीघ्र ढुल जाते हैं और किसी-किसीकी वे बड़ी कठिन परीक्षा लेकर तब उन्हें अपना कृपापात्र बनाते हैं। और जिस प्रकार काँटेको काँटेसे ही निकाला जाता है, उसी प्रकार किसी-किसीको मायामुक्त करनेके लिये वे उसपर अपनी मायाका ही प्रयोग करते हैं। विप्रनारायणके साथ उन्होंने तीसरे प्रकारका प्रयोग किया था।

विप्रनारायण भगवान्‌की वनमालाके अवतार माने जाते हैं। इनका जन्म एक पवित्र ब्राह्मणकुलमें हुआ था। इन्होंने भलीभाँति वेदाध्ययन करके अपनेको समस्त वेदोंके सारभूत भगवान्‌के चरणोंमें ही सर्वतोभावेन समर्पित कर देना चाहा था। ये भगवान्‌से प्रार्थना करते— 'मुझे आपकी कृपाके सामने इन्द्रका पद भी नहीं चाहिये। शास्त्रोंमें मनुष्यकी आयु सौ वर्षकी बतायी गयी है। इसमेंसे आधी तो निद्रामें ही बीत जाती है और आधीमेंसे भी पंद्रह वर्ष बालकपनकी अज्ञान-अवस्थामें निकल जाते हैं और शेष आयु भी भूख-प्यास, काम-क्रोधादि विकारों तथा नाना प्रकारकी व्याधियों और मानसिक कष्टोंमें ही बीतती है। अतः हे नाथ! ऐसी कृपा कीजिये कि मुझे इस संसारमें पुनः जन्म न लेना पड़े और यदि जन्म लेना भी पड़े तो मुझे आपकी सेवाका सुख निरन्तर मिलता रहे।' इस प्रकार मन-ही-मन प्रार्थना करते हुए वे श्रीरङ्गजीके स्थानपर गये और वहाँ अपने-आपको श्रीरङ्गजीके अर्पणकर विष्णुचित्तकी भाँति मन्दिरके चारों ओर एक सुन्दर बगीचा लगा दिया। वहाँसे फूल ला-लाकर और उनके हार गूँथ-गूँथकर वे भगवान्‌को अर्पण किया करते। वे स्वयं एक वृक्षके नीचे एक मामूली झोंपड़ी बनाकर रहते थे और भगवान् श्रीरङ्गनाथके प्रसादसे ही जीवननिर्वाह करते थे। संसार उनकी दृष्टिमें मानो था ही नहीं, भगवान् श्रीरङ्गनाथजी उनके लिये सब कुछ थे। वे कहते—'अहा! जब-जब मैं भगवान्‌को शेषशय्यापर लेटे हुए देखता हूँ, मेरा शरीर प्रेम-विह्वल हो जाता है।' वे जब इस प्रकार भगवान्‌के ध्यान और भजनमें लीन थे, भगवान्‌ने कदाचित् उन्हें शुद्ध करने और उनकी वासनाओंका क्षय करनेके लिये ही उनकी एक बार कठिन परीक्षा ली।

वहाँ एक बड़ी रूपवती वाराङ्गना रहती थी, जिसके सौन्दर्यपर स्वयं राजा भी मुग्ध थे। उसका नाम देवदेवी था। एक दिन वह अपनी बहिनको साथ लेकर विप्रनारायणके बगीचेमें आयी और वहाँकी प्राकृतिक शोभाको देखकर दोनों-की-दोनों चमत्कृत हो गयीं। सहसा देवदेवीकी दृष्टि विप्रनारायणपर पड़ी। ये भगवान्‌का नाम लेते जाते थे और तुलसीके वृक्षोंको सींचते जाते थे। वे अपनी धुनमें इस प्रकार मस्त थे कि उन्होंने देवदेवीकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा। उनकी इस उपेक्षासे देवदेवीके मानको बड़ी ठेस पहुँची। उसने सोचा—'मेरे जिस अनुपम सौन्दर्यपर राजालोग भी मुग्ध हैं, यह तपस्वी युवा उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता।' देवदेवीकी बहिनने कहा—'जिनका चित्त अखिल सौन्दर्यके भण्डार भगवान् नारायणके चरणकमलोंका चञ्चरीक बन चुका है, वे क्या नारीके घृणित रूपपर आसक्त हो सकते हैं?' देवदेवीने बड़े गर्वके साथ कहा—'मैं भी देखूँगी कि यह ब्राह्मणकुमार मेरे रूपपाशमें कैसे नहीं बँधता।' उसकी बहिनने कहा—'तुम्हारी यह आशा दुराशामात्र है। यदि तुम्हारे रूपका जादू इस ब्राह्मणकुमारपर चल गया तो मैं छः महीनेतक तुम्हारी दासी होकर रहूँगी।' देवदेवीने भी बड़े आत्मविश्वासके साथ कहा—'यदि मेरा चक्कर इसपर न चल सका तो मैं भी छः महीनेतक तुम्हारी दासी होकर रहूँगी।' इस प्रकार दोनों बहिनोंमें होड़ बद गयी।

उक्त घटनाको कई दिन हो गये। एक दिन अकस्मात् विप्रनारायणने देखा कि उनके सामने एक संन्यासिनी खड़ी है। उन्होंने चकित होकर पूछा—'तुम कौन हो और यहाँ क्यों आयी हो? तुम्हारा यहाँ इस प्रकार आना उचित नहीं, अतः शीघ्र लौट जाओ।' संन्यासिनीने कहा—'महाराज! एक बार मेरी करुण-कथा सुन लीजिये, इसके बाद जैसा उचित समझें, करें। मेरी माता मुझे अपनी आबरू बेचकर धन कमानेके लिये बाध्य करती है; किंतु मेरी इच्छा नहीं है कि मैं अपने जीवनको इस प्रकार कलंकित करूँ। अतः मैं आपकी शरणमें आयी हूँ, आप कृपाकर मुझे आश्रय दीजिये। मैं इसी वृक्षके नीचे पड़ी रहकर आपके बगीचेकी रक्षा करूँगी, भगवान्‌के लिये सुन्दर हार गूँथकर आपके अर्पण करूँगी और आपकी जूँठन पाकर अपना शेष जीवन व्यतीत करूँगी।' सरलहृदय विप्रनारायणको उसकी इस कपटभरी करुण कथाको सुनकर दया आ गयी और उन्होंने दया-परवश होकर उसे अपने बगीचेमें रहनेके लिये अनुमति दे दी।

माघका महीना है। बड़े जोरकी वर्षा हो रही है और साथ-साथ ओले भी गिर रहे हैं। वह दीन-हीन संन्यासिनी बाहर खड़ी ठिठुर रही है, उसकी साड़ी पानीसे तर हो गयी है। उसकी इस दशाको देखकर विप्रनारायणको दया आ गयी, उन्होंने उसे अपनी झोंपड़ीमें बुला लिया और उसे पहननेको सूखे वस्त्र दिये। शास्त्रोंकी आज्ञा है कि पुरुषको परस्त्रीके साथ और स्त्रीको परपुरुषके साथ एकान्तमें भूलकर भी नहीं रहना चाहिये। ऐसे समय मनका वशमें रहना बड़ा कठिन होता है। विप्रनारायण उस छद्मवेशिनी संन्यासिनीके चंगुलमें फँस गये। उनकी तपस्या, उनका शास्त्रज्ञान, उनका त्याग, उनका वैराग्य सब कुछ उस वाराङ्गनाकी मोह-सरितामें बह गया! कुसंगका परिणाम होता ही है!

विप्रनारायण, जो अबतक भगवान्‌की सेवामें तल्लीन रहते थे, आज एक वेश्याके क्रीतदास हो गये। देवदेवीने अब अपना असली रूप प्रकट कर दिया। वह वापस अपने स्थानको चली गयी और विप्रनारायण प्रतिदिन खिंचे हुए उसके घर जाने लगे। उन्होंने अपना सर्वस्व उसके चरणोंमें न्योछावर कर दिया। उनकी विपुल सम्पत्ति, उनके देवोपम गुण और उनका उदात्त चरित्र सब कुछ स्वाहा हो गया!

परंतु जिसने एक बार भगवान्‌के चरणोंका आश्रय ले लिया, भगवान् क्या उसकी उपेक्षा कर सकते हैं? कदापि नहीं। देवदेवीने विप्रनारायणका सब कुछ लूटकर उन्हें दर-दरका भिखारी बना दिया। जब उनके पास उसकी पूजा करनेको कुछ भी न रहा, तब उसने उन्हें दुत्कारकर अपने घरसे बाहर निकाल दिया और लाख गिड़गिड़ानेपर भी भीतर न आने दिया। विप्रनारायण निराश होकर लौट गये, परंतु उनका देवदेवीके प्रति आकर्षण कम न हुआ।

रात्रिका समय है। देवदेवीने देखा कि कोई बाहर खड़ा हुआ उसके द्वारको खटखटा रहा है। पूछनेपर

मालूम हुआ वह विप्रनारायणका सेवक है। उसने कहा—'विप्रनारायणने आपके लिये एक सोनेका थाल भेजा है।' थाल देखकर देवदेवी फूली न समायी। उसने झटसे थालको ले लिया और नौकरसे कहा— 'विप्रनारायणजीको जल्दी मेरे पास भेज दो, मैं उनके लिये व्याकुल हो रही हूँ।' इधर उसी आदमीने विप्रनारायणको जगाकर कहा—'जाओ, तुम्हें देवदेवी याद करती है।' इस संवादको सुनकर विप्रनारायणके निर्जीव देहमें मानो प्राण आ गये। वे चारपाईसे उठकर सीधे देवदेवीके यहाँ पहुँचे और देवदेवीने उस दिन उनकी बड़ी आवभगत की! अब हमें यह देखना है कि विप्रनारायणका यह नौकर कौन था।

दूसरे दिन प्रातःकाल श्रीरङ्गजीके मन्दिरमें बड़ी सनसनी फैल गयी। पुजारीने देखा कि 'श्रीरङ्गजीका सोनेका थाल गायब है।' राज्यके कर्मचारियोंने जाँच-पड़ताल आरम्भ की। चोरीका पता लगानेके लिये गुप्तचर भी नियुक्त हुए। अन्तमें वह थाल देवदेवीके यहाँ मिला। देवदेवीने कर्मचारियोंको बतलाया कि 'यह थाल कल रातको ही उसे विप्रनारायणका नौकर दे गया था।' विप्रनारायणने कहा—'मैं तो एक दीन-हीन कंगाल हूँ, मेरे पास नौकर कहाँसे आया। और न मेरे पास इस प्रकारकी मूल्यवान् चीजें ही हैं।' थाल मन्दिरमें पहुँचा दिया गया। देवदेवीको चोरीका माल स्वीकार करनेके लिये राज्यकी ओरसे दण्ड दिया गया और विप्रनारायणको निगलापुरीके राजाकी ओरसे हिरासतमें रखा गया; क्योंकि श्रीरङ्गम्का मन्दिर निगलापुरीके राजाके अधीन ही था। राजाकी विप्रनारायणके सम्बन्धमें यह धारणा थी कि वे बड़े अच्छे भक्त हैं; अतः उनकी बुद्धि इस सम्बन्धमें कुछ निर्णय नहीं कर सकी। उन्होंने सोचा, 'जो विप्रनारायण श्रीरङ्गनाथजीकी इतनी भक्ति करते हैं, क्या वे उन्हींकी वस्तुको इस प्रकार चुरा सकते हैं ? इसी उधेड़बुनमें उन्हें नींद लग गयी। स्वप्नमें उन्हें श्रीरङ्गनाथजीने दर्शन दिये और कहा—'यह सब लीला मैंने अपने भक्तका उद्धार करनेके लिये की है। मैंने ही उनका नौकर बनकर थाल देवदेवीके यहाँ पहुँचाया था। मैं तो सदा ही अपने भक्तोंका अनुचर रहा हूँ। विप्रनारायण बिलकुल निर्दोष हैं; उन्हें वापस अपनी कुटियामें भेज दो, जिससे पुनः मेरी भक्ति और सेवामें प्रवृत्त हो जायँ।' राजाको यह स्वप्न देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ, उनका हृदय भगवान्की दयाका स्मरण करके गद्गद हो गया। उन्हें इस बातके लिये बड़ा पश्चात्ताप हुआ कि मैंने एक भक्तको हिरासतमें रखकर उनका अपमान किया और उन्हें तुरंत मुक्त कर दिया।

इस घटनासे विप्रनारायणकी आँखें खुल गयीं, उनके नेत्रोंसे अज्ञानका पर्दा हट गया। उनके नेत्रोंमें आँसू भर आये और हृदय पश्चात्तापसे भर गया। वे दौड़े हुए श्रीरङ्गजीके मन्दिरमें पहुँचे और भगवान्के चरणोंमें गिरकर उनकी अनेक प्रकारसे स्तुति और अपनी गर्हणा करने लगे। उन्होंने कहा—'प्रभो! मैं बड़ा नीच हूँ, बड़ा पतित हूँ, पापी हूँ; फिर भी आपने मेरी रक्षा की। आपने मेरे इस वज्रहृदयको भी पिघला दिया। मैंने अबतक अपना जीवन व्यर्थ ही खोया, मेरा हृदय बड़ा कलुषित है। मेरी जिह्वाने आपके मधुर नामका परित्याग कर दिया, मैंने सत्य और सदाचारको तिलाञ्जलि दे दी, मैंने स्वयं अपने पैरोंमें कुल्हाड़ी मारी और मैं एक वाराङ्गनाके रूपजालमें फँस गया। मैं अब इसीलिये जीवन धारण करता हूँ, जिससे आपकी सेवा कर सकूँ । मैं जानता हूँ आप अपने सेवकोंका कदापि परित्याग नहीं करते। मैं जनताकी दृष्टिसे गिर गया हूँ, मेरी साधन-सम्पत्ति जाती रही। अब संसारमें आपके सिवा मेरा कोई नहीं है। पुरुषोत्तम! अब मैंने आपके चरणोंको दृढ़तापूर्वक पकड़ लिया है। आप ही मेरे माता-पिता हैं, आपके सिवा मेरा कोई रक्षक नहीं है। जीवनधन! अब मुझे आपकी कृपाके सिवा और किसीका भरोसा नहीं है।' इसी समयसे विप्रनारायणका जीवन पलट गया, वे दृढ़ वैराग्यके साथ भगवान्की भक्तिमें लग गये। उन्होंने अपना नाम 'भक्तपदरेणु' रखा और बड़ी श्रद्धाके साथ वे भक्तोंकी सेवा करने लगे। उनकी वाणी निरन्तर भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन करने लगी। इधर देवदेवीको भी अपने पापमय जीवनसे घृणा हो गयी, उसने अपनी सारी सम्पत्ति मन्दिरको भेंट कर दी और वह स्वयं सब कुछ त्यागकर श्रीरङ्गजीकी सेवा करने लगी। इस प्रकार भक्तपदरेणु और उनकी प्रेयसी देवदेवी दोनों भगवान्के परम भक्त हो गये।

श्रीमुनिवाहन (तिरुप्पनाळवार)

तिरुप्पनाळवार जातिके अन्त्यज माने जाते थे। वे एक धानके खेतमें पड़े हुए मिले थे, जहाँसे उन्हें एक अस्पृश्य पुरुष उठा ले आया था और उसीके द्वारा इनका लालन-पालन हुआ। यह अस्पृश्य गान-विद्यामें बड़ा निपुण था। बालक मुनिवाहनने भी उससे बहुत जल्दी ही सङ्गीतका ज्ञान प्राप्त कर लिया और वीणा बजाना सीख लिया। परंतु वीणापर वे भगवान्के नामके अतिरिक्त और कुछ नहीं गाते थे। उनका हृदय भगवान्के नामसे जितना आकर्षित होता था, उतना और किसीसे आकर्षित नहीं होता था। उन्हें भगवान् श्रीरङ्गनाथके दर्शनकी बड़ी उत्कण्ठा हुई, परंतु नियमानुसार उनका मन्दिरमें प्रवेश नहीं हो सकता था। उन्होंने आजकलकी भाँति मन्दिरप्रवेशके लिये सत्याग्रह नहीं किया। वे निशुलापुरी नामक अछूतोंकी एक बस्तीको छोड़कर श्रीरङ्गक्षेत्रमें चले आये, जिस प्रकार यवन हरिदास जगन्नाथपुरीमें रहने लगे थे। उन्होंने कावेरीके दक्षिणतटपर एक छोटी-सी झोंपड़ी बना ली और वहाँ रहकर भगवान्के नाम-गुणोंका कीर्तन और उनके स्वरूपका ध्यान करने लगे। उत्सवोंके दिनोंमें जब भगवान् श्रीरङ्गनाथकी सवारी निकलती, तब वे दूरसे ही उनके श्रीविग्रहका दर्शन कर लिया करते थे। उस समय उनके हृदयकी विचित्र दशा हो जाया करती थी और उनके नेत्रोंसे आँसुओंकी झड़ी लग जाया करती थी। उनके मनमें इस बातकी तीव्र अभिलाषा थी कि वे भगवान्के मन्दिरमें जाकर उनका दर्शन करें; किंतु वे बड़े विनयी, दीन और सौम्य स्वभावके थे। अछूत माने जानेके कारण न तो कोई उनके पास जाता था और न वे ही किसीके पास जानेका साहस करते थे; किंतु वे इस अवस्थामें बड़े सुखी थे। वे जन-संसर्गसे अपने-आप ही मुक्त हो गये थे, जिसके लिये लोग बड़ा प्रयत्न किया करते हैं। उनके मनमें एकमात्र अभिलाषा यही थी कि जिस किसी प्रकारसे उन्हें भगवान् नारायणके दर्शन प्राप्त हों। 'नारायण' शब्दके अतिरिक्त उनके मुँहसे और कोई शब्द निकलता ही न था। वे मस्त होकर गाया करते और कहते 'इन नेत्रोंने जब एक बार श्रीरङ्गनाथके मुखारविन्दका दर्शन कर लिया तो अब उन्हें और कोई वस्तु सुहाती ही नहीं। श्रीरङ्गनाथने मेरे हृदयको चुरा लिया है। अहा! उनकी शोभा क्या वर्णन करूँ। उन्होंने मेरे हृदय और मनपर पूरा अधिकार कर लिया है।' वे बहुधा श्रीरङ्गजीके मन्दिरके समीप चले जाते, परंतु भीतर प्रवेश नहीं करते। वे सबेरे तीन बजे उठते और चुपचाप मन्दिरके सामने जाकर उस रास्तेको साफ करते, जिस रास्तेसे भक्तलोग अपने इष्टदेवका दर्शन करने आया करते थे। एक दिन किसी ब्राह्मणकी उनपर दृष्टि पड़ गयी, जिससे वे इनपर बहुत बिगड़े और कहा कि 'तूने अन्त्यज होकर मन्दिरके समीप आनेका साहस क्यों कर लिया?' परंतु भक्त मुनिवाहनको इस बातसे तनिक भी दुःख नहीं हुआ। वे चुपचाप अपनी झोंपड़ीमें चले गये और भगवान् रङ्गनाथका और भी तत्परताके साथ गुणगान करनेमें लग गये। वे संसारको एकदम भूल गये और उन्हें एक प्रकारकी प्रेमसमाधि लग गयी। इतनेमें ही एक महात्मा अकस्मात् उनकी झोंपड़ीमें चले आये। उन्हें देखते ही भक्त मुनिवाहन उनके चरणोंपर गिर पड़े। वे सोचने लगे—'क्या मैं यह कोई स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ', और मारे हर्षके उनका गला भर आया। वे कुछ बोल न सके। इतनेमें ही आगन्तुक महात्मा बोल उठे, 'भैया! मैं भगवान् श्रीरङ्गनाथका एक तुच्छ सेवक हूँ। मुझे सारङ्गमा मुनि कहते हैं। भगवान्ने मुझे आज्ञा दी है कि तुम मेरे भक्तको कन्धेपर चढ़ाकर बड़े आदरपूर्वक मेरे पास ले आओ। इसलिये हे भक्तवर! तुम मेरे कन्धेपर चढ़ जाओ और मुझे अपने चरणस्पर्शसे कृतार्थ करो।' भक्तने सोचा—'आज मैं यह क्या सुन रहा हूँ?' वे कहने लगे—'कहाँ मैं नीच अन्त्यज और कहाँ आप उच्च कुलके ब्राह्मण! मैं तो आपकी छायाका भी स्पर्श नहीं कर सकता, बल्कि मन्दिरकी सड़कके पास जानेका भी मुझे अधिकार नहीं है। फिर मैं आपके कन्धेपर सवार होकर श्रीरङ्गनाथके दर्शन करने जाऊँगा, इससे बढ़कर मेरे लिये पापकी और कौन-सी बात हो सकती है। प्रभो! आपकी क्या मर्जी है?'

सारङ्गमा मुनिने और कुछ भी न कहकर भक्तको अपने कन्धेपर बिठा लिया और वे श्रीरङ्गजीके मन्दिरकी ओर चल दिये। अहा! अब भक्त मुनिवाहनके आनन्दका क्या ठिकाना, वे भगवान्‌के प्रेममें तन्मय हो गये। उनकी वही दशा थी, जैसी किसी अन्धेको नेत्र मिल जानेपर होती है अथवा किसी वन्ध्याको पुत्र उत्पन्न होनेपर होती है अथवा किसी सूमको खोया हुआ धन मिल जानेपर होती है। सारङ्गमा मुनि इन्हें कन्धेपर चढ़ाकर ले गये, तभीसे इनका नाम 'मुनिवाहन' पड़ गया। ये भगवान् श्रीरङ्गनाथका 'दर्शन पाकर कृतार्थ हो गये और उनकी स्तुति करने लगे, और कहने लगे—'प्रभो! आपने मेरे कर्मकी बेड़ियोंको काट दिया और मुझे अपना जन बना लिया। आज आपके दर्शन प्राप्तकर मेरा जन्म सफल हो गया।' इस प्रकार वे बहुत देरतक आनन्दमें मग्न होकर भगवान्‌की स्तुति करते रहे; स्तुति करते-करते उनका गला भर आया और वाणी रुक गयी। उनका शरीर नक्षत्रकी भाँति चमकने लगा। लोगोंने देखा उनके मस्तकपर भगवान्‌का चरण रखा हुआ है और चारों ओर दिव्य प्रकाश छाया हुआ है। बड़ा अद्भुत दृश्य था। मुनिवाहन सबके देखते-देखते उस दिव्य प्रकाशमें लीन हो गये। ये मुनिवाहन श्रीवत्सके अवतार माने जाते हैं।

श्रीपोयगै आळवार, भूतत्ताळवार और पेयाळवार

यहाँ हम तीन अत्यन्त प्राचीन आळवारोंका परिचय देंगे, जो ज्ञान और भक्तिकी सजीव मूर्ति थे। इनके बनाये हुए लगभग तीन सौ भजन मिलते हैं, जिन्हें लोग ऋग्वेदका सार मानते हैं। इनमें पहलेका नाम सरोयोगी अथवा पोयगै आळवार था। इनका जन्म काञ्ची नगरीमें हुआ था, जो उन दिनों विद्याका एक प्रधान केन्द्र था। ये पाञ्चजन्यके अवतार माने जाते हैं। भूतत्ताळवारका जन्म महाबलीपुरमें हुआ था और उन्हें लोग भगवान्‌की गदाका अवतार मानते हैं। पेयाळवारका जन्म मद्रासके मैलापुर नामक स्थानमें हुआ था। इन्हें लोग भगवान्‌के खड्गका अवतार कहते हैं। ये लोग जन्मसे ही भक्त थे, इनका जीवन बड़ा पवित्र एवं निष्कलङ्क था। ये तीनों-के-तीनों ज्ञानके भण्डार थे और पराविद्यामें निष्णात थे। वे यदि चाहते तो उन्हें राजाकी ओरसे बहुत अधिक सम्मान प्राप्त होता; परंतु वे धन, मान अथवा कीर्तिके तनिक भी लोभी नहीं थे। इन्हें भगवान्‌के चरणोंको छोड़कर और किसी वस्तुकी आकाङ्क्षा ही नहीं थी। इनकी किसी स्थानविशेषपर ममता नहीं थी, ये एक जगह अधिक दिन नहीं रहते थे और प्रसिद्ध-प्रसिद्ध तीर्थोंका दर्शन करते हुए तथा भगवान्‌का गुण गाते हुए भिन्न-भिन्न स्थानोंमें विचरा करते थे।

एक बार ये तीनों भक्त तिरुक्कोईलूर नामक क्षेत्रमें गये। उस समयतक ये लोग एक-दूसरेसे परिचित नहीं थे। मन्दिरमें भगवान्‌की पूजा करके रात्रिके समय सरोयोगी एक भक्तकी कुटियामें आकर लेट गये। रात अँधेरी थी और कुटिया बहुत छोटी थी। वे पड़े-पड़े भगवान्‌का ध्यान कर रहे थे कि इतनेमें बाहरसे आवाज आयी—'भीतर कौन है ? क्या मुझे भी रातभरके लिये आश्रय मिल सकता है ?' भला, भक्त किसी शरणागतकी प्रार्थनाको टाल सकते हैं। सरोयोगीने उत्तर दिया 'अवश्य मिल सकता है। इस कुटियामें इतना स्थान है कि एक आदमी मजेमें लेट सकता है और दो आदमी बैठ सकते हैं; आओ, हमलोग दोनों बैठ रहें।' यों कहकर दोनों बैठकर भगवच्चर्चा करने लगे। इतनेमें ही बाहरसे एक आदमीकी आवाज फिर आयी और उसने भी वही प्रश्न किया, जो दूसरेने किया था। सरोयोगीने कहा—'तुम भी आ सकते हो; इस कुटियामें इतना स्थान है कि एक आदमी लेट सकता है, दो आदमी बैठ सकते हैं और तीन खड़े रह सकते हैं।' इसपर तीनों मनुष्य खड़े होकर भगवान्‌का ध्यान करने लगे। इतनेमें ही तीनोंने ऐसा अनुभव किया मानो उनके बीचमें कोई चौथा मनुष्य और आ गया है; परंतु उन्हें कोई दिखायी नहीं दिया। वे मन-ही-मन सोचने लगे—'यह क्या बात है ? यह चौथा व्यक्ति हमारे बीचमें कौन आ गया ?' तब उन्होंने ध्यानके

नेत्रोंसे देखा तो उन्हें मालूम हुआ कि साक्षात् भगवान् नारायण ही उनके बीचमें उतर आये हैं। देखते-देखते कुटियामें महान् प्रकाश छा गया और वे तीनों-के-तीनों एक ही साथ भगवान्‌के दर्शन प्राप्तकर आनन्दसे मुग्ध हो गये। उन्हें शरीरकी कुछ भी सुध-बुध न रही। भगवान् नारायणने उनसे कहा—'वर माँगो।' इसपर तीनों-के-तीनों उनके चरणोंपर गिर पड़े और भगवान्‌से यही प्रार्थना करने लगे कि 'प्रभो! आपका गुणगान कभी न छूटे, हम आपसे यही वरदान माँगते हैं।' इसपर भगवान्‌ने उत्तर दिया, 'मेरे प्यारे भक्तो! तुम लोगोंने मुझे अपने प्रेमपाशसे बाँध लिया है, अतः मैं तुम्हारे हृदयको छोड़कर कहाँ जा सकता हूँ। अब तुमलोग जीवोंको मेरे प्रेमका महत्त्व बताओ, इस लोकका कार्य पूराकर फिर वैकुण्ठमें चले आना।' उसी समय इन तीनों आळवारोंने भगवान् नारायणकी महिमाके सौ-सौ पद रचे, जिन्हें 'ज्ञानका प्रदीप' कहते हैं, जिसके कुछ पद्योंका भाव नीचे दिया जाता है—

'भगवान्‌के सदृश और कोई वस्तु संसारमें नहीं है, सारे रूप उसीके हैं। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, दिशाएँ, नक्षत्र और ग्रह, वेद एवं वेदोंका तात्पर्य—सब कुछ वे ही हैं। अतः उन्हींके चरणोंकी शरण ग्रहण करो, मनुष्यजन्मका साफल्य इसीमें है। वे एक होते हुए भी अनेक बने हुए हैं। उन्हींके नामका उच्चारण करो। तुम धनसे सुखी नहीं हो सकते, उनकी कृपा ही तुम्हारी रक्षा कर सकती है। वे ही ज्ञान हैं, वे ही ज्ञेय हैं और वे ही ज्ञानके द्वार हैं। उन्हींके तत्त्वको समझो। भटकते हुए मन और इन्द्रियोंको काबूमें करो, एकमात्र उन्हींकी इच्छा करो और उन्हींकी अनन्य भावसे उपासना करो। वे भक्तोंके लिये सगुण मूर्ति धारण करते हैं। जिस प्रकार लता किसी वृक्षका आश्रय ढूँढ़ती है, उसी प्रकार मेरा मन भी भगवान्‌के चरणोंका आश्रय ढूँढ़ता है। उनके प्रेममें जितना सुख है, उतना इन अनित्य विषयोंमें कहाँ। प्रभो! अब ऐसी कृपा कीजिये कि मेरी वाणी केवल तुम्हारा ही गुण गान करें, मेरे हाथ तुम्हींको प्रणाम करें, मेरे नेत्र सर्वत्र तुम्हारे ही दर्शन करें, मेरे कान तुम्हारे ही गुणोंका श्रवण करें, मेरे चित्तके द्वारा तुम्हारा ही चिन्तन हो और मेरे हृदयको तुम्हारा ही स्पर्श प्राप्त हो।'

श्रीभक्तिसार (तिरुमडिसै आळवार)

दक्षिणमें तिरुमडिसै (महीसरपुर) नामका एक प्रसिद्ध तीर्थ है, वहाँ कई महर्षियोंने तपस्या की है। इन्हीं तपस्वियोंमें भार्गव नामक एक महान् विष्णुभक्त भी हो गये हैं। इनकी पत्नीका नाम कनकावती था, जो इनकी तपस्यामें बड़ी सहायता करती थी। इन्हें भक्तिसार नामका एक पुत्ररत्न प्राप्त हुआ। तिरुमडिमेंसे उत्पन्न होनेके कारण उन्हें लोग तिरुमडिसै आळवार कहने लगे। इनके माता-पिताने इनको सरकण्डोंके वनमें छोड़ दिया था। कहते हैं कि स्वयं श्रीमहालक्ष्मीने इन्हें अपना दुग्ध-पान कराया। दैवयोगसे तिरुवाडन् नामका व्याध और उसकी पत्नी पङ्कजवल्ली दोनों उस स्थानमें सरकण्डे काटनेके लिये उधर आ निकले, उनकी दृष्टि उस बालकपर पड़ी और उन्होंने उसे भगवान्‌की देन समझकर उठा लिया और अपने घर ले आये। उनके कोई सन्तान नहीं थी, इसीलिये उन्होंने उस बालकको अपने ही बालकके रूपमें पाला-पोसा और उसका नाम 'भक्तिसार' रखा। इस बालकमें यह विशेषता थी कि वह किसी भी स्त्रीका स्तन-पान नहीं करता था। एक वृद्ध मनुष्यने इस बालककी आकृति देखकर पहचान लिया कि यह कोई असाधारण बालक है और उसे गायका दूध पिलाने लगा। बालकके पीनेके बाद जो दूध कटोरेमें बचा रहता, उसे यह वृद्ध मनुष्य और उसकी पत्नी दोनों पी जाते। इस प्रसादके प्रभावसे उन्हें भी कनिकन्न नामका एक पुत्र हुआ। ये कनिकन्न भक्तिसारके प्रधान शिष्य हुए।

भक्तिसार अलौकिक प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे। उन्होंने थोड़ी ही अवस्थामें प्रायः सभी धार्मिक ग्रन्थ पढ़ डाले और वेदान्तदर्शन, मीमांसादर्शन, बौद्धदर्शन एवं जैनदर्शन—सभीका अभ्यास किया। इन्हें भगवान् श्रीनारायणकी शरणसे ही परमानन्दकी प्राप्ति हुई। ये भगवान्‌से इस प्रकार प्रार्थना किया करते—'प्रभो! मुझे इस जन्म-मरणके

विष्णुचित्त (पेरियाळवार) [पृ० ३३४]

श्रीआण्डाळ (रंगनायकी) [पृ० ३३६]

कुलशेखर आळवार [पृ० ३३९]

श्रीविप्रनारायण (भक्तपदरेणु) [पृ० ३४१]

श्रीमुनिवाहन (तिरुप्पनाळवार) [पृ० ३४४]

श्रीपोयगै, भूतत्ताळवार और पेयाळवार [पृ० ३४५]

नीलन् आळवार [पृ० ३४९]

रामभक्त कंबर् [पृ० ४३५]

चक्करसे छुड़ाओ। मैंने अपनी इच्छाको तुम्हारी इच्छाके अन्दर विलीन कर दिया है, मेरा चित्त सदा तुम्हारे चरणोंका ध्यान किया करता है। तुम्हीं आकाश हो, तुम्हीं पृथ्वी हो, तुम्हीं पवन हो और तुम्हीं मेरे स्वामी हो। तुम्हीं मेरे पिता हो, तुम्हीं मेरी माता हो और तुम्हीं रक्षक हो। तुम्हीं शब्द हो और तुम्हीं उसके अर्थ हो। तुम वाणी और मन दोनोंके परे हो। यह जगत् तुम्हारे ही अन्दर स्थित है और तुम्हारे ही अन्दर लीन हो जाता है। तुम्हारे ही अन्दर सारे भूत-प्राणी उत्पन्न होते हैं, तुम्हारे ही अन्दर चलते-फिरते हैं और फिर तुम्हारे ही अन्दर लीन हो जाते हैं। दूधमें घीकी भाँति तुम सर्वत्र विद्यमान हो।'

गजेन्द्र-सरोवरके तटपर इन्होंने कई वर्षतक ध्यानयोगका अभ्यास किया। उन्हीं दिनों एक दिन देवता इनके सामने आये और इनसे कहा कि 'वर माँगो।' इन्होंने देवताओंसे पूछा, 'क्या, आप मुझे मुक्ति दे सकते हैं ?' देवताओंने कहा, 'नहीं!' 'तो क्या आप किसीकी मृत्युको टाल सकते हैं ?' देवताओंने फिर कहा 'नहीं।' इसपर इन्होंने कहा—'फिर आप क्या कर सकते हैं ?' इससे देवता भक्तिसारसे रुष्ट होकर चले गये, परंतु वे इनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सके। इस प्रकार साधकोंके साधनमें विघ्न डालनेके लिये बहुत बार देवता आया करते हैं। साधकको चाहिये कि उनकी कुछ भी परवा न करके भक्तिसारकी भाँति अपने लक्ष्यपर सुदृढ़ रहे।

इनके अन्दर अहङ्कारका लेश भी नहीं था। इनके बनाये हुए पदोंके कारण जब इनकी प्रसिद्धि बढ़ने लगी, तब इन्होंने एक दिन अपने पदोंकी सारी पोथियाँ कावेरी नदीमें डाल दीं। और सब पुस्तकें तो नदीके प्रवाहमें बह गयीं, केवल दो पुस्तकें बच रहीं। कहते हैं, ये पुस्तकें प्रवाहके साथ न बहकर अपने-आप किनारेकी ओर लौट आयीं। उनके कुछ उपदेशोंका सार नीचे दिया जाता है—'मुक्ति भगवान्की कृपासे ही प्राप्त होती है। भगवान्की कृपाको प्राप्तकर मनुष्य अजेय हो जाता है। भगवत्प्रेम ही मनुष्यके लिये सबसे बड़ी सम्पत्ति है। भगवान् ही वेदोंके सार हैं। पूजा और स्तुतिके योग्य एकमात्र भगवान् नारायण ही हैं। वे ही संसारके आदिकारण हैं। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान—तीनों वे ही हैं। नारायण ही सब कुछ हैं। नारायण ही हमारे सर्वस्व हैं।'

श्रीनीलन् (तिरुमङ्गैयाळवार)

किसी जंगलमें हरिनको फँसानेके लिये पालतू हरिनकी आवश्यकता होती है। इसी प्रकार जगद्गुरु भगवान् नारायण भी भक्तोंके द्वारा ही जीवोंका उद्धार करते हैं। भगवान् जाति, कुल, विद्या आदिका विचार नहीं करते। वे तो केवल प्रेमसे ही वशीभूत होते हैं। नीलन् (तिरुमङ्गैयाळवार)-का जन्म चोळ देशके किसी ग्राममें एक शैवके घरानेमें हुआ था। इनके पिता बहुत बड़े योद्धा थे। उन्होंने इन्हें युद्धविद्यामें भलीभाँति निपुण कर दिया। ये बाण चलानेमें, घोड़ेकी सवारी करनेमें तथा सेनाका नेतृत्व करनेमें बड़े कुशल हो गये। चोळ देशके राजाने इनकी वीरतापर प्रसन्न होकर इन्हें अपने सेनानायकके पदपर प्रतिष्ठित किया। जिस समय नीलन् सेना लेकर किसी शत्रुपर आक्रमण करते, लोगोंके मनमें यह निश्चय हो जाता कि विजय इन्हींके पक्षमें होगी। राजाने इन्हें कुछ भूमि भी प्रदान की। यद्यपि इनकी अध्यात्मकी ओर रुचि थी, तथापि वह रुचि उसी राजसी जीवनके कारण एक प्रकार दब-सी गयी थी।

दक्षिणके तिरुवालि नामक क्षेत्रमें कुमुदवल्ली नामकी एक कुमारी कन्या रहती थी। जिस प्रकार विष्णुचित्तने आण्डाळका पालन-पोषण किया था, उसी प्रकार इसका लालन-पालन भी किसी भक्तके द्वारा ही हुआ था। यह कुमारी तिरुवालिके मन्दिरमें स्थित भगवान् श्रीनारायणकी बड़ी भक्त थी। वह देखनेमें भी बड़ी सुन्दर थी। बड़े-बड़े राजालोग उसका पाणिग्रहण करनेके लिये लालायित थे, परन्तु उसने किसीके साथ विवाह करना स्वीकार नहीं किया। जब नीलन्ने यह समाचार सुना, तब उनके मनमें भी उस बालिकाके प्रति बड़ा आकर्षण हुआ। उन्होंने कुमुदवल्लीके पिताके पास जाकर उनसे अपने हृदयका भाव कहा। पिताने इस विषयमें कुमुदवल्लीकी राय पूछी। कुमुदवल्लीने कहा—'मेरा विवाह किसी विष्णुभक्तसे ही

हो सकता है।' नीलन्‌ने यह शर्त मंजूर कर ली। वे तुरन्त किसी वैष्णव आचार्यके पास गये और उनसे दीक्षा लेकर चले आये। कुमुदवल्लीने कहा—'केवल बाह्य परिवर्तन पर्याप्त नहीं है; यदि मुझसे विवाह करना है तो अपनी वैष्णवताका क्रियात्मक परिचय देना होगा। तुम्हें एक सालतक प्रतिदिन एक हजार आठ भक्तोंको भोजन करवाकर मुझे उनका प्रसाद लाकर देना होगा।' नीलन्‌ने कुमुदवल्लीकी यह दूसरी शर्त भी मंजूर कर ली और शर्तके अनुसार दोनोंका विवाह हो गया।

इस प्रकार प्रतिदिन हजारसे ऊपर ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे उनके अन्दर बड़ा परिवर्तन हो गया। उनका चित्त निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन करने लगा। उनके नेत्रोंसे अज्ञानका पर्दा हट गया। अपनी भक्तिमती पत्नीके सङ्गके प्रभावसे वे भी भगवान् श्रीनारायणके अनन्य भक्त हो गये। उन्होंने सोचा—'मेरी सारी सम्पत्ति और शक्ति भक्तोंकी चरण-धूलिके समान भी नहीं है।' यह विचारकर वे बड़े प्रेमसे भक्तोंकी सेवामें लग गये और प्रतिदिन हजारोंकी संख्यामें उन्हें भोजन कराने लगे। यहाँतक कि उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति इसी काममें लगा दी और उनके पास कुछ भी नहीं बचा।

परन्तु फिर भी उन्होंने भक्तोंको भोजन करानेका काम बन्द नहीं किया। उन्होंने अपने मनमें यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि 'चाहे हम भूखों मर जायँ, किंतु इस सेवाके कार्यको नहीं छोड़ सकते; भगवान् नारायण हमारी रक्षा करेंगे।' उन्होंने चोळ देशके राजाको वार्षिक कर देनेके लिये जो रुपया बचा रखा था, वह भी इसी काममें खर्च हो गया। महीनों बीत गये, राजाके कोषमें नीलन्‌का कर नहीं पहुँचा। अब लोगोंको उनके विरुद्ध राजाके कान भरनेका अच्छा मौका हाथ लगा। राजाने उन्हें गिरफ्तार करनेके लिये एक बहुत बड़ी सेना भेजी। नीलन्‌ने बड़ी वीरताके साथ राजकीय सेनाका मुकाबला किया और उसे भगा दिया। तब राजा स्वयं बहुत बड़ी सेना लेकर आये। परन्तु नीलन् फिर भी बड़ी निर्भीकताके साथ युद्ध करता रहा। राजा उसकी वीरताको देखकर दंग रह गये और उन्होंने उसके सामने सन्धिका प्रस्ताव भेजा। जब वे राजाके सामने आये, तब राजाने उनसे कहा—'तुमने सेनापति होकर मेरी ही सेनाके साथ युद्ध किया, यह उचित नहीं था; फिर भी तुम्हारे इस अपराधको मैं क्षमा करता हूँ। किंतु तुम्हें अपना वार्षिक कर तो भरना ही होगा और जबतक तुम्हारा कर राज्यके कोषमें जमा न हो जाय, तबतक तुम्हें मेरे कारागारमें बन्दी होकर रहना होगा।'

नीलन् राजाके कारागारमें बन्द हो गये; परन्तु उन्होंने यह प्रण कर लिया था कि 'मैं भगवान्‌के भक्तोंको भोजन कराकर ही उनका प्रसाद ग्रहण करूँगा।' भोजन करानेकी व्यवस्था कैदखानेमें हो नहीं सकती थी, इसलिये उन्होंने वहाँपर अन्न-जल कुछ भी नहीं लिया। उनके इस व्रतको देखकर भगवान् प्रसन्न हो गये। उन्होंने नीलन्‌को स्वप्नमें दर्शन देकर कहा—'काञ्चीनगरीमें वेगवती नदीके तटपर अमुक स्थानमें विपुल सम्पत्ति गड़ी हुई है, उस सम्पत्तिको स्वायत्तकर उससे अपना सेवाका कार्य चालू रख सकते हो।' नीलन्‌ने राजासे कहला भेजा—'मैं काञ्चीनगरीमें जाकर अपना कर चुका दूँगा।' राजाने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और उन्हें कई अधिकारियोंके साथ काञ्ची भेज दिया। नीलन्‌को निर्दिष्ट स्थानमें अपार सम्पत्ति प्राप्त हो गयी, जिससे उन्होंने व्याजसहित राजाका कर भी चुका दिया और भक्तोंको भोजन करानेका कार्य फिरसे शुरू कर दिया। काञ्चीमें भगवान् वरदराजने नीलन्‌को दर्शन दिये। तब चोळदेशके राजाको यह निश्चय हो गया कि नीलन् कोई साधारण मनुष्य नहीं हैं, वे भगवान्‌के बड़े भक्त और कृपापात्र हैं और भगवान् सदा उनकी रक्षा करते हैं। राजा स्वयं भक्तके पास आये और उनके चरणोंपर गिरकर उनसे क्षमा माँगने लगे। जो रुपया करके रूपमें उनसे वसूल किया गया था, वह भी उन्होंने लौटा दिया और कहा कि 'इसे अपने पवित्र काममें लगा देना।'

नीलन्‌ने अब और भी अधिक उत्साहके साथ भक्तोंको भोजन करानेका कार्य प्रारम्भ कर दिया। भोजन करनेवालोंकी संख्या प्रतिदिन बढ़ती जाती थी। भगवान्‌की कृपासे इन्हें जो कुछ धन प्राप्त हुआ था। वह भी खर्च हो गया और भक्त पहलेकी भाँति फिर कंगाल हो गये; परंतु कुमुदवल्ली और नीलन्‌ने अपना आग्रह नहीं छोड़ा।

जबतक उन्हें भक्तोंका प्रसाद नहीं मिल जाता; तबतक वे अन्न-जल ग्रहण नहीं करते; परंतु भक्तोंको भोजन करानेके लिये धन कहाँसे आये ? अन्तमें नीलन्ने सोचा—'मैं एक बलवान् सिपाही हूँ। धनवानोंको क्या अधिकार है कि वे आवश्यकतासे अधिक धन अपने पास बटोरकर रखें और हजारों मनुष्य निर्धन होकर उनका मुँह ताका करें। अच्छा, मैं इन लोगोंको लूटकर इनके अन्यायोपार्जित धनको दरिद्रोंमें बाँट दूँगा; तब इन लोगोंकी आँखें खुलेंगी।' यह कहकर उन्होंने एक बहुत बड़ा गिरोह बनाया और दिनदहाड़े अमीरोंको लूटना आरम्भ कर दिया; परंतु वे लूटके मालमेंसे अपने पास एक पैसा भी नहीं रखते थे, सारा-का-सारा गरीब भक्तोंको बाँट देते थे।

नीलन्का उद्देश्य अच्छा होनेपर भी उनका यह कार्य कदापि अनुमोदनीय नहीं था। भगवान्ने जब देखा कि मेरा भक्त विपरीत मार्गपर चल रहा है, तब उन्होंने उसे रास्तेपर लाकर अपने लक्ष्यपर स्थिर करनेका विचार किया।

आज नीलन्को गहरा माल हाथ लगनेवाला है। सामनेसे एक बहुत बड़ा धनी गहनोंसे लदी हुई अपनी पत्नीके साथ आ रहा है। ज्यों ही वे दम्पति निकट पहुँचे, नीलन्के दलने उन्हें घेर लिया और कहा कि 'भगवान्के नामपर अपना सारा मालमता हमारे सुपुर्द कर दो, नहीं तो अपनी जानसे भी हाथ धो बैठोगे।' यों कहकर उन्होंने उस धनीकी स्त्रीके सारे गहने छीन लिये। उनके सामने सोने और जवाहरातका ढेर लग गया; परंतु गठरी इतनी भारी हो गयी कि वह किसीके उठाये न उठी। सब-के-सब अपना-अपना जोर लगाकर हार गये, किंतु वह गठरी टस-से-मस न हुई। अब तो नीलन्के मनमें कुछ सन्देह हुआ कि अवश्य ही इसमें कोई जादू है। उन्होंने उस धनीसे कहा—'अवश्य तुमने किसी मन्त्रके बलसे इस गठरीको भारी बना दिया है; अतः या तो वह मन्त्र मुझे बताओ, नहीं तो मैं तुम्हें यहाँसे जाने न दूँगा।' धनीने नीलन्को अलग ले जाकर उसके कानमें '**ॐ नमो नारायणाय**' यह अष्टाक्षर मन्त्र पढ़ दिया। उस मन्त्रके कानमें पड़ते ही नीलन्के शरीरमें मानो बिजली-सी दौड़ गयी। वह उस मन्त्रका उच्चारण करते हुए नाचने लगा। इतनेमें ही उन्होंने देखा कि न तो वे दम्पति हैं और न वह धनका ढेर ही है। अब तो नीलन्के आश्चर्यका ठिकाना न रहा। उन्होंने आँख उठाकर ऊपरकी ओर देखा तो उनके नेत्र वहीं अटक गये। उन्होंने देखा—साक्षात् भगवान् नारायण लक्ष्मीजीके सहित गरुड़पर सवार होकर आकाशमार्गसे जा रहे हैं। अब तो नीलन्को सारा रहस्य मालूम हो गया। वे मन-ही-मन पछताने लगे और कहने लगे कि 'मैं कैसा दुष्ट और पापी हूँ कि मुझे इस पापकर्मसे बचानेके लिये साक्षात् मेरे इष्टदेव और इष्टदेवीको इतना कष्ट उठाना पड़ा। हाय! मैंने अपने इन पापी हाथोंसे उनके शरीरपर हाथ लगाया, उन्हें डराया-धमकाया और उन्हें मारनेपर उतारू हो गया। हाय! मैं कितना नीच हूँ। किंतु साथ ही अहा! मेरे स्वामी कितने दयालु हैं। प्रभो! मेरे अपराधोंको क्षमा कीजिये और मुझे अपनी शरणमें लीजिये। प्रभो! आज तुमने मुझे बचा लिया। प्रभो! मैंने आपके साथ कितने अत्याचार किये; परंतु आपने मेरे अपराधोंकी ओर न देखकर मेरी रक्षा की।' उनकी इस आत्मग्लानिको सुनकर ऊपरसे आवाज आयी—'मेरे प्यारे नीलन्! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ, तुम किसी प्रकारकी ग्लानि मनमें न लाओ। अब तुम श्रीरंगम् जाकर वहाँके मन्दिरको पूर्ण कराओ और अपने भजनरूपी हारोंसे मेरी पूजा करो। जबतक जिओ, मेरी भक्ति और प्रेमका प्रचार करो और शरीर त्यागनेपर मेरे धाममें मुझसे मिलो।'

उस दिनसे नीलन्का जीवन पलट गया। उन्हें वह मन्त्र मिल गया, जिससे उनके सारे पाप धुल गये। उन्होंने भगवान् विष्णुकी स्तुतिके हजारों पद बनाये, जिन्हें लोग 'महावाक्य' कहते हैं। ये भगवान्के शार्ङ्गधनुषके अवतार माने जाते हैं। इन्होंने लाखों रुपये लगाकर भगवान् श्रीरंगजीके मन्दिरको पूर्ण करवाया। वे भगवान्की दास्यभावसे उपासना करते थे और इनके जीवनका प्रत्येक क्षण भगवान्की सेवामें बीतता था। ये प्रसिद्ध शैवाचार्य श्रीज्ञानसम्बन्धके समसामयिक थे और वे भी इनके पदोंका बड़ा आदर करते थे। इन्होंने एक बार बौद्धोंको शास्त्रार्थमें हराकर विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्तकी स्थापना की थी।
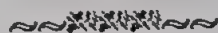
श्रीशठकोपाचार्य

भारतके तमिळभाषा-भाषी प्रान्तके मध्ययुगमें, जो ईसवी सन्‌की छठी शताब्दीसे प्रारम्भ होकर ग्यारहवीं शताब्दीमें समाप्त होता है, धर्मकी महान् जागृति हुई, जिसकी छाया उस समयके धार्मिक साहित्यपर भी भलीभाँति पड़ी मालूम होती है। उस समयके शैव और वैष्णव दोनों ही सम्प्रदायोंमें जागृतिके स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। उस समयके शैव-संत शैवसमयाचार्योंके नामसे प्रसिद्ध हैं। इन्होंने 'तैवरम्' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थकी रचना की, जिसमें भगवान् शिवकी लीलाओंका वर्णन है। वैष्णव संत आळवारोंके नामसे विख्यात हुए। इनके परवर्ती भक्त आचार्य कहलाये और दक्षिण भारतमें वैष्णवधर्मके प्रचारमें इनका बहुत अधिक हाथ रहा। आळवारों अथवा तमिळ वैष्णव संतोंमें महात्मा शठकोपका स्थान बहुत ऊँचा और आदरके योग्य गिना जाता है। इनका तमिळ नाम नम्माळवार है और तमिळ वैष्णव इन्हें जन्मसिद्ध मानते हैं।

इनके प्रसिद्ध नाम शठकोपन् और मारन् हैं। यों तो प्रत्येक आळवारका ही जन्म अलौकिक ढंगसे हुआ। प्रत्येक आळवारको—और तमिळ-परम्पराके अनुसार इन आळवारोंकी संख्या बारह मानी जाती है—भगवान्‌के आयुधविशेष अथवा आभूषणविशेषका स्वरूप माना जाता है। किंतु नम्माळवारको लोग आज भी विष्वक्सेनका अवतार मानते हैं। प्रत्येक प्रधान देवताको किसी गणविशेषका अथवा अनेक गणोंका अधिपति माना जाता है। भगवान् शिवका भी एक नाम गणपति प्रसिद्ध है। इसी प्रकार भगवान् विष्णुके भी कई गण हैं और उनके अधिनायक विष्वक्सेन हैं। शिवजीके गणोंमें गणेशका जो स्थान है, वही स्थान विष्णुके गणोंमें विष्वक्सेनका है और नम्माळवार उन्हीं विष्वक्सेनके अवतार माने जाते हैं।

शठकोपके पिताका नाम करिमारन् था। ये पाण्ड्यदेशके राजाके यहाँ किसी ऊँचे पदपर थे और आगे चलकर कुरुगनाडु नामक छोटे राज्यके राजा हो गये, जो पाण्ड्यदेशके ही अधीन था। शठकोपका जन्म अनुमानतः तिरुक्कुरुकूर नामक नगरमें हुआ था, जो तिरुनेल्वेली जिलेमें ताम्रपर्णी नदीके तटपर अवस्थित था। इनके सम्बन्धमें यह कथा प्रचलित है कि जन्मके बाद दस दिनतक इन्हें भूख, प्यास कुछ भी नहीं लगी। यह देखकर इनके माता-पिताको बड़ी चिन्ता हुई। वे इसका रहस्य कुछ भी नहीं समझ सके। अन्तमें यही उचित समझा गया कि इन्हें भगवान्‌के मन्दिरमें ले जाकर वहीं छोड़ दिया जाय। बस, इस निर्णयके अनुसार इन्हें स्थानीय मन्दिरमें एक इमलीके वृक्षके नीचे छोड़ दिया गया। तबसे लेकर सोलह वर्षकी अवस्थातक बालक नम्माळवार उसी इमलीके पेड़के कोटरमें योगकी प्रक्रियासे ध्यान और भगवान् श्रीहरिके साक्षात्कारमें लगे रहे। नम्माळवारकी ख्याति दूर-दूरतक फैल गयी। तिरुक्कोईलूर नामक स्थानके एक ब्राह्मण, जो मधुर कविके नामसे विख्यात थे और जो स्वयं आगे चलकर आळवारोंकी कोटिमें गिने जाने लगे, नम्माळवारके साधनकी बात सुनकर ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उस स्थानपर जा पहुँचे, जहाँ यह बालक भक्त अपने भगवान् श्रीनारायणका ध्यान कर रहे थे। इनकी प्रार्थनासे महात्माने इन्हें अपना शिष्य बना लिया। इस प्रकार यह भी कहा जाता है कि नम्माळवार आचार्य भी थे; क्योंकि उन्होंने मधुर कवि-जैसे शिष्योंको दीक्षा देकर उन्हें धर्म और अध्यात्मतत्त्वके गूढ़ रहस्य बताये।

इतिहास यह है कि जब नम्माळवारजी ध्यानमें मग्न थे, दयामय भगवान् नारायण उनके सामने प्रकट हुए और उन्हें **'ॐ नमो नारायणाय'** इस अष्टाक्षर मन्त्रकी दीक्षा दी। बालक शठकोप पहलेसे ही विशेष शक्तिसम्पन्न थे और अब तो वे महान् आचार्य तथा धर्मके उपदेष्टा हो गये। कहते हैं कि नम्माळवार पैंतीस वर्षकी अवस्थातक इस मर्त्यलोकमें रहे और इसके बाद उन्होंने अपने भौतिक विग्रहको त्याग दिया। कहा जाता है, इनके जीवनका अधिकांश भाग राधाभावमें बीता। वे सर्वत्र सब समय सारी परिस्थितियों और घटनाओंमें अपने इष्टदेवमें ही रमे रहते। ये भगवान्‌के विरहमें रोते, चिल्लाते, नाचते, गाते और मूर्छित हो जाते थे। इसी

बीचमें इन्होंने कई भक्तिभावपूर्ण धार्मिक ग्रन्थोंकी रचना की, जो बड़े विचारपूर्ण, गम्भीर और भगवत्प्रेरित जान पड़ते हैं। इनमें प्रधान ग्रन्थोंके नाम तिरुविरुत्तम्, तिरुवाशिरियम्, पेरिय तिरुबन्त और तिरुवाय्मोळि हैं। महात्मा शठकोपके ये चार ग्रन्थ चार वेदोंके तुल्य माने जाते हैं। इन चारोंमें भगवान् श्रीहरिकी लीलाओंका वर्णन है और ये चारों-के-चारों भगवत्प्रेमसे ओतप्रोत हैं। ग्रन्थकारने अपनेको प्रेमिकाके रूपमें व्यक्त किया है और श्रीहरिको प्रियतम माना है। तिरुविरुत्तम्में आदिसे अन्ततक यही भाव भरा हुआ है। इनके ग्रन्थोंमेंसे अकेले तिरुवाय्मोळिमें, जिसका अर्थ है—पवित्र उपदेश, हजारसे ऊपर पद्य हैं। दक्षिणके वैष्णवोंके प्रधान ग्रन्थ दिव्यप्रबन्धम्के चतुर्थांशमें इसीके पद संगृहीत हैं। तिरुवाय्मोळिके पद मन्दिरोंमें तथा धार्मिक उत्सवोंमें बड़े प्रेमसे गाये जाते हैं। तमिळके धार्मिक साहित्यमें तिरुवाय्मोळिका अपना निराला ही स्थान है। वहाँ इसके पाठका उतना महत्त्व माना जाता है, जितना वेदाध्ययन और वेदपाठका; क्योंकि इसमें वेदका सार भर दिया गया है।

इस वृत्तान्तको समाप्त करनेके पूर्व महात्मा शठकोपके कालके सम्बन्धमें कुछ निवेदन करना आवश्यक है। इसके सम्बधमें विद्वानोंमें बड़ा मतभेद है और इस विषयपर बहुत खण्डन-मण्डन हो चुका है। कुछ विद्वान् इनका समय ईसवी सन्की पाँचवीं शताब्दी मानते हैं और कुछ लोग इनका जन्म ईसवी सन्की दसवीं अथवा ग्यारहवीं शताब्दी मानते हैं। ये दोनों ही मत प्रामाणिक नहीं मालूम होते। स्वर्गीय श्रीयुत गोपीनाथराव आनमलेके शिलालेखोंकी छानबीन करके इस निर्णयपर पहुँचे थे कि महात्मा शठकोप ईसवी सन्की नवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें इस मर्त्यलोकमें थे। किंतु हमारे पास कुछ ऐसे प्रमाण हैं, जिनके सामने यह मत भी नहीं ठहरता; किंतु इस छोटेसे निबन्धमें इस विषयकी विस्तृत आलोचना सम्भव नहीं है। यहाँपर इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि महात्मा ईसवी सन्की सातवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें विद्यमान थे। हम पहले ही बता चुके हैं कि इनका एक नाम मारन् भी था। उस समयके राजाका नाम भी यही था। वेळिवकुडीके दानपत्रके अनुसार मारन् कोच्छदैयन्के पितामह थे। हमारे पक्षमें एक प्रबल प्रमाण यह भी है कि दक्षिणके वैष्णवोंकी गुरुपरम्पराओंमें भी शठकोपको तिरुमंगई मन्नन् नामके एक दूसरे प्रसिद्ध आळवारका पूर्ववर्ती माना गया है। तिरुमंगईका जीवनकाल प्रायः सब लोगोंने आठवीं शताब्दीका पूर्वार्द्ध माना है। इसके आधारपर महात्मा शठकोपका काल सातवीं शताब्दीका उत्तरार्द्ध मानना अनुचित न होगा।

श्रीमधुर कवि आळवार

मधुर कवि गरुड़के अवतार माने जाते हैं। इनका जन्म तिरुक्कोलूर नामक स्थानमें एक सामवेदी ब्राह्मणकुलमें हुआ था। ये वेदके बड़े अच्छे ज्ञाता थे; परंतु इन्होंने सोचा कि प्रेम, भक्ति और तत्त्वबोधके बिना विद्या किसी कामकी नहीं। ऐसा विचार करके इन्होंने सब कुछ त्याग दिया और अकेले तीर्थयात्राके लिये निकल पड़े। इनके मनमें भगवत्प्रकाश प्राप्त करनेकी बड़ी अभिलाषा थी। इसी उद्देश्यसे ये अयोध्या, मथुरा, काशी आदि अनेक तीर्थस्थानोंको गये। एक दिन जब ये गङ्गातटपर विचर रहे थे, इन्हें दक्षिणकी ओर एक बड़ा दिव्य प्रकाश दिखायी दिया। वह प्रकाश इन्हें लगातार तीन दिनोंतक दिखायी देता रहा। ये उस प्रकाशसे इतने अधिक आकर्षित हुए कि उसके पीछे-पीछे बहुत दूरतक चले गये। जब ये कुरुकूर नामक स्थानमें पहुँचे, तब इन्होंने देखा कि वह प्रकाश सहसा लुप्त हो गया। पूछ-ताछ करनेपर मालूम हुआ कि वहाँ एक महान् भक्त योगी रहते हैं। ये उस भक्त योगीके पास गये और देखा कि एक मन्दिरके पास एक इमलीके पेड़के कोटरेमें वे ध्यानस्थ बैठे हैं। मधुर कवि बहुत देरतक इस आशासे बैठे रहे कि महात्माकी समाधि टूटे तो उनसे कुछ बातचीत की जाय। अन्तमें इनसे नहीं रहा गया। इन्होंने योगिराजको आवाज दी, किंतु आवाजका उन्हें कोई उत्तर नहीं मिला। इन्होंने ताली बजायी, किंतु फिर भी महात्मा टस-से-मस नहीं हुए। अन्तमें इन्होंने मन्दिरकी दीवालपर

पत्थर मारा जिससे बड़े जोरकी आवाज हुई; किंतु उसका भी महात्मापर कोई असर नहीं हुआ। वे ज्यों-के-त्यों आसन लगाये बैठे रहे। तब मधुर कवि साहस करके कोटरके पास गये और बोले—'महाराज! मैं आपसे एक प्रश्न पूछता हूँ— यदि सत् पदार्थ (सूक्ष्म चेतनशक्ति) असत् (जड प्रकृति) के अंदर आविर्भूत हो जाय तो वह क्या खायेगा और कहाँ विश्राम करेगा?' अब योगीने अपना मुँह खोला और कहा—'वह उसीको खायगा और वहींपर विश्राम करेगा।' यह जीव क्या खाता है और कहाँ कैसे रहता है, इसका उत्तर यह है कि 'सूक्ष्म आत्मा हृदयके अन्तस्तलमें रहकर प्रकृतिके कर्मोंका द्रष्टारूपसे उपभोग करता है। वह क्षेत्रज्ञरूपमें असङ्ग होकर प्रकृतिके खेलका आनन्द लेता है।' मधुर कविने अपने गुरुको पहचान लिया और भक्तराजने भी अपने शिष्यको ढूँढ़ निकाला, जिसकी वे बहुत दिनोंसे बाट देख रहे थे। वे इस असत् (शरीर) के अंदर सत् (परमात्मा)के रूपमें विद्यमान थे।

मधुर कविने अपने गुरुकी स्तुति करते हुए कहा—'मैं इन्हें छोड़कर दूसरे किसीको नहीं जानता। मैं इन्हींके गुण गाऊँगा, मैं इन्हींका भक्त हूँ। हाय! मैंने अबतक संसारके पदार्थोंका ही भरोसा किया। मैं कितना अभिमानी और मूर्ख था। सत्य तो यही है। मुझे आज उसकी उपलब्धि हुई। अब मैं अपने शेष जीवनको इन्हींकी कीर्तिका चारों दिशाओंमें प्रचार करनेमें बिताऊँगा। इन्होंने आज मुझे वेदोंका सार-तत्त्व बताया है। इनके चरणोंमें प्रेम करना ही मेरे जीवनका एकमात्र साधन होगा।'

श्रीयामुनाचार्य

भारतमें भक्तिके आचार्यों और दार्शनिकोंने जिस प्रकार भारतीय संस्कृति और धर्म, समाज और शिष्टाचारकी रक्षा की, वह इतिहासकी एक चिरस्मरणीय घटना है। श्रीशंकराचार्य, श्रीयामुनाचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्व, श्रीवल्लभ, श्रीचैतन्य आदिने इस शुभकार्यमें महान् योग दिया। भक्तिकी आदिभूमि दक्षिण भारत है, बड़े-बड़े भक्तिके आचार्योंने दक्षिण भारतमें ही जन्म लिया था। श्रीयामुनाचार्य महान् भक्त, भगवान्‌के परम विश्वासी और विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्तके प्रचारक थे। भगवद्भक्तिके प्रचारमें उन्हें पूर्ण सफलता मिली।

यामुनाचार्यका जन्म संवत् १०१० वि० में मदुरामें हुआ था। श्रीवैष्णवसम्प्रदायके आचार्य नाथमुनिके पुत्र ईश्वरमुनि उनके पिता थे। पिताकी मृत्युके समय उनकी अवस्था दस सालकी थी। पितामहके संन्यास ले लेनेपर उनका पालन-पोषण दादी और माताकी देख-रेखमें हुआ। वे बाल्यावस्थासे ही अद्भुत प्रतिभाशाली और विद्वान् थे। उनका स्वभाव बहुत मधुर, प्रेममय और उदार था। पाण्ड्यराजके महापण्डित कोलाहलको शास्त्रार्थमें परास्त करनेके उपलक्ष्यमें महारानीने उन्हें आधा राज्य सौंप दिया था। रानीने उनके विजयी होनेपर 'आळवन्दार' की उपाधिसे विभूषित किया था। यामुनाचार्य जब पैंतीस सालके हुए, अपने देहावसान-कालमें नाथमुनिने शिष्यप्रवर राममिश्रसे कहा—'ऐसा न हो कि यामुन राजकार्यमें ही अपना अमूल्य समय बिता दें, विषय-भोगमें ही उनकी आयु बीत जाय।' नाथमुनिके देहावसानके बाद राममिश्र यामुनको उनकी सम्पत्तिका अधिकार सौंपनेके लिये ले जा रहे थे। रास्तेमें श्रीरंगके मन्दिरमें दर्शनके निमित्त आनेपर यामुनके हृदयमें सहसा भक्तिका स्रोत उमड़ आया। उनके हृदयमें पूर्ण और अखण्ड वैराग्यका उदय हुआ, माया और राज्यभोगकी प्रवृत्तिका नाश हो गया। उन्होंने शुद्ध हृदयसे भगवान् श्रीरंगकी स्तुति की—'परमपुरुष! मुझ अपवित्र, उद्दण्ड, निष्ठुर और निर्लज्जको धिक्कार है, जो स्वेच्छाचारी होकर भी आपका पार्षद होनेकी इच्छा करता है। आपके पार्षदभावको, बड़े-बड़े योगीश्वरोंके अग्रगण्य तथा ब्रह्मा, शिव और सनकादि भी, पाना तो दूर रहा, मनमें सोच भी नहीं सकते।' उन्होंने अत्यन्त सादगी और विनम्रतासे कहा कि 'आपके दास्यभावमें ही सुखका अनुभव करनेवाले सज्जनोंके घरमें मुझे कीड़ेकी भी योनि मिले, पर दूसरोंके घरमें मुझे ब्रह्माजीकी भी योनि न मिले।' वे भगवान् श्रीरंगके पूर्ण भक्त हो गये, उनके

अधरोंपर भक्तिकी रसमयी वाणी विहार करने लगी।

श्रीयामुनाचार्यने भगवान्‌को पूर्ण पुरुषोत्तम माना, जीवको अंश और ईश्वरको अंशीके रूपमें निरूपित किया। जीव और ईश्वर नित्य पृथक् हैं। उन्होंने कहा कि जगत् ब्रह्मका परिणाम है। ब्रह्म ही जगत्‌के रूपमें परिणत है। जगत् ब्रह्मका शरीर है। ब्रह्म जगत्‌के आत्मा हैं। आत्मा और शरीर अभिन्न हैं। इसलिये जगत् ब्रह्मात्मक है। ब्रह्म सविशेष—सगुण, अशेष कल्याणगुणगणसागर सर्वनियन्ता हैं। जीव स्वभावसे ही उनका दास है, भक्त है; भक्ति जीवका स्वधर्म है, आत्मधर्म है। भक्ति शरणागतिका पर्याय है। भगवान् अशरणशरण हैं।

यामुनाचार्य श्रीरामानुजके परमगुरु थे। स्तोत्ररत्न, सिद्धित्रय, आगमप्रामाण्य और गीतार्थसंग्रह उनके ग्रन्थरत्न हैं। उनका आळवंदारस्तोत्र बड़ा ही मधुर है। यामुनाचार्यने आजीवन भगवान्‌से अनन्य-भक्तिका ही वरदान माँगा। उनके लिये भगवान् ही परमाश्रय थे। उन्हींके चरणोंकी शरण लेनेमें उन्हें बन्धनमुक्ति दीख पड़ी। वे अपने समयके महान् दार्शनिक, अनन्य भक्त और विचारक थे। यामुनाचार्यने महाप्रयाणकालमें श्रीरामानुजाचार्यको याद किया, परंतु उनके पहुँचनेसे पहले ही वे दिव्यधामको पधार गये। उनकी तीन अंगुलियाँ उठी रह गयीं। वे ही उनके मनमें रही तीन कामनाएँ थीं, जिनको श्रीरामानुजाचार्यने पूर्ण किया।

श्रीरामानुजाचार्य

श्रीरामानुजाचार्य बड़े ही विद्वान्, सदाचारी, धैर्यवान्, सरल एवं उदार थे। ये आचार्य आळवन्दार (यामुनाचार्य) की परम्परामें थे। इनके पिताका नाम केशवभट्ट था। ये दक्षिणके तिरुकुदूर नामक क्षेत्रमें रहते थे। जब इनकी अवस्था बहुत छोटी थी, तभी इनके पिताका देहान्त हो गया और इन्होंने काञ्चीमें जाकर यादवप्रकाश नामक गुरुसे वेदाध्ययन किया। इनकी बुद्धि इतनी कुशाग्र थी कि ये अपने गुरुकी व्याख्यामें भी दोष निकाल दिया करते थे। इसीलिये गुरुजी इनसे बड़ी ईर्ष्या करने लगे, यहाँतक कि वे इनके प्राण लेनेतकको उतारू हो गये। उन्होंने रामानुजके सहाध्यायी एवं चचेरे भाई गोविन्दभट्टसे मिलकर यह षड्यन्त्र रचा कि गोविन्दभट्ट रामानुजको काशीयात्राके बहाने किसी घने जंगलमें ले जाकर वहीं उनका काम तमाम कर दें। गोविन्दभट्टने ऐसा ही किया, परंतु भगवान्‌की कृपासे एक व्याध और उसकी स्त्रीने इनके प्राणोंकी रक्षा की।

विद्या, चरित्रबल और भक्तिमें रामानुज अद्वितीय थे। इन्हें कुछ योगसिद्धियाँ भी प्राप्त थीं, जिनके बलसे इन्होंने काञ्चीनगरीकी राजकुमारीको प्रेतबाधासे मुक्त कर दिया। जब महात्मा आळवन्दार मृत्युकी घड़ियाँ गिन रहे थे, उन्होंने अपने शिष्यके द्वारा रामानुजाचार्यको अपने पास बुलवा भेजा। परंतु रामानुजके श्रीरङ्गम् पहुँचनेके पहले ही आळवन्दार (यामुनाचार्य) भगवान् नारायणके धाममें पहुँच चुके थे। रामानुजने देखा कि श्रीयामुनाचार्यके हाथकी तीन उँगलियाँ मुड़ी हुई हैं। इसका कारण कोई नहीं समझ सका। रामानुज तुरंत ताड़ गये कि यह संकेत मेरे लिये है। उन्होंने यह जान लिया कि श्रीयामुनाचार्य मेरे द्वारा ब्रह्मसूत्र, विष्णुसहस्रनाम और आळवन्दारोंके 'दिव्यप्रबन्धम्' की टीका करवाना चाहते हैं। उन्होंने आळवन्दारके मृत शरीरको प्रणाम किया और कहा—'भगवन्! मुझे आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, मैं इन तीनों ग्रन्थोंकी टीका अवश्य लिखूँगा अथवा लिखवाऊँगा।' रामानुजके यह कहते ही आळवन्दारकी तीनों उँगलियाँ सीधी हो गयीं। इसके बाद श्रीरामानुजने आळवन्दारके प्रधान शिष्य पेरियनाम्बिसे विधिपूर्वक वैष्णव-दीक्षा ली और वे भक्तिमार्गमें प्रवृत्त हो गये।

रामानुज गृहस्थ थे; परंतु जब उन्होंने देखा कि गृहस्थीमें रहकर अपने उद्देश्यको पूरा करना कठिन है, तब उन्होंने गृहस्थका परित्याग कर दिया और श्रीरङ्गम् जाकर यतिराज नाम संन्यासीसे संन्यासकी दीक्षा ले ली। इधर इनके गुरु यादवप्रकाशको अपनी करनीपर बड़ा पश्चात्ताप हुआ और वे भी संन्यास लेकर श्रीरामानुजकी

सेवा करनेके लिये श्रीरङ्गम् चले आये। उन्होंने अपना संन्यास-आश्रमका नाम गोविन्दयोगी रखा।

आचार्य रामानुज दयामें भगवान् बुद्धके समान, प्रेम और सहिष्णुतामें ईसामसीहके प्रतियोगी, शरणागतिमें आळवारोंके अनुयायी और प्रचारकार्यमें सेन्ट जॉनके समान उत्साही थे। इन्होंने तिरुकोट्टियूरके महात्मा नाम्बिसे अष्टाक्षर मन्त्र (**ॐ नमो नारायणाय**) की दीक्षा ली थी। नाम्बिने मन्त्र देते समय इनसे कहा था कि 'तुम इस मन्त्रको गुप्त रखना।' परंतु रामानुजने सभी वर्णके लोगोंको एकत्रकर मन्दिरके शिखरपर खड़े होकर सब लोगोंको वह मन्त्र सुना दिया। गुरुने जब रामानुजकी इस धृष्टताका हाल सुना, तब वे इनपर बड़े रुष्ट हुए और कहने लगे—'तुम्हें इस अपराधके बदले नरक भोगना पड़ेगा।' श्रीरामानुजने इसपर बड़े विनयपूर्वक कहा कि 'भगवन्! यदि इस महामन्त्रका उच्चारण करके हजारों आदमी नरककी यन्त्रणासे बच सकते हैं तो मुझे नरक भोगनेमें आनन्द ही मिलेगा।' रामानुजके इस उत्तरसे गुरुका क्रोध जाता रहा, उन्होंने बड़े प्रेमसे इन्हें गले लगाया और आशीर्वाद दिया। इस प्रकार रामानुजने अपनी समदर्शिता और उदारताका परिचय दिया।

रामानुजने आळवन्दारकी आज्ञाके अनुसार आळवारोंके 'दिव्यप्रबन्धम्' का कई बार अनुशीलन किया और उसे कण्ठ कर डाला। उनके कई शिष्य हो गये और उन्होंने इन्हें आळवन्दारकी गद्दीपर बिठाया; परंतु इनके कई शत्रु भी हो गये, जिन्होंने कई बार इन्हें मरवा डालनेकी चेष्टा की। एक दिन इनके किसी शत्रुने इन्हें भिक्षामें विष मिला हुआ भोजन दे दिया; परंतु एक स्त्रीने इन्हें सावधान कर दिया और इस प्रकार रामानुजके प्राण बच गये। रामानुजने आळवारोंके भक्तिमार्गका प्रचार करनेके लिये सारे भारतकी यात्रा की और गीता तथा ब्रह्मसूत्रपर भाष्य लिखे। वेदान्तसूत्रोंपर इनका भाष्य 'श्रीभाष्य' के नामसे प्रसिद्ध है और इनका सम्प्रदाय भी 'श्रीसम्प्रदाय' कहलाता है; क्योंकि इस सम्प्रदायकी आद्यप्रवर्तिका श्रीश्रीमहालक्ष्मीजी मानी जाती हैं। यह ग्रन्थ पहले-पहल काश्मीरके विद्वानोंको सुनाया गया था। इनके प्रधान शिष्यका नाम कूरत्ताळवार (कूरेश) था। कूरत्ताळवारके पराशर और पिल्लन् नामके दो पुत्र थे। रामानुजने पराशरके द्वारा विष्णुसहस्रनामकी टीका लिखवायी और पिल्लन्से 'दिव्यप्रबन्धम्' की टीका लिखवायी। इस प्रकार उन्होंने आळवन्दारकी तीनों इच्छाओंको पूर्ण किया।

उन दिनों श्रीरङ्गम्पर चोळदेशके राजा कुळोत्तुङ्गका अधिकार था। ये बड़े कट्टर शैव थे। इन्होंने श्रीरङ्गजीके मन्दिरपर एक ध्वजा टँगवा दी थी, जिसपर लिखा था—'**शिवात्परं नास्ति**' (शिवसे बढ़कर कोई नहीं है)। जो कोई इसका विरोध करता, उसके प्राणोंपर आ बनती थी। कुळोत्तुङ्गने रामानुजके शिष्य कूरत्ताळवारको बहुत पीड़ा दी।

इस समय आचार्य रामानुज मैसूरराज्यके शालग्राम नामक स्थानमें रहने लगे थे। वहाँके राजा भिट्टिदेव वैष्णवधर्मके सबसे बड़े पक्षपाती थे। आचार्य रामानुजने वहाँ बारह वर्षतक रहकर वैष्णवधर्मकी बड़ी सेवा की। सन् १०९९ में उन्हें नम्मले नामक स्थानमें एक प्राचीन मन्दिर मिला और राजाने उसका जीर्णोद्धार करवाकर पुनः नये ढंगसे निर्माण करवाया। वह मन्दिर आज भी तिरुनारायणपुरके नामसे प्रसिद्ध है। वहाँपर भगवान् श्रीरामका जो प्राचीन विग्रह है, वह पहले दिल्लीके बादशाहके अधिकारमें था। बादशाहकी लड़की उसे प्राणोंसे भी बढ़कर मानती थी। रामानुज अपनी योगशक्तिके द्वारा बादशाहकी स्वीकृति प्राप्तकर उस विग्रहको वहाँसे ले आये और उसकी पुनः तिरुनारायणपुरमें स्थापना की।

राजा कुळोत्तुङ्गका देहान्त हो जानेपर आचार्य रामानुज श्रीरङ्गम् चले आये। वहाँ उन्होंने एक मन्दिर बनवाया, जिसमें नम्माळवार और दूसरे आळवार संतोंकी प्रतिमाएँ स्थापित की गयीं और उनके नामसे कई उत्सव भी जारी किये। उन्होंने तिरुपतिके मन्दिरमें भगवान् गोविन्दराजपेरुमलकी पुनः स्थापना करवायी और मन्दिरका पुनः निर्माण करवाया। उन्होंने देशभरमें भ्रमण करके हजारों नर-नारियोंको भक्तिमार्गमें लगाया। आचार्य रामानुजके चौहत्तर शिष्य थे, जो सब-के-सब संत हुए। इन्होंने कूरत्ताळवारके पुत्र महात्मा पिल्ललोकाचार्यको अपना उत्तराधिकारी बनाकर एक सौ बीस वर्षकी अवस्थामें इस असार संसारको त्याग दिया।

रामानुजके सिद्धान्तके अनुसार भगवान् ही पुरुषोत्तम हैं। वे ही प्रत्येक शरीरमें साक्षीरूपमें विद्यमान हैं। वे जगत्‌के नियन्ता, शेषी (अवयवी) एवं स्वामी हैं और जीव उनका नियम्य, शेष तथा सेवक है। अपने व्यष्टि अहङ्कारको सर्वथा मिटाकर भगवान्‌की सर्वतोभावेन शरण ग्रहण करना ही जीवका परम पुरुषार्थ है। भगवान् नारायण ही सत् हैं, उनकी शक्ति महालक्ष्मी चित् हैं और यह जगत् उनके आनन्दका विलास है, रज्जुमें सर्पकी भाँति असत् नहीं है। भगवान् लक्ष्मीनारायण जगत्‌के माता-पिता और जीव उनकी सन्तान हैं। माता-पिताका प्रेम और उनकी कृपा प्राप्त करना ही सन्तानका धर्म है। वाणीसे भगवान् नारायणके नामका ही उच्चारण करना चाहिये और मन, वाणी, शरीरसे उनकी सेवा करनी चाहिये।

श्रीरामानुजाचार्यने 'प्रपत्ति' पर बहुत जोर दिया है। न्यासविद्या ही वह प्रपत्ति है। आनुकूल्यका सङ्कल्प और प्रातिकूल्यका वर्जन प्रपत्ति है। भगवान्‌में आत्मसमर्पण करना प्रपत्ति है। सब प्रकारसे भगवान्‌के शरण हो जाना प्रपत्तिका लक्षण है। नारायण विभु हैं, भूमा हैं, उनके चरणोंमें आत्मसमर्पण करनेसे जीवको शान्ति मिलती है। उनके प्रसन्न होनेपर मुक्ति मिल सकती है। उन्हें सर्वस्व निवेदन करना होगा। सब विषयोंको त्यागकर उनकी शरण लेनी होगी।

सत्यकाम सत्यसंकल्प परब्रह्मभूत पुरुषोत्तम महाविभूते श्रीमन्नारायण वैकुण्ठनाथ अपारकारुण्यसौशील्यवात्सल्यौ-दार्यैश्वर्यसौन्दर्यमहोदधे, अनालोचितविशेषाविशेषलोकशरण्य प्रणतार्तिहर आश्रितवात्सल्यजलधे, अनवरतविदितनिखिल-भूतजातयाथात्म्य अशेषचराचरभूतनिखिलनियमाशेषचिदचिद्वस्तु-शेषिभूत निखिलजगदाधाराखिलजगत्स्वामिन्, अस्मत्स्वामिन्, सत्यकाम सत्यसंकल्प सकलेतरविलक्षण अर्थिकल्पक आपत्सख, श्रीमन्नारायण अशरणशरण्य, अनन्यशरणं त्वत्पदारविन्दयुगलं शरणमहं प्रपद्ये।

'हे पूर्णकाम, सत्यसङ्कल्प, परब्रह्मस्वरूप पुरुषोत्तम! हे महान् ऐश्वर्यसे युक्त श्रीमन्नारायण! हे वैकुण्ठनाथ! आप अपार करुणा, सुशीलता, वत्सलता, उदारता, ऐश्वर्य और सौन्दर्य आदि गुणोंके महासागर हैं; छोटे-बड़ेका विचार न करके सामान्यतः सभी लोगोंको आप शरण देते हैं, प्रणतजनोंकी पीड़ा हर लेते हैं। शरणागतोंके लिये तो आप वत्सलताके समुद्र ही हैं। आप सदा ही समस्त भूतोंकी यथार्थताका ज्ञान रखते हैं। सम्पूर्ण चराचर भूतों, सारे नियमों और समस्त जड-चेतन वस्तुओंके आप अवयवी हैं (ये सभी आपके अवयव हैं)। आप समस्त संसारके आधार हैं, अखिल जगत् तथा हम सभी लोगोंके स्वामी हैं। आपकी कामनाएँ पूर्ण और आपका सङ्कल्प सच्चा है। आप समस्त प्रपञ्चसे इतर और विलक्षण हैं। याचकोंके लिये तो आप कल्पवृक्ष हैं, विपत्तिमें पड़े हुए लोगोंके सहायक हैं। ऐसी महिमावाले तथा आश्रयहीनोंको आश्रय देनेवाले हे श्रीमन्नारायण! मैं आपके चरणारविन्दयुगलकी शरणमें आता हूँ; क्योंकि उनके सिवा मेरे लिये कहीं भी शरण नहीं है।'

पितरं मातरं दारान् पुत्रान् बन्धून् सखीन् गुरून्।
रत्नानि धनधान्यानि क्षेत्राणि च गृहाणि च॥
सर्वधर्मांश्च सन्त्यज्य सर्वकामांश्च साक्षरान्।
लोकविक्रान्तचरणौ शरणं तेऽव्रजं विभो॥

'हे प्रभो! मैं पिता, माता, स्त्री, पुत्र, बन्धु, मित्र, गुरु, सब रत्न, धन-धान्य, खेत, घर, सारे धर्म और अक्षरसहित सम्पूर्ण कामनाओंका त्यागकर समस्त ब्रह्माण्डको आक्रान्त करनेवाले आपके दोनों चरणोंकी शरणमें आया हूँ।'

मनोवाक्कायैरनादिकालप्रवृत्तानन्ताकृत्यकरणकृत्याकरण-भगवदपचारभागवतापचारासह्यापचाररूपनानाविधानन्ताप-चारानारब्धकार्याननारब्धकार्यान् कृतान् क्रियमाणान् करिष्यमाणांश्च सर्वान् अशेषतः क्षमस्व।

अनादिकालप्रवृत्तविपरीतज्ञानमात्मविषयं कृत्स्नजगद्विषयं च विपरीतवृत्तं चाशेषविषयमद्यापि वर्तमानं वर्तिष्यमाणं च सर्वं क्षमस्व।

मदीयानादिकर्मप्रवाहप्रवृत्तां भगवत्स्वरूपतिरोधानकरीं विपरीतज्ञानजननीं स्वविषयायाश्च भोग्यबुद्धेर्जननीं देहेन्द्रियत्वेन भोग्यत्वेन सूक्ष्मरूपेण चावस्थितां दैवीं गुणमयीं मायां दासभूतः शरणागतोऽस्मि तवास्मि दास इति वक्तारं मां तारय।

'हे भगवन्! मन, वाणी और शरीरके द्वारा अनादि-कालसे अनेकों न करने योग्य कर्मोंका करना, करने योग्य कर्मोंको न करना, भगवान्‌का अपराध, भगवद्भक्तोंका

अपराध तथा और भी जो अक्षम्य अनाचाररूप नाना प्रकारके अनन्त अपराध मुझसे हुए हैं, उनमें जो प्रारब्ध बन चुके हैं अथवा जो प्रारब्ध नहीं बने हैं, उन सभी पापोंको तथा जिन्हें मैं कर चुका हूँ, जिन्हें कर रहा हूँ और जिन्हें अभी करनेवाला हूँ, उन सबको आप क्षमा कर दीजिये।'

'आत्मा और सारे संसारके विषयमें जो मुझे अनादिकालसे विपरीत ज्ञान होता चला आ रहा है तथा सभी विषयोंमें जो मेरा विपरीत आचरण आज भी है और आगे भी रहनेवाला है, वह सब-का-सब आप क्षमा कर दें।'

'मेरे अनादि कर्मोंके प्रवाहमें जो चली आ रही है, जो मुझसे भगवान्‌के स्वरूपको छिपा लेती है, जो विपरीत ज्ञानकी जननी, अपने विषयमें भोग्यबुद्धिको उत्पन्न करनेवाली और देह, इन्द्रिय, भोग्य तथा सूक्ष्मरूपसे स्थित रहनेवाली है, उस दैवी त्रिगुणमयी मायासे 'मैं आपका दास हूँ, किङ्कर हूँ, आपकी शरणमें आया हूँ' इस प्रकार रट लगानेवाले मुझ दीनका आप उद्धार कर दीजिये।'

यह श्रीरामानुजाचार्यकी 'प्रपत्ति' स्वरूप भगवत्प्रार्थना है।

श्रीवेङ्कटनाथ वेदान्ताचार्य या श्रीवेदान्तदेशिकाचार्य

श्रीरामानुजदयापात्रं ज्ञानवैराग्यभूषणम्।
श्रीमद्वेङ्कटनाथार्यं वन्दे वेदान्तदेशिकम्॥

आचार्य रामानुजने वैष्णवमतका प्रचार करनेके लिये अपने ७४ शिष्योंको नियुक्त किया था। उनको सिंहासनाधिपति कहते हैं। उनमें एक शिष्यका नाम अनन्त सोमयाजी था। अनन्त सोमयाजीके एक पौत्र थे अनन्तसूरि। अनन्तसूरिने तोतारम्बा नाम्नी एक स्त्रीसे विवाह किया। तोतारम्बा श्रीरामानुज द्वितीय या वादिहंसाम्बुदाचार्यकी बहिन थी। श्रीवादिहंसाम्बुदाचार्य श्रीरामानुजाचार्यके द्वारा स्थापित ७४ पीठोंमेंसे एक प्रधान पीठके पीठाधिपति थे। अनन्तसूरि अपनी पत्नीके साथ काञ्ची नगरीमें रहते थे। काञ्ची उस समय शिक्षाका केन्द्रस्थान था।

वेङ्कटनाथ वेदान्ताचार्यका जन्म तोतारम्बाके गर्भसे १३२५ वि० सं० में काञ्चीके पास थूपिल नामक गाँवमें हुआ था। यज्ञोपवीत होनेके बाद वेङ्कटनाथ अपने मामा रामानुजके पास पढ़नेके लिये भेजे गये। वे बड़े प्रतिभाशाली और तीव्रबुद्धि थे। उन्होंने २० वर्षसे कम उम्रमें ही सब विद्याओंमें पारदर्शिता प्राप्त कर ली। उसके बाद उन्होंने विवाह किया और अन्त समयतक गृहस्थ ही रहे। अद्वैतवादी आचार्य विद्यारण्य और वेङ्कटनाथ सहपाठी एवं मित्र थे। इनके जीवनमें यही अन्तर है कि वेङ्कटनाथ बराबर गृहस्थ रहे और विद्यारण्यने पीछे संन्यास ले लिया। ये दोनों दार्शनिक और कवि थे तथा दोनों सौ वर्षसे अधिक कालतक जीवित रहे। विद्यारण्यके जीवनमें असाधारण राजनीतिक प्रतिभा देखी जाती है; परंतु वेङ्कटनाथका राजनीतिसे कोई सम्बन्ध नहीं था।

वेङ्कटनाथ विद्यारण्य मुनिके सहपाठी और पुराने मित्र थे। इसलिये विद्यारण्य उन्हें आदर और श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते थे। विद्यारण्यने उन्हें एक बार विजयनगर आनेके लिये निमन्त्रित किया, परंतु उन्होंने राजा और मित्रके निमन्त्रणको एकदम अस्वीकार कर दिया। इससे मालूम होता है कि उनके अंदर कितनी निःस्पृहता और वैराग्यका भाव था। एक बार जब विद्यारण्यके साथ मध्वमतावलम्बी अक्षोभ्य मुनिका शास्त्रार्थ हुआ, तब भी मध्यस्थता करनेके लिये वेङ्कटनाथको बुलाया गया। परंतु वे फिर भी नहीं गये। तब दोनों आचार्योंने अपने विचार उनके पास निर्णयके लिये लिख भेजे। इस बातसे सहज ही समझा जा सकता है कि उस समय दक्षिणमें उनकी विद्वत्ताकी कितनी धाक थी।

इसके बाद वेङ्कटनाथका यश चारों ओर फैलने लगा। विजयनगरके वैष्णव उनसे वैष्णवमतके ऊपर ग्रन्थ लिखनेकी प्रार्थना करने लगे। लोगोंके अनुरोधपर

वेङ्कटनाथने देशी भाषामें कई प्रबन्धोंकी रचना की, जिनमें 'सुभाषितनीति' सबसे अधिक प्रसिद्ध है। अन्त समयमें उन्होंने अपना मत 'रहस्यत्रयसार' नामक ग्रन्थमें संक्षेपसे लिखा।

वेङ्कटनाथका आध्यात्मिक जीवन बड़ा मधुर था। उनको न तो कोई पैत्रिक सम्पत्ति प्राप्त थी और न उन्होंने स्वयं कभी धन संग्रह किया। वे सदा उञ्छवृत्तिसे जीविका चलाते थे। उनका जीवन बड़ा पवित्र और सरल था। वे काञ्ची तथा श्रीरङ्गम्में विभिन्न मतावलम्बियोंके साथ रहते थे और सब लोग एक समान उन्हें भक्ति और श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते थे। वे सांसारिक धन-ऐश्वर्यको सदा घृणित समझते थे। उनका सारा जीवन प्राय: धर्मोपदेश करने तथा धार्मिक साहित्यकी रचना करनेमें बीता। वे नम्रताकी तो मूर्ति ही थे। एक दिन उनकी दीनताकी परीक्षा करनेके लिये एक वैष्णवने उन्हें अपने घर आमन्त्रित किया। उस वैष्णवने अपने घरके दरवाजेपर एक जोड़ा खड़ाऊँ लटका दिया था। जब वेङ्कटनाथने घरमें घुसते समय खड़ाऊँ देखी, तब उन्होंने खड़ाऊँ मस्तकसे लगाकर कहा—

कर्मावलम्बका: केचित् केचिज्ज्ञानावलम्बका:।
वयं तु हरिदासानां पादपद्मावलम्बका:॥

वेङ्कटनाथको 'कवितार्किकसिंह' की उपाधि मिली थी। एक दिन श्रीरंगनाथके मन्दिरमें यह निश्चित हुआ कि जो रातभरमें एक हजार श्लोक बनायेगा, उसे यह उपाधि दी जायगी। परंतु किसीको इसमें सफलता न मिली। एक विद्वान् पण्डितने बड़ी कठिनतासे रातभरमें ५०० श्लोक लिखे। परंतु वेङ्कटनाथने केवल तीन घंटेमें हजार श्लोक लिख डाले और साथ ही उनके श्लोक सर्वोत्तम भी थे। अतएव यह उपाधि उन्हींको मिली। श्रीरङ्गम्में ही उन्हें 'वेदान्ताचार्य' की भी उपाधि मिली थी। श्रीवैष्णवोंका विश्वास है कि उन्हें भगवान् श्रीरंगनाथने वेदान्ताचार्यकी उपाधि दी थी।

इस प्रकार वेङ्कटनाथकी जीवनीकी आलोचना करनेसे यह मालूम होता है कि वे मूर्तिमान् वैराग्य और भक्तिस्वरूप ही थे। उनके अंदर तेजस्विता और दीनताका अपूर्व सम्मिश्रण देखा जाता था। अहङ्कार तो उन्हें छूतक नहीं गया था। दूसरी ओर दार्शनिकता और कवित्वका भी अपूर्व समन्वय उनके अंदर हुआ था। धर्मोपदेशक आचार्यमें जो गुण होने चाहिये, वे सब उनमें मौजूद थे। वे एक आदर्श शिक्षक भी थे। शिक्षकमें क्या-क्या गुण होने चाहिये, इस विषयमें उन्होंने लिखा है—

सिद्धं सत्सम्प्रदाये स्थिरधियमनघं श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं
सत्त्वस्थं सत्यवाचं समयनियततया साधुवृत्त्या समेतम्।
दम्भासूयादिमुक्तं जितविषयगुणं दीनबन्धुं दयालुं
स्खालित्ये शासितारं स्वपरहितपरं देशिकं भूष्णुरीप्सेत्॥

वेङ्कटनाथ वेदान्ताचार्य विशिष्टाद्वैत सम्प्रदायके अनुयायी थे। उनकी श्रीरामानुजाचार्यमें बड़ी भक्ति थी और वे उनके ग्रन्थोंको बड़े आदरकी दृष्टिसे देखा करते थे। उन्होंने अपने जीवनमें लगभग १०८ ग्रन्थोंकी रचना की, जिनमें भगवद्भक्ति कूट-कूटकर भरी है। ये सब ग्रन्थ प्राय: तमिळ लिपिमें हैं और अधिकांश तमिळ भाषामें हैं। उनमें कुछके नाम इस प्रकार हैं—गरुडपञ्चशती, अच्युतशतक, रघुवीरगद्य, दायशतक, अभीतिस्तव, पादुकासहस्र, सुभाषितनीति, रहस्यत्रयसार, संकल्पसूर्योदय, हंससन्देश, यादवाभ्युदय, तत्त्वमुक्ताकलाप, अधिकरणसारावली, न्यायपरिशुद्धि, न्यायसिद्धाञ्जन, शतदूषणी, तत्त्वटीका, गीताकी टीका, गद्यत्रयकी टीका, सेश्वरमीमांसा, ईशावास्योपनिषद्भाष्य, गीतार्थसंग्रहरक्षा और वादित्रयखण्डन।

इस तरह सारा जीवन भगवद्भक्ति तथा लोकोपकारार्थ ग्रन्थरचनामें बिताकर आचार्य वेङ्कटनाथ श्रीवेदान्तदेशिक वि० सं० १४२६ में १०२ वर्षकी अवस्थामें परलोकवासी हुए।

श्रीनिम्बार्काचार्यजी

वैष्णवोंके प्रमुख चार सम्प्रदायोंमेंसे एक सम्प्रदाय है द्वैताद्वैत या निम्बार्क-सम्प्रदाय। निश्चितरूपसे यह मत बहुत प्राचीन कालसे चला आ रहा है। श्रीनिम्बार्काचार्यजीने परम्पराप्राप्त इस मतको अपनी प्रतिभासे उज्ज्वल करके लोकप्रचलित किया, इसीसे इस द्वैताद्वैत मतकी निम्बार्क-सम्प्रदायके नामसे प्रसिद्धि हुई।

ब्रह्म सर्वशक्तिमान् हैं और उनका सगुणभाव ही मुख्य है। इस जगत्के रूपमें परिणत होनेपर भी वे निर्विकार हैं। जगत्से अतीतरूपमें वे निर्गुण हैं। जगत्की सृष्टि, स्थिति एवं लय उनसे ही होते हैं। वे जगत्के निमित्त एवं उपादान कारण हैं। जगत् उनका परिणाम है और वे अविकृत परिणामी हैं। जीव अणु है और ब्रह्मका अंश है। ब्रह्म जीव तथा जडसे अत्यन्त पृथक् और अपृथक् भी हैं। जीव भी ब्रह्मका परिणाम तथा नित्य है।

इस सृष्टिचक्रका प्रयोजन ही यह है कि जीव भगवान्की प्रसन्नता एवं उनका दर्शन प्राप्त करें। जीवके समस्त क्लेशोंकी निवृत्ति एवं परमानन्दकी प्राप्ति भगवान्की प्राप्तिसे ही होगी। ब्रह्मके साथ अपने तथा जगत्के अभिन्नत्वका अनुभव ही जीवकी मुक्तावस्था है। यह भगवत्प्राप्तिसे ही सम्पन्न होती है। उपासनाद्वारा ही ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। ब्रह्मका सगुण एवं निर्गुण दोनों रूपोंमें विचार किया जा सकता है; किंतु जीवकी मुक्तिका साधन भक्ति ही है। भक्तिसे ही भगवान्की प्राप्ति होती है। सत्कर्म एवं सदाचारके द्वारा शुद्धचित्तमें जब भगवत्कथा एवं भगवान्के गुणगण-श्रवणसे भगवान्की प्रसन्नता प्राप्त करनेकी इच्छा जाग्रत् होती है, तब मुमुक्षु पुरुष सद्गुरुकी शरण ग्रहण करता है। गुरुद्वारा उपदिष्ट उपासनाद्वारा शुद्धचित्तमें भक्तिका प्राकट्य होता है। यही भक्ति जीवको भगवत्प्राप्ति कराकर मुक्त करती है।

थोड़ेमें द्वैताद्वैतमतका सार यही है। भगवान् नारायणने हंसस्वरूपसे ब्रह्माजीके पुत्र सनक, सनन्दन, सनातन एवं सनत्कुमारको इसका उपदेश किया। सनकादि कुमारोंसे इसे देवर्षि नारदजीने पाया और देवर्षिने इसका उपदेश श्रीनिम्बार्काचार्यजीको किया। यह इस सम्प्रदायकी परम्परा है। श्रीनिम्बार्काचार्यजीने अपने ब्रह्मसूत्रोंके भाष्यमें '**अस्मद् गुरवे नारदाय**' कहा है। सनकादि कुमारोंका भी उन्होंने स्मरण किया है उसी ग्रन्थमें गुरुपरम्परामें। देवर्षि नारदजीने श्रीनिम्बार्काचार्यजीको 'गोपालमन्त्र' की दीक्षा दी, ऐसी मान्यता है।

भक्तोंके मतसे द्वापरमें और सम्प्रदायके कुछ विद्वानोंके मतसे विक्रमकी पाँचवीं शताब्दीमें श्रीनिम्बार्काचार्यजीका प्रादुर्भाव हुआ। दक्षिण भारतमें वैदूर्यपत्तन परम पवित्र तीर्थ है। इसे दक्षिणकाशी भी कहते हैं। यही स्थान श्रीएकनाथजीकी जन्मभूमि है। यहीं श्रीअरुणमुनिजीका अरुणाश्रम था। श्रीअरुणमुनिजीकी पत्नी जयन्तीदेवीकी गोदमें जिस दिव्य कुमारका आविर्भाव हुआ, उसका नाम पहले नियमानन्द हुआ और यही आगे श्रीनिम्बार्काचार्यजीके नामसे प्रख्यात हुए।

श्रीनिम्बार्काचार्यजीके जीवनवृत्तके विषयमें इससे अधिक ज्ञात नहीं है। वे कब गृह त्यागकर व्रजमें आये, इसका कुछ पता नहीं है। व्रजमें श्रीगिरिराज गोवर्धनके समीप ध्रुवक्षेत्रमें उनकी साधन-भूमि है। एक दिन समीपके स्थानसे एक दण्डी महात्मा आचार्यके समीप पधारे। दो शास्त्रज्ञ महापुरुष परस्पर मिले तो शास्त्रचर्चा चलनी स्वाभाविक थी। समयका दोमेंसे किसीको ध्यान नहीं रहा। सायङ्कालके पश्चात् आचार्यने अतिथि यतिसे प्रसाद ग्रहण करनेके लिये निवेदन किया। सूर्यास्त होनेके पश्चात् नियमतः यतिजी भिक्षा ग्रहण नहीं कर सकते थे। उन्होंने असमर्थता प्रकट की। परन्तु आचार्यजी नहीं चाहते थे कि उनके यहाँ आकर एक विद्वान् अतिथि उपोषित रहें। आश्रमके समीप एक नीमका वृक्ष था, सहसा उस वृक्षपरसे चारों ओर प्रकाश फैल गया। ऐसा लगा, जैसे नीमके वृक्षपर सूर्यनारायण प्रकट हो गये हैं। कोई नहीं कह सकता कि आचार्यके योगबलसे भगवान् सूर्य वहाँ प्रकट हो गये थे या श्रीकृष्णचन्द्रका कोटिसूर्यसमप्रभ सुदर्शन चक्र, जिसके आचार्य मूर्त अवतार थे, प्रकट हो गया था। अतिथिके प्रसाद ग्रहण कर लेनेपर सूर्यमण्डल अदृश्य हो गया। इस घटनासे आचार्य निम्बादित्य या

निम्बार्क नामसे विख्यात हुए। आचार्यका वह आश्रम 'निम्बग्राम' कहा जाता है। यह गोवर्धनके समीपका निम्बग्राम है, माटके समीपका नीमगाँव नहीं। वे यतिजी उस समय जहाँ आश्रम बनाकर रहते थे, वहाँ आज यतिपुरा नामक ग्राम है।

श्रीनिम्बार्काचार्यजीका वेदान्तसूत्रोंपर भाष्य 'वेदान्तसौरभ' और 'वेदान्तकामधेनुदशश्लोक' ये दो ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं। ये दोनों ग्रन्थ ही अत्यन्त संक्षिप्त हैं। इनके अतिरिक्त गीताभाष्य, कृष्णस्तवराज, गुरुपरम्परा, वेदान्ततत्त्वबोध, वेदान्तसिद्धान्तप्रदीप, स्वधर्माध्वबोध, ऐतिह्यतत्त्वसिद्धान्त, राधाष्टक आदि कई ग्रन्थ आचार्यने लिखे थे।

श्रीनिम्बार्काचार्यजीके शिष्य हुए श्रीनिवासाचार्यजी। इन्होंने आचार्यके ब्रह्मसूत्रभाष्यपर 'वेदान्तकौस्तुभ' नामक ग्रन्थ लिखकर उसकी व्याख्या की। इस 'वेदान्तकौस्तुभ'की टीका आगे चलकर काश्मीरी केशव भट्टाचार्यजीने की। श्रीनिवासाचार्यजीके पश्चात् शिष्यपरम्परासे ग्यारहवें आचार्य हुए श्रीदेवाचार्यजी। इन्होंने 'वेदान्तजाह्नवी' तथा 'भक्तिरत्नावली' नामक दो ग्रन्थ लिखे, जिनका सम्प्रदायमें अत्यन्त सम्मान है।

श्रीदेवाचार्यजीके दो शिष्य हुए—श्रीसुन्दर भट्टाचार्यजी तथा श्रीव्रजभूषण देवाचार्यजी। इन दोनों आचार्योंकी परम्परा आगे चलकर विस्तीर्ण हुई। श्रीसुन्दर भट्टाचार्यजीकी शिष्यपरम्परामें सत्रह भट्टाचार्य आचार्य और हुए। इनमें सोलहवें काश्मीरी श्रीकेशव भट्टाचार्यजी हुए। काश्मीरी केशव भट्टाचार्यजीके शिष्य श्रीभट्टजीने 'युगल-शतक' की रचना की। यही ग्रन्थ 'आदि वाणी' कहा जाता है। श्रीभट्टजीके भ्रातृवंशज गोस्वामी अब भी निम्बार्क-सम्प्रदायकी सीधी परम्परामें ही हैं। श्रीभट्टजीके प्रधान शिष्य श्रीहरिव्यासजी हुए। इनके अनुयायी आगे चलकर अपनेको 'हरिव्यासी' कहने लगे। श्रीहरिव्यासजीके बारह शिष्य हुए, जिनमें श्रीशोभूरामदेवाचार्य, श्रीपरशुराम-देवाचार्य, श्रीघमण्डदेवाचार्य तथा श्रीलपरागोपालदेवाचार्य अपनी प्रमुख विशेषताओंके कारण उल्लेखनीय हैं। इनमेंसे श्रीशोभूरामदेवाचार्यजीकी शिष्यपरम्परामें चतुर-चिन्तामणिकी परम्परा इस समय देशमें अधिक व्यापक है। श्रीपरशुराम-देवाचार्य श्रीमहाराजकी परम्पराको ही सर्वेश्वरकी अर्चा प्राप्त है और निम्बार्कसम्प्रदायके पीठाधिपति इसी परम्पराके आचार्य होते हैं। व्रजमें जो रासलीलाका वर्तमान प्रचार है, वह श्रीघमण्डदेवाचार्यजीकी भावुकतासे प्रादुर्भूत परम्परा है। श्रीलपरागोपालदेवाचार्यजीके शिष्य श्रीगिरिधारी-शरणदेवाचार्यजी जयपुर, ग्वालियर आदि अनेकों राजकुलोंके गुरु हुए हैं। श्रीहरिव्यासदेवजीकी यह शिष्य-परम्परा है। उनके भ्रातृवंशज अपनेको 'हरिव्यासी' नहीं मानते । वे निम्बार्क-सम्प्रदायकी सीधी परम्परामें हैं।

श्रीदेवाचार्यजीके दूसरे शिष्य श्रीव्रजभूषणदेवाचार्यजीकी परम्परामें श्रीरसिकदेवजी तथा श्रीहरिदासजी हुए हैं। ऐसी भी मान्यता है कि महाकवि जयदेव इसी परम्परामें हैं। श्रीरसिकदेवजीके आराध्य श्रीरसिकविहारीजी तथा श्रीहरिदासजीके आराध्य श्रीबाँकेविहारीजी हैं। श्रीहरिदासजीके अनुयायियोंकी एक परम्पराके लोग अपनेको 'हरिदासी' कहते हैं। इनका मुख्य स्थान वृन्दावनमें टटीस्थान है। कृष्णप्रणामी या प्रणामीसम्प्रदायके आद्याचार्य श्रीप्राणनाथजीकी जीवनीमें उनको हरिदासजीका शिष्य कहा गया है। इस प्रकार 'कृष्ण-प्रणामी' परम्परा भी निम्बार्क-सम्प्रदायकी हरिदासजीकी परम्पराकी ही शाखा है। इस प्रणामी-सम्प्रदायका मुख्यपीठ पन्ना (बुन्देलखण्ड)-में है।

श्रीनिम्बार्काचार्यजी तथा उनकी परम्पराके अधिकांश आचार्योंकी यह प्रधान विशेषता रही है कि उन्होंने दूसरे आचार्योंके मतका खण्डन नहीं किया है। श्रीदेवाचार्यजीने ही अपने ग्रन्थोंमें अद्वैतमतका खण्डन किया है। श्रीनिम्बार्काचार्यजीने प्रस्थानत्रयीके स्थानपर प्रस्थानचतुष्टयको प्रमाण माना और उसमें भी चतुर्थ प्रस्थान श्रीमद्भागवतको परम प्रमाण स्वीकार किया। अनेक वीतराग, भावुक भगवद्भक्त इस परम्परामें सदा ही रहे हैं।

श्रीमध्वाचार्यजी

(लेखक—पं० श्रीनारायणाचार्यजी बरखेड़कर)

श्रीभगवान् नारायणकी आज्ञासे स्वयं वायुदेवने ही भक्तिसिद्धान्तकी रक्षाके लिये मद्रास प्रान्तके मंगलूर जिलेके अन्तर्गत उडूपाक्षेत्रसे दो-तीन मील दूर वेललि ग्राममें भार्गवगोत्रीय नारायणभट्टके अंशसे तथा माता वेदवतीके गर्भसे विक्रम-संवत् १२९५ की माघ शुक्ला सप्तमीके दिन आचार्य मध्वके रूपमें अवतार ग्रहण किया था। कई लोगोंने आश्विन शुक्ला दशमीको इनका जन्म-दिन माना है। परंतु वह इनके वेदान्त-साम्राज्यके अभिषेकका दिन है, जन्मका नहीं। इनके जन्मके पूर्व पुत्रप्राप्तिके लिये माता-पिताको बड़ी तपस्या करनी पड़ी थी। बचपनसे ही इनमें अलौकिक शक्ति दीखती थी। इनका मन पढ़ने-लिखनेमें नहीं लगता था; अतः यज्ञोपवीत होनेपर भी ये दौड़ने, कूदने-फाँदने, तैरने और कुश्ती लड़नेमें ही लगे रहते थे। अतः बहुत-से लोग इनके पितृदत्त नाम वासुदेवके स्थानपर इन्हें 'भीम' नामसे पुकारते थे। ये वायुदेवके अवतार थे, इसलिये यह नाम भी सार्थक ही था। परंतु इनका अवतार-उद्देश्य खेलना-कूदना तो था नहीं; अतः जब वेद-शास्त्रोंकी ओर इनकी रुचि हुई, तब थोड़े ही दिनोंमें इन्होंने सम्पूर्ण विद्या अनायास ही प्राप्त कर ली। जब इन्होंने संन्यास लेनेकी इच्छा प्रकट की, तब मोहवश माता-पिताने बड़ी अड़चनें डालीं; परंतु इन्होंने उनकी इच्छाके अनुसार उन्हें कई चमत्कार दिखाकर, जो अबतक एक सरोवर और वृक्षके रूपमें इनकी जन्म-भूमिमें विद्यमान हैं और एक छोटे भाईके जन्मकी बात कहकर, ग्यारह वर्षकी अवस्थामें अद्वैतमतके संन्यासी अच्युतपक्षाचार्यजीसे संन्यास ग्रहण किया। यहाँपर इनका संन्यासी नाम 'पूर्णप्रज्ञ' हुआ। संन्यासके पश्चात् इन्होंने वेदान्तका अध्ययन आरम्भ किया। इनकी बुद्धि इतनी तीव्र थी कि अध्ययन करते समय ये कई बार गुरुजीको ही समझाने लगते और उनकी व्याख्याका प्रतिवाद कर देते। सारे दक्षिण देशमें इनकी विद्वत्ताकी धूम मच गयी।

एक दिन इन्होंने अपने गुरुसे गङ्गास्नान और दिग्विजय करनेके लिये आज्ञा माँगी। ऐसे सुयोग्य शिष्यके विरहकी सम्भावनासे गुरुदेव व्याकुल हो गये। उनकी व्याकुलता देखकर अनन्तेश्वरजीने कहा कि भक्तोंके उद्धारार्थ गङ्गाजी स्वयं सामनेवाले सरोवरमें परसों आयँगी, अतः वे यात्रा न कर सकेंगे। सचमुच तीसरे दिन उस तालाबमें हरे पानीके स्थानपर सफेद पानी हो गया और तरङ्गें दीखने लगीं। अतएव आचार्यकी यात्रा नहीं हो सकी। अब भी हर बारहवें वर्ष एक बार वहाँ गङ्गाजीका प्रादुर्भाव होता है। वहाँ एक मन्दिर भी है।

कुछ दिनोंके बाद आचार्यने यात्रा की और स्थान-स्थानपर विद्वानोंके साथ शास्त्रार्थ किये। इनके शास्त्रार्थका उद्देश्य होता भगवद्भक्तिका प्रचार, वेदोंकी प्रामाणिकताका स्थापन, मायावादका खण्डन और मर्यादाका संरक्षण। एक जगह तो इन्होंने वेद, महाभारत और विष्णुसहस्रनामके क्रमशः तीन, दस और सौ अर्थ हैं—ऐसी प्रतिज्ञा करके और व्याख्या करके पण्डितमण्डलीको आश्चर्यचकित कर दिया। गीताभाष्यका निर्माण करनेके पश्चात् इन्होंने बदरीनारायणकी यात्रा की और वहाँ महर्षि वेदव्यासको अपना भाष्य दिखाया। कहते हैं कि दुःखी जनताका उद्धार करनेके लिये उपदेश, ग्रन्थनिर्माण आदिकी इन्हें आज्ञा प्राप्त हुई। बहुत-से नृपतिगण इनके शिष्य हुए, अनेकों विद्वानोंने पराजित होकर इनका मत स्वीकार किया। इन्होंने अनेकों प्रकारकी योगसिद्धियाँ प्राप्त की थीं और इनके जीवनमें समय-समयपर वे प्रकट भी हुईं। इन्होंने अनेकों मूर्तियोंकी स्थापना की और इनके द्वारा प्रतिष्ठित विग्रह आज भी विद्यमान हैं। श्रीबदरीनारायणमें व्यासजीने इन्हें शालग्रामकी तीन मूर्तियाँ भी दी थीं, जो इन्होंने सुब्रह्मण्य, उडूपि और मध्यतलमें पधरायीं। एक बार किसी व्यापारीका जहाज द्वारकासे मलाबार जा रहा था। तुलुबके पास वह डूब गया। उसमें गोपीचन्दनसे ढकी हुई एक भगवान् श्रीकृष्णकी सुन्दर मूर्ति थी। मध्वाचार्यको भगवान्‌की आज्ञा प्राप्त हुई और उन्होंने मूर्तिको जलसे निकालकर उडूपिमें उसकी स्थापना की।

तभीसे वह रजतपीठपुर अथवा उडूपि मध्वमतानुयायियोंका तीर्थ हो गया। एक बार एक व्यापारीके डूबते हुए जहाजको इन्होंने बचा दिया। इससे प्रभावित होकर वह अपनी आधी सम्पत्ति इन्हें देने लगा। परंतु इनके रोम-रोममें भगवान्‌का अनुराग और संसारके प्रति विरक्ति भरी हुई थी। ये भला, उसे क्यों लेने लगे। इनके जीवनमें इस प्रकारके असामान्य त्यागके बहुत-से उदाहरण हैं। कई बार लोगोंने इनका अनिष्ट करना चाहा और इनके लिखे हुए ग्रन्थ भी चुरा लिये। परंतु आचार्य इससे तनिक भी विचलित या क्षुब्ध नहीं हुए, बल्कि उनके पकड़े जानेपर उन्हें क्षमा कर दिया और उनसे बड़े प्रेमका व्यवहार किया। ये निरन्तर भगवत्-चिन्तनमें संलग्न रहते थे। बाहरी काम-काज भी केवल भगवत्-सम्बन्धसे ही करते थे। इन्होंने उडूपिमें और भी आठ मन्दिर स्थापित किये, जिनमें श्रीसीताराम, द्विभुज कालियदमन, चतुर्भुज कालियदमन, विट्ठल आदि आठ मूर्तियाँ हैं। आज भी लोग उनका दर्शन करके अपने जीवनका लाभ लेते हैं। ये अपने अन्तिम समयमें सरिदन्तर नामक स्थानमें रहते थे। यहींपर उन्होंने परम धामकी यात्रा की। देहत्यागके अवसरपर पूर्वाश्रमके सोहन भट्टको—अब जिनका नाम पद्मनाभतीर्थ हो गया था—श्रीरामजीकी मूर्ति और व्यासजीकी दी हुई शालग्रामशिला देकर अपने मतके प्रचारकी आज्ञा कर गये। इनके शिष्योंके द्वारा अनेकों मठ स्थापित हुए तथा इनके द्वारा रचित अनेकों ग्रन्थोंका प्रचार होता रहा। इनके मतका विशेष विवरण इस संक्षिप्त परिचयमें देना सम्भव नहीं है।

श्रीमन्मध्वाचार्यके उपदेश

१.श्रीभगवान्‌का नित्य-निरन्तर स्मरण करते रहना चाहिये, जिससे अन्तकालमें उनकी विस्मृति न हो; क्योंकि सैकड़ों बिच्छुओंके एक साथ डंक मारनेसे शरीरमें जैसी पीड़ा होती है, मरणकालमें मनुष्यको वैसी ही पीड़ा होती है; वात, पित्त, कफसे कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है और नाना प्रकारके सांसारिक पाशोंसे जकड़े रहनेके कारण मनुष्यको बड़ी घबराहट हो जाती है। ऐसे समयमें भगवान्‌की स्मृतिको बनाये रखना बड़ा कठिन हो जाता है। (द्वा० स्तो० १। १२)

२.सुख-दुःखोंकी स्थिति कर्मानुसार होनेसे उनका अनुभव सभीके लिये अनिवार्य है। इसीलिये सुखका अनुभव करते समय भी भगवान्‌को न भूलो तथा दुःख-कालमें भी उनकी निन्दा न करो। वेद-शास्त्रसम्मत कर्म-मार्गपर अटल रहो। कोई भी कर्म करते समय बड़े दीनभावसे भगवान्‌का स्मरण करो। भगवान् ही सबसे बड़े, सबके गुरु तथा जगत्‌के माता-पिता हैं। इसीलिये अपने सारे कर्म उन्हींके अर्पण करने चाहिये। (द्वा० स्तो० ३। १)

३.व्यर्थकी सांसारिक झंझटोंके चिन्तनमें अपना अमूल्य समय नष्ट न करो। भगवान्‌में ही अपने अन्तः-करणको लीन करो। विचार, श्रवण, ध्यान, स्तवनसे बढ़कर संसारमें अन्य कोई पदार्थ नहीं है। (द्वा० स्तो० ३। २)

४.भगवान्‌के चरणकमलोंका स्मरण करनेकी चेष्टामात्रसे ही तुम्हारे पापोंका पर्वत-सा ढेर नष्ट हो जायगा। फिर स्मरणसे तो मोक्ष होगा ही, यह स्पष्ट है। ऐसे स्मरणका परित्याग क्यों करते हो। (द्वा० स्तो० ३। ३)

५.सज्जनो! हमारी निर्मल वाणी सुनो। दोनों हाथ उठाकर शपथपूर्वक हम कहते हैं कि भगवान्‌की बराबरी करनेवाला भी इस चराचर जगत्‌में कोई नहीं है, फिर उनसे श्रेष्ठ तो कोई हो ही कैसे सकता है। वे ही सबसे श्रेष्ठ हैं। (द्वा० स्तो० ३। ४)

६.यदि भगवान् सबसे श्रेष्ठ न होते तो समस्त संसार उनके अधीन किस प्रकार रहता। और यदि समस्त संसार उनके अधीन न होता तो संसारके सभी प्राणियोंको सदा-सर्वदा सुखकी ही अनुभूति होनी चाहिये थी। (द्वा० स्तो० ३। ५)

आचार्य श्रीश्रीधर स्वामी

वागीशा यस्य वदने लक्ष्मीर्यस्य च वक्षसि।
यस्यास्ते हृदये संवित् तं नृसिंहमहं भजे॥
—श्रीधरस्वामी

प्रामाणिक सामग्री तो कोई है नहीं; जो किंवदन्तियाँ हैं, उन्हींके आधारपर कुछ कहना है। महापुरुषोंके जीवनके सत्यको ऐसी किंवदन्तियाँ ही बहुत कुछ प्रकट कर पाती हैं। ईसाकी दसवीं या ग्यारहवीं सदीकी बात होगी। दक्षिण भारतके किसी नगरमें वहाँके राजा और मन्त्रीमें मार्ग चलते समय भगवान्‌की कृपा तथा प्रभावके सम्बन्धमें बात हो रही थी। मन्त्री कह रहे थे—'भगवान्‌की उपासनासे उनकी कृपा प्राप्त करके अयोग्य भी योग्य हो जाता है, कुपात्र भी सत्पात्र हो जाता है, मूर्ख भी विद्वान् हो जाता है।' संयोगकी बात या दयामय भगवान्‌की इच्छा— राजाने देखा कि एक बालक ऐसे पात्रमें तेल लिये जा रहा है, जिसका उपयोग कोई थोड़ा समझदार भी नहीं करेगा। राजाने मन्त्रीसे पूछा—'क्या यह बालक भी बुद्धिमान् हो सकता है?' मन्त्रीने बड़े विश्वासके साथ कहा—'भगवान्‌की कृपासे अवश्य हो सकता है।' बालक बुलाया गया। पता लगा कि वह ब्राह्मणका बालक है। उसके माता-पिता उसे बचपनमें ही छोड़कर परलोक चले गये थे। परीक्षाके लिये नृसिंहमन्त्रकी दीक्षा दिलाकर उसे आराधनामें लगा दिया गया। बालक भी सब प्रकारसे भगवान्‌के भजनमें लग गया। उस अनाथ बालककी भक्ति देखकर अनाथोंके वे एकमात्र नाथ प्रकट हो गये। नृसिंहरूपमें दर्शन देकर भगवान्‌ने बालकको वरदान दिया—'तुम्हें वेद, वेदाङ्ग, दर्शनशास्त्र आदिका सम्पूर्ण ज्ञान होगा और मेरी भक्ति तुम्हारे हृदयमें निवास करेगी।' बालक और कोई नहीं, वे हमारे चरित्रनायक श्रीधर स्वामी ही थे।

अब इस बालककी विद्वत्ताका क्या पूछना। भगवान्‌की दी हुई विद्याकी लोकमें भला, कौन बराबरी कर सकता था। बड़े-बड़े विद्वान् इनका सम्मान करने लगे। राजा इन्हें आदर देने लगे। धनका अभाव नहीं रहा। विवाह हुआ और पत्नी आयी। परंतु भगवान्‌के भक्त विषयोंमें उलझा नहीं करते और न दयामय भगवान् ही भक्तोंको संसारके विषयोंमें आसक्त रहने देते हैं। गृहस्थ होकर भी इनका चित्त घरमें लगता नहीं था। सब कुछ छोड़कर केवल प्रभुका भजन किया जाय, इसके लिये इनके प्राण तड़पते रहते थे। इनकी स्त्री गर्भवती हुई, प्रथम सन्तानको जन्म देकर वह परलोक चली गयी। स्त्रीकी मृत्युसे इन्हें दुःख नहीं हुआ। इन्होंने इसे प्रभुकी कृपा ही माना। परंतु अब नवजात बालकके पालन-पोषणमें ही व्यस्त रहना इन्हें अखरने लगा। ये विचार करने लगे—'मैं मोहवश ही अपनेको इस बच्चेका पालन-पोषण करनेवाला मानता हूँ। जीव अपने कर्मोंसे ही जन्म लेता है और अपने कर्मोंका ही फल भोगता है। विश्वम्भर भगवान् ही सबका पालन तथा रक्षण करते हैं।' ये शिशुको भगवान्‌की दयापर छोड़कर भजनका निश्चय करके घर छोड़नेको उद्यत हुए, पर बच्चेके मोहने एक बार रोका। लीलामय प्रभुकी लीलासे इनके सामने घरकी छतसे एक पक्षीका अण्डा भूमिपर गिर पड़ा और फूट गया। अण्डा पक चुका था। उससे लाल-लाल बच्चा निकलकर अपना मुख हिलाने लगा। इनको ऐसा लगा कि इस बच्चेको भूख लगी है; यदि अभी कुछ न मिला तो यह मर जायगा। उसी समय एक छोटा कीड़ा उड़कर फूटे अण्डेके रसपर आ बैठा और उसमें चिपक गया। पक्षीके बच्चेने उसे खा लिया। भगवान्‌की यह लीला देखकर श्रीधर स्वामीके हृदयमें बल आ गया। ये वहाँसे काशी चले आये। विश्वनाथपुरीमें आकर ये भगवान्‌के भजनमें तल्लीन हो गये।

गीता, भागवत, विष्णुपुराणपर श्रीधर स्वामीकी टीकाएँ मिलती हैं। इनकी टीकाओंमें भक्ति तथा प्रेमका अखण्ड प्रवाह है। एकमात्र श्रीधर स्वामी ही ऐसे हैं कि जिनकी टीकाका सभी सम्प्रदायके लोग आदर करते हैं। कुछ लोगोंने इनकी भागवतकी टीकापर आपत्ति की, उस समय इन्होंने वेणीमाधवजीके मन्दिरमें भगवान्‌के पास ग्रन्थ रख दिया। कहते हैं कि स्वयं भगवान्‌ने अनेक साधु-महात्माओंके सम्मुख वह ग्रन्थ उठाकर हृदयसे लगा लिया। भगवान्‌के ऐसे लाड़ले भक्त ही पृथ्वीको पवित्र करते हैं।
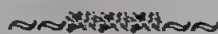
महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजी

मध्यकालीन म्लेच्छाक्रान्त भारत देशमें भक्ति-कल्पलताका छाया-विस्तार करके भागवतधर्मकी प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रखनेमें महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने जो श्रेय प्राप्त किया, उससे उनकी प्रगाढ़ भगवद्भक्ति, मौलिक विचारधारा और विशिष्ट उपासनापद्धतिकी महत्ता प्रकट हो जाती है। वेदान्तके रङ्गमञ्चपर प्रतिष्ठित आत्मरमणशील ब्रह्मकी चिन्तन-नीरसतासे प्रभावित जन-मस्तिष्कको भक्तिके अतल रस-सुधा-सागरमें संप्लावन सुखसे सम्पन्नकर उन्होंने भगवान्के श्रीकृष्णरूपकी, रसरूपकी प्रधानताकी पताका फहरायी। वे महाभागवत, महादार्शनिक और भक्तिके महान् आचार्य थे।

पाँच सौ साल पहलेकी बात है, संवत् १५३५ वि० में दक्षिण भारतसे एक तैलङ्ग ब्राह्मण लक्ष्मणभट्ट तीर्थयात्राके लिये उत्तर भारतका भ्रमण कर रहे थे। वैशाख मास था, वे उस समय अपनी पत्नी इल्लम्मागारुके सहित काशीमें थे। अचानक सुना गया कि काशीपर यवनोंका आक्रमण होनेवाला है; अतः वे दक्षिणकी ओर चल पड़े। रास्तेमें चम्पारण्य नामक वनमें इल्लम्माने पुत्र-रत्नको जन्म दिया। वैशाख कृष्ण एकादशी थी, माताने महानदीके निर्जन तटपर नवजात बालकको छोड़ दिया। पर माताकी ममताने करवट ली। लक्ष्मण और इल्लम्मा बालकको लेकर काशी लौट आये, हनुमानघाटपर रहने लगे। बालक अद्भुत प्रतिभा और सौन्दर्यसे सम्पन्न होनेके कारण सबका प्रियपात्र था। बाल्यावस्थामें लोगोंने उसे 'बालसरस्वती वाक्पति' कहना आरम्भ किया। विष्णुचित्, तिरुम्मल और माधव यतीन्द्रकी शिक्षासे बाल्यावस्थामें ही वल्लभ समस्त वैष्णव-शास्त्रोंमें पारङ्गत हो गये, उनमें भगवद्भक्तिका उदय होने लगा; तुलसीमाला, एकादशी, विष्णुव्रत और भगवदाराधनमें उनका समय बीतने लगा; तेरह सालकी ही अवस्थामें वे वेद, वेदाङ्ग, पुराण, धर्मशास्त्र आदिमें पूर्ण निष्णात हो गये।

धीरे-धीरे उनकी कीर्ति फैलने लगी, लोग उनकी भगवद्भक्तिकी सराहना करने लगे। श्रीवल्लभाचार्यके चरित्रविकासपर विष्णुस्वामी-सम्प्रदायके भक्ति-सिद्धान्तोंका अधिक मात्रामें प्रभाव पड़ा था। उन्होंने विजयनगरकी राजसभामें शङ्करके दार्शनिक सिद्धान्तों, वेदान्त और मायावादका खण्डन करके भगवान्की शुद्ध भक्तिकी मर्यादा स्थापित की। राजाने उनका कनकाभिषेक किया, वे जगद्गुरु महाप्रभु श्रीमदाचार्यकी उपाधिसे सम्मानित किये गये। कनकाभिषेकके बाद उन्होंने उत्तर भारतमें भागवतधर्मके प्रचारके लिये यात्रा की। अट्ठाईस सालकी अवस्थामें उन्होंने विधिपूर्वक विवाह कर लिया। उनकी पत्नी साध्वी महालक्ष्मीने उनके जीवनको सुखमय और भगवदीय बनानेकी प्रत्येक चेष्टा की। उनका गृहस्थ-जीवन बहुत आनन्दप्रद रहा। उस समय वे प्रयागके सन्निकट यमुनाके दूसरे तटपर अडैलमें रहा करते थे। वे आचार्यत्व पद ग्रहण कर चुके थे। दक्षिणापथ और उत्तरापथ दोनों एक स्वरसे उनके पाण्डित्य, भक्ति-सिद्धान्त और आचार्यत्वके सामने नत हो चुके थे। अडैल-निवास-कालमें ही महाप्रभु वल्लभने परमानन्ददासको ब्रह्मसम्बन्ध दिया था।

आचार्यने पुष्टिमार्गकी संस्थापना की। उन्होंने श्रीमद्भागवतमें वर्णित भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंमें पूर्ण और अखण्ड आस्था प्रकट की। उनकी प्रेरणासे स्थान-स्थानपर श्रीभागवतका पारायण होने लगा। वे स्वयं भागवतसप्ताह-श्रवणमें बड़ी अभिरुचि रखते थे। उन्होंने अपने महाभागवत होनेकी सार्थकता चरितार्थ कर दी। सारे भागवत-धर्मावलम्बियोंके वे आश्रय हो गये। अपने समकालीन श्रीचैतन्य महाप्रभुसे भी उनकी जगदीश्वर-यात्राके समय भेंट हुई थी। दोनोंने एक-दूसरेके साक्षात्कारसे अपनी ऐतिहासिक महत्ताकी एक-दूसरेपर छाप लगा दी। उन्होंने ब्रह्मसूत्र, श्रीमद्भागवत और श्रीगीताको अपने पुष्टिमार्गका प्रधान साहित्य घोषित किया। प्रेमलक्षणा भक्तिपर विशेष जोर दिया। पुष्टि भगवदनुग्रह या कृपाका प्रतीक है। उन्होंने वात्सल्यरससे ओतप्रोत भक्ति-पद्धतिकी सीख दी। भगवान्के यश-लीला-गानको वे अपने पुष्टिमार्गका श्रेय मानते थे। उन्होंने श्रीशङ्कराचार्यके मायावादका विरोध करके सिद्ध किया कि जीव उतना

ही सत्य है जितना सत्य ब्रह्म है। फिर भी वह ब्रह्मका अंश और सेवक ही है; अतएव उसका ब्रह्मके प्रति दास्य, सख्य, माधुर्य—कान्ताभाव सहज सिद्ध है। उन्होंने कहा कि जीव भगवान्‌की भक्तिके बिना कल ही नहीं पा सकता। उन्होंने जीवके अणुत्वका समर्थन किया। ब्रह्मसे जगत्‌की उत्पत्ति होनेके कारण जगत् भी ब्रह्मकी तरह सत् है। परमात्माको साकार मानते हुए श्रीवल्लभने जीवात्मक और जडात्मक सृष्टि निर्धारित की। श्रीशङ्कराचार्यकी तरह अद्वैत ब्रह्मका समर्थन करनेपर भी जीव और ब्रह्मके शुद्ध अद्वैतभावका उन्होंने प्रतिपादन करके भगवान्‌की भक्ति-प्राप्तिके लिये जीवको प्रेरित किया। भगवान्‌के अनुग्रहसे ही जीवका पोषण होता है। लौकिक और वैदिक कर्मफलका त्याग अनिवार्य है। भगवान् श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं। उनकी सेवा ही जीवका परम कर्तव्य है। संसारकी अहंता और ममताका त्याग करके श्रीकृष्णके चरणोंमें सर्वस्व समर्पणकर भक्तिके द्वारा उनका अनुग्रह पाना ही ब्रह्म-सम्बन्ध है।

इसी आशयको व्यक्त करनेवाला एक मन्त्र है, जो 'आत्म-निवेदन-मन्त्र'के नामसे प्रसिद्ध है। कहते हैं आचार्य-चरणोंके उपास्य श्रीनाथजीने ही यह मन्त्र आचार्यको कलि-मल-ग्रसित जीवोंके उद्धारार्थ प्रदान किया था। मन्त्र इस प्रकार है—

'सहस्त्रपरिवत्सरमितकालजातकृष्णवियोगजनिततापक्लेशानन्दतिरोभावोऽहं भगवते कृष्णाय देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणानि तद्धर्मांश्च दारागारपुत्राप्तवित्तेहापराणि आत्मना सह समर्पयामि दासोऽहं श्रीकृष्ण तवास्मि।'

श्रीवल्लभके उपर्युक्त सिद्धान्त थे। उन्होंने श्रीकृष्णकी प्रसन्नताको ही भक्ति-तत्त्वकी संज्ञासे विभूषित किया। पुष्टि श्रीकृष्ण-प्रेमको प्रकट करनेवाली भक्तिका नाम है। श्रीवल्लभने कहा कि गोलोकस्थ श्रीकृष्णकी सायुज्य-प्राप्ति ही मुक्ति है। जो जीव पुरुषोत्तमके साथ युक्त है, वह सब कुछ उपभोगमें ला सकता है। पुष्टिभक्तिके उदयका मूलाधार भगवत्प्रसाद ही है। आचार्य वल्लभने साधिकार सुबोधिनीमें अपना यह मत प्रकट किया है कि प्राणिमात्रको मोक्षदानके लिये ही भगवान् अभिव्यक्त होते हैं।

श्रीवल्लभने कहा—

गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्त्यक्तुं न शक्यते।
कृष्णार्थं तत्प्रयुञ्जीत कृष्णोऽनर्थस्य मोचकः॥

श्रीवल्लभके जीवनका अधिकांश व्रजमें बीता, वे अड़ैलसे व्रज आये। अड़ैलसे व्रज आते समय उन्होंने गऊघाटपर महाकवि सूरदासको दीक्षित किया, दो या तीन दिनों बाद उसी यात्रामें विश्रामघाटपर कृष्णदास अधिकारीको पुष्टिमार्गमें सम्मिलितकर ब्रह्म-सम्बन्ध दिया। कुम्भनदास भी उनके शिष्य हुए। गोवर्धनमें एक मन्दिर बनवाकर उसमें श्रीनाथजीकी मूर्ति प्रतिष्ठित की। उनके चौरासी शिष्योंमें प्रमुख सूर, कुम्भन, कृष्णदास और परमानन्द श्रीनाथजीकी विधिवत् सेवा और कीर्तन आदि करने लगे। उन्होंने वैष्णवोंको गुरुतत्त्व सुनाया, लीला-भेद बताया। सूरने उनकी चरण-भक्तिसे साहित्यमें भगवान्‌की लीलाका सागर उँडेल दिया, कुम्भनदासने श्रीवल्लभके प्रतापसे प्रमत्त होकर सीकरीमें लोकपति अकबरका मद-मर्दन कर दिया, परमानन्ददासने परमानन्दसागरकी सृष्टि की, श्रीकृष्णदासने कहा—'*कृष्णदास गिरिधरके द्वारे श्रीवल्लभ-पद-रज-बल गरजत।*' चारों महाकवि उनकी भक्ति-कल्पलताके अमर फल थे।

व्रजमें श्रीनाथजीकी कीर्ति-पताका फहराकर वे अपने पूर्व निवासस्थान 'अड़ैल' में चले आये। श्रीआचार्यके दो पुत्र हुए। पहलेका नाम गोपीनाथ था और दूसरेका नाम श्रीविट्ठलनाथ था। उनका पारिवारिक जीवन अत्यन्त सुखमय और शान्त था।

एक बारकी बात है—एक सज्जन शालग्रामशिला एवं प्रतिमा दोनोंकी एक साथ ही पूजा कर रहे थे; परंतु उनके मनमें भेदभाव था। वे शिलाको अच्छी एवं प्रतिमाको निम्नश्रेणीकी समझते थे। आचार्यने उन्हें समझाया कि 'भगवद्-विग्रहमें इस तरहकी भेदभावना नहीं रखनी चाहिये।' इसपर वे सज्जन बिगड़ खड़े हुए एवं अकड़कर प्रतिमाकी छातीपर शालग्रामको रखकर रातमें पधरा दिया। प्रातःकाल देखनेपर मालूम हुआ कि शालग्रामकी शिला चूर-चूर हो गयी है। तब तो उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ और जाकर उन्होंने आचार्यचरणोंसे क्षमा माँगी। फिर आचार्यने भगवान्‌के चरणामृतसे उस चूर्णको भिगोकर गोली बनानेको कहा। ऐसा करनेपर

गोस्वामी विट्ठलनाथजी [पृ० ३६९]

श्रीहितहरिवंशजी [पृ० ३७४]
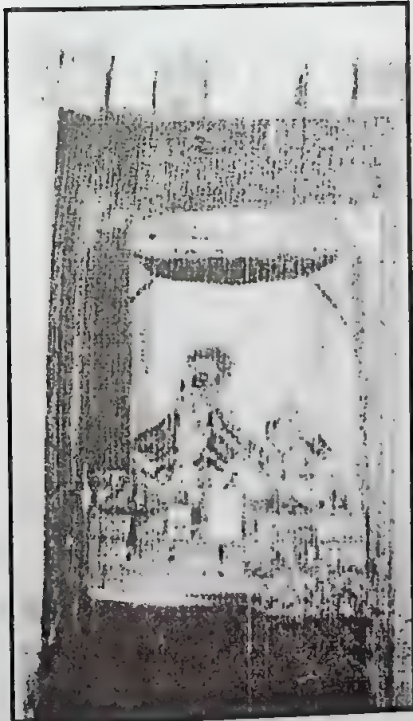
श्रीजीसहित श्रीरंगीलालजी
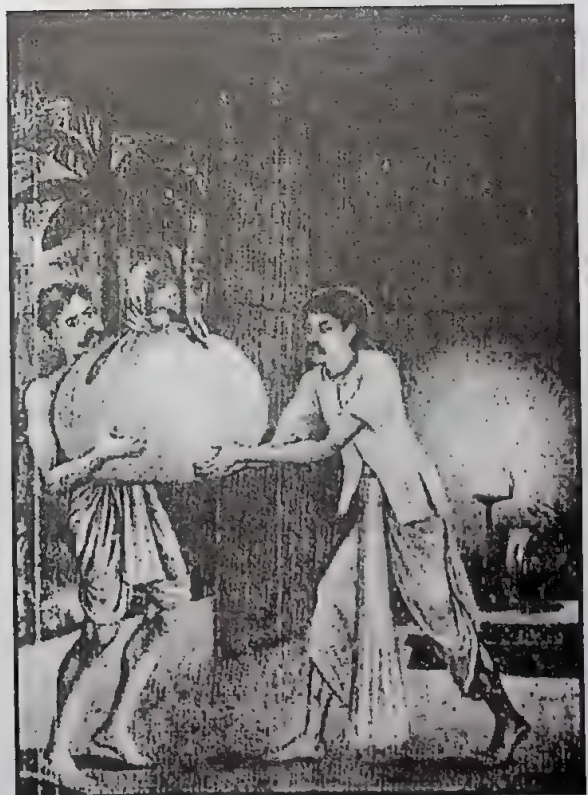
भक्त गदाधर भट्ट [पृ० ४०३]

भक्त रसखान [पृ० ३९७]

श्रीकेशव काश्मीरी [पृ० ४०७]

स्वामी हरिदासजी, अकबर और तानसेन [पृ० ३९८]

मूर्ति फिर ज्यों-की-त्यों हो गयी।

उनका समग्र जीवन ऐसी चमत्कारपूर्ण घटनाओंसे ओतप्रोत था; परंतु एक महान् भगवद्भक्तके जीवनमें इन चमत्कारोंका कोई भी ऊँचा स्थान है ही नहीं। गोकुलमें भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिये थे। सबसे ऊँची वस्तु तो उनके जीवनमें है—भगवान्‌की विशुद्ध अनन्यभक्ति।

उन्होंने तन-मन-धन सब कुछ भगवान्‌को समर्पित कर दिया था। एक बार भोगके लिये द्रव्यका अभाव देखकर उन्होंने सोनेकी कटोरी गिरवी रखवाकर भगवान्‌के सामने भोग उपस्थित किया। उन्होंने स्वयं प्रसाद नहीं लिया। दो दिनके बाद द्रव्य आनेपर प्रसाद लिया। वैष्णवोंके पूछनेपर उन्होंने कहा—'कटोरी ठाकुरजीको पूर्व समर्पित थी, उनके भागका प्रसाद लेना महापातक है।' इस घटनासे उनकी कथनी-करनीके साम्यका पता चलता है। आचार्यने घोषणा कर दी थी कि 'मेरे वंशमें, या मेरा कहलाकर, जो कोई भगवद्-द्रव्यका उपयोग करेगा, उसका नाश हो जायगा।'

श्रीवल्लभाचार्य महान् भक्त होनेके साथ ही दर्शनशास्त्रके प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने ब्रह्मसूत्रपर बड़ा सुन्दर 'अणुभाष्य' लिखा है और श्रीभागवतके दशम स्कन्ध तथा कुछ अन्य स्कन्धोंपर सुबोधिनी टीका लिखी है। श्रीमद्भागवतको वे प्रस्थानत्रयीके अन्तर्गत मानते थे।

श्रीवल्लभके परमधाम पधारनेके विषयमें एक घटना प्रसिद्ध है। ये अपने जीवनके अन्तिम दिनोंमें अड़ैलसे लौटकर प्रयाग होते हुए काशी आ गये थे। अपने जीवनके कार्य समाप्तकर वे एक दिन हनुमानघाटपर गङ्गा-स्नान करने गये। जहाँपर खड़े होकर वे स्नान कर रहे थे, वहाँसे एक उज्ज्वल ज्योति-शिखा उठी और बहुत-से आदमियोंके सामने श्रीवल्लभ सदेह ऊपर उठने लगे और लोगोंके देखते-ही-देखते आकाशमें लीन हो गये। हनुमानघाटपर उनकी एक बैठक बनी हुई है। इस प्रकार वि० सं० १५८७ आषाढ़ शुक्ला ३ को ५२ वर्षकी अवस्थामें आपने भगवान्‌के आज्ञानुसार अलौकिक रीतिसे इहलीला संवरण करके गोलोकको प्रयाण किया।

गोसाईं श्रीविट्ठलनाथजी

गोसाईं श्रीविट्ठलनाथजीकी महिमाका बखान असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। वे श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजके पुष्टि-सिद्धान्तोंके भाष्यकार थे। उनकी कीर्तिसुधाके अपार पारावारमें अष्टछापके महाकवि सूरदास, कुम्भनदास आदिने राजरानी भक्तिका अभिषेक करके भागवतधर्मकी जो विजयिनी पताका फहरायी, वह अनन्तकालतक व्रजक्षेत्रमें लहराकर स्वर्गको पृथ्वीपर उतर आनेके लिये चुनौती देती रहेगी। श्रीविट्ठलनाथके जीवनकालमें भक्ति रसमयी हो उठी, श्रीकृष्णप्रेमसे सर्वथा सराबोर हो उठी। उन्होंने महाप्रभु वल्लभाचार्यकी प्रेमलक्षणा भक्तिकी आयु दिन-दूनी, रात-चौगुनी बढ़ा दी। अष्टछापके कवियोंने उनके प्रति जो अगाध श्रद्धाभक्ति अपनी रचनाओंमें प्रकट की है, वह उनकी परमोत्कृष्ट भगवदीयताकी परिचायिका है। श्रीविट्ठलनाथ महाप्रभु वल्लभके शुद्धाद्वैतदर्शनके भक्तिप्रतीक थे।

श्रीगोसाईं विट्ठलनाथ महाप्रभु वल्लभके द्वितीय पुत्र थे। उनके प्रकट होनेपर केवल तैलंगकुल ही नहीं पवित्र हुआ, अपितु समस्त भारतदेश पवित्र और कृतार्थ हो गया। उनका जन्म संवत् १५७२ वि० में काशीके निकट चरणाट (चुनार)-में हुआ। उनके पिता श्रीवल्लभ नवजात शिशुको अपने पूर्व निवासस्थान अड़ैल ले आये और वहाँ उन्होंने उनके आवश्यक संस्कार कराये। भाग्यशाली विट्ठलके प्राकट्यपर महाकवि सूरने मङ्गलगीत गाया था। गोकुलमें नन्दमहोत्सव मनाया गया था। कलियुगके जीवोंके उद्धार और संतोंके प्रतिपालनके लिये ही उनका जन्म हुआ था। संवत् १५८० वि० में अड़ैलमें उनका यज्ञोपवीत हुआ। अपने पिताकी तरह वे भी गृहस्थ थे; उन्होंने दो विवाह किये थे, पहली पत्नीका नाम रुक्मिणी और दूसरीका पद्मावती था। उनके जीवनका अधिकांश गोवर्धन और गोकुलमें व्यतीत हुआ। अपने पिताद्वारा

निर्धारित भगवान्‌की आठ झाँकियोंके अनुरूप विधिवत् सेवा करके भक्तिरसामृतका आस्वादन करनेको ही उन्होंने श्रेयमार्ग स्वीकार किया।

संवत् १५८७ वि० में श्रीवल्लभके गोलोक-प्रयाणके बाद उनके ज्येष्ठ पुत्र श्रीगोपीनाथजी उत्तराधिकारी हुए। थोड़े ही समयके बाद उनका भी लीलाप्रवेश हो गया। गोपीनाथजीकी विधवाने अपने पुत्र श्रीपुरुषोत्तमका पक्ष लिया। कृष्णदास अधिकारीने भी उन्हींका साथ देकर श्रीविट्ठलनाथका ड्योढ़ीदर्शन बंद कर दिया। वे श्रीनाथजीके विरहमें सहिष्णुतापूर्वक अपने दिन बिताने लगे। वे परासोली चले गये और वहींसे श्रीनाथजीके मन्दिरके झरोखेकी ओर देखा करते थे। उनकी पताकाको नित्य नमस्कार कर लिया करते थे। परासोलीमें रहते समय उन्होंने श्रीनाथजीके वियोगमें जो रचना की, वह 'विज्ञप्ति' नामसे प्रसिद्ध है। जब उनके पुत्र गिरिधरजीने मथुराके हाकिमसे शिकायत करके कृष्णदास अधिकारीको कैद करवा दिया, तब गोसाईंजीने अन्न-जलका त्याग कर दिया। कृष्णदासके मुक्त होनेपर ही उन्होंने भोजन किया। इस सहानुभूतिका कृष्णदासपर बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने गोसाईंजीसे क्षमा माँगी और उनके उत्तराधिकारको मान्यता दी।

श्रीविट्ठलनाथजीने पुष्टिमार्गके विकास और प्रगतिमें बड़ा योग दिया। उन्होंने श्रीकृष्णकी भक्तिप्राप्तिमें अपनी कलाकारिता, काव्यमर्मज्ञता, संगीतनिपुणता और चित्रकारिताका सदुपयोग करके असंख्य जीवोंको भवसागरके पार उतार दिया। भगवद्भक्ति तो उनकी सहज सिद्ध सम्पत्ति थी। महाकवि सूर, नन्ददास, कुम्भनदास, परमानन्ददास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, गोविन्ददास, कृष्णदासकी कविताको अष्टछापकी पवित्र गद्दीपर प्रतिष्ठितकर उन्होंने भक्तिका रसराजत्व सिद्ध किया। अष्टछाप उनकी कीर्तिकी अमर लता है। बादशाह अकबर और उनके सभासदस्य मानसिंह, बीरबल आदि उनका बड़ा सम्मान करते थे। राजा आसकरण, महारानी दुर्गावती तथा अन्य भगवदीय जीवोंने उनके यशकी गङ्गामें अपना परलोक बना लिया। अकबरने गोकुल और गोवर्धनकी भूमि उन्हें निःशुल्क दे दी थी। श्रीगोसाईं विट्ठलनाथने गुजरातकी भी यात्रा की थी, उस क्षेत्रमें भागवत-धर्मका प्रचार किया था। उनके २५२ वैष्णव शिष्य बहुत ही प्रसिद्ध हैं। वास्तवमें वे मङ्गलरूप निधान थे। नन्ददास आदि काव्य-महारथियोंने एक स्वरसे उनकी चरणधूलिकी अलौकिकताका बखान किया है।

संवत् १६४२ वि० में गोवर्धनकी एक कन्दरामें प्रवेशकर उन्होंने अपनी जीवन-लीला समाप्त की। उनके लीला-प्रवेशके समय अष्टछापके प्रसिद्ध भक्त कवि चतुर्भुजदासजी उपस्थित थे। उन्होंने करुणस्वरसे आचार्यके प्रति श्रद्धाञ्जलि प्रकट की।

श्रीविट्ठलनाथ से प्रभु भए न ह्वैहैं।
पाछै सुने न देखे आगे, वह सँग फिरि न बनहैं॥
... ...।
को फिरि नंदराय को बैभव ब्रजबासिन बिलसैहैं॥

अन्तिम चरणमें भक्तने शोकका पारावार समेटकर जो गान गाया, उससे श्रीविट्ठलनाथजीके यशका स्थायित्व अचल हो गया। कितना करुण-गीत है!

श्रीबल्लभ सुत दरसन कारन अब सब कोउ पछितैहै।
'चतुर्भुजदास' आस इतनी जो सुमिरन जनमु सिरैहै॥

गोसाईं विट्ठलनाथका जीवन-चरित्र भगवान् श्रीकृष्णके लीला-सौन्दर्यका दर्शन-बोध है। वे अपने समयके बहुत बड़े भागवत और भक्तिके विशेषज्ञ थे। गोसाईं विट्ठलनाथजीकी गोलोकयात्राके बाद उनकी भूमि और गद्दी उनके सात पुत्रोंमें विभाजित हो गयी। अष्टछापके कुछ कवियोंने गोसाईंजीके सात पुत्रोंका अपने पदोंमें कहीं-कहीं यश गाया है। गोसाईंजीके 'विद्वन्मण्डन, निबन्ध-प्रकाश-टीका, अणुभाष्यके अन्तिम अध्याय, सुबोधिनीपर टिप्पणी, भक्तिहंस, भक्तिहेतु, शृङ्गाररसमण्डन, विज्ञप्ति' आदि अनेक ग्रन्थ उनकी भक्ति-मर्मज्ञताके कीर्तिस्तम्भ हैं। वे आचार्य, भक्त और पण्डित—तीनोंके समीचीन समन्वय थे।

श्रीश्रीचैतन्यमहाप्रभु

श्रीचैतन्यमहाप्रभुका प्राकट्य शक-संवत् १४०७ की फाल्गुन शुक्ला १५ को दिनके समय सिंहलग्नमें पश्चिमी बंगालके नवद्वीप नामक ग्राममें हुआ था। इनके पिताका नाम जगन्नाथ मिश्र और माताका नाम शचीदेवी था। ये भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य भक्त थे। इन्हें लोग श्रीराधाका अवतार मानते हैं। बङ्गालके वैष्णव तो इन्हें साक्षात् पूर्णब्रह्म ही मानते हैं। इनके जीवनके अन्तिम छः वर्ष राधाभावमें ही बीते। उन दिनों इनके अंदर महाभावके सारे लक्षण प्रकट हुए थे। जिस समय ये श्रीकृष्णके विरहमें उन्मत्त होकर रोने और चीखने लगते थे, उस समय पत्थरका हृदय भी पिघल जाता था। इनके व्यक्तित्वका लोगोंपर ऐसा विलक्षण प्रभाव पड़ा कि श्रीवासुदेव सार्वभौम और प्रकाशानन्द सरस्वती-जैसे अद्वैत-वेदान्ती भी इनके थोड़ी देरके सङ्गसे श्रीकृष्णप्रेमी बन गये। यही नहीं, इनके विरोधी भी इनके भक्त बन गये और जगाई-मधाई-जैसे महान् दुराचारी भी संत बन गये। कई बड़े-बड़े संन्यासी भी इनके अनुयायी हो गये। यद्यपि इनका प्रधान उद्देश्य भगवद्भक्ति और भगवन्नामका प्रचार करना और जगत्में प्रेम और शान्तिका साम्राज्य स्थापित करना था, तथापि इन्होंने दूसरे धर्मों और दूसरे साधनोंकी कभी निन्दा नहीं की। इनके भक्तिसिद्धान्तमें द्वैत और अद्वैतका बड़ा सुन्दर समन्वय हुआ है। इन्होंने कलिमलग्रसित जीवोंके उद्धारके लिये भगवन्नामके जप और कीर्तनको ही मुख्य और सरल उपाय माना है। इनकी दक्षिण-यात्रामें गोदावरीके तटपर इनका इनके शिष्य राय रामानन्दके साथ बड़ा विलक्षण संवाद हुआ, जिसमें इन्होंने राधाभावको सबसे ऊँचा भाव बतलाया। इन्होंने अपने शिक्षाष्टकमें अपने उपदेशोंका सार भर दिया है। यहाँ शिक्षाष्टकको अर्थसहित मन लगाकर पढ़िये।

चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं
श्रेयःकैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम्।
आनन्दाम्बुधिवर्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्तनम्॥

भगवान् श्रीकृष्णके नाम और गुणोंका कीर्तन सर्वोपरि है, उसकी तुलनामें और कोई साधन नहीं ठहर सकता। वह चित्तरूपी दर्पणको स्वच्छ कर देता है, संसाररूपी घोर दावानलको बुझा देता है, कल्याणरूपी कुमुदको अपने किरण-जालसे विकसित करनेवाला तथा आनन्दके समुद्रको बढ़ा देनेवाला चन्द्रमा है, विद्यारूपिणी वधूको जीवन देनेवाला है, पद-पदपर पूर्ण अमृतका आस्वादन करानेवाला तथा सम्पूर्ण आत्माको शान्ति एवं आनन्दकी धारामें डुबा देनेवाला है।

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवन् ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः॥

भगवन्! आपने अपने अनेकों नाम प्रकट करके उनमें अपनी सम्पूर्ण भागवती शक्ति डाल दी—उन्हें अपने ही समान सर्वशक्तिमान् बना दिया और उन्हें स्मरण करनेका कोई समयविशेष भी निर्धारित नहीं किया—हम जब चाहें, तभी उन्हें याद कर सकते हैं। प्रभो! आपकी तो इतनी कृपा है; परंतु मेरा दुर्भाग्य भी इतना प्रबल है कि आपके नाम-स्मरणमें मेरी रुचि—मेरी प्रीति नहीं हुई।

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

तिनकेसे भी अत्यन्त छोटा, वृक्षसे भी अधिक सहनशील, स्वयं मानरहित किंतु दूसरोंके लिये मानप्रद बनकर भगवान् श्रीहरिका नित्य-निरन्तर कीर्तन करना चाहिये।

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥

हे जगदीश्वर! मुझे न धन-बल चाहिये न जनबल, न सुन्दरी स्त्री और न कवित्व-शक्ति अथवा सर्वज्ञत्व ही चाहिये। मेरी तो जन्म-जन्मान्तरमें आप परमेश्वरके चरणोंमें अहैतुकी भक्ति—अकारण प्रीति बनी रहे।

अयि नन्दतनूज किङ्करं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ।
कृपया तव पादपङ्कजस्थितधूलीसदृशं विचिन्तय॥

अहो नन्दनन्दन! घोर संसार-सागरमें पड़े हुए मुझ सेवकको कृपापूर्वक अपने चरणकमलोंमें लगे हुए एक रज:कणके तुल्य समझ लो।

नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति॥

प्रभो! वह दिन कब होगा, जब तुम्हारा नाम लेनेपर मेरे नेत्र निरन्तर बहते हुए आँसुओंकी धारासे सदा भीगे रहेंगे, मेरा कण्ठ गद्गद हो जानेके कारण मेरे मुखसे रुक-रुककर वाणी निकलेगी तथा मेरा शरीर रोमाञ्चसे व्याप्त हो जायगा?

युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम्।
शून्यायितं जगत् सर्वं गोविन्दविरहेण मे॥

अहो! श्रीगोविन्दके विरहमें मेरा एक-एक पल युगके समान बीत रहा है, नेत्रोंमें पावस-ऋतु छा गयी है। सारा संसार सूना हो गया है।

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मा-
मदर्शनान्मर्महतां करोतु वा।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो
मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः॥

वह लम्पट चाहे मुझे गलेसे लगाये अथवा पैरोंसे लिपटी हुई मुझको चरणोंके तले दबाकर पीस डाले अथवा मेरी आँखोंसे ओझल रहकर मुझे मर्माहत करे। वह जो कुछ भी करे, मेरा प्राणनाथ तो वही है, दूसरा कोई नहीं।

श्रीचैतन्य भगवन्नामके बड़े ही रसिक, अनुभवी और प्रेमी थे। इन्होंने बतलाया है—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

—'यह महामन्त्र सबसे अधिक लाभकारी और भगवत्प्रेमको बढ़ानेवाला है। भगवन्नामका बिना श्रद्धाके उच्चारण करनेसे भी मनुष्य संसारके दु:खोंसे छूटकर भगवान्‌के परम धामका अधिकारी बन जाता है।'

श्रीचैतन्यमहाप्रभुने हमें यह बताया है कि भक्तोंको भगवन्नामके उच्चारणके साथ दैवीसम्पत्तिका भी अर्जन करना चाहिये। दैवीसम्पत्तिके प्रधान लक्षण उन्होंने बताये हैं— दया, अहिंसा, मत्सरशून्यता, सत्य, समता, उदारता, मृदुता, शौच, अनासक्ति, परोपकार, समता, निष्कामता, चित्तकी स्थिरता, इन्द्रियदमन, युक्ताहारविहार, गम्भीरता, परदु:खकातरता, मैत्री, तेज, धैर्य इत्यादि। श्रीचैतन्यमहाप्रभु आचरणकी पवित्रतापर बहुत जोर देते थे। उन्होंने अपने संन्यासी शिष्योंके लिये यह नियम बना दिया था कि कोई स्त्रीसे बाततक न करे। एक बार इनके शिष्य छोटे हरिदासने माधवी नामकी एक वृद्धा स्त्रीसे बात कर ली थी, जो स्वयं महाप्रभुकी भक्त थी। केवल इस अपराधके लिये उन्होंने हरिदासका सदाके लिये परित्याग कर दिया, यद्यपि उनका चरित्र सर्वथा निर्दोष था।

श्रीचैतन्यमहाप्रभु चौबीस वर्षकी अवस्थातक गृहस्थाश्रममें रहे। इनका नाम 'निमाई' पण्डित था, ये न्यायके बड़े पण्डित थे। इन्होंने न्यायशास्त्रपर एक अपूर्व ग्रन्थ लिखा था, जिसे देखकर इनके एक मित्रको बड़ी ईर्ष्या हुई। क्योंकि उन्हें यह भय हुआ कि इनके ग्रन्थके प्रकाशमें आनेपर उनके ग्रन्थका आदर कम हो जायगा। इसपर श्रीचैतन्यने अपने ग्रन्थको गङ्गाजीमें बहा दिया। कैसा अपूर्व त्याग है! पहली पत्नी लक्ष्मीदेवीका देहान्त हो जानेके बाद इन्होंने दूसरा विवाह श्रीविष्णुप्रियाजीके साथ किया था। परंतु कहते हैं, इनका अपनी पत्नीके प्रति सदा पवित्र भाव रहा। चौबीस वर्षकी अवस्थामें इन्होंने केशव भारती नामक संन्यासी महात्मासे संन्यासकी दीक्षा ग्रहण की। इन्होंने संन्यास इसलिये नहीं लिया कि भगवत्प्राप्तिके लिये संन्यास लेना अनिवार्य है; इनका उद्देश्य काशी आदि तीर्थोंके संन्यासियोंको भक्तिमार्गमें लगाना था। बिना पूर्ण वैराग्य हुए ये किसीको संन्यासकी दीक्षा नहीं देते थे। इसीलिये इन्होंने पहली बार अपने शिष्य रघुनाथदासको संन्यास लेनेसे मना किया था।

इनके जीवनमें अनेकों अलौकिक घटनाएँ हुईं, जो किसी मनुष्यके लिये सम्भव नहीं और जिनसे इनका ईश्वरत्व प्रकट होता है। इन्होंने एक बार श्रीअद्वैतप्रभुको विश्वरूपका दर्शन कराया था तथा नित्यानन्दप्रभुको एक बार शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, शार्ङ्गधनुष तथा मुरली लिये हुए षड्भुज नारायणके रूपमें, दूसरी बार दो हाथोंमें मुरली और दो हाथोंमें शङ्ख-चक्र लिये हुए चतुर्भुजरूपमें और तीसरी बार द्विभुज श्रीकृष्णके रूपमें दर्शन दिया

था। इनकी माता शचीदेवीने इनके अभिन्नहृदय श्रीनित्यानन्दप्रभु और इनको बलराम और श्रीकृष्णके रूपमें देखा था। गोदावरीके तटपर राय रामानन्दके सामने ये रसराज (श्रीकृष्ण) और महाभाव (श्रीराधा)-के युगलरूपमें प्रकट हुए, जिसे देखकर राय रामानन्द अपने शरीरको नहीं सम्हाल सके और मूर्छित होकर गिर पड़े। अपने जीवनके शेष भागमें, जब ये नीलाचलमें रहते थे, एक बार ये बंद कमरेमेंसे बाहर निकल आये थे। उस समय इनके शरीरके जोड़ खुल गये, जिससे इनके अवयव बहुत लंबे हो गये। एक दिन इनके अवयव कछुएके अवयवोंकी भाँति सिकुड़ गये और ये मिट्टीके लोधेके समान पृथ्वीपर पड़े रहे। इसके अतिरिक्त इन्होंने कई साधारण चमत्कार भी दिखलाये। उदाहरणत: श्रीचैतन्य-चरितामृतमें लिखा है कि इन्होंने कई कोढ़ियों और अन्य असाध्य रोगोंसे पीड़ित रोगियोंको रोगमुक्त कर दिया। दक्षिणमें जब ये अपने भक्त नरहरि सरकार ठाकुरके गाँव श्रीखण्डमें पहुँचे, तब नित्यानन्दप्रभुको मधुकी आवश्यकता हुई। इन्होंने उस समय एक सरोवरके जलको शहदके रूपमें पलट दिया, जिससे आजतक वह तालाब मधुपुष्करिणीके नामसे विख्यात है। इनके उपदेशों और चरित्रोंका प्रभाव आज भी लोगोंपर खूब है।

श्रीचैतन्यमहाप्रभुके प्रधान-प्रधान अनुयायियोंके नाम हैं—श्रीनित्यानन्दप्रभु, श्रीअद्वैतप्रभु, राय रामानन्द, श्रीरूपगोस्वामी, श्रीसनातनगोस्वामी, रघुनाथभट्ट, श्रीजीवगोस्वामी, गोपालभट्ट, रघुनाथदास, हरिदास साधु और नरहरि सरकार ठाकुर।

श्रीचैतन्यमहाप्रभुका जीवन प्रेममय है, उसे जाननेके लिये अँगरेजीकी Lord Gourang और बङ्गलाके श्रीचैतन्य-चरितामृत, श्रीचैतन्य-भागवत और अमिय-निमाईचरित तथा हिन्दीके श्रीचैतन्य-चरितावली (गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित) नामक ग्रन्थोंको पढ़ना चाहिये।

प्रभु श्रीनित्यानन्द

भारतीय इतिहासके मध्यकालीन भक्ति-विकासमें निताई और निमाईका नाम बड़ी श्रद्धासे लिया जाता है। भगवद्भक्तिके प्रचारसे निताई और निमाईने केवल वङ्गदेशको ही नहीं, समस्त भारतको प्रभावित किया। नित्यानन्द मधुरातिमधुर भक्ति-सुधाका पान करके रात-दिन उन्मत्तकी तरह हरिनाम-ध्वनिसे असंख्य जीवोंका उद्धार करते रहते थे।

शस्यश्यामला वङ्गभूमिके वीरभूमि जनपदके एकचाका गाँवमें शाके १३९५ के माघ मासमें श्रीनित्यानन्दका जन्म हुआ था। उनके पिता-माता हाँड़ाई पण्डित और पद्मावती बड़े धर्मनिष्ठ थे। दोनों विष्णुभक्त थे। एक बार पद्मावतीने स्वप्नमें एक महापुरुषको देखा। उन्होंने कहा कि 'तुम्हारे गर्भसे एक ऐसा पुत्र उत्पन्न होगा, जो पापियोंका उद्धार करेगा और नर-नारियोंको भक्तिका मार्ग दिखायेगा।' नित्यानन्दने महापुरुषके कथनकी सत्यता प्रमाणित कर दी। बचपनसे ही नित्यानन्दमें अलौकिक पुरुषके लक्षण प्रकट होने लगे। वे श्रीकृष्णकी बाल-लीलाका अनुकरण करते-करते उन्मत्त हो जाया करते थे। वे बाल्यावस्थासे ही संसारके प्रपञ्चोंके प्रति उदासीन रहने लगे।

एक बार उनके घरपर एक संन्यासी आये। निताईके स्वभाव और उनकी प्रतिभापर आकृष्ट होकर उन्होंने उनको अपने साथ ले लिया, निताई इस घटनाके बाद फिर कभी घर नहीं लौटे। निताईने तीर्थाटन आरम्भ किया। अयोध्या, हस्तिनापुर होते हुए वे व्रज पहुँचे। इस तीर्थयात्रामें उनकी श्रीमाधवेन्द्रपुरीसे भेंट हुई। दोनों प्रेमविह्वल होकर एक-दूसरेसे मिले। तदनन्तर निताई वृन्दावनमें एक पागलकी तरह भगवान् श्रीकृष्णके अन्वेषणमें घूमने लगे। बिना माँगे कोई कुछ दे देता तो खा लेते, नहीं तो भूखे ही रह जाते। महात्मा ईश्वरपुरीने उनसे एक बार कहा—'ठाकुर! यहाँ क्या देखते हो, तुम्हारे श्रीकृष्ण तो नवद्वीपमें शचीके घर पैदा हो गये हैं।' निताई नवद्वीपके लिये चल पड़े। नित्यानन्द नवद्वीप पहुँचकर नन्दन आचार्यके घर ठहर गये। निमाई पण्डित (श्रीचैतन्य)-ने अपने शिष्योंसहित निताईके दर्शन किये। उनके कानोंमें कुण्डल थे, शरीरपर पीताम्बर लहरा रहा था। उनकी भुजाएँ घुटनोंतक लंबी थीं, उनकी कान्ति

अत्यन्त दिव्य थी। निमाई अपने-आपको अधिक समयतक सँभाल न सके। श्रीगौरचन्द्रने उनकी चरण-वन्दना की। नित्यानन्दने उनको अपने प्रेमालिङ्गनमें आबद्ध कर लिया। दोनोंने अद्भुत कम्प, अश्रुपात, गर्जन और हुंकारसे सारे वातावरणको प्रभावित कर दिया। चैतन्यने कहा—'बंगालमें भक्ति-भागीरथीके प्रवाहित होनेका समय आ गया है।' निताई और निमाईकी अलौकिक छविने नवद्वीपको मनोमुग्ध कर लिया।

शची माता निताईको अपने बड़े लड़केके समान मानती थीं। उनके जीवनकी अनेक अलौकिक घटनाएँ हैं। एक बार वे गौरके घर अवधूतवेषमें पहुँच गये। गौर विष्णुप्रियासे बात कर रहे थे। विष्णुप्रिया लज्जासे घरमें छिप गयीं। निताईके नयनोंसे अश्रु बह रहे थे, मधुर हरिनामका रसनासे उच्चारण हो रहा था। वे बाह्यज्ञानशून्य थे। गौरने माला पहनाकर उनका चरणामृत लिया। निताई चैतन्यके आदेशसे नवद्वीप और उनके आस-पासके स्थानोंमें हरिनामका प्रचार करने लगे। जगाई-मधाई-सरीखे पातकियोंके उद्धारमें उन्होंने महान् योग दिया। निताईने दोनों भाइयोंसे श्रीकृष्णनामोच्चारण करनेके लिये कहा। वे मदिरोन्मत्त थे। मधाईने निताईके सिरपर फूटा घड़ा फेंका, उनका शरीर रक्तसे सराबोर हो उठा। जगाईने मधाईको फटकारा, चैतन्यने जगाईको गले लगाया। इसपर मधाईको बड़ा पश्चात्ताप हुआ, उसने निताईसे क्षमा माँगी, चरण-स्पर्श किया; उसका उद्धार हो गया।

नवद्वीपसे वे पुरी आये। फिर चैतन्यके आदेशसे गौड़देशमें हरिनामका प्रचार करनेके लिये चल पड़े। गौराङ्गके कहनेपर उन्होंने पुनः विवाहित जीवनमें प्रवेश किया। अम्बिकानगरके सूर्यदासकी कन्या वसुधा और जाह्नवीका उन्होंनें पाणिग्रहण किया। वे खड़दहमें भगवती भागीरथीके तटपर निवास करने लगे। उनके वीरचन्द्र नामका एक पुत्र भी हुआ। एक दिन भगवान् श्यामसुन्दरके मन्दिरमें हरिका नाम लेते-लेते वे सदाके लिये अचेत हो गये। भगवान्ने भक्तको अपना लिया।

गोस्वामी श्रीहितहरिवंशचन्द्रजी

रसिकभक्तशिरोमणि गोस्वामी श्रीहितहरिवंशचन्द्र महाप्रभुजीका जन्म मथुराके निकट बादग्राममें वि० संवत् १५५९ वैशाख शुक्ला एकादशीको हुआ था। इनके पिताका नाम श्रीव्यासमिश्रजी और माताका श्रीतारादेवी था। व्यासमिश्रजी नौ भाई थे, जिनमें सबसे बड़े श्रीकेशवदासजी तो संन्यास ग्रहण कर चुके थे। उनके संन्यासाश्रमका नाम श्रीनृसिंहाश्रमजी था। शेष आठ भाइयोंके केवल यही एक व्यास-कुलदीपक थे, इसलिये ये सभीको प्राणोंसे बढ़कर प्रिय थे और इसीसे इनका लालन-पालन भी बड़े लाड़-चावसे हुआ था। ये बड़े ही सुन्दर थे और शिशुकालमें ही 'राधा' नामके बड़े प्रेमी थे। 'राधा' सुनते ही ये बड़े जोरसे किलकारी मारकर हँसने लगते थे। कहते हैं कि छः महीनेकी अवस्थामें ही इन्होंने पलनेपर पौढ़े हुए 'श्रीराधासुधानिधि' स्तवका गान किया था, जिसे आपके ताऊ स्वामी श्रीनृसिंहाश्रमजीने लिपिबद्ध कर लिया था।

वस्तुतः 'राधासुधानिधि' भक्तिपूर्ण शृङ्गाररसका एक अतुलनीय ग्रन्थ है। बड़ी ही मनोहर भावपूर्ण कविता है। इसमें आचार्यने अपनी परमाराध्या वृषभानुकुमारी श्रीराधाजीके विशुद्ध प्रेमका बड़ी ही ललित भाषामें चित्रण किया है। इसमें आरम्भसे अन्ततक केवल विशुद्ध प्रेमकी ही झाँकी है।

इनके बालपनकी कुछ बातें बड़ी ही विलक्षण हैं, जिनसे इनकी महत्ताका कुछ अनुमान होता है। एक दिन ये अपने कुछ साथी बालसखाओंके साथ बगीचेमें खेल रहे थे। वहाँ इन्होंने दो गौर-श्याम बालकोंको श्रीराधा-मोहनके रूपमें सुसज्जित किया। फिर कुछ देर बाद दोनोंके शृङ्गार बदलकर श्रीराधाको श्रीमोहन और श्रीमोहनको श्रीराधाके रूपमें परिणत कर दिया और इस प्रकार वेश-भूषा बदलनेका खेल खेलने लगे।

प्रातःकालका समय था। इनके पिता श्रीव्यासजी अपने सेव्य श्रीराधाकान्तजीका शृङ्गार करके मुग्ध होकर

युगल-छविके दर्शन कर रहे थे। उसी समय आकस्मिक परिवर्तन देखकर वे चौंक पड़े। उन्होंने श्रीविग्रहोंमें श्रीराधाके रूपमें श्रीकृष्णको और श्रीकृष्णके रूपमें राधाजीको देखा। सोचा, वृद्धावस्थाके कारण स्मृति नष्ट हो जानेसे शृङ्गार धरानेमें भूल हो गयी है। क्षमा-याचना करके उन्होंने शृङ्गारको सुधारा। परंतु तुरंत ही अपने-आप वह शृङ्गार भी बदलने लगा। तब घबराकर व्यासजी बाहर निकले। सहसा उनकी दृष्टि बागकी ओर गयी, देखा—हरिवंश अपने सखाओंके साथ खेल-खेलमें वही स्वरूप-परिवर्तन कर रहा है। उन्होंने सोचा इसकी सच्ची भावनाका ही यह फल है। निश्चय ही यह कोई असाधारण महापुरुष है।

एक बार श्रीव्यासजीने अपने सेव्य श्रीठाकुरजीके सामने लड्डूका भोग रखा; इतनेमें ही देखते हैं कि लड्डुओंके साथ फल-दलोंसे भरे बहुत-से दोने थालमें रखे हैं। इन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उस दिनकी बात याद आ गयी। पूजनके बाद इन्होंने बाहर जाकर देखा तो पता लगा कि हरिवंशजीने बगीचेमें दो वृक्षोंको नीले-पीले पुष्पोंकी मालाओंसे सजाकर युगल-किशोरकी भावनासे उनके सामने फल-दलका भोग रखा है। इस घटनाका भी व्यासजीपर बड़ा प्रभाव पड़ा।

एक बार श्रीहरिवंशजी खेल-ही-खेलमें बगीचेके पुराने सूखे कुएँमें सहसा कूद पड़े। इससे श्रीव्यासजी, माता तारादेवी और कुटुम्बके लोगोंको तो अपार दुःख हुआ ही, सारे नगरनिवासी व्याकुल हो उठे। व्यासजी तो शोकाकुल होकर कुएँमें कूदनेको तैयार हो गये। लोगोंने जबरदस्ती उन्हें पकड़कर रखा।

कुछ ही क्षणोंके पश्चात् लोगोंने देखा, कुएँमें एक दिव्य प्रकाश फैल गया है और श्रीहरिवंशजी श्रीश्यामसुन्दरके मञ्जुल श्रीविग्रहको अपने नन्हें-नन्हें कोमल कर-कमलोंसे सम्हाले हुए अपने-आप कुएँसे ऊपर उठते चले आ रहे हैं। इस प्रकार आप ऊपर पहुँच गये और पहुँचनेके साथ ही कुआँ निर्मल जलसे भर गया। माता-पिता तथा अन्य सब लोग आनन्द-सागरमें डुबकियाँ लगाने लगे। श्रीहरिवंशजी जिन भगवान् श्यामसुन्दरके मधुर मनोहर श्रीविग्रहको लेकर ऊपर आये थे, उस श्रीविग्रहकी शोभाश्री अतुलनीय थी। उसके एक-एक अङ्गसे मानो सौन्दर्य-माधुर्यका निर्झर बह रहा था। सब लोग उसका दर्शन करके निहाल हो गये। तदनन्तर श्रीठाकुरजीको राजमहलमें लाया गया और बड़े समारोहसे उनकी प्रतिष्ठा की गयी। श्रीहरिवंशजीने उनका परम रसमय नामकरण किया—श्रीनवरङ्गीलालजी। अब श्रीहरिवंशजी निरन्तर अपने श्रीनवरङ्गीलालजीकी पूजा-सेवामें निमग्न रहने लगे। इस समय इनकी अवस्था पाँच वर्षकी थी।

इसके कुछ ही दिनों बाद इनकी अतुलनीय प्रेममयी सेवासे विमुग्ध होकर साक्षात् रासेश्वरी नित्य-निकुञ्जेश्वरी वृषभानुनन्दिनी श्रीराधिकाजीने इन्हें दर्शन दिये, अपनी रस-भावनापूर्ण सेवा-पद्धतिका उपदेश किया और मन्त्रदान करके इन्हें शिष्यरूपमें स्वीकार किया। इसका वर्णन करते हुए गो० श्रीजतनलालजी लिखते हैं—

करत भजन इक दिवस लाड़िली छबि मन अटक्यौ।
रूपसिंधु के माँझ पर्‌यौ कहुँ जात न भटक्यौ॥
बिबस होइ तब गए भए तनु प्यारी हरिकैं।
झुके अवनि पर सिथिल होइ अति सुख में भरिकैं॥
कृपा करी श्रीराधिका प्रगट होइ दरसन दियौ।
अपने हित कौं जानिकैं हित सौं मन्त्र सु कहि दियौ॥

आठ वर्षकी अवस्थामें उपनयनसंस्कार हुआ। सोलह वर्षकी अवस्थामें श्रीरुक्मिणीदेवीसे आपका विवाह हो गया। पिता-माताके गोलोकवासी हो जानेके बाद आप सब कुछ त्यागकर श्रीवृन्दावनके लिये विदा हो गये। श्रीनवरङ्गीलालजीकी सेवा भी अपने पुत्रोंको सौंप दी, जो इस समयतक आपके तृतीय पुत्र श्रीगोपीनाथ प्रभुके वंशजोंके द्वारा देववनमें हो रही है।

देववनसे आप चिड़यावल आये। यहाँ आत्मदेव नामक एक भक्त ब्राह्मणके घर ठाकुरजी श्रीराधावल्लभजी विराजमान थे। आत्मदेवजीको स्वप्नादेश हुआ और उसीके अनुसार श्रीराधावल्लभजी महाराजको श्रीहरिवंशजी वृन्दावन ले आये। वृन्दावनमें मदन-टेर नामक स्थानमें श्रीराधावल्लभजीने प्रथम निवास किया। इसके पश्चात् इन्होंने भ्रमण करके श्रीवृन्दावनके दर्शन किये और प्राचीन एवं गुप्त सेवाकुञ्ज, रासमण्डल, वंशीवट एवं मानसरोवर नामक चार पुण्यस्थलोंको प्रकट किया।

तदनन्तर आप सेवाकुञ्जके समीप ही कुटियोंमें रहने लगे तथा श्रीराधावल्लभजीका प्रथम प्रतिष्ठा-उत्सव इसी स्थानपर हुआ।

स्वामी श्रीहरिदासजीसे आपका अभिन्न प्रेमका सम्बन्ध था। और ओरछेके राजपुरोहित और गुरु प्रसिद्ध भक्त श्रीहरिरामजी व्यासने भी आकर श्रीहिताचार्य प्रभुजीसे ही दीक्षा ग्रहण की थी। 'श्रीवृन्दावन-महिमामृतम्'के निर्माता महाप्रभु श्रीचैतन्यके भक्त प्रसिद्ध स्वामी श्रीप्रबोधानन्दजीकी भी आपके प्रति बड़ी निष्ठा और प्रीति थी।

श्रीभगवान्‌की सेवामें किस प्रकार अपनेको लगाये रखना चाहिये और कैसे अपने हाथों सारी सेवा करनी चाहिये, इसकी शिक्षा श्रीहितहरिवंश प्रभुजीके जीवनकी एक घटनासे बहुत सुन्दर मिलती है। श्रीहितहरिवंशजी एक दिन मानसरोवरपर अपने कोमल करकमलोंसे सूखी लकड़ियाँ तोड़ रहे थे। इसी समय आपके प्रिय शिष्य दीवान श्रीनाहरमलजी दर्शनार्थ वहाँ आ पहुँचे। नाहरमलजीने प्रभुको लकड़ियाँ तोड़ते देख दुःखी होकर कहा—'प्रभो! आप स्वयं लकड़ी तोड़नेका इतना बड़ा कष्ट क्यों उठा रहे हैं, यह काम तो किसी कहारसे भी कराया जा सकता है। ·····यदि ऐसा ही है तो फिर हम सेवकोंका तो जीवन ही व्यर्थ है।'

नाहरमलके आन्तरिक प्रेमसे तो प्रभुका मन प्रसन्न था, परंतु सेवाकी महत्ता बतलानेके लिये उन्होंने कठोर स्वरमें कहा—'नाहरमल! तुम-जैसे राजसी पुरुषोंको धनका बड़ा मद रहता है, तभी तो तुम श्रीठाकुरजीकी सेवा कहारोंके द्वारा करवानेकी बात कहते हो। तुम्हारी इस भेद-बुद्धिसे मुझे बड़ा कष्ट हुआ है।' कहते हैं कि श्रीहितहरिवंशप्रभुजीने उनको अपने पास आनेतकसे रोक दिया। आखिर जब नाहरमलजीने दुःखी होकर अनशन किया—पूरे तीन दिन बीत गये, तब वे कृपा करके नाहरमलजीके पास गये और प्रेमपूर्ण शब्दोंमें बोले—'भैया! प्रभुसेवाका स्वरूप बड़ा विलक्षण है। प्रभुसेवामें हेयोपादेय बुद्धि करनेसे जीवका अकल्याण हो जाता है। प्रभुसेवा ही जीवका एकमात्र धर्म है। ऐसा विरोधी भाव मनमें नहीं लाना चाहिये। मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। तुम अन्न-जल ग्रहण करो।' यों कहकर उन्होंने स्वयं अपने हाथोंसे प्रसाद दिया और भरपेट भोजन कराया।

श्रीहितहरिवंशजीकी रसभजनपद्धतिके सम्बन्धमें श्रीनाभाजी महाराजने कहा है—

श्रीराधा चरन प्रधान हृदय अति सुदृढ़ उपासी।
कुंज केलि दंपती, तहाँ की करत खवासी॥
सर्बसु महाप्रसाद प्रसिध ताके अधिकारी।
बिधि-निषेध नहिं दासि अनन्य उत्कट ब्रतधारी॥
श्रीब्यास-सुवन पथ अनुसरै सोइ भलैं पहिचानिहैं।
हरिबंस गुसाँई भजन की रीति सकृत कोउ जानिहैं॥

स्वकीया-परकीया, विरह-मिलन एवं स्व-पर-भेदरहित नित्यविहार-रस ही श्रीहितहरिवंशजीका इष्ट तत्त्व है। इन्होंने 'श्रीराधासुधानिधि' नामक अनुपम ग्रन्थका निर्माण तो किया ही। इनकी व्रजभाषामें भी बहुत-सी रचनाएँ मिलती हैं, जो 'हितचौरासी' और 'स्फुट वाणी' के नामसे प्रसिद्ध हैं। इन्होंने कहा है—

सब सौं हित निषकाम मत बृंदाबन बिश्राम।
(श्री) राधावल्लभलालको हृदय ध्यान, मुख नाम॥
तनहि राखु सतसंग में मनहि प्रेम रस भेव।
सुख चाहत हरिबंस हित कृष्ण कलपतरु सेव॥

श्रीहितहरिवंश प्रभुजीका वैराग्य बड़ा विलक्षण था। अर्थ-कामकी तो बात ही दूर, यहाँ तो धर्म और मोक्षमें भी राग नहीं था। इनकी निष्ठाके कुछ नमूने देखिये—

कदा नु वृन्दावनकुञ्जवीथी-
ष्वहं नु राधे ह्यतिथिर्भवेयम्।

'श्रीराधे! क्या मैं कभी वृन्दावनकी कुञ्जवीथियोंमें अतिथि होऊँगी।'

'कदा रसाम्बुधिसमुन्नतं वदनचन्द्रमीक्षे तव!'

'मैं कब तुम्हारे समुन्नत रससमुद्ररूप मुखचन्द्रको देखूँगी?'

कर्हि स्यां श्रुतिशेखरोपरि चरन्नाश्चर्यचर्यां चरन्।

'श्रीराधे! मैं कब तुम्हारी श्रुतिशेखर—उपनिषदुपरि परिचर्या—आश्चर्यमयी परिचर्याका आचरण करूँगी?'

इस परिचर्याके सामने आपके मतसे—

'वृथा श्रुतिकथाश्रमो बत बिभेमि कैवल्यतः'

'श्रुति-कथा व्यर्थ है और कैवल्य तो भयप्रद है।' ये कहते हैं—

'धर्माद्यर्थचतुष्टयं विजयतां किं तद् वृथावार्तया।'

'ये धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष किसीके लिये आदरणीय होंगे। मेरे लिये इनकी व्यर्थ चर्चासे क्या लाभ है?'

मैं तो बस—

यत्र यत्र मम जन्मकर्मभिर्नारकेऽथ परमे पदेऽथ वा।
राधिकारतिनिकुञ्जमण्डली तत्र तत्र हृदि मे विराजताम्॥

'मैं अपने जन्मकर्मानुसार नरक अथवा परम पद कहीं भी जाऊँ, सर्वत्र मेरे हृदयमें श्रीराधिकारतिनिकुञ्जमण्डली ही सर्वदा विराजित रहे।'

अड़तालीस वर्षोंतक इस धराधामको पावन करनेके पश्चात् सं० १६०९ वि० की शारदीय पूर्णिमाके दिन आपने निकुञ्जलीलामें प्रवेश किया।

स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजी

(लेखक—श्रीअर्जुनप्रसादजी शुक्ल, एम्० ए०)

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

श्रीरामायत या श्रीरामानन्दी वैष्णव-सम्प्रदायके प्रवर्तक आचार्य श्रीरामानन्दजी एक उच्चकोटिके आध्यात्मिक महापुरुष थे। आचार्य रामानन्दजीका कान्यकुब्ज ब्राह्मणकुलमें माघ कृष्ण सप्तमी, भृगुवार, संवत् १३२४ को प्रयागमें त्रिवेणीतटपर जन्म हुआ था। पिताका नाम पुण्यसदन था और माताका श्रीमती सुशीला। कुलपुरोहित श्रीवाराणसी अवस्थीने शिशुके माता-पिताको यह उपदेश दिया था कि 'तीन वर्षतक बालकको घरसे बाहर न निकालना। उसकी प्रत्येक रुचिका पालन करना। उसको दूध ही पान कराना और कभी दर्पण न दिखाना।'

चौथे वर्षमें अन्नप्राशन संस्कार हुआ। बालकके सामने सब प्रकारके व्यञ्जन रखे गये, पर बालकने खीर ही खायी। और इसके उपरान्त खीर ही उसका एकमात्र आहार बन गया। कुछ समय पश्चात् कर्णवेध संस्कार हुआ। इनके पिता वेद, व्याकरण तथा योग आदिके पूर्ण ज्ञाता थे। एक समय जब उन्होंने रामायणपाठका अनुष्ठान आरम्भ किया, तब देखा कि जो कुछ वे पाठ करते जाते थे, पास बैठे हुए बालकको वह समग्र कण्ठस्थ होता जाता था। बालककी श्रवणशक्ति तथा धारणाशक्ति पूर्णरूपसे विकसित थी। बालकके कण्ठस्थ पाठका सस्वरगान विद्वत्समाजको आश्चर्यचकित कर देता था। इस प्रकार इस बालकको आठ वर्षकी अवस्थामें ही कई ग्रन्थ कण्ठस्थ हो गये। एक दिन बालक खेलता हुआ आया और अपने पिताका शङ्ख लेकर बजाने लगा। पिताने वह शङ्ख उसीको दे दिया।

आठवें वर्ष उपनयन-संस्कार किया गया। उपनीत ब्रह्मचारी जब पलाशदण्ड धारणकर काशी विद्याध्ययन करने चला, तब आचार्य एवं सम्बन्धियोंके आग्रह करनेपर भी नहीं लौटा। विवश हो माता-पिता भी साथ हो लिये और बालक अपने माताके साथ ओंकारेश्वरके यहाँ काशीमें ठहरकर विद्याध्ययन करता रहा। बारह वर्षकी अवस्थातक बालक ब्रह्मचारीने समस्त शास्त्रोंका अध्ययन समाप्त कर लिया।

विवाहकी चर्चा चली। बालकने इन्कार कर दिया। इसके पश्चात् स्वामी राघवानन्दजीसे दीक्षा लेकर पञ्चगङ्गा घाटपर जाकर एक घाटवालेकी झोपड़ीमें ठहरकर तप करना आरम्भ कर दिया। लोगोंने ऊँचे स्थानपर एक कुटी बनाकर तपस्वी बालकसे उसमें रहनेकी विनय की। उनकी विनय सुनकर वे उस कुटियामें आ गये और उसीमें ज्ञानार्जन और तपस्या करते रहे। उनके अलौकिक प्रभावके कारण उनकी बड़ी ख्याति हुई। दिन-प्रतिदिन जैसे-जैसे उनकी प्रसिद्धि दूर-दूर स्थानोंमें फैलती गयी, बड़े-बड़े साधु और विद्वान् आपके दर्शनार्थ आश्रममें आने लगे।

उनके शङ्खकी ध्वनि सुनकर लोग सफलमनोरथ हो जाते थे। मानो उस ध्वनिमें सञ्जीवनी शक्ति थी। धीरे-

धीरे वहाँ बड़ी भीड़ एकत्रित होने लगी। इससे भजनमें विघ्न होने लगा। अतएव स्वामीजीने शङ्ख बजाना बंद कर दिया। फिर लोगोंकी प्रार्थनापर स्वामीजीने केवल प्रातःकाल शङ्ख बजाना लोककल्याणके लिये स्वीकार किया। इसके पूर्व वे नियमपूर्वक चार बार शङ्ख बजाया करते थे।

इनके पास मुसलमान, जैन, बौद्ध, वेदान्ती, शास्त्रज्ञ, शैव और शाक्त—सभी मतवादी अपनी-अपनी शङ्काएँ लेकर निवारण करनेके लिये आते थे और समुचित उत्तर पाकर शान्तचित्तसे वापस जाते थे।

कहते हैं किसी शुभ पर्वपर काशीमें विभिन्न प्रान्तोंसे श्रद्धावान् पुरुष एकत्रित हुए थे। उन लोगोंने आश्रमपर जाकर मुसलमानोंके अत्याचारोंकी शिकायत की। तैमूरलंगद्वारा नरहत्या और लखनवतीका उपद्रव—ये सब अत्याचार धर्मके नामपर होते थे। उन लोगोंने कहा कि 'इन उपद्रवकारियोंको उचित शिक्षा देनी चाहिये। हम आपकी शरणमें आये हैं। हमपर कृपा कीजिये और दुष्टोंको दण्ड दीजिये।' स्वामीजीने कहा, 'धैर्य धारण करनेसे ही विपत्तिके बादल हटते हैं।'

इसके पश्चात् स्वामीजीकी तपस्याके प्रभावसे अज़ानके समय मुल्लाओंके कण्ठ अवरुद्ध होने लगे। यह देखकर सभी मुसलमानोंकी बुद्धि चक्करमें पड़ गयी। राजा, रंक मौलवी-मुल्ला सब-के-सब इस बातसे परेशान हो गये कि सब मुल्लाओंकी जबानपर उसी समय क्यों लकवा मार जाता है जब वे अज़ान देनेको चलते हैं। इबन्नूर तथा मीर तक़ीने यह निश्चय किया कि यह किसी सिद्ध महापुरुषकी करामात है। वे लोग और उनके साथ कुछ मुसलमान विद्वान् काशी आये और कबीरजीको अपने साथ लेकर स्वामी रामानन्दजीके आश्रमपर पहुँचे। [कहते हैं कि स्वामीजीने इसी समय शङ्ख बजा दिया, जिसके सुनते ही सब मुसलमान मौलवी-मुल्ला बेहोश होकर जमीनपर गिर पड़े। उस दशामें उन लोगोंने मुहम्मद साहबको देखा, जिन्होंने स्वामीजीकी आज्ञापर चलनेका आदेश दिया।] उनकी विनय सुनकर स्वामीजीने सबको सम्बोधित करके कहा—'भगवान् केवल मुसलमानोंका ही नहीं है, सम्पूर्ण संसारका है। ईश्वर एक है, जो सब स्थानोंपर सब हृदयोंमें वास करता है। भाइयो! जब उत्पत्ति, पालन और संहार करनेवाला एक परमात्मा है और उसी एकको सब अनेक नामोंसे स्मरण करते हैं, तब केवल पूजाके विधानमें भेद होनेसे दूसरोंपर (१) जज़िया कर लगाना बड़ा ही अनुचित कार्य है। यह बंद कर दिया जाय। (२) जैसे भोजन-वस्त्र शरीर धारण करनेके हेतु आवश्यक है, उसी प्रकार उपासना करनेका स्थान भी है। इसीलिये हिंदुओंके द्वारा मन्दिर बनवानेमें जो प्रतिबन्ध लगाया जाता है, उसे दूर कर देना चाहिये। (३) किसीको बलपूर्वक धर्मभ्रष्ट कर देना बड़ा ही निन्दनीय कार्य है। यह न हो। (४) मस्जिदके सामने जाते हुए दूल्हेको पालकीसे उतारकर पैदल चलनेको विवश न किया जाय; क्योंकि यह प्राचीन धर्म-नीतिके विरुद्ध है। (५) गोहत्या बंद कर देनी चाहिये। (६) राम-नामके प्रचारमें रुकावट नहीं डालनी चाहिये। (७) धर्मग्रन्थोंको अग्निसे नहीं जलाना चाहिये और न किसीके हृदयको ही दुखाना चाहिये। (८) पहलेसे बने हुए हिंदुओंके मन्दिरोंको विध्वंस न किया जाय। (९) बलपूर्वक किसीको मुसलमान न बनाया जाय और न मुहर्रममें पर्व-त्यौहार आदिके मनानेमें कोई प्रतिबन्ध लगाया जाय। (१०) किसी स्त्रीका सतीत्व कभी नष्ट न किया जाय और न शङ्ख बजानेका ही निषेध किया जाय। (११) कुम्भ आदि पर्वोंपर यात्रियोंसे कर न लिया जाय। (१२) यदि कोई हिन्दू श्रद्धापूर्वक किसी फकीरके पास जाय तो उसको उसीके धर्मानुसार उपदेश दिया जाय। अगर इन बारह प्रतिज्ञाओंमेंसे किसीका भी उल्लङ्घन किया जायगा तो राज्य भ्रष्ट हो जायगा।'

बुजुर्ग तथा विचारवान् मुल्लाओं एवं पीरोंने काशीमें अज़ान बंद होनेकी और स्वामी रामानन्दकी बारह शर्तोंकी बात बादशाह गयासुद्दीन तुगलकको लिखी। बादशाहने भलीभाँति जाँच-पड़ताल करवायी। जब बादशाहको इसकी सचाई मालूम हुई, तब उसने शाही फरमान लिखवाकर उसपर अपने हस्ताक्षर करके शाही मुहर लगवा दी। इसके पश्चात् काशीमें डुग्गी पीटी गयी कि आजसे राज्यमें इन सब बातोंसे प्रतिबन्ध हटा लिया गया। ऐसी व्यवस्था हो जानेपर अज़ान-नमाजका कार्य तुरंत पूर्ववत् चलने लगा।

इसी प्रकार एक दूसरे प्रसङ्गमें अयोध्यासे श्रीगजसिंहदेव स्वामीजीके आश्रमपर आये और निवेदन किया कि 'महाराज, मैं अयोध्यापति हरिसिंहदेवका भतीजा हूँ और सूर्यवंशी हूँ। मेरे चचा वैशाख शुक्ल दशमी सोमवार संवत् १३८१ को जूनाखाँ तुग़लकके भयसे तराईमें भगवद्-भजनके बहाने भाग गये थे। तबसे अयोध्याके सिंहासनपर कोई नहीं बैठा। छलपूर्वक खड़े किये हुए शिविरमें अपने पितासे मिलते समय तम्बू गिराकर पिताका घातक जूनाखाँ बीसों हजार प्राणियोंको धर्मभ्रष्ट कर चुका है। तबसे आजतक पचास वर्षके भीतर धर्मभ्रष्टोंकी संख्या बढ़ती ही गयी है। मैं भी म्लेच्छ-स्पर्शसे भ्रष्ट हो गया हूँ। प्रायश्चित्तके लिये पण्डितोंके पास गया, किंतु कोई काम नहीं हुआ। दयानिधान! आप ही हम सबोंका उद्धार कीजिये।' इसके पश्चात् स्वामीजी शिष्यमण्डलीके साथ अयोध्या गये और सरयू-किनारे ले जाकर सबको शुद्ध कर दिया।

तीर्थयात्रा करनेके लिये स्वामीजी अपनी शिष्यमण्डली और साधुसमाजके साथ जगन्नाथजी, विजयनगर गये। यहाँपर विजयनगरके महाराज बुक्कारायने इनका बड़ा स्वागत किया। स्वामीजीकी पहुनाईमें कई बड़े-बड़े भण्डारे हुए, जिनमें साधु और ब्राह्मणोंने प्रसाद पाया। एक दिन स्वामीजीने महाराजको यह सुन्दर उपदेश दिया कि 'राजयोगमें भोगविलास अत्यन्त हानिकारक है। जहाँ राजा भोगविलासमें लिप्त हुआ कि वह राज्य और राजवंशसमेत नष्ट हो जाता है।' नौ दिनोंतक स्वामीजी अपनी मण्डलीके साथ विजयनगरमें ठहरे और फिर रामेश्वरम्को चले गये। काञ्ची, श्रीरङ्गम्, जनार्दन, द्वारका, मथुरा, वृन्दावन, मायापुरी, चित्रकूट, प्रयाग आदि अनेक तीर्थोंका पर्यटन करके काशीमें अपनी कुटीपर लौट आये।

स्वामी रामानन्दने जगत्का महान् कल्याण किया। उनका दिव्य तेज राजनीतिक क्षेत्रमें भी उसी प्रकार चमकता था जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्रमें। उस महाभयङ्कर कालमें आर्य-जाति और आर्य-धर्मके त्राणके साथ ही विश्वकल्याण एवं भगवद्धर्मके अभ्युत्थानके लिये जैसे शक्तिशाली और प्रभावशाली आचार्यकी आवश्यकता थी, स्वामी रामानन्दजी वैसे ही जगद्गुरु थे। देश-देशान्तरोंके संत एवं विद्वान् उनकी सेवामें उपस्थित होते थे और ज्ञानप्रकाश लेकर तथा सफलमनोरथ होकर ही जाते थे। भेद-भाव तो वहाँ था ही नहीं। सभी सम्प्रदायके अनुयायी महात्मा उनसे लाभ उठाते थे। उनका कथन था कि सब दिशाओंमें परमात्मा भरपूर है। कहींसे भी कोई उसे प्राप्त कर सकता है।

स्वामीजीने देशके लिये तीन मुख्य कार्य किये—(१) साम्प्रदायिक कलहको शान्त किया। (२) बादशाह गयासुद्दीन तुग़लककी हिंदू-संहारिणी सत्ताको पूर्णरूपसे दबा दिया और (३) हिंदुओंके आर्थिक संकटको भी दूर कर दिया।

संवत् १४५४ का समय (तैमूरलंगका आक्रमण) हिंदुओंके लिये अत्यन्त ही संकटपूर्ण था। निस्सन्देह उस भयङ्कर समयमें देश, धर्म और आर्य-जातिकी रक्षा करनेके लिये श्रीभगवान् रामानन्द-जैसे सर्वशक्तिशाली दिव्य महापुरुषकी ही आवश्यकता थी। वे आध्यात्मिक जगत्के सार्वभौम चक्रवर्ती थे। सब जगत् उनका था और वे सारे जगत्के थे। जगद्गुरु शब्द उनके सम्बन्धमें अक्षरशः सार्थक था।

मौलाना रशीदुद्दीन नामक एक फकीर काशीमें स्वामीजीके समकालीन हो गये हैं। उन्होंने 'तज़कीरतुल फुकरा' नामक एक पुस्तक लिखी है, जिसमें मुसलमान फकीरोंकी कथाएँ हैं। उसमें उन्होंने स्वामी रामानन्दका भी वर्णन किया है। वे लिखते हैं—'काशीमें पञ्चगङ्गाघाटपर एक प्रसिद्ध महात्मा निवास करते हैं। वे तेजःपुञ्ज एवं पूर्ण योगेश्वर हैं। वे वैष्णवोंके सर्वमान्य आचार्य हैं। सदाचारी एवं ब्रह्मनिष्ठस्वरूप हैं। परमात्मतत्त्व-रहस्यके पूर्ण ज्ञाता हैं। सच्चे भगवत्प्रेमियों एवं ब्रह्मविदोंके समाजमें उत्कृष्ट प्रभाव रखते हैं अर्थात् धर्माधिकारमें हिंदुओंके धर्म-कर्मके सम्राट् हैं। केवल ब्राह्मवेलामें अपनी पुनीत गुफासे गङ्गा-स्नानहेतु निकलते हैं। इस पवित्र आत्माको स्वामी रामानन्द कहते हैं। उनके शिष्योंकी संख्या ५०० से अधिक है। उस शिष्यसमूहमें द्वादश गुरुके विशेष कृपापात्र हैं—(१) अनन्तानन्द, (२) सुखानन्द, (३) सुरसुरानन्द, (४) नरहरियानन्द, (५) योगानन्द (ब्राह्मण), (६) पीपाजी (क्षत्रिय),

(७) कबीर (जुलाहा), (८) सेन (नाई), (९) धन्ना (जाट), (१०) रैदास (चमार), (११) पद्मावती, (१२) सुरसरि (स्त्रियाँ)। इन्होंने ब्राह्मणोंकी भाँति अन्य जातिके लोगोंको भी तारक-मन्त्रकी दीक्षा दी। उनके पाँच ब्राह्मण, पाँच तथाकथित निम्नवर्गके और दो स्त्री शिष्याएँ थीं। इसके अतिरिक्त उनके और भी अनेक चेले थे। भागवतोंके इस सम्प्रदायका नाम बैरागी है, जो लोक-परलोककी इच्छाओंका त्याग करता है। कहते हैं कि सम्प्रदायकी प्रवर्तिका जगज्जननी श्रीसीताजी हैं। उन्होंने पहले हनुमान्‌जीको उपदेश दिया था और फिर उनसे संसारमें इस रहस्यका प्रकाश हुआ। इस कारण इस सम्प्रदायका नाम 'श्रीसम्प्रदाय' है और इसके मुख्य मन्त्रको रामतारक कहते हैं। इस पवित्र मन्त्रकी गुरु शिष्यके कानमें दीक्षा देता है। ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक ललाटपर लगाते हैं। पूर्णतया भजनमें रहना ही इस सम्प्रदायकी रीति है। अधिकांश संत परमहंसी जीवन निर्वाह करते हैं।

कुछ समय पश्चात् स्वामीजीने अपनी शिष्यमण्डलीको सम्बोधित करके कहा कि 'सब शास्त्रोंका सार भगवत्स्मरण है, जो सच्चे संतोंका जीवनाधार है। कल श्रीरामनवमी है। मैं अयोध्याजी जाऊँगा। परंतु मैं अकेला जाऊँगा। सब लोग यहाँ रहकर उत्सव मनायें। कदाचित् मैं लौट न सकूँ, आपलोग मेरी त्रुटियों एवं अविनय आदिको क्षमा कीजियेगा।' यह सुनकर सबके नेत्र सजल हो गये। दूसरे दिन स्वामीजी संवत् १५१५ में अपनी कुटीमें अन्तर्धान हो गये।

[यह लेख 'कल्याण' के संत-अङ्क और 'प्रसंग-पारिजात' नामक पुस्तककी सहायतासे लिखा गया है, जिसको श्रीचैतन्यदासजीने १५१७ विक्रम-संवत्‌में पिशाची भाषामें लिखा था। उसका अनुवाद हिंदीमें गोरखपुरके एक मौनी बाबाने, जिनका मौनव्रत समाप्त हो चुका था, स्थानीय स्कूलके एक विद्यार्थीके द्वारा थोड़ा-थोड़ा करके मूल प्रसङ्गपारिजातसहित गत शताब्दीके चतुर्थ चरणमें लिखवाया था।]

प्रभुचरणरसिक हरिरायजी

श्रीमहाप्रभु हरिरायजीका जन्म सं० १६४७ वि० में भाद्रपद कृष्ण पञ्चमीको हुआ था। ये गोसाईं श्रीविट्ठलनाथजी महाराजके द्वितीय पुत्र गोविन्दरायजीके पौत्र और कल्याणरायजीके पुत्र थे। कल्याणरायजी परमभागवत थे। श्रीवल्लभकुलके ईश्वरीय ऐश्वर्य तथा श्रीकल्याणरायजीके वात्सल्य और प्रतिभाने हरिरायजीके हृदयकी जन्मसिद्ध श्रीकृष्णभक्तिको बाल्यावस्थामें ही पूर्ण प्रस्फुटित कर दिया। पिताकी ही तरह श्रीगोसाईं विट्ठलनाथ और आचार्यप्रवर श्रीगोकुलनाथजीमें उनकी दृढ़ भक्ति थी। हरिरायजीके नयन सदा भक्तिरससे झरते रहते थे। श्रीगोकुलनाथजीके सन्निधानमें उनका ब्रह्मसम्बन्ध सम्पन्न हुआ था। वे पुष्टि-मार्गके महान् पोषक ही नहीं, विभूति भी थे। आचार्यचरणोंके ग्रन्थ-अवलोकनमें ही उनका अधिकांश समय बीतता था। उनका आरम्भिक जीवन गोकुलमें ही व्यतीत हुआ। श्रीनाथजीके मेवाड़ पधारनेपर उन्होंने श्रीनाथद्वारामें ही अपना स्थायी निवास स्थिर किया।

पुष्टि-साहित्यके विकासमें श्रीहरिरायजीने बड़ा योग दिया। उनका सबसे बड़ा कार्य वार्ता-साहित्यका संकलन था। वे श्रीगोकुलनाथजीके वचनोंके प्रचारक और सम्पादक थे। उन्होंने चौरासी और दो सौ बावन वैष्णवोंकी वार्ताको स्पष्ट करनेके लिये 'भावप्रकाश' टिप्पण लिखा। वे संस्कृत, गुजराती और व्रजभाषा-साहित्यके प्रकाण्ड विद्वान् और मर्मज्ञ थे। उन्होंने 'निरूपण, निश्चय, निराकरण, रहस्य, तात्पर्य, विवेक, विवेचन, विवृत्ति, लक्षणसम्बन्धी पुष्टि-ग्रन्थोंकी रचना की। उनकी अष्टपदीमें श्रीवल्लभ, श्रीकृष्ण और श्रीराधारानीके प्रति दृढ़ भक्तिका परिचय मिलता है।

हरिरायजीकी भक्ति विरहमूलक थी, वे रात-दिन

प्रोषितपतिकाकी तरह भगवान् श्रीकृष्णकी राह देखा करते थे। वे उच्चकोटिके आचार्य तो थे ही, रसिक भक्त और महान् कवि भी थे। उन्हें 'महाप्रभु और प्रभुचरण'की उपाधिसे समलङ्कृत करनेमें पुष्टि-जगत्ने अपना सौभाग्य माना। 'श्रीभागवतसप्ताह'में उनकी अखण्ड और पूर्ण आस्था थी। भगवान्के प्रति सदा दैन्यभाव रखते थे। उन्होंने एक दीन-हीनकी तरह श्रीकृष्णकी कृपा-याचनाको ही अपना जीवन-साफल्य समझा। वे कहा करते थे कि मैं भगवान् श्रीहरिका दास हूँ, प्रभुका सेवक हूँ। अलौकिक शृङ्गाररसात्मक ब्रह्मके विरहभावकी श्रेष्ठता उन्होंने स्थान-स्थानपर अपनी कृतियोंमें स्वीकार की है। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'शिक्षापत्र'में दैन्यभावका उत्तमोत्तम वर्णन किया है। रात-दिन श्रीनाथजीके रसमय दर्शनके लिये तड़पते रहना ही उनके जीवनका महान् उद्देश्य था।

उन्होंने देशमें कई बार यात्रा करके पुष्टिमार्गका व्यापक प्रचार किया था। श्रीनाथजीके विरहको एक क्षणके लिये भी वे नहीं सह सकते थे, उनके मेवाड़ पधारनेपर उन्होंने गोकुल छोड़ दिया। सुबोधिनीमें वर्णित रहस्यरूप गोपीभावसे वे सदा भावित रहते थे। उनपर श्रीनाथजीकी बड़ी कृपा रहती थी। रँगीले ठाकुर ठहरे! जिसपर रीझ जायँ, उसीका कल्याण हो जाय। उन्हींके प्रसादसे हरिरायजी 'रसिकराज'की संज्ञासे विभूषित हुए। हरिरायजीके जीवनमें कई अलौकिक और चमत्कारपूर्ण घटनाएँ भी घटित हुई थीं। एक बार सूरतके श्रीपुरुषोत्तमजी अपनी दक्षिणयात्रासे श्रीनाथजीके लिये मोजा लाये थे। उन्होंने दाऊजीसे मोजा शृङ्गार-झाँकीमें समर्पित करनेकी प्रार्थना की; यह निश्चय हुआ कि चार घंटेके बाद मोजा उतार लिया जायगा। पुरुषोत्तमजीकी हार्दिक इच्छा थी कि मोजा शृङ्गारमें रहे, उतारा न जाय। मुखियाको प्रसन्न करके उन्होंने मना लिया। इधर श्रीनाथजीने हरिरायजीको स्वप्नमें दर्शन देकर प्रेरणा की कि 'मोजा उतार लिया जाय।' वे तुरंत खीमनोरसे चल पड़े, दाऊजीसे चाभी लेकर उन्होंने श्रीनाथजीका पट खोलकर मोजे उतारे।

राजभोग-समर्पणके बाद शयनके समय श्रीनाथजीके पधारनेके लिये गद्दी बिछायी जाती थी। एक समय भूलसे गद्दी नहीं बिछायी जा सकी। श्रीनाथजीकी प्रेरणासे हरिरायजीने खीमनोरसे आकर गद्दी बिछायी; स्वप्नमें आदेश हुआ था, 'राजभोगके बाद खड़ा हूँ, गद्दी नहीं बिछायी गयी है, किस तरह चलूँ।'

श्रीहरिरायजी खीमनोरमें नियमपूर्वक प्रवचन किया करते थे। एक राजकुमारी भी आया करती थी। वह श्री और यौवनसे सर्वथा सम्पन्न थी। हरिरायजीके रूप-लावण्यसे उसके मनमें वासनाका उदय हुआ। उसने एकान्तमें उनका सत्सङ्ग लाभ करना चाहा, समस्त नारीमात्रको माताके रूपमें देखनेवाले हरिरायजीसे मिलते ही राजकुमारीकी कामवासनाका अन्त हो गया। श्रीनाथजीका हरिरायने ध्यान किया और दीनभावसे प्रभुकी कृपाका स्मरण किया। राजकुमारीको वे स्त्रीके रूपमें दीख पड़े। राजकुमारीने देखा कि उसके सामने साक्षात् यशोदाजी नन्दनन्दनको स्तन्य-पान करा रही हैं, उसका मनोविकार उसी क्षण नष्ट हो गया। उसने पवित्र हृदयसे महाप्रभु हरिरायकी चरण-धूलि मस्तकपर चढ़ाकर भक्तिका वरण किया।

एक सौ पचीस वर्षकी पूर्ण आयु भोगकर उन्होंने गोलोक प्राप्त किया। उनका लीलाप्रवेश सं० १७७२ वि० में हुआ था। आजीवन उन्होंने भक्तिरसामृतका पान किया। वे कहा करते थे कि यह संसार पूर्णरूपसे मिथ्या है, सच्चा सम्बन्ध तो श्रीकृष्णसे ही निबाहना चाहिये। सच्चे स्नेही तो श्रीनन्दकुमार ही हैं। उनके जीवनका उद्देश्य भगवान्की भक्ति प्रकट करना था। उनके स्वामी नन्दकुमार थे, स्वामिनी रासेश्वरी श्रीराधारानी थीं। उन्होंने कहा कि पुष्टि-जीवनका अन्तिम ध्येय भगवान् ही हैं। श्रीकृष्ण ही ब्रह्मतत्त्व हैं। हरिरायजी भगवान्के रसरूपके व्याख्याकार थे, परम रसिक थे।

भक्त सूरदासजी

सूरदासको किसी विशेषण या उपाधिसे समलंकृत करनेमें उनकी परमोत्कृष्ट भगवद्भक्ति, अत्यन्त विशिष्ट कवित्व-शक्ति और मौलिक अलौकिकताकी उपेक्षाकी आशंका उठ खड़ी होती है; सूरदास पूर्ण भगवद्भक्त थे, अलौकिक कवि थे, महामानव थे। महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके शब्दोंमें वे 'भक्तिके सागर' और श्रीगोसाईं विट्ठलनाथकी सम्मतिमें वे 'पुष्टिमार्गके जहाज' थे। उनका सूरसागर काव्यामृतका असीम सागर है। वे महात्यागी, अनुपम विरागी और परम प्रेमी भक्त थे। भगवान्‌की लीला ही उनकी अपार, अचल और अक्षुण्ण सम्पत्ति थी।

दिल्लीसे थोड़ी दूरपर सीही गाँवमें एक निर्धन ब्राह्मण* के घर संवत् १५३५ वि० में वैशाख शुक्ल पञ्चमीको धरतीपर एक दिव्य ज्योति बालक सूरदासके रूपमें उतरी, चारों ओर शुभ्र प्रकाश फैल गया; ऐसा लगता था कि कलिकालके प्रभावको कम करनेके लिये भगवती भागीरथीने अपना कायाकल्प किया है। समस्त गाँववाले और शिशुके माता-पिता आश्चर्यचकित हो गये। शिशुके नेत्र बंद थे, घरमें 'सूर'ने जन्म लिया। अन्धे बालकके प्रति उनके पिता उदासीन रहने लगे, घरके और लोग भी उनकी उपेक्षा ही करते थे। धीरे-धीरे उनके अलौकिक और पवित्र संस्कार जाग उठे, घरके प्रति उनके मनमें वैराग्यका भाव उदय हो गया, उन्होंने गाँवके बाहर एकान्त स्थानमें रहना निश्चय किया। सूर घरसे निकल पड़े, गाँवसे थोड़ी दूरपर एक रमणीय सरोवरके किनारे पीपल-वृक्षके तले उन्होंने अपना निवास स्थिर किया। वे लोगोंको शकुन बताते थे और विचित्रता तो यह थी कि उनकी बतायी बातें सही उतरती थीं।

एक दिन एक जमींदारकी गाय खो गयी। सूरने उसका ठीक-ठीक पता बता दिया। जमींदार उनके चमत्कारसे बहुत प्रभावित हुआ, उसने उनके लिये एक झोपड़ी बनवा दी। सूरका यश दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ने लगा। सुदूर गाँवोंसे लोग उनके पास शकुन पूछनेके लिये अधिकाधिक संख्यामें आने लगे। उनकी मान-प्रतिष्ठा और वैभवमें नित्यप्रति वृद्धि होने लगी। सूरदासकी अवस्था इस समय अठारह सालकी थी। उन्होंने विचार किया कि जिस मायामोहसे उपराम होनेके लिये मैंने घर छोड़ा, वह तो पीछा ही करता आ रहा है। भगवान्‌के भजनमें विघ्न होते देखकर सूरने उस स्थानको छोड़ दिया। उनको अपना यश तो बढ़ाना नहीं था, वे तो भगवान्‌के भजन और ध्यानमें रस लेते थे। वे मथुरा आये, उनका मन वहाँ नहीं लगा। उन्होंने गऊघाटपर रहनेका विचार किया। गऊघाट जानेके कुछ दिन पूर्व वे रेणुकाक्षेत्रमें भी रहे, रेणुका (रुनकता)-में उन्हें संतों और महात्माओंका सत्सङ्ग मिला; पर उस पवित्र स्थानमें उन्हें एकान्तका अभाव बहुत खटकता था। रुनकतासे तीन मील दूर पश्चिमकी ओर यमुनातटपर गऊघाटमें आकर वे काव्य और सङ्गीतशास्त्रका अभ्यास करने लगे। सूरदासकी एक महात्माके रूपमें ख्याति चारों ओर फैलने लगी।

पुष्टिसम्प्रदायके आदि आचार्य महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य अपने निवास-स्थान अड़ैलसे व्रजयात्राके लिये संवत् १५६० वि० में निकल पड़े। उनकी गम्भीर विद्वत्ता, शास्त्रज्ञान और दिग्विजयकी कहानी उत्तर भारतके धार्मिक पुरुषोंके कानोंमें पड़ चुकी थी। महाप्रभुने विश्रामके लिये गऊघाटपर ही अस्थायी निवास घोषित किया। सूरदासने वल्लभाचार्यके दर्शनकी उत्कट इच्छा प्रकट की, आचार्य भी उनसे मिलना चाहते थे। पूर्वजन्मके शुद्ध तथा परम पवित्र संस्कारोंसे अनुप्राणित होकर सूरने आचार्यके दर्शनके लिये पैर आगे बढ़ा दिये, वे चल पड़े। उन्होंने दूरसे ही चरण-वन्दना की, हृदय चरण-धूलि-स्पर्शके लिये आकुल हो उठा। आचार्यने उन्हें आदरपूर्वक अपने पास बैठा लिया, उनके पवित्र संस्पर्शसे सूरके अङ्ग-अङ्ग भगवद्भक्तिकी रसामृतलहरीमें निमग्न हो गये। सूरने विनयके पद सुनाये, भक्तने

*इन्हें कोई 'ब्रह्मभट्ट' बतलाते हैं, कोई 'सारस्वत'। इस सम्बन्धमें हमारा कोई आग्रह नहीं है। जनताके मनमें आदर तो श्रीसूरदासजीकी परमश्रेष्ठ भक्तिका है।

भगवान्के सामने अपने-आपको पतितोंका नायक घोषित कर उनकी कृपा प्राप्त करना चाहा था—यही उस पदका अभिप्राय था। आचार्यने कहा, 'तुम सूर होकर इस तरह क्यों घिघियाते हो। भगवान्का यश सुनाओ, उनकी लीलाका वर्णन करो।' सूर आचार्यचरणके इस आदेशसे बहुत प्रोत्साहित हुए। उन्होंने विनम्रतापूर्वक कहा कि 'मैं भगवान्की लीलाका रहस्य नहीं जानता।' आचार्यने सुबोधिनी सुनायी, उन्हें भगवान्की लीलाका रस मिला, वे लीला-सम्बन्धी पद गाने लगे। आचार्यने उन्हें दीक्षा दी। वे तीन दिनोंतक गऊघाटपर रहकर गोकुल चले आये, सूरदास उनके साथ थे। गोकुलमें सूरदास नवनीतप्रियका नित्य दर्शन करके लीलाके सरस पद रचकर उन्हें सुनाने लगे। आचार्य वल्लभके भागवत-पारायणके अनुरूप ही सूरदास लीलाविषयक पद गाते थे। वे आचार्यके साथ गोकुलसे गोवर्धन चले आये, उन्होंने श्रीनाथजीका दर्शन किया और सदाके लिये उन्हींकी चरण-शरणमें जीवन बितानेका शुभ संकल्प कर लिया। श्रीनाथजीके प्रति उनकी अपूर्व भक्ति थी, आचार्यकी कृपासे वे प्रधान कीर्तनकार नियुक्त हुए।

गोवर्धन आनेपर सूरने अपना स्थायी निवास चन्द्रसरोवरके सन्निकट परासोलीमें स्थिर किया। वे वहाँसे प्रतिदिन श्रीनाथजीका दर्शन करने जाते थे और नये-नये पद रचकर उन्हें बड़ी श्रद्धा और भक्तिसे समर्पित करते थे। धीरे-धीरे व्रजके अन्य सिद्ध महात्मा और पुष्टिमार्गके भक्त कवि नन्ददास, कुम्भनदास, गोविन्ददास आदिसे उनका सम्पर्क बढ़ने लगा। भगवद्भक्तिकी कल्पलताकी शीतल छायामें बैठकर उन्होंने सूरसागर-जैसे विशाल ग्रन्थकी रचना कर डाली। आचार्य वल्लभके लीलाप्रवेशके बाद गोसाईं विट्ठलने सूरदासकी अष्टछापमें स्थापना की। वे प्रमुख कवि घोषित हुए। कभी-कभी परासोलीसे वे नवनीतप्रियके दर्शनके लिये गोकुल भी जाया करते थे।

एक बार सङ्गीत-सम्राट् तानसेन अकबरके सामने सूरदासका एक अत्यन्त सरस और भक्तिपूर्ण पद गा रहे थे। बादशाह पदकी सरसतापर मुग्ध हो गये। उन्होंने सूरदाससे स्वयं मिलनेकी इच्छा प्रकट की। उस समय आवश्यक राजकार्यसे मथुरा भी जाना था। वे तानसेनके साथ सूरदाससे संवत् १६२३ वि० में मिले। उनकी सहृदयता और अनुनय-विनयसे प्रसन्न होकर सूरदासने पद गाया, जिसका अभिप्राय यह था कि 'हे मन! तुम माधवसे प्रीति करो।' अकबरने परीक्षा ली, उन्होंने अपना यश गानेको कहा। सूर तो राधा-चरण-चारण-चक्रवर्ती श्रीकृष्णके गायक थे, वे गाने लगे—

नाहिन रह्यौ हिय महँ ठौर।
नंदनंदन अछत कैसें आनिए उर और॥

अकबर उनकी निःस्पृहतापर मौन हो गये। भक्त सूरके मनमें सिवा श्रीकृष्णके दूसरा रह ही किस तरह पाता। उनका जीवन तो रासेश्वर, लीलाधाम श्रीनिकुञ्जनायकके प्रेम-मार्गपर नीलाम हो चुका था।

सूरदास एक बार नवनीतप्रियका दर्शन करने गोकुल गये, वे उनके शृङ्गारका ज्यों-का-त्यों वर्णन कर दिया करते थे। गोसाईं विट्ठलनाथके पुत्र गिरधरजीने गोकुलनाथके कहनेसे उस दिन सूरदासकी परीक्षा ली। उन्होंने भगवान्का अद्भुत शृङ्गार किया, वस्त्रके स्थानपर मोतियोंकी मालाएँ पहनायीं। सूरने शृङ्गारका अपने दिव्य चक्षुसे देखकर वर्णन किया। वे गाने लगे—

देखे री हरि नंगम नंगा।
जलसुत भूषन अंग बिराजत, बसन हीन छबि उठत तरंगा॥
अंग अंग प्रति अमित माधुरी, निरखि लजित रति कोटि अनंगा।
किलकत दधिसुत मुख ले मन भरि, सूर हँसत ब्रज जुवतिन संगा॥

भक्तकी परीक्षा पूरी हो गयी, भगवान्ने अन्धे महाकविकी प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रखी, वे भक्तके हृदय-कमलपर नाचने लगे, महागायककी सङ्गीत-माधुरीसे रासरसोन्मत्त नन्दनन्दन प्रमत्त हो उठे, कितना मधुर वर्णन था उनके स्वरूपका!

सूरदासजी त्यागी, विरक्त और प्रेमी भक्त थे। श्रीवल्लभाचार्यके सिद्धान्तोंके पूर्ण ज्ञाता थे। उनकी मानसिक भगवत्सेवा सिद्ध थी। वे महाभागवत थे। उन्होंने अपने उपास्य श्रीराधारानी और श्रीकृष्णका यश-वर्णन ही श्रेय-मार्ग समझा। गोपी-प्रेमकी ध्वजा भारतीय काव्य-साहित्यमें फहरानेमें वे अग्रगण्य स्वीकार किये जाते हैं।

उन्होंने पचासी सालकी अवस्थामें गोलोक प्राप्त किया। एक दिन अन्तिम समय निकट जानकर सूरदासने

श्रीनाथजीकी केवल मङ्गला-आरतीका दर्शन किया। वे नित्य श्रीनाथजीकी प्रत्येक झाँकीका दर्शन करते थे। गोसाईं विट्ठलनाथ शृङ्गार-झाँकीमें उन्हें अनुपस्थित देखकर आश्चर्यचकित हो गये। उन्होंने श्यामसुन्दरकी ओर देखा, प्रभुने अपने परम भक्तका पद नहीं सुना था, सूरदासजी उन्हें नित्य पद सुनाया करते थे। कुम्भनदास, गोविन्ददास आदि चिन्तित हो उठे। गोसाईंजीने करुण स्वरसे कहा—'आज पुष्टिमार्गका जहाज जानेवाला है। जिसको जो कुछ लेना हो, वह ले ले।' उन्होंने भक्तमण्डलीको परासोली भेज दिया और राजभोग समर्पित कर वे कुम्भनदास, गोविन्ददास और चतुर्भुजदास आदिके साथ स्वयं गये। इधर सूरकी दशा विचित्र थी। परासोली आकर उन्होंने श्रीनाथजीकी ध्वजाको नमस्कार किया। उसीकी ओर मुख करके चबूतरेपर लेटकर सोचने लगे कि यह काया पूर्णरूपसे हरिकी सेवामें नहीं प्रयुक्त हो सकी। वे अपने दैन्य और विवशताका स्मरण करने लगे। समस्त लौकिक चिन्ताओंसे मन हटाकर उन्होंने श्रीनाथजी और गोसाईंजीका ध्यान किया। गोसाईंजी आ पहुँचे, आते ही उन्होंने सूरदासका कर अपने हाथमें ले लिया। महाकविने उनकी चरण-वन्दना की। सूरने कहा कि 'मैं तो आपकी ही प्रतीक्षा कर रहा था।' वे पद गाने लगे—

खंजन नैन रूप रस माते।
अतिसय चारु चपल अनियारे, पल पिंजरा न समाते॥
चलि चलि जात निकट स्त्रवननि के, उलटि पलटि ताटंक फँदाते।
सूरदास अंजन गुन अटके, नतरु अबहिं उड़ि जाते॥

अन्त समयमें उनका ध्यान युगलस्वरूप श्रीराधामनमोहनमें लगा हुआ था। श्रीविट्ठलनाथके यह पूछनेपर कि 'चित्तवृत्ति कहाँ है?' उन्होंने कहा कि 'मैं राधारानीकी वन्दना करता हूँ, जिनसे नन्दनन्दन प्रेम करते हैं।'

चतुर्भुजदासने कहा कि 'आपने असंख्य पदोंकी रचना की, पर श्रीमहाप्रभुका यश आपने नहीं वर्णन किया।' सूरकी गुरु-निष्ठा बोल उठी कि 'मैं तो उन्हें साक्षात् भगवान्‌का रूप समझता हूँ, गुरु और भगवान्‌में तनिक भी अन्तर नहीं है। मैंने तो आदिसे अन्ततक उन्हींका यश गाया है।' उनकी रसनाने गुरु-स्तवन किया।

भरोसो दृढ़ इन चरननि केरो।
श्रीबल्लभ नख चंद्र छटा बिनु सब जग माझ अँधेरो॥
साधन नाहिं और या कलि में जासों होय निबेरो।
'सूर' कहा कहै द्विबिधि आँधरो बिना मोल को चेरो॥

चतुर्भुजदासकी विशेष प्रार्थनापर उन्होंने उपस्थित भगवदीयोंको पुष्टिमार्गके मुख्य सिद्धान्त संक्षेपमें सुनाये! उन्होंने कहा कि 'गोपीजनोंके भावसे भावित भगवान्‌के भजनसे पुष्टिमार्गके रसका अनुभव होता है। इस मार्गमें केवल प्रेमकी ही मर्यादा है।' सूरदासने श्रीराधाकृष्णकी रसमयी छविका ध्यान किया और वे सदाके लिये ध्यानस्थ हो गये।

भक्त कुम्भनदासजी

कुम्भनदास परम भगवद्भक्त, आदर्श गृहस्थ और महान् विरक्त थे। वे निःस्पृह, त्यागी और महासन्तोषी व्यक्ति थे। उनके चरित्रकी विशिष्ट अलौकिकता यह है कि भगवान् साक्षात् प्रकट होकर उनके साथ सखाभावकी क्रीड़ाएँ करते थे।

कुम्भनदासका जन्म गोवर्धनके सन्निकट जमुनावतो ग्राममें संवत् १५२५ वि० में चैत्र कृष्ण एकादशीको हुआ था। वे गोरवा क्षत्रिय थे। उनके पिता एक साधारण श्रेणीके व्यक्ति थे। खेती करके जीविका चलाते थे। कुम्भनदासने भी पैतृक वृत्तिमें ही आस्था रखी और किसानीका जीवन ही उन्हें अच्छा लगा। परासोलीमें विशेषरूपसे खेतीका कार्य चलता था। उन्हें पैसेका अभाव आजीवन खटकता रहा, पर उन्होंने किसीके सामने हाथ नहीं पसारा। भगवद्भक्ति ही उनकी सम्पत्ति थी। उनका कुटुम्ब बहुत बड़ा था, खेतीकी आयसे ही उसका पालन करते थे।

महाप्रभु वल्लभाचार्यजी उनके दीक्षा-गुरु थे। संवत् १५५० वि० में आचार्यकी गोवर्धन-यात्राके समय उन्होंने ब्रह्मसम्बन्ध लिया था। उनके दीक्षा-कालके पंद्रह साल पूर्व श्रीनाथजीकी मूर्ति प्रकट हुई थी, आचार्यकी आज्ञासे

वे श्रीनाथजीकी सेवा करने लगे। नित्य नये पद गाकर सुनाने लगे। पुष्टि-सम्प्रदायमें सम्मिलित होनेपर उन्हें कीर्तनकी ही सेवा दी गयी थी। कुम्भनदास भगवत्कृपाको ही सर्वोपरि मानते थे, बड़े-से-बड़े घरेलू संकटमें भी वे अपने आस्था-पथसे कभी विचलित नहीं हुए।

श्रीनाथजीके शृङ्गारसम्बन्धी पदोंकी रचनामें उनकी विशेष अभिरुचि थी। एक बार श्रीवल्लभाचार्यजीने उनके युगललीलासम्बन्धी पदसे प्रसन्न होकर कहा था कि 'तुम्हें तो निकुञ्जलीलाके रसकी अनुभूति हो गयी।' कुम्भनदास महाप्रभुकी कृपासे गद्गद होकर बोल उठे कि 'मुझे तो इसी रसकी नितान्त आवश्यकता है।'

महाप्रभु वल्लभाचार्यके लीला-प्रवेशके बाद कुम्भनदास गोसाईं विट्ठलनाथके संरक्षणमें रहकर भगवान्‌का लीला-गान करने लगे। विट्ठलनाथजी महाराजकी उनपर बड़ी कृपा थी। वे मन-ही-मन उनके निर्लोभ-जीवनकी सराहना किया करते थे। संवत् १६०२ वि० में अष्टछापके कवियोंमें उनकी गणना हुई। बड़े-बड़े राजा-महाराजा आदि कुम्भनदासका दर्शन करनेमें अपना सौभाग्य मानते थे। वृन्दावनके बड़े-बड़े रसिक और संत-महात्मा उनके सत्सङ्गकी उत्कट इच्छा किया करते थे। उन्होंने भगवद्भक्तिका यश सदा अक्षुण्ण रखा, आर्थिक संकट और दीनतासे उसे कभी कलंकित नहीं होने दिया।

एक बार श्रीविट्ठलनाथ उन्हें अपनी द्वारिका-यात्रामें साथ ले जाना चाहते थे; उनका विचार था कि वैष्णवोंकी भेंटसे उनकी आर्थिक परिस्थिति सुधर जायगी। कुम्भनदास श्रीनाथजीका वियोग एक पलके लिये भी नहीं सह सकते थे; पर उन्होंने गोसाईंजीकी आज्ञाका विरोध नहीं किया। वे गोसाईंजीके साथ अप्सराकुण्डतक ही गये थे कि श्रीनाथजीके सौन्दर्य-स्मरणसे उनके अङ्ग-अङ्ग सिहर उठे, भगवान्‌की मधुर-मधुर मन्द मुसकानकी ज्योत्स्ना विरह-अन्धकारमें थिरक उठी, माधुर्यसम्राट् नन्दनन्दनकी विरह-वेदनासे उनका हृदय घायल हो चला। उन्होंने श्रीनाथजीके वियोगमें एक पद गाया—

केते दिन जु गए बिनु देखैं।
तरुन किसोर रसिक नँदनंदन, कछुक उठति मुख रेखैं॥
वह सोभा, वह कांति बदन की, कोटिक चंद बिसेखैं।
वह चितवन, वह हास मनोहर, वह नटवर बपु भेखैं॥
स्याम सुँदर सँग मिलि खेलन की आवति हिये अपेखैं।
'कुंभनदास' लाल गिरिधर बिनु जीवन जनम अलेखैं॥

श्रीगोसाईंजीके हृदयपर उनके इस विरह-गीतका बड़ा प्रभाव पड़ा। वे नहीं चाहते थे कि कुम्भनदास पलभरके लिये भी श्रीनाथजीसे अलग रहें। कुम्भनदासको उन्होंने लौटा दिया। श्रीनाथजीका दर्शन करके कुम्भनदास स्वस्थ हुए।

एक बार अकबरकी राजसभामें एक गायकने उनका पद गाया, बादशाहने उस पदसे आकृष्ट होकर कुम्भनदासको फतहपुर सीकरी बुलाया। पहले तो कुम्भनदास जाना नहीं चाहते थे, पर सैनिक और दूतोंका विशेष आग्रह देखकर वे पैदल ही गये। श्रीनाथजीके सभासदस्यको अकबरका ऐश्वर्य दो कौड़ीका लगा। कुम्भनदासकी पगड़ी फटी हुई थी, तनिया मैली थी; वे आत्मग्लानिमें डूब रहे थे कि किस पापके फलस्वरूप उन्हें इनके सामने उपस्थित होना पड़ा। बादशाहने उनकी बड़ी आवभगत की। पर कुम्भनदासको तो ऐसा लगा कि किसीने उनको नरकमें ला खड़ा कर दिया है। वे सोचने लगे कि राजसभासे तो कहीं उत्तम व्रज है, जिसमें स्वयं श्रीनाथजी खेलते रहते हैं, अनेकों क्रीड़ाएँ करते रहते हैं। अकबरने पद गानेकी प्रार्थना की। कुम्भनदास तो भगवान् श्रीकृष्णके ऐश्वर्य-माधुर्यके कवि थे, उन्होंने पद-गान किया—

भगत को कहा सीकरी काम।
आवत जात पन्हैयाँ टूटीं, बिसरि गयो हरिनाम॥
जाको मुख देखैं दुख लागै, ताको करनो पर्‍यो प्रनाम।
'कुंभनदास' लाल गिरिधर बिनु और सबै बेकाम॥

बादशाह सहृदय थे, उन्होंने आदरपूर्वक उनको घर भेज दिया। संवत् १६२० वि० में महाराज मानसिंह व्रज आये थे। उन्होंने वृन्दावनके दर्शनके बाद गोवर्धनकी यात्रा की। श्रीनाथजीके दर्शन किये। उस समय मृदंग और वीणाके साथ कुम्भनदासजी कीर्तन कर रहे थे। राजा मानसिंह उनकी पद-गान-शैलीसे बहुत प्रभावित हुए। वे उनसे मिलने जमुनावतो गये। कुम्भनदासकी

दीन-हीन दशा देखकर वे चकित हो उठे। कुम्भनदास भगवान्के रूप-चिन्तनमें ध्यानस्थ थे। आँख खुलनेपर उन्होंने भतीजीसे आसन और दर्पण माँगे, उत्तर मिला कि 'आसन (घास) पड़िया खा गयी, दर्पण (पानी) भी पी गयी।' आशय यह था कि पानीमें मुख देखकर वे तिलक करते थे। महाराजा मानसिंहको उनकी निर्धनताका पता लग गया। उन्होंने सोनेका दर्पण देना चाहा, भगवान्के भक्तने अस्वीकार कर दिया; मोहरोंकी थैली देनी चाही, विश्वपतिके सेवकने उसकी उपेक्षा कर दी। चलते समय मानसिंहने जमुनावतो गाँव कुम्भनदासके नाम करना चाहा; पर उन्होंने कहा कि 'मेरा काम तो करीलके पेड़ और बेरके वृक्षसे ही चल जाता है।' राजा मानसिंहने उनकी निःस्पृहता और त्यागकी सराहना की, उन्होंने कहा कि 'मायाके भक्त तो मैंने बहुत-से देखे हैं, पर वास्तविक भगवद्भक्त तो आप ही हैं।'

वृद्धावस्थामें भी कुम्भनदास नित्य जमुनावतोसे श्रीनाथजीके दर्शनके लिये गोवर्धन आया करते थे। एक दिन संकर्षणकुण्डपर आन्योरके निकट वे ठहर गये। अष्टछापके प्रसिद्ध कवि चतुर्भुजदासजी, उनके छोटे पुत्र, साथ थे। उन्होंने चतुर्भुजदाससे कहा कि 'अब घर चलकर क्या करना है। कुछ समय बाद शरीर ही छूटनेवाला है।' गोसाईं विट्ठलनाथजी उनके देहावसानके समय उपस्थित थे। गोसाईंजीने पूछा कि 'इस समय मन किस लीलामें लगा है?' कुम्भनदासने कहा, *'लाल तेरी चितवन चितहि चुरावै'* और इसके अनन्तर युगल-स्वरूपकी छविके ध्यानमें पद गाया—

रसिकनी रस में रहत गड़ी।
कनक बेलि बृषभानुनंदिनी स्याम तमाल चढ़ी॥
बिहरत श्रीगिरिधरन लाल सँग, कोने पाठ पढ़ी।
'कुँभनदास' प्रभु गोबरधनधर रति रस केलि बढ़ी॥

उन्होंने शरीर छोड़ दिया। गोसाईंजीने करुणस्वरसे श्रद्धाञ्जलि अर्पित की कि ऐसे भगवदीय अन्तर्धान हो गये। अब पृथ्वीपर सच्चे भगवद्भक्तोंका तिरोधान होने लगा है। वास्तवमें कुम्भनदासजी निःस्पृहताके प्रतीक थे, त्याग और तपस्याके आदर्श थे, परम भगवदीय और सीधे-सादे गृहस्थ थे। संवत् १६३९ वि० तक वे एक सौ तेरह सालकी उम्र पर्यन्त जीवित रहे।

भक्त श्रीपरमानन्ददासजी

श्रीपरमानन्ददासजी भगवान्की लीलाके मर्मज्ञ, अनुभवी कवि और कीर्तनकार थे। वे अष्टछापके प्रमुख कवियोंमेंसे एक थे। उन्होंने आजीवन भगवान्की लीला गायी। श्रीमद्वल्लभाचार्यकी उनपर बड़ी कृपा रहती थी। वे उनका बड़ा सम्मान करते थे। उनका पद-संग्रह 'परमानन्दसागर'के नामसे विख्यात है, उनकी रचनाएँ अत्यन्त सरस और भावपूर्ण हैं। लीलागायक कवियोंमें उन्हें गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है।

परमानन्ददासजीका जन्म सं० १५५० वि० में मार्गशीर्ष शुक्ल ७ को हुआ था। वे कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे, कन्नौजके रहनेवाले थे। जिस दिन वे पैदा हुए, उसी दिन एक धनी व्यक्तिने उनके पिताको बहुत-सा धन दिया। दानके फलस्वरूप घरमें परमानन्द छा गया, पिताने बालकका नाम परमानन्द रखा। उनकी बाल्यावस्था सुखपूर्वक व्यतीत हुई, बचपनसे ही उनके स्वभावमें त्याग और उदारताका बाहुल्य था। उनके पिता साधारण श्रेणीके व्यक्ति थे, दान आदिसे ही जीविका चलाते थे। एक समय कन्नौजमें अकाल पड़ा। हाकिमने दण्डरूपमें उनके पिताका सारा धन छीन लिया। वे कंगाल हो गये। परमानन्द पूर्णरूपसे युवा हो चुके थे। अभीतक उनका विवाह नहीं हुआ था। पिताको सदा उनके विवाहकी चिन्ता बनी रहती थी और परमानन्द उनसे कहा करते थे कि 'आप मेरे विवाहकी चिन्ता न करें, मुझे विवाह ही नहीं करना है। जो कुछ आय हो, उससे परिवारवालोंका पालन करें, साधुसेवा और अतिथि-सत्कार करें।' पर पिताको तो द्रव्योपार्जनकी सनक थी, वे घरसे निकल पड़े। देश-विदेशमें घूमने लगे। इधर परमानन्द भगवान्के गुण-कीर्तन, लीला-गान और साधु-समागममें अपने दिन बिताने लगे। वे युवावस्थामें ही अच्छे कवि और कीर्तनकारके रूपमें प्रसिद्ध हो गये। लोग उन्हें परमानन्द

स्वामी कहने लगे। छब्बीस सालकी अवस्थातक वे कन्नौजमें रहे, उसके बाद वे प्रयाग चले आये। स्वामी परमानन्दकी कुटीमें अनेकानेक साधु-संत सत्सङ्गके लिये आने लगे। उनकी विरक्ति बढ़ती गयी और काव्य तथा संगीतमें वे पूर्णरूपसे निपुण हो गये।

स्वामी परमानन्द एकादशीकी रात्रिको जागरण करते थे, भगवान्‌की लीलाओंका कीर्तन करते थे। प्रयागमें भगवती कालिन्दीके दूसरे तटपर दिग्विजयी महाप्रभु वल्लभाचार्यका अड़ैलमें निवास-स्थान था। उनका जलघरिया कपूर परमानन्द स्वामीके जागरण-उत्सवमें सम्मिलित हुआ करता था। एक दिन एकादशीकी रातको स्वामी परमानन्द कीर्तन कर रहे थे। कपूर चल पड़ा; यमुनामें नाव नहीं थी, वह तैरकर इस पार आ गया। परमानन्द स्वामीने देखा कि उसकी गोदमें एक श्यामवर्णका शिशु बैठा है; उसके सिरपर मयूरपिच्छका मुकुट है, नयन कमलके समान प्रफुल्लित हैं, अधरोंपर अमृतकी ज्योत्स्ना लहरा रही है, गलेमें वनमाला है, पीताम्बरमें उसका शरीर अत्यन्त मनमोहक-सा लग रहा है। परमानन्दके दिव्य संस्कार जाग उठे; उन्हें पूर्ण विश्वास हो गया कि भक्तकी माधुर्यमयी गोदमें भगवान् श्यामसुन्दर ही उनका कीर्तन सुन रहे हैं। उत्सव समाप्त हो गया। स्वप्नमें उन्हें श्रीवल्लभाचार्यके दर्शनकी प्रेरणा मिली। वे दूसरे दिन उनसे मिलनेके लिये चल पड़े। आचार्यप्रवरने उनसे भगवान्‌का यश वर्णन करनेको कहा। परमानन्दजीने विरहका पद गाया—

जिय की साध जु जियहिं रही री।
बहुरि गुपाल देखि नहिं पाए बिलपत कुंज अहीरी॥
इक दिन सो जु सखी यहि मारग बेचन जात दही री।
प्रीति के लिएँ दान मिस मोहन मेरी बाँह गही री॥
बिनु देखैं छिनु जात कलप सम बिरहा अनल दही री।
परमानँद स्वामी बिनु दरसन नैनन नदी बही री॥

उन्होंने आचार्यको बाललीलाके अनेक पद सुनाये। आचार्यने उन्हें ब्रह्म-सम्बन्ध दिया। परमानन्द स्वामीसे दास बन गये।

सं० १५८२ वि० में वे महाप्रभुजीके साथ व्रज गये। उन्होंने इस यात्रामें आचार्यको अपने पूर्व निवासस्थान कन्नौजमें ठहराया था। आचार्य उनके मुखसे *'हरि तेरी लीला की सुधि आवै।'* पद सुनकर तीन दिनोंतक मूर्च्छित रहे।

वे आचार्यप्रवरके साथ सर्वप्रथम गोकुल आये। कुछ दिन रहकर वे उन्हींके साथ वहाँसे गोवर्धन चले आये। वे सदाके लिये गोवर्धनमें ही रह गये। सुरभीकुण्डपर श्यामतमाल वृक्षके नीचे उन्होंने अपना स्थायी निवास स्थिर किया। वे नित्य श्रीनाथजीका दर्शन करने जाते थे। कभी-कभी नवनीतप्रियके दर्शनके लिये गोकुल भी जाया करते थे।

सं० १६०२ वि० में गोसाईं विट्ठलनाथजीने उनको 'अष्टछाप' में सम्मिलित कर लिया। वे उच्चकोटिके कवि और भक्त थे।

भगवान्‌के लीला-गानमें उन्हें बड़ा रस मिलता था। एक बार विट्ठलनाथजीके साथ जन्माष्टमीको वे गोकुल आये। नवनीतप्रियके सामने उन्होंने पद-गान किया; वे पद गाते-गाते सुध-बुध भूल गये। ताल-स्वरका उन्हें कुछ भी पता नहीं रहा। उसी अवस्थामें वे गोवर्धन लाये गये। मूर्च्छा समाप्त होनेपर अपनी कुटीमें आये, उन्होंने बोलना छोड़ दिया। गोसाईंजीने उनके शरीरपर हाथ फेरा! परमानन्ददासने नयनोंमें प्रेमाश्रु भरकर कहा कि 'प्रेमपात्र तो केवल नन्दनन्दन हैं। भक्त तो सुख और दुःख दोनोंमें उन्हींकी कृपाके सहारे जीते रहते हैं।'

सं० १६४१ वि० में भाद्रपद कृष्ण नवमीको उन्होंने गोलोक प्राप्त किया। वे उस समय सुरभी-कुण्डपर ही थे। मध्याह्नका समय था। गोसाईं विट्ठलनाथ उनके अन्तसमयमें उपस्थित थे। परमानन्दका मन युगलस्वरूपकी माधुरीमें संलग्न था। उन्होंने गोसाईंजीके सामने निवेदन किया—

राधे बैठी तिलक सँवारति।
मृगनैनी कुसुमायुध कर धरि नंद सुवनको रूप बिचारति॥
दर्पन हाथ सिंगार बनावति, बासर जुग सम टारति।
अंतर प्रीति स्यामसुंदर सों हरि सँग केलि सँभारति॥
बासर गत रजनी ब्रज आवत मिलत गोबर्धन प्यारी।
'परमानँद' स्वामी के संग मुदित भई ब्रजनारी॥

इस प्रकार श्रीराधाकृष्णकी रूप-सुधाका चिन्तन करते हुए उन्होंने अपनी गोलोक-यात्रा सम्पन्न की।

भक्त श्रीकृष्णदासजी

श्रीकृष्णदासजीका जन्म सं० १५५३ वि० में गुजरातप्रदेशके अहमदाबाद जनपदमें चलोतर नामक गाँवमें हुआ था। वे कुनबी कायस्थ थे। पाँच वर्षकी अवस्थासे ही वे भगवान्‌के लीला-कीर्तन, भजन तथा उत्सवोंमें सम्मिलित होने लगे थे। बाल्यावस्थासे ही बड़े सत्यनिष्ठ और निडर थे। जब वे बारह सालके थे, उनके गाँवमें एक बनजारा आया, उसने माल बेचकर बहुत-सा रुपया जमा किया था। कृष्णदासके पिता गाँवके प्रमुख थे, उन्होंने रातमें उसका रुपया लुटवाकर हड़प लिया। कृष्णदासके सीधे-सादे हृदयपर इस घटनाने बड़ा प्रभाव डाला, उन्होंने अपने पिताके विरुद्ध बनजारेद्वारा न्यायालयमें अभियोग चलाया और उनके साक्ष्यके फलस्वरूप बनजारेको पैसा-पैसा मिल गया। वे घरसे निकाल बाहर किये गये, तीर्थयात्राके लिये चल पड़े।

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य अड़ैलसे व्रज जा रहे थे। उन्होंने गऊघाटपर अभी दो ही चार दिन पहले सूरको ब्रह्मसम्बन्ध दिया था। महाप्रभुजीने मथुराके विश्रामघाटपर युवक कृष्णदासको देखा, देखते ही समझ लिया कि बालक बड़ा संस्कारी है; उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक उनको दीक्षितकर ब्रह्मसम्बन्ध दिया। आचार्यसे मन्त्र प्राप्त करते ही उन्हें सम्पूर्ण भगवल्लीलाका स्मरण हो आया। आचार्यने उनको श्रीनाथजीके मन्दिरका अधिकारी नियुक्त किया। उनकी देख-रेखमें श्रीनाथजीकी सेवा राजसी ठाटसे होने लगी। दूर-दूरतक उनकी प्रसिद्धि फैल गयी। वे श्रीनाथजीकी सेवा करते थे और सरस पदोंकी रचना करके भक्तिपूर्वक समर्पित करते थे। उनके पद अधिकांश शृङ्गार-भावना-प्रधान हैं। भक्ति और शृङ्गारमिश्रित प्रेम-लीला, रासलीलाके सम्बन्धमें उन्होंने अनेकानेक पद लिखे। 'युगल-मान-चरित्र' की रचना-माधुरी और विशिष्ट कवित्व-शक्तिसे प्रभावित होकर श्रीविट्ठलनाथने उनको अष्टछापमें गौरवपूर्ण स्थानसे सम्मानित किया। वे आजीवन अविवाहित रहे।

एक समय किसी विशेष कार्यसे कृष्णदासजी आगरा गये थे। उस समय आगरा भौतिक ऐश्वर्य और कलाका केन्द्र था। कृष्णदासजी बाजारमें सौदा कर रहे थे कि अचानक उनकी दृष्टि एक वेश्यापर पड़ गयी। वह मधुर, सरस और अत्यन्त कोमल कण्ठसे गाना गा रही थी। भगवान्‌के भक्तके हृदयमें सात्त्विक भाव उमड़ आये। विषयोन्मत्त वाराङ्गनाके उद्धारका समय आ गया, भगवान्‌के यश-गायकके दर्शनसे उसकी भावनाएँ पवित्र हो चली थीं। कृष्णदासने सोचा कि यह अभिशापग्रस्त दैवी जीव है। यदि मेरे 'लाला' साक्षात् नन्दनन्दनको रिझाये, उनके सामने पद गाये तो इसके भवसागरसे पार होनेमें कुछ भी सन्देह नहीं है। उन्होंने वाराङ्गनासे कहा कि 'क्या तुम मेरे बाल-गोपाल श्रीनाथजीके सामने पद गाओगी?' कृष्णदासके हृदयमें वात्सल्यका सागर लहरा उठा। वाराङ्गना उनके अनुरोधको अस्वीकार नहीं कर सकी। भक्तने तो उसकी कलाको, सरस गायकीको श्रीनाथजीके चरणोंमें समर्पित कर दिया था। अपने रसिकशेखर लालाको रिझानेके लिये वे उसे आगरेसे व्रज ले आये। वाराङ्गनाने विधिपूर्वक स्नान किया, पवित्र और स्वच्छ वस्त्र धारण किये। कृष्णदासने उससे कहा कि 'तुमने विषयी जीवोंको बहुत रिझाया है; आज मेरे लालाको, व्रजेश्वरको रिझाकर अपना जन्म सफल करो।' वेश्याके जन्म-जन्मके पुण्य प्रकट हो गये। श्रीनाथजीकी उत्थापन-झाँकीका समय था, यशोदानन्दन मन्द-मन्द मुसकरा रहे थे। कृष्णदास आनन्दनिमग्न थे, उनके लालाका शृङ्गार अत्यन्त अद्भुत था। वाराङ्गनाने कृष्णदासका रचित पद समर्पित किया। सातों स्वर एक साथ उसकी पायल-ध्वनिपर नाच उठे; मृदंग और झाँझ, वीणा और करतालके ताल-तुकपर, लय-यतिपर वातावरणके कण-कणमें रस भर उठा। वाराङ्गनाकी अधरामृत-लहरी श्रीनाथजीके चरण पखारने लगी।

मो मन गिरिधर छबि पै अटक्यौ।
ललित त्रिभंग चाल पै चलि कैं चिबुक चारु गड़ि ठटक्यौ॥
सजल स्याम घन बरन लीन है, फिरि चित अनत न भटक्यौ।
'कृष्णदास' किए प्रान निछावरि, यह तन जग सिर पटक्यौ॥

गीत समाप्त होते ही श्रीनाथजीके अङ्गसे एक ज्योति

निकली, वाराङ्गना उसीमें लीन हो गयी। उसके प्राण भगवान्‌की सेवामें समर्पित हो गये। कृष्णदासके लालाकी रीझ तो न्यारी ही थी। जिनके चरणारविन्द-मकरन्दके रसास्वादनके लिये त्रिदेव व्रजमें परिक्रमा करते रहते हैं, उन्होंने भक्तकी मनःकामना पूरी कर दी। कृष्णदासके रसिक गोपालने उनको धन्य कर दिया; भक्तने उपहार दिया था, अस्वीकार करना कठिन था।

सं० १६३६ वि० के लगभग वे एक कुआँ बनवा रहे थे। उसका निरीक्षण करते समय वे कुएँमें गिर पड़े। इस दुर्घटनासे उनकी मृत्यु हो गयी। श्रीगोसाईंजीने कुएँको पूरा कराकर उनकी आत्माको शान्ति दी।

निस्सन्देह तत्कालीन पुष्टिमार्गके भक्तों और महाप्रभुके शिष्योंमें उनका व्यक्तित्व अत्यन्त विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया जाता है। वे बहुत बड़े भगवदीय थे।

भक्त श्रीगोविन्ददासजी

श्रीगोविन्ददासजीका जन्म व्रजके निकट आँतरी ग्राममें सं० १५६२ वि० में हुआ था। वे ब्राह्मण थे। बाल्यावस्थासे ही उनमें वैराग्य और भक्तिके अङ्कुर प्रस्फुटित हो रहे थे। कुछ दिनोंतक गृहस्थाश्रमका उपभोग करनेपर उन्होंने घर छोड़ दिया, वैराग्य ले लिया। महावनमें जाकर भगवान्‌के भजन और कीर्तनमें समयका सदुपयोग करने लगे। महावनके टीलेपर बैठकर शास्त्रोक्त विधिसे कीर्तन करते थे। धीरे-धीरे उनकी प्रसिद्धि दूर-दूरतक फैल गयी। वे गानविद्याके आचार्य थे। काव्य एवं सङ्गीतका पूर्ण रूपसे उन्हें ज्ञान था। गोसाईं विट्ठलनाथजी उनकी भक्ति-निष्ठा और सङ्गीत-माधुरीसे परिचित थे। यद्यपि दोनोंका साक्षात्कार नहीं हुआ था, तो भी दोनों एक-दूसरेकी ओर आकृष्ट थे। गोविन्दस्वामीने श्रीविट्ठलनाथजीसे सं० १५९२ वि० में गोकुल आकर ब्रह्मसम्बन्ध ले लिया। उनके परम कृपापात्र और भक्त हो गये। गोसाईंजीने कर्म और भक्तिका तात्त्विक विवेचन किया। उनकी कृपासे गोविन्द स्वामीसे गोविन्ददास हो गये। उन्होंने गोवर्धनको ही अपना स्थायी निवास स्थिर किया। गोवर्धनके निकट कदम्ब वृक्षोंकी एक मनोरम वाटिकामें वे रहने लगे। वह स्थान 'गोविन्ददासकी कदमखण्डी' नामसे प्रसिद्ध है। वे सरस पदोंकी रचना करके श्रीनाथजीकी सेवा करते थे। व्रजके प्रति उनका दृढ़ अनुराग और प्रगाढ़ आसक्ति थी। उन्होंने व्रजकी महिमाका बड़े सुन्दर ढंगसे बखान किया है। वे कहते हैं—'वैकुण्ठ जाकर क्या होगा, न तो वहाँ कलिन्दगिरिनन्दिनीतटको चूमनेवाली सलोनी लतिकाओंकी शीतल और मनोरम छाया है, न भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर वंशीध्वनिकी रसालता है; न तो वहाँ नन्द-यशोदा हैं और न उनके चिदानन्दघनमूर्ति श्यामसुन्दर हैं; न तो वहाँ व्रजरज है, न प्रेमोन्मत्त राधारानीके चरणारविन्द-मकरन्दका रसास्वादन है।'

गोविन्ददास स्वरचित पदोंको श्रीनाथजीके सम्मुख गाया करते थे। भक्तिपक्षमें उन्होंने दैन्य-भाव कभी नहीं स्वीकार किया। जिनके मित्र अखिल लोकपति साक्षात् नन्दनन्दन हों, दैन्य भला उनका स्पर्श ही किस तरह कर सकता है। गोविन्ददासका तो स्वाभिमान भगवान्‌की सख्य-निधिमें संरक्षित और पूर्ण सुरक्षित था। गोसाईं विट्ठलनाथने उन्हें कवीश्वरकी संज्ञासे समलङ्कृतकर अष्टछापमें सम्मिलित किया था। सङ्गीतसम्राट् तानसेन उनकी सङ्गीत-माधुरीका आस्वादन करनेके लिये कभी-कभी उनसे मिलने आया करते थे।

एक समय आँतरी ग्रामसे कुछ परिचित व्यक्ति उनसे मिलने आये, वे यशोदाघाटपर स्नान कर रहे थे। उन्होंने गाँववालोंको पहचान लिया; पर वे नहीं जान सके कि गोविन्दस्वामी वे ही हैं। उन्होंने गोविन्ददाससे पूछा कि 'गोविन्दस्वामी कहाँ हैं?' गोविन्ददासने कहा—'वे तो मरकर गोविन्ददास हो गये।' गाँववालोंने उनके चरणका स्पर्श किया, उनके पवित्र दर्शनसे अपने सौभाग्यकी सराहना की।

एक दिन गोविन्ददास यशोदाघाटपर बैठकर बड़े प्रेमसे भैरव राग गा रहे थे। प्रातःकालके शीतल शान्त वातावरणमें चराचर जीव तन्मय होकर भगवान्‌की कीर्तिमाधुरीका पान कर रहे थे। बहुत-से यात्री एकत्र हो गये। भक्त भगवान्‌के रिझानेमें निमग्न थे। वे गा रहे थे—

आओ मेरे गोविन्द, गोकुल चंदा।
भइ बड़ि बार खेलत जमुना तट, बदन दिखाय देहु आनंदा॥
गायन कीं आवन की बिरियाँ, दिन मनि किरन होति अति मंदा।
आए तात मात छतियाँ लगे, 'गोबिंद' प्रभु ब्रज जन सुख कंदा॥

भक्तके हृदयके वात्सल्यने भैरव रागका माधुर्य बढ़ा दिया। श्रोताओंमें बादशाह अकबर भी प्रच्छन्न वेषमें उपस्थित थे। उनके मुखसे अनायास 'वाह-वाह' की ध्वनि निकल पड़ी। गोविन्ददास पश्चात्ताप करने लगे और उन्होंने उसी दिनसे श्रीनाथजीके सामने भैरव राग गाना छोड़ दिया! उनके हृदयमें अपने प्राणेश्वर प्रेमदेवता व्रजचन्द्रके लिये कितनी पवित्र निष्ठा थी।

गोविन्ददासजीकी भक्ति सख्य-भावकी थी, श्रीनाथजी साक्षात् प्रकट होकर उनके साथ खेला करते थे, बाल-लीलाएँ किया करते थे। गोविन्ददास सिद्ध महात्मा और उच्च कोटिके भक्त थे। एक बार रासेश्वर नन्दनन्दन उनके साथ खेल रहे थे, कौतुकवश गोविन्ददासने श्रीनाथजीको कंकड़ मारा। गोसाईं विट्ठलनाथजीसे पुजारीने शिकायत की, गोविन्ददासने निर्भयतापूर्वक उत्तर दिया कि आपके लालाने तो तीन कंकड़ मारे थे। श्रीविट्ठलने उनके सौभाग्यकी सराहना की।

भक्तोंकी लीलाएँ बड़ी विचित्र होती हैं। उनको समझनेके लिये प्रेमपूर्ण हृदय चाहिये। एक बार गोविन्ददासजी श्रीनाथजीके साथ गुल्ली खेल रहे थे, राजभोगका समय हो रहा था, भगवान् बिना दाँव दिये ही मन्दिरमें चले गये। गोविन्ददासने पीछा किया, श्रीनाथजीको गुल्ली मारी। प्रेमराज्यमें रमण करनेवाले सखाकी भावना मुखिया और पुजारियोंकी समझमें न आयी, उन्होंने उनको तिरस्कारपूर्वक मन्दिरसे बाहर निकाल दिया। गोविन्ददास रास्तेपर बैठ गये; उन्होंने सोचा कि श्रीनाथजी इसी मार्गसे जायँगे, बदला लेनेमें सुविधा होगी। उधर भगवान्के सामने राजभोग रखा गया। मित्र रूठकर चले गये, विश्वपतिके दरवाजेसे अपमानित होकर गये थे। भोगकी थाली पड़ी रह गयी, भोग अस्वीकार हो गया। सखा भूखे हों, रूठे हों और भगवान् भोग स्वीकार करें? असम्भव बात थी। मन्दिरमें हाहाकार मच गया, व्रजके रँगीले ठाकुर रूठ गये, उन्हें तो उनके सखा ही मना पायेंगे। विट्ठलनाथजीने गोविन्ददासकी बड़ी मनौती की, वे उनके साथ मन्दिर आ गये। भगवान्ने राजभोग स्वीकार किया, गोविन्ददासने भोजन किया, मित्रता भगवान्के पवित्र यशसे धन्य हो गयी।

एक बार पुजारी श्रीनाथजीके लिये राजभोगकी थाली ले जा रहा था; गोविन्ददासने कहा कि पहले मुझे खिला दो। पुजारीने गोसाईंजीसे कहा। गोविन्ददासने सख्यभावके आवेशमें कहा कि 'आपके लाला खा-पीकर मुझसे पहले ही गाय चराने निकल जाते हैं।' गोसाईंजीने व्यवस्था कर दी कि राजभोगके साथ-ही-साथ गोविन्ददासको भी खिला दिया जाय।

भगवान्को जो जिस भावसे चाहते हैं, वे उसी भावसे उनके वशमें हो जाते हैं। एक समय गोविन्ददासको श्रीनाथजीने प्रत्यक्ष दर्शन दिया। वे श्यामढाकपर बैठकर वंशी बजा रहे थे। इधर मन्दिरमें उत्थापनका समय हो गया था। गोसाईंजी स्नान करके मन्दिरमें पहुँच गये थे। श्रीनाथजी उतावलीमें वृक्षसे कूद पड़े, उनका बागा वृक्षमें उलझ कर फट गया। श्रीनाथजीका पट खुलनेपर गोसाईं विट्ठलनाथने देखा कि उनका बागा फटा हुआ है। बादमें गोविन्ददासने रहस्योद्घाटन किया, गोसाईंजीको साथ ले जाकर वृक्षपर लटका हुआ चीर दिखलाया। गोविन्ददासका सखाभाव सर्वथा सिद्ध था।

कभी-कभी कीर्तन-गानके समय श्रीनाथजी स्वयं उपस्थित रहते थे, एक बार उन्हें श्रीनाथजीने राधारानीसहित प्रत्यक्ष दर्शन दिये। श्रीनाथजी स्वयं पद गा रहे थे और श्रीराधाजी ताल दे रही थीं। गोविन्ददासने श्रीगोसाईंजीसे इस घटनाका स्पष्ट वर्णन किया।

श्रीनाथजी उनसे प्रकटरूपसे बात करते थे, पर देखनेवालोंकी समझमें कुछ भी नहीं आता था। एक समय शृङ्गारदर्शनमें श्रीनाथजीकी पाग ठीकरूपसे नहीं बाँधी गयी थी, गोविन्ददासने मन्दिरमें प्रवेश करके उनकी पाग ठीक की। भक्तोंके चरित्रकी विलक्षणताका पता भगवान्के भक्तोंको ही लगता है।

गोविन्दस्वामीने गोवर्धनमें एक कन्दराके निकट संवत् १६४२ वि० में लीला-प्रवेश किया। उन्होंने आजीवन श्रीराधा-कृष्णकी शृङ्गार-लीलाके पद गाये, भगवान्को अपनी सङ्गीत और काव्य-कलासे रिझाया।

भक्त श्रीनन्ददासजी

श्रीनन्ददास भक्तिरसके पूर्ण मर्मज्ञ और ज्ञानी थे। उनका जन्म वि० संवत् १५७० में हुआ था। गोसाईं विट्ठलनाथजीने उन्हें अष्टछापमें गौरवपूर्ण स्थान दिया था। उनके पिताका नाम जीवाराम और चाचाका आत्माराम था; वे शुक्ल ब्राह्मण थे, रामपुर ग्रामके निवासी थे। कहते हैं कि गोस्वामी तुलसीदासजी उनके गुरुभाई थे; नन्ददास उनको बड़ी प्रतिष्ठा, सम्मान और श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते थे। वे युवक होनेपर उन्हींके साथ काशीमें रहकर विद्याध्ययन किया करते थे। एक बार काशीसे एक वैष्णव-समाज भगवान् रणछोरके दर्शनके लिये द्वारका जा रहा था, नन्ददासने तुलसीदासजीसे आज्ञा माँगी; उन्होंने पहले तो जानेकी मनाही कर दी, पर बादमें नन्ददासने उनको पर्याप्त अनुनय-विनयसे प्रसन्न कर लिया। मथुरामें उन्होंने वैष्णव-समाजका साथ छोड़ दिया। वे वहाँसे द्वारकाके लिये स्वयं आगे बढ़े। दैवयोगसे वे रास्ता भूल गये। कुरुक्षेत्रके सन्निकट सीहनन्द नामक गाँवमें आ पहुँचे और वहाँसे किसी कारणवश पुनः श्रीवृन्दावनको लौट पड़े। नन्ददास भगवती कालिन्दीके तटपर पहुँच गये। यमुनादर्शनसे उनका लौकिक माया-मोहका बन्धन टूट गया। उन्होंने उस पार वृन्दावनके बड़े-बड़े मन्दिर देखे, अपने जन्म-जन्मके सखाका प्रेम-निकुञ्ज देखा। प्रियतमकी मुसकान यमुनातटकी धवल और परमोज्ज्वल बालुकामें बिखर रही थी, उन्हें व्रजदेवता प्रेमालिङ्गनके लिये बुला रहे थे। वैष्णव-परिवारसे गोसाईं विट्ठलनाथने पूछा कि 'ब्राह्मण देवता कहाँ रह गये?' लोग आश्चर्यचकित हो उठे। नन्ददासको अपने शिष्य भेजकर उन्होंने बुलाया, वे गोसाईंजीके परम पवित्र दर्शनसे धन्य हो उठे। गोसाईंजीने उनको नवनीतप्रियका दर्शन कराया, नन्ददासजीको दीक्षित किया; उन्हें देहानुसन्धान नहीं रह गया। चेत होनेपर नन्ददासकी काव्यवाणीने भगवान्‌की लीलारसानुभूतिका माङ्गलिक गान गाया। वे भागवत हो उठे, उनके हृदयमें शुद्ध भगवत्प्रेमकी भागीरथी बहने लगी। श्रीगोसाईं विट्ठलनाथने उन्हें गले लगाया। नन्ददासने गुरु-चरणकी वन्दना की, स्तुति की। उनकी भारतीके स्वरमय सरस कण्ठने गुरुकृपाके माधुर्यसे उपस्थित वैष्णव-मण्डलीको कृतार्थ कर दिया, वे गाने लगे—

श्रीबिट्ठल मंगल रूप निधान।
कोटि अमृत सम हँस मृदु बोलन, सब के जीवन प्रान॥
करुनासिंधु उदार कल्पतरु देत. अभय पद दान।
सरन आये की लाज चहूँ दिसि बाजे प्रकट निसान॥
तुमरे चरन कमल के मकरँद मन मधुकर लपटान।
'नंददास' प्रभु द्वारे रटत है, रुचत नहीं कछु आन॥

उन्होंने गोसाईंजीके चरण-कमलके स्थायी आश्रयके लिये उत्कट इच्छा प्रकट की। श्रीवल्लभनन्दनका दास कहलानेमें उन्होंने परम गौरव अनुभव किया। नन्ददासने उनके चरण-कमलोंपर सर्वस्व निछावर कर दिया। उनका मन भगवान् श्रीकृष्णमें पूर्ण आसक्त हो गया। उन्होंने गोवर्धनमें श्रीनाथजीका दर्शन किया। वे भगवान्‌की किशोर-लीलाके सम्बन्धमें पद-रचना करने लगे। श्रीकृष्णलीलाका प्राणधन रासरस ही उनकी काव्य-साधनाका मुख्य विषय हो गया। वे कभी गोवर्धन और कभी गोकुलमें रहते थे।

नन्ददास उच्च कोटिके कवि थे। उन्होंने सम्पूर्ण भागवतको भाषाका रूप दिया। कथावाचकों और ब्राह्मणोंने गोसाईं विट्ठलनाथसे कहा कि 'हमलोगोंकी जीविका चली जायगी।' गुरुके आदेशसे महाकवि नन्ददासने केवल व्रजलीला-सम्बन्धी पदोंके और प्रधान रूपसे रास-रसके वर्णनको बचा रखा, शेष भाषाभागवतको यमुनाजीमें बहा दिया। नन्ददास-ऐसे निःस्पृह और रसिक श्रीकृष्णभक्तका गौरव इस घटनासे बढ़ गया।

नन्ददासकी सूरदाससे बड़ी घनिष्ठता थी। महाकवि सूरने उनके बोधके लिये अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'साहित्य-लहरी'की रचना की थी। एक दिन महात्मा सूरने उनसे स्पष्ट कह दिया था कि 'अभी तुममें वैराग्यका अभाव है।' अतः महाकवि सूरकी आज्ञासे वे घर चले आये। कमला नामक कन्यासे उन्होंने विवाह कर लिया। अपने ग्रामका नाम श्यामपुर रखा, श्यामसर नामक एक तालाब बनवाया। वे आनन्दसे घरपर रहकर भगवान्‌की रसमयी

लीलापर काव्य लिखने लगे। पर उनका मन तो श्रीनाथजीके चरणोंपर न्योछावर हो चुका था, कुछ दिनोंके बाद वे गोवर्धन चले आये। वे स्थायीरूपसे मानसी गङ्गापर रहने लगे तथा शेष जीवन श्रीनाथजीकी सेवामें समर्पित कर दिया।

भगवान् श्रीकृष्णका यश-चिन्तन ही उनके काव्यका प्राण था। वे कहा करते थे कि 'जिस कवितामें हरिके यशका रस न मिले, उसे सुनना ही नहीं चाहिये।' भगवान् श्रीकृष्णकी रूप-माधुरीके वर्णनमें उन्होंने जिस योग्यताका परिचय दिया, वह अपने ढंगकी एक ही वस्तु है। नन्ददासने गोपी-प्रेमका अत्यन्त उत्कृष्ट आदर्श अपने काव्यमें निरूपित किया है। व्रज-काव्य-साहित्यमें रासरसका पारावार ही उनकी लेखनीसे उमड़ उठा। नित्य नवीन रासरस, नित्य गोपी और नित्य श्रीकृष्णके सौन्दर्य-माधुर्यमें ही वे रात-दिन सराबोर रहते थे। रसिकोंके सङ्गमें रहकर हरि-लीला गाते रहनेको ही वे जीवनका परमानन्द समझते थे। उनकी दृढ़ मान्यता थी—

रूप प्रेम आनंद रस जो कछु जग में आहि।
सो सब गिरिधर देव को, निधरक बरनौं ताहि॥

नन्ददासजीने संवत् १६४० वि० में गोलोक प्राप्त किया। वे उस समय मानसी गङ्गापर रहते थे। एक बार अकबरकी राजसभामें तानसेन नन्ददासका प्रसिद्ध पद *'देखौ देखौ री नागर नट निरतत कालिन्दी तट'* गा रहे थे। उसका अन्तिम चरण था—*'नन्ददास तहँ गावै निपट निकट।'* बादशाह आश्चर्यमें पड़ गये कि नन्ददास किस तरह 'निपट निकट' थे। वे बीरबलके साथ उनसे मिलनेके लिये मानसी गङ्गापर गये। अकबरने नन्ददाससे अपनी शङ्काका समाधान चाहा, नन्ददासके प्राण प्रेमविह्वल हो गये, उनकी कामनाने उनको अनुप्राणित किया।

मोहन पिय की मुसकनि, ढलकनि मोरमुकुट की।
सदा बसौ मन मेरे फरकनि पियरे पट की॥

उनके नेत्र सदाके लिये बंद हो गये। गोसाईं विट्ठलनाथने उनके सौभाग्यपूर्ण लीला-प्रवेशकी सराहना की। नन्ददास महारसिक प्रेमी भक्त थे।

भक्त श्रीछीतस्वामीजी

श्रीछीतस्वामी मथुराके चौबे थे, उनका जन्म लगभग संवत् १५७२ वि० में हुआ था। वे बाल्यावस्थासे ही नटखट और असाधु प्रकृतिके व्यक्ति थे। परंतु भक्तिके महान् आचार्य, परम भगवदीय गोसाईं विट्ठलनाथकी कृपा-सुधाने छीत चौबेको परम भक्त, हरिपरायण और रसिक भगवद्यशगायकमें रूपान्तरित कर लिया। ये बीस सालकी अवस्थामें गोसाईं विट्ठलनाथजीके शिष्य हो गये। उन दिनों श्रीविट्ठलनाथजीकी अलौकिक भक्ति-निष्ठाकी चर्चा चारों ओर तेजीसे फैल रही थी। कुछ साथियोंको लेकर छीत चौबेने उनकी परीक्षा लेनेके लिये गोकुलकी यात्रा की। गोसाईंजीके हाथमें सूखे नारियल और खोटे रुपयेकी भेंट रखी। नारियलमें गिरी निकल आयी और खोटा रुपया ठीक निकला। गोसाईंजीके दर्शनसे उनका मन बदल चुका था, उनके चमत्कारसे प्रभावित होकर उन्होंने क्षमा माँगी और कहा कि 'मुझे अपनी चरण-शरणके अभय दानसे कृतार्थ कीजिये। आप दयासिन्धु हैं, हरिभक्तिसुधादानसे मेरे पाप-तापका शमन करके भवसागरसे पार होनेका मन्त्र दीजिये। आपका प्रश्रय छोड़कर दूसरा स्थान मेरे लिये है भी तो नहीं; सागरसे सरिता मिलती है तो प्यासी थोड़े रह जाती है।' श्रीगोसाईंजी महाराजने उनको ब्रह्म-सम्बन्ध दिया, गुरुके पादपद्ममकरन्दके रसास्वादनसे प्रमत्त होकर छीतस्वामीने अपनी काव्य-भारतीका आवाहन किया—

भई अब गिरिधर सों पहिचान।
कपटरूप धरि छलिबे आये, पुरुषोत्तम नहिं जान॥
छोटौ बड़ौ कछू नहिं जान्यौ, छाय रह्यौ अग्यान।
'छीत' स्वामि देखत अपनायौ, बिट्ठल कृपानिधान॥

दीक्षा-ग्रहणके बाद उन्होंने नवनीतप्रियके दर्शन किये। उन्होंने गोसाईंजीसे घर जानेकी आज्ञा माँगी। कुछ कालके बाद वे स्थायीरूपसे गोवर्धनके निकट पूँछरी स्थानपर श्याम तमाल वृक्षके नीचे रहने लगे। वे श्रीनाथजीके सामने कीर्तन करते और उनकी लीलाके

सरस पदोंकी रचना करते थे। उनके पद सीधी-सादी सरल भाषामें हैं, व्रजभूमिके प्रति उनमें प्रगाढ़ अनुराग था। *'ए हो बिधिना! तो सों अँचरा पसारि माँगौं, जनम जनम दीजै याही ब्रज बसिबौ'* से उनकी व्रजक्षेत्रके प्रति आस्थाका पता चलता है। गोसाईं विट्ठलनाथजीने उनकी दृढ़ भक्ति और सरस पद-रचनासे प्रसन्न होकर उनको अष्टछापमें सम्मिलित कर लिया। वे निःस्पृहताके मूर्तिमान् रूप थे।

श्रीविट्ठलके लीला-प्रवेशके बाद संवत् १६४२ वि० में उन्होंने अपने निवासस्थानपर पूँछरीमें देह-त्याग कर दिया। उन्होंने पुष्टिमार्गके विकासमें महान् योग दिया।

भक्त श्रीचतुर्भुजदासजी

चतुर्भुजदासका जीवनचरित्र आजीवन चमत्कारों और अलौकिक घटनाओंसे सम्पन्न स्वीकार किया जाता है। उनका जन्म सं० १५७५ वि० में जमुनावतो ग्राममें हुआ था। वे पुष्टिमार्गके महान् भगवद्भक्त महात्मा कुम्भनदासजीके सबसे छोटे पुत्र थे। कुम्भनदासजीने बाल्यावस्थासे ही उनके लिये भक्तोंका सम्पर्क सुलभ कर दिया था। वे उनके साथ श्रीनाथजीके मन्दिरमें दर्शन करने भी जाया करते थे। पारिवारिक वातावरणका उनके चरित्र-विकासपर बड़ा प्रभाव पड़ा था। कुम्भनदासके सत्प्रयत्नसे गोसाईं विट्ठलनाथजीने चतुर्भुजदासको जन्मके इकतालीस दिनोंके बाद ही ब्रह्म-सम्बन्ध दे दिया था। वे बाल्यावस्थासे ही पिताकी देखा-देखी पद-रचना करने लगे थे, घरपर अनासक्तिपूर्वक रहकर खेती-बारीका भी काम सँभालते थे। श्रीनाथजीकी सेवामें उनका मन बहुत लगता था। बाल्यावस्थासे ही भगवान्‌की अन्तरङ्ग लीलाओंकी उन्हें अनुभूति होने लगी थी, उन्हींके अनुरूप वे पद-रचना किया करते थे। उनकी काव्य और संगीतकी निपुणतासे प्रसन्न होकर श्रीविट्ठलनाथजीने उनको अष्टछापमें सम्मिलित कर लिया था। वृद्ध पिताके साथ अष्टछापके कवियोंमें एक प्रमुख स्थान प्राप्त करना उनकी दृढ़ भगवद्भक्ति, कवित्वशक्ति और विरक्तिका परिचायक है।

ब्रह्म-सम्बन्धसे गौरवान्वित होनेके बाद वे अपने पिताके साथ जमुनावतोमें ही रहा करते थे। नित्य उनके साथ श्रीनाथजीकी सेवा और कीर्तन तथा दर्शनके लिये गोवर्धन आया करते थे। कभी-कभी गोकुलमें नवनीतप्रियके दर्शनके लिये भी जाते थे, पर श्रीनाथजीका विरह उनके लिये असह्य हो जाया करता था।

श्रीनाथजीमें उनकी भक्ति सखाभावकी थी। भगवान् उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन देकर साथमें खेला करते थे। भक्तोंकी इच्छापूर्तिके लिये ही भगवान् अभिव्यक्त होते हैं। श्रीविट्ठलनाथजी महाराजकी कृपासे चतुर्भुजदासको प्रकट और अप्रकट लीलाका अनुभव होने लगा। एक समय श्रीगोसाईंजी भगवान्‌का शृङ्गार कर रहे थे, दर्पण दिखला रहे थे, चतुर्भुजदासजी रूप-माधुरीका आस्वादन कर रहे थे। उनके अधरोंकी भारती मुसकरा उठी—

'सुभग सिंगार निरखि मोहन कौ
ले दर्पन कर पियहि दिखावैं॥'

भक्तकी वाणीका कण्ठ पूर्णरूपसे खुल चुका था, उनका मन भगवान्‌के पादारविन्द-मकरन्दके मदसे उन्मत्त था, उनके नयनोंने विश्वासपूर्वक सौन्दर्यका चित्र उरेहा—

माई री आज और, काल और,
छिन छिन प्रति और और॥

भगवान्‌के नित्य-सौन्दर्यमें अभिवृद्धिकी रेखाएँ चमक उठीं। भगवान्‌का सौन्दर्य तो क्षण-क्षणमें नवीनतासे अलङ्कृत होता रहता है। यही तो उसका वैचित्र्य है। लीला-दर्शन करनेवालेको भगवान् सदा नये-नये ही लगते हैं।

एक समय गोसाईं विट्ठलनाथ गोकुलमें थे। गोसाईंजीके पुत्रोंने परासोलीमें रासलीलाकी योजना की। उस समय श्रीगोकुलनाथजीने चतुर्भुजदाससे पद गानेका अनुरोध किया। चतुर्भुजदास तो रससम्राट् श्रीनाथजीके सामने गाया करते थे। भक्त अपने भगवान्‌के विरहमें ही लीन थे। श्रीनाथजीने चतुर्भुजदासपर कृपा की। श्रीगोकुलनाथने उनसे गानेके लिये फिर कहा और विश्वास दिलाया कि आपके पदको भगवान् प्रकटरूपसे सुनेंगे। चतुर्भुजदासने

पद गाना आरम्भ किया।

भक्त गाये और भगवान् प्रत्यक्ष न सुनें, यह कैसे हो सकता है। उनकी यह दृढ़ प्रतिज्ञा है कि मेरे भक्त जहाँ गाते हैं, वहाँ मैं उपस्थित रहता हूँ। भगवान् प्रकट हो गये, पर उनके दर्शन केवल चतुर्भुजदास और श्रीगोकुलनाथको ही हो सके। गोकुलनाथजीको विश्वास हो गया कि भगवान् भक्तोंके हाथमें किस तरह नाचा करते हैं। चतुर्भुजदासने गाया—

'अदभुत नट वेष धरें जमुना तट।
स्यामसुँदर गुननिधान॥
गिरिबरधरन रास रँग नाचे।'

रात बढ़ती गयी, देखनेवालोंके नयनोंपर अतृप्तिकी वारुणी चढ़ती गयी।

भक्तकी प्रसन्नता और संतोषके लिये भगवान् अपना विधान बदल दिया करते हैं। एक समय श्रीविट्ठलनाथजीने विदेश-यात्रा की, उनके पुत्र श्रीगिरिधरजीने श्रीनाथजीको मथुरामें अपने निवास-स्थानपर पधराया। चतुर्भुजदासजी श्रीनाथजीके विरहमें सुध-बुध भूलकर गोवर्धनपर एकान्त स्थानमें हिलग और विरहके पद गाया करते थे। श्रीनाथजी सन्ध्या समय नित्य उन्हें दर्शन दिया करते थे। एक दिन वे पूर्णरूपसे विरहविदग्ध होकर गा रहे थे—

'श्रीगोबर्धनवासी साँवरे लाल,
तुम बिन रह्यौ न जाय हो।'

भगवान् भक्तकी मनोदशासे स्वयं व्याकुल हो उठे। उन्होंने गिरिधरजीको गोवर्धन पधरानेकी प्रेरणा दी। चतुर्दशीको एक पहर रात शेष रहनेपर कहा कि 'आज राजभोग गोवर्धनपर होगा।' भगवान्‌की लीला सर्वथा विचित्र है। नरसिंहचतुर्दशीको वे गोवर्धन लाये गये। राजभोगमें विलम्ब हो गया, राजभोग और शयन-भोग साथ-ही-साथ दोनों उनकी सेवामें रखे गये। नरसिंहचतुर्दशीको वे उसी दिनसे दो राजभोगकी सेवासे पूजित होते हैं।

उनका देहावसान संवत् १६४२ वि० में रुद्रकुण्डपर एक इमलीके वृक्षके नीचे हुआ था। वे शृङ्गारमिश्रित भक्ति-प्रधान कवि, रसिक और महान् भगवद्भक्त थे।

राजा आसकरणजी

गोसाईं विट्ठलनाथके दीक्षित शिष्य परम भगवदीय राजा आसकरण एक ऐसे ही सौभाग्यशाली जीव थे, जिन्हें भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं अपनी अनेक लीलाओंका साक्षात्कार कराया था।

राजा आसकरण नरवरगढ़के राजा थे। सम्राट् अकबरके समकालीन थे। बाल्यावस्थासे ही भगवद्भक्तिकी माधुरी और संगीतकी सरसताके आस्वादनमें उनकी विशेष अभिरुचि थी। उनकी राजसभामें सुदूर प्रान्तोंसे कवि, कलाकार और गायक आया करते थे। एक बार संगीतसम्राट् तानसेन उनकी राजसभामें पहुँच गये। उनकी संगीत-माधुरीमें राजा आसकरण भाव-निमग्न हो गये और मन्त्रमुग्धकी तरह उनका विष्णुपद सुनने लगे। तानसेन गोविन्दस्वामीका पद गा रहे थे; भाव यह था कि शरद्-रात्रिकी दिव्य ज्योत्स्नामें श्रीकृष्ण राधाजीके साथ बैठकर रसभरी बातें कर रहे हैं, शीतल-मन्द-सुगन्ध समीर बह रहा है, कोयल मीठी बोली बोल रहे हैं तथा भौंरे नव निकुञ्जकी कलिकाओंका रसास्वादन कर रहे हैं·········' राजा आसकरण ध्यानस्थ हो गये। वे तानसेनके साथ गोविन्दस्वामीका दर्शन करनेके लिये व्रज आये।

अपार समृद्धि, विशाल राजप्रासाद, असीम अधिकारपर लात मारकर आसकरणने भगवान् श्रीकृष्णकी सभाके गायकसे मिलनेमें गौरवानुभूति की। गोकुल पहुँचकर तानसेनकी प्रेरणासे उन्होंने श्रीविट्ठलनाथसे दीक्षा ली। उनके साथ ही वे नवनीतप्रियके दर्शनके लिये गये। उस समय गोविन्दस्वामी नवनीतप्रियके सामने कीर्तन कर रहे थे। सावनका महीना था। मलारकी सरसता मन्दिरमें पूर्णरूपसे प्रवाहित हो रही थी। राजाने समझ लिया कि गोविन्दस्वामी ही गा रहे हैं। वे पदका भाव-चिन्तन

करने लगे। नयन बंद थे। राजाने ध्यानमें मग्न होकर देखा कि 'परम पवित्र कालिन्दीके तटपर श्रीराधाकृष्ण कुसुम-चयन कर रहे हैं। आकाशमें काली-काली घटाएँ उमड़ रही हैं। कुछ बूँदें भी पड़ने लगीं। नन्दनन्दन राधारानीके साथ वंशीवटकी ओर जा रहे हैं, उनका पीत पट लहरा रहा है, रासेश्वरीकी नीली चूनरी चारों ओर झिलमिल-झिलमिल करती हुई अत्यन्त मोहिनी छटा बिखेर रही है। कितना मादक दृश्य था। राधारानीकी कृपामृत-लहरीसे आसकरणकी समाधि लग गयी। कुछ देरके बाद चेत होनेपर वे गोविन्दस्वामीसे मिले। वे जबतक व्रजक्षेत्रमें रहे; नित्य गोविन्दस्वामीके साथ रमणरेतीमें विचरण किया करते थे। कुछ दिनोंके बाद गोसाईंजीकी आज्ञासे वे नरवर लौट आये। गुरुने उनको मदनमोहनजीकी सेवा सौंपी थी। नरवर आनेपर उन्होंने राजकार्य दीवानको सौंप दिया, भगवान्‌की सेवामें उनके दिन बीतने लगे। उनकी मानसी सेवा सिद्ध थी। उनका मन राजपदसे ऊब गया था।

राजा आसकरणको राज्य-सुख अधिक दिनोंतक मोहमें न रख सका। वे तो भगवान्‌के सच्चे भक्त थे। राजकार्य भतीजेको सौंपकर भगवान् श्रीकृष्णकी राजधानी वृन्दावनकी ओर चल पड़े। कुछ दिनोंतक गोकुलमें भी रहे। उन्हें समय-समयपर भगवान्‌की लीलाके प्रत्यक्ष दर्शन होने लगे। वे लीला-दर्शनके अनुरूप पद-रचना करके अपनी वाणीको भगवत्-रससे सींचने लगे।

एक बार राजा आसकरण स्नान करने जा रहे थे। भगवान्‌ने रमणरेतीमें वंशी बजायी। सलोने श्यामसुन्दर उस समय रंगोत्सवमें मस्त थे। होली खेल रहे थे। राजाने उनकी रंगभरी छवि-माधुरीके स्तवनमें गाया, धमारकी स्वरभरी मीठी ध्वनिसे लीलास्थलका एक-एक कण रसमय हो उठा। उनकी भारतीका कण्ठ खुल गया।

'या गोकुल के चौहटे रँग राची ग्वाल।
मोहन खेले फाग....................॥'

लीला तो समाप्त हो गयी, पर संगीतका क्रम चलता ही रहा। वे तीन दिनतक अचेत पड़े रहे। उन्हें भगवल्लीलाका साक्षात्कार हो गया था। गोसाईंजीने उन्हें स्वतन्त्रतापूर्वक व्रज-भ्रमणकी आज्ञा दे दी। वे उन्मत्त होकर भगवान्‌के यश-कीर्तन और लीला-गानमें दिन बिताने लगे। नयनोंमें भगवान्‌की छवि-वारुणीका ऐसा प्रभाव था कि कोटि प्रयत्न करनेपर भी वह न उतरता। खाने-पीनेकी कुछ भी चिन्ता नहीं रहती थी। वे उच्चकोटिके रसिक भक्त थे। लीलारसामृतका पान ही उन्हें निश्चिन्त कर देता था। एक बार यशोदाजी अपने बाल-गोपालको दूध पिला रही थीं। सोनेके कटोरेमें औटा दूध लेकर ग्वाल-बालोंकी मण्डलीमें खेलते हुए घनश्यामको नन्दरानी दूध पीनेके लिये बार-बार बुला रही थीं। आसकरणके नयन इस पवित्र लीलाका दर्शन करके धन्य हो गये।

एक समय उन्हें भगवान्‌की शयन-लीलाका विचित्र दर्शन हुआ। उन्होंने देखा कि भगवान् निकुञ्जमें कोमल शय्यापर अपने नयनोंमें मीठी नींद भरकर ऊँघ-से रहे हैं, भगवान् सो नहीं रहे हैं। भक्तका हृदय विकल हो उठा, उन्होंने मीठी वाणीसे उनकी मनुहार करनी आरम्भ की—

'तुम पौढ़ौ, हौं सेज बनाऊँ।
चापैं चरन, रहैं पायन तर, मधुरे स्वर केदारौ गाऊँ॥
....।
'आसकरन' प्रभु मोहन नागर यह सुख स्याम सदा हौं पाऊँ॥'

भगवान् भक्तकी प्रसन्नताके लिये सो गये। आसकरण उनके मुखकी माधुरीमें लीन हो गये। इसी तरह उन्हें सदा भगवान्‌की लीलाके दर्शन होते रहते थे। राजा आसकरण वास्तवमें राजर्षि थे। वे भगवान्‌के लीलागायक, रसिक कवि और अनन्य भक्त थे।

भक्त श्रीआशुधीरजी

(लेखक—पं० श्रीश्यामसुन्दरजी चतुर्वेदी शास्त्री, साहित्यरत्न)

वीतराग अनन्य भक्त श्रीआशुधीरजीका जन्म वि० सं० १४८० के लगभग सारस्वत वंशमें हुआ। आप वृन्दावनके पुलिनमें सदैव विश्राम किया करते थे, अतः उस स्थानका नाम भी 'धीर समीर' पड़ गया। वह स्थान इतना दिव्य और पुनीत है कि उसके विषयमें एक संस्कृत कविने तो यहाँतक कह दिया कि—

'धीरसमीरे यमुनातीरे वसति सदा वनमाली।'

गायक-सम्राट् तानसेनके गुरु स्वामी हरिदासजी तो आपके एक दोहेको सुनकर ही सर्वस्व त्यागकर आपके शिष्य हो गये और अन्तमें भगवत्-सान्निध्य प्राप्त कर ही लिया। बात इस प्रकार थी कि युवावस्थामें हरिदासजी एक श्रेष्ठ अश्वपर चढ़कर वृन्दावनमें भ्रमण कर रहे थे। अश्वकी टापोंसे वृन्दावन खुद रहा था, इसे देखकर भावुक भक्तका चित्त विचलित हो उठा और वे कह ही तो बैठे—

नहिं पावत ब्रह्मादि सुर बिलसत जुगल सिहाय।
अस कल कोमल भूमि पै तुरँग फिरावत हाय॥

दोहेको सुनते ही हरिदासजीकी दिव्य दृष्टि हो गयी और वृन्दावन उन्हें दिव्य रत्नजटित दीखने लगा। तुरंत ही अश्व छोड़कर उन्होंने सदैवके लिये स्वामीजीके चरण पकड़ लिये और अन्तमें युगल श्रीकुञ्जविहारीका प्रत्यक्ष दर्शन किया। उनके विषयमें किंवदन्तियाँ भी बहुत प्रसिद्ध हैं।

प्रयागमें कुम्भका पर्व था। वृन्दावनसे बहुत-से महात्मा दर्शन-स्नानके लिये जा रहे थे। आशुधीरजीने भी ५ सुपारी एक साधुको देकर कह दिया कि गङ्गाजीको दे देना। वे साधु स्नान करके गङ्गातटपर विचार करने लगे कि मुझे चढ़ानेको तो कहा नहीं है, देनेको कहा है। वे तुरंत ही गङ्गाजीको पुकारने लगे। गङ्गाजीने आवाज सुनकर जलसे बाहर दक्षिण भुजा पसार दी और सुपारी लेकर अन्तर्धान हो गयीं।

इनके विषयमें किसी सामयिक कविने प्रशंसामें यह छन्द कहा था—

'निंबारक बंस अवतंस तामे हंसवत
अमित प्रसंस रति मति गति ग्राम हैं।
पंडित अखंडित हैं, बेदमति मंडित हैं,
राम सौं न काम किंतु धारी उर राम हैं॥
तिलक बिसाल भाल, रसिक रसाल रस
परम कृपालु, पर औगुन कों खाम हैं।
ललित ललाम स्याम स्यामा सुखधाम नाम
लेत आठौं जाम आसुधीर अभिराम हैं॥'

आपके ५२ शिष्य हुए, जिनमें स्वामी हरिदासजी प्रमुख हैं, जिनसे तानसेनजीने सङ्गीत सीखा। निकुञ्जवास आपका लगभग सोलहवीं शताब्दीका उत्तरार्ध है। आज भी आपका स्थान 'टट्टीस्थान' के नामसे दर्शनीय तथा प्रसिद्ध है।

भक्त श्रीपतिजी

(लेखक—श्रीमदनमोहनजी खण्डेलवाल)

भक्त श्रीपतिजी बादशाह अकबरके दरबारी कवि थे। पर वे कभी बादशाहकी प्रशंसामें कोई कविता नहीं करते थे। उनका विश्वास सर्वथा उन परम पिता परमात्मापर ही था। वे हर समय भगवान्की असीम कृपाका ही अनुभव किया करते थे। अतः वे सर्वथा निडर हो चुके थे।

दरबारके अन्यान्य कवि स्वार्थवश बादशाहके गुणानुवादमें ही लगे रहते थे। मानो भगवान्की सत्ताको वे भूल ही गये थे। पर बादशाह गुणग्राही थे। वे कभी-कभी भक्तवर श्रीपतिजीकी कवितापर प्रसन्न होकर उन्हें पुरस्कार दे दिया करते थे। इससे अन्य कविलोग श्रीपतिजीसे जलते थे तथा उन्हें नीचा दिखानेकी सोचते रहते थे।

एक बार सबने मिलकर भक्तवर श्रीपतिजीको नीचा दिखानेकी एक युक्ति सोच निकाली। बादशाह अकबरका दरबार हो रहा था। बादशाहके सामने सब कवियोंने

(केवल भक्तवर श्रीपतिजीको छोड़कर) यह प्रस्ताव रखा कि आगामी दिन सब कवि नये-नये छन्द सुनायें और प्रत्येकको अन्तिम पंक्तिमें अन्तिम वाक्य रहे—*'करौ मिलि आस अकब्बर की।'* सबने स्वीकार किया। दूसरे दिन दरबारमें लोगोंकी बड़ी भीड़ थी। सभी दरबारियोंकी दृष्टि भक्तवर श्रीपतिजीपर ही थी। पर भक्तवर अपने प्रभुके आनन्दमें मग्न थे। उन्हें किसी भी बातका भय नहीं था। सदाकी भाँति वे अपने स्थानपर निश्चिन्त बैठे थे तथा निःसङ्कोच अपने प्रभुको स्मरण कर रहे थे।

सब कवियोंने बादशाहकी प्रशंसामें अपनी-अपनी कविताएँ सुनायीं। तत्पश्चात् भक्तवर श्रीपतिजीकी बारी आयी। लोगोंने सोच रखा था कि आज श्रीपतिको अपना व्रत तोड़ना ही पड़ेगा। भक्तवर श्रीपतिजी मुसकराते हुए उठे और उन्होंने निम्नलिखित स्वरचित कवित्त सुनाया—

अब के सुलतां फनियान समान हैं, बाँधत पाग अटब्बर की,
तजि एक को दूसरे को जो भजै, कटि जीभ गिरै वा लब्बर की।
सरनागत 'श्रीपति' श्रीपति की, नहिं त्रास है काहुहि जब्बर की,
जिन को हरि की कछु आस नहीं, सो करौ मिलि आस अकब्बर की॥

—इस कवित्तको सुनते ही समस्त दरबारियोंके मुख कमलकी तरह खिल उठे। षड्यन्त्रकारियोंके मुखोंपर वैसे ही रुखाई छा गयी, जैसे पानी पड़नेपर जवासेका पौधा सूख जाता है। बादशाह बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने भक्त श्रीपतिजीको इनाम देकर उनका सम्मान किया।
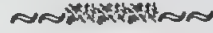
भक्त रसखान

रसखानका सम्बन्ध बादशाही वंशसे था, वे दिल्लीके एक समृद्धिशाली पठान थे। उनका जन्म लगभग सं० १६४० वि० में हुआ था। उनकी भाषा पर्याप्त परिमार्जित और सरस तथा काव्योचित थी; व्रजभाषामें जितनी उत्तमतासे अपने हृदयके भाव वे व्यक्त कर सके, उतना और कवियोंके लिये कष्टसाध्य था। उनकी परमोत्कृष्ट विशेषता यह थी कि उन्होंने अपने लौकिक प्रेमको भगवत्प्रेममें रूपान्तरित कर दिया, असार संसारका परित्याग करके सर्वथा नन्दकुमारके दरबारके सदस्य हो गये। एक समय कहीं भागवत-कथामें उपस्थित थे। व्यासगद्दीके पास श्यामसुन्दरका चित्र रखा हुआ था। उनके नयनोंमें भगवान्‌का रूपमाधुर्य समा गया। उन्होंने प्रेममयी मीठी भाषामें व्याससे भगवान् श्रीकृष्णका पता पूछा और व्रजके लिये चल पड़े। रासरसिक नन्दनन्दनसे मिलनेके लिये विरही कविका हृदय-बीन बज उठा,वे अपनी प्रेमिकाकी बात सोचते जाते थे; अभी थोड़े ही समय पहले उसने कहा था कि जिस तरह तुम मुझे चाहते हो, उसी तरह यदि श्रीकृष्णको चाहते तो भवसागरसे पार उतर जाते। पैर और वेगसे आगे बढ़ने लगे; उसी तरह नहीं—उससे भी अधिक चाहनेके लिये वे श्रीकृष्णकी लीलाभूमिमें जा रहे थे। अभी उन्होंने कल ही भागवतके फारसी अनुवादमें गोपी-प्रेमके सम्बन्धमें विशेषरूपसे प्रेममयी स्फूर्ति पायी थी। उन्होंने अपने मनको बार-बार धिक्कारा, मूर्खने लोक-बन्धनमें मुक्ति-सुख मान लिया था। उनके कण्ठमें भक्तिकी मधुर रागिनीने अमृत घोल दिया। व्रजरजका मस्तकसे स्पर्श होते ही, भगवती कालिन्दीके जलकी शीतलताके स्पर्श-सुखसे उन्मत्त समीरके मदिर कम्पनकी अनुभूति होते ही, श्याम-तमालसे अरुझी लताओंकी हरियालीका नयनोंमें आलोडन होते ही वे अपनी सुधि-बुधि खो बैठे। संसार छूट गया, भगवान्‌में मन रम गया, उन्होंने वृन्दावनके ऐश्वर्यकी स्तुति की, भक्तिका भाष्य किया; उन्होंने वृन्दावनके जड-जीव, चेतन और जङ्गममें आत्मानुभूतिकी आत्मीयता देखी। पहाड़, नदी और विहंगोंसे अपने जन्म-जन्मान्तरका सम्बन्ध जोड़ा। वे कह उठे—

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहू पुर कौ तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवौं निधि कौ सुख नंद की गाय चराय बिसारौं॥
'रसखान' सदा इन नयननिं सौं ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिन हू कलधौत के धाम करील की कुंजन ऊपर वारौं॥

कितना अद्भुत आत्मसमर्पण था, भावमाधुर्य था। प्रेमसुधाका निरन्तर पान करते वे व्रजकी शोभा देख रहे थे। उनके पैरोंमें विरक्तिकी बेड़ी थी, हाथोंमें अनुरक्तिकी हथकड़ी थी,

हृदयमें भक्तिकी बन्धन-मुक्ति थी। रसखानके दर्शनसे व्रज धन्य हो उठा। व्रजके दर्शनसे रसखानका जीवन सफल हो गया। वे गोवर्धनपर श्रीनाथजीके दर्शनके लिये मन्दिरमें जाने लगे, द्वारपालने धक्का देकर निकाल दिया, श्रीनाथजीके नयन रक्त हो उठे। इधर रसखानकी स्थिति विचित्र थी, उन्हें अपने प्राणेश्वर श्यामसुन्दरका भरोसा था। अन्न-जल छोड़ दिया, न जाने किन पापोंके फलस्वरूप पौरियाने मन्दिरसे निकाल दिया था। तीन दिन बीत गये, भक्तके प्राण कलप रहे थे। उधर भगवान् भी भक्तकी भावनाके अनुसार विकल थे। रसखान पड़े-पड़े सोच रहे थे—

देस बिदेस के देखे नरेसन, रीझि की कोउ न बूझ करैगौ।
तातें तिन्हें तजि जान गिरयौ गुन सौं गुन औगुन गाँठि परैगौ॥
बाँसुरीवारौ बड़ौ रिझवार है स्याम जो नैकु सुढार ढरैगौ।
लाड़िलौ छैल वही तो अहीर कौ पीर हमारे हिये की हरैगौ॥

अहीरके छैलने उनके हृदयकी वेदना हर ही तो ली। भगवान्ने साक्षात् दर्शन दिये, उसके बाद गोसाईं श्रीविट्ठलनाथजीने उनको गोविन्दकुण्डपर स्नान कराकर दीक्षित किया, रसखान पूरे 'रसखानि' हो गये। भगवान्के प्रति पूर्णरूपसे समर्पणका भाव उदय हुआ। रसखानकी काव्य-साधना पूरी हो गयी। उनके नयनोंने गवाही दी—

ब्रह्म मैं ढूँढ्यौं पुराननि गाननि, वेद रिचा सुनि चौगुने चायन।
देख्यौं सुन्यौं कबहूँ न कितूँ वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन॥
टेरत टेरत हारि परयौ 'रसखान' बतायौ न लोग लुगायन।
देख्यौं, दुरयौ वह कुंज कुटीर में बैठ्यौ पलोटतु राधिका पायन॥

शेष, गणेश, महेश, दिनेश और सुरेश जिनका पार नहीं पा सके, वेद अनादि, अनन्त, अखण्ड, अभेद कहकर नेति-नेतिके भ्रमसागरमें डूब गये, उनके स्वरूपका इतना भव्य रसमय दर्शन जिस सुन्दर रीतिसे रसखानने किया, वह इतिहासकी एक अद्भुत घटना है। भक्ति-साहित्यका रहस्यमय वैचित्र्य है। वे आजीवन व्रजमें ही भगवान्की लीलाको काव्यरूप देते हुए विचरण करते रहे। भगवान् ही उनके एकमात्र स्नेही, सखा और सम्बन्धी थे। पैंतालीस सालकी अवस्थामें उन्होंने भगवान्के दिव्य धामकी यात्रा की। प्रेमदेवता राधारमणने अन्तिम समयमें उनको दर्शन दिया था। उन्होंने भगवान्के सामने यही कामना की, विदा-वेलामें केवल इतना ही निवेदन किया—

मानुस हौं तौ वही 'रसखान' बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तौ कहा बस मेरौ चरौं नित नंद की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तौ वही गिरि कौ जो धरयौ कर छत्र पुरंदर धारन।
जो खग हौं तो बसेरौ करौं नित कालिंदी कूल कदंब की डारन॥

भक्तके हृदयकी विवशताका कितना मार्मिक आत्मनिवेदन है यह। भगवान्की लीलासे सम्बद्ध दृश्यों, स्थलों, जीवोंके प्रति कितनी समीचीन आत्मीयता है! भगवान्के सामने ही उनके प्राण चल बसे। जिनके चरणोंकी रजके लिये कोटि-कोटि जन्मोंतक मृत्युके अधिदेवता यम तरसा करते हैं, उन्होंने भक्तकी कीर्तिको समुज्ज्वलतम और नितान्त अक्षुण्ण रखनेके लिये अपने ही हाथोंसे अन्त्येष्टि-क्रिया की। प्रभुकी कृपाका अन्त पाना कठिन है, असम्भव है। प्रेमके साम्राज्यमें उनकी कृपाका दर्शन रसखान-जैसे भक्तोंके ही सौभाग्यकी बात है।

रसिकशेखर स्वामी हरिदासजी

पाँच सौ साल पहलेकी बात है, वृन्दावनसे आधे कोसकी दूरीपर राजपुर गाँवमें सं० १५३७ वि० के लगभग स्वामी हरिदासजीका जन्म हुआ। उनके पिताका नाम गंगाधर और माताका चित्रादेवी था। वे ब्राह्मण थे। बाल्यावस्थासे ही उन्हें भगवान्की लीलाके अनुकरणके प्रति प्रेम था और वे खेलमें भी विहारीजीकी सेवायुक्त क्रीड़ामें ही तत्पर रहते थे। माता-पिता भगवान्के सीधे-सादे भक्त थे, हरिदासके चरित्र-विकासपर उनके सम्पर्क और सङ्ग तथा शिक्षा-दीक्षा और रीति-नीतिका विशेष प्रभाव पड़ा। हरिदासका मन घर-गृहस्थीमें बहुत ही कम लगता था, वे उपवनोंमें, सर-सरिताके तटपर और एकान्त स्थानोंमें विचरण किया करते थे। एक दिन अवसर पाकर पचीस वर्षकी अवस्थामें एक विरक्त वैष्णवकी तरह वे घरसे अचानक निकल पड़े। माता-पिताका स्नेह भगवदनुरागकी रसमयी सीमामें बढ़नेसे उन्हें रोक न सका। परिवार-सुख वैराग्यकी अचल नींवको न हिला सका। बचपनमें उन्हें काव्य और सङ्गीतकी सुन्दर शिक्षा मिली थी, इन दोनों कलाओंके

अभ्यासका सुख उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंपर निछावरकर उनके सरस यश-गानको ही अपनी साधनाकी परमोत्कृष्ट सिद्धि समझा। वे घरसे सीधे वृन्दावन आये, अपने उपास्यदेवता विहारीजीके दर्शन किये और उन्हींके शरणागत होकर निधिवनमें रहने लगे। आशुधीरजी उनके दीक्षा-गुरु थे। धीरे-धीरे उनके त्याग, निःस्पृहता, रसोपासना और सङ्गीतदक्षताकी प्रसिद्धि चारों ओर भक्त, संत तथा सङ्गीतज्ञ मण्डलीमें व्याप्त हो गयी। लोग उनके सरस चमत्कार और गम्भीर जीवनचर्यासे आकृष्ट होकर सुदूर प्रान्तोंसे दर्शनके लिये आने लगे। शिष्योंकी संख्या बढ़ने लगी।

भावावेशमें सदा उनकी सहज समाधि-सी लगी रहती थी। प्रिया-प्रियतम श्रीराधा-कृष्णके सौन्दर्य और माधुर्यके महासागरमें वे रात-दिन डूबे रहते थे। उनका वही अचल धन था। उन्होंने बड़ी सरलतासे भगवान्का स्तवन करते हुए कहा है—'हरि! तुम जिस तरह हमें रखना चाहते हो, उसी तरह रहनेमें हमें सन्तोष है।' उनका पूर्ण विश्वास था कि सब कुछ विहारी-विहारिनिजीकी कृपासे ही होता है। हरिदास निम्बार्क सम्प्रदायके अनुयायी थे, उनकी उपासना सखीभावकी थी और भक्ति शृङ्गारमूलक रासेश्वरकी सौन्दर्य-निष्ठाकी प्रतीक थी। उनके सिद्धान्तसे भोक्ता केवल भगवान् हैं और समस्त चराचर उनका भोग्य है। उनकी कुटीके सामने दर्शनके लिये बड़े-बड़े राजा-महाराजाओंकी भीड़ लगी रहती थी, पर उन्होंने कभी किसीकी मुँहदेखी नहीं की। करका करवा ही उनका एकमात्र सामान था।

एक बार वे भगवती यमुनाकी रेतीमें बैठे हुए थे। वसन्त-ऋतुका यौवन अपनी पराकाष्ठापर था। चारों ओर कोयलकी सुरीली और मीठी कण्ठध्वनि कुञ्ज-कुञ्जमें अनुपम उद्दीपनका संचार कर रही थी। लताएँ कुसुमित होकर पादपोंके गाढ़ालिङ्गनमें शयन कर रही थीं, वृन्दावनके मन्दिरोंमें धमारकी धूम थी। रसिक हरिदासका मन डोल उठा। उनके प्राणप्रिय रास-विहारी और उनकी रासेश्वरी श्रीराधारानीकी कृपादृष्टिकी मनोरम दिव्यता उनके नयनोंमें समा गयी, वृन्दावनकी चिन्मयताकी आरसीमें अपने उपास्यकी झाँकी करके वे ध्यानस्थ हो गये। उन्हें तनिक भी बाह्य ज्ञान नहीं था, वे मानस-जगत्की सीमामें भगवदीय कान्तिका दर्शन करने लगे। भगवान् राधारमण रंगोत्सवमें प्रमत्त होकर राधारानीके अङ्ग-अङ्गको करमें कनक पिचकारी लेकर सराबोर कर रहे थे। ललिता, विशाखा आदि रासेश्वरीकी ओरसे नन्दनन्दनपर गुलाल और अबीर फेंक रही थीं, यमुना-जल रंगसे लाल हो चला था, बालुकाओंमें गुलाल और बुक्केके कण चमक रहे थे। भगवान् होली खेल रहे थे। हरिदासके प्राणोंमें रंगीन चेतनाएँ लहराने लगीं। नन्दनन्दनके हाथकी पिचकारी छूट ही तो गयी, हरिदासके तन-मन भगवान्के रंगमें शीतल हो गये, उनका अन्तर्देश गहगहे रंगमें सराबोर था। भगवान्ने भक्तको ललकारा। हरिदासने भगवान्के पीताम्बरपर इत्रकी शीशी उड़ेल दी। इत्रकी शीशी जिसने भेंट की थी, वह तो उनके इस चरित्रसे आश्चर्यचकित हो गया। जिस वस्तुको उसने इतने प्रेमसे प्रदान किया था, उसे उन्होंने रेतीमें छिड़ककर अपार आनन्दका अनुभव किया। रसिक हरिदासकी आँखें खुलीं, उन्होंने उस व्यक्तिकी मानसिक वेदनाकी बात जान ली और शिष्योंके साथ श्रीविहारीजीके दर्शनके लिये भेजा। उस व्यक्तिने विहारीजीका वस्त्र इत्रसे सराबोर देखा और देखा, पूरा मन्दिर विलक्षण सुगन्धसे परिपूर्ण था। वह बहुत लज्जित हुआ; पर भगवान्ने उसकी परम प्यारी भेंट स्वीकार कर ली, यह सोचकर उसने अपने सौभाग्यकी सराहना की।

एक बार एक धनी तथा कुलीन व्यक्तिने हरिदाससे दीक्षित होनेकी इच्छा प्रकट की और उन्हें पारस भेटस्वरूप दिया। हरिदासने पारसको पत्थर कहकर यमुनाजीमें फेंक दिया और उसे शिष्य बना दिया।

अपने दरबारी गायक भक्तवर तानसेनसे एक बार सम्राट् अकबरने पूछा था—'क्या तुमसे बढ़कर भी कोई गानेवाले व्यक्ति हैं?' तानसेनने विनम्रतापूर्वक स्वामी हरिदासजीका नाम लिया। अकबरने उन्हें राजसभामें आमन्त्रित करना चाहा; पर तानसेनने निवेदन किया कि वे कहीं आते-जाते नहीं। निधिवन जानेका निश्चय हुआ। हरिदासजी तानसेनके सङ्गीत-गुरु थे, उनके सामने जानेमें तानसेनके लिये कुछ भी अड़चन नहीं थी। रही

अकबरकी बात, सो उन्होंने वेष बदलकर एक साधारण नागरिकके रूपमें उनका दर्शन किया। तानसेनने जान-बूझकर एक गीत गलत रागमें गाया। स्वामी हरिदासने उसे परिमार्जित और शुद्ध करके कोकिलकण्ठसे जब अलाप भरना आरम्भ किया, तब सम्राट् अकबरने सङ्गीतकी दिव्यताका अनुभव किया। तानसेनने कहा—'स्वामीजी सम्राटोंके सम्राट् भगवान् श्रीकृष्णके गायक हैं।'

एक बार श्रीकृष्णचैतन्य गौराङ्ग महाप्रभुसे वे बात कर रहे थे। ठीक उसी समय राधाकुण्ड-निवासी रघुनाथदास मानसिक शृङ्गारमें खोयी हुई प्रियाजीकी पुष्प-वेणी खोजते उनके निकट आ पहुँचे। स्वामीजीने अश्वत्थ वृक्षके नीचे पता लगाकर उनकी मानसिक सेवाकी समस्त व्यवस्थाका निरूपण कर दिया।

स्वामी हरिदासने रसकी प्रीति-रीति चलायी; जिस पथपर यती, योगी, तपी और संन्यासी ध्यान लगाकर भगवान्‌के दर्शनसे अपनी साधना सफल करते हैं और फिर भी उनके रूप-रसकी कल्पना नहीं कर पाते, उसीको स्वामी हरिदासने अपनाकर भगवान् '**रसो वै सः**' को मूर्तिमान् पा लिया।

स्वामी हरिदासजी निम्बार्क-सम्प्रदायके अन्तर्गत 'टट्टी-संस्थान' के संस्थापक थे। संवत् १६३२ वि० तक वे निधिवनमें विद्यमान थे। वृन्दावनकी नित्य नवीन भगवल्लीलामयी चिन्मयताके सौन्दर्यमें उनकी रसोपासनाने विशेष अभिवृद्धि की।

गायकाचार्य तानसेन

तानसेनजीका जन्म ग्वालियर राज्यके बेहट ग्राममें मकरन्द पाण्डेयके घर सन् १५३२ ई० में हुआ था। भगवान् शङ्करकी उपासनाके फलस्वरूप मकरन्दको तानसेन-जैसे पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई थी। पाँच सालतक वे मूक रहे, भगवान् महेश्वरकी कृपासे उनका कण्ठ खुल गया। उनमें बाल्यावस्थासे ही सङ्गीत और वैराग्यके प्रति निष्ठा थी। एक दिन उनके मनमें वैराग्यका उदय हुआ, वे गेरुआ वस्त्र धारणकर, हाथमें माला लेकर परमात्माका नाम लेते हुए घरसे निकल पड़े। उस समय रीवाँमें महाराज रामचन्द्र राज करते थे। प्रातःकालका समय था। वे मधुर कण्ठसे सङ्गीत गाते हुए राजपथपर विचरण कर रहे थे, राजाने उन्हें अपने प्रासादमें बुलाकर पूर्णरूपसे स्वागत किया। वे रीवाँमें रामचन्द्रके ही साथ रहने लगे। धीरे-धीरे उनके सङ्गीत-माधुर्यकी ख्याति देशके कोने-कोनेमें फैल गयी। तानसेनके सङ्गीतगुरु वृन्दावनके रसिकराजेश्वर स्वामी हरिदासजी थे। एक बार वे थकावट और श्रमसे क्लान्त होकर वृन्दावनमें रातको किसी वृक्षके नीचे विश्राम कर रहे थे कि प्रातःकाल निधिवनसे कालिन्दी-तटपर जाते समय स्वामी हरिदासने उनपर कृपा-वृष्टि की। उनके आशीर्वादसे तानसेन महासङ्गीतज्ञ हो गये। भारतके तत्कालीन सम्राट् अकबरकी सभाके नवरत्नोंमेंसे वे एक प्रमुख रत्न घोषित किये गये। भारतके बड़े-बड़े देशपति और सामन्त उनकी कलाकारितासे धन्य होनेके लिये लालायित और उत्सुक रहा करते थे। अकबरकी राजसभामें तानसेन एक सङ्गीतसाधककी तरह भगवद्भक्तिसम्बन्धी पद ही विशेषरूपसे गाया करते थे। कई बार उनके साथ अकबरने व्रज आदि भक्ति-क्षेत्रोंमें आकर भगवान्‌के लीला-गायकोंके सङ्गीत सुने थे। मेवाड़की राजरानी भक्तिमती मीराका अकबरने तानसेनके साथ ही पवित्र दर्शन करके अपने-आपको कृतार्थ किया था। उन्हींके साथ अकबरने स्वामी हरिदासजीके मुखसे भगवद्‌गुण-गान सुना था।

तानसेनकी सूरदाससे घनी मित्रता थी। दोनों एक दूसरेकी हृदयसे सराहना करते थे। अपने जीवनके अन्तिम समयमें तानसेनने गोसाईं विट्ठलनाथजी महाराजसे दीक्षा ले ली। एक बार वे व्रज गये हुए थे। गोसाईंजीने उनका गीत सुना और दस हजार रुपयेकी थैली पुरस्काररूपमें दी, साथ-ही-साथ एक कौड़ी भी थी। कारण पूछनेपर उन्होंने तानसेनसे कहा कि 'तुम बादशाहके कलाकार हो, इसलिये उचित पुरस्कार देना आवश्यक था; पर हमारे श्रीनाथजी और नवनीतप्रियके गायकोंके सामने तुम्हारा गीत एक कौड़ीका है।' गोसाईंजीकी

आज्ञासे तानसेनके सामने गोविन्ददासने विष्णुपद गाया। तानसेनने गोसाईंजीसे ब्रह्मसम्बन्ध लिया, वे प्रायः व्रजमें ही रहा करते थे। एक बार वे श्रीनाथजीके सामने पद गा रहे थे, श्रीनाथजी उनके वश हो गये। व्रजेश्वरके अधरोंपर मुसकानकी ज्योत्स्ना थिरक उठी, तानसेनने सर्वस्व अर्पण कर दिया और आजीवन उन्हींकी सेवा करते रहे।

तानसेन सङ्गीत-साधक और भक्त दोनों थे। वृन्दावनकी प्राकृतिक वासन्ती शोभासे ओतप्रोत रासरसेश्वर श्रीकृष्ण सदा उनके नयनोंमें झूला करते थे। उनके श्याम सदा कुञ्जधाममें वसन्त खेलते रहते थे। यद्यपि उन्होंने भगवान्‌को 'बहुनायक' पदसे विभूषित किया, तथापि उनके दर्शनके लिये वे रात-दिन तड़पा करते थे। वे विरही चातककी तरह अपने सङ्गीतसे अपने प्राणेश्वर घनश्यामका आवाहन करके हृदयका विरह-ताप शीतल किया करते थे।

अकबरके देहावसानके बाद भी वे जहाँगीरके शासनकालमें बहुत दिनोंतक जीवित रहे। उनकी सङ्गीतसाधना भगवान् नन्दनन्दनके यश-कीर्तनसे कृतार्थ हो गयी।

श्रीविट्ठलविपुलदेवजी

महात्मा विट्ठलविपुलदेव बड़े भगवद्भक्त और रसिक थे। उनके नेत्र, कान और अधर आदि भगवान्‌की रूप-रस-माधुरीसे सदा संप्लावित रहते थे। वे रसिकराज स्वामी हरिदासजीके शिष्य थे, समकालीन थे। उनकी अनन्य गुरुनिष्ठा थी। स्वामीजीके वे विशेष कृपापात्र थे।

विट्ठलविपुलदेव हरिदासजीके ममेरे भाई थे। उनसे अवस्थामें कई वर्ष बड़े थे। ये कभी-कभी हरिदासजीके साथ उनकी बाल्यावस्थाके समय भगवल्लीलानुकरणमें सम्मिलित हो जाया करते थे, उनके संस्कार पहलेसे ही पवित्र और शुद्ध थे। तीस वर्षकी अवस्थामें विट्ठलविपुलदेव वृन्दावन गये, उन्हें कुञ्ज-कुञ्जमें भगवान् श्रीकृष्णकी लीलामाधुरीकी सरस अनुभूति होने लगी। साथ-ही-साथ स्वामी हरिदासके सम्पर्क और सत्सङ्गका भी उनपर विशेष प्रभाव पड़ा। अपने गुरु आशुधीरजी महाराजकी आज्ञासे हरिदासजीने उन्हें दीक्षित कर लिया। वे उनकी कृपासे वृन्दावनके मुख्य रसिकोंमें गिने जाने लगे। वे परमोत्कृष्ट त्यागी और सुदृढ़ रसोपासक थे।

दीक्षित होनेके बाद उन्होंने वृन्दावनको ही अपना स्थायी निवासस्थान चुना। सं० १६३१ में स्वामी हरिदासके नित्यधाम पधारनेपर संतों और महन्तोंने उन्हें उनकी गद्दी सौंपी, बड़े आग्रह और अनुनय-विनयके बाद उन्होंने उत्तराधिकारी होना स्वीकार किया। गुरुविरहके दुःखसे कातर होकर उन्होंने आँखोंमें पट्टी बाँध ली थी। जिन नेत्रोंने रसिकराजेश्वर हरिदासके दिव्य अङ्गोंका माधुर्य-पान किया था, उनसे संसारका दर्शन करना उनके लिये सर्वथा असह्य था।

वे बड़े भावुक और सहृदय थे। एक बार वृन्दावनकी संत-मण्डलीने रासलीलाका आयोजन किया। सर्वसम्मतिसे महात्मा विट्ठलविपुलदेवको बुलानेका निश्चय किया गया। रसिकप्रवर व्यासजीके विशेष आग्रहपर वे रास-दर्शनके लिये उपस्थित हुए। उनके नेत्रोंसे अश्रुओंकी धारा बह रही थी, शरीर वशमें नहीं था, रास आरम्भ हुआ। प्रिया-प्रियतमकी अद्भुत पदनूपुरध्वनिपर उनका मन नाच उठा। दिव्य-दर्शनके लिये उनके हृदयमें तीव्र लालसा जाग उठी। विलम्ब असह्य हो गया। भगवान्‌से भक्तकी विरह-पीड़ा न सही गयी। उनकी आह्लादिनी शक्ति रसमयी रासस्थित श्रीरासेश्वरीने कहा, 'मेरे दर्शन करो! मैं राधा हूँ।' नित्यकेलिके साहचर्य-रसके स्मरणमात्रने भावावेशमें उन्हें दर्शनके लिये विवश किया। उन्होंने पट्टी हटा दी। नेत्रोंने रासरसिक-शेखर नन्दनन्दन और राधारानीका रूप देखा। वे खुले तो खुले ही रह गये, पट्टी अपने स्थानपर पड़ी रह गयी। विट्ठलविपुलदेवने रासस्थ भगवान् और उनकी भगवत्ता-स्वरूप, साक्षात् राधारानीके दर्शन किये। उनके अधरोंपर स्फुरण था—'हे रासेश्वरी! तुम करुणा करके मुझे अपनी नित्य लीलामें स्थान दो। अब मेरे प्राण संसारमें नहीं रहना चाहते हैं।' बस वे नित्यलीलामें सदाके लिये सम्मिलित हो गये। उनकी रसोपासनाने पूर्ण सिद्धि अपनायी। वे भगवान्‌के रासरसके सच्चे अधिकारी थे, रसिक संत और विरक्त महात्मा थे। भगवान्‌ने उन्हें अपना लिया, कितना बड़ा सौभाग्य था उनका!

श्रीभगवतरसिकजी

(लेखक—साहित्याचार्य पं० श्रीलोकनाथजी द्विवेदी, सिलाकारी, 'साहित्यरत्न')

श्रीभगवतरसिकजीका जन्म संवत् १७९५ में सागर जिलेके गढ़कोटा स्थानमें हुआ था। टट्टी-सम्प्रदायके मुख्याचार्योंमें श्रीस्वामी ललितकिशोरीजीके शिष्य श्रीस्वामी ललितमोहिनीदासजीके कृपापात्र शिष्य श्रीभगवतरसिकजी थे। इनकी उपासना श्रीविहारीजीकी थी। ये स्वामी श्रीहरिदासजीके सम्प्रदायके संत थे।

कहते हैं कि भगवतरसिकजी पहले श्रीगणेशजीके उपासक थे। अपनी अनन्य निष्ठा और एकान्त उपासनासे इन्होंने भगवान् श्रीगणेशजीको प्रत्यक्ष कर लिया था। श्रीगणेशजीने ही पहले इन्हें श्रीकृष्णभगवान्‌की अनन्य प्रेमलक्षणा भक्ति 'सखीभाव'से करनेका उपदेश दिया और उसकी सिद्धिका वरदान भी दिया। यह बात इनके निम्नलिखित पदसे भी प्रकट होती है—

हमैं बर गुरु गनेस है दीनों।
जल भरि सँड फिराय सीसपर संसकार सुभ कीनों॥
दै प्रसाद परतीति बढ़ाई, दुख दारिद सब छीनों।
अपने पाँच रूप दरसाए, सुख उपजाइ नवीनों॥
ब्यापक पूज्य सखी आचारज अति ऐश्वर्य प्रबीनों।
लोक-बेद-भय-भर्म भगाए, ताप सिराए तीनों॥
आनँदघन कौ पद दरसायौ, दंपति-रति-रस भीनों।
भगवतरसिक लड़ैती लालन ललित भुजन भरि लीनों॥

टट्टी-सम्प्रदायके अष्टाचार्योंमें सबसे अन्तिम श्रीललित-मोहिनीदासजीके गोलोक सिधारनेपर भक्त महानुभावोंके अत्यन्त आग्रह करनेपर भी श्रीभगवतरसिकजीने गद्दीका अधिकार नहीं लिया और ये जन्मभर निर्लिप्त भावसे श्रीजीकी सेवामें लगे रहे। यथार्थ तो यह है कि ये महात्मा श्रीकृष्ण-भक्तिमें लीन एक प्रेमयोगी थे। श्रीकृष्ण-भक्तिके सखी-सम्प्रदायके भक्त-प्रेमी-भावुक महाकवियोंमें इनका आसन श्रेष्ठ है। इस प्रेमयोगी कविका हृदय प्रेमरससे सराबोर था। इन्होंने स्वयं लिखा है—

'भगवतरसिक रसिक की बातैं रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना।'

इनके रचे हुए पाँच ग्रन्थ बतलाये जाते हैं—(१) अनन्यनिश्चयात्मक, (२) श्रीनित्यबिहारीयुगलध्यान, (३) अनन्यरसिकाभरण, (४) निश्चयात्मक ग्रन्थ, उत्तरार्ध, (५) निर्बोधमनरञ्जन। इनकी रचनाओंका एक संग्रह-ग्रन्थ 'भगवतरसिककी वाणी'के नामसे वर्तमान महंतने प्रकाशित किया है। श्रीभगवतरसिकजी अपनी उपासनापद्धतिके सम्बन्धमें लिखते हैं—

कुंजन ते उठि प्रात गात जमुना मैं धोवै।
निधि बन करि दंडवत, बिहारी कौ मुख जोवै॥
करै भावना बैठि स्वच्छ थल रहित उपाधा।
घर-घर लेय प्रसाद, लगै जब भोजन साधा॥
संग करै भगवत रसिक, कर करवा, गूदरि गरें।
बृंदाबन बिहरत फिरै, जुगल रूप नैनन भरें॥

श्रीभगवतरसिकजीके मतानुसार संतका लक्षण इस प्रकार है—

इतने गुन जामें सो संत।
श्रीभागवत मध्य जस गावत श्रीमुख कमलाकंत॥
हरि कौ भजन, साधु की सेवा, सर्ब भूत पर दाया।
हिंसा, लोभ, दंभ, छल त्यागै, बिष सम देखै माया॥
सहनसील, आसय उदार अति, धीरज सहित बिबेकी।
सत्य बचन सबकों सुखदायक, गहि अनन्य ब्रत एकी॥
इंद्रीजित, अभिमान न जाके, करे जगत कों पावन।
'भगवतरसिक' तासुकी संगति तीनहुँ ताप नसावन॥

भक्तवाणी

राम रामेति यद्वाणी मधुरं गायति क्षणम् । स ब्रह्महा सुरापो वा मुच्यते सर्वपातकैः॥

जिसकी वाणी एक क्षण भी 'राम-राम'—ऐसा सुमधुर गान करती है, वह ब्रह्मघाती अथवा शराबी ही क्यों न हो, समस्त पापोंसे छूट जाता है। —सुग्रीव

भक्त श्रीगदाधर भट्टजी

भट्ट गदाधर साधु अति, विद्या भजन प्रबीन।
सरस कथा, बानी मधुर, सुनि रुचि होत नबीन॥

रसिकमोहन नन्दनन्दन श्रीवृन्दावनचन्द्रका उज्ज्वल अनुराग जन्म-जन्मके पुण्योंके प्रभावसे किसी निर्मल चित्तमें ही आता है। वह कुल धन्य है, वह भूमि वन्दनीय है, जिसमें भगवान्‌के प्यारे भक्त प्रकट होते हैं। समस्त पृथ्वी ही ऐसे भगवद्भक्तोंकी जन्मभूमि है। प्राणिमात्र ही उनके स्वजन हैं। अपने परम प्रियतम प्रभुको सदा सर्वत्र देखनेवाले ऐसे लोकोत्तर पुरुषोंका अपना-पराया क्या। वे सबके हैं, उनको पाकर सम्पूर्ण पृथ्वी धन्य होती है।

सज्जनता, सब प्राणियोंके साथ सहज सुहृदता, दीनोंके प्रति दया, मधुर वाणी, मद-लोभ-क्रोध-मत्सर आदिका सर्वथा अभाव, निष्कामभाव, सत्य, करुणा प्रभृति समस्त सद्‌गुणोंके आधार एकमात्र श्रीहरि हैं। जिस हृदयमें भगवान्‌का प्रेम है, वहाँ यदि सद्‌गुण आज पूरे नहीं भी हैं तो कल निश्चय आयेंगे। भगवत्प्रेम जहाँ हो, वहाँ कोई दुर्गुण टिक नहीं सकता; परन्तु जहाँ भगवान्‌का प्रेम, उन सर्वेशके प्रति आस्था और विश्वास नहीं, वहाँ यदि सद्‌गुण हों भी तो उनकी नींव बालूपर है। वे कब स्वार्थके धक्केसे हवा हो जायँगे, इसका कुछ ठिकाना नहीं। सद्‌गुण तो भगवान्‌में ही हैं; फिर जिनके हृदयमें प्रेमके दृढ़ बन्धनमें बँधे वे लीलामय सदा विराजमान रहते हैं, वहाँ सब गुण एक साथ रहेंगे ही। गदाधर भट्ट समस्त सद्‌गुणोंकी मूर्ति थे। बचपनसे उनमें नम्रता, दया आदि गुण उज्ज्वल रूपमें प्रकट होते और बढ़ते गये। इसके साथ उन्हें प्रतिभा प्राप्त हुई। भगवान्‌के परम प्रियजन भगवती सरस्वतीकी कृपा पाकर अपने प्रियतम प्रभुका ही तो गुणानुवाद गायेंगे। गदाधर भट्टजीका कण्ठ बड़ा ही मधुर था। वे अपने बनाये भगवान्‌की लीला, रूपमाधुरी, प्रार्थना आदिके भावपूर्ण पद बड़े प्रेमसे गाया करते थे।

सखी, हौं स्याम रंग रँगी।
देखि बिकाइ गई वह मूरति सूरति माहिं पगी॥
संग हुतौ अपनौ सपनौ-सौ सोइ रही रस खोइ।
जागेहुँ आगें दृष्टि परै सखि नेकु न न्यारौ होइ॥
एक जु मेरी अँखियन में निसिद्योस रह्यौ करि मौन।
गाय चरावन जात सुन्यौ सखि! सो धौं कन्हैया कौन॥
कासौं कहौं कौन पतियावै, कौन करै बकवाद।
कैसें के कहि जात गदाधर गूँगे कौ गुड़ स्वाद॥

भक्तवर गदाधरजीका यह पद वृन्दावनमें श्रीजीव गोस्वामीजीने किसीके मुखसे एक दिन सुना। गदाधरजीके भावपूर्ण पद भावुकजन प्रायः कण्ठ कर लेते और गाया करते थे। श्रीजीव गोस्वामीजी पद सुनते ही भावविह्वल हो गये। रत्नका पारखी ही रत्नको पहचानता है। जीव गोस्वामीजीने समझ लिया कि यह पद किसी सामान्य कविका नहीं हो सकता। उन्होंने दो संतोंको एक पत्र देकर गदाधर भट्टजीके पास भेजा। पत्रमें लिखा था—'मुझे बड़ा आश्चर्य है कि बिना रंगसाजके ही आपपर श्यामरंग चढ़ कैसे गया।'

दोनों संत गदाधरजीके ग्राम पहुँचे। प्रातःकालका समय था। सूर्योदय हुआ नहीं था। गदाधरजी दाँतौन कर रहे थे। संतोंने उनसे ही पूछा—'इस ग्राममें गदाधर भट्टजीका मकान कौन-सा है?'

गदाधर भट्टजीकी प्रसन्नताका क्या पूछना। आज प्रातःकाल ही संतोंके दर्शन हुए और वे आये भी उन्हींके यहाँ हैं। संतोंकी सेवाका सौभाग्य प्राप्त होगा, इनके मुखसे भगवान्‌का गुणानुवाद सुननेको मिलेगा! धन्य है आजका दिन।

आनन्दके भावोंमें निमग्न भट्टजीने सहज ही संतोंसे पूछा—'आपलोग कहाँसे पधारे हैं?'

संतोंने उत्तर दिया—'हम श्रीवृन्दावनसे आये हैं।'

'श्रीवृन्दावन!' भट्टजीके श्रवणोंमें यह शब्द पड़ा और वे धड़ामसे गिर पड़े मूर्च्छित होकर। दाँतौन दूर गिर गया। नेत्रोंसे अश्रुप्रवाह चलने लगा। विचित्र दशा हो गयी उनकी। पहलेसे ही हृदयमें भाव उमड़ रहा था, श्रीधाम वृन्दावनका नाम सुनते ही वह उद्दीप्त हो उठा। शरीर संज्ञाहीन हो गया। दोनों संतोंने चकित होकर

सम्हाला उन्हें। लोगोंसे पता लगा कि गदाधर भट्टजी तो यही हैं; तब संतोंने उनके कानोंके पास मुख ले जाकर जोरसे कहा—'हम वृन्दावनसे आपके लिये एक पत्र ले आये हैं।'

पत्रका नाम कानोंमें जाते ही भट्टजी उठ बैठे। जैसे उनके प्राण इसी पत्रकी प्रतीक्षा करते रहे हों। पत्रको लेकर उन्होंने मस्तकसे, नेत्रोंसे, हृदयसे लगाया। पत्रको बार-बार पढ़ते, अश्रु बहाते विह्वल होते रहे। संतोंका भली प्रकार सत्कार किया और फिर सर्वस्व दीन-दु:खियोंको बाँटकर उन संतोंके साथ ही वृन्दावन चले आये।

श्रीगदाधर भट्टजीपर श्यामरंग तो पहले ही चढ़ चुका था, अब वृन्दावन आकर उन्हें श्रीजीव गोस्वामीजी-जैसे भक्ति-मार्गके उद्भट रंगसाज मिल गये। वह रंग और गाढ़ा हो गया, साथ ही भक्तिशास्त्रका अध्ययन हुआ। अब वृन्दावनमें भट्टजीकी श्रीमद्भागवतकी परम मधुर कथा होने लगी। उनकी कथामें प्रेमी भक्तों, संतोंकी भीड़ सदा बनी रहती थी। मधुर कण्ठ, भावपूर्ण हृदय, प्रतिभाके साथ भक्तिशास्त्रका विपुल ज्ञान—इस प्रकार भट्टजीका भागवत-व्याख्यान अद्वितीय हो गया था। वे भागवत-कथामृतकी वर्षा करनेवाले मेघ ही माने जाते थे और उस अमृतके पिपासु चातक उनमें प्रगाढ़ निष्ठा रखते थे।

श्रीभट्टजीकी कथाके प्रेमी श्रोताओंमें एक श्रोता थे कल्याणसिंह राजपूत। कथाके निरन्तर श्रवणने उनके हृदयको शुद्ध कर दिया। हृदयमें जब भगवत्प्रेमकी अद्भुत रसधार प्रकट होती है, तब संसारके सभी विषय अपने-आप सारहीन जान पड़ते हैं। जिसने उस अद्भुत प्रेमरसका स्वाद पाया, उसको विषयोंके रसकी दुर्गन्धमें रुचि कैसे रह सकती है। कल्याणसिंह वृन्दावनके समीपके धौरहरा ग्रामके रहनेवाले थे। नित्य नियमपूर्वक कथा सुनने आते थे। हृदय शुद्ध था, उसमें श्रद्धा थी; प्रेमका प्रादुर्भाव हो गया। विषयोंसे स्वत: विरक्ति हो गयी। गृहस्थके कर्तव्यका पालन करते हुए भी वे परम विरक्त संयमीका जीवन व्यतीत करने लगे।

कल्याणसिंहजीकी स्त्री सामान्य स्त्री ही थी। उसकी विषयासक्ति गयी नहीं थी। पतिकी उदासीनताका कारण उसे भट्टजी ही प्रतीत होने लगे। वह मन-ही-मन भट्टजीसे द्वेष करने लगी। काम ही प्रतिहत होनेपर क्रोध बन जाता है, क्रमश: बुद्धि मारी जाती है और मनुष्य न करनेयोग्य कर्म कर बैठता है। यही दशा उसकी हुई। उसने सोचा कि 'यदि मैं भट्टजीको कलङ्कित कर सकी तो मेरे पतिकी उनमें अश्रद्धा हो जायगी और तब वे घरमें अनुरक्त हो जायँगे।' विकृतबुद्धि नारीको महापुरुषकी महिमाका क्या पता। लीलामय प्रभुको भी अपने भक्तका महत्त्व प्रकट करना था। उस स्त्रीने एक गर्भवती भिक्षा माँगनेवाली स्त्रीको बीस रुपये देकर सिखा-पढ़ाकर वृन्दावन भेज दिया। भट्टजीकी कथा हो रही थी, भक्तोंका समुदाय एकत्र था। उसी समय वह भिक्षुणी वहाँ पहुँची। उसने सीधे भट्टजीके समीप जाकर सबको सुनाते हुए कहा—'महाराज! आपका दिया यह गर्भ अब पूरा होनेको आया। अब तो आप मेरे लिये किसी निवासकी व्यवस्था कर दीजिये। इसे लिये-लिये मैं कहाँ भटकती फिरूँ।'

भिक्षुणीकी बात सुनकर श्रोताओंमें बड़ी सनसनी फैल गयी। कुछ लोग जोर-जोरसे कहने लगे—'यह झूठ बोलती है। एक संतको किसीके बहकानेसे कलङ्कित करना चाहती है। हम इसे मार डालेंगे।'

श्रीगदाधर भट्टजीके मुखपर मंद हँसी आयी। दयामय प्रभुने जगत्के मिथ्या आदर-मानसे बचानेके लिये यह व्यवस्था की है, यह सोचकर वे आनन्दसे पुलकित हो उठे। उन्होंने बिना संकोचके सबको सम्बोधित करके कहा—'भाइयो! आपलोग रुष्ट न हों। इस देवीका कोई अपराध नहीं है। यह ठीक ही कहती है।'

लोग आश्चर्यसे अवाक् रह गये। किसीको कुछ सूझ नहीं पड़ता था। भट्टजीने उस स्त्रीसे बड़े स्नेहसे कहा—'देवि! मैं तो तुम्हारा नित्य ही स्मरण करता हूँ। तुम मुझे दोषी क्यों बताती हो। तुम कहाँ भटक रही थीं। आओ, आज अच्छी आयी तुम। बैठो, भगवान्की कथा सुनो।'

संतोंके अद्भुत चरित कौन समझ सकता है। जो सर्वत्र अपने ही परम प्रिय प्रभुको देखते हैं, वे किसीका स्मरण नहीं करते, यह कैसे कहा जा सकता है।

श्रीगदाधर भट्टजी तो सब कहीं अपने उस हृदयहारी, वृन्दावनविहारीको ही देखते थे। उस स्त्रीके रूपमें भी अपने वही प्रियतम प्रभु उन्हें दीख रहे थे। परन्तु श्रोताओंकी विचित्र दशा थी। भट्टजीमें उनकी अगाध श्रद्धा थी। इस दरिद्रा स्त्रीके वचनोंको वे कभी सत्य नहीं मान सकते थे। उनमेंसे अनेकोंके नेत्रोंसे इस दुःखसे अश्रु चलने लगे कि हमें आज एक महापुरुषकी निन्दा सुननी पड़ी। अन्तमें एक संत उस स्त्रीके पास गये। उसे एक ओर ले जाकर उन्होंने सत्य कहनेके लिये समझाया। वह भिक्षुकी, वह भी मनुष्य ही थी। ऐसा महान् पुरुष उसने देखा ही नहीं था। ऐसे कलङ्ककी मिथ्या बात कहनेपर भी जो न रुष्ट हुआ, न कड़ी बात कही—उस संतको झूठा कलङ्क देने आयी वह! लज्जासे, ग्लानिसे उसका मस्तक झुक गया था। वह रो रही थी। उसने संतसे सच्ची बात कह दी और भट्टजीके चरणोंपर गिरकर फूट-फूटकर रोने लगी। भट्टजीने उसे आश्वासन दिया। श्रोताओंको बड़ा आनन्द हुआ सच्ची बातके प्रकट हो जानेसे; किंतु कल्याणसिंहने अपनी तलवार खींच ली। वे क्रोधसे काँपने लगे। उनकी जिस दुष्टा स्त्रीने महापुरुषको कलङ्कित करनेका यह असत् प्रयत्न किया था, उसे वे तत्काल मार देना चाहते थे। भट्टजीने प्रेमसे कल्याणसिंहको रोका। उनको समझाया कि 'उस देवीने तो मुझे एक नवीन ढंगसे शिक्षा दी है कि संसारका तनिक भी संसर्ग कैसा भयानक है।'

× × ×

भट्टजीकी भागवत-कथाकी ख्याति दूर-दूरतक पहुँच गयी। श्रीवृन्दावनधाम सदासे भगवत्प्रेमके प्रेमी भक्तवृन्दोंका प्रिय केन्द्र रहा है। अब जो भी यात्री वृन्दावन आता, वह श्रीगदाधर भट्टजीकी कथा सुनने अवश्य ही पहुँचता। कहींसे एक वैष्णव महन्त कथामें एक दिन आये। भट्टजीने बड़े आदरसे उन्हें आगे आसन दिया। महन्तजीने देखा कि कथा होते समय सभीके नेत्रोंसे अश्रुधारा चलने लगी है। केवल उन्हींके नेत्रोंमें अश्रु नहीं आये। इससे उन्हें बड़ी लज्जा प्रतीत हुई। दूसरे दिन महन्तजी जब कथामें आये, तब गुप्तरूपसे वस्त्रोंमें महीन पिसी हुई लाल मिर्चकी एक छोटी पोटली भी ले आये। कथाके समय नेत्र और मुख पोंछनेके बहाने उस पोटलीको वे बार-बार नेत्रोंपर फेर लेते थे। लाल मिर्च नेत्रोंमें लगनेसे नेत्रोंसे अश्रुप्रवाह चलने लगता था। समीप बैठे एक व्यक्तिने इसे ताड़ लिया। जब कथा समाप्त हो गयी और दूसरे सब श्रोता उठकर चले गये, तब उसने भट्टजीसे कहा—'महाराज! यह जो महन्त आगे बैठा था, वह बड़ा दम्भी है। वस्त्रोंमें मिर्चकी पोटली वह लाया था और उसीको नेत्रोंपर रगड़-रगड़कर लोगोंको दिखानेके लिये अश्रु बहा रहा था।'

साधारण व्यक्ति दूसरोंके गुणोंमें भी दोष ढूँढ़ना चाहते हैं; किंतु महापुरुषोंके चित्तमें ही जब दोष नहीं, दम्भ नहीं, तब उन्हें दम्भ और दोष दीखें कहाँसे। उन्हें तो सर्वत्र गुण-ही-गुण दिखायी पड़ते हैं। प्रियश्रवा भगवान्के परम प्रियजन सदा सबमें गुण ही देखते हैं। श्रीगदाधर भट्टजीने जैसे ही उस व्यक्तिकी बात सुनी, वहाँसे तुरंत उठकर आतुरतापूर्वक उन महन्तजीके समीप पहुँचे और उनको प्रणिपात करके कहने लगे—'आप धन्य हैं। आपका भगवत्प्रेम धन्य है! मैंने सुना है कि आप नेत्रोंमें लाल मिर्च लगाकर इसलिये नेत्रोंको दण्ड देते हैं कि उनमें भगवत्प्रेमके अश्रु नहीं आये। अबतक मैंने सुना ही था कि जो अंग भगवान्की सेवामें न लगे, उनके दिव्य अनुरागसे द्रवित या पुलकित न हो, वह दण्डनीय है; पर आज मैंने आपको प्रत्यक्ष इस आदर्शपर चलते देखा। आप-जैसे महापुरुषका दर्शन करके मैं कृतार्थ हो गया।' भट्टजीने महन्तजीको दोनों भुजाओंमें भरकर हृदयसे लगा लिया और अब तो दोनोंके नेत्र झर रहे थे। दोनोंके शरीर पुलकित थे। ऐसे परम भागवतके अंगस्पर्शसे महन्तजीमें भगवत्प्रेमका स्रोत उमड़ उठा था!

× × ×

एक रात्रिमें श्रीगदाधर भट्टजीकी कुटियामें एक चोर चोरी करने घुस आया। भट्टजीने जो चोरको देखा तो चुपचाप पड़े रह गये। चोरको जो कुछ भी मिला, उसने बाँध लिया। जब वह गठरी उठाने लगा, तब उस भारी गठरीको उठा न सका। गदाधर भट्टजी तो पड़े-पड़े सब देख ही रहे थे। उन्हें तो लग रहा था कि उनके लीलामय प्रभु जैसे गोपियोंके घरमें छिपकर माखन खाने जाते थे,

वैसे ही आज इस वेषमें उनके यहाँ आये हैं। जब उन्होंने देखा कि भारी गठरी चोरसे सिरपर उठती नहीं, तब आसनसे उठे और गठरी उसके मस्तकपर उठवा दी। चोरको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा कि 'अपना माल इस प्रकार उठानेवाले आप हैं कौन?' जब भट्टजीने अपना नाम बताया, तब तो चोर गठरी फेंककर उनके चरणोंपर गिरकर रोने लगा। उसने उनका नाम सुन रखा था। ऐसे महापुरुषके यहाँ चोरी करने आनेके लिये बड़ा दुःख हुआ उसे। श्रीगदाधर भट्टजीने उसे प्रेमसे समझाया—'भाई! तुम इतने दुःखी क्यों होते हो। तुमने प्राणोंका भय छोड़कर इस अँधेरी रात्रिमें यहाँ आनेका कष्ट किया है, इतना श्रम किया है और यही तुम्हारी आजीविका है; अतः तुम इसे प्रसन्नतासे ले जाओ! मेरी चिन्ता मत करो! जिसने तुमको यहाँ भेजा है, जो इस सारे जगत्का पालन करता है, उसने मेरे लिये पहलेसे व्यवस्था कर रखी होगी। तुम इधर यह सब ले जाओगे और सबेरा होते ही इससे दसगुना वह मेरे पास भेज देगा।'

चोर फूट-फूटकर रोने लगा। करुणामय संतोंका हृदय तो नवनीतसे भी कोमल होता है। भट्टजीने उसपर कृपा की। चोरी तो छूट ही गयी, भगवान्का अनुराग भी प्राप्त हुआ। वह परम भागवत हो गया।

× × ×

गदाधरजीका भगवद्विग्रहकी सेवा-पूजामें अत्यधिक अनुराग था। पूजाकी समस्त सामग्री वे स्वयं प्रस्तुत करते थे। भगवत्कैङ्कर्यका कोई भी काम वे दूसरोंसे लेना नहीं चाहते थे। एक बार भगवत्प्रसाद प्रस्तुत करनेके लिये आप अपने हाथसे चौका लगा रहे थे। इतनेमें सेवकने आकर एक धनी श्रद्धालुका नाम बताते हुए कहा—'वे बहुत-सी भेंट लेकर आपके पास आ रहे हैं। आप हाथ धोकर उनसे बात करें। मैं तबतक चौका लगा देता हूँ।'

भट्टजीको सेवककी बुद्धिपर दया आयी। उन्होंने उसे शिक्षा देते हुए कहा—'मैं अपने त्रिभुवनके स्वामी प्रभुकी सेवामें लगा हूँ। इससे बड़ा कार्य अब कौन-सा हो सकता है कि भगवत्कैङ्कर्य छोड़कर उसके लिये मैं इससे हाथ धो लूँ। कोई श्रद्धालु आता है, तो उसे आने दो। मुझे प्रभुकी सेवाके कार्यमें लगा देखकर वह भी भगवत्सेवाके लिये प्रेरित होगा।'

इस प्रकार जीवनभर भगवत्सेवा, श्रीमद्भागवतप्रवचन एवं संतोंका सत्कार करते हुए श्रीगदाधर भट्टजी वृन्दावन धाममें ही रहे। अन्तमें उनका पार्थिव शरीर उसी नित्य धामकी पावन रजमें एक हो गया और उन्होंने अपने श्यामसुन्दरका शाश्वत सान्निध्य प्राप्त किया।

श्रीसूरदास मदनमोहनजी

सूरदास मदनमोहन गौड़ीय सम्प्रदायके नैष्ठिक वैष्णव थे, उनका नाम सूरध्वज था। वे जातिके ब्राह्मण थे, सम्राट् अकबरकी सभामें उनकी पूरी पहुँच थी। बादशाहने उनकी स्वामिभक्तिसे प्रसन्न होकर उनको संडीलेका अमीन नियुक्त किया था। वे महान् साधुसेवी थे; पासमें जो कुछ भी रहता था; सब संतोंकी सेवामें लगा देते थे।

एक बार उनके जीवनमें अत्यन्त क्रान्तिपूर्ण घटना हुई। उन्होंने संडीले सूबेके तेरह लाख रुपये साधुओंकी सेवामें लगा दिये और खजानेवाली पेटीमें एक कागज डालकर उसे राजधानीमें भेज दिया। कागजमें लिखा था—

'तेरह लाख सँडीले आये, सब साधुन मिलि गटके।
सूरजदास मदनमोहनजी आधि रातको सटके।'

टोडरमलने बादशाहको बहुत समझाया कि 'अमीनने बहुत बड़ा अपराध किया है; यदि कड़े-से-कड़ा दण्ड न दिया गया तो राज्यमें अराजकता फैल जायगी।' पर बादशाहके हृदयपर तो सूरदास मदनमोहनकी सत्यनिष्ठा, संतसेवा और भगवान्की भक्तिका प्रभाव पड़ चुका था; अकबरने क्षमा-दान किया और उन्हें बुला भेजा। पर सूरदास मदनमोहन तो नन्दनन्दनकी राजधानीमें पहुँच चुके थे, परम पवित्र कालिन्दीके तटपर भक्तिकी विलास-भूमिमें प्रिया और प्रियतमकी शृङ्गार-लीलाका गान कर रहे थे। उन्होंने विनम्रतापूर्वक निवेदन किया कि 'अब तो मैं किसी औरका हो चुका हूँ। वृन्दावनकी गलियोंमें झाड़ू देना मुझे अत्यन्त सुखद प्रतीत होता है।'

वे व्रजराजके भक्त थे, संसारसे बहुत दूर आ चुके थे। वे कालिन्दी-तटपर भगवान्‌की मुरली-माधुरीका रसास्वादन करने लगे। मधुर-मधुर वंशीध्वनिकी महती रसधारामें नित्य निमग्न होकर भगवान्‌से दर्शनकी भीख माँगना उनका कार्यक्रम हो चला, वे अपने प्रियतमसे कहा करते थे—

'मधु के मतवारे स्याम, खोलौ प्यारे पलकैं,
सीस मुकुट लट छुटी, और छुटी अलकैं।
सुर नर मुनि द्वार ठाढ़े, दरस हेतु किलकैं,
नासिका के मोति सोहैं, बीच लाल ललकैं।
पीतांबर, कर मुरली, स्रवन कुँडल झलकैं,
सूरदास मदनमोहन दरस दैहो मल कैं।'

सूरदास मदनमोहनने लीला-गानमें जिस काव्य-माधुर्यका स्रोत उँडेला है, वह उनकी बड़ी मधुर और मूल्यवान् सम्पत्ति है। अपने भगवान्‌में उनकी इतनी निष्ठा थी कि उन्होंने अपने नामके साथ 'मदनमोहन' प्रत्येक पदमें जोड़ा है। उनके सरस पदोंमें उनकी मृदुता, सहृदयता और अडिग भक्तिकी पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है।

श्रीकेशव भट्ट काश्मीरी

जिस समय शस्यश्यामला स्वर्णिम वंगभूमि श्रीगौराङ्ग महाप्रभुकी कीर्तन-माधुरीका रसास्वादन कर रही थी, नवद्वीपके बड़े-बड़े न्यायशास्त्री और दर्शनवेत्ता तर्क और शास्त्रार्थसे संन्यास लेकर भक्ति-कल्पलताकी शीतल छायामें विश्राम करते हुए भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाका मधुर गान कर रहे थे, ठीक उसी समय उत्तरापथमें दिग्विजयकी विजयिनी पताका फहराते हुए एक बहुत बड़े शिष्यसमूहके साथ चौडोल पालकीपर चढ़कर पण्डितराज केशव काश्मीरीने पुण्यसलिला भगवती भागीरथीके मनोरम तटपर नवद्वीपमें शास्त्रार्थकी शङ्खध्वनि की। न्यायका गढ़ नवद्वीप हिल उठा, इतने बड़े शास्त्रवेत्तासे लोहा लेना अत्यन्त कठिन था। महापण्डितने देखा नवद्वीपसे एक बहुत बड़ा जनसमूह श्रीकृष्णका पवित्र, मधुमय और आनन्दमय नाम उच्चारण करता हुआ उनके निवासकी ओर चला आ रहा है। लोगोंके आगे-आगे उन्होंने एक ऐसे युवकको प्रमत्त नृत्य करते हुए आते देखा, जिसका शरीर तप्त हेमवर्णका-सा था, गलेमें पुष्पोंका आकर्षक हार था, अधरोंमें हरिनामकी पवित्र भागीरथीके निनादका आलोडन था, मुसकानकी ज्योतिर्मयी किरणोंकी तरङ्गमें अङ्ग-अङ्ग आप्लावित थे। वे सहज ही इस दिव्य, तेज:पुञ्ज विलक्षण युवककी ओर आकृष्ट हो गये; हाथ चरणधूलि मस्तकपर चढ़ानेके लिये चञ्चल हो रहे थे, पर प्रकाण्ड शास्त्रज्ञानके गर्वभारसे इतने दबे हुए थे कि धरतीका स्पर्श न कर सके। विनम्रताने दिग्विजयी पण्डितका वरण तो किया; पर जयपत्रके स्वाभिमानका मद नयनोंसे उतर न सका। मन कहता था कि आलिङ्गन करना चाहिये, पर जन-समूहके विनम्र संकोचने ऐसा करने नहीं दिया। युवक गौराङ्गने अपना परिचय दिया। केशव काश्मीरीने शास्त्रार्थ करनेकी इच्छा प्रकट की। (निमाई पण्डित) चैतन्यका न्याय-पाण्डित्य तो चारों ओर ख्यातिकी पराकाष्ठापर था; पर उन्होंने शास्त्रार्थकी बात न चलाकर केशव काश्मीरीसे कलिमलहारिणी, अच्युतचरणतरङ्गिणी भगवती गङ्गाजीकी महिमा वर्णन करनेका विनम्रतापूर्वक निवेदन किया। केशव काश्मीरीने आशुकवित्व-शक्तिके सहारे गङ्गाजीके स्वरूप-चित्रणमें सौ श्लोक नये-नये रचकर तुरंत सुना दिये, पर इतनेसे ही उन्हें संतोष न हुआ। उन्होंने गौराङ्गसे अपने श्लोकोंमें दोष निकालनेके लिये कहा। महाप्रभुने दोष बतलाये, उनके मुखसे उचित और युक्तिसंगत दोष सुनकर वे आश्चर्यचकित हो गये, उनका मुख लज्जासे लाल होकर अवनत हो गया। मनमें सरस्वतीका स्मरण किया, अपनी हारपर उन्हें बड़ी ग्लानि हो रही थी। सरस्वतीदेवीके स्मरणसे उन्हें ज्ञात हुआ कि श्रीचैतन्य असाधारण अलौकिक पुरुषोत्तम ही हैं। उनकी विद्वत्ताका मद उतर गया, ज्ञान भक्तिके सामने विनत हो गया। केशव काश्मीरीने गौराङ्गके चरण पकड़कर आत्मोद्धारकी भिक्षा माँगी, जनसमूहने जयध्वनि की। श्रीगौराङ्गने कहा कि 'भविष्यमें न तो आप शास्त्रार्थ करें और न किसी

व्यक्तिको हरानेकी चेष्टा करें। श्रीकृष्णके चरण-चिन्तन-माधुर्यका आस्वादन ही भवसागरसे पार उतरनेका सहज उपाय है, उनकी भक्ति ही मुक्तिका वैदिक मार्ग है। भगवान् हरि ही समस्त शास्त्रोंके मूल हैं। आगम-निगम सभी शास्त्र श्रीकृष्णकी महिमाका कीर्तन गाते हैं। वे ही जगत्के जीवनस्वरूप हैं। जिस व्यक्तिकी मतिगति श्रीकृष्णचरणमें नहीं है, वह सब शास्त्रोंका ज्ञाता होकर भी शास्त्रके वास्तविक रसका आस्वादन नहीं कर सकता। श्रीकृष्णका भजन छोड़कर जो व्यक्ति शास्त्रकी आलोचनामें ही कुशल है, वह निरे गदहेके समान ज्ञान-भारका वहन करता है। सिद्धवर्णोंका समाम्नाय तो श्रीकृष्णकी ही कृपा-दृष्टिमें होता है।' केशव काश्मीरी श्रीचैतन्यमहाप्रभुके शिष्य हो गये। श्रीकृष्णके परमानुरागके किलेमें आप-से-आप बंद हो गये। श्रीकृष्ण-भक्तिकी माधुरीके प्रचारमें उन्होंने महान् योग दिया।

केशव काश्मीरीके समयमें भारतका अधिकांश म्लेच्छाक्रान्त था, स्थान-स्थानपर वैदिक परम्पराकी कड़ी विधर्मियोंद्वारा तोड़नेका दुस्साहस चल रहा था। भगवान् श्रीकृष्णके पवित्र लीला-क्षेत्र मथुरामण्डलको भ्रष्ट करनेकी चेष्टामें यवनोंका बहुत बड़ा हाथ था। कलिन्दनन्दिनीके तटस्थ विश्रामघाटपर उनका एक समूह कुतर्कों तथा अन्यान्य उपायोंसे हिंन्दुओंको धर्मच्युत होनेके लिये विवश कर रहा था। उत्तरापथकी हिंदू-जनताने मथुरामण्डलकी पवित्रताको अक्षुण्ण रखनेके लिये दिग्विजयी महापण्डित परम भागवत केशव काश्मीरीका दरवाजा खटखटाया। केशव काश्मीरीने सदल-बल उपस्थित होकर विश्रामघाटपर अधिकार करके उन लोगोंको मथुरामण्डलसे बाहर कर दिया, उनके षड्यन्त्रका जनाजा निकाल दिया और व्रजभूमिकी भक्तिमती पवित्रता और भगवदीयताका संरक्षण किया।

केशव काश्मीरीका नाम श्रीचैतन्यके तत्कालीन अनुयायियों और भक्तोंकी श्रेणीमें श्रद्धापूर्वक लिया जाता है। वे भगवान् श्रीकृष्णके परम भक्त थे, चैतन्यकी दिव्यताके प्रचारक थे और सिद्ध भागवत थे।

भक्त श्रीभट्टजी

विक्रमीय संवत्की सोलहवीं सदीके पूर्व वृन्दावनकी पवित्र भूमि मधुर भक्तिसे पूर्ण आप्लावित थी। इसी समय व्रजभाषाके महान् कवि रसिक श्रीभट्टने श्रीराधा-कृष्णकी उपासनासे समाजको सरस और नवीन भक्ति-चेतनासे समलङ्कृतकर सगुण लीलाका प्रचार किया।

श्रीभट्ट व्रज और मथुराकी ही सीमामें रहनेको परम सुख और आनन्दका साधन समझते थे। व्रजकी लताएँ, कुञ्ज, सरिता, हरितिमा और मोहिनी छविको वे प्राणोंसे भी प्रिय मानते थे। वे केशव काश्मीरीके अन्तरङ्ग शिष्य थे। युगलशतकके नामसे उन्होंने सौ पदोंकी रचना की।

वे भगवान्की रसरूप-माधुरीकी उपासनामें रात-दिन तल्लीन रहते थे। उनकी भावना परम पवित्र और शुद्ध थी, उसीके अनुरूप उन्हें समय-समयपर भगवान्की नयी-नयी लीलाओंके दर्शन होते रहते थे। जब वे तन्मय होकर पद गाने लगते, तब कभी-कभी उसीके ध्यानानुरूप भगवान्की दिव्य झाँकीका साक्षात्कार हो जाता था।

एक बार वे भगवती कलिन्दनन्दिनीके परम पवित्र तटपर विचरण कर रहे थे, उन्होंने नीरव और नितान्त शान्त निकुञ्जोंकी ओर दृष्टि डाली, भगवान्की लीला-माधुरीका रस नयनोंमें उमड़ आया। आकाशमें काली घटाएँ छा गयीं, यमुनाकी लहरोंका यौवन चञ्चल हो उठा, वंशीवटपर नित्य रास करनेवाले राधारमणकी वंशीस्वर-लहरीने उनकी चित्तवृत्तिपर पूरा-पूरा अधिकार कर लिया। वे नन्दनन्दन और श्रीराधारानीकी रसमयी छविपर सर्वस्व समर्पण करनेके लिये विकल हो उठे। सरस्वतीने उनके कण्ठदेशमें करवट ली। 'सरस समीरकी मन्द-मन्द गति' उनकी दिव्य सङ्गीत-सुधासे आलोडित हो उठी। रसिक श्रीभट्टके प्राण भगवान्के दर्शनके लिये लालायित थे, वे गाने लगे।

भीजत कब देखौं इन नैना।
स्यामाजू की सुरँग चूनरी, मोहन कौ उपरैना।

भगवान्से विरह-दुःख अब और न सहा गया,

उनकी इच्छापूर्तिके लिये वे श्रीरासेश्वरीजीके सहित प्रकट हो गये। श्रीभट्टने देखा कि कुञ्जमें कदम्बके नीचे कोटि-कन्दर्प लावण्ययुक्त रास-विहारी अपनी प्रियतमा राधारानीके कन्धदेशपर कोमल कर-स्पर्शका सौन्दर्य बिखेर रहे हैं; यमुनाकी स्वच्छ धाराएँ उनके चरण चूमनेके लिये कूलकी मर्यादा तोड़ देना चाहती हैं, पर बालुकाकी सेनाएँ उन्हें विवश कर देती हैं कि वे आगे न बढ़ें। श्रीभट्टने अपना जीवन सफल माना, उन्होंने भगवान्‌की दिव्य और कृपामयी झाँकीको काव्यरूप देकर अपने सौभाग्यकी सराहना की। रोम-रोम पुलकित हो उठा, मलाररागका भाग्य जाग उठा—

स्यामा स्याम कुंज तर ठाढ़े, जतन कियो कछु मैं ना।
श्रीभट उमड़ि घटा चहुँ दिसि तें घिरि आई जल सेना॥

'बसौ मेरे नैननि में दोउ चंद' की कान्तिमयी इच्छापूर्ति ही उनकी अतुल सम्पत्ति थी। भगवान्‌का रस-रूप ही भवबन्धनसे निवृत्त होनेका कल्याणमय विधान था। श्रीभट्टके पदोंमें भगवान्‌के रस-रूपका चिन्तन अधिकतासे हो सका है। उनकी रसोपासना और भक्ति-पद्धतिसे प्रभावित होकर अन्य रसोपासकों और कवियोंने श्रीराधाकृष्णकी निकुञ्ज-लीला-माधुरीके स्तवन और गानसे भक्तिसाहित्यकी श्रीवृद्धिमें जो योग दिया है, वह सर्वथा स्तुत्य है। श्रीभट्ट रस-साहित्यके मर्मज्ञ और भक्त कवि थे।

भक्त श्रीहरिव्यासदेवजी

श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायमें परम वैष्णव आचार्य श्रीहरिव्यासदेवजी बहुत ऊँचे संत हो गये हैं। आपका जन्म गौड़ ब्राह्मणकुलमें हुआ था। आपने श्रीभट्टजीसे दीक्षा ली थी। पहली बार जब आप दीक्षाके लिये श्रीगुरुचरणोंमें गये, उस समय श्रीभट्टजी गोवर्धनमें वास कर रहे थे और युगलसरकार श्रीप्रिया-प्रीतमको गोदमें बिठाकर लाड़ लड़ा रहे थे। श्रीभट्टजीने पूछा—'हरिव्यास! हमारे अंगमें कौन विराजते हैं?' हरिव्यासजी बोले, 'महाराज! कोई नहीं।' इसपर श्रीभट्टजीने कहा—'अभी तुम शिष्य होनेयोग्य नहीं हो, अभी बारह वर्षतक श्रीगोवर्धनकी परिक्रमा करो।' गुरु-आज्ञा प्राप्तकर आपने बारह वर्षतक परिक्रमा की। तत्पश्चात् फिर गुरु-समीप आये। गुरुदेवने फिर वही प्रश्न किया और इसपर उन्होंने वही पुराना उत्तर दिया। पुनः बारह वर्ष श्रीगोवर्धनकी परिक्रमा करनेकी आज्ञा हुई। आज्ञा शिरोधार्यकर श्रीहरिव्यासदेवने पुनः बारह वर्षतक परिक्रमा की। तदुपरान्त गुरु-आश्रममें आये और आचार्यकी गोदमें प्रिया-प्रियतमको देखकर कृतकृत्य हो चरणोंमें लोट गये। अब इन्हें योग्य जान आचार्यने दीक्षा दी।

'भक्तमाल' में आपके सम्बन्धमें एक बड़े प्रभावशाली वृत्तान्तका वर्णन है। ये अपने सैकड़ों विद्वान् शिष्योंको साथ लेकर भगवद्भक्तिरूप अलौकिक रसकी वर्षा करते हुए पंजाब प्रान्तके गढ़यावल नामक ग्राममें पहुँचे। गाँवके बाहर एक उपवनमें एक देवीका मठ था। वहाँके राजाकी ओरसे सैकड़ों बकरे बलिदानके लिये वहाँ बँधे थे। निरीह पशुओंकी यह दयनीय दशा देख स्वामीजीकी आँखोंमें आँसू आ गये। सब शिष्योंसहित वे वहाँसे चलते बने। रातको राजा स्वप्नमें देखता है कि देवी बड़ा ही भीषण रूप धारणकर उसके सामने खड़ी है और डाँटकर कह रही है, 'दुष्ट! तूने मेरे नामपर जो क्रूर कर्म जारी कर रखा है, उससे आज एक भगवद्भक्तका चित्त दुःखी हुआ है। भगवद्भक्तके इस क्षोभसे मेरा शरीर जला-सा जा रहा है। अतः जाकर उन सब बकरोंको खोल दे और फिर कभी ऐसा कर्म न करनेकी प्रतिज्ञा कर। साथ ही स्वामीजीसे जाकर माफी माँग और उनसे दीक्षा ले। मैं भी वैष्णवी दीक्षा लूँगी।'

राजा घबराकर उठा और तुरंत स्वामीजीके पास पहुँच चरणोंमें गिरकर क्षमायाचना की। स्वामीजीने उसे आशीर्वाद दिया और सबेरे उसे तथा देवीजीको वैष्णवी दीक्षा दी। कहा जाता है, उस स्थानमें अब भी वैष्णवी देवीका सुप्रसिद्ध मन्दिर है। वहाँ अबतक जीव-बलिदान नहीं होता। फूल-बताशे चढ़ते हैं।

इसके बाद आप वृन्दावन आये और गुरुदेव श्रीभट्टजीके आज्ञानुसार 'युगलशतक' पर संस्कृतमें भाष्य लिखा।

स्वामीजीने संस्कृतमें कई मूलग्रन्थ भी लिखे। इनमें 'प्रसन्न-भाष्य' मुख्य है। 'दशश्लोकी' के अन्यान्य भाष्योंसे इसमें विशेषता यह है कि वेदके तत्त्वनिरूपणके अतिरिक्त उपासनापर काफी जोर दिया गया है। व्रजभाषामें 'युगल-शतक' नामक पुस्तकमें आपके सौ दोहे और सौ गेय 'पद' संगृहीत हैं, जो मिठासमें अपना जोड़ नहीं रखते। ऊपर दोहेमें जो बात संक्षेपमें कही है, वही नीचे 'पद' में विस्तारसे कही गयी है। इस सम्प्रदायमें 'युगलशतक' पहली ही हिन्दी-रचना है, शायद इसीसे इसे आदिवाणी कहते हैं। और ये ही सर्वप्रथम उत्तरभारतीय सम्प्रदायाचार्य हैं। इनसे पहलेके सभी आचार्य शायद दाक्षिणात्य थे। स्वामीजी इस सम्प्रदायमें उस शाखाके प्रवर्तक हैं, जिसे 'रसिकसम्प्रदाय' कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्णके शृङ्गारी रूपकी उपासना ही इनका सर्वस्व है। श्रीहरिव्यासदेवजीका इतना प्रभाव हुआ कि श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायकी इस शाखाके संतोंको तबसे लोग 'हरिव्यासी' ही कहने लगे। वैष्णवोंके चारों सम्प्रदायोंमें इस सम्प्रदायके संत अब भी 'हरिव्यासी' ही कहलाते हैं।

श्रीघनानन्दजी

श्रीघनानन्दजीका जन्म संवत् १७४६ के लगभग हुआ था। वे भटनागर कायस्थ थे। फारसी, व्रजभाषा और संस्कृतसाहित्यमें उनकी विशेष अभिरुचि और पहुँच थी। पहले वे मुगल बादशाहके राजकार्यालयमें एक साधारण अधिकारी थे। पर बादमें अपनी कार्यदक्षता, स्वामिभक्ति और परिश्रमके प्रभावसे वे बादशाह मुहम्मदशाहके 'खास कलम' हो गये। काव्य और सङ्गीतका उन्हें अच्छा अभ्यास था। उनकी कविता बड़ी सरस, मधुर और भक्तिपूर्ण होती थी। आरम्भसे ही वे भगवान् श्रीकृष्णकी सरस लीलाओंके प्रेमी थे। श्रीनन्दकुमारके दरबारका आश्रय ही उनके लिये परम मान्य था। वे उच्च कोटिके प्रेमी थे। लौकिक प्रेमको अलौकिक, सर्वथा दिव्य अथवा ईश्वरीय बनानेमें उन्होंने जो सफलता पायी, वह भक्ति-जगत्की एक अत्यन्त मौलिक और अपूर्व देन है। पहले वे 'सुजान' नामक एक वेश्याके रूप और सौन्दर्यपर आसक्त थे। पर बादमें उन्होंने अपनी आसक्ति भगवान् श्रीकृष्णकी भक्तिके चरणोंपर समर्पित कर दी। उनके जीवनमें एक अभूतपूर्व घटना हुई—वे मुहम्मदशाहकी राजसभामें बैठे हुए थे। कुछ दरबारियोंने बादशाहसे कहा कि 'घनानन्द बहुत अच्छा गाते हैं।' बादशाहके कहनेपर घनानन्दने नहीं गाया, पर 'सुजान' के कहनेपर उन्होंने उसीकी ओर मुख करके गाया। सारी सभामें आनन्द छा गया। बादशाहने उनकी प्रशंसा की, पर आज्ञा-अवहेलनाके अपराधमें उनको राजधानीसे बाहर निकाल दिया। घनानन्द तो नन्दकुमारकी छविपर बिक चुके थे। देशपति रूठे तो रूठ जाय, पर व्रजराज न रूठें। बादशाहके उच्चाधिकारीने संसारकी मायाका त्याग कर दिया, वे चल पड़े व्रजकी ओर। भगवान् राधारमणकी लीला-भूमिमें पहुँच ही तो गये। कालिन्दीके नीले जलको देखकर नीलमणि नन्दनन्दनका स्मरण हो आया। नयनोंमें जल उमड़ पड़ा, उनके प्राण कलप उठे, अधरोंने कण्ठकी वाणीका भाष्य किया।

गुरनि बतायौ, राधा मोहन हू गायौ
सदा सुखद सुहायौ बृंदाबन गाढ़े गहि रे।
अदभुत अभूत महिमंडन परे ते परे,
जीवन कौ लाहु हाहा क्यौं न ताहि लहि रे॥
आनँद कौ घन छायौ रहत निरंतर ही
सरस सुदेय सों पपीहा पन बहि रे।
जमुनाके तीर केलि कोलाहल भीर,
ऐसे पावन पुलिन पै पतित! परि रहि रे॥

जगत्के नयनोंमें पतित और भगवान्के नयनोंमें परम पावन घनानन्दने रासस्थली-वंशीवटके मनोरम क्षेत्रमें धरना देकर रासेश्वरके दर्शनकी इच्छा की। वे समय-समयपर भगवान्को वियोग-शृङ्गारसे सजाया करते थे। आकाशमें उमड़ते बादलोंको देखकर अनुनयपूर्वक कहा करते कि 'तुम मेरे नयनोंके अश्रु-जलको सुजान घनश्यामके अँगनेमें बरसा दो।' कभी-कभी चातककी तरह प्रियतमको सम्बोधन कर कह उठते थे—

आरतवंत पपीहन कों घनआनँद जू पहिचानौ कहा तुम।

प्रेमकी गूढ़-से-गूढ़ अन्तर्दशाकी सूक्ष्मताका परिचय उनकी उक्तिमें अच्छी तरह मिलता है।

वे प्रायः वंशीवटके निकट वृक्षके ही तले रहा करते थे। कभी-कभी समाधिमें दो-तीन दिन बीत जाते थे। व्रजवास-कालमें ही इन्होंने 'सुजान-सागर' की रचना की। वे निम्बार्क-सम्प्रदायमें दीक्षित थे।

सं० १७९६ वि० में नादिरशाहने भारतपर आक्रमण किया। वृन्दावनमें नादिरशाहके सिपाहियोंने बादशाह मुहम्मदशाहके 'खास कलम' को फक्कड़के वेषमें देखकर 'जर, जर, जर' कहा। खजाना माँगा। घनानन्दके पास सिवा व्रज-रजके और कुछ भी नहीं था। उन्होंने तीन बार 'रज, रज,रज' कहा औरं उनके ऊपर व्रजरज डाल दिया। सिपाहियोंने उनका दाहिना हाथ काट डाला। विरही घनानन्दके प्राण सुजान नन्दलालके विरहमें चीख उठे। उनकी काव्यभारतीने करुण-स्वरमें गाया।

अधर लगे हैं आनि करि कै पयान प्रान
चाहत चलन ये सँदेसौ लै सुजान कौ॥

उन्होंने पूरा छन्द अपने खूनसे तकियेपर लिखा। सैनिकोंने थोड़े समयके बाद उन्हें जानसे मार डाला। अन्तिम समयमें भी विरहीने घनश्यामको ही पुकारा!

श्रीव्यासदासजी

यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्मलः।
तस्य तीर्थपदः किं वा दासानामवशिष्यते॥

(श्रीमद्भा० ९। ५। १६)

ओड़छा (बुन्देलखण्ड) के राज्यपुरोहित पण्डित सुमोखन शर्मा शुक्लकी धर्मपत्नीने मार्गशीर्ष कृष्णा पञ्चमी विक्रम संवत् १५६७ को एक पुत्ररत्न पाया। बालकका नाम हरिराम रखा गया। पिताने यथावसर सब संस्कार कराये और अध्ययन कराया। यथासमय पुत्रका विवाह भी उत्तम कुलकी सुशीला कन्यासे कर दिया।

पण्डित हरिराम बहुत ही प्रतिभाशाली विद्वान् थे। बड़े-बड़े विद्वान् इस युवकसे शास्त्रोंका मर्म समझने आते थे। पिताके परलोकवासी होनेपर ओड़छानरेश राजा मधुकरशाहके ये राजपुरोहित हो गये। इन्हें वाद-विवाद करके पण्डितोंको पराजित करनेका व्यसन था। कहीं किसी विद्वान्का नाम सुनते तो वहीं शास्त्रार्थ करने पहुँच जाते। इनके साथ राज्यके अङ्गरक्षक रहते थे। एक बार ये काशी पधारे। वहाँके गण्यमान्य विद्वानोंसे भी शास्त्रचर्चा हुई और उसमें इनकी उत्कृष्टता रही। श्रावण मासमें बड़े विधि-विधानसे इन्होंने विश्वनाथजीका अभिषेक कराया। भगवान् आशुतोष प्रसन्न हुए । उसी रात स्वप्नमें एक साधुने इनसे शङ्का की—'विद्याकी पूर्णता कब है?' इन्होंने उत्तर दिया—'सत्यासत्यको जानकर प्राप्त करनेयोग्य पदार्थको प्राप्त करनेमें है।' साधुने कहा— 'पण्डितजी! आप दूसरोंको जितना समझाते हैं, उतना स्वयं क्यों नहीं समझते? विद्याकी पूर्णता जब प्राप्त करनेयोग्य पदार्थको प्राप्त करनेमें है, तब वह वाद-विवादके द्वारा दूसरोंको लज्जित करनेसे क्या प्राप्त हो जायगा? वह पदार्थ तो भक्तिसे ही प्राप्य है। भगवद्भक्तिमें ही विद्याकी पूर्णता है। अपनी विद्याको पूर्ण करनेके लिये आपको भक्ति करनी चाहिये। अपूर्ण और अधूरी विद्या क्या आपको शोभा देती है?'

पण्डितजी जागे तो उनका विद्याका नशा उतर गया था। काशीमें जीतकर भी वे अपनेको हारा हुआ मान रहे थे और यही उनकी सच्ची विजय थी। उनके जीवनका मन्त्र हो गया—*'वही पढ़ विद्या, जामें भक्ति कौ प्रबोध होय।'* काशीसे वे सीधे ओड़छा चले आये। अब उन्हें धन-दौलत, मान-प्रतिष्ठा आदि सब व्यर्थ मालूम होने लगा। किसी महापुरुषकी शरण ग्रहण करनेके लिये उनका हृदय ललक उठा। उसी समय महाप्रभु श्रीहितहरिवंशजीके शिष्य संत श्रीनवलदासजी ओड़छा पधारे। पण्डित हरिरामको इनके सत्संगसे बड़ी तृप्ति हुई। इनके उपदेशसे वे घर-द्वार छोड़कर सं० १५९१ वि० के कार्तिक मासमें वृन्दावन पहुँचे।

जब ये यमुना-स्नान करके श्रीहितहरिवंशजी महाप्रभुके पास पहुँचे, तब वे श्रीराधावल्लभजीको भोग प्रस्तुत करनेके लिये रसोई बना रहे थे। उसी समय इन्होंने बातें करनी चाहीं। महाप्रभुने चूल्हेपरसे पात्र उतार दिया और जलसे अग्निको शान्त कर दिया। इन्होंने कहा—'रसोई और

चर्चा दोनों काम साथ हो सकते थे।' महाप्रभुने समझाया—'दो स्थानोंपर मन लगाये रखना व्यभिचारात्मक चित्तवृत्ति है। यह कालसर्पसे ग्रसित है, अतः उस कालव्यालसे बचनेके लिये चित्तको सब ओरसे खींचकर श्रीश्यामाश्यामके चरणोंमें ही लगानेवाला धन्य है।' हरिरामजीने महाप्रभुसे दीक्षा ग्रहण कर ली। अब वे ओड़छाके राजपुरोहित नहीं रहे। उनका नाम हो गया व्यासदास। सेवाकुञ्जके पास एक मन्दिर बनवाकर उसमें श्रीराधाकृष्णके युगल-स्वरूपको पधराकर ये सेवामें लग गये।

कुछ दिनों बाद ओड़छानरेशने इनको लिवा लानेके लिये अपने मन्त्रीको वृन्दावन भेजा। मन्त्रीने बहुत आग्रह-अनुरोध किया, पर श्रीधाम वृन्दावन छोड़ना इन्होंने स्वीकार नहीं किया। मन्त्रीने देखा कि ये ऐसे नहीं चलेंगे तो श्रीहितमहाप्रभुजीसे प्रार्थना की। महाप्रभुने स्वीकार कर लिया—स्नान करके आनेपर हम व्यासदाससे तुम्हारी बात कहेंगे। इनको जब इस बातका पता लगा कि गुरुदेव ओड़छा जानेकी आज्ञा देनेवाले हैं, तब ये यमुना-किनारे झाउओंमें छिप गये। तीन दिनतक इनका कुछ पता ही न लगा। महाप्रभुने पता लगानेके लिये शिष्योंको भेजा। गुरुदेवका बुलावा सुनकर ये झाउओंमेंसे निकले और देरतक यमुना-स्नान करते रहे। फिर बहुत-सा कोयला घिसकर मुखपर पोत लिया और एक गधा साथ कर लिया। पूछनेपर बोले—'जिनकी शरणमें आकर मैंने श्रीधाम वृन्दावनका निवास पाया, वे ही मुझे यहाँसे बाहर जानेकी आज्ञा देनेवाले हैं। उनकी आज्ञासे इस दिव्यधामसे मुख काला करके गधेपर बैठकर मुझे नरक-रूप संसारमें विवशतः जाना पड़ेगा। उस समय कोयला और गधा कदाचित् न मिले, इसलिये मैंने अभीसे इन्हें ले लिया है।' यह समाचार महाप्रभुतक शिष्योंने पहुँचाया तो महाप्रभु बोले—'मैं उस बड़भागीसे वृन्दावन छोड़नेके विषयमें एक शब्द भी नहीं कहूँगा। व्यर्थ ही मैंने उसके भक्तहृदयको क्लेश दिया।' गुरुदेवकी इस बातका समाचार पाकर मुख धोकर व्यासदासजीने आकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया। महाप्रभुने इनको उठाकर हृदयसे लगा लिया।

मन्त्रीका आग्रह बना ही था। उसने इनके साथ अपने आदमी कर दिये, जिससे ये कहीं छिप न जायँ। दूसरे दिन भगवान्का भोग लग जानेके पश्चात् भक्तोंकी पंगत बैठी। जब भक्त प्रसाद पाकर उठ गये, तब अपने नित्यके नियमानुसार व्यासदासजीने सभी भक्तोंकी पत्तलोंमेंसे उठाकर जूँठन—'सीथ' ग्रहण किया। यह सब देखकर मन्त्रीने समझ लिया कि अब ये आचारसे गिर गये हैं। राजपुरोहित होनेयोग्य नहीं रहे हैं। मन्त्रीकी अश्रद्धा हो गयी। मन्त्रीने इनसे महाराजके नाम पत्र ले लिया और लौट गये।

मन्त्रीने ओड़छे जाकर राजा मधुकरशाहको पत्र दिया और बताया 'राजपुरोहित अब सबका जूठा खाने लगे हैं। वे यहाँ ले आने योग्य नहीं हैं?' राजा भगवद्भक्त थे। उनके ऊपर दूसरा ही प्रभाव पड़ा। वे सोचने लगे—'मेरे राजपुरोहित अब सच्चे महापुरुष हो गये हैं। यदि वे एक दिनको भी यहाँ आ जायँ तो राज्य और राजमहल धन्य हो जाय।' अतः अब स्वयं राजा उन्हें मनाने वृन्दावन पहुँचे।

राजा मधुकरशाहने वृन्दावन आकर व्यासदासजीसे आग्रह प्रारम्भ किया—'अधिक नहीं तो एक दिनके लिये ही सही, आप ओड़छे एक बार अवश्य पधारें।' व्यासदासजी इन्हें टालने लगे। कभी कोई फूल-बँगला दर्शन करनेको कहते, कभी कोई उत्सव। महाराजके आग्रहसे संत भी इनसे कहने लगे कि 'एक दिनके लिये जानेमें क्या हानि है?' परंतु इन्होंने तो वृन्दावनसे बाहर न जानेका नियम कर लिया था। अन्तमें राजाने अपने कर्मचारियोंको बलपूर्वक इनको पालकीमें बैठाकर ले चलनेको कहा। इन्होंने कहा—'जब चलना ही है, तब मुझे अपने भाई-बन्धुओंसे मिल तो लेने दो!'

एक-एक कदम्ब या तमालसे भुजा फैलाकर व्यासदासजी मिलने लगे। देरतक उससे चिपटे रहते। फूट-फूटकर रो रहे थे। एकसे हटनेपर दूसरेसे जा चिपटते थे। कहते थे—'तुम्हीं मेरे सर्वस्व हो। तुम्हीं मेरे पुरुषार्थ हो। तुम मुझपर दया क्यों नहीं करते? तुम मुझ दीनको क्यों छोड़ रहे हो? मुझसे ऐसा कौन-सा अपराध हो गया? तुमको छोड़कर मैं जी नहीं सकता।'

राजा मधुकरशाहका हृदय व्यासदासजीके लिये टूटा पड़ता था। वे किसी प्रकार एक बार इन्हें ओड़छा ले जाना चाहते थे। अन्तमें निराश होकर वे रो पड़े। हाथ जोड़कर चरणोंपर सिर रखकर क्षमा माँगते हुए बोले—'आपने मेरे दुराग्रहसे बहुत कष्ट उठाया। आपके हृदयको स्वार्थवश मैंने बहुत व्यथा दी। इतनेपर भी आपने मुझे

कठोर वचन नहीं कहे। मेरे स्नेहको तोड़ा नहीं। मेरे अपराधको क्षमा कर दें। मैं अब और हठ नहीं करूँगा। आपकी जिसमें प्रसन्नता हो, वही करें। मुझे अपना अनुचर जानकर उपदेश करें।' व्यासदासजीने राजाको भगवद्भक्ति और संतसेवाका उपदेश किया। गुरुकी आज्ञासे ओड़छानरेश लौट आये।

राजपुरोहितानीजीने जब देखा कि मेरे पतिदेव राजाके जानेपर भी नहीं लौटे, तब वे स्वयं वृन्दावन पुत्रोंके साथ पहुँचीं। व्यासदासजीने पूरी उदासीनता दिखायी। उन्हें भला, अब स्त्री-पुत्रसे क्या मोह? क्या प्रयोजन? लोगोंने सिफारिश की तो उन्होंने कहा—'जो नारी परमार्थमें न लगी हो, उसे पास रखना तो यमके पाशमें अपने गलेको फँसा लेना है।'

पतिव्रता स्त्री पतिके चरणोंमें गिर पड़ी और उसने जैसे पतिदेव आज्ञा करें, वैसे ही रहना स्वीकार किया। व्यासदासजीने दीक्षा देकर उनका नाम 'वैष्णवदासी' रख दिया और संतोंकी सेवामें लगे रहनेका उन्हें उपदेश किया। माताने अपने पुत्रोंको भी पास रखनेकी अनुमति चाही। बहुत आग्रह करनेपर यह प्रार्थना भी स्वीकार हो गयी। पर पुत्रोंको दीक्षा व्यासदासजीने नहीं दी। उनमेंसे एक पुत्रने एक दिन संतस्वामी हरिदासजीकी प्रशंसा की, तब आप उसपर प्रसन्न हो गये। उसे आपने स्वामीजीसे दीक्षा लेनेकी आज्ञा दे दी। वे 'चतुर युगलकिशोरदास' नामसे प्रसिद्ध हुए। संतोंमें इनका बहुत अनुराग था। वृन्दावन छोड़कर ये कहीं नहीं गये। इनके भावपूर्ण पद मिलते हैं।

व्यासदासजी भगवान्के, भगवद्भक्तोंके तथा भगवत्प्रसादके अनन्य भक्त थे। एक बार रासके समय श्रीराधारानीके चरणोंका नूपुर टूट गया, तब आपने यज्ञोपवीत तोड़कर उसे गूँथ दिया। लोगोंने पूछा—'आपने यह क्या किया?' तो बोले—'अबतक तो इसका भार ही ढोता आया था। आज यह सफल हो गया।'

ये बड़े ही सहनशील थे। एक बार एक संत इनकी परीक्षा करने आये और कहने लगे 'मुझे बहुत भूख लगी है। शीघ्र भोजन कराओ।'

इन्होंने कहा—'आप विराजें। थोड़ी देरमें ही प्रभुको राजभोग लगेगा, तब भगवत्प्रसाद आप पा लेना। भोग लगे बिना कैसे आप भोजन कर सकते हैं।'

संतने इतना सुनते ही गालियाँ देना प्रारम्भ किया। ये चुपचाप सुनते रहे। दर्शकोंमेंसे कुछको बुरा लगा। वे संतको मना करने लगे तो इन्होंने उनको रोक दिया। जब भगवान्का भोग लग गया, तब प्रसादका थाल लाकर संतके सामने रखकर नम्रतासे बोले—'प्रभु! आप पहले प्रसाद पा लें। जो गालियाँ शेष रह गयी हों, उन्हें फिर दे लेना।'

संत प्रसाद पाने बैठे और ये उनको हवा करने लगे। प्रसाद पाकर जूठी थाली संतने इनके सिरपर दे मारी। ये वह सब जूठन बटोरकर पाने लगे। अब तो वे संत इनके चरणोंपर गिर पड़े और बोले—'आपके धैर्य और साधु-सेवाको धन्य है।'

श्रीठाकुरजीको एक बार ओड़छेसे आयी रत्नजटित वंशी धारण कराने लगे तो वंशी मोटी होनेसे प्रभुकी अँगुली किञ्चित् छिल गयी। इन्हें बड़ा दुःख हुआ। वंशी मन्दिरमें रखकर जब ये बाहर आये, तब श्यामसुन्दरने स्वयं वंशी धारण कर ली। इसी प्रकार किसीकी भेजी जरकसी पाग ये ठाकुरजीको एक बार बाँध रहे थे, पर बहुत प्रयत्न करनेपर भी मनोऽनुकूल पाग बँधती नहीं थी। इन्होंने कहा—'मेरी बाँधी पसंद नहीं आती तो आप ही बाँधो।' पगड़ी रखकर ये मन्दिरसे बाहर आ गये। ठाकुरजीने स्वयं पगड़ी बाँध ली।

भगवान्के महाभाग भक्त उनसे नित्य अभिन्न होते हैं। ऐसे भक्तोंके सामने प्रभुकी लीला सदा ही प्रकाशित रहती है। व्यासदासजी ऐसे ही श्रीराधाकृष्णके नित्य सेवक थे। इनके व्रजभाषामें बड़े ही मधुर पद मिलते हैं। उनमेंसे कुछ नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

हम कब होंहिगे ब्रजबासी।
ठाकुर नंदकिसोर हमारे, ठकुराइन राधा-सी॥
कब मिलिहैं वे सखी सहेली हरिबंसी हरिदासी।
बंसीबट की सीतल छैंयाँ सुभग नदी जमुना-सी॥
जाकौ बैभव करत लालसा कर मीडत कमला सी।
इतनी आस ब्यास की पुजवहु बृंदा बिपिन बिलासी॥

जो सुख होत भक्त घर आये।
सो सुख होत नहीं बहु सम्पति, बाँझहि बेटा जाये॥
जो सुख भक्तनि कौ चरनोदक पीवत गात लगाये।
सो सुख सपने हू नहिं पैयत कोटिक तीरथ न्हाये॥
जो सुख भक्तनि कौ मुख देखत उपजत दुख बिसराये।
सो सुख होत न कामिहि कबहूँ कामिनि उर लपटाये॥

जो सुख होत भक्त बचननि सुनि नैनन नीर बहाये।
सो सुख कबहुँ न पैयत पितु घर पूत कौ पूत खिलाये॥
जो सुख होत मिलत साधुनि सौं, छिन छिन रंग बढ़ाये।
सो सुख होत न रंक 'ब्यास' को लंक सुमेरहि पाये॥
साँचे मंदिर हरि के संत।
जिनि में मोहन सदा बिराजत, तिनहिं न छोड़त अंत॥
जिनि महँ रुचि कर भोग भोगवत पाँचौ स्वाद अदंत।
जिनि महँ बालत हँसत कृपा करि चितवत नैन सुपंत॥
अपने मत भागवत सुनावत रति दै रस बरषंत।
जिनि में बसि संदेह दूरि करि देह धर्म परजंत॥
जहाँ न संत तहाँ न भागवत भक्त सुसील अनंत।
जहाँ न 'ब्यास' तहाँ न रास रस बृंदाबन कौ मंत॥

भक्त रसिकमुरारिजी

भक्त रसिकमुरारिजी भगवान् श्यामसुन्दरके रूप-रस और लीला-माधुर्यके पूरे रसिक थे। वे दिव्य युगलस्वरूपके उपासक थे। श्यामाश्यामकी निकुञ्ज-लीलाका चिन्तन ही उनका परम धन था। नन्दनन्दन और रासेश्वरी रसमयी श्रीवृषभानुनन्दिनीका स्मरण ही उनके जीवनका आधार था। संत-सेवा और गुरुभक्तिमें उनकी दृढ़ निष्ठा थी। वे सरल और सरस स्वभावके रसिक प्राणी थे।

रसिकमुरारिजीके गुरु श्यामानन्दकी जागीर एक दुष्ट राजाने छीन ली। श्यामानन्दने उनको पत्र लिखा कि तुम जिस दशामें हो, उसीमें शीघ्र ही चले आओ। उस समय वे भोजन कर रहे थे। बिना हाथ-मुख धोये ही वे चल पड़े। गुरु-आज्ञाकी मर्यादा ही ऐसी थी। गुरुका निवास सत्रह कोसकी दूरीपर था। श्यामानन्दजीने उन्हें उस दशामें देखकर बड़ा आश्चर्य प्रकट किया और उनकी कार्यतत्परता और आज्ञाकारिताकी बड़ी सराहना की। रसिकमुरारिने गुरुकी जागीर लौटानेके लिये राजाके पास जानेका निश्चय किया, किंतु उनके शिष्योंने उन्हें राजाकी दुष्टतासे अवगत कराया और जानेसे रोका। उन्होंने किसीकी बात नहीं मानी। राजाने उनके आनेकी बात सुनकर एक मतवाला दुष्ट हाथी उनके ऊपर छोड़नेका इरादा किया और सभासदोंसे कहा कि 'यदि उनमें कुछ शक्ति होगी तो हाथी उन्हें छोड़ देगा और इस तरह उनकी सिद्धिका भी पता चल जायगा।' पर यह सब कुछ तो बहाना था, वह तो उन्हें जानसे मारकर जागीर हड़प लेना चाहता था।

गजराज झूमता हुआ उनके पथपर मदोन्मत्त-सा विचर रहा था। श्यामा-श्यामके अनन्य सेवक रसिकमुरारिकी पालकी राजसभाकी ओर आ रही थी। वे निर्भयतापूर्वक प्रभुका स्मरण करते पालकीमें सवार होकर चले आ रहे थे। जीव चराचरमें भगवान् नन्दनन्दनके दर्शन करनेवाले रसिक भक्तने देखा कि कहारोंने पालकी रख दी और वे भाग खड़े हुए। सामने मदमत्त गजराज झूमता-झामता पहुँच गया। रसिकमुरारिको अपनी प्राणरक्षाकी चिन्ता नहीं थी। उन्हें तो गजराजको किसी तरह इस भयानक पापकर्मसे मुक्तकर भगवान्‌की भक्तिका माधुर्य चखाना था। उन्होंने कृपाभरी दृष्टिसे गजराजको देखा। प्रेमभरी मुसकान बिखेरकर कहा कि 'भैया! तुम चेतन हो, तुम्हारे रोम-रोममें भगवत्-सत्ता व्याप्त है, तुम हाथीका तमोगुण छोड़ दो। इस पापग्राहसे छुटकारा पानेके लिये भगवान्‌का स्मरण करो। भव-बन्धनसे मुक्ति मिल जायगी।' भक्तकी रसमयी वाणीके प्रभावसे गजराजका मद उतर गया। उसका हृदय भक्तिभावसे आह्लादित हो उठा। हाथीने नतमस्तक होकर रसिकमुरारिकी चरण-वन्दना की। ऐसा लगता था कि तमोगुणने सत्त्वगुणकी प्रभुता स्वीकार कर ली। वह अधीर हो उठा, नयनोंसे अश्रुकी धारा बहने लगी। रसिकमुरारिने उसे श्रीकृष्ण-नामसे अभिमन्त्रितकर कहा—'श्रीकृष्णका नाम माधुर्यका अनन्त सागर है। एक कणिकामात्रके संस्पर्शसे करोड़ों जन्मोंके पाप मिट जाते हैं। जीव उनके रूप-रसमें अवगाहनकर धन्य और कृतार्थ हो जाता है।' उन्होंने इस शिष्य हाथीका नाम 'गोपालदास' रखा। भक्त मुरारिके दर्शनसे राजाकी दुष्टताका नाश हो गया। उसने उनके चरण पकड़ लिये, क्षमा माँगी। श्यामानन्दकी जागीर लौटा दी। रसिकमुरारिकी गुरुभक्ति धन्य हो गयी।

श्री (हित) लालस्वामीजी

(लेखक—बाबा श्रीहितशरणजी महाराज)

कोई चार सौ वर्ष पूर्वकी बात है—गोस्वामी श्रीहरिवंशचन्द्रजीके तृतीय पुत्र श्रीगोपीनाथजी महाराज देववन (सहारनपुर) में विराजमान थे। इन्हीं आचार्य-कुल-कमल-दिवाकरके सङ्गसे अनेकों जीवोंने अपने जीवन-जन्मको सफल बनाया था। उनमेंसे एक लालस्वामीजी भी थे।

लालस्वामीजीका जन्म हरषापुर ग्राममें, ब्राह्मणवंशमें हुआ था, किंतु देखनेसे ये क्षत्रिय जान पड़ते थे। ये अपने पास एक बाज रखते और शिकार किया करते थे। लालदासजी व्यवहारमें तो बड़े कुशल थे, पर परमार्थके नाम कोरे थे। एक दिन ये किसी कार्यवश देववन आये और कारणवश वहाँ तीन घंटेके लिये ठहरे भी।

इसी बीच 'श्रीराधारङ्गीलालजी' (श्रीगोपीनाथ गोस्वामीके इष्टदेव) की शृंगार-आरतीका समय आ गया। मन्दिरका टकोरा (घण्टेकी ध्वनि) सुनकर सब नर-नारी प्रभुके दर्शनोंको चल पड़े। लालदासजी भी कौतूहलवश सबके साथ हो लिये। वहाँ जाकर उन्होंने देखा—

गोपीनाथजी आरति करैं। जो देखैं तिन कौ मन हरैं॥

गोस्वामीजीके पुनीत दर्शनोंने लालदासजीका मन चुरा लिया—

लालदास कौ मन हर लयौ। देखि स्वरूप चित्र सौ भयौ॥

जब सब लोग आरती करके लौटे, तब इनके साथियोंने इन्हें भी चलनेको कहा—'लालदासजी! चलिये, क्या सोच रहे हैं?' परंतु लालदासजीपर तो अकारण करुणामयकी निर्हेतुकी कृपाकी वर्षा हो चुकी थी। उनके पूर्व संस्कारोंके सुकृत-सुयोगसे उन्हें श्रीठाकुरजी अपनी ओर आकृष्ट कर रहे थे। अतः वे बोले—

अति सुगंध हरिबंस तन मलयागिरि कौ बूट।
लालदास दृढ़ गहि रह्यौ या मंदिर कौ खूँट॥

यह उत्तर देकर लालदास—

पगन गुसाईं के लपटाने। काहू की सिख नेकु न माने॥
देखि सरूप भक्ति उर आई। पिछली अपनी कुमति सुनाई॥

इनकी सरलता और अनुनय-विनयसे प्रसन्न होकर श्रीगोपीनाथजी महाराजने इन्हें मन्त्रदीक्षा दे दी। ये कृतकृत्य हो गये।

अब लालदासजी देववनमें श्रीगुरुदेवके पास ही रहने लगे तथा उनके बताये हुए उपक्रमसे भजन-भावना करने लगे। इन्होंने ममता, मोह सब छोड़ दिया और तन-मन-धन सब प्रभुको समर्पण कर दिया, जैसा कि श्रीभगवत-मुदितजीने इनके विषयमें लिखा है—

ममता मोह सबै तज दीनौ। तन-मन-धन सब अर्पन कीनौ॥
संतनको निज बेष बनायौ। पहिलो सब आचरन बहायौ॥
हरि गुरु सेवा सौं चित लायौ। तब तौ स्वामी आप कहायौ॥
लाल करत प्रभु भोग भावना। कहन सुननको तहाँ दाव ना॥

ये प्रभुकी अष्टयाम मानसी सेवामें तन्मय रहते थे। एक दिन अपनी भावनामें श्रीठाकुरजीको भोग रख रहे थे। इतनेमें इनके गुरुजीने एक रुपया देते हुए इनसे कहा, 'स्वामीजी! श्रीजीको मुँह पोंछनेको वस्त्र नहीं है, अतः एक मिहीं वस्त्र ले आओ।' लालस्वामी अपनी भावनामें पग रहे थे। उन्हें वस्त्रका ध्यान तो रहा नहीं। वे एक रुपयेके लड्डू उठा लाये। वस्त्रकी जगह लड्डू देखकर महाराजजीको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे समझ गये, जरूर कोई कारण है। उन्होंने पूछा—'भैया! हमने तो वस्त्र मँगवाया था, तुम लड्डू कैसे ले आये?' इन्होंने अपनी भूल बताकर क्षमा-प्रार्थना की। गुरुजी बोले—'मैं तुम्हें अपराधी थोड़े ही मानता हूँ, जो क्षमा-याचना करते हो। भूलका सच-सच कारण कह दो।' अन्तमें महाराजजीके शपथ दिलानेपर इन्होंने सत्य घटना कह सुनायी, जिससे गोसाईंजी बड़े प्रसन्न हुए।

तदनन्तर गुरुदेवकी आज्ञासे ये घर आ गये। घरमें इनकी पत्नी तथा एक पुत्र थे। तीनों प्राणी मिलकर श्रीहरि और उनके भक्तोंकी सेवा करने लगे।

इन श्रीलालस्वामीजीके विषयमें चाचा श्रीवृन्दावनदासजी लिखते हैं—

बाँके अनन्य हित धर्म पथ स्वामी लाल गँभीर मति॥
बाँकौ बिपिन बिलास बंक जस बरन्यो जाकौ।
जिहि मग औघट घाट बंक ही चलन तहाँ कौ॥
कहनी रहनी बंक, बंक बोलन रस माती।
निरखत बंक बिहार छके छबि में दिन राती॥
सुदृढ़ प्रीति हित नाम सौं हरि गुरु संतन चरन रति।
बाँके अनन्य हित धर्म पथ स्वामी लाल गँभीर मति॥

ये सदा-सर्वदा अपना समय भजनमें ही बिताते थे। यथा—

अधिक प्यार है भजन सौं, और न कछू सुहात।
कहत सुनत भगवत जसहि, निसि दिन जाहिं बिहात॥
—ध्रुवदासजी

श्रीहित ध्रुवदासजी

(लेखक—चश्मावाले बाबा)

श्रीध्रुवदासजीके घरका क्या नाम था, कुछ पता नहीं। इनके पूर्व-संस्कारोंने इनमें केवल पाँच वर्षकी ही अवस्थामें उत्कट वैराग्य और प्रभु-प्रेमकी लगन उत्पन्न कर दी थी। बालकभक्त ध्रुवने भी पाँच वर्षमें अपनेमें यह लगन पायी थी। इसी साम्यके कारण इन्हें लोग ध्रुवदास कहने लगे।

श्रीध्रुवदासजीके पिता श्यामदासजी कायस्थ देववन (सहारनपुर)-के निवासी थे। इनके यहाँ कई पीढ़ियोंसे भक्ति चली आ रही थी। इसलिये इनमें भी वही संस्कार प्रकट हुए। बालक ध्रुवदासके बाबा श्रीबीठलदासजी बड़े गुरुभक्त थे, जिन्होंने अपने गुरुदेव श्रीहितहरिवंशचन्द्र महाप्रभुके वियोगमें अपने प्राणतक विसर्जन कर दिये।

श्रीध्रुवदासजीका जन्म लगभग संवत् १६४० के समीपका माना जाता है। ये पाँच वर्षकी अवस्थामें गृह-त्याग करके श्रीवन आ गये और इन्होंने दस वर्षकी अवस्थामें ही प्रभु-प्राप्ति कर ली।

इन्होंने बचपनमें ही वैष्णवी दीक्षा ले ली थी। इनके गुरुदेव श्रीगोपीनाथजी महाराज गोस्वामी श्रीहितहरिवंशचन्द्र महाप्रभुके तृतीय पुत्र थे। श्रीध्रुवदासजी बड़े एकान्त-प्रेमी भक्त थे। ये अपनी सरस वन-विहारकी भावनाओंमें तल्लीन हुए श्रीवनकी बीहड़ वनस्थलीमें पड़े रहते थे। इनका सरस हृदय कवित्व-शक्तिसे पूर्ण था। ये मेधावी, सुशील और नम्र थे। बाल्यकालमें ही इन्होंने विद्याध्ययन किया, फिर जीवनभर उसकी सरस साधनामें लगे रहे।

श्रीध्रुवदासजीके मनमें युगल-किशोरकी ललित क्रीड़ाओंके वर्णन करनेकी बड़ी अभिलाषा थी; किंतु संतोंके सङ्कोच और अपने प्रभुके भयसे वे ऐसा कर नहीं पाते थे।

एक बार चरित्र-लेखनकी उत्कट लालसाने इन्हें विवश कर दिया, जिससे ये वृन्दावन गोविन्दघाटके महारासमण्डलपर श्रीप्रियाजीकी आज्ञा प्राप्त करनेके लिये जा पड़े। लगातार तीन दिन, तीन रात बिना अन्न-जल लिये पड़े रहे। इनकी इस रुचि और लगनसे प्रसन्न होकर प्रेम-मूर्ति स्वामिनी श्रीराधाने चौथे दिन अर्ध-रात्रिको दर्शन दिया और इनके सिरपर अपने सुकोमल चरणोंका स्पर्श कराके आशिष और आज्ञा दी कि तुम हमारी ललित क्रीड़ाओंका वर्णन करो। तुम्हारे द्वारा वर्णन किये गये लीला-चरित्र प्रेमी रसिक संतोंको सुखदायी ही होंगे।

श्रीस्वामिनीजीकी आज्ञा पाकर प्रसन्न मनसे श्रीहित ध्रुवदासजीने युगलकिशोर श्रीराधा-वल्लभलालकी ललित केलिकलाओंका वर्णन किया। इन्होंने बयालीस ग्रन्थोंमें युगल-किशोरके रस, भाव, लीला, स्वरूप, तत्त्व, धाम, केलि आदि अनेक विषयोंका वर्णन किया है। इन सब ग्रन्थोंका सङ्कलितरूप 'बयालीस-लीला' के नामसे प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थावलीका प्रचार श्रीध्रुवदासजीके जीवनकालमें ही दूर-दूरतक हो गया था।

श्रीहित ध्रुवदासजीकी श्रीवृन्दावनधाममें अनन्य निष्ठा

थी। ये जीवनभर श्रीवनको छोड़कर अन्यत्र कहीं गये ही नहीं। नम्र और सहिष्णु तो इतने थे कि यदि कोई गलत बात कहकर भी इन्हें कुछ अनुचित कह देता, तो भी ये उसका और उसकी बातका कोई प्रतीकार न करते—सब सह लेते थे। इनके जीवनकी कई घटनाएँ इसकी साक्षी हैं।

अन्तमें लगभग सं० १७०० वि० के समीप आप श्रीवन गोविन्दघाट रासमण्डलपर श्रीहितहरिवंशचन्द्र महाप्रभुके समाधि-स्थलके पास एक तमालके तरुमें सदेह लीन हो गये। वह तमाल आज भी तीन सौ वर्षोंके बाद महात्मा श्रीहित ध्रुवदासजीकी पावन स्मृति करा रहा है।

बलि जाऊँ देस कुल धामकी जहँ ध्रुवदास सो औतर्‌यौ।

—चाचा हित वृन्दावनदास

गोस्वामी श्रीरूपलालजी महाराज

(लेखक—चश्मावाले बाबा)

जानहिं संत सुजान हिये जिन के निरदूषन।
ललित भजन रस रीति निर्वहन कुल के भूषन॥
हित कुल उदित उदार प्रेम पद्धति चलि आई।
कृष्ण बल्लभा चरन कमल के भृंग सदाई॥
सोइ बिदित बात संसार में मन क्रम सेवत जुगल पद।
गुन गहर सिंधु सम देखिए श्रीरूपलाल सब कौं सुखद॥

—चाचा श्रीवृन्दावन हितरूप

रसिकाचार्य गोस्वामी श्रीहितहरिवंशचन्द्र महाप्रभुपादके पवित्र एवं भक्ति-परायण कुलमें गोस्वामी श्रीरूपलालजी महाराजका जन्म विक्रम संवत् १७३८ वैशाख कृष्णा सप्तमीको हुआ था। आपके पिताका नाम गोस्वामी श्रीहरिलाल एवं माताका नाम श्रीकृष्णकुँवरि था।

इनका बचपन महापुरुषोचित अनेकों चमत्कारोंसे पूर्ण था, जिनका वर्णन यहाँ अप्रासङ्गिक होगा। ये ज्यों-ज्यों बड़े होते गये, इनके शील, सौजन्य, कोमल स्वभाव, दया, प्रेम आदि गुणोंका क्रमशः स्वाभाविक प्रस्फुरण होने लगा।

उन दिनों भारत मुगल-शासनमें था। यवनोंके अत्याचार वृद्धिकी सीमापर थे। उनसे पीड़ित वृन्दावनवासी भक्तगण अपने-अपने इष्टदेवके अर्चा-विग्रहोंको यत्र-तत्र छिपाये फिरते थे। बादशाह औरङ्गजेबसे सताये जानेपर महाप्रभु श्रीहितहरिवंशचन्द्रके इष्टदेव श्रीराधावल्लभलालजी महाराज, जो वंशपरम्परासे श्रीहरिलालजीके भी इष्टदेव थे, उन दिनों कामवनके समीप अजानगढ़में छिपे विराजते थे।

एक बार श्रावणके महीनेमें यमुनामें भारी बाढ़ आयी, जिससे अजानगढ़ डूबने लगा। अजानगढ़के डूबनेकी खबर श्रीवनमें अभीतक किसीको न थी। एक दिन बालक रूपलाल अकस्मात् विलख-विलखकर रोने लगे। उनके शरीरमें एक साथ प्रेमके अनेकों सात्त्विक भाव उदय हो आये। इनके पिताजी और अन्य भक्तोंके पूछनेपर और कुछ न कहकर इन्होंने अजानगढ़ (कामवन) चलकर श्रीराधावल्लभजीके दर्शन करनेकी इच्छा प्रकट की। पुत्रवत्सल पिता श्रीहरिलालजी इन्हें अजानगढ़ ले गये। बाढ़की कठिनाइयोंको झेलते हुए ये कामवन (अजानगढ़) पहुँचे।

श्रीराधावल्लभजीका दर्शन करके ये ऐसे प्रेम-तन्मय हुए कि शरीरकी सुधि ही जाती रही। आँखोंसे आँसुओंकी अविरल धारा बह चली। बहुत देरके पश्चात् जब इन्हें चेतना हुई, ये अपलक नेत्रोंसे अपने प्रियतमकी रूप-माधुरीका पान करने लगे।

इनकी दशा देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो बहुत समयसे बिछुड़े दो प्रेमियोंका आज प्रथम मिलन है। प्रेमके आवेशमें ये अपने-आपको सम्हालनेमें असमर्थ हो गये और शुचि-अशुचि अवस्थाका भी ध्यान भूलकर श्रीराधावल्लभलालको अपने भुज-बन्धनमें बाँध लेनेके लिये उनकी ओर लपके। ये शीघ्रतासे निज-मन्दिरकी देहलीको पार किया ही चाहते थे, तबतक इनके पिताजीने इन्हें अपनी गोदमें उठा लिया। अपने-आपको बन्धनमें देखकर ये उसी भावावेशमें जोर-जोरसे चिल्लाने लगे—'मुझे छोड़ दो! मैं राधावल्लभसे भेंटूँगा, मैं उन्हें निरखूँगा; अरे, मैं उनके कोमल-कोमल चरणोंका स्पर्श करूँगा; मुझे छोड़ दो! मुझे छोड़ दो।'

इनकी छटपटाहट और प्रेमकी उतावलीको देखकर पिताजीने प्यारसे पुचकारते हुए समझाया—'बेटा! श्रीजीसे ऐसी अपावन दशामें थोड़े मिला जाता है। अभी तुमने स्नान नहीं किया है और फिर तुम्हारा संस्कार भी तो नहीं हुआ है। हमारे कुलकी परम्पराके अनुसार कोई भी गोस्वामीबालक बिना द्विजाति-संस्कार और वैष्णवी दीक्षाके न तो श्रीजीके मन्दिरमें प्रवेश कर सकता है और न उनका स्पर्श ही। और फिर तुम तो अभी केवल नौ वर्षके छोटे-से बालक हो, फिर यह सब कैसे हो सकता है।'

पिताजीकी बात सुनकर आप शीघ्रतासे उनकी गोदसे कूद पड़े और उसी आवेशमें बोले—'अच्छा! लो, स्नान तो मैं अभी किये आता हूँ। रही संस्कारोंकी बात, उन्हें आप चाहे जब करिये; मैं तो प्रभुका दर्शन-स्पर्श करूँगा ही।'

यों कहकर आप बड़ी तीव्र गतिसे यमुनाजीकी ओर दौड़े और भीषण बाढ़में कूद गये। नौ वर्षके बालककी ऐसी प्रेमासक्ति देखकर पिताजीका हृदय आनन्दसे बाँसों उछलने लगा। उन्होंने पुत्रकी प्रेम-पिपासाको शान्त करनेके लिये उन्हें स्नान कराया और स्वयं भी किया और शीघ्र ही संक्षिप्त रीतिसे निज-मन्त्रका दान कर दिया। ये मन्त्र-श्रवण करते ही पुनः उसी प्रेमावेशमें आ गये तथा उसी प्रेमोन्मादमयी दशामें उन्हें मन्दिरमें प्रवेश कराया गया। अपने अनन्तप्राणाधिक प्रियतम श्रीराधावल्लभलालजीके कोमल चरणोंका स्पर्श करते ही इनके शरीरमें विद्युत्का-सा संचार हुआ तथा इनका शरीर दिव्य द्युतिसे चमक उठा। ये प्रेम-मुग्ध होकर अपने प्रियतमके चरणोंसे लिपट गये और लंबी-लंबी सुबकियाँ भरते हुए पावन प्रेमाश्रुओंसे उनके चरणोंका प्रक्षालन करने लगे। इनकी प्रेम-मुग्ध दशा देखकर पिताजीने इनसे प्रभुके चरणोंको छोड़नेकी बात कही, पर ये छोड़ते ही न थे; तब स्वयमेव श्रीहरिलालजीने इन्हें पकड़कर दूर किया। चरणोंसे दूर कर दिये जानेपर ये दोनों हाथोंकी अँजुली बाँधकर विरहिणीकी भाँति फूट-फूटकर रोने लगे। बालक रूपलालका रोदन सुनकर वहाँ उपस्थित सहस्रों नर-नारियोंका हृदय भी भर आया। अन्तमें इनके बाबा श्रीकमलनयनाचार्यजीने इन्हें समझाया और आशिष दिया कि 'बेटा! तुम हमारे कुलके भूषण होओगे।' बाबाके वाक्य सुनकर ये लजा गये और शान्त होकर एक किनारेपर जा खड़े हुए। पश्चात् प्रसादी चन्दन, फूलमाला, बीड़ी आदि देकर इन्हें डेरेपर भेज दिया गया।

इस प्रकार कितने ही दिनोंतक आप पिताजीके साथ कामवनमें रहकर श्रीजीका दर्शन-सुख लेते रहे। पश्चात् कामवनसे बरसाना होते हुए श्रीवन आये। मार्गमें बरसानेकी साँकरी खोरसे होकर जब ये आ रहे थे, एक मतवाला हाथी इनकी पालकीकी ओर आता दीखा, जिससे सारे अङ्गरक्षक और कहार पालकी छोड़कर भाग गये। इससे इनके पिताजी घबरा उठे, पर परिणाम हुआ कुछ और ही। मतवाले गजराजने पालकीके पास आकर बालक रूपलालके चरणोंका अपनी सूँड़से स्पर्श किया और वह चुपचाप एक ओर चला गया।

क्यों न हो। जिन संतोंके पुनीत हृदयमें राग-रोष-रहित समता और स्नेह है, वहाँ ऐसे तमोगुणी स्वभाववाले जीवोंका झुक जाना, अपना स्वभाव छोड़ देना क्या आश्चर्य है। श्रीरसिकमुरारिजीने तो मतवाले हाथीको शिष्यतक बना डाला था, जो पीछे महंत गोपालदासजीके नामसे प्रख्यात हुआ।

इस घटनासे इनके पिताजी खूब प्रभावित हुए और वे भलीभाँति समझने लगे कि यह बालक साधारण बालक नहीं—अवश्य कोई दिव्य महापुरुष है।

बालक रूपलालके हृदयमें श्रीठाकुरजीकी सेवाका बड़ा चाव था। उत्तम आचार्य ब्राह्मणकुल तथा धन-धान्यसम्पन्न प्रतिष्ठित घरमें उत्पन्न होकर भी आप स्वयं अपने हाथों श्रीप्रियाजीके रास-मण्डलकी सोहनी (बुहारी) लगाया करते थे। यदि कोई इनके इस कार्यको छोटा बताकर इससे निवारण करनेकी बात कहता तो आप झट कह देते—तो क्या गोस्वामी श्रीहितहरिवंशचन्द्रने **'भवनाङ्गणमार्जनी स्याम्'** अर्थात् 'हे राधे! मैं आपके भवनके आँगनकी मार्जनी हो सकूँ?' यह असत्य ही कह दिया है? और स्वामी श्रीहरिदासजीने भी तो कहा है—*'कुंजनि दीजै सोहनी।'* क्या यह भी व्यर्थ है?

इनके इन शब्दोंसे प्रस्फुटित होनेवाली श्रद्धा, भक्ति और सेवा-निष्ठा लोगोंको निरुत्तर ही नहीं करती वरं सेवा-परायण बना देती थी। सेवाकी इस लगनने इनमें केवल ग्यारह वर्षकी ही अवस्थामें एक विलक्षणता उत्पन्न कर दी। ये सेवा करते, चलते-फिरते—हर समय अपने सामने युगलसरकारका दर्शन किया करते।

विद्याध्ययन और विवाह-संस्कारके पश्चात् लगभग बीस-इक्कीस वर्षकी अवस्थाके उपरान्त आपने अपना सम्पूर्ण जीवन भक्ति-प्रचार और भ्रमणमें व्यतीत किया। प्रथम बार गुजरात-प्रान्तकी यात्रामें आपने श्रीरामकृष्ण मेहताके घर, जो परम वैष्णव थे, प्रीतिवश लगातार आठ मासतक विश्राम किया। इनके सत्सङ्गसे मेहताजी कृतकृत्य हो गये। उन्हें गोस्वामीजीकी कृपासे युगलकिशोर श्रीराधा-श्यामसुन्दरके दर्शन भी हुए।

आपने व्रज-मण्डलकी भी अनेकों यात्राएँ कीं, जिनमेंसे एक बार गोविन्द-कुण्ड (गोवर्द्धन गिरिराज)-में निवास करते हुए आपने एक गिरिराज-शिलाका लगातार छः मासतक आराधन किया, जिससे उस शिलासे युगल-किशोरका प्राकट्य हुआ, जो अभी भी राधा-कुण्डमें विराजमान है। वहाँ श्रीरूपलालजीकी बैठक भी है।

आपकी दूसरी यात्रा पूर्वीय भारतकी हुई। इस समय जब आप जीवोंको भगवन्मार्गमें लगाते हुए श्रीप्रयागराज पहुँचे, तब वहाँ एक महात्माने इन्हें सिद्धिप्रद नारिकेल-फल देते हुए कहा कि इसे खा लो, इससे आपमें अनेकों सिद्धियोंका प्रकाश हो जायगा।

गोस्वामीजीने उस नारियलको लेकर गङ्गा-सङ्गममें फेंक दिया और कहा—'महाराज! जिसे भगवान् श्रीकृष्णकी चरण-कृपा और प्रीतिकी वाञ्छा है, उसके लिये इन सिद्धियोंका प्रलोभन व्यर्थ ही नहीं, बल्कि अहितकर भी है। मुझे कहीं नाटक-चेटक थोड़े ही दिखाना है, जो मैं आपका नारियल रखूँ।' इनके इस उत्तरसे वे सिद्ध महात्मा लज्जित-से हो गये। इस बहाने मानो आपने अपने भक्तोंको सिद्धियोंमें न फँसकर अनन्य रूपसे श्रीकृष्ण-भक्ति ही करनेका उपदेश दिया।

पश्चात् आप काशी होते हुए पटना आये। पटनामें रामदास वैष्णवका प्रेममय आग्रह और अपने प्रभुकी आज्ञा मानकर आपने उनके घरमें विराजमान युगलकिशोरके श्रीविग्रहको लेना स्वीकार किया।*

जगन्नाथपुरी जाकर नीलाचलनाथके दर्शन करके आप अत्यन्त आनन्दित हुए और प्रभुके महाप्रसादकी प्रत्यक्ष महिमा देखकर आपका हृदय प्रसन्नतासे फूल उठा।

पूर्वीय प्रान्तोंकी यात्रा चार वर्षोंमें पूर्ण करके जब आप श्रीवृन्दावन आ रहे थे, मार्गमें कुछ दिनोंके लिये आगरा ठहरे। वहाँ आपने अपने शिष्य वैष्णव दयालदासकी पुत्री विष्णीबाईकी बीमारी दूर की। यही विष्णी गुरु-कृपासे आगे चलकर परम भक्ता हुई।

अस्तु, श्रीहितरूपलालजी गोस्वामीकी इष्ट-निष्ठा वृन्दावनेश्वरी श्रीराधाके चरणोंमें थी; अतः वे एक बार उनका दर्शन करने बरसाने गये। वहाँ गोस्वामीजीके अनुराग और भावसे प्रसन्न होकर स्वामिनी वृषभानु-दुलारी श्रीराधाने आपको प्रत्यक्ष दर्शन दिये। श्रीस्वामिनीजीका दर्शन करके आप मुदित मनसे गा उठे—

बरसानौं बर सिंधु भाव बहु लहरिनु सरसैं।
लीला चरित सुबारि भरयौ भावुक दृग दरसैं॥
ललित रतन जा मध्य बास परिकर जु भानु कौ।
रसिक जौहरी लखत, तहाँ गम नहीं आन कौ॥
ससि तें प्रकास कोटिक जु सब राधा ससि जहँ उदित है।
मंडल अखंड चित एकरस मोहन चकोर लखि मुदित है॥

गोस्वामी श्रीहितरूपलालजी महाराज श्रीराधावल्लभीय सम्प्रदायके केवल आचार्य ही नहीं वरं एक सच्चे रसिक संत थे। इनका चरित्र ही इनकी इष्ट-निष्ठा, प्रीति, भक्ति, सेवा, लगन, निःस्पृह भाव, दयालुता, लोकसेवा, निर्वैरता आदिका साक्षी है। इन्होंने अपने धर्म-पालनके लिये श्रीवृन्दावन और अपने इष्टाराध्य श्रीविग्रह श्रीराधावल्लभ-लालजीका परित्याग करनेमें भी कोई हिचक नहीं की।

गोस्वामीजी भक्त तो पूरे थे ही; साथ-साथ विद्वान् भी अच्छे थे। आपने अपने जीवन-कालमें अनेकों भक्ति-ग्रन्थोंकी रचना की है, जिनमेंसे अबतक कोई बीस ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं। उनमेंसे कुछके नाम दिये जाते हैं—

(१) अष्टयाम-सेवाप्रबन्ध, (२) मानसी सेवाप्रबन्ध, (३) आचार्य-गुरु-सिद्धान्त, (४) नित्य-विहार, (५) गूढ़-ध्यान (गोप्य-केलि), (६) पद-सिद्धान्त, (७) राधास्तोत्र (गौतमी-तन्त्रके आधारपर), (८) व्रज-भक्ति और (९) वाणी-विलास इत्यादि।

---

* वैष्णव रामदासजीके युगलकिशोर अभी भी गोस्वामी श्रीरूपलालजी महाराजके वंशजोंद्वारा बड़ी सरकार श्रीवृन्दावनमें पूजित हो रहे हैं।

श्रीपरशुरामदेवजी

श्रीपरशुरामदेवजीका जन्म जयपुर राज्यमें सोलहवीं सदीमें हुआ था। वे परमरसिक महात्मा हरिव्यासदेवजीके शिष्य थे। परशुरामदेव अच्छे कवि और रसोपासक थे। भगवान्‌की कथा-सुधाके रसास्वादनमें उन्हें अमित आनन्द मिलता था। दूसरोंको कथामृतपान करानेके लिये वे सदा प्रस्तुत रहते थे। वे तिलक लगाने, माला फेरने और भगवद्गुणानुवाद करनेको बड़ा महत्त्व देते थे। वे कहा करते थे कि जहाँ धर्मकी खेती होती है, भगवान्‌के भक्तजन रहते हैं,वहीं साधु और संत अपने रहनेका स्थान बना लेते हैं। जिस तालाबमें पानी नहीं होता, उसके किनारे हंस नहीं रहा करते। जिस मनुष्यमें भगवान्‌का प्रेम नहीं होता, उसके पास भक्तजन भूलकर भी नहीं जाते।

परशुरामदेवका व्यक्तित्व बहुत ऊँचा था। उनमें अलौकिक तेज था। उनका जीवन पूर्णरूपसे तपोमय था। विधर्मीतक उनके दर्शनसे प्रभावित हो जाया करते थे। अजमेरके निकट सलेमशाह नामका एक फकीर रहता था। वह हिंदुओं तथा अन्य मतावलम्बियोंको हेय दृष्टिसे देखता था। साधु-संतोंपर अत्याचार करनेमें उसे तनिक भी संकोच नहीं होता था। लोग उससे डरते थे कि कहीं अपनी सिद्धियोंसे वह उन्हें हानि न पहुँचा दे। महात्मा हरिव्यासजीकी आज्ञासे परशुरामदेवने उसके दम्भ और पाखण्डका अन्त किया। जनताका उसके आतङ्कसे परित्राण करके भगवद्भक्तिकी महिमाका विस्तार किया। सलेमाबादमें उन्होंने राधा-माधवके मन्दिरका निर्माण करवाया और शहरका नाम परशुरामपुर रखा।

परशुरामदेवजी उच्चकोटिके रसिक थे, बड़े ठाट-बाटसे रहते थे। देखनेवालोंको भ्रम हो जाया करता था कि वे विरक्त हैं या गृहस्थ। एक बार एक ब्राह्मणने इनकी त्यागवृत्तिकी परीक्षा ली। उसने इनसे माया-त्यागकी बात चलायी। संतों और भक्तोंका चरित्रवैचित्र्य दूसरोंके उपकारके लिये होता है। परशुरामदेवने अपनी सारी वस्तुएँ त्याग दीं, केवल कौपीन धारणकर वे उसके साथ नागेश्वर पहाड़की गुफामें चले गये। थोड़ी ही देरमें एक बनजारा आया, उसने अपनी सम्पत्ति इनके चरणोंमें चढ़ा दी। ब्राह्मण परशुरामदेवकी इस सिद्धि और प्रभावसे चकित हो उठा। उसने चरण पकड़कर क्षमा माँगी, उनकी आज्ञामें प्राणतक निछावर करनेको तैयार हो गया।

परशुरामदेवने भगवान्‌की रसमयी भक्तिसे अनेकों जीवोंका कल्याण किया। एक बार एक अद्वैतवादी वेदान्ती संन्यासीके शिष्यने उनसे दीक्षा लेकर भक्तिमार्गका अवलम्बन लिया। संन्यासीने उसके सिरपर एक घड़ा जल भरकर उनके सामने भेजा, जिसका आशय यह था कि मैंने इसके हृदयको अद्वैतजलसे परिपूर्ण कर दिया था। इसे नये ज्ञानकी आवश्यकता नहीं थी। परशुरामदेवने घड़ेमें मीठा डाल दिया, जिसका अभिप्राय यह था कि अभी भक्ति-माधुरीकी उसमें कमी थी। संन्यासी उनकी ओर आकृष्ट हो गया और उनमें उसकी श्रद्धा हो गयी।

उन्होंने 'परशुरामसागर' नामका एक ग्रन्थ निर्माण किया। इस ग्रन्थमें बाईस सौ दोहे, छप्पय, छन्द और अनेक पद हैं। इस सरस ग्रन्थमें भक्ति, ज्ञान, गुरुनिष्ठा और प्रेमकी महिमाका बखान विशेषरूपसे किया गया है।

भक्त-वाणी

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्। भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः।

(श्रीमद्भा० १। १८। १३)

भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंके क्षणमात्रके सत्सङ्गसे स्वर्ग अथवा मोक्षकी भी तुलना नहीं की जा सकती। फिर संसारके तुच्छ भोगोंकी तो बात ही क्या है।—शौनक

भक्त श्रीनरहरिदेवजी

श्रीनरहरिदेवका जन्म बुन्देलखण्डके गूढ़ो नामक गाँवमें संवत् १६४० वि० में हुआ था। उनके पिताका नाम विष्णुदास और माताका उत्तमा था। उनके जीवनमें बचपनसे ही भगवान्‌की कृपासे कुछ अलौकिक और परहितकारी सिद्धियाँ थीं। उनका रूप अत्यन्त आकर्षक और मनोमोहक था। गाँववाले उनको अपने बच्चेकी ही तरह प्यार करते थे। बाल्यावस्थासे ही उनकी सिद्धि और ईश्वर-भक्तिकी चर्चा दूर-दूरतक फैलने लगी। लोग सुदूर देशोंसे उनके दर्शनके लिये आने लगे।

वे जब छोटे-से बालक थे, तभी उन्होंने एक बनियेको भयंकर कुष्ठरोगसे मुक्त किया था। वह बड़ा सम्पन्न और कुलीन व्यक्ति था। पर कुष्ठके कारण लोग उससे घृणा करते थे। उसे अपना जीवन भारस्वरूप प्रतीत होने लगा। वह जगन्नाथपुरी गया, भगवान्‌के सामने उसने दृढ़ संकल्प किया—'यदि मेरा रोग अच्छा नहीं होगा तो मैं प्राण दे दूँगा।' भगवान्‌ने रातमें उसे स्वप्न दिया—'गूढ़ो गाँवमें मेरे भक्त नरहरि हैं। मेरे और मेरे भक्तोंके स्वरूपमें तनिक भी विभिन्नता नहीं है। तुम उनके चरणामृत-पानसे कुष्ठरोगसे मुक्त हो सकोगे।' बनिया प्रभुकी प्रसन्नता और कृपाका संबल लेकर गूढ़ो ग्राम जा पहुँचा। लोग उसके मुखसे स्वप्नमें भगवत्साक्षात्कार और नरहरिदेवकी सिद्धिकी बात सुनकर हँस पड़े। उन्हें विश्वास ही न हुआ। पर बनिया तो भगवान् और उनके भक्तकी कृपाका अधिकार-पत्र पा चुका था। उसने श्रद्धापूर्वक भगवान्‌का स्मरण किया और नरहरिदेवके चरणामृतसे अपने अधरोंकी प्यास बुझायी। कुष्ठरोगसे उसे मुक्ति मिल गयी। लोग नरहरिदेवमें श्रद्धा और भक्ति करने लगे। उनकी प्रसिद्धि दिन-दूनी, रात-चौगुनी बढ़ने लगी।

नरहरिदेव नित्य भगवान्‌के चरित्रों और लीलाओंपर पद बना-बनाकर गाया करते थे। उनकी भक्तिमें ही रात-दिन तल्लीन रहते थे। यद्यपि उनका जीवन गूढ़ोंमें सुचारुरूपसे बीत रहा था, तो भी वृन्दावनकी निकुञ्ज-माधुरीने उनका मन संपूर्ण रूपसे आकृष्ट कर लिया। वे व्रजके लिये चल पड़े। यमुनाजीके श्याम जलकी लहरियोंने उनकी भावनाओंमें भगवान् श्रीकृष्णकी श्यामता एवं शृङ्गार-माधुरी भर दी, उन्होंने बालुका-कण मस्तकपर चढ़ा लिये। वे प्रेमोन्मत्त हो उठे। वे सोचने लगे, कितनी पवित्र है यह भूमि। अरे, वंशीवटका सौभाग्य तो निराला ही है। श्रीकृष्ण वहीं रात-दिन रास किया करते हैं; सामने रेतीकी रजत-चन्द्रिकामें ही तो श्रीचैतन्य आदिने भगवान्‌की दिव्य लीलाका दर्शन किया था। वे आत्ममुग्ध थे। उन्होंने वृन्दावनके मन्दिरोंपर भगवान्‌के यशको दिग्दिगन्तमें फैलानेवाली गगनस्पर्शी पताकाओंको नमस्कार किया। वे भगवान्‌की दिव्य छविकी झाँकीके लिये लालायित हो उठे। वृन्दावनके कण-कणमें उन्हें उनके रम्यरूपका दर्शन होने लगा, उनके अधरोंने रसमयी स्वरलहरीमें भगवान्‌का प्रेमामृत उड़ेल दिया, रसिक नरहरिदास गाने लगे—

जाकौं मनमोहन दृष्टि परे।
सो तौ भयौ सावन कौ आँधरौ सूझत रंग हरे॥
जड चैतन्य कछू नहिं समझत, जित देखै तित स्याम खरे।
बिह्वल बिकल सम्हार न तन की, घूमत नैना रूप भरे॥
करनी अकरनी दोउ बिधि भूली, बिधि निषेध सब रहे धरे।
'नरहरिदास' जे भए बावरे, ते प्रेम प्रबाह परे॥

वे गाते-गाते मूर्च्छित हो गये। एक बुढ़ियाने उनका हाथ पकड़ लिया। थोड़े समयके बाद उनको चेत हुआ। बुढ़ियाके मुखसे महात्मा सरसदेवकी बात सुनकर वे आनन्दमग्न हो गये, पूर्व संस्कार जाग उठे; उन्हें ऐसा लगा कि कोई अदृश्य शक्ति उनके पास जानेके लिये उन्हें प्रेरित कर रही है। उन्होंने महात्मा सरसदेवका दर्शन किया, गुरुदेवने उन्हें श्रीराधाकृष्णकी रूप-माधुरीका पूरा-पूरा ज्ञान कराया। वे स्वयं एक उच्च कोटिके रसोपासक संत थे। इस समय नरहरिदेवकी अवस्था केवल पैंतीस सालकी थी। वे सरसदेवके विशेष कृपापात्रोंमेंसे थे। संवत् १७४१ वि० में नरहरिदेव नित्यनिकुञ्जलीलामें लीन हो गये।
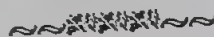
श्रीललितकिशोरीजी और श्रीललितमाधुरीजी

छाँड़ि बादसाही बैभव लछिमनपुर त्याग्यौ।
श्रीबृंदाबन बास दृढ़ ब्रत अति अनुराग्यौ॥
ललित निकुंज बनाय राधिकारमन बिराजे।
रास बिलास प्रकास लच्छ पद रचना भ्राजे॥
ब्रज रज मध्य समाधि लिय जुगल भ्रात निर्भय निपुन।
श्रीललितकिसोरी (ललित) माधुरी प्रेममूर्ति बृंदाबिपिन॥
(नवभक्तमाल)

लखनऊमें उन दिनों नवाबोंका बोलबाला था। वहीं साह गोविन्दलालजीका परिवार जौहरियोंमें मुख्य था। गोविन्दलालकी दूसरी स्त्रीसे साह कुन्दनलाल और साह फुन्दनलाल हुए। दोनों भाइयोंमें प्रगाढ़ प्रेम था। भारतेन्दुजीके शब्दोंमें तो यह 'राम-लखनकी जोड़ी' थी। पारिवारिक कलहके कारण दोनों भाई संवत् १९१३ वि० में लखनऊ छोड़कर वृन्दावन चले गये। वृन्दावन उन दिनों प्रेमी भक्तोंका अखाड़ा हो रहा था। साह कुन्दनलाल 'श्रीललितकिशोरी' की छापसे और साह फुन्दनलालजी 'श्रीललितमाधुरी' के नामसे भगवान्‌की प्रेम-लीलाओंका गुणगान करने लगे। पद दस हजारसे कम न होंगे। संवत् १९१७ वि० में इन्होंने संगमरमरका एक अति विचित्र मन्दिर बनवाना आरम्भ किया और सं० १९२५ वि० में उस मन्दिरमें श्रीठाकुरजी पधराये गये। इस मन्दिरका नाम 'ललितनिकुञ्ज' रखा गया। श्रीललितकिशोरीजी कार्तिक शुक्ल २, संवत् १९३० वि० को सशरीर श्रीवृन्दावनरजमें लीन हो गये। इन्होंने 'रासविलास', 'अष्टयाम' और 'समयप्रबन्ध' सम्बन्धी बड़े ही मधुर और प्रेमपूर्ण पद रचे हैं।

अपने बड़े भाईके गोलोकवासी हो चुकनेपर श्रीललितमाधुरीने जितने पद रचे हैं, उन सबमें अपने नामको न रखकर ललितकिशोरीकी ही छाप दी है। इनकी भ्रातृभक्ति और हरिभक्ति धन्य है। श्रीललित-किशोरीजीकी अलमस्तीका मजा भी उनका अपना है—

जमुना पुलिन कुंज गहबर की कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊँ।
पद पंकज प्रिय लाल मधुप ह्वै मधुरे मधुरे गूँज सुनाऊँ॥
कूकर ह्वै बन बीथिन डोलौं, बचे सीथ रसिकन के खाऊँ।
ललितकिसोरी आस यहै मम, ब्रज रज तजि छिन अनत न जाऊँ॥

श्रीललितमाधुरीने वृन्दावनके दिव्य आनन्दको किस उल्लासके साथ गाया है!—

देखौ बलि बृंदाबन आनंद।
नवल सरद निसि नव बसंत रितु, नवल सु राका चंद॥
नवल मोर पिक कीर कोकिला, कूजत नवल मलिंद।
रटत श्री राधे राधे माधव, मारुत सीतल मंद॥
नवल किसोर उमंगन खेलत, नवल रास रस कंद।
ललितमाधुरी रसिक दोउ बर, निरतत दियें कर फंद॥

ललितकिशोरीजी और नथुनीबाबा

भक्तोंमें एक सखीसम्प्रदाय प्रचलित है। इसमें अपनेको भगवान्‌की आज्ञाकारिणी सखी मानकर और भगवान् श्रीकृष्णको अपना प्रियतम सखा समझकर उपासना की जाती है। इस सम्प्रदायका विश्वास है कि सखीभावसे उपासना किये बिना किसीको निकुञ्जसेवाका अधिकार नहीं प्राप्त होता।

भक्तप्रवर साहजी और नथुनीबाबा—ये दोनों सखी-सम्प्रदायमें सर्वमान्य भक्त हो गये हैं। साहजी वृन्दावनमें ललितनिकुञ्जके भीतर रहते थे और आप 'ललितकिशोरी' नामसे प्रसिद्ध थे।

नथुनीबाबा ब्राह्मणकुलभूषण थे। आप परम रसिक, निःस्पृह, सदा प्रसन्न और भगवान्‌की रूपरसमाधुरीमें नित्य छके रहनेवाले थे। वृन्दावनमें आप सखीभावसे रहते थे। भगवत्संगी ही आपके प्रिय थे और भगवान् राधारमण ही परमाराध्य देव थे। आप सदा नथ धारण करते थे, इसीसे 'नथुनीबाबा' के नामसे आपकी प्रसिद्धि हो गयी। वृन्दावनमें एक प्राचीन मन्दिरके कुञ्जमें ही आपका सदा निवास था। छः महीने बीतनेपर एक बार कुञ्जका द्वार खुलता था, उस समय वृन्दावनके सभी भक्त-महात्मा सखीजीका दर्शन करने जाते और उनके

मुखारविन्दसे सुधास्वादोपम माधुर्यरसकी कथा सुनकर कृतकृत्य होते थे। यही तो सत्सङ्गकी महिमा है, जिससे भगवान्की रसभरी कथा सुननेको प्राप्त होती है।

एक बार नियमित समयपर नथुनीबाबाके कुञ्जका द्वार खुला, सभी संत-महात्मा सखीजीके दर्शनार्थ पधारे, भक्तोंके हृदयमें प्रेमप्रवाह बह चला। साहजी भी, जिनका परिचय ऊपर दिया जा चुका है, श्रीराधारमणके प्रसादका पेड़ा लेकर वहाँ पधारे और सखीजीको प्रणाम करके बैठ गये। साहजी और नथुनीबाबा—इन दोनों भक्तोंके समागमसे भक्तमण्डली बहुत ही सन्तुष्ट हुई, सभी चुप हो गये। ये दोनों ही महात्मा रागानुगा भक्तिमें सदा ही निमग्न रहते थे। साहजीको देखकर नथुनीबाबा नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बहाते हुए गद्‌गद वाणीमें बोले—'दारी[१] आयी क्या? जीवन सफल करनेमें कोई पास न रखना।' यह सुनकर साहजी भी प्रेमप्रवाहमें बहते हुए बोले—'हाँ जी, आपके पास आयी हूँ, अभिलाषा पूरी कीजियो—

कोई दिलवर की डगर बताय दे रे।
लोचन कंज कुटिल भृकुटी कच कानन कथा सुनाय दे रे॥
ललितकिसोरी मेरी वाकी चित की साँट मिलाय दे रे।
जाके रंग रँग्यौ सब तन मन, ताकी झलक दिखाय दे रे॥

यह गीत गाकर साहजी पुन: बोले—'कभी ललितकुञ्जमें पधारौ।' बाबा बोले—'यदि गोडा छोड़ै तो।' तात्पर्य यह कि प्रियतमका आलिङ्गन सदा होता रहता है, फिर बाहर कैसे जाया जाय! बस, इतना सुनकर साहजी गद्गद हो गये और पुनः प्रणाम करके लौट आये। ऐसे-ऐसे महात्मा अब भी वृन्दावनमें विराजते हैं। जिनपर भगवान्की कृपा होती है, वे ही यह रस लूटते हैं।

श्रीनारायण स्वामीजी

श्रीनारायण स्वामीका जन्म सं० १८८६ वि० में रावलपिण्डीमें एक सारस्वत ब्राह्मणके घर हुआ था। वे बाल्यावस्थासे ही संतों और भगवद्भक्तोंमें विशेष अभिरुचि रखते थे, उनका मन घरपर बहुत कम लगता था। वृन्दावनकी सरस महिमाकी कथा सुनकर उन्हें समय-समयपर रोमाञ्च हो आता था। संवत् १९०० वि० में उनका मन भगवान्की दर्शन-माधुरीके लिये आकुल हो उठा। वे वृन्दावनके लिये चल पड़े। भगवान्का रूप ही ऐसा है कि एक बार भी उसका रसास्वादन करनेवाला उन्हींका हो जाता है। व्रजभूमिमें आते ही, वृन्दावनके प्रेमदेवता श्रीकृष्णके लीलाकुञ्जोंका दर्शन होते ही उन्होंने सावधानीसे अपने मनको समझाया—'मूढ़! अब तुम्हें कहीं और नहीं भटकना है। व्रजराजकुँवर श्रीकृष्णके परिचयमात्रसे ही तुम भवसागरके पार उतर जाओगे।' इस समय उनकी अवस्था यौवनके प्रवेश-द्वारपर थी, उनका रूप-लावण्य अत्यन्त मनोमोहक था। लोग उनकी सुकुमारता देखकर चकित हो जाते थे। उन्होंने जीविकानिर्वाहके लिये लालाबाबूके मन्दिरके कार्यालयमें नौकरी कर ली। वे दिनभर काम करते थे और रातको रास-लीला देखते तथा भगवान्के रूप-रसकी सुधा पीकर मन्दिरोंमें दर्शन करते और लौटनेपर नित्य पद-रचना किया करते थे।

उन्हें भगवान्का स्मरण सदा बना रहता था। वे मस्त होकर वृन्दावनकी गली-गलीमें अपने प्रियतम प्राणेश्वरका दर्शन पानेके लिये विचरण किया करते थे। उनके लिये स्तुति और निन्दा समान थी। धूप और छायाकी भेददृष्टिका अस्तित्व उनके लिये समाप्त हो चुका था। घनश्यामके प्रेमी तो होते ही ऐसे हैं। वे डंकेकी चोट घोषणा किया करते थे कि जबतक नन्दकुमार दृष्टिमें नहीं आते, तभीतक ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मके स्वरूपका विवेचन कर सकता है। उनको देखते ही, उनकी कृपा-दृष्टिकी शीतल ज्योत्स्नामें आते ही जीव ब्रह्मज्ञान भूल जाते हैं, उनका मन भगवत्साक्षात्कारकी सुधामें सराबोर हो जाता है। वे

१-'दारी' प्रेमकी गाली है, जार पतिसे मिलनेवाली स्त्रीके लिये इस शब्दका प्रयोग होता है। परकीया-प्रेमोपासनाके कारण ऐसा कहा जाता है।

कभी-कभी विरहोन्मादमें गा उठते थे—

साँवरे क्यौं मोसौं रिस मानी।
तेरे काज घर बार त्यागि कै गलियन फिरत दिवानी॥
लोक लाज, कुल रीति प्रीति जग इनहूँ को दियौ पानी।
'नारायन' अब तो हँसि चितवौ, एरे रूप गुमानी॥

नारायण स्वामी प्रायः केशीघाटपर खपटिया बाबाके घेरेमें यमुनातटपर रहते थे। रासमण्डलियोंमें उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। रासधारी उनके रचे पद गाया करते थे। कुछ दिनोंके बाद नौकरी छोड़कर उन्होंने पूर्ण वैराग्य ले लिया। वे बड़े सरल और उदार स्वभावके थे। कभी धातु स्पर्श नहीं करते थे। कामिनी-कञ्चनकी ओर दृष्टि उठाना महापातक मानते थे। वृन्दावनकी पवित्र भूमिपर वे कभी शौच नहीं जाते थे। आचार-विचारका उन्होंने आजीवन ध्यान रखा।

उन्होंने 'व्रज-विहार' नामक भक्तिरसके एक ग्रन्थकी रचना की थी। उसमें भगवान्‌की लीलाओंका शृङ्गाररससे ओतप्रोत सरस वर्णन हुआ है। कहीं-कहीं अनुभवके भी सरस पदोंका दर्शन होता है। उनकी वाणी सर्वथा प्रेममयी और मधुर है। उनके पद और दोहे बड़े ही उपदेशप्रद और सरस हैं। वे सदा प्रेम-सिन्धुमें निमग्न रहते थे।

श्रीगोवर्धनके समीप फाल्गुन कृष्ण एकादशी सं० १९५७ वि० को कुसुमसरोवरपर उद्धवजीके मन्दिरमें उनका सदाके लिये लीला-प्रवेश हो गया। वास्तवमें वे महान् रसिक थे, उनके पदोंको पढ़नेसे भागवती निष्ठा और भक्तिकी अभिवृद्धिमें बड़ा बल मिलता है।

शिवभक्त अप्पय्य दीक्षित

भगवान् शङ्कराचार्यद्वारा स्थापित अद्वैत सम्प्रदाय-परम्परामें जो सर्वश्रेष्ठ आचार्य हुए हैं, उन्हींमेंसे एक अप्पय्य दीक्षित भी हैं। विद्वत्ताकी दृष्टिसे इन्हें वाचस्पति मिश्र, श्रीहर्ष एवं मधुसूदन सरस्वतीके समकक्ष कहा जा सकता है। ये एक साथ ही आलङ्कारिक, वैयाकरण और दार्शनिक थे। इन्हें सर्वतन्त्रस्वतन्त्र कहा जाय तो कुछ भी अत्युक्ति न होगी। केवल भारतीय साहित्य ही नहीं, इन्हें विश्वसाहित्याकाशका एक देदीप्यमान नक्षत्र कह सकते हैं। मुगलसम्राट् अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँका शासनकाल (ईस्वी १५५६ से १६५८ तक) भारतीय साहित्यका सुवर्णयुग कहा जा सकता है। इस समयमें अलङ्कार, नाटक, काव्य एवं दर्शन—सभी प्रकारके ग्रन्थोंका खूब विस्तार हुआ था। सम्भव है, इस समयकी राजनीतिक सुव्यवस्था ही इसमें कारण हो। अप्पय्य दीक्षित अकबर और जहाँगीरके शासनकालमें हुए थे। इनका जन्म सन् १५५० ई० में हुआ था और मृत्यु बहत्तर वर्षकी आयुमें सन् १६२२ में। इनके जीवनमें जिस साहित्यिक प्रतिभाका विकास हुआ, उसे देखकर चित्त चकित हो जाता है।

इनके पितामह आचार्य दीक्षित और पिता रङ्गराजाध्वरि थे। ऐसे प्रकाण्ड पण्डितोंके वंशधर होनेके कारण इनमें अद्भुत प्रतिभाका विकास होना स्वाभाविक ही था। ये दो भाई थे; इनके छोटे भाईका नाम अय्यान दीक्षित था। अप्पय्य दीक्षित्‌ने अपने पितासे ही विद्या प्राप्त की थी। पिता और पितामहके संस्कारानुसार इन्हें भी अद्वैतमतकी ही शिक्षा मिली थी, तथापि ये परम शिव-भक्त थे। इनका हृदय भगवान् शङ्करके प्रेमसे भरा हुआ था। अतः शैव-सिद्धान्तकी स्थापनाके लिये ये ग्रन्थरचना करने लगे। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये इन्होंने शिव-तत्त्वविवेक आदि पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना की। इसी समय इनके समीप नर्मदातीरनिवासी श्रीनृसिंहाश्रम स्वामी उपस्थित हुए। उन्होंने इन्हें सचेत करते हुए अपने पिताके सिद्धान्तका अनुसरण करनेके लिये प्रोत्साहित किया। तब उन्हींकी प्रेरणासे उन्होंने परिमल, न्यायरक्षामणि एवं सिद्धान्तलेश नामक ग्रन्थोंकी रचना की।

अप्पय्य दीक्षितके पितामह विजयनगरराज्याधीश्वर कृष्णदेवके आश्रित थे। किन्तु सन् १५६५ ई० में तालीकोटयुद्धके पश्चात् उस राजवंशका अन्त हो गया था। इस समय दीक्षितकी आयु केवल पंद्रह वर्षकी थी। इस राजवंशका अंत होनेपर एक नवीन वंशका उदय

हुआ, जो तृतीय वंशके नामसे विख्यात है। इस वंशके मूलपुरुष रामराज, तिरुमल्लई और वेङ्कटादि अपने पूर्ववर्ती राजवंशके अन्तिम दो नृपति अच्युतराज और सदाशिवके समय ही बहुत शक्तिमान् हो गये थे। इनमेंसे रामराज और तिरुमल्लईके साथ महाराज कृष्णकी कन्या वेङ्गला और तिरुमलाम्माका विवाह हुआ था। अच्युतका राज्यकाल ई० सन् १५३० से १५४२ तक है तथा सदाशिवका १५४२ से १५६७ तक। तालीकोटके युद्धमें रामराज और वेङ्कटादिका देहान्त हो गया था। अतः अब तीनों भाइयोंमें केवल तिरुमल्लई ही जीवित था। उसने १५६७ ई० तक सदाशिवको नाममात्रका सम्राट् स्वीकार करते हुए राज्यका प्रबन्ध किया और अन्तमें उसकी हत्या कर स्वयं राजा बन गया। तिरुमल्लईके चार पुत्र थे। सन् १५७४ में उसकी मृत्यु होनेपर उसका दूसरा पुत्र चिन्नतिम्म या द्वितीय रङ्ग सिंहासनारूढ़ हुआ और उसके पश्चात् सन् १५८५ में सबसे छोटा पुत्र वेङ्कट या वेङ्कटपति राज्यका अधिपति हुआ। अप्पय्य दीक्षित इन तीनों नृपतियोंके सभा-पण्डित थे। उन्होंने अपने विभिन्न ग्रन्थोंमें इन राजाओंका नाम-निर्देश किया है। इससे सिद्ध होता है कि अप्पय्य दीक्षितका विजयनगर राज्यमें बहुत सम्मान था।

सिद्धान्तकौमुदीमें भट्टोजिदीक्षितने अपने गुरुरूपसे उनका वर्णन किया है। कुछ कालतक इन दोनों विद्वानोंने काशीमें निवास किया था। अप्पय्य दीक्षित शिव-भक्त थे और भट्टोजिदीक्षित वैष्णव थे; तो भी इन दोनोंका सम्बन्ध अत्यन्त मधुर था। वे दोनों ही शास्त्रज्ञ थे, अतः उनकी दृष्टिमें वस्तुतः शिव और विष्णुमें कोई भेद नहीं था।

कुछ काल काशीमें रहकर दीक्षित दक्षिणमें लौट आये। वहाँ अपना मृत्युकाल समीप जानकर उन्होंने चिदम्बरम् जानेकी इच्छा की। उस समय उनके हृदयमें जो भाव जाग्रत् हुए, उनको उन्होंने इस प्रकार व्यक्त किया है—

चिदम्बरमिदं पुरं प्रथितमेव पुण्यस्थलं
सुताश्च विनयोज्ज्वलाः सुकृतयश्च काश्चित् कृताः।
वयांसि मम सप्ततेरुपरि नैव भोगे स्पृहा
न किञ्चिदहमर्थये शिवपदं दिदृक्षे परम्॥
आभाति हाटकसभानटपादपद्मो
ज्योतिर्मयो मनसि मे तरुणारुणोऽयम्।

इस प्रकार दूसरा श्लोक समाप्त नहीं हो पाया था कि उन्होंने श्रीमहादेवजीके दर्शन करते-करते अपनी जीवनलीला समाप्त कर दी। यह उनकी जीवनव्यापिनी साधनाका ही फल था। मृत्युके समय उनके ग्यारह पुत्र और छोटे भाईके पौत्र नीलकण्ठ दीक्षित पास ही थे। उस समय उन्होंने सबसे अधिक प्रेम नीलकण्ठपर ही प्रकट किया। उनका जो श्लोक अधूरा रह गया था, उसकी उनके पुत्रोंने इस प्रकार पूर्ति की—

'नूनं जरामरणघोरपिशाचकीर्णा
संसारमोहरजनी विरतिं प्रयाता॥'

भक्त कण्णप्प

(लेखक—चक्रवर्ती श्रीराजगोपालाचारीजी)

दक्षिणके किसी जंगली प्रदेशमें रहनेवाली एक शिकारी जातिका सरदार नाग था। उसका काम था हत्या करना। उसके बाणोंकी नोकमें जहर लगा रहता था, जो आगके समान जलता था। धनुष-बाण चलानेमें वह अत्यन्त चतुर था। क्रोधोन्मत्त सिंहके समान वह बली था। उसकी पत्नीका नाम तत्ता था। वह भी सिंहनीके ही समान डरावनी थी। वह उजले शङ्खों और सिंहके दाँतोंकी माला पहनती थी। बहुत दिनोंके बाद उन्हें एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम तिण्ण रखा गया। तिण्णका अर्थ भारी होता है। अपने लड़केको गोदमें उठानेपर नागको वह भारी लगा, इसलिये उसका नाम उसने तिण्ण रख दिया।

तिण्ण सोलह वर्षकी उम्रमें ही धनुष-बाण, भाला, तोमर और वीरोंके योग्य दूसरे अस्त्र-शस्त्र चलानेमें बहुत निपुण हो गया। नागको बुढ़ापा आता हुआ मालूम हुआ। उसने तिण्णको अपनी जातिका सरदार बना दिया। तिण्ण नियमानुसार पहले-पहल आखेटको निकला। बहुत-से जानवर मारनेके बाद उसने घने जंगलमें एक सूअरका शिकार किया। वहीं उसके दो नौकर नाण और काड उससे आ मिले। उन्होंने सूअरको उठा लिया और बढ़

चले। रास्तेमें उनको जोरोंकी भूख लगी।

तिण्णने पूछा—'यहाँ मीठा पानी कहाँ मिलेगा? तुम्हें कुछ पता है?'

नाण बोला—'उस विशाल शालवृक्षके उस पार एक पहाड़ी है और उसीके नीचे सुवर्णानदी बहती है।'

तिण्णने कहा—'चलो, तब वहीं चलें।' तीनों चल पड़े। वहाँ पहुँचनेपर तिण्णने पहाड़ीपर चढ़नेकी इच्छा जतायी।

नाणने भी जोर दिया, 'हाँ, यह पहाड़ बहुत ही रमणीक है। शिखरपर एक मन्दिर है, जिसमें भगवान् जटाजूटधारीकी मूर्ति है। आप उनकी पूजा कर सकते हैं।'

पहाड़पर चढ़ते-चढ़ते तिण्णकी भूख-प्यास गायब हो गयी। उसे ऐसा मालूम होने लगा मानो सिरपरसे कोई भार उतरा जाता हो। उसे एक प्रकारका अनिर्वचनीय आनन्द मिलने लगा। उसके भीतर कोई नयी ही अभिलाषा उत्पन्न हो गयी।

वह बोला—'नाण! तुम्हींने कहा है न कि ऊपर भगवान् जटाजूटधारीका मन्दिर है; चलो, उनके दर्शन कर आयें।'

वे शिखरपर चढ़कर मन्दिरके सामने पहुँचे। देवप्रतिमाको देखते ही भावुक-हृदय तिण्णने लपककर उसे प्रेमालिङ्गनमें बाँध लिया। उसके आनन्दका पार न रहा। उसकी आँखोंसे अजस्र अश्रुधारा बहने लगी। वह कहने लगा—'प्यारे भगवन्! क्या तुम यहाँ अकेले ही जंगलमें जंगली जन्तुओंके बीच रहते हो? यहाँ तुम्हारा कोई मित्र नहीं है?' भक्तिसे उसका हृदय गद्गद हो गया। उसकी इस समाधिस्थ अवस्थामें धनुष सरककर गिर गया। मूर्तिके सिरपर कुछ हरे पत्ते, जंगली फूल और शीतल जल देखकर वह दुःखित हो गया और कहने लगा—'किस नराधमने मेरे स्वामीके सिरपर ये चीजें रखी हैं?'

नाणने जवाब दिया—'आपके पूज्य पिताके साथ मैं यहाँ बहुत बार आया हूँ। हमने एक ब्राह्मणको यह करते देखा था। उसने देवताके सिरपर ठंडा पानी डाल दिया और फूल-पत्तियाँ रख दीं। फिर वह खूब उसी तरह बड़बड़ाता रहा, जैसा कि हम ढोल पीट-पीटकर देवताके सामने किया करते हैं; उसने आज भी जरूर यही किया होगा।'

तिण्णको भी पूजा करनेकी बड़ी प्रबल इच्छा थी; किंतु ढंग नहीं मालूम होनेसे उसने सोचा कि 'मैं भी क्यों न इसी तरह भूखे भगवान्को मांस लाकर खिलाऊँ।' तिण्ण मन्दिरसे रवाना हुआ, मगर तुरंत ही लौट आया। वह बार-बार जानेकी कोशिश करता था, किंतु इस नयी निधिको छोड़नेकी इच्छा न होनेसे लौट आता था। उसकी हालत उसी गायकी-सी हो गयी, जो अपने पहले बछड़ेको नहीं छोड़ना चाहती।

उसने सरलतासे कहा—'प्यारे मालिक! मैं जाकर तेरे लिये अपने हाथों मांस पकाकर लाऊँगा। तुझे यों अकेला और असहाय छोड़नेको जी नहीं चाहता। किंतु तुझे भूख लग रही है और जाकर तेरे खानेके लिये कुछ लाना ही होगा।' आँखोंमें आँसू भरे आते थे। यों वह जंगली शिकारी मन्दिरसे चला। नाण उसके पीछे-पीछे चला। पहाड़ीके नीचे आनेपर उसने दूसरे नौकरको सारी कथा कह सुनायी। यह भी कहा कि मालिकने मूर्तिका आलिङ्गन किया था, उसे देरतक न छोड़ा और अब देवताके लिये पका हुआ मांस ले जानेको आये हैं।

नौकर रोने लगे—'हमारा तो सर्वनाश हो गया। सरदार पागल हो गये।' तिण्णने उनके रोनेकी जरा भी परवा न की। उसने पकाया। फिर उसे चखकर देखा कि ठीक-ठीक पका तो है, स्वाद ठीक है और सन्तोष हो जानेपर पहाड़पर ले जानेके लिये उसे शालके पत्तेमें लपेटकर रखा।

नौकरोंने मन-ही-मन कहा—'पगला! कर क्या रहा है? पका हुआ मांस मुँहमें डालकर चखता है और इतना भूखा होनेपर भी उसे बिना खाये ही पत्तेपर रख देता है। अपनी भूख-प्यासकी तो कोई बात ही नहीं करता। हमें भी मांस देनेका नाम नहीं लेता। अपने देवताके लिये थोड़ा-सा चुनकर बाकी फेंक देता है। इसका सिर फिर गया है, अब अच्छा नहीं हो सकता। खैर, चलो, इसके बापसे यह बात कह दें।' दोनों नौकर उसे छोड़कर चले गये। तिण्णने न तो उनकी बात सुनी और न उनका जाना ही उसे मालूम हुआ। वह तो अपने ही काममें मग्न था। अभिषेकके लिये उसने अपने मुँहमें ताजा पानी भर

लिया; क्योंकि उसके पास कोई बरतन नहीं था। चढ़ानेके लिये अपने बालोंमें उसने कुछ जंगली सुगन्धित फूल खोंस लिये। एक हाथमें उसने मांस लिया और दूसरेमें आत्मरक्षाके लिये तीर, धनुष; और वह दोपहरकी कड़कड़ाती धूपमें पहाड़पर चढ़ने लगा। यह सोचकर कि देवता भूखे होंगे, वह और भी तेजीसे चलने लगा। शिखरपर पहुँचनेके बाद वह मन्दिरमें जूता पहने ही दौड़कर घुस गया। देवताके सिरपरसे पुराने फूल उसने बड़े स्नेहके साथ पैरोंसे हटाये, अभिषेकके लिये ऊपरसे कुल्ला कर दिया और देवताके आगे मांस रखकर अपनी साधारण बोलीमें खानेका आग्रह करने लगा। अँधेरा हो आया। तिण्णने सोचा, 'यह समय तो जंगली जानवरोंके घूमनेका है। देवताको यहाँ अकेले छोड़कर मैं नहीं जा सकता।' उसने हाथमें धनुष-बाण लेकर रातभर पहरा दिया। सबेरा होनेपर जब चिड़ियाँ चहचहाने लगीं, तब वह देवताके आगे प्रणिपात और प्रार्थना करके ताजा मांस लाने चला गया।

वह ब्राह्मण पुजारी, जो पूजा किया करता था, नियमानुसार प्रातःकाल आया। मन्दिरमें जूतों और कुत्तोंके पैरोंकी छाप देखकर तथा चारों ओर हाड़-मांस छितराया हुआ देखकर वह बहुत ही घबरा गया, विलाप करने लगा, 'हाय, भगवन्! अब मैं क्या करूँ? किसी जंगली शिकारीने मन्दिर भ्रष्ट कर दिया है!' लाचार उसने झाड़-बुहारकर साफ किया। मांसके टुकड़े कहीं पैरोंसे छू न जायँ, इसलिये उसे बड़ी कठिनतासे इधर-उधर चलना पड़ता था। फिर वह नदीमेंसे स्नान करके आया और मन्दिरकी सम्पूर्ण शुद्धि की। आँखोंमें आँसू भरकर देवताके आगे प्रणिपात करने लगा। फिर उठकर उसने वेद-ऋचाओंसे परम पुरुष परमात्माकी स्तुति की। पूजा समाप्त करके वह अपने तपोवनको लौट गया।

तिण्णने कई जानवर मारे और पिछले दिनके समान चुनकर मांस पकाया और चख-चखकर अच्छे-अच्छे टुकड़े अलग रख लिये। उसने कई अच्छे ताजे मधुके छत्ते इकट्ठे किये, उनका मधु मांसमें निचोड़ा। फिर वह मुँहमें पानी भरकर, बालोंमें फूल खोंसकर, एक हाथमें मांस लिये हुए और दूसरेमें धनुष-बाण लेकर पहाड़पर दौड़ा। ज्यों-ज्यों मन्दिर निकट आता जाता था, उसकी आतुरता भी बढ़ती जाती थी। वह बड़े-बड़े डग भरता चला। उसने देवताके सिरपरसे फूल-पत्ते पैरसे ठेलकर साफ किये, कुल्ला करके अभिषेक कराया और यह कहते हुए मांसका उपहार सामने रखा, 'देवता! कलसे आजका मांस मीठा है। कल तो केवल सूअरका मांस था। आज तो बहुत-से स्वादिष्ट जानवरोंके मांस चखकर और खूब स्वादिष्ट चुनकर लाया हूँ। उसमें मधु भी निचोड़ा है।'

इस तरह तिण्णके पाँच दिन, दिनभर शिकार करके देवताके लिये मांस इकट्ठा करने और रातभर पहरा देनेमें बीते। उसे आप खाने-पीनेकी सुध ही न रही। तिण्णके चले जानेके बाद प्रतिदिन ब्राह्मण पण्डित आते और रातके इस भ्रष्टाचारपर विलाप करते, मन्दिर धोकर साफ करते, नदी-स्नान करके शुद्धि करते और पूजा-पाठ करके अपने स्थानपर लौट जाते। जब इतने दिनोंतक तिण्ण नहीं लौटा, तब उसके सभी सम्बन्धी और मा-बाप निराश हो गये।

ब्राह्मण पुजारी रोज ही हार्दिक प्रार्थना करते—'प्रभु! मेरे पाप क्षमा करो। ऐसा भ्रष्टाचार रोको।' एक रात स्वप्नमें परमेश्वर उनके सामने आकर बोले, 'मित्र! तुम मेरे इस प्रिय शिकारी भक्तको नहीं जानते। यह मत समझो कि वह निरा शिकारी ही है। वह तो बिलकुल ही प्रेममय है। वह मेरे सिवा और कुछ जानता ही नहीं। वह जो कुछ करता है, मुझको प्रसन्न करनेके लिये ही। जब वह अपने जूतेकी नोकसे मेरे सिरपरसे सूखे फूल हटाता है, तब उसका स्पर्श मुझे प्रिय पुत्र कुमारदेवके आलिङ्गनसे भी अधिक प्रिय लगता है। जब मुझपर वह प्रेम और भक्तिसे कुल्ला करता है, तब वह कुल्लेका ही पानी मुझे गङ्गाजलसे भी अधिक पवित्र जान पड़ता है। वह अनपढ़ मूर्ख सच्चे स्वाभाविक प्रेम और भक्तिसे जो फूल अपने बालोंमेंसे निकालकर मुझपर चढ़ाता है, वे मुझे स्वर्गमें देवताओंके भी चढ़ाये फूलोंसे अधिक प्रिय

लगते हैं। और अपनी मातृभाषामें वह आनन्द और भक्तिसे भरकर जो थोड़ेसे शब्द कहकर, मेरे सिवा सारी दुनियाका भान भूलकर मुझे प्रसाद पानेको कहता है, वे शब्द मेरे कानोंमें ऋषि-मुनियोंके वेद-पाठसे कहीं अधिक मीठे लगते हैं। यदि उसकी भक्तिका महत्त्व देखना हो तो कल आकर मेरे पीछे खड़े हो जाना।'

इस आदेशके बाद पुजारीको रातभर नींद नहीं आयी। प्रातःकाल वह नियमानुसार मन्दिरमें पहुँचा और पूजा-पाठ समाप्त करके मूर्तिके पीछे जा छिपा। तिण्णकी पूजाका यह छठा दिन था। और दिनोंसे आज उसे कुछ देर हो गयी थी। इसलिये वह पैर बढ़ाता आया। रास्तेमें उसे अपशकुन हुए, वह सोचने लगा, 'कहीं खून गिरना चाहिये। कहीं देवताको कुछ हुआ तो नहीं?' इसलिये वह दौड़ा। अपने असगुनको पूरा होते देखकर उसके शोकका पार न रहा। हाय! देवताको कितना कष्ट हो रहा था; क्योंकि उनकी दाहिनी आँखसे खूनकी अविरल धारा बह रही थी। तिण्ण यह दुःखद दृश्य नहीं देख सका। वह रोने, विलाप करने लगा। जमीनपर लोटने लगा। फिर उठा। उठकर भगवान्‌की आँखसे खून पोंछ दिया, परन्तु तो भी खूनका बहना रुका नहीं। वह फिर दुःखातुर होकर गिर पड़ा!

तिण्ण बिलकुल ही घबरा गया। उसका चित्त अत्यन्त दुःखी हो गया। वह समझता नहीं था कि क्या करना चाहिये। थोड़ी देर बाद वह उठा और तीर-धनुष लेकर उस आदमी या जानवरको मारने निकला, जिसने देवताकी यह दुर्दशा की हो। परन्तु उसे कहीं कोई प्राणी नहीं दिखलायी पड़ा । वह लौट आया और मूर्तिको छातीसे लगा करके विलाप करने लगा, 'हाय! मैं महापापी हूँ। रास्तेके सभी अपशकुन सच्चे हुए हैं। भगवन्! पिता! मेरे प्यारे! तुम्हें क्या हुआ है? मैं तुम्हें क्या सहायता दूँ?' तब उसे कुछ जड़ी-बूटियोंकी याद आयी, जिन्हें उसकी जातिके लोग घावोंपर लगाते थे। वह दौड़ा और जब लौटा तो जड़ी-बूटियोंका एक गट्ठर लेकर। उन्हें उसने देवताकी आँखमें एक-एककर निचोड़ दिया, पर इससे कुछ लाभ नहीं हुआ। उस समय उसे शिकारियोंकी कहावत याद आयी कि 'मांस मांससे ही अच्छा होता है।' यह खयाल आते ही उसके मनमें आनन्दकी नयी ही उमंग खेलने लगी। उसने देर न की। एक तेज बाणकी नोकसे अपनी दाहिनी आँख निकाल डाली और भगवान्‌की आँखपर धीरेसे धरकर उसे दबाया और आश्चर्य कि इससे तुरंत खूनका बहना रुक गया!

वह आनन्दसे नाच उठा। ताल ठोक-ठोककर आनन्दोन्मत्त हो नाचने लगा। उसकी असीम प्रसन्नतापूर्ण हँसी और आनन्दध्वनिसे मन्दिर गूँज उठा; पर यह क्या हुआ? अरे, इस बीच बाँयीं आँखसे भी खून बहने लगा। इसपर दुःख और घबराहटमें तिण्ण भान भूल गया। परन्तु यह विस्मृति क्षणिक ही थी। तुरंत ही वह सँभल उठा और उसने कहा, 'मेरे-जैसा कौन मूर्ख होगा, जो इसपर शोक करता है? इसकी दवा तो मुझे मिल ही गयी है। अब भी मेरी एक आँख तो है!' तब देवताकी बाँयीं आँखपर अपना बाँयाँ पैर रखकर, जिससे उसे पता चले कि कहाँ आँख लगानी है—क्योंकि आँख निकालनेके बाद उसे कुछ भी नहीं सूझेगा—उसने पहलेसे भी अधिक तेजीसे बाँयीं आँखके कोनेमें तीरकी नोक लगायी। देवता उसकी इस भक्तिपर पुष्प बरसाने लगे। स्वयं भगवान्‌ने अपने हाथ बढ़ाकर तिण्णका हाथ पकड़कर रोक लिया और कहा—'ठहरो, मेरे कण्णप्प! मेरे कण्णप्प! ठहर जाओ।' [कण—आँख, अप्प—वत्स, कण्णप्प—कण+अप्प। फिर परमेश्वरने कण्णप्पका हाथ पकड़कर उसे अपने पास खींच लिया और कहा, 'त्याग और प्रेमकी मूर्ति कण्णप्प! तू इसी भाँति सर्वदा मेरे पास रहा कर!'

ब्राह्मण पुजारीने यह आश्चर्यजनक दृश्य देखा और सच्ची तथा सीधी-सादी भक्तिका रहस्य समझा!

अरुणगिरिनाथ

(लेखक—विद्वान् के० एस० चिदम्बरम्, एम० ए० 'भारद्वाजन्)

भगवान् कार्तिकेय दक्षिणमें सुब्रह्मण्य, षण्मुख, स्कन्द, मुरुहन् आदि नामोंसे प्रसिद्ध हैं। तमिळनाडवाले उन्हें अपनी भाषाके आदिप्रवर्तक मानते हैं और समझते हैं कि तमिळ भाषाके स्तोत्रोंसे भजन करनेपर वे अतीव तृप्त हो जाते हैं। तमिळमें ऐसे कितने ही स्तोत्रग्रन्थ हैं, जिनका स्कन्दभक्त पारायण किया करते हैं। ऐसे ग्रन्थोंमें 'तिरुप्पुकळ्' एक है, जिसमें विभिन्न प्रकारके श्रुतिमधुर गान संकलित हैं। उस ग्रन्थके रचयिता 'अरुणगिरिनाथर्' करीब पाँच शताब्दियोंके पहले विद्यमान थे।

दक्षिणमें 'तिरुवण्णामलै' (अरुणाचलपुरी) एक दिव्य क्षेत्र है। भगवान् शिवजीके उन पञ्च महाक्षेत्रोंमें यह एक है, जहाँ वे पञ्चभूतस्वरूपी होकर विराजमान हैं। वहाँ वे तेजोलिङ्गरूपी हैं। इनके स्मरणमात्रसे भक्तोंको जीवन्मुक्ति हो जाती है, ऐसा विश्वास है। इस पुण्यक्षेत्रमें रुद्रगणिकाओंके वंशमें इनका जन्म हुआ था। इनकी माता 'मुत्तम्मा' पुत्रकी कामनासे प्रतिदिन अरुणाचलेश्वरकी परिक्रमा किया करती थी। एक दिन उस मन्दिरके सुब्रह्मण्यसन्निधानमें जाकर उसने प्रार्थना की—'भगवन्! आपकी भक्ति करनेवाला एक पुत्र मुझे दीजिये।' कार्तिकेयके प्रसादसे कालक्रममें उसके एक सुन्दर पुत्र पैदा हुआ। बड़े लाड़-प्यारसे उसका लालन-पालन हुआ। इसलिये वह बड़ा अक्खड़ निकला। अल्पायुमें ही उसकी माताका स्वर्गवास हो गया, तब उसकी दीदी बड़े प्यारसे उसका पालन-पोषण करने लगी। समयपर वे तरुण हुए, पर तरुणाईमें वे अत्यन्त विषयसेवी हो गये। उनके घरका सारा धन उनकी विषयेच्छापूर्तिहीमें समाप्त हो गया। निर्धन होनेपर जब वे दीदीके पास गये, तब उसने विवश होकर कुछ कड़ी बातें कह दीं। दीदीके शब्दोंने उनके जीवनका कायापलट कर दिया। उन्होंने माया-मोह छोड़ दिया। वैरागी बनकर वे सीधे भगवान् कार्तिकेयके सन्निधानमें पहुँचे और अपने पिछले जीवनको यादकर पश्चात्तापके आँसू बहाने लगे। पश्चात्ताप ही सच्चा प्रायश्चित्त है। फिर भगवान्का आश्रय साथ हो तो कहना ही क्या है। करुणानिधान भगवान् स्कन्ददेवने कृपा की। भगवान्की कृपासे वे वहीं समाधिस्थ हो गये। मनोयोगसे वे सुब्रह्मण्यके तीव्र ध्यानमें लग गये। फलस्वरूप उन्हें ध्यानमें स्कन्द भगवान्के दर्शन हुए। अब तो वे भक्तिप्रवण होकर अपने पश्चात्तापपूर्ण विचारोंको आशु कविताबद्ध करके, उनकी प्रार्थनाके गीत गाने लगे।

यों भगवान् स्कन्दके गुण गाते वे भिन्न-भिन्न क्षेत्रोंमें गये और उन-उन क्षेत्रोंमें विभिन्न स्वरूपोंमें विराजमान स्कन्ददेवके दर्शन करते रहे। 'तिरुच्चेन्दूर' (श्रीजन्तिस्थल) में उन्हें भगवान्के नूपुरोंकी ध्वनि सुनायी दी और 'तिरुप्परं कुण्ड्रम्' में उनके वाहन मयूरके दर्शन हुए। तब उनकी इच्छा उनके समग्र रूपके दर्शनकी हुई। तिरुवण्णामलैमें आकर अनेक प्रकार प्रार्थना करनेपर भी जब उनके दर्शन नहीं हुए, तब वे अत्यन्त क्षुब्ध होकर सीधे मन्दिरके गोपुरपर चढ़ गये और वहाँसे सुब्रह्मण्यकी प्रार्थना करते हुए नीचे कूद पड़े। भक्तवत्सल भगवान् षण्मुखने मनुष्यरूपमें आकर उन्हें अपने हाथोंमें ले लिया और दर्शन देकर कृतार्थ किया। अरुणगिरिकी प्रार्थनाके अनुसार कृपालु भगवान् उन्हें प्रणवमन्त्रार्थका उपदेश देकर अन्तर्धान हो गये।

स्कन्द और स्कन्दभक्तोंका पूजा-पुरस्कार करते हुए वे वहीं रहे। उनके द्वारा, कहते हैं, कई एक चमत्कार हुए। ऐसे ही एक चमत्कारके फलस्वरूप उनका शुकरूप हो गया और भक्तोंका विश्वास है, वे उसी रूपमें आज भी भगवान् कार्तिकेयकी दाहिनी ओर समासीन हैं और मधुर कीर्तिगान (तिरुप्पुकळ्) गा-गाकर उनकी वन्दना कर रहे हैं। उपासकोंका निश्चय है कि उनके 'तिरुप्पुकळ्' गीतोंका पारायण करनेवाले अवश्य उनकी कृपाके पात्र बन जाते हैं।

भक्त सम्बन्ध

सम्बन्धका जन्म लगभग सन् ६३९ ईस्वीमें हुआ। चार वर्षकी अवस्थामें आपके पिताजी आपको स्नान करानेके लिये एक सरोवरमें ले गये। पास ही एक मन्दिर था। पिता डुबकी मारकर जलके भीतर डूबे कि इन्हें मन्दिरमें माता पार्वती और भगवान् शिवके दिव्य दर्शन हुए। माताने इन्हें एक सोनेके पात्रमें आध्यात्मिक शक्तिसे परिपूर्ण दूध पिलाया। बालकके हृदयमें प्रेरणा जाग उठी। ज्ञानका प्रकाश प्रज्वलित हो उठा। अब आप 'ज्ञानसम्बन्ध' हो गये। अब भी उनके मुँहमें दूध लगा हुआ था। पिताने पूछा कि 'दूध कहाँसे लगा है?' सम्बन्धने आकाशकी ओर संकेत किया और उनके मुखसे गीतकी धारा फूट पड़ी, जिसमें शिव और पार्वतीकी अपार अनुकम्पाका विशद वर्णन था। अब वे गाँव-गाँव घूमकर लोगोंको भगवान्‌का यश सुनाने लगे।

मदुरामें विरोधियोंद्वारा इनकी कुटियामें आग लगायी गयी। परंतु इनका बाल भी बाँका नहीं हुआ। अब आपकी अवस्था सोलह वर्षकी हो गयी और गुरुजनोंके आग्रहसे आपने विवाह कर लिया। कहते हैं कि विवाहके पूर्व ही अपनी पत्नीके साथ इन्हें कोई देवता किसी सुदूर स्थानको ले गये थे। इनके जीवन तथा पदोंसे यह स्पष्ट है कि ये प्रभुको पिताके रूपमें पूजते थे। इनकी सुमनोहर कविताओंमें प्रभुके प्रसाद तथा प्रकृतिके रूप-विलासका बहुत सुन्दर वर्णन है। ये नारी-शक्तिके पुजारी थे। शिवके साथ उमाकी महिमा इनके प्रत्येक पदमें वर्णित है। प्रमुख चार शैवाचार्योंमें ये सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं।

भक्त अप्पर

ईसाकी सातवीं शताब्दीमें अप्परका आविर्भाव हुआ। काञ्चीके पल्लवनरेश महेन्द्र प्रथमके समय ये विद्यमान थे। ६०० ई० सन्‌में, दक्षिण आरकाट जिलेके एक छोटे-से गाँवमें एक सम्पन्न वेळाल-परिवारमें इनका जन्म हुआ। बहुत बचपनमें ही इनके माता-पिता स्वर्ग सिधार गये। इनकी बड़ी बहिनने इनको पाला-पोसा। एक बार इन्हें भयङ्कर पीड़ा हुई। बहिनके कहनेपर ये एक शिवमन्दिरमें जाकर प्रभुसे सुन्दर काव्य-गीतोंमें प्रार्थना करने लगे। दर्द तो मिट ही गया। साथ ही आकाशवाणी हुई कि 'तुम्हारी वाणीमें सरस्वती बसेंगी।' बहिनके आदेशानुसार ये शरीरसे प्रभुकी सेवा, मनसे उनका ध्यान और वाणीसे उनका गुणगान करने लगे। इन्हें पल्लवनरेश जैनधर्ममें दीक्षित करना चाहते थे और न होनेपर इनको नाना प्रकारके कष्ट दिये गये। कहा जाता है कि इनकी गर्दनमें एक भारी पत्थर बाँधकर इन्हें नदीमें छोड़ दिया गया, परंतु पत्थर जलपर तैरने लगा। प्रह्लादकी भाँति ये अपने धर्मपर अटल रहे।

चिदम्बरम्‌में भक्त सम्बन्धसे आप मिले। सम्बन्धने इनको अप्पर (पिता) कहकर पुकारा। तबसे ये सभीके लिये 'अप्पर' हो गये। दोनों भक्तोंने साथ ही देशके भिन्न-भिन्न प्रान्तोंमें भ्रमण किया। दोनोंमें बड़ी प्रगाढ़ मैत्री हो गयी। तिरुपुगळूरमें इनको काञ्चन और कामिनीके प्रलोभन दिये गये। परंतु अब इन चीजोंके लिये इनके हृदयमें कोई स्थान नहीं रह गया था। अन्तिम दिनोंमें ये भगवान्‌से आतुर प्रार्थना करते थे कि मुझे अपनी गोदमें उठा लो। यह प्रार्थना प्रभुने स्वीकार कर ली। ८१ वर्षके होकर ये परमात्मामें लीन हो गये। बड़ा ही सरल जीवन इनका था। कौपीनमात्र इनकी सम्पत्ति थी। हाथमें एक झाड़ू लिये रहते और मन्दिरोंको बुहारा करते थे। सदैव पाँव-पयादे ही चलते। हृदय प्रभु और जीवमात्रके लिये प्रेमसे पूर्णतया भरा था। ये बालकके समान सरल और सैनिककी भाँति दृढ़-प्रतिज्ञ थे। इनके उनचास हजार पदोंमें अब केवल तीन सौ ग्यारह मिलते हैं। इनकी जीवनी और गीतोंसे आज भी हमें अपूर्व प्रोत्साहन मिलता है।

भक्त माणिक्क वाचक

शैव भक्तोंके अग्रणी माणिक्क वाचक परमात्माकी भक्तिकी जाज्वल्यमान मूर्ति थे। डंकेकी चोट इन्होंने कहा कि 'धर्मग्रन्थोंके अनुशीलन, तपश्चर्या, उपवास, कर्मकाण्ड, यज्ञ-याग, तर्कशास्त्र और दर्शनके अध्यात्मग्रन्थोंके अध्ययन, अधिक क्या, मनुष्यके किसी भी प्रयत्नसे भगवान्‌की प्राप्ति असम्भव ही है। प्रभुकी प्राप्तिका एकमात्र मार्ग प्रेममार्ग ही है। यह प्रेम शुद्ध, सात्त्विक और निष्काम होना चाहिये।'

मदुराके पास वदावुर ग्राममें एक ब्राह्मणकुलमें इनका जन्म हुआ था। दस वर्षकी अवस्थामें ही इनकी विलक्षण प्रतिभाका प्रकाश फैला और तत्कालीन पाण्ड्यनरेशने इनकी विद्वत्ता और योग्यता देखकर इन्हें अपना प्रधानमन्त्री बना लिया। अवस्थामें तो ये एक बालक ही थे, परंतु इनकी कुशाग्रबुद्धिसे शासनकार्यमें बड़ी सहायता मिलती रही। ये राजाके दाहिने हाथ थे।

एक बार राजाने इनको कुछ घोड़े खरीदनेके लिये तिरुपेरुन्दुरै भेजा। यहीं आपको श्रीगुरुदेवके दर्शन हुए। घोड़े खरीदनेके लिये जो रुपये पासमें थे, उन्हें आपने गुरुदेवके लिये मन्दिर बनवानेमें लगा दिया। यह बात सुनकर राजाने इनको दण्ड दिया तथा राज्यसे बहिष्कृत कर दिया। अब ये अलमस्त होकर अपने बनाये हुए भजन गाते और मन्दिर-मन्दिर घूमा करते। इन्हें राजदण्डकी तनिक भी चिन्ता न थी। शैवोंके प्रमुख दुर्ग चिदम्बरम्‌में इन्होंने शास्त्रार्थमें बौद्धोंको हराया। ये नटराजकी उपासना करते थे। तमिळ देशमें आज भी माणिक्क वाचकके पद बड़े आदर और श्रद्धासे पढ़े-सुने जाते हैं।

भक्त पट्टिणत्तु पिळ्ळैयार

(लेखक—पं० श्रीविश्वम्भरदत्तजी शर्मा, शास्त्री)

चार-पाँच सौ साल पहलेकी बात है, मद्रासप्रदेशके कावेरीपट्टणम् नामक महानगरमें एक समृद्ध वैश्यकुलमें परम शिवभक्त पट्टिणत्तु पिळ्ळैयारने जन्म लिया। वे जन्मजात ही नहीं, जन्म-जन्मान्तरके शिवभक्त थे, बचपनसे ही आशुतोष भगवान् शिवकी इनपर महती कृपा थी। ऐसा कहा जाता है कि इनके पूर्वजन्मकी भक्तिसे प्रसन्न होकर भगवान् शिवजीने पार्वतीजीसहित कुछ दिनोंतक इनके घरपर दर्जी-दर्जिनके वेषमें रहकर भक्तका मनोरञ्जन किया था।

पट्टिणत्तु पिळ्ळैयार पट्टणके बहुत बड़े व्यवसायी थे। एक बार ये पूजा-घरमें बैठकर भगवान् शिवका ध्यान कर रहे थे कि इन्होंने सुना कि 'सूइयोंसे लदा जहाज पट्टणके बन्दरगाहपर उलट गया है।' पूजा अधूरी छोड़कर वे बंदरगाहकी ओर चल पड़े। पर घोर परिश्रम करनेपर भी एक सूईतक हाथ न लगी। घर आते ही देखा कि दर्जी एक कागज छोड़कर चला गया है; उसपर लिखा हुआ था कि 'मरनेके बाद एक टूटी सूई भी साथ नहीं जायेगी।' ये सिरसे पैरतक सिहर उठे। इनके मनमें पूर्ण वैराग्यका उदय हुआ, इन्होंने सम्पत्तिका कुछ अंश माँको सौंपकर शेषका गरीबोंको देनेमें सदुपयोग कर दिया। इन्होंने माताको सान्त्वना देकर कि 'तुम्हारा दाहसंस्कार मैं ही करूँगा' घरसे विदा माँगी। ये निकल पड़े। शिवनामका उच्चारण करते हुए ये राजा भद्रगिरिके राज्यके एक जंगलमें गणेशमन्दिरमें ठहरकर भगवान् शिवकी भक्ति करने लगे।

अँधेरी रात थी, मूसलाधार वृष्टि हो रही थी। ये मूर्तिसे सटकर ध्यानमग्न हो गये। राजा भद्रगिरिके महलमें चोरी करके चोरोंने रानीका हार गणेशमूर्तिको पहना दिया। वह हार अँधेरेमें पिळ्ळैयारके गलेमें भी पड़ गया। प्रातःकाल सिपाहियोंने उनको राजाके सामने खड़ा किया। वे मौन थे। राजाने उनको शूलीपर चढ़ाकर मार डालनेका आदेश दिया। थोड़ी देरके बाद पिळ्ळैयारने मौनव्रत त्यागकर करुणकण्ठसे शिवकी प्रार्थना की। भोले महादेवकी कृपासे शूलीमें आग लग गयी। राजाने पश्चात्ताप किया, क्षमा माँगी; वह इनका शिष्य हो गया।

कालान्तरमें इनकी माताका देहान्त हो गया। जबतक वे श्मशानपर नहीं पहुँच गये, चिता आग ही नहीं पकड़ पाती थी। दाह-संस्कारकी प्रतिज्ञा पूरीकर ये भद्रगिरिके साथ मीनाक्षीके मन्दिरमें शिवकी आराधना करने लगे। इनकी गणना महान् शिवभक्तोंमें होती है। इन्होंने मद्रासके समुद्रतटपर समाधि ली। इस क्षेत्रका नाम तिरुवोत्तियूर है, यहाँ शिवलिङ्ग स्थापित है। यह दक्षिण भारतका एक प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान है।

भक्त रामनारायण

भक्त लाला रामनारायणजीकी जन्मभूमि तो पञ्जाब थी, परंतु वे बहुत समयसे आकर बस गये थे मोक्षदायिनी भगवान् शङ्करकी काशीपुरीमें। उनके साथ पञ्जाबके कई लोग और भी आये थे। रामनारायणजी भगवान् शङ्करके अनन्य भक्त थे। प्रतिदिन बहुत तड़के ही गङ्गा-स्नान करके वे भगवान् विश्वनाथजीके दर्शन करते और फिर घर लौटकर पार्थिवपूजन, शिवसहस्रनामका पाठ, महामृत्युञ्जय मन्त्रका भक्ति-श्रद्धापूर्वक जप करते थे। मध्याह्नतक उनका पूजा-पाठ चलता। उनकी पत्नी शारदा और पुत्र शम्भुशरण भी भगवान् शिवजीके बड़े भक्त थे। कल्याणकारी **'नमः शिवाय'** का अनवरत जप तो परिवारभरका स्वभाव ही बन गया था। आशुतोष भगवान् शङ्करकी कृपासे रामनारायणजीका व्यापार चमका और वे थोड़े ही दिनोंमें सुख-समृद्धिसे सम्पन्न हो गये।

धनसे अभिमान और स्वार्थ बढ़ा करता है, परंतु श्रीशङ्करजीकी कृपासे यहाँ सर्वथा विपरीत परिणाम हुआ। श्रीरामनारायणजीके ज्यों-ही-ज्यों सुख-समृद्धि और धन-ऐश्वर्य बढ़ा, त्यों-ही-त्यों उनमें नम्रता, विनय, त्यागकी भावना और अन्यान्य दैवी-सम्पत्तिके गुण बढ़ते गये। सत्पुरुषोंके पास आये हुए न्यायोपार्जित धनका सुकृत और सेवामें ही सदुपयोग हुआ करता है, इस सिद्धान्तके अनुसार रामनारायणजीका धन सत्कार्योंमें लगने लगा। इससे उनकी कीर्ति भी बढ़ी।

पञ्जाबसे उनके साथ आये हुए लोगोंमें एक लाला दयालीराम थे। वे रामनारायणजीकी उन्नतिसे मन-ही-मन जला करते। यद्यपि रामनारायणजी हर तरहसे स्वाभाविक ही उनके साथ बड़ी उदारता और प्रीतिका व्यवहार करते, फिर भी लाला दयालीरामकी द्वेषबुद्धि बढ़ती गयी। श्रीरामनारायणजीको इस बातका कुछ भी पता नहीं था। परंतु दबी आग कबतक रह सकती है। ईंधन और हवाका झोंका पाते ही धधक उठती है। इसी प्रकार मौका पाते ही लाला दयालीरामकी द्वेषाग्नि भड़क उठी। अब तो वे खुल्लमखुल्ला रामनारायणजीसे वैर करने लगे और भाँति-भाँतिसे उन्हें सताने, परेशान करने और हानि पहुँचानेका प्रयत्न करने लगे। गालियाँ देने, गुंडोंसे पिटवाने, आग लगा देने और व्यापारमें नुकसान पहुँचाने आदिके रूपमें वैर-सम्पादनके भाँति-भाँतिके प्रयत्न दयालीरामकी ओरसे चलने लगे!

एक दिन रामनारायणजी गङ्गास्नान करके आ रहे थे। दयालीरामने अचानक स्वयं आकर उनके दो जूते लगा दिये। रामनारायणजी हँसते हुए चले गये, परंतु उन्हें अपने साथी दयालीरामकी इस गिरी हुई हालतपर बड़ी दया आयी। वे उनकी दुःस्थितिके कारण दुःखी हो गये। अपने अपमान और जूतोंकी मारके कारण नहीं, परंतु दयालीरामकी मानसिक दुर्भावनाके कारण वे चिन्तातुर हो गये। उन्होंने सोचा, कैसे दयालीरामजीकी वृत्ति ठीक हो। उन्होंने मन-ही-मन उनसे विशेष प्रेम करनेका सङ्कल्प किया और सङ्कल्पानुसार कार्य भी आरम्भ कर दिया। यह नियम है कि जब हम किसीके सम्बन्धमें अपने मनमें द्वेष और वैरके विचार रखते हैं, तब वे हमारे विचाररूपी राक्षस उसकी ओर जाते हैं और उसके मनमें भी द्वेष और वैरके विचार उत्पन्न करके उनको फिर अपनी ओर खींचते हैं। स्वार्थ, क्रोध, हिंसा, मद और लोभ आदिके विचारोंका भी ऐसा ही असर होता है। इस प्रकार परस्परमें अशुभ विचार बढ़ते रहकर तमाम वातावरणको और तमाम जीवनको अशुभ बना देते हैं। इसके बदलेमें यदि किसीके प्रति प्रेमके विचारोंका पोषण हो तो वे भी वहाँतक पहुँचते हैं और उसके मनमें उभड़े हुए द्वेषको दबाकर प्रेमके भाव पैदा करते हैं। यों यदि बार-बार प्रेमके विचारोंको बढ़ा-बढ़ाकर भेजा जाय तो अन्तमें उसका द्वेष मिट जाता है और वह भी प्रेम करने लगता है। प्रेम प्रेमका और द्वेष द्वेषका जनक है। लाला दयालीरामके मनमें वैर था, परंतु रामनारायणजीके मनमें अत्यन्त सुदृढ़ और महान् प्रेम भरा था। अतएव दयालीरामके द्वेषके विचारोंका रामनारायणजीके प्रेमके बढ़े हुए विचारोंपर कोई असर नहीं हुआ; बल्कि वे विचार प्रेमके प्रबल विचारोंसे दबने लगे और उत्तरोत्तर क्षीणशक्ति होकर लौटने लगे। साथ ही रामनारायणजीके बढ़े हुए निर्मल और प्रबल प्रेमके विचार लगातार वहाँ पहुँचने लगे और उनके हृदयके अशुभ भावोंको क्रमशः मिटाने लगे। अब लाला दयालीरामको अपने कियेपर बीच-बीचमें पश्चात्ताप भी होने लगा।

इधर लाला रामनारायणजीको धैर्य नहीं हुआ, वे शीघ्र-से-शीघ्र दयालीरामको शुभ स्वरूपमें देखनेके लिये आतुर हो गये। अतएव उन्होंने एक दिन रातको एकान्तमें आर्त होकर भगवान् आशुतोषसे करुण प्रार्थना की—

'मेरे स्वामिन्! मुझे अपने साथी लाला दयालीरामजीके इस पतनका बड़ा ही दुःख है। आप अन्तर्यामी हैं; यदि मेरे मनमें उनके प्रति जरा भी द्वेष रहा हो या अब भी कहीं हो तो मुझे उसका कड़ा दण्ड दीजिये; परंतु उनके मनमें शान्ति, सौहार्द और प्रेम पैदा कर दीजिये। मेरे नरकाग्निकी पीड़ा भोगनेसे भी यदि उनका चित्त शुद्ध होता हो तो मेरे भगवन्! शीघ्र-से-शीघ्र इसकी व्यवस्था कीजिये। आपके दिये हुए धन-ऐश्वर्य और मान-कीर्तिसे यदि उनके मनमें दुःख होता हो तो प्रभु! आपकी इन चीजोंको आप तुरंत वापस ले लीजिये। मुझे तुरंत राहका भिखारी और सर्वथा दीन-हीन, अपमानित बना दीजिये। ऐसा धन-वैभव और यश-सम्मान किस कामका, जो किसी भी प्राणीके दुःखका कारण हो। फिर भगवन्! जहाँतक, मेरे मनका मुझे पता है, मैंने तो कभी स्वामीसे धन-सम्मानके लिये प्रार्थना भी नहीं की थी। मैं तो स्वामीकी दी हुई वस्तुओंको नित्य स्वामीकी ही सम्पत्ति मानकर स्वामीके आज्ञानुसार स्वामीकी सेवामें ही लगानेका प्रयत्न करता रहा हूँ। परंतु ऐसा कहना भी मेरा अभिमान ही है। मैं क्या प्रयत्न करता हूँ। स्वामी ही तो सब कुछ करा रहे हैं। इस समय भी मैं जो कुछ कह रहा हूँ, इसमें भी तो दयामय स्वामीकी ही प्रेरणा है। प्रभो! प्रभो! मैं दम्भ करता हूँ, मेरे मनमें अवश्य ही कोई दोषबुद्धि, कोई पापभावना रही होगी। मेरा मन सचमुच ही किसी छिपे अपराधसे भरा होगा, तभी तो मेरे कारण मेरे साथीको इतना उद्वेग हो रहा है। मैं ही तो उनके जीवनकी अशान्ति और व्यथाका कारण हूँ। मैं यह भी कैसे कह सकता हूँ कि मेरे मनमें धन-सम्मानकी कामना नहीं थी और मैं इसका केवल स्वामीकी सेवामें ही सदुपयोग कर रहा हूँ। प्रभो! अपना पाप मुझे दीख नहीं रहा है। यह मेरा और भी अपराध है। मेरे औढरदानी महादेव! मुझपर आपकी कितनी कृपा है। मैं क्या कहूँ? स्वामीकी कृपा और मेरी नालायकीमें मानो होड़ लग गयी है! अब जैसा स्वामी उचित समझें, वैसा ही हो। परंतु मेरा मन बार-बार इस दुःखसे रो रहा है कि कैसे दयालीरामजीकी अशान्ति मिटे.........।'

हृदयकी सच्ची प्रार्थना निश्चय ही सफल होती है। फिर भगवान् शङ्कर तो आशुतोष ठहरे। प्रार्थना करते-करते ही रामनारायणजी समाधिस्थ हो गये। उन्होंने देखा—भगवान् वृषभवाहन सामने उपस्थित हैं। बड़ी ही उज्ज्वल कर्पूरधवल कान्ति है, सिरपर पिङ्गल जटाजूट है। गलेमें वासुकि शोभा पा रहे हैं। एक हाथमें त्रिशूल, दूसरेमें डमरू, तीसरेमें रुद्राक्षकी माला है और चौथे हाथसे अभयदान दे रहे हैं। कटिमें रीछकी छाल पहने हैं। विशाल नेत्रोंसे मानो कृपासुधाकी वर्षा हो रही है। होठोंपर मुसकान है। देवदेव श्रीशङ्करजीके दर्शन पाकर लाला श्रीरामनारायणजी कृतार्थ हो गये। उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बहने लगे, शरीर रोमाञ्चित हो गया, आनन्दातिरेकसे वाणी बंद हो गयी। भगवान्ने उनके मस्तकपर अभयहस्तारविन्द रखा और कहा—'रामनारायण! तेरी श्रद्धा, भक्ति और निष्काम सेवाने मुझको अपने वशमें कर लिया है। यह दयालीराम पूर्वजन्ममें पिशाच था, इसके पहले जन्ममें वह दक्षिणापथमें ब्राह्मण था और तू वहींपर एक व्यापारी था। तेरी बुद्धि उस समय भी श्रेष्ठ थी। वह ब्राह्मण होनेपर भी कुसङ्गमें पड़कर मद्य-मांसका सेवन करता था और डाके डालकर धन कमाया करता था। उसमें बड़ी क्रूरता आ गयी थी। एक दिन उसने तेरे घरमें डाका डाला। तैंने उसके साथ उस समय भी बड़ा सद्व्यवहार किया और मनमाँगा धन देनेके बाद उसे मेरी भक्ति और **'नमः शिवाय'** मन्त्र-जाप करनेका उपदेश दिया। तेरे सद्व्यवहारका उसपर बड़ा प्रभाव पड़ा और वह मेरी पूजा करने लगा। एक बार रामेश्वरमें जाकर उसने मुझपर जल और बिल्वपत्र चढ़ाये थे। अपने पापोंके कारण वह दूसरी योनिमें पिशाच हुआ, परंतु तेरे संग तथा मेरी पूजाके फलस्वरूप वह योनि दस ही वर्षोंमें छूट गयी और उसने पुनः क्षत्रिय-कुलमें जन्म धारण किया। पिछले मानवशरीरमें उसका जीवन द्वेष, हिंसा, क्रोध और वैरकी भावनाओंका घर बना हुआ था। निरीहोंको सताना और भला करनेवालोंका भी बुरा करना उसका स्वभाव बन गया था। उन्हीं संस्कारोंके कारण उसने इस जन्ममें भी तुझसे वैर-विरोध किया। परंतु तेरा हृदय सर्वथा निर्वैर तथा पवित्र प्रेमसे परिपूर्ण होनेके कारण उसके वैरने तुझपर तो कोई असर किया ही नहीं, प्रत्युत

तेरे प्रेमसे उसका हृदय क्रमशः पवित्र होता गया है। आज तो तेरी प्रार्थनासे वह सर्वथा पवित्र हो गया है। तुझे धन्य है, जो अपनी सद्भावनासे तू असतोंको सत् बना रहा है। मैं तुझपर बहुत ही प्रसन्न हूँ! मैं जानता हूँ तेरी धन-सम्मानमें जरा भी आसक्ति नहीं है। इसीसे तो उनके द्वारा मेरी आदर्श सेवा हो रही है। आसक्तिमान् पुरुषके धनसे मेरी (भगवान्‌की) सेवा नहीं बन सकती। तू सुख-शान्तिपूर्वक यहाँका कर्तव्य पूरा करके मेरे दिव्यलोकमें जायगा। निश्चिन्त रहकर मेरा भजन करता रह।'

भगवान् श्रीशङ्करजी इतना कहकर ज्यों ही अन्तर्धान हुए, त्यों ही लाला रामनारायणजीकी समाधि टूटी। उन्होंने देखा—दयालीराम चरणोंमें पड़े रो रहे हैं। रामनारायणजीने उनको भगवान् शङ्करका कृपापात्र समझकर उठा लिया। दयालीराम चरण छोड़ना नहीं चाहते थे। बार-बार अपनी करतूतोंका वर्णन करते हुए कातर कण्ठसे रो-रोकर क्षमा माँग रहे थे। उनको सच्चा पश्चात्ताप था। भगवान् शङ्करजीकी कृपा, रामनारायणजीके सद्भाव और सच्चे पश्चात्तापकी आगने उनके समस्त पाप और पापबीजोंको जला दिया। श्रीरामनारायणजीने उठाकर उन्हें हृदयसे लगा लिया और बहुत तरहसे सान्त्वना देकर तथा श्रीशङ्करजीकी भक्तिका उपदेश देकर विदा किया।

श्रीदयालीरामके मनमें पूर्वजन्मकी स्मृति आ गयी। वे '**नमः शिवाय**' मन्त्रका जाप तथा भक्तिपूर्वक श्रीशङ्करजीकी उपासनामें लग गये। रामनारायणजीके साथ उनका प्रेम अटूट हो गया। दोनों साथी भगवान् श्रीविश्वनाथजीकी सेवामें जीवन समर्पण करके कृतकृत्य हो गये।

भक्त श्रीशिरधर बाबा

(लेखक—श्रीहरिकान्तप्रसादसिंहजी)

भक्त श्रीशिरधर बाबा ऐसे ही महापुरुषोंमें एक हैं, जिनका जन्म हिंदूधर्म, संस्कृति और स्वतन्त्रताकी रक्षाके लिये ही हुआ था। इनका जन्म बिहार प्रदेशके मुंगेर-मण्डलान्तर्गत बड़हिया ग्राममें आजसे करीब ६०० वर्ष पूर्व हुआ था। उनकी जीवनसम्बन्धी विशेष गाथाओंका कोई उल्लेख नहीं है; परंतु इनके जन्मसे एक महापुरुषका आविर्भाव हुआ था, यह सारे प्रान्तको मान्य है। ये जलेवार ब्राह्मण परिवारके कुलदीपक थे। ये स्वभावसे ही सहृदय और भक्त पुरुष थे। ये भगवती त्रिपुरसुन्दरीकी आराधनामें तन्मय रहते थे और अपने ग्राममें अपनी आराध्य देवीकी प्रतिमा स्थापित करनेकी इन्हें प्रबल इच्छा थी। स्वप्नावस्थामें इन्हें ऐसा ज्ञात हुआ कि जगदम्बा कह रही हैं—'मैं ज्वलित शिखा-सी खप्परमें गङ्गाके प्रवाहमें तुम्हारे ग्रामकी ओर आ रही हूँ। तुम गाँवके निकटवर्ती घाटपर मेरी प्रतीक्षा करो और प्रज्वलित प्रचण्ड शिखाको मुझे मानकर गङ्गाके तटस्थ भूमिपर यन्त्र लिखकर मेरी स्थापना करो।' आज्ञा शिरोधार्य करते हुए श्रीशिरधर बाबाके हर्ष-विस्मयका ठिकाना नहीं रहा और तत्काल ही समीपवर्त्ती गङ्गाके तटपर जाकर आराध्य देवीकी प्रतीक्षा करने लगे। दूसरे दिन प्रातःकाल श्रीभगवती त्रिपुरसुन्दरी ज्वलित शिखाके रूपमें प्रवाहित होती सन्निकट दीख पड़ीं। भक्तप्रवरको अमूल्य निधि मिली। जिन्हें जलसे लाकर यथोपचार विधिसे मृत्तिकापिण्डमें स्थापित किया। आज वे ज्योतिःस्वरूपा जगज्जननी मृत्तिकापिण्डमें जगदम्बाका नाम सार्थक कर रही हैं। आज सुदूर प्रान्तोंसे भक्तजन आकर अपनी सेवाकी भेंट अर्पितकर मनोवाञ्छित फल प्राप्त करके कृतकृत्य हो रहे हैं। इसी समयमें इस प्रदेशमें धर्मविप्लव हो रहा था। यवनोंका आक्रमण निरीह हिंदूजनतापर यवनधर्मके प्रसारके हेतु चल रहा था। आतङ्कग्रस्त बहुत-से हिंदुओंको विजातीयधर्म ग्रहण करना पड़ा। उन आततायियोंमें एक यवन सरदार कामदारखाँ नामक भी था, जो बलात् धर्मपरिवर्तन करानेकी चेष्टामें सदलबल इस ओर बढ़ आया था। यहाँकी जनता कठिन संकटमें पड़ी थी। उनके सामने यही समस्या थी कि यवनधर्म स्वीकार करें अथवा तलवार उठायें। श्रीजगदम्बाकी आराधना और बाबा श्रीशिरधरदेवकी अनुकम्पा ही एकमात्र सहारा था। भक्तप्रवर श्रीशिरधर बाबाकी प्रेरणासे दिघवेवंशीय भूमिहार ब्राह्मणोंने स्वधर्मरक्षार्थ तलवार श्रीजगज्जननीके शरणमें रखते हुए अभयदानकी याचना की। धर्मयुद्धमें विजयकी

भक्त प्रह्लाद गुरुपुत्रोंको जीवित कर देनेके लिये प्रार्थना कर रहे हैं।

भगवान् शंकर
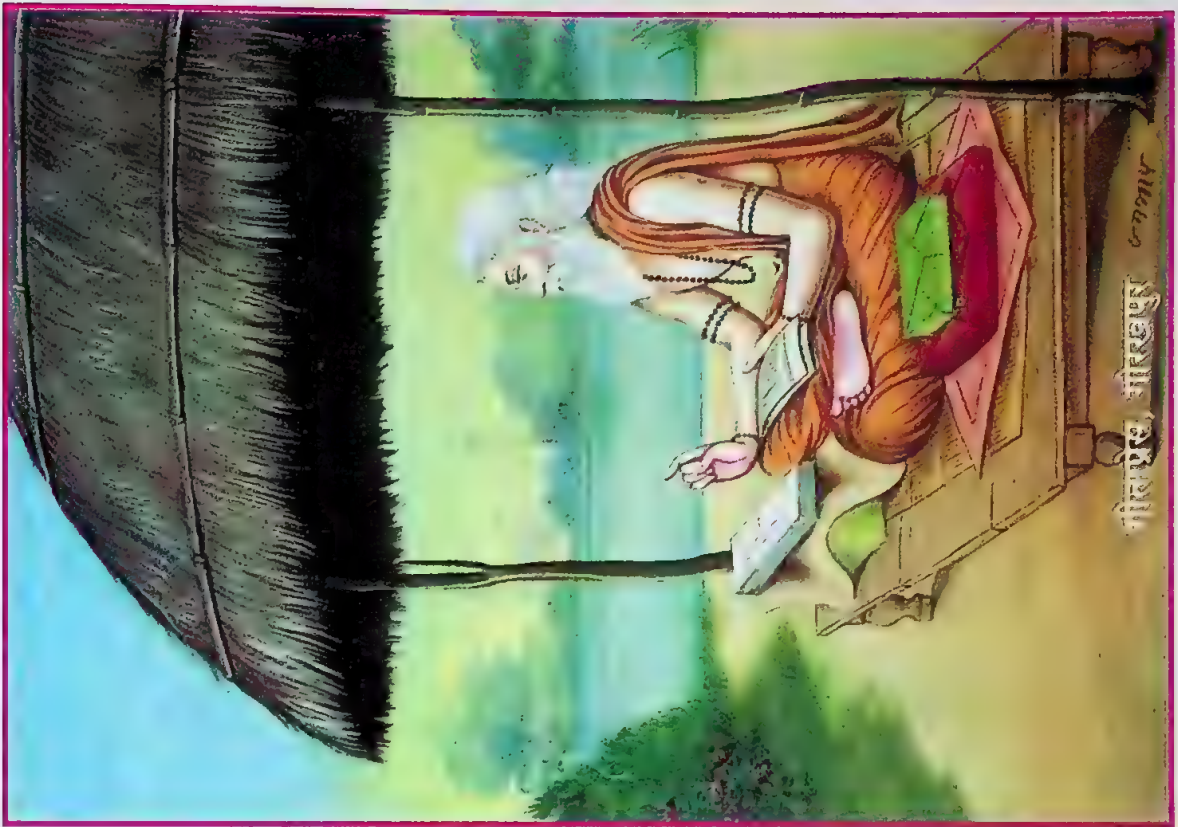
देवर्षि नारदजी

महर्षि व्यासदेव
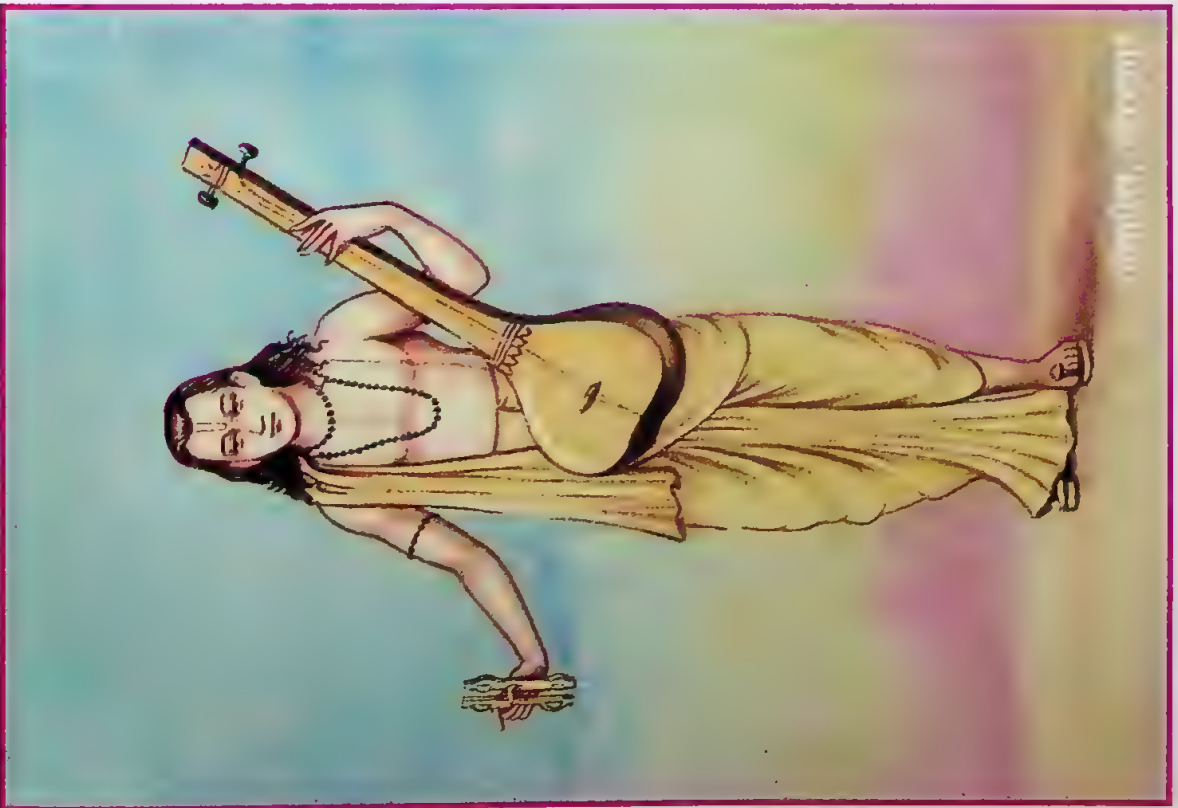
श्रीरामानुजाचार्य
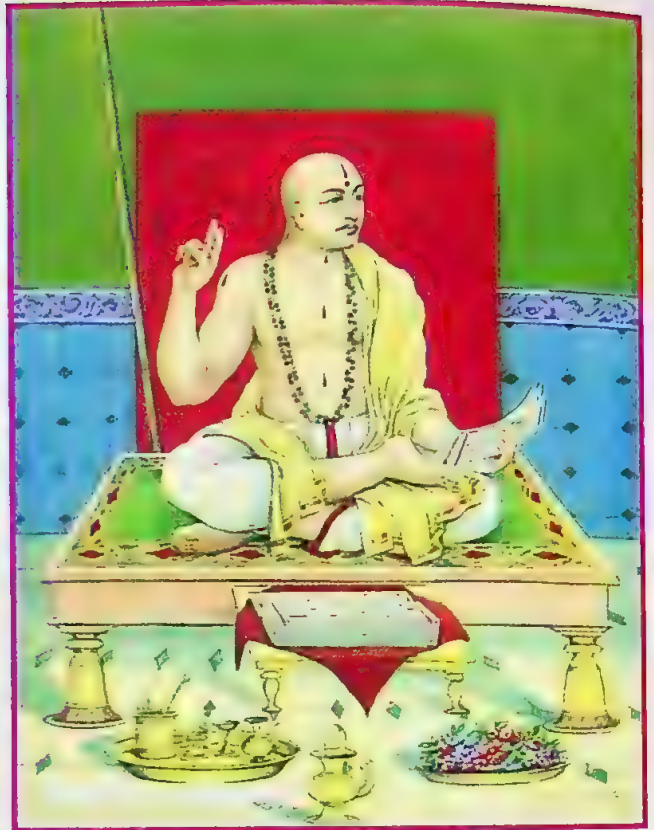
श्रीमध्वाचार्य

श्रीवल्लभाचार्य

श्रीरामानन्दाचार्य

श्रीनिम्बार्काचार्य
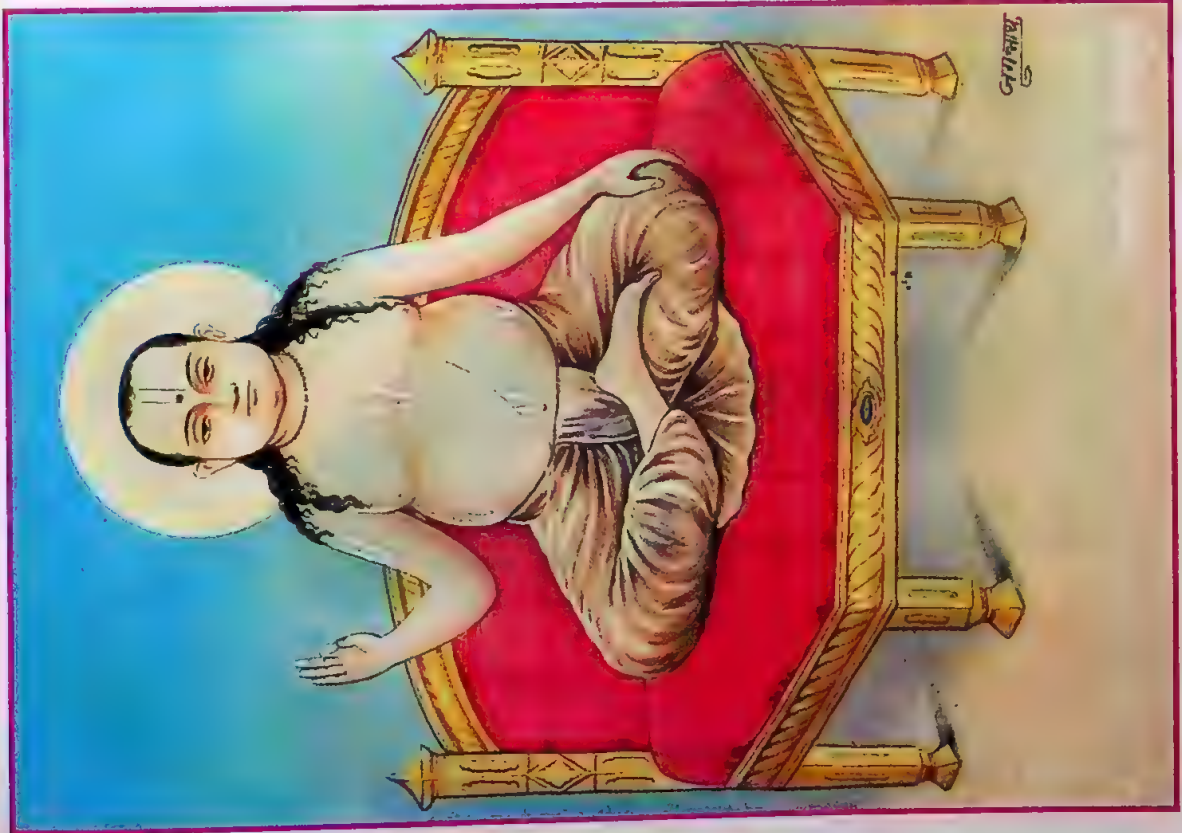
श्रीश्रीचैतन्य

ध्रुवपर अनुग्रह

महाप्रयाणके समय भीष्मपर भगवान्की कृपा

मेरे तो गिरधर गोपाल दुसरो न कोई।

संकेत-सूचना देती हुई तलवार पृथ्वी छोड़कर ऊपर उठ गयी और शरणार्थियोंके प्राण पलट आये। यहाँसे छः मील पश्चिम पुण्यसलिला हरुहड़नदीके तटपर आक्रमणकारियोंसे लोहा लिया गया। इस स्थानपर स्थापित श्रीपरमेश्वरीकी शिल्पमूर्ति हमें आज भी उस अतीतकी याद दिला रही है। युद्धमें आततायियोंको हार खानी पड़ी और सारे शत्रु तलवारके घाट उतारे गये। सरदार कामदारखाँ भी मारे गये और हिंदूधर्म-ध्वज वीरताका द्योतक हुआ।

यह प्रान्त जो आज बिहारप्रदेशकी घनी-से-घनी आबादी कही जाती है, पहले जंगली झाड़ियोंसे घिरा था। यहाँकी झाड़ियोंमें सर्प बहुतायतसे पाये जाते थे और नित्यश: जनताके प्राणनाशके कारण बन रहे थे। श्रीजगदम्बाके प्रसादसे पूज्यपाद शिरधर बाबाने यह वर पाया कि 'दिघवे-वंशीय ब्राह्मण जिस साँप काटे प्राणीको श्रीजगदम्बाके नामपर जल पिला देंगे, वह विषदोषसे मुक्त हो जायगा।' आज लगातार ६०० वर्षोंसे यह वरदान प्रमाणित हो रहा है। असंख्य प्राणियोंकी जान बची है और इस प्रान्तका एक भी मनुष्य सर्पविषसे कालकवलित नहीं हुआ है। सर्प काटनेपर यहाँ औषधोपचार अथवा अन्य तन्त्र-मन्त्रका उपचार नहीं किया जाता। परंतु एक भी प्राणनाशका प्रमाण खोजे नहीं मिल सकता।

वृद्धावस्थामें पूज्यवर शिरधर बाबाने जगदम्बा-मृत्पिण्डके सन्निकट ही समाधि ली। और आज भी उनके आशीर्वादसे यहाँके ग्रामीणोंने सर्वसम्पन्न रहकर प्रतिवर्ष तीन-चार बार शतचण्डी और एक बार सहस्रचण्डी यज्ञ कराये हैं।

रामभक्त कम्बर्

भगवान् श्रीरामका कथामृत-रसास्वादन सर्वथा वैदिक होते हुए भी इतनी सीमातक लोकगत हो चला है कि जीवका भक्तरूप श्रीरामका गुण गाये बिना शान्तिकी वास्तविक अनुभूति ही नहीं कर सकता। गङ्गा, यमुना, नर्मदा, माही और कृष्णा, कावेरी तथा गोदावरीके पवित्र तटके मानवोंने समय-समयपर भगवान् श्रीरामके पवित्र चरित्रका जो बखान किया है, वह भारतीय संस्कृतिकी अविच्छिन्नता अथवा एकताका साहित्यिक और ऐतिहासिक प्रतीक है।

महाकवि कम्बर् श्रीरामके यशोगायक थे। जिस समय दसवीं और ग्यारहवीं सदीके दक्षिण भारतमें धार्मिक पुनरुत्थान हो रहा था, उनकी काव्य-भारतीने धर्म-विग्रह मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामके ऐश्वर्यको अपनाया था।

कम्बर् नवीं सदीके परम रामभक्त और यशस्वी कवि थे। चोळराज्यके तिरुवळुन्दूर नगरमें उनका जन्म हुआ था। उनके पिताका नाम आदवन् था। वे राजपुरोहित थे। बचपनसे ही कम्बर्में श्रीरामके प्रति दृढ़ अनुराग था, अडिग भक्ति भी। प्रसिद्ध वैष्णव कवि और संत नम्माळवार उनके गुरु थे। कम्बर्ने गुरुकी कृपा और भगवान्की भक्तिसे काव्य-स्फूर्ति पाकर प्रसिद्ध काम्बरामायणकी रचना की। ठीक पाँच सालके बाद सन् ८८५ ई०में फाल्गुन पूर्णिमाको श्रीरङ्गन्की साहित्य-सभाने काम्बरामायणको मान्यता प्रदान की। उसने रामभक्त कम्बर्को कविचक्रवर्तीकी उपाधिसे समलङ्कृत किया। चोळ और चेरसम्राट् उनका बड़ा सम्मान करते थे और सदा श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते थे।

राम-यश-कीर्तनकी प्रतिभा बड़े भाग्यसे मिलती है। उन्होंने काम्बरामायणमें आदिसे अन्ततक रावणके विनाशको ही पवित्र उद्देश्य रखा है। कम्बर्ने श्रीरामके द्वारा रावणके अन्तका स्मरण काव्यके प्रत्येक महत्त्वपूर्ण स्थलपर कराया है। कम्बर्ने घटनावर्णनमें वाल्मीकिका ही अनुसरण किया है, पर कहीं-कहीं भक्तहृदयकी विलक्षण अनुभूति, अपनी विचित्र काव्यशैली और प्रतिभाके कारण अत्यन्त मौलिक हो गये हैं। चरित्र-चित्रणमें उन्होंने दैवीसम्पत्तिकी सराहना और आसुरी-सम्पत्तिकी निन्दा की है। कम्बर्ने दया, प्रेम और अहिंसाके वशीभूत होकर अपनी रामायणमें कहीं शास्त्र-नियमका उल्लङ्घन नहीं होने दिया है। कम्बर् परम रामभक्त, यशस्वी कवि और महान् भगवदीय थे।

पहलवान भक्त धनुर्दास

सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परस कुधात सुहाई॥

मद्रास प्रान्तमें त्रिचनापल्लीके पास एक स्थान है उरयूर। इसका पुराना नाम निचुलापुरी है, यह श्रीवैष्णवोंका एक पवित्र तीर्थ है। आजसे लगभग एक हजार वर्ष पूर्व यहाँ एक धनुर्दास नामका पहलवान रहता था। अपने बल तथा अद्भुत आचरणके लिये धनुर्दास प्रख्यात था। हेमाम्बा नामक एक अत्यन्त सुन्दरी वेश्याके रूपपर मोहित होकर उसे अपनी प्रेयसी बनाकर धनुर्दासने घरमें रख लिया था। उस वेश्याके रूपपर वह इतना मोहित था कि जहाँ जाता, वहाँ उसे साथ ले जाता। रास्तेमें स्त्रीके आगे-आगे उसे देखते हुए पीठकी ओर उलटे चलता। कहीं बैठता तो उस स्त्रीको सामने बैठाकर बैठता। उसका व्यवहार सबके लिये कौतूहलजनक था; परंतु वह निर्लज्ज होकर स्त्रीको देखना कहीं भी छोड़ता नहीं था।

दक्षिण भारतका सर्वश्रेष्ठ तीर्थ है—श्रीरंगक्षेत्र। त्रिचनापल्लीसे यह श्रीरंगम् पास ही है। वर्षमें कई बार यहाँ महोत्सव होता है। दूर-दूरसे लाखों यात्री आते हैं। एक बार श्रीरंगनाथका वासन्ती महोत्सव (चैत्रोत्सव) चल रहा था। धनुर्दासजीकी प्रेयसीने उत्सव देखना चाहा। धनुर्दास उसे लेकर नौकर-चाकरोंके साथ निचुलापुरीसे श्रीरंगम् आ गया। गरमीके दिन, नौ-दस बजेकी कड़ी धूप, मार्गमें खचाखच भीड़। जब कि भीड़के मारे शरीरको सम्हालनातक कठिन था, उस समय वहाँ भी धनुर्दास एक हाथमें छाता लेकर अपनी प्रेयसीको छाया किये हुए था और स्वयं धूपमें, पसीनेसे लथपथ उस स्त्रीकी ओर मुख करके पीठकी ओर पीछे चल रहा था। उसे मार्गके नीचे-ऊँचेकी सुधि नहीं थी। अपने शरीरका ध्यानतक नहीं था।

उन दिनों श्रीरामानुजस्वामी श्रीरंगम्में ही थे। दूसरोंके लिये तो धनुर्दासका यह कृत्य पुराना था, नवीन यात्री ही उसे कुतूहलसे देख रहे थे; पर श्रीरामानुजस्वामीके लिये पुरुषका यह व्यवहार बहुत ही अद्भुत लगा। अपने शिष्यसे उन्होंने पूछा कि 'वह निर्लज्ज कौन है?' परिचय पाकर शिष्यको कहा—'उससे जाकर कहो कि तीसरे पहर मठपर आकर वह मुझसे मिले।'

धनुर्दासने उस शिष्यसे आदेश सुना तो सन्न हो गया; वह समझ गया—'आचार्यस्वामी अवश्य मेरी निर्लज्जतापर बिगड़े होंगे। बिगड़नेकी तो बात ही है। सब लोग जहाँ श्रद्धा-भक्तिसे भगवान्के दर्शन करने आये हैं, वहाँ भी मैं एक स्त्रीके सौन्दर्यपर मुग्ध हूँ। मठपर जानेपर मुझे झिड़की सुननी पड़ेगी। पता नहीं, आचार्यस्वामी क्या आदेश देंगे। कितना डाँटेंगे। न जाऊँ, यह भी ठीक नहीं। इससे तो उनका अपमान होगा।' अन्तमें उसने मठपर जाना स्वीकार कर लिया।

श्रीरामानुजस्वामीने भगवान् श्रीरंगनाथसे मन्दिरमें जाकर उसी समय प्रार्थना की—'मेरे दयामय स्वामी! एक विमुख जीवको अपने सौन्दर्यसे आकर्षित करके श्रीचरणोंमें स्वीकार करो।'

भोजन करके धनुर्दास मठपर पहुँच गया। समाचार पाकर श्रीरामानुजस्वामीने उसे मठमें भीतर बुला लिया और उसके अद्भुत व्यवहारका कारण पूछा। बड़ी नम्रतासे, हाथ जोड़कर धनुर्दासने बताया—'स्वामी! मैं उस स्त्रीके सौन्दर्यपर पागल हो गया हूँ। उसे देखे बिना मुझसे रहा नहीं जाता! कामवासना तो मुझमें कुछ ऐसी प्रबल नहीं है; पर उसका रूप मुझसे छोड़ा नहीं जाता। मैं उसे न देखूँ तो बेचैन हो जाता हूँ। महाराज! आप जो आज्ञा करें, मैं वही करूँगा; पर उसका साथ न छुड़ायें।'

श्रीरामानुजस्वामीने कहा—'यदि हम उससे बहुत अधिक सुन्दर मुख तुम्हें दिखलायें तो?'

धनुर्दासने कहा—'महाराज! उससे सुन्दर मुख देखनेको मिले तो मैं उसे एकदम परित्याग कर सकता हूँ।'

श्रीस्वामीने कहा—'ऐसा नहीं! उसका परित्याग तुम मत करो। वह वेश्या थी, तुम्हारे पास आकर अब तुम्हारी स्त्री हो गयी। तुम छोड़ दोगे तो फिर वेश्या हो जायगी। ऐसा तो नहीं होना चाहिये। वह अब सुधर गयी है। उसे तुम अपनी पत्नी बनाकर अपने यहाँ रहने दो। तुम जो उसके रूपपर इतने मुग्ध हो, बस, यह ठीक

श्रीभट्टजीको श्रीराधाकृष्णके दर्शन [पृ० ४०८]

भक्त श्रीव्यासदासजी [पृ० ४११]

भक्त रसिकमुरारी हाथीको दीक्षा दे रहे हैं [पृ० ४१४]
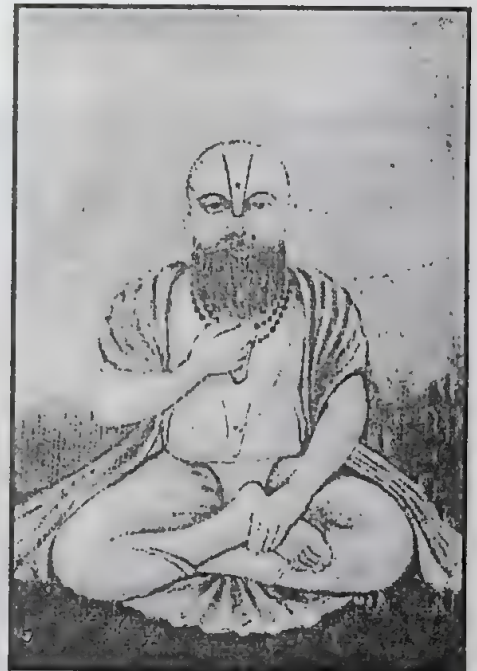
श्रीपरशुरामदेवजी [पृ० ४२०]
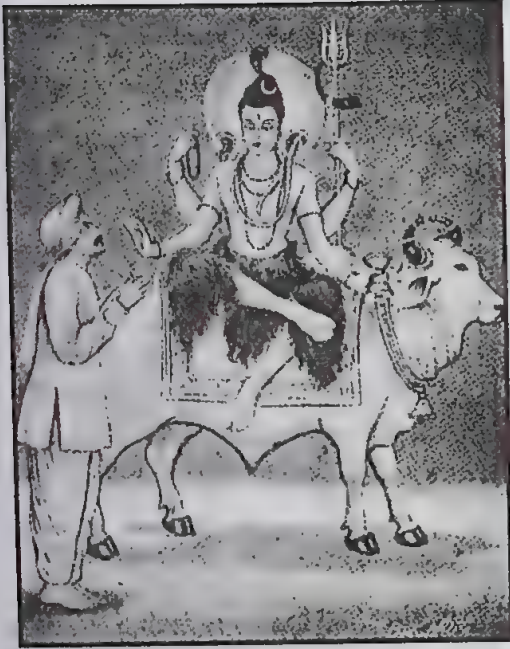
भक्त रामनारायण [पृ० ४३२]

भक्त श्रीशिरधर बाबा [पृ० ४३४]
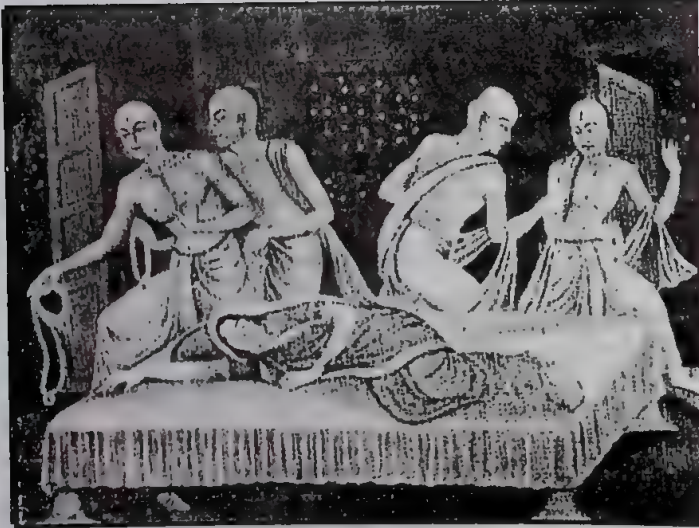
भक्त धनुर्दासकी पत्नी हेमाम्बा [पृ० ४३६]

भक्त दामाजी पंत [पृ० ४४४]

नहीं। तुम्हें यह स्वीकार हो तो सन्ध्याके समय जब श्रीरंगनाथकी आरती होती है, उस समय तुम मन्दिरमें आकर मुझसे मिलना। अकेले ही आना।'

धनुर्दास आज्ञा पाकर विदा हुआ। उसे बड़ा आश्चर्य हो रहा था। आचार्यस्वामीने उस-जैसे नीच जातिके पुरुषको मठमें भीतर बुलाया, पुत्रकी भाँति स्नेहसे पास बैठाया और बिना डाँटे-फटकारे विदा कर दिया। उसने तो आशा की थी कि उसे आचार्यस्वामी बहुत कुछ कहेंगे। वह भयसे थर-थर काँपता आया था कि कहीं मुझे शाप न दे दें। वह सब तो कुछ नहीं हुआ। घर आकर उसने स्त्रीसे सब बातें कह दीं। वह स्त्री भी नहीं चाहती थी कि धनुर्दास इस प्रकार उसपर लट्टू रहे, मार्गमें धनुर्दास उसके आगे-आगे पीछेकी ओर चले। यह व्यवहार उसे भी लज्जाजनक जान पड़ता था। वह अब सच्चे हृदयसे धनुर्दासकी पत्नी थी। वह उसका सुधार चाहती थी; किंतु इस भयसे कि धनुर्दास उसे छोड़ न दे, कुछ कहती नहीं थी। उसे प्रसन्नता हुई इस आशासे कि आचार्यस्वामी धनुर्दासको कदाचित् सुधार देंगे।

जब सन्ध्यासमय धनुर्दास श्रीरंगजीके मन्दिरमें गया तो उसे किसीने भीतर जानेसे रोका नहीं। आचार्यस्वामीने उसे ध्यानपूर्वक आरतीके समय भगवान्‌के दर्शन करनेको कहा। धनुर्दास तो आरतीके समय ही एकदम बदल गया। जिस सौन्दर्य-सुधा-सागरके एक सीकरसे स्वर्गका सारा सौन्दर्य निकला है, त्रिभुवनकी सुषमा जिसकी छायाके भी किसी अंशमें नहीं, उस सौन्दर्यसार-सर्वस्वकी आज धनुर्दासने एक झलक पायी और जब वह झाँकी अदृश्य हो गयी, वह पागलकी भाँति आचार्यस्वामीके चरणोंसे लिपट गया। उसने फूट-फूटकर रोते हुए कहा—'स्वामी! मुझे जो आज्ञा दो, मैं वही करूँगा। मुझे कहो तो मैं अपने हाथसे अपने देहको बोटी-बोटी काट दूँ; पर वह त्रिभुवनमोहन-मुख मुझे दिखाओ। ऐसी कृपा करो कि वह मुख मेरे नेत्रोंके सामने ही रहे।'

धनुर्दास आचार्यस्वामीके समझानेसे घर आया। अब स्त्री तो उसे बहुत ही कुरूप जान पड़ने लगी। वह आचार्यस्वामीकी आज्ञासे ही उसे पत्नी बनाये था। कुछ दिनों बाद वे दोनों श्रीरामानुजस्वामीके शिष्य हो गये। श्रीस्वामीजीने भी दोनोंको साम्प्रदायिक ज्ञानके विषयमें बहुज्ञ बना दिया। दोनोंका आचरण आदर्श हो गया। धनुर्दास आचार्यस्वामीका अत्यन्त विश्वस्त अनुचर हो गया।

श्रीरामानुजस्वामी वृद्धावस्थामें कावेरी स्नानको जाते समय तो किसी ब्राह्मणके कन्धेका सहारा लेकर जाते थे, पर स्नान करके लौटते थे धनुर्दासके कन्धेका सहारा लेकर। मठके ब्राह्मण-शिष्य इससे कुढ़ते थे। उनमेंसे एक दिन एकने कहा—'महाराज! आप स्नान करके धनुर्दासको क्यों छूते हैं? हमलोग तो आपकी सेवाको सदा प्रस्तुत हैं।'

श्रीस्वामीजीने कहा—'मैं अपने हृदयके अभिमानको दूर करनेके लिये ही ऐसा करता हूँ। धनुर्दासका आचरण यहाँके अनेक ब्राह्मणोंसे उत्तम है।'

आश्रमके लोग धनुर्दाससे डाह करते हैं, यह देखकर आचार्यने उस भक्तका माहात्म्य प्रकट करके सबका गर्व दूर कर देना चाहा। एक रात अपने एक विश्वस्त शिष्यको उन ब्राह्मण शिष्योंके कपड़ोंमेंसे एक-एक बित्ता कपड़ा फाड़कर चुपचाप ले आनेको उन्होंने कहा। सबेरे अपने कपड़े फटे देख वे लोग परस्पर झगड़ने लगे। श्रीस्वामीजीने उन्हें बुलाकर नये कपड़े दिये और इस प्रकार सन्तुष्ट किया। कपड़े किसने फाड़े, यह बात छिपी ही रही। कुछ दिनों बाद उन्हीं शिष्योंमेंसे कुछको बुलाकर स्वामीजीने कहा—'आज हम धनुर्दासको यहाँ अधिक राततक सत्सङ्गमें रोक रखेंगे। तुमलोग उसके घर जाकर हेमाम्बाके गहने चुरा लाना और लाकर हमें दे देना।' अँधेरा होनेपर वे लोग धनुर्दासके घर गये। किवाड़ खुले थे और हेमाम्बा पलँगपर लेटी हुई पतिके आनेकी प्रतीक्षा कर रही थी। श्रीवैष्णवोंको लुकते-छिपते दबे पैर घरमें घुसते देखकर वह समझ गयी कि ये लोग कुछ चोरी करने आये हैं। मनमें यह बात आते ही उसने नेत्र बंद कर लिये और झूठे खर्राटे लेने लगी। उसे इस प्रकार बेसुध सोते देख आये लोगोंने उनके शरीरपर एक ओरके गहने जो ऊपर थे, धीरे-धीरे उतार लिये। हेमाम्बाने सोचा कि ये लोग शरीरके दूसरी ओरके गहने भी ले लें तो अच्छा। उसने करवट बदली; किंतु आये लोगोंने समझा कि वह नींदसे

जगनेवाली है। वे लोग भाग गये। मठपर जब ये लोग पहुँच गये, तब श्रीरामानुजस्वामीने धनुर्दासको घर जानेकी आज्ञा दी। उसके जानेपर इन लोगोंसे कहा—'अब तुमलोग छिपकर फिर धनुर्दासके घर जाओ और देखो कि वे स्त्री-पुरुष क्या बातें करते हैं।' वे लोग फिर धनुर्दासके पीछे छिपे हुए उसके घर आये।

धनुर्दास घर पहुँचे। पत्नीसे सब बातें सुनकर वे बहुत ही दु:खित हो गये। उन्होंने स्त्रीसे कहा—'तुम्हारी धन-दौलतकी लालच अभी गयी नहीं। तुच्छ गहनोंके लोभमें तुमने उन श्रीवैष्णवोंको करवट बदलकर चौंका दिया। मैं तुम्हें अब अपने पास नहीं रखूँगा। वैष्णवोंकी भक्ति जिसमें नहीं, उससे मुझे क्या प्रयोजन है।'

बेचारी स्त्री रोते-रोते पतिके पैरोंपर गिर पड़ी। उसने कहा—'नाथ! मैंने तो करवट इसीलिये बदली थी कि शरीरके दूसरी ओरके गहने भी वे लोग ले लें; पर मेरे दुर्भाग्यसे वे भाग गये। मेरे अपराधको आप क्षमा कर दें। अब मैं बहुत अधिक सावधान रहूँगी।' किसी प्रकार धनुर्दासने उसको क्षमा किया।

वे ब्राह्मण शिष्य जब लौट आये, तब उनकी बातें सुनकर श्रीरामानुजाचार्यने उस दिनके वे फटे कपड़े निकालकर उन्हें दिखाते हुए कहा—'तुमलोग इतने-से कपड़ोंके लिये झगड़ते थे और धनुर्दासकी वैष्णवभक्ति तुमने देख ही ली। मैं इसीलिये उसका आदर करता हूँ, और स्नानके बाद उसका सहारा लेकर लौटता हूँ।' धनुर्दासको बुलाकर गहने लौटाते हुए उन्होंने कहा—'ये गहने मैंने कुछ विशेष कारणसे मँगवाये थे। तुम कुछ बुरा मत मानना।' धनुर्दास आचार्यस्वामीके चरणोंमें गिर पड़ा। उसने कहा—'प्रभो! मैं तो आपका दास हूँ। मेरा शरीर और जो कुछ है, वह सब आपका ही है। बुरा माननेकी क्या बात है इसमें।' हेमाम्बा भी ऐसे भगवद्भक्तका साथ पाकर तर गयी। आज भी धनुर्दासका नाम श्रीवैष्णव बड़े सम्मानसे लेते हैं।

भक्त बिल्वमङ्गल

दक्षिण प्रदेशमें कृष्णवीणा-नदीके तटपर एक ग्राममें रामदास नामक भगवद्भक्त ब्राह्मण निवास करते थे। उन्हींके पुत्रका नाम बिल्वमङ्गल था। पिताने यथासाध्य पुत्रको धर्मशास्त्रोंकी शिक्षा दी थी। बिल्वमङ्गल पिताकी शिक्षा तथा उनके भक्तिभावके प्रभावसे बाल्यकालमें ही अति शान्त, शिष्ट और श्रद्धावान् हो गया था। परंतु दैवयोगसे पिता-माताके देहावसान होनेपर जबसे घरकी सम्पत्तिपर उसका अधिकार हुआ, तभीसे उसके कुसङ्गी मित्र जुटने लगे।

सङ्गदोषसे बिल्वमङ्गलके अन्त:करणमें अनेक दोषोंने अपना घर कर लिया। एक दिन गाँवमें कहीं चिन्तामणि नामकी वेश्याका नाच था, शौकीनोंके दल-के-दल नाचमें जा रहे थे। बिल्वमङ्गल भी अपने मित्रोंके साथ वहाँ जा पहुँचा। वेश्याको देखते ही बिल्वमङ्गलका मन चञ्चल हो उठा, विवेकशून्य बुद्धिने सहारा दिया, बिल्वमङ्गल डूबा और उसने हाड़-मांसभरे चामके कल्पित रूपपर अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया—तन, मन, धन, कुल, मान, मर्यादा और धर्म सबको उत्सर्ग कर दिया! ब्राह्मणकुमारका पूरा पतन हुआ। सोते-जागते, उठते-बैठते और खाते-पीते सब समय बिल्वमङ्गलके चिन्तनकी वस्तु केवल एक 'चिन्ता' ही रह गयी।

बिल्वमङ्गलके पिताका श्राद्ध है, इसलिये आज वह नदीके उस पार चिन्तामणिके घर नहीं जा सकता। श्राद्धकी तैयारी हो रही है। विद्वान् कुलपुरोहित बिल्वमङ्गलसे श्राद्धके मन्त्रोंकी आवृत्ति करवा रहे हैं, परंतु उसका मन 'चिन्तामणि' की चिन्तामें निमग्न है। उसे कुछ भी अच्छा नहीं लगता। किसी प्रकार श्राद्ध समाप्तकर जैसे-तैसे ब्राह्मणोंको झटपट भोजन करवाकर बिल्वमङ्गल चिन्तामणिके घर जानेको तैयार हुआ। सन्ध्या हो चुकी थी, लोगोंने समझाया कि 'भाई! आज तुम्हारे पिताका श्राद्ध है, वेश्याके घर नहीं जाना चाहिये।' परंतु कौन सुनता था। उसका हृदय तो कभीका धर्म-कर्मसे शून्य हो चुका था। बिल्वमङ्गल दौड़कर नदीके किनारे पहुँचा। भगवान्‌की माया अपार है, अकस्मात् प्रबल वेगसे तूफान आया और

उसीके साथ मूसलधार वर्षा होने लगी। आकाशमें अन्धकार छा गया, बादलोंकी भयानक गर्जना और बिजलीकी कड़कड़ाहटसे जीवमात्र भयभीत हो गये। रात-दिन नदीमें रहनेवाले केवटोंने भी नावोंको किनारे बाँधकर वृक्षोंका आश्रय लिया, परंतु बिल्वमङ्गलपर इन सबका कोई असर नहीं पड़ा। उसने केवटोंसे उस पार ले चलनेको कहा, बार-बार विनती की, उतराईका भी गहरा लालच दिया; परंतु मृत्युका सामना करनेको कौन तैयार होता। सबने इन्कार कर दिया। ज्यों-ही-ज्यों विलम्ब होता था, त्यों-ही-त्यों बिल्वमङ्गलकी व्याकुलता बढ़ती जाती थी। अन्तमें वह अधीर हो उठा और कुछ भी आगा-पीछा न सोचकर तैरकर पार जानेके लिये सहसा नदीमें कूद पड़ा। भयानक दु:साहसका कर्म था, परंतु '**कामातुराणां न भयं न लज्जा।**' संयोगवश नदीमें एक मुर्दा बहा जा रहा था। बिल्वमङ्गल तो बेहोश था, उसने उसे काठ समझा और उसीके सहारे नदीके उस पार चला गया। उसे कपड़ोंकी सुध नहीं है, बिलकुल दिगम्बर हो गया है, चारों ओर अन्धकार छाया हुआ है, बनैले पशु भयानक शब्द कर रहे हैं, कहीं मनुष्यकी गन्ध भी नहीं आती, परंतु बिल्वमङ्गल उन्मत्तकी भाँति अपनी धुनमें चला जा रहा है। कुछ ही दूरपर चिन्तामणिका घर था। श्राद्धके कारण आज बिल्वमङ्गलके आनेकी बात नहीं थी, अतएव चिन्ता घरके सब दरवाजोंको बंद करके निश्चिन्त होकर सो चुकी थी। बिल्वमङ्गलने बाहरसे बहुत पुकारा; परंतु तूफानके कारण अंदर कुछ भी नहीं सुनायी पड़ा। बिल्वमङ्गलने इधर-उधर ताकते हुए बिजलीके प्रकाशमें दीवालपर एक रस्सा-सा लटकता देखा, तुरंत उसने उसे पकड़ा और उसीके सहारे दीवाल फाँदकर अंदर चला गया। चिन्ताको जगाया। वह तो इसे देखते ही स्तम्भित-सी रह गयी! नंगा बदन, सारा शरीर पानीसे भीगा हुआ, भयानक दुर्गन्ध आ रही है। उसने कहा—'तुम इस भयावनी रातमें नदी पार करके बंद घरमें कैसे आये?' बिल्वमङ्गलने काठपर चढ़कर नदी पार होने और रस्सेकी सहायतासे दीवालपर चढ़नेकी कथा सुनायी! वृष्टि थम चुकी थी। चिन्ता दीपक हाथमें लेकर बाहर आयी, देखती है तो दीवालपर भयानक काला नाग लटक रहा है और नदीके तीर सड़ा मुर्दा पड़ा है। बिल्वमङ्गलने भी देखा और देखते ही काँप उठा। चिन्ताने भर्त्सना करके कहा—'तू ब्राह्मण है? अरे, आज तेरे पिताका श्राद्ध था, परंतु एक हाड़-मांसकी पुतलीपर तू इतना आसक्त हो गया कि अपने सारे धर्म-कर्मको तिलाञ्जलि देकर इस डरावनी रातमें मुर्दे और साँपकी सहायतासे यहाँ दौड़ा आया! तू आज जिसे परम सुन्दर समझकर इस तरह पागल हो रहा है, उसका भी एक दिन तो वही परिणाम होनेवाला है, जो तेरी आँखोंके सामने इस सड़े मुर्देका है! धिक्कार है तेरी इस नीच वृत्तिको! अरे! यदि तू इसी प्रकार उस मनमोहन श्यामसुन्दरपर आसक्त होता—यदि उससे मिलनेके लिये यों छटपटाकर दौड़ता, तो अबतक उसको पाकर तू अवश्य ही कृतार्थ हो चुका होता!'

वेश्याकी वाणीने बड़ा काम किया! बिल्वमङ्गल चुप होकर सोचने लगा। बाल्यकालकी स्मृति उसके मनमें जाग उठी। पिताजीकी भक्ति और उनकी धर्मप्राणताके दृश्य उसकी आँखोंके सामने मूर्तिमान् होकर नाचने लगे। बिल्वमङ्गलकी हृदयतन्त्री नवीन सुरोंसे बज उठी, विवेककी अग्निका प्रादुर्भाव हुआ, भगवत्-प्रेमका समुद्र उमड़ा और उसकी आँखोंसे अश्रुओंकी अजस्र धारा बहने लगी। बिल्वमङ्गलने चिन्तामणिके चरण पकड़ लिये और कहा—'माता! तूने आज मुझको दिव्यदृष्टि देकर कृतार्थ कर दिया।' मन-ही-मन चिन्तामणिको गुरु मानकर प्रणाम किया और उसी क्षण जगच्चिन्तामणिकी चारु चिन्तामें निमग्न होकर उन्मत्तकी भाँति चिन्ताके घरसे निकल पड़ा। बिल्वमङ्गलके जीवन-नाटककी यवनिकाका परिवर्तन हो गया।

श्यामसुन्दरकी प्रेममयी मनोहर मूर्तिका दर्शन करनेके लिये बिल्वमङ्गल पागलकी तरह जगह-जगह भटकने लगा। कई दिनोंके बाद एक दिन अकस्मात् उसे रास्तेमें एक परम रूपवती युवती दीख पड़ी, पूर्व-संस्कार अभी सर्वथा नहीं मिटे थे। युवतीका सुन्दर रूप देखते ही नेत्र चञ्चल हो उठे और नेत्रोंके साथ ही मन भी खिंचा।

बिल्वमङ्गलको फिर मोह हुआ। भगवान्‌को भूलकर वह पुन: पतङ्ग बनकर विषयाग्निकी ओर दौड़ा। बिल्वमङ्गल

युवतीके पीछे-पीछे उसके मकानतक गया। युवती अपने घरके अंदर चली गयी, बिल्वमङ्गल उदास होकर घरके दरवाजेपर बैठ गया। घरके मालिकने बाहर आकर देखा कि एक मलिनमुख अतिथि ब्राह्मण बाहर बैठा है। उसने कारण पूछा। बिल्वमङ्गलने कपट छोड़कर सारी घटना सुना दी और कहा कि 'मैं एक बार फिर उस युवतीको प्राण भरकर देख लेना चाहता हूँ, तुम उसे यहाँ बुलवा दो।' युवती उसी गृहस्थकी धर्मपत्नी थी, गृहस्थने सोचा कि इसमें हानि ही क्या है; यदि उसके देखनेसे ही इसकी तृप्ति होती हो तो अच्छी बात है। अतिथिवत्सल गृहस्थ अपनी पत्नीको बुलानेके लिये अंदर गया। इधर बिल्वमङ्गलके मन-समुद्रमें तरह-तरहकी तरङ्गोंका तूफान उठने लगा।

जो एक बार अनन्यचित्तसे उन अशरण-शरणकी शरणमें चला जाता है, उसके योगक्षेमका* सारा भार वे अपने ऊपर उठा लेते हैं। आज बिल्वमङ्गलको सम्हालनेकी भी चिन्ता उन्हींको पड़ी। दीनवत्सल भगवान्ने अज्ञानान्ध बिल्वमङ्गलको दिव्यचक्षु प्रदान किये; उसको अपनी अवस्थाका यथार्थ ज्ञान हुआ, हृदय शोकसे भर गया और न मालूम क्या सोचकर उसने पासके बेलके पेड़से दो काँटे तोड़ लिये। इतनेमें ही गृहस्थकी धर्मपत्नी वहाँ आ पहुँची, बिल्वमङ्गलने उसे फिर देखा और मन-ही-मन अपनेको धिक्कार देकर कहने लगा कि 'अभागी आँखें! यदि तुम न होतीं तो आज मेरा इतना पतन क्यों होता?' इतना कहकर बिल्वमङ्गलने—चाहे यह उसकी कमजोरी हो या और कुछ—उस समय उन चञ्चल नेत्रोंको दण्ड देना ही उचित समझा और तत्काल उन दोनों काँटोंको दोनों आँखोंमें भोंक लिया! आँखोंसे रुधिरकी अजस्र धारा बहने लगी! बिल्वमङ्गल हँसता और नाचता हुआ तुमुल हरिध्वनिसे आकाशको गुँजाने लगा। गृहस्थको और उसकी पत्नीको बड़ा दुःख हुआ, परंतु वे बेचारे निरुपाय थे। बिल्वमङ्गलका बचा-खुचा चित्त-मल भी आज सारा नष्ट हो गया और अब तो वह उस अनाथके नाथको अतिशीघ्र पानेके लिये बड़ा ही व्याकुल हो उठा। उसके जीवन-नाटकका यह तीसरा पट-परिवर्तन हुआ!

परम प्रियतम श्रीकृष्णके वियोगकी दारुण व्यथासे उसकी फूटी आँखोंने चौबीसों घंटे आँसुओंकी झड़ी लगा दी। न भूखका पता है न प्यासका, न सोनेका ज्ञान है और न जगनेका। 'कृष्ण-कृष्ण' की पुकारसे दिशाओंको गुँजाता हुआ बिल्वमङ्गल जंगल-जंगल और गाँव-गाँवमें घूम रहा है! जिस दीनबन्धुके लिये जान-बूझकर आँखें फोड़ीं, जिस प्रियतमको पानेके लिये ऐश-आरामपर लात मारी, वह मिलनेमें इतना विलम्ब करे—यह भला, किसीसे कैसे सहन हो? पर 'जो सच्चे प्रेमी होते हैं, वे प्रेमास्पदके विरहमें जीवनभर रोया करते हैं, सहस्रों आपत्तियोंको सहन करते हैं, परंतु उसपर दोषारोपण कदापि नहीं करते; उनको अपने प्रेमास्पदमें कभी कोई दोष दीखता ही नहीं!' ऐसे प्रेमीके लिये प्रेमास्पदको भी चैन नहीं पड़ता। उसे दौड़कर आना ही पड़ता है। आज अन्धा बिल्वमङ्गल श्रीकृष्ण-प्रेममें मतवाला होकर जहाँ-तहाँ भटक रहा है। कहीं गिर पड़ता है, कहीं टकरा जाता है, अन्न-जलका तो कोई ठिकाना ही नहीं। ऐसी दशामें प्रेममय श्रीकृष्ण कैसे निश्चिन्त रह सकते हैं। एक छोटे-से गोप-बालकके वेषमें भगवान् बिल्वमङ्गलके पास आकर अपनी मुनि-मनमोहिनी मधुर वाणीसे बोले—'सूरदासजी! आपको बड़ी भूख लगी होगी, मैं कुछ मिठाई लाया हूँ, जल भी लाया हूँ; आप इसे ग्रहण कीजिये। 'बिल्वमङ्गलके प्राण तो बालकके उस मधुर स्वरसे ही मोहे जा चुके थे, उसके हाथका दुर्लभ प्रसाद पाकर तो उसका हृदय हर्षके हिलोरोंसे उछल उठा! बिल्वमङ्गलने बालकसे पूछा, 'भैया! तुम्हारा घर कहाँ है, तुम्हारा नाम क्या है? तुम क्या किया करते हो?'

बालकने कहा, 'मेरा घर पास ही है, मेरा कोई खास नाम नहीं; जो मुझे जिस नामसे पुकारता है, मैं उसीसे बोलता हूँ, गौएँ चराया करता हूँ। मुझसे जो प्रेम करते हैं, मैं भी उनसे प्रेम करता हूँ।' बिल्वमङ्गल बालककी वीणा-विनिन्दित वाणी सुनकर विमुग्ध हो गया! बालक जाते-जाते कह गया कि 'मैं रोज आकर आपको भोजन

---

* भगवत्-प्राप्तिका नाम 'योग' और उसके निमित्त किये हुए साधनोंकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है।

करवा जाया करूँगा।' बिल्वमङ्गल ने कहा, 'बड़ी अच्छी बात है; तुम रोज आया करो।' बालक चला गया और बिल्वमङ्गलका मन भी साथ लेता गया। 'मनचोर' तो उसका नाम ही ठहरा! अनेक प्रकारकी सामग्रियोंसे भोग लगाकर भी लोग जिनकी कृपाके लिये तरसा करते हैं, वही कृपासिन्धु रोज बिल्वमङ्गलको अपने करकमलोंसे भोजन करवाने आते हैं? धन्य है! भक्तके लिये भगवान् क्या-क्या नहीं करते।

बिल्वमङ्गल अबतक यह तो नहीं समझा कि मैंने जिसके लिये फकीरीका बाना लिया और आँखोंमें काँटे चुभाये, वह बालक वही है; परंतु उस गोप-बालकने उसके हृदयपर इतना अधिकार अवश्य जमा लिया कि उसको दूसरी बातका सुनना भी असह्य हो उठा। एक दिन बिल्वमङ्गल मन-ही-मन विचार करने लगा कि 'सारी आफतें छोड़कर यहाँतक आया, यहाँ यह नयी आफत आ गयी। स्त्रीके मोहसे छूटा तो इस बालकने मोहमें घेर लिया'। यों सोच ही रहा था कि वह रसिक बालक उसके पास आ बैठा और अपनी दीवाना बना देनेवाली वाणीसे बोला, 'बाबाजी! चुपचाप क्या सोचते हो? वृन्दावन चलोगे?' वृन्दावनका नाम सुनते ही बिल्वमङ्गलका हृदय हरा हो गया, परंतु अपनी असमर्थता प्रकट करता हुआ बोला—'भैया! मैं अन्धा वृन्दावन कैसे जाऊँ?' बालकने कहा—'यह लो मेरी लाठी, मैं इसे पकड़े-पकड़े तुम्हारे साथ चलता हूँ!' बिल्वमङ्गलका मुख खिल उठा, लाठी पकड़कर भगवान् भक्तके आगे-आगे चलने लगे। धन्य दयालुता! भक्तकी लाठी पकड़कर मार्ग दिखाते हैं। थोड़ी-सी दूर जाकर बालकने कहा, 'लो! वृन्दावन आ गया, अब मैं जाता हूँ।' बिल्वमङ्गलने बालकका हाथ पकड़ लिया, हाथका स्पर्श होते ही सारे शरीरमें बिजली-सी दौड़ गयी, सात्त्विक प्रकाशसे सारे द्वार प्रकाशित हो उठे, बिल्वमङ्गलने दिव्य दृष्टि पायी और उसने देखा कि बालकके रूपमें साक्षात् मेरे श्यामसुन्दर ही हैं। बिल्वमङ्गलका शरीर रोमाञ्चित हो गया, आँखोंसे प्रेमाश्रुओंकी अनवरत धारा बहने लगी, भगवान्का हाथ उसने और भी जोरसे पकड़ लिया और कहा—'अब पहचान लिया है, बहुत दिनोंके बाद पकड़ सका हूँ। प्रभु! अब नहीं छोड़नेका!' भगवान्ने कहा, 'छोड़ते हो कि नहीं?' बिल्वमङ्गलने कहा, 'नहीं, कभी नहीं, त्रिकालमें भी नहीं।'

भगवान्ने जोरसे झटका देकर हाथ छुड़ा लिया। भला, जिनके बलसे बलान्वित होकर मायाने सारे जगत्को पददलित कर रखा है, उसके बलके सामने बेचारा अन्धा क्या कर सकता था। परंतु उसने एक ऐसी रज्जुसे उनको बाँध लिया था कि जिससे छूटकर जाना उनके लिये बड़ी टेढ़ी खीर थी! हाथ छुड़ाते ही बिल्वमङ्गलने कहा—जाते हो? पर स्मरण रखो।

हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयाद् यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥

हाथ छुड़ाये जात हौ, निबल जानि कै मोहि।
हिरदै तें जब जाहुगे, सबल बदौंगो तोहि॥

भगवान् नहीं जा सके! जाते भी कैसे। प्रतिज्ञा कर चुके हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११)

'जो मुझको जैसे भजते हैं, मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ।'

भगवान्ने बिल्वमङ्गलकी आँखोंपर अपना कोमल करकमल फिराया, उसकी आँखें खुल गयीं। नेत्रोंसे प्रत्यक्ष भगवान्को देखकर—उनकी भुवनमोहिनी अनूप रूपराशिके दर्शन पाकर बिल्वमङ्गल अपने-आपेको सँभाल नहीं सका। वह चरणोंमें गिर पड़ा और प्रेमाश्रुओंसे प्रभुके पावन चरणकमलोंको धोने लगा!

भगवान्ने उठाकर उसे अपनी छातीसे लगा लिया। भक्त और भगवान्के मधुर मिलनसे समस्त जगत्में मधुरता छा गयी। देवता पुष्पवृष्टि करने लगे। संत—भक्तोंके दल नाचने लगे। हरिनामकी पवित्र ध्वनिसे आकाश परिपूर्ण हो गया। भक्त और भगवान् दोनों धन्य हुए। वेश्या चिन्तामणि, गृहस्थ और उनकी पत्नी भी वहाँ आ गयीं, भक्तके प्रभावसे भगवान्ने उन सबको अपना दिव्य दर्शन देकर कृतार्थ किया।

बिल्वमङ्गल जीवनभर भक्तिका प्रचार करके भगवान्की महिमा बढ़ाते रहे और अन्तमें गोलोकधाम पधारे।

महाकवि मुकुन्दराज

मुकुन्दराज बहुत बड़े राजयोगी, वेदान्ती और आत्मज्ञानी तथा भक्त थे। भक्ति-साहित्यका इतिहास सङ्केत करता है कि भारतीय भक्तकवि भक्ति और आत्मज्ञान दोनोंमें पूर्ण पारङ्गत होकर भगवान्‌के स्वरूपका विवेचन करता है। मुकुन्दराजके सम्बन्धमें यह उक्ति नितान्त सच है।

मुकुन्दराजका जन्म शाके १०५० में हुआ था। वे सम्भवत: भास्कराचार्यके समकालीन थे। बाल्यावस्थासे ही उनका मन वैराग्य और भगवत्प्रेमकी ओर आकृष्ट हो चुका था। उनके गुरु रघुनाथ थे। उनकी गुरुपरम्परामें आदिनाथ, हरिनाथ आदि बड़े-बड़े योगीश्वर हो चुके थे। मुकुन्दराज बहुत बड़े गुरुनिष्ठ थे, गुरुको साक्षात् परमात्माका स्वरूप मानकर उनके प्रति प्रगाढ़ प्रेमभाव रखते थे।

मुकुन्दराजके दो ग्रन्थ विवेकसिन्धु और परमामृतलोक मराठी वाङ्मयकी अमूल्य निधि हैं। दोनों ग्रन्थ सरस और प्रसादगुणोपेत हैं। जिन विषयोंका वर्णन विवेकसिन्धुमें पूर्णरूपसे हुआ है, उनकी संक्षिप्त जानकारी परमामृतलोकमें करायी गयी है। शुद्ध सच्चिदानन्द परब्रह्म घनानन्द मूर्ति भगवान्‌की रसमयी चरित्र-गाथासे दोनों ग्रन्थ परिपूर्ण हैं। सर्वत्र आत्मा और परमात्माके ऐक्यका गीत गाया गया है।

भगवान् श्रीहरिकी अनन्यभावसे उपासना करनेमें ही उनकी पूर्ण आस्था और दृढ़ निष्ठा थी। भगवान्‌को हृदयमें प्रतिष्ठितकर षोडशोपचार पूजाविधिसे उनका चिन्तन करते रहना चाहिये—यह उनका अचल भक्ति-सिद्धान्त था। वे कहा करते थे कि "जो सगुण ब्रह्मकी भक्ति और उपासना नहीं करता, वह मूढ़ है। श्रीराम, श्रीकृष्ण और देवी—सब ब्रह्म हैं। इस तरहकी उपासनासे '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' साधनाकी सिद्धि होती है।"

एक बार निवृत्तिनाथने ज्ञानेश्वरसे कहा था कि तुमने तो गीताको अपनी भाषाका रूप दिया; पर मुकुन्दराज धन्य हैं, जिन्होंने अपनी मतिके अनुसार विवेकसिन्धु ग्रन्थ लिख डाला। उन्होंने बल्लाल जयन्तपाल नरेशकी विशेष प्रार्थनापर आत्मसुखके ही लिये इस ग्रन्थकी रचना की थी।

मुकुन्दराजका देहावसान शाके ११२० में हुआ था। उनकी समाधि बैतुल जबलखेड़ामें है।
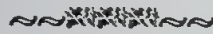
भक्त दामाजी पंत

महाराष्ट्रमें तेरहवीं शताब्दीमें भयंकर अकाल पड़ा था। आजतक उस अकालको लोग दुर्गादेवीके नामसे स्मरण करते हैं। अन्नके अभावसे हजारों मनुष्य तड़प-तड़पकर मर गये। वृक्षोंकी छाल और पत्तेतक नहीं बचे थे। कष्टकी कोई सीमा नहीं थी। जो लोग जीवित बचे थे, उनको भी देखकर भय लगे—ऐसे वे हो गये थे। देहमें रक्त-मांसका नामतक नहीं, जैसे सूखे कंकालपर चमड़ा चिपका दिया गया हो। भूखोंके आर्तनादसे रात-दिन दिशाएँ रोया करती थीं।

उन दिनों गोवल-कुण्डा बेदरशाही राज्यके अन्तर्गत मंगलबेड़्या प्रान्तका शासनभार श्रीदामाजी पंतके ऊपर था। दामाजी पंत और उनकी स्त्री दोनों ही भगवान्‌के अनन्य भक्त थे। पाण्डुरंगके चिन्तनमें उनका चित्त लगा रहता था। श्रीहरिका स्मरण करते हुए निष्कामभावसे कर्तव्य कर्म करना उनका व्रत था। दीन-दु:खियोंकी हर प्रकार वे सेवा-सहायता करते थे। शत्रुको भी कष्टमें पड़ा देखकर व्याकुल हो जानेवाले दामाजी पंत अपनी अकालपीड़ित प्रजाका करुण-क्रन्दन सहन न कर सके। अन्नके लिये तड़प-तड़पकर प्राण देनेवाले प्राणियोंका आर्त चीत्कार उनसे सुना नहीं गया। राज्य-भण्डारमें अन्न भरा पड़ा था। दयाके सम्मुख बादशाहका भय कैसा। अन्नभण्डारके ताले खोल दिये गये। भूखसे व्याकुल हजारों मनुष्य मरनेसे बच गये।

सब कहीं उदार, पुण्यात्मा पुरुषोंकी अकारण निन्दा करनेवाले होते हैं। दामाजीके सहायक नायब सूबेदारने देखा कि 'अवसर अच्छा है। यदि दामाजीको बादशाह

हटा दें तो मैं प्रधान सूबेदार बन सकूँगा।' उसने बादशाहको लिखकर सूचना भेजी—'दामाजी पंतने अपनी कीर्तिके लिये सरकारी अन्न-भण्डार लुच्चे-लफंगोंको लुटा दिया।'

नायब सूबेदारका पत्र पाते ही बादशाह क्रोधसे आग-बबूला हो गया। उसने सेनापतिको एक हजार सैनिकोंके साथ दामाजीको गिरफ्तार करके ले आनेकी आज्ञा दी। मुसलमान सेनापति जब मंगलबेड़्या पहुँचा, उस समय दामाजी श्रीपाण्डुरंगकी पूजामें लगे थे। सेनापति उन्हें जोर-जोरसे पुकारने लगा। दामाजीकी धर्मपत्नीने तेजस्विताके साथ कहा—'अधीर होनेकी आवश्यकता नहीं, वे पूजामें बैठे हैं। जबतक उनका नित्यकर्म पूरा न हो जाय, लाख प्रयत्न करनेपर भी तबतक मैं किसीको उनके पास नहीं जाने दूँगी।' सेनापति पतिव्रता नारीके तेजसे अभिभूत हो गया। उसका अभिमान लुप्त हो गया। वह प्रतीक्षा करने लगा।

दामाजीकी पूजा समाप्त होनेपर स्त्रीने उन्हें सेनापतिके आनेका समाचार दिया। दामाजी समझ गये कि अन्न लुटवा देनेका समाचार पाकर बादशाहने उन्हें गिरफ्तार करनेको सैनिक भेजे हैं। भयका लेशतक उनके चित्तमें नहीं था। पत्नीसे उन्होंने कहा—'चिन्ता करनेकी कोई बात नहीं है। हमने अपने कर्तव्यका पालन ही किया है। बादशाह कठोर-से-कठोर दण्ड दें, इसके लिये तो हम पहलेसे तैयार थे। भगवान् पाण्डुरंगका प्रत्येक विधान दयासे पूर्ण होता है। जीवके मंगलके लिये ही उनका विधान है। उनकी प्रसन्नता ही अभीष्ट है।

पत्नीको आश्वासन देकर वे बाहर आये। सेनापतिका अधिकार-गर्व दामाजीकी तेजपूर्ण, शान्त, सौम्य मुखाकृति देखते ही दूर हो गया। उसने नम्रतापूर्वक कहा—'बादशाहने आपको शीघ्र बुला लानेके लिये मुझे भेजा है।' दामाजीने सेनापतिसे कहा—'पत्नीको आश्वासन देकर मैं साथ चलता हूँ।'

दामाजीकी भगवद्भक्ता पतिव्रता स्त्रीने पतिकी गिरफ्तारीका समाचार सुना। वह बड़ी स्थिरतासे बोली—'नाथ! भगवान् पण्ढरीनाथ जो कुछ करते हैं, उसमें हमारा हित ही होता है। उन दयामयने आपको एकान्तसेवनका अवसर दिया है। अब आप केवल उनका ही चिन्तन करेंगे। मुझे तो इतना ही दुःख है कि यह दासी स्वामीकी चरणसेवासे वञ्चित रहेगी।' पत्नीसे विदा लेकर वे बाहर आ गये। सेनापतिने उनके हाथोंमें हथकड़ी डाल दी। उनको बंदी करके वे ले चले।

दामाजीको न तो बंदी होनेका दुःख है और न पदच्युत होनेकी चिन्ता। वे तो पाण्डुरंग विट्ठलकी धुनमें तन्मय हैं। कीर्तन करते चले जा रहे हैं। गोवल-कुण्डाके मार्गमें ही पण्ढरपुर पड़ता था। दामाजीकी इच्छा भगवान्का दर्शन करनेकी हुई, सेनापतिने स्वीकृति दे दी। मन्दिरमें प्रवेश करते ही दामाजीका शरीर रोमाञ्चित हो गया। नेत्रोंसे टपाटप बूँदें गिरने लगीं। शरीरकी सुधि जाती रही। कुछ देरमें अपनेको सम्हालकर वे भावमग्न होकर भगवान्की स्तुति करने लगे।

विलम्ब हो जानेसे सेनापति उन्हें पुकार रहा था। दामाजी भगवान्को साष्टाङ्ग प्रणाम करके उनकी मोहिनी मूर्ति हृदयमें धारण किये बाहर आ गये। उन्हें लेकर सेनापति आगे चल पड़ा।

उधर बेदरका बादशाह कैदी सूबेदारकी प्रतीक्षा कर रहा था। देर होनेसे उसका क्रोध बढ़ रहा था। इतनेमें एक काले रंगका किशोर अवस्थाका ग्रामीण पुरुष हाथमें छोटी-सी लकड़ी लिये, कन्धेपर काली कम्बल डाले निर्भयतापूर्वक दरबारमें चला आया। उसने जोहार करके कहा—'बादशाह सलामत! यह चाकर मंगलबेड़्यासे अपने स्वामी दामाजी पंतके पाससे आ रहा है।'

दामाजीका नाम सुनते ही बादशाहने उत्तेजित होकर पूछा—'क्या नाम है तेरा?' उत्तर मिला—'मेरा नाम तो बिट्ठू है, सरकार! दामाजीके अन्नसे पला मैं चमार हूँ। यह अद्भुत सुन्दर रूप, यह हृदयको स्पर्श करती मधुर वाणी—बादशाह एकटक देख रहा था उस बिट्ठूको। बादशाहका क्रोध कबका दूर हो गया था। उन्होंने पूछा—'यहाँ क्यों आये हो?'

उस ग्रामीणने कहा—'सरकार! अपराध क्षमा हो। अकालमें आपकी प्यारी प्रजा भूखों मर रही थी। मेरे स्वामीने आपके कोठारका गल्ला उसकी प्राण-रक्षाके लिये बाँट दिया। मैं उस गल्लेका मूल्य देने आया हूँ। आप

कृपा करके पूरा मूल्य खजानेमें जमा करा लें और मुझे रसीद दिलवानेकी दया करें।'

बादशाह तो ठक्-से हो गया। अब वह मन-ही-मन बड़ा लज्जित हुआ। पश्चात्ताप करने लगा—'मैंने दामाजी-जैसे सच्चे सेवकपर बिना सोचे-समझे बेईमानीका दोष लगाया और उसे गिरफ्तार करनेको फौज भेज दी।' पश्चात्तापके साथ बिट्ठूका अद्भुत अनूप रूप हृदयमें एक विचित्र हलचल मचाये था।

बादशाहको व्याकुल, अन्यमनस्क देखकर बिट्ठूने एक थैली बगलसे निकालकर सामने धर दी और बोला—'सरकार! मुझे देर हो रही है। ये रुपये जमा कराके मुझे शीघ्र रसीद दिलवा दें।'

बादशाहका जी नहीं चाहता कि बिट्ठू सामनेसे एक पलको भी हटे; किंतु किया क्या जाय? बिट्ठू एक साधारण चमार सही, पर उसकी इच्छाके विपरीत मुखतक खोलनेका साहस नहीं दीखता बादशाहको अपनेमें। उन्होंने खजांचीके पास उसे भेज दिया। बेचारा खजांची तो हैरान रह गया। वह उस नन्ही थैलीसे जितनी बार रुपये उलटता, उतनी ही बार थैली फिर भर जाती। इस जादूगर बिट्ठूसे पिण्ड छुड़ाया उसने हिसाबके पूरे रुपये गिनकर और रसीद लिखकर।

रसीद लेकर बिट्ठू फिर बादशाहके सामने आया। बादशाहने उसपर हस्ताक्षर किये और शाही मुहर लगाकर रसीद दे दी। बिट्ठूने कहा—'मेरे स्वामी चिन्ता करते होंगे। अब मुझे आज्ञा दीजिये।' अभिवादन करके वह नौ-दो-ग्यारह हो गया। बादशाहने दीवानको आज्ञा दी कि 'तुम शीघ्रतापूर्वक जाओ और दामाजी पंतको बड़े आदरके साथ ले आओ।'

इधर दामाजी पंत पण्ढरपुरसे आगे चले आये थे। एक दिन प्रातःकाल स्नानादि करके गीता-पाठ करनेके लिये उन्होंने ग्रन्थ खोला तो उसमें एक सुन्दर कागज निकल आया। उसमें लिखा था—'दामाजी पंतसे अपने अन्न-भण्डारके पूरे रुपये चुकती भर पाये।' उसपर शाही मुहर और बादशाहके हाथकी सही थी। दामाजीको बड़ा आश्चर्य हुआ। पर वे पूजा-पाठमें लग गये। उनके पूजासे उठते-न-उठते बादशाहके दूत आ पहुँचे नवीन आज्ञा लेकर। सेनापतिने उनकी हथकड़ियाँ खोल दीं। उनको सम्मानपूर्वक सवारीपर बैठाया गया।

उधर बादशाहकी विचित्र दशा हो रही थी। बिट्ठूके जाते ही वे जैसे पागल हो गये। 'बिट्ठू, बिट्ठू' की पुकार मचा दी उन्होंने। चारों ओर घुड़सवार दौड़ाये गये, पर क्या बिट्ठू इस प्रकार मिला करता है? जब सवार निराश होकर लौट आये, तब तो बादशाहकी व्याकुलता सीमा पार कर गयी। 'बिट्ठू कहाँ है? कहाँ है वह बिट्ठू?' कहते पैदल ही वे राजधानीसे बाहर दौड़ पड़े। उसी समय दामाजी सामनेसे आ रहे थे। बादशाह दौड़कर उनके गलेसे लिपट गये और बड़ी कातरतासे कहने लगे—'दामाजी! दामाजी! जल्दी बताओ, बताओ, मुझ पापीको बताओ—वह प्यारा बिट्ठू कहाँ है? मेरे प्राण निकले जा रहे हैं, दामाजी! उस बिट्ठूके सुन्दर मुखको देखे बिना मैं अभी मर जाऊँगा! देर मत करो! बता दो! मैं तुम्हारे पैरों पड़ता हूँ। मुझे बिट्ठूका पता बता दो।'

दामाजी तो हक्के-बक्के-से हो गये। वे बोले—'हुजूर! कौन बिट्ठू?'

बादशाहने कहा—'दामाजी! छिपाओ मत! हाथ जोड़ता हूँ। अपने उस बिट्ठू महारका पता जल्दी बता दो। वही साँवरा-साँवरा, लँगोटी लगाये, हाथमें लकुटी लिये तुम्हारे पाससे रुपये लेकर आनेवाला मेरा बिट्ठू, कहाँ है वह?'

सहसा दामाजीके सामनेसे एक पर्दा हट गया। वे सारा रहस्य समझ गये। रोते-रोते वे बोले—'आप धन्य हैं! त्रिभुवनके स्वामीने आपको दर्शन दिये। मुझ अभागेके लिये वे सर्वेश्वर एक दरिद्र चमार बने और एक सामान्य मनुष्यका अभिवादन करने आये। नाथ! मैंने जिसका अन्न लुटवाया था, वह मेरे प्राण लेनेके अतिरिक्त और क्या कर सकता था? दयाधाम! सर्वेश्वर! आपने इतना कष्ट क्यों किया?'

दामाजी प्रेममें उन्मत्त होकर 'पाण्डुरंग! पाण्डुरंग!' पुकारते हुए मूर्छित हो गये। भक्तवत्सल भगवान्ने प्रकट होकर उन्हें उठाया। बादशाह भी उन सौन्दर्य-सागरके पुनः दर्शन करके कृतार्थ हो गया।

भक्त विट्ठलपंत

(लेखिका—कुमारी राजेन्द्री श्रीवास्तव, विशारद)

महाराष्ट्रमें कदाचित् ही कोई ऐसा होगा, जो भक्त विट्ठलपंतको न जानता हो। ये श्रीज्ञानेश्वर महाराजके—जो महाराष्ट्र देशमें भक्तिमार्गके आद्यप्रवर्तक और सारे महाराष्ट्रके धर्मगुरु थे—पिता थे। विट्ठलपंतके पूर्वज पैठणसे चार कोसकी दूरीपर गोदावरी किनारे एक ग्रामके निवासी थे। आपके पिता गोविन्दपंत थे। ये लोग वहाँ कुलकर्णीका काम करते थे। वे माध्यन्दिन शाखाके यजुर्वेदीय ब्राह्मण थे। बाल्यावस्थासे ही विट्ठलपंतको वेदों और शास्त्रोंकी अच्छी शिक्षा मिली थी और इसलिये ये बहुत बड़े ज्ञानी, विरक्त और ईश्वरभक्त थे। ये प्रायः घर-गृहस्थीकी ओरसे उदासीन रहते और तीर्थसेवा, साधु-संतोंका सहवास और ईश्वरभक्तिमें ही इनका विशेष मन लगता था। इसीसे ये विवाह न करके छोटी ही अवस्थामें तीर्थयात्राको निकल पड़े। इस प्रकार जब वे पूनाके पास आळन्दी ग्राममें पहुँचे, तब वहाँके सिद्धेश्वर-मन्दिरमें ठहरे थे। आप देखनेमें तो ज्ञानसम्पन्न थे ही, पर साथ ही वृत्ति भी बड़ी निर्मल थी और आचरण भी बहुत पवित्र था। यहाँके कुलकर्णी सिद्धो पंतने अपनी सुशील कन्या रुक्मिणीबाईका विट्ठलपंतसे विवाह कर दिया।

विट्ठलपंतने विवाह तो कर लिया, किंतु उनका मन गृहस्थीमें नहीं लगता था। वे प्रायः भगवच्चिन्तनमें ही लगे रहते थे और यही सोचा करते थे कि यह कहाँका झगड़ा अपने पीछे लगा लिया। रुक्मिणीबाई अत्यन्त पतिपरायणा थी, फिर भी वह अपने ईश्वरभक्त पतिको अपने वशमें नहीं कर सकती थी। विट्ठलपंतकी विरक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जाती थी और वे अपना शेष जीवन काशीमें ही बिताना चाहते थे। अन्तमें एक दिन वे गङ्गास्नानके बहाने काशी चले गये और वहाँ उन्होंने स्वामी रामानन्दजीसे संन्यास ले लिया।

इधर रुक्मिणीबाई बारह वर्षोंतक उग्र तप करती रही। अन्तमें प्रसन्न होकर प्रभुने उसकी पुकार सुन ली। एक बार ऐसा संयोग हुआ कि रामानन्द स्वामी रामेश्वरयात्राको जाते हुए आळन्दी ग्राममें ठहरे। रुक्मिणीबाईके प्रणाम करनेपर उन्होंने 'पुत्रवती भव' का आशीर्वाद दिया। यह सुनकर उसको कुछ हँसी आयी कि महात्माका आशीर्वाद निष्फल हो जायगा। रामानन्दस्वामीको जब यह ज्ञात हुआ कि उसका पति काशीमें संन्यास ले चुका है, अतः आशीर्वाद कैसे पूर्ण होगा—तब वे रुक्मिणीबाईसे उसके पतिकी अवस्था, रूप-रंग आदिके बारेमें पूछकर उन्होंने अनुमान कर लिया कि यह वही चैतन्याश्रम स्वामी है। चिन्तित हुए कि निःसन्तान युवतीको छोड़कर संन्यास लेनेवाला व्यक्ति और उसका गुरु शास्त्रीय दृष्टिसे दोषी होता है, उन्होंने यात्रा स्थगित कर दी। वे रुक्मिणीबाई और उसके पिता आदिको साथ लेकर काशी लौट गये और चैतन्याश्रम स्वामीको बुलाकर सब हाल पूछा। उन्होंने उनको आज्ञा दी कि वे पत्नीसहित आळन्दी ग्राममें जाकर गृहस्थ-आश्रममें रहें। चैतन्याश्रम भी गुरुकी आज्ञा टाल न सके। इस प्रकार वे संन्यासीसे पुनः गृहस्थ हो गये।

अब विट्ठलपंत और रुक्मिणीबाईपर दूसरी विपत्ति आयी। किसी संन्यासीका पुनः गृहस्थाश्रम स्वीकार करना एक निन्दनीय बात थी और इसे समाज किसी भी प्रकार सहन नहीं कर सकता था। सामाजिक दृष्टिसे इस प्रकार संन्यासाश्रमका अपमान होता था और गृहस्थाश्रममें भी कलङ्क लगता था, फलतः सब लोग विट्ठलपंतकी निन्दा करने लगे और उन्हें अनेकों प्रकारके कष्ट पहुँचाने लगे। केवल यही नहीं, ब्राह्मणोंने उन्हें अपने समाजसे बहिष्कृत भी कर दिया। परंतु ज्यों-ज्यों लोकनिन्दा बढ़ती जाती थी, त्यों-त्यों विट्ठलपंतकी शान्ति, गम्भीरता और अध्ययनकी मात्रा भी उत्तरोत्तर बढ़ती जाती थी। वे अपना सारा समय शास्त्रोंके अध्ययन, आत्म-चिन्तन और ईश्वरभजनमें ही व्यतीत करते थे और लोक-निन्दाकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं देते थे। रुक्मिणीबाई भी पतिसेवा करके प्रसन्न रहती थी।

समयपर उनके तीन पुत्र और एक कन्या—(१) निवृत्तिनाथ, (२) ज्ञानदेव, (३) सोपानदेव तथा (४) मुक्ताबाई उत्पन्न हुए। यह उस परिस्थितिमें एक चिन्ताजनक बात थी। विट्ठलपंतकी अवस्था भी बड़ी ही शोचनीय हो रही थी। कहीं भिक्षातक नहीं मिलती थी। कभी फल-मूल, कभी तृण और पत्ते और कभी-कभी

तो केवल जल ही पीकर रहना पड़ता था; किंतु फिर भी मन मायाके वश नहीं हुआ। वे सब प्राणी अपने आत्मानन्दमें मग्न रहते थे।

सौभाग्यसे तीनों पुत्र बड़े ही कुशाग्रबुद्धि थे और स्वयं पिता भी शास्त्रोंके पूर्ण पण्डित थे। इसलिये उन पुत्रोंकी शिक्षा बहुत ही सन्तोषजनक रूपमें होने लगी। आगे चलकर चारों सन्तानें बड़ी ही प्रभावशालिनी प्रसिद्ध हुईं।

सात वर्षकी अवस्थामें निवृत्तिनाथका उपनयन-संस्कार करनेके लिये विट्ठलपंतने पैठणके ब्राह्मणोंसे बहुत कुछ कहा, किंतु उनका प्रयत्न निष्फल रहा। सब ओरसे निराश होकर भक्त विट्ठलपंत छः माह त्र्यम्बकेश्वर रहे। वहाँ मध्यरात्रिमें उठकर कुशावर्तमें स्नान करके सपरिवार ब्रह्मगिरिकी परिक्रमा करते थे। भगवत्कृपासे वहाँ अञ्जनीपर्वतकी गुफामें नाथ-सम्प्रदायके आचार्य श्रीगहनीनाथने निवृत्तिनाथको दीक्षित कर 'राम-कृष्ण-हरि' का मन्त्र दे कृष्णोपासनाके प्रचार करनेकी आज्ञा दी। अपने स्वरूपमें स्थित विट्ठलपंत पूर्ववत् समय बिताने लगे। यहाँसे आपेग्राम गये, वहाँ बच्चोंको अपने विट्ठलभगवान्के आश्रय छोड़ पत्नीसहित प्रयाग-यात्रा की और वहीं दोनोंने जल-समाधि ले ली।

श्रीज्ञानेश्वर

श्रीविट्ठलपंतके द्वितीय पुत्र, श्रीनिवृत्तिनाथके छोटे भाई श्रीज्ञानेश्वरका जन्म सं० १३३२ वि० भाद्रकृष्णाष्टमीकी मध्यरात्रिमें हुआ था। जब ये पाँच वर्षके थे, तभी इनके माता-पिता धर्म-मर्यादाकी रक्षाके लिये त्रिवेणीसङ्गममें अपने शरीरोंको छोड़कर इहलोकसे चले गये थे। श्रीज्ञानेश्वरसे छोटे सोपान उस समय चार वर्षके और सबसे छोटी बहन मुक्ताबाई तीन वर्षकी थी। इस तरह ये चारों बालक बचपनमें ही माता-पिताके बिना अनाथ हो गये थे। परंतु इनका चरित्र देखनेसे ऐसा मालूम होता है कि ये चारों भाई-बहिन इस प्रकार बाह्यतः अनाथोंकी-सी अवस्थामें ही नाथोंके नाथ सकललोकनाथका कार्य करनेके लिये आये हुए महान् आत्मा थे। ये मातृ-पितृविहीन बालक कच्चा अन्न भिक्षामें माँगकर लाते और उससे अपना जीवननिर्वाह करते हुए सदा भगवद्भजन, भगवत्कथा-कीर्तन और भगवच्चर्चामें ही अपना समय व्यतीत करते थे। इनके सामने सबसे बड़ी कठिनाई इनके उपनयन-संस्कार न होनेकी थी। उसके लिये आळन्दीके ब्राह्मण इन्हें संन्यासीके लड़के जानकर अनुकूल नहीं थे। परंतु इनके साधुजीवनका प्रभाव उनपर दिन-दिन अधिक पड़ रहा था और जब विट्ठलपंत तथा रुक्मिणीबाईने अलौकिकरूपसे अपना देहविसर्जन कर दिया, तब तो उन ब्राह्मणोंपर इनका और भी गहरा प्रभाव पड़ा। उनके हृदयमें इन बालकोंके प्रति सहानुभूति उत्पन्न हो गयी और उन्होंने इन्हें सलाह दी कि 'तुमलोग पैठण जाओ। वहाँके विद्वान् शास्त्रज्ञ यदि तुम्हारे उपनयनकी व्यवस्था दे देंगे तो हमलोग भी उसे मान लेंगे।' अतः ये लोग पैदल यात्रा करके भगवन्नाम-संकीर्तन करते हुए पैठण पहुँचे। वहाँ इनके लिये ब्राह्मणोंकी सभा हुई। परंतु सभामें यही निश्चय हुआ कि 'इन बालकोंकी शुद्धि और किसी तरह भी नहीं हो सकती। केवल एक उपाय है और वह यही कि—

विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च लौकिकीम्।
प्रणमेद्दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्॥

(श्रीमद्भागवत)

अर्थात् 'अपने ऊपर हँसनेवाले लोगोंको और देह-दृष्टि तथा लोक-लाजको त्यागकर ये लोग कुत्ते, चाण्डाल और गौसमेत सबको भूमिपर लेटकर प्रणाम करें और इस प्रकारका भगवान्की अनन्य भक्ति करें।' इस निर्णयको सुनकर चारों भाई-बहिन सन्तुष्ट हो गये। निवृत्तिनाथने कहा—'ठीक है।' सोपान और मुक्ताने कहा—'यह बड़े आनन्दकी बात है।' और ज्ञानेश्वर गम्भीरतापूर्वक बोले—'आपलोग जो कहें, स्वीकार है।' वहाँसे चारों भाई-बहिन लौटनेको ही थे कि कुछ दुष्टोंने उनसे छेड़-छाड़ आरम्भ कर दी। ज्ञानदेवसे किसीने पूछा—'तुम्हारा क्या नाम है?' उत्तर मिला 'ज्ञानदेव।' पास ही एक भैंसा था, उसकी ओर संकेत करके एक भले आदमीने इनको ताना मारा कि 'यहाँ तो यही ज्ञानदेव है, दिनभर बेचारा ज्ञानका ही तो बोझा ढोया करता है। कहिये, देवता! क्या आप भी ऐसे ही ज्ञानदेव हैं?' ज्ञानदेवने कहा—'हाँ, हाँ, इसमें सन्देह ही क्या है? यह तो मेरा ही आत्मा है,

इसमें-मुझमें कोई भेद नहीं।' यह सुनकर किसीने और भी छेड़ करनेके लिये भैंसेकी पीठपर सटासट दो साँटे लगा दिये और ज्ञानदेवसे पूछा कि 'ये साँटे तो तुम्हें जरूर लगे होंगे।' ज्ञानदेवने कहा—'हाँ' और अपना बदन खोलकर दिखला दिया, उसपर साँटोंके चिह्न थे!' परंतु इसपर भी उन लोगोंकी आँखें नहीं खुलीं। एक सज्जन बोले—'यह भैंसा यदि तुम्हारे-जैसा ही है तो तुम जैसी ज्ञानकी बातें कहते हो, वैसी इससे भी कहलाओ।' ज्ञानदेवने भैंसेकी पीठपर हाथ रखा। हाथ रखते ही वह भैंसा ॐका उच्चारण करके वेदमन्त्र बोलने लगा। यह चमत्कार देखकर पैठणके विद्वान् ब्राह्मण चकित—स्तम्भित हो गये। उन्होंने अब जाना कि ये साधारण मनुष्य नहीं, कोई महात्मा हैं। एक दिन एक ब्राह्मणके घर श्राद्धके अवसरपर ज्ञानेश्वरने ध्यान करके, **'आगन्तव्यम्'** कहकर उसके पितरोंको सशरीर बुला लिया और उन्हें भोजन कराया। इस प्रकार इनकी अद्भुत सामर्थ्य देखकर पैठणके लोग इनपर मुग्ध हो गये और इनके पास आ-आकर इनसे भगवन्नामकीर्तन और भगवत्कथा-श्रवण करने लगे। धर्मज्ञ ब्राह्मणोंने बड़ी नम्रताके साथ इन्हें शुद्धिपत्र लिखकर दे दिया। इसके पश्चात् कुछ कालतक चारों भाई-बहिन पैठणमें ही रहे। वहाँ ये लोग गोदावरीमें स्नान करते, वेदान्तकी चर्चा करते, भगवन्नामसंकीर्तन करते, पुराणोंका पठन करते और पैठणवासियोंको भगवद्भक्तिका मार्ग दिखाते थे। वहाँ रहते हुए ही ज्ञानेश्वरने श्रीमच्छंकराचार्यका भाष्य, श्रीमद्भागवत, योगवासिष्ठ आदि ग्रन्थ देख डाले और आगे जो ग्रन्थ लिखे, उनकी भूमिका भी वहीं तैयार कर ली। इस प्रकार कुछ कालतक पैठणवासियोंको अपना अपूर्व सत्सङ्ग लाभ कराकर श्रीज्ञानेश्वरादिने ब्राह्मणोंका दिया हुआ यह शुद्धिपत्र लेकर आलें नामक स्थानसे होते हुए नेवासें पहुँचे।

इसी नेवासेंमें ज्ञानेश्वर महाराजने गीताका ज्ञानेश्वरी-भाष्य कहा, जिसे सच्चिदानन्दजीने लिखा। नेवासेंसे कुछ कालके लिये श्रीज्ञानेश्वरादि आळन्दी चले गये, वहाँके लोगोंने इस बार उनका बड़े आदर और प्रेमके साथ स्वागत किया। फिर जब ज्ञानेश्वर महाराज अपने भाई-बहिनोंके सहित नेवासें लौट आये, तब उन्होंने सद्गुरु श्रीनिवृत्तिनाथके सामने गीताका स्वानुभूत भाष्य कहना आरम्भ किया। उस समयतक श्रीनिवृत्तिनाथ सत्रह वर्षके, श्रीज्ञानेश्वर पंद्रह वर्षके, सोपानदेव तेरह वर्षके और मुक्ताबाई ग्यारह वर्षकी हो चुकी थीं। ज्ञानेश्वर महाराजने अपने इस बालजीवनमें जो-जो चमत्कार दिखलाये, उनमें सबसे बढ़कर चमत्कार तो यह 'ज्ञानेश्वरी' ग्रन्थ ही है, जिसे उन्होंने केवल पंद्रह वर्षकी अवस्थामें लिखाया था। संवत् १३४७ वि० में यह 'ज्ञानेश्वरी' ग्रन्थ पूर्ण हुआ था।

इसके बाद श्रीज्ञानेश्वरने तीर्थयात्रा आरम्भ की। यात्रामें गुरु निवृत्तिनाथ, सोपानदेव, मुक्ताबाई भी साथ थे। कहते हैं कि इस यात्रामें विसोबा खेचर, गोरा कुम्हार, चोखा मेळा, नरहरि सुनार आदि अन्य अनेक संत भी साथ हो लिये थे। सबसे पहले श्रीज्ञानेश्वर महाराज पण्ढरपुर गये, जहाँ उन्हें श्रीविट्ठलभगवान्के दर्शन हुए तथा परम विट्ठलभक्त श्रीनामदेवसे भेंट हुई। तत्पश्चात् श्रीनामदेवजीको भी साथ लेकर श्रीज्ञानेश्वर महाराजने अनेक स्थानोंमें अपने ज्ञानोपदेशद्वारा असंख्य मनुष्योंका उद्धार करते हुए उज्जैन, प्रयाग, काशी, गया, अयोध्या, गोकुल, वृन्दावन, द्वारका, गिरनार आदि तीर्थस्थानोंका परिभ्रमण किया और तदनन्तर वे सब संतोंके साथ पण्ढरपुर लौट आये। पैठण आदि स्थानोंमें श्रीज्ञानेश्वर महाराजने जो अद्भुत-अद्भुत चमत्कार दिखलाये, उनके कारण इन चारों भाई-बहिनका यश सर्वत्र फैल गया और सब दिशाओंसे आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी—सब प्रकारके भगवद्भक्त एवं योगी, यति, साधक आदि इनके दर्शनोंके लिये आने लगे।

कुल इक्कीस वर्ष, तीन मास, पाँच दिनकी अल्पावस्थामें अर्थात् संवत् १३५३ वि० मार्गशीर्ष कृष्णा १३ को श्रीज्ञानेश्वर महाराजने जीवित-समाधि ले ली। और उनके समाधि लेनेके बाद एक वर्षके भीतर ही सोपानदेव, चांगदेव, मुक्ताबाई और निवृत्तिनाथ भी एक-एक करके इस लोकसे परमधामको पधार गये। श्रीज्ञानेश्वर महाराजके ये चार ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं—भावार्थदीपिका अर्थात् ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव, हरिपाठके अभंग तथा चांगदेव-पासठी (पैंसठी)। इनके अतिरिक्त उन्होंने योगवासिष्ठपर एक अभंगवृत्तकी टीका भी लिखी थी, पर अभीतक वह उपलब्ध नहीं हुई।

गोरा कुम्हार

श्रीज्ञानेश्वरकालीन भक्तोंमें उम्रमें सबसे बड़े गोराजी कुम्हार थे। इनका जन्म तेरढोकी स्थानमें संवत् १३२४ में हुआ। इन्हें सब लोग 'चाचा' कहा करते थे। ये बड़े विरक्त, दृढनिश्चयी, ज्ञानी तथा प्रेमी भक्त थे। इनकी दो स्त्रियाँ थीं। भजनानन्दमें तल्लीन होना इनका ऐसा था कि एक बार इनका एक नन्हा बच्चा इनके उन्मत्त नृत्यमें पैरोंतले कुचलकर मर गया, पर इन्हें इसकी कुछ भी सुध न हुई। इससे चिढ़कर इनकी सहधर्मिणी संतीने इनसे कहा कि 'अब आजसे आप मुझे स्पर्श न करें।' तबसे इन्होंने उन्हें स्पर्श करना सदाके लिये त्याग ही दिया। संतीको बड़ा पश्चात्ताप हुआ और बड़ी चिन्ता हुई कि 'इन्हें पुत्र अब कैसे हो और कैसे इनका वंश चले।' इसलिये उन्होंने अपनी बहिन रामीसे इनका विवाह करा दिया। विवाहके अवसरपर श्वशुरने इन्हें उपदेश किया कि 'दोनों बहिनोंके साथ एक-सा व्यवहार करना। बस, इन्होंने नव-विवाहिताको भी स्पर्श न करनेका निश्चय कर लिया। एक रातको दोनों बहिनोंने इनके दोनों हाथ पकड़कर अपने शरीरपर रखे। इन्होंने अपने इन दोनों हाथोंको पापी समझकर काट डाला। इस तरहकी कई बातें इनके विषयमें प्रसिद्ध हैं। काशी आदिकी यात्राओंसे लौटते हुए श्रीज्ञानेश्वर-नामदेवादि भक्त इनके यहाँ ठहर गये थे। सब भक्त एक साथ बैठे हुए थे। पास ही कुम्हारकी एक थापी पड़ी हुई थी। उसपर मुक्ताबाईकी दृष्टि पड़ी, उन्होंने पूछा, 'चाचाजी! यह क्या चीज है?' गोराजीने उत्तर दिया, 'यह थापी है, इससे मिट्टीके घड़े ठोंककर यह देखा जाता है कि कौन घड़ा कच्चा है और कौन पक्का।' मुक्ताबाईने कहा 'हम मनुष्य भी तो घड़े ही हैं, इससे क्या हमलोगोंकी भी कच्चाई-पक्काई मालूम हो सकती है?' गोराजीने कहा, 'हाँ, हाँ, क्यों नहीं।' यह कहकर उन्होंने थापी उठायी और एक-एक भक्तके सिरपर थपकर देखने लगे। दूसरे भक्त तो यह कौतुक देखने लगे, पर नामदेव बिगड़े। उन्हें यह भक्तोंका और अपना भी अपमान जान पड़ा। गोराजी थपते-थपते जब इनके पास आये तो इनको बहुत बुरा लगा। गोराजीने इनके भी सिरपर थापी थपी और बोले—'भक्तोंमें यह घड़ा कच्चा है' और नामदेवसे कहने लगे—'नामदेव! तुम भक्त हो, पर अभी तुम्हारा अहङ्कार नहीं गया। जबतक गुरुकी शरणमें नहीं जाओगे, तबतक ऐसे ही कच्चे रहोगे।' नामदेवको बड़ा दुःख हुआ। वे जब पण्ढरपुर लौट आये, तब उन्होंने श्रीविट्ठलसे अपना दुःख निवेदन किया। भगवान्ने उनसे कहा—'गोराजीका यह कहना तो सच है कि श्रीगुरुकी शरणमें जबतक नहीं जाओगे, तबतक कच्चे रहोगे। हम तो तुम्हारे सदा साथ हैं ही; पर तुम्हें किसी मनुष्यदेहधारी महापुरुषको गुरु मानकर उसके सामने नत होना होगा, उसके चरणोंमें अपना अहङ्कार लीन करना होगा।' भगवान्के आदेशके अनुसार नामदेवजीने श्रीविसोबा खेचरको गुरु माना और गुरूपदेश ग्रहण किया। इस प्रकार गोराजी कुम्हार बड़े अनुभवी, ज्ञानी, भक्त थे।

भक्त कूर्मदास

कूर्मदास ज्ञानदेव-नामदेवके समकालीन एक ब्राह्मण थे। ये पैठणमें रहते थे। जन्मसे ही इनके हाथ-पैर नहीं थे। जहाँ कहीं भी पड़े रहते, और जो कोई जो कुछ लाकर खिला देता, उसीसे निर्वाह करते थे। एक दिन पैठणमें कहीं हरिकथा हो रही थी। इन्होंने दूरसे उसकी ध्वनि सुनी और पेटके बल रेंगते हुए वहाँ पहुँचे। वहाँ उन्होंने पण्ढरपुरकी आषाढ़ी-कार्तिकी यात्राका माहात्म्य सुना। कार्तिकी एकादशीमें अभी चार महीनेकी अवधि थी। कूर्मदासने पेटके बल चलकर तबतक पण्ढरपुर पहुँचनेका निश्चय किया। बस, उसी क्षण वहाँसे चल पड़े। एक कोससे अधिक वे दिनभरमें नहीं रेंग सकते थे। रातको कहीं ठहर जाते और भगवान्की उपस्थितिसे कोई-न-कोई उन्हें अन्न-जल देनेवाला मिल ही जाता था। इस तरह चार महीनेमें वे लहुल नामक स्थानमें पहुँचे। बस, अब कल ही एकादशी है और पण्ढरपुर यहाँसे सात कोस है। किसी तरहसे भी कूर्मदास वहाँ

एकादशीको पहुँच नहीं सकते। झुंड-के-झुंड यात्री चले जा रहे हैं, पर कूर्मदास लाचार हैं। 'क्या इस अभागेको भगवान्‌के दर्शन कल नहीं होंगे? मैं तो वहाँतक कल नहीं पहुँच सकता। पर क्या भगवान् यहाँतक नहीं आ सकते? वे तो चाहे जो कर सकते हैं।' यह सोचकर उन्होंने एक चिट्ठी लिखी, 'हे भगवन्! मैं बे हाथ-पैरका आपका दास यहाँ पड़ा हूँ, मैं कलतक आपके पास नहीं पहुँच सकता। इसलिये आप ही दया करके यहाँ आयें और मुझे दर्शन दें।' यह चिट्ठी उन्होंने एक यात्रीके हाथ भगवान्‌के पास भेज दी। दूसरे दिन, एकादशीको भगवान्‌के दर्शन करके उस यात्रीने वह चिट्ठी भगवान्‌के चरणोंमें रख दी। लहुलमें कूर्मदास भगवान्‌की प्रतीक्षा कर रहे थे, जोर-जोरसे पुकार रहे थे—'भगवन्! कब दर्शन दोगे? अभीतक क्यों नहीं आये? मैं तो आपका हूँ न?' इस प्रकार अत्यन्त व्याकुल होकर वे भगवान्‌को पुकारने लगे। परमकारुणिक पण्ढरीनाथ श्रीविट्ठल ज्ञानदेव, नामदेव और साँवता माली, इन तीनोंके साथ कूर्मदासके सामने आकर खड़े हो गये। कूर्मदासने उनके चरण पकड़ लिये। तबसे भगवान्, जबतक कूर्मदास वहाँ थे, वहीं रहे। वहाँ श्रीविट्ठलभगवान्‌का जो मन्दिर है, वह इन्हीं कूर्मदासपर भगवान्‌का मूर्त अनुग्रह है।

विसोबा सराफ

पण्ढरपुरसे पचास कोसपर औंढ़िया नागनाथ एक प्रसिद्ध शिवक्षेत्र है। यहींपर यजुर्वेदी ब्राह्मणकुलमें विसोबाका जन्म हुआ था। सराफीका काम करनेके कारण ये सराफ कहे जाते थे। विसोबाके घरमें साध्वी पत्नी और चार लड़के थे। घरसे ये सम्पन्न थे। इनका गृहस्थ-जीवन सादा और पवित्र था। घरके काम-काज करते हुए भी इनके मुखसे बराबर पाण्डुरंगका नाम निकला करता था और चित्त उन्हीं श्रीविट्ठलमें लगा रहता था। अतिथिसेवा तो गृहस्थका सर्वोपरि कर्तव्य है। इनके यहाँसे कभी भी अतिथि बिना सत्कार पाये जाता नहीं था। अतिथिको साक्षात् नारायण समझकर ये उसकी पूजा करते थे।

एक बार दक्षिणदेशमें घोर दुर्भिक्ष पड़ा। अन्न मिलना दुर्लभ हो गया। क्षुधासे पीड़ित हजारों स्त्री-पुरुष विसोबाके द्वारपर एकत्र होने लगे। विसोबाने समझा कि नारायणने कृपा की है। इतने रूपोंमें वे सेवाका सौभाग्य देने पधारे हैं। वे खुले हाथों लुटाने लगे। जो आता, तृप्त होकर जाता। भीड़ बढ़ती गयी। अन्नभण्डार समाप्त हो गया। रुपयेसे बहुत महँगा अन्न खरीदकर बाँटा जाने लगा। विसोबा निर्धन हो गये, पर भीड़ तो बढ़ती ही गयी। घरके गहने, बर्तन आदि बेचकर भी अभ्यागतोंका विसोबाने सत्कार किया। जो एक दिन नगरसेठ था, वही कंगाल हो गया। संसारके लोग हँसी करने लगे। कोई मूर्ख कहता था, कोई पागल बतलाता था। धन होनेपर जो चाटुकारी किया करते थे, वे ही व्यङ्ग कसने लगे। किंतु विसोबाको इन बातोंकी चिन्ता नहीं थी। वे तो अभ्यागतोंके रूपमें नारायणकी सेवा करते थे।

निरन्तर बाँटा ही जाय तो कुबेरका कोष भी समाप्त हो जायगा। विसोबाके पास कुछ भी नहीं बचा। अब कंगाल, भूखे अभ्यागतोंका स्वागत कैसे हो? स्वयं नारायण द्वारपर दो मुट्ठी अन्न माँगने आयें तो क्या उन्हें लौटा दिया जा सकेगा? परंतु देनेके लिये अन्न आये कहाँसे? विसोबाने अपने गाँवसे कई कोस दूर काँसे गाँव जाकर वहाँके पठानसे कई हजार रुपये ब्याजपर लिये। पठान इनको नगरसेठ जानता था, अत: उसने रुपये दे दिये। इनके आनन्दका पार नहीं रहा। घर आकर सब रुपयोंका अन्न ले लिया गया और वह दरिद्रनारायणकी सेवामें लगने लगा। गाँवके लोगोंको इनके कर्ज लेनेकी बातका पता लग गया। द्वेषियोंने जाकर पठानसे इनकी वर्तमान दशा बता दी। वह आकर इनसे रुपये माँगने

लगा। इन्होंने कहा—'सात दिनमें मैं रुपये दे दूँगा।' पठान मानता तो नहीं था, पर गाँवके लोगोंने उसे समझाया। लोग जानते थे कि विसोबा अपनी बातके पक्के हैं। सत्यकी रक्षाके लिये वे प्राण भी दे सकते हैं। पठान चला गया।

छ: दिन बीत गये। विसोबा कहाँसे प्रबन्ध करें? अब उन्हें कौन कर्ज देगा? वे रात्रिमें अपने भगवान्‌से प्रार्थना करने लगे—'नाथ! आजतक आपने मेरी एक भी बात खाली नहीं जाने दी। आज मेरी लाज आपके हाथ है। विसोबा आज मर जाय, तो भी उसका सत्य बच जायगा। हे हरि, मैं तुम्हारी ही बाट देख रहा हूँ।' नेत्रोंसे अखण्ड आँसूकी धारा चल रही है। विसोबाको अपनी देहका पता ही नहीं। वे प्रार्थना करनेमें तल्लीन हो गये हैं।

सच्चे हृदयकी कातर प्रार्थना कभी निष्फल नहीं गयी। दीनबन्धु प्रभु तो आर्त प्रार्थना सुन लेते हैं अधम पामर प्राणीकी भी। उनका भक्त प्रार्थना करे और वे स्थिर रहें, यह तो सम्भव ही नहीं है। उन लीलामयने विसोबाके मुनीमका रूप धारण किया और समयपर पठानके पास पहुँच गये। पठानको आश्चर्य हुआ कि ऐसे अकालके समय इतने रुपये विसोबाको किसने दिये; पर उन मुनीम-रूपधारीने उसे समझा दिया कि विसोबाकी साख तथा सचाईके कारण रुपये मिलनेमें कठिनाई नहीं हुई। कई आदमियोंके सामने हिसाब करके ब्याजसहित पाई-पाई मुनीमने चुका दिया और पुरनोटपर भरपाईकी रसीद लिखवा ली।

दूसरे दिन विसोबा स्नान करके गीतापाठ करने बैठे तो पुस्तकमें फटा पुरनोट मिला। वे पूजा करके सीधे पठानके घरको चल पड़े। वहाँ जाकर बोले—'भाई! मुझे क्षमा करो। मैं तुम्हारा रुपया पूरे ब्याजसहित दे दूँगा। मुझे कुछ समय दो।' पठान आश्चर्यमें आकर बोला—'आप कहते क्या हैं? आपका मुनीम कल ही तो पूरे रुपये दे गया है। मैंने आपसे रुपये माँगकर गलती की। जितने रुपये चाहिये, आप ले जाइये। आपसे पुरनोट लिखानेकी मुझे कतई जरूरत नहीं।' विसोबाके आश्चर्यका पार नहीं रहा। गाँवके लोगोंने भी बताया कि 'आपका मुनीम रुपया दे गया है।' घर लौटकर मुनीमसे उन्होंने पूछा। बेचारा मुनीम भला, क्या जाने। वह हक्का-बक्का रह गया। अब विसोबाको निश्चय हो गया कि यह सब उनके दयामय प्रभुकी ही लीला है। उन्हें बड़ी ग्लानि हुई। उनके लिये पाण्डुरंगको इतना कष्ट उठाना पड़ा! सब कुछ छोड़-छाड़कर वे पण्ढरपुर चले आये। ऐसे उदार स्वामीको छोड़कर अब उनका मन अन्यत्र रहनेका नहीं हुआ। वे अब भजनमें लीन हो गये।

श्रीज्ञानेश्वरके मण्डलमें विसोबा पीछे सम्मिलित हुए। उन्होंने योगका अभ्यास किया और सिद्ध महात्मा माने जाने लगे। उन्होंने स्वयं कहा है—'चांगदेवको मुक्ताबाईने अङ्गीकार किया और सोपानदेवने मुझपर कृपा की। अब जन्म-मरणका भय नहीं रहा।' श्रीज्ञानेश्वरको ये भगवान्‌का अवतार ही मानते थे।

श्रीनामदेवजीको भगवान्‌ने स्वप्नमें आदेश किया कि वे विसोबासे दीक्षा लें। इस भगवदीय आज्ञाको स्वीकार करके जब नामदेव इनके पास आये तो ये एक मन्दिरमें शिवलिङ्गपर पैर फैलाये लेटे थे। नामदेवको इससे बड़ा आश्चर्य हुआ। इन्होंने कहा—'नमिया! मैं बूढ़ा हो गया हूँ। मुझसे पैर उठते नहीं। तू ऐसे स्थानपर मेरे पैर रख दे, जहाँ शिवलिङ्ग न हो।' नामदेवजीने इनके पैर वहाँसे हटाकर नीचे रखे, पर वहाँ भूमिमेंसे दूसरा शिवलिङ्ग प्रकट हो गया। अब नामदेव समझ गये। वे गुरुदेवके चरणोंपर गिर पड़े। नामदेवजीने अपने अभंगोंमें इनकी बड़ी महिमा गायी है।

भक्त-वाणी

तस्य यज्ञवराहस्य विष्णोरतुलतेजसः। प्रणामं ये प्रकुर्वन्ति तेषामपि नमो नमः॥ —सहदेव

उन यज्ञमय वराहरूपमें प्रकट हुए अतुल तेजस्वी भगवान् विष्णुको जो प्रणाम करते हैं, उन्हें भी मेरा बार-बार प्रणाम है।

भक्त नामदेव

सो अनन्य जाकै असि मति न टरै हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

हैदराबाद (दक्षिण)-के नरसीब्राह्मणी ग्राममें एक भगवद्भक्त छीपी (दर्जी) दामा सेठ नामके रहते थे। इनकी पत्नीका नाम था गोणाई। इन्हीं भाग्यवान् दम्पतिके यहाँ रविवार कार्तिक शुक्ल प्रतिपद् संवत् १३२७ वि० को सूर्योदयके समय नामदेवजीका जन्म हुआ। यह कुल ही परम भागवत था। भगवान् विट्ठलके एकनिष्ठ उपासक यदुसेठजीकी पाँचवीं पीढ़ीमें दामाजी हुए थे। पूर्वजोंकी भगवन्निष्ठा, सदाचार, सरल प्रकृति, अतिथि-सेवा आदि सब गुण उनमें थे। माता-पिता जो कुछ करते हैं, बालक भी वही सीखता है। नामदेवको शैशवसे ही विट्ठलके श्रीविग्रहकी पूजा, विट्ठलके गुण-गान, 'विट्ठल' नामका जप आदि देखने-सुननेको निरन्तर मिला। वे स्वयं विट्ठलमय हो गये।

एक समय दामा सेठको घरसे कहीं बाहर जाना पड़ा। उन्होंने नामदेवपर ही घरमें विट्ठलकी पूजाका भार सौंपा। नामदेवने सरल हृदयसे पूजा की और भगवान्‌को कटोरेमें दूधका नैवेद्य अर्पित करके नेत्र बंद कर लिये। कुछ देरमें नेत्र खोलकर देखते हैं कि दूध तो वैसा ही रखा है। बालक नामदेवने सोचा कि 'मेरे ही किसी अपराधसे विट्ठल प्रभु दूध नहीं पीते हैं।' वे बड़ी दीनतासे नाना प्रकारसे प्रार्थना करने लगे और जब उससे भी काम न चला तो रोते-रोते बोले—'विठोबा! यदि तुमने आज दूध नहीं पिया तो मैं जीवनभर दूध नहीं पीऊँगा।' बालक नामदेवके लिये वह पत्थरकी मूर्ति नहीं थी। वे तो साक्षात् पण्ढरीनाथ थे, जो पता नहीं क्यों रूठकर दूध नहीं पी रहे थे। बच्चेकी प्रतिज्ञा सुनते ही वे दयामय साक्षात् प्रकट हो गये। उन्होंने दूध पिया। उसी दिनसे नामदेवके हाथसे वे बराबर दूध पी लिया करते थे।

छोटी उम्रमें ही जातीय प्रथाके अनुसार नामदेवजीका विवाह गोविन्द सेठ सदावर्तेकी कन्या राजाईके साथ हो गया था। पिताके परलोक-गमनके अनन्तर घरका भार इन्हींपर पड़ा। स्त्री तथा माता चाहती थीं कि ये व्यापारमें लगें; किंतु इन्होंने तो हरि-कीर्तनका—व्यवसाय कर लिया था। नरसीब्राह्मणी गाँव छोड़कर ये पण्ढरपुर आ बसे। यहाँ गोरा कुम्हार, साँवता माली आदि भक्तोंसे इनकी प्रीति हो गयी। चन्द्रभागा नदीका स्नान, भक्त पुण्डलीक तथा उनके भगवान् पाण्डुरंगके दर्शन और विट्ठलके गुणका कीर्तन—नामदेवकी उपासनाका यही स्वरूप था। नामदेवजीके अभङ्गोंमें विट्ठलकी महिमा है, तत्त्वज्ञान है, भक्ति है और विट्ठलके प्रति आभारका अपार भाव है।

श्रीज्ञानेश्वर महाराज नामदेवजीको तीर्थयात्रामें अपने साथ ले जाना चाहते थे। नामदेवजीने कहा—'आप पाण्डुरंगसे आज्ञा दिला दें तो चलूँगा। भगवान्‌ने ज्ञानेश्वरजीसे कहा—'नामदेव मेरा बड़ा लाड़ला है। मैं उसे अपनेसे क्षणभरके लिये भी दूर नहीं करना चाहता। तुम इसे ले तो जा सकते हो, पर इसकी सम्हाल रखना।' स्वयं पाण्डुरंगने ज्ञानेश्वरको नामदेवका हाथ पकड़ा दिया।

नामदेवजी ज्ञानेश्वर महाराजके साथ तीर्थयात्राको निकले। भगवच्चर्चा करते हुए वे चले तो जा रहे थे; पर उनका चित्त पाण्डुरंगके वियोगसे व्याकुल था। ज्ञानेश्वरजीने भगवान्‌की सर्वव्यापकता बताते हुए समझाना चाहा तो वे बोले—'आपकी बात तो ठीक है; किंतु पुण्डलीकके पास खड़े पाण्डुरंगको देखे बिना मुझे कल नहीं पड़ती।'

ज्ञानेश्वर महाराजके पूछनेपर नामदेवने भजनके सम्बन्धमें कहा—'मेरे भाग्यमें ज्ञान कहाँ है। मैं न ज्ञानी हूँ, न बहुश्रुत। मुझे तो विठोबाकी कृपाका ही भरोसा है। मुझे तो नाम-सङ्कीर्तन ही प्रिय लगता है। यही भजन है। गुण-दोष न देखकर सबसे सच्ची नम्रताका व्यवहार करना ही वन्दन है। समस्त विश्वमें एकमात्र विट्ठलको देखना और हृदयमें उनके चरणोंका स्मरण करते रहना ही उत्तम ध्यान है। मुखसे उच्चारण किये जाते हुए नाममें मनको दृढ़तापूर्वक लगाकर तल्लीन हो जाना ही श्रवण है। भगवच्चरणोंका दृढ़ अनुसन्धान निदिध्यासन है। सर्वभावसे एकमात्र विट्ठलका ही ध्यान, समस्त प्राणियोंमें

उन्हींका दर्शन, सब ओरसे आसक्ति हटाकर उनका ही चिन्तन भक्ति है। अनुरागसे एकान्तमें गोविन्दका ध्यान करनेके सिवा अन्य कहीं भी विश्राम नहीं है।'

प्रभास, द्वारका आदि तीर्थोंके दर्शन करते हुए ये दोनों महापुरुष लौट रहे थे। मार्गमें बीकानेरके पास कौलायत गाँवमें पहुँचकर दोनोंको बड़ी प्यास लगी। पासमें एक कुँआ तो था, पर वह सूख चुका था। ज्ञानेश्वरजी सिद्धयोगी थे। उन्होंने लघिमा सिद्धिसे कुएँके भीतर पृथ्वीमें प्रवेश करके जल पिया और नामदेवजीके लिये जल ऊपर ले आये। नामदेवजीने वह जल पीना स्वीकार नहीं किया। वे भावमग्न होकर कह रहे थे—'मेरे विट्ठलको क्या मेरी चिन्ता नहीं है, जो मैं इस प्रकार जल पीऊँ?' सहसा कुआँ अपने-आप जलसे भर गया। ऊपरसे जल बहने लगा। नामदेवने इस प्रकार जल पिया।

कुछ दिनोंमें यात्रा करके वे पण्ढरपुर लौट आये। अपने हृदयधन पाण्डुरंगके दर्शन करके आनन्दमें भरकर कहने लगे—'मेरे मनमें भ्रम था, इसीलिये तो आपने मुझे भटकाया। संसारमें अनेक तीर्थ हैं, पर मेरा मन तो चन्द्रभागाकी ओर ही लगा रहता है। आपके बिना अन्य देवकी ओर मेरे चरण चलना नहीं चाहते। जहाँ गरुड़-चिह्नाङ्कित पताकाएँ नहीं हैं, वह स्थान कैसा। जहाँ वैष्णवोंका मेला न हो, जहाँ अखण्ड हरिकथा न चलती हो, वह क्षेत्र भी कैसा।

ज्ञानेश्वर महाराजके समाधि लेनेपर नामदेवजी उत्तर भारतमें गये। नामदेवजीके जीवनका पूर्वार्ध पण्ढरपुरमें और उत्तरार्ध पंजाब आदिमें भक्तिका प्रचार करते बीता। विसोबा खेचरसे इन्हें पूर्ण ज्ञानका बोध हुआ था, अतः उन्हें ये गुरु मानते थे। जो मनुष्य सर्वत्र भगवान्‌का ही दर्शन करता है वही धन्य है। वही सच्चा भगवद्भक्त है। नामदेवजी प्रत्येक पदार्थमें केवल भगवान्‌को ही देखते थे। इनकी इस सुदुर्लभ स्थितिका पता उनके जीवनकी अनेक घटनाओंसे लगता है।

एक बार नामदेवजीकी कुटियामें एक ओर आग लग गयी। आप प्रेममें मस्त होकर दूसरी ओरकी वस्तुएँ भी अग्निमें फेंकते हुए कहने लगे—'स्वामी! आज तो आप लाल-लाल लपटोंका रूप बनाये बड़े अच्छे पधारे; किंतु एक ही ओर क्यों? दूसरी ओरकी इन वस्तुओंने क्या अपराध किया है, जो इनपर आपकी कृपा नहीं हुई? आप इन्हें भी स्वीकार करें।' कुछ देरमें आग बुझ गयी। कुटिया जल गयी वर्षाऋतुमें, पर नामदेवको कोई चिन्ता ही नहीं। उनकी चिन्ता करनेवाले श्रीविट्ठल स्वयं मजदूर बनकर पधारे और उन्होंने कुटिया बनाकर छप्पर छा दिया। तबसे पाण्डुरंग 'नामदेवकी छान छा देनेवाले' प्रसिद्ध हुए।

एक बार नामदेवजी किसी गाँवके सूने मकानमें ठहरने लगे। लोगोंने बहुत मना किया कि इसमें अत्यन्त निष्ठुर ब्रह्मराक्षस रहता है। आप बोले—'मेरे विट्ठल ही तो भूत भी बने होंगे। आधी रातको भूत आया। उसका शरीर बड़ा भारी था। नामदेवजी उसे देखकर भावमग्न होकर नृत्य करने और गाने लगे—

> भले पधारे लंबकनाथ।
> धरनी पाँव स्वर्ग लौं माथा, जोजन भरके लाँबे हाथ॥
> सिव सनकादिक पार न पावैं अनगिन साज सजायें साथ।
> नामदेव के तुमही स्वामी, कीजै प्रभुजी मोहि सनाथ॥

अब भला, वहाँ प्रेतका प्रेतत्व कहाँ कैसे टिक सकता था। वहाँ तो शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी श्रीपाण्डुरंग नामदेवके सामने प्रत्यक्ष खड़े थे, मन्द-मन्द मुसकराते हुए।

एक बार नामदेवजीने जंगलमें पेड़के नीचे रोटी बनायी, भोजन बनाकर लघुशङ्का करने गये। लौटकर देखते हैं तो एक कुत्ता मुखमें रोटी दबाये भागा जा रहा है। आपने घीकी कटोरी उठायी और दौड़े उसके पीछे यह पुकारते हुए 'प्रभो! ये रोटियाँ रूखी हैं। आप रूखी रोटी न खायँ। मुझे घी चुपड़ लेने दें, फिर भोग लगायें।' भगवान् उस कुत्तेके शरीरसे ही प्रकट हुए अपने चतुर्भुजरूपमें। नामदेव उनके चरणोंपर गिर पड़े।

महाराष्ट्रमें वारकरी पन्थके एक प्रकारसे नामदेवजी ही संस्थापक हैं। अनेक लोग उनकी प्रेरणासे भक्तिके पावन पथमें प्रवृत्त हुए। ८० वर्षकी अवस्थामें संवत् १४०७ वि० में नश्वर देह त्यागकर ये परमधाम पधारे!

भक्त राँका-बाँका

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥

पण्ढरपुरमें लक्ष्मीदत्त नामके एक ऋग्वेदी ब्राह्मण रहते थे। ये संतोंकी बड़े प्रेमसे सेवा किया करते थे। एक बार इनके यहाँ साक्षात् नारायण संतरूपसे पधारे और आशीर्वाद दे गये कि तुम्हारे यहाँ एक परम विरक्त भगवद्भक्त पुत्र होगा। इसके अनुसार मार्गशीर्ष शुक्ल द्वितीया गुरुवार संवत् १३४७ वि० को धनलग्नमें इनकी पत्नी रूपादेवीने पुत्र प्राप्त किया। यही इनके पुत्र महाभागवत राँकाजी हुए। पण्ढरपुरमें ही वैशाख कृष्ण सप्तमी बुधवार संवत् १३५१ वि० को कर्कलग्नमें श्रीहरिदेव ब्राह्मणके घर एक कन्याने जन्म लिया। इसी कन्याका विवाह समय आनेपर राँकाजीसे हो गया। राँकाजीकी इन्हीं पतिव्रता भक्तिमती पत्नीका नाम उनके प्रखर वैराग्यके कारण बाँका हुआ। राँकाजीका भी 'राँका' नाम उनकी अत्यन्त कंगाली रङ्कताके कारण ही पड़ा था।

राँकाजी रङ्क तो थे ही, फिर जगत्की दृष्टि उनकी ओर क्यों जाती। इस कंगालीको पति-पत्नी दोनोंने भगवान्की कृपाके रूपमें बड़े हर्षसे सिर चढ़ाया था; क्योंकि दयामय प्रभु अपने प्यारे भक्तोंको अनर्थोंकी जड़ धनसे दूर ही रखते हैं। दोनों जंगलसे चुनकर रोज सूखी लकड़ियाँ ले आते और उन्हें बेचकर जो कुछ मिल जाता, उसीसे भगवान्की पूजा करके प्रभुके प्रसादसे जीवन-निर्वाह करते थे। उनके मनमें कभी किसी सुख-आराम या भोगकी कल्पना ही नहीं जागती थी।

श्रीराँकाजी-जैसा भगवान्का भक्त इस प्रकार दरिद्रताके कष्ट भोगे, यह देखकर नामदेवजीको बड़ा विचार होता था। राँकाजी किसीका दिया कुछ लेते भी नहीं थे। नामदेवजीने श्रीपाण्डुरङ्गसे प्रार्थना की राँकाजीकी दरिद्रता दूर करनेके लिये। भगवान्ने कहा—'नामदेव! राँका तो मेरा हृदय ही है। वह तनिक भी इच्छा करे तो उसे क्या धनका अभाव रह सकता है? परंतु धनके दोषोंको जानकर वह उससे दूर ही रहना चाहता है। देनेपर भी वह कुछ लेगा नहीं। तुम देखना ही चाहो तो कल प्रातःकाल वनके रास्तेमें छिपकर देखना।'

दूसरे दिन भगवान्ने सोनेकी मुहरोंसे भरी थैली जंगलके मार्गमें डाल दी। कुछ मुहरें बाहर बिखेर दीं और छिप गये अपने भक्तका चरित देखने। राँकाजी नित्यकी भाँति भगवन्नामका कीर्तन करते चले आ रहे थे। उनकी पत्नी कुछ पीछे थीं। मार्गमें मुहरोंकी थैली देखकर पहले तो आगे जाने लगे, पर फिर कुछ सोचकर वहीं ठहर गये और हाथोंमें धूल लेकर थैली तथा मुहरोंको ढकने लगे। इतनेमें उनकी पत्नी समीप आ गयीं। उन्होंने पूछा—'आप यहाँ क्या ढँक रहे हैं?' राँकाजीने उत्तर नहीं दिया। दुबारा पूछनेपर बोले—'यहाँ सोनेकी मुहरोंसे भरी थैली पड़ी है। मैंने सोचा कि तुम पीछे आ रही हो, कहीं सोना देखकर तुम्हारे मनमें लोभ न आ जाय, इसलिये इसे धूलसे ढके देता हूँ। धनका लोभ मनमें आ जाय तो फिर भगवान्का भजन नहीं होता।' पत्नी यह बात सुनकर हँस पड़ी और बोली—'स्वामी! सोना भी तो मिट्टी ही है। आप धूलसे धूलको क्यों ढँक रहे हैं।' राँकाजी झट उठ खड़े हुए। पत्नीकी बात सुनकर प्रसन्न होकर बोले—'तुम धन्य हो! तुम्हारा ही वैराग्य बाँका है। मेरी बुद्धिमें तो सोने और मिट्टीमें भेद भरा है। तुम मुझसे बहुत आगे बढ़ गयी हो।'

नामदेवजी राँका-बाँकाका यह वैराग्य देखकर भगवान्से बोले—'प्रभो! जिसपर आपकी कृपादृष्टि होती है, उसे तो आपके सिवा त्रिभुवनका राज्य भी नहीं सुहाता। जिसे अमृतका स्वाद मिल गया, वह भला, सड़े गुड़की ओर क्यों देखने लगा? ये दम्पति धन्य हैं।'

भगवान्ने उस दिन राँका-बाँकाके लिये जंगलकी सारी सूखी लकड़ियाँ गट्ठे बाँध-बाँधकर एकत्र कर दीं। दम्पतिने देखा कि वनमें तो कहीं आज लकड़ियाँ ही नहीं दीखतीं। गट्ठे बाँधकर रखी लकड़ियाँ उन्होंने किसी दूसरेकी समझीं। दूसरेकी वस्तुकी ओर आँख उठाना तो पाप है। दोनों खाली हाथ लौट आये। राँकाजीने कहा—'देखो सोनेको देखनेका ही यह फल है कि आज उपवास करना पड़ा। उसे छू लेते तो पता नहीं कितना कष्ट मिलता।' अपने भक्तकी यह निष्ठा देखकर भगवान् प्रकट हो गये। दम्पति उन सर्वेश्वरके दर्शन करके उनके चरणोंमें गिर पड़े।

१०१ वर्ष इस पृथ्वीपर रहकर राँकाजी वैशाख शुक्ल पूर्णिमा संवत् १४५२ वि० को अपनी पत्नी बाँकाजीके साथ परम धाम चले गये।

भक्त साँवता माली

पण्ढरपुरसे दस-बारह मीलपर अरणभेंडी नामक एक ग्राम है। साँवता यहींके रहनेवाले थे। इनका जन्म शाके ११७२ में हुआ था। इनके पिताका नाम परसुवा और माताका नांगिता बाई था। ये मालीका काम करते और वनमाली श्रीविट्ठलको भजते थे। एक बार श्रीज्ञानेश्वरजी और श्रीनामदेवजी श्रीविट्ठलभगवान्के सङ्ग संत कूर्मदाससे मिलने जा रहे थे। अरणभेंडी स्थानके समीप जब आपलोग आये, तब भगवान्ने इन दोनों महात्माओंसे कहा कि 'तुमलोग जरा ठहर जाओ, मैं अभी साँवतासे मिलकर आता हूँ।' यह कहकर भगवान् साँवताके पास पहुँचे और बोले—'साँवता! तू मुझे जल्दी कहीं छिपा दे, दो चोर मेरे पीछे पड़े हैं।' साँवताने तुरंत खुरपेसे अपना पेट चीरा और उसमें भगवान्को छिपाकर ऊपरसे एक चादर ओढ़ ली। इधर ज्ञानदेवजी और नामदेवजी भगवान्की प्रतीक्षा कर रहे हैं। जब बहुत काल बीत गया, तब दोनों साँवताके यहाँ गये। साँवता नाममें मग्न थे; इससे यह निश्चय हो गया कि भगवान् यहीं कहीं छिपे हैं। ज्ञानदेवजी और नामदेवजी दोनोंने साँवता भैयासे प्रार्थना की कि 'भाई! भगवान्के दर्शन तो करा दो।' साँवताने भगवान्को बाहर निकाला। तब सभी प्रेमसे गद्गद हो गये। साँवता सर्वत्र सब पदार्थोंके अंदर एक भगवान्को ही देखा करते थे। भगवन्नाममें भी उनकी बड़ी विलक्षण निष्ठा थी। एक अभंगमें उन्होंने कहा है—'नामका ऐसा बल है कि मैं अब किसीसे भी नहीं डरता और कलिकालके सिरपर डंडे जमाया करता हूँ। विट्ठलनाम गाकर और नाचकर हमलोग उन वैकुण्ठपतिको यहीं अपने कीर्तनमें बुला लिया करते हैं। इसी भजनानन्दकी दिवाली मनाते हैं और चित्तमें उन वनमालीको पकड़कर पूजा किया करते हैं। साँवता कहता है कि 'भक्तिके इस मार्गपर चले चलो, चारों मुक्तियाँ द्वारपर आ गिरेंगी।' साँवताजीने शाके १२१७ की आषाढ़ कृष्णा १४ को समाधि ली।
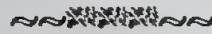
भक्त नरहरि सुनार

नरहरि सुनार रहनेवाले थे पण्ढरपुरके ही, पर थे शिवजीके भक्त—ऐसे भक्त जो कभी श्रीविट्ठलजीके दर्शन ही नहीं करते थे। पण्ढरपुरमें रहकर भी कभी इन्होंने पण्ढरीनाथ श्रीपाण्डुरङ्गके दर्शन नहीं किये। शिवभक्तिका ऐसा विलक्षण गौरव इन्हें प्राप्त था। एक बार ऐसा संयोग हुआ कि एक सज्जनने इन्हें श्रीविट्ठलके कमरकी करधनी बनानेको सोना ला दिया और कमरका नाप भी बता दिया। इन्होंने करधनी तैयार की, पर वह कमरसे चार अंगुल बड़ी हो गयी। उसे छोटी करनेको कहा गया तो वह कमरसे चार अंगुल छोटी हो गयी। फिर वह बड़ी की गयी तो चार अंगुल बढ़ गयी; फिर छोटी की गयी तो चार अंगुल घट गयी। इस प्रकार चार बार हुआ। लाचार नरहरि सुनारने स्वयं चलकर नाप लेनेका निश्चय किया। पर कहीं श्रीविट्ठल भगवान्के दर्शन न हो जायँ, इसलिये इन्होंने अपनी आँखोंपर पट्टी बाँध ली और हाथ आगे बढ़ाकर जो टटोलने लगे तो उनके हाथोंको पाँच मुख, दस हाथ, सर्पालङ्कार, मस्तकपर जटा और जटामें गङ्गा—ऐसी शङ्करमूर्तिका स्पर्श हुआ। उन्हें निश्चय हो गया कि ये तो श्रीशङ्कर ही हैं। इसलिये उन्होंने आँखोंकी पट्टी खोल दी और देखा तो श्रीविट्ठलके दर्शन हो गये। फिर आँखें बंद करके टटोलने लगे तो फिर उन्हीं पञ्चवक्त्र चन्द्रशेखर श्रीशङ्करका आलिङ्गन हुआ। आँखें खोलनेपर विट्ठल और आँखें बंद करनेपर शङ्कर! तीन बार ऐसा ही हुआ। तब नरहरि सुनारको यह बोध हो गया कि जो शङ्कर हैं, वे ही विट्ठल (विष्णु) हैं और जो विट्ठल हैं, वे ही शङ्कर हैं; दोनों एक ही हरि-हर हैं। तब उनकी उपासना, जो एकदेशीय थी, अति उदार, व्यापक हो गयी और वे श्रीविट्ठलभक्तोंके वारकरी-मण्डलमें सम्मिलित हो गये। सुनारी इनकी वृत्ति थी। इसी वृत्तिमें रहकर '**स्वकर्मणा**'

श्रीनामदेवजी [पृ० ४५३]
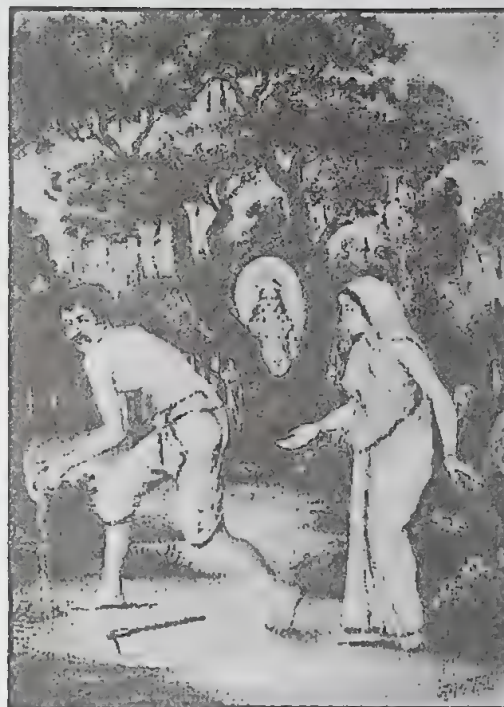
भक्त राँका-बाँका [पृ० ४५५]

भक्त मनकोजी बोधला [पृ० ४६०]

भक्त भानुदासजीको सूर्यदर्शन [पृ० ४६३]

भक्त तुकाराम [पृ० ४७३]

भक्त पुरन्दरदासकी स्त्री [पृ० ४६९]

भक्त त्र्यम्बकराज [पृ० ४७९]

भगवान्‌का अर्चन करनेका बोध इन्हें किस प्रकार हुआ, इसका निदर्शक इनका एक अभंग है, जिसमें नरहरि सुनार कहते हैं—'भगवन्! मैं आपका सुनार हूँ, आपके नामका व्यवहार करता हूँ। यह देह गलेका हार है, इसका अन्तरात्मा सोना है। त्रिगुणका साँचा बनाकर उसमें ब्रह्मरस भर दिया। विवेकका हथौड़ा लेकर उससे काम-क्रोधको चूर किया और मन-बुद्धिकी कैंचीसे राम-नाम बराबर चुराता रहा। ज्ञानके काँटेसे दोनों अक्षरोंको तौला और थैलीमें रखकर थैली कंधेपर उठाये रास्ता पार कर गया। यह नरहरि सुनार, हे हरि! आपका दास है, रात-दिन आपका ही भजन करता है।'

चोखा मेळा

चोखा मेळा महार जातिके थे। मङ्गलवेढ़ा नामक स्थानमें रहते थे। बस्तीसे मरे हुए जानवर उठा ले जाना ही इनका धंधा था। बचपनसे ही ये बड़े सरल और धर्मभीरु थे। श्रीविट्ठलजीके दर्शनोंके लिये बीच-बीचमें ये पण्ढरपुर जाया करते थे। पण्ढरपुरमें इन्होंने नामदेवजीके कीर्तन सुने। यहीं उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई। नामदेवजीको इन्होंने अपना गुरु माना। अपने सब काम करते हुए ये भगवन्नाममें रत रहने लगे। इनपर बड़े-बड़े संकट आये, पर भगवन्नामके प्रतापसे ये संकटोंके ऊपर ही उठते गये। पण्ढरपुरके श्रीविट्ठल-मन्दिरका महाद्वार इन्हें अपना परम आश्रय जान पड़ता था और भगवद्भक्तोंके चरणोंकी धूल अपना महाभाग्य। उस धूलमें ये लोटा करते थे। इनकी अनन्य भक्तिसे भगवान् इनके हो गये। एक बार श्रीविट्ठल इन्हें मन्दिरके भीतर लिवा लाये और अपने दिव्य दर्शन देकर कृतार्थ किया। अपने गलेका रत्नहार और तुलसी-माला भगवान्‌ने इनके गलेमें डाल दी। पुजारी जागे, जो अबतक सोये हुए थे। 'चोखा, एक महार, बेखटके घुसा चला आया मन्दिरके भीतर! इसकी यह हिम्मत? और भगवान्‌के गलेका रत्न-हार इसके गलेमें? इसने ठाकुरजीको भ्रष्ट कर दिया और रत्नहार चुरा लिया।' यह कहकर पुजारियोंने उसे बेतरह पीटा, रत्नहार छीन लिया और धक्के देकर बाहर निकाल दिया। इस प्रसङ्गपर संत जनाबाईने एक अभंगमें कहा है, 'चोखा मेळाकी ऐसी करनी कि भगवान् भी उसके ऋणी हो गये। जाति तो इसकी हीन है, पर सच्ची भक्तिमें तो यही लीन है। इसने ठाकुरजीको भ्रष्ट किया, यह सुनकर तो यह जनी हँसने और गाने लगती है। चोखा मेळा ही तो एक अनामिक भक्त है, जो भक्तराज कहाने योग्य है। चोखा मेळा वह भक्त है, जिसने भगवान्‌को मोह लिया। चोखा मेळाके लिये स्वयं जगत्पति मरे हुए जानवर ढोने लगे।' चोखाजी ज्ञानेश्वर महाराजकी संतमण्डलीमें एक थे। इनकी भक्तिपर सभी मुग्ध थे। निरन्तर भगवन्नाम-चिन्तन करनेवाले चोखाजी भगवन्नामकी महिमा गाते हुए एक जगह कहते हैं कि 'इस नामके प्रतापसे मेरा संशय नष्ट हो गया। इस देहमें ही भगवान्‌से भेंट हो गयी।' इनकी पत्नी सोयराबाई और बहिन निर्मलाबाई भी बड़ी भक्तिमती थीं। सोयराबाईकी प्रसूतिमें सारी सेवा स्वयं भगवान्‌ने की, ऐसा कहा गया है। इनके बेटेका नाम कर्म मेळा था, वह भी भक्त था। बंका महार नामक भक्त इनके साले थे। चोखाजी भगवान्‌के बड़े लाडिले भक्त माने जाते हैं। मंगलवेढ़ामें एक बार गाँवकी प्राचीरकी मरम्मत हो रही थी। उस काममें चोखा मेळा भी लगे थे। एकाएक प्राचीर ढह गयी, कई महार दबकर मर गये; उसीमें (सन् १३३८ ई०में) चोखाजीका भी देहान्त हो गया। भक्तोंने चोखाजीकी अस्थियाँ ढूँढ़ीं, नामदेवजी साथ थे। इनकी अस्थियोंकी पहचान यह मानी गयी कि जिस अस्थिमेंसे विट्ठल-ध्वनि निकले, उसीको चोखाजीकी अस्थि जानें। इन अस्थियोंको नामदेवजी पण्ढरपुर ले आये और मन्दिरके महाद्वारपर वे गाड़ी गयीं और उनपर समाधि बनी। जिनकी अस्थियोंमेंसे भी 'विट्ठल' नाम निकल रहा था, उन चोखाजीका सब भक्तोंने जय-जयकार किया।

भक्त मनकोजी बोधला

ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥
(श्रीमद्भा० ९। ४। ६५)

मनकोजी बोधला बरार प्रान्तके प्रसिद्ध नगर धामनगाँवके पटेल थे। इनकी स्त्रीका नाम था मामाताई। इनके यमाजी नामका एक पुत्र तथा भागीरथी नामकी एक कन्या थी। स्त्री पतिव्रता थी, पतिकी सेवामें लगी रहती थी। पुत्र सुशील था, विनयी था। माता-पिताकी आज्ञा मानकर चलनेवाला था। कन्या सुन्दरी तथा गुणवती थी। पूरा परिवार साधु-ब्राह्मणोंकी सेवा करनेवाला, सदाचारी और भगवान्का भक्त था। घरमें भरपूर धन था। कोठे अन्नसे भरे थे। गोशालामें बैल, गाय और भैंसोंकी पाँत बँधा करती थी। सदा अतिथियोंका सत्कार होता था।

एक बार देशमें अकाल पड़ गया। मनुष्य अन्न बिना और पशु चारे बिना मरने लगे। मनकोजी बोधलाने पत्नीसे कहा—'देखो! आज भगवान् ही भूखे और दरिद्रके रूपमें हमसे पूजा चाहते हैं। घरमें जो अन्न-धन है, वह उन्हींकी कृपाका प्रसाद है। भूखोंको अन्न, प्यासोंको जल, नंगोंको वस्त्र और रोगियोंको ओषधि देना ही भगवान्की सच्ची पूजा है। पर देखो, कहीं दानका अभिमान न आ जाय। कृपा करके ही भगवान् पूजा स्वीकार करते हैं, यह भाव बना रहे। नम्रतापूर्वक मीठी वाणीसे सबका सत्कार करते हुए ही पूजा अर्पण करनी चाहिये।' पतिकी आज्ञा माननेवाली निर्लोभ मामाताईने बड़ी प्रसन्नतासे यह आज्ञा स्वीकार की।

भूखोंको अन्न, नंगोंको वस्त्र और अनाथोंको अबाध आश्रय मिलने लगा। दूर-दूरसे सैकड़ों-सहस्रों कंगाल, भूखे लोगोंकी भीड़ आने लगी। चीनीपर चींटियोंकी भाँति क्षुधार्तोंकी भीड़ बढ़ती गयी। मनकोजी और मामाताई बड़े प्रेमसे सबका सत्कार करते थे, किंतु उनके पास धन तो था परिमित ही! अन्न समाप्त हो गया, वस्त्र बँट गये, सोना और रत्न बेंचकर जो मिला, वह भी बाँट दिया गया। घरमें चारा नहीं रहा तो पशु भी दान कर दिये गये। घरमें बरतनतक न रहे। धामनगाँव-जैसे नगरके पटेल मनकोजी बोधला अब स्त्रीके साथ दूसरोंके घर मजदूरी करके अपना और बच्चोंका पेट पालने लगे। इस त्यागमें वे बहुत प्रसन्न थे। भोगका आनन्द तो मादक होता है, दुर्गुणोंको जन्म देता है, क्षणिक होता है और उसका अन्त कष्ट, रोग, शत्रुता और नरकमें होता है; किंतु त्यागका आनन्द तो सच्चा आनन्द है। वह हृदयको निर्मल कर देता है। उससे समस्त सद्गुण जाग उठते हैं। वह जीवको भगवान्के चरणोंमें ले जाता है। इस त्यागके आनन्दसे मनकोजीका हृदय पूर्ण हो गया था। वे परिवारके साथ मजदूरी करते और अपने पदार्थोंसे रहित खाली मकानमें स्त्री-पुत्रके साथ भगवान्के नामका कीर्तन करते। संसारकी बाधाएँ भगवान्ने स्वयं दूर कर दी थीं उनकी।

मनकोजी बोधलाका सदासे नियम था कि प्रत्येक एकादशीको पण्ढरपुर जाते थे। चन्द्रभागामें स्नान करके भगवान्के दर्शन करते, रात्रि-जागरण करते और द्वादशीको चन्द्रभागाके तटपर अपने सामने ब्राह्मणोंको भोजन कराके, गरीबोंको अन्न-वस्त्र बाँटकर त्रयोदशीको लौट आते। एकादशी आनेवाली थी; किंतु अब तो उनके पास एक कौड़ी भी नहीं थी और मनकोजीको अपना नियम तो पूरा करना ही चाहिये। पतिव्रता पत्नीको चिन्तित होते देखकर उन्होंने समझा दिया कि चिन्ताका कोई कारण नहीं। मार्गके जंगलसे सूखी लकड़ियाँ चुनकर वे पण्ढरपुरमें बेच लेंगे और इससे काम चल जायगा। मार्गमें लकड़ियाँ एकत्र करके उनका गट्ठा लेकर वे पण्ढरपुर पहुँचे। लकड़ी बेचनेपर तीन पैसे मिले। चन्द्रभागामें स्नान करके उन पैसोंके फूल-पत्ते लेकर श्रीपाण्डुरङ्गका उन्होंने पूजन किया और रात्रिजागरण किया।

एकादशीके उपवासके पश्चात् द्वादशीको सबेरे ही मनकोजी जंगलसे लकड़ियाँ ले आये। उन्हें बेचनेपर तीन पैसे मिले, उनका आटा लेकर चन्द्रभागाके किनारे ब्राह्मण-भोजनकी इच्छासे ब्राह्मणका रास्ता देखने लगे। दोपहर हो गया, पर किसी ब्राह्मणने सूखा आटा लेना स्वीकार नहीं किया। द्वादशीको पण्ढरपुरमें चन्द्रभागाके

तटपर जहाँ सैकड़ों धनी ब्राह्मणोंको भोजन कराके दक्षिणा देने एकत्र होते हैं, वहाँ एक दरिद्रका सूखा आटा कौन ले? न दाल, न साग, न घी और न दक्षिणा देनेको एक छदाम। बोधलाके नेत्र भर आये। वे रोते-रोते सोचने लगे—'क्या आज मेरा नियम भंग होगा?'

दरिद्र भक्तकी प्रेमभरी भेंटका स्वाद तो शबरीके बेर, सुदामाके तन्दुल और विदुर-पत्नीके केलोंके छिलके खानेवाले पाण्डुरङ्ग ही जानते हैं। वे आज मनकोजीके आटेका स्वाद पानेको उत्सुक हो उठे। दरिद्र बूढ़े ब्राह्मणका वेष बनाये, लाठी टेकते आये और बोले—'अरे ओ भगत! मुझे बड़ी भूख लगी है। तेरे पास कुछ हो तो जल्दी दे मुझे।'

मनकोजीको तो जैसे वरदान मिला; परंतु यह सोचकर कि ब्राह्मणको स्थिति स्पष्ट बता देनी चाहिये, वे बोले—'महाराज! मेरे पास केवल सूखा आटा है और कुछ भी नहीं है।'

ये ब्राह्मण तो आये ही थे वह आटा लेने, बोले—'भाई! मैं कहाँ चावल-दाल, घी-शक्कर माँगता हूँ। मुझे बहुत भूख लगी है। आटा दे जल्दी, बाटियाँ बनाकर खाऊँगा।' बोधलाने आटा दे दिया। वे चाहते थे कि ब्राह्मण उनके सामने भोजन बनाकर खायँ, सदा सामने भोजन करानेका नियम था; पर आज सूखा आटा देकर उनमें कुछ कहनेका साहस नहीं था। घट-घटकी जाननेवाले वे ब्राह्मण देवता ही बोले—'अब खड़ा-खड़ा क्या देखता है। कुछ कण्डे माँग ला तो मैं यहीं बाटियाँ बना लूँ। भूखके मारे मुझसे कहीं जाया नहीं जायगा।'

मनकोजी बोधला दौड़कर यात्रियोंसे सूखे कण्डे माँग लाये, अग्नि ले आये। यज्ञभोक्ता सर्वेश्वर अपने हाथों भक्तका दिया आटा सानने बैठे। समस्त ऐश्वर्यकी अधीश्वरी भगवती महालक्ष्मी भी भक्तोंके ऐसे उपहारका एक कण पानेको ललचाया करती हैं। वे जानती हैं कि उनके स्वामी ऐसे मधुर पदार्थ पाकर उन्हें सर्वथा भूल जाते हैं। माँगकर आग्रहपूर्वक वे लेने न पहुँचें तो उन्हें एक कण भी नहीं मिलेगा। आज बोधलाके सूखे आटेका लालच उन्हें भी खींच लाया। वे रुक्मिणीजी बुढ़िया ब्राह्मणी बनकर ब्राह्मणके पास आयीं और बोलीं—'मुझे छोड़कर यजमानका दिया अन्न आप क्या अकेले हीं खाना चाहते हैं?' भगवान् मुसकरा दिये। उन वृद्धा मैयाने बाटियाँ बनानी प्रारम्भ कीं।

बोधलाको एक ही चिन्ता थी—'आटा तो एकके पेट भरने जितना ही नहीं था, दो कैसे भोजन करेंगे।' ब्राह्मण देवताने उन्हें भी भोजन करनेको कहा तो उन्होंने कह दिया—'मैं तो बचा हुआ जूठन-प्रसाद पा लूँगा।' जगन्नाथ पाण्डुरङ्ग और जगदम्बा रुक्मिणीजीने भरपेट भोजन किया। तृप्त होकर बोधलाके देखते-देखते ही वे अदृश्य हो गये। अब कहीं मनकोजी बोधलाको पता लगा कि उनका आटा स्वीकार करने ब्राह्मणके वेषमें स्वयं विट्ठलदेव ही पधारे थे। वे भावगद्गद हो गये।

मनकोजी बोधला वहाँसे मन्दिरमें भगवान्के दर्शन करने गये। उनको लगा कि आज पाण्डुरङ्ग साक्षात् सामने खड़े होकर मुसकरा रहे हैं। उन्होंने हाथ जोड़कर प्रार्थना की—'दयामय! आपकी कृपाको धन्य है। बड़े-बड़े धनियोंके नाना प्रकारके भोगोंको छोड़कर आप मुझ कंगालके सूखे आटेपर रीझ गये। आपने मुझे कृतार्थ कर दिया।'

भगवान्ने कहा—'भाई! मैं तो सब कहीं जाना चाहता हूँ, पर बड़ी-बड़ी ज्योनारोंमें मुझे पूछता ही कौन है।'

मनकोजीने कहा—'भगवन्! ऐसा कैसे हो सकता है।'

भगवान् बोले—'देखो, अमुक धनीके यहाँ मिठाइयाँ बन रही हैं। ब्राह्मणोंको निमन्त्रण भेज दिया गया है। एक हजार ब्राह्मण कल वे जिमायेंगे। मैं भी वहाँ जाऊँगा। तुम द्वारपर रहना।'

दूसरे दिन बोधला उन धनीके द्वारपर पहुँच गये। एक हजार पत्तलें और आसन बिछ गये थे। मुनीमजी निमन्त्रित ब्राह्मणोंकी सूचीमें नाम देख-देखकर ब्राह्मणोंको बैठा रहे थे। स्वयं बाबूजी खड़े होकर देख रहे थे कि एक भी फालतू आदमी न आ जाय। इतनेमें वे ही बूढ़े ब्राह्मण लाठी टेकते, कमरमें टाटका टुकड़ा लपेटे आये और सेठजीसे कहने लगे—'मैं बहुत भूखा हूँ।'

बाबूजीने नाम पूछा, सूची देखी और कहा—'आपको तो निमन्त्रण नहीं दिया गया। आप भोजन नहीं कर सकते।'

वृद्ध ब्राह्मणने कहा—'आप एक हजार ब्राह्मण जिमा रहे हैं, मैं बूढ़ा हूँ, भूखा हूँ; एक अधिक जिमा देंगे तो कोई हानि न होगी।'

बाबूजी बिगड़े—'हम भिखमंगोंको खिलाने नहीं आये हैं। चले जाओ, यहाँ कुछ नहीं मिलेगा।'

ब्राह्मणदेवता भी पूरे हठी निकले। वे एक पत्तलपर बैठते हुए बोले—'मैं तो खाकर ही जाऊँगा।'

अब बाबूजीका पारा चढ़ गया। वे गरजते हुए बोले—'इस बदमाशको पकड़कर निकाल दो! बापका घर बना लिया है कि जबरदस्ती बैठ गया।' ब्राह्मणने प्रार्थना की तो क्रोध और भड़क गया। बाबूजीने अपने नौकरोंसे धक्का दिलाकर द्वारसे बाहर निकलवा दिया उन्हें।

बोधला यह सब दूर खड़े देख रहे थे। भगवान्ने पास आकर उनसे कहा—'देख लिया न? हम-जैसोंको तो यहाँ धक्के ही मिलते हैं। अब इस अभिमानका फल भी देखते जाओ।' बड़े जोरकी आँधी आयी, पत्तलें तो क्या छप्परतक उड़ गये। मिठाइयाँ नष्ट हो गयीं। ब्राह्मण सब प्राण लेकर भाग गये। भगवान्ने कहा—'बोधला! मैं तुम्हारे-जैसे भक्तोंका रूखा-सूखा अन्न तो बड़े प्रेमसे पा लेता हूँ, पर दम्भियोंके पक्वान्न नहीं ग्रहण करता।'

भगवान्को प्रणाम करके बोधला अपने ग्रामकी ओर चले। उन्होंने एकादशीका व्रत किया, द्वादशी भी व्रत ही बनी रही और आज त्रयोदशी हो गयी। भूख-प्याससे अत्यन्त व्याकुल हो गये वे। भगवान्ने अपने भक्तकी सेवा करनेके लिये योजना बनायी। बोधलाजीने मार्गमें एक सुन्दर बगीचा देखा। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह बगीचा तो पहले कभी देखा नहीं था। भूख लगी थी, प्याससे मुख सूख रहा था, विश्राम करनेकी इच्छा थी; मनने मान लिया था कि मार्ग भूलकर कहीं दूसरी ओर आ निकले हैं। किंतु दूसरेके बगीचेमें बिना पूछे जायँ कैसे? इतनेमें इस समस्त सृष्टिरूपी बगीचेकी रक्षा करनेवाली रुक्मिणी मैया मालिनके वेषमें आयीं और कहने लगीं—'भगतजी! आप थके जान पड़ते हैं। आप पण्ढरपुरके यात्री हैं, अतः आपके सत्कारका पुण्य हमें भी मिलना चाहिये। बगीचेके स्वामी आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। वे बैलोंको सँभाले हैं, नहीं तो स्वयं आते। अपनी चरण-रजसे हमारी कुटिया आप पवित्र करें।'

मनकोजी बगीचेमें गये। माली बने भगवान्ने उन्हें पैर धोनेको जल दिया। फल ले आये उनके लिये। स्वयं रुक्मिणीजीने छील-बनाकर फलोंको बोधलाके सम्मुख रखा। बोधलाने मन-ही-मन पाण्डुरङ्गको भोग लगाकर प्रसाद पाया। जल पिया। आजके फलोंका स्वाद फिर संसारके पदार्थोंमें कहाँसे आये। बोधलाकी सब थकावट, सारी भूख-प्यास दूर हो गयी। वे आनन्दमग्न हो गये। विश्राम करके, मालीसे विदा होकर जैसे ही वे बगीचेसे निकले, वैसे ही उनके सामने ही पूरा बगीचा अदृश्य हो गया। अब मनकोजी समझ गये कि उनके प्रभुने ही उनके लिये यह व्यवस्था की थी। वहीं भूमिमें मस्तक रखकर अपने कृपासिन्धु विट्ठलको प्रणाम किया उन्होंने। वहाँसे भगवन्नाम-कीर्तन करते घर आये।

इस वर्ष वर्षा अच्छी हुई। मनकोजी बोधलाके खेतमें खूब जुआर लगी है। मनकोजी खेतकी रखवाली करने बैठे हैं। खेतमें चिड़ियाँ आयीं। उन्हें उड़ाने उठते ही मनकोजीके चित्तने कहा—'जो भगवान् अन्नके एक दानेसे इतने दाने बना देते हैं, उन्होंने ही तो चिड़ियोंको भी भेजा है। मैं क्यों इनको खानेसे रोकूँ।' पक्षी मनमाना चुगकर पेट भरनेपर उड़ गये। मनकोजीकी स्त्री मामाताई जब खेतपर आयीं, तब उन्हें खेत कुछ उजड़ा जान पड़ा। उन्होंने समझा कि उनके उदार स्वामीने सिट्टे तोड़कर भिखारियोंको दिये हैं। बराबर दरिद्रताके क्लेश भोगनेसे मामाताई कुछ व्याकुल-सी हो गयी थीं। उन्होंने कहा—'यदि आप इसी प्रकार भिखारियोंको खेत लुटा देंगे तो हमारे बच्चे क्या खायेंगे? अब आपको पण्ढरीनाथकी शपथ है जो अपने हाथसे एक भी सिट्टा तोड़कर किसीको दें!'

मामाताई तो चली गयी थीं घर और बोधला खेतकी रक्षापर बैठे थे। पण्ढरपुरसे साधु-यात्रियोंका एक दल उधरसे जा रहा था। वे लोग भूखे थे। उन्होंने दो-चार सिट्टे माँगे। बोधलाने कहा—'मेरी स्त्री मुझे शपथ दिलवा गयी है, इसलिये मैं अपने हाथसे तो सिट्टे तोड़कर दूँगा नहीं। आपलोग स्वयं भले तोड़ लें।' सैकड़ों साधु थे। खुली आज्ञा पाकर खेतमें घुस गये।

सारा खेत साफ हो गया। बोधला निश्चिन्त मनसे भगवान्का गुण गाते बैठे रहे। स्त्री-पुत्र जब खेतपर आये, तब खेतकी दशा देखकर रो पड़े। परंतु थे वे भी भगवान्के भक्त। यह जानकर कि पण्ढरीनाथके यात्री उनका ज्वार खा गये, वे सन्तुष्ट हो गये।

बोधलाके खेत उजड़नेकी बात गाँवमें फैलते ही लोगोंने नाना प्रकारसे आलोचना करना प्रारम्भ कर दिया। जो दुर्जन लोग सत्पुरुषोंको सङ्कटमें पड़ा देखकर सन्तुष्ट होते हैं, वे बोधलाको कष्ट देनेका षड्यन्त्र करने लगे। उन्होंने लगान-अफसरसे कहा—'पहले बोधलासे लगान वसूल किया जाय। जबतक वह लगान नहीं देगा, हमलोग भी नहीं देंगे।' अफसरने हवलदारको रुपये माँगने बोधलाके घर भेजा। बोधलाके घरमें था ही क्या, जो देते। गाँवकी नगाउ साहुकारिनने भी ब्याजपर रुपये देना स्वीकार नहीं किया। विवश होकर बोधला रुपये उधार लेने रलेरास नामक पासके गाँवमें गये। इधर दुष्टोंने हल्ला कर दिया कि मनकोजी भाग गया। फल यह हुआ कि हवलदार कुर्की लेकर आया। मामाताईको घरसे निकाल कर उसने घरमें ताला बंद कर दिया और उनकी गाय-बकरियाँ भी कुर्क कर लीं।

अब भक्तवत्सल प्रभुने धामनगाँवके विठ्या महारका रूप धारण किया। भक्तोंके योग-क्षेमका वहन करनेकी उन्होंने प्रतिज्ञा की है। लगान-अफसरके पास जाकर मनकोजी बोधलाका पूरा रुपया देकर उन्होंने रसीद कटवा ली। घरका ताला खुल गया। कुर्की उठ गयी। गाँववालोंको भी अब लाचार होकर रुपये भरने पड़े! उधर मनकोजी बोधलाको ब्याजपर रुपये मिल गये थे। वे रुपये लेकर अफसरके पास पहुँचे और क्षमा-प्रार्थना करने लगे, तब अफसरने कहा—'तुम्हारे रुपये तो विठ्या महारने भर दिये हैं। तुम्हारे घरवालोंने रुपये भेजे होंगे।' बोधला घर आये। घरपर तो फूटी कौड़ी नहीं थी, लगान कौन कैसे भेजता! घरवाले तो जानते थे कि मनकोजीने रुपये भरे हैं, इसीसे कुर्की उठी है। बेचारा धामनगाँवका विठ्या महार—उसे कुछ पता नहीं था। उसके पास भला इतने रुपये कहाँसे आते। वह तो मनकोजीके पैरों पड़ रहा था कि मुझे तो कुछ भी पता नहीं।

अब मनकोजी समझ गये कि उनके लिये पाण्डुरंग विठ्या महार बने। भक्तके लिये वे करुणासागर कब क्या नहीं बन सकते। गाँवके कुछ लोगोंने आश्चर्यसे उसी समय खेतकी ओरसे दौड़ते हुए आकर समाचार दिया—'मनकोजीका खेत बड़े-बड़े मोटे सिट्टोंसे लहलहा रहा है। इतना जुआर तो किसी खेतमें कभी नहीं देखने-सुननेमें आया।'

श्रीभानुदासजी

श्रीभानुदास आश्वलायनसूत्री ऋग्वेदी ब्राह्मण थे। इनके कुलमें परम्परासे श्रीविट्ठलोपासना चली आयी थी। यथासमय इनका उपनयन हुआ। इन्होंने दस वर्षकी उम्रमें एक प्राचीन जीर्ण मन्दिरके तहखानेमें बैठकर सात दिनोंतक लगातार श्रीसूर्यनारायणकी अखण्ड उपासना की। आठवें दिन भगवान् सूर्यदेवने इनको दर्शन देकर कृतार्थ किया। तभीसे इनका नाम भानुदास हुआ। पीछे इन्होंने तीन गायत्री-पुरश्चरण किये। यथासमय इनका विवाह हुआ, सन्तान हुई। यहाँतक ये काम-धंधा कुछ भी नहीं जानते थे। इनके कुछ हितैषियोंने इन्हें कुछ रुपये देकर कपड़ेका व्यापार करा दिया। ये गाँवमें अपनी दूकान रखते और हर आठवें दिन घोड़ेपर कपड़ा लादकर आस-पासके गाँवोंमें बेंच आते। जो मिल जाता, उसीसे निर्वाह करते, पर कभी झूठ न बोलते। इनकी सचाई देखकर अपनेको चतुर माननेवाले व्यापारी यही कहा करते कि 'ये व्यापार करके कुछ कमा न सकेंगे।' दो बार इनको बड़ा घाटा लगा, पर इन्होंने अपने 'सत्य' व्रतको नहीं छोड़ा। अन्तमें इनकी सचाईकी ऐसी साख जमी कि ग्राहक इन्हींकी दूकानपर टूट पड़ने लगे। धन इनके पास नदीकी तरह बहता हुआ आने लगा। चार-पाँच वर्षमें ही ये बहुत बड़े धनी हो गये। व्यापारमें ये कभी भगवान्को नहीं भूले। सतत नाम-स्मरण करते हुए ही सारा काम-काज करते। समयपर सद्ग्रन्थ-पठन भी किया करते। पण्ढरीकी आषाढ़ी-कार्तिकी वारी इनकी

कभी न चूकी। भक्तोंने शीघ्र ही जान लिया कि ये एक महान् भक्त हैं।

इन दिनों विजयनगरके राजा महाबली और महापराक्रमी कृष्णराय थे, जिन्होंने विजयनगर-साम्राज्यका चारों ओर विस्तार किया था और उसकी सर्वाङ्गीण उन्नति की थी। ये श्रीविट्ठलभगवान्‌के दर्शनोंके लिये जब पण्ढरपुर आये, तब लौटते हुए श्रीविट्ठलमूर्तिको अपनी राजधानीमें ले गये। आषाढ़ी एकादशीके अवसरपर जब भक्तलोग एकत्र हुए तब उन्होंने देखा कि मन्दिरमें श्रीविट्ठलमूर्ति नहीं है। इससे वे बहुत दुःखी हुए। भक्तोंने यह संकल्प किया कि जबतक भगवान् फिरसे मन्दिरमें नहीं पधारेंगे, तबतक हमलोग यहीं उनका भजन करते हुए पड़े रहेंगे। इन भक्तोंमें भानुदास भी थे। उन्होंने कहा, 'मैं भगवान्‌को ले आता हूँ।' यह कहकर भानुदास विजयनगर गये। मध्यरात्रिके समय वे मन्दिरके समीप पहुँचे। दरवाजोंमें जो ताले लगे थे, वे अपने-आप खुल गये; पहरेदार सो गये और भानुदास मन्दिरमें घुसकर भगवान्‌के सामने जा उपस्थित हुए। भगवान्‌के चरणोंको आलिङ्गनकर उन्हें प्रेमाश्रुओंसे नहलाया और हाथ जोड़कर कहने लगे—'भगवन्! अब आप मेरे साथ चलिये।' भगवान्‌ने अपने गलेका नवरत्नहार भानुदासके गलेमें डाल दिया। रत्नहारसहित भानुदास पकड़े गये। राजाज्ञासे सिपाही उन्हें सूलीपर चढ़ानेके लिये ले गये। उस समय भानुदासने श्रीविट्ठलको पुकारकर कहा—'चाहे आकाश टूट पड़े या ब्रह्माण्ड फट जाय या तीनों भुवन दावानलके ग्रास बन जायँ; तो भी हे विट्ठल! मैं तो तुम्हारी ही प्रतीक्षा करूँगा।' इस प्रकार भानुदास भगवान्‌के साथ तन्मय हो रहे थे, इतनेमें ही जिस सूलीपर वे चढ़ाये जानेको थे, उसमें पत्ते निकल आये और देखते-देखते फल-फूलोंसे लदा एक सुन्दर वृक्ष ही बन गया! जब राजा कृष्णरायको यह मालूम हुआ, तब यह जानकर कि भानुदास चोर नहीं बल्कि कोई बड़े महापुरुष हैं, वे दौड़े हुए भानुदासके समीप आये और उनके चरणोंपर लोट गये। तब भानुदासजीने भी राजासे कहा—'मैं श्रीविट्ठलभगवान्‌को पण्ढरपुर ले जानेके लिये यहाँ आया हूँ।' राजाने रत्नजटित पालकीमें भगवान्‌को पधरवाकर और संरक्षकोंकी एक छोटी-सी सेना साथ देकर भानुदासके साथ बड़े ठाट-बाटके साथ बिदा किया। कार्तिकी एकादशीसे पहले भगवान्‌को लेकर भानुदास पण्ढरपुर लौट आये। तबसे इसी उपलक्षमें पण्ढरपुरमें कार्तिकी एकादशीके दिन बड़े समारोहके साथ भगवान्‌की सवारी निकलती है। इन्हीं भानुदासके वंशमें आगे चलकर महात्मा श्रीएकनाथ महाराज अवतीर्ण हुए।

भक्त श्रीएकनाथजी

भक्तश्रेष्ठ भानुदासजीके पुत्र चक्रपाणि, चक्रपाणिके पुत्र सूर्यनारायण और सूर्यनारायणके पुत्र भक्तराज एकनाथ हुए। इनका जन्म सं० १५९० वि० के लगभग हुआ था। इनके जन्मकालमें मूल नक्षत्र था। अतः इनके जन्मते ही इनके पिताका देहान्त हो गया तथा उसके कुछ काल बाद माताका भी। इनके पिता सूर्यनारायण बड़े मेधावी तथा माता रुक्मिणी बड़ी पतिव्रता और सुशीला थीं। इनका लालन-पालन पितामह चक्रपाणिने किया। एकनाथ बचपनसे ही बड़े बुद्धिमान्, श्रद्धावान् और भजनानन्दी थे। छठे वर्षमें इनका यज्ञोपवीत-संस्कार हो गया था। ब्राह्मकर्मकी इन्हें उत्तम शिक्षा मिली। रामायण, महाभारत तथा अनेक पुराण इन्होंने बाल्यावस्थामें ही सुन लिये। बारह वर्षकी अवस्थामें इनके अंदर ऐसी भगवत्प्रीति जागी कि भगवान्से मिलानेवाले सद्गुरुके लिये ये व्याकुल हो उठे। इसी स्थितिमें, रातके चौथे पहर किसी शिवालयमें बैठे ये हरिगुण गा रहे थे, तबतक इन्हें यह आकाशवाणी सुनायी पड़ी—'जाओ देवगढ़में, वहाँ जनार्दन पंतके दर्शन करो; वे तुम्हें कृतार्थ करेंगे।' बस, ये बिना किसीसे कुछ कहे-सुने चल दिये। दो दिन और दो रातका रास्ता तै करके तीसरे दिन प्रातःकाल देवगढ़ पहुँचे। वहाँ इन्हें श्रीजनार्दन पंतके दर्शन हुए। इन्होंने उनके चरण पकड़ लिये। यह गुरु-शिष्य-संयोग सं० १६०२ वि० में हुआ। एकनाथजी छः वर्ष गुरुकी सेवामें रहे। गुरुसेवाकालमें गुरुसे पहले सोकर उठते थे और

गुरुकी निद्रा लग जानेके बाद सोते थे। गुरु जब स्नान करनेके लिये उठते, तब ये पात्रमें जल भर देते, धोती चुनकर हाथमें दे देते, पूजाकी सब सामग्री पहलेसे ही जुटाकर रखते; जबतक पूजा होती, तबतक पास ही बैठे रहते; जब जो वस्तु आवश्यक होती, उसे आगे कर देते; गुरु भोजन कर लेते, तब उन्हें पान लगाकर देते और जब वे विश्राम करने लगते, तब ये पैर दबाते। इस प्रकार गुरु-सेवाको इन्होंने परम धर्म जानकर उसका भलीभाँति पालन किया।

जनार्दन स्वामीने कुछ दिनोंतक एकनाथजीको हिसाब-किताबका काम सौंप रखा था। एक दिन इन्हें एक पाईका हिसाब नहीं मिला। इसलिये रातको गुरुसेवासे निवृत्त होकर ये बही-खाता लेकर बैठ गये। तीन पहरतक हिसाब जाँचते रहे। आखिर जब भूल मिली, तब इन्होंने बड़ी प्रसन्नतासे ताली बजायी। स्वामीजी उस समय सोकर उठे थे। उन्होंने झरोखेसे झाँककर देखा और पूछा कि 'एकनाथ! आज यह कैसी प्रसन्नता है?' एकनाथजीने बड़ी नम्रतासे पाईकी भूलका हाल बतलाया। गुरुजीने कहा—'एक पाईकी भूलका पता लगनेसे जब तुम्हें इतना आनन्द मिल रहा है, तब इस संसारकी बड़ी भारी भूल जो तुमसे हुई है, उसका पता लग जानेपर तुम कितने आनन्दित होगे! इसी प्रकार यदि तुम भगवान्‌के चिन्तनमें लग जाओ तो भगवान् कहीं दूर थोड़े ही हैं।' एकनाथजीने इसे गुरुका आशीर्वाद जाना और कृतज्ञतासे उनके चरणोंमें मस्तक रख दिया। इसके कुछ ही दिनों बाद श्रीएकनाथजीको श्रीदत्तात्रेयभगवान्‌का साक्षात्कार हुआ। एकनाथजीने देखा—श्रीगुरु ही दत्तात्रेय हैं और श्रीदत्तात्रेय ही गुरु हैं। इसके पश्चात् एकनाथजीको श्रीदत्तात्रेयभगवान् चाहे जब दर्शन देने लगे। इस सगुण-साक्षात्कारके अनन्तर श्रीगुरुने एकनाथजीको श्रीकृष्णोपासनाकी दीक्षा देकर शूलभञ्जन पर्वतपर रहकर तप करनेकी आज्ञा दी। एकनाथजी उस पर्वतपर चले गये और वहाँ उन्होंने घोर तपस्या की। तप पूरा होनेपर वे फिर गुरुके समीप लौटे। इसके बाद श्रीगुरुने उन्हें संत-समागम और भागवत-धर्मका प्रचार करनेके लिंये तीर्थयात्रा करनेकी आज्ञा दी और स्वयं भी नासिक-त्र्यम्बकेश्वरतक उनके साथ गये। इसी यात्रामें एकनाथजीने चतु:श्लोकी भागवतपर ओवी छन्दमें एक ग्रन्थ लिखा, जिसको पहले-पहल उन्होंने पञ्चवटी पहुँचकर श्रीरामचन्द्रजीके सामने गुरु श्रीजनार्दनस्वामीको सुनाया।

तीर्थयात्रा पूरी करके एकनाथजी अपनी जन्मभूमि पैठण लौट आये, परंतु अपने घर न जाकर पिप्पलेश्वर महादेवके मन्दिरमें ठहर गये। इनके वृद्ध दादा-दादी वर्षोंसे इनकी खोज कर रहे थे और उन्होंने श्रीगुरु जनार्दनस्वामीसे यह आज्ञापत्र ले लिया था कि 'एकनाथ! अब तुम विवाह करके गृहस्थाश्रममें रहो।' अत: जब इनके वृद्ध दादा-दादी इनसे मिलने जा रहे थे, तब रास्तेमें ही इनसे भेंट हो गयी। उन्होंने इन्हें छातीसे लिपटाकर श्रीगुरुका वह आज्ञापत्र दिखलाया। इसपर एकनाथजीने वहीं अपनी तीर्थयात्रा समाप्त कर दी। गुरुदेवके आज्ञानुसार इनका विवाह हुआ। इनकी धर्मपत्नी गिरिजाबाई बड़ी पतिपरायणा, परम सती और आदर्श गृहिणी थीं। और इस कारण इनका सारा प्रपञ्च भी परमार्थपरायण ही हुआ। इनके गार्हस्थ्य-जीवनकी दिनचर्या इस प्रकार थी—

ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर पहले प्रात:स्मरण और तत्पश्चात् गुरु-चिन्तन करना। शौचादि एवं गोदावरी-स्नानसे निवृत्त हो, सूर्योदयसे पूर्व सन्ध्या-वन्दन करना। सूर्योदयके बाद घर लौटकर देवपूजन, ध्यान-धारणा आदि करके गीता-भागवतादि ग्रन्थोंका पाठ अथवा श्रवण करना। मध्याह्नमें पुन: गोदावरी-घाटपर जाकर सन्ध्या-तर्पण, ब्रह्मयज्ञ करना और तदनन्तर घर लौटकर बलिवैश्वदेव तथा अतिथि-अभ्यागतोंके पूर्ण सत्कारके बाद स्वयं भोजन करना। तत्पश्चात् विद्वानों और भक्तोंके साथ बैठकर आत्मचर्चा करना। तीसरे पहर श्रीभानुदासद्वारा स्थापित श्रीविट्ठलमूर्तिके सामने भागवत, रामायण अथवा ज्ञानेश्वरी ग्रन्थका प्रवचन करना। सायंकाल फिर गोदावरीतटपर जाकर सन्ध्या-वन्दन करना और वहाँसे लौटकर धूप-दीपके साथ भगवान्‌की आरती और स्तोत्रपाठ करना। इसके अनन्तर कुछ हलका-सा आहार करके मध्यरात्रितक भगवत्कीर्तन करना अथवा वेदोपनिषद्-पुराणादिका अध्ययन करना। मध्यरात्रिसे लेकर चार घंटेतक शयन करना।

एकनाथजी ब्राह्मणोंका बड़ा आदर करते थे। इनके यहाँ सदावर्त चलता रहता था। सबको अन्न बाँटा जाता था। रातको जब ये कीर्तन करने लगते थे, उस समय दूर-दूरके लोग इनके यहाँ आते थे, जिनमें अधिकांश ऐसे ही श्रोता होते थे, जो इन्हींके यहाँ भोजन पाते थे। नित्य नये अतिथि आया ही करते थे। इस प्रकार यद्यपि एकनाथजीके यहाँ बड़ी भीड़-भाड़ रहती थी, फिर भी इनका सारा काम मजेमें चलता था। इन्हें कभी कोई चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी। अन्न-दान और ज्ञान-दानका प्रवाह इनके यहाँ निरन्तर बहा ही करता था। क्षमा, शान्ति, समता, भूतदया, निरहङ्कारता, निस्सङ्गता, भक्तिपरायणता आदि समस्त दैवी सम्पत्तियोंके निधान श्रीएकनाथ महाराजके दर्शनमात्रसे असंख्य स्त्री-पुरुषोंके पाप-ताप-संताप नित्य निवारित होते थे। इनका जीवन बद्धोंको मुमुक्षु बनाने, मुमुक्षुओंको मुक्त करने और मुक्तोंको पराभक्तिका परमानन्द दिलानेके लिये ही था। इनके परोपकारमय निःस्पृह साधुजीवनकी अनेकों ऐसी घटनाएँ हैं, जिनसे इनके विविध दैवीगुण प्रकट होते हैं। इनके जीवनकी कुछ विशेष घटनाओंका उल्लेख यहाँ किया जाता है—

(१) एकनाथ महाराज नित्य गोदावरीस्नानके लिये जाया करते थे। रास्तेमें एक सराय थी, वहाँ एक मुसलमान रहा करता था। यह उस रास्तेसे आने-जानेवाले हिंदुओंको बहुत तंग किया करता था। एकनाथ महाराजको भी इसने बहुत तंग किया। एकनाथ महाराज जब स्नान करके लौटते, तब यह उनपर कुल्ला कर देता। एकनाथ महाराज नदीको लौटकर स्नान कर आते। यह फिर उनपर कुल्ला करता। इस तरह दिनमें पाँच-पाँच बार इन्हें स्नान करना पड़ता। एक दिन तो इस अत्याचारकी सीमा हो गयी। एक सौ आठ बार उस यवनने इनपर पानीसे कुल्ला किया और एक सौ आठ बार ये स्नान कर आये। पर महाराजकी शान्ति और प्रसन्नता ज्यों-की-त्यों बनी रही! यह देखकर वह यवन अपने कियेपर बड़ा लज्जित हुआ और महाराजके चरणोंमें आ गिरा। तबसे उसका जीवन ही बदल गया।

(२) एकनाथ महाराजके पिताका श्राद्ध था। रसोई तैयार हुई, आमन्त्रित ब्राह्मणोंकी प्रतीक्षामें आप द्वारपर खड़े थे। उधरसे चार-पाँच महार निकले। मिठाईकी सुन्दर गन्ध पाकर वे आपसमें कहने लगे—'कैसी बढ़िया सुगन्ध आ रही है! भूख न हो तो भूख लग जाय! पर ऐसा भोजन हमलोगोंके भाग्यमें कहाँ।' एकनाथ महाराजने यह बात सुन ली और तुरंत उन महारोंको बुलाकर उन्हें उस रसोईसे अच्छी तरह भोजन करा दिया और जो कुछ बचा, वह भी गिरिजाबाईने इन महारोंके घरवालोंको बुलाकर खिला दिया। फिर स्थानको भलीभाँति धो-लीपकर ब्राह्मणोंके लिये दूसरी रसोई बनायी गयी। पर निमन्त्रित ब्राह्मणोंको जब यह बात मालूम हुई, तब उनके क्रोधका पार नहीं रहा। उन्होंने एकनाथजीको धर्मभ्रष्ट समझकर बहुत अंट-संट सुनाया और फटकारकर कहा—'तुम्हारे-जैसे पतितके यहाँ हमलोग भोजन नहीं करेंगे।' एकनाथजीने विनयपूर्वक समझाया कि 'आपलोग भोजन कीजिये, सब शुद्धि करके नयी रसोई बनी है' पर ब्राह्मण नहीं माने। तब हारकर यथाविधि श्राद्धका सङ्कल्प करके एकनाथ महाराजने पितरोंका ध्यान और आवाहन किया। स्वयं पितर मूर्तिमान् होकर प्रकट हो गये। उन्होंने स्वयं श्राद्धान्न ग्रहण किया और परितृप्त होकर आशीर्वाद देकर अन्तर्धान हो गये। ब्राह्मणोंको जब इस बातका पता लगा, तब वे बहुत लज्जित हुए।

(३) एक बार आधी रातके समय चार प्रवासी ब्राह्मण पैठणमें आये और आश्रय ढूँढ़ते-ढूँढ़ते एकनाथजीके घर पहुँचे। एकनाथजीने उनका स्वागत किया। मालूम हुआ कि प्रवासी ब्राह्मण भूखे हैं। उनके लिये रसोई बनानेको गिरिजाबाई तैयार हुईं, पर इधर कुछ दिनोंसे लगातार मूसलाधार वृष्टि होनेसे घरमें सूखा ईंधन नाममात्रको भी नहीं रह गया था। इतनी रातमें अब लकड़ी कहाँसे आये? एकनाथजीने अपने पलंगकी निवार खोल दी और पावा-पाटी तोड़कर लकड़ी तैयार कर दी। पैर धोनेके लिये ब्राह्मणोंको गरम पानी दिया गया, तापनेके लिये अँगीठियाँ दी गयीं और यथेष्ट भोजन कराया गया। ब्राह्मण तृप्त हुए और एकनाथजीको धन्य-धन्य कहने लगे।

(४) काशीकी यात्रा करके एकनाथ महाराज जब प्रयागका गङ्गाजल काँवरमें लिये रामेश्वर जा रहे थे, तब रास्तेमें एक रेतीला मैदान आया। वहाँ एक गधा मारे प्यासके छटपटा रहा था। एकनाथजीने तुरंत अपनी काँवरसे पानी लेकर उसके मुँहमें डाला। गधा चंगा होकर वहाँसे चल दिया। नाथजीके सङ्गी और आश्रित उद्धवादि लोग प्रयागके गङ्गाजलका ऐसा उपयोग होते देख बहुत दु:खी हुए। एकनाथजीने उन्हें समझाया कि 'भलेमानसो! बार-बार सुनते हो कि भगवान् घट-घटवासी हैं और फिर भी ऐसे बावले बनते हो? समयपर जो काम न दे, ऐसा ज्ञान किस कामका? काँवरका जल जो गधेने पिया, वह सीधे श्रीरामेश्वरजीपर चढ़ गया।' महाकवि मोरोपंत एकनाथ महाराजके इस कृत्यको 'लक्षविप्रभोजन' के समान पुण्यप्रद कहते हैं।

(५) पैठणमें एक वेश्या थी—बड़ी चतुर, सुन्दर और नृत्य-गायनादिमें कुशल। एकनाथ महाराजका कीर्तन सुनने कभी-कभी वह भी जाया करती थी। एक दिन महाराजने भागवतका पिङ्गलाख्यान कहा। उसे सुनकर उस वेश्याको वैराग्य हो गया। उसे अपने शरीरसे घृणा हो गयी। अपने शरीरके नवों द्वारोंसे रात-दिन मैला ही निकलता हुआ प्रतीत हुआ। वह पश्चात्ताप करने लगी कि 'मैं भी कैसी अभागिन हूँ, जो चमड़ेसे घिरे हुए इस विष्ठा-मूत्रके पिण्डको आलिङ्गन करनेमें अपना जीवन बिता रही थी। हृदयमें स्थित अक्षय आनन्दस्वरूप श्रीहरिका कभी मुझे स्वप्नमें भी ध्यान नहीं हुआ!' इसी प्रकार अनुताप करती हुई वह वेश्या अपने घरका द्वार बंद किये घरमें अकेली ही पड़ी रही। बार-बार एकनाथ महाराजका स्मरण करती, यह भी सोचती कि मुझ-जैसी पापिनको भला, ऐसे महापुरुषके चरणोंका स्पर्श कभी क्यों मिलने लगा! एक दिन इसी प्रकार वह सोच रही थी कि एकनाथ महाराज गोदावरी-स्नान करके उसी रास्तेसे लौट रहे थे। झरोखेमेंसे उसने महाराजको देखा और दौड़ी हुई दरवाजेपर आयी, बड़ी अधीरतासे द्वार खोलकर गद्गद कण्ठसे बोली—'महाराज! क्या इस पापिनके घरको आपके चरण पवित्र करनेकी कृपा कर सकते हैं?' एकनाथ महाराजने कहा—'इसमें कौन-सी दुर्लभ बात है?' यह कहकर एकनाथजीने घरमें प्रवेश किया। सूर्यके प्रकाशसे जैसे अन्धकार नष्ट हो जाता है, वैसे ही एकनाथ महाराजके पदार्पणसे वह पापसदन भगवन्नाम-निकेतन हो गया। वेश्या अब वेश्या न रही, अनुतापसे उसके सारे पाप धुल गये। एकनाथ महाराजके अनुग्रहसे उसके चित्तपर भगवन्नामकी मुहर लग गयी। एकनाथ महाराजने उसे 'राम, कृष्ण, हरि' मन्त्र दिया और सत्कर्मका क्रम बताया। दस वर्ष बाद जब इस अनुगृहीताका देहावसान हुआ, तब वह श्रीकृष्णस्वरूपके ध्यानमें निमग्न थी।

(६) एक रात श्रीएकनाथजीका कीर्तन सुननेवालोंकी भीड़में चार चोर घुस बैठे—इस नीयतसे कि कीर्तन समाप्त होनेपर जब सब लोग अपने-अपने घर चले जायँगे और यहाँ भी सब लोग सो जायँगे, तब रातके सन्नाटेमें अपना काम बना लेंगे। रातके दो बजेके लगभग चोरोंको यह मौका मिला। कुछ कपड़े और बर्तन इन्होंने हथियाये तथा और भी हाथ साफ करनेकी घातमें इधर-उधर ढूँढ़ने लगे। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते देवगृहके समीप पहुँचे, भीतर एक दीपक टिमटिमा रहा था और एकनाथ महाराज समाधिस्थ थे। यह उन चोरोंने देखा और देखते ही उनकी दृष्टि अन्धी हो गयी। अब वे निकल भागना ही चाहते थे, पर हथियाये हुए बर्तनोंसे टकराकर नीचे गिरे। देवगृहसे एकनाथ महाराज बाहर निकले। पूछा, 'कौन है?' चोर रोने और गिड़गिड़ाने लगे— 'महाराज! हमलोग बड़े पापी हैं, क्षमा कीजिये।' महाराजने उनके नेत्रोंपर हाथ फेरा, उन चोरोंको पूर्ववत् दृष्टि प्राप्त हुई, साथ ही उनकी बुद्धि भी पलट गयी। एकनाथ महाराजने उनसे कहा कि 'ये कपड़े और बर्तन तो तुमलोग ले ही जाओ; और भी जो कुछ इच्छा हो, ले सकते हो।' यह कहकर उन्होंने अपनी अँगुलीमें पहनी हुई अँगूठी भी उनके सामने रख दी। चोर बड़े लज्जित हुए, बार-बार महाराजके चरणोंमें गिरे और तबसे उन्होंने चोरी करना ही छोड़ दिया।

इस प्रकार परोपकारमय नि:स्पृह साधुजीवनसे, उपदेशसे, दानसे सबका उपकार करते हुए गृहस्थाश्रमका दिव्य आदर्श सबके सामने रखकर अन्तमें संवत् १६५६ वि०

की चैत्रकृष्णा षष्ठीको एकनाथ महाराजने गोदावरी-तीरपर अपना शरीर छोड़ा। उस समय ये पूर्ण स्वस्थ थे। इन्होंने अपने प्रयाणका दिन पहले ही बतला दिया था। अतः उसके कई दिन पहलेसे ही पैठणमें सर्वत्र भगवत्संकीर्तन हो रहा था। हरिकथाओंकी धूम थी। दूर-दूरसे आये हुए दर्शनार्थियोंकी भीड़ जमा हो गयी थी। आकाश भगवन्नामसे गूँज रहा था। जब उस षष्ठी तिथिका प्रातःकाल सामने आ गया, तब श्रीएकनाथ महाराजने गोदावरीमें स्नान किया और बाहर निकलकर सदाके लिये समाधिस्थ हो गये।

श्रीएकनाथ महाराजके ग्रन्थोंमें सबसे लोकप्रिय और प्रसिद्ध ग्रन्थ भागवत—एकादश स्कन्ध, रुक्मिणीस्वयंवर और भावार्थरामायण हैं। कहते हैं कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने स्वयं ही एकनाथजी महाराजसे भावार्थरामायण लिखवाया था। इन ग्रन्थोंके अतिरिक्त चिरंजीवपद, स्वात्मबोध, आनन्दलहरी आदि अन्य कई छोटे-मोटे ग्रन्थ भी श्रीएकनाथ महाराजके बनाये हुए हैं। आपके सभी ग्रन्थ मराठी भाषामें हैं।

जनीजनार्दन

जनार्दन स्वामीके तीन प्रधान शिष्य थे—एकाजनार्दन (श्रीएकनाथ महाराज), रामाजनार्दन* और जनीजनार्दन। जनीजनार्दनजी यजुर्वेदी ब्राह्मण, बीडनगरके रहनेवाले थे। मुसलमानोंका राज्य था, ये उस राज्यमें एक अफसरके पदपर नियुक्त थे। दामाजी पंतकी तरह इन्होंने भी एक बार दुर्भिक्षमें पीड़ितोंके प्राण बचानेके लिये सरकारी अनाजके खत्ते लुटा दिये। सरकारने इन्हें हाथीके पैरोंतले कुचलवा डालनेका हुक्म दिया। पर ये शान्त थे, इतने शान्त थे कि वह उन्मत्त हाथी भी इनके पास आकर शान्तिसे पीछे लौट गया। इसी बातपर ये छोड़ दिये गये, पर इन्होंने तब सरकारकी नौकरी छोड़ दी और श्रीगुरु जनार्दन स्वामीकी शरणमें जाकर शेष जीवन भगवद्-भजनके लिये उत्सर्ग कर दिया। इनका 'निर्विकल्पग्रन्थ' या 'उद्धवबोध' नामका एक हस्तलिखित ग्रन्थ है, जिसमें ब्रह्म, जीव, शिव और सगुण-निर्गुणका श्रीकृष्ण-उद्धव-संवादरूपसे प्रतिपादन किया गया है। श्रीएकनाथ महाराजके प्रयाणके दो वर्ष बाद संवत् १६५८ वि०में इनका देहावसान हुआ। इनके वंशज बीडमें हैं। इनके इष्टदेव श्रीगणेशजी थे।

भक्तकवि मुक्तेश्वर

कविवर मुक्तेश्वर भगवान्के परम भक्त थे, रसिक कवि थे। अपने स्फुट पदोंमें मुक्तेश्वरने अपना संक्षिप्त परिचय स्वयं दिया है। परम पवित्र गौतमी सरिताके रमणीय तट-देशमें उनका जन्म हुआ था। ये पैठणके सुप्रसिद्ध भक्त एकनाथके दौहित्र—उनकी लड़कीके लड़के थे। पैठण ही उनका निवास-स्थान था। उनका उपनाम मुद्गल था। वे अत्रिगोत्र और आश्वलायन सूत्रके थे। उनके दत्तात्रेयजी उपास्य थे, विश्वम्भर उनके गुरु थे।

मुक्तेश्वर जन्मसे ही मूक थे। संत एकनाथजीकी कृपासे वे बोलने लग गये। उनके चरित्र-विकासपर ज्ञानेश्वरका बड़ा प्रभाव पड़ा था। ज्ञानेश्वरमें उनकी उत्कट भक्ति थी। बाल्यावस्थासे ही संतों और ज्ञानी-महात्माओंके सम्पर्कमें आते रहनेसे उनको शास्त्रका अच्छा ज्ञान हो गया था। उनका स्वभाव सत्सङ्गके प्रभावसे अत्यन्त विनम्र और माधुर्यपूर्ण था, कोमल था। उनकी नीति उज्ज्वल, मति पवित्र और प्रतिभा दिव्य थी। उन्होंने अपनी कृतियोंमें देवी-देवताके नाम बड़ी श्रद्धासे लिये हैं।

मुक्तेश्वरका दृढ़ सिद्धान्त था कि संसारके दुःखोंसे

---

* रामाजनार्दनके चरित्रकी कोई बात नहीं मिलती। इनकी बनायी श्रीज्ञानेश्वर महाराजकी एक आरती और श्रीविट्ठलनाथकी भी एक आरती मिलती है। इन दोनों आरतियोंकी बड़ी प्रतिष्ठा है।

निवृत्त होनेका उपाय यह है कि 'जीवात्मा विश्वासपूर्वक श्रीरामके चरणकी अचल भक्ति प्राप्त करे। श्रीरामकी ही शरण जानेसे भवसागरसे मुक्ति हो सकती है।' मुक्तेश्वरकी गुरु-निष्ठा बहुत बढ़ी-चढ़ी हुई थी, उन्होंने गुरु विश्वम्भरनाथकी चरण-शरण अपनाते समय कहा था—'मैं तो अबोध शिशु हूँ। आपके चरणपर मस्तक रखनेके सिवा मैं कुछ और जानता ही नहीं, आप अपने इस पुत्रकी रक्षा कीजियेगा।'

मुक्तेश्वरने महाराष्ट्र-क्षेत्रमें भक्ति-प्रचार करनेमें जो यश कमाया, वह सर्वथा स्तुत्य और सराहनीय है। श्रीराम और श्रीकृष्ण दोनोंमें उनकी उपास्य-वृत्ति थी। उन्होंने संक्षेपमें रामायण, मुक्तेश्वरी भारत, एकनाथ-चरित्र आदि सद्ग्रन्थोंकी रचना की थी। शाके १५६० में ६५ वर्षकी अवस्थामें उनका देहावसान हो गया। मराठी वाङ्मयके भक्त कवियोंमें उन्हें अत्यन्त गौरवास्पद स्थान प्राप्त है।

भक्त पुरन्दरदासजी

पण्ढरपुरके पास पुरन्दरगढ़ एक नगर है। वहाँ वरदाप्प नायक नामक एक सम्पन्न ब्राह्मण रहते थे। शाके १४०४ के लगभग उन्हें एक पुत्र हुआ, जिसका नाम श्रीनिवास नायक रखा गया। पिताकी मृत्युके पश्चात् श्रीनिवास नायक पिताकी अपार सम्पत्तिके स्वामी हुए। ये व्यापारमें बड़े कुशल थे। विजयनगर और गोलकुण्डाके राज्योंसे हीरा, मोती, माणिक्य आदि बहुमूल्य रत्नोंका व्यापार करके श्रीनिवासने अपनी सम्पत्ति बहुत बढ़ा ली। धन सबसे बड़ा मादक है। दूसरे सब नशीले द्रव्योंकी भाँति धनका भी यही स्वभाव है कि वह जितना मिलता है, उसकी प्यास उतनी बढ़ती जाती है। फलस्वरूप धनकी वृद्धिके साथ कंजूसी भी बढ़ती जाती है और उदारता, दया, क्षमा आदि सद्गुण प्रायः नष्ट होते जाते हैं। श्रीनिवास नायक जैसे-जैसे धन एकत्र करते गये, उनकी कृपणता बढ़ती गयी। उनको एक पैसा भी किसीको देना प्राण देनेके समान कष्टदायी हो गया। माँगनेवाला उन्हें अपना शत्रु ही दिखायी पड़ता था।

किस जीवके पूर्व जन्मके कर्म कैसे हैं, यह उसके वर्तमान कर्मोंसे बिलकुल अनुमान नहीं किया जा सकता। भगवान्‌की कब किसपर अहैतुकी कृपा होगी, यह भी कोई जान नहीं सकता। श्रीनिवास नायक इस धनके विषमें सड़नेके लिये पृथ्वीपर नहीं आये थे। वे इस नरकके प्राणी नहीं थे। उनको इस कृपणताके कीचड़से निकालनेके लिये स्वयं दयामय प्रभु एक दरिद्र ब्राह्मणका वेश बनाकर एक दिन उनके यहाँ पहुँचे और बड़ी दीनतासे प्रार्थना करने लगे—'मैं अत्यन्त कंगाल हूँ। मेरी पुत्री विवाहयोग्य हो गयी है। आप सम्पन्न हैं, मेरी कुछ सहायता कर दें।'

श्रीनिवासने पिण्ड छुड़ानेके लिये कहा—'आज तो मुझे तनिक भी अवकाश नहीं। आप कल पधारें।' श्रीनिवासको क्या पता था कि यह ब्राह्मण सचमुच कल आयेगा; किंतु जब वह दूसरे दिन आया तो फिर श्रीनिवासने कल आनेको कहा। ब्राह्मण नित्य आता था और श्रीनिवास सदा उसे कल आनेको कहते थे। इस प्रकार छः महीने बीत गये। इस अद्भुत ब्राह्मणपर उन्हें बड़ा क्रोध आया। अन्तमें एक दिन रद्दी पैसोंसे भरी दो थैलियाँ उसके सामने पटककर वे बोले—'इनमेंसे जो तुम्हें पसंद आये, वह एक पैसा ले लो और चले जाओ!' ब्राह्मणने थोड़ी देर आश्चर्यसे उनकी ओर देखा। थैलियोंको बिना छुए ही वे चले गये।

ब्राह्मणदेवता श्रीनिवास नायकके घर पहुँचे। उनकी पत्नीसे अपनी दरिद्रता तथा नायकका व्यवहार सुनाकर उन्होंने सहायताकी याचना की। स्त्री उदार-स्वभावकी थी। पतिके कृपण स्वभावसे उसे दुःख होता था। भगवान्‌में उसका विश्वास था और साधु-ब्राह्मणोंके प्रति हृदयमें भक्ति थी। परंतु पतिदेव इतने कंजूस थे कि पत्नीके हाथमें एक पैसा भी रहने नहीं देते थे। ब्राह्मणदेवताको उसने अपने पितासे प्राप्त नकफूल '**श्रीकृष्णार्पणमस्तु**' कहकर दे दिया।

श्रीनिवास नायकने समझा था कि दरिद्र ब्राह्मणसे

पिण्ड छूटा; पर वह ब्राह्मण उन्हींकी दूकानपर फिर पहुँचा और नकफूल देकर चार सौ मुहरें माँगने लगा। पत्नीका नकफूल पहचानकर श्रीनिवासको अपनी स्त्रीपर बड़ा क्रोध आया। जिस ब्राह्मणने छः महीने उन्हें तंग किया था, उसे इतना मूल्यवान् नकफूल दे देना कोई साधारण बात नहीं थी। ब्राह्मणको उन्होंने यह कहकर विदा कर दिया—'इसे मेरे पास रहने दीजिये, कल आपको मैं सौ मुहरें दूँगा।' ब्राह्मणके चले जानेपर नकफूलको तिजोरीमें बंद करके वे सीधे घर आये और स्त्रीसे पूछने लगे—'तुम्हारा वह नकफूल कहाँ है, जिसे तुम सबेरेतक पहने थी?' बेचारी स्त्री क्या उत्तर देती? पतिके क्रोधी स्वभावको वह जानती थी। उसे चुप देखकर श्रीनिवास गरज उठे—'अभी लाकर नकफूल दे, नहीं तो जीते-जी तुझे पृथ्वीमें गाड़ दूँगा।'

अब स्त्री क्या करे? नकफूल तो वह दान कर चुकी और पतिसे सच्ची बात कह नहीं सकती। भयके कारण उसके मुखसे निकल गया—'नकफूल भीतर रखा है।' झटपट वह भीतर चली गयी। आत्महत्या करनेके अतिरिक्त उसे कोई दूसरा मार्ग नहीं सूझा। एक कटोरीमें विष घोलकर उसने भगवान्से प्रार्थना की—'दयामय! मैंने तुम्हारी प्रसन्नताके लिये नकफूल ब्राह्मणको दिया था। यदि तुम मुझपर प्रसन्न हो तो मेरे पतिदेवकी बुद्धि शुद्ध कर दो। वे अबसे साधु-ब्राह्मणोंका सम्मान करें, उन्हें दान दें और तुम्हारा स्मरण करें। मुझे मृत्युका भय नहीं है। मैं तुम्हारे श्रीचरणोंमें आ रही हूँ।' प्रार्थना करके जैसे ही कटोरी उसने मुखकी ओर बढ़ायी, कोई वस्तु टपसे उसमें आ गिरी। देखा कि वह तो उसीका नकफूल है। बंद कमरेमें जहाँ एक पक्षीतक नहीं, वहाँ नकफूल कहाँसे आ गिरा? श्रीनिवासकी स्त्री लक्ष्मीबाईके नेत्र भर आये। उसे भगवान्की कृपाका साक्षात्कार हुआ। भूमिपर मस्तक रखकर उसने प्रभुको प्रणाम किया।

श्रीनिवास नायक जानते थे कि नकफूल तो वे दूकानकी तिजोरीमें बंद करके आये हैं और उसकी चाभी उनके पास है। स्त्रीको डाँट-फटकार कर अब वे सोच रहे थे कि सबेरे जब वह ब्राह्मण मुहरें लेने आयेगा तब उसे क्या उत्तर देना होगा? इतनेमें उनकी पत्नीने नकफूल लाकर उनके हाथपर धर दिया। अब उनके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा। नकफूल लेकर वे बिना कुछ कहे शीघ्रतासे दूकान गये। वहाँ तिजोरी ठीक बंद मिली, पर खोलनेपर देखा कि नकफूल उसमें नहीं है। इस चमत्कारको देखकर सहसा श्रीनिवासके हृदयको धक्का लगा। बुद्धि कुछ और हो गयी। मस्तक झुकाये हुए वे घर आये और नकफूल पत्नीको देते हुए बड़ी गम्भीरतासे बोले—'लक्ष्मी! सच-सच बताओ कि क्या बात है। मैं तो आश्चर्यमें पड़ गया हूँ। तुमने जिसे नकफूल दिया था, वे ब्राह्मण कौन हैं? तुम्हें यह फिर कैसे मिला?'

पतिके बदले भाव और कातर स्वरको सुनकर लक्ष्मीबाईने सारी बातें सच-सच सुना दीं। सब बातें सुनकर श्रीनिवास नायककी आँखोंसे झर-झर आँसू बहने लगे। वे हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगे—'दयामय! आपने मुझ अधमसे दरिद्र ब्राह्मण बनकर याचना की और मैं नीच आपको टालता रहा। मेरे लोभ, मेरे पापपर कुछ ध्यान न देकर आपने मेरी पत्नीके प्राण बचाये।' बड़ी देरतक वे जडकी भाँति खड़े-खड़े पत्नीकी ओर एकटक देखते रहे। इसके बाद उन्होंने उसी समय स्नान किया और तब स्त्रीके साथ भगवान्की पूजा की। पूजाके पश्चात् हाथमें तुलसीदल तथा जल लेकर अपनी समस्त सम्पत्ति उन्होंने **'श्रीकृष्णार्पणमस्तु'** कहकर भगवान्के चरणोंपर चढ़ा दी।

श्रीनिवास नायकने सबेरे ही दीनों, कंगालों, ब्राह्मणोंको बुलाकर अपना सारा धन लुटा दिया। अपनी स्त्रीके लिये एक कौड़ी भी उन्होंने नहीं छोड़ी। पत्नीने एक सोनेकी डिबियामें सिन्दूर रखा था। पता लगनेपर वह डिबिया भी उन्होंने फिकवा दी। सच्चे अपरिग्रही होकर वे पण्ढरपुर पहुँचे। यहाँ नामकीर्तन करते हुए वे द्वार-द्वार घूमते। जो कुछ मिल जाता, उसीसे उनके परिवारका काम चलता था। गरीबीके कारण इनको बड़े-बड़े कष्ट झेलने पड़े, किंतु संग्रह करना इन्होंने सर्वथा छोड़ दिया था। बारह वर्षतक ये पण्ढरपुर रहे। जब वहाँ यवनोंका उत्पात बढ़ गया, तब विजयनगर चले गये।

विजयनगरनरेश श्रीकृष्णदेव राज-रत्नोंके व्यापारी

श्रीनिवास नायकसे परिचित थे। अब उन्हीं श्रीनिवासको इस रूपमें देखकर राजाको आश्चर्य हुआ और इनमें श्रद्धा भी हुई। राजाके गुरु थे यतिश्रेष्ठ स्वामी व्यासरायजी। श्रीनिवासने इन्हींकी शरण ली। स्वामीजीने अपने इस सुयोग्य शिष्यको वेद, पुराण, स्मृति आदिका अध्ययन कराया। गुरुने श्रीनिवास नायकका नया नाम 'पुरन्दर विट्ठल' रखा और आगे चलकर ये ही 'पुरन्दरदास' कहलाये।

पुरन्दरदासजीमें भी इतनी प्रगाढ़ भगवद्भक्ति थी कि इनके गुरुदेव व्यासराय स्वामीने स्वयं इनकी महिमाका गान किया है। भिक्षान्न ही इनका आधार था। इनकी पत्नी लक्ष्मीबाई सदा सब प्रकार पतिकी सेवामें तत्पर रहती थीं। पतिदेव जो भिक्षा लाते थे, उसे स्वच्छ करके वे भगवान्‌का भोग बनातीं और अतिथि-अभ्यागतोंको तृप्त करके पति तथा पुत्रोंको भोजन कराके जो कुछ शेष रह जाता, उसीपर सन्तुष्ट रहतीं। यदि भिक्षान्नमेंसे कुछ बच जाता तो कलके लिये वह रखा नहीं जाता था। उसे तुंगभद्रा नदीमें जलचरोंके लिये डाल दिया जाता था। आज भी लोग व्यङ्ग्यमें दरिद्र घरोंको दक्षिणमें 'पुरन्दरदासका घर' कहते हैं। ऐसा कंगाली एवं अपरिग्रहका आदर्श घर था इनका।

एक बार पुरन्दरदासजी भिक्षा माँगने जब एक द्वारपर गये तो गृहस्वामिनीने द्वार बंद कर लिया। इन्होंने यह देखकर कहा— 'भिक्षुकको देखकर जो द्वार बंद कर लेते हैं, वे घरके भीतरके पापको बाहर जानेसे रोक देते हैं।' गुरुकी कृपासे इनकी कवित्वशक्ति जाग्रत् हुई थी। इनके पदोंमें लोकशिक्षा, वैराग्य, तत्त्वज्ञान और भगवद्भक्तिके गम्भीर भाव हैं। कर्नाटक-संगीतके ये उद्धारक कहे जाते हैं। इनके कीर्तनके पद दक्षिण भारतमें अत्यन्त प्रिय हैं। कहा जाता है कि इन्होंने पौने पाँच लाख श्लोक बनाये थे, पर अब उनका एक बड़ा भाग अप्राप्य है।

लगभग चालीस वर्षतक पुरन्दरदासजी तीर्थाटन करते रहे। अस्सी वर्षकी अवस्थामें सं० १५६२ वि० में वे भगवद्धाम पधारे। उनकी शिक्षा, उनके पद, उनके ग्रन्थ लोकमङ्गलकारी हैं। कन्नड़ भाषाका उनका साहित्य भक्तोंका प्रिय धन है। एक स्थानपर वे कहते हैं—'दूसरोकी सम्पत्ति और परायी स्त्री क्या अस्पृश्य नहीं हैं? क्या परमेश्वरकी विस्मृति अस्पृश्य नहीं है? इनका स्पर्श मत करो।

ऐसे वीतराग भगवान्‌के प्रियजन धन्य हैं।

श्रीत्र्यम्बकराज

भैरव नामक एक कर्मनिष्ठ यजुर्वेदीय ब्राह्मण थे। इन्होंने वंशवृद्धिके लिये तुलजापुरकी भवानी देवीका अनुष्ठान किया। भवानी देवी प्रसन्न हुईं और नवीं रात्रिको प्रकट हुईं। देवीने तीन फल भैरवजीके हाथपर रखे और कहा—'इन्हें खा लो, इनसे तुम्हारे तीन पुत्र होंगे; इन तीनोंमें जो बीचका फल है, इससे तुम्हारे जो पुत्र होगा, उसके हाथपर त्रिशूलकी रेखाएँ होंगी।' भैरवजीके यथासमय तीन पुत्र हुए—नृसिंह, त्र्यम्बक और कौण्डिन्य। त्र्यम्बकके हाथपर सचमुच त्रिशूलकी तीन रेखाएँ थीं। भैरवजी इनपर कभी गुस्सा नहीं होते थे, इनकी कोई बात टालते भी नहीं थे। इन्हें उन्होंने खड़ी-पाटी भी नहीं दी, फिर विद्या कहाँ? इनका उपनयन तो हुआ, पर विवाह करानेके फेरमें इनके पिता नहीं पड़े। इन्होंने त्र्यम्बकके हाथका त्रिशूल इनकी माँ अम्बावतीको दिखाकर कहा कि 'यह कोई महायोगी है।' त्र्यम्बकराज जब कुछ बड़े हुए, तब स्वयं इन्होंने अपनी इच्छासे ही कुछ अध्ययन किया। कुछ काल पश्चात् इनके पिताकी मृत्यु हो गयी। त्र्यम्बकराजने अपने बड़े भाई नृसिंहसे उपदेश ग्रहण किया। कमलाकर नामक किसी सत्पुरुषने भी इन्हें प्रबोध कराया। बहुतोंका सङ्ग किया, पर कहीं इनका चित्त नहीं ठहरा। तब इन्होंने भगवती चण्डीकी उपासना की। सोलहवीं रातको एक पञ्चवर्षीया कुमारी प्रकट हुई। उसने कहा—'सप्तशृङ्गीपर जाओ, वहाँ महामाया रहती हैं और इसलिये श्रीसिद्धेश भी वहीं विराजते हैं।' त्र्यम्बक सप्तशृङ्गीपर गये और ध्यान लगाकर बैठ गये। तीसरी रातमें अम्बा प्रसन्न हुईं। त्र्यम्बकराजने उनसे ब्रह्मज्ञान माँगा। करुणामयी भवानीने अपना कर कपोलमें स्पर्श किया, और एक चमत्कार

हुआ। द्विजवेषमें श्रीसिद्धेश्वर भी प्रकट हुए। उन्होंने त्र्यम्बकराजको पाँच वचन बताये। उन्हींमें सारा ब्रह्मज्ञान बता दिया। पीछे एक अद्‌भुत प्रकाश दिखाया, जिसके सम्बन्धमें त्र्यम्बकराज अपने ग्रन्थमें कहते हैं कि 'वह प्रकाश अभीतक मेरी दृष्टिके सामने सारी सृष्टिमें है, उससे मेरे मनसहित सारी इन्द्रियाँ सदाके लिये निर्मल सुखपात्र बन गयीं। मैंने अनुष्ठान किया भवानीका, पर भवानीके साथ करुणालय शूलपाणि भी प्रसन्न हुए। मेरे लिये जगत् और मैं सब ब्रह्मानन्दसे भर गया। इसी ब्रह्मानन्दका जगत्‌को बोध करानेके लिये जगदम्बाने मुझे आज्ञा दी।' उसी आज्ञाके अनुसार त्र्यम्बकराजने श्रीसिद्धेशद्वारा प्रदत्त पाँच महावाक्योंके आधारपर 'बालबोध' नामक एक ग्रन्थ लिखा। इसमें मुख्यतः ॐ की उपासना बतायी गयी है और उसके साथ योगमार्ग भी दर्शाया गया है। ग्रन्थ संवत् १६२९ वि० में लिखना आरम्भ हुआ और संवत् १६३७ वि० में समाप्त हुआ। इस ग्रन्थसे 'सिद्धेशमतसम्प्रदाय' नामक एक सम्प्रदाय ही चल निकला।

भक्त रमावल्लभदासजी

विक्रमकी १७ वीं शताब्दीके आरम्भमें अम्बाजी पंत नामक एक अगस्त्यगोत्रोत्पन्न ऋग्वेदी ब्राह्मण देवगढ़ (दौलताबाद)-में रहते थे। ये वहाँके मुस्लिम राज्यके वजीर अम्बरखाँके नायब थे। बड़े प्रभावशाली और सम्पन्न पुरुष थे। संवत् १६४५ वि० के लगभग इनके एक पुत्र हुआ। उसका नाम 'तुकोजी' या 'तुकोपंत' रखा गया। सातवें वर्ष तुकोजीका उपनयन हुआ, बारहवें वर्ष विवाह हुआ और अठारहवें वर्ष पिता जो काम करते थे, वह इन्हें सौंपा गया। बड़ी योग्यता और दक्षताके साथ इन्होंने अपना काम सम्हाला। एक बार शत्रुओंने किलेको घेर लिया था। तुकोपंत दो हजार घुड़सवार और पदाति सङ्ग लेकर शत्रुओंसे बड़ी शूरताके साथ लड़े और विजयी हुए। शत्रुओंका सामान लूट लिया गया। उस लूटमें किसीको कीमती कपड़े मिले, किसीको बहुमोल रत्न मिले, किसीको हाथी और घोड़े मिले, तुकोपंतको लावारिस पड़ी हुई एक पोथी मिली। यह एकनाथी भागवतकी प्रति थी। तुकोपन्तने उसे पढ़ा, पढ़कर उनके मुखसे यह उद्गार निकला कि 'आज मेरा परम भाग्य उदय हुआ, भगवान्‌ने बड़ी भारी कृपा मुझपर की जो यह पोथी मुझे मिली।' तुकोजीपंत और उनके बालमित्र कृष्णाजीपंत दोनोंने नाथभागवतके अनेकों पारायण किये। रम गये इस सद्‌ग्रन्थकी परम रुचिमें और चित्तसे भक्ति-मन्दाकिनीकी धारा बहने लगी। नाथभागवतके प्रेम-समुद्रमें तैरते-तैरते ये उसमें तन्मय हो गये। गृह-प्रपञ्च और राज-काज—सबसे जी उचट गया। सद्‌गुरुकी खोज होने लगी, निकल पड़े घरसे बाहर सब काम-काज छोड़-छाड़कर। पहले पण्ढरपुर गये, वहाँ भक्ति-प्रेमानन्दमें चित्त स्थिर हुआ। फिर गोदावरी और प्रवरा नदीके संगमपर स्थित गुरु श्रीलक्ष्मीधरदाससे मिले। उन्होंने तुकोपंतपर अनुग्रह किया और उनका नाम रमावल्लभदास रखा। श्रीरमावल्लभदासको श्रीगुरुने 'श्रीगोपालविद्या' प्रदान की। कहते हैं कि इन्होंने श्रीगुरु लक्ष्मीधरसे ही गीता और भागवत ग्रन्थ पढ़े। एक अभंगमें इन्होंने अपनी दो अवस्थाओंका वर्णन किया है—एक गुरुप्राप्तिके पूर्वकी बद्ध और मुमुक्षु-अवस्था और दूसरी गुरुप्राप्तिके बादकी मुक्तावस्था—'मूलमें पहुँचकर देखा, मेरे कोई माँ-बाप नहीं। संतोंने मुझे पाला। उन्हींका मन कोमल है। पहले मेरा अगस्त्यगोत्र था, अब मेरा व्यापक गोत्र है। पहले मैं ऋग्वेदी था, अब भागवती हूँ। नामघोष मेरा आचार है और भगवद्गीता ही मेरा विचार है। पहले त्रिकाल सन्ध्या करता था, अब तो सर्वकाल प्रेमकी सन्ध्यामें ही रहता हूँ। पहले मैं मतभेदी था, अब मेरा मत अभेदी है। पहले लौकिक वाणी बोलता था, अब अलौकिक बोलता हूँ। पहले मैं सम्मान लिया करता था, अब सबको सम्मान दिया करता हूँ। पहले चतुराई मुझे अच्छी लगती थी, अब भोलापन अच्छा लगता है। पहले मुक्तिके लिये छटपटाता था, अब भक्तिमें बहा जाता हूँ। पहले हरि तारक थे, अब उन्होंने

मुझे तारक बना दिया है। पहले मैं परतन्त्र था, अब मैं सर्वथा स्वतन्त्र हूँ। पहले रूप-नाम रुचता था, अब उसका कुछ काम नहीं रह गया।' गुरुगृहीत होनेके पश्चात् रमावल्लभदास पञ्चवटी गये। वहाँ उन्हें गोपाल गोस्वामी मिले। कुछ काल पश्चात् उनके बालमित्र कृष्णाजी पंत भी आ मिले। ये तीनों गोदावरी-तीरपर कई वर्षोंतक विहार करते रहे। इसी समय श्रीरमावल्लभदासने 'दर्शक-निर्धार' नामसे एक ग्रन्थ लिखकर श्रीकृष्णलीलाका वर्णन किया। इसके पश्चात् रमावल्लभदास वाई क्षेत्रमें गये। वहाँ नृसिंह अप्पा, गोविंद बाँकड़ा, राघवदास, उमावल्लभदास आदि कई भक्त मिले। इस भक्तमण्डलीमें रहते हुए रमावल्लभदासजीने श्रीशंकराचार्यकी 'वाक्यवृत्ति' पर एक मराठी टीका लिखी। इसके पश्चात् श्रीरमावल्लभदास अपने शिष्यों, मित्रों और घरवालों (धर्मपत्नी और चार पुत्रों)-के साथ दक्षिण-कर्णाटक गये।

रमावल्लभदासजीके कई मठ कर्णाटक प्रान्तमें हैं और वहाँ उनकी शिक्षा-दीक्षा अभीतक प्रचलित है। 'श्रीकृष्ण-जयन्ती व्रतोत्सव-भजन' नामक पुस्तकमें श्रीरमावल्लभदासद्वारा निर्धारित श्रीकृष्णजन्मोत्सवपद्धति दी हुई है, उसमें उनके अनेक भजन भी हैं। इस 'जन्मव्रतोत्सव' और 'वाक्यवृत्ति' की प्राकृत टीका और 'दर्शक-निर्धार' नामक श्रीकृष्ण-जन्माध्यायके अतिरिक्त इनके दो ग्रन्थ और हैं—एक श्रीमद्भगवद्गीताकी 'चमत्कारी टीका' और दूसरी 'गुरुबल्ली'। गीताकी यह 'चमत्कारी टीका' संवत् १६८५ वि० में लिखी गयी। यह टीका बड़ी सरस, सुसङ्गत और सुबोध है और इसमें पहले नवें अध्यायसे अठारहवें अध्यायतक और फिर पहले अध्यायसे आठवें अध्यायतककी टीका है। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक अध्यायमें जितने विषय आये हैं, उतने वर्ग इन्होंने प्रत्येक अध्यायमें कायम किये हैं। उदाहरणार्थ नवें अध्यायमें तेरह वर्ग हैं।

भक्त श्रीतुकारामजी चैतन्य

श्रीतुकारामजीका जन्म दक्षिणके देहू नामक ग्राममें भगवद्भक्तोंके एक पवित्र कुलमें संवत् १६६५ वि० में हुआ था। इनके माता-पिताका नाम कनकाबाई और बोलोजी था। तेरह वर्षकी अवस्थामें इनका विवाह हो गया। वधूका नाम रखुमाई रखा गया। पर विवाहके बाद मालूम हुआ कि बहूको दमेकी बीमारी है। इसलिये माता-पिताने तुरंत ही इनका दूसरा विवाह कर दिया। दूसरी बहूका नाम पड़ा जिजाई। श्रीतुकारामजीके दो और भाई थे, बड़ेका नाम था सावजी और छोटेका नाम था कान्हजी। बोलोजी जब वृद्ध हुए, तब उन्होंने अपनी घर-गृहस्थी और अपना काम-काज अपने बड़े पुत्रको सौंपना चाहा; पर वे विरक्त थे, अतः तुकारामजीके ऊपर ही सारा भार आ पड़ा। उस समय इनकी अवस्था सतरह वर्षकी थी। ये बड़ी दक्षताके साथ काम सम्हालने लगे। चार वर्षतक सिलसिला ठीक चला।

इसके बाद तुकारामजीपर सङ्कट-पर-सङ्कट आने लगे। सबसे पहले माता-पिताने साथ छोड़ा, जिससे ये अनाथ हो गये। उसके बाद बड़े भाई सावजीकी स्त्रीका देहान्त हो गया, जिसके कारण मानो सावजीका सारा प्रपञ्चपाश कट गया और वे पूर्ण विरक्त होकर तीर्थयात्रा करने चले गये तथा उधर ही अपना जीवन बिता दिया। बड़े भाईका छत्र सिरपर न होनेसे तुकारामजीके कष्ट और भी बढ़ गये। घर-गृहस्थीके कामोंसे अब इनका भी मन उचटने लगा। इनकी इस उदासीनवृत्तिसे लाभ उठाकर इनके जो कर्जदार थे, उन्होंने रुपये देनेकी कल्पना ही नहीं की। और जो पावनेदार थे, वे पूरा तकाजा करने लगे। पैतृक सम्पत्ति अस्त-व्यस्त हो गयी। परिवार बड़ा था—दो स्त्रियाँ थीं, एक बच्चा था, छोटा भाई था और बहनें थीं। इतने प्राणियोंको कमाकर खिलानेवाले अकेले तुकाराम थे, जिनका मन-पंछी इस प्रपञ्च-पिञ्जरसे उड़कर भागना चाहता था। इनकी जो दूकान थी, उससे लाभके बदले नुकसान ही होने लगा और ये और भी दूसरोंके कर्जदार बन गये। दीवाला निकलनेकी नौबत आ गयी। एक बार आत्मीयोंने सहायता देकर इनकी बात रखी। दो-एक बार ससुरने भी इनकी सहायता की; परंतु इनके उखड़े पैर फिर नहीं

जमे। पारिवारिक सौख्य भी इन्हें नहींके बराबर था—पहली स्त्री तो इनकी बड़ी सौम्य थी, पर दूसरी रात-दिन किच-किच लगाये रहती थी। घरमें यह दशा और बाहर पावनेदारोंका तकाजा। आखिर दीवाला निकल ही गया। तुकारामकी सारी साख धूलमें मिल गयी। इनका दिल टूट गया। फिर भी एक बार हिम्मत करके मिर्चा खरीदकर उसे बेचनेके लिये ये कोंकण गये। परंतु वहाँ भी लोगोंने इन्हें खूब ठगा। जो कुछ दाम वसूल हुए थे, उन्हें भी एक धूर्तने पीतलके कड़ेको, जिसपर सोनेका मुलम्मामात्र चढ़ा था, सोना बतलाकर, उसके बदलेमें ले लिया और वह चम्पत हो गया।

ये बड़े ही क्षमाशील और सहिष्णु थे। एक बार इनके खेतमें कुछ गन्ने पके थे। ये उनका गट्ठर बाँधकर ला रहे थे। रास्तेमें बच्चे पीछे हो गये। उन्होंने गन्ने माँगने शुरू किये। ये प्रसन्नतासे देते गये। अन्तमें एक गन्ना बचा, उसीको लेकर वे घर आये। भूखी पत्नीको बड़ा क्रोध आया। उसने गन्ना छीनकर इनकी पीठपर दे मारा। गन्ना टूट गया। ये हँस पड़े। बोले—'तुम बड़ी साध्वी हो। हम दोनोंके लिये मुझे गन्नेके दो टुकड़े करने पड़ते, तुमने बिना कहे ही कर दिये।' इससे इनकी क्षमाशीलताका पता लगता है।

एक बार जिजाईने अपने नामसे रुक्का लिखकर इन्हें दो सौ रुपये दिलाये, जिनसे इन्होंने नमक खरीदा और ढाई सौ रुपये बनाये। परंतु ज्यों ही उन्हें लेकर चले कि रास्तेमें एक दुःखिया मिला। उसे देखकर इन्हें दया आ गयी और सब रुपये उसे देकर निश्चिन्त हो गये। उन्हीं दिनों पूना प्रान्तमें भयङ्कर अकाल पड़ा। अन्न-पानीके बिना सहस्रों मनुष्योंने तड़प-तड़पकर प्राण त्याग दिये। इसके बाद तुकारामजीकी ज्येष्ठ पत्नी मर गयी। और स्त्रीके पीछे इनका बेटा भी चल बसा। दुःख और शोककी हद हो गयी।

दुःखके इस प्रचण्ड दावानलसे तुकाराम वैराग्य-कञ्चन होकर ही निकल सके। अब इन्होंने योग-क्षेमका सारा भार भगवान्‌पर रखकर भगवद्भजन करनेका निश्चय कर लिया। घरमें जो कुछ रुक्के रखे हुए थे, उनमेंसे आधे तो इन्होंने अपने छोटे भाईको दे दिये और कहा—'देखो, बहुतोंके यहाँ रकम पड़ी हुई है। इन रुक्कोंसे तुम चाहे वसूल करो या जो कुछ भी करो। तुम्हारी जीविका तुम्हारे हाथमें है।' इसके बाद तुकारामजीने बाकी आधे रुक्कोंको अपने वैराग्यमें बाधक समझा और उन्हें इन्द्रायणीके दहमें फेंक दिया। अब इन्हें किसीकी चिन्ता नहीं रही। ये भगवद्भजनमें, कीर्तनमें या कहीं एकान्त ध्यानमें ही प्रायः रहने लगे। प्रातःकाल नित्यकर्मसे निवृत्त होकर ये विट्ठलभगवान्‌के मन्दिरमें जाते और वहीं पूजापाठ तथा सेवा करते। वहाँसे फिर इन्द्रायणीके उस पार कभी भागनाथ पर्वतपर और कभी गोण्डा या भाराडारा पर्वतपर चढ़कर वहीं एकान्त स्थलमें ज्ञानेश्वरी या एकनाथी भागवतका पारायण करते और फिर दिनभर नाम-स्मरण करते रहते। सन्ध्या होनेपर गाँवमें लौटकर हरिकीर्तन सुनते, जिसमें लगभग आधी रात बीत जाती। इसी समय इनके घरका ही, श्रीविश्वम्भर बाबाका बनवाया हुआ श्रीविट्ठलमन्दिर बहुत जीर्ण-शीर्ण हो गया था। उसकी इन्होंने अपने हाथोंसे मरम्मत की। इस प्रकारकी कठिन साधनाओंके फलस्वरूप श्रीतुकारामजीकी चित्तवृत्ति अखण्ड नाम-स्मरणमें लीन होने लगी। भगवत्कृपासे कीर्तन करते समय इनके मुखसे अभङ्ग-वाणी निकलने लगी। बड़े-बड़े विद्वान् ब्राह्मण और साधु-संत इनकी प्रकाण्ड ज्ञानमयी कविताओंको इनके मुखसे स्फुरित होते देखकर इनके चरणोंमें नत होने लगे।

पूनासे नौ मील दूर बाघोली नामक स्थानमें एक वेद-वेदान्तके प्रकाण्ड पण्डित तथा कर्मनिष्ठ ब्राह्मण रहते थे। उनको श्रीतुकारामजीकी यह बात ठीक न जँची। तुकाराम-जैसे शूद्र जातिवालेके मुखसे श्रुत्यर्थबोधक मराठी अभङ्ग निकलें और आब्राह्मण सब वर्णोंके लोग उसे संत जानकर मानें तथा पूजें, यह बात उन्हें जरा भी पसंद न आयी। उन्होंने देहूके हाकिमसे तुकारामजीको देहू छोड़कर कहीं चले जानेकी आज्ञा दिलायी। इसपर तुकारामजी पण्डित रामेश्वर भट्टके पास गये और उनसे

बोले—'मेरे मुखसे जो ये अभङ्ग निकलते हैं, सो भगवान् पाण्डुरङ्गकी आज्ञासे ही निकलते हैं। आप ब्राह्मण हैं, ईश्वरवत् हैं, आपकी आज्ञा है तो मैं अभङ्ग बनाना छोड़ दूँगा; पर जो अभङ्ग बन चुके हैं और लिखे रखे हैं, उनका क्या करूँ?' भट्टजीने कहा—'उन्हें नदीमें डुबा दो।' ब्राह्मणकी आज्ञा शिरोधार्यकर तुकारामजीने देहू लौटकर ऐसा ही किया। अभङ्गकी सारी बहियाँ इन्द्रायणीके दहमें डुबो दी गयीं। पर विद्वान् ब्राह्मणोंके द्वारा तुकारामजीके भगवत्प्रेमोद्गार निषिद्ध माने जायँ, इससे तुकारामजीके हृदयपर बड़ी चोट लगी। उन्होंने अन्न-जल त्याग दिया और श्रीविट्ठलमन्दिरके सामने एक शिलापर बैठ गये कि या तो भगवान् ही मिलेंगे या इस जीवनका ही अन्त होगा। इस प्रकार हठीले भक्त तुकारामजी श्रीपाण्डुरङ्गके साक्षात् दर्शनकी लालसा लगाये, उस शिलापर बिना कुछ खाये-पिये तेरह दिन और तेरह रात पड़े रहे। अन्तमें भक्तपराधीन भगवान्‌का आसन हिला। तुकारामजीके हृदयमें तो वे थे ही, अब वे बालवेश धारण करके तुकारामजीके समक्ष प्रकट हो गये। तुकारामजी उनके चरणोंमें गिर पड़े। भगवान्‌ने उन्हें दोनों हाथोंसे उठाकर छातीसे लगा लिया। तत्पश्चात् भगवान्‌ने तुकारामजीको बतलाया कि 'मैंने तुम्हारे अभङ्गोंकी बहियोंको इन्द्रायणीके दहमें सुरक्षित रखा था। आज उन्हें तुम्हारे भक्तोंको दे आया हूँ।' यह कहकर भगवान् फिर तुकारामजीके हृदयमें अन्तर्धान हो गये।

इस सगुण साक्षात्कारके पश्चात् तुकारामजी महाराजका शरीर पंद्रह वर्षतक इस भूतलपर रहा और जबतक रहा, तबतक इनके मुखसे सतत अमृतवाग्धाराकी वर्षा होती रही। इनके स्वानुभवसिद्ध उपदेशोंको सुन-सुनकर लोग कृतार्थ हो जाते थे। सब प्रकारके लोग इनके पास आते थे और सभीको ये अधिकारानुसार उपदेश देते तथा साधन बतलाते थे। जिस समय इन्द्रायणीमें अभङ्गोंकी बहियाँ डुबा दी गयीं थीं, उसके कई दिनों बाद वे ही पण्डित रामेश्वरभट्ट पूनेमें श्रीनागनाथजीका दर्शन करने जा रहे थे। रास्तेमें वे अनगढ़शाह औलियाकी बावलीमें नहानेके लिये उतरे। नहाकर जो ऊपर आये तो एकाएक उनके सारे शरीरमें भयानक जलन पैदा हो गयी। वे रोने-पीटने और चिल्लाने लगे। शिष्योंने बहुत उपचार किया, पर कोई लाभ नहीं हुआ। अन्तमें जब ज्ञानेश्वर महाराजने स्वप्नमें उन्हें तुकारामजीकी शरण जानेके लिये कहा, तब वे दौड़कर श्रीतुकारामजीकी शरण गये। इस प्रकार रामेश्वरभट्ट-जैसे प्रकाण्ड पण्डित, कर्मनिष्ठ और तेजस्वी ब्राह्मण भी तुकारामजीको महात्मा मानकर उनका शिष्य होनेमें अपना कल्याण और गौरव मानने लगे। फिर भी श्रीतुकारामजी पण्डित रामेश्वरभट्टको देवता जानकर प्रणाम करते थे और उन्हें प्रणाम करनेसे रोकते थे। श्रीतुकारामजी महाराजके सिद्ध उपदेशके अधिकारी बहुत लोग थे। छत्रपति शिवाजी महाराज तुकारामजीको अपना गुरु बनाना चाहते थे; पर उनके नियत गुरु समर्थ श्रीरामदास स्वामी हैं, यह अन्तर्दृष्टिसे जानकर तुकारामजीने उन्हें उन्हींकी शरणमें जानेका उपदेश दिया। फिर भी शिवाजी महाराज इनकी हरिकथाएँ बराबर सुना करते थे।

श्रीतुकाराम महाराजके जीवनमें लोगोंने अनेकों चमत्कार भी देखे। स्थानाभावके कारण उनके चमत्कारोंका उल्लेख यहाँ नहीं किया जाता। सं० १७०६ चैत्र कृष्ण २ के दिन प्रातःकाल श्रीतुकारामजी महाराज इस लोकसे विदा हो गये। उनका मृत शरीर किसीने नहीं देखा, वह मृत हुआ भी नहीं। भगवान् स्वयं उन्हें सदेह विमानमें बैठाकर अपने वैकुण्ठधाममें ले गये। इस प्रकार वैकुण्ठ सिधारनेके बाद भी श्रीतुकारामजी महाराज कई बार भगवद्भक्तोंके सामने प्रकट हुए। देहू और लोहगाँवमें तुकारामजी महाराजके अनेक स्मारक हैं; परंतु ये स्मारक तो जड हैं, उनका जीता-जागता और सबसे बड़ा स्मारक अभङ्ग-समुदाय है। उनकी यह अभङ्ग-वाणी जगत्‌की अमूल्य और अमर आध्यात्मिक सम्पत्ति है। यह श्रीतुकारामजी महाराजकी वाङ्मयी मूर्ति है।

समर्थ गुरु रामदास स्वामी

भगवान् श्रीसूर्यनारायणके वरदानसे सूर्याजी पंतकी धर्मपत्नी राणूबाईके गर्भसे सं० १६६२ मार्गशीर्ष शुक्ला १३ को प्रथम पुत्रका जन्म हुआ, जिसका नाम गङ्गाधर रखा गया, जिसने अपनी वयस्के ९ वें वर्षमें ही श्रीहनुमान्जीके मन्दिरमें ग्यारह दिनोंतक मारुतिकवचका पाठ करके श्रीहनुमान्जीको प्रसन्न कर लिया और जिसे भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने भी दर्शन देकर अनुगृहीत किया। ये ही गङ्गाधरजी आगे चलकर 'श्रेष्ठ' या 'रामीरामदास' के नामसे प्रसिद्ध हुए। इनके जन्मके तीन वर्ष बाद वर्तमान दक्षिण हैदराबादके अन्तर्गत औरङ्गाबाद जिलेमें जाम्ब ग्राममें संवत् १६६५ की चैत्र शुक्ला नवमीके दिन ठीक श्रीरामजन्मके समय राणूबाईने उस महापुरुषको जन्म दिया, जिसे संसार समर्थ गुरु रामदास स्वामीके नामसे जानता है। इनका नाम पिताने नारायण रखा।

नारायण जब पाँच वर्षके थे, तब उनका उपनयन संस्कार हुआ। बचपनमें ये बड़े ऊधमी थे। पेड़ोंपर चढ़ना, एक डालसे दूसरी डालपर या एक पेड़से दूसरे पेड़पर कूदना, पहाड़ोंपर तेजीसे चढ़ना-उतरना, उछलना-कूदना-फाँदना—ये ही सब इनके खेल थे। पाँचवें वर्षमें इनका उपनयन संस्कार हो गया था। लिखना-पढ़ना और हिसाब लगाना तथा नित्यका ब्रह्मकर्म भी उन्होंने बहुत जल्द सीख लिया। सूर्यदेवको ये नित्य दो हजार नमस्कार किया करते थे। आठ वर्षकी अवस्थामें ही इन्होंने भी श्रीहनुमान्जीको प्रसन्न किया और श्रीरामचन्द्रजीके दर्शन प्राप्त किये। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने स्वयं इन्हें दीक्षा दी और इनका नाम रामदास रखा। जब ये बारह वर्षके हुए, तब इनके विवाहकी तैयारी हुई। विवाहमण्डपमें वर-वधूके बीच अन्तःपट डालकर ब्राह्मणलोग मङ्गलाचरणके श्लोक बोलने लगे। पहले मङ्गलाचरणके पीछे सब लोग जब 'शुभलग्न सावधान' बोले, तब रामदासजी सचमुच ही सावधान होकर वहाँसे ऐसे भागे कि बारह वर्षोंतक फिर घरके लोगोंको पता ही न लगा कि वे कहाँ गये। वहाँसे तीन कोसपर गोदावरी नदी है, उसे तैरकर रामदासजीने पार किया और किनारे-किनारे पैदल चलकर वे नासिक-पञ्चवटी पहुँचे। पञ्चवटीमें इन्हें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके फिर दर्शन हुए। उस अवसरपर रामदासजीने एक 'करुणादशक' द्वारा बड़ी करुणापूर्ण वाणीमें प्रभुकी विनय की। तत्पश्चात् नासिकके समीप टाफली ग्राममें जाकर, जहाँ गोदा और नन्दिनीका सङ्गम हुआ है, एक गुफामें रहने लगे। वहाँ इन्होंने त्रयोदशाक्षर (श्रीराम जय राम जय जय राम) मन्त्रका पुरश्चरण आरम्भ किया। दैनिक नियमोंका पालन करनेके पश्चात् दिन या रातको जब जो समय मिलता, उसमें ये रामायण, वेद-वेदान्त, उपनिषद्-गीता, भागवत आदि ग्रन्थ देखा करते थे। इस प्रकार वहाँ तप करते हुए इन्हें तीन वर्ष हो गये। एक दिन रामदासजी सङ्गमपर ब्रह्मयज्ञ कर रहे थे और उधरसे एक विधवा स्त्रीने आकर इन्हें प्रणाम किया। इसपर 'अष्टपुत्रा सौभाग्यवती भव' ऐसा आशीर्वाद श्रीरामदासजीके मुँहसे निकल गया, जिसे सुनकर स्त्रीने पूछा—'इस जन्ममें या दूसरे जन्ममें?' बात यह थी कि उस स्त्रीके पतिकी मृत्यु हो गयी थी और वह उसके साथ सती होनेको जा रही थी। सती होने जानेके पूर्व सत्पुरुषोंको प्रणाम करनेकी जो विधि है, उसके अनुसार वह इन्हें तपस्वी महात्मा जानकर प्रणाम करने आयी थी। रामदासजीने कहा—'अच्छा, शवको यहाँ ले आओ।' लाशके सामने आते ही रामदासजीने श्रीराम-नाम लेकर उसपर तीर्थोदक छिड़का। तुरंत वह मृत शरीर 'राम-राम' उच्चारण करता हुआ जीवित हो उठा। इस प्रकार जो पुनर्जीवित हुए, उनका नाम गिरधरपंत था और उनकी वह सती स्त्री अन्नपूर्णाबाई थी। अन्नपूर्णासे फिर रामदासजीने कहा—'मैंने तुझे पहले आठ पुत्रोंका आशीर्वाद दिया था, अब श्रीरामकृपासे दोका और देता हूँ।' इस आशीर्वादके अनुसार उस ब्राह्मणदम्पतिको दस पुत्र हुए और उन्होंने प्रथम पुत्र श्रीरामदासजीके चरणोंमें अर्पण किया। वही समर्पित पुत्र उद्धव गोसावीके नामसे प्रख्यात हुआ।

अस्तु, उस स्थानपर संवत् १६८९ में जब पुरश्चरण

समाप्त हुआ, तब श्रीरामचन्द्रजीने समर्थ गुरु रामदासजीको दर्शन देकर यह आज्ञा दी कि 'अब तुम सब तीर्थोंकी यात्रा करके कृष्णा नदीके तटपर रहो।' तदनुसार श्रीसमर्थ रामदासजी तीर्थयात्राको चले। सबसे पहले श्रीसमर्थ काशी गये। वहाँसे अयोध्या जाकर श्रीराममन्दिरमें उन्होंने अपने परमाराध्यके दर्शन किये। तत्पश्चात् गोकुल, वृन्दावन, मथुरा, द्वारका होकर श्रीनगर, बदरीनारायण और केदारेश्वर गये। वहाँसे पर्वतशिखरपर ध्यान लगाये बैठे हुए श्रीश्वेतमारुतिके दर्शन करने गये, जहाँ चार महीने ठहरे और श्रीश्वेतमारुतिने इन्हें प्रसाद-स्वरूप टोप, मेखला, वल्कल, भगवें वस्त्र, जयमाल, पादुका और कुबड़ी दी। यहाँसे उत्तरमानसकी यात्रा करके जगन्नाथपुरी और पूर्वी समुद्रके किनारेसे लेकर दक्षिण समुद्रके तटपर श्रीरामेश्वर सेतुबन्ध तथा लङ्काके दर्शनकर गोकर्ण, महाबलेश्वर, शेषाचल, शैलमल्लिकार्जुन, पञ्चमहालिङ्ग, किष्किन्धा, पम्पासरोवर, ऋष्यमूक पर्वत, करवीरक्षेत्र, परशुरामक्षेत्र, पण्ढरपुर, भीमाशंकर और त्र्यम्बकेश्वर होते हुए पञ्चवटी लौटे।

इस प्रकार जब तीर्थयात्रा समाप्त हो गयी, तब समर्थ गोदावरीकी परिक्रमा करने निकले। रास्तेमें एक दिन इन्होंने पैठणमें कीर्तन किया और एक अद्भुत चमत्कार दिखलाया, जिससे वहाँके लोगोंने इन्हें पहचान लिया और कहा कि 'आप तो निश्चिन्त होकर तीर्थोंमें घूम रहे हैं, परंतु घरमें आपकी माता आपके लिये तड़प रही हैं। आपके विरहमें रो-रोकर उन्होंने नेत्रोंकी ज्योति खो दी है।' यह सुनकर रामदासजी महाराज तुरंत ही माताके दर्शनार्थ जाम्ब गाँव गये। द्वारपरसे आवाज दी 'जय जय रघुवीर समर्थ!' श्रेष्ठजीकी धर्मपत्नी यह सुनकर भिक्षा लेकर आयीं, पर समर्थने कहा—'यह भिक्षा माँगनेवाला कोई वैरागी नहीं है।' तबतक माताने आवाज सुनी और पूछा—'कौन मेरा बेटा नारायण?' समर्थने कहा—'हाँ, माताजी! मैं ही हूँ।' और यह कहकर उन्होंने माताके समीप पहुँचकर उनके चरणोंमें मस्तक रख दिया। चौबीस वर्षके दीर्घकालके बाद माता और पुत्रका मिलन हुआ था। समर्थने माताके नेत्रोंपर अपना हाथ फेरा, जिससे खोयी हुई नेत्रज्योति माताको फिर प्राप्त हो गयी। इसके बाद समर्थने माताको कपिलगीता सुनायी और उनसे आज्ञा लेकर गोदावरीकी परिक्रमाका रास्ता लिया। सप्तगोदावरी सङ्गमकी सव्य परिक्रमा करके सीधे त्र्यम्बकेश्वर और त्र्यम्बकेश्वरसे पञ्चवटी पहुँचकर श्रीरामचन्द्रजीका दर्शन करनेके पश्चात् समर्थ टाफलीमें आये, जहाँ वे उद्धवसे मिले। यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि तीर्थयात्राके प्रसङ्गसे श्रीसमर्थ जहाँ-जहाँ गये, वहाँ-वहाँ इन्होंने अपने मठ स्थापित किये और प्रत्येक मठमें एक-एक अधिकारी शिष्यकी नियुक्ति की।

इस तरह बारह वर्ष तपस्या और बारह वर्ष तीर्थयात्रा करके श्रीसमर्थ सं० १७०१के वैशाख मासमें श्रीरामचन्द्रजीके आज्ञानुसार कृष्णानदीके तटपर आये। वहाँ माहुली-क्षेत्रमें श्रीसमर्थ जब रहने लगे, तब बड़े-बड़े संतलोग इनसे मिलनेके लिये आने लगे। बड़गाँवके जयराम स्वामी, निगड़ीके रङ्गनाथ स्वामी, ब्रह्मनालके आनन्दमूर्ति स्वामी, भागा नगरके केशव स्वामी और स्वयं श्रीसमर्थ—ये पाँचों मिलकर दास-पञ्चायतन कहलाते थे। यहीं श्रीतुकारामजी महाराज और चिंचवडके देव श्रीसमर्थसे मिलने आये। कुछ काल बाद श्रीसमर्थ माहुलीसे कृष्णा और कोपनाके 'प्रीतिसङ्गम' पर कऱ्हाड स्थानमें आये और वहाँसे पाँच मीलपर शाहपुरके समीप पर्वतकी एक गुफामें रहने लगे। शाहपुरमें श्रीसमर्थने 'प्रतापमारुतिमन्दिर' की स्थापना की और तत्पश्चात् वहाँसे चलकर चाफलखोरे आये, जहाँके सूबेदारने इनसे दीक्षा ली। वहाँसे घूमते-घामते श्रीसमर्थ कऱ्हाड पहुँचे और फिर वहाँसे मीरज होते हुए कोल्हापुर गये। कोल्हापुरके सूबेदार पाराजी पंत बर्वेने इनसे दीक्षा ली और उनकी बहिन रखुमाबाईने भी अपने अम्बाजी और दत्तात्रेय नामक दो पुत्रोंके साथ अपनेको श्रीसमर्थ-चरणोंमें समर्पित कर दिया।

सं० १७०२ से श्रीसमर्थ रामनवमीका उत्सव करने लगे। सबसे पहला उत्सव मसूरमें बड़े धूम-धामके साथ सम्पन्न हुआ। उसके बाद प्रतिवर्ष अन्यान्य स्थानोंमें क्रमशः श्रीसमर्थ-सम्प्रदायानुसार नवचैतन्यके साथ श्रीराम जयन्त्युत्सव मनाया जाने लगा। उन्हीं दिनों महाराष्ट्रमें श्रीशिवाजी महाराज हिंदू-धर्मराज्यकी संस्थापना करनेके उद्योगमें लगे हुए थे। श्रीसमर्थ रामदास स्वामीकी सत्कीर्ति सुनकर श्रीशिवाजीका मन उनकी ओर आकर्षित हो गया और उन्होंने इनको गुरुरूपमें वरण कर लिया। सं० १७०६ में चाफलके समीप शिगणवाडीमें श्रीसमर्थने

समर्थ रामदास (छत्रपति शिवाजी) [पृ० ४७६]
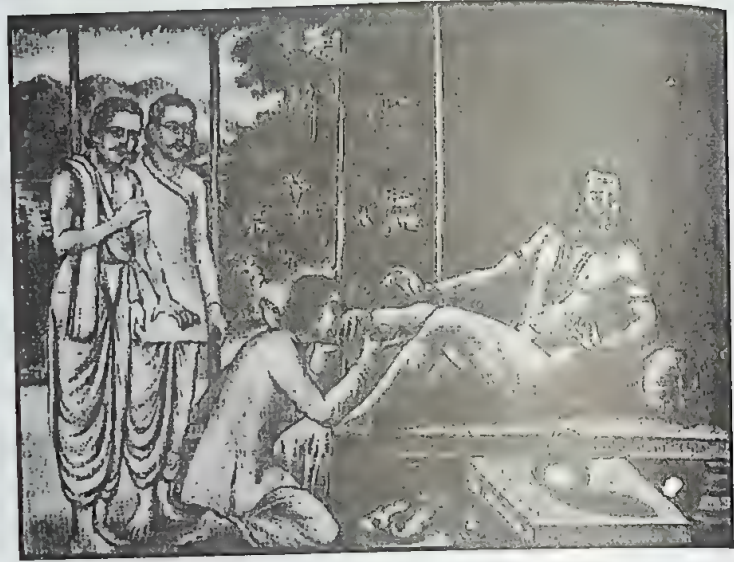
कल्याणस्वामीकी गुरुभक्ति [पृ० ४८२]

भक्त कबीर [पृ० ४८८]

भक्त नानक [पृ० ४९०]

भक्त स्वामी हरिदासजी [पृ० ४९३]

भक्त रामचरणजी [पृ० ४९६]

नरसीजीके साँवलसाह सेठ [पृ०५०१]
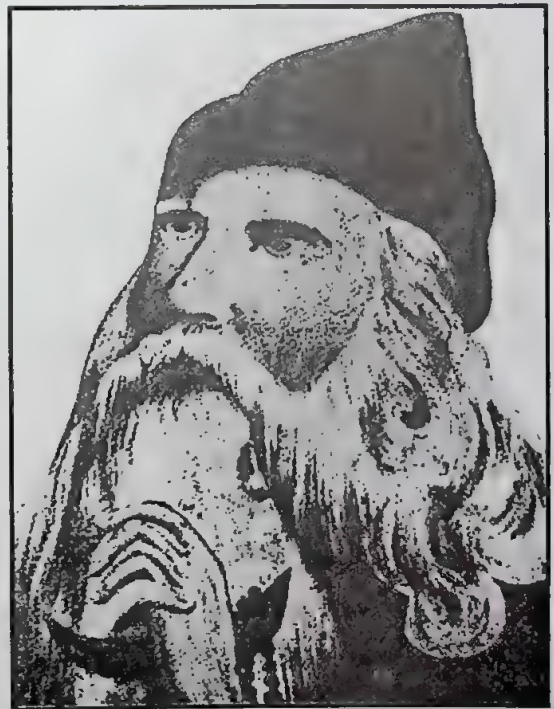
भक्त जाम्भोजी [पृ० ५०२]

उन्हें शिष्यरूपमें ग्रहण किया और श्रीरामचन्द्रके त्रयोदशाक्षर मन्त्रका उपदेश दिया। सं० १७०७ में श्रीसमर्थ पार्लीमें आकर रहने लगे। वह तभीसे सज्जनगढ़ कहलाने लगा और वहाँ अनेक साधु-संतोंके अतिरिक्त सुभीतेका स्थान होनेके कारण श्रीशिवाजी महाराज बार-बार इनके दर्शनार्थ आने लगे। सं० १७१२ में जब शिवाजी महाराज सातारामें थे, तब श्रीसमर्थ करजगाँवसे चलकर भिक्षा माँगते हुए राजद्वारपर पहुँचे। महाराजने इन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम करके एक पत्र लिखकर इनकी झोलीमें डाल दिया, जिसमें यह लिखा था कि 'आजतक मैंने जो कुछ अर्जित किया है, वह सब स्वामीके चरणोंमें समर्पित है।' दूसरे दिन श्रीशिवाजी महाराज स्वामीके साथ झोली लटकाकर भिक्षा भी माँगने लगे; परंतु जब श्रीसमर्थने उन्हें समझाया कि 'राज्य करना ही तुम्हारा धर्म है', तब श्रीशिवाजी महाराजने अपने हाथमें फिर शासनसूत्र ले लिया और स्वामीके मन्त्रणानुसार राजकार्य सँभालने लगे।

श्रीसमर्थ जब तंजावर गये थे, तब वहाँके एक अन्धे कारीगरको आँखें देकर इन्होंने श्रीराम, लक्ष्मण, सीता और हनुमान्जीकी चार मूर्तियाँ बनानेका काम सौंपा था। वे मूर्तियाँ सं० १७३८ फाल्गुन कृष्णा ५ को सज्जनगढ़ पहुँचीं। उन्हें देखकर श्रीसमर्थको परम सन्तोष हुआ। इन्होंने उसी दिन चारों मूर्तियोंकी विधिपूर्वक स्थापना की। उनकी पूजा-अर्चा होने लगी। फिर माघ कृष्णा ९ के दिन सबसे कह-सुनकर श्रीसमर्थने महाप्रयाणकी तैयारी की। श्रीराममूर्तिके सामने आसन लगाकर बैठ गये। उनके प्रयाणकालीन उद्गारोंको सुनकर उद्धव आदि शिष्य घबराये। इसपर श्रीसमर्थने कहा कि 'आजतक जो अध्यात्म-श्रवण करते रहे, क्या उसका यही फल है?' शिष्योंने कहा—'स्वामी! आप सर्वान्तर्यामी हैं, घट-घटके वासी हैं; पर आपके प्रत्यक्ष और सम्भाषणका लाभ अब नहीं मिलेगा।' यह सुनकर श्रीसमर्थने शिष्योंके मस्तकपर हाथ रखकर कहा—'आत्माराम', 'दासबोध, इन दो ग्रन्थोंका सेवन करनेवाले भक्त कभी दु:खी न होंगे। तत्पश्चात् इक्कीस बार 'हर-हर' शब्दका उच्चारण करके श्रीसमर्थने ज्यों ही श्रीराम-नाम लिया, त्यों ही उनके मुखसे एक ज्योति निकलकर श्रीरामचन्द्रजीकी मूर्तिमें समा गयी!

श्रीसमर्थके प्रसिद्ध ग्रन्थोंके नाम ये हैं—'दासबोध, मनोबोध, करुणाष्टक, पुराना दासबोध, आत्माराम, रामायण, ओवी चौदह शतक, स्फुट ओवियाँ, षड्रिपु, पञ्चीकरणयोग, चतुर्थमान, मानपञ्चक, पञ्चमान, स्फुट प्रकरण और स्फुट श्लोक।'

श्रीसमर्थद्वारा स्थापित जो सुप्रसिद्ध ग्यारह मारुति हैं, उनके स्थान ये हैं—शाहपुर, मसूर, चाफलमें दो स्थान, डंब्रज, शिरसल, मनपाडलें, वारगाँव, माजगाँव, शिंगणवाडी और बाहें।

श्रीसमर्थने लगभग सात सौ मठोंकी संस्थापना की थी। उनमें कुछ मुख्य मठोंके नाम ये हैं—जांब, चाफल, सज्जनगढ़, टाफली, तंजावर, डोमगाँव, मनपाडले, मीरज, राशिबड़े, पण्ढरपुर, प्रयाग, काशी, अयोध्या, मथुरा, द्वारका, ब्रदी-केदार, रामेश्वर, गङ्गासागर आदि।

भक्त उद्धव गोसावी

(लेखक—श्रीविट्ठल रङ्गराव देशपाण्डे बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

महाराष्ट्रके सुप्रसिद्ध भक्त समर्थ रामदास स्वामीके ये पट्ट-शिष्य थे। ये महान् भगवद्भक्त थे। इनके पिताका नाम सदाशिव पंत और माताका नाम उमा था। सदाशिव पंत धनवान् थे। युवावस्थामें ही उनकी मृत्यु हो गयी। उनकी धर्मपत्नी उमाने सती होनेका निश्चय किया। उमा अपने पतिके शवको लेकर चितापर आरोहण करनेवाली ही थी कि उसकी दृष्टि एक गुफाकी ओर पड़ी, जहाँ समर्थ रामदास ध्यानस्थ स्थित थे। उनकी तेज:पुञ्ज, तपस्वीविभूति देखकर उमाने उनके दर्शनार्थ समीप जाकर नमस्कार किया। स्वामीजीने '**अष्टपुत्रा सौभाग्यवती भव**' ऐसा आशीर्वाद दिया। उमाने फिर प्रणाम किया—इस विचारसे कि स्वामीजी ध्यानस्थ हैं, मेरी अवस्थाको समझ लें। परंतु उन्होंने फिर उसी आशीर्वचनको दुहराया। तीसरी बार उमाने प्रणाम किया तो स्वामीने '**दशपुत्री भव**'—दस पुत्रोंवाली हो—का आशीर्वाद दिया। इसपर उमाने कहा—'स्वामीजी! मैं तो अब सती होने

जा रही हूँ और मेरे पतिका देहान्त हो गया है, आपका यह आशीर्वाद कैसे सत्य होगा?' पर स्वामीजीके कृपाप्रसादसे उसका पति सजीव होकर उठ बैठा। उसने कहा कि 'मुझे कुछ लोग ले जा रहे थे, इतनेमें एक वानरने आकर छुड़ाया और मैं जाग्रत् हो गया। मुझे यहाँ क्यों लाये हो?' उमाने सारा वृत्तान्त कहा। इसपर उसके पतिने स्वामीके दर्शनकी इच्छा की। दर्शनके बाद स्वामीजीने कहा कि 'तुमको जो पुत्र होंगे, उनमेंसे प्रथम पुत्र मुझे दे देना।' दम्पतिने इसे स्वीकार किया और आनन्दसे अपने घर लौट आये। इन्हींके प्रथम पुत्र हमारे चरित्रनायक श्रीउद्धव स्वामी हैं।

उद्धव स्वामी जन्मसे ही वैराग्ययुक्त भक्त थे। मानो स्वयं स्वामी रामदासने ही शिष्यरूपमें अवतार लिया था। समर्थ रामदास इनके पिताके पास आकर इस बालकको देखकर बड़े प्रसन्न होते थे और उसे बहुत प्यार करते थे। उद्धव स्वामी भी समर्थ रामदासको ही अपना पिता मानते थे। छ: वर्षके बाद जब उपनयन करनेका निश्चय हुआ, तब बालकने कहा कि 'मेरा उपनयन रामदास स्वामीकी उपस्थितिमें होगा। अन्यथा नहीं।' पर पिताजीने नहीं माना। उपनयनकी तैयारी कर ली। इतनेमें वहाँ समर्थ प्रकट हो गये और उद्धव स्वामीके मनके अनुसार उपनयन हुआ। पश्चात् इस बालकको लेकर समर्थ माता-पिताके घरसे निकले। गाँववालोंने समझाया कि 'इस छोटे-से बालकको आप माता-पितासे अलग क्यों ले जा रहे हैं? पर उन्होंने किसीकी नहीं सुनी। फिर गाँववालोंके कहनेपर समर्थने उसी गाँवके समीप टाकली ग्राममें हनुमान्जीका मन्दिर बनवाया और उसी स्थानपर इस बालकको रखा गया। तदनन्तर स्वामीजी वहाँसे चले गये। जाते वक्त स्वामीजीने बालकको हनुमान्जीकी पूजाका विधान बतलाया और कहा कि मैं शीघ्र ही लौटकर आऊँगा।'

बालकने स्वामीजीके आदेशानुसार प्रतिदिन प्रात: चार बजे उठकर स्नान, सन्ध्या, हनुमान्जीकी पूजा, जप और ध्यान-धारणा करनेका नियम कर लिया और अपने अनुष्ठानको अखण्डरूपसे चालू रखा। वह प्रतिदिन सद्गुरुकी प्रतीक्षा करता रहा। इस तरह बारह वर्ष व्यतीत हो गये। बालक बराबर अनुष्ठान करता रहा। एक दिन उसके मनमें आयी कि 'गुरुजी तो शीघ्र लौटनेका वादा करके गये थे, फिर अभीतक क्यों नहीं आये। वे मुझपर रूठ तो नहीं गये?' चित्त व्याकुल हो गया। और गुरुजीके दर्शनकी लालसा अत्यन्त बढ़ गयी। उसने पूजाके समय इसके लिये श्रीहनुमान्जीसे प्रार्थना की। इसपर भी जब समर्थ नहीं आये, तब एक दिन उसने प्रतिज्ञा की कि 'अब मुझे जबतक दर्शन नहीं होंगे, मैं अन्न ग्रहण नहीं करूँगा।' इनके भक्तिभावको देखकर हनुमान्जी प्रसन्न हो गये और रात्रिके बारह बजे दर्शन देकर बोले—'वत्स! चिन्ता न कर, तेरे गुरुजीको मैं लेकर आता हूँ।' इस समय स्वामी रामदासजी सज्जनगढ़में निवास करते थे। उनको हनुमान्जीने जगाया और तुरंत दर्शन देनेके लिये लेकर आये। उद्धव स्वामी गुरुजीके दर्शन पाकर बड़े ही प्रसन्न हुए। यथायोग्य प्रणाम-पूजनादिके पश्चात् उपदेश देनेकी प्रार्थना की। स्वामी रामदासजीने उनको उपदेश दिया और कुछ दिनोंतक टाकली ग्राममें अपने शिष्यके साथ रहकर उसे दृढ़ आत्मानुभव कराया। तदनन्तर वे वहाँसे फिर सज्जनगढ़ लौट गये।

समर्थ रामदासजीके अकस्मात् सज्जनगढ़से चले जानेके पश्चात् उनके शिष्य कल्याण, शिवाजी आदिने बड़ी खोज की; परंतु जब कहीं पता न चला, तब वे बड़े दु:खी हुए। समर्थजीके वापस लौट आनेपर उनसे पूछा तो उन्होंने बतलाया कि 'उद्धव स्वामी नामका मेरा एक अत्यन्त प्रिय शिष्य है। उसके प्रार्थनापर मैं अकस्मात् वहाँ चला गया था। अब वहाँसे लौटकर आ रहा हूँ।' यह कहकर उन्होंने उद्धव स्वामीका सारा वृत्तान्त सुनाया। इसपर सभी शिष्योंने उद्धव स्वामीके दर्शनकी इच्छा प्रकट की। समर्थजीने उद्धव स्वामीको सज्जनगढ़ बुलवाया और अपने सब शिष्योंसे उनकी भेंट करवायी। उस समय सबको बड़ा ही आनन्द हुआ।

एक दिन समर्थजीने उद्धव स्वामीको अपने 'दासबोध' ग्रन्थपर व्याख्यान करनेकी आज्ञा की। गुरुजीके आज्ञानुसार उद्धव स्वामीने दासबोधका व्याख्यान इतना सुन्दर किया कि उसे सुनकर गुरुजी बड़े प्रसन्न हुए और अपने

शिष्योंमें उनको अग्रस्थान दिया। सज्जनगढ़से टाकली ग्रामका वापस जानेकी आज्ञा होनेपर वहाँसे जब उद्धव स्वामी चले तो छत्रपति शिवाजीने उनसे प्रार्थना की कि 'मैं पाँच गाँव आपके टाकली-मठको देता हूँ। कृपया स्वीकार कर लीजिये।' इसपर उन्होंने अत्यन्त नम्रतासे उन्हें लेना अस्वीकार कर दिया। इससे इनके वैराग्यका पता लगता है।

टाकली लौटनेके पश्चात् उद्धव स्वामी अपने नित्य कार्यक्रमके अनुसार भजन-पूजनमें लग गये। इस दिव्य व्यक्तिके दिव्य जीवनको देखकर जनता उनकी ओर आकृष्ट होने लगी और उपदेश तथा अनुग्रह करनेके लिये प्रार्थना करने लगी। इसपर उन्होंने कहा कि 'मैं गुरुजीकी आज्ञाके बिना ऐसा नहीं कर सकता।' एक दिन समर्थ टाकली आये। उस दिन एकादशी थी। समर्थने आज्ञा की—'कीर्तन करो।' आज्ञानुसार कीर्तन प्रारम्भ हुआ। कीर्तन इतना सुन्दर और भक्तियुक्त अन्तःकरणसे किया जा रहा था कि स्वयं श्रीहनुमान्जी पीछे खड़े होकर वाद्य बजाकर कीर्तनमें योग दे रहे थे। सब लोग कीर्तनमें इतने मग्न हो गये कि कई घंटोंतक अखण्ड कीर्तन होता रहा और किसीको समयका खयालतक न रहा। इस प्रकार सुन्दर कीर्तन सुनकर समर्थ बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने आज्ञा दी कि 'जनताके उत्थानके लिये उद्धव स्वामी उपदेश दिया करें और स्वयं भक्तिभाव बढ़ानेका प्रयत्न करें।'

गुरुजीके आदेशानुसार उद्धव स्वामी नित्यप्रति जनताको भक्ति-भावकी ओर आकृष्ट करनेका उद्योग करते रहे। वे स्वयं भजन-पूजन करते और दूसरोंसे करवाते। जनता भी इन अधिकारी पुरुषके आदेशानुसार आचरण करने लगी। इस सिद्धपुरुषके द्वारा महाराष्ट्रभरमें भक्तिका बड़ा प्रसार हुआ। फाल्गुन शु० १ के दिन भजन-पूजन करते हुए आपने अपने आत्माको परमात्मामें विलीन कर लिया। अबतक इनकी पुण्यतिथि मनायी जाती है।

गुरुभक्त कल्याणस्वामी

(लेखक—श्री एम्० एन्० धारकर)

श्रीशिवाजी महाराजके सद्गुरु श्रीसमर्थ रामदासस्वामी महाराजका नाम सभी जानते हैं। श्रीसमर्थ महाराजने अनेकों मठोंकी स्थापना की और उनमें अपने शिष्योंको नियुक्त किया। इन शिष्योंने श्रीशिवाजी महाराजको राजनीतिक क्षेत्रमें सहायता दी तथा मुसलमानोंसे आतङ्कित हिंदू-जनताको निर्भय किया।

एक समयकी बात है, श्रीसमर्थ महाराज और उनका शिष्यपरिवार कुछ दिनोंके लिये एकत्रित हुआ। शिष्योंमें परस्पर होड़-सी लगी थी कि सद्गुरुकी सबसे बढ़कर सेवा कौन करता है और सभी प्रायः अपनेको सर्वोपरि सेवकके रूपमें परिचय देनेके लिये लालायित थे। श्रीसद्गुरुसे भला यह बात कैसे छिपी रह सकती थी। इसलिये उन्होंने 'सच्ची कसौटीपर कौन शिष्य खरा उतरता है' इसकी परीक्षाके लिये एक लीला रची। एक दिन, जब कि समस्त शिष्यमण्डल उपस्थित था, वे जोरसे कराहने लगे। मानो कहीं उनके बड़ी पीड़ा हो रही हो। समस्त शिष्य घबरा गये और सबने समर्थ महाराजसे इसका कारण पूछा। स्वामीजीने कहा—'पुत्रो! मेरी पिंडलीमें एक बड़ा भारी फोड़ा हो गया है और उसमें असह्य पीड़ा हो रही है।' शिष्यमण्डलीमें हलचल-सी मच गयी। सभी शीघ्र चिकित्सा कराकर गुरुजीको आराम पहुँचानेके लिये आतुर हो उठे। कोई कुछ तो कोई कुछ उपचार करनेके लिये कहने लगा। स्वामीजीने कहा—'सुनो पुत्रो! यह मेरा फोड़ा साधारण नहीं है और यह तुम्हारे किसी भी बाह्योपचारसे ठीक नहीं हो सकेगा।' शिष्य आग्रहपूर्वक बोले—'महाराज! कुछ-न-कुछ उपचार तो अवश्य ही होना चाहिये।' स्वामी महाराजने उत्तर दिया—'हाँ, वत्सो! इसके लिये एक ही उपचार हो सकता है और उससे तुरंत ही मेरी पीड़ा मिट जायगी; परंतु वह दुःसाध्य है।' इतना कहकर वे चीख-चीखकर पुनः कराहने लगे। यह देखकर शिष्य बोले—'महाराज! कैसा भी दुःसाध्य उपचार क्यों न हो, उसे

करनेमें हमें अपने प्राणोंकी भी चिन्ता नहीं है; आप बतायें तो सही।' स्वामीजी सब शिष्योंसे यही तो कहलवाना चाहते थे। उनके इतना कहते ही स्वामीजी बोले—'सुनो, इसका उपचार यह है कि कोई मनुष्य मेरे इस फोड़ेको मुँह लगाकर चूस ले। बस, मेरी वेदना तुरंत मिट जायगी, परंतु वह चूसनेवाला मर जायगा।' स्वामीजीकी यह बात सुनते ही सब शिष्य एक-दूसरेकी ओर ताकने लगे। कोई भी इस कार्यके लिये आगे नहीं बढ़ा। अन्तमें 'कल्याण' नामक शिष्य उठे और उन्होंने स्वामीजीसे फोड़ेपर बँधी पट्टी खोलनेके लिये कहा। स्वामीजीने कहा—'पट्टी खोलनेमें मुझे असह्य वेदना होगी, इसलिये पट्टी नहीं खोलनी है। हाँ, पट्टीमेंसे एक कोनेपर फोड़ेका काला-सा मुँह दिख रहा है; बस वहींसे चूसना आरम्भ कर दो।' कल्याणने सद्‌गुरु-चरणपर सिर रखा और फोड़ेको मुँहमें लेकर चूसना आरम्भ कर दिया। फोड़ेमेंसे चार-छः घूँट लेनेके बाद तो कल्याणने अपना मुँह फोड़ेपर सारी शक्तिसे लगा दिया और बड़े जोरसे चूसना आरम्भ किया। उसे बड़ा मधुर स्वाद मिल रहा था। स्वामीजी चिल्ला उठे—'अरे कल्याण! धीरे, अरे धीरे!' पर कल्याण कब माननेवाले थे। कल्याण बोले—'महाराज! आपके प्रतिदिन ऐसे ही फोड़े हुआ करें और मैं उन्हें चूसा करूँ।' इतना कहकर कल्याणने यथाशक्ति सारा फोड़ा चूस डाला। अन्तमें स्वामीजीने पट्टी खोली और पिंडलीपरसे तोतापुरी आमकी एक बड़ी गुठली और छिलका निकल पड़ा। यह देखकर सारे शिष्य लज्जित हो गये। पाठक समझ ही गये होंगे कि स्वामीजीने पके हुए मीठे लंबे तोतापुरी आमपर ही पट्टी बाँध ली थी।

आगे चलकर अपनी अनुपम गुरुभक्तिसे कल्याण श्रीसमर्थ रामदासस्वामी महाराजके प्रमुख शिष्य होकर 'कल्याण स्वामी' के नामसे प्रसिद्ध हुए और इन्होंने बड़ा कार्य किया।
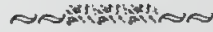
भक्त मुनिजी (स्वामी नरहर्यानन्दजी)

(लेखक—श्रीभगवानदासजी)

आचार्य भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराजकी आज्ञा पाकर भक्त मुनिजी चित्रकूटको चल दिये। गङ्गाजीके किनारे-किनारे चलकर प्रयागराज पहुँचे। वहाँसे चित्रकूट गये। चित्रकूटमें विमलसलिलप्रवाहिनी श्रीमन्दाकिनीजीके किनारे, एक टीलेपर आप खड़े हुए। वहाँ प्राचीन संतकी गुफा थी। उसमेंसे मधुर ध्वनि निकली और वह उनके श्रवणोंमें जा पहुँची। इधर-उधर देखनेपर गुफाका द्वार मिला। टटिया हटाकर भीतर चले गये, भीतर एक महात्माके दर्शन हुए, प्रणाम किया, आशीर्वाद मिला। महात्माजीने कहा कि 'इस सीढ़ीसे गुफामें चले जाओ।' आज्ञानुसार उसी मार्गसे वे भीतर घुस गये। अंदर जानेपर एक बहुत अच्छे साफ-सुथरे प्राङ्गणमें जा पहुँचे, जो अत्यन्त प्रकाशमान था। वहाँ देखते हैं कि सुन्दर आसन लगे हुए हैं, उनमेंसे चार आसनोंपर चार भक्त मुनि योगसमाधिमें लीन विराजमान हैं। शेष आसन खाली थे। सोचने लगे कि शायद मुनिजन कहीं गये हुए हैं। प्रत्येक आसनपर जलभरा कमण्डलु और कन्द-मूल-फल रखे हुए थे। बीचमें एक बड़ा सुन्दर तालाब, पुष्पवाटिका है, जिसमें नाना-प्रकारके फूल खिले हुए हैं, भ्रमर गूँज रहे हैं। यह देखकर आप बहुत प्रसन्न हुए। आपने सरोवरमें स्नानकर पुष्पचयन किया और अपने 'भगवान् विजयराघवजी'की पूजा की। एक आसनपर जा बैठे, धूनी जगायी, भगवान्‌को भोग लगाकर प्रसाद पाया। उस गुफामें जितने भक्तमुनि भजन करते, वे सब ऐकान्तिक थे। किसीसे कोई मुनि बातचीत नहीं करता था। कन्द-फूल-फल सबके आसनोंपर पहुँच जाता था। वे वहाँ रहकर भजन करने लगे, मन रम गया और आनन्दमें निमग्न रहते हुए बहुत दिन बीत गये। एक दिन अपने भगवान्‌की पूजाके लिये तुलसी और फूल लेनेके लिये वाटिकामें गये, तब कुञ्जप्रसारिणीके पास पहुँचते ही उनका शरीर पत्थरके विग्रहतुल्य हो गया। उसीमें मस्त हुए बहुत दिन हो गये। एक दिन एकाएक सोलह योगिनियोंका एक मण्डल उस कुञ्जप्रसारिणीके पास आकाशसे उतरा। उनकी हथेलीपर एक फूलोंसे भरा हुआ दिव्य थाल था। सबने भक्त मुनिकी भव्यमूर्तिपर पुष्प चढ़ाये, नमस्कार किया और अपना-अपना थाल

रखकर मनोहर मधुरस्वरसे वे स्तुतिगान करने लगीं। स्तुतिके समाप्त होते ही उस भव्यमूर्तिमें चेतना दौड़ आयी, स्तब्धता दूर हो गयी और सहज समाधि भङ्ग हुई; वे लड़खड़ाकर गिर पड़े, कुछ देरमें सँभले, तब सब योगिनियाँ चली गयीं। साधारण स्थितिमें आ जानेपर उन्हें अपने 'विजयराघव' भगवान्‌की पूजाका स्मरण हो आया। फूल, तुलसीदल उतारनेको आगे बढ़े। अब कोई किसी तरहकी रुकावट थी नहीं। अब तो श्रीकुञ्जप्रसारिणीजीने अपना रूप ही बदल दिया और वे एक वृद्ध तपस्विनीके रूपमें परिणत हो गयीं, मुनिने चरण छूकर सादर प्रणाम किया।

तपस्विनीने उनके सिरपर हाथ फेरकर कहा—'बेटा! जा भजन-पूजन कर।'

बूढ़ी माताके वचनोंमें वात्सल्य भरा था; उससे सन्तुष्ट होकर वे आगे बढ़े, तुलसीदलादि लेकर आसनपर गये। भगवान्‌की पूजादिसे निवृत्त होकर फलोंका भोग लगाया और पाया। तत्पश्चात् पूर्वस्थितिपर विचार करने लगे—अहो! उस वाटिकामें न जाने कितने वर्ष पाषाणवत् होकर मुझे बीते; तब कहीं योगिनियोंद्वारा उद्धार हुआ और यहाँ आनेपर देखा कि भगवान्‌के ऊपर जो चन्दन चढ़ा गये थे, वह वैसा ही गीला लगा हुआ है, सूखातक नहीं। मालूम दे रहा है कि अभी-अभी वाटिकामें गये और लौटकर आये हैं। यहाँकी दृष्टिसे दो क्षण लगे हैं और वहाँकी दृष्टिसे न जाने कितने वर्ष लग गये। महान् आश्चर्यकी बात है। चलकर उन बूढ़े महात्मासे पूछना चाहिये, जिन्होंने मुझे यहाँपर कृपा करके निवास दिया है। उनके पास गये और प्रणाम करके बैठ गये।

महात्माने पूछा—'कहिये। इस गुफामें क्या कुछ अनुभव हुआ है?'

मुनिजी बोले—'भगवन्! विचित्र अनुभव हुआ है।' तदनन्तर फुलवारीकी सब घटना सुना दी और रहस्य पूछा।

महात्माजीने कहा—'इस गुफाका क्षेत्र प्रकृतिसे परे है, यहाँकी सब वस्तुएँ अप्राकृत हैं। प्राकृतिक देश-कालकी सरणि यहाँ काम नहीं करती। अस्तु! क्षणभरका परिमाण बढ़कर वर्षोंतक पहुँच गया तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं। इसमें जगत्‌के अन्तर्गत स्वप्न एवं सुषुप्तावस्थाके भोग हुए हैं। दृक्तलकी ज्योति यदि कण्ठ और हृदयमें उतर आयी तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। ऐसा हुए बिना भीतर प्रकाश कैसे फैले और अन्तर्जगत् कैसे प्रकाशित हो। इस भगवद्धामकी महिमा निराली है। यहाँ असम्भवका आकार गुप्त हो जाता है। ज्ञान और विज्ञानके धरातलपर भगवच्चरण-चिह्न अङ्कित हैं; ऐसा साफ दर्पण है कि इसमें अपनी मुखाकृति स्पष्ट दिखायी देती है। यहाँ बिना प्रयास आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है। भगवान्‌के सौलभ्यगुणका यहाँ सहज विकास है। वृद्धा तपस्विनीजीके उपदेशानुसार भजन-पूजन करते रहो, तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हो जायगा।'

मुनिजी वहाँसे उठे और आसनपर आकर वाटिकामें तुलसी उतारनेके लिये गये। देखते हैं कि फुलवारीमें आज एक भी तुलसीका बिरवा नहीं है। खूब ढूँढ़ा, एक भी नहीं। बड़े आश्चर्यमें पड़ गये और विचार करने लगे। चारों ओर दृष्टि घुमाकर देखने लगे तो दूरपर एक तुलसी-वनिका दिखायी दी। उसने मुनिराजके चित्तको खींच लिया; परंतु वहाँ जानेका मार्ग पथरीला, विकट और सङ्कीर्ण था। भगवान्‌का नाम लेकर चल पड़े। सुन्दर पावन नामकी ध्वनि सुनकर माता दिव्य भूमिकाको दया आ गयी, उसने सुमनमय मार्ग कर दिया। मुनिजी आनन्दपूर्वक तुलसी-वनिकामें पहुँच गये।

वहाँ एक कन्या मिली। उसने तुलसीदल उतारनेसे मना किया, बढ़ा हुआ हाथ एकदम रुक गया।

मूनिने पूछा—'वत्से! इस वनिकाका स्वामी कौन है? तू क्यों भगवत्सेवाके लिये श्रीतुलसीदल उतारनेसे रोकती है? अच्छा! एक ही दल ले लेने दे।

कन्याने हँसकर कहा—बाबाजी! यह तुलसीवनिका माता अनुसूयाजीकी है। उनकी आज्ञा ऐसी ही है। देखिये, यहाँके पक्षी और मृग भी इसमें प्रवेश करनेका साहस नहीं करते। माताकी आज्ञा सबको मान्य होनी चाहिये।'

मुनिजीने कहा—'मुझे महामाताजीके पास ले चलो, मैं स्वयं उन्हींसे एक तुलसीदल माँग लूँगा। विश्वास है कि वे एक पत्ता तुलसीदल देना स्वीकार कर लेंगी।' कन्या उन्हें भूगर्भके मार्गसे ले गयी। वहाँ एक मठ दिव्य मन्दाकिनीके तटपर था। उसे दिखाकर कहा कि 'आप माताके स्थानमें पहुँच गये, मैं जाती हूँ। दर्शन होनेपर प्रार्थना कर लीजियेगा। तब मैं एक दल तुलसी दे दूँगी।' यह कहकर वह गुप्त हो गयी। मुनिजी माताजीके दर्शनकी इच्छा करते हुए इधर-उधर विचरने लगे।

इतनेमें दो तेंदुए सामने अकड़ते हुए बड़ी तेजीके साथ आते हुए दिखायी दिये। इन मुनिकी ओर उनकी दृष्टि थी। धीरे-धीरे वे पासकी घनी झाड़ीमें चले गये। डर लगा हुआ था कि कहीं छिपकर आक्रमण न करें, किंतु ऐसा नहीं हुआ। थोड़ी देरमें एक जोड़ा मोरका मठपर दिखायी दिया। वह थोड़ी देर रहकर चला गया। कुछ समय बाद दो परेवा पंख जोड़े आकाशमार्गसे उड़ते हुए उतरे और मुनिके कंधेपर बैठ गये। उनका ऐसा करना मुनिको अच्छा नहीं लगा। उन्होंने दोनोंको पकड़कर पृथ्वीपर छोड़ दिया। वे स्वाभाविक ध्वनि करने लगे। उसे सुनकर मुनिने उन्हें अपने हथेलीपर बैठा लिया। वे सिरपर चढ़ गये और फुर्रसे उड़ गये।

मुनिराज सोचने लगे—'दो चीते, दो मोर और दो कपोत क्यों आये? कम या अधिक नहीं।' सन्ध्या हो गयी। थकावट-सी मालूम देने लगी, चन्द्रमाकी चाँदनी फैल गयी, मन्द-मन्द पवन चलने लगा, नींद आ गयी। स्वप्नमें भगवान् अत्रि और माता अनुसूयाजीके दर्शन हुए। माताजीने कहा—'वत्स! हमारे दर्शनार्थ तुम विकल थे; अतएव तेंदुआ, मोर और कपोतके रूपमें हमने तुम्हें दर्शन दिया, पर तुम लख न सके। कलिकालमें सहसा प्रत्यक्ष दर्शनका नियम नहीं है। किसी-न-किसी व्याजसे प्रथम दर्शन होते हैं। अच्छा! अब तुम मल्लिकाकुञ्जमें जाकर रहो। कन्यासे कह देना कि 'माताने तुलसीवनका स्वामी बना दिया है। श्रीतुलसी-वनिका वह स्थान है, जहाँ महर्षिजीके पास भगवान् राम-लक्ष्मण दोनों भाई बैठे थे। श्रीवैदेहीजी मल्लिकाकुञ्जमें ही मुझसे मिलने आयी थीं।'

स्वप्नमें माताकी झाँकी बंद हुई कि आँख खुल गयी। प्रात:समय उठकर विदा होनेके लिये महात्माजीके पास आये और स्वप्नका सब वृत्तान्त कह सुनाया। महात्माजीने वहाँ जानेकी आज्ञा दे दी। मुनिराजने मल्लिकाकुञ्जमें जाकर निवास किया। दूसरे दिन जब आप नित्यकृत्यसे निवृत्त हुए और भगवच्चिन्तनमें मग्न होनेवाले ही थे कि एक सुन्दर भीलकुमार कंधेपर धनुष लटकाये और कन्द-मूल-फल लिये हुए आया। टोकरी सामने रखकर बोला—'बड़े परिश्रमसे ये मूल-फलादि लाया हूँ, इनको अपने भगवान् 'विजयराघव' को भोग लगाकर पाइये।' भोग लगाकर कन्द, मूल और फल तीनोंमेंसे भगवत्प्रसाद दिया। उसने बड़े चावसे प्रसाद पाया, तब मुनिजीने भी प्रेमपूर्वक प्रसाद पाया।

भीलकुमारने पूछा—'इन तीनोंमेंसे जो आपको प्रिय लगे हों, बताइये; वे ही प्रतिदिन ले आया करूँगा।'

मुनिजीने कहा—तीनों मधुर, स्वादिष्ट और तृप्तिकर हैं। मैं तीनोंको समानरूपसे चाहता हूँ, मुझे तीनों दे जाया कीजिये।

उसने 'बहुत अच्छा' कहा। प्रणाम करके चला गया। मुनिजी विश्राम करने लगे। सोनेका कोई समय न था, तो भी नींद आ गयी। स्वप्नमें देखते क्या हैं कि श्रीसीता-राम-लक्ष्मण स्फटिक-शिलापर बैठे हुए वही फल भोग लगा रहे हैं।

श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणसे कहा—इन बाबाको भी कन्द-मूल-फल देना चाहिये। श्रीलक्ष्मणजी उठना ही चाहते थे कि बाबाजीने हाथ जोड़कर कहा—'आपलोग पा लें तो पत्तलपर जो प्रसादी बच जायगी, उसे ही मैं पाकर आनन्दित हो जाऊँगा।' भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने कहा कि—'आप-जैसे मुनिको हम अपना उच्छिष्ट कैसे दे सकते हैं। यह तो बड़े असमंजसकी बात है।'

मुनिने कहा—'भगवन्! मैं तो नित्य आपका ही उच्छिष्ट पाता हूँ। कोई नयी बात नहीं है। भोग लगाते हुए ध्यानमें आयी हुई दिव्य मूर्ति और इस प्रत्यक्ष दर्शनमें तो जरा-सा भी अन्तर नहीं दिखायी देता।'

श्रीवैदेहीजीने कहा—'बाबा भक्त मुनि हैं, इनको प्रसाद देना चाहिये।' श्रीसुमित्रानन्दनजीने कहा—'मनसा-वाचा-कर्मणा जिसे दूसरी गति नहीं है, उसे अवश्य प्रसादके लिये सत्पात्र समझना चाहिये।' श्रीकौसल्यानन्दनजीने कहा—जब सबकी ऐसी ही अनुकम्पा है, सम्मति है तो प्रसाद दे दो।'

श्रीलक्ष्मणजीने शीघ्र तीनों पत्तलें उठाकर मुनिको दे दीं। बाबा निहाल हो गये, बड़े प्रेमसे पाने लगे। करुणासे हृदय भर गया, नेत्रोंसे प्रेमरूपी आँसुओंकी धारा बह निकली। उसीसे हाथ-मुँह धुल गया। कृतज्ञ हो चरणस्पर्श करनेको जैसे उठे कि निद्रा भङ्ग हो गयी। वे भक्त मुनि—हमारे स्वामी नरहर्यानन्दजी ही थे, जिन्होंने गोस्वामी तुलसीदासको रामचरितमानस पढ़ाया था।

भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजी

गोस्वामीजीका आविर्भाव जिस समय हुआ था, वह समय भी हिन्दूजातिके लिये घोर निराशाका ही था। चारों ओर हम अन्धकारसे घिरे हुए थे। कोई मार्ग सूझ नहीं रहा था। तुलसीदासजीने भगवान्‌का लोकमंगल रूप दिखाकर हिन्दूजातिको मिटनेसे तो बचाया ही, साथ ही व्यक्तिके जीवनमें भी आशाका उदय हुआ। हमने भगवान् श्रीरामचन्द्रकी भक्तिका आश्रय लिया और उसकी शक्तिसे हमारी रक्षा हुई। गोस्वामीजीने हमारी ही ठेठ भाषामें हमें समझाया कि भगवान् हमसे दूर नहीं हैं, वे सर्वथा हमारे जीवनसे सटे हुए हैं!

हिन्दीके राजाश्रित कवि अपना तथा अपने आश्रयदाता नरेशका जीवनवृत्तान्त लिखा करते थे, परंतु गोसाईंजीने स्वतन्त्र होनेके कारण ऐसा करनेकी कोई आवश्यकता नहीं समझी। उनके ग्रन्थोंसे उनके जीवनके सम्बन्धमें कुछ भी पता नहीं चलता। हाँ, उनकी भक्तिजन्य दीनताकी झलक अवश्य सर्वत्र मिलती है।

गोस्वामीजी वाल्मीकिके अवतार माने जाते हैं। आपका आविर्भाव वि० सं० १५५४ की श्रावणशुक्ला सप्तमीको बाँदा जिलेके राजापुर* गाँवमें एक सरयूपारीण ब्राह्मणके घर हुआ था—

पँदरह सै चउवन बिषै, कालिंदी के तीर।
श्रावन सुक्ला सप्तमी, तुलसी धरेउ सरीर॥

आपके पिताका नाम था आत्माराम दुबे और माताका नाम था हुलसी। जन्मके समय आप तनिक भी रोये नहीं और आपके बत्तीसों दाँत उगे हुए थे। आप अभुक्त मूलमें पैदा हुए थे, जिसके कारण स्वयं बालकके या माता-पिताके अनिष्टकी आशङ्का थी। बचपनमें आपका नाम तुलाराम था।

वि० सं० १५८३ की ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशीको आपका विवाह बुद्धिमती (या रत्नावलीजी)-से हुआ। पत्नीके प्रति आपकी बड़ी गहरी आसक्ति थी। एक दिन जब वह नैहर चली गयी, आप उसके घर रातको छिपकर पहुँचे। उसे बड़ा संकोच हुआ और उसने यह दोहा कहा—

हाड़ मांस को देह मम, तापर जितनी प्रीति।
तिसु आधो जो राम प्रति, अवसि मिटिहि भवभीति॥

यह बात आपको बहुत लगी। बिना विरमे हुए आप वहाँसे चल दिये। वहाँसे आप सीधे प्रयाग आये और विरक्त हो गये। और जगन्नाथ, रामेश्वर, द्वारका तथा बदरीनारायण पैदल गये एवं तीर्थाटनके द्वारा अपने वैराग्य और तितिक्षाको बढ़ाया। तीर्थाटनमें आपको चौदह वर्ष लगे। श्रीनरहर्यानन्दजीको आपने गुरुरूपमें वरण किया।

घर छोड़नेके पीछे पत्नीने एक बार यह दोहा गोसाईंजीको लिख भेजा—

कटिकी खीनी कनक सी, रहति सखिन सँग सोइ।
मोहि फटे को डरु नहीं, अनत कटे डर होइ॥

इसके उत्तरमें गोसाईंजीने लिखा—

कटे एक रघुनाथ सँग, बाँधि जटा सिर केस।
हम तो चाखा प्रेमरस, पत्नी के उपदेस॥

बहुत दिन पीछे वृद्धावस्थामें आप एक बार चित्रकूटसे लौटते समय अनजानमें अपने ससुरके घर जा पहुँचे। उनकी स्त्री भी बूढ़ी हो गयी थी। बड़ी देरके बाद उसने इन्हें पहचाना। उसकी इच्छा हुई कि इनके साथ रहती तो रामभजन और पतिकी सेवा दोनों साथ-साथ करके जन्म सुधारती। उसने सबेरे अपनेको गोसाईंजीके सामने प्रकट किया और अपनी इच्छा कह सुनायी। गोसाईंजी तुरंत वहाँसे चलते बने।

कहते हैं कि गोसाईंजी शौचके लिये नित्य गङ्गापार जाया करते थे और लौटते समय लोटेका बचा हुआ जल एक पेड़की जड़में डाल देते थे। उस पेड़पर एक प्रेत रहता था। जलसे तृप्त होकर वह एक दिन गोसाईंजीके सामने प्रकट हुआ और उसने कहा कि मुझसे कुछ वर माँगो। गोसाईंजीने श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनकी लालसा प्रकट की। प्रेतने बतलाया कि 'अमुक मन्दिरमें नित्य

* कुछ महानुभाव श्रीतुलसीदासजीकी जन्म-भूमि 'सोरों', सूकर-क्षेत्र मानते हैं। इसमें हमारा कोई आग्रह या विवाद नहीं है। श्रीतुलसीदासजी कहींके हों, हम तो उनके भक्त-भावको ही पूजते हैं।

सायंकाल रामायणकी कथा होती है, वहाँ कोढ़ीके वेशमें नित्य हनुमान्‌जी कथा सुनने आते हैं। सबसे पहले आते हैं और सबके अन्तमें जाते हैं। उन्हें ही दृढ़तापूर्वक पकड़ो।' गोसाईंजीने ऐसा ही किया। श्रीहनुमान्‌जीके चरण पकड़कर आप जोर-जोरसे रोने लगे। अन्तमें हनुमान्‌जीने आज्ञा दी कि 'जाओ, चित्रकूटमें दर्शन होंगे।' आदेशानुसार आप चित्रकूट आये। एक दिन वनमें घूम रहे थे कि दो सुन्दर राजकुमार—एक श्याम और एक गौर—एक हरिणके पीछे धनुष-बाण लिये, घोड़ा दौड़ाये दिखलायी दिये। रूप देखकर आप मोहित हो गये। इतनेमें हनुमान्‌जीने आकर पूछा—'कुछ देखा?' 'हाँ, दो सुन्दर राजकुमार इसी राहसे घोड़ेपर गये हैं।' हनुमान्‌जीने कहा—'वे ही राम-लक्ष्मण थे।'

वि० सं० १६०७ की मौनी अमावास्या थी। दिन था बुधवार। चित्रकूटके घाटपर बैठकर तुलसीदासजी चन्दन घिस रहे थे। इतनेमें भगवान् सामने आ गये और आपसे चन्दन माँगा। दृष्टि ऊपरको उठी तो उस अनूप रूपराशिको देखकर आँखें मुग्ध हो गयीं—टकटकी बँध गयी। शरीरकी सारी सुध-बुध जाती रही।

संवत् १६३१ की रामनवमी, मङ्गलवारको श्रीहनुमान्‌जीकी आज्ञा और प्रेरणासे आपने रामचरितमानसका प्रणयन प्रारम्भ किया। दो वर्ष, सात महीने, छब्बीस दिनोंमें आपने उसे पूरा किया। पूरा हो चुकनेपर श्रीहनुमान्‌जी पुनः प्रकट हुए और पूरी रामायण सुनी और आशीर्वाद दिया कि यह कृति तुम्हारी कीर्तिको अमर कर देगी।

एक दिन चोर तुलसीदासजीके यहाँ चोरी करने गये तो देखा कि एक श्यामसुन्दर बालक धनुष-बाण लिये पहरा दे रहा है। चोर लौट गये। दूसरे दिन भी वे आये तो उसी पहरेदारको देखा। सबेरे उन्होंने गोसाईंजीसे पूछा कि आपके यहाँ श्यामसुन्दर बालक कौन पहरा देता है। गोसाईंजी समझ गये कि मेरे कारण प्रभुको कष्ट उठाना पड़ता है। अतएव आपके पास जो कुछ भी था, सब उन्होंने लुटा दिया।

आपके आशीर्वादसे एक विधवाका पति पुनः जीवित हो गया। यह खबर बादशाहतक पहुँची। उसने इन्हें बुला भेजा और यह कहा कि 'कुछ करामात दिखाओ।' आपने कहा कि 'रामनाम' के अतिरिक्त मैं कुछ भी करामात नहीं जानता। बादशाहने इन्हें कैद कर लिया और कहा कि 'जबतक करामात नहीं दिखाओगे, छूटने नहीं पाओगे।' तुलसीदासजीने श्रीहनुमान्‌जीकी स्तुति की। हनुमान्‌जीने बंदरोंकी सेनासे कोटको विध्वंस करना आरम्भ किया। बादशाहने आपके पैरोंमें गिरकर क्षमा माँगी।

गोसाईंजी एक बार वृन्दावन आये। वहाँ एक मन्दिरमें दर्शनको गये। श्रीकृष्णमूर्तिका दर्शन करके यह दोहा आपने कहा—

का बरनउँ छबि आज की, भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै (जब) धनुष बान लेओ हाथ॥

भगवान्‌ने आपको श्रीरामचन्द्रजीके स्वरूपमें दर्शन दिये।

आपके रचे हुए बारह ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—

दोहावली, कवित्तरामायण, गीतावली, रामचरितमानस, रामलला नहछू, पार्वतीमंगल, जानकी मंगल, बरवै रामायण, रामाज्ञा, विनयपत्रिका, वैराग्यसंदीपनी, कृष्णगीतावली। इनके सिवा रामसतसई, संकटमोचन, हनुमानबाहुक, रामनाममणि-कोषमञ्जूषा, रामशलाका, हनुमानचालीसा आदि ग्रन्थ भी आपके नामसे प्रख्यात हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजीकी रामायण भारतके घर-घरमें बड़े आदर और भक्तिके साथ पढ़ी और पूजी जाती है। मानसने कितने बिगड़ोंको सुधारा है, कितने मुमुक्षुओंको मोक्षकी प्राप्ति करायी है, कितने भगवत्-प्रेमियोंको भगवान्‌से मिलाया है—इसकी कोई गणना नहीं है। यह तरन-तारन ग्रन्थ है। कोई भी हिंदू इससे अपरिचित नहीं है।

१२६ वर्षकी अवस्थामें संवत् १६८० की श्रावण शुक्ला सप्तमी, शनिवारको ही आपने अस्सीघाटपर शरीर छोड़कर साकेतलोकको प्रयाण किया—

संबत सोलह सै असी, असी गंग के तीर।
श्रावन सुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो सरीर॥

भक्त कबीरजी

उच्चश्रेणीके भक्तोंमें कबीरजीका नाम आदर और श्रद्धाके साथ लिया जाता है। इनकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें कई प्रकारकी किंवदन्तियाँ हैं। कहते हैं, जगद्गुरु रामानन्द स्वामीके आशीर्वादसे ये काशीकी एक विधवा ब्राह्मणीके गर्भसे उत्पन्न हुए। लज्जाके मारे वह नवजात शिशुको लहरताराके तालके पास फेंक आयी। नीरू नामका एक जुलाहा उस बालकको अपने घर उठा लाया, उसीने उस बालकको पाला-पोसा। यही बालक 'कबीर' कहलाया। कुछ कबीरपन्थी महानुभावोंकी मान्यता है कि कबीरका आविर्भाव काशीके लहरतारा तालाबमें कमलके एक अति मनोहर पुष्पके ऊपर बालकरूपमें हुआ था। एक प्राचीन ग्रन्थमें लिखा है कि किसी महान् योगीके औरस और प्रतीचि नामक देवाङ्गनाके गर्भसे भक्तराज प्रह्लाद ही कबीरके रूपमें संवत् १४५५ ज्येष्ठ शुक्ला १५ को प्रकट हुए थे। प्रतीचिने उन्हें कमलके पत्तेपर रखकर लहरतारा तालाबमें तैरा दिया था और नीरू-नीमा नामके जुलाहा-दम्पती जबतक आकर उस बालकको नहीं ले गये, तबतक प्रतीचि उनकी रक्षा करती रही। कुछ लोगोंका यह भी कथन है कि कबीर जन्मसे ही मुसलमान थे और सयाने होनेपर स्वामी रामानन्दके प्रभावमें आकर उन्होंने हिंदूधर्मकी बातें जानी। ऐसा प्रसिद्ध है कि एक दिन एक पहर रात रहते ही कबीर पञ्चगङ्गाघाटकी सीढ़ियोंपर जा पड़े। वहींसे रामानन्दजी स्नान करनेके लिये उतरा करते थे। रामानन्दजीका पैर कबीरके ऊपर पड़ गया। रामानन्दजी चट 'राम-राम' बोल उठे। कबीरने इसे ही श्रीगुरुमुखसे प्राप्त दीक्षामन्त्र मान लिया और स्वामी रामानन्दजीको अपना गुरु कहने लगे। स्वयं कबीरके शब्द हैं—

'हम कासी में प्रगट भये हैं, रामानंद चेताये।'

मुसलमान कबीरपन्थियोंकी मान्यता है कि कबीरने प्रसिद्ध सूफी मुसलमान फकीर शेख तकीसे दीक्षा ली थी। परंतु कबीरने शेख तकीका नाम उतने आदरसे नहीं लिया है, जितना स्वामी रामानन्दका । इसके सिवा कबीरने पीर पीताम्बरका नाम भी विशेष आदरसे लिया है। इन बातोंसे यही सिद्ध होता है कि कबीरने हिंदू-मुसलमानका भेदभाव मिटाकर हिंदू-भक्तों तथा मुसलिम फकीरोंका सत्संग किया और उनसे जो कुछ भी तत्त्व प्राप्त हुआ, उसे हृदयङ्गम किया।

जनश्रुतिके अनुसार कबीरके एक पुत्र और एक पुत्री थी। पुत्रका नाम था कमाल और पुत्रीका कमाली। इनकी स्त्रीका नाम 'लोई' बतलाया जाता है। इस छोटे-से परिवारके पालनके लिये कबीरको अपने करघेपर कठिन परिश्रम करना पड़ता था। घरमें साधु-संतोंका जमघट रहता ही था। इसलिये कभी-कभी इन्हें फाकेमस्तीका मजा भी मिला करता था। कबीर 'पढ़े-लिखे' नहीं थे। स्वयं उन्हींके शब्द हैं—

'मसि कागद छूयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ।'

कबीरकी वाणीका संग्रह 'बीजक' के नामसे प्रसिद्ध है। इसके तीन भाग हैं—रमैनी, सबद और साखी। भाषा खिचड़ी है—पंजाबी, राजस्थानी, खड़ी बोली, अवधी, पूरबी, व्रजभाषा आदि कई बोलियोंका पँचमेल है। भाषा साहित्यिक न होनेपर भी बहुत ही जोरदार तथा पुरअसर है। कबीरको शान्तिमय जीवन बहुत प्रिय था और अहिंसा, सत्य, सदाचार आदि सद्गुणोंके ये उपासक थे।

कबीरने परमात्माको मित्र, माता, पिता और पति आदि रूपोंमें देखा है। कभी वे कहते हैं *'हरिमोर पिउ, मैं राम की बहुरिया'* और कभी कहते है *'हरि जननी, मैं बालक तोरा'* उनकी उलटवाणियोंमें उनका भगवान्के साथ जो मधुर प्रगाढ़ सम्बन्ध था, उसकी बहुत सुन्दर व्यञ्जना हुई है। अपनी सरलता, साधुस्वभाव और निश्छल संतजीवनके कारण ही कबीर आज भारतीय जनसमुदायमें ही क्यों, विदेशोंमें भी लोगोंके कण्ठहार बन रहे हैं। इधर यूरोपवालोंने भी कबीरके महत्त्वको कुछ-कुछ अब समझा है।

बुढ़ापेमें कबीरके लिये काशीमें रहना लोगोंने दूभर कर दिया था। यश और कीर्तिकी उनपर वृष्टि-सी होने लगी। कबीर इससे तंग आकर मगहर चले आये। ११९

वर्षकी अवस्थामें मगहरमें ही उन्होंने शरीर छोड़ा।

संत-शिरोमणि कबीरका नाम उनकी सरलता और साधुताके लिये संसारमें सदा अमर रहेगा। उनकी कुछ साखियोंकी बानगी लीजिये—

ऐसा कोई ना मिला, सत्त नाम का मीत।
तन मन सौंपै मिरग ज्यौं, सुन बधिक का गीत॥
सुख के माथे सिल परौ, जो नाम हृदय से जाय।
बलिहारी वा दुःख की, (जो) पल पल नाम रटाय॥
तन थिर, मन थिर, बचन थिर, सुरत निरत थिर होय।
कह कबीर इस पलक को, कलप न पावै कोय॥
माली आवत देखि कै, कलियाँ करैं पुकारि।
फूली फूली चुनि लिये, काल्हि हमारी बारि॥
सोऔं तो सुपिने मिलै, जागौं तो मन माहिं।
लोचन राता, सुधि हरी, बिछुरत कबहूँ नाहिं॥
हँस हँस कंत न पाइया, जिन पाया तिन रोय।
हाँसी खेले पिउ मिलैं तो कौन दुहागिनि होय॥
चूड़ी पटकौं पलँग से, चोली लावौं आगि।
जा कारन यह तन धरा, ना सूती गल लागि॥
सब रग ताँत, रबाब तन, बिरह बजावै नित्त।
और न कोई सुनि सकै, कै साईं, कै चित्त॥
कबीर प्याला प्रेम का, अंतर लिया लगाय।
रोम रोम में रमि रहा, और अमल क्या खाय॥

भक्तवर श्रीदादूजी

सं० १६०१ वि० की चैत्र शुक्ला अष्टमी गुरुवारको अहमदाबादमें लोदीराम ब्राह्मणके घर इनका प्राकट्य हुआ था। ये नागर ब्राह्मण थे। लोदीरामके कोई सन्तान नहीं थी। एक दिन भगवान्‌की दयासे उसने साबरमती नदीमें बहता हुआ एक संदूक देखा। नदीमेंसे उसने संदूकको निकाल लिया और खोलनेपर देखा कि उसमें एक परमज्योतिर्मय छोटा-सा बालक हँसता हुआ लेट रहा है। उसने उस बालकको घरपर लाकर अपनी स्त्रीको दिया। उसकी स्त्री भी उसे भगवान्‌की कृपापूर्ण देन समझकर बड़े प्यारसे पालने लगी। भगवान्‌की मायासे उसके स्तनोंमें दुग्ध भी आ गया। माता-पिताके लाड़-प्यारमें पलते हुए दादूजी दूजके चाँदकी तरह दिनोंदिन बढ़ने लगे। ग्यारह वर्षकी अवस्थामें भगवान् श्रीकृष्णने इन्हें वृद्धरूपसे दर्शन देकर तत्त्वज्ञानका उपदेश दिया। दादूजी विरक्त, ज्ञानी और भक्त हो गये। ये कुछ समय बाद सत्सङ्गके लिये घरसे निकल पड़े, परंतु माता-पिताने पीछा करके इन्हें पकड़ लिया और घरपर लाकर बड़नगरमें इनका विवाह कर दिया। परंतु सांसारिक बन्धन इन्हें बाँध थोड़े ही सकते थे। उन्नीस वर्षकी अवस्थामें ये फिर घरसे निकल पड़े। घूमते-घामते ये जयपुर-राज्यान्तर्गत साँभर ग्राममें जा पहुँचे। यहाँपर दादूजीने अपनेको छिपाने एवं शरीरयात्राके लिये रुई पीनने (धुनियाँ)का कार्य आरम्भ कर दिया। तदनन्तर बारह वर्षतक कठिन तपस्या करके पूर्ण सिद्धि प्राप्त की थी। ये निरन्तर लययोग एवं भक्तिरसमें छके रहते थे। इनको वचनसिद्धि भी प्राप्त थी, परन्तु ये करामात दिखाना पाप समझते थे। अन्तर्मुख रहकर अन्तर्ज्योतिके ध्यान, अभ्यास, स्मरण एवं सहजयोगसे ईश्वरमें लय होनेको ही सर्वोपरि साधन मानते थे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, शान्ति, अपरिग्रह, वैराग्य, तितिक्षा, क्षमा, दया, समता, निरभिमानता एवं आर्जव आदि सात्त्विक गुणोंकी प्राप्तिके लिये साधन करनेवालेको ही साधु मानते थे।

इन्होंने अपने मतको कोई सम्प्रदायका रूप नहीं दिया था, किंतु कुछ तो इनके जीवनकालमें ही और कुछ इनके पीछेसे होते-होते एक सम्प्रदाय बन ही गया। पहले तो इस सम्प्रदायका कोई नाम न था। पीछेसे शिष्योंने 'ब्रह्म-सम्प्रदाय' नाम रख लिया। सुन्दरदासजीने भी अपने ग्रन्थमें 'सम्प्रदाय परब्रह्मका' ऐसा उल्लेख किया है। परंतु जनतामें यह नाम प्रचलित नहीं हुआ। अब यह सम्प्रदाय 'दादूपन्थ' या 'दादूसम्प्रदाय'के नामसे प्रसिद्ध है। यों तो दादूजीके हजारों शिष्य थे, परंतु मुख्यतः गणनामें १५२ शिष्य ही आते हैं। इनमेंसे १०० शिष्य तो विरक्त हो गये और उन्होंने शिष्य एवं मठ आदि नहीं बनाये। बाकीके ५२ शिष्य, शिष्य बनाने एवं स्थान

बाँधनेके कारण, थाँभाधारी महंत कहलाये। दादूजी विवाहित थे। उनके दो पुत्र एवं दो पुत्रियाँ थीं। दादूजीका परमपदप्रयाण नारायणा नामक स्थानमें हुआ था। यह दादूपन्थियोंका प्रधान स्थान है और इनके प्रधान महंत भी यहीं रहते हैं। यहाँपर कई बड़े-बड़े दर्शनीय स्थान भी बने हुए हैं। दादूजीका सफेद पत्थरका दादूद्वारा भी यहीं बना है। बावन महंतोंके स्थानोंमें भी दादूद्वारे बने हुए हैं। दादूपन्थी साधु भारतमें प्रायः सभी जगह फैले हैं। जयपुर राज्यमें एक दादूपन्थी 'नागा जमात' बड़ी भारी संख्यामें है। इस जमातके साधु बड़े वीर होते हैं। अन्य साधु भगवाँ वस्त्र पहनते हैं, परंतु नागा साधु सफेद वस्त्र ही धारण करते हैं। कोई-कोई महात्मा नीले वस्त्र धारण करते देखे गये हैं। दादूपन्थी साधु प्रायः सदाचारी होते हैं। दादूसम्प्रदाय एक प्रतिष्ठित सम्प्रदाय है और इसमें समय-समयपर बड़े धुरन्धर ज्ञानी, वीर, गुणी, विद्वान् एवं कलाकार भक्त-संत होते रहे हैं और इस समय भी हैं।

दादूजीके प्रधान ५२ शिष्योंमें ये अति प्रसिद्ध हैं—महात्मा गरीबदासजी, बड़े सुन्दरदासजी, रज्जबजी, जगजीवनदासजी, बाबा बनवारीदासजी, चतुर्भुजजी, मोहनदासजी मेवाड़ा, वषनाजी, जैमलजी कछवाहा, जैमलजी चौहान, जनगोपालजी, जग्गाजी, जगन्नाथजी कायस्थ, सुन्दरदासजी दूसर (जिनके सुन्दरविलास आदि ग्रन्थ हैं) इत्यादि।

श्रीदादूजी महाराजने सं० १६६० वि० में नारायणा स्थानमें परमपदको प्रयाण किया। इनकी गद्दी इनके सबसे बड़े पुत्र श्रीगरीबदासजी महाराजको मिली।

गुरु नानकदेवजी

(लें०—कुमारी श्रीनिर्मला माथुर)

मानवकी ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तिको जब रोकना अनिवार्य हो चला था, मुगल शासनके अन्तर्गत जब मज़हबी तास्सुब चरम सीमापर था, स्वधर्म-त्यागके लिये प्रजाको नाना कष्ट देकर विवश किया जा रहा था, ऐसे ही समयमें साम्य और एकताके प्रतीक भक्तप्रवर श्रीगुरु नानकदेवजी प्रकाशमें आये थे। गुरुजीकी फुलवारीमें क्रमशः गुरु श्रीगोविन्दसिंहजी-पर्यन्त एक-से-एक तेजस्वी और प्रतापी महापुरुषोंके आविर्भावकी परम्परा भारतभूमिके पथको पावन प्रकाशमय करती रही।

श्रीनानकजी विक्रम १५२६ [सन् १४६९] में पंजाब प्रदेशान्तर्गत जिला लाहौरके पास जहाँ जन्मे थे, वह स्थान नानकाना साहिबके नामसे प्रसिद्ध है। उस स्थानपर एक बहुत सुन्दर तालाब है, जिसपर प्रतिवर्ष कार्तिकी पौर्णमासीको बड़ा भारी मेला लगता है।

नानकजीके संस्कार साधारणतया अत्युच्च थे। वे भाषाके तो प्रकाण्ड पण्डित नहीं थे, पर अध्यात्म-विद्याके रहस्यसे सुपरिचित एक मेधावी पुरुष थे। बचपनसे ही उनकी प्रवृत्तियाँ अन्तर्मुखी थीं। भगवान्की ओर उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति थी। १९ वर्षकी अवस्थामें आपका विवाह हुआ और दो पुत्ररत्न हुए—श्रीचन्द और लक्ष्मीदास। श्रीचन्दजी उदासीपन्थके प्रवर्तक हैं।

आपकी अवस्था जैसे-जैसे बढ़ती गयी, वैसे ही वे आत्मिक उन्नतिके प्रवाहमें बह चले और अन्ततोगत्वा गृहस्थसे विरक्त हो गये, साधु-सङ्गतिमें विचरने लगे। आप सभी मतके साधुओंसे सप्रेम जिज्ञासुके रूपमें मिलते, अध्यात्मचर्चा करते और यथाशक्ति उनकी सेवा करते। गुरुजी नम्र, दयालु, सभ्य, तेजस्वी वक्ता, भजनीक और कवि-हृदय प्राणी थे। आपका अधिक समय प्रायः ईश्वरोपासनामें ही लगता था।

नानकजीकी तेज-शक्तिका प्रकाश चारों ओर फैला। श्रद्धालुजन प्रभावित हुए और आपकी कीर्ति उजागर हुई। जिन-जिन स्थानोंमें गुरुजीने भ्रमण करके उपदेश दिया था, उन-उन स्थानोंके नाम आपकी स्मृतिमें 'साहिब' सम्बोधनसे प्रख्यात हैं।

भारतवर्षके प्रायः सभी भागोंमें, विशेषकर पंजाबमें भ्रमण करके गुरुजीने अपना अमूल्य उपदेश दिया। आत्मिक अभ्युदयके लिये ज्ञान, भक्ति, नाम-साधन, भजन, सुरत-शब्द-योगका अभ्यास आदि आपके प्रमुख उपदेश थे।

इन्हींके द्वारा भवसागरसे निस्तारकी आपकी निष्ठा थी। साम्प्रदायिक हठ वा दुराग्रहका लेश भी आपमें न था। कोई नवीन पन्थ-निर्माण भी उनका ध्येय वा उद्देश्य न था। वे तो एक उच्चकोटिके भगवद्भक्त थे। नानकदेवजीके शिष्य रूढ़िके रूपमें 'सिख' कहलाने लगे। पंथ उन कतिपय घटनाओंका परिणाम है, जो मुख्यतया पञ्चम गुरु अर्जुनदेवके समयसे घटित होनी प्रारम्भ हुई थीं, और दशम गुरु गोविन्दसिंहजीके समय एवं उनके पश्चात्‌तक घटती रहीं।

यह सत्य है कि गुरु नानकदेव जन्मसे पंजाबी थे; परंतु वे केवल पंजाब या भारतके ही नहीं प्रत्युत समस्त संसारके लिये आदरणीय हैं। वे मानव-एकताके समर्थक थे और इसीका प्रचार उन्होंने अपने जीवनमें किया। उनका कहना है—

खालक बसै खलक, में खलक बसै रब माह।
मंदा किसनुं आखिये, जांजिस बिन कोइ नाह॥

गुरुजीके जन्मके समय देशमें विदेशियोंका राज्य था और लोग बड़े दुःखी थे। सन् १५२६ में जब बाबरने भारतपर आक्रमण किया, तब देशकी स्थिति और भी खराब हो गयी थी। उस समय देशमें जो अत्याचार हुए, हत्याकाण्ड और लूटमार हुई, उसका वर्णन गुरुजीने अपनी वाणीमें बड़े दर्दभरे शब्दोंमें किया है—

खुरासान खसमान किया, हिन्दुस्तान डराया
आपे दोष न देई करदा जमकर मुग़ल पठाया
जैसी मैं खसम की वाणी, तैसड़ा करीवे;
जैसी मैं खसम की वाणी, तैसड़ा करी वे ज्ञान वे लालों।
पाप की जंज लै काबलों धाया, जोरो मंगी दान वे लालों॥
जिन सिर सोहन पट्टियाँ मांगी पाए संधूर॥
सो सिर काले मनियन गल बिच आवे घूड़॥

वे इस अत्याचारके विरुद्ध जोरदार आवाज उठानेके लिये स्वयं एमनाबाद गये, जहाँ विशेषरूपसे अन्यायका जोर था। उन्होंने वहाँपर होनेवाले अन्यायका तीव्र विरोध किया और आक्रमणकारियोंकी तथा तत्कालीन कमजोर सरकारकी निन्दा की। इस विरोधके कारण बाबरने उन्हें कैद कर लिया। रिहा होते ही उन्होंने घरबार और परिवार आदि छोड़कर देश-देशान्तरोंका भ्रमण किया। भारतीय साम्यवादके सन्देशके लिये आप न केवल भारतके एक छोरसे दूसरे छोरतक गये, बल्कि नेपाल, भूटान, सिक्कम, तिब्बत, चीन, ईरान, अफ़ग़ानिस्तान और अरब भी गये।

गुरु नानकदेव विभिन्न धर्मावलम्बियोंसे पृथक्-पृथक् रूपसे मिले और उन्होंने धार्मिक स्थानों और मेलोंकी भी यात्रा की। आपने अधिकारियों, प्रजाजनों तथा धार्मिक नेताओंको उनकी त्रुटियाँ इस तरह बतायीं कि वे उनकी बातोंसे प्रभावित हुए। स्थान-स्थानपर बिना किसी भेद-भावके संस्थाएँ स्थापित की गयीं, जहाँ सब लोग आपसमें मिलकर बैठते-उठते, खाते-पीते, प्रभु-चिन्तन करते और सुख-दुःखमें एक-दूसरेके साझीदार बनते।

गुरुजीको बुराईसे घृणा थी, परंतु वे पतित व्यक्तियोंसे घृणा नहीं करते थे। उन्होंने पतितोंको ढूँढ़-ढूँढ़कर उनसे प्रेम किया और उन्हें सत्यमार्गपर लगाया। प्रेम, तर्क तथा मीठी वाणीसे दूसरोंके हृदयोंको जीता। ऐसे प्रेमपूर्ण विचित्र ढंगसे आप बात शुरू करते कि लोग स्वयं उनकी ओर वैसे ही खिंचे चले आते, जैसे घामसे सताये हुए लोग पानीके मीठे और शीतल स्रोतके समीप आकर इकट्ठे हो जाते हैं।

गुरुजी 'एक पिता एकस के हम बालक'का आवाहन कर देशके सभी सम्प्रदायोंको एक स्तर और एक मंचपर लानेकी चेष्टामें तन्मय रहे। उन्होंने नेक कमाई करनेका उपदेश दिया और बाँटकर खानेकी आदत अपने शिष्योंमें डाली।

गुरु नानकदेवजीके सिद्धान्त-प्रचारके विषयमें विद्वान् कनिंघमने अपने लिखे इतिहासकी पाद-टिप्पणीमें लिखा है—

'जगदीश्वर ही सब कुछ है। मानसिक पवित्रता ही सब कुछ है। मानसिक पवित्रता ही प्रथम धर्म है और श्रेष्ठ प्रार्थनीय और साधनीय वस्तु है। नानकजी आत्मोत्सर्ग और आराधना सीखनेका उपदेश देते थे। वे अपनेको अन्य प्रवर्तकोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ और असाधारण गुणी तथा शक्तिशाली नहीं समझते थे। उनका कहना था कि दूसरोंकी भाँति वे भी एक प्राणी हैं। अपने स्वदेशवासियोंको पवित्र जीवन बितानेका वे सदा उपदेश करते थे।'

श्रीगुरु नानकदेवजीका नाम भारतवर्षके धार्मिक इतिहासमें संत-जीवनके अध्यायमें आज भी अङ्कित है और सदा अमर रहेगा।

उदासीनाचार्य श्रीश्रीचन्द्रजी

(लेखक—स्वामी श्रीसर्वदानन्दजी महाराज, दर्शनरत्न)

उदासीन-सम्प्रदायके प्रवर्तक श्रीश्रीचन्द्रजी महाराजका जन्म सं० १५५१ भाद्रपद शु० ९ को तलवंडी नामक गाँवमें, जो लाहौरसे तीस कोस पश्चिम है तथा आजकल जिसको नानकाना साहिब कहते हैं, क्षत्रियकुलभूषण श्रीनानकदेवजीकी धर्मपत्नी श्रीसुलक्षणादेवीके गर्भसे हुआ था।

जिस समय आप इस पृथ्वीतलपर प्रकट हुए, उसी समय आपका शिशु-शरीर जटा-भस्मादिसे विभूषित था और ज्यों-ज्यों वह बड़ा हुआ, त्यों-त्यों आपने जो एक-से-एक अद्भुत कार्य किये, उनको देख-सुनकर लोगोंको यह पक्का विश्वास हो गया कि आप कोई अलौकिक महापुरुष हैं तथा विषयान्ध जीवोंके उद्धारार्थ ही पधारे हैं। यथासमय आपका यज्ञोपवीत-संस्कार सम्पन्न हो गया और आप विद्याध्ययनके लिये कश्मीर भेज दिये गये। वहाँ आपने अल्पकालमें ही वेद-वेदाङ्गोंका विधिवत् अध्ययन कर लिया और जब आप ब्रह्मचर्याश्रमका पालन करते हुए सकल शास्त्र-निष्णात हो गये, तब सं० १५७५ की आषाढ़ी पूर्णिमाको कश्मीरमें ही आपने सद्गुरु स्वामी श्रीअविनाशिरामजीसे उदासीन-सम्प्रदायानुसार दीक्षा ले ली। तत्पश्चात् कुछ दिनोंतक गुरुदेवकी ही सेवामें रहकर आप उनके उपदेशामृतका पान करते रहे। जब आपने धर्मोद्धारका समय देखा, तब भारतभ्रमणके लिये निकल पड़े। उत्तर भारतसे लेकर दक्षिण भारतके प्रायः समस्त तीर्थोंका आपने परिभ्रमण किया और अपने उपदेशोंद्वारा धार्मिक जगत्में एक नवीन जागृति फैला दी। फिर अन्य स्थानोंमें भी जा-जाकर आपने कितने पाप-परायण जीवोंका उद्धार किया, इसकी कोई गणना नहीं की जा सकती।

कुछ समयके अनन्तर आप फिर कश्मीरकी ओर चले गये और वहाँ जाकर आपने वेद-भाष्योंकी रचना की। तत्पश्चात् आपका पदार्पण पेशावर तथा काबुलकी ओर हुआ। उधरके यत्किञ्चित् हिंदुओंका जीवन विधर्मियोंके दबावसे संकटमय था, अतः आपने कई स्थानोंपर अपनी योगशक्तिके प्रभावसे हिन्दुओंकी रक्षा की। जहाँ-जहाँ आपने हिंदुओंकी रक्षा की, वहाँ-वहाँपर प्रायः अबतक आपके स्मारक बने हैं। उसी समय सिन्धके हिंदुओंपर भी यवनोंका बड़ा भारी अत्याचार हो रहा था। वहाँके ठट्टा नामक नगरमें यह स्थिति थी कि हिंदू अपने मन्दिरोंमें आरती करते समय यवनोंके भयसे घण्टा-शङ्ख भी नहीं बजा पाते थे और खुलेआम पाठ-पूजा तो बंद थी ही। यह सुनकर आप शीघ्र ही वहाँ पहुँचे और अपने योगबलसे वहाँके शासकको परास्त करके आपने हिंदुओंको धार्मिक स्वतन्त्रता दिलायी। इसी प्रकार आपने जहाँगीर बादशाहको भी एक बार अपने योगबलका परिचय देकर प्रभावित किया था। और काबुलके वजीरखाँ नामक मुसलमानपर तो आपकी योगशक्तिका प्रभाव जादूकी तरह पड़ा था। वह आपके उपदेशोंके प्रभावसे भगवान् श्रीकृष्णका अनन्य भक्त बन गया और *'हे कृष्ण विष्णो मधुकैटभारे'* की ध्वनि लगाने लगा। तात्पर्य यह कि आपने लोकहितके लिये असंख्य चमत्कारपूर्ण कार्य किये। स्थानाभावके कारण यहाँ उनका वर्णन नहीं दिया जा सकता और न आपके बहुमूल्य उपदेश ही यहाँ दिये जा सकते हैं। जिन्हें आपके जीवनकी अनन्त घटनाओं तथा आपके दिव्य उपदेशोंको जानना हो, उन्हें श्रीचन्द्रप्रकाश, उदासीनधर्मरत्नाकर, उदासीनमञ्जरी प्रभृति ग्रन्थोंका अवलोकन करना चाहिये। उदासीन-सम्प्रदायके प्रचारद्वारा सनातन-धर्मकी विजय-पताका फहराते हुए आप १५० वर्षोंतक इस धराधामपर विद्यमान रहे। जब आपके निर्वाणका अवसर आया, तब आप चम्बाकी पार्वत्य-गुफाओंमें जाकर तिरोहित हो गये। इसी कारण आपकी निर्वाण-तिथिका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। ठट्टा, वारहठ, श्रीनगर, कन्धार और पेशावर—ये पाँच आपके मुख्य निवास-स्थान थे। आपके बाद आपके अनेकों शिष्य भी बड़े-बड़े सिद्ध महात्मा हुए और उन्होंने भी विश्वका बड़ा हित किया।

भक्तप्रवर स्वामी श्रीहरिदासजी (हरिपुरुषजी)

(लेखक—श्रीमंगलदासजी स्वामी)

भारतीय प्रदेशमें पंद्रहवीं, सोलहवीं, सत्रहवीं शताब्दियाँ विशेष महत्त्वप्रद रही हैं। इनमें अनेकों ईश्वरके परम भक्त एवं अनेकों संत-महात्मा अवतरित हुए थे। नानक, कबीर, नामदेव, रैदास, दादू आदि संत तथा तुलसी,सूर, मीरा, आदि भक्तोंका जो स्थान हमारे समाजमें है, वह किसीको अविदित नहीं। इसी संतश्रेणीमें स्वामी श्रीहरिदासजी महाराज हुए हैं। इनकी जन्मतिथिका ठीक-ठीक प्रामाणिक तथ्य तो सामने नहीं आया है, पर ये सोलहवीं सदीके अन्त तथा सतरहवीं सदीके मध्यमें हुए हैं।

महाराज हरिदासजीका जन्म साँखला गोत्रके क्षत्रिय-कुलमें परगना डीडवाणेके कापडोद ग्राममें हुआ था। इनका जातीय नाम हरिसिंहजी था। वयस्क होनेपर कुटुम्बीजनोंने इनका विवाह कर दिया। जब इनपर कुटुम्बके भरण-पोषणका भार आया, तब इन्होंने डाकेका आश्रय लिया। मारवाड़की वीरान भूमिमें अपने गाँवके इधर-उधर ये आते-जाते मुसाफिरोंको लूटकर उस लूटकी सम्पत्तिसे कुटुम्बका भरण-पोषण करने लगे।

दैवयोगसे एक दिन जब ये लूट-खसोटके लिये जंगलमें स्थित थे, तब कहींसे एक महात्मा पुरुष आ गये। इन्होंने उनके भी पोथी-पत्रे टटोलनेका निश्चय किया। अपने शस्त्र दिखाकर महात्माको, जो कुछ अपने पास हो, दे देनेको कहा। महात्माके पास वस्तुत: कुछ था नहीं। उन्होंने उत्तर दिया कि 'हमारे पास तुम्हारी लूटके लायक कुछ भी नहीं है।' हरिसिंहजीको विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने महात्माको अपनी तलाशी देनेको बाध्य किया। महात्माने तलाशी दे दी, उनके पास कुछ निकला नहीं। जब हरिसिंहजी कुछ न मिलनेसे हताश हुए, तब महात्माने उन्हें कहा कि 'तुम यह लूट-खसोटका जघन्य कर्म क्यों करते हो? कुटुम्बके भरण-पोषणके लिये तो खेती आदिका कार्य भी किया जा सकता है। तुम इस निकृष्ट कर्ममें लगाकर अपने अत्युत्तम मनुष्य-जन्मको अनवरत हिंसासे क्यों पापमय बना रहे हो? क्या तुम्हारा वह कुटुम्ब, जिसके पालन-पोषणके लिये तुम यह पापकर्म कर रहे हो, तुम्हारे इस पापका भी भागीदार होगा? तुम्हें यह तो ध्यान करना चाहिये।' महात्माकी प्रेमभरी, दयालुतामयी वाणीको सुनकर हरिसिंहजीके कठोर हृदयमें कुछ नम्रताने स्थान ग्रहण किया। उन्होंने महात्माको उत्तर दिया कि 'इसमें विचार क्या करना है। जब कुटुम्बके व्यक्ति मेरे द्वारा ले जाये गये धनसे अपना भरण-पोषण करते हैं, तब मेरे पापकार्यके भागीदार भी उन्हें बनना ही पड़ेगा। मैं जो हत्या तथा लूट-पाट करता हूँ, उसका उपयोग अकेले मैं ही नहीं करता। मैं तो उन्हींके लिये इस कर्मको अपनाये हुए हूँ। इस स्थितिमें वे इससे वञ्चित कैसे रह सकते हैं?'

महात्माने अति शान्त-भावसे हरिसिंहजीको सम्बोधन करते हुए कहा—यह तो तुम अपनी कल्पनासे ही निर्णय कर रहे हो। कभी तुमने उनसे यह पूछा भी है कि 'मैं इस हत्या-कर्मसे यह सब धन लाता हूँ, जिसका कि तुम सब उपयोग करते हो, उस हत्याकाण्डमें तुम सब भी भागीदार हो या नहीं?' वस्तुत: इस विषयमें हरिसिंहजीकी अपने कुटुम्बसे कभी बातचीत हुई नहीं थी। उन्होंने सोचा कि बात तो ठीक है। मैंने कुटुम्बवालोंसे कभी पूछा तो है नहीं। वे महात्मासे बोले—'मैंने इस बारेमें कुटुम्बवालोंसे कभी बातचीत तो नहीं की है।' महात्माने कहा—'तुम आज अभी जाकर उनसे पूछ लो, ताकि तुम्हें पता तो लगे कि उनका इस विषयमें क्या निश्चय है।' हरिसिंहजीने कहा—'मैं इसका उत्तर लेकर आऊँ, तबतक तुम्हें यहीं ठहरना होगा।' उन्होंने सोचा—साधु है, क्या पता ठहरे या नहीं। उन्होंने महात्मासे कहा—'मुझे भरोसा नहीं है कि मैं कुटुम्बसे पूछकर वापिस आऊँगा, तबतक तुम यहीं ठहरे रहोगे? अत: मैं तुम्हें यहाँ एक पेड़से बाँधकर जाता हूँ, ताकि लौटकर आनेपर तुम मुझे मिल सको।' उन्होंने महात्माको एक वृक्षसे बाँध दिया तथा स्वयं घोड़ेपर सवार हो अपने ग्राम गये। घर जाकर उन्होंने माता, पिता, भाई, स्त्री, पुत्रादिसे महात्माके कहे हुए प्रश्नको पूछा। सबने एक ही उत्तर दिया कि 'पाप-पुण्य सब अपने किये हुए ही भोगते हैं। तुम हत्या करते हो चाहे लूट-खसोट करते हो, उसका फल तुम्हींको

भोगना होगा। हम उसमें न शरीक हैं, न हमारा उससे सम्बन्ध है। हमें क्या पता तुम किस उपायसे कमाकर लाते हो। हमारा भरण-पोषण तुम्हारा कर्तव्य है। तुम चाहे जिस उपायसे कमाकर लाओ। हमें तो खाने-पहननेको चाहिये।' सबका एक ही उत्तर सुनकर हरिसिंहजी चिन्तामें निमग्न हो गये। वे सोचने लगे कि जिनके सुख-आरामके लिये मैं यह सब कुकर्म कर रहा हूँ, वे तो सब खानेके ही साझीदार हैं। पापके फलभोगमें किसीने हिस्सा बँटानेको नहीं कहा। इस स्थितिमें ये सब पापकर्म, जो अबतक किये हैं तथा कर रहा हूँ, उनका फल मुझीको भोगना है; फिर मैं यह निकृष्ट कर्म करता ही क्यों रहूँ। इस तरह विचार करते हुए हरिसिंहजी वापस उस स्थानपर आये, जहाँ महात्माको बाँध गये थे।

महात्माके पास जाकर उनके बन्धन खोल हाथ जोड़ उनके चरणोंमें गिर गये। उनसे प्रार्थना करने लगे—'महाराज! घरके तो सभी व्यक्ति मेरे पापकर्ममें हिस्सा बँटानेसे इनकार कर गये हैं। मैंने इतने समयतक जिनके लिये इतना घोर पाप किया, वे सब तो केवल खानेभरके ही साथी हैं। आपने ठीक ही कहा था। अब आप ही मुझे कोई ऐसा मार्ग बतलाइये, जिससे मैं इस पापकर्मका ठीक-ठीक प्रायश्चित्त कर सकूँ।' महात्माने उपदेश दिया कि 'इसका एक ही मार्ग है—ईश्वरका चिन्तन करना। श्रद्धा तथा प्रेमभावसे ईश्वरके नामका जप करो, इसीसे तुम्हारे सब पापकर्मोंकी निवृत्ति हो जायगी।'

हरिसिंहजीने तत्क्षण ही अपने अस्त्र-शस्त्र एक कुँएमें डाल दिये और उसी समयसे महात्माके निर्दिष्ट किये हुए नाम-चिन्तनमें लग गये। वहाँसे वे कोलियेके दक्षिणमें स्थित एक डूँगरीपर जाकर निवास करने लगे। इसी जगह उन्होंने परम श्रद्धा तथा दृढ़ धारणासे नाम-चिन्तन किया। उनके हृदयके सब मलिन भाव समाप्त हो गये। अन्तः-करणकी पवित्रता होते ही उनकी कठोर हिंसा-भावनाकी जगह दया और प्रेमने अपना आवास कर लिया। उनकी वृत्ति अत्यन्त पवित्र और विमल हो गयी। वे ईश्वराराधन करते हुए सभी प्राणियोंसे समान स्नेह करने लगे। डीडवाणे तथा उसके आसपासके क्षेत्रमें सब जगह उनकी ख्याति व्याप्त हो गयी। डीडवाणे नगरमें एक संतसेवी गाढा महाजन रहते थे। महाराजकी कीर्ति सुन वे भी दर्शनार्थ डूँगरीपर महाराजके पास गये। हरिदासजी महाराजके दर्शन करके महाजन परम प्रसन्न हुए तथा तभीसे वे महाराज हरिदासजीकी अन्न-जलसे सेवा करने लगे। महाराज हरिदासजीने अपनी पुनीत निष्ठासे परम पदकी प्राप्ति की। डीडवाणेके पास सरमें एक देवीका मन्दिर था। नागरिक लोग परम्परासे देवीको पशुओंकी बलि चढ़ाया करते थे। जब महाराज हरिदासजीने इस स्थितिको देखा, तब उन्हें अत्यन्त दुःख हुआ। उन्होंने अपने सदुपदेशद्वारा लोगोंको पशुवध करनेसे रोका। उनकी सद्भावनापूर्ण प्रेरणासे जो लोग बहुत कालसे पशुबलि दिया करते थे, उन्होंने भी उसका परित्याग कर दिया। तबसे अबतक उस पाड़ा देवीके स्थानपर कभी पशुबलि नहीं की जाती। इस हिंसाके निवारणसे लोगोंकी उनमें और भी अधिक श्रद्धा हुई। जन-साधारण उन्हें अब दयाल महाराजके नामसे सम्बोधित करने लगे। इस तरह हरिदासजी महाराज अब अपने सदुपदेशोंसे लोक-कल्याण करते हुए मारवाड़के बहुत-से स्थानोंमें परिभ्रमण करके अन्तमें गाढ़ा महाजनके विशेष आग्रहसे डीडवाणे नगरमें पधार आये। महाराजके सैकड़ों शिष्य उनके उपदेशके प्रभावसे ईश्वर-चिन्तनमें ही अपना समय लगाने लगे। हरिदासजी महाराजके जीवनकालमें ही अनेकों शिष्य उन्हींके आदर्शपर चलने लग गये थे। इन शिष्योंकी परम्परा ही आगे चलकर 'निरञ्जनी-सम्प्रदाय' कहलाने लगी। राजस्थानके चार संत-सम्प्रदाय (दादूपन्थी, निरञ्जनी, रामस्नेही शाहपुरा, रामस्नेही सिंहथल) में निरञ्जनी-सम्प्रदाय भी अपना प्रमुख स्थान बनाये हुए है। इस सम्प्रदायके मूलप्रवर्तक उपर्युक्त हरिदासजी महाराज ही थे। इन्होंने अपने अभ्यास तथा नाम-चिन्तनसे जो अनुभूति प्राप्त की, उसे अपनी वाणीद्वारा सर्वसाधारणतक पहुँचाया। उनकी यह वाणी ही अब उनका वास्तविक स्मृतिचिह्न है। उक्त वाणीका प्रकाशन जोधपुरके साधु देवादासजीने सं० १९८८ वि०में किया है। उसकी प्राप्ति कुञ्जविहारीजीका मन्दिर, करलाबाजार, जोधपुरके पतेपर उन्हें पत्र लिखनेसे हो सकती है।

ज्ञान, भक्ति, वैराग्यकी त्रिधारा वाणीमें प्रवाहित है। साखी, शब्द, लघुग्रन्थ, अरिल आदिमें महाराजने अपनी साधना तथा अनुभूतिकी जो धारा प्रवाहित की है, वह सर्वसाधारणके मनस्तलको छूए बिना नहीं रहती। साधनाद्वारा उन्होंने न

केवल अपना ही उद्धार किया, किन्तु उस साधना-मार्गका पथ-प्रदर्शन करके उन्होंने औरोंके लिये भी मार्ग प्रशस्त कर दिया है। उनके एक पद तथा दो आदेश यहाँ दिये जाते हैं। उससे उनकी भावधाराका यत्किञ्चित् आभास मिल सकेगा।

मन रे गोबिंद के गुन गाय।
अब कि जब तब उठि चेलेगौ, कहत हूँ समझाय॥ टेक॥
अटक अरि हरि ध्यान धर मन, सुरति हरि सों लाय॥
भज तू भगवत भरम भंजन, संत करन सहाय॥ १॥
तरल तृष्ना त्रिबिध रस बस, गलित गति तहँ चंद॥
जाय जोबन, जरा ग्रासे, जाग रे मतिमंद॥ २॥
मोह मन रिपु ग्रासमें तें, गहर गुन जलदेह॥
जन हरिदास आज सकाल नाहीं, हरि भजन कर लेह॥ ३॥

माया चढी सिकार तुरी चटकाइया।
कै मारै कै मारि पताखा लाइया॥
जन हरिदास भज राम सकल जन घेरिया।
हरि हौ मुनिजाय बसे दरबार तहौ तै फेरिया॥ १॥

श्रीहरिरामदासजी महाराज

श्रीरामानन्दी वैष्णवसम्प्रदायान्तर्गत एक रामस्नेही नामकी शाखा मारवाड़प्रान्तमें प्रसिद्ध है। इसके आद्याचार्य श्रीहरिरामदासजी महाराज हुए। बीकानेरसे नौ कोस पूर्वमें सिंहथल नामक गाँव है, वहाँ भाग्यचन्दजी जोशी नामक ब्राह्मणके घर आपका प्रादुर्भाव हुआ था। विशुद्धबुद्धि होनेसे छोटी अवस्थामें ही ज्यौतिष, योग, वेदान्तादि शास्त्रोंमें आप कुशल हो गये। अनन्तर भक्ति, विरक्ति और उपरतिके तीव्र भावोंके कारण आप दुलचासर ग्राममें श्रीरामानन्दी वैष्णव महात्मा श्रीजैमलदासजी महाराजके शरणागत हुए। आपने संवत् १७०० वि० आषाढ़ कृष्णा त्रयोदशीको उनसे दीक्षा ली। पश्चात् आप श्रीगुरुदेवका आशीर्वाद प्राप्तकर सिंहथल पधारे। आप प्रतिदिन सन्ध्या होते ही सिंहथलसे सात कोस दुलचासर ग्राममें अपने गुरुदेवके पास चले जाते थे और रातभर सत्सङ्ग करके प्रातः सूर्योदयसे पहले वापस सिंहथल लौट आते थे। इस तरह छः महीने बीत गये। इसके बाद श्रीगुरुदेवकी विशेष आज्ञाके कारण आप प्रतिदिन न जाकर महीनेमें एक बार गुरुदर्शनार्थ पधारते रहे और कुछ ही दिनोंमें श्रीसद्गुरुकृपासे पूर्ण योगी हो गये। जीवोंके कल्याणार्थ आपने वेद, वेदान्त, उपनिषद् और योगशास्त्रके सिद्धान्तानुसार सारगर्भित अनुभवपूर्ण उपदेश दिये, जो 'वाणी' के रूपमें आज भी प्रचलित हैं। आपके सहस्रों शिष्य-प्रशिष्य हुए तथा आपके जीवनमें अनेकों चमत्कार हुए, विस्तारभयसे यहाँ एक-दो ही लिखे जाते हैं।

स्थानीय स्वरूपसिंहजी नामक बारहट दैवयोगसे बहुत ही आर्थिक कष्टमें पड़कर श्रीमहाराजकी शरण हुए और आपकी दयासे उस संकटसे मुक्त होनेके साथ ही भक्तिके पात्र भी हो गये। इस विषयमें एक दोहा प्रचलित है—

गायौ गुन गोबिंद को, पायौ द्रव्य अमाप।
आयौ साथ स्वरूप के, सदगुरु द्याल प्रताप॥

एक बार प्रायः सब शिष्योंने आपके जीवित महोत्सवके लिये सं० १८३४ वि० चैत्र कृष्णा सप्तमीका दिन निश्चयकर सबको आमन्त्रित कर दिया। उत्सवकी तैयारी होने लगी, परंतु उक्त निश्चित तिथिसे पंद्रह दिन पूर्व ही आप अचानक शरीर छोड़कर भगवद्धाम पधार गये। इससे शिष्योंको अत्यन्त दुःख हुआ। शिष्योंके दुःखसे करुणार्द्र होकर आप भगवान्‌से एक मासकी आज्ञा लेकर पुनः लौट आये। अब शिष्योंके आनन्दका पार नहीं रहा तथा सारे काम फिर धूमधामसे होने लगे। बहुत जनसमुदाय होनेसे, जिन्हें पानीका ठेका दिया था, वे पर्याप्त पानी नहीं पहुँचा सके। बीकानेरके गाँवोंमें जलका अभाव प्रसिद्ध है। लोग घबरा गये। तब शिष्योंकी प्रार्थनापर आश्वासन देते हुए आपने कहा—'घबराओ नहीं, ईश्वर सब आवश्यकताओंकी पूर्ति अपने-आप ही करेंगे।' इतना कहकर स्वयं अपनी कुटीमें ध्यानस्थ हो गये। एक-ही-दो घड़ीमें प्रभुकृपासे निर्मल आकाशमें मेघोंने आकर गर्जना की और चारों ओर जल-ही-जल कर दिया। बड़े आनन्दसे महोत्सवकी समाप्ति हुई और लोग अपने-अपने स्थानोंको चले गये। तब आपने पूर्व-प्रतिज्ञाको यादकर सं० १८३५ वि० चैत्र शुक्ला सप्तमी शुक्रवारको तीन पहर पहले ही अन्त्येष्टि-क्रियाकी सब सामग्री मँगवा ली और निर्दिष्ट समयपर शरीर छोड़ दिया।

भक्त श्रीरामचरणजी रामसनेही

संवत् १७७६ वि० माघ शुक्ल १४ के दिन ढूँढाड़ देशके सोडा नामक ग्राममें बीजावर्गीय वैश्य श्रीवकतरामजीकी धर्मपत्नीसे आपका जन्म हुआ था। आपका जन्मनाम श्रीरामकृष्णजी था। जब ये इकतीस वर्षके हुए, तब सोते समय इनके चरणोंमें वज्रका चिह्न देखकर एक ब्राह्मण आश्चर्यचकित हो गया और सोचने लगा कि 'ये तो कोई संत हैं। अबतक गुप्त क्यों हैं ?' पर भगवान्‌की ऐसी ही मर्जी थी। उसी समय श्रीरामकृष्णजीको स्वप्न हुआ कि मैं नदीमें बहा जा रहा हूँ और एक पहुँचे हुए महात्मा हाथ पकड़कर मुझे बचा रहे हैं। बस, अब क्या था, उन्हीं स्वप्नमें देखे हुए महात्माको ढूँढ़नेके लिये ये घरसे निकल पड़े। रास्तेमें वैराग्यके बड़े-बड़े विचार मनमें आये। संसारके दुःख और अनित्यताकी छाप इनके मनपर जम गयी। मेवाड़के दाँतड़ा ग्राममें इन्हें वही महात्मा मिल गये, उन संतका नाम श्रीकृष्णरामजी महाराज था। और उन्होंने इन्हें योग्य अधिकारी समझकर भगवत्-तत्त्वका उपदेश किया और इनका नाम श्रीरामचरणजी रख दिया।

ये सं० १८०८ वि० के भाद्रपदमें गूदड़वेश धारण करके गुफामें घुसे और पच्चीस वर्षतक तपस्या करते रहे। तत्पश्चात् इन्होंने छत्तीस हजारसे अधिक साखियोंकी रचना की। वे अनुभवसे ओत-प्रोत हैं। इनके २२५ शिष्य थे। ये मुमुक्षुजनोंको निर्गुण राम-महामन्त्रका उपदेश करते थे। शाहपुरा-नरेश आपको बड़ी श्रद्धासे शाहपुरा ले आये थे और शाहपुरामें ही संवत् १८५५ वि० वैशाख कृष्ण ५ को इन्होंने अपना पाञ्चभौतिक शरीर त्यागा। ये रामस्नेही सम्प्रदायके मूलाचार्य माने जाते हैं।

भक्त महेशदासजी

(लेखक—दीवानबहादुर श्रीकेशवदासजी)

चार सौ साल पहलेकी बात है। सौन्दर्यकी गोद कश्मीरकी घाटीमें भक्त महेशदासजीका जन्म हुआ था। कश्मीरकी रमणीयताने इनके मनमें सौन्दर्य-उपासनाके प्रति प्रगाढ़ अभिरुचि उत्पन्न कर दी और बचपनसे ही ये चेतन-सौन्दर्य परमात्माकी खोजमें लग गये। ये घरसे निकल पड़े और बीस कोसकी दूरीपर एक पहाड़ी नदीके तटपर पर्वतकी गुफामें रहकर भगवान्‌का भजन करने लगे। ये प्रायः वीणाके मनोरम तार झंकृतकर एकान्तमें अपने प्रियतमका आवाहन किया करते थे। धीरे-धीरे आस-पासके ग्रामों और नगरोंमें इनकी ख्याति बढ़ने लगी। एक दिन इन्होंने अचानक अपनी कुटीके सामने ही एक सिद्ध महात्मा योगीका दर्शन किया। वे तपस्याकी मूर्ति थे। उनके हाथमें जलपात्र था, बगलमें मृगछाला थी। जटाएँ सुनहली थीं, मुखमण्डल दिव्य कान्तिसे चमक रहा था। महेशदासजीने अपने-आपको उनके चरणोंमें समर्पित कर दिया। ये उनके शिष्य हो गये।

ये अपने गुरुदेव, पिण्डोरीधामके संस्थापक योगिराज श्रीभगवानजी महाराजके साथ गुरुस्थान पिण्डोरीमें चले आये। वे नित्य सूर्योदयसे पहले व्यास नदीमें स्नानकर प्रकृतिकी शान्तिमयी गोदमें बैठकर भगवान्‌की आराधना किया करते थे। एक बार मुगलसम्राट् जहाँगीरसे भी इनकी अचानक भेंट हो गयी थी। वे महेशदासजीकी भक्तिनिष्ठासे बहुत प्रभावित हुए थे। महेशदासजीके उपास्य भगवान् श्रीसीता-रामभद्र थे। भगवान्‌ने कृपापूर्वक भक्तकी इच्छा पूर्ण की। उनकी गुरुनिष्ठा भी अत्यन्त प्रभावपूर्ण थी। वे सदा कहा करते थे कि 'नवधा भक्तिमेंसे किसी भी एकका आश्रय लेनेपर जीव भगवत्कृपाके अधिकारी हो जाते हैं।' उन्होंने भगवान् श्रीरामकी लीलाका चिन्तन करते-करते शरीर छोड़ा था। उनकी समाधिपर प्रत्येक वर्ष पिण्डोरीमें बहुत बड़ा मेला लगता है।

श्रीरानाबाईजी

(प्रेषक—श्रीरामस्वरूपजी शास्त्री)

श्रीरानाबाईजीने मारवाड़के हरनामा ग्राममें जालम जाटके घरपर जन्म लिया था। बाल्यावस्थासे ही भगवान्‌के चरणकमलोंमें इनकी अनुरक्ति थी, प्रसिद्ध संत श्रीखोजीजी महाराजकी इनपर बड़ी कृपा रहती थी। उनके सत्सङ्गके प्रभावसे इनका पूर्ण जीवन भगवान्‌की भक्तिसे सम्पन्न हो उठा। ये धीरे-धीरे संसारसे विरक्त होने लगीं, यौवनके प्रथमकक्षमें प्रवेश करते ही माता-पिताने इनका विवाह करना चाहा; पर इन्होंने यह कहकर विवाह-प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया कि 'मैंने तो पतिरूपमें भगवान्‌का ही वरण किया है, मेरे मनमें किसी दूसरे पुरुषकी कामना ही नहीं है।' ये एकान्तमें रहने लगीं, भगवद्भजन और सत्सङ्ग तथा खोजी महाराजके दर्शनके सिवा इनके जीवनका कोई दूसरा कार्यक्रम ही नहीं था।

एक समय गोयन्दराव राठौड़के मनमें यह बात उठी कि रानाबाई एकान्तमें खोजी महाराजसे सत्सङ्ग करती हैं। वे युवावस्थासम्पन्न रमणी हैं, उसे उनके चरित्रपर शङ्का हुई। उसने छिपकर देखा तो आश्चर्यचकित हो गया, खोजी महाराज उसे छः माहके बालकके रूपमें दीख पड़े। गोयन्दरावने दोनोंके चरणोंपर गिरकर क्षमा माँगी।

एक समय जोधपुरके महाराजा अभयसिंहके आदेशसे बोरावड़के ठाकुर राजसिंहने अहमदाबादपर अधिकार करनेके लिये सेनासहित कूच किया। इन्होंने मन-ही-मन रानाबाईसे प्रार्थना की कि युद्धमें मेरी विजय हो। विजय हो गयी। महाराजा अभयसिंहने उन्हें पुरस्कृतकर हाथीपर चढ़ाकर बोरावड़ भेजा। हवेलीके सामने हाथी ठहर गया, वह आगे बढ़ता ही नहीं था। उन्हें स्मरण हो आया कि रानाबाईका दर्शन करना तो शेष ही रह गया है, जिनकी कृपासे विजय मिली। वे उनका दर्शन करके कृतार्थ हो गये। रानाबाईने आशीर्वादके रूपमें गोबरभरे हाथोंसे राजसिंहके पीठपर थापा दिया। थापेका रंग तुरंत केसरका हो गया और सब ओर केसरकी सुगन्ध छा गयी।

रानाबाईके सम्बन्धमें अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाएँ कही-सुनी जाती हैं। उन्होंने सवा दो सौ साल पहले परमधामकी यात्रा की, आज भी उनकी पवित्र तपोभूमिमें बहुत बड़ा मेला लगता है।

महात्मा रामसुखजी

(प्रेषक—श्रीरामस्वरूपजी शास्त्री)

महात्मा रामसुखजी महाराज उच्च कोटिके भगवद्भक्त थे। वे रामस्नेही सम्प्रदायके आचार्य रामचरणदासजी महाराजके शिष्य थे। उन्होंने ख्वास ग्राममें श्रावक वैश्यजातिमें जन्म लिया था। बाल्यकालसे ही भगवान्‌के प्रति प्रेमभाव था। संत और साधुओंकी सेवामें उनका मन बहुत लगता था। कुछ दिनोंके बाद उन्होंने शाहपुरामें रामचरणदासजी महाराजके दर्शन किये और दीक्षित होकर बारह सालतक नितान्त एकान्त स्थानमें घोर तपस्या की। धीरे-धीरे उनका वैराग्य, तप और त्यागपूर्ण जीवन अड़ोस-पड़ोसके लोगोंके लिये एक आकर्षक पदार्थ हो गया। वे तपस्याकी अवधिमें मौन-व्रती हो गये थे।

एक बार मरहठोंकी सेना एक जंगलसे जा रही थी कि उसने देखा एक पुरुष कुछ दूरपर बैठा है। रामसुखजी महाराज भजनमें लीन थे। भगवान्‌के ध्यानमें समाधिस्थ थे। सेनाके कुछ सैनिकोंने उन्हें ठग समझकर उनपर तलवारसे प्रहार किये, चौरासी वार निष्फल हो गये। अन्तमें सेनापतिने प्रहार किया, तब रामसुख महाराजके शरीरसे दूध निकलने लगा। खून नाममात्रको भी न दीख पड़ा। सेनापतिने समस्त सेनासहित क्षमा माँगी। संतकी चरण-धूलि मस्तकपर चढ़ायी। एक समय उनके अड़ोस-पड़ोसके ग्रामोंके निवासी अकालसे आशङ्कित होकर मालवाकी ओर जानेकी तैयारी करने लगे। उन्होंने रामसुखजी महाराजका चरण-स्पर्श किया। संत उनकी मार्मिक वेदनासे पिघल उठे, उन्होंने लोगोंको घर छोड़कर बाहर जानेकी मनाही कर दी। कुछ ही समयके बाद भगवान्‌की कृपासे मूसलधार जलवृष्टि हुई।

श्रीरामसुखजी महाराज बहुत बड़े त्यागी, भक्त और महात्मा थे। वे अपने पास एक फटा-पुराना कन्था और तूम्बा ही रखते थे। उन्होंने आजसे दो सौ साल पहले टोंकमें नश्वर शरीर छोड़ दिया।

श्रीध्यानदासजी महाराज

(प्रेषक-श्रीरामस्वरूपजी शास्त्री)

श्रीध्यानदासजी महाराजका जन्म मेवाड़के आमेट ग्राममें राजपूत जातिमें हुआ था। वे रामस्नेही सम्प्रदायके महात्मा श्रीरामचरणदासजी महाराजके शिष्य रामसेवकजीके द्वारा दीक्षित थे। वे प्राय: विदेहावस्थामें रहते थे। भगवान्‌के भजन और ध्यानमें ही रात-दिन लगे रहते थे। उन्होंने मौनव्रत लेकर उदयपुरके जगदीश-मन्दिरके बाहर पत्थरके हाथीके पैरसे पीठ सटाकर बारह सालतक कड़ी तपस्या की। वे भगवान् श्रीरामके महान् भक्त थे। मेवाड़के महाराणा भीमसिंहजी उनका बड़ा सम्मान करते थे, उनके प्रति श्रद्धा और भक्ति रखते थे। महाराणाने उनके रहनेके लिये तथा भजन-कीर्तनके लिये एक बहुत बड़ा 'रामद्वारा' बनवा दिया। उदयपुरके पिछोला तालाबके जग-निवास महलमें एक दिन राणाने ध्यानदासजीके दर्शनकी इच्छा की। राणा उस समय उसी महलमें थे। महात्मा ध्यानदासने तालाबपर जाजिम बिछवा दिया। वह कमलके पत्तेके समान जल-तलपर तैरने लगा। कुछ संतोंको साथ लेकर ध्यानदासजी जाजिमपर बैठ गये और जग-निवास महलमें पहुँच गये। महाराणा तथा उदयपुरके निवासी इस चमत्कारपूर्ण घटनासे आश्चर्यचकित हो उठे।

उदयपुरमें कुछ दिनोंतक रहनेके बाद ध्यानदासजी महाराजने बीकानेर, कोटा आदि स्थानोंमें भ्रमण करके रामभक्तिका प्रचार किया। वे आदर्श त्यागी, सिद्ध वैरागी और महान् भक्त थे। दो सौ साल पहले उन्होंने समाधि ले ली।

भक्त रैदासजी

मैं अपनो मन हरिजू सौं जोर्‍यौ,
हरिजू सौं जोरि सबन सौं तोर्‍यौ।
सब ही पहर तुम्हारी आसा,
मन क्रम बचन कहै रैदासा॥

प्रभुकी भक्तिमें जाति-पाँतिका भेदभाव न कभी था और न कभी रह ही सकता है।

रैदासने स्वयं कहा है—

जाति भी ओछी, करम भी ओछा,
ओछा किसब हमारा।
नीचे से प्रभु ऊँच कियो है,
कह रैदास चमारा॥

रैदासके जन्मकी निश्चित तिथि अबतक सन्दिग्ध-सी है। कबीरके समसामयिक होनेके कारण इनका समय ईस्वी सन्‌की पंद्रहवीं सदी ठहरता है। रैदासका जन्म काशीमें ही हुआ और ये कई बार कबीरके सत्सङ्गमें भी सम्मिलित हुए थे। कथा है कि पूर्वजन्ममें ये ब्राह्मण थे और स्वामी रामानन्दके शापसे चमारके घर उत्पन्न हुए। बचपनसे ही रैदास साधुसेवी थे। इस कारण इनके पिता रघु इनपर नाराज रहा करते थे। बात यहाँतक बढ़ी कि उन्होंने रैदासको घरसे निकाल दिया और खर्चके लिये एक पैसा भी नहीं दिया।

रैदास अलमस्त फक्कड़ थे। लोक-परलोककी, निन्दा-स्तुतिकी ओर उनकी दृष्टि गयी ही नहीं। घरमें एक सती-साध्वी स्त्री थी। जो कुछ घरमें होता, उसे तैयारकर वह पतिकी सेवामें ला रखती। रैदास एक मामूली झोंपड़ीमें रहते थे। जूते बनाकर अपनी जीविका चलाते थे। पासमें ही श्रीठाकुरजीकी चतुर्भुजी मूर्ति थी। जूते टाँकते जाते और प्रेमविह्वल वाणीमें अपने हरिकी ओर निहार-निहारकर गाते रहते—

प्रभुजी! तुम चंदन, हम पानी। जाकी अँग अँग बास समानी॥
प्रभुजी! तुम घन, बन हम मोरा। जैसे चितवत चंद चकोरा॥
प्रभुजी! तुम दीपक, हम बाती। जाकी जोति बरै दिन राती॥
प्रभुजी! तुम मोती, हम धागा। जैसे सोनहिं मिलत सुहागा॥
प्रभुजी! तुम स्वामी, हम दासा। ऐसी भगति करै रैदासा॥

कहते हैं, इनकी आर्थिक दुरवस्थाको देखकर प्रभुको दया आयी और उन्होंने साधुरूपमें रैदासजीके पास

आकर उनको पारस पत्थर दिया और उससे जूता सीनेके एक लोहेके औजारको सोना बनाकर दिखा भी दिया। रैदासजीने उस पत्थरको लेनेसे इन्कार कर दिया। परंतु साधु भी एक हठी था। लाचार होकर रैदासने कहा, 'नहीं मानते हो तो छप्परमें खोंस दो।' तेरह महीने बाद जब वही साधु फिर आये और पत्थरका हाल पूछा, तब रैदासने कहा कि 'जहाँ खोंस गये थे, वहीं देख लो; मैंने उसे छुआ भी नहीं है।'

भक्तमालमें रैदासके सम्बन्धमें कई बातें लिखी हैं। उनमें एक यह भी है कि चित्तौड़की रानीने, जो एक बार काशीयात्राके लिये आयी थीं, रैदासकी महिमा सुनकर उनको अपना गुरु बनाया। रैदासके सम्बन्धमें चमत्कारकी कई बातें प्रख्यात हैं, जिनसे यही स्पष्ट प्रमाणित होता है कि भगवान्‌के दरबारमें जाति-पाँतिका उतना महत्त्व नहीं है जितना भक्ति और लगनका है।

पूरे १२० वर्षके होकर रैदासजी भगवद्धामको प्राप्त हुए। उनके पन्थके अनुयायियोंका विश्वास है कि वे सदेह गुप्त हो गये। गुजरात, बिहार आदि कई प्रान्तोंमें लाखों आदमी ऐसे हैं जो अपनेको 'रैदासी' कहते हैं। रैदासजी प्रेम और वैराग्यकी तो मूर्ति ही थे। श्रीहरिचरणोंका अनन्य आश्रय ही उनकी साधनाका प्राण है—

जो तुम तौरो राम, मैं नहिं तोरौं।
तुम सौं तोरि कवन सौं जोरौं॥
तीरथ बरत न करौं अंदेसा।
तुम्हरे चरन कमल क भरोसा॥
जहँ जहँ जाऔं तुम्हरी पूजा।
तुम सा देव और नहिं दूजा॥

रैदासकी विवशता भी कितनी सरल, कितनी स्वाभाविक है—

नरहरि! चंचल है मति मेरी, कैसे भगति करूँ मैं तेरी॥
तूँ मोहि देखै, हौं तोहि देखूँ, प्रीति परसपर होई।
तूँ मोहि देखे, तोहि न देखूँ, यह मति सब बुधि खोई॥
सब घट अंतर रमसि निरंतर, मैं देखन नहिं जाना।
गुन सब तोर, मोर सब औगुन, कृत उपकार न माना॥
मैं तैं, तोरि मोरि असमझि सों, कैसे करि निस्तारा।
कह रैदास कृष्ण करुनामय! जै जै जगत अधारा॥

भक्त पर्वतजी

पर्वतजी भक्तराज नरसी मेहताके चचा थे। इनका यह नियम था कि प्रतिदिन हाथमें तुलसीजीका गमला लिया और अपने गाँव माँगरोळसे भगवान्‌का नाम लेते हुए चल पड़े। कोसों दूर द्वारका जाकर, श्रीरणछोड़रायजीके चरणोंमें उसे रखके, दण्डवत् करके फिर अपने घर आ जाते थे। अपने घर केवल रातमें रहते और उसमें भी गमलोंमें तुलसी बोते और प्रातःकाल होते ही चल देते। अड़सठ वर्षतक इनका यह नियम चलता रहा। अब शरीर बूढ़ा हो गया, ज्वर आने लगा,घरके लोगोंने मना किया; फिर भी ये कब मानने लगे। इनका नियम अखण्ड रहा।

एक दिन थक जानेके कारण चार कोस दूर आजक गाँवके बाहर बावलीकी सीढ़ीपर ये सो गये और स्वप्न देखा कि मैं भगवान् द्वारकाधीशकी सेवा कर रहा हूँ तथा वे प्रकट होकर कह रहे हैं कि 'मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। अगहन शुक्ला षष्ठीको गोमतीको साथ लेकर तुम्हारे गाँवमें मैं ही आ जाऊँगा। अब यहाँ आनेकी आवश्यकता नहीं।' इतनेमें ही इनकी आँख खुल गयी। ये अपने भगवान्‌को देखनेके लिये व्याकुल हो उठे। परंतु न देख सकनेके कारण स्वप्नपर पूरा भरोसा न हुआ। उसी समय आकाशवाणी हुई और फिर वही बात दुहरायी गयी। अब पर्वतदासने भगवान्‌की आज्ञा शिरोधार्य की। लोगोंको बड़ी प्रसन्नता हुई।

इधर एक कारीगरने, जिसका नाम वासुदेव था, पंद्रह महीनेतक परिश्रम करके एक सिंहासन बनाया था, उसे लेकर पर्वतदासके घर आनेकी आज्ञा हुई। ठीक वि० सं० १५०० की अगहन शुक्ला षष्ठीके दिन चार घड़ी दिन चढ़ते-चढ़ते पर्वतदासके घरके पासकी बावलीमें दैवी जल एकाएक बढ़ने लगा और भगवान् श्रीरणछोड़राय उससे प्रकट हुए। सब लोगोंने उनकी पूजा की, उसी सिंहासनपर भगवान् विराजमान हुए। श्रीरणछोड़रायजीका वह प्राचीन विग्रह आज भी माँगरोळमें विराजित है और सिंहासन भी वहीं मौजूद है। इनके प्रतापसे माँगरोळ भारतका एक पवित्र तीर्थ हो गया है।

भक्त नरसी मेहताजी

नरसी मेहता गुजरातके एक बहुत बड़े श्रीकृष्णभक्त हो गये हैं। उनके भजन आज दिन भी न केवल गुजरातमें बल्कि सारे भारतमें बड़ी श्रद्धा और आदरके साथ गाये जाते हैं। उनका जन्म काठियावाड़ प्रान्तके जूनागढ़ शहरमें बड़नगरा जातिके नागर-ब्राह्मण-कुलमें हुआ था। बचपनमें ही उन्हें कुछ साधुओंका सत्सङ्ग प्राप्त हुआ, जिसके फलस्वरूप उनके हृदयमें श्रीकृष्णभक्तिका उदय हुआ। वे निरन्तर भक्त-साधुओंके साथ रहकर श्रीकृष्ण और गोपियोंकी लीलाके गीत गाने लगे। धीरे-धीरे भजन-कीर्तनमें ही उनका अधिकांश समय बीतने लगा। यह बात उनके परिवारवालोंको पसन्द नहीं थी। उन्होंने इन्हें बहुत समझाया पर कोई लाभ न हुआ। एक दिन इनकी भौजाईने ताना मारकर कहा कि 'ऐसी भक्ति उमड़ी है तो भगवान्से मिलकर क्यों नहीं आते ?' इस तानेने नरसीपर जादूका काम किया। वे घरसे उसी क्षण निकल पड़े और जूनागढ़से कुछ दूर श्रीमहादेवजीके पुराने मन्दिरमें जाकर वहाँ श्रीशङ्करकी उपासना करने लगे। कहते हैं, उनकी पूजासे प्रसन्न होकर भगवान् शङ्कर उनके सामने प्रकट हुए और उन्हें भगवान् श्रीकृष्णके गोलोकमें ले जाकर गोपियोंकी रासलीलाका अद्भुत दृश्य दिखलाया। वे गोलोककी लीलाको देखकर मुग्ध हो गये।

तपस्या पूरी कर वे घर आये और अपने बाल-बच्चोंके साथ अलग रहने लगे। परंतु केवल भजन-कीर्तनमें लगे रहनेके कारण बड़े कष्टके साथ उनकी गृहस्थीका काम चलता। स्त्रीने कोई काम करनेके लिये उन्हें बहुत कहा, परंतु नरसीजीने कोई दूसरा काम करना पसंद नहीं किया। उनका दृढ़ विश्वास था कि श्रीकृष्ण मेरे सारे दुःखों और अभावोंको अपने-आप दूर करेंगे। हुआ भी ऐसा ही। कहते हैं, उनकी पुत्रीके विवाहमें जितने रुपये और अन्य सामग्रियोंकी जरूरत पड़ी, सब भगवान्ने उनके यहाँ पहुँचायी और स्वयं मण्डपमें उपस्थित होकर सारे कार्य सम्पन्न किये। इसी तरह पुत्रका विवाह भी भगवत्कृपासे सम्पन्न हो गया।

कहते हैं नरसी मेहताकी जातिके लोग उन्हें बहुत तंग किया करते थे। एक बार उन लोगोंने कहा कि अपने पिताका श्राद्ध करके सारी जातिको भोजन कराओ। नरसीजीने अपने भगवान्को स्मरण किया और उसके लिये सारा सामान जुट गया। श्राद्धके दिन अन्तमें नरसीजीको मालूम हुआ कि कुछ घी घट गया है। वे एक बर्तन लेकर बाजार घी लानेके लिये गये। रास्तेमें उन्होंने एक संतमण्डलीको बड़े प्रेमसे हरिकीर्तन करते देखा। बस, नरसीजी उसमें शामिल हो गये और अपना काम भूल गये। घरमें ब्राह्मण-भोजन हो रहा था, उनकी पत्नी बड़ी उत्सुकतासे उनकी बाट देख रही थीं। भक्तवत्सल भगवान् नरसीका रूप धारणकर घी लेकर घर पहुँचे। ब्राह्मण-भोजनका कार्य सुचारुरूपसे पूरा हुआ। बहुत देर बाद कीर्तन बंद होनेपर नरसीजी घी लेकर वापस आये और अपनी पत्नीसे देरके लिये क्षमा माँगने लगे। स्त्री आश्चर्यसागरमें डूब गयीं।

पुत्र-पुत्रीका विवाह हो जानेपर नरसीजी बहुत कुछ निश्चिन्त हो गये और अधिक उत्साहसे भजन-कीर्तन करने लगे। कुछ वर्षों बाद एक-एक करके इनकी स्त्री और पुत्रका देहान्त हो गया।

तबसे वे एकदम विरक्त-से हो गये और लोगोंको भगवद्भक्तिका उपदेश देने लगे। वे कहा करते—'भक्ति तथा प्राणिमात्रके साथ विशुद्ध प्रेम करनेसे सबको मुक्ति मिल सकती है।'

कहते हैं कि एक बार जूनागढ़के राव माण्डळीकने उन्हें बुलाकर कहा—'यदि तुम सच्चे भक्त हो तो मन्दिरमें जाकर मूर्तिके गलेमें फूलोंका हार पहनाओ और फिर भगवान्की मूर्तिसे प्रार्थना करो कि वे स्वयं तुम्हारे पास आकर वह माला तुम्हारे गलेमें डाल दें; अन्यथा तुम्हें प्राणदण्ड मिलेगा।' नरसीजीने रातभर मन्दिरमें बैठकर भगवान्का गुणगान किया। दूसरे दिन सबेरे सबके सामने मूर्तिने अपने स्थानसे उठकर नरसीजीको माला पहना दी। नरसीकी भक्तिका प्रकाश सर्वत्र फैल गया। पर कहते हैं कि इसी पापसे राव माण्डळीकका राज्य नष्ट हो गया।

भक्त नरसीजीकी हुंडी

(लेखक—ठा० श्रीरणवीरसिंहजी शक्तावत 'रसिक')

(दोहा)

जिय मैं निसि बासर जरत, पुनि नित करत प्रपंच।
नरसी सौं बांधव निलज, राखत प्रेम न रंच॥ १ ॥
बांधवजन के बैर की, बरनत हौं इक बात।
आई गढ़ मैं एक दिन, जुरि कै संत जमात॥ २ ॥
लोगन सौं पूछ्यो इहाँ, का कहुँ साहू नाहिं?
जाकी हुंडी चलि सकत, पुरी द्वारिका माहिं॥ ३ ॥
जरे भुने जे बंधुजन, लै नरसी कौ नाम।
दीन्हौं तिन्हैं बताइ द्रुत, ताकौ पतै तमाम॥ ४ ॥
व्याजस्तुति कीन्हीं बहुत, बहु बिधि बात बनाइ।
अधोलिखित पाटी अधम, परिजन दई पढ़ाइ॥ ५ ॥
नरसी जौ मानै नहीं, करै साफ इनकार।
तौ पग ताके पकरि कै, बिनवहु बारंबार॥ ६ ॥
'संत असंत न देखहीं, देत दुलत्ती झार।
खलजन एते खलक मैं, चूकत नाहिं चमार॥ ७ ॥
खल कौ रखिये ख्याल नित, खुदा दूसरो मानि।
बंदिय ताकों बिनयजुत, जोरि जानु जुग पानि॥ ८ ॥
सीधे सादे संत सब, जानि सके नहिं जाल।
जहँ नरसी की झौंपरी, आये तहाँ उताल॥ ९ ॥
'जै नरसी की' संतजन, सब बोले इक साथ।
नरसी तिन्हैं निहारि कै, उठ्यौ जोरि दुहुँ हाथ॥ १० ॥
बोल्यौ नरसी बिनय तैं, अहोभाग मम आज।
कुटिया कौं पावन करी, सहृदय संत समाज॥ ११ ॥
स्वारथ बस आए सकल, संत कह्यौ हे साह!
बढ़े भाग तेरौ बहुत, लाखन कौ ह्वै लाह॥ १२ ॥
यौं कहि खीसे खोलि अब, खाली कीन्ह नितंत।
नरसी ढिग ढेरी करत, गिन गिनि रुपया संत॥ १३ ॥
कहा बात? नरसी कह्यौ, कृपया देहु बताइ।
करे जातु हो ढेर क्यौं, गिनि गिनि मो ढिग लाइ॥ १४ ॥
कै गुलाम घनस्याम कौ, कै हरि भगत गुलाम।
हौं गुलाम नहिं दाम कौ, देहु मोहिं क्यौं दाम॥ १५ ॥
दाम न मोकौं चाहिये, हौं हरि दामनगीर।
गिनौं ब्याल सम दाम कौं, जम की दृढ़ जंजीर॥ १६ ॥
राम विमुख रखि रात दिन, हिय उपजात हराम।
भगत न चाहत दाम सो, भगतन चाहत दाम॥ १७ ॥
संत कह्यौ हम नाम सुनि, आए तेरे पास।
हुंडी लिखवानी हमैं, यहै काम है खास॥ १८ ॥
हमैं जावनौ द्वारिका, हम सब साधू संत।
कोऊ मग मैं लूटि कै, करिहैं सब कौ अंत॥ १९ ॥
यातैं रुपया सात सौ, हम लोगन सौं लेहु।
अरे सेठ ! अहसान करि, हम कौं हुंडी देहु॥ २० ॥
सुनि संबोधन 'सेठ', निज नरसी जोरे हाथ।
बोल्यौ, हौं तौ दास हौं, सेठ द्वारिकानाथ॥ २१ ॥
हँसी करत क्यौं संत ह्वै, मोकौं सेठ पुकार।
कौन कह्यौ या दीन कैं, हुंडी कौ ब्यौपार॥ २२ ॥
घास फूस की झोंपरी, तैसो सर अंजाम।
देबे कौं तूँबी इहाँ, लेबे कौं हरिनाम॥ २३ ॥
अरे संतजन! आपकौं कौन दये भरमाइ।
कीन्ह मसखरी कौन यह, दीजै मोहिं बताइ॥ २४ ॥
अरे भगत! हम साधुजन, कौन हमें भरमाइ।
तू भरमावत क्यौं बृथा, बीसौं बात बनाइ॥ २५ ॥
कहा बतावत यौं कुटी, तूँबा हमैं तमाम।
ये तो प्यारे! प्रिय हमैं, इनही सौं है काम॥ २६ ॥
साँचे ज्ञानी होत सो, सरल रहत जिमि साध।
वैभव तैं बौरात ना, उर के होत अगाध॥ २७ ॥
तू ज्ञानी ध्यानी परम, दानी सेठ लखात।
तो सानी कोउ और ना, जानी हम यह बात॥ २८ ॥
तू तौ रुपया लेइ कै, लिखि दै हुंडी साह!
पटिहै कै पटिहै नहीं, याकी ना परवाह॥ २९ ॥
जान्यौ नरसी बंधुजन चाली कै तौ चाल।
कै भगवत कीन्ही कृपा, भेज्यौ खरच दयाल॥ ३० ॥
यौं बिचारि नरसी बिबस, सुमरि इष्ट घनस्याम।
हुंडी लिखि निज हाथ सौं, सौंपी दै सरनाम॥ ३१ ॥
कह्यौ, नाम है सेठ कौ 'साँवलसाह' प्रसिद्ध।
करौ संत प्रस्थान अब, ह्वैहैं कारज सिद्ध॥ ३२ ॥
हुंडी हाथौं हाथ लै, सिद्धि करी सब संत।
पुरी द्वारिका पहुँचि कै, उतरे जाइ इकंत॥ ३३ ॥
कियौ तहाँ बिसराम कछु, खानो पीनो खाइ।
ढूँढ़न लागे साह कौं, अब बजार मैं आइ॥ ३४ ॥
लाग्यौ पते न लेसहू, होइ संत हैरान।
सब ही आए साँझ कौं, थाकि आपुने थान॥ ३५ ॥
बैठे सोच बिचार मैं, अब सब होइ उदास।
साह रूप धरि साँवरौ, प्रगटि पधार्यौ पास॥ ३६ ॥

(कवित्त)

माथे प लपेटि राखी अटपट पाग मोटी,
खुलि खुलि जाति चोटी फहरत न्यारी है;
खिसकि खिसकि परी एड़िन लौं धोती, जाति
घिसी आति अंगरखी घेरघारवारी है।
कटि कैं लपेटि राख्यौ लाँबौ सौ दुपट्टो, और
पेट राख्यौ काढ़ि कछु चाह क अगारी है;
कान प कलम, बही बगल दबायें साह,
काँधे धरी धम्मसे सुथैली आन डारी है॥ ३७ ॥

(दोहा)

संतन सौं अब सेठजी पूछ्यौ बोलि प्रनाम।
हुंडी को लाए इहाँ? नरसी की मो नाम॥ ३८ ॥
यह सुनि, संतनके तुरत आए तन मैं प्रान।
बोलि उठे चट उचकि, हम लाये हैं श्रीमान॥ ३९ ॥
हारे हम तौ हेरिकै सकल द्वारिका माहिं।
पै हमकौं तौ आप कौ पतौ लग्यौ कहुँ नाहिं॥ ४० ॥

आप छुपे रुस्तम अहो, नरसी सेठ समान।
जगत सेठ से जचत हो, का हम करैं बखान॥ ४१॥
साधुन की सुध लेइकै, कियौ अमित उपकार।
घर घर होवै आप की, जग मैं जय जयकार॥ ४२॥
दै असीस हुंडी दई साधूजन सँभलाइ।
साह बाँचि तिहिं सात सौ रुपया दए गनाइ॥ ४३॥
थैली कौ मुख बाँधि कै, करि लेखे कौ काम।
पत्र लिख्यौ अब प्रेम सौं, नरसीजी कैं नाम॥ ४४॥

(कवित्त)

सिद्धि सिरी जूनागढ़ साह सिरताज सिरी-
भक्तराज नरसी सौं 'जै जै नरसी की' है;
कुसल इहाँ पै सब आपहूँ कुसल, हम-
संतन सौं जानी सब बात तहँ नीकी है।
हुंडी के रुपैया रोक सात सौ चुकाइ दीन्हे,
खोटी नाहिं कीन्हे, ना लगाई बात फीकी है;
जानिकै गुमासता जरूर याद कीज्यौ हमैं,
काम काज लिखियो दुकान आप ही की है॥ ४५॥

(दोहा)

यौं चीठी लिखि चाव सौं, सौंपी साह सुजान।
माफी सब सौं माँगिकै, दीन्ही बिदा निदान॥ ४६॥
संत लोग करि जातरा, पहुँचे नरसी पास।
सौंपी चीठी साह की, हिय दरसाइ हुलास॥ ४७॥
पढ़ि कागद अति प्रेम सौं, नरसी गदगद होइ।
समाचार पूछे सकल, झट संतन दिसि जोइ॥ ४८॥
अटपट पगरी, पेट कटि, ढीली सटपट चाल।
संत बखान्यौ साह कौ, हँसि हँसि सगरौ हाल॥ ४९॥
सुनि सुनि कै नरसी भगत, भयौ मगन मन माहिं।
जस न जतायौ आँख पै, होठ हिलायौ नाहिं॥ ५०॥
संतन के रुपया सकल, संतन काज लगाइ।
भयौ उरिन नरसी भगत, कृपा कीन्हि जदुराइ॥ ५१॥
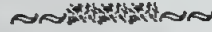
भक्त श्रीजाम्भोजी महाराज

(लेखक—डा० श्रीहरवंशसिंहजी तथा श्रीरमेशचन्द्रजी शास्त्री)

श्रीजाम्भोजी महाराजका जन्म सं० १५०८ वि० भाद्रपद कृष्णा अष्टमीको आधी रातके समय पवाँर क्षत्रिय जातिमें जोधपुर राज्यके पीपासर नामक ग्राममें हुआ था। इनके पिताका नाम ठाकुर लोहटजी था और माताका नाम हाँसादेवी था। इनके विचार बहुत ऊँचे थे और ये ईश्वरकी बड़ी भक्ता थीं। बालक जाम्भोजीपर इन्हींका प्रभाव पड़ा और वे भी बचपनसे ही उन्हीं विचारोंके हो गये। वे अपने साथी बच्चोंको भक्तोंकी कथाएँ सुनाया करते थे। बालक भी उन्हें बहुत मानते थे और आपसके सब लड़ाई-झगड़े इन्हींसे तै कराते थे; तथा हर प्रकारसे इनकी आज्ञाका पालन करते थे। ये कभी झूठ नहीं बोलते थे। श्रीकृष्णभगवान्‌की लीलाएँ बड़े चावसे सुनते थे। जब ये आठ वर्षके हुए, तब इन्हें गायें चरानेका शौक हो गया और सत्ताईस वर्षकी अवस्थातक जंगलमें गायें चराते रहे और साधु-संतोंका सत्सङ्ग करते रहे। महात्मा योगियोंके सङ्गसे इन्होंने योगाभ्यास भी किया। तदनन्तर अन्धकारमें पड़ी हुई हिंदू-जातिको ईश्वरभक्तिका प्रचार करके राहपर लानेका बीड़ा उठाया और देशाटनके लिये निकल पड़े। सिकन्दर लोदीका जमाना था। आप उससे मिले और उपदेशद्वारा गौ आदि पशुओंकी हत्या बंद करायी। इनके विचारोंपर बहुत लोग आ गये और सं० १५४२ वि० में इन्होंने बिश्नोई (वैष्णव) मत चलाया। जोधपुर, बीकानेर आदि राज्योंमें और उत्तर प्रदेश तथा पंजाब आदि प्रदेशोंमें आपने भ्रमण किया था। इन जगहोंमें अब भी काफी संख्यामें बिश्नोई लोग मौजूद हैं। आजन्म ब्रह्मचारी रहकर पचासी वर्षकी अवस्थामें सं० १५९३ वि०में मार्गशीर्ष कृष्णपक्षकी नवमीको आपने लालासर नामक ग्रामके जंगलमें इस संसारको छोड़ दिया।

इन्होंने १५४२ वि० में जब 'बिश्नोई' मतकी स्थापना की, तब निम्नलिखित उन्तीस नियम बनाये थे। कुछ लोगोंका कहना है कि 'बीस-नौ' नियमोंके कारण ही इस मतका नाम 'बिश्नोई' पड़ा। नियम ये हैं—

१. प्रातःकाल स्नान करना, २. सदा शील-शौच-सन्तोष आदिका पालन करना, ३. दोनों काल सन्ध्या करना, ४. सायंकाल ईश्वरका विशेष चिन्तन करना, ५. चतुर्वर्ग-प्राप्त्यर्थ हवन अवश्य करना, ६. दुराचारियोंके कुसङ्गसे बचना, ७. दूध तथा पानी वस्त्रसे छानकर पीना, ८. यज्ञसमिधा तथा पाकार्थ ईंधन पहले भलीभाँति देख-भालकर लेना, ९. निन्दा-अपमानको सहनकर क्षमाशील बनना, १०. हिंसा न कर जीवोंपर दया करना तथा उनके रक्षार्थ उद्यत रहना, ११. चोरीका मन-वचन-

कर्मसे त्याग, १२. मन-वचनसे किसीकी निन्दा न करना, १३. मिथ्या भाषण और विवाद न करना, १४. अमावस्याके दिन आत्मशुद्ध्यर्थ व्रत तथा 'देवेष्टि' करना, १५. सदैव 'विष्णु' का भजन करना, १६. शुद्ध वाणी बोलना, १७. हरे वृक्षोंको न काटना, १८. काम-क्रोध-मद-लोभादि अजर शत्रुओंका तथा इन्द्रियोंका दमन करना, १९. असंस्कृतके हाथसे अन्न-जलादि ग्रहण न करना, २०. पशुशालाएँ बनवाकर गौ आदिका पालन करना, २१. बैलको खस्सी न करवाना तथा कसाईको पशु न बेचना, २२. अफीम न खाना, २३. तम्बाकू न पीना, २४. भाँग-गाँजा-चरस न पीना, २५. मद्यपान न करना, २६. मांस न खाना, २७. नीला वस्त्र नहीं पहनना, २८. तीस दिनोंतक जननसूतक रखना और २९. पाँच दिनोंतक रजस्वला स्त्रीको घरके कामोंसे पृथक् रखना।

मेवातके भक्त स्वामी श्रीलालदासजी

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी)

महात्मा लालदासजी महान् भगवद्भक्त और संत थे। वे जाति और सम्प्रदायभेदसे नितान्त ऊपर उठे हुए थे। उनका जन्म अलवर राज्यके धौलीदूब ग्राममें संवत् १५९७ वि० में हुआ था। उनका जीवन मानवजातिकी सेवामें अर्पित एक ज्वलन्त कहानी है। वे कबीर और नानककी ही परम्परापर विश्वास रखनेवाले निष्पक्ष संत थे। भक्तराज दादूजी और महाकवि जायसीके समकालीन थे। अपने जीवनकालमें ही उन्होंने महती ख्याति प्राप्त कर ली थी। उनका चरित्रवर्णन तत्कालीन सिद्ध भागवत नाभादासजीने बड़ी श्रद्धा और आदरसे अपने भक्तमालमें किया है।

लालदासजीके पिता चाँदमलजी तथा माता समदाजीका जीवन भक्तिमय था। उनके चरित्रविकासपर माता-पिताकी भक्तिनिष्ठाका पूर्ण प्रभाव पड़ा था। उन्होंने अलवर राज्यके अन्तर्गत बाँधोलीमें अपने जीवनके कुछ दिन बिताये। पहाड़ी क्षेत्रोंमें घूम-घूमकर जाड़े, बरसात और गरमीमें वे लोगोंको अपने तपस्यापूर्ण जीवनसे प्रभावित करने लगे। धीरे-धीरे उनके अनुयायियोंकी संख्या बढ़ने लगी। संतका जीवन तो अलौकिक और आश्चर्यजनक घटनाओं तथा चमत्कारोंसे परिपूर्ण ही रहता है। लालदासजीने भी अपने जीवनके कई महत्त्वपूर्ण चमत्कारोंसे लोगोंको कृतार्थ किया। उन्होंने अपने समयके हिन्दू-मुसलमान—सभीको ईश्वरप्रेमके मन्त्रसे अभिमन्त्रित किया। उन्होंने कहा कि 'जीवमात्र एक ही ईश्वरके अंश हैं। उनमें पारस्परिक प्रेमका होना अत्यन्त अनिवार्य है।'

महात्मा लालदासजीने संवत् १७०५ वि०में १०८ वर्षकी अवस्थामें समाधि ले ली। शेरपुरमें उनकी सुन्दर समाधि अब भी अनेक जीवोंको शान्ति प्रदान करती है। उनकी बहुत-सी हस्तलिखित पुस्तकें प्राप्य हैं, जिनमें वाणी और साखी, सरोधा, बारहमासी आदि मुख्य हैं।

भक्त भलराजजी

(लेखक—चौधरी श्रीशिवसिंहजी चोयल)

भलराजजी राजस्थान (मारवाड़) के बिलाड़ा परगनेके भावी ग्राममें वि० सं० १५९५ के लगभग जन्मे थे। बाल्यावस्थासे ही इनको ईश्वरभक्तिका आनन्द आ गया, जिसके फलस्वरूप भलराजजी मारवाड़के तत्कालीन भक्त कूबाजी कुम्हारके पक्के मित्र हो गये। जैसा कि प्रसिद्ध है—'झींथड़ामें कूबौ बसे, भावीमें भलराज।'

भलराजजी संत-महात्माओंका अतिथि-सत्कार बड़े प्रेमसे करते थे। ऐसी प्रसिद्धि है कि एक बार स्वयं भगवान् साधुका वेष धारणकर बहुत-से साधु-महात्माओंके साथ भलराजजीके घर पधारे। भलराजजी उन महात्माओंको अपनी 'हथाई' पर बड़े प्रेमपूर्वक बिठाकर घरमें गये और वे उनके लिये भोजनकी व्यवस्था करने लगे। किंतु घरमें अनाज नहीं था और न पासमें पैसा (रुपये) ही। ऐसी विकट परिस्थितिमें अपना कर्तव्य निभाते हुए भलराजजीकी धर्मपत्नीने अपने पैरोंकी कड़ियाँ (चाँदीका गहना) निकालकर उन्हें दे दीं। भक्त भलराजजीने अपनी

धर्मपत्नीकी कड़ियाँ बेचकर उनसे प्राप्त दामोंमें अनाज लाकर घरपर आये हुए संतोंको भोजन कराया। रातभर भलराजजीके यहाँ साधुओंकी सङ्गति होती रही और वापस जाते समय एक बूढ़े साधुने अपनी झोलीमेंसे मुट्ठीभर अनाज भलराजजीको दिया और कहा कि 'इस अनाजको अपने घरकी 'कोठी' में डाल दो और ऊपरसे ढक्कन दे दो। तुम्हारे घरमें अनाजकी कभी कमी नहीं आयेगी। इसकें अतिरिक्त तुम अपने घरके द्वार (दरवाजे) सदा खुले रखना—कभी चोरी नहीं होगी।'

एक बार कुछ धाड़ायतों (लुटेरों) ने भावीपर हमला बोलकर लूट-मार आरम्भ कर दी। जब भक्त भलराजजीके घरमें लुटेरे घुसे, तब वे सब अन्धे हो गये। वे बड़ी कठिनाईसे घरके बाहर निकल पाये। उन्होंने लूटा हुआ सारा माल वापस लौटा दिया और भावीमें लूट-मार न करनेकी शपथ ले ली। भलराजजीके वंशज आज भी जिन घरोंमें रहते आये हैं, उनको 'अड़ियाँवाले घर' कहते हैं—जिसका अर्थ बिना किंवाड़के घर हैं।

भलराजजी भगवान् श्रीकृष्णके परम भक्त थे। इसी कारण उन्होंने अपने घरके पास ही चारभुजाजीका एक मन्दिर बनवाया, जो आज भी विद्यमान है। इस मन्दिरका जीर्णोद्धार संवत् १९९६ में हुआ।

सौ वर्षकी आयु भोगकर संवत् १६९५ के माघकी शुक्ला पञ्चमीको भावीके तालाबकी पोलपर इन्होंने जीतेजी समाधि ले ली थी। भलराजजीके धार्मिक कृत्योंकी प्रशंसामें निम्नलिखित पद्य प्रचलित है—

'अठी गंगा उठी जमुना, बीचे धरम री पाल।
'केवल कूबो' यँ कहे, भावी में भलराज॥'

ऐसे भक्त संसारमें बिरले ही होते हैं।

प्रेमी भक्त गणेशनाथजी

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(नारदपुराण १। ४१। १५)

छत्रपति शिवाजी महाराजके समयकी बात है। मध्य-प्रदेशके बालाघाट जिलेमें उज्जैनीके पास एक छोटे ग्राममें गणेशनाथका जन्म हुआ। यह कुल भगवान्का भक्त था। माता-पिता भगवान्की पूजा करते और भगवन्नामका कीर्तन करते थे। बचपनसे ही गणेशनाथमें भक्तिके संस्कार पड़े। माता उन्हें प्रोत्साहित करती और वे तुतलाते हुए भगवान्का नाम ले-लेकर नाचते। पिताने भी उन्हें संसारके विषयोंमें लगनेकी शिक्षा देनेके बदले भगवान्का माहात्म्य ही सुनाया था। धन्य हैं वे माता-पिता, जो अपने बालकको विषतुल्य विषय-भोगोंमें नहीं लगाते, बल्कि उसे भगवान्के पावन चरणोंमें लगनेकी प्रेरणा देते हैं। पिता-मातासे गणेशनाथने भगवन्नाम-कीर्तनका प्रेम और वैराग्यका संस्कार पैतृक धनके रूपमें पाया।

माता-पिता गणेशनाथकी युवावस्था प्रारम्भ होनेसे पूर्व ही परलोकवासी हो गये थे। घरमें अकेले गणेशनाथ रह गये। किंतु उन्हें अब चिन्ता क्या ? हरिनामका रस उन्हें मिल चुका था। कामिनी-काञ्चनका माया-जाल उनके चित्तको कभी आकर्षित नहीं कर सका। वे तो अब सत्सङ्ग और अखण्ड भजनके लिये उत्सुक हो उठे। उन्होंने एक लँगोटी लगा ली। जाड़ा हो, गरमी हो या वर्षा हो, अब उनको दूसरे किसी वस्त्रसे काम नहीं था। वे भगवान्का नाम-कीर्तन करते, पद गाते आनन्दमग्न हो नृत्य करने लगते थे। धीरे-धीरे वैराग्य बढ़ता ही गया। दिनभर जंगलमें जाकर एकान्तमें उच्चस्वरसे नाम-कीर्तन करते और रात्रिको घर लौट आते। रातको गाँवके लोगोंको भगवान्की कथा सुनाते। अन्तमें गाँव छोड़कर ये पण्ढरपुर चले आये और वहीं भजन करने लगे।

एक बार छत्रपति शिवाजी महाराज पण्ढरपुर पधारे। पण्ढरपुरमें उन दिनों अपने वैराग्य तथा संकीर्तन-प्रेमके कारण साधु गणेशनाथ प्रसिद्ध हो चुके थे। शिवाजी महाराज इनके दर्शन करने गये। उस समय ये कीर्तन

करते हुए नृत्य कर रहे थे। बहुत रात बीत गयी, पर इन्हें तो शरीरका पता ही नहीं था। छत्रपति चुपचाप खड़े रहे। जब कीर्तन समाप्त हुआ, तब शिवाजीने इनके चरणोंमें मुकुट रखकर अपने खीमेंमें रात्रि-विश्राम करनेकी इनसे प्रार्थना की। भक्त बड़े संकोचमें पड़ गये। अनेक प्रकारसे उन्होंने अस्वीकार करना चाहा, पर शिवाजी महाराज आग्रह करते ही गये। अन्तमें उनकी प्रार्थना स्वीकार करके गणेशनाथ बहुत-से कंकड़ चुनकर अपने वस्त्रमें बाँधने लगे। छत्रपतिने आश्चर्यसे पूछा—'इनका क्या होगा?' आपने कहा—'ये भगवान्‌का स्मरण दिलायेंगे।'

राजशिविरमें गणेशनाथजीके सत्कारके लिये सब प्रकारकी उत्तम व्यवस्था की गयी। सुन्दर-सुन्दर पकवान सोनेके थालमें सजाये गये, सुगन्धित जलसे उनके चरण धोये स्वयं छत्रपतिने, इत्र आदि उपस्थित किया गया और स्वर्णके पलँगपर कोमल गद्देके ऊपर फूल बिछाये गये उनको सुलानेके लिये। गणेशनाथने यह सब देखा तो सन्न रह गये। जैसे कोई शेर गायके छोटे बछड़ेको उठाकर अपनी माँदमें ले आये और वह बेचारा बछड़ा भयके मारे भागनेका रास्ता न पा सके, यही दशा गणेशनाथकी हो गयी। उन्हें भोगके ये सारे पदार्थ जलती हुई अग्निके समान जान पड़ते थे। किसी प्रकार थोड़ा-सा कुछ खाकर वे विश्राम करने गये। उस फूल-बिछी शय्यापर अपने साथ लायी बड़ी गठरीके कंकड़ोंको बिछाकर उनपर बैठ गये। वे रोते-रोते कहते जाते थे—'पाण्डुरंग! मेरे स्वामी! तुमने मुझे कहाँ लाकर डाल दिया ? अवश्य मेरे कपटी हृदयमें इन भोगोंके प्रति कहीं कुछ आसक्ति थी, तभी तो तुमने मुझे यहाँ भेजा है। विट्ठल! मुझे ये पदार्थ नरककी यन्त्रणा-जैसे जान पड़ते हैं। मुझे तो तुम्हारा ही स्मरण चाहिये।'

किसी प्रकार रात बीती। सबेरे शिवाजी महाराजने आकर प्रणाम करके पूछा—'महाराज! रात्रि सुखसे तो व्यतीत हुई?'

गणेशनाथजीने उत्तर दिया—'जो क्षण विट्ठलका नाम लेनेमें बीते, वही सफल है। आजकी रात हरिनाम लेनेमें व्यतीत हुई, अतः वह सफल हुई।' शिवाजीने जब संतके भाव सुने, तब उनके नेत्रोंसे आँसू बहने लगे। साधुको आग्रह करके अपने यहाँ ले आनेका उन्हें पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने चरणोंमें गिरकर क्षमा माँगी।

साधकके लिये एक सबसे बड़ा विघ्न है—लोक-प्रख्याति। प्रतिष्ठाके कारण जितना शीघ्र साधक मोहमें पड़ता है, उतनी शीघ्रतासे पतन दूसरे किसी विघ्नसे नहीं होता। अतएव साधकको सदा सावधान होकर शूकरी-विष्ठाके समान प्रतिष्ठासे दूर रहना चाहिये। गणेशनाथजीने देखा कि पण्ढरपुरमें अब लोग मुझे जान गये हैं, अब मनुष्योंकी भीड़ मेरे पास एकत्र होने लगी है, तब वे घोर जंगलमें चले गये। परंतु फूल खिलेगा तो सुगन्धि फैलेगी ही और उससे आकर्षित होकर भौंरे भी वहाँ एकत्र होंगे ही । गणेशनाथजीमें भगवान्‌का जो दिव्य अनुराग प्रकट हुआ था, उससे आकर्षित होकर भगवान्‌के प्रेमी भक्त वनमें भी उनके पास एकत्र होने लगे।

गणेशनाथजीका भगवत्प्रेम ऐसा था कि वे जिसे भी छू देते थे, वही उन्मत्तकी भाँति नाचने लगता था। वही भगवन्नामका कीर्तन करने लगता था। श्रीचैतन्य महाप्रभुने अपने भक्तोंसे एक बार कहा था—'सच्चा भगवद्भक्त वह है, जिसके पास जाते ही दूसरे इच्छा न होनेपर भी विवशकी भाँति अपने-आप भगवान्‌का नाम लेने लगें।' गणेशनाथजी इसी प्रकारके भगवान्‌के भक्त थे।

श्रीगणेशनाथजीके प्रेमकी महिमा अपार है। वे जब भगवान्‌के प्रेममें उन्मत्त होकर 'पाण्डुरंग विट्ठल, पाण्डुरंग विट्ठल! विठोबा रुक्माई, पाण्डुरंग विट्ठल!' कहकर नृत्य करने लगते थे, तब वहाँके सब मनुष्य उनके साथ कीर्तन करनेको जैसे विवश हो जाते थे।

ऐसे भगवद्भक्त तो नित्य भगवान्‌को प्राप्त हैं । वे भगवन्मय हैं। उनके स्मरणसे, उनके चरितका हृदयमें चिन्तन करनेसे मनुष्यके पाप-ताप नष्ट हो जाते हैं और मनुष्य हृदयमें भगवान्‌का अनुराग जाग्रत् होता है।

रामभक्त मोरोपंत

मोरोपंतके जीवनकालमें महाराष्ट्रके आळन्दी आदि क्षेत्रोंमें भगवत्प्रेमी संतोंके द्वारा भागवतधर्मका प्रचार हो रहा था। बड़े-बड़े रसिक और भगवद्भक्त उस समय विद्यमान थे। पंतकी रसवती वाणीने हिंदूधर्मके पुनरुत्थानमें महान् योग दिया। महाकवि मोरोपंतका जन्म १६५१ शाकेमें पन्हालगढ़में हुआ था। वे पराड़कर ब्राह्मण थे, उनके मूलपुरुष सोनोपंत थे, मोरोपंतके पिताका नाम रामाजी पंत था। मोरोपंतकी माताका नाम लक्ष्मीबाई था, माता-पिताके आचार-विचार और धार्मिक भावनाका मोरोपंतके चरित्र-विकासपर बड़ा प्रभाव पड़ा था। कुल परम पवित्र था, भगवान्‌के सगुणरूपका चिन्तन करनेवाले महाभागवतोंने समय-समयपर उसमें जन्म लिया था। मोरोपंतके प्रारम्भिक तेईस-चौबीस साल पन्हालगढ़में ही व्यतीत हुए। उसके बाद वे सपरिवार बारामती चले आये। उनका बाल्यावस्थासे ही रामभक्ति और काव्यज्ञानमें अनुराग था। शास्त्र, साहित्य और काव्य-ग्रन्थोंकी प्रतिलिपि करनेमें उनकी विशेष अभिरुचि थी; जिस किसी भी ग्रन्थमें भगवान्‌की लीला-कथा मिल जाती, उसे वे अपना प्राणधन समझते थे। उनका गृहस्थ-जीवन परम सुखमय और सरस था। मोरोपंतकी स्त्री रमाबाई अत्यन्त सती-साध्वी, सुशीला और सद्‌गुण-सम्पन्ना थीं।

मोरोपंतका स्वभाव प्रेममय, कोमल और मधुर था। मोरोपंतका परिवार बहुत बड़ा था, उनके-ऐसे प्रेमी, सात्त्विक वृत्ति-सम्पन्न पुरुष ही उतने बड़े कुटुम्बका भरण-पोषण कर सकते थे। उन्होंने एक बार काशी-यात्रा की थी; काशीके पण्डितोंने उनकी कविता और भगवद्भक्तिको मान्यता दी, उनकी लोकप्रियता बढ़ गयी।

मोरोपंतका काव्य-जीवन परम सरल था, उसमें भक्तिका सरस विलास था। उन्होंने अखण्डरूपसे ईश्वर-उपासना की, भगवत्-महिमासे अपने काव्य-साहित्यकी श्री-वृद्धि की। पंत पहले भगवद्भक्त और बादमें कवि स्वीकार किये जाते हैं, भगवद्भक्त कवि ही भगवान्‌की महिमाका विस्तार करते हैं। रामायण, महाभारत और भागवतरूप कल्पलताओंकी छायामें मोरोपंतने आजीवन विश्राम किया। वे सरस बादलकी तरह इन महासागरोंसे अमृत खींचकर काव्य-रसिकोंको जीवन-दान किया करते थे। इन तीन ग्रन्थोंपर उन्होंने अपनी काव्य-सम्पत्ति निछावर कर दी। मोरोपंतने भगवान् और उनके भक्तोंका चरित्र गाया। मराठीमें उन्होंने लाखों पदोंकी रचना की, रामसाहित्यका सागर उँड़ेल दिया। जनताको सीधी-सादी भाषामें भगवत्सेवाका मर्म बताया। वे भगवद्भक्त और कर्मनिष्ठ समानरूपसे थे। वे सगुणोपासक और अद्वैतवादी दोनों थे। विनयके तो मूर्त्तरूप थे। स्वयं संत थे, पर संतों और भगवद्भक्तोंकी चरण-धूलिमें उनकी अनुपम निष्ठा थी; कवीश्वर थे, पर अपने-आपको कवियोंका सेवक मानते थे। महाबुद्धिमान् थे, पर अपने-आपको मतिमन्द कहनेमें ही गौरवकी अनुभूति करते थे। बड़े पुण्यशाली थे, पर अपने-आपको सदा अति लघु समझते थे। वे परमार्थके बहुत बड़े साधक थे; हरिभक्ति-रसायनसे उन्होंने अपना ही नहीं, अनेक जीवोंका भवरोग समाप्त कर दिया।

मोरोपंतका जीवन अलौकिक घटनाओं और चमत्कारोंसे परिपूर्ण था। उनके उपास्य भगवान् श्रीराम थे। पहले वे शालग्रामकी पूजा करते थे। अहमदनगरमें एक रामभक्त महात्मा थे। उनके पास 'राम-पञ्चायतन' मूर्ति थी। भगवान् श्रीरामने उन्हें रातमें स्वप्नमें आदेश दिया कि 'मूर्तिकी पूजाके अधिकारी बारामती-निवासी परम भक्त मोरोपंत हैं, उनके पास मूर्ति पहुँचा दी जाय।' वे भगवत्कृपा-प्रसादके कितने बड़े अधिकारी थे!

शाके १७१६ चैतकी रामनवमीको उन्होंने जमकर श्रीरामका जन्मोत्सव किया। एकादशीको उन्हें ज्वर आया, धीरे-धीरे बढ़ने लगा। पंतके प्रेमीजन तथा परिवारके लोग एकत्र हो गये। मङ्गलवार था, चैत्री पूर्णिमाके शुभ अवसरपर मरणासन्न पंतने अत्यन्त हृदय-द्रावक काव्य-भाषामें गोमाता, भूमाता, तुलसी, गङ्गा-माता और राम-नाम तथा आप्त और भक्तजनोंका स्मरण किया; बस, कुछ ही समयमें उनके प्राण देहसे बाहर हो गये। उनका मरण तत्कालीन मराठी साहित्यके सौभाग्य-सूर्यके लिये कलङ्क बनकर आया। जनताकी ओरसे उनके भक्त पाण्डुरंग नाइकने एक विशाल राम-मन्दिरका निर्माण उनके शुभ स्मरणके प्रतीकस्वरूप कराया। मोरोपंत अपने समयकी बहुत बड़ी काव्य-शक्ति थे, भक्तिके प्रचारक थे, रामके महान् भक्त थे।

रसिकभक्त रामजोशी

रसिकभक्त रामजोशी भगवान् श्रीकृष्णके परम भक्त थे। इन्होंने अपने जीवन-कालमें महाराष्ट्रको व्रज-क्षेत्रमें रूपान्तरित कर दिया था, इनके सगुण-लीला-गानसे पण्ढरपुर वृन्दावन हो चला था। इनके समकालीन महाकवि मोरोपंतने इनके काव्यको पूर्ण मान्यता प्रदान की थी और वे इनके सम्पर्कको अपने लिये परम पुण्यमय मानते थे। मोरोपंतके मित्रमण्डलमें रामजोशीके समान बुद्धिमान् और कोई कवि न था।

रामजोशीका जीवन-चरित्र अत्यन्त मधुर और सरस है। इनका जन्म शाके १६८४ में शोलापुरमें हुआ था। इनके पिता जगन्नाथ जोशी बहुत बड़े धर्मनिष्ठ थे। राम-जोशीका पालन-पोषण इनके ज्येष्ठ भ्राता मुद्गल भट्टकी देख-रेखमें हुआ था। मुद्गल भट्ट बहुत बड़े विद्वान्, शास्त्री और पौराणिक थे। उन्होंने 'यदुवंश' नामक काव्यकी भी रचना की थी। रामजोशीके हृदयमें भगवान् श्रीकृष्णकी किशोरलीलाओंके प्रति दृढ़ अनुराग था, ये उनका बड़ी श्रद्धा और भक्तिसे स्मरण किया करते थे। बड़े भाईकी विद्वत्ताका उनपर अमित प्रभाव पड़ा था। उस समय महाराष्ट्रमें कुछ सामान्य कुलके ब्राह्मण और उनसे भी हीनकुलके लोग नाच-तमाशा किया करते थे। वे अधिकांश श्रीकृष्ण-लीलाका ही अभिनय जनताके सामने करते थे। रामजोशी तो जन्मजात श्रीकृष्ण-भक्त थे, कवित्व-शक्ति उनकी अपार थी, वे लीलामण्डलीमें सम्मिलित होकर भगवान्‌के सरस चरित्र-अभिनयपर लावनीकी रचना करते थे और बड़े-बड़े राजा-महाराजाओंकी सभामें तथा प्रसिद्ध मन्दिरोंमें स्वयं हाथमें डफ लेकर प्रमत्त होकर गाया करते थे। यों सारा-का-सारा महाराष्ट्र उनकी लावनीके रस-सागरमें सराबोर हो उठा, पर मुद्गल भट्टको रामजोशीका यह कार्य उचित न लगा। वे उन्हें महापौराणिक, शास्त्री और लब्धप्रतिष्ठ कविके रूपमें देखना चाहते थे; पर रँगीले रामजोशीको अपनी जीवन-प्रगतिसे पूर्ण सन्तोष था। मुद्गल भट्टने कुलप्रतिष्ठाके भयसे उनको घरसे निकाल दिया। अब तो रामजोशी पूर्ण स्वतन्त्र हो चले, लीला-मण्डलीके साथ सारे महाराष्ट्रमें घूम-घूमकर इन्होंने श्यामसुन्दरकी रँगीली भक्तिका प्रचार किया, आबाल-वयोवृद्धकी रसनापर श्रीकृष्णलीलाका वाणीरूप विलास करने लगा।

महाकवि मोरोपंत उनकी सरस वाणीसे बहुत प्रभावित थे, उनकी रसिकताकी प्रसिद्धिसे मोरोपंत उनसे मिलनेके लिये विवश हो गये; कितनी विशालहृदयता थी रामभक्त मोरोपंतकी! उन्होंने पत्रमें लिखा था—'शोलापुरके राजश्री कविवर रामजोशीको साष्टाङ्ग नमस्कार। भेंट कीजिये, ऐसी विनती है।' एक दिन दोनोंके मिलनका शुभ दिन आ ही गया। रामजोशी देवमन्दिरमें लावनी गा रहे थे, झूम-झूमकर कविताकी भाषामें श्रीराधा-कृष्णके लीला-सौन्दर्यका चित्र उतार रहे थे, दर्शकोंके सरस नयनोंमें कालिन्दीका चल अञ्चल आन्दोलित था। विमल नवनीतोपम शारदीय ज्योत्स्नामें धोयी बालुकापर श्रीकृष्ण रास कर रहे थे। सैकड़ों भक्तजन भगवत्-माधुर्यमें सम्मोहित होकर कीर्तन कर रहे थे। जनता अचानक चकित हो उठी, मन्दिरके उस दरवाजेपर गौरवर्णके महापुरुष खड़े होकर रामजोशीका कीर्तन सुन रहे थे, भीड़में खलबली मच गयी। 'महाकवि मोरोपंत!' लोगोंकी रसनापर 'महाकवि मोरोपंत' की ही वाणी थी; महाकवि जोशीके कीर्तन सुननेके लिये अपने-आप चले आये। रामजोशीको आलिङ्गन करनेके लिये उनके रूपमें मानो साक्षात् रामभक्ति ही चली आयी। मोरोपंतने रामजोशीका सुन्दर रूप देखा, कमलके समान नेत्रोंमें नन्दनन्दनके चरणारविन्द-मकरन्दकी गङ्गा थी, उनके सौन्दर्यकी कालिन्दी थी, भक्तिकी सरस्वती थी। मोरोपंत अपने-आपको सम्हाल न सके, वे आगे बढ़ गये; महाकविने रामजोशीका आलिङ्गन किया। उन्होंने माङ्गलिक वचन कहे कि 'ऐसी अमृतमयी मधुर वाणी जनताको विषय-कीचड़से बाहर निकालनेमें समर्थ है। तुम्हारा जन्म पृथ्वीपर सार्थक हो गया। तुम्हारी विद्वत्ता असाधारण कोटिकी है। तुम कविवर हो।' रामजोशीने विनम्रतापूर्वक रामभक्तकी चरण-धूलि मस्तकपर चढ़ा ली। भरी सभामें डफ तोड़ डाला, लीला-मण्डलीका साथ छोड़ दिया और श्रीकृष्णभक्तिके

रंगमें सराबोर होकर श्रीकृष्ण-लीलाकी माधुरीमें महाराष्ट्रको संप्लावित कर दिया। 'रंगीले' और 'तमाशगीर' रामजोशी पूर्णरूपसे हरिदास हो गये।

मुद्गल भट्ट मोरोपंत और रामजोशीके मिलनसे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने कुलका परम पवित्र भाग्य समझा कि मोरोपंत-जैसे महाकविने रामजोशीको गले लगाया। वे अपने छोटे भाईसे मिलने निकल पड़े, उस समय रामजोशी शोलापुरमें ही व्यासगद्दीपर बैठकर पुराणकी कथा कह रहे थे। दोनों भाई एक-दूसरेसे प्रेमपूर्वक मिले, रामजोशीको मुद्गल भट्ट आदरपूर्वक घर ले आये।

रामजोशीका स्वभाव अत्यन्त सरल और उदार था। इनकी वाणीमें विलक्षण आकर्षण था। पण्ढरपुर, तुलजापुर, पूना और शोलापुर आदि स्थानोंमें इन्होंने घूम-घूमकर लोगोंको भगवान्‌की लीला-सुधाका पान कराया। इनको साहित्य-शास्त्रका अच्छा ज्ञान था। इन्होंने भगवान्‌के भजन और कीर्तनमें ही जीवनका साफल्य माना। मानव-देह मिलनेका फल श्रीपाण्डुरंगकी सेवा है, यह इन्होंने अपनी रचनामें अनेक स्थलोंपर कहा है। शाके १७२४ में इन्होंने परमधामकी यात्रा की। ये उच्चकोटिके रसिक, कवि, लीलागायक और भक्त थे।

भागवत महीपति

भागवत कवि महीपतिका जन्म ताहराबादमें सन् १७१५ ई० में हुआ था। उनके पिताका नाम दादोपंत था, वे मुगलराज्यके एक कर्मचारी थे। दादोपंत ऋग्वेदी वासिष्ठगोत्री ब्राह्मण थे। महीपति बाल्यावस्थासे ही सद्‌बुद्धिसम्पन्न थे, वे सुशील और सदाचारी तथा सुन्दर थे। उनका स्वभाव अति विनम्र था। बचपनसे ही उनके हृदयमें भक्तिकी लहर दौड़ा करती थी, वे अपने पिताके भक्तिभाव और आचार-विचारसे विशेष प्रभावित थे। पाँच वर्षकी ही अवस्थामें उन्होंने पण्ढरपुरके श्रीपाण्डुरंगके दर्शनकी इच्छा प्रकट की थी। उन्हें वहाँ जानेका सौभाग्य प्राप्त हुआ भगवान्‌के दर्शन और पवित्र तीर्थक्षेत्रकी यात्रामें उन्हें अमित रस मिला।

वे बड़े होनेपर कभी-कभी ताहराबादके मुसलमान जागीरदारकी कचहरीमें जाया करते थे। एक बार उन्हें स्नान, भजन, ध्यान और पूजनमें कुछ विलम्ब हो गया; जागीरदारके सिपाही बुलाने आये। उनके व्यङ्ग कसनेपर महीपतिने कचहरीमें जाना छोड़ दिया। वे भगवान्‌को ही सब कुछ समझने लगे।

संत तुकाराम उनके दीक्षागुरु थे। उन्होंने महीपतिको स्वप्नमें दीक्षित किया था। महीपतिने उनके आदेशसे संतों और भक्तोंका चरित्र-वर्णन किया। उनकी कृपासे महीपतिकी काव्य-स्फूर्ति बढ़ गयी। महीपतिने अपने ग्रन्थोंमें स्थान-स्थानपर तुकारामकी महिमा गायी है, उनके प्रति आभार और श्रद्धाके भाव प्रकट किये हैं। महीपतिने स्वीकार किया है कि गुरु तुकाराम और रुक्मिणीनाथकी कृपा, प्रसाद और प्रेरणासे ही मेरे ग्रन्थ पूर्ण हुए। महीपतिने सैकड़ों संत-चरित्र लिखे। उन्होंने ३७ सालकी अवस्थामें 'भक्त-विजय' ग्रन्थ पूरा किया। संतोंके चमत्कारपूर्ण जीवनमें उनकी बड़ी आस्था और श्रद्धा थी। अपनी रचनाओंमें उन्होंने भक्ति-रसका पारावार भर दिया है। उनके अभंग, ओवी और पद अत्यन्त सरस हैं। उनका विश्वास था कि मैं जो कुछ भी लिखता हूँ, वह सब पाण्डुरंगकी ही कृपाका फल है। उन्होंने किसी स्थलपर भी अपना अहङ्कार नहीं प्रकट किया। उनके 'संतलीलामृत' और 'भक्तलीलामृत' ग्रन्थ अत्यन्त भक्तिपूर्ण और सरस हैं।

वे भक्तिको भगवान्‌का ही स्वरूप मानते थे। उनका दृढ़ मत था कि भक्तिपूर्वक 'भक्त-विजय' ग्रन्थका श्रवण भगवान्‌के साक्षात्कारका अमूल्य उपाय है। वे भगवान्‌की कृपाशक्तिके पूर्ण और अविचल विश्वासी थे। उनकी उक्ति है कि भगवान् अपने भक्तोंके चरित्रसे बहुत प्रेम करते हैं, भवसागरसे पार उतरनेमें भक्तचरित्र अमोघ सहायता करता है। उनकी भक्ति विट्ठलमें अडिग थी। ७५ सालकी अवस्थामें सन् १७९० ई० में उन्होंने समाधि ली।

महाभागवत ज्योतिपंत

अठारहवीं शताब्दीमें महाराष्ट्रके सातारा जिलेके बिटे नामक गाँवमें गोपालपंत नामक एक गरीब ब्राह्मण रहते थे। गोपालपंत विद्वान् थे और पढ़ानेमें बड़े पटु थे। विद्यार्थियोंको पढ़ाकर वे जीवन-निर्वाह करते थे। गोपालके ज्योतिपंत नामका एक पुत्र था। पिताने बहुत प्रयत्न किया, बहुत समझाया और मारा-पीटा; पर बीस वर्षकी अवस्थातक ज्योतिपंतको राम-नाम लेना छोड़कर कोई विद्या नहीं आयी। गायत्री-मन्त्रतक उन्हें याद नहीं हुआ। विद्वान् पिताको बड़ा दुःख हुआ। मन्दबुद्धि पुत्रकी अपेक्षा पुत्रहीन रहना उन्हें स्वीकार था। एक दिन क्रोधमें आकर उन्होंने पुत्रको घरसे निकाल दिया और कह दिया कि बिना विद्या पढ़े तुम कभी घरमें न आना।

घरसे निकाले जानेपर ज्योतिपंत अपने मित्रोंके पास पहुँचे। सब लड़कोंको लेकर वे वनमें गये। वहाँ एक गणेशजीका पुराना मन्दिर था। सरलहृदय ज्योतिपंतने कहा—'विद्याके दाता गणेशजी तो मिल गये। अब इनसे हम सारी विद्याएँ माँग लेंगे। ये दयामय क्या इतनी भी दया नहीं करेंगे?' सब लड़कोंसे उन्होंने वहीं बैठकर गणेशजीकी स्तुति करनेको कहा। लड़के थोड़ी देरमें ऊब गये। उन्हें भय हुआ कि देर होनेपर घरपर माता-पिता डाँटेंगे। वे सब घर लौटनेको तैयार हो गये। ज्योतिपंतने कहा—'भाई! तुमलोग भी यहाँ रहते तो तुम्हारा ही लाभ था। मैं तो जबतक स्वयं गणेशजी दर्शन न देंगे, तबतक यहाँसे नहीं हटूँगा। तुमलोगोंको जाना ही हो तो मन्दिरका दरवाजा बंद करके उसे चूने-मिट्टीसे लीप दो, जिसमें कोई बाहरका आदमी मुझे न देखे। गाँवमें मेरे विषयमें किसीसे कुछ कहना मत।' लड़कोंने इसे भी एक खेल समझा। ज्योतिपंत मन्दिरमें रह गये। द्वार बंद करके लड़कोंने चूने-मिट्टीसे उसे भलीभाँति लीप दिया और सब घर लौट गये।

ज्योतिपंतकी माताको जब पता लगा कि मेरे पुत्रको पतिदेवने घरसे निकाल दिया है तब वे बहुत दुःखी हुईं। 'पता नहीं लड़का कहाँ होगा। खाया-पीया भी नहीं, उसकी क्या दशा होगी?' आदि सोचकर वे रोने लगीं। क्रोध उतरनेपर गोपालपंतको भी पश्चात्ताप हुआ। वे पुत्रको खोजने निकले। जब ज्योतिपंतका कोई पता न लगा, तब माता-पिताके क्लेशका पार नहीं रहा। पुत्र-वियोगमें दिन-रात वे रोते रहते थे। घरमें चूल्हा नहीं जलता था। इस प्रकार छः दिन बीत गये। छठी रातको शिवजीने स्वप्नमें गोपालपंतको आश्वासन दिया—'लड़केके लिये चिन्ता मत करो। तुम्हारा पुत्र यशस्वी और भगवान्का भक्त होगा।'

मन्दिरमें बंद ज्योतिपंत छः दिनोंतक गणेशजीकी प्रार्थना करते रहे। उन्हें भूख-प्यास या निद्राका भान ही नहीं हुआ। सातवें दिन चतुर्भुज गणेशजीने दर्शन देकर वरदान माँगनेको कहा। ज्योतिपंत बोले—'भगवन्! पहले तो मेरी विद्यालाभकी इच्छा थी, किंतु अब तो मैं केवल तत्त्वज्ञान और भगवान्की निष्काम प्रेमाभक्ति चाहता हूँ।'

श्रीगणेशजी बोले—'तुम्हारी पहली इच्छाके अनुसार विद्या तो तुम्हें अभी मिल जायगी, पर दूसरा मनोरथ कुछ दिनों बाद पूर्ण होगा। काशी जानेपर भगवान् व्यास तुम्हें दर्शन देंगे और उन्हींसे तुम्हें तत्त्वज्ञान और भक्ति प्राप्त होगी। कोई कार्य हो तो मुझे स्मरण करना। मैं आ जाऊँगा।' भगवान् गणेशजीने ज्योतिपंतकी जीभपर 'ॐ' लिख दिया और अदृश्य हो गये। ज्योतिपंतको तत्काल सभी विद्याएँ प्राप्त हो गयीं। वहाँसे वे घर आये। माता-पिता तथा दूसरे लोगोंने सहसा उन्हें विद्वान् हुआ देखकर उनकी बातोंका विश्वास किया। जो लड़के जंगलसे लौट आये थे, वे अब पछताने लगे।

ज्योतिपंतके मामा महीपति पूनामें पेशवाके प्रधान कार्यकर्ता थे। माताने लड़केको काम सीखनेके लिये मामाके पास भेज दिया। धनी लोग गरीब सम्बन्धियोंकी उपेक्षा ही करते हैं। मामाने चार रुपये महीनेकी नौकरीपर ज्योतिपंतको रख लिया। दफ्तरमें हिसाब-किताबका काम बहुत बाकी पड़ा था। पेशवाने तीन दिनोंमें सब बहीखाते ठीक करनेका कड़ा आदेश दे दिया था। काम इतना था कि दफ्तरके सब कर्मचारी मिलकर भी एक महीनेसे कम समयमें उसे पूरा नहीं कर सकते थे। पेशवाकी

आज्ञापर बोलनेका किसीको साहस नहीं था। महीपति बड़े चिन्तित थे। ज्योतिपंतने उनसे कहा—'मामाजी! यदि आप मेरी बात मानें तो तीन दिनोंमें सब बहीखाते ठीक हो जायँगे। एक एकान्त कमरेमें आप बहीखाते, कागज, कलम-दावात, बैठनेके लिये गद्दा-तकिया, रोशनी और शुद्ध जल तथा फलाहार रखकर कमरा बंद कर दें। मैं जबतक न कहूँ, द्वार न खोलें। मैं तीन दिनोंमें सब काम पूरा कर दूँगा।'

लोगोंने इस बातपर बड़ा मजाक किया, किंतु ज्योतिपंतकी दृढ़ता देखकर चिन्तातुर महीपतिने सब व्यवस्था कर दी। कमरेका द्वार बंद हो जानेपर ज्योतिपंतने भगवान् श्रीगणेशजीका पूजन करके उनका स्मरण किया। भगवान् गणपति तुरंत प्रकट हो गये। ज्योतिपंतने कठिनाई बतायी। हाथमें कलम लेकर वे भवानीनन्दन स्वयं लिखने बैठ गये। तीन दिनोंमें समस्त बहीखाता ठीक-ठीक लिखकर वे अन्तर्धान हो गये।

लोगोंने महीपतिको समझाया—'अनुभवहीन बालकपर विश्वास करना ठीक नहीं हुआ। वह भूख-प्यासके मारे मर गया तो पाप होगा। आपकी बहिन दु:खी होकर आपको शाप देगी।' महीपतिको भी बात जँच गयी। तीसरे दिन वे द्वार खोलने जा रहे थे कि भीतरसे ज्योतिपंतने पुकारा। द्वार खुलनेपर सब लोग दंग रह गये। सारा बहीखाता पूर्णरूपसे लिखकर तैयार रखा था।

पेशवाको अनुमान नहीं था कि काम इतना अधिक है। जब बहीखाते उनके सामने दरबारमें आये, तब उन्हें आश्चर्य हुआ कि इतना काम तीन दिनोंमें हुआ कैसे। अक्षर इतने सुन्दर थे, जिनकी कोई तुलना ही नहीं। उन्होंने काम करनेवालेको उपस्थित करनेकी आज्ञा दी। ज्योतिपंत पेशवाके सामने लाये गये। इन्होंने नम्रतापूर्वक अपना परिचय दिया और सब बातें सच-सच बता दीं कि किस प्रकार भगवान् गणेशजीने उनपर कृपा की। ज्योतिपंतपर श्रीगणेशजीकी कृपा समझकर पेशवा बड़े प्रसन्न हुए। अपने हाथसे राजकीय मुहर एवं अधिकारकी पोशाक देकर उन्हें पुरंदर किलेकी रक्षाका भार सौंप दिया।

अब ज्योतिपंतका सम्मान महीपतिसे भी बढ़ गया। पुरंदर किलेमें ही ज्योतिपंतने अपने माता-पिताको भी बुला लिया। उत्तरी भारतपर पठानोंके आक्रमणके समय जब पेशवाने सेना लेकर उनका सामना किया, तब ज्योतिपंत भी उनके साथ थे। एक रात स्वप्नमें ज्योतिपंतको आदेश हुआ—'अब तुम्हें भगवान्‌की विशेष दया प्राप्त होगी। तुम काशी जाओ।' प्रात:काल ही उन्होंने पेशवाकी नौकरीसे सदाके लिये छुट्टी ले ली। अपनी सम्पत्ति गरीबोंको बाँट दी और एक ब्राह्मणको साथ लेकर वे काशीको चल पड़े।

काशी आकर ज्योतिपंत मणिकर्णिकाघाटपर दोपहरतक गङ्गाजीमें कमरभर जलमें खड़े-खड़े मन्त्र-जप करते। इसके बाद मधुकरी माँगकर ले आते और भगवान्‌को अर्पण करके पा लेते। छ: महीने यह क्रम निर्विघ्न चला। छ: महीने बीतनेपर एक दिन ज्योतिपंत गङ्गाजीमें खड़े-खड़े जप कर रहे थे कि एक म्लेच्छने आकर उनपर पानीके छींटे डाल दिये। वे स्नान करके फिर जप करने लगे। ज्योतिपंतने कुछ आवेशसे कहा—'किसीके अनुष्ठानमें इस प्रकार बाधा डालना उचित नहीं।' म्लेच्छ यह सुनकर हँसने लगा। ज्योतिपंतने आश्चर्यसे देखा कि वह भगवान् व्यासके रूपमें बदल गया है। ज्योतिपंतने व्यासजीको प्रणाम किया। भगवान् व्यासने कहा—'तुम्हारा अनुष्ठान पूरा हो गया। आज रात तुम व्यास-मण्डपमें जाकर सो रहो। मैं वहाँ तुम्हें श्रीमद्भागवत दूँगा। उसके पारायणसे तुम्हें यथार्थ तत्त्वज्ञान तथा प्रेमाभक्तिकी प्राप्ति होगी।' द्वादशाक्षर मन्त्रके जपका उपदेश करके व्यासजी अन्तर्धान हो गये।

रातको ज्योतिपंत व्यास-मण्डपमें सोये। प्रात: उठनेपर सिरहाने श्रीमद्भागवतका पूरा ग्रन्थ उन्हें रखा हुआ मिला। अब वे प्रात: मणिकर्णिकामें स्नान करनेके पश्चात् व्यास-मण्डपमें बैठकर सायङ्कालतक भागवतपारायण करने लगे। एक दिन भगवान् शङ्कर ब्राह्मणका वेश बनाकर सामने खड़े होकर उनका पारायण सुनने लगे। भोलेबाबाके प्रभावसे ज्योतिपंतकी जिह्वा लड़खड़ा गयी। उनसे अस्पष्ट उच्चारण होने लगा। विनोदपूर्वक विश्वनाथजीने कहा—'पण्डित! रोज ऐसे ही पारायण करते हो क्या?'

ज्योतिपंतने बूढ़ेबाबाको पहचान लिया। वे उनके चरणोंमें गिर पड़े। शङ्करजीने कहा—'अब तुम्हारा

मनोरथ पूरा हो गया। मेरी कृपासे तुम्हें तत्त्वज्ञान और प्रेमाभक्ति दोनोंकी प्राप्ति हो गयी। अब तुम लोगोंको भजनके मार्गमें लगाकर उनका कल्याण करो।'

काशीमें ज्योतिपंतकी 'वे तत्त्वदर्शी एवं परम भगवद्भक्त हैं' यह प्रख्याति हो गयी। विद्वानोंने श्रीमद्भागवतके साथ उनको सिंहासनपर बैठाकर उनकी सवारी निकाली और उन्हें महाभागवतकी उपाधि प्रदान की। इसके बाद वे महाराष्ट्र लौट आये। जीवनभर जगह-जगह घूमकर वे भक्तिका प्रचार करते रहे। उनके बनवाये अनेक मन्दिर हैं। सं० १८४५ वि० में मार्गशीर्ष कृष्णा त्रयोदशीको उन्होंने यह नश्वर संसार छोड़ा।

मराठीमें ज्योतिपंतजीकी भक्ति-ज्ञान-वैराग्यपरक बहुत रचनाएँ हैं। उन्होंने ओवी छन्दमें पूरे श्रीमद्भागवतका अनुवाद भी किया था, पर वह अब मिलता नहीं।

रसिक भक्त अनन्तफंदी

प्रवरा नदीके परम पवित्र तटपर संगमनेरमें शाके १६६६ में अनन्तफंदीने जन्म लिया। वे यजुर्वेदी कौण्डिन्य-गोत्रीय देशस्थ ब्राह्मण थे। उनकी माता राऊबाई धर्मभीरु और भगवद्भक्तिसम्पन्ना थीं। अनन्तफंदीको बाल्यावस्थामें वे रामायण, महाभारत और भागवत सुनाया करती थीं। इसके परिणामस्वरूप अनन्तफंदीको श्रीकृष्णकी किशोर-लीलामें अभिरुचि हो गयी। वे सदा यमुना, वृन्दावन, राधा, श्रीकृष्ण, ग्वालबाल और गोपियोंकी ही प्रेममयी परम पवित्र लीलाओंका ध्यान किया करते थे।

संगमनेरमें ही भवानी बोवा नामक एक प्रसिद्ध महात्मा औलियावृत्तिसे रहते थे। अनन्तफंदी उनकी कुटीपर जाया करते थे। संतके प्रसादने उन्हें कवित्व-स्फूर्ति प्रदान की। उन्होंने श्रीकृष्णकी किशोरलीला गानेमें ही कवित्वशक्तिका सदुपयोग समझा। वे स्वभावसे बड़े रसिक, रँगीले और महत्त्वाकाङ्क्षी थे, श्रीकृष्णके सरस चरित्र-गानने उनकी पवित्र रसिकताका सौन्दर्य विशेषरूपसे बढ़ा दिया। महाराष्ट्रके आबाल-युवा-वृद्ध सब-के-सब श्रीकृष्ण-लीलाका रस लेने लगे। अनन्तफंदी एक बहुत बड़े कीर्तनकारके रूपमें प्रसिद्ध हुए। अपनी तरुणावस्थामें प्रसिद्ध रसिक कवि रामजोशीकी तरह ही वे श्रीराधा-कृष्णके रसपूर्ण शृङ्गारका वर्णन करने लगे। उस समय श्रीकृष्ण-लीलासम्बन्धी खेल हुआ करते थे, अनन्तफंदीने खेल आरम्भ किया। वे गाँव-गाँव और नगर-नगरमें घूमने लगे। एक बार खेल करते-करते वे होल्कर राज्यमें पहुँच गये। उन्होंने अहल्याबाईकी राजसभामें श्रीकृष्णकी लीला दिखायी। बाई उनकी श्रीकृष्णभक्ति और लावण्ययुक्त सरस पद-रचनासे बहुत प्रसन्न हुईं, पर उन्हें एक ब्राह्मणका खेल करना अच्छा नहीं लगा। इन्दौरकी राजरानीने कहा—'तुम ब्राह्मण हो, खेल करना तुम्हारा काम नहीं है। तुम्हें परमार्थकी ओर मन लगाकर भगवान् श्रीकृष्णके पवित्र और सरस चरित्रका गान करना चाहिये।' बुद्धिमती परम साध्वी बाईके वचनोंका अनन्तफंदीपर बड़ा प्रभाव पड़ा। अपने हाथसे भरी राजसभामें उन्होंने डफ तोड़ डाला और भविष्यमें खेल न करनेका व्रत लिया। परंतु एक बार अनन्त स्वामीकी पुण्य-तिथिपर संगमनेरकी जनताने खेल करनेके लिये भक्त अनन्तफंदीपर जोर डाला। अनन्तफंदीने खेल करना स्वीकार कर लिया। संगमनेरमें लोगोंकी भीड़ लग गयी। खेल आरम्भ हो गया, दर्शक श्रीकृष्णकी वृन्दावन-लीलाके महासागरमें तल्लीन हो गये। दैवयोगसे ठीक उसी समय अहल्याबाई पूनासे संगमनेर होते हुए जा रही थीं; भीड़ देखकर उन्होंने पूछा कि किसका खेल है। उनकी सवारी उधर ही चल पड़ी। अनन्तफंदीको अपनी पूर्वप्रतिज्ञाका स्मरण हो आया, वे पश्चात्ताप करने लगे। उन्हें भय था कि बाई अपना आदेश पालन करवानेके लिये आ रही हैं। उन्होंने अन्य खेल करनेवालोंको हटाकर बाईके सामने अत्यन्त मीठे स्वरसे मध्वनाथका सरस पद गाना आरम्भ किया, श्रीकृष्णकी वंशी-माधुरीके सम्बन्धका पद था—भगवान्‌की वंशीध्वनि सुनकर गोपियोंने घर छोड़ दिया, उन्हें अपनी सुधि-बुधि न रही; वे परम पवित्र रासस्थलीमें पहुँच गयीं। अहल्या कविके सरस लीला-गानमें तल्लीन हो गयीं, उन्होंने अनन्तफंदीको नमस्कार किया, ऐश्वर्यने भक्तिके सामने

अपनी पराजय स्वीकार कर ली। बाईने कहा कि 'आप-जैसे भक्त कविकी उपस्थितिसे पवित्र भारत-भूमि धन्य हो गयी। आप भगवान्के कवि हैं।' बाईने बहुमूल्य पुरस्कारसे उनका अच्छी तरह सत्कार किया। अनन्तफंदीने खेल करना छोड़ दिया, वे परमार्थमें लग गये, उन्होंने आजीवन भगवान् श्रीकृष्णकी रूप-रस-लीला गाकर अपना जन्म सफल कर लिया।

प्रसिद्ध मराठी कवि होनाजी बालाने उनकी श्रीकृष्णविषयक भक्ति और कवित्व-शक्तिकी बड़ी प्रशंसा की है। नाना फड़नवीस, यशवंतराव होल्कर, फतहसिंह गायकवाड़ आदि ऐतिहासिक महापुरुष उनका बड़ा सम्मान करते थे।

अनन्तफंदीने अपने जीवनके अन्तिम दिनोंमें असार संसारका त्याग कर हरिनामकी ध्वजा लेकर घर-घर भिक्षा माँगी और भगवान्की भक्तिका प्रचार किया। नन्दनन्दन और दशरथनन्दनकी सरस कथा-माधुरीसे जन-जनके हृदयमें भक्तिकी गङ्गा बहायी। शाके १७४१ में पचहत्तर वर्षकी अवस्थामें उन्होंने परमधामकी यात्रा की।

भक्त हरिनारायण

महाराष्ट्र प्रान्तमें हरिनारायणजीका जन्म हुआ था। इनका जन्म-नाम नीराजी था। इनके पिता नारायणराव देशपाण्डेने इन्हें अपने भाई अनन्तरावको दत्तक दे दिया था; क्योंकि उस समयतक अनन्तरावको कोई सन्तान नहीं थी। अनन्तरावने ही इनका नाम हरिनारायण रखा। कुछ दिनों बाद अनन्तरावके एक पुत्र उत्पन्न हुआ। अब दत्तक पुत्र हरिनारायणपर उनका स्नेह नहीं रह गया। वे इनसे अकारण ही चिढ़ने लगे। उनके मनका विरोध बढ़ने लगा। अन्तमें एक दिन अपने घरसे हाथ पकड़कर उन्होंने इनको निकाल दिया।

बालक हरिनारायण बचपनसे बड़े सरल स्वभावके थे। सांसारिक कामोंमें इनकी रुचि नहीं थी। ये सदा अपनी आन्तरिक वृत्तियोंको सुधारनेमें ही लगे रहते थे। इसका फल यह हुआ कि घरके लोग इन्हें निकम्मा समझने लगे। अनन्तरावद्वारा निकाल दिये जानेपर ये अपने पिताके घर आये। पिताने भी इनका तिरस्कार किया और वनमें चले जानेको कहा; किंतु स्नेहमयी माताने इन्हें समझाया—'बेटा! तुम पिताकी बातका बुरा मत मानो। इस अनित्य संसारमें सभी लोग दुःखपूर्ण विषयोंमें फँसे हैं। पाप-पुण्यका उन्हें विचार नहीं है। सच्चा सुख तो शान्तिमें है और शान्ति इस संसारके विषयोंसे उपराम हो जानेपर मिलती है। मेरे पास रहकर तुम विषयोंसे मनको धीरे-धीरे हटा लो। इससे तुम्हें शान्ति प्राप्त होगी।' माताका उपदेश सुनकर उस स्नेहमयीके आग्रहसे ये घरपर ही रहने लगे।

कुछ समय बाद इनके माता-पिता तीर्थयात्रा करने काशी गये। घरका सारा भार इन्हींके ऊपर पड़ा। हरिनारायण बड़े ही दयालु और उदार स्वभावके थे। माता-पिताके न रहनेपर वे घरकी सम्पत्ति साधु-ब्राह्मणोंकी सेवामें, भजन-पूजन तथा हरिकीर्तन आदिके समारोहोंमें तथा दीन-दुःखियोंको दान देनेमें खर्च करने लगे। धीरे-धीरे घरकी सारी सम्पत्तिका सदुपयोग हो गया।

तीर्थयात्रासे लौटकर पिताने देखा कि उनके पुत्रने तो घरका सब धन लुटा दिया है। वे बहुत ही क्रुद्ध हुए और बोले—'तू अभी इसी क्षण यहाँसे निकल जा। मुँह काला कर। अब एक क्षण भी यहाँ मत रह।' भगवान्के भक्त ऐसी आपत्तियोंसे न तो घबराते हैं और न चिन्तित होते हैं। हरिनारायणजीके लिये जैसा घर, वैसा वन। वे वनमें जानेको उद्यत हो गये।

हरिनारायणजी माता-पिताको प्रणाम करके वनमें जानेको निकले तो उनके पीछे उनकी पतिव्रता पत्नी अन्नपूर्णा भी घरसे निकलीं। स्त्रीको साथ आते देख उन्होंने बहुत समझाया कि 'तुम धनी पिताकी पुत्री हो। पिताके घर तुम्हें कोई कष्ट नहीं होगा। वनमें बहुत क्लेश भोगने होंगे। तुम साथ चलनेका हठ मत करो।'

पतिकी यह बात सुनकर रोते-रोते उस पतिव्रताने कहा—'स्वामी! आप मेरा परित्याग न करें। आप अपने हाथसे मुझे चाहे मार डालें, पर अपने चरणोंसे दासीको

पृथक् न करें। आपका वियोग मुझसे नहीं सहा जायगा। सुख-दुःख तो प्रारब्धके भोग हैं। मैं आपकी अर्धाङ्गिनी हूँ। आपके सुखमें मुझे सुख है और आपके दुःखमें मेरा भी हिस्सा है। स्त्रीके लिये पतिको छोड़कर और कोई गति नहीं। आप मुझे अनाथिनी बनाकर न छोड़ें। वह पतिके चरण पकड़कर फूट-फूटकर रोने लगी। हरिनारायण अब उसे साथ चलनेसे मना नहीं कर सके।

गाँवके लोगोंकी हरिनारायणपर बड़ी श्रद्धा थी। लोग उन्हें नारदजीका अवतार ही मानते थे। जब लोगोंने उनके वनमें जानेकी बात सुनी, तब गाँवमें हाहाकार मच गया। वे दम्पति गाँवके बाहर एक वृक्षके नीचे बैठे थे। वहाँ लोगोंकी भीड़ लग गयी। किसी प्रकार हरिनारायणजीने समझा-बुझाकर सबको वहाँसे विदा किया। उनकी पत्नीने अपने शरीरपरके सब आभूषण उतारकर गरीबोंको बाँट दिये। तीन दिनोंतक वहाँ हरिकीर्तन होता रहा। चौथे दिन सबको विदा करके वे दम्पति तीर्थयात्रा करने चल पड़े।

काशी, प्रयाग, गया आदि तीर्थोंकी यात्रा करके हरिनारायणजी उस 'जोगाइचे आवे' नामक ग्राममें लौट आये। अन्नपूर्णाको तो उन्होंने गाँवमें ठहराया और स्वयं वनमें कुटिया बनाकर तपस्या करने लगे। बारह वर्षतक कठोर तप करनेके बाद भगवतीने प्रत्यक्ष दर्शन देकर इन्हें आदेश दिया—'तुम नरसिंहपुर जाओ। वहाँ तुम्हें सद्‌गुरुकी प्राप्ति होगी तथा उन गुरुदेवकी कृपासे तुम्हें भगवान्‌का साक्षात्कार भी प्राप्त होगा।'

देवीकी आज्ञाके अनुसार हरिनारायणजी अन्नपूर्णाको लेकर नरसिंहपुर चले आये। वहाँ वे एक दिन ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर नदीपर स्नान करने गये थे। स्नान करके जलमें ही भगवान्‌का ध्यान कर रहे थे। उसी समय नदीमें बाढ़ आ गयी। लोगोंमें व्याकुलता फैल गयी। पतिव्रता स्त्री अपने पतिकी रक्षाके लिये नृसिंहभगवान्‌से प्रार्थना करने लगी।

इधर जलमें खड़े हरिनारायणजी भगवान्‌के ध्यानमें इतने तल्लीन हो गये थे कि उन्हें पता ही नहीं लगा कि उनके सिरके ऊपरसे बढ़ी हुई नदीकी धारा उमड़ी चली जा रही है। उसी समय वहाँ जलमें ही देवर्षि नारदजी पधारे। भगवान्‌के नामका मधुर कीर्तन करके देवर्षिने हरिनारायणजीको सावधान किया और उन्हें परम तत्त्वका उपदेश देकर वे चले गये।

सात दिनोंतक नदीमें बाढ़का जोर रहा। आठवें दिन जब जल उतर गया तब गाँवके लोग हरिनारायणजीका शरीर ढूँढ़ निकालनेके लिये वहाँ आये। हरिनारायणजी तो भगवान्‌के उस मन्दिरमें जो सात दिनतक जलमें डूबा रहा, भगवान्‌के सामने हाथमें वीणा और करताल लिये भगवन्नामका कीर्तन कर रहे थे। उनके नेत्रोंसे आँसूकी धारा चल रही थी। लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। सबने उन्हें प्रणाम किया और आग्रह करके उन्हें नृसिंहजीके मन्दिरमें ले गये। सती अन्नपूर्णा बिना अन्न-जलके सात दिन-रात पतिकी मङ्गलकामना करती, भगवान्‌से प्रार्थना करती बैठी थीं। पतिको सकुशल सुनकर उन्हें बड़ा ही आनन्द हुआ। वे मन्दिरमें जाकर पतिदेवके चरणोंपर गिर पड़ीं।

पण्ढरपुर जाकर जब उन्होंने भगवान् पाण्डुरङ्गके दर्शन करके उनके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया तब उसी समय जगत्पति पाण्डुरङ्गने साक्षात् प्रकट होकर उन्हें हृदयसे लगा लिया। भगवान्‌ने कहा—'तुम्हारी वारी* मुझे पूर्णरूपसे मिल चुकी। अब मैं हरिशयनी तथा प्रबोधिनी एकादशीको स्वयं तुम्हारे पास आ जाया करूँगा।' उसी समयसे हरिनारायणजी घरपर ही आषाढ़ी तथा कार्तिकी एकादशीका महोत्सव करने लगे।

हरिनारायणजीने शेषाद्रि, सेतुबन्ध रामेश्वर आदि दक्षिणके तीर्थोंकी भी यात्रा की। अपने परम धाम पधारनेकी सूचना उन्होंने पहले ही दे दी । सती अन्नपूर्णाने पतिके भावी वियोगसे व्याकुल होकर पतिकी आज्ञा लेकर पहले ही नश्वर शरीर छोड़ दिया। भक्त हरिनारायण 'बैनवैड़ी' ग्राममें आये। वहाँ उनकी गङ्गा-स्नान करनेकी इच्छा हुई तो भगवती भागीरथीने स्वयं प्रकट होकर भक्तकी इच्छा पूर्ण की। स्नान-तर्पण-देवार्चनादि करके, गीतामें वर्णित योगासनसे बैठकर प्राणोंको भ्रूमध्यमें संयमित करके शाके सं० १६४७ में हरिनारायणजी समाधिमें स्थित हो गये। उनके शरीरसे दिव्य तेज निकलने लगा और फिर वे ब्रह्मलीन हो गये।

---

* आषाढ़ी एकादशीको नियमितरूपसे पण्ढरपुर जानेका नाम 'वारी' है। इस 'वारी' को मुख्यता देनेके ही कारण महाराष्ट्रके भक्तसम्प्रदायका नाम 'वारकरी' पड़ा है।

भक्त गिरवर

मन न भूल माधव चरन करुनाधाम उदार।
जन को हित ही चित धरत नागर नंदकुमार॥

नर्मदाके पवित्र तटपर एक छोटे-से गाँवमें गिरवर नामके एक राजपूत रहते थे। घरमें बूढ़े माता-पिता थे। गौरी नामकी पतिव्रता पत्नी थी और एक पुत्र था ऊदा। खेती करके परिवारका निर्वाह होता था। गिरवर और उनकी पत्नी वृद्ध माता-पिताकी सेवा करते थे। घरमें सभी भगवान्‌के भक्त थे। बालक ऊदा भी माता-पिताकी भक्तिके प्रभावसे बचपनमें ही भगवान्‌के नाममें मग्न रहने लगा था।

गिरवरका भगवान्‌की दयापर पक्का विश्वास था। वे बात-बातमें कहा करते थे—'भगवान् जो कुछ करते हैं, सब कल्याण ही करते हैं।'

यद्यपि गिरवरकी धारणा सच्ची थी, फिर भी गाँवके दुष्टलोग उनके पीछे और कोई-कोई सामने भी कह देते थे—'घरमें सारे सुख हैं, खानेको भरपूर अन्न है, अनुकूला स्त्री है, पुत्र है, माँ-बाप हैं; तब ऐसा कहनेमें क्या लगता है। किसीपर कष्ट पड़े, तब पता लगे कि भगवान् सब कल्याण ही करते हैं या नहीं।'

बात सच्ची है। दुःखमें भी जिसका विश्वास भगवान्‌की दयापर बना रहे, उसीका विश्वास सच्चा है। गिरवरका विश्वास सच्चा विश्वास था। कुछ समय बाद माता-पिताका देहान्त हो गया। गिरवरको इस बातका दुःख हुआ कि 'सेवाका सौभाग्य नहीं रहा।' माता-पिताकी सेवाका सौभाग्य बड़े पुण्यसे प्राप्त होता है। जो लोग माता-पिताके जीवनमें उनकी सेवा नहीं करते, उनकी अवहेलना करते हैं, उन्हें माता-पिताके न रहनेपर बहुत पछताना पड़ता है। गिरवरको कष्ट तो बहुत हुआ, पर उन्होंने कहा—'भगवान् जो कुछ करते हैं, सब कल्याण ही करते हैं।

थोड़े दिनों बाद गिरवरका आठ वर्षका पुत्र ऊदा नर्मदाजीमें स्नान कर रहा था कि उसे घड़ियालने पकड़ लिया। बालक चिल्लाया—'हे ठाकुरजी! बचाओ।' माँ किनारेपर रोने-चिल्लाने लगी। लोग दौड़े भी, पर बालक पानीमें अदृश्य हो गया। गौरी रोती-पीटती घर पहुँची। गिरवर उस समय भगवान्‌की पूजा समाप्त करके उठे थे। उनके मुखसे अभ्यासवश निकल गया—'भगवान् जो कुछ करते हैं, सब कल्याण करते हैं।' पीछे उन्हें संकोच हुआ।

गिरवरने पत्नीको समझाते हुए कहा—'देखो! संसारमें कोई किसीका है नहीं। जो इस जन्ममें पुत्र बना, पता नहीं,किस जन्ममें वह पिता, भाई, शत्रु या और कोई रहा होगा। यह तो एक धर्मशाला है । सब जीव अपने कर्मफल भोगने यहाँ आते हैं। जिसका भोग जब समाप्त हो जाता है, तभी वह यहाँसे चला जाता है। इसमें शोक करनेकी क्या बात है।

'उस दिन एक महात्मा आये थे। उन्होंने तुम्हारे सामने ही कहा था कि यह संसार तो भगवान्‌का बगीचा है। हमलोग तो बगीचेके माली हैं। मालीका काम बगीचेकी सेवा करके उसके उत्तम फल स्वामीको समर्पित करना है। यदि स्वामी स्वयं बगीचेके किसी फलको पसंद करके ले लें तो यह मालीके लिये और भी प्रसन्नताकी बात है। ऊदा तो इस बगीचेका सबसे सुन्दर उपहार था। बगीचेके स्वामीने उसे स्वयं बुला लिया—ले लिया तो हमें प्रसन्न ही होना चाहिये।

'भगवान्‌की इस सृष्टिमें कोई वस्तु नष्ट नहीं होती। पदार्थ एक स्थानसे दूसरे स्थानपर चले जाते हैं। इसी प्रकार जीव भी नष्ट नहीं होता। तुम्हारा ऊदा भी भगवान्‌की कृपासे कहीं इससे भी अच्छी जगह हो सकता है। तुम उसके लिये चिन्ता मत करो। ऊदा भगवान्‌का भक्त था। रोज कीर्तन करता था। घड़ियालद्वारा पकड़े जानेपर भी उसने भगवान्‌को पुकारा, अतः वह भगवान्‌के धाममें ही गया होगा। ऐसे पुत्रके लिये तुम शोक क्यों करती हो ? सच्ची माताका तो कर्तव्य है कि पुत्रको सुख पहुँचाये। भगवान्‌के आनन्दमय धाममें पुत्र गया, इससे तुम्हें प्रसन्न होना चाहिये।

'ऊदा मर ही गया हो, इसीका क्या ठिकाना? वह जीवित भी हो सकता है। तुम्हें फिर मिल भी सकता है कभी। प्रत्येक दशामें तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। भगवान् जो कुछ करते हैं, सब कल्याण ही करते हैं।'

भक्त स्वामी लालदासजी [पृ० ५०३]

भक्त गणेशनाथजी [पृ० ५०४]

भक्त ज्योतिपंतपर गणेशजीकी कृपा [पृ० ५०९]

भक्त हरिनारायण [पृ० ५१२]

भक्त गिरवर [पृ० ५१४]

गौरी और उसका पुत्र उदयराज [पृ० ५१९]

भक्त रामचन्द्र [पृ० ५१९]
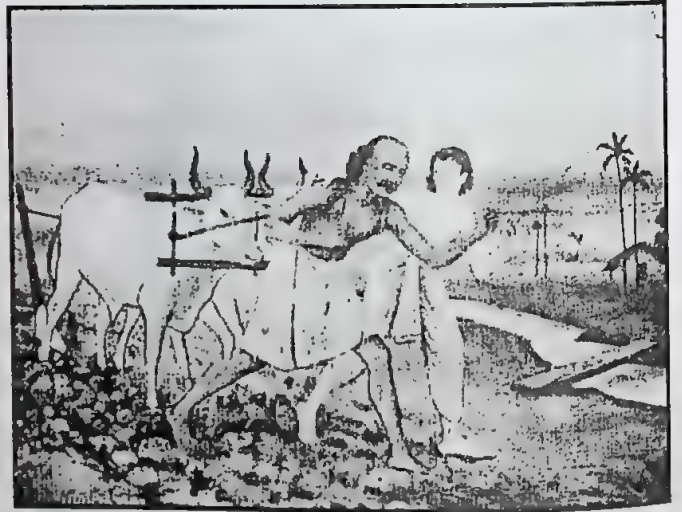
भक्त जोग परमानन्द [पृ० ५२३]

गौरीने कहा—'मेरा मन कहता है कि मेरा पुत्र जीवित है। वह चाहे जब मिले, पर मुझे मिलेगा अवश्य।'

गिरवर बोले—'वह मिले या न मिले। हमें यही क्यों चाह हो कि वह मिले। अबतक भगवान्‌ने हमें एक सेवा सौंप दी थी तो उसे करते थे। अब दूसरी सेवा सौंपेंगे तो उसे करेंगे। जो स्वामीकी सेवासे जी चुराता है, वह नमक-हराम है। जो स्वामीकी वस्तुको अपनी समझता है, वह बेईमान है। हमें स्वामी जो सेवा दें,उसीको सावधानीसे करना है।'

गिरवर घाटपर गये, पता लगाया और कुछ पता न लगा तो लौट आये। उन्होंने कहा—'मेरे माता-पिता होते तो आज उन्हें बड़ा कष्ट होता। उनको पहले ही संसारसे बुलाकर भगवान्‌ने उनका और हम सबका भी कल्याण ही किया।'

माता-पिता रहे नहीं, पुत्रको घड़ियाल ले गया, अब खेतीका झंझट क्यों किया जाय? खेत अद्धीमें दूसरोंको दे दिये गये। आधी पाँतीमें जो अनाज मिलता था, उसीमें गिरवर तथा उनकी स्त्रीका काम मजेमें चल जाता था। ठाकुरजीकी सेवा-पूजा भी होती थी। अब गिरवर भगवान्‌का ध्यान करते, पूजा करते, पुराण सुनते और विष्णुसहस्रनामका पाठ करते। उनकी स्त्रीका भी पूरा समय भगवान्‌की सेवामें ही लगता। गिरवर पत्नीसे कहते—'देखो! ऊदा होता तो क्या हम इस प्रकार भजनमें लग पाते? भगवान्‌ने उसे हटाकर हमलोगोंको अपनी सेवामें लगा लिया। भगवान् जो कुछ करते हैं, सब कल्याण ही करते हैं।'

स्त्री कहती—'सचमुच भगवान्‌ने हमपर बड़ी कृपा की है।' परन्तु माताके हृदयसे पुत्रकी स्मृति गयी नहीं थी। उसे बार-बार ऊदा याद आ जाता था।

× × ×

ऊदाको पानीमें लेकर घड़ियाल डूब गया था। वह कुछ ही दूर गया था कि उसपर किसी दूसरे बड़े घड़ियालने आक्रमण कर दिया। इस लड़ाईमें ऊदा घड़ियालके मुखसे छूट गया। वह जलके ऊपर आकर फिर डूबनेवाला ही था कि समीप जाती हुई नौकापरके लोगोंने उसे नौकापर उठा लिया। नौकापर पहुँचकर वह मूर्छित हो गया।

बात यह थी कि उस प्रदेशके राजा चन्द्रसेनके कोई सन्तान नहीं थी। रानीके मरनेपर उनमें वैराग्यका उदय हुआ। उन्होंने संन्यास लेनेका विचार किया। अकस्मात् उनके पिताके गुरुजी जो एक सिद्ध योगी थे, उनके यहाँ आये। उन्होंने बताया—'एक अनुष्ठान करनेसे एक सुयोग्य पुत्र तुम्हें मिलेगा, जो अपने माता-पिताको राज्याभिषेकके दिनतक भूला रहेगा। उसे शिक्षा देकर, सुयोग्य बनाकर तब राज्य सौंपकर तुम संन्यास ले सकते हो।' गुरुजीके साथ वनमें आकर राजाने अनुष्ठान किया। अनुष्ठान पूर्ण होनेपर नौकापर बैठकर वे नर्मदाजीमें मछलियोंको अन्न खिला रहे थे, उसी समय डूबते हुए ऊदाको देखकर नौकापर उन्होंने उठा लिया था।

ऊदाके पैरमें घाव था घड़ियालके पकड़नेका । महाराज उसे राजधानी ले आये। इक्कीस दिनतक वह मूर्छित पड़ा रहा। इसी बीच चिकित्सा होनेपर उसके पैरका घाव अच्छा हो गया। होशमें आनेपर वह अपने माता-पिता आदि सबको भूल गया। उसे केवल इतना याद था कि वह क्षत्रिय है और उसका नाम ऊदा है। उसे बताया गया—'महाराज चन्द्रसेन तुम्हारे पिता हैं। तुम्हारी माता महारानी कमलादेवी परलोक जा चुकी हैं। तुम्हारा नाम उदयराज है।'

राजकुमार उदयराजकी शिक्षाके लिये सुयोग्य गुरुओंकी नियुक्ति हो गयी। वे बहुत ही प्रतिभाशाली थे। भगवान्‌के भक्त थे। प्रजाका सुख-दुःख अपने सुख-दुःखसे भी अधिक महत्त्वका था उनके लिये। विजयनगरके महाराजकी पुत्रीसे उनका विवाह हो गया। महाराज चन्द्रसेनने उन्हें सुशिक्षित तथा योग्य समझकर राज्याभिषेककी तैयारी की। उन्हें राज्य देकर महाराज स्वयं संन्यास लेकर भगवान्‌का भजन करने वनमें जानेका दृढ़ निश्चय कर चुके थे।

× × ×

इधर देशमें अकाल पड़ गया। अन्नके बिना लोग मरने लगे और तृणके बिना पशु। गिरवर और गौरीको अब ठाकुरजीकी पूजामें भी कठिनाई होने लगी। घरमें जो कुछ था, उसे बेचकर जबतक काम चला, उन्होंने चलाया। अन्तमें भगवान्‌की श्रीमूर्तिका भार पुरोहितको

सौंपकर और पूजाखर्चके लिये गौरीकी सोनेकी नथ देकर भगवान्‌का नाम लेते हुए वे दम्पति घरसे निकल पड़े।

गाँवसे निकलकर रातको वे लोग एक वृक्षके नीचे लेटे थे। रातमें एक काले सर्पने आकर गौरीके पैरमें काट लिया। गौरी विषसे छटपटाती हुई भगवान्‌के नामका उच्चारण करने लगी। अन्तमें भगवन्नाम लेते-लेते ही उसका श्वास बंद हो गया। गिरवरके मुखसे निकला—'भगवान् जो कुछ करते है, सब कल्याण ही करते हैं।' रातभर वे स्त्रीके देहके पास बैठे कीर्तन करते रहे। साँपसे काटे व्यक्तिको जलाना नहीं चाहिये। अतएव सबेरे गौरीके देहको कन्धेपर उठाकर उन्होंने नर्मदाजीमें प्रवाहित कर दिया।

अब गिरवर अकेले रह गये। उनका वैराग्य तीव्रतम हो उठा। भगवान्‌को पानेकी लालसा हृदयमें प्रबलरूपसे जाग्रत् हो गयी। उनके प्राण तड़फड़ाने लगे। एक दिन एक वृक्षके नीचे बैठे-बैठे वे फूट-फूटकर रोने लगे। भगवान्‌को पुकारने लगे। पुकारते-पुकारते मूर्छित हो गये। सहसा मानो कुछ और-का-और ही हो गया हो। नर्मदाजी श्रीयमुनाजीके रूपमें बदल गयीं। वह वन दिव्य वृन्दावन हो गया। सामने कदम्बके नीचे मुरली अधरोंसे लगाये त्रिभङ्गसुन्दर, मयूरपिच्छधारी,पीताम्बर-परिधान, वनमाली श्रीकृष्णचन्द्रकी दिव्य झाँकीको देखते ही गिरवरके नेत्र वहीं स्थिर हो गये। शरीर जडकी भाँति हो गया। वाणी रुद्ध हो गयी। हृदय जैसे आनन्दसागरमें हिलोरें लेने लगा।

श्यामसुन्दरने अपने अमृतभरे स्वरसे कहा—'गिरवर! तू मुझे बहुत प्यारा है। तेरे बिना अब मुझे अच्छा नहीं लगता। तेरे लिये यहाँ दिव्य वृन्दावनका प्राकट्य हुआ है। अब तू मेरे धाममें चल। गौरी मरी नहीं है। उसके मनमें पुत्रसे मिलनेकी प्रबल कामना है, अतः वह ऊदासे मिलकर तब मेरे धाममें आयेगी।'

भगवान्‌के इतना कहते ही गिरवरका शरीर ज्योतिर्मय हो गया। कुछ ही क्षणोंमें उसके शरीरसे ज्योतिःपुञ्ज निकला और सुन्दर गोपबालकके रूपमें घनीभूत होकर श्रीकृष्णके चरणोंपर गिर पड़ा । श्यामने उसे प्रेमसे उठाकर हृदयसे लगा लिया। अपने सखा और वृन्दावनके सहित भगवान् अन्तर्धान हो गये। गिरवरका शरीर वनमें, वनदेवीकी रक्षामें वृक्षके नीचे पड़ा रहा।

गौरीका शरीर बहते-बहते नदीमें टूटकर गिरे एक वृक्षमें किनारेपर उलझ गया था। सात दिन वह वहाँ उलझा रहा, पर किसी पक्षी या जल-जन्तुने उसे छुआतक नहीं। आठवें दिन लहरोंके धक्केसे वहाँसे निकलकर वह आगे बह चला। वहाँसे थोड़ी दूरपर एक सिद्ध महात्मा रहते थे। वे स्नान करने आये थे। उन्होंने देखते ही समझ लिया कि बहनेवाले देहमें प्राण है। किनारे उसे लाकर उसपर अभिमन्त्रित करके उन्होंने जलका छींटा दिया। इससे गौरीके देहमें चेतना आ गयी। वह उठ बैठी। महात्माजी उसे कुटीपर ले आये और एक सिद्धफल खानेको दिया। फल खाते ही गौरीको लगा कि उसके मनसे सारे संस्कारोंका बोझ उतर गया।

थोड़ी देरमें गौरीको अपने पतिकी स्मृति हुई। महात्माजी दिव्यदर्शी थे। उन्होंने गौरीसे उसके पतिकी परमगतिका वर्णन किया। गौरीने सोचा—'मेरे पतिदेव ठीक कहते थे कि भगवान् जो करते हैं, सब कल्याण ही करते हैं। मेरे समीप रहनेसे पतिदेवके भगवद्दर्शनमें बाधा पड़ती। प्रभुने मुझे पृथक् करके पतिदेवको अपना लिया, यह ठीक ही हुआ।'

महात्माजीने गौरीको आत्माकी अमरताका उपदेश किया। फिर बताया कि थोड़ी दूरपर ही उसके पतिका देह पड़ा है। उस देहकी अन्त्येष्टि कर देनेका भी उन्होंने आदेश दिया। उसी समय कहींसे चार ब्रह्मचारी आ गये। वे गौरीके साथ हो गये। वृक्षके नीचे गिरवरके देहके समीप एक दिव्य-वसना देवी बैठी थीं। गौरीके वहाँ पहुँचते ही वे अन्तर्धान हो गयीं। ब्रह्मचारियोंकी सहायतासे चिता बनाकर गौरीने पतिदेहका दाह-कर्म किया। भस्मको नर्मदामें बहाकर स्नान करके जलाञ्जलि दी। अब ब्रह्मचारियोंने उसे गेरुआ वस्त्र और एक इकतारा दिया और वहाँसे चले गये।

गौरीने गेरुआ धारण किया। हाथमें इकतारा लिया। भगवान्‌के नामका कीर्तन करते आनन्दमें मग्न वह एक ओर चल पड़ी। उसे पता नहीं कि कहाँ जा रही है वह। चलते-चलते वह एक ऐसे नगरमें जा पहुँची, जहाँ बड़ी धूम-धाम थी। बड़ा उत्सव था कोई। वह असङ्गभावसे उसमें प्रविष्ट हुई।

बात यह हुई कि वह नगर था महाराज चन्द्रसेनका। अभी कल ही महाराजने राजकुमार उदयराजका राज्याभिषेक किया था और स्वयं कुमारको राज्य देकर वे वनमें चले गये थे संन्यासी होकर। आज नवीन नरेश उदयराजका पहला दरबार था। लेकिन उदयराजने अभिषेककी रात्रिमें स्वप्नमें संन्यासिनीरूपमें अपनी मातासे अपना पूरा परिचय पा लिया था। वन जानेसे पूर्व महाराज चन्द्रसेनने भी उनको जलमें पानेसे अबतककी बातें बता गये थे। अतः वे अपनी माताके दर्शनके लिये बहुत उत्कण्ठित थे। सब सेवकोंको कहा गया था कि कोई संन्यासिनी आते ही राजाको समाचार मिले। गौरीके नगरमें पहुँचते ही उदयराजको समाचार मिला। वे स्वयं दौड़े आये और पहचानकर 'माँ! माँ!' करते चरणोंमें गिर पड़े। गौरीने उन्हें उठाकर हृदयसे लगा लिया। वह कहने लगी—'मेरा ऊदा! ऊदा मेरा!'

उस समयका दरबार स्थगित हो गया। पुत्र माताको राजमहलमें ले आया। गौरीने पुत्रके मुखसे पूरी बातें सुनीं। ऊदाको भी पिताकी भगवत्प्राप्तिका समाचार मिला। गौरीके मनमें जो पुत्रसे मिलनेकी वासना थी, वह पूर्ण हो गयी। अब उसकी आसक्ति नष्ट हो गयी। अब वह वनमें जाकर भजन करना चाहती थी; किंतु पुत्रने आग्रह करके उसको इस बातपर राजी कर लिया कि वह नगरसे बाहर कुटियामें रहेगी। कुटिया बना दी गयी। गौरी उसमें रहकर भजन करने लगी। धीर-धीरे उसका भगवत्प्रेम पराकाष्ठाको पहुँच गया। भगवान्‌ने दर्शन देकर उसे कृतार्थ किया। भगवान्‌का दर्शन करते-करते ही देह-त्यागकर वह भगवान्‌के धामको चली गयी।

उदयराज अपनी पत्नीसहित भगवान्‌का भजन करते हुए प्रजापालन करते रहे। भगवान्‌की सच्ची भक्ति पाकर उनका जीवन भी कृतार्थ हो गया।

भक्त रामचन्द्र

दक्षिणमें करवीर (वर्तमान कोल्हापुर)-के पास ऊर्णा नदीके तटपर एक गाँवमें एक ब्राह्मण-परिवार रहता था। दो स्त्री-पुरुष थे और तीसरा एक छोटा-सा शिशु था। ब्राह्मणवृत्तिसे गृहस्थका निर्वाह होता था। घरमें तुलसीजीका पेड़ था, भगवान्, शालग्रामकी पूजा होती थी, पत्नी आज्ञाकारिणी थी, पति पत्नीकी रुचिका आदर करनेवाले थे। दोनोंमें धार्मिकता थी, अपने-अपने कर्तव्यका ध्यान था और था बहुत ऊँचे हिंदू-आदर्शका अकृत्रिम प्रेम। भगवान्‌की दयासे बच्चा भी हो गया था। दम्पति सुखी थे! परंतु दिन बदलते रहते हैं। सुखका प्रकाशमय दिवस सहसा दुःखकी अमा-निशाके रूपमें परिणत हो जाता है। मनुष्य सोचता है 'जीवन सुखमें ही बीतेगा, ये आनन्दके दिन कभी पूरे होंगे ही नहीं, इस प्रेम-मदिराका नशा कभी उतरेगा ही नहीं। छके रहेंगे जीवनभर इसीमें।' परंतु विधाताके विधानसे बात बिगड़ जाती है। कितनी आशासे, अन्तस्तलके कितने अनुरागसे, हृदयके सुधामय स्नेह-सलिलसे जिस जीवनाधार वृक्षको सींचा जाता है, वही सहसा विच्छिन्न होकर हमारे हृदयके सारे तारोंको छिन्न-भिन्न कर देता है। जन्म-मृत्युका चक्र चौबीसों घंटे चलता ही रहता है और बड़े स्पष्टभावसे वह घोषणा करता है—'जीवन क्षणभङ्गुर है, सुख अनित्य है और आशा दुःखपरिणामिनी है!' गाँवमें एक बार जोरसे हैजा फैला और देखते-ही-देखते प्राण-प्रतिमा ब्राह्मणी कालके कराल गालमें चली गयी। ब्राह्मण महान् दुःखी हो गये। मातृहीन शिशुकी भी बुरी अवस्था थी। कुछ दिनों बाद ब्राह्मण भी हैजेके पंजेमें आ गये और दुधमुँहे नन्हे-से ढाई सालके बच्चेको छोड़कर बरबस चल बसे। जी बच्चेमें अटका, परंतु मृत्युकी अनिवार्य शक्तिके सामने कुछ भी बस नहीं चला।

गाँवसे बाहर एक साधु रहते थे। पहुँचे हुए थे। पता नहीं, उनके मनमें कहाँसे प्रेरणा हुई । ममताके उस पार पहुँच गये थे। दया भी मायाकी ही एक त्याज्य वृत्ति थी उनके अनुभवमें। परंतु ब्राह्मण-दम्पतिके मरण और अनाथ बालककी दुर्दशाके समाचारने उनके मनमें दयाका सञ्चार कर दिया, भले ही वह बाधितानुवृत्तिसे ही हो! साधुबाबा दौड़े गये और शिशुको अपनी कुटियापर उठा लाये। बड़ी ममतासे हजार माताओंका स्नेह उँड़ेलकर वे

उसे पालने लगे। उनका प्रधान काम ही हो गया बच्चेको नहलाना-धुलाना, खिलाना-पिलाना और उसकी देख-रेख करना। भगवान्‌की लीला!

महात्माकी कुटिया एकान्तमें थी। कुटियाके नीचे ही नदी बहती थी। चारों ओर मनोरम वन था। बड़ा सात्त्विक वातावरण था। संसारके काम, क्रोध, लोभ, असत्य और हिंसा वहाँ फटकते भी नहीं थे, देखनेको भी नहीं मिलते थे। कुत्सित क्रिया या दूषित चेष्टा करनेवाला वहाँ कोई आता ही नहीं था। भोग-विलासकी सामग्रियोंके तो स्वप्नमें भी दर्शन नहीं होते थे, खान-पानमें पवित्रता और सादगी थी। सोने, उठने और आहार-विहारके समय और परिमाण निश्चित थे। सबसे बड़ी बात तो यह कि वहाँ दिन-रात भगवदाराधना, भगवच्चर्चा और भगवच्चिन्तन होता था। मन-इन्द्रियोंके सामने ऐसा कोई दृश्य आता ही न था, जिससे उनमें विकार पैदा होनेकी सम्भावना हो। काम, क्रोध, असत्य और हिंसादि दोष मनके धर्म नहीं हैं, इन्द्रियोंकी कुचेष्टा इनका स्वभाव नहीं है। ये तो विकार हैं—आगन्तुक दोष हैं, जो प्रधानतया सङ्गदोषसे उत्पन्न होते हैं और फिर तदनुकूल चेष्टाओंसे बढ़ते-बढ़ते चित्तमें यहाँतक अपना स्थान बना लेते हैं कि उनका चित्तसे अलगाव दीखता ही नहीं। मालूम होता है कि ये चित्त और इन्द्रियोंके सहज स्वाभाविक धर्म हैं, उनके स्वरूप ही हैं। अस्तु! जन्मसे ही माता-पिताकी सच्चेष्टा, संतकी कुटियाके शुद्ध वातावरण और सत्सङ्गके प्रभावसे बालकके जीवनमें कोई नया दोष तो आया ही नहीं। पूर्वसंस्कारजनित दोष भी दबकर क्षीण हो गये—बहुत-से मर गये! बुरे विचार, बुरी भावना और बुरी क्रियाओंसे मानो वह अपरिचित ही रह गया। महात्मा उसे पढ़ानेके साथ ही परमार्थकी साधनामें भी लगाये रखते थे। पता नहीं—पूर्वजन्मका कोई सम्बन्ध था या विशुद्ध भगवत्प्रेरणा थी। महात्माजी अपनी सारी साधना—सारा ज्ञान उस बालकके निर्मल हृदयमें एक ही साथ उँड़ेल देना चाहते थे। परिणाम यह हुआ कि सोलह वर्षकी उम्रमें ही बालक एक महान् साधक बन गया। अहिंसा, सत्य, प्रेम, संयम उसके स्वभाव बन गये। भगवान्‌की भक्तिका स्रोत उसके अंदरसे फूट निकला और सबको पवित्र करने लगा। उसकी वाणी अमोघ हो गयी सत्यके प्रतापसे और उसकी प्रत्येक इच्छा फलवती हो गयी संयम और त्यागकी महिमासे। वह बाहर और भीतरसे सच्चा महात्मा हो गया। उसका चेहरा ब्रह्मतेजसे चमक उठा!

सबका समय निश्चित है। महात्माजीके जीवनकी अवधि भी पूरी हो गयी। वे इस असार संसारको छोड़कर हँसते-हँसते भगवान्‌के परम धाममें चले गये। बालक निराश्रय तो हो गया, परंतु महात्माजीकी कृपासे उसे कोई शोक नहीं हुआ। भगवान्‌का विधान उसने शिरोधार्य किया आदरपूर्वक, शान्त हृदयसे !

महात्माजी उसे रंगनाथ कहते थे, इससे उसका यही नाम प्रसिद्ध हो गया। वह दिन-रात भजन-ध्यानमें रहता। भगवान्‌की कृपासे जो कुछ मिल जाता, उसीपर निर्वाह करता। उसके जीवनका एक-एक क्षण भगवत्सेवामें लगता था। उसके तप-तेजकी ख्याति दूर-दूरतक फैल गयी। लोग दर्शनको आने लगे। उसने दिनभरमें एक पहरका समय ऐसा रख लिया, जिसमें लोगोंके साथ भगवच्चर्चा होती। शेष सारा समय एकान्तमें बीतता।

एक बार एक दुःखी मनुष्य रंगनाथजीके पास आया। उसने उन्हें एकान्तमें अपना दुःख सुनाया। दुःख था—धनकी कामनाका। रंगनाथजीको उसके दुःखसे दुःख अवश्य हुआ। परंतु उन्होंने अपने मनमें कहा कि यह भूलसे ही इतना दुःखी हो रहा है। धनमें सुख होता तो जिन लोगोंके पास प्रचुर धन है, उनका जीवन तो सुखमय होना चाहिये था। परंतु वे भी तो दुःखी ही देखे जाते हैं। दुःखका कारण तो है—अज्ञानजनित असन्तोष। वह मिट जाय तो मनुष्य प्रारब्धानुसार किसी भी हालतमें रहे, वह सर्वदा सुखी रह सकता है। रंगनाथजीने उसको समझानेकी चेष्टा की। बड़े प्रेमसे उसको सब बातें बतलायीं। परंतु उसे सन्तोष नहीं हुआ। उसने कहा—'एक बार आप अपने मुखसे कह दें कि मेरे खूब धन हो जायगा तो बस, मैं कृतार्थ हो जाऊँगा।' रंगनाथजीने कहा—'भाई! प्रथम तो यह बात है कि मेरे कहनेसे होता ही क्या है; दूसरे जब मैं प्रत्यक्ष देखता हूँ और अनुभव करता हूँ कि अधिक धनसे तुम्हारा दुःख बढ़ेगा, घटेगा

नहीं, तब मैं यदि सचमुच तुम्हारा हित चाहता हूँ तो तुम्हें वह मिले, ऐसी इच्छा क्योंकर कर सकता हूँ। साथ ही एक बात और है, धन मिलना वस्तुत: तुम्हारे प्रारब्धके अधीन है। न मालूम धनके मिलनेमें तुम्हारा कौन-सा प्रबल कर्म बाधक है। मैं तुम्हें कह दूँ और धन न मिले तो तुम्हारा भगवान्‌तकपर अविश्वास हो सकता है। इसलिये भैया! तुम एक काम करो—सर्वात्मभावसे श्रीभगवान्‌के शरण होकर उनके सामने अपनी सारी परिस्थिति रख दो और उनसे विनय करो कि वे तुम्हारे लिये जो कुछ मङ्गलजनक समझते हों, वही करें। सचमुच अभी भी वे तुम्हारा-मेरा सबका कल्याण ही कर रहे हैं। परंतु विश्वास नहीं होता, इसीसे दु:ख होता है। भैया! भगवान्‌के विधानमें प्रसन्न रहो। वे मङ्गलमय हैं।' इस प्रकार बहुत समझानेपर जब उसको सन्तोष नहीं हुआ तब परम तपस्वी रंगनाथजीने उसको एक बार आँख मूँदनेको कहा। उसने आँखें मूँदीं तो क्या देखता है कि उसके जाने-पहचाने हुए बड़े-बड़े धनीलोग—जिनको वह बहुत सुखी समझता था—भीषण नरकाग्निमें जल रहे हैं। उनमेंसे एक कह रहा है—

'सत्य है, धनका ही यह भीषण परिणाम है। मैंने धनके मदमें पागल होकर बड़ा अहङ्कार किया था। मैंने किसीको कुछ नहीं समझा। ज्यों-ज्यों धन बढ़ा, त्यों-ही-त्यों मेरा लोभ बढ़ता गया। मैंने छल-बल-कौशलसे दूसरोंका धन हरण किया। लोगोंमें बड़ा धर्मात्मा और सुखी माना जाता था मैं। परंतु उस समय भी मैं जलता ही था और आज तो इस नरकाग्निमें कैसी भीषण यातना भोग रहा हूँ—इसे मैं ही जानता हूँ। दु:खसे छुटकारा चाहनेवाला कोई भी इस भयङ्कर परिणामपर पहुँचानेवाले धनका लोभ न करे। यदि न्याय और सत्यके द्वारा धन प्राप्त हो तो उसपर अपना अधिकार न मानकर उसे श्रीभगवान्‌की सम्पत्ति समझे और दीन-दु:खी जीवोंकी सेवाके रूपमें प्रसन्नचित्तसे उसका सदुपयोग करता रहे। धनसे पन्द्रह दोष मुझमें उत्पन्न हो गये थे—दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, हिंसा, ममता, मोह, लोभ, काम, असत्य, प्रमाद, दु:सङ्ग, द्यूत, विलासिता और इन्द्रियासक्ति। मैंने धनमदान्ध होकर न जाने क्या-क्या किया था। उस समय उसका यह भीषण परिणाम नहीं सूझता था। परंतु आज मैं उसीका फल—यह नरकानल भोग रहा हूँ। असलमें अपने लिये तो मनुष्यको उतने ही धनसे प्रयोजन है, जितनेसे अन्न-वस्त्रका काम चल जाय। अधिक धनका लालच तो भोगवासनाके कारण होता है। मैं उस समय इस बातको भूल रहा था। अब तो हे भगवन्! किसी प्रकार यहाँसे छुटकारा मिले तो पीड़ा दूर हो।

दूसरेने कहा—'मैं बहुत धनी था, किसी भी प्रकारसे धन बटोरना ही मेरे जीवनका उद्देश्य बन गया था। मैंने धनको कभी गरीबोंकी सेवामें नहीं लगाया। इससे पहले तो साँप बना और अब इस दुर्गतिको भोग रहा हूँ।' कुछ नारकी जीवोंने और भी कई बातें सुनायीं। फिर नरकयन्त्रणाके मारे सभी फुफकार-फुफकारकर रोने लगे। उनका आर्तनाद सुना नहीं जाता था। बड़ा ही करुण दृश्य था। इसके बाद यकायक वह दृश्य हट गया और उसकी आँखें खुल गयीं। उसने देखा—महात्मा रंगनाथजी बड़ी करुण-दृष्टिसे उसकी ओर देख रहे हैं और मुसकरा रहे हैं। देखे हुए दृश्यका और भक्त रंगनाथजीकी दयादृष्टिका उसपर बड़ा ही सुन्दर प्रभाव पड़ा। आश्रमके सात्त्विक वातावरण और सत्सङ्गका स्वाभाविक असर तो था ही। भगवत्कृपासे उसकी धन-कामना नष्ट हो गयी। उसने कहा—'गुरुदेव! मुझे ऐसा उपाय बतलाइये, जिससे मेरा मानव-जन्म सहज ही सफल हो जाय। मुझे धन-मान नहीं चाहिये। मैं चाहता हूँ—भगवत्प्रेम, भगवान्‌की अव्यभिचारिणी भक्ति। आप दया कीजिये।'

उसका नाम था रामचन्द्र। रामचन्द्रके हृदयका सुन्दर परिवर्तन देखकर रंगनाथजीको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे भगवान्‌की कृपाका प्रत्यक्ष प्रभाव देखकर गद्गद हो गये। उन्होंने कहा—'भाई रामचन्द्र! जबतक चित्तमें भोगोंकी कामना भरी है, तबतक उसका अन्धकार नहीं मिटता और इस अन्धकारके रहते शोक-सन्तापसे कभी छुटकारा नहीं मिल सकता। भोग-वासनाका नाश सच्चे वैराग्यवान्

प्रभुप्रेमी संतोंके सङ्गसे ही हो सकता है। असलमें भगवान्‌के प्रति भक्ति होनी चाहिये। भक्ति विषय-वैराग्य बिना हो नहीं सकती। विषयोंमें प्रीति रहते भगवान्‌में प्रीति कैसे हो और जिसमें प्रीति ही नहीं, उसे पानेकी चेष्टा भी क्यों होने लगी। सच्ची बात तो यह है कि भगवान् ही हमारे प्राणाधार हैं, हमारे परम आत्मीय हैं, सुख-दुःखके नित्य साथी हैं, निज जन हैं। वे ही परम प्रियतम हैं। एक बार उन्हें किसी तरह पहचान लिया जाय, जान लिया जाय तो फिर उनकी ओर हृदयका आकर्षण हुए बिना रह नहीं सकता। ऐसे ही हैं वे प्राणप्रियतम—सौन्दर्य, माधुर्य, वात्सल्य और औदार्यके समुद्र! उनकी एक बार पहचान हो जानी चाहिये, फिर तो प्राण अपने-आप ही उनके लिये रो उठेंगे। उनको प्राप्त किये बिना एक क्षण भी चैन नहीं पड़ेगा। कुछ भी अच्छा नहीं लगेगा। सब कुछ छोड़कर—सारे बन्धनोंको तोड़कर चित्तकी सारी वृत्तियाँ एकमुखी होकर उन्हींकी ओर बहने लगेंगी प्रचण्ड वेगसे, अत्यन्त द्रुतगामिनी होकर! असह्य हो जायगा उनका निमेषमात्रका वियोग। ऐसा होना ही मनुष्य-जीवनकी पूर्ण सफलताका पूर्वरूप है। मनुष्यको अपने जीवनमें इसीके लिये पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये। इसका उपाय है भगवान्‌का भजन। मैं तुम्हें द्वादशाक्षर मन्त्र बतलाता हूँ—तुम कामिनी, काञ्चन और मान-प्रतिष्ठाका मोह छोड़कर नित्यप्रति इस मन्त्रका पवित्र श्रद्धापूर्ण चित्तसे अधिक-से-अधिक जप किया करना। मन्त्र है—'**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**'। खबरदार! बड़े-बड़े प्रलोभन आयेंगे तुम्हें डिगानेके लिये, परंतु किसी प्रकार भी लालचमें फँस न जाना। भगवान् कल्याणमय हैं; तुम्हारी निष्ठा सच्ची होगी तो वे अपने दर्शनसे तुम्हें कृतार्थ करेंगे।'

रामचन्द्र भी अभी अविवाहित थे। उनके पास पिताका छोड़ा हुआ कुछ धन तो था; परंतु उनकी इच्छा थी कि पहले किसी भी साधनसे खूब धनी बनना, तदनन्तर विवाह करके मौज उड़ाना। गृहस्थ-धर्म-पालनकी अपेक्षा इन्द्रिय-भोग और मौज-शौकपर उनकी दृष्टि कहीं अधिक थी। बल्कि यही कहना चाहिये कि वे विलासमय जीवन बितानेके लिये ही धन संग्रह करना चाहते थे। उन्होंने बहुत-से उपाय किये। कोई कुछ भी बतलाता, वही करने लगते। अन्तमें भक्त रंगनाथजीकी वाक्-सिद्धिकी बात सुनकर किसी पूर्वपुण्यके प्रभावसे वे इनके पास आये थे और इनके अमोघ सङ्गसे उनकी मोहनिद्रा टूट गयी। वे जग गये और घर लौटकर संतके आज्ञानुसार लग गये भगवत्कृपा प्राप्त करनेके लिये द्वादशाक्षर मन्त्रके जपमें। जितना-जितना जाप बढ़ने लगा, उतना-उतना ही उनका आनन्द बढ़ने लगा। अब तो—जो लक्ष्मी उनसे दूर-दूर रहती थी, वही बिना बुलाये ही उनके पास आने लगी— परंतु वे बड़े दृढ़ रहे अपने व्रतपर। वे जितना ही हटते, उतनी ही भोग-सामग्रियाँ आ-आकर उनके सामने लोट पड़तीं, उनके चरणोंपर न्योछावर होतीं। परंतु उन्होंने किसीकी ओर कभी नजर ही नहीं डाली। मनुष्योंने, देवताओंने उन्हें जमीन-मकानके, महल-सहनके, स्त्री-पुत्रके, धन-दौलतके, मान-प्रतिष्ठाके बड़े-बड़े प्रलोभन दिये। सब चीजें मानो प्रत्यक्ष होकर उनकी सेवा करनेको तैयार हो गयीं। परंतु उन्होंने उनको वैसे ही त्याग दिया, जैसे मनुष्य अपने वमनको त्याग देता है।

उनकी साधना सफल हुई। वे एक दिन पवित्र एकान्त देशमें सन्ध्या-वन्दनादि करनेके पश्चात् ध्यानस्थ होकर भगवान्‌के परम मन्त्रका जप कर रहे थे कि साक्षात् भगवान् नारायण वहाँ प्रकट हो गये। रामचन्द्रजी ध्यानसुखमें मग्न थे। आखिर भगवान्‌की प्रेरणासे उनके नेत्र खुले और वे साधुरक्षक भगवान्‌के दिव्य स्वरूपके दर्शन करके निहाल हो गये। निर्निमेष नेत्रोंसे रूप-सुधाका पान करने लगे। किसी तरह भी तृप्ति नहीं होती थी। बहुत देरके बाद उनकी वाणी खुली और वे भगवान्‌की स्तुति करने लगे। भगवान्‌ने प्रसन्न होकर उन्हें अपनी प्रेमभक्ति दान की। जीवन सफल हो गया!

गीता-दण्डवती भक्त जोग परमानन्द

दक्षिण भारतके वारसी नामक ग्राममें जोग परमानन्दजीका जन्म हुआ था। जब ये छोटे बालक थे, इनके गाँवमें भगवान्‌की कथा तथा कीर्तन हुआ करता था। इनकी कथा सुननेमें रुचि थी। कीर्तन इन्हें अत्यन्त प्रिय था। कभी रातको देरतक कथा या कीर्तन होता रहता तो ये भूख-प्यास भूलकर मन्त्रमुग्ध-से सुना करते। एक दिन कथा सुनते समय जोग परमानन्दजी अपने-आपको भूल गये। व्यासगद्दीपर बैठे वक्ता भगवान्‌के त्रिभुवन-कमनीय स्वरूपका वर्णन कर रहे थे। जोग परमानन्दका चित्त उसी श्यामसुन्दरकी रूपमाधुरीके सागरमें डूब गया। नेत्र खोला तो देखते हैं कि वही वनमाली, पीताम्बरधारी प्रभु सामने खड़े हैं। परमानन्दकी अश्रुधाराने प्रभुके लाल-लाल श्रीचरणोंको पखार दिया और कमललोचन श्रीहरिके नेत्रोंसे कृपाके अमृतबिन्दुओंने गिरकर परमानन्दके मस्तकको धन्य बना दिया।

लोग कहने लगे कि जोग परमानन्द पागल हो गये। संसारकी दृष्टिमें जो विषयकी आसक्ति छोड़कर, इस विषके प्यालेको पटककर व्रजेन्द्र-सुन्दरमें अनुरक्त होता है, जो उस अमृतके प्यालेको होठोंसे लगाता है, उसे यहाँकी मृग-मरीचिकामें दौड़ते, तड़पते, जलते प्राणी पागल ही कहते हैं। पर जो उस दिव्य सुधा-रसका स्वाद पा चुका, वह इस गड्ढे-जैसे संसारके सड़े कीचड़की ओर कैसे देख सकता है। परमानन्दको तो अब परमानन्द मिल गया। जगत्‌के भोग और मान-बड़ाईसे उन्हें क्या लेना-देना। अब तो वे बराबर 'राम-कृष्ण-हरि' जपते हैं और कभी नाचते हैं, कभी रोते हैं, कभी हँसते हैं, कभी भूमिपर लोटते हैं 'विट्ठल, विट्ठल' कहते हुए। उनका चित्त अब और कुछ सोचता ही नहीं।

जोग परमानन्दजी अब पण्ढरपुर आ गये थे। वे पण्ढरीनाथका षोडशोपचारसे नित्य पूजन करते और उसके पश्चात् मन्दिरके बाहर भगवान्‌के सामने गीताका एक श्लोक पढ़कर साष्टाङ्ग दण्डवत् करते। इस प्रकार सात सौ श्लोक पढ़कर सात सौ दण्डवत् नित्य करनेका उन्होंने नियम बना लिया था। सम्पूर्ण गीताका पाठ करके सात सौ दण्डवत् पूरी हो जानेपर ही वे भिक्षा करने जाते और भिक्षामें प्राप्त अन्नसे भगवान्‌को नैवेद्य अर्पण करके प्रसाद पाते।

गरमी हो या सर्दी, पानी पड़े या पत्थर, जोग परमानन्दजीको तो सात सौ दण्डवत् नित्य करनी ही हैं। नेत्रोंके सम्मुख पाण्डुरङ्गका श्रीविग्रह, मुखमें गीताके श्लोक और हृदयमें भगवान्‌का ध्यान, सारा शरीर दण्डवत् करनेमें लगा है। ज्येष्ठमें पृथ्वी तवे-सी जलती हो तो भी परमानन्दजीकी दण्डवत् चलेगी और पौष-माघमें बरफ-सी शीतल हो जाय तो भी दण्डवत् चलेगी। वर्षा हो रही है, भूमि कीचड़से ढक गयी है; पर परमानन्दजी भीगते हुए, कीचड़से लथपथ दण्डवत् करते जा रहे हैं।

एक बार एक साहूकार बाजार करने पण्ढरपुर आया। जोग परमानन्दकी तितिक्षा देखकर उसके मनमें श्रद्धा हुई। रेशमी कपड़ेका एक थान लेकर वह उनके पास पहुँचा और स्वीकार करनेकी प्रार्थना करने लगा। परमानन्दजीने कहा—'भैया! मैं इस वस्त्रको लेकर क्या करूँगा। मेरे लिये तो फटे-चिथड़े ही पर्याप्त हैं। इस सुन्दर वस्त्रको तुम श्रीपाण्डुरङ्गको भेंट करो।' परंतु व्यापारी समझानेसे मान नहीं रहा था। वह आग्रह करता ही जाता था। वस्त्र न लेनेसे उसके हृदयको दुःख होगा, यह देखकर परमानन्दजीने वह रेशमी वस्त्र स्वीकार कर लिया।

जोग परमानन्दजीने रेशमी वस्त्र स्वीकार तो किया था व्यापारीको कष्ट न हो इसलिये। पर जब वस्त्र ले लिया, तब इच्छा जगी कि उसे पहनना भी चाहिये। दूसरे दिन वे रेशमी वस्त्र पहनकर भगवान्‌की पूजा करने आये। आज भी वर्षा हो रही थी। पृथ्वी कीचड़से भरी थी। परमानन्दका मन वस्त्रपर लुभा गया! पूजा करके दण्डवत् करते समय उन्होंने वस्त्र समेट लिये। आज उनकी दृष्टि पाण्डुरङ्ग प्रभुपर नहीं थी—वे बार-बार वस्त्र देखते थे, वस्त्र सँभालते थे। दण्डवत् ठीक नहीं होती थी; क्योंकि मूल्यवान् नवीन रेशमी वस्त्रके कीचड़से खराब हो जानेका भय था। भक्ति-मार्गमें दयामय भगवान् अपने भक्तकी सदा उसी प्रकार रक्षा करते रहते

हैं, जैसे स्नेहमयी माता अपने अबोध शिशुकी करती है। बालक खिलौना समझकर जब सर्प या अग्निके अङ्गारे लेने दौड़ता है तब जननी उसे उठाकर गोदमें ले लेती है। जहाँ मायाके प्रलोभन दूसरे साधकोंको भुलावेमें डालकर पथभ्रष्ट कर देते हैं, वहाँ भक्तका उनसे कुछ भी नहीं बिगड़ता। जो अपनेको श्रीहरिके चरणोंमें छोड़ चुका, वह जब कहीं भूल करता है, तब झट उसे वे कृपासिन्धु सुधार देते हैं। वह जब कहीं मोहमें पड़ता है तब वे हाथ पकड़कर उसे वहाँसे निकाल लाते हैं। आज जोग परमानन्द रेशमी वस्त्रोंके मोहमें पड़ गये थे। अचानक हृदयमें किसीने पूछा—'परमानन्द! तू वस्त्रोंको देखने लगा! मुझे नहीं देखता आज तू?' परमानन्दने दृष्टि उठायी तो जैसे सम्मुख श्रीपाण्डुरङ्ग कुछ मुसकराते, उलाहना देते खड़े हों। झट उस रेशमी वस्त्रको टुकड़े-टुकड़े फाड़कर उन्होंने फेंक दिया।

'मुझसे बड़ा पाप हुआ। मैं बड़ा अधम हूँ।' जोग परमानन्दको बड़ा ही दुःख हुआ। वे अपने इस अपराधका प्रायश्चित्त करनेका विचार करके नगरसे बाहर चले गये। दो बैलोंको जुएमें बाँधा और अपनेको रस्सीके सहारे जुएसे बाँध दिया। चिल्लाकर बैलोंको भगा दिया। शरीर पृथ्वीमें घसिटता जाता था, कंकड़ोंसे छिल रहा था, काँटे चुभते और टूटते जाते थे, रक्तकी धारा चल रही थी; किंतु परमानन्द उच्चस्वरसे प्रसन्न मनसे 'राम! कृष्ण! गोविन्द!' की टेर लगा रहे थे। जैसे-जैसे शरीर छिलता, घसिटता, वैसे-वैसे उनकी प्रसन्नता बढ़ती जाती थी। वैसे-वैसे उनका स्वर ऊँचा होता जाता था और वैसे-वैसे बैल भड़ककर जोरसे भागते जाते थे।

भक्तवत्सल प्रभुसे अपने प्यारे भक्तका यह कष्ट देखा नहीं गया। वे एक ग्वालेके रूपमें प्रकट हो गये। बैलोंको रोककर जोग परमानन्दको उन्होंने रस्सीसे खोल दिया और बोले—'तुमने अपने शरीरको इतना कष्ट क्यों दिया। भला, तुम्हारा ऐसा कौन-सा अपराध था। तुम्हारा शरीर तो मेरा हो चुका है। तुम जो कुछ खाते हो, वह मेरे ही मुखमें जाता है। तुम चलते हो तो मेरी उससे प्रदक्षिणा होती है। तुम जो भी बातें करते हो, वह मेरी स्तुति है। जब तुम सुखसे लेट जाते हो तब वह मेरे चरणोंमें तुम्हारा साष्टाङ्ग प्रणाम हो जाता हैं। तुमने यह कष्ट उठाकर मुझे रुला दिया है।' प्रभुने उठाकर उन्हें हृदयसे लगा लिया। जोग परमानन्द श्यामसुन्दरसे मिलकर उनमें एकाकार हो गये।

भक्त वेंकट

दक्षिणमें पुलिवेंदलाके समीप पापघ्नी नदीके किनारेपर एक छोटे-से गाँवमें वेंकट नामक एक ब्राह्मण निवास करता था। ब्राह्मण भगवान् श्रीरङ्गनाथजीका बड़ा भक्त था। वह दिन-रात भगवान्के पवित्र नामका जप करता। ब्राह्मणकी पत्नीका नाम था रमाया। वह भी पतिकी भाँति ही भगवान्का भजन किया करती थी। माता-पिता मर गये थे और कोई सन्तान थी नहीं, इसलिये घरमें ब्राह्मण-ब्राह्मणी दो ही व्यक्ति थे। दोनोंमें परस्पर बड़ा प्रेम था। वे अपने व्यवहार-बर्तावसे सदा एक-दूसरेको सुख पहुँचाते रहते थे।

पिता राजपुरोहित थे, इससे उन्हें अपने यजमानोंसे यथेष्ट धन-सम्पत्ति मिली थी। वे बहुत ही सदाचारी, विद्वान्, भगवद्भक्त और ज्ञानी थे। उन्होंने मरते समय वेंकटसे कहा था—"बेटा! मेरी पूजाके कमरेसे दक्षिणवाली कोठरीमें आँगनके बीचो-बीच सात कलसे सोनेकी मोहरोंके गड़े हैं। मैंने बड़े परिश्रमसे धन कमाया है। मुझे बड़ा दुःख है कि मैं अपने जीवनमें इसका सदुपयोग नहीं कर सका। बेटा! धनकी तीन गतियाँ होती हैं। सबसे उत्तम गति तो यह है कि अपने ही हाथों उसे सत्कार्यके द्वारा भगवान्की सेवामें लगा दिया जाय। मध्यम गति यह है कि उसे अपने तथा अपनी संतानके शास्त्रविहित सुख-भोगार्थ खर्च कर दिया जाय और तीसरी अधम गति उस धनकी होती है, जो न तो भगवान्की सेवामें लगता है और न सुखोपभोगमें ही लगता है। वह गति है उसका दूसरोंके द्वारा छीन लिया जाना अथवा अपने या पराये हाथों बुरे कर्मोंमें खर्च होना। यदि भगवान्की कृपासे पुत्र सत्त्वगुणी

होता है तो मरनेके बाद धन सत्कार्यमें लग जाता है; नहीं तो, वही धन कुपुत्रके द्वारा बुरे-से-बुरे काम—शराब, वेश्या और जुए आदिमें लगकर पीढ़ियोंतकको नरक पहुँचानेमें कारण बनता है। बेटा! तू सुपूत है—इससे मुझे विश्वास है कि तू धनका दुरुपयोग नहीं करेगा। मैं चाहता हूँ—इस सारे धनको तू भगवान्‌की सेवामें लगाकर मुझे शान्ति दे। बेटा! धन तभी अच्छा है जब कि उससे भगवत्स्वरूप दुःखी प्राणियोंकी सेवा होती है। केवल इसीलिये धनवानोंको 'भाग्यवान्' कहा जाता है। नहीं तो, धनके समान बुरी चीज नहीं है। धनमें एक नशा होता है जो मनुष्यके विवेकको हर लेता है और नाना प्रकारसे अनर्थ उत्पन्न करके उसे अपराधोंके गड़हेमें गिरा देता है। भगवान् श्रीकृष्णने भक्तराज उद्धवजीसे कहा है—

स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥

(श्रीमद्भा० ११। २३। १८-१९)

'चोरी, हिंसा, झूठ बोलना, पाखण्ड, काम, क्रोध, गर्व, मद, ऊँच-नीचकी और अपने-परायेकी भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, होड़, लम्पटता, जूआ और शराब—इन पंद्रह अनर्थोंकी जड़ मनुष्यमें यह अर्थ (धन) ही माना गया है। इसलिये अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको चाहिये कि इस 'अर्थ' नामधारी 'अनर्थ'को दूरसे ही त्याग दे।'

''बेटा! मैं इस बातको जानता था, इसीसे मैंने तुझको आजतक इस धनकी बात नहीं बतायी। मैं चाहता था, इसे अपने हाथसे भगवान्‌की सेवामें लगा दूँ; परंतु संयोग ऐसे बनते गये कि मेरी इच्छा पूरी न हो सकी। मनुष्यको चाहिये कि वह दान और भजन-जैसे सत्कार्यको विचारके भरोसे कलपर न छोड़े। उन्हें तो तुरंत कर ही डाले। पता नहीं कल क्या होगा। इस 'कल-कल'में ही मेरा जीवन बीत गया। मेरे प्यारे वेंकट! संसारमें सभी पिता अपने पुत्रके लिये धन कमाकर छोड़ जाना चाहते हैं, परंतु मैं ऐसा नहीं चाहता। बेटा! मुझे प्रत्यक्ष दीखता है कि धनसे मनुष्यमें दुर्बुद्धि उत्पन्न होती है। इससे मैं तुझे अर्थका धनी न देखकर भजनका धनी देखना चाहता हूँ। इसीलिये तुझसे यह कहता हूँ कि इस सारे धनको तू भगवान्‌की सेवामें लगा देना। तेरे निर्वाहके लिये घरमें जो कुछ पैतृक सम्पत्ति है—जमीन है, खेत है और थोड़ी-बहुत यजमानी है, वही काफी है। जीवनको सादा, संयमी और ब्राह्मणोचित त्यागसे सम्पन्न रखना, सदा सत्यका सेवन करना और करना श्रीरङ्गनाथ भगवान्‌का भजन। इसीसे तू कृतार्थ हो जायगा और इसीसे तू पुरखोंको तारनेवाला बनेगा। बेटा! मेरी इस अन्तिम सीखको याद रखना।''

वेंकट अपने पितासे भी बढ़कर विवेकी था। उसने कहा—'पिताजी! आपकी इस सीखका एक-एक अक्षर अनमोल है। सच्चे हितैषी पिताके बिना ऐसी सीख कौन दे सकता है। मोहवश संसारके भोगोंमें फँसाकर जन्म-मृत्युके चक्करमें डालनेवाले पिता-माता तो बहुत होते हैं; परंतु अज्ञानके बन्धनसे छूटनेका सरल उपाय बतलानेवाले तो आप-सरीखे पिता बिरले ही होते हैं। मुझे यह धन न देकर आपने मेरा बड़ा उपकार किया है; परंतु पिताजी! मालूम होता है, मेरी कमजोरी देखकर ही आपने धनकी इतनी बुराइयाँ बतलाकर धनको महत्त्व दिया है। वस्तुतः धनकी ओर भजनानन्दियोंका ध्यान ही क्यों जाना चाहिये। धनमें और धूलमें अन्तर ही क्या है। जो कुछ भी हो—मैं आपकी आज्ञाको सिर चढ़ाता हूँ और आपके सन्तोषके लिये धनकी ओर ध्यान देकर इसे शीघ्र ही भगवान्‌की सेवामें लगा दूँगा। अब आप इस धनका ध्यान छोड़कर भगवान् श्रीरङ्गनाथजीका ध्यान कीजिये और शान्तिके साथ उनके परमधामको पधारिये। मेरी माताने मुझे जैसा आशीर्वाद दिया था, वैसे ही आप भी यह आशीर्वाद अवश्य देते जाइये कि मैं कभी भगवान्‌को भूलूँ नहीं—मेरा जीवन भगवत्परायण रहे और आपकी यह पुत्रवधू भी भगवान्‌की सेवामें ही संलग्न रहकर अपने जीवनको सफल करे।'

पिताने 'तथास्तु' कहकर भगवान्‌में ध्यान लगाया और भगवान्‌के नामकी ध्वनि करते-करते ही उनका मस्तक फट गया। वेंकट और रमायाने देखा—एक उजली-सी ज्योति मस्तकसे निकलकर आकाशमें लीन हो गयी।

वेंकटने पिताका शास्त्रमर्यादाके अनुसार संस्कार किया। फिर श्राद्धमें समुचित ब्राह्मण-भोजनादि करवाकर पिताके आज्ञानुसार स्वर्णमुहरोंके घड़ोंको निकाला और तमाम धन-राशि गरीबोंकी सेवाके द्वारा भगवत्सेवामें लगा दी गयी।

तबसे वेंकट और रमायाकी निष्ठा और भी दृढ़ हो गयी। उन्होंने अपना सारा जीवन साधनामय बना डाला। पत्नी अपने पतिकी साधनामें सहायता करती और पति पत्नीकी साधनामें सहायक होता। कहीं किसी कारणसे किसी एकके अंदर कोई दोष दीखता या किसी एकके जरा भी गिरनेकी सम्भावना होती तो दूसरा उसे उचित परामर्श देकर, विनयसे समझाकर और प्रेमसे सावधान करके रोक देता। दोनों एक ही भगवत्पथपर चलते थे और दोनोंसे ही दोनोंको बल मिलता था। यही तो सच्चा दाम्पत्य है।

एक दिन दोनों ही भगवान्‌के प्रेममें तन्मय होकर उनको अपने सामने मानकर—अन्तरके नेत्रोंसे देखकर नाच रहे थे और मस्त होकर कीर्तन कर रहे थे। भगवान् यों तो प्रतिक्षण ही भक्तोंके समीप रहते हैं पर आज तो वे वहाँ प्रत्यक्ष प्रकट हो गये और उन्हींके साथ थिरक-थिरककर नाचने लगे। भक्त भगवान्‌पर मुग्ध थे और भगवान् भक्तोंपर। पता नहीं—यह आनन्दका नाच कितने समयतक चलता रहा। भगवान्‌की इच्छासे जब वेंकट-रमायाको बाह्य ज्ञान हुआ तब उन्होंने देखा, दोनोंका एक-एक हाथ एक-एक हाथसे पकड़े अपने भगवान् श्रीरङ्गनाथ दोनोंके बीचमें खड़े मन्द-मन्द मुसकरा रहे हैं। भगवान्‌को प्रत्यक्ष देखकर दोनों निहाल हो गये। आनन्दका पार नहीं था। उनके शरीर प्रेमावेशसे शिथिल हो गये। दोनों भगवान्‌के चरणोंमें गिर पड़े। भगवान्‌ने उठाकर दोनोंके मस्तक अपनी दोनों जाँघोंपर रख लिये और उनपर वे अपने कोमल करकमल फिराने लगे। इतनेमें ही दिव्य विमान लेकर पार्षदगण पहुँच गये। भगवान् अपने उन दोनों भक्तोंसहित विमानपर सवार होकर वैकुण्ठको पधार गये। कहना नहीं होगा कि भगवान्‌के संस्पर्शसे दोनोंके शरीर पहले ही चिन्मय दिव्य हो गये थे।

भक्त वेङ्कटरमण

दक्षिण भारतमें तुङ्गभद्राके तटपर श्रीरङ्गपुरम् नामक एक छोटे-से गाँवमें एक साधारण-से ब्राह्मण-परिवारमें वेङ्कटका जन्म ठीक श्रीरामनवमीके दिन दोपहरको हुआ था। परिवार छोटा-सा ही था—माता-पिता, दो बहिनें और एक भाई। वेङ्कटको इन सबका प्यार एक साथ मिला और परिवारके परम्परागत संस्कारोंकी छाप उसके कोमल हृदयपर पड़ती गयी। घरके आँगनमें तुलसी-चौतरा था और उसपर सिन्दूरसे पोती हुई श्रीमारुतिकी एक सुन्दर मूर्ति विराजमान थी। चौतरेके एक कोनेपर श्रीमारुतिकी एक विशाल ध्वजा थी, जो ऊँचे आकाशमें फहराती रहती थी। प्रत्येक मङ्गल और शनिवारको रात्रिमें श्रीमारुतिका उत्सव होता, कथा होती, कीर्तन होता और अन्तमें प्रसाद बँटता। वेङ्कटके पिता कथा बाँचते, कीर्तन कराते। माँ बच्चेको गोदमें लेकर बैठती और कीर्तनमें पीछे-पीछे बोलती। खूब ताल और स्वरके साथ कीर्तन होता। बालक वेङ्कट अभी माँके साथ-साथ तुतलाता हुआ कीर्तन करता।

वेङ्कट चौथे वर्षमें पदार्पण कर चुका था। अब अच्छी तरह स्वरके साथ कीर्तन करता था। कथामें भी वेङ्कटको विशेष रस आने लगा था। वह बड़े ध्यानसे कथा सुनता। ऐसा मालूम होता कि पूर्वजन्मके संस्कारोंके कारण उसे कथाकी सारी बातें अपने-आप खुलती जाती थीं। एक बार मङ्गलका दिन था। अध्यात्मरामायणके किष्किन्धाकाण्डकी कथा हो रही थी। भगवान् श्रीराम अपने प्रिय भाई लक्ष्मणको पूजाकी विधि बतला रहे हैं। प्रसङ्ग बहुत सुन्दर था। आज एक बात वेङ्कटको बहुत प्यारी लगी। कथारम्भके समय ही पिताने व्यासासनसे श्रीमारुतिके चरणोंमें वन्दना करते हुए एक श्लोक पढ़कर उसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने श्रोताओंको समझाया कि जहाँ-जहाँ प्रभु श्रीरघुनाथजीकी कथा और कीर्तन होता है, वहाँ श्रीहनुमान्‌जी महाराज अवश्यमेव रहते हैं और हाथ जोड़े, आँखोंमें आँसू भरे प्रेमपूर्वक कथा सुनते हैं। श्रीरघुनाथजीको जो प्रसन्न करना चाहे,

वह श्रीहनुमान्‌जीको प्रसन्न करे, उनका आशीर्वाद-प्रसाद प्राप्त करे। इस प्रकार बड़ी सुगमतासे, बहुत थोड़े समयमें श्रीमारुतिकी कृपासे श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें अविचल भक्ति प्राप्त होती है। श्रीहनुमान्‌जीकी उपासना व्यर्थ नहीं जाती।

वेङ्कटके हृदयमें यह बात बैठ गयी। उसने मन-ही-मन निश्चय किया कि अब श्रीमारुतिकी उपासना करके प्रभु श्रीरामचन्द्रजीका दिव्य दर्शन करूँगा, अवश्य करूँगा! श्रीमारुतिरायके सम्बन्धमें अधिकाधिक जाननेकी लालसा वेङ्कटरमणके हृदयमें बढ़ती गयी। रातको जब सब खा-पी लेते, तब वह पिताके पास जाकर श्रीहनुमान्‌जीके सम्बन्धमें पूछता। वेङ्कटके पिता एक दिन अपने बच्चेको बड़े ही प्यारसे यह समझा रहे थे कि श्रीहनुमान्‌जीके स्वभावमें यह विशेषता है कि जो इनके सम्पर्कमें आ जाता है, उसे ये किसी-न-किसी प्रकार भगवान्‌की सन्निधिमें पहुँचा ही देते हैं। विभीषणको इन्होंने भगवान्‌से मिलाया, सुग्रीवको भगवान्‌से मिलाया, तुलसीदासको इन्होंने भगवान्‌से मिलाया। इनका एकमात्र काम है भगवान्‌की सेवा और भगवान्‌की शरणमें जानेवालोंकी सहायता। इस बातको सुनकर वेङ्कटको बड़ा सुख मिला। वह समझने लगा कि अब तो मुझे भगवान्‌के दर्शन श्रीहनुमान्‌जीकी कृपासे अवश्य होंगे।

धीरे-धीरे वेङ्कट सयाना हुआ। नवें वर्षमें उसका विधिवत् यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ। श्रीगुरुमुखसे उसे गायत्रीमन्त्रके साथ-साथ 'ॐ हरिः' की दीक्षा मिली। माता-पिताकी आज्ञा और आशीर्वादसे वह गुरुकुलमें शिक्षा प्राप्त करनेके लिये भेजा गया। गुरुके आश्रममें पूरे सोलह वर्ष व्यतीतकर वेङ्कट गुरुकी आज्ञासे समावर्तन-संस्कारके अनन्तर घर लौटा। आश्रमकी छाप उसपर पड़ चुकी थी। अखण्ड ब्रह्मचर्यके तेजसे उसका मुखमण्डल जगमगा रहा था।

वेङ्कटरमणने अपने जीवनका मार्ग निश्चित कर लिया था। समस्त वेद-वेदाङ्ग, उपनिषद्, पुराण आदिकी गहराईमें डूबनेपर उसे 'ॐ हरिः' के ही दर्शन हुए। नैष्ठिक ब्रह्मचर्य और 'ॐ हरिः' का अखण्ड एकतार स्मरण। उसकी इस अनन्यनिष्ठाको देखकर घरवालोंने उसके सम्मुख विवाहका प्रस्ताव ही नहीं रखा। पिताको बड़ी प्रसन्नता थी कि उनका पुत्र सन्मार्गपर बढ़ता चला जा रहा है। उन्होंने किसी प्रकारकी छेड़-छाड़ नहीं की। वेङ्कटरमण नित्यप्रति प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तमें उठता, स्नान-सन्ध्या-तर्पणसे निश्चिन्त होकर वेदोंकी कुछ ऋचाओंका तथा उपनिषदोंके कुछ मन्त्रोंका स्वरसे पाठ करता और फिर श्रीमारुतिकी मूर्तिके सामने आसन लगाकर एकनिष्ठ होकर बैठ जाता और पूरे छः घंटे 'ॐ हरिः' का जप करता। दोपहरको घरमें जो कुछ तैयार होता, उसे प्रभुका मधुर प्रसाद समझकर प्राप्त करता और फिर कुछ स्वाध्याय करता। तीसरे पहर वह पुनः जपमें बैठ जाता और चार घंटोंतक श्वासके द्वारा 'ॐ हरिः' का जप करता। जपकी ओर उसकी प्रवृत्ति बढ़ती ही गयी। निश्चित समयमें तो वह विधिवत् जप करता ही था, शेष समय भी वह मन-ही-मन उसीकी बार-बार आवृत्ति करता रहता था। फल यह हुआ कि रातको सोते समय भी उसके द्वारा जप होता रहता था।

जपकी ओर मन ज्यो-ज्यों झुकता गया, एकान्तकी चाह भी त्यों-ही-त्यों बढ़ती गयी। कभी-कभी चाँदनी रातमें तुङ्गभद्राके तटपर एकान्तमें बैठकर जब वह 'ॐ हरिः' की धुन लगाता तब ऐसा मालूम होता कि उसके रोम-रोमसे 'ॐ हरिः' 'ॐ हरिः' की कोमल किरणें निकल रही हैं और भीतर-बाहर यह मन्त्र दिव्य ललित अक्षरोंमें लहरा रहा है। पूरे ग्यारह वर्ष इस प्रकार इस मधुर साधनामें बीत गये; परंतु वेङ्कटको मालूम होता अभी कल ही इस मार्गमें प्रवृत्त हुआ हूँ।

आज श्रीहनुमान्‌जीकी जयन्ती थी। दिनभर वेङ्कटके घर बड़ी धूम-धाम रही। आधी राततक जागरण हुआ—खूब भजन हुआ, पद गाये गये, कथा हुई, श्रीमारुतिरायके नामका धुआँधार जयघोष हुआ, प्रसाद बँटा। सब लोग घर गये। परंतु वेङ्कटरमणके मनमें एक विचित्र प्रकारका आन्दोलन छिड़ा हुआ था। उत्सव समाप्त होते ही

पञ्चामृत लेकर वह धीरेसे घरसे सरका और नदीकी ओर बढ़ा। चैत्र शुक्ला पूर्णिमाकी आधी रात, तुङ्गभद्राका वालुकामय तट, वासन्ती बयारके झोंके, वन्य पुष्पोंकी परागसे मदमाती वायुकी अठखेलियाँ! वेङ्कट अपने इष्टदेव श्रीमारुतिके ध्यानमें बैठ गया। बैठते ही समाधि लग गयी और देखा कि असंख्य वानरोंकी सेना लेकर मारुतिराय आ रहे हैं—धीरे-धीरे सभी वानर जाने कहाँ और कब अन्तर्धान हो गये और रह गये केवल श्रीमारुतिराय। वे स्नेहसे भरी दृष्टिसे वेङ्कटकी ओर देख रहे थे। वेङ्कटके सिरपर अपना दाहिना हाथ रखकर उसे आशीर्वाद दे रहे थे। वेङ्कटसे अब रहा नहीं गया। वह प्रभुके चरणोंमें गिर गया और आनन्दके भारसे मूर्छित हो गया। उस दिव्य मूर्छामें वेङ्कटको यह बोध हुआ कि श्रीहनुमान्‌जी उसके हृदय-पटपर अपनी तर्जनी अँगुलीसे स्वर्णाक्षरोंमें 'ॐ हरिः' लिख रहे हैं। आज वेङ्कटरमणको श्रीमारुतिका दिव्य प्रसाद मिला।

अब प्रायः रात्रिको, जब सब सो जाते, वेङ्कट तुङ्गभद्राके तटपर एकान्तमें श्रीमारुतिसे मिलने लगा। उसे ऐसा लगता मानो श्रीमारुति पहलेसे ही उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उनके चरणोंमें मस्तक टेकता और आँसुओंसे उनके वक्षःस्थलको भिगो देता। फिर श्रीहनुमान्‌जी उसे अपनी वात्सल्य-धारामें डुबाकर अपने स्वामीके परम धाम श्रीसाकेतलोकमें ले जाते। वहाँ प्रभु श्रीरघुनाथजीके नित्य लीलाधाममें नित्य लीला-विहारका दर्शन होता। वहाँका दृश्य बहुत ही दिव्य और परम मङ्गलमय था—

कल्पवृक्षके नीचे सोनेका महामण्डप है। उसके नीचे अत्यन्त सुन्दर मणिरत्नमय सिंहासन है। उसपर भगवान् श्रीरामचन्द्र श्रीसीताजीसहित विराजित हैं। नवीन दूर्वादलके समान उनका श्यामवर्ण है। कमलदलके समान विशाल नेत्र हैं। बड़ा ही सुन्दर मुखमण्डल है। विशाल भालपर ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक सुशोभित है। घुँघराले काले केश हैं। मस्तकपर करोड़ों सूर्योंके समान प्रकाशयुक्त मुकुट है। मुनिमनमोहन महान् लावण्य है। दिव्य अङ्गपर पीताम्बर विराजित है। गलेमें रत्नोंके हार और दिव्य पुष्पोंकी माला है। देहपर चन्दन लगा है। हाथोंमें धनुष-बाण हैं। लाल-लाल होठ हैं। उनपर मीठी मुसकानकी छवि छा रही है। बायीं ओर माता श्रीसीताजी विराजित हैं। इनका उज्ज्वल स्वर्णवर्ण है। नीली साड़ी पहनी हुई हैं और हाथोंमें रक्त कमल धारण की हैं। दिव्य आभूषणोंसे सब अङ्ग विभूषित हैं। बड़ी ही अपूर्व और मनोरम झाँकी है।

प्रभुकी यह दिव्य झाँकी पाकर वेङ्कटका जीवन धन्य हो गया!

यह लीला-विहार कितने दिन चलता रहा, वेङ्कटको कुछ पता नहीं। एक दिन अञ्जनीकुमार श्रीहनुमान्‌जीने प्रसन्न होकर उससे पूछा—'कहो वत्स! तुम क्या चाहते हो?' वेङ्कटसे कुछ बोला नहीं गया; परंतु फिर भी मन-ही-मन उसके भीतर यह लालसा जगी कि श्रीहनुमान्‌जीका जो परम प्रिय पदार्थ है, वही देखना चाहिये। श्रीहनुमान्‌जी उसके मनकी समझ गये। उन्होंने कहा, 'अच्छा मेरा परम प्रिय पदार्थ जो मेरे प्राणोंसे भी प्रिय है, तुम देखो और सुनो।' यों कहकर वे दोनों हाथोंमें करताल लेकर मस्त होकर कीर्तन करने लगे—

जय सीताराम सीताराम सीताराम जय सीताराम।
जय सीताराम सीताराम सीताराम जय सीताराम॥

भक्तराज हनुमान्‌का यह दिव्य कीर्तन त्रिभुवनको पावन करनेवाला है, वे सदा इसीका कीर्तन किया करते हैं। परंतु आजका यह कीर्तन केवल वेङ्कटरमण ही सुन रहे हैं और उनकी क्या अवस्था है, यह कोई बड़भागी भक्त ही बता सकता है। कीर्तनकी धुन गाढ़ी होती गयी और धीरे-धीरे शीतल, मधुर प्रकाशकी कोमल किरणें समीप आती दीखीं। साक्षात् प्रभु श्रीरघुनाथजी माता जानकीजीसहित वहाँ पधारे और अपने मन्द-मन्द मृदुल हास्यसे अपने भक्त श्रीहनुमान्‌को और अपने भक्तके भक्त वेङ्कटरमणको कृतकृत्य कर दिया। वेङ्कटके प्राण प्रभुके प्राणोंमें लीन हो गये!

भक्त दामोदर और उनकी धर्मपत्नी

काञ्ची नगरीमें दामोदर नामक एक कंगाल ब्राह्मण रहते थे। उनके कोई सन्तान नहीं थी। एकमात्र स्त्री ही उनका परिवार थी और भिक्षा ही थी आजीविका। भगवान्‌का नाम लेते हुए दामोदर नगरमें भिक्षा माँग लाते। किसी दिन कुछ न मिला तो दम्पति जल पीकर सन्तोष कर लेते। भिक्षामें जो कुछ मिल जाता, ब्राह्मणी उसीसे भगवान्‌का भोग बनाती। दोनों उस प्रसादको ग्रहण करते। किसी दिन कोई अतिथि आ जाता तो उसे बड़े प्रेमसे वे भोजन कराते और स्वयं उपवास कर लेते। दोनोंका एकमात्र काम भगवान्‌का भजन था। भगवान्‌की भक्तिके अतिरिक्त उनके मनमें और कोई कामना नहीं थी।

काञ्चीके स्वामी वे सर्वेश्वर सदासे बड़े कौतुकी हैं। बड़े-बड़े मन्दिरोंमें नित्य उन्हें छप्पन भोग लगते हैं, धनी-मानी जन उनके लिये नाना प्रकारके पकवान बनाते रहते हैं। ब्रह्मा, इन्द्र, कुबेर उनके कृपा-कटाक्षकी प्रतीक्षा किया करते हैं। भगवती महालक्ष्मी उनके चरणोंको अङ्कमें लिये उनके मुख-कमलकी ओर एकटक निहारती रहती हैं कि कभी तो प्रभु किसी नन्हीं-सी सेवा करनेका संकेत करें; पर वे ऐसे हैं कि उनको इनमेंसे कहीं कुछ देखनेकी इच्छा ही नहीं होती। उन्हें भूख लगती है किसी कंगालके चिउरे चबानेके लिये, किसी प्रेमोन्मादिनीका केलेका छिलका खानेके लिये या ऐसे ही किसी दरिद्रका कोई उपहार पानेके लिये। उन दीनबन्धुकी रुचि है ही निराली। आज उन्हें दामोदरका आतिथ्य पानेकी भूख लग गयी। बूढ़े संन्यासी बनकर उसकी टूटी झोपड़ीके द्वारपर आप पहुँच गये।

बेचारे दामोदरको आज भिक्षामें एक मुट्ठी चावल भी नहीं मिला था। खाली हाथ घर लौटकर वे मन-ही-मन भगवान्‌से प्रार्थना कर रहे थे कि आज कोई अतिथि न आ जाय। जहाँ बाघका भय था वहीं साँझ हुई। जिस अतिथिसे डर रहे थे वही द्वारपर आ गया—ऐसा अतिथि कि उससे बुढ़ापेके कारण खड़ा होना कठिन, भूख तथा थकावटके कारण बोलातक कठिनतासे जाता है। दामोदरने द्वारपर आकर हाथ जोड़कर प्रणाम किया। तेजस्वी, वृद्ध संन्यासीने कहा—'तुम्हारी बड़ी कीर्ति सुनकर आया हूँ। मैं चाहे जिसके भोजन नहीं करता। मैं श्रद्धालु भक्तोंका अन्न तो माँगकर भी खाता हूँ; पर जिनकी अतिथि-अभ्यागतोंमें श्रद्धा नहीं, वे गले पड़ें तब भी उनके अन्नकी ओर देखतातक नहीं। पुराना शरीर है, चला-फिरा जाता नहीं। तुम्हारे अन्नके लोभसे चला आया हूँ। मुझे एक मुट्ठी अन्न मिलेगा या नहीं?'

दामोदर क्या कहें? उन्होंने संन्यासीजीको घरमें लाकर एक कुशके आसनपर बैठा दिया। शीतल जलसे उनके चरण धोये। पत्नीसे जाकर सब हाल कहा। बेचारी ब्राह्मणी भी क्या करती। घरमें तो न कोई बर्तन है न वस्त्र कि उसे बेचा जा सके। फटा-चिथड़ा और मिट्टीकी हाँड़ी ही घरकी सम्पत्ति है। परंतु क्या आज अतिथि घरसे भूखा जायगा? पति-पत्नी दोनोंके नेत्रोंसे टपटप बूँदें गिरने लगीं। सहसा ब्राह्मणीको एक उपाय सूझा। उसने पतिसे कहा—'आप तुरंत नाईके घरसे कैंची माँग लाइये और मेरे बालोंको काट लीजिये। हम दोनों मिलकर उनसे वेणी बाँधनेकी डोरी बट लेंगे। उसे बेचनेपर अतिथिकी सेवा हो जायगी।'

दामोदर कैंची माँग लाये। ब्राह्मणीके केशोंको चारों ओर थोड़े-थोड़े छोड़कर शेष काट लिया। उन्होंने उनसे डोरी बटी। सौभाग्यसे एक ग्राहकने उसे ले लिया। उसके पैसोंसे अतिथिके लिये दाल, चावल, घी आदि आया। ब्राह्मणीने रसोई बनायी। वृद्ध संन्यासी भोजन करने बैठे। केलेके पत्तेपर वे यज्ञभोक्ता सर्वेश्वर भोजन करने लगे। दामोदर उन्हें हवा करने लगे। ब्राह्मणीने आग्रह करके बार-बार परोसा। वे अतिथिदेवता जो कुछ बना था सब भोजन कर गये। कुछ भी बचा नहीं। भोजन करके बोले—'मैं तुम-लोगोंकी सेवासे बहुत सन्तुष्ट हुआ। वृद्ध शरीर है, रातको चला नहीं जायगा, रातको यहीं रहूँगा। सन्ध्या-समय मेरे लिये अधिक खटपट करनेकी आवश्यकता नहीं। एक हँडिया चावलसे ही काम चल जायगा।'

दामोदरको अतिथिके लिये सायंकालीन भोजन-

व्यवस्थाकी अधिक चिन्ता नहीं करनी पड़ी। ब्राह्मणीने अपने सिरके बचे हुए केश भी उतरवा दिये और एक चिथड़ा लपेट लिया। केशोंकी डोरी फिर बँटी गयी। उसके पैसोंसे फिर सामान आया और सायंकालीन भोजनमें भी अतिथि देवताने रसोईमें कुछ बचा नहीं रहने दिया। दामोदर और उनकी स्त्रीको बड़ी प्रसन्नता हुई। केवल जब दामोदर अपनी स्त्रीके चिथड़ा लपेटे सिरकी ओर देखते तब उनके नेत्र सजल हो जाते थे।

घास-पत्तोंके आसनपर वे अखिल-ब्रह्माण्डनायक सर्व-लोकमहेश्वर भगवान् शेषशायी मजेसे सो गये। दामोदर उनके धीरे-धीरे चरण दबाने लगे। जब अतिथि सो गये तब ब्राह्मणीने पतिसे कहा—'साधु महाराज बहुत बूढ़े हैं। इस दुर्बल शरीरसे कल भी इनसे कैसे चला जायगा। आप कल सबेरे ही नगरमें भिक्षाके लिये जाइये। जो कुछ मिल जायगा उससे हमलोग कल भी इनकी सेवा करेंगे। हम दोनों तो जल पीकर कई दिन मजेसे रह सकते हैं।' जैसी ब्राह्मणी, वैसे ब्राह्मण। दोनोंने सलाह पक्की कर ली।

वे अनन्तशायी पड़े-पड़े ब्राह्मण-दम्पतिकी बातें सुन रहे थे। उनके कमल-नेत्रोंके कोनेसे करुणाकी धारा बह चली। उनकी इच्छासे ब्राह्मणदम्पति सो गये। प्रभुने उठकर पतिव्रता स्त्रीके मस्तकपर हाथ रखकर कहा—'माता! तेरा मस्तक सुन्दर घुँघराले केशोंसे सुशोभित हो जाय। तेरा शरीर मणि-रत्नोंके आभूषणोंसे भूषित, सौन्दर्ययुक्त हो जाय। यह कुटिया राजमहल बन जाय। ये घर रत्नोंसे भर जायँ। तुम दोनों सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करके अन्तमें मेरे वैकुण्ठधाम आओ। मैं सदा तुम्हारे साथ रहूँगा।'

सत्यसंकल्प प्रभुके संकल्प मूर्तिमान् होते गये। वे परम दुर्लभ वरदान देकर अन्तर्धान हो गये। प्रातःकाल जब ब्राह्मणी जगी, तब अपना दिव्य रूप, अपने पतिका कामदेवके समान रूप, चारों ओर वैभवकी बहुलता और कुटियाके स्थानमें राजभवन देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने हड़बड़ाकर दामोदरको जगाया। उसने पतिसे कहा—'शीघ्र उन साधु महाराजका पता लगाइये। वे कोई साधारण साधु नहीं थे।'

दामोदरने कहा—'साध्वी! वे वृद्ध अतिथि क्या कोई मनुष्य थे कि उनका पता लगाया जाय? उन सनातन पुरुषको मैं कहाँ खोजने जाऊँ। वे सर्वत्र हैं; पर दर्शन देना चाहें तभी उन्हें देखा जा सकता है। उन भक्तभावनने कृपा करके वृद्ध अतिथिके रूपमें दर्शन दिये। किंतु उन्हें हम सामान्य मनुष्य ही समझते रहे। हमारेद्वारा उनका कोई सत्कार नहीं हुआ। वे करुणासागर हमें क्षमा करें।'

देरतक वे दम्पति भगवान्की प्रार्थना करते रहे, उन लीलामयके गुण गाते रहे। इसके पश्चात् महोत्सवकी तैयारी करने लगे। उनका मन सम्पत्ति पाकर भी उसमें आसक्त नहीं हुआ। सम्पत्तिको भगवान्की सेवा-पूजाका साधन ही उन्होंने माना। भगवान्की, भक्तोंकी, गौ-ब्राह्मणोंकी तथा दीन-दुःखियोंकी सेवामें वे जीवनपर्यन्त लगे रहे।
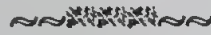
त्यागी भक्त विट्ठलदास

दक्षिणके एक ब्राह्मणकुलमें दो सगे भाई राजपुरोहित थे। घरमें सम्पत्ति थी। दोनों विद्वान् थे। परंतु धन है ही बुराइयोंकी जड़। दोनों भाइयोंमें धनके कारण मनमुटाव हो गया। अलग होकर रहनेके लिये बँटवारेके समय दोनों झगड़ने लगे। लोभ आते ही सत्य, दया आदि सद्गुण चले जाते हैं। लोभके साथ असत्य, अन्याय, छल, चोरी, कपट, दम्भ, ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा आदि दुर्गुण रहते हैं। लोभी मनुष्यकी विद्या-बुद्धि कुछ काम नहीं आती। लोभ उसे अन्धा कर देता है। दोनों भाई धनके लोभसे झगड़ पड़े और एक-दूसरेको मारकर मर गये।

इस ब्राह्मण-परिवारमें उनकी विधवा पत्नियाँ और छोटे भाईका एक लड़का विट्ठलदास ही था। बालक विट्ठलदास जब समझने-सोचने योग्य हुआ तब अपने पिता तथा ताऊकी मृत्युका कारण धनको समझनेके कारण उसकी धनसे विरक्ति हो गयी। संसारके सभी भोग धनपर आश्रित हैं और धन है अनर्थोंकी जड़। अतएव विट्ठलदासकी चित्तवृत्ति सभी भोगोंसे हट गयी। वे भगवान्के चिन्तन-भजनमें लग गये। माताने अपने इकलौते पुत्रको इस प्रकार घर तथा संसारसे उदासीन देखा तो उसे भय हुआ कि कहीं यह गृहत्यागी न हो

जाय। उन्होंने पुत्रका विवाह कर दिया। परंतु जिसके हृदयमें सच्चा वैराग्य है, जो एक बार भगवान्‌के भजनका दिव्य रस अनुभव कर चुका है, वह कहीं इस प्रकार मायाके बन्धनमें बाँधा जा सकता है?

दिनोंदिन विट्ठलदासका ईश्वरप्रेम बढ़ता ही गया। भगवत्स्मरणके बिना अब उनका एक क्षण भी नहीं बीतता था। भगवान्‌की पूजा करके वे हाथोंमें करताल लेकर 'गोविन्द, गोपाल, श्याम, यशोदानन्दन!' आदि श्रीहरिके दिव्य नामोंका कीर्तन करते-करते प्राय: मूर्छित हो जाते और तीन-तीन घंटे बेसुध पड़े रहते। भगवद्भक्त संतजन उनकी यह दशा देखकर बहुत प्रसन्न होते।

राजाने अपने पुरोहित-पुत्रका समाचार मन्त्रीसे सुना तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। बहुत-सा धन-वस्त्रादि उन्होंने विट्ठलदासके यहाँ भिजवाया, किंतु विट्ठलदासने उसे लौटा दिया। राजाकी श्रद्धा इस त्यागको देखकर बहुत बढ़ गयी। उन्होंने विशिष्ट लोगोंको भेजकर पुरोहित-पुत्रके पास प्रार्थना भेजी—'अपनी पदरजसे इस घर और कुटुम्बको पवित्र करें।' विट्ठलदासने यह प्रार्थना स्वीकार कर ली। वे भगवन्नामका कीर्तन करते हुए राज-सदन पहुँचे। राजाने उनका पूजन किया। आदर-सत्कारके बाद राजाने उनसे हरिकीर्तन सुनानेकी प्रार्थना की। भक्तको अपने भगवान्‌का गुण गानेसे अधिक तो और कोई भी प्रिय कार्य है ही नहीं। विट्ठलदासने सहर्ष स्वीकार कर लिया।

असुर सदासे देवताओंके शत्रु हैं। इसी प्रकार आसुरी वृत्तिके लोग अकारण संत-सत्पुरुषोंसे द्वेष करते हैं और उन्हें पीड़ा देनेका अवसर ढूँढ़ते रहते हैं। विट्ठलदाससे भी कुछ दुर्जन द्वेष करने लगे थे। उन सबको विट्ठलदासकी प्रेममूर्छा दम्भ जान पड़ती थी। राजाके यहाँ कीर्तनके लिये खुली छतपर आयोजन किया और जान-बूझकर विट्ठलदासका आसन ऐसे स्थानपर रखा कि यदि वे मूर्छित होकर गिरें तो छतसे नीचे जा पड़ें। उन दुष्टोंके अतिरिक्त और किसीको इस बातका पता नहीं था। यथासमय कीर्तन प्रारम्भ हो गया। सभी श्रोता आनन्दमग्न हो गये। विट्ठलदास कीर्तन करते हुए नृत्य करने लगे। सभी श्रोता मन्त्र-मुग्ध-से थे। किसीका ध्यान नहीं गया कि विट्ठलदासजीके छतसे गिरनेकी सम्भावना है। वे मूर्च्छित होकर गिरे और छतसे नीचे धड़ामसे चले गये। सब लोग घबरा उठे। राजा स्वयं दौड़े हुए नीचे आये। नीचे विट्ठलदासके हृदयकी धड़कन बंद हो चुकी थी। सबको बड़ा दु:ख हुआ, किंतु मृतदेहको उनकी माताके पास भेजनेके अतिरिक्त और उपाय भी क्या था। राजाने बहुत-सा धन देकर उनकी माताको किञ्चित् सन्तोष करानेका प्रयत्न किया!

माताके दु:खका कोई क्या वर्णन करेगा। उसे एक क्षीण आशा थी कि उसका पुत्र कहीं सदाकी भाँति मूर्छित न हो गया हो। वह जानती थी कि विट्ठलदास कई दिन मूर्छित पड़े रहते हैं; अतएव शरीरका दाह-कर्म उसने नहीं कराया। एक चद्दरसे उसे ढककर वह प्रतीक्षा करती रही। चौथे दिन विट्ठलदास उस महामूर्छासे जागे। माताने उनसे सब बातें बतायीं। छतसे गिरनेपर भी प्राण बच गये, इसे उन्होंने भगवान्‌की कृपा माना। अब इस नगरमें यह घटना उन्हें प्रसिद्ध कर देगी। प्रतिष्ठासे सभी महापुरुष दूर भागते हैं। विट्ठलदासने भी यह स्थान छोड़ देनेका निश्चय कर लिया।

आधी रातको अकेले विट्ठलदास चुपचाप घरसे निकल पड़े। सबेरे उन्हें न देखकर माता तथा पत्नी विलाप करने लगीं। समाचार पाकर राजाने चारों ओर दूत भेजे, पर विट्ठलदासका कोई पता नहीं लगा। माता अपने पुत्रके लिये दिन-रात रोने-कलपने लगी। दयामय भगवान् अपने भक्तकी जननीका यह दु:ख सह नहीं सके। एक रात स्वप्नमें माताने विट्ठलदासके मथुरा होनेका पता पाया। पुत्रवधूको लेकर वह नाना प्रकारके कष्ट सहती मथुरा पहुँच गयी। माताके आग्रहसे विट्ठलदासने उन्हें अपने पास रख लिया। अब सकुटुम्ब वे भगवान्‌का भजन करते हुए व्रजमें वास करने लगे।

विट्ठलदासकी पत्नी पतिव्रता थी। पति और सासकी सब छोटी-बड़ी सेवा बड़ी ही तत्परतासे वह किया करती थी। एक दिन चूल्हा पोतनेके लिये मिट्टी लाने गयी तो मिट्टी खोदते समय उसे शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज भगवान्‌की एक सुन्दर मूर्ति मिली और मूर्तिके पास उसने बहुत-सा धन देखा। उस पतिव्रताके

मनमें धनका तनिक भी लोभ नहीं आया। उसने पतिदेवसे आकर सब बातें बता दीं। विट्ठलदासने कहा—'जिसकी भूमि है, भूमिमें मिला धन भी उसीका है। उसे बता दो, वह अपना धन ले जाय।'

भूमिका स्वामी बुलाया गया तो उसने कहा—'महाराज! यह धन तो आपका है। मेरा होता तो मुझे पहले ही मिल जाता। मैं इसे स्वीकार नहीं कर सकता।'

आज जब कि झूठ बोलकर, धोखा देकर, नाना प्रकारके पाप करके दूसरेका धन छीन लेना या ठग लेना सबने बड़े गौरवकी बात मान ली है, जब कि समाजका ऐसा पतन हो गया है, हम कैसे अपने समाजके उस पवित्र समयको समझ सकते हैं? वह भी हमारे समाजका ही धन्य समय था। पंचायतमें एक झगड़ा आया था निपटानेके लिये। झगड़ा झूठ, धोखादेही या छल-कपटका नहीं था। झगड़ा यह था कि एक भूमिस्वामी कहता था—'उसने अपनी भूमि जब किसीको दे दी तब भूमिके साथ उसके बाहर-भीतरकी सब वस्तुएँ भी दे दी गयीं। अब भूमि लेनेवाला क्यों कहता है कि भूमिमें निकला धन उसका न होकर पहले भूमि-स्वामीका है और यह धन उसे ले ही जाना पड़ेगा।'

दूसरे पक्षका तर्क भी दुर्बल नहीं था। वह कहता था—'भूमि लेते समय हमने केवल भूमिका ऊपरी उपयोग देखकर ही उसे लिया था। भूमिमें इतना धन है, यह बात न हमें ज्ञात थी, न भूमि बेचनेवालेको। भूमिमें इतना धन है, यह जानकर भूमिका स्वामी कभी हमें थोड़े मूल्यमें भूमि न देता; अतः भूमिके भीतरका धन बिका हुआ नहीं माना जा सकता। भूमिका पहला स्वामी अपने धनको क्यों नहीं उठाता? उसके धन न उठानेसे हमारी भूमि घिरी पड़ी है। हम इस झंझटमें नहीं पड़ना चाहते। धन हमारा बिलकुल नहीं है।'

पंचोंने फैसला किया—'धन अकेला नहीं मिला है। धनके साथ भगवान्‌की मूर्ति भी मिली है। अतः धन भगवान्‌का है। जहाँ भगवान्‌की मूर्ति मिली, वह स्थल भी भगवान्‌का है। वहीं एक मन्दिर बनाकर उसमें भगवान्‌को विराजमान करा दिया जाय और धनको मन्दिरकी सेवा-पूजाके लिये लगा दिया जाय।'

दोनों पक्ष इस निर्णयसे सन्तुष्ट हो गये। मन्दिर बनवा दिया गया। विट्ठलदास सपरिवार भगवान्‌का भजन, पूजन, स्मरण करते हुए जीवनभर वहीं रहे।

शान्तोबा और उसकी धर्मपत्नी

जब भारतमें दिल्लीके सिंहासनपर मुगलवंशका प्रभुत्व था, उसी समय दक्षिणके 'रञ्जनम्' नामक गाँवमें शान्तोबा नामके एक धनवान् व्यक्ति रहते थे। सम्पत्ति और सम्मान दोनों उन्हें प्राप्त थे। संसारके भोगोंमें वे खूब आसक्त थे। परमार्थकी ओर उनका कोई ध्यान नहीं था। परंतु भगवान्‌की लीला बड़ी विचित्र है। वे कब किसे अपनाना चाहते हैं, यह कोई नहीं जानता। एक बार श्रीतुकारामजी महाराज शान्तोबाके घर पधारे। सच्चे भक्तका क्षणभरका सङ्ग भी अमोघ होता है। तुकारामजीके उपदेशोंने जैसे जादू कर दिया। संसारके सारे सुख-भोग तुच्छ जान पड़ने लगे। शान्तोबाके मनमें वैराग्यका उदय हुआ।

शान्तोबा सोचने लगे—'मैंने कामिनी-काञ्चनके जालमें पड़कर मनुष्य-जन्म व्यर्थ ही खो दिया। भला, मुझे इन भोगोंसे कितनी तृप्ति मिली? जितना ही विषय भोग प्राप्त हो, उतनी ही तृष्णा बढ़ती जाती है। विषयोंसे अतृप्ति, अशान्ति और दुःख ही मिलता है। अब मेरी क्या गति होगी? श्रीहरिके अभय चरण मुझे कैसे मिलेंगे?'

शान्तोबाने अपनी सम्पत्तिका बहुत-सा भाग दीन-दुःखियोंको बाँट दिया। घर तथा परिवारका मोह छोड़कर वे निकल पड़े। एक लँगोटीके अतिरिक्त उनके पास कुछ भी नहीं था। वे चलते ही गये। उस समय भीमा नदीमें बाढ़ आयी हुई थी। वह सचमुच भीमा बनी थी; किंतु जो संसार-सागरसे पार होने निकला हो, उसे ऐसी नदीसे क्या भय। तैरकर नदी पार की उन्होंने और दूसरे तटके पर्वतपर चढ़ गये। पर्वत एवं वनकी शोभा देखकर उनका मन वहाँ लग गया। अब वे वहीं एक गुफामें रहकर भजन करने लगे।

शान्तोबाके घरवालोंको उनका वन जाना अत्यन्त

कष्टदायक हुआ। उन्होंने उनकी स्त्रीको उनके पास इसलिये भेजनेका निश्चय किया कि सुन्दरी पत्नीके मोहमें पड़कर वे घर लौट आयेंगे। सती स्त्री भी पतिके पास जानेको उत्सुक थी। उसने सोच लिया था—'मेरे लिये तो पतिदेवके चरणोंको छोड़कर और कोई गति है नहीं। वे लौट आयें तो ठीक; नहीं तो जहाँ वे, वहीं उनकी यह दासी।'

पतिव्रता स्त्री उस घोर वनमें शान्तोबाके पास पहुँची और सिर झुकाकर खड़ी हो गयी। शान्तोबाके मनमें उसके आनेसे तनिक भी उद्विग्नता या मोहका भाव नहीं आया। वे अपने भजनमें लगे रहे। वह साध्वी पतिके चरणोंपर गिर पड़ी और रोकर कहने लगी—'नाथ! आप हमलोगोंको छोड़कर यहाँ भगवान्‌की आराधना करने चले आये, यह तो ठीक है; परंतु देव! मेरे तो आप ही भगवान् हैं। आपको छोड़कर दूसरे किसी भगवान्‌को मैं नहीं जानती। मैं आपके चरणोंकी सेवा करने यहाँ आयी हूँ। इस दासीको आप अपने आश्रयसे अलग मत करें।' उसका गला भर गया यह कहते-कहते।

शान्तोबामें विकारका नाम नहीं था। परंतु स्त्रीके प्रति पतिका कुछ कर्तव्य होता है। नारी केवल काम-वासनाकी तृप्तिका साधन ही नहीं है, वह पुरुषकी अर्धाङ्गिनी है। कर्तव्य समझकर शान्तोबाने कहा—'मेरी तरह रहना हो तो मैं तुम्हें अपने पास रहनेसे रोकूँगा नहीं। यहाँ रहना हो तो बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण उतारकर सादे कपड़े पहनकर रह सकती हो; नहीं तो जैसी तुम्हारी इच्छा हो, करो। मुझे अपने मार्गसे जाने दो, तुम अपने मार्गसे जाओ।'

पतिके मार्गको छोड़कर पतिव्रताके लिये भला, दूसरा अपना मार्ग कैसा। उस देवीने वस्त्र तथा आभूषण उतारकर फेंक दिये। एक सादा कपड़ा पहनकर वह तपस्विनी बन गयी। पतिकी सेवामें वह सब प्रकार उद्यत रहने लगी। अब पति-पत्नी दोनों वनमें भजन करने लगे।

एक दिन शान्तोबाने पत्नीके संयम, धैर्य तथा त्यागकी परीक्षा लेनेका निश्चय किया। उन्होंने स्त्रीसे कहा—'रोटी खाये बहुत दिन हो गये। तुम गाँव जाकर कुछ टुकड़े माँग लाओ। देखो, रोटीके टुकड़ोंको छोड़कर और कुछ भी मत लेना किसीसे।'

जो स्त्री धनी पिता-माताके घर स्नेहसे पली, धनी श्वशुरकी पुत्र-वधू बनी, अन्त:पुरसे जो कभी बाहर नहीं निकली, वह आज एक मैली-फटी साड़ी पहने भीख माँगने जा रही है! पतिकी आज्ञासे भिक्षुकी बनी इस तपस्विनीकी शोभा ही धन्य है। गाँवमें पहुँचकर वह भीख माँगने लगी घर-घर। उसी गाँवमें उसकी ननदकी ससुराल थी। अपनी भाभीको भिखारिनीके वेशमें देखकर उसके दु:खका पार नहीं रहा। उसने पूछा—'भाभी! क्या मेरे बाप-दादाकी सारी सम्पत्ति नष्ट हो गयी?' ननदको उस पतिव्रताने पतिके वैराग्यकी बात बताकर कहा—'तुम्हारे भाईको मैं भूखा छोड़ आयी हूँ। मुझे रोको मत। एक टुकड़ा रोटी दे सको तो दे दो; नहीं तो, मैं दूसरे घर जाती हूँ।' ननदने पैर पकड़कर उसे ठहराया। हलुआ-पूरीका थाल भरकर उसे दिया। ननद किसी प्रकार मानती नहीं थी, उससे विवादमें समय बीता जा रहा था। अन्तमें विवश होकर वह थाल स्वीकार करना पड़ा। उसे लेकर वह बड़ी शीघ्रतासे चल रही थी। पतिदेव भूखे हैं, इस बातको सोचकर वह कभी दौड़ती, कभी धीरे-धीरे चलती। पर्वतके बीहड़ पथमें उसे अनेक बार ठोकरें लगीं। किसी प्रकार वह पतिके पास पहुँची और उनके सामने थाल रखकर खड़ी हो गयी।

शान्तोबाने थाल देखकर कहा—'मैंने ऐसा भोजन लानेको तो तुससे नहीं कहा था। इसे लौटा आओ।' उस देवीने डरते-डरते गाँवकी सारी बातें सुना दीं। बहिनके आग्रहकी बात सुनकर भी शान्तोबाने हलुआ-पूरी खाना अस्वीकार कर दिया। पतिव्रता स्त्रीका शरीर पर्वतपर चढ़ने-उतरनेका इतना श्रम करके बिलकुल थक गया था। उसका श्वास बढ़ गया था। पैरकी अँगुलियाँ ठोकर लगनेसे फट गयी थीं। इतनेपर भी पतिकी आज्ञासे हलुआ-पूरीका थाल लौटाकर रोटी माँगने वह बिना दो क्षण सुस्ताये तुरंत गाँवकी ओर चल पड़ी।

गाँवमें जाकर बड़ी मधुर वाणीसे ननदको समझाकर उसने थाल लौटा दिया। जल्दी-जल्दी कुछ घरोंसे रोटीके टुकड़े माँगे; क्योंकि एक ही घरसे रोटियाँ लानेको पतिदेवने मना कर दिया था। अब वह शीघ्रतापूर्वक वनकी ओर चली। सायंकाल हो गया था। कुछ दूर जाते

ही आकाश घटाओंसे ढक गया। मूसलधार वर्षा होने लगी। आज जो रोटियाँ उस पतिव्रताके हाथमें हैं, वे उसके प्राणोंसे भी प्रिय हैं। उनसे उसके देवताकी भूख दूर होगी। अपनी फटी साड़ी वह रोटियोंपर लपेटती चली गयी उन्हें भीगनेसे बचानेके लिये। वर्षामें भीगकर उसका शरीर थर-थर काँपने लगा। वर्षाके कारण भीमा नदीमें बाढ़ आ गयी। बढ़ी हुई भीमाकी तरङ्गोंमें भला, कोई नौका पार हो सकती है? नदीके किनारे पहुँचकर उस देवीके नेत्रोंसे भी वर्षा होने लगी। वह रोती हुई बोली—'सन्ध्या होनेको आयी। मेरे स्वामी सबेरेसे भूखे हैं। ये रोटीके टुकड़े उनके पास कैसे पहुँचाऊँ? दयामय प्रभु! सर्वेश्वर भगवान्! तुम इस दरिद्रापर क्या दया नहीं करोगे?'

ऐसी पतिव्रताकी करुण पुकारपर यदि वे सर्वेश्वर दौड़ न पड़ते तो उन्हें कौन दयासिन्धु कहता? वे केवटका रूप लेकर उपस्थित हुए और बोले—'बहिन! इस वर्षामें तुम अकेली यहाँ किसलिये भीग रही हो?'

सती पाण्डुरङ्ग प्रभुको पुकार रही थी। नाविकका परम मधुर स्वर सुनकर उसने नेत्र खोले। वह बोली—'भाई! अवश्य करुणासागर विट्ठलने तुम्हें भेजा है। तुम्हारी कृपाके बिना मैं आज भीमाको पार नहीं कर सकती। तुम मेरे बड़े भाई हो। मेरे स्वामी भूखे बैठे हैं। चाहे जैसे भी हो, तुम मुझे नदी पार कर दो।'

करुणापूर्ण अश्रुसिक्त वाणी सुनकर करुणासागर द्रवित हो गये। वे बोले—'बहिन! डरो मत। मैं तुम्हें नदी पार करके वनमें ठीक मार्गपर पहुँचा दूँगा।' भवसागरसे प्राणियोंको पार उतारनेवाले उन महामल्लाहने सतीको कंधेपर उठाकर नावपर चढ़ाया और फिर उस पार ले जाकर कंधेपर उठाकर उसके पतिके आश्रमके समीपतक ले जाकर छोड़ आये। कृतज्ञताके एक-दो शब्द सुननेको भी वे रुके नहीं। वनमें तुरंत अदृश्य हो गये।

पतिकी कुटियाके पास पहुँचकर उस देवीने रोटी रखनेको साड़ीका पल्ला खींचना चाहा तो सहसा उसे अपने शरीरका ध्यान आ गया। वर्षासे रोटीको बचानेके लिये वह उसपर बराबर साड़ी लपेटती ही गयी थी। तब उसे केवल रोटीको बचानेका ध्यान था। अब उसने देखा कि पूरी साड़ी रोटीपर लिपटी है। उसके शरीरपर वस्त्र ही नहीं है। उसे बड़ा क्षोभ हुआ—'पता नहीं केवटने क्या सोचा होगा?' बड़ी लज्जा आयी उसे। रोटीपरसे साड़ी उतारकर उसने पहन ली। पतिके पास जाकर उनके चरणोंमें प्रणाम करके रोटीके टुकड़े उसने उनके सामने धर दिये।

शान्तोबाने रोटीकी ओर देखा ही नहीं। वे एकटक अपनी स्त्रीकी ओर देख रहे थे। उनकी स्त्रीके शरीरमें आज इतना दिव्य तेज, इतना सौन्दर्य, इतना सात्त्विक आकर्षण कहाँसे आया? कुछ देरमें तनिक सावधान होकर उन्होंने पूछा—'साध्वी! तुम इतने विकट समयमें यहाँतक कैसे आ सकी?'

पत्नीने गाँव जाकर थाल लौटाने, टुकड़े माँगने, मार्गमें वर्षा और भीमाकी बाढ़का वर्णन करके बताया कि वह कितनी व्याकुल हो गयी थी। कैसे उसने प्रार्थना की और कैसे केवटने आकर उसे पार कर दिया। वह कहने लगी—'वह केवट बड़ा दयालु था। उसने मुझे बहिन कहा। मुझे कुटियाके पासतक छोड़ गया। मैं उसे धन्यवादतक न दे सकी थी कि लौट गया वह। उसके स्वरमें तो जैसे अमृत ही भरा था।'

शान्तोबाके नेत्रोंसे आँसू चलने लगे। उनका कण्ठ भर आया। पत्नीसे वे बोले—'तुम भाग्यवती हो। भीमाकी बाढ़में तुम्हें पार उतारना किसी साधारण केवटका काम नहीं था। देवि! उन भवसमुद्रसे तारनेवाले केवटके दर्शनके लिये ही सब कुछ छोड़कर मैं यहाँ बैठा हूँ। अब इन रोटियोंको पशु-पक्षियोंको दे दो। प्रभु मेरे द्वारके पासतक आकर लौट गये, मैं ऐसा अभागा हूँ! उनके दर्शन किये बिना मैं अब जल भी ग्रहण नहीं करूँगा।'

इतने परिश्रमसे लाये हुए रोटीके टुकड़े पतिव्रताने पशु-पक्षियोंको दे दिये। जब पतिदेव ही जल नहीं ग्रहण करेंगे, तब वह कैसे अन्न-जल ले सकती है। दम्पतिके अनशन करते कई दिन बीत गये। गाँवमें एक हरिभक्त वैश्य रहते थे। भगवान्‌ने उन्हें स्वप्नमें शान्तोबाके लिये भोजन ले जानेकी आज्ञा दी। अनेक प्रकारके पक्वान्न लेकर वे वनमें पहुँचे और भगवान्‌की आज्ञा सुनायी। शान्तोबाने कहा—'भाई! तुम कोई भी हो और तुमको किसीने भी भेजा हो; पर मैं तो उस भेजनेवालेको देखे बिना भोजन करता नहीं।' वैश्यने बहुत अनुनय-विनय की, पर शान्तोबा अपनी टेकपर अड़े रहे। हारकर वैश्य

भक्त वेंकट और रमाया [पृ० ५२४]

भक्त वेंकटरमण [पृ० ५२६]
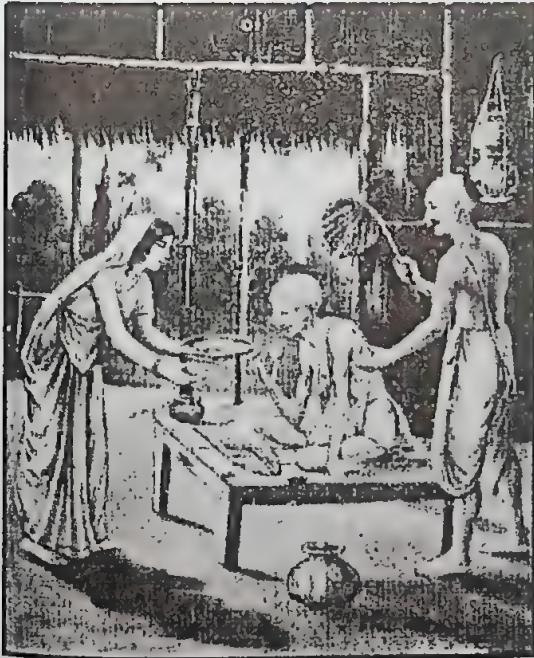
अतिथि-सत्कार [पृ० ५२९]
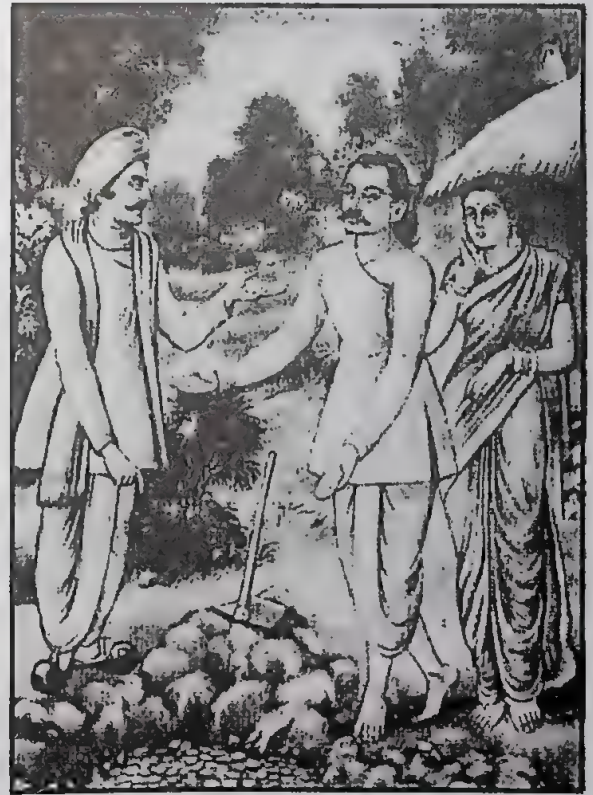
भक्त विट्ठलदास [पृ० ५३०]
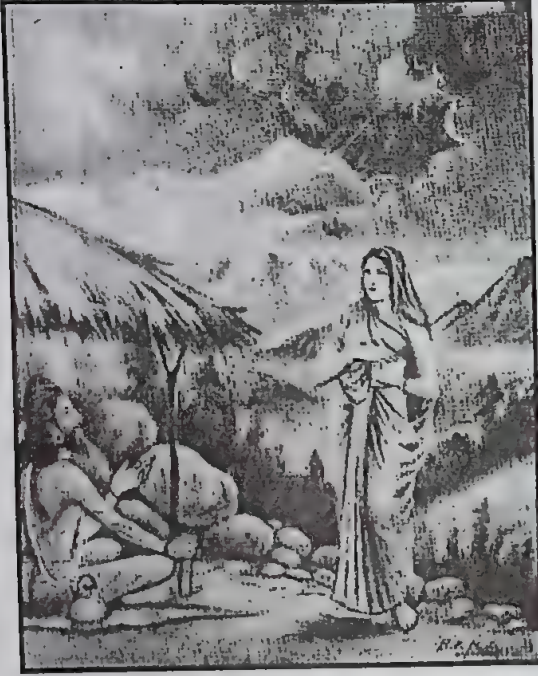
भक्त शान्तोबा [पृ० ५३२]

भक्त दक्षिणी तुलसीदासजी [पृ० ५३७]
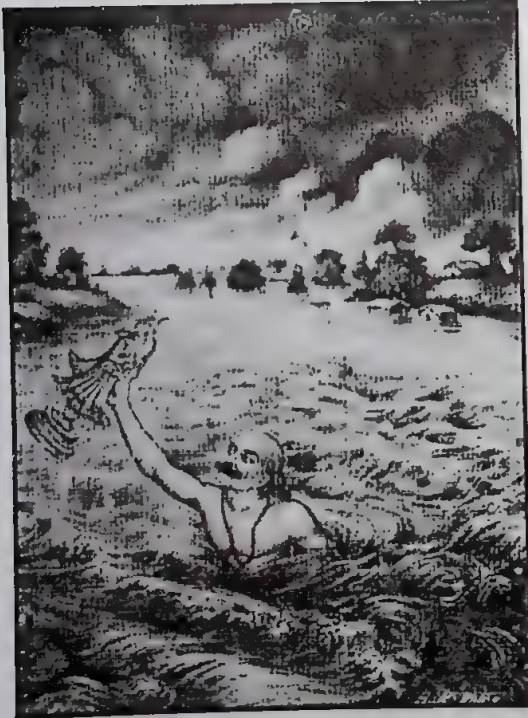
भक्त त्यागराज [पृ० ५३९]
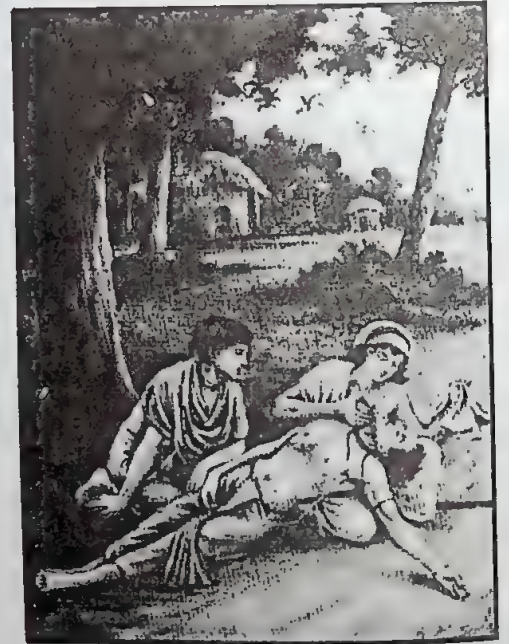
भक्त कवि जयदेवजी [पृ० ५४०]

भोजन वहीं छोड़कर घर लौट गये।

वैश्यके चले जानेपर भोजनके पदार्थोंकी ओर देखकर शान्तोबाने कहा—'प्रभो! इन पदार्थोंका महत्त्व ही क्या है। अभी भोजन किया और सन्ध्यातक इनका मल बन जायगा। मैं आपको छोड़कर इन्हें कैसे ले लूँ? दयामय! आप मुझपर दया क्यों नहीं करते? मुझे दर्शन दो, नाथ! एक बार अपनी बाँकी झाँकी दिखाओ!' भक्तकी मनोवेदना भगवान् सह नहीं सके। वे प्रकट हो गये। शान्तोबाके नेत्र धन्य हो गये। वे प्रभुके चरणोंमें गिर पड़े। भगवान् देरतक शान्तोबाके सम्मुख खड़े रहे। उन्हें आशीर्वाद देकर प्रभु अन्तर्धान हो गये। अब शान्तोबाका जीवन दूसरा ही हो गया। हृदयमें आनन्दका समुद्र उमड़ पड़ा। अब वे पति-पत्नी निरन्तर भगवान्के चिन्तनमें तल्लीन रहने लगे। वे कभी-कभी भिक्षाके लिये गाँवमें भी जाते थे। हजारों नर-नारी उनके उपदेशसे कृतार्थ होने लगे।

दक्षिणके भक्त प्रत्येक एकादशीको पण्ढरपुर पहुँचते हैं। आषाढ़की देवशयनी एकादशीको वहाँ लाखों भक्तोंका मेला होता है। एक बार शान्तोबा महाराज भी अपनी पत्नी और ब्राह्मणोंके साथ गाजे-बाजेके साथ नाम-संकीर्तन करते पण्ढरीनाथके दर्शन करनेको चले। उस समय नरसिंहपुर तथा पण्ढरपुरके बीचमें पड़नेवाली नदीमें बाढ़ आयी थी। नदीपर कोई नौका नहीं थी। नदीकी भीषण मूर्ति देखकर तैरनेका साहस अच्छे केवट भी नहीं कर सकते थे। उस दिन-दशमीकी रात्रि थी। एकादशीको पण्ढरपुर अवश्य पहुँचना था। साथके सब लोग किनारे ठिठक गये। यह देख शान्तोबा बोले—'तुमलोग इस क्षुद्र नदीको देखकर डर क्यों गये? जिन प्रभुका नाम भव-समुद्रसे पार करनेवाला है, वे श्रीहरि क्या कहीं चले गये हैं? भगवन्नामकी घोषणा करते हुए मेरे पीछे-पीछे चले आओ!' शान्तोबा इस प्रकार चलते गये, जैसे सूखी भूमिपर जा रहे हों। उनके पीछे उनकी पत्नी चलती गयीं। उस साध्वीने नदीके जलकी ओर नेत्र उठाकर देखा ही नहीं। वे पतिके चरणोंको देखती बढ़ती गयीं। सहसा नदीके बीचमें सूखा मार्ग हो गया। सब लोग शान्तोबाके पीछे-पीछे उस मार्गसे नदी पार हो गये।

पण्ढरपुर जाकर सबने पुण्डलीक भक्तका पूजन करनेके अनन्तर श्रीपाण्डुरङ्गकी पूजा की। शान्तोबा तो श्रीविट्ठलके दर्शन करके तन-मनकी सुधि ही भूल गये। अपने हृदयमें उन्होंने भगवान्का दर्शन किया और सुना कि प्रभु कह रहे हैं—'शान्तोबा! अब तुम मेरे पास ही रहो। अपने प्यारे भक्तोंके पास रहकर ही मैं सुखी होता हूँ।' भगवान्की आज्ञासे शान्तोबा पत्नीके साथ फिर जीवनभर पण्ढरपुर ही रहे। उनका जीवन भगवत्प्रेमके दिव्योन्मादमें ही बीता।

दक्षिणी तुलसीदास

जेहि कें जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू॥

दक्षिणी समुद्र-किनारे विजयापट्टण नगरमें तुलसीदास नामके एक क्षत्रिय रहते थे। 'श्रीरामचरितमानस' के रचयिता गोस्वामी तुलसीदासजीसे ये भिन्न हैं, यह तो ध्यानमें रखना ही चाहिये। ये शरीरसे हृष्ट-पुष्ट, सुगठित, सुन्दर, बलवान् तथा तेजस्वी थे। हथियार चलाने और घुड़सवारीमें प्रसिद्ध थे। घरमें सुन्दरी, सुशीला, पतिव्रता पत्नी थी। दो पुत्र और एक कन्या थी। धन भी पर्याप्त था। इतना होनेपर भी घरमें तथा विषयभोगोंमें इनकी आसक्ति नहीं थीं। बड़े उदार थे, दाता थे और साधु-संतोंकी सेवा करनेवाले थे। इनका चित्त सदा कथा-कीर्तन और सत्सङ्गमें ही लगा रहता था। नगरमें कहीं भजन-कीर्तन या देव-महोत्सव होता अथवा कोई महात्मा पधारते तो ये अवश्य वहाँ पहुँच जाते और दिनभर वहीं बैठे रहते। जबतक कथा या सत्सङ्गका सुयोग देखते, वहाँसे हटनेका नाम न लेते।

तुलसीदासजीकी शास्त्रोंमें अचल श्रद्धा थी। कौशल्या-नन्दवर्धन भगवान् श्रीरामभद्र उनके आराध्य थे। राम-कथा सुनते समय वे उसमें तन्मय हो जाते, शरीरकी सुधि भूल जाती। कथामें जैसे प्रसङ्ग आते, उनके अनुरूप भाव इनमें प्रकट होते जाते। कभी प्रसन्नता, कभी रोदन, कभी रोष और कभी विह्वलता इनमें कथाके अनुसार प्रकट होती।

एक समय विजयापट्टणमें एक अच्छे रामायणी पधारे। वे बड़े सुन्दर ढंगसे रामायणकी कथा कहते थे। सैकड़ों श्रोता

नित्य कथामें जाते थे। तुलसीदासजी कथा सुनते-सुनते कभी तो ठहाका लगाकर हँसने लगते, कभी आवेशमें हाथसे जंघापर थाप लगाकर छलाँग भरते और कभी आनन्दके मारे खड़े होकर कूदने लगते। एक दिन सीता-हरणका प्रसङ्ग कथामें आया। वनवासकी कथा सुनकर ही तुलसीदास बेसुध हो रहे थे। रोते-रोते भूमिपर लोट रहे थे। अब सीता-हरणकी बातने तो उनको एकदम क्रोधित कर दिया। रावण संन्यासीका वेश बनाकर माता जानकीको बलपूर्वक ले जा रहा है और वे क्रन्दन कर रही हैं, पुकार रही हैं—यह बात तुलसीदाससे सहन न हो सकी। दो युगों पहलेका दृश्य जैसे आज उनके सामने प्रत्यक्ष हो गया। क्रोधके मारे उनका शरीर थर-थर काँपने लगा। नेत्र अंगारोंकी भाँति लाल-लाल हो गये। वे भयङ्कर स्वरमें गर्जन करते बोले—'इस दुष्ट रावणका इतना साहस! यह मेरे सामनेसे माताजीका हरण करके लिये जाता है! मैं इसे टुकड़े-टुकड़े काट डालूँगा। अरे दुष्ट रावण! भागा कहाँ जाता है? ठहर! ठहर!'

तुलसीदासका स्वर क्रोधके आवेगसे अस्पष्ट हो गया था। उनकी बात दूसरोंकी समझमें ठीक-ठीक नहीं आ सकती थी। उनका गर्जन, उनके लाल-लाल नेत्र और उग्रभाव देखकर सब लोग घबरा गये। कोई उनके पास नहीं जा सका। बड़ी तेजीसे दौड़ते हुए वे अपने घर पहुँचे। जल्दीसे अस्त्र-शस्त्र बाँध लिये और घोड़ेंपर सवार होकर बेतहाशा समुद्रकी ओर घोड़ेको दौड़ाने लगे।

भक्तोंकी रक्षाका सदा ध्यान रखनेवाले दयामय भगवान्‌से अपने भावुक भक्त तुलसीदासका भाव छिपा नहीं था। तुलसीदास सीधे समुद्र-किनारेकी ओर घोड़ा दौड़ाये जा रहे थे। उन्हें न अपने देहकी सुध थी और न मार्गकी। आज घोड़ेपर वे निर्दय हो उठे थे। उनको रोका न गया तो अवश्य समुद्रमें घोड़ेके साथ गिर जायँगे। अनन्त करुणासागर भगवान्‌ने ब्राह्मणका रूप धारण करके पुकारना प्रारम्भ किया—'खड़े रहो! समुद्रमें मत कूदो! रुको!' तुलसीदास आज कुछ सुनने-समझनेकी स्थितिमें नहीं थे।

भक्तकी दृढ़तापर भगवान् गद्गद हो गये। तुलसीदासका घोड़ा समुद्रके एकदम किनारे पहुँच चुका था। प्रभु सामने जाकर खड़े हो गये और बोले—'वीर तुम्हारी वीरताको धन्य है; परंतु रावण तो कबका मर चुका। तुम्हारे श्रीराम रावणको मारकर सीताको अपने घर ले गये। अब तुम लङ्का जाकर क्या करोगे?'

तुलसीदासने एक बार ब्राह्मणकी ओर देखा और बोले—'महाराज! आप क्षमा करो। मैं आपकी बातपर विश्वास नहीं करता। आप मुझे वापस लौटानेका व्यर्थ प्रयत्न कर रहे हैं। चाहे सूर्य रातमें उग जाय, चाहे अग्नि शीतल हो जाय, चाहे चन्द्रमासे अंगार झड़ने लगें; पर माता जानकीको लौटाये बिना तुलसीदास पीछे नहीं लौटेगा। हाँ, यदि सचमुच मेरे प्रभु रावणको मारकर माताको घर ले आये हों तो वे मुझे दर्शन दें। श्रीरामके वामभागमें जानकी माताको विराजमान तथा दाहिनी ओर हाथमें लक्ष्मणजीको धनुषबाण लिये देखकर ही मैं लौट सकता हूँ।'

भगवान्‌ने देखा कि अब भक्तके आग्रहको रखना ही होगा। तुलसीदासकी दृढ़ता परीक्षापर पूरी उतर चुकी। वे वृद्ध ब्राह्मण उसी क्षण श्रीरामरूपमें बदल गये। लक्ष्मणजी और सीताजीसहित श्रीरघुनाथजीको अपने सम्मुख देख तुलसीदास घोड़ेसे कूदकर उनके चरणोंमें गिर पड़े। प्रभुने उठाकर उन्हें हृदयसे लगाया। आज तुलसीदासका जन्म सफल हो गया। भक्तने अपने आराध्यकी स्तुति की और वरदान माँगा—'मैं जब आपका दर्शन करना चाहूँ, जब आपके साक्षात्कारके लिये मेरा मन व्याकुल हो, उसी समय शुद्धि-अशुद्धि, काल-अकालका विचार न करके आप मुझे दर्शन दें।' वरदान देकर प्रभु अन्तर्धान हो गये।

अब तुलसीदासकी इच्छा तीर्थयात्रा करनेकी हुई। भगवान्‌की पवित्र लीला-स्थलियोंका दर्शन हो, यही पैरोंकी सफलता है। भगवत्प्रेम-प्राप्त महापुरुष तीर्थ-यात्राके बहाने प्राणियोंपर दया करके उन्हें पवित्र करनेके हेतुसे तीर्थाटन करते हैं। तुलसीदासजी भी तीर्थयात्रा करने निकले। अनेक तीर्थोंमें घूमते हुए वे वृन्दावन पहुँचे। वृन्दावनकी दिव्य प्रेमभूमिमें आकर वे आनन्दमग्न हो गये।

वृन्दावनमें अब तुलसीदासजीकी प्रख्याति हो गयी थी। उनके दर्शनोंको लोगोंकी भीड़ एकत्र होने लगी। प्रतिष्ठासे सभी सच्चे भक्त दूर रहना चाहते हैं। मान-सम्मानसे भजनमें बाधा पड़ती है। तुलसीदासजीने भी प्रतिष्ठाके भयसे वृन्दावन छोड़ दिया और तीर्थोंकी यात्रा करने निकल गये। वे इसके बाद कहाँ गये, इसका पता किसीको नहीं मिला।

गायक भक्त त्यागराज

त्यागराज दक्षिणभारतके सबसे महान् और लोकप्रिय गायक हुए हैं। जो स्थान उत्तर भारतमें सूर, तुलसी और मीराके पदोंको प्राप्त है, वही दक्षिणमें त्यागराजके गीतोंको प्राप्त है। सहस्रोंकी संख्यामें उन्होंने गीत-रचना की और उनमें निश्छल (ईश्वर) प्रेमका स्वर्गीय संगीत भर दिया। केवल पद-रचनाकी ओर उनका उत्साह नहीं था, उनका लक्ष्य तो था संगीत-विद्याका उत्थान। राग और लयके वे मर्मज्ञ आचार्य हुए। उनके पहले संगीतमें शैली और शब्दकी प्रधानता हो रही थी, जो उसके बाह्य अङ्ग-मात्र हैं। उसका अन्तरङ्ग तो है पवित्र राग और लय। इन्हींका समावेश करके उन्होंने संगीत-विद्याको अपूर्व सौन्दर्य और शोभा प्रदान की। फलत: उन्हें 'संगीत-गुरु' की उपाधि प्राप्त हुई।

ऐसा देखा गया है कि किसी भी मानवीय विद्या या कलाका उत्थान प्राय: भक्ति या धर्मका आश्रय लेकर ही होता है। इसका कारण यही है कि अध्यात्म या धर्मकी सच्ची जागृति होनेपर मानव-मन और बुद्धि अत्यन्त परिष्कृत हो जाती हैं और उस अवस्थामें की गयी रचना शुद्ध और स्वच्छ हुआ करती है। जीवनके स्थायी सौन्दर्यकी ओर, जिसमें व्यक्तिगत लाभालाभका विचार नहीं रहता, सारी चित्तवृत्तियाँ उन्मुख हो जाती हैं। यही चित्तवृत्ति संगीतगुरु संत त्यागराजकी भी थी।

सारे सांसारिक प्रलोभनोंसे चित्तको हटाकर उन्होंने उसे परमात्माकी ओर लगाया था। उनके अनुपम त्यागकी कथाएँ—जिनसे वे त्यागराज कहलाये—दक्षिणमें अब भी प्रसिद्ध हैं। कहते हैं, एक बार तंजोरके महाराजने अपना दूत भेजकर उन्हें दरबारमें बुलाया। उनकी इच्छा ऐसे पद सुननेकी थी, जिनमें स्वयं उनकी गुणगाथा गायी गयी हो। किंतु त्यागराजने ऐसा करना दृढ़तापूर्वक अस्वीकार कर दिया। उन्होंने राजदूतसे कहा—'धिक्कार है भूमि या स्वर्गादि द्रव्यको। यदि मैं उन्हें ही मूल्यवान् समझता तो श्रीरामकी सोनेकी मूर्ति बेचकर मैं मालामाल हो गया होता और दुनियाके सारे सुख-भोग मेरे करतलगत हो गये होते। मेरा मन ऊपरके सुनहले रंगपर नहीं रीझ सकता, वह तो रीझा है भीतरी सौन्दर्यपर, भीतरके दिव्य स्वरूपपर! इन्हीं प्यारे रामके मोहमें फँसकर मैंने उनकी सोनेकी मूर्ति नहीं बेची। उन्हें छोड़कर मैं किसी धनाभिमानी राजाको प्रसन्न नहीं कर सकता।' यह सुनकर राजदूत अपने स्थानको लौट गया।

रामकी सोनेकी मूर्ति त्यागराजको घरके बँटवारेमें मिली थी। उसकी कथा इस प्रकार है कि जब त्यागराजके धार्मिक पिताका शरीरान्त हो गया, तब घरकी सम्पत्ति दोनों भाइयोंमें बाँट ली गयी। त्यागराजका बड़ा भाई उतना ही मूर्ख और झगड़ालू था, जितना ये प्रतिभाशाली और शान्त थे। बँटवारेमें श्रीराम (जो त्यागराजके इष्टदेवता थे)-की सोनेकी मूर्ति त्यागराजको मिली; किंतु द्रोहवश बड़े भाईने एक दिन उसे उठाकर पास बहती हुई कावेरी नदीमें फेंक दिया। इससे त्यागराजको मार्मिक कष्ट हुआ। वे बाढ़के प्रवाहमें भी मूर्तिको ढूँढ़नेकी लालसासे कावेरीमें कूद पड़े। अपने जीवनकी उन्हें चिन्ता नहीं थी, चिन्ता थी तो मूर्तिकी। अन्तमें भगवत्कृपासे वह मूर्ति उन्हें मिली। इतने कष्टके पश्चात् मिलनेपर त्यागराजने उसे अपना इष्टदेव बनाया। प्राणपणसे वे उसकी पूजा करते थे।

उसकी स्तुतिमें, उसीके प्रेममें विह्वल हो वे गीत-रचना किया करते थे और उसके पीछे सारे संसारको भूल गये थे। ऐसा अनन्य प्रेम होनेके कारण उन्हें भगवान्के साक्षात् दर्शन होते थे और वे भगवान्से वार्तालाप करते थे। जो कुछ हृदयमें होता है, वही बाहर आता है। ऐसे ही दिव्य साक्षात्कार उनके गायनमें स्पष्ट होते हैं।

किसी प्रकारकी सङ्कीर्णता या दिखावेके लिये तो उनके मनमें स्थान ही नहीं था। उसे तो वे भगवान्के अमृत-सिन्धुमें डुबा चुके थे। श्रीमद्भागवत, महाभारत तथा श्रीरामायण उन्होंने अध्ययन किया था, जिनमें रामकथाकी तो छोटी-से-छोटी आख्यायिका भी उन्हें कण्ठाग्र थी। अन्य देवताओंकी भी वे बराबर स्तुति किया करते थे।

'जिसपर मैं प्रेम करता हूँ, उसका सर्वस्व हरण कर लेता हूँ'—श्रीकृष्णके इस वाक्यपर वे मुग्ध हो गये थे। वैराग्यकी ज्वाला उनके हृदयके सारे विकारोंको भस्म कर चुकी थी। फिर संसारका कौन-सा सुख उन्हें लुभाता? एक बार त्रावणकोरके महाराजने भी उन्हें अपने दरबारमें बुलाकर संगीताचार्यका पद देना चाहा; किंतु उन्होंने कहला भेजा कि 'महाराज! पदवी तो सद्भक्ति ही है। भगवान्‌के चरणोंमें अनुराग ही परमपद है। उन्हीं चरणोंसे जिसकी बुद्धि विचलित नहीं होती, जिसका मन नहीं डिगता, वही प्रशंसनीय है। पद और सम्मान तो उसीके हैं, जिसका पवित्र और निर्लेप मन भगवान्‌में लगा हुआ है। आप अपनी पदवी लौटा लें, मुझे इसकी चिन्ता नहीं है।'

त्यागराजकी यह त्यागपूर्ण उक्ति चिरस्मरणीय हो गयी है और उनका यह पद दक्षिण भारतमें अनेकोंके कण्ठमें विराजता है। पद्यमें ही उन्होंने उत्तर दिया था।

अन्तमें अठासी वर्षकी अवस्था पूरीकर ये पूर्ण प्रसन्नताके साथ शरीर त्यागकर भगवान्‌की गोदमें जा बैठे। भगवान्‌के ही स्वप्नमें दर्शन देकर कहनेसे इन्होंने अन्तिम समयमें संन्यास लिया था और अत्यन्त कृतज्ञतापूर्ण पद गाकर महासमाधिमें लीन हुए थे।
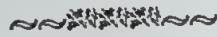
भक्त कविरत्न जयदेवजी

प्रसिद्ध भक्त-कवि जयदेवका जन्म पाँच सौ वर्ष पूर्व बंगालके वीरभूमि जिलेके अन्तर्गत केन्दुबिल्व नामक ग्राममें हुआ था। इनके पिताका नाम भोजदेव और माताका नाम वामादेवी था। ये भोजदेव कान्यकुब्जसे बंगालमें आये हुए पञ्च-ब्राह्मणोंमें भरद्वाजगोत्रज श्रीहर्षके वंशज थे। माता-पिता बाल्यकालमें ही जयदेवको अकेला छोड़कर चल बसे थे। ये भगवान्‌का भजन करते हुए किसी प्रकार अपना निर्वाह करते थे। पूर्व-संस्कार बहुत अच्छे होनेके कारण इन्होंने कष्टमें रहकर भी बहुत अच्छा विद्याभ्यास कर लिया था और सरल प्रेमके प्रभावसे भगवान् श्रीकृष्णकी परम कृपाके अधिकारी हो गये थे।

इनके पिताको निरञ्जन नामक उसी गाँवके एक ब्राह्मणके कुछ रुपये देने थे। निरञ्जनने जयदेवको संसारसे उदासीन जानकर उनकी भगवद्भक्तिसे अनुचित लाभ उठानेके विचारसे किसी प्रकार उनके घर-द्वार हथियानेका निश्चय किया। उसने एक दस्तावेज बनाया और आकर जयदेवसे कहा—'देख जयदेव! मैं तेरे राधा-कृष्णको और गोपी-कृष्णको नहीं जानता या तो अभी मेरे रुपये ब्याज-समेत दे दे, नहीं तो इस दस्तावेजपर सही करके घर-द्वारपर मुझे अपना कब्जा कर लेने दे!'

जयदेव तो सर्वथा निःस्पृह थे। उन्हें घर-द्वारमें रत्तीभर भी ममता नहीं थी। उन्होंने कलम उठाकर उसी क्षण दस्तावेजपर हस्ताक्षर कर दिये। निरञ्जन कब्जा करनेकी तैयारीसे आया ही था। उसने तुरंत घरपर कब्जा कर लिया। इतनेमें ही निरञ्जनकी छोटी कन्या दौड़ती हुई अपने घरसे आकर निरञ्जनसे कहने लगी—'बाबा! जल्दी चलो, घरमें आग लग गयी; सब जल गया।' भक्त जयदेव वहीं थे। उनके मनमें द्वेष-हिंसाका कहीं लेश भी नहीं था, निरञ्जनके घरमें आग लगनेकी खबर सुनकर वे भी उसी क्षण दौड़े और जलती हुई लाल-लाल लपटोंके अंदर उसके घरमें घुस गये। जयदेवका घरमें घुसना ही था कि अग्नि वैसे ही अदृश्य हो गयी, जैसे जागते ही सपना!

जयदेवकी इस अलौकिक शक्तिको देखते ही निरञ्जनके नेत्रोंमें जल भर आया। अपनी अपवित्र करनीपर पछताता हुआ निरञ्जन जयदेवके चरणोंमें गिर पड़ा और दस्तावेजको फाड़कर कहने लगा—'देव! मेरा अपराध क्षमा करो, मैंने लोभवश थोड़े-से पैसोंके लिये जान-बूझकर बेईमानीसे तुम्हारा घर-द्वार छीन लिया है। आज तुम न होते तो मेरा तमाम घर खाक हो गया होता। धन्य हो तुम! आज मैंने भगवद्भक्तका प्रभाव जाना।'

उसी दिनसे निरञ्जनका हृदय शुद्ध हो गया और वह जयदेवके सङ्गसे लाभ उठाकर भगवान्‌के भजन-कीर्तनमें समय बिताने लगा।

भगवान्‌की अपने ऊपर इतनी कृपा देखकर जयदेवका हृदय द्रवित हो गया। उन्होंने घर-द्वार छोड़कर पुरुषोत्तम-क्षेत्र—पुरी जानेका विचार किया और अपने गाँवके

पराशर नामक ब्राह्मणको साथ लेकर वे पुरीकी ओर चल पड़े। भगवान्‌का भजन-कीर्तन करते, मग्न हुए जयदेवजी चलने लगे। एक दिन मार्गमें जयदेवजीको बहुत दूरतक कहीं जल नहीं मिला। बहुत जोरकी गरमी पड़ रही थी, वे प्यासके मारे व्याकुल होकर जमीनपर गिर पड़े। तब भक्तवाञ्छाकल्पतरु हरिने स्वयं गोपाल-बालकके वेषमें पधारकर जयदेवको कपड़ेसे हवा की और जल तथा मधुर दूध पिलाया। तदनन्तर मार्ग बतलाकर उन्हें शीघ्र ही पुरी पहुँचा दिया। अवश्य ही भगवान्‌को छद्मवेषमें उस समय जयदेवजी और उनके साथी पराशरने पहचाना नहीं।

जयदेवजी प्रेममें डूबे हुए सदा श्रीकृष्णका नाम-गान करते रहते थे। एक दिन भावावेशमें अकस्मात् उन्होंने देखा मानो चारों ओर सुनील पर्वतश्रेणी है, नीचे कल-कल निनादिनी कालिन्दी बह रही है। यमुना-तीरपर कदम्बके नीचे खड़े हुए भगवान् श्रीकृष्ण मुरली हाथमें लिये मुसकरा रहे हैं। यह दृश्य देखते ही जयदेवजीके मुखसे अकस्मात् यह गीत निकल पड़ा—

मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै-
र्नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय।
इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुञ्जद्रुमं
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहःकेलयः॥

पराशर इस मधुर गानको सुनकर मुग्ध हो गया। बस, यहींसे ललितमधुर 'गीत-गोविन्द' आरम्भ हुआ! कहा जाता है, यहीं जयदेवजीको भगवान्‌के दसावतारोंके प्रत्यक्ष दर्शन हुए और उन्होंने *'जय जगदीश हरे'* की टेर लगाकर दसों अवतारोंकी क्रमशः स्तुति गायी। कुछ समय बाद जब उन्हें बाह्य ज्ञान हुआ, तब पराशरको साथ लेकर वे चले भगवान् श्रीजगन्नाथजीके दर्शन करने! भगवान्‌के दर्शन प्राप्तकर जयदेवजी बहुत प्रसन्न हुए। उनका हृदय आनन्दसे भर गया! वे पुरुषोत्तमक्षेत्र—पुरीमें एक विरक्त संन्यासीकी भाँति रहने लगे। उनका कोई नियत स्थान नहीं था। प्रायः वृक्षके नीचे ही वे रहा करते और भिक्षाद्वारा क्षुधा-निवृत्ति करते। दिन-रात प्रभुका ध्यान, चिन्तन और गुणगान करना ही उनके जीवनका एकमात्र कार्य था।

विवाहकी इच्छा न होनेपर भी सुदेव नामके एक ब्राह्मणने भगवान्‌की आज्ञासे अपनी पुत्री पद्मावती जयदेवजीको अर्पित कर दी। जयदेवजीको भगवान्‌का आदेश मानकर पद्मावतीके साथ विवाह करना पड़ा। कुछ दिनों बाद गृहस्थ बने हुए जयदेव पतिव्रता पद्मावतीको साथ लेकर अपने गाँव केन्दुबिल्व लौट आये और भगवान् श्रीराधामाधवकी युगल श्रीमूर्ति प्रतिष्ठित करके दोनों उनकी सेवामें प्रवृत्त हो गये।

कुछ समय केन्दुबिल्वमें रहनेके बाद जयदेवजी यात्राको निकले। एक राजाने उनका बड़ा सम्मान करके उन्हें अपने यहाँ रखा और वहाँसे चलते समय इच्छा न रहनेपर भी बहुत-सा धन उन्हें दे दिया। जयदेवजीने उसे लेनेसे इनकार किया; परंतु राजाने किसी प्रकार भी नहीं माना, तब मन मारकर उन्होंने राजाकी प्रसन्नताके लिये निःस्पृह और निर्मम भावसे कुछ धन साथ ले लिया और वहाँसे वे अपने गाँवको चल पड़े। मार्गमें कुछ डाकुओंने पीछेसे आक्रमण करके जयदेवजीको नीचे गिरा दिया और देखते-देखते ही उनके चारों हाथ-पैर काटकर उन्हें एक कुएँमें डाल दिया। अनित्य धनकी गठरीके साथ ही उन्होंने महान् दुःखके कारणरूप भयानक पापकी भारी पोटली भी बाँध ली। अपनी सफलतापर गर्व करते हुए डाकू वहाँसे चल दिये।

भगवत्कृपासे कुएँमें जल बिलकुल नहीं था, इससे जयदेवजी डूबे नहीं। भगवान्‌की दयासे उन्हें कहीं चोट भी नहीं आयीं। वे कुएँके अंदर एक सुन्दर शिलाको पाकर उसीपर सुखसे बैठ गये और प्रभुके विधानपर परम प्रसन्न होते हुए उनका नाम-गुण-कीर्तन करने लगे। जयदेवजीने सोचा कि हो-न-हो यह मेरे धन ग्रहण करनेका ही परिणाम है!

थोड़ी देर बाद उधरसे गौड़ेश्वर राजा लक्ष्मणसेनकी सवारी निकली। कुएँमेंसे आदमीकी आवाज आती सुनकर राजाने देखनेकी आज्ञा दी। एक सेवकने जाकर देखा तो मालूम हुआ; कोई मनुष्य सूखे कुएँमें बैठा श्रीकृष्ण-नाम-कीर्तन कर रहा है। राजाकी आज्ञासे उसी क्षण जयदेव बाहर निकाले गये और इलाज करानेके लिये उन्हें साथ लेकर राजा अपनी राजधानी गौड़को लौट आये। श्रीजयदेवजीकी विद्वत्ता और उनके श्रीकृष्णप्रेमका परिचय प्राप्तकर राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई और उनके लोकोत्तर गुणोंको देख वह उनका भक्त बन गया। राजाने

हाथ-पैर काटनेवालोंका नाम-पता और हुलिया पूछा। जयदेवजी नाम-पता तो जानते ही नहीं थे; हुलिया भी उन्होंने इसलिये नहीं बतायी कि कहीं राजकर्मचारी उनका पता लगाकर उन्हें तंग न करें।

चिकित्सासे जयदेवजीके घाव सूख गये। राजाने उन्हें अपनी पञ्चरत्न-सभाका प्रधान बना दिया और सर्वाध्यक्षताका सारा भार उन्हें सौंप दिया। इसके कुछ दिनों बाद इनकी पत्नी पद्मावती भी श्रीराधा-माधवकी युगल मूर्तिको लेकर पतिके पास चली आयीं। राजा हर तरहसे धनादि देकर जयदेवजीका सम्मान करना चाहते; परंतु धन-मानके विरागी भक्त जयदेव मामूली खर्चके सिवा कुछ भी नहीं लेते थे। एक दिन राजमहलमें कोई महोत्सव था। उसमें भोजन करनेके लिये हजारों दरिद्र भिक्षुक, अतिथि, ब्राह्मण, साधु आदि आये थे। उन्हींमें साधुवेषधारी वे चारों डाकू भी थे, जिन्होंने जयदेवजीको धनके लोभसे उनके हाथ-पैर काटकर कुएँमें फेंक दिया था।

डाकुओंको क्या पता था कि हमने जिसे मरा समझ लिया था, वही यहाँ सर्वाध्यक्ष है। डाकुओंने दूरसे ही जयदेवजीको देखा और लूले-लँगड़े देखकर उन्हें तुरंत पहचान लिया। वे डरकर भागनेका मौका देखने लगे। इतनेमें ही जयदेवजीकी दृष्टि उनपर पड़ी। देखते ही वे वैसे ही आनन्दमें भर गये, जैसे बहुत दिनोंके बिछुड़े बन्धुओंको देखकर बन्धुको आनन्द होता है। जयदेवजीने मनमें सोचा, 'इन्हें धनकी आवश्यकता होगी। राजा मुझसे सदा धन लेनेको कहा करते हैं; आज इन्हें कुछ धन दिलवा दिया जायगा तो बड़ा सन्तोष होगा।' जयदेवजीने राजासे कहा—'मेरे कुछ पुराने मित्र आये हैं, आप चाहें तो इन्हें कुछ धन दे सकते हैं।' कहने-भरकी देर थी। राजाने तुरंत उन्हें अपने पास बुलाया और उनकी इच्छाके अनुसार बहुत-सा धन-धान्य देकर आदरपूर्वक खिलाने-पिलानेके बाद वस्त्रालङ्कारोंसे पुनः सम्मानित करके प्रेमपूर्वक उनको विदा कर दिया। धनका बोझ ज्यादा हो गया था तथा रास्तेमें सँभालकी भी आवश्यकता थी, इसलिये जयदेवजीने एक अफसरके साथ चार सेवकोंको उनके साथ कर दिया। राहमें अफसरने उनके इतना धन-सम्मान पानेका रहस्य जाननेके लिये उनसे पूछा कि 'भाइयो! आपका निःस्पृह भक्तवर जयदेवजीके साथ क्या सम्बन्ध है, जिससे उन्होंने आपलोगोंको इतनी अपार सम्पत्ति दिलवाकर आपके उपकारका बदला चुकाया है?'

पापबुद्धि डाकुओंने ईश्वरके न्याय और भयको भुलाकर कपटसे कहा—'साहब! तुम्हारा यह अध्यक्ष और हमलोग एक राज्यमें कर्मचारी थे। हमलोग अफसर थे और यह हमारी मातहतीमें काम करता था; इसने एक बार ऐसा कुकर्म किया कि राजाने गुस्सेमें आकर इसका सिर उड़ा देनेकी आज्ञा दे दी। उस समय हमलोगोंने दया करके इसे बचा लिया और इसके हाथ-पैर कटवाकर छोड़ दिया। हम कहीं यह भेद खोल न दें, इसी डरसे इसने हमारा इतना सम्मान किया-कराया है। हमने भी उसका बुरा हो जानेके डरसे कुछ भी नहीं कहा।'

डाकुओंका इतना कहना था कि धड़ामसे धरती फटी और चारों जीते ही उसमें समा गये! राजकर्मचारी आश्चर्यमें डूब गया।

तदनन्तर अफसर नौकरोंके सिरपर सारा धन लदवाकर वापस राजधानीको लौट आये और राजासे उन्होंने सारा हाल सुना दिया। राजाने जयदेवको बुलाकर चकित मनसे सब बातें सुनायीं। इतनेमें ही राजा यह देखकर आश्चर्य और हर्षमें डूब गया कि जयदेवजीकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह रही है और उनके कटे हुए हाथ-पैर उसी क्षण पुनः पूर्ववत् स्वाभाविक हो गये हैं। राजाने विस्मित होकर बड़े ही कौतूहलसे आग्रहपूर्वक सारा हाल पूछा। जयदेवजीको अब सच्ची घटना सुनानी पड़ी। दयालुहृदय जयदेवजीने कहा—'राजन्! मैं बहुत ही अभागा हूँ, जिसके कारण उन बेचारोंके प्राण गये। मैंने धनको बुरा समझकर छोड़ दिया था, पुनः राजाके आग्रहसे उसे ग्रहण किया। इसीसे वनमें उन बेचारोंकी बुद्धि लोभवश दूषित हो गयी और उन्होंने धन छीननेके लिये मुझे लूला-लँगड़ा करके कुएँमें डाल दिया। इस प्रकार उन्होंने धनका और धन-ग्रहणका प्रत्यक्ष दोष सिद्ध कर मेरे साथ मित्रताका ही बर्ताव किया। मैं उनके उपकारसे दब गया, इसीसे उन्हें आपके पाससे धन दिलवाया। अधिक धन दिलवानेमें मेरा एक हेतु यह भी था—यदि उनकी धनकी कामना पूर्ण हो जायगी तो वे

डाकूपनके निर्दय कामको छोड़ देंगे। अवश्य ही मेरे हाथ-पैर किसी पूर्वकृत कर्मके फलसे ही कटे थे, वे तो केवल लोभवश निमित्त बने थे। आज अपने ही कारणसे उनकी इस प्रकार अप्राकृतिक मृत्युका समाचार सुनकर मुझे रोना आ रहा है। यदि उनका दोष हो तो भगवान् उन्हें क्षमा करें। कितना आश्चर्य है कि मेरे दोष न देखकर भगवान्‌ने दया करके मेरे हाथ-पैर पुन: पूर्ववत् बना दिये हैं। राजन्! ऐसे मेरे प्यारे श्रीकृष्णको जो नहीं भजता, उसके समान अभागा और कौन होगा।'

भक्तप्रवर श्रीजयदेवजीकी वाणी सुनकर राजा चकित हो उनके चरणोंमें लोट गया। भक्तहृदयकी महत्ताका प्रत्यक्ष परिचय प्राप्तकर वह उससे अत्यन्त प्रभावित होकर भक्त बन गया!

जयदेवजीकी पत्नी पद्मावती भी छायाकी भाँति सब प्रकारसे स्वामीका अनुवर्तन करनेवाली थी। भगवान्‌के प्रति उसका प्रेम भी असीम था। पातिव्रत-धर्मका महत्त्व वह भलीभाँति जानती थी। जयदेवजी राजपूज्य थे। इससे रानी, राजमाता आदि राजमहलकी महिलाएँ भी उनके घर पद्मावतीजीके पास आकर सत्सङ्गका लाभ उठाया करती थीं। रानी बहुत ही सुशीला, साध्वी, धर्मपरायणा और पतिव्रता थी। परंतु उसके मनमें कुछ अभिमान था, इससे किसी-किसी समय वह कुछ दु:साहस कर बैठती थी। एक दिन पद्मावतीके साथ भी वह ऐसा ही दु:साहसपूर्ण कार्य कर बैठी।

सत्सङ्ग हो रहा था। बातों-ही-बातोंमें पद्मावतीने सती-धर्मकी महिमा बतलाते हुए कहा कि 'जो स्त्री स्वामीके मर जानेपर उसके शवके साथ जलकर सती होती है, वह तो नीची श्रेणीकी ही सती है। उच्च श्रेणीकी सती तो पतिके मरणका समाचार सुनते ही प्राण त्याग देती है।' रानीको यह बात नहीं जँची। उसने समझा, पद्मावती अपने सतीत्वका गौरव बढ़ानेके लिये ऐसा कह रही है। मनमें ईर्ष्या जाग उठी, रानी परीक्षा करनेका निश्चय करके बिना ही कुछ कहे महलको लौट गयी। एक समय राजाके साथ जयदेवजी कहीं बाहर गये थे। रानी सुअवसर समझकर दम्भसे विषादयुक्त चेहरा बनाकर पद्मावतीके पास गयी और कपट-रुदन करते-करते कहा कि 'पण्डितजीको वनमें सिंह खा गया।' उसका इतना कहना था कि पद्मावती 'श्रीकृष्ण-कृष्ण' कहकर धड़ामसे पृथ्वीपर गिर पड़ी! रानीने चौंककर देखा तो पद्मावती अचेतन मालूम हुई—परीक्षा करनेपर पता लगा कि पद्मावतीके प्राणपखेरू शरीरसे उड़ गये हैं। रानीके होश उड़ गये। उसे अपने दु:साहसपूर्ण कुकृत्यपर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वह सोचने लगी, 'अब मैं महाराजको कैसे मुँह दिखाऊँगी। जब पतिदेव अपने पूज्य गुरु जयदेवजीकी धर्मशीला पत्नीकी मृत्युका कारण मुझको समझेंगे, तब उन्हें कितना कष्ट होगा! जयदेवजीको भी कितना सन्ताप होगा! हा दुर्दैव!' इतनेमें ही जयदेवजी आ पहुँचे। राजाके पास भी मृत्यु-संवाद जा पहुँचा था, वह भी वहीं आ गया। राजाके दु:खका पार नहीं रहा। रानी तो जीते ही मरेके समान हो गयी। जयदेवजीने रानीकी सखियोंसे सारा हाल जानकर कहा—'रानी-मासे कह दो, घबराएँ नहीं। मेरी मृत्युके संवादसे पद्मावतीके प्राण निकल गये तो अब मेरे जीवित यहाँ आ जानेपर उन प्राणोंको वापस भी आना पड़ेगा।' जयदेवजीने मन-ही-मन भगवान्‌से प्रार्थना की। कीर्तन आरम्भ हो गया। जयदेवजी मस्त होकर गाने लगे। धीरे-धीरे पद्मावतीके शरीरमें प्राणोंका सञ्चार हो आया। देखते-ही-देखते वह उठ बैठी और हरि-ध्वनि करने लगी। रानी आनन्दकी अधिकतासे रो पड़ी। उसने कलङ्क-भञ्जन श्रीकृष्णको धन्यवाद दिया और भविष्यमें कभी ऐसा दु:साहस न करनेकी प्रतिज्ञा कर ली। सब ओर आनन्द छा गया। जयदेवजीकी भक्ति और पद्मावतीके पातिव्रतका सुयश चारों ओर फैल गया।

कुछ समय गौड़में रहनेके बाद पद्मावती और श्रीराधा-माधवजीके विग्रहोंको लेकर राजाकी अनुमतिसे जयदेवजी अपने गाँवको लौट आये। यहाँ उनका जीवन श्रीकृष्णके प्रेममें एकदम डूब गया। उसी प्रेमरसमें डूबकर इन्होंने मधुर 'गीत-गोविन्द' की रचना की।

एक दिन श्रीजयदेवजी 'गीत-गोविन्द' की एक कविता लिख रहे थे, परंतु वह पूरी ही नहीं हो पाती थी। पद्मावतीने कहा—'देव! स्नानका समय हो गया है, अब लिखना बंद करके आप स्नान कर आयें तो ठीक हो।' जयदेवजीने कहा—'पद्मा! जाता हूँ। क्या करूँ,

मैंने एक गीत लिखा है; परंतु उसका शेष चरण ठीक नहीं बैठता। तुम भी सुनो—

स्थलकमलगञ्जनं मम हृदयरञ्जनं
जनितरतिरङ्गपरभागम्।
भण मसृणवाणि करवाणि चरणद्वयं
सरसलसदलक्तकरागम्॥
स्मरगरलखण्डनं मम शिरसि मण्डनम्—

इसके बाद क्या लिखूँ, कुछ निश्चय नहीं कर पाता!' पद्मावतीने कहा—'इसमें घबरानेकी कौन-सी बात है! गङ्गा-स्नानसे लौटकर शेष चरण लिख लीजियेगा।'

'अच्छा, यही सही। ग्रन्थको और कलम-दावातको उठाकर रख दो, मैं स्नान करके आता हूँ।'

जयदेवजी इतना कहकर स्नान करने चले गये। कुछ ही मिनटों बाद जयदेवका वेष धारणकर स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण पधारे और बोले—'पद्मा! जरा 'गीत-गोविन्द' देना।'

पद्मावतीने विस्मित होकर पूछा, 'आप स्नान करने गये थे न? बीचसे ही कैसे लौट आये?'

महामायावी श्रीकृष्णने कहा—'रास्तेमें ही अन्तिम चरण याद आ गया, इसीसे लौट आया।' पद्मावतीने ग्रन्थ और कलम-दावात ला दिये। जयदेव-वेषधारी भगवान्‌ने—

'देहि मे पदपल्लवमुदारम्'

—लिखकर कविताकी पूर्ति कर दी। तदनन्तर पद्मावतीसे जल मँगाकर स्नान किया और पूजादिसे निवृत्त होकर भगवान्‌के निवेदन किया हुआ पद्मावतीके हाथसे बना भोजन पाकर पलँगपर लेट गये।

पद्मावती पत्तलमें बचा हुआ प्रसाद पाने लगी। इतनेमें ही स्नान करके जयदेवजी लौट आये। पतिको इस प्रकार आते देखकर पद्मावती सहम गयी और जयदेव भी पत्नीको भोजन करते देखकर विस्मित हो गये। जयदेवजीने कहा—'यह क्या? पद्मा, आज तुम श्रीमाधवके भोग लगाकर मुझको भोजन कराये बिना ही कैसे जीम रही हो? तुम्हारा ऐसा आचरण तो मैंने कभी नहीं देखा।'

पद्मावतीने कहा—'आप यह क्या कह रहे हैं? आप कविताका शेष चरण लिखनेके लिये रास्तेसे ही लौट आये थे, कविताकी पूर्ति करनेके बाद आप अभी-अभी तो स्नान-पूजन-भोजन करके लेटे थे। इतनी देरमें मैं आपको नहाये हुए-से आते कैसे देख रही हूँ!' जयदेवजीने जाकर देखा, पलँगपर कोई नहीं लेट रहा है। वे समझ गये कि आज अवश्य ही यह भक्तवत्सलकी कृपा हुई है। फिर कहा—'अच्छा, पद्मा! लाओ तो देखें, कविताकी पूर्ति कैसे हुई है।'

पद्मावती ग्रन्थ ले आयी। जयदेवजीने देखकर मन-ही-मन कहा—'यही तो मेरे मनमें था, पर मैं सङ्कोचवश लिख नहीं रहा था।' फिर वे दोनों हाथ उठाकर रोते-रोते पुकारकर कहने लगे—'हे कृष्ण! नन्दनन्दन, हे राधावल्लभ, हे व्रजाङ्गनाधव, हे गोकुलरत्न, करुणासिन्धु, हे गोपाल! हे प्राणप्रिय! आज किस अपराधसे इस किङ्करको त्यागकर आपने केवल पद्माका मनोरथ पूर्ण किया!' इतना कहकर जयदेवजी पद्मावतीकी पत्तलसे श्रीहरिका प्रसाद उठाकर खाने लगे। पद्मावतीने कितनी ही बार रोककर कहा—'नाथ! आप मेरा उच्छिष्ट क्यों खा रहे हैं?' परंतु प्रभु-प्रसादके लोभी भक्त जयदेवने उसकी एक भी नहीं सुनी।

इस घटनाके बाद उन्होंने 'गीत-गोविन्द' को शीघ्र ही समाप्त कर दिया। तदनन्तर वे उसीको गाते मस्त हुए घूमा करते। वे गाते-गाते जहाँ कहीं जाते, वहीं भक्तका कोमलकान्त गीत सुननेके लिये श्रीनन्दनन्दन छिपे हुए उनके पीछे-पीछे रहते। धन्य प्रभु!

अन्तकालमें श्रीजयदेवजी अपनी पतिपरायणा पत्नी पद्मावती और भक्त पराशर, निरञ्जन आदिको साथ लेकर वृन्दावन चले गये और वहाँ भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर लीला देख-देखकर आनन्द लूटते रहे। कहते हैं कि वृन्दावनमें ही दम्पती देह त्यागकर नित्यनिकेतन गोलोक पधार गये।

किसी-किसीका कहना है कि जयदेवजीने अपने ग्राममें शरीर छोड़ा था और उनके घरके पास ही उनका समाधि-मन्दिर बनाया गया।

उनके स्मरणार्थ प्रतिवर्ष माघकी संक्रान्तिपर केन्दुबिल्व गाँवमें अब भी मेला लगता है, जिसमें प्रायः लाखसे अधिक नर-नारी एकत्र होते हैं।

श्रीमधुसूदन सरस्वती

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनोदरे किमपि यन्नीलं महो धावति॥

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

(मधुसूदनी गीताटी० तेरहवें अध्यायके प्रारम्भमें)

प्रमाणतोऽपि निर्णीतं कृष्णमाहात्म्यमद्भुतम्।
न शक्नुवन्ति ये सोढुं ते मूढा निरयं गताः॥

(म० गी० पंद्रहवें अध्यायके अन्तमें)

'ध्यानके अभ्याससे जिनका चित्त वशमें हो गया है, वे योगी यदि उस निर्गुण और निष्क्रिय परम ज्योतिको देखते हैं तो देखा करें। हमारे नेत्रोंको तो यमुनापुलिनविहारी नीले तेजवाला साँवरा ही चिरकालतक सुख पहुँचाता रहे।' 'जिसके हाथोंमें वंशी सुशोभित है, जो नव-नील-नीरद-सुन्दर है, पीताम्बर पहने है, जिसके होठ बिम्बफलके समान लाल-लाल हैं, जिसका मुखमण्डल पूर्ण चन्द्रके सदृश और जिसके नेत्र कमलवत् हैं, उस श्रीकृष्णसे परे कोई तत्त्व हो तो मैं उसे नहीं जानता।' 'प्रमाणोंसे निर्णय दिये हुए श्रीकृष्णके अद्भुत माहात्म्यको जो मूढ़ नहीं सह सकते, वे नरकगामी होंगे।'

ईसाकी लगभग सोलहवीं शताब्दीमें बंगालके फरीदपुर जिलेके कोटालपाड़ा ग्राममें प्रमोदन पुरन्दर नामक एक विद्वान् ब्राह्मण रहते थे। उनके तृतीय पुत्र हुए कमलनयनजी। इन्होंने न्यायके अगाध विद्वान् गदाधरभट्टके साथ नवद्वीपके हरिराम तर्कवागीशसे न्यायशास्त्रका अध्ययन किया। काशी आकर दण्डिस्वामी श्रीविश्वेश्वराश्रमजीसे इन्होंने वेदान्तका अध्ययन किया और यहीं संन्यास ग्रहण किया। संन्यासका इनका नाम 'मधुसूदन सरस्वती' पड़ा।

स्वामी मधुसूदन सरस्वतीको शास्त्रार्थ करनेकी धुन थी। काशीके बड़े-बड़े विद्वानोंको ये अपनी प्रतिभाके बलसे हरा देते थे। परंतु जिसे श्रीकृष्ण अपनाना चाहते हों, उसे मायाका यह थोथा प्रलोभन-जाल कबतक उलझाये रख सकता है। एक दिन एक वृद्ध दिगम्बर परमहंसने उनसे कहा—'स्वामीजी! सिद्धान्तकी बात करते समय तो आप अपनेको असङ्ग, निर्लिप्त ब्रह्म कहते हैं; पर सच बताइये, क्या विद्वानोंको जीतकर आपके मनमें गर्व नहीं होता? यदि आप पराजित हो जायँ, तब भी क्या ऐसे ही प्रसन्न रह सकेंगे? यदि आपको घमंड होता है तो ब्राह्मणोंको दुःखी करने, अपमानित करनेका पाप भी होगा।' कोई दूसरा होता तो मधुसूदन सरस्वती उसे फटकार देते, परंतु उन संतके वचनोंसे वे लज्जित हो गये। उनका मुख मलिन हो गया। परमहंसने कहा—'भैया! पुस्तकोंके इस थोथे पाण्डित्यमें कुछ रखा नहीं है। ग्रन्थोंकी विद्या और बुद्धिके बलसे किसीने इस मायाके दुस्तर जालको पार नहीं किया है। प्रतिष्ठा तो देहकी होती है और देह नश्वर है। यश तथा मान-बड़ाईकी इच्छा भी एक प्रकारका शरीरका मोह ही है। तुम श्रीकृष्णकी शरण लो। उपासना करके हृदयसे इस गर्वके मैलको दूर कर दो। सच्चा आनन्द तो तुम्हें आनन्दकन्द श्रीवृन्दावनचन्द्रके चरणोंमें ही मिलेगा।'

स्वामीजीने उन महात्माके चरण पकड़ लिये। दयालु संतने श्रीकृष्णमन्त्र देकर उपासना तथा ध्यानकी विधि बतायी और चले गये। मधुसूदन सरस्वतीने तीन महीनेतक उपासना की। जब उनको इस अवधिमें कुछ लाभ न जान पड़ा, तब काशी छोड़कर ये घूमने निकल पड़े। कपिलधाराके पास वही संत इन्हें फिर मिले। उन्होंने कहा—'स्वामीजी! लोग तो भगवत्प्राप्तिके लिये अनेक जन्मोंतक साधन, भजन, तप करते हैं और फिर भी बड़ी कठिनतासे उन्हें भगवान्‌के दर्शन हो पाते हैं; पर आप तो तीन ही महीनेमें घबरा गये।' अब अपनी भूलका स्वामीजीको पता लगा। ये गुरुदेवके चरणोंपर गिर पड़े। काशी लौटकर ये फिर भजनमें लग गये। प्रसन्न होकर श्रीश्यामसुन्दरने इन्हें दर्शन दिये।

अद्वैतसिद्धि, सिद्धान्तबिन्दु, वेदान्तकल्पलतिका, अद्वैतरत्न-रक्षण, प्रस्थानभेदके लेखक इन प्रकाण्ड नैयायिक तथा वेदान्तके विद्वान्‌ने भक्तिरसायन, गीताकी 'गूढार्थदीपिका' नामक व्याख्या और श्रीमद्भागवतकी

व्याख्या लिखी। ये कहते हैं—'यह ठीक है कि अद्वैत ज्ञानके मार्गपर चलनेवाले मुमुक्षु मेरी उपासना करते हैं; यह भी ठीक है कि आत्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त करके मैं स्वाराज्यके सिंहासनपर आरूढ़ हो चुका हूँ; किंतु क्या करूँ, एक कोई गोपकुमारियोंका प्रेमी शठ है, उसी हरिने बलपूर्वक मुझे अपना दास बना लिया है।'

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः
स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः ।
शठेन केनापि वयं हठेन
दासीकृता गोपवधूविटेन॥

रसिकभक्त विद्यापति

महाकवि विद्यापति भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी ह्लादिनी शक्ति श्रीराधारानीके रूप-लावण्य और भक्तिरससे ओत-प्रोत शृङ्गारमाधुर्यके कुशल मर्मज्ञ और गायक थे। वे बंगालके प्रसिद्ध वैष्णव कवि चण्डीदासके समकालीन थे। दोनों एक-दूसरेके कविता-प्रेम और श्रीकृष्ण-भक्तिसे प्रभावित थे और परम पवित्र भगवती भागीरथीके तटपर दोनोंका एक समय मिलन भी हुआ था।

विद्यापतिने विक्रमकी पंद्रहवीं सदीमें विसपी ग्राममें जन्म लिया था। उनका परिवार बिहारके तत्कालीन शासक 'हिंदूपति' महाराज शिवसिंहके पूर्वजोंका कृपापात्र था और विद्यापतिने तो शिवसिंह और उनकी पटरानी महारानी लक्ष्मी (लखिमा)-के आश्रयमें मिथिलाको अपनी श्रीकृष्ण-भक्ति-सुधासे वृन्दावन बना दिया। बिहार ही नहीं, उत्तरापथकी गली-गलीमें, उपवन और सरोवर-तटोंपर काव्यरसिक उनकी पदावलीका रसास्वादन करके प्रमत्त हो उठे। अभिनव कृष्ण महाप्रभु चैतन्यदेव और उनकी भक्तमण्डलीके लिये तो कविकण्ठहार विद्यापतिके पद श्रीराधाकृष्णकी मधुर भक्तिके उद्दीपन ही बन गये। महाप्रभु उनके विरह और प्रेमसम्बन्धी पदोंको सुनते जाते थे और साथ-ही-साथ नयनोंसे अनवरत अश्रुकी धारा बहाते थे।

विद्यापति प्रतिभाशाली कवि ही नहीं, संस्कृतके अच्छे विद्वान् थे। श्रीमद्भागवतमें उनकी बड़ी श्रद्धा थी, उन्होंने पाठके लिये स्वयं अपने हाथसे उसकी एक प्रतिलिपि की थी। भगवती गङ्गा और श्रीदुर्गामें भी उनकी बड़ी भक्ति थी। उन्होंने 'गङ्गावाक्यावली' और 'दुर्गाभक्तितरङ्गिणी' की रचना की है। उन्होंने हिमाचल-नन्दिनी भगवती पार्वतीका अपने पदोंमें कहीं-कहीं सादर स्मरण किया है। शिव और पार्वतीमें उनकी अटल निष्ठा थी। उन्होंने एक स्थलपर कहा है—

'हिमगिरि कुँवरि चरन हिरदय धरि कवि विद्यापति भाखे।'

भगवान् शिवकी स्तुतिमें उन्होंने बहुत-से पद लिखे हैं, बिहारमें इन 'नचारियों' को लोग बड़े उत्साहसे गाया करते हैं। ऐसा कहा जाता है कि विद्यापतिकी शिव-भक्तिसे प्रसन्न होकर भगवान् भोलेनाथने उनको अपना 'उगना' नाम रखकर सेवकके वेषमें धन्य किया था। यह कहना सरल नहीं है कि विद्यापति शैव थे या वैष्णव; पर उनकी सरस पदावलीसे उनकी श्रीकृष्ण और श्रीराधाके प्रति भक्ति और दृढ़ आस्था प्रकट होती है। उन्होंने भक्तिभावसे सने प्रेम, विरह, मिलन, अभिसार और मानसम्बन्धी अनेक सरस पदोंकी रचना करके अपनी श्रीकृष्णभक्तिकी उज्ज्वल पताका फहरायी है। श्रीकृष्ण ही उनके आराध्य देव थे। उनके पदोंमें भक्तिसुलभ सरलता और माधुर्यका सुन्दर समन्वय मिलता है। शृङ्गार और भक्तिका इतना मधुर समावेश अन्यत्र कठिनतासे हुआ है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती महाकवि गीतगोविन्दकार श्रीजयदेवका पूर्णरूपसे अनुगमन करके अपने 'अभिनव जयदेव' नामकी सत्यता चरितार्थ की। कवि शेखर विद्यापतिने अपने उपास्यका निम्नलिखित पदमें जो ध्यान किया है, उससे उनके रँगीले हृदयकी रसीली भक्तिका पता चलता है—

नन्दक नँदन कदम्बक तरु तरे धिरे-धीरे मुरली बजाव।
समय सँकेत निकेतन बइसल बेरि-बेरि बोलि पठाव॥
सामरी तोरा लगि अनुखने बिकल मुरारि।
जमुना के तीरे उपबन उदबेगल फिरि-फिरि ततहि निहारि॥
गोरस बिके अबइते जाइते जनि-जनि पुछ बनमारि।
तो हे मतिमान सुमति मधुसूदन बचन सुनहु किछु मोरा।
भनइ बिद्यापति सुन बरजौवति बंदह नंदकिसोरा॥

विद्यापति रसिक भक्त, महाकवि और प्रेमी थे। उनको स्वर्ग गये पाँच सौ सालसे अधिक समय हो गया; तो भी मैथिलकोकिलकी काव्यवाणी श्रीकृष्णभक्तिकी सरसताकी साहित्य-जगत्‌में महिमा प्रकटकर उत्तरोत्तर सम्मानित होती जा रही है।

भक्त चण्डीदास

भक्त चण्डीदासका जन्म वीरभूमि जनपदके छटना ग्राममें हुआ था। उनकी बाल्यावस्थामें ही बोलपुरसे दस मील दूर नन्नुरा ग्राममें परिवारके लोग जा बसे थे। उस प्रदेशमें इस परिवारकी गणना कट्टर ब्राह्मणोंमें होती थी, लोग आचार-विचारका बड़ा ध्यान रखते थे। चण्डीदास वासुलीदेवीके मन्दिरमें पुजारी नियुक्त हुए। वे देवीकी उपासना और प्रेम-गीत-साधनामें ही अपनी महती शक्तिका उपयोग करते थे। उस समय उनकी अवस्था सुकुमार थी, मुखपर यौवनकी रेखाएँ मुसकरा रही थीं, उनके गौर वर्णपर सौन्दर्य शृङ्गार-रसका चित्र उतार रहा था, प्रत्येक क्रियामें अल्हड़ता थी, स्वभाव मृदुल और प्रेमिल था। कण्ठदेशसे सदा सरस स्वरकी मन्दाकिनी प्रवाहित होती रहती थी।

एक दिन वे सरिता-तटकी ओर जा रहे थे, उन्होंने एक सुन्दरी रजककन्याको देखा। उसका नाम रामी था। वह कपड़े धो रही थी। दोनोंने एक-दूसरेको देखा। हृदयमें शुद्ध प्रेमका सञ्चार हुआ। वासना और आसक्तिकी गन्धतक नहीं थी; रामी ब्राह्मण देवताकी चरणधूलि ले सकती थी, ब्राह्मण चण्डीदास उसे केवल आशीर्वाद दे सकते थे। दोनों ओर विवशता थी। चण्डीदास उसकी ओर आकृष्ट हो गये। उनकी कण्ठभारतीने रामीके सौन्दर्यमें अलौकिकता, दिव्यता और पवित्र प्रेमका दर्शन किया। रामी चण्डीदासके लिये सब कुछ हो चली। देवीकी सेवामें उनकी आसक्ति कम हो गयी, वे रात-दिन प्रेमकी सङ्गीतामृत-लहरीमें सराबोर होकर श्रीराधा-कृष्णके प्रेमगानमें विभोर रहते थे। कण-कणमें उन्हें श्रीराधा-कृष्णका सौन्दर्य-माधुर्य दीख पड़ने लगा। लोग उन्हें 'पगला चण्डी' कहकर पुकारने लगे। पगलाकी उपाधि तत्कालीन बंगालमें उन्हें दी जाती थी, जो सदा प्रेमनिमग्न रहा करते थे। वस्तुतः प्रेम भगवान्का ही रूप है, प्रेम आत्माका स्वरूप है और हृदयकी परम मूल्यवान् गुप्त सम्पत्ति है। जिन्हें एक बार प्रेमका सुधा-रस-बिन्दु मिल जाता है, उन्हें संसारमें और कुछ भी अच्छा नहीं लगता। इसीसे प्रेमी चण्डीदासने पार्थिव सौन्दर्यके गीत नहीं गाये। एक पदमें श्रीवृषभानुनन्दिनीके पवित्र भावसे भावित होकर वे श्यामसुन्दरसे कह रहे हैं— मानो श्रीलाड़िलीजी अपने प्राण-प्रियतम श्यामसुन्दरको सामने देखकर उन्हें अपने हृदयकी क्रन्दन-ध्वनि सुना रही हैं—

बंधु कि आर बलिब आमि।
जीवने मरणे जनमे जनमे प्राणनाथ हैओ तुमि॥
तोमार चरणे आमार पराणे बाँधिल प्रेमेर फाँसी।
सब समर्पिया एक मन हैया निचय हैलाम दासी॥
भावि देखिलाभ ए तीन भुवने आर के आमार आछे।
राधा बलि केह सुधाइते नाइ, दाँड़ाब काहार काछे॥
ए कुले ओ कुले दु कुले गोकुले आपना बलिब काय।
शीतल बलिया शरण लइनु, ओ दुटी कमल पाय॥
ना ठेलिओ मोरे अबला बलिये, ये हय उचित तोर।
भाविया देखिनु प्राणनाथ बिने गति ये नाहिक मोर॥
आँखिर निमिषे यदि नाहि देखि, तबे से पराणे मरि।
चण्डीदास कय परशरतन गलाय गाँथिया परि॥

'मेरे प्रियतम! और मैं तुम्हें क्या कहूँ। बस, इतना ही चाहती हूँ—जीवनमें-मृत्युमें, जन्म-जन्ममें तुम्हीं मेरे प्राणनाथ रहना। तुम्हारे चरण एवं मेरे प्राणोंमें प्रेमकी गाँठ लग गयी है; मैं सब कुछ तुम्हें समर्पितकर एकान्त मनसे तुम्हारी दासी हो चुकी हूँ। मेरे प्राणेश्वर! मैं सोचकर देखती हूँ—इस त्रिभुवनमें तुम्हारे अतिरिक्त मेरा और कौन है। 'राधा' कहकर मुझे पुकारनेवाला तुम्हारे सिवा और कोई भी तो नहीं है। मैं किसके समीप जाकर खड़ी होऊँ? इस गोकुलमें कौन है, जिसे मैं अपना कहूँ? सर्वत्र ज्वाला है, एकमात्र तुम्हारे युगल चरणकमल ही शीतल हैं; उन्हें शीतल देखकर ही मैं तुम्हारी शरणमें आयी हूँ। तुम्हारे लिये भी अब यही उचित है कि मुझ अबलाको चरणोंमें स्थान दे दो; मुझे अपने शीतल चरणोंसे दूर मत फेंक देना। नाथ! सोचकर देखती हूँ, मेरे प्राणनाथ! तुम्हारे बिना अब मेरी अन्य गति ही कहाँ है। तुम यदि दूर फेंक दोगे तो मैं अबला कहाँ जाऊँगी। मेरे प्रियतम! एक निमेषके लिये भी जब तुम्हें नहीं देख पाती, तब मेरे प्राण निकलने लगते हैं। मेरे स्पर्शमणि!

तुम्हें ही तो मैं अपने अङ्गोंका भूषण बनाकर गलेमें धारण करती हूँ।'

भक्त चण्डीदास और महाकवि विद्यापति परस्पर एक-दूसरेसे प्रभावित थे। चण्डीदास विद्यापतिसे मिलने गये थे। परम पवित्र भगवती भागीरथीके तटपर चण्डीदास और कविशेखर विद्यापतिका सम्मिलन हुआ था, प्रेम और सौन्दर्यने एक-दूसरेका दर्शन किया था।

चण्डीदासने श्रीकृष्णप्रेमका अत्यन्त अलौकिक ढंगसे वर्णन किया, वे श्रीकृष्णके पूर्ण भक्त थे। श्रीश्रीचैतन्यमहाप्रभु उनके गीतोंसे भक्तिके उद्दीपन तत्त्वकी अनुभूति किया करते थे।

चण्डीदासने सुखमें दुःख देखा था। वे मिलन-सुखमें वियोगके दुःखसे सदा आशङ्कित रहते थे। विरहकालमें वे मूर्तिमान् अनुराग हो उठते थे। उनका भगवत्प्रेम अथवा श्रीराधाकृष्णका भक्तिभाव सर्वथा लोकोत्तर था। उसमें माधुर्य-ही-माधुर्य दीख पड़ता है।

सइ केवा सुनाइल श्याम-नाम।
कानर भीतर दिया मरमे पशिल गो आकुल करिल मोर प्रान॥
ना जानि कतेक मधु श्याम नामे आछे गो बदन छाड़िते नाहिं पारे।
जपिते जपिते नाम अवश करिल गो केमने पाइब सइ तारे॥
नाम-परतापे आर ऐछन करिल गो अंगेर परशे किवा हय।
जे खाने बसति तार नयने देखिया गो युवति धरम कैछे रय॥
पाशरिते करि मने पाशरा न जाय गो कि करिबो कि हबे उपाय।
कहे द्विज चण्डीदास कुलवती कुल नाशे आपनार यौवन याचाय॥

'सखि! यह श्याम-नाम किसने सुनाया, यह कानके द्वारा मर्मस्थानमें प्रवेश कर गया और इसने मेरे प्राणोंको व्याकुल कर दिया। पता नहीं, श्याम-नाममें कितना माधुर्य है, इसे मुँह कभी छोड़ नहीं सकता। नाम जपते-जपते इसने मुझे अवश कर दिया, सखि! मैं अब उसे कैसे पाऊँगी। जिसके नामने मेरी यह दशा कर दी, उसके अङ्ग-स्पर्शसे तो पता नहीं क्या होता है। वह जहाँ रहता है, वहाँ उसे आँखोंसे देखनेपर युवतीका धर्म कैसे रह सकता है? मैं भूल जाना चाहती हूँ, पर मनमें भुलाया नहीं जा सकता, मैं अब क्या करूँ, मेरे लिये क्या उपाय होगा? चण्डीदास द्विज कहता है इससे कुलवतीका कुल नाश होता है, जो अपना यौवन दे देती है।'

चण्डीदासका समस्त जीवन प्रेम-साधनासे परिपूर्ण था, उन्होंने अपनी पदावलीमें सर्वत्र श्रीराधा-कृष्णके प्रेमके गीत गाये हैं, भगवदीय माधुर्यकी विजयिनी पताका फहरानेवालोंमें चण्डीदासका नाम एक गौरवपूर्ण और विशिष्ट स्थानपर प्रतिष्ठित है। चण्डीदासका नाम सुनते ही नयनोंमें प्रेमके अश्रु उमड़ पड़ते हैं, रसनापर श्रीराधा-कृष्णका सौन्दर्य-माधुर्य छलक पड़ता है, हृदयमें भक्तिकी मन्दाकिनीका वेग बढ़ जाता है। चण्डीदास पूर्ण प्रेमी और परम भगवद्भक्त थे।

श्रीरूप-सनातन

चार सौ वर्षसे अधिक बीत चुके, बंगालके सिंहासनपर हुसैनशाह नामक एक मुसलमान शासक अधिष्ठित था, जो अपनेको बंगालका बादशाह कहता था। बंगालकी राजधानी उस समय राजमहलके समीप बसे हुए गौड़ नामक नगरमें थी (यह गौड़ इस समय नष्ट हो गया है)। यद्यपि बादशाह मुसलमान था, तथापि उसके उच्चपदस्थ कर्मचारी प्रायः हिंदू ही थे। बादशाहके उच्चपदाधिकारियोंमें दक्षिणके दो ब्राह्मणबन्धु मन्त्रीके पदपर प्रतिष्ठित थे। ये अपने देशसे आकर बंगालके रामकेलि नामक गाँवमें बस गये थे और अपनी विद्या-बुद्धिसे इन्होंने इतना ऊँचा पद प्राप्त कर लिया था। राज्यमें ये दबीर खास और साकर मल्लिकके नामसे प्रसिद्ध थे। ये दोनों पदवियाँ थीं। सनातनका असली नाम 'अमर' और रूपका नाम 'सन्तोष' था। हुसैनशाह इन्हें अपना दाहिना हाथ समझता था। वेष-भूषासे ये पूरे मुसलमान प्रतीत होते थे। इन्होंने प्रचुर धन उपार्जन किया था। रामकेलि ग्राममें ये राजा कहलाते थे। इतना सब होनेपर भी इनका हृदय हिंदूभावोंसे भरा था। श्रीराम और श्रीकृष्णके प्रति इनका अनुराग था। ब्राह्मण-साधुओंमें इनकी भक्ति थी। रामकेलि ग्राममें इनके घरपर ब्राह्मण-साधुओंका प्रायः मेला-सा लगा रहता था। धनकी कमी नहीं थी, मनमें उदारता थी, धन बँटता था। अनेक विद्वान् ब्राह्मणोंका भरण-पोषण इनके

द्वारा हुआ करता था। इनके छोटे भाई 'अनुपम' घर रहा करते थे और ये दोनों अधिकांश समय बादशाहके पास गौड़में रहते थे।

श्रीचैतन्य महाप्रभुका नाम सुनकर उनके प्रति स्वाभाविक ही इनकी श्रद्धा हो गयी और उस श्रद्धाने क्रमशः बढ़कर एक प्रकारकी विरह-वेदनाका-सा रूप धारण कर लिया। दोनों भाई श्रीचैतन्यके दर्शनके लिये बड़े उत्कण्ठित हो गये। दबीर खास और साकर मल्लिककी तीव्र दर्शनाभिलाषाने श्रीचैतन्यमहाप्रभुके मनको खींच लिया। महाप्रभुसे अब नहीं रहा गया और वे वृन्दावन जानेके बहाने गङ्गाजीके किनारे-किनारे चलकर गौड़के समीप जा पहुँचे। जब महाप्रभु गौड़के समीप पहुँचे, तब उनके हजारों भक्तोंके दलकी तुमुल हरिध्वनिसे सारा नगर गूँज उठा, बादशाहने कोलाहल सुनकर सोचा कि हो-न-हो आज गौड़पर कोई शत्रु चढ़ आया है। उसे बड़ा भय हुआ। उसने दबीर खास और साकर मल्लिकको बुलाया और उनसे संन्यासीके सम्बन्धमें पूछा। इन दोनों भाइयोंने अबतक महाप्रभुके दर्शन नहीं किये थे, परंतु इनका प्रगाढ़ विश्वास था कि श्रीचैतन्य साक्षात् ईश्वर हैं। उन्होंने अनेक प्रकारसे महाप्रभुके गुणगान करते हुए बादशाहसे कहा—'हुजूर! मालूम होता है, साक्षात् भगवान् धराधाममें अवतीर्ण होकर संन्यासीके वेषमें घूम रहे हैं। जिनके अनुग्रहसे आप आज गौड़के बादशाह हैं, वही भगवान् आज आपके दरवाजेपर पधारे हैं।'

यह सुनकर बादशाहने बड़ी नम्रतासे कहा—'मुझे भी कुछ ऐसा ही मालूम होता है। मैं गौड़का बादशाह हूँ, लाखों आदमियोंके मारने-जिलानेका अख्तियार रखता हूँ; लेकिन अगर मैं एक मामूली नौकरको भी एक दिनकी तनख्वाह न दूँ तो वह अपनी रजामन्दीसे मेरी किसी बातको सुनना नहीं चाहेगा। अगर मैं अपनी फौजको छः महीने तनख्वाह न बाँटूँ तो शायद वही मुझे कत्ल करनेके लिये साजिश करने लगे। ताज्जुबकी बात है कि इस कंगाल फकीरके पास एक कौड़ी न होनेपर भी हजारों आदमी अपना घर-बार छोड़कर और नींद-भूखको भुलाकर गुलाम बने साथ घूम रहे हैं। ईश्वरके सिवा ऐसी ताकत और किसमें हो सकती है।'

बादशाहने बातें तो बड़ी अच्छी कहीं, परंतु उन दोनों भाइयोंके मनमें यह भय बना ही रहा कि कहीं स्वेच्छाचारी मुसलमान बादशाह महाप्रभुके दलको कोई कष्ट न पहुँचा दे। वे चाहते थे कि महाप्रभु यहाँसे शीघ्र ही चले जायँ तो ठीक है। परंतु उनका दर्शन करनेके लिये दोनोंके मनमें बड़ी उत्कण्ठा हो रही थी। इसलिये बाहर-के-बाहर उन्हें लौटाना भी नहीं चाहते थे। महाप्रभु गौड़में आ पहुँचे। वे दर्शन दिये बिना कब लौटनेवाले थे, वे तो आये ही थे दोनों भाइयोंको संसार-कूपसे खींचकर बाहर निकालनेके लिये! रातको दोनों भाई महाप्रभुके दरबारमें पहुँचे। प्रभु अपने प्रियतम परमात्माके प्रेममें समाधिस्थ थे। श्रीनित्यानन्दजीने चेष्टा करके उनकी समाधि भङ्ग करवाकर दोनों भाइयोंका परिचय कराया। दोनों मुँहमें तिनके दबाकर और गलेमें कपड़ा डालकर महाप्रभुके चरणोंमें गिर पड़े और बोले—

'प्रभो! आपने पतित और दीनोंका परित्राण करनेके लिये ही पृथ्वीपर पदार्पण किया है, हम-जैसे दयनीय पतित आपको और कहाँ मिलेंगे? आपने जगाई-मधाईका उद्धार किया, परंतु वे तो अज्ञानसे पाप करते थे। उद्धार तो सबसे पहले हमारा होना चाहिये; क्योंकि हमने तो जान-बूझकर पाप किये हैं, वास्तविक पतित तो हमीं हैं नाथ! अब आपके सिवा हमें और कहीं ठौर नहीं है।'

महाप्रभु उनकी निष्कपट दीनताको देखकर मुग्ध हो गये, दयासे उनका हृदय द्रवित हो गया। वे बोले—'उठो, दीनताको दूर करो; तुम्हारी इस दीनताको देखकर मेरा हृदय फटा जा रहा है, तुम मुझे बड़े प्रिय हो। मैं यहाँ तुम्हीं दोनों भाइयोंसे मिलने आया हूँ। तुम निश्चिन्त रहो। शीघ्र ही तुमपर श्रीकृष्णकी कृपा होगी। आजसे तुम्हारा नाम 'सनातन' और 'रूप' हुआ।' महाप्रभुके वचन सुनकर सनातन और रूपका हृदय आनन्दसे भर गया और वे कृतज्ञतापूर्ण दृष्टिसे महाप्रभुके मुख-कमलकी ओर एकटकी लगाकर देखने लगे। उनके जीवन-स्रोतकी दिशा सहसा बदल गयी!

इसके बाद महाप्रभुने सनातनके परामर्शसे इतने लोगोंको साथ लेकर वृन्दावन जानेका विचार छोड़ दिया और वापस नीलाचल (पुरी)-की ओर लौट गये।

इधर रूप-सनातनकी दशा कुछ और ही हो गयी। वैराग्य उमड़ पड़ा। राज्य-वैभव और मन्त्रित्वसे मन हट गया। एक क्षण भी राजकाजमें रहना उनके लिये नरक-यन्त्रणाके समान दुःखदायी हो गया। सनातनकी अनुमतिसे रूप तो छुट्टी लेकर अपने घर रामकेलि चले गये। सनातन बीमारीका बहाना करके डेरेपर ही रहने लगे। रूपने दो गुप्तचर महाप्रभुके समीप नीलाचल भेज दिये और उन्हें ताकीद कर दी कि महाप्रभुके वृन्दावनकी ओर प्रयाण करते ही शीघ्र लौटकर मुझे सूचना देना। इस बीचमें धन-सम्पत्तिको लुटाकर रूप वृन्दावन जानेकी तैयारी करने लगे। इनके छोटे भाईका नाम अनुपम था, वह पहलेसे ही बड़ा श्रद्धालु था। उसने भी भाईके साथ ही घर छोड़नेकी तैयारी कर ली। रूप-सनातनके कोई सन्तान नहीं थी; अनुपमके 'जीव' नामक एक पुत्र था, उसे थोड़ा-सा धन सौंपकर शेष सारा धन गरीबोंको लुटा दिया गया। इतनेमें समाचार मिला कि सनातनको बादशाहने कैद कर लिया है। जानी हुई-सी बात थी। रूप और अनुपमने शीघ्र ही चले जानेका विचार किया और चरोंके नीलाचलसे लौटते ही महाप्रभुके वृन्दावन-गमनकी बात सुनकर दोनों भाई वृन्दावनको चल दिये। जाते समय एक पत्र सनातनको इस आशयका लिख गये कि 'हमलोग दोनों वृन्दावन जा रहे हैं। किसी प्रकार पिण्ड छुड़ाकर आप भी शीघ्र आइये, आवश्यक व्ययके लिये दस हजार रुपये मोदीके यहाँ रख दिये गये हैं।'

सदा अमीरी ठाटमें रहनेवाले रूप और अनुपमकी आज कुछ विचित्र ही अवस्था है। उन्होंने सारे वस्त्र और आभूषण उतारकर फेंक दिये हैं, तनपर एक-एक फटी गुदड़ी है और कमरमें एक-एक कौपीन है। भूख-प्यास और नींदकी कुछ भी परवा नहीं है, पासमें एक कौड़ी नहीं है। वे सहर्ष कष्ट सहन करते हुए पैदल चले जा रहे हैं। अपने-आप जो कुछ खानेको मिल जाता है, उसीसे उदरपूर्ति करके रातको चाहे जहाँ पड़ रहते हैं; परंतु उनके मनमें कोई दुःख नहीं है। चलते-चलते दोनों भाई प्रयाग पहुँचे। वहाँ जाते ही अनायास पता लग गया कि महाप्रभु यहींपर हैं। दोनों भाई दाँतों-तले तिनका दबाकर जगत्के बड़े-से-बड़े दीन और कंगालकी तरह काँपते-रोते और पड़ते-उठते महाप्रभुके चरणोंमें जाकर गिर पड़े और दोनों ही प्रेमके आवेशमें मतवाले-से हो गये। कुछ समयके बाद धीरज धरकर बोले—'हे दीनदयामय! हे पतितपावन! हे नाथ ! हम-जैसे पतितोंको तुम्हारे अतिरिक्त और कौन आश्रय देगा?'

महाप्रभुने इससे पूर्व सिर्फ एक दिन रातके समय रूपको देखा था, परंतु अब उसे देखते ही तुरंत पहचानकर महाप्रभु हँसकर बोले—

'उठो, उठो, रूप! दीनता छोड़ दो, तुमलोगोंपर श्रीकृष्णकी अपार कृपा है। तभी तो उन्होंने तुमलोगोंको विषय-कूपसे निकाल लिया है। रूप! भगवान्‌को जितने भक्त प्रिय हैं, उतने और कोई नहीं। भगवान्‌ने कहा है—

न मेऽभक्तश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः।
तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा ह्यहम्॥

'चारों वेदोंको जाननेवाला भी यदि मेरा भक्त न हो तो वह मुझे प्रिय नहीं है; परंतु मेरा भक्त चाण्डाल भी मुझे प्रिय है। मैं उसको अपना प्रेम देता हूँ और उससे प्रेम ग्रहण करता हूँ। जगत्‌में जिस प्रकार मैं सबका पूज्य हूँ, उसी प्रकार मेरा भक्त भी है।' इस श्लोकको पढ़कर महाप्रभुने प्रेमसे अश्रुपात करते हुए दोनों बन्धुओंको बलपूर्वक अपनी छातीसे लगा लिया और अपने पास बैठाकर समस्त वृत्तान्त पूछने लगे। रूपने कहा—'प्रभो! सुना है कि सनातनको बादशाहने कैद कर लिया है।' प्रभु बोले—'घबराओ मत! सनातन कैदसे छूट गया है और मेरे समीप आ रहा है!' रूप और अनुपम उस दिन महाप्रभुके पास ही रहे और वहीं प्रसाद लिया।

महाप्रभुने कई दिनोंतक उन्हें प्रयागमें अपने पास रखा। रूपके द्वारा प्रभुको बहुत बड़ा कार्य करवाना था, वृन्दावनकी दिव्य प्रेमलीलाको पुनर्जीवन देना था। इसलिये रूपको एकान्तमें रखकर लगातार कई दिनोंतक महाप्रभुने उसको भक्तिका यथार्थ रहस्य भलीभाँति समझाकर अन्तमें कहा—'रूप! मैं काशी जाता हूँ। तुम वृन्दावन जाओ, मेरी आज्ञाका पालन करो, जीवोंका कल्याण करो, अपने सुखकी आशा छोड़कर वृन्दावन जाओ और इसके बाद यदि इच्छा हो तो मुझसे नीलाचलमें मिलना।' यों कहकर प्रभु वहाँसे चल दिये और बड़े कष्टसे धैर्य धारणकर

प्रभुके आज्ञानुसार रूप अपने छोटे भाई अनुपमके साथ वृन्दावनको चले!

रूप और अनुपमको वृन्दावन भेजकर महाप्रभु काशी चले गये और वहाँ श्रीचन्द्रशेखरके मकानमें ठहरे। इधर सनातनने गौड़के कारागारमें रूपका पत्र पाकर शीघ्र ही वहाँसे निकलकर महाप्रभुके समीप जानेका विचार कर लिया तथा मौकेसे द्वाररक्षकको कुछ देकर वे कारागारसे निकल पड़े और सात हजार मुहरें देकर उसीकी सहायतासे रातोरात गङ्गाके उस पार चले गये। ईशान नामक एक नौकर इनके साथ था। उसने छिपाकर आठ मुहरें अपने पास रख ली थीं। पातड़ा ग्राममें भौमिकोंने मुहरोंके लोभसे सनातनका बड़ा आदर किया। उनके मनमें पाप था, वे रातको सनातन और ईशानको मारकर मुहरें छीनना चाहते थे। सनातनने मनमें सोचा कि ये लोग मेरा इतना सम्मान क्यों करते हैं, इनको लुभानेकी मेरे पास तो कोई वस्तु नहीं है। उनके मनमें सन्देह हुआ और उन्होंने ईशानसे पूछा—'मालूम होता है तुम्हारे पास कुछ धन है।' ईशानने एक मुहर छिपाकर कहा—'हाँ, सात मुहरें हैं।' सनातनने कहा—'भाई! इस पापको अपने पास क्यों रखा। यदि तुम इस समय न बताते तो रातको ये भौमिक बिना मारे न छोड़ते।' उससे सातों मुहरें लेकर सनातनने भौमिकोंको दे दीं, शेष एक मुहरका और पता लगनेपर सनातनने वह मुहर ईशानको देकर उसे वापस देश लौटा दिया, सारा बखेड़ा निपटा। सुखपूर्वक सनातन अकेले ही चलने लगे। सन्ध्याके समय हाजीपुर नामक स्थानमें पहुँचे और एक जगह बैठकर बड़े ऊँचे स्वरसे श्रीकृष्णके पावन नामका कीर्तन करने लगे। उन्हें सच्ची शान्ति और विश्रान्ति इसीमें मिलती थी। वास्तवमें बात भी ऐसी ही है।

सनातनके बहनोई श्रीकान्त बहुत दिनोंसे हाजीपुरमें थे। वे गौड़ बादशाहके लिये घोड़े खरीदने आये थे। सन्ध्याका समय था, श्रीकान्त एक तरफ बैठे आराम कर रहे थे। उनके कानोंमें हरिनामकी मीठी आवाज गयी, पहचाना हुआ-सा स्वर था, श्रीकान्त उठकर सनातनके पास आये और देखते ही अवाक् रह गये। उन्होंने सनातन-सम्बन्धी कोई बात नहीं सुनी थी। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने देखा, सनातनका शरीर जीर्ण हो गया है, वे फटी हुई मैली-सी धोती पहने हुए हैं, दाढ़ी बढ़ रही है, मुखपर वैराग्यकी छाया पड़ी हुई है और जोर-जोरसे मतवालेकी भाँति हरिनामका उच्चारण कर रहे हैं। श्रीकान्तने सनातनको पुकारकर सचेत किया और उनके पास बैठकर इस हालतका कारण पूछा। सनातनने संक्षेपमें सारी कहानी सुना दी। श्रीकान्तने कहा—'ऐसा ठीक नहीं, घर लौट चलिये।' सनातनने कहा—'घर ही तो जा रहा हूँ। अबतक घर भूला हुआ था, पराये घरको घर माने हुए था; अब पता लग गया है, इसलिये तो दौड़ता हूँ। आँखे खुलनेपर स्वप्नके महलोंमें कौन रहता है। जबतक संसारका मायामय घर घर मालूम होता है तबतक असली घर दूर रहता है। जिसको कभी अपने असली घरका पता लग जाता है वह तो इसी प्रकार मतवाला होकर दौड़ता है!' श्रीकान्तने समझानेकी बड़ी चेष्टा की, परंतु समझे हुएको भूला हुआ क्या समझायेगा। जहाँ वैराग्यका सागर उमड़ा हो, वहाँ विषयरूपी कूड़ेको कहाँ स्थान मिल सकता है। श्रीकान्तकी बातें सनातनके जाग्रत् हृदयको स्पर्श नहीं कर सकीं, ऊपर-ही-ऊपर उड़ गयीं। श्रीकान्तने समझा कि अब ये नहीं मानेंगे। अतएव सनातनके घर लौटनेकी आशा छोड़कर उन्होंने उनके राह-खर्चके लिये कुछ देना चाहा। सनातनने कुछ भी नहीं लिया। गहरा जाड़ा पड़ रहा था, श्रीकान्तने एक बढ़िया दुशाला देना चाहा, सनातनने उसे भी नहीं लिया। श्रीकान्त रोने लगे, उनका रोना देखकर सनातनका मन पिघला। भक्त बड़े कोमलहृदय होते हैं, उनसे दूसरेका दुःख नहीं देखा जाता। अतएव श्रीकान्तके मनको शान्त और सुखी करनेके लिये उन्होंने उनसे एक कम्बल ले लिया और देखते-ही-देखते वहाँसे चल पड़े। श्रीकान्त चुपचाप खड़े रोते रह गये।

महाप्रभु जिस राहसे, जिस गाँवसे और जिस नगरसे जाते थे, सभी जगह अपना एक निशान छोड़ जाते थे— वह था हरिनामकी तुमुल और मत्त-ध्वनि। अतएव सनातनको खोज करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ी। वे प्रेममें झूमते हुए हरिनामपरायण लोगोंको महाप्रभुका मार्ग-चिन्ह समझकर काशी जा पहुँचे और वहाँ जाकर

इसी प्रकार सीधे चन्द्रशेखरके मकानके समीप पहुँच गये। खोज प्रत्यक्ष थी। लाखों नर-नारी मिलकर हरिध्वनि कर रहे थे। सनातनका मन प्रफुल्लित और शरीर पुलकित हो गया। वे धीरे-धीरे जाकर चन्द्रशेखरके दरवाजेपर बैठ गये। महाप्रभु घरके भीतर हैं और सनातन बाहर बैठे हुए प्रभुके श्रीचरणोंका ध्यान कर रहे हैं। अंदर जानेका साहस नहीं होता। अपने पापोंको स्मरण करके मनमें सोचते हैं कि 'क्या मुझपर भी प्रभुकी कृपा होगी? मुझ-सरीखे घोर नारकी जीवकी ओर क्या प्रभु निहारेंगे?' सनातनके मनमें कहींपर भी कपट या दम्भकी गन्धतक नहीं है। सरल और शुद्ध हृदयसे पापोंकी स्मृतिके अनुतापसे दग्ध होते हुए सनातन आज प्रभुकी शरण चाहते हैं।

सर्वज्ञ महाप्रभुने घरके अंदर बैठे हुए ही इस बातको जान लिया कि बाहर सनातन बैठे हैं। अतएव उन्होंने चन्द्रशेखरसे कहा कि 'दरवाजेपर जो वैष्णव बैठा है, उसे अंदर बुला लाओ।' आज्ञानुसार चन्द्रशेखर बाहर गया और वहाँ किसी वैष्णवको न देखकर वापस लौटकर बोला कि 'बाहर तो कोई वैष्णव नहीं है?' महाप्रभुने कहा—'क्या दरवाजेपर कोई नहीं बैठा है? चन्द्रशेखरने कहा—'दरवाजेपर एक फकीर-सा तो बैठा है।' महाप्रभुने कहा—'जाओ! उसीको बुला लाओ।' सनातनके कपड़े-लत्ते वैष्णवके-से नहीं थे; परंतु उसका अन्तर तो विष्णुमय था। अन्तरको पहचानना अन्तर्यामीका ही काम है।

चन्द्रशेखर यह सुनकर आश्चर्य करने लगा। सोचने लगा कि आज प्रभु इस फकीरको क्यों बुला रहे हैं। परंतु महाप्रभुके सामने कुछ कहनेका साहस नहीं हुआ और उसने बाहर जाकर सनातनसे कहा—'आप कौन हैं? आपको प्रभु बुला रहे हैं!' प्रभु बुला रहे हैं!' इन शब्दोंने बिजलीका-सा काम किया। सनातनके हृदयमें हर्ष, आशा, चिन्ता, भय, भक्ति और लज्जा आदि अनेक भावोंकी तरङ्गें उठने लगीं। उन्होंने कहा—'हैं! क्या प्रभु बुलाते हैं? क्या सचमुच ही मुझे बुलाते हैं? आप भूल तो नहीं रहे हैं? भला, प्रभु मुझे क्यों बुलाने लगे। वे और किसीको बुलाते होंगे!' चन्द्रशेखरने कहा—

'प्रभु आपको ही बुलाते हैं, आप अंदर पधारिये!'

सनातनके हृदयमें आनन्दका समुद्र उमड़ पड़ा, परंतु अपनी स्वाभाविक दीनतासे वे दाँतों-तले तिनका दबाकर अपराधीकी भाँति चुपचाप अंदर जाकर प्रभुके चरणोंमें लकुटकी तरह गिर पड़े। दोनों नेत्रोंसे आँसुओंकी अजस्त्र धारा बहने लगी। सनातन बोले—'प्रभो! मैं पामर हूँ; मैंने आजीवन कामादि षड्विकारोंकी सेवा की है, विषयभोगको ही सुख माना है, दिन-रात नीचोंके साथ नीच कर्म करनेमें रत रहा हूँ। इस मनुष्य-जन्मको मैंने व्यर्थ ही खो दिया; मुझ-सरीखा पापी, अधम, नीच और कुटिल और कौन होगा। प्रभो! आज तुम्हारे चरणोंकी शरणमें आया हूँ, अपनी स्वाभाविक दयालुताकी तरफ खयाल करके मुझे चरणोंमें स्थान दो। इस अधमको इन चरणोंके सिवा और कहाँ आश्रय मिलेगा।'

प्रभु सनातनके इन शब्दोंको नहीं सुन सके, उनका हृदय दयासे द्रवित हो गया। सनातनको जबरदस्ती उठाकर प्रभुने अपनी छातीसे लिपटा लिया। सनातनके नेत्रोंकी अश्रुधारा मानो मन्दाकिनीकी धारा बनकर महाप्रभुके सशरीर चरणोंको धोने लगी और महाप्रभुके नेत्रोंकी प्रेमाश्रुधारा सनातनके मस्तकको सिञ्चनकर उसे सहसा पापमुक्त करने लगी।

सनातन कहने लगे—'प्रभो! मुझे आप क्यों स्पर्श करते हैं। मेरा यह कलुषित कलेवर आपके स्पर्श-योग्य नहीं है। इस घृणित और दूषित देहको आप स्पर्श न कीजिये।' प्रभुने कहा—'सनातन! दीनताका त्याग करो—

'तुम्हारी दीनता देखकर मेरा कलेजा फटा जाता है; जब श्रीकृष्ण कृपा करते हैं तब भले-बुरेका विचार नहीं करते। श्रीकृष्ण तुम्हारे सम्मुख हुए हैं; तुमपर श्रीकृष्णकी इतनी कृपा है कि उसका वर्णन नहीं हो सकता। तभी तो उन्होंने तुम्हें विषयकूपसे निकाल लिया है। तुम्हारा शरीर निष्पाप है; क्योंकि तुम्हारी बुद्धि श्रीकृष्णभक्तिमें लगी हुई है। मैं तो अपनेको पवित्र करनेके लिये ही तुम्हें स्पर्श करता हूँ।' क्योंकि—

'भक्तिबले पार तुमि ब्रह्माण्ड शोधिते'

'तुम अपने भक्तिबलसे सारे ब्रह्माण्डको पवित्र करनेमें समर्थ हो।'

अक्ष्णोः फलं त्वादृशदर्शनं हि
तन्वाः फलं त्वादृशगात्रसङ्गः।
जिह्वाफलं त्वादृशकीर्तनं हि
सुदुर्लभा भागवता हि लोके॥

(हरिभक्तिसुधोदय १३। २)

'तुम-जैसे भक्तोंके दर्शनमें ही आँखोंकी सफलता है, तुम-जैसे भक्तोंके अङ्गस्पर्शमें ही शरीरकी सफलता है और तुम-जैसे भक्तोंके गुणगानमें ही जीभकी सफलता है। संसारमें भागवतोंके दर्शन अत्यन्त दुर्लभ हैं।'

यों कहकर महाप्रभुने सनातनके भाग्यकी बड़ी ही प्रशंसा की और कहा कि श्रीकृष्ण-प्रेम होनेपर वास्तवमें ऐसी ही दीनता हुआ करती है। इसके बाद महाप्रभुने सनातनसे उसकी कारामुक्तिके सम्बन्धमें पूछा। सनातनने संक्षेपसे सारी कथा सुना दी।

महाप्रभुने चन्द्रशेखरसे कहा कि 'सनातनका मस्तक मुण्डनकर और इसे स्नान करवाकर नये कपड़े पहना दो।' स्नान कर चुकनेपर जब तपन मिश्र नामक एक भक्त सनातनको नयी धोती देने लगे तब सनातनने कहा—'यदि आप मुझे वस्त्र देना चाहते हैं तो कोई फटा-पुराना कपड़ा दे दीजिये, मुझे नये कपड़ेसे क्या प्रयोजन है।' सनातनका आग्रह देखकर मिश्रने एक पुरानी धोती दे दी और सनातनने फाड़कर उसके दो कौपीन बना लिये। सनातनके इस वैराग्यको देखकर महाप्रभु मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए, परंतु श्रीकान्तकी दी हुई कम्बल सनातनके कंधेपर इस समय भी पड़ी हुई थी। महाप्रभुने दो-चार बार उसकी ओर देखा; तब सनातनने समझा कि मैंने अबतक यह सुन्दर कम्बल अपने पास रख छोड़ी है, मेरी विषयवासना दूर नहीं हुई है, इसीसे प्रभु बार-बार इसकी ओर ताककर मुझे सावधान कर रहे हैं। सनातनने गङ्गा-तटपर जाकर वह कम्बल एक गरीबको दे दिया, बदलेमें उससे फटी गुदड़ी लेकर उसे ओढ़ लिया। जब महाप्रभुने सनातनको गुदड़ी ओढ़े देखा तब वे बड़े प्रसन्न हुए और बोले कि 'सनातन! श्रीकृष्णने तुम्हारे विषय-रोगको आज समूल नष्ट कर दिया; भला, उत्तम वैद्य रोगका जरा-सा अंश भी शेष क्यों रहने देता है?'

महाप्रभुने सनातनको लगातार दो महीनेतक भक्तितत्त्वकी परमोत्तम शिक्षा देकर उनसे वृन्दावन जानेको कहा और वहाँ रूप-अनुपमके साथ मिलकर श्रीकृष्णका कार्य सम्पादन करनेके लिये आदेश दिया।

महाप्रभु तो नीलाचल चले गये और उनकी आज्ञा पाकर सनातन वृन्दावन आये। वृन्दावन आनेपर पता लगा कि उनके भाई रूप और अनुपम दूसरे मार्गसे काशी होते हुए देश चले गये हैं। सनातन वनमें एक पेड़के तले रहने लगे। प्रतिदिन जंगलसे लकड़ियाँ लाकर बाजारमें बेचते और उसीसे अपना निर्वाह करते; जो कुछ बच रहता सो दीन-दुखियोंको बाँट देते! एक दिन जो बंगालके हर्ताकर्ता थे, आज वे ही हरिप्रेमकी मादकताके प्रभावसे ऐसे दीन बन गये!

कुछ समयतक वृन्दावनमें निवास करके सनातन महाप्रभुसे मिलनेके लिये नीलाचलकी ओर चले। रास्तेमें उन्हें चर्मरोग हो गया। कविराज गोस्वामीने लिखा है कि झारखण्डके दूषित जलपानसे उनके यह रोग हो गया था। जो कुछ भी हो, सनातन रोगाक्रान्त होकर नीलाचल पहुँचे और अपनेको दीन-हीन और पतित मानकर श्रीहरिदासजीके यहाँ ठहर गये। श्रीहरिदासजीके यहाँ महाप्रभु रोज जाया करते। उन्होंने जाकर सनातनको देखा, सनातन दूरसे ही चरणोंमें प्रणाम करने लगे। महाप्रभुने दौड़कर उन्हें छातीसे लगाना चाहा; पर सनातन पीछे हट गये और बोले कि 'प्रभो! आप मुझे स्पर्श न करें; मैं अत्यन्त नीच तो हूँ ही, तिसपर मुझे कोढ़ हो गया है। इसलिये क्षमा करें।' महाप्रभुने कहा—'सनातन! तुम्हारा शरीर मेरे लिये बड़ा ही पवित्र है, तुम श्रीकृष्णके भक्त हो; तुमसे जो घृणा करेगा, वही अस्पृश्य है।' यों कहकर महाप्रभुने सनातनको जबरदस्ती छातीसे लिपटा लिया, सनातनके कोढ़का मवाद महाप्रभुके सारे शरीरमें लग गया। महाप्रभुने सनातनसे कहा कि 'तुम्हारे दोनों भाई यहाँ आकर दस महीने रहे थे; इसके बाद रूप तो वापस वृन्दावन लौट गये हैं और अनुपमको यहीं श्रीकृष्णकी प्राप्ति हो गयी है।' छोटे भाईका मरण सुनकर सनातनको खेद हुआ। प्रभुने आश्वासन देकर सनातनसे कहा कि 'तुम यहीं हरिदासजीके पास रहो; तुम दोनोंका ही श्रीकृष्णमें बड़ा प्रेम है, तुमलोगोंपर शीघ्र ही श्रीकृष्ण

कृपा करेंगे।' यों कहकर महाप्रभु चले गये और इसी प्रकार रोज-रोज वहाँ आकर सनातनको आलिङ्गन करने लगे। सनातनके मनमें इससे बड़ा क्षोभ होता था।

भगवान् मङ्गलमय परम पिता हैं, वे तो अपनी सन्तानपर नित्य दयामय हैं; उनसे कुछ भी माँगना उनकी दयालुतापर अविश्वास करना है। सनातनने कुष्ठकी भयानक पीड़ा सहर्ष सहन की; परंतु किसी समय भी उनके मनमें यह संकल्प नहीं उठा कि मैं प्रभुसे अपने रोगकी निवृत्तिके लिये कुछ प्रार्थना करूँ। इन्हीं सब बातोंको दिखलानेके लिये समर्थ होनेपर भी उन्होंने केवल दर्शनमात्रसे सनातनके रोगका नाश नहीं किया। जब जगत् सनातनके अतुलनीय निष्कपट, निष्काम प्रेम और उनकी अनुकरणीय दीनतासे परिचित हो गया, बस, उसी समय सनातन रोगमुक्त हो गये। तदनन्तर महाप्रभुने सनातनको वृन्दावन जाकर जीवोंका उद्धार करनेकी अनुमति दी। महाप्रभुको छोड़कर जानेमें सनातनको असीम कष्ट था; परन्तु उनकी आज्ञाका उल्लङ्घन करना सनातनको उससे भी अधिक कष्टकर प्रतीत हुआ। सनातन वृन्दावन चले गये। रूप भी पहुँच गये। दोनोंने मिलकर वृन्दावनके उद्धारका कार्य किया।

सनातनने 'बृहद्भागवतामृत', 'हरिभक्तिविलास', 'लीलास्तव', 'स्मरणीय टीका', 'दिग्दर्शनी टीका' और श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धपर 'वैष्णवतोषिणी' नामक टीका बनायी। रूपने 'भक्तिरसामृतसिन्धु', 'मथुरामाहात्म्य', 'पदावली', 'हंसदूत', 'उद्धवसंदेश', 'अष्टादशकच्छन्द:', 'स्तवमाला', 'उत्कलिकावली', 'प्रेमेन्दुसागर', 'नाटकचन्द्रिका', 'लघुभागवततोषिणी', 'विदग्धमाधव', 'ललितमाधव', 'उज्ज्वलनीलमणि', 'दानकेलिभानिका' और 'गोविन्द-विरुदावली' आदि अनेक अनुपम ग्रन्थोंकी रचना की। 'विदग्धमाधव' की रचना वि० संवत् १५८२ में हुई थी। इन सब ग्रन्थोंमें भक्त, भक्ति और श्रीकृष्णतत्त्व आदिका बड़ा विशद वर्णन है!

दोनों भाई वहाँ वृक्षोंके नीचे सोते रहते—भीख माँगकर रूखी-सूखी खाते, फटी लुँगोटी पहनते, गुदड़ी और करवा साथ रखते। आठ पहरमें केवल चार घड़ी सोते और शेष सब समय करते श्रीकृष्णका नाम-जप-सङ्कीर्तन और शास्त्रोंका प्रणयन।

श्रीरूप और सनातन दोनों श्रीवृन्दावनमें ही गोलोकवासी हुए। एक समय जो विद्या, पद, ऐश्वर्य और मानमें मत्त थे, वे ही भगवत्कृपासे अत्यन्त विलक्षण निरभिमानी, निर्लोभी, वैराग्यवान् और परम प्रेमिक बन गये।

जीव गोस्वामी

चार सौ साल पहलेकी बात है, बङ्गालके महामहिम शासक हुसेनशाहके प्रधान अधिकारी दबीर और साकर (सनातन और रूप)-की श्रद्धा और भक्तिसे प्रसन्न होकर श्रीचैतन्य महाप्रभुने रामकेलि ग्रामकी यात्रा की। गङ्गातटपर तारोंभरी रातमें मलयानिलसे सम्पन्न नीरव उपवनमें कदम्बके झुरमुटमें जिस समय रूप और सनातनको महाप्रभु चैतन्य हरिनाम-ध्वनिसे कृतार्थ कर रहे थे, उसी समय उनके छोटे भाई अनुपम अथवा वल्लभके पुत्र जीव गोस्वामीने उनके दर्शन किये और उनके चरणारविन्द-मकरन्दकी अमृत वारुणीसे प्रमत्त होकर अपने-आपको पूर्णरूपसे समर्पित कर दिया। उनकी अवस्था अल्प थी। पर भक्ति-माधुरीने उनके जीवनको बदल दिया।

वृन्दावनसे अनुपम नीलाचल आये, वहीं उनकी मृत्यु हो गयी। पिताकी मृत्युने जीव गोस्वामीके हृदयको बड़ा आघात पहुँचाया। वे आनन्दकन्द नन्दनन्दनकी राजधानी—वृन्दावनमें आनेके लिये विकल हो उठे। एक रातको उन्होंने स्वप्नमें श्रीचैतन्य और नित्यानन्द महाप्रभुके दर्शन किये, वे नवद्वीप चले आये। नित्यानन्दने उनको काशी तपनमिश्रके आश्रममें शास्त्र-अध्ययनके लिये भेजा। जीव गोस्वामीने मधुसूदन वाचस्पतिसे वेदान्त, न्याय आदिकी शिक्षा पायी। वे शास्त्रमें पूर्णरूपसे निष्णात होकर परम विरक्त सनातन और रूपके पास वृन्दावन चले आये। जीवनके शेष पैंसठ वर्ष उन्होंने वृन्दावनमें ही बिताये। श्रीभगवान्‌के स्वरूप तथा तत्त्वविचारमें उन्होंने अपने पाण्डित्यका सदुपयोग किया। रूपने उनको मन्त्र दिया और समस्त शास्त्र पढ़ाये।······ जीव गोस्वामी पूर्ण

विरक्त हो उठे। वे भगवती कालिन्दीके परम पवित्र तटपर निवास करने लगे। वे भगवान्‌की उपासना माधुर्य-भावसे करते थे। उनके चरित्र और लीलाको परम तत्त्वका सार समझते थे। रूप गोस्वामीकी महती कृपासे वे धीरे-धीरे न्याय, दर्शन और व्याकरणमें पूर्ण पारङ्गत हो गये। उन्होंने जीवनपर्यन्त ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया। उन्होंने वृन्दावन-निवासकालमें श्रीरूपगोस्वामिकृत उज्ज्वलनीलमणिकी टीका, क्रमसन्दर्भ नामक भागवतकी टीका, भक्तिसिद्धान्त, उपदेशामृत, षट्सन्दर्भ, गोपालचम्पू, गोविन्दविरुदावली, हरिनामामृत-व्याकरण आदि महान् ग्रन्थोंकी रचना की। ये 'षट्सन्दर्भ' ही गौड़ीयमतानुसार श्रीमद्भागवतकी प्रामाणिक व्याख्या हैं। श्रीजीव गोस्वामीके ये सभी ग्रन्थ 'अचिन्त्यभेदाभेद' मतके अनुसार लिखे गये हैं।

एक बार वल्लभभट्ट नामक एक दिग्विजयी पण्डितने रूपकी किसी कृतिमें दोष निकाला और घोषणा कर दी कि रूपने जयपत्र लिख दिया। जीवके लिये यह बात असह्य हो गयी, उन्होंने शास्त्रार्थमें वल्लभको पराजित किया। रूपको जब यह बात विदित हुई तब उन्होंने जीवको अपने पाससे अलग कर दिया। वे सात-आठ दिनतक एक निर्जन स्थानमें पड़े रहे। सनातनने रूपसे पूछा कि जीवके प्रति वैष्णवका कैसा व्यवहार होना चाहिये। रूपने कहा—'दयापूर्ण!' सनातनने कहा—'तुम जीव गोस्वामीके प्रति इतना कठोर व्यवहार क्यों करते हो?' रूपके हृदयपर बड़े भाईके कथनका बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने जीवको बुलाकर गले लगाया और अपने पास रख लिया। रूप और सनातनके बाद जीव ही वृन्दावनके वैष्णवोंके सिरमौर घोषित किये गये।

जीव गोस्वामीने भक्तिको रस माना है। वे रसोपासक और विरक्त महात्मा थे। भक्तिसे ही भगवत्स्वरूपका साक्षात्कार होता है। जीव गोस्वामीकी मान्यता थी कि भजनानन्द स्वरूपानन्दसे विशिष्ट है। भजनानन्दसे भगवान्‌की भक्ति मिलती है, स्वरूपानन्द ब्रह्मत्वका परिचायक है। उन्होंने भक्तिको ज्ञानसे श्रेष्ठ स्वीकार किया है। भक्ति भगवान्‌की ओर ले जाती है, ज्ञान ब्रह्मानुभूति प्रदान करता है। श्रीमद्भागवतको उन्होंने सर्वश्रेष्ठ भक्तिशास्त्र माना है।

आश्विन शुक्ल तृतीयाको शाके १५४० में पचासी सालकी अवस्थामें उन्होंने देहत्याग किया। वे महान् दार्शनिक, पण्डित और भक्तियोगके पूर्ण मर्मज्ञ थे। महात्मा, योगी, विरक्त, भक्त—सबके सहज समन्वय थे।

भक्त विष्णुपुरीजी

श्रीविष्णुपुरीजी परमहंसकोटिके संन्यासी थे और तिरहुतके रहनेवाले थे। ये बड़े ही प्रेमी भक्त तथा विद्वान् थे। इनकी भक्तिरत्नावलीका पंद्रहवीं शताब्दीके प्रारम्भमें कृष्णदास लौरीयके द्वारा बँगलामें अनुवाद हुआ था, जिससे यह अनुमान होता है कि विष्णुपुरी चौदहवीं शताब्दीके अन्तमें विद्यमान रहे होंगे। हिंदी विश्वकोषमें लिखा है कि विष्णुपुरीका दूसरा नाम वैकुण्ठपुरी था और ये मदनगोपालके शिष्य थे। इन्होंने भगवद्भक्तिरत्नावली, भागवतामृत, हरिभक्तिकल्पलता और वाक्यविवरण—ये चार ग्रन्थ लिखे थे।

कहा जाता है कि नवद्वीपके महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव और विष्णुपुरी एक बार काशीमें मिले थे। जब चैतन्य महाप्रभु वृन्दावनसे पुरीको जा रहे थे, उस समय दोनों ही एक-दूसरेके प्रति बड़े आकर्षित हुए। एक बार विष्णुपुरीके एक शिष्य काशीसे जगन्नाथपुरी गये और वहाँ श्रीचैतन्य महाप्रभुसे मिलकर पूछा कि 'आपको विष्णुपुरीके लिये कोई सन्देशा भेजना हो अथवा उनसे कोई प्रार्थना करनी हो तो कृपाकर बताइये।' तब श्रीचैतन्यदेवने सभी वैष्णवोंके सामने उस शिष्यके द्वारा विष्णुपुरीको यह कहला भेजा कि 'आप हमारे लिये एक सुन्दर रत्नावली भेजिये।'

श्रीचैतन्य महाप्रभु-जैसे महान् त्यागीके मुँहसे इस प्रकारके शब्द सुनकर उनके साथियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ, परंतु उन्हें डरके मारे कुछ कहनेका साहस नहीं हुआ। कुछ दिन बीत जानेपर विष्णुपुरीका वही शिष्य फिर जगन्नाथपुरी आया और महाप्रभुके हाथमें एक पुस्तक

देकर बोला कि 'गुरुदेवने आपके आदेशानुसार यह रत्नावली आपकी सेवामें भेजी है।' यह सुनकर महाप्रभुके साथियोंको बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने महाप्रभुके आशयको न समझ सकनेपर बड़ा पश्चात्ताप किया। श्रीचैतन्यमहाप्रभुने उस रत्नावलीको भगवान् श्रीनीलाचलनाथके चरणोंमें रख दिया।

एक कथा यह है कि संत विष्णुपुरीके एक मित्र थे माधवदास। उन्होंने एक बार विष्णुपुरीसे एक अनोखे ढंगकी रत्नावली माँगी, जिसको धारण करनेसे सुख मिले। अपने उन्हीं मित्रके अनुरोधसे विष्णुपुरीने कुछ चुने हुए रत्नोंको संगृहीतकर उन्हें पुरुषोत्तमक्षेत्र भेज दिया, जहाँ उनके मित्र रहते थे।

भक्तिरत्नावलीमें भागवतमेंसे नवधा भक्तिविषयक कई सुन्दर वाक्य संगृहीत किये गये हैं और उन्हें विषयके अनुसार तेरह भागोंमें विभक्त किया गया है। प्रत्येक भागका नाम 'विरचन' रखा गया है। जो लोग पूरी भागवत नहीं पढ़ सकते, उनके लिये यह ग्रन्थ बड़े कामका है। अपने ग्रन्थके सम्बन्धमें वे स्वयं लिखते हैं कि 'मैं चाहे कितना भी अज्ञ एवं अल्पबुद्धि होऊँ, मेरे इस प्रयासका भक्तलोग अवश्य आदर करेंगे। मधुमक्खीमें कितनी बुद्धि है और क्या-क्या गुण है—इस बातको कोई नहीं पूछता; किंतु उसके द्वारा सञ्चित मधुका सभी बड़े चावसे आस्वादन करते हैं।'

भक्तिरत्नावलीपर कई टीकाएँ मिलती हैं। इनमेंसे पहली टीका श्रीधरद्वारा संस्कृतमें लिखी गयी है, इसका नाम है कान्तिमाला। दूसरी टीका हिंदी गद्यमें लिखी गयी है। तीसरी टीका हिंदीके दोहे-चौपाइयोंमें लिखी गयी है। उसका नाम है—भक्तिप्रकाशिका। इसके अतिरिक्त भक्तिरत्नावलीपर दो टीकाएँ गुजरातीमें भी मिलती हैं। भक्तिप्रकाशिकाके अनुसार भक्तिरत्नावलीके विरचनोंमें निम्नलिखित विषयोंका वर्णन हुआ है। पहले विरचनमें भक्तिकी महिमाका वर्णन हुआ है, दूसरेमें महापुरुषोंके तथा उनके संगके प्रभावका वर्णन है। तीसरे विरचनमें भक्तिके कई भेद बताये गये हैं। चौथेसे लेकर बारहवें विरचनतक नवधा भक्तिका अलग-अलग वर्णन है और तेरहवें विरचनमें शरणागतिका वर्णन है।

स्वामी श्रीप्रकाशानन्दजी सरस्वती

वेदान्ताचार्य स्वामी श्रीप्रकाशानन्दजी महाराज काशीमें विराजते थे। ये वेदान्तके अद्वितीय विद्वान् थे एवं देव-विग्रहार्चनादिको स्वीकार नहीं करते थे। महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव जब प्रेमभक्तिके द्वारा देशको उन्मादित करते हुए विचरण कर रहे थे, उस समय श्रीप्रकाशानन्दजीने उनके समीप एक श्लोक लिखकर भेजा। श्लोक निम्नलिखित था—

यत्रास्ते मणिकर्णिकामलसरः स्वर्दीर्घिका दीर्घिका
रत्नं तारकमक्षरं तनुभृते शम्भुः स्वयं यच्छति।
तस्मिन्नद्भुतधामनि स्मररिपोर्निर्वाणमार्गे स्थिते
मूढोऽन्यत्र मरीचिकासु पशुवत् प्रत्याशया धावति॥

'जहाँ मणिकर्णिका ही अमल सरोवरके समान है, पुण्यतोया जाह्नवी दीर्घिकाकी भाँति शोभायमान हैं, जहाँ शम्भु स्वयं जीवोंको तारक-मन्त्ररूप दुर्लभ अक्षर-रत्न दान करते हुए निवास करते हैं, जो भगवान् शंकरका दिव्य धाम और मुक्तिका सोपान है उस काशीके रहते हुए मूर्खलोग जलकी आशासे मरीचिकाकी ओर दौड़नेवाले मृगकी भाँति अन्यत्र दौड़ते हैं।'

श्लोक पढ़कर प्रभुने मुसकराते हुए निम्नलिखित श्लोक उत्तरमें लिख भेजा—

घर्माम्भो मणिकर्णिका भगवतः पादाम्बु भागीरथी
काशीनां पतिरर्धमस्य भजते श्रीविश्वनाथः स्वयम्।
एतस्यैव हि नाम शम्भुनगरे निस्तारकं तारकं
तस्मात् कृष्णपदाम्बुजं भज सखे श्रीपाद निर्वाणदम्॥

'जिनका पसीना ही मणिकर्णिका घाटका जल है एवं जिनके चरणकमलोंसे ही पुण्यसलिला भागीरथीका जन्म हुआ है, काशीपति स्वयं भगवान् शम्भु जिनके अर्द्धाङ्गको सुशोभित करते हैं एवं जिनका तारक नाममन्त्र उन्हीं भगवान् शम्भुकी नगरीमें जीवगणोंका निस्तार करनेको सदा कार्यान्वित रहता है, हे सखे! श्रीपाद! आप उन्हीं मोक्षदायी श्रीकृष्णचरण-कमलोंका भजन कीजिये।'

स्वामी प्रकाशानन्दजीने इस श्लोकको पाकर एक और श्लोक लिख भेजा—

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना-
स्तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं ये भुञ्जते मानवा-
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद् विन्ध्यस्तरेत् सागरम्॥

'वायु, जल और वृक्षोंके पत्ते खाकर रहनेवाले पराशर, विश्वामित्र प्रभृति ऋषिवृन्द भी जब स्त्रियोंके मुख-कमलको देखकर विमुग्ध हो गये तब घी, दूध और दहीके साथ शालि चावल खानेवाले लोग यदि इन्द्रियोंका निग्रह कर सकें तो यह वैसी ही बात होगी कि विन्ध्याचल पर्वत समुद्रमें तैर गया।' महाप्रभुने अपने भक्तोंके साथमें इसके उत्तरस्वरूप निम्नलिखित श्लोक लिखकर फिर भिजवाया—

सिंहो बली द्विरदशूकरमांसभोजी
संवत्सरेण कुरुते रतिमेकवारम्।
पारावतः खलु शिलाकणमात्रभोजी
कामी भवेन्नुदिनं वद कोऽत्र हेतुः॥

'सिंह अत्यन्त बलिष्ठ होता है एवं हाथी तथा शूकरोंका मांस खाता है, किंतु सालभरमें केवल एक बार स्त्रीसङ्ग करता है। किंतु पत्थरके कंकड़ोंको खाकर जीवित रहनेवाला कबूतर पक्षी निरन्तर रतिक्रियामें ही रत रहता है; बताइये, इसका क्या कारण है?'

प्रकाशानन्दजी इसका क्या उत्तर देते। इसके बाद जब प्रकाशानन्दजीने यह सुना कि नीलाचलके प्रसिद्ध वेदान्ताचार्य श्रीसार्वभौम चैतन्य महाप्रभुके अनुयायी हो गये हैं तब तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने सोचा—चैतन्य जरूर कोई इन्द्रजाल जानता है।

एक बार एक महाराष्ट्र ब्राह्मणने काशीके सभी संन्यासियोंको निमन्त्रित किया। श्रीचैतन्यदेव संन्यासियोंमें प्रायः नहीं जाया करते थे, पर ब्राह्मणके आग्रहसे उन्होंने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। श्रीप्रकाशानन्दजी तो वहाँ आनेवाले थे ही। वे बड़े दिग्गज विद्वान् थे और उन्हें अपनी तर्कशक्तिपर बड़ा विश्वास था। काशीमें उनके अनुयायी हजारों शिष्य-संन्यासी थे। उन्होंने सोचा था कि चैतन्य सामने आयेगा तो दो-चार बातोंमें उनकी जबान बंद कर दी जायगी।

महाप्रभु श्रीचैतन्य भगवान्‌के नामका कीर्तन करते हुए सहस्रों संन्यासियोंकी उस अपूर्व सभामें पहुँचे। उन्होंने वहाँ पहुँचकर बड़े संकोचके साथ सिर नीचा करके सारी संन्यासी-सभाको नमस्कार किया। तदनन्तर पैर धोनेकी जगह जाकर पैर धो लिये और वहीं बैठ गये। स्वामी प्रकाशानन्दजी बड़े सहृदय व्यक्ति थे। उन्होंने चैतन्यको बड़ा आग्रह करके सभामें लाकर बैठाया। महाप्रभुके अत्यन्त विनम्र व्यवहार, उनकी मधुर मनोहर मूर्ति और मोहन हरिनामध्वनि—इन सबका प्रकाशानन्दजीपर बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने श्रीचैतन्यसे दो-चार बातें कीं, जिसका फल यह हुआ कि प्रकाशानन्दजीके हृदयका सारा गर्व गल गया और उसमें भक्तिका सञ्चार हो आया। अब तो काशीमें मानो हरिनामकी बाढ़ आ गयी। प्रकाशानन्दजी प्रबोधानन्द बन गये और महाप्रभुके पीछे-पीछे चलने लगे।

ठाकुर रामचन्द्र कविराज

महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवके साथ अवतीर्ण होनेवाली विभूतियोंमें एक थे—वृधूरि-ग्रामनिवासी कविराज रामचन्द्र ठाकुर। इनका पाण्डित्य समाजमें सब ओर प्रसिद्ध था। सुदृढ़शरीर, स्वर्णकान्तियुक्त गौरवर्ण रामचन्द्र जितने शरीरसे मनोहर लगते थे उतने ही मनके भी वे सरल और निर्मल थे। विद्या-बुद्धिके अभिमानसे शून्य होनेपर भी जबतक अन्तःकरणमें भगवद्भक्तिका पूर्ण पावन प्रकाश न हो जाय, कामादि विकार छिपे रहते ही हैं। ये विवाह करके घरको लौट रहे थे कि सौभाग्यवश इन्होंने श्रीचैतन्य महाप्रभुके मकानके पार्श्वमें ही सुन्दर घने वट-वृक्षकी स्निग्ध छाया पाकर विश्रामार्थ पड़ाव डालनेका विचार किया। इनके साथ बाजा बजानेवाले, पालकी ढोनेवाले आदि सब मिलाकर बीसों आदमी थे। महाप्रभु उस समय अपने द्वारपर ही बैठे दो-चार शिष्योंके साथ श्रीकृष्णलीला-चर्चा कर रहे थे। इनकी सुन्दर आकृति देखकर इनकी ओर आकृष्ट-से हुए वे कहने लगे—'देखो! यह व्यक्ति यदि श्रीकृष्णका दास हो जाय तो कैसा उत्तम हो। ऐसे उत्तम देहको श्रीकृष्ण-भजनमें न लगाकर,

देखो, यह विवाह करके संसारके नागपाशमें बँधने जा रहा है। हाय! हाय! वंशवृद्धि करनेकी इच्छासे यह 'धन-धन', 'विषय-विषय' करता केवल दिन-रात घोर दुःखोंमें ही गिरेगा।' पासमें ही विश्राम करते हुए रामचन्द्रके कानोंमें जाते ही महाप्रभुके शब्दोंने चमत्कारिक प्रभाव किया। ये अपनी स्थिति स्मरणकर अपनेको अत्यन्त धिक्कारने लगे। इनके मनमें भक्त-कृपासे विवेकका उदय हुआ। ये अपने घरको चले गये, परंतु इनके मनमें अब गृहस्थमें तनिक भी उत्साह नहीं रहा। एक दिन, दो दिन, तीन दिन रामचन्द्रने किसी-न-किसी प्रकार घरमें व्यतीत किये; आखिर विवश होकर वे श्रीप्रभुके पादपद्मोंमें जाकर गिर गये। अत्यन्त कातर हो—'रक्षा करो! नाथ! विषय-कूपमें गिरकर मेरा जीवन अत्यन्त कलुषित हो गया है। मैं अत्यन्त पतित, पापाचारी और विषयी हूँ—मेरे प्रति दया कीजिये' कहते हुए अत्यन्त दीनतासे विलाप करने लगे।

दयामय महाप्रभु रामचन्द्रकी दीन प्रार्थनासे द्रवित हो उन्हें आलिङ्गन करते हुए कहने लगे—'तुम्हें चिन्ता करनेका कोई प्रयोजन नहीं। भगवान् श्रीकृष्ण निश्चय ही तुमपर कृपा करेंगे।' यों कहकर प्रभुने उन्हें 'राधाकृष्ण' मन्त्रकी दीक्षा दी। प्रभुकी दयासे रामचन्द्रमें अपूर्व भक्तिका प्रकाश हो गया। प्रभु रामचन्द्रको एक क्षणके लिये भी नहीं त्यागते थे। रामचन्द्रके प्रति महाप्रभुका अन्तःकरणसे इतना प्रेम था कि प्रभुके मनकी सभी अवस्थाएँ रामचन्द्रको ज्ञात हो जाया करती थीं।

एक बार लगातार सात दिनोंतक महाप्रभुको बाह्य-ज्ञान नहीं हुआ। अनवरत बाह्यज्ञानशून्य समाधि-अवस्थाको जानकर श्रीश्रीविष्णुप्रियाजी आदिको बड़ी चिन्ता हुई। महाप्रभुको चेत करानेके बहुत प्रयत्न किये गये, पर सभी निष्फल हुए। प्रभु तो किसी दूसरे ही लोकमें थे। अन्तमें भक्तोंने श्रीरामचन्द्र ठाकुरसे चिन्ता अभिव्यक्त की। वे प्रभुके पास ही समाधि लगाकर बैठ गये। कहते हैं श्रीकृष्णकी नित्य-लीलामें प्रविष्ट हो महाप्रभु श्रीप्रियाजीका खोया हुआ कर्णभूषण यमुना-पुलिनमें ढूँढ़ रहे थे। सखीरूपमें श्रीरामचन्द्र भी वहीं पहुँच गये और प्रभुके साथ ही उसे खोजनेमें लग गये। कुछ ही देर पश्चात् उन्हें वह आभूषण किसी लताजालमें उलझा हुआ मिल गया। दोनों ही श्रीप्रियाजीके पास उस आभूषणको लेकर पहुँचे। श्रीप्रियाजीने उन्हें अत्यन्त हर्षसे अपना चर्वित पान देकर अभिनन्दित किया। उस चर्वित पानको चबाते-चबाते ही दोनोंको बाह्यज्ञान हो गया। उस दिव्य ताम्बूलकी दिव्य सुगन्धसे समस्त वातावरण सुवासित हो उठा। सभी भक्तवृन्द उस सौरभामृतसे छककर भावाविष्ट हो गये।

धन्य है! जो सुख ब्रह्मादिक देवगणोंको भी दुर्लभ है, वह सुख इन महापुरुषोंके सहवाससे इस वसुंधराके जीवोंको प्राप्त हुआ।

राजा प्रतापरुद्र

विद्वज्जन-प्रतिपालक राजा प्रतापरुद्र उत्कल देशके राजा थे। इनके पिताका नाम पुरुषोत्तमदेव और माताका नाम पद्मावती था। ये बचपनसे ही अत्यन्त विद्याप्रेमी थे। विद्याभ्यासमें रहकर इन्होंने विविध शास्त्रोंका पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था। ये प्रजाका अपने पुत्रकी तरह पालन करते थे। युद्धविद्यामें भी ये बड़े निपुण थे। सेतुबन्धतक इन्होंने अपना अधिकार-विस्तार कर लिया था। विजयनगर राज्य भी इन्हींके हाथमें था। पुरुषोत्तमतीर्थ पुरीधामके ये ही अधिकारी थे।

भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु जब पुरीधाममें थे, तब उनके दर्शन करनेकी उत्कण्ठाको लेकर राजा वहाँ आये। इन्होंने प्रभुके दर्शनार्थ प्रार्थना की; किंतु प्रभुने यह कहकर कि 'मैं विषयी राजाओं, महाराजाओं और जमींदारोंसे सर्वथा नहीं मिलता' उनकी प्रार्थना ठुकरा दी। प्रभुकी अस्वीकृति सुनकर राजा अत्यन्त दुःखी हुए। उनकी प्रभु-दर्शनोत्कण्ठा उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। अन्तमें अत्यन्त निराश हो, उन्होंने यही निश्चय किया कि श्रीचैतन्य-चरणदर्शनोंकी आशामें ही मैं यहाँ प्राणोंको त्याग दूँगा। राजाके इस निश्चयको सुनकर राय रामानन्द प्रभृति भक्तोंको बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने महाप्रभु श्रीचैतन्यके सम्मुख राजाका सङ्कल्प जनाया, पर वे अपने निश्चयसे अडिग रहे।

सत्य ही है—भगवद्विमुख, विषयासक्त पुरुष उच्चजातीय

एवं संसारके अन्य गुणोंसे सम्पन्न होनेपर भी भक्तोंके लिये तो उपरतिके ही पात्र हैं।

आखिर राय रामानन्द आदि भक्त-श्रेष्ठोंने यही निश्चय किया कि रथ-यात्राके शुभ अवसरपर जब महाप्रभु भावोन्मत्त एवं रसाविष्ट हो श्रीहरि-नाम-संकीर्तन करते हुए निकलें, उस समय राजा श्रीरासपञ्चाध्यायीका एक श्लोक उच्चारण करें। जिसकी जिह्वापर भगवान्‌का निर्मल यश होगा, उसे प्रेमी प्रभु अवश्य ही हृदयसे लगा लेंगे। हुआ भी यही—ज्यों ही प्रभु श्रीहरि-नाम-कीर्तनमें मत्त हो नृत्य करते निकले, राजाने अत्यन्त सुमधुर स्वरमें श्रीमद्भागवतके इस श्लोकका गान आरम्भ किया—

तव कथामृतं तप्तजीवनं
कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं
भुवि गृणन्ति ये भूरिदा जनाः॥

प्रभुने ज्यों ही इसे सुना, वे दौड़कर राजासे लिपट गये। महाभावस्वरूप प्रभुके पावन स्पर्शसे ही राजा भगवत्-प्रेमसम्पदासे युक्त हो गये और प्रभुके साथ ही उन्मत्त होकर नृत्य करने लगे। धन्य है ऐसे त्रिजगपावनकर्त्ता महापुरुषोंको एवं उनके सङ्गलाभको प्राप्त करनेवाले अनन्त सौभाग्यसीम जीवोंको। तभीसे राजा प्रतापरुद्र महान् भक्त हो गये और श्रीचैतन्यके महान् अनुगत होकर जीवन व्यतीत करने लगे।

भक्त रघुनाथदास

बंगालमें तीसबीघाके पास पहले एक सप्तग्राम नामक महासमृद्धिशाली प्रसिद्ध नगर था। इस नगरमें हिरण्यदास और गोवर्द्धनदास—ये दो प्रसिद्ध धनी महाजन रहते थे। दोनों भाई-भाई ही थे। ये लोग गौड़के तत्कालीन अधिपति सैयद हुसैनशाहका ठेकेपर लगान वसूल किया करते थे और ऐसा करनेमें बारह लाख रुपया सरकारी लगान भर देनेके बाद आठ लाख रुपया इनके पास बच जाता था। आठ लाख वार्षिक आय कम नहीं होती और वह भी उन दिनों! खैर, कहनेका मतलब यह कि ऐसे सम्पन्न घरमें रघुनाथदासका जन्म हुआ था। हिरण्यदास सन्तानहीन थे और गोवर्द्धनदासके भी रघुनाथदासको छोड़कर और कोई सन्तान न थी। इस तरह दोनों भाइयोंकी आशाके स्थल एकमात्र यही थे।

खायें तो थोड़ा, पीयें तो थोड़ा और उड़ायें तो थोड़ा—इस तरह बड़े लाड़-दुलारके साथ बालक रघुनाथदासका लालन-पालन हुआ। अच्छे-से-अच्छे विद्वान् पढ़ानेको रखे गये। बालक रघुनाथने बड़े चावसे संस्कृत पढ़ना आरम्भ कर दिया और थोड़े ही समयमें उसने संस्कृतमें पूर्ण अभिज्ञता प्राप्त कर ली। यही नहीं, भाषाकी शिक्षाके साथ-साथ रघुनाथको उस सञ्जीवनी बूटीका भी स्वाद मिल गया, जिसके संयोगसे विद्या वास्तविक विद्या बनती है। वह सञ्जीवनी बूटी है—भगवान्‌की भक्ति। बात यह हुई कि अपने जिन कुलपुरोहित श्रीबलराम आचार्यके यहाँ बालक रघुनाथ विद्याभ्यासके लिये जाता था, उनके यहाँ उन दिनों श्रीचैतन्य महाप्रभुके परमप्रिय शिष्य श्रीहरिदासजी रहा करते थे। उनके सत्सङ्गसे हरिभक्तिकी एक पतली-सी धार उसके हृदयमें भी बह निकली।

उन्हीं दिनों खबर मिली कि श्रीचैतन्यदेव शान्तिपुर श्रीअद्वैताचार्यके घर पधारे हुए हैं। ज्यों ही यह समाचार मिला त्यों ही आसपासके भक्तोंका दिल खिल उठा। रघुनाथ तो खबर पाते ही दर्शनके लिये छटपटा उठा। उसने शान्तिपुर जानेके लिये पितासे आज्ञा माँगी। पिताके लिये यह एक अनावश्यक-सा प्रस्ताव था; पर जब उन्होंने देखा कि रघुनाथके चेहरेपर बेचैनी दौड़ रही है, तब उन्होंने उसे रोकना ठीक नहीं समझा और उसे एक राजकुमारकी भाँति बढ़िया पालकीमें बैठाकर, नौकर-चाकरोंके दलके साथ शान्तिपुर भेज दिया। शान्तिपुरमें रघुनाथदास सीधा श्रीअद्वैताचार्यके घर पहुँचा। जाकर भेंटकी वस्तुओंके सहित गौरके चरणोंमें लोट-पोट हो गया। गौर इसे देखते ही ताड़ गये कि इसका भविष्य क्या है। फिर भी उन्होंने अनासक्तभावसे घर-गृहस्थीमें रहते हुए भी भगवत्प्राप्ति की जा सकती है आदि उपदेश देकर आशीर्वादसहित घरके लिये वापस किया। रघुनाथ

घर वापस आ रहा था; पर उसे यह ऐसा कठिन मालूम पड़ रहा था जैसा नदीमें प्रवाहके विपरीत तैरना।

अस्तु, किसी तरह हृदयकी उथल-पुथलके साथ वह घर आया और माता, पिता तथा ताऊके चरणोंमें प्रणाम किया; पर उन्होंने देखा कि उसके चेहरेका रंग ही बदला हुआ है। घरवालोंको पछतावा हुआ कि इसे गौराङ्गके पास क्यों जाने दिया। खैर, जो हुआ सो हुआ; अब ऐसी गलती नहीं करनी चाहिये—ऐसा निश्चय करके उन्होंने अपने लड़केपर चौकी-पहरा बैठा दिया। शायद विवाह हो जानेसे मेरे बेटेका चित्त स्थिर हो जाय—इस खयालसे श्रीगोवर्द्धनदास मजूमदारने झटपट व्यवस्था करके एक अत्यन्त रूपवती बालिकाके साथ अपने पुत्रका विवाह कर दिया। परंतु पीछे उनका खयाल गलत साबित हुआ। वह बार-बार घरसे निकल भागनेका प्रयत्न करता और पहरेदार पकड़कर लौटा लाते। धीरे-धीरे यह मामला इतना अधिक बढ़ा कि स्वजनोंकी सलाहसे माता-पिताने रघुनाथको पागलकी तरह रस्सीसे बँधवा दिया। परंतु पीछे विवेकने उन्हें समझाया कि बहुत कड़ा करके बाँधा हुआ बन्धन जब टूटता है, तब बात-की-बातमें टुकड़े-टुकड़े हो जाता है। इसपर रघुनाथको पागलकी तरह बाँधनेका पागलपन उन्होंने त्याग दिया। हाँ, नजरकी चौकसी उन्होंने पूर्ववत् जारी रखी।

उन दिनों उस देशमें गौराङ्गके बाद यदि किसी महापुरुषके नामकी धूम थी तो वह थी श्रीनित्यानन्दके नामकी। संन्यासी होकर अनेक देश-देशान्तरोंमें परिभ्रमण करनेके बाद श्रीनित्यानन्दमहाराज श्रीगौराङ्गके शरणापन्न हुए थे और उन्हींकी आज्ञासे वे गौड़-प्रदेशमें हरिनामका प्रचार कर रहे थे। उन्होंने पानीहाटी ग्रामको हरिनामप्रचारका प्रधान केन्द्र बना रखा था। रघुनाथदासकी भी इच्छा यह आनन्द लूटनेकी हुई। पिताने भी रोक नहीं लगायी। उन्होंने भी अब 'रस्सा ढील' नीतिसे काम लेना आरम्भ कर दिया—यानी जैसे बिगड़े हुए घोड़ेकी रस्सीके सिर्फ छोरको मजबूतीसे पकड़े रहकर 'जायगा कहाँ, रस्सीका छोर तो हाथमें है' यह सोचकर रस्सीको बिलकुल ढीला करके जी भरकर उछलने-कूदनेके लिये उसे स्वतन्त्र कर दिया जाता है, वैसे ही गोवर्द्धनदासने रघुनाथदासपर निगाह रखनेवालोंको तो और अधिक सावधानीके साथ काम करनेका आदेश कर दिया था, पर ऊपरसे स्पष्ट दिखलायी देनेवाला बन्धन हटा लिया था। इसीलिये बड़ी खुशीके साथ रघुनाथदासको पानीहाटी जानेकी अनुमति मिल गयी। रघुनाथदास पानीहाटी गये, श्रीनित्यानन्दके दर्शनसे अपने नेत्रोंको सुख पहुँचाया और हरिनामसंकीर्तनकी ध्वनिसे अपने कर्णविवरोंको पावन किया। यही नहीं, श्रीनित्यानन्दकी दयासे इन्हें समवेत असंख्य वैष्णवजनोंको दही-चिउरेका महाप्रसाद चढ़ानेका भी सुअवसर प्राप्त हो गया। दूसरे दिन बहुत-सा दान-पुण्य करके श्रीनित्यानन्दजीसे आज्ञा लेकर घरको आ गये।

घर आ गये—पर शरीरसे, मनसे नहीं। इस कीर्तन समारोहमें सम्मिलित होकर तो अब वे बिलकुल ही बेकाबू हो गये। इधर इन्होंने यह भी सुन रखा था कि गौड़ देशके सैकड़ों भक्त चातुर्मास्यभर श्रीचैतन्यचरणोंमें निवास करनेको नीलाचल जा रहे हैं; इस स्वर्णसंयोगको वे किसी तरह हाथसे जाने देना नहीं चाहते थे। एक दिन भगवत्प्रेरित महामायाने एक साथ सारे-के-सारे ड्योढ़ीदारोंको निद्रामें डाल दिया और सबेरा होते-न-होते रघुनाथ महलकी चहारदीवारीसे निकलकर नौ-दो-ग्यारह हो गये। इधर ज्यों ही मालूम हुआ कि रघुनाथ नहीं हैं तो सारे महलमें सनसनी फैल गयी। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण—सभी दिशाओंको आदमी दौड़ पड़े; पर वहाँ मिलनेको अब रघुनाथकी छाँह भी नहीं थी। अनुमान किया गया कि कहीं पुरी न गया हो। उन्होंने पाँच घुड़सवारोंको पुरीके रास्तेपर दौड़ा दिया; पर वहाँ रघुनाथदास कहाँ थे? भगवान्ने उन्हें यह बुद्धि दी कि आम सड़क होकर जाना ठीक नहीं। अनेक यात्रियोंसे भेंट होगी। पूछेंगे—कौन हो, कहाँसे आये? उन्हें क्या उत्तर दूँगा। बतलानेसे भेद खुलता है और उन यात्रियोंमें क्या मालूम कोई जान-पहचानका ही निकल आये और मेरे लिये खुफिया पुलिसका कर्मचारी बन बैठे! सीधे ऊटपटाँग जंगलके रास्तेसे जाना अच्छा है। इसलिये वे पगडंडीके रास्तेसे गये और रात होते-होते प्रायः तीस मीलपर जा पहुँचे। इधर यात्रियोंका सङ्ग लेनेके बाद गोवर्द्धनदासके आदमियोंको जब शिवानन्दसे मालूम हुआ कि रघुनाथ

उनके साथ नहीं आये, तब हताश होकर वे लौट आये। सारे महलमें कुहराम मच गया। हितू-मित्र—सभी आँसू बहाकर समवेदना प्रकट करते और समझाते कि सबका रक्षक एकमात्र ईश्वर है, इसलिये चिन्ता नहीं करनी चाहिये; पर उन्हें ढाँढ़स न होता।

एक राजकुमार, जो कभी एक पग भी बिना सवारीके न चलता था, वह आज बड़े-बड़े विकट बटोहियोंके भी कान काट गया। उत्कट वैरागी रघुनाथको प्रथम दिनकी यात्रा समाप्त करनेके बाद एक ग्वालेके घरमें बसेरा मिला और उसके दिये हुए थोड़े-से दूधपर बसर करके दूसरे दिन बिलकुल तड़के फिर कूच कर दिया और इस तरह लंबी चलाई करके करीब एक महीनेका रास्ता रघुनाथने कुल बारह दिनोंमें तै कर डाला और इन बारह दिनोंमें उन्होंने कुल तीन बार रसोई बनाकर अपने उदरकुण्डमें आहुति दी।

इस प्रकार प्रभुसेवित नीलाचलपुरीके दर्शन होते ही इन्होंने उसे नमस्कार किया और श्रीचरणोंकी ओर अग्रसर हुए। इनके हृदयमें न जाने क्या-क्या तरङ्गें उठ रही थीं। इसी प्रकार भावुकताके प्रवाहमें अलौकिक आनन्द लाभ करते हुए ये निश्चित स्थानके निकट जा पहुँचे। दूरसे ही इन्होंने देखा कि भक्तजनोंसे घिरे हुए श्रीचैतन्यदेव प्रमुख आसनपर विराजमान हैं। उस अलौकिक शोभासे युक्त मूर्तिका दर्शन करते ही रघुनाथका रोम-रोम खिल उठा। हर्षातिरेकसे उन्हें तन-वदनकी भी सुधि न रही। रघुनाथदास श्रीचरणोंके निकट पहुँच गये। सबसे पहले मुकुन्ददत्तकी निगाह उनपर पड़ी। देखते ही उन्होंने कहा—'अच्छा, रघुनाथदास, आ गये?' तुरंत ही गौरका भी ध्यान गया। वे प्रसन्नतासे खिल उठे। 'अच्छा, वत्स रघुनाथ! आ गये?' कहकर उनका स्वागत किया और उनके प्रणाम करनेके बाद झटसे अत्यन्त प्रेमपूर्वक उन्हें उठाकर गले लगाया। पास बैठाकर उनके सिरपर हाथ फेरना शुरू किया। रघुनाथको ऐसा मालूम पड़ा मानो उनकी रास्तेकी सारी थकावट हवा हो गयी। महाप्रभुकी करुणाशीलता देखकर उनकी आँखोंसे श्रद्धा और प्रेमके आँसू बरस पड़े। उन्हें भी गौरने निज करकमलोंसे ही पोंछा।

इसके अनन्तर चैतन्यदेवने स्वरूपदामोदरको अपने पास बुलाकर कहा कि 'देखो, मैं इस रघुनाथको तुम्हें सौंपता हूँ। खान-पानसे लेकर साधन-भजनतक सारी व्यवस्थाका भार तुम्हारे ऊपर है, भला!' बहुत अच्छा! कहकर स्वरूपने प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य की और रघुनाथको अपनी कुटीमें ले गये। उनके समुद्र-स्नान करके वापस आनेपर उन्हें जगन्नाथजीका कई प्रकार प्रसाद और महाप्रसाद लाकर दिया। रघुनाथने उसे बड़े प्रेमसे पाया। परंतु जब उन्होंने देखा कि यह तो रोजका सिलसिला है, तब उनके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि रोज-रोज यह बढ़िया-बढ़िया माल खानेसे वैराग्य कैसे सधेगा। आखिर चार-पाँच दिनके बाद ही उन्होंने यह व्यवस्था बदल दी। 'मैं एक राजकुमारकी हैसियतका आदमी हूँ' इस प्रकारका रहा-सहा भाव भी भुलाकर वह साधारण भिक्षुककी भाँति जगन्नाथजीके सिंहद्वारपर खड़े होकर भिक्षावृत्ति करने लगे और बड़े आनन्दके साथ दिन व्यतीत करने लगे। जब लोगोंको मालूम हुआ कि ये बहुत बड़े घरके लड़के होकर भी इस अवस्थामें आ गये हैं, तब उन्हें अधिकाधिक परिमाणमें विविध प्रकारके पदार्थ देना आरम्भ कर दिया। आखिर घबराकर रघुनाथदासको यह क्रम भी त्याग देना पड़ा। अब वह चुपचाप एक अन्नक्षेत्रमें जाते और वहाँसे रूखी-सूखी भीख ले आते। रघुनाथकी गतिविधि क्या-से-क्या हो रही है, श्रीगौराङ्गदेवको पूरा पता लगता रहता। उनके दिन-दिन बढ़ते हुए वैराग्यको देखकर उन्हें बड़ा सुख मिलता। रघुनाथकी उत्कट जिज्ञासा देखकर श्रीमहाप्रभुने एक दिन उन्हें साधनसम्बन्धी कुछ उपदेश दिया। कहा कि मैं तुम्हें सब शास्त्रोंका सार यह बतलाता हूँ कि 'श्रीकृष्णके नामका स्मरण और कीर्तन ही संसारमें कल्याण-प्राप्तिके सर्वश्रेष्ठ साधन हैं। पर इस साधनकी भी पात्रता प्राप्त करनेके साधन ये हैं कि निरन्तर साधुसङ्ग करे, सांसारिक चर्चासे बचे, परनिन्दासे कोसों दूर रहे, स्वयं अमानी होकर दूसरोंका मान करे, किसीका दिल न दुखाये और दूसरेके दुखानेपर दु:खी न हो, आत्मप्रतिष्ठाको विष्ठावत् समझे, सरल और सच्चरित्र होकर जीवन व्यतीत करे, आदि।'

रघुनाथदास इच्छा और अनिच्छासे जबतक राजकुमार

भक्त रघुनाथदास [पृ० ५५९]

भक्त प्रतापराय [पृ० ५६५]

यवन भक्त हरिदास [पृ० ५७१]

भक्त रघुनाथ महापात्र [पृ० ५७७]

मालतीपर भगवत्कृपा [पृ० ५८२]

रामहरिके बदले पुत्रकी हत्या [पृ० ५८७]

भक्त नवीनचन्द्र [पृ० ५८५]

थे, तबतक थे; अब वह वैरागी बन गये हैं, इसलिये उनका वैराग्य भी दिन-दिन बड़े वेगसे बढ़ता जाता है। पहले वे अन्नक्षेत्रमें जाकर भिक्षा ले आते थे; पर अब उन्होंने यह भी बंद कर दिया। कारण, भण्डारीको जैसे ही इनके वंश आदिका परिचय मिला, उसने भिक्षामें विशेषता कर दी। इसलिये इन्हें इस व्यवस्थाको भी त्यागकर नयी व्यवस्था करनी पड़ी। इसमें पूर्ण स्वाधीनता थी। जगन्नाथजीमें दूकानोंपर भगवान्‌का प्रसाद भात-दाल आदि बिकता है। यह प्रसाद बिकनेसे बचते-बचते कई-कई दिनका हो जानेसे सड़ भी जाता है। सड़ जानेसे जब यह बिक्रीके कामका भी नहीं रहता, तब सड़कपर फेंक दिया जाता है, जिसे गौएँ आकर खा जाती हैं। रघुनाथदासको इस जीविकामें निर्द्वन्द्वता मालूम हुई। वे उसी फेंके हुए प्रसादमेंसे थोड़ा-सा बटोरकर ले आते और उसमें बहुत-सा जल डालकर उसे धोते और उसमेंसे कुछ साफ-से खाने लायक चावल निकाल लेते और नमक मिलाकर उसीसे अपने पेटकी ज्वाला शान्त करते। गौराङ्गदेवको इनकी इस प्रसादीका पता लगा तो वे एक दिन सायंकालको दबे पाँव रघुनाथके पास पहुँचे। ज्यों ही उन्होंने देखा कि रघुनाथ प्रसाद पा रहे हैं तो जरा और भी दुबक गये और इसी तरह खड़े रहे; एकाएक बंदरकी तरह झपटकर छापा मारा। झटसे एक मुट्ठी भरके 'वाह बच्चू! मेरा निमन्त्रण बंद करके अब अकेले-ही-अकेले यह सब माल उड़ाया करते हो?' कहते हुए मुखमें पहुँचाया। ध्यान जाते ही 'वाह प्रभो! यह क्या? इस पापसे मेरा निस्तार कैसे होगा!' कहकर झटसे रघुनाथने दोनों हाथोंसे पतली उठा ली, जिससे महाप्रभु पुनः ऐसा न कर सकें। लज्जा और सङ्कोचसे उनका चेहरा मुर्झा गया और नेत्रोंमें जल-बिन्दु छलक आये। महाप्रभु मुँहमें दिये हुए कौरको मुराते-मुराते रघुनाथकी ओर करुणाभरी दृष्टिसे निहारते पुनः हाथ मारनेको लपके और रघुनाथ 'हे प्रभो! अब तो क्षमा कीजिये' कहते हुए पतली लेकर भागे। तबतक यह सब हल्ला-गुल्ला सुनकर स्वरूप गोस्वामी भी आ पहुँचे और यह देखकर कि श्रीगौर जबरदस्ती रघुनाथका उच्छिष्ट खानेका प्रयत्न कर रहे हैं, उनसे हाथ जोड़कर प्रार्थना की—'प्रभो! दया करके यह सब मत कीजिये, इसमें दूसरेका जन्म-कर्म बिगड़ता है।'

चैतन्यदेवने मुखमें दिये हुए ग्रासको चबाते-चबाते ही कहा—'स्वरूप! तुमसे सच कहता हूँ, ऐसा सुस्वादु अन्न मैंने आजतक नहीं पाया।'

इसी प्रकार श्रीगौराङ्गदेवकी कृपादृष्टिसे प्रोत्साहित होते रहकर रघुनाथने वहीं पुरीमें रहकर सोलह वर्ष व्यतीत कर दिये। श्रीचैतन्य जब अहर्निश प्रेमोन्मादमें रहने लगे, तब उनकी देहरक्षाके लिये वे सदा उनके साथ ही रहने लगे। वे उनकी बड़ी श्रद्धाके साथ सेवा करते और उनके मुखसे निकले हुए वचनामृतका पान करते। आगे चलकर श्रीगौरका तिरोभाव हो गया, जिससे रघुनाथके शोकका पार न रहा; और प्रभुके बाद जब श्रीस्वरूप भी विदा हो गये, तब तो उनका पुरीवास ही छूट गया। वे वृन्दावन चले गये; इसके बाद वे वृन्दावनमें श्रीराधाकुण्डके किनारे डेरा डालकर कठोर साधनमें लग गये। वे केवल छाछ पीकर जीवन-यापन करते। रातको सिर्फ घंटे-डेढ़-घंटे सोते शेष सारा समय भजनमें व्यतीत करते। प्रतिदिन एक लाख नाम-जपका उनका नियम था। श्रीचैतन्यचरितामृत-कारका कहना है कि रघुनाथदासके गुण अनन्त थे, जिनका हिसाब कोई नहीं लगा सकता। उनके नियम क्या थे, पत्थरकी लीक थे। चार ही घड़ीमें उनका खाना, पीना, सोना आदि सब कुछ हो जाता था—शेष सारा समय साधनामें व्यतीत होता था। वैराग्यकी तो वे मूर्ति ही थे। जीभसे स्वाद लेना तो वे जानते ही नहीं थे। वस्त्र भी फटे-पुराने केवल लज्जा और शीतसे रक्षा करनेके लिये रखते थे। प्रभुकी आज्ञाको ही भगवदाज्ञा समझकर चलते थे।

इन्हें संस्कृत-भाषाका ज्ञान भी बहुत अच्छा था। वृन्दावनमें रहते समय इन्होंने संस्कृतमें कई ग्रन्थ भी बनाये थे। श्रीचैतन्यचरितामृतके लेखक श्रीकृष्णदास कविराजके ये दीक्षागुरु थे। अपने ग्रन्थके लिये बहुत कुछ मसाला उन्हें इन्हीं महापुरुषसे प्राप्त हुआ था। पचासी वर्षतक पूर्ण वैराग्यमय जीवन बिताकर भगवद्भजन करते हुए अन्तमें आप भगवच्चरणोंमें जा विराजे।

भक्त प्रतापराय

पश्चिम बंगालके हरसोला नामक ग्राममें क्षत्रियोंका एक परिवार कभी आकर बस गया था। बहुत दिनोंतक बंगालमें रहनेसे उसमें बंगालीपन आ गया था। अब उसके प्रमुख थे भानुरायजी। इनकी पत्नीका नाम था कुसुमी। पर्याप्त भूमि और पशु थे। खूब अन्न होता था। घरमें महाजनीका काम भी होता था। उचित ब्याजपर गाँववालोंको रुपये देते थे। सम्पत्तिके साथ जितने दुर्गुण हैं, भगवत्कृपासे उनमें एक भी इस परिवारमें नहीं था। श्रीगोपालजीकी उपासना घरमें पूर्वजोंसे चली आती थी, अत: शाक्तोंके समुदायके मध्यमें रहकर भी यह कुल आचार-व्यवहार, खान-पानमें शुद्ध वैष्णव था। भानुरायजीके दो कन्याएँ थीं—लक्ष्मी और माधवी तथा एक पुत्र थे प्रतापराय। इस प्रकार सब प्रकारका लौकिक सुख भगवान्ने उन्हें दिया था।

पिता भानुराय और माता कुसुमीका अपने एकमात्र पुत्र प्रतापरायको सद्गुणी बनानेपर पूरा ध्यान था। धनी घरमें एक ही पुत्र हो कन्याओंके बीच तो माता-पिताके लाड़-प्यारसे वह प्राय: बिगड़ जाता है; किंतु यहाँ बात उलटी ही थी। माता-पिता पुत्रके विषयमें बहुत सावधान रहते थे। प्रतापराय उठते ही भगवान्का स्मरण करते, माता-पिताको प्रणाम करते, स्नान करके तुलसीका बिरवा सींचते और भगवान्का दर्शन करते; तब उन्हें जलपान मिलता। विनयपूर्वक मधुर वाणी बोलना, बहनोंको बाँटकर खाना, किसी वस्तुके लिये हठ न करना, बच्चोंसे लड़ना-झगड़ना नहीं, इसकी माता-पितासे उन्हें शिक्षा मिली। धूप और वर्षा सहना, जाड़ेमें बिना कपड़ेके रह जाना, सादे और मोटे कपड़े पहनना, गहने तथा भड़कीले कपड़े या शौकीनीकी चीजोंका लालच न करना, जीभके स्वाद और शरीरकी सजावटसे घृणा करना आदि सद्वृत्तियोंका उन्हें पिता-माताने भरपूर अभ्यास कराया।

प्रतापरायकी बड़ी बहन लक्ष्मीका विवाह पहले ही हो चुका था। तेरह सालकी उम्रमें उनका और ग्यारह सालकी उम्रमें उनकी छोटी बहनका विवाह भी हो गया। प्रतापरायकी पत्नी मालतीको एक पुत्र प्राप्त हुआ। पिताकी देख-रेखमें प्रतापरायने घरका सब कामकाज सँभाल लिया था। जब इनकी अवस्था तेईस वर्षकी हुई, तब इनके पिता भानुरायजीका परलोकवास हो गया। पिताकी मृत्युसे इनके सिरका छत्र ही टूट गया; किंतु इन्होंने अपनेको दु:खी नहीं बनाया। सोचा—'जो जन्मा है, उसकी मृत्यु तो होनी ही है। मेरे पिता तो भगवान्के भक्त थे। उन्होंने तो शरीरको ऐसे छोड़ा जैसे कोई गलेसे सूखा पुष्पहार उतार दे। मृत्युमें कष्ट तो उनको होता है, जिनका मन संसारके पदार्थोंमें फँसा हो। पिताजी तो भगवान्के विधानको मङ्गलमय माननेवाले थे। उन्हें भला, क्यों कष्ट होता। वे भगवान्के धाममें गये हैं। मैं स्वार्थवश उनकी इस सद्गतिसे क्यों द्वेष करूँ।'

कुछ दिनों बाद माता कुसुमीका भी देहान्त हो गया। प्रतापरायने इसे भी भगवान्का मङ्गल-विधान माना। वे अब घरका सब काम करते हुए भी मनको भगवान्में लगाये रहते थे। भगवान्के नामका जप उनसे कभी छूटता नहीं था। उनके पुत्र दीनबन्धुरायकी अवस्था जब बारह वर्षकी हुई, तब वह बीमार हो गया। उसे सान्निपातिक ज्वर हो गया। प्रतापराय तथा उनकी पत्नी मालतीने एकमात्र पुत्रकी इस अवस्थामें भी अपूर्व धैर्य, कर्तव्यनिष्ठा और भगवद्विश्वासका परिचय दिया। वे पुत्रकी रोग-शय्याके पास बैठकर उसे बराबर भगवान्की कथा और उनका मङ्गलमय नाम सुनाते रहे। रात-दिनकी भगवच्चर्चासे रोगी बालकका मन संसारसे हटकर भगवान्में लग गया। इसी अवस्थामें उसकी मृत्यु हुई।

प्रतापराय और मालतीने सोचा—'भगवान्ने ही यह पुत्र दिया था। उनको इससे अब कोई और सेवा लेनी होगी, इसलिये बुला लिया। अब हमें पुत्र-मोहसे पृथक् करके वे दयामय अपनी सेवामें लगाना चाहते हैं। मृत्यु तो आत्माकी होती नहीं और शरीर नश्वर है ही। संसारका यह संयोग-वियोग तो एक खेल है। इसके लिये दु:खी होना व्यर्थ है।'

कुछ समय बाद छोटी बहन माधवीके पति वल्लभराय

रोगशय्यापर पड़े। बड़ी बहन लक्ष्मीने हठ प्रारम्भ किया—'भैया! तुम भगवान्‌से प्रार्थना करो तो अवश्य वल्लभराय स्वस्थ हो जायँगे।'

प्रतापराय निष्काम भक्त थे। भगवान्‌की भक्ति करके प्रभुसे बदलेमें धन, पुत्र, प्रतिष्ठा, जीवन आदि जो लोग चाहते हैं, वे भक्तिके महत्त्वको नहीं जानते। वे तो नश्वर पदार्थको ही साध्य माननेवाले विषयी लोग हैं। भगवान्‌को वे इन पदार्थोंकी प्राप्तिका साधन बनाते हैं। वे विषयोंको भगवान्‌से भी ऊँचा माने बैठे हैं। प्रतापराय विषयोंसे विरक्त थे। अपना हो या आत्मीयका हो, जीवन तो नश्वर ही है। ऐसे नश्वर जीवनके लिये प्रभुसे प्रार्थना करना मूर्खता है। यह बात जानते हुए भी बहनके अनुरोधको वे टाल न सके। दूसरे दिन भगवान्‌से प्रार्थना करनेपर वे राजी हो गये।

रातको रोगी बहनोईकी शय्याके पास प्रतापराय बैठे थे। वहीं रोगीकी स्त्री माधवी भी बैठी थी। रातके तीसरे पहरमें दोनोंको तन्द्रा आ गयी। प्रतापरायने देखा—कमरा ज्योतिसे जगमग कर रहा है। भगवान्‌के चार पार्षद विमान लेकर आये हैं। वे रोगीसे कह रहे हैं—'वल्लभ! तुम बड़े पुण्यात्मा और भगवद्‌भक्त हो। पिछले जन्ममें ही तुम भगवान्‌के दिव्य धाममें पहुँच गये होते, किंतु माधवीके साथ वचनबद्ध होनेसे तुमको एक जन्म और लेना पड़ा। माधवी पतिव्रता है। तुम्हारे शरीर छोड़नेपर सती होकर तुम्हारे साथ ही वह भी भगवान्‌के धामको चलेगी। हमलोग तुम्हें लेने आये हैं। लेकिन प्रतापराय तुम्हारे स्वास्थ्यके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करनेवाले हैं। वे भक्त हैं। तुम जानते ही हो कि भक्त प्रार्थना करे तो भगवान् अपना विधान सहज ही पलट देते हैं। यदि प्रतापरायने प्रार्थना की तो तुमको कुछ दिन और संसारमें रहना होगा। तुम्हारी क्या राय है?'

रोगीकी आत्माने कहा—'आपलोग यह क्या कहते हैं? प्रतापराय भगवान्‌के भक्त हैं। वे भगवान्‌के मङ्गल-विधानको भला, क्यों रोकेंगे? वे एक जीवको प्रभुसे मिलनेमें कैसे बाधा देना चाहेंगे? आपलोग मुझे अभी ले चलिये। मुझे तो एक क्षणका विलम्ब भी असह्य हो रहा है।'

प्रतापरायके नेत्र खुले। उन्होंने देखा कि उनके रोगी बहनोई अचेत हैं, किंतु उनके मुखपर आनन्दकी आभा है। इसी समय पास बैठी छोटी बहन माधवी भी चौंककर जग पड़ी। उसने भी वही दृश्य देखा था, जो प्रतापरायने देखा था। साथ ही वह भगवान्‌के दिव्य लोककी सुषमा भी देख आयी थी। अपने स्वप्नका हाल कहकर हाथ जोड़कर वह प्रतापरायसे बोली—'भैया! मेरे स्वामी और मैं—हमलोग मरते कहाँ हैं? हम तो भगवान्‌के दिव्य लोकमें जा रहे हैं। तुम इसमें बाधा क्यों देने लगे? तुम्हें तो प्रसन्न होना चाहिये न।'

प्रतापरायके नेत्र भर आये। वे मन-ही-मन सोचने लगे—'मैं कितनी मूर्खता करने जा रहा था। अदूरदर्शी प्राणी अपना कल्याण स्वयं तो देख नहीं पाते। वे तो नरकके कीड़ेकी भाँति नरकमें ही पड़े रहना चाहते हैं। रोगीके कुपथ्य चाहनेकी भाँति ही हमारी प्रार्थना है। दयामय भगवान् जीवका सदा ही मङ्गल करते हैं। अपनी ओरसे प्रभुसे कुछ प्रार्थना करना तो उलटे ठगाना है। हम प्रार्थना करके कभी-कभी सर्वथा अपने कल्याणके विपरीत वस्तु माँग लेते हैं। उससे कुछ हित तो होता नहीं, उलटे हमारा वास्तविक हित रुक जाता है। भगवान्‌से कुछ भी प्रार्थना करके माँगना केवल मूर्खता है। वे दयामय प्रभु मुझे क्षमा करें।'

इसी समय वल्लभने आँखें खोलीं। उनके मुखसे प्रणव (ॐ)-की ध्वनि निकली और मस्तक फट गया। प्रातःकाल माधवी अपने पतिके देहको लेकर चितामें बैठ गयी। वह सती हो गयी। बहिन-बहनोईकी ऐसी मृत्युसे प्रतापरायको प्रसन्नता हुई।

प्रतापराय महाजनीका काम करते थे। एक बड़ा-सा लोहेका संदूक था उनकी बैठकमें। लोग आकर अपने गहने आदि थैली, पोटली, पेटी आदिमें अपने हाथसे ही संदूकमें रख जाते और रुपये ले जाते थे। सुविधा होनेपर ब्याजसमेत रुपये दे जाते और संदूकमेंसे अपना सामान स्वयं ले जाते। प्रतापराय केवल बहीमें रुपयोंका लेन-देनभर लिखते थे। संदूकमें क्या रखा गया, वे यह कभी देखते नहीं थे। उनके इस व्यवहारको देखकर कुछ लोगोंके मनमें लोभ आया। चार दुष्ट पुरुषोंने मिलकर

षड्यन्त्र किया। एकने एक डिब्बेमें कंकड़-पत्थर भरे और तीनने थैलियोंमें; बारी-बारीसे चारों डिब्बा तथा थैलियाँ लेकर आये। उन्हें संदूकमें रखकर रुपये ले गये।

कुछ समय बाद एक आया और उसने ब्याजसमेत रुपये देकर अपना डिब्बा निकाला। उसने वहीं डिब्बेको खोला और कंकड़-पत्थर भूमिपर डालकर चिल्लाने लगा—'मेरे गहने कहाँ गये? मैंने तो तुम्हें ईमानदार समझा था; पर तुम्हारी यह बेईमानी? लाओ, मेरे गहने सीधे दे दो।'

प्रतापराय तो हक्के-बक्के हो गये। उन्होंने बहुत समझाया पर उस धूर्तको समझना तो था ही नहीं। उसी समय सधे-बधे शेष तीनों भी आ गये। उन्होंने भी अपनी थैलियाँ संदूकसे वहाँ एकत्र लोगोंके सामने निकालीं। चारोंने ऐसा ढंग बनाया, जैसे उनका परस्पर कोई परिचय ही न हो। चारों थैलियोंसे कंकड़-पत्थर निकले। अब तो दर्शकोंको भी विश्वास हो गया कि अवश्य प्रतापरायने बेईमानी की है। सब लोगोंने उन्हें बेईमान, धूर्त, पाखण्डी आदि कहना प्रारम्भ किया।

बंगालमें उस समय मुसलमानोंका राज्य था। धूर्तोंने काजीको लोभ देकर पहले ही मिला लिया था। न्यायका नाटक रचा गया। प्रतापरायको जेलकी सजा हो गयी। उनका घर-द्वार, खेत, पशु आदि सम्पत्ति सब जप्त हो गयी। काजीने तथा षड्यन्त्रकारियोंने उसे बाँट लिया आपसमें। बेचारी मालती घरसे निकाले जानेपर ठाकुरजी तथा अपने शृङ्गारकी पिटारी लेकर अपने भाईके घर चली गयी थी। गाँवके लोगोंने काजीसे शिकायत कर दी। मालती पकड़ मँगायी गयी। ठाकुरजीके गहने छीन लिये गये। जप्त जायदादको चुरानेके जुर्ममें मालतीको भी सजा हो गयी। जेलका दारोगा भला आदमी था। उसने मालतीको प्रतापरायके साथ ही रख दिया।

धन-सम्पत्ति गयी, अपने-पराये सभीने अपमानित किया, कारागार मिला। यह सब किसी अपराधसे नहीं हुआ। यह हुआ धर्म करते, लोगोंपर विश्वास करते। दूसरा होता तो कहता—'धर्मकी बात व्यर्थ है। भगवान् कहीं होते तो क्या मुझ निरपराधकी रक्षा न करते? द्रौपदी आदिकी बातें पोथियोंमें कल्पनासे लिखी गयी हैं। सब बहम है।' लेकिन प्रतापराय ऐसे 'ढुलमुल भगत' नहीं थे। उन्होंने सोचा—'अवश्य मेरे पूर्वजन्मके ही किसी पापका यह सब फल है। भगवान् तो दयासागर हैं। उनके प्रत्येक विधानमें जीवका मङ्गल ही होता है। मैं व्यर्थ ही लेन-देन तथा संसारके व्यवहारमें उलझा था। प्रभुने मुझे यहाँ एकान्तमें भजन करनेका अवसर दिया है। प्रभो! हमपर दया करो। हमको ऐसा वरदान दो कि तुम्हारा भजन हमसे कभी न छूटे। हम तो तुम्हारा दर्शन भी नहीं चाहते। तुम दर्शन दो और कहीं भजन छीन लो तो हमें तुम्हारे ऐसे दर्शनकी इच्छा नहीं है। हम तो तुम्हारा भजन चाहते हैं। हमपर दया करो।'

निष्काम भक्तकी प्रार्थना और उसके हृदयका भाव समझकर भगवान् प्रसन्न हो गये। जेलखानेकी वह कोठरी भगवान्‌के प्रकट होनेसे धन्य हो गयी। प्रतापराय और मालती उस रूपराशिको देखकर सुधि-बुधि खो बैठे। वे भगवान्‌के चरणोंपर लोट गये। अपने आँसुओंसे उन सुरमुनिपूजित चरणकमलोंको उन्होंने धो दिया। प्रभुने कहा—'मैं तुमलोगोंपर बहुत प्रसन्न हूँ। मैं तुम्हें विशेषरूपसे अपनाना चाहता था, इसीसे इन कष्टोंके बहाने तुम्हारे पूर्वकृत कर्मोंको मैंने भुगताकर समाप्त कर दिया है। तुम्हारी बहुत कठिन परीक्षा हो चुकी। अब तुम्हें जो माँगना हो, माँग लो।' प्रतापरायको तो भजनमें अधिकाधिक प्रीतिको छोड़कर कुछ माँगना था नहीं। प्रभुने अभीष्ट वर दिया उन्हें और अन्तर्धान हो गये।

इधर काजी और चारों षड्यन्त्रकारियोंके शरीरमें गलित कुष्ठ हो गया। उनकी बुरी दशा हो गयी कुछ ही दिनोंमें। काजीकी बुद्धिमान् स्त्रीने समझाया—'यह भक्त प्रतापरायको निरपराध सतानेका फल है। उससे माफी माँगनेसे यह रोग दूर हो सकता है।' काजीको स्त्रीकी बात जँच गयी। वह तथा चारों षड्यन्त्रकारी प्रतापरायके पास आये। प्रतापराय और मालती जेलसे छोड़ दिये गये। ये लोग पैरोंपर गिरकर कहने लगे—'आप सर्वथा निर्दोष हैं। हमलोगोंने आपपर झूठा कलङ्क लगाया था। आप हमें क्षमा कर दें। हमारे इस रोगको आप ही दूर कर सकते हैं।'

प्रतापरायने उन्हें उठाया। उनके शरीरपर हाथ फेरते हुए भगवान्‌से प्रार्थना करने लगे—'प्रभो! ये बिचारे बहुत दण्ड पा चुके। अब आप इन्हें क्षमा कर दें। इनकी कृपा न होती तो मुझे जेलमें आपके दर्शन कैसे होते। मुझपर तो इन्होंने उपकार ही किया है। आप इनकी रक्षा करें! रक्षा करें!' इतना कहते ही उन पाँचोंके शरीर स्वस्थ हो गये। कुष्ठके चिह्नतक नहीं रहे। अब तो गाँवके लोग भी आ-आकर प्रतापराय और मालतीके चरण छूकर अपने कहे हुए कटु शब्दोंके लिये बार-बार क्षमा माँगने लगे।

काजीने प्रतापरायकी सारी सम्पत्ति लौटा दी। प्रतापरायको अब सम्पत्तिका क्या काम? उन्होंने वह सब गरीबोंको बाँट दी। स्त्रीको साथ लेकर वे वृन्दावन चले आये। तीस वर्षतक निरन्तर भगवान्‌का भजन करते हुए श्रीधाम-वृन्दावनमें वे रहे और फिर भगवन्नाम लेते हुए नश्वर देह त्यागकर गोलोक पधारे।

भक्त लोकनाथ गोस्वामी

बंगालके जैसोर जिलेमें तालखड़ी नामका एक छोटा-सा मामूली गाँव है। लगभग चार सौ वर्ष पूर्व इस गाँवमें एक बहुत ही सम्भ्रान्त कुलके पद्मनाभचक्रवर्ती नामक ब्राह्मण रहते थे। इनकी पत्नीका नाम था सीतादेवी। इस धर्मप्राण ब्राह्मण-दम्पतिका एकमात्र पुत्र था लोकनाथ। घरमें वैष्णव-उपासना परम्परासे चली आ रही थी। स्वयं पद्मनाभ चक्रवर्ती श्रीअद्वैत प्रभुके शिष्य थे और सदा उन्हींकी सेवा-शुश्रूषामें लगे रहते थे। इन सब कारणोंसे लोकनाथको बहुत ही दिव्य संस्कार प्राप्त हुए। उसकी प्रतिभा अत्यन्त अलौकिक थी। वह बालकपनमें ही संस्कृतका विद्वान् बन गया। साथ ही उसका हृदय भी बड़ा प्रेमी, भक्तिपरायण एवं निर्मल था। श्रीकृष्णका नाम उसे प्राणोंसे भी प्यारा था। कहीं किसीसे गोविन्द, वासुदेव, माधव, नारायण, हरि सुना और लोकनाथकी कुछ-की-कुछ दशा हो जाती। संसारकी कोई चर्चा लोकनाथको जहर-सी लगती।

प्रेमावतार महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवका नाम और यश बंगालके कोने-कोनेमें शुक्ल पक्षके चन्द्रमाकी तरह बढ़ रहा था। लोकनाथके कानोंतक भी यह बात एक तूफान लेकर पहुँची। लोकनाथ उनके दर्शनोंके लिये तड़फड़ाने लगे।

रात-दिन एकान्तमें रोया करते। वे अत्यन्त उदास रहते एवं उनका मन किसी भी वस्तुमें नहीं लगता। माँ-बापको भय था कि महाप्रभुके संगमें पड़ जानेपर यह लड़का बेहाथ हो जायगा—उन्होंने बहुत प्रयत्न किया कि वह घरमें ही रहे, किंतु लोकनाथ नहीं रुके एवं एक दिन रात्रिमें चुपचाप चल पड़े।

रातभर लोकनाथ चलते रहे। दूसरे दिन सन्ध्यासमय वे नवद्वीप पहुँचे। नवद्वीप पहुँचनेपर पता चला कि महाप्रभु एक घरमें कीर्तन करने गये हैं। देखा कि महाप्रभु एक उच्च आसनपर विराजमान हैं और श्रीवासादि भक्तोंकी टोली उन्हें चारों ओरसे घेरे हुए है। लोकनाथकी वाणी मूक थी। दृष्टि गड़ी सो गड़ ही गयी। एकटक महाप्रभुकी ओर देखते ही रह गये। आँगनमें प्रतिमाकी तरह खड़े इस सुकुमार बालकपर महाप्रभुकी दृष्टि गयी। वे दौड़े—दोनों बाँहें फैलाये और लोकनाथको उन्होंने अपनी भुजाओंके पाशमें बाँध लिया। भावावेशसे वे प्रभुके वक्षःस्थलपर मूर्छित हो गये।

लोकनाथको कुछ पता नहीं। लोकनाथ अब पहलेके लोकनाथ नहीं रहे। उनके रोम-रोमसे कृष्ण-कृष्णकी मधुर ध्वनि आ रही थी। उनका अङ्ग-अङ्ग हरि-हरि पुकार रहा था। प्राण-प्राणसे प्रभुकी प्रीति छलक रही थी। महाप्रभु उनके हृदयसिंहासनपर अपने समस्त प्रेम, सम्पूर्ण सौन्दर्य और समग्र आनन्द-श्रीके साथ प्रकट हुए थे।

लगातार पाँच दिनोंतक वे इस अपूर्व पागलपनमें रहे। छठे दिन महाप्रभुने लोकनाथको वृन्दावन जानेका आदेश दिया। वे कहने लगे—'भाई! वृक्षोंके नीचे जहाँ स्थान पाओ, वहीं पड़ रहो। आसपाससे मधुकरी माँग लाओ और ओढ़नेके लिये चिथड़ोंकी गुदड़ी बना लो। श्रीयमुनाजीका जल भरपेट पीओ। सम्मानको कराल विष समझो एवं नीचोंके द्वारा अपमानको अमृत।

श्रीराधा-माधवका भजन करो। किंतु मित्र! वृन्दावनको मत छोड़ना।'

महाप्रभुकी आज्ञाको लोकनाथ टाल नहीं सके एवं महाप्रभुका यह आदेश लेकर कि चीरघाटपर कदम्ब, तमाल और बकुलकी सघन कुञ्जोंके नीचे बैठकर प्रेम-साधनमें लगे रहो—वे रोते-रोते उनसे विदा हुए। इनके साथ गदाधर पण्डितके शिष्य भूगर्भ भी तैयार हो गये।

वृन्दावनकी दशा उन दिनों विचित्र थी। घने जंगलों एवं भूमिशायी अस्त-व्यस्त खँडहरोंके सिवा वहाँ कुछ भी नहीं था। वृन्दावनके निवासी भी उस पावन भूमिके महत्त्वको भुला बैठे थे। उन्हें वहाँ न तो चीरघाट मिला न वंशीवट; न निधुवन, भाण्डीर-वन, श्याम और राधाकुण्ड ही। क्या करें, कहाँ जायें, पता लगायें तो कैसे? अन्ततोगत्वा निराश हो सर्वतोभावसे वे श्रीराधारानीकी शरण होकर '*गोविन्द-गोविन्द हरे मुरारे, राधाकृष्ण, गोपीकृष्ण, श्रीकृष्ण प्यारे*' का कीर्तन करने लगे। सहसा एक दिन उन्हें चीरघाटका पता लग गया। ये वहाँ अत्यन्त प्रेमावेशका जीवन बिताने लगे। लोगोंमें इनकी प्रसिद्धि भी हुई, लोगोंने इनके लिये कुटिया भी बनानी चाही। परंतु इनके लिये तो निश्चय किया हुआ था कि रहना किसी पेड़के नीचे ही। यदृच्छासे जो कुछ मिल जाता, उसीसे पेटभर यमुनाका जल पीकर मस्त रहते।

कुछ दिनों पश्चात् लोकनाथने महाप्रभुके संन्यासकी बात सुनी। साथमें यह भी सुना कि वे दक्षिण भारतमें तीर्थयात्राके लिये गये हैं। ये अत्यन्त उत्कण्ठावश इनसे मिलने दक्षिण भारत पहुँचे तो वहाँ पता चला कि वे वृन्दावनके लिये चल पड़े। ये वृन्दावन पहुँचे तो पुनः पता चला कि वे वृन्दावनसे पुरीके लिये चल पड़े। लोकनाथका हृदय बैठ गया। परंतु स्वप्नमें श्रीमहाप्रभुने इन्हें समझाया कि 'तुम निराश मत होओ, मैं अब राहका भिखारी हूँ। तुम मुझे इस वेषमें देखकर बहुत दुःख पाते, इसीलिये मैं तुमसे नहीं मिला।'

अब लोकनाथ और भूगर्भने चीरघाटपर अपना डेरा जमा लिया और अन्तकालतक वे वहीं बने रहे। रात-दिन कृष्ण-कृष्णकी रट लगाये रहते और रातको बस एक-दो घंटे सो लेते। न कभी किसीसे मिलते न बात करते।

लोकनाथने अपने शेष जीवनके दिन वृन्दावनमें भगवान्‌के भजनका आश्रय लेकर एक आदर्श प्रेमी एवं आदर्श विरहीके रूपमें व्यतीत किये।

'श्रीचैतन्य-चरितामृत' के रचयिता श्रीकृष्णदास कविराज अपने ग्रन्थके प्रणयनके पूर्व लोकनाथ गोस्वामीके चरणोंमें आशीर्वाद लेने आये। लोकनाथने उसके लिये सहर्ष हाँ भरी, परंतु अपनी एक शर्त रखी—वह यह कि इस ग्रन्थमें उनकी कहीं भी न तो चर्चा आये न उनसे महाप्रभुके सम्बन्धकी ही बात लिखी जाय।

इतनी मूक और निरीह उपासना थी लोकनाथ गोस्वामीकी।

भक्त श्रीनिवास आचार्य

श्रीगौराङ्गदेवके अनन्य भक्तोंमें श्रीनिवास आचार्य भी एक महाभक्त हो गये हैं। नवद्वीपसे सात-आठ मील दूर चाकन्दी (जिला बर्दवान) ग्राममें इनके पिता श्रीगङ्गाधर भट्टाचार्य साहित्य एवं व्याकरणके असाधारण पण्डित समझे जाते थे। ये बड़े उदार थे। श्रीचैतन्यदेवकी गुणगरिमा सुनकर इनकी प्रीति उनके चरणोंमें दिन-दिन बढ़ती ही जाती थी। एक दिन जब इन्हें यह संवाद मिला कि जबसे निमाई पण्डित गयासे लौटकर आये हैं, तबसे अपना सारा पाण्डित्य भुलाकर भगवत्प्रेममें मतवाले हो गये हैं एवं अपने श्रीहरिकीर्तनके द्वारा नवद्वीपवासियोंको भी मतवाला बना रहे हैं, ये रुक न सके और गौरदर्शनके लिये चल पड़े। अपनी वृद्धा माता और नवयौवना पत्नीको भगवान्‌के भरोसे छोड़ निमाई पण्डित श्रीकेशवभारतीसे संन्यास-दीक्षा लेकर संसार-त्यागी और भगवदनुरागी बन रहे हैं—यह दृश्य देखकर गङ्गाधर पण्डित भी अपने-आपको सँभाल न सके। वे फूट-फूटकर रोने लगे और रोते-रोते अचेत हो गये। तबसे गाँववाले इनकी चैतन्य-भक्ति देख इन्हें चैतन्यदासके नामसे पुकारने लगे।

चैतन्यदासका विवाह हो जानेके उपरान्त भी उन्हें बहुत दिनोंतक कोई सन्तान नहीं हुई। कहते हैं पश्चात् श्रीचैतन्यके आशीर्वादसे ही वैशाखी पूर्णिमाको शुभ मुहूर्तमें परमभागवत श्रीनिवासका जन्म हुआ। इनकी माता श्रीलक्ष्मीप्रिया अत्यन्त धर्मपरायणा थीं। वे स्तन-पानके समय इनके कानोंमें भगवान् एवं भक्तोंके गुण सुनाती जातीं। फलतः पहले-पहले इन्होंने अपनी तोतली बोलीसे भगवान् एवं भक्तोंका नामोच्चारण ही प्रारम्भ किया। इनकी बुद्धि अत्यन्त कुशाग्र थी। योग्य गुरुके सान्निध्यमें अल्पकालमें ही ये साहित्य, व्याकरण, न्याय, काव्य आदिके अच्छे पण्डित हो गये।

ज्यों-ज्यों श्रीनिवास युवा होते गये, उनके हृदयमें भगवदनुराग एवं विषय-विराग दृढ़ होता गया। पिताकी मृत्युके पश्चात् ये अपने नानाकी सम्पत्तिके उत्तराधिकारी बन जाजिग्राम रहने लगे। अब वे एक बार श्रीचैतन्यकी पावन मूर्तिका दर्शन करनेके लिये तरस उठे। कठवा-निवासी श्रीनरहरि सरकारसे सलाह करके इन्होंने पुरीके लिये प्रस्थान किया। किंतु मार्गमें ही इन्हें पता चला कि गौरचन्द्रने तो गोलोकके लिये प्रस्थान कर दिया। यह दुःसंवाद पाते ही वे पछाड़ खाकर जमीनपर गिर पड़े। अबतक चैतन्यके इन्होंने एक बार भी दर्शन नहीं किये थे; पर अब तो इन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा कि चैतन्य-चरणोंसे वञ्चित होकर जीवन धारण करना ही व्यर्थ है। कुछ देर पश्चात् इन्हें नींद आ गयी। इसी समय श्रीचैतन्यदेवने दर्शन देकर इन्हें पुरी जाकर श्रीगदाधरजीसे भागवत पढ़नेको कहा।

पुरी पहुँचकर ये श्रीगदाधर पण्डितके आश्रममें पहुँचे तो देखा वे भी श्रीगौरहरिके वियोगमें अचेत पड़े हैं। ये उनके चरणोंमें लोट-लोटकर रोते-रोते श्रीचैतन्यका नाम सुनाने लगे—तब कहीं उनकी मूर्च्छा टूटी। महाप्रभुने उनको भी वही आज्ञा दी थी, परंतु उनके पास जो भागवतकी पुस्तक थी, उसके तो आँसुओंसे भीगकर कुछ अक्षर मिट गये थे। अतः उन्होंने इन्हें गौड़ देश जाकर नयी पुस्तक लानेको कहा। किंतु इनके लौटनेके पूर्व ही श्रीगदाधर पण्डित भी इस लोकमें नहीं रहे। थोड़े ही दिनोंके पश्चात् इन्हें समाचार मिला कि श्रीगौरके परम अन्तरङ्ग श्रीनित्यानन्द, श्रीअद्वैताचार्य भी नश्वर शरीरको त्यागकर गोलोकमें जा विराजे। सचमुच महापुरुषोंका वियोग अत्यन्त दुःखदायी होता है। ये विक्षिप्त-से श्रीगौराङ्गकी जन्मभूमिका दर्शन करने निकले तथा वहाँ उनकी धर्मपत्नी श्रीविष्णुप्रियाजीसे मिले।

यद्यपि विष्णुप्रियाजी उस समय कठोर तपमें रत थीं एवं किसीसे भी नहीं मिलती थीं, फिर भी इनसे वे अत्यन्त प्रेमसे मिलीं एवं इन्हें आशीर्वाद दिया। श्रीअभिराम गोस्वामीने इन्हें वृन्दावन पहुँच श्रीरूप, सनातन एवं रघुनाथदासके दर्शन करने तथा गोपालभट्टसे दीक्षा लेनेको कहा। किंतु वृन्दावन पहुँचते-पहुँचते इन्हें खबर मिली कि श्रीसनातन, श्रीरूप एवं श्रीरघुनाथ तीनों ही परलोक सिधार गये। इसी प्रकार लगातार एकके बाद एक चोट खाते-खाते इनका हृदय बिलकुल जर्जर हो गया। इनकी बुद्धि काम नहीं देती थी—जैसे-तैसे वृन्दावन पहुँचे। वहाँ जीव गोस्वामी इन्हें अपने आश्रममें ले गये एवं इन्हें श्रीचैतन्यके हाथका लिखा एक पत्र थमाया। श्रीचैतन्यके कर-कमलाङ्कित अक्षर देख ये भावमग्न हो जमीनपर गिर पड़े।

शुभ मुहूर्तमें गोपालभट्टके द्वारा इनका दीक्षा-संस्कार हुआ। अनन्तर जीव गोस्वामीसे इन्होंने वैष्णव ग्रन्थोंका अध्ययन किया। पश्चात् सबने यह तय किया कि श्रीरूप-सनातनविरचित तथा अन्यान्य समस्त भक्ति-ग्रन्थोंसे सम्पन्न करके इन्हें श्रीनरोत्तम एवं श्यामानन्दके साथ गौड़ भेजा जाय। सभीने नेत्रोंमें आँसू भरकर, एक बैलगाड़ीमें एक मजबूत-से संदूकमें इन सभी ग्रन्थोंके साथ इन्हें विदा किया। किंतु रास्तेमें विष्णुपुर (बाँकुड़ा)-के पास डाकुओंने इसे धनकी गाड़ी समझकर लूट लिया। पुस्तकोंके छिन जानेसे ये अत्यन्त विक्षिप्त हो गये। इन्होंने सभीको तो वापस विदा कर दिया एवं स्वयं यह निश्चय कर लिया कि जबतक पुस्तकें नहीं मिलेंगी, घर नहीं जाऊँगा। ये विष्णुपुरकी गलियोंमें ही घूम-घूमकर दिन बिताते। जब अत्यन्त भूख लगती, तब किसी प्रकार रूखे-सूखे अन्नसे अपना पेट भर लेते। ये कभी कहीं किसी वृक्षके नीचे पड़े रहते एवं कभी किसी। किंतु भगवान्‌की लीलासे ही एक दिन कृष्णदास नामक ब्राह्मण, जो इन्हें कुछ पहचान गये थे, राजा हम्मीरकी भागवतकी कथामें ले गये। यह राजा हम्मीर

ही उन डाकुओंका सरदार था एवं इसीने इनकी पुस्तकें चुरायी थीं। भागवतवक्ता कोई बड़े विद्वान् नहीं थे—वे तो मनमाना अर्थ किया करते थे। इन्हें यह अच्छा प्रतीत नहीं हुआ एवं उसे शास्त्रार्थमें परास्तकर ये स्वयं भागवत-कथा कहने लगे। राजा हम्मीरको इनकी वाणीने खींच लिया। वह अपने कियेपर अत्यन्त पश्चात्ताप करने लगा एवं उसने अपना दोष इनके सम्मुख स्वीकारकर इन्हें वे शास्त्र-ग्रन्थ लौटा दिये। वह पश्चात् राजपाट छोड़ इनका शिष्य हो गया।

वहाँसे ये जाजिग्राम पहुँचे एवं वहीं रहकर अध्ययन तथा हरिनाम-सङ्कीर्तनमें समय व्यतीत करने लगे। दीर्घकालके बाद अपने पुत्रको आया जान इनकी माता एवं सभी ग्रामवासी अत्यन्त आह्लादित हुए। इनके कारण गौड़के गाँव-गाँव एवं घर-घरमें भगवन्नामका घोष सुनायी देने लगा। अन्तमें ये दूसरी बार वृन्दावन गये एवं वहीं श्रीधाममें ही रम गये। श्रीवृन्दावनविहारीकी अनुकम्पासे उस पवित्र क्षेत्रमें ही हरिनाम लेते-लेते इनकी अन्तिम घड़ी व्यतीत हुई। इनके पिता चैतन्यदासको श्रीचैतन्यने यह आशीर्वाद दिया था कि 'तुम्हारे जो पुत्र होगा, उसके अंदर मेरा प्रकाश रहेगा।' चैतन्यका वह चैतन्यमय प्रकाश असंख्य अन्धकारपूर्ण हृदयोंको प्रकाशित करता हुआ अन्तमें महाप्रकाशमें जा मिला।

भक्त हरिदास यवन

'भगवन्! मुझे मारनेवाले इन भूले हुए जीवोंको अपराधसे मुक्त करो, इनपर क्षमा करो, दया करो!' (हरिदास)

हरिदासजी यशोहर जिलेके बूड़न गाँवमें एक गरीब मुसलमानके घर पैदा हुए थे। पूर्व-संस्कारवश लड़कपनसे ही हरिदासजीका हरिनामसे अनुराग था। ये घर-द्वार छोड़कर बनग्रामके पास बेनापोलके निर्जन वनमें कुटी बनाकर रहने लगे थे। हरिदासजी बड़े ही क्षमाशील, शान्त, निर्भय और हरिनामके अटल विश्वासी साधु थे। कहते हैं कि हरिदासजी प्रतिदिन तीन लाख हरिनामका जप जोर-जोरसे किया करते थे। जोरसे जप करनेका उनका उद्देश्य यह था कि हरिनाम बड़ी विलक्षण सुधा है, जोरसे जप करनेसे उस सुधाका रस सब सुननेवालोंको भी मिलता है। कितने ही भक्तलोग नित्य हरिदासजीके दर्शनोंके लिये आते थे और उनके चरण छूकर धन्य होते थे। वे सबको हरिनाम लेनेका उपदेश देते थे और कहते थे कि बिना हरिनामके आदमीका उद्धार नहीं हो सकता। शरीर-निर्वाहके लिये वे गाँवसे भीख माँग लाया करते थे। किसी दिन कुछ अधिक मिल जाता तो उसे बालकों या गरीबोंको बाँट देते। दूसरे दिनके लिये संग्रह नहीं रखते। इनके जीवनकी दो-तीन प्रधान घटनाएँ पढ़िये।

एक बार बनग्रामके रामचन्द्रखाँ नामक एक दुष्टहृदय जमींदारने हरिदासजीकी साधना नष्ट करनेके लिये धनका लालच देकर एक सुन्दरी वेश्याको तैयार किया। वेश्या हरिदासजीकी कुटियापर पहुँची, वे नामकीर्तनमें निमग्न थे। हरिदासजीका मनोहर रूप देखकर वेश्याके मनमें भी विकार हो गया और वह निर्लज्जतासे तरह-तरहकी कुचेष्टाएँ करने लगी। हरिदासजी रातभर जप करते रहे, कुछ भी न बोले। प्रातःकाल उन्होंने कहा, 'नामजप पूरा न होनेसे मैं तुमसे बात न कर सका!'

वेश्या तीन राततक लगातार हरिदासजीकी कुटियापर आकर अनेक तरहकी चेष्टा कर हार गयी। हरिदासजीका नामकीर्तन क्षणभरके लिये भी कभी रुकता नहीं था। चौथे दिन रातको वह हरिदासजीकी कुटीपर आकर देखती है कि हरिदासजी बड़े प्रेमसे नामकीर्तन कर रहे हैं, आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहकर उनके वक्षःस्थलको धो रही है। वेश्या तीन रात हरिनाम सुन चुकी थी, उसका अन्तःकरण बहुत कुछ शुद्ध हो चुका था। उसने सोचा, 'जो मनुष्य इस तरह मुझ-जैसी परम सुन्दरीके प्रलोभनकी कुछ भी परवा न करके हरिनाममें इतना उन्मत्त हो रहा है, वह कोई साधारण मनुष्य नहीं है। अवश्य ही इसको कोई ऐसा परम सुन्दर पदार्थ प्राप्त है, जिसके सामने जगत्‌के सारे रूप तुच्छ हैं।' वेश्याका हृदय बदल गया, फँसाने आयी थी, स्वयं फँस गयी।

साधु-अवज्ञाके अनुतापसे रोकर वह हरिदासजीके चरणोंपर गिर पड़ी और बोली, 'स्वामी! मैं महापापिनी हूँ, मेरा उद्धार करो।' हरिदासजी उसे हरिनाम-दानसे कृतार्थकर वहाँसे चल दिये। वेश्या अपना सर्वस्व दीन-दु:खियोंको लुटाकर तपस्विनी बन गयी और उसी कुटियामें रहकर भजन करने लगी और आगे चलकर वह महान् भक्त हुई। यह साधुसङ्ग और नामश्रवणका प्रत्यक्ष प्रताप है!

इस प्रकार वेश्याका उद्धार करके हरिदासजी शान्तिपुर गये। अद्वैताचार्यजी नामके एक प्रसिद्ध विद्वान् वैष्णव वहाँ रहते थे। उन्होंने हरिदासजीको बड़े प्रेमसे अपने घरमें ठहराया। दोनोंमें बड़े प्रेमसे हरिचर्चा होने लगी। अद्वैताचार्यजी भागवत आदि ग्रन्थोंको पढ़कर हरिदासजीको सुनाते थे। उन्होंने अपने ग्रामके निकट हरिदासजीके लिये एक गुफा बनवा दी थी। हरिदासजी उसीमें हरिभजन किया करते थे। केवल दोपहरमें अद्वैताचार्यजीके घर आकर भोजन कर जाया करते थे।

शान्तिपुरके पास ही फुलिया गाँव है। यह ब्राह्मणोंकी बस्ती है। यद्यपि हरिदासजी यवन थे, फिर भी वे जिस प्रेम और भक्तिसे हरिकी सेवा करते थे, उससे सब लोग उनका बड़ा आदर करते थे। वे नित्य गङ्गास्नान करते और बड़े प्रेमसे हरिनामका उच्चारण करते थे।

उस समय मुसलमानोंका राज्य था। हिंदुओंको अपने धर्मविश्वासके अनुकूल आचरण करना कठिन था। ऐसे समयमें हरिदासजीका मुसलमान रहते हुए ही हिंदू-आचरण करना अधिकारियोंको बड़ा खटका। इसलिये गोराई काजीने मुलुकपतिकी अदालतमें नालिश की कि हरिदासको राजदण्ड मिलना चाहिये। अतएव मुलुकपतिके आज्ञानुसार हरिदासजी पकड़कर बुलाये गये और जेलखानेमें डाल दिये गये। उनकी गिरफ्तारीसे फुलियाके लोगोंके हृदयोंमें बड़ी चोट लगी।

वहाँ जेलखानेमें कैदियोंने हरिदासजीके प्रति बड़े भक्ति-भावका परिचय दिया। हरिदासजीने कहा, 'जैसी भगवान्की भक्ति तुमने इस समय की है, वैसी ही सदा भगवान्में बनाये रखो। तुम दो-तीन दिनमें छोड़ दिये जाओगे।' उनकी वाणी सत्य निकली। वे दो-तीन दिन बाद छोड़ दिये गये।

जब हरिदासका मुकदमा लिया गया, तब अदालतमें बड़ी भीड़ थी। न्यायाधीशने हरिदासजीका सम्मान करके उनको अच्छी तरह बैठनेके लिये आसन दिया। न्यायाधीशने हरिदासजीसे मधुर शब्दोंमें कहा कि 'आप बड़े भाग्यसे तो मुसलमान हुए; फिर काफिरोंके देवताओंके नाम क्यों लेते हो और उन्हींके-से आचरण क्यों करते हो? मैं तो हिंदूका भोजन भी नहीं करता। इस पापसे मरनेके बाद भी आपका उद्धार नहीं होगा। अब आप कलमा पढ़ लें तो आपकी रक्षा हो जायगी।' हरिदासजीने विनयपूर्वक उत्तर दिया—'हे पूज्य न्यायाधीश! इस संसारका मालिक एक ही है। हिंदू और मुसलमान उसे अलग-अलग नामोंसे पुकारते हैं। मुझे जिस तरह रुचता है, उसी तरह मैं ईश्वरकी सेवा करता हूँ। यदि कोई हिंदू मुसलमान हो जाता है तो हिंदू उसपर अत्याचार नहीं करते। मुझे और कुछ नहीं कहना है।'

हरिदासजीकी विनयपूर्ण और ठीक बातें सुनकर सब प्रसन्न हुए। न्यायाधीश मुलुकपति भी प्रसन्न हुए। पर गोराई काजी किसी तरह भी माननेवाला आदमी नहीं था और उसके हृदयमें दयाका लेश भी नहीं था। उसने न्यायाधीशसे कहा कि 'कानूनके अनुसार हरिदासको सख्त सजा होनी चाहिये; नहीं तो, इनकी देखा-देखी और मुसलमान भी हिंदू हो जायँगे और इससे इस्लामका बड़ा अहित होगा।' अदालतने हरिदासजीसे कहा—'ऐसी दशामें या तो आप हरिनाम जपना छोड़ दें, नहीं तो आपको सख्त सजा भोगनी पड़ेगी।' हरिदासजीने उत्तर दिया—

खंड खंड करे देह यदि जाय प्रान।
तबू आमि बदने ना छाड़िब हरिनाम॥

अर्थात् 'हमारी देहके टुकड़े-टुकड़े कर दो,चाहे प्राण भी चले जायँ, तब भी हम मुँहसे हरिनामका कहना नहीं छोड़ेंगे।'

यह सुनकर न्यायाधीशने काजीकी सलाहसे उन्हें यह सजा दी कि बाईस बाजारोंमें घुमाकर इनकी पीठपर इतने बेंत लगाये जायँ कि इनके प्राण निकल जायँ। पाषाणहृदय सिपाहियोंने हृदयविदारक दुष्कर्म आरम्भ कर दिया। पर हरिदासजीके मुखसे उफ़ निकलना तो अलग रहा, वे बड़ी प्रसन्नतासे हरिनाम-कीर्तन करने

लगे। सिपाही मारते हुए 'हरि' नाम छोड़नेको कहते। हरिदासजी कहते—'एक बार हरिका नाम फिर लो और मुझे मारो।' आखिर सिपाहियोंकी दशापर दया करके हरिदासजी अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे भगवान्से प्रार्थना करने लगे—'भगवन्! मुझे ये लोग भूलसे पीट रहे हैं; इन जीवोंको इस अपराधसे मुक्त करो, इनपर क्षमा करो—कृपा करो।' यों कहते-कहते हरिदासजी बेहोश हो गये। उन्हें मरा समझकर सिपाहियोंने काफिरको कब्र देना मुनासिब न जान गङ्गामें बहा दिया। थोड़ी देर बाद हरिदासजी चेतन होकर किनारेपर निकल आये। इस घटनाका न्यायाधीश मुलुकपति और काजी दोनोंपर बड़ा प्रभाव पड़ा और वे भी इनके चरणोंपर गिरकर इनके अनुयायी बन गये और हरिनाम लेने लगे। उनकी सच्ची शुद्धि हो गयी!

एक बार हरिदासजी सप्तग्राममें हिरण्य मजूमदार नामक जमींदारकी सभामें हरिनामका माहात्म्य वर्णन करते हुए कह रहे थे कि 'भक्तिपूर्वक हरिनाम लेनेसे जीवके हृदयमें जो भक्तिप्रेमका सञ्चार होता है, वही हरिनाम लेनेका फल है।' इसी बातचीतमें जमींदारके गोपाल चक्रवर्ती नामक एक कर्मचारीने हरिनामकी निन्दा करते हुए कहा कि 'ये सब भावुकताकी बातें हैं। यदि हरिनामसे ही मनुष्यकी नीचता जाती रहे तो मैं अपनी नाक कटवा डालूँ।' हरिदासजीने बड़ी दृढ़तासे कहा—'भाई! हरिनामस्मरण और जपसे यदि मनुष्यको मुक्ति न मिले तो मैं भी अपनी नाक काट डालूँगा।' कहा जाता है कि दो-तीन महीने बाद ही गोपालकी नाक कुष्ठरोगसे गलकर गिर पड़ी! हरि-नाम-निन्दाका फल तो इससे भी बुरा होना चाहिये!

इसी समय चैतन्य महाप्रभु नवद्वीपमें हरि-नाम-सुधा बरसा रहे थे। हरिदासजी भी वहीं आकर रहने और हरि-कीर्तनका आनन्द लूटने लगे। चैतन्यदेवकी आज्ञासे हरिनामके मतवाले हरिदासजी और श्रीनित्यानन्दजी दोनों नाम-कीर्तन और नृत्य करते हुए नगरमें चारों ओर घूम-फिरकर दिनभर नर-नारियोंको हरि-नाम वितरण करने लगे।

अन्तमें श्रीचैतन्यके संन्यासी होनेके बाद हरिदासजी पुरीमें आकर श्रीचैतन्यकी आज्ञासे काशी मिश्रके बगीचेमें कुटिया बनाकर रहने लगे। वहीं इनकी मृत्यु हुई। मृत्युके समय श्रीचैतन्य महाप्रभु अपनी भक्तिमण्डलीसहित हरिदासजीके पास थे। हरिदासजीके मृत शरीरको उठाकर श्रीचैतन्य नाचने लगे। अन्तमें मृत शरीर एक विमानमें रखा गया। श्रीचैतन्य स्वयं कीर्तन करते हुए आगे-आगे चले। श्रीचैतन्यने हरि-नामकी ध्वनिसे नभोमण्डलको निनादित करते हुए अपने हाथों हरिदासके शवको समाधिस्थ किया!

भक्त लोचनदास

बंगालके बर्दवान जिलेमें कोग्राम नामक स्थान भक्तवर श्रीलोचनदासजीकी जन्मभूमि था। घर सम्पन्न था। लोचनदास अपने माता-पिताकी एकमात्र सन्तान थे और उनका ननिहाल भी उसी गाँवमें होनेके कारण वृद्ध नाना-नानी भी उनको बहुत ही प्यार करते थे। इस प्यार-दुलारके कारण लोचनदासका बाल्यजीवन प्रायः हँसने-खेलनेमें ही बीता। उन्हें पढ़ने-लिखनेका विशेष अवसर नहीं मिला।

घरमें सम्पन्न होने और माता-पिता तथा नाना-नानीके परम स्नेहसे सदा पले होनेपर भी लोचनदासका मन किसी पूर्वसंस्कारवश विषयोंमें नहीं लगता था। वे खेलनेमें ही मिट्टीके महल बनाते और उन्हें फिर बिगाड़कर कहते, 'देखो, यह संसार भी ऐसा ही है—आज है, कल नहीं।'

लोचनदासके बहुत मना करनेपर भी उनके माता-पिताने उनका विवाह ग्यारह वर्षकी अवस्थामें ही कर दिया। इनकी स्त्री वास्तवमें लक्ष्मीके समान रूप और गुणोंसे सम्पन्न थी। परंतु लोचनदासका मन इधर नहीं फिरा। जिधर लगा था, वहीं लगा रहा।

श्रीखण्ड नामक स्थानमें श्रीचैतन्यमहाप्रभुके भक्त पण्डितप्रवर नरहरिजी महाराज निवास करते थे। वे जैसे प्रेमी भक्त थे, वैसे ही सर्वशास्त्रोंके ज्ञाता विद्वान् भी थे।

श्रीलोचनदास भी श्रीखण्ड जाकर श्रीनरहरिजीके सत्सङ्गका लाभ उठाने लगे। ये उन्हींसे दीक्षा लेकर उनके शिष्य हो गये। इनका वैराग्य श्रीकृष्ण-अनुरागके रूपमें बदल गया। संसारकी रही-सही आसक्ति भी नष्ट हो गयी। वे भगवान्‌के प्रेममें निमग्न होकर माता-पिता, पत्नी, गाँव, घर, नगर—सभी भूल गये। इनके माता-पिताको भी यह जानकर आनन्द हुआ कि लड़का श्रीनरहरि-जैसे सुयोग्य पण्डितका शिष्य बना है—परंतु लोचनदासजीकी पत्नीके पूर्ण युवती हो जानेके कारण वे उन्हें घर ही लाना चाहते थे। इनकी स्त्री इनके वियोगमें दिन-रात आँसू बहाया करती थी। इनके पिता कमलाकरजीने सब हाल नरहरिजीको सुनाया और उनकी विशेष आज्ञासे ये अपनी पत्नीको लाने आमोदपुर ग्राममें अपनी ससुराल गये।

लोचनदास गुरु-आज्ञासे ससुराल पहुँचे, किंतु ग्राममें भूल जानेके कारण उन्हें अपनी ससुरालका घर याद नहीं था। विधाताका विधान ही कुछ और था। गाँवमें घुसते ही उन्हें एक सुन्दरी युवती मिली। उन्होंने बड़े ही विनीत भावसे उससे पूछा—'माताजी! अमुकका घर कहाँ है? किस रास्ते होकर जानेसे वहाँ पहुँच सकूँगा?' युवती एक बार इनकी ओर देख अँगुलीके इशारेसे इन्हें रास्ता दिखा नीचा मुख किये अपनी राह चली गयी। लोचनदास ससुराल पहुँचे।

स्वागत-सत्कार, कुशल-प्रश्न, स्नान-भोजनके पश्चात् ये जब अपनी पत्नीसे मिले, तब ये यह जान अत्यन्त भीत हो गये कि जिसे उन्होंने माताजी कहकर सम्बोधित किया, वही इनकी पत्नी थी।

पतिके मुखसे माताजी शब्द याद आते ही वह तरुणी भी काँप गयी। युवती विषादके आवेगमें साड़ीके आँचलसे आँखें पोंछकर दूर हट गयी। लोचनदास भी सब समझ गये। उनके मुखसे एक शब्द भी निकलना कठिन हो गया।

समयकी गति बलवान् है। रातभर पति-पत्नी दोनों आँसू बहाते रहे।

धर्मभीरु लोचनदासने अपनी पत्नीको समझाया। उसने भी गद्गद कण्ठसे यही कहा—'स्वामिन्! मेरे तो आप ही आराध्य हैं। आपको छोड़कर मैं दूसरे किसी ईश्वरको नहीं जानती। मैं भोगकी भूखी नहीं। मुझे आपका शरीर नहीं चाहिये। मैं यह भी नहीं चाहती कि आपने जिसको एक बार माँ कह दिया, उसके साथ पत्नीका-सा व्यवहार करके धर्मपथसे च्युत हों। किंतु प्रभो! मुझे आप सेवाका अधिकार तो दे ही सकते हैं, मुझे अपनेसे विलग मत कीजिये।'

पवित्र शील-व्रतको धारणकर दोनों पति-पत्नी परमात्माके मार्गपर चलनेके लिये सूर्योदयके पूर्वसे ही वहाँसे चल पड़े।

पिता-माताकी मृत्युके पश्चात् लोचनदास अपनी सारी धन-दौलत गरीबोंको बाँटकर ग्रामके बाहर एक पर्णकुटी बनाकर सती पत्नीके साथ भजन करने लगे। भगवत्प्रेममें दोनों मस्त रहते थे। लोचनदासजीका श्रीचैतन्यमहाप्रभुके चरणोंमें प्रगाढ़ प्रेम था। उन्होंने चैतन्यमङ्गल नामक महाकाव्यकी रचना की। लोचनदास चैतन्यमङ्गलका गान करते और सती पत्नी पास बैठी एकाग्र मनसे हर्षाश्रु बहाती हुई सुनती। इस प्रकार युवती पत्नी लोचनदासजीकी साधन-सङ्गिनी बन गयी। लोचनदासजीके दुर्लभसार, वस्तुतत्त्वसार, आनन्दलतिका, प्रार्थना, चैतन्य-प्रेमविलास, देहनिरूपण और रागलहरी नामक सात ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं। उनका सारा जीवन भजन-कीर्तन और ग्रन्थनिर्माणमें ही बीता।

भक्त-वाणी

त्वयि मेऽनन्यविषया मतिर्मधुपतेऽसकृत्। रतिमुद्वहतादद्धा गङ्गेवौघमुदन्वति॥ —कुन्ती

श्रीकृष्ण! जैसे गङ्गाकी अखण्ड धारा समुद्रमें गिरती रहती है, वैसे ही मेरी बुद्धि किसी दूसरी ओर न जाकर आपसे ही निरंतर प्रेम करती रहे।

भक्त कृष्णदास कविराज

द्रवति शिखरवृन्देऽचञ्चले वेणुनादै-
र्दिशि दिशि विसरन्तीर्निर्झरापः समीक्ष्य।
तृषितखगमृगाली गन्तुमुत्का जडाङ्गैः
स्वयमपि सविधाप्ता नैव पातुं समर्था॥

(गोविन्दलीलामृतम्)

श्रीनवद्वीपमें श्रीचैतन्य महाप्रभुने प्रेमकी जो महान् सरिता बहायी, उसी दिव्य प्रेमसलिलामें अपनेको निमज्जितकर उसमें अपनेको सर्वथा डुबा देने तथा उसीमें लय हो जानेके लिये उस समय अनेकों महापुरुषोंने जन्म ग्रहण किया। इन्हीं परम सौभाग्यसम्पन्न प्रेमी महापुरुषोंमें एक थे—बँगला 'चैतन्य-चरितामृत' के रचयिता प्रसिद्ध वैष्णवकवि भक्तराज श्रीकृष्णदासजी। ये बर्दवान जिलेके झामटपुर नामक छोटे गाँवके वैद्यवंशमें अवतरित हुए थे। इन्होंने बालकपनमें ही संस्कृत भाषा पढ़ी एवं उसमें धुरन्धर विद्वान् बन गये। ये शैशवसे ही अत्यन्त धर्मानुरागी थे। इनके माता-पिता श्रीचैतन्य महाप्रभुके भक्त थे एवं ये भी बालकपनसे ही श्रीचैतन्यके गुणोंको सुन चैतन्यभक्त बन गये थे। ज्यों-ज्यों इनकी उम्र बढ़ी, इनका भक्तिभाव एवं विषयवैराग्य भी बढ़ता गया। रात-दिन ये श्रीकृष्णनामजपमें ही व्यतीत करते। एक दिन इन्हें स्वप्नमें श्रीनित्यानन्दजीने दर्शन दिये तथा संसाराश्रम छोड़नेकी अनुमति दी। तभी कृष्णदास भगवान्‌की प्रेमलीलास्थली वृन्दावनकी ओर चल पड़े।

कृष्णदासजीके जन्म लेनेके समयसे पूर्व ही श्रीचैतन्य लीलासंवरण कर चुके थे। अतः ये परम वीतरागी श्रीचैतन्यके प्रिय शिष्य रघुनाथदासजीसे मिले एवं उन्हींके शरणापन्न हुए। रघुनाथदासजीसे दीक्षा ले इन्होंने अपना अवशिष्ट समय प्रेमभक्ति-शिक्षा, शास्त्रोंकी आलोचना, महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवके पावन चरित्रके अनुशीलन एवं श्रीकृष्णनामजपमें ही व्यतीत किया।

श्रीरघुनाथदासजी श्रीचैतन्यदेवके अत्यन्त प्रिय शिष्योंमेंसे थे। महाप्रभुकी अन्तिम अवस्थामें उनके पास श्रीस्वरूप गोस्वामी एवं रघुनाथदास ही रहते तथा इनकी सेवा-शुश्रूषा करते थे। महाप्रभुके दिव्य महाभावकी उच्च अवस्था, उनकी अपूर्व प्रेममयी स्थिति एवं उनके मनः-पटलपर उठती श्रीकृष्णप्रेमकी दिव्य तरङ्गोंको श्रीस्वरूप गोस्वामी उनकी कृपासे जान लिया करते थे। वे यह सब इनको बता दिया करते थे—अतः श्रीरघुनाथदासजी श्रीचैतन्यदेवके प्रेमरहस्यके अत्यन्त मर्मज्ञ थे। इन श्रीरघुनाथदासजीने यह सभी प्रेमरहस्य अपने प्रिय शिष्य कृष्णदासपर प्रकट किया। इस प्रकार गुरुकृपासे इन्हें प्रेम-रहस्यका दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ।

श्रीचैतन्यदेवकी अन्तरङ्ग लीलाओंका प्रकाश श्रीचैतन्यके लीलासंवरणके पश्चात् वृन्दावनमें किसी-किसीको ही था। उनके सभी भक्तोंको चैतन्यप्रेमरहस्यका ज्ञान हो, इसलिये श्रीकृष्णदासजीने अपने अन्तिम समयमें बँगला भाषामें अत्यन्त ही सुललित छन्दोंमें 'श्रीचैतन्यचरितामृत' नामक काव्यग्रन्थ निर्माण किया। कहते हैं उस समय वे अत्यन्त ही वृद्ध हो चुके थे। उनका समस्त अङ्ग जर्जर था। न आँखोंसे देखा जाता था न कानोंसे पूरी तरह सुना जाता। मुखसे उच्चारण भी पूरा नहीं होता था। किंतु फिर भी इन्होंने ग्रन्थ लिखा। इनसे किसीने पूछा भी कि 'आप इसे कैसे लिख रहे हैं?' इन्होंने उत्तर दिया कि 'मेरी क्या सामर्थ्य है जो इस ग्रन्थको लिखूँ; इसे तो साक्षात् मदनगोपाल लिखा रहे हैं।'

इनके श्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थमें प्रेम-रहस्यकी अत्यन्त गोपनीय बातोंका अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन किया गया है। और सत्य ही इसे मन लगाकर पढ़नेसे अन्तःकरणमें दिव्य श्रीकृष्णप्रेमका उदय होना सम्भव है। भक्तिसाहित्यका यह सर्वोत्तम ग्रन्थ है। उत्तर भारतमें 'रामचरितमानस' का जैसा सम्मान है, वैसा ही बंगालमें 'श्रीचैतन्यचरितामृत' का है।

इसके अतिरिक्त इन्होंने संस्कृतभाषामें वैष्णवाष्टक, गोविन्द-लीलामृत, कृष्णकर्णामृतकी सारंगरंगदा टीका की है। इनके ग्रन्थोंसे झलकता है कि ये संस्कृतके भी असाधारण विद्वान् थे।

भावुक भक्तोंमें यह प्रचलित है कि ये श्रीराधारानीकी

किसी मञ्जरीके अवतार थे। इन्होंने श्रीचैतन्यचरितामृतमें एक ऐसा प्रयोग किया है जिसे तत्कालीन वैयाकरण खोजनेपर भी किसी व्याकरणमें नहीं पा सके। कहते हैं उस समय उनमेंसे किसी एक प्रमुखने इनकी तीव्र आलोचना की तो श्रीराधारानीने स्वप्नमें उसे बताया कि ये मेरी मञ्जरीके अवतार हैं—ये इतनी बड़ी भूल नहीं कर सकते। आप उस व्याकरणको देखिये, उसमें इस प्रकारका प्रयोग है। उन विद्वान्ने जब वह व्याकरण देखा तब सत्य ही उन्हें वह प्रयोग मिल गया।

ये अत्यन्त उच्चकोटिके प्रेमी, अद्वितीय वैरागी एवं महान् भक्त थे। ऐसे भक्तोंसे निश्चय जगत्का कल्याण होता रहा है एवं होता रहेगा।

आचार्य बलदेव विद्याभूषण

आचार्य बलदेवका जन्म बंगालमें हुआ था। वे १८ वीं शताब्दीमें हुए थे। उनके गुरुका नाम श्रीराधादामोदर था। श्रीबलदेव श्यामानन्दके शिष्य रसिकानन्दकी शिष्य-परम्परामें चौथे पुरुष थे। उन्होंने अन्तिम समयमें वृन्दावन जाकर विश्वनाथ चक्रवर्तीका शिष्यत्व ग्रहण किया। उन्होंने शास्त्राध्ययन पीताम्बरदासके पास रहकर किया था।

वेदान्तसूत्रपर श्रीगौड़ीय सम्प्रदायका अपना कोई भाष्य नहीं था। एक बार आचार्य बलदेवने किसी विद्वान्के साथ शास्त्रार्थ किया। शास्त्रार्थके बाद पण्डितने पूछा—'आप जिस मतका प्रतिपादन कर रहे हैं, वह किस सम्प्रदायके भाष्यद्वारा अनुमोदित है?' इसके बाद एक मासके भीतर श्रीबलदेवने भगवान् गोविन्ददेवके स्वप्रादेशके अनुसार भाष्यकी रचना कर डाली और इसीसे उसका नाम भगवान् गोविन्दके नामपर 'गोविन्द-भाष्य' रखा। इस भाष्यमें 'अचिन्त्य-भेदाभेदवाद'की व्याख्या की गयी है। इस भाष्यके अतिरिक्त श्रीबलदेवने और भी बहुत-से ग्रन्थोंकी रचना की, जिनमें सिद्धान्तरत्न या भाष्यपीठक, प्रमेयरत्नावली, वेदान्तस्यमन्तक, गीताभाष्य, दशोपनिषद्-भाष्य, स्तवावली और विष्णुसहस्रनामभाष्य अधिक प्रसिद्ध हैं। ये सब ग्रन्थ गौड़ीय मतके अनुसार लिखे गये हैं। श्रीबलदेवजी बहुत बड़े प्रेमी भक्त और महान् दार्शनिक विद्वान् थे।

मधु गोस्वामी

मधु गोस्वामीका जन्म वङ्ग देशमें हुआ था। बचपनमें भी खेल खेलते समय उन्हें भगवान्की लीलाका सरस स्मरण हो जाया करता था। उनके नयन श्यामसुन्दरकी अभिराम और मोहिनी झाँकी देखनेके लिये विकल हो उठते थे।...... यौवनके प्रथम कक्षमें चरण रखते ही भगवान् और उनके व्रजका विरह वे बहुत दिनोंतक नहीं सह सके। वृन्दावनके लिये चल पड़े। मधु गोस्वामी वृन्दावन पहुँच गये। उन्होंने श्यामवर्णवाली कालिन्दीके जलमें खड़े होकर नियम लिया कि 'जबतक वंशीवट-तटपर नित्य रास करनेवाले प्राणदेवता मदनमोहन दर्शन नहीं देंगे तबतक अन्न-जल कुछ भी नहीं ग्रहण करूँगा।' वृन्दावनके कुञ्ज झूम उठे, उनमें मस्ती छा गयी। नागरिकों, संतों और भक्तोंने मस्तकपर उनकी चरण-धूलि चढ़ायी। विहारीजीका सिंहासन हिल उठा, वंशीवटकी पवित्र रेतीमें राधारमणने मधु गोस्वामीको दर्शन दिये। सामने श्यामसुन्दर खड़े हैं। मयूरपिच्छका मुकुट लोक-लोकान्तरका वैभव समेटकर उनके पीताम्बरपर जो ऐश्वर्य बिखेर रहा था, ब्रह्माकी लेखनी उसकी कल्पना भी नहीं कर पाती। उनके श्याम-अङ्गका प्रतिबिम्ब यमुनाने अपने अङ्कमें भर लिया। समीर मन्द-मन्द गतिसे प्रवाहित होकर सलोनी और कोमल लताओंकी नमनशीलतासे उनके चरण-स्पर्श करने लगा। प्रभु वंशी बजा रहे हैं। मधु गोस्वामी निहाल हो गये, भक्तने अपनेको उनके सुरमुनिदुर्लभ पदपङ्कजपर निछावर कर दिया। व्रज मधु गोस्वामीकी जयध्वनिसे धन्य हो उठा।

रघुनाथदास महापात्र

श्रीकृष्णचन्द्र महापात्र बहुत बड़े जमींदार थे। उनके पास जितना अधिक धन था, उससे भी अधिक उदार हृदय पाया था उन्होंने। उनकी पतिव्रता पत्नी कमला भी पतिके समान ही अतिथि-अभ्यागतोंकी सेवामें लगी रहती थी। दम्पतिके एक ही पुत्र था—रघुनाथ। जब रघुनाथ सत्रह वर्षके हुए, तब कलावतीपुरके गङ्गाधर करण नामक धनी-मानी पुरुषकी अन्नपूर्णा नामकी कन्यासे उनका विवाह हो गया।

श्रीकृष्णचन्द्र महापात्र बहुत ही दयालु पुरुष थे। देशमें उस समय लगातार कई वर्षोंतक अकाल पड़ा। प्रजाको जब अपने ही लिये पेटको रोटी न मिलती हो तब उससे लगान कहाँसे मिले। उदारहृदय जमींदारने लगान वसूल करना छोड़ ही दिया। इधर अकाल पड़नेसे भूखे-कंगाललोग अन्नकी आशासे जमींदारके द्वारपर आने लगे। लगान मिलता नहीं और अतिथियोंकी संख्या बढ़ गयी। कृष्णचन्द्रका खर्च बेहद बढ़ गया। जमींदारीपर ऋण हो गया। चिन्ता करते-करते वे बीमार हो गये। अपनेको मरणासन्न जानकर रघुनाथको पास बुलाकर उन्होंने कहा—'बेटा! मैं तो जा रहा हूँ। तुम मेरी एक बात रखना। जहाँतक हो सके, ऋण चुका देना। किसीको धोखा देनेकी भावना कभी मनमें मत लाना। भगवान् तुम्हारा कल्याण करेंगे।' कृष्णचन्द्रने सदाके लिये आँखें बंद कर लीं। उनकी पतिव्रता पत्नी कमला पतिके साथ सती हो गयी।

रघुनाथ माता-पितासे रहित , अनाथ हो गये। उनकी स्त्री अन्नपूर्णा धनी घरकी लड़की थी। वह अपने सात भाइयोंमें सबसे छोटी थी। अतएव माता-पिता और भाइयोंका उसपर बहुत स्नेह था। इस कारण वह पिताके घर ही रहती थी। रघुनाथके श्वशुर बहुत धनी होनेपर भी अत्यन्त कृपण थे। जामाताके संकटपर उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया। कंजूस ही असलमें सबसे बड़ा दरिद्र होता है। वह एक-एक कौड़ी समेटकर रखता है। माता-पिता, भाई-पुत्र तो क्या, अपने प्राण संकटमें हों तब भी वह धनको खर्च नहीं करता। रघुनाथ भी सहायता माँगने ससुराल नहीं गये। उनके पास जो कुछ बर्तन, कपड़े, पशु तथा और भी सामान था, उसे बेचकर पिताका पूरा ऋण उन्होंने चुका दिया। घरतक बिक गया ऋण चुकानेमें। ससुरालसे जो दहेज मिला था, उससे उन्होंने देव-सेवाका नियमित प्रबन्ध कर दिया।

जो कलतक राजकुमार था, वही घरसे कौपीन लगाकर और फटा कपड़ा लपेटकर निकला। एक रात्रिमें एक वृक्षके नीचे भूमिपर पड़े-पड़े रघुनाथ सोचने लगा—'इस प्रकार गाँव-गाँव भटककर केवल कूकर-शूकरकी भाँति पेट भरते हुए जीवन नष्ट करनेमें क्या लाभ है? क्यों न किसी पुण्यक्षेत्रमें चलकर भगवान्‌का भजन किया जाय।'

रघुनाथ दूसरे ही दिन चल पड़े। वे नीलाचल पहुँच गये। श्रीजगन्नाथजीका दर्शन करके वे हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगे—'प्रभो! मेरे माता-पिता दोनों मर गये। आज रघु 'अरक्षित' हो गया है। मैं अब तुम्हारे श्रीचरणोंका आश्रय लेने आया हूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो, करो। रघुनाथ तुम्हारा खरीदा हुआ दास है।' सच्चे हृदयकी प्रार्थना प्रभु अवश्य स्वीकार करते हैं। रघुनाथ अब पुरीमें ही रहने लगे। उनका चित्त आनन्दपूर्ण हो गया। उन्हें अपने घरके ऐश्वर्य तथा पत्नीका भी कभी स्मरण नहीं होता था।

कुछ दिनोंमें रघुनाथकी ससुराल भी यह सब समाचार पहुँचा। गङ्गाधरदासने रघुनाथको दस-बीस खोटी-खरी बककर पुत्रोंके सामने प्रस्ताव किया—'समझ लेना चाहिये कि अन्नपूर्णाका विवाह हुआ ही नहीं। उसका दूसरा विवाह कर देना चाहिये।' भिखारीको सम्बन्धी मानना पिताके समान पुत्रोंको भी अपने सम्मानमें बट्टा लगानेवाला जान पड़ा। सबने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। ढूँढ़नेपर राजमन्त्रीका पुत्र वसु महापात्र उन्हें वरके रूपमें मिल गया। वसु महापात्र अत्यन्त कामुक तथा अधार्मिक था। अपनी पापवृत्तिके कारण उसने यह विवाह स्वीकार कर लिया। फाल्गुनकी शुक्लपञ्चमी विवाह-तिथि निश्चित हो गयी। गङ्गाधरदास और मन्त्रीपुत्र दोनों धनी पुरुष थे। समाजमें

इनका विरोध करनेका साहस कोई नहीं कर सका।

अन्नपूर्णाकी अवस्था पंद्रह वर्षकी हो चुकी थी। माता-पिताका विचार जानकर वह व्याकुल हो उठी। और कोई उपाय तो था नहीं, मन-ही-मन वह भगवान्‌को पुकारने लगी—'प्रभो! यह क्या हो रहा है? मेरे प्राणनाथ जीवित हैं और मेरे पुनर्विवाहकी बात चल रही है? मैं अपना शरीर तो स्वामीके चरणोंमें अर्पित कर चुकी हूँ। इस शरीरपर अब मेरा कोई अधिकार नहीं है। दूसरेका मुख मैं इस शरीरसे कैसे देखूँगी? दयासागर! मुझ अबलाकी तुम्हीं शरण हो। तुमने द्रौपदीकी लज्जा रखी, गजेन्द्रके प्राण बचाये, आज मुझ दीनाकी पुकार भी सुनो। मेरा उद्धार करो, नाथ!'

अन्नपूर्णा अब दिन-रात अकेली बैठी भगवान्‌से प्रार्थना करती और आँसू बहाया करती। उसे खाना-पीना, हँसना-बोलना—कुछ भी अच्छा न लगता। घरमें एक पुरानी दासी थी, जिसने अन्नपूर्णाको पाला था। उसे अन्नपूर्णाने अपनी कष्ट-कहानी सुनायी और उसके द्वारा पता लगाया कि मुहल्लेके कुछ लोग नीलाचल जानेवाले हैं। उस पतिव्रताने पत्रमें पतिको सब बातें लिखकर शीघ्र चले आनेको लिखा। उसने अन्तमें लिखा—'मेरे स्वामी! मैं तो आपकी दासी हूँ। आप यहाँ आयें या न आयें, यह आपकी इच्छापर निर्भर है; किंतु मैं तो दिन गिन रही हूँ। यदि इस बीचमें आपने आकर मुझे दर्शन न दिया तो मैं अवश्य प्राण त्याग दूँगी।'

अन्नपूर्णाने दासीको पत्र देकर कहा—'धाय मा! पत्र देकर उन लोगोंसे कहना कि मेरा जीवन उनके ही हाथमें है। मेरा पत्र मेरे स्वामीके पास पहुँचा देंगे तो मैं उनकी जन्म-जन्मतक ऋणी रहूँगी।' दासीने पत्र यात्रियोंको दिया। एक पतिव्रता नारीके प्रति भला, किस सत्पुरुषके हृदयमें सहानुभूति न होगी? माघके अन्तिम दिनोंमें वे लोग पुरी पहुँचे। बड़ी कठिनाईसे रघु अरक्षितको ढूँढ़कर उन्होंने पत्र दिया।

रघुने पत्र पढ़ा और वे व्याकुल हो गये। 'कलावतीपुर लगभग एक महीनेका मार्ग है और फाल्गुनकी शुक्लपञ्चमीको केवल दस दिन शेष हैं!' वे कुछ भी स्थिर न कर सके। श्रीजगन्नाथजीसे उन्होंने प्रार्थना की—'करुणासागर प्रभो! एक सती व्याकुल हो रही है। उसके सन्तापको अब आपके अतिरिक्त कोई दूर नहीं कर सकता। तुम्हारे अतिरिक्त अब कोई उसका रक्षक नहीं।'

रात अधिक हो गयी थी। रघुका कोई घर तो था नहीं, सिंहद्वारके पास टाटका एक फटा चिथड़ा डालकर भगवान्‌से प्रार्थना करते-करते वे सो गये। जो अपनेको निर्बल समझकर श्रीहरिकी शरण लेता है, उसकी पुकार वे दयाधाम तत्काल सुनते हैं। कृपासागर प्रभुने सोते हुए रघुनाथको कलावतीपुरमें पहुँचा दिया। रघुनाथ जब प्रातःकाल जगे तो चौंक पड़े। उन्हें पुरीके भगवान्‌के मन्दिरका सिंहद्वार तथा दूसरे परिचित भवन आदि कुछ नहीं दीख पड़े। लोगोंसे पूछनेपर उन्हें पता लगा कि वे कलावतीपुरमें गङ्गाधरदासकी कोठीके सामने पड़े हैं। भगवान् जगन्नाथकी कृपाका स्मरण करके वे गद्‌गद हो गये।

प्रातःकाल गङ्गाधरदासके पुत्र घरसे बाहर आये तो रघुनाथको देखकर उनका मुख ही सूख गया। लोकलाजके भयसे गङ्गाधरदासने जामाताको भीतर बुला लिया। अन्नपूर्णा तो समाचार पाकर ही हर्ष-विह्वल हो गयी। ससुर तथा सालोंने भीतरके द्वेषको छिपाकर रघुनाथका पूरा आदर-सत्कार किया। भोजनके पश्चात् रघुनाथ विश्राम करने लगे। सती अन्नपूर्णाने आकर पतिके पदोंको अपने आँसुओंसे भिगो दिया।

गङ्गाधरदासने रघुनाथके स्वागत-सत्कारसे छुट्टी पाकर स्त्री तथा पुत्रोंको एकत्र करके मन्त्रणा की—'आज ही रातको विष देकर इस भिखारीको समाप्त कर देना चाहिये। अन्नपूर्णाकी तो कोई चिन्ता नहीं है। वह मन्त्रीके पुत्रसे विवाह हो जानेपर सुखी हो जायगी।' भला, पापियोंको सती नारीके हृदयके सुख-दुःखका अनुमान कैसे हो।

पापमूर्ति गङ्गाधरकी पत्नीने सन्ध्याके समय जो नाना प्रकारके भोजन रघुनाथके लिये बनाये, उनमें विष मिला दिया। माता-पिता और भाइयोंकी दिनभरकी फुसफुसाहटने अन्नपूर्णाके मनमें सन्देह उत्पन्न कर दिया था। रसोईमें सहायता देनेके बहाने वह माताके पास रुक गयी थी। कुछ देरमें जब सब बातें उसकी समझमें आ गयीं, तब उसका हृदय काँप गया। पतिको सावधान करने वह

दौड़ी गयी; किंतु गङ्गाधरके लड़के सैर करनेके बहाने उन्हें घरसे बाहर ले गये थे। अब वह क्या करे? जरासे ताड़पत्रके टुकड़ेपर उसने लिखा—'भोजनमें हलाहल विष है।' उसने देखा था ससुरालमें कि उसके स्वामी बड़े प्रेमसे पहले पिष्ठक (एक बँगला मिठाई) खाते हैं। अतः अवसर पाकर एक पिष्ठकमें उसने वह ताड़पत्रका टुकड़ा रख दिया।

सोनेके थालमें भोजन परसकर पापिष्ठा सासने जामाताको भोजनके लिये बुलाया। रघुनाथने भगवान्को भोग लगाया। अन्नपूर्णा छिपकर देख रही थी। उसका हृदय धड़क रहा था। यदि उसके स्वामीने उस पिष्ठकके बदले कोई और पदार्थ उठाया तो वह चिल्लाकर उन्हें सावधान कर देगी। परंतु उसने देखा कि उसके पतिने वही पिष्ठक पहले तोड़ा है और ताड़पत्र पढ़ भी लिया है। वह निश्चिन्त हो गयी। माताने उसे वहाँसे हट जानेको कहा था। अब वह निश्चिन्त मनसे चली गयी।

रघुनाथने ताड़पत्र देखा और सब समझ लिया। उनके नेत्र भर आये। वे कहने लगे—'प्रभो! मेरे लिये तो आपका यह 'पवित्र प्रसाद' है। मैं इसे नहीं छोड़ सकता; किंतु मुझ अधमने आपको अनजानमें आज विष मिले भोजनका भोग लगाया, इसके लिये मुझे क्षमा करना। मेरे स्वामी! मेरे प्राण रहें या जायँ; किंतु आपके प्रसादका मैं अपमान नहीं कर सकता।'

रघुनाथने जान-बूझकर वह विष-मिश्रित अन्न खा लिया। थालीमें एक कण भी नहीं छोड़ा । उग्र विष था, अतः रघुनाथ तत्काल मूर्छित होकर गिरे और छटपटाकर उनका शरीर अकड़ गया, नीला पड़ गया। गङ्गाधरकी स्त्रीने दौड़कर पति-पुत्रोंको समाचार दिया। सबने सबेरे लाशको गाड़ देनेका विचार किया। 'रातको रघुनाथको सर्पने काट लिया' यह घोषणा कर देंगे, ऐसा सोच लिया। कमरेका दरवाजा बंद कर दिया।

अन्नपूर्णाका हृदय अशान्त था। स्वामीने सूचना देख ली, इससे वह अलग हट आयी थी; पर उसे धैर्य नहीं था। कुछ देरमें उसने माता-पिता तथा भाइयोंको इधर-उधर आते-जाते तथा कानाफूसी करते सुना। उसके मनमें सन्देह हो गया। सबके चले जानेपर वह उस कमरेके पास गयी। कमरेका द्वार बाहरसे बंद था। भीतर दीपक जल रहा था। रघुनाथका जीवनरहित नीला देह पृथ्वीपर पड़ा था। वह सती मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। मूर्छा दूर होनेपर वह कातर हृदयसे भगवान्को पुकारने लगी।

आर्त हृदयकी पुकार सुनकर वे दयाधाम श्रीहरि स्वयं आकुल हो उठते हैं। अन्नपूर्णाको कमरेमें कुछ आहट जान पड़ी। उसने देखा कि कमरा स्निग्ध ज्योतिसे भर गया है। उसने सुना, कोई अमृतपूर्ण दिव्य स्वरसे कह रहा है—'बेटा रघुनाथ! तू इस प्रकार क्यों अचेत पड़ा है? उठ! देख, मैं आ गया। भला तुच्छ विष तेरा क्या बिगाड़ सकता है?' रघुनाथने अँगड़ाई ली और उठ बैठे। अन्नपूर्णा इस आनन्दको सँभाल न सकी। वह पहले शोकसे मूर्छित हुई थी, अब हर्षसे मूर्छित हो गयी। मूर्छा दूर होनेपर वह अपने सोनेके कमरेमें चली गयी। पिताने उसी समय आकर उसका द्वार बाहरसे बंद कर दिया।

रघुनाथ इस प्रकार जगा था, जैसे गाढ़ी नींदसे किसीने उसे जगा दिया हो। एक बार उसने चारों ओर देखा। भगवान् उसे जीवन-दान करके अदृश्य हो गये थे; पर उसके हृदयमें वे साकार हो रहे थे। उसे स्मरण आ गया कि वह तो विष खाकर मर चुका था। सर्वसमर्थ भक्तवत्सल हरिको छोड़ भला और कौन उसे जीवन-दान करता? प्रेमकी बाढ़में वह कितना रोया, कितना हँसा, कुछ ठिकाना नहीं। 'राम-कृष्ण-हरि' कहता वह नृत्य करने लगा।

पापीको उसका पाप जितना कष्ट देता है, उतना कष्ट उसे नहीं मिलता, जिसे वह पापी सताता है। रघुनाथदास तो विषके कारण मूर्छित हो गया था। कष्ट तो उसे बहुत कम हुआ था। परंतु गङ्गाधरदास तथा उनकी स्त्री और पुत्रोंको रातभर फाँसीका तख्ता दीखता रहा। उन्हें बराबर यह भय लगा रहा कि कोई अवश्य समाचार देने गया होगा। अवश्य राज्यके सिपाही आते होंगे। पक्षीकी फड़फड़ाहट और पत्तोंके हिलनेकी ध्वनिसे भी वे व्याकुल होकर इधर-उधर देखने लगते थे कि उन्हें पकड़ने तो कोई नहीं आया। रात काटना उन्हें कठिन हो गया। थोड़ा प्रकाश होते ही मुर्देको गाड़ देनेके विचारसे वे रसोई-घरके पास गये। द्वार खोलते ही गङ्गाधरदास ठिठककर

खड़े रह गये। रघुनाथके शरीरसे दिव्य ज्योति निकल रही थी। नेत्रोंसे धारा चल रही थी। होंठ कुछ बोलते-से काँप रहे थे। वे अपने-आपमें नहीं थे। सब-के-सब एक-दूसरेकी ओर देखने लगे। काटो तो खून नहीं।

सहसा रघुनाथ चौंके—'अरे! प्रभु तो नहीं हैं?' वे अपने प्रभुको पुकारते हुए व्याकुल हो उठे। फिर सास-ससुर तथा सालोंको देखकर हड़बड़ाकर उठ खड़े हुए और फिर झूमकर उसी आसनपर बैठ गये। गङ्गाधरदासने उनकी यह दशा देखी तो समझ लिया कि यह कोई साधारण आदमी नहीं। उसने उनके चरण पकड़ लिये। रघुनाथदासने कहा—'आपलोगोंका कोई दोष नहीं। सब अपना कर्म-फल भोगते हैं। मैंने पूर्वजन्ममें किसीको विष देकर मार डाला होगा, इसीसे मुझे विष खाना पड़ा। विष खानेपर भी मेरे स्वामी जगन्नाथजीने अपनी अहैतुकी दयासे ही मुझे फिर जीवित किया है। आपलोगोंको यदि धर्मका कुछ विचार हो तो मेरी स्त्री मुझे दे दीजिये। मैं उसे अपने साथ ले जाऊँगा। न देना चाहें तो जो इच्छा हो करें; पर अब मैं जाऊँगा।'

रघुनाथदासको गङ्गाधरने एक दिन रुकनेको कहा, पर ये उनके घरमें नहीं रुके। उनके घरसे बाहर पेड़की छायामें वे बैठ गये। गङ्गाधरदासने अपनी पुत्रीसे उसकी इच्छा पूछी। उस पतिव्रताने दृढ़तासे कहा—'पिताजी! मेरा अपराध क्षमा करें। मेरे पतिदेव राहके भिखारी सही, पर मेरे तो वे ही देवता हैं। एकमात्र वे ही मेरी गति हैं। मैं उनके साथ जाऊँगी। आपलोग मुझे पर-पुरुषके हाथ देना चाहते हैं। पिता होकर भी आप अपनी कन्याको व्यभिचारिणी बनाना चाहते हैं! धिक्कार है आपको। आप मुझे छोकरी मत समझें। प्राण रहते मुझे कोई दूसरा छू नहीं सकता। मेरे साथ जबरदस्ती की गयी तो मैं आत्महत्या कर लूँगी और एक सतीके शापसे आपका यह सारा वैभव भस्म हो जायगा।' रोते-रोते वह फिर पिताके पैरोंपर गिर पड़ी और अपने पतिके साथ भेज देनेकी प्रार्थना करने लगी।

गङ्गाधरदास रघुनाथका प्रभाव तथा पुत्रीकी दृढ़ता देखकर डर गये। उन्होंने बहुत-से धन-रत्नके साथ कन्या रघुनाथके पास उपस्थित कर दी। रघुनाथजी अपनी पत्नीके साथ 'जय जगन्नाथ' कहकर पुरीकी ओर चल पड़े। गङ्गाधरदासको भिखारीके हाथ पुत्री सौंपनेका कष्ट अब भी व्याकुल किये था। उन्होंने मन्त्री-पुत्रके पास सन्देश भेजा—'अन्नपूर्णाको एक कंगाल लिये जा रहा है। तुममें साहस हो तो उसे मारकर अन्नपूर्णाको ले आओ।'

समाचार पाकर मन्त्री-पुत्रने कई हजार घुड़सवार सैनिक रघुनाथकी खोजमें भेज दिये। रघुनाथ तो भगवान्‌का नामकीर्तन करते चले जा रहे थे। पीछेसे घोड़ोंकी टापोंका शब्द और सैनिकोंकी ललकार सुनकर अन्नपूर्णा डर गयी। रघुनाथदासने कहा—'तुम डरती क्यों हो? मेरे स्वामीका नाम जगन्नाथ है, यह तुम जानती हो न? जो विषसे मरे हुएको जीवित कर देते हैं, उन दयाधामकी लीला देखती चलो।'

उसी समय दो परम तेजस्वी राजपूत घुड़सवार वहाँ आये और पूछने लगे—'तुमलोग कौन हो? कहाँ जा रहे हो? तुम्हारे पीछे यह सेना क्यों पड़ी है?'

रघुनाथदासने सब बातें बताकर कहा—'मैं तो श्रीजगन्नाथका तुच्छ दास हूँ, उनकी कृपाकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ।' दूसरा कोई मेरा रक्षक नहीं।

उन तेजस्वी राजपूतोंने कहा—'हम तुम्हारे साथ चलते हैं। तुम निर्भय चलो। देखते हैं कि कौन तुमपर आक्रमण करता है।'

रघुनाथको समझना नहीं था कि इस प्रकार अकारण असहायकी सहायता करने दौड़ पड़नेवाले कौन हो सकते हैं। मन्त्री-पुत्रने देखा कि दो राजपूत तो क्षणभरमें लाखों हो गये हैं। मन्त्री-पुत्र तथा उसके सैनिक जिधर सींग समाये, भाग खड़े हुए। राज्यकी सीमा पार हो जानेपर दोनों राजपूत रघुनाथसे निर्भय जानेको कहकर चले गये।

कुछ दिनोंमें दम्पति पुरी पहुँचे। पिताके दिये धनसे अन्नपूर्णाने एक घर ले लिया मन्दिरकी दक्षिण ओर। श्रीकृष्ण-कथा कहना-सुनना, नामकीर्तन और श्रीजगन्नाथजीका दर्शन करते हुए उनके दिव्यप्रेममें निमग्न रहना—यही उनका जीवन बन गया।

भक्त नारायणदास

ते निरभय तिहुँ काल, घर में बन गिरि गहन में।
छाँड़ि कपट जंजाल, गही सरन जिन राम की॥

बंगालके सुप्रसिद्ध राजा कीर्तिचन्द्रके राज्यमें गङ्गाजीके तटपर नारायणदासजीका घर था। वे बड़े ही शुद्धचित्त तथा सरल स्वभावके मनुष्य थे। वे धनवान् थे और विद्वान् थे; पर उनकी सादगी और सरलता ऐसी थी कि उन्हें कोई वैभवसम्पन्न समझ ही नहीं सकता था। धनमें उनकी आसक्ति थी भी नहीं। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराममें ही उनका चित्त सदा लगा रहता था।

नारायणदासजीकी पत्नी मालती भी भक्तिमती, सुशीला एवं पतिव्रता थीं। यद्यपि पत्नीके मनमें कोई सन्तान न होनेका दु:ख था; फिर भी नारायणदासजीको इस अभावकी तनिक भी परवा नहीं थी। अवस्था ढल जानेपर संसार त्यागकर श्रीअयोध्याजीमें रहते हुए जीवनके शेष दिन भगवान्‌के भजनमें बिता देनेका उन्होंने निश्चय किया। पत्नीका साथ चलनेका दृढ़ आग्रह देखकर उसे भी उन्होंने साथ ले लिया। चार बैलोंपर आवश्यक सामान लादकर घरसे वे चल पड़े। साथमें कोई भी सेवक ले चलना उन्हें पसंद नहीं आया, यद्यपि कई नौकर साथ चलनेको उत्सुक थे।

पति-पत्नी श्रीरामनामका कीर्तन करते चलते थे। मार्गमें धर्मशालाओंमें या किसी ग्राममें निवास करते थे। इस प्रकार वे चित्रकूट पहुँच गये। चित्रकूटकी उस पुण्य-भूमिको देखकर नारायणदासका हृदय प्रेम-विह्वल हो गया। वे वहाँ कुछ दिनके लिये ठहर गये। सत्सङ्ग, साधु-सेवा, भजन-कीर्तन, दान-पुण्य करते हुए कुछ दिन चित्रकूट रहनेके पश्चात् वे अयोध्याकी ओर चले।

'श्रीराम श्रीमिथिलेशनन्दिनी तथा कुमार लक्ष्मणजीके साथ वनके बीहड़ मार्गसे ही अयोध्यासे चित्रकूट आये थे। हमें भी वनके कष्टोंका अनुभव करते हुए उसी मार्गसे अयोध्या जाना चाहिये।' यह सोचकर नारायणदासने सीधा मार्ग छोड़ दिया और वे वन-पर्वतोंके दुर्गम मार्गसे चलने लगे। कौन-सा मार्ग सीधा अयोध्या जाता है और कौन-सा नहीं, यह वे नहीं जानते थे। जाननेका साधन भी नहीं था। भगवान्‌का नाम-कीर्तन करते कंकड़-पत्थर और काँटोंसे भरी ऊबड़-खाबड़ पगडंडीसे भयङ्कर पशुओंसे पूर्ण जंगलके बीचसे वे चले जा रहे थे। वृक्षोंके नीचे किसी झरनेके किनारे विश्राम करते और बैल वहीं घास चर लेते, इस प्रकार यात्रा चल रही थी।

एक बार वे लुटेरे भीलोंके गाँवके पास जा पहुँचे। भीलोंने समझ लिया कि इनके पास धन है। उन्होंने इनके पास आकर पूछा—'तुमलोग इस बीहड़ वनमें कैसे आ गये?' नारायणदासने सरलतापूर्वक बता दिया कि 'मैं अयोध्या जा रहा हूँ।' भीलोंने कहा—'तुमलोग तो मार्ग भूलकर इस वनमें आ गये। चलो, अच्छा हुआ कि हमलोगोंसे भेंट हो गयी। हमलोग भी अयोध्या ही जा रहे हैं।'

नारायणदासने समझा कि हमें ये मार्गदर्शक मिल गये। वे उन दुष्टोंपर विश्वास करके निश्चिन्त हो गये। वे लोग इनको बातोंमें भुलाकर दुर्गम वनमें ले गये। घोर वनमें पहुँचकर भीलोंने नारायणदासको पकड़ लिया और इतना पीटा कि वे मूर्छित हो गये। उनके हाथ-पैर बाँधकर एक खाईमें फेंक दिया और ऊपरसे पत्थर पटक दिये। उनको मरा समझकर वे दुष्ट उनकी स्त्रीके पास आये।

मालती अपने पूज्य पतिकी दुर्दशा देखकर मूर्छित हो गयी थी। वह पृथ्वीपर पड़ी थी। वे नरराक्षस उसे घसीटने लगे और गालियाँ देने लगे। थोड़ी देरमें मालतीको होश आया। उसने देखा कि इन दुष्टोंकी नीयत बहुत बुरी है। भय और क्रोधसे वह काँपने लगी। कोई और उपाय न देखकर उस पतिव्रताने नेत्र बंद करके अशरणशरण प्रभुको पुकारना प्रारम्भ किया—'प्रभो! आप शरणागत-रक्षक नहीं हैं क्या? मैंने तो सुना है कि सेवकोंकी रक्षाके लिये ही आप धनुष-बाण धारण करते हैं। क्या सचमुच आप शरणमें आये अनाथोंको शरण देते

हैं? हमारे तो आप ही स्वामी हैं, आप ही रक्षक हैं। हमारी रक्षा क्यों नहीं करते, दयामय?'

मालती नेत्र बंद किये कातर कण्ठसे प्रार्थना कर रही थी। भीलोंको लगा कि कहींसे घोड़ेकी टापोंका शब्द आ रहा है। वे कुछ सोच सकें, इससे पहले ही सफेद घोड़ेपर सवार एक नौजावन आता दिखायी पड़ा। मस्तकपर सोनेका मुकुट, कानोंमें रत्नकुण्डल, सर्वाङ्ग आभरणभूषित, कमरमें तलवार, हाथमें विशाल धनुष, पीठपर तरकस कसा हुआ। उस श्यामवर्ण कमललोचन युवकको देखकर डाकू डर गये। उन्हें वह यमराजसे भी भयङ्कर दीख पड़ा। प्राण लेकर वे चारों ओर भागे। किसीका भागते समय गिरकर सिर फूटा, किसीका पैर टूटा, किसीके दाँत टूटे। सबको चोट लगी। सब भाग गये वहाँसे।

उस युवकने पास आकर घोड़ेसे उतरकर कहा—'माता! तुम कौन हो? इस वनमें अकेली कैसे आयीं? तुम्हारे साथ क्या कोई पुरुष नहीं है? ये कौन तुम्हें घेरे हुए थे?'

प्राणोंमें अमृत घोलते हुए ये शब्द कानमें पड़े। मालतीने नेत्र खोलकर देखा और एकटक उस रूपराशिको देखती रह गयी। युवकके फिर पूछनेपर उसने किसी प्रकार बड़े कष्टसे अपनी कहानी सुनाकर प्रार्थना करते हुए कहा—'मैं नहीं जानती कि तुम कौन हो। कोई भी हो, मेरी दुर्दशा देखकर ही दयामय रघुवीरने तुम्हें भेजा है। मैं नहीं जानती कि मेरे पतिदेवको ये दुष्ट कहाँ फेंक आये। वे जीवित नहीं होंगे। तुम मुझ दीना अबलापर दया करो। मेरे धर्मके भाई बनो। एक चिता बना दो। मैं उसमें जलकर अपने अन्तरकी ज्वालाको शान्त करूँगी।'

युवकने कहा—'देवि! आप चिन्ता न करें। आपके पति जीवित हैं। मैंने आते समय यह शब्द सुना है—'हाय मालती! हमलोग अयोध्या जाकर श्रीरामके दर्शन न कर सके।' अवश्य ये शब्द तुम्हारे पतिके ही होंगे। तुम मेरे साथ चलो। वह स्थान यहाँसे दूर नहीं है।'

मालतीमें अब एक पद चलनेकी भी शक्ति नहीं थी। भवभयहारी भगवान्ने अपना अभय हस्त बढ़ाया और 'माता' कहकर मालतीको आश्वासन दिया। वह उन सर्वेश्वरका हाथ पकड़कर चलने लगी।

डाकुओंने नारायणदासको खाईमें पटक दिया था। उनके हाथ-पैर-लताओंसे बँधे थे। उनका अङ्ग-अङ्ग मार पड़नेसे कुचल गया था। बड़े-बड़े कई पत्थर उनकी छातीपर ऊपरसे गिरे थे। उन्होंने मन-ही-मन कहा—'मेरे प्रभु! तुम्हारे प्रत्येक विधानमें ही जीवका मङ्गल है। मुझे तुम्हारी प्रत्येक व्यवस्थामें आनन्द है। मैं तो एकमात्र तुम्हारी शरण हूँ।' इतना सोचते-सोचते वे मूर्छित हो गये थे। मालतीने वहाँ आकर पतिकी यह दशा देखी तो धड़ामसे भूमिपर गिर पड़ी। भगवान्ने उसे आश्वासन दिया। प्रभुने खाईमें उतरकर नारायणदासकी छातीपरसे शिलाएँ हटा दीं, उनके सारे बन्धन काट डाले और उन्हें ऊपर उठा लाये। श्रीराघवेन्द्रके हाथोंका अमृतस्त्रावी स्पर्श पाकर नारायणदासके शरीरमें चेतना लौट आयी। उनके शरीर, मन, प्राण—सबकी व्यथा तत्काल दूर हो गयी।

नारायणदासने नेत्र खोलनेपर अपने सामने उन धनुषधारीको देखा। कई क्षण वे अपलक देखते रहे। हृदयने कहा—'इस भीषण विपत्तिसे परित्राण भला, श्रीजानकीनाथको छोड़कर और कौन दे सकता है। ये पीताम्बरधारी, कौस्तुभमणि गलेमें पहननेवाले मेरे श्रीरघुनाथ ही तो हैं।' बस, वे प्रभुके चरणोंमें लोट गये। उनके नेत्रोंकी धाराने प्रभुके पादपद्म धो दिये।

भगवान् अपने ऐसे भक्तोंसे क्या छिपे रह सकते हैं? प्रभुने अपने ज्योतिर्मय चिन्मय स्वरूपका दर्शन देकर दम्पतिको कृतार्थ किया, उन्हें भक्तिका वरदान दिया।

भगवान्की आज्ञासे नारायणदास पत्नीके साथ वहाँसे चलकर कुछ दिनोंमें अयोध्या पहुँच गये। श्रीसरयूजीके तटपर उन्होंने अपनी पर्णकुटी बना ली। वहीं साधु-सेवा और भगवान्का भजन करते हुए उन्होंने शेष जीवन व्यतीत किया।

दृढ़निश्चयी ब्राह्मणभक्त

कृष्णनगरके पास एक गाँवमें एक ब्राह्मण रहते थे। वे पुरोहितीका काम करते थे। एक दिन यजमानके यहाँ पूजा कराकर घर लौटते समय उन्होंने रास्तेमें देखा कि एक मालिन (सागवाली) एक ओर बैठी साग बेच रही है। भीड़ लगी है। कोई साग तुलवा रहा है तो कोई मोल कर रहा है। पण्डितजी रोज उसी रास्ते जाते और सागवालीको भी वहीं देखते। एक दिन किसी जान-पहचानके आदमीको साग खरीदते देखकर वे भी वहीं खड़े हो गये। उन्होंने देखा—सागवालीके पास एक पत्थरका बाट है। उसीसे वह पाँच सेरवालेको पाँच सेर और एक सेरवालेको एक सेर साग तौल रही है। एक ही बाट सब तौलोंमें समान काम देता है! पण्डितजीको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने सागवालीसे पूछा—'तुम इस एक ही पत्थरके बाटसे कैसे सबको तौल देती हो? क्या सबका वजन ठीक उतरता है?' पण्डितजीके परिचित व्यक्तिने कहा—'हाँ, पण्डितजी! यह बड़े अचरजकी बात है। हमलोगोंने कई बार इससे लिये हुए सागको दूसरी जगह तौलकर आजमाया, पूरा वजन उतरा।' पण्डितजीने कुछ रुककर सागवालीसे कहा—'बेटी! यह पत्थर मुझे दोगी?' सागवाली बोली—'नहीं बाबाजी! तुम्हें नहीं दूँगी। मैंने बड़ी कठिनतासे इसको पाया है। मेरे सेर-बटखरे खो जाते तो घर जानेपर माँ और बड़े भाई मुझे मारते। तीन वर्षकी बात है, मेरे बटखरे खो गये। मैं घर गयी तो बड़े भाईने मुझे मारा। मैं रोती-रोती घाटपर आकर बैठ गयी और मन-ही-मन भगवान्‌को पुकारने लगी। इतनेमें ही मेरे पैरके पास यह पत्थर लगा। मैंने इसको उठाकर ठाकुरजीसे कहा—'महाराज! मैं तौलना नहीं जानती; आप ऐसी कृपा करें जिससे इसीसे सारे तौल हो जायँ।' बस, तबसे मैं इसे रखती हूँ। अब मुझे अलग-अलग बटखरोंकी जरूरत नहीं होती। इसीसे सब काम निकल जाता है। बताओ, तुम्हें कैसे दे दूँ।' पण्डितजी बोले—'मैं तुम्हें बहुत-से रुपये दूँगा।' सागवालीने कहा—'कितने रुपये दोगे तुम? मुझे वृन्दावनका खर्च दे दोगे? सब लोग वृन्दावन गये हैं; मैं ही नहीं जा सकी हूँ।' ब्राह्मणने पूछा, 'कितने रुपयेमें तुम्हारा काम होगा?' सागवालीने कहा—'पूरे ३००) रुपये चाहिये।' ब्राह्मण बोले—'अच्छा, बेटी! यह तो बताओ, तुम इस शिलाको रखती कहाँ हो?' सागवालीने कहा—'इसी टोकरीमें रखती हूँ; बाबाजी! और कहाँ रखूँगी?'

ब्राह्मण घर लौट आये और चुपचाप बैठे रहे। ब्राह्मणीने पतिसे पूछा—'यों उदास-से क्यों बैठे हैं? देर जो हो गयी है।' ब्राह्मणने कहा—'आज मेरा मन खराब हो रहा है, मुझे तीन सौ रुपयेकी जरूरत है।' स्त्रीने कहा—'इसमें कौन-सी बात है। आपने ही तो मेरे गहने बनवाये थे। विशेष जरूरत हो तो लीजिये, इन्हें ले जाइये; होना होगा तो फिर हो जायगा।' इतना कहकर ब्राह्मणीने गहने उतार दिये।

ब्राह्मणने गहने बेचकर रुपये इकट्ठे किये और दूसरे दिन सबेरे सागवालीके पास जाकर उसे रुपये गिन दिये और बदलेमें उस शिलाको ले लिया। गङ्गाजीपर जाकर उसको अच्छी तरह धोया और फिर नहा-धोकर वे घर लौट आये। इधर पीछेसे एक छोटा-सा सुकुमार बालक आकर ब्राह्मणीसे कह गया—'पण्डिताइनजी! तुम्हारे घर ठाकुरजी आ रहे हैं, घरको अच्छी तरह झाड़-बुहारकर ठीक करो।' सरलहृदया ब्राह्मणीने घर साफ करके उसमें पूजाकी सामग्री सजा दी। ब्राह्मणने आकर देखा तो उन्हें अचरज हुआ। ब्राह्मणीसे पूछनेपर उसने छोटे बालकके आकर कह जानेकी बात सुनायी। यह सुनकर पण्डितजीको और भी आश्चर्य हुआ। पण्डिंतजीने शिलाको सिंहासनपर पधराकर उसकी पूजा की। फिर उसे ऊपर आलेमें पधरा दिया।

रातको सपनेमें भगवान्‌ने कहा—'तू मुझे जल्दी लौटा आ; नहीं तो तेरा भला नहीं होगा, सर्वनाश हो जायगा।' ब्राह्मणने कहा—'जो कुछ भी हो, मैं तुमको लौटाऊँगा नहीं।' ब्राह्मण घरमें जो कुछ भी पत्र-पुष्प मिलता उसीसे पूजा करने लगे। दो-चार दिनों बाद स्वप्नमें फिर कहा—'मुझे फेंक आ; नहीं तो तेरा लड़का मर जायगा।' ब्राह्मणने कहा—'मर जाने दो, तुम्हें नहीं

फेंकूँगा।' महीना पूरा बीतने भी नहीं पाया था कि ब्राह्मणका एकमात्र पुत्र मर गया। कुछ दिनों बाद फिर स्वप्न हुआ—'अब भी मुझे वापस दे आ, नहीं तो तेरी लड़की मर जायगी।' दृढ़निश्चयी ब्राह्मणने पहलेवाला ही जवाब दिया। कुछ दिनों पश्चात् लड़की मर गयी। फिर कहा कि 'अबकी बार स्त्री मर जायगी।' ब्राह्मणने इसका भी वही उत्तर दिया। अब स्त्री भी मर गयी। इतनेपर भी ब्राह्मण अचल-अटल रहा। लोगोंने समझा, यह पागल हो गया है। कुछ दिन बीतनेपर स्वप्नमें फिर कहा गया—'देख, अब भी मान जा; मुझे लौटा दे। नहीं तो सात दिनोंमें तेरे सिरपर बिजली गिरेगी।' ब्राह्मण बोले—'गिरने दो, मैं तुम्हें उस सागवालीकी गंदी टोकरीमें नहीं रखनेका।' ब्राह्मणने एक मोटे कपड़ेमें लपेटकर भगवान्‌को अपने माथेपर मजबूत बाँध लिया। वे सब समय यों ही उन्हें बाँधे रखते। कड़कड़ाकर बिजली कौंधती—नजदीक आती, पर लौट जाती। अब तीन ही दिन शेष रह गये। एक दिन ब्राह्मण गङ्गाजीके घाटपर सन्ध्या-पूजा कर रहे थे कि दो सुन्दर बालक उनके पास आकर जलमें कूदे। उनमें एक साँवला था, दूसरा गोरा। उनके शरीरपर कीचड़ लिपटा था। वे इस ढंगसे जलमें कूदे कि जल उछलकर ब्राह्मणके शरीरपर पड़ा। ब्राह्मणने कहा—'तुमलोग कौन हो, भैया? कहीं इस तरह जलमें कूदा जाता है? देखो, मेरे शरीरपर जल पड़ गया; इतना ही नहीं, मेरे भगवान्‌पर भी छींटे पड़ गये। देखते नहीं, मैं पूजा कर रहा था।' बच्चोंने कहा—'ओहो! तुम्हारे भगवान्‌पर भी छींटे लग गये? हमने देखा नहीं, बाबा! तुम गुस्सा न होना!' पण्डितजीने कहा—'नहीं, भैया! गुस्सा कहाँ होता हूँ। बताओ तो तुम किसके लड़के हो? ऐसा सुन्दर रूप तो मैंने कभी नहीं देखा! कहाँ रहते हो, भैया! आहा! कैसी अमृतघोली मीठी बोली है!' बच्चोंने कहा—'बाबा! हम तो यहीं रहते हैं।' पण्डितजी बोले—'भैया! क्या फिर भी कभी मैं तुमलोगोंको देख सकूँगा।' बच्चोंने कहा—'क्यों नहीं, बाबा? पुकारते ही हम आ जायँगे।' पण्डितजीके नाम पूछनेपर—'हमारा कोई एक नाम नहीं है; जिसका जो मन होता है, उसी नामसे वह हमें पुकार लेता है।' साँवला लड़का इतना कहकर बोला—'यह लो, मुरली; जरूरत हो तब इसे बजाना। बजाते ही हमलोग आ जायँगे।' दूसरे गोरे लड़केने एक फूल देकर पण्डितजीसे कहा—'बाबा! इस फूलको अपने पास रखना, तुम्हारा मङ्गल होगा।' वे जबतक वहाँसे चले नहीं गये, ब्राह्मण निर्निमेषदृष्टिसे उनकी ओर आँखें लगाये रहे। मन-ही-मन सोचने लगे—'आहा! कितने सुन्दर हैं दोनों! कभी फिर भी इनके दर्शन होंगे?'

ब्राह्मणने फूल देखकर सोचा—'फूल तो बहुत बढ़िया है, कैसी मनोहर गन्ध आ रही है इसमें! पर मैं इसका क्या करूँगा और रखूँगा भी कहाँ? इससे अच्छा है, राजाको ही दे आऊँ। नयी चीज है, वह राजी होगा।' यह सोचकर पण्डितजीने जाकर फूल राजाको दे दिया। राजा बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उसे महलमें ले जाकर बड़ी रानीको दिया। इतनेमें ही छोटी रानीने आकर कहा—'मुझे भी एक ऐसा ही फूल मँगवा दो; नहीं तो मैं डूब मरूँगी।'

राजा दरबारमें आये और सिपाहियोंको उसी समय पण्डितजीको खोजने भेजा। सिपाहियोंने ढूँढ़ते-ढूँढ़ते जाकर देखा—ब्राह्मणदेवता सिरपर सिला बाँधे पेड़की छायामें बैठे गुनगुना रहे हैं। वे उनको राजाके पास लिवा लाये। राजाने कहा—'महाराज! वैसा ही एक फूल और चाहिये।' पण्डितजी बोले—'राजन्! मेरे पास तो वह एक ही फूल था; पर देखिये, चेष्टा करता हूँ।' ब्राह्मण उन लड़कोंकी खोजमें निकल पड़े। अकस्मात् उन्हें मुरलीवाली बात याद आ गयी। उन्होंने मुरली बजायी। उसी क्षण गौर-श्याम जोड़ी प्रकट हो गयी। ब्राह्मण रूपमाधुरीके पानमें मतवाले हो गये। कुछ देर बाद उन्होंने कहा—'भैया! वैसा एक फूल और चाहिये। मैंने तुम्हारा दिया हुआ फूल राजाको दिया था। राजाने वैसा ही एक फूल और माँगा है।' गोरे बालकने कहा—'फूल तो हमारे पास नहीं है; परंतु हम तुम्हें एक ऐसी जगह ले जायँगे, जहाँ वैसे फूलोंका बगीचा खिला है। तुम आँखें बंद करो।' ब्राह्मणने आँखें मूँद लीं। बच्चे उनका हाथ पकड़कर न मालूम किस रास्तेसे बात-की-बातमें कहाँ ले गये। एक जगह पहुँचकर ब्राह्मणने आँखें

खोलीं। देखकर मुग्ध हो गये। बड़ा सुन्दर स्थान है, चारों ओर सुन्दर-सुन्दर वृक्ष-लता आदि पुष्पोंकी मधुर गन्धसे सुशोभित हैं। बगीचेके बीचमें एक बड़ा मनोहर महल है। ब्राह्मणने देखा तो वे बालक गायब थे। वे साहस करके आगे बढ़े। महलके अंदर जाकर देखते हैं, सब ओरसे सुसज्जित बड़ा सुरम्य स्थान है। बीचमें एक दिव्य रत्नोंका सिंहासन है। सिंहासन खाली है। पण्डितजीने उस स्थानको मन्दिर समझकर प्रणाम किया। उनके माँथेमें बँधी हुई ठाकुरजीकी शिला खुलकर फर्शपर पड़ गयी। ज्यों ही पण्डितीने उसे उठानेको हाथ बढ़ाया कि शिला फटी और उसमेंसे भगवान् लक्ष्मीनारायण प्रकट होकर शून्य सिंहासनपर विराजमान हो गये!

भगवान् नारायणने मुसकराते हुए ब्राह्मणसे कहा—''हमने तुमको कितने दु:ख दिये, परंतु तुम अटल रहे। दु:ख पानेपर भी तुमने हमें छोड़ा नहीं, पकड़े ही रहे; इसीसे तुम्हें हम सशरीर यहाँ ले आये हैं।

ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥

''जो भक्त स्त्री, पुत्र, घर, गुरुजन, प्राण, धन, इहलोक और परलोक—सबको छोड़कर हमारी शरणमें आ गये हैं, भला, उन्हें हम कैसे छोड़ सकते हैं।' इधर देखो—यह खड़ी है तुम्हारी सहधर्मिणी, तुम्हारी कन्या और तुम्हारा पुत्र। ये भी मुझे प्रणाम कर रहे हैं। तुम सबको मेरी प्राप्ति हो गयी। तुम्हारी एकको दृढ़तासे सारा परिवार मुक्त हो गया!''

भक्त नवीनचन्द्र

वङ्गदेशान्तर्गत जगदीशपुरके पास बलाई गाँवमें एक ब्राह्मण रहते थे। ब्राह्मण बड़े सदाचारी, भगवद्भक्त और सन्तोषी थे। उनका नाम था—शरद ठाकुर। ब्राह्मणी भी बड़ी सुशीला और सती थी। यजमानी बहुत थी। बहुत बड़े-बड़े आदमी उनके शिष्य थे। उस समय जैसे ब्राह्मण पुरोहित सदाचारी और विद्वान् होते थे, वैसे ही उनके शिष्य यजमान भी श्रद्धालु और उदार होते थे। शरद ठाकुरको यजमानोंके यहाँसे बिना ही माँगे काफी धन मिलता था। खर्च था बहुत कम, इससे उत्तरोत्तर उनका वैभव बढ़ता ही जाता था। शरद ठाकुरके एकमात्र पुत्र था नवीनचन्द्र। नवीनचन्द्र सरलहृदय था, परंतु माता-पिताका इकलौता पुत्र होनेसे उसपर कोई शासन नहीं था। घरमें धनकी प्रचुरता थी ही। विष्ठापर भिनभिनानेवाली मक्खियोंके समान नवीनके विलास-वैभवको देखकर उससे लाभ उठानेके लिये अवारे दुराचारी लड़कोंका दल उसके आसपास आ जुटा। सङ्गका रंग चढ़ता ही है। नवीनपर भी कुसङ्गका असर पड़े बिना न रहा। नवीनचन्द्र भी इसीके अनुसार अनर्थकी राहपर जा चढ़ा। शरद ठाकुर चिन्तामें पड़ गये। उन्होंने पत्नीसे सारा हाल कहा। वह बेचारी भी सोच करने लगी। पर कोई उपाय नहीं सूझ पड़ा। दोनों कातर होकर भगवान्‌को पुकारने लगे। भगवान् भक्तवत्सल हैं, उन्होंने भक्त शरद ठाकुरकी पुकार सुन ली। कुछ ही दिनों बाद घूमते-फिरते शिवेन्द्र स्वामीनामक एक महात्मा बलाई गाँवमें पधारे और चातुर्मास्यका व्रत लेकर वहीं नदीके तटपर एक पेड़के नीचे ठहर गये।

महात्मा पहुँचे हुए थे। गाँवके नर-नारी दर्शनके लिये आने लगे। वे दिनभर मौन रहकर ध्यान करते। केवल एक घंटा मौन खोलते। महात्माजीकी ख्याति दूर-दूरतक फैल गयी। आसपासके गाँवोंसे भी दर्शनार्थी आने लगे। शरद ठाकुर भी जाते। एक दिन शरद महात्माजीको नवीनका हाल सुनाकर रोने लगे। महात्माजीने कहा—'घबराओ नहीं। उसके संस्कार बड़े अच्छे हैं, वह बड़ा भक्त होगा। एक बार उसे मेरे पास ले आओ।' शरदको बड़ा आश्वासन मिला।

नवीनको समझा-बुझाकर शरद ठाकुर उसे महात्माजीके पास लाये। महात्माजीने उसके मस्तक और पीठपर हाथ फेरकर कहा—'बेटा! मेरी बात मानोगे न?' नवीनने मन्त्रमुग्धकी तरह कहा—'हाँ भगवन्! अवश्य मानूँगा।'

'तो आजसे यहाँ रोज आया करो।'

'आऊँगा, भगवन्!'

'यहीं रहना होगा।'

'रहूँगा—भगवन्!'

'पर मेरे पास रहनेवालेको मेरी शर्तें पूरी करनी पड़ती हैं।'

'करूँगा, भगवन्! बतलाइये, क्या शर्तें है?'

'शराब कभी न पीना, झूठ न बोलना, सूर्योदयसे पहले उठना, सन्ध्या करना, अग्निहोत्र करना, मा कात्यायनीकी पूजा करना, उनके '**ह्लीं श्रीं कात्यायन्यै स्वाहा**' मन्त्रका नित्य विधिपूर्वक जप करना और हविष्यान्न खाना—बस, यही आठ शर्तें हैं।' 'जो आज्ञा, मैं पूजा और अग्निहोत्रका सामान ले आऊँ?' 'सामान सब मैं मँगवा दूँगा!' महात्माजीने नवीनसे यों कहकर शरद ठाकुरको सामान लानेके लिये संकेत किया। उसी समय सारा सामान आ गया। नवीन वहीं रहने लगा। उसी क्षणसे उसका कायापलट हो गया। भगवती कात्यायनीका पूजन-जप, नियमित संयमपूर्ण जीवन और महापुरुषका सत्सङ्ग। भगवान्‌की बड़ी कृपासे नवीनचन्द्रको सारी सामग्री सहज ही मिल गयी। कुछ ही दिनोंमें उसका चेहरा शुक्लपक्षके नवीन चन्द्रकी भाँति चमकने लगा।

एक दिन नवीनने कहा—'भगवन्! आपने इतनी दया की है तो एक और कीजिये। मुझे संन्यासकी दीक्षा देकर कृतार्थ कीजिये।' महात्माजी बोले—'बेटा! जगदम्बाकी जब जो इच्छा होगी, वही होगा। वे चाहेंगी तो तुम्हें सम्यक् प्रकारसे भोगोंका त्यागी बनाकर अपनी सेवकश्रेणीमें ले लेंगी। तुम तो बस, बेटा! उन्हींके हो रहो। देखो—तुम्हें पता नहीं है। यहाँके सत्सङ्गसे तुम्हारे दोष, तुम्हारी भोगवासनाएँ दब गयी हैं, क्षीण भी हुई हैं; परंतु अभी उनका पूरा नाश नहीं हुआ है। जगदम्बाकी कृपासे जब सच्चे वैराग्यकी आग जलेगी, तब अपने-आप ही सारी भोगवासनाका कूड़ा जल जायगा। बेटा! एक म्यानमें दो तलवार नहीं रह सकतीं। इसी प्रकार भोगवासनाके रहते वैराग्य नहीं हो पाता और जबतक वैराग्य नहीं होता, तबतक त्यागके स्वाँगका क्या मूल्य है? भोगोंसे उत्पन्न दु:खोंसे घबराकर कभी-कभी जो विरक्ति होती है, वह असली वैराग्य नहीं है। न आवेशमें आकर घर छोड़नेका नाम ही सच्चा वैराग्य है। धन-सम्पत्ति, स्त्री-पुत्र, मान-बड़ाई आदि भोगोंकी वासना मनमें छिपी रहती है और समय-समयपर बहुत बड़े-बड़े प्रलोभन सामने रखकर साधकको डिगानेकी चेष्टा करती है। यह तो सत्य है ही—भोग हर हालतमें दु:ख ही उपजाते हैं। परंतु माँ जगदम्बाकी कृपा बिना भोगवासनासे छुटकारा मिलना बहुत ही कठिन है। तुम माँको प्रसन्न करो। माँ प्रसन्न होकर जब जो आज्ञा दें, वही करो। माँ तो प्रसन्न ही हैं। पुत्र कितना ही कुपूत हो, माँका स्नेहभरा हृदय कभी नहीं सूखता। माँकी गोद तो सन्तानके लिये सदा ही खाली है। बस, जब तुम माँकी—एकमात्र माँकी गोदमें बैठना चाहोगे, तभी माँ प्रत्यक्ष होकर तुम्हारे सामने आकर तुम्हें अपनी गोदमें उठा लेंगी। हृदयसे चिपटा लेंगी। बेटा! धैर्य रखो, माँकी महिमा जानकर माँ-माँ पुकारते रहो। तुम्हारा कल्याण होगा। माँके और बच्चेके बीचमें तीसरेकी जरूरत नहीं है; वे तुम्हारी माँ, तुम उनके बच्चे!'

महात्माजीके वचन सुनकर नवीनका हृदय भर आया, उसके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह निकली। वह अनन्यभावसे जगदम्बाकी सेवा करने लगा। शरद ठाकुर और उनकी पत्नी दोनों ही पुत्रके परिवर्तनपर बड़े प्रसन्न थे।

भजन करते-करते नवीनका अन्त:करण पवित्र हो गया। वे भजनकी मूर्ति बन गये। माँका ध्यान करते-करते कभी रोते, कभी हँसते, कभी नाचते और कभी माँ-माँ पुकारकर इधर-उधर दौड़ने लगते। बैठ जाते तो अखण्ड समाधि ही लग जाती।

एक दिन प्रात:काल जगदम्बा कात्यायनी स्वयं प्रकट हो गयीं। नवीनने आँखें खोलकर देखा—बड़ा शुभ्र प्रकाश है। माता मृगराजपर सवार हैं, प्रसन्न मुखमण्डल है, सुन्दर तीन नेत्र हैं, गलेमें सुन्दर हार हैं, भुजाओंमें रत्नोंके बाजूबंद और कड़े हैं। सुन्दर जटापर मनोहर मुकुट है। चरणोंमें नूपुर बज रहे हैं। दिव्य रेशमी वस्त्र धारण किये हुए हैं। मस्तकपर अर्धचन्द्र शोभा पा रहा है। करोड़ों चन्द्रमाओंके समान देहकी सुशीतल समुज्ज्वल प्रभा है। दस हाथ हैं—जिनमें खड्ग, खेटक, वज्र, त्रिशूल, बाण, धनुष, पाश, शङ्ख, घण्टा और पद्म सुशोभित हैं। माँके वात्सल्यपूर्ण नेत्रोंसे मधुर स्नेहामृतकी धारा बह रही है। होठोंपर मीठी मुसकान है। मानो सन्तानको

अभय करके अपनी गोदमें लेकर नित्यानन्द प्रदान करनेके लिये आँचल पसारे खड़ी हैं!

नवीन माताकी मुखमुद्रा देखकर निहाल हो गये। आनन्दके आँसू बहने लगे। शरीर पुलकित हो गया। वाणी रुक गयी। बहुत देर बाद माताकी प्रेरणासे धीरज आनेपर नवीनने माँका स्तवन किया। माताने उठाकर उन्हें हृदयसे लगा लिया और मस्तकपर हाथ फेरकर कहा—'बेटा! तू धन्य हो गया। तेरे गुरुजी आज अदृश्य हो जायँगे। तू पूर्वजन्ममें मेरा भक्त था। गुरुजी तेरे पिता थे। वे मेरी कृपाको प्राप्त कर चुके। तू किसी प्रतिबन्धकवश जगत्में आया था। गुरुजीको मैंने ही भेजा था। अब तू मेरी कृपासे कृतकृत्य हो गया। मेरी आज्ञासे घर जाकर विवाह कर और जीवनमें मेरी सेवा करता हुआ अन्तमें मेरे सच्चिदानन्दधाममें प्रवेश कर जा। तेरी भावी पत्नी भी मेरी सेविका है। तू घरमें रहकर भी जलमें कमलकी भाँति असङ्ग ही रहेगा।' इतना कहकर माता अन्तर्धान हो गयीं।

नवीनने देखा, गुरुजी भी अदृश्य हो गये हैं। नवीन माताके आज्ञानुसार घर चला आया और पिता-माताको सारी कथा कह सुनायी। उनके आनन्दका कोई ठिकाना न था, बड़े उत्साहके साथ तारा नामकी सुशीला कन्यासे नवीनचन्द्रका विवाह हुआ। तारा और नवीन दोनों मातृ-मन्त्रमें दीक्षित होकर जीवनभर माँका भजन करते रहे।

भक्त रामहरि भट्टाचार्य

रामहरि भट्टाचार्य बंगालमें कालनाके निकट हाँसपुकुर ग्राममें रहते थे। यजमानीकी जीविका थी। घरमें साध्वी स्त्री थी और एक पुत्रके सिवा और कोई नहीं था। रामहरिका हृदय भगवत्-विश्वाससे भरा था। उनका सबके साथ प्रेमका सम्बन्ध था। संसारमें उनका कोई शत्रु नहीं था। थोड़ी-सी जमीन और यजमानोंकी स्वेच्छापूर्वक दी हुई भेंटकी आमदनीसे उनका परिवार अच्छी तरह पल जाता था। वे प्रतिवर्ष भादोंमें घरसे निकलते और यजमानोंके यहाँ कई गाँवोंमें घूम-फिरकर जो कुछ मिलता, लेकर आश्विन लगते-लगते ही घर लौट आते। बड़े सन्तोषी और शान्तवृत्तिके ब्राह्मण थे रामहरि महाराज।

वे सदाकी भाँति इस वर्ष भी भादों लगते ही घरसे निकल पड़े। इस साल बरसात देरसे शुरू हुई थी, इसलिये इन दिनों आकाश लगातार काली घटाओंसे घिरा रहता और रोज ही वृष्टि होती। रामहरि महाराजने इन दुर्दिनोंकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया और वे भगवान्का नाम लेकर सदाकी भाँति एक गाँवसे दूसरे गाँवमें जाने-आने लगे।

बर्दवानसे कालनातक पक्की सड़क है। एक दिन सन्ध्यासे कुछ ही पूर्व रामहरि महाराज उसी सड़कपर द्रुतगतिसे बढ़े चले जा रहे थे। गाँव अभी चार कोस था। आँधी-पानीसे भरी भयावनी रातके डरसे बचनेके लिये वे दौड़-से रहे थे। रामहरिजी शरीरका पूरा बल लगाकर तेजीसे चलने लगे। चिन्ता और डरसे उनका शरीर काँप रहा था। रात पड़ गयी, परंतु तूफानके शान्त होनेका नाम नहीं। झड़की गति और भी बढ़ गयी। आँधीके झटकेसे बड़े-बड़े वृक्षोंकी डालियाँ टूट-टूटकर गिर रही थीं और उनपर बैठे हुए पक्षी आर्त्तस्वरसे चिल्ला रहे थे। इससे रात्रि और भी भयङ्कर हो गयी। रामहरि किसी ओर न देखकर विपत्तिहारी भगवान्का नाम स्मरण करते हुए जोरसे बढ़े चले जा रहे थे। रातभर कहीं आश्रय मिल जाय, उनको इस बातकी चिन्ता थी। इसी बीच पास ही बड़े जोरसे कड़ककर बिजली गिरी। रामहरिजी काँप गये। आकाशको चीरती हुई विद्युत्-शिखा उनकी दोनों आँखोंको मानो वेधकर आकाशमें विलीन हो गयी। रामहरिजी एक पेड़के नीचे खड़े हो गये। उनके मुखसे विपद्विदारी भगवान्का नाम अनवरत निकल रहा था।

इतनेमें ही अकस्मात् जंगलमें उन्हें मनुष्यका कण्ठस्वर सुनायी दिया। रास्तेके बगलमें ही बीहड़ जंगल था। अब तो लालटैनकी रोशनी भी दिखायी दी। रामहरिजीने देखा, दो मनुष्य धीरे-धीरे उन्हींकी ओर आ रहे हैं।

मनुष्योंको देखकर उन्हें बड़ी सान्त्वना मिली। उन्होंने बड़े जोरसे चिल्लाकर उनको पुकारा और अपने पास आनेके लिये प्रार्थना की। उनकी पुकार सुनते हुए वे दोनों जल्दी-जल्दी चलकर उनके पास आ पहुँचे। वे साधारण ग्रामीण-से लगते थे, शरीर मजबूत और बलवान् थे। उनके एक हाथमें लालटैन और छाता तथा दूसरेमें लंबी लाठी थी। रामहरिजी उन्हें देखकर मन-ही-मन कुछ डरे। रुपये पास होनेपर डर लगता ही है। चील मांसको देखकर ही पीछे लगती है। इसी प्रकार चोर-डकैत भी रुपयोंके ही पीछे लगा करते हैं। कुछ भी हो, दूसरा कोई उपाय नहीं था। रामहरिजीने कहा—'भाइयो! मैं गोविन्दपुर जाऊँगा; पर दिन बहुत खराब हो गया, इसलिये रात-ही-रात वहाँ पहुँचना कठिन है। आपलोग दया करके मुझे पासके किसी गाँवमें पहुँचा दें तो बड़ी कृपा हो।' रामहरिजीकी बात सुनकर उनमेंसे एकने विनयके साथ कहा—'पण्डितजी, हमारा घर यहाँसे बहुत नजदीक है। आप यदि रातभर हमारे घर विश्राम करें तो आपको कोई कष्ट नहीं होगा। हम भी अपना अहोभाग्य समझेंगे। प्रात:काल आपको जहाँ जाना हो, चले जाइयेगा।' उनके विनीत वचनोंसे रामहरिजीका भय दूर हो गया और वे उनके पीछे-पीछे चलकर एक टूटी इमारतके सामने आकर खड़े हो गये। उनमेंसे एकने जोरसे पुकारा—'अरे धन्ना!' जब द्वार नहीं खुला, तब वे दोनों जोर-जोरसे 'धन्ना! ओ धन्ना!' पुकारने लगे। कुछ देरके बाद दरवाजा खुला और एक भीषण आकृतिका नवयुवक बाहर निकल आया।

युवकको देखकर एकने कहा—'धन्ना! आजकी यात्रा सफल हुई—अतिथि-सत्कारका अवसर मिल गया।' धन्नाने तीक्ष्ण दृष्टिसे रामहरिजीकी ओर देखकर कहा—'तब भोजनकी व्यवस्था करूँ? 'रामहरिजी उनका रंग-ढंग देखकर समझ गये कि जरूर दालमें काला है। उनका हृदय धड़कने लगा और वे मन-ही-मन आर्तभावसे संकटहारी श्यामसुन्दरका स्मरण करने लगे। परंतु बाहरसे इस भावको छिपाकर उन्होंने इतना ही कहा—'मैं आज कुछ भी नहीं खाऊँगा; और वर्षा थम गयी तो रातको ही चला भी जाऊँगा।' धन्नाने उनकी बात सुनकर कुछ नहीं कहा और उन्हें खींचकर अंदर ले गया। वे दोनों मनुष्य भी पीछे-पीछे अंदर चले गये।

रामहरिजीने देखा, चारों ओर जंगल-सा है, बगलमें ही एक घर है। धन्ना रामहरिजीको घरके बीचकी एक कोठरीमें ले गया और उन्हें तख्तेपर विश्राम करनेके लिये कहकर वहाँसे चल दिया। रामहरिजी तख्तेपर बैठे थर-थर काँप रहे थे। 'हाय! किस अशुभ मुहूर्तमें घरसे निकला और जंगलमें इनसे सहायता ही क्यों चाही? आज इन डकैतोंके हाथसे प्राण नहीं बचेंगे।'

बगलकी कोठरीसे बातचीतकी आवाज सुनायी दी। बीचमें एक पतली-सी दीवाल थी, इससे प्राय: सभी बातें उन्हें सुनायी पड़ रही थीं। उन्होंने कण्ठस्वरसे पहचान लिया कि बातचीत करनेवालोंमें दो व्यक्ति वही हैं जो जंगलमें मिले थे और तीसरा धन्ना है। बातचीतके सिलसिलेमें पता लगा कि उन दोनोंके नाम हाराण और तीनकौड़ी हैं तथा धन्ना हाराणका लड़का है। हाराणने कहा—'देखो, तीनकौड़ी! मालूम होता है ब्राह्मण हैं, गलेमें जनेऊ है। फिर ब्रह्महत्याका पाप लगेगा।' तीनकौड़ी बोला—'चलो, तुम भी बड़े डरपोक हो। अरे! गाड़ेमें सूपका क्या भार। अबतक ऐसे कितने ब्राह्मणोंका पाप लगा होगा। एक और सही। इसके पास पैसे तो काफी मालूम होते हैं।' धन्ना बीचमें ही बोल उठा—'तुमलोगोंको कुछ भी चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी। एक ही चोटमें काम तमाम! बस, जरा उसे नींद तो आ जाय।' हाराणने कहा—'चुप रह! इतना चिल्लाता क्यों है? सुन लेगा तो कहीं सरक निकलेगा।' धन्नाने कहा, 'भागेगा कहाँ। इन हाथोंमें पड़कर भाग निकलना बड़ा आसान है न।' बातचीत सुनकर रामहरिजीके तो प्राण सूख गये। मनमें आया, भाग निकलूँ; पर धन्नाके शब्द याद आ गये। सोचा, वह सब ओर देखता होगा। फिर, इस अनजान जंगलमें भागकर भी कहाँ जाऊँगा? वे दुष्ट तुरंत ही ढूँढ़कर मार डालेंगे।

बाहर अब भी मूसलधार वृष्टि हो रही थी। झड़की तेजी तो कुछ घटी थी, परंतु अभी और सब बातें वैसी ही थीं। घरके बीचसे अन्धकारमय आकाशका कुछ भाग दीख पड़ता था। क्षण-क्षणमें बिजली कौंधती थी और

साथ ही दूरसे वज्रपातकी भीषण ध्वनि सुनायी पड़ती थी—'मानो रामहरिजीके लिये मृत्युका समाचार लेकर आ रही हो। पास ही एक कदम्बका वृक्ष था। उसकी पुष्पित शाखाओंसे स्निग्ध सुगन्ध लेकर बीच-बीचमें ठंडे पवनका झोंका आ जाता था। रामहरिजीको अपने श्यामसुन्दरके मन्दिरके बगलका कदम्ब-वृक्ष याद आ गया। अहा! उसमें भी हजारों फूल खिले होंगे और वर्षासिक्त वायु उनकी स्निग्ध गन्धको भी इसी प्रकार सब ओर बिखेर रहा होगा। मेरी धर्मपत्नी बच्चेको हृदयसे लगाकर निद्रामें मेरे लौटनेका स्वप्न देख रही होगी। और मेरे प्राणधन श्यामसुन्दर! मेरी बड़ी साधनाके, महती आकाङ्क्षाके स्वामी श्यामसुन्दर! हाय! आज यदि मैं इस सुनसान जंगलमें डाकुओंके हाथों मारा गया तो मेरे श्यामसुन्दर! फिर तुम्हारी पूजा कौन करेगा? मैं जिन ब्राह्मणोंको पूजाका भार दे आया था, मेरी अनुपस्थितिमें पता नहीं, वे सुचारुरूपसे तुम्हारी पूजा कर रहे हैं या नहीं। हा! श्यामसुन्दर! तुम तो पाषाणकी मूर्तिमात्र नहीं हो, तुम्हारे उस नीलकमल-से साँवरे शरीरमें अनन्त करुणामयी दिव्य चिच्छक्ति नित्य विराजमान है और निरन्तर आर्त प्राणियोंका कल्याण कर रही है। बोलो, बोलो, मेरे श्यामसुन्दर! तुम्हारे इस शरणागत दीन ब्राह्मणका यह नश्वर शरीर इस अज्ञात अरण्यमें क्या सियार-कुत्तोंके खानेके काममें आयेगा?' रामहरिजीके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह चली। वे उन्मत्तकी भाँति 'श्यामसुन्दर! श्यामसुन्दर!' कहकर करुण क्रन्दन करने लगे।

बगलकी कोठरीमें तीनकौड़ी और हाराण बातचीतमें लगे थे। उनकी नजर ब्राह्मणपर लगी थी, पर थकावटके कारण इन्हें बीच-बीचमें जँभाइयाँ आ रही थीं। आखिर उन लोगोंने यही निश्चय किया कि धन्नाके हाथसे यह काम नहीं कराना है। हाराणने कहा, 'तब मैं ही काम निपटाऊँगा। देखूँ, ब्राह्मण सो गया या नहीं। कोई आवाज तो नहीं सुनायी देती।' यह कहकर हाराणने जाकर देखा। रामहरिजी उस समय प्राणभयसे व्याकुल हुए चादर ओढ़े दुबके पड़े थे। मन-ही-मन श्यामसुन्दरकी करुण प्रार्थना चल रही थी। हाराणने देखकर धीरेसे कहा—'तीनकौड़ी! नींद तो आ गयी है, फिर देर क्यों करें।' तीनकौड़ी बोला—'शायद जागता हो, कुछ और ठहर जाओ।'

रामहरिजी तो सुन-सुनकर सूखे जा रहे थे। सोच रहे थे, अब मृत्युसे बचनेका कोई उपाय नहीं है। प्रभु! यह क्या हो गया? अकस्मात् ब्राह्मणमें मानो असीम बल आ गया। कदम्बका वृक्ष घरमें चूल्हेके पास ही था। बरसातके कारण उसमें पत्ते खूब आ गये थे। पेड़ बहुत घना और विशाल था। पत्तोंकी आड़में छिपनेको बहुत जगह थी। रामहरिजी चादर छोड़कर धीरे-धीरे उठे और तुरंत पेड़पर चढ़कर छिप गये।

इधर ताड़ी (शराब) पीते-पीते नशेमें ही हाराणने कहा, 'धन्ना, आज तुझे खाँडा नहीं चलाना पड़ेगा। यह ब्रह्मयज्ञ मैं ही करूँगा। मालूम होता है अब गहरी नींदमें है।' मन-ही-मन झल्लानेपर भी धन्ना कुछ बोला नहीं। हाराणने धन्नाके हाथसे खाँडा लेकर धार देखी। फिर तीनों मिलकर ताड़ी-पर-ताड़ी पीने लगे। नशा बढ़ने लगा। धन्ना कुछ ज्यादा पी गया। उसे नींद आने लगी। झूमता हुआ वह बाहर निकला और जिस तख्तेपर रामहरिजी सोये थे, जाकर उन्हींकी चादर ओढ़कर वहीं पड़ गया! नशेमें उसे अपनी करनीका कुछ भी पता नहीं था। वह बेहोश था। तीनकौड़ी और हाराणने हरी मिर्च और सत्तूकी चाट मुँहमें लेकर फिर ताड़ी चढ़ानी शुरू की। अब पूरा नशा हो गया!

झूमता हुआ हाराण धार दिये हुए खाँडेको लेकर बगलकी कोठरीमें पहुँचा। रामहरिजी कदम्बपर चढ़े कोठरीमें रखी हुई लालटैनकी मामूली रोशनीके उजियालेमें भयचकित नेत्रोंसे देख रहे थे और मन-ही-मन श्यामसुन्दरको पुकार रहे थे।

हाराण और तीनकौड़ीने समझा—तख्तेपर ब्राह्मण सोया है। नशेमें चूर थे। हाराणने पूरा जोर लगाकर खाँडा चलाया और उसी क्षण धन्नाका सिर धड़से अलग होकर धड़ामसे नीचे गिर पड़ा।

अब जो दृश्य उपस्थित हुआ, उसे याद करते ही हृदय काँपता है। हाराण और तीनकौड़ीने भयभरी आँखोंसे देखा—'अरे, यह तो धन्नाका सिर है!' बस, उसी क्षण सारा नशा उतर गया और खाँडेको दूर फेंककर हाराण

अपने प्यारे पुत्र धन्नाके सिरको छातीसे लगाकर पागलकी भाँति रोने लगा। तीनकौड़ीने इधर-उधर ब्राह्मणको बहुत खोजा, पर कहीं पता नहीं लगा। रामहरिजी तो प्राणभयसे अत्यन्त व्याकुल होकर श्यामसुन्दरका स्मरण करने लगे। उस समय उनका स्मरण किन-किन भावोंसे होता होगा, इसका अनुमान वैसी स्थितिमें स्वयं पड़े बिना नहीं लगाया जा सकता। धन्नाके शवको लेकर जब वे लोग टूटे घरसे निकलकर जंगलमें चले गये, तब ब्राह्मणके प्राणोंमें प्राण आये। तबतक झड़-वृष्टि बहुत कम हो गयी थी और रात भी थोड़ी ही शेष थी। ब्राह्मणदेवता धीरेसे पेड़से उतरे और इधर-उधर सतर्क दृष्टिसे देखते हुए घरसे निकलकर चल दिये। भगवान्‌की कृपासे उन्हें रास्ता मिल गया। हाराण और तीनकौड़ी दूसरी ओर गये थे। इसलिये इनपर कोई विपत्ति नहीं आयी।

कुछ दूर धीरे-धीरे चलकर फिर रामहरिजी दौड़े और पक्की सड़कपर पहुँच गये। उस समय कई लोगोंका और भी साथ हो गया। रामहरिजी भगवान् श्यामसुन्दरका मन-ही-मन गुण गाते हुए सीधे घर पहुँचे। बस, तबसे उनका जीवन भगवान्‌के भजनमें ही बीता।

डाकू भगत

पुराने जमानेकी बात है। एक धनी गृहस्थके घर भगवत्कथाका बड़ा सुन्दर आयोजन हो रहा था। वैशाखका महीना, शुक्लपक्षकी रात्रिका समय। कथावाचक पण्डितजी विद्वान् तो थे ही, अच्छे गायक भी थे। वे बीच-बीचमें भगवत्सम्बन्धी भावपूर्ण पदोंका मधुर कण्ठसे गान भी करते। पहले उन्होंने श्रीमद्भागवतके आधारपर संक्षेपमें भगवान्‌के जन्मकी कथा सुनायी, फिर नन्दोत्सवका वर्णन करते-करते एक मधुर पद गाया।

कथाका प्रसङ्ग आगे चला। श्रोतागण व्यवहारकी चिन्ता और शरीरकी सुधि भूलकर भगवदानन्दमें मस्त हो गये। बहुतोंके शरीरमें रोमाञ्च हो आया। कितनोंकी आँखोंमें आँसू छलक आये। सभी तन्मय हो रहे थे।

उसी समय सुयोग देखकर एक डाकू उस धनी गृहस्थके घरमें घुस आया और चुपचाप धन-रत्न ढूँढ़ने लगा। परंतु भगवान्‌की ऐसी लीला कि बहुत प्रयास करनेपर भी उसके हाथ कुछ नहीं लगा। वह जिस समय कुछ-न-कुछ हाथ लगानेके लिये इधर-उधर ढूँढ़ रहा था, उसी समय उसका ध्यान यकायक कथाकी ओर चला गया। कथावाचक पण्डितजी महाराज ऊँचे स्वरसे कह रहे थे—''प्रातःकाल हुआ। पूर्वदिशा उषाकी मनोरम ज्योति और अरुणकी लालिमासे रँग गयी। उस समय व्रजकी झाँकी अलौकिक हो रही थी। गौएँ और बछड़े सिर उठा-उठाकर नन्दबाबाके महलकी ओर सतृष्ण दृष्टिसे देख रहे थे कि अब हमारे प्यारे श्रीकृष्ण हमें आनन्दित करनेके लिये आ ही रहे होंगे। उसी समय भगवान् श्रीकृष्णके प्यारे सखा श्रीदामा, सुदामा, वसुदामा आदि ग्वालबालोंने आकर भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामको बड़े प्रेमसे पुकारा—'हमारे प्यारे कन्हैया, आओ न। अबतक तुम सो ही रहे हो? देखो, गौएँ तुम्हें देखे बिना रँभा रही हैं। हम कभीसे खड़े हैं। चलो, वनमें गौएँ चरानेके लिये चलें। दाऊ दादा, तुम इतनी देर क्या कर रहे हो?' इस प्रकार ग्वालबालोंकी पुकार और जल्दी देखकर नन्दरानीने अपने प्यारे पुत्रोंको बड़े ही मधुर स्वरसे पुकार-पुकारकर जगाया।

फिर मैयाने स्नेहसे उन्हें माखन-मिश्रीका तथा भाँति-भाँतिके पकवानोंका कलेऊ करवाकर बड़े चावसे खूब सजाया। लाखों-करोड़ों रुपयोंके गहने हीरे-जवाहर और मोतियोंसे जड़े स्वर्णालङ्कार अपने बच्चोंको पहनाये। मुकुटमें, बाजूबन्दमें, हारमें जो मणियाँ जगमगा रही थीं, उनके प्रकाशके सामने प्रातःकालका उजाला फीका पड़ गया। इस प्रकार भलीभाँति सजाकर नन्दरानीने अपने लाड़ले पुत्रोंके सिर सूँघे और फिर बड़े प्रेमसे गौ चरानेके लिये उन्हें बिदा किया।''

इतनी बातें डाकूने भी सुनीं; और तो कुछ उसने सुना था नहीं। अब वह सोचने लगा कि 'अरे! यह तो बड़ा अनुपम सुयोग है। मैं छोटी-मोटी चीजोंके लिये

इधर-उधर मारा-मारा फिरता रहता हूँ, यह तो अपार सम्पत्ति हाथ लगनेका अवसर है। केवल दो बालक ही तो हैं। उनके दोनों गालोंपर दो-दो चपत जड़े नहीं कि वे स्वयं अपने गहने निकालकर मुझे सौंप देंगे।' यह सोचकर वह डाकू धनी गृहस्थके घरसे बाहर निकल आया और कथाके समाप्त होनेकी बाट देखने लगा।

बहुत रात बीतनेपर कथा समाप्त हुई। भगवान्‌के नाम और जयकारके नारोंसे आकाश गूँज उठा। भक्त गृहस्थ बड़ी नम्रतासे ठाकुरजीका प्रसाद ग्रहण करनेके लिये सब श्रोताओंसे अनुरोध करने लगे। प्रसाद बँटने लगा। उधर यह सब हो रहा था, परंतु डाकूके मनमें इन बातोंपर कोई ध्यान नहीं था। वह तो रह-रहकर कथावाचककी ओर देख रहा था। उसकी आँखें कथावाचकजीकी गति-विधिपर जमी हुई थीं। कुछ समयके बाद प्रसाद पाकर कथावाचकजी अपने डेरेकी ओर चले। डाकू भी उनके पीछे-पीछे हो लिया।

जब पण्डितजी खुले मैदानमें पहुँचे, तब डाकूने पीछेसे कुछ कड़े स्वरमें पुकारकर कहा—'ओ पण्डितजी! खड़े रहो।' पण्डितजीके पास दक्षिणाके रुपये-पैसे भी थे, वे कुछ डरकर और तेज चालसे चलने लगे। डाकूने दौड़ते हुए कहा—'पण्डितजी, खड़े हो जाओ। यों भागनेसे नहीं बच सकोगे।' पण्डितजीने देखा कि अब छुटकारा नहीं है। वे लाचार होकर ठहर गये। डाकूने उनके पास पहुँचकर कहा—'देखिये, पण्डितजी! आप जिन कृष्ण और बलरामकी बात कह रहे थे, उनके लाखों-करोड़ों रुपयोंके गहनोंका वर्णन कर रहे थे, उनका घर कहाँ है? वे दोनों गौएँ चरानेके लिये कहाँ जाते हैं? आप सारी बातें ठीक-ठीक बता दीजिये। यदि जरा भी टालमटोल की तो बस, देखिये मेरे हाथमें कितना मोटा डंडा है; यह तुरंत आपके सिरके टुकड़े-टुकड़े कर देगा।' पण्डितजीने देखा, उसका लंबा-चौड़ा दैत्य-सा शरीर बड़ा ही बलिष्ठ है। मजबूत हाथोंमें मोटी लाठी है, आँखोंसे क्रूरता टपक रही है। उन्होंने सोचा, हो-न-हो यह कोई डाकू है। फिर साहस बटोरकर कहा—'तुम्हारा उनसे क्या काम है?' डाकूने तनिक जोर देकर कहा—'जरूरत है।' पण्डितजी बोले—'जरूरत बतानेमें कुछ अड़चन है क्या?' डाकूने कहा—'पण्डितजी! मैं डाकू हूँ। मैं उनके गहने लूटना चाहता हूँ। गहने मेरे हाथ लग गये तो आपको भी अवश्य ही कुछ दूँगा। देखिये, टालमटोल मत कीजिये। ठीक-ठीक बताइये।' पण्डितजीने समझ लिया कि यह वज्रमूर्ख है। अब उन्होंने कुछ हिम्मत करके कहा—'तब इसमें डर किस बातका है। मैं तुम्हें सब कुछ बतला दूँगा। लेकिन यहाँ रास्तेमें तो मेरे पास पुस्तक नहीं है। मेरे डेरेपर चलो। मैं पुस्तक देखकर सब ठीक-ठीक बतला दूँगा।' डाकू उनके साथ-साथ चलने लगा।

डेरेपर पहुँचकर पण्डितजीने किसीसे कुछ कहा नहीं। पुस्तक बाहर निकाली और वे डाकूको भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामकी रूप-माधुरी सुनाने लगे। उन्होंने कहा—'श्रीकृष्ण और बलराम दोनोंके ही चरण-कमलोंमें सोनेके सुन्दर नूपुर हैं, जो अपनी रुनझुन ध्वनिसे सबके मन मोह लेते हैं। श्यामवर्णके श्रीकृष्ण पीत वर्णका और गौर वर्णके बलराम नील वर्णका वस्त्र धारण कर रहे हैं। दोनोंकी कमरमें बहुमूल्य मोतियोंसे जड़ी सोनेकी करधनी शोभायमान है। गलेमें हीरे-जवाहरातके स्वर्णहार हैं। हृदयपर कौस्तुभमणि झलमला रही है। ऐसी मणि जगत्‌में और कोई है ही नहीं। कलाईमें रत्नजटित सोनेके कङ्कन, कानोंमें मणि-कुण्डल, सिरपर मनोहर मोहन चूड़ा। घुँघराले काले-काले बाल, ललाटपर कस्तूरीका तिलक, होठोंपर मन्द-मन्द मुसकान, आँखोंसे मानो आनन्द और प्रेमकी वर्षा हो रही है। श्रीकृष्ण अपने कर-कमलोंमें सोनेकी वंशी लिये उसे अधरोंसे लगाये रहते हैं। उनकी अङ्ग-कान्तिके सामने करोड़ों सूर्योंकी कोई गिनती नहीं। रंग-विरंगे सुगन्धित पुष्पोंकी माला, तोतेकी-सी नुकीली नासिका, कुन्द-बीजके समान श्वेत दाँतोंकी पाँत, बड़ा लुभावना रूप है! अजी, जब वे त्रिभङ्गललित भावसे खड़े होते हैं, देखते-देखते नेत्र तृप्त ही नहीं होते। बाँकेबिहारी श्रीकृष्ण जब अपनी बाँसुरीमें 'राधे-राधे-राधे' की मधुर तान छेड़ते हैं, तब बड़े-बड़े ज्ञानी भी अपनी समाधिसे पिण्ड छुड़ाकर उसे सुननेके लिये दौड़ आते हैं। यमुनाके तटपर वृन्दावनमें कदम्ब वृक्षके नीचे प्रायः उनके दर्शन मिलते हैं। वनमाली श्रीकृष्ण और हलधारी बलराम।'

डाकूने पूछा—'अच्छा पण्डितजी, सब गहने मिलाकर कितने रुपयोंके होंगे?' पण्डितजीने कहा—'ओह, इसकी कोई गिनती नहीं है। करोड़ों-अरबोंसे भी ज्यादा!' डाकू—'तब क्या जितने गहनोंके आपने नाम लिये, उनसे भी अधिक हैं?' पण्डितजी—'तो क्या? संसारकी समस्त सम्पत्ति एक ओर और कौस्तुभमणि एक ओर। फिर भी कोई तुलना नहीं।' डाकूने आनन्दसे गद्गद होकर कहा—'ठीक है, ठीक है! और कहिये, वह कैसी है?' पण्डितजी—'वह मणि जिस स्थानपर रहती है, सूर्यके समान प्रकाश हो जाता है। वहाँ अँधेरा रह नहीं सकता। वैसा रत्न पृथ्वीमें और कोई है ही नहीं!' डाकू—'तब तो उसके दाम बहुत ज्यादा होंगे। क्या बोले? एक बार भलीभाँति समझा तो दीजिये। हाँ, एक बात तो भूल ही गया। मुझे किस ओर जाना चाहिये?' पण्डितजीने सारी बातें दुबारा समझा दीं। डाकूने कहा—'देखिये, पण्डितजी! मैं शीघ्र ही आकर आपको कुछ दूँगा। यहाँसे ज्यादा दूर तो नहीं है न? मैं एक ही रातमें पहुँच जाऊँगा, क्यों? अच्छा; हाँ-हाँ, एक बात और बताइये। क्या वे प्रतिदिन गौएँ चराने जाते हैं?' पण्डितजी—'हाँ, और तो क्या?' डाकू—'कब आते हैं?' पण्डितजी—'ठीक प्रातःकाल। उस समय थोड़ा-थोड़ा अँधेरा भी रहता है।' डाकू—'ठीक है, मैंने सब समझ लिया। हाँ तो, अब मुझे किधर जाना चाहिये?' पण्डितजी—'बराबर उत्तरकी ओर चले जाओ।' डाकू प्रणाम करके चल पड़ा।

पण्डितजी मन-ही-मन हँसने लगे। देखो, यह कैसा पागल है! थोड़ी देर बाद उन्हें चिन्ता हो आयी, यह मूर्ख दो-चार दिन तो ढूँढ़नेका प्रयत्न करेगा। फिर लौटकर कहीं यह मुझपर अत्याचार करने लगा तो? किंतु नहीं, यह बड़ा विश्वासी है। लौटकर आयेगा तो एक रास्ता और बतला दूँगा। यह दो-चार दिन भटकेगा, तबतक मैं कथा समाप्त करके यहाँसे चलता बनूँगा। इससे पिण्ड छुड़ानेका और उपाय ही क्या है। पण्डितजी कुछ-कुछ निश्चिन्त हुए।

डाकू अपने घर गया। उसकी भूख, प्यास, नींद सब उड़ गयी। वह दिन-रात गहनोंकी बात सोचा करता, चमकीले गहनोंसे लदे दोनों नयन-मन-हरण बालक उसकी आँखोंके सामने नाचते रहते। डाकूके मनमें एक ही धुन थी। अँधेरा हुआ, डाकूने लाठी उठाकर कंधेपर रखी। वह उत्तर दिशाकी ओर चल पड़ा। वह उत्तर भी उसकी अपनी धुनका ही था, दूसरोंके देखनेमें शायद वह दक्खिन ही जा रहा हो! उसे इस बातका भी पता नहीं था कि उसके पैर धरतीपर पड़ रहे हैं या काँटोंपर।

चलते-चलते एक स्थानपर डाकूकी आँख खुली। उसने देखा, बड़ा सुन्दर हरा-भरा वन है। एक नदी भी कल-कल करती बह रही है। उसने सोचा, निश्चय किया 'यही है, यही है! परंतु वह कदम्बका पेड़ कहाँ है?' डाकू बड़ी सावधानीके साथ एक-एक वृक्षके पास जाकर कदम्बको पहचाननेकी चेष्टा करने लगा। अन्तमें वहाँ उसे एक कदम्ब मिल ही गया। अब उसके आनन्दकी सीमा न रही। उसने सन्तोषकी साँस ली और आस-पास आँखें दौड़ायीं। एक छोटा-सा पर्वत, घना जंगल और गौओंके चरनेका मैदान भी दीख गया। हरी-हरी दूब रातके स्वाभाविक अँधेरेमें घुल-मिल गयी थी। फिर भी उसके मनके सामने गौओंके चरने और चरानेवालोंकी एक छटा छिटक ही गयी। अब डाकूके मनमें एक ही विचार था। कब सबेरा हो, कब अपना काम बने। वह एक-एक क्षण सावधानीसे देखता और सोचता कि आज सबेरा होनेमें कितनी देर हो रही है! ज्यों-ज्यों रात बीतती, त्यों-त्यों उसकी चिन्ता, उद्वेग, उत्तेजना, आग्रह और आकुलता बढ़ती जाती। वह कदम्बपर चढ़ गया और देखने लगा कि किसी ओर उजाला तो नहीं है। कहींसे वंशीकी आवाज तो नहीं आ रही है? उसने अपने मनको समझाया—'अभी सबेरा होनेमें देर है। मैं ज्यों ही वंशीकी धुन सुनूँगा, त्यों ही टूट पड़ूँगा।' इस प्रकार सोचता हुआ बड़ी ही उत्कण्ठाके साथ वह डाकू सबेरा होनेकी बाट जोहने लगा।

देखते-ही-देखते मानो किसीने प्राची दिशाका मुख रोलीके रंगसे रँग दिया। डाकूके हृदयमें आकुलता और भी बढ़ गयी। वह पेड़से कूदकर जमीनपर आया, परंतु वंशीकी आवाज सुनायी न पड़नेके कारण फिर उछलकर कदम्बपर चढ़ गया। वहाँ भी किसी प्रकारकी आवाज सुनायी नहीं पड़ी। उसका हृदय मानो क्षण-क्षणपर फटता

जा रहा था। अभी-अभी उसका हृदय विहर उठता; परंतु यह क्या, उसकी आशा पूर्ण हो गयी! दूर, बहुत दूर वंशीकी सुरीली स्वर-लहरी लहरा रही है। वह वृक्षसे कूद पड़ा। हाँ, ठीक है, ठीक है; बाँसुरी ही तो है। अच्छा, यह स्वर तो और समीप होता जा रहा है! डाकू आनन्दके आवेशमें अपनी सुध-बुध खो बैठा और मूर्छित होकर धरतीपर गिर पड़ा। कुछ ही क्षणोंमें उसकी बेहोशी दूर हुई, आँखें खुलीं; वह उठकर खड़ा हो गया। देखा तो पास ही जंगलमें एक दिव्य शीतल प्रकाश चारों ओर फैल रहा है। उस मनोहर प्रकाशमें दो भुवन-मोहन बालक अपने अङ्गकी अलौकिक छटा बिखेर रहे हैं। गौएँ और ग्वालबाल उनके आगे-आगे कुछ दूर निकल गये हैं।

डाकूने उन्हें देखा, अभी पुकार भी नहीं पाया था कि मन मुग्ध हो गया—'अहाहा! कैसे सुन्दर चेहरे हैं इनके, आँखोंसे तो अमृत ही बरस रहा है। और इनके तो अङ्ग-अङ्ग बहुमूल्य आभूषणोंसे भरे हैं। हाय-हाय! इतने नन्हे-नन्हे सुकुमार शिशुओंको माँ-बापने गौएँ चरानेके लिये कैसे भेजा? ओह! मेरा तो जी भरा आता है—मन चाहता है, इन्हें देखता ही रहूँ! इनके गहने उतारनेकी बात कैसी, इन्हें तो और भी सजाना चाहिये। नहीं, मैं इनके गहने नहीं छीनूँगा। ना, ना, गहने नहीं छीनूँगा तो फिर आया ही क्यों? ठीक है। मैं गहने छीन लूँगा। परंतु इन्हें मारूँगा नहीं। बाबा-रे-बाबा, मुझसे यह काम न होगा! धत् तेरेकी! यह मोह-छोह कैसा? मैं डाकू हूँ, डाकू। मैं और दया? बस, बस, मैं अभी गहने छीने लेता हूँ। यह कहते-कहते वह श्रीकृष्ण और बलरामकी ओर दौड़ा। भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामके पास पहुँचकर उनका स्वरूप देखते ही उसकी चेतना एक बार फिर लुप्त हो गयी। पैर लड़खड़ाये और वह गिर पड़ा। फिर उठा। कुछ देर टकटकी लगाये देखता रहा, आँखें आँसुओंसे भर आयीं। फिर न मालूम क्या सोचा, हाथमें लाठी लेकर उनके सामने गया और बोला—'खड़े हो जाओ। सारे गहने निकालकर मुझे दे दो।'

श्रीकृष्ण—'हम अपने गहने तुम्हें क्यों दें?'

डाकू—'दोगे नहीं? मेरी लाठीकी ओर देखो।'

श्रीकृष्ण—'लाठीसे क्या होगा?'

डाकू—'अच्छा, क्या होगा? गहना न देनेपर तुम्हारे सिर तोड़ डालूँगा; और क्या होगा?'

श्रीकृष्ण—'नहीं, हमलोग गहने नहीं देंगे।'

डाकू—'अभी-अभी मैं कान पकड़के ऐंठूँगा और सारे गहने छीन-छानकर तुम्हें नदीमें फेंक दूँगा।'

श्रीकृष्ण—(जोरसे) 'बाप-रे-बाप! ओ बाबा! ओ बाबा!'

डाकूने झपटकर अपने हाथसे श्रीकृष्णका मुँह दबाना चाहा, परंतु स्पर्श करते ही उसके सारे शरीरमें बिजली दौड़ गयी। वह अचेत होकर धड़ामसे धरतीपर गिर पड़ा। कुछ क्षणोंके बाद जब चेत हुआ, तब वह श्रीकृष्णसे बोला—'अरे, तुम दोनों कौन हो? मैं ज्यों-ज्यों तुम दोनोंको देखता हूँ, त्यों-त्यों तुम मुझे और सुन्दर, और मधुर, और मनोहर क्यों दीख रहे हो? मेरी आँखोंकी पलकें पड़नी बंद हो गयीं। हाय! हाय! मुझे रोना क्यों आ रहा है?' मेरे शरीरके सब रोएँ क्यों खड़े हो गये हैं? जान गया, जान गया, तुम दोनों देवता हो, मनुष्य नहीं हो।'

श्रीकृष्ण—[मुसकराकर] 'नहीं' हम मनुष्य हैं। हम ग्वालबाल हैं। हम व्रजके राजा नन्दबाबाके लड़के हैं।'

डाकू—अहा! कैसी मुसकान है! 'जाओ, जाओ; तुम लोग गौएँ चराओ। मैं अब गहने नहीं चाहता। मेरी आशा-दुराशा, मेरी चाह-आह सब मिट गयीं। हाँ, मैं चाहता हूँ कि तुम दोनोंके सुरंग अङ्गोंमें अपने हाथोंसे और भी गहने पहनाऊँ। जाओ, जाओ। हाँ, एक बार अपने दोनों लाल-लाल चरण-कमलोंको तो मेरे सिरपर रख दो। हाँ, हाँ; जरा हाथ तो इधर करो! मैं एक बार तुम्हारी स्निग्ध हथेलियोंका चुम्बन करके अपने प्राणोंको तृप्त कर लूँ। ओह, तुम्हारा स्पर्श कितना शीतल, कितना मधुर! धन्य! धन्य!! तुम्हारे मधुर स्पर्शसे हृदयकी ज्वाला शान्त हो रही है। आशा-अभिलाषा मिट गयी। जाओ, हाँ-हाँ, अब तुम जाओ। मेरी भूख-प्यास मिट गयी। अब कहीं जानेकी इच्छा नहीं होती। मैं यहीं रहूँगा। तुम दोनों रोज इसी रास्तेसे जाओगे न? एक बार केवल एक क्षणके लिये प्रतिदिन, हाँ, प्रतिदिन मुझे दर्शन देते रहना। देखो, भूलना नहीं। किसी दिन नहीं आओगे—

डाकू भगत [पृ० ५९०]
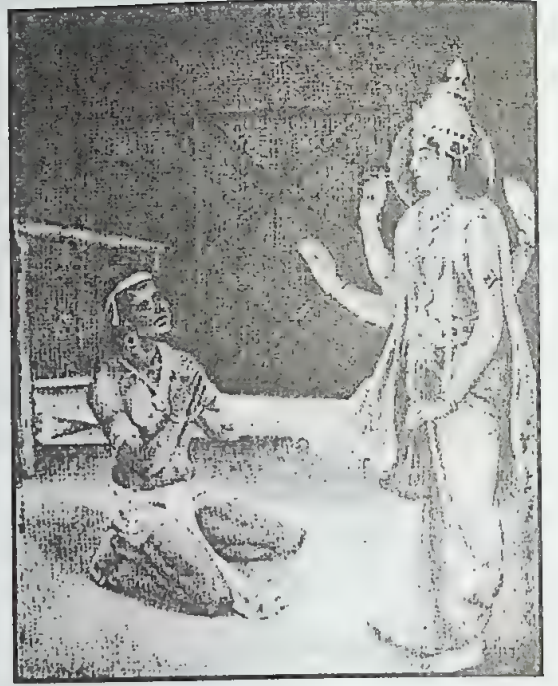
भक्त बालीग्रामदास [पृ० ६०१]
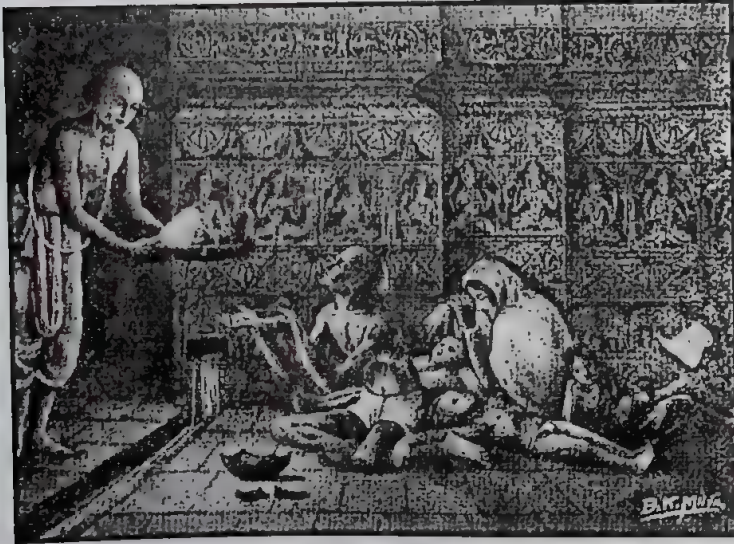
भक्त बन्धु महान्ति [पृ० ५९९]

भक्त जगन्नाथदास गोस्वामी [पृ० ५९७]

भक्त गंगाधरदास [पृ० ६०६]

भक्त महेश मण्डल [पृ० ६०८]

श्रीस्वामिनारायणजी [पृ० ६१२]
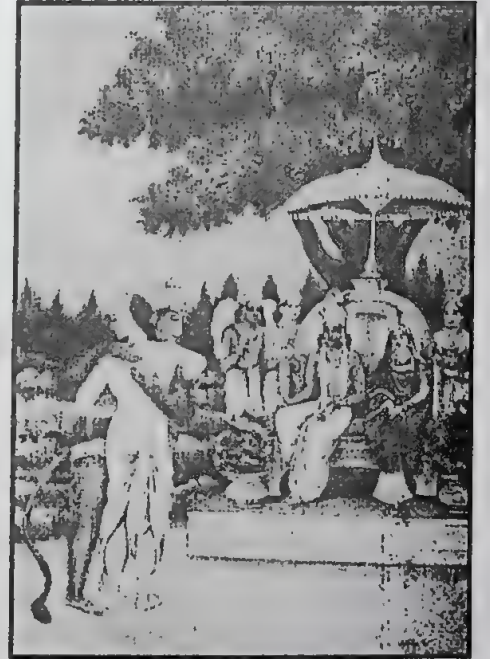
भक्त शङ्कर पण्डित [पृ० ६१३]

दर्शन नहीं दोगे तो याद रखो, मेरे प्राण छटपटाकर छूट ही जायँगे।'

श्रीकृष्ण—'अब तुम हमलोगोंको मारोगे तो नहीं? गहने तो नहीं छीन लोगे? हाँ, ऐसी प्रतिज्ञा करो तो हमलोग प्रतिदिन आ सकते हैं।'

डाकू—'प्रतिज्ञा? सौ बार प्रतिज्ञा! अरे भगवान्‌की शपथ! तुमलोगोंको मैं कभी नहीं मारूँगा। तुम्हें मार सकता हो, ऐसा कोई है जगत्‌में? तुम्हें तो देखते ही सारी शक्ति गायब हो जाती है, मन ही हाथसे निकल जाता है। फिर कौन मारे और कैसे मारे। अच्छा, तुमलोग जाओ!'

श्रीकृष्ण—'यदि तुम्हें हम लोग गहना दें तो लोगे?'

डाकू—'गहना, गहना! अब गहने क्या होंगे? अब तो कुछ भी लेनेकी इच्छा नहीं है।'

श्रीकृष्ण—'क्यों नहीं? ले लो। हम तुम्हें दे रहे हैं न!'

डाकू—'तुम दे रहे हो? तुम मुझे दे रहे हो? तब तो लेना ही पड़ेगा। परंतु तुम्हारे माँ-बाप तुमपर नाराज होंगे, तुम्हें मारेंगे तो?'

श्रीकृष्ण—'नहीं-नहीं, हम राजकुमार हैं। हमारे पास ऐसे-ऐसे न जाने कितने गहने हैं। तुम चाहो तो तुम्हें और भी बहुत-से गहने दे सकते हैं।'

डाकू—'ऊहूँ, मैं क्या करूँगा। हाँ, हाँ; परंतु तुम्हारी बात टाली भी तो नहीं जाती। क्या तुम्हारे पास और गहने हैं? सच बोलो।'

श्रीकृष्ण—'हैं नहीं तो क्या हम बिना हुए ही दे रहे हैं? लो, तुम इन्हें ले जाओ।'

भगवान् श्रीकृष्ण अपने शरीरपरसे गहने उतारकर देने लगे। डाकूने कहा—'देखो भाई! यदि तुम देना ही चाहते हो तो मेरा यह दुपट्टा ले लो और इसमें अपने हाथोंसे बाँध दो। किंतु देखो, लाला! यदि तुम मेरी इच्छा जानकर बिना मनके दे रहे हो तो मुझे गहने नहीं चाहिये। मेरी इच्छा तो अब बस, एक यही है कि रोज एक बार तुम्हारे मनोहर मुखड़ेको मैं देख लिया करूँ और एक बार तुम्हारे चरणतलसे अपने सिरका स्पर्श करा लिया करूँ।' श्रीकृष्ण—'नहीं-नहीं, बेमनकी बात कैसी। तुम फिर आना, तुम्हें इस बार और गहने देंगे।' श्रीकृष्णने उसके दुपट्टेमें सब गहने बाँध दिये। डाकूने गहनेकी पोटली हाथमें लेकर कहा—'क्यों भाई! मैं फिर आऊँगा तो तुम मुझे और गहने दोगे न? गहने चाहे न देना, परंतु दर्शन जरूर देना।' श्रीकृष्णने कहा—'अवश्य! गहने भी और दर्शन भी दोनों।' डाकू गहने लेकर अपने घरके लिये रवाना हुआ।

डाकू आनन्दके समुद्रमें डूबता-उतराता घर लौटा। दूसरे दिन रातके समय कथावाचक पण्डितजीके पास जाकर सब वृत्तान्त कहा और गहनोंकी पोटली उनके सामने रख दी। बोला—'देखिये, देखिये, पण्डितजी! कितने गहने लाया हूँ। आपकी जितनी इच्छा हो, ले लीजिये। पण्डितजी! उसने और गहने देना स्वीकार किया है।' पण्डितजी तो यह सब देख-सुनकर चकित रह गये। उन्होंने बड़े विस्मयके साथ कहा—'मैंने जिनकी कथा कही थी, उनके गहने ले आया?' डाकू बोला—'तब क्या, देखिये न; यह सोनेकी वंशी! यह सिरका मोहन चूड़ामणि!!' पण्डितजी हक्के-बक्के रह गये। बहुत सोचा, बहुत विचारा; परंतु वे किसी निश्चयपर नहीं पहुँच सके। जो अनादि, अनन्त पुरुषोत्तम हैं, बड़े-बड़े योगी सारे जगत्‌को तिनकेके समान त्यागकर, भूख-प्यास-नींदकी उपेक्षा करके सहस्र-सहस्र वर्षपर्यन्त जिनके ध्यानकी चेष्टा करते हैं, परंतु दर्शनसे वञ्चित ही रह जाते हैं, उन्हें यह डाकू देख आया? उनके गहने ले आया? ना, ना, असम्भव! हो नहीं सकता। परंतु यह क्या! यह चूड़ामणि, यह बाँसुरी, ये गहने, सभी तो अलौकिक हैं—इसे ये सब कहाँ, किस तरह मिले? कुछ समझमें नहीं आता। क्षणभर ठहरकर पण्डितजीने कहा—'क्यों भाई! तुम मुझे उसके दर्शन करा सकते हो?' डाकू—'क्यों नहीं, कल ही साथ चलिये न?' पण्डितजी पूरे अविश्वासके साथ केवल उस घटनाका पता लगानेके लिये डाकूके साथ चल पड़े और दूसरे दिन नियत स्थानपर पहुँच गये। पण्डितजीने देखा एक सुन्दर-सा वन है। छोटी-सी नदी बह रही है, बड़ा-सा मैदान और कदम्बका वृक्ष भी है। वह व्रज नहीं है, यमुना नहीं हैं; पर है कुछ वैसा ही। रात बीत गयी, सबेरा होनेके पहले ही डाकूने कहा—'देखिये, पण्डितजी! आप नये आदमी हैं। आप किसी पेड़की

आड़में छिप जाइये! वह कहीं आपको देखकर न आये तो! अब प्रातःकाल होनेमें विलम्ब नहीं है। अभी आयेगा।' डाकू पण्डितजीसे बात कर ही रहा था कि मुरलीकी मोहक ध्वनि उसके कानोंमें पड़ी। वह बोल उठा—'सुनिये, सुनिये, पण्डितजी! बाँसुरी बज रही है! कितनी मधुर! कितनी मोहक! सुन रहे हैं न?' पण्डितजी—'कहाँ जी, मैं तो कुछ नहीं सुन रहा हूँ। क्या तुम पागल हो गये हो?' डाकू—'पण्डितजी! पागल नहीं, जरा ठहरिये; अभी आप उसे देखेंगे। रुकिये, मैं पेड़पर चढ़कर देखता हूँ कि वह अभी कितनी दूर है।'

डाकूने पेड़पर चढ़कर देखा और कहा—'पण्डितजी! पण्डितजी!! अब वह बहुत दूर नहीं है।' उतरकर उसने देखा कि थोड़ी दूरपर वैसा ही विलक्षण प्रकाश फैल रहा है। वह आनन्दके मारे पुकार उठा—'पण्डितजी! वह है, वह है। उसके शरीरकी दिव्य ज्योति सारे वनको चमका रही है।' पण्डितजी—'मैं तो कुछ नहीं देखता।' डाकू—'ऐसा क्यों, पण्डितजी? वह इतना निकट है, इतना प्रकाश है; फिर भी आप नहीं देख पाते हैं? अजी! आप जंगल, नदी, नाला—सब कुछ देख रहे हैं और उसको नहीं देख पाते?' पण्डितजी—'हाँ भाई! मैं तो नहीं देख रहा हूँ। देखो, यदि सचमुच वे हैं तो तुम उनसे कहो कि 'आज तुम जो देना चाहते हो, सब इसी ब्राह्मणके हाथपर दे दो।' डाकूने स्वीकार कर लिया।

अबतक भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी डाकूके पास आकर खड़े हो गये थे। डाकूने कहा—'आओ, आओ; मैं आ गया हूँ। तुम्हारी बाट जोह रहा था।' श्रीकृष्ण—'गहने लोगे?' डाकू—'नहीं भाई! मैं गहने नहीं लूँगा। जो तुमने दिये थे, वे भी तुम्हें देनेके लिये लौटा लाया हूँ; तुम अपना सब ले लो। लेकिन भैया, ये पण्डितजी मेरी बातपर विश्वास नहीं कर रहे हैं। विश्वास करानेके लिये ही मैं इन्हें साथ लाया हूँ। मैं तुम्हारी वंशी-ध्वनि सुनता हूँ। तुम्हारी अङ्गकान्तिसे चमकते हुए वनको देखता हूँ, तुम्हारे साथ बातचीत करता हूँ। परंतु पण्डितजी यह सब देख-सुन नहीं रहे हैं। यदि तुम इन्हें नहीं दीखोगे तो ये मेरी बातपर विश्वास नहीं करेंगे।' श्रीकृष्ण—'अरे भैया, अभी ये मेरे दर्शनके अधिकारी नहीं हैं। बूढ़े, विद्वान् अथवा पण्डित हैं तो क्या हुआ।' डाकू—'नहीं, भाई! मैं बलिहारी जाऊँ तुमपर। उनके लिये जो कहो, वही कर दूँ। परंतु एक बार इन्हें अपनी बाँकी झाँकी जरूर दिखा दो।' श्रीकृष्णने हँसकर कहा—'अच्छी बात, तुम मुझे और पण्डितजीको एक साथ ही स्पर्श करो।' डाकूके ऐसा करते ही पण्डितजीकी दृष्टि दिव्य हो गयी। उन्होंने मुरलीमनोहर पीताम्बरधारी श्यामसुन्दरकी बाँकी झाँकीके दर्शन किये। फिर तो दोनों निहाल होकर भगवान्के चरणोंमें गिर पड़े।

श्रीजगन्नाथदास गोस्वामी

(लेखक—राजा श्रीलक्ष्मीनारायण हरिचन्दन जगदेव पुरातत्त्वविशारद, विद्यावाचस्पति, विमर्शविनोद)

भारतवर्षमें कौन ऐसा व्यक्ति होगा, जो श्रीकृष्णद्वैपायनद्वारा रचित श्रीमद्भागवत महापुराणको न जानता हो। अनेक विद्वानोंने इसपर संस्कृतमें टीकाएँ लिखी हैं और इसका अनुवाद भी भारतवर्षकी प्रत्येक भाषामें हो चुका है। उड़िया भाषामें बहुत-से विद्वानोंने इसका अनुवाद किया है, परंतु उन सबमें श्रीजगन्नाथदासजीकृत अनुवादका इस प्रान्त (उड़ीसा) में अत्यधिक आदर है। इन्होंने इतनी सुन्दर सरल भाषामें अनुवाद किया है कि स्त्रियाँ और निरक्षर लोग भी सुगमताके साथ उसको हृदयङ्गम कर सकते हैं। उत्तर भारतमें वैष्णवधर्मकी स्थापना करनेवाले स्वयं श्रीचैतन्यदेवको भी यह अनुवाद बहुत रुचिकर लगा। पुरीमें श्रीजगन्नाथमन्दिरमें जब श्रीजगन्नाथदासजी श्रीमद्भागवतकी कथा कहते, तब श्रीचैतन्य महाप्रभु उसका प्रेमसे श्रवण करते और जगन्नाथदासजीके प्रति अपने प्रिय शिष्यकी भाँति स्नेह करते।

इनका जन्म पुरुषोत्तम-क्षेत्रसे लगभग छः मील पश्चिमकी ओर कपिलेश्वरपुरमें हुआ था। सूर्यवंशी कपिलेश्वरदेवजीने जो किसी समय उड़ीसाके शासक थे,

इसको दानमें दिया था, इसीलिये इसे 'शासन' कहते हैं। इस ग्राममें केवल एक ही वंशपरम्पराके लोग हैं, जो अपने नामके आगे 'दास' की उपाधि लगाते हैं और इसी कारण वे अपने-आपको जगन्नाथदासजीके वंशज मानते हैं। परंतु इसमें कहाँतक तथ्य है—इस सम्बन्धमें निश्चित रूपसे कुछ नहीं कहा जा सकता। भगवानदास नामक एक सदाचारी एवं धार्मिक ब्राह्मण अपनी सती-साध्वी पत्नी पद्मावतीके साथ इस ग्राममें निवास करते थे। भाद्रशुक्ला अष्टमी बुधवारको अनुराधा नक्षत्रमें उनकी श्रद्धा-भक्तिके फलस्वरूप उन्हें एक पवित्रहृदय शिशुकी प्राप्ति हुई। यह घटना सन् १४९० ई० की है। शिशुका नाम जगन्नाथदास रखा गया। जिस दिन शिशुका जन्म हुआ, वह दिन बड़ा पवित्र माना जाता है; क्योंकि इसी दिन जगज्जननी श्रीराधाका अवतरण हुआ था।

जगन्नाथदासजीके जन्मोपरान्त न केवल उनके माता-पिता ही, अपितु समस्त ग्राम शनैः-शनैः वैष्णवधर्मानुयायी बन गया। माता-पिताने अपने बच्चेका नाम नीलाचलके भगवान् जगन्नाथके नामपर ही जगन्नाथदास रखा था।

बाल्यकालसे ही जगन्नाथदास बड़े समझदार थे। सोलह वर्षकी उम्र होनेपर तो ये समस्त वेद-वेदाङ्ग, दर्शन और अन्य शास्त्रोंमें पारङ्गत हो गये। उस समय ग्रामोंमें लोग चावसे पुराणोंकी कथा पढ़ते और सुनते थे। इसी हेतु जगन्नाथदासका काल 'पुराणयुग'के नामसे पुकारा जाता है। वैष्णवधर्मके प्रसिद्ध पुराण श्रीमद्भागवत और रामायणकी कथा वे नित्यप्रति कहते और उसको सुननेके लिये अधिक-से-अधिक संख्यामें लोग एकत्रित होते। इस प्रकार उनकी ख्याति चारों ओर फैली और वे लोकप्रिय हुए। उस समय उड़ीसाके शासक महाराजा श्रीपुरुषोत्तमदेव थे। उनके कानोंतक यह बात पहुँची। वे स्वयं बड़े भक्त थे और भक्त भक्तका आदर करता ही है। उन्होंने बड़ी श्रद्धाके साथ जगन्नाथदासजीको आमन्त्रित किया। उस समयतक जगन्नाथदासजी श्रीमद्भागवतका अनुवाद उड़ियाभाषामें कर चुके थे।

महाराजाने श्रीजगन्नाथजीके पुनीत मन्दिरके दक्षिणकी ओर स्थित विद्वत्-ब्राह्मणोंकी गद्दी थी, जो मुक्तिमण्डपके नामसे प्रख्यात थी, उसके पूर्व वट-गणेशके पास ही वटवृक्षके नीचे एक स्थानकी व्यवस्था की। वहाँ उन्होंने जगन्नाथदासजीद्वारा उनकी अनुवादित भागवतकी कथाको श्रवण किया और उससे अत्यन्त प्रसन्न होकर महाराजने उनके निर्वाहके लिये सुनिश्चित व्यवस्था कर दी। आज भी उस स्थानपर इस अनुवादित ग्रन्थकी कथा बराबर होती है और जगन्नाथदासजीके परम्परागत शिष्योंके निर्वाहकी व्यवस्था उसी प्रकार चलती जा रही है। कथा-श्रवणके लिये लोग काफी संख्यामें उपस्थित रहते हैं। जगन्नाथदासजीके वैकुण्ठवास होनेपर उसी स्थानपर उनकी एक प्रतिमा स्थापित की गयी।

समुद्रतटके समीप ही उनका आश्रम है। यह सतलहरीके नामसे प्रख्यात है। इस सम्बन्धमें एक कथा चली आ रही है कि एक दिन जब जगन्नाथजी भजन-ध्यानमें निमग्न थे, तब समुद्र भयानक गर्जना करता हुआ आगे बढ़ने लगा, जिससे गोस्वामीपादको विक्षेप हुआ। उन्होंने उसी समय समुद्रको आदेश दिया कि 'सात लहर पीछे हट जाओ।' समुद्र उसी समय पीछे हट गया। उसी दिनसे मठ 'सतलहरी' नामसे विख्यात हुआ। एक दिन श्रीचैतन्यदेवने जगन्नाथदासजीसे 'व्रज-रहस्य' के सम्बन्धमें प्रश्न किया और जब उन्होंने इसका उत्तर सुना, तब बहुत ही प्रसन्न हुए। उसी समयसे श्रीचैतन्यदेव जगन्नाथदासको बहुत आदरकी दृष्टिसे देखने लगे।

उस समय उड़ीसाके शासक महाराजा श्रीप्रतापरुद्रदेव थे। वे महाराजा पुरुषोत्तमदेवके सुपुत्र थे। जगन्नाथदासजीमें वे बड़ी श्रद्धा रखते थे और उनके लिये उन्होंने एक मठ बनवा दिया था, जो 'उड़ियामठ'के नामसे प्रसिद्ध था। वह नीलाचलक्षेत्रके पश्चिमकी ओर स्थित है। महाराजा प्रतापरुद्रदेवने श्रीचैतन्यमहाप्रभुसे अनुरोध किया कि वे उनकी रानीको मन्त्रोपदेश दें। परंतु श्रीचैतन्यदेवने उनको जगन्नाथजीके पास जानेका आदेश दिया। जगन्नाथजी पुरुष हैं, इसलिये महाराजा ऐसा करनेमें सहमत न हुए। इसपर श्रीचैतन्यदेवने कहा कि 'जगन्नाथदासके शरीरमें स्त्री-चिह्न विद्यमान हैं।' महाराजाने जब इसकी परीक्षा ली, तब बात सत्य निकली और उन्होंने श्रीचैतन्यदेवकी आज्ञाका सहर्ष पालन किया। जगन्नाथजीने रानीको मन्त्रोपदेश किया।

एक दिन महाराजा प्रतापरुद्रदेवने जगन्नाथजीको मधुर, सुगन्धित चन्दनका लेप भेंट किया। वे चन्दन-लेपको घर ले आये और दीवालपर उसको पोत दिया। इसकी सूचना महाराजाको मिली; वे सुनते ही क्षुब्ध हो उठे और उन्होंने तत्काल जगन्नाथदासजीसे पूछा कि 'आपने ऐसा क्यों किया?' जगन्नाथदासजीने कहा कि 'मैंने जो चन्दनलेप दीवालपर चढ़ाया, वह इस भावसे था कि मैं साक्षात् भगवान् जगन्नाथजीकी सेवा कर रहा हूँ—यह चन्दन उन्हींपर चढ़ा रहा हूँ।' महाराजाने कहा—'क्या यह चन्दनलेप भगवान् जगन्नाथजीके विग्रहपर देखा जा सकता है?' इसके उत्तरमें 'हाँ' सुननेपर महाराजा उसी समय गये और जब उन्होंने अपनी आँखोंसे देखा कि बात यथार्थमें सत्य है, तब उनके आश्चर्यकी सीमा न रही।

श्रीजगन्नाथदासजी निम्नलिखित संस्कृत ग्रन्थोंके रचयिता हैं—(१) कृष्णभक्तिकल्पलता, (२) नित्यगुप्तमाला, (३) उपासनाशतक, (४) प्रेमसुधाम्बुधि, (५) नित्याचार-दीक्षोपासनाविधि, (६) श्रीराधारसमञ्जरी, (७) नीलाद्रिशतक, (८) जगन्नाथचरिताम्बोधि-सरणि, (९) कृष्णभक्ति-कल्पलताफल। उड़ियाभाषामें उन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थोंकी रचना की—(१) शोलो चोपोथी, (२) शैवागमभागवत, (३) सत्सङ्गवर्णन, (४) गुण्डिचा-विजय, (५) गोलोक-सारोद्धार, (६) श्रीराधा-कृष्णमहामन्त्रचन्द्रिका, (७) अद्भुतचन्द्रिका, (८) नीलाद्रिचन्द्रिका, (९) पूर्णमतचन्द्रिका, (१०) रसकल्प-चन्द्रिका, (११) श्रीमद्भागवत।

साठ वर्षकी आयुमें सन् १५५० ई० में माघ मासके शुक्ल पक्षकी सप्तमीको महात्मा जगन्नाथदासजी गोस्वामी पार्थिवदेहसे मुक्त हुए और भगवान् विष्णुकी ज्योतिमें लीन हो गये। श्रीचैतन्यदेव उनको 'अतिवादी' कहा करते थे; इसीलिये आज भी उनके अनुयायी 'अतिवादी-सम्प्रदाय'के नामसे कहे जाते हैं।

बन्धु महान्ति

स्वारथ के नेही जगत, सब कौ अपनी हाय।
दीनबंधु बिनु दीनकी, को करि सके सहाय॥

उड़ीसाके याजपुर गाँवमें बन्धु महान्तिका घर था। स्त्री, एक पुत्र और दो कन्याएँ थीं घरमें। बन्धु बड़ा गरीब और बहुत सन्तोषी था। गाँवमें भीख माँगने जाता, एक दिनके कामभरको अन्न मिलते ही घर लौट आता। उसी अन्नसे अतिथि-सेवा होती, बच्चोंको भोजन कराया जाता; कुछ बच जाता तो स्त्री-पुरुष खा लेते, नहीं तो भगवान्‌का नाम लेते हुए उपवास रह जाते। बन्धु अपनी अवस्थामें परम सन्तुष्ट था। श्रीजगन्नाथमें उसकी अविचल भक्ति थी। उसके हृदयमें जो आनन्दका स्रोत निरन्तर झरता था, वह महलोंमें रहनेवाले, संसारके विषय-लोलुप लोगोंको भला, स्वप्नमें भी कहाँ प्राप्त हो सकता है।

अचानक देशमें अकाल पड़ गया। खेतोंमें अन्न तो क्या घास भी नहीं उगी। कुएँ-तालाब सूख गये। जब लोग स्वयं पेड़ोंके छाल-पत्ते खाकर किसी प्रकार प्राणधारण कर रहे हों, तब भिखारीको भिक्षा कैसे मिले? बन्धुका परिवार तीन दिनोंसे उपवास कर रहा है। बच्चोंका तड़पना-बिलबिलाना मातासे नहीं देखा जाता। उसने पतिसे कहा—'स्वामी! मेरे पिताके घर तो कोई रहा नहीं कि इस विपत्तिमें उससे कुछ सहायता मिलती, पर क्या आपके भी कोई बन्धु-बान्धव नहीं हैं? यदि कोई परिचित भी हो तो उनके पास चलिये। बच्चोंको दो मुट्ठी अन्न तो मिलना चाहिये।'

बन्धुने कहा—'देवि! इस जगत्‌में मेरे और तो कोई मित्र, परिचित या सम्बन्धी हैं नहीं; एक ही सुहृद् हैं। परन्तु वे यहाँसे पूरे पाँच दिनके रास्तेपर रहते हैं। हमलोग उनके पास पहुँच जायँ तो अवश्य ही हमारे समस्त दुःख सदाको दूर हो जायँगे। उनका नाम है दीनबन्धु। मुझ-जैसे दीनोंपर वे बड़ा स्नेह रखते हैं।'

स्त्री तुरंत चलनेको प्रस्तुत हो गयी। भूखों मरनेकी अपेक्षा पाँच दिनका रास्ता चल लेना सुगम था। लड़केको बन्धुने कंधेपर लिया, छोटी लड़कीको उसकी माताने गोदमें उठाया, बड़ी लड़की पैदल साथ चली। सामान तो कुछ था ही नहीं, घास-पत्ते खाते वे किसी प्रकार सन्ध्याके समय श्रीजगन्नाथपुरी पहुँचे। सिंहद्वारपर

बहुत भीड़ समझकर बन्धुने मन्दिरकी दक्षिण ओर पेजनाले (फेन बाहर निकलनेके नाले)-पर सबको लाकर बैठा दिया और बोले—'देखो! हमलोग बड़े असमयमें यहाँ आये हैं। इस समय मेरे मित्रसे भेंट होना बड़ा कठिन है। दूर-दूरसे उनके और मित्र भी आये हैं। उनकी भीड़के मारे मन्दिरमें प्रवेश पाना ही कठिन है। आजकी रात तो पेज-पानी (नालेका फेन) पीकर बिताओ। कल अपने बन्धुसे मिलकर सारी बातें कहूँगा।'

बेचारी स्त्री इतना ही जानती थी कि यहाँ उसके पतिके कोई बहुत सम्पन्न मित्र हैं। उनसे मिलनेपर बच्चोंके प्राण बच जायँगे। उसे धन-दौलत नहीं चाहिये। दो मुट्ठी अन्न बच्चोंको मिल जाय तो अपने प्राणोंकी भी उसे चिन्ता नहीं। उस पतिव्रताने फूटी हँडियासे उस नालेका फेन ही बच्चोंको पिलाया। स्वयं पिया अपने पतिदेवको पिलाकर।

बन्धु महान्तिके हृदयकी दशा दूसरी ही थी। उनके मनमें न धनकी इच्छा थी न अन्नकी। वे घरसे अपने दीनबन्धुके यहाँ पापी पेटके लिये भीख माँगनेका विचार करके नहीं चले थे। वे सोचते आये थे—'प्रभुकी कितनी दया है! मुझे तथा मेरी स्त्री एवं बच्चोंको भी जगन्नाथजीके दर्शन होंगे। देह भी छूटा तो पावन पुरुषोत्तमपुरीमें छूटेगा। मरना तो सबको एक दिन है ही। भगवान् विश्वम्भर तो सब कहीं हैं, उनपर अविश्वास करके अन्नके लिये भला दर-दर कौन भटकेगा। नीलाचल आकर तो उनके दर्शनका परम लाभ पाना है। नाथ! तुमसे कहना क्या है। तुम तो स्वयं सब जानते हो। मैं तो यही कहने आया हूँ कि मेरे मनमें कोई कामना हो तो उसे दूर कर दो।'

बन्धु महान्तिके लिये, उपवास किये हुए बच्चों तथा स्त्रीके लिये तो वह नालेका फेन ही अमृत जान पड़ा था। वे उसे पीकर सो गये। श्रीजगन्नाथमन्दिरमें रातकी सेवा समाप्त हो जानेपर मन्दिरद्वारपर रस्सी बाँधकर मुहर लगा दी गयी। मशालें जल गयीं। सब लोग बाहर चले गये। सब द्वार बंद हो गये। सेवकगण सो गये। सब सो गये; पर जिसका बन्धु पाँच दिनका रास्ता चलकर पेज-नालेपर सपरिवार पड़ा था, जिसकी बन्धुतापर विश्वास करके वह इतनी दूर आया था, वे दीनबन्धु कैसे सो जाते। उन परम प्रभुके नेत्रोंमें निद्रा कहाँ। वे उठे, भण्डारमें आये और अपने रत्न-थालको छप्पन भोग-प्रसादसे सजाकर एक ब्राह्मणके वेशमें मन्दिरके दक्षिण द्वारसे बाहर आकर पुकारने लगे—'बन्धु! ओ बन्धु!'

पुरीकी इस महानगरीमें एक अपरिचित अज्ञात 'बन्धु महान्ति'को भी कोई पुकार सकता है, यह बात बन्धु कैसे मान ले। पुरीमें और जाने कितने बन्धु हो सकते हैं। अतएव पुकार सुनकर भी उसने उत्तर नहीं दिया। अन्तमें जब पुकारनेवालेने 'याजपुरिया बन्धु!' कहकर पुकारना प्रारम्भ किया, तब हड़बड़ाकर दौड़ा हुआ वह द्वारके पास आया। ब्राह्मणने स्वरमें उलाहना भरकर कहा—'मैं पुकारते-पुकारते थक गया, मेरे हाथ इस भारी थालको उठाये-उठाये दर्द करने लगे; पर तुम कैसे हो, जो सुनते नहीं। लो इसे, आज इतनेसे काम चलाओ। कलसे तुम्हारे रहनेकी और भोजनकी सब व्यवस्था हो जायगी। कोई चिन्ता मत करो।'

बन्धु महान्ति तो मुख देखता रह गया। थाल ले लिया उसने। उसे एक शब्द भी बोलनेका अवसर दिये बिना वे ब्राह्मण देवता मन्दिरमें चले गये। बन्धु तो जड़की भाँति सन्न रह गया। बहुत देरमें कुछ होश आया, तब मतवालेकी भाँति झूमता हुआ स्त्री-बच्चोंके पास पहुँचा। सबको जगाया उसने। सबने महाप्रसाद पाया। स्त्रीने थाल धोया। बन्धु उसे लौटाने गया तो देखा कि द्वार बंद है। थालको अपने फटे चिथड़ेमें लपेटकर सिरके नीचे रखकर वह सो गया।

प्रातःकाल भण्डारीने भण्डार खोला तो उसका होश हवा हो गया। सब वस्तुएँ बिखरी पड़ी थीं, भगवान्‌के रत्नथालका पता ही नहीं था। हल्ला मचा, लोग एकत्र हुए, इधर-उधर दौड़-धूप होने लगी और अन्तमें बन्धु पकड़ा गया। कोतवालके सामने पहुँचाये जानेपर उसने रातकी सब बातें सच-सच कह दीं। परंतु उसकी बातपर कौन विश्वास करता। स्त्री-बच्चोंसहित हथकड़ी-बेड़ीसे जकड़कर वह कारागारमें बंद कर दिया गया। बन्धुपर मार पड़ी थी, सब उसे गालियाँ दे रहे थे, कारागारमें बंदी कर दिया गया था वह; किंतु इतनेपर भी उसे न दुःख हुआ न क्षोभ। वह कह रहा था—'मेरे स्वामी! तुम मेरी

परीक्षा कर रहे हो? तुम्हीं बल दो तो तुम्हारी परीक्षामें कोई उत्तीर्ण हो सकता है। तुम्हारे सभी विधान मङ्गलमय हैं। मैं तो तुम्हारी प्रसन्नतामें ही प्रसन्न हूँ। ये लोग आकर मुझे धिक्कारते हैं, गालियाँ देते हैं—यह सब दण्ड तो मेरे ही किसी पूर्वकृत पापका फल है। तुम्हारी तो यह महान् कृपा है कि मेरे पापोंका फल भुगताकर मुझे शुद्ध कर रहे हो। नाथ! तुम्हीं एकमात्र मेरे शरण हो। मैं केवल तुम्हींको जानता हूँ।'

दिनभर बन्धु महान्ति कारागारमें रहे। रात्रि हुई। पुरीनरेश महाराज प्रतापरुद्र खरदा नामक स्थानमें अपने स्थानपर सोये थे। उन्होंने स्वप्नमें देखा कि श्रीजगन्नाथजी बहुत ही रुष्ट होकर कह रहे हैं—'राजा! मेरा भक्त पाँच दिनोंसे भूखा-प्यासा याजपुरसे स्त्री-बच्चोंके साथ पैदल चलकर यहाँ आया; परंतु यहाँ तेरे किसी कर्मचारीने उसकी बात भी नहीं पूछी। वह भूखा पड़ा रहा तो मैं अपने रत्नथालमें उसे प्रसाद दे आया; रत्नथाल तो मेरा था, मैं अपने भक्तको दे आया। उसमें तेरा या और किसीका क्या? पर तेरे सेवकोंने उसे रत्नथालके लिये पीटा, सच-सच बता देनेपर भी कारागारमें बंद कर दिया। अब तेरा भला इसीमें है कि इसी समय जाकर उसे बंदी-घरसे छोड़ और सम्मानपूर्वक मन्दिरके हिसाब-रक्षकके पदपर नियुक्त कर दे। उसका सारा प्रबन्ध अभी जाकर कर दे।'

भगवान्‌के अन्तर्धान होते ही राजाकी नींद टूट गयी। उसी समय घोड़ेपर सवार होकर वे पुरी पहुँचे। स्वप्नकी सभी बातें सच्ची थीं। बन्धु महान्तिकी हथकड़ी-बेड़ी खोलकर वे हाथ जोड़कर बोले—'यहाँके लोगोंने आपको जो कष्ट दिया है, वह अपराध उनका नहीं, वह तो मेरा अपराध है। आप मुझे क्षमा करें।' राजाके नेत्रोंसे आँसू बहने लगे। बन्धुको बड़ा सङ्कोच हुआ। उन्होंने राजाको आश्वासन दिया। सम्मानपूर्वक राजा उन्हें अंदर ले गये। तीर्थजलसे स्नान कराकर उन्हें वस्त्राभूषण पहनाया। उनकी स्त्री तथा बच्चोंका भी बड़ा सत्कार किया। मन्दिरके दक्षिण ओर उनके रहनेका प्रबन्ध कर दिया। बन्धु महान्ति श्रीजगन्नाथमन्दिरके हिसाब-रक्षक-पदपर नियुक्त हुए। सदाके लिये प्रसादकी लिखित सनद उन्हें प्राप्त हुई। इतना करके तब राजाने जाकर मन्दिरमें श्रीजगन्नाथजीका दर्शन करके अपराधकी क्षमा माँगी।

बन्धु अब श्रीजगन्नाथपुरी ही रहने लगे। दीनबन्धुकी कृपासे वे महापुरुष हो गये। श्रीजगन्नाथजीके आय-व्ययका हिसाब अबतक श्रीबन्धु महान्तिके वंशज ही करते चले आते हैं।

भक्त बालीग्रामदास

श्रीजगन्नाथपुरीसे दो कोसपर बालीग्राम नामका एक कस्बा है। इस ग्राममें 'दासिया बावरी' नामका एक भील रहता था। दासिया बहुत गरीब था। कपड़े बुनकर किसी प्रकार अपना और अपनी स्त्रीका पेट भर पाता था। उसके कोई सन्तान नहीं थी। भील होनेपर भी इन स्त्री-पुरुषको भगवान्‌का कीर्तन सुनना बहुत प्रिय लगता था। कहीं भी गाँवमें कथा-कीर्तन होता तो यह वहाँ जाता और पीछे बैठा सुना करता। कथा या कीर्तनके पदोंका अर्थ तो भला, इन अशिक्षितोंकी समझमें क्या आता; पर सुननेमें ही इनका प्रेम था।

भगवन्नामकी अपार महिमा है। बिना समझे भी उसे सुनना, बोलना बहुत प्रभाव रखता है। दीर्घकालतक कीर्तन सुनते-सुनते दासिया भीलका हृदय भी शुद्ध हो गया। भगवान्‌में उसकी रुचि हो गयी। धीरे-धीरे उसके मनमें वैराग्यका उदय हुआ। अब उसे खाने-पीनेकी भी सुधि नहीं रहती। अनमने भावसे ही वह घरके सब काम करता। उसे अब एक ही चिन्ता रहती—'मैंने बड़ी नीच जातिमें जन्म लिया है। मुझे तो भगवान्‌की भक्ति क्या है, यह भी मालूम नहीं। मेरा मनुष्य-जीवन व्यर्थ गया। श्रीहरिके पावन पादपद्मोंको मैं कैसे पा सकता हूँ।'

श्रीजगन्नाथजीकी रथ-यात्राका समय आया। दूर-दूरके यात्री रथ-यात्राके दर्शन करने पुरी आने लगे। बालीग्राम तो पुरीसे केवल दो ही कोसपर था। दासियाको इस बातके सोचनेसे ही बड़ा कष्ट होने लगा कि इतने

समीप रहकर भी मैंने श्रीजगन्नाथस्वामीकी रथ-यात्राके दर्शन नहीं किये। इस वर्ष दूसरे यात्रियोंके साथ वह भी पुरी गया। रथ-यात्राके दिन विशाल रथमें बैठे उन श्रीजगन्नाथजीके दर्शन करके, जो दीनोंके एकमात्र सर्वस्व हैं, वह आनन्दसिन्धुमें डूब गया। वह भगवान्‌के ध्यानमें निमग्न हो गया। ध्यानमें ही उसने भगवान्‌के ज्योतिर्मय चतुर्भुज स्वरूपके दर्शन किये। अब तो दासियाके नेत्रोंसे धाराएँ चलने लगीं। दोनों हाथ उठाकर वह प्रार्थना करने लगा—'प्रभो! आपने जब दया करके मुझे दर्शन दिये हैं, तब मैं अब पतित नहीं हूँ। आपको इन नेत्रोंसे देखकर भी क्या कोई पतित रह सकता है। मुझ-सरीखे पामर महापापीके भाग्यमें आपके दर्शन कहाँ। प्रभो! यह तो आपकी ही दया है। मेरे स्वामी! अब मुझे अपना लो। मेरे पाप-ताप सदाके लिये दूर कर दो! अपने विरदकी रक्षा करो, नाथ!'

दासिया रथ-यात्राके दर्शन करके कैसे घर लौटा, उसे कुछ स्मरण नहीं। गाँवके दूसरे यात्री लौट रहे थे, उनके कहनेसे अर्धचेतनामें ही वह घर आया। घरपर पहुँचते ही स्त्रीने कहा—'आप भूखे होंगे, भोजन कर लें।' वह बिना कुछ बोले भोजन करने बैठ गया। उसकी स्त्रीने हँड़ियामें भात बनाया था। उसीपर शाक रखकर उसने पतिके सम्मुख रख दिया। भोजन करनेके बदले दासिया उस हँड़ियाको ध्यानसे देखने लगा। उसे हँड़ियाका लाल रंग भगवान्‌की रतनारी आँखें जान पड़ा, भातको उसके भीतरका सफेद भाग और शाकको उसने पुतली देखा। मारे हर्षके वह खड़ा होकर नाचने लगा।

दासियाकी स्त्री पतिको नाचते, रोते, हँसते, पागलकी-सी भङ्गिमा करते देख डर गयी। उसे लगा कि अवश्य रथयात्रा देखने जाते या लौटते समय मेरे पतिको कोई भूत-प्रेत लग गया है। रोते हुए उसने पड़ोसियोंको पुकारा। लोगोंने आकर स्त्रीको धीरज बँधाया। वे दासियाको पुकारने, सावधान करने और भोजन करनेको कहने लगे। दासियाने कहा—'भाइयो! रथपर विराजमान श्रीजगन्नाथके कमलनेत्र आपलोग क्या नहीं देख रहे हैं? ओह, कितना सुन्दर है भगवान्‌का नेत्र!' वह फिर भावावेशमें नृत्य करने लगा।

दासियाके घर बहुत-से लोग एकत्र हो गये थे। रथयात्रासे लौटते हुए बहुत-से महात्मा भी उस ग्राममें ठहरे थे। उनमेंसे भी कुछ लोग वहाँ आ गये थे। एक भक्तने दासियाकी भाव-स्थितिको समझ लिया। उन्होंने सबसे कहा—'यह सचमुच भगवान्‌का दासिया—'दास' ही है। हम इसे आजसे बालीग्रामदास कहेंगे, क्योंकि बालीग्रामके इस 'दास' ने अपने जन्मसे गाँवको कृतार्थ कर दिया है।' तभीसे 'दासिया बावरी' का नाम बालीग्रामदास हो गया। एक भक्तने स्त्रीको समझाया कि दूसरे बर्तनमें भात निकालकर और सागको अलग रखकर पतिको भोजन करनेके लिये दे। स्त्रीने हँड़िया उठा ली। एक पत्तेपर भात और दूसरेपर शाक रखकर पतिको दिया। तब बालीग्रामदासने भोजन किया।

दासियाका केवल नाम ही नहीं बदला, वे अब सम्पूर्ण ही बदल गये थे। चौबीसों घंटे भगवान्‌के ध्यानमें ही डूबे रहते थे। बाहरसे कुछ काम भी करते, तो भी चित्त श्रीजगन्नाथके ध्यानमें डूबा रहता। उनके मनमें अब भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शनकी तीव्र लालसा जाग उठी। भगवान्‌का वियोग अन्तमें असह्य हो गया। उनके प्राण तड़फड़ाने लगे। भक्तकी व्याकुलताकी वही घड़ी तो धन्य होती है। भगवान् क्या जाति-पाँति या साधन-भजन देखते हैं? जब कोई सब ओरसे निराश होकर, चारों ओरसे थककर उन्हें पुकारता है और उसके प्राण व्याकुल हो उठते हैं, उसी समय प्रभु पधारते हैं। बालीग्रामदासकी वह व्याकुलता भी धन्य हुई। मन्द-मन्द मुसकराते श्रीहरि प्रकट हो गये। भगवान्‌ने वरदान माँगनेको कहा। दासियाने कहा—'नाथ! मुझ-जैसे अधमको जब आपने दर्शन दिये, तब और मुझे क्या चाहिये। आपके चरणकमलोंका दर्शन करते हुए मैं मरूँ, यही मुझे चाहिये। हाँ, जब मैं आपका ध्यान करूँ, तभी मुझे आपके दर्शन हों—यही आशीर्वाद आप मुझे दें।'

प्रभुने कहा—'बेटा! तेरी सभी प्रार्थनाएँ पूरी होंगी। जब तू पुरी आयेगा, तब मैं मन्दिरके नीलचक्रपर बैठ जाऊँगा। उस समय तू जिस रूपमें चाहेगा, उसी रूपमें मेरे दर्शन तुझे होंगे। तू मुझे जो कुछ देगा, मैं उसीका भोग लगाऊँगा।' इस प्रकार कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

दासिया अपनेको नीच जातिका मानकर बहुत सङ्कोच करते थे। उनके मनमें इच्छा तो थी कि भगवान् उनकी भेंट स्वीकार करें; पर वे प्रार्थना करनेका साहस नहीं कर सके थे। सर्वान्तर्यामी भगवान्ने भक्तकी इच्छा जानकर स्वयं उसकी भेंटका भोग लगाना स्वीकार किया। प्रात:काल उठते ही दासिया सोचने लगे कि भगवान्को क्या भोग लगाऊँ। उन्होंने कुछ कपड़ा बुन रखा था। उसे बेचने ग्राममें निकले। एक ब्राह्मणने कपड़ा खरीदा। कपड़ा लेकर ब्राह्मण पैसे लेने घरमें गये और दासिया द्वारपर खड़े रहे। द्वारपर खड़े-खड़े दासियाने देखा कि एक नारियलका नया पेड़ है, उसपर पहला ही फल लगा है। फल पक गया है। वे सोचने लगे— 'यदि यह फल मुझे मिल जाय तो इसे भगवान्को चढ़ाऊँ।'

पैसा लेकर जब ब्राह्मण निकले, तब दासियाने वह नारियल माँगा। ब्राह्मणने पहले तो वृक्षका पहला फल देना अस्वीकार कर दिया, पर फिर उसके मनमें लोभ आ गया। दासियाके आग्रह करनेपर कपड़ेके पूरे मूल्यके रूपमें नारियल देना उसने स्वीकार कर लिया। दासियाने बड़ी प्रसन्नतासे यह शर्त मान ली और नारियल लेकर घर चले आये।

बालीग्रामदास रोज कपड़ा बुनते थे। उस कपड़ेको बेचकर उन्हीं पैसोंसे दूसरे दिनके लिये सूत खरीदते और जो कुछ बचता, उससे रूखा-सूखा खाकर काम चलाते। नारियलके लिये कपड़ेका पूरा मूल्य दे आनेका अर्थ उनके लिये केवल एक दिनका उपवास ही नहीं था। आगे सूत खरीदनेको पैसे न रहनेसे उनकी आजीविका ही नष्ट हो गयी थी। परंतु भगवान्को भेंट करनेके लिये मनचाही वस्तु मिल गयी, इस आनन्दमें अपने भूखों मरनेकी बातका ध्यान भी उनके मनमें नहीं आया।

एक ब्राह्मण पूजाकी सामग्री लिये जगन्नाथजी जा रहे थे। प्रार्थना करनेपर बड़ी सरलतासे उन्होंने वह नारियल ले जाकर भगवान्को चढ़ाना स्वीकार कर लिया। नारियल देते हुए दासियाने कहा—''महाराज! मेरे फलको सब सामग्रियोंके साथ मत चढ़ाना। इसे भगवान्के सामने भी मत रखना। अपनी पूजासे आप जब छुट्टी पा लें, तब सबसे पीछे गरुड़स्तम्भके पास खड़े होकर इसे लेकर कहना—'प्रभो! बालीग्रामदासने आपके लिये यह श्रीफल भेजा है। आप इसे ग्रहण करें।' आप इतना कहकर चुपचाप खड़े रहना। भगवान् यदि अपने हाथसे इसे ले लें तो दे देना, नहीं तो मेरा लौटा लाना।'

बालीग्रामदासकी बात सुनकर ब्राह्मण हँस पड़े; किंतु उन्होंने उनकी बात स्वीकार कर ली। एक भोले भीलकी प्रसन्नताके लिये एक नारियल ले जाकर इतना कह देना उन्हें कठिन नहीं जान पड़ा। ब्राह्मणने भगवान्की विधिपूर्वक पूजा की और प्रसाद लेकर कुछ देर विश्राम किया। घर लौटते समय उन्हें उस नारियलकी याद आयी। उसे लेकर वे गरुड़स्तम्भके पास गये। हाथमें नारियल लेकर उन्होंने प्रार्थना की—'स्वामी! आपके लिये बालीग्रामदासने यह श्रीफल भेजा है और कहा है कि भगवान् अपने हाथसे लें तो देना, नहीं तो लौटा लाना। अब आप या तो कृपा करके इस फलको ग्रहण करें या मैं लौटा ले जाऊँ।' ब्राह्मणने नेत्र बंद करके भगवान्का ध्यान किया, इतनेमें भगवान्ने हाथ बढ़ाकर फल उठा लिया। आश्चर्यचकित ब्राह्मण नेत्र खोलकर देखता है कि श्रीजगन्नाथजी उस फलका भोग लगा रहे हैं। वह भगवान्के कर-स्पर्शसे आनन्दमग्न हो गया। बालीग्रामदासके सहज विश्वास और प्रेमकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगा। घर लौटकर ब्राह्मणने बालीग्रामदासको मन्दिरकी सब घटनाएँ सुनायीं।

इस घटनाको सुनकर दासियाका हृदय आनन्दसे नाच उठा। वे समझ गये कि भगवान् प्रेमसे दी हुई नीच जातिके पुरुषकी भेंट भी स्वीकार करते हैं। अब वे स्वयं प्रसाद लेकर नि:सङ्कोच प्रभुके पास जानेका विचार करने लगे। नीलचक्रपर प्रभुके दर्शन देनेकी बात भी उन्हें स्मरण आयी। अब वे क्या लेकर नीलाचल जायँ? इतनेमें एक माली आम बेचने आया। सुन्दर आमोंको देखकर मालीको मुँहमाँगे दाम देकर उन्होंने दो टोकरियोंमें उनको सजाया। काँवर बनाकर आमोंको लिये वे पुरी पहुँचे।

पके सुन्दर आम लेकर बालीग्रामदासको आते देख पण्डोंने उन्हें घेर लिया। वे परस्पर झगड़ने लगे। बालीग्रामदासने उनसे कहा—'आपलोग क्यों व्यर्थमें झगड़ा करते हैं। ये आम आपमेंसे किसीको नहीं मिलेंगे। इन्हें

तो मेरे प्रभु खायँगे और मैं अपने हाथोंसे खिलाऊँगा।'

पण्डोंकी समझमें यह बात कैसे आये। वे तो यही जानते हैं कि जो कोई जो कुछ भगवान्‌को भोग लगाने लाता है, वह उन्हींको देता है। भगवान्‌के सामने कुछ देर रखनेके पश्चात् वह पदार्थ उन्हींका हो जाता है। एक भील भला, अपने हाथसे भगवान्‌को कैसे खिलायेगा। उसे मन्दिरमें कोई कैसे जाने देगा। परंतु उनके ऐसे तर्क, ऐसी बातें बालीग्रामदासको जँचीं नहीं। पण्डे क्रोधित हुए; पर उन्होंने किसीकी कुछ सुनी नहीं। पण्डे भी उनके पीछे लग गये कि गरुड़स्तम्भसे आगे तो यह भील जा नहीं सकेगा, फिर हममेंसे किसीको आम देगा ही।

बालीग्रामदास मन्दिरके बड़े द्वारसे भीतर आये। नीलचक्रके दर्शन होते ही वे प्रेममें विह्वल हो उठे। उन्हें उस नीलचक्रपर साक्षात् श्रीहरिके दर्शन हुए। बारंबार भूमिमें लेटकर उन्होंने प्रभुको प्रणाम किया और फिर एक-एक आम हाथमें लेकर कहने लगे—'लो, प्रभो! आप इस दासको कृतार्थ करो।' देखते-देखते दोनों टोकरियाँ खाली हो गयीं।

पण्डोंने आमोंको अदृश्य होते देखा तो पहले उन्होंने इसे जादू समझा; किंतु मन्दिरमें जाकर देखा तो भगवान्‌की रत्नवेदीके पास छिलके और गुठलियोंका ढेर लगा है। अब उन्हें बालीग्रामदासकी भक्तिका प्रभाव समझ पड़ा। प्रभुकी प्रसादी माला भक्तके गलेमें पहनाकर वे कहने लगे—'भक्तराज! तुम धन्य हो। हमलोग तो नाममात्रके भगवान्‌के सेवक हैं। जगदीशके सच्चे सेवक तो तुम्हीं हो। तुम्हारे दर्शन करके आज हम कृतार्थ हो गये।'

बालीग्रामदास इस सम्मानसे घबरा उठे। पुजारी ब्राह्मणोंके चरणोंमें गिरकर वे कहने लगे—'मैं तो नीच जातिका हूँ। मुझमें नामको भी भक्ति नहीं है। यह तो भगवान्‌की और उनके भक्त आपलोगोंकी कृपाका प्रभाव है।'

बालीग्रामदास सम्मानसे डरकर पुरी छोड़कर घर लौट आये, पर यहाँ भी उनका दर्शन करनेके लिये लोगोंकी भीड़ लगी ही रहती थी। इससे उन्हें बड़ी लज्जा आती थी कि लोग उनको भक्त कहते हैं। उन्होंने घरसे बाहर निकलना ही छोड़ दिया। अब वे घरका द्वार बंद करके रात-दिन भगवान्‌के कीर्तन, ध्यान, भजनमें लगे रहने लगे। स्त्री-पुरुष दोनों जीवनभर भगवान्‌के स्मरणमें निमग्न रहे और अन्तमें नश्वर शरीर छोड़कर भगवान्‌के दिव्यधाममें उन परम प्रभुके सेवक बन गये।

भक्त नीलाम्बरदास

हरि हरि कहि पागल फिरैं, डोलैं हाल बेहाल।
जिनके हिय मैं बसि गयो, हियहारी नँदलाल॥

नीलाम्बरदासके हृदयमें वह हृदयहारी नन्दलाल बस गया था। घरपर स्त्री थी, पुत्र थे, भरा-पूरा कुटुम्ब था, धन था, मान-प्रतिष्ठा थी; किंतु जब वह चितचोर किसीके चित्तको चुरा लेता है, तब ये ही संसारके सुख, जिनके लिये लोग दिन-रात हाय-हाय करते हैं, अनेक पाप करते भी नहीं हिचकते, उसे विष-जैसे लगते हैं। नीलाम्बरदासका भी भाग्योदय हुआ था। उनका हृदय भी उस हरिने चुरा लिया था। घर-द्वार, धन-दौलत, स्त्री-पुत्र, मान-प्रतिष्ठा, सबको तृणके समान त्यागकर, सबसे पिण्ड छुड़ाकर वे उत्तरप्रदेशसे श्रीजगन्नाथपुरीको चल पड़े थे। नीलाचलनाथके दर्शनकी प्यास उनके प्राणोंमें जाग उठी थी। मुखसे 'हरि-हरि' कहते, मनसे हरिका ध्यान करते वे मतवालेकी भाँति चले जा रहे थे।

अनेक पर्वत, नदी, नाले, वन, नगर पार करते नीलाम्बरदास गङ्गा-किनारे पहुँचे। वर्षाकी ऋतु, बढ़ी हुई भगवती भागीरथीकी धारा, न कोई ग्राम, न घाट। सन्ध्या हो चुकी थी। नीलाम्बरदास गङ्गा-तीरपर उस निर्जन स्थानमें बैठकर भजन करने लगे। थोड़ी देरमें उधरसे एक मल्लाह जाल लिये, मछली मारता नौकापर निकला। नीलाम्बरदासने उसे पुकारा—'अरे भाई! कृपा करके इस ब्राह्मणको उस पार उतार दो। तुम जो माँगोगे,

वही दूँगा। भाड़ेके लिये चिन्ता न करो।'

मल्लाहको लगा कि यात्रीके पास धन है। अच्छा शिकार फँसा समझकर वह नौका किनारे ले आया। नीलाम्बरदास प्रसन्न होकर भगवान्‌का स्मरण करते हुए नावमें बैठ गये। सूर्यदेव छिप चुके थे। अन्धकार बढ़ता जा रहा था। नीलाम्बरदास नौका पार लगानेकी शीघ्रता कर रहे थे; पर यह देखकर कि मल्लाह उनकी बात सुनता ही नहीं, वह धारामें नाव बहाये ले जा रहा है, उन्हें सन्देह हो गया। वे बोले—'भाई! तेरा मतलब क्या है? तू मुझे मार डालना चाहता है क्या? अच्छा, मैं भी देखता हूँ कि श्रीजगन्नाथके यात्रीको तू कैसे मारता है।'

मल्लाहने कहा—'मेरा मतलब समझनेमें तुम्हें अब बहुत देर नहीं लगेगी। तुमको यदि किसीको याद करना हो तो कर लो। मैं तुम्हें अभी नीलाचल पहुँचाये देता हूँ।'

इस निर्जन प्रदेशमें बढ़ी गङ्गाके बीच यात्रीको मारकर फेंक देना और उसका धन छीन लेना बड़ा सरल काम था। मल्लाह पहलेसे इसीलिये नौकापर बैठाकर यात्रीको ले आया था। अब नीलाम्बरदासने घबराकर भगवान्‌को पुकारना प्रारम्भ किया—'एक बार श्रीजगन्नाथके दर्शन होनेपर प्राण भले चले जायँ, पर उन रथारूढ़ नीलाचलनाथके दर्शन अवश्य हों। इस विपत्तिसे वे दयामय ही ब्राह्मणको बचा सकते हैं।'

जब कोई सर्वथा असहाय होकर भगवान्‌को पुकारता है, तब भगवान् उसकी प्रार्थनाका उत्तर अवश्य देते हैं। वे जगन्नाथ एक राजपूतका वेश धारण करके किनारे पहुँचे और उन्होंने पुकारा—'अरे ओ मल्लाह! नाव किनारे ले आ! यदि तुझे मरनेकी इच्छा न हो तो चल, आ झटपट इधर।' मल्लाहकी तो नानी मर गयी। भयसे थर-थर काँपने लगा वह। लेकिन नावको वह बहावमें बहाये ही जा रहा था। जब उसने दूसरी पुकारपर भी ध्यान न दिया तो एक बाण खटसे आकर नौकामें घुस गया और किनारेसे शब्द आया—'अबकी बार नावपर बाण मारा है। अब यदि तू इधर नहीं आता तो सिर उड़ा दूँगा।' मल्लाह भयके कारण सफेद पड़ गया। उसने नौका किनारेकी ओर मोड़ी।

किनारे पहुँचनेपर राजपूतने उसे डाँटा और वे ब्राह्मणसे बोले—'मैं लुटेरे, हत्यारोंसे यात्रियोंकी रक्षा करनेके लिये इधर घूमा करता हूँ। मैंने यह वेश पीड़ितोंकी रक्षाके लिये ही धारण किया है।'

ब्राह्मणने धन्यवाद दिया, कृतज्ञता प्रकट की और श्रीजगन्नाथजीके दर्शनोंके लिये शीघ्र गङ्गा-पार होनेकी इच्छा व्यक्त की। राजपूतने मल्लाहको डाँटकर कहा—'इन ब्राह्मणदेवताको झटपट उस पार उतार दे। अभी मेरे सामने इन्हें उस पार उतार। तनिक भी इधर-उधर किया तो मेरा धनुष देखे रह।' मछुएको तो प्राणोंके बचनेकी आशा ही नहीं थी। अब उसे कुछ धैर्य हुआ। वह अपने अपराधकी बार-बार क्षमा माँगता हुआ उठा और नीलाम्बरदासको नौकामें बैठाकर उसने तुरंत पार उतार दिया। मछुएका मन बदल गया था। उसे अपने कृत्यपर बड़ा पश्चात्ताप था। वह ब्राह्मणके पैरोंपर गिर पड़ा। उसे आशीर्वाद देकर नीलाम्बरदास पुरीको चल पड़े।

भगवान् जगन्नाथ बलरामजी तथा सुभद्राके साथ रथपर विराजमान हैं। लाखों भक्तोंका समूह जय-जयकार कर रहा है। चारों ओर कीर्तन, जयघोष और आनन्द-ही-आनन्द है। पुरी पहुँचनेपर नीलाम्बरदासको भगवान्‌की इस झाँकीके दर्शन हुए। वे बेसुध-से होकर भगवान्‌के रथके सामने साष्टाङ्ग दण्डवत् करते गिर पड़े। लोगोंने दौड़कर उन्हें उठाना और मार्गसे हटाना चाहा, पर अब नीलाम्बरदासको कौन हटा सकता था। वे तो श्रीजगन्नाथसे एक हो गये थे। मार्गमें तो उनका देह पड़ा था, जिसे भक्तोंने कीर्तन करते हुए समुद्रमें विसर्जित कर दिया। जगन्नाथपुरीमें अबतक उनके इस दुर्लभ मरणकी महिमा गायी जाती है।

भक्त गङ्गाधरदास

पुरुषोत्तमक्षेत्र—जगदीशपुरीमें राजा प्रतापरुद्रके समयमें गोविन्दपुर ग्राम एक प्रधान तीर्थस्थल था। उसी गोविन्दपुरमें हमारे चरितनायक परम पूज्य भक्त श्रीगङ्गाधरदासजीका निवासस्थान था। उनकी स्त्रीका नाम था श्रियाजी। ये परम सती और साध्वी थीं, स्वामीको बहुत प्रिय थीं; पर इनके कोई सन्तान न थी। ये जातिके बनिये थे। सन्तान न होनेपर भी इनको कोई सोच न था। भक्त गङ्गाधरजी साधारण वाणिज्य-व्यापार करके जीविकानिर्वाह करते हुए श्रियाजी-सहित भगवद्भजनमें ही अपना जीवन बिताते रहे। संतसेवा करते हुए बहुत दिन बीत गये, वृद्धावस्था आ गयी।

एक दिनकी बात है कि ग्रामवासियोंके तानोंसे तंग आकर साध्वी स्त्रीने अपने पतिसे कहा—'जहाँ-तहाँ घर-बाहर गाँवकी स्त्रियाँ मुझे ताने मारा करती हैं; पर हमारे भाग्यमें तो संतान है ही नहीं, चाह करनेपर भी कैसे मिल सकती है। हाँ, एक बात सम्भव है—वह यह कि आप किसी एक ब्राह्मणबालकका यज्ञोपवीत करा दीजिये, विवाह कर दीजिये अथवा किसी दरिद्रकुलका कोई लड़का मोल लेकर उसको पुत्र मानकर पालिये, उसीको गोद ले लीजिये।'

पत्नीके वेदनाभरे वचनोंको सुनकर गङ्गाधरजीने उसे ढाढ़स दिया और बोले—'हम निश्चय ही आज एक लड़का ले आयेंगे, तुम उसे पुत्रवत् पालन करना।' इतना कहकर कुछ रुपये लेकर वे वहाँको चले, जहाँ भगवान्‌के अर्चाविग्रह बनते थे। कुछ धन देकर वे श्रीकृष्णजीकी सर्वलक्षणसम्पन्न एक प्रतिमा लेकर घर आये और श्रियाजीको वह विग्रह देकर कहा—'इसकी अच्छी तरह सेवा-शुश्रूषा करती रहो; इससे इस लोकमें निर्वाह, लोकापवादसे मुक्ति और परलोकमें भवबन्धनसे मुक्ति मिलेगी। देखो, प्रिये! इन्हीं श्रीकृष्णमें यशोदामैयाने पुत्रभाव रखकर अपना उद्धार कर लिया था। ब्रह्मादि देवता भी इन्हींका भजन करते हैं, इन प्रभुको छोड़कर जीवका उद्धार करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। तुम्हारी समस्त कामनाएँ पूर्ण करनेवाले ये श्रीकृष्ण हैं।'

पतिदेवकी आज्ञा मानकर श्रिया वैसे ही करने लगी। भगवान् श्रीकृष्णके अर्चाविग्रहको मार्जन-स्नान कराके उन्हें सिंहासनपर पधराकर उत्तम-उत्तम भोग लगाती। मन-ही-मन विचार करके कि 'बहुत दिनोंपर हमें पुत्र मिला है, हमलोग इसे देखकर सुखपूर्वक रहेंगे और शरीरपात होनेपर इसकी कृपासे हमें मुक्ति भी मिल जायगी'—बहुत ही आनन्दित होती। जैसे माताको अपने छोटे बच्चेका लाड़-प्यार-दुलार अत्यन्त भाता है, वैसे ही इस अर्चाविग्रहरूप शिशुके दुलार-प्यार-सेवामें श्रियाका नित्य नया चाव बढ़ता ही जाता था। भक्त गङ्गाधरजीका भी वात्सल्य श्रियाजीसे किसी भाँति कम न था। कोई भी ऐसी वस्तु ग्राममें बिकने आती, जो बच्चोंको प्रिय लगती है और जिसको बच्चे मासे हठ करके लिया करते हैं, गङ्गाधर स्वयं लाकर उसे श्रीबालगोपालको भोग लगाते। हाटसे मीठे-मीठे पदार्थ तुरंत पुत्रके पास लाकर निवेदन करते। माता निरन्तर बच्चेको गोदमें रखती, एक क्षण भी अलग करना न चाहती। पुत्रके लिये रसोई बनानेके समय भी उसका चित्त पुत्रमें ही लगा रहता। क्षण-क्षणपर रसोई छोड़कर पुत्रको देखने चली आती और देखकर सुखी होती। फिर जाती, फिर आती। कभी-कभी आकर गोदमें जोरसे चिपटाकर कहती 'मैं बड़ी अभागिनी हूँ। तुझे अकेला छोड़कर चली जाती हूँ।' यह कहकर माता श्रीकृष्णका मुख चूम लेती, उनका सिर सूँघती। पुत्रस्नेह छोड़कर दम्पतिका सांसारिक पदार्थोंमें भूलकर भी चित्त नहीं जाता था। इस पुत्रपर पिताका भाव मातासे भी अधिक था।

इस तरह वात्सल्यभावमें पगे हुए दम्पतिको बहुत काल बीत गया। एक दिन गङ्गाधरजीने स्त्रीसे कहा—'मैं हाट जाता हूँ, मेरे श्रीकृष्णकी देखभाल करती रहना; इसकी सेवा-सँभाल तेरे जिम्मे है। देख, एक क्षण भी इसे अकेला छोड़कर कहीं जाना नहीं'—यों कहकर उन्होंने पुत्रसे भी किसी प्रकार वात्सल्यभरे स्नेहपगे वचन कहे और उसके चरणोंमें चित्त देकर वाणिज्यके लिये चले गये। परंतु पुत्रवियोगमें उनका चित्त अत्यन्त व्याकुल होने लगा, एक-एक क्षण कल्प-समान बीतने लगा। अतएव कुछ अपूर्व फल, मिष्टान्न, पक्वान्न, जो गोविन्दपुरमें नहीं मिलते थे, लेकर घर लौट चले। पुत्रदर्शनकी लालसामें वृद्ध गङ्गाधर सुध-बुध खोये उतावलीमें चले जा रहे थे कि

ग्राममें प्रवेश करते ही एकाएक ठोकर लगनेसे पैर लड़खड़ाया और वे धड़ामसे जमीनपर गिर पड़े तथा उसी क्षण शरीररूपी पिंजरेसे उनके प्राणपखेरू उड़ गये। प्राण निकलते समय उनके हृदयमें विरहाग्नि धधक रही थी। अत: सहसा उनके मुखसे निकल पड़ा—'हा बेटा कृष्ण! मैं तुझे देख न पाया। मैं बड़ा ही पापी हूँ।' 'कृष्ण-कृष्ण' कहते हुए उनका शरीर छूट गया। ग्रामवासियोंने श्रीश्रियाजीको खबर दी। वह सती उस समय पुत्रके लिये भोजन बना रही थी। पतिका मृत्यु-समाचार सुन वह शोकसे आतुर होकर पुत्रके पास पहुँची और पुकारकर कहने लगी—'अरे मेरे कृष्ण! ओ मेरे कृष्ण! तू तो अरक्षितका भाई है, दीनोंका मित्र है, वंशीधर है, जगत्को मोहित करनेवाला है। अरे, तेरा पिता राहमें मर गया, मैं क्या करूँ? रे बेटा! तुझसे पूछती हूँ, तू मुझे बता, मैं क्या करूँ?' भक्तके वशमें रहनेवाले भक्तवत्सल भगवान् माताके वचन सुनकर उनकी भक्तिके वश होकर उनके पुत्रभावको पूर्ण करनेके लिये कहने लगे—'मैया! तुम निश्चिन्त रहो, चिन्ता मत करो। मेरे पिता मरे नहीं हैं। वे थककर पत्थरपर रास्तेमें सो गये हैं, तुम जाकर उनको उठाओ और कहो कि बच्चेको अकेला छोड़कर यहाँ क्यों पड़े हो? चलो, लल्ला बुला रहा है।'

पुत्रके वचन सुनते ही वह पतिके पास गयी, देखा कि उनके शरीरमें प्राण नहीं हैं। पर क्या करती? कृष्णकी आज्ञा थी, इसलिये उनके मस्तकपर हाथ रखकर कहने लगी—'प्राणनाथ! मैं पुत्रको अकेला छोड़कर यहाँ चली आयी, मेरे साथ कोई नहीं है, अब तुरंत चलिये; देखिये, हमलोगोंकी तो पुत्रसेवा ही सर्वस्व है।' यह सुनते ही वे तुरंत इस तरह उठ बैठे, जैसे कोई सोकर उठता हो। उठते ही विकलतासे पूछा, 'बताओ, तुम यहाँ क्यों आयी? अरे! मेरा लाल कृष्ण कहाँ है, उसे अकेला कहाँ छोड़ आयी?' उसने सब हाल बता दिया। तुरंत ही दम्पति 'कृष्ण-कृष्ण' पुकारते हुए पुत्रके पास आये। गङ्गाधरने सबसे पहले सब फल-मिष्टान्न पुत्रको निवेदन किये पुत्रको देखकर वे आनन्दमें फूले नहीं समाते थे। उस निरतिशयानन्दमें दम्पति देहसुध भूलकर पुत्रको गोदमें ले-लेकर उसका मुख चूमने लगे। भक्त-दम्पति उसे एक-दूसरेसे बार-बार गोदमें लेते, हृदयसे लगाते, प्यार करते। अब वे दोनों पुत्रकी पहलेसे कोटिगुनी अधिक सेवा करने लगे। रात्रिमें जब शयनका समय आया, वात्सल्यमें विह्वल होकर भक्त गङ्गाधर कहने लगे—'अरे मेरे लाल! तेरा वियोग मुझसे सहा नहीं जाता। पेटकी ज्वाला ऐसी प्रबल है कि बिना उसको आहुति दिये काम नहीं चलता, भोजन बिना रहा नहीं जाता और उसके कारण बाजार जाना और व्यापार करना ही पड़ता है!' पिताके वचन सुनकर अन्तर्यामी भगवान् मुसकराकर कहने लगे— 'पिताजी! आप चिन्ता न करें, मुझ-सरीखे पुत्रके रहते आपको किस वस्तुका अभाव है? आपने जो कामना की है, वह पूर्ण होगी। आपका घर धन-धान्यसे पूर्ण हो जायगा, इसमें जरा भी संशय नहीं।'

दिव्य स्वरूपसे साक्षात् प्रकट हो इस प्रकार कहकर फिर भगवान् अन्तर्धान हो गये। घर धन-धान्यसे पूर्ण हो गया, पर भगवान् चले गये, सिंहासन खाली हो गया।

सिंहासन खाली देख दम्पतिके होश उड़ गये, वे पृथ्वीपर गिरकर अपनेको हतभाग्य मानकर करुण क्रन्दन करने लगे। गङ्गाधरने रोकर कहा—'हाय! मेरे लोभके कारण श्रीकृष्णने हमारा त्याग कर दिया! मुझसे भूल हुई, पर प्यारे लाल! तूने क्यों भूल की? अच्छा गये तो भी हर्ज नहीं; पर हमें क्यों न साथ ले लिया? लाल! तेरे वियोगमें यह पापी प्राण रहकर क्या करेगा……।' इस तरह करुणापूर्ण विलाप करते हुए और श्रीकृष्ण-श्रीकृष्ण कहते हुए गङ्गाधरने शरीर छोड़ दिया। सत्य प्रेमकी जय! भक्त गङ्गाधरकी जय!

पतिके मृत शरीरको गोदमें लेकर श्रिया पुत्रका स्मरण करती हुई सोचने लगी कि 'मैं अब इस क्षणभङ्गुर देहको रखकर क्या करूँगी? सतीधर्मका अनुकरणकर सबेरे ही सती हो जाऊँगी।' सोचमें ही रात बीत गयी, सबेरा हुआ। उधर उसने सारा धन लुटा दिया, घरमें कुछ भी न रखा। फिर चिता बनाकर पतिको गोदमें लेकर कृष्ण-कृष्ण उच्चारण करती हुई वह सती हो गयी। श्रीलक्ष्मीजीसहित श्रीमन्नारायणभगवान् विमानपर उसी जगह आ पहुँचे, अग्निसे दम्पति दिव्य शरीरसे निकलकर उस विमानपर सवार हो वैकुण्ठको गये। लोगोंको केवल यह दीख पड़ा कि बिजलीका-सा प्रकाश आकाशमें छाया है। कुछ ही क्षणों बाद वह प्रकाश नेत्रोंके सामने गायब हो गया। सब एक स्वरसे 'धन्य-धन्य' कहकर पुकार उठे।

ठाकुर उद्धारणदत्त

पंद्रहवीं शताब्दीके अन्तमें बंगालके हुगली जिलेमें सरस्वती नदीके तटपर स्थित सप्तग्राम नामक एक समृद्धिशाली नगर था। श्रीकरदत्त नामक एक ऐश्वर्यशाली व्यापारी वहाँ आकर निवास करने लगे। श्रीकरदत्त शाण्डिल्यगोत्रिय प्रसिद्ध वैश्य थे। वे अपनी सदाशयता और दयाधर्मपरायणताके कारण वहाँके निवासियोंके अत्यन्त श्रद्धापात्र हो गये थे। वे भूखों, अनाथों और दु:खियोंकी सहायता करनेमें कुछ भी उठा नहीं रखते थे। उनकी धर्मपत्नी भद्रावती भी सुशीला, सच्चरित्रा, पतिपरायणा एवं दया-धर्मशीला थीं। इन्हीं भद्रावती देवीके गर्भसे शाके १४०३ में महाभागवत श्रीउद्धारणदत्तका जन्म हुआ। समय पाकर इनकी शिक्षा-दीक्षा हुई। पिताकी मृत्युके बाद उद्धारणदत्त ही उनकी सम्पूर्ण सम्पत्तिके अधिकारी हुए। इसी समय उद्धारणदत्तने एक जमींदारी खरीदकर और उसे बसाकर अपने नामानुसार उसका नाम उद्धारणपुर रखा, जो आज भी कटवेके समीप विद्यमान है। पिताके समान पुत्र भी पूर्ण सदाचारी, परोपकारी और भगवद्भक्त निकला। इनके दया-भावके कारण बंगालके तत्कालीन नवाब सुलतान हुसैनशाह इनका बहुत सम्मान करते थे।

जिस समय भगवान् चैतन्यदेवके परमप्रिय सहचर श्रीनित्यानन्दजी बंगालमें हरिनामामृत-पान करा रहे थे, उस समय उनसे हरि-नामकी दीक्षा लेकर ठाकुर उद्धारणदत्त प्रेम-निमग्न हो गये और अपने पुत्र श्रीनिवासको अतुल सम्पत्तिका मालिक बनाकर श्रीनीलाचलधामको चल पड़े और श्रीमहाप्रभुका प्रसाद पाते हुए सुखपूर्वक वहीं निवास करने लगे। वहाँसे फिर श्रीवृन्दावनधाममें आकर रहने लगे। ऐसी किंवदन्ती है कि इनकी भक्तिसे प्रसन्न होकर परमाराध्या, महाविद्या, शक्तिस्वरूपिणी मा इन्हें समय-समयपर प्रत्यक्ष दर्शन दिया करती थीं।

उद्धारणदत्त जातिके स्वर्णवणिक् थे। उन्होंने श्रीनित्यानन्दजीके साथ बंगालके बहुत-से भागोंमें भ्रमण करके परम गुह्य वैष्णवधर्मका प्रचार किया था। 'जीवोंपर दया, भगवन्नाममें रुचि और विष्णुसेवा'—यही उनके प्रचारके विषय थे।

इस प्रकार १४६० शकमें ५७ वर्षकी अवस्थामें श्रीवृन्दावनधाममें इन्होंने इहलीला समाप्त की। आज भी श्रीवृन्दावनधाममें वंशीवटके निकट श्रीउद्धारणदत्तका प्रसिद्ध समाधि-मन्दिर बना है और प्रतिवर्ष हजारों यात्री उनके समाधि-मन्दिरपर श्रद्धापूर्ण पुष्पाञ्जलि चढ़ाकर अपनेको सौभाग्यशाली समझते हैं।

भक्त महेश मण्डल

(१)

देशभरमें अकाल पड़ा है, चारों ओर त्राहि-त्राहि मची हुई है, पूर्वबंगालमें अकालका विशेष प्रकोप है। लोग भूखके मारे मरे जा रहे हैं। इसी समयकी घटना है। महेश मण्डल जातिका था नम:-शूद्र—चाण्डाल। दिनभर मजदूरी करके कुछ पैसे लाता, उसीसे अपना तथा अपनी स्त्री, पुत्र, कन्या—चारोंका पेट भरता। जर-जमीन कुछ भी नहीं था। महेश भगवती दुर्गाका भक्त था, दिन-रात 'दुर्गा', 'दुर्गा' रटा करता। मा दुर्गापर बड़ा विश्वास था उसका। कितना ही दु:ख आये, कैसी ही विपत्ति पड़े, कुछ भी हो, 'दुर्गा' नाम महेश कभी नहीं भूलता था।

देशभरमें दुर्भिक्ष था, ऐसे समय काम कहाँ मिलता। महेशका परिवार आधे-पेट तो रहता ही था, किसी-किसी दिन सबको पूरा अनशन करना पड़ता। आज दो दिनका उपवास था, महेशने बड़ी मुश्किलसे छ: आने पैसे कमाये। बाजारसे दो सेर चावल खरीदे और पार जानेके लिये नदीपर पहुँचा। नदीके घाटपर खेपू महाराज दिखायी दिये।

खेपू गाँवके ज्योतिषी थे। इधर-उधर घूम-फिरकर पञ्चाङ्गका फल बतलाते, किसीकी जन्मकुण्डली देख देते। दुर्गापूजाके समय मूर्ति आदि चित्रित कर देते। इसी तरह जो कुछ मिलता, वही काम करके दो-चार पैसे

कमा लेते। न मजदूरी कर सकते न कोई और बँधी आमदनी थी। देशमें अकालके मारे हाहाकार मचा था। ऐसे समयमें इस तरहके आदमीको कौन पैसे देता है। खेपू उदासमुँह घाटपर खड़े थे। उसी समय महेशसे उनकी मुलाकात हुई। महेशने ब्राह्मणका चेहरा उतरा हुआ देखकर पूछा कि 'घरमें सब कुशल तो है?' खेपूने जवाब दिया—'क्या बताऊँ?' मा दुर्गाने मेरे नसीबमें कुछ लिखा ही नहीं। कहीं भीख नहीं मिली। तीन दिनसे घरमें किसीने कुछ नहीं खाया। आज घर जानेपर सभी लोग मरणासन्न ही मिलेंगे। इसी चिन्तामें डूब रहा हूँ।' महेशने कहा—'विपत्तिमें मा दुर्गाके सिवा और कौन रक्षा करनेवाला है। वही खानेको देती है और वही नहीं देती। हमारा तो काम है—बस, माके आगे रोना। उनके आगे पुकारकर रोनेसे जरूर भीख मिलेगी।' खेपूने कहा—'भाई! अब यह विश्वास नहीं रहा। देखते हो—दुःखके सागरमें डूब-उतरा रहा हूँ। बस, प्राण निकलना ही चाहते हैं। बताओ, कैसे विश्वास करूँ?'

मा दुर्गाकी निन्दा सुनकर महेशकी आँखोंमें पानी भर आया। महेशने कहा—'लो न, मा दुर्गाने तुम्हारी भीख मेरे हाथ भेजी है। तुम रोओ मत।' चावल-दाल सब खेपूको देकर महेश हँसता हुआ घरको चला। खेपूको अन्न देकर महेश मानो अपनेको कृतार्थ मान रहा था। उसने सोचा—'आज एकादशी है। जीवनमें कभी एकादशीका व्रत नहीं किया। कल दशमी थी। कुछ खाया नहीं। आज उपवास हो गया, इससे व्रतका नियम पूरा सध गया। अब भगवान् देंगे तो कल द्वादशीका पारण हो ही जायगा। एक दिन न खानेसे मर थोड़े ही जायँगे।'

इस प्रकार सोचता-विचारता महेश घर पहुँचा। महेशको देखते ही स्त्रीने सामने आकर कहा—'जल्दी चावल दो तो भात बना दूँ। बच्चा शायद आज नहीं बचेगा। बड़ी देरसे भूखके मारे बेहोश पड़ा है। मुझे चावल दो, मैं चूल्हेपर चढ़ाऊँ और तुम जाकर बच्चेको सँभालो।' महेशने कहा—'मा दुर्गाका नाम लेकर बच्चेके मुँहमें जल डाल दो। माकी दयासे यह जल ही उसके लिये अमृत हो जायगा। खेपू महाराजके बच्चे तीन दिनसे भूखे हैं। आज खानेको न मिलता तो मर ही जाते। मैं दो सेर चावल लाया था, सब उनको दे आया हूँ।' महेशकी स्त्रीने कहा—'ब्राह्मण-परिवारके प्राण बच गये सो तो बड़ा ही अच्छा हुआ। पर आधा उनको देकर आधा ले आते तो बच्चोंको दो कौर भात दे देती। तीन वर्षका बच्चा दो दिनसे बिना खाये बेहोश पड़ा है। अब क्या होगा? मा दुर्गा ही जाने।'

महेशने कहा—'यदि मा काली बचायेगी तो कौन मारनेवाला है, अवश्य ही बच जायगा। और यदि समय पूरा ही हो गया है तो प्राणोंका वियोग होना ठीक ही है। खेपूका सारा परिवार तीन दिनोंसे भूखा है। पहले वह बचे। हमारे भाग्यमें जो कुछ बदा है, हो ही जायगा।'

इसीका नाम त्याग है। एक करोड़पति अपने करोड़ रुपयोंमेंसे नामके लिये लाख रुपये दान दे दे तो इसमें कोई त्याग नहीं। न उसको देनेमें कोई कष्ट हुआ और न वह बदला पानेसे वञ्चित ही रहा। अखबारोंमें नाम छप गया, सरकारसे उपाधि मिल गयी और कोठीकी साख ज्यादा बढ़ गयी। त्याग तो वह है कि जिसमें कुछ कष्ट उठाना पड़ता है; इसीलिये उसका महत्त्व है। इसीलिये शास्त्रोंमें उस आधे ग्रासका महान् फल बतलाया है, जो अपने एकमात्र मुँहके ग्रासमेंसे दिया जाता है। उसके सामने लाखों-करोड़ोंका दान कोई महत्त्व नहीं रखता। महेशका त्याग तो बहुत ही ऊँचा है। उसने अपने मुँहका आधा ग्रास ही नहीं दिया, सारा ही नहीं दिया; उसने जो कुछ दिया, वह बहुत ही बढ़कर दिया। अपना शिशु पुत्र दो दिनसे भूखा है—भूखके मारे बेहोश पड़ा है—उसके मुखका दाना महेशने खेपूके उन बच्चोंकी जान बचानेके लिये दे दिया, जो तीन दिनके भूखे हैं। महेशने सोचा 'मेरा बच्चा दो दिनका भूखा है; परंतु वे तो तीन दिनके भूखे हैं, पहले उनको मिलना चाहिये।' अपने बच्चेके दुःखकी अपेक्षा महेश खेपूके बच्चोंके लिये अधिक दुःखी है। यह भी नहीं कि महेशने किसी दबावमें पड़कर अप्रसन्नता या विषादके साथ चावल

दिये हों। उसने हँसते चेहरेसे दिये, हँसता हुआ ही वह घर आया और अपने बच्चेको मौतके मुँहमें देखकर भी अपनी कृतिपर होनेवाली उसकी प्रसन्नता घटी नहीं। धन्य!

(२)

जिसका भगवान्‌पर विश्वास होता है, जो भगवान्‌के नामपर त्याग करना जानता है, जो दुःख और विपत्तियोंमें भी उन्हें भगवान्‌का आशीर्वाद मानकर—अपने मङ्गलकी चीज मानकर भगवान्‌का कृतज्ञ होता है, जो भगवान्‌की दी हुई बुरी-से-बुरी और दुःखसे भरी दीखनेवाली स्थितिमें भी भगवान्‌के मङ्गलमुखकी हास्य-छटाको देखकर हँसता है, कोई भी दुःख-भार भगवान्‌के विश्वासके मार्गसे जिसको नहीं डिगा सकता, जो हर हालतमें हँसता हुआ भगवान्‌की हरेक दैनपर सच्चे दिलसे खुशी मनाता हुआ भगवान्‌के नामको पुकारता रहता है—भगवान् उसके योग-क्षेमका वहन स्वयं करते हैं। उसका सारा भार अपने सिर उठा लेते हैं। यह सत्य है—ध्रुव सत्य है! हम अभागे मनुष्य विश्वासकी कमीसे ही दुःख-पर-दुःख उठाते हैं और भगवान्‌की बरसती हुई कृपाधारासे वञ्चित रह जाते हैं। अस्तु,

महेशके पड़ोसमें गोपाल भौमिक नामक एक मध्यवित्त गृहस्थ रहते थे। घरके बीचमें पक्की दीवाल थी नहीं। महेश और उसकी स्त्रीमें जो बातचीत हुई, उसे सुनकर गोपाल और उनकी पत्नी दोनों चकित हो गये। गोपालने अपनी पत्नीसे कहा—'मालूम होता है यह तो साक्षात् महेश ही है। भला, इतना त्याग कौन मनुष्य कर सकता है। जैसा महेश, ठीक वैसी उसकी स्त्री! मरणासन्न बच्चेको देखकर भी न तो वह पतिपर नाराज ही हुई और न उसके मुँहसे एक कड़ा शब्द ही निकला। हमारे घर रसोई तैयार है। चलो, ले चलें और उन भक्त स्त्री-पुरुषकी सेवा करके अपने जीवनको धन्य बनायें।'

दाल, भात और तरकारीकी हाँडियोंको लेकर गोपालकी स्त्री उमा अपने पतिके साथ महेशकी झोंपड़ीमें पहुँची। गोपालके हाथमें दूधका कटोरा और तीन-चार दर्जन केले थे। इतनी चीजोंको लेकर जब वे महेशके सामने पहुँचे, तब महेश उन्हें देखकर विस्मित हो गया और उसने आश्चर्यसे कहा—'यह क्यों! मैंने तो आपसे कुछ चाहा नहीं था। बिना ही कारण इस नराधमको आप इतनी चीजें क्यों देने आये हैं?'

गोपालने सजल नेत्रोंसे कहा—'नराधम कौन है? हमलोग तो परम श्रद्धाके साथ साक्षात् महेशको भोग लगाने आये हैं। हमें इस सेवाका जो सौभाग्य प्राप्त हुआ, इसमें भी आपका सङ्ग ही कारण है। मैं आपका पड़ोसी हूँ।'

महेश बोला—'यह भोजन किसी सत्पात्रको दीजिये, आपको पुण्य होगा।' गोपालने आँखोंमें आँसू भरकर कुछ जोशके साथ कहा—''मा दुर्गाका नाम लेकर मैं ये चीजें लाया हूँ। आप लौटा देंगे तो समझूँगा कि 'दुर्गा' के नामका कोई फल नहीं है, 'दुर्गा' नाम मिथ्या है।''

दुर्गाके नामका मिथ्या होना महेशके लिये असह्य था। अब उससे नहीं रहा गया और वह बड़े जोरसे 'दुर्गा', 'दुर्गा' पुकारता हुआ अपने स्त्री-बच्चोंको साथ लेकर खाने बैठ गया। गोपाल और उनकी स्त्री सामने बैठकर बड़े आदरके साथ भोजन परोसने लगे। महेशने दुर्गा मैयाका प्रसाद पाते-पाते कहा—'आज बड़े भाग्यसे खेपू महाराज मिले थे। वे न मिलते तो सिर्फ चावल ही खाकर रहना पड़ता। आज तो स्वयं मा अन्नपूर्णा यह प्रसाद लाकर खिला रही हैं। मुझे आज अन्नपूर्णाके दर्शन हो गये। मा अन्नपूर्णा अपने हाथों मुझे इस प्रकार दूध-भात खिलाना चाहती थीं, इसीलिये तो उन्होंने मुझे ऐसी बुद्धि दी कि मैं खेपूको सब चावल दे आया।'

(३)

महेश भीख माँगकर जीवन-निर्वाह करता था और उसीसे अतिथियोंकी सेवा भी। महेशके सीधेपनसे लोग अनुचित लाभ उठाते। दिनभर काम करवाकर बहुत थोड़ी मजदूरी देते। महेश कुछ नहीं बोलता। कोई किसी भी समय किसी भी कामके लिये महेशको बुलाता तो महेश 'मा दुर्गा' की सेवा समझकर तुरंत जाकर उसके

कामको कर देता। 'दुर्गा' का नाम तो उसकी जीभसे कभी उतरता ही नहीं। मा भी सदा उसकी सँभाल रखती और उसके निर्वाहयोग्य पैसे उसे मिल ही जाते।

वैशाखका अन्तिम दिन था। सन्ध्याके समय महेशकी नन्ही-सी मढ़ैयापर एक ब्राह्मण गोस्वामी अतिथिके रूपमें पधारे। ब्राह्मणका रूप कच्चे सोने-सा सुन्दर था। उनकी देहसे ज्योति निकल रही थी। महेश उस समय घर नहीं था। महेशकी स्त्रीने पड़ोसी गोपाल भौमिकके घर कहलवाया। गाँवके बहुत-से लोग आ गये और उन्होंने अतिथि ब्राह्मणको गोपालके घर अथवा और कहीं टिकनेके लिये प्रार्थना की और कहा कि 'महेश बड़ा गरीब है। इसके घर जगह नहीं है। यहाँ आपको कच्चे आँगनमें सोना पड़ेगा, कष्ट होगा; इससे कृपा करके हमारे साथ चलिये।'

ब्राह्मणदेवताने कहा—'मैं तो यहीं आया हूँ। घरके मालिक जो दे सकेंगे, वही ले लूँगा, पर किसी धनीके घर नहीं जाऊँगा।'

ब्राह्मणको किसी तरह राजी न होते देख लोग तरह-तरहकी बातें कहने लगे। किसीने कहा कि 'यह ब्राह्मण नहीं है।' कोई बोला—'चाण्डालोंका ब्राह्मण होगा।' किसीने कहा—'ब्राह्मणों और कायस्थोंके घर छोड़कर यह चाण्डालके घर ठहरा है, इसीसे इसकी प्रवृत्तिका पता लग जाता है।' सब लोग यों कोसते हुए चले गये।

इसी समय महेश आ पहुँचा, उसने भक्ति-भावसे अतिथिका आदर किया, उन्हें प्रणाम किया। महेशके घर तो कुछ था ही नहीं। वह अतिथिकी सेवाके लिये पड़ोसियोंके यहाँ कुछ माँगने गया। पड़ोसी तो पहलेसे ही तने बैठे थे। किसीने कुछ नहीं दिया; कहा कि 'उन्हें यहाँ लाओ तो देंगे।' बेचारा महेश उपाय न देखकर मधुखालि नामक गाँवमें गया। वहाँ चन्द्रनाथ साहा नामक एक बड़ा दूकानदार महेशका भक्त था। महेशके मुँहसे अतिथिके आनेकी बात सुनकर उसने लगभग बीस आदमियोंके सिरोंपर लादकर महेशके साथ खानेका बहुत-सा सामान भेज दिया और खुद भी वह उसके साथ चल दिया।

गोस्वामी महोदय श्रीमद्भागवतकी व्याख्या करने लगे। व्याख्या बड़ी सुन्दर थी। पाण्डित्य तो था ही, उसमेंसे भगवान्‌के प्रेमरसकी धारा बह रही थी। यह देखकर, जिन लोगोंने पहले गालियाँ दी थीं, वे ही आ-आकर चरणोंमें पड़ने और क्षमा चाहने लगे। कथा-समाप्तिके बाद रातके दूसरे पहर भगवान्‌को भोग लगाकर गोस्वामीने स्वयं भोजन किया और सबको प्रसाद दिया। इसी आनन्दमें सबेरा हो चला। इतनेमें देखते हैं कि गोस्वामी महाराजका कहीं पता नहीं है। लोगोंने उन्हें बहुत खोजा, पर वे कहीं नहीं मिले। तब यह निश्चय हो गया कि महेशपर कृपा करके स्वयं भगवान् ही गोस्वामीके रूपमें पधारे थे।

माघी पूर्णिमाका दिन था। गोपालके घर कीर्तन हो रहा था। इसी बीच महेश वहाँ पहुँचा और आनन्दके आँसू बहाता हुआ वहाँ नाच-नाचकर बड़े जोरोंसे भगवान्‌के नामका कीर्तन करने लगा। उसका सारा शरीर पुलकित हो रहा था। चन्द्रनाथ साहा धन्य-धन्य करने लगा। तीन वेश्याओंने आकर महेशकी चरणधूलि सिर चढ़ायी!

महेश कहने लगा—'देखो न, ये निताई-निमाई दोनों भाई कीर्तनके आँगनमें खड़े हैं! ये रहे राधा-कृष्ण। ये शिव-दुर्गा खड़े हैं! बस आज ही तो मरने लायक सुदिन है।' महेशने अपनी स्त्रीसे कहा—कुदाल लाकर गड़हा खोदो और उसमें जल छिड़क दो। 'स्त्रीने यही किया। महेशने गड़हेमें सोकर कहा—'दुर्गा-नाम सुनाओ!' चारों ओर शोर मच गया। लोग इकट्ठे हो गये। लोगोंने देखा महेशकी आँखोंमें आँसू हैं, शरीरपर रोमाञ्च है, मुँहसे 'दुर्गा' नामकी ध्वनि हो रही है और वह मन्द-मन्द मुसकरा रहा है। सब लोग उसे घेरकर कीर्तन करने लगे। यों नाम सुनते-सुनते महेशने महाप्रस्थान किया। कलिकालमें भी दुर्लभ इच्छा-मृत्यु हुई!

श्रीस्वामिनारायण

(लेखक—पं० श्रीनारायणचरणजी तर्कवेदान्ततीर्थ)

ईसवी सन् १७८१ की ३ अप्रैल, तदनुसार वि० सं० १८३७ की चैत्र शुक्ला नवमीको अयोध्याके पास 'छपिया' नामक गाँवके एक सरवरिया ब्राह्मणकुलमें भगवान् श्रीस्वामिनारायण अवतरित हुए। पिताका नाम धर्मदेव तथा माताका नाम भक्तिदेवी था। माता-पिताने उस अलौकिक बालकका नाम घनश्याम रखा। किन्तु बालक घनश्यामका ज्यों ही जन्म हुआ, त्यों ही असुरोंने उत्पात मचाना शुरू कर दिया; इसलिये पण्डित धर्मदेव सपरिवार अयोध्यामें आकर बस गये। वहींपर उन्होंने बालक घनश्यामका यज्ञोपवीत-संस्कार कराया तथा पठन-पाठनकी भी व्यवस्था कर दी। अवतारी पुरुषोंके लिये पढ़ना क्या रहता है, पढ़े-पढ़ाये तो वे पहलेसे ही होते हैं। अत: बालक घनश्याम अपनी दैवी प्रतिभासे थोड़ी ही उम्रमें सकलशास्त्रनिष्णात हो गये। किंतु अभी उनकी अवस्था केवल ग्यारह वर्षकी थी कि कुछ महीनोंके हेर-फेरसे उनके पिता-माताका स्वर्गवास हो गया। माता-पिताकी उस मृत्युका बालक घनश्यामपर बड़ा प्रभाव पड़ा और वे सं० १८४९ वि० की आषाढ़ शुक्ला दशमीके दिन रामप्रताप और इच्छाराम नामके अपने दो बड़े भाइयोंपर घरका सारा भार छोड़कर अचानक घरसे बाहर निकल पड़े। तबसे लगातार सात वर्षतक उन्होंने भारतके विभिन्न तीर्थोंका परिभ्रमण किया और अपना नाम बदलकर नीलकण्ठवर्णि रख लिया। इस प्रकार तीर्थाटन करते हुए नीलकण्ठवर्णि सं० १८५६ वि० में लोजपुर पधारे, जहाँ समाधिमें श्रीरामानुजाचार्यद्वारा दीक्षा पाये हुए भगवान्‌के अनन्य भक्त उद्धवावतार श्रीरामानन्द स्वामीका आश्रम था। वहाँ उनके शिष्य मुक्तानन्द स्वामी, सुखानन्द स्वामी आदि रहते थे। उन लोगोंके द्वारा नीलकण्ठवर्णिका आकर्षण श्रीरामानन्द स्वामीकी ओर हुआ तथा एक वर्ष बाद ही उन्होंने सं० १८५७ वि०की कार्तिक शुक्ला एकादशीको 'पीपलाणा' नामक स्थानमें उनसे भागवती दीक्षा ले ली। दीक्षा लेनेके उपरान्त उनका नाम नीलकण्ठवर्णिसे बदलकर श्रीनारायणमुनि पड़ गया और वे अल्पकालमें ही अपनी तेजस्विता, तपस्विता आदि गुणोंसे श्रीरामानन्द स्वामीके सभी शिष्योंमें प्रधान हो गये। अत: जब श्रीरामानन्द स्वामी अपना पाञ्चभौतिक शरीर छोड़कर भगवद्धामको जाने लगे, तब अर्थात् सं० १८५८ वि० की कार्तिक शुक्ला एकादशीको उन्होंने नारायणमुनिको ही जेतपुर नगरकी अपनी धर्मधुरीण गद्दीपर अभिषिक्त किया।

उसके बाद भगवान् स्वामिनारायणने अपना दिव्य प्रकाश फैलाना आरम्भ किया। उन्होंने विशिष्टाद्वैत-स्वामिनारायण-सम्प्रदायकी स्थापना की तथा देशमें घूम-घूमकर उसका प्रचार किया। उससे देशका बड़ा कल्याण हुआ। चारों ओर फैली हुई लूट-मार, बर्बरता और अधार्मिकताका अन्त होने लगा। जगह-जगहपर सुविशाल मन्दिर बन गये तथा अगणित नर-नारी भक्ति, ज्ञान, वैराग्यकी उपासना करने लगे। इस प्रकार श्रीस्वामिनारायणने लगभग अट्ठाईस वर्षोंतक अपने सम्प्रदायका प्रचार किया, धर्मकी स्थापना की और देशका कायापलट करके अन्तमें सं० १८८६ वि० की ज्येष्ठ शुक्ला दशमीके दिन वे भक्तोंकी स्थूल दृष्टिसे ओझल हो गये—उनकी लीलाका संवरण हो गया। श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदायमें उनके इतने नाम प्रचलित हैं—हरि, कृष्ण, हरिकृष्ण, श्रीहरि, घनश्याम, सरयूदास, नीलकण्ठवर्णि, सहजानन्द स्वामी, श्रीजी महाराज, श्रीस्वामिनारायण, नारायणमुनि।

भगवान् श्रीस्वामिनारायणने जनसमाजके कल्याणार्थ शिक्षापत्री नामक एक ग्रन्थ भी रचा, जिसमें उन्होंने सम्पूर्ण शास्त्रोंका सार-सिद्धान्त रख दिया। उसके कुछ श्लोकोंका संक्षिप्त आशयमात्र यहाँ दिया जाता है—'किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करनी चाहिये, अहिंसा महान् धर्म है। सभीको अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मपर आरूढ़ रहना चाहिये। जिन ग्रन्थोंमें ईश्वरके स्वरूपका खण्डन हो, उसे प्रमाण नहीं मानना चाहिये। श्रुति, स्मृति और सदाचारद्वारा ही धर्मके स्वरूपका बोध होता है। परमात्माके माहात्म्यज्ञानद्वारा उनमें जो आत्यन्तिक स्नेह होता है, वही भक्ति है।

भगवान्से रहित अन्यान्य पदार्थोंमें जो प्रीतिका अभाव होता है, उसीका नाम वैराग्य है। तथा जीव, ईश्वर और माया—इन तीनोंके स्वरूपको जान लेना ही ज्ञान कहलाता है, आदि-आदि।' इन उपदेशोंके अतिरिक्त दार्शनिक उपदेशोंका भी 'शिक्षापत्री' में समावेश किया गया है। और भी बहुत-से बहुमूल्य उपदेश हैं, जो स्थानाभावके कारण यहाँ नहीं दिये जा सकते। उनके उपदेशोंका संग्रह 'वचनामृत' नामक एक अनमोल ग्रन्थमें भी है। वह मुमुक्षुओंके लिये बड़ा उपयोगी है तथा उसमें सांख्य, योग, वेदान्त—इन तीनों शास्त्रोंका समन्वय किया गया है। श्रीस्वामिनारायणके उपदेशोंका सार नीचे दिया जाता है—

हिंसा, मांस, शराब, आत्मघात, विधवास्पर्श, किसीपर कलङ्क लगाना, व्यभिचार, देवनिन्दा, भगवद्विमुख मनुष्योंसे श्रीकृष्णकथा सुनना, चोरी, जिनका अन्न-जल नहीं खाना चाहिये उनका अन्न-जल-ग्रहण—इन ग्यारह दोषोंको त्यागकर भगवान्की शरण होनेसे भगवत्प्राप्ति होती है।

भक्त शङ्कर पण्डित

जननी सम जानहिं परनारी। धनु पराव बिष तें बिष भारी॥
जे हरषहिं पर संपति देखी। दुखित होहिं पर बिपति बिसेषी॥
जिन्हहि राम तुम्ह प्रान पिआरे। तिन्ह के मन सुभ सदन तुम्हारे॥

गण्डकीके तटपर भारद्वाज-गोत्रीय कर्मनिष्ठ भगवद्भक्त एक शङ्कर पण्डित नामके विद्वान् ब्राह्मण रहते थे। घरमें भगवान् शालग्रामजीकी पूजा थी। प्रातःकाल स्नान-सन्ध्या करके भगवान्की पूजा करते और तब एक पहरतक षडक्षर राममन्त्र (**ॐ रामाय नमः**)-का जप करते। तर्पणादि करके गाँवके बाहर जहाँ पीपलके पुराने पेड़के नीचे शिवालय था, वहाँ जाकर शिवजीकी पूजा करते। पण्डितजी थे तो श्रीरामके भक्त, किंतु राम और शिवमें भेद वे नहीं मानते थे। शिवार्चनके बिना श्रीराम-पूजा उनको पूर्ण नहीं लगती थी। पूजा-पाठसे निवृत्त होकर भोजन करते और तब ग्रामकी पाठशालामें अध्यापन करने पहुँच जाते।

उस गाँवके ठाकुर जगपाल बड़े ही धार्मिक थे। उन्होंने ही संस्कृत-पाठशालाकी स्थापना की थी। दस विद्यार्थियोंके भोजनका प्रबन्ध उनकी ओरसे था। जगपालजीको भगवान् सूर्यकी उपासना करनेसे एक नींवमें पंद्रह लाख रुपयेका सोना मिला था। उसमेंसे दस लाखको भगवान् सूर्यका मन्दिर बनवानेमें लगा देनेका उनका विचार था और शेष पाँच लाख पुत्रोंके लिये वे छोड़ जाना चाहते थे। लेकिन मन्दिर बनवानेसे पहले ही उनका देहान्त हो गया। अपना विचार अवश्य वे पुत्रोंको बता चुके थे। शङ्कर पण्डितपर उनकी बड़ी श्रद्धा थी। मरते समय वे पुत्रोंको कह गये—'शङ्कर पण्डित-जैसा महात्मा इस गाँवमें कोई नहीं है। उन्हें मुझसे बढ़कर तुमलोग समझना और आदर करना।'

जगपालकी मृत्युके पश्चात् उनके बड़े लड़के कुशलपाल गाँवके ठाकुर हुए। वे स्वभावसे अश्रद्धालु तथा विलासी थे। परंतु लोकलज्जा तथा माताके भयसे पिताकी स्थापित पाठशाला उठा देनेका साहस वे नहीं कर सके। शङ्कर पण्डितका वह आदर तो नहीं रहा, किंतु उन्हें कोई कष्ट नहीं हुआ। सात रुपये मासिक और एक सीधा रोज उन्हें मिल जाता था। वे भी अपने भजन-पूजन तथा अध्यापनके अतिरिक्त बाकी सब बातोंसे उदासीन थे। पाठशालाका काम समाप्त होते ही घर चले आते और फिर भजनमें लग जाते थे।

कुशलपालकी माताका कुछ दिनोंमें देहान्त हो गया। अब कोई अंकुश न रहनेसे उन्होंने अपने भागका सब धन विलासितामें फूँक डाला। धनकी आवश्यकता हुई तो उनके मनमें पिताका छोड़ा हुआ सोना हड़प जानेका विचार उठा। उन्होंने एक जाली दस्तावेज बनाया और उसपर अपने पिताके हस्ताक्षरोंकी हूबहू नकल कर दी। उस दस्तावेजमें सोनेके तीन भाग कुशलपालको और एक भाग शेष तीनों लड़कोंको बाँटनेकी बात थी। कुशलपालने भाइयोंको बुलाकर दस्तावेज दिखाया और कहा—'पिताजीका विचार पहले तो मन्दिर बनवानेका था, किन्तु मरते समय बदल गया। उन्होंने यह दस्तावेज लिखा और शङ्कर पण्डितके सामने ही इसपर हस्ताक्षर किया।'

जगपालके तीनों छोटे लड़के आश्चर्यचकित रह गये। वे अपने बड़े भाईके स्वभावको जानते थे, अतः उन्हें विश्वास नहीं हुआ। परंतु शङ्कर पण्डितपर उनकी पूरी श्रद्धा थी। उन्होंने कहा—'यदि शङ्कर पण्डित कह देंगे कि पिताजीने उनके सामने इसपर हस्ताक्षर किये हैं, तो हमलोग दस्तावेजको मान लेंगे। पिताजीकी इच्छाके विपरीत हमें कुछ नहीं करना है।'

कुशलपालने शङ्कर पण्डितका नाम तो ले लिया, पर फिर उसे मनमें बड़ा भय हुआ—'कहीं उस हठी निर्लोभी ब्राह्मणने मेरी बात न मानी तो?' परंतु फिर उसने सोचा—'मानेगा क्यों नहीं। मैं उसके सामने सोनेकी ढेरी लगा दूँगा। धनसे तो देवतातक वशमें किये जा सकते हैं। यदि कहीं न माना तो मैं ऐसा दण्ड दूँगा, जिसका नाम।' वह भाइयोंके पाससे घर आया और घरसे शङ्कर पण्डितके घर पहुँचा। आज उसने बड़ी नम्रतासे साष्टाङ्ग प्रणाम किया। कुशलप्रश्नके पश्चात् उसने पिताके दस्तावेज लिखनेकी बात कहकर दस्तावेज दिखाया। पण्डितजीने ध्यानसे देखकर कहा—'हस्ताक्षर दीखते तो तुम्हारे पिताके अक्षरों-जैसे हैं, पर उनके हैं नहीं। यह दस्तावेज जाली है। हस्ताक्षर किसी धूर्तने बनाये हैं।'

कुशलपालने कहा—'पण्डितजी! आप यह क्या कहते हैं? दस्तावेज मेरे हाथका लिखा है और मेरे पक्षमें है; अतः लोग तो मुझे ही धूर्त कहेंगे न?'

पण्डितजीने समझाया—'धन किसीके साथ नहीं जाता। एक दिन सभीको मरना है। झूठ और पापसे कमाया धन यहीं रह जाता है, किंतु प्राणीको अपने पापका फल परलोकमें भी भोगना ही पड़ता है। एक कौड़ी भी जब साथ जानेवाली नहीं है, तब थोड़े-से जीवनके लिये पाप बटोरना अच्छा नहीं। पापका धन यहाँ भी सुख नहीं देता। उससे यहाँ भी चिन्ता, अपयश, रोग आदिका क्लेश मिलता है और मरनेपर नरककी आगमें जलना पड़ता है।'

कुशलपालकी समझमें ये बातें बैठ नहीं सकती थीं। लोभने उसकी बुद्धि हर ली थी। उसने कहा—'पण्डितजी! आप मुझे झूठा क्यों समझ रहे हैं? मैं तो पिताजीकी इच्छाको ही सफल करना चाहता हूँ। आप कृपा करके मेरी बात सुनें। आप यदि इस एक बातमें मेरी सहायता करें तो मैं भी आपकी सेवासे दूर नहीं रहूँगा। मैं कृतघ्न नहीं हूँ। सोनेका आधा हिस्सा आपका होगा। आप उससे भगवान्‌की भरपूर सेवा-पूजा कीजिये। आपके बाल-बच्चे भी सुखी होंगे।'

शङ्कर पण्डितने यह सुनकर कहा—'ठाकुर साहब! आप अब पधारें। सोनेका लोभ देकर आप मुझे अपने पापमें सम्मिलित करना चाहते हैं? मेरे ठाकुरजी चोरीके धनकी सेवा स्वीकार नहीं करते। बाल-बच्चोंको सुख गाढ़ी कमाईके पैसेसे होगा। पापका धन तो उनको दुःखी और आचारभ्रष्ट करेगा। पापके धनसे बुद्धि नष्ट हो जाती है और फिर नाना प्रकारके अनर्थ होते हैं। मुझे आपका सोना नहीं चाहिये।'

कुशलपालको क्रोध आ गया। उसने कहा—'होम करते हाथ जलता है। भिखारी ब्राह्मणको इतना अभिमान? पण्डित! पिताजीने तुम्हें बहुत सिर चढ़ा लिया है, उसीका यह फल है। मैं जाता हूँ; परंतु याद रखना, मेरा नाम कुशलपाल है।'

पण्डितजीने कहा—'भैया! तुम इतना गर्व क्यों करते हो? मैं भिखारी हूँ, पर तुम्हारी भाँति धनके लिये मेरा ईमान कभी नहीं डिगा। देखो! यह संसार सर्वेश्वर भगवान्‌का है। उनके राज्यमें अन्याय नहीं चला करता। उन कोसलपालके रहते किसी निरपराधका कुशलपाल कुछ बिगाड़ नहीं सकते। यहाँ तो सबको अपने-अपने कर्मोंका फल ही भोगना पड़ता है। तुम अपने मनसे पापमय विचारको निकाल दो तो तुम्हारा मङ्गल होगा। भगवान् तुम्हें सुबुद्धि दें।'

कुशलपाल यह कहकर लौट आया—'तुम-जैसोंके आशीर्वादकी मुझे आवश्यकता नहीं। तुम अपने लिये ही भगवान्‌से प्रार्थना करो।' बदला लेनेकी आग उसके मनमें जल रही थी। वह जानता था कि शङ्कर पण्डित

सन्ध्याको गाँवके तालाबपर ही सन्ध्या आदि करते हैं और शङ्करजीका पूजन करके लगभग घंटेभर रात गये लौटते हैं। शिव-मन्दिरसे गाँवके मार्गमें सुनसान जंगल पड़ता था। वह सायंकाल वहीं रास्तेके पास एक पेड़की आड़में एक छुरा लेकर छिप गया। भगवन्नामका गान करते, रातके अँधेरेमें पण्डितजी मन्दिरसे घरको चले आ रहे थे। अचानक कुशलपालने उनकी छातीमें छुरा भोंक दिया और भागा। रुधिरकी धारा बह चली। 'हा राम!' कहकर पण्डित भूमिपर गिर पड़े।

छुरेका आघात लगनेसे मूर्छित होकर शङ्कर पण्डित गिरे। दूसरे ही क्षण उन्होंने जो दिव्य दृश्य देखा, उसका वर्णन सम्भव नहीं है। एक फल-पुष्पोंसे भरा बहुत ही सुन्दर बगीचा है। उसमें पक्षी चहक रहे हैं, मयूर नाच रहे हैं, भौंरे गुंजार कर रहे हैं। एक विशाल पीपलका वृक्ष है उसमें। उसके नीचे मणिमय सिंहासनपर श्रीराम एवं श्रीजनकनन्दिनी विराजमान हैं। भरतलाल और लक्ष्मणजी चवँर कर रहे हैं, शत्रुघ्नकुमार जलकी झारी लिये खड़े हैं और श्रीहनुमान्जी प्रभुके चरण दबा रहे हैं। भक्तों और संतोंका समुदाय पंक्तिबद्ध खड़ा प्रभुका स्तवन कर रहा है। वह छवि, वह सुषमा—शङ्कर पण्डित कृतकृत्य हो गये। उनकी छातीका घाव तो कबका अदृश्य हो चुका। वे तो अपलक लोचनोंसे प्रभुकी झाँकीका दर्शन कर रहे हैं। भगवान्के चरणोंमें वे लोट गये। प्रभुका संकेत पाकर श्रीहनुमान्जीने उन्हें उठाया। उठते ही वे मारुतिकी छातीसे चिपट गये। आँखोंसे अजस्र स्रोत चलने लगा। प्रभुने कहा—'शङ्कर! मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ। मुझे तुम्हारे-जैसे दम्भहीन, निर्लोभी, निष्काम भक्त अत्यन्त प्रिय हैं। मेरा चिन्तन करते हुए अभी कुछ समय पृथ्वीपर रहकर जगत्का कल्याण करो। शीघ्र ही तुम मेरे धाममें आओगे।'

शङ्कर पण्डितके सम्मुखसे वह दृश्य हट गया। उन्होंने अपनेको सुनसान जंगलमें पृथ्वीपर पड़े पाया। छातीका घाव अब सर्वथा ठीक हो चुका था। भगवान्का स्मरण करते हुए वे घरकी ओर चल पड़े।

कुशलपाल शङ्कर पण्डितको छुरा मारकर भागा था। कुछ दूर जाते-न-जाते दो अत्यन्त भयङ्कर यमदूतोंने उसे पकड़ लिया और बोले—'नराधम! हम अभी तुझे मार डालते और ले जाकर नरकमें पटक देते; पर क्षमाशील शङ्कर पण्डितने तुझे क्षमा कर दिया। वे सच्चे हृदयसे तेरा मङ्गल चाहते हैं। तू उनके आशीर्वादसे सुरक्षित है। अतः हमलोग तुझे थोड़ा-सा दण्ड देकर ही छोड़ देते हैं। अब भी तू द्वेष और लोभ छोड़ दे, नहीं तो तेरी भयङ्कर दुर्दशा होगी।' इतना कहकर उसके मस्तकमें एक घूँसा जमा दिया उन्होंने। उसके मुखसे रक्त निकल आया और मूर्छित होकर वह गिर पड़ा।

शङ्कर पण्डितने मार्गमें कुशलपालको मूर्छित देखा। अब चन्द्रमा निकल आया था। उजेलेमें उसकी दुर्दशा देखकर पण्डितको बड़ा दुःख हुआ। कुएँसे जल लाकर उसका रक्त धोया उन्होंने। कुछ देरमें उसे होश आया। चेतन होते ही वह पण्डितके चरणोंमें गिर पड़ा और फूट-फूटकर रोने लगा। उसने कहा—'मैं बड़ा नीच हूँ। बड़ा पापी हूँ मैं। जन्मभर पाप ही मैंने कमाये। आप महापुरुष हैं। मुझे क्षमा कर दें। मुझे अपने चरणोंमें स्वीकार करें।'

कुशलपालने अपने धोखा देनेकी बात, यमदूतोंसे दण्ड पाना आदि सब सुनाया और क्रन्दन करने लगा। पण्डितजीने कहा—'भाई! तुमने तो मेरा उपकार ही किया। तुम छुरा न मारते तो मुझे भगवान्के दर्शन कैसे होते। तुम तो मेरे सबसे बड़े हितैषी हो।'

कुशलपालका चित्त शुद्ध हो गया था। उसका आग्रह देखकर पण्डितजीने उसे श्रीरामषडक्षर (**ॐ रामाय नमः**) मन्त्रकी दीक्षा दी। उसका जीवन ही पलट गया। घर आकर उसने सारा धन भाइयोंको दे दिया। भाइयोंने दस लाखके सोनेसे अपने पिताकी इच्छाके अनुसार सूर्यमन्दिर बनवाया। कुशलपाल तो शङ्कर पण्डितका शिष्य होकर भजनमें लग गया। गुरु-शिष्य दोनों अन्तमें भगवान्के धाममें पहुँचकर कृतार्थ हो गये।

भक्त पुरुषोत्तम

गङ्गाजीके पवित्र तटपर एक गाँवमें पुरुषोत्तम नामक एक ब्राह्मण रहते थे। माता-पिता छोटी उम्रमें मर गये थे, दादीने उनको पाला था। बुढ़िया दादीका भगवान्‌में सरल विश्वास था और वह दिन-रात मुँहसे राम-राम रटती रहती थी। दादीके शुभ सङ्गसे पुरुषोत्तमको भी राम-नाम रटनेकी बान पड़ गयी। राम-नाममें बड़ी अनोखी मिठास है, परंतु इस मिठासका अनुभव होता है रुचि होनेपर ही। लेकिन यह रुचि भी होती है नामके सतत सेवनसे ही। पुरुषोत्तमजी तो बचपनसे ही राम-नाम रटने लगे थे। अतएव इनकी नाममें रुचि हो गयी और रुचि होनेपर इन्हें मिठास भी मिल ही गयी। राम-नामका यह रस इतना मधुर है कि इसके एक बार भी चख लेनेपर फिर इसके सामने सारे रस नीरस और फीके हो जाते हैं—

श्रीतुलसीदासजीने गाया है—

जो मोहि राम लागते मीठे।

तौ नवरस षटरस रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे॥

'यदि मुझे राम मीठे लगे होते तो नव रस (शृङ्गार, हास्य, करुण, वीर, रौद्र, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त—साहित्यके ये नौ रस) और छः रस (कटु, तीक्ष्ण, मधुर, कषाय, अम्ल और लवण—भोजनके ये छः रस) नीरस और फीके पड़ जाते।'

पुरुषोत्तम इस रसका स्वाद चख चुके थे, इसलिये उन्हें अब जगत्‌के किसी रसमें रति नहीं रह गयी। दादीने दो-एक बार कहा, पर पुरुषोत्तमने विवाह नहीं किया। समयपर दादीका देहान्त हो गया। फिर तो पुरुषोत्तम सर्वथा स्वतन्त्र होकर रामभजनमें लग गये। घरमें कुछ जमीन थी, उसीमें खेती करते। स्वयं परिश्रम करते और जो अनाज पैदा होता, उसीसे जीवननिर्वाह करते। उस अनाजमेंसे कुछ बचता, उसको बेचकर कपड़ा, तेल, मसाला, बैल, हल आदि सामान ले आते। उनका नियम था—न माँगकर खाना, न बिना परिश्रमका खाना, न पड़े-पड़े खाना, न किसीसे कभी कुछ लेना। कम-से-कम आवश्यकता और उसे अपने परिश्रमसे ही पूरा करना। पुरुषोत्तमके दिन बड़े ही सुखसे कटते थे। वे जब खेतमें परिश्रम करते, तब भी उनके मुँहसे रामका नाम और मनमें रामका ध्यान रहता। उनका परिश्रम भी सारा अपने इष्टदेव रामकी पूजाके लिये ही होता।

घरमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका सुन्दर प्राचीन विग्रह था। बड़े प्रेम, चाव, भाव और विधिसे पुरुषोत्तमजी भगवान्‌की पूजा करते। स्वयं रसोई बनाकर भगवान्‌के भोग लगाते और उसी प्रसादसे अपने अंदर रहनेवाले भगवान्‌की तृप्ति करते।

भगवान्‌ने कहा है—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।

प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥

(गीता १५। १४)

'मैं ही सब प्राणियोंके शरीरमें स्थित प्राण और अपानसे संयुक्त वैश्वानर अग्निरूप होकर चार प्रकारके अन्नको पचाता हूँ।'

बाहर भी भगवान्‌को भोग लगाना और भीतर भी भगवान्‌को ही। भक्त जो कुछ करता है, बाहर-भीतर सब भगवान्‌के लिये ही करता है। वह अपना अस्तित्व भी भगवान्‌के ही आधारपर मानता है। स्वतन्त्र न वह कुछ है, न उसका अपना कोई अलग कार्य है। उसके सारे कार्य भगवान्‌के कार्य हैं; क्योंकि वह सर्वदा और सर्वथा भगवान्‌का ही है। पुरुषोत्तम भक्तके सारे कार्य इसी भावसे सम्पन्न होते। निरन्तर भगवान्‌का अखण्ड स्मरण और भगवान्‌के लिये ही मन-वाणी-शरीरकी प्रत्येक क्षणकी प्रत्येक क्रिया। यही तो भगवदीय जीवन है।

ज्यों-ज्यों भजन बढ़ता गया, त्यों-ही-त्यों भावमें प्रगाढ़ता आती गयी। लगभग बारह वर्षकी साधनासे पुरुषोत्तमका सब कुछ राममय हो गया। अब उनकी खेती-बारी छूट गयी। खेती-बारी कहाँसे होती—गाढ़ समाधिमें भोजन-पानका भी कोई पता नहीं रह गया। श्रीमद्भागवतमें कथित श्रीभगवान्‌की निम्नलिखित उक्ति मानो उनमें पूर्णतया चरितार्थ हो गयी—

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं

रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।

विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥
(११। १४। २४)

भगवान् श्रीरामका नाम-गान करते हुए उनकी वाणी गद्‌गद हो जाती। चित्त द्रवित होकर बहने लगता। एक क्षणके लिये भी रोना बंद नहीं होता। कभी वे खिलखिलाकर हँसने लगते, कभी लाज छोड़कर उच्च स्वरसे गाने लगते और कभी उन्मत्त होकर नाचने लगते। भक्तिरसमें सराबोर हुए भक्त पुरुषोत्तमजीकी इस स्थितिमें जो कोई भी उनके पास आता, उनकी इस दिव्य भावमयी स्थितिके दर्शन करता, वही पवित्र-हृदय होकर भावोन्मत्त हो जाता।

पुरुषोत्तमजीकी रामधुन दूर-दूरतक पहुँची। घर-घर और गाँव-गाँवमें लोग राम-नामका मधुर कीर्तन करने लगे। पुरुषोत्तमजीके दर्शनार्थ दूर-दूरसे लोग आने लगे। पर उनकी भाव-समाधि प्रगाढ़से प्रगाढ़तर होती गयी। वे सदा-सर्वदा बाह्यज्ञानशून्य रहते और उपर्युक्त भावोंका विलक्षण प्रकाश उनमें निरन्तर होता रहता। इस दशामें वे पाँच वर्षतक रहे। एक दिन इसी दशामें भगवान् श्रीरामके विग्रहके सामने नाचते-नाचते ही उन्होंने तीन बार बड़े जोरसे राम-नामका घोष किया और उसी क्षण उनका ब्रह्मरन्ध्र फट गया। शरीर भगवान्‌के श्रीविग्रहके चरणोंपर गिर पड़ा। उस समय भी उनके मुखमण्डलपर अपूर्व तेज छाया था और मानो उनके रोम-रोमसे रामध्वनि हो रही थी।

विरक्त रामभक्त श्रीबनादासजी

(लेखक—बाबा श्रीराघवदासजी एम्०एल्०ए०)

महात्मा श्रीबनादासजीका जन्म गोंडा जिलेमें लकड़मंडी-गोंडा सड़कपर नबाबगंजके पास ग्राम अशोकपुरमें हुआ था। इनके पिता बड़े सहृदय और भक्त पुरुष थे। एक महात्माने उनकी सेवासे प्रसन्न होकर उनको आशीर्वाद दिया था कि 'तुम्हारे घरमें महापुरुषका आविर्भाव होगा।' श्रीबनादासजीकी माता भी सरलहृदया, साध्वी स्त्री थीं। इनका विवाह बरहज (देवरिया) के पास मोहरा समोगर ग्रामके एक टोलेमें हुआ था।

आरम्भमें घरकी गरीबीके कारण बनादासजी विशेष पढ़ न सके। साधारण अक्षर-ज्ञान ही उनको था। युवावस्थामें भिनगा राज्य (बहराइच)-की सेनामें उन्होंने सिपाहीकी नौकरी की और तीस वर्षतक वे इस नौकरीमें रहे। उन्हीं दिनों उनके इकलौते पुत्रका बारह वर्षकी आयुमें स्वर्गवास हो गया। वे मन:सान्त्वनाके लिये शवके साथ श्रीअयोध्याजी चले आये, परंतु बादको हमेशाके लिये विरक्त होकर विक्टोरिया पार्कके पश्चिम एक निश्चित स्थानपर बैठकर उन्होंने चौदह वर्षतक बड़ी कठोर तपस्या की। वे अयोध्याजीमें लगभग चालीस वर्ष रहे। इतने लंबे समयमें धनसंग्रहका तो कोई उपाय किया ही नहीं। कभी भिक्षा भी नहीं माँगी।

रीवाँनरेश महाराज श्रीरघुराजसिंहजी रामभक्त थे। एक बार जब वे श्रीअवध पधारे, तब यह सुनकर कि भवहरनकुञ्जमें एक विरक्त महात्मा रहते हैं, ये श्रीबनादासजीके दर्शनके लिये गये। श्रीबनादासजी उस समय अपनी कुटियामें लेटे हुए थे। श्रीरघुराजसिंहजीके आनेकी खबर पाकर भी वे उठे नहीं। लेटे हुए ही करवट बदलकर उन्होंने उनकी ओर पीठ कर दी। इसमें रीवाँनरेशको अपमान मालूम हुआ और वे चल दिये। रातमें उन्हें स्वप्न हुआ कि तुमने एक महात्माका निरादर किया है। रघुराजसिंहजी तुरंत बारह बजे रातको दर्शनके लिये महात्मा बनादासकी कुटीपर गये। महात्माजी निद्रामें थे। अतएव चार बजे प्रात:तक उन्हें वहाँ बैठना पड़ा। चार बजे नित्यक्रियाके अनन्तर दर्शन हुए। अपनी भूलके लिये रघुराजसिंहजीने क्षमा माँगी और दस हजारकी थैली देना चाहा। बनादासजीने स्वीकार नहीं किया और यह दोहा कहा—

जाँचब, जाब, जमाति, जर, जोरू, जाति, जमीन।
जतन आठ ये जहर सम, बनादास तजि दीन॥

अन्तमें श्रीरघुराजसिंहजीने उन रुपयोंसे भवहरनकुञ्जमें महात्मा बनादासद्वारा दी हुई भूमिपर श्रीराममन्दिर बनवाया

और पूजा-भोग-रागके लिये बीस रुपये मासिक वृत्ति लगा दी। आगे चलकर महात्माजीकी मृत्युके बाद आश्रमके अधिकारियोंकी असावधानतासे यह वृत्ति बंद हो गयी।

बनादासजीने आजन्म किसीको सिर झुकाकर प्रणाम नहीं किया। वे कहा करते थे कि अपना सिर तो मैंने भगवान्‌को अर्पण कर दिया है, दूसरेके सामने उसे झुकानेसे इष्टदेवकी अप्रतिष्ठा होती है—

'सिर दिया सरकार को सो और को कैसे नवे।'

उनको जगन्माता श्रीसीताजीका बड़ा भरोसा था। इसलिये उन्हें अपने खान-पान-आरामके लिये कोई फिक्र नहीं रहती थी। वे कहते थे—

भोजन सिय को भेजो पैहौं।
रूखो सूखो सरो नकारो परम प्रेम ते खैहौं॥
जगत आस तजि भयो आपु को, अब पर घर नहिं जैहौं।
'बनादास' किमि आस करै पर, आपु को दास कहैहौं॥

बीमारीके समय भी औषध-उपचारके लिये चिकित्सकोंकी शरण न लेकर वे सीता माताकी ही याद किया करते थे—

को तन ताप हरै सीता बिन।
बात सीत ज्वर जुरे जोर करि, जानि अबल मोहि अति त्रासा इन।
बहु उपाय करि कै हार्‌यौं हिय, आपु सरिस सूझत कोउ नाहिन॥

इसी श्रद्धा-विश्वासका यह फल था कि अपने चालीस वर्षके अयोध्यावासमें इन्हें कभी भिक्षा माँगनेकी जरूरत ही नहीं पड़ी।

ये बहुत स्पष्टवक्ता थे। ऐश-आराम, साधुताके नामपर नाना आडम्बर—इनसे ये दु:खी रहा करते थे। इसलिये अपनी रचनाओंमें महात्मा कबीरदासकी तरह इन्होंने कड़े शब्दोंमें इसकी समालोचना की है।

बनादासजीने आत्मानुभूति, भगवद्भक्ति तथा तद्विषयक संतोंके जो अनुभव लिखे हैं, देखिये, वे कितने सही हैं। वे लिखते हैं—

अजब रँग अनुभौ बरसै लाग।
काम क्रोध मद आस बासना अर्क जवासहि झरसै लाग।
लोभ मोह परद्रोह दोष दुख कलि कुचाल सब तरसै लाग॥
जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति तीनि गुन बिधि निषेध को गरसै लाग।
इन्द्री दमन अमन सब भाँतिहि अरुचि होन अब छरसै लाग॥
मन बुधि चित हंकार धूरि भे, जग बेवहार सो जरसै लाग।
धीर बिबेक बोध अनुरागहि ज्ञान बिरागहि परसै लाग॥
छमा सील संतोष सुराई सांति सहज सुख सरसै लाग।
'दास बना' जपि नाम सो उपजा मुक्त करत नहिं अरसै लाग॥

× × × ×

रहना एकांत सब बासना को अंत किएँ,
सांत रस साने औ न खेद उतसाह है।
धीर कुटी छाए, जाल जटा को मुड़ाए,
मोह कोह को नसाए, सदा बिना परवाह है॥
उद्दिमको डारे, मन मारे औ बिचारे वेद,
हारे हक सारे औ बिचारे गुनगाह हैं।
तरक, तकरीरी औ जगीरी तीनि लोक,
'बना' आस फरक तौ फकीरी वाह वाह है॥

जिस अशोक वृक्षके नीचे महात्मा बनादासजीको ज्ञान लाभ हुआ था, वह अयोध्याजीमें विक्टोरिया पार्कके पश्चिमी किनारेपर आजतक मौजूद है।

भक्त मुरारीदास

मध्यदेशान्तर्गत छत्तीसगढ़ परगनेके बिलौदाँ नामक गाँवके पास लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व एक अत्यन्त अकिंचन ब्राह्मणके घर मुरारीका जन्म हुआ। इस कंगाल निरीह परिवारमें मुरारी अत्यन्त सुन्दर, स्वस्थ और प्रसन्न बालक था। ऐसे सुन्दर बच्चेको पाकर माता-पिता दोनों निहाल हो गये। मुरारीको गोदमें लेकर उसकी माँ लोरियाँ सुनाती। प्रात:काल जगाते समय, भोजन कराते समय, नहलाते समय और सुलाते समय—जब देखिये वह कोई-न-कोई गीत सुनाकर अपने प्यारे शिशुको रिझाती रहती। इस प्रकार मुरारीको संगीतका रस माताके दूधके साथ मिला था। उसकी वाणी अत्यन्त लोचभरी और मधुर थी। इस कारण गाँवकी स्त्रियों और बच्चोंको वह प्राणोंसे भी प्यारा लगता।

मुरारीसे सभी सुन्दर गीत सुनते। उन्हें ऐसा लगता मानो उनका यह प्यारा मुरारी वस्तुत: वही मुरारी है, जिसने बाँसुरी बजाकर गोपियोंको मनमाना नचाया था।

वे अपने आनन्दके लिये कभी मुरारीको पीली रेशमी धोती पहना देतीं, नीचेतक लटकती हुई वनमाला गलेमें डाल देतीं, बड़े-बड़े बालोंकी कबरी बाँधकर उसमें मोरकी पाँख खोंस देतीं। हाथमें एक लकुटिया और मुरली देकर जब वह काजल और खौर लगाये, पैरोंमें घुँघरू बाँधकर नाचने लगता तो सत्य ही वह त्रिभुवनसुन्दर श्यामसुन्दर-सा सलोना लगता।

परंतु यह रस-रङ्ग अधिक दिन न चल सका। पहले मुरारीके पिताका देहान्त हुआ और कुछ दिनों बाद उसकी माँने भी उसका साथ छोड़ दिया। उसकी माँका यही आशीर्वाद था कि 'बेटा! जो सबकी सम्हाल रखते हैं, वे तुम्हारी भी सम्हाल रखेंगे। मैं तुम्हारी चिन्ता क्यों करूँ। तुम जहाँ रहो, प्रभु-प्रेममें छके रहो। मेरा यही आशीर्वाद है कि भगवान् तुम्हारा सब प्रकार मङ्गल करें……।'

चारों ओरसे अपनेको सर्वथा अनाथ पाकर आश्रयहीन मुरारीके मनमें गाँव छोड़ देनेकी बात प्रायः आया करती। एक माँ थी, उसने भी साथ छोड़ दिया; अब यहाँ किसके लिये रहना है। परंतु मुरारीको मन्दिरमें बैठनेसे बड़ी शान्ति मिलती। गाँवके लोग मुरारीको चाहते, परंतु सबसे उपरत हो वह प्रायः सबसे अलग ही रहता। कभी-कभी कोई अपने घरसे लाकर कुछ खिला देता तो खा लेता, नहीं तो ऐसे ही पड़ा रहता।

एक बार लगातार तीन दिनोंतक मुरारीको कुछ भी खानेको नहीं मिला। न किसीने उससे पूछा एवं न वह स्वयं किसीके पास गया। भूख एवं प्यासके मारे उसके प्राण विकल थे। वह जानता था कि अब वह ज्यादा जीवित नहीं रहेगा। उसने बेजार होकर अपना अन्तिम संगीत प्रभुके चरणोंमें निवेदित किया। उसका स्वर लड़खड़ा रहा था। आँसुओंकी झड़ी लगी हुई थी। मुरारी गीत पूरा नहीं कर पाया। लड़खड़ाकर बीचमें ही बेहोश होकर गिर पड़ा। उसके मुखसे बार-बार यही निकल रहा था—

बिसर न जाज्यौ मेरे मीत। तजिहौ न मोहन प्रीत॥

इतनेमें वह देखता है कि मन्दिरसे कोई देवी सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित त्रैलोक्यसुन्दरी अग-जगमोहिनी एकाएक निकली। उसने मुरारीके सिरको गोदमें रखकर कहा—'बेटा! जिसकी कोई सुध लेनेवाला नहीं होता, उसकी सुध मैं लेती हूँ—सारा संसार मेरी संतान है। उठो, भोजन करो।'

मुरारी अर्द्धचेतन अवस्थामें पड़ा था। माता अपने हाथोंसे उसे खिलाने लगी। खिला-पिलाकर माँने उसे प्यारसे अपनी गोदमें सिर रखकर सुला दिया।

जागनेपर मुरारीकी दशा विक्षिप्त-सी हो गयी। वह जिसे देखता, उसीके चरणोंमें लोटता और माँ-माँ चिल्लाता। राह चलनेवाला ब्राह्मण हो या चाण्डाल—मुरारीके लिये सभी साक्षात् जगज्जननी श्रीराधारानी ही थे। वहाँके नरेशने उसे अनाचारी समझ देश-निर्वासित कर दिया। मुरारीको अब किसी देशसे कोई मोह नहीं था। उसके लिये सभी भूमि गोपालकी हो चुकी थी। उसने पूरी मस्तीसे भगवान्का एक गीत राजाको सुनाया और चल पड़ा अपने प्यारेके देश वृन्दावनकी ओर। वृन्दावनमें उसका एकमात्र काम था—यमुनाके किनारे-किनारे घूमना; कभी घूमना, कभी गाना, कभी नाचना एवं कभी यों ही खिलखिलाकर हँसना और कभी तुरंत डाढ़ मारकर रोना। मुरारीको दुनिया पागल कहती।

वहाँ मुरारीके जानेके बाद छत्तीसगढ़-नरेशकी दशा विचित्र हो गयी। उन्हें अपने अपराधपर अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ। वह अपनी रानी एवं सामन्तोंके साथ उसे लेने गये। किंतु मुरारी अपनी मस्तीमें अपना सब भूल चुका था। उसने राजाको पहचाना ही नहीं। उसके लिये तो सभी वासुदेव हो चुके थे। वह तो उन्मत्त-सी अवस्थामें यमुनाजीकी तपती रेतपर नृत्य कर रहा था। राजाने उसे दण्डवत् किया तो वह लगा जोरसे हँसने। किंतु राजाको तो अपने कियेपर अत्यन्त ग्लानि हो रही थी। उन्होंने पालकी मँगवायी। मुरारीदासको उसपर बैठाकर छत्तीसगढ़की ओर लिवा चले।

मुरारीदासके लौटनेपर छत्तीसगढ़में नवीन प्राण आ गये। सर्वत्र आनन्द-मङ्गल-बधाइयाँ होने लगीं। राज्यभरमें धूम मच गयी। राजाकी जीवनचर्या ही बदल गयी। साधुसङ्ग और प्रजापालनमें ही उनका सारा समय बीतने लगा। प्रजामें उनकी नारायणबुद्धि हो गयी और उनकी सेवामें राजाको बड़ा सुख मिलने लगा।

किसी तरह कुछ दिन तो मुरारीदासजी वहाँ रहे। एक दिन प्रातःकाल लोगोंने देखा—मुरारीदासका कंथा, करवा वहीं है और मुरारीदास अब वहाँ नहीं हैं। लोगोंने बहुत ढूँढ़ा, पर उस पागलका पता न चला।

महाराज व्रजनिधि

महाराज व्रजनिधि भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी प्राणेश्वरी श्रीमती राधारानीके चरण-कमलके उपासक थे। वे भगवान्के रूप-रस-माधुर्यके अनन्य भक्त थे। उन्होंने भगवद्गुणगानसे अपनी काव्यसाधना सफल की।

महाराज व्रजनिधिका जन्म संवत् १८२१ वि० में हुआ था। उनका नाम प्रतापसिंह सवाई था। वे जयपुर राज्यके अधिपति थे। यद्यपि उनका अधिकांश समय राजकार्य और रणस्थलमें ही बीता था, तो भी भक्ति-रसकी तरङ्गमें वे अपने कुलदेवता भगवान् व्रजनिधिके सम्बन्धमें सरस और माधुर्य-गुणोपेत पदोंकी रचना किया करते थे।

जगन्नाथभट्ट उनके दीक्षा-गुरु थे। उन्होंने ही महाराज व्रजनिधिके हृदयमें भक्ति-भावना सुदृढ़ की थी। महाराजने उनका श्रद्धापूर्वक आभार स्वीकार किया है। महाराज व्रजनिधिने ऐश्वर्यके वातावरणमें माधुर्य और श्रीकृष्ण-भक्तिका जो स्रोत प्रवाहित किया, वह उनके अनन्य भगवत्प्रेमका परिचायक है।

वे ठाकुरजीको नित्य पाँच पद नये समर्पित किया करते थे। उनके स्नेह-विहार, विरह-सलिता, रासका रेखता आदि ग्रन्थोंके अवलोकनसे पता चलता है कि उनमें पवित्र भगवद्भक्ति और दिव्य प्रेमका समुद्र उमड़ा करता था। वे शुद्ध सात्त्विक शृङ्गार-रसमें पद-रचना करके प्रभुको रिझाते रहनेमें ही आत्मानन्दकी पूर्ण उपलब्धि करते थे। उनमें व्रज-भूमिके प्रति अपार अनुरक्ति थी। वे व्रज-रजमें लोटते रहनेकी सदा उत्कट इच्छा किया करते थे। व्रजरसके सामने उन्हें राजसुख अत्यन्त फीका लगता था। उन्हें अनेकों बार भगवान् श्रीकृष्णके प्रत्यक्ष दर्शन भी हुए थे। उनका पद *'आजु मैं अँखियन को फल पायो'* इस तथ्यका पुष्ट प्रमाण है। सुन्दर श्याम-सलोने नन्दनन्दनपर उन्होंने अपना सर्वस्व निछावर कर दिया था। उन्होंने एक स्थलपर अपना कृष्णानुराग प्रकट किया है—

प्यारौ ब्रज को ही सिंगार।
मोर पखा अरु लकुट बाँसुरी, गर गुंजन को हार॥
बन बन गोधन संग डोलिबो, गोपन सों कर यारी।
सुनि सुनि के सुख मानत मोहन ब्रजबासिन की गारी॥
बिधि सिव सेस सनक नारद से जाको पार न पावैं।
ताकों घर बाहर ब्रजसुंदरि नाना नाच नचावैं॥
ऐसो परम छबीलो ठाकुर कहौ काहि नहिं भावै।
'ब्रजनिधि' सोई जानिहै यह रस, जाहि स्याम अपनावै॥

व्रजनिधिने अपनी सरस और भक्तिपूर्ण पद-रचनामें परम रसिक नागरीदासजीकी काव्यपरम्पराका अनुगमन किया। नागरसमुच्चयके पदोंसे उनकी रचनाका अधिक साम्य है। वास्तवमें उनका जीवन धन्य था कि संघर्षमें रहकर भी उन्होंने अपने उपास्य राधा-कृष्णकी भक्तिका अलौकिक आनन्द लाभ किया। सं० १८६० वि० में उनका देहावसान हो गया।
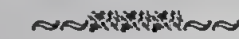
भक्त प्रेमनिधि

भक्त प्रेमनिधि प्रेमकी साक्षात् मूर्ति थे, उनपर भगवान्की प्रेममयी कृपाकी निरन्तर वृष्टि होती रहती थी। प्रभुके सुख और संतुष्टिमें ही वे अपना मङ्गल देखते थे। भगवान्के मङ्गलमय विधानमें उनकी अडिग आस्था थी। वे आगरामें रहते थे। भगवान्की सेवाके लिये वे सूर्योदयसे पहले ही यमुनानदीसे जल लाया करते थे। उनका निवास-स्थान यवनोंकी बस्तीके निकट था। अतएव आशङ्का बनी रहती थी कि सूर्योदयके बाद जल छू न जाय।

एक दिन भगवान्ने भक्तिकी कड़ी कसौटीपर भक्तको कसना चाहा। आधी रातके बाद ही आकाशमें काली घटाएँ छा गयीं, बिजली चमकने लगी, कहीं हाथ पसारे भी न सूझता था। मूसलधार वृष्टिके फलस्वरूप सारी धरती कीचड़में बदल गयी। प्रेमनिधिको तो प्रभुके लिये शुद्ध जल लाना था, नींद नयनोंमें न समा सकी। सिरपर भगवत्सेवाकी चिन्ता सवार थी, बैठकर बिहान कर रहे थे। मनने कहा कि 'सूर्योदयके बाद ही जल

लाना ठीक होगा।' बुद्धिने उसका समर्थन किया। हृदयने विरोध किया कि भगवत्सेवामें प्रमाद और आलस्यको तो स्थान ही नहीं है। विवेकने भक्तके भाव-विकासमें बल दिया। प्रेमनिधिने हाथमें गागर ले ही तो ली। पैर कीचड़में लथपथ भले हो जायँ, शरीर कालिन्दीके तटपर भले ही निष्प्राण हो जाय, पर सेवाके लिये जल लाने तो जाना ही था। भक्तने गागर लेकर पैर बढ़ा दिये। भगवान्‌के भक्त ही तो ठहरे। श्यामसुन्दर नन्दनन्दन कोटिकन्दर्पलावण्ययुक्त रासेश्वरको नित्य-विहार भले ही छोड़ना पड़े, पर उनके देखते भक्त अरक्षित नहीं रह सकते। भगवान् भक्तके कल्याण और सुखकी निरन्तर चिन्ता किया करते हैं। प्रेमनिधिने देखा एक बारह सालका सुन्दर बालक उनके आगे-आगे मसाल लेकर चल रहा है। उन्होंने सोचा कि राजपथका मसालची होगा; जहाँतक जाय, वहाँतक इसके मसालका उपयोग कर लेना चाहिये। पर आश्चर्यकी बात तो यह हुई कि यमुनातटपर उनके पहुँचते ही वह बालक अदृश्य हो गया। प्रेमनिधिने उसके इस व्यवहारकी ओर कुछ ध्यान ही न दिया। वे तो स्नान करके गागरमें जल लेकर जानेकी बात सोच रहे थे। वे जल लेकर चलने लगे तो मसालची फिर दीख पड़ा। निवास-स्थानपर पहुँचते ही मसालची अन्तर्धान हो गया। प्रभुकी लीला भक्तसे छिपी न रह सकी; प्रेमनिधिके नयनोंने घुँघराले बाल, कमल-नयन, कोटि शशिविनिन्दित मुखसुषमाका दर्शन किया था। वे उनके वियोगमें मछलीके समान विरह-विक्षिप्त हो उठे। हाथोंको तो पाला मार गया, प्रभुका आलिङ्गन न कर सके। पैर तो न आगे उठते थे और न ठहर पाते थे, व्रजेश्वरके पीछे दौड़ न सके। पापी प्राण विकल हो उठे, प्रभुका स्पर्श न कर सके। भक्तने भगवान्‌के अदृश्य हो जानेमें उनकी मङ्गलमयी कृपाशक्ति देखी, उनके विधानमें ही संतोषकी अनुभूति की।

प्रेमनिधि भगवान्‌की कथासुधाका नित्य स्वयं पान करते थे और दूसरोंको भी उसका रसास्वादन कराते थे। उनकी भागवतकी कथामें रसिकजनोंकी खासी भीड़ रहा करती थी और स्त्रियोंकी संख्या तो पुरुषोंसे भी अधिक रहती थी। कुछ द्वेषियों और निन्दकोंने यवनाधिपसे शिकायत की कि प्रेमनिधि तो चरित्रहीन और पतित है। भगवान् जब अपने भक्तको विशेषरूपसे सम्मानित करना चाहते हैं तो उनकी प्रशंसाकी अभिवृद्धिके लिये निन्दकों, आलोचकों और दोषदर्शियोंकी जमात-सी खड़ी हो जाती है तथा उनपर कष्टोंके बादल छा जाते हैं। यवनाधिपने उन्हें कारागारमें बंद करवा दिया। प्रेमनिधिको कारागारमें बंद होनेकी तनिक भी चिन्ता नहीं थी; उन्हें तो यह बात रह-रहकर पीड़ा पहुँचा रही थी कि जिस समय वे भगवान्‌को जल पिलाने जा रहे थे, उसी समय दुष्ट सिपाही उन्हें राजसभामें पकड़ लाये। प्रभु प्यासे रह गये, उनकी तृप्ति न हो सकी। प्रेमनिधि प्रत्येक क्षण यही सोच रहे थे कि प्रभुकी प्यास किस तरह मिट सकेगी। रातको भगवान्‌ने यवनाधिपसे स्वप्नमें पानी माँगा, उसने शीघ्र ही पानी लानेका वचन दिया। भगवान्‌ने कहा कि 'मुझे प्यास लगी है, मैं तुम्हारे हाथका पानी नहीं स्वीकार कर सकता; प्रेमसे पानी पिलानेवालेको तुमने कारागारमें बंद कर दिया है।' भगवान्‌की लीलाने उसकी आँख खोल दी, उसे अपनी भूलपर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। प्रेमनिधिको तत्काल ही मुक्तकर उसने उनके चरणोंपर मस्तक नत कर दिया, क्षमा माँगी। रातमें ही अपने आदमीके साथ उन्हें सम्मानपूर्वक घर भिजवा दिया। भक्तने भगवान्‌को पानी पिलाया। जिन अधरोंकी प्यास बुझानेके लिये निकुञ्जाधीश्वरी स्वयं हाथमें दिव्य स्वर्णपात्रमें यमुनाजल लेकर सेवामें सर्वस्व समर्पण करती रहती हैं, उनकी संतुष्टि भक्त कर सके—यह तो भगवान्‌की महिमा और स्वजनोंके प्रति प्रगाढ़ प्रेम ही है। भगवान् तो प्रेमनिधिके प्रेमके प्यासे थे। प्रेमनिधिने उनका दर्शन करके परमानन्द प्राप्त किया।

भक्त हिम्मतदास

उन्नीसवीं शताब्दीमें पन्नाराज्यके बरायछ ग्राममें, जो पन्नासे लगभग पाँच कोस है, श्रीहिम्मतदासजीका जन्म हुआ। इनका कुल परम्परासे भगवद्भक्त था। साधु-अभ्यागतोंका घरपर सत्कार होता था। इससे बचपनसे ही हिम्मतदासजीको साधुसङ्ग प्राप्त हुआ। कथा-पुराण तथा हरिचर्चा, कीर्तन आदिमें इनका समय बाल्यकालसे ही व्यतीत होने लगा। भगवान्‌की कृपासे इनको पतिपरायणा सुशीला पत्नी मिली थी। दयाराम नामका एक पुत्र था। [ये दयारामजी श्रीमद्भागवतके अच्छे ज्ञाता हुए।]

हिम्मतदासजीको भगवान्‌का गुण-कीर्तन करनेमें विशेष आनन्द आता था। झाँझ बजाते हुए कीर्तन करते-करते वे विह्वल हो जाया करते थे। पन्नाके राजमन्दिर, श्रीयुगलकिशोरजीके दर्शन करने, वे नित्य पैदल झाँझ बजाते हुए अपने ग्रामसे आया करते थे। एक दिन जब ये कीर्तन करते, झाँझ बजाते गाँवसे पन्ना जा रहे थे, तब जंगलके मार्गमें चोर मिल गये। चोरोंने कहा—'बाबाजी! चिल्ला क्यों रहे हो? हमलोग चोर हैं। तुम्हारे पास जो कुछ हो, धर दो यहाँ।' हिम्मतदासजी अपनी धुनमें थे। उन्होंने कुछ सुना ही नहीं। उनको कुछ बोलते न देख चोरोंने झाँझ छीन ली और डाँटकर इनसे पास जो हो, वह दे देनेको कहा। इन्होंने कहा—'भाई! मेरे पास तो ये झाँझें ही थीं। इनको बजाकर मैं भगवान्‌का गुण गाता था, सो तुमलोगोंने छीन ही लीं।' चोरोंने भी देख लिया कि साधुके पास कुछ नहीं है; अतः वे 'भागे भूतकी लँगोटी ही भली' के न्यायसे झाँझ लेकर ही चलते बने।

झाँझ छिन जानेसे कीर्तनमें बाधा पड़ी। इससे हिम्मतदासजीको कुछ दुःख हुआ। उधर थोड़ी दूर जाते ही चोर चिल्लाने लगे—'ओ बाबाजी! हमपर दया करो। हम अन्धे हो गये हैं। हमारी आँखें अच्छी कर दो। अपनी झाँझ ले जाओ।'

झाँझ मिलनेकी बात सुनकर प्रसन्नतासे ये उनके पास दौड़ गये। इनका शब्द सुनते ही झाँझ भूमिमें डालकर चोर पैरोंपर गिर पड़े। भगवान्‌का स्मरण करके इन्होंने उनके नेत्रोंपर हाथ फेरा। वे लोग फिर देखने लगे। उनसे इन्होंने कहा—'अब चोरी करना छोड़ दो। किसीको कभी सताना मत। भगवान्‌का भजन करके जीवनको सफल बनाओ।' इनके उपदेशसे चोरोंने चोरी छोड़ दी। वे भगवान्‌के भजनमें लग गये। सच्चे साधुके क्षणभरके सङ्गकी ऐसी ही अपूर्व महिमा है।

चोरोंके मार्गमें मिलनेसे हिम्मतदासजीको पन्ना पहुँचनेमें रात हो गयी। श्रीयुगलकिशोरजीकी सन्ध्या-आरती, ब्यारू आदि होकर शयन हो चुका था। वहाँ पहुँचनेपर पहरेदारने इन्हें बताया कि 'अब दर्शन नहीं हो सकेगा, अब तो पट बंद हो गये हैं।' उसी समय भगवान्‌का ध्यान करके इन्होंने कहा—

कपटिन कों लागे रहैं, हिम्मतदास कपाट।
प्रेमिन के पग धरत ही, खुलैं कपाट झपाट॥

इतना कहते ही मन्दिरके पट अपने-आप खुल गये। प्रेममें विह्वल होकर ये स्तुति करने लगे। इनके स्तुति करते-करते मङ्गला-आरतीका समय हो गया। महंत गोविन्द दीक्षितजीने जब चौकीदारसे यह समाचार सुना, तब इनके चरणोंमें जाकर प्रणाम किया। प्रातःकाल महाराज पन्ना भी मन्दिरमें दर्शन करने आये। उन्होंने भी पट खुलनेकी बात सुनी। महाराजने इनसे प्रार्थना की—'आपको बरायछ ग्रामसे रोज-रोज यहाँ आनेमें बड़ा कष्ट होता है। आप मेरी ओरसे एक गाँव स्वीकार करें और यहीं निवास करें।' लेकिन भगवान्‌के लाड़िले भक्त मायाके ऐसे प्रलोभनोंमें नहीं आया करते। हिम्मतदासजीने नम्रतापूर्वक महाराजकी बात अस्वीकार कर दी और आरती हो चुकनेपर अपने ग्राम लौट गये।

हिम्मतदासजी बड़े ही साधुसेवी थे। उधरसे आने-जानेवाले साधु इनके यहाँ ठहरा ही करते थे। इन्हें भी संतोंकी सेवामें बहुत सुख मिलता था। द्रव्यका संकोच होनेसे ग्रामके परमेश्वरी नामक बनियेसे अनेक बार उधार सामान इन्हें लेना पड़ता था। एक बार साधुओंकी एक जमात इनके यहाँ आ गयी। इन्होंने आदरपूर्वक उनको ठहराया और उनके भोजनका सामान लेने बनियेके यहाँ पहुँचे। बनियेने इनको आदरपूर्वक बैठाकर पिछला हिसाब

समझाना प्रारम्भ किया। इनके उधार सामान माँगनेपर उसने कहा—'महाराज! पिछले रुपये बहुत हो गये हैं। पुराना हिसाब चुकता हुए बिना मैं उधार नहीं दूँगा।'

बनियेकी बात उचित ही थी। हिम्मतदास बड़ी निराशा लिये घर पहुँचे। उनकी पतिव्रता पत्नीने सब बातें सुनीं। उसके सारे आभूषण साधुसेवामें पहले ही बिक चुके थे, केवल एक नथ बाकी थी। पतिको उदास देखकर उस साध्वीने वह नथ देते हुए कहा—'स्वामी! इसे देकर आप साधुओंके भोजनका सामान ले आयें।' हिम्मतदासको पत्नीका एकमात्र आभूषण लेते संकोच तो बहुत हुआ, पर दूसरा कोई उपाय नहीं था। नथ लेकर हिम्मतदास बनियेके पास गये। उसे गिरवी रखकर भोजनका सामान लाकर उन्होंने साधुओंको भोजन कराया। प्रातःकाल साधु विदा हो गये।

साधुओंके चले जानेपर हिम्मतदास नदी-किनारे स्नान करने चले गये। उधर भगवान् उनका रूप धारणकर बनियेके पास पहुँचे और उससे रुपया लेकर नथ लौटानेको कहने लगे। बनियेने हिसाब करके पौने तीन सौ रुपये माँगे। पूरा हिसाब चुकता करके नथ लिये भगवान् हिम्मतदासके घर आये और बोले—'यह नथ ले जाओ और पहन लो।'

स्त्री अपने रोजके नियमानुसार घर लीपनेमें लगी थी। उसने कहा—'अभी तो आप लोटा-धोती लेकर नदी किनारे गये थे, इतनी देरमें नथ कहाँसे ले आये? मैं ठाकुरजीका चौका दे रही हूँ, उसे चबूतरेपर रख दो।'

भगवान्ने कहा—स्वर्णका गहना पृथ्वीपर नहीं रखा जाता। जल्दी आकर पहन लो।

स्त्रीने पास आकर कहा—'मेरे हाथ तो गोबरसे सने हैं। तुम्हीं पहना दो।' अतः प्रभुने अपने हाथों ही उसे नथ पहना दी और घरसे बाहर चले गये।

स्नान करके लौटनेपर स्त्रीकी नाकमें नथ देखकर आश्चर्यसे हिम्मतदासजीने पूछा—'तुम्हें यह नथ कहाँसे मिल गयी?'

स्त्रीने कहा—'महाराज! बुढ़ापेमें यह हँसी अच्छी नहीं लगती। अभी अपने हाथसे आप ही तो पहिना गये हैं। मैंने तो अभी गोबरके हाथ भी नहीं धोये।'

हिम्मतदास घरसे सीधे बनियेके पास जाकर पूछने लगे—'मेरी नथ तुमने किसके हाथ बेच दी?'

बनिया बोला—'आज आप यह कैसी बात कर रहे हैं? मेरा सब रुपया देकर अभी-अभी तो आप नथ ले गये हैं। यह बही रखी है और यह इसपर हिसाब चुकता होनेके दस्तखत हैं।'

अब हिम्मतदासजीके नेत्रोंसे आँसूकी धारा चलने लगी। उन्होंने कहा—'भैया परमेश्वरी! तुम्हारा नाम सार्थक हो गया। तुम सच्चे परमेश्वरदास हो। तुम्हें भगवान्ने दर्शन दिया। मैंने पता नहीं कौन-सा अपराध किया है कि मुझे दर्शन नहीं हुआ।' घर आकर स्त्रीके सौभाग्यकी भी उन्होंने प्रशंसा की। अपने दर्शन न होनेके दुःखसे व्याकुल होकर दिनभर भूखे-प्यासे रुदन करते बैठे रहे वे। रात्रिमें उन्हें लगा कि कोई कह रहा है—'तुम्हें वृन्दावनमें दर्शन होंगे।' इतना सुनते ही शरीरमें अद्भुत स्फूर्ति आ गयी। झाँझें बजाते, कीर्तनकी धुनमें तन्मय, देहकी सुधि भूले वे वृन्दावन चल पड़े। अपने ऐसे प्रेमी भक्तकी अगवानी करने वृन्दावनविहारी, मोरमुकुटधारी, वनमाली, श्यामसुन्दर वृन्दावनसे बाहर मार्गमें आये और भक्तसे मिले। भगवान्ने कहा—'तुम सात दिनके भूखे-प्यासे हो। आओ, इस कदम्बके नीचे हम सब भोजन करें।' प्रभुकी आज्ञा मानकर इन्होंने महाप्रसाद ग्रहण किया। फिर मिलनेका वचन देकर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

हिम्मतदासजीने ज्यों ही वृन्दावनमें प्रवेश किया कि इन्हें सब जड-चेतन श्यामा-श्यामस्वरूप ही दिखायी पड़ने लगे। दूसरे दिन श्रीयमुनाजीके तटपर पहुँचे तो देखते हैं कि व्रजके जीवनसर्वस्व रत्नके हिंडोलेपर श्रीरासेश्वरीके साथ विराजमान हैं। आप तुरंत ही समीप पहुँचकर झूला झुलाने लगे।

वृन्दावनसे आपने मथुराकी यात्रा की। व्रजके समस्त पावन स्थलोंपर जाकर उनके दर्शन किये। गोकुल पहुँचनेपर श्यामसुन्दरने इन्हें अपने बालरूपका दर्शन दिया। व्रजके पावन क्षेत्रोंकी यात्रा करके ये फिर घर लौट गये और जीवनपर्यन्त श्रीवृन्दावनविहारीके स्मरण-भजनमें लीन रहे।

बालक मोहन

दीन दुखी असहाय की सेवा सार सम्हाल।
को अपनी ज्यों करि सकै, बिना बिहारीलालं॥

एक छोटेसे गाँवमें एक दरिद्र विधवा ब्राह्मणी रहती थी। एक छः वर्षके बालकके अतिरिक्त उसके और कोई नहीं था। वह दो-चार भले घरोंसे भिक्षा माँगकर अपना तथा बच्चेका पेट भर लेती और भगवान्‌का भजन करती थी। भीख पूरी न मिलती तो बालकको खिलाकर स्वयं उपवास कर लेती। गाँवमें सम्पन्न लोग भी थे, पर एक दरिद्राकी चिन्ता धनियोंको क्यों होने लगी। अबतक तो यह क्रम चलता रहा; पर अब ब्राह्मणीको लगा कि ब्राह्मणके बालकको दो अक्षर न आयें, यह ठीक नहीं है। गाँवमें पढ़ानेकी व्यवस्था नहीं थी। गाँवसे दो कोसपर एक पाठशाला थी। ब्राह्मणी अपने बेटेको लेकर वहाँ गयी। उसकी दरिद्रता तथा रोनेपर दया करके वहाँके अध्यापकने बच्चेको पढ़ाना स्वीकार कर लिया। उस समय पढ़नेवाले छात्र गुरुगृहमें रहते थे; किंतु ब्राह्मणीका पुत्र मोहन अभी बहुत छोटा था और ब्राह्मणीको भी अपने एकमात्र पुत्रको देखे बिना चैन नहीं पड़ सकती थी; अतः मोहन नित्य प्रातः पढ़ने जाता और सायंकाल घर लौट आता।

दो कोस प्रातः और दो कोस शामको पैदल चलना पड़ता छः वर्षके बालक मोहनको विद्या प्राप्त करनेके लिये। मार्गमें कुछ दूर जंगल था। शामको लौटनेमें अँधेरा होने लगता था। उस जंगलमें मोहनको डर लगता था। एक दिन गुरुजीके यहाँ कोई उत्सव था। मोहनको अधिक देर हो गयी और जब वह घर लौटने लगा, रात्रि हो गयी थी। अँधेरी रात, जंगली जानवरोंके शब्द—जंगलमें बेचारा नन्हा बालक मोहन भयसे थर-थर काँपने लगा। ब्राह्मणी भी देर होनेके कारण बच्चेको ढूँढ़ने निकली थी। किसी प्रकार अपने पुत्रको वह घर ले आयी। मोहनने सरलतासे कहा—'माँ! दूसरे लड़कोंको साथ ले जाने तो उनके नौकर आते हैं। मुझे जंगलमें आज बहुत डर लगा। तू मेरे लिये भी एक नौकर रख दे।'

बेचारी ब्राह्मणी रोने लगी। उसके पास इतना पैसा कहाँ कि नौकर रख सके। माताको रोते देख मोहन भी रोने लगा। उसने कहा—'माँ! तू रो मत! क्या हमारे और कोई नहीं है?'

अब ब्राह्मणी क्या उत्तर दे? उसका हृदय व्यथासे भर गया। उसने कहा—'बेटा! गोपालको छोड़कर और कोई हमारा नहीं है।'

बच्चेकी समझमें इतनी ही बात आयी कि कोई गोपाल उसका है। उसने पूछा—'गोपाल कौन? वे क्या लगते हैं मेरे? कहाँ रहते हैं वे?'

ब्राह्मणीने सरल भावसे कह दिया—'वे तुम्हारे भाई लगते हैं। सभी जगह रहते हैं। परंतु सहजमें नहीं दीखते। संसारमें ऐसा कौन-सा स्थान है, जहाँ वे नहीं रहते। लेकिन उनको तो देखा था ध्रुवने, प्रह्लादने, गोकुलके गोपोंने।'

बालककी समझमें आयें, ऐसी बातें ये नहीं थीं। उसे तो अपने गोपालभाईको जानना था। वह पूछने लगा—'गोपाल मुझसे छोटे हैं या बड़े? अपने घर आते हैं या नहीं?'

माताने उसे बताया—'तुमसे वे बड़े हैं और घर भी आते हैं, पर हमलोग उन्हें देख नहीं सकते। जो उनको पानेके लिये व्याकुल होता है, उसीके पुकारनेपर वे उसके पास आते हैं।'

मोहनने कहा—'जंगलमें आते समय मुझे बड़ा डर लगता है। मैं उस समय खूब व्याकुल हो जाता हूँ। वहाँ पुकारूँ तो क्या गोपाल भाई आयेंगे?'

माताने कहा—'तू विश्वासके साथ पुकारेगा तो अवश्य वे आयेंगे।'

मोहनकी समझमें इतनी बात आयी कि जंगलमें अब डरनेकी आवश्यकता नहीं है। डर लगनेपर मैं व्याकुल होकर पुकारूँगा तो मेरा गोपाल भाई वहाँ आ जायगा। दूसरे दिन पाठशालासे लौटते समय जब वह वनमें पहुँचा, उसे डर लगा। उसने पुकारा—'गोपाल भाई! तुम कहाँ हो? मुझे यहाँ डर लगता है। मैं व्याकुल हो रहा हूँ। गोपाल भाई?'

जो दीनबन्धु है, दीनोंके पुकारनेपर वह कैसे नहीं बोलेगा। मोहनको बड़ा ही मधुर स्वर सुनायी पड़ा— 'भैया! तू डर मत। मैं यह आया।' यह स्वर सुनते ही मोहनका भय भाग गया। थोड़ी दूर चलते ही उसने देखा कि एक बहुत ही सुन्दर दूर्वादल-श्याम, पीताम्बरधारी, कमललोचन ग्वालबाल उसके पास आ गया वृक्षोंके बीचमेंसे निकलकर। वह हाथ पकड़कर बातचीत करने लगा। साथ-साथ चलने लगा। उसके साथ खेलने लगा। वनकी सीमातक वह पहुँचाकर लौट गया। त्रयतापहारी, भव-भय-निवारक गोपाल भाईको पाकर मोहनका भय जाता रहा। घर आकर उसने जब माताको सब बातें बतायीं, तब वह ब्राह्मणी हाथ जोड़कर गद्गद हो अपने प्रभुको प्रणाम करने लगी। उसने समझ लिया कि जो दयामय द्रौपदी और गजेन्द्रकी पुकारपर दौड़ पड़े थे, मेरे भोले बालककी पुकारपर भी वही आये थे।

अब मोहन वनमें पहुँचते ही गोपाल भाईको पुकारता और वे झट आ जाते। एक दिन उसके गुरुजीके पिताके श्राद्धका आयोजन पाठशालामें होने लगा। सभी विद्यार्थी कुछ-न-कुछ भेंट देंगे। गुरुजी सबसे कुछ-न-कुछ लानेको कह रहे थे। मोहनने भी सरलतासे पूछा—'गुरुजी! मैं क्या ले आऊँ?' गुरुको ब्राह्मणीकी अवस्थाका पता था। उन्होंने कहा 'बेटा! तुमको कुछ नहीं लाना होगा।' लेकिन मोहनको यह बात कैसे अच्छी लगती—सब लड़के लायेंगे तो मैं क्यों न लाऊँ? उसके हठको देखकर गुरुजीने कह दिया—'अच्छा, तुम एक लोटा दूध ले आना।' घर जाकर मोहनने मातासे गुरुजीके पिताके श्राद्धकी बात कही और यह भी कहा कि 'मुझे एक लोटा दूध ले जानेकी आज्ञा मिली है।' ब्राह्मणीके घरमें था क्या जो वह दूध ला देती। माँगनेपर भी उसे दूध कौन देता। लेकिन मोहन ठहरा बालक। वह रोने लगा। अन्तमें माताने उसे समझाया—'तू गोपाल भाईसे दूध माँग लेना। वे अवश्य प्रबन्ध कर देंगे।' दूसरे दिन मोहनने जंगलमें गोपाल भाईको जाते ही पुकारा और मिलनेपर कहा—'आज मेरे गुरुजीके पिताका श्राद्ध है। मुझे एक लोटा दूध ले जाना है। माँने कहा है कि गोपाल भाईसे माँग लेना। सो मुझे तुम एक लोटा दूध लाकर दो।' गोपालने कहा—'मैं तो पहलेसे यह लोटाभर दूध लाया हूँ। तुम इसे ले जाओ।' मोहन बड़ा प्रसन्न हुआ। वह लोटा लेकर ऐसी उमंगमें भरा चला, जैसे उसे राज्य मिल गया हो।

पाठशालामें गुरुजी दूसरे लड़कोंके उपहार देखने और रखवानेमें लगे थे। मोहन हँसता हुआ पहुँचा। कुछ देर तो वह प्रतीक्षा करता रहा कि उसके दूधको भी गुरुजी देखेंगे; पर जब किसीका ध्यान उसकी ओर न गया, तब वह बोला—'गुरुजी! मैं दूध लाया हूँ।' ढेरों सामग्रियाँ सम्हालनेमें लगे गुरुजीने कोई उत्तर नहीं दिया। मोहनने कई बार जब उन्हें स्मरण दिलाया, तब झुँझलाकर बोले—'जरा-सा दूध लाकर यह लड़का कान खाये जाता है, जैसे इसने हमें निहाल कर दिया। इसका दूध किसी बर्तनमें डालकर हटाओ इसे यहाँसे।' मोहन अपने इस अपमानसे खिन्न हो गया। उसका उत्साह चला गया। उसके नेत्रोंसे आँसू गिरने लगे।

नौकरने लोटा लेकर दूध कटोरेमें डाला तो कटोरा भर गया; फिर गिलासमें डाला तो वह भी भर गया। बाल्टीमें डालने लगा तो वह भी भर गयी। भगवान्‌के हाथसे दिया वह लोटाभर दूध तो अक्षय था। नौकर घबराकर गुरुजीके पास गया। उसकी बात सुनकर गुरुजी तथा और सब लोग वहाँ आये। अपने सामने एक बड़े पात्रमें दूध डालनेको उन्होंने कहा। पात्र भर गया, पर लोटा तनिक भी खाली नहीं हुआ। इस प्रकार कई बड़े-बड़े बर्तन दूधसे भर गये। अब गुरुजीने पूछा—'बेटा! तू दूध कहाँसे लाया?'

सरलतासे बालकने कहा—'मेरे गोपाल भाईने दिया।'

गुरुजी और चकित हुए। उन्होंने पूछा—'गोपाल भाई कौन? तुम्हारे तो कोई भाई है नहीं।'

मोहनने दृढ़तासे कहा—'है क्यों नहीं। गोपाल भाई मेरा बड़ा भाई है। वह मुझे रोज वनमें मिल जाता है। माँ कहती है कि वह सब जगह रहता है, पर दीखता नहीं। कोई उसे खूब व्याकुल होकर पुकारे, तभी वह आ जाता है। उससे जो कुछ माँगा जाय, वह तुरंत दे देता है।'

अब गुरुजीको कुछ समझना नहीं था। मोहनको उन्होंने हृदयसे लगा लिया। श्राद्धमें उस दूधसे खीर बनी

श्रीबनादासजी [पृ० ६१७]

भक्त प्रेमनिधि [पृ० ६२०]

भक्त हिम्मतदास [पृ० ६२२]
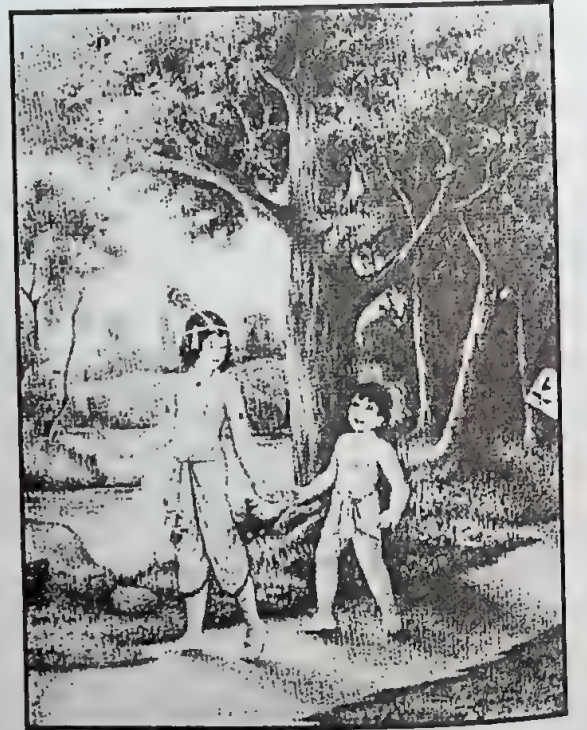
भक्त मोहन गोपालभाईके साथ [पृ० ६२४]

भक्त ललिताचरण [पृ० ६२८]
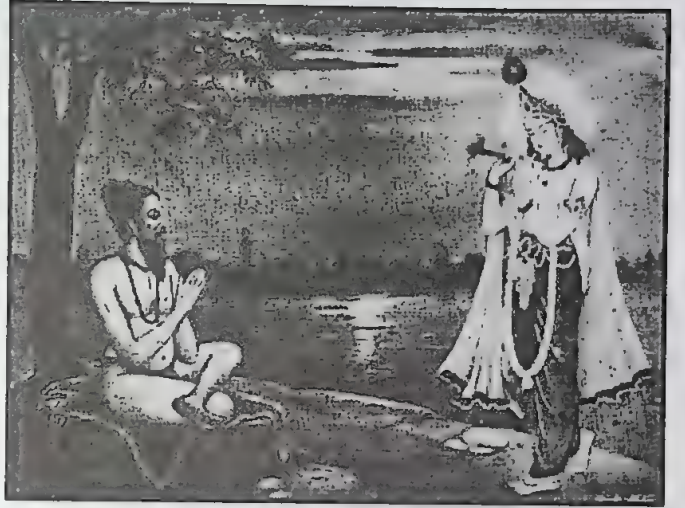
भक्त हरिदासजी [पृ० ६३०]
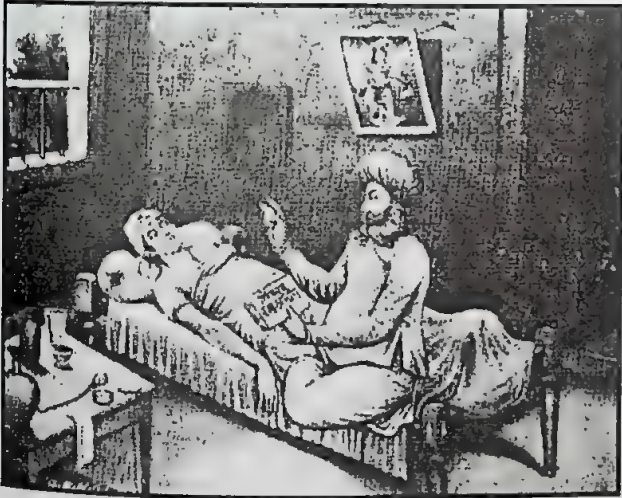
भक्त ठाकुर मेघसिंहजी [पृ० ६३१]

भक्त अंगदसिंहजी [पृ० ६३७]

और ब्राह्मण उसका स्वाद वर्णन करते हुए तृप्त नहीं होते थे। गोपाल भाईके दूधका स्वाद स्वर्गके अमृतमें भी नहीं, तब संसारके किसी पदार्थमें कहाँसे होगा। उस दूधका बना श्राद्धान्न पाकर गुरुजीके पितर तृप्त ही नहीं हुए, मायाके दुस्तर पारावारसे पार भी हो गये।

श्राद्ध समाप्त हुआ। सन्ध्याको सब लोग चले गये। मोहनको गुरुजीने रोक लिया था। अब उन्होंने कहा—'बेटा! मैं तेरे साथ चलता हूँ। तू मुझे अपने गोपाल भाईके दर्शन करा देगा न?'

मोहनने कहा—'चलिये, मेरा गोपाल भाई तो पुकारते ही आ जाता है।' वनमें पहुँचकर उसने पुकारा। उत्तरमें उसे सुनायी पड़ा—'अब तुम अकेले तो हो नहीं, तुम्हें डर तो लगता नहीं; फिर मुझे क्यों बुलाते हो?'

मोहनने कहा—'मेरे गुरुजी तुम्हें देखना चाहते हैं, तुम जल्दी आओ!' गोपाल भाई आ तो गये झटपट, पर आये वे मोहनके लिये। जब मोहनने गुरुजीसे कहा—'आपने देखा, मेरा गोपाल भाई कितना सुन्दर है?' गुरुजी कहने लगे—'मुझे तो कुछ दीखता नहीं। मैं तो यह प्रकाशमात्र देख रहा हूँ।'

अब मोहनने कहा—'गोपाल भाई! तुम यह क्या खेल कर रहे हो? मेरे गुरुजीको दिखायी क्यों नहीं पड़ते ?'

उत्तर मिला—'तुम्हारी बात दूसरी है। तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध है, तुममें सरल विश्वास है; अतः मैं तुम्हारे पास आता हूँ। तुम्हारे गुरुदेवको जो प्रकाश दीख गया, उनके लिये वही बहुत है। उनका इतनेसे ही कल्याण हो जायगा।'

उस अमृतभरे स्वरको सुनकर गुरुदेवका हृदय गद्गद हो गया। उनको अपने हृदयमें भगवान्के दर्शन हुए। भगवान्की उन्होंने स्तुति की। कुछ देरमें जब भगवान् अन्तर्धान हो गये, तब मोहनको साथ लेकर वे उसके घर आये और वहाँ पहुँचकर उनके नेत्र भी धन्य हो गये। गोपाल भाई उस ब्राह्मणीकी गोदमें बैठे थे और माताके नेत्रोंकी अश्रुधार उनकी काली घुँघराली अलकोंको भिगो रही थी। माताको शरीरकी सुधि-बुधि ही नहीं थी।

भक्त ललिताचरण

परम पावन भूमि चित्रकूटके समीप एक छोटे-से गाँवमें आजसे कई सौ वर्ष पूर्व एक वैश्यपरिवारमें ललिताचरणका जन्म हुआ—ठीक भादों बदी अष्टमीके दिन। भादोंकी अष्टमी हिंदूमात्रके लिये अत्यन्त पुनीत है। इसी पुण्य-पर्वपर ललिताचरणने माताकी कोखको धन्य किया!

ललिताचरण अपने माता-पिताका एकमात्र लाड़ला लाल था। इस कारण उनका अमित स्नेह और अपार दुलार उसपर अहर्निश बरसता रहता। वह उनकी आँखोंका तारा था। उसका एक क्षणका भी बिछोह उनके लिये असह्य था। पिता दूकानपर रहते और माता घरका काम-काज करती। प्रातःकाल स्नानादिसे निवृत्त होकर पिता श्रीहनुमानचालीसाका पाठ करते और माता तुलसीके थाल्हेमें जल देती, सूर्यनारायणको अर्घ्य देती और फिर श्रीहनुमान्जीको पत्र-पुष्प तथा प्रसाद चढ़ाती। यही उनका नित्य-नियम था। ललिता भी माताके साथ ही लगा रहता और उसके सभी कृत्योंको एक कुतूहलभरी दृष्टिसे देखता। बचपनमें जो संस्कार पड़ जाते हैं, वे कच्चे घड़ेपर खिंची हुई रेखाके समान कभी मिटते नहीं। ललिताको पाँच-सात वर्षकी उम्रमें ही श्रीहनुमानचालीसा कण्ठस्थ हो गया और वह बड़े प्रेमसे अपनी माताके साथ बैठकर श्रीहनुमान्जीको एक पाठ सुनाता। यों करते-करते उसकी श्रीहनुमान्जीमें और हनुमानचालीसामें प्रीति हो गयी और वह उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। प्रातःकाल स्नान करके स्वच्छ धुले हुए वस्त्र पहनकर वह पूजा-घरमें चला जाता और प्रेमगद्गद वाणीसे पाठ करता। कभी-कभी पाठ करते हुए उसे ऐसा बोध होता कि साक्षात् श्रीहनुमान्जी उसके मस्तकपर हाथ रखे हुए हैं और उसे अपनी अमृतमयी स्नेहदृष्टिसे नहला रहे हैं। ऐसे समय स्वभावतः ही ललिताचरणकी आँखोंसे प्रेमाश्रुओंकी अविरल धारा बहने लगती—पाठ बंद हो जाता और एक विचित्र दिव्योन्मादमें घंटों निकल जाते। माता-पिताको अपने बच्चेकी इस भगवत्प्रीतिसे अपार आनन्द मिलता।

एक बारकी बात है, ललिताचरणके गाँवके पास ही एक गाँवमें रासलीला हो रही थी। संयोगसे ललिताचरण भी पहुँच गया था। उस दिन गोपियोंकी विरह-लीलाका प्रसङ्ग था। भगवान् श्रीकृष्ण वृन्दावनसे मथुरा जाने लगे। गोपियाँ नाना प्रकार विलाप करती हुई लोक-लाज आदिकी परवा न करती हुई ऊँचे स्वरसे चिल्ला-चिल्लाकर 'हा गोविन्द! हा दामोदर!! हा माधव!!!' कह-कहकर रुदन करने लगीं।

उधर गोपियाँ रो रही थीं, इधर ललिताचरण रो रहा था। आज एकाएक उसने अपनेको गोपीभावमें तल्लीन पाया। घंटों उसकी विचित्र दशा रही। आँसुओंसे उसका वक्षःस्थल भीग गया। आहों और सिसकियोंका ताँता लग गया। हृदयमें सोया हुआ विरह जाग पड़ा। रासलीला चल रही थी। गोपियोंकी दशा देखकर उद्धवजी मथुरा लौटकर आ गये हैं और बड़े ही करुणस्वरसे राधिकाजीकी दशाका वर्णन कर रहे हैं।

ललिताचरणको मालूम हुआ—यह श्रीराधाकी दशा उद्धवजी श्रीकृष्णसे निवेदन नहीं कर रहे हैं, अपितु साक्षात् श्रीहनुमान्जी ही अपने प्रिय भक्त ललिताकी विरहव्यथा श्रीकृष्णको सुना रहे हैं। रासलीलामेंसे लौट आनेपर भी कई दिनोंतक ललिताचरण उसी दिव्य प्रेमोन्मादमें रहा। खाना-पीना कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। न किसीसे कुछ कहता, न किसीकी कुछ सुनता। रात-दिन रोता ही रहता। हाँ, बीच-बीचमें श्रीहनुमान-चालीसाका पाठ चलता रहता; क्योंकि उसके हृदयमें यह दृढ़ विश्वास था कि यह सब कुछ श्रीहनुमान्जीकी कृपासे ही प्राप्त हुआ है। रातको उसने एक दिन स्वप्नमें सुना 'अब वृन्दावन जाकर श्रीरङ्गनाथजीके दर्शन करो—वहाँ तुम्हारी इच्छाएँ पूरी हो जायँगी। भगवान्ने अपने चरणोंमें तुम्हें स्वीकार कर लिया है।' स्वप्न टूटनेपर ललिताचरणने श्रीहनुमान्जीके संकेतको स्पष्ट समझ लिया और वृन्दावनकी तैयारी कर ली। रातको फिर स्वप्नमें श्रीहनुमान्जीने प्रकट होकर द्वादशाक्षरी श्रीवासुदेव-मन्त्र उसके कानमें चुपकेसे सुनाया और एक तुलसीकी माला छोड़ गये। दूसरे दिन सबेरे ही ललिता वृन्दावनकी ओर चल पड़ा। वृन्दावनमें पहुँचते ही ललिताकी दशा कुछ और हो गयी—जैसे युगोंकी बिछुड़ी हुई पत्नी अपने पतिके घर आ गयी हो। जीवमात्र उस प्रियतमसे मिलनेके लिये व्याकुल है। वह यहाँ रुकता है, वहाँ रुकता है। परंतु यहाँ-वहाँकी किसी भी चीजसे उसे कभी सान्त्वना नहीं मिलती।

ललिता सीधे श्रीरङ्गनाथजीके मन्दिरमें पहुँचा। शरीर धूलसे भरा है! केशोंमें लटें पड़ गयी हैं! परंतु प्रेमीको शरीरसे क्या नाता।

दिनभर ललिता श्रीरङ्गनाथजीके मन्दिरकी सीढ़ियोंपर बैठा रहता और रातको नगरसे दूर करीलकी कुञ्जोंमें चला जाता। वहाँ उसे भगवान्की लीलाओंके दर्शन होते—कभी गोपालकृष्णकी माखनचोरी देखता तो कभी गोपियोंके साथ नृत्य करते भगवान्के रासका दर्शन करता तो कभी चीरहरणका। एक-एक करके सारी लीलाएँ उसके सामने खुलती जातीं। कभी-कभी वह स्वयं रासमें सम्मिलित होकर भगवान्के साथ नाचता—दाहिना हाथ भी श्रीकृष्णके हाथमें, बायाँ हाथ भी श्रीकृष्णके हाथमें। कहाँ रहता है, क्या खाता-पीता है—इसे कोई जानता न था। वह स्वयं भी नहीं जानता था कि कहाँसे यह सब हो रहा है। एक वृद्ध महात्मा रोटी और छाछ उसे पहुँचा जाया करते थे—वह चुपचाप उसे लेकर यमुनाजीके किनारे चला जाता और उसे पाकर फिर दो-चार चुल्लू यमुनाजल पीकर अलमस्तीमें डोला करता था। हनुमान्जीकी दी हुई तुलसीकी माला गलेमें थी और उनका दिया हुआ वासुदेव-मन्त्र हृदयमें अखण्डरूपसे जाग्रत्! आँखोंके सामने आनेवाला समस्त रूप, कानोंको सुन पड़नेवाला प्रत्येक नाम—एकमात्र श्रीकृष्णका ही रूप और श्रीकृष्णका ही नाम हो गया था; सभी रूप उसी अपरूप-रूपमें घुलमिल गये थे, सभी नाम उस दिव्य नाममें लय हो चुके थे। कानोंसे जो कुछ सुनता, उसमें श्रीकृष्ण ही सुनायी पड़ते; आँखोंसे जो कुछ देखता, उसमें श्रीकृष्ण ही दिखायी पड़ते।

पंद्रह-सोलह वर्ष इस प्रेमोन्मत्ततामें एक क्षणकी भाँति बीत गये। एक भाव, एक रसमें सारा समय। ललिता अब ललिताचरण नहीं था, वह अब साक्षात् ललिता सखी बन गया था। आज रासका अपूर्व समारोह है। समस्त वृन्दावनकी कुञ्जोंमें दिव्य उन्माद नृत्य कर

रहा है—ललित त्रिभङ्गी श्यामसुन्दरने वंशी बजायी। अपनी प्रमुख अष्ट सखियोंके साथ श्रीकृष्ण रासमें पधारे। फिर सहस्र-सहस्र गोपियाँ पधारीं! धन्य हैं वे, जो भगवान्की इस दिव्य वंशीध्वनिके आवाहनको सुनते हैं और सुनकर लोक और कुलकी मर्यादा भङ्ग करके सदाके लिये प्राणधनके प्रणयपथमें चल देते हैं। फिर तो मिलन होता ही है, अवश्यमेव होता है। आज ललिताने भी हृदय खोलकर हरिके वंशीपथका अनुसरण किया। रासमण्डलीमें उसे भगवान्ने सम्मिलित कर लिया और फिर भगवान्ने सखी ललिताजीको संकेत किया। उन्होंने भगवान्का गुप्त संकेत समझकर ललिताको अपने हृदयमें छिपा लिया। ललिता ललितामें लीन हो गया—भगवान्की प्रणयिनीका पद पा गया!

उसके बाद वृन्दावनमें श्रीरङ्गनाथजीकी सीढ़ियोंपर वह पागल फिर नहीं दिखायी दिया। दीखता कहाँसे, वह तो अपने 'स्वरूप' में प्रवेश कर गया था!

भक्त हरिदासजी

लगभग दो सौ वर्षकी बात है। श्रीवृन्दावनमें यमुनातटपर मनोरम स्थलीमें रामानन्दी वैष्णव महात्मा श्रीहरिदासजी महाराज अपने शिष्योंके साथ निवास करते थे। उस पुण्यभूमिकी शोभा विचित्र थी। महात्मा हरिदासजीको अलौकिक प्रेम प्राप्त था। हृदयमें केवल प्राणाधारके दर्शनोंकी ही प्रबल वासना थी। उठते-बैठते, सोते-जागते वे भगवान्के विरहमें प्रेमाश्रु बहाया करते थे। उत्कट उत्कण्ठाने बढ़ते-बढ़ते विशाल स्वरूप धारण कर लिया था। रात्रिमें जागरण करके भगवद्दर्शनोंकी प्रतीक्षा करते हुए वे भगवान्से प्रार्थना किया करते थे। उनके हृदयमें विरह और दीनताका मानो सागर ही उमड़ पड़ा। उस महासमुद्रमें महात्माजी डूब गये। विरहमें विह्वल होकर उन्होंने अपना सर्वस्व प्यारेको समर्पण कर दिया। दीनवत्सल, प्रेमसिन्धु, करुणानिधान भगवान् भी भक्तका विरह नहीं सह सके और तत्क्षण प्रकट हो गये। महात्माजी निर्निमेष नेत्रोंसे उनका दर्शन करने लगे।

मनोहर मुसकानयुक्त मुखारविन्दपर घुँघराले केश छिटक रहे थे। मणियोंसे मण्डित मुकुट दिव्य वर्णके पुष्पोंसे सुशोभित था। कानोंमें कुण्डल झलमला रहे थे। नेत्रोंमें मनोहारिणी चितवन थी। पीताम्बर श्यामल सुकुमार अङ्गोंपर झलक रहा था। वनमाला चरणोंतक लटक रही थी। महात्माजी इस रूप-माधुरीमें निमग्न हो गये। भगवान्ने चेत कराया। अपना कर-कमल मस्तकपर फेर दिया। महात्माजीने चरणोंपर मस्तक रख दिया। भगवान् अमृतमयी वाणीसे बोले—'तुम जगन्नाथपुरी जाओ! इस वर्ष आषाढ़में विग्रह-परिवर्तन होगा। पहला विग्रह तुम ले आओ और इसी स्थलपर वृन्दावनमें स्थापित करो। मैं सब प्रकारंसे तुम्हारी रक्षा करूँगा।'

आज्ञा देकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। महात्माजी वियोगसे व्याकुल होकर छटपटाने लगे। भगवान्की आज्ञाका स्मरण करके महात्माजीने धैर्य धारण किया और अपने सुयोग्य शिष्योंको साथ लेकर कीर्तन करते हुए जगन्नाथपुरीकी ओर चल दिये। बीहड़ वन, सर-सरिताएँ, पर्वत तथा कण्टकाकीर्ण मार्गको तै करते हुए चार महीनेमें महात्माजी जगन्नाथपुरी पहुँचे। मार्गका घोर परिश्रम पुरीमें पदार्पण करते ही दूर हो गया और हृदयमें दिव्य आनन्द भर गया। रथयात्राका महोत्सव तो था ही, दूसरे विग्रह-परिवर्तनका भी योग था। छत्तीस वर्षके पश्चात् जब दो आषाढ़ आते हैं, तब श्रीजगन्नाथजीके कलेवर बदले जाते हैं। बड़ी भारी प्रतिष्ठा होती है। यज्ञ होता है, वेदपाठ होता है और नाना प्रकारसे अभिषेक किया जाता है। इस प्रकार यह महोत्सवमें भी महोत्सव था। इस समय जगन्नाथपुरीमें लाखों यात्री दूर-दूर देशोंसे आये हुए हैं। आनन्दका समुद्र उमड़ रहा है।

इसी समय हमारे श्रीहरिदासजी भी वहाँ आ पहुँचे। अभिषेक होनेमें चार दिन शेष थे। महात्माजीने पुजारियोंके पास जाकर अपना परिचय दिया और भगवान्की आज्ञा उन्हें कह सुनायी। पुजारियोंने कहा—'हमको कुछ भी अधिकार नहीं है। आप राजा साहबसे मिलें।' श्रीमहात्माजी राजा साहबसे मिलने गये। राजा साहबने महात्माजीका

तेजोमय मुखमण्डल देखकर उन्हें उठकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया और प्रसन्न मनसे परिचय पूछकर आनेका कारण पूछा। महात्माजीने भगवान्‌की आज्ञा सुना दी। राजा साहबने कहा—'महाराज! सर्वदासे यही नियम चला आया है कि प्रथम विग्रह समुद्रमें प्रवाहित कर दिये जाते हैं। आज हम नयी प्रणाली कैसे चला सकते हैं। महाराज! हम इस कार्यके लिये असमर्थ हैं। आपको भगवान्‌की आज्ञा हुई होगी, किंतु हमको तो भगवान्‌की आज्ञा नहीं हुई। अतएव क्षमा करें।'

महात्माजी—'राजन्! यदि विग्रह सागरमें प्रवाहित होंगे तो मेरा शरीर भी सागरमें प्रवाहित होगा; क्योंकि मैं अपनी इच्छासे नहीं आया हूँ।' राजा साहबने कुछ उत्तर नहीं दिया। महात्माजी समुद्रतटपर आकर प्रशान्त मनसे भगवान्‌का ध्यान करने लगे। अन्न-जल त्यागकर एकाग्रचित्तसे उसी भुवन-मोहन रूपका स्मरण करने लगे, जिस रूपका वे प्रथम दर्शन कर चुके थे।

अर्धरात्रिका समय है। राजा अपने महलमें शयन कर रहे हैं। उन्होंने देखा, श्रीजगन्नाथजी प्रकट हुए हैं। उनके मुखारविन्दपर कुछ क्रोध झलक रहा है। मेघके समान गम्भीर वाणीसे बोले—'वे साधु मेरी आज्ञासे ही आये हैं। तुम भक्तोंका तिरस्कार करते हो? जाओ, उनसे क्षमा माँगो और उनकी आज्ञाका पालन करो। मेरा एक विग्रह अब वृन्दावनमें भी रहेगा।'

राजा साहब अत्यन्त भयभीत हो गये और जाग पड़े। थर-थर काँपते हुए शय्यासे उठकर कर्मचारियोंको उन महात्माजीका पता लगानेके लिये रात्रिमें ही आज्ञा दी। बहुत ढूँढ़-खोजके अनन्तर पता लग गया। राजा साहब समुद्रतटपर उसी समय जाकर महात्माजीके चरणोंपर गिर पड़े और बारंबार क्षमा-याचना करने लगे।

अभिषेकके अनन्तर राजा साहबने एक विशाल रथमें श्रीजगन्नाथजी, श्रीबलदाऊजी, श्रीसुभद्राजीको विराजमान कराया। धन-धान्य तथा सेनाके साथ महात्माजीको विदा किया। रथके सहित धूम-धामसे कीर्तन करते हुए महात्माजीने कई महीनोंमें वृन्दावनमें पदार्पण किया। जिस स्थानपर स्वयं भजन करते थे, उसी सुरम्य स्थानपर एक सुन्दर मन्दिर बनवाकर महात्माजीने वे विग्रह स्थापित किये। वृन्दावनमें वही दिव्य स्थान, वही दिव्य विग्रह, वही सुन्दर मन्दिर आज भी वर्तमान है। सामने यमुनाजी बह रही हैं। नीचे घाट बना हुआ है, जिसे 'जगन्नाथघाट' कहते हैं। आज भी इस स्थानपर अपूर्व दिव्यता विराज रही है। भजनमें स्वाभाविक मन लगता है। शान्तिका साम्राज्य-सा छाया हुआ है।

ठाकुर मेघसिंह

ठाकुर मेघसिंह जागीरदार थे। रियासत बहुत बड़ी तो नहीं थी, परंतु नितान्त क्षुद्र भी नहीं थी। अच्छी आमदनी थी। ठाकुर साहब अक्षरोंकी दृष्टिसे बहुत विद्वान् नहीं थे, पर वैसे यथार्थ दृष्टिमें वे विद्वान् थे। विद्या वही, जो मनुष्यको सच्चे मार्गकी ओर ले जाय। जो विद्या मनुष्यको विपथगामिनी बनाकर भीषण नरकानलमें जलनेको बाध्य करती है, जिसके द्वारा जीवन अभिमान, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदिके भयानक तूफानमें पड़कर नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, वह तो साक्षात् अविद्या है, प्रत्यक्ष तम है। ऐसी विद्यासे तो बचना ही चाहिये। ठाकुर मेघसिंह उस विनाशकारिणी विद्यासे बचे थे। उनकी विद्याने उनके जीवनको सब ओरसे प्रकाशमय बना रखा था, इससे उनका प्रत्येक कार्य मानव-जीवनके परम लक्ष्यको सामने रखकर ही होता था।

ठाकुर साहबकी प्रजाप्रियता और न्यायसे सभी लोग प्रसन्न थे। उनका प्रत्येक न्याय प्रजावत्सलता और सर्वहितकी दृष्टिसे दयापूर्ण ही होता था। उन्हें बड़े-से-बड़ा त्याग करनेमें भी किसी कठिनाईका सामना नहीं करना पड़ता था। भगवान्‌के मङ्गलविधानपर अटल विश्वास होनेके कारण उन्हें किसी भी अवस्थामें कोई उद्वेग या विषाद नहीं होता था। जहाँ विषाद या उद्वेग है, वहाँ निश्चय ही भगवान्‌पर अविश्वास है। ठाकुर साहब नित्य प्रसन्नमुख तथा प्रसन्नमन रहते थे। भगवान्‌का स्मरण तो उनके जीवनमें श्वासक्रियाकी भाँति अनिवार्य हो गया

था। वे नित्य प्रात:काल सूर्योदयसे एक पहर पूर्व उठते ही सबसे पहले भगवान्‌का ध्यान करते। तदनन्तर शौच-स्नानसे निवृत्त होकर सन्ध्या करते, गायत्रीका जप करते, गीता-विष्णुसहस्रनामका पाठ करते और फिर भगवन्नाम-जपमें लग जाते थे। जपके समय भी उनका मानस ध्यान तो चलता ही था। मध्याह्नके समय उनकी पूजा समाप्त होती। तब अभ्यागत-अतिथियोंको स्वयं अपने सामने भोजन करवाकर भगवत्प्रसादरूपमें स्वयं भोजन करते। इसके बाद अपनी रियासतका काम देखने कचहरीमें जाकर विराजते और बड़ी धीरता तथा बुद्धिमत्तासे सारा कार्य सँभालते तथा झगड़ोंको निपटाते। उस समय भी उनका भगवत्-स्मरण अखण्ड चलता ही रहता। वे भगवच्चिन्तन करते हुए भी समस्त कार्य करते।

संसारमें सब तरहके मनुष्य होते हैं, ठाकुर साहबकी पवित्र जीवनचर्या और उनका साधु-स्वभाव भी किसीके लिये ईर्ष्या और द्वेषका कारण बन गया। तमसाच्छन्न हृदयकी कुटिलतासे दृष्टि बदल जाती है। फिर उसे अच्छेमें बुरे, देवतामें राक्षस, साधुमें असाधु और सत्यमें मिथ्याके दर्शन होते हैं। बुद्धि बिगड़नेपर क्रियाका बिगड़ना स्वाभाविक ही है। इसी स्वभावविपरीतताका शिकार ठाकुर साहबका ही एक सेवक हो गया। वह जातिका चारण था और उसका नाम था भैरूँदान। वह ठाकुरका बड़ा विश्वासी था और पहले उसके व्यवहारमें भी कोई दोष नहीं था; परन्तु किसी दैवदुर्विपाकसे उसका मन बिगड़ गया और मन-ही-मन वैरबद्ध-सा होकर वह ठाकुर साहबको मारनेकी बात सोचने लगा। एक दिन ठाकुर साहबको कचहरीमें देर हो गयी थी। रात्रिका पहला पहर था। कृष्ण पक्ष था। बाहर सब ओर अँधेरा छाया था। उसीमें ठाकुर साहब निकले और कुछ दूरपर स्थित अपने रनिवासकी ओर जाने लगे। भैरूँदान उनके साथ था। पापबुद्धिने जोर दिया, भैरूँदानने कटार निकाली, एक बार हाथ काँपा; परन्तु पापकी प्रेरणासे पुन: सावधान होकर उसने अँधेरेमें अपने साधुस्वभाव स्वामीपर वार कर दिया! परन्तु भगवान्‌का विधान कुछ और था, उसी क्षण सामनेसे दौड़ता हुआ एक साँड़ आया। ठाकुर तो आगे बढ़ गये और उसका एक सींग भैरूँदानकी छातीमें लगा। कटार हाथमें लिये भैरूँदान गिर पड़ा, हाथ उलट गया था, इससे कटार जाकर नाकपर लगी, नाकका अगला हिस्सा कट गया। भैरूँदान चिल्लाया। क्षणोंमें यह घटना हो गयी। ठाकुर साहब समीप ही थे। चिल्लाहट सुनकर लौटे। साँड़ तो आगे निकल गया था। इन्होंने जमीनपर पड़े हुए भैरूँदानको उठाया। वह छातीपर लगी सींगकी चोटसे तथा नाककी पीड़ासे बेहोश हो गया था। ठाकुर साहबने पुकारकर रनिवाससे नौकरोंको बुलाया। भैरूँदानको उठाकर वे निवासमें ले गये। बाहर चौपालमें चारपाई डलवाकर उसे सुलवा दिया। दीपक आ ही गया था। देखा तो उसकी मुट्ठीमें खूनसे भरी तेजधार कटार है और नाकसे खून बह रहा है। मुट्ठी ऐसी जकड़ गयी थी कि कटार उसमेंसे गिरी नहीं। ठाकुर यह दृश्य देखकर अचरजमें पड़ गये। उन्हें साँड़के द्वारा गिराये जानेका तो अनुमान था; पर मुट्ठीमें कटार रहने तथा नाकके कटनेका पूरा रहस्य वे नहीं जानते थे, यद्यपि उन्होंने अँधेरेमें भैरूँदानको अपनेपर वार करते हुए-से देखा था। लेकिन इस रहस्यको जाननेकी चिन्तामें न पड़कर वे उसे होशमें लानेका यत्न करने लगे। मुट्ठी खोलकर कटार निकाली। नाक धोयी, उसपर चूना लगाया। छातीपर कोई दवा लगायी और सिरपर पानी डालकर स्वयं हवा करने लगे। घरके नौकरोंके सिवा और कोई वहाँ था नहीं, इसलिये ठकुराइन भी वहाँ आ गयी थीं। वे भी हवा करने लगीं। इस सेवा और उपचारसे भैरूँदानको भीतरी होश तो जल्दी हो गया; परंतु छातीकी पीड़ाके मारे उसकी आँखें नहीं खुलीं, वह वैसे ही पड़ा रहा। इधर ठकुराइनने एक प्रसङ्ग छेड़ दिया और उनमें नीचे लिखी बातें हुईं—

ठकुराइन—चारणजीकी छातीमें साँड़के सींगसे चोट लग गयी यह तो होनीकी बात है, पर इन्होंने अपने हाथमें कटार क्यों ले रखी थी। कहीं आपपर वार करनेका तो इनका मन नहीं था?

ठाकुर साहबने भैरूँदानको अपने ऊपर वार करते-से देखा था; परन्तु उनके साधु मनने उसपर कोई सन्देह नहीं आने दिया। उन्होंने अनुमान किया कि अँधेरेमें मेरी रक्षाके लिये ही इन्होंने कटार हाथमें ले रखी होगी। अब

तो इनके मनमें कोई बात थी ही नहीं। ठकुराइनके प्रश्नसे उनकी फिर कुछ जागृति-सी हुई, पर सन्देहशून्य पवित्र मनमें सन्देह क्यों होता। उन्होंने कहा—

"तुम पगली तो नहीं हो गयी? भैरूँदान मेरा अति विश्वासी साथी है। 'यह मेरे ऊपर कटार चलायेगा' इस प्रकारका सन्देह करना भी पाप है। सम्भव है, इसने मेरी रक्षाके लिये कटार हाथमें ले रखी हो।"

ठकुराइन—आपकी रक्षाकी वहाँ क्या आवश्यकता थी! मेरे पापी मनमें तो यही बात जँचती है कि चारणके मनमें बुराई थी, पर भगवान्ने आपकी रक्षा की।

ठाकुर—देखो, मेरी समझसे तो तुमको ऐसा नहीं सोचना चाहिये। किसीपर भी सन्देह करना पाप है। फिर भला, तुम तो यह जानती ही हो कि हमलोगोंको जो कुछ भी भोग प्राप्त होते हैं, सब हमारे श्रीगोपालजीकी देखरेखमें तथा उन्हींके विधानके अनुसार होते हैं। वे परम मङ्गलमय हैं, अतएव उनके विधान भी मङ्गलमय हैं। मुझे कटार लगती, तो भी उनके मङ्गलविधानसे ही लगती। न लगी तो भी मङ्गलविधानसे ही। मैं तो समझता हूँ कि भैरूँदानको जो चोट लगी है, इससे भी इसका कोई मङ्गल ही हुआ है। मुझे मारनेका प्रयास यह क्यों करता। मुझे तो पूरा विश्वास है कि भगवान् सबका मङ्गल ही करते हैं। मैं अपने भगवान्से कातर प्रार्थना करता हूँ—'दयामय प्रभु! भैरूँदान मेरा परम विश्वासी है। मेरे मनमें कभी किसी प्रकार भी किसीकी या इसकी बुराई करनेकी कोई भावना न आयी हो तो इसकी पीड़ा अभी शान्त हो जाय और इसके मनमें यदि कोई दुर्भावना आयी हो तो उसका भी समूल नाश हो जाय। यह यदि इसके किसी पापका फल हो तो नाथ! वह फल मुझको भुगता दिया जाय और इसकी शारीरिक तथा मानसिक पीड़ा और उसके कारणोंका विनाश हो जाय।'

यों प्रार्थना करते-करते ठाकुर साहबकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी। उनकी इस दशाको देखकर तथा उनके पवित्र भावोंसे प्रभावित होकर ठकुराइनका हृदय भी द्रवित हो गया। उसने भी रोते हुए भगवान्से प्रार्थना की—'नाथ! मैंने जो चारणजीपर सन्देह किया, इस पापके लिये मुझे क्षमा कीजिये और चारणजीको शीघ्र पीड़ासे मुक्त कर दीजिये।'

भैरूँदानको भीतरी होश था ही। उसने ये सारी बातें सुनीं—ज्यों-ज्यों सुन रहा था, त्यों-ही-त्यों उसका मन बदलता जा रहा था और उसके मनमें अपनी करनीपर पश्चात्ताप हो रहा था। पश्चात्तापकी आगसे उसका हृदय कुछ शुद्ध हुआ। फिर जब ठाकुर साहबने भगवान्से प्रार्थना की, तब तो उसका हृदय सर्वथा निर्मल हो गया और क्षणोंमें ही उसकी छातीकी पीड़ा भी सर्वथा शान्त हो गयी। उसने आँखें खोलीं और उठकर वह ठाकुर साहबके चरणोंमें लोट गया। ठाकुर साहब इस बीच भगवान्के ध्यानानन्द-सुधासागरमें डूब गये थे। उन्हें बाहरकी कोई सुधि नहीं थी। ठकुराइन भी भावावेशमें बेसुध थीं। कुछ देर चारण दोनोंके चरणोंमें लोटता रहा। जब भगवत्प्रेरणासे ठाकुर-ठकुराइनको बाह्य चेतना हुई, तब उन्होंने अपने चरणोंपर पड़े भैरूँदानको अश्रुओंसे चरण पखारते पाया। ठाकुरने उसको उठाकर हृदयसे लगा लिया।

भैरूँदानने अपनेको छुड़ाते हुए रोकर कहा—'मालिक! मेरे-जैसा महापापी मैं ही हूँ। आप मुझ पापीका स्पर्श मत कीजिये। मैं नरकका कीड़ा महापामर व्यर्थ ही आपमें दोष देखकर आपको मारने चला था। भगवान्ने बड़ी दया की जो साँड़के रूपमें आकर मेरे नीच आक्रमणसे आपको बचा लिया। आपको क्या, उन्होंने नाक काटकर उचित शिक्षा दी एवं मुझको बचा लिया और ऐसा बचाया कि मेरे पाप-पादपके मूलका ही उच्छेद कर दिया। यह सब आपकी सहज साधुता और भगवत्प्रीतिका चमत्कार है। मेरा मन पश्चात्तापकी आगसे जल रहा है। मैं इसका समुचित दण्ड चाहता हूँ। तभी मुझे तृप्ति होगी।'

ठाकुर साहबने हँसते हुए कहा—'भैरूँदान! तुम जरा भी चिन्ता न करो। तुम मुझे पहले जैसे प्यारे थे, अब उससे भी बढ़कर प्यारे हो। तुम्हारे इस आचरणने मेरे भगवद्विश्वासको और भी बढ़ाया है। इसलिये मैं तो तुम्हारा बड़ा उपकार मानता हूँ और अपनेको तुम्हारा ऋणी पाता हूँ। जिस किसी भी निमित्तसे भगवान्में विश्वास उत्पन्न हो और बढ़े, वह निमित्त देखनेमें यदि असुन्दर

भी हो, तो भी वस्तुतः बड़ा ही सुन्दर, श्रेष्ठ तथा वन्दनीय है। तुम इसमें निमित्त बने। इसलिये तुम मेरे परम हितकारी बन्धु हो। तुम दण्ड चाहते हो, अच्छी बात है। मैं दण्ड देता हूँ—तुम्हारे शरीरको ही नहीं, तन-मन-वचन तीनोंको देता हूँ। जब तुम चाहते हो तब उसे सानन्द ग्रहण तो करोगे ही। हाँ, यदि तुम ग्रहण करोगे तो मुझको और भी ऋणी बना लोगे। दण्ड यह है कि शरीरसे किसीका कुछ भी बुरा न करके सदा भगवद्भावसे सबकी सेवा किया करो; वचनसे किसीको कभी कठोर वाणी न कहकर सत्य, हितकर, मधुर और परिमित वाणीसे तथा भगवन्नाम-गुणादिके दिव्य कीर्तन-गायनसे सबको सुख पहुँचाया करो और मनसे द्रोह, दम्भ, काम, क्रोध, लोभ, विपाद और जगच्चिन्तनरूपी विषसमूहको निकालकर प्रेम, सरलता, सचाई, प्रसन्नता, सन्तोष और नित्य भगवच्चिन्तन आदिकी अमृतधाराके द्वारा सबका मङ्गल किया करो और यह सब भी किया करो केवल भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही। यही यथार्थ त्रिदण्ड है। जो इनको धारण करता है, वही त्रिदण्डी है। तुम इन तीनों दण्डोंको धारणकर सदाके लिये त्रिदण्डी बन जाओ। मैं तुम्हारा बड़ा उपकार मानूँगा।'

इन सारी बातोंके होनेमें ठाकुर साहबकी भगवत्स्मृति निरन्तर अक्षुण्ण बनी रही। कहना नहीं होगा कि भैरूँदानका जीवन ही पलट गया और ठाकुर मेघसिंहजीके बर्ताव और सङ्गसे वह परम साधुताको प्राप्तकर नित्य भगवद्विश्वासी बन गया।

ठाकुर मेघसिंहके एक ही कुमार था—सज्जनसिंह। सोलह वर्षकी उम्र थी। शील, सौन्दर्य और गुणोंका भण्डार था वह। अभी तीन ही महीने हुए उसका विवाह हुआ था। भगवान्‌के विधानसे वह एक दिन घोड़ेसे गिर पड़ा और उसके मस्तकमें गहरी चोट आयी। थोड़ी देरके लिये तो वह चेतनाशून्य हो गया, परंतु कुछ ही समय बाद उसको चेत हो आया। यथासाध्य पूरी चिकित्सा हुई, पर घावमें कोई सुधार नहीं हुआ। होते-होते घाव बढ़ गया और उसका जहर सारे शरीरमें फैल गया। अब सबको निश्चय हो गया कि सज्जनसिंहके प्राण नहीं बचेंगे। सज्जनसिंहसे भी यह बात छिपी नहीं रही। उसके चेहरेपर कुछ उदासी आ गयी। ठाकुर मेघसिंह पास बैठे विष्णुसहस्रनामका पाठ कर रहे थे। उसे उदास देखकर उन्होंने हँसते हुए कहा—"बेटा! तुम्हारे चेहरेपर उदासी क्यों है? अभी तुम मेरे पुत्र हो, मेरी जागीरके मालिक हो; तुम्हें मेरे कुँअरका पद मिला है। यह सब तुम्हारे गोपालजीके मङ्गलविधानसे ही हुआ है। अब उन्हींके मङ्गलविधानसे तुम साक्षात् उनके पुत्र बनने जा रहे हो। अब तुम्हें उनके कुँअरका पद मिलेगा और तुम दिव्यधामकी जागीरीके अधिकारी बनोगे। यह तो बेटा! हर्षका समय है। तुम प्रसन्नतासे जाओ, मङ्गलमय प्रभुसे मेरा नमस्कार कहना और यह भी कहना कि 'मेघसिंहके आपके धाममें तबादलेकी भी कोई व्यवस्था हो रही है क्या? मुझे कोई जल्दी नहीं है; क्योंकि मुझे तो सदा चाकरीमें रहना है, चाहे जहाँ रखें। परंतु इतना अवश्य होना चाहिये कि आपकी चाकरीमें हूँ, मुझे इसका स्मरण सदा बना रहे।'

"बेटा! यहाँके संयोग-वियोग सब उन लीलामयके लीलासंकेतसे होते हैं और होते हैं हमारे मङ्गलके लिये। इस बातका जिसको पता है, वह न तो दुःखके संयोगसे दुःखी होता है न सुखके वियोगसे। उसे तो सभी समय, सभी संयोग-वियोगोंमें, सभी दुःख-सुखोंमें सदा अखण्ड सुख, अखण्ड शान्ति और अखण्ड तृप्तिका अनुभव होता है। तुम भगवान्‌के मङ्गल संकेतसे ही यहाँ आये और उनके मङ्गल संकेतसे मङ्गलमयकी चरणधूलि प्रत्यक्ष प्राप्त करने जा रहे हो। इसमें जरा भी सन्देह मत करो। संशयवान्‌का ही पतन होता है। विश्वासी तथा श्रद्धालु तो हँसते-हँसते प्रभुके धाममें चला जाता है। तुम श्रद्धाको दृढ़ताके साथ पकड़े रहो, विश्वासको जरा भी इधर-इधर मत होने दो। यहाँसे जाकर तुम वहाँ उस अपरिसीम अनन्त आनन्दको प्राप्त करोगे कि फिर यहाँकी सभी सुखकी चीजें उसके सामने तुम्हें तुच्छ दिखायी देंगी। रही कुँअरानीकी बात सो उसकी कोई चिन्ता मत करो। वह पतिव्रता है। यहाँ साधुभावसे जीवन बिताकर वह भी दिव्यधाममें तुम्हारे साथ ही श्रीगोपालजीकी चरणसेविकाका पद प्राप्त करेगी। बेटा! विषयोंका चिन्तन ही पतनका हेतु होता है, फिर स्त्री-पुरुषके विषयी जीवनमें तो प्रत्यक्ष

विषय-सेवन होता है। प्रत्यक्ष नरकद्वारोंमें अनुराग हो जाता है। अतएव वह पतनका निश्चित हेतु है। भगवान्‌ने दया करके उन नरकद्वारोंकी अनुरक्ति और सेवासे कुँअरानीको मुक्त कर दिया है। वह परम भाग्यवती और साध्वी है, इसीसे इसपर यह अनुग्रह हुआ है। वह तपोमय जीवन बितायेगी और समयपर भगवान्‌के दिव्यधाममें तुमसे आ मिलेगी। तुम्हारी माताको तो भगवान्‌के मङ्गलविधानपर अखण्ड विश्वास है ही। उसे तो सर्वत्र सर्वथा मङ्गल ही दीखता है। बेटा! तुम सुखसे यात्रा करो। स्वयं हँसते-हँसते और सबको हँसाते-हँसाते हुए जाओ। जब सबको यह विश्वास हो जायगा कि तुम वहाँ जाकर यहाँकी अपेक्षा कहीं अनन्तगुनी विशेष और अधिक सुखकी स्थितिको प्राप्त करोगे, तब तुम्हारे वियोगमें दुःखका अनुभव होनेपर भी सच्चे प्रेमके कारण तुम्हारे सुखसे वे सभी परम सुखी हो जायँगे। पर यह विश्वास उन सबको तभी होगा, जब तुम विश्वास करके हँसते-हँसते जाओगे।''

ठाकुरकी इन सच्ची बातोंका सज्जनसिंहपर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसका मुखमण्डल दिव्य आनन्दकी निर्मल ज्योतिसे उद्भासित हो उठा। उसके होठोंपर मधुर हँसी छा गयी, उसका ध्यान भगवान् गोपालजीके मधुर श्रीविग्रहमें लग गया और उसके मुखसे भगवन्नामका उच्चारण होने लगा। फिर देखते-ही-देखते ब्रह्माण्ड फटकर उसके प्राण निकलकर दिव्यधाममें पहुँच गये।

ठाकुर, ठकुराइन, कुँअरानी—सभी वहाँपर उपस्थित थे। परंतु सभी आनन्दमग्न थे। मानो अपने किसी परम प्रिय आत्मीयको शुभ आनन्दमय स्थानकी शुभ यात्रामें सहर्ष सोत्फुल्ल हृदयसे विदा दे रहे हों।

× × × ×

ठाकुर, ठकुराइन और कुँअरानी—तीनोंने ही अपने जीवनको और भी वैराग्यसे सुसम्पन्न किया, भगवत्-रंगमें विशेषरूपसे रँगा और अन्तमें यथासमय इस अनित्य मर्त्यलोकसे सदाके लिये छूटकर भगवद्धाममें प्रयाण किया।

भक्त भुवनसिंह चौहान

ठाकुर भुवनसिंह चौहान जातिके राजपूत थे, महाराना उदयपुरके दरबारी थे। सालाना दो लाखका पट्टा था। ये अपनी वीरताके लिये प्रसिद्ध थे। उदयपुरके सामन्तोंमें इनकी बड़ी धाक थी। इतना होनेपर भी ये थे परम वैष्णव। श्रीकृष्णकी भक्तिसे इनका हृदय भरा था। प्रातःकाल सूर्योदयसे बहुत पहले शय्या त्यागकर शौच-स्नानादिसे निवृत्त हो ये भगवद्भजनमें लग जाते और दिनके ग्यारह बजेतक अनन्यचित्तसे भगवत्-सेवनमें संलग्न रहते। दुपहरको दरबारमें जाते, रातको फिर भगवद्भजनके लिये बैठ जाते। भुवनसिंहजी भजनानन्दी तो थे ही, आपके आचरण भी बड़े ही पवित्र थे। सत्य, दया, प्रेम, उदारता आदि सद्गुण आपमें भरे थे।

राजाओंमें शिकारका व्यसन होता है। यह राजधर्म न होनेपर भी कई राजा इसे राजधर्म मान बैठते हैं और गरीब पशु-पक्षियोंकी बड़ी नृशंसताके साथ हत्या करके अपनेको गौरवान्वित समझते हैं। महारानाको भी शिकारका व्यसन था। एक दिन अपने सब सामन्तोंको साथ लेकर महाराना शिकारको निकले। बहुत-से पशुओंका शिकार किया गया। महारानाने एक बहुत सुन्दर हरिनीको दौड़ते देखा। शिकारीका मन अन्ततः शिकारके समय दयाशून्य हो जाता है। रानाने उसे मारनेके लिये घोड़ा पीछे दौड़ाया, परंतु वह भागकर कहीं छिप गयी। चौहान भुवनसिंह महारानाके साथ थे। महारानाको थके देखकर और उनका इशारा पाकर भुवनसिंह उस हरिनीकी खोजमें चले। कुछ दूर जाकर देखा—हरिनी दौड़ते-दौड़ते थककर एक पेड़की आड़में छिपी खड़ी है, डरके मारे उसका बदन काँप रहा है, जीवनसे निराश-सी होकर वह बड़े ही करुणापूर्ण नेत्रोंसे मानो जीवनभिक्षा माँग रही है। परंतु भुवनसिंहको उसकी इस स्थितिको समझनेके लिये अवकाश कहाँ था। वे तो उस समय शिकारके नशेमें पागल थे! तत्काल ही उन्होंने अपनी विषैली तलवार निकाली और लपककर चट हरिनीके दो

टुकड़े कर डाले। मृगी कटकर गिर पड़ी, साथ ही उसके पेटका बच्चा भी कट गया। क्षणमात्रमें वह अपने बच्चेके साथ ही परलोकको सिधार गयी। मरते समय उसने बड़े ही करुण नेत्रोंसे भुवनसिंहकी ओर देखा था। भुवनसिंहको उसकी दृष्टिमें करुणाके साथ ही ईश्वरीय कोप दिखायी दिया, उनका कलेजा काँप गया। उनको अपने इस कुकृत्यपर बड़ी घृणा हुई। वे मन-ही-मन अपनेको धिक्कारते हुए कहने लगे—'क्या इस प्रकार दयाके योग्य निर्बल मूक पशुओंको मारना ही क्षत्रियधर्म है? क्या इसीमें राजपूतीकी शान है? इस बेचारी निरीह गर्भवती हरिनीने मेरा क्या बिगाड़ा था, जो मैंने राक्षसकी तरह इसे काट डाला? धिक्कार है ऐसी जीवघातिनी शूरताको! अरे, इतना निर्दय होकर भी मैं भगवद्भक्त हूँ? जो इस प्रकार भगवान्‌के पैदा किये हुए गरीब जीवोंको मारता है, उसे क्या अधिकार है भगवान्‌की भक्ति करनेका और अपनेको भक्त समझनेका? उसकी भक्ति तो ढोंगमात्र है। हाय! मैंने बड़ा पाप किया। दयालु भगवन्? इस अधमको अपनाओ, अब मैं ऐसा पाप कभी नहीं करूँगा।' इस प्रकार आत्मग्लानियुक्त प्रार्थना करते-करते भुवनसिंहने मन-ही-मन प्रण कर लिया कि आजसे लोहेकी तलवार ही नहीं रखूँगा, काठकी तलवार रखूँगा, जिससे किसी भी जीवकी हत्या नहीं हो सकेगी।

शिकारसे सब लोग लौट आये। भुवनसिंहने अपने निश्चयके अनुसार काठकी तलवार बनवा ली। किसी सूत्रसे इस बातका एक सामन्तको पता लग गया। वह भुवनसिंहजीकी ख्याति और प्रतिष्ठासे जलता था। उसने इसको अपनी जलन बुझानेका बड़ा सुन्दर साधन समझा और मौका देखकर महारानासे कह दिया। महारानाको भुवनसिंहकी वीरताका बड़ा विश्वास था। उन्होंने सामन्तकी बात नहीं मानी। सामन्तको बड़ी निराशा हुई, उसने एक दिन छिपकर भुवनसिंहकी तलवार म्यानसे निकाल कर देखी। तलवार काठकी थी ही। अब तो उसको अपनी बातका पक्का निश्चय हो गया। उसने फिर जाकर महारानासे कहा, परंतु महारानाको उसकी बातपर विश्वास होता ही नहीं था। यों एक साल बीत गया। तब उसने एक दिन एकान्तमें महारानासे कहा—'मैंने इतनी बार आपसे प्रार्थना की, परंतु आप मेरी सच्ची बातपर ध्यान ही नहीं देते। एक बार म्यानसे निकलवाकर देख तो लीजिये। यदि मेरी बात झूठ हो तो आप उसी क्षण मेरा सिर उतरवा लीजियेगा।' महारानाने सोचा, 'यह इतने जोरसे कहता है तो एक बार तलवार देखनी तो चाहिये; परंतु देखी जाय कैसे? मैं यदि अपना सन्देह प्रकट करके उनकी तलवार देखना चाहूँ और यदि तलवार काठकी न निकली तो फिर क्या उत्तर दूँगा? फिर किसी एकके कहनेसे ही भुवनसिंह-सरीखे सम्भ्रान्त पुरुषका यों अपमान करना भी तो अनुचित है। सम्भव है, यह उनसे द्वेष रखता हो और द्वेषवश ही उनको अपमानित करनेके लिये ऐसा कह रहा हो।' अन्तमें रानाके मनमें एक युक्ति आ गयी। उन्होंने एक दिन उपवनके समीप एक सुन्दर तालाबके तीरपर गोठ (भोज)-का आयोजन किया। सभी दरबारी सामन्त बुलाये गये। भोजके पश्चात् रानाने बातों-ही-बातोंमें कहा, 'देखें, किसकी तलवार अधिक चमकती है?' यों कहकर रानाने सबसे पहले अपनी तलवार म्यानसे निकालकर दिखायी। अब तो एक-एकके बाद सभी अपनी-अपनी तलवार म्यानसे निकालकर दिखाने लगे। भुवनसिंह उच्च श्रेणीके सामन्त थे, उनको पहले ही तलवार निकालकर दिखानी चाहिये थी; परंतु वे चुपचाप बैठे थे। इससे रानाके मनमें भी कुछ सन्देह पैदा हो गया। रानाने कहा, 'भुवनसिंहजी! आप चुप कैसे बैठे हैं, आप भी अपनी तलवार निकालिये।' इसके उत्तरमें भगवद्-विश्वासी भुवनसिंहजी यह कहना ही चाहते थे कि 'मेरी तलवार तो दार (काठ) की है, मैं क्या दिखलाऊँ।' परंतु भगवान्‌की न मालूम किस अव्यक्त प्रेरणासे उनके मुखसे 'दार' (काठ) की जगह 'सार' (असली लोहा) निकल गया। इतना कहते ही भुवनसिंहने मानो बरबस तलवार म्यानसे खींच ली। भगवान् बड़े भक्तवत्सल हैं, वे अपने भक्तके मुखसे निकले हुए वाक्यको सत्य करनेके साथ ही उसकी प्रतिष्ठा भी बढ़ाना चाहते हैं। तलवार म्यानसे बाहर निकलते ही बिजली-सी चमकी। सबके नेत्र चौंधिया गये। उसकी ऐसी चमक देखकर सभी लोग चकित हो गये। भुवनसिंह स्वयं आश्चर्यमें डूब गये; परंतु दूसरे ही क्षण उनकी समझमें आ गया कि यह सारी मेरे

स्वामीकी लीला है। चुगली खानेवाले सामन्तका सिर नीचा हो गया; उसकी ऐसी दशा हो गयी कि काटो तो खून नहीं। रानाका चेहरा क्रोधसे तमतमा उठा, रानाने गर्जकर कहा—'क्योंजी, भुवनसिंहजीपर झूठा आरोप करते आपको लज्जा नहीं आयी? अब तैयार हो जाइये, सिर उतरवानेके लिये।' यों कहकर महारानाने उस सामन्तका सिर उतारनेकी आज्ञा दे दी।

भुवनसिंहजी चुपचाप सब सुन रहे थे, अब उनसे नहीं रहा गया। उन्होंने खड़े होकर और सिर नवाकर महारानासे कहा, 'अन्नदाता! सामन्तका सिर न उतरवाया जाय। इन्होंने सत्य कहा था। मेरी तलवार काठकी ही थी। उस दिन गर्भिणी हरिनीको मारनेपर मेरे मनमें अपनी वैसी शूरताके प्रति घृणा हो गयी थी और मैंने तभीसे लोहेकी तलवारका त्याग कर दिया था। यह तो मेरे भगवान् श्रीश्यामसुन्दरकी लीला है जो उन्होंने मेरी लाज रखनेके लिये अकस्मात् काठको लोहेके रूपमें परिवर्तित कर दिया।'

महाराना उनकी बात सुनकर चकित हो गये। भगवान्‌की भक्तवत्सलता देखकर उन्हें रोमाञ्च हो आया। रानाने सामन्तको छोड़नेकी आज्ञा देकर कहा—'भुवनसिंहजी! आज मैं आप-सरीखे भक्तके दर्शन करके कृतार्थ हो गया। दर्शन तो रोज ही करता था, परंतु आपका महत्त्व मैंने आज जाना। अब आपको मेरे दरबारमें नहीं आना पड़ेगा। अब तो आप उन महान् राजराजेश्वरके दरबारमें हाजिरी दीजिये। मैं खुद ही आपके चरणोंमें हाजिर हुआ करूँगा। आप धन्य हैं। आजसे आपकी जागीर दोके बदले चार लाखकी हुई।'

भुवनसिंहजीने कहा—'महाराज! मुझे दूनी जागीर नहीं चाहिये। आप भी कृपा करके अब शिकार खेलना छोड़ दीजिये और श्रीभगवान्‌का स्मरण कीजिये। आपने मुझे दरबारसे अलग करके बड़ी ही कृपा की है। मैं सदा आपका कृतज्ञ रहूँगा।'

गोठमें उपस्थित सभी सामन्त हर्षगद्गद हो गये। सबने एकस्वरसे भगवान् और भक्तका जय-जयकार किया।

भक्त अङ्गदसिंह

बहुत पहलेकी बात है, भारतवर्षकी पुण्यभूमिमें सैनगढ़ नामकी एक राजधानी थी। वहाँपर दीनसलाहसिंह नामके एक राजा राज्य करते थे। उनके भतीजेका नाम था अङ्गदसिंह, जो एक अत्यन्त सुन्दर, बलिष्ठ और पराक्रमी नवयुवक थे। इन गुणोंके कारण अङ्गदसिंहको राजा बड़े प्यारकी दृष्टिसे देखा करते थे और अङ्गदसिंह भी अपने चचाकी भलाईके लिये प्राणोंतककी बाजी लगानेको सदा तैयार रहा करते थे। परंतु जहाँ अङ्गदसिंहमें इतने गुण विद्यमान थे, वहीं उनमें एक बड़ा भारी दोष भी था। वे बड़े ही विषयासक्त थे तथा अपना सारा समय खेल-तमाशे और आमोद-प्रमोदमें ही बिताना चाहते थे। दैवयोगसे उनका विवाह एक अत्यन्त सद्‌गुणवती, सुशीला, सती-साध्वी और हरिभक्तिपरायणा स्त्रीके साथ हो गया था। वह प्रतिक्षण अपने पतिदेवकी चित्तवृत्तियोंको भगवदभिमुखी बनानेके लिये प्रयत्न करती रहती थी तथा पतिसेवाके अतिरिक्त उसे जो कुछ भी समय मिलता था, वह सब वृन्दावनविहारी श्रीकृष्णकी पूजा तथा उनके गुणानुवादको सुनने-सुनानेमें ही व्यतीत होता था। इस प्रकार यद्यपि उन दोनों पति-पत्नीके विचारोंमें आकाश-पातालका अन्तर था, तथापि पतिव्रता पत्नीकी सुशीलता एवं उसके सुमधुर स्वभावके कारण अङ्गदसिंहको कभी भी उसपर रुष्ट होनेका मौका नहीं मिलता था, बल्कि वे उसकी प्रत्येक बातको बड़े आदर और सम्मानके साथ सुना करते थे।

संयोगवश एक दिन अङ्गदसिंह कहीं बाहर गये हुए थे। जब वे घर लौटे, तब उन्होंने देखा कि आँगनमें एक फर्शपर सुन्दर सिंहासन बिछा हुआ है, उसपर उनके सितकेश, वृद्ध तपस्वी ऋषिकल्प महात्मा विराजमान हैं और उनकी धर्मपत्नी अपने दोनों हाथोंको जोड़े हुए उनके सामने बैठकर कौतूहल और प्रेमके साथ भगवत्कथा सुननेमें तल्लीन है। अङ्गदसिंहको इन सब बातोंमें रुचि तो थी ही नहीं, वे उस दृश्यको देखकर झल्ला उठे और

गुरुदेवको बिना प्रणाम किये ही बक-झक करते हुए किसी दूसरे काममें जा लगे। अङ्गदसिंहके इस अविनय एवं अनीतिपूर्ण व्यवहारको देखकर भी क्षमाशील और मानापमानको समान समझनेवाले गुरुदेवको कोई क्रोध तो नहीं आया; परंतु उन्होंने सोचा कि इस प्रकार हरि-कथाका अपमान नितान्त अनुचित है। इसलिये वे वहाँसे उठकर चल दिये। अङ्गदसिंहकी धर्मपत्नीने प्रार्थना की, परंतु उन्होंने एक भी नहीं सुनी। उसके कहनेपर रुकना उचित नहीं समझा। इसपर अङ्गदसिंहकी धर्मशीला पत्नीको बड़ा परिताप हुआ। वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। जब उसे कुछ होश आया, तब उसने अपने पतिदेवको सामने खड़े देखा। देखते ही वह उनके चरणोंसे लिपट गयी और आँसुओंकी अविरल धारा बहाते हुए उसने रुद्धकण्ठसे कहा—'प्राणनाथ! आज आपने क्या किया? गुरुदेवके अपमानसे बढ़कर इस जगत्में और कोई जघन्य पापकर्म नहीं है। आपने गुरुदेवके रूपमें उस ललित-लीलाधाम भगवान्का ही अपमान किया है, जो हम दोनोंके ही नहीं, समस्त विश्वके स्वामी हैं! उन्हींकी अपार दयासे हमें यह मनुष्यदेह मिला है। अतः जीवनधन! अपने इस भयानक अपराधके लिये हृदयमें पश्चात्ताप कीजिये और शीघ्र ही गुरुदेवके घर जाकर—उनके श्रीचरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम करके क्षमा माँगिये। और नाथ! आजके इस पापकर्मके प्रायश्चित्तस्वरूप यह प्रतिज्ञा कीजिये कि आजसे आपके द्वारा गुरुदेवका ही नहीं, किसी भी साधु-संतका अपमान नहीं होगा।'

अङ्गदसिंहजी अपनी प्राणप्रिया पत्नीकी यह दशा देखकर पहलेसे ही अवाक् हो गये थे। उन्होंने उसके विनययुक्त आर्त्त अनुरोधको बड़े ध्यानके साथ सुना और सुनते ही उनकी विचारधारा बदल गयी। उन्हें अपने कुकृत्यपर बड़ा ही पश्चात्ताप होने लगा। अन्तमें उन्होंने अपनी धर्मशीला पत्नीको उठाया और उसे आश्वासन देते हुए बड़े प्रेमके साथ कहा—'प्रिये! क्षमा करो। अब मेरी आँखें खुल गयी हैं, अब मुझसे ऐसा अपराध कभी नहीं होगा। मैं अभी जाकर गुरुदेवसे क्षमा-भिक्षा माँग आता हूँ और तुम्हारे सामने शपथपूर्वक यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि आजसे मेरा समय साधु-संतोंकी सेवामें ही बीतेगा।' अङ्गदसिंहके इस अनुकूल वचनको सुनकर उनकी स्त्रीको बड़ी प्रसन्नता हुई। वह मन-ही-मन भगवान्की इस अपार अनुकम्पाके लिये कृतज्ञता प्रकाश करने लगी। अङ्गदसिंह गुरुदेवके घर गये और उनको प्रसन्न करके घर ले आये। वे तो पहले भी प्रसन्न थे। अङ्गदसिंहका मन बदलनेके लिये ये कृपापूर्ण कोप करके चले गये थे। अङ्गदसिंहकी स्त्रीके आनन्दका अब पार नहीं रहा। वह जिस बातके लिये प्रतिपल भगवान्से प्रार्थना किया करती थी, वही सब प्रकारसे पूर्ण हो गयी। उसने अपनी तरसती हुई आँखोंसे देखा कि उसके प्राणनाथ अब उसके साथ ही अपना सारा समय सत्सङ्ग तथा भगवान्के चिन्तनमें व्यतीत करने लगे। फलतः उनकी बुद्धि भी गङ्गाजलके समान विमल और विवेकशीला बन गयी। यहाँतक कि वे भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनार्थ उसी प्रकार व्याकुल हो उठे, जैसे प्रचण्ड ग्रीष्म-ऋतुका एक थका और प्यासा पथिक केवल घूँटभर पानीके लिये बेचैन हो उठता है।

किंतु भगवान् भी तो बड़े लीलामय हैं। वे अपने भक्तोंको पहले परीक्षाग्निमें खूब तपा लेनेके बाद तब कहीं अपना दर्शन देते हैं। अतः कुछ कालके बाद अङ्गदसिंहके भगवत्प्रेमकी परीक्षाका समय आया। तत्कालीन सम्राट्ने उनके चचा राजा दीनसलाहसिंहपर चढ़ाई करनेकी आज्ञा दे दी। सम्राट्का एक सूबेदार अपनी फौजके साथ सैनगढ़पर चढ़ आया। इस समाचारको पाते ही दीनसलाहसिंहके होश उड़ गये। उन्होंने वीरवर अङ्गदसिंहको बुलाकर कहा—'बेटा! आज सैनगढ़के सम्मानकी रक्षाका भार तुम्हारे ही हाथोंमें है।' इस बातको सुनकर अङ्गदसिंहकी भुजाएँ फड़क उठीं। उन्होंने चचाके चरणोंमें प्रणाम किया और अपनी वीरोक्तिद्वारा चचाके हृदयमें ढाढ़स बँधाकर वे अपने चुने हुए सिपाहियोंके साथ युद्धक्षेत्रमें आ डटे। वहाँ बड़ी घमासान लड़ाई हुई, दोनों ओरके अनेकों सैनिक हताहत हुए; परंतु अन्तमें विजय रही वीरकेसरी अङ्गदसिंहकी। उन्होंने अपनी तलवारसे सूबेदारका सिर काट लिया। सिर काटते ही उनके हाथमें सूबेदारका मुकुट आ गया।

उसमें उन्होंने देखा कि अनेकों बहुमूल्य हीरे जड़े हुए थे। उनमें एक अनमोल हीरा भी था। उसको देखते ही अङ्गदसिंहने निकाल लिया और उसे हाथमें लेकर सोचा कि यह अनमोल हीरा तो भगवान् श्रीजगन्नाथके ही रत्नहारमें शोभा पानेके योग्य है। तत्पश्चात् वे अपने बचे हुए बहादुर सिपाहियोंके साथ घर लौटे। सूबेदारका मुकुट राजाके हवाले किया, किंतु उन्होंने उस अनमोल हीरेको भगवान् जगन्नाथजीके लिये अपने पास रख लिया। कुछ समयके पश्चात् इस बातकी खबर किसी प्रकार राजाको लग गयी। वे उस हीरेकी अत्यधिक प्रशंसा सुनकर लोभमें पड़ गये। फिर क्या था। उनकी मति मारी गयी, उन्हें अङ्गदसिंहका यह व्यवहार बिल्कुल ही पसंद नहीं आया। उन्होंने अङ्गदसिंहको बुला भेजा और कहा कि 'तुम्हें उस हीरेको अपने पास रखनेका कोई अधिकार नहीं है। तुम उसे अभी मेरे सिपुर्द कर दो।' इसपर अङ्गदसिंहने सिर हिलाकर उत्तर दिया—'चचाजी! उस रत्नको मैं किसी प्रकार आपको नहीं दे सकता। उसके योग्य आप बिलकुल नहीं हैं। उसको तो मैं भगवान् जगन्नाथजीके सुभग और सुन्दर रत्नहारमें ही गुँथवाऊँगा।' यह सुनना था कि दीनसलाहसिंहकी त्यौरी बदल गयी। वे क्रोधसे तमतमा उठे। उन्होंने बड़े कड़े स्वरमें कहा— 'ऐसी धृष्टता? यदि तुमने उस हीरेको मेरे हवाले नहीं कर दिया और मेरी इस अवज्ञाके लिये तुमने मुझसे माफी नहीं माँगी तो मैं जल्दी ही इसका मजा तुम्हें चखाऊँगा।' अङ्गदसिंहने इसका उत्तर विनयपूर्वक किंतु दृढ़भावसे दिया। उन्होंने कहा—'आपकी जैसी इच्छा! परंतु उस हीरेको तो जीते-जी मैं आपको नहीं दे सकता। वह तो जिसकी वस्तु है, उसे समर्पित की जा चुकी है। अब उसपर मेरा कोई अधिकार नहीं है।' यह कहकर अङ्गदसिंह लापरवाहीके साथ वहाँसे उठ गये। राजा दीनसलाहसिंह भला, उस पराक्रमशील तेजस्वी नवयुवकका क्या कर सकते थे। वे अपना-सा मुँह लेकर ताकते रह गये।

इसके बाद राजा दीनसलाहसिंहने सोचा कि बिना किसी छल-छद्मका सहारा लिये अङ्गदसिंहके समर्थ हाथोंसे उस जवाहरकी प्राप्ति कठिन ही नहीं, असम्भव मालूम होती है! निदान उन्होंने छल-कपट, लोभ-लालच तथा डाँट-डपटके द्वारा किसीको ब्रहकावेमें डालकर उससे अङ्गदसिंहके भोजनमें विष मिलवा दिया। सबसे पहले उन्होंने बड़े प्रेमके साथ अपने इष्टदेवको भोज्य पदार्थोंका भोग लगाया। तदनन्तर भोजन करनेके लिये तैयार हुए। इतनेमें भोजन बनानेवालेकी बुद्धि पलटी और उसने दौड़कर इनको बता दिया कि 'इसमें विष है, आप न खायँ।' पर अङ्गदसिंहको इस बातसे कोई भय नहीं लगा, उन्होंने बड़े विश्वासके साथ स्वाभाविक ढंगसे कहा—'जो कुछ भी हो, मैं विषके भयसे भगवान्‌के समर्पित हुए प्रसादका त्याग नहीं कर सकता। वस्तुतः अब यह प्रसाद विषमय नहीं रह गया है। अब तो यह अमृत है।' यह कहकर जबरदस्ती उस थालको छीन वे एक बंद कमरेमें बड़े चावसे उस सारे-के-सारे महाप्रसादको पा गये। परंतु भगवान्‌की कृपासे उस विषमय भोजनका कोई असर अङ्गदसिंहके शरीरपर नहीं पड़ा; क्योंकि हरि-प्रसाद हो जानेके बाद वह 'विषमय भोजन' रहा ही कहाँ। बल्कि उस महाप्रसादसे तो उलटे अङ्गदसिंहके शरीरके रहे-सहे रोग भी सदाके लिये दूर हो गये।

इस घटनाके बाद अङ्गदसिंहने विचार किया कि अब सैनगढ़में उनका रहना बिलकुल ठीक नहीं है; क्योंकि जहाँका राजा ही इतना लालची और भगवद्विमुख है, वहाँका वातावरण उनके लिये कब हितकर हो सकता है! बस, उन्होंने पुरीमें ही जाकर भगवान् जगन्नाथजीको वह महार्घ हीरा समर्पित करनेका निश्चय कर लिया। अकस्मात् एक दिन वे अपने निश्चयानुसार घरसे निकल भी पड़े; किंतु अभी वे घरसे दो-तीन कोससे अधिक नहीं गये होंगे कि राजा दीनसलाहसिंहके कानोंमें यह भनक पड़ गयी। उन्होंने तुरंत अपने सिपाहियोंको बुलवाया और आज्ञा दी कि 'चाहे जिस प्रकार हो, तुमलोग अङ्गदसिंहसे वह हीरा छीनकर अवश्य लाओ।' सिपाही यह सुनते ही अपने-अपने हथियारोंसे लैस होकर दौड़ पड़े। अङ्गदसिंहको भला, इसकी क्या खबर थी। वे एक जगह डेरा डालकर भगवान्‌के ध्यानमें बैठे हुए थे। तबतक पता लगाते-

लगाते दीनसलाहसिंहकी फौज उनके पास पहुँच गयी। सिपाहियोंने अङ्गदसिंहको ललकारा और कहा कि 'यदि आप अपने प्राणोंकी रक्षा चाहते हैं तो उस हीरेको हमें दे दीजिये। नहीं तो उसके बदलेमें आपका सिर काटकर राजाके हवाले किया जायगा। उनकी यही आज्ञा है।'

अङ्गदसिंहने विवशता देखकर उस हीरेको हाथमें लिया और भगवान् जगन्नाथजीसे यह प्रार्थना की कि 'नाथ! मेरे जीते-जी यह हीरा राजा कैसे ले सकते हैं। इस समय और कोई वश न देखकर मैं यहींसे इस हीरेको आपकी सेवामें भेंट करता हूँ।' यह कहकर उन्होंने सामनेके एक गहरे जलाशयमें उस अनमोल हीरेको फेंक दिया। सिपाही यह देखकर अवाक् रह गये। उनके ऊपर अङ्गदसिंहजीके इस त्यागका बड़ा प्रभाव पड़ा। वे उलटे पैर वहाँसे लौट गये और राजाके पास जाकर उन्होंने सब हाल कहा। राजा भी इस बातको सुनकर आश्चर्यचकित हो गये, किंतु फिर भी लोभने उनका पीछा नहीं छोड़ा। वे अपने सिपाहियोंको साथ लेकर उस तालाबके पास आये। उन्होंने तरह-तरहके उपायोंसे उस तालाबको छान डाला, परंतु उस हीरेका कहीं पता नहीं चला। वह वहाँ हो, तब न पता चले। अन्तमें लाचार और लज्जित होकर वे अपनी राजधानीको लौट गये।

इधर उसी रातको भगवान्ने स्वप्नमें अपने परमप्रिय भक्त अङ्गदसिंहजीसे कहा—'प्यारे अङ्गद! तुमने विवश होकर जिस अनमोल रत्नको मेरे लिये उस गहरे जलाशयमें फेंका था, उसको मैंने इतनी दूरीसे ही स्वीकार कर लिया है। इस समय वह हीरा तुम्हारे इच्छानुसार मेरे रत्नहारमें सुशोभित हो रहा है! तुम जल्दी ही नीलाचलपर पहुँचो और मेरा प्रत्यक्ष दर्शन करके अपनी मनःकामना पूरी करो!' इस सुखमय और सुनहले स्वप्नसे जागनेके बाद अङ्गदसिंहजीकी प्रसन्नताका पारावार न रहा। वे बार-बार अपने सौभाग्यकी सराहना करने लगे। पुरी पहुँचनेमें उन्हें देर नहीं लगी। वहाँ पहुँचकर उन्होंने भक्तभयहारी भगवान्के प्रत्यक्ष दर्शन किये। उनकी भाग्यशीला आँखोंने प्रत्यक्ष देखा कि उनके पासका वह अनमोल रत्न भगवान्के हृदयपर रत्नहारमें सुशोभित हो रहा है और भगवान् अपनी दिव्य मुसकराहटके साथ स्नेहपूर्ण नेत्रोंसे अङ्गदसिंहजीकी ओर देख रहे हैं! अङ्गदसिंहजीने भी आँखें फाड़-फाड़कर भगवान्की उस रूप-माधुरीका पान किया और षोडशोपचारसे उनकी पूजा तथा प्रार्थना की। इसके बाद तो पुरीके कण-कणमें उनकी इतनी ममता हो गयी कि उन्होंने सदा उसीकी पवित्र गोदमें रहनेका विचार कर लिया। वहीं रहकर वे विद्याभ्यास तथा साधु-संतोंकी सेवा करने लगे और पिछली सारी घटनाओंको भूल-से गये।

कुछ दिनोंके अनन्तर इन सारी बातोंका पता दीनसलाहसिंहको चल गया। फिर तो वे बड़े ही विस्मयमें पड़कर अपनी करनीपर लज्जित हो गये। उन्होंने सोचा कि 'मेरे ही कारण महात्मा अङ्गदसिंहको इतने कष्ट उठाने पड़े! अब उनकी कृपासे वञ्चित रहनेमें मेरा कल्याण कदापि नहीं है।' यह सोचकर बहुत जल्दी ही दीनसलाहसिंहने पुरीकी यात्रा कर दी। पुरीमें पहुँचकर उन्होंने अङ्गदसिंहका पता लगाया और उनके पास स्वयं जाकर अपने सारे अपराधोंकी क्षमा माँगी। उन्होंने अङ्गदसिंहसे सैनगढ़ पधारनेके लिये भी प्रार्थना की। भक्तवर अङ्गदसिंहका दयार्द्र हृदय अपने चचाके इस प्रस्तावको टाल न सका। वे राजाके साथ सैनगढ़में पधार गये। फिर तो उनके पधारते ही सैनगढ़की स्थिति बदल गयी। वहाँ रामराज्य हो गया! राजा दीनसलाहसिंह भी उनके सत्सङ्गसे भगवान्के परम भक्त बन गये। उन्होंने अपनेको और अपने सारे घरको भक्तराज अङ्गदसिंहके हवाले कर दिया और स्वयं साधु-संतोंकी सेवा तथा अपनी प्रजाको भगवान्के विविध विग्रह मानकर उनकी भलाईके कार्योंमें संलग्न रहने लगे! उनकी दिनचर्या ही बदल गयी!!

भक्त राव जगतसिंहजी

(लेखक—श्रीसिरेहमलजी पंचोली)

जोधपुरमें तहसील जैतारणमें बलूँदा नामक एक ग्राम है। प्रसिद्ध राठौड़ राव दूदाजीके पौत्र राव जयमलजी थे। महाराणा प्रतापने चित्तौड़का किला इन्हींके सुपुर्द कर दिया था। इन राव जयमलजीके भाई राव चाँदाजीने बलूँदा ग्राम बसाया था और इसीको अपनी स्वतन्त्र रियासत बनाया था। इनके पुत्र राव रामदासजी हुए और इन्हीं रामदासजीके पुत्र थे—भक्त राव श्रीजगतसिंहजी। राव जगतसिंहजी जोधपुरके प्रथम राजा महाराजा जसवन्तसिंहजीको अपना पूर्वज मानते थे। जगतसिंहजी परम वैष्णव भक्त थे। ये राजसी ठाट छोड़कर सदा साधुवृत्तिसे रहा करते थे। सदैव भगवान् श्रीश्यामजी (बलूँदामें गढ़के अंदर श्रीमन्दिरके ठाकुरजी)-की सेवामें रहते। स्वयं अपने सिरपर उठाकर तालाब या बावलीसे सेवाके लिये जलका कलसा लाते। मेवाड़में श्रीरूपचतुर्भुज भगवान्का मन्दिर इन्होंने ही बनवाया था और उसकी सेवा-पूजाके लिये 'टीबड़ी' नामक एक गाँव अपने पट्टेमेंसे अर्पण किया था, जो अबतक है। इन्हीं श्रीचतुर्भुजजीके पुजारी प्रसिद्ध श्रीदेवाजी थे, जिनके लिये भगवद्विग्रहके बाल सफेद हो गये थे।

राव जगतसिंहजीका नित्य भगवच्चरणामृत लेनेका नियम था। एक दिनकी बात है—जनानी ड्योढ़ीसे एक मेहतरानी हाँडीमें राबड़ी लिये आ रही थी। इन्होंने मेहतरानीको पहचाना नहीं, पूछा—'बाई! तुम्हारी हाँडीमें क्या है?' उस दिन कुछ पाहुने आये हुए थे, उनमेंसे एकने दिल्लगीमें कह दिया—'इसकी हाँडीमें चरणामृत है।' इसपर रावजी चरणामृत देनेके लिये बड़े आदरके साथ मेहतरानीसे आग्रह करने लगे। उसने हाथ जोड़कर कहा—'मैं भंगिन हूँ, हाँडीमें राबड़ी है, चरणामृत नहीं है।' पर ये कहते ही रहे—'बाई! इसमें चरणामृत है—तू मुझे पिलाती क्यों नहीं।' आखिर रावजीने हाँडीका मुँह खुलवाया। देखा तो भगवान्का चरणोदक भरा है। उसपर पवित्र तुलसीदल तैर रहा है। तब तो उन पाहुनोंको बड़ी लज्जा हुई। उन्होंने अपना अपराध माना और वे क्षमा-प्रार्थना करने लगे।

राव जगतसिंहजी प्रसिद्ध मेड़तणी भक्तिमती मीराबाईके भतीजे लगते थे और उन्हींके उपदेशसे इनमें दृढ़ भक्तिके संस्कार पड़े थे।

एक बार जब राव जगतसिंहजी जोधपुर अपनी हवेलीमें विराजते थे, लगातार सात दिनोंतक वर्षा होती रही। सूर्य भगवान्के दर्शन दुर्लभ हो गये। जोधपुरमें ऐसे बहुत-से नर-नारी थे, जो सूर्यके दर्शन करनेपर भोजन करते थे। घनघोर घटाओंमें जब सूर्य भगवान्के शीघ्र उदय होनेकी आशा नहीं रही, तब शहरके लोगोंने महाराजा जोधपुरसे प्रार्थना की कि 'आप भी हमारे सूर्य हैं। आप हाथीपर सवार होकर सबको दर्शन दे दें, ताकि सब लोग भोजन कर सकें।' जोधपुर-नरेश स्वयं व्रतके पक्के थे। उन्होंने कहा कि 'और लोग तो मेरे दर्शन करके भोजन कर लेंगे, परंतु मैं किसके दर्शन करके भोजन करूँगा?' अन्तमें उन्होंने निश्चय किया कि मैं भक्तराज राव जगतसिंहजीके दर्शन करूँगा। जोधपुर-नरेश हाथीपर सवार होकर नगरमें निकले। उधर जब राव साहेबको पता लगा, तब उन्हें सङ्कोच हुआ। वे उस समय भगवान् श्रीश्यामजीकी सेवामें थे। उन्होंने कातर प्रार्थना की और महाराज जोधपुरकी सवारी बाजारतक आते-आते बादलोंको चीरकर भगवान् भास्कर प्रकट हो गये। सबने सूर्य-दर्शन करके अपनेको कृतार्थ माना। जोधपुर-नरेश भी दर्शन करके वापस लौट गये। राव जगतसिंहजीकी प्रार्थनाका यह फल देखकर सब लोग चकित रह गये। इन्होंने अपने यहाँ पशुवध सर्वथा बंद करा दिया था, जो अबतक चालू है। भगवान् श्रीश्यामजीके सामने कीर्तन करते हुए ही इन्होंने शरीर छोड़कर परम धाममें प्रयाण किया था।

भक्त नागरीदासजी और उनका परिवार

(लेखक—विद्याभूषण सांख्य-साहित्य-वेदान्त-पुराण-तीर्थ श्रीव्रजवल्लभशरणजी वेदान्ताचार्य)

ब्रह्मेन्द्ररुद्रमुनिदेवसमर्चिताङ्घ्रिः
सर्वेश्वरोऽसि भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि।
कारुण्यसागर उतात्मदयावशान्मे
भूयास्त्वमेव शरणं ह्यगतेर्मुकुन्द॥

विक्रमकी १५वीं शताब्दीमें भारतके पुनीत पुण्यस्थल श्रीपुष्करारण्यपर भी दुर्दान्त यवनोंका आक्रमण होने लगा था। इस अरण्यके उत्तरीय भागमें एक सलीमसाह चिस्ती (यवन फकीर) यहाँके यात्री और निवासियोंको भाँति-भाँतिसे धर्मपरिवर्तनार्थ दुःख देने लगा था।

आर्त हिंदूजनताकी प्रार्थनापर द्रवित होकर मथुराके श्रीनारदटीलेपर तपश्चर्या पूर्ण करके श्रीपरशुरामदेवजीका वि० सं० १५१५ में यहाँ पदार्पण हुआ। आपके आते ही यवनोंका वह आतङ्क अस्त हो गया। आपने एक केन्द्र श्रीपुष्करके दक्षिण तटपर बनाया, जो आज श्रीपरशुरामघाट परशुरामद्वाराके नामसे ख्यात है; दूसरा केन्द्र पुष्करसे तीन योजन दूर उत्तरी भागमें स्थापित किया, जहाँपर प्राचीन जामदग्न्य श्रीपरशुरामकी तपःस्थली थी। वही स्थल आज श्रीपरशुरामपुरी एवं श्रीनिम्बार्काचार्यपीठके नामसे व्यवहृत हो रहा है। वातावरण शान्त होते ही जनताका आवागमन शान्तिपूर्वक होने लगा। सन्निकटवर्ती भाटी और राठौड़ नरेश भी पीठकी उन्नतिके प्रयत्न करने लगे। इस प्रकार लगभग सवा सौ वर्ष व्यतीत हो गये। आचार्यश्रीकी उस समय १४० वर्षकी आयु हो चुकी थी। आप प्रतिदिन पुष्कर जाते-आते थे। उस समय इस अरण्य और आचार्यपीठकी सुरक्षाके लिये वहाँ एक धार्मिक राज्यकी स्थापना करना आवश्यक था। अतः आपके संकल्प एवं आदेशानुसार जोधपुरके बड़े राजा श्रीउदयसिंहजीके द्वितीय राजकुमार श्रीकृष्णसिंहजी सेवामें उपस्थित हुए और आचार्यश्रीका शुभ आशीर्वाद प्राप्तकर विक्रम सं० १६६४ में उन्होंने कृष्णगढ़ राज्यकी स्थापना की। श्रीनिम्बार्काचार्यपीठसे डेढ़ योजन दूर पूर्व-दक्षिणकोणमें राजधानीकी नींव लग गयी। आचार्यपीठसे ले जाकर भगवान् श्रीनृत्यगोपालकी प्रतिमा किलेमें पधरायी गयी। भगवान्‌की वही प्रतिमा इस राज्यके अधीश्वर-पदपर है और नरेन्द्र प्रधान मन्त्रीके रूपसे नीतिपूर्वक प्रजाकी रक्षा करते हैं।

राज्य-संस्थापक महाराजा श्रीकृष्णसिंहजीके समयमें राजस्थापनाके पाँच वर्ष पश्चात्‌में ही उनके संरक्षक गुरु श्रीपरशुरामदेवजी महाराज जीवित समाधि लेकर अन्तर्हित हो गये। इधर कृष्णसिंहजीको भी परमधाम प्राप्त हो गया। उनके १०० वर्ष पश्चात् इसी राजकुलमें आदर्श भक्त राजकुमार साँवन्तसिंहजीका जन्म हुआ, जो आगे चलकर नागरीदासजीके नामसे प्रख्यात हुए। इनका जन्म वि० सं० १७५६ पौष कृ० १३ को रूपनगरमें हुआ था। उस समय श्रीवृन्दावनदेवाचार्यजी महाराज पीठासीन थे। होनहार राजकुमार साँवन्तसिंहजीके आचार्यपीठमें होनेवाले सभी संस्कार मर्यादापूर्वक कराये गये। पाँच वर्षकी आयु होते ही आपको वैष्णवी दीक्षा भी प्राप्त करवा दी गयी थी; क्योंकि यह भी इस राजकुलका परम्परागत नियम था। बाल्य, पौगण्ड, किशोर-अवस्थामें किये हुए आपके अनेकों वीरतापूर्ण चरित्र मिलते हैं; पर स्थानाभावसे उनका यहाँ उल्लेख नहीं हो सकता। आपने गुरुदेवकी आज्ञासे आचार्यपीठके सन्निकट आये हुए एक बर्बर सिंहसे मल्लयुद्धकर उसका शिकार किया और गुरुभक्तिका सुन्दर आदर्श प्रकट किया। उस समय लिया हुआ आपका चित्र कृष्णगढ़के राजमहल और यहाँ आचार्यपीठमें विद्यमान है। एवं 'सिंहकी शिकार' नामक एक कविताबद्ध पुस्तक भी है, जो मुद्रित भी हो चुकी थी।

फिर वि० सं० १७७७ में भानगढ़-नरेन्द्रकी राजकुमारीके साथ आपका विवाह हुआ। पिताके आज्ञानुसार आप राज-काज भी करते थे, परंतु वह केवल इसी हेतुसे कि पिताजीको राजकी देखभालका कष्ट न हो। वास्तवमें इनका चित्त सांसारिक प्रपञ्चोंसे हटा हुआ था। इसी समय श्रीगुरुदेवने भगवान्‌के गुणानुवादोंपर कविता-रचना करनेकी आज्ञा दी। गुरुकी आज्ञा शिरोधार्यकर—सर्वप्रथम वि० सं० १७८० में आपने एक ४५ छन्दोंकी

'मनोरथ-मञ्जरी' नामक पुस्तक लिखी। इसके अनुशीलनसे आपके मनोभावोंका स्पष्ट पता लग जाता है।

कब बृंदाबन धरनि में, चरन परैंगे जाय।
लोटि धूरि धरि सीस पर, कछु मुखहू मैं खाय॥
जमुना तट निसि चाँदनी, सुभग पुलिन मैं जाय।
कब एकाकी होय हौं, मौन बदन उर चाय॥

कैसी उत्कट लालसा है! यह मनोरथ-मञ्जरी ही आगे चलकर अनेकों ग्रन्थोंके रूपमें परिणत हुई, जिनका कालानुसार रचनाक्रम इस प्रकार है—मनोरथमञ्जरी (१७८०), रसिकरत्नावली (१७८२), विहारचन्द्रिका (१७८८), निकुञ्जविलास, व्रजयात्रा, भक्तिसार (१७९४), पारायणविधिप्रकाश, कलिवैराग्यवल्लरी (१७९९), गोपीप्रेमप्रकाश (वि० सं० १८००), व्रजवैकुण्ठतुला (१८०१), भक्तिमगदीपिका (१८०२), फागविहार, युगलभक्तिविनोद (१८०८), बालविनोदन, वनविनोद (१८०९), सुजनानन्द, तीर्थानन्द (१८१०) और वनजनप्रशंसा (१८१९)। इन अठारह ग्रन्थोंमें रचनाकालका निर्देश मिलता है। कुछ लेखकोंने श्रीनागरीदासजीके इन अठारह ग्रन्थोंमें ही दूसरे-दूसरे ५५ ग्रन्थोंका भी समावेश कर दिया है और 'बैन-बिलास' एवं 'गुप्तरसप्रकाश' इन दो पुस्तकोंको अप्राप्य लिखकर ७५ की संख्या पूर्ण की है। परंतु ऐसा माना जाता है कि इन नागरीदासजीसे पूर्व भी तीन नागरीदास नामके कवि और हो चुके हैं। इन सबकी रचनाओंमें कौन रचना कौन-से नागरीदासजीकी है—इसका निर्णय करना बहुत कठिन है। परंतु इनके समयके मिलनेवाले उपर्युक्त अठारह ग्रन्थ निश्चित रूपसे इन्हीं नागरीदासजीके हैं। वि० सं० १८०५में आपके पिता श्रीराजसिंहजीका स्वर्गवास हुआ। अतः बाध्य होकर आपको राज्यासन ग्रहण करना पड़ा। फिर वि० सं० १८०८ में आपने लम्बी तीर्थयात्रा करनेको प्रस्थान किया। छोटे-बड़े रम्य तीर्थोंकी यात्रा करते हुए श्रीवृन्दावन-मथुराकी यात्रा करके आपने श्रीगोवर्द्धन-राधाकुण्डमें स्नान किया और वहाँपर अपने परमाचार्य श्रीश्रीनिवासाचार्यजीकी बैठकके दर्शनकर रात्रिको वहीं निवास किया। उस समय वंशीदासजी वहाँके पुजारी थे, जो श्रीरूपरसिकजीके पदोंका सुन्दर कीर्तन किया करते थे। श्रीनागरीदासजीको उनके पद बड़े अच्छे लगते थे—आनन्दाह्लादमें समयका भान नहीं रहता था—

चार जाम बितई निसा, बंसीदास निकेत।
रूपरसिक रस कीरतन, भयो प्रेम को खेत॥

ये रूपरसिकजी ३५वें श्रीनिम्बार्काचार्य श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजीके शिष्य थे। श्रीनागरीदासजीकी कवितामें इन्हीं दोनों महानुभावोंकी सरणि मिलती है।

यद्यपि तीर्थयात्रासे आप राजधानीमें लौटे, तथापि यहाँ आते ही आपके चित्तमें वैराग्यने तीव्रता धारण कर ली। आपकी उस समय ५४ वर्षकी आयु हो चुकी थी। वानप्रस्थाश्रमके भी चार वर्ष बीत चुके थे। यद्यपि राजगद्दीपर बैठे केवल पाँच ही वर्ष हुए थे, फिर भी जिसका चित्त भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनकी रूपमाधुरीमें लग गया, वह फिर इधर कैसे लग सकता था। आपकी वृन्दावनवासकी उत्कट लालसा दिन-रात बढ़ने लगी। उसकी शीघ्र पूर्ति न होनेसे इनके मनमें कैसे-कैसे भाव आते थे—सो देखिये—

ब्रज मैं ह्वै ह्वै कढ़त दिन, किते दिये ले खोय।
अबकै अबकै कहत ही, वह अबकै कब होय॥
राज बड बड़ देत हरि, दिन में लाख करोर।
पर काहू को नाहिं वे खैंचत अपनी ओर॥
जहाँ कलह, तहाँ सुख नहीं, कलह सुखन को सूल।
सभी कलह इक राज में, राज कलह को मूल॥
मेरे या मन मूढ तैं, डरत रहत हौं हाय।
बृंदाबन की ओर तैं, मति कबहूँ फिरि जाय॥'
लेत न सुख हरि भक्ति को, सकल सुखन को सार।
कहा भयो नृपह भयो, ढोवत जग बेगार॥

इस विकलताका एक मुख्य कारण था कि इस समय तो चाहे किसी भी कारणसे हो, मेरा मन श्रीधाममें लग रहा है। पर मन बड़ा चञ्चल है; ऐसा न हो कि कहीं यह दूसरी ओर लग जाय। अतः ये चाहते थे कि जितनी शीघ्रतासे हो सके, अब श्रीधामको चल देना चाहिये—

और भौन देखूँ न अब, देखौं बृन्दा भौन।
हरि से सुधरी चाहिये, सबही बिगरै क्यों न॥

इस विकलतामें ही तीन-चार वर्ष व्यतीत हो गये। आपने विरक्तवेष लेनेका निश्चय कर लिया। अब यह विचार उत्पन्न हुआ कि विरक्तवेष किससे लें; क्योंकि उस समय आपके दीक्षागुरु श्रीवृन्दावनदेवजी तो धराधामपर

थे नहीं। वे वि० १८०० में ही परमधामवासी हो गये थे, उनकी गद्दीपर श्रीगोविन्ददेवजी थे। वे उस समय तीर्थाटनमें पधारे हुए थे। उन आचार्यश्रीके अधिकारी श्रीमोहनदेवजी बड़े उच्चकोटिके संत थे, वे उस समय व्रजधाममें रहते थे; इनको यह चिन्ता लगी हुई थी कि—

मानुष सिर रिन जनम्यो तब को, देव पितर ऋषि भूतन सबको।
हरि को अनन्य सरन जब होय, छूटै रिन संदेह न कोय॥

(वै० सार)

कब भगवान् श्रीमुकुन्दके अनन्यशरण होकर मैं समस्त ऋणोंसे मुक्त होऊँ? ये सब कुछ छोड़कर केवल प्रेमभक्तिके भिखारी थे।

केऊ करैं बिष्णु सेव, केऊ पूजैं देवी देव,
केऊ चाहैं मुक्ति, केऊ उदर निवासनां।
आठौं सिद्धि नवों निद्धि चाहत अनंत जन,
केऊ चाहैं पुत्र, केऊ निरघट नासनां॥
मेरे वेई देव संत उज्ज्वल तिलक कीन्हें,
भीने रस उज्ज्वल औ जुगल उपासनां।
नागर निहोरि करि जोरि माँगी तिन पै तैं,
देहु प्रेमभक्ति औ छुड़ाय बिष बासनां॥

अत: आपने तुलसी-गोपीचन्दनधारी प्रसिद्ध सनक-सम्प्रदायान्तर्वर्ती युगलमूर्ति-श्रीराधाकृष्णोपासक एवं श्रीमुकुन्द तथा गोपाल-अष्टादशाक्षर मन्त्रके उपदेष्टा श्रीमोहनदेवजीसे विरक्तवेष लेनेका निश्चय करके, वि० सं० १८१४ आश्विन शु० १० को अपने राजकुमार श्रीसरदारसिंहजीको राजगद्दीपर बैठाकर शुभ एकादशीके दिन वृन्दावनको प्रस्थान कर दिया। वह उनका आदर्श प्रस्थान था। वृन्दावन पहुँचकर उन्हीं श्रीमोहनदेवजीसे यमुनातटपर आपने विरक्तवेष लिया। उस समयका चित्र कृष्णगढ़के खजानेमें तथा आचार्यपीठपर भी विद्यमान है। पहलेके पदोंमें आपने धाम और गुरुदेवकी एक 'श्रीवृन्दावनं' नामसे वन्दना की है, किन्तु विरक्तवेष लेनेके पश्चात् 'श्रीमोहन गुरु बन्दौं' इस प्रकारसे की हुई वन्दनाके आपके पद उपलब्ध होते हैं। ये पहले वृन्दावन जाते, तब इन्हें बड़े नरेश मानकर कई संत इनसे मिलनेमें संकोच करते थे; किन्तु अब तो 'नागरिदास' का नाम सुनते ही संतोंके झुंड-के-झुंड आने लगे—

सुनि ब्यौहारिक नाम कौं ठाढ़े दूर उदास।
देखि मिले भरि नैन सुनि नाम नागरीदास॥

श्रीवृन्दावनमें समागत संतोंके सम्मानार्थ आपने एक आश्रम और एक क्षेत्र स्थापित किया, जो आजकल नागरीदासजीका घेरा और नागरीदासजीके क्षेत्रके नामसे विख्यात है। यह क्षेत्र उनके परमधामवास होनेके पश्चात् भी १७५ वर्षोंतक चलता रहा। आपने जो उपासनागृह बनाकर उसमें श्रीनागरिविहारी ठाकुरकी प्रतिष्ठा करवायी थी, वह मन्दिर वृन्दावनमें श्रीनागरिदासजीकी कुञ्जके नामसे प्रसिद्ध है। सेवाकुञ्ज दानगलीके छोरपर ही है। उसकी सेवा-पूजादिकी व्यवस्था आचार्यपीठकी ओरसे चलती है। वि० सं० १८२१ में वृन्दावनमें ही आपने व्रजरज (मुक्ति) प्राप्त की।

श्रीनागरीदासजीका परिवार

पिता—आपके पिता श्रीराजसिंहजी भी परम भगवद्भक्त थे, उनकी भावनाएँ उनके रचे हुए 'बाहुविलास', 'रुक्मिणीचरित्र' आदि ग्रन्थों और राजकी तवारीखोंसे ज्ञात होती हैं।

माता—जन्मदात्री माताके शान्त होनेपर इनके पिता श्रीराजसिंहजीने दूसरा विवाह लवाणि (जयपुर)-नरेश आनन्दरामजीकी राजकुमारी श्रीव्रजकुमरीजीसे किया। यह विवाहसम्बन्ध वि० सं० १७७६ के आस-पासमें हुआ था।

श्रीनागरीदासजीकी इन विमाता श्रीव्रजकुमरीजीको आचार्यश्रीसे मन्त्रोपदेश प्राप्त हुआ था। इस बातका वे स्वयं अपने रचे हुए ग्रन्थोंमें उल्लेख करती हैं। इन्होंने अट्ठाईस वर्षतक पतिदेवकी सेवा की और उनकी आज्ञाके अनुसार शास्त्रावलोकनके साथ-साथ भगवदुपासना की। आपको एक कुमार और एक सुता—ये दो रत्न प्राप्त हुए। वह सुता सुन्दरकुमरीके नामसे आदर्श भगवद्भक्ता हुई। श्रीव्रजकुमरीने १८०५ से भगवद्गुणानुवादरूप काव्यरचना आरम्भ की। इनके द्वारा रचित काव्योंमें पहला श्रीमद्भागवतका पद्यानुबन्ध है, जो २५००० दोहोंमें पूर्ण हुआ है। दूसरा काव्य श्रीमद्भगवद्गीताका पद्यानुवाद है, यह भी लगभग १ सहस्र दोहा-छन्दोंमें पूर्ण हुआ है। राजमहिलाओंमें यह सुकार्य सबसे प्रथम ही मानना चाहिये।

श्रीव्रजदासीका यह भागवतका पद्यानुवाद ग्रन्थ वि० सं० १८१२ में पूर्ण हुआ। इनके सेव्य ठाकुर श्रीनिम्बार्काचार्यपीठमें ही विराजमान कर दिये गये थे।

उनका नाम 'बाँकेजी' है।

बहिन—श्रीनागरीदासजीकी बहिन श्रीसुन्दरकुमरी भी उसी भाँति आदर्श हरिभक्त हुईं। इन्होंने भी उपासना-रहस्यके बारह ग्रन्थ रचे हैं। उनके अतिरिक्त एक 'मित्रशिक्षा' नामक २७५० दोहोंका ग्रन्थ बनाया। यह इनकी अन्तिम रचना वि० सं० १८६२ में पूर्ण हुई थी। इस ग्रन्थमें श्रीहंसभगवान्‌से आरम्भकर तत्कालीन श्रीसर्वेश्वरशरणदेवाचार्यजीतक होनेवाले आचार्योंका इतिवृत्त है। ९१ वर्षतक निरन्तर प्रभु-आराधना करके श्रीवृन्दावनमें ही इन्होंने शरीर छोड़ा। केशीघाटपर इनका बनाया हुआ मन्दिर आजकल खींचीवाली कुञ्जके नामसे खंडहर-रूपमें विद्यमान आचार्यपीठके ही अधीन है। इनका विवाह राघोगढ़के खींची-नरेन्द्र श्रीबलभद्रसिंहजीसे हुआ था। इनकी एक रचना देखिये—

चेटक लाय सुभाय कियो निज चेरो यहै मन मेरो अमानी।
ऐसी करी पुनि कैसी धरी चित, होन चली अब जान अजानी॥
आन बिधान तैं आन परी मोहि है गति रावरे हाथ बिकानी।
देखियो लाल निबाह सलाह सो ह्वै न किसै उपहास कहानी॥

पुत्री—श्रीनागरीदासजीकी चौथी सन्तति बाई श्रीगोपालकुमरी हुई। इन्होंने भौतिक देहधारी पतिको अङ्गीकार न करके दिव्य विग्रह भगवान्‌को ही अपना पतिदेव माना और आमरण नैष्ठिक व्रत रखकर भगवान्‌की आराधना की। धन्य है इस भक्त परिवारको!

पौत्री—श्रीनागरीदासजीकी पौत्री बाई छत्रकुमरी हुई। इन्होंने ''प्रेम-विनोद'' नामक एक सुन्दर भाषापद्योंका ग्रन्थ निर्माण किया। इनकी भक्ति-भावना और गुरुदेव तथा समय आदिका परिचय इस ग्रन्थके अवलोकनसे ही हो सकता है। रचनाकाल वि० सं० १८४५ है।

दासी—श्रीनागरीदासजीकी 'बनीठनी' आदि नामोंवाली दासी भी अनन्य भगवद्भक्ता थी। उसने अपनी कवितामें 'रसिकविहारी' की छाप लगायी है। श्रीनागरीदासजीके विरक्त होनेपर यह भी विरक्त वेष धारणकर श्रीवृन्दावनमें निवास करने लगी। वहीं भगवान्‌की आराधनामें तल्लीन रहा करती थी। श्रीनागरीदासजीके शरीर छोड़नेसे कुछ कालके पश्चात् ही इसने अपना भौतिक शरीर छोड़ परमधामकी प्राप्ति की। श्रीनागरीदासजीकी समाधि (स्मारक-चिह्न)-के निकट ही इसका स्मृतिचिह्न है। उसमें इसका निधनकाल वि० सं० १८२२ लिखा हुआ है।

सन्निकटवर्ती—श्रीनागरीदासजीके जितने भी सन्निकटवर्ती थे—प्राय: सभी भक्त और कवि थे। आनन्दघन आपके घनिष्ठोंमें थे, जो एक महाकवि भक्त हो गये हैं। इस भक्त परिकरके इतिवृत्त-सम्बन्धी विषयोंपर यहाँ स्थानाभावसे अत्यन्त ही सूक्ष्म प्रकाश डालकर इतना ही कह देना पर्याप्त समझते हैं कि जैसे एक चन्दनका वृक्ष समस्त वनस्थ तरुवरोंको सौरभित कर देता है, वैसे ही इस भक्त परिकरने इस प्रान्तके प्रत्येक परिवारको भक्ति-रसका आस्वादन कराकर सबके मानस-मन्दिरोंमें प्रकाशका विस्तार कर दिया था।

ठाकुर किशनसिंह

बीकानेर-राज्यान्तर्गत गारबदेसर एक ताजीमी ठिकाना था। भक्त किशनसिंहजी वहींके ठाकुर थे। ठाकुर साहब श्रीमुरलीधरजीके बड़े भक्त थे। जनतामें प्रसिद्ध है कि उनको प्रत्येक दिन पूजनके पश्चात् सवा मासा सोना भगवान्‌से मिला करता था और वे उक्त सोनेको नित्य ब्राह्मणोंको दान कर दिया करते थे। अद्यावधि मूर्तिके अधरोष्ठपर सोनेका चिह्न है। एक दिन ठकुरानी साहबाने हठ करके सोना अपने पास रख लिया था, उसके बाद मूर्तिद्वारा सोना प्राप्त नहीं हुआ। ऐसी ही अनेक बातें उनके सम्बन्धमें जनताद्वारा सुननेमें आती हैं। उनमेंसे कुछका पाठकोंको परिचय कराया जाता है। सम्भव है आजकलके वैज्ञानिक विद्वान् इन बातोंपर विश्वास न करें। परंतु जो भगवान्‌के भक्त हैं, उनके हृदयमें इनका अक्षर-अक्षर प्रेम और भक्तिका उद्रेक उत्पन्न किये बिना न रहेगा; क्योंकि भगवत्-प्रभावकी ये बातें जितनी भक्तलोग समझते हैं, उतनी और कोई नहीं।

ठाकुर साहब ईश्वरकी शपथका बहुत मान रखते थे, यहाँतक कि कई बार दुष्ट प्रकृतिवालोंने उनको शपथ दिलाकर धोखा देनेका भी प्रयत्न किया था।

एक बार कुछ चोरोंने उनको यह शपथ दिला दी थी

कि 'ठाकुर साहब! ऊँटोंको ले जाते हैं। यदि आपने किसीसे कहा तो आपको भगवान्‌की आन (शपथ) है।' ठाकुर साहबने किसीसे नहीं कहा, परंतु चोर ऊँटोंको तमाम रात दौड़ाकर सबेरे वापिस उसी गाँवके पास आ गये। प्रातःकाल चोरोंने पूछा 'यह कौन-सा गाँव है?' लोगोंद्वारा गारबदेसर सुनकर उनको बहुत ही आश्चर्य हुआ और पकड़े जानेके भयसे वे ऊँटोंको वहीं छोड़कर भाग गये।

एक साल गारबदेसरके चारों ओर सभी जगह वर्षा हो गयी थी, परंतु वहाँ एक बूँद भी नहीं पड़ी। इससे ठाकुर साहबने कहा कि—

सौ कोसाँ बिजली खिचें, यामें कूण सँदेह।
किसना की तृसना मिटै, जो आँगण बरसै मेह॥

भगवान्‌ने उनकी प्रार्थनापर तुरन्त ध्यान दिया। उसी समय बादलोंकी घटा छा गयी और अच्छी वर्षा हुई।

एक बार ठाकुर साहब किसी यात्रामें महाराजा साहबके साथ जा रहे थे। राहमें पूजाका समय हो जानेसे ठाकुर साहब कपड़ा ओढ़कर घोड़ेपर ही भगवान्‌की मानसिक पूजा करने लगे। पूजामें आप भगवान्‌को दहीका भोग लगानेकी तैयारी कर रहे थे। इसी बीचमें महाराजा साहबकी दृष्टि उधर पड़ गयी। महाराजा साहबने दो-तीन बार पुकारकर कहा, 'किशनसिंह! नींद ले रहे हो क्या?' ठाकुर साहब पूजामें मग्न थे। उनको महाराजा साहबका पुकारना सुनायी ही नहीं पड़ा। इससे महाराजाने रुष्ट होकर अपने घोड़ेको उनके घोड़ेके पास ले जाकर उनका कपड़ा खींचकर दूर कर दिया। फिर महाराजा साहबने उधर दृष्टि डाली तो उन्हें बड़ा ही आश्चर्य हुआ; क्योंकि घोड़े और काठी सबपर दही-ही-दही फैला हुआ था। उन्होंने ठाकुर साहबसे पूछा, 'किशनसिंह! यह क्या है?' कुछ समय तो ठाकुर साहब चुप रहे; परंतु महाराजा साहबके अधिक आग्रह करनेपर उन्होंने स्पष्ट बता दिया कि 'महाराज! मैं मानसिक पूजनमें भगवान्‌को दहीका भोग लगा रहा था, पर आपके वस्त्र खींचनेसे मैं चौंक उठा। अकस्मात् हिल जानेसे मेरा मानस दही गिर गया। वही दही भगवान्‌की लीलासे प्रत्यक्ष हो गया मालूम होता है।' यह सुनकर महाराजा साहबने गद्गद होकर उनसे कह दिया—'आप घर चले जायँ और भगवान्‌का भजन करें।'

एक बार सरकारी बकाया देनेमें देरी होनेसे इनपर महाराजा साहबने रुष्ट होकर कहा—'किशनसिंह! यह ठीक नहीं है, समयपर सरकारी लगान जमा हो जाना चाहिये।' ठाकुर साहबके मुँहसे निकल गया—'दीवालीतक ठहरिये, आपके रुपये जमा करके ही मैं दीवालीका पूजन करूँगा।' यों कहकर ठाकुर साहब घर लौट आये। परंतु समयपर रुपये इकट्ठे न हो सके। ठीक दीवालीको सन्ध्यातक उन्होंने इधर-उधरसे जुटाकर रुपये एकत्र किये। पूजन करनेका समय हो जानेसे भीतरसे आदमी बुलाने आया, पर वे बिना ही पूजन किये रुपये लेकर घोड़ेपर सवार हो गये और सुबहतक साठ मील चलकर बीकानेर पहुँचे। महलमें उनको देखते ही महाराजा साहबने उनसे पूछा—'किशनसिंह! तुम कल ही जानेवाले थे न? क्या बात है? गये कैसे नहीं? रातको तुम्हारी तबीयत तो नहीं बिगड़ गयी?' महाराजा साहबकी बातें सुनकर ठाकुर साहबने कहा—'अन्नदाताजी! मैं तो अभी-अभी रुपये जमा देनेके लिये सीधा गाँवसे चला आ रहा हूँ। मैं कल यहाँ था ही नहीं, आपको किसी दूसरेकी बातका ध्यान रह गया होगा।'

यह सुनकर महाराजा साहबने कहा, 'तुम क्या कहते हो? अभी रुपये जमा कराने आये हो? रुपये तो तुमने कल ही जमा करा दिये थे।'

ठाकुर साहबने जवाब दिया—'नहीं अन्नदाता! मैं तो कल गाँव में ही था। आप यह क्या फर्माते हैं?' अन्तमें महाराजा साहबने रोकड़में जमा किये हुए रुपये और उनके हस्ताक्षर दिखाये। उनको देखते ही ठाकुर साहबकी आँखें प्रेमाश्रुसे भर गयीं और उनके मुँहसे केवल इतना ही निकला— 'हाँ, हस्ताक्षर तो मेरे-जैसे ही हैं।' ठाकुर साहब अपने भगवान्‌की लीलाको समझकर गद्गद हो गये। बीकानेर-नरेश भी भक्तकी महिमा और भगवान्‌की भक्तवत्सलता देखकर मुग्ध हो गये। ठाकुर साहबने लौटकर भगवान् मुरलीधरजीका मन्दिर बनवाया, जो अभीतक उनकी कीर्तिको बढ़ा रहा है।

भक्त रामदास

भक्त रामदास द्वारकासे सात कोसकी दूरीपर डाकोर नामक गाँवमें रहते थे। 'रणछोड़' भगवान्‌के मन्दिरमें प्रति एकादशीको जागरण, कीर्तन आदि उत्सवका आयोजन होता था, उसमें वे नियमपूर्वक सम्मिलित होते थे और भगवान्‌के दर्शनसे अपने तन, मन और बुद्धिको पवित्र करते थे। भगवान् 'रणछोड़' ने एक बार उनके सामने प्रत्यक्ष प्रकट होकर कहा—'तुम वृद्ध हो चले हो, तुम्हें सात कोस आने-जानेमें जो कष्ट होता है, वह मेरे लिये नितान्त असह्य है।' भक्त रामदास तो भगवान्‌की रूप-माधुरीसे छकनेमें इतने तल्लीन हो गये कि उन्हें बाह्यज्ञान कुछ रहा ही नहीं, आने-जानेके प्रश्नने उनके मस्तिष्कको कुछ चिन्तित ही नहीं किया। भगवान्‌ने कृपापूर्वक उन्हें दर्शन दिया, इस बातको सोच-सोचकर वे प्रेम-विह्वल हो रहे थे। भगवान्‌के अन्तर्धान होते ही उनके वियोगमें प्राण छटपटा गये, अङ्ग-अङ्ग सिहरने लगा। अब तो उनका निश्चय और भी दृढ़ हो गया, वे समस्त सुखोंको तिलाञ्जलि देकर दूने उत्साहसे जागरण-महोत्सवमें आने लगे। वे किसी भी मूल्यपर जागरणका आनन्द छोड़नेके लिये अपने-आपको समर्थ न पा सके।

भगवान्‌से भक्त रामदासका एकादशीजागरणमें आना और न सहा गया, भक्तको सुख और आनन्द देनेके लिये उन्होंने रामदाससे डाकोर चलनेका निश्चय प्रकट किया। भगवान् तो सच्ची निष्ठा और प्रेमके भूखे होते हैं। उन्होंने रामदासको गाड़ी लानेकी सम्मति दी और कहा—'मेरे विग्रहको अँकवारमें भर उसमें लिटा देना और यथाशीघ्र ही डाकोर पहुँचनेका प्रयत्न करना।' दूसरी एकादशीके जागरण-अवसरपर रामदास द्वारकामें गाड़ी ले गये, उनकी वृद्धावस्थासे किसीने उनपर सन्देह नहीं किया। द्वादशीकी रात आधी बीत चुकी थी। द्वारकावासी और मन्दिरके पुजारी तथा अन्य सेवक आदि नींदकी गहरी और मीठी लहरोंमें बह रहे थे। सारा-का-सारा वातावरण नीरव और शान्त था। रामदास अपने सौभाग्यपर फूले नहीं समाते थे, भगवान्‌के आतिथ्यका आनन्द सोच-सोचकर वे प्रतिक्षण कुछ और-से-और होते जा रहे थे। मन्दिरका पट अचानक खुल गया। वे मन्दिरमें पहुँच गये। थोड़े ही परिश्रमसे भगवान् उनकी गोदमें आ गये, भगवान्‌ने प्रसन्नतापूर्वक अपने चिन्मय मादक स्पर्शसे भक्तकी जन्म-जन्मकी तपस्या सफल कर दी। गाड़ी द्वारकासे बहुत दूर निकल गयी। रामदास झूम-झूमकर कीर्तन करते थे और भगवान् भक्तके संरक्षणमें सात कोसकी यात्रा पूरी कर रहे थे।

सबेरा होते ही लोगोंने रामदासका पीछा किया। भगवान् भास्करकी सुनहली किरणें पूर्वदिशाके अञ्चलमें विहार करनेवाली ही थीं कि रामदासने देखा कि कुछ लोग पीछा कर रहे हैं। उनके मस्तकपर पसीनेके कण बिखर गये, वे किसी अनहोनी और भीषण घटनासे रह-रहकर आशङ्कित हो उठते थे। कभी प्रभुका श्रीविग्रह प्रेमभरी दृष्टिसे देख लेते तो कभी गाड़ीको तेजीसे आगे बढ़ा देते। उन्हें पूरा-पूरा विश्वास था कि प्रभु जो कुछ भी करेंगे, उसीमें मेरा परम कल्याण है। पीछा करनेवाले थोड़ी ही दूर रह गये थे; पर भक्तने भगवान्‌को जगाना उचित नहीं समझा, उन्हें तो विश्वास था कि भगवान् गाड़ीपर लेटते ही सो गये। उन्होंने सोचा कि पीछा करनेवाले मुझसे भगवान्‌को छीन लेंगे और प्रभु नींदका सुख लेते द्वारका-मन्दिरमें प्रवेश करेंगे; इससे अधिक तो कुछ होगा नहीं। पर भगवान्‌की लीला-शक्ति तो जाग ही रही थी। भक्तभयहारी रासविहारीने कहा—'तुम मुझे सामनेकी बावलीमें छिपा दो और जब पीछा करनेवाले चले जायँ, तब गाड़ीमें रखकर डाकोर ले चलना।' रामदासने उनकी आज्ञाका पालन किया। पीछा करनेवाले पुजारी आदि आ पहुँचे, बिना कुछ पूँछ-ताँछ किये ही उन्होंने रामदासको मारना आरम्भ किया। भगवान्‌की लीला-शक्तिने भक्त रामदासकी दृढ़ निष्ठा और धैर्य-परीक्षाकी महिमा प्रकट करनेके लिये दुष्टोंको अपनी मनमानी करने दी; पर उन्हें दण्डके ही माध्यमसे भक्तके शरीरका स्पर्श मिल चुका था, अतः उनका विवेक जाग उठा। गाड़ीमें भगवान्‌का श्रीविग्रह न पाकर उनके पश्चात्तापका पारावार उमड़ आया, उन्होंने महापापसे भी

भीषण भक्तापराध कर डाला था। उन्होंने देखा कि बावलीका पानी किसीके खूनसे लाल हो गया है। सत्सङ्गका प्रभाव तो मनपर था ही, भगवान्‌की लीला-शक्तिने अपना काम किया, वे प्रभुका विग्रह बावलीसे बाहर निकालकर अपने कियेपर पछताने लगे।

भगवान्‌ने दर्शन दिया, भक्त रामदास प्रभुके घायल शरीरको देखकर काँप उठे। मेरे कारण उन्हें इतना कष्ट सहना पड़ा! उनका हृदय हाहाकार कर उठा। भगवान्‌ने कहा—'मेरा भक्त मुझे मेरी आज्ञासे ले जा रहा है। मैं तुम्हारे सम्पर्कमें अब नहीं रहना चाहता। मेरी दूसरी प्रतिमा, जो अमुक स्थानपर है, मन्दिरमें स्थापितकर भक्ति और प्रेमसे अपना अन्तःकरण पवित्र करो; इस महान् अपराधका यही प्रायश्चित्त है।' भगवान्‌ने रामदासको आज्ञा दी—'मेरे तौलके बराबर उन्हें सोना दे दो।' भक्त अपनी दरिद्रता और असमर्थतापर काँप उठे। उनकी स्त्रीके कानकी बाली पलड़ेमें रखी गयी, पलड़ा भारी हो गया, प्रतिमा उसकी तौलमें हलकी हो गयी। पुजारी तथा अभक्त दुष्ट अपना-सा मुँह लेकर नौ-दो-ग्यारह हो गये। भगवान्‌ने भक्तकी इज्जत रख ली। भगवान् 'रणछोड़' उसी दिनसे 'आयुधछत' की उपाधिसे विभूषित हुए। अभीतक उनके घावपर पट्टी बाँधी जाती है। भक्तवर रामदासकी भक्तिकी महिमाका बखान तो भगवान् 'रणछोड़' की लीला-शक्ति ही कर सकती है।

~~***~~

भक्तवर पीपाजी

(लेखक—पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा)

पीपाजी भगवान्‌के सिद्ध भक्त थे। जिस समय आचार्यप्रवर रामानन्दजी समस्त भारतको अपने परम भागवत शिष्य अनन्तानन्द, कबीर, रैदास आदिके द्वारा रामभक्ति-सुधाका रसास्वादन करा रहे थे, भक्तप्रवर पीपाने 'गागरोन' गढ़में जन्म लिया। अपने प्रदेशके शक्तिशाली राजाओंमेंसे वे एक थे। उनके ऐश्वर्य, पराक्रम और शक्ति तथा समृद्धिकी कहानी घर-घरमें कही जाती थी। भगवान्‌के भक्त झोपड़ी और राजप्रासाद दोनों जगह मिलते हैं। भगवान् जिन्हें प्रसन्नतापूर्वक अपना लेते हैं, वे ही उनकी गौरवमयी भक्तिके अधिकारी हो जाते हैं।

भाग्यसे गागरोनगढ़में कुछ संत आये। राजा पीपाने उसके खाने-पीनेका सामान भिजवा दिया। यथाशक्ति स्वागत-सत्कार किया, पर दर्शनके लिये न गये। संतोंको राजाके इस विचित्र चरित्रसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने भगवान्‌से पीपाजीके बुद्धिसुधारकी प्रार्थना की। संतोंकी वाणी खाली किस तरह जा सकती थी। स्वप्नमें देवीने भगवान्‌की भक्तिकी प्रेरणा दी और काशी जाकर आचार्यप्रवर परम रामभक्त रामानन्दकी शरण लेनेका आदेश दिया। आधी रात बीत चुकी थी, राजाको एक पलके लिये भी कल न पड़ी। मुख्य दरवाजा खोलकर उन्होंने महामायाके मन्दिरकी ओर पैर बढ़ा दिये, पहरेपर सैनिक जाग उठे। राजा कभी इतनी रातको मन्दिरमें नहीं जाते थे। सारे नगरमें हलचल मच गयी। राजाने महामायाकी चरणधूलि ली।

पीपाजी काशी आ पहुँचे। भगवान् विश्वनाथकी राजधानीके सात्त्विक वैभवने उन्हें जो मानसिक शान्ति दी, वह पहले कभी नहीं मिली थी। उन्होंने गङ्गामें स्नान किया। हृदय गुरु-दर्शनके लिये पूर्णरूपसे उत्सुक था। वे रामानन्दजीकी कुटीपर आ गये। उन्होंने आचार्य रामानन्दजीके दर्शनके लिये आदेश माँगा। स्वामी रामानन्दने कहलवाया—हम राजाओंसे नहीं मिलते।

पीपाजीको तो विवेक प्राप्त हो चुका था—संतकी निवासभूमिका प्रभाव पड़ चुका था। उन्होंने राजसी वेश-भूषाका त्याग कर दिया। राजा पीपा रंक हो गये, कंगाल हो चले। परीक्षा पूरी नहीं हो पायी। स्वामीजीने उन्हें कड़ी कसौटीपर कसना चाहा। उन्होंने आज्ञा दी—'कुएँमें कूद पड़ो।' जिनके पद-पङ्कजपर पीपाजीका मस्तक नत होनेके लिये सर्वस्वकी बाजी लगा चुका था, उनकी आज्ञाकी अवहेलना होती ही किस तरह। वे कूदने जा ही रहे थे कि शिष्योंने उनको पकड़ लिया, उनके आत्मबलकी परीक्षा हो चुकी। आचार्यने उन्हें दीक्षा दी। उनके आदेशसे वे गागरोनगढ़ वापस आये।

साधु-सेवा और राजकार्यमें उनके समयका सदुपयोग होने लगा। कुछ दिनों बाद गुरुविरह उनके लिये असह्य हो चला। उन्होंने रामानन्दजीको गागरोनगढ़ आनेका निमन्त्रण दिया। आचार्यप्रवर चालीस भक्तोंके साथ आये। इस पवित्र यात्रामें संत कबीर और रैदास आदि भी उनके साथ थे। राजा पीपाने स्वामीजीकी पालकीमें कंधा लगाया, ठाट-बाटसे शोभायात्रा निकाली। गागरोनगढ़को पवित्र करनेके बाद रामानन्दजी महाराजने द्वारका जानेकी इच्छा प्रकट की। पीपाका मन उनमें पूर्ण आसक्त था। वे साथ छोड़ना नहीं चाहते थे। वे भी द्वारकाके लिये चल पड़े। उनकी बारह रानियोंने भी साथ जाना चाहा, पर केवल सीतासहचरी ही जा सकीं। यद्यपि पीपाजी उन्हें साथ ले चलनेके पक्षमें नहीं थे, तो भी गुरु-आज्ञाकी अवज्ञा न कर सके। सीतासहचरीके संस्कार अत्यन्त पवित्र थे।

रामानन्दजी तो द्वारकासे काशी लौट आये, पर पीपाजी उनकी आज्ञासे सीतासहचरीके साथ वहीं रह गये। वे नित्य द्वारकेश भगवान्‌का दर्शन करते थे। एक दिन उन्होंने भगवान् और रुक्मिणीका साक्षात्कार करना चाहा। वे भगवद्‌विरहके उन्मादमें समुद्रमें कूद पड़े। द्वारकामें हाहाकार मच गया। वे सात दिनोंतक समुद्रमें ही सीतासहचरीके साथ रह गये। कहते हैं कि वहाँ उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी पटरानी भगवती रुक्मिणीने दर्शन देकर कृतार्थ किया। भगवान्‌की अलौकिक महिमा, कृपा तथा भक्तवत्सलताने भक्तकी इच्छा पूर्ण की। वे भगवान्‌की छाप लेकर सात दिनोंके बाद निकल आये। द्वारकावासियोंने देखा कि उनके वस्त्रतक नहीं भीगे थे। भक्तजनोंने उनकी चरणधूलि ली, मस्तकपर चढ़ाकर जन्म सफल कर लिया। पीपाजीने मन्दिरके पुजारीको भगवान्‌की छाप दी; उन्होंने कहा—'जिसका इससे संस्पर्श होगा, वह भवसागरके पार उतर जायगा।'

एक बार वे चीघड़ भक्तसे मिले। दोनों भक्तराज थे। चीघड़ भक्त दरिद्र थे, पर उन्होंने पीपाजी और सीतासहचरीका अच्छी तरह स्वागत-सत्कार किया। भोजनके समय पीपाजीने चीघड़की पत्नीका दर्शन करना चाहा, पर सीतासहचरीने देखा कि वे तो वस्त्रहीन हैं। उन्होंने साड़ी फाड़कर आधी उन्हें पहनायी, फिर चारोंने साथ-ही-साथ भोजन किया।

चीघड़ भक्तको कृतार्थकर वे टोड़े ग्राम गये। पोखरेपर स्नान करते समय किनारेपर कुछ मोहरें देखीं। छोड़कर चले आये। सीतासहचरीसे इस सम्बन्धमें बात कर ही रहे थे कि चोरोंने सुन ली। पर पोखरेपर मोहरोंके स्थानपर उन्हें साँप और बिच्छू दिखायी दिये। उन्होंने पात्रमें भरकर उनको पीपाजीके छप्परपर फेंक दिया, पीपाजीके लिये तो पात्रमें मोहरें ही थीं। उन्होंने साधु-सेवामें उनका उपयोग किया। टोड़ेके राजा सूर्यसेनने उनका दर्शन किया, राजसभामें लाकर उनसे दीक्षा ली। पीपाजी जैसे भगवान्‌के परमभक्त थे, वैसे ही उनकी पत्नी सीता भी महान् भक्तिमती थीं।

दीनबन्धुदास और उनका कुटुम्ब

अवन्तिकापुरी (उज्जैन)-में दीनबन्धुदास नामके एक उत्तम कुलके ब्राह्मण रहते थे। घरमें उनकी स्त्री, दो पुत्र तथा बड़े पुत्रकी स्त्री—इस प्रकार पाँच व्यक्ति थे। पाँचों ही धर्मपरायण, भगवान्‌के भक्त, विचारशील और तपस्वी थे। दूसरोंको सुख पहुँचानेके लिये उनमेंसे प्रत्येक सदा तत्पर रहता था। भगवान्‌की कथा, हरिकीर्तन, संत-सेवा और अतिथि-सत्कारपर इनका बड़ा प्रेम था। 'गृहस्थका प्रधान धर्म है अतिथि-सेवा। यदि गृहस्थके घरसे अतिथि निराश लौट जाता है तो वह अपने सब पाप वहीं छोड़ जाता है।' इन शास्त्र-वाक्योंपर इनकी दृढ़ निष्ठा थी। अतिथिको मधुर वचन, जल तथा उपलब्ध सामग्रीसे सन्तुष्ट करनेमें ये सदा तत्पर रहते थे।

जब कोई भक्त भगवान्‌को पानेके लिये व्याकुल होता है, तब भगवान् भी उसे दर्शन देनेको व्याकुल हो उठते हैं। दीनबन्धुदास अपनी धर्मपरायणा अतिथि-सेवा तथा भक्तिसे अब अधिकारी हो गये थे दीनबन्धुका दर्शन पानेके। भगवान् उनको कृतार्थ करने एक संन्यासीके वेषमें अवन्ती पधारे।

दीनबन्धुदासके बड़े पुत्रको एक विषधर सर्पने काट लिया। सर्पके काटते ही वह गिरा और उसके प्राण

परधाम चले गये। पिता-माताके दुःखका पार नहीं। छोटा भाई अलग नेत्रोंसे आँसू बहा रहा है। पत्नी बेचारीका तो सर्वस्व ही लुट गया। दुःखी परिवारको रोनेका भी अवकाश नहीं मिला। इसी समय द्वारपर पहुँचकर उन संन्यासी महाराजने पुकार लगायी—'नारायण हरि।'

दीनबन्धुदासने शीघ्रतासे नेत्र पोंछे। द्वारपर आकर देखा कि एक अद्भुत तेजस्वी वृद्ध संन्यासी खड़े हैं। उनके चरणोंमें प्रणाम किया। उन संतने कहा कि 'मैं बहुत भूखा हूँ।' उन्हें आसनपर बैठाकर दीनबन्धुदास घरमें आकर बोले—'देखो! बाहर एक भूखे संन्यासी भिक्षाके लिये बैठे हैं और यहाँ यह पुत्रका मृतदेह पड़ा है। अब हमलोग क्या करें?'

पत्नी, छोटे पुत्र और विधवा पुत्रवधूने कहा—'मरा प्राणी तो अब लौट नहीं सकता। अतिथि भूखे लौट जायँ, यह तो बड़ा अपराध होगा। पहले अतिथि-सत्कार होना चाहिये। मृत देहका दाह-संस्कार पीछे होगा।'

मृत देहको कपड़ेमें लपेटकर एक कमरेमें बंद कर दिया गया। सास-बहूने मिलकर भोजन बनाया। अतिथि भोजन करनेको बुलाये गये। संन्यासी महाराजने आते ही कहा—'मेरा नियम है कि जिस घरमें मैं भोजन करता हूँ, उस घरके सब लोग मेरे साथ ही बैठकर भोजन करें; तभी मैं भोजन करूँगा। तुमलोग भी मेरे साथ बैठकर भोजन करो, नहीं तो मैं भोजन नहीं करूँगा।'

यह बात सुनकर सब विचारमें पड़ गये, एक दूसरेकी ओर देखने लगे। फिर सबने सोचा—'भोजन आज न सही, कल तो करना ही है। बिना भोजनके तो रहा नहीं जा सकता। आज अतिथिको लौटाना उचित नहीं होगा।' चार थालियाँ और लग गयीं। चारों भोजन करने बैठ गये। संन्यासीजीने कहा—'मैंने तो सुना था कि तुम्हारे दो पुत्र हैं, तुम्हारे परिवारमें पाँच व्यक्ति हैं। तुम्हारा एक लड़का कहाँ है? उसे बुलाओ! उसके आनेपर ही मैं भोजन करूँगा।'

दीनबन्धुदासके नेत्रोंमें आँसू भर आये। संन्यासीके बार-बार पूछनेपर उन्होंने सब बातें बता दीं। संन्यासी बाबाने स्वयं वह लाश बाहर मँगाकर देखी और तब कृत्रिम रोषसे बोले—'दीनबन्धु! तू तो बड़ा निर्दय है! तुझे ज्ञानी कौन कहता है। पुत्रकी लाश घरमें पड़ी रहे और पिता भोजन करने आनन्दपूर्वक बैठ जाय! ऐसे पापी निष्ठुर पिताको क्या कहा जाय?'

दीनबन्धुदासने नम्रतासे कहा—'महाराज! आप तो ज्ञानी हैं। आप ही बताइये कि इस संसारमें कौन किसका पिता है और कौन किसका पुत्र। यह तो एक धर्मशाला है। जगह-जगहके यात्री आकर ठहरते हैं। कोई कुछ आगे जाता है, कोई कुछ पीछे। सभीको एक दिन मरना है। मेरे पुत्रके जीवनके दिन पूरे हो गये, अतः वह चला गया। हमलोगोंके दिन पूरे होंगे, तब हम भी चले जायँगे। शोक करना तो व्यर्थ ही है। इतनेपर भी, व्यवहारकी दृष्टिसे हमारा भोजन करने बैठना अनुचित था; किंतु आप हमारे अतिथि हैं, हमारे लिये साक्षात् नारायण हैं। आपको भूखे लौटा देना हमने अधर्म समझकर ही ऐसा किया। आप हमें क्षमा करें।'

संन्यासीजी मनमें तो संतुष्ट हुए, पर ऊपरसे बोले कुछ नहीं। वे दीनबन्धुदासकी स्त्री मालतीसे कहने लगे—'तू कैसी माता है! पुत्रके मरणका तुझे शोक नहीं हुआ? तेरा हृदय कितना कठोर है।'

मालतीने नम्रतापूर्वक कहा—'प्रभो! आपसे भला, मैं क्या कह सकती हूँ। जबतक पुत्र जीवित था, तबतक मैं उसे हृदयके टुकड़ेके समान प्यार करती थी; किंतु अब तो वह मेरा कोई नहीं है! जीवसे तो किसीका कोई सम्बन्ध होता नहीं, सम्बन्ध होता है शरीरके कारण। शरीर नाशवान् है। जो जनमेगा, वह अवश्य मरेगा। फिर उसके लिये शोक क्यों किया जाय। रातको एक वृक्षपर बहुत-से पक्षी एकत्र होते हैं और सबेरा होते ही जहाँ-तहाँ उड़ जाते हैं। ऐसे ही प्राणी भी संसारमें प्रारब्धवश कुछ कालके लिये एकत्र होते हैं। यहाँका सम्बन्ध तो मायाका खेल है।'

अब संन्यासीजीने दीनबन्धुके छोटे पुत्रसे कहा—'तुम्हारे मनमें तो बड़ी कुभावना जान पड़ती है। बड़े भाईके मरनेपर भी तुम्हें शोक नहीं हुआ! संसारमें सभी स्वार्थके सगे हैं। तू तो निर्दय, मूर्ख और पापी जान पड़ता है।'

बालकने हाथ जोड़कर कहा—'स्वामिन्! मैं छोटा बच्चा भला, आपको क्या उत्तर दे सकता हूँ। आप चाहे

जो दोष मुझपर लगायें; पर क्या आप बता सकते हैं कि संसारका सम्बन्ध सच्चा है। पता नहीं कितनी बार कितने जन्मोंमें कौन किसका भाई, पुत्र, पिता, मित्र या शत्रु बना होगा। जन्मसे पहले किसीका किसीसे कोई नाता नहीं था। मरनेपर भी कोई नाता नहीं रहता। बीचमें थोड़ा-सा सम्बन्ध रहता है, पर मृत्यु होनेपर वह भी समाप्त हो जाता है। यह तो एक बाजार है। सब व्यापारी इस हाटमें अपना-अपना माल बेचने आये हैं। जिसका माल जब बिक जाता है, वह तभी चला जाता है। इसमें शोक करनेकी क्या बात है।'

संन्यासीने अब मृत पुरुषकी विधवा स्त्रीको पास बुलाकर कहा—'बेटी! तेरा बर्ताव तो बहुत दुःखदायक है। संसारमें स्त्रीके लिये एकमात्र पति ही सर्वस्व है। पतिहीना नारीके समान दुःखी कोई प्राणी नहीं। पतिके बिना स्त्रीका जीवन निरर्थक है। तू अच्छे वंशकी लड़की है, फिर भी तेरा ऐसा आचरण क्यों है? पतिकी मृत्युका तुझे तनिक भी शोक नहीं हुआ? छिः!'

उस धर्मपरायणा विधवाने भूमिमें सिर रखकर संन्यासीको प्रणाम किया और कहा—'पिताजी! आप ठीक कहते हैं। संसारमें पति ही स्त्रीका सर्वस्व है; किंतु आप बताइये तो कि मायामें पड़े जीवका सच्चा पति कौन है। उस परमपति परमात्माको पानेके लिये ही तो स्त्री लौकिक पतिको उस जगदीश्वरकी मूर्ति मानकर उसकी सेवा, पूजा, भक्ति करती है। जबतक भगवान्‌ने अपने प्रतिनिधिरूप पतिको मुझे सौंपा था, तबतक उन पतिदेवकी तन-मनसे सेवा करना मेरा धर्म था। यथासाध्य मैं अबतक वही करती थी। अब परमात्माने अपना प्रतिनिधि अपने पास बुला लिया तो मैं उस सर्वेश्वरकी साक्षात् सेवा करूँगी। प्रतिनिधिके चले जानेपर मुझे शोक क्यों होना चाहिये। मुझे तो किसी प्रकार उन प्रभुकी सेवा करनी है। यह संसार तो भगवान्‌की नाटक-शाला है। जिसे जो स्वाँग देकर वे भेजते हैं, उसे वही स्वाँग करना पड़ता है। अपना स्वाँग पूरा करके पात्र चले जाते हैं। मेरे पतिदेवका स्वाँग पूरा हो गया, वे चले गये। मुझे अबतक सधवापनका स्वाँग मिला था, अब विधवाका स्वाँग मिला है। वैधव्य तो संन्यासके समान पवित्र है। विषयभोगोंसे विरक्त होकर पुरुष संन्यास लेते हैं। विधवाको वह स्थिति सहज प्राप्त हो जाती है। भगवान्‌ने मुझे भजन करनेका यह अवसर दिया है, मैं शोक क्यों करूँ। लौकिक दृष्टिसे मुझे शोक करना चाहिये था; पर जो स्त्रियाँ मोहवश अधिक रोती-पीटती हैं, शास्त्र कहते हैं कि उनके पतियोंको परलोकमें कष्ट होता है। फिर, मैं रोने बैठ जाती तो मेरे पतिके पूज्य पिताका अतिथि-सेवा-धर्म नष्ट होता। इसलिये मुझे शोक करना उचित नहीं जान पड़ा।'

संन्यासीने मृत पुरुषके ऊपर लिपटा कपड़ा हटा दिया। अपने कमण्डलुसे उसपर जल छिड़का और बोले—'बेटा! उठो तो।' देखते-देखते मृत देहमें जीवन लौट आया। वह नींदसे जगेकी भाँति उठ बैठा। अपने सामने संन्यासीको देख वह उनके चरणोंमें लोट गया। संन्यासीका ऐसा प्रभाव देखकर सब चकित हो गये। सब उनके चरणोंमें गिर पड़े।

संन्यासीने उस ब्राह्मणकुमारसे कहा—'आज मैंने स्वार्थपरताका नंगा नाच देखा। तू जिन्हें अपना मानता है, जिनके लिये रात-दिन एक करके श्रम करता है, जो तेरी कमाईपर मौज करते हैं, वे तेरे माता-पिता-भाई और तेरी विवाहिता पत्नीतकको तुझसे तनिक भी प्रेम नहीं। तुझे मरा जानकर, तेरा मृत देह उठाकर एक ओर रखकर सब-के-सब आनन्दसे भोजन करने बैठ गये थे। ऐसे निर्दयी घरमें तेरा जन्म होना बड़े दुःखकी बात है।'

संन्यासीकी बात सुनकर ब्राह्मणकुमार हँसते हुए बोला—'देव! मैं बड़ा भाग्यवान् हूँ जो ऐसे अनासक्त नर-नारी मेरे आत्मीय बने और उनकी सेवाका मुझे अवसर मिला। यह मेरा सौभाग्य है। भगवान्‌ने दया करके ही मुझे ऐसे कुलमें जन्म दिया है। साधारण लोग तो अपने स्वजनोंसे मोह करते हैं, अपने मोहके फंदेमें उन्हें फँसाये रखते हैं। ऐसे माता-पिता-भाई कहाँ मिलते हैं, ऐसी पत्नी ही कहाँ मिलती है जो पुरुषको मोहमें न डाले। आपकी बात सुनकर मेरी तो इन लोगोंमें श्रद्धा बढ़ गयी है। जैसे गरमीके दिनोंमें धूपसे व्याकुल बहुत-से पथिक किसी वृक्षकी छायामें थोड़ी देरको आ बैठें, ऐसा ही यह संसारका परस्पर सम्बन्ध है। यात्री जैसे घंटे-दो-घंटे

बाद अपने-अपने रास्ते लगते हैं, वैसे ही जीवको भी अपने कर्मके अनुसार प्रारब्ध भोगकर अलग हो जाना है। यही संसारका सम्बन्ध है। यहाँ कोई किसीके लिये शोक करे, यह तो अज्ञान ही है।'

अब संन्यासी महाराज आनन्दपुलकित होकर बोले—'बेटा दीनबन्धुदास! तुमलोगोंके निष्कपट व्यवहार, ज्ञान, वैराग्य और अतिथि-सेवा-प्रेमको धन्य है। तुम सभी परम सुखसे जीवन बिताकर मोक्षपद प्राप्त करोगे। तुम सदा भगवान्‌का भजन करते रहना। तुमलोगोंको कोई दुःख कभी स्पर्श भी नहीं करेगा।'

सपरिवार दीनबन्धुदास संन्यासीजीके चरणोंमें गिर पड़े। उन संन्यासीजीने फिर कहा—'मैं कभी तुमलोंगोंको नहीं भूलूँगा। अपने प्रेमियोंके हाथ मैं अपनेको बेच देता हूँ। तुम-सरीखे भक्त मेरे हृदय हैं। मैं तुम्हें अपना परिचय देता हूँ। तुम अतिथिको नारायण मानकर सदा उसकी सेवा करते थे, अतः स्वयं मैं नारायण तुम्हारे यहाँ आया।'

पाँचों व्यक्ति अन्तिम वाक्य सुनते ही चौंक पड़े। उन्होंने देखा कि संन्यासीकी दिव्य मूर्ति अदृश्य हो गयी है। वे सब-के-सब व्याकुल होकर पुनः दिव्य दर्शनके लिये प्रार्थना करने लगे। भक्तोंकी प्रार्थना सार्थक हुई। सार्थक हुए उनके नेत्र त्रिभुवनमोहन श्रीहरिके दिव्य रूपके दर्शन करके। पाँचों प्राणियोंका जीवन कृतकृत्य हो गया।

भक्त विमलतीर्थ

पण्डित विमलतीर्थ नैष्ठिक ब्राह्मण थे। बड़ा सदाचारी, पवित्र कुल था इनका। त्रिकाल-सन्ध्या, अग्निहोत्र, वेदका स्वाध्याय, तत्त्वविचार आदि इनके कुलमें सबके लिये मानो स्वाभाविक कर्म थे। सत्य, अहिंसा, क्षमा, दया, नम्रता, अस्तेय, अपरिग्रह और सन्तोष आदि गुण इस कुलमें पैतृक सम्पत्तिके रूपमें सबको मिलते थे। इतना सब होनेपर भी भगवान्‌के प्रति भक्तिका भाव जैसा होना चाहिये, वैसा नहीं देखा जाता था। पण्डित विमलतीर्थ इस कुलके एक अनुपम रत्न थे। इनकी माताका देहान्त लड़कपनमें ही हो गया था। ननिहालमें बालकोंका अभाव था, अतः ये पहलेसे ही अधिकांश समय नानीके पास रहते थे। माताके मरनेपर तो नानीने इनको छोड़ना ही नहीं चाहा, ये वहीं रहे। इनके नाना पण्डित निरञ्जनजी भी बड़े विद्वान् और महाशय थे। उनसे इनको सदाचारकी शिक्षा मिलती थी तथा गाँवके ही एक सुनिपुण अध्यापक इन्हें पढ़ाते थे। इनकी बुद्धि बड़ी तीव्र थी। कुलपरम्पराकी पवित्र विद्याभिरुचि इनमें थी ही। अतएव इनको पढ़ानेमें अध्यापक महोदयको विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता था। ये ग्रन्थोंको ऐसे सहज ही पढ़ लेते थे, जैसे कोई पहले पढ़े हुए पाठको याद कर लेता हो। यज्ञोपवीत नानाजीने करवा ही दिया था, इसलिये ये त्रिकाल-सन्ध्या करते थे। नित्य प्रातःकाल बड़ोंको प्रणाम करते, उनकी श्रेष्ठ आज्ञाओंका कुतर्कशून्य बुद्धिसे परंतु समझकर भलीभाँति पालन करते और सहज ही सबके स्नेहभाजन बने हुए थे।

विमलजीकी नानी सुनन्दादेवी परम भक्तिमती थी। उसने अपने पतिकी परमेश्वरभावसे सेवा करनेके साथ ही परम पति, पतिके भी पति भगवान्‌की सेवामें अपने जीवनको लगा रखा था। भगवान्‌पर और उनके मङ्गल-विधानपर उसका अटल विश्वास था और इसलिये वह प्रत्येक स्थितिमें नित्य प्रसन्न रहा करती थी। इस प्रकारकी गुणवती पत्नीको पाकर पण्डित निरञ्जनजी भी अपनेको धन्य मानते थे। सुनन्दादेवी घरका सारा काम बड़ी दक्षता तथा सावधानीके साथ करती। परंतु इसमें उसका भाव यही रहता कि 'यह घर भगवान्‌का है, मुझे इसकी सेवाका भार सौंपा गया है। जबतक मेरे जिम्मे यह कार्य है, तबतक मुझे इसको सुचारुरूपसे करना है।' इस प्रकार समझकर वह समस्त कार्य करती; परंतु घरमें, घरकी वस्तुओंमें, कार्यमें तथा कार्यके फलमें न उसकी आसक्ति थी, न ममता। उसकी सारी आसक्ति और ममता अपने प्रभु भगवान् नारायणमें केन्द्रित हो गयी थी। इसलिये वह जो कुछ भी करती, सब अपने
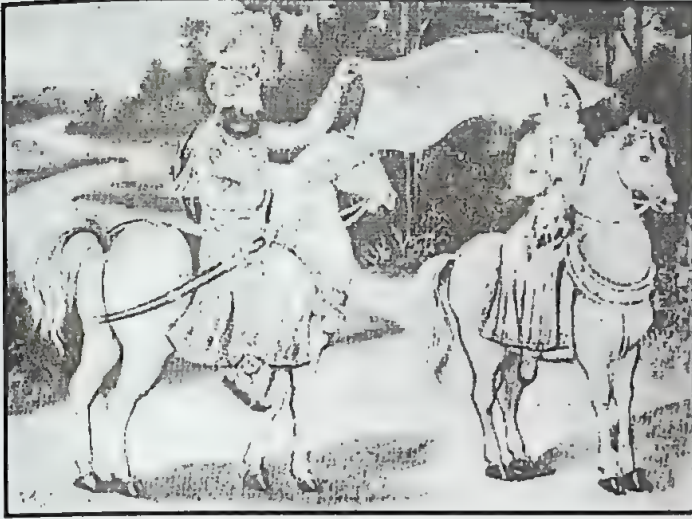
ठाकुर किशनसिंहजी [पृ० ६४५]
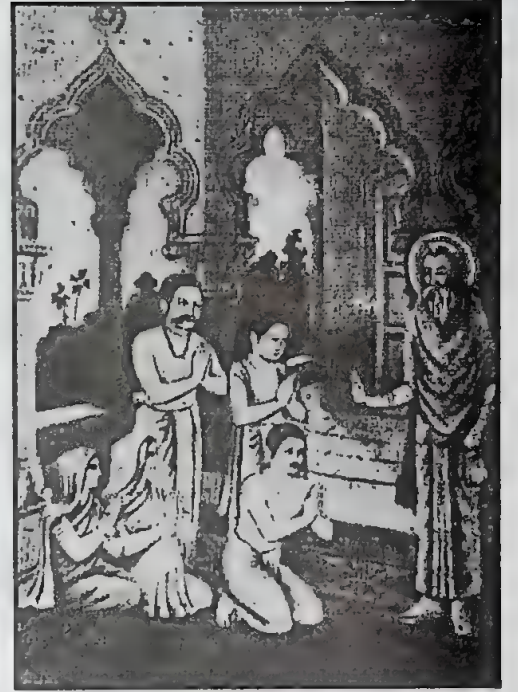
भक्त दीनबन्धुदास [पृ० ६४९]

भक्त विमलतीर्थ [पृ० ६५२]

भक्त धन्ना जाट [पृ० ६५६]

भक्त गोपाल चरवाहा [पृ० ६५८]

भक्त परमेष्ठी दर्जी [पृ० ६५९]

भक्त रामदास चमार [पृ० ६६१]

भक्त रघु केवट [पृ० ६६३]

प्रभु श्रीनारायणकी प्रीतिके लिये, उन्हींका काम समझकर करती। इससे काम करनेमें भी उसे विशेष सुख मिलता था। शुद्ध कर्तव्यबुद्धिसे किये जानेवाले कर्ममें भी सुख है; परंतु उसमें वह सुख नहीं है, जो अपने प्राणप्रिय प्रभुकी प्रसन्नताके लिये किये जानेवाले कर्ममें होता है। उसमें रूखापन तो कभी होता ही नहीं, एक विशेष प्रकारके रसकी अनुभूति होती है, जो प्रेमीको पद-पदपर उल्लसित और उत्फुल्लित करती रहती है और वह नित्य-नूतन उत्साहसे सहज ही प्राणोंको न्योछावर करके प्रभुका कार्य करता रहता है। परंतु इस प्रकारके कार्यमें जो उसे अप्रतिम रसानुभूति मिलती है, उसका कारण कर्म या उसका कोई फल नहीं है। उसका कारण है— प्रभुमें केन्द्रित आसक्ति और ममत्व। प्रभु उस कार्यसे प्रसन्न न हों और किसी दूसरे कार्यमें लगाना चाहें तो उसे उस पहले कार्यको छोड़कर दूसरेके करनेमें वही आनन्द प्राप्त होगा, जो पहलेको करनेमें होता था। सुनन्दाका इसी भावसे घरवालोंके साथ सम्बन्ध था और इसी भावसे वह घरका सारा कार्य सँभालती तथा करती थी। आज मातृहीन विमलको भी सुनन्दा इसी भावसे हृदयकी सारी स्नेह-सुधाको उँडेलकर प्यार करती और पालती-पोसती है कि वह प्रियतम प्रभु भगवान्‌के द्वारा सौंपा हुआ सेवाका पात्र है। उसमें नानीका बड़ा ममत्व था; पर वह इसलिये नहीं था कि विमल उसकी कन्याका लड़का है, वरं इसलिये था कि वह भगवान्‌के बगीचेका एक सुन्दर सुमधुर फलवृक्ष है, जो सेवा-सँभालके लिये उसे सौंपा गया है। नानीके पवित्र और विशद स्नेहका विमलपर बड़ा प्रभाव पड़ा और विमलकी मति भी क्रमशः नानीकी सुमतिकी भाँति ही उत्तरोत्तर विमल होती गयी। उसमें भगवत्परायणता, भगवद्विश्वास, भगवद्भक्ति और शुभ भगवदीय कर्मके मधुर तथा निर्मल भाव जाग्रत् हो गये। वह नानीकी भगवद्-विग्रहकी सेवाको देख-देखकर मुग्ध होता, उसके मनमें भी भगवत्सेवाकी आती। अन्तमें उसके सच्चे तथा तीव्र मनोरथको देखकर भगवान्‌की प्रेरणासे नानीने उसके लिये भी एक सुन्दर भगवान् नारायणकी प्रतिमा मँगवा दी और नानीके उपदेशानुसार बालक विमल बड़े भक्तिभावसे भगवान्‌की पूजा करने लगा।

विमलतीर्थजीके विमल वंशमें सभी कुछ विमल तथा पवित्र था। भगवद्भक्तिकी कुछ कमी थी—वह यों पूरी हो गयी। कर्मकाण्ड, विद्या तथा तत्त्व-विचारके साथ जिसमें नम्रता तथा विनय होती है, वह अन्तमें विद्या तथा तत्त्वके परम फल श्रीभगवान्‌की भक्तिको अवश्य प्राप्त करता है। परंतु जहाँ कर्मकाण्ड, विद्या एवं तत्त्वविचार अभिमान तथा घमंड पैदा करनेवाले होते हैं, वहाँ परिणाममें पतन होता है। वस्तुतः जो कर्म, जो विद्या और जो विचार भगवान्‌की ओर न ले जाकर अभिमानके मलसे अन्तःकरणको दूषित कर देते हैं, वे तो कुकर्म, अविद्या और अविचाररूप ही हैं। विमलतीर्थके कुलमें कर्म, विद्या और तत्त्वविचारके साथ सहज नम्रता थी—विनय थी और उसका फल भगवान्‌में रुचि तथा रति उत्पन्न होना अनिवार्य था। सत्कर्मका फल शुभ ही होता है और परम शुभ तो भगवद्भक्ति ही है। नानी सुनन्दाके सङ्गसे विमलतीर्थकी विमल कुलपरम्पराके पवित्र फलका प्रादुर्भाव हो गया! नाना-नानीने बड़े उत्साहसे पवित्र कुलकी साधुस्वभावा सुनयनादेवीके साथ विमलतीर्थका विवाह पवित्र वैदिक विधानके अनुसार कर दिया। सुलक्षणवती बहू घरमें आ गयी। वृद्धा सुनन्दाके शरीरकी शक्ति क्षीण हो चली थी, अतएव घरके कार्यका तथा नानीजीके ठाकुरकी पूजाका भार सुनयनाने अपने ऊपर ले लिया। वृद्धा अब अपना सारा समय भगवान्‌के स्मरणमें लगाने लगी। निरञ्जन पण्डित भी बूढ़े हो गये थे। पर उनका स्वभाव बड़ा ही सुन्दर था। उन्होंने भी अपना मन भगवान्‌में लगाया। कुछ समयके बाद वृद्ध दम्पतिकी भगवान्‌का स्मरण करते-करते बिना किसी बीमारीके सहज ही मृत्यु हो गयी। विमल और सुनयना यों तो नाना-नानीकी सेवा सदा-सर्वदा करते ही थे, परंतु पुण्यपुञ्ज दम्पतिने बीमार होकर उनसे सेवा नहीं ली। अब विमलतीर्थ ही इस घरके स्वामी हुए। पति-पत्नीमें बड़ा प्रेम था, दोनोंके बहुत पवित्र आचरण थे। दोनों ही भक्तिपरायण थे। विमल अपने भगवान्‌की पूजा नियमित रूपसे प्रेमपूर्वक करते थे और सुनयनादेवी नानी सुनन्दाके दिये हुए भगवान्‌की पूजा करती थी। यों पति-पत्नीके अलग-अलग ठाकुरजी थे। पर ठाकुर-सेवामें दोनोंको बड़ा आनन्द आता था। दोनों ही मानो होड़-सी लगाकर अपने-अपने भगवान्‌को सुख पहुँचानेमें संलग्न रहते थे। दोनोंमें ही विद्या थी, श्रद्धा थी और सात्त्विक सेवा-भाव था।

विमलतीर्थके तीन बड़े भाई थे। वे भी बहुत अच्छे

स्वभावके तथा शुभकर्मपरायण थे। छोटे भाई विमल अब एक प्रकारसे उन लोगोंके मामाके स्थानापन्न थे। चारोंमें परस्पर बड़ी प्रीति और स्नेह-सौहार्द था। प्रीतिका नाश तो स्वार्थमें होता है। इनका स्वार्थ विचित्र ढंगका था। ये एक-दूसरेका विशेष हित करने, सुख पहुँचाने और सेवा करनेमें ही अपना स्वार्थ समझते थे। त्याग तो मानो इनकी स्वाभाविक सम्पत्ति थी। जहाँ त्याग होता है, वहाँ प्रेम रहता ही है और जहाँ प्रेम होता है, वहाँ आनन्दको रहने, बढ़ने तथा फूलने-फलनेके लिये पर्याप्त अवकाश मिलता है। दोनों परिवार इसीलिये आनन्दपूर्ण थे। नामके ही दो थे। वस्तुतः कार्यरूपमें एक ही थे।

विमलतीर्थजीके मनमें वैराग्य तो था ही। धीरे-धीरे उसमें वृद्धि होने लगी। भगवान्‌की कृपासे उनकी धर्मपत्नी इसमें सहायक हुई। दोनोंमें मानो वैराग्य तथा भक्तिकी होड़ लगी थी। ऐसी सात्त्विक ईर्ष्या भगवत्कृपासे ही होती है। इस ईर्ष्यामें एक-दूसरेसे आगे बढ़नेकी चेष्टा तो होती है, परंतु गिरानेकी या रोकनेकी नहीं होती। बल्कि एक-दूसरेकी सहायता करनेमें ही प्रसन्नता होती है। शक्ति गिरानेमें नहीं, बढ़ने और बढ़ानेमें लगती है। यही शक्तिका सदुपयोग है।

आखिर उपरति बढ़ी, दोनों भगवान्‌के ध्यानमें मस्त रहने लगे। एक दिन भगवान्‌ने कृपा करके सुनयनादेवीको दर्शन दिये और उसी दिन भगवदाज्ञासे वे शरीर छोड़कर भगवान्‌के परम धाममें चली गयीं। विमलतीर्थजीको इससे बड़ी प्रसन्नता हुई। होड़में पत्नीकी विजय हुई। उसने भगवान्‌का साक्षात्कार पहले किया। विमलतीर्थजीके लिये यह बड़े ही आनन्दका प्रसङ्ग था।

अब विमलतीर्थ सर्वथा साधनामें लग गये। वे वनमें जाकर एकान्तमें रहने लगे और अपनी सारी विद्या-बुद्धिको भूलकर निरन्तर भगवान् श्रीनारायणके मङ्गलमय ध्यानमें ही रत रहने लगे। धीरे-धीरे भगवान्‌के दिव्य दर्शनकी उत्कण्ठा बढ़ी और एक दिन तो वह इतनी बढ़ गयी कि अब क्षणभरका विलम्ब भी असह्य हो गया। जैसे अत्यन्त पिपासासे व्याकुल होकर मनुष्य जलकी बूँदके लिये छटपटाता है और एक क्षणकी देर भी सहन नहीं कर सकता, वैसी दशा जब भगवान्‌के दर्शनके लिये भक्तकी हो जाती है, तब भगवान्‌को भी एक क्षणका विलम्ब असह्य हो जाता है और वे अपने सारे ऐश्वर्य-वैभवको भुलाकर उस नगण्य मानवके सामने प्रकट होकर उसे कृतार्थ करते हैं। भक्तवाञ्छाकल्पतरु भगवान् श्रीनारायण विमलतीर्थको कृतार्थ करनेके लिये उनके सामने प्रकट हो गये। वे चकित होकर निर्निमेष नेत्रोंसे उस विलक्षण रूपमाधुरीको देखते ही रह गये। बड़ी देरके बाद उनमें हिलने-डोलने तथा बोलनेकी शक्ति आयी। तब तो आनन्दमुग्ध होकर वे भगवान्‌के चरणोंमें लोट गये और प्रेमाश्रुओंसे उनके चरण-पद्मोंको पखारने लगे। भगवान्‌ने उठाकर बड़े स्नेहसे उनको हृदयसे लगा लिया और अपनी अनुपम अनन्य भक्तिका दान देकर सदाके लिये पावन बना दिया!
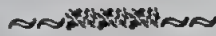
धन्ना जाट

धन्नाजीके पिता एक साधुसेवी, सरलहृदय साधारण किसान थे। पढ़े-लिखे तो थे नहीं, पर थे श्रद्धालु। उनके यहाँ प्रायः विचरते हुए साधु-संत आकर एक-दो दिन टिक जाते थे। धन्नाजीकी उस समय पाँच वर्षकी अवस्था थी। उनके घर एक ब्राह्मण पधारे। उन्होंने अपने हाथों कुएँसे जल निकालकर स्नान किया और तब झोलीमेंसे शालग्रामजीको निकालकर उनकी तुलसी, चन्दन-धूप-दीप आदिसे पूजा की। बालक धन्ना बड़े ध्यानसे पूजा देख रहे थे। उन्होंने ब्राह्मणसे कहा—'पण्डितजी! मुझे भी एक मूर्ति दो। मैं भी पूजा करूँगा। भला, जाटके लड़केको शालग्राम तो कौन देने चला था; परंतु बालक हठ करके रो रहा था। ब्राह्मणने एक काला पत्थर पाससे उठाकर देते हुए कहा—'बेटा! यही तुम्हारे भगवान् हैं। तुम इनकी पूजा किया करो।'

बालक धन्नाको बड़ी प्रसन्नता हुई। अब वे अपने भगवान्‌को कभी सिरपर रखते और कभी हृदयसे लगाये घूमते। खेल-कूद तो उन्हें भूल गया और लग गये भगवान्‌की पूजामें। ब्राह्मणको जैसी पूजा करते उन्होंने देखा था, अपनी समझसे वैसी ही पूजा करनेका आयोजन वे करने लगे। बड़े सबेरे स्नान करके अपने भगवान्‌को उन्होंने नहलाया। चन्दन तो पासमें था नहीं, मिट्टीका तिलक किया भगवान्‌को। वृक्षके हरे-हरे पत्ते

चढ़ाये तुलसीदलके बदले। फूल चढ़ाये, कुछ तिनके जलाकर धूप कर दी और दीपक दिखा दिया। हाथ जोड़कर प्रेमसे दण्डवत् की। दोपहरीमें माताने बाजरेकी रोटियाँ खानेको दीं। धन्नाने वे रोटियाँ भगवान्के आगे रखकर आँखें बंद कर लीं। बीच-बीचमें आँखें थोड़ी खोलकर देखते भी जाते थे कि भगवान् खाते हैं या नहीं। जब भगवान्ने रोटी नहीं खायी, तब इन्होंने हाथ जोड़कर बहुत प्रार्थना की। इसपर भी भगवान्को भोग लगाते न देख इन्हें बड़ा दुःख हुआ। मनमें आया—'भगवान् मुझसे नाराज हैं, इसीसे मेरी दी हुई रोटी नहीं खाते।' भगवान् भूखे रहें और स्वयं खा लें, यह उनकी समझमें नहीं आ सकता था। रोटी उठाकर वे जंगलमें फेंक आये।

कई दिन हो गये, ठाकुरजी खाते नहीं और धन्ना उपवास करते हैं। शरीर दुबला होता जा रहा है। माता-पिताको कुछ पता नहीं कि उनके लड़केको क्या हुआ है, धन्नाको एक ही दुःख है—'ठाकुरजी उनसे नाराज हैं, उनकी रोटी नहीं खाते।' अपनी भूख-प्यासका उन्हें पता ही नहीं। कहाँतक ऐसे सरल बालकसे ठाकुरजी नाराज रहते। बाजरेकी इतनी मीठी प्रेमभरी रोटियोंको खानेका मन उनका कहाँतक न होता। एक दिन जब धन्नाने रोटियाँ रखीं, वे प्रकट हो गये और लगे भोग लगाने। जब आधी रोटी खा चुके, तब हाथ पकड़ लिया बालक धन्नाने—'ठाकुरजी! इतने दिनों तो तुम आये नहीं। मुझे भूखों मारा और आज आये तो सब रोटी अकेले ही खा जाना चाहते हो! मैं आज भी भूखों मरूँ क्या? मुझे क्या थोड़ी रोटी भी न दोगे?'

बची हुई रोटियाँ भगवान्ने धन्नाको दे दीं। जिनको सुदामाके चावल द्वारकाके छप्पनभोगसे अधिक मीठे लगे थे, विदुरके शाक तथा विदुरपत्नीके केलोंके छिलकेके लोभसे दुर्योधनका सारा स्वागत-सत्कार जिन्होंने ठुकरा दिया था, भीलनीके बेरका स्वाद वर्णन करते जो थकते नहीं थे, उनको—उन्हीं प्रेमके भूखे व्रजराजकुमारको धन्नाकी रोटियोंका स्वाद लग गया। अब नियमितरूपसे वे धन्नाकी रोटियोंका नित्य भोग लगाने लगे।

बाल्यकाल समाप्त होनेपर धन्नाजीमें गम्भीरता आयी। भगवान्ने भी इनके साथ अब बालक्रीड़ा करना बंद कर दिया। परम्पराकी रक्षाके लिये प्रभुने इन्हें दीक्षा लेनेका आदेश दिया। धन्नाजी वहाँसे काशी गये और वहाँपर श्रीरामानन्दजीसे इन्होंने मन्त्र ग्रहण किया। गुरुदेवकी आज्ञा लेकर ये घर लौट आये।

अब धन्नाजीको सर्वत्र, सबमें अपने भगवान्के दर्शन होने लगे। वे उस हृदयहारीको सब कहीं देखते और उसकी स्मृतिमें मग्न रहते। एक दिन पिताने उन्हें खेतमें गेहूँ बोने भेजा। मार्गमें कुछ संत मिल गये। संतोंने भिक्षा माँगी। धन्ना तो सर्वत्र अपने भगवान्को ही देखते थे। भूखे संत माँग रहे थे, ऐसे समय चूकनेवाले धन्ना नहीं थे। जहाँ कोई दीन-दरिद्र भूखसे पीड़ित होकर अन्न माँगते हैं, वहाँ स्वयं भगवान् हमसे सेवा चाहते हैं, यह सदा स्मरण रखनेकी बात है। जो ऐसा अवसर पाकर चूक जाते हैं, उन्हें पश्चात्ताप करना पड़ता है। धन्नाने समस्त गेहूँ संतोंको दे दिया।

'गेहूँ संतोंको दे दिया—यह जानकर माता-पिता असन्तुष्ट होंगे, उन्हें दुःख होगा!' इस भयसे धन्नाजीने खेतमें हल घुमाया और इस प्रकार खेत जोत दिया, जैसे गेहूँ बो दिया गया हो। घर आकर उन्होंने कुछ कहा नहीं। परंतु धन्नाने भूमिके खेतमें गेहूँ बोया हो या न बोया हो, उस खेतमें तो बो ही दिया था, जहाँ बोये बीजका भण्डार कभी घटता नहीं। भक्तकी प्रतिष्ठा रखने और उसका महत्त्व बढ़ानेके लिये भगवान्ने लीला दिखायी। कामदुघा पृथ्वीदेवीने धन्नाके खेतको गेहूँके पौधोंसे भर दिया। चारों ओर लोग प्रशंसा करने लगे कि इस वर्ष धन्नाका खेत ऐसा उठा है, जैसा कभी कहीं सुना नहीं गया। पहले तो धन्नाजीको लगा कि लोग उनके सूखे खेतके कारण व्यङ्ग करते हैं; पर अनेक लोगोंसे एक ही बात सुनकर वे स्वयं खेत देखने गये। जाकर जब हरा-भरा-लहलहाता खेत उन्होंने देखा, तब उनके आश्चर्यका पार नहीं रहा। अपने प्रभुकी अपार कृपा समझकर वे आनन्दनिमग्न होकर भगवान्का नाम लेकर गाते हुए नृत्य करने लगे।

गोपाल चरवाहा

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु॥

उत्तर प्रान्तकी कमलावती नगरीमें गोपाल नामका एक ग्वाला रहता था। न वह पढ़ा-लिखा था और न उसने कथा-वार्ता सुनी थी। दिनभर गायोंको जंगलमें चराया करता था। दोपहरको स्त्री छाक पहुँचा दिया करती थी। गोपाल सीधा, सरल और निश्चिन्त था। उसे 'राम-राम' जपनेकी आदत पड़ गयी थी, सो उसका जप वह सुबह-शाम थोड़ा-बहुत कर लेता था। इस प्रकार उसकी उमर पचास वर्षकी हो गयी। बराबरवाले उसे चिढ़ाया करते थे—'राम-राम रटनेसे वैकुण्ठके विमानका पाया हाथ नहीं आनेका।'

एक दिन गोपालको उसके साथी चिढ़ा रहे थे। उसी रास्ते एक संत जा रहे थे। उन्होंने चिढ़ानेवालोंसे कहा—'भाई! तुमलोग बड़ी गलती कर रहे हो। भगवान्‌के नामकी महिमा तुम नहीं जानते। यह बूढ़ा चरवाहा यदि इसी प्रकार श्रद्धासे भगवान्‌का नाम लेता रहेगा तो इसे संसार-सागरसे पार कर देनेवाले गुरु अवश्य मिल जायँगे। भगवान्‌का नाम तो सारे पापोंको तुरंत भस्म कर देता है।'

गोपालको अब विश्वास हो गया कि 'मुझे अवश्य गुरु मिलेंगे और उनकी कृपासे मैं भगवान्‌के दर्शन कर सकूँगा।' वह अब बराबर गुरुदेवकी प्रतीक्षा करने लगा। वह सोचता—'गुरुजीको मैं झट संतके बताये लक्षणोंसे पहचान लूँगा। उन्हें ताजा दूध पिलाऊँगा। वे मुझपर राजी हो जायँगे। मेरे गुरुजी बड़े भारी ज्ञानी होंगे। भला, उनका ज्ञान मेरी समझमें तो कैसे आ सकता है। मैं तो उनसे एक बात पूछूँगा। मुझसे बहुत-सी झंझट नहीं होगी।'

गोपालकी उत्कण्ठा तीव्र थी। वह बार-बार रास्तेपर जाकर देखता, पेड़पर चढ़कर देखता, लोगोंसे पूछता—'कोई संत तो इधर नहीं आये?' कभी-कभी व्याकुल होकर गुरुजीके न आनेसे रोने लगता। अपने अनदेखे, अनजाने गुरुको जैसे वह खूब जान चुका है। एक दिन इसी प्रकारकी प्रतीक्षामें गोपालने दूरसे एक संतको आते देखा। उसका हृदय आनन्दसे पूर्ण हो गया। उसने समझ लिया कि उसके गुरुदेव आ गये। उन्हें ताजा दूध पिलानेके लिये झटपट वह गाय दुहने बैठ गया। इतनेमें वे संत पास आ गये। दुहना अधूरा छोड़कर एक हाथमें दूधका बर्तन और दूसरेमें अपनी लाठी लिये वह खड़ा हो गया और बोला—'महाराज! तनिक दूध तो पीते जाओ!'

साधुने आतुर शब्द सुना तो रुक गये। गोपालके हाथ तो फँसे थे, संतके सामने जाकर उसने मस्तक झुकाया और सरल भावसे बोला—'लो! यह दूध पी लो और मुझे उपदेश देकर कृतार्थ करो। मुझे भवसागरसे पार कर दो। महाराज! अब मैं तुम्हारे चरण नहीं छोड़ूँगा।' दूधका बर्तन और लाठी एक ओर रखकर वह संतके चरणोंसे लिपट गया। उसके नेत्रोंसे झरझर आँसू गिरने लगे।

संत एक बार तो यह सब देखकर चकित हो गये। फिर गोपालके सरल भक्तिभावको देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने गोपालसे घर चलकर स्नान करके दीक्षा लेनेको कहा। गोपाल बोला—'महाराज! मुझे तो वनमें रहकर गायें चराना ही आता है। स्नान-पूजा तो मैं जानता नहीं। घर भी कभी-कभी जाता हूँ। मैं गवाँर हूँ। मुझसे बहुत बातें सधेंगी भी नहीं। मैं तो उन्हें भूल ही जाऊँगा। मुझे तो आप कोई एक बात बतला दें और अभी यहीं बतला दें। मैं उसका पालन करूँगा।'

ऐसे भोले भक्तपर तो भगवान् भी रीझ जाते हैं। संतने मानसिक आसन-शुद्धि आदि करके अपने कमण्डलुके जलसे उसपर छींट मारा और मन्त्र देकर बोले—'देखो! अबसे तुम्हें जो कुछ खाना हो, भगवान् गोविन्दका भोग लगाकर ही खाया करो। इसी एक साधनसे तुमपर गोविन्द भगवान्‌की कृपा हो जायगी।'

गोपालने पूछा—'महाराज! मैं आपकी आज्ञाका पालन तो करूँगा; पर गोविन्द भगवान् मुझे कहाँ मिलेंगे कि उन्हें रोज भोग लगाकर तब भोजन करूँगा?'

संतने भगवान्‌के स्वरूपका वर्णन करके कहा—'भगवान् तो सब जगह हैं, सबके भीतर हैं। तुम उनके रूपका ध्यान करके उन्हें पुकार लेना और उनको भोग लगाना। भूलना मत! उन्हें भोग लगाये बिना कोई पदार्थ मत खा

लेना।' यह उपदेश देकर गोपालका दूध ग्रहण करके महात्माजी चले गये।

दोपहरको गोपालकी स्त्री आयी और छाक देकर चली गयी। गोपालको अब गुरुजीकी बात स्मरण आयी। एकान्तमें जाकर पत्तेपर रोटियाँ परोसकर तुलसीदल डालकर वे गोविन्द भगवान्‌का ध्यान करते हुए प्रार्थना करने लगे—'हे गोविन्द! लो, ये रोटियाँ रखी हैं। इनका भोग लगाओ! मेरे गुरुदेव कह गये हैं कि भगवान्‌को भोग लगाकर जो प्रसादी बचे, वही खाना। मुझे बहुत भूख लगी है; किंतु तुम्हारे भोग लगाये बिना मैं नहीं खाऊँगा। देर मत करो। जल्दी आकर भोग लगाओ।'

गोपाल प्रार्थना करते-करते थक गये, सन्ध्या हो गयी; पर गोविन्द नहीं पधारे। जब भगवान्‌ने भोग नहीं लगाया, तब गोपाल कैसे खा ले। रोटियाँ जंगलमें उसने फेंक दीं और गोशाला लौट आया। गोपालका शरीर उपवाससे सूखता चला गया। इसी प्रकार अठारह दिन बीत गये। खड़े होनेमें चक्कर आने लगा। आँखें गड्ढोंमें घुस गयीं। स्त्री-पुत्र घबराकर बार-बार कारण पूछने लगे, पर गोपाल कुछ नहीं बताता। वह सोचता है— 'एक दिन मरना तो है ही, गुरु महाराजकी आज्ञा तोड़नेका पाप करके क्यों मरूँ। मेरे गुरुदेवकी आज्ञा तो सत्य ही है। यहाँ न सही, मरनेपर परलोकमें तो मुझे भगवान्‌के दर्शन होंगे।' उपवासको नौ दिन और बीत गये। आज सत्ताईस दिन हो चुके। गोपालके नेत्र अब सफेद हो गये हैं। वह उठकर बैठ भी नहीं सकता। आज जब उसकी स्त्री छाक लेकर आयी, तब जाना ही नहीं चाहती थी गोशालासे। उसे किसी प्रकार गोपालने घर भेजा। बड़ी कठिनतासे छाक परसकर वह भूमिपर लेट गया। आज बैठा न रह सका। आज अन्तिम प्रार्थना करनी है उसे। वह जानता है कि कल फिर प्रार्थना करनेको देहमें प्राण नहीं रहेंगे! आज वह गोविन्द भगवान्‌को रोटी खानेके लिये हृदयके अन्तिम बलसे पुकार रहा है।

यह क्या हुआ? इतना तेज, इतना प्रकाश कहाँसे गोशालामें आ गया? गोपालने देखा कि उसके सामने गुरुजीके बताये वही गोविन्द भगवान् खड़े हैं। एक शब्दतक उसके मुखसे नहीं निकला। भगवान्‌के चरणोंपर उसने सिर रख दिया। उसके नेत्रोंकी धाराने उन लाल-लाल चरणोंको धो दिया। भगवान्‌ने भक्तको गोदमें उठा लिया और बोले—'गोपाल! तू रो मत। देख, मैं तेरी रोटियाँ खाता हूँ। मुझे ऐसा ही अन्न प्रिय है। अब तू यहाँसे घर जा। अब तुझे कोई चिन्ता नहीं। अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ सुखपूर्वक जीवन बिता! अन्तमें तू मेरे गोलोक-धाम आयेगा।'

भगवान्‌ने उसकी रोटियाँ खायीं और उसके लिये प्रसाद छोड़कर अन्तर्धान हो गये। गोपालने ज्यों ही उस प्रसादको ग्रहण किया, उसका हृदय आनन्दसे भर गया। उसकी भूख-प्यास, दुर्बलता, थकावट—सब क्षणभरमें चली गयी। आज सत्ताईस दिनके उपवासकी भूख-प्यास तथा दुर्बलता ही नहीं दूर हुई, अनन्तकालकी दुर्बलता दूर हो गयी।

परमेष्ठी दर्जी

नीलाचल के नाथ के गह दृढ़ चरन गवाँर।
जगन्नाथ बिनु को जगत जन मन राखनहार॥

आजसे लगभग चार सौ वर्ष पूर्व दिल्लीमें परमेष्ठी नामका काले रंगका एक कुबड़ा दर्जी रहता था। शरीरसे कुरूप होनेपर भी वह हृदयसे भगवान्‌का भक्त था। शूद्र होनेपर भी जितेन्द्रिय था। दरिद्र होनेपर भी उदार था। श्रमजीवी होनेपर भी आनन्दजीवी था। परमेष्ठीकी स्त्रीका नाम था विमला। वह धर्मपरायणा तथा पतिकी इच्छाके अनुसार चलनेवाली थी। उसके एक पुत्र और दो कन्याएँ थीं। सन्तानोंमें भी माता-पिताके गुण पूरे उतरे थे। वे विनम्र और आज्ञाकारी थे। परमेष्ठीका पारिवारिक जीवन सुख-शान्तिपूर्ण था।

यद्यपि परमेष्ठीको सब सांसारिक सुख प्राप्त थे, फिर भी उसका मन इन भोगोंमें तनिक भी आसक्त नहीं था। उसे स्त्री-पुत्रादिका कोई मोह नहीं था। भगवान्, भगवान्‌के भक्त और भगवन्नाममें उसकी अपार प्रीति थी। कपड़ा सीते-सीते वह नाम-जप किया करता था। कभी-कभी तो भगवान्‌का स्मरण करते हुए वह मूर्तिकी भाँति हाथमें

कपड़ा और सुई लिये बैठा ही रह जाता था। समय मिलते ही वह कीर्तन करने लगता था। उस समय उसके नेत्रोंसे आँसू चलने लगते थे, कण्ठ भर जाता था, शरीर सात्त्विक भावोंसे परिपूर्ण हो जाता था। लोग उस भगवद्भक्तकी प्रशंसा करते तथा उसका आदर करते थे।

भक्त होनेके साथ परमेष्ठी अपने काममें भी पूरा निपुण था। सिलाईके बारीक कामके लिये उसकी ख्याति थी। बड़े-बड़े अमीर, नवाब आदि उसीसे अपने वस्त्र सिलवाते थे। बादशाहको भी उसीके द्वारा सिले वस्त्र पसंद आते थे।

एक बार बादशाहके सिंहासनके नीचे दो बढ़िया गलीचे उनके पैर रखनेके लिये बिछाये गये। बादशाहको वे गलीचे पसंद नहीं आये। उन्होंने दो तकिये बनवानेका विचार किया। बहुमूल्य मखमल मँगाकर उसपर सोनेके तारोंके सहारे हीरे, माणिक, मोती जड़वाये गये। जड़ाऊ काम बादशाहको पसंद आया। परमेष्ठीको बुलवाकर बादशाहने वह कपड़ा उन्हें दिया और उसके दो तकिये बनानेका आदेश दिया। परमेष्ठीकी सचाई और कारीगरीपर बादशाहको पूरा विश्वास था। परमेष्ठी वह रत्नजटित वस्त्र लेकर घर आ गये।

घर आकर परमेष्ठीने उस वस्त्रके दो खोल बनाये। दोनोंमें इत्रसे सुगन्धित रूई भरी। तकियोंके ऊपर रत्नोंके बने फूल-पत्ते जगमग करने लगे। इत्रकी सुगन्धसे घर भर गया। ऐसे तकिये भला दर्जी अपने घरमें कैसे रखे। वह उन्हें बादशाहके यहाँ ले जानेको उठ खड़ा हुआ।

तकियोंको उठाकर हाथमें लेते ही परमेष्ठीने ध्यानसे रत्नोंकी छटा देखी। उनके मनने कहा—'कितने सुन्दर हैं ये तकिये। ये क्या एक सामान्य मनुष्यके योग्य हैं? इनके अधिकारी तो भगवान् वासुदेव ही हैं।' जैसे-जैसे इत्रकी सुगन्ध नाकमें पहुँचने लगी, वैसे-वैसे यह विचार और दृढ़ होने लगा। मनमें द्वन्द्व चलने लगा—'वह कारीगरी किस कामकी, जो भगवान्‌की सेवामें न लगे। परंतु मैं क्या करूँ? तकिये तो बादशाहके हैं।'

मनके असमञ्जसने ऐसा रूप लिया कि परमेष्ठीको पता ही नहीं चला कि वह कहाँ है, क्या कर रहा है। उस दिन श्रीजगन्नाथपुरीमें रथयात्राका महोत्सव था। परमेष्ठी एक बार श्रीजगन्नाथधाम जाकर रथयात्राका महोत्सव देख आया था। आज भावावेशमें जैसे रथयात्राका वह प्रत्यक्ष दर्शन करने लगा। परमेष्ठी देख रहा है—श्रीजगन्नाथजी रथपर विराजमान हैं। सहस्रों नर-नारी रस्सी पकड़कर रथको खींच रहे हैं। कई पीछेसे ठेल रहे है। कीर्तन हो रहा है, जय-जयकार गूँज रहा है, वेदपाठ हो रहा है। सेवकगण एकके बाद एक वस्त्र बिछाते जा रहे हैं। श्रीजगन्नाथजी एक वस्त्रसे दूसरेपर पधारते हैं। सहसा रथके कठिन आघातसे जगन्नाथजीके नीचे बिछाया हुआ वस्त्र फट गया। सेवक मन्दिरमें दूसरा वस्त्र लेने दौड़े, पर उन्हें देर होने लगी। परमेष्ठीसे यह दृश्य देखा नहीं गया। उन्होंने शीघ्रतासे दो तकियोंमेंसे एक जगन्नाथजीको अर्पण कर दिया। प्रभुने उसे स्वीकार कर लिया। परमेष्ठीके आनन्दका पार नहीं रहा। वह आनन्दके मारे दोनों हाथ उठाकर नाचने लगा। बड़ी भीड़ थी। बड़ी धक्का-मुक्की थी। परमेष्ठी भीड़में पीछे पड़ गया। अब आगे बढ़ पाना सम्भव नहीं था। श्रीहरिका दर्शन नहीं हो रहा था अब। सहसा इस स्थितिसे परमेष्ठीको बाह्यज्ञान हो गया।

परमेष्ठीने स्वप्न नहीं देखा था। सचमुच रथयात्रामें भगवान् जगन्नाथ स्वामीके नीचेका एक वस्त्र फट गया था और पुजारियोंने देखा कि किसी भक्तने रथपर एक बहुमूल्य रत्नजटित तकिया प्रभुको चढ़ा दिया है। यहाँ होशमें आकर परमेष्ठीने देखा कि एक तकिया गायब है। उसे बड़ा आनन्द हुआ। सर्वान्तर्यामी प्रभुने उसके हृदयकी बात जानकर एक तकिया स्वीकार कर लिया। अब उसे किसीका क्या भय। क्षुद्र बादशाह उसके प्राण ही तो ले सकता है। वह कहाँ मृत्युसे डरता है। उसके दयामय प्रभुने उसपर इतनी कृपा की। वह तो आनन्दके मारे कीर्तन करता हुआ नाचने लगा।

बादशाहके सिपाही उसे बुलाने आये। एक तकिया लेकर वह बादशाहके पास पहुँचा। बादशाह तकियेकी कारीगरी देखकर सन्तुष्ट हुआ। उसने दूसरे तकियेकी बात पूछी। परमेष्ठीने निर्भयतापूर्वक कहा—'उसे तो नीलाचलनाथ श्रीजगन्नाथ स्वामीने स्वीकार कर लिया।' पहले तो बादशाहने परिहास समझा। वह बार-बार पूछने

लगा। जब दर्जीने यही बात अनेक बार दुहरायी, तब बादशाहको क्रोध आ गया। उन्होंने परमेष्ठीको कारागारमें डालनेका आदेश दे दिया। भक्त परमेष्ठी कैदखानेमें बंद कर दिये गये।

हथकड़ी-बेड़ीसे जकड़े परमेष्ठी कारागारकी अँधेरी कोठरीमें पड़े-पड़े प्रभुका स्मरण कर रहे थे। वहाँ अँधेरेमें कब दिन गया और रात आयी, उन्हें पता ही नहीं। सहसा हथकड़ी टूट गयी, तड़ाक-तड़ाक करके बेड़ियोंके टुकड़े उड़ गये। भड़भड़ाकर बंदीगृहकी कोठरीका द्वार खुल गया। परमेष्ठीके सामने एक अपूर्व ज्योति प्रकट हुई। दूसरे ही क्षण शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी प्रभुने उन्हें दर्शन दिया। परमेष्ठी आनन्दमग्न होकर प्रभुके चरणोंमें लोटने लगे। प्रभुने कहा—'परमेष्ठी! मेरे भक्तसे अधिक बलवान् संसारमें और कोई नहीं है। जबतक मेरे हाथमें मेरा यह चक्र है, किसका साहस है जो मेरे भक्तको कष्ट दे। आ बेटा! मेरे पास आ।'

परमेष्ठी तो कृतार्थ हो गये। प्रभुने अपने चरणोंपर गिरते हुए उन्हें उठाया। उनके मस्तकपर अपना अभय कर रखा। उन्हें मुक्त करके वे जगन्निवास अन्तर्हित हो गये।

उधर बादशाहने स्वप्नमें एक बड़ा भयङ्कर पुरुष देखा। जैसे साक्षात् महाकाल अपना कठोर दण्ड उठाकर उसे पीट रहे हों और गर्जन करते कहते हों—'तू भक्त परमेष्ठीको कैद करेगा? तू?' बादशाह डरके मारे चीखकर जग गया। वह थर-थर काँप रहा था। उसका अङ्ग-अङ्ग दर्द कर रहा था। शरीरपर प्रहारके स्पष्ट चिह्न थे। सबेरा होते ही मन्त्रियोंसे उसने स्वप्नकी बात कही। सबको लेकर वह कैदखाने गया। वहाँ पहरेदार सोये पड़े थे। परमेष्ठीकी हथकड़ी-बेड़ी टूटी हुई थी। उनकी कोठरी खुली थी। उनके शरीरसे दिव्य तेज निकल रहा था। वे ध्यानमें मग्न थे। ध्यान टूटनेपर व्याकुल-से होकर वे नामकीर्तन करते हुए रोने लगे। बादशाहको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने परमेष्ठीसे हाथ जोड़कर क्षमा माँगी। नाना प्रकारके वस्त्राभरणोंसे सज्जित करके हाथीपर बैठाकर गाजे-बाजेके साथ उन्हें शहर ले आया। बहुत-सा धन दिया उसने। चारों ओर भक्त परमेष्ठीका जय-जयकार होने लगा।

परमेष्ठीजीको यह मान-प्रतिष्ठा बिलकुल नहीं रुची। उन्हें इससे बड़ी लज्जा हुई। प्रतिष्ठासे बचनेके लिये दिल्ली छोड़कर वे दूसरे देश चले गये और वहीं लोगोंकी दृष्टिसे दूर रहकर पूरा जीवन उन्होंने भगवान्के भजन-पूजनमें व्यतीत किया।

रामदास चमार

शुचिः सद्भक्तिदीप्ताग्निदग्धदुर्जातिकल्मषः।
श्वपाकोऽपि बुधैः श्लाघ्यो न वेदज्ञोऽपि नास्तिकः॥

दक्षिण भारतमें गोदावरीके पवित्र किनारेपर कनकावती नगरी थी। वहाँ रामदास नामके एक भगवद्भक्त रहते थे। वे जातिके चमार थे। घरमें मूली नामकी पतिव्रता पत्नी थी और एक सुशील बालक था। स्त्री-पुरुष मिलकर जूते बनाते थे। रामदास उन्हें बाजारमें बेच आते। इस प्रकार अपनी मजदूरीके पवित्र धनसे वे जीवन-निर्वाह करते थे। तीन प्राणियोंका पेट भरनेपर जो पैसे बचते, वे अतिथि-अभ्यागतोंकी सेवामें लग जाते या दीन-दुःखियोंको बाँट दिये जाते। संग्रह करना इन भक्त-दम्पतिने सीखा ही नहीं था।

रामदास घरमें कीर्तन किया करते थे। जूता बनाते-बनाते भी वे भगवन्नाम लिया करते थे। कहीं कथा-कीर्तनका पास-पड़ोसमें समाचार मिलता तो वहाँ गये बिना नहीं रहते थे। उन्होंने कीर्तनमें सुना था—'*हरि मैं जैसो तैसो तेरो।*' यह ध्वनि उनके हृदयमें बस गयी थी। इसे बार-बार गाते हुए वे प्रेम-विह्वल हो जाया करते थे। अपनेको भगवान्का दास समझकर वे सदा आनन्दमग्न रहते थे।

एक बार एक चोरको चोरीके मालके साथ शालग्रामजीकी एक सुन्दर मूर्ति मिली। उसे उस मूर्तिसे कोई काम तो था नहीं। उसने सोचा—'मेरे जूते टूट गये हैं, इस पत्थरके बदले एक जोड़ी नये जूते मिल जायँ तो ठीक रहे।' वह रामदासके घर आया। पत्थर रामदासको देकर कहने लगा—'देखो, तुम्हारे औजार घिसनेयोग्य कितना

सुन्दर पत्थर लाया हूँ। मुझे इसके बदले एक जोड़ी जूते दे दो।'

रामदास उस समय अपनी धुनमें थे। उन्हें बाह्यज्ञान पूरा नहीं था। ग्राहक आया देख अभ्यासवश एक जोड़ी जूता उठाकर उसके सामने रख दिया। चोर जूता पहनकर चला गया। मूल्य माँगनेकी याद ही रामदासको नहीं आयी। इस प्रकार शालग्रामजी अपने भक्तके घर पहुँच गयें। रामदास अब उनपर औजार घिसने लगे।

एक दिन उधरसे एक ब्राह्मण देवता निकले। उन्होंने देखा कि यह चमार दोनों पैरोंके बीच शालग्रामजीकी सुन्दर मूर्ति दबाकर उसपर औजार घिस रहा है। ब्राह्मणको दुःख हुआ यह देखकर। वे आकर कहने लगे—'भाई! मैं तुमसे एक वस्तु माँगने आया हूँ। ब्राह्मणकी इच्छा पूरी करनेसे तुम्हें पुण्य होगा। तुम्हारा यह पत्थर मुझे बहुत सुन्दर लगता है। तुम इसको मुझे दे दो। इसे न पानेसे मुझे बड़ा दुःख होगा। चाहो तो इसके बदले दस-पाँच रुपये मैं तुम्हें दे सकता हूँ।'

रामदासने कहा—'पण्डितजी! यह पत्थर है तो मेरे बड़े कामका। ऐसा चिकना पत्थर मुझे आजतक यही मिला है; पर आप इसको न पानेसे दुःखी होंगे, अतः आप ही ले जाइये। मुझे इसका मूल्य नहीं चाहिये। आपकी कृपासे परिश्रम करके मेरा और मेरे स्त्री-पुत्रका पेट भरे, इतने पैसे मैं कमा लेता हूँ। प्रभुने मुझे जो दिया है, मेरे लिये उतना पर्याप्त है।'

पण्डितजी मूर्ति पाकर बड़े प्रसन्न हुए। घर आकर उन्होंने स्नान किया। पञ्चामृतसे शालग्रामजीको स्नान कराया। वेदमन्त्रोंका पाठ करते हुए षोडशोपचारसे पूजन किया भगवान्का। इसी प्रकार वे नित्य पूजा करने लगे। वे विद्वान् थे, विधिपूर्वक पूजा भी करते थे; किंतु उनके हृदयमें लोभ, ईर्ष्या, अभिमान, भोगवासना आदि दुर्गुण भरे थे। वे भगवान्से नाना प्रकारकी याचना किया करते थे।

रामदास अशिक्षित था, पर उसका हृदय पवित्र था। उसमें न भोगवासना थी, न लोभ था। वह रूखी-सूखी खाकर संतुष्ट था। शुद्ध हो या अशुद्ध, पर सात्त्विक श्रद्धासे विश्वासपूर्वक वह भगवान्का नाम लेता था। भगवान् शालग्राम अपनी इच्छासे ही उसके घर गये थे। जब वह भजन गाता हुआ भगवान्की मूर्तिपर औजार घिसनेके लिये जल छोड़ता, तब प्रभुको लगता कि कोई भक्त पुरुषसूक्तसे मुझे स्नान करा रहा है। जब वह दोनों पैरोंमें दबाकर उस मूर्तिपर रखकर चमड़ा काटता, तब भावमय सर्वेश्वरको लगता कि उनके अङ्गोंपर चन्दन-कस्तूरीका लेप किया जा रहा है। रामदास नहीं जानता था कि जिसे वह साधारण पत्थर मानता है, वे शालग्रामजी हैं, किंतु वह अपनेको सब प्रकारसे भगवान्का दास मानता था। इसीसे उसकी सब क्रियाओंको सर्वात्मा भगवान् अपनी पूजा मानकर स्वीकार करते थे।

इधर ये पण्डितजी बड़ी विधिसे पूजा करते थे, पर वे भगवान्के सेवक नहीं थे। वे धन-सम्पत्तिके दास थे। वे धन-सम्पत्तिकी प्राप्तिके लिये भगवान्को साधन बनाना चाहते थे। भगवान्को यह कैसे रुचता। वे तो निःस्वार्थ भक्तिके वश हैं। भगवान्ने ब्राह्मणको स्वप्न दिया—'पण्डितजी! तुम्हारी यह आडम्बरपूर्ण पूजा मुझे तनिक भी नहीं रुचती। मैं तो रामदास चमारके निष्कपट प्रेमसे ही प्रसन्न हूँ। तुमने मेरी पूजा की है। मेरी पूजा कभी व्यर्थ नहीं जाती। अतः तुम्हें धन और यश मिलेगा। पर मुझे तुम उस चमारके घर प्रातःकाल ही पहुँचा दो।'

भगवान्की आज्ञा पाकर ब्राह्मण डर गया। दूसरे दिन सबेरे ही स्नानादि करके शालग्रामजीको लेकर वह रामदासके घर पहुँचा। उसने कहा—'रामदास! तुम धन्य हो। तुम्हारे माता-पिता धन्य हैं। तुम बड़े पुण्यात्मा हो। भगवान्को तुमने वशमें कर लिया है। ये भगवान् शालग्राम हैं। अब तुम इनकी पूजा करना। मैं तो पापी हूँ, इसलिये मेरी पूजा भगवान्को पसंद नहीं आयी। भाई! तुम्हारा जीवन पवित्र हो गया। तुम तो भवसागरसे पार हो चुके।'

रामदासने ब्राह्मणके चरणोंमें प्रणाम किया। उनका हृदय भगवान्की कृपाका अनुभव करके आनन्दमें भर गया। वे सोचने लगे—'मैं दीन, अज्ञानी, नीच जातिका पापी प्राणी हूँ। न मुझमें शौच है, न सदाचार। रात-दिन चमड़ा छीलना मेरा काम है। मुझ-जैसे अधमपर भी प्रभुने इतनी कृपा की। प्रभो! तुम सचमुच ही पतितपावन हो।'

भगवान्को एक छोटे सिंहासनपर विराजमान कर

दिया उन्होंने। अब वे नित्य पूजा करने लगे। धंधा-रोजगार प्रेमकी बाढ़में बह गया। वे दिनभर, रातभर कीर्तन करते। कभी हँसते, कभी रोते, कभी गान करते, कभी नाचने लगते, कभी गुमसुम बैठ रहते। भगवान्‌के दर्शनकी इच्छासे कातर कण्ठसे पुकार करते—'दयाधाम! जब एक ब्राह्मणके घरको छोड़कर आप इस नीचके यहाँ आये, तब मेरे नेत्रोंको अपनी अद्भुत रूपमाधुरी दिखाकर कृतार्थ करो, नाथ! मेरे प्राण तुम्हारे बिना तड़प रहे हैं।'

रामदासकी व्यथित पुकार सुनकर भगवान् एक ब्राह्मणका रूप धारणकर उनके यहाँ पधारे। रामदास उनके चरणोंपर गिर गये और गिड़गिड़ाकर प्रार्थना करने लगे कि 'भगवान्‌का दर्शन हो, ऐसा उपाय बताइये।' भगवान्‌ने कहा—'तुम इस दुराशाको छोड़ दो। बड़े-बड़े योगी, मुनि जन्म-जन्म तप, ध्यान आदि करके भी कदाचित् ही भगवान्‌का दर्शन पाते हैं।'

रामदासका विश्वास डिगनेवाला नहीं था। वे बोले—'प्रभो! आप ठीक कहते हैं। मैं नीच हूँ, पापी हूँ। मेरे पाप एवं नीचताकी ओर देखकर तो भगवान् मुझे दर्शन कदापि नहीं दे सकते; परंतु मेरे वे स्वामी दीनबन्धु हैं, दयाके सागर हैं। अवश्य वे मुझे दर्शन देंगे। अवश्य वे इस अधमको अपनायेंगे।'

अब भगवान्‌से नहीं रहा गया। भक्तकी आतुरता एवं विश्वास देखकर वे अपने चतुर्भुजस्वरूपसे प्रकट हो गये। प्रभुने कहा—'रामदास! यह ठीक है कि जाति नहीं बदल सकती; किंतु मेरी भक्तिसे भक्तका पद अवश्य बदल जाता है। मेरा भक्त ब्राह्मणोंका, देवताओंका भी आदरणीय हो जाता है। तुम मेरे दिव्य रूपके दर्शन करो।' रामदास भगवान्‌का दर्शन करके कृतार्थ हो गया।

रघु केवट

श्रीजगन्नाथपुरीसे दस कोस दूर पीपलीचटी ग्राममें रघु केवटका घर था। घरमें स्त्री और बूढ़ी माता थी। सबेरे जाल लेकर रघु मछलियाँ पकड़ने जाता और पकड़ी हुई मछलियोंको बेचकर परिवारका पालन करता। पूर्वजन्मके पुण्य संस्कारोंके प्रभावसे रघुके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति थी। वह अत्यन्त दयालु था। मछलियाँ जब उसके जालमें आकर तड़पने लगतीं, तब उसका चित्त व्याकुल हो जाता। उसे अपने कार्यपर ग्लानि होती; परंतु जीवन-निर्वाहका दूसरा कोई साधन न होनेसे वह अपने व्यवसायको छोड़ नहीं पाता था।

रघुने एक अच्छे गुरुसे दीक्षा ले ली थी। गलेमें तुलसीकी कण्ठी बाँध ली थी। सबेरे स्नान करके भगवन्नामका जप करता था। भागवत सुनना और सत्सङ्गमें जाना उसका दैनिक कार्य हो गया था। इन सबसे उसका अन्तःकरण धीरे-धीरे शुद्ध हो गया। जीवमात्रमें भगवान् विराजमान हैं, यह बात उसकी समझमें आने लगी। जीव-हिंसासे उसे अब तीव्र विरक्ति हो गयी। रघुके लिये मछली पकड़ना बहुत ही क्लेशदायक हो गया। उसने इस कामको छोड़ दिया। कुछ दिन तो घरके सञ्चित अन्नसे काम चला; पर सञ्चय था ही कितना। उपवास होने लगा। घरमें त्राहि-त्राहि मच गयी। पेटकी ज्वाला तथा माता और स्त्रीके तिरस्कारसे व्याकुल होकर रघुको फिर जाल उठाना पड़ा। वह स्वयं तो भूखसे प्राण दे सकता था, पर वृद्धा माता और पत्नीका कष्ट उससे सहा नहीं जाता था। पछताता, भगवान्‌से प्रार्थना करता वह तालाबपर गया। जाल डालनेपर एक बड़ी-सी लाल मछली उसमें आयी और जलसे निकालनेपर तड़पने लगी। रघुका हृदय छटपटा उठा। उसे स्मरण आया कि सभी जीवोंमें भगवान् हैं। उस तड़पती मछलीमें उसे स्पष्ट भगवान् प्रतीत होने लगे। इसी समय उसे माता और पत्नीकी भूखी आकृतिका स्मरण हुआ। दुःखी, व्याकुल रघुने मछलीको जालसे निकालकर पकड़ा और कहने लगा—'मत्स्यरूपधारी हरि! मेरे दुःखकी बात सुनो। तुम्हींने मुझे धीवर बनाया है। जीवोंको मारकर पेट भरनेके सिवा और कोई दूसरा उपाय मैं जीवन-निर्वाहका नहीं जानता। इससे तुमको मारनेके लिये मैं विवश हूँ। तुम हरि हो या और कोई, आज मेरे हाथसे बचकर नहीं जा सकते।'

रघुने दोनों हाथोंसे जोरसे मछलीका मुख पकड़ा और उसे फाड़ने लगा। सहसा मछलीके भीतरसे स्पष्ट शब्द आया—'रक्षा कर, नारायण! रक्षा कर।' रघु चकित हो गया। उसका हृदय आनन्दसे भर गया। मछलीको लेकर वह वनकी ओर भागा। वहाँ पर्वतसे बहुत-से झरने गिरते थे। उन झरनोंने अनेक जलकुण्ड बना दिये थे। रघुने एक कुण्डमें मछली डाल दी।

रघु भूल गया कि वह कई दिनसे भूखा है। भूल गया कि घरमें माता तथा स्त्री उसकी प्रतीक्षा करती होंगी। वह तो कुण्डके पास बैठ गया। उसके नेत्रोंसे दो झरने गिरने लगे। वह भरे कण्ठसे कहने लगा—'मछलीके भीतरसे मुझे तुमने 'नारायण' नाम सुनाया? अब तुम दर्शन क्यों नहीं देते? तुम्हारा स्वर इतना मधुर है तो तुम्हारी छवि कितनी सुन्दर होगी! मैं तुम्हारा दर्शन पाये बिना अब यहाँसे उठूँगा नहीं।'

रघुको वहाँ बैठे-बैठे तीन दिन हो गये। वह 'नारायण, नारायण' की रट लगाये था। नारायणमें तन्मय था। एक बूँद जलतक उसके मुखमें नहीं गया। दिन और रातका उसे पता ही नहीं था। भक्तकी सदा खोज-खबर रखनेवाले भगवान् एक वृद्ध ब्राह्मणके वेशमें वहाँ आये और पूछने लगे—'अरे तपस्वी! तू कौन है? तू इस निर्जन वनमें क्यों आया? कबसे बैठा है यहाँ? तेरा नाम क्या है?'

रघुका ध्यान टूटा। उसने ब्राह्मणको प्रणाम करके कहा— 'महाराज! मैं कोई भी होऊँ, आपको मुझसे क्या प्रयोजन है। बातें करनेसे मेरे काममें विघ्न पड़ता है। आप पधारें।'

ब्राह्मणने तनिक हँसकर कहा—'मैं तो चला जाऊँगा; पर तू सोच तो सही कि मछली भी कहीं मनुष्यकी बोली बोल सकती है। तुझे भ्रम हो गया है। जब कुछ उस मछलीमें है ही नहीं, तब तुझे किसके दर्शन होंगे। तू यहाँ व्यर्थ क्यों बैठा है। घर चला जा।'

रघु तो ब्राह्मणकी बात सुनकर चौंक पड़ा। उसने समझ लिया कि मछलीकी बात जाननेवाले ये सर्वज्ञ मेरे प्रभु ही हैं। वह बोला—'भगवन्! सब जीवोंमें परमात्मा ही हैं, यह बात मैं जानता हूँ। मछलीके शरीरमेंसे वे ही बोलनेवाले हैं। मैं बड़ा पापी हूँ। जीवोंकी हत्या की है मैंने। क्या इसीसे आप मेरी परीक्षा ले रहे हैं? आप ही तो नारायण हैं। आप प्रकट होकर मुझे दर्शन क्यों नहीं देते। मुझे क्यों तरसा रहे हैं, नाथ।'

भक्तकी प्रेमभरी प्रार्थना सुनकर कृपासागर प्रभु अपने दिव्य चतुर्भुजरूपसे प्रकट हो गये। रघु तो एकटक देखता रह गया उस लावण्यराशिको। वह आँसू बहाता हुआ प्रभुके चरणोंमें लोटने लगा। भगवान्ने उसे भक्तिका आशीर्वाद देकर और भी वर माँगनेको कहा। रघुने हाथ जोड़कर कहा—'प्रभो! आपके दर्शन हो गये और आपने भजनका आशीर्वाद दे दिया, फिर अब माँगनेको क्या रहा। परंतु आपकी आज्ञा है तो मैं एक छोटी वस्तु माँगता हूँ। जातिसे धीवर हूँ। मछली मारना मेरा पैतृक स्वभाव है। मैं यही वरदान माँगता हूँ कि मेरा यह स्वभाव छूट जाय। पेटके लिये भी मैं कभी हिंसा न करूँ। अन्त समयमें मेरी जीभ आपका नाम रटती रहे और आपका दर्शन करते हुए मेरे प्राण निकलें।' भगवान्ने रघुके मस्तकपर हाथ रखकर 'तथास्तु' कहा और अन्तर्धान हो गये।

भगवान्का दर्शन पाकर रघु सम्पूर्ण बदल गया। वह भगवन्नाम-कीर्तन करता हुआ घर आया। गाँवके लोगोंने उसे धिक्कारा कि माता और स्त्रीको निराधार छोड़कर वह भाग गया था। दया करके गाँवके जमींदारने बेचारी स्त्रियोंके लिये अन्नका प्रबन्ध कर दिया था। रघुने इसे भगवान्की दया ही मानी। यदि वह घरपर रहता तो जमींदार या कोई भी एक छटाँक अन्न देनेवाला नहीं था। अब वह प्रातः शौच-स्नानादिसे निवृत्त होकर भगवान्का भजन करता और फिर कीर्तन करता हुआ गाँवमें घूमता। बिना माँगे ही लोग उसे बुलाकर अनेक पदार्थ देते थे। इस प्रकार अनायास उसका तथा परिवारका पालन-पोषण होने लगा। उसकी माता तथा स्त्री भी अब भजनमें लग गयीं। रघु अब भजनके प्रभावसे पूरा साधु हो गया। दिन-रात उसका मन भगवान्में लगा रहता था। वह नामकीर्तन करते-करते बेसुध हो जाता था।

अब रघुकी स्थिति ऐसी हो गयी कि उनके मुखसे

जो निकल जाता, वही सत्य हो जाता। वे वचनसिद्ध महात्मा माने जाने लगे। दूर-दूरसे नाना प्रकारकी कामनावाले स्त्री-पुरुषोंकी भीड़ आने लगी। रघु इस प्रपञ्चसे घबरा गये। मान-प्रतिष्ठा उन्हें विष-सी लगती थी। घर छोड़कर वे अब निर्जन वनमें रहने लगे और चौबीसों घंटे केवल भजनमें ही बिताने लगे।

एक दिन रघुको लगा कि मानो नीलाचलनाथ श्रीजगन्नाथजी उनसे भोजन माँग रहे हैं। इससे उन्हें बड़ा आनन्द हुआ। भोजन-सामग्री लेकर उन्होंने कुटियाका द्वार बंद कर लिया। भक्तके बुलाते ही भावके भूखे श्रीजगन्नाथ प्रकट हो गये और रघुके हाथसे भोजन करने लगे।

उधर उसी समय नीलाचलमें श्रीजगन्नाथजीके भोग-मण्डपमें पुजारीने नाना प्रकारके पक्वान्न सजाये। श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरसे भोग-मण्डप अलग है। भोग-मण्डपमें एक दर्पण लगा है। उस दर्पणमें जगन्नाथजीके श्रीविग्रहका जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसीको नैवेद्य चढ़ाया जाता है। सब सामग्री आ जानेपर पुजारी जब भोग लगाने लगा, तब उसने देखा कि दर्पणमें प्रतिबिम्ब तो पड़ता ही नहीं है। दर्पण जहाँ-का-तहाँ था, बीचमें कोई आड़ भी नहीं थी; पर प्रतिबिम्ब नहीं पड़ रहा था। घबराकर वह राजाके पास गया। उसने कहा—'महाराज! नैवेद्यमें कुछ दोष होना चाहिये। श्रीजगन्नाथ स्वामी उसे स्वीकार नहीं कर रहे हैं। अब क्या किया जाय।'

श्रद्धालु राजाने स्वयं देखा कि दर्पणमें प्रभुका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। उन्हें बड़ा दुःख हुआ। वे कहने लगे—'पता नहीं मुझसे क्या अपराध हो गया कि मेरी सामग्रीसे अर्पित भोग प्रभु स्वीकार नहीं करते। मुझसे कोई अपराध हुआ हो तो प्रायश्चित्त करनेको मैं तैयार हूँ।'

राजा प्रार्थना करते हुए दुःखी होकर भगवान्के गरुड़ध्वजके पास जाकर भूमिपर ही लेट गये। भगवान्की लीलासे लेटते ही उन्हें तन्द्रा आ गयी। उन्होंने स्वप्नमें देखा कि प्रभु कह रहे हैं—'राजा! तेरा कोई अपराध नहीं। तू दुःखी मत हो। मैं नीलाचलमें था ही नहीं, तब प्रतिबिम्ब किसका पड़ता। मैं तो इस समय पीपलीचटी ग्राममें अपने भक्त रघु केवटकी झोपड़ीमें बैठा उसके हाथसे भोजन कर रहा हूँ। वह जबतक नहीं छोड़ता, मैं यहाँ आकर तेरा नैवेद्य कैसे स्वीकार कर सकता हूँ। यदि तू मुझे यहाँ बुलाना चाहता है तो मेरे उस भक्तको उसकी माता तथा स्त्रीके साथ यहाँ ले आ। यहीं उनके रहनेकी व्यवस्था कर।'

राजाका स्वप्न टूट गया। वे एकदम उठ खड़े हुए। घोड़ेपर बैठकर शीघ्रतासे पीपलीचटी पहुँचे। पूछ-पाछकर रघु केवटकी झोपड़ीका पता लगाया। जब कई बार पुकारनेपर भी द्वार न खुला, तब द्वार बल लगाकर स्वयं खोला उन्होंने। कुटियाका दृश्य देखते ही वे मूर्तिकी भाँति हो गये। रोमाञ्चित शरीर रघु सामने भोजन रखे किसीको ग्रास दे रहा है। रघु दीखता है, अन्न दीखता है, ग्रास दीखता है; पर ग्रास लेनेवाला मुख नहीं दीखता। राजा चुपचाप खड़े रहे। वह अज्ञात मुख तो जिसे कृपा करके वह दिखाना चाहे, वही बड़भागी देख सकता है।

सहसा प्रभु अन्तर्धान हो गये। रघु जलसे निकाली मछलीकी भाँति तड़पने लगा। राजाने अब उसे उठाकर गोदमें बैठा लिया। रघुको होश आया। अपनेको राजाकी गोदमें देख वे चकित हो गये। जल्दीसे उठकर वे राजाको प्रणाम करने लगे। उन्हें रोककर स्वयं पुरी-नरेशने उनके चरणोंमें प्रणाम किया। श्रीजगन्नाथजीकी आज्ञा सुनकर रघुने नीलाचल चलना स्वीकार कर लिया। माता तथा पत्नीके साथ वे पुरी आये। उनके नीलाचल पहुँचते ही भोगमण्डपके दर्पणमें श्रीजगन्नाथजीका प्रतिबिम्ब दिखायी पड़ा।

पुरीके राजाने श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरसे दक्षिण ओर रघुके लिये घरकी व्यवस्था कर दी। आवश्यक सामग्री भिजवा दी वहाँ। रघु अपनी माता और स्त्रीके साथ भजन करते हुए जीवनपर्यन्त वहीं रहे।

मणिदास माली

श्रीजगन्नाथधाममें मणिदास नामके एक माली रहते थे। फूल-माला बेचकर जो कुछ मिलता था, उसमेंसे साधु-ब्राह्मणोंकी वे सेवा भी करते थे, दीन-दुःखियोंको, भूखोंको भी दान करते थे और अपने कुटुम्बका काम भी चलाते थे। अक्षर-ज्ञान मणिदासने नहीं पाया था; पर यह सच्ची शिक्षा उन्होंने ग्रहण कर ली थी कि दीन-दुःखी प्राणियोंपर दया करनी चाहिये और दुष्कर्मोंका त्याग करके भगवान्‌का भजन करना चाहिये।

कुछ समय बाद मणिदासके स्त्री-पुत्रोंका एक-एक करके परलोकवास हो गया। जो संसारके विषयोंमें आसक्त, माया-मोहमें लिपटे प्राणी हैं, वे सम्पत्ति तथा परिवारका नाश होनेपर दुःखी होते हैं और भगवान्‌को दोष देते हैं; किंतु मणिदासने तो इसे भगवान्‌की कृपा मानी। उन्होंने सोचा—'मेरे प्रभु कितने दयामय हैं कि उन्होंने मुझे सब ओरसे बन्धनमुक्त कर दिया। मेरा मन स्त्री-पुत्रको अपना मानकर उनके मोहमें फँसा रहता था, श्रीहरिने कृपा करके मेरे कल्याणके लिये अपनी वस्तुएँ लौटा लीं। मैं मोह-मदिरासे मतवाला होकर अपने सच्चे कर्तव्यको भूला हुआ था। अब तो जीवनका प्रत्येक क्षण प्रभुके स्मरणमें ही लगाऊँगा।'

मणिदास अब साधुके वेशमें अपना सारा जीवन भगवान्‌के भजनमें ही बिताने लगे। हाथोंमें करताल लेकर प्रातःकाल ही स्नानादि करके वे श्रीजगन्नाथजीके सिंहद्वारपर आकर कीर्तन प्रारम्भ कर देते थे। कभी-कभी प्रेममें उन्मत्त होकर नाचने लगते थे। मन्दिरके द्वार खुलनेपर भीतर जाकर श्रीजगन्नाथजीकी मूर्तिके पास गरुड़-स्तम्भके पीछे खड़े होकर देरतक अपलक दर्शन करते रहते और फिर साष्टाङ्ग प्रणाम करके कीर्तन करने लगते थे। कीर्तनके समय मणिदासको शरीरकी सुधि भूल जाती थी। कभी नृत्य करते, कभी खड़े रह जाते। कभी गाते, स्तुति करते या रोने लगते। कभी प्रणाम करते, कभी जय-जयकार करते और कभी भूमिमें लोटने लगते थे। उनके शरीरमें अश्रु, स्वेद, कम्प, रोमाञ्च आदि आठों सात्त्विक भावोंका उदय हो जाता था।

उस समय श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरमें मण्डपके एक भागमें नित्य पुराणकी कथा हुआ करती थी। कथावाचकजी विद्वान् तो थे, पर भगवान्‌की भक्ति उनमें नहीं थी। वे कथामें अपनी प्रतिभासे ऐसे-ऐसे भाव बतलाते थे कि श्रोता मुग्ध हो जाते थे। एक दिन कथा हो रही थी, पण्डितजी कोई अद्भुत भाव बता रहे थे कि इतनेमें करताल बजाता 'राम-कृष्ण-गोविन्द-हरि' की उच्च ध्वनि करता मणिदास वहाँ आ पहुँचा। मणिदास तो जगन्नाथजीके दर्शन करते ही बेसुध हो गया। उसे पता नहीं कि कहाँ कौन बैठा है या क्या हो रहा है। वह तो उन्मत्त होकर नाम-ध्वनि करता हुआ नाचने लगा। कथावाचकजीको उसका यह ढंग बहुत बुरा लगा। उन्होंने डाँटकर उसे हट जानेके लिये कहा, परंतु मणिदास तो अपनी धुनमें था। उसके कान कुछ सुन नहीं रहे थे। कथावाचकजीको क्रोध आ गया। कथामें विघ्न पड़नेसे श्रोता भी उत्तेजित हो गये। मणिदासपर गालियोंके साथ-साथ थप्पड़ पड़ने लगे। जब मणिदासको बाह्यज्ञान हुआ, तब वह भौंचक्का रह गया। सब बातें समझमें आनेपर उसके मनमें प्रणयकोप जागा। उसने सोचा—'जब प्रभुके सामने ही उनकी कथा कहने तथा सुननेवाले मुझे मारते हैं, तब मैं वहाँ क्यों जाऊँ?'

जो प्रेम करता है, उसीको रूठनेका भी अधिकार है। मणिदास आज श्रीजगन्नाथजीसे रूठकर भूखा-प्यासा एक मठमें दिनभर पड़ा रहा। मन्दिरमें सन्ध्या-आरती हुई, पट बंद हो गये, पर मणिदास आया नहीं। रात्रिको द्वार बंद हो गये।

पुरी-नरेशने उसी रात्रिमें स्वप्नमें श्रीजगन्नाथजीके दर्शन किये। प्रभु कह रहे थे—'तू कैसा राजा है! मेरे मन्दिरमें क्या होता है, तुझे इसकी भी खबर नहीं रहती। मेरा भक्त मणिदास नित्य मन्दिरमें करताल बजाकर नृत्य किया करता है। तेरे कथावाचकने उसे आज मारकर मन्दिरसे निकाल दिया। उसका कीर्तन सुने बिना मुझे सब फीका जान पड़ता है। मेरा मणिदास आज मठमें भूखा-प्यासा पड़ा है। तू स्वयं जाकर उसे सन्तुष्ट कर।

अबसे उसके कीर्तनमें कोई विघ्न नहीं होना चाहिये। कोई कथावाचक आजसे मेरे मन्दिरमें कथा नहीं करेगा। मेरा मन्दिर तो मेरे भक्तोंके कीर्तन करनेके लिये सुरक्षित रहेगा। कथा अब लक्ष्मीजीके मन्दिरमें होगी।'

उधर मठमें पड़े मणिदासने देखा कि सहसा कोटि-कोटि सूर्योंके समान शीतल प्रकाश चारों ओर फैल गया है। स्वयं जगन्नाथजी प्रकट होकर उसके सिरपर हाथ रखकर कह रहे हैं—'बेटा मणिदास! तू भूखा क्यों है। देख तेरे भूखे रहनेसे मैंने भी आज उपवास किया है। उठ, तू जल्दी भोजन तो कर ले!' भगवान् अन्तर्धान हो गये। मणिदासने देखा कि महाप्रसादका थाल सामने रखा है। उसका प्रणयरोष दूर हो गया। प्रसाद पाया उसने।

उधर राजाकी निद्रा टूटी। घोड़ेपर सवार होकर वह स्वयं जाँच करने मन्दिर पहुँचा। पता लगाकर मठमें मणिदासके पास गया। मणिदासमें अभिमान तो था नहीं, वह राजी हो गया। राजाने उसका सत्कार किया। करताल लेकर मणिदास स्तुति करता हुआ श्रीजगन्नाथजीके सम्मुख नृत्य करने लगा। उसी दिनसे श्रीजगन्नाथ-मन्दिरमें कथाका बाँचना बंद हो गया। कथा अबतक श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरके नैर्ऋत्य कोणमें स्थित श्रीलक्ष्मीजीके मन्दिरमें होती है।

मणिदास जीवनभर वहीं कीर्तन करते रहे। अन्तमें श्रीजगन्नाथजीकी सेवाके लिये वे उनके दिव्यधाम पधारे।

कूबा कुम्हार

अभय सरन हरि के चरन की जिन लई सम्हाल।
तिनतें हार्‌यो सहज ही अति कराल हू काल॥

राजपूतानेके किसी गाँवमें कूबा नामके कुम्हार जातिके एक भगवद्भक्त रहते थे। ये अपनी पत्नी पुरीके साथ महीनेभरमें मिट्टीके तीस बर्तन बना लेते और उन्हींको बेचकर पति-पत्नी जीवन-निर्वाह करते थे। धनका लोभ था नहीं, भगवान्‌के भजनमें अधिक-से-अधिक समय लगना चाहिये, इस विचारसे कूबाजी अधिक बर्तन नहीं बनाते थे। घरपर आये हुए अतिथियोंकी सेवा और भगवान्‌का भजन, बस इन्हीं दो कामोंमें उनकी रुचि थी।

धनका सदुपयोग तो कोई बिरले पुण्यात्मा ही कर पाते हैं। धनकी तीन गतियाँ हैं—दान, भोग और नाश। जो न दान करता और न सुख-भोगमें धन लगाता, उसका धन नष्ट हो जाता है। चोर-लुटेरे न भी ले जायँ, मुकदमे या रोगियोंकी चिकित्सामें न भी नष्ट हो, तो भी कंजूसका धन उसकी सन्तानको बुरे मार्गमें ले जाता है और वे उसे नष्ट कर डालते हैं। भोगमें धन लुटानेसे पापका सञ्चय होता है। अत: धनका एक ही सदुपयोग है—दान। घर आये अतिथिका सत्कार। एक बार कूबाजीके ग्राममें दो सौ साधु पधारे। साधु भूखे थे। गाँवमें सेठ-साहूकार थे, किंतु किसीने साधुओंका सत्कार नहीं किया। सबने कूबाजीका नाम बता दिया। साधु कूबाजीके घर पहुँचे।

घरपर साधुओंकी इतनी बड़ी मण्डली देखकर कूबाजीको बड़ा आनन्द हुआ। उन्होंने नम्रतापूर्वक सबको दण्डवत् प्रणाम किया। बैठनेको आसन दिया। परंतु इतने साधुओंको भोजन कैसे दिया जाय? घरमें तो एक छटाँक अन्न नहीं था। एक महाजनके पास कूबाजी उधार माँगने गये। महाजन इनकी निर्धनता जानता था और यह भी जानता था कि ये टेकके सच्चे हैं। उसने यह कहा—'मुझे एक कुआँ खुदवाना है। तुम यदि दूसरे मजदूरोंकी सहायताके बिना ही कुआँ खोद देनेका वचन दो तो मैं पूरी सामग्री देता हूँ।' कूबाजीने शर्त स्वीकार कर ली। महाजनसे आटा, दाल, घी आदि ले आये। साधु-मण्डलीने भोजन किया और कूबाजीको आशीर्वाद देकर विदा हो गये।

साधुओंके जाते ही कूबाजी अपने वचनके अनुसार महाजनके बताये स्थानपर कुआँ खोदनेमें लग गये। वे कुआँ खोदते और उनकी पतिव्रता स्त्री पूरी मिट्टी फेंकती। दोनों ही बराबर हरिनाम-कीर्तन किया करते। बहुत दिनोंतक इसी प्रकार लगे रहनेसे कुएँमें जल निकल आया। परंतु नीचे बालू थी। ऊपरकी मिट्टीको सहारा नहीं था। कुआँ बैठ गया। 'पुरी' मिट्टी फेंकने दूर

चली गयी थी। कूबाजी नीचे कुएँमें थे। वे भीतर ही रह गये। बेचारी पुरी हाहाकार करने लगी।

गाँवके लोग समाचार पाकर एकत्र हो गये। सबने यह सोचा कि मिट्टी एक दिनमें तो निकल नहीं सकती। कूबाजी यदि दबकर न भी मरे होंगे तो श्वास रुकनेसे मर जायँगे। पुरीको वे समझा-बुझाकर घर लौटा लाये। कुछ लोगोंने दयावश उसके खाने-पीनेका सामान भी पहुँचा दिया। बेचारी स्त्री कोई उपाय न देखकर लाचार घर चली आयी। गाँवके लोग इस दुर्घटनाको कुछ दिनोंमें भूल गये। वर्षा होनेपर कुएँके स्थानपर जो थोड़ा गड्ढा था, वह भी मिट्टी भरनेसे बराबर हो गया।

एक बार कुछ यात्री उधरसे जा रहे थे। रात्रिमें उन्होंने उस कुएँवाले स्थानपर ही डेरा डाला। उन्हें भूमिके भीतरसे करताल, मृदङ्ग आदिके साथ कीर्तनकी ध्वनि सुनायी पड़ी। उनको बड़ा आश्चर्य हुआ। रातभर वे उस ध्वनिको सुनते रहे। सबेरा होनेपर उन्होंने गाँववालोंको रातकी घटना बतायी। अब जो जाता, जमीनमें कान लगानेपर उसीको वह शब्द सुनायी पड़ता। वहाँ दूर-दूरसे लोग आने लगे। समाचार पाकर स्वयं राजा अपने मन्त्रियोंके साथ आये। भजनकी ध्वनि सुनकर और गाँववालोंसे पूरा इतिहास जानकर उन्होंने धीरे-धीरे मिट्टी हटवाना प्रारम्भ किया। बहुत-से लोग लग गये, कुछ घंटोंमें कुआँ साफ हो गया। लोगोंने देखा कि नीचे निर्मल जलकी धारा बह रही है। एक ओर आसनपर शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी भगवान् विराजमान हैं और उनके सम्मुख हाथमें करताल लिये कूबाजी कीर्तन करते, नेत्रोंसे अश्रुधारा बहाते तन-मनकी सुधि भूले नाच रहे हैं। राजाने यह दिव्य दृश्य देखकर अपना जीवन कृतार्थ माना।

अचानक वह भगवान्की मूर्ति अदृश्य हो गयी। राजाने कूबाजीको कुएँसे बाहर निकलवाया। सबने उन महाभागवतकी चरण-धूलि मस्तकपर चढ़ायी। कूबाजी घर आये। पत्नीने अपने भगवद्भक्त पतिको पाकर परमानन्द लाभ किया। दूर-दूरसे अब लोग कूबाजीके दर्शन करने और उनके उपदेशसे लाभ उठाने आने लगे। राजा नियमपूर्वक प्रतिदिन उनके दर्शनार्थ आते थे। एक बार अकालके समय कूबाजीकी कृपासे लोगोंको बहुत-सा अन्न प्राप्त हुआ था। उनके सत्सङ्गसे अनेक स्त्री-पुरुष भगवान्के भजनमें लगकर संसार-सागरसे पार हो गये।

भक्त सेन नाई

पाँच-छ: सौ साल पहलेकी बात है। बघेलखण्डका बान्धवगढ़ नगर अत्यन्त समृद्ध था। महाराज वीरसिंहके राजत्वकालमें बान्धवगढ़का सुदूर प्रान्तोंमें बड़ा नाम था। नगरके एक भागमें अट्टालिकाएँ थीं, सुन्दर और प्रशस्त राजपथ थे, अच्छे-अच्छे उपवन और मनोमोहक सरोवर थे। एक ओर सभ्य, संस्कृत और शिष्टजनोंके घर थे तो दूसरी ओर कुछ झोपड़ियाँ थीं, हरे-भरे खेत थे, प्रकृति देवीकी सुषमा थी, दैवी सुख और शान्तिका अकृत्रिम साम्राज्य था। नगरके इसी दूसरे भागमें एक परम संतोषी, उदार, विनयशील व्यक्ति रहते थे; उनका नाम था सेन। राजपरिवारसे उनका नित्यका सम्पर्क था; भगवान्की कृपासे दिनभरकी मेहनत-मजदूरीसे जो कुछ भी मिल जाता था, उसीसे परिवारका भरण-पोषण और संत-सेवा करके निश्चिन्त हो जाते थे। न तो उन्होंने कभी किसीके सामने एक पैसेके लिये हाथ पसारा और न उन्हें कभी आवश्यकता ही प्रतीत हुई कि किसीसे कुछ माँगकर काम चलायें। भगवान् ही उनके सब कुछ थे। राजा और नगरनिवासी उनकी निःस्पृहता और सीधे-सादे उदार स्वभावकी सराहना करते थे।

वे नित्य प्रातःकाल स्नान, ध्यान और भगवान्के स्मरण-पूजन और भजनके बाद ही राजसेवाके लिये घरसे निकल पड़ते थे और दोपहरको लौट आते थे। जातिके नाई थे। राजाका बाल बनाना, तेल लगाकर स्नान कराना आदि ही उनका दैनिक काम था। एक दिन वे घरसे निकले ही थे कि उन्होंने देखा एक भक्तमण्डली मधुर-मधुर ध्वनिसे भगवान्के नामका संकीर्तन करती उन्हींके घरकी ओर चली आ रही है। संत-समागमका पवित्र अवसर मिला, इससे बढ़कर आनन्दकी बात

दूसरी थी भी नहीं। सेनने प्रेमपूर्वक बड़ी श्रद्धा और भक्तिसे उनकी चरणधूलि ली। उन्हें इस बातका तनिक भी ध्यान नहीं रहा कि महाराज वीरसिंह उनकी प्रतीक्षा करते होंगे। संतोंको घर लाकर सेनने यथाशक्ति उनकी सेवा-पूजा की, सत्सङ्ग किया।

महाराज वीरसिंहको प्रतीक्षा करते-करते अधिक समय बीत गया। इधर सेन संतोंके आतिथ्य और स्वागत-सत्कारमें पूर्णरूपसे निमग्न थे। उन्हें तनिक भी बाह्यज्ञान नहीं था। काफी धूप चढ़ चुकी थी। इतनेमें सेन नाईके रूपमें स्वयं लीलाविहारी राजमहलमें पहुँच गये। सदाकी भाँति उनके कंधेपर छुरे, कैंची तथा अन्य उपयोगी सामान तथा दर्पण आदिकी छोटी-सी पेटी लटक रही थी। मुखपर अलौकिक शान्तिकी किरणें थीं, प्रसन्नतामयी मुसकानकी ज्योतिर्मयी तरङ्गें अधरोंपर खेल रही थीं। उनकी प्रत्येक क्रियामें विलक्षण नवीनता थी। उन्होंने राजाके सिरमें तेल लगाया, शरीरमें मालिश की, दर्पण दिखाया। उनके कोमल करस्पर्शसे राजाको आज जितना सुख मिला, उतना और पहले कभी अनुभवमें नहीं आया था। सेन नाई राजाकी पूरी-पूरी परिचर्या और सेवा करके चले गये। राजाको ऐसा लगा कि सेनके रूपमें कोई स्वर्गीय और सर्वथा दिव्य प्राणी ही उतर आये थे।

भक्तमण्डली चली गयी। थोड़ी देरके बाद भक्त सेनको स्मरण हुआ कि मुझे तो राजाकी सेवामें भी जाना है। उन्होंने आवश्यक सामान लिया और डरते-डरते राजपथपर पैर रखा। वे चिन्ताग्रस्त थे, राजाके बिगड़नेकी बात सोचकर वे डर रहे थे।

'कुछ भूल तो नहीं आये?' एक साधारण राजसैनिकने टोक दिया।

'नहीं तो, अभी तो राजमहल ही नहीं जा सका।' सेन आश्चर्यचकित थे।

'आपको कुछ हो तो नहीं गया है? मस्तिष्क ठीक-ठिकाने तो है न?'

'भैया! अब और बनानेका यत्न न करो।' सेनके मुखसे सहसा निकल पड़ा।

'आप सचमुच भगवान्के भक्त हैं। भगवान्के भक्त कितने सीधे-सादे होते हैं, इसका पता तो आज ही चल सका।' सैनिक कहता गया। 'आज तो राजा आपकी सेवासे इतने अधिक प्रसन्न हैं कि इसकी चर्चा सारे नगरमें फैल रही है।' सैनिक आगे कुछ न बोल सका।

सेनको पूरा-पूरा विश्वास हो गया कि मेरी प्रसन्नता और संतोषके लिये भगवान्को मेरी अनुपस्थितिमें नाईका रूप धारण करना पड़ा। वे अपने-आपको धिक्कारने लगे कि एक तुच्छ-सी सेवापूर्तिके लिये शोभानिकेतन श्रीराघवेन्द्रको बहुरूपिया बनना पड़ा। प्रभुको इतना कष्ट उठाना पड़ा! जो पलभरमें समस्त लोक-लोकान्तरका संहार कर सकते हैं, जिनके एक सङ्कल्पाभासमात्रपर विश्वका विधान उलट जाता है, उन्होंने कंधेपर छूरे आदिकी पेटी लटकानेमें भी रसकी अनुभूति की। भगवान्की सहज रसमयता, प्रगाढ़ भृत्यवत्सलता, कोमल कृपा और पावन प्रसन्नताका चिन्तन करते-करते वे आत्मग्लानिके अतल सागरमें डूबने-उतराने लगे। उन्होंने भगवान्के चरण-कमलका ध्यान किया, मन-ही-मन प्रभुसे क्षमा माँगी।

उनके राजमहलमें पहुँचते ही राजा वीरसिंह बड़े प्रेम और विनय तथा स्वागत-सत्कारसे मिले, भगवान्के साक्षात्कारका प्रभाव जो था। भक्त सेनने बड़े सङ्कोचसे विलम्बके लिये क्षमा माँगी, संतोंके अचानक मिल जानेकी बात कही। दोनोंने एक-दूसरेका जीभर आलिङ्गन किया। राजाने सेनके चरण पकड़ लिये। वीरसिंहने कहा—'राजपरिवार जन्म-जन्मतक आपका और आपके वंशजोंका आभार मानता रहेगा। भगवान्ने आपकी ही प्रसन्नताके लिये मङ्गलमय दर्शन देकर हमारे असंख्य पाप-तापोंका अन्त किया है।' भक्त सेन तो प्रेमविह्वल थे। शरीरमें विलक्षण भाव-कम्पन था, अङ्ग-अङ्ग भगवान्के रूपमाधुर्यके रसमें सम्प्लावित थे। बान्धवगढ़ सेनकी उपस्थितिसे धन्य हो गया। वे परम भागवत थे, भगवान्के महान् कृपापात्र—भक्त थे।

सदन कसाई

जाति पाँति पूछै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई॥

प्राचीन समयमें सदन नामक कसाई जातिके एक भक्त हो गये हैं। बचपनसे भगवन्नाम-जप और हरिकीर्तन इन्हें प्रिय था। भगवान्‌का नाम तो इनकी जीभपर सदा ही नाचता रहता था। यद्यपि ये जातिसे कसाई थे, फिर भी इनका हृदय दयासे पूर्ण था। जीव-वधके नामसे ही इनका शरीर काँपने लगता था। आजीविकाके लिये और कोई उपाय न होनेसे दूसरोंके यहाँसे मांस लाकर बेचा करते थे, स्वयं अपने हाथसे पशु-वध नहीं करते थे। इस काममें भी इनका मन लगता नहीं था, पर मन मारकर जाति-व्यवसाय होनेसे करते थे। सदा नाम-जप, भगवान्‌के गुण-गान और लीलामय पुरुषोत्तमके चिन्तनमें लगे रहते थे। सदनका मन श्रीहरिके चरणोंमें रम गया था। रात-दिन वे केवल 'हरि-हरि' करते रहते थे।

भगवान् अपने भक्तसे दूर नहीं रहा करते। भक्तको जैसे उनके बिना चैन नहीं, वैसे ही उन्हें भी भक्तके बिना चैन नहीं। सदनके घरमें भगवान् शालग्रामरूपसे विराजमान थे। सदनको इसका पता नहीं था। वे तो शालग्रामको पत्थरका एक बाट समझते थे और उनसे मांस तौला करते थे। एक दिन एक साधु सदनकी दूकानके सामनेसे जा रहे थे। दृष्टि पड़ते ही वे शालग्रामजीको पहचान गये। मांस-विक्रेता कसाईके यहाँ अपवित्र स्थलमें शालग्रामजीको देखकर साधुको बड़ा क्लेश हुआ। सदनसे माँगकर वे शालग्रामको ले गये। सदनने भी प्रसन्नतापूर्वक साधुको अपना वह चमकीला बाट दे दिया।

साधु बाबा कुटियापर पहुँचे। उन्होंने विधिपूर्वक शालग्रामजीकी पूजा की; परंतु भगवान्‌को न तो पदार्थोंकी अपेक्षा है न मन्त्र या विधिकी। वे तो प्रेमके भूखे हैं, प्रेमसे रीझते हैं। रातमें उन साधुको स्वप्नमें भगवान्‌ने कहा—'तुम मुझे यहाँ क्यों ले आये? मुझे तो अपने भक्त सदनके घरमें ही बड़ा सुख मिलता था। जब वह मांस तौलनेके लिये मुझे उठाता था, तब उसके शीतल स्पर्शसे मुझे अत्यन्त आनन्द मिलता था। जब वह ग्राहकोंसे बातें करता था, तब मुझे उसके शब्द बड़े मधुर स्तोत्र जान पड़ते थे। जब वह मेरा नाम लेकर कीर्तन करता, नाचने लगता था, तब आनन्दके मारे मेरा रोम-रोम पुलकित हो जाता था। तुम मुझे वहीं पहुँचा दो। मुझे सदनके बिना एक क्षण कल नहीं पड़ती।'

साधु महाराज जगे। उन्होंने शालग्रामजीको उठाया और सदनके घर जाकर उसे दे आये। साथ ही उसको भगवत्कृपाका महत्त्व भी बता आये। सदनको जब पता लगा कि उनका यह बटखरा तो भगवान् शालग्राम हैं, तब उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वे मन-ही-मन कहने लगे—'देखो, मैं कितना बड़ा पापी हूँ। मैंने भगवान्‌को निरादरपूर्वक अपवित्र मांसके तराजूका बाट बना रखा। प्रभो! अब मुझे क्षमा करो।' अब सदनको अपने व्यवसायसे घृणा हो गयी। वे शालग्रामजीको लेकर पुरुषोत्तमक्षेत्र श्रीजगन्नाथपुरीको चल पड़े।

मार्गमें सन्ध्या-समय सदनजी एक गाँवमें एक गृहस्थके घर ठहरे। उस घरमें स्त्री-पुरुष दो ही व्यक्ति थे। स्त्रीका आचरण अच्छा नहीं था। वह अपने घर ठहरे हुए इस स्वस्थ, सुन्दर, सबल पुरुषपर मोहित हो गयी। आधी रातके समय सदनजीके पास आकर वह अनेक प्रकारकी अशिष्ट चेष्टाएँ करने लगी। सदनजी तो भगवान्‌के परम भक्त थे। उनपर कामकी कोई चेष्टा सफल न हुई। वे उठकर, हाथ जोड़कर बोले—'तुम तो मेरी माता हो! अपने बच्चेकी परीक्षा मत लो, मा! मुझे तुम आशीर्वाद दो।'

भगवान्‌के सच्चे भक्त पर-स्त्रीको माता ही देखते हैं। स्त्रीका मोहक रूप उनको भ्रममें नहीं डालता। वे हड्डी, मांस, चमड़ा, मल-मूत्र, थूक-पीबकी पुतलीको सुन्दर माननेकी मूर्खता कर ही नहीं सकते; परंतु जो कामके वश हो जाता है, उसकी बुद्धि मारी जाती है। वह न सोच-समझ पाता, न कुछ देख पाता। वह निर्लज्ज और निर्दय हो जाता है। उस कामातुरा स्त्रीने समझा कि मेरे पतिके भयसे ही यह मेरी बात नहीं मानता। वह गयी और तलवार लेकर सोते हुए अपने पतिका सिर उसने काट दिया। कामान्ध कौन-सा पाप नहीं कर सकता। अब वह कहने लगी—'प्यारे! अब डरो मत। मैंने अपने

खूसट पतिका सिर काट डाला है। हमारे सुखका कण्टक दूर हो गया। अब तुम मुझे स्वीकार करो।'

सदन भयसे काँप उठे। स्त्रीने अनुनय-विनय करके जब देख लिया कि उसकी प्रार्थना स्वीकार नहीं हो सकती, तब द्वारपर आकर छाती पीट-पीटकर रोने लगी। लोग उसका रुदन सुनकर एकत्र हो गये। उसने कहा—'इस यात्रीने मेरे पतिको मार डाला है और यह मेरे साथ बलात्कार करना चाहता था।' लोगोंने सदनको खूब भला-बुरा कहा, कुछने मारा भी; पर सदनने कोई सफाई नहीं दी। मामला न्यायाधीशके पास गया। सदन तो अपने प्रभुकी लीला देखते हुए अन्ततक चुप ही बने रहे। अपराध सिद्ध हो गया। न्यायाधीशकी आज्ञासे उनके दोनों हाथ काट लिये गये।

सदनके हाथ कट गये, रुधिरकी धारा चलने लगी; उन्होंने इसे अपने प्रभुकी कृपा ही माना। उनके मनमें भगवान्‌के प्रति तनिक भी रोष नहीं आया। भगवान्‌के सच्चे भक्त इस प्रकार निरपराध कष्ट पानेपर भी अपने स्वामीकी दया ही मानते हैं। भगवन्नामका कीर्तन करते हुए सदन जगन्नाथपुरीको चल पड़े। उधर पुरीमें प्रभुने पुजारीको स्वप्नमें आदेश दिया—'मेरा भक्त सदन मेरे पास आ रहा है। उसके हाथ कट गये हैं। पालकी लेकर जाओ और उसे आदरपूर्वक ले आओ।' पुजारी पालकी लिवाकर गये और आग्रहपूर्वक सदनको उसमें बैठाकर ले आये।

सदनने जैसे ही श्रीजगन्नाथजीको दण्डवत् करके कीर्तनके लिये भुजाएँ उठायीं, उनके दोनों हाथ पूर्ववत् ठीक हो गये। प्रभुकी कृपासे हाथ ठीक तो हुए, पर मनमें शङ्का बनी ही रही कि वे क्यों काटे गये। भगवान्‌के राज्यमें कोई निरपराध तो दण्ड पाता नहीं। रातमें स्वप्नमें भगवान्‌ने सदनजीको बताया—'तुम पूर्वजन्ममें काशीमें सदाचारी विद्वान् ब्राह्मण थे। एक दिन एक गाय कसाईके घेरेसे भागी जाती थी। उसने तुम्हें पुकारा। तुमने कसाईको जानते हुए भी गायके गलेमें दोनों हाथ डालकर उसे भागनेसे रोक लिया। वही गाय वह स्त्री थी और कसाई उसका पति था। पूर्वजन्मका बदला लेनेके लिये उसने उसका गला काटा। तुमने भयातुरा गायको दोनों हाथोंसे पकड़कर कसाईको सौंपा था, इस पापसे तुम्हारे हाथ काटे गये। इस दण्डसे तुम्हारे पापका नाश हो गया।'

सदनने भगवान्‌की असीम कृपाका परिचय पाया। वे भगवत्प्रेममें विह्वल हो गये। बहुत कालतक नाम-कीर्तन, गुण-गान तथा भगवान्‌के ध्यानमें तल्लीन रहते हुए उन्होंने पुरुषोत्तमक्षेत्रमें निवास किया और अन्तमें श्रीजगन्नाथजीके चरणोंमें देह त्यागकर वे परमधाम पधारे।

भक्त सालबेग

उस समय उड़ीसाके गजपतिवंशके राजाकी शक्ति क्षीण हो चुकी थी। कटकके ही लालबेग नामक शक्तिशाली मुगलसरदारने अवसर पाकर सेना संग्रह कर ली थी। अचानक उसने आक्रमण कर दिया। राजा हार गये युद्धमें। लालबेग उड़ीसाका अधिपति हो गया। वह बड़ा अत्याचारी था। उसके भयके कारण लोग घर-द्वार छोड़कर भाग जाते थे। हिंदुओंपर वह बहुत अत्याचार करता था। उड़ीसाके दाँतमुकुन्दपुर ग्रामसे वह एक विधवा ब्राह्मणकन्याका अपहरण कर लाया था। बेचारी विधवा अपने गाँवमें अकेली ही थी। पति तो थे ही नहीं, सास-श्वशुर भी परलोक चले गये थे। वह एक दिन नदी स्नान करने गयी थी। लालबेग कहींसे युद्ध करके लौट रहा था। वह बलपूर्वक उसे उठा लाया अपने यहाँ। अबला नारी क्या करती! लालबेगने उसे अपने यहाँ लाकर नाना प्रकारकी यातनाएँ देकर, प्रलोभनसे लुभाकर वशमें कर लिया। उस ब्राह्मण-विधवासे एक पुत्र हुआ। उस बालकका नाम सालबेग रखा गया।

सालबेग बचपनसे युद्धकला सीखने लगा। युवा होनेपर वह अस्त्र-शस्त्र चलानेमें पूरा निपुण हो गया। अपनी शूरताका उसे बहुत अधिक गर्व था। अपने पिताके साथ वह एक युद्धमें गया। उसके युद्ध-कौशल तथा पराक्रमको देखकर वहाँ सब लोग दंग रह गये; परंतु
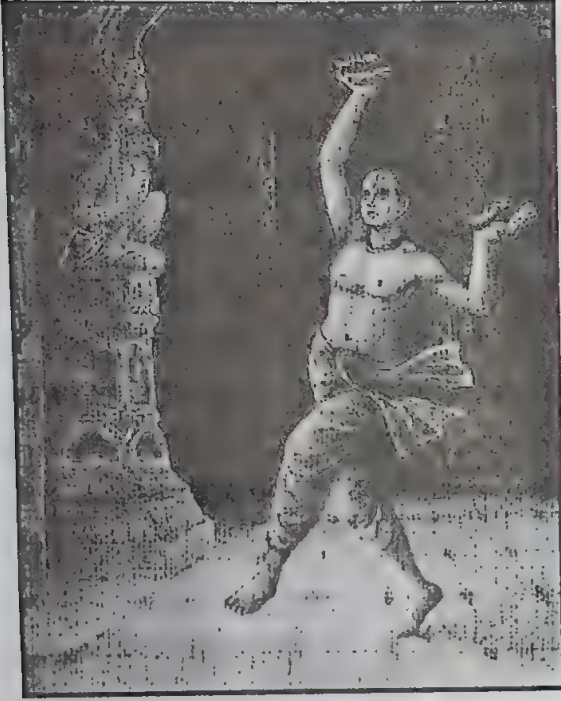
भक्त मणिदास माली [पृ० ६६६]
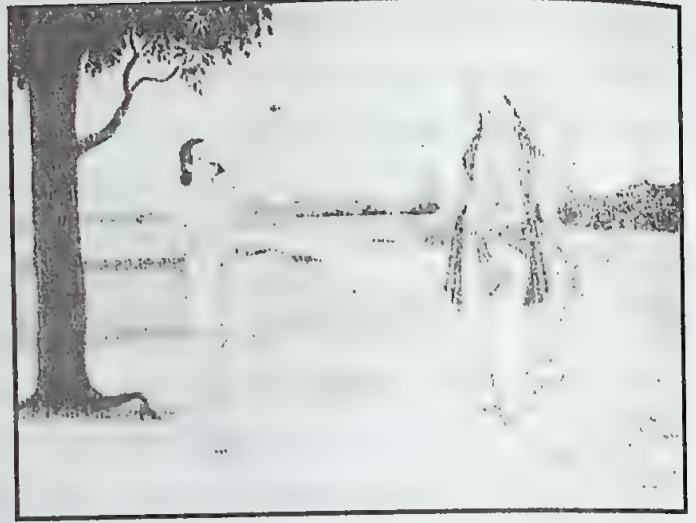
भक्त सदन कसाई [पृ० ६७०]
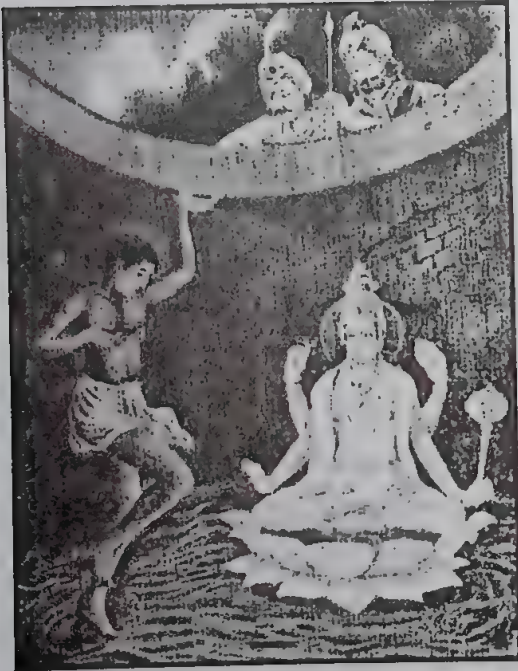
भक्त कूबा कुम्हार [पृ० ६६७]

भक्त सालबेग [पृ० ६७१]

गंगाबाईके पतिपर भगवत्कृपा [पृ० ६७८]

भक्त गोविन्ददास [पृ० ६८१]
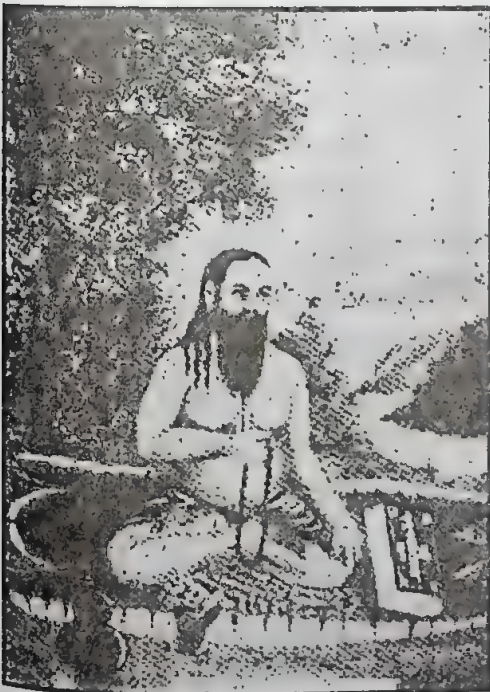
स्वामी श्रीअग्रदासजी [पृ० ६८४]

भक्त गोवर्धन [पृ० ६९१]

गर्वहारी भगवान् किसीका गर्व रहने नहीं देते। शत्रुके किसी सैनिकने पीछेसे सालबेगके सिरपर तलवार मारी। गहरी चोट खाकर वह गिर पड़ा। सेवक उसे शिविरमें ले आये और जब वहाँ मरहम-पट्टीसे घाव ठीक होता न दीखा, तब उसे घर भेज दिया गया।

सालबेग शूर था, अतः लालबेग उसको मानता था। घायल पुत्रकी लालबेगने कुछ दिन अच्छी खोज-खबर की; किंतु सालबेगका घाव बिगड़ गया था। जब अधिक दिन हो गये और वह अच्छा नहीं हुआ, तब लालबेग उसकी उपेक्षा करने लगा। दीर्घकालीन रोगीसे सभी ऊब जाते हैं। संसारमें सब स्वार्थके सम्बन्ध हैं। जबतक स्वार्थ है, तबतक सभी सम्बन्धी घेरे रहते हैं और जब स्वार्थ पूरा होनेकी आशा नहीं रहती, तब कोई बात भी नहीं करना चाहता। सालबेगसे अब यह आशा नहीं थी कि अच्छा होकर वह किसी काम आ सकेगा। जैसे-जैसे उसकी बीमारीके दिन बीतते गये, पिताकी उपेक्षा वैसे-वैसे बढ़ती गयी। अन्तमें लालबेगने उसकी खोज-खबर लेना बिलकुल छोड़ दिया।

लालबेगकी उदासीनता देख दूसरे लोग भी सालबेगसे उदासीन हो गये। नौकर भी अब उसके पास नहीं आते थे। केवल माता ही थी, जो भूख-प्यास भूलकर दिन-रात रोगी पुत्रकी शय्याके पास बैठी उसकी सेवा करती थी। एक दिन सालबेगका कष्ट बहुत बढ़ गया। वह अपने जीवनसे निराश हो गया। वह रोते हुए मातासे अपने अपराधोंकी क्षमा माँगने लगा।

माताने बड़ी कठिनतासे अपने आँसुओंको रोककर उससे कहा—'बेटा! मैं तो दासी हूँ। तेरे पिताने मेरा सर्वस्व लूटकर अब मेरी उपेक्षा कर दी है; क्योंकि मुझमें वह अब रूप नहीं रहा है। मेरा तो एक तू ही सहारा है। अपने प्राण देकर भी मैं तुझे बचा सकूँ तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी; परंतु बेटा! अपने कर्मोंका फल तो भोगना ही पड़ता है। एक ही उपाय है, पर वह तुझसे होगा नहीं।'

सालबेगने बड़ी उत्सुकतासे उपाय पूछा। माताने आज उसे बताया कि 'बेटा! तू ब्राह्मणीका पुत्र है।' उसने कहा—'मा! मैंने तेरे गर्भसे जन्म लिया है। तू जो कहेगी, मैं वही करूँगा।'

माताने कहा—'बेटा! भगवान् ही तेरी रक्षा कर सकते हैं। वे आनन्दकन्द नन्दनन्दन ही सब देवोंके राजा हैं। उनसे बड़ा दूसरा कोई देवता नहीं है। वे बड़े दयालु हैं। तू कपट छोड़कर, विश्वासपूर्वक उन गोविन्दका भजन कर। वे तेरे सब रोग दूर कर देंगे।'

पुत्रने पूछा—'मा! मैं तेरा कहना करूँगा। पर तेरे वे भगवान् कैसे हैं? कहाँ रहते हैं? मैं कैसे उनका भजन करूँ?'

लालबेगके घरमें आनेके बादसे आजतक सालबेगकी माताको किसीके मुखसे भगवान् श्रीकृष्णका नाम भी सुननेको नहीं मिला था। आज रोगशय्यापर पड़े पुत्रके पास बैठकर उसने श्रीकृष्णकथा पुत्रको सुनायी। मयूरमुकुटधारी, वनमाली, पीताम्बरपरिधान, त्रिभंगसुन्दर मदनमोहनके स्वरूपका उसने भली प्रकार वर्णन किया। उसने पुत्रको 'श्रीकृष्ण' नाम-जप करनेको कहा। उसने कहा—'बेटा! श्रीकृष्ण-भजनका मूल विश्वास है। तू मनमें किसी प्रकार यह संशय मत आने दे कि भगवान् मुझे दर्शन देंगे या नहीं, मेरा रोग दूर होगा या नहीं। इस प्रकार संदेह करेगा, तब तो कोई लाभ नहीं होगा। यह विश्वास करते हुए भजन कर कि अवश्य दयालु श्रीकृष्ण मुझपर दया करेंगे। अचल श्रद्धासे तू उनका चिन्तन कर। बारह दिनोंमें वे अवश्य तुझे दर्शन देंगे।'

सालबेगने नेत्र बंद कर लिये। उसकी जीभ अविराम 'कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण' का जप करने लगी। भगवन्नामकी अतुल शक्तिसे उसका बाह्यज्ञान लुप्त हो गया। उसके अन्तःकरणमें मुरली-मनोहरकी दिव्य मूर्ति प्रकट हो गयी। उसका हृदय आनन्दसे उछलने लगा। अपने-आप बिना जाने ही वह उन नव-घन-सुन्दरकी मानसिक पूजा करने लगा। उसके भीतरसे स्वतः विचित्र स्तुति प्रकट हुई। भगवान्की लीलाओंका स्मरण होने लगा। वह 'पूतना-मोक्षदाता, शकट-भंजक' आदि भगवान्के लीलासूचक नामोंसे उनकी स्तुति करने लगा। उसके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी।

देखते-देखते ग्यारह दिन बीत गये। सालबेगने कहा—'मा! मालूम होता है कि भगवान्को मेरा मर जाना ही पसंद है। वे इसीसे मुझपर दया नहीं करते।'

रोगी सालबेग कहाँतक धैर्य रखे। उसने रातको निश्चय किया कि 'मेरी माताके कहे मुताबिक कल बारह दिन पूरे होते हैं। आजकी रात ही बीचमें है। यदि मैं इतनेमें अच्छा न हुआ तो अवश्य आत्महत्या कर लूँगा।'

भगवान्का चिन्तन करते-करते सालबेग सो गया।

उसकी शय्याके पास उसकी माता भी सो गयी थी। सालबेगने सोते-सोते स्वप्नमें देखा कि उसके सिरहाने बालमुकुन्दवेशमें भगवान् खड़े हैं और कह रहे हैं—'सालबेग! ले, यह विभूति लेकर अपने घावपर लगा दे। इससे तेरा घाव अच्छा हो जायगा। देख, पीछे मुझे भूल मत जाना। निश्चय जान, तेरा भवरोग भी दूर हो गया। जो सच्चे मनसे मुझे किसी भी उद्देश्यसे भजता है, मैं उसे इस लोक और परलोकके सभी दुःखोंसे छुड़ा देता हूँ।' निद्रामें ही सालबेगने विभूति लेकर अपने मस्तक और शरीरपर लगा ली। सहसा भगवान्‌की वह मूर्ति अदृश्य हो गयी। सालबेगकी निद्रा टूट गयी।

जगते ही सालबेग मारे आनन्दके चिल्ला पड़ा—'मा! मा! देख, तेरे करुणामय श्रीकृष्णभगवान्‌ने मुझपर कृपा की है। उठ देख, मेरा घाव सूख गया। मैं कृतार्थ हो गया।' माताके उठते ही सालबेग उससे लिपट गया। वह हर्षके मारे कह रहा था—'मा! तेरी बात सच है। श्रीकृष्णके समान दुःख दूर करनेवाला दूसरा कोई देवता नहीं है। मा! तू अब प्रसन्नचित्तसे मुझे आज्ञा दे। मैं संन्यासी होकर देश-देशमें घूमकर दयासागर श्रीकृष्णकी महिमाका प्रचार करूँगा!'

सालबेगकी माता भगवान्‌की परम भक्त थी। उसने कहा—'बेटा! श्रीकृष्णने ही तुझे जीवन दिया है। इस जीवनको तू उनकी सेवामें लगाना चाहता है, यह जानकर मैं प्रसन्न हुई। तेरे-जैसे पुत्रको पाकर मेरा पतित जीवन भी कृतार्थ हो गया। बेटा! भगवान्‌को भूलना मत। मनमें उनको सदा जाग्रत् रखना और जिह्वासे उनका नाम लेते रहना।'

माताकी आज्ञा लेकर सालबेग सीधे जगन्नाथजी गया। वहाँ कुछ दिन रहकर वह दक्षिण भारतकी ओर चला गया। उसके जानेके बाद उसकी माताको भी किसीने फिर लालबेगके घरमें नहीं देखा। माता-पुत्रका फिर मिलन तो भगवान्‌के उस नित्य धाममें ही हुआ, जहाँ जानेपर फिर कभी वियोग होता ही नहीं।

भक्त देवाजी पुजारी

उदयपुरके समीप श्रीरूपचतुर्भुज स्वामीका मन्दिर है। देवाजी पण्डा उसमें पुजारी थे। वे बहुत पढ़े-लिखे नहीं थे, परंतु भगवान्‌की पूजा-अर्चना बड़ी श्रद्धाके साथ विधिपूर्वक करते थे। भगवान्‌में उनका विश्वास था जो भक्तिके लिये परमावश्यक साधन है। भगवान्‌की सेवासे उनका अज्ञान-अन्धकार नष्टप्राय हो चुका था।

एक दिनकी बात है—उदयपुर-नरेश एक पहर रात बीतनेके बाद मन्दिरमें आये। शयनकी आरती हो चुकी थी। भगवान् पौढ़ चुके थे। भगवान्‌को शयन कराकर देवाजीने भगवान्‌के गलेका पुष्पहार उतारकर अपने सिरपर रख लिया था और अन्तर्गृहके पट बंद करके वे मन्दिरसे बाहर आ रहे थे—इसी समय महाराणा वहाँ पहुँचे। दरवाजेपर अकस्मात् महाराणाको देखकर देवाजी घबराकर मन्दिरमें घुस गये और उन्हें पहनानेके लिये भगवान्‌की माला ढूँढ़ने लगे। उस दिन दूसरी माला थी नहीं, अतएव महाराणा नाराज न हों, इसलिये देवाजीने मस्तकपर धारण किया हुआ पुष्पहार उतार लिया और बाहर निकलकर महाराणाके गलेमें पहना दिया। सोचने-विचारनेके लिये तो समय ही कहाँ था। देवाजीके सिरके सारे बाल सफेद हो गये थे और बाल थे लंबे-लंबे। दो-एक सफेद केश मालामें लगे महाराणाके गलेमें आ गये। राणाने बालोंको देखकर व्यङ्गसे कहा—'पुजारीजी! मालूम होता है भगवान्‌के सारे केश सफेद हो गये हैं।' देवाजीको इसका उत्तर देनेके लिये और कुछ भी नहीं सूझा, उन्होंने जल्दी-जल्दीमें डरते हुए कह दिया—'हाँ सरकार! ठाकुरजीके सारे बाल सफेद हो गये हैं।' राणाको पुजारीके इस उत्तरपर हँसी आ गयी। साथ ही पुजारीके प्रति मनमें रोष भी आया। उन्होंने गम्भीर होकर कहा—'मैं कल सबेरे स्वयं आकर देखूँगा।' यों कहकर वे लौट गये।

देवाजीने उतावलीमें राणासे कह तो दिया, पर अब उनको बड़ी चिन्ता हो गयी। प्रातःकाल राणा आयेंगे और भगवान्‌के सफेद बाल न पाकर न जाने क्या करेंगे। देवाजीकी आँखोंसे नींद उड़ गयी, खाया तो कुछ था ही नहीं। आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह निकली। देवाजीने कहा—''मेरे स्वामी! मेरे मुँहसे सहसा ऐसी बात निकल गयी! तुम तो नित्य नव किशोर हो। तुम्हारे सफेद केश

कैसे? पर सबेरे महाराणा आकर जब तुम्हारे काले बाल देखेंगे, तब तुम्हारे इस सेवककी क्या स्थिति होगी? राणाकी आँखोंमें यह सर्वथा मिथ्यावादी सिद्ध हो जायगा। मुझमें न भक्ति है न श्रद्धा है। मैं तो केवल तुम्हें तुलसी-चन्दन चढ़ाकर अपना पापी पेट भरता हूँ। तुम्हारी नहीं, मैं तो पेटकी ही पूजा करता हूँ; परंतु लोग मुझे तुम्हारी पूजा करनेवाला बतलाते हैं। सबेरे जब महाराणा मेरी बातको झूठ पाकर सबके सामने मेरी भर्त्सना करेंगे तब लोग यही कहेंगे कि कितना बड़ा मूर्ख है यह। कहीं भगवान्‌के—फिर एक मूर्तिके भी श्वेत केश होते हैं? कुछ लोग मुझे अत्यन्त डरपोक बतायेंगे और कुछ यह कहेंगे कि 'अजी! भगवान् यदि आज भी सच्चे होते या भक्तवत्सल होते तो क्या बेचारे गरीब पुजारीकी बात न रखते?' जितने मुँह, उतनी बातें। नाथ! यह आपका अपराधी, दम्भी पुजारी उस समय कैसे मुख दिखलायेगा? और किसको क्या उत्तर देगा? पर प्रभो! मैं कैसे कहूँ कि तुम मेरी बात रखनेके लिये बुढ़ापा स्वीकारकर सफेद बालोंवाले बाबाजी बन जाओ? तुम्हें जो ठीक लगे, वही करो।''

यों कहकर देवाजी फुफकार मारकर रो पड़े। इसी प्रकार भगवान्‌को पुकारते और रोते-कलपते रात बीती। सारा जगत् सोता था। देवाकी करुण पुकार किसीने नहीं सुनी। जागते थे देवा और देवाके हृदय-देवता—जो सदा ही जागते हैं और सबकी गुप्त-से-गुप्त बातोंको सुनते हैं। भृत्यवत्सल, शरणागतरक्षक भगवान्‌ने अपने पुजारी देवाजीकी करुण पुकार सुनी। भक्तकी बात रखनेके लिये भगवान्‌ने लीला की। चतुर्भुज भगवान्‌के सारे बाल सफेद हो गये! धन्य!

देवाजीने नहा-धोकर काँपते-काँपते अन्तर्गृहके किंवाड़ खोले, उनका हृदय भयके मारे धक्-धक् कर रहा था। किंवाड़ खोलते ही देखा—कल्याणमय कृपा-कल्पतरु श्रीविग्रहके समस्त केश शुभ्र हो गये हैं। देवाके हृदयकी विचित्र दशा है—यह स्वप्न है कि साक्षात्? करुणा-वरुणालयकी इस अतुलनीय कृपा और दीनवत्सलताको देखकर प्रेमविह्वल और आनन्दोन्मत्त देवाकी बाह्य चेतना जाती रही। वे बेसुध होकर जमीनपर गिर पड़े।

बहुत देरके बाद देवाकी समाधि टूटी। उनके दोनों नेत्रोंसे आनन्द और प्रेमके शीतल आँसुओंकी वर्षा हो रही थी। इसी समय महाराणा परीक्षाके लिये पधारे। देवाजीको विकलतासे रोते देखकर उन्होंने समझा कि 'रात्रिको मुझसे कह तो दिया, पर अब भयके मारे रो रहा है।' इतनेमें ही उनकी दृष्टि भगवान्‌के श्रीविग्रहकी ओर गयी, देखते ही राणा आश्चर्य-सागरमें डूब गये—श्यामसुन्दरके समस्त केश सफेद चाँदी-से चमक रहे हैं। महाराणाको विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने समझा—'पुजारीने अपनी बात रखनेके लिये कहींसे सफेद बाल लाकर चिपका दिये हैं।' राणाके मनमें परीक्षा करनेकी आयी और उन्होंने अपने हाथसे चट भगवान्‌के सिरका एक बाल बलपूर्वक उखाड़ लिया। राणाने देखा—बाल उखाड़ते समय श्रीविग्रहको मानो दर्द हुआ और उनकी नाकपर सिकुड़न आ गयी। इतना ही नहीं, बाल उखड़ते ही सिरसे रक्तकी बूँद निकली और वह राणाके अंगरखेपर आ पड़ी। राणा यह देखते ही मूर्छित होकर जमीनपर गिर पड़े।

पूरा एक पहर बीतनेपर महाराणाको चेत हुआ। उन्होंने देवाजीके चरण पकड़कर कहा—'प्रभो! मैं अत्यन्त मूढ़, अविश्वासी और नीचबुद्धि हूँ। मैंने बड़ा अपराध किया है। भक्त क्षमाशील होते हैं—ऐसा मैंने सुना है। आप मेरा अपराध क्षमा कीजिये—मेरी रक्षा कीजिये।' यों कहते-कहते महाराणा अपने आँसुओंसे देवाजीके चरण धोने लगे। देवाजीने महाराणाको उठाकर हृदयसे लगा लिया—गद्‌गद वाणीसे कहा—'यह सब मेरे प्रभुकी महिमा है। मैं अशिक्षित गँवार केवल पेटकी गुलामीमें लगा था। भगवान्‌की पूजाका तो नाम था। पर मेरे नाथ कितने दयालु हैं, जो मेरी मिथ्या पूजापर इतने प्रसन्न हो गये और मुझ नालायककी बात रखनेके लिये उन्होंने अपने नित्यकिशोर सुकुमार विग्रहपर श्वेत केशोंकी विचित्र रचना कर ली। मैं क्या क्षमा करूँ—मैं तो स्वयं अपराधी हूँ! राजन्! मैंने तो झूठ बोलकर आपका तथा भगवान्‌का भी अपराध किया था। पर वे ऐसे दीनवत्सल हैं कि अपराधीके अपराधपर ध्यान न देकर उसकी दीनतापर ही रीझ जाते हैं।' राणा तथा देवा दोनों ही भगवान्‌की कृपालुताका स्मरण करते हुए रो रहे थे!

इस घटनाके बाद ही यह आज्ञा हो गयी कि आगेसे राणावंशमें राजगद्दीपर बैठनेके बाद कोई भी मन्दिरमें नहीं आ सकेंगे। जबतक कुमार रहेंगे, तभीतक आ सकेंगे।

भक्त माधवदासजी

माधवदासजी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। गृहस्थ-आश्रममें आपने अच्छी धन-सम्पत्ति कमायी। आप बड़े ही विद्वान् तथा धार्मिक भक्त थे। जब आपकी धर्मपत्नी स्वर्गलोकको सिधारीं, तब आपके हृदयमें संसारसे सहसा वैराग्य हो गया। संसारको निस्सार समझकर आपने घर छोड़ जगन्नाथपुरीका रास्ता पकड़ा। वहाँ पहुँचकर आप समुद्रके किनारे एकान्त स्थानमें पड़े रहे और अपनेको भगवद्-ध्यानमें तल्लीन कर दिया। आप ऐसे ध्यानमग्न हुए कि आपको अन्न-जलकी भी सुध न रही। प्रेमकी यही दशा है। इस प्रकार जब बिना अन्न-जल आपको कई दिन बीत गये, तब दयालु जगन्नाथजीको आपका इस प्रकार भूखे रहना न सहा गया। तुरंत सुभद्राजीको आज्ञा दी कि आप स्वयं उत्तम-से-उत्तम भोग सुवर्ण-थालमें रखकर मेरे भक्त माधवके पास पहुँचा आओ। सुभद्राजी प्रभुकी आज्ञा पाकर सुवर्ण-थाल सजाकर माधवदासजीके पास पहुँचीं। आपने देखा कि माधव तो ध्यानमें ऐसा मग्न है कि उनके आनेका भी कुछ ध्यान नहीं करता। अपनी आँखें मूँदे प्रभुकी परम मनोहर मूर्तिका ध्यान कर रहा है, अतएव आप भी ध्यानमें विक्षेप करना उचित न समझ थाल रखकर चली आयीं। जब माधवदासजीका ध्यान समाप्त हुआ तब वे सुवर्णका थाल देख भगवत्कृपाका अनुभव करते हुए आनन्दाश्रु बहाने लगे। भोग लगाया, प्रसाद पा थालको एक ओर रख दिया; फिर ध्यानमग्न हो गये!

उधर जब भगवान्‌के पट खुले, तब पुजारियोंने सोनेका थाल न देख बड़ा शोर-गुल मचाया। पुरीभरमें तलाशी होने लगी। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते थाल माधवदासजीके पास पड़ा पाया गया। बस, फिर क्या था, माधवदासजीको चोर समझकर उनपर चाबुक पड़ने लगे। माधवदासजीने मुसकराते हुए सब चोटें सह लीं! रात्रिमें पुजारियोंको भयङ्कर स्वप्न दिखलायी दिया! भगवान्‌ने स्वप्नमें कहा—'मैंने माधवकी चोट अपने ऊपर ले ली, अब तुम्हारा सत्यानाश कर दूँगा; नहीं तो चरणोंपर पड़कर अपने अपराध क्षमा करवा लो।' बेचारे पण्डा दौड़ते हुए माधवदासजीके पास पहुँचे और उनके चरणोंपर जा गिरे। माधवदासजीने तुरंत क्षमा प्रदानकर उन्हें निर्भय किया। भक्तोंकी दयालुता स्वाभाविक है!

अब माधवदासजीके प्रेमकी दशा ऐसी हो गयी कि जब कभी आप भगवद्दर्शनके लिये मन्दिरमें जाते, तब प्रभुकी मूर्तिको ही एकटक देखते रह जाते। दर्शन समाप्त होनेपर आप तल्लीन-अवस्थामें वहीं खड़े-खड़े पुजारियोंके अदृश्य हो जाते।

एक बार माधवदासजीको अतिसारका रोग हो गया। आप समुद्रके किनारे दूर जा पड़े। वहाँ इतने दुर्बल हो गये कि उठ-बैठ नहीं सकते थे। ऐसी दशामें जगन्नाथजी स्वयं सेवक बनकर आपकी शुश्रूषा करने लगे। जब माधवदासजीको कुछ होश आया, तब उन्होंने तुरंत पहचान लिया कि हो-न-हो ये प्रभु ही हैं। यह समझ झट उनके चरण पकड़ लिये और विनीत भावसे कहने लगे—'नाथ! मुझ-जैसे अधमके लिये क्यों आपने इतना कष्ट उठाया? फिर प्रभो! आप तो सर्वशक्तिमान् हैं। अपनी शक्तिसे ही मेरे दु:ख क्यों न हर लिये, वृथा इतना परिश्रम क्यों किया?' भगवान् कहने लगे— 'माधव! मुझसे भक्तोंका कष्ट नहीं सहा जाता, उनकी सेवाके योग्य मैं अपने सिवा किसीको नहीं समझता। इसी कारण तुम्हारी सेवा मैंने स्वयं की। तुम जानते हो कि प्रारब्ध भोगनेसे ही नष्ट होता है—यह मेरा ही नियम है, इसे मैं क्यों तोड़ूँ? इसलिये केवल सेवा करके प्रारब्ध-भोग भक्तोंसे करवाता हूँ और '**योऽसौ विश्वम्भरो देवः स भक्तान् किमुपेक्षते**' इसकी सत्यता संसारको दिखलाता हूँ।' भगवान् यह कहकर अन्तर्धान हो गये। इधर माधवदासजीके भी सब दु:ख दूर हो गये।

इन घटनाओंसे लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। अब तो माधवदासजीकी महिमा चारों ओर फैलने लगी। लोग इनको बहुत घेरने लगे। भक्तोंके लिये सकामी संसारी जीवोंसे घिर जाना एक बड़ी आपत्ति है। आपको यह सूझा कि अब पागल बन जाना चाहिये। बस, आप पागल बन इधर-उधर हरि-ध्वनि करते घूमने लगे। एक

दिन आप एक स्त्रीके द्वारपर गये और भिक्षा माँगी। वह स्त्री उस समय चौका दे रही थी, उसने मारे क्रोधसे चौकेका पोतना माधवजीके मुँहपर फेंककर मारा। आप बड़े प्रसन्न होकर उस पोतनेको अपने डेरेपर ले गये। उसे धो-सुखाकर भगवान्‌के मन्दिरमें जा उसकी बत्ती बनाकर जलायी, जिसका यह फल हुआ कि उस पोतनेकी बत्तीसे ज्यों-ज्यों मन्दिरमें प्रकाश फैलने लगा, त्यों-त्यों उस स्त्रीके हृदय-मन्दिरमें भी ज्ञानका प्रकाश होना प्रारम्भ हुआ! यहाँतक कि अन्तमें वह स्त्री परम भक्तिमती हो गयी और रात-दिन भगवान्‌के ध्यानमें मस्त रहने लगी।

एक बार एक बड़े शास्त्री पण्डित शास्त्रार्थद्वारा दिग्विजय करते हुए माधवजीके पाण्डित्यकी चर्चा सुनकर शास्त्रार्थ करने जगन्नाथपुरी आये और माधवदासजीसे शास्त्रार्थ करनेका हठ करने लगे। भक्तोंको शास्त्रार्थ निरर्थक प्रतीत होता है। माधवदासजीने बहुत मना किया, पर पण्डित भला कैसे मानते। अन्तमें माधवदासजीने एक पत्रपर यह लिखकर हस्ताक्षर कर दिया, 'माधव हारा, पण्डितजी जीते'। पण्डितजी इस विजयपर फूले न समाये। तुरंत काशीको चल दिये। वहाँ पण्डितोंकी सभा करके वे अपनी विजयका वर्णन करने लगे और वह प्रमाणपत्र लोगोंको दिखाने लगे। पण्डितोंने देखा तो उसपर यह लिखा पाया, 'पण्डितजी हारे, माधव जीता।' अब तो पण्डितजी क्रोधके मारे आगबबूला हो गये। उलटे पैर जगन्नाथपुरी पहुँचे। वहाँ माधवदासजीको जी खोल गालियाँ सुनायीं और कहा कि 'शास्त्रार्थमें जो हारे, वही काला मुँह करके गदहेपर चढ़ नगरभरमें घूमे।' माधवदासजीने बहुत समझाया, पर वे क्यों मानने लगे। अवकाश पाकर भगवान् माधवदासजीका रूप बना पण्डितजीसे शास्त्रार्थ करने पहुँचे और भरी सभामें उन्हें खूब छकाया। अन्तमें उनकी शर्तके अनुसार उनका मुँह काला करके गदहेपर चढ़ा, सौ-दो-सौ बालकोंको ले धूल उड़ाते नगरमें सैर की। माधवदासजीने जब यह हाल सुना, तब भागे और भगवान्‌के चरण पकड़कर उनसे पण्डितजीके अपराधोंकी क्षमा चाही। भगवान् तुरंत अन्तर्धान हो गये। माधवदासजीने पण्डितजीको गदहेसे उतारकर क्षमा माँगी, उनका रोष दूर किया। धन्य है भक्तोंकी सहिष्णुता और दयालुता!

एक बार माधवदासजी व्रजयात्राको जा रहे थे। मार्गमें एक बाई आपको भोजन कराने ले गयी। बाईने बड़े प्रेमसे आपको भोजन करवाया। इधर आपके साथ श्यामसुन्दरजी बगलमें बैठ भोजन करने लगे। बाई भगवान्‌का सुकुमार रूप देखकर रोने लगी और माधवजीसे पूछा, 'भगवन्! किस कठोरहृदय माताने ऐसे सुन्दर बालकको आपके साथ कर दिया?' माधवदासजीने गर्दन फिराकर देखा तो श्यामसुन्दरजी भोजन कर रहे हैं। बस, आप सुध-बुध भूल गये और बाईजीकी प्रशंसा करके उनकी परिक्रमा करने लगे। उसके भक्तिभाव और सौभाग्यकी सराहना करके वहाँसे विदा हुए।

माधवदासजीके ऐसे अनेक चरित्र हैं, जो विस्तार-भयसे यहाँ वर्णन नहीं किये जाते।

भक्त लाखाजी और उनका आदर्श परिवार

भक्त लाखाजी जातिके गौड़ ब्राह्मण थे। राजपूतानेके एक छोटे-से गाँवमें उनका घर था। लाखाजी विशेष पढ़े तो नहीं थे, परंतु विष्णुसहस्रनाम और गीता उनको कण्ठस्थ थे और भगवान्‌में उनका अटूट विश्वास था। ये खेतीका काम करते थे। इनकी स्त्री खेमाबाई बड़ी साध्वी और पतिव्रता थी। घरका सारा काम तो करती ही, खेतीके काममें भी पतिकी पूरी सहायता करती थी; और पतिकी सेवा किये बिना तो उसका नित्यका व्रत ही पूरा नहीं होता था। वह नित्य प्रातःकाल स्नान करके पतिके दाहिने चरणके अँगूठेको धोकर पीती। लाखाजीको संकोच होता, वे मना भी करते; परंतु खेमाबाईके आग्रहके सामने उनकी कुछ भी न चलती। उनके दो सन्तान थीं—एक पुत्र, दूसरी कन्या। पुत्रका नाम था देवा और कन्याका गंगाबाई। पुत्रके विवाहकी तो जल्दी नहीं थी, परंतु धर्मभीरु ब्राह्मणको कन्याके विवाहकी बड़ी चिन्ता थी। चेष्टा करते-करते समीपके ही एक गाँवमें योग्य वर मिल गया। वरके पिता सन्तोषी ब्राह्मण थे। सम्बन्ध हो गया और समयपर लाखाजीने बड़े चावसे

अपनी कन्या गंगाबाईका विवाह करके उसे ससुराल भेज दिया। इस समय गंगाबाईकी उम्र बारह वर्षकी थी। देवा उम्रमें बड़ा था, परंतु उसका विवाह कन्याके विवाहके दो साल पीछे किया गया। बहू घरमें आयी। बहूका नाम था लिछमी। वह स्वभावमें साक्षात् लक्ष्मी ही थी। इस प्रकार लाखाजी सब तरहसे सुखी थे। लाखाजीका नियम था—रोज सबेरे गीताजीका एक पूरा पाठ करना और रातको सोनेसे पहले-पहले विष्णुसहस्रनामके पचास पाठ कर लेना। उनके मुखसे पाठ होता रहता और हाथोंसे काम! यह नियम, जब वे दस वर्षके थे, तभी पिताने दिलाया था, जो जीवनभर अखण्डरूपसे चला। इसी नियमनें उनको भगवद्विश्वासरूपी परम निधि प्रदान की।

सदा दिन एक-से नहीं रहते। न मालूम प्रारब्धके किस संयोगसे कैसे दिन बदल जाते हैं। लाखाजीके जामाताको साँप काट गया और विधिके विधानवश पचीस वर्षकी युवावस्थामें वह अपनी बाईस वर्षकी पत्नी और माता-पिताको छोड़कर चल बसा। जब लाखाजीको यह समाचार मिला, तब उन्होंने बड़े धीरजके साथ अपनी स्त्री खेमाबाई और पुत्र तथा पुत्रवधूको अपने पास बुलाकर कहा—'देखो, संसारकी दृष्टिसे हमलोगोंके लिये यह बड़े ही दुःखकी बात हुई है। दुःख इस बातका इतना नहीं है कि जवाँई मर गये! जीवन-मरण सब प्रारब्धाधीन हैं, इन्हें कोई टाल नहीं सकता। दुःख तो इस बातका है कि गंगाबाईका जीवन दुःखरूप हो गया। यदि हमलोग अपने व्यवहार-बर्तावसे गंगाबाईका दुःख मिटा सकें तो हमारा सारा दुःख दूर हो जाय। उसके दुःख दूर होनेका उपाय यह है कि उसको हम यहाँ ले आयें और हमलोग स्वयं विषयभोगोंका त्याग करके उसे श्रीभगवान्‌की सेवामें लगानेका प्रयत्न करें। भोगोंकी प्राप्तिसे दुःखोंका नाश नहीं होता, न भोगोंके नाशमें ही वस्तुतः दुःख है। दुःखके कारण तो हमारे मनके मनोरथ हैं। एक भी भोग न रहे, अति आवश्यक चीजोंका भी अभाव हो; परंतु मन यदि अभावका अनुभव न करके सदा सन्तुष्ट रहे, उसमें मनोरथ न उठें तो कोई भी दुःख नहीं रहेगा। इसी प्रकार भोगोंकी प्रचुर प्राप्ति होनेपर भी जबतक किसी वस्तुके अभावका अनुभव होता है और उसको प्राप्त करनेकी कामना रहती है, तबतक दुःख नहीं मिट सकते। यदि हमलोग चेष्टा करके गंगाबाईके मनसे उसके पतिके अभावको भुला दे सकें और उसकी सदा भावरूप परमपति भगवान्‌के चरणोंमें आसक्ति उत्पन्न कर दे सकें तो वह सुखी हो सकती है। यद्यपि यहाँके सारे सम्बन्ध इस शरीरको लेकर ही हैं, तथापि जबतक सम्बन्ध हैं तबतक हमलोगोंको परस्पर ऐसा बर्ताव करना चाहिये, जिससे हमारे मन भोगोंसे हटकर भगवान्‌में लगें और हमें परम कल्याणरूप श्रीभगवान्‌की प्राप्ति हो। हित करनेवाले सच्चे माता-पिता, पुत्र-भाई, स्त्री-स्वामी वही हैं, जो अपनी सन्तानको, माता-पिताको, भाई-बहिनोंको, स्वामीको और पत्नीको अनन्त क्लेशरूप जगज्जालसे छुड़ाकर अचिन्त्य आनन्दस्वरूप भगवान्‌के पथपर चढ़ा देते हैं। हमलोगोंको भी यही चाहिये कि हम शोक छोड़कर नित्य शोकरूप संसारसागरसे गंगाबाईको पार लगानेका प्रयत्न करें।'

लाखाजीकी स्त्री, उनके पुत्र देवा तथा पुत्रवधू सभीका लाखाजीके वचनोंपर पूरा विश्वास था। वे सब प्रकारसे उनके अनुगत थे। अतः लाखाजीके इन वचनोंका उनपर बड़ा प्रभाव पड़ा और उन्होंने कहा—'आप गंगाबाईको यहाँ ले आइये, हमलोग आपके आज्ञानुसार भोगोंका त्याग करके उसे भगवान्‌के मार्गपर ही लगायेंगे। इससे हमारा-उसका—सभीका परम कल्याण होगा।'

लाखाजी समधीके घर गये और वहाँका दृश्य देखकर चकित रह गये। उन्होंने देखा—गंगाबाई अपने सास-ससुरको संसारकी क्षणभङ्गुरता और मिथ्या सम्बन्धका रहस्य समझाकर उन्हें सान्त्वना दे रही है और वे उसकी बात मानकर रोना छोड़कर भगवान्‌के नामका कीर्तन कर रहे हैं। अपनी पुत्रीकी यह स्थिति देखकर लाखाजीको दुःखमें सुख हो गया! उन्हें मानो जहरसे अमृत मिल गया। वे समधीसे मिले, उन्हें देखकर शोक-सागर उमड़ा; परंतु गंगाबाईके उपदेशोंकी स्मृति आते ही तुरंत शान्त हो गया। समधीने लाखाजीसे कहा—'लाखाजी! आप धन्य हैं जो आपके घर ऐसी साध्वी कन्या उत्पन्न हुई। आप जानते हैं—युवा पुत्रकी मृत्युका शोक कितना

भयानक होता है, स्त्रीके लिये तो पतिका वियोग सर्वथा असह्य है; परंतु धन्य है आपकी पुत्रीको—जिसने विवेकके द्वारा स्वयं तो पतिवियोगका दु:ख सह ही लिया, हमलोगोंको भी ऐसा उपदेश दिया कि हमारा दारुण पुत्र-शोक दूर हो गया! हम समझ गये—जगत्के ये सारे सम्बन्ध आरोपित हैं। जैसे किसी खेलमें अलग-अलग स्वाँग धरकर लोग आते हैं और अपना-अपना खेल पूरा करके चले जाते हैं, वैसे ही इस संसाररूपी खेलमें हमलोग आते हैं, सम्बन्ध जोड़ते हैं और खेल पूरा होते ही चले जाते हैं। यहाँ कोई किसीका पुत्र या पिता नहीं है। एकमात्र परमात्मा ही सबके परम पिता हैं। हम सबको उन्हींकी आराधना करनी चाहिये। आप आ गये हैं—अपनी इस साध्वी कन्याको अपने घर ले जाइये। हम दोनों स्त्री-पुरुष पुष्करराज जाकर भगवद्भजनमें ही शेष जीवन बिताना चाहते हैं। आपकी पुत्री हमारे साथ जानेका आग्रह करती है, परंतु हमारे मनमें भगवान् ऐसी ही प्रेरणा करते हैं कि वह आपके ही पास रहे। हाँ, इतना हम जरूर चाहते हैं यह अपनी सद्भावनासे हमारा सदा कल्याण करती रहे। आप जाइये, हमलोग आपके बड़े ही कृतज्ञ हैं; क्योंकि आपकी पुत्रीने ही हमारी आँखें खोली है और हमें वैराग्य-विवेकका परम धन देकर भगवान्की अव्यभिचारिणी भक्ति प्रदान की है।'

लाखाजी समधीके वचन सुनकर अचरजमें डूब गये। उन्हें अपना विवेक-वैराग्य इनके सामने फीका जान पड़ने लगा। वे जामाताकी मृत्युके शोकको भूल गये और अपनी पुत्री तथा समधी-समधिनको जैसी स्थिति प्राप्त कराना चाहते थे, उससे भी कहीं अधिक उनकी ऊँची स्थिति देखकर उन्हें बड़ा आनन्द हुआ। उन्होंने समधी-समधिनको हर्षके साथ पुष्करराज भेज दिया। उनके निर्वाहके लिये घरमें जो कुछ था, सब बेचकर नकद रुपये उन्हें दे दिये और गंगाबाईको साथ लेकर घरकी ओर प्रस्थान किया।

गंगाबाईको प्रसन्नचित्त देखकर लाखाजीने पूछा—'बेटी! तेरी ऐसी अनोखी हालत देखकर मैं अचरजमें डूब रहा हूँ। मैं तरह-तरहके विचार करता आया था कि तुझे कैसे समझाकर धीरज बँधाऊँगा, परंतु तेरी स्थिति देखकर तो मैं चकित हो गया। बता, बेटी! तुझे ऐसा ज्ञान कहाँसे और कैसे प्राप्त हुआ?' गंगाबाईने कहा—पिताजी! यह सारा आपकी भक्ति तथा भजनका प्रताप है! आप जो रोज पूरी गीता और विष्णुसहस्रनामके पचास पाठ करते हैं, उन्हींके प्रतापसे भगवान्ने मुझको विश्वास प्रदान किया और अपनी कृपाके दर्शन कराये। आपकी कृपासे भैया और मैं—हम दोनोंने विष्णुसहस्रनाम कण्ठस्थ कर लिया था। यहाँ आकर मैं जहाँतक मुझसे बनता, निरन्तर मन-ही-मन विष्णुसहस्रनामके पाठ किया करती। आपके जामाताकी मृत्युके तीन दिन पहले भगवान्ने मुझको स्वप्नमें दर्शन देकर कहा—'बेटी! तेरे पतिकी आयु पूरी हो चुकी है, वह मेरा भक्त है। तेरे साथ कोई पूर्वसम्बन्धका संयोग शेष था, इसीसे उसने जन्म लिया था। अब इसे तीन दिन बाद साँप डँसेगा—उस समय तू इसे मेरा सहस्रनाम और गीता सुनाती रहना। ऐसा करनेसे इसका कल्याण हो जायगा और यह मेरे धामको प्राप्त होगा। मैं तुझे वरदान देता हूँ—तुझे शोक नहीं होगा। तुझे सच्चा वैराग्य और ज्ञान प्राप्त होगा। तेरे उपदेशसे तेरे सास-ससुर भी कल्याणपथके पथिक होकर अन्तमें मुझको प्राप्त करेंगे। और तू जीवनभर मेरी भक्ति करती हुई अपने पिता-माता तथा भाई-भौजाईके सहित मेरे परम धामको प्राप्त होगी।'

''पिताजी! इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। मैं जाग पड़ी। मानो उसी समयसे मुझे ज्ञानका परम प्रकाश मिल गया। मैं सारे शोक-मोहसे छूटकर पतिके कल्याणमें लग गयी। मैंने व्रत धारण किया और रातों जागकर पतिदेवताको गीता और सहस्रनाम सुनाती रही। तीसरे दिन पतिदेव स्नान करके तुलसीजीको जल दे रहे थे। मैं उनके पास खड़ी सहस्रनामका पाठ कर रही थी, वे भी श्रीभगवान्का नाम ले रहे थे। इसी समय अचानक एक कालसर्पने आकर उनके पैरको डस लिया और देखते-ही-देखते ब्रह्माण्ड फटकर उनके प्राणपखेरू उड़ गये। अन्तिम श्वासमें मैंने सुना—उनके मुखसे 'हे नारायण' नाम निकला और उनके कानमें विष्णुसहस्रनामके '**माधवो भक्तवत्सलः**' नामोंने प्रवेश किया। उनकी आँखें खुल गयीं—मैंने देखा श्रीभगवान् चतुर्भुजरूपमें उनकी आँखोंके सामने विराजित हैं। इतनेमें ही जोरकी ध्वनि हुई और

उनका कपाल फट गया। पिताजी! पतिदेवकी इस मृत्युने मेरे मनमें भगवद्विश्वासका समुद्र लहरा दिया, अब मैं तो उसीमें डूब रही हूँ। आप मेरी सहायता कीजिये, जिससे मैं सदा इसीमें डूबी रहूँ। आपलोग मेरा साथ तो देंगे ही।''

लाखाजी पुण्यमयी गंगाकी पुण्यपूर्ण वाणी सुनकर गद्गद हो गये, उनकी आँखोंसे आनन्दके आँसू बह चले।

पिता-पुत्री घर आये, माता और भाई-भौजाईसे मिलकर गंगाबाईने उलटी उन्हें सान्त्वना दी। लाखाजी और खेमाबाई तो उसी दिनसे विरक्त-से होकर समस्त दिन-रात भगवद्भजनमें बिताने लगे। घरकी सारी सम्हाल गंगाबाई करने लगी। भाई-भौजाई प्रत्येक काम उसकी आज्ञा लेकर करते। वह घरकी मालकिन थी और थी भाई-भौजाईको परमार्थपथमें राह दिखाकर—विघ्नोंसे बचाकर ले जानेवाली चतुर पथप्रदर्शिका। भाई देवाजी और भाभी लिछमी—दोनों गंगाबाईकी आज्ञाके अनुसार पिता-माताकी सेवा करते, गंगाबाईकी सेवा करते और सब समय भगवान्का स्मरण करते हुए भगवत्सेवाके भावसे ही घरका सारा काम करते। उन्होंने भोगोंका त्याग कर दिया था और वे पूर्णरूपसे सादा-सीधा संयमपूर्ण जीवन बिताते थे। उनका घर संतोंका पावन आश्रम बन गया था। दैवी सम्पदाके गुण सबमें स्वभावसिद्ध हो गये थे। घरमें दोनों समय भगवान् बालकृष्णकी पूजा होती थी और उन्हें भोग लगाकर सब लोग प्रसाद पाते थे। इस प्रकार सबका जीवन पवित्र हो गया। लगभग पचीस वर्ष बाद लाखाजी और खेमाबाईने एक ही दिन श्रीभगवान्का नाम जपते हुए भगवान्की मूर्तिके सामने ही शरीर त्याग दिये। देवाजीने उनका शास्त्रोक्त रीतिसे अन्त्येष्टि-संस्कार तथा श्राद्ध किया। पुत्र, पुत्रवधू और कन्याने उनके लिये तीन हजार विष्णुसहस्रनामके पाठ किये।

माता-पिताकी मृत्युके बाद बहिन, भाई, भौजाई—तीनों भगवान्के भजनमें लग गये। भाई-भौजाईके विशेष अनुरोध करनेपर एक दिन गंगाबाईने भगवान्से प्रकट होकर दर्शन देनेकी प्रार्थना की । भगवान्ने प्रार्थना सुनी और प्रत्यक्ष प्रकट होकर तीनों भक्तोंको अपने दिव्य रूपके दर्शन कराये। वे तीनों भगवान्के प्रत्यक्ष दर्शन पाकर कृतार्थ हो गये और भगवत्सेवामें ही अपना शेष जीवन लगाकर अन्तमें भगवान्के परमधामको चले गये।

भक्त गोविन्ददास

संसारकी कोई वस्तु मनुष्यके साथ नहीं जाती। सब कुछ यहीं रह जाता है। यहाँ भी जो कुछ है, वह अपना नहीं है। वह भी भगवान्का ही दिया है। इस मनुष्य-जीवनको पाकर जो उन दयामय भगवान्में नहीं नियोजित करता, उसके जीवनको धिक्कार है। मनुष्य अज्ञानवश विषय-भोगोंकी इच्छा करता है। विषय तो दुःखरूप ही हैं। जो विषय-सेवन करना चाहता है, वह इस लोकमें भी दुःख ही भोगता है; विषय तो उसे रोगी बना देते हैं। वह विषयोंको भी भोग नहीं पाता और परलोकमें तो उसे अपने पापोंका दण्ड नरकमें भोगना ही पड़ता है। संसारका मोह भी व्यर्थ है। यहाँ कोई किसीका है नहीं। जबतक स्वार्थ रहता है, सभी घेरे रहते हैं और जब स्वार्थ नहीं रह जाता, कोई बाततक नहीं पूछता। स्त्री-पुत्रतक उसका तिरस्कार करने लगते हैं। जीवनभर नाना प्रकारके कष्टसे जो धन इकट्ठा किया जाता है, उसे भी परिवारवाले दबा बैठते हैं। अपने सामने ही मनके प्रतिकूल कार्योंमें उस धनको लगते देख दूना दुःख होता है। इस दुःखमय संसारमें कहीं भी तो सुख नहीं है। एकमात्र भगवान् ही जीवके अपने हैं। वे दयासागर पुकारते ही अपना लेते हैं। अधम पापी भी उनकी शरण सच्चे भावसे जाय तो वे उसे पवित्र कर देते हैं। उनके भजनमें ही सच्चा सुख है। मनुष्य-जन्मकी सफलता ही भगवान्का भजन करनेमें है। इस प्रकारके वैराग्य-विवेकके विचार एक राज्यके दीवानके मनमें आ रहे थे। उनका नाम था गोविन्ददास। महल-जैसा भवन था; बाग-बगीचे, नौकर-चाकर, धन-रत्नसे भरा घर था। पतिव्रता स्त्री थी, एक पुत्री थी और दो पुत्र थे घरमें। परंतु गोविन्ददासका मन इन सबमें तनिक भी आसक्त

नहीं था। उन्हें संसारके विषयोंसे विरक्ति हो गयी थी। इन्द्रियोंका महान् संयम हो, भगवान्पर दृढ़ विश्वास हो, तभी वैराग्य टिकता है। गोविन्ददासजीका इन्द्रियसंयम दृढ़ था, भगवान्पर उनको पूरा विश्वास था; अत: उनका वैराग्य सच्चा था। उन्होंने घर छोड़ दिया और तीर्थयात्रा करने लगे। त्यागे हुए भोगोंकी ओर फिर कभी आँख उठाकर भी उन्होंने नहीं देखा।

उस समयकी तीर्थयात्रा आजकी भाँति सैर-सपाटा नहीं थी। तीर्थ तब सब प्रकारके अच्छे-बुरे कर्मोंके क्षेत्र नहीं थे और न वहाँ मनोविनोदके लिये जाया जा सकता था। घने वनों, दुर्गम पर्वतोंमेंसे अनेकों कष्ट सहते, प्राणोंका मोह छोड़कर श्रद्धालु जन तीर्थयात्रा करते थे। गोविन्ददासजीकी तीर्थयात्राका क्या वर्णन हो। मान-अपमान, सुख-दु:ख, सर्दी-गरमी—सब उनके लिये एक-से हैं। मुखसे बराबर 'हरि-हरि' की ध्वनि निकलती है। मनमें अहंकारका नाम नहीं। बिना माँगे जो रूखा-सूखा कन्द-मूल, साग-पात मिल जाय, उसे भगवान्को निवेदन करके खा लेते हैं। न मिले तो सन्तोषपूर्वक रह जाते हैं। कुँआ, तालाब, नदी, झरना मिल जाय तो जल पी लेते हैं। न मिले तो प्यासे रह जाते हैं। भूख-प्यासके लिये मनमें कभी शोक नहीं होता। जाड़ा, गर्मी, वर्षा—सब एक-से। पासमें कोई सामान नहीं और न सामान बटोरना चाहते हैं। अनेक बार गाँवके लोग पागल समझकर गाँवसे बाहर निकाल देते हैं, अनेक बार लोग झिड़कियाँ या गालियाँ देते है। ऊधमी लड़के मार भी देते हैं। इनके मनमें क्षोभ या दु:खका लेश नहीं। प्रभुकी लीला देखते, सबमें प्रभुका दर्शन करते अपनी मस्तीमें चले जाते हैं।

गया, गोमती, काशी, प्रयाग, मथुरा, वृन्दावन, अयोध्या, कुरुक्षेत्र, हरिद्वार, बदरिकाश्रम, द्वारका, प्रभास, श्रीरंगम्, सेतुबन्ध रामेश्वर आदि तीर्थोंका दर्शन करते हुए अन्तमें लक्ष्मण-बालाजीका दर्शन करनेके लिये गोविन्ददासजी लक्ष्मण-क्षेत्रके पास आये। घोर वन था, वर्षा हो रही थी, कीचड़ और पानीसे पगदण्डी भी दुर्गम हो गयी थी। जाड़ेकी ऋतु थी। बहुत ही अधिक सर्दी पड़ रही थी। गोविन्ददासजीका वृद्ध शरीर, कई दिनोंसे भोजन मिला नहीं था, देहमें शक्ति नहीं थी और ऊपरसे भीग गये। सर्दीके मारे दाँत बजने लगे, शरीर थर-थर काँपने लगा, शक्ति जाती रही, लड़खड़ाकर गिर पड़े। बहुत चेष्टा की, पर उठ नहीं सके।

गोविन्ददासजीको अब भी अपने कष्टकी चिन्ता नहीं थी। मृत्युका उन्हें भय नहीं था। वे मन-ही-मन प्रार्थना कर रहे थे। गोविन्ददासकी पुकार पहाड़ीके उच्च शिखरपर विशाल मन्दिरमें विराजमान बालाजीतक न पहुँचे, यह कैसे सम्भव था। क्या हुआ जो वाणी असमर्थ होनेसे पुकार मनमें ही रह गयी। भगवान् तो किसीकी कोई भाषा समझते नहीं, उन्हें तो एक ही भाषा आती है और उसीको वे समझते हैं। वह है हृदयकी भाषा। उस भाषाका प्रत्येक अक्षर उनतक पहुँच जाता है और वे करुणासागर उसे सुनकर स्वीकार करते ही हैं। लक्ष्मणजी स्वयं एक भीलका रूप धारण किये, हाथमें जलती मशाल लिये गोविन्ददासके पास आये। वर्षा बंद हो गयी थी। उन्होंने ब्राह्मणके पास मशाल ले जाकर कहा—'आपको बहुत जाड़ा लग रहा है। आप मशालसे तापकर स्वस्थ होइये।'

प्रेमभरे वे शब्द कानोंमें गये तो जैसे प्राणोंमें अमृत बरस गया। कुछ देर मशालकी उष्णता शरीरमें जानेपर तो बोलनेकी शक्ति आयी। गोविन्ददासने अपनेको उठाकर बैठा देनेको कहा। भीलने मशाल एक ओर रखकर उन्हें उठाकर बैठा दिया। अब उस अद्भुत स्पर्शसे शरीरकी थकावट मिट गयी। गोविन्ददास कहने लगे—'मैं बूढ़ा हो गया, मरनेमें भला मुझे अब क्या दु:ख; किंतु मैं श्रीलक्ष्मणजीका दर्शन करना चाहता हूँ। तुमने आज मेरे प्राण बचाये। तुम मेरे धर्मपिता हो। मैं किस प्रकार कृतज्ञता प्रकट करूँ।'

गोविन्ददास पूछते ही रह गये कि भीलका नाम क्या है, कहाँ रहता है वह, इस घोर वनमें वर्षाके समय मशाल लेकर इतनी दया करने कैसे यहाँ आ गया। परंतु भील तो जैसे अब उनकी भाषा समझता ही न हो। मशाल वहीं छोड़कर वह मुसकराता हुआ जंगलमें चला गया। गोविन्ददासने उसे भगवान्की कृपासे ही आया समझा।

अब गोविन्ददासको भूख-प्यासका पता लगा। कुछ पेटमें पहुँचे तो कदाचित् वे उठकर चल सकें। उन्हें

बालाजीतक जाना है, श्रीलक्ष्मणजीके दर्शन करने हैं; किन्तु शरीरमें अब भी उठनेकी शक्ति नहीं। इस घोर वनमें भला, भोजन कहाँसे मिलेगा। अतएव मनको इधरसे हटाकर वे भगवन्नामका जप करने लगे। इतनेमें उन्होंने सुना—कोई कह रहा है—'मैं आपके लिये भोजन लाया हूँ। आप भूखे जान पड़ते हैं, भोजन कर लें। भला, दीनानाथ विश्वम्भरका भक्त भूखा कैसे रहता। गोविन्ददासने देखा कि एक ब्राह्मण सामने खड़े हैं। उन्होंने गरमागरम खिचड़ी, शाक और दहीका थाल तथा पात्रमें जल इनके सामने रख दिया है।

गोविन्ददासकी अद्‌भुत दशा हो गयी ब्राह्मणके दर्शन करके। वे जैसे अपने-आपको सर्वथा भूल गये। अब भोजन करते हैं तो कुछ मुखमें जाता है, कुछ भूमिपर गिरता है। किसी प्रकार भोजन समाप्त हुआ। एकटक मूक-भावसे वे ब्राह्मणकी ओर देखते रह गये। होश आया थोड़ी देरमें। वे बोले—'प्रभो! इस भयङ्कर वनमें मेरे-जैसे अधम प्राणीको इस प्रकार भोजन पहुँचानेवाला आप दयाधामको छोड़कर और कौन हो सकता है। कौन इस प्रकार दीनोंकी सुधि लेनेवाला है। मेरे स्वामी! मैंने आपकी कृपासे आपको पहचान लिया। जब आपने इस साधन-भजनहीन पतितपर इतनी कृपा की, तब अपने वास्तविक रूपका दर्शन देकर इसे कृतार्थ भी कीजिये।'

भक्तकी कातर प्रार्थना सुनकर श्रीलक्ष्मणजी उस ब्राह्मण-रूपको छोड़कर अपने वास्तविक स्वरूपमें प्रकट हो गये। नीलाम्बर धारण किये उनके ज्योतिर्मय स्वर्णगौर श्रीअङ्गकी वह शोभा—कन्धोंपर धनुष और बायें हाथमें बाण लिये, दाहिने हाथसे भक्तको अभय देते हुए उनकी वह मनोहर सौन्दर्यघन झाँकी! गोविन्ददास तो विह्वल होकर श्रीचरणोंपर गिर पड़े।

सम्पूर्ण वन दिव्य ज्योतिसे परिपूर्ण हो उठा। पशु-पक्षी, कीट-पतंगतक हर्षनाद करने लगे। आराध्यके चरणोंपर गिरा भक्त आराध्यमें मिल गया। मिट्टीकी देह तो मिट्टीमें मिल ही जायगी, पर गोविन्ददास तो भगवान्‌के परमधाममें पहुँच गये।

श्रीगोविन्द प्रभु

विक्रमी संवत् १२४५ के लगभग विदर्भ (वर्तमान बरार) प्रदेशमें ऋद्धिपुर स्थानके समीप काठसुरे ग्राममें श्रीगोविन्द प्रभु उर्फ गुण्डम प्रभु या गुण्डोबाका जन्म हुआ था। ये काण्वशाखीय ब्राह्मण थे। बचपनमें इनके माता-पिता परलोकवासी हुए, तब इनकी मौसी इन्हें ऋद्धिपुर ले आयीं और यहीं इनका पालन-पोषण, उपनयन तथा विद्याध्ययन हुआ। इसी अवस्थामें इन्हें परमार्थसुखका चसका लगा और क्रमशः उस सुखानुभवकी वृद्धि होती गयी और ये सिद्ध-कोटिको प्राप्त हुए। ये भगवान् श्रीकृष्णके परम भक्त थे। पण्ढरपुरके वारकरी भागवतपन्थके साथ-साथ या उससे कुछ पहले ही विदर्भ देशमें जो महानुभावपन्थ उदय हुआ था, उसके ये ही आद्य पुरुष थे। संवत् १३४२ में ये समाधिस्थ हुए।

पयहारी श्रीकृष्णदासजी

जयपुरमें गळता नामका एक प्रसिद्ध स्थान है, जो गालव-ऋषिका आश्रम माना जाता है। वहाँके स्वामी कृष्णदासजी प्रसिद्ध संत हो गये हैं। आपने आजन्म पय-(दूध) का ही आहार किया, जिससे आप पयहारीबाबाके नामसे विख्यात हैं। आपकी जाति दाहिमा (दाधीच) ब्राह्मण थी। आप बालब्रह्मचारी थे। भगवद्‌भजनमें लवलीन रहना, यही आपका रात-दिनका काम था।

पयहारीजीने गळता तथा आमेरके कनफटे वैष्णवद्रोही योगियोंको अपनी सिद्धताके बलसे उस मठसे निकाल दिया था। रातभर रहनेके लिये उस जगह आप गये थे, परंतु उन विमुख योगियोंने कहा—'यहाँसे उठ जाओ।' तब आपने अपनी धूनीकी आग कपड़ेमें बाँध ली और दूसरी ठौर जा बैठे, वहीं आग कपड़ेमेंसे रख दी। कपड़ेका न जलना देखकर योगियोंका महन्त बाघ बनकर आपपर लपका। आपने कहा, 'तू कैसा गधा है।' तुरंत वह गधा हो गया और फिर अपने बलसे मनुष्य न बन सका। आमेरके राजा पृथ्वीराजने आपकी सेवामें जाकर जब बड़ी प्रार्थना की, तब आपने गधेको फिर आदमी बनाकर

आज्ञा दी कि 'इस जगहको तुम सब छोड़कर अलग रहो और इस धूनीमें लकड़ियाँ पहुँचाया करो।' उन सबोंने स्वीकार किया और राजा पृथ्वीराज भी श्रीपयहारीजीका चेला हो गया; तभीसे गळता आपकी प्रसिद्ध गादी हुई।

वनमें गौएँ श्रीपयहारीजीको आप-से-आप दूध देती थीं। आपने आमेरकी एक गणिकाको भी उपदेश दिया था, जिसने परम गति पायी।

कहते हैं कि एक समय राजा पृथ्वीराजजीने पयहारीजीसे श्रीद्वारकाधीशके दर्शन करनेके लिये द्वारका चलनेकी प्रार्थना की। तब आपने राजाकी भक्ति देख अपनी योग-सिद्धिसे आधी रातके समय राजमहलमें प्रकट हो राजाको श्रीद्वारकाधीशके दर्शन वहीं करा दिये। फिर राजाने द्वारका चलनेको कभी नहीं कहा ।

कृष्णदास कलि जीति, न्यौति नाहर पल दीयो।
अतिथिधर्म प्रतिपालि, प्रकट जस जग में लीयो॥
उदासीनता अवधि, कनक कामिनि नहिं रातो।
राम चरन मकरंद रहत निसि दिन मद-मातो॥
गलतें गलित अमित गुन, सदाचार, सुठि नीति।
दधीचि पाछें दूसरि करी कृष्णदास कलि जीति॥

जैसे दधीचि ऋषिजीने देवताओंके माँगनेसे अपना शरीर दे दिया, ऐसे ही दधीचि-गोत्रमें उत्पन्न स्वामी श्रीकृष्णदास पयहारीजीने कलिकालको जीतकर दधीचिकी नाईं दूसरी बात की । एक समय आपकी गुफाके सामने बाघ आया तो आपने उसको अतिथि जान, नेवता देकर आतिथ्यधर्म-प्रतिपालनपूर्वक अपना पल (मांस) काटकर दिया। इस प्रकारके प्रसिद्ध यशको आप जगमें प्राप्त हुए। उदासीनता (वैराग्य)-की तो आप मर्यादा ही थे। इस संसारसागरमें जो कनक-कामिनीरूप दो भँवर सबको डुबा देनेवाले हैं, उन दोनोंके रंगसे आप नहीं रँगे। केवल श्रीरामचरण-कमलके अनुरागरूपी मकरन्दसे भ्रमरके सदृश मदमत्त—आनन्दित रहते थे। संतोंके अमित दिव्य गुणोंसे गलित अर्थात् परिपक्व, सदाचार एवं सुन्दर नीतियुक्त, 'गलते' गादीमें आप विराजमान हुए।

महात्मा श्रीअग्रदासजी

आप श्रीकृष्णदासजी पयहारीजी महाराजके शिष्य थे, जिन्होंने जयपुरमें गळता नामक प्रसिद्ध स्थानपर पधारकर तत्कालीन जयपुर-नरेशको वैष्णव बनाया और वहींपर पहाड़में धूनी स्थापित की, जो अभीतक चालू है। श्रीपयहारीजी महाराजके बड़े शिष्य श्रीकीलदासजी तो गळतामें विराजे थे और इन दूसरे श्रीअग्रदासजी महाराजने जयपुरके पास करीब तीस मील दूर स्टेशन गोरयाँके निकट रैवासा नामक स्थान स्थापित किया और ये वहीं विराजे। रैवासाकी गद्दी प्रसिद्ध है। श्रीअग्रस्वामीजीका जन्मोत्सव जयपुरमें फाल्गुन शुक्ला २ को बड़े धूमधामसे मनाया जाता है।

आपके विषयमें यह पद प्रचलित है—

बंदौ पद कमल अमल अग्रस्वामीजू के
आचारज रसिक सिरोमनि महान हैं।
रस बोध विपुल आनंदघन सील, दया,
छमा तोष धन जन मानद अमान हैं॥
मेटि रुक्ष ज्ञान महामाधुर्य प्रधान जिन्ह
कीन्हों अग्रसागर सो विदित जहान हैं।
लीनों मथि सार ध्यान मंजरी श्रृंगार सब
भेदी अनभेदी पढ़ै जानत सज्ञान हैं॥

आपकी स्वरचित ७२ कुण्डलियोंमेंसे एक यह है—

सदा न फूलै तोरई, सदा न साँवन होय।
सदा न साँवन होय, संत जन सदा न आवैं।
सदा न रहै सुबुद्धि, सदा गोबिंद जस गावैं॥
सदा न पच्छी केलि करैं इह तरुवर ऊपर।
सदा न स्याही रहै सफेदी आवे भू पर॥
अग्र कहै हरि मिलन कौं तन मन डारौ खोय।
सदा न फूले तोरई, सदा न साँवन होय॥

परमभागवत नाभादासजी

चार सौ साल पहलेकी बात है। परम पवित्र तैलंगदेशमें गोदावरीके तटपर रामभद्राचलकी तलहटीमें अकालका भीषण प्रकोप प्रारम्भ हुआ। जनता दाने-दानेके लिये भूखसे तड़पने लगी, हरे-भरे खेत सूख गये, वृक्ष और लताओंकी हरियाली समाप्त हो गयी। सर और सरिताओं तथा बावलियोंके जलहीन कंकाल मनमें भीषण भय पैदा कर देते थे। भगवती गोदावरीके समीप एक वनप्रान्तमें परम वैष्णव महात्मा अग्रदास और कीलहदास एक वृक्षकी शीतल छायामें बैठकर विश्राम कर रहे थे। वे कहीं बहुत दूर यात्रामें गये-से दीख पड़ते थे। दोनों महात्मा रामनामोच्चारणकी मीठी ध्वनिसे सारे वनको प्राणान्वित कर रहे थे। ठीक दोपहरका समय था। परम प्रचण्ड मार्तण्ड गगनमञ्चपर ताण्डव कर रहे थे। वनके सारे जीव-जन्तु प्यासकी आगसे जल रहे थे। थोड़ी ही दूरपर किसी शिशुके रोनेकी आवाज सुन पड़ी। दोनों महात्मा चौंक उठे। वे आगे बढ़े। उनके आश्चर्यका ठिकाना न रहा।

उन्होंने देखा—एक घने वृक्षकी शीतल छायामें एक पाँच सालका शिशु रो रहा था। ऐसा लगता था कि उसके माता-पिता अकालपीड़ित होकर तथा पेटकी ज्वालासे त्रस्त होकर उसे वहीं छोड़ गये हैं। महात्मा अग्रदासका हृदय दयासे द्रवित हो उठा, नवनीतके समान कोमल जो था वह। उन्होंने शिशुको अपनी गोदमें बैठा लिया। कीलहदासने तुरंत ही पानी लाकर उसके मुखपर छिड़का। शिशु नेत्रहीन था; विचित्रता तो यह थी कि नेत्रके निशानतक न थे। शिशुने थोड़े समयके बाद चेतनालाभ किया, उसके मुख-मण्डलपर अपार शान्तिकी ज्योति थी, वह जन्मजात सिद्ध-सा लगता था।

महात्माओंके संस्पर्शसे उसकी आँखे खुल गयीं। अग्रदासने परिचय पूछा। शिशुने कहा, 'मैं पाँच तत्त्वकी देहका परिचय दूँ या आत्माका ।'

दोनों महात्माओंने ऐसे चमत्कारी शिशुको पाकर अपने सौभाग्यकी सराहना की। नारायणदास नाम रखा तथा उसे जयपुरान्तर्गत गलता ले आये, वहाँ उनकी गद्दी थी। नारायणदासने अग्रदासजीसे दीक्षा ली।

नारायणदास ही नाभादास थे। भजन-पूजन और भगवान्‌के स्मरण और चिन्तनमें उनके दिन बीतने लगे। उन्होंने भक्तिकी जो विजयिनी पताका भक्तमाल-रचनाके रूपमें फहरायी है, वह आसेतु-हिमाचलतककी मानवताको अनन्तकालतक भगवान्‌की महिमा और भक्तिके चरणोंपर नतकर जीवको जगत्‌के माया-मोह-बन्धनसे मुक्त करती रहेगी। वास्तवमें भक्तमालकी रचनाके अधिकारी वे ही थे। नाभादासने भक्त-चरितामृत प्रवाहितकर जो नाम पाया, वह अन्य देशके इतिहासमें किसी भी व्यक्तिके लिये सुलभ हो सका होगा—इसमें संदेह ही है।

धीरे-धीरे परम भक्त नाभादासकी गुरुनिष्ठा बढ़ती गयी। वे गुरुकी सेवाको बड़ा महत्त्व देते थे। एक बार उनके गुरुदेव महात्मा अग्रदास मानसपूजामें थे। उन्होंने देखा कि समुद्रकी लहरें अचानक आन्दोलित हो उठी हैं। एक शिष्यका मालसे लदा हुआ जहाज डूबना ही चाहता है। शिष्यने गुरुकृपाकी शरण ली है। अग्रदास उसकी विह्वलतासे क्षुब्ध हो उठे, नाभादासने अन्तरात्माकी अनुप्रेरणासे जान लिया कि गुरुदेवका चित्त चञ्चल हो उठा है। उन्होंने राघवेन्द्रसे मन-ही-मन प्रार्थना की कि व्यापारीका जहाज न डूबे और अर्न्तदृष्टिसे उन्हें पता चल गया कि जहाज डूबनेसे बच गया है, तूफान समाप्त हो चला है, समुद्र शान्त है, व्यापारी आश्वस्त है। उन्होंने सारी बातें गुरुके चरणोंमें मस्तक नतकर निवेदन कर दीं और उनसे प्रार्थना की कि मानसपूजा निर्विघ्न समाप्त करें। अग्रदासजी उनकी सच्ची गुरुनिष्ठा और आचारसे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने सोचा कि जो जीव एक व्यापारीको सागरमें विनष्ट होनेसे बचा सकता है, वह भवसागरमें डूबनेवाले असंख्य जीवोंका उद्धार करनेमें निस्संदेह समर्थ है। उन्होंने नाभादासकी पीठ ठोंकी और कहा कि 'तुम भक्तोंका चरित्र वर्णनकर भगवद्भक्तिकी महिमा-कल्पलताका विस्तार करो।' पहले तो नाभादासने अपनी असमर्थता प्रकट की और कहा कि 'मुझे आपके सङ्गमें रहकर वैष्णवोंकी सेवा करने और

उनका प्रसाद पानेमें जो सुख मिलता है, वही पर्याप्त है।' पर अपने ऊपर गुरुकी महती कृपा देखकर उन्होंने भक्तमालकी रचना की, भगवान् और उनके भक्तोंके चरितामृतसागरसे कलिकालके जीवोंके पाप-तापकी शान्ति की। भगवान्ने अपने सारे अलौकिक रहस्य उनकी बुद्धिमें भर दिये। नाभादासने छप्पय छन्दमें भक्तमाल लिखा। यह ग्रन्थ भक्तिसाहित्यका अपूर्व, अद्भुत और अलौकिक इतिहास है।

नाभादासजी परम वैष्णव और सिद्ध कवि थे। उनकी भागवती वाणीने भक्तिकी श्रीवृद्धिमें महान् योग दिया है। उनका भक्तमाल भक्तिका कल्पवृक्ष है। वास्तवमें परम भागवतकी संज्ञा नाभादासकी ही उपाधि हो सकती है। नाभादास भक्तमालके रूपमें अमर हैं। वह उनका साहित्यरूप है, भक्ति-विग्रह है, जीवन-गाथा है।

स्वामी श्रीचरणदासजी महाराज

शुकसम्प्रदायके प्रवर्तक महात्मा चरणदासजीका जन्म १७६० विक्रमीय भाद्रपदमासकी शुक्ला तृतीया मंगलवारको अलवरराज्यान्तर्गत मेवातप्रान्तके डेहरा ग्राममें एक विशुद्ध (भार्गव) ब्राह्मणकुलमें हुआ।* इनकी माताका नाम कुञ्जोदेवी और पिताका नाम मुरलीधर था। ये जन्मसे ही विरक्त और एकान्तप्रिय थे। पाँच वर्षकी अवस्थामें ही चरणदासजी महाराजको डेहर ग्राममें नदीतटपर योगीश्वर शुकदेवजीने प्रत्यक्ष दर्शन दिये। १९ वर्षकी अवस्थामें फिर मुजफ्फरनगरके सन्निकट शुकताल नामक स्थानपर श्रीशुकदेवजीने इन्हें दूसरी बार दर्शन दिये और विधिवत् दीक्षा देकर अपना शिष्य बना लिया। शुकतालमें ज्येष्ठके गङ्गादशहरा तथा कार्तिकी पूर्णिमापर बहुत यात्री जाते हैं और श्रीशुकदेवजीके चरण-चिह्नोंका दर्शन-पूजन करते हैं। इसके बाद चरणदासजीने अष्टाङ्ग योगकी साधना करके दिल्लीमें चौदह वर्षकी समाधि लगायी। परंतु उन्हें इस योगसाधनासे शान्ति नहीं मिली। भगवत्प्रेममें व्याकुल भक्तको इन सिद्धियोंसे कोई प्रयोजन नहीं होता । तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णके विरहमें व्याकुल चरणदासजी उनके दर्शनार्थ श्रीवृन्दावनधाममें सेवाकुञ्जकी ओर चल पड़े। भक्तवत्सल भगवान्ने चरणदासजीको अनन्यप्रेमी तथा निष्काम भक्त समझकर उनके निष्ठानुसार युगलरूपसे दर्शन दिये और उन्हें हृदयसे लगाकर तथा उनके मस्तकपर अपना वरद हस्त रखकर सहज साधन प्रेमाभक्तिके प्रचारकी आज्ञा दी और वे तुरंत अन्तर्धान हो गये। भगवान्‌की आज्ञा ही भक्तकी इच्छा हुआ करती है। चरणदासजी भी भगवदाज्ञानुसार दिल्ली आकर प्रेमाभक्तिका प्रचार करने लगे। ये जिसको जैसा अधिकारी समझते, उसे उसी तरह ज्ञान, भक्ति, कर्म या योगका उपदेश दिया करते थे।

इनके विषयमें बहुत-सी घटनाएँ सुनी जाती हैं। दिल्लीके तत्कालीन बादशाह मुहम्मदशाहके पास इन्होंने एक बार लिख भेजा कि 'छः महीने बाद ईरानका बादशाह राज्यप्राप्तिके लिये तुमपर चढ़ाई करेगा।' चरणदासजीके लेखानुसार छः महीने बाद ही नादिरशाहने दिल्लीपर धावा बोल दिया और युद्ध प्रारम्भ हो गया। युद्धके समय मुहम्मदशाहने नादिरशाहको लिख भेजा कि इस युद्धकी सूचना हमारे यहाँके चरणदास नामक एक महात्माने छः महीने पूर्व ही दे दी थी। मुहम्मदशाहका पत्र पढ़कर नादिरशाहको चरणदासजीके दर्शनकी बड़ी उत्कण्ठा हुई। मुहम्मदशाहने उसे चरणदासजीके दर्शन करा दिये। चरणदासजीके उपदेशसे प्रभावित होकर नादिरशाह युद्धकी इच्छा छोड़कर अपना डेरा-डंडा उठाकर ईरानको लौट गया। मुहम्मदशाहने महात्मा चरणदासजीको अपना गुरु मानकर उन्हें सैकड़ों ग्राम भेंट करने चाहे, परंतु सर्वस्वत्यागी महात्माको इस उपाधिसे क्या प्रयोजन। उन्होंने साफ इन्कार कर दिया। मुहम्मदशाहने वे ग्राम उनके शिष्योंके नाम कर दिये। उनमेंसे बहुत-से अबतक उन्हींके नाम चले आ रहे हैं।

* कुछ सज्जन इन्हें वैश्य मानते हैं।—सम्पादक
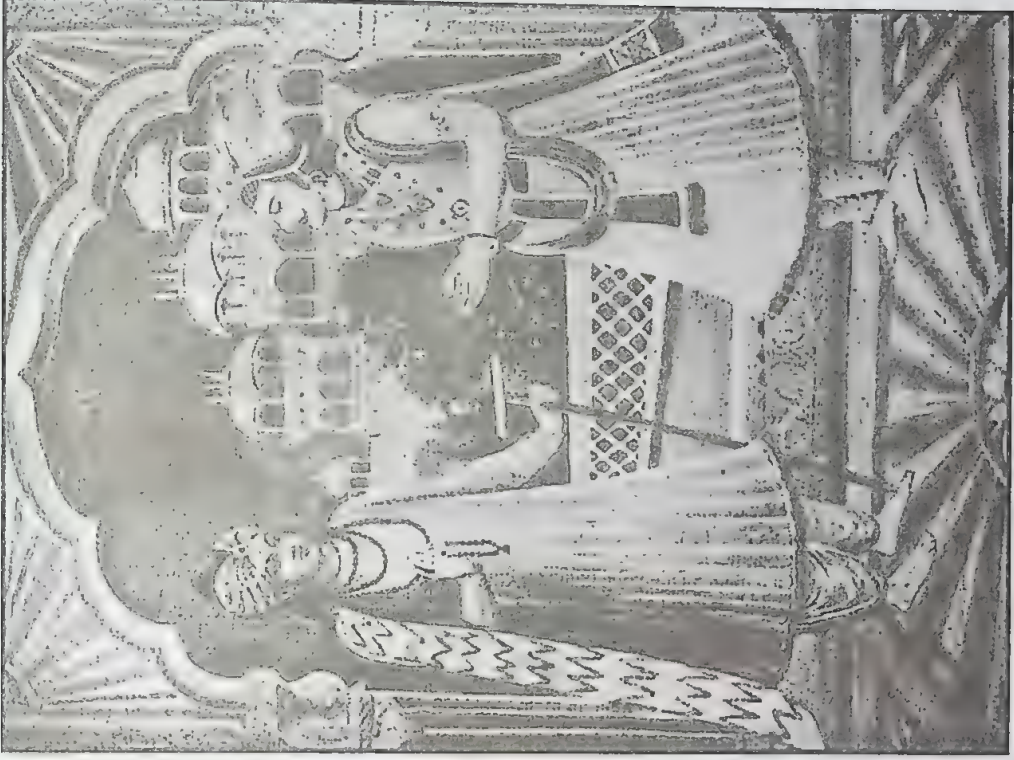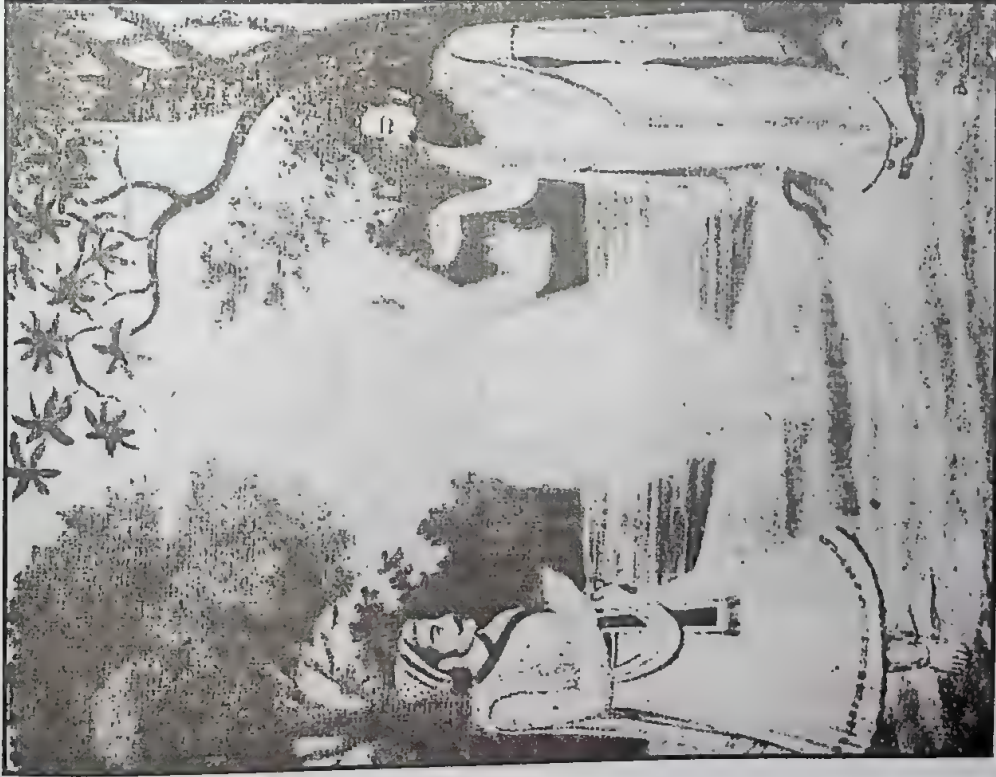
श्रीपयहारीजी और महाराजा पृथ्वीराज [पृ० ६८३]

श्रीचरणदासजी [पृ० ६८६]
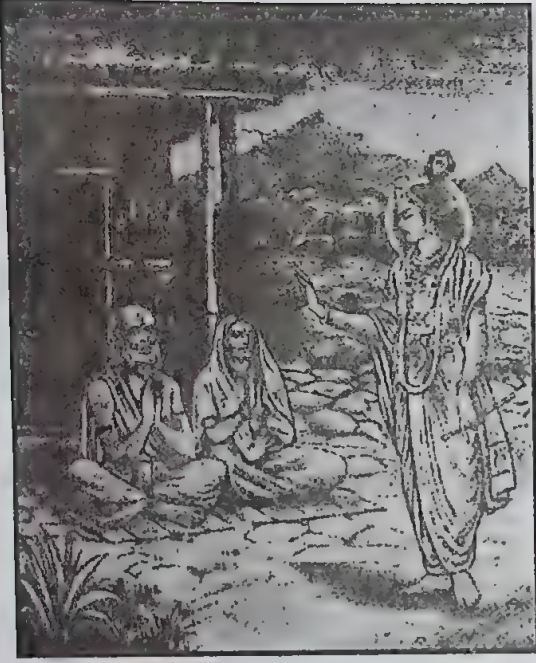
भक्त रमणलाल [पृ० ६९५]

भक्त जनाबाई [पृ० ७०३]

भक्त सखूबाई [पृ० ७०५]
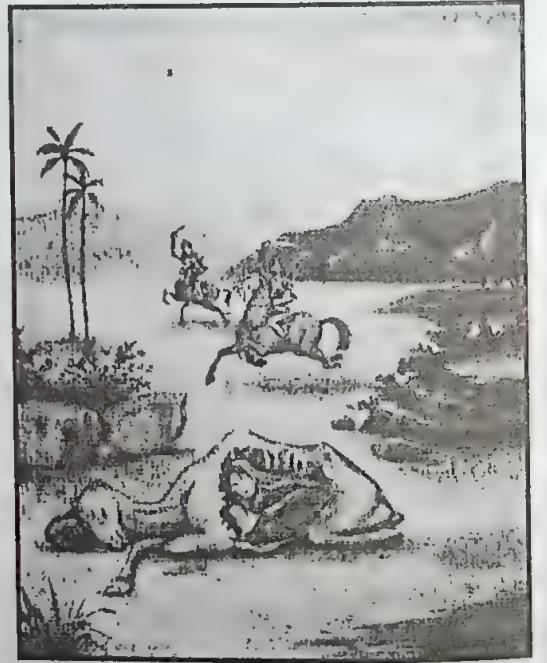
भक्त करमैतीबाई [पृ० ७०७]

चरणदासजीके जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाली बहुत-सी घटनाएँ सुनी जाती हैं, परंतु स्थानाभावके कारण उनका यहाँ उल्लेख नहीं किया जा सकता।

श्रीचरणदासजीने प्रेमाभक्तिका खूब प्रचार किया। प्रसिद्ध भक्ता श्रीसहजोबाई और दयाबाई इन्हींकी शिष्या थीं। इसी तरह इनके और भी बहुत-से शिष्य थे। दिल्ली, चावड़ीबाजार, मोहल्ला दसानमें इनके समाधि-स्थानके समीप ही इनकी शिष्या सहजोबाई एवं परम-शिष्य श्रीरामरूपजीका स्थान है। इस प्रकार सांसारिक विषयासक्त पुरुषोंकी हितकामनासे ८० वर्षतक इस भूतलपर लीला करके श्रीचरणदासजीने १८३९ विक्रमीयमें स्वेच्छासे योगबलद्वारा इस पाञ्चभौतिक शरीरका परित्याग करके परमधामको प्रयाण किया।

अब चरणदासजी महाराजके कुछ उपदेश उन्हींके शब्दोंमें पढ़िये—

इन्द्रिय जीते सो ब्रह्मज्ञानी। इन्द्रिय जीते सोई ध्यानी॥
इन्द्रिय जीते सो हरिदासा। अमरलोकमें पावे बासा॥
इन्द्रिय जीते सोई शूरा। इन्द्रिय जीते सो जन पूरा॥
इन्द्रिय जीते सो संन्यासी। इन्द्रिय जीते सोइ उदासी॥
इन्द्रिय जीते, ध्यान लगावे। सो निश्चय ईश्वर हो जावे॥
इन्द्रिय जीते, मिले भगवंता। इन्द्रिय जीते जीवन्मुक्ता॥

संतका सबसे बड़ा गुण 'सर्वभूतहितरतता' है। सम्पूर्ण प्राणी सुखी कैसे हों, यही उनका ध्येय रह जाता है। रन्तिदेव, शिबि तथा प्रह्लाद आदि परमभागवत महापुरुषोंने भगवान्‌से यही वर माँगा था कि सब लोकोंके सम्पूर्ण जीव सुखी हो जायँ, 'अपनी तरफसे कभी किसीको कष्ट न हो और जहाँतक हो सके, सबका हितसाधन करता रहे।' यही संतोंका स्वभाव और उपदेश है।

सबसों रहा निर्वैर हो, मुखसों मीठा बोल।
तनसों रक्षा जीवकी, चरणदास कहे खोल॥
कड़ुवा बचन न बोलिये, तन सों कष्ट न देय।
अपना-सा सब जानिकै बने तो दुख हरि लेय॥
दया-शीलको धारकर करो रामकी सेव।
या सम तीरथ और ना, कहिया गुरु शुकदेव॥
जितने बैरी जीवके तनमें रहें न एक।
चरणदास यों कहत है, दया जो आवे नेक॥

जितने भी प्राणी हैं, उनका मन, वचन और कर्मसे कभी भी अहित न हो—साधकको सदा यह ध्यान रखना चाहिये। सबको आत्मस्वरूप समझे और भगवान्‌के नामका जप करता रहे, यही परमपद पानेका एकमात्र सहज उपाय है। सभी संतोंने भगवन्नामजपकी बड़ी महिमा गायी है, क्योंकि कलियुगमें यही एक सर्वसुलभ उत्तम साधन है। श्रीचरणदासजी महाराज कहते हैं—

साँचा हरिका नाम है, झूठा यह संसार।
चरणदास-सों शुक कही सुमिरण करो बिचार॥
श्वासा लेवे नाम बिनु, सो जीवन धिक्कार।
श्वास-श्वासमें नाम जप, यही धारणा सार॥
उलट-पुलट जप नामहीं, टेढ़ा-सीधा होय।
याका फल नहिं जायगा, कैसा ही लो कोय॥
खाते-पीते नाम ले, चलते, बैठे, सोय।
सदा पवित्र यह नाम है, करै उजैला तोय॥

भक्तराज भीखजन

(लेखक—श्रीदेवकीनन्दनजी खेडवाल)

जयपुर-राज्यान्तर्गत फतेहपुर नामक स्थानमें भगवान् श्रीलक्ष्मीनाथजीका एक मन्दिर है। उसके मुख्य द्वारपर निम्नलिखित दोहे हैं—

संख-चक्र सोभित गदा लिये कर कमल बिसाल।
बाम रमा, बाहन गरुड, प्रगटे दीनदयाल॥ १॥
पँदरा सौ गुनतीसमें, धरा फाड़ निकलंत।
सहर अलोर पठान घर बहु दिन बास करंत॥ २॥
गोरू भोजक बिप्र कुल सुनत गयो तेहि दौर।
श्रीपति करुनासिन्धुको, ले आयो एहि ठौर॥ ३॥
पँदरा सौ अट्ठासिया करी प्रभूने महर।
लक्ष्मीनाथ पधारिया फतनापुरिये सहर॥ ४॥
साला सौ भये भीखजन आचारज कुल केर।
अपनो जन प्रभु जानके दरस दियो मुख फेर॥ ५॥

इन दोहोंमें प्रथम चार दोहोंसे भगवान् श्रीलक्ष्मीनाथजीके

उस मन्दिरके और अन्तिम पाँचवें दोहेसे भक्तराज भीखजनके इतिहासपर प्रकाश पड़ता है। भक्तराज भीखजनका जन्म सं० १६०० के लगभग एक महाब्राह्मण कुलमें हुआ था। जब वे कुछ बड़े हुए, तब पूर्वजन्मके संस्कारवश उन्हें भगवत्प्राप्तिकी उत्कट अभिलाषा हो चली। वे नित्य ही भगवान् श्रीलक्ष्मीनाथजीके उक्त मन्दिरमें जाकर कातरभावसे प्रार्थना करने लगे। उनका यह नित्यका नियम बन गया कि जबतक वे भगवान् श्रीलक्ष्मीनाथजीकी मूर्तिका दर्शन नहीं कर लेते थे, तबतक भोजन नहीं करते थे। किंतु फतेहपुरके कुछ लोगोंको भगवान्‌के मन्दिरमें एक महाब्राह्मणका आना-जाना उचित नहीं जान पड़ा। उन लोगोंने एक दिन भीखजनजीको जबरदस्ती मन्दिरके भीतर जानेसे रोक दिया। भीखजनजी बेचारे क्या करते। कोई चारा न देखकर वे मन्दिरसे बाहर पिछली दीवालकी ओर बैठ गये और उन्होंने यह प्रण कर लिया कि 'जबतक भगवान् श्रीलक्ष्मीनाथजी यहींपर मुझको दर्शन न देंगे, तबतक मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा।' इस प्रकार भक्तवर भीखजनको निराहार रहकर भगवान्‌का ध्यान करते हुए तीन दिन बीत गये। तीसरे दिन भक्तका हठीला भाव देखकर भगवान् श्रीलक्ष्मीनाथजीसे नहीं रहा गया। वे मन्दिरकी पिछली दीवाल फाड़कर भक्त भीखजनके सामने आ गये। फिर तो भक्तराज भीखजनने भगवान्‌को एकटक निहारकर अपनी मनःकामना पूरी की और इस घटनाकी खबर बिजलीकी भाँति सारे फतेहपुरमें फैल गयी। लोग दौड़े और भक्तराज भीखजनके चरणोंमें लोट-लोटकर क्षमाप्रार्थना करने लगे।

भक्त गरीबदासजी

भक्त गरीबदासजी पूर्ण विरक्त और भगवन्निष्ठ महात्मा थे। पंजाब प्रान्तके रोहतक जिलेमें छुड़ानी गाँवमें उनका जन्म हुआ था। सं० १७७४ वि० वैशाख पूर्णिमाको उनकी तपोमयी दिव्य आत्मा धरतीपर उतरी थी। बचपनसे ही घरके काम-काजमें उनका मन नहीं लगता था। उनका स्वभाव उस समय अत्यन्त सीधा-सादा था, वे सरलता और विनम्रताकी प्रतिमूर्ति थे। वे सदा भगवान्‌के नामामृतका ही पान किया करते थे। उनपर संत कबीरकी वाणीका बड़ा प्रभाव था। कहते हैं कि संत कबीरजीने इन्हें स्वप्नमें मन्त्र-दीक्षा दी थी।

उनके जीवनकालमें एक बार भीषण सूखा पड़ा। भक्त गरीबदासकी मौज ही तो थी, उनकी दयादृष्टिसे अनावृष्टिका अन्त हो गया। लोगोंसे अधिक मान-प्रतिष्ठा पाकर उनका जी ऊबने लगा। उन्होंने गाँव छोड़ देनेका निश्चय ही किया था कि भारतकी उत्तर-पश्चिम सीमापर यवनोंका आक्रमण आरम्भ हुआ। दिल्लीश्वरने उन्हें सादर राजधानीमें पधारनेका आमन्त्रण दिया। राजसभामें पहुँचनेपर बादशाहने उनका अच्छी तरह स्वागत-सत्कार किया। बादशाहने उनसे आक्रमण रोकनेके लिये निवेदन किया। साधु गरीबदास तो भगवान्‌के पूर्ण भक्त थे। उन्होंने सीधी-सादी, स्पष्ट और कपटरहित भाषामें बड़ी विनम्रताके साथ कहा—'यद्यपि यह सच है कि भगवान् संतोंके ही वशमें रहते हैं, अपने स्वजनोंके मनोऽनुकूल ही उनका प्रत्येक कार्य होता है और चारों युगका प्रमाण है कि जो कुछ संत करते हैं, वही ठीक है, तो भी वे भगवान्‌के प्रत्येक कार्यको अपने और दूसरोंके लिये पूर्ण हितकर समझते हैं।' उन्होंने बादशाहसे कहा कि 'ऐसे समयमें भगवत्कृपाकी ही शरण जाना अनिवार्य है; यदि तुम मदिरा-पान, गो-वध और बहुस्त्री-प्रसङ्गकी दुर्वृत्तिको बिलकुल त्याग दो तो निस्सन्देह तुम ईश्वरीय कृपाके पात्र हो जाओगे, भगवान् तुम्हें इस आपदासे अभय करेंगे।' परंतु दुष्ट सचिवोंके बहकानेपर उसने गरीबदासकी बात तो न सुनी, उल्टा उन्हें कारागारमें डाल दिया। दूसरे दिन दरवाजे और ताले अपने-आप खुल गये। बादशाहने क्षमा माँगी। गरीबदासने समझाया कि 'भगवान्‌के दासों और भक्तोंको कभी कष्ट नहीं देना चाहिये; क्योंकि साधु-संतके दुःखसे भगवान् स्वयं दुःखी हो जाते हैं।' वे अपने निवासस्थानपर वापस चले आये।

गरीबदासजीने इकसठ वर्षकी अवस्थामें सं० १८३५ वि० की भाद्र शुक्ला द्वितीयाको शरीर त्याग किया।

श्रीमद्देवमुरारीजी

(लेखक—महन्त श्रीरघुनाथदासजी महाराज)

दारागंज-(प्रयाग) में श्रीमद्देवमुरारीजी महाराजका स्थान प्रमुख बावनद्वारा गद्दियोंमें एक है। प्रयागमें विष्णु, शिव, ब्रह्मा—इन तीनोंकी पुरियाँ है। अरैल यमुनापार जहाँ आदिमाधव भगवान् हैं, वह विष्णुपुरी है। झूसीमें गङ्गापार ब्रह्मपुरी है। वेणीमाधव—भरद्वाज-आश्रम जहाँ है, वह शिवपुरी है। पहले इन पुरियोंमें अनेक सिद्ध योगी औघड़ रहा करते थे। झूसीके समुद्रकूपकी गुफामें सिद्धनाथ आदि औघड़ोंका दल था। ये किसी वैष्णव संत-महात्माको प्रयागमें टिकने ही नहीं देते थे। श्रीमद्देवमुरारीजी महाराज जब प्रयाग आये, तब इन औघड़ोंके गिरोहने आपपर आक्रमण किया। परंतु श्रीमद्देवमुरारीने अपने साधनबलसे इन सबको परास्त कर दिया।

प्रयागकी मकर-संक्रान्तिका एक इतिहास है। श्रीमद्देवमुरारीजी एक बार सङ्गमपर स्नान-सन्ध्या कर रहे थे। सिद्धनाथ नामक औघड़ने मगरका रूप धरकर जलमें आपके पैरको पकड़ लिया। आप समझ गये बात क्या है। अतएव अपने तपोबलसे उसे अपने पैरोंके नीचे दबा दिया। अब तो औघड़-मण्डलीमें खलबली मच गयी और सभी आकर आपसे क्षमा माँगने लगे। उसी समयसे प्रयागसे औघड़ोंका उन्मूलन हुआ और वैष्णव रहने लगे। मकर-संक्रान्तिके समयमें तभीसे वहाँ वैष्णव जुटने लगे।

जिस समय श्रीमद्देवमुरारीजी प्रयाग आये, उसी समय किला बन रहा था। किला बनता था और गङ्गाजी उसे बहा ले जाती थीं। इसलिये अकबरने मानसिंहजीको देवमुरारीजीकी सेवामें भेजा। देवमुरारीजीने तुलसीका एक सूखा वृक्ष देकर कहा कि 'इसे नींवमें देकर किला बनवाओ।' इसके बाद किलेको कोई क्षति नहीं पहुँची। आपकी शिष्यपरम्पराके प्रमुख शिष्योंमें श्रीमलूकदासजी, पूर्णदासजी, मानदासजी, उद्धवदासजी, गोपालदासजी, सीतारामदासजी, भरतदासजी, हरिनारायणदासजी और राजारामदासजीके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इसका सम्बन्ध श्रीतोताद्रिमठसे है।

भक्त गोवर्धन

विशालापुरीमें गोवर्धननामक एक नवयुवक पण्डित रहते थे। ब्राह्मण सदाचारी, विद्वान्, तर्कशील और कुछ विद्याभिमानी थे। उनकी पत्नी भी बड़ी साध्वी थी। उसमें भगवान्‌के प्रति विश्वास और भक्ति थी। पति-पत्नीमें पवित्र प्रेम था। घर बहुत सम्पन्न न होनेपर भी दोनों बड़े सुखी थे। इनके यहाँ एक विरक्त महात्मा कभी-कभी आया करते थे। गोवर्धनजीके पिता महात्माजीके बड़े भक्त थे। उन्होंने इनकी बड़ी सेवा की थी। महात्माकी सच्ची सेवा उनके बतलाये हुए पवित्र मार्गका अनुसरण करनेमें ही है, उनके बाहरी वेष-भूषाका अनुकरणमें नहीं। गोवर्धनके पिता ऐसे ही श्रेष्ठ सेवक थे। उन्हींके सम्बन्धसे महात्मा कभी-कभी इनके घर कृपा करके पधारा करते थे। इधर बहुत दिनोंसे महात्मा नहीं आये। गोवर्धनका पड़ोसी नन्दाराम बड़ा असदाचारी और कुमार्गगामी था। वह गोवर्धनको देखकर जलता था और उन्हें भी वह अपने समान ही बनाना चाहता था; परंतु बीच-बीचमें महात्माका सङ्ग प्राप्त होते रहनेसे गोवर्धनकी चित्तवृत्तिपर मलिनताकी छाप नहीं पड़ती थी और इसीलिये पड़ोसी नन्दारामकी दाल नहीं गलती थी।

इधर वर्षोंसे महात्माका सङ्ग छूट गया। गोवर्धन सदाचारी विद्वान् तो थे, परंतु भजनपरायण नहीं थे। उनमें तर्क अधिक था, भक्ति नहीं थी; तथापि महात्माके सङ्ग-प्रभावसे उनके अंदरके काम-क्रोधादि दोष दबे रहते थे। पर सत्सङ्ग छूट जाने और नन्दारामका कुसङ्ग प्राप्त होनेसे उनके वे दबे दोष प्रबलरूपमें उभड़ आये। गोवर्धन धीरे-धीरे शराबी, जुआरी, व्यभिचारी हो गये। पत्नी बेचारी बड़ी दुःखी थी। उसके मनमें बड़ा सन्ताप था। उसका भगवान्‌में विश्वास था। उसने एक दिन मन-ही-मन आर्तभावसे रोकर भगवान्‌से प्रार्थना की—'भगवन्!

मेरे पतिदेव कुसङ्गमें पड़ गये हैं, महात्मा इधर आये नहीं। आप दीनबन्धु हैं। मुझ दीना अबलापर दया कीजिये। महात्माको यहाँ भिजवाइये और मेरे पतिका जीवन सुधारिये। आप सर्वसमर्थ हैं, कृपासागर हैं, जीवमात्रके सुहृद् हैं। आपने स्वयं कहा है, मुझको सब जीवोंका सुहृद् मान लेनेपर उसे तुरंत शान्ति मिल जाती है। प्रभो! मैं आपको सर्वसुहृद् मानती हूँ। आप मुझे शान्ति दीजिये।'

भगवान् सच्ची पुकारको तुरंत सुनते हैं। पुरुष हो, स्त्री हो, ब्राह्मण हो, चाण्डाल हो, पण्डित हो, मूर्ख हो—जो कोई भी जब कभी भी आर्त होकर सच्चे हृदयसे उन्हें पुकारता है, वे तुरंत सुनते हैं और उसका मनोरथ सफल करते हैं। यह तो हमारा अभाग्य है कि हम ऐसे सदा-सर्वत्र अपने साथ रहनेवाले सर्वशक्तिमान् परम सुहृद्पर विश्वास न करके नश्वर भोगोंपर और स्वार्थी जगत्पर विश्वास करते एवं सङ्कटके समय उनके सामने गिड़गिड़ाकर निराशा और तिरस्कारके विषधर सर्पको हृदयका हार बनाते हैं!

महात्मा समाधिस्थ-अवस्थामें सुदूर नदीतटपर एकान्तवास कर रहे थे। अकस्मात् उन्हें अपने सेवकके पुत्र गोवर्धनकी याद आयी। उनका हृदय तिलमिला उठा। 'मैं बहुत दिनोंसे विशालापुरी नहीं गया। पता नहीं, गोवर्धनकी क्या स्थिति होगी। कहीं वह कुसङ्गका शिकार तो नहीं हो गया। मेरे मनमें बार-बार क्यों उसके लिये इतना उद्वेग हो रहा है?' महात्माके मनसे जगत्की सत्ताका सर्वथा अभाव हो गया था। फिर सत्ताके सङ्कल्प करनेवाले मनका भी अभाव हो गया। पहले दृश्यका अभाव था, अब द्रष्टा भी खो गया। रह गया वही, जो है; वह क्या है, कैसा है—कौन बताये। न कोई जानने योग्य है और न जाननेवाला। बस, उसीमें एकात्मता प्राप्त करके महात्मा निर्विकल्प समाधिमें स्थित थे। आज अकस्मात् उनकी समाधि टूटी और उन्हें गोवर्धनकी स्मृति आ गयी। स्मृति भी ऐसी, जो भुलाये नहीं भूलती। मानो किसी आसक्तिवश कुछ हो रहा है। सत्यसंकल्प, सर्वनियन्ता भगवान्की प्रेरणा जो थी। क्योंकि गोवर्धनकी साध्वी पत्नीने भगवान्से यही प्रार्थना की थी कि महात्माको भेजकर मेरे स्वामीका जीवन सुधारिये।

महात्मा सीधे विशालापुरीकी ओर चले, जैसे निपुण लक्ष्यवेधीका बाण सीधा लक्ष्यकी ओर ही जाता है। वे विशालापुरी पहुँचे, उस समय आधी रात बीत चुकी थी। सिद्ध महात्माकी सर्वगत दृष्टिने देख लिया, इस समय गोवर्धन शहरके उत्तरकी ओर बसे हुए मुहल्लेमें मायावती वेश्याके घरपर है। वे सीधे वहीं पहुँचे। बाहरका दरवाजा खुला था। उन्होंने अंदर जाकर कमरेके किवाड़ खटखटाये और कहा—'गोवर्धन! किवाड़ खोलो।' गोवर्धन इस समय मद्यकी मादकतामें चूर, अपनेको भूला हुआ था। पराधीन था। सर्वथा बहिर्मुख हो रहा था। परंतु महात्माके सिद्ध शब्दोंकी वह अवहेलना नहीं कर सका। वेश्याका भी साहस नहीं हुआ कि उसे रोके। गोवर्धनने किवाड़ खोल दिये। चाँदनी रात थी। खोलते ही अपने सामने एक परम तेजःपुञ्ज जटाधारी महापुरुषको खड़े देखा। उनके शरीर और नेत्रोंसे एक स्निग्ध सुशीतल तेजोऽमृतधारा निकल रही थी। गोवर्धनको पहले तो कुछ डर-सा लगा, वहम हुआ, मनमें कुछ उद्वेग आया; परंतु दूसरे ही क्षण उसने महात्माको पहचान लिया। उसका सारा मद उतर गया। वह चीख मारकर चरणोंमें गिर पड़ा।

मायावती भी किवाड़ोंके पास खड़ी थी। महात्माके अमोघ दर्शनका प्रभाव था। उसका भी हृदय द्रवित हुआ जा रहा है। जीवनके सारे पाप मानो इस क्षण मूर्तिमान् होकर उसके सामने खड़े हो गये। वह काँप गयी। हृदयमें पश्चात्तापकी प्रचण्ड आग जल उठी। सारी पापराशि जल गयी। हृदयका भाव-नवनीत पिघला और अश्रुधाराके रूपमें वह नेत्रमार्गसे बह चला। पता नहीं, उसका हृदय शुद्ध हुआ माना जाय या नहीं; पर वह भी आगे बढ़कर महात्माके चरणोंपर गिर पड़ी और नेत्र-जलकी धाराओंसे उनके पावन पद-सरोज पखारने लगी। महात्माका वरद हस्त उठा। महात्मा झुके। वरद हस्तने दोनोंके मस्तकोंका स्पर्श किया और बोले—'मेरे बच्चो! उठो, घबराओ नहीं। भगवान्की कृपा-शक्तिके सामने तुम्हारे पापोंकी क्या बिसात है! कितना ही घना, गहरा और बहुत समयका अन्धकार हो, प्रकाशके आते ही वह छिप जाता है। फिर यदि वहाँ साक्षात् सूर्य उदय हो

जायँ, तब तो अन्धकारको कहीं छिपनेकी भी जगह नहीं मिलती। भगवान्‌की कृपा कभी न छिपनेवाला प्रचण्ड और सुशीतल प्रकाशमय सूर्य है। पापान्धकारमें कितनी शक्ति है जो क्षणमात्र भी उसके सामने ठहर सके। मैं श्रीभगवान्‌की अनुपमेय कृपाशक्तिकी प्रेरणासे ही आधी रातके समय यहाँ आया हूँ। तुम दोनों पवित्र हो गये। उठो! भगवान्‌का भजन करो और जन्म-जीवनको सफल करो।' दोनों उठे और हाथ जोड़कर कठपुतलीकी भाँति सामने खड़े हो गये। दोनोंके नेत्र झरने बने हुए थे।

महात्माने कहा—'गोवर्धन! तुम घर जाओ और अपनी साध्वी पत्नीको सान्त्वना दो। आजसे यह मायावती तुम्हारी बहिन है। इसको अपनी सहोदरा बहिन समझो। यह अब कावेरीके तटपर जाकर भगवान्‌का भजन करेगी। किसी कुसङ्गमें पड़कर यह इस दशाको पहुँची। तुम्हारे पिता मेरे बड़े आज्ञाकारी थे, संत थे, भगवत्प्राप्त पुरुष थे। उनके शुभ संस्कार तुम्हारे अंदर थे; परंतु तुमने विद्याके अभिमानमें भगवान्‌की भक्ति नहीं की। तर्कके बलपर केवल जगत्‌के अस्तित्वका खण्डन ही करते रहे। तुमने मायाधीश्वर सच्चिदानन्द भगवान्‌को भी मायाका ही कार्य बताया। इसीलिये तुम बिना केवटकी नावके सदृश इस अघ-समुद्रमें डूब गये। जो अतुलशक्ति भगवान्‌का आश्रय न लेकर अपने चार अक्षरोंके अभिमानपर कूदा-फाँदा करते हैं, उन्हें तो उल्टे मुँहकी खानी ही पड़ती है। उनका पतन ही होता है। अन्धकारका प्रवेश वहीं होता है, जहाँ प्रकाश नहीं होता। पहलेसे ही भगवदाश्रयकी दिव्य शीतल स्निग्ध ज्योति प्रज्वलित कर ली जाय और दृढ़ विश्वासके निर्मल स्नेहसे सिञ्चन करते हुए सदा ज्यों-की-त्यों प्रज्वलित रखी जाय तो वहाँ कभी पापान्धकारका प्रवेश हो ही नहीं सकता। पापके बिना ताप भी नहीं आते। चोर-डाकुओंका प्रवेश अँधेरेमें ही हुआ करता है।

'तुमने तो आज भी भगवान्‌को नहीं पुकारा, उनकी शरण नहीं गये। पर तुम्हारी पत्नी बड़ी भक्तिमती है। उसका भगवान्‌पर अटल विश्वास है। उसीकी विश्वासभरी आर्त पुकारने भगवान्‌का आसन हिलाया और भगवान्‌की प्रेरणाने ही समाधिसे उठाकर मुझको यहाँ भेजा। मैं भगवान्‌की सत्य प्रेरणासे ही यहाँ आया; इसीसे तुम दोनोंके हृदयोंमें जो चिरपोषित अनाचार-दुराचारकी राशि थी, वह सूर्यके प्रखर प्रकाशसे अन्धकारकी भाँति इतनी जल्दी मिट गयी। भगवान्‌के मिलनेपर पाप नष्ट हो जाते हैं, इसमें तो कहना ही क्या है। भगवान्‌के मिलनेकी इच्छा ही पापोंको जला डालती है। आज मेरे साथ आयी हुई भगवान्‌की प्रेरणाका अनिच्छित दर्शन करके ही तुम कृतार्थ हो गये हो। यह भगवान्‌की अनन्त कृपाका दिग्दर्शन है। इस कृपा-प्राप्तिमें कारण है तुम्हारी साध्वी पत्नी। तुमने भगवान्‌को नहीं पुकारा। पर तुम्हारी पत्नीने विश्वासभरी पुकार की। उसकी प्रार्थना थी—'दीनबन्धु भगवान् दया करके मेरेद्वारा तुम्हारा सुधार करें।' वही हुआ। मैं तो समाधिस्थ था। यहाँ क्यों आता। साध्वी ब्राह्मणीके द्वारा वशीकृत भगवत्कृपाशक्तिने मुझको जगाकर यहाँ भेजा। सच्चे आत्मीय, स्वजन, बन्धु और प्रिय वे ही हैं, जो अपने आत्मीय, स्वजन, बन्धु और प्रियको कुमार्गसे हटाकर—विषय-विष-वारुणीके जहरीले नशेसे छुड़ाकर भगवान्‌के मार्गपर लगाते हैं और भगवान्‌से कातर प्रार्थना करके उन्हें भगवत्प्रेमसुधा-धाराका पान कराते हैं। तुम्हारी पत्नी धन्य है और तुम भी धन्य हो, जो ऐसी पत्नीके पति होनेका सौभाग्य तुमने प्राप्त किया है। सावित्रीने एक यमराजके फंदेसे अपने स्वामी सत्यवान्‌को छुड़ाया था; पर तुम्हारी साध्वी पत्नीने तुमको अनेकों जन्म-जन्मान्तरोंमें जानेसे छुड़ाकर अनेकों—अनन्तों मृत्युओंसे बचा लिया। साध्वी पत्नी क्या नहीं कर सकती!

'यह मायावती पूर्वजन्मकी बड़ी भक्ता थी। यहाँ भी पवित्र ब्राह्मणकुलमें इसका जन्म हुआ था; परंतु माता-पिता तथा स्वामीके परलोकवासी हो जानेपर दुराचारी मनुष्योंने इसे अपने फंदेमें फँसा लिया। यह भोली थी, सरलहृदया थी, इससे सहज ही कुसङ्गमें पड़ गयी। जिस कुसङ्गने तुम्हारा पतन किया, उसीने इसका भी किया। कुसङ्गसे ऐसी कौन-सी बुराई है, जो नहीं हो सकती और ऐसा कौन-सा पतन है, जो नहीं होता। मूर्ख मनुष्य धनादिके लोभसे कुसङ्गमें पड़कर अपने ही हाथों अपने पैरोंपर कुल्हाड़ी मारकर स्वयं ही अपनेको पतनके गहरे

गड्ढेमें ढकेल देते हैं। मायावती भी कुसङ्गमें पड़कर गिर गयी; पर इसके हृदयमें पश्चात्तापकी आग जल रही थी। पापी दो प्रकारके होते हैं। एक वे, जो परिस्थितिवश कुसङ्गमें पड़कर पापपङ्कमें धँस जाते हैं; पर वह पाप उनके हृदयमें सदा शूलकी तरह चुभता रहता है। वे पश्चात्तापकी आगमें तपते और मन-ही-मन कराहते हुए पतितपावन भगवान्‌को पुकारा करते हैं। दूसरे वे, जो पाप करनेमें ही दक्षता, चतुराई और जीवनकी सफलता मानकर मन-ही-मन गौरवका अनुभव करते हैं। ऐसे लोग बार-बार भयानक नरकयन्त्रणाओं और नारकी योनियोंमें विविध दु:खों एवं कष्टोंके ही शिकार होते हैं। पर जो पहले पश्चात्ताप करके दीनबन्धु भगवान्‌पर अनन्य विश्वास करके उन्हें पुकारनेवाले होते हैं, उनकी पुकार भगवान् सुनते हैं और अपनी कृपासुधा-धारामें नहलाकर उन्हें तुरंत परम साधु बना लेते हैं।'

मायावतीने अभी कल ही रो-रोकर भगवान्‌को पुकारा था। भगवान्‌ने उसकी भी पुकार सुन ली। गोवर्धन और मायावती दोनोंके नेत्रोंमें उसी प्रकार अश्रुधारा बह रही थी। उनके सारे पाप उसीमें बह गये थे। दोनोंने बहिन-भाईकी भाँति परस्पर मिलकर महात्माके आगे हाथ जोड़े। महात्माने मायावतीको अपनी तुलसीकी माला देकर आशीर्वाद दिया तथा कावेरीके तटपर जाकर भजन करनेका आदेश दिया। गोवर्धनको उसके घर जानेका आदेश दिया और प्रात:काल ही स्वयं भी उसके घर पधारनेकी बात कही। गोवर्धन और मायावतीके सामनेसे मायाका पर्दा हट गया। वे निहाल हो गये। संत और भगवंतकी कृपाशक्ति कल्याण करनेमें अमोघ होती है।

गोवर्धनकी पत्नीकी आँखोंमें नींद नहीं थी। वह रो-रोकर करुणामय भगवान्‌को पुकार रही थी। इतनेमें ही गोवर्धनने आकर किवाड़ खटखटाये तथा आवाज दी। दीर्घकालसे गोवर्धन बहुत ही कम घर आते और जब कभी आते तो शराबके नशेमें चूर, बड़बड़ाते, खीझते, झल्लाते, चीखते और गिरते-पड़ते! बेचारी ब्राह्मणी सम्हालती, नहलाती, खिलाती, सेवा करती, समझाती; परंतु बदलेमें उसे मिलते तिरस्कार, अपमान, वाग्बाण और कभी-कभी मार भी। ब्राह्मणी सब सहती, पतिकी असहाय अवस्थाका विचार करके रो पड़ती और आर्त होकर भगवान्‌को पुकारती। आज तो वे पूर्ण स्वस्थ हैं। उनकी आवाजसे ही उनकी स्वाभाविक स्थितिका पता लगता है। पर आज इस स्वाभाविकताके साथ कुछ अन्यजातीय अस्वाभाविकता भी है—वह है पवित्र हृदयकी प्रभु-भक्तिका निर्मल सुधाप्रवाह! ब्राह्मणी आवाज सुनते ही मानो निहाल हो गयी। उसने दौड़कर दरवाजा खोला। गोवर्धन पत्नीके साथ घरके अंदर आये। वह चरणोंपर गिरकर रोने लगी। इधर कृतज्ञ-हृदय गोवर्धनके नेत्रोंमें आँसुओंकी झड़ी लगी थी। गोवर्धनने उसको उठाया और स्नेहसे अपने पास बैठाकर गद्‌गद कण्ठसे सारी कथा सुनायी। ब्राह्मणी भगवत्कृपाका चमत्कार देखकर कृतार्थ हो गयी और उसका बचा-बचाया जीवन सदाके लिये प्रभुके समर्पण हो गया। समस्त रात्रि संत-चर्चा और भगवच्चर्चामें बीत गयी। प्रात: स्नानादिसे निवृत्त होकर गोवर्धन भगवत्-पूजाकी बात सोच रहे थे कि महात्मा पधार गये।

पति-पत्नी उनके चरणोंपर गिर पड़े। दोनोंका हृदय कृतज्ञता, उल्लास और सर्वसमर्पणके निश्चयसे भरा था। महात्माने दोनोंको भगवद्भक्तिका उपदेश और षोडश नामके—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—इस कलिसन्तरणोपनिषद्‌के मन्त्रका उपदेश किया और कहा, 'अब तुम्हारा कभी पतन नहीं होगा। तुम दोनों भगवान्‌के दिव्य धामको और स्वरूपको प्राप्त करोगे।' तदनन्तर भिक्षा आदि करनेके बाद महात्मा अपने स्थानको पधार गये।

इधर ये दोनों भगवद्भक्तिमें तल्लीन हो गये। ब्राह्मणीका जीवन भक्तिमय था ही। ब्राह्मण भी परम भक्त हुए और अन्तमें भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त करके दोनों दिव्य धामको पधारे। वहाँ उन्होंने नित्य पार्षदगति प्राप्त की।

भक्त सेठ रमणलाल

सेठ रमणलालका देश-विदेशमें कई जगह कारोबार था। बड़ी-बड़ी नावोंमें देशसे माल विदेश भेजा जाता था और विदेशसे यहाँ लाया जाता था। रमणलाल अत्यन्त साधु-स्वभावके भक्त पुरुष थे। भगवान्‌में उनका अगाध विश्वास था। वे श्रीमद्भगवद्गीताके बड़े विश्वासी थे। नित्य बड़े आदरसे भगवद्गीताका मनन करते और भगवान्‌के आज्ञानुसार पवित्र निष्काम जीवन बिताते हुए भगवत्प्रीत्यर्थ ही अपने वर्णाश्रम-धर्मानुसार व्यापार आदि कार्य करते थे। उनकी धर्मपत्नी चम्पाबाई भी बड़ी ही भक्तिमती थी। घरमें श्रीगोविन्ददेवजीका विग्रह था और दोनों पति-पत्नी स्वयं बड़े भक्तिभावसे नियमित भगवान्‌का अर्चन-पूजन किया करते थे। दिनमें सेठ अपनी पैढ़ीपर जाते और लगभग छः घंटे काम-काज भलीभाँति सम्हालकर घर लौट आते। चार घंटे शौच-स्नान, भोजन-पान और अतिथि-सत्कार आदिमें लगते, चार घंटे सोते। शेष दस घंटे भजन-पूजन, स्वाध्याय-जप और स्मरण-ध्यान आदिमें बीतते। बड़ी ही नियमित और निर्मल जीवनचर्या थी। उनके आदर्श सद्व्यवहारसे सैकड़ों मुनीम-गुमाश्ते और नौकर-चाकरोंकी तो बात ही क्या, दूर-दूरके लोग भी बड़े सन्तुष्ट थे। जो भी उनके सम्पर्कमें आता, वही उनके प्रेम और सत्कारपूर्ण हितभरे व्यवहारसे मुग्ध हो जाता। वे बड़े व्यवहार-कुशल और हिसाब-किताबके साफ थे; परंतु उनकी व्यवहारकुशलतामें कहीं भी छल-कपट या परस्वत्वापहरणकी कल्पना भी नहीं थी। उनमें परहितपरायणता और विनयशीलता तो कूट-कूटकर भरी थी। वे किसीपर कभी गुस्सा तो होते ही नहीं थे। सदैव हँसमुख और विनय-विनम्र-नेत्र रहते थे।

एक बार रसोइयाने भूलसे हलुएमें शक्करकी जगह नमकका पानी बनाकर डाल दिया और तरकारियोंमें नमककी जगह शक्कर डाल दी। वह अपनी पत्नीकी बीमारीके कारण रातभरका जगा हुआ था और पत्नीकी रुग्णताके कारण उसके मनमें चिन्ता भी थी। इसीसे भूल हो गयी। सेठ रमणलाल भोजन करने बैठे तो उन्हें हलुआ नमकीन और तरकारी मीठी किंतु बिना नमककी मालूम हुई। उन्होंने रसोइयेके चेहरेकी ओर देखा। उसका चेहरा उदास था। सेठने हार्दिक सहानुभूतिके स्वरमें उससे पूछा—'महाराज! आज उदास कैसे हो?' लाभशङ्कर रसोइयेने जवाब दिया—'ब्राह्मणी बीमार है, इसीसे चेहरेपर कुछ मलिनता आ गयी होगी।' उसने रात जगनेकी बात नहीं कही। पर सेठ उसकी उनींदी आँखोंको देखकर ताड़ गये। उन्होंने कहा—'लाभशङ्कर! तुम खाकर जल्दी घर चले जाओ—ब्राह्मणी अकेली है, उसे सँभालो; यहाँ दूसरा आदमी काम कर लेगा। तुम भला, आये ही क्यों? फिर भैया! तुम्हारे घरमें दूसरा कोई है भी तो नहीं। तुम रातभर जगे भी होओगे! मैं एक आदमी भेजता हूँ, वह बैठेगा, तुम कुछ देर आराम कर लेना।' रसोइयाको मालिकके सहानुभूतिभरे शब्दोंसे बड़ी सान्त्वना मिली। वह मन-ही-मन आशीर्वाद देता हुआ घर चला गया।

लाभशङ्करके चले जानेपर सेठ रमणलालने अपनी पत्नी चम्पाबाईसे धीरेसे कहा—'देखो, बेचारा डरके मारे स्त्रीको बीमार छोड़कर कामपर आ गया। रातकी नींद थी और ब्राह्मणीकी चिन्ता थी। इससे उसने भूलसे हलुएमें नमक और तरकारियोंमें शक्कर डाल दी है। अगर इन चीजोंको घरके सब लोग—नौकर-चाकर आदि खायँगे तो बेचारे ब्राह्मणकी हँसी उड़ायेंगे और उसे भारी दुःख होगा। अतएव ये चीजें गोशालामें ले जाकर गायोंको खिला दो और जल्दीसे दूसरी बार हलुआ-तरकारी बनवा लो, जिसमें लाभशङ्करकी भूलका किसीको पता भी न लगे।' चम्पाबाईने वैसा ही किया। बात बहुत छोटी, परंतु इससे सेठ रमणलालकी विशालहृदयता और सदाशयताका पता लगता है!

कुछ दिनों बाद एक दिन चम्पाबाईने हँसते-हँसते लाभशङ्करको उसकी उस दिनकी भूलकी बात बतला दी। वह बेचारा सुनकर सकबका गया। उसने सेठके पास जाकर क्षमा माँगी। सेठने प्यार करते हुए उससे कहा—'लाभशङ्कर! तुम्हारी जगह हम होते तो वैसी हालतमें हमसे तो कोई दूसरा काम ही नहीं बन पड़ता। तुमने इतनी सारी रसोई बना दी। नमक-शक्करमें जरा उलट-पुलट हो गयी तो इसमें अपराध क्या हो गया, जो

क्षमा माँगते हो? तुम्हारी नीयत तो बुरी थी नहीं।' लाभशङ्करका हृदय कृतज्ञतासे भर गया। उसने विनयके साथ कहा—'सेठजी! मैं जानता हूँ, आप बड़े दयालु हैं; पर आपने मुझे भूल बतायी क्यों नहीं?' सेठ रमणलाल बोले—'भैया! उस दिन तुम पहलेसे ही दुःखी थे, तुम्हारी भूल बताकर मैं तुम्हारा दुःख ही तो बढ़ाता। फिर सच्ची बात तो यह है कि मुझसे कभी भूल न होती हो तो मैं तुम्हारी भूलकी चर्चा करूँ। जब मैं खुद अनेकों भूलें करता हूँ, अच्छी हालतमें भूल करता हूँ, तब तुमसे एक विशेष परिस्थितिमें बनी मामूली भूलकी चर्चा चलाकर नयी भूल क्यों करता। दूसरेकी भूलपर उसीको बुरा माननेका अधिकार हो सकता है, जिससे जीवनमें कभी भूल नहीं होती हो!'

एक बार सेठ रमणलालकी कुछ मालसे भरी नावें समुद्रमें डूब गयीं। मल्लाह तो सब बच गये, परंतु मालका कुछ भी हिस्सा नहीं बच पाया। सेठको समाचार मिला तो उन्होंने निर्विकार चित्तसे कहा—'अवश्य ही यह कोई पापका पैसा था। नहीं तो, भगवान्‌के निर्भ्रान्त मङ्गल-विधानमें नाव डूबनेका प्रसंग ही क्यों आता।' पीछे पता चला कि जहाँसे माल आ रहा था, वहाँके कर्मचारियोंने पैसेंके लोभसे अनुचित कमाई की थी। सेठने कहा—'भगवान्‌ने बड़ा मङ्गल किया जो पापसे लदी नावें राहमें डूब गयीं। कहीं वह पैसा घरमें आ जाता तो पता नहीं उससे हमलोगोंकी बुद्धि बिगड़नेपर क्या दशा होती।'

एक बार सेठ रमणलालकी किसी व्यापारकी शाखामें अनाजकी गोदामोंको लोगोंने लूट लिया। उनमें कई लाखका अनाज भरा था। इस खबरको सुनकर शहरके कुछ बन्धु-बान्धव सहानुभूति दिखाने और हाल पूछने सेठके पास सबेरे ही आये। सेठ उस समय गीताका पारायण कर रहे थे। उनके चेहरेपर जरा भी उद्वेगका चिह्न नहीं था। स्वाभाविक शान्ति और प्रसन्नता निखर रही थी। उन्होंने समागत लोगोंसे पूछा, 'आज आपलोग इस समय घरपर कैसे पधारे? कोई मेरे योग्य खास सेवा हो तो आज्ञा कीजिये।' उन लोगोंने रमणलालके चेहरेपर कोई विकार न देखकर सोचा, 'शायद समाचार झूठा हो।' उन्होंने कहा—'हमलोगोंने सुना था कि आपकी किसी शाखामें भारी डाका पड़ गया है; परंतु बड़ा अच्छा हुआ जो वह अफवाह झूठी निकली। भगवान्‌ने बहुत अच्छा किया।' इसपर सेठ रमणलालने मुसकराते हुए कहा—'बात तो झूठी नहीं है; पर आपका यह कहना सर्वथा सत्य है कि भगवान्‌ने बड़ा अच्छा किया। सचमुच श्रीभगवान्‌ने इसमें मेरा कई तरहसे बड़ा उपकार किया है। भगवान्‌के मङ्गलमय मर्मको तो भगवान् ही जानें; पर मैंने इतना तो समझा है कि प्रथम तो उन्होंने मेरी परीक्षा की है कि धनके लुट जानेसे मुझको दुःख होता है या मैं उनके मङ्गलविधानका आनन्दके साथ स्वागत करता हूँ। दूसरे, उस प्रान्तमें इस समय अकालके लक्षण दिखलायी देने लगे थे। मेरा विचार था कि मैं वहाँके संगृहीत अनाजमेंसे कुछ हिस्सा अकालपीड़ित भाई-बहिनोंकी सेवामें समर्पण कर दूँ। उनके रूपमें भी तो मेरे भगवान् ही हैं। पर मैं देर कर रहा था और मेरे मनमें कुछ बचा रखनेका लोभ था; भगवान्‌की प्रेरणासे उन भगवत्स्वरूप लोगोंने स्वयं ही अपने-आप उस सारे संग्रहको बाँट लिया। मेरा काम हलका हो गया। तीसरे, यदि किसीने लोभवश ही कुछ लिया है तो लिया ही है न? मैंने तो किसीका कुछ नहीं छीना है। और चौथे, मेरा सद्भाव और भगवदाश्रयरूपी धर्म-धन तो पूरा-पूरा मेरे पास ही है। मैं समझता हूँ उसमें तो भगवत्कृपासे कुछ वृद्धि ही हुई है।'

सेठ रमणलालकी बात सुनकर लोग उनके पवित्र भावोंकी प्रशंसा और उनके आचरणपर आश्चर्य करते हुए लौट गये!

सेठ जब छप्पन वर्षके हुए, तब उन्होंने—पुत्र न होनेके कारण—अपने दौहित्र छगनलालको बुलाकर घरका सारा भार और सारा धन सौंप दिया और स्वयं पत्नीसहित नर्मदातटपर जाकर त्यागपूर्ण साधु-जीवन बिताते हुए अखण्ड भजन करने लगे। लगभग सत्तर सालकी उम्र होनेपर पति-पत्नी दोनोंको भगवान् श्रीगोविन्ददेवजीने साक्षात् दर्शन देकर कृतार्थ किया। इसके बाद लगभग तीन साल दोनों पूतात्मा पति-पत्नी एक ही दिन नश्वर शरीर छोड़कर नित्य भगवद्धामको सिधार गये।

भक्त चतुर्भुज

भगवती नर्मदाके पवित्र तटपर गोंडवाना प्रदेशमें भक्त चतुर्भुजका जन्म हुआ था। उस प्रदेशमें जनता कालीजीकी उपासना करती थी और पशुबलिसे देवीको प्रसन्न करनेमें ही अपनी समस्त साधना और उपासनाकी फलसिद्धि समझती थी। भयंकर पशुबलिने भक्त चतुर्भुजके सीधे-सादे हृदयको क्षुब्ध कर दिया। वे परम भागवत थे। उन्होंने धीरे-धीरे लोगोंमें भगवान्‌की भक्तिका प्रचार करना आरम्भ किया। जनताको अपनी मूर्खताजन्य पशुबलि और गलत उपासना-पद्धतिकी जानकारी हो गयी। भक्त चतुर्भुजके निष्कपट प्रेम और उदार मनोवृत्तिने जनताके मनमें उनके प्रति सहानुभूतिकी भावना भर दी, उनके दैवी गुणोंका प्रभाव बढ़ने लगा।

भक्त चतुर्भुज नित्य भागवतकी कथा कहते थे और संत-सेवामें शेष समयका उपयोग करते थे। भागवती कथाकी सुधा-माधुरीसे भक्तिकी कल्पलता फूलने-फलने लगी। लोग अधिकाधिक संख्यामें उनकी कथामें आने लगे। भक्तका चरित्र ही उनके सत्कार्यके लिये विशाल क्षेत्र प्रस्तुत कर देता है। वे अपने प्रचारका ढिंढोरा नहीं पीटा करते। एक समय इनकी कथामें एक उचक्का चोर आया। उसके पास चोरीका धन था। सौभाग्यसे उसमें वह व्यक्ति भी उपस्थित था, जिसके घर उसने चोरी की थी। कथा-प्रसंगमें चोरने सुना कि 'जो भगवत्-मन्त्रकी दीक्षा लेता है, उसका नया जन्म होता है।' चोर भक्तका दर्शन कर चुका था, भगवान्‌की कथा-सुधाका माधुर्य उसके हृदय-प्रदेशमें पूर्णरूपसे प्रस्फुटित हो रहा था, चोरीके कुत्सित कर्मसे उसका सहज ही उद्धार होनेका समय सन्निकट था। कथा सुननेका तो परम पवित्र फल ही ऐसा होता है। उसने चोरीका धन कथाकी समाप्तिपर चढ़ा दिया। वह निष्कलङ्क, निष्कपट और पापमुक्त हो चुका था, भगवान्‌का भक्त बन चुका था। धनी व्यक्तिने उसे पकड़ लिया, उसपर चोरीका आरोप लगाया पर उसका तो वास्तवमें नया जन्म हो चुका था; उसने हाथमें जलता फार लेकर कहा कि इस जन्ममें मैंने कुछ नहीं चुराया है। बात ठीक ही तो थी, अभी कुछ ही देर पहले उसे नया जन्म मिला था। धनी व्यक्ति बहुत लज्जित हुआ। राजाने संतपर चोरीका आरोप लगानेके अपराधमें धनीको मरवा डालना चाहा, पर संत तो परहित चिन्तनकी ही साधनामें रहते हैं। चोरने, जो पूर्ण संत हो चुका था, सारी बात स्पष्ट कर दी। भक्त चतुर्भुजकी कथाका प्रभाव उसपर ऐसा पड़ा था कि धनी व्यक्तिको दण्डित होते देखकर उसके नयनोंसे अश्रुपात होने लगा, राजाको उसने अपनी साधुता और स्पष्टवादितासे आकृष्ट कर लिया। राजाके मस्तिष्कपर चतुर्भुजकी कथाका अमिट रंग चढ़ चुका था; वह भी उनका शिष्य हो गया और भागवत धर्मके प्रचारमें उसने उनको पूरा-पूरा सहयोग दिया।

एक बार कुछ संत इनके खेतके निकट पहुँच गये। चने और गेहूँके खेत पक चुके थे, संतोंने बालें तोड़कर खाना आरम्भ किया। रखवालेने उन्हें ऐसा करनेसे रोका और कहा कि 'ये चतुर्भुजके खेत हैं।' संतोंने कहा, 'तब तो हमारे ही खेत हैं।' रखवाला जोर-जोरसे चिल्लाने लगा कि साधु लोग बालें तोड़-तोड़कर खा रहे हैं और कहते हैं कि ये खेत तो हमारे ही हैं। भक्त चतुर्भुजके कानमें यह रहस्यमयी मधुर बात पड़ी ही थी कि उनके रोम-रोममें आनन्दका महासागर उमड़ आया। उन्होंने अपने सौभाग्यकी सराहना की कि 'आज संतोंने मुझको अपना लिया, मेरी वस्तुको अपनाकर मेरी जन्म-जन्मकी साधना सफल कर दी।' उनके नेत्रोंमें प्रेमाश्रु छा गये, वे गुड़ तथा कुछ मिष्ठान्न लेकर खेतकी ओर चल पड़े। संतोंकी चरण-धूलि मस्तकपर चढ़ाकर अपनी भक्तिनिष्ठाका सिन्दूर अमर कर लिया उन्होंने।

भक्तिमती रबिया

आजसे बारह सौ वर्ष पूर्व तुर्किस्तानके बसरा नामक नगरमें रबियाका जन्म एक गरीब मुसलमानके घर हुआ था। रबिया उसकी चौथी कन्या थी। रबियाकी मा तो उसके बचपनमें ही मर गयी थी। पिता भी रबियाको बारह वर्षकी उम्रमें ही अनाथिनी कर चल बसा। रबिया बड़े ही कष्टके साथ अपना जीवन निर्वाह करती। एक समय देशमें भयानक अकाल पड़ा, जिससे बहनोंका सङ्ग भी छूट गया। किसी दुष्टने रबियाको फुसलाकर एक धनीके हाथ बेच दिया। धनी बड़ा ही स्वार्थी और निर्दय स्वभावका मनुष्य था। पैसोंसे खरीदी हुई गुलाम रबियापर तरह-तरहके जुल्म होने लगे। गाली और मार तो मामूली बात थी। रबिया कष्टसे पीड़ित होकर अकेलेमें ईश्वरके सामने रो-रोकर चुपचाप अपना दुखड़ा सुनाया करती। जगत्में एक ईश्वरके सिवा उसे सान्त्वना देनेवाला कोई नहीं था। गरीब अनाथका उस अनाथ-नाथके अतिरिक्त और होता भी कौन है।

मालिकके जुल्मसे घबराकर उससे पिण्ड छुड़ानेके लिये रबिया एक दिन छिपकर भाग निकली, परंतु ईश्वरका विधान कुछ और था। थोड़ी दूर जाते ही वह ठोकर खाकर गिर पड़ी, जिससे उसका दाहिना हाथ टूट गया। विपत्तिपर नयी विपत्ति आयी। अमावस्याकी घोर निशाके बाद ही शुक्लपक्षका अरुणोदय होता है। विपत्तिकी सीमा होनेपर ही सुखके दिन लौटा करते हैं। रबिया इस नयी विपत्तिसे विचलित होकर रो पड़ी और उसने दीनोंके एकमात्र बन्धु भगवान्‌की शरण लेकर कहा—'ऐ मेरे मेहरबान मालिक! मैं बिना मा-बापकी अनाथ लड़की जन्मसे ही दुःखोंमें पड़ी हुई हूँ। दिन-रात यहाँ कैदीकी तरह मरती-पचती किसी कदर जिंदगी बिता रही थी। रहा-सहा हाथ भी टूट गया। क्या तुम मुझपर खुश नहीं होओगे? कहो, मेरे मालिक! तुम मुझसे क्यों नाराज हो?'

रबियाकी कातर वाणी गगनमण्डलको भेदकर उस अलौकिक लोकमें पहुँच तुरंत भगवान्‌के दिव्य श्रवणेन्द्रियोंमें प्रवेशकर हृदयमें जा पहुँची। रबियाने दिव्य स्वरोंमें सुना, मानो भगवान् स्वयं कह रहे हैं—'बेटी! चिन्ता न कर। तेरे सारे सङ्कट शीघ्र ही दूर हो जायँगे। तेरी महिमा पृथ्वीभरमें छा जायगी। देवता भी तेरा आदर करेंगे।' सच्ची करुण-प्रार्थनाका उत्तर तत्काल ही मिला करता है।

इस दिव्य वाणीको सुनकर रबियाका हृदय आनन्दसे उछल पड़ा। उसको अब पूरी उम्मीद और हिम्मत हो गयी। उसने सोचा कि 'जब प्रभु मुझपर प्रसन्न हैं और अपनी दयाका दान दे रहे हैं, तब कष्टोंको कोमल कुसुमोंके स्पर्शकी भाँति हर्षोत्फुल्ल हृदयसे सहन कर लेना कौन बड़ी बात है।' रबिया अपने हाथकी चोटके दर्दको भूलकर प्रसन्न चित्तसे मालिकके घर लौट आयी। पर आजसे उसका जीवन पलट गया। काम-काज करते हुए भी उसका ध्यान प्रभुके चरणोंमें रहने लगा। वह रातों जगकर प्रार्थना करने लगी। भजनके प्रभावसे उसका तेज बढ़ गया। एक दिन आधी रातके समय रबिया अपनी एकान्त कोठरीमें घुटने टेके बैठी हुई करुण-स्वरसे प्रार्थना कर रही थी। भगवत्प्रेरणासे उसी समय उसके मालिककी भी नींद टूटी। उसने बड़ी मीठी करुणोत्पादक आवाज सुनी और वह तुरंत उठकर अन्दाज लगा रबियाकी कोठरीके दरवाजेपर आ गया। परदेकी ओटसे उसने देखा कोठरीमें अलौकिक प्रकाश छाया हुआ है। रबिया अनिमेष नेत्रोंसे बैठी विनय कर रही है। उसने रबियाके ये शब्द सुने—'ऐ मेरे मालिक! मैं अब सिर्फ तेरा ही हुक्म उठाना चाहती हूँ; लेकिन क्या करूँ? जितना चाहती हूँ, उतना हो नहीं पाता। मैं खरीदी हुई गुलाम हूँ। मुझे गुलामीसे फुरसत ही कहाँ मिलती है।'

दीन-दुनियाके मालिकने रबियाकी प्रार्थना सुन ली और उसीकी प्रेरणासे रबियाके मालिकका मन उसी क्षण पलट गया। वह रबियाकी तेजःपुञ्जमयी मञ्जुल मूर्ति देख और उसकी भक्ति-करुणापूर्ण प्रार्थना सुनकर चकित हो गया। वह धीरे-धीरे रबियाके समीप आ गया। उसने देखा, रबियाके भक्तिभावपूर्ण मुखमण्डल और चमकीले ललाटपर दिव्य ज्योति छायी हुई है। उसी स्वर्गीय

ज्योतिसे मानो सारे घरमें उजियाला हो रहा है। इस दृश्यको देखकर वह भय और आश्चर्यमें डूब गया। उसने सोचा कि ऐसी पवित्र और पूजनीय देवीको गुलामीमें रखकर मैंने बड़ा ही अन्याय—बड़ा ही पाप किया है। ऐसी प्रभुकी सेविका देवीकी सेवा तो मुझको करनी चाहिये। रबियाके प्रति उसके मनमें बड़ी भारी श्रद्धा उत्पन्न हो गयी। उसने विनीत भावसे कहा—'देवि! मैं अबतक तुझे पहचान नहीं सका था। आज भगवत्कृपासे मैंने तेरा प्रभाव जाना। अब तुझे मेरी सेवा नहीं करनी पड़ेगी। तू सुखपूर्वक मेरे घरमें रह। मैं ही तेरी सेवा करूँगा।'

रबियाने कहा—'स्वामिन्! मैं आपके द्वारा सेवा कराना नहीं चाहती। आपने इतने दिनोंतक मुझे घरमें रखकर खानेको दिया, यही मुझपर बड़ा उपकार है। अब आप दया करके मुझको दूसरी जगह चले जानेकी स्वतन्त्रता दे दें तो मैं किसी निर्जन स्थानमें जाकर आनन्दसे भगवान्‌का भजन करूँ।' मालिकने रबियाकी बात मान ली। अब रबिया गुलामीसे छूटकर अपना सारा समय भजन-ध्यानमें बिताने लगी। उसके हृदयमें प्रेमसिन्धु छलकने लगा। संसारकी आसक्तिका तो कहीं नाम-निशान भी नहीं रह गया। रबियाने अपना जीवन सम्पूर्णरूपसे प्रेममय परमात्माके चरणोंमें अर्पण कर दिया। रबियाके जीवनकी कुछ उपदेशप्रद घटनाओंका मनन कीजिये—

एक बार रबिया उदास बैठी हुई थी, दर्शनके लिये आनेवाले लोगोंमेंसे एकने पूछा, 'आज आप उदास क्यों हैं?' रबियाने जवाब दिया—'आज सबेरे मेरा मन स्वर्गकी ओर चला गया था, इसके लिये मेरे आन्तरिक परम सखाने मुझे फटकारा है। मैं इसी कारण उदास हूँ कि सखाको छोड़कर मेरा पाजी मन दूसरी ओर क्यों गया।' रबिया ईश्वरको सखाके रूपसे भजती थी।

एक समय रबिया बहुत बीमार थी, सूफियान नामक एक साधक उससे मिलने गया। रबियाकी बीमारीकी हालत देखकर सूफियानको बड़ा खेद हुआ, परंतु वह संकोचके कारण कुछ भी कह नहीं सका। तब रबियाने उससे कहा—'भाई! तुम कुछ कहना चाहते हो तो कहो।'

सूफियानने कहा—'देवि! आप प्रभुसे प्रार्थना कीजिये, प्रभु आपकी बीमारीको जरूर मिटा देंगे।'

रबियाने मुसकराते हुए जवाब दिया—'सूफियान! क्या तुम इस बातको नहीं जानते कि बीमारी किसकी इच्छा और इशारेसे होती है? क्या इस बीमारीमें मेरे प्रभुका हाथ नहीं है?'

सूफियान—'हाँ, उसकी इच्छा बिना तो क्या होता है।'

रबिया—'जब यह बात है, तब तुम मुझसे यह कैसे कह रहे हो कि मैं उसकी इच्छाके विरुद्ध बीमारीसे छूटनेके लिये उससे प्रार्थना करूँ।' जो मेरा परम सखा है, जिसका प्रत्येक विधान प्रेमसे भरा होता है, उसकी इच्छाके विरुद्ध कार्य करना क्या प्रेमीके लिये कभी उचित है?' कैसा सुन्दर आत्मसमर्पण है!

एक बार संत हुसैन बसरीने रबियासे पूछा—'क्या आप विवाह करना चाहती हैं?' रबियाने जवाब दिया, 'विवाह शरीरसे होता है, परंतु मेरे शरीर कहाँ है। मैं तो मनके साथ इस तनको प्रभुके हाथों अर्पण कर चुकी हूँ, यह शरीर अब उसीके अधीन है और उसीके कार्यमें लगा हुआ है। विवाह किसके साथ किस प्रकार करूँ?'

रबियाने अपना सब कुछ प्रभुको अर्पण कर दिया था, उसके समीप एक प्रभुके सिवा ऐसी कोई वस्तु नहीं थी, जिसे वह 'मेरी' कहती या समझती हो। एक बार हुसैन बसरीने पूछा—'देवि! आपने ऐसी ऊँची स्थिति किस तरह प्राप्त की?'

रबिया—'जो कुछ मिला था, सो सब खोकर उसे पाया है।'

हुसैन—'आप जिस ईश्वरकी उपासना करती हैं, क्या आपने उस ईश्वरको कभी देखा है?'

रबिया—'देखती नहीं तो पूजा कैसे करती। परंतु मेरे उस ईश्वरका वाणीसे वर्णन नहीं हो सकता, वह माप-तौलकी चीज नहीं है।'

रबिया सबसे प्रेम करती, पापी-तापी—सबके साथ उसका दयाका बर्ताव रहता था। एक दिन एक मनुष्यने रबियासे पूछा—'आप पापरूपी राक्षसको तो शत्रु ही समझती हैं न?'

रबियाने कहा—'ईश्वरके प्रेममें छकी रहनेके कारण मुझे न किसीसे शत्रुता करनी पड़ी और न

किसीसे लड़ना ही पड़ा। प्रभुकृपासे मेरे कोई शत्रु रहा ही नहीं।'

एक समय कुछ लोग रबियाके पास गये, रबियाने उनमेंसे एकसे पूछा—'भाई! तू ईश्वरकी सेवा किसलिये करता है?' उसने कहा—'नरककी भयानक पीड़ासे छूटनेके लिये।' दूसरेसे पूछनेपर उसने कहा—'स्वर्ग अत्यन्त ही रमणीय स्थान है, वहाँ भाँति-भाँतिके भोग और असीम सुख है, उसी सुखको पानेके लिये मैं भगवान्‌की भक्ति करता हूँ।'

रबियाने कहा—'बेसमझ भक्त ही भय या लोभके कारण प्रभुकी भक्ति किया करते हैं, न करनेसे तो यह भी अच्छी ही है; परंतु मान लो, यदि स्वर्ग या नरक दोनों ही न होते तो क्या तुमलोग प्रभुकी भक्ति करते? सच्चे भक्तकी ईश्वर-भक्ति किसी भी लोक-परलोककी प्राप्तिके लिये नहीं होती, वह तो अहैतुकी हुआ करती है।' कैसा आदर्श भक्तिका निरूपण है!

एक बार एक धनी मनुष्यने रबियाको बहुत फटे-पुराने चिथड़े पहने देखकर कहा—'तपस्विनी! यदि आपका इशारा हो तो आपकी इस दरिद्रताको दूर करनेके लिये यह दास तैयार है।'

रबिया—'सांसारिक दरिद्रताके लिये किसीसे कुछ भी माँगते मुझे बड़ी शरम मालूम होती है। जब यह सारा जगत् मेरे प्रभुका ही राज्य है, तब उसे छोड़कर मैं दूसरे किससे क्या माँगूँ? मुझे जरूरत होगी तो अपने मालिकके हाथसे आप ही ले लूँगी।' धन्य निर्भरता!

एक समय एक मनुष्यने रबियाके फूटे लोटे और फटी गुदड़ीको देखकर कहा—'देवि! मेरी अनेक धनियोंसे मित्रता है; आप आज्ञा करें तो आपके लिये जरूरी सामान ले आऊँ?'

रबिया—'तुम बहुत गलती कर रहे हो, वे कोई भी मेरे अन्नदाता नहीं हैं। जो यथार्थ जीवनदाता है, वह क्या गरीबीके कारण गरीबको भूल गया है? और क्या धनके कारण ही वह धनवानोंको याद रखता है?'

रबिया कभी-कभी प्रेमावेशमें बड़े जोरसे पुकार उठती। लोग उससे पूछने लगे कि 'आपको कोई रोग या दु:ख न होनेपर भी आप किसलिये चिल्ला उठती हैं?' रबियाने कहा—'मेरी बाहरी बीमारी नहीं है, जिसको संसारके लोग समझ सकें; मेरे तो अन्तरका रोग है, जो किसी भी वैद्य-हकीमके वशका नहीं है। मेरी यह बीमारी तो सिर्फ उस मनमोहनके मुखड़ेकी छवि देखनेसे ही मिट सकती है।'

रबियाका मन सदा-सर्वदा प्रभुकी उपासनामें लगा रहता था, वह दिन-रात प्रभुके चिन्तनमें अपना समय बिताती। एक बार रबियाने प्रभुसे प्रार्थना की—'स्वामी! तू ही मेरा सब कुछ है, मैं तेरे सिवा और कुछ भी नहीं चाहती। हे प्रभो! यदि मैं नरकके डरसे तेरी पूजा करती हूँ तो मुझे नरकाग्निमें भस्म कर दे। यदि मैं स्वर्गके लोभसे तेरी सेवा करती हूँ तो स्वर्गका द्वार मेरे लिये सदाको बंद कर दे और अगर तेरे लिये ही तेरी पूजा करती हूँ तो अपना परम प्रकाशमय सुन्दर रूप दिखलाकर मुझे कृतार्थ कर।'

रबियाका शेष जीवन बहुत ही ऊँची अवस्थामें बीता, वह चारों ओर अपने परम सखाके असीम सौन्दर्यको देख-देखकर आनन्दमें डूबी रहती। एक दिन रातको, जब चन्द्रमाकी चाँदनी चारों ओर छिटक रही थी, रबिया अपनी कुटियाके अंदर किसी दूसरी ही दिव्य सृष्टिकी ज्योत्स्नाका आनन्द लूट रही थी। इतनेमें एक परिचित स्त्रीने आकर ध्यानमग्न रबियाको बाहरसे पुकारा, 'रबिया! बाहर आकर देख—कैसी खूबसूरत रात है।' रबियाके हृदयमें इस समय जगत्‌का समस्त सौन्दर्य जिसकी एक बूँदके बराबर भी नहीं है, वही सुन्दरताका सागर उमड़ रहा था। उसने कहा—'तुम एक बार मेरे दिलके अंदर घुसकर देखो, कैसी दुनियासे परेकी अनोखी खूबसूरती है।'

हिजरी सन् १३५ में रबियाने भगवान्‌में मन लगाकर इस नश्वर शरीरको त्याग दिया!
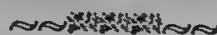
परम शिवभक्ता लल्लेश्वरीजी

(लेखक—पण्डित श्रीअमरनाथजी सप्रू)

लल्लेश्वरीने आत्माके स्तरपर शिवकी उपासना की। वे सत्यके शिवरूपकी मधुर गायिका थीं। उन्होंने आत्मतत्त्वके विवेचन-माधुर्यसे केवल चौदहवीं सदीके कश्मीरको ही नहीं, एशियाके बहुत बड़े भूमिभाग—अरब, फारस आदि देशोंको भी समलङ्कृत किया। उनका जीवन परम पवित्र और सर्वथा आनन्दमय था, रसमय था। अभी चालीस-पचास साल पहले प्रसिद्ध यूरोपीय विद्वान् डाक्टर स्टाइन, सर ग्रियर्सन और सर टेम्पलके उद्योगोंसे उनकी मधुर वाणीका अनुवाद आंग्ल*, जर्मन, फ्रेंच आदि यूरोपीय भाषाओंमें भी हुआ है। लल्लेश्वरी प्रेमकी प्रतीक थीं; उन्होंने शुद्ध, सनातन और नित्य सच्चिदानन्दतत्त्वके प्रति प्रगाढ़ और अटल भक्तिका परिचय दिया। कश्मीरमें तो चौदहवीं सदीसे आजतक उनकी दिव्य वाणी भाटों और चारणोंकी रसनापर सुरक्षित चली आ रही है।

उनका जन्म सन् १३४३ या ४७ के लगभग कश्मीरमें हुआ था। उस समय कश्मीरमें यवनोंकी प्रभुता थी। चारों ओर राजनीतिक उथल-पुथलकी धूम थी। ऐसे कठिन समयमें दिव्य गायिका, साध्वी, तपस्विनीने पामपुरके निकट एक ग्राममें अपनी जीवन-ज्योति बिखेरी। वे ब्राह्मणकन्या थीं। बारह सालकी अवस्थामें उनका विवाह कर दिया गया। उनका ससुरालका जीवन अत्यन्त कष्टप्रद था, सौतेली सासने उनको सताना आरम्भ किया। सास कटोरेमें पहले एक बड़े-से गोल पत्थरपर भात परोसकर देती थी; तपस्याकी मूर्ति वधू आधे पेट खाकर सन्तोष करती। वह और भी अनेक यातनाओंसे पीड़ित करती थी। पर क्षमाशीला लल्लेश्वरीने कभी उसके विरोधमें एक शब्द भी नहीं कहा। भोग और तृष्णासे कोसों दूर रहकर उन्होंने ईश्वर-चिन्तन और पूजनको ही अपना सर्वस्व माना। एक समय देव-पूजाके व्याजसे घरमें पशुबलि होनेवाली थी। पद्मा (लल्लेश्वरी) नदीके तटपर बर्तन साफ कर रही थी कि एक पड़ोसिनने व्यङ्ग किया कि 'आज तो पाँचों अँगुलियाँ घीमें हैं!' पद्माने कहा—'बकरा मरे या भेड़, मुझे तो गोल पत्थरसे ही काम है।' दैवयोगसे उन्होंने पड़ोसिनको सारी बातें बता दीं, उनका ससुर वहीं खड़ा था। ससुरने अपनी पत्नीको फटकारा; पर इसका परिणाम यह हुआ कि वे अधिकाधिक सतायी जाने लगीं। माके कहनेपर बेटा (पति) भी विरोधी हो चला। 'वह डाकिनी है, जादूगरनी है, आधी रातको सिंहकी पीठपर बैठकर नर-मांस खाने जाती है'—इन बातोंसे, मिथ्या प्रचारोंसे उनका जीवन यातनामय हो उठा। उन्होंने सीमाओंको तोड़कर असीमसे मिलनेकी ठान ली। पूर्वजन्मके शुभ संस्कारों और इस जन्मके तपोबलके फलस्वरूप उनके आत्माका दीपक प्रज्वलित हो उठा। वे गलियों और बाजारोंमें शिव-सम्बन्धी गीत गाने लगीं। कोई पत्थर फेंकता, कोई पगली कहता, कोई छेड़ता; पर वे तो शिवतत्त्वकी मधुर साधनामें मस्त रहती थीं। उनका द्वैतभाव मिट गया, समस्त संसार और प्राणिमात्रमें उन्हें शिव परिव्याप्त दीख पड़े। वे परमहंस-वृत्तिसे अवधूतकी तरह घूमने लगीं—न भोजनकी चिन्ता थी, न वस्त्रकी इच्छा थी; कोई दो टुकड़े डाल देता तो शिवका प्रसाद समझकर ग्रहण कर लेतीं।

उनपर सूफी-उपासनाका भी बड़ा प्रभाव पड़ा था। वे नंगी नाचती-फिरती थीं। वे कहा करती थीं कि पुरुष तो कोई है ही नहीं। एक बार उन्होंने बाजारमें प्रसिद्ध सूफी संत शाह हमदानको देखकर कहा—'पुरुष है, पुरुष है।' और भागकर वे एक धधकते तंदूरमें कूद पड़ीं। शाहसाहबने वहाँ पहुँचकर आवाहन किया तो दिव्य वस्त्र-भूषण पहने तंदूरसे बाहर आ गयीं। दोनोंने एक-दूसरेको पूर्णरूपसे प्रभावित किया।

वे केवल शुद्ध आत्मज्ञानिनी ही नहीं, शिवकी रूपामृतलहरीमें, भक्तिगङ्गामें स्नान करनेवाली भक्ता भी थीं, कश्मीरमें उनकी शिव-भक्ति अत्यन्त प्रख्यात है।

* देखिये—सर ग्रियर्सन लिखित 'Lalla Vakayani' और सर टेम्पल लिखित 'Lalla The Prophetess.

उनकी आत्मोपासना उच्चकोटिकी थी, उनकी वाणी सर्वथा दिव्य और सिद्ध थी। एक बार उनके गुरुदेव उपदेश दे रहे थे, शिष्योंकी मण्डली बैठी हुई थी। गुरुजीने प्रश्न किये—सर्वश्रेष्ठ प्रकाश कौन है, जगत्-विख्यात तीर्थ कौन है, सर्वोत्तम सम्बन्धी कौन है, अनन्त सुखका साधन क्या है? कुछ लोगोंने उत्तर तो दिये, पर वे समीचीन न थे; लल्लेश्वरीने विनम्रतापूर्वक निवेदन किया—आत्मज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ प्रकाश है। आत्मामें लीन रहना ही परम पवित्र तीर्थ है। ईश्वर ही सर्वोत्तम बन्धु है। ईश्वरमय होना ही परम सुख है।

उनकी समता तथा सहनशीलता देखिये; वे कहती हैं— लोग मुझे गाली दें या दुःखदायी वचन कहें; जो जिसको अच्छा लगे सो कहे-करे; कोई फूलोंसे मेरी पूजा करे तो किया करे; मैं विमल न दुःख मानूँ, न सुख। कोई मुझे हजार गाली दे— यदि मैं शङ्करभक्ता हूँ तो मेरे मनमें खेद न होगा। दर्पणपर श्वासका मल लगनेसे भला, उसका क्या बिगड़ेगा।'

उनका दार्शनिक, यौगिक ज्ञान भी अत्यन्त उन्नत था। और विचित्रता तो यह है कि उनमें उपासनाका माधुर्य इतनी बहुलतासे मिलता है कि नयनोंमें प्रेममयी लल्लेश्वरीका अभिनय होने लगता है। वे भगवान्से सदा, विनम्रतापूर्वक प्रार्थना किया करती थीं कि 'तुम शिव, केशव, ब्रह्मा जो कुछ भी, वह, यह हो—मेरे जन्म-मरणके दुःखका अन्त कर दो। मैं तुम्हें अपने ही भीतर पाकर आनन्दमय हो गयी।' वे विश्वासपूर्वक कहा करती थीं कि 'समुद्रमें मैं कच्चे धागेसे नाव खींच रही हूँ; कहीं मेरे प्रभु सुन लेंगे तो पार लगा देंगे।'

वे आजीवन यही सीख देती रहीं कि 'सर्वव्यापीकी खोज हो ही किस तरह सकती है। वह सर्वत्र है। शिवने कुञ्ज-कुञ्जमें जाल फैलाकर जीवोंको उलझा रखा है, वह तो आत्मामें ही है। उसकी खोज बाहर नहीं—भीतर हो सकती है। शिव ही मातारूपमें दूध पिलाता है, भार्यारूप धारणकर विलासकी अनुभूति कराता है, मायारूपसे जीवको मोहित करता है, इस मायावी शिवका ज्ञान गुरु ही करा सकते हैं।'

उनकी योगानुभूतिने अपने समकालीन जगत्से कहा कि 'मैंने अपने-आपमें शिवकी व्याप्ति पायी, शिवरूपी अमृत-सरोवरमें मैंने अपने-आपको लय कर दिया, मैं आत्मस्थ हो गयी। मैं प्रेमाग्निमें उसी तरह पिघल गयी, जिस तरह सूर्योदयमें पाला समा जाता है। मैं साक्षात् शिव हो उठी। प्राणोंकी धौंकनीके दिन-रात धौंकनेसे मेरे अन्तर्देशका ज्ञान-दीपक प्रज्वलित हो उठा। मैंने आत्माका दर्शन किया, अन्धकारका अस्तित्व मिट गया।' उन्होंने प्रणवकी बड़ी महिमा गायी है। उन्होंने मनके संयमपर विशेष जोर दिया—'मन गदहा है, इसको सदा वशमें रखना चाहिये, नहीं तो पड़ोसीकी केशरकी क्यारी ही चौपट कर देगा।'

लल्लेश्वरीको परमधाम पधारे छः सौ सालसे अधिक हो रहे हैं; तो भी कश्मीरकी रमणीय सुषमामें, प्रकृतिप्रदत्त सौन्दर्यके कण-कणमें उनकी मधुर वाणी अङ्कित है। उन्होंने सत्यके सौन्दर्यका शिवरूपमें दर्शन किया। यही उनकी शिव-उपासना अथवा आत्मानन्दसाधना है।

कान्हूपात्रा

कान्हूपात्रा मंगलवेढ़ा स्थानमें रहनेवाली श्यामा नाम्नी वेश्याकी लड़की थी। माकी वेश्यावृत्ति देख-देखकर उसे ऐसे जीवनसे बड़ी घृणा हो गयी। जब वह पंद्रह वर्षकी हुई, तभी उसने यह निश्चय कर लिया कि मैं अपनी देह पापियोंके हाथ बेंचकर उसे अपवित्र और कलङ्कित न करूँगी। नाचना-गाना तो उसने मन लगाकर सीखा और इस कलामें वह निपुण भी हो गयी। सौन्दर्यमें उसका वहाँ कोई जोड़ ही नहीं था। श्यामा इसे अपनी दुष्टवृत्तिके साँचेमें ढालकर रुपया कमाना चाहती थी। उसने इसे बहकानेमें कोई कसर नहीं रखी, पर यह अपने निश्चयसे विचलित नहीं हुई। आखिर श्यामाने इससे कहा कि यदि तुम्हें यह धंधा नहीं ही करना है तो कम-से-कम किसी एक पुरुषको तो वर लो। इसने कहा कि 'मैं ऐसे पुरुषको वरूँगी जो मुझसे अधिक सुन्दर, सुकुमार और सुशील हो।' पर ऐसा कोई पुरुष मिला ही नहीं। पीछे कुछ काल बाद वारकरी श्रीविट्ठलभक्तोंके

भजन सुनकर यह श्रीपण्ढरीनाथके दर्शनोंके लिये पण्ढरपुर गयी तथा पण्ढरीनाथके दर्शन करके, उन्हींको वरणकर, उन्हींके चरणोंकी दासी बनकर सदाके लिये वहीं रह गयी। इसके सौन्दर्यकी ख्याति दूर-दूरतक फैल चुकी थी। बेदरके बादशाहकी भी इच्छा हुई कि कान्हूपात्रा मेरे हरममें आ जाय। उसने उसे लानेके लिये अपने सिपाही भेजे। इन सिपाहियोंको यह हुक्म था कि कान्हूपात्रा यदि खुशीसे न आना चाहे तो उसे जबर्दस्ती पकड़कर ले आओ। सिपाही पण्ढरपुर पहुँचे और उसे पकड़कर ले जाने लगे। उसने सिपाहियोंसे कहा—'मैं एक बार श्रीविट्ठलजीके दर्शन कर आऊँ।' यह कहकर वह मन्दिरमें गयी और अनन्य भावसे भगवान्‌को पुकारने लगी। इस पुकारके पाँच अभङ्ग प्रसिद्ध हैं, जिनमें कान्हूपात्रा भगवान्से कहती है—'हे पाण्डुरंग! ये दुष्ट दुराचारी मेरे पीछे पड़े हैं; अब मैं क्या करूँ, कैसे तुम्हारे चरणोंमें बनी रहूँ? तुम जगत्‌की जननी हो, इस अभागिनीको अपने चरणोंमें स्थान दो। त्रिभुवनमें मेरे लिये और कोई स्थान नहीं! मैं तुम्हारी हूँ, इसे अब तुम ही उबार लो।' यह कहते-कहते कान्हूपात्राकी देह अचेतन हो गयी। उससे एक ज्योति निकली और वह भगवान्‌की ज्योतिमें मिल गयी, अचेतन देह भगवान्‌के चरणोंमें आ गिरी। कान्हूपात्राकी अस्थियाँ मन्दिरके दक्षिण द्वारमें गाड़ी गयीं। मन्दिरके समीप कान्हूपात्राकी मूर्ति खड़ी-खड़ी आज भी पतितोंको पावन कर रही है।

भक्त जनाबाई

भक्तिमती जनाबाई सुविख्यात भक्तश्रेष्ठ श्रीनामदेवजीके घरमें नौकरानी थी। घरमें झाड़ू देना, बरतन माँजना, कपड़े धोना और जल भरना आदि सभी काम उसे करने पड़ते थे। ऋषि-मुनियोंकी सेवामें रहकर पूर्वजन्ममें जैसे देवर्षि नारदजी भगवान्‌के परम प्रेमी बन गये थे, वैसे ही भक्तवर नामदेवजीके घरमें होनेवाली सत्सङ्गति तथा भगवच्चर्चाके प्रभावसे जनाबाईके सरल हृदयमें भी भगवत्प्रेमका बीज अङ्कुरित हो गया! उसकी भगवन्नाममें प्रीति हो गयी; जिसमें जिसकी प्रीति होती है, उसे वह भूल नहीं सकता। इसी तरह जनाबाई भी भगवन्नामको निरन्तर स्मरण करने लगी। ज्यों-ज्यों नामस्मरण बढ़ा, त्यों-ही-त्यों उसके पापपुञ्ज जलने लगे और प्रेमका अङ्कुर पल्लवित होकर दृढ़ वृक्षके रूपमें परिणत होने लगा तथा उसकी जड़ सब ओर फैलने लगी!

एकादशीका दिन है, नामदेवजीके घर भक्तोंकी मण्डली एकत्र हुई है, रातके समय जागरण हो रहा है। नामकीर्तन और भजनमें सभी मस्त हो रहे हैं। कोई कीर्तन करता है, कोई मृदङ्ग बजाता है, कोई करताल और कोई झाँझ बजाता है। प्रेमी भक्त प्रेममें तन्मय हैं, किसीको तन-मनकी सुधि नहीं है—कोई नाचता है, कोई गाता है, कोई आँसू बहा रहा है, कोई मस्त हँसी हँस रहा है। कितनी रात गयी, इस बातका किसीको खयाल नहीं है। जनाबाई भी एक कोनेमें खड़ी प्रेममें मत्त होकर झूम रही है। इस आनन्दाम्बुधिमें डूबे रात बहुत ही जल्दी बीत गयी। उषाकाल हो गया। लोग अपने-अपने घर गये। जनाबाई भी अपने घर आयी।

घर आनेपर जनाबाई जरा लेट गयी। प्रेमकी मादकता अभी पूरी नहीं उतरी थी, वह उसीमें मुग्ध हुई पड़ी रही। सूर्यदेव उदय हो गये। जनाबाई उठी और सूर्योदय हुआ देखकर बहुत घबरायी। उसने सोचा, मुझे बड़ी देर हो गयी। मालिकके घर झाड़ू-बरतनकी बड़ी कठिनाई हुई होगी, वह हाथ-मुँह धोकर तुरंत कामपर चली गयी।

पूरा विलम्ब हो चुका था, जना घबरायी हुई जल्दी-जल्दी हाथका काम समाप्त करनेमें लग गयी। परंतु हड़बड़ाहटमें काम पूरा नहीं हो पाता। दूसरे, एक काममें विलम्ब हो जानेसे सिलसिला बिगड़ जानेके कारण सभीमें विलम्ब होता है; यहाँ भी यही हुआ। झाड़ू देना है, पानी भरना है, कपड़े धोने हैं, बरतन माँजने हैं; और न मालूम कितने काम हैं।

कुछ काम निपटाकर वह जल्दी-जल्दी कपड़े लेकर उन्हें धोनेके लिये चन्द्रभागा नदीके किनारे पहुँची। कपड़े धोनेमें हाथ लगा ही था कि एक बहुत जरूरी काम याद

आ गया, जो इसी समय न होनेसे नामदेवजीको बड़ा कष्ट होता; अवएव वह नदीसे तुरंत मालिकके घरकी ओर चली। रास्तेमें अकस्मात् एक अपरिचिता वृद्धा स्त्रीने प्रेमसे पल्ला पकड़कर जनासे कहा, 'बाई जना! यों घबरायी हुई क्यों दौड़ रही हो? ऐसा क्या काम है?' जनाने अपना काम उसे बतला दिया। वृद्धाने स्नेहपूर्ण वचनोंसे कहा, 'घबराओ नहीं! तुम घरसे काम कर आओ, तबतक मैं तुम्हारे कपड़े धोये देती हूँ!' जनाबाईने कहा, 'नहीं मा! तुम मेरे लिये कष्ट न उठाओ, मैं अभी लौट आती हूँ।' वृद्धाने मुसकराते हुए उत्तर दिया, 'मुझे इसमें कोई कष्ट नहीं होगा, मेरे लिये कोई भी काम करना बहुत आसान है; मैं सदा सभी तरहके काम करती हूँ, इससे मुझे अभ्यास है! इसपर भी तुम्हारा मन न माने तो कभी मेरे काममें तुम भी सहायता कर देना।' जनाबाईको घर पहुँचनेकी जल्दी थी, इधर वृद्धाके वचनोंमें स्नेह टपक रहा था; वह कुछ भी न बोल सकी और मन-ही-मन वृद्धाकी परोपकार-वृत्तिकी सराहना करती हुई चली गयी। उसे क्या पता था कि यह वृद्धा मामूली स्त्री नहीं, सच्चिदानन्दमयी जगज्जननी है!

वृद्धाने बात-की-बातमें कपड़े धोकर साफ कर दिये। कपड़ोंके साथ ही उन कपड़ोंको पहनने और लानेवालोंका कर्ममल भी धुल गया! थोड़ी देरमें जनाबाई लौटी। धुले हुए कपड़े देखकर उसका हृदय कृतज्ञतासे भर गया। उसने वृद्धासे कहा, 'माता! आज तुम्हें बड़ा कष्ट हुआ, तुम-सरीखी परोपकारिणी माताएँ ईश्वरस्वरूप ही होती हैं।' जना! तू भूलती है। यह वृद्धा ईश्वरस्वरूपिणी नहीं है, साक्षात् ईश्वर ही है। तेरे प्रेमवश भगवान्ने वृद्धाका स्वाँग सजा है!

वृद्धाने मुसकराते हुए कहा, 'जनाबाई! मुझे तो कोई कष्ट नहीं हुआ, काम ही कौन-सा था! लो अपने कपड़े, मैं जाती हूँ।' इतना कहकर वृद्धा वहाँसे चल दी। जनाका हृदय वृद्धाके स्नेहसे भर गया था; उसे पता ही नहीं लगा कि वृद्धा चली जा रही है। जना कपड़े बटोरने लगी; इतनेमें ही उसके मनमें आया कि 'वृद्धाने इतना उपकार किया है; उसका नाम-पता तो पूछ लूँ, जिससे कभी उसका दर्शन और सेवा-सत्कार किया जा सके।' वृद्धा कुछ ही क्षण पहले गयी थी। जनाने चारों ओर देखा, रास्तेकी ओर दौड़ी, सब तरफ ढूँढ़ हारी; वृद्धाका कहीं पता नहीं लगा, लगता भी कैसे।

जना निराश होकर नदी-किनारे लौट आयी और वहाँसे कपड़े लेकर नामदेवके घर पहुँची। संत जनाका मन वृद्धाके लिये व्याकुल था; वृद्धाने जाते-जाते न मालूम क्या जादू कर दिया, जना कुछ समझ ही नहीं सकी। बात भी यही है। यह जादूगरनी थी भी बहुत निपुण।

सत्सङ्गका समय था, संतमण्डली एकत्र हो रही थी; जनाने वहाँ पहुँचकर अपना हाल नामदेवजीको सुनाना आरम्भ किया, कहते-कहते जना गद्गदकण्ठ हो गयी। भगवद्भक्त नामदेवजी सारी घटना सुनकर तुरंत लीलामयकी लीला समझ गये और मन-ही-मन भगवान्की भक्तवत्सलताकी प्रशंसा करते हुए प्रेममें मग्न हो गये। फिर बोले, 'जना! तू बड़भागिनी है! भगवान्ने तुझपर बड़ा अनुग्रह किया। वह कोई मामूली बुढ़िया नहीं थी; वे तो साक्षात् नारायण थे, जो तेरे प्रेमवश बिना ही बुलाये तेरे काममें हाथ बँटाने आये थे।' यह सुनते ही जनाबाई प्रेमसे रोने लगी और भगवान्को कष्ट देनेके कारण अपनेको कोसने लगी। सारा संत-समाज आनन्दसे पुलकित हो गया।

कहा जाता है कि इसके बाद भगवान्के प्रति जनाबाईका प्रेम बहुत ही बढ़ गया था और भगवान् समय-समयपर उसे दर्शन देकर कृतार्थ किया करते थे। जनाबाई चक्की पीसते समय भगवत्प्रेमके 'अभंग' गाया करती थी; गाते-गाते जब वह प्रेमावेशमें सुध-बुध भूल जाती, तब उसके बदलेमें भगवान् स्वयं पीसते और भक्तिमती जनाके अभंगोंको सुन-सुनकर प्रसन्न हुआ करते थे। महाराष्ट्र कवियोंने 'जना संगे दलिले' यानी 'जनाके साथ चक्की पीसते थे' इस प्रकार गाया है। महाराष्ट्र-प्रान्तमें जनाबाईका स्थान बहुत ही ऊँचा है।

साध्वी सखूबाई

महाराष्ट्रमें कृष्णा नदीके तटपर कर्‍हाड़ नामक एक स्थान है। वहाँ एक ब्राह्मण रहता था। उसके घरमें वह, उसकी स्त्री और पुत्र तथा साध्वी पुत्रवधू—ये चार प्राणी थे। ब्राह्मणकी पुत्रवधूका नाम सखूबाई था। सखूबाई जितनी ही अधिक भगवान्‌की भक्त, सुशीला, विनम्र और सरलहृदया थी, उसके सास-ससुर और पति—तीनों उतने ही दुष्ट, कर्कश, अभिमानी, कुटिल और कठोरहृदय थे। वे सखूको सतानेमें कुछ भी उठा नहीं रखते थे। तड़केसे लेकर रातको सबके सो जानेतक मशीनकी भाँति बिना विश्राम काम करनेपर भी सास उसे भरपेट खानेको भी नहीं देती थी। परंतु सखूबाई इसे भी भगवान्‌की दया समझकर अपने कर्तव्यके अनुसार अस्वस्थ हो जानेपर भी काम करती रहती। परंतु दुष्टा सास इतनेपर ही राजी न होती, वह उसे दो-चार लात-घूँसे जमाये और उसको तथा उसके माँ-बापको दस-बीस बार गालियाँ सुनाये बिना सन्तुष्ट नहीं होती। परंतु सखू सासके सामने कुछ न बोलती, लोहूका घूँट पीकर रह जाती। वह इन दारुण दुःखोंको अपने कर्मोंका भोग और भगवान्‌का आशीर्वाद समझकर उन्हें सुखरूपमें परिणतकर सदा प्रसन्न रहती।

महाराष्ट्रमें पण्ढरपुर वैष्णवोंका प्रसिद्ध तीर्थ है। वहाँ प्रतिवर्ष आषाढ़ शुक्ला एकादशीको बड़ा भारी मेला होता है। लाखों नर-नारी कीर्तन करते हुए भगवान् पण्ढरीनाथ श्रीविट्ठलके दर्शनार्थ दूर-दूरसे आते हैं। अबके भी कुछ यात्री कर्‍हाड़की तरफसे होकर पण्ढरपुरके मेलेमें जा रहे थे। सखू इस समय कृष्णा नदीपर जल भरने गयी थी। इन सबको जाते देखकर उसके मनमें भी श्रीपण्ढरीनाथके दर्शन करनेकी प्रबल इच्छा हुई। उसने सोचा कि सास-ससुर आदिसे तो किसी तरह आज्ञा मिल नहीं सकती और पण्ढरपुर जाना निश्चित है; अतः क्यों न इसी मण्डलीके साथ चल पड़ूँ। वह उनके साथ हो ली। उसकी एक पड़ोसिनने यह सब समाचार उसकी दुष्टा सासको जा सुनाया। वह सुनते ही जहरीली नागिनकी तरह फुफकार मारकर उठी और अपने लड़केको सिखा-पढ़ाकर सखूको मारते-पीटते घसीट लानेको भेजा। वह नदीतटपर पहुँचा और सखूको मार-पीटकर घर ले आया। अब तीनोंकी मन्त्रणाके अनुसार दो सप्ताहतक, जबतक कि पण्ढरपुरकी यात्रा होती है, सखूको बाँध रखने और कुछ भी खाने-पीनेको न देना निश्चित हुआ। उन्होंने सखूको रस्सीसे इतने जोरसे खींचकर बाँधा कि उसके सूखे शरीरमें गढ़े पड़ गये।

बन्धनमें पड़ी हुई सखू भगवान्‌से कातर स्वरसे प्रार्थना करने लगी—'हे नाथ! मेरी यही इच्छा थी कि यदि एक बार भी इन नेत्रोंसे आपके चरणोंके दर्शन कर लेती तो सुखपूर्वक प्राण निकलते। मेरे तो जो कुछ हैं सो आप ही हैं और मैं—भली-बुरी जैसी भी हूँ, आपकी ही हूँ। हे नाथ! क्या मेरी इतनी-सी बात भी न सुनोगे, दयामय?' इस प्रकार बड़ी देरतक सखू प्रार्थना करती रही। भक्तके अन्तस्तलकी सच्ची पुकार कभी व्यर्थ नहीं जाती। वह चाहे कितनी ही धीमी क्यों न हो, त्रिभुवनको भेदकर भगवान्‌के कर्णछिद्रोंमें प्रवेश कर जाती है और उनके हृदयको उसी क्षण द्रवीभूत कर देती है।

सखूकी आर्त पुकारसे वैकुण्ठनाथका आसन हिल उठा। वे तुरंत एक सुन्दर स्त्रीका रूप धारणकर उसी क्षण सखूके पास जाकर बोले—'बाई! मैं पण्ढरपुर जा रही हूँ, तू वहाँ नहीं चलेगी?' सखूने कहा 'बाई! मैं जाना तो चाहती हूँ, पर यहाँ बँध रही हूँ; मुझ पापिनीके भाग्यमें पण्ढरपुरकी यात्रा कहाँ है।' यह सुनकर उन स्त्रीवेषधारी भगवान्‌ने कहा—'बाई! मैं तेरी सदा सहचरी हूँ, तू उदास मत हो। तेरे बदले मैं यहाँ बँध जाती हूँ।' यह कहकर भगवान्‌ने तुरंत उसके बन्धन खोल दिये और उसे पण्ढरपुर पहुँचा दिया। आज सखूका केवल यही बन्धन नहीं खुला, उसके सारे बन्धन सदाके लिये खुल गये। वह मुक्त हो गयी।

सखूका वेष धारण किये नाथ बँधे हैं। सखूके सास-ससुर आदि आते हैं और बुरा-भला कहकर चले जाते

हैं। और भगवान् भी सुशीला वधूकी तरह सब कुछ सह रहे हैं। इस प्रकार बँधे हुए पूरे पंद्रह दिन हो गये। सास-ससुरका दिल तो इतनेपर भी नहीं पसीजा; पर सखूके पतिके मनमें यह विचार आया कि पूरा एक पक्ष बिना कुछ खाये-पीये बीत गया; कहीं यह मर गयी तो हमारी बड़ी फजीहत होगी। अतः वह पश्चात्ताप करता हुआ सखूवेषधारी भगवान्‌के पास पहुँचा और सारे बन्धन काटकर क्षमा-प्रार्थना करके बड़े प्रेमसे स्नान-भोजन आदि करनेके लिये कहने लगा।

भगवान् भी ठीक पतिव्रता पत्नीकी भाँति सिर नीचा किये खड़े रहे। वह सखूके आनेके पहले ही अन्तर्धान होनेमें उसकी विपत्तिकी आशंकासे सखूके लौट आनेतक वहीं ठहरे रहे। उन्होंने स्नान करके रसोई बनायी और स्वयं अपने हाथसे तीनोंको भोजन कराया। आजके भोजनमें कुछ विलक्षण स्वाद था। भगवान्‌ने अपने सुन्दर व्यवहार और सेवासे सबको अपने अनुकूल बना लिया।

इधर सखूबाई पण्ढरपुर पहुँचकर भगवान्‌के दर्शन करके आनन्दसिन्धुमें डूब गयी। वह यह भूल गयी कि कोई दूसरी स्त्री उसकी जगह बँधी है। उसने प्रतिज्ञा कर ली कि जबतक इस शरीरमें प्राण हैं, मैं पण्ढरपुरकी सीमासे बाहर नहीं जाऊँगी। प्रेममुग्धा सखू भगवान् पाण्डुरंगके ध्यानमें संलग्न हो गयी, वह समाधिस्थ हो गयी। अन्तमें सखूके प्राण कलेवर छोड़कर निकल भागे और शरीर अचेतन होकर गिर पड़ा। दैवयोगसे कर्‌हाड़के निकटवर्ती किवल नामक ग्रामके एक ब्राह्मणने उसे पहचानकर अपने साथियोंको बुलाकर उसकी अन्त्येष्टि-क्रिया की।

अब जगन्माता श्रीरुक्मिणीजीने देखा कि यह तो यहाँ मर गयी और मेरे स्वामी इसकी जगह बहू बने बैठे हैं; मैं तो बेढब फँसी! यह विचारकर उन्होंने श्मशानमें जाकर सखूकी हड्डियाँ बटोरकर उसमें प्राण-सञ्चार कर दिया। सखू नवीन शरीरमें जीवित हो गयी। जो महामाया देवी समस्त ब्रह्माण्डकी रचना और उसका विनाश करती है, उसके लिये सखूको जीवित करना कौन बड़ी बात थी। उसे जीवित करके माताने कहा कि 'तेरी प्रतिज्ञा यही थी न कि तू अब इस देहसे पण्ढरपुरसे बाहर न जायगी। तेरा वह शरीर तो जला दिया गया है। अब तू इस शरीरसे यात्रियोंके साथ घर लौट जा।' सखूबाई यात्रियोंके साथ दो दिनमें कर्‌हाड़ पहुँच गयी। सखूका आना जानकर सखूवेषधारी भगवान् नदीतटपर घड़ा लेकर आ गये और सखूके आते ही दो-चार मीठी-मीठी बातें बनाकर और घड़ा उसे देकर अदृश्य हो गये। सखू घड़ा लेकर घर आयी और अपने काममें लग गयी, परंतु अपने घरवालोंका स्वभावपरिवर्तन देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ।

कुछ दिनों बाद वह किवल गाँववाला ब्राह्मण जब सखूकी मृत्युका समाचार उसके घरपर देने आया और उसने सखूको घरमें काम करते देखा, तब उसके आश्चर्यका पारावार न रहा। उसने सखूके सास-ससुरको बाहर बुलाकर उनसे कहा—'सखू तो पण्ढरपुरमें मर गयी, यह कहीं प्रेत बनकर तो तुम्हारे यहाँ नहीं आ गयी है?' सखूके ससुर और पतिने कहा—'वह तो पण्ढरपुर गयी ही नहीं, तुम ऐसी बात कैसे कर रहे हो।' ब्राह्मणके बहुत कहनेपर सखूको बुलाकर सब बातें पूछी गयीं। उसने भगवान्‌की सारी लीला कह सुनायी। सखूकी बात सुनकर सास-ससुर और पतिने बड़े पश्चात्तापके साथ कहा—'निश्चय ही यहाँ बँधनेवाली स्त्रीके रूपमें साक्षात् लक्ष्मीपति ही थे। हम बड़े नीच और कुटिल हैं जो हमने उन्हें इतने दिनोंतक बाँध रखा और उन्हें नाना प्रकारके क्लेश दिये।' तीनोंके हृदय बिलकुल शुद्ध हो ही चुके थे। अब वे भगवान्‌के भजनमें लग गये और सखूका बड़ा ही उपकार मानकर उसका सम्मान करने लगे। इस प्रकार भगवान्‌की दयासे अपने सास-ससुर और पतिदेवको अनुकूल बनाकर सखूबाई जन्मभर उनकी सेवा करती रही और अपना सारा समय भगवान्‌के नामस्मरण, ध्यान, भजन आदिमें बिताती रही।

भक्तिमती करमैतीबाई

जयपुरके अन्तर्गत खण्डेला नामक एक स्थान है। वहाँ सेखावत सरदार राज्य करते थे। पण्डित परशुरामजी खण्डेला राज्यके कुल-पुरोहित थे। करमैतीबाई इन्हीं भाग्यशाली परशुरामजीकी सद्गुणवती पुत्री थी। पूर्वसंस्कारवश लड़कपनसे ही करमैतीका मन श्यामसुन्दरमें लगा हुआ था। वह निरन्तर श्रीकृष्णके नामका जप किया करती और एकान्त स्थलमें श्रीकृष्णका ध्यान करती हुई 'हा नाथ! हा नाथ!' पुकारा करती। ध्यानमें उसके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगती। शरीरपर पुलकावलि छा जाती। प्रेमावेशमें वह कभी हँसती, कभी रोती और कभी ऊँची सुरीली आवाजसे कीर्तन करने लगती। नन्ही-सी बालिकाका सरल भगवत्प्रेम देखकर घरके और आसपासके सभी लोग प्रसन्न होते। होते-होते करमैतीकी उम्र विवाहके योग्य हो गयी, पिता-माता सुयोग्य वरकी खोज करने लगे; परंतु करमैतीबाईको विवाहकी चर्चा नहीं सुहाती। वह लज्जावश माता-पिताके सामने कुछ बोलती तो नहीं, परंतु विषयोंकी बातें उसे विषके समान प्रतीत होतीं। इच्छा न होनेपर भी पिताकी इच्छासे उसका विवाह हो गया; परन्तु वह तो अपने-आपको विवाहसे पूर्व ही—नहीं, नहीं, पूर्वजन्ममें ही भगवान्के अर्पण कर चुकी थी। भगवान्की वस्तुपर दूसरेका अधिकार होना वह कैसे सहन कर सकती थी। वह तो इस संसारके परे दिव्य प्रेम-राज्यके अधीश्वर नित्य नवीन, चिरकुमार सौन्दर्यकी राशि श्याम-वदन सच्चिदानन्दको वरणकर दिन-रात उन्हींका चिन्तन किया करती थी। कुछ दिन तो यों ही बीते, परंतु एक दिन ससुरालवाले उसे लेनेको आ गये। उसे पता लगा कि वह जिस घरमें ब्याही गयी है, वहाँके लोग भगवान्को नहीं मानते, वे वैष्णवों और संतोंके विरोधी हैं; वहाँ उसे अपने प्यारे ठाकुरजीकी सेवाका भी अवसर नहीं मिलेगा और अपने शरीर-मनको भी विषय-सेवामें लगाना पड़ेगा। यह सब सोच-विचारकर वह व्याकुल हो उठी, मन-ही-मन भगवान्को स्मरणकर रोने लगी। उसने कहा—'नाथ! इस विपत्तिसे तुम्हीं बचाओ। क्या यह तुम्हारी दासी आज जबरदस्ती विषयोंकी दासी बनायी जायगी? क्या तुम इसे ऐसा कोई उपाय नहीं बतला दोगे, जिससे यह तुम्हारे व्रजधाममें पहुँचकर वहाँकी पवित्र धूलिको अपने मस्तकपर धारण कर सके?'

घरमें माता-पिता बेटीको ससुराल भेजनेकी तैयारीमें लगे हैं, इधर करमैती दूसरी ही धुनमें मस्त है। रातको थककर सब सो गये, परंतु करमैती तो भगवान्से उपर्युक्त प्रार्थना कर रही है। अकस्मात् उसके मनमें स्फुरणा हुई कि जगत्की इस विषय-वासनामें, जो मनुष्यको सदाके लिये प्यारे भगवान्से विमुख कर देती है, रहना सर्वथा मूर्खता है। अतएव कुछ भी हो, विषयोंका त्याग ही मेरे लिये सर्वथा श्रेयस्कर है। यों विचारकर आधी रातके समय, अन्धकार और सन्नाटेको चीरती हुई करमैती निर्भय चित्तसे अकेली ही घरसे निकल गयी। जो उस प्राणप्यारेके लिये मतवाले होकर निकलते हैं, उन्हें किसीका भी भय नहीं रहता। आजसे पूर्व करमैती कभी घरसे अकेली नहीं निकली थी, परंतु आज आधी रातके समय सब कुछ भूलकर दौड़ रही है। कोई साथ नहीं है। साथ हैं भक्तोंके चिर-सखा-सदासङ्गी भगवान् श्यामसुन्दर, जिनका एक काम ही शरणागत—आश्रित भक्तोंके साथ रहकर उनकी रक्षा करना है।

भगवत्प्रेममें मतवाली करमैती अन्धकारको भेदन करती हुई चली जा रही है। उसे यह सुधि नहीं है कि मैं कौन हूँ और कहाँ जा रही हूँ।

वह तो दौड़ी चली जा रही है। रातभरमें कितनी दूर निकल गयी, कुछ पता नहीं। प्रातःकाल हो गया, पर वह तो नींद-भूखको भुलाकर उसी प्रकार दौड़ी जा रही है। इधर सबेरा होते ही करमैतीकी माताने जब बेटीको घरमें नहीं पाया, तब रोती हुई अपने पति परशुरामके पास जाकर यह दुःसंवाद सुनाया। परशुरामको बड़ा दुःख हुआ, एक तो पुत्रीका स्नेह और दूसरे लोक-लाजका भय! यद्यपि वह जानता था कि मेरी बेटी विषय-विराग और भगवदनुरागके कारण ही कहीं चली गयी है, तथापि गाँवके लोग न मालूम क्या-क्या कहेंगे, मेरी सती पुत्रीपर व्यर्थ कलङ्क लगेगा। इन विचारोंसे वह महान् दुःखी होकर अपने यजमान राजाके पास गया। राजाने पुरोहितके दुःखमें सहानुभूति प्रकट करते हुए चारों ओर सवार दौड़ाये। दो घुड़सवार उस रास्ते भी गये, जिस रास्तेसे करमैती जा रही थी। दूरसे घोड़ोंकी टाप सुनायी दी, तब करमैतीको होश हुआ। उसने समझा, हो-न-हो ये सवार मेरे ही पीछे आ रहे हैं; परंतु वह छिपे कहाँ? न कहीं पहाड़की कन्दरा है

और न वृक्षका ही कोई नाम-निशान है। रेगिस्तान-सा खुला मैदान है। अन्तमें एक बुद्धि उपजी। पास ही एक मरा हुआ ऊँट पड़ा था! सियार-गिद्धोंने उसके पेटको फाड़कर मांस निकाल लिया था। पेट एक खोहकी तरह बन गया था। करमैती बेधड़क उसी सड़ी दुर्गन्धसे पूर्ण ऊँटके कंकालमें जा छिपी। सवारोंने उस ओर ताका ही नहीं। तीव्र दुर्गन्धके मारे वे तो वहाँ ठहर ही नहीं सके। करमैतीके लिये तो विषयोंकी दुर्गन्ध इतनी असह्य हो गयी थी कि उसने उस दुर्गन्धसे बचनेके लिये इस दुर्गन्धको बहुत तुच्छ समझा या प्रेम-पागलिनी भक्त बालिकाके लिये भगवत्कृपासे वह दुर्गन्ध महान् सुगन्धके रूपमें ही परिणत हो गयी। जिसकी कृपासे अग्नि शीतल और विष अमृत बन गया था, उसकी कृपासे दुर्गन्धका सुगन्ध बन जाना कौन बड़ी बात थी। तीन दिनतक करमैती ऊँटके पेटमें प्यारे श्यामके ध्यानमें पड़ी रही। चौथे दिन वहाँसे निकली। थोड़ी दूर आगे जानेपर साथ मिल गया। करमैतीने पहले हरद्वार पहुँचकर भागीरथीमें स्नान किया, फिर चलते-चलते वह साँवरेकी लीलाभूमि वृन्दावनमें जा पहुँची। उस जमानेमें वृन्दावन केवल सच्चे विरागी वैष्णव साधुओंका ही केन्द्र था। वहाँ चारों ओरके मतवाले भगवत्प्रेमियोंका ही जमघट्ट रहा करता था, इसीसे वह परम पवित्र था और इसीसे भक्तोंकी दृष्टि उसकी ओर लगी रहती थी।

वृन्दावन पहुँचकर करमैती मानो आनन्दसागरमें डूब गयी। वह जंगलमें ब्रह्मकुण्डपर रहने लगी। प्रेमसिन्धुकी मर्यादा टूट जानेसे उसका जीवन नित्य अपार प्रेमधारामें बहने लगा! इधर परशुरामको जब कहीं पता न लगा, तब वह ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वृन्दावन पहुँचा। वृन्दावनमें भी करमैतीका पता कैसे लगता। जगत्के सामने अपनी भक्तिका स्वाँग दिखानेवाली वह कोई नामी-गरामी भक्त तो थी ही नहीं, वह तो अपने प्रियतमके प्रेममें डूबी हुई अकेली जंगलमें पड़ी रहती थी। एक दिन परशुरामने वृक्षपर चढ़कर देखा तो ब्रह्मकुण्डपर एक वैरागिणी दिखायी दी; वह तुरंत उतरकर वहाँ दौड़ा गया। जाकर देखता है, करमैती साधु-वेशमें ध्यानमग्न बैठी है। उसके मुखपर भजनका निर्मल शीतल तेज छिटक रहा है। आँखोंसे प्रेमके आँसुओंकी अनवरत धारा बह रही है। परशुराम पुत्रीकी यह दशा देखकर हर्ष-शोकमें डूब गया। पुत्रीकी बाहरी अवस्थापर तो शोक था और उसके भगवत्प्रेमपर उसे बड़ा हर्ष था। वह अपनेको ऐसी भक्तिमती देवीका पिता समझकर धन्य मान रहा था।

परशुरामको वहाँ बैठे कई घंटे हो गये। वह उसकी प्रेम-दशा देख-देखकर बेसुध-सा हो गया, पर करमैती नहीं जागी। आखिर परशुरामने उसे हिलाकर होश कराया और बहुत अनुनय-विनयके साथ घर चलकर भजन करनेके लिये कहा। करमैतीने कहा—'पिताजी! यहाँ आकर कौन वापस गया है। फिर मैं तो उस प्रेममयके प्रेम-सागरमें डूबकर अपनेको खो चुकी हूँ, जीती हुई ही मर चुकी हूँ। यह मुर्दा अब यहाँसे कैसे उठे? आप घर जाकर मेरी मातासहित श्रीकृष्णका भजन करें। इसके समान सुखका साज त्रिलोकीमें कहीं दूसरा नहीं है।' भगवान्के गुण गाते-गाते प्रेमावेशमें करमैती मूर्च्छित हो गयी। ब्राह्मण परशुरामने अपने संसारी जीवनको धिक्कार देते हुए उसे जगाया और श्रीकृष्ण-भजनकी प्रतिज्ञा करके प्रेममें रोता हुआ वहाँसे घर लौटा। घर पहुँचकर उसने गृहिणीको पुत्रीके समाचार सुनाकर कहा कि 'ब्राह्मणी! तू धन्य है जो तेरे पेटसे ऐसी सन्तान पैदा हुई। आज हमारा कुल पवित्र और धन्य हो गया।'

राजाने जब यह समाचार सुना, तब वह भी करमैतीके दर्शनके लिये वृन्दावनको चल दिया। राजाने वृन्दावन पहुँचकर करमैतीकी बड़ी ही प्रेम-तन्मय अवस्था देखी। राजाका मस्तक भक्तिभावसे उसके चरणोंमें आप ही झुक गया। राजाने कुटिया बना देनेके लिये बड़ी प्रार्थना की, परंतु करमैती इन्कार करती रही। अन्तमें राजाके बहुत आग्रह करनेपर कुटिया बनानेमें करमैतीने कोई बाधा नहीं दी। राजाने कुटिया बनवा दी। सुनते हैं कि करमैतीकी कुटियाका ध्वंसावशेष अब भी है।

करमैतीबाई बड़े ही त्यागभावसे रहती थी। उसका मन क्षण-क्षणमें श्रीकृष्णरूपका दर्शन करके मतवाला बना रहता था। उसकी आँखोंपर तो सदा ही वर्षा-ऋतु छायी रहती थी। यों परम तप करते-करते अन्तमें इस तपस्विनी देवीने वहीं देह त्यागकर गोलोककी शेष यात्रा की।

भक्तिमती कर्मठीबाई

(लेखक—श्रीचश्मावाले बाबा)

प्राय: बहुत लोग ऐसा मानते हैं कि कर्मठी और करमैती एक ही बाईके दो नाम हैं; किंतु बात ऐसी नहीं है। श्रीनाभाजीने जिन करमैतीबाईका चरित्र लिखा है, वे काँथड़्या कुलमें उत्पन्न पं० परशुराम राजपुरोहितकी इकलौती कन्या थीं। पं० परशुराम सेखावाटीके राजा सेखावतके राज-पण्डित और खंडेला ग्रामके निवासी थे। भक्तिमती करमैतीबाईका विवाह हो गया था और वे द्विरागमनके समय आधी-रातको घरसे श्रीवन भाग आयी थीं।

किंतु कर्मठीजीका परिचय देते हुए अनन्यमालके रचयिता श्रीभागवतमुदितजीने लिखा है—

अब सुनि एक कर्मठी बाई।
ताकी कथा परम सुखदाई॥
बिप्र एक पुरुषोत्तम नाम।
काँथरिया बागर बिश्राम॥
कन्या एक तासु के भई।
ब्याहत ही बिधवा हो गई॥
तप ब्रत सुचि संजम में रहै।
तातें नाम कर्मठी कहै॥

कर्मठीजीका यथार्थ नाम क्या था, कुछ पता नहीं; उनके घोर तपने ही उनका नाम कर्मठी रख दिया। कर्मठी बागर ग्राम (राजस्थान)-के काँथड्या ब्राह्मण श्रीपुरुषोत्तमजीकी इकलौती दुलारी थीं। दुर्भाग्यवश ये विवाहोपरान्त ही विधवा हो गयीं, इससे सनातन-धर्मके रीत्यनुसार जप, तप, व्रत और संयमोंका पालन करते हुए इन्होंने अपना वैधव्य-जीवन तपोमय बना दिया। कर्मठीजीका यह तपस्या-क्रम लगातार बारह वर्षोंतक एक-सा चलता रहा।

कृपामय श्रीकृष्णकी कृपा कब किसपर कैसे होगी, कोई कह नहीं सकता। कृपाके रूपको न जान-समझकर भले ही कोई अज्ञ उस विधानको अमङ्गलमय कहने लगे, किंतु इससे क्या। उस प्रभु-विधानका जो परिणाम होता है, उसका अनुभव करके प्रभु-प्रेमी भक्तका हृदय आनन्दसे नाच उठता है।

कर्मठीके प्रारम्भिक जीवनमें भी एक ऐसी घटना घटी। कालका भयानक चक्र चला और उनका पितृ-कुल एवं पति-कुल पूर्णरूपसे समाप्त हो गया। दोनों पक्षोंमें कोई भी कर्मठीका अपना कहा जानेवाला न रह गया। जगत्‌की दृष्टिसे वे एकदम असहाय हो गयीं। एक तो परम सुन्दरी युवती और दूसरे विधवा। कर्मठीने एक वयोवृद्ध संत श्रीहरिदासका चरणाश्रय लिया, फिर कुछ दिनों पीछे वे सब ओरसे विरक्त होकर श्रीवन आ गयीं। श्रीवन आनेपर कर्मठीने महाप्रभु श्रीहित हरिवंशचन्द्रजीसे वैष्णवी-दीक्षा ली तथा उनके अनुगत होकर भजन-ध्यान, नाम-जप एवं सेवा-पूजा करने लगीं। उनका सारा समय श्रीकृष्ण-परिचर्या और नाम-कीर्तनमें ही व्यतीत होता। सत्सङ्ग और संतोंसे इन्हें अत्यधिक प्यार था। कभी असद् आलाप न करतीं और समयको व्यर्थ न जाने देतीं। कर्मठीजीको अपने इष्टदेव श्रीराधावल्लभलालजीके उत्सवोंमें बड़ा आनन्द मिलता, अत: भिक्षा माँगकर और सूत कातकर भी पैसे कमातीं और उस द्रव्यको श्रीठाकुरजीके उत्सवोंमें खर्च करके अपार सुखका अनुभव करती थीं।

भक्ति और प्रेमके इन आचरणोंसे, प्रेमी संतोंके सङ्गसे और श्रीवनके निवाससे कर्मठीजीकी घोर कर्म-निष्ठा शान्त हो गयी। उनके चित्तकी वासनाएँ क्षीण हो गयीं और वे कर्तृत्वाभिमानसे रहित होकर भक्तिके किसी गम्भीर समुद्रमें डूब गयीं—सीधे शब्दोंमें गुरु-कृपासे वे एक सिद्ध संत हो गयीं।

कुछ दिनोंके पश्चात् कर्मठीजीके जीवनमें एक घटना बड़े विषमरूपसे उपस्थित हुई, जिसने कर्मठीजीके जीवनको प्रकाशमें ला दिया और उसके सहारे अनेकों साधकोंने दिव्य उपदेश पाये। यह सब जानते हैं कि स्त्री-जाति अबला है और उसके 'प्रिय शत्रु' हैं—रूप-लावण्य एवं नारीत्व। यदि अबला असहाय, एकाकी हो और रूप-लावण्य उसके साथ हो तो लोलुप कामियोंका समुदाय उसे सच्चरित्र देखनेमें दु:ख पाता है; वह उसके धर्म, रूप, यौवन और फिर सर्वस्वका हरण करना चाहता है, केवल अपनी नीचतापूर्ण क्षुद्र वासनाओंकी पूर्तिके लिये!

कर्मठी रूप-लावण्यमयी अबला युवती थीं; किंतु भगवद्बलने उन्हें कैसी सबला कर दिखाया, यह नीचे लिखी घटनासे प्रकट होगा—

जब सम्राट् अकबरके भानजे अज़ीज़बेगको मथुरा जिलेकी हाकिमी मिली, तब उसने अपने भाई हसनबेगको मथुराका शासन-प्रबन्ध करनेके लिये भेजा। मथुरामें कुछ दिन रहनेके बाद हसनबेगको श्रीवन देखनेकी सूझी और वह यहाँकी अलौकिक छटा देखनेके लिये श्रीवन आया भी। जिस समय वह श्रीवनका निरीक्षण करता हुआ यमुना-तटपर विचरण कर रहा था, उस समय उसने कर्मठीको स्नान करते हुए देखा। भींगे वस्त्रोंसे लिपटी अनुपम रूप-लावण्यमयी नव-युवतीको देखकर हसनबेगका चित्त अपने वशमें न रह सका। उसने पता लगाया कि यह रूप-सौन्दर्यकी देवी कौन है।

पूर्ण परिचय प्राप्त करके वह खुश हो गया; क्योंकि वह अच्छी तरह जानता था कि एक असहाय अबलाको अपने माया-जालमें फँसा लेना कुछ कठिन नहीं है। मथुरा आकर हसनबेगने एक जाल रचना चाहा। उसने कुलटाओंसे मिलकर सलाह की। उनमेंसे दो कुलटा दूतियाँ इस नीच कार्यके लिये तैयार हुईं। उन दुष्टाओंने कहा—'कर्मठीको और किसी ढंगसे तो फँसाया जा नहीं सकता, वह हमारी बातोंपर विश्वास ही क्यों करेगी। हाँ, यदि हम भक्तोंका-सा वेष बना लें और उसके पास जायँ तो वह हमारा विश्वास और आदर करेगी, हमारी बात मानेगी भी।'

यह सलाह हसनबेगको भी जँची। दूसरे दिन प्रातः-काल वे दोनों भक्तवेषमें सजकर वृन्दावन गयीं और यमुनाके घाटपर ही कर्मठीसे मिलीं। उनकी भक्तिपूर्ण बातोंको सुनकर कर्मठी यह समझ नहीं सकीं कि ये विषके लड्डू केवल ऊपरसे ही बूरेसे लपेटे गये हैं। कर्मठीने उनका आदर किया और उन्हें साथ-साथ अपनी कुटियातक लिवा लायीं। बहुत देरतक भगवच्चर्चा होती रही। अब तो वे प्रतिदिन इसी प्रकार प्रातःकाल आतीं और कर्मठीजीकी कुटियामें बैठकर घंटों सत्सङ्ग होता। धीरे-धीरे कर्मठीजीका उनसे स्नेह-सा हो गया। इस प्रकार कितने ही दिन बीते। एक दिन कुछ विलम्बसे आयीं। उनके आनेपर कर्मठीजीने सहज ही पूछ लिया, 'बहनो! आज इतना विलम्ब कैसे हो गया?' उन्होंने बनावटी प्रसन्नता और उल्लासमिश्रित सङ्कोचके साथ कहा—'माताजी! क्या कहें, हमने चाहा तो बहुत कि आपकी सेवामें शीघ्र आ जायँ; किंतु न आ सकीं। क्योंकि हमारे घर एक बहुत बड़े संत पधारे हैं, उन्हींकी सेवामें विलम्ब हो गया।'

'बहुत बड़े संत पधारे हैं', सुनकर कर्मठीजी, जिनके जीवनाधार संत ही थे, प्रसन्नतासे भर गयीं और बोलीं—'बहनो! क्या मुझे भी उन महापुरुषके दर्शन हो सकेंगे?'

उन वेषधारी भक्ताओंने कहा—'अवश्य-अवश्य; जब कल आप यमुना-स्नान करके लौटें, तब हमारी कुटिया जो अमुक स्थानपर है, वहींसे होती हुई आयें या हम ही आपको यमुनापर मिलें।'

कुलटाओंने समझा हमारी दाल गल गयी। वे शीघ्र मथुरा आयीं और सारी बातें सुना-समझाकर हसनबेगको चुपके-से वृन्दावन ले आयीं। उन्होंने एक कुटियामें उसे ला बैठाया और उनमेंसे एक दूती दूसरे दिन प्रातःकाल यमुनापर कर्मठीजीसे जा मिली तथा उन्हें साथ लेकर अपनी कुटियापर संत-दर्शनके लिये लिवा लायी। कर्मठीको कमरेके भीतर पहुँचाकर बोली—'अरे! मालूम होता है वह संत कहीं बाहर चले गये हैं। अच्छा, मैं उन्हें शीघ्र बुलाये लाती हूँ; तुम यहीं ठहरो।' कहकर वह कमरेके बाहर चली गयी। चलते-चलते वह छिपे हुए हसनबेगको कर्मठीके आनेका संकेत कर गयी। कमरेके बाहर निकलकर उसने जल्दीसे किवाड़ लगाकर साँकल चढ़ा दी।

कर्मठी अभीतक कुछ समझ न पायी थीं; किंतु जब उन्होंने हसनबेगको अपनी ओर आते देखा, तब उन दुष्टाओंकी सारी चाल समझ गयीं। वे घबराकर मन-ही-मन प्रभुसे अपनी लाज बचानेकी प्रार्थना करने लगीं। तबतक हसनबेग कर्मठीके समीप आकर बोला—'सुन्दरि! तुम जिस साधुका दर्शन करने आयी

हो, वह साधु मैं ही हूँ।'

यों कहकर वह कर्मठीको अपने आलिङ्गनमें बाँधनेके लिये लपका। कर्मठी डरके मारे चिल्ला उठीं और भागकर कमरेके एक कोनेमें जा चिपटीं तथा व्याकुल नेत्रोंसे इधर-उधर देखने लगीं। उनकी घबराहट देखकर हसनबेग अपनी विजयपर एक बार ठहाका मारकर हँसा और कहने लगा—'यह रूप, यह यौवन, यह जवानी क्या इसलिये है कि इसे यमुनाके ठण्डे पानीमें गलाया जाय, तपस्याकी आगमें तपाया जाय? परी! मैं तुमसे प्यार करता हूँ। आओ, मेरी गोदमें आओ और सदाके लिये इस राज्यकी और मेरे हृदयकी रानी बन जाओ।'

हसनबेगके ये शब्द कर्मठीको बाण-से लगे। वे उसका तिरस्कार करती हुई रोषपूर्वक कहने लगीं—'नीच! नराधम! पापी! किसी अबलाकी लाज और उसका धर्म लूटते तुझे लज्जा नहीं आती? मैं तो तुझे इसका अच्छा मजा चखा सकती हूँ, किंतु.....।'

इसके आगे वे और कुछ न कह सकीं। उन्हें अपने सर्व-समर्थ गुरुदेवके द्वारा कहे गये 'सब सौं हित' वाक्यका स्मरण हो आया। वे रोने लगीं। इधर तीव्र काम-वासनासे विकल, मदान्ध हसनबेग कर्मठीकी ओर बढ़ता चला आया। उसने कर्मठीका स्पर्श करना चाहा; किंतु देखता क्या है कि यह सुन्दरी नहीं, भयानक सिंह है और मुझे खाना चाहता है। बड़ी-बड़ी लाल-लाल क्रोधित आँखोंसे मेरी ओर घूर रहा है और गुस्सेसे भरा गुर्रा रहा है।

सिंहको देखते ही उसकी काम-वासना रफूचक्कर हो गयी, उसके प्राण काँप गये, वह भागकर अपने प्राण बचानेकी कोशिश करने लगा। पर जाता कहाँ? बाहरसे तो साँकल बंद थी। वह घबराकर बार-बार किवाड़ोंसे अपने हाथ पटकता और चिल्ला-चिल्लाकर किवाड़ खोलनेकी पुकार करता। उसका सारा शरीर मारे भयके काँप रहा था। उसने लौटकर देखा तो सिंह उसीकी ओर बढ़ा आ रहा था। क्रोधित सिंहको अपनी ओर आते देखकर भयके मारे मिर्जा हसनबेगका पाजामा बिगड़ गया और वह मूर्च्छित होकर दरवाजेके पास गिर पड़ा।

जाने कितनी देरतक वह बेहोश पड़ा रहा, पीछे उसकी साधिका दूतियोंने किवाड़ खोले और उसे सचेत किया, तब वहाँ न तो कर्मठी थीं और न सिंह ही।

इस घटनासे हसनबेगको बड़ा आश्चर्य हुआ। कर्मठीसे सिंह हो जाने और फिर लोप हो जानेकी बात तीनोंको आश्चर्यमें डाल रही थी। अतः रहस्यका पता लगानेके लिये हसनबेगने उन दोनों कुलटाओंको फिर कर्मठीके पास भेजा। उन्होंने जाकर देखा कि कर्मठीजी अपने ठाकुरजीकी सेवा-पूजा कर रही हैं। उन्होंने कर्मठीजीको प्रणाम किया, पर कर्मठीजीने घटनाके विषयमें और न किसी अन्य विषयपर उनसे बात की। उन्होंने देखा कर्मठीजी प्रसन्न हैं। उनके मुखपर क्रोधका कोई चिह्न ही नहीं है। लौटकर उन्होंने सब समाचार हसनबेगको सुना दिया। हसनबेगपर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा और वह बहुत-सा द्रव्य लेकर कर्मठीजीके पास गया; किंतु कर्मठीजीने उसमेंसे कुछ भी स्वीकार न करके सब धनको साधु-संतोंकी सेवामें लगा देनेकी आज्ञा दी। हसनबेगने ऐसा ही किया।

इस प्रकार श्रीकर्मठीबाईके सम्पूर्ण जीवनमें देखा गया कि उनमें अपने व्रतकी दृढ़ता, साधुसेवा और गुरुसेवाकी निष्ठाके साथ प्रभु-अनुराग, क्षमा, दया, कोमलता, सरलता, उदारता, निःस्पृहता और पवित्रता कूट-कूटकर भरी थी।

श्रीकर्मठीजीके पुनीत चरणोंका स्मरण करते हुए चाचा श्रीहित वृन्दावनदासजीने लिखा है—

धन्य पिता धनि मात धन्य मति अबला जन की।
तजी बिषै संसार बिहार निहारन मन की॥
हसनबेग इक जमन देखि दुष्टता बिचारी।
करि नाहर कौ रूप त्रास दै नाथ उबारी॥
श्रीहरिबंस प्रसाद तें बन फिरति भरी अनुराग की।
हरि भजन परायन कर्मठी फबी निकाई भाग की॥
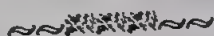
मीराँबाई

भारतकी नारी-जातिको धन्य करनेवाली भक्तिपरायणा मीराँबाईका जन्म मारवाड़के कुड़की नामक ग्राममें संवत् १५५८-५९ के लगभग हुआ था। इनके पिताका नाम राठौर श्रीरतनसिंहजी था। ये मेड़ताके राव दूदाजीके चतुर्थ पुत्र थे। मीराँ अपने पिता-माताकी इकलौती लड़की थी, बड़े लाड़-चावसे पाली गयी थी; मीराँके चित्तकी वृत्तियाँ बचपनसे ही भगवान्की ओर झुकी हुई थीं। एक दिन उनके घरमें एक साधु आये, साधुके पास भगवान्की एक सुन्दर मूर्ति थी। मीराँने साधुसे कहकर वह मूर्ति ले ली। साधुने मूर्ति देकर मीराँसे कहा कि 'ये भगवान् हैं, इनका नाम श्रीगिरधरलालजी है, तू प्रतिदिन प्रेमके साथ इनकी पूजा किया कर।' सरलहृदया बालिका मीराँ सच्चे मनसे भगवान्की सेवा करने लगी। मीराँ इस समय दस वर्षकी थी, परंतु दिनभर उसी मूर्तिको नहलाने, चन्दन-पुष्प चढ़ाने, भोग लगाने और आरती उतारने आदिके काममें लगी रहती।

इसी बीच मीराँ स्वयं भी पद-रचना करने लगी; जब वह स्वरचित सुन्दर पदोंको भगवान्के सामने मधुर स्वरोंमें गाती तो प्रेमका प्रवाह-सा बह जाता। सुननेवाले नर-नारियोंके हृदयमें प्रेम उमड़ने लगता। इस प्रकार भाव-तरङ्गोंमें पाँच साल बीत गये। संवत् १५७३ में मीराँका विवाह चित्तौड़के सीसोदिया-वंशमें महाराणा साँगाजीके ज्येष्ठ कुमार भोजराजके साथ सम्पन्न हुआ। विवाहके समय एक अद्भुत घटना हुई। श्रीकृष्णप्रेमकी साक्षात् मूर्ति मीराँने अपने श्याम गिरधरलालजीको पहले-से ही मण्डपमें विराजित कर दिया और कुमार भोजराजके साथ फेरा लेते समय श्रीगिरधरगोपालजीके साथ भी फेरे ले लिये। मीराँने समझा कि आज भगवान्के साथ मेरा विवाह भी हो गया।

मीराँकी माताको इस घटनाका पता था, उसने मीराँसे कहा कि 'पुत्री! तैंने यह क्या खेल किया?' मीराँने मुसकराते हुए कहा—

माई म्हाँने सुपनें बरी गोपाल।
राती पीती चुनड़ी ओढ़ी, मेहदी हाथ रसाल॥
काँई औरको बरूँ भाँवरी, म्हाँके जग जंजाल।
मीराँके प्रभु गिरधरनागर करौ सगाई हाल॥

मीराँके भगवत्प्रेमके इस अनोखे भावको देखकर माता बड़ी प्रसन्न हुई। जब सखियोंको इस बातका पता लगा, तब उन्होंने दिल्लगी करते हुए मीराँसे गिरधरलालजीके साथ फेरे लेनेका कारण पूछा। मीराँने कहा—

ऐसे बर को के बरूँ, जो जनमै और मर जाय।
बर बरिये गोपालजी, म्हारो चुड़लो अमर हो जाय॥

प्राणोंकी पुतली मीराँको माता-पिताने दहेजमें बहुत-सा धन दिया, परंतु मीराँका मन उदास ही देखा तो माताने पूछा कि 'बेटी! तू क्या चाहती है? तुझे जो चाहिये, सो ले ले।' मीराँने मातासे कहा—

दे री माई अब म्हाँको गिरधरलाल।
प्यारे चरण की आन करति हौं, और न दे मणि लाल॥
नातो सागो परिवारो सारो, मुनें लगे मानों काल।
मीराँके प्रभु गिरधरनागर, छबि लखि भई निहाल॥

भक्तको अपने भगवान्के अतिरिक्त और क्या चाहिये। माताने बड़े प्रेमसे गिरधरलालजीका सिंहासन मीराँकी पालकीमें रखवा दिया। कुमार भोजराज नववधूको लेकर राजधानीमें आये। घर-घर मङ्गल-बधाइयाँ बँटने लगीं। रूप-गुणवती बहूको देखकर सास प्रसन्न हो गयी। कुलाचारके अनुसार देवपूजाकी तैयारी हुई, परंतु मीराँने कहा कि 'मैं तो एक गिरधरलालजीके सिवा और किसीको नहीं पूजूँगी।' सास बड़ी नाराज हुई, मीराँको दो-चार कड़ी-मीठी भी सुनायी; परंतु मीराँ अपने प्रणपर अटल रही!

राजपूतानेमें प्रतिवर्ष गौरी-पूजन हुआ करता है। छोटी-छोटी लड़कियाँ और सुहागिन स्त्रियाँ सुन्दर रूप-गुण-सम्पन्न वर और अचल सुहागके लिये बड़े चावसे 'गौर'-पूजा करती हैं। मीराँसे भी गौर पूजनेको कहा गया, मीराँने साफ जवाब दे दिया। सारा रनिवास मीराँसे नाराज हो गया। सास और ननद ऊदाबाईने मीराँको बहुत समझाया, परंतु वह नहीं मानी। उसने कहा—

ना म्हे पूजाँ गौरज्याजी ना पूजाँ अन देव।
म्हे पूजाँ रणछोड़जी सासु थे काँई जाणो भेव॥

सास बड़ी नाराज हुई। समवयस्क सहेलियोंने मीराँसे कहा कि 'बहिन! यह तो सुहागकी पूजा है, सभीको करनी चाहिये।' मीराँने उत्तर दिया कि 'बहिनो! मेरा सुहाग तो सदा ही अचल है; जिसको अपने सुहागमें सन्देह हो, वह गिरधरलालजीको छोड़कर दूसरेको पूजे।' मीराँके इन शब्दोंका मर्म जिसने समझा, वह तो धन्य हो गयी; परंतु अधिकांश स्त्रियोंको यह बात बहुत बुरी लगी।

मीराँकी इस भक्तिभावनाको देखकर कुमार भोजराज पहले तो कुछ नाराज हुए, परंतु अन्तमें मीराँके सरल हृदयकी शुद्ध भक्तिसे उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने मीराँके लिये अलग श्रीरणछोड़जीका मन्दिर बनवा दिया। कुमार भोजराज एक साहसी वीर और साहित्यप्रेमी युवक थे। मीराँकी पदरचनासे उन्हें बड़ा हर्ष होता और इसमें वे अपना गौरव मानते। मीराँका प्रेम-पुलकित मुखचन्द्र वे जब देखते, तभी उनका मन मीराँकी ओर खिंच जाता। जब मीराँ नये-नये पद बनाकर पतिको गाकर सुनाती, तब कुमारका हृदय आनन्दसे भर जाता।

यद्यपि मीराँ अपना सच्चा पति केवल श्रीगिरधलालजीको ही मानती थी और प्राय: अपना सारा समय उन्हींकी सेवामें लगाती, फिर भी उसने अपने लौकिक पति कुमार भोजराजको कभी नाराज नहीं होने दिया। अपने सुन्दर और सरल स्वभावसे तथा नि:स्वार्थ सेवाभावसे उसे सदा प्रसन्न रखा। कहते हैं कुछ समय बाद मीराँकी अनुमति लेकर कुमारने दूसरा विवाह कर लिया था। मीराँको इस विवाहसे बड़ी प्रसन्नता हुई। उसे इस बातका सदा संकोच रहता था कि मैं स्वामीकी मन:कामना पूरी नहीं कर सकती। अब दूसरी रानीसे पतिको परितृप्त देखकर और पतिके भी परम पति परमात्माकी सेवामें अपना पूरा समय लगनेकी सम्भावना समझकर मीराँको बड़ा आह्लाद हुआ।

मीराँ अपना सारा समय भजन-कीर्तन और साधु-सङ्गतिमें लगाने लगी। वह कभी विरहसे व्याकुल होकर रोने लगती, कभी ध्यानमें साक्षात्कार कर हँसती, कभी प्रेमसे नाचती, भूख-प्यासका कोई पता नहीं! लगातार कई दिनोंतक बिना खाये-पिये प्रेम-समाधिमें पड़ी रहती। कोई समझाने आता तो उससे भी केवल श्रीकृष्ण-प्रेमकी ही बातें करतीं। दूसरी बात उसे सुहाती नहीं। शरीर दुर्बल हो गया; घरवालोंने समझा बीमार है, वैद्य बुलाये गये, मारवाड़से पिता भी वैद्य लेकर आये। मीराँने कहा—

हे री मैं तो राम दिवानी, मेरो दरद न जाणै कोय।
सूळी ऊपर सेज हमारी, किस बिध सोणा होय॥
गगनमँडल पै सेज पिया की, किस बिध मिलणा होय।
घायल की गति घायल जाणै, की जिण लाई होय॥
जौहर की गति जौहरी जाणै, की जिण जौहर होय।
दरद की मारी बन बन डोलूँ, बैद मिल्या नहिं कोय॥
मीराँ की प्रभु पीर मिटै जब, बैद साँवळिया होय।

वैद्य देख गये। परंतु इन अलौकिक प्रेमके दीवानोंकी दवा बेचारे इन वैद्योंके पास कहाँसे आयी। विरहकातरा मीराँने श्यामवियोगमें यह पद गाया—

नातो नाँव को जी म्हाँसूँ तनक न तोड्यो जाय॥ टेक॥
पाना ज्यूँ पीळी पड़ी रे, लोग कहैं पिंडरोग।
छाने लाँघण म्है किया रे, राम मिलण के जोग॥
बाबल बैद बुलाइया रे, पकड़ दिखाई म्हारी बाँह।
मूरख बैद मरम नहिं जाणै, कसक कळेजे माँह॥
जाओ बैद घर आपणे रे, म्हारो नाँव न लेय।
मैं तो दाझी बिरह की रे, काहे कूँ औषध देय॥
माँस गळ गळ छीजिया रे, करक रह्या गळ आय।
आँगळिया की मूँदड़ी म्हारे आवण लागी बाँह॥
रह रह पापी पपीहड़ा रे, पिय को नाँव न लेय।
जे कोई बिरहण साम्हळे रे, पिव कारण जिव देय॥
छिण मंदिर छिण आँगणै रे, छिण छिण ठाढ़ी होय।
घायल ज्यूँ घूमूँ खड़ी, म्हारी बिथा न बूझै कोय॥
काढ़ कलेजो मैं धरूँ रे, कागा तू ले जाय।
जिण देसाँ म्हारो पिव बसैरे, उण देखत तूँ खाय॥
म्हारे नातो नाम को रे, और न नातो कोय।
मीराँ ब्याकुल बिरहणी, हरि दरसण दीज्यो मोय॥

कैसी उत्कण्ठा है! कैसा उन्माद है!! कितनी मनोहर लालसा है!!! भगवान् इसीसे वश होते हैं, इसीसे वे बिक जाते हैं। मीराँने इसी मूल्यपर उनको खरीदा था।

विवाहके बाद इस प्रकार भक्तिके प्रवाहमें दस साल बीत गये। संवत् १५८० के आसपास कुमार भोजराजका

देहान्त हो गया। महाराणा साँगाजी भी परलोकवासी हो गये। राजगद्दीपर मीराँके दूसरे देवर विक्रमाजीत आसीन हुए। मीराँ भगवत्प्रेमके कारण त्रैधव्यके दुःखसे दुःखित नहीं हुई। साधु-महात्माओंका सङ्ग बढ़ता गया, मीराँकी भक्तिका प्रवाह उत्तरोत्तर जोरसे बहने लगा। राणा विक्रमाजीतको मीराँका रहन-सहन, बिना किसी रुकावटके साधु-वैष्णवोंका महलोंमें आना-जाना और चौबीसों घंटे कीर्तन होना बहुत अखरने लगा। उन्होंने मीराँको समझानेकी बड़ी चेष्टा की। चम्पा और चमेली नामकी दो दासियाँ इसी हेतुसे मीराँके पास रखी गयीं, राणाकी बहिन ऊदाबाई भी मीराँको समझाती रही; परंतु मीराँ अपने मार्गसे जरा भी नहीं डिगी। मीराँजीने समझानेवाली सखियोंसे पहले तो नम्रतापूर्वक अपना सङ्कल्प सुनाया, अन्तमें स्पष्ट कह दिया—

बरजी मैं काहू की न रहूँ।
सुणौ री सखी! तुम चेतन होके, मन री बात कहूँ॥
साधु संगत कर हरि सुख लेऊँ, जग सूँ मैं दूर रहूँ।
तन धन मेरो सब ही जाओ, भल मेरो सीस लहूँ॥
मन मेरो लाग्यो सुमरण सेती, सबका मैं बोल सहूँ।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर सतगुरु सरण गहूँ॥

सखियोंने कहा—'मीराँजी! आप भगवान्‌से प्रेम करती हैं तो करें, इसमें किसीको कोई आपत्ति नहीं; परंतु कुलकी लाज छोड़कर दिन-रात साधुओंकी मण्डलीमें रहना और नाचना-गाना उचित नहीं। इससे महाराणा बहुत नाराज हैं।' मीराँने कहा—

सीसोद्यो रूठ्यो तो म्हारो काइँ कर लेसी।
म्हे तो गुण गोविंदरा गास्याँ हो माय॥
राणाजी रूठ्यो तो वाँरो देस रखासी।
हरिजी रूठ्या किठे जास्याँ हो माय॥
लोक लाज की काण न मानाँ।
निरभै निसाण घुरास्याँ हो माय॥
राम नाम की झयाझ चलास्याँ।
भवसागर तिर जास्याँ हो माय॥
मीराँ सरण साँवल गिरधर की।
चरण कमल लिपटास्याँ हो माय॥

कैसा अटल निश्चय है! कितना अचल विश्वास है! कितनी निर्भयता है! कैसा अद्भुत त्याग है! ऊदा और दासियाँ आयी थीं समझानेको, परंतु मीराँकी शुद्ध प्रेमाभक्तिको देखकर उनका चित्त भी उसी ओर लग गया। वे भी मीराँके इस गहरे प्रेमरंगमें रँग गयीं। अन्तमें राणाने चरणामृतके नामसे मीराँके पास विषका प्याला भेजा। चरणामृतका नाम सुनते ही मीराँ बड़े प्रेमसे उसे पी गयी। भगवान्‌ने अपना विरद सम्हाला, विष अमृत हो गया, मीराँका बाल भी बाँका नहीं हुआ। बलिहारी है! भगवत्कृपासे क्या नहीं होता।

मीराँने प्रेममें मग्न होकर गाया—

राणाजी जहर दियो मैं जाणी।
जिण हरि मेरो नाम निवेर्‍यो, छर्‍यो दूध अरु पाणी॥
जबलग कंचन कसियत नाहीं, होत न बाहर बानी।
अपने कुळ को पड़दो करियो, मैं अबळा बीरानी॥
स्वपच भक्त वारौं तन मन ते, हौं हरि हाथ बिकानी।
मीराँ प्रभु गिरधर भजिबे को, संतचरण लिपटानी॥

दासियोंने जाकर यह समाचार राणाजीको सुनाया, वे तो दंग रह गये। कलियुगमें यह दूसरा प्रह्लाद कहाँसे आ गया?

मीराँके आठों पहर भजन-कीर्तनमें बीतने लगे। नींद-भूखका कोई पता नहीं, शरीरकी सुधि नहीं, वह दिनभर रोती और गाया करती! वह रातको मन्दिरके पट बंद करके भगवान्‌के आगे उन्मत्त होकर नाचती। मानो भगवान् प्रत्यक्ष प्रकट होकर मीराँके साथ बातचीत करते। महलोंमें तरह-तरहकी चर्चा होने लगी। सखियोंने कहा—'मीराँ! तुम युवती स्त्री हो, दिनभर किसकी बाट देखती हो, किसके लिये यों क्षण-क्षणमें सिसक-सिसककर रोया करती हो?' मीराँ भावोन्मत्त होकर गाने लगी—

दरस बिन दूखण लागे नैन।
जब से तुम बिछुरे मेरे प्रभुजी, कबहुँ न पायो चैन॥
सब्द सुनत मेरी छतियाँ कंपै मीठे लागै बैण।
एक टकटकी पंथ निहारूँ, भई छमासी रैण॥
बिरह बिथा काँसू कहूँ सजनी, बह गई करवत नैण।
मीराँ के प्रभु कब रे मिलोगे, दुख मेटण सुख दैण॥

दासियोंने समझाया कि 'बाईजी! यह सारी बात तो ठीक है, परंतु इस तरह करनेसे आपका कुल लज्जित

होता है।' मीराँने कहा—'क्या करूँ, मेरे वशकी बात नहीं।'

मनुष्य प्राय: अपने ही मनके पापका दूसरेपर आरोप किया करता है। किसीने जाकर राणाजीके कान भर दिये, उन्हें समझा दिया कि 'मीराँका तो चरित्र भ्रष्ट हो गया है। दिनभर तो वह विरहिणीकी तरह रोया करती है और रातको आधी रातके समय उसके महलमें किसी दूसरे पुरुषकी आवाज सुनायी देती है। हो-न-हो कुछ-न-कुछ दालमें काला अवश्य ही है।'

राणाको यह बात सुनकर बड़ा क्रोध हुआ, उसी दिन रातको वे आधी रातके समय नंगी तलवार हाथमें लेकर मीराँके महलमें गये। किवाड़ बंद थे, राणाको भी अंदरसे किसी पुरुषकी आवाज सुन पड़ी; नहीं कह सकते कि यह राणाके दृढ़ सङ्कल्पका फल था या भगवान्‌की लीला थी। खैर, राणाने अकस्मात् किवाड़ खुलवाये। देखते हैं तो मीराँ प्रेमसमाधिमें बैठी है। दूसरा कोई नहीं है। राणाने मीराँको चेत कराकर पूछा कि 'बताओ, तुम्हारे पास दूसरा कौन था?' मीराँने झटसे जवाब दिया—'मेरे छैलछबीले गिरधरलालजीके सिवा और कौन होता। जगत्‌में दूसरा कोई हो तो आये।' राणा इन वचनोंका मर्म क्यों समझने लगे? उन्होंने बड़ी सावधानीसे सारे महलमें खोज की; परंतु कहीं कोई नहीं दीख पड़ा, तब लज्जित होकर लौट गये।

कहते हैं कि मीराँके पदोंकी प्रशंसा सुनकर एक बार तानसेनको साथ लेकर बादशाह अकबर वैष्णवके वेषमें मीराँके पास आये थे और मीराँकी भक्तिका अद्भुत प्रभाव देखकर रणछोड़जीके लिये एक अमूल्य हार देकर लौट गये थे। इससे भी लोगोंमें बड़ी चर्चा फैली। राणाने क्रोधित होकर मीराँके नाशके लिये एक पिटारीमें काली नागिनको बंद करके शालग्रामजीकी मूर्तिके नामसे उसके पास भेजी। शालग्रामका नाम सुनते ही मीराँके नेत्र डबडबा आये। उसने बड़े उत्साहसे पिटारी खोली; देखती है तो सचमुच उसमें एक श्रीशालग्रामजीकी सुन्दर मूर्ति और एक मनोहर पुष्पोंकी माला है। मीराँ प्रभुके दर्शन करके नाचने लगी।

मीराँ मगन भइ हरिके गुण गाय॥
साँप पिटारा राणा भेज्या, मीराँ हाथ दिया जाय।
न्हाय धोय जब देखण लागी, साळगराम गइ पाय॥
मीराँ के प्रभु सदा सहाई, राखे बिघ्न हटाय।
भजन भाव में मस्त डोलती, गिरधर पै बलि जाय॥

राणाजीने और भी अनेक उपायोंसे उसे डिगाना चाहा, परंतु मीराँ किसी तरह भी नहीं डिगी। जब राणा बहुत सताने लगे, तब मीराँने गोसाईं तुलसीदासजीको एक पत्र लिखा—

स्वस्तिश्री तुलसी गुणभूषण दूषण हरण गुसाँई।
बारहिं बार प्रणाम करहुँ, अब हरहु सोक समुदाई॥
घर के स्वजन हमारे जेते, सबन उपाधि बढ़ाई।
साधु संग अरु भजन करत मोहिं देत कलेस महाई॥
सो तो अब छूटत नहिं क्योंहूँ, लगी लगन बरियाई।
बाळपणे में मीराँ कीन्ही गिरधरलाल मिताई॥
मेरे मात तात सम तुम हो, हरिभक्तन सुखदाई।
मोकों कहा उचित करिबो, अब सो लिखिये समुझाई॥

गोसाईंजी महाराजने उत्तरमें यह प्रसिद्ध पद लिख भेजा—

जाके प्रिय न राम बैदेही।
सो छाड़िए कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥
नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रान ते प्यारो।
जासों होय सनेह राम पद एतो मतो हमारो॥

इस पत्रको पाकर मीराँने घर छोड़कर वृन्दावन जानेका निश्चय कर लिया*। राणाजीको तो इस बातसे बड़ी प्रसन्नता हुई, परंतु ऊदाजी और मीराँकी अन्यान्य प्रेमिका सखियोंको बड़ा दु:ख हुआ। उन्होंने मीराँको रोकना चाहा, परन्तु मीराँने किसीकी कुछ नहीं सुनी, वह झटपट महलसे निकलकर वृन्दावनकी ओर चल पड़ी।

*इतिहासज्ञ सज्जन कहते हैं कि मीराँजीका श्रीगोस्वामीजीसे कोई पत्रव्यवहार नहीं हुआ था। कारण, गोस्वामीजी मीराँजीके बाद हुए हैं। जो कुछ भी हो, दोनों भक्तोंके दोनों पद बड़े उपदेशप्रद हैं।

प्रीतमकी खोजमें जानेवाले कभी पीछेको नहीं देखा करते, मीराँ भी आज उस परम प्यारे श्यामसुन्दरकी खोजमें उन्मादिनी होकर दौड़ रही है। धन्य है! मीराँ वृन्दावन पहुँची और वहाँ श्यामसुन्दरके प्रत्यक्ष दर्शनके लिये विरहके गीत गाती कुञ्ज-कुञ्जमें भटकने लगी। जो उसे देखता, वही भक्ति-रससे भीग जाता था।

प्रेमरसमें छकी हुई मीराँ विरहके गीत गाती फिरती। जब भक्त भगवान्‌के लिये व्याकुल होते हैं, तब भगवान् भी उनसे मिलनेके लिये वैसे ही व्याकुल हो उठते हैं। एक दिन मीराँ गा रही थी—

बंसीवाला आज्यो म्हारे देस। थाँरी साँवरी सूरत बाळो भेस॥
आऊँ आऊँ कह गया जी, कर गया कौल अनेक।
गिणताँ गिणताँ घिस गई जी, म्हाँरी आँगळियाँ री रेख॥
मैं बैरागण आदि की जी, थाँरे म्हारे कदको सनेद।
बिन पाणी बिन साव जी, होय गई धोय सफेद॥
जोगण होकर जंगळ हेरूँ, थारो नाम न पायो भेस।
थारी सुरत के कारणे मैं तो धारया छे भगवाँ भेस॥
मोर मुकुट पीतांबर सोहै, घूँघरवाळा केस।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, मिल्याँ मिटेगो कलेस॥

भक्त भगवान्‌को बाध्य कर लेते हैं। मीराँके निकट बाध्य होकर भगवान्‌को आना पड़ा। उस मनोहर छबिको निरख मीराँ मोहित हो गयी। नाच-नाचकर गाने लगी—

आज मैं देख्यो गिरधारी।
सुंदर बदन मदन की सोभा चितवन अनियारी॥
बजावत बंसी कुंजन में।
गावत ताल तरंग रंग धुनि नचत ग्वालगन में॥
माधुरी मूरति वह प्यारी।
बसी रहै निसदिन हिरदै बिच टरै नहीं टारी॥
वाहि पर तन मन हैं वारी।
वह मूरति मोहिनी निहारत लोक लाज डारी॥
तुलसि बन कुंजन संचारी।
गिरधर लाल नवल नटनागर मीराँ बलिहारी॥

उस रूपराशिको देखकर किसका चित्त उन्मत्त नहीं हो जाता! जो उसे देख पाया, वही पागल हो गया। मीराँ पागलकी तरह चारों ओर उसकी मधुर छविका दर्शन करती हुई गाती फिरती है—

मेरे तो गिरधर गुपाल, दूसरो न कोई॥
जाके सिर मोर मुकुट, मेरो पति सोई।
तात मात भ्रात बंधु, आपनो न कोई॥
छाँड़ दई कुल की कान, का करिहैं कोई।
संतन ढिग बैठि बैठि, लोक लाज खोई॥
चुनरी के किए टूक, ओढ़ लीन्हि लोई।
मोती मूँगे उतार, बनमाला पोई॥
अँसुवन जल सींचसींच, प्रेमबेलि बोई।
अब तो बेलि फैल गई, होनी हो सो होई॥
दूधकी मथनियाँ बड़े प्रेम से बिलोई।
माखन जब काढ़ि लियो, छाछ पिए कोई॥
आई मैं भगति काज, जगत देख मोही।
दासि मीराँ गिरधर प्रभु, तारो अब मोही॥

एक बार मीराँजी वृन्दावनमें श्रीचैतन्यमहाप्रभुके शिष्य परमभक्त जीव गोस्वामीजीका दर्शन करनेके लिये गयीं। गोसाईंजीने भीतरसे कहला भेजा कि हम स्त्रियोंसे नहीं मिलते। मीराँने इसपर उत्तर दिया कि 'महाराज! आजतक तो वृन्दावनमें पुरुष एक श्रीनन्दनन्दन ही थे, और सभी स्त्रियाँ थीं; आज आप एक नये पुरुष प्रकट हुए हैं!' मीराँका रहस्यमय उत्तर सुनकर जीवजी महाराज नंगे पैरों बाहर आकर बड़े प्रेमसे मीराँजीसे मिले।

कुछ काल वृन्दावनमें निवास करके सं० १६०० के आसपास मीराँ द्वारकाजी चली गयीं और वहाँ श्रीरणछोड़-भगवान्‌के दर्शन और भजनमें अपना समय बिताने लगीं। कहते हैं एक बार चित्तौड़से राणाजी उन्हें वापस लौटानेके लिये द्वारकाजी गये थे। मीराँजीके चले जानेके बाद चित्तौड़में बड़े उपद्रव होने लगे थे। लोगोंने राणाको समझाया कि आपने मीराँ-सरीखी भगवत्-प्रेमिकाका तिरस्कार किया है, उसीका यह फल है। राणा इसीलिये मीराँसे क्षमा-याचना करके उसे वापस लौटाकर ले जाना चाहते थे। परंतु मीराँने जाना किसी तरह भी स्वीकार नहीं किया।

मीराँने कहा—

राणाजी म्हारी प्रीति पुरबली म्हे काँई कराँ॥
राम नाम बिन नहीं आवड़े, हिवड़ो झोला खाय।
भोजनिया नहिं भावै म्हाँने, नीदड़ली नहिं आय॥

राठौड़ाँ की धीयड़ी जी, सीसोद्या के साथ।
ले जाती बैकुंठको म्हाँरी नेक न मानी बात॥

राणाजीको यों ही वापस लौटना पड़ा। मीराँ प्रभुके सामने गाने लगी—

रमैया मैं तो थारे रँग राती॥
औराँके पिया परदेस बसत हैं, लिख लिख भेजें पाती।
मेरा पिया मेरे हृदय बसत है, रोळ करूँ दिन राती॥
चूवा चोला पहर सखी री, मैं झुरमट रमवा जाती।
झुरमट में मोहिं मोहन मिलिया, घाल मिली गळबाँथी॥
और सखी मद पी पी माती, मैं बिन पियाँ ही माती।
प्रेम भठीको मैं मद पीयो, छकी फिरूँ दिन राती॥
सुरत निरत को दिवलो जोयो, मनसा पूरण बाती।
अगम घाणि को तेल सिंचायो, बाळ रही दिन राती॥
जाऊँ नी पीहरिये, जाऊँ नी सासरिये, हरि सूँ सेन लगाती।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, हरि चरणा चित लाती॥

मीराँजी श्रीद्वारकाधीशजीके मन्दिरमें आकर प्रेममें उन्मत्त होकर गाने लगीं—

सजन! सुध ज्यूँ जाणौं त्यूँ लीजै।
तुम बिन मेरे और न कोई, कृपा रावरी कीजै॥
दिन नहिं भूख, रैण नहिं निद्रा, यों तन पलपल छीजै।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर मिलि बिछुरन नहिं दीजै॥

दूसरा पद—

अब तो निभायाँ सरेगी, बाँह गहे की लाज।
समरथ सरण तुम्हारी सइयाँ, सरब सुधारण काज॥
भवसागर संसार अपरबळ, जामें तुम हो जहाज।
निरधाराँ आधार जगत गुरु, तुम बिन होय अकाज॥
जुग जुग भीर हरी भक्तन की, दीनी मोच्छ समाज।
मीराँ सरण गही चरणन की, लाज रखौ महाराज॥

—यों कहकर मीराँ नाचने लगी और अन्तमें भगवान् रणछोड़जीकी मूर्तिमें समा गयी!

नृत्यत नूपुर बाँधि कै, गावत लै करतार।
देखत ही हरि में मिली, तृन सम गनि संसार॥
मीराँको निज लीन किय, नागर नंदकिसोर।
जग प्रतीत हित-नाथ-मुख, रह्यो चूनरी छोर॥

कहा जाता है कि संवत् १६३० के अनुमान मीराँजीका देह भगवान्‌में मिला था। मीराँजीने कई ग्रन्थ रचे थे, जो इस समय नहीं मिलते। मीराँके भजन तो प्रसिद्ध हैं; जो उन्हें गाता और सुनता है वही प्रेममें मत्त हो जाता है। मीराँने प्रकट होकर भारतवर्ष, हिंदूजाति और नारी-कुलको पावन और धन्य कर दिया।

मीराँ-चरित्र

(रचयिता—पं० श्रीवासुदेवजी गोस्वामी)

घोर अन्धकारको प्रकाश पूर्ण 'वासुदेव',
मोह-ममताके दूर करनेको ज्ञान है।
सतपथसे जो विचलना चाहते हों, उन्हें
चीरने-विदारनेको तीर है, कमान है॥
पत्थरको पानी करना भी बतलाया गया,
विषको भी अमृत बनानेका विधान है।
कृष्ण पहिचाननेकी दृष्टि करनेके लिये
मीराँका चरित्र ही ममीराके समान है॥

दमनका चक्र जिसपर चलता ही रहा,
कम न हुई पै प्रीति-रीति जिसे ले चुकी।
'वासुदेव' जिसको हिला न सका शासन भी
अमर हो जिसके भरोसे विष जैं चुकी॥
जिसके सहारे परिवारके पयोनिधिकी
तरल तरङ्ग बीच तरनीको खे चुकी।
विश्वकी अमूल्य निधि जिसमें विराजती थी,
वह मन मीराँ मनमोहनको दे चुकी॥

विफल प्रयत्न समझानेके हुए थे सब,
विषम विरोधियोंके बीच विष बो गया।
मीराँके सुप्राण हर लेनेके विचारसे ही
कालकूटका भरके प्याला उनको गया॥
वदन सुधाकरके करमें पहुँचकर
तरल, सरल हो गरलताको खो गया।
भक्तिकी अमीरा मीराँ अधर-सुधाको छूके
वह विष-प्याला आला अमृतका हो गया॥

वृन्दावनवासी श्रीगुपाल गिरिधारीकी तौ
ललित लता सी, धेनु, कंकर-सी हो गयी।
भव्य भक्तिमार्गके भुलैयनको 'वासुदेव'
सत्य, शुद्ध, सरल, भयंकर-सी हो गयी॥
प्रभु-पद-विमुख पयोनिधि पठैयनको
रुद्र-रूप पूर्ण प्रलयंकर-सी हो गयी।
रानाके पठाये विष-प्यालेके पिवैयनको
मीराँकी मनोज्ञ मूर्ति शङ्कर-सी हो गयी॥

रानाका घराना, घबराना रहा रात-दिन,
मीराँको सभीके समझानेका विचार था।
'वासुदेव' वहाँ निज प्रण-से हटी न जब,
प्राण हर लेनेके सिवा क्या उपचार था॥
पूतनाके दूधमें जहर जिसने था पिया,
विष-पानमें मीराँको उसीका अधार था।
राममें जो अमर रकार औ मकार वही
मीराँमें भी मंजुल मकार था, रकार था॥

रानी रत्नावती

आँबेरके प्रसिद्ध महाराजा मानसिंहजीके छोटे भाईका नाम राजा माधोसिंह था। इनकी पत्नीका नाम था रत्नावती। रत्नावतीका वदन जैसा सुन्दर था, वैसा ही उनका मन भी सद्‌गुण और सद्‌विचारोंसे सुसज्जित था। पति-चरणोंमें उनका बड़ा प्रेम था। स्वभाव इतना मधुर और पवित्र था कि जो कोई उनसे बात करता, वही उनके प्रति श्रद्धा करने लगता। महलकी दासियाँ तो उनके सद्व्यवहारसे मुग्ध होकर उन्हें साक्षात् जननी समझतीं। रत्नावतीजीके महलमें एक दासी बड़ी ही भक्तिमती थी। भगवान् अपने प्रेमियोंके सामने लीला-प्रकाश करनेमें सङ्कोच नहीं करते। वह भाग्यवती पुण्यशीला दासी भी ऐसी ही एक पवित्र प्रेमिका थी। अखिलरसामृतसिन्धु भगवान् उसके सामने भाँति-भाँतिकी लीला करके उसे आनन्द-समुद्रमें डुबाये रखते थे। रानीका हृदय उसकी ओर खिंचा। वे बार-बार उसकी इस लोकोत्तर अवस्थाको देखनेकी चेष्टा करतीं, देखते-देखते रानीके मनमें भी प्रेम उत्पन्न होने लगा। हमारे शरीरके अंदर हृदयमें जिस प्रकारके विचारोंके परमाणु भरे रहते हैं, उसी प्रकारके परमाणु स्वाभाविक ही हमारे रोम-रोमसे सदा बाहर निकलते रहते हैं। पापी विचारवाले मनुष्योंके शरीरसे पापके परमाणु, पुण्यात्माके शरीरसे पुण्यके, ज्ञानियोंके शरीरसे ज्ञानके और प्रेमी भक्तोंके शरीरसे प्रेमके। ये परमाणु अपनी शक्तिके तारतम्यके अनुसार अनुकूल अथवा प्रतिकूल वायुमण्डलके अनुरूप बाहर फैलते हैं और उस वातावरणमें जो कुछ भी होता है, सबपर अपना असर डालते हैं। यह नियमकी बात है। और जिनके अंदर जो भाव-परमाणु अधिक मात्रामें और अधिक घने होते हैं, उनके अंदरसे वे अधिक निकलते हैं और अधिक प्रभावशाली होते हैं। उस प्रेममयी दासीका हृदय पवित्र प्रेमसे भरा था। भरा ही नहीं था, उसमें प्रेमकी बाढ़ आ गयी थी। प्रेम उसमें समाता नहीं था। बरबस बाहर निकला जाता था। उस प्रेमने रानीपर अपना प्रभाव जमाया। एक दिन दासीके मुँहसे बड़ी ही व्याकुलतासे भरी 'हे नवलकिशोर! हे नन्दनन्दन! हे व्रजचन्द्र!' की पुकार सुनकर रानी भी व्याकुल हो गयीं। उन्हें इस दुर्लभ दशाको पाकर बड़ा ही आनन्द मिला।

अब तो रानी उस दासीके पीछे पड़ गयीं और उससे बार-बार पूछने लगीं कि "बता, तुझे यह प्रेम कैसे प्राप्त हुआ? भगवान्‌के नाममें इतना माधुर्य तूने कैसे भर दिया? अहा, कितना जादू है उन नामोंमें! मैं तेरे मुँहसे जब 'हा नन्दनन्दन!' 'हा व्रजचन्द्र!' सुनती हूँ, तब देहकी सुधि भूल जाती हूँ, मेरा हृदय बरबस उन मधुर नामोंकी ओर खिंच जाता है और आँखोंसे आँसू निकल पड़ते हैं। बता, बता, मुझको यह माधुरी निरन्तर कैसे मिलेगी, मैं कैसे उनकी मोहिनी मूर्ति देख सकूँगी। जिनके नामोंमें इतना आकर्षण है, इतना माधुर्य है और इतना रस भरा हुआ है—बता, मैं उन्हें कैसे देख पाऊँगी? और कैसे उनकी मधुर मुरली सुन सकूँगी? मुझे भगवान्‌के प्रेमका वह रहस्य बतला, जिसमें तू निरन्तर डूबी रहती है और जिसके एक कणका दूरसे दर्शन करके ही मेरी ऐसी दशा हो चली है।"

दासीने पहले-पहले तो टालनेकी कोशिश की; परंतु जब रानी बहुत पीछे पड़ीं, तब एक दिन उसने कहा, 'महारानीजी! आप यह बात मुझसे न पूछिये। आप राजमहलके सुखोंको भोगिये। क्यों व्यर्थ इस मार्गमें आकर दुःखोंको निमन्त्रण देकर बुलाती हैं? यह रास्ता काँटोंसे भरा है। इसमें कहीं सुखका नामोनिशान नहीं है। पद-पदपर लहूलुहान होना पड़ता है, तब कहीं इसके समीप पहुँचा जा सकता है। पहुँचनेपर तो अलौकिक आनन्द मिलता है; परंतु मार्गकी कठिनाइयाँ इतनी भयानक हैं कि उनको सुनकर ही दिल दहल जाता है। रात-दिन हृदयमें भट्ठी जली रहती है, आँसुओंकी धारा बहती है; परंतु वह इस आगको बुझाती नहीं, घी बनकर इसे और भी उभाड़ती है। सिसकना और सिर पीटना तो नित्यका काम होता है। आप राजरानी हैं, भोग-सुखोंमें पली-पोसी हैं, यह पंथ तो विषयविरागियोंका है—जो संसारके सारे भोग-सुखोंसे नाता तोड़ चुके हैं या तोड़नेको तैयार हैं। और कहीं यदि मोहनकी तनिक-सी माधुरी देखनेको मिल गयी, फिर तो सर्वस्व ही हाथसे चला जायगा। इसलिये न तो यह सब पूछिये और न उस ओर ताकिये ही।'

यह सब सुनकर रानी रत्नावतीकी उत्कण्ठा और भी बढ़ गयी। वे बड़े आग्रहसे श्रीकृष्णप्रेमका रहस्य पूछने लगीं। आखिर, उनके मनमें भोग-वैराग्य देखकर तथा उन्हें अधिकारी जानकर श्रीकृष्णप्रेममें डूबी हुई दासीने उन्हें श्रीकृष्ण-प्रेमका दुर्लभ उपदेश किया।

अब तो दासी रानीकी गुरु हो गयी, रानी गुरुबुद्धिसे उसका आदर-सत्कार करने लगीं। विलासभवन भगवान्‌का लीलाभवन बन गया। दिन-रात हरिचर्चा और उनकी अनूप रूपमाधुरीका बखान होने लगा। सत्सङ्गका प्रभाव होता ही है, फिर सच्चे भगवत्प्रेमियोंके सङ्गका तो कहना ही क्या। रानीका मन-मधुकर श्यामसुन्दर व्रजनन्दनके मुखकमलके मकरन्दका पान करनेके लिये छटपटा उठा। वे रोकर दासीसे कहने लगीं—

'कछुक उपाय कीजै, मोहन दिखाय दीजै,
तब ही तो जीजै, वे तो आनि उर अरे हैं!'

'कुछ उपाय करो, मुझे मोहनके दर्शन कराओ; तभी यह जीवन रहेगा। अहा! वे मेरे हृदयमें आकर अड़ गये हैं।'

दासीने कहा—'महारानी! दर्शन सहज नहीं है, जो लोग राज छोड़कर धूलमें लुट पड़ते हैं तथा अनेकों उपाय करते हैं, वे भी उस रूपमाधुरीके दर्शन नहीं पाते। हाँ, उन्हें वशमें करनेका एक उपाय है—वह है प्रेम। आप चाहें तो प्रेमसे उन्हें अपने वश कर सकती हैं।'

रानीके मनमें जँच गया था कि भगवान्‌से बढ़कर मूल्यवान् वस्तु और कुछ भी नहीं है। इस लोक और परलोकका सब कुछ देनेपर भी यदि भगवान् मिल जायँ तो बहुत सस्ते ही मिलते हैं। जिसके मनमें यह निश्चय हो जाता है कि श्रीहरि अमूल्य निधि हैं और वे ही मेरे परम प्रियतम हैं, वह उनके लिये कौन-से त्यागको बड़ी बात समझता है। वह तन-मन, भोग-मोक्ष सब कुछ समर्पण करके भी यही समझता है कि मेरे पास देनेको है ही क्या और वास्तवमें बात भी ऐसी ही है। भगवान् तन-मन, साधन-प्रयत्न या भोग-मोक्षके बदलेमें थोड़े ही मिल सकते हैं। वे तो कृपा करके ही अपने दर्शन देते हैं और कृपाका अनुभव उन्हींको होता है, जो संसारके भोगोंको तुच्छ समझकर केवल उन्हींसे प्रेम करना चाहते हैं। रानी रत्नावतीके मनमें यह प्रेमका भाव कुछ-कुछ जाग उठा। उन्होंने दासी-गुरुकी अनुमतिके अनुसार नीलमका एक सुन्दर विग्रह बनाकर तन-मन-धनसे उसकी सेवा आरम्भ की। वे अब जाग्रत्, स्वप्न दोनों ही स्थितियोंमें भगवत्प्रेमका अपूर्व आनन्द लूटने लगीं। राजरानी भोगसे मुँह मोड़कर भगवत्प्रेमके पावन पथपर चल पड़ीं। एकके साथ दूसरी सजातीय वस्तु आप ही आती है। भजनके साथ-साथ संत-समागम भी होने लगा। सहज कृपालु महात्मालोग भी कभी-कभी दर्शन देने लगे।

एक बार एक पहुँचे हुए प्रेमी महात्मा पधारे। वे वैराग्यकी मूर्ति थे और भगवत्प्रेममें झूम रहे थे। रानीके मनमें आया, मेरा रानीपन सत्सङ्गमें बड़ा बाधक हो रहा है। परंतु यह रानीपन है तो आरोपित ही न? यह मेरा स्वरूप तो है ही नहीं, फिर इसे मैं पकड़े रहूँ और अपने मार्गमें एक बड़ी बाधा रहने दूँ? उन्होंने दासी-गुरुसे

पूछा—'भला, बताओ तो मेरे इन अङ्गोंमें कौन-सा अङ्ग रानी है, जिसके कारण मुझे सत्सङ्गके महान् सुखसे विमुख रहना पड़ता है?' दासीने मुसकरा दिया। रानीने आज पद-मर्यादाका बाँध तोड़ दिया। दासीने रोका—परंतु वह नहीं मानी। जाकर महात्माके दर्शन किये और सत्सङ्गसे लाभ उठाया।

राज-परिवारमें चर्चा होने लगी। रत्नावतीजीके स्वामी राजा माधोसिंह दिल्ली थे। मन्त्रियोंने उन्हें पत्र लिखा कि 'रानी कुलकी लज्जा-मर्यादा छोड़कर मोडोंकी* भीड़में जा बैठी है।' पत्र माधोसिंहके पास पहुँचा। पढ़ते ही उनके तन-तनमें आग-सी लग गयी। आँखें लाल हो गयीं। शरीर क्रोधसे काँपने लगा। दैवयोगसे रत्नावतीजीके गर्भसे उत्पन्न राजा माधोसिंहका पुत्र कुँवर प्रेमसिंह वहाँ आ पहुँचा और उसने पिताके चरणोंमें सिर टेककर प्रणाम किया। प्रेमसिंहपर भी माताका कुछ असर था। उसके ललाटपर तिलक और गलेमें तुलसीकी माला शोभा पा रही थी। एक तो राजाको क्रोध हो ही रहा था, फिर पुत्रको इस प्रकारके वेशमें देखकर तो उनको बहुत ही क्षोभ हुआ। राजाने अवज्ञाभरे शब्दोंमें तिरस्कार करते हुए कहा, 'आव मोडीका'—'साधुनीके लड़के, आ।' पिताकी भाव-भंगी देखकर और उनकी तिरस्कारयुक्त वाणी सुनकर राजकुमार बहुत ही दुःखी हुआ और चुपचाप वहाँसे चला गया।

लोगोंसे पूछनेपर पिताकी नाराजीका प्रेमसिंहको पता लगा। प्रेमसिंह संस्कारी बालक था। उसके हृदयमें पूर्वजन्मकी भक्तिके भाव थे और थी माताकी शिक्षा। उसने विचारा— 'पिताजीने बहुत उत्तम आशीर्वाद दिया, जो मुझे 'मोडीका लड़का' कहा। अब तो मैं सचमुच मोडीका लड़का मोडा (साधु) ही बनूँगा।' यह सोचकर वह माताकी भक्तिपूर्ण भावनापर बड़ा ही प्रसन्न हुआ और उसी क्षण उसने माताको पत्र लिखा—

'माताजी! तुम धन्य हो, जो तुम्हारे हृदयमें भगवान्‌की भक्ति जाग्रत् हुई है और तुम्हारा मन भगवान्‌की ओर लगा है। भगवान्‌की बड़ी कृपासे ही ऐसा होता है। अब तो इस भक्तिको सर्वथा सच्ची भक्ति बनाकर ही छोड़ो। प्राण चले जायँ, पर टेक न जाय। पिताजीने आज मुझे 'मोडीका लड़का' कहा है। अतएव अब मैं सचमुच मोडीका ही पुत्र बनना और रहना चाहता हूँ। देखो, मेरी यह प्रार्थना व्यर्थ न जाय।'

पत्र पढ़ते ही रानीको प्रेमावेश हो गया। अहा! सच्चा पुत्र तो वही है जो अपनी माताको श्रीभगवान्‌की ओर जानेके लिये प्रेरणा करता है और उसमें उत्साह भरता है! वे प्रेमके पथपर तो चढ़ ही चुकी थीं। आजसे राजवेश छोड़ दिया, राजसी गहने-कपड़े उतार दिये, इत्र-फुलेलका त्याग कर दिया और सादी पोशाकमें रहकर भजन-कीर्तन करने लगीं। पुत्रको लिख दिया—'भई मोडी आज, तुम हित करि जाँचियो।' 'मैं आज सचमुच मोडी हो गयी हूँ, प्रेमसे आकर जाँच लो।'

कुँअर प्रेमसिंहको पत्र मिलते ही वह आनन्दसे नाच उठा। बात राजा माधोसिंहतक पहुँची, उन्हें बड़ा क्षोभ हुआ और वे पुत्रको मारनेके लिये तैयार हो गये। मन्त्रियोंने माधोसिंहको बहुत समझाया, परंतु वह नहीं माना। इधर प्रेमसिंहको भी क्षोभ हो गया। आखिर लोगोंने दोनोंको समझा-बुझाकर शान्त किया; परन्तु राजा माधोसिंहके मनमें रानीके प्रति जो क्रोध था, वह शान्त नहीं हुआ। वे रानीको मार डालनेके विचारसे रातको ही दिल्लीसे चल दिये। वे आँबेर पहुँचे और लोगोंसे मिले। लोगोंने रानीकी बातें सुनायीं। रानीके विरोधियोंने कुछ बढ़ाकर कहा, जिससे माधोसिंहका क्षोभ और भी बढ़ गया।

कई कुचक्रियोंसे मिलकर माधोसिंह रानीको मारनेकी तरकीब सोचने लगे। आखिर षड्यन्त्रकारियोंने यह निश्चय किया कि पिंजरेमें जो सिंह है, उसे ले जाकर रानीके महलमें छोड़ दिया जाय। सिंह रानीको मार डालेगा, तब सिंहको पकड़कर यह बात फैला दी जायगी कि सिंह पिंजरेसे छूट गया था, इससे यह दुर्घटना हो

* राजस्थानकी बोलीमें साधुओंका अवज्ञाभरा नाम।

गयी। निश्चयके अनुसार ही काम किया गया, महलमें सिंह छोड़ दिया गया। रानी उस समय पूजा कर रही थीं; दासीने सिंहको देखते ही पुकारकर कहा—'देखिये, सिंह आया।'

रानीकी स्थिति बड़ी विचित्र थी, हृदय आनन्दसे भरा था, नेत्रोंमें अनुरागके आँसू थे, इन्द्रियाँ तमाम सेवामें लगी थीं। उन्होंने सुना ही नहीं। इतनेमें सिंह कुछ समीप आ गया, दासीने फिर पुकारकर कहा—'रानीजी! सिंह आ गया।' रानीने बड़ी शान्तिसे कहा, 'बड़े ही आनन्दकी बात है, आज मेरे बड़े भाग्यसे मेरे प्रह्लादके स्वामी श्रीनृसिंहजी पधारे हैं; आइये, इनकी पूजा करें।' इतना कहकर रानी पूजाकी सामग्री लेकर बड़े ही सम्मानके साथ पूजा करने दौड़ीं। सिंह समीप आ ही गया था; परंतु अब वह सिंह नहीं था। रत्नावतीजीके सामने तो साक्षात् श्रीनृसिंहजी उपस्थित थे। रानीने बड़े ही सुन्दर, मनोहर और आकर्षक रूपमें परम शोभासम्पन्न भगवान् नृसिंहदेवके दर्शन किये। उन्होंने प्रणाम करके पाद्य-अर्घ्य दिया, माला पहिनायी, तिलक दिया, धूप-दीप किया, भोग लगाया और प्रणाम-आरती करके वे उनकी स्तुति करने लगीं।

कुछ ही क्षणों बाद सिंहरूप प्रभु महलसे निकले और जो लोग पिंजरा लेकर रत्नावतीजीको सिंहसे मरवाने आये थे, सिंहरूप प्रभुने बात-की-बातमें उनको परलोक पहुँचा दिया और स्वयं मामूली सिंह बनकर पिंजरेमें प्रवेश कर गये।

लोगोंने दौड़कर राजा माधोसिंहको सूचना दी कि 'रानीने श्रीनृसिंहभगवान् मानकर सिंहकी पूजा की, सिंहने उनकी पूजा स्वीकार कर ली और बाहर आकर आदमियोंको मार डाला; रानी अब आनन्दसे बैठी भजन कर रही हैं।'

अब तो माधोसिंहकी आँखें खुलीं। भक्तका गौरव उनके ध्यानमें आया। सारी दुर्भावना क्षणभरमें नष्ट हो गयी। राजा दौड़कर महलमें आये और प्रणाम करने लगे। रानी भगवत्सेवामें तल्लीन थीं। दासीने कहा—'महाराज प्रणाम कर रहे हैं।' तब रानीने इधर ध्यान दिया और वे बोलीं कि 'महाराज श्रीनन्दलालजीको प्रणाम कर रहे हैं।' रानीकी दृष्टि भगवान्में गड़ी हुई थी। राजाने नम्रतासे कहा—'एक बार मेरी ओर तो देखो।' रानी बोलीं—'महाराज! क्या करूँ, ये आँखें इधरसे हटतीं ही नहीं; मैं बेबस हूँ।' राजा बोले—'सारा राज और धन तुम्हारा है, तुम जैसे चाहो, इसे काममें लाओ।' रानीने कहा—'स्वामिन्! मेरा तो एकमात्र धन ये मेरे श्यामसुन्दर हैं, मुझे इनके साथ बड़ा ही आनन्द मिलता है। आप मुझको इन्हींमें लगी रहने दीजिये।'

राजा प्रेम और आनन्दमें गद्गद हो गये और रानीकी भक्तिके प्रभावसे उनका चित्त भी भगवान्की ओर खिंचने लगा। जिनकी ऐसी भक्त पत्नी हो, उनपर भगवान्की कृपा क्यों न हो! घरमें एक भी भक्त होता है तो वह कुलको तार देता है।

एक समय महाराजा मानसिंह अपने छोटे भाई माधोसिंहके साथ किसी बड़ी भारी नदीको नावसे पार कर रहे थे। तूफान आ गया, नाव डूबने लगी। मानसिंहजीने घबराकर कहा—'भाई! अब तो बचनेका कोई उपाय नहीं है।' माधोसिंह बोले—'आपकी अनुजवधू अर्थात् मेरी पत्नी बड़ी भक्ता है, उसकी कृपासे हमलोग पार हो जायँगे।' दोनोंने रानी रत्नावतीका ध्यान किया। जादूकी तरह नाव किनारे लग गयी। दोनों भाई नया जन्म पाकर आनन्दमग्न हो गये। यह तो मामूली नाव थी और नदी भी मामूली ही थी। भगवान्के सच्चे भक्तका आश्रय करके तो बड़े-से-बड़ा पापी मनुष्य बात-की-बातमें दुस्तर भवसागरसे तर जा सकता है। विश्वास होना चाहिये।

अब तो मानसिंहजीके मनमें रानीके दर्शनकी लालसा जाग उठी, आकर उन्होंने दर्शन किया!

रानीका जीवन प्रेममय हो गया। वह अपने प्रियतम श्यामसुन्दरके साथ घुल-मिल गयीं।

भक्तिमती मङ्गलागौरी

(लेखक—श्रीदेवेन्द्रराय पुरुषोत्तमराय मजूमदार, बी० ए०, कोविद)

भक्तिमती मङ्गलागौरीका चरित्र अत्यन्त पवित्र और चित्ताकर्षक है। उन्होंने आजीवन भगवान्‌के रूप-माधुर्यका रसास्वादन करके जो सरस सङ्गीत और काव्यकी धारा उत्तर गुजरातके पाटनमें बहायी, वह उनकी भक्तिनिष्ठाकी उज्ज्वल और स्थायी प्रतीक है। दो सौ साल पहलेकी बात है, उन्होंने गुजरातको अपनी उपस्थितिसे गौरवान्वित किया था। उनके पिता पाटन परगनेके प्रसिद्ध जमींदार और शासक श्रीनरभेराय मुकुन्दराय बड़नगरा नागर थे। वे अत्यन्त समृद्ध, ऐश्वर्यशाली और भक्तिभावापन्न व्यक्ति थे। मङ्गलागौरी उनके साथ नित्य मन्दिरमें भगवान्‌का दर्शन करने जाया करती थीं। उनके भावी जीवन-विकासमें इस शुभ संस्कारका बड़ा प्रभाव पड़ा था।

मङ्गलाके पति नर्मदाशङ्कर लाखियाने थोड़े दिनोंतक गृहस्थाश्रममें रहनेके बाद काशीमें जाकर संन्यास ले लिया, कालान्तरमें उनके दोनों पुत्रोंकी मृत्यु हो गयी। इन परिस्थितियोंने उनका जीवन ही बदल दिया; वे अपने पिताके घर चली आयीं और जीवनके शेष दिन उन्होंने वहीं पूरे किये। भगवत्सेवामें ही उनका समय बीतने लगा। वे रात-दिन भगवान्‌के शृङ्गार और भजन-पूजन तथा स्तवनमें ही संलग्न रहती थीं। उनकी सङ्गीत-निपुणताने उन्हें मधुर काव्य-कण्ठ प्रदान किया और वे भगवान्‌की लीलाके पदोंकी रचना करने लगीं। आस-पाससे स्त्रियोंका समूह उमड़कर उनके सम्पर्कमें भजन करने लगा, पाटंनक्षेत्र पवित्र हो उठा, दिशाएँ भगवत्-माधुरीसे सम्पन्न हो उठीं।

मङ्गलागौरीने गुजराती और व्रजभाषा—दोनों भाषाओंमें पद-रचना की है। 'यमुनाजीकी आरती' और 'पाटनके गिरिधारीजीका गरबा' अत्यन्त प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। उनकी अन्य देवोंमें भी निष्ठा थी। महादेव, गणेश आदिके सम्बन्धमें उनके अनेक पद मिलते हैं। मङ्गलागौरीका जीवन पूर्णरूपसे भगवान्‌के चरणारविन्दमें समर्पित था। जीवनके अन्तिम दिनोंमें उनके नेत्र चले गये थे। फिर भी उनके अधरोंपर रामनामका अमृत बहता रहता था, हाथोंमें मालाका नृत्य होता रहता था। पाटनके ऐश्वर्यशाली व्यक्ति गोविन्दराय मजूमदारके जीवनपर भी मङ्गलागौरीकी भक्तिनिष्ठाका बड़ा प्रभाव था, वे उनके भाई थे। बहिनको कीर्तन करते देखकर वे आवेशमें भगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने पैरोंमें घुँघरू बाँधकर नाचा करते थे। उनके सुपुत्र श्रीवैकुण्ठरायजी, रणछोड़रायजी और गोपालरायजी भी बड़े भागवत हुए।

एक बार मन्दिरमें धूम-धामसे कीर्तन हो रहा था, भक्तजन प्रेमविमुग्ध होकर भगवन्नाम-उच्चारण कर रहे थे। उसी तुमुल हरिनामध्वनिका रसास्वादन करते हुए मङ्गलाने संसारसे विदा ली। वे वास्तवमें महान् भक्तात्मा थीं।

गङ्गा-जमुनाबाई

(लेखक—बाबा श्रीहितशरणजी महाराज)

सुनौ संत हरि कृपा प्रगट संसार दिखाई।
जमन त्रास ते छुटीं गंग जमुन द्वै बाई॥
सदन घेरि बठारि जमन दुष्टता बिचारी।
धर्‌यौ सिंह कौ रूप कृष्ण जन के हितकारी॥
जमन मृत्यु लखि पग पर्‌यौ अबलन प्रभु रक्षा करैं।
निकट सदाई स्याम घन अपने जन के साँकरे॥

—चाचा श्रीहितवृन्दावनदास

सोलहवीं शताब्दीमें इस देशमें मुसलमानोंका अत्याचार काफी जोरपर था। उस समय एक मुगल सरदारने कामवनपर चढ़ाई की और गाँवोंको खूब लूटा। इस लूट-खसोट और भीषण नर-हत्याकाण्डमें गङ्गा-यमुना दो असहाय लड़कियोंको भी अपने घर और कुटुम्बसे हाथ धोना पड़ा। इस समय इनकी अवस्था ९-९ वर्षकी थी। ये जंगलमें भाग छिपी थीं। इसीसे इनके प्राण बच गये।

प्रभुकी लीला विचित्र है। जिस समय गङ्गा-यमुना जंगलमें अकेली भूखसे रो रही थीं, उसी समय

मनोहरदास नामक कोई ब्राह्मण वहाँसे निकला। उसे इन बालिकाओंपर दया आयी और वह इन्हें मथुरा ले आया।

मनोहरदासने उन दोनों बालिकाओंको नृत्य-गानकी अच्छी शिक्षा दी और पाँच वर्षोंमें उन्हें इस कलामें निपुण कर दिया। अब वह इन्हें जगह-जगह नचाकर इनसे पैसे कमाने लगा। गङ्गा-यमुना दोनों अत्यन्त सुन्दरी थीं। अतः मनोहरदासको खूब धन मिलता; किन्तु *'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई'* वह इनसे अधिक-से-अधिक रुपया कमाना चाहता था। इसलिये उसने इन्हें बेचनेका विचार किया। एक दिन वह आगरेके किसी राजा भानसिंहके यहाँ इनका सौदा भी कर आया। सौदा दो हजार रुपयोंका हुआ। पापका फल शीघ्र मिल जाता है। मनोहरदास सौदा करके आया और कन्या-विक्रयके ही पापसे दूसरे दिन मर गया। मरते समय वह अपना गुप्त धन इन कन्याओंको बता गया।

अस्तु, अबतक गङ्गा-यमुना अपने गुणके लिये प्रसिद्ध हो गयी थीं। उनकी कला और गानका आनन्द लेनेके लिये श्रीवृन्दावनके एक वृद्ध संत श्रीपरमानन्ददासजी कभी-कभी मनोहरदासके यहाँ आया करते। उनसे गङ्गा-यमुनाका परिचय और प्रेम था। मनोहरदासके मरनेपर दोनों बहनें बाबा श्रीपरमानन्ददासजीके आश्रयमें चली आयीं। अब उन्हें इस नृत्य-गानसे घृणा हो चुकी थी और संत-सङ्गके प्रभावसे स्वाभाविक ही भजनमें उनकी रुचि हो गयी थी। धीरे-धीरे उनका मन इस संसारके विषयोंसे उपरत हो गया।

अब दोनों बहनोंने वैष्णवी-दीक्षा ग्रहण करनेकी प्रार्थना की। बालिकाओंकी सच्ची जिज्ञासा देखकर श्रीपरमानन्ददासजीने उन्हें अपने गुरुदेव गोस्वामी श्रीहितहरिवंशचन्द्रके शरणापन्न करा दिया। वैष्णवी-दीक्षा लेकर गङ्गा-यमुना दोनों श्रीठाकुरजीकी सेवा, नाम-जप और पाठ-भजन आदि बड़ी प्रीतिसे करने लगीं। इनके पास जो मनोहरदासकी सम्पत्ति थी, उसे साधु-संतोंकी सेवामें लगाने लगीं। इससे उन्हें अत्यधिक आनन्द मिलता।

इस प्रकार कितने ही दिन बीतनेके पश्चात् उनके जीवनमें एक उपद्रव आया। गङ्गा-यमुनाके रूप-लावण्यकी चर्चा तो सर्वत्र थी ही, मथुराके हाकिम अज़ीज़बेगने भी सुनी। उसने जाकर इन्हें देखा भी। तब तो मानो उसकी छातीपर साँप-सा लोटने लगा। अज़ीज़बेगने चुपकेसे दूसरे दिन गङ्गा-यमुनाकी कुटियाके आस-पास घेरा डाल दिया और जब रात्रिके समय उनकी कुटियापर आया, तब उसने वहाँ एक सिंहको रखवाली करते पाया। सिंहने गर्जना करके उसे खूब डराया भी। वह भागा अपने घर आया। डरके मारे उसे ज्वर आ गया। कई बार मूर्छा भी हुई। सारी रात बड़े कष्टसे बीती।

यह सब तो हुआ; पर गङ्गा-यमुनाको इस बातका कि कोई आया भी था, पतातक न चला। वे तो संतोंके सङ्गमें बैठी हरि-गुण-गान करती रहीं। सबेरा होनेपर अज़ीज़बेग गङ्गा-यमुनाके पास आया और उन्हें 'माता' शब्दसे सम्बोधित करके उसने अपना अपराध क्षमा कराया। उसीने उन्हें सिंहकी कथा भी सुनायी तथा बहुत-सा द्रव्य भेंट किया। किंतु—

इन वाकौ धन हाथ न छुयौ। हरि भक्तनि हित सिच्छित कियौ॥

इन्होंने उसके धनको छुआ नहीं और संतोंकी सेवामें लगा देनेका उपदेश दिया। इससे अज़ीज़बेगकी श्रद्धा और भी बढ़ गयी। उसने बार-बार इनकी चरण-रज ली, तब इन्होंने उसे आदरके साथ विदा कर दिया।

इन दोनों भक्तिमती बहनोंके विषयमें भक्तमालकार श्रीगोविन्द अलिजीने लिखा है—

हीन कुली वपु धार सार हितजू ते पायौ।
जैसे पारस परस लोह ते हेम कहायौ॥
दास मनोहर वास गृह परमानँद के संग।
कुंजमहल में प्रगट ह्वै गावति तान तरंग॥
इहि बिधि जुगल रिझाय कै बसीं बिपिन में आइ।
गंगा जमुना की कथा सुनहु रसिक चित लाइ॥

भक्तिमती विष्णीबाई

(लेखक—बाबा श्रीहितदासजी)

आगराके गृहस्थ वैश्य दयालदासकी पुत्री विष्णीमें भगवान् श्रीकृष्ण और उनके वृन्दावनके लिये अपने प्राणोंसे भी अधिक प्यार भरा पड़ा है, विष्णीके बचपनके जीवनपरसे यह कोई नहीं जान सका था। इतना तो अवश्य था कि विष्णी सुशीला, सहृदया, भजन-परायणा और पिता-माताकी आज्ञाकारिणी थी।

मुगल कुराजीका समय और आगरेका निवास; अतः पिता दयालदासने छोटी अवस्थामें ही विष्णीका विवाह एक सम्पन्न घरमें कर दिया था। किंतु भगवान्‌की इच्छा बड़ी प्रबल है, ससुराल जानेके पूर्व ही लगभग १४ वर्षकी अवस्थामें विष्णी एक भयानक रोगसे ग्रस्त हो गयी। वह चौबीसों घंटे पागलकी तरह अपने शरीरकी सुधि-बुधि भूली रहती; जो मनमें आता, आँय-बाँय बका करती। लोग इसे प्रेतबाधा बतलाते थे। विष्णीकी इस बीमारीसे विष्णीके पितृकुल एवं श्वशुरकुल दोनों दुःखी थे। उन्होंने रोगनिवारणके अनेकों उपाय भी किये, पर सब व्यर्थ हुए। सब लोग विष्णीके जीवनसे निराश थे।

किंतु विष्णीके सौभाग्यसे कहें या प्रभुकृपासे, गोस्वामी श्रीहितरूपलालजी अपने शिष्य दयालदासके घर आ विराजे, वे पूर्व-भारतकी यात्रा पूर्ण करके श्रीवन लौट रहे थे। श्रीमहाराजके आगमनसे सबको अपार हर्ष हुआ। विष्णीके पिताको तो पूर्ण आशा हो गयी कि श्रीमहाराजकी कृपासे अवश्य अब मेरी पुत्रीकी बीमारी दूर हो जायगी। ईश्वरेच्छासे हुआ भी ऐसा ही। श्रीमहाराजसे मन्त्रश्रवण करते ही विष्णीकी बीमारी जाने कहाँ चली गयी और वह पूर्णरूपसे भली-चंगी हो गयी। विष्णी शरीरसे चंगी तो अवश्य हो गयी; किंतु उसके मनपर एक दूसरा पवित्र प्रेत सवार हो गया, जो जीवनभर उसके प्राणोंसे चिपटा रहा और जिसने विष्णीको वास्तवमें विष्णी बना दिया। जैसे राखके ढेरमें छिपी आगकी चिनगारी रुई या पुराने फूसका संसर्ग पाकर एकदम भभक उठती और ज्वाला बन जाती है, उसी प्रकार श्रीगुरुदेवकी कृपा और श्रीकृष्ण-मन्त्रके श्रवणमात्रसे विष्णीका सुप्त श्रीकृष्णप्रेम जाग उठा। विष्णी इस प्रेम-प्रेतसे ऐसी बावली हुई कि उसे लोक-परलोक सबकी सुधि भूल गयी।

अब विष्णी बड़े ही अनुरागसे अपने ठाकुरजीकी सेवा करती और अहर्निश अपने प्रियतम प्राणवल्लभ श्रीराधावल्लभके महामधुर नामोंका स्मरण करती। उसका सारा समय इन्हीं कामोंमें व्यतीत होने लगा—यहाँतक कि उसने अपने पिता-माता, ताऊ-चाचा और सखी-सहेलियोंसे भी मिलना-बोलना बंद कर दिया। वह स्वाभाविक सब ओरसे उपराम हो गयी। विष्णीके इस व्यवहारसे सबको प्रसन्नताके साथ-साथ एक आश्चर्य भी हो रहा था।

अभीतक अपने प्रिय शिष्य दयालदासके प्रेम-बन्धनमें बँधे श्रीरूपलालजी महाराज आगरेमें उन्हींके घर विराज रहे थे। कई दिनोंके पश्चात् एक दिन उन्होंने श्रीवन जानेकी इच्छा प्रकट की। महाराजके श्रीवन-प्रस्थानकी बात सुनकर उनके वियोग-दुःखकी कल्पनासे विष्णी व्याकुल हो गयी। उसके हृदयमें श्रीवनका अनुराग हिलोरें लेने लगा। अब विष्णीको घर श्मशान और नगर नरककी तरह दीखने लगा। वह किसी तरह भी श्रीगुरुदेवके साथ श्रीवन जाना चाहती थी। उसे यहाँकी सारी वस्तुएँ तुच्छ दीखने लगीं। विष्णीने निश्चय किया कि इस लोक और लोकके सुखोंका पूर्णरूपेण परित्याग किये बिना श्रीवनका निवास नहीं मिल सकता, अतः मैं इन सबका परित्याग करके अवश्य श्रीवन जाऊँगी। उसने अपना निश्चय सुनाते हुए पिताजीसे श्रीवृन्दावन जानेकी आज्ञा माँगी। किंतु जिस पुत्रीको उन्होंने किसीके लिये दान कर दिया है, उसके जाने-न-जानेके सम्बन्धमें बेचारे दयालदास कहते भी क्या। उन्होंने टाला-टूली-सा उत्तर दे दिया—'बेटी! तुम जानती हो, तुम्हारा विवाह हो चुका है; तुमपर अब दूसरेका अधिकार है—अनुशासन है; मुझसे श्रीवन जानेके विषयमें क्या पूछती हो। मैं भला, इसका क्या उत्तर दे सकूँगा; तुम्हीं बताओ।'

पिताजीकी बातसे विष्णी समझ गयी कि इनकी इच्छा मुझे श्रीवन जाने देनेकी नहीं है। अब विष्णीको ये सारे सम्बन्ध—क्या माता, क्या पिता, क्या भाई, क्या बन्धु—सब प्रत्यक्ष बन्धन दीखने लगे। उसने इनके त्यागका फिर एक बार निश्चय किया।

अब विष्णी चुपके-चुपके अपने श्रीवन जानेकी तैयारियाँ करने लगी। श्रीवृन्दावनकी मधुर स्मृतिने उसे विरहिणी बना दिया। वह 'हा वृन्दावन! हा वृन्दावन!!' कहती हुई फूट-फूटकर रोने लगी। उसका रोना सुनकर बहुत-से लोग एकत्र हो गये। विष्णीके वृन्दावन-प्रेम और कातर रोदनसे माता-पिता ही क्या, पुरा-पड़ोसियोंका हृदय भी पिघल गया; अब किसीके चित्तमें यह बात न रह गयी कि विष्णी श्रीवन न जाय।

विष्णी श्रीवन जाय या न जाय, इस गम्भीर समस्याका कोई सुनिश्चित हल नहीं हो रहा था। प्रातःकाल श्रीमहाराज श्रीवन प्रस्थान करनेको तत्पर हैं; किंतु किसीको क्या मालूम कि विष्णी उनसे पहले तैयार बैठी है, भले ही कोई आज्ञा न दे।

जब सब लोग विष्णीको समझा-बुझाकर श्रीमहाराजके निकट आये, तब उन्होंने कोई प्रसङ्ग निकालकर विष्णीके लिये उचित कर्तव्यकी आज्ञा माँगी। इसपर श्रीमहाराजने केवल इतना ही कह दिया कि 'मैं इसका क्या निर्णय दूँ। विष्णीके लिये उचित आज्ञा तो श्रीठाकुरजी ही देंगे।' महाराजके इस आश्वासनसे सबको एक प्रकारकी शान्तिका अनुभव हुआ। प्रेमकी लीला बड़ी विचित्र है। प्रातःकाल होनेवाले प्रस्थानने सायङ्काल दिनका तीसरा प्रहर प्राप्त कर लिया; क्योंकि उसमें विष्णीके पागलपनने विशेष साथ दिया। फलतः श्रीमहाराजसे प्रार्थना की गयी और वे कृपा-परवश फिर रुक गये।

इधर जब विष्णीके श्वशुरने सुना कि हमारी पुत्रवधू पूर्ण स्वस्थ हो गयी है, तब वे भी उसी प्रस्थानके दिन अकस्मात् विष्णीको लिवा ले जानेके लिये आये; किंतु यहाँ विष्णी तो अपनी दूसरी ही ससुराल—प्रियतमके देशमें जानेको तैयार बैठी थी। घर-पुरा-पड़ोसके सब लोग उसे समझा रहे हैं, पर वह किसीकी एक नहीं सुनती; उसके मुखपर एक ही बात है—'मैं श्रीवन जाऊँगी।'

विष्णीके श्वशुरने चाहा कि श्रीमहाराज विष्णीको अपनी आज्ञासे रोक दें, उन्होंने महाराजसे प्रार्थना भी की; किंतु श्रीमहाराज अच्छी तरह जानते थे कि विष्णी मेरी आज्ञासे अपने शरीरको तो अवश्य यहाँ रोक रखेगी, पर उससे उसके प्राण न रोके जा सकेंगे और वे अवश्य श्रीवन चले जायँगे। यह सोचकर आपने अपनी ओरसे कोई आज्ञा नहीं दी और उसी पूर्वकथित वाक्यको दुहरा दिया 'भाई! मैं क्या आज्ञा दूँ। विष्णीके लिये उचित आज्ञा तो श्रीठाकुरजी ही देंगे।'

भगवान्‌की इच्छा ही इच्छा है; क्योंकि केवल वही एक पूरी होती है, शेष सबकी इच्छाएँ ज्यों-की-त्यों रखी रह जाती हैं। तब क्या महत्त्व है हमारी इच्छाओंका! किंतु खेद तो इस बातका है कि हम तब भी उन इच्छाओंका त्याग नहीं कर सकते, चाहे जीवनभर वे पूरी न हों।

सब लोगोंकी इच्छा थी—'विष्णी श्रीवन न जाय'; किंतु भगवान् चाहते थे इसके विरुद्ध। इसलिये उन्होंने मनुष्योंकी इच्छाओंको सहलाते हुए अपनी इच्छा पूर्ण करनेकी चाल खेली। दूसरे दिन विष्णी रजस्वला हो गयी।

विष्णी रजस्वला क्या हो गयी, मानो उसपर वज्र गिर पड़ा। उसे मरणान्त कष्ट हुआ इस बाधासे। वह रो-रोकर अपने प्रभुसे प्रार्थना करने लगी—'मेरे प्यारे श्रीकृष्ण! क्यों इतना तरसा रहे हो मुझे। क्या मैं तुम्हारे वृन्दावन न आ सकूँगी? अब कैसे आ सकूँगी, जब तुम्हीं रूठ गये हो। सबेरा होगा और श्रीमहाराज श्रीवन.......।'

सब लोग बैठे विष्णीकी श्रीवन जाने और न जानेकी समस्यापर विचार कर ही रहे थे कि अचानक उन सबके मध्यसे होती हुई एक ज्योति विष्णीके कमरेमें प्रवेश कर गयी। तबतक विष्णीके पिताने पूजागृहसे आकर आश्चर्यसे भरे हुए शब्दोंमें कहा—'श्रीठाकुरजी अपनी शय्यासे उड़कर जाने कहाँ चले गये?'

दयालदासकी बात सुनकर सब लोग अकचके-से इधर-उधर देखने लगे। कुछ तो ठाकुरजीको खोजने भी लगे। किंतु ठाकुरजी कहीं भाग थोड़े गये थे, वे तो अपनी भक्ता विष्णीके विरहसे व्याकुल होकर उसकी गोदमें आ विराजे थे। अपने प्रभुको इस अपावन दशामें

भी अपनी गोदमें आया देख विष्णी उनकी पतित-पावनता और भक्त-वत्सलतापर मुग्ध थी।

विष्णीकी गोदमें श्रीठाकुरजीको आया देख सबने अपने-आप निर्णय दे दिया कि विष्णी अवश्य श्रीवन जाय, यही श्रीठाकुरजीकी इच्छा है। फिर तो सबने बड़े प्रेमसे विष्णीके श्रीवन जानेकी तैयारियाँ कर दीं और रजोधर्मके चार दिन पूर्ण होनेपर पाँचवें दिन विष्णी सानन्द अपने श्रीवन चली गयी। श्रीवनका दर्शन करके उसका हृदय आनन्द और प्रेमसे थिरक उठा।

श्रीवनमें वास करके विष्णी निरन्तर भजन और श्रीगुरुचरणोंकी सेवामें लगी रहती। वह अपने ठाकुरजीकी सेवा-पूजा तो करती ही, साथ ही मानसिक सेवा-भावना भी किया करती।

एक बार विष्णीने मानसिक सेवामें अपने ठाकुरजीको मिश्रीका भोग रखा और मानसिक प्रसाद भी लिया, जो उसके मुखमें प्रत्यक्ष प्रकट हो गया। भावनाके समय चर्वण करते देख इसकी सहेली लीलाबाईने जबरन् उसके मुखसे मिश्री छीनकर सबको दिखायी, इस भक्त-अपराधसे वह पागल हो गयी। पीछे श्रीरूपलालजी महाराजकी कृपा और विष्णीके अपराध क्षमा कर देनेसे वह स्वस्थ हुई।

एक बार विष्णीबाई भावनामें तल्लीन होकर, शरीरकी भी सुधि-बुधि भूल बहुत ऊँचेपरसे गिर पड़ी और तीन पहरतक उसी आनन्दमयी भावनामें तल्लीन बेहोश पड़ी रही, पश्चात् प्रकृतिस्थ हुई। इस प्रकार प्रभु-प्रेममें विमुग्ध रहते हुए श्रीविष्णीबाईने श्रीवृन्दावनमें सत्रह वर्ष निवास किया, पश्चात् संवत् १७८५ विक्रममें वह नित्य-निकुञ्जमें प्रवेश कर गयी।

भक्तिमती गजदेवी और हरदेवी

हरदेवी विशालापुरीके सेठ स्थानकदेवकी एकमात्र कन्या थी। माताका नाम गजदेवी था। एकमात्र सन्तान होनेसे हरदेवी माता-पिताको बहुत ही प्यारी थी। घरमें किसी चीजकी कमी नहीं थी। हरदेवीका पालन-पोषण बड़े ही लाड़-चावसे हुआ था। हरदेवीकी माता बड़ी ही विदुषी थी और उसका हृदय भक्तिसे भरा था। वह नित्य श्रद्धापूर्वक भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा करती। माताकी पूजाके समय हरदेवी पास बैठी रहती, वह भी माताकी देखादेखी खेलनेमें भगवान्‌की पूजा किया करती। माता ही सन्तानकी प्रथम गुरु होती है। माताके स्वभाव, आचरण, चरित्र और व्यवहारका बालकके जीवनपर अमिट प्रभाव पड़ता है। हरदेवीके हृदयमें भी इसीके अनुसार भक्तिके अङ्कुर पैदा हो गये।

उचित शिक्षा-दीक्षा आदिके अनन्तर हरदेवी जब विवाहके योग्य हुई, तब बड़ी धूम-धामसे उसका विवाह चम्पकपुरीके सेठ गुणदेवके पुत्र हर्षदेवके साथ कर दिया गया। विवाह बड़े आनन्दसे हो गया। विदाईका दिन था। अकस्मात् हरदेवीकी माता गजदेवीको बुखार चढ़ आया। घरमें भीड़ बहुत थी, दवाकी चेष्टा नहीं हो सकी। गजदेवीका बुखार बहुत तेजीसे बढ़ने लगा। वह अपने भगवान्‌के पूजा-भवनमें जाकर उनके सामने पड़ गयी। उसकी आँखोंमें आँसू थे और बड़ी ही गद्गद वाणीसे उसने कहना आरम्भ किया—

'भगवन्! मालूम होता है, तुम अब मुझे अपने श्रीचरणोंमें बुलाना चाहते हो। मुझे इस बातका स्मरण होते ही बड़ा हर्ष हो रहा है। उसी हर्षके मारे नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह रही है। हे मेरे अनन्त-प्राणप्रियतम! तुम अन्तर्यामी हो, जानते हो मेरे मनमें बरसोंसे कभी कोई भी कामना नहीं उठी। मैं यही चाहती हूँ, कोई कामना मेरे मनमें कभी उठे ही नहीं। मेरा मन सदा यही कहता है कि तुम्हारी इच्छाका अनुसरण करनेमें ही परम कल्याण है। इससे मैं सदा यही प्रयत्न करती हूँ कि मेरे मनमें कोई इच्छा न रहे, सारी इच्छाएँ तुम्हारी इच्छामें विलीन हो जायँ। तुम्हारी इच्छा ही सफल हो और तुमने सदा मेरी इस भावनाको बल दिया है तथा अपनी ओर खींचा है। आज तुम सदाके लिये अपनी सेवामें बुलानेकी व्यवस्था कर रहे हो, इससे बढ़कर मेरे लिये प्रसन्नताकी बात और क्या हो सकती है। परंतु मेरे

स्वामिन्! पता नहीं क्यों—शायद इसमें भी तुम्हारी ही प्रेरणा हो—मेरे मनमें एक कामना जाग्रत् हो रही है। वह यह कि इस बालिका हरदेवीकी आत्माको भी तुम अपने पावन चरणोंमें स्वीकार कर लो। यह तुम्हारी ही हो जाय। यद्यपि इसका विवाह हो गया है, आज यह अपने पतिके घर जा रही है, तथापि इसके परम लक्ष्य तो तुम्हीं हो। बस, मैं तुमसे केवल इतना ही वरदान चाहती हूँ कि इसपर तुम्हारी कृपादृष्टि सदा बनी रहे और अन्तमें इसे भी सेवाधिकार प्राप्त हो। मेरे पति तो मेरी जीवन-यात्राके साथी ही रहे हैं, उनके लिये मैं क्या माँगूँ।'

गजदेवीकी सच्ची और पवित्र प्रार्थना स्वीकृत हो गयी। भगवान्ने प्रकट होकर कहा—'देवि! तुम मेरी भक्ता हो, मेरे ही परमधाममें जा रही हो और सदा वहीं रहोगी। हरदेवी तुम्हारी पुत्री है—इस सम्बन्धसे वह मेरी भक्तिको प्राप्त होती ही, परंतु अब तो तुमने उसके लिये वर माँग लिया है। तुम्हारी यह चाह बड़ी उत्तम है। तुम निश्चिन्त हो जाओ, तुम्हारी चाहके अनुसार हरदेवी मेरी परम भक्ता होगी और यथावसर मेरे परम धाममें आकर तुमसे मिलेगी। तुम्हारे सङ्गके प्रभावसे तुम्हारे पति भी मेरे परमधाममें ही आयेंगे। उनके लिये कुछ भी माँगनेकी आवश्यकता नहीं है।' इसके बाद गजदेवीने देखा—ज्योतिर्मय प्रकाशके अंदर भगवान् अन्तर्धान हो गये!

गजदेवीको बड़े जोरका ज्वर था, वह विवाहके सब कार्योंसे अलग होकर भगवान्के पूजा-मन्दिरमें पड़ी थी। सेठको पता लगा, तब वे वहाँ आये। गजदेवीने कहा—'स्वामिन्! आज यह दासी आपसे अलग हो रही है। विदा दीजिये। मेरे अबतकके अपराधोंको क्षमा कीजिये और आशीर्वाद दीजिये कि इसकी आत्मा भगवान् श्रीकृष्णकी चरण-रज पाकर धन्य हो जाय।' स्थानकदेव पत्नीकी ये बातें सुनकर स्तम्भित रह गये। वे बोले—'प्रिये! अशुभ क्यों बोल रही हो? ऐसा कौन-सा रोग है? ज्वर है, उतर जायगा। अभी वैद्यराजको बुलाता हूँ।'

गजदेवीने हाथ जोड़कर प्रार्थना की—'स्वामिन्! अब वैद्यराजजी इस शरीरको नहीं उबार सकेंगे। मुझे मेरे भगवान्ने बुला लिया है। अब तो मैं आपकी चरण-रज ही चाहती हूँ। मुझे आज्ञा दीजिये। इसमें अशुभ क्या है। जीवन और मरण दोनों ही भगवान्के विधान हैं। जो जन्मा है, उसे मरना ही पड़ेगा। यदि जन्म शुभ है तो मृत्यु अशुभ क्यों है। मृत्यु न हो तो नवीन सुन्दर जन्मकी प्राप्ति कैसे हो सकती है। पुरातनका संहार सुन्दर नवीनकी सृष्टिके लिये ही तो होता है। फिर मैं तो परम भाग्यवती हूँ, जो आपकी चरणधूलिको सिर चढ़ाकर आपके सामने जा रही हूँ और जा रही हूँ आपके, अपने एवं अखिल ब्रह्माण्डोंके परमपति भगवान् श्रीकृष्णकी बुलाहटसे उनकी नित्य सेवाधिकारिणी बनकर! मेरा जन्म-जीवन आज सफल हो गया। आज इस जीवकी अनादिकालीन साध पूरी हो रही है। मेरी यही प्रार्थना है कि आप भी अपना जीवन भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य भजनमें लगा दीजिये। मुझे पता लग गया है कि आपपर भगवान् श्रीकृष्णकी बड़ी ही कृपा है।'

'जिसको तुम-सरीखी कृष्ण-भक्ता पत्नी प्राप्त हुई, उसपर श्रीकृष्णकी कृपा क्यों न होगी। प्रिये! धन्य हो तुम—जो तुम्हारा जीवन भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें अर्पित हो गया! और मैं भी धन्य हूँ जो तुम्हारे सङ्गसे मेरे हृदयमें पवित्र भावोंका प्रादुर्भाव हुआ और भगवान् श्रीकृष्णकी भक्ति मिली।' स्थानकदेवने गद्गद होकर कहा।

'अब आप पधारिये। हरदेवीको विदा कीजिये। जानेके पहले एक बार वह मुझसे मिल ले। आप निश्चय रखिये, मैं उसके विदा होनेके बाद ही शरीर त्याग करूँगी। आप निश्चिन्त होकर विवाहका काम कीजिये। मैं अपने भगवान्के श्रीचरणोंमें सुखसे पड़ी हूँ।'

स्थानकदेवका हृदय बदल चुका था। अब उनके मनमें शोक-विषाद कुछ भी नहीं रहा। भक्तिके उच्छ्वाससे उनका हृदय आनन्दसे भर रहा है। वे पत्नीकी मृत्युमें भगवान्का शुभ विधान देखकर प्रफुल्लित हो रहे हैं। उन्हें यह जानकर बड़ी प्रसन्नता है कि यह मरकर इससे कहीं अच्छी स्थितिको—'नहीं-नहीं, परम और अनन्त महासुखकी दुर्लभ स्थितिको प्राप्त करने जा रही है। इसका यह मरण इसके लिये बड़ा ही मङ्गलमय है। इस अवस्थामें ऐसा कौन आत्मीय होगा, जो अपने आत्मीयकी ऐसी कल्याणकारिणी मृत्युसे प्रसन्न न हो। अतएव वे

भक्तिमती कर्मठीबाई [पृ० ७०९]

रानी रत्नावती [पृ० ७१८]

गजदेवीपर कृपा [पृ० ७२६]

विश्वनाथजीपर कृपा [पृ० ७३५]

बहिन सरस्वती [पृ० ७३६]

जमींदार-वधूकी रक्षा [पृ० ७४७]

हसीना-हमीदापर कृपा [पृ० ७४२]

हर्षित चित्तसे वहाँसे उठकर चले आये और पुत्री हरदेवीकी विदाईके काममें लग गये। हरदेवीसे कह दिया कि 'तेरी मा पूजा-मन्दिरमें तुझे बुला रही है।'

पिताकी बात सुनकर हरदेवी तुरंत माताके पास गयी। माताको ज्वराक्रान्त देखकर उसे बड़ी चिन्ता हुई। वह माके पास बैठ गयी। उसने देखा—मा मुसकरा रही है, उसका चेहरा खिल रहा है और एक प्रकाशका मण्डल उसके चारों ओर छाया हुआ है। इतनेमें माताने बड़े दुलारसे हरदेवीका हाथ अपने हाथमें लेकर कहा—'बेटी! तू जानती है, यह संसार असार है—श्रीकृष्णका भजन ही इसमें एकमात्र सार है। मैं आज इस असार संसारको छोड़कर श्रीकृष्णकी सेवा करने उनके परमधाममें जा रही हूँ। श्रीकृष्णने स्वयं मुझको बुलाया है। तू यह न समझना, मैं तुझे असहाय छोड़ जाती हूँ। तू जानती है—मनुष्यमें जो कुछ भी बुद्धि, विद्या, शक्ति, सामर्थ्य, तेज, प्रभाव आदि है, सब श्रीकृष्णका दिया हुआ है। उन्हीं श्रीकृष्णके हाथोंमें तुझे सौंपकर मैं जा रही हूँ। वे ही विश्वम्भर स्वयं तेरी सँभाल करेंगे। उनसे बढ़कर सँभाल करनेवाला और कौन होगा। मुझे अनुमति दे, मैं जाऊँ। बेटी! तुझे श्रीकृष्णकी पूजामें बड़ा आनन्द आता है। मुझे बुलाकर श्रीकृष्णने तेरे लिये बड़ी सुविधा कर दी है। अब इन भगवान्को तू ले जा। नियमितरूपसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक इनकी पूजा किया करना। कभी कुछ कहने-सुननेकी आवश्यकता हो तो निस्संकोच इन्हींसे कहा करना। ये अवश्य तेरी बातें सुनेंगे और उसी समय उचित व्यवस्था भी कर देंगे। देख तो तेरे विश्वासके लिये ये अभी तेरी गोदमें चले आते हैं।'

इतना कहना था कि भगवान्की मूर्ति सिंहासनसहित आकाशमें चलकर हरदेवीकी गोदमें आ गयी। फिर क्या था, हरदेवीको दृढ़ विश्वास हो गया और भगवत्प्रेरणासे माताके भावी वियोगका सारा शोक पलभरमें नष्ट हो गया। अब उसने माताकी प्रसन्नता, मुसकराहट और उसके तेजोमण्डलका मर्म समझा। उसने मन्त्र-मुग्धकी तरह हँसते हुए कहा—'मा! ऐसा ही होगा। मैं आजसे इनकी हो गयी और ये मेरे हो गये। अब मुझे विश्वास है कि तुम्हारी जगह ये ही तुमसे भी बढ़कर मेरी रक्षा करेंगे। तुम तो मेरे साथ नहीं जा सकती, परंतु ये तो नित्य मेरे पास रहेंगे। तुम आनन्दसे इनकी सेवामें जाओ। जब इन्होंने स्वयं तुमको अपने पास बुलाया है, तब तुम्हें रोकनेका पाप कौन कर सकता है। जाओ मा, जाओ, भगवान्की सेवा करो। तुम धन्य हो, जो भगवान्की इतनी प्रियपात्र हो और मैं भी धन्य हूँ, जो मुझे तुम-जैसी सच्ची माताकी कोखसे पैदा होनेका सौभाग्य मिला है। मा! मुझे आशीर्वाद देती जाओ कि मैं भी तुम्हारी ही तरह भजन कर सकूँ और अन्तमें उनकी सेवामें ले ली जाऊँ।'

गजदेवीने कहा—'बेटी! ऐसा ही होगा, अवश्यमेव ऐसा ही होगा। तू निश्चिन्त रह। हाँ, एक बात कहनी है—अन्तिम और सच्चा सम्बन्ध तो एकमात्र भगवान्का ही है; परंतु यह संसार भी भगवान्का है, इसलिये इसमें हमें सभी व्यवहार भगवान्के इच्छा और आज्ञानुसार ही करने चाहिये। अवश्य ही करने चाहिये अपने भगवान्की प्रसन्नताके लिये ही। शास्त्र भगवान्की ही आज्ञा हैं और उनमें स्त्रीके लिये पति-सेवाको ही मुख्य धर्म बतलाया गया है। पतिके सम्बन्धसे सास-ससुरकी सेवा भी अवश्य करनी चाहिये। तू भगवान्की भक्ता है, ध्यान रखना—इस व्यवहारमें कोई त्रुटि न आने पाये। सदाचार, सादगी, सेवा, सहिष्णुता और संयम तो सभीके लिये आवश्यक हैं। भक्तके लिये तो ये सर्वथा स्वाभाविक होने चाहिये।'

'माता! ऐसा ही होगा। लाख दुःख उठानेपर भी तुम्हारी यह बेटी अपने कर्तव्यसे कभी नहीं डिगेगी'—हरदेवीने दृढ़ता और उल्लासके साथ कहा!

'बेटी! बड़ी-बड़ी परीक्षाएँ होती हैं। बड़े-बड़े भयके प्रसङ्ग आते हैं। भगवान्पर आस्था रखेगी तो उनकी कृपाशक्तिसे तेरा व्रत अनायास ही निभ जायगा और तू अपने परम लक्ष्य भगवान्को प्राप्त करके कृतार्थ हो जायगी। बेटी! मैं हृदयसे आशीर्वाद देती हूँ कि तेरा मन सदा श्रीभगवान्के चरण-कमलोंका चञ्चरीक बना रहे और तू कभी भी उनकी कृपासे वञ्चित न हो।'

'मा—मेरी मा! मैं अत्यन्त बड़भागिनी हूँ जो तुम्हारी बेटी हूँ। ऐसी मा कितनी हैं, जो अपनी सन्तानको श्रीभगवान्के चरणोंकी भक्ति करनेका आदेश और

आशीर्वाद देती हैं?'—हरदेवीने आँसू बहाते हुए कहा।

धन्य है माता और पुत्री दोनोंको! सचमुच वही माता माता है—पिता पिता है जो अपनी सन्तानको भगवान्‌के शुभ मार्गपर चलाता है और उसको अग्रसर करनेमें सब प्रकारकी सहायता करता है।

हरदेवीको उसके पिताने बुला लिया। वह भगवान्‌के सिंहासनको लेकर चली गयी। सिंहासनको सुरक्षित स्थानमें पधराकर उसने माताके पास कई चतुर और स्वामिभक्त सेविकाओंको भेज दिया जो प्रसन्नतासे उसकी यथायोग्य सेवा करने लगीं। यद्यपि विदाईके दिन माताके बीमार और मरणासन्न हो जानेपर हरदेवीको जगत्‌की चालके अनुसार बहुत शोक होना चाहिये था और हरदेवीके पिता स्थानकदेवके लिये भी यह कम चिन्ताका प्रसङ्ग नहीं था, फिर भी भगवदिच्छासे दोनोंके ही हृदय बदल चुके थे। वे गजदेवीके भगवान्‌के परमधाम-गमनकी खुशीमें मस्त थे और स्वयं भी उन दोनोंके हृदयोद्यानमें भक्ति-लतिका लहलहा रही थी तथा अपने मधुर पुष्पोंके सुन्दर सौरभसे क्षण-क्षणमें उन्हें मुग्ध कर रही थी। वे विवाहका कार्य तो मानो परवश—किसीकी प्रेरणासे कर रहे थे। सब कार्य भलीभाँति सम्पन्न हुए। हरदेवीके विदा होनेका समय आ गया। उसने एक बार फिर माताके श्रीचरणोंमें जाकर प्रणाम किया और उसका आशीर्वाद प्राप्त करके पिताके चरणोंमें गिरकर रथमें सवार हो गयी। भगवान्‌के सिंहासनको अपनी गोदमें ले लिया। कन्याकी माताकी अनुपस्थिति दोनों ओरके सभी बरातियोंको बहुत ही खल रही थी और वे सभी उदास-से हो रहे थे!

कन्या विदा हो गयी। स्थानकदेव तुरंत गजदेवीके पास चले आये। थोड़ी देर बाद गजदेवीने हँसते-हँसते भगवान्‌के पावन नामोंका उच्चारण करते हुए पतिके चरणोंमें सिर रखकर नश्वर शरीरको छोड़ दिया। उस समय उसके शरीरसे दिव्य तेज निकलता हुआ दिखायी दिया और आकाशसे मधुर शङ्खध्वनि सुनायी पड़ी। स्थानकदेवने श्रद्धापूर्वक एवं विधिवत् पत्नीका अन्त्येष्टि-संस्कार और श्राद्धादि कर्म किये!

(२)

हरदेवीके ससुर गुणदेव वास्तवमें सद्‌गुणोंके घर थे। पिताकी भाँति पुत्र हर्षदेव भी बहुत अच्छे स्वभावका था, परंतु हर्षदेवकी माता समलाका स्वभाव बड़ा ही क्रूर था, वह मौका पाते ही हरदेवीके साथ निर्दय व्यवहार करती थी; परंतु ससुरके अच्छे स्वभावके कारण हरदेवीको कोई खास कष्ट नहीं था।

दैवकी गति विचित्र है। डेढ़ सालके बाद सेठ गुणदेवका देहान्त हो गया। अब तो समला सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र हो गयी। वह जो चाहती सो करती। यद्यपि हर्षदेवका स्वभाव सुन्दर और सौम्य था, फिर भी वह सङ्कोचवश माताके सामने कुछ भी बोलना नहीं चाहता था। इससे समलाका मन और भी बढ़ गया, वह पुत्रको अपने पक्षमें मानकर बहूको विशेषरूपसे सताने लगी। पहननेको अच्छे कपड़े न देना, खानेको रूखी-सूखी रोटियाँ देना—वह भी भर पेट नहीं, बात-बातपर झिड़कना, हरेक काममें दोष निकालना, उसके माता-पिताको गालियाँ बकना आदि बातें तो उसके लिये स्वाभाविक थीं। कभी-कभी तो वह हाथ भी उठा लेती थी। उसने बर्तन माँजने और झाड़ू देनेवाले नौकरको अलग कर दिया, आटा पीसनेवाली नौकरानीको जवाब दे दिया—इसीलिये कि ये सब काम हरदेवीसे कराये जायँ। हरदेवीको किसी भी कामसे कोई इनकार नहीं था, न उसे किसी बातका मनमें दुःख ही था। वह माताकी बात याद करके चुपचाप हर्षित मनसे सब कुछ सहन करती। अत्यन्त सुखमें पली होने तथा बर्तन माँजने और आटा पीसने आदिका अभ्यास न होनेके कारण उसे स्वाभाविक ही शारीरिक थकावटका अनुभव तो होता ही था। पर वह उससे दुःखी नहीं होती थी। मनमें सोचती थी भगवान् मेरी परीक्षा लेते हैं। फिर यह दृढ़ निश्चय करती कि मैं इस परीक्षामें भगवान्‌की कृपासे कभी भी अनुत्तीर्ण नहीं होऊँगी। कितना भी दुःख आये—भगवान्‌का आशीर्वाद समझकर उसे सिर चढ़ाऊँगी और कभी मन मैला न होने दूँगी। वह ऐसा ही करती। सासकी झिड़कन और गालियाँ उसे दुलार और आशीर्वाद-सी जान पड़तीं। वह अम्लान मनसे सब काम किया करती। तन-मनसे पतिकी सेवा करती और नित्य नियमसे श्रीभगवान्‌की पूजा करती। पूजाके बाद यही प्रार्थना करती कि

'भगवन्! मैं तुम्हारी हूँ, मुझे कभी बिसराना नहीं। तुम्हारी मङ्गलमयी इच्छा पूर्ण हो, इसीमें मेरा मङ्गल है।' वह कभी भगवान्‌के सामने सासके अत्याचारोंके लिये रोती नहीं। न कभी पतिसे ही सासकी शिकायत करती।

हर्षदेवको निर्दोष और परम शीलवती पत्नीके प्रति अपनी माताका इस प्रकारका क्रूर बर्ताव देखकर बड़ा दुःख होता था। उसने एक दिन एकान्तमें हरदेवीसे कहा—'प्रिये! तुम मानवी नहीं हो, तुम तो स्वर्गकी देवी हो। तुमपर जान-बूझकर इतना अत्याचार होता है, परंतु तुम कभी चूँतक नहीं करती। मैंने तुम्हारे चेहरेपर भी कभी उदासी नहीं देखी—मानो कुछ होता ही नहीं। तुमने कभी आजतक मुझसे इस सम्बन्धमें एक शब्द भी नहीं कहा। परंतु प्रिये! मेरा हृदय जला जा रहा है। अब यह जुल्म मुझसे देखा नहीं जाता। मैं आजतक कुछ नहीं बोला, परंतु अब तो हद हो गयी है। तुम्हारी राय हो तो हमलोग यहाँसे और कहीं चले जायँ या माताको ही अलग कर दें।'

'मेरे हृदयेश्वर! आप जरा भी दुःख न करें। मैं सच कहती हूँ मुझे तनिक भी कष्ट नहीं है। मैं प्रतिदिन दोनों समय जब अपने भगवान्‌की पूजा करती हूँ, तब मुझे इतना आनन्द मिलता है कि उसमें जीवनभरके बड़े-से-बड़े सन्ताप अनायास ही अपनी सत्ता खो देते हैं। फिर आपकी सेवाका जो आनन्द है वह तो मेरे प्राणोंका आधार है ही। मैं बहुत सुखी हूँ, प्राणनाथ! आपके चरणोंमें रहकर। मुझे किसी प्रकारका सन्ताप नहीं है। माताजी अपने स्वभाववश जो कुछ कहती-करती हैं, इससे वस्तुतः उन्हींको कष्ट होता है। सच मानिये, स्वामिन्! झिड़कन, अपमान और गाली आदि उन्हींको मिलते और जलाते हैं जो इनको ग्रहण करते हैं। मैं इन्हें लेती ही नहीं। कभी लेती भी हूँ तो आशीर्वादरूपसे। फिर मेरे लिये ये दुःखदायी क्यों होने लगे। हाँ, कभी-कभी इस बातका तो मुझे दुःख अवश्य होता है कि मैं माताजीके दुःखमें निमित्त बनती हूँ। आप कोई चिन्ता न करें। संसारमें सब कुछ हमारे भगवान्‌के विधानसे हमारे मङ्गलके लिये ही होता है। मुझे इस बातका विश्वास है, इसीसे मैं सदा प्रसन्न रहती हूँ।'

'नाथ! न तो माताजीको छोड़कर अलग जानेकी आवश्यकता है, न उन्हें अलग करनेकी। हमलोग यदि उनकी बातें न सहकर इस बुढ़ापेमें उन्हें अकेली छोड़ देंगे तो उनकी सेवा कौन करेगा। सबसे अधिक दुःखकी बात तो यह होगी कि हम माताजीकी सेवाके सौभाग्यसे वञ्चित हो जायँगे। वह सन्तान बड़ी ही अभागिनी है जिसको अपने बूढ़े माता-पिताकी सेवा करनेका सुअवसर नहीं मिलता। और उसके दुर्भाग्य तथा दुष्कर्मका तो कहना ही क्या है कि जो किसी भी प्रतिकूलताके कारण माता-पिताकी प्राप्त हुई सेवाको छोड़ बैठता है। फिर, वे बेचारी कहती ही क्या हैं। मुझे तो आजतक कभी उनकी कोई भी बात बुरी नहीं लगी। सासकी सीखभरी झिड़कन सहना तो बहूका सौभाग्य है।'

हरदेवीकी बात सुनकर हर्षदेवका हृदय गद्गद हो गया। उसके चित्तमें हरदेवीके प्रति बड़ी भक्ति उत्पन्न हो गयी और वह अपनेको धन्य मानने लगा ऐसी धर्मशीला पत्नी पाकर! उसने कहा—'देवि! इसीसे तो मैं कहता हूँ तुम मानवी नहीं हो! तुम्हारे इन ऊँचे भावोंके सामने किसका मस्तक नहीं झुक जायगा। तुम धन्य हो! तुम्हारे माता-पिता धन्य हैं, जिनके घर तुम-सरीखी देवीने अवतार लिया। तुम्हारी एक-एक बात अनमोल है। परंतु क्या करूँ; जब माताजी बिना किसी कसूरके जान-बूझकर तुम्हें गालियाँ बकती हैं और बाघिनीकी तरह मारने-काटने दौड़ती हैं, तब यद्यपि मैं आजतक कुछ बोला नहीं, फिर भी मुझे बड़ा दुःख होता है। मन होता है कि इस अन्यायका खुलकर विरोध करूँ; परंतु कुछ तो माताजीके संकोचसे रुक जाता हूँ और कुछ तुम्हारा यह दैवी स्वभाव मुझे रोक देता है। जो कुछ भी हो, कल मैं उनसे प्रार्थना अवश्य करूँगा।'

इतना कहकर हर्षदेव चला गया। हरदेवी कुछ कहना चाहती थी, परंतु उसे अवसर ही नहीं मिला।

दूसरे दिन हरदेवी बर्तन माँज रही थी, कुछ पुराने जंग लगे हुए बर्तन उसे माँजनेको सासने दिये थे। जंग रगड़-रगड़कर उतारनेमें देर लगी। इतनेमें सास समला लाल-पीली हो गयी और अनाप-शनाप गालियाँ बकने लगी। इसी बीचमें हर्षदेव वहाँ आ गया। उसको माताका

यह बर्ताव बुरा मालूम हुआ। उसने नम्रतासे माताको समझानेकी चेष्टा की तो उसका गुस्सा और भी बढ़ गया। अब वह हर्षदेवको भी बुरा-भला कहने लगी। हर्षदेवको बहुत दुःख हुआ; परंतु वह हरदेवीके शील-स्वभावके संकोचसे कुछ भी बोला नहीं। जब दूसरा पक्ष कुछ भी नहीं बोलता, तब पहले पक्षको बक-बकाकर स्वयं ही चुप हो जाना पड़ता है। समला जब बोलते-बोलते थक गयी, तब अपने-आप ही चुप हो गयी। हर्षदेव विषादभरे हृदयसे बाहर चला गया। हर्षदेवका विषाद देखकर हरदेवीको दुःख हुआ। वह सारा काम निपटाकर अपने भगवान्के पूजा-मन्दिरमें गयी और वहाँ जाकर भगवान्से कातर प्रार्थना करने लगी। उसने कहा—

'भगवन्! मैंने कभी कुछ भी नहीं चाहा, आज पतिदेवको उदास देखकर एक चाह उत्पन्न हुई है—वह यह कि मेरी सासका स्वभाव सात्त्विक बना दिया जाय। वे समय-समयपर झल्लाकर हमलोगोंके साथ ही आपको भी बुरा-भला कह बैठती हैं। प्रभो! इस अपराधके लिये उन्हें क्षमा किया जाय। इसीके साथ, नाथ! मेरी चिरकालकी आकाङ्क्षा है कि मैं आपके दिव्य स्वरूपके साक्षात् दर्शन करूँ। मेरे मनमें यह चाह तो थी ही, इस समय प्रार्थना करते-करते पता नहीं क्यों मेरी यह चाह अत्यन्त प्रबल हो गयी है। प्रभो! आप अन्तर्यामी हैं, घट-घटकी जानते हैं। यदि मेरी सच्ची चाह है, यदि वास्तवमें आप मेरी व्याकुलताको इस प्रकारकी तीव्र समझते हैं कि अब आपको प्रत्यक्ष देखे बिना मेरा जीवन असम्भव है तो कृपा करके मुझे दर्शन दीजिये। आप सर्वसमर्थ हैं, मैं अत्यन्त दीन-हीन और मलिनमति हूँ, मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं। आपकी भक्तिका तत्त्व भी मैं नहीं जानती। इतना ही जानती हूँ कि आप मेरे सर्वस्व हैं और मैं आपकी हूँ। आपके सिवा मेरे और कोई भी सहारा नहीं है। संसारके सब कार्य आपकी प्रसन्नताके लिये—आपके लिये ही करने हैं। पतिके द्वारा मैं आपकी ही उपासना करती हूँ। मुझे उसके बदलेमें आपकी प्रसन्नताके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहिये। यदि यह सत्य हो तो आप कृपा करके दर्शन दीजिये।'

यों कहकर हरदेवी कातरभावसे रोने लगी। उसकी घिग्घी बँध गयी, गला रुक गया, बोली बंद हो गयी। भगवान् अब नहीं रह सके। वहीं अपने विग्रहके सामने ही प्रकट हो गये—बड़ी मनोहर मञ्जुल शोभा धारण किये हुए। नीलश्याम वर्ण है। गलेमें रत्नोंकी माला है, करकमलोंमें मुरली है, होठोंपर मधुर मुसकान है, नेत्रोंसे कृपा और प्रेमकी सुधा-धारा बह रही है। सौन्दर्य और माधुर्यकी अप्रतिम छवि हैं। हरदेवी भगवान्को सामने देखकर आनन्दसागरमें डूब गयी। वह कुछ भी बोल नहीं सकी। तब श्रीभगवान्ने कहा—'बेटी! मैं तुझपर अति प्रसन्न हूँ। तूने अपने आचरणोंसे और अकृत्रिम भक्तिसे मुझे वशमें कर लिया है। तेरी सासका स्वभाव सुधरना तो तभी निश्चय हो गया था जब तू वधू बनकर उसके घर आयी थी। अब तो तेरी कृपासे वह असाधारण भक्त बन गयी है। तूने अपने पति और सास दोनोंका उद्धार कर दिया। तेरा ससुर तो पहले ही तेरे प्रतापसे सद्गतिको प्राप्त हो चुका था। अब मेरी कृपासे तुम तीनों मेरी भक्ति करते हुए सुन्दर सदाचारपूर्ण जीवन बिताओगे और अन्तमें मेरे परमधाममें आकर मेरी सेवाका अधिकार प्राप्त करोगे।'

इतना कहकर भगवान् सहसा अन्तर्धान हो गये। हरदेवी स्तब्ध थी। उसका मन मुग्ध हो रहा था। इतनेमें उसने देखा, सास समला पास खड़ी है और रो-रोकर भगवान्से क्षमा-प्रार्थना कर रही है। हरदेवी उठी। सास अपने दोषोंका वर्णन करते हुए उससे क्षमा माँगने लगी। हरदेवीने सकुचाकर सासके चरण पकड़ लिये। समलाने उसे उठाकर हृदयसे लगा लिया। दोनोंके नेत्रोंसे प्रेमके आँसू बहने लगे। हर्षदेव घर लौटा तो माताकी ऐसी बदली हुई हालत देखकर आनन्दमग्न हो गया। तीनोंकी जीवनधारा एक ही परम लक्ष्यकी ओर जोरसे बहने लगी। एक लक्ष्य, एक साधन, एक मार्ग। मानो एक ही जगह जानेवाले तीन सहयोगी यात्री बड़े प्रेमसे एक-दूसरेकी सहायता करते हुए आगे बढ़ रहे हों। अड़ोस-पड़ोसपर भी तीनोंके प्रेमका बड़ा प्रभाव पड़ा। इतना ही नहीं, उनके आचरणसे सारे नगरके नर-नारी सदाचारी और भगवद्भक्त बनने लगे।

भक्तिमती निर्मला

निर्मला सचमुच बहुत ही निर्मल थी। कलियुगकी कालिमाएँ उसे छू नहीं गयी थीं। वह दिव्यलोककी देवी, वैराग्यकी जीती-जागती प्रतिमा और भगवद्भक्तिका सजीव विग्रह थी। उसका मुखमण्डल जैसा सुन्दर और भोला-भाला था, उसका अन्तःकरण उससे भी कहीं अधिक मनोहर और सरल था। संसारकी किसी भी वस्तुमें उसका मन फँसा नहीं था, उसको किसी भी चीजकी चाह नहीं थी और कहीं भी उसकी सीमाबद्ध गंदी ममता नहीं थी। वह अपने प्राणाराम राममें अनुरक्त थी, राम ही उसकी चाहके एकमात्र लक्ष्य थे और समस्त विश्वमें व्याप्त विश्वातीत रामके ही पावन चरणोंमें उसकी ममता थी। सदा प्रसन्न रहना उसका स्वभाव था। मोटी साफ सफेद साड़ी, सफेद कब्जा, गलेमें तुलसीजीकी माला, मस्तकपर सफेद चन्दन और जीभपर नित्य नाचनेवाला रामनाम—यही उसका स्वाभाविक शृङ्गार था। हृदयमें रामका ध्यान, मुँहमें रामका नाम और शरीरसे दिनभर रामकी भावनासे घरभरकी छोटी-बड़ी सब तरहकी सेवा—यही उसका मन, वाणी, शरीरका काम था। वह कभी न थकती थी, न ऊबती थी, न झल्लाती थी। शान्ति, प्रसन्नता, आनन्द, मुसकान मानो भगवान्‌की देनके रूपमें सदा उसकी सेवा करते थे। वह रातके पिछले पहर उठती। शौच-स्नानके बाद छः बजेतक रामजीकी मूर्तिके सामने बैठकर ध्यान-पूजन और रामायणका पाठ करती; फिर काममें लग जाती। दुपहरको एक समय बिना मसालेका सादा भोजन करती। जीभके स्वादको उसने जीत लिया था। चार घड़ी रात बीतनेपर उसका काम पूरा होता, तब जमीनपर टाट बिछाकर उसपर कुशका आसन डालकर बैठ जाती और प्रातःकालकी भाँति ही रामजीका ध्यान-पूजन करती; एक पहर रात बीत जानेपर कुशका आसन उठाकर उसी टाटपर रामजीके चरणोंमें उनके नामका स्मरण करती हुई सो जाती। जाड़ेमें भी उसका यही नियम चलता। उन दिनोंके लिये वह एक रूईदार कब्जा और ऊनी कम्बल और रखती।

× × × ×

पण्डित विश्वनाथ गौड़ ब्राह्मण थे। थे तो गुजरातके, परंतु काशीमें जाकर बस गये थे। विश्वनाथके पास भोग-विलासके लिये धन तो नहीं था, परंतु भगवान्‌की कृपासे उनके घर किसी बातकी कमी नहीं थी। वे बड़े विद्वान् थे। लोगोंमें उनका बड़ा आदर था। उनकी संस्कृत-पाठशाला थी, वे विद्यार्थियोंको बड़े चावसे व्याकरण, न्याय और मीमांसा आदि दर्शनोंकी शिक्षा देते थे। बड़े विलक्षण व्याकरणी तथा दर्शनशास्त्रके महान् पण्डित होनेपर भी उनके हृदयप्राङ्गणमें भक्तिदेवी सदा नाचती रहती थीं। वे सन्ध्याके समय नित्यप्रति वाल्मीकीय रामायणकी बड़ी ही सुन्दर कथा बाँचते थे। जो एक बार उनकी कथा सुन लेता, वह फिर उसे कभी न छोड़ता। उनकी वाणीमें बड़ा मधुर रस था, समझानेकी सुन्दर शैली थी और उससे पवित्र भावोंकी अखण्ड धाराएँ बहती रहती थीं। कथा बाँचते-बाँचते वे गद्गद हो जाते, कभी-कभी तो रो पड़ते। श्रोताओंकी भी यही दशा होती। घरमें सदाचारिणी ब्राह्मणी थी। पतिकी भाँति पत्नी भी रामजीकी भक्त थी। निर्मला उन्हींकी एकमात्र पुत्री थी। वह बचपनसे ही कथा सुनने लगी थी। पिता-माता दोनों भक्त थे। इससे बचपनमें ही निर्मलाके निर्मल हृदय-सरोवरमें भक्ति-लता लहराने लगी थी। पितासे उसने भगवान् रामकी पूजापद्धति सीख ली थी। बड़ी होनेपर पिताने बड़ी धूमधामसे निर्मलाका ब्याह किया। निर्मला पण्डितजीकी एकमात्र सन्तान थी, इससे उनके भक्तोंने निर्मलाके विवाहमें बड़ी उदारता और उमंगके साथ धन खर्च किया। वर भी बड़ा सुशील, सुन्दर और सदाचारी था। उसका नाम गुलाबराय था। सचमुच वह गुलाब-सा सुन्दर था और अपने सद्गुणोंकी सुगन्धसे सबको सुखी करता था। विधाताका विधान कोई टाल नहीं सकता। सालभरके बाद ही हैजेसे उसका देहान्त हो गया। विश्वनाथपर मानो वज्रपात हुआ। उनका हृदय आकुल हो उठा; परंतु प्रभु रामजीकी भक्तिने उनको सँभाला। आकुलतामें ही उनका मन रामजीके चरणोंमें चला गया। विश्वनाथजी रो-रोकर मानसिक भावोंसे रामजीकी पूजा करने लगे। प्रभु रामजीने भक्तपर कृपा

की। वे अपने संतसुखदायी सर्वदुःखहारी मङ्गलमय युगलस्वरूपमें दिव्य सिंहासनसहित प्रकट हो गये और भक्त विश्वनाथजीको ढाढ़स बँधाते हुए बोले—'भैया विश्वनाथ! इतने आतुर क्यों हो रहे हो? जानते नहीं हो मेरा प्रत्येक विधान मङ्गलमय होता है? निर्मलाको यह वैधव्य तुम्हारे और उसके कल्याणके लिये ही प्राप्त हुआ है। सुनो! पूर्वजन्ममें भी तुम सदाचारी ब्राह्मण थे। वहाँ भी निर्मला तुम्हारी कन्या थी। तुम्हारा नाम था जगदीश और निर्मलाका नाम था सरस्वती। तुममें और सरस्वतीमें सभी सद्‌गुण थे। परंतु तुम्हारे पड़ोसमें एक क्षत्रियका घर था, वह बड़ा ही दुष्टहृदय था। वह मनसे बड़ा कपटी, हिंसक और दुराचारी था, परंतु ऊपरसे बहुत मीठा बोलता था। वह बातें बनानेमें बहुत चतुर था। सद्‌गुणी होनेपर भी उसके कुसङ्गसे तुम्हारे हृदयपर कुछ कालिमा आ गयी थी, वह सरस्वतीको कुदृष्टिसे देखता था। उसके बहकावेमें आकर सरस्वतीने अपने पतिका घोर अपमान किया था और तुमने उसका समर्थन किया था। सरस्वतीके पतिने आकुल होकर मन-ही-मन सरस्वतीको और तुमको शाप दे दिया था। यद्यपि उसके लिये यह उचित नहीं था, फिर भी दुःखमें मनुष्यको चेत नहीं रहता। उसी शापके कारण निर्मला इस जन्ममें विधवा हो गयी है और तुम्हें यह सन्ताप प्राप्त हुआ है। पतिके तिरस्कारके सिवा सरस्वतीका जीवन बड़ा पवित्र रहा। उसने दुराचारी पड़ोसीके बुरे प्रस्तावको ठुकरा दिया। जीवनभर तुलसीजीका सेवन, एकादशीका व्रत और रामनामका जाप वह करती रही। तुम इसमें उसके सहायक रहे। इसीसे तुमको और उसको दूसरी बार फिर वही ब्राह्मणका शरीर प्राप्त हुआ है और मेरी कृपासे तुम दोनोंके हृदयमें भक्ति आ गयी है। मेरी भक्ति एक बार जिसके हृदयमें आ जाती है, वह कृतार्थ हुए बिना नहीं रहता। भक्तिका यह स्वभाव है कि एक बार जिसने उसको अपने हृदयमें धारण कर लिया, उसको वह मेरी प्राप्ति कराये बिना नहीं मानती। बड़ी-बड़ी रुकावटोंको हटाकर, बड़े-बड़े प्रलोभनोंसे छुड़ाकर वह उसे मेरी ओर लगा देती है और मुझे ले जाकर उसके हृदयमें बसा देती है। मैं भक्तिके वश रहता हूँ—यह तो प्रसिद्ध ही है। तुमलोगोंपर जो यह दुःख आया है, यह भक्तिदेवीकी कृपासे तुम्हारे कल्याणके लिये ही आया है। यह दुःख तुम्हारे सारे दुःखोंका सदाके लिये नाश कर देगा।' इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये!

विश्वनाथ विचित्र स्वप्न देखकर जगे हुए पुरुषकी भाँति चकित-से रह गये। इतनेमें ही निर्मला सामने आ गयी। निर्मलाको देखकर विश्वनाथका हृदय फिर भर आया। उनके नेत्रोंसे आँसू बहने लगे। वे दुःसह मर्मपीड़ासे पीड़ित हो गये! परंतु निर्मलाकी साधना बहुत ऊँची थी। वह अपने वैधव्यकी हालतको खूब समझती थी, परंतु वह साधनाकी जिस भूमिकापर स्थित थी, उसपर वैधव्यकी भीषणताका कुछ प्रभाव नहीं था। उसने कहा—'पिताजी! आप विद्वान्, ज्ञानी और भगवद्भक्त होकर रोते क्यों हैं? शरीर तो मरणधर्मा है ही। जड पञ्चभूतोंसे बने हुए शरीरमें तो मुर्दापन ही है। फिर उसके लिये शोक क्यों करना चाहिये। यदि शरीरकी दृष्टिसे ही देखा जाय तो स्त्री अपने स्वामीकी अर्धाङ्गिनी है। उसके आधे अङ्गमें वह है और आधे अङ्गमें उसके स्वामी हैं। इस रूपमें स्वामीका बिछोह कभी होता ही नहीं। सती स्त्रीका स्वामी तो सदैव अर्धाङ्गरूपमें उसके साथ मिला हुआ ही रहता है। अतएव सती स्त्री वस्तुतः कभी विधवा होती ही नहीं। वह विलासके लिये विवाह नहीं करती, वह तो धर्मतः पतिको अपना स्वरूप बना लेती है! ऐसी अवस्थामें—पृथक् शरीरके लिये रोनेकी क्या आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त सबसे महत्त्वकी बात तो यह है कि सारा जगत् ही प्रकृति है, पुरुष—स्वामी तो एकमात्र भगवान् श्रीरघुनाथजी ही हैं। श्रीरघुनाथजी अजर, अमर, नित्य, शाश्वत, सनातन, अखण्ड, अनन्त, अनामय, पूर्ण पुरुषोत्तम हैं। प्रकृति कभी उनके अंदर सोती है, कभी बाहर उनके साथ खेलती है। प्रकृति उनकी अपनी ही स्वरूपा शक्ति है। इस प्रकृतिसे पुरुषका वियोग कभी होता ही नहीं। पुरुषके बिना प्रकृतिका अस्तित्व ही नहीं रहता। अतएव हमारे रघुनाथजी नित्य ही हमारे साथ हैं। आप इस बातको जानते हैं, फिर आप रोते क्यों हैं। कर्मकी दृष्टिसे देखें तो जीव अपने-अपने कर्मवश जगत्‌में जन्म लेते हैं,

कर्मवश ही सबका परस्पर यथायोग्य संयोग होता है, फिर कर्मवश ही समयपर वियोग हो जाता है। कर्मजनित यह सारा सम्बन्ध अनित्य, क्षणिक और मायिक है। यह नश्वर जगत् संयोग-वियोगमय ही तो है, यहाँपर नित्य क्या है। इस संयोग-वियोगमें हर्ष-विषाद क्यों होना चाहिये।

'फिर, भगवान्‌का भक्त तो प्रत्येक बातमें भगवान्‌के मङ्गलमय विधानको देखकर, विधानके रूपमें स्वयं विधाताका स्पर्श पाकर प्रफुल्लित होता रहता है—चाहे वह विधान देखनेमें कितना ही भीषण क्यों न हो जाय। अतएव पिताजी! आप निश्चय मानिये—भगवान्‌ने हमारे परम मङ्गलके लिये ही यह विधान किया है जो जगत्‌की दृष्टिमें बड़ा ही अमङ्गलस्वरूप और भयानक है। आप निश्चिन्त रहिये, हमारा परम कल्याण ही होगा।'

निर्मलाके दिव्य वचन सुनकर विश्वनाथजीकी सारी पीड़ा जाती रही। उन्होंने कहा—'बेटी! तू मानवी नहीं है, तू तो दिव्यलोककी देवी है। तभी तेरे ऐसे भाव हैं। तूने मुझको शोकसागरसे निकाल लिया! मैं धन्य हूँ जो तेरा पिता कहलाने योग्य हुआ हूँ।'

तभीसे निर्मला पिताके घर रहने लगी और माता-पितासहित अपना जीवन भगवान्‌के भजनमें बिताने लगी। घरमें श्रीरघुनाथजीका विग्रह था। माता-पिताकी तथा श्रीरघुनाथजीकी सेवा करना ही उसका काम था। घरका काम करते समय भी उसका मन भगवान्‌में लगा रहता। भगवान्‌का सङ्ग उसके जीवनका जीवन बन गया था। वह कुछ भी करती, किसी भी काममें रहती, स्वाभाविक ही भगवान्‌के साथ रहती। भगवान्‌के बिना वह रह ही नहीं सकती थी।

कुछ समय बाद उसके माता-पिता दोनों एक ही दिन भगवान्‌का स्मरण करते हुए संसारसे विदा हो गये। वह रोयी नहीं। भगवान्‌के नित्य सान्निध्यने उसके जीवनको निर्भय, रसमय, आनन्दमय, संयोगमय, चिन्मय और भगवन्मय बना दिया था। किसी भी बाहरी अवस्थाका उसकी इस नित्य स्थितिपर असर नहीं पड़ता था। माता-पिताकी यथोचित क्रिया करनेके बाद वह घर छोड़कर गङ्गातीरपर कुछ दूर चली गयी। उस समय काशीका गङ्गातट तपोभूमि थी। वहाँ उसने मा भागीरथीके पावन तटपर तीस साल भगवान्‌के ध्यानमें बिताये और अन्तमें शरीरको गङ्गामैयाकी गोदमें छोड़कर भगवान् शङ्करकी कृपासे वह भगवान् श्रीरामजीके दिव्य साकेतमें पहुँचकर उनकी नित्य-चर्यामें नियुक्त हो गयी।

बहिन सरस्वती

सरस्वती माता-पिताकी बड़ी ही लाड़ली लड़की थी। इसीसे उसके लालन-पालनमें माता-पिताने कुछ भी उठा नहीं रखा था। उसको कहीं जरा-सी भी मनोवेदना हो, यह माता-पिताको असह्य था। इकलौती सन्तान थी, सम्पन्न घर था और माता-पिताके हृदयोंमें स्नेहकी सरिता उमड़ती थी। बारह वर्षकी अवस्थामें उसका विवाह एक सम्पन्न घरके सुदर्शन नामक लड़केसे कर दिया गया। तीन साल बाद द्विरागमन हुआ। सरस्वतीके विवाह और द्विरागमनमें बहुत बड़ी धनराशि खर्च की गयी, प्रचुर दहेज दिया गया।

सरस्वती सचमुच योगभ्रष्टा थी। नैहरके पंद्रह वर्षोंमें उसके शरीर और मनको चोट पहुँचानेवाली कोई भी—छोटी-सी घटना भी नहीं हुई। वह सब प्रकारसे बड़े आरामसे रही, पर उसका मन कभी भी संसारके भोगोंमें फँसा नहीं। आरामकी सामग्रियाँ प्रचुर मात्रामें थीं, पर उसका मन उनसे सदा उदासीन-सा रहता था। माता-पिताको दुःख न हो, इसलिये वह प्रकटमें सब कुछ स्वीकार कर लेती थी; परंतु उसका मन उनको स्वीकार नहीं करता था। घरमें श्रीगोपालजीका मन्दिर था। श्रुतदेव नामक बूढ़े पुजारी बड़े ही भक्तिभावसे श्रीगोपालजीकी पूजा करते थे। उनके कोई सन्तान नहीं थी। उनका गोपालजीमें वात्सल्यभाव था। वे बड़े स्नेहसे गोपालजीको भोग लगाया करते। उनके मन गोपालजी जड स्वर्णप्रतिमा नहीं थे, सच्चिदानन्दघन भगवान् थे। मनमें ही नहीं, भक्त श्रुतदेवकी शुद्ध भावनाके अनुसार भगवान् उनसे स्थूल व्यवहार भी ऐसा ही करते थे। पर

इस बातका रहस्य श्रुतदेवने किसीको नहीं बताया। सरस्वतीके माता-पिता श्रीकीर्ति तथा मतिमान् भी इस रहस्यसे अपरिचित थे। सरस्वती छोटी उम्रसे ही मन्दिरमें जाकर बैठती, खेलती, पुजारीजीकी पूजा-आरती तथा भोग-रागको बड़े चावसे देखा करती। पुजारीजी छोटी बच्ची समझकर उससे कोई छिपाव नहीं करते। इसके अतिरिक्त उनका सरस्वतीके प्रति बड़ा स्नेह था, वे उसे अपनी सगी पुत्रीसे बढ़कर मानते थे। यह पुत्री और ठाकुरजी श्रीगोपालजी प्राणप्रियतम पुत्र—इस भावसे पुजारीजीका स्नेह दोनोंमें बँट गया था। उनके इस सम्बन्धसे सरस्वती और गोपालजीमें भी भाई-बहिनका सम्बन्ध हो गया था। छोटी बालिका अपने गोपाल भैयासे बड़ा प्यार करती। बाल्यभावसे उन्हें खिलाती-पिलाती, उनके साथ खेलती, शुद्ध प्रेमालाप करती। श्रुतदेवजी बड़े प्रसन्न होते।

सरस्वतीकी बुद्धि बहुत तीव्र थी। वह पुजारीजीसे गीता-रामायण-पुराण तथा अन्य शास्त्रग्रन्थ बड़ी लगनसे पढ़ती और समय-समयपर श्रीभगवान्‌के स्वरूप तथा लीलाके सम्बन्धमें पूछा करती। श्रुतदेवजीको वह पितासे बढ़कर मानती और उनके उपदेशों और वचनोंको कार्यरूपमें परिणत करनेकी चेष्टा करती। इससे उसका जीवन पवित्र, भक्तिमय हो गया था। नौ ही वर्षकी अवस्थामें उसे श्रीभगवान्‌के दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हो गया था। उसके सरल आग्रहसे प्रसन्न होकर साक्षात् प्रकट हो भगवान्‌ने भोग आरोग लिया तथा कुछ ही दिनों बाद श्रावणी पूर्णिमाके दिन उसके द्वारा रक्षाबन्धन करवाया। श्रुतदेवजी इससे बड़े ही प्रसन्न हुए। इसके बाद तो श्रीगोपालजीके साथ सरस्वतीका भाई-बहिनका सम्बन्ध इतना स्पष्ट और सुदृढ़ हो गया था कि दोनों जाने कितनी बार मिले और कितनी बार परस्पर सुख-दुःखकी चर्चा हुई। फिर गोपाल भैयाकी सम्मतिसे ही सरस्वतीने विवाह करना स्वीकार किया—इस शर्तपर कि गोपाल भैयाको सरस्वती बहिन जब याद करेगी, तभी वे उसके पास पहुँच जायँगे। सरस्वतीको अपने बाल्यजीवनमें पिता-माताके द्वारा जो सब प्रकार सुख-सुविधा प्राप्त हुई, इसमें गोपाल भैयाकी ही करामात थी और सरस्वतीके विवाह तथा द्विरागमनमें भी गोपाल भैयाका बड़ा हाथ था। दहेजकी सामग्री, अतिथियोंका स्वागत-सत्कार, सबकी सात्त्विक प्रसन्नता आदिकी व्यवस्था सरस्वतीके पिता मतिमान्‌को आश्चर्यमें डालनेवाली थी। कहाँसे कैसे कब क्या होता था, इसका उन्हें पता ही नहीं लग पाता था। न मालूम कहाँसे उनके इतने कार्य-कुशल मित्र आ गये थे और इतनी सुमुखी-सयानी देवियाँ घरमें आ गयी थीं श्रीकीर्तिके काममें सहयोग देने। उन्हें पता नहीं था कि यह सब सरस्वतीके भैया गोपालकी कृपाशक्तिके खेल हैं।

द्विरागमन हो गया। सरस्वती ससुराल चली गयी। गोपाल भैया गुप्तरूपसे बहिनको पहुँचाने साथ गये और दो-तीन दिन वहाँ रहकर उसे सान्त्वना देकर लौटे। सरस्वतीके पति सुदर्शन बड़े ही सात्त्विक प्रकृतिके साधु पुरुष थे। उनमें जगत्‌के छलछन्दका कहीं गन्ध-लेश भी नहीं था। पिताका घर सम्पन्न था। माता-पिता निष्ठावान् धार्मिक थे। घरमें सब प्रकारसे सुख था। सरस्वतीका जीवन बहुत आनन्दसे बीत रहा था। गोपाल भैया बीच-बीचमें आकर बहिनसे मिल जाया करते और बातों-ही-बातोंमें उसे उपदेश दिया करते तथा अपने स्वरूपका तत्त्व समझाया करते थे।

एक दिन सरस्वतीने श्रीगोपालजीसे कहा—"भैया! मैं छोटी थी, तब तो कुछ समझती नहीं थी। तुम्हारी छोटी-सी मूर्ति मुझे बड़ी प्यारी लगती। पुजारीजी पूजा करते, तब मुझे ऐसा लगता, तुम मानो हँस रहे हो; वे भोग लगाते, तब मुझे लगता तुम खा रहे हो। मेरी बालसुलभ श्रद्धा थी। फिर एक दिन जब मैं पुजारीजीसे अड़ गयी कि आज तो मैं ही भोग लगाऊँगी, तब उन्होंने बहुत समझाया; पर मैंने अपना हठ नहीं छोड़ा; उस समय मुझको लगा—तुम मानो पुजारीजीसे कह रहे हो कि 'सरस्वती भोग लगाना चाहती है तो तुम क्यों रोकते हो। मुझे इसके हाथका भोग ग्रहण करनेमें बड़ी प्रसन्नता है।' पता नहीं, उन्होंने तुम्हारी बात सुनी या नहीं, परंतु

तुरंत ही मुझसे कह दिया कि 'तुम भोग लगाओ' और पता नहीं इतना कहकर वे क्यों बाहर चले गये। मैंने भोग रखा। पर्दा लगाया। पर तुमने खाया नहीं। भैया! मुझे उस दिनकी बात अच्छी तरह याद है—जब मैं रोने लगी, तब तुम उसी मूर्तिमेंसे प्रकट हो गये और मेरा रखा हुआ प्रसाद प्रसन्नतासे पाने लगे। मुझे उस दिन बड़ी ही प्रसन्नता हुई। इसके छः ही महीने बाद मेरे आग्रह करनेपर तुमने राखी बँधवायी मुझसे। इसके बाद तो तुम मुझसे बातचीत करने लगे। मैं जानती नहीं थी कि तुम कौन हो। इतना ही जानती थी कि मेरे भैया लगते हो। यही पुजारीजीने मुझको बताया था। माने कई बार मुझसे पूछा, पिताजीने भी कभी-कभी बात चलायी; पर तुमने मने कर दिया था, इससे मैंने किसीसे कुछ भी नहीं कहा। तुम्हारे कहनेसे मैं यहाँ चली आयी। पर अब मेरे मनमें यह जाननेकी आ रही है कि वास्तवमें तुम कौन हो। माताजी, पिताजी तुम्हें भगवान् कहते हैं। पुजारीजी भी भगवान् ही मानते हैं। पर तुम मेरे माता-पिताके सामने मूर्ति ही बने रहते हो। भैया! बताओ, क्या सचमुच तुम भगवान् ही हो? भगवान् ही हो तो फिर मेरे भाई कैसे? क्या मैं तुमको भाई न मानूँ? ऐसा तो सोचते ही मेरा मन जाने कैसा घबरा जाता है। भैया! अपना रहस्य मुझे बताओ। आज मैं बिना जाने नहीं रहूँगी।''

सरस्वती बहिनकी बात सुनकर गोपाल भैया हँसे। बोले—'सरस्वती बहिन! सचमुच मैं तुम्हारा भैया हूँ। यों तो मैं सारे ही संसारका बन्धु हूँ, पर तुम्हारा तो भाई ही हूँ। तुम्हारा मेरे प्रति जो निश्छल प्रेम है, उससे तुमने मुझको सदाके लिये अपना भैया बना लिया है। बहिन! प्रेम आत्माका स्वरूपभूत गुण है—धर्म है। जैसे दूधकी सफेदी और अग्निकी दाहिका-शक्तिका उनसे अभिन्न सम्बन्ध है, वैसा ही आत्माका अभिन्न सम्बन्ध प्रेमसे है। परंतु बद्ध जीवका चित्त अशुद्ध होनेसे उसके प्रेमका विषय दूसरा होता है। वह अपने स्वरूप आत्मामें प्रेम न करके तुच्छ और अनित्य भोग-पदार्थोंमें—स्त्री, पति, पुत्र, धन, मान, प्रतिष्ठा आदिमें प्रेम करता है और इन नश्वर पदार्थोंसे प्रेम करनेके कारण ही बार-बार प्रवञ्चित होता है। उसे इस प्रेमके परिणाममें निराशा, असफलता, वियोग, मृत्यु, नाश और रोना-कराहना ही मिलता है। पर जब मेरी कृपासे जीवका चित्त शुद्ध होनेपर अपने स्वरूपकी ओर दृष्टि जाती है, तब उसमें विशुद्ध प्रेमकी स्फूर्ति होती है। तब वह आत्माकी ओर मुड़ता है, आत्मामें प्रेम स्थापन करता है, आत्माराम हो जाता है। तदनन्तर ही प्रेम-साधनाके बलसे वह जान पाता है कि मैं (भगवान्) ही समस्त आत्माओंका आत्मा हूँ, मैं ही सबका एकमात्र स्वरूपाश्रय हूँ। तब वह समझता है कि बस, एकमात्र भगवान् ही मेरे प्रेमास्पद हैं। ऐसी अवस्थामें उसका चित्त मेरे ही दिव्य गुणोंकी ओर आकर्षित हो जाता है, मेरे ही दिव्य सौन्दर्य-माधुर्यपर मुग्ध होता है और फिर वह समस्त जगत्‌में और जगत्‌से बाहर केवल मुझको ही देखता हुआ मुझमें ही अपने प्रेमको मिला देता है। तब, मैं क्या हूँ, कैसा हूँ—इस तत्त्वका उसे मेरी कृपासे यथार्थ पता लग जाता है।

'सरस्वती बहिन! तुम मुझे ठीक जानती नहीं कि मैं कौन हूँ, परंतु मुझसे प्रेम करती हो। मेरी तुलनामें तुम्हारे मनमें न घर-द्वार हैं, न माता-पिता हैं, न धन-ऐश्वर्य हैं, न मान-सम्मान हैं और न स्वर्ग-मोक्ष ही हैं। तुम्हारा मुझमें इतना अपार अनुराग है! सो यह उचित ही है। इस बातको चाहे कोई जाने या न जाने, सबका प्रेम आत्मामें होता है और मैं तो आत्माका भी आत्मा हूँ। इसके सिवा जो मुझे एक बार देख लेता है, वह अनन्य प्रेम किये बिना रह ही नहीं सकता। मैं हूँ ही ऐसी वस्तु! आत्माराम मुनि भी मेरे गुणोंपर मुग्ध होकर मेरे प्रति अहैतुकी भक्ति करते हैं। यह प्रेम कोई वृत्ति नहीं है, यह मेरी स्वरूप-शक्ति है। प्रेमवृत्ति तो इसीका एक साधारण क्षुद्र प्रकाशमात्र है। भाईके पवित्र भावसे तुममें मेरे प्रति यह जो अप्रतिम प्रेम है, यह मेरे यथार्थ स्वरूपका ज्ञान तुमको अपने-आप ही करा देगा।

'वस्तुतः मेरे स्वरूपका पता कोई भी पुरुषार्थके द्वारा नहीं प्राप्त कर सकता। मेरा स्वरूप मन-बुद्धि-वाणीके अगोचर है। मैं ही नित्य सत्य हूँ, सनातन हूँ, पूर्ण हूँ और परात्पर हूँ। जो कुछ भी दृश्यवर्ग है, सब न तो मुझसे

भिन्नरूपसे सत् है और न वह शशशृङ्ग या इन्द्रजालकी भाँति सर्वथा असत् ही है। यह जो कुछ है, सब मैं ही हूँ। पर जिस रूपमें यह दीखता है, उस रूपमें नहीं। इस दृश्यमें परिवर्तन होता है; परंतु प्रत्येक दृश्यकी आड़में मैं नित्य सत्यरूपसे विराजित हूँ। यह परिवर्तन तो मेरा लीला-विलास है। प्रलयमें जगत् मुझमें ही लीन होता है और सृष्टिके आरम्भमें फिर मुझसे ही उद्‌भूत हो जाता है। अनन्त विश्व-ब्रह्माण्ड सब मुझमें है, मैं अनन्त विश्व-ब्रह्माण्डोंमें हूँ और मैं ही उनसे अतीत अचिन्त्यरूप हूँ। जो कुछ भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष है, जो कुछ जगत् या जगदतीत है, जो कुछ भी 'है' या 'नहीं' है, सब मैं ही हूँ। मैं सदा अप्रकट हूँ और नित्य प्रकट हूँ। परमाणु-परमाणुमें मेरा ही नित्य आनन्दनृत्य चल रहा है। सुन्दर सृजन और भयानक संहार—सब मेरे ही लीलास्वरूप हैं। इतना सब होते हुए भी मैं तुम्हारा अपना और परम प्यारा गोपाल भैया हूँ! तुम मुझे नित्य भैया मानो और मैं तुम्हें नित्य बहिन मानूँगा।

'देखो, तुम्हारा यह पति मेरा पुराना भक्त है। यह पहले अवन्तिकापुरीमें ब्राह्मण था। वहाँ भी तुम इसकी धर्मपत्नी थी और मेरी परम भक्ता थी। मेरे किसी लीला-सङ्केतसे तुम दोनोंको फिर यहाँ जन्म लेना पड़ा। अब तुम दोनों मेरी भक्ति करते हुए सफलजीवन होओगे और मेरे दुर्लभ परम धामको प्राप्त करोगे।'

'तुम निश्चय समझो कि एक बार जो मेरा हो जाता है, वह सदा मेरा ही रहता है। तुम्हारे सदृश महान् भाग्यशाली भक्तोंको, जो मेरे लिये सारे भोगोंकी आसक्ति भूलकर, सब कुछ त्यागकर मेरे ही हो गये हैं, मैं कभी नहीं छोड़ता—

विस्मृत्य सकलान् भोगान् मदर्थे त्यक्तजीवितान्।
मदात्मकान् महाभागान् कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥

इतना कहकर गोपाल भैयाने सरस्वतीके सिरपर हाथ रखा। हाथ रखते ही उसकी बुद्धिमें भगवान्‌का तत्त्वस्वरूप प्रकट हो गया। कुछ ही क्षणोंमें बुद्धि भी असमर्थ हो चली। अब आगेकी बात कौन बताये। भगवान्‌के साथ सरस्वतीकी किस प्रकार कैसी एकात्मता हुई, इसका किसीको पता नहीं है; परंतु वह समाधिस्थ-सी हो गयी। श्रीभगवान्‌का वरद हस्त उसके मस्तकपर है और वह जड पुत्तलिकाकी भाँति निस्तब्ध—स्थिर है। वह इस समय कहाँ थी, क्या अनुभव करती थी, अनुभव करनेवाली कोई सत्ता भी थी या नहीं, कुछ पता नहीं। पर जब कुछ देरके बाद वह जगी, तब देखा गया, उसमें अपूर्व विलक्षणता थी। उसकी मुखाकृति ही बदल गयी थी। उससे मानो स्निग्ध शीतल तेजोराशि तथा निर्मल शान्तिकी धारा प्रवाहित हो रही थी। भगवान् उसकी ओर देखकर मुसकरा दिये और वह भी हँसने लगी। तदनन्तर भगवान् अन्तर्धान हो गये। सरस्वती भगवान्‌का प्रत्यक्ष दर्शन और उपदेश प्राप्त करके कृतार्थ हुई।

इधर भगवान्‌ने कृपापूर्वक सरस्वतीके पति सुदर्शनको भी कुछ ऐसी विचित्र प्रेरणा की कि उसे अपने पूर्व-जन्मकी बात याद आ गयी और वह सबका मोह छोड़कर केवल भगवदाराधनमें लग गया। अब तो श्रीगोपालजी उसके सामने भी प्रकट हो गये। दोनों पति-पत्नी एक ही साध्य, एक ही साधन और एक ही मार्गका अवलम्बन करके भगवान्‌के परम प्रेमी बन गये। अब उनके पास जो कुछ भी था, सब भगवान्‌की पूजाका उपकरण बन गया और वे जो कुछ भी करते, सब भगवत्परायण होकर भगवान्‌की पूजाके लिये ही करते। उनका अलग कोई काम रह ही नहीं गया। इस प्रकार भगवद्भक्तिसे ओत-प्रोत भगवन्मय जीवन बिताकर वे भगवान्‌के परम धामको प्राप्त हुए।

भक्त-वाणी

ये मायया ते हतमेधसस्त्वत्पादारविन्दं भवसिंधुपोतम्। उपासते कामलवाय तेषां रासीश कामान्निरयेऽपि ये स्युः॥

—कर्दम

आपके चरण-कमल भवसागरसे पार जानेके लिये जहाज हैं। जिनकी बुद्धि आपकी मायासे मारी गयी है, वे ही उन तुच्छ क्षणिक विषय-सुखोंके लिये, जो नरकमें भी मिल सकते हैं, उन चरणोंका आश्रय लेते हैं। किंतु स्वामिन्! आप तो उन्हें वे विषय-भोग भी दे देते हैं।

भक्तिमती कुँअर-रानी

कुँअर-रानी संभ्रान्त राजपूत माता-पिताकी एकमात्र लड़ैती सन्तान थी। सम्पन्न घर था, माता-पिता बहुत ही साधु-स्वभावके तथा भगवद्भक्त थे। कुँअर-रानीके अतिरिक्त उनके कोई सन्तान नहीं थी, इसलिये माता-पिताके समस्त स्नेह-सौहार्दकी पूर्ण अधिकारिणी एकमात्र कुँअर-रानी ही थी। वह बहुत ही प्यार-दुलारसे पाली-पोसी गयी थी। उसने जैसे माता-पिताके स्नेहको प्राप्त किया, उसी प्रकार उनकी साधुता तथा भगवद्भक्तिका भी उसके जीवनपर काफी असर हुआ। वह लड़कपनसे ही भगवान्के दिव्य सौन्दर्य-माधुर्यमय स्वरूपका ध्यान किया करती और भगवान्का मधुर नामकीर्तन करते-करते प्रेमाश्रु बहाती हुई बेसुध हो जाती। माता-पिताने चौदह वर्षकी उम्रमें बड़े उमंग-उत्साहके साथ उसका विवाह कर दिया। कुँअर-रानी बिदा होकर ससुराल गयी। विधाताका विधान बड़ा विचित्र होता है। उसी रात्रिको उसके माता-पिताने भगवान्के पवित्र नामका कीर्तन करते हुए विषूचिका रोगसे प्राण त्याग दिये। कुँअर-रानीको पाँचवें दिन एक कासीदने जाकर यह दुःखप्रद समाचार सुनाया। वह उसी दिन वापस लौटनेवाली थी और माता-पिताके भेजे हुए किसी आदमीकी प्रतीक्षा कर रही थी। उसके बदले माता-पिताका मरण-संवाद लेकर कासीद आ गया! अकस्मात् माँ-बापके मरणका समाचार सुनकर कुँअर-रानी स्तब्ध रह गयी। उसको बड़ा ही दुःख हुआ, परंतु लड़कपनमें प्राप्त की हुई सत्-शिक्षाने उसे धैर्यका अवलम्बन प्राप्त करनेमें बड़ी सहायता की। उसने इस दुःखको भगवान्का मङ्गलविधान मानकर सहन कर लिया और पीहर जाकर माता-पिताके श्राद्धादिको भलीभाँति सम्पन्न करवाया। माता-पिताके कल्याणार्थ अधिकांश सम्पत्ति सुयोग्य पात्रोंको दान कर दी तथा शेषकी सुव्यवस्था करके वह ससुराल लौट आयी।

उसके पति साँवतसिंह बहुत ही सुशील, धर्मपरायण तथा साधु-स्वभावके थे; इससे उसके मनमें सन्तोष था। परंतु विधाताका विधान कुछ दूसरा ही था। छः ही महीने बाद साँप काटनेसे उनकी भी मृत्यु हो गयी। घरमें रह गये बूढ़े सास-ससुर और विधवा कुँअर-रानी! कुँअर-रानी अभी केवल चौदह वर्षकी थी। इस भीषण वज्रपातने एक बार तो उसके हृदयको भयानकरूपसे दहला दिया; परंतु कुछ ही समय बाद भगवत्कृपासे उसके हृदयमें स्वतः ही ज्ञानका प्रकाश छा गया। उस प्रकाशकी प्रभामयी किरणोंने जगत्के यथार्थ रूप, जागतिक पदार्थों और प्राणियोंकी अनित्यता, क्षणभङ्गुरता तथा दुःखरूपता, मानवजीवनके प्रधान उद्देश्य, मनुष्यके कर्तव्य, मनुष्यको प्राप्त होनेवाले समस्त सुख-दुःखोंमें मङ्गलमय भगवान्की मङ्गलमयी कृपा और भगवान्की शरणागति तथा भजनसे ही समस्त दुःखोंका नाश तथा नित्य परमानन्दस्वरूप भगवान्की प्राप्ति होती है—इन सारी चीजोंके प्रत्यक्ष दर्शन करा दिये। उसका दुःख जाता रहा। जीवनका लक्ष्य निश्चित हो गया और उसकी प्राप्तिके लिये उसे प्रकाशमय निश्चित पथकी भी प्राप्ति हो गयी!

कुँअर-रानीने इस बातको भलीभाँति समझ लिया कि मनुष्य-जीवनका परम और चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है। नारी हो या पुरुष—जीव मनुष्ययोनि प्राप्त करता है भगवान्को पानेके लिये ही; परंतु यहाँ विषयभोगोंके भ्रमसे भासनेवाले आपातरमणीय सुखोंमें इस लक्ष्यको भूलकर विषयसेवनमें फँस जाता है और फलतः कामनाकी परवशतासे मानव-जीवनको पापोंके संग्रहमें लगाकर अधोगतिमें चला जाता है। विषय-सेवनसे आसक्ति और कामनादि दोष बढ़ते हैं और इसीलिये बुद्धिमान् विरागी पुरुष विषयोंका स्वेच्छापूर्वक त्याग करके संन्यास ग्रहण करते हैं—यद्यपि विवाह-विधान भी कामनाको संयमित करके भगवत्प्राप्तिके मार्गमें अग्रसर होनेके लिये ही है। उसका भी चरम उद्देश्य विषयोपभोगमें अनासक्त होकर भगवान्की ओर लगाना ही है। इसीलिये गृहस्थीको भगवान्का मन्दिर और पतिको भगवान् मानने तथा गृहकार्यको भगवत्सेवाके भावसे करनेका विधान है। इतना होनेपर भी सधवा स्त्रियोंको विषयसेवनकी सुविधा होनेसे उनमें विषयासक्तिका बढ़ना सम्भव है। विधवाजीवन इस दृष्टिसे सर्वथा सुरक्षित है। यह एक प्रकारसे पवित्र

साधुजीवन है, जिसमें भोगजीवनकी समाप्तिके साथ ही आत्यन्तिक सुख और परमानन्दस्वरूप भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाले आध्यात्मिक साधनोंका संयोग स्वतः ही प्राप्त हो जाता है। कामोपभोग तो नरकोंमें ले जानेवाला और दुःखोंकी प्राप्ति करानेवाला है। भोगोंसे आजतक किसीको भी परम शान्ति, शाश्वत सुख या भगवान्‌की प्राप्ति नहीं हुई!

यह सब सोचकर कुँअर-रानीने मन-ही-मन कहा—मुझे यदि भोग-जीवनमें ही रहना पड़ता तो पता नहीं आगे चलकर मेरी क्या दशा होती। बच्चे होते, उनमें मोह होता; मर जाते, दुःख होता; कामनाका विस्तार होता, चित्त मोहजालमें फँस जाता और दिन-रात नाना प्रकारकी चिन्ता-ज्वालाओंमें जलना पड़ता। मनको प्रपञ्चके अतिरिक्त परमात्माका चिन्तन करनेका कभी शायद ही अवकाश मिलता। भगवान्‌की मुझपर बड़ी ही कृपा है जो उन्होंने मुझको अनायास और बिना ही माँगे जीवनको सफल बनानेका सुअवसर दे दिया है। पशुकी भाँति इन्द्रियभोगोंमें रची-पची रहनेकी इस पवित्र जीवनसे क्या तुलना है। भगवान्‌ने मुझ डूबती हुईको उबार लिया। धन्य है उनकी कृपाको!

उसने सोचा, मनुष्य भ्रमसे ही ऐसा मान बैठता है कि भगवान्‌ने अमुक काम बहुत बुरा किया। वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। मङ्गलमय भगवान् जो कुछ भी करते हैं, हमारे मङ्गलके लिये ही करते हैं। समस्त जीवोंपर उनकी मङ्गलमयी कृपा सदा बरसती रहती है। उनकी मङ्गलमयता और कृपालुतापर विश्वास न होनेके कारण ही मनुष्य दुःखी होता, अपने भाग्यको कोसता और भगवान्‌पर दोषारोपण करता है। फोड़ा होनेपर उसे चीर देना, विषमज्वर होनेपर चिरायते तथा नीमका कड़वा क्वाथ पिलाना और कपड़ा पुराना एवं गंदा हो जानेपर उसे उतारकर नया पहना देना जैसे परम हितके लिये ही होता है, वैसे ही हमारे अत्यन्त प्रिय सांसारिक सुखोंका छीना जाना, नाना प्रकारके दुःखोंका प्राप्त होना और शरीरसे वियोग कर देना भी मङ्गलमय भगवान्‌के विधानसे हमारे परम हितके लिये ही होता है। हम अपनी बेसमझीसे ही उसे भयानक दुःख मानकर रोते-कलपते हैं। इन सारे दृश्योंके रूपमें, इन सभी स्वाँगोंको धारण करके नित्य नवसुन्दर, नित्य नवमधुर हमारे परम प्रियतम भगवान् ही अपनी मङ्गलमयी लीला कर रहे हैं, इस बातको हम नहीं समझते। रोने-कराहनेकी भयानक लीलाके अंदर भी वे नित्य मधुर हँसी हँस रहे हैं, इसे हम नहीं देख पाते, इसीसे बाहरसे दीखनेवाले दृश्यों और स्वाँगोंकी भीषणताको देखकर काँप उठते हैं।

दुःखके रूपमें भगवान्‌का विधान ही तो आता है और वह विधान अपने विधाता भगवान्‌से अभिन्न है। सारांश यह कि भगवान् ही दुःखके रूपमें प्रकट हैं। और वे इस रूपमें प्रकट हुए हैं हमारे परम कल्याणके लिये ही।

अहा! मुझपर भगवान्‌की कितनी अकारण करुणा है जो उन्होंने मेरे सारे सांसारिक झंझटोंको, विषयोंमें फँसानेवाले सब साधनोंको हटाकर मुझको सहज ही अपनी ओर खींच लिया है। मुझे आज उनकी अहैतुकी कृपासे यह स्पष्ट दीखने लगा है कि समस्त सुखोंके भण्डार एकमात्र वे श्रीभगवान् ही हैं। विषयोंमें सुख देखना और विषयभोगोंसे सुखकी आशा रखना तो जीवका महामोह या भीषण भ्रम है। आज भगवान्‌ने कृपा करके मेरे इस महामोहको मार दिया और भीषण भ्रमको भंग कर दिया है! यह क्या मुझपर उनकी कम कृपा है? वे कृपासागर हैं, कृपा ही उनका स्वभाव है, वे नित्य कृपाका ही वितरण करते हैं। धन्य है! अब तो बस मैं केवल उन्हींका चिन्तन करूँगी, उन्हींके नामको सदा रटूँगी। वृद्ध सास-ससुरके रूपमें भी उन्हींके दर्शन करूँगी। भगवान्‌का भजन ही तो मानव-जीवनका प्रधान धर्म है। जिसके जीवनमें भजन नहीं, वह तो मनुष्य-नामधारी पशु या पिशाच है। मानवताका विकास—प्रकाश और प्रसार तो भजनसे ही होता है। दिन-रात प्रभुका मधुर स्मरण करना और दिन-रातकी प्रत्येक चेष्टाका प्रभुकी पूजा तथा प्रसन्नताके लिये ही किया जाना भजन है। इस प्रकार विवेक, विचार और निश्चय करके परम भाग्यवती कुँअर-रानी भगवान्‌के नित्य भजनमें लग गयी!

× × × ×

कुँअर-रानी वृद्ध सास-ससुरकी भगवद्भावसे सेवा करने लगी। छोटी उम्र होनेपर भी उसकी सच्ची भक्तिभावनाका प्रताप इतना बढ़ा कि आस-पासके लोग

ही नहीं, गाँवभरके नर-नारी उसके परम पवित्र तथा परम तेजस्वी जीवनसे प्रभावित होकर भगवान्‌की ओर लग गये। वह उस गाँवके लोगोंके लिये मानो भवसागरसे तारनेवाला जहाज ही बन गयी।

उसकी जीवनचर्या बड़ी ही पवित्र और आदर्श थी। उसने नमक और मीठा खाना छोड़ दिया। वह सदा सादा भोजन करती। सादे सफेद कपड़े पहनती। सिरके केश मुँडवा दिये। आभूषणोंका त्याग करके तुलसीकी माला गलेमें पहन ली। मस्तकपर गोपीचन्दनका तिलक करती। रातको काठकी चौक़ीपर घासकी चटाई बिछाकर सोती। जाड़ेके दिनोंमें एक कम्बल बिछाती और एक ओढ़ती। रात्रिको केवल चार घंटे सोती। प्रात:काल सूर्योदयसे बहुत पहले उठकर स्नानादिसे निवृत्त हो सास-ससुरकी सेवामें लग जाती। मुँहसे सदा भगवान्‌का नामोच्चारण होता रहता और मनमें सदा भगवान्‌की मधुर छविका दर्शन करती रहती। गीता, रामायण और भागवतका पाठ तथा मनन करती। दिनमें अधिकांश समय मौन रहती। नियत समयपर सास-ससुरको प्रतिदिन श्रीमद्भागवत, रामायण या गीता सुनाती तथा उनके अर्थको समझाती। उसके सत्सङ्गमें गाँवके लोग भी आते, जो वहाँसे सुख-शान्ति प्रदान करनेवाले अत्यन्त पवित्र मधुर अमृतकणोंको लेकर लौटते। जैसा उसका उपदेश होता, वैसा ही उसका जीवन भी था। तपस्या, विनय, प्रेम, सन्तोष, भगवद्भक्ति, विरक्ति एवं दैवीसम्पत्ति आदि सब मानो उसमें मूर्तिमान् होकर रहते थे। उसे देखते ही देखनेवालेके मनमें पवित्र मातृभाव तथा भगवद्भाव उदय होता। वह अपने घरका सारा काम अपने हाथों करती। घरमें कुआँ था, उससे स्वयं पानी भरती, स्वयं झाँड़ू लगाती, बर्तन माँजती, कपड़े धोती, रसोई बनाती, भगवान्‌की सेवा करती और सास-ससुरकी सेवा करती। उसका जीवन सब प्रकारसे सात्त्विक और आदर्श था। इस प्रकार सास-ससुर जबतक जीवित रहे, तबतक वह पूर्ण संयमित जीवनसे घरमें रहकर उनकी सेवा करती रही और उनके मरनेपर वह सब कुछ दान करके श्रीवृन्दावनधाममें चली गयी एवं वहाँ एक परम विरक्त संन्यासिनीकी भाँति कठोर तपस्या तथा भजनमय जीवन बिताकर अन्तमें भगवान्‌को प्राप्त हो गयी!

प्रेमिणी हसीना और हमीदा

सुदूर अरबदेशमें खस नामक एक सम्भ्रान्त कुटुम्ब था। उसका सरदार व्यापारचतुर और सर्वनिधिसम्पन्न पुरुष था। उसके हसीना नामकी एक सुशीला, स्वभावत: मधुरभाषिणी कन्या थी। इस हसीनाकी एक समवयस्का हमीदा नामकी सखी थी, जो उसके प्रत्येक रहस्यसे अवगत थी। प्रति सायंकाल ये दोनों समीपवर्ती रम्योद्यानमें जाकर पुष्पचयन करतीं, मीठे-मीठे फल खातीं और बालसुलभ क्रीड़ा किया करती थीं; तत्पश्चात् गृहमें आकर अपने सुयोग्य पिताके मुखसे 'अमरिल कैस' नामक धर्मग्रन्थको प्रेमपूर्वक सुना करती थीं। इस प्रकार इन दोनोंके मनोंमें बाल्यकालसे ही ईश्वरानुराग उत्पन्न होने लगा था। एक समय संसार-भ्रमण करते हुए कोई हरिचरणानुरागी भारतीय संत अरबदेशमें जा पहुँचे, वहाँ भाग्यवश उनकी भेंट हसीनाके पितासे हुई। संतने उसका सत्कार स्वीकार किया और वहाँ सत्सङ्ग होने लगा। बात-ही-बातमें उन्होंने परम रमणीय व्रजधामकी महिमाके साथ ही वृन्दावनविहारीके परमोत्कृष्ट देवदुर्लभ रहस्यका वर्णन किया। हसीना भीतर बैठी हुई यह सब सुन रही थी। उसपर इस मधुर चर्चाका बड़ा प्रभाव पड़ा। महात्माजीने अन्यत्र प्रस्थान किया। इधर हसीनाके हृदयसागरमें प्रेम-तरङ्गें उठने लगीं, वह सौन्दर्य-माधुर्य-सुधा-रस-सागर सच्चिदानन्दघन श्रीनन्दनन्दनके सुन्दर दर्शनोंके लिये व्याकुल हो उठी। दिन-रात उन्हींका ध्यान, उन्हींका चिन्तन! पिताने उसकी यह दशा देखकर एक दिन अत्यन्त प्रेमसे पूछा—'बेटी! तुझे क्या हो गया है? न तुझे गरमीकी चिन्ता और न वर्षाका ज्ञान, न भूख और प्यास। तेरा यह शरीर कितना दुर्बल हो गया है! कोई प्रेतबाधा तो नहीं है?' पिताके वचन सुनकर हसीनाने केवल इतना ही कहा—'जबसे वे रसिकशिरोमणि संत भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके मधुर गुणानुवाद सुना गये

हैं, तबसे उन्हीं (श्रीकृष्ण)-के दर्शनके लिये मेरा चित्त व्याकुल हो रहा है, मुझे दिन-रात उन्हींका ध्यान है। मेरा एक-एक क्षण उनके दर्शनके बिना युगके समान बीत रहा है। अब तो जब उन श्यामसुन्दरके दर्शन होंगे, तभी मेरी आत्माको प्रसन्नता होगी। अतएव पिताजी! आप इस शरीरको भारतवर्षान्तर्गत दिव्य श्रीवृन्दावनधाममें शीघ्र पहुँचा दीजिये, अन्यथा मेरे प्राण अब शीघ्र ही प्रयाण करना चाहते हैं।'

उस समय धर्मके नामपर कोई दुराग्रह नहीं था। हसीनाके पिताने अपनी पुत्रीकी अभिलाषाका अभिनन्दन किया और कहा कि 'अच्छा सङ्ग मिलते ही हम तुम्हें वहाँ भेज देंगे।'

भाग्यवश उन्हीं दिनों एक काफिला (व्यापारी यात्रियोंका समूह) बगदादको जा रहा था, हसीनाके पिताने सोचा—यह अच्छा अवसर हाथ आया। हसीनाको उसके भाई अब्दुल्ला और सखी हमीदाके साथ भेजनेकी तैयारियाँ होने लगीं। दोनों कन्याएँ अपने-अपने पिताका चरणस्पर्श करके और उनसे आशीर्वाद प्राप्तकर अपने प्राणोंके प्राण श्रीकृष्णके दर्शनार्थ अत्यन्त हर्षपूर्वक उस काफिलेके साथ चलीं। वहीं रास्तेमें एक नदीतटपर उन लोगोंने डेरा डाला। दिन सुन्दर शरद्-ऋतुके थे; परमाह्लादिनी चन्द्रज्योत्स्ना खिल रही थी, अनेक प्रकारके वन्य कुसुमोंके सौरभसे मन प्रसन्न हो रहा था; जहाँ देखिये, वहीं आनन्दमय दृश्य दिखलायी देता था। उस समय ये दोनों सखियाँ उस तरङ्गिणीके तटपर एकान्त स्थानमें प्राकृतिक छटा देखने चली गयीं। सुन्दर लता और मनोहर वृक्षोंको देखकर उन्हें व्रजलताओंका स्मरण हो आया। हसीनाने अपनी प्रिय सहेली हमीदासे कहा कि 'एक बार इस एकान्त स्थलमें, जहाँ चारों ओर शान्तिका साम्राज्य है, कृपा करके उन संतके द्वारा सुनाया हुआ व्रजकी शोभाका मधुर वर्णन तो करो। अहा हा! यही वह शरद् थी, जब परमानुरागिणी महाभागा व्रजगोपिकाओंके सङ्ग मदनमोहन श्रीकृष्णने रासेश्वरी श्रीराधिकाको साथ लेकर महारास किया था।' उस हमीदाने, जो भावुकताकी मूर्ति ही थी, श्रीकृष्णके अङ्ग-अङ्गकी छवि और परम गुप्त गोलोककी अनन्त माधुरीका विशद वर्णन जिस समय किया, उस समय वे दोनों तन्मयताकी अवस्थाको प्राप्त होकर मानो स्वयं ही उस रासकी नटी हो गयीं। सम्पूर्ण दृश्य उनके नेत्रोंके सम्मुख नाचने लगा। वे देखती क्या हैं कि प्रेमामृतमहासिन्धुस्वरूप सौन्दर्य-माधुर्य-निधि भगवान् नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र रासेश्वरी ज्योतिर्मयी महाशक्ति श्रीराधिकाजीके साथ उसी सुन्दर माधुरीकुञ्जमें विराजमान हैं। नव-नील-नीरद वर्ण है, कटिमें सुन्दर काछनी काछे हैं, कानोंमें सुन्दर कुण्डल हैं, गलेमें दिव्य पुष्पोंकी, रत्नोंकी और गुंजाओंकी मालाएँ सुशोभित हैं। सिरपर मयूरपिच्छका मनोहर मुकुट है, घुँघराली काली अलकावली भ्रमरपंक्तियोंकी शोभाको परास्त कर रही है। अधरपल्लवपर मुरली शोभा पा रही है। करोड़ों-करोड़ों कामदेवोंको लज्जित करनेवाली युगल-सरकारकी रूपमाधुरी है। श्रीराधिकाजी सर्वाङ्गसुसज्जित हैं। नील वस्त्र धारण किये हुए हैं। परम भाग्यवती व्रज-वनिताएँ उनकी सेवामें संलग्न तथा उनके योगिदुर्लभ दर्शन पाकर आनन्दविह्वल हो रही हैं। दोनों सखियोंने प्राणप्रियतमका मानस दर्शन किया और तदाकारवृत्ति होकर उसीमें स्थित हो गयीं। उस समय उन्हें बहिर्जगत्का ध्यान ही नहीं रहा।

इधर ये दोनों परमहंसोचित ध्यानमें निमग्न थीं, उधर काफिलेका समाचार पाकर एक बद्दुओंका दल अस्त्र-शस्त्र लिये उस काफिलेपर टूट पड़ा। दोनों पक्षोंमें बहुत देरतक युद्ध होता रहा; डाकुओंने व्यापारियोंका बहुत-सा भाग नष्ट कर दिया और उनका धन छीनकर इधर-उधर वे छिप रहे। केवल हसीनाका भाई और कुछ स्त्रियाँ ही शेष बचीं। इन लोगोंका क्रन्दन सुनते ही उन दोनोंकी समाधि भंग हुई। वे तुरंत ही उस स्थानपर पहुँचीं, जहाँकी पृथ्वी हत्याकाण्डसे रक्तरञ्जित हो रही थी। ये सोचने लगीं—हे भगवन्! इतनी ही देरमें यह क्या हो गया; हमलोगोंपर दैवकी यह कैसी अकृपा! परंतु ईश्वरकी लीला तो विचित्र होती है, इसीमें उनका हित निहित था! उन डाकुओंमें दो-चार वहीं पास ही खड़े थे, इन दोनों सुन्दरियोंको देखकर उनके मुँहमें पानी भर आया। वे परस्पर कहने लगे, 'अहा! सर्वोत्तम धन तो यही है। इन दोनोंको लेकर बगदादमें बेचेंगे, इनकी

कीमत भी खूब मिलेगी।' उन्होंने इन दोनों अबलाओंको हठात् पकड़ लिया और हाजियोंका वेष बनाकर वे इधर-उधर चक्कर लगाने लगे। हसीनाने किसी युक्तिसे एक मालिनके द्वारा अपनी विपत्तिका समाचार उस देशके खलीफाको लिख भेजा। खलीफाने वह पत्र पाकर तत्काल उन छद्मवेषधारियोंको पकड़ मँगाया और उन दोनोंका उद्धार कर महलमें भेज दिया। बेगमने उनको देखकर अत्यन्त स्नेहसे उनके नेत्र और मुख चूमकर अपनी गोदमें बिठाकर पूछा—'बेटियो! तुमपर क्या आपत्ति आयी है? तुम्हारा कहाँ जानेका विचार था? यहाँ कैसे आ पहुँचीं?' उन्होंने अपनी बीती हुई सारी घटना आद्योपान्त कह सुनायी। उस करुणकथाको सुनकर बेगमका हृदय पसीज गया। बेगमने उन्हें घर लौट जानेको कहा; पर उन्होंने कहा कि 'हमारा मन तो श्यामसुन्दरके लिये उन्मत्त हो गया है। इससे अधिक विपत्तियाँ आयेंगी तो उन्हें भी हम सह लेंगी, पर वृन्दावन जरूर जायँगी।' उनको अपने सिद्धान्तपर अटल देखकर सहृदया बेगमने उन दोनों कुमारियोंको युद्ध विशारद सिपाहियोंकी रक्षामें व्रजभूमिको पहुँचा दिया। वे दोनों वहाँ पहुँचकर किसी एक मन्दिरके द्वारपर आयीं। उन्होंने उस भूमिको प्रणाम किया, देहलीपर मस्तक रखा और भीतर चौकमें प्रवेश किया। इतनेमें किसी व्यक्तिने पुजारीको समाचार दिया। वह आकर देखता है कि दो यवनकन्याएँ मन्दिरके प्राङ्गणमें आ गयी हैं; वह इनकी ओर कोपपूर्ण दृष्टिसे देखता हुआ बोला—'तुमलोग कौन हो? इस मन्दिरमें तुम्हारा क्या काम है? तुमलोगोंने सारा मन्दिर अपवित्र कर दिया। निकल जाओ बाहर!' वे बेचारी इस अग्निमूर्ति पुजारीको देखकर सहम गयीं। पुजारीसे उन्होंने बहुत कुछ अनुनय-विनय की, परंतु जब पुजारीने नहीं माना, तब वे बेचारी दु:खी होकर लौट गयीं; परंतु उनका मन तो श्रीकृष्णकी रूपमाधुरीमें लगा था। कालिन्दीके कूलपर पहुँचकर एक कदम्ब-वृक्षकी छायामें बैठकर दोनों अपने प्यारे श्रीकृष्णका चिन्तन करने लगीं। दिन बीत गया, रात हो गयी, सब लोग अपने-अपने घरोंमें जाकर सो गये। आधी रातका समय हो गया। इतनेमें वे देखती हैं कि यमुनाजीमें एक सुन्दर नौका चली आ रही है, जिसमें श्रीराधिकासहित भगवान् श्रीकृष्ण विराजमान हैं। सङ्गमें कुछ सखियाँ चमर-छत्र, मोरछल आदि लिये अपनी-अपनी सेवामें मग्न हैं। नौका आकर किनारे लगी। उसमेंसे एक सखीकी दृष्टि इन दोनों कन्याओंपर पड़ी, उसने नीचे उतरकर हसीनासे पूछा—'अहो! तुमलोग अर्धनिशामें यहाँ बैठी हुई क्या कर रही हो? तुम कौन हो? यह तुम्हारे साथ कौन है? किस देशसे आयी हो? तुम्हारा क्या मनोरथ है?' हमीदाने विनम्र प्रणाम करके उस सखीसे कहा कि 'हम दोनों अशेष क्लेश सहन करती हुई अरबदेशसे वृन्दावनका माहात्म्य सुनकर भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करने इस व्रजभूमिमें आयी हैं। मेरा नाम हमीदा है, यह मेरी स्वामिनी हसीना है। इनके पिता एक दिन अपने महलमें बैठे हुए थे, वहाँ भारतवर्षके कोई महात्मा घूमते हुए जा पहुँचे। उन्होंने अखिलब्रह्माण्डनायक, नटवर, त्रिभुवनसुन्दर नन्दनन्दनकी छविका वर्णन किया। उसे सुनते ही हमलोगोंकी दशा विचित्र हो गयी और किसी तरह हम यहाँतक पहुँच गयीं। अब यह तो बतलाइये कि वे दीनानाथ हमलोगोंको दर्शन देकर कब कृतार्थ करेंगे?' तत्काल ही उस सखीने उनकी सरलता और सत्य स्नेहपर मुग्ध होकर उनसे कहा कि 'ये जो मणिसंयुत स्वर्णरचित सिंहासनपर विराजमान हैं, यही श्रीश्यामसुन्दर हैं और इनकी बायीं ओर परम सुन्दरी महारानी श्रीराधिकाजी हैं। इन दोनोंके चारों ओर ये ललितादि सखियाँ अपने-अपने सेवा-कार्यमें संलग्न हैं। ये दीनदयालु हैं। पहले अपने भक्तोंकी परीक्षा कर लेते हैं, तब समय आनेपर तुरंत स्वयं ही सहायताके लिये दौड़ आते हैं। तुमलोगोंका सम्पूर्ण वृत्तान्त इन्हें ज्ञात है, इसीलिये तुमपर प्रसन्न होकर ये तुम्हें दर्शन देनेके लिये ही पधारे हैं।' इतना कहकर वह सखी उन दोनोंको श्रीकृष्ण और श्रीराधिकाके चरणकमलोंके समीप ले गयी, दोनों दोनोंके चरणोंपर लोट गयीं। जीवनकी सुख-साध पूरी हुई, जीवन-जन्म सार्थक हो गया। फिर वे दोनों आवागमनसे रहित होकर निकुञ्जविहारीके नित्य विहारमें सम्मिलित हो गयीं!

भक्तिमती चन्द्रलेखा

पश्चिमोत्तर प्रदेशमें एक जमींदारके घर चन्द्रलेखाका जन्म हुआ था। चन्द्रलेखा जब नन्ही-सी बालिका थी, तभी उसे देखकर सबका मन उसकी ओर खिंच जाता था। उसकी धीरता, गम्भीरता, सौम्य स्वभाव, मृदु-मधुरभाव, शान्तवृत्ति, मुसकराती मुखाकृति और सरलता देखकर ऐसा कोई नहीं था, जो उससे स्नेह किये बिना रह सकता। उसकी उम्र अभी पाँच-छ: वर्षकी थी और वह सबके लिये खिलौना बनी हुई थी।

एक दिन चन्द्रलेखाके घर एक साधु आये। चन्द्रलेखाके भक्त पिताने उनका भलीभाँति स्वागत-सत्कार किया। साधु महाराज स्नान करके पूजा करने बैठे। उनके पास एक सुन्दर शालग्रामका विग्रह था। चन्द्रलेखा उनके पास जाकर बैठ गयी और भगवान्‌की पूजा देखने लगी। सरल हृदयकी बालिका थी, उसके मनमें आया—'मैं भी इसी प्रकार भगवान्‌की पूजा करूँगी' और उसने साधु महाराजसे बड़ी ही मीठी वाणीमें कहा—'महाराजजी ऐसा एक भगवान् मुझको भी दीजिये। आपकी ही भाँति मैं भी उसकी पूजा करूँगी—नहलाऊँगी, चन्दन लगाऊँगी, कपड़े पहनाऊँगी, माला चढ़ाऊँगी, खिलाऊँगी, आरती उतारूँगी, फिर सुलाऊँगी और जब मैं अकेली रहूँगी, तब खूब प्यार-दुलार करूँगी—जैसे मेरी माँ मेरा किया करती है।'

शिशु-बालिकाकी भोली बातें सुनकर साधु महाराजको हँसी आ गयी। उन्होंने एक काला पत्थर लाकर उसे दे दिया और कह दिया कि 'ये ही भगवान् हैं। इनका नाम सिलपिल्ले है।' बस, अब तो चन्द्रलेखाके आनन्दका पार नहीं रहा। वह अपने सिलपिल्ले भगवान्‌को सिरपर रखकर चली गयी और आनन्दमें मतवाली होकर नाचने लगी। साधु महाराज चले गये; परंतु चन्द्रलेखाको जो भगवान् और उनका मन्त्र मिल गया, वह उन्हींको लेकर मस्त हो गयी। पिताजीने एक सिंहासन बनवा दिया, माताने पूजाका सामान मँगवा दिया। सुलानेके लिये एक सुन्दर पिटारी बनवा दी। चन्द्रलेखाका भगवत्पूजन और सिलपिल्ले मन्त्रका जप निरन्तर चलने लगा। माता-पिता तथा अड़ोसी-पड़ोसी उसकी पूजा देखकर बड़े प्रसन्न होते। पर चन्द्रलेखा किसीकी ओर न ताककर तद्गतचित्तसे पूजामें लगी रहती। उसकी आँखोंसे निरन्तर प्रेमाश्रु बहते रहते!

काल तो कभी रुकता नहीं, देखते-देखते चन्द्रलेखाकी उम्र विवाहके योग्य हो गयी। पिताने योग्य वर ढूँढ़कर सम्बन्ध कर दिया। बारात आयी। विधिपूर्वक विवाह हो गया। चन्द्रलेखाको भाँति-भाँतिके वस्त्राभूषणोंसे सजाकर और बहुत-सा दहेज देकर पिताने आँसू बहाते हुए विदा कर दिया। वह पालकीपर सवार हो गयी और अपने प्यारे सिलपिल्ले भगवान्‌की पिटारीको आदरपूर्वक पालकीपर पधरा लिया। चन्द्रलेखाने बात-ही-बातमें यह सुन लिया था कि उसका पति हरिविमुख है। इससे उसको बड़ा दु:ख हो रहा था; परंतु 'भगवान् मेरी निश्चय ही सहायता करेंगे' इस विश्वासको लेकर वह रोती हुई ससुरालके लिये विदा हो गयी।

रास्तेमें नदीके तटपर बारात ठहरी। पालकी भी ठहरायी गयी। इसी अवकाशमें चन्द्रलेखाका पति अपनी नवविवाहिता पत्नीका मुख देखने और उससे दो-एक मीठी बात करनेके लिये पालकीके पास आया। चन्द्रलेखाके मनमें बड़ा क्षोभ था। वह तो अपना तन-मन-जीवन श्रीभगवान्‌के अर्पण कर चुकी थी। उसने रोते-रोते कहा—'स्वामिन्! मैंने सुना है आपका मेरे श्रीहरिके प्रति प्रेम नहीं है। मेरे और आपके सभीके सर्वस्व तो श्रीहरि ही हैं। उनसे विमुख होनेपर जीवका कभी कल्याण नहीं हो सकता। मैं आपसे हाथ जोड़कर प्रार्थना करती हूँ—आप समस्त कल्याणगुणोंके भण्डार आनन्दनिकेतन परम प्रियतम मेरे प्रभुसे प्रेम करें। आप मेरे प्रभुसे प्रेम करेंगे, तब मेरा हृदय खिल उठेगा और मैं बड़े चावसे आपके चरणोंकी सेवा करूँगी।' नास्तिक पतिके हृदयमें पत्नीके ये वाक्य बाण-से बिंध गये। उसने क्रोधित होकर चन्द्रलेखासे भगवान्‌की पिटारी छीन ली और उसे नदीके प्रवाहमें बहा दिया। इस दृश्यको देखकर चन्द्रलेखाका हृदय मानो विदीर्ण हो गया। वह ऊँचे स्वरसे रोने-कलपने लगी। पतिने तथा बरातियोंने उसे शान्त करनेकी बहुत कोशिश की, परंतु उसका रुदन बंद नहीं हुआ। उसके हृदयकी क्या स्थिति थी, इसे दूसरे कैसे समझ सकते। रोती हुई ही वह ससुराल पहुँची!

चन्द्रलेखाके तो हृदयनिधि ही छिन गये हैं। जगत्‌के

सारे सुखोंके नाश हो जानेपर भी जिन अपने भगवान्‌को लेकर वह सुखपूर्वक जीवन बिता सकती थी, उनके वियोगमें उसकी कैसी दशा है और वह क्यों रो रही है, इस बातको बेचारी विषयासक्त ससुरालकी स्त्रियाँ कैसे समझ सकतीं। उन्होंने सोचा 'पहले-पहल बहू ससुराल आती है, तब रोया ही करती है। ऐसे ही यह भी रोती होगी। दो-चार दिनोंमें अपने ही शान्त हो जायगी।' पर चन्द्रलेखाका तो रोना दूसरा ही था। उसकी तो हृदय-तन्त्री ही तोड़ दी गयी है। चन्द्रलेखा न सोती है न खाती है, न किसीसे कुछ बोलती है; आठों पहर उसकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहती रहती है। आँसुओंके प्रवाहसे उसका सारा वक्षःस्थल भीगा रहता है। उसका स्वर्ण-सा मुख-कमल सर्वथा मुरझा गया है। सासको अपने पुत्रसे जब सारी बातें मालूम हुईं, तब उसने बहूसे बड़े दुलारसे पूछा। इसपर उसने कहा—'माताजी! मेरा जीवन तो मेरे हृदयनाथ भगवान्‌के हाथमें है। उनके मिलनेपर ही जीवन रह सकता है। अन्य कोई उपाय नहीं है।'

जब उन लोगोंने देखा कि अब इसके प्राण नहीं बच सकते, तब वे लोग उसे लेकर नदीके तीरपर वहीं आये, जहाँ उसके पतिने ठाकुरजीकी पिटारीको जलमें बहा दिया था। चन्द्रलेखाके पतिने कहा—'हमलोग यहाँ नदीके तटपर तो आ गये हैं, परंतु पिटारीका पता कैसे लगेगा। वह तो उसी समय नदीकी धारमें बह गयी थी। खोजकर उसका पता लगाना कठिन है। पता नहीं पिटारी डूब गयी है या बहकर बहुत दूर चली गयी है। मुझसे अवश्य बड़ी भूल हुई, मैंने तुम्हारे भावको नहीं समझा; पर अब क्या उपाय है।' चन्द्रलेखाने कोई उत्तर नहीं दिया और वह बड़े विश्वासके साथ रो-रोकर अपने प्रभुसे प्रार्थना करने लगी।

भगवान् भृत्यवत्सल हैं, भक्तसर्वस्व हैं, भक्तार्तिकातर हैं, उनसे भक्तके निश्छल निष्काम आँसू नहीं देखे जाते। जो उनके लिये व्याकुल होकर एक भी आँसूकी बूँद बहा देता है, उसके सामने प्रकट होनेमें वे देर नहीं करते। यहाँ तो चन्द्रलेखाकी रोते-रोते आँखें फूल गयी हैं। भगवान् अब कैसे रहते। अकस्मात् नदीमें एक तरङ्ग आयी और जलराशिको भेद करके सिलपिल्ले भगवान्‌की पिटारी निकली और तरङ्गके साथ ही उछलकर वह चन्द्रलेखाकी गोदमें उसके हृदयदेशपर आकर चिपट गयी—

सुनतहिं अति आरत बचन करुनानिधि अतुराइ।
निकसि सरित ते गोद तेहि आ लिपटे हरि धाइ॥

चन्द्रलेखाने भगवान्‌को उठाकर मस्तकपर धारण किया! सारा कष्ट सदाके लिये बह गया। इस आश्चर्य-घटनाको देखकर नास्तिक हरिविमुख पतिका मन भी बदल गया। उसका हृदय भी भगवान्‌के लिये रो उठा, उसने अपना अपराध स्वीकार करके भगवान्‌से क्षमा माँगी। भगवान्‌ने अपनी भक्तिपरायणा चन्द्रलेखाके इच्छानुसार उसके पतिको दुर्लभ भक्ति दी। सास-ननदका हृदय भी भक्ति-रससे द्रवित हो गया। चन्द्रलेखाकी भक्तिकी बाढ़ने रेतीले रेगिस्तानको पवित्र प्रेमसुधासे लहरा दिया। सूखा बगीचा लहलहा उठा! समस्त श्वशुरकुलका उद्धार हो गया।

भक्त बालकराम

भक्त बालकरामजी राजनगर नामक गाँवमें रहते थे। छोटा-सा गाँव था। अधिकांश ब्राह्मणोंकी बस्ती थी। बालकरामजी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। पिता-माता बड़े धर्मशील और सात्त्विक थे। बालकरामजीको छोटी उम्रमें छोड़कर ही दोनों परलोक सिधार गये थे। बालकरामजीको इनकी विधवा बूआने पाला था। वहीं गाँवमें एक पण्डितजीकी पाठशाला थी। बालकरामजीने उसीमें संस्कृतकी शिक्षा पायी थी। माता-पिता न होनेसे इनके विवाहकी किसीने चेष्टा नहीं की। स्वयं ये जन्मसे ही विरक्त-स्वभावके थे, इसलिये इनके मनमें कभी विवाह करनेकी कल्पना आयी ही नहीं। अतएव ये नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे। शरीर बड़ा सुडौल, सुन्दर गौरवर्ण था, बड़े सधे हुए सजीले जवान थे। आँखोंमें अद्भुत तेज था। ये तड़के तीन बजे उठते और हाथ-मुँह धोकर भगवान् श्रीसीतारामजीके ध्यानमें बैठ जाते। दो घंटे ध्यानमें बिताकर—उठकर शौच, स्नान-सन्ध्यादिसे निवृत्त होकर—फिर ध्यानमें बैठते। बारह बजे उठकर खानेको कुछ बना लेते और भगवान्‌को निवेदन करके प्रसादरूपमें पा लेते। इसके

बाद चौबीस घंटे कुछ भी खानेसे काम नहीं। दिनभर कुटिया बंद रखते और अखण्ड भजन करते। शामको सूर्यास्तके लगभग दो घंटे पहले कुटियासे निकलते। उस समय गाँवके लोग जुट जाते। विविध परमार्थ-चर्चा चलती। आप सबसे भजन करनेको कहते। बीच-बीचमें भागवतके श्लोक और मानसजीकी चौपाइयाँ सुना-सुनाकर लोगोंकी भजन-निष्ठा बढ़ाते। फिर बस शौच, स्नान-सन्ध्यासे निवृत्त होकर सन्ध्या होते ही किवाड़ ढक लेते।

भजनमें बहुत बड़ी निष्ठा थी। आठों पहर इनके मुख़से भगवान्‌का पवित्र नामोच्चारण होता रहता।

एक बार आप सन्ध्यासे कुछ पहले कुटियासे बाहर अकेले बैठे हुए श्रीरामनामका जप कर रहे थे, इतनेमें ही एक सुन्दरी स्त्रीने आकर चरणोंमें प्रणाम किया और कुछ फल-फूल सामने रखकर कहा—'महाराजजी! मैं अमुक गाँवके जमींदारकी पुत्रवधू हूँ। मेरे कोई सन्तान नहीं है। मैंने सुना है, आप बड़े महात्मा हैं; इसीलिये अकेली आपकी सेवामें आयी हूँ। आप आशीर्वाद दे दें तो मेरी गोद जरूर भर जायगी। आप दयालु हैं। मैं आपसे आँचल पसारकर भीख माँगती हूँ।'

बालकरामजीने बड़े सङ्कोचसे कहा—'बहिन! तुम्हें अकेले घरसे बाहर निकलकर इस प्रकार किसी भी पुरुषके पास नहीं जाना चाहिये। पता नहीं, महात्माओंके वेषमें कितने स्वार्थी लोग घूमते हैं। फिर बहिन! मेरे पास तो कोई भी सिद्धि नहीं है, न कोई मन्त्रबल या तपोबल ही है, जिससे मैं तुम्हें आशीर्वाद दे सकूँ। मैं तो अकिञ्चन दीन ब्राह्मण हूँ। प्रभुके नामपर पेट भरता हूँ। मुझे इस बातसे बड़ी लज्जा होती है कि लोग मुझे भक्त या महात्मा मानते हैं। मैं तो महात्मा और भक्तोंकी चरणरज पानेका भी अधिकारी नहीं हूँ। बहिन! जाओ, रातको घरसे बाहर रहना ठीक नहीं। भगवान्‌का स्मरण करो, उन्हींसे प्रार्थना करो; वे जो उचित समझेंगे, वही करेंगे; उसीसे तुम्हारा परम कल्याण होगा। इसमें जरा भी शङ्का न करो!'

बालकरामजीकी बात सुनकर उसे बड़ी निराशा हुई, परंतु बेचारी क्या करती। लौट चली। बालकरामजीने कहा—"तुम्हारा घर दो कोस दूर है, अँधेरा हो रहा है। सावधानीसे जाना। भगवान् मङ्गल करेंगे। कोई सङ्कट आये तो 'श्रीसीताराम-सीताराम' कहना।" जमींदार-वधू दो-चार खेत आगे बढ़ी थी कि उसके गहने देखकर चोरोंने उसे घेर लिया। चोर, जब वह आयी थी, तभीसे इसी ताकमें थे। उसने अपनेको बड़े सङ्कटमें देखा और विश्वास करके मन-ही-मन प्रार्थना करती हुई 'सीताराम-सीताराम' पुकारने लगी। इतनेमें ही उसने देखा, एक श्यामसुन्दर सशस्त्र नवयुवक दौड़ा आ रहा है और उसके पीछे-पीछे भक्त बालकरामजी दौड़ रहे हैं। देखते-ही-देखते नवयुवकने आकर चोरोंपर गहरी चोट की। चोर उसी क्षण प्राण लेकर चम्पत हो गये। जमींदार-वधूने देखा—श्यामसुन्दर नवयुवक और बालकरामजी दोनों ही नहीं दिखायी दे रहे हैं। उसने सोचा, सपना तो नहीं आ गया। पर राह चलतेमें सपना कैसा? वह आश्चर्यचकित हो रही। इतनेमें ही उसके घरके कुछ आदमी, जिनको वह बुला आयी थी, आ पहुँचे और वह उनके साथ घर लौट गयी।

परंतु बालकरामजीकी निःस्पृहता, शान्ति, सरलता, साधुता और निरभिमानताका तथा श्रीश्यामसुन्दरकी झाँकीका उसके मनपर बहुत ही सात्त्विक प्रभाव पड़ा। वह समझ गयी कि मुझे चोरोंसे बचानेवाले साक्षात् भगवान् श्रीराघवेन्द्र ही थे और यह सब उनके भक्त श्रीबालकरामजीकी कृपासे ही हुआ। हो न हो, आज मेरे लिये बड़ा ही दुर्दिन था, न मालूम कितनी अशुभ घटना घटनेवाली थी। पर मैं महात्माकी कुटियापर पहुँच गयी, जिससे मेरी अद्भुत प्रकारसे रक्षा हो गयी। सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह हुआ कि उसके मनसे अब सन्तानकी कामना ही दूर हो गयी और उसके बदलेमें भगवान्‌के भजनकी कामना जाग उठी। उसका अन्तःकरण क्षणोंके साधुसङ्गसे निर्विषय हो गया। उसने इसी बहाने भगवान्‌के दुर्लभ दर्शन भी पा लिये। साधुसङ्गसे क्या नहीं होता।

उसने घर पहुँचकर अपना मन भजनमें लगाया और आगे चलकर वह बहुत ऊँची स्थितिमें पहुँच गयी। कहते हैं कि भगवान् श्रीराघवेन्द्रकी उसपर अपार कृपा हुई। फिर वह जब चाहती, तभी उसे भगवान्‌के दुर्लभ

दर्शन होते। भगवान्‌के साथ उसका नित्य-सम्बन्ध हो गया।

भक्त बालकरामजीने यह बात किसीसे नहीं कही। पता नहीं, उन्हें प्रभुकी इस लीलाका पता भी था या नहीं। जमींदार-वधूके द्वारा ही कुछ समय बाद लोगोंको इस चमत्कारका पता लगा था।

एक बार रामनवमीके अवसरपर भक्त बालकरामजीकी इच्छा श्रीअवधयात्रा करनेकी हुई। वे लोटा, डोरी तथा झोला-माला लेकर निकल पड़े। राजनगर अयोध्यासे तीन सौ कोस था। रामनवमीमें कुल तीन दिन शेष रह गये थे। बालकरामजीकी रामनवमीको ही पहुँचकर भगवान्‌का मङ्गल जन्ममहोत्सव देखनेकी प्रबल इच्छा थी। पर कोई उपाय था नहीं। उनको अपनेमें कोई चमत्कार या सिद्धि कभी दीखी ही नहीं। उनका अवलम्बन तो था एकमात्र श्रीभगवान्‌का नाम-जप करना और उनकी रूप-सुधा-माधुरीका ध्यान नेत्रोंसे अनवरत पान करना। राहमें सन्ध्या हो गयी। वे एक तालाबके पास पहुँचे। तटपर एक बड़ा पुराना बरगदका पेड़ था। उन्होंने वहीं रात बितानेका विचार किया। तालाबमें स्नान-सन्ध्या करके वहीं ध्यान करने बैठ गये। कुछ ही क्षणोंमें वे भगवान्‌की रूपमाधुरीमें छक गये। उनकी समाधि लग गयी। प्रातःकाल समाधि टूटी तो देखते हैं, श्रीअयोध्याजीमें मैया सरयूजीके तटपर पीपलके पेड़के नीचे बैठे हुए हैं और भगवान् कोसलेन्द्र सामने खड़े हँस रहे हैं। बालकरामजी मुग्ध हो गये। उनका शरीर प्रेमानन्दसे पुलकित हो गया। वाणी रुक गयी। आँखोंसे प्रेमाश्रुधारा बह चली। उसी भावमें मस्त हुए वे अवधेशके मन्दिरकी ओर चल पड़े। उन्होंने स्पष्ट देखा—श्रीकोसलेन्द्र उनके आगे-आगे चल रहे हैं और वे मानो खिंचे हुए बेबस उनके पीछे चले जा रहे हैं। मन्दिरमें पहुँचते ही कोसलेन्द्रका वह स्वरूप छिप गया। अब बालकरामजीको होश आया। मन्दिरमें जन्मोत्सवकी तैयारी हो रही थी। पुजारीजीको भगवान्‌ने स्वप्नमें पहले ही बालकरामजीका परिचय दे दिया था। पुजारीजीने उनको पहचान लिया, अच्छी तरह आवभगत की; परंतु बालकरामजीका भाव-मद तो अभी उतरा नहीं था। वे उसी नशेमें चूर भगवान्‌के सामने नाचने लगे। भगवान् श्रीराम, भरतलालजी, लक्ष्मणजी और शत्रुघ्नजीकी मङ्गलमय प्राकट्यकी झाँकी उनके सामने थी। वे उसी भावमें निमग्न थे। लोगोंने देखा एकाएक उनका ब्रह्मरन्ध्र फटा और उसमें रामकी ध्वनि हुई। शरीर निर्जीव होकर वहीं गिर पड़ा। उनकी क्या गति हुई होगी, इसका अनुमान तो सभी कर सकते हैं।

मामा प्रयागदासजी

जनकपुरमें एक विधवा ब्राह्मणी रहती थी, लगभग पौने दो सौ वर्ष पूर्व। उसके एक पुत्र था। उसका नाम था प्रयागदत्त। बालक प्रायः पूछता—'माँ! क्या मेरे और कोई नहीं है?' जनकपुरकी स्त्रियाँ श्रीजानकीजीको अपनी पुत्री या बहिन मानती हैं। वह ब्राह्मणी कहती—'बेटा! तुम्हारे एक बहिन है। वह अयोध्याके चक्रवर्ती महाराजके राजकुमारको ब्याही है।' बालक कहता—'मैं बहिनके पास जाऊँगा।' माता कहती—'कुछ बड़े होनेपर जाना।'

बालकके मनपर अपने बहिन-बहनोईका संस्कार पूरी तरह बैठ गया। कुछ बड़े होते ही उसने अयोध्या जानेकी हठ पकड़ ली। ब्राह्मणी भक्ता थी। उसने सोचा—'मिथिलेशराजकुमारी क्या अपने इस अबोध भाईकी उपेक्षा कर सकती हैं?' उस बेचारीके पास घरमें तो कुछ था नहीं। माँगकर थोड़ेसे चावलके कण ले आयी। उन्हें पीसकर उनके मीठे मोदक बना दिये। ऐसे मोदकोंको मिथिलामें 'कासार' कहते हैं। उनको एक कपड़ेमें बाँधकर पुत्रको दिया और कहा—'ये अपनी बहिन और जीजाजीको दे देना।' लड़केको मार्गमें खानेके लिये उसने सत्तू दे दिये।

बालक प्रयागदत्त किसी प्रकार कुछ दिनमें अयोध्या पहुँचे। यहाँ पूछनेपर भी कोई उनके चक्रवर्ती बहनोईका पता नहीं बतलाता था। जिससे पूछते, वही हँस देता।

बहुत परेशान हुए। थककर मणिपर्वतके पास सहस्रशीर्षा मन्दिर (यह आजकल मस्जिद है)-के पास घने पेड़ोंके मध्यमें एक टीलेपर बैठ गये। बहुत थक गये थे। बहनोईपर बहुत अप्रसन्न हो रहे थे। कह रहे थे—'पता नहीं कहाँ चला गया? अब उसे कहाँ ढूँढ़ने जाऊँ?'

भला, कोई उन चक्रवर्ती-राजकुमारको कहाँ ढूँढ़े। परंतु जो सचमुच उन्हें ढूँढ़ता है, ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ वे उसे न मिल जायँ। प्रयागदत्तने देखा कि खूब बड़ा एक सफेद हाथी उनके सामने टीलेपर कहींसे आ गया है। उसपर सोनेकी रत्नजटित अम्बारी पड़ी है। हाथी बैठ गया और उसमेंसे बहनोईके साथ बहिन उतर पड़ी। किसीको कोई परिचय देना या पूछना नहीं पड़ा। जैसे ये सदाके परिचित ही हों। श्रीजानकीजीने पूछा—'भैया! माताजीने मेरे लिये कुछ भेजा है?'

भैया तो हक्के-बक्के देखते ही रह गये। कुछ देरमें सावधान होकर पोटली देते हुए बोले—'मैंने तो तुमलोगोंको बहुत ढूँढ़ा। कोई तुमलोगोंका पता ही नहीं बताता था।'

पोटलीमेंसे श्रीकिशोरीजीने दो कासार ले लिये और शेष प्रयागदत्तको खानेके लिये दे दिया। कहा—'भैया! तुम्हें बड़ा कष्ट हुआ। हमलोग ऐसे स्थानपर रहते हैं कि सब लोग हमारा पता नहीं जानते। अब तुम घर लौट जाओ। मातासे कहना कि हम सब बड़े आनन्दमें हैं।' वे हाथीपर बैठ गये। हाथी वनमें जाकर अदृश्य हो गया।

प्रयागदत्त बहिन-बहनोईके वियोगमें मूर्छित हो गये। कुछ देरमें कुछ चेतना आयी। उसी समय एक संत उधरसे निकले। पास जाकर उन्होंने देखा कि एक सुन्दर बालक भूमिपर पड़ा तड़प रहा है। प्रयागदत्तको किसी प्रकार वे अपनी गुफापर ले आये। स्वस्थचित्त होनेपर प्रयागदत्तने सब बातें बतायीं। एक घड़ी रात गये दो स्त्रियाँ आयीं और उन महात्माजीको दो थाल व्यञ्जनोंसे भरे देकर उन्होंने कहा—'आज हमारे यहाँ भगवान्‌की पूजा हुई है। आपके लिये यह प्रसाद ले आयी हैं। अभी इसे ले लीजिये, थाल सबेरे चले जायँगे।' थाल देकर वे शीघ्रतासे चली गयीं? दोनों थाल कमलके पत्तोंसे ढके थे। पत्ते हटानेपर महात्माजी तो चकित रह गये। स्वर्णके वे थाल जगमग कर रहे थे। महात्माजीने समझ लिया कि जगज्जननीने अपने भाईकी पहुनाई की है।

वह दिव्य भोग प्रयागदत्तके कारण महात्माजीको भी प्राप्त हुआ। प्रातः थाल लेने तो कौन आनेवाला था। महात्माजीने प्रयागदत्तको थाल देना चाहा तो वे बोले—'मेरी माँ मुझे घरसे ही निकाल देगी, यदि मैं बहिनकी चीज ले जाऊँ। वह कन्याकी वस्तु कैसे लेगी।' बाबाजी भी सच्चे विरक्त थे। उन्होंने थालोंको गणेशकुण्डमें फेंक दिया। प्रयागदत्त घर पहुँचे। पुत्रका समाचार सुनकर माता चकित रह गयी। उसके नेत्रोंसे अश्रुधारा चलने लगी।

इस घटनाके एक वर्ष बीतनेपर प्रयागदत्तकी माता परधाम चली गयीं। पासके एक ग्रामके सम्पन्न ब्राह्मण इनके साथ अपनी कन्याका विवाह करनेको उत्सुक थे। उनके कोई पुत्र नहीं था, अतः प्रयागदत्तको वे अपने ही घर रखना चाहते थे। लेकिन प्रयागदत्तको किसीके धनका मोह कहाँ था। उनके मनमें तो वे दिव्य बहिन-बहनोई बस गये थे। संसारमें कोई वस्तु आँख उठाकर देखनेयोग्य भी उन्हें नहीं जान पड़ती थी। वे घर छोड़कर सीधे अयोध्याको चल पड़े।

अयोध्या पहुँचकर प्रयागदत्तकी अद्भुत दशा हो गयी। शरीरकी सुधि ही भूल गयी उन्हें। बहिन-बहनोईके दर्शनोंके लिये वे व्याकुल हो गये। जिस टीलेपर पहले दर्शन हुए थे, कुछ देर वहीं जाकर प्रतीक्षा करते रहे। उसके बाद कुञ्जों और झाड़ियोंमें ढूँढ़ते हुए भटकने लगे। इसी दशामें पूर्व-परिचित संत त्रिलोचन स्वामी इन्हें मिले। महात्माजीने इन्हें पहचाना और अपने आश्रमपर ले आये।

श्रीत्रिलोचन स्वामीजीके सत्सङ्गका अपूर्व प्रभाव पड़ा। दूसरे दिन उन्हींसे दीक्षा ग्रहण करके अब ये प्रयागदास हो गये। गुरुने इन्हें लँगोटी-अँचला प्रदान किया। उसके बाद तो प्रयागदासजीकी स्थिति बहुत ही ऊँची हो गयी। वे वन-बीहड़में कहाँ घूम रहे हैं, सो उन्हें कुछ पता नहीं। किसीने खिला दिया तो खा लिया,

मामा प्रयागदासजी [पृ० ७४८]
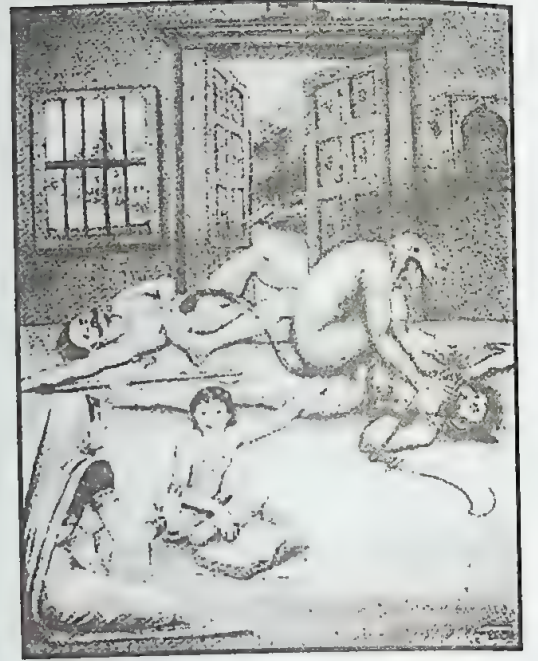
रामलगनपर हनुमान्‌जीकी कृपा [पृ० ७५३]

भक्त गुलाबरावजी [पृ० ७६०]
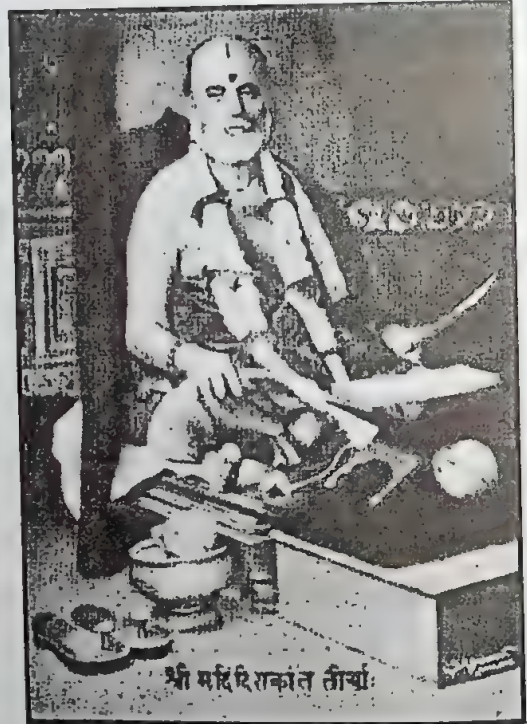
स्वामी श्रीमद् इन्दिराकान्ततीर्थ [पृ० ७६०]

महात्मा शिशिरकुमार घोष [पृ० ७६३]

डॉ० एनी बेसेंट [पृ० ७६५]

लोकमान्य तिलक [पृ० ७६५]

जल पिला दिया तो पी लिया। केश बिखरे हैं, शरीर धूलिसे भरा है। कहीं खड़े हो गये तो घंटों खड़े हैं। किसी वस्तुकी ओर दृष्टि गयी तो उसीको देख रहे हैं एकटक।

जगन्माता भगवती लक्ष्मीके भाई होनेसे चन्द्रदेव समस्त संसारके मामा लगते हैं। अयोध्यामें श्रीवैदेहीके भाई ये प्रयागदासजी भी बच्चोंके मामा ही तो हैं। पता नहीं किसने सिखा दिया कि सभी बच्चे इन परमहंसको 'मामा-मामा' कहने लगे। ये परमहंस मामा मत्तगजेन्द्रकी भाँति झूमते हुए अयोध्याकी गलियोंमें घूमते रहते थे।

एक बार प्रयागदासजीको श्रीरामकी वन-लीलाका बोध हुआ। कहने लगे—'देखो! अपने तो गया ही, साथमें मेरी सुकुमारी बहिनको भी बीहड़ वनमें ले गया।' अब आपको एक धुन सवार हुई। कोई पैसे देता तो ले लेते। कुछ दिनोंमें पर्याप्त पैसे एकत्र हो जानेपर तीन जोड़ी जूते बनवाये, जितने बढ़िया बनवा सकते थे। तीन पलंग ऐसे बनवाये छोटे, बड़े कि एकके पेटमें एक रखा जा सके। तीनों पलंगोंके लिये तीन गद्दे बनवाये। अब एक-पर-एक क्रमशः तीनों पलंग रखकर उनपर तीनों गद्दे और तीनों जोड़ी जूते रख लिये और यह सब सामान सिरपर उठाकर चित्रकूट चल पड़े। जहाँ-जहाँ मार्गमें गड्ढे, कुश, काँटे, कंकड़ मिलते, वहाँ अपने बहनोईको वे कोसते जाते थे।

चित्रकूट पहुँचकर स्फटिकशिलाके पास प्रयागदासजीने तीनों पलंग बिछाये। उनपर गद्दे डाल दिये। उनके नीचे एक-एक जोड़ी जूते रख दिये और अब बहिन-बहनोईको ढूँढ़ने लगे। जब बहुत ढूँढ़ चुके, तब बोले—'देखो! छिप गया न। जान गया कि प्रयागदास आ गया है।' लौटकर देखते हैं तो इनके पलंगपर श्रीराम, लक्ष्मण तथा जानकीजी विराजमान हैं। दौड़कर सबके चरणोंमें जूते पहनाये और रामजीसे उलाहना देते हुए बोले—'तुम इस जंगलमें क्यों चले आये? मेरी सुकुमारी बहिनको क्यों साथ ले आये? इस बीहड़ वनमें तुमलोग रहते कैसे हो?'

श्रीजानकीजीने कहा—'भैया! मैं तो स्वयं आयी। ये तो मुझे लाते ही नहीं थे।'

प्रयागदासने कहा—'अच्छा, ठीक है। अब हम तुम्हारे साथ-साथ रहेंगे और पलंग ले चला करेंगे।'

श्रीरघुनाथजीने कहा—'भाई! हमारी वन-यात्राका नियम है कि हम तीन ही साथ रहते हैं। चौथे किसीको साथ नहीं रखते। पलंगपर कभी हम बैठते नहीं, आज तो तुम्हारी प्रसन्नताके लिये बैठ गये। अब तुम इनको अयोध्या ले जाओ। तुम इनको अपने काममें लोगे तो हमको बड़ा सुख मिलेगा।'

श्रीजानकीजीने भी इन्हें आश्वासन देकर लौट जानेको कहा। सिरपर फिर पूर्ववत् पलंग और गद्दे रखकर बेचारे लौट पड़े। मन-ही-मन कहते जाते थे—'इनको किसीने कुछ कहा नहीं, ये सब आप ही वनमें आये हैं। सोनेका महल काटता है, वन अच्छा लगता है। बहिन तो भोली-भाली है। वह जो कहता है, वही करती है। साथ-साथ चली आयी। हरे-भरे पेड़, लताएँ, मृग देखती है, खुश हो जाती है। किसी दिन बाघ देखेगी तो जानेगी! मुझे भी साथ नहीं लिया। समझता है कि प्रयागदास साथ रहेगा तो इसकी बहिन सचेत हो जायगी। अयोध्या लौटनेको कहेगी।' इस प्रकार खीझते, बकते वे अयोध्या लौट आये।

अयोध्या लौटकर उन्होंने एक नीमके नीचे खाट बिछायी, उसपर गद्दे डाले और उसपर स्वयं आसीन होकर अपनी मस्तीमें गाने लगे—

नीमके नीचे खाट बिछी है, खाटक नीचे करवा।
प्रागदास अलमस्ता सोवै, रामललाका सरवा॥

प्रयागदासजीकी अलमस्तीका क्या पूछना। वे निखिल-ब्रह्माण्डनायकके साले जो ठहरे। उत्पत्ति-स्थिति-संहारकारिणी सकल क्लेशहारिणी महाशक्ति उनकी बहिन हैं। उनकी मस्ती अनन्त, अखण्ड, नित्य नूतन है। उनकी वाणियोंमें उस मस्तीकी एक झलक पायी जाती है।

भक्त स्वामी रामअवधदास

लगभग सौ वर्ष पहलेकी बात है। भगवान् श्रीराघवेन्द्रके परम भक्त क्षेत्रसंन्यासी स्वामी रामअवधदासजी वैरागी साधु थे। बरसोंसे मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी राजधानी अयोध्यापुरीमें रहते थे। अहर्निश श्रीसीतारामनामका कीर्तन करना उनका सहज स्वभाव हो गया था। रातको कठिनतासे दो घंटे सोते। सरयूजीके तीरपर एक पेड़के नीचे रहते। धूनी रात-दिन जलती। बरसातकी मौसममें भी कोई छाया नहीं करते। आश्चर्य तो यह कि मूसलधार वर्षामें भी उनकी धूनी ठंढी नहीं होती। जब देखो, तभी स्वामीजीके मुखारविन्दसे बड़े मधुर स्वरोंमें सीतारामकी ध्वनि सुनायी पड़ती। आसपासके सभी मनुष्य—जीवजन्तुतक सीतारामध्वनि करना सीख गये थे। वहाँके पक्षियोंकी बोलीमें सीतारामकी ध्वनि सुनायी पड़ती, वहाँके कुत्ते-बिल्लीकी बोलीमें सीतारामका स्वर आता, वहाँके वृक्षोंकी खड़खड़ाहटमें सीताराम-नाम सुनायी देता और वहाँकी पवित्र सरयूधारा सीतारामका गान करती। तमाम वातावरण सीताराममय हो गया था!

स्वामीजी कभी-कभी सत्सङ्ग भी कराते, कोई खास अधिकारी आनेपर। उस समय वे जिन तर्क-युक्तियों और शास्त्रप्रमाणोंको अपने अनुभवके समर्थनमें रखते, उनसे पता लगता कि वे षड्दर्शनके बहुत बड़े पण्डित हैं, परंतु इस समय सब कुछ छोड़कर केवल भजनमें लगे हैं। सत्सङ्गमें भी वे भजनका ही उपदेश करते और कहते कि मनुष्य और कर ही क्या सकता है। भगवान्ने कृपा करके जीभ दी है; इससे उनका नाम रटता रहे तो बस, इसीसे प्रभु कृपा करके उसे अपने आश्रयमें ले लेते हैं।

स्वामीजी वैष्णव साधु थे, पर किसी भी सम्प्रदाय और मतसे उनका विरोध नहीं था। वे सभीको अपने ही रामजीके विभिन्न स्वरूपोंके उपासक मानकर सभीसे प्रेम करते। खण्डन तो कभी किसीका करते ही नहीं। मधुर मुसकान उनके होठोंपर सदा खेलती रहती। वृद्ध होनेपर भी उनके चेहरेपर जो तेज छाया रहता, उसे देखकर लोग चकित हो जाते।

उन्होंने एक बार अपने श्रीमुखसे अपने पूर्वजीवनका कुछ वृत्तान्त एक सज्जनको सुनाया था। उन्होंने श्रीअयोध्याजीके एक संतसे उसको इस प्रकार कहा था। स्वामी रामअवधदासजी जौनपुरके समीपके ब्राह्मण थे। इनका नाम था—रामलगन। पिताके इकलौते पुत्र थे। माता बड़ी साध्वी और भक्तिमती थी। माताने बचपनसे ही इन्हें सीतारामका कीर्तन सिखाया था और प्रतिदिन वह इन्हें भगवान्के चरित्रोंकी मधुर कथा भी सुनाया करती थी। एक बार जब ये आठ वर्षके थे, तब रातको एक दिन कुछ डाकू इनके घरमें आ पहुँचे। इनके पिता पण्डित सत्यनारायणजी काशीमें पढ़े हुए विद्वान् थे। पुरोहितीका काम था। सम्पन्न घर था। जिस दिन डाकू आये, उस दिन इनके पिता घरपर नहीं थे, किसी यजमानके घर विवाहमें गये हुए थे। घरपर इनकी माँ थी और ये थे। दोनों माता-पुत्र घरके अंदर आँगनमें सो रहे थे। गरमीके दिन थे, इसलिये सब किवाड़ खुले थे। एक ओर गौएँ खुली खड़ी थीं। जिस समय डाकू आये, उस समय इनकी माँ इनको हनूमान्जीके द्वारा लङ्का-दहनकी कथा सुना रही थी। इसी समय लगभग पंद्रह-सोलह डाकू सशस्त्र घरमें घुस आये। उन्हें देखकर इनकी माँ डर गयीं, पर इन्होंने कहा—'माँ! तू डर क्यों गयी? देख, अभी हनूमान्जी लङ्का जला रहे हैं। उनको पुकारती क्यों नहीं? वे तेरे पुकारते ही हमारी मददको आयेंगे।' इन्होंने बिलकुल निडर होकर यह बात कही। परंतु माँ तो काँप रही थी। उसे इस बातका विश्वास नहीं था कि सचमुच श्रीहनूमान्जी हमारी पुकारसे आ जायँगे। जब माँ कुछ नहीं बोली, तब इन्होंने स्वयं पुकारकर कहा—'हनूमान्जी! ओ हनूमान्जी!! हमारे घरमें ये कौन लोग लाठी ले-लेकर आ गये हैं! मेरी माँ डर रही है। आओ, जल्दी आओ; लङ्का पीछे जलाना।' डाकू घरमें घुसे ही थे कि क्षणोंमें यह बात हुई। इतनेमें ही सबने देखा—सचमुच एक बहुत बड़ा बंदर कूदता-फाँदता आ रहा है; डाकू उसकी ओर लाठी तान ही रहे थे कि उसने आकर दो-तीन डाकुओंके तो ऐसी चपत लगायी कि वे गिर पड़े। डाकुओंका सरदार आगे बढ़ा तो उसे गिराकर उसकी दाढ़ी पकड़कर इतनी जोरसे खीचीं कि वह चीख मारकर बेहोश हो गया। डाकुओंकी लाठियाँ तनी ही गिर

पड़ीं। बंदरपर एक भी लाठी नहीं लगी। डाकुओंके शोरगुलसे आसपासके लोग दौड़कर आ गये। डाकू भागे। सरदार अभी बेहोश था, उसे तीन-चार डाकुओंने कंधेपर उठाया और भाग निकले। बालक रामलगन और उनकी माँ बड़े आश्चर्यसे इस दृश्यको देख रहे थे। अड़ोसी-पड़ोसियोंके आते ही बंदर जिधरसे आया था, उधरको ही कूदकर लापता हो गया। रामलगन हँसकर कह रहे थे—'देखा नहीं माँ! तूने? हनूमान्जी मेरी आवाज सुनते ही आ गये और उन्होंने बदमाशोंको मार भगाया।' माँके भी आश्चर्य और हर्षका पार नहीं था। गाँववालोंने यह घटना सुनी तो सब-के-सब आश्चर्यमें डूब गये। रामलगनकी माँने बताया कि इतना बड़ा और ऐसा बलवान् बंदर उसने जीवनमें कभी नहीं देखा था।

दो-तीन दिनोंके बाद पण्डित सत्यनारायणजी घर लौटे और उन्होंने जब यह बात सुनी, तब उन्हें बड़ा आनन्द हुआ। डाकू घरसे चले गये, यह आनन्द तो था ही; सबसे बड़ा आनन्द तो उन्हें इस बातसे हुआ कि साक्षात् श्रीहनूमान्जीने पधारकर घरको पवित्र किया और ब्राह्मणी तथा बच्चेको बचा लिया। वे भगवान्में श्रद्धा तो रखते ही थे, अब उनकी भक्ति और भी बढ़ गयी। उन्होंने यजमानोंके यहाँ आना-जाना प्राय: बंद कर दिया और वे दिनभर भजन-साधनमें रहने लगे। बालक रामलगनको व्याकरण और कर्मकाण्ड पढ़ानेका काम उन्हींके गाँवके पण्डित विनायकजीके जिम्मे था। प्रात:-काल तीन-चार घंटे पढ़ते। बाकी समय माता-पिताके साथ वे भी भगवान्का भजन करते। भजनमें इनका चित्त रमने लगा। जब इनकी उम्र बारह वर्षकी हुई, तब तो ये घंटों भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके ध्यानमें बैठे रहने लगे। उस समय इनकी समाधि-सी लग जाती। नेत्रोंसे अश्रुओंकी धारा बहती। बाह्यज्ञान नहीं रहता। समाधि टूटनेपर ये माता-पिताको बतलाते कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजी श्रीजनकनन्दिनीजी तथा लखनलालजीके साथ यहाँ बहुमूल्य राजसिंहासनपर विराज रहे थे। बालककी इस स्थितिसे भाग्यवान् माता-पिताको बड़ा सुख होता। वे आजकलके माता-पिताकी तरह नहीं थे, जो अपने पुत्रोंको जान-बूझकर विषयोंमें लगाते हैं और धन कमानेके लिये भाँति-भाँतिके पापाचरणकी शिक्षा देकर उनके जीवनको बिगाड़ते हैं। वे सच्चे हितैषी थे अपने पुत्रके। पुत्रको जब इस प्रकार भगवान्के प्रेम और उनके ध्यानमें मस्त देखते, तब उन्हें बड़ा आनन्द मिलता। वे अपनेको बड़ा सौभाग्यशाली समझते।

रामलगनजीके पिता-माता सच्चे पुत्रस्नेही थे, वे अपने बालकको नरकोंमें न जाने देकर भगवान्के परम धामका यात्री बनानेमें ही अपना सच्चा कर्तव्य-पालन समझते थे; इसलिये उन्होंने पुत्रकी भक्ति देखकर सुख माना तथा उसे और भी उत्साह दिलाया। गाँवके तथा सम्बन्धके लोग जब रामलगनके विवाहके लिये कहते, तब माता-पिता उन्हें हँसकर उत्तर देते—'यह रामलगन हमारा पुत्र नहीं है, यह तो प्रभु श्रीरामचन्द्रजीका है; विवाह करना, न करना उन्हींके अधिकारमें है। हम कुछ नहीं जानते।' उनकी ऐसी बातोंको सुनकर कुछ लोग चिढ़ते, कुछ प्रसन्न होते और कुछ उनकी मूर्खता समझते। जैसी जिसकी भावना होती, वह वैसी ही आलोचना करता।

रामलगनजीकी उम्र ज्यों-ज्यों बढ़ने लगी, त्यों-ही-त्यों उनका भगवत्प्रेम भी बढ़ने लगा। एक बार रामनवमीके मेलेपर रामलगनजीने श्रीअयोध्याजी जानेकी इच्छा प्रकट की। पण्डित सत्यनारायणजी और उनकी पत्नीने सोचा—'अब श्रीअवधमें ही रहा जाय तो सब तरहसे अच्छा है। शेष जीवन वहीं बीते। रामलगन भी वहीं पास रहे। इससे इसकी भी भक्ति बढ़ेगी और हमलोगोंका भी जीवन सुधरेगा।' ऐसा निश्चय करके पत्नीकी सलाहसे पण्डित सत्यनारायणजीने घरका सारा सामान तथा अधिकांश खेत-जमीन वगैरह दान कर दिया। इतनी-सी जमीन रखी, जिससे अन्न-वस्त्रका काम चलता रहे। एक काश्तकारको खेत दे दिया और हर साल उससे अमुक हिस्सेका अन्न देनेकी शर्त करके सब लोग श्रीअयोध्याजी चले गये। इस समय रामलगनजीकी अवस्था साढ़े पंद्रह वर्षकी थी। माता, पिता और पुत्र—तीनों अवधवासी होकर भगवान् अवधपतिका अनन्य भजन करने लगे। पूरे चार वर्षके बाद पिता-माताका देहान्त हो गया। दोनोंका एक ही दिन—ठीक रामनवमीके दिन शरीर छूटा। दोनों ही अन्त समयतक सचेत थे और भजनमें निरत थे। शरीर छूटनेके कुछ ही

मिनटों पहले दोनोंको भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने साक्षात् दर्शन देकर कृतार्थ किया। श्रीरामलगनजी इस समय साढ़े उन्नीस सालके थे। माता-पिताकी श्राद्ध-क्रिया भलीभाँति सम्पन्न करनेके बाद इन्होंने अवधके एक भजनानन्दी संतसे दीक्षा ले ली। तबसे इनका नाम स्वामी रामअवधदासजी हुआ।

स्वामीजीमें उत्कट वैराग्य था। ये अपने पास कुछ भी संग्रह नहीं रखते थे। योग-क्षेमका निर्वाह श्रीसीतारामजी अपने-आप करते थे। इन्होंने न कोई कुटिया बनवायी, न चेला बनाया और न किसी अन्य आडम्बरमें रहे। दिन-रात कीर्तन करना और भगवान्के ध्यानमें मस्त रहना, यही इनका एकमात्र कार्य था।

इन्हें जीवनमें बहुत बार श्रीहनूमान्जीने प्रत्यक्ष दर्शन दिये थे। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके भी इनको सात बार दर्शन हुए। अन्तकालमें श्रीभगवान् राघवेन्द्रकी गोदमें सिर रखकर इन्होंने शरीर छोड़ा। लोगोंका विश्वास था कि ये बहुत उच्च श्रेणीके भक्त हैं। ये बहुत ही गुप्त रूपसे रहा करते थे।

भक्त रामरूपजी

(लेखक—श्रीरामलखनदासजी, श्रीबैजनाथदासजी)

भक्तवर रामरूपजीका जन्म सं० १८०१ वि० में दिल्लीके सन्निकट जयसिंहपुर ग्राममें हुआ था। वे गौड़ ब्राह्मण थे। बचपनसे ही वे माता-पिताके सम्पर्क-सुखसे वञ्चित रहे। जब वे तीन मासके थे, तभी उनकी माताका देहान्त हो गया और पिता महाराम सदा नौकरीपर ही रहते थे। उनके पालन-पोषण और शिक्षाका भार धायपर आ पड़ा; पर वे दस सालके भी नहीं हुए थे कि वह भी चल बसी। रामरूपजीने इन परिस्थितियोंसे पूरा-पूरा लाभ उठाया। बचपनसे ही उनमें वैराग्य, भक्ति और संत-सेवाकी भावनाएँ उठा करती थीं। धायके भाईने उनमें भक्तिके अङ्कुर प्रस्फुटित होते देखकर उनको तत्कालीन महात्मा चरणदासजीके चरणाश्रयमें पहुँचा दिया। चरणदासजी उनपर बड़ी कृपा रखते थे। गुरुके आशीर्वादसे वे कुछ भक्तोंको साथ लेकर आसपासके ग्रामोंमें भगवद्भक्तिके प्रचारके लिये निकल पड़े। लोग उनकी सादगी और सच्ची भक्ति-निष्ठासे बहुत प्रभावित हुए। इस भ्रमणकालमें एक गुफामें श्रीशुकदेवकी मूर्ति भी मिली थी। दिल्लीमें गुरु-आश्रममें लाकर विधिपूर्वक उन्होंने उसकी प्राण-प्रतिष्ठा की।

संवत् १८४७ वि० में उन्होंने परमधाम-लाभ किया। वे सत्सङ्गपर विशेष जोर देते थे; सत्सङ्गको ही ज्ञान, भक्ति और वैराग्य-प्राप्तिका साधन मानते थे। रामनाममें उनकी अडिग श्रद्धा और आस्था थी। योग, यज्ञ, तप और दानसे भी बढ़कर रामनाम-उच्चारण ही उनके लिये अधिकाधिक श्रेयस्कर था।

श्रीसुवंशनाथजी त्रिपाठी

(लेखक—पं० श्रीराजमङ्गलनाथजी त्रिपाठी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, साहित्याचार्य)

प्रायः दो सौ वर्षकी पुरानी कथा है। गोरखपुर-प्रान्तमें सरयूके पावन उत्तर तटपर नदौली नामका अति प्राचीन ब्राह्मणाधिवास है। श्रीसुवंशनाथ त्रिपाठीने उसी ग्रामको अपने जन्मसे अलङ्कृत किया था। एकाकी पुत्र थे। माता-पिताके स्नेह और आशीर्वादसे शक्ति पाकर बढ़े, किंतु शिक्षाके लिये सुविधा न होनेके कारण अधिक न पढ़ सके। संस्कार प्रबल थे। बाल्यावस्थासे ही माता-पिताकी भक्ति, साधु-सेवा, गुरुजन-पूजा और सच्छास्त्र-श्रवणमें प्रवृत्ति थी। सात्त्विक गुणोंका उदय होता गया। अहिंसा, सत्य, त्याग, तप, परोपकारादि दैवी सम्पत्तियोंका भण्डार भरने लगा। श्रीसुवंशनाथजी अल्पावस्थामें ही बहुजनप्रिय हो गये।

पण्डितजी पूर्ण सदाचारनिष्ठ ब्राह्मण थे। ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर नित्य-क्रियासे निवृत्त होकर नियमसे सरयू-स्नान करते थे। घंटों स्नेहसे भगवन्नाम-स्मरण करते थे। माता-पिताकी सेवा नित्य करते थे। गृहस्थीका भार सम्मानपूर्वक

सँभालना कर्तव्य समझकर मनोयोगपूर्वक खेती करते थे। खेत अधिक नहीं था; परंतु उपज बहुत थी। गायें बहुत थीं। वे सुन्दर थीं, स्वस्थ थीं और पण्डितजीसे बहुत हिली हुई थीं। पण्डितजी जहाँ जाते, गायें उन्हें घेरे रहती थीं।

श्रीसुवंशजीके घरमें पर्याप्त अन्न होता था। घी-दूधकी नदी बहती थी। परंतु उन्हें इतनेसे सन्तोष कहाँ था! स्नान-पूजा, खेती-बारीसे निश्चित समय निकालकर दीन-दु:खियों, पीड़ितों और दलितोंकी बस्तीमें निर्भय प्रवेश कर जाते। उनसे भाई-चचाका नाता लग गया था। हृदय बड़ा कोमल था, बड़े परदु:खकातर थे। कहते हैं, निस्सहाय बीमारोंकी परिचर्यामें रात-रातभर जगे रह जाते। प्रात:कालसे पुन: नियमानुसार पूजा-अर्चामें लग जाते। पूर्ण कर्मयोगीकी भाँति **'मामनुस्मर युध्य च'** का महामन्त्र उनके जीवनका बल था। संत ऐसे ही परदु:खकातर होते हैं।

कबीर कहते हैं—

कबिरा सोई पीर है जो जानै पर पीर।
जो परपीर न जानई सो काफिर बेपीर॥

भक्तोंके हृदयमें ऐसे जीवनके प्रति प्रबल आकर्षण होता है। महाभागवत तुलसीकी अमर अभिलाषा है—

कबहुँक हौं एहि रहनि रहौंगो।
श्रीरघुनाथ कृपालु कृपा तें संत सुभाव गहौंगो॥

संत-जीवनके सम्बन्धमें श्रीभगवत्-रसिकजीकी उक्ति प्रकाश देती है—

इतने गुन जामें सो संत।
श्रीभागवत मध्य जस गावत श्रीमुख कमलाकंत॥
हरि कौ भजन साधु की सेवा सर्ब भूतपर दाया।
हिंसा लोभ दंभ छल त्यागै, बिष सम देखै माया॥
सहनसील आसय उदार अति धीरज सहित बिबेकी।
सत्य बचन सब कौ सुखदायक गहि अनंतब्रत एकी॥
इंद्रियजित अभिमान न जाके करै जगत को पावन।
'भगवतरसिक' तासु की संगति तीनहुँ ताप नसावन॥

कथानायक श्रीसुवंशजी ऐसे ही संत-भक्तोंमें थे। सरयू-तटपर उन्हें प्राय: साधुओंका समागम प्राप्त हो जाता। साधुओंको भोजन करानेमें, फलाहार देनेमें उन्हें अपार आनन्द होता था। पुराने लोगोंका कहना है कि किसी साधुके आशीर्वादसे ही श्रीसुवंशनाथजीको एक पुत्र उत्पन्न हुआ। साधुकी आज्ञासे ही शिशुका नाम सुचित्तनाथ त्रिपाठी रखा गया। पुत्रमें भी पिताके गुण आ गये। पिताको प्रसन्न होनेका अवसर मिला। पुत्र-पौत्रादि-सम्पन्न होकर, पर्याप्त अवस्थामें सरयू-तटपर रामनामोच्चारण करते हुए श्रीसुवंशनाथजी परमधामको प्रस्थान कर गये। उनके वंशमें आज भी गो-सेवा, कृषि, अहिंसा, त्याग, तप, आचरणकी पवित्रता आदिका विशेष मान है।

विश्वमें त्रितापसे मुक्ति देनेवाला, शान्तिका एकमात्र साधन संतचरण ही है।

भक्त दामोदरदासजी

(लेखक—धर्मभूषण पं० श्रीमधुसूदनाचार्यजी महाराज)

भक्त दामोदरदासजीकी जीवन-गाथा अत्यन्त सरस और मनोमोहक है। वे भगवान्‌की महती कृपाके पात्र थे। उनका जन्म १३५ वर्ष पूर्व अजमेरके सापला ग्राममें हुआ था। बाल्यावस्थासे ही वे अद्‌भुत प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे। उनके पिता लक्ष्मीनारायण तथा माता लक्ष्मीदेवीने उनको अल्पावस्थामें ही विवाहित कर दिया; उनके पुत्र हुआ, जो कुछ ही दिनोंमें चल बसा। भक्त दामोदरको इस घटनासे बड़ा सुख मिला; उन्होंने सोचा कि भगवान्‌के भजन-पथका एक बहुत बड़ा रोड़ा अब नहीं रहा।

धीरे-धीरे भगवान्‌के चरणारविन्दमें उनकी श्रद्धा और भक्ति बढ़ती गयी। लोग उनकी ओर अधिकाधिक संख्यामें आकृष्ट होने लगे। वे द्वारकेश भगवान्‌की भक्तिमें रात-दिन डूबे रहते थे। एक बार मनमें उनके दर्शनकी उत्कट इच्छा हुई तथा गाँववालोंने कहा कि आप भगवान्‌के भक्त हैं, हमें भी उनका दर्शन कराइये। भक्तका तो सारा काम भगवान्‌के लिये ही होता है, परलोक-इच्छाकी पूर्ति भी उनके लिये आवश्यक हो गयी, भक्त भगवान्‌को लेनेके लिये चल पड़े। कठिन व्रत-संयम और नियमका पालन करते हुए द्वारकापुरीके लिये उन्होंने पैर बढ़ा दिये। केवल भगवन्नाम-स्मरण

करते हुए द्वारकापुरी पहुँच गये, दूरसे ही पुरीके विशाल मन्दिरोंका दर्शनकर वे प्रेम-विह्वल हो उठे। वे भगवान्‌की राजधानीमें थे। भगवान् भक्तसे मिलनेके लिये स्वयं उत्सुक हो उठे, उन्होंने अश्वारोही राजकुमारके रूपमें भक्त दामोदरको दर्शन दिया। पर भक्तको तो अपने भगवान् प्रिय होते हैं, उन्होंने द्वारकेशसे विनम्रतापूर्वक कहा कि 'मेरे हृदय-देवता तो शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मवाले हैं।' भगवान्‌ने उनके मनके अनुरूप ही अपने दिव्यरूपसे उनको कृतार्थ किया और यथाविधि आतिथ्य-सत्कारसे उनकी आनन्द-वृद्धि की। द्वारकानाथने भक्तिविवश होकर भक्त दामोदरकी इच्छाके अनुकूल ही कहा कि 'द्वारका बहुत दूर है, मैं सापलामें स्वयं पधारूँगा। कार्तिक शुक्ल प्रतिपदाको मैं त्रिमूर्ति (गोपाल, केशवराय और रुक्मिणी) रूपमें वहीं दर्शन दूँगा। सापला ग्रामके पूर्व तालाबपर कदम्ब वृक्षके नीचे लखी बनजारेकी बालद (बैलोंकी टोली) में कबरे बैलपर लदे बोरेमें मेरा प्राकट्य होगा, गेहूँके बोरेमें चावल हो जायँगे। वह नीचे गिर जायगा; तुम वहाँ लोगोंको साधार बताना कि इसमें मेरे भगवान् हैं।' सापलाके निवासियोंको भक्त दामोदरने विश्वास दिलाया कि आपलोगोंको भगवान्‌का दर्शन अवश्य होगा। शुभ तिथिपर लखी बनजारेकी बालद आयी और भगवान्‌के कथनानुसार बैलपर लदे बोरेमें भगवान्‌के श्रीविग्रहोंका प्राकट्य हुआ। बनजारेने एक भव्य मन्दिरका निर्माण कराया और भक्त दामोदरने उसमें अपने भगवान्‌की प्रतिष्ठा की। उनकी जयध्वनिसे वातावरण पवित्र हो उठा।

प्रत्येक वर्ष इस पवित्र स्थानपर बहुत बड़ा मेला लगता है और गोपालभगवान्‌के पूजनोत्सवमें अधिकाधिक जनता भाग लेती है। भक्त दामोदरदासके रचे हुए भगवच्चरित महाग्रन्थका पारायण भी होता है।

भक्त दामोदरदासका जीवन धन्य था, उनकी भक्ति भगवान्‌को द्वारकासे सापला खींच लायी। भक्त दामोदरके साथ-ही-साथ उनके समकालीन सापला-निवासी तथा अड़ोस-पड़ोसके लोग भी भगवान्‌के दर्शनसे कृतार्थ हुए।

संत श्रीब्रह्मचैतन्यजी महाराज

(लेखक—श्रीभैरवशङ्करजी शर्मा)

संत श्रीब्रह्मचैतन्यजी महाराज दक्षिण प्रान्तके सातारा जनपदमें पण्ढरपुरके मार्गपर माणगङ्गाके किनारे छोटे-से ग्राम गोंदवलेमें एक भक्त वैष्णवकुलमें उत्पन्न हुए थे। पूर्वजन्मके संस्कारके अनुसार बचपनसे ही भगवत्कथामें तन्मय होकर बैठना, ध्यान करना तथा एकान्त-सेवन आदि विलक्षण कार्य देखकर उनके माता-पिताको उनके उज्ज्वल भविष्यका पता लग गया। यज्ञोपवीत-संस्कारके बाद वे सहसा एक दिन ज्ञानकी खोजमें निकल पड़े। बड़े-बड़े साधु-संतोंका सत्सङ्ग लाभकर उन्होंने उनके सामने आत्मसम्बन्धी बड़े-बड़े प्रश्न रखे; कुछ लोग उनके बालचापल्यपर हँसते थे परंतु कुछ संत और विवेकी जनोंने उनको अनुभवी संतोंकी शरणमें जानेका उपदेश दिया।

उन्होंने दक्षिणके प्रसिद्ध संत तुकारामजी महाराजसे भेंट की। तुकारामजी उनको बहुत मानते थे। पहले तो उन्होंने उनकी कड़ी-से-कड़ी परीक्षा ली, बादमें दीक्षा देकर उनको 'ब्रह्मचैतन्य' संज्ञासे समलङ्कृत किया। तुकारामजीके चरणकमलोंमें उनकी बड़ी निष्ठा और अविचल भक्ति थी। दीक्षित होनेके बाद वे अपने निवासस्थान गोंदवले ग्राम आये और गुरुके आदेशसे वहीं रहकर भगवद्भक्तिका प्रचार करने लगे। वे नाममार्गी भक्त थे। भगवान् श्रीरामको ही अपना उपास्य मानते थे। उन्होंने बतलाया कि जगत्‌के सारे कार्य राम-नामसे ही सम्पादित होते हैं। जीवको भगवान् रामकी ही अमोघ शरणमें जाना चाहिये। उन्होंने देश-भ्रमण करके पवित्र स्थानों और तीर्थक्षेत्रोंमें राम-मन्दिरोंकी स्थापना की। इन्दौर, उज्जैन और मण्डलेश्वर आदिमें उनके हाथसे स्थापित मन्दिर आज भी विद्यमान हैं।

दक्षिण भारत तथा अन्य तीर्थक्षेत्रोंमें उनके बहुत-से अनुयायी परम्परागत शिष्य आज भी भगवन्नामका प्रचार-कार्य करके असंख्य जीवोंका कल्याण कर रहे हैं। गोंदवलेमें प्रतिवर्ष पौष मासमें उनका तिथि-महोत्सव धूमधामसे मनाया जाता है। श्रीब्रह्मचैतन्यजी महान् भक्तिनिष्ठ, विलक्षण त्यागी और आदर्श भगवदीय थे।

महात्मा श्रीसदाशिव ब्रह्मेन्द्र

(लेखक—श्रीयुत एन्० कनकराज अय्यर, एम्० ए०)

महात्मा श्रीसदाशिव ब्रह्मेन्द्र दक्षिण भारत ही नहीं, समस्त विचार-जगत्के भक्ति, ज्ञान और वैराग्य-चिन्तनके प्रधान विषय थे। मदुराके हालास्य क्षेत्रमें पंद्रहवीं सदीके विख्यात दक्षिणी विद्वान् सोमसुन्दरके घरमें शिवरामकृष्णने जन्म लिया। उनकी माताका नाम पार्वती देवी था। बचपनसे ही उनको पूर्ण संयम और शास्त्रविधानोंकी शृङ्खलामें बाँधकर रखा गया। उपनयन-संस्कारके बाद मदुराके शिवमन्दिरमें उन्हें वेदाध्ययनके लिये भेजा गया। उसके बाद वे तञ्जोरमें गुरुके घरपर ही रहकर विद्याध्ययन करने लगे। अठारह सालकी अवस्थामें उनका विवाह कर दिया गया। तीन वर्षके बाद गुरुकुलसे लौटनेपर जब उनकी माताने गृहस्थाश्रम और पत्नीके आगमनके सम्बन्धमें उनको बताया, तब उनका हृदय क्षोभसे परिपूर्ण हो उठा। वे सोचने लगे कि 'गृहस्थीके सुखसे कहीं बढ़कर आनन्दमय स्थिति है प्रभुको खोजते रहना।' वे घरसे निकल पड़े, गृहस्थजीवनके प्रति वैराग्यका उदय हुआ। विद्याके केन्द्र काञ्चीपुरम्में आ पहुँचे। कामकोटि मठके स्वामी श्रीपरमशिवेन्द्रसे उन्होंने दीक्षा ली। गेरुआ वस्त्र धारणकर वे पूर्ण संन्यासी हो गये। वे प्रायः मठमें ही अध्यात्मविद्यापर दूसरे लोगोंसे वाद-विवाद किया करते थे, पर गुरुको उनका यह स्वभाव अच्छा न लगा; उनके आदेशसे उन्होंने मौनव्रत ले लिया।

उनका अधिकांश समय ब्रह्म-चिन्तन और ग्रन्थ-रचनामें बीतने लगा। उनकी प्रसिद्ध और मधुर रचना आत्मविद्याविलासने शृङ्गेरी मठके शिवाभिनवसच्चिदानन्द नृसिंह भारतीका भी ध्यान आकृष्ट कर लिया। श्रीसदाशिव ब्रह्मेन्द्र उनके कृपापात्र हो गये। उनके शिवयोगप्रदीपिका, ब्रह्मसूत्रवृत्ति, श्रीभगवद्गीता-भाष्य आदि अमूल्य ग्रन्थरत्न हैं। मौनी सदाशिव ब्रह्मेन्द्र अपने समयकी बहुत बड़ी आध्यात्मिक शक्ति थे। उन्होंने आगे चलकर दण्ड और कमण्डलुका भी परित्याग कर दिया। वे पूरे अवधूत हो चले। घंटों समाधिमें मग्न रहा करते थे, उनका जीवन तपोमय और त्यागपूर्ण बन गया। उन्होंने पुण्यक्षेत्रोंका पर्यटन आरम्भ किया। एक समय वे त्रिमूर्ति क्षेत्रमें कावेरीके परम रमणीय तटपर कुडमुडी स्थानमें ठहर गये। कावेरी बीच-बीचमें कभी-कभी सूख जाती है। वे नदीमें एक बालूके टीलेपर बैठे थे कि थोड़ी देरमें उनकी समाधि लग गयी; बाढ़ आयी और टीला अदृश्य हो चला, गाँववालोंने समझा कि स्वामीजी बह गये। कुछ दिनोंके बाद बाढ़ हटनेपर एक किसान अपना घर बनानेके लिये बालू लाने गया; वह कुछ ही बालू निकाल पाया था कि उसने देखा फावड़ा रक्तसे भीग गया है। उसने धीरे-धीरे खोदना आरम्भ किया। उस समय स्वामीजी पूर्ण समाधिस्थ थे। वे उठे और चले गये। उनका जीवन चमत्कारी घटनाओंसे सम्पन्न है। उनकी अलौकिक साधनाशक्तिसे लोग आश्चर्यचकित हो उठे। एक सिद्ध महात्माके रूपमें चारों ओर उनकी प्रसिद्धि बढ़ने लगी। ऐसा कहा जाता है कि वे लगभग दो सौ सालतक जीवित थे। पाँच स्थानोंमें उनकी महासमाधि है। कावेरी नदीके रमणीय तटपर करोरके निकट नरोरमें उनकी महासमाधि एक दर्शनीय वस्तु है। वे प्रसिद्ध विचारक, आत्मज्ञानी और स्वरूपनिष्ठ महात्मा थे।

~~~

भक्त-वाणी

आर्ता विषण्णाः शिथिलाश्च भीता घोरेषु व्याघ्रादिषु वर्तमानाः।
संकीर्त्य नारायणशब्दमात्रं विमुक्तदुःखाः सुखिनो भवन्ति॥ —सञ्जय

जो लोग आर्त, विषादग्रस्त, शिथिल और भयभीत हैं तथा बाघ आदि घोर जन्तुओंके बीचमें पड़ गये हैं, वे केवल 'नारायण' नामका संकीर्तन करके दुःखसे छूट जाते हैं और सदाके लिये सुखी हो जाते हैं।

~~~

भक्त दत्तात्रेयजी आण्णाबोवा

(लेखक—श्रीरामचन्द्र दादोभावे)

दक्षिण महाराष्ट्रमें कृष्णा-पञ्चगङ्गाके संगम-तटपर नृसिंहवाड़ी नामक पुण्यक्षेत्रमें आजसे सौ साल पहले भक्त दत्तात्रेयजी महाराजने जन्म लिया। वे सदाचारसम्पन्न, सत्यनिष्ठ, ब्राह्मणकुलके भूषण और पण्ढरपुरके श्रीविट्ठल भगवान्‌के नैष्ठिक वारकरी भक्त थे। उनका सम्पूर्ण जीवन भजनमय था; सरलता, भक्ति और निष्कपटताकी तो वे प्रतिमूर्ति ही थे।

उनकी आर्थिक अवस्था कुछ अच्छी नहीं थी, उनपर कुछ ऋण था। महाजनने तकाजा किया तो उन्होंने विनम्रतापूर्वक निवेदन किया कि 'पण्ढरीनाथकी यात्रा कर आनेपर केवल पाँच ही दिनोंमें ऋण चुका दूँगा। आपके पास धरोहररूपमें कीमती गहना तो रख ही दिया है। उसे बेचकर पाई-पाई चुका दूँगा।' महाजन आग-बबूला हो गया। उसने निर्दयतापूर्वक उनकी धोती पकड़कर धमकाया कि बिना ऋण चुकाये मैं नहीं छोड़ सकता। भक्त तो केवल भगवान्‌के ही होकर रहते हैं। दत्तात्रेयजीके मनमें भगवद्दर्शनकी तरङ्गें उठ रही थीं; संसारकी लज्जा और कुल-मर्यादाकी ओर उन्होंने तनिक भी ध्यान न देकर धोती महाजनके हाथमें सौंप दी और दिगम्बर वेषमें श्रीपण्ढरीनाथके दर्शनके लिये चल पड़े। महाजन उनकी इस अविचल भक्तिसे बहुत प्रभावित हुआ। भक्तने भगवान्‌के मन्दिरप्रवेशके पहले पुण्यसलिला भगवती चन्द्रभागा नदीमें स्नान किया। भगवान्‌के दर्शनसे नयनोंको शीतलकर वे भजनमें मग्न हो उठे।

पण्ढरपुरसे वे अपने ग्राम लौटकर भगवती कृष्णाके तटपर बालुकामय क्षेत्रमें एकान्तसेवन करने लगे। कोई कुछ दे देता था तो खा लेते थे। अयाचित वृत्तिका उन्होंने बड़े संतोषसे निर्वाह किया। कोई उन्हें दम्भी तो कोई पागल समझता था। सज्जनोंके लिये तो वे पूर्ण संत ही थे। एक दुष्ट व्यक्तिने उनकी पीठपर जलती आग डाल दी, चमड़ा जल गया, घाव हो गया, कीड़े पड़ने लगे; पर वे भगवद्भक्तिमें तन्मय थे। एक दिन एक कौआ घावपर बैठकर कीड़ोंको खाने लगा; किसी सज्जनने दत्तात्रेयजीको हँसते देखकर प्रश्न किया कि 'महाराज! आप तो हँस रहे हैं और कौआ आपको क्लेश पहुँचा रहा है।' दत्तात्रेयजीने कहा कि 'कौआ शरीरका अतिथि है, शरीर उसके प्रति अपना कर्तव्यपालन कर रहा है; इसी तरह आपको भी अपने अतिथिके प्रति सद्व्यवहार करना चाहिये।' वह उनकी उत्तरशैलीसे बहुत प्रभावित हुआ। दत्तात्रेयजी चमत्कार और उपदेशसे दूर भागते थे। उनके दर्शनमात्रसे ही लोगोंकी शङ्काएँ मिट जाती थीं।

एक बार वे इचलकरंजीके नारायण-मन्दिरमें गये थे। कुछ सज्जनोंने महाराजको खिलानेके लिये एक मालिनसे कुछ पके आम माँगे और शीघ्रतासे देनेके लिये निवेदन किया कि ऐसा न हो—भक्त दत्तात्रेयजी चले जायँ। मालिन धनसे मदान्ध थी। उसने फल देना तो दूर रहा, साधु-स्वभावकी निन्दा आरम्भ की। महाराजजी मन्दिरसे चल पड़े, मालिनके घरमें आग लग गयी, पके आम और गुड़ आदि विनष्ट हो गये।

दत्तात्रेय महाराजकी समाधि मिरज गाँवमें है। यह स्थान अत्यन्त कल्याणकारी है। एक सज्जन जो बचपनमें गूँगे थे, इस स्थानकी सेवा करनेसे बोलने लगे। उन्होंने स्वप्नमें एक जटाधारी संतका दर्शन किया, जिन्होंने उन्हें बोलनेका आदेश दिया। वे बोलने लगे। उन्होंने दो सालतक दत्तात्रेयजीकी समाधिके निकट भगवद्भजनका कार्यक्रम पूरा किया था।

पूज्य स्वामी इन्दिराकान्ततीर्थ श्रीपादवडेर

(लेखक—श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामत)

द्वैतसिद्धान्तप्रतिपादक श्रीमन्मध्वाचार्यने श्रीक्षेत्र उडुपीमें श्रीकृष्णविग्रहकी प्राणप्रतिष्ठा करके विशेष हेतुसे जिन आठ मठोंकी स्थापना की, उनमें पूजन-अर्चनके लिये आठ संन्यासियोंकी नियुक्ति की। उन आठ मठोंमेंसे एक महान् तपस्वी मठाधिपतिकी ओरसे श्रीबदरिकाश्रममें एक सुशील गौड़ ब्राह्मण ब्रह्मचारीको आश्रमदीक्षा प्राप्त हुई। उन्होंने दक्षिण जाकर अपनी इस परम्पराको विशुद्ध रूपसे चलाया। इसी परम्परामें बड़े श्रेष्ठ अधिकारी और भगवत्-साक्षात्कार-प्राप्त श्रीजीवोत्तमतीर्थ स्वामी हुए। स्वामी श्रीइन्दिराकान्ततीर्थजी इन्हींके उत्तराधिकारी थे।

स्वामी इन्दिराकान्ततीर्थजी धर्माचार्य होनेके साथ-ही-साथ एक दैवीशक्तिसम्पन्न महात्मा और ज्ञानी भक्त थे। श्रीमन्मध्वाचार्य-सम्प्रदायके वे कुशल मठ-व्यवस्थापक ही नहीं, शास्त्रज्ञानी और अद्भुत कर्मकाण्डी भी थे। उनका जीवन अत्यन्त उन्नत और परम पवित्र था। उनके नैष्ठिक आचार-विचार, रहन-सहन, प्रगाढ़ विद्वत्ता, प्रेममयी प्रकृति, सहृदयता आदिका लोगोंपर पूर्ण प्रभाव था; वे उनको बड़ी श्रद्धा-भक्ति और पूज्य भावनासे सम्मानित करते थे।

वे कट्टर सनातनधर्मी मठाधीश थे, शास्त्रविहित आचरणको ही श्रेयस्कर समझते थे। मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा—इन प्रवृत्तियोंके वे पोषक थे। अपनेसे छोटोंके प्रति उन्होंने सदा करुणा और वात्सल्यका परिचय दिया। उनका जीवन सदा सत्कार्योंके ही सम्पादनमें बीता। वे संयम, नियम, तप, जप आदिके पालनपर विशेष जोर देते थे। वे कहा करते थे कि जिस व्यक्तिमें दैवीसम्पत्ति—अहिंसा, तप, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदिका अभाव है, वह कभी भी अपना यह लोक और परलोक नहीं सुधार सकता। उनका मत था—जनता अर्थ और कामकी इच्छा करती है। इन दोनों पदार्थोंकी शास्त्रोंने पुरुषार्थमें गणना की है। परन्तु धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारोंमें धर्म और मोक्षद्वारा ही अर्थ तथा कामरूपी पुरुषार्थ शासित हैं। यदि धर्म और मोक्षका बन्धन न रहे तो अर्थसे महान् अनर्थ हो जाते हैं। धर्मके यथार्थ आचरणसे ही विशुद्ध अर्थ और काम सुलभ होते हैं। धर्मके नियन्त्रणमें अर्थ और काम रखनेसे जीवन सार्थक हो जाता है।

वे पौराणिक कथाओंके पाठमें बड़ी अभिरुचि रखते थे। पुराणकी कथा कहनेमें उनको बड़ा आनन्द मिलता था। वे योग्य मठाधीश, महान् विद्वान् और धर्माचार्य तथा भक्त थे।

श्रीहरिकी कृपासे उन्होंने पचास वर्षोंतक मठाधीशकी गद्दीकी शोभा बढ़ायी, सैकड़ों छात्रोंको वेद, काव्य, व्याकरण, न्याय तथा वेदान्तके उच्च ग्रन्थोंकी शिक्षा दी।

भक्तराज श्रीगुलाबरावजी महाराज

(लेखक—श्रीरामनारायणजी श्रीवास्तव)

श्रीगुलाबरावजी महाराज रसिक भक्त, विरक्त और ज्ञानी महात्मा थे। वि० संवत् १९३९ में बरार प्रदेशके अमरावती जनपदके माधन गाँवमें उनका जन्म हुआ था। वे राजपूत थे। जन्मकालसे ठीक ९ मासके बाद वे दोनों नेत्रोंसे अन्धे हो गये। उनमें बाल्यावस्थासे ही भगवद्भक्तिके लक्षण दीख पड़ने लगे। जब वे चार ही सालके थे, एक रातको उनके बिस्तरेपर दीप उलटकर गिर पड़ा; उन्होंने अपनी नानीसे कहा कि 'बिस्तरा नहीं जलेगा, तेल जल जायेगा।' भगवान्‌की कृपासे ऐसा ही हुआ। कभी बचपनमें ही भगवान्‌ने उनको दर्शन दिया था। वे प्रज्ञाचक्षु थे।

ग्यारह सालकी अवस्थामें उनका विवाह हो गया। उनकी पत्नी मणिकर्णिका बड़ी सती और साध्वी थीं। उनके एक अनन्तराव नामक पुत्र भी हुआ था। विवाहके १३ साल बाद उनकी पत्नीने स्वर्ग-यात्रा की। गुलाबरावजी महाराजने समस्त शास्त्रग्रन्थों, ज्ञानेश्वरी, महाभारत, रामायण आदिका मनन और अध्ययन किया। भगवद्भक्तिके प्रति उनमें प्रबल जिज्ञासा थी। आगे चलकर उनमें ज्ञान, भक्ति

और कर्मका बड़ा सुन्दर समन्वय हुआ था।

पूनासे १३ मीलकी दूरीपर आलन्दीक्षेत्रमें उन्हें संत ज्ञानेश्वरका साक्षात्कार हुआ था। उन्होंने कृपापूर्वक गुलाबरावजीको दीक्षितकर सनातनधर्म और भगवद्भक्ति-प्रचारका आदेश दिया। उनकी उपासना गोपीभावकी थी। भगवान् श्रीकृष्ण और रासलीलामें उनकी दृढ़ निष्ठा थी। जिस समय वे बोलने लगते थे, भक्ति-प्रेमामृतकी मानो गङ्गा प्रवाहित हो उठती थी; जिस समय मधुर कण्ठसे भगवन्नामकीर्तन करने लगते थे, मधुर रसका सागर उमड़ पड़ता था। ज्ञानेश्वरीके कथा-श्रवणसे नास्तिककी बुद्धि बदल जाती थी और वह उनकी कृपासे भगवान्का भक्त हो जाता था।

वे कहा करते थे कि जीवन्मुक्ति प्राप्त करनेके लिये भक्ति ही विशिष्टतम साधन है। उनका मत 'मधुराद्वैतदर्शन' नामसे विख्यात है। यह दर्शन अत्यन्त सरस और मधुर है।

उन्होंने सम्प्रदाय-सुरतरु, प्रेम-निकुञ्ज, भक्तिपद-तीर्थामृत आदि ग्रन्थोंकी रचना की थी। संवत् १९७३ में उन्होंने शरीर छोड़ दिया।

भक्त पण्डित लक्ष्मणप्रसादजी ववेले

(लेखक—श्रीभैयालाल हरिवंशजी आर्य)

पण्डित लक्ष्मणप्रसादजी भगवान्के पूरे भक्त थे। उनके जीवनकी अलौकिक और रहस्यपूर्ण घटनाओंसे उनकी दृढ़ भक्ति और ईश्वरचिन्तनका पता चलता है। वे भगवान् रामके महान् भक्त थे। उनका जन्म संवत् १९३८ वि० में झाँसी जनपदके तालवहट नामक नगरमें पं० परशुराम ववेलेके घर हुआ था। बाल्यकालसे ही उनका मन भगवद्भक्तिमें लगता था। अकालग्रस्त होनेपर उनके माता-पिताने बड़ौदा ग्राममें अपना स्थायी निवास बना लिया। लक्ष्मणप्रसादजीपर सूरदास नामक एक साधुके सत्संगका बड़ा प्रभाव पड़ा था। अठारह सालकी अवस्थामें हथनोरा ग्रामके पण्डित जगन्नाथजी दूबेकी कन्यासे उनका विवाह हो गया। विवाहके थोड़े समयके बाद माता-पिताका देहान्त हो जानेपर गृहस्थीका भार उन्हींके कंधोंपर आ पड़ा।

उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी, दिन-के-दिन वे परिवारसहित भूखे ही रह जाते थे। भगवान्पर पूर्णरूपसे निर्भर थे, अतएव किसीसे एक पैसा भी माँगना स्वाभिमानके विरुद्ध समझते थे। इस दैन्यपूर्ण स्थितिमें भी भगवान् श्रीरामके भजन-पूजन और चिन्तनमें किसी भी दिन अन्तर न पड़ा। इसी बीचमें उनकी गायें कानीहाउस चली गयीं, दस रुपया दण्ड लगा; रुपया कहाँसे आये—इसी चिन्तामें उनकी पत्नी डूबने-उतराने लगी। अन्नपूर्णा नामक एक पड़ोसिनसे दस रुपये उधार लेकर वे गायोंको छुड़ाने रायसेन गये, पर बीचमें ही एक साधुमण्डलीसे भेंट हो गयी। उन्होंने रुपयोंका साधुओंकी सेवामें सदुपयोग कर कानीहाउसके कर्मचारीसे गायोंको निःशुल्क छोड़ देनेकी बात कही। कर्मचारीने आश्चर्यचकित होकर कहा कि 'आप तो अभी-अभी कुछ देर पहले गायोंको छुड़ाकर ले गये हैं!' उसने प्राप्तिपत्र (रसीद) दिखाया। भक्तने घर जाकर गायोंको दानमें दे दिया। प्रभु स्वयं गायोंको छुड़ाने गये थे, इससे कितना कष्ट हुआ पण्डित लक्ष्मणप्रसादजीको।

एक बार भक्तजी भोजन कर रहे थे, नवाबके सिपाही बुलाने आये। उनको नवाबने वनमें शिकारके समय शोर मचानेवालोंका कार्य सौंपा। भक्त लक्ष्मणप्रसादजी रामके ध्यानमें बैठ गये। शङ्खध्वनिकी प्रतिध्वनि सुनकर बाघ और सिंह भाग गये। यवन सिपाहियोंने उनको निर्दयतापूर्वक पीटना आरम्भ किया, भगवान्के विग्रहपर प्रहार किया। भक्तराजने विनम्रतासे कहा कि 'मुझे पीट सकते हो, पर भगवान्की प्रतिमापर हाथ नहीं लगा सकते।' वे भयानक वनकी एक गुफामें प्रवेश करके एक, दो, तीन, नौ सिंह निकालकर कहने लगे कि 'जितने चाहो, उतने मिल सकते हैं।' यवनोंने पैर पकड़कर क्षमा माँगी।

संवत् १९९६ में नर्मदा-तटपर, हथसोरा ग्रामके सन्निकट रामघाटपर प्राण त्यागकर वे साकेत धाम चले गये।

आसामके भक्तवर श्रीशङ्करदेव तथा उनके शिष्य

(लेखक—स्वामी श्रीभूमानन्दजी महाराज)

आसामको पौराणिक युगमें प्राग्ज्योतिषपुर कहते थे। महाभारतमें भगदत्तको कामरूपका राजा बताया है। यह कामरूप भी आसामका ही प्राचीन नाम है। तेरहवीं सदीमें ब्रह्मदेशसे आहम जातिके लोगोंने आकर कामरूप राज्यपर अधिकार प्राप्त किया। 'आहम' नामसे कामरूपका 'आसाम' नाम पड़ा।

आसाम प्रान्तमें कायस्थ जातिमें कुसुम्बरा नामके एक सहृदय व्यक्ति हो गये हैं। वे बड़े ही शिवभक्त थे। शङ्करजीके प्रसादसे १४४९ ई० में उन्हें एक परम रूपवान् और शुभलक्षणसम्पन्न पुत्र उत्पन्न हुआ। पिताने उसका नाम शङ्कर रखा। शङ्कर बड़े ही प्रतिभाशाली और होनहार बालक थे। बाल्यावस्थामें ही अपने अलौकिक सद्गुणोंके कारण वे आसपासके गाँवोंमें प्रसिद्ध हो गये थे। एक दिन विद्यालयमें छुट्टी हो जानेके बाद जब सारे शिक्षक और छात्र बाहर चले गये, तब वे अकेले ही विद्यालयके प्राङ्गणमें छूट गये। उनको नींद आ गयी। गरमीका दिन था, सूर्य तप रहा था। शिक्षक जो उस रास्तेसे होकर निकले तो देखा कि एक काला सर्प फन काढ़कर उस बालकके मुखपर सूर्यकिरणोंसे छाया कर रहा है। शिक्षकको देखकर वह सर्प किसी ओर चला गया। उन्हें यह घटना देखकर बड़ा ही विस्मय हुआ और उन्होंने निश्चय किया कि यह बालक एक महापुरुष होगा। दूसरे दिन उन्होंने इस घटनाका वर्णन सबके सामने किया और शङ्करको 'देव' उपाधिसे विभूषित किया। अपनी तीक्ष्ण बुद्धि और मेधाके प्रभावसे अल्पकालमें ही शास्त्राभ्यास करके शङ्करदेवने गुरुदक्षिणा देकर गुरुसे विदा ली।

उसके बाद वे योगसाधनामें लग गये और निरन्तर अभ्याससे साधनामें उनकी अच्छी प्रगति हुई। उनको कुछ सिद्धियाँ प्राप्त हुईं; परंतु इससे उनकी तुष्टि न हुई और उन्होंने योगाभ्यासका परित्याग करके श्रीमद्भागवत, गीता और वेदान्त आदिका अनुशीलन करना प्रारम्भ किया। फलस्वरूप उनका आत्मचिन्तन बढ़ने लगा और उनको यह दृढ़ विश्वास हो गया कि श्रीकृष्णभक्ति ही जीवके लिये एकमात्र गति है। अब उनका जीवन भक्तिस्रोतमें प्रवाहित होने लगा और उन्होंने श्रीकृष्ण-भक्तिका उपदेश देना प्रारम्भ किया। उनके अनन्य उपास्यदेव एकमात्र द्विभुजधारी मुरलीमनोहर श्रीकृष्ण थे।

चारों ओर उनकी ख्याति हो गयी और लोग उनके शिष्य बनकर कृष्ण-भक्तिका रसास्वादन करने लगे। ३४ वर्षकी अवस्थामें वे तीर्थभ्रमण करनेके लिये निकले और काशी, गया, वृन्दावन, मथुरा, बदरिकाश्रम, द्वारका, रामेश्वरम् आदि तीर्थोंका दर्शन करते तथा अनेकों विद्वान् तथा धार्मिक संतोंसे शास्त्रालोचना करते हुए घर लौटे।

एक दिन उनका माधव नामके एक विशिष्ट पण्डितसे साक्षात्कार हुआ। वे शाक्तमतके अनुयायी थे। शङ्करदेवसे उनका शास्त्रार्थ हुआ। शङ्करदेवने श्रीमद्भागवतका श्लोक उद्धृत करते हुए कहा कि 'जिस प्रकार वृक्षके मूलमें जल सिञ्चन करनेसे वृक्ष शाखा-प्रशाखाके साथ पूर्णतः सिञ्चित होता है, उसी प्रकार एकमात्र भगवान् अच्युतकी भक्ति करनेसे सारे देवी-देवता प्रसन्न होते हैं।' शङ्करदेवके पाण्डित्य और भक्तिभावनाका माधवके ऊपर प्रभाव पड़ा और उन्होंने वैष्णवधर्म स्वीकार करके उनसे दीक्षा ले ली। आगे चलकर दामोदर नामके एक विद्वान् ब्राह्मण उनके शिष्य बने। दामोदरदेवके द्वारा ब्राह्मणोंमें वैष्णवधर्मका प्रचार होने लगा। हरिदेव नामक एक और विद्वान् ब्राह्मण शङ्करदेवके शिष्य बनकर वैष्णवधर्ममें दीक्षित हुए और आसाममें श्रीकृष्णभक्तिका प्रचार करने लगे। इस प्रकार शङ्करदेव और उनके शिष्योपशिष्यके द्वारा आसाममें चारों ओर वैष्णवधर्मका प्रचार हुआ और कृष्णभक्तिके द्वारा आसामकी भूमि परिप्लावित हो उठी।

पश्चात् शङ्करदेव दूसरी बार अपने शिष्योंको साथ लेकर तीर्थभ्रमणके लिये निकले और दक्षिणके अनेकों तीर्थोंका भ्रमण करते हुए पुरीमें आये। वहाँ उनका श्रीचैतन्यमहाप्रभुसे समागम हुआ। कुछ दिन पुरीमें निवास करके और श्रीचैतन्यमहाप्रभुके सत्सङ्गका लाभ

उठाकर वे अपनी शिष्यमण्डलीके साथ आसाम लौट आये। कूचबिहारके महाराजाने उनका सत्कार किया और उनको राज्यकार्यके लिये किसी विशिष्ट पदपर नियुक्त किया। शङ्करदेवको यह नया प्रपञ्च कुछ ही दिनोंमें असह्य हो उठा और वे राज-अनुग्रहसे मुक्ति प्राप्त करनेकी चेष्टा करने लगे। महाराजाने उनसे दीक्षा प्राप्त करनेका आग्रह किया; परंतु शङ्करदेवने उनसे कहा कि 'आपको राजत्वकी रक्षाके लिये बहुत-से ऐसे काम करने पड़ते हैं, जो वैष्णवधर्मके विरुद्ध हैं। इसलिये भक्तिमार्ग आपके उपयुक्त नहीं है।'

अब प्रचारकार्यसे श्रीशङ्करदेवको विरक्ति होने लगी। उन्होंने सम्प्रदायके कार्यभारको माधवदेवके सुपुर्द करके स्वयं भगवान्‌के ध्यान-भजनमें अधिकाधिक योगदान देना प्रारम्भ किया। वे निरन्तर भगवान्‌के ध्यानमें समाहित रहने लगे। राजाने पुनः शिष्य बनानेके लिये आग्रह किया; परंतु राजाको दीक्षा देना उनकी इच्छाके विरुद्ध था। इसलिये राजाको उन्होंने एक दिन उपवास करके आनेके लिये कहा। दूसरे दिन सबेरे ही शङ्करदेवने स्नान आदि करके नया वस्त्र धारण किया, चन्दन लेपन करके वे समाधिमें बैठ गये। थोड़ी ही देरमें उन्होंने योगबलसे देहत्याग कर दिया। राजा इस घटनासे बहुत ही व्यथित हुए, उन्होंने विधिपूर्वक उनका और्ध्वदैहिक संस्कार किया। १५६९ ई० में १२० वर्षकी अवस्थामें आसाममें वैष्णवधर्मके प्रवर्तक और महान् भक्त शङ्करदेवने इहलीलाको समाप्तकर **'तद्विष्णोः परमं पदम्'** में सन्निधि प्राप्त की।

इसके पश्चात् आसाममें वैष्णवधर्मके दो पृथक् सम्प्रदाय हो गये। माधवदेवके अनुयायी 'महापुरुषीय' वैष्णव और दामोदरदेवके अनुयायी 'दामोदरीय' वैष्णवके नामसे अभिहित हुए। शङ्करदेवके पुत्र हरिदेवने भी एक सम्प्रदाय चलाया, जो 'हरिदेवीय' सम्प्रदायके नामसे प्रसिद्ध है।
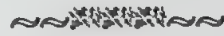
महात्मा शिशिरकुमार घोष

महात्मा शिशिरकुमार घोष जन्मजात भक्त थे। वे उन्नीसवीं सदीके सच्चे देशभक्त और आध्यात्मिक महापुरुष थे। सन् ५७ के भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम प्रारम्भ होनेसे पूर्व शस्यश्यामला बंगभूमिने इतने बड़े तपस्वी, स्वावलम्बी, निर्भीक, स्पष्टवक्ता, कर्मठ और महान् भक्त महापुरुषको जन्म देकर भारतके भालको सभी गौरवपूर्ण क्षेत्रोंमें अन्य देशोंके सामने समुन्नत कर दिया। बंग प्रान्तके यशोहर (जसोर) जनपदके अमृतबाजार (पलुआ-मगरा) ग्राममें संवत् १८९७ विक्रमाब्दके आषाढ़मासमें आपका जन्म हुआ था। आपके पिताका नाम श्रीहरिनारायण था। बाल्यावस्थामें साधारण शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करनेपर उन्होंने जिस कर्तव्यपरायणताका परिचय दिया, वह उनके सदृश कर्मठ और तपस्वी पुरुषके लिये सर्वथा उचित था।

साधारण आर्थिक स्थितिमें रहकर भी उन्होंने 'अमृतबाजार-पत्रिका' का बीजारोपण किया, अपने परिवारके ही दो-तीन व्यक्तियोंकी सहायतासे छोटे-से-छोटा मुद्रण-सम्बन्धी कार्य सम्पन्नकर 'अमृतबाजारपत्रिका' का बँगला संस्करण प्रकाशित किया। उनकी विलक्षण सम्पादन-प्रतिभाने पत्रिकाको भारतीय पत्रकारिताके नन्दनवनकी कल्पलता बना दिया। वे आदर्श पत्रकार थे। स्पष्टवादिता, निर्भीकता, पक्षपातशून्यता, समयसूचकता, सदालोचना आदि पत्रिकाके खास गुण थे। सम्पादन-क्षेत्रमें आ जानेपर उन्होंने राजनीतिके क्षेत्रमें अभिरुचि दिखायी, निलहे अंग्रेज व्यापारियोंके उत्पीड़नसे त्रस्त बंगभूमिको आश्वासन दिया। पत्रिकाके भविष्यको समुज्ज्वल बनानेके लिये वे अपने ग्राम अमृत-बाजारका परित्याग करके कलकत्ते चले आये और सुचारुरूपसे पत्रका संचालन करने लगे। वे राजनीतिक संत थे। लोकमान्य तिलक उन्हें अपना राजनीतिक गुरु मानते थे। बड़े-बड़े देशभक्तोंके लिये उनका राजनीतिक जीवन आदर्श बन गया था। अपने जीवनके चालीस साल उन्होंने हिंदूसमाजके उत्थान और देशकी राजनीतिक प्रगतिके हाथोंमें समर्पित कर दिये। धीरे-धीरे उनके हृदयदेशमें अध्यात्मचेतनाकी रश्मि उतरने लगी। उन्होंने राजनीति और पत्रकारितासे

वैराग्य ग्रहण कर लिया। सम्पादनका कार्य अपने छोटे भाई श्रीमतिलाल घोषके कन्धोंपर सुरक्षितकर ईश्वर-भक्तिका वरण किया और पारमार्थिक जीवन अपनाया। उनकी रुचि पहले ब्राह्मसमाजके सिद्धान्तोंकी ओर भी हुई, पर उससे हृदयकी ज्वाला शान्त न हुई। 'स्पिरिचुयल-मैगजीन' नामक एक पत्रिका निकाली, किंतु उसपर भी मस्तिष्क भगवदीय माधुर्यसे दूर ही रहा। अन्तमें श्रीराधा-कृष्णके चरणारविन्द-मकरन्दका रसास्वादन ही उनके शान्तिपूर्ण जीवनका संबल बन सका। उन्होंने अभिनव-कृष्ण महाप्रभु श्रीगौराङ्गदेवके चरितसुधा-सागरमें अवगाहन करके 'अमियनिमाईचरित' नामक प्रसिद्ध कृति प्रस्तुत की। वैष्णवताके माधुर्यसे उनकी चेतना रसवती हो उठी। एक सच्चे हिंदूकी तरह दैवीसम्पत्तिका संचय करके उन्होंने भगवद्भक्तिकी विजयिनी पताका फहरायी। उन्होंने प्रेम और भक्तिके एकीभूत रूपका तात्त्विक विवेचन किया।

उन्होंने जीवनके कुछ दिन देवघर-वैद्यनाथधामकी प्रकृतिप्रदत्त रमणीयताकी गोदमें बिताये थे। अपनी प्रसिद्ध रचना 'कालाचाँद गीता' का उद्दीपन-विभाव उन्हें इस नीरव और पवित्र स्थानमें मिल सका। प्रेम, माधुर्य और सौन्दर्यमय ईश्वरकी सफल साधना वे देवघर-निवासकालमें ही पूरी कर सके। उनकी 'कालाचाँद गीता' प्रेमाभक्तिका उत्कृष्टतम काव्यग्रन्थ है। एक दिन वे देवघरकी पहाड़ी भूमिपर विचरण कर रहे थे, उन्होंने एक नीलवर्णका एक कुसुम देखा; उन्होंने फूलकी सृष्टि करनेवालेकी रसिकतापर सर्वस्व निछावर करते हुए कहा—

'एइ बनफूल, सुन्दर अतुल, थुइलेन तृण माझे।
सकल लोक जाय, नाहिं देखे ताय, विव्रत संसार काजे॥'

उन्हें जडजगत्को देखकर उसके पीछे छिपे नित्य चेतन, रसमय, सौन्दर्यमय भगवान्‌का स्मरण हो आया। 'कालाचाँद गीता' में जीव, जगत् और जगदाधारके चिन्मय—रसमय सम्बन्धका वर्णन किया। उनका पूर्ण विश्वास था कि भगवान्‌की कृपासे मेरे हृदयमें सनातन शान्तिका अवतरण होगा और मैं जीवमात्रमें माधुर्य-संचार करूँगा। उनका अधिकांश समय भजनमें ही बीतता था। उन्होंने अत्यन्त मधुरप्रकृतिसम्पन्न, परम आत्मीय जन, प्रेमनिधि भगवान्‌के माधुर्यका अनवरत गुणानुवाद किया। उनकी अचल मान्यता थी कि परमात्मा और उनकी दिव्यशक्ति सदा जीवके कल्याणमें तत्पर है। वे समयको ईश्वरकी परम पवित्र देन कहा करते थे। उनका कहना था कि जीवनके एक-एक क्षणको भगवत्सेवामें लगाना चाहिये। 'बलरामदास' उनका कविताका उपनाम था।

'अमियनिमाईचरित' के पाँच खण्डोंमें उन्होंने महाप्रभुकी बड़ी ही मधुर जीवन-लीलाका चित्रण किया। अन्तिम लीला लिखनेका अनुरोध करनेपर वे कहा करते कि 'अब लिखनेकी शक्ति नहीं रह गयी है।' परंतु यह अन्तिम बारह वर्षकी गम्भीर लीला ही निगूढ़तम लीला है। कहा जाता है कि केवल स्वरूप, रामराय, शिखि माहिती और माधवी दासी—ये साढ़े तीन महापात्र ही महाप्रभुके साथ इस लीलाका रसास्वादन करनेके अधिकारी थे। माधवी—शिखिमाहितीकी बहिन—आधी भक्त मानी गयी है। प्रभुकी प्रेरणासे रुग्णावस्थामें ही उन्होंने छठा खण्ड लिखना आरम्भ किया। वे रोज ही सोचते—'कल प्रातःकाल मैं इस जगत्‌में नहीं रहूँगा और छठा खण्ड अपूर्ण ही रह जायगा।' जिस दिन उन्होंने इहलोकका त्याग करके गोलोकके लिये प्रयाण किया, उस दिन नियमितरूपसे स्नानाहार किया और छठे खण्डके अन्तिम फार्मका अन्तिम प्रूफ देखकर कहा—'अब आज मेरे जीवनका कार्य पूरा हो गया।' इसके दो ही घंटे बाद उन्होंने 'श्रीगौर-निताई' कीर्तन करते-करते विक्रमाब्द १९६७ के पौषमासमें गोलोकधामकी पुण्य यात्रा की। उनके परधामप्रयाणके अवसरपर स्वर्गीय गोपालकृष्ण गोखले महोदयने श्रद्धाञ्जलि अर्पितकर कहा था—'मैं तो उनके जीवनमें आध्यात्मिकता और देशभक्तिका अद्भुत समन्वय देखकर आश्चर्यचकित रह जाता था। उनकी देशभक्तिकी लहरने उनको सदा अशान्त, चिन्तित और व्यग्र रखा; वे देशके उद्धारके लिये रात-दिन सोचा करते थे। पर साथ-ही-साथ हृदयमें निवास करनेवाली भगवद्भक्ति उन्हें चिरन्तन शान्ति प्रदान करती रही, इस तरहकी अशान्ति और शान्तिमें उन्हें परमानन्दकी अनुभूति होती रहती थी।' महात्मा लोकमान्य तिलक-जैसे दार्शनिक विद्वान् उनके पदचिह्नोंपर चलनेमें गौरव समझते थे और उनको पिताकी तरह मानते थे।

भक्त लोकमान्य तिलक

भारतीय राजनीतिक गगनके प्रकाशमान पवित्र नक्षत्रोंमें प्रातःस्मरणीय लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक महोदय आर्यशास्त्रके प्रकाण्ड आस्तिक पण्डित, महान् विचारशील, दृढव्रती, धर्मपरायण और बड़े भक्त थे। सदाचारपर उनकी बड़ी प्रीति थी। वे जबतक रहे, तबतक कांग्रेस केवल राजनीतिक संस्था रही। समाजसुधारके नामपर हिंदूधर्मपर आक्रमण करनेवाले कार्य कांग्रेसके द्वारा करने-करानेका किसीको साहस नहीं हुआ। छः वर्षके कारागारवासमें लोकमान्यने भगवान् श्रीकृष्णकी श्रीमद्भगवद्गीतापर 'कर्मयोगशास्त्र' नामक विलक्षण भाष्य मराठी भाषामें लिखा। उस विशाल ग्रन्थरत्नसे उनके अगाध पाण्डित्य, आध्यात्मिक तथा दार्शनिक उच्च ज्ञान तथा विलक्षण बुद्धिमत्ताका तो परिचय प्राप्त होता ही है, उनकी भगवद्भक्तिका भी प्रकाश प्राप्त होता है। आपने श्रीमद्भगवद्गीताके उपसंहारको भक्तिमूलक स्वीकार करके संत तुकारामजीकी इस सरस वाणीके साथ श्रीगीतारूपी स्वर्णथालीका भक्तिरूपी अन्तिम मधुरग्रास जगत्को प्रदान किया है—

चतुराई, चेतना सभी चूल्हेमें जावे।
बसा मेरा मन एक, ईश-चरणाश्रय पावे॥
आग लगे आचार-विचारोंके उपचयमें।
उस विभुका विश्वास सदा दृढ़ रहे हृदयमें॥

लोकमान्य स्थूलशरीरसे चले गये, परंतु इस कर्मयोगशास्त्रके रूपमें वे चिरकालतक बने रहेंगे।

भक्तिमती डॉ० एनी बेसेंट

इधर दो सौ वर्षोंमें मानवीय चेतनताको भौतिकताके स्तरसे ऊपर उठाकर आत्म-राज्यमें प्रतिष्ठित करनेवालोंमें श्रीएनी बेसेंटका नाम बड़ी श्रद्धा और आदरसे लिया जाता है। वे उच्च कोटिकी भगवद्भक्ता और आस्तिक थीं। उनका अधिकांश जीवन लोकसेवाके द्वारा भगवान्की सेवाके लिये ही समर्पित था। थियॉसफी-समाजकी सेवाका एकमात्र श्रेय उन्हींको है। उन्होंने भारतकी आध्यात्मिक क्षेत्रमें जो श्री-वृद्धि की, यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। मन्त्रद्रष्टा ऋषि-मुनियों तथा वेदोंकी पवित्र भूमिको वे अपनी मातृभूमि समझती थीं। यद्यपि उनका जन्म आयरलैंड और पालन-पोषण इंगलैंडमें हुआ था, फिर भी उनके जीवनका दो तिहाई भाग भारतमें ही बीता। संसारको भारतीयता और ईश्वरभक्तिके रंगमें रँग देना उनके जीवनका एक पवित्र उद्देश्य बन गया था।

धार्मिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक—सभी क्षेत्रोंमें उन्होंने इस पुण्यभूमिके उत्कर्षका सत्-प्रयत्न किया। भारतकी **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की नीतिके अनुसार वे कहा करती थीं—'विश्व हमारा है, सबका कल्याण करना ही हमारा धर्म है।' लाखों सुशिक्षित भारतीय उन्हें अपनी माता समझते थे और वे भारतीयोंको अपनी प्यारी सन्तान कहकर पुकारती थीं।

लंदनमें मैडम ब्लैवेट्स्कीसे उनकी अचानक भेंट हुई। वे थियॉसफीके सिद्धान्तोंकी ओर अपने-आप खिंच गयीं। भारतको उन्होंने कार्य-क्षेत्र चुना। सन् १९०१ में वे महाराजा कश्मीरकी अतिथि हुईं। वहीं उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हिंदूइज्म' लिखी, तदनन्तर गरीबोंकी सेवाके लिये भारतमें उतर पड़ीं। उन्होंने भारतीयोंकी शिक्षाकी ओर ध्यान देकर 'सेंट्रल हिंदू कालेज' खोला और बादमें 'हिंदू विश्वविद्यालय' की स्थापनाके लिये श्रीमालवीयजी महाराजके चरणोंमें श्रद्धापूर्वक उसे समर्पित कर दिया। प्रथम महायुद्ध छिड़नेके पहले ही उन्होंने भारतके राजनीतिक क्षेत्रमें भी पाँव बढ़ा दिये थे। घरेलू स्वराज्य अथवा होमरूलकी माँग की, तत्सम्बन्धी परिपत्र तैयार किये। वे कहा करती थीं—'मैं नहीं चाहती कि भारत इंगलैंडसे सम्बन्धविच्छेद करे! पर मेरे लिये उसकी दासता भी असह्य है।' उन्होंने भारतीयोंको स्वशासन, आत्मसम्मान और आत्मज्ञानकी शिक्षा दी।

उन्होंने प्रायः समस्त भारतका भ्रमण किया था।

देशकी भौतिक और आध्यात्मिक उन्नतिके लिये चेष्टा की। हिंदूधर्ममें उनकी अक्षुण्ण आस्था थी। सैकड़ों शहरोंमें घूम-घूमकर उन्होंने प्राच्य अध्यात्मविद्यापर हजारों व्याख्यान दे डाले। मध्य और पूर्वी यूरोपका भी उन्होंने अपने सिद्धान्त-प्रचारके लिये दौरा किया।

अस्सी सालकी अवस्थामें सन् १९२८ ई० में उन्होंने भारतीय कांग्रेसका सभापतित्व भी स्वीकार किया था। आठ बजे रातसे तीन बजे सबेरेतक वे एक आसनसे बैठकर कार्यक्रम चलाती रहीं। वे नवीन भारतकी जननी थीं। बड़े-बड़े त्यागी और कर्मठ विद्वान् सेवाभावसे उनके अनुगामी और साथी हो गये थे। उन्हें देखते ही लोग उनकी सात्त्विकता और जीवनकी प्रेममयी पवित्रताकी ओर आकृष्ट हो जाते थे, उनमें माताकी तरह श्रद्धा-भक्ति करने लगते थे। उनका खान-पान पूर्णतया निरामिष था। उनका सारा-का-सारा जीवन भारतीय, तपोमय था।

सेवाग्रामके संत महात्मा गाँधीने एक बार कहा था—'जबतक भारतवर्ष जीवित है, लोग श्रीएनी बेसेंटकी गौरवपूर्ण सेवाओं और कार्योंका श्रद्धापूर्वक स्मरण करते रहेंगे।' उनका जीवन भारतमय था, उनका भारत श्रीभगवान्‌का दिव्य विग्रह था। उसकी सेवाको वे ईश्वरकी ही आराधना और उपासना स्वीकार करती थीं।

२० सितम्बर १९३३ ई० को ८६ वर्षकी अवस्थामें उनका स्वर्गवास हो गया। उनकी पूर्वेच्छाके अनुसार उनकी राख श्रीगङ्गाजीकी परम पवित्र धारामें प्रवाहित कर दी गयी।

महामना भक्त मालवीयजी

प्रातःस्मरणीय पण्डित प्रेमधरजी प्रयागमें परम भागवत भक्त थे। भगवान् श्रीराधा-कृष्णकी आराधना करना ही उनके जीवनका एकमात्र प्रधान कार्य था। भगवान्‌को कभी माला पहनाना, कभी भोग लगाना, कभी आरती उतारना, कभी मतवाले होकर उनके सामने नाचना और कभी स्तोत्रपाठ करना—बस, इन्हीं कामोंमें वे लगे रहते थे। उनके घरमें भगवान्‌की दो फुट ऊँची साँवले रंगकी सुन्दर मूर्ति थी। प्रेमधरजीने एक बार १०८ दिनोंमें श्रीमद्भागवतके १०८ पाठ किये थे। इनके पुत्र पण्डित व्रजनाथजी भी परम भागवत थे और भगवान् श्रीराधा-कृष्णके अनन्य भक्त थे। बड़ी सुन्दर भागवतकी कथा कहा करते थे। पण्डित व्रजनाथजीके छः पुत्र और दो कन्याएँ—यों आठ संतानें हुईं। इनमें पाँचवीं संतान हमारे महामना पं० मदनमोहनजी मालवीय थे। इनका जन्म सं० १९१८ वि० पौषकृष्णा अष्टमीको प्रयागमें हुआ था।

श्रीमदनमोहनजीने अपने परम भागवत, श्रीराधा-कृष्णके अनन्य भक्त, दैवीसम्पत्ति-सम्पन्न पितामह और पितासे भगवान्‌की भक्ति और दैवीसम्पत्तिको, जो वास्तविक सच्ची सम्पत्ति है, उत्तराधिकारके रूपमें प्राप्त किया था। मालवीयजीके पवित्र और आदर्श जीवनपर जितना लिखा जाय, उतना ही थोड़ा है। इस प्रकारके पवित्रचरित्र महापुरुषोंके स्मरणसे ही चित्तमें पवित्रता आती है।

देशका और धर्मका ऐसा कोई कार्य नहीं, जिसमें मालवीयजीने भाग न लिया हो। हिंदू-विश्वविद्यालय तो आपकी अमर कीर्ति है ही; पर आपने जो लाखों-करोड़ों देशवासियोंके हृदयोंमें अपने पवित्रतम, उज्ज्वल, धर्म-भक्तिपूर्ण जीवनके आदर्श भर दिये हैं, उनका मूल्य कोई आँक नहीं सकता। मालवीयजीके एक-एक गुणपर सोदाहरण बड़ी-बड़ी पुस्तकें लिखी जा सकती हैं। विनय और नम्रताके साथ असीम दृढ़ता, सदाचारकी कट्टरताके साथ उदारता, खान-पान और वेश-भूषामें जीवनके आरम्भसे लेकर अन्ततक परिवर्तनहीन आचरणके साथ विभिन्न प्रकृति और पद-पदपर आचार-परिवर्तन करनेवाले लोगोंके साथ प्रेमपूर्ण सहयोग, एक चींटीकी हत्या देखनेमें भी दुःखका अनुभव करनेवाले कोमल हृदयके साथ आततायीके वधको धर्म स्वीकार करनेवाला वज्रहृदय, एकताके पूर्ण पक्षपाती होनेके साथ ही सनातनधर्म, आर्य-संस्कृति और भारतीय आदर्शपर मर-मिटनेकी शिक्षा-दीक्षा, बुद्धिवादके महान् आदर्श होनेके साथ-साथ श्रद्धा-भक्तियुक्त तथा पितृपरम्परागत आचरणोंके प्रति आदर; अधिक क्या, साधुतापूर्ण दैवी-सम्पत्ति और पवित्र नीतिके प्रायः सभी गुणोंका एकत्र प्रत्यक्ष आचरणगत

समावेश देखना हो तो मालवीयजीके जीवनकी पुण्यमयी झाँकी करनी चाहिये।

भगवान्‌के प्रति इनकी कितनी आस्तिकता थी, इसका पता व्याख्यानोंसे नहीं—मालवीयजीके व्यक्तिगत घरेलू आचरणोंसे लगता है। अपने विपत्तिग्रस्त पुत्रको घरेलू पत्रमें आप लिखते हैं—"विपत्तिसे त्राण पानेका सर्वोत्तम उपाय है—'भगवान्‌की शरणागति'। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।'

तुम मुझमें मन लगाओ। मेरी कृपासे समस्त संकटोंसे तर जाओगे।" एक बार अपने एक पुत्रको तारमें आपने लिखा था, 'श्रीमद्भागवतके आठवें स्कन्धके तीसरे अध्यायका आर्त्त होकर पाठ करो। सारे संकटोंसे अवश्य छूट जाओगे।' एक बार अपने एक प्रेमीको आपने बतलाया था—"मेरी माताने मुझे लड़कपनमें एक अमूल्य वस्तु दी थी और कहा था कि 'बच्चा, इसका सेवन करनेसे तुम कभी असफल नहीं होओगे। माँने कहा था कि कहीं भी जाते समय 'नारायण-नारायण' का उच्चारण और मनसे नारायणका स्मरण कर लिया करो तो तुम्हारी वह यात्रा अवश्य सफल होगी।' तबसे अबतक मैं सदा स्मरण करता हूँ और दो-ही-चार बार ऐसा हुआ है जब मैं भूला और मेरा अनुभव है कि उस यात्रामें मैं असफल भी रहा।" भगवान्‌की कृपा, श्रीमद्भागवतशास्त्र और भगवन्नामपर इनकी कैसी निष्ठा थी, इसका पता इन उदाहरणोंसे लग जाता है।

एक बार प्रयागमें कुम्भके समय 'गीता-ज्ञानयज्ञ' का आयोजन किया गया था। उसमें गीता-ग्रन्थोंकी सुन्दर प्रदर्शनी की गयी थी और गीतापारायण तथा गीतापर प्रवचनों और कथाओंका आयोजन किया गया था। पूज्यपाद मालवीयजी महाराज उसके सभापति थे। उस समय महीनेभरतक प्रतिदिन प्रातःकाल त्रिवेणीमें स्नान करके रेशमी तथा ऊनी वस्त्र पहने श्रीमालवीयजी मण्डपमें आते और पण्डितोंके साथ बैठकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक अठारह अध्याय गीताका पाठ करते थे। दिनमें प्रवचन होता था। लोगोंको बड़ा आश्चर्य होता था कि विभिन्न प्रकारके आवश्यक और उपयोगी कार्योंमें व्यस्त रहनेवाले मालवीयजी महाराजको इतना समय कैसे मिल जाता है।

आप सनातनधर्मसभा, हिंदू-महासभा, कांग्रेस, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, गोरक्षा-संघ—नाना प्रकारकी संस्थाओंके और विचारोंके बहुमुखी नेता, संचालक और प्राण थे।

श्रीमालवीयजीकी सरलता, उनकी अहिंसा-वृत्ति, सत्य, प्रेम, अक्रोध और त्यागकी महिमाका उल्लेख करनेके लिये तो एक-एक विस्तृत ग्रन्थकी अपेक्षा है। वे अत्यन्त उदार थे। उनका द्वार सबके लिये समानरूपसे खुला रहता था। संसारके सभी प्राणी उसमें समा सकते थे। सबके लिये उनके मनमें प्रेम था, सबके गुणोंकी वे प्रशंसा करते थे। किसीकी निन्दाकी कल्पना न तो कभी उनका मन करता था और न उनकी वाणी। उनकी उदारतामें समस्त विश्व स्वच्छन्द घूम सकता था। एक बार बम्बईमें एक विद्वान्‌ने उनसे कहा—'मालवीयजी! आप मुझे सौ गाली दीजिये—मुझे क्रोध नहीं आयेगा।' मालवीयजीने हँसते हुए कहा—'महाराज! आपके क्रोधकी परीक्षा तो पीछे होगी, पर मेरी जबान तो पहले ही गंदी हो जायगी।'

दयाकी तो वे जैसे जीवित प्रतिमा ही थे। मालवीयजीका वर्णन करते हुए लीडरके प्रतिष्ठित सम्पादक स्व० श्री सी० वाई० चिन्तामणिजीने कहा था कि 'वे सिरसे पैरतक हृदय-ही-हृदय हैं।' इस एक वाक्यमें मालवीयजीका पूरा चित्र आ गया है। एक दिनकी बात है, प्रयागमें घण्टाघरकी ओर वे जा रहे थे। पथकी एक रुग्ण भिखारिनका आर्तनाद उनके कानोंमें पहुँचा ही था कि मालवीयजी उसके समीप बैठ गये और उसकी पीड़ाके सम्बन्धमें उससे प्रेमपूर्वक प्रश्न करने लगे। श्रीमालवीयजीका वहाँ बैठना था कि थोड़ी ही देरमें पर्याप्त भीड़ एकत्र हो गयी और उसके टीनमें पैसे पड़ने लग गये। आपने तुरंत एक्का मँगवाया और उस असहाय भिखारिनको उसपर बैठाकर अस्पतालकी ओर चल पड़े।

एक बार एक कुत्तेके कानके समीप घाव हो गया था। वह पीड़ासे छटपटाता हुआ इधर-से-उधर भागता फिरता था। ऐसी दशामें कुत्ते पागलों-जैसे काट लिया करते हैं, किंतु श्रीमालवीयजी उसका दुःख दूर करनेके

लिये पागल-से हो गये। पूछ-ताछकर ओषधि ले आये और स्वयं बाँसकी डंडीमें कपड़ा बाँधकर उसमें दवा डुबो-डुबोकर लगाने लगे। कुत्ता गुर्राता; पर इन्हें अपनी तो चिन्ता नहीं थी, कुत्तेको अच्छा करना था। पीड़ा शान्त होनेपर कुत्तेको नींद आ गयी, यह देखकर मालवीयजीको शान्ति मिली।

हृदय उनका कितना कोमल था, इसके लिये एक सज्जनने कहा था—'मैं दावेके साथ कह सकता हूँ कि शायद वर्तमान महापुरुषोंमें कोई भी व्यक्ति इतना कोमल न होगा जितने मालवीयजी, जो किसीको निराश नहीं करते और जिनसे कभी किसीको हानि तो पहुँच ही नहीं सकती।' मालवीयजीकी ख्याति कितनी थी, यह तो कहनेकी वस्तु नहीं; किंतु उन्हें अभिमान स्पर्श भी नहीं कर सका। किसी समय उन्हें इक्के और ताँगेपर बैठे बाहर जाते देखा जा सकता था। बड़प्पनके लिये मोटरकी अपेक्षा होती है; पर उनको समयपर जो मिल गया, उसीसे काम चला लिया। उनके सुकार्योंकी प्रशंसा की जाती तो लज्जित होते हुए वे बड़े ही विनयसे उत्तर देते 'इसमें मैंने क्या किया है। सब भगवान् विश्वनाथजीकी कृपा है और आपलोगोंका आशीर्वाद है।'

श्रीमालवीयजी भारतके प्राण थे और भारत तथा भारतीयता उनका प्राण थी। श्रीमती एनी बेसेंटने कहा था—'मैं दावेके साथ कह सकती हूँ कि विभिन्न मतोंके बीच केवल मालवीयजी ही भारतीय एकताकी मूर्ति बने खड़े हुए हैं।' महात्मा गान्धीके जीवनपर श्रीमालवीयजीका अद्भुत प्रभाव पड़ा था। इस कारण गान्धीजीके वे बड़े ही आदरणीय थे। श्रीगान्धीजीने स्वयं लिखा है—'मैं तो मालवीयजी महाराजका पुजारी हूँ। यौवनकालसे आरम्भ करके आजतक उनकी देश-भक्तिका प्रवाह अविच्छिन्न चलता आया है। मैं उनको सर्वश्रेष्ठ हिंदू मानता हूँ, जो यद्यपि आचारमें बड़े नियमित हैं, किंतु विचारमें बड़े उदार हैं। वे किसीसे द्वेष कर ही नहीं सकते हैं। उनके विशाल हृदयमें शत्रु भी समा सकते हैं। यह नरवीर हमारे लिये दीर्घायु हों।'

श्रीमालवीयजी धर्मको प्राण समझते थे और भगवान् तो उनके जीवनके आधार ही थे। विश्वके कण-कणमें वे ही प्रभु व्याप्त हैं, सारी लीला उनके ही द्वारा हो रही है—यह उनका दृढ़ विश्वास था और उन परमात्माके चरणोंमें प्रीति करनेके लिये वे बार-बार उपदेश दिया करते थे। उनकी कुछ पंक्तियाँ नीचे अविकल उद्धृत की जाती हैं। उससे उनके विचारोंका अनुमान लगाया जा सकेगा; साथ ही विद्यार्थियोंके लिये, जो भावी राष्ट्रके निर्माता हैं, उनकी क्या सलाह थी—यह विदित हो जायगा। उन्होंने कहा था—

'जो काम करे, वह परमात्मा श्रीकृष्णभगवान्को अर्पण कर दे। ईश्वरको पवित्र भाव, पवित्र विचार अर्पण किये जाते हैं। झूठे व्यवहार परमात्माको अच्छे नहीं लगते। ईश्वर सत्यका प्रेमी है।...... सब धर्मोंमें हिंदू-धर्मकी विशेषता यह है कि वह ब्रह्मचर्यका महत्त्व बताता है। ब्रह्मचर्य जीवन है। ब्रह्मचर्यव्रत पालनकर पचीस वर्षतक विद्या प्राप्त करे। सन्ध्या, नित्यकर्म और ईश्वर-प्रार्थना करके शरीर और आत्माको पुष्ट करे। पचीससे पचासतक गृहस्थ बने, कुल-मर्यादाका पालन करे, माता-पिताकी सेवा करे, अपनी पत्नीके सिवा अन्य स्त्रीपर मातृभाव रखे। सन्तान पैदा करे, सामाजिक जीवन बितावे; अतिथि-सत्कार, श्राद्ध-तर्पण, कुटुम्ब-पालन करे। पचाससे पचहत्तरतक वानप्रस्थ रहे। गृहस्थीका भार सन्तानको दे और उनको शिक्षा देकर उज्ज्वल जीवन करे। परमात्माकी ओर लक्ष्य बढ़ावे। पचहत्तर वर्षके उपरान्त संन्यासी हो। लोकसुखसे विमुख हो। परमात्माका चिन्तन और ध्यान करे।

'ब्रह्मचर्यका आजीवन पालन करे। केवल सन्तान-प्राप्तिके लिये विवाह कहा गया है, विषय-भोगके लिये नहीं। सब जीव भोग-विलासमें लिप्त रहते हैं, केवल मनुष्य विवेकसे अपना जीवन उज्ज्वल करता है, प्राणायाम करके मन और इन्द्रियोंको रोकता है। मनुष्य परोपकार करके अपना और दूसरोंका हित करता है।

'यदि पाप किया है तो प्रायश्चित्त कर ले। आगे फिर पाप न करे। सबेरे और शामको सन्ध्या करके ईश्वरसे प्रार्थना कर ले। जैसे स्नानसे शरीर शुद्ध होता है, वैसे ही भजनसे हृदय। सबसे पहले धर्मभार और परमात्माका स्मरण, दूसरा काम माता-पिता और गुरुकी सेवा, तीसरा

काम प्राणिमात्रका लाभ, चौथा देश-सेवा और तब जगत्‌की सेवाका भार ले।'

सत्येन ब्रह्मचर्येण व्यायामेनाथ विद्यया।
देशभक्त्याऽऽत्मत्यागेन सम्मानार्हः सदा भव॥

'सत्य बोले, ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करे, व्यायाम करे, विद्या पढ़े, देश-सेवा करे और लोकमें सम्मान प्राप्त करे। यह अन्तिम उपदेश हर छात्रको हमेशा स्मरण रखना चाहिये और उसके अनुसार आजीवन आचरण करना प्रत्येक व्यक्तिका धर्म है।'

विद्यार्थियोंको वे उन्नत बननेके लिये बार-बार उपदेश और आदेश देते थे। वे छात्रोंको बार-बार कहते—

'सभी बातोंमें संयम रखो। वाणीमें संयम, भोजनमें संयम रखो और अपने सभी कार्योंमें शीलवान् बनो। शीलसे ही मनुष्य मनुष्य बनता है। **'शीलं परं भूषणम्!'** शील ही पुरुषका सबसे उत्तम भूषण है। सादा जीवन और उच्च विचारका आदर्श न भूलो। स्त्री-जातिका सदा आदर करो। जो बड़ी हैं, उन्हें माताके समान देखो। जो बराबर हैं, उन्हें बहनके समान और जो छोटी हैं, उन्हें पुत्रीके समान देखो। उनके प्रति कभी कोई रूखापन या अपराध न करो।'

श्रीमालवीयजीने भारतकी उन्नतिके लिये गो-रक्षण अत्यन्त आवश्यक समझा था। उन्होंने सन् १९३८ ई० में नासिक पञ्चवटी पिंजरापोलके मैदानमें कहा था—'हिंदुस्थानके कल्याणके लिये गो-रक्षा अनिवार्य है। संसारका जो उपकार गो-माताने किया है, उसके महत्त्वको जानते हुए भी लोग उपेक्षा करते हैं और गो-रक्षाके प्रश्नपर ध्यान नहीं देते। यह उनका भ्रम और अन्याय है। जो लोग गो-वध करते अथवा गो-वध करना अपना धर्म समझते हैं, उनके अज्ञानका ठिकाना नहीं। गो-जैसे उपकारी प्राणीका वध करना कभी भी धर्मसङ्गत नहीं कहा जा सकता। ......याद रहे कि इस्लाम या कुरानशरीफमें गो-वधका विधान नहीं है, जो हमें उसके रोकनेमें मजहबकी अड़चन पड़े। गो-माताकी सभी सन्तान हैं। हिंदू, मुसलमान या ईसाईका सवाल गो-माताके यहाँ नहीं है। उदार अकबरको इस बातका ज्ञान था। उसने गो-वध बंद करा दिया था। सँभलो और औरोंको समझाओ कि दिव्य जीवनके लिये गो-सेवा कितने महत्त्वकी चीज है। विश्वास रखो कि यदि आप गो-पालनके लिये तैयार हो गये तो परमात्मा अवश्य आपकी मदद करेगा और आप जरूर अपने काममें सफल होंगे।'

मालवीयजीका सारा जीवन भारतवर्ष, सनातन-धर्म और हिंदू-जातिकी सेवामें बीता। वे जीवनके प्रभातकालसे ही मानवताकी रक्षा और समृद्धिकी चिन्तामें लगे थे। इसीलिये उन्होंने भारतवर्ष, सनातन-धर्म और हिंदू-जातिकी सेवाका कार्य उठाया था। काशीका हिंदू-विश्वविद्यालय उनकी अमिट कीर्तिका उद्घोष करता है। श्रीमालवीयजी प्राणिमात्रके सुहृद्, मनुष्यमात्रके हितचिन्तक और भारतीयोंके सखा थे। जीवनके अन्तमें तो वे कई वर्षोंसे दुर्बल रहने लगे थे, किंतु पूर्व बंगालके निरपराध नर-नारियोंपर होनेवाले बर्बर अत्याचारोंने उन्हें आकुल कर दिया। उनका हृदय दुःख, सन्ताप और सहानुभूतिसे भर गया। फलतः वे शय्यापर पड़ गये। उस समय जो भी उनके पास जाता, उससे वे महामना नोआखालीके ही सम्बन्धमें पूछते। उनके जीवनका अन्तिम वक्तव्य नोआखालीसे त्रस्त मानवताके लिये था। उसकी एक-एक पंक्ति उनके हृदयकी व्याकुलता और व्यथाको प्रकट करती है।

हिंदुओंकी पीड़ा महामना सह नहीं सके। वे तड़पते हुए भी हिंदुओंको सङ्गठित होने और अपनी तथा अपने देशकी रक्षाके लिये मर मिटनेके लिये अन्तमें भी लड़खड़ाती साँसमें बोलते गये। अन्ततः वे महाप्राण, भारतके प्राण, भूतलके प्राण, धर्मके स्तम्भ और पवित्र आचारके मूर्तिमान् विग्रह, हिंदूजातिके आत्मा, महर्षि श्रीमालवीयजी संवत् २००३ वि० की मार्गशीर्ष कृष्ण ४ को दिनमें ४ बजकर १३ मिनटपर काशीधाममें भगवान् विश्वनाथके चरणोंमें समा गये। आर्यमेदिनीका अनुपम रत्न लुप्त हो गया! कालके क्रूर करोंसे विश्वकी अमूल्य निधि लुट गयी! भारतके कोटि-कोटि हृदय अधीर और नेत्र अश्रुपूरित हो गये।

विश्वासी भक्त गाँधीजी

ईशा वास्यमिदः सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

(ईशावास्योपनिषद्)

'इस ब्रह्माण्डमें जो कुछ यह जगत् है, सब ईश्वरसे व्याप्त है। उस ईश्वरके द्वारा तुम्हारे लिये जो कुछ त्याग किया गया है अर्थात् प्रदान किया गया है, उसीको अनासक्तरूपसे भोगो। किसीके धनकी इच्छा मत करो।'*

समुद्रकी उत्ताल तरङ्गोंसे टकराती हुई काठियावाड़की पोरबंदर अथवा सुदामापुरीमें महात्मा गाँधीजीका जन्म आश्विन बदी १२ संवत् १९२५ अर्थात् २ अक्टूबर १८६९ ईस्वीको पवित्र वैष्णवकुलमें हुआ। पोरबंदर राज्यमें उनके पिता कर्मचन्दजी गाँधी दीवान थे; वहाँ उनके पितामह भी प्रधान मन्त्री रह चुके थे। धार्मिक आचरण तो कर्मचंदजीकी कुलपरम्परासे ही सहज रूपमें चला आ रहा था। नित्य नियमसे प्रातःस्नानसे निवृत्त होते ही वे मन्दिरोंमें भगवान्के दर्शनार्थ जाते, कथा-पुराण सुनते, धर्मचर्चा करते। रामायणका पाठ घरमें होता और भगवदाराधनाके समय वे गद्गद हो उठते। वे कुटुम्ब-प्रेमी, सत्यप्रिय और उदारहृदय थे। रिश्वतसे सदा दूर भागते थे। इसी कारण वे अचूक न्याय करते और राजकाजमें उनकी प्रसिद्धि हुई। गाँधीजीकी माता पुतलीबाई तो साक्षात् मानो वैष्णवधर्मकी जीती-जागती मूर्ति ही थीं। पूजा-पाठ किये बिना कभी भोजन नहीं करती थीं, देव-मन्दिरके दर्शन नित्य नियमसे करती थीं। कठिन-से-कठिन व्रत वे श्रद्धापूर्वक निभा लेतीं। चातुर्मास्य और चान्द्रायण-व्रत तो उन्होंने जीवनमें कई बार किये थे। रामनाममें अटूट श्रद्धा और उसका नियमपूर्वक जप उनके स्वभावगत था। ऐसी सती-साध्वी माताका प्रभाव भला, बालक मोहनदासपर पड़े बिना कैसे रहता! इस बातको गाँधीजीने स्वयं स्वीकार किया है। वे अपनी माताजीको ही अपना सद्गुरु मानते थे। उनकी दी हुई तुलसीकी कंठी, जब वे बैरिस्टर होकर दक्षिण अफ्रीका जा रहे थे, तब भी उनके गलेमें शोभा पा रही थी।

पाँच वर्षतक उनके पिता रोग-शय्यापर पड़े रहे, इस बीच गाँधीजी सदा-सर्वदा उनकी सेवामें सतर्क रहते। रामचरितमानसका पाठ चलता रहता, इसका प्रभाव उनके मनपर पड़ा और भक्तिभावकी जागृति हुई, जो निरन्तर बढ़ती ही गयी। ६३ वर्षकी आयुमें उनके पिताका देहावसान हुआ, जिससे उनको हार्दिक दुःख तो हुआ; पर उन्होंने जो उपदेश प्राप्त किये थे, उनके बलपर वे सदा दृढ़ रहे।

श्रीगाँधीजीका विलायत जाना निश्चित हुआ, उनकी माता घबरायीं। जबतक मोहनदाससे उन्होंने तीन प्रतिज्ञाएँ नहीं करवा लीं, तबतक उसे विलायत जानेकी उन्होंने स्वीकृति नहीं दी। 'मांस, मदिरा और स्त्री' से दूर रहना—यही तीन प्रतिज्ञाएँ थीं, जो गाँधीजीने स्वीकार की और राम-नामके भरोसे उनको आजीवन निभाया। उन दिनों लंदनमें बिना मांस खाये रहना प्रायः असम्भव-सा था; मित्र मांसाहार करनेको रोज समझाते, दलीलें देते, परंतु मातासे विश्वासघात करना उनके लिये असह्य था। अपनी आत्मकथामें वे लिखते हैं—'रोज मैं ईश्वरसे रक्षाकी प्रार्थना करता और रोज वह पूरी होती।' विलायतमें एक 'शाकाहारसंघ' बना, उसके सक्रिय सदस्य श्रीगाँधीजी थे। भिन्न-भिन्न धर्मानुयायियोंसे उनका सम्पर्क बढ़ा। दो थियॉसफिस्ट मित्रोंकी प्रेरणासे उनको विलायतमें गीता पढ़नेका सुअवसर मिला। दूसरे अध्यायके ६१वें तथा ६२वें श्लोकका उनके हृदयपर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। गीताके अध्ययनसे मनसहित इन्द्रियोंको वशमें न करनेवाले मनुष्यके पतनका चित्र उनके सामने खिंचने लगा और वे सावधान होने लगे। इसी बीच १८९० ई० में पोर्टस्मथमें शाकाहारियोंका एक सम्मेलन हुआ। उसमें गाँधीजीको तथा उनके एक और भारतीय

---

* महात्माजीने इस मन्त्रको अपने जीवनमें उतारनेका प्रयत्न किया था। वे एक पत्रमें लिखते हैं—'……भगवद्भजन मृत्युके नजदीक ही होनेसे क्यों? जिसे मैं भगवद्भजन मानता हूँ, वह तो प्रतिक्षण चलता ही है। भगवान्‌की सृष्टिकी भगवत्प्रीत्यर्थ सेवा उसका भजन है। आजकल उसमें सुर देता है—'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः।'

महामना मालवीयजी [पृ० ७६६]

महात्मा गाँधीजी [पृ० ७७०]

योगी भक्त श्रीअरविन्द [पृ० ७७८]

भक्त श्रीचित्तरंजन दास [पृ० ७८१]

मित्रको निमन्त्रण मिला। वे दोनों एक महिलाके घरमें ठहराये गये। वह एक बदनाम घर था, परंतु स्वागतसमितिको कुछ पता नहीं था। रातको सभासे दोनों मित्रोंने लौटकर भोजन किया। तदनन्तर वे लोग उस महिलाके साथ ताश खेलने लगे। विनोद आरम्भ हुआ और निर्दोष विनोद अश्लील विनोदमें परिणत हो गया। गाँधीजीका मन कुछ ढीला होने लगा और उस मलिन विनोदमें उनको भी रस आने लगा। ताश एक ओर रखनेकी नौबत आनेवाली ही थी कि उनके साथीके हृदयमें भगवान् आ विराजे और वे बोले—'अरे! तुझमें यह कलियुग क्यों? यह तेरा काम नहीं, भाग यहाँसे।' गाँधीजी बाल-बाल बचे। वे स्वयं आत्मकथामें इस सम्बन्धमें कहते हैं—'मैं लज्जित हुआ। हृदयमें इस मित्रका उपकार माना, माताके सामने की हुई प्रतिज्ञा याद आयी। वहाँसे भागा और काँपता हुआ अपने कमरेमें पहुँचा। ईश्वरके सम्बन्धमें मैं विशेष कुछ जानकारी नहीं रखता था कि वे हमारे अंदर किस प्रकार काम करते हैं, पर साधारण अर्थमें मैंने यही समझा कि ईश्वरने मुझे बचा लिया। मैं रामनाम लेते हुए इस सङ्कटसे बचा।' आगे चलकर वे लिखते हैं 'मैंने देखा है, जब सारी आशाएँ टूट जाती हैं, कुछ भी करते-धरते नहीं बनता, तब कहीं-न-कहींसे सहायता आ पहुँचती है। स्तुति, उपासना, प्रार्थना वहम नहीं है। बल्कि हमारा खाना-पीना, चलना-बैठना आदि जितना सत्य है, उससे भी ये चीजें अधिक सत्य हैं। यह कहनेमें भी अतिशयोक्ति नहीं कि यही सत्य है, और सब मिथ्या है।'

रामनामकी महिमामें उन्होंने बहुत कुछ कहा है। १९२५ ई० में नवजीवनमें उन्होंने लिखा था। '……पावन होनेके लिये रामनाम हृदयसे लेना चाहिये, जीभ और हृदयको एकरस करके रामनाम लेना चाहिये। मैं अपना अनुभव सुनाता हूँ, संसारमें यदि मैं व्यभिचारी होनेसे बचा हूँ तो रामनामकी ही बदौलत। मैंने दावे तो बड़े-बड़े किये हैं; परंतु यदि मेरे पास रामनाम न होता तो तीन स्त्रियोंको मैं बहिन कहनेके लायक न रहा होता। जब-जब मुझपर विकट प्रसङ्ग आये हैं, मैंने रामनाम लिया है और मैं बच गया हूँ। अनेक सङ्कटोंसे रामनामने मेरी रक्षा की है।'

गाँधीजीका जीवन त्यागमय था। सन् १९०१ में जब वे दक्षिण अफ्रीकासे भारत लौटनेवाले थे, तब वहाँके भारतीयोंने उन्हें उनकी सेवाके उपलक्षमें बहुमूल्य वस्तुएँ भेंट कीं; परंतु उन्होंने उन सबको वहीं एक ट्रस्टके सुपुर्द कर दिया, जिससे वहाँकी भारतीय जनताकी सेवा होती रहे। गाँधीजीने इस सम्बन्धमें कहा, 'मेरा यह निश्चित मत हो गया है कि लोक-सेवकको जो भेंट मिलती है, वह उसकी निजी वस्तु कदापि नहीं हो सकती।'

सन् १९०२ की बात है। गाँधीजी दक्षिण अफ्रीकासे लौटे थे और बम्बईमें वकालत आरम्भ करनेवाले थे। वहीं गिरगाँवमें रहनेके लिये एक घर भी किरायेपर ले लिया था। परंतु भगवान्‌की इच्छा! घर लिये अभी कुछ ही दिन हुए थे कि उनका दस वर्षका दूसरा लड़का मणिलाल बीमार हो गया। भयानक ज्वरने आक्रमण किया था, ज्वर उतरता ही न था। उसे घबराहट तो थी ही, रातको सन्निपातके लक्षण भी दिखायी देने लगे। डॉक्टरने देखा तो कहा—'इसे दवा कम ही काम देगी, अब तो इसे अंडा और मुर्गीका शोरबा देनेकी आवश्यकता है।' गाँधीजीने उत्तर दिया—'डॉक्टर साहब! हम तो सब अन्नाहारी हैं। मेरा विचार तो इसे इनमेंसे एक भी वस्तु देनेका नहीं है। आप दूसरी कोई वस्तु बतला सकते हैं?' डॉक्टर बोले—'आपके लड़केकी जान खतरेमें है। दूध और पानी मिलाकर दिया जा सकता है, पर उससे पूरा पोषण नहीं मिल सकता। आप जानते हैं कि मैं तो बहुत-से हिंदू-परिवारोंमें जाया करता हूँ; पर दवाके रूपमें जो हम चाहते हैं, वही उन्हें देते हैं और वे उसे लेते भी हैं। मैं समझता हूँ कि आप भी अपने लड़केके साथ ऐसी सख्ती न करें तो अच्छा होगा।' गाँधीजी बोले—'मैं तो समझता हूँ कि मनुष्यके धर्मकी कसौटी ऐसे ही समयमें होती है। ठीक हो या गलत, मैंने तो इसको धर्म माना है कि मनुष्यको मांसादि नहीं खाना चाहिये। जीवनके साधनोंकी भी एक सीमा होती है। जीनेके लिये भी ऐसी वस्तुओंको हमें नहीं ग्रहण करना चाहिये। मेरे धर्मकी मर्यादा मुझे और मेरे परिवारके

लोगोंको ऐसे समयपर भी मांस आदिका उपयोग करनेसे रोकती है। इसलिये आप जिस खतरेको देखते हैं, मुझको उसे उठाना ही चाहिये। आप बालककी नाड़ी एवं हृदयकी गतिको देखनेके लिये अवश्य पधारनेकी कृपा करते रहें, मैं स्वयं इसकी जल-चिकित्सा करूँगा।' भले पारसी डाक्टरने बात स्वीकार कर ली।

गाँधीजीने जल-चिकित्सा आरम्भ कर दी और फल भगवान्‌पर छोड़ दिया। उस समय उनमें विचारोंकी बाढ़ आ रही थी और मन-ही-मन वे कहते—'जीव! जो तू अपने लिये करता है, वही लड़केके लिये भी करेगा तो परमेश्वर सन्तोष मानेंगे। तुझे जल-चिकित्सापर श्रद्धा है, दवापर नहीं। डॉक्टर जीवनदान तो देते नहीं। वे भी तो प्रयोग ही करते हैं न। जीवनकी डोर तो एकमात्र ईश्वरके हाथमें ही है। ईश्वरका नाम ले और उसपर श्रद्धा रख। अपने मार्गको न छोड़।' लड़केकी अवस्था खराब हो गयी, रात्रिका समय था। उसे उन्होंने एक गीली निचोड़ी हुई चादरसे पैरसे लेकर सिरतक लपेट दिया और ऊपरसे दो कम्बल उढ़ा दिये। सिरपर गीला तौलिया रख दिया। बालकका शरीर तवेकी तरह तप रहा था, पसीना आता ही न था। गाँधीजी थक गये थे। वे लड़केको उसकी माँके पास छोड़ स्वयं चौपाटी चले गये और घूमने लगे। वे लिखते हैं—''रातके दस बजे होंगे। आदमियोंकी आवाज कम हो गयी थी। मेरा हृदय प्रार्थनामें तल्लीन था, कह रहा था—'हे ईश्वर! इस धर्मसङ्कटमें तू मेरी लाज रख।' मुँहसे राम-रामकी रट चल रही थी।'' भगवान् सच्चे हृदयकी पुकार सुनते हैं। लौटकर आये तो मणिलालने पुकारा—'बापू आ गये?' उसी रात मणिलालको इतना पसीना आया कि ज्वर जाता रहा। मणिलाल अच्छा हो गया और भगवान्‌ने गाँधीजीकी लाज रख ली।

सन् १९०३ की बात है, दक्षिण अफ्रीकामें वे बिना परिवारके गये हुए थे। वहीं अपने देशके लोगोंकी सेवा करनेका निश्चय किया। भगवद्गीताका अध्ययन फिरसे आरम्भ किया, जिससे उनकी अन्तर्दृष्टि बढ़ने लगी। गीताके तेरह अध्याय उन्होंने कण्ठस्थ कर लिये थे। गीताके प्रति उनकी भक्ति बढ़ने लगी और वह उनके लिये आचार-व्यवहारकी एक अचूक मार्गदर्शिका बन गयी। गाँधीजी कहते हैं—''उसे मेरा धार्मिक कोष ही कहना चाहिये। आचार-सम्बन्धी अपनी कठिनाइयों और उसकी अटपटी गुत्थियोंको गीताके द्वारा सुलझाता। उसके 'अपरिग्रह', 'समभाव' इत्यादि शब्दोंने तो मुझे जैसे पकड़ ही लिया। यही धुन रहती थी कि 'समभाव' कैसे प्राप्त करूँ, कैसे उसका पालन करूँ। हमारा अपमान करनेवाला अधिकारी, रिश्वतखोर, चलते रास्ते विरोध करनेवाले, कल जिनका साथ था ऐसे साथी—उनमें और उन सज्जनोंमें, जिन्होंने हमपर भारी उपकार किया है, क्या कोई भेद नहीं है? अपरिग्रहका पालन किस तरह सम्भव है? क्या यह हमारी देह ही हमारे लिये कम परिग्रह है? स्त्री-पुरुष, बाल-बच्चे आदि यदि परिग्रह नहीं हैं, तो फिर क्या हैं? धर्मका तत्त्व दिखायी पड़ा। ट्रस्टी यों करोड़ोंकी सम्पत्ति रखते हैं, पर उसकी एक पाईपर भी उनका अधिकार नहीं होता। इसी प्रकार मुमुक्षुको अपना आचरण रखना चाहिये— यह पाठ मैंने गीतासे सीखा। अपरिग्रही होनेके लिये, समभाव रखनेके लिये हेतुका और हृदयका परिवर्तन आवश्यक है— यह बात मुझे दीपककी भाँति स्पष्ट दिखायी देने लगी। मैंने एक दस हजारका जीवनबीमा बम्बईमें करा लिया था, तुरंत उसे रद्द करानेको लिख दिया। बाल-बच्चोंकी और गृहिणीकी रक्षा वह ईश्वर करेगा, जिसने उनको और हमको पैदा किया है।'' गाँधीजी कहते हैं—'मेरे लिये तो गीता ही संसारके सब धर्मग्रन्थोंकी कुञ्जी हो गयी है। संसारके सब धर्मग्रन्थोंमें गहरे-से-गहरे जो रहस्य भरे हुए हैं, उन सबको यह मेरे लिये खोलकर रख देती है।'

गीता और रामचरितमानसकी महिमा गाँधीजी एक जगह इस प्रकार कहते हैं—'भगवद्गीता और तुलसीदासकी रामायणसे मुझे अत्यधिक शान्ति मिलती है। मैं खुल्लमखुल्ला कबूल करता हूँ कि कुरान, बाइबिल तथा दुनियाके अन्यान्य धर्मोंके प्रति मेरा अति आदरभाव होते हुए भी मेरे हृदयपर उनका उतना असर नहीं होता, जितना कि श्रीकृष्णकी गीता और तुलसीदासकी रामायणका होता है।'

१९०६ ई० में गाँधीजीने ३७ वर्षकी आयुमें जीवनपर्यन्त ब्रह्मचर्यपालनका व्रत लिया और अन्ततक निष्ठापूर्वक निभाया। ब्रह्मचर्यहीन जीवन उन्हें शुष्क और पशुवत् मालूम होता। इस सम्बन्धमें वे कहते हैं—'मैंने संयमभङ्ग करनेवाले विषयोंसे बचनेकी अटल प्रतिज्ञा ली। व्रत लेनेके विरुद्ध जितनी भी लुभावनी दलीलें हो सकती हैं, उनमेंसे किसीके वशीभूत मैं न हुआ। अटल व्रत एक किलेकी तरह है, जो भयङ्कर मोह उत्पन्न करनेवाली वस्तुओं और प्रलोभनोंसे मनुष्यकी रक्षा कर सकता है; यह हमारी दुर्बलताओं और चञ्चलताओंका अचूक इलाज है। साधकावस्थामें जब मनुष्यपर मोह और विकारोंका आक्रमण होता है, तब व्रत उसकी रक्षाके लिये अनिवार्य ही है।'

ब्रह्मचर्यकी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं—"ब्रह्मचर्यका अर्थ है—मन, वचन और कर्मसे इन्द्रियोंका संयम। ब्रह्मचारी और भोगीके जीवनमें क्या अन्तर है, यह समझ लेना ठीक होगा। दोनों अपनी आँखोंसे देखते हैं; लेकिन ब्रह्मचारी देव-दर्शन करता है और भोगी नाटक-सिनेमा देखनेमें लीन रहता है। दोनों कर्णेन्द्रियोंका उपयोग करते हैं; लेकिन जहाँ ब्रह्मचारी ईश्वरभजन सुनता है, वहाँ भोगी विलासी गीतोंको सुननेमें मग्न रहता है। दोनों जागरण करते हैं; परंतु एक अपने हृदयस्थ ईश्वरकी आराधना करता है तो दूसरा नाच-गानमें अपनी सुध भुला देता है। दोनों आहार करते हैं; एक शरीरको ईश्वरका निवास समझकर उसकी रक्षाभरके लिये कुछ खा लेता है और दूसरा स्वादके लिये पेटमें अनेक पदार्थ भरकर उसे और दुर्गन्धित बनाता है। ऐसे ही ब्रह्मचर्यका पालन करनेके लिये सतत प्रयत्नशील रहनेकी आवश्यकता है। परंतु जो ईश्वर-साक्षात्कारके लिये ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहते हैं, वे यदि अपने प्रयत्नके साथ ही ईश्वरपर श्रद्धा रखेंगे तो उन्हें निराश होनेका कारण नहीं ही रहेगा। इसलिये आत्मार्थी अर्थात् आत्माका साक्षात्कार करनेवालेके लिये अन्तिम साधन तो 'राम-नाम' और 'राम-कृपा' ही है। इस बातका अनुभव मैंने अपने जीवनमें किया है।"

ईश्वरके प्रति श्रद्धा ही उनके जीवनकी धुरी थी, जिसके बलपर वे प्रत्येक क्षेत्रमें कूद पड़ते और सफल होते। ईश्वरको वे सदा-सर्वदा अपने सामने उपस्थित अनुभव करते और कभी भेद-भाव उनके मनमें नहीं आता। ईश्वरके अस्तित्वमें उनका अडिग विश्वास था। इसके सम्बन्धमें कोई शङ्का करता तो वे कहते—'यदि ईश्वर नहीं है तो हम भी नहीं हो सकते। इसीलिये हम सब उसे एक आवाजसे—अनेक और अनन्त नामोंसे पुकारते हैं। वह एक है, अनेक है। अणुसे छोटा है और हिमालयसे भी बड़ा है। समुद्रके एक बिन्दुमें भी समा जा सकता है और ऐसा भारी है कि सात समुद्र मिलकर भी उसे सहन नहीं कर सकते। उसे जाननेके लिये बुद्धिवादका उपयोग ही क्या हो सकता है, वह तो बुद्धिसे अतीत है। ईश्वरका अस्तित्व माननेके लिये श्रद्धाकी आवश्यकता है। मेरी श्रद्धा बुद्धिसे भी इतनी अधिक आगे दौड़ती है कि मैं समस्त संसारका विरोध होनेपर भी यही कहूँगा कि ईश्वर है, वह है ही है।'

उनसे किसीने श्रद्धाका अर्थ पूछा, इसके उत्तरमें वे बोले—'श्रद्धाका अर्थ है आत्मविश्वास। आत्मविश्वासका अर्थ है—ईश्वरपर विश्वास। जब चारों ओर काले बादल दिखायी देते हों, किनारा कहीं नजर न आता हो और ऐसा मालूम होता हो कि बस, अब डूबे, तब भी जिसे यह विश्वास होता है कि मैं हर्गिज न डूबूँगा, उसे कहते हैं श्रद्धावान्।' अपनी श्रद्धाको व्यक्त करते हुए उन्होंने हिंदी नवजीवनमें एक बार लिखा था—'काशीविश्वनाथकी भव्य मूर्ति मौ० हसरत मोहानीके नजदीक एक पत्थरका टुकड़ा हो, पर मेरे लिये तो वह ईश्वरकी प्रतिमा है। मेरा हृदय उसका दर्शन करके द्रवित होता है, यह श्रद्धाकी बात है। जब मैं गायका दर्शन करता हूँ, तब मुझे किसी भक्ष्य पशुका दर्शन नहीं होता; उसमें मुझे एक करुण-काव्य दिखायी देता है। मैं उसकी पूजा करूँगा और फिर करूँगा; और यदि सारा जगत् मेरे विरुद्ध उठ खड़ा हो तो उसका मुकाबला करूँगा। ईश्वर एक है, पर वह मुझे पत्थरकी पूजा करनेकी श्रद्धा प्रदान करता है।'

ऐसे भावसे ओतप्रोत होकर एक बार फिर उन्होंने लिखा था—'·····मैं यह कहनेका साहस करता हूँ कि

श्रद्धा और विश्वास न रहे तो क्षणभरमें प्रलय हो जाय। सच्ची श्रद्धाके मानी हैं उन लोगोंके युक्तियुक्त अनुभवोंका आदर करना, जिनके विषयमें हमारा विश्वास है कि उन्होंने तपस्या और भक्तिसे पवित्र जीवन बिताया है। इसलिये प्राचीन कालके अवतारों या नबियोंमें विश्वास करना कुछ बेमतलब विश्वास नहीं है, बल्कि वह है आत्माकी आन्तरिक भूखकी सन्तुष्टि।'

गाँधीजीका जीवन जो इतना व्यापक और सार्वजनिक बना, उसका एक ही आधार उनकी '**एकमेवाद्वितीयम्**' ईश्वरमें अडिग और अमल श्रद्धा ही थी। उनके जीवनकी प्रत्येक क्रिया एक ही दृष्टिसे होती थी कि किस प्रकार आत्मदर्शन—ईश्वरका साक्षात्कार हो। वे कहते हैं—'मैं जो कुछ लिखता और करता हूँ, वह भी इसी उद्देश्यसे; और राजनीतिक क्षेत्रमें जो मैं कूदा, सो भी इसी बातको सामने रखकर।' इसीको लक्ष्यकर वे अपना हृदय ही खोल देते हैं—'इस सत्यनारायणकी शोधके लिये मैं अपनी प्रिय-से-प्रिय वस्तुको भी छोड़ देनेके लिये तैयार हूँ और इस शोधरूपी यज्ञमें अपने शरीरको भी होम देनेकी मैंने तैयारी कर ली है। मुझे विश्वास है कि इतनी शक्ति मुझमें है। परंतु जबतक इस सत्यका साक्षात्कार नहीं हो जाता, तबतक मेरा अन्तरात्मा जिसे सत्य समझता है, उसी सत्यको अपना आधार मानकर, दीप-स्तम्भ समझकर, उसके सहारे मैं अपना जीवन आगे बढ़ा रहा हूँ।'

अक्टूबर १९२६ ई० में उन्होंने नवजीवनमें एक लेख लिखा था। उसका शीर्षक था रामनाम और राष्ट्रसेवा। उसका उपसंहार करते हुए उन्होंने लिखा—'मेरे लिये तो राष्ट्रसेवाका अर्थ मानव-जातिकी सेवा है—यहाँतक कि कुटुम्बकी निर्लिप्त भावसे की गयी सेवा भी मानव-जातिकी सेवा है। इस प्रकारकी कौटुम्बिक सेवा अवश्य ही राष्ट्रसेवाकी ओर ले जाती है। रामनामसे मनुष्यमें अनासक्ति और समता आती है। रामनाम आपत्तिकालमें उसे कभी धर्मच्युत नहीं होने देता। गरीब-से-गरीब लोगोंकी सेवा किये बिना या उनके हितमें अपना हित माने बिना मोक्ष पाना मैं असम्भव मानता हूँ।'

१९४६ ई० की बात है। एक भाईने प्रश्न किया कि 'सेवाकार्यके कठिन अवसरोंपर भगवद्भक्तिके नित्यनियम नहीं निभ पाते, तो क्या इसमें कोई हर्ज है? दोनोंमेंसे किसको प्रधानता दी जाय। सेवाकार्यको अथवा मालाजपको?'

इसके उत्तरमें उन्होंने लिखा—'कठिन सेवाकार्य हो या उससे भी कठिन अवसर हो तो भी भगवद्भक्ति यानी रामनाम बंद हो ही नहीं सकता। उसका बाह्यरूप प्रसङ्गके मुताबिक बदलता रहेगा। माला छूटनेसे रामनाम जो हृदयमें अङ्कित हो चुका है, वह थोड़े ही छूट सकता है।'

रामधुनकी महिमाका गान करते हुए गाँधीजी कहते हैं—'मैं बिना किसी हिचकिचाहटके यह कह सकता हूँ कि लाखों आदमियोंद्वारा सच्चे दिलसे एक ताल और लयके साथ गायी जानेवाली रामधुनकी ताकत फौजी ताकतके दिखावेसे बिलकुल अलग और कई गुना बढ़ी-चढ़ी होती है। दिलसे भगवान्‌का नाम लेनेसे आजकी बरबादीकी जगह स्थायी शान्ति और आनन्द पैदा होगा।'

भीतरी और बाहरी पवित्रताका उल्लेख करते हुए गाँधीजी कहते हैं—'जो आदमी रामनाम जपकर अपनी अन्तरात्माको पवित्र बना लेता है, वह बाहरी गंदगीको बरदाश्त नहीं कर सकता। अगर लाखों-करोड़ों लोग सच्चे हृदयसे रामनाम जपें, तो न तो दंगे—जो समाजिक रोग है—हों और न बीमारी हो। दुनियामें रामराज्य कायम हो जाय।'

यह सभी जानते हैं कि गाँधीजी हिंदू-मुस्लिम-एकताके बड़े पक्षपाती थे और इसके लिये वे बड़े-से-बड़ा त्याग करनेको तैयार थे। परंतु गौमें उनकी इतनी भक्ति थी कि वे गोरक्षाके प्रश्नके सामने हिंदू-मुस्लिम-एकताको भी त्याग सकते थे। काका कालेलकरजीने उनके कुछ संस्मरण लिखे हैं, उसमें आया है—

'मद्रासका सन् १९२६ का कांग्रेस-अधिवेशन था। हम श्रीश्रीनिवास अय्यंगरजीके मकानपर ठहरे थे। वे हिंदू-मुस्लिम-एकताके निस्बत एक मसविदा तैयार

करके बापूकी सम्मतिके लिये लाये। वह मसविदा उनके हाथमें आया तो वे कहने लगे—'किसीके भी प्रयत्नसे और कैसी भी शर्तपर हिंदू-मुस्लिम समझौता हो जाय तो मंजूर है। मुझे इसमें क्या दिखाना है।' फिर भी वह मसविदा बापूको दिखाया गया। उन्होंने सरसरी निगाहसे देखकर कहा—'ठीक है।'

''शामकी प्रार्थना करके बापू जल्दी सो गये। सुबह बहुत जल्दी उठे। महादेव भाईको जगाया। मैं भी जग गया। कहने लगे—'बड़ी गलती हो गयी। कल शामका मसविदा मैंने ध्यानसे नहीं पढ़ा। यों ही कह दिया कि ठीक है। रातको याद आयी कि उसमें मुसलमानोंको गोवध करनेकी आम इजाजत दी गयी है और हमारा गोरक्षाका सवाल यों ही छोड़ दिया गया है। यह मुझसे कैसे बरदाश्त होगा। वे गायका वध करें तो हम उन्हें जबर्दस्ती तो नहीं रोक सकते। लेकिन उनकी सेवा करके उन्हें समझा सकते हैं न? मैं तो स्वराज्यके लिये भी गोरक्षाका आदर्श नहीं छोड़ सकता। उन लोगोंको अभी जाकर कह आओ कि वह समझौता मुझे मान्य नहीं है। नतीजा चाहे जो कुछ भी हो, किंतु मैं बेचारी गायोंको इस तरह छोड़ नहीं सकता।'

''सामान्य तौरपर कैसी भी हालतमें बापूकी आवाजमें क्षोभ नहीं रहता। वे शान्तिसे ही बोलते थे, लेकिन ऊपरकी बातें बोलते समय वे उत्तेजित-से मालूम होते थे। मैंने मनमें कहा—'**अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्। यद्राज्यलाभलोभेन गां परित्यक्तुमुद्यताः॥**' बापूकी हालत ऐसी ही थी।''

साम्प्रदायिक विद्वेषको मिटाने और मानवमें भाईचारेकी भावना जाग्रत्कर उसे भगवदुन्मुख करनेके लिये गाँधीजी नोआखालीमें गाँव-गाँव घूमकर अपना दिव्य सन्देश सबको सुना रहे थे। अधिक तितिक्षासे उनका शरीर काफी कृश हो गया था, पर बुढ़ापेमें भी रामनामके प्रतापसे वे तेजस्वी दीखते थे। शरीरकी बढ़ती दुर्बलतापर उनका ध्यान नहीं था। एक दिन बकरीका दूध नहीं मिला। गाँधीजीने कहा—'चलो, नारियलका दूध ही सही।' आठ औंस—जितना वे बकरीका दूध पिया करते थे—उन्हें पिलाया गया; परंतु हजम करनेमें बहुत भारी पड़ा और उससे उन्हें दस्त होने लगे। इससे सन्ध्यातक गाँधीजीको इतनी कमजोरी आ गयी कि बाहरसे झोंपड़ीमें आते-आते उन्हें चक्कर आने लगे और रास्तेमें ही वे मूर्छित हो गये। उनके भाईकी सुपुत्री मनुबेन उनके साथ थी; वह घबरायी और डॉक्टरको बुलानेके लिये पत्र लिखकर भेजनेवाली ही थी कि इतनेमें गाँधीजीको होश आ गया। मनुको उन्होंने बुलाया और कहा, 'तुमको चाहिये कि सच्चे दिलसे रामनाम लेती रहो। मैं स्वयं अपने मनमें रामनाम ले ही रहा था। तुम भी किसीको बुलानेकी बजाय रामनाम शुरू कर देती तो मुझे बहुत अच्छा लगता।······यदि रामनामका मन्त्र मेरे दिलमें पूरा-पूरा रम जायगा, तो मैं कभी बीमार होकर नहीं मरूँगा। यह नियम केवल मेरे लिये ही नहीं, सबके लिये है······।' यह घटना ३० जनवरी १९४७ के दिन घटी थी—बापूके निर्वाणसे ठीक एक वर्ष पूर्व।

अटल श्रद्धा, अचल विश्वास, सत्यका आग्रह, अहिंसाका पालन, बुरे करनेवालेका भी भला चाहना और भला करना, क्रोधका बदला सेवासे देना, रामनाममें अटल विश्वास, गोमाताकी भक्ति आदि अनेकों अप्रतिम गुणोंका समूह यदि एक जगह देखना हो तो वर्तमान युगमें वह गाँधीजीमें मिल सकता है। वे युगपुरुष थे, संत थे और सच्चे साधक थे।

रामनाममें उनकी यह श्रद्धा अन्तिम क्षणतक अडिग रही। वधिकने महात्मा गाँधीकी छातीमें तीन गोलियाँ पिस्तौलसे छोड़ीं, वे रामनाम लेते हुए गिर पड़े और उनका आत्मा अपने अंशी भगवान्‌में सदाके लिये मिल गया। उनकी बात सत्य निकली, 'मैं बीमार होकर कभी नहीं मरूँगा यदि मेरे दिलमें रामनाम पूरा-पूरा रम गया तो।' भगवान् सदा भक्तमें घुले-मिले रहते हैं—भक्तकी महिमा प्रभु ही जान सकते हैं।

भक्त श्रीअरविन्द

(लेखक—श्रीश्यामसुन्दर झुनझुनवाला एम्० ए०)

श्रीअरविन्दके जीवनमें ज्ञान, भक्ति एवं कर्मका समन्वय था; उनकी खोज भागवत-पूर्णताके लिये थी। प्रस्तुत लेखमें उनका भक्तरूप दिखानेका प्रयत्न किया जा रहा है। श्रीअरविन्दका जीवन सदैव एक पहेली रहा है और उनकी जीवन-गाथा लिखना एक अत्यन्त दुष्कर कार्य है। अतएव हम उन्हींकी कही और लिखी बातोंके सहारे उनके भक्त-जीवनका यत्किञ्चित् उल्लेख करेंगे।

श्रीअरविन्दका जन्म कलकत्तेमें १५ अगस्त सन् १८७२ ई० को हुआ था। सिविल सर्जन पिता अंग्रेजी सभ्यतापर लट्टू थे और अपनी सन्तानोंको भारतीयताकी बूसे भी बचाना चाहते थे। श्रीअरविन्द सात वर्षकी आयुमें ही शिक्षाके लिये विलायत भेज दिये गये। विलायतके वातावरणमें उन्होंने इक्कीस वर्षकी आयुतक शिक्षा पायी। प्रतिभाशाली श्रीअरविन्द विदेशी भाषाओंमें पारङ्गत हो गये। पिताकी आज्ञा मानकर आई० सी० एस्० की प्रतियोगितामें सम्मिलित हुए, किंतु पिताकी आकाङ्क्षा पूरी नहीं हुई। श्रीअरविन्दने अन्य विषयोंमें बहुत अच्छा स्थान पाया, परंतु घुड़सवारीकी परीक्षाकी उन्होंने उपेक्षा की। भारतके विदेशी शासकोंके हाथकी कठपुतली बननेसे वे बच गये।

विलायतसे भारत लौटनेपर श्रीअरविन्दके जीवनकी एक अन्य धाराका श्रीगणेश होता है। बम्बईके बंदरगाहपर पैर रखते ही उन्होंने एक अद्भुत शान्तिका अनुभव किया, जो उनपर छा गयी। विदेशसे वापस आये भारत-पुत्रको पावन भारत-भूमिपर भगवान् इससे अधिक अच्छी और क्या वस्तु दे सकते थे।

श्रीअरविन्दने बड़ोदा-नरेशकी नौकरी स्वीकार की। बड़ोदा-कालेजमें प्रोफेसर भी रहे। उनसे सब कोई प्रसन्न थे। उनकी आर्थिक उन्नति भी हो रही थी। परंतु इसी समय देशकी पुकार उठी। यह भारतकी नयी शताब्दीका आरम्भिक काल था। श्रीअरविन्द भी राजनीतिके प्राङ्गणमें कूद पड़े और उस क्षेत्रमें उन्होंने जो कार्य किया, उसकी अपनी एक लंबी कहानी है; परंतु उससे अभी हमारा प्रयोजन नहीं। यहाँ इस बातका प्रसङ्ग हमें इसलिये छेड़ना पड़ा कि यहाँसे उनके जीवनमें एक क्रान्ति और आती है, जिसे ही देखनेकी हमारी इच्छा है।

क्रान्तिकारियोंके कई काण्डोंके पश्चात् श्रीअरविन्द कलकत्तेमें गिरफ्तार कर लिये गये। देशभक्तका जी रो उठा। भगवान्‌को यह क्या सूझी कि सक्रिय रंगमञ्चपरसे वह हटा दिया गया। भगवान्‌का भक्त अपने प्रभुमें विश्वास खोने लगा, किंतु यह अवस्था क्षणिक थी। तीन दिन बाद अंदरसे एक आवाज आयी, 'ठहरो और देखो कि क्या होता है।' और कुछ दिनों बाद अलीपुरकी निर्जन कालकोठरीमें भक्तको याद आयी कि गिरफ्तारीसे एक मास पूर्व उसे भगवान्‌का यह आदेश मिला था कि 'तुम्हें सारे कर्म छोड़कर एकान्तवास करना है और भगवान्‌से घनिष्ठतर भावसे संयोग प्राप्त करना है।' परंतु उस समय उसे अपना कार्य बहुत प्रिय था। उसके मनमें यह भाव भी था कि उसके बिना देशके कार्यको धक्का पहुँचेगा। अतएव अब भगवान्‌को ही मार्ग साफ करना पड़ा। श्रीअरविन्दको ऐसा बोध हुआ कि भगवान्‌ने उनसे फिर कहा, 'जिन बन्धनोंको तोड़नेकी शक्ति तुममें नहीं थी, उन्हें मैंने तुम्हारे लिये तोड़ दिया है।......तुम्हारे करनेके लिये मैंने दूसरा काम चुन रखा है और उसीके लिये मैं तुम्हें यहाँ लाया हूँ।'

तब भगवान्‌ने श्रीअरविन्दके हाथोंमें गीता रख दी और उनकी शक्ति भक्तमें प्रवेश कर गयी। श्रीअरविन्दको अनुभवसे यह ज्ञान प्राप्त हुआ कि अर्जुनसे श्रीकृष्णकी क्या माँग थी। साथ-ही-साथ हिंदूधर्मके मूल सत्यका भी साक्षात्कार उन्हें हुआ। भगवान्‌ने जेलरोंके दिलको श्रीअरविन्दकी ओर घुमा दिया और उन्हें घंटे-आध-घंटे कालकोठरीसे बाहर टहलनेकी अनुमति मिल गयी। वैसे समय उन्हें सर्वत्र भगवान्‌की उपस्थितिकी अनुभूति हुई। 'मैंने अपनेको मनुष्योंसे अलग करनेवाले जेलकी ओर दृष्टि डाली और देखा कि अब मैं उसकी ऊँची दीवारोंके अंदर बंद नहीं हूँ; मुझे तो अब घेरे हुए थे वासुदेव। मेरी

कालकोठरीके सामने जो पेड़ था, उसकी शाखाओंके नीचे मैं टहल रहा था; पर वहाँ अब पेड़ नहीं था। मुझे प्रतीत हुआ कि वह वासुदेव हैं; मैंने देखा कि वहाँ स्वयं श्रीकृष्ण खड़े हैं और मुझपर अपनी छाया किये हुए हैं। मैंने अपनी कालकोठरीके सीखचोंकी ओर देखा, उन झरोखोंकी ओर देखा, जो दरवाजेका काम कर रहे थे और फिर वहाँ भी वासुदेवको देखा। स्वयं नारायण ही संतरी बनकर पहरा दे रहे थे। अब मैं उन मोटे कम्बलोंपर लेट गया, जो मुझे पलंगकी जगह मिले थे और यह अनुभव किया कि मेरे सखा, मेरे प्रेमास्पद श्रीकृष्ण ही मुझे अपनी बाहुओंमें लिये हुए हैं। मुझे जो गंभीरतर दृष्टि उन्होंने दी थी, उसका यह पहला प्रयोग था। मैंने जेलके कैदियों—चोरों, हत्यारों और बदमाशोंकी ओर देखा और जब मैंने उनकी ओर देखा, तब वासुदेव दिखायी पड़े, उन मलिन आत्माओं और अपव्यवहृत शरीरोंमें मुझे नारायण मिले।'

अदालतमें जब मुकद्दमा चला, भगवान्‌ने फिर भक्तकी रक्षा की। भगवान्‌ने कहा, 'जब तुम जेल भेजे गये थे, क्या तुम्हारा हृदय हताश नहीं हुआ था? क्या तुमने मुझे यह कहकर नहीं पुकारा था कि कहाँ है तुम्हारी रक्षा? अच्छा तो अब मजिस्ट्रेटकी ओर देखो, सरकारी वकीलकी ओर देखो।' और श्रीअरविन्दको दोनोंमें प्रेमास्पद श्रीकृष्ण ही दिखलायी पड़े और जब भगवान् रखवाले हैं तो फिर संशय किस बातका। कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं कि मुकद्दमेका रुख ही बदल गया और श्रीअरविन्द कारागारसे मुक्त कर दिये गये।

यह कारा-जीवन श्रीअरविन्दके लिये साक्षात् वरदान बन गया। भगवान् वासुदेवके दर्शन, उनका संरक्षण, उनके आदेशकी प्राप्ति, उनकी शक्ति एवं इच्छाका यन्त्र बनना—श्रीअरविन्द अब दूसरे ही व्यक्ति थे। अब उन्हें जगत्‌के सामने सृष्टिके सत्यको, भगवान्‌की वाणीको रखना था। अपने प्रसिद्ध उत्तरपाड़ा-अभिभाषणमें उन्होंने यही वाणी कही थी।

किंतु भगवान्‌को अभी कई कार्य कराने थे। श्रीअरविन्द अन्तमें सन् १९१० में ब्रिटिश पुलिसके पीछा करनेसे तंग आकर भारत छोड़ पांडिचेरी चले गये। वहाँ उन्होंने अपना सारा जीवन भगवान्‌की इच्छाकी पूर्तिमें और भगवान्‌की सेवामें लगा दिया। सन् १९५०के दिसम्बरकी पाँचवीं तारीखको उन्होंने अपना भौतिक शरीर त्याग दिया।

श्रीअरविन्द योगी कहे जाते हैं और योग शुष्क माना जाता है। कई लोगोंकी धारणा रही कि श्रीअरविन्दकी साधनामें भक्तिका कोई स्थान नहीं। परंतु जैसा कि श्रीअरविन्दने स्वयं उत्तर दिया, ऐसा सोचना नासमझी है। वरं उन्होंने भक्तिको उच्चतम स्थान दिया है। 'भगवान्‌के प्रति प्रेम, भक्ति, हृदयका अर्पण—ये सब आवश्यक हैं। हमारी जैसी भी स्थिति हो, हम भक्तिके सीधे मार्गपर चलकर भगवान्‌की ओर अग्रसर हो सकते हैं। क्या ही सुन्दर हो यदि भगवान्‌के लिये हमारा हृदय भी गोपीका हृदय बन जाय!' कितना अर्थपूर्ण है वह शब्द 'गोपी!' श्रीअरविन्द एक पत्रमें लिखते हैं—

''यदि हम 'गोपी' शब्दको समुचित अर्थमें लें तो यह कहेंगे कि गोपियाँ साधारण व्यक्ति नहीं हैं। वे एक असाधारण तीव्र आध्यात्मिक अनुरागकी मूर्ति-स्वरूपा हैं—उस अनुरागकी, जो उनके प्रेम, व्यक्तिगत भक्ति तथा निःशेष आत्मदानकी चरमताके कारण असाधारण हो गया है। जिस किसीमें यह चीज हो, फिर उसकी (स्त्री हो या पुरुष) अन्य बातोंमें (विद्या, पाण्डित्य, अभिव्यञ्जना, बाह्य शुचिता आदिमें) कितनी ही दीन अवस्था हो, वह श्रीकृष्णकी खोज कर सकता है और उनके पास पहुँच सकता है—गोपी-प्रतीकका मुझे यही भाव मालूम होता है। निःसंदेह इस प्रतीकके और बहुत-से महत्त्वपूर्ण भाव हैं, यह भाव तो बहुतोंमेंसे एक है।''

तो गोपीकी-जैसी ही हो हमारी भक्ति—अहैतुकी, निश्छल, सच्ची, निरभिमान, निरहङ्कार, निष्काम! हमारे प्रियतम भगवान् जो कुछ चाहें उसीमें तृप्त, संतुष्ट एवं आनन्दित। श्रीराधाकी नाईं हो भगवान्‌के प्रति हमारी भक्ति।

भक्त श्यामसुन्दर चक्रवर्ती

(लेखक—श्रीसुरेशचन्द्र देव)

श्यामसुन्दर बाबूका जन्म प्राचीन परम्पराके पुजारी एक कुलीन ब्राह्मणपरिवारमें हुआ था। बंगालके बाहर इनकी ख्याति 'वन्दे मातरम्' नामक दैनिक पत्रके सम्पर्कमें आनेके बादसे फैली। किंतु जनताके सामने इनकी कीर्ति-पताका विशेषकर राजनीतिके ही स्तम्भपर फहरी।

भगवत्प्रेमका यह बीज राजनीतिक उथल-पुथलके बीच भी धीरे-धीरे अङ्कुरित और प्रस्फुटित होता रहा। जिस उत्साहसे वे राजनीतिक आन्दोलनोंमें भाग लेते थे, उसी उत्साहसे लोगोंने पीछे उन्हें मुग्ध और मत्त नगर-संकीर्तन करते-कराते देखा। स्त्री-रोगोंके सुप्रसिद्ध चिकित्सक डॉक्टर सुन्दरीमोहन दासके साथ वैष्णव-भजनोंको गाते-गाते श्यामसुन्दर बाबू अपनी सुध-बुध खो बैठते थे।

सन् १९०२ के अन्तिम मासमें श्यामसुन्दर बाबू बर्माके थायरमो नामक नगरमें नजरबंद हुए। ऐसा प्रतीत होता है कि वहाँके एकान्तवास-कालमें उनकी भगवदुन्मुखवृत्तिको विकसित होनेका अवसर मिला। भगवदीय ज्ञानके लिये '**अरतिर्जनसंसदि**' की आवश्यकता श्रीकृष्णने स्वयं बतायी है। बर्मामें रहते हुए श्यामसुन्दर बाबूने एक छोटी-सी पुस्तिका लिखी—Through Solitude and Sorrow अर्थात् विजनता एवं विषादका प्रसाद। इसमें उन्होंने भगवच्चरण-समर्पणके पथपर अपने अन्तःकरणकी गतिका अच्छा चित्रण किया है। वे कहते हैं—

'मेरी कामनाओंकी परिधि वर्द्धनशील नहीं थी। वह सदा सुपरिचित इच्छाओंके ही बीच घूमती थी। इनी-गिनी ही वस्तुओंके प्रति मेरा आकर्षण था तथा प्रेम और सहानुभूतिका क्षेत्र भी संकीर्ण ही था। सूर्य, चन्द्र एवं नक्षत्रोंको निष्कामभावसे अपना कोष लुटाते देखकर उनके प्रति मुझे ईर्ष्या होती। कामनामय जीवनका परिणाम पुनर्जन्म होगा, इस सिद्धान्तमें मुझे सत्य दिखायी पड़ता और प्रतीत होता कि आत्म-विकासके लिये, स्वसंवृद्धिके लिये अथवा पूर्णता प्राप्त करनेके लिये अपने-आपको लुटा देने, बहा देनेकी आवश्यकता है और इसमें संकीर्णता, विश्राम अथवा विरामका कोई काम नहीं। मुझे लगता था कि अपनी परिपूर्णताके लिये, आत्मनिष्ठ जीवनके लिये बहुत पहले प्रयत्न प्रारम्भ हो जाना चाहिये था। स्वार्थको पद-पदपर कुचल डालना चाहिये था और सबको छाया प्रदान करनेवाले प्रेमके वृक्षको हृदयमें उगा लेना चाहिये था। मैंने सोचा कि सम्पूर्ण आत्मसमर्पणका ढंग मुझे पुष्पसे सीखना चाहिये, जो अपनी तनिक भी चिन्ता न करके दूसरोंकी सतत सेवा किया करता है। बिना ऐसा बने जीवनकी प्रत्येक परिस्थितिमें निश्चित एवं प्रसन्न रहनेकी आशा करना व्यर्थ है।

'अकल आत्मसमर्पणकी सुखद स्थिति प्राप्त करनेके पूर्व अपनी वृत्तियोंको सेवामें नियोजित करना एवं दीर्घकालतक चिन्तन तथा अभ्यासके द्वारा स्थूल प्रकृतिको नष्ट करते रहनेकी आवश्यकता है। मैंने शान्त एवं आत्मस्थित जीवनकी प्राप्तिके लिये कोई साधना नहीं की, वास्तविक ज्ञानकी उपलब्धिके लिये कोई चेष्टा नहीं की—यह बात मुझे शूलकी तरह चुभती रहती थी; किंतु फिर भी मैं उस तत्त्वकी खोजमें निरन्तर लगा रहता, जो मनुष्यको विपत्तियोंमें शक्ति प्रदान करता है।

'मैंने प्रार्थनाका प्रयोग आरम्भ किया। प्रतिदिन प्रातः-काल एवं सन्ध्या-समय, जितनी मुझसे बन पड़ती, उतनी एकाग्रताके साथ प्रार्थनामें बैठ जाता। इस क्रमको मैंने छः मासतक जारी रखा। मैं धार्मिक ग्रन्थोंको पढ़ता और उन स्तुतियों तथा भजनोंको उतार लेता, जिनको महापुरुषोंने विपत्तिके समय काममें लिया था।

'इसके अनन्तर मैंने दूसरी प्रक्रिया अपनायी। जब मेरे कमरेमें अन्धकार और मेरे सिवा और कुछ नहीं रह जाता, तब मुँह तथा हाथ-पैर धोकर अपनी खाटपर एक कम्बल बिछाकर आरामसे बैठ जाता। तब जो अनुभव होना आरम्भ हुआ, वह यदि अधिक कालतक ठहरने लगता तो फिर और कुछ पानेकी इच्छा ही शेष नहीं रहती। लगभग एक घंटेके लिये बिना प्रयासके सब

प्रकारके निकृष्ट विचारोंसे छुट्टी पाकर मैं एक ऐसे राज्यमें पहुँच जाता, जिसकी शान्ति एवं स्थिरता किसी प्रकार भङ्ग होती ही नहीं। मेरी अन्तश्चेतना, जिसमें केवल स्मृतियों और वासनाओंका ही स्वर भरा रहता, एकदम नीरव बन जाती और एक ऐसी गम्भीर शान्तिमें डूब जाती, जहाँ न कोई अनुताप होता, न कामना और न कोई अभाव। सम्भव है मेरी यह क्षणिक एकतानता उस शाश्वती एकतानताका प्रतिबिम्बमात्र हो, जो उस कोलाहलके अन्तरालमें स्थित है, जिसको जगत् संज्ञा दी गयी है। जिनके ऊपर यह एकतानता अमिटरूपसे छायी रहती है, केवल वे ही लोग सङ्कटों अथवा सङ्कटकी आशङ्कासे भयभीत हुए बिना जीवनके महान् उद्देश्योंकी ओर बढ़ सकते हैं। ऐसी शान्त और अविकल्प अवस्थामें, पता नहीं, ज्ञान और शक्तिकी ऐसी कौन-सी धारा उतरती होगी, जो जीवको परिप्लावित करके सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान्‌के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित कर देती होगी।

'धीरे-धीरे मैं इस क्षणस्थायी अनुभावको बढ़ानेकी चेष्टामें लगा। सन्ध्याकी नीरव वेला, जिसके अन्धकारमें आँखोंकी चपलता छिन जाती है और आत्मा मानो उन्मुक्त विचरने लगती है, मुझे इसी कार्यमें सहायक प्रतीत हुई।'

ऊपरके वर्णनमें साधनाकी वास्तविक लगनका दिग्दर्शन है, प्रियतम भगवान्‌के साथ चिर संयोगकी छटपटाहट दिखायी देती है। चक्रवर्ती महोदय उच्च श्रेणीके साधक, भक्त, अत्यन्त उदार, देशसेवी और आजीवन दु:खियोंके दु:खका भार अपने ऊपर ढोनेवाले संत थे।

देशबन्धु भक्त चित्तरञ्जन दास

देशबन्धु भक्त श्रीचित्तरञ्जन दासका जन्म कलकत्तेमें सं० १९२७ वि० कार्तिक शुक्ला द्वादशीको हुआ था। इनके पिताका नाम भुवनमोहन दास और माताका नाम निस्तारिणी देवी था। श्रीभुवनमोहन दास ब्राह्म हो गये थे, इससे उनमें विदेशी आचार-विचार आ गये थे; परंतु वे थे बड़े ही सदाशय, उदार, कर्तव्यनिष्ठ, आडम्बरहीन तथा स्वजनवत्सल पुरुष। इसी प्रकार निस्तारिणी देवी भी अत्यन्त उदारहृदया थीं। वे पतिके ब्राह्मधर्मका अनुसरण नहीं करती थीं। घरमें जो हिंदू आत्मीय-स्वजनोंके लिये अलग रसोई बनती थी, उसीमें खाती थीं। खान-पानमें तथा आचार-विचारमें पतिसे मेल न खानेपर भी वे अत्यन्त पतिभक्ता थीं। उन्होंने मरते समय कहा—"जन्म-जन्ममें मुझे भगवान् यही पति और यही 'चित्त' पुत्र दें।"

चित्तरञ्जन बी० ए० परीक्षामें उत्तीर्ण होकर सिविल सर्विसकी परीक्षा देने विलायत गये। परंतु उसमें वे अनुत्तीर्ण हो गये। उन दिनों स्व० दादाभाई नौरोजी विलायतमें पार्लियामेंटकी सदस्यताके लिये खड़े हुए थे। उनके समर्थनमें श्रीचित्तरञ्जनने कई स्थानोंपर बड़ी ओजस्विनी वक्तृताएँ दी थीं। इन-जैसे प्रवासी भारतीय छात्रोंकी सहायतासे दादाभाई पार्लियामेंटके सदस्य चुन लिये गये; परंतु कहते हैं कि इसी कारण आई० सी० एस्० की परीक्षामें चित्तरञ्जनको असफल होना पड़ा। चित्तरञ्जनकी इस असफलतासे उनके घरवालोंको—खास करके पिताको बड़ा दु:ख हुआ; क्योंकि वे उस समय ऋणग्रस्त थे।

इसके बाद चित्तरञ्जनने बैरिस्टरी पढ़नेके लिये 'ग्रेस-इन्' में प्रवेश किया और उसमें उत्तीर्ण होकर वे भारत लौटे एवं उन्होंने १८९३ ई० में कलकत्ता हाईकोर्टमें प्रवेश किया। प्रसिद्ध अलीपुर बम-केसमें, जिसमें श्रीअरविन्द अभियुक्त थे, श्रीचित्तरञ्जनकी प्रतिभाका विशेष प्रकाश हुआ। श्रीअरविन्द उसमें बेदाग छूट गये। श्रीचित्तरञ्जनकी कीर्ति चारों ओर फैल गयी। प्रसिद्ध राष्ट्रिय नेता श्रीविपिनचन्द्र पाल तथा कलकत्तेकी प्रख्यात दैनिक पत्रिका 'सन्ध्या' के सम्पादक तेजस्वी वृद्ध श्रीब्रह्मबान्धव उपाध्याय आदिके मुकदमोंमें भी श्रीचित्तरञ्जनने बड़ी ख्याति प्राप्त की।

श्रीचित्तरञ्जनका साहित्यिक और राजनीतिक जीवन अत्यन्त गौरवपूर्ण था। उनकी प्रतिभा, तेजस्विता, मननशीलता, विचारशीलता, दृढता, वाग्मिता, त्यागप्रियता आदिका इन दोनों क्षेत्रोंमें बड़ा ही अद्भुत विकास हुआ था। लाखों

रुपयेकी आयपर लात मारकर इन्होंने असहयोग-यज्ञमें सहर्ष आत्माहुति दे दी थी, यह सभी जानते हैं।

संसारके अनेकों ख्यातनामा पुरुष, जो अन्यान्य क्षेत्रोंमें आदर्श माने गये हैं, आर्थिक क्षेत्रमें दुर्बलताके शिकार हो गये हैं। अर्थलोलुपताने बड़े-बड़े लोगोंको मार्गभ्रष्ट कर दिया। परंतु देशबन्धु चित्तरञ्जन इस क्षेत्रमें भी सर्वत्र विजयी रहे। इन्हें अर्थलोभ तो मानो था ही नहीं। इनकी ईमानदारी और उदारता सर्वथा आदर्श हैं। इनके पिता ऋणग्रस्त होकर दिवालिया (Insolvent) हो गये थे। कानूनके अनुसार इस ऋणका चित्तरञ्जनपर कोई दायित्व नहीं था। परंतु वृद्ध पिताके इस ऋणभारको इन्होंने अपने ऊपर ले लिया और रुपये हाथमें आनेपर वर्षों बाद लगभग ६८ हजार रुपये पितृ-ऋणके इन्होंने चुकाये। इनकी इस क्रियाका जस्टिस फ्लेवर, उस समयके आफिशियल असाइनी मि० ग्रे महोदय, समस्त कानूनजीवी समुदाय तथा समाजपर बड़ा ही प्रभाव पड़ा था। इसी प्रकार चित्तरञ्जन बड़े दानवीर थे। उनका विशाल हृदय श्रान्त-क्लान्त पथिकोंको आश्रय देनेवाले परोपकारपरायण वृक्षकी भाँति दूसरोंके लिये सदा ही प्रस्तुत रहता था। जिस समय वे स्वयं अर्थकष्टमें थे, उस समय भी दीनों-दुःखियों और अभावपीड़ितोंके आश्रय थे। उनके पिताने अपने शेष जीवनमें पुरुलियामें जो मकान बनाया था, चित्तरञ्जनकी उदारतासे वह उनकी अविवाहिता बहिन अमला दासगुप्तके परिचालनमें 'अनाथाश्रम'में परिणत हो गया था। इसके लिये उनको मासिक दो हजार रुपये और व्यय करने पड़ते थे। नवद्वीपके नित्यानन्दधाम तथा मातृमन्दिरमें ये सदा सहायता करते रहते। पण्डित कुलदाप्रसन्न मल्लिक भागवतरत्नने बतलाया था कि 'नित्यानन्द-आश्रमके लिये चित्तरञ्जनने दो लाख रुपये दिये थे। इस बातको उनके घरवाले भी नहीं जानते थे।' संस्थाओंमें इन्होंने कितना दान किया, इसका हिसाब बताना सम्भव नहीं है। श्रीचित्तरञ्जनमें एक विशेषता थी। संस्थाओंमें दान करनेवाले लोग आजकल बहुत मिलते हैं, परंतु गुप्त व्यक्तिगत सहायता लोग प्रायः नहीं करते। परंतु चित्तरञ्जनको ऐसी सहायतामें बड़ा रस आता और वे बड़ी उदारताके साथ इस रसका आस्वादन किया करते थे। एक बहुत बड़े पुरुषने इनसे एक बार कहा—'दास बाबू! आप जो असंख्य लोगोंको इतना दान करते हैं, क्या वे सभी दानके पात्र हैं? आपकी उदारतासे लोग बहुत अनुचित लाभ उठाते हैं और आप ठगे जाते हैं।' दास बाबूने हँसकर उत्तर दिया—'ठीक है, कुछ लोग ऐसा लाभ उठाते होंगे; पर मैं कभी ठगा नहीं जाता। मेरी जगह आप होते तो आप अवश्य ठगे जाते; क्योंकि आपकी ऐसी भावना है। मेरा तो एक-एक पैसा भगवान्‌की सेवामें लगता है। फिर यदि मैं पात्रोंके चुनावमें लग जाऊँगा, तो उनके दोष-गुणोंमें ही मेरा मन रम जायगा; दानका अवसर ही मुझको कैसे मिलेगा।' इनकी उदारताकी कुछ ही बातें लोग जान पाते थे; क्योंकि इनके ऐसे दान प्रचुरमात्रामें होनेपर भी होते थे गुप्त ही। ऐसी सहस्रों घटनाओंमेंसे दो-एक यहाँ देखिये—

एक विधवा गरीब स्त्री अपनी कन्याके विवाहमें सहायता प्राप्त करनेके लिये इनके पास आयी। इन्होंने पूछा—'आपको कितने रुपये चाहिये?' विधवाने कहा—'कुल सात सौ रुपयेकी आवश्यकता है, उसमें तीन सौ तो मैंने घर-घर घूमकर इकट्ठे किये हैं।'........चित्तरञ्जन बीचमें ही बोल उठे—'अच्छा, वे तीन सौ आप अपने पास रखिये, पीछे भी तो खर्च लगेगा, ये सात सौ रुपये ले जाइये।'

एक सज्जनको किसी कार्यके लिये दो सौ पचास रुपयेकी आवश्यकता थी, वे चित्तरञ्जनके पास आये। इन्होंने पूछा—'कितने हो गये?' उन्होंने कहा—'अमुक प्रसिद्ध बैरिस्टर महोदयने पचास रुपये दिये हैं।' उसी क्षण ये बोल उठे—'बाकी दो सौ मैं दूँगा, आपको कहीं जाना नहीं पड़ेगा।' जब चेक दिया, तब दो सौ पचास रुपयेका था। उक्त सज्जनने कहा—'दो सौ पचास रुपये क्यों?' इन्होंने कहा—'ये पचास रुपये जिन नौकर-चाकरोंने काम किया है, उनके इनामके लिये हैं।'

डुमराँव-केसमें बहुत बड़ी रकम इन्हें मिली थी, पर सब-की-सब दानमें दे दी गयी। किसीको रेल-भाड़ेके लिये, किसीको कर्ज चुकानेके लिये, किसीको कन्याके विवाहके लिये, किसीको पढ़ाई या परीक्षाके लिये, किसीको बूढ़े माता-पिताके लिये, किसीको रोगीकी दवा और सेवा-शुश्रूषाके लिये आवश्यकता होती और सभीकी

आवश्यकता चित्तरञ्जनको पूर्ण करनी चाहिये।

इनकी सहायताका एक तरीका यह था कि जब ये देखते कि अमुक व्यक्ति अभावमें है पर वह लेगा नहीं, तब उसे किसी कामसे बाहर भेज देते और खर्चके लिये सौ-दो-सौ रुपये दे देते; काम होता पंद्रह-बीस रुपयेके खर्चका। वह जब हिसाब देकर रुपये लौटाने आता, तब आप सुनी-अनसुनी करके या कामका बहाना बनाकर और कहीं-कहीं तो गुस्सा दिखाकर उसे लौटा देते।

असहयोग-आन्दोलनमें पड़ जानेके बाद इन्हें अर्थकी सुविधा नहीं रही थी वरं आगे चलकर इन्हें अर्थकष्ट हो गया था। परंतु उस समय भी ये जैसे-तैसे सेवा करनेसे नहीं चूकते थे। मृत्युके कुछ ही दिनों पूर्व इन्होंने अपनी अँगूठी बेचकर एक कन्याकी विधवा माताको उसके विवाहके लिये छः सौ रुपये दिये थे। यहाँतक कि मरनेसे पहले अपने रहनेका घर भी एक वसीयतनामा बनाकर दान कर दिया था। शर्त थी कि 'मकान-जमीन बेचकर पहले ऋण चुकाया जाय और बची हुई रकमसे— १. मन्दिर-निर्माण—(मूर्तिकी स्थापना और उसकी दैनिक और सामयिक सेवाकी व्यवस्था), २. भारत-नारीकी शिक्षा, ३. हिंदू-बालकोंको धार्मिक शिक्षा, ४. मातृमन्दिरकी स्थापना और ५. दरिद्र तथा दुःखी भारतवासियोंकी सहायता अथवा अन्य कोई ऐसा ही कार्य—ये काम किये जायँ। श्रीविधानचन्द्र राय, श्रीनिर्मलचन्द्र चन्द्र, श्रीतुलसीचन्द्र गोस्वामी, श्रीसत्यमोहन घोषाल और श्रीनलिनीरञ्जन सरकार इस वसीयतके ट्रस्टी बनाये गये थे।

इस प्रकार ये तन, मन, धन, परिजन, प्रतिष्ठा, घरद्वार—सभी कुछ भगवान्‌के अर्पण करके सच्चे फकीर बन गये थे।

देशबन्धु चित्तरञ्जनको पितासे ब्राह्मधर्मकी शिक्षा मिली थी। यौवनकालमें ये ईश्वरमें अविश्वास करने लगे थे। इनके 'मालञ्च' और 'माला' नामक काव्यसे इसका स्पष्ट पता लगता है। परंतु धीरे-धीरे इनकी चित्तधाराका प्रवाह बदलता गया। इनके 'अन्तर्यामी' और 'किशोर-किशोरी'में शुद्ध भक्तिभावकी परिणति और परिपुष्टि हो गयी। अन्तिम जीवनमें तो ये परम वैष्णव हो गये थे। भगवान्‌के स्वरूपदर्शनके लिये इनका चित्त कितना तरस रहा था, इसका पता इनके निम्नलिखित पदके अनुवादसे मिलता है। यह देशबन्धुका अन्तिम पद है—

लो उतार अब ज्ञान-गठरिया, सहन नहीं होता यह भार।
सारा ही तन काँप उठा है, छाया चारों दिशि अँधियार॥
वही सीसपर मोर मुकुट हो, करमें हो मोहन बाँसी।
ऐसी मूरतिके दर्शनको प्राण बड़े हैं अभिलाषी॥
ललित त्रिभङ्ग खड़े होकर हरि! करो प्रकाश कुंजका द्वार।
आओ, आओ, पारस-मणि! मम वृथा वेद-वेदान्त-विचार॥

सन् १९२४ की ता० १६ जून मङ्गलवारको दार्जिलिङ्गमें इस महान् भक्तने परमधामकी यात्रा की।

भक्त भाणसाहेब

(लेखक—श्रीमाणेकलाल शङ्करलाल राणा)

गुजरातमें भाणसाहेब नामके एक प्रसिद्ध भक्त हो गये हैं। उनको लोग कबीरदासका अवतार मानते थे। कुछ लोग कहते थे कि भाणसाहेब गुरु दत्तात्रेयके अवतार हैं। 'भाण-चरित्र' नामक ग्रन्थमें इनके पूर्वजन्मकी कथाका विस्तारपूर्वक वर्णन है। जो कुछ भी हो; पर वे महान् भक्त थे, इसमें सन्देह नहीं। उनका जन्म सं० १७५४ में माघी-पूर्णिमाको कनखीलोड ग्राममें एक लोहाणा गृहस्थके घर हुआ था। पिताका नाम कल्याण भगत और माताका अम्बाबाई था। उनके बालचरित्रके विषयमें बहुत-सी अद्भुत बातें सुनी जाती हैं। जीवन-चरित्रमें लिखा है कि बाल्यावस्थामें उनको देखनेके लिये अवधूत आये, संतोंने आकर दर्शनके लिये हठ किया। पाँच वर्षकी अवस्थामें अवधूतके वेषमें आकर गुरु दत्तात्रेयने इनको उपदेश दिया, भक्त नरसीजीने दर्शन दिये इत्यादि।

भाणसाहेबका जीवनचरित्र अनेकों प्रकारके चमत्कारोंसे भरा है; इन्होंने गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छके गाँवोंमें भ्रमण करके भगवद्भक्तिका प्रचार किया। इनके शिष्योंमें रविसाहेब परम प्रसिद्ध संत और कवि हो गये हैं। इनके पुत्र संत खीमसाहेब कच्छके नामी भक्त थे। भाणसाहेबकी

रची संतवाणीको आज भी गुजरातके भक्तजन बड़े ही प्रेम और आदरसे गाते हैं और अपने जीवनको उज्ज्वल बनाते हैं।

भाणसाहेबके उपदेशसे बहुतोंका उद्धार हुआ। कितने ही चोर-डाकू अपने दुष्कर्मका त्याग करके संत-जीवन व्यतीत करने लगे। कहा जाता है कि एक बार यात्रियोंका एक दल तीर्थयात्राके लिये निकला। रास्ता बड़ा बीहड़ पड़ता था और लुटेरोंका बड़ा डर था। इसलिये वे गुरु भाणकी शरणमें आये। भाण भक्तने उनको एक तुलसीकी माला दी और कहा—"इस मालाको लेकर चले जाओ और यदि कोई लुटेरा सामने आये तो उसे माला दिखाकर कह देना कि 'यह गुरु भाणकी माला है।'' यात्रियोंने प्रस्थान किया, आगे जानेपर लुटेरोंने उनको घेरा। वे माला दिखाकर बोले, 'यह गुरु भाणकी दी हुई माला है, यही हमारी रखवाली करती है।' पर निर्दय लुटेरोंने हँसी करते हुए उन्हें लूटनेकी चेष्टा की। यात्रियोंने घबराकर गुरुको याद किया। गुरु भाणसाहेब घोड़ेपर चढ़े वहाँ प्रकट हो गये और बोले—'तुमलोग डरना नहीं, तुम्हारी रक्षाके लिये मैं आ गया।' संतको देखते ही लुटेरे स्तब्ध हो गये। भाणसाहेबने उनको सम्बोधन करते हुए कहा—'अरे दुष्ट अन्धो! केवल लूट, चोरी और कुकर्मका ही धंधा जानते हो? तुमने संतकी मालाकी भी मर्यादा नहीं रखी!' यह वाणी सुनते ही सब-के-सब लुटेरे अन्धे हो गये। अब तो वे घबराये और दीनता प्रकट करते हुए भाणसाहेबसे क्षमा माँगने लगे। उन्होंने गिड़गिड़ाकर संतके चरण पकड़े और फिर कुकर्म न करनेकी प्रतिज्ञा करके शुद्ध जीवन बितानेका व्रत लिया। संतका हृदय कोमल होता है, उनका शाप भी कल्याणके लिये ही होता है। भाणसाहेबकी कृपासे उनकी आँखें ठीक हो गयीं और वे घर लौट गये तथा साधुजीवन व्यतीत करने लगे। इस प्रकार अनेकों पुरुषोंको उन्होंने सन्मार्गमें लगाया। कच्छके रणकी ओर जाते हुए मौजुद्दीन नामक पठानको उपदेश देकर अपनाया। आगे चलकर ये मौजमीयाँ एक मस्त भजनानन्दी भक्त बन गये। उत्तर गुजरातके किरात भक्त अभेमाल, बाँकानेरके अनेकों संत—संतकवि रतनदास, बँधारपाड़के कुँवरजी, श्यामदास, शङ्करदास, माधवदास, चरणदास, गरीबदास आदि भाणसाहेबके सत्सङ्गसे प्रसिद्ध हो गये। प्रसिद्ध रविदासजी भी इन्हींके शिष्य थे। सं० १८११ में चैत्र शुक्ला ३ को भाणसाहेबने जीते-जी समाधि ले ली। कमीजडा गाँवमें भागोले तालाबपर उनका समाधि-मन्दिर आज भी विद्यमान है।

साचुं नाम साहेबनुं, जुठूँ नहिं जराय।
भाण कहे भजी ले तो, त्यारे कामज थाय॥
बोले ते बीजो नहिं, परमेश्वर पोते।
अज्ञानी ते आँधळो अळगो जइने गोते॥

महान् भक्त रविसाहेब

(लेखक—श्रीमाणेकलाल शङ्करलाल राणा)

काठियावाड़में योग, वेदान्त, समाधि और ध्यानसम्बन्धी भजनोंकी रचना करनेवाले प्रथम श्रेणीके मस्त संत भक्त रविसाहेबका जन्म १७८३ वि० में गुजरातके आमोद ताल्लुकेमें तणछा नामक गाँवमें श्रीमाली वैश्यजातिमें हुआ था। इनके पिताका नाम मंछाराम और माताका नाम इच्छाबाई था। भाणसाहेब नामके एक सिद्ध महात्माके उपदेशसे रविसाहेबके मनमें वैराग्य उत्पन्न हुआ और वे उनके शिष्य बन गये। तबसे रविसाहेब प्रपञ्चका त्याग करके भजन-साधनमें रत रहने लगे। एक दिन भाणसाहेबने शेडखीमें रविसाहेबको बैठाकर तथा उनको साधनका रहस्य बतलाकर घोड़ेपर चढ़ वहाँसे कमिजडाको प्रस्थान कर दिया। वहाँ मेलाभक्तके द्वारा रामदुहाई दिलानेपर १८११ वि० में चैत्र शुक्ला तृतीयाको आपने जीवित समाधि ले ली। भाणसाहेबके इस महाप्रयाणका समाचार शेडखीमें रविसाहेबको मिला। गुरुके वियोगसे उनका हृदय टूक-टूक हो गया। गुरु-वियोगकी वेदना उनकी वाणीमें स्थान-स्थानपर व्यक्त होती है।

भाणसाहेबके पुत्रका नाम खीमजी था। पिताकी मृत्युका समाचार सुनकर उनको दारुण शोक हुआ। वे रविसाहेबके पास गये और उनके साथ वार्तालाप

करनेपर उनके चित्तको शान्ति मिली, हृदयमें वैराग्य उत्पन्न हुआ। अतः वे रविसाहेबके शिष्य बन गये। संतवाणीमें 'खीमसाहेब और रविसाहेबकी गोष्ठी' बहुत विस्तारपूर्वक प्राप्त होती है।

कुछ दिन रविसाहेबका सत्सङ्ग करनेके बाद खीम-साहेबने वहाँसे विदा लेकर कच्छके लिये प्रस्थान किया। इस प्रकार भाणसाहेबके तत्त्वज्ञानकी दो शाखाएँ हो गयीं। रविसाहेबकी शाखा नाद (शिष्य) नामसे और खीमसाहेबकी शाखा बुन्द (पुत्र) नामसे प्रसिद्ध हुई।

रविसाहेब भी वहाँसे भ्रमणके लिये निकले और रास्तेमें लोगोंको उपदेश देते हुए सूरत पहुँचे। सूरतमें कुछ दिन सत्सङ्गमें व्यतीत करके बहुतोंको उपदेश देकर सन्मार्गपर चलाया। वहाँसे शेडखीमें लौट आये, जहाँ बैठकर उन्होंने विमल संतवाणीकी रचना की।

उनके गुरु भाणसाहेब जातिके लोहाणा थे। उनके मरनेके बाद लोहाणोंमें भगवद्भक्तिका प्रचार रविसाहेबने किया। सात हजार लोहाणोंने रविसाहेबकी शरण ली और उनका उपदेश प्राप्तकर अपना जीवन सफल किया। इसके बाद रविसाहेब लोककल्याणके लिये भ्रमण करने निकले। वे गाँव-गाँव घूमते, सत्सङ्ग करते, दुःखियोंका दुःख दूर करते आगे बढ़ते गये। इस यात्रामें रविसाहेबने अनेकों चमत्कार किये। उनके चमत्कारकी अनेक कथाएँ गुजरातमें प्रसिद्ध हैं। स्थानाभावके कारण यहाँ नहीं दी जा रही हैं।

इसी यात्रामें उन्होंने एक लखारा गाँवमें कुछ दिन प्रवास किया और 'ग्रन्थचिन्तामणि' की रचना की। वहाँसे मार्गमें भक्तिरूपी सुरसरिकी धारा बहाते हुए शेडखीमें लौट आये। यहीं गुजरातके प्रेमी भक्त कवि प्रीतमदास उनसे मिलने आये। दोनों भक्तोंके मिलनका और उनके सत्सङ्गका आनन्द प्राप्तकर वहाँके आस-पासके गाँवोंके निवासी कृतार्थ हो गये। इसके बाद रविसाहेब गिरनारकी यात्राके लिये निकले। वहाँ उनको गुरु दत्तात्रेय और गुरु गोरखनाथके दर्शन हुए। वे कुछ दिन गिरनार पर्वतपर रहे और वहाँ उनको कच्छके संत निर्भयराम तथा अन्यान्य संतोंके समागमका आनन्द प्राप्त हुआ। वहाँसे वे कच्छकी ओर चले और उस प्रवासमें अनेकों सत्सङ्ग और ज्ञान-गोष्ठियाँ हुईं, तथा 'विमल संतवाणी' की रचना हुई। फिर खीमसाहेबसे भी मिलनेका सुअवसर मिला। खीमसाहेबने अपने पुत्र गङ्गदासको रवि गुरुके अर्पण कर दिया।

रविसाहेबकी संतवाणी गुजरातसे मारवाड़तक पहुँच गयी। वहाँ थराद नामक राज्यके राजकुमार मोरार प्रेम-दीवाना होकर रविसाहेबकी शरणमें आये। आगे चलकर वही राजकुमार मोरार सौराष्ट्रके प्रतापी 'संत मोरारसाहेब' के नामसे प्रसिद्ध हुए।

आगे चलकर रविसाहेब बाँकानेरमें पहुँचे। वहाँ श्रीरतनदासजी मिले, उनके आग्रहसे रविसाहेबको कुछ दिन ठहरना पड़ा और वहीं उन्होंने महाप्रयाण किया। गुरु वियोगमें व्याकुल श्रीमोरारसाहेब गुरुजीकी देहको पालकीमें पधराकर अपने स्थान खम्भालिया ले जाने लगे। पालकी जोरसे चल रही थी। अंदरसे आवाज आयी—'मोरार! जरा धीरे चलो।' आखिर मोरारकी प्रार्थनापर रविसाहेबने करवट बदलकर आँखें खोलीं। मोरारको उपदेश दिया। खम्भालियाके संतधाममें मानो प्रेमसमुद्र उमड़ चला। मोरारसाहेबको, गुरुने जो खम्भालियामें अन्तिम समय रहने और वहाँ समाधि लेनेका वचन दिया था, इसकी सत्यता प्रमाणित देखकर बड़ी ही प्रसन्नता हुई। संतका वचन सत्य होना ही चाहिये।

इस प्रकार पुण्य प्रकाशमय जीवन बिताकर सं० १८६० में वे अस्त हो गये।

भक्त-वाणी

यो नरो जन्मपर्यन्तं स्वोदरस्य प्रपूरकः। न करोति हरेः पूजां स नरो गोवृषः स्मृतः॥ —रत्नग्रीव

जो मनुष्य जीवनभर केवल उदर-पोषणमें ही लगा रहता है, भगवान्‌की पूजा नहीं करता, उसको तो मनुष्यरूपमें बैल ही समझना चाहिये।

भक्त खीमसाहेब

(लेखक—श्रीमाणेकलाल शंकरलाल राणा)

प्रातःस्मरणीय सद्गुण भाणसाहेबके सुपुत्र खीमसाहेबका समय सं० १७९० से १८५७ तक है। खीमसाहेब रविसाहेबके शिष्य थे। गुरु भाणके आज्ञानुसार रविसाहेबने खीमको कच्छके सापर गाँवमें जाकर रहनेका आदेश दिया। तदनुसार वे सापरमें रहे। ध्यानमें मस्त रहनेवाले खीमसाहेबने सुदीर्घकाल भगवत्स्मरणमें बिताया और वे एक बड़े ही प्रभावशाली संत हुए। उनके अनेकों चमत्कारकी कहानियाँ लोगोंमें प्रचलित हैं। उनको बहुतेरे 'वरुणका अवतार' मानते थे। नाविक लोग इनको 'दरियायी पीर' कहकर वन्दना करते थे। सापर गाँव समुद्रके किनारे था। इसलिये यात्रामें जानेके पहले नाविकलोग खीमसाहेबके चरणोंमें उपस्थित होते और उनका आशीर्वाद लेकर जाते थे। खीमसाहेबके आशीर्वादसे सदा ही उनका बेड़ा पार हो जाता। समुद्रमें डूबते समय प्रकट होकर नौकाको बचानेके चमत्कारकी भी अनेकों कथाएँ सुनी जाती हैं। हैबत नामका एक मुसलमान खलासी नौका लेकर समुद्रमें यात्रा कर रहा था, अचानक नौका डूबनेकी नौबत आयी। खलासीने खीमसाहेबको स्मरण किया और उसकी नौका बच गयी। वह तभीसे उनका शिष्य बन गया। हैबतका भी विस्तृत चरित्र है।

खीमसाहेब जैसे भवसागरसे तारनेवाले गुरु थे, वैसे ही दानी भी थे। कच्छके रणमें हरजीवन नामका एक लखपती बनजारा लुट गया। वह रोता-कलपता अपने साथियोंके साथ खीमसाहेबके पास गया। खीमसाहेबने उसे आश्वासन देकर रातको अपने यहाँ रखा और सबेरा होते ही उसको जगाकर लुटे हुए सवा लाख रुपये देकर विदा किया। खीमसाहेबके धाममें अनगिनत धन है, यह समझकर 'मेघ खाचर' नामक एक लुटेरा संतके धाममें सेंध लगाकर घुसा। खूब खोज की, पर उसे कहीं कुछ भी नहीं दिखायी दिया। संतने उसको आश्वासन दिया; अब वह जिधर देखता, उधर धनका ढेर दिखायी पड़ता। गुरुकी यह लीला देखकर मेघा ही उनके चरणोंमें गिर पड़ा। उस क्रूर डाकूको सद्गुरुने भक्त-संत बना दिया। अरबका एक खलासी भी खीमसाहेबका कृपापात्र बना। उनके अनेकों शिष्य थे। उन्होंने रविसाहेबके सामने महाप्रयाणकी तैयारी करके सं० १८५७ में समाधि ले ली। कच्छ—सापरमें समुद्रके किनारे उनकी समाधि आज भी विद्यमान है।
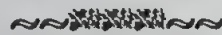
भक्त मोरारसाहेब

(लेखक—श्रीमाणेकलाल शङ्करलाल राणा)

मोरारसाहेब सौराष्ट्रके बड़े ही प्रभावशाली और परम वन्दनीय भक्त कवि हो गये हैं। वे मारवाड़के थराद नामक राज्यके राजकुमार थे। रविसाहेबकी संतवाणी और उनके समागमका ऐसा विचित्र प्रभाव पड़ा कि उन्होंने राज्य-वैभवको तुच्छ समझकर उसे त्याग दिया और वे विरक्त जीवनका सच्चा आनन्द लेने लगे।

राजपूतानेकी मरुभूमिको छोड़कर वे काठियावाड़की ओर भाग आये और वहाँसे बड़ौदा प्रान्तमें शेडखीके संतधाममें पहुँचे। रविसाहेबने उनको दूरसे ही आते देखा और मानो वे पूर्वकालके परम परिचित हों, इस प्रकार 'मोरार! आओ, आओ, भले आये'—कहकर स्नेहपूर्वक हृदयसे लगा लिया और दोनोंकी आँखोंसे प्रेमाश्रु बह चले। मोरार रविसाहेबके शिष्य बने और वहीं रहने लगे। जब उनकी माता रानी साहबाको इसका पता चला, तब वह पुत्रवियोगमें पगली हुई शेडखी आयी और पुत्रको देखकर रोने लगी। रविसाहेबने मोरारको समझाया कि 'माताके चरणोंमें कोटि तीर्थ निवास करते हैं। ऐसी परम वन्दनीया भगवती माताका त्याग करना उचित नहीं है।' रविसाहेबके समझानेपर मोरार माताके साथ हालार चले गये। पर गुरुका वियोग उनके लिये बड़ा ही दुःखद हुआ। मोरारसाहेबने 'सद्गुरु-वियोग' ग्रन्थ लिखा, जो बहुत ही हृदयद्रावक है। माता और मोरारका संवाद भी

पदोंमें मिलता है।

गुरुके वियोगमें मोरार बीमार हो गये। पुत्रकी बीमारीसे माताको बड़ा क्लेश होता था और वह दवा करानेमें लगी रहती थी। मोरारसाहेब बार-बार यही कहते थे—'माताजी! मुझे गुरुदेव रविसाहेबके पास ले जाये बिना मैं अच्छा नहीं होऊँगा।' माताजीने अन्तमें पुत्रको रविसाहेबके दर्शन करके पुनः लौट आनेकी आज्ञा दी। मोरार रविसाहेबके दर्शनके लिये शेडखीमें पहुँचे। वहाँ कुछ दिन रहकर और गुरुका उपदेशामृत पान करके फिर वे हालार लौट आये और गौएँ चराने, सदाव्रत बाँटने तथा अतिथि-अभ्यागतकी सेवा करनेमें जीवन बिताने लगे। माताके स्वर्गवासके उपरान्त वे फिर शेडखी रविसाहेबके यहाँ चले गये और पूर्णरूपसे साधन-भजनमें लग गये। उसी समय जामनगरके खंभालिया गाँवके एक भक्त वीरमजीने आकर मोरारको रविसाहेबसे माँगा। रविसाहेबने स्वीकार कर लिया, परंतु प्रार्थना करके उन्होंने गुरु रविसाहेबसे यह स्वीकार करवा लिया था कि 'वे अन्तिम कालमें खंभालियामें रहेंगे और वहीं समाधिस्थ होंगे।' सं० १८४२ में मोरार भक्त खंभालिया पहुँचे और वहाँ एक मन्दिर बनवाकर भक्तिसाधनामें लग गये। उनका प्रभाव सौराष्ट्रमें दूर-दूरतक फैल गया। उनकी रची हुई संत-वाणीका गान घर-घर होने लगा। दूर-दूरसे यात्री उनका दर्शन करनेके लिये आने लगे। मोरारजीके सत्सङ्गसे अनेकों पुरुष सुधर गये और भजन-साधनमें लग गये। मोरारसाहेबका जीवन दुःखियोंका दुःख निवारण करनेमें लगा। उनके जीवनके अनेकों चमत्कारोंकी कथाएँ सौराष्ट्रमें विख्यात हैं।

जामनगरके राजा रणमलने एक संत-मेलेकी आयोजना की। दूर-दूरसे संत वहाँ पधारे। जामनगरसे मोरारसाहेब १९०४ सं० में खंभालिया लौट आये और महाप्रयाणकी तैयारी करने लगे। यह समाचार सुनकर सौराष्ट्रमें दूर-दूरसे प्रेमीजन दौड़ पड़े। जामनगरके राजा साहब भी व्याकुल होकर वहाँ पहुँचे और तलवार खींचकर बोले कि 'यदि आपने समाधि ली तो मैं आत्महत्या कर लूँगा।' राजाने बलपूर्वक मोरारसाहेबको रोक लिया। श्रीफल डालकर खुदी हुई समाधि बंद कर दी गयी और एकत्रित जनसमूह बिखर गया। उस दिनसे भक्त मोरारसाहेब ध्यानस्थ होकर बैठ गये और लगातार एक वर्षतक उसी स्थितिमें रहे। सं० १९०५ में चैत्र शुक्ला द्वितीयाको प्रातःकाल उन्होंने बंद की हुई समाधि खुलवायी और झटपट समाधिस्थ हो गये। इस महाप्रयाणका समाचार सारे सौराष्ट्रमें बात-की-बातमें फैल गया। राजकोटमें अंग्रेज-अधिकारी (गवर्नर जनरलके एजेंट)-ने यह समाचार सुना और जामनगरके नरेशके ऊपर मुकद्दमा चलाया। एक वर्षतक मुकद्दमा चला; अन्तमें अदालतने फैसला दिया कि समाधि खोद डाली जाय। लोग यह फैसला सुनकर काँप उठे। अंग्रेज अधिकारीने जामनगरके नरेशको समाधि खुदवानेका आदेश दिया। परंतु वे इसके लिये तैयार न हुए। इसलिये वह क्रोधमें भरकर एक सेनाकी टुकड़ीके साथ खंभालिया जा पहुँचा। आवेशमें आकर उसने मोरारसाहेबके धाममें प्रवेश किया। पर मन्दिरके चौकमें, जहाँ मोरारसाहेबकी समाधि थी, पहुँचते ही वह अंग्रेज अधिकारी स्तब्ध हो गया। देखता क्या है कि समाधिके ऊपर संत विराजमान हैं। भारतीय संतके इस प्रकार प्रभावको देखकर उसका गर्व दूर हो गया। उसने टोपी उतारकर सिर झुकाकर बार-बार नमस्कार किया। तदनन्तर मन्दिरसे बाहर निकलकर अपनी सेनाके साथ वह शान्तचित्तसे राजकोटको लौट गया।

सौराष्ट्रके प्रेमी भक्त आज भी उस गाँवको 'मोरार साहेबका खंभालिया' कहकर पुकारते हैं। उनके अनेकों शिष्य थे, जिनमें कई संत-जगत्में नक्षत्रके समान प्रकाशित हुए। इनमें चरणदास, दलूराम, सुन्दरदास, जीवा भक्त, साईं करीमशाह और दास होथीका नाम विशेष उल्लेखनीय है। संत मोरारसाहेबद्वारा रची हुई संत-वाणी आज भी महागुजरातके भक्तजनोंमें प्रेमसे गायी जाती है।
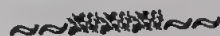
भक्त गंगसाहेब

(लेखक—श्रीमाणेकलाल शङ्करलाल राणा)

सद्‌गुरु भाणसाहेबके पुत्र खीमसाहेबके लाडिले सपूत गंगसाहेब हुए। शेडखीमें रविसाहेबने भविष्यवाणी की थी कि 'खीमके घरमें एक पुत्ररत्न उत्पन्न होगा, वह परम विवेकी और प्रभावशाली संत बनेगा।'

गंगसाहेब खीमसाहेबके द्वितीय पुत्र थे। जब उनका जन्म हुआ, तब समाचार पाकर शेडखीसे रविसाहेब आये और शिशुका मुँह देखकर प्रसन्न हो गये। तत्काल गङ्गाराम नाम लेकर पुकारा और उसके कानमें महामन्त्र सुना दिया।

खीमसाहेबके घर आनेवाले साधु-संत बालकका मुख निहारकर चकित हो उठते थे और 'यह बालक होनहार और परम संत होगा'— ऐसा यशोगान करके विदा होते थे। कुछ वर्षोंके बाद रविसाहेबने आकर गंगको मन्त्र-दीक्षा दी। उसी समय गंगने कहा—'प्रभु! मुझको यहाँ रहना अच्छा नहीं लगता। मैं तो आपके संग चलूँगा।' बालककी दृढ़ भावना देखकर संत खीमसाहेब भी सहमत हो गये। इसलिये गंगको साथ लेकर रविसाहेब शेडखी लौट गये। गंगको बचपनसे ही उन्होंने अमृतबोध देना शुरू किया। उसको अवधूतका वेश दिया और विद्याभ्यास भी कराने लगे।

कुछ वर्षोंके बाद रविसाहेब गंगको लेकर तीर्थभ्रमणके लिये निकले। रास्तेमें अनेकों साधु-संतोंका सत्सङ्ग और ज्ञानचर्चा करनेका अवसर प्राप्त हुआ। लौटते समय वाराही गाँवमें, जहाँ खीमसाहेब रहते थे, वे पहुँचे। गङ्गारामको देखकर खीमसाहेबका प्रेम उमड़ आया। रविसाहेबसे गंगको वापस माँगा। गङ्गाराम रविसाहेबका संग छोड़ना नहीं चाहते थे। पर उन्होंने समझा-बुझाकर पिताके साथ रहनेके लिये उन्हें राजी किया। रविसाहेबके जानेके बाद गंग सरोवरके किनारे निर्जनमें चले जाते और शान्तचित्तसे प्रभुके ध्यानमें बैठ जाते। दिनभर ध्यान-भजनमें ही बीत जाता। शामको खीमसाहेब आते और समझा-बुझाकर घर ले जाते। सद्‌गुरु रविसाहेबकी कृपासे उनको बालकपनमें ही योगसाधन और सहज समाधिका अनुभव प्राप्त हो गया था।

कुछ वर्षों बाद आप तीर्थाटनके लिये निकल गये। यात्रामें अनेकों संतोंसे समागम हुआ। अनेकों भक्तजनोंको आपने रास्ता दिखलाया। सौराष्ट्रमें भ्रमण करते मोरारसाहेबसे भेंट हुई और वहाँ दुर्लभ ज्ञानगोष्ठी हुई। काठियावाड़के रजवाड़ोंमें घूमते, ज्ञानचर्चा करते कच्छकी ओर निकल गये। सापर गाँवमें अपने पिता खीमसाहेबके पास कुछ दिन रहे। फिर शेडखी चले गये। कुछ समय पुनः सापरमें आ गये। गंगसाहेब बड़े ही प्रभावशाली और ध्यानी भक्त थे। उनके चमत्कारकी बहुत-सी कहानियाँ सुननेमें आती हैं। सं० १८८३ में सापरमें उन्होंने जीवित समाधि ले ली। आज भी वह समाधि विद्यमान है।

महीकांठाके भक्त मेहाजल

(लेखक—श्रीमाणेकलाल शङ्करलाल राणा)

गुजरात-प्रान्तकी महीकांठा एजेन्सीके अन्तर्गत घोड़ासर नामक गाँवमें श्यामदास और सुलभी नामके राजपूत दम्पति रहते थे। शेडखीके महात्मा रविसाहेबके बड़े भक्त थे। मेहाजल उसी दम्पतिके पुत्र थे।

एक दिन वे दम्पति अपने पुत्रको लेकर रविसाहेबके दरबारमें गये। पुत्रके मुखको देखकर रविसाहेब हर्षित हो उठे, परंतु दूसरे ही क्षण उनका मुख म्लान हो गया। यह देखकर सुलभी घबरा गयी और उनसे इसका रहस्य पूछने लगी—'प्रभु! तुम हमसे कोई भेद न छिपाओ; जो बात हो, उसे स्पष्ट कह दो।' सुलभीके इस आग्रहपर भी महात्मा चुपचाप बैठे रहे। अचानक आकाशमें बदली छायी और क्षणभरमें पानी बरसने लगा। गोदमें बालकको लिये हुए सद्‌गुरु इस मेहाजलमें मानो स्नान कर रहे थे।

वर्षाके दिन न थे, फिर भी अचानक मेहाजल आ गया। यह देखकर सद्‌गुरुने सुलभीसे कहा 'इस लड़केको अब मेहाजलके नामसे पुकारना।' बालकके भविष्यके

बारेमें रविसाहेबने कहा कि 'तुम्हारा यह लड़का मेहाजल मायाके मृगजलमें नहीं फँसनेवाला है।' हुआ भी ऐसा ही, ग्यारह वर्षकी उम्र होनेके साथ ही एक दिन मेहाजल अपनी माताके चरणोंमें सिर नवाकर बहुत शीघ्रतासे अरवली पहाड़की ओर भाग गया। माता उसके पीछे दौड़ी, पर वह कुछ ही क्षणोंमें वायुवेगसे आँखोंसे ओझल हो गया।

रविसाहेबके कथनानुसार मेहाजल माताका न रहा। पुत्र-वियोगमें माता निरन्तर व्याकुल रहने लगी। कुछ दिनोंके बाद एक पहाड़ी भोमिया आया और उसने खबर दी कि मेहाजल अरवलीकी कन्दरामें रहता है। माता-पिता व्याकुल होकर भोमियाके साथ वहाँ जा पहुँचे। माता दौड़ती हुई लड़केके पास गयी और 'मेरा बेटा!' कहकर धड़ामसे गिर पड़ी। कुछ देरके बाद जब माता स्वस्थ हुई, तब मेहाजलने जंगलसे फल-मूल लाकर माता-पिताको भोजन कराया। माताने हठपूर्वक कहा—'बेटा! अब तुझे छोड़कर हमलोग यहाँसे नहीं जायँगे।'

कुछ दिन माता-पिताके साथ रहनेके बाद मेहाजल एक दिन उनको छोड़कर बाघ-सिंह आदि हिंस्रक पशुओंकी भयानक गर्जनासे परिपूर्ण पर्वतकी ऊँची कन्दरापर चढ़ गये। पुत्रको लापता देखकर माता-पिता कलपते हुए घर लौट आये। बाल्यावस्थामें ही आसन मारकर प्रेमसे श्रीहरिका ध्यान लगाये वह बालयोगी कई वर्षोंतक तपस्या करता रहा। उसके बाद वे अरवलीसे नीचे उतरे और शेडखीका रास्ता लिया। दूरसे ही रविसाहेबने उन्हें आते हुए देखा और दौड़कर 'मेहाजल! मेहाजल!' कहते हुए हृदयसे लगा लिया। सद्गुरुके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बह निकले। मेहाजल सात दिन गुरुधाममें रहे, दुर्लभ सत्सङ्ग हुआ। आठवें दिन विदा होकर वे पुनः अरवली पहाड़पर चले गये। सद्गुरु व्याकुल होकर उनको खोजनके लिये निकले। अरवलीके पहाड़ी जंगलोंके बीच घूमते हुए वहाँ पहुँचे, जहाँ मेहाजल पद्मासनसे बैठे ध्यान जमाये थे। गुरुने देखा, साधकका ब्रह्मरन्ध्र फूट गया है और ज्योति निकल गयी है।

कच्छके महान् भक्त दादा मेकण

(लेखक—श्रीबदरुद्दीन राणपुरी)

दादा मेकण जातिके राजपूत और गुरु कापड़ी गणराजाके शिष्य थे। कच्छके छोरपर सिन्ध-गांग पार करके रास्तेपर ध्रंग लाडोई नामक गाँवमें उन्होंने अपना सारा जीवन बिताया। इनके पिताका नाम हरधोलजी और माताका नाम पबांबा था। उनके पास लालाराम नामका एक गधा और मोतीराम नामका एक कुत्ता था। मेकण साधु गधेकी पीठपर पानीकी छोड़ डालते और दोनों बगलके खनोंमें दो ठंडे पानीके भरे मटके डाल लेते और सिरपर एक खाली डबला लेकर गधे और कुत्तेके साथ कच्छके रनकी ओर निकल जाते। इस प्रकार ये चार पैरवाले पशु चारों पहर रनमें फिरते। रास्तेमें प्यासे मुसाफिरोंको पानी पिलाते और रास्ता भूले हुओंको वे प्राणी मार्ग बताते थे। जब पानी खतम हो जाता, तब वे दोनों पशु वापस लौट आते। जंगलके चीते-जैसे जंगली जानवर भी इन दोनों पशुओंसे दूर रहते थे। रास्तेके किनारे मेकणका स्थान कच्छ और सिन्धके मुसाफिरोंके लिये एक खास मुसाफिरखाना बन गया था। हजारों मुसाफिरोंके लिये वे काँवर भरकर रोटी लाते, उनको खिलाते और ठंडा पानी पिलाते थे और थके लोगोंको वहाँ विश्राम मिलता था।

महात्मा मेकणने एक-एक धूनीपर बारह-बारह वर्ष तपश्चर्या की। अन्तमें तपोबलसे वे बड़े भारी भक्त हो गये। ख्याति खूब बढ़ी; प्रशंसा सुनकर दूर-दूरसे संत-महात्मा और मुमुक्षु सत्सङ्ग करनेके लिये आने लगे। उनके जीवनमें चमत्कार भी खूब हुए। ध्रंगमें मठस्थापना करके वे जनताको और अपने शिष्योंको सदुपदेश देने लगे।

महात्मा मेकणकी शिष्य-मण्डली मेकापंथी कापड़ी कहलाती है। साधुसमाजमें कापड़ियोंके दो पंथ हैं। आशापुरी मठके साधु अपनेको कापड़ी कहते हैं और

मेकणका शिष्यसम्प्रदाय अपनेको मेकापंथी कापड़ी कहता है। मेकापंथी मठके महंत त्यागी होते हैं, गृहस्थोंको शिष्य बनाते हैं। आशापुरी मठके कापड़ी माता जगदम्बाके पुजारी और शाक्त होते हैं।

कच्छके राजा एक दिन शिकारके लिये निकले। दादा मेकणकी प्रशंसा सुनकर उनके दर्शनको गये। साधुने अतिथिको देखकर सत्कार किया, बैठनेके लिये आसन दिया। राजाके देहपर चमकीली राजसी पोशाक मेकणके मनपर कुछ असर न कर सकी। राजाने कहा— 'दादाजी! कुछ माँगो। कहो तो राज्यसे रुपये भिजवा दूँ।' मेकणने जबाब दिया—'राजा! रुपये-रुपये क्या कर रहे हो। वह तो मायाकी वस्तु है। मर जानेपर तो मुँहमें धूल ही पड़नेवाली है। कुछ चले गये और कुछ चले जायँगे। किस लिये जुल्म करते हो। मैंने तो शहरों-के-शहर मनुष्यके बिना सूने पड़े देखे हैं।' राजाने कहा—'मुझे कुछ उपदेश दीजिये।' भक्तने जबाब दिया—'राजा! ज्ञानरूपी मोती जैसे-तैसेको नहीं मिल सकता। सच्चा ग्राहक मिलनेपर ही हृदयरूपी हाट खुलनी चाहिये।' राजाने कहा—'तब मेरी कुछ विनती ही स्वीकार कीजिये।' भक्तने कहा—'राजा! तुमसे एक ही चीज माँगनी है कि यहाँ मेरी कुटियाके आस-पास शिकार न खेलो। आजसे ही यहाँ आस-पास शिकार खेलनेकी मनाही है।'

संत मेकण महान् त्यागी थे। उन्होंने कभी किसी वस्तुका सञ्चय नहीं किया। जो मिला, उससे लोगोंकी सेवा की। सं० १७८६ के आश्विन बदी चतुर्दशीको ध्रंगमें उन्होंने जीते-जी समाधि ले ली। उनकी समाधिपर आज भी मेला लगता है और हजारों हिंदू-मुसलमान जाकर भजन-कीर्तन करते हैं।

उनकी वाणी अबतक कच्छ-काठियावाड़में घर-घर गायी जाती है। उनकी वाणीका कुछ नमूना यहाँ दिया जाता है—

जिसने रामको नहीं भजा, उसको बैलका जन्म मिलता है और वह खेत जोत-जोतकर जब मरता है, तब उसकी आँखें कौए नोचते हैं। × × × मैं श्मशानमें गया, वहाँ कोरा घड़ा चिताके ऊपर पड़ा था। अरे मनुष्यो! एक दिन अपना भी ऐसा ही आनेवाला है। × × × ये वही बँगले हैं, वही जगह है, दीवालोंके रंग-बिरंगे चित्र भी कायम हैं। मेकण कहता है— लोगो! वे दीवाल रँगनेवाले चले गये।

× × × जबतक जियो, किसीके साथ जहर न पैदा करो, सबके साथ शक्कर-जैसी मिठास-से रहो। आदमी मर जायगा, पर उसकी भलाई रह जायगी।

मेघ स्वामी

(लेखक—श्रीबदरुद्दीन राणपुरी)

काठियावाड़में बढ़वाणके पास दुधइमें ये महान् पुरुष हो गये हैं। जातिके ये रैबारी थे। इनके गाँवसे दो-तीन मील दूर त्रिनेत्रेश्वर महादेवका मन्दिर था। ये वहाँ नित्य नहाने और पूजा करने जाया करते थे। एक दिन मेघ स्वामी मन्दिरमें पूजा करनेके लिये गये। इधर चोर उनके घरपर आये और कम्बल-वस्त्रादि जो कुछ था, लेकर चलते बने। उधर मेघ स्वामी शामको पूजा करके लौटे। इस बीच चोर वहीं भटक रहे थे। बात यह थी कि चोरोंकी बुद्धि हत हो गयी थी, उनको कहीं रास्ता ही नहीं मिला। जब मेघ स्वामीको आते देखा, तब वे जाकर उनके पैरों पड़ गये और सारी हालत सुनाकर उनके कम्बल वगैरह वापस कर दिये तथा माफी माँगी। मेघ स्वामी बड़े ही दयालु थे। उन्होंने विचारा कि चोर दिनभरके भूखे हैं; इसलिये उनको साथ लेकर डेरेपर गये और उनको भलीभाँति भोजन कराया। जाते समय चोरोंने जीवनभर चोरी न करनेकी प्रतिज्ञा की।

मेघ स्वामी बड़े ही निरभिमानी और सरल हृदयके भक्त थे। अपने स्थानपर बहुत-सी गायें रखते थे। उन्हें स्वयं चराने ले जाते और स्वयं ही उनका गोबर आदि उठाया करते थे। सं० १८०० में उनका देहान्त हुआ।

भक्त कवि अखा

(लेखक—श्रीसीतारामजी सहगल)

संसारके महापुरुषोंकी जीवनीको यदि ध्यानसे देखा जाय तो मालूम होता है कि कुछ छोटी-सी घटनाओंने उनके जीवनमें महान् परिवर्तन किये। अग्निमें पड़े सुवर्णकी तरह उन्होंने अन्तर्निहित दैवी शक्तिका अनुभव किया और विश्वमें समय-समयपर अनेक क्रान्तियाँ हुईं। सूर, तुलसी और कालिदासकी जीवनियोंको देखें तो श्रुतिपरम्पराओंके अनुसार इन्होंने अपनी प्रियतमाओंसे प्रेरणा प्राप्त की। इन्होंने संसारको वह साहित्य प्रदान किया है, जो कालातीत कहा जा सकता है। भक्त अखा भी इसी सुवर्णशृङ्खलाकी एक लड़ी हैं, जिन्होंने छोटी-सी सांसारिक घटनासे प्रेरणा प्राप्तकर इस संसारका मोह त्याग दिया।

इनका जन्म संवत् १६४९के लगभग हुआ था। इनके पिताका नाम रहियो था। माताका बचपनमें ही देहान्त हो गया था। इनका विवाह बचपनमें कर दिया गया था। ये पंद्रह वर्षकी उम्रमें ही जेतलपुरसे अहमदाबादमें आकर रहने लगे थे। कहते हैं कि ये अहमदाबादमें देसाईकी पोलमें रहते थे। इनका पूरा नाम अखेराय था। आज भी सर चिनुभाईके डेरेके पास कुएँवाले खाँचेमें एक मकानपर 'अखानो ओरडो' (घर) ऐसा लिखा है। गुजरातमें यह तो स्वत:सिद्ध बात मानी जाती है कि अखा अहमदाबादके शहरमें रहते थे। गुजरातमें प्रचलित परम्पराके अनुसार अखा सुनारका काम किया करते थे। समाजमें उनपर लोगोंको अटल विश्वास था। एक बार एक स्त्रीने उनके पास तीन सौ रुपयेकी धरोहर रखी। कुछ समय बाद उसी स्त्रीने भक्तराज अखासे कहा कि 'मुझे तुम इतने रुपयोंकी कण्ठमाला बना दो। अखा उससे बहनकी तरह स्नेह करते थे। इसलिये उन्होंने एक सौ रुपयेका सुवर्ण अपनी ओरसे मिलाकर एक सुन्दर माला उसको बनाकर दी। परंतु उस स्त्रीको यह सूझा कि अखा वृत्तिका सुनार है, इसलिये उसने इस मालामें कुछ गड़बड़ अवश्य की होगी। वह परीक्षाके लिये उसे दूसरे सुनारके पास ले गयी। उसने उसमेंसे एक सोनेकी लड़ी काट ली और उसकी कीमत कम बतायी। वह स्त्री अखाके पास आकर उन्हें कोसने लगी। सरलहृदय अखाका चित्त खिन्न हो गया। मोहने वैराग्यका रूप धारण किया। उसने कहा—*'संसार साचानो न थी।'* इन्होंने वैराग्यकी अनुभूति नगरमें रहते हुए प्राप्त की, जंगलमें तपस्या करते हुए नहीं।

विरक्त होकर इन्होंने सुनारके सब हथियार कुएँमें फेंक दिये और साधु-संतोंकी खोजमें ये घरसे निकल पड़े; जिस-जिस रास्तेसे वे निकले, उन्हें ठगबाजी ही दिखायी दी। एक बार वे अपना नाम और वेश बदलकर एक मन्दिरमें गये। वहाँ उन्हें धक्के मारकर बाहर निकाल दिया गया। गुसाईंजीको इन्होंने कहा कि 'आप पैसेवालोंके ही साथी हैं; निर्धनका कौन साथी है। इस विषयपर इनकी एक साखी प्रसिद्ध है—

गुरु कीधा में गोकुलनाथ घरडा बळदने घाली नाथ।
धन हरे, धोको नव हरे, एवो गुरु कल्याण शुं करे॥

संत कवियोंकी तरह इन्होंने गुजराती साहित्यको अपूर्व देन दी है। हिंदी-साहित्यके आदिकालकी तरह गुजरातमें भी संतकवियोंने भक्तिधाराका प्रवाह चलाया। इन्होंने अपनी संस्कृतिका प्रचार कविता-वाङ्मयद्वारा किया। नरसी, मीरा, प्रेमानन्द, शामल तथा दयाराम आदि संतकवि सुप्रसिद्ध हैं। इनमें अखाका अपना स्थान है। इनकी कृतियोंमें 'गीता' सुप्रसिद्ध है। अनुभवबिन्दु इनकी दूसरी सम्मानित रचना है। इसके अतिरिक्त भी गुरु-माहात्म्य, गुरु-गोविन्द-एकता, मायानुं स्वरूप, भक्ति-ज्ञान-वैराग्यनुं माहात्म्य, सर्वात्मभाव, प्रेमलक्षणा, जीवन्मुक्तदशा, ब्रह्मवस्तु-निरूपण, ब्रह्म-ईश्वर-जीवनी एकता, वितण्डावादो नुं वर्णन, षड्दर्शनचिकित्सा और सत्संगमहत्ता आदि ग्यारह ग्रन्थ हैं,जो भक्ति, ज्ञान और वैराग्यसे सने हुए हैं।

संवत् १७३०के आस-पास इनका देहान्त हुआ था, ऐसा माना जाता है।

भक्त कवि श्रीदयारामभाई

(लेखक—जोशी श्रीजीवनलाल छगनलालजी)

प्रसिद्ध भक्तरत्न गुजरातके महाकवि श्रीदयारामभाईका जन्म सं० १८३३ के भाद्रपद शुक्ला द्वादशी-(वामनद्वादशी)को डभोईमें हुआ था। उनके पिताका नाम प्रभुराम भट्ट और माताका नाम महालक्ष्मी अथवा राजकोर था। माता-पिताके गोलोकवासी हो जानेके कारण दयारामभाई ननिहालमें रहते थे।

दयारामभाईके भावुक हृदयको जाग्रत् करनेवाले थे—भगवद्भक्त श्रीइच्छाराम भट्ट। भट्टजीके समागमसे दयारामभाईका आभ्यन्तरिक जीवन आश्चर्यजनक रीतिसे पलट गया। भट्टजीका उपदेश प्राप्तकर दयारामभाईने अपना जीवन श्रीकृष्णके गुणगानमें ही लगा दिया और गोस्वामी श्रीवल्लभलालजी महाराजसे दीक्षा ग्रहण की। विवाहके लिये कहनेपर इन्होंने बिलकुल इन्कार कर दिया और कहा कि 'मेरा विवाह तो श्रीकृष्णचन्द्रके साथ हो चुका, अब मुझे किसी और विवाहकी आवश्यकता नहीं है।'

एक बर्यो गोपीजनवल्लभ, नहिं स्वामी बीजो।
नहिं स्वामी बीजो रे मारे, नहिं स्वामी बीजो॥

रसीले दयारामभाई युगलसरकारके दर्शनार्थ वृन्दावन पहुँचे। तीन दिन अनशन करके रहे। चौथे दिन श्रीजीसहित भगवान् श्रीकृष्णने दर्शन देकर इन्हें कृतार्थ किया और अपनी प्रेमलक्षणा भक्ति दी। अपने इन अद्भुत अनुभवोंका वर्णन दयारामभाईने 'अद्भुतमञ्जरी' नामक ग्रन्थमें किया है। इस मञ्जरीमें भगवान्‌की विविध लीलाओंके दर्शन होते हैं, जिन्हें पढ़ते-पढ़ते हृदय द्रवित हो जाता है।

दयारामभाईने ग्यारह भाषाओंमें साहित्यिक रचना की। परंतु उनकी समस्त रचनाएँ राधेश्यामके गुणानुवादसे ही भरी हैं।

दयारामभाईकी गरबियोंने गुजरातके घर-घरमें अपना स्थान कर रखा है। जबतक गुजरात और गुजराती भाषा तथा गुजराती साहित्यमें गरबी साहित्यको स्थान रहेगा, तबतक दयारामभाईका नाम अमर रहेगा।

संवत् १९०१ माघ वदी पञ्चमीके दिन इस रसिक भक्त-शिरोमणिने डभोईमें ही नश्वर शरीरको छोड़कर गोलोकके लिये प्रयाण किया। भगवत्प्राप्तिके समय इनके शिष्योंने इनके आज्ञानुसार—

'मारा अंत समे अलबेला मुजने मूकशो मा।'
'दरशन दो नी रे दासने मारा गुणनिधि गिरधरलाल॥'

—आदि प्रेमभरे पद गा रहे थे।

भक्त कवि केशव

(लेखक—श्रीबदरुद्दीन राणपुरी)

भक्त कवि केशवका जन्म मोरवीमें हुआ था। पिताका नाम हरिराम और माताका नाम झवेरबाई था। वे जीवनमें सदा ही परमार्थ-चिन्तन, हरिभजन और प्रभुका नाम-गुण-गान करनेमें लगे रहे। उनके काव्यसे इसका पूरा पता मिलता है। उन्होंने 'केशव-कृति' नामसे नीति, ज्ञान, वैराग्य और भक्तिरससे भरपूर एक ग्रन्थ लिखा है। उनका सारा जीवन बम्बईकी 'वेदधर्म-सभा' की सेवामें अर्पित था और वहाँसे अवकाश लेकर 'आर्यधर्मप्रकाश' मासिक पत्रमें सनातन धर्मकी उन्नति और आर्य-संस्कृतिकी रक्षाके लिये सदा अच्छे-अच्छे लेख लिखा करते थे और उसका प्रभाव जनताके ऊपर बहुत अच्छा पड़ता था। उनका अन्तःकरण भक्तिसे भरपूर था। भगवा वस्त्र पहने बिना ही उनका हृदय आन्तरिक वैराग्यसे रँगा हुआ था। वे सदा ही प्रभुभक्तिमें मस्त रहते थे। संसारकी प्रत्येक वस्तुसे वासनाका त्यागकर कविका हृदय भगवान्‌के श्रीचरणोंमें विश्राम प्राप्त करता था। ईश्वर ही उनके सर्वस्व थे। यह बात उनकी प्रत्येक कवितासे झलकती है।

देहान्तके दो-एक दिन पहले उन्होंने अपने समस्त आत्मीयजनोंको पास बुलाया और यह स्वरचित भजन सुनाया—(हिन्दी-अनुवाद)

हम तो आज तुम्हारे भाई! दो दिनके मेहमान।
सफल करो यह सहज समागम, सुखका यही निदान॥
आये त्योंही चले जायँगे, हम सब एक समान।
फिर कोई दिन नहीं मिलेंगे करनेको सन्मान॥
निभै सदा सम्बन्ध परस्पर, रहे धर्ममें ध्यान।
सद्गुण धारण करो-कराओ, दूर करो अभिमान॥
लेश नहीं मेरे अन्तरमें मान और अपमान।
हो यदि कुछ कड़वास हमारी, तो प्रिय! कर लो पान॥
केशव हरिने अति करुणा की, भ्रमो न भूलो मान।
रहता तत्त्वज्ञान उसीको, हो न जरा अज्ञान॥

यह भजन सुनाकर कविने सबको विदा किया और दो-ही-तीन दिनोंके अंदर उनके प्राणपखेरू उड़कर प्रभुके चरणोंमें जा बैठे।

काठियावाड़में केशव कविका यह भजन घर-घर गाया जाता है। यह भजन महात्मा गाँधीजीको बहुत प्रिय था।

मारी नाड तमारे हाथे, हरि संभाळजो रे।
मुजने पोतानो जाणीने प्रभु-पद पाळजो रे॥
पथ्यापथ्य नथी समजातुं, दुःख सदैव रहे उभरातुं।
मने हशे शुं थातुं, नाथ निहाळजो रे॥
अनादि आप बैद छो साचा, कोई उपाय विषे नहिं काचा।
दिवस रह्या छे टाँचा, वेळा बाळजो रे॥
विश्वेश्वर शुं हजी विसारो, बाजी हाथ छतां कां हारो।
महा मुंझारो मारो नटवर! टाळजो रे॥
'केशव' हरि मारूँ शुं थाशे, घाण वळ्यो शुं गढ घेराशे।
लाज तमारी जाशे, भूधर! भाळजो रे॥

रामभक्त श्रीगोपीनाथाचार्य

(लेखक—श्रीकन्हैयालाल भाईशंकर दवे)

गुजरातमें बहुतेरे भगवद्भक्त हो गये हैं। उनमें श्रीगोपीनाथाचार्यका नाम बहुत ही प्रसिद्ध है। उनकी माताका नाम चंपादेवी और पिताका नाम लक्ष्मीधर था। उन्होंने भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी अनन्यभावसे उपासना करके, सच्चे भावसे प्रभुकी सेवा करके उनका साक्षात्कार प्राप्त किया था। उनका चरित्र, नीति, व्यवहार और श्रीरामके प्रति अनन्य भक्ति अपूर्व थी। उनके जीवनमें आकर्षण था, उन्होंने एक सच्चे योगीके समान जीवन बिताया और कीर्ति प्राप्त की थी। उनके उपदेशामृतसे सैकड़ों आदमी उनके भक्त हो गये। आज भी उनका सम्प्रदाय अविरत गतिसे गुजरातभरमें चलता जा रहा है।

श्रीगोपीनाथाचार्यने शास्त्रोंका बहुत अच्छा अभ्यास किया था। उन्होंने ज्योतिर्मठके श्रीरामानन्द स्वामीसे उपदेश ग्रहण किया था—उनकी रामभक्ति रामानन्द स्वामीका अनुसरण करती थी। पूजा, चर्या, उत्सवादि भी सब वे तदनुकूल ही करते थे। सिद्धपुरमें सरस्वती नदीके किनारे, विन्दुसरोवरके नजदीक कदलीवनके नामसे उनका आश्रम आज भी विख्यात है। उनके उपदेशामृतमें ये दस सिद्धान्त प्राप्त होते हैं

१. इस सृष्टिके कर्ता, हर्ता और धर्ता प्रभु हैं। उनकी प्राप्ति ही जीवनका सच्चा ध्येय है।

२. सद्विद्या, सत्सङ्ग और सदाचार—आदि सद्गुण ईश्वरकी प्राप्तिके परम साधन हैं।

३. जीवनके परम ध्येय मुक्तिके लिये श्रीरामकी उपासना ही सर्वोत्कृष्ट साधन है।

४. निष्काम भक्ति ही सच्ची राम-उपासना है।

५. मातृ-भक्ति, पितृ-भक्ति और गुरु-भक्ति रामोपासनामें बहुत ही आवश्यक हैं।

६. वर्ण-व्यवस्था और आश्रम-धर्मोंके द्वारा ही जीवनको स्वच्छ बनाया जा सकता है।

७. चतुर्विध पुरुषार्थकी प्राप्तिके लिये प्रभु-भक्तिको ही मुख्य ध्येय बनाना चाहिये।

८. दसों इन्द्रियाँ, मन और आत्मा आदिकी पवित्रता ही सत्य धर्मका सच्चा लक्षण है।

९. सदुपदेश और सच्छास्त्रोंका चिन्तन मनुष्यको उच्च भूमिकामें ले जानेका श्रेष्ठ सोपान है।

१०. मानवजीवनमें संस्कार ही जीवनको श्रेष्ठ बनाते हैं। उनका सम्प्रदाय गुजरातमें इन सिद्धान्तोंका प्रचार करता है।

श्रीरविसाहेब [पृ० ७८४]

श्रीमोरारसाहेब [पृ० ७८६]

श्रीदयाराम भाई [पृ० ७९२]

रामभक्त श्रीगोपीनाथाचार्य [पृ० ७९३]
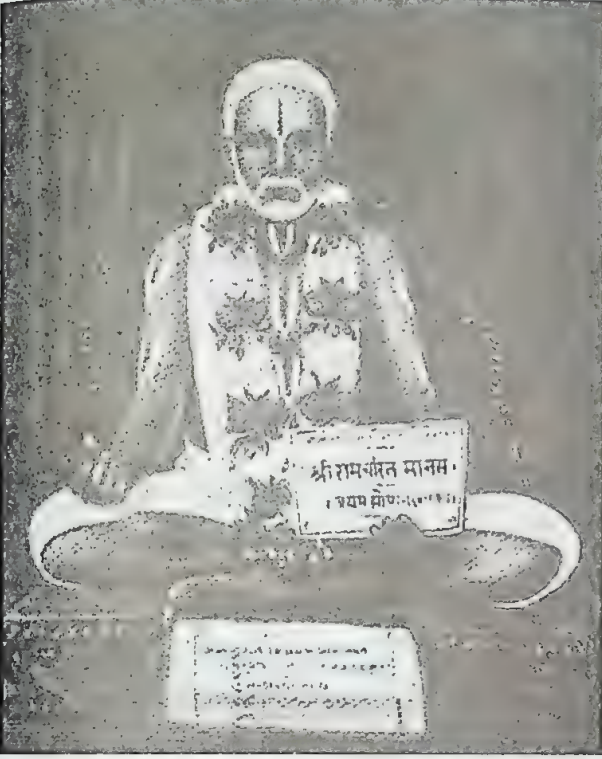
स्वामी श्रीसरयूदासजी महाराज [पृ० ७९६]

महात्मा मस्तरामजी [पृ० ७९९]

श्रीधारशी भक्त [पृ० ८०१]

श्रीशङ्करलाल माहेश्वर शास्त्री [पृ० ९००]

भक्त कानस्वामी

(लेखक—गोसाईं पीताम्बरपुरी, प्रेमपुरी)

कानस्वामीका जन्म उन्नीसवीं सदीमें काठियावाड़ तालुकाके बोडका ग्राममें हुआ था। उनके पिता दसनामी गोसाईं गृहस्थ थे। उनके बचपनमें ही उनके पिताने परलोककी यात्रा की। पालन-पोषण और शिक्षाका भार माताके कन्धोंपर आ पड़ा। उन्होंने कानस्वामीका विवाह पासके ही ग्राममें कर दिया। कानस्वामीका मन गृहस्थीमें नहीं लगता था। सहसा वैराग्यका उदय होनेपर वे गिरनार चले गये। साधु-संतोंके दर्शनका उनके हृदयपर बड़ा प्रभाव पड़ा, उनका जीवन बदल गया। लकड़भारती नामक एक महात्माने उनपर कृपा की, अपना शिष्य बना लिया। पर जब उनको यह पता चला कि कानस्वामी विवाहित हैं, तब उन्होंने घर जाकर गृहस्थी चलानेका आदेश दिया।

वे गुरुकी आज्ञासे घर चले आये; उनकी माताका उस समय देहान्त हो चुका था। अब उनका अधिकांश समय ईश्वर-भजन और पूजन तथा चिन्तन-स्मरणमें ही बीतने लगा। अब उनकी पत्नीको आशङ्का हुई कि वे कहीं घर छोड़कर चले न जायँ। एक बार वे घरसे नाता तोड़कर जानेवाले ही थे कि साध्वी पत्नीने उन्हींके साथ रहकर ईश्वर-भजन करनेकी इच्छा प्रकट की; कानस्वामीने इसको स्वीकार कर लिया।

अपने ग्रामसे थोड़ी दूरपर ही उन्होंने एकान्त स्थानमें अपना निवासस्थान स्थिर किया। वे सपत्नीक कुटीमें प्रसन्नतापूर्वक रहकर जीवन बिताने लगे। आसपासके लोगोंमें ही नहीं, समस्त काठियावाड़-क्षेत्रमें उनकी ख्याति फैल गयी। वह भूमि-भाग उनके तपस्यापूर्ण जीवनसे धन्य और पवित्र हो गया, चारों ओर भगवद्भक्तिकी खेती लहरा उठी। निकटके एक धनी व्यक्ति बालजी भाई कानस्वामीमें बड़ी श्रद्धा-भक्ति रखते थे। वे यथाशक्ति उनकी सेवामें लगे रहते थे। कानस्वामीने ईश्वर-भक्तिको ही जीवनकी अक्षय सम्पत्ति स्वीकार किया। उनका जीवन अत्यन्त सरल और पवित्र था।

महात्मा सरयूदासजी महाराज

(लेखक—पं० श्रीअम्बाप्रसाद नर्मदाशङ्करजी शुक्ल, एम० ए०, साहित्यरत्न)

महात्मा सरयूदास ईश्वरके परम भक्त थे, भगवान्‌की कथा कहनेमें उनको बड़ा आनन्द मिलता था। उनका जन्म सं० १९०४ वि०में गुजरातके पारडी गाँवमें हुआ था। उनका जन्म-नाम भोगीलाल था। बचपनमें उन्हें अपने पड़ोसी बजा भगतका सत्सङ्ग मिला। इसका परिणाम यह हुआ कि उनके भक्तिमूलक संस्कार उत्तरोत्तर विकसित होने लगे। उनकी शिक्षा-दीक्षा बहुत थोड़ी थी, अन्तरमें भगवान्‌की भक्ति तो जन्म-जन्मसे ही परिव्याप्त थी। यद्यपि उनके माता-पिता तथा परिवारके अन्य लोग जीवित थे, फिर भी वे अपने मामाके ही घरपर रहकर उनके व्यापारका कार्य सँभालते थे। कुछ दिनोंके बाद उनका विवाह हो गया। पर उनकी पत्नी अधिक दिनोंतक जीवित नहीं रह सकी।

एक दिन उनके गाँवमें कुछ साधु आये और एक सघन बरगदके पेड़के नीचे सत्सङ्ग आरम्भ हो गया, भोगीलालजीका साधुओंसे सम्पर्क बढ़ा, ईश्वरप्रेरणासे उन्होंने उनमेंसे एक साधुसे दीक्षा ले ली। संतने उनका नाम सरयूदास रखा। तदनन्तर अनेक तीर्थस्थानोंका भ्रमण करके सरयूदास अहमदाबादके प्रेमदरवाजेके मन्दिरमें रहने लगे। इस पवित्र स्थानपर उन्होंने भगवत्कथा आरम्भ की। नित्यप्रति भक्तोंकी भीड़ बढ़ने लगी। लोगोंको भक्तिपरक उपदेश देना, परोपकार करना तथा दीन-दुःखियोंकी सेवा करना उनके जीवनका आदर्श हो गया।

वे बड़े विनम्र और क्षमाशील महात्मा थे। एक बार

वे रेलगाड़ीके तीसरे दर्जेमें बैठकर डाकोरकी यात्रा कर रहे थे, एक पठानने उनको छेड़नेके लिये उन्हींकी ओर पैर फैलाना आरम्भ किया। सरयूदासने शीघ्रतासे उसके पैर पकड़कर सरलता और निष्कपटतासे कहा कि 'पीड़ा हो रही हो तो दबा दूँ।' पठानने उनसे अपने अपराधके लिये क्षमा माँगी। ····सरयूदासजी महाराज बड़े त्यागी थे, उन्होंने तृष्णा और लोभको कभी अपने पास नहीं फटकने दिया। वे सदा रुखा-सूखा सादा भोजन करते थे। एक सज्जन डब्बेमें रखकर उनका भोजन लाया करते थे। एक दिन महाराजजीने डब्बा खोलकर देखा तो रोटीमें घी अधिक लगा हुआ था, उन्होंने डब्बेको बंदकर अन्नपूर्णाको प्रणाम किया और उपवास किया। एक बार वे एक प्रसिद्ध सेठसे मिलने गये। पहले उसने कोई साधारण व्यक्ति समझकर उनसे मिलना अस्वीकार कर दिया; पर बादमें बँगलेसे बाहर निकलनेपर उनको देखते ही चरणोंपर गिरकर क्षमा माँगी और उनकी त्यागनिष्ठा देखकर वह चकित हो गया। महाराजने कुछ विद्यार्थियों और ब्राह्मणोंको भोजन देते रहनेके लिये उसको आदेश दिया।

वे बड़े निष्ठावान् भक्त थे। सदा ईश्वर-चिन्तनमें मस्त रहते थे। एक दिन वे सरिता-स्नान करके लौटते समय एक रोगीकी सेवामें लग गये, उनको वहाँ अधिक समय लग गया। इधर मन्दिरमें कथा सुननेवालोंकी भीड़ बढ़ने लगी। महाराज अपने समयके बड़े पक्के थे, भगवान्ने भक्तका यश बढ़ाया। कहते हैं कि वे स्वयं प्रकट होकर कथा कहने लगे। कथा समाप्त होनेपर लोग अपने-अपने घर जाने लगे। महाराज जल्दी-जल्दी कथामण्डपकी ओर जा रहे थे, महाराजने कुछ श्रोताओंसे अपनी अनुपस्थितिके लिये क्षमा माँगी। उन्हें यह जानकर आश्चर्य हुआ कि वे तो मेरी ही कथा सुनकर लौट रहे हैं। उन्होंने मन-ही-मन भगवान्का स्मरण किया, प्रेमसे गद्गद हो गये।

संवत् १८६८ वि०में उन्होंने साकेतलोककी प्राप्ति की। वे भगवान् रामके अनन्य भक्त थे।

भक्त दासी जीवण

काठियावाड़में बहुत ही प्रेमी भक्त हो गये हैं और प्रभु-प्रेमकी मस्तीमें उन्होंने भजन बनाये हैं। पर उनमें सबसे प्रथम स्थान दासी जीवणका है। इनकी वाणी जंगलकी झोंपड़ी-झोंपड़ीमें गायी जाती है—'दासी जीवण' नामसे ये स्त्री-भक्त मालूम होते हैं, पर वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। इनका नाम संत जीवनदास था। ये गोण्डल शहरके पास घोघाबदर गाँवके चमार थे।

एक दिन भजन-मण्डलीमें गुरुने उनसे पूछा कि 'तुम पुरुष होकर दासी जीवण कहलाते हो, इसका क्या रहस्य है?' सुनते हैं कि इसके बाद भजनकी खूब धुन लगी और सब एकतार हो गये। तब संत जीवण सोलह वर्षकी गोपीके रूपमें सबको दिखायी दिये। गुरुने शाबाशी दी, तदनन्तर वे फिर अपने रूपमें आ गये।

एक बार साधु-सेवाके लिये उन्होंने हदसे बाहर खर्च कर डाला, इसलिये चमड़ेके इजारेकी रकम वे दरबारको चुका नहीं सके। सबेरे जेलमें जानेकी तैयारी हो गयी। उस दिन रातको नरसी मेहताजीके समान उन्होंने भगवान्से प्रार्थना की, गाया—'मेरी टूटी गाड़ी और डूबती नावको तारनेवाले तुम एक ही हो! मैंने तो तुम्हारा आश्रय लिया है और लाज तुम्हारी जानेवाली है।' सुनते हैं कि व्यापारीके रूपमें भगवान् दरबारमें जाकर जितना देना था, उतना स्वयं भर आये।

दासी जीवण महान् सिद्ध भक्त थे। बड़े उपकारी और चमत्कारिक ढंगसे उन्होंने जीवन बिताया। सं० १८८७ में आपका देहान्त हुआ।

भक्त लालाजी

(लेखक—पं० श्रीमङ्गलजी उद्धवजी शास्त्री)

भक्त लालाजी भगवान्के अनन्य भक्त थे। उनका जन्म सौराष्ट्र प्रान्तके सिंधावदर ग्राममें सं० १८५६ वि० चैत्र शुक्ला नवमीको एक समृद्ध वैश्यकुलमें हुआ था। उनके पिताका नाम बलवन्तसाह और माताका वीरूबाई था। ऐसा कहा जाता है कि वे नरसिंह मेहताके अवतार थे। बचपनसे ही उनका मन भगवद्भक्ति और साधुसेवामें बहुत लगता। उनके पिताने उनको कपड़ेके व्यापारमें लगा दिया। जाड़ेका प्रभात था, लालाजी दूकानमें बैठे थे, संतोंकी एक मण्डलीने कुछ कम्बल माँगे; लालाजी उनको भयानक शीतसे आक्रान्त देखकर दयासे पिघल गये, उन्होंने प्रत्येक साधुको एक-एक कम्बल दे दिया। एक पड़ोसी दूकानदारने लालाजीके पितासे शिकायत की; उनके पिताने आकर कम्बलोंको गिना तो उन्हें यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि दूकानमें जितने कम्बल थे; उनसे एक अधिक है। साधुमण्डली नगरसे थोड़ी ही दूर गयी थी कि पड़ोसीके साथ बलवन्तने उनके पास जाकर कम्बलोंके सम्बन्धमें पूछ-ताछ की। संतोंने प्रसन्नतापूर्वक भक्त लालाजीके दान और उदारताकी सराहना की। उनके पिताने ऐसे भक्त पुत्रको पाकर अपने-आपको धन्य समझा।

धीरे-धीरे लालाजीकी ख्याति बढ़ने लगी। उनके पीछे-पीछे भगवान्के भक्तोंकी एक अच्छी मण्डली चलने लगी। एक बार वे सायला ग्रामके ठाकुर मदारसिंहके घरपर भक्तमण्डलीके साथ आमन्त्रित हुए। ठाकुरको एक बड़ा कष्ट था। वे जब भोजन करने बैठते, तब उन्हें भोजनसामग्रीके स्थानमें रक्त-मांस दिखायी देते। इसलिये ठाकुरको यह आशङ्का हो गयी थी कि कोई ब्रह्मराक्षस उनके भोजनालयमें आकर खाद्य-सामग्री छू देता है, इससे उन्हें भोजनके स्थानपर रक्त-मांस दीख पड़ता है। भक्त लालाजीने उनको समझाया कि 'भोजन भगवान्को समर्पित करनेके बाद ही खाना चाहिये।' भक्तमण्डलीने भगवान्को समर्पित भोजन किया तथा ठाकुरने भी प्रसन्नतापूर्वक प्रसाद लिया। लालाजीकी कृपासे आज उनको पवित्र प्रसाद ही दीख पड़ा। उनका कष्ट दूर हो गया। ठाकुर उनके भक्त हो गये। उन्होंने लालाजीकी प्रसन्नताके लिये एक सुन्दर मन्दिर भी बनवाया, जिसमें आजतक सदाव्रतका क्रम चलता आ रहा है।

एक बार लालाजी भक्तमण्डलीके साथ बड़े प्रेमसे भगवान्का भजन-कीर्तन कर रहे थे। भावावेशमें कभी रोते, कभी हँस पड़ते थे। भजन समाप्त होनेपर वे स्वयं प्रसाद वितरण करने लगे। एक पारधीने, जिसकी झोलीमें दो मरे हुए पक्षी थे, कहा कि 'मैं तबतक प्रसाद नहीं लूँगा, जबतक आप यह न बता देंगे कि मेरी झोलीमें क्या है।' भक्तराजने बड़ी विनम्रता और सादगीसे उत्तर दिया कि 'दो जीवित पक्षी हैं।' पारधीने प्रतिवाद किया कि 'आप भगवान्के भक्त होकर असत्य भाषण कर रहे हैं, दोनों पक्षी सबेरे ही मेरी बन्दूकसे मर चुके हैं।' भक्तराजने कहा कि 'भगवान्का भजन अमृतसे भी बढ़कर है, अमृत पीनेवाला कभी नहीं मर सकता।' पारधीकी झोलीके दोनों पक्षी जीवित निकले और झोली खोलते ही आकाशमें उड़ गये। उसने भक्त लालाजीकी चरण-धूलि मस्तकपर चढ़ा ली, वातावरण उनके जयनादसे आह्लादित हो उठा।

लालाजी क्षमाके तो मूर्तिमान् स्वरूप ही थे। एक समय वे भक्तमण्डलीसहित महाराजा भावनगरके अतिथि थे, राजधानीमें उनके स्वागत-सत्कारमें बड़ी चहल-पहल थी। दूर-दूरके संत और भक्तजन प्रसाद पा रहे थे। एक जटाधारी संतने लालाजीके हाथसे प्रसाद पानेकी इच्छा प्रकट की। लालाजीने उनसे विनम्रतापूर्वक भोजन करनेकी प्रार्थना की, पर उन्होंने भोजनके पहले वस्त्र माँगा। लालाजीने हाथ जोड़कर कहा कि 'भोजनके बाद वस्त्र-प्राप्ति सम्भव है।' संत आवेशमें आ गये, उन्होंने भक्तराजके मस्तकपर चिमटेसे प्रहार करके कहा कि 'तुम संतोंपर शासन करना चाहते हो?' वे बिना भोजन किये ही चल पड़े। लालाजी उनके पीछे दौड़ पड़े, कहा

कि 'महाराज! इस शरीरपर एक चिमटा और लगा दीजिये, यह अधम इसीका पात्र है।' संत भक्तराजकी क्षमा और सहनशीलता देखकर चकित हो उठे। दोनों बड़े प्रेमसे गले मिले।

एक समय उन्होंने सायलामें बहुत बड़ा उत्सव किया, उसमें दूर-दूरसे संतों और भक्तोंने आकर भाग लिया। एक जटाधारी संतने भण्डारीसे कहा कि 'मैं अपना भोजन स्वयं अपने हाथसे बनाऊँगा, तुम घीसे मेरा तूँबा भर दो।' उसने तूँबेमें घी डालना आरम्भ किया, पर वह भरता ही न था। भक्तराज भजन कर रहे थे। वे घटनास्थलपर स्वयं आये, अपने हाथसे ही तूँबा भरने लगे; पर न घीका पात्र खाली होता था और न तूँबा भरता था। संतने थोड़ी देरके बाद तूँबा फेंक दिया, वे भक्तराजका आलिङ्गन करके बोल उठे कि 'तुम भगवान्‌के पूरे भक्त हो, ज्ञान-विज्ञान आदिका अन्तिम परिणाम भक्ति ही है। तुम्हारा जीवन धन्य है।' संत अदृश्य हो गये।

भक्तराज लालाजीने संवत् १९१८ वि० में भगवान्‌के धामकी यात्रा की। उन्होंने अपना प्रयाणकाल पहलेसे बता दिया था। उनका भगवान्‌में अटल विश्वास था।

प्रेमी कवि बालाशङ्कर

महान् मस्त कवि बालाशङ्करका जन्म सं० १९१४ में हुआ था। वे गुजरातके एक प्रसिद्ध प्रेमी भक्त थे। उनकी कवितामें गोपीप्रेमके दिव्य भाव यत्र-तत्र भरे पड़े हैं। इसके सिवा ईरानका तत्त्वज्ञान, हाफिजकी दिव्य मस्ती उनके काव्यमें अद्भुत रीतिसे गुँथी हुई है। कवि हाफिजकी बहुत-सी फारसी कविताएँ गुजराती पद्यमें अनूदित की गयी हैं। इन्होंने मौलाना रूमकी मसनवी तथा शम्श तब्रेज और दूसरे सूफी कवियोंके ग्रन्थोंका अच्छा अभ्यास किया था। इसके सिवा अंग्रेज कवि बायरन, शेली, शेक्सपियर आदिके काव्योंका अनुवाद भी इन्होंने गुजरातीमें किया था। गुजरातीके प्रखर विद्वान् होनेके साथ-साथ आपका जीवन निःस्पृह, मस्त और प्रभुपरायण था। संसारके लोगोंसे ये सदा सावधान रहते थे। गुजरातके महान् कवियोंमें आपकी गणना की जाती है। बड़ौदेमें चालीस वर्षकी उम्रमें प्लेगसे आप कालकवलित हो गये। इनकी कविताका नमूना अनुवादरूपमें दिया जाता है—

'हे भाई! परमात्मा तुम्हारे ऊपर जो सुख या दुःख डाले, उसे तुम आनन्दसे स्वीकार करो। अपने प्यारे प्रभुको जो पसंद हो, उसीको तुम सबसे अधिक प्रिय समझो। × × × × सांसारिक लोगोंकी छल-कपटभरी वाणीमें बड़ा ही दुःख प्रतीत होता है, पर तुम उससे अपने अंदरके आनन्दको जरा भी कम न होने दो। × × × × अपने आत्मानन्दमें मस्त रहो, यही सच्चा सुख है। प्रभुके नामस्मरणरूपी अमृतके प्यालेको भर-भरकर पीते रहो।'

महात्मा श्रीमस्तरामजी महाराज

(लेखक—वैद्य बदरुद्दीन राणपुरी)

आप मारवाड़की ओरसे काठियावाड़में आये थे और भावनगर राज्य तथा उसके आसपासके प्रदेशमें विचरण किया करते थे। वे मुश्किलसे एक जगह एक-दो दिन ठहरते थे। उनके जीवनके प्रसङ्ग ही उनके उपदेश हैं।

एक दिन भावनगरकी एक गलीमें एक नीमके पेड़के नीचे उन्होंने आसन लगा रखा था। उनके पास एक लँगोटीके सिवा और कुछ न था। जाड़ेमें पौषकी रात्रि थी, कड़ाकेका जाड़ा पड़ रहा था। उसी समय रातके नौ-दस बजे भावनगरके महाराज उधरसे निकले। उन्होंने महात्माका नंगे बदन जाड़ेसे ठिठुरते देखकर अपना दुशाला, जिसकी कीमत कम-से-कम छः-सात सौ रुपये थी, उढ़ा दिया। मस्तरामने कहा—'अच्छा, बेटे! तुम ऐसे ही करते रहो।' आधी रातको वे ओढ़कर सो गये। सबेरे चार-पाँच बजेका समय था, थोड़ा अँधेरा था; तभी दो चोर उधरसे निकले। उन्होंने सोचा—'साधुके पास बढ़िया दुशाला है, इसे ले लेना चाहिये।' उन्होंने

दुशाला खींचा। महाराजकी नींद टूट गयी। उन्होंने हँसते-हँसते कहा—'ले जाओ बेटे, ले जाओ। तुम भी ऐसे ही करते रहो।'

श्रीमस्तरामजी घूमते-फिरते एक गाँवमें पहुँचे। वहाँके गिरासरदारने महाराजको भिक्षाके लिये निमन्त्रण दिया और श्रद्धासे कढ़ी-रोटी खिलायी। गिरासरदारोंकी कढ़ी इतनी बढ़िया होती थी कि बहुत दिनोंतक उसका स्वाद भुलाया नहीं जा सकता। महाराज भोजन करके दूसरे गाँव चले गये; पर जब भोजन करने बैठे, तब कढ़ी याद आ गयी। इस तरह बीस-पचीस दिनोंतक कढ़ी किसी तरह उनके मनसे नहीं निकली। उन्होंने उसे भुलानेके लिये बहुत प्रयत्न किया, पर वह भुलायी नहीं गयी। भोजन करने बैठते कि कढ़ी याद आ जाती। महाराजने सोचा—घर-द्वार, बाड़ी-बँगले, मौज-मजे, स्त्री-पुत्र—सब कुछ छोड़ा; पर यह निगोड़ी कढ़ी कहाँसे पीछे पड़ गयी? बस, फिर उसी गाँवमें गये और गिरासरदारसे कहा कि 'मेरी इच्छा आज कढ़ी पीनेकी है। एक टोकनी भरकर कढ़ी बनवाओ; और कुछ भी मत बनवाओ।' गिरासरदारने विचारा—ऐसा लगता है कि महाराजको कढ़ी मुँह लग गयी है, इसीलिये लौट आये हैं। उसने बड़े प्रेमसे कढ़ी तथा दूसरी भोजनकी सामग्री तैयार करवायी और महाराजको जीमनेके लिये बुलवाया। महाराजने कहा—'और कुछ नहीं चाहिये। बस, कढ़ीकी टोकनी मेरे पास रख दो, मन होगा उतनी कढ़ी पीऊँगा।' यों कहकर महाराज टोकनी मुँहमें लगाकर कढ़ी पीने लगे। तीन-चार सेर कढ़ी पेटमें चली गयी! पेट खूब डटकर भर गया, अब कढ़ीके लिये जगह न रही। तब उन्होंने अपने मनसे कहा—'कह रे मनवाँ! कढ़ी पी ले! क्यों नहीं पीता? रोज बड़ी याद करता था? पी ले, अच्छी तरहसे पी ले।' फिर सारी कढ़ी जोरसे पीने लगे। थोड़ी देरके बाद उल्टी हुई। उन्होंने टोकनीमें ही उल्टी कर दी। फिर कढ़ी पीया, फिर उल्टी हुई। इस तरह पंद्रह-बीस बार पीते गये और उल्टी करते गये। अन्तमें कढ़ीको जमीनपर पटककर लात मारकर बोले—'चल री, निगोड़ी कढ़ी! आज तू छूटी। छूटी तो छूटी; मगर जिंदगीभरके लिये छूट गयी।' इतना कहकर वे चलते बने। फिर जीवनभर उनको कभी कढ़ी याद नहीं आयी। वे कहा करते—

खाटा मीठा देखके जिभिया भर दे नीर।
तब लग जिंदा जानिये काया निपट क़थीर॥

एक धनी पुरुषने मनौती मानी थी कि 'मेरे लड़का पैदा होगा तो मैं महाराजको एक हजार रुपये भेंट करूँगा।' उसके घर लड़का पैदा हुआ। उसने रुपयेकी थैली ले जाकर महात्माजीके पैरोंपर डाल दी और कहा—'मेरी यह भेंट स्वीकार कीजिये।' महात्माने कहा—'कैसी भेंट?'

धनी सेठने जबाब दिया—'आपने मुझे पुत्र दिया है, उसकी।'

मस्तराम बोले—'वाह! मेरे यहाँ क्या लड़का बनानेका कोई कारखाना है? यह तो भगवान्की इच्छासे हुआ है। हम पैसोंका क्या करेंगे। किसी गरीबको दे दो।'

सेठने कहा—'महाराजजी! आपके पहननेके लिये तीन अंगुलकी लँगोटी भर है, फिर दूसरा गरीब मैं कहाँ ढूँढूँगा।'

मस्तरामजी आनन्दसे बोले—'अरे भाई! तू क्या कहता है? मैं गरीब हूँ? जिसको किसी प्रकारकी भी इच्छा नहीं होती, वह शाहंशाह होता है।

चाह नहीं, चिन्ता नहीं, मनवाँ बेपरवाह।
जाको कछू न चाहिये, सो जग शाहंशाह॥
फिकिर सभीको खा गया, फिकिर सभीका पीर।
फिकिरकी फाँकी जो करे, उसका नाम फकीर॥
पेट समाता अन्न ले, देह समाता चीर।
अधिक संग्रही ना बने, उसका नाम फकीर॥

भाई! हम तो मौजी फकीर हैं। हमें किस बातकी कमी है? जिसको इच्छा ही नहीं, उसको कैसी गरीबी। ठीक है, भाई; ये रुपये किसी गरीबको—जिसको जरूरत हो उसको दे दो।'

बातचीत हो ही रही थी कि इतनेमें भावनगरके राजा मस्तरामजीके दर्शनके लिये आ पहुँचे। मस्तरामने कहा—'लो भाई! यह सबसे बड़ा गरीब आ गया, इसको दे दो।' महाराजा हँसने लगे। 'क्यों महात्माजी! मैं ही सबसे बढ़कर गरीब हूँ? मैं तो राजा हूँ।'

महात्माजीने हँसकर कहा—'क्यों नहीं। हजारों गाँव हैं, करोड़ोंकी सम्पत्ति है, फिर भी और अधिकके लिये इच्छा है; इसी कारण तुम गरीब हो।' महाराजा साहब हँसने लगे, और फिर वे रुपये साधु-संतोंके भंडारेमें खर्च किये गये।

एक दिन मस्तरामजी गलीमें धूनी लगाये बैठे थे, किसी भक्तका भेंट किया हुआ बढ़िया रेशमी वस्त्र पास पड़ा था। इतनेमें पास ही एक गधेको खड़ा देखा। उसकी पीठपर फोड़ा था और उसपर कौए चोंच मार रहे थे, उससे खून निकल रहा था। मस्तरामजीका हृदय भर आया—'बेचारा कितना दुःखी हो रहा है!' बस, तुरंत ही पास पड़े हुए रेशमी कपड़ेको फाड़कर गधेकी पीठपर बाँध दिया और उसे आनन्दमें देखकर अपने भी हँसने लगे। बोले—'अब ये गधा भगवान् सुखी हुए।'

आपके हाथमें एक बड़ा फोड़ा हो गया और वह पककर फूट गया। खुला रहनेके कारण उसमें कीड़े पड़ गये। इस बातकी खबर वहाँके डाक्टरको लगी और वह महाराजके पास आकर देखकर बोला—'आपके हाथमें कीड़े पड़ गये हैं, इनको निकालना पड़ेगा।'

महाराजने कहा—'भगवान्ने जब इनको मेरा मांस खानेके लिये रख छोड़ा है, तब इनको निकालना नहीं है।' इतनेमें चार-छः कीड़े घावसे निकलकर नीचे गिर पड़े। 'अरे राम-राम! ये बेचारे भूखे रह जायँगे' यों कहकर उनको उठाकर फिर घावमें डाल दिया।

डाक्टरने कहा—'महाराज! इन कीड़ोंको नहीं निकालेंगे तो सारे शरीरको नुकसान पहुँचेगा।' महाराज बोले—'अरे भाई! क्या नुकसान पहुँचेगा। यह तो हमारे मालिककी मीठी दैन है। वे सुख भेजें, तब तो हम उसे खुशी-खुशी ले लें; और दुःख भेजनेपर उसे वापस लौटा दें? यही क्या सच्ची प्रीति है? हम तो दोनोंको समान अपनानेवाले हैं। देह छूट जाय तो क्या हर्ज है। उनकी दी हुई भेंट स्वीकार करके राम-राम करते हुए देह छोड़ देंगे।' कहा जाता है कि इसी पीड़ासे उनका भगवत्स्मरण करते-करते बोटादमें ही देहान्त हुआ था।

एक पारसी गृहस्थने उनकी बड़ी सेवा की थी। उस पारसी गृहस्थसे यह लेखक मिला और उससे महाराजके सम्बन्धमें बहुत-सी बातें मालूम हुईं। आज भी उनकी समाधिके ऊपर अखण्ड घीका दीप जलता है और आज भी उस समाधिके दर्शनसे नर-नारियोंको शान्ति मिलती है।

श्रीधारशी भगत

काठियावाड़की पंचाल-भूमि संतों और भक्तोंकी खानि समझी जाती है। उसी भूमिमें चोटीला गाँवमें श्रीधारशी भक्त अभी कुछ ही दिन हुए, परम धामको प्राप्त हो चुके हैं।

युवावस्थामें जब उनके ब्याहका निश्चय होने लगा, तब उन्होंने अपने पितासे कह दिया कि 'मुझे ब्याह नहीं करना है।' और उसके बाद सारा जीवन ब्रह्मचर्य-पालन करते हुए प्रभुभक्ति और परमार्थमें बिताया। अब इस समय पंचालमें उनके-जैसा कोई संत मिलना कठिन है। उन्होंने कवितामें भक्त-चरित्र लिखे हैं। जब वे इन भक्तगाथाओंको स्वयं गाते थे, तब श्रोताओंकी आँखोंसे अश्रुकी धारा बह निकलती और उन्हें अपना भान नहीं रहता। भगतजी रामायणके प्रखर विद्वान् थे। उनके यहाँ बराबर रामायण-कथा होती और बहुत-से लोग सुननेके लिये आते थे। वे सुख-दुःख, मानापमान आदि द्वन्द्वोंसे परे थे। भयङ्कर बीमारीके समय भी उनके चित्तकी शान्ति वैसी ही बनी रहती थी। उनके चेहरेपर या उनकी बोलीमें कभी दुःखका कोई चिह्न नहीं दीख पड़ा। उनके पास थोड़ी देरतक बैठनेपर भी जीवनमें शान्तिका अनुभव बहुतोंको हुआ था। वे पवित्रता और सादगीकी मूर्ति थे। आजकलके जमानेमें लोगोंके दुःख और क्लेशको देखकर उनको बहुत दुःख होता था और वे कहते थे—'हम धर्म, नीति, सदाचार और भगवान्को भूल गये; इसीसे नाना प्रकारके दुःखोंकी उत्पत्ति हुई है।' उनके विचारसे कलियुगमें तरनेके साधन दो हैं— हरि-भजन करना और भूखेको भोजन देना। उनको अच्छे-अच्छे साधु-संतोंका सत्सङ्ग करनेका शुभ अवसर मिला था। उनका जीवन प्रभुमय होनेके कारण दिव्य था, स्वभाव शान्त, निर्भय और संतोषी था।

महाराज श्रीरामदासजी

(लेखक—श्रीतुलसीजी)

श्रीरामदासजीका जन्म काठियावाड़के वाँटावदर गाँवमें एक अहीरके घर हुआ था। चार वर्षकी उम्रमें उनकी माता स्वर्गवासिनी हो गयीं और दादीने उनको पाल-पोसकर बड़ा किया। जब दस वर्षके हुए, तब दादी भी स्वर्ग सिधार गयी और पिताका भी देहान्त हो गया। फिर तो वे भगवान्पर भरोसा करके जंगलकी ओर चल दिये। शाम हो गयी और कोई गाँव समीप न देखकर वे एक पेड़के नीचे बैठकर रोने लगे। वहाँ अचानक उनको एक साधुका दर्शन हुआ। साधुने पूछा—'बेटा! तू क्यों रो रहा है और अकेला यहाँ कैसे आया?' रामदासने जबाब दिया—'बाबा! मेरे माता-पिता नहीं हैं, मैं असहाय हूँ। क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, कुछ सूझता नहीं। इसीलिये रो रहा हूँ।'

साधुने दयादृष्टिसे देखा और कहा—'बेटा! जिसको कोई नहीं होता, उसके भगवान् हैं। इसलिये घबरा मत। ववाणियामें रामबाई रहती है। तू उसके पास जा और वह जैसा कहे, वैसा कर।' बालक सबेरे ववाणिया पहुँचा। रामबाई उसकी मौसी थी। उसे पहचानकर उसने पास रख लिया। एक दिन रामबाईने उससे कहा कि 'रामा! आज तू रामायण बाँच।' पर वह तो अपढ़ था, बाँचता कैसे। उसे साधु महाराजकी बात याद आ गयी, उसने रामायण हाथमें ली और दोहा-चौपाई रागसे गाकर भावभरे अर्थ करने लगा। यह देखकर लोग चकित हो गये।

एक रातको भीरभञ्जन महादेव स्वप्नमें आये और बोले कि 'तुम सायला जाओ और वहाँ लालजी महाराजसे दीक्षा लो और अपने रामनामको सार्थक करो।' रामदास सायला गये। लालजी महाराजने अपने शिष्य कृष्णदाससे दीक्षा करा दी और कहा—'जा भाई! साधु होकर अभिमान न करना, साधु तो जगत्की सेवाके लिये जन्म लेता है। इसलिये तुम ववाणिया लौट जाओ और वहाँ साधुओं तथा जगत्की सेवा करो।'

रामदास ववाणिया लौट गये और भजन-साधनमें लग गये। वे जहाँ रहते, नाम-स्मरणकी माला उनके हाथमें रहती। रातको प्रायः लोग उनको बैठकर माला जपते देखते थे। उनके यहाँ नित्य रामायणकी कथा होती थी और बहुत-से लोग कथा सुनने आते थे। उन्होंने ववाणिया और समीपके नवलखी बन्दर—दोनों जगह सदाव्रत बाँटनेका काम लगा दिया था।

सवंत् १९५६ में बड़ा भारी अकाल पड़ा। महाराज रामदास रोज सिझाया हुआ चना बाँटने जाते थे। कोठारीने कहा—'महाराज! रोज दस मन चने लगते हैं, यों कहाँतक काम चलेगा। कोई दूसरा रास्ता देखना चाहिये।' उन्होंने जवाब दिया—'भाई! तुम साधु होकर ऐसा क्यों कहते हो। हमसे-तुमसे कहीं कोई काम चलता है। हजार हाथवाले समर्थ प्रभु ही सब काम पूरा कर सकते हैं।'

उन्होंने त्याग, वैराग्य, भक्ति और ज्ञानोपदेशसे भरे हुए भजन बनाये। उनकी राम-भजनावली नामकी पुस्तक छपी है। बहुत सुन्दर वाणी कही है। उनका जीवन बड़ा चमत्कारी था। संवत् १९७० के फाल्गुन मासमें श्रीसीतारामका स्मरण करते-करते आपने अपनी आत्माको श्रीरामके चरणोंमें समर्पित कर दिया।

भक्त-वाणी

अहं तु नारायणदासदासदासस्य दासस्य च दासदासः।
अन्यो न ईशो जगतां नराणामस्मादहं धन्यतरोऽस्मि लोके॥ —अक्रूर

भगवान् नारायणके जो दासोंके दास हैं, उनके दासानुदासोंका भी मैं दासानुदास हूँ। उनके सिवा समस्त लोकोंका तथा मनुष्यमात्रका दूसरा कोई स्वामी नहीं है; इस नाते मैं इस संसारमें धन्यातिधन्य हूँ।

भक्त केशवदासजी

(लेखक—श्रीबदरुद्दीन राणपुरी)

भक्त केशवदासजी जातिके चारण थे। काठियावाड़में आंबरडी गाँवके निवासी थे। लड़कपनसे ही साधु-संतोंकी सेवा करते थे। ४५ वर्षकी उम्रमें आपने मेघ स्वामीसे दीक्षा ली। उसके बाद उनके जीवनमें महान् परिवर्तन हुआ और वे भजन, ध्यान, समाधिमें ही सारा समय लगाने लगे। वे महान् विवेकशील थे। बहुत दूर-दूरसे साधक और भक्त उनका सत्सङ्ग करने आते थे। बालदास नामक खूनी चारणको उन्होंने अपने उपदेशसे उच्च कोटिका साधु बना दिया था। दीक्षा लेनेके बाद वे ध्रांगध्राके पास कांतरोडी गाँवमें रहने लगे। उनको समाधिका पूरा अनुभव था। संवत् १९६० में उनका देहान्त हुआ। आज भी हजारों आदमी उनकी समाधिका दर्शन करके पवित्र होते हैं।

श्रीमत् स्वामी अनन्ताचार्यजी महाराज

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

श्रीरामानुज-सम्प्रदायके आचार्य महान् विद्वान् भक्ति-स्वरूप त्यागी महात्मा जगद्गुरु श्रीमद् अनन्ताचार्यजी स्वामी महाराजका वैकुण्ठवास अभी कुछ ही वर्षों पहले छपरामें हुआ था। उस समय आपकी अवस्था ६३ वर्षकी थी। आपके वैकुण्ठवाससे श्रीवैष्णवसमाजमें जो स्थान रिक्त हुआ, उसकी पूर्ति होना बहुत ही कठिन है। आपका जीवन बड़ा ही आदर्श था।

आपका जन्म सं० १९३० की फाल्गुन कृष्णा चतुर्थी शनिवारको मद्रास-प्रान्तान्तर्गत तिरुपति नामक स्थानमें अपने नानाके यहाँ हुआ था। आपके पूर्वज, जिनके कारण आपको 'प्रतिवादिभयंकर' की उपाधि मिली, भगवान् श्रीरामानुजाचार्यके सुपुत्रकी दसवीं पीढ़ीमें थे। शिष्य-परम्पराके हिसाबसे तो आठवीं पीढ़ीमें ही आपका आविर्भाव हुआ था। अतः मूलपुरुषद्वारा स्थापित किये हुए जो ७४ पीठ हैं, उनमेंसे ३६ पीठोंके आप अधीश्वर थे। जब आपकी अवस्था पाँच वर्षकी हुई, तभी आप पाठशालामें प्रविष्ट करा दिये गये थे और आठ वर्षकी अवस्थामें आपका यज्ञोपवीत-संस्कार सम्पन्न हुआ था। यज्ञोपवीत-संस्कार हो जानेके बाद आपने वेदाध्ययन शुरू किया और ग्यारह वर्षकी अवस्थातक शठकोप-पाठशालामें पढ़ते रहे। तत्पश्चात् उभयवर्धिनी पाठशालामें आपका प्रवेश हुआ। सतरह वर्षकी अवस्थासे लेकर इक्कीस वर्षकी अवस्थातक आपने अपने मामा श्रीरंगाचार्यजीके यहाँ दर्शन, वेदान्त, व्याकरण आदि शास्त्रोंकी पढ़ाई की तथा और भी अनेक भाषाओंका ज्ञान प्राप्त किया। तदनन्तर प्रतिपादनविषयक योग्यता बढ़ानेके लिये आपने 'गीर्वाणविद्योल्लासिनी' नामक सभाकी स्थापना की। वैष्णवसम्मेलनकी स्थापना भी आपके ही कर-कमलोंद्वारा हुई थी।

आपने सम्पूर्ण भारतमें भ्रमण करके सैकड़ों देवमन्दिरों और रामानुजकूटोंका निर्माण कराया था। रोळ (मारवाड़) के दिव्यदेश और बम्बईकी फानसवाड़ीके श्रीवेंकटेश-मन्दिरके लिये तो आपको अत्यधिक त्याग और कष्ट उठाना पड़ा था। इन दोनों मन्दिरोंमें क्रमशः आपको तीन लाख और आठ लाखकी सम्पत्ति संग्रह करके लगानी पड़ी थी। भीलोंकी अशिक्षा देखकर आपका दयार्द्र हृदय द्रवित हो गया था और आपने उनके प्रान्तोंमें अनेक विद्यालय तथा छात्रावास बनवाये थे। धर्मप्रचारमें भी आपने खूब भाग लिया था। सनातनधर्म-सभा और वर्णाश्रमस्वराज्य-संघके कई महाधिवेशनोंमें आप सम्मिलित हुए थे। आपका प्रकाण्ड पाण्डित्य देखकर कलकत्तेके विद्वानोंने आपको 'वेदान्तवारिनिधि' की उपाधि दी थी। उसी प्रकार विद्या-प्रचारके क्षेत्रमें भी आपके द्वारा पर्याप्त काम हुआ था। सन् १९१८ में आपने 'सुदर्शनयन्त्रालय' की नींव डाली थी, जिसके द्वारा संस्कृत भाषाके अनेकानेक सुन्दर ग्रन्थोंका प्रकाशन हुआ है। संस्कृत

श्रीअनन्ताचार्यजी [पृ० ८०३]

श्रीयुगलानन्यशरणजी [पृ० ८०६]

श्रीजानकीवरशरणजी [पृ० ८०७]

स्वामी रामवल्लभाशरणजी [पृ० ८०७]

पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराज [पृ० ८०८]

श्रीसियारामशरणजी [पृ० ८१०]

श्रीसियालालशरणजी (प्रेमलताजी) [पृ० ८१२]

भाषाकी कई पत्र-पत्रिकाएँ भी आपके तत्त्वावधानमें निकली थीं। तात्पर्य यह कि आपने भक्ति-प्रचारके लिये विभिन्न क्षेत्रोंमें सफलतापूर्वक कार्य किया था और आप एक प्रचुर साधनसम्पन्न आचार्य थे; परंतु फिर भी आपमें अहंभाव प्रायः नहीं था और न जीवनमें कभी संग्रहकी ओर ही आपका ध्यान गया था। बल्कि आपने जो कुछ किया अथवा आपमें जितनी भी शक्तियाँ थीं, वे कीर्ति और यशकी प्राप्तिके लिये नहीं, वरं भगवत्सेवाके लिये थीं। वैयक्तिक जीवन तो आपका इतना अल्पव्ययी और सीधा-सादा था कि आपका दर्शन करते ही प्राचीन कालके ऋषि-मुनियोंका स्मरण हो आता था और हृदयमें सात्त्विकता आ जाती थी। जरा भी नहीं मालूम होता था कि आप इतने बड़े गद्दीधर हैं। आप सबसे दिल खोलकर मिलते थे। अन्तिम समयमें आपके उपदेशोंका, जिनको सुननेके लिये सर्वत्रकी जनता समुत्सुक रहा करती थी, एकमात्र विषय 'भगवच्छरणागति' रह गया था। संकीर्तन और भगवन्नाम-जपके माहात्म्यपर भी आप खूब बोलते थे। इन सब विषयोंपर भाषण देते समय आपमें जो तन्मयता आ जाती थी, उसे देखते ही बनता था। आज आपके अभावका अनुभव कौन नहीं करता।

परमाचार्य श्रीयुगलानन्यशरणजी महाराज
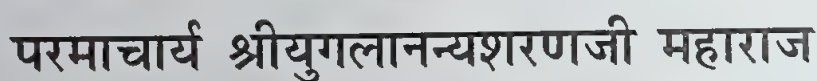
(लेखक—श्रीरामलालशरणजी)

संवत् १८७५ की कार्तिक शुक्ल ७ को फल्गुनदीके तटवर्ती ईसरामपुर (इस्लामपुर)-के सारस्वत ब्राह्मणवंशमें आपका जन्म हुआ था। उपनयन एवं विद्याध्ययनके पश्चात् आप विभिन्न भाषाओंका अध्ययन करने लगे। उस समय आप नदीके किनारे किसी झाड़ीके नीचे बैठकर भगवद्भजनमें तल्लीन हो जाते, भूख-प्यास बिसर जाती। बड़े प्रेमसे भगवान् शंकरकी आराधना करते। आप संगीतविद्या एवं मल्लविद्यामें भी बड़े निपुण थे। कहते हैं कि स्वप्नमें स्वयं भगवान् शंकरने दर्शन देकर आपको षडक्षर (**ॐ रामाय नमः**) मन्त्रराजका उपदेश किया था।

भक्त श्रीमालीजीकी आज्ञासे आप चिराननिवासी श्रीस्वामी जीवारामजी महाराजसे संस्कार कराकर वैष्णव हुए। तबसे अनेकों स्थानोंमें विभिन्न महापुरुषोंसे सत्सङ्ग करते रहे। अनेक तीर्थोंमें होकर श्रीअवधजी पहुँचे। वर्षों मौन रहकर अनुष्ठान किया। सीतारामके अतिरिक्त पाँचवें अक्षरका उच्चारण नहीं करते थे। एक समय जौकी दो रोटी पाकर सरयूजलका पान करते। इनके आशीर्वादसे बहुतोंका सांसारिक कल्याण हुआ। आपने अनेकों मन्दिर बनवाये। सिपाही-विद्रोहके समय इनके स्थानके पास ही छावनी बन गयी थी। आपका सुयश सुनकर फौजके कमाण्डरने गवर्नमेंन्टको लिखा और उसके फलस्वरूप निर्मलीकुण्डकी बावन बीघा जमीन सर्वदाके लिये इन्हें माफी दी गयी। रीवाँके दीवानने मन्दिर बनवाये और गाँव लगा दिये। इनके बनाये हुए एक-से-एक बढ़कर ८६ ग्रन्थ हैं। मुमुक्षुजनोंको उनका अध्ययन करना चाहिये। आपके सदुपदेशोंसे बहुतोंका कल्याण हुआ। 'कल्याण' के पाठक आपके उपदेशोंसे बहुत कुछ परिचित हैं।

भक्त वाणी
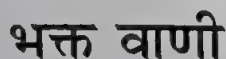
त्वन्मन्त्रजाप्यहमनन्तगुणाप्रमेय सीतापते शिवविरिञ्चिसमाश्रिताङ्घ्रे।
संसारसिन्धुतरणामलपोतपाद रामाभिराम सततं तव दासदासः॥ —सुतीक्ष्ण

(अ० रा० ३। २। २७)

हे अनन्तगुण अप्रमेय सीतापते! मैं आपका ही मन्त्र जपता हूँ। हे अभिराम राम! आपके चरण संसार-सागरसे पार करनेके लिये सुदृढ़ जहाजरूप हैं, शिव और ब्रह्मा सर्वदा उनकी सेवा करते हैं। हे नाथ! मैं सर्वदा आपके दासोंका दास बना रहूँ।

श्रीजानकीवरशरणजी महाराज

(लेखक—श्रीजानकीशरणजी 'स्नेहलता' रामायणी)

फैजाबाद जिलेके कलाफरपुर नामक ग्राममें मेहरवान मिश्र नामक एक सरयूपारी ब्राह्मणके घर इनका जन्म हुआ था। छोटी उम्रमें ही ये संस्कृत और फारसीके उद्भट विद्वान् हो गये। युवावस्थामें माता-पिताने विवाह कर दिया। अनन्य शिवाराधनके फलस्वरूप श्रीयुगलानन्यशरण स्वामीने प्रसन्न होकर इन्हें 'श्रीसीताराम' इस युगल मन्त्रकी दीक्षा दी। दीक्षाके बाद काशीमें रहकर इन्होंने सांख्यादि षड्दर्शनोंका विशेष अध्ययन किया। उसी समय इनका मन गृहादिसे बिलकुल हट गया। घर छोड़कर अनन्यभावसे भजन करते हुए इन्हें शीघ्र ही भगवत्कृपाकी प्राप्ति हो गयी।

थोड़े दिनों बाद गुरु-आज्ञासे ये चित्रकूट चले गये और वहाँ गुरुसेवा करने लगे। वहाँसे श्रीनीलाचलधाम, कामाक्षा आदि तीर्थस्थानोंमें होते हुए फिर श्रीअयोध्याजी आ गये । फिर काशीमें एक वर्ष रहकर तपस्या की। वहाँसे रीवाँ गये, वहाँके दीवानद्वारा उपस्थित की हुई नाना भोगसामग्रीसे घबराकर भागकर चित्रकूट चले गये। चित्रकूटसे बंगालके रामपुर, चिचुड़ा और मुर्शिदाबाद होते हुए फिर अवधमें आ गये। इनका त्याग तो अद्वितीय था ही। चिचुड़ाकी काकुरवाड़ीके महन्त और मुर्शिदाबादमें गोपालदास महन्तने इन्हें महन्ती देनी चाही परंतु ये तुरंत वहाँसे चुपके-से खिसक गये।

अवधसे सुलतानपुर जाकर वहाँ कई मास रहे। वहाँसे कहीं जाते समय ये एक भयंकर जंगलमें जा पहुँचे। जंगलमें ही रात्रि हो गयी। ये एक वृक्षके नीचे भूखे ही पड़ रहे। उस समय लीलामयने सुन्दर बालकका रूप धारण करके इन्हें भोजन बनाकर खिलाया और तुरंत अदृश्य हो गये। गुरु-आज्ञा पाकर फिर ये काशी, हरिद्वार, गङ्गोत्तरी, बदरिकाश्रम आदिकी यात्रा करते हुए अवध आये। इसके बाद तीन बार जनकपुरी गये और वृन्दावन एवं पंजाब प्रान्तकी यात्रा की। जनकपुरीमें इन्हें अतिशय सुखकी प्राप्ति हुई। अतः एक बार फिर बदरिकाश्रमकी यात्रा करके पुनः मिथिलापुरीमें ही कुटी बनाकर रहने लगे।

श्रीमहाराजजीने अनेक जिज्ञासुओंको साधनमार्गमें अग्रसर किया तथा अनेकोंको भगवद्भजनमें प्रवृत्त किया। करुणा और उदारताके तो वे समुद्र ही थे। भगवान्‌के प्रायः सभी गुण भक्तमें उतर आये थे।

इस प्रकार अपनी दिव्यलीलाओंसे धरतीतलको पवित्र करते हुए संवत् १९५८ वि० की माघी अमावस्याको श्रीमहाराजजी सरयूतटपर देह त्यागकर श्रीसाकेतधाम पधार गये।

स्वामी रामवल्लभाशरणजी

बाराबंकी जिलेके तिलोकपुर गाँवमें वि० सं० १९१५की फाल्गुन शुक्ला तृतीया सोमवारको स्वामी श्रीरामवल्लभाशरणजीका आविर्भाव हुआ। आपके पिताका नाम था पं० गणेशदत्त। पण्डित गणेशदत्तजी बड़े ही आस्तिक पुरुष थे और श्रीमद्भागवतपर आपकी विशेष ममता थी। रामवल्लभाशरणजीका पहला नाम बलदेव था।

एक बार आप माता-पिताके साथ श्रीअयोध्याजी आये। स्वप्नमें श्रीरघुनाथदासजीके दर्शन हुए और आप खूब जोर-जोरसे रोने लगे। किसी तरह भी चुप नहीं होते थे। स्वप्नमें ही श्रीरघुनाथदासजीके अनुग्रहसे आपको श्रीसीतारामलक्ष्मणकी अत्यन्त दिव्य तेजोमय मूर्तिके दर्शन हुए। अब तो आपका जीवन आमूल बदल गया।

पिताकी मृत्युके अनन्तर लोगोंके आग्रहपर आपने गुड़का व्यापार शुरू किया; परंतु ये सभी गुड़ साधु-महात्मा, गरीब-अनाथोंमें ही बाँट देते। जिसे प्रभु अपनी ओर ले लेना चाहता है, उसे संसारके किसी भी व्यापारमें उलझने नहीं देता और इसीलिये उसमें सफलता भी नहीं मिलने देता; नहीं तो सफलतासे ही उत्तरोत्तर आसक्ति बढ़ने लगती है। धंधा-रोजगार सब छोड़-छाड़कर आप श्रीजगन्नाथधामदर्शनके लिये चले और बीचमें काशी ठहरे।

आपने भगवान् विश्वनाथसे श्रीसीतारामजीके नाम, रूप, लीला, धाममें अनन्य भक्ति-प्रीति माँगी।

श्रीजगन्नाथजी पहुँचकर आपकी स्थिति विचित्र हो गयी। आनन्दातिरेकमें आप तन-मनकी सारी सुध-बुध खो बैठे। वहाँ श्रीहनुमान्‌जीके दर्शन करके आप कृतकृत्य हो गये।

श्रीअयोध्याजीमें आकर आप श्रीहरिभक्तिन माईके स्थानपर ठहरे और अपनी इच्छा माईजीसे कह सुनायी। माईजीने कहा कि 'श्रीसरयूजीमें स्नान कर आओ तो मैं बतलाऊँ कि क्या करना चाहिये।' आपको यह सुनकर अत्यन्त उत्कण्ठा हुई। आपने श्रीरामगङ्गामें स्नानकर श्रीसीतारामके चरणोंमें प्रीति माँगी। स्नानसे लौटनेपर श्रीमाईजीने अनन्त श्रीपण्डितराज श्रीजानकीवरशरणजी महाराजको इनका परिचय देते हुए कहा कि 'ये गुरुमुख होने आये हैं, ब्राह्मणके लड़के हैं।' उस समय आपकी अवस्था २४ या २५ वर्षकी थी।

इन्हें देखकर महाराज श्रीजानकीवरशरणजी बहुत प्रसन्न हुए और पूजाके घरसे श्रीरामरज, आचमनी, गङ्गाजलीमें श्रीसरयूजल, तुलसीदल, कंठी, माला, पञ्चमुद्रा और एक छोटी-सी साफी—ये चीजें मँगवायीं और विधिवत् आपकी दीक्षा हुई। अब आपका नाम रामवल्लभाशरणजी हुआ। आपको भगवान् श्रीराम, भगवती श्रीसीता तथा श्रीलक्ष्मणजीके कई बार कई स्थलोंपर दर्शन हुए। लीला-स्वरूपोंमें आपकी बड़ी आस्था थी। आपने यावज्जीवन कभी किसीसे कुछ माँगा ही नहीं। आपकी गुरुभक्ति संसारमें सदाके लिये आदर्शरूपमें बनी रहेगी। गुरु-आज्ञाके बिना आपने कभी कुछ किया ही नहीं। *'सरल स्वभाव न मन कुटिलाई'* की आप सजीव मूर्ति ही थे। सदैव श्रीसीतारामके रसमें डूबे रहते।

संवत् १९८८ की वैशाख शुक्ला नवमीको, जो 'जानकीनवमी' कहलाती है, आपने अपने प्रयाणकी बात अपने एक अन्तरङ्ग शिष्यसे कह दी। उसीके तीसरे दिन एकादशीकी रात्रिमें तीन बजे महाप्रयाणकी तैयारी आपने की। नामध्वनिके बीच आपने श्रीभगवान्‌की सेवा की। प्रातःकाल ६॥ बजे ज्यों ही मन्दिरकी आरतीका घड़ी-घण्टा बजा, त्यों ही आपने अपनेको भगवान् श्रीरामके चरणोंमें निवेदित कर दिया। पूर्ण शृङ्गार करके सुन्दर सजे विमानपर सवार होकर बड़ी धूमधामसे आप चले और श्रीरामघाटपर श्रीसरयूकुञ्जमें जाकर विश्राम किया।

पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराज

श्रीभगवान्‌की भक्ति ही वास्तविक सम्पत्ति है, इसका वही प्राणी पूर्ण अधिकारी होता है, जो भगवान्‌के रूप-लावण्य-सौन्दर्य-माधुर्य और लीलारसका आस्वादन कर आत्मकल्याणकी पवित्र साधनामें निरन्तर तल्लीन रहता है। श्रीदशरथनन्दन रामके असीम सौन्दर्यसागरमें निमग्न रहनेवाले संतशिरोमणि रसिकभक्त श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराजके जीवनमें इसी तरहकी दिव्य सम्पत्तिके अवतरणने भक्तिके प्रमुख क्षेत्र भगवान्‌की लीलाभूमिमें, अवधमें, भगवती सरयूके पवित्र तटपर आस्तिकताका पाञ्चजन्य फूँका था।

पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराजका जन्म संवत् १९१५ वि० में आषाढ़ कृष्ण त्रयोदशीको बुन्देलखण्डके पन्नाराजमें रणेह ग्राममें हुआ था। उनके पिता रामलालजी और माता रमादेवीपर श्रीभगवान् और संतोंकी बड़ी कृपा थी। श्रीरामवल्लभाशरणजीके बचपनका नाम धनुषधारी था, वे जन्मजात भक्त थे। उनकी बाल्यावस्थाका अधिकांश पौंडी ग्राममें बीता। एक समय रणेहसे वे अपने पिता-माताके साथ कहीं जा रहे थे; सघन वनमें एक महात्माका साक्षात्कार हुआ। उन्होंने बालक धनुषधारीको फिर दर्शन देनेका आशीर्वाद दिया। कुछ समयके बाद उन्होंने फिर दर्शन दिया।

बालक धनुषधारीने पौंडी ग्राममें अपने माता-पिताकी छत्र-छायामें श्रीहनुमान्‌जीके मन्दिरमें नित्य दर्शनकर, उनकी पूजा और उपासना करके उनसे रामभक्तिका वरदान माँगा। उन्होंने काशी जाकर विद्याध्ययन करना चाहा, पर श्रीहनुमान्‌जीने समाधि अवस्थामें उन्हें न जानेका आदेश दिया। वे संवत् १९३३ चैत्र शुक्ल ९ श्रीरामनवमीके दिन मन्दिरके अध्यक्ष संतप्रवर रामवचनदासजीसे राममन्त्रराजकी दीक्षा लेकर एक अपरिचितकी तरह ग्रामकी सीमापर पूर्ण वैराग्य, तप

और ब्रह्मचर्यके साथ एकान्त-सेवन करने लगे। श्रीहनुमान्‌जीकी कृपासे उनका श्रीरामकी दिव्य लीलाओंके प्रति पूर्ण अनुराग हो गया, रामभक्तिके प्रचारको उन्होंने अपने जीवनका उद्देश्य स्थिर किया। संवत् १९३५ वि० में उन्होंने निवृत्तिमार्गकी दीक्षा लेकर अपना भक्तिपथ प्रशस्त कर लिया।

उसी समय महात्माजीने इनका दूसरा नाम 'श्रीरामवल्लभाशरण' रखा। पौंडीमें अयोध्याके प्रसिद्ध रामायणी रामदासजीके श्रीमुखसे रामकथाका रसास्वादन करके वे अपने गुरुके आदेशसे उनके साथ ही तीर्थभ्रमणके लिये निकल पड़े। वे रामदासजीके सत्सङ्ग और सम्पर्कसे अत्यन्त प्रभावित थे। चित्रकूट-भ्रमण-कालमें एक दिन सहसा आकाशमें काले बादल छा गये, जलवृष्टि होने लगी। भगवान् श्रीरामकी चरणधूलिसे अङ्कित शिलाखण्डोंको चूमनेवाले पर्वतीय झरनेमें वे स्नान करने लगे कि एक विशालकाय बन्दरने उनका हाथ पकड़कर जलधारासे अलग खींच लिया। उसी समय एक शिला जलकी धारासे टूटकर उसी जगह आकर गिरी, जहाँ श्रीरामवल्लभाशरणजी स्नान कर रहे थे। इधर वह वानर अदृश्य हो गया। अब इनको रहस्य मालूम हुआ कि इस प्रकार हाथ पकड़कर जलधारासे हटाकर प्राण बचानेवाले श्रीहनुमान्‌जी ही थे। यों श्रीहनुमान्‌जीके दर्शनकर उन्होंने अपने-आपको परम कृतार्थ माना।

प्रयागसे आगे बढ़नेपर नैबाजारके वैष्णवभक्त जानकीदासको धन्य कर वे अवधवासी महात्मा हरिहरदासजीके साथ काशी आये। काशीमें स्वप्नमें भगवान् शङ्करजीने दर्शन देकर उनको अयोध्या जानेका आदेश दिया। संवत् १९३८ वि० की अक्षय नवमीको उन्होंने जन्म-जन्मसे चिरपरिचित श्रीअयोध्याधाममें प्रवेश करके रामभक्तिकी भागीरथीमें आत्माभिषेक किया, अपने प्राणेश्वरकी राजधानीकी परिक्रमा की। उनके अङ्ग-अङ्गमें दिव्यता समा गयी, नयनोंमें सरयूकी पवित्र तरङ्गों और कनकभवनके दर्शनकी अभिरामताका रास होने लगा। कान सीतारामकी अमृतध्वनिसे पूर्ण चैतन्य हो उठे, रसनाने रामके वैदिक रूपकी जयध्वनि की, हाथ रामकी चरणधूलिसे मस्तकको अलङ्कृत करनेके लिये बढ़े तो आजीवन बढ़े ही रह गये, पैर परिक्रमाके लिये उठे तो उठे ही रह गये, जनकनन्दिनीके चरणारविन्दपर मस्तक वन्दनाके लिये नत हुआ तो साकेत-प्रवेशपर्यन्त नत ही रह गया। पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराजकी साधना, आराधना और उपासना अवधकी दिव्यताकी श्रीवृद्धिमें सफल हो गयी।

श्रीअयोध्यामें उन्हें बाल्यावस्थामें दर्शन देनेवाले चिरपरिचित संत श्रीविद्यादासजी महाराजके दर्शन हुए। वे उनके अन्तरङ्ग शिष्य हो गये। इस समय पण्डितजीका जीवन सर्वथा भजनमय था। आठों पहर भजन-सत्सङ्गमें ही बीतते थे। श्रीविद्यादासजीके प्रति आदरबुद्धिसे उन्हींके आदेशसे श्रीरामवल्लभाशरणजीने रामकथामृत-लहरीमें समस्त अयोध्याको संप्लावित कर दिया, कभी विनयपत्रिका और गीतावलीकी व्याख्या चलती थी तो कभी रामचरितमानसमें संत, परमहंस और भक्तमण्डली विहार करती थी। भगवल्लीला-चिन्तनमें श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराज इतने उन्मत्त रहते थे कि कभी-कभी वे बाह्यज्ञानशून्य हो जाते थे। एक समय दोपहरको वे कुएँपर जल भर रहे थे, अचानक गुनगुना उठे, *'कहु कपि कब रघुनाथ कृपा करि हरिहैं निज वियोग सम्भव दुख।'*—ठहरे भक्त ही, जानकीकी विरह-लीलाका चित्र सामने आ गया। राघवेन्द्रकी प्राणप्रिया राक्षसराजके अशोक वनमें तड़पती हो और भक्त यों ही खड़ा रहे, पैर लड़खड़ा ही तो गये, कुएँमें गिर पड़े; पर आश्चर्य तो यह था कि बाहर निकाले जानेपर वस्त्रतक नहीं भीगा था। श्रीरामकी लीलामें उनकी अचल अनुरक्ति थी। वे रामलीलामण्डलीके शृङ्गार-समलङ्कृत स्वरूपोंमें पूर्ण भागवती निष्ठा रखते थे।

उनकी भक्तिनिष्ठा, कथा-सुधा और अध्यात्मविद्याकी पूर्ण सम्पन्नतासे आकृष्ट होकर भक्तों और शिष्योंकी संख्या बढ़ने लगी। उनकी कथाकारितासे प्रसन्न होकर पौंडीसे महात्मा रामवचनदासजी भी चले आये। पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराजने उनके प्रति अपनी पवित्र गुरुनिष्ठा नितान्त अक्षुण्ण रखी।

संवत् १९५१ वि० में महात्मा विद्यादासजी और रामवचनदासजी महराजकी साकेत-प्राप्तिके बाद पं० श्रीरामवल्लभाशरणजीका मन बहुत खिन्न हो गया। भगवान् श्रीरामके रँगीले सखा भक्त सियारामशरणजी और रसरंगमणिके साथ विशेष आग्रहके फलस्वरूप वे कुछ दिनोंके लिये चित्रकूट चले आये। वहाँ श्रीहनुमान्‌जीके दर्शन देनेपर

उनसे जन्म-जन्मके लिये रामभक्ति माँगी। चित्रकूटसे वृन्दावन आये, रासेश्वर श्रीनन्दनन्दनकी दिव्य झाँकीका रसास्वादन कर वे अयोध्या लौट आये। वे स्थायी रूपसे जानकीघाटपर रहने लगे। वे कैंकर्यनिष्ठाके संत थे। श्रीरामके चरणकमलोंकी सेवामें उनका जीवन समर्पित था।

एक समय श्रीसरयूने अयोध्या छोड़कर तीन मीलकी दूरीपर अपनी धारा स्थिर कर ली। संतमण्डलीके प्रार्थना करनेपर पं० श्रीरामवल्लभाशरणजीने उनसे अयोध्याके ही सन्निकट रहनेकी कृपायाचना की, सरयूने धारा बदल दी, उनका जल अयोध्याका स्पर्श करने लगा।

संवत् १९९८ वि० की कार्तिक शुक्ला दशमीको उन्होंने दिव्य साकेत-धामकी यात्रा की। अन्तिम समय सीतारामकी जयध्वनि-लहरीमें कनक-भवनाधिपति श्रीराघवेन्द्र और जनकनन्दिनीका चरणामृत पानकर उन्होंने अखण्ड समाधि ली। महात्मा पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराज आदर्श संत, लीलारसिक परम भगवद्भक्त थे।

स्वामी श्रीसियारामशरणजी (श्रीरूपलताजी)

(लेखक—श्रीरामगुलामजी नाटाणी)

श्रीअयोध्याजीके प्रसिद्ध महात्मा श्रीरूपलताजी ही जो 'पुजारीजी' के नामसे भी प्रसिद्ध रहे हैं, सियारामशरणजी थे। इनका सेवा-प्रकार, गहरी भक्ति और उच्च ज्ञानावस्था अनुपम थी। ये बड़े ही सेवा-ध्यान-ज्ञान-निष्ठ थे। इन्होंने श्रीरामघाट अयोध्याजीमें प्रथम-प्रथम बहुत समयतक एकान्तमें बैठकर निरन्तर प्रेममग्न रहकर भजन किया। फिर भगवत्कृपासे इनकी भजनशक्ति बहुत बढ़ गयी। भोजनमें एक समय चतुर्थ प्रहरमें एक पैसेभर भिगोया चना चबाकर ये शरीरपोषण कर लेते थे। इतना भी शरीरको भाड़ा देने और क्षुधा-कुत्तीको टुकड़ा डालनेके रूपमें ही था। यही समय एक मुहूर्त्तमात्र बातचीत कर लेनेका था। इनका और सब समय दिन-रात भजन-ध्यानमें लगता था।

इतना हो जानेपर ईश्वरानुग्रहसे आपको श्रीअयोध्याजीके सुप्रसिद्ध कनकभवनमें भगवत्-पूजाका कार्य मिला। इसे आपने बड़े चाव-भाव, तन-मन, पूर्ण तल्लीनता और हार्दिक भक्तिसे किया। तभीसे ये 'पुजारीजी' विख्यात हो गये।

श्रीवाल्मीकीय रामायणका नवाह्नपारायण बड़ी उत्तमतासे किया करते थे। आप अच्छे पण्डित और कवि थे। इनकी रची हुई अच्छी-अच्छी पुस्तकें हैं, जिनमें 'विनयचालीसी' और 'अष्टयाम' हमारे संग्रहमें हैं। विनयचालीसीसे पाँच दोहे नीचे दियें जाते हैं। ये वे पाँच उत्तम दोहे हैं, जिनको छापनेवालोंने छोड़ दिया अथवा उनको प्राप्त नहीं हुए। हमारे पासकी प्राचीन प्रामाणिक हस्तलिखित पुस्तकमें ये दोहे हैं। ये दोहे बहुत अर्थ और सारभरे हैं।

आपके ही सदुद्योग, परिश्रम और साधनसे श्रीअयोध्याजीके श्रीरामकोटमें 'श्रीआनन्दभवन' नामका उत्तम विशाल स्थान बना, जिसका अच्छा प्रबन्ध है और जहाँ श्रीजीकी सेवा आदि उत्तमतासे होती है। अन्ततोगत्वा बड़ी अवस्थामें आप संवत् १९५० की वैशाख बदी ११ (एकादशी) को श्रीसाकेतधाम (परमधाम) पधार गये! आपके कई शिष्य थे। उनमें जयपुरके श्रीसीतारामजीके बड़े मन्दिर (प्रसिद्ध सेठ लूणकरणजी नाटाणीका बनवाया—शिखरबन्ध बाजारकी आमेरकी चौपड़में)-के सुविख्यात महन्त भक्तवर श्रीस्वामी रामानुजदासजी मुख्य थे। दोहे ये हैं—

चतुरानन गहि कलम को रचे अनेकन छंद।
सिय मुख समता ना लही लिखत मिटावत चंद॥ १॥
मायिक तन से नहिं बनै निरमायिक तसबीर।
कृपा करे सिय लाड़िली पावे दिब्य शरीर॥ २॥
स्वस्वरूप को पाइ कै परस्वरूप दरसाय।
तुरिया लखि तुरिया भई आवागमन नसाय॥ ३॥
कौन कहै, अब को सुनै, छबि में छबि दरसाय।
भई पूतरी लौन की रही जु सिंधु समाय॥ ४॥
परा अवस्था में सदा रहत सदा यह भृत्य।
कृपा लड़ैती लाल की सेवा दीन्ही नित्य॥ ५॥

'अष्टयाम'की रचनाएँ भी इनकी बहुत सरस और सारभरी हैं, जिनसे भक्तिरस और सेवारहस्यका तत्त्व अच्छा प्राप्त होता है।

भक्त श्रीहंसकलाजी

(लेखक—श्रीद्वारकाप्रसादसिंहजी बी० ए०)

सारन जिलेमें गङ्गा और सरयूके सङ्गमके समीप गंगहरा नामका एक गाँव है। संवत् १८८८में वहीं नागा पाठकका जन्म हुआ। वैराग्य और शान्ति आपके जीवनके चिर सहचर थे। आपने बहुत थोड़ी अवस्थामें घर छोड़कर जंगलका रास्ता लिया। आप श्रीवैद्यनाथ धाम पहुँचे। वहाँ भगवान् आशुतोषके दर्शन हुए। पासकी एक झाड़ीमें छिपकर आप निरन्तर साधना करते और नित्य नियमपूर्वक भगवान् शङ्करके दर्शनके लिये आया करते थे। भगवान् शङ्करने छठे महीने आपको एक यतिके रूपमें दर्शन दिया और आदेश किया कि 'लक्ष्मीपुरके झारखण्डी स्थानके महात्मा रामदासजी नृत्यकलाजीका दर्शन करो।'

आप लक्ष्मीपुर पहुँचे और महात्मा रामदासजीने आपको अच्छी तरह अपना लिया। आपको शरणागतिमन्त्र तथा विरक्त संन्यासीका बाना दिया तथा आपका नाम रामचरणदास हंसकला रखा। आपका शील-स्वभाव और वात्सल्यप्रेम संसारके लिये आदर्शस्वरूप था। भगवत्प्रेमकी तो आप मूर्ति ही थे। भगवन्नामस्मरण तथा कीर्तनमें आपकी बड़ी निष्ठा थी।

आश्विन शुक्ला द्वादशी सं० १९६८ को आपने अपना नश्वर शरीर त्याग दिया और श्रीसाकेतधामकी महायात्रा की।

भक्त श्रीरूपकलाजी

वैष्णवरत्न श्रीरूपकलाजी एक उच्च कोटिके महात्मा थे। आपके प्रभावसे हजारों पथ-भ्रष्ट, भ्रान्त नास्तिकोंने भगवान्की सत्तामें विश्वास करके सन्मार्गका अवलम्बन किया—हजारों दुराचारियोंके जीवन सुधर गये। हजारों नर-नारियोंने मांसाहार छोड़ा। आप संतसमाजके एक अमूल्य रत्न तथा महान् गौरवस्वरूप थे।

श्रीरूपकलाजीपर आरम्भसे ही भगवत्कृपा रही। आप जिस आश्रममें रहे, आपने उसके नियमोंको तत्परताके साथ पालन किया और उसीमें अपनी उन्नति की। तीस वर्षोंतक बिहारप्रान्तमें शिक्षा-विभागके दायित्वपूर्ण पदोंका भार वहन करते हुए भी आप निरन्तर अपनी आध्यात्मिक उन्नति करते ही गये एवं विभिन्नतामें रहते हुए भी अपने अनन्यताके भावको आपने दृढ़तर रखा।

भगवद्भक्ति एवं वैराग्यसाधनका तो क्या कहना है, उसके लिये तो मानो आपने जन्म ही ग्रहण किया था। आप उठते-बैठते, चलते-फिरते निरन्तर अपने प्रेममय स्वामीके पादपद्ममें सखीभावसे लौ लगाये रहे। इसी अनुरागके कारण इष्टदेवकी भी आपपर विशेष कृपा रही तथा आश्चर्यमयी एवं रहस्यमयी रीतिसे सभी कठिनाइयोंमें आपको सहायता मिलती गयी।

एक बार कर्ज चुकानेके लिये आपको कुछ रुपयोंकी बड़ी आवश्यकता थी। सर्वत्र चेष्टा करके हार गये, किंतु कहीं भी रुपयोंका प्रबन्ध होता नजर नहीं आया। तब आप भगवान्पर भरोसा करके बैठ गये। उसी दिन सन्ध्या-समय आपके पास एक अपरिचित व्यक्ति आया और उसने सबके सामने आपके हाथोंमें एक लिफाफा देकर कहा—'आपसे कुछ बातें करनी हैं; इसे अपने पास रखिये, मैं अभी आता हूँ।' लिफाफा कई दिनोंतक यों ही आपके पास पड़ा रहा—वह आदमी फिर लौटकर नहीं आया। अन्तमें जब खोला गया, तब उसमें उतने ही रुपये मिले, जितनेकी आपको जरूरत थी।

श्रीरूपकलाजीने जब अपना पद-परित्याग किया, उस समय आपकी अवस्था केवल ५४ वर्षकी थी। सरकारी नियमोंके अनुसार आप कम-से-कम एक वर्ष और नौकरी कर सकते थे; किंतु उसी समय एक ऐसी घटना हुई, जिससे आप बिलकुल प्रेममुग्ध हो गये तथा आपके लिये अब फिर क्षणभर भी नौकरीमें रहना असम्भव हो उठा।

आप स्कूल-निरीक्षणार्थ बिहटा रेलवे स्टेशनसे कई मील दक्षिण पटना जिलेके एक देहातमें गये थे। उसी समय तत्कालीन शिक्षा-विभागके डाइरेक्टर मि० क्राफ्ट पटना आये। इन्सपेक्टर मार्टिन साहबने आपके पास पत्र भेजा, जिसमें डाइरेक्टर साहबके कलकत्ता लौट जानेके पूर्व किसी एक महत्त्वपूर्ण विषयपर उनकी सम्मति लेनेका आदेश किया गया था। पत्र आपको ऐसे समयमें मिला, जब पटनासे डाइरेक्टर साहबकी गाड़ी खुलनेमें केवल १५-२० मिनट बाकी रह गये थे। इतने समयमें पटना पहुँचना सर्वथा असम्भव था। वे बड़े चिन्ताकुल हो गये और मारे फिक्रके उनकी आँखें झप गयीं। कुछ देर बाद कानमें घंटीकी आवाज पड़नेसे आप चौंककर उठे और अपनेको सारे आवश्यकीय कागजोंके साथ कचहरीके कपड़े पहने पटना-स्टेशनके वेटिंग-रूममें पाया। गाड़ी दानापुरसे छूट चुकी थी। आपने प्लेटफार्मपर जाकर डाइरेक्टर साहबसे बातें कीं तथा गाड़ी छूट जानेपर फिर वेटिंग-रूममें जाकर इस आश्चर्यमयी घटनापर विचार करने लगे। इसी चिन्तामें आपको फिर नींद आ गयी और उठनेपर आपने अपनेको पुनः बिहटामें पाया। किंतु डाइरेक्टर साहबके साथ जो बातें हुई थीं, वे स्मृतिपटपर पूर्णरूपसे अङ्कित थीं।

प्रभुका अपने ऊपर इस प्रकार अपार अनुग्रह देख आप गद्गद हो गये। आप उसी क्षण अपना त्याग-पत्र देकर सीधे श्रीअयोध्याधामको प्रस्थान कर गये।

एक दिन श्रीरूपकलाजी अपने कुछ प्रेमियोंके पास सोये हुए थे, एकाएक आप उठ बैठे तथा औरोंको भी जगाकर प्रार्थना करनेकी आज्ञा दी। कारण पूछनेपर आपने कहा—'गुरुदेवका विमान जा रहा है। अन्तिम बिदा लेने आये थे।' प्रातःकाल तारद्वारा अनुसन्धान करनेपर ज्ञात हुआ कि भागलपुर गुरहट्टाके महंत श्रीहंसकलाजीका ठीक उसी समय साकेतवास हुआ था। श्रीहंसकलाजीसे ही आपने कान्ता-भावकी दीक्षा ली थी। रामानन्दी सम्प्रदायकी दीक्षा इन्होंने छपरानिवासी स्वामी श्रीरामचरणदासजीसे ली थी। स्वामीजीने ही इनके असल नाम (भगवानप्रसाद)-के आगे 'श्रीसीतारामशरण' जोड़ दिया था। श्रीहंसकलाजीसे दीक्षित होनेके अनन्तर ये 'रूपकला' नामसे विख्यात हुए।

आपको अपने साकेतवासका समय बहुत दिनोंसे विदित था। बीस वर्ष पूर्वकी डायरीमें एक जगह लिखा पाया गया है—'अमुक तिथिको श्रीमारुतिजी स्वयं आकर ले जायँगे—यह श्रीवचन है।'

वि० संवत् १९८९ की पौष शुक्ला द्वादशीको तीन बजे रात्रिमें आप चालीस वर्षके अखण्ड अवधवासके अनन्तर अपनी अमर कीर्ति, उच्च आदर्श और अमूल्य वचनामृतको इस संसारमें छोड़कर साकेतवास कर गये।

परमहंस श्रीसियालालशरणजी महाराज*

(श्रीप्रेमलताजी)

(लेखक—श्रीस्नेहलताजी)

छप्पय

मागि मधुकरी खाहिं अजब मस्तान सुचाला।
विचरि अवनि प्रभु भजहिं सबन ते ढंग निराला॥
कछु दिन मिथिला कछुक अवध कछु दिन रहि काशी।
नाम रटन बल कलि महँ सियवर भक्ति प्रकाशी॥
लहि रामवल्लभाशरण गुरु शरण भये तारण-तरण।
सियलालशरणजी संतवर नाम प्रचारक दुखहरण॥
गल गुदरी अलफी सुअङ्ग शिर टोप विराजै।
झोरि कमण्डल खप्पर धरे फकीरी साजै॥
कण्ठी युग लर कण्ठ भाल लस तिलक रसाला।
विन्दु और चन्द्रिका सहित सोहत श्री लाला॥

* इनका बहुत सुन्दर बृहद् जीवनचरित्र 'श्रीसद्गुरु-चरित्र' नामसे भगवत्कृपापात्र श्रीसियारघुनाथशरणजी, 'श्रीप्रेममञ्जरी', सङ्कटमोचन, बनारससे प्रकाशित हुआ है; वह देखने योग्य है।

श्रीवैष्णव रसिक विरागि वर नाम-प्रेम छाके रहैं।
जय सियाराम जय जय सियाराम नाम अहनिशि कहैं॥
रटत रटत श्रीनाम गये होइ तत्त्व-सुज्ञाता।
अनुभव चख खुलि गयो भजन बल छायो गाता॥
यदपि सविधि नहिं पढ़े तदपि गुरु नाम कृपा ते।
भये सुकवि किये काव्य सरस भक्ती रँग राते॥
'सतगुरु कृपा प्रकाश' तेहि नाम ग्रन्थ सुन्दर परम।
लखि 'नेहलता' मानी कविहिं होत अधिक ईर्षा शरम॥
पै भावुक जन काहिं निरखि बाढ़त आनन्दा।
जिज्ञासुन को होत प्रेम पद सिय-रघुचन्दा॥
'प्रेमलता' अस नाम काव्य महँ सुन्दर सोहै।
प्रकट नाम गुण कवित वाणि अरु रूप सु जोहै॥
किमि करै प्रशंसा मन्दमति 'नेहलता' कलिमल ग्रसित।
जेहि सब बिधि नाम भरोस तेहि गुण वर्णत ब्रह्मादि नित॥

जय सियराम जय जय सियराम (प्रेषक—सियारघुनाथशरणजी)

भक्त श्रीश्यामदासजी महाराज

(लेखक—श्रीजानकीशरणजी 'स्नेहलता' रामायणी)

श्रीश्यामदासजी महाराजका जन्म-स्थान गया जिलान्तर्गत दौलतपुर नामक ग्राम था। ये बाल्यकालसे ही श्रीसियारामजीके परम अनन्य और सच्चे भक्त थे। भगवान्के सिवा अन्य किसीका आश्रय स्वप्नमें भी स्वीकार नहीं करते थे। भजनके प्रभावसे ये वचनसिद्ध महात्मा हो गये थे। इन्होंने पहले संत रंगाचारीसे दीक्षा लेनेकी इच्छा प्रकट की। परंतु रंगाचारीने योगबलसे जानकर कहा कि 'हम दोनों पूर्वजन्मके गुरुभाई रह चुके हैं, अतः मैं तुम्हें दीक्षा न देकर श्रीढोटनदासजीसे दीक्षा दिला दूँगा।' थोड़े समय बाद ही श्रीढोटनबाबासे दीक्षा लेकर ये छः वर्षतक निरन्तर गुरुसेवा करते हुए उनके पास ही रहे। फिर गुरुदेवका आशीर्वाद पाकर उनकी आज्ञासे घरपर आये और आठों पहर भगवत्पूजन और नामजप तथा सत्सङ्ग-कीर्तनमें ही रत रहने लगे।

चौथेपनमें भी जब इनके पुत्र नहीं हुआ, तब गाँवमें लोग अनेक प्रकारकी चर्चा करने लगे। प्रभुने पुत्र देकर भक्तकी यह चिन्ता भी मिटा दी। परंतु जब बालक छः मासका हुआ, तब किसी अशुभ ग्रहके कारण उसकी दोनों आँखें जाती रहीं। श्रीमहाराजजीने बालकको मन्दिरमें सुला दिया और दृढ़ विश्वासके साथ भगवान्से प्रार्थना करने लगे। तुरंत ही भगवान्ने बालकको नेत्रदान देकर भक्तकी बात रख ली।

एक बार ये भ्रमवश अर्धरात्रिके समय ही गङ्गा-स्नानके लिये चल पड़े। रास्तेमें एक दुष्टोंके समूहने इन्हें घेर लिया। इतनेमें ही श्रीरघुनाथजीने एक वीरका वेष धारण कर दुष्टोंको मार भगाया और इन्हें गङ्गातटतक पहुँचाकर अदृश्य हो गये।

एक बार इनकी कथामें यह प्रसङ्ग चला कि कथामें श्रीरघुनाथजी स्वयं पधारते हैं। इतनेमें ही एक अविश्वासीने मजाकमें कहा कि 'यदि कथामें रघुनाथजी स्वयं पधारते हैं तो यहाँ कहाँ हैं? दिखलाओ।' कहते हैं कि भगवान् वहाँ परम सुन्दर छोटी अवस्थाके संतका रूप धारण करके पधारे। कथा समाप्त होते ही वे तुरंत अन्तर्धान हो गये। यह अद्भुत लीला देखकर वह अत्यन्त लज्जित हुआ और पैरों पड़कर क्षमा-याचना करने लगा। इसी प्रकारकी अनेक लीलाओंसे महाराजजीकी कृपासे हजारों मनुष्य भगवद्भजनमें लग गये।

इन्होंने सं० १९५८ वि० में मुखसे श्रीरामनाम लेते हुए शरीरका त्याग करके साकेतधामको प्रयाण किया।

परमहंस रामदासजी

(लेखक—श्रीकेसरीनन्दनप्रसादजी)

परमहंस रामदासजी बाबा रघुनाथदासजीके प्रिय शिष्य थे। आपकी जन्मभूमि छपरा थी और आपने ब्राह्मणकुलको सुशोभित किया था। बहुत छोटी अवस्थामें ही आपको वैराग्य हुआ और आपने चारों धामकी प्रदक्षिणा बारह वर्षोंमें समाप्त की। इसके अनन्तर आप अयोध्या आकर अपने गुरु महाराजकी सेवामें रहने लगे। चित्रकूटके वनमें जाकर एकान्तवासके साथ-साथ आपने योगाभ्यास किया। काशीके स्वामी विशुद्धानन्दजीसे आपको साधनामें बड़ी सहायता मिली। परमहंस लक्ष्मणदासजी, रामकृष्ण परमहंस, श्रीझकझकिया बाबा आदि प्रसिद्ध महात्माओंसे आपने भेंट की। इसके बाद आपने अनसूया-आश्रममें जाकर तपस्या की और तीन महीनेतक आप केवल नीमकी पत्ती खाकर रहे। बारह वर्ष आप केवल फल और दूधपर रहे। परंतु इससे भी आपको संतोष नहीं हुआ। आप वृन्दावन गये। वहाँ तीन वर्ष यमुनाके किनारे बिना कपड़े पहने अवधूतकी तरह नंग-धड़ंग रहे। कोई कुछ खानेको देता, वही पाकर अलमस्त डोलते। क्या जेठकी गर्मी और क्या माघका जाड़ा, आप सदा दिगम्बर ही रहे। तीन वर्षकी इस परमहंसावस्थाका रस लेकर आपने पुनः कण्ठी-तिलक धारण किया।

आपके पास जो कोई भी, जिस किसी भी कामके लिये साधन पूछता, आप उसे भगवान्का नाम ही बतलाते। कितने श्रोत्रियोंने इनकी प्रेरणासे कण्ठी-माला ली। आपको नंगे पैर देशाटनका बहुत शौक था। साथमें केवल एक तुमड़ी और कुछ पोथियोंकी झोली रखते थे। आपने एकान्तवासके हेतु कुछ समय गयामें बिताया। वहाँ इनकी विभूतियोंका दर्शन पहले-पहल हुआ। कितने ही लोगोंका आपके द्वारा बहुत अधिक कल्याण हुआ। सेमरियाघाटमें आपके योगाश्रमका नाम रामबाग था। योगके साथ-साथ आप अनेक विद्याओंके स्रोत थे। आपने भक्ति-प्रेम योग-सम्बन्धी बहुत सुन्दर पद रचे हैं। आपका जीवन अनेकों विचित्र चमत्कारी घटनाओंसे पूर्ण है। स्थानाभावसे वे सब यहाँ नहीं लिखी जातीं।
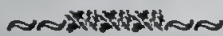
भक्त श्रीभगवान्दासजी मधुकरिया

(लेखक—श्रीअंजनीनन्दनशरण श्रीशीतलासहायजी)

आपकी चरित और नाम दोनोंमें निष्ठा थी। जबसे अवध आये, धामसे बाहर नहीं गये। कभी किसीको अवध छोड़नेकी आज्ञा नहीं देते। भगवान्ने आपकी निष्ठा निबाह दी। एक बार आप बहुत बीमार हुए; छः मास हो गये, शरीर स्वस्थ न हुआ। तब बहुत-से प्रेमियोंने आपसे हठ किया कि कुछ दिनोंके लिये बाहर जाकर जल बदल आयें; पर आप न गये। इसके पीछे कुछ दिनों बाद आप-ही-आप मनमें आयी कि 'अच्छा चलो, कुछ दिन बाहर रह आयें।' पर मनकी किसीसे कहनेमें लज्जा लगती थी, इससे आप चुपचाप स्थानसे चल दिये। रास्तेमें जब मणिपर्वतके समीप पहुँचे, तब एक मुसलमान सिपाही-वेषमें आपको मिला; पूछा—'किधर जाते हो?' आप बड़े संकोचमें पड़ गये, कुछ उत्तर न दिया। सिपाही बोला—'हम यहाँसे आगे न जाने देंगे, लौट जाओ।' ये दूसरी तरफ गये, उधर भी वह पहुँच गया। जिधर आप जाते, उधर ही वह सिपाही आकर आपकी राह छेंक लेता। चारों तरफसे रास्ता बंद। क्या करें? उस दिन लौटे। दूसरे दिन चले, दूसरे दिन भी वही हाल हुआ। रास्ता बदल-बदलकर चार-पाँच दिनतक आप गये, पर नित्य वही सिपाही आपको जिस ओरसे आप जाते, उधर ही आकर रोकता। अन्ततोगत्वा आप फिर स्थानमें लौट आये। इस चरितके बाद तीसरे दिन आपका शरीर श्रीअवधमें ही छूटा। सं० १९४३ के लगभग आपका साकेतवास हुआ।

श्रीगोमतीदासजी [पृ० ८१७]

परम भक्त श्रीग्वारिया बाबा [पृ० ८२५]
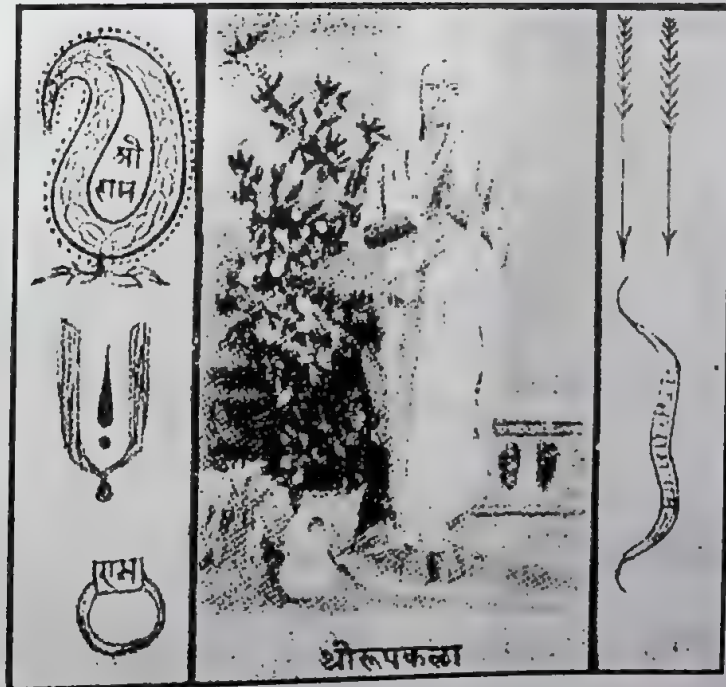
श्रीरूपकलाजी [पृ० ८११]
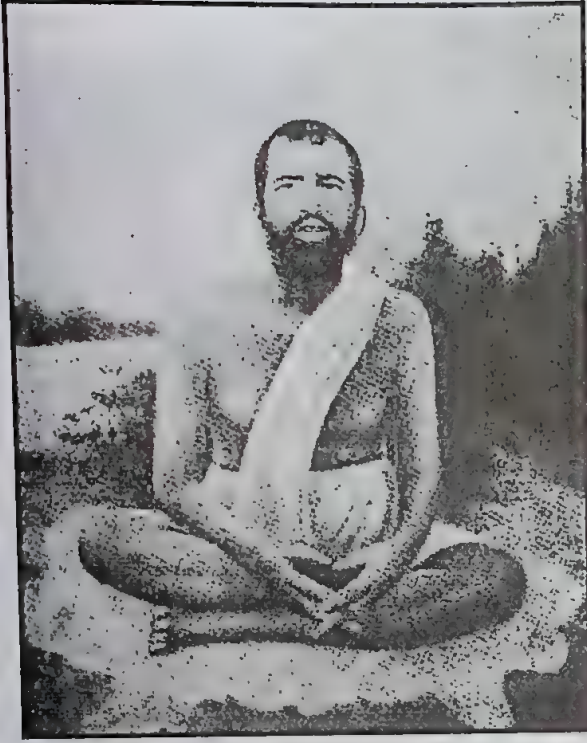
श्रीरामकृष्ण परमहंस [पृ० ८३३]
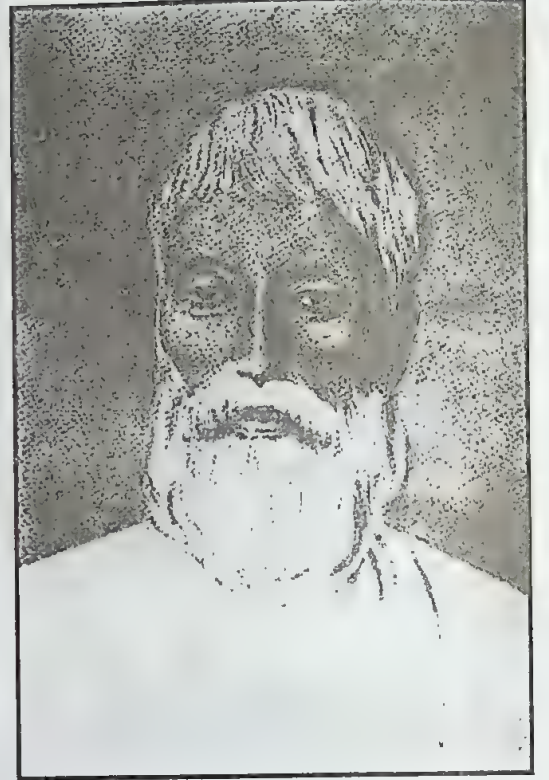
श्रीदुर्गाचरण नाग [पृ० ८३४]

श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी [पृ० ८३७]

श्रीकुलदानन्द ब्रह्मचारी [पृ० ८३८]

स्वामी श्रीगोमतीदासजी

आपका शुभ जन्म अबसे प्राय: सौ वर्ष पूर्व पंजाबमें किसी सारस्वत सद्ब्राह्मणके घर हुआ था। कहते हैं कि प्रारब्धवश अपनी बाल्यावस्थामें ही आपको गृहत्याग करना पड़ा था और आप किसी साधुके साथ अमृतसरके दुर्ग्याना नामक गुरुद्वारे या साधुओंके अखाड़ेमें सम्मिलित हो गये थे! आपके दीक्षागुरु श्रीसरयूदासजी थे। इस गुरुद्वारेमें बड़े-बड़े सिद्ध तथा विरक्त होते आये हैं। एक समय वहाँ आपसे 'मठाधीश' होनेका अनुरोध किया गया, पर आपके हृदयमें तो बाल्यावस्थासे ही वैराग्यका सच्चा भाव पैदा हो गया था। इसलिये आप चुपचाप अपने गुरुद्वारेसे निकल भागे। आप पैदल ही अनेकों तीर्थोंमें घूमते रहे। तीर्थोंमें विचरते हुए आप चित्रकूट पहुँचे। चित्रकूटमें आपने बारह वर्षतक मौनव्रतका अवलम्बन किया। तदुपरान्त आप मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी जन्मभूमि श्रीअयोध्यापुरीकी गोदमें आ विराजे और यहाँ भी मौनव्रतका ही पालन करते हुए बारह वर्षतक मणिपर्वतपर टिके रहे। मौनव्रत समाप्त करनेपर आप ग्वालियरके सेठ प्रह्लाददासके प्रेमपूर्ण अनुरोधसे 'संतनिवास' में रहने लगे। आपने निरन्तर अपनेको छिपाये रखनेकी ही चेष्टा की, पर सच्ची विभूति क्या कहीं छिपी रह सकती है? 'लक्ष्मणकोट' के महंत श्रीरामोदारशरणजी आपके इस योगाभ्यास और अनुपम तपोबलपर मुग्ध हो गये और आपको अपने प्रेमपाशसे ही आबद्धकर लक्ष्मणकिलेमें ले आये। आप जहाँ ठहराये गये, उस स्थानका नाम आपने 'श्रीहनुमन्निवास' रखा। आपके इष्टदेव श्रीहनुमान्जी थे, यद्यपि आपकी अनन्य उपासना श्रीसीतारामके युगलनामकीर्तनकी ही थी।

कहते हैं कि आपको श्रीहनुमान्जीका साक्षात्कार भी हुआ करता था और उनसे प्रत्यक्ष आदेश मिलता था।

आपकी उम्र सौसे अधिक हो गयी थी, पर आपकी दिनचर्यामें कभी कोई अन्तर नहीं पड़ा। आप रात्रिके बारह बजेतक जागते और पहर रात रहते उठकर तीनसे छ:तक अपनी श्रीसीताराम-नाम-पाठशालामें सम्मिलित होते और शुद्ध भजनानन्दमें तल्लीन हो जाते। सूर्योदय होनेपर दुबारा श्रीसरयूजीमें स्नान करके अपने उपास्य और इष्टदेव श्रीराम तथा रामकिङ्कर श्रीहनुमान्जीकी पूजामें लग जाते। पूजा समाप्तकर प्रात:कालीन 'हवन' आदि धर्मकृत्य किया करते। श्रीविग्रहोंका शृङ्गार और सेवा तथा अर्चा भी अपने ही हाथों किया करते! आलस्य तो आपमें आपकी वृद्धावस्थातक नहीं फटक पाया था। दस-ग्यारह बजे फिर आप अपनी भजनमण्डलीके साथ श्रीसीतारामजीकी मधुर नामध्वनि करते हुए श्रीसरयूजी स्नान करने जाते और वहीं सरयू-तटपर घंटाभर भजन-कीर्तनमें लगे रहते। फिर मध्याह्नकालीन हवन समाप्तकर अपने सामने ही संतोंको भोजन कराते और बड़े ही विलक्षण प्रेमसे भगवत्प्रसाद पवाते। श्रीसीतारामजीकी जयध्वनि या 'रामधुनि' कराते हुए भजनानन्दमें मग्न हो जाते। साधु-संतोंके प्रसाद पा लेनेपर संतोंको अपने हाथसे पान-इलायची देते, अभ्यागतों और दरिद्रनारायणोंको भोजन कराते और तब आप फलाहारमात्र करते। दोपहरसे चार बजेतक आप नित्य अपनी एकान्त कोठरीके किवाड़ बंदकर ध्यानस्थ रहते। एक बार और स्नानार्थ बाहर आते और फिर सन्ध्या-प्रवेशतक जप-ध्यानमें ही लीन रहते। सन्ध्याको दिया-बत्तीके बाद आँगनमें आसनपर विराजकर भजन करते और संत-समाज श्रीरामायणजी आदिकी कथा, श्रीराम-नाम-कीर्तनका आनन्द लूटते। रात्रिके समय आठ, साढ़े आठ बजे फिर स्नानादि कृत्योंसे निवृत्त हो हनुमान्जीकी सेवा करते और तब श्रीरामायणका गायन हुआ करता।

गौओंको अपने हाथसे ही रोटियाँ खिलाते और स्वयं ही उनकी देख-भाल किया करते। अपने सेवकों तथा शिष्यवर्गको भी गो-सेवाके लिये सदा उत्साहित किया करते। फिर शयनासनपर विराजमान हो अपनी उपस्थित संतमण्डलीमें 'रामकथा' या विविध रहस्यमय राम-चरित्रोंका आस्वादन किया करते। अपनी अन्तिम जीवन-लीला भी आपने अपने श्रीहनुमन्निवासमें ही समाप्त की।

भक्तवर श्रीरामाजी

(लेखक—डॉ० श्रीसत्यनारायणसहायजी)

सारन (छपरा) जिलेके खेढ़ाय गाँवमें श्रीवास्तव कायस्थ-कुलमें साकेतवासी श्रीरामयादलालजी (श्रीरामप्रियाशरण)-की धर्मपत्नी श्रीलालप्यारी देवीके गर्भसे सं० १९२६ भाद्रपद कृष्णा सप्तमीको श्रीरामाजीका आविर्भाव हुआ। जन्मसे ही आप सरल, विनम्र और भावुक प्रकृतिके थे। बाल्यावस्थामें ही इनके विलक्षण गुणोंको देखकर अनेक साधु-महात्माओंने कहा था कि यह बालक परम भक्त होगा। पठन-पाठनमें इनका मन लगता ही नहीं। कोई साधु-संत देखते ही ये उनकी सेवामें लग जाते। साधुसेवामें इन्हें बड़ा सुख मिलता था। आपके गुरु पटनाके सुप्रसिद्ध महात्मा श्रीस्वामी भीष्मजी महाराज थे।

स्वभावसे ही विनम्र और साधुसेवी होनेके कारण श्रीरामाजी सभीके श्रद्धापात्र बन गये। *'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत'*—सारा संसार भगवान्‌का स्वरूप है और मैं हूँ उसका विनम्र सेवक—इसी भावसे आपने समस्त चराचरकी प्रभुरूपसे उपासना की। आप सदा जमीनपर बैठते। आप उच्चासनपर कभी नहीं बैठे, न किसी सवारीपर चढ़कर कहीं गये। विवाहमें लोगोंके बड़ा आग्रह करनेपर एक घंटेके लिये पालकीपर बैठे थे; परंतु परिछनके बाद पैदल ही ससुराल गये। साधु-ब्राह्मणके सामने अथवा अपनेसे बड़ेके सामने उच्चासनपर बैठना अथवा सवारीपर बैठना आप बेअदबी मानते थे और ऐसा मानते थे कि इससे भगवान् असन्तुष्ट होते हैं।

भगवान् श्रीरामकी उपासना आपकी थी। रामलीलामें आपकी बड़ी भक्ति थी। भगवान्‌की वन-यात्राकी झाँकी करुणरससे पूर्ण होनेके कारण पहले आपके हृदयको बहुत आकृष्ट करती थी। आप करुणरसकी मूर्ति ही थे। परंतु इस झाँकीकी उपासना स्थायी नहीं हुई। आपको एक बार सहसा भगवान्‌के दूल्हारूपका ध्यान हुआ और वह हृदयमें ऐसा घर कर गया कि आप एक प्रकारसे उसी रूपपर बिक गये। फिर एक क्षणके लिये भी उस 'नौशे बबुआ'की छविसे मनको कभी अलग नहीं होने दिया।

अपने गाँवके अड़ोस-पड़ोसमें ऊँच-नीच किसी भी जातिके बालकका जब विवाह होता, तब रामाजी दूल्हेको जोड़ा पहनाते और उसे दूल्हा रामका रूप समझकर आनन्द-पुलकित होते। संसारके सारे झमेलोंसे अलग होकर आप प्रत्येक क्षण भगवत्स्मृतिमें ही मग्न रहते। आपकी शरणागति सच्ची थी। एक क्षणके विस्मरणमें आप परम व्याकुल होकर छटपटाने लगते। *'दूल्हारूप रामकर ध्याना'* में आपकी निष्ठा इतनी दृढ़ थी कि आप किसी भी दूल्हेको जाते देखते तो पालकीके साथ हो लेते और चँवर डुलाने लगते, उसका चरण चाँपते। इस पाद-संवाहनमें आपको स्वयं श्रीभगवान्‌के पाद-संवाहनका आनन्द मिलता!

एक बार आपकी इच्छा 'अर्चाविग्रह' का विवाहोत्सव मनानेकी हुई। श्रीकिशोरीजीकी मूर्त्ति अपने यहाँ थी ही। सभी सामान तो आ गया; परंतु श्रीकिशोरीजीके लिये आभूषणोंका प्रबन्ध नहीं हो सका। मन मारे आप चिन्तामग्न होकर एक वृक्षके नीचे बैठे थे। इतनेमें क्या देखते हैं कि एक सुनार सोनेके अनेक बहुमूल्य गहने लाकर आपसे कहता है, 'इन गहनोंको रख लो। जब दाम हो, दे देना।' विवाहके अनन्तर भक्तवर रामाजीने उस 'सुनार' को बहुत खोजा, परंतु इस खोजमें उन्हें ही खो जाना पड़ा!

कुछ दिन बाद सरयाँ गाँवमें आप अपने प्रेमी बाबू नगनारायणलालके यहाँ वास कर रहे थे। वहीं संवत् १९८५ की जेठ बदी दूजको भगवान् श्रीरामचन्द्रके चरणोंका चिन्तन करते हुए आप साकेतलोकको पधारे।

सिद्ध श्रीकृष्णदासजी महाराज गोवर्धनवाले

(लेखक—ठाकुर श्रीशङ्करसिंहजी, बी० ए०)

गोवर्धनवाले श्रीकृष्णदासजी उत्कल-देशवासी कर्णवंशीय श्रीसनातन कानूनगोके पुत्र थे। प्रथम पत्नीसे सन्तान न होनेके कारण सनातनने जड़ी मंगराजाकी कन्यासे विवाह कर दिया। उनके रामचन्द्र, प्रसादी तथा वटकृष्ण—तीन पुत्र हुए। जिस समय कृष्णदासजी केवल बारह वर्षके थे, उनके पिताका देहान्त हो गया; माता उनके साथ सती होने लगीं, तब उन्होंने पहले पुत्रको मंगराज-उपाधिसे विभूषित किया, दूसरेसे कहा कि 'तुम्हारा वंश सदा बना रहेगा; छोटे पुत्रको व्रजमें वैष्णव बनकर भजन करनेका आशीर्वाद दिया। चार साल घरपर रहकर शिक्षा प्राप्त करनेके बाद वे सोलह सालकी अवस्थामें पैदल व्रज चले आये।

श्रीकृष्णदासजी गृह-प्रणालीके अनुसार नरोत्तमदासजी ठाकुर महाशयके परिवारमें दीक्षित थे, पर व्रजमें आकर उन्होंने ब्रह्मकुण्डपर श्रीवैष्णव चरणदासजीके आदेशसे भजन करना आरम्भ किया। उनके स्वर्गस्थ होनेपर आप श्रीरूपगोस्वामीजीके सेव्य श्रीगोविन्ददेवजीके दर्शनके लिये जयपुर चले आये और दस वर्ष उन्होंने गोविन्ददेवके श्रीविग्रहकी सेवा की। इस समय वे अपने पूर्ण यौवनपर थे। मदनोन्मादसे पीड़ित होनेपर वे 'व्रज' चले आये। पौष्टिक राजभोग आदिके सेवनसे उन्हें काम सताने लगा। उन्होंने कामवनके तत्कालीन प्रसिद्ध संत श्रीजयकृष्णदासजी महाराजसे काम-पीड़ा-निवृत्तिका उपाय पूछा। महाराजने उनको समझाया कि विषय-त्याग किये बिना जीव भक्ति प्राप्त ही नहीं कर सकता। विषय-रसका आस्वादन जितनी मात्रामें कम होगा, उतनी ही मात्रामें भक्तिरसका अनुभव होगा। विषयसुख इन्द्रिय-संयोगसे प्राप्त होता है और भगवान्‌का आनन्द उसके त्यागमें ही सन्निहित है। विषयीके द्रव्यसे खरीदा गया महाप्रसादतक राजसिक वृत्ति उदय करता है। महाप्रसाद सर्वथा चिन्मय है, तो भी इसका रसास्वादन केवल भक्तिमें सने प्राणी ही कर पाते हैं।'

तदनन्तर श्रीकृष्णदासजीने नन्दग्राममें आकर त्याग, वैराग्य और कठोर तपस्यापूर्ण जीवन अपनाया, वे भिक्षामें केवल आटा स्वीकार करते थे और नीमकी पत्ती घोलकर उसे पी जाते थे। धीरे-धीरे उनका शरीर क्षीण होने लगा, नेत्रोंकी ज्योति कम होने लगी। तब केवल कुण्डसे जल लाकर ही क्षुधा-शान्त करने लगे। थोड़े ही समयके बाद वे कुण्डतक जानेमें भी असमर्थ हो गये। उनकी इस दशापर व्रजेश्वरी राधारानीका हृदय द्रवित हो उठा। उन्होंने श्रीललिता सखीको आदेश दिया कि 'प्रसाद ले जाकर भक्तको भोजन करायें।' श्रीललिताजीके मधुर वचनों और सरस प्रसाद तथा चिन्मय स्पर्शसे श्रीकृष्णदासके शरीरमें नयी शक्ति और दिव्य चेतनाका सञ्चार हुआ एवं उनके नेत्रकी ज्योति भी बढ़ गयी। बालिका-रूपधारिणी ललिताजीके अन्तर्धान होनेपर वे आश्चर्यमें पड़े रहे। तीन दिनोंतक निराहार रहनेपर श्रीमती राधाजीने स्वप्नमें दर्शन देकर रहस्योद्घाटन किया। 'गोवर्धन जाकर मेरे उपासक वैष्णवोंको उपदेश दो कि मेरी प्राप्ति किस तरह हो सकेगी।'—इतना कहकर वे अदृश्य हो गयीं। श्रीप्रियाजीके आदेशानुसार वे गोवर्धनमें मानसी-गङ्गाके तटपर आकर रहने लगे।

वे संस्कृत-बोधके लिये व्याकरणका अध्ययन करने लगे। भजनमें बाधा उपस्थित हुई। भजन और व्याकरण दोनोंको वे यथाक्रम चलाना चाहते थे, पर सफलताकी आशा न देखकर उन्होंने मरण-संकल्प किया, उन्हें श्रीललिताजी और श्रीसनातन गोस्वामीने साक्षात् दर्शन देकर क्रमशः भजन-स्फूर्ति और सर्वशास्त्रबोधका आश्वासन दिया। इस घटनाके पश्चात् उनका हृदय समुद्रके समान गम्भीर हो उठा। श्रीकृष्णदासजीका रागानुगा भक्तिमें विशेष अभिनिवेश था। कीर्तन आदिके समय उनके नेत्रोंसे अश्रुका वेगपूर्ण प्रवाह होता था और दो सेवक बैठकर पोंछा करते थे। गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदायमें रागानुगा भक्तिका पूर्ण महत्त्व स्वीकार किया गया है।

एक दिन सिद्ध श्रीकृष्णदासजी महाराज होली-लीलाके आवेशमें ध्यानस्थ थे कि वैष्णवोंको उनके शरीरमें दिव्य राधाकृष्ण-होली-लीलाकी सामग्री—रंग,

कुङ्कुम, गुलाल आदि—दीख पड़ी। शरीरमें दिव्य सुगन्धकी परिव्याप्ति थी।

एक समय वे मानसी गङ्गाके तटपर बैठे थे कि वैष्णवोंने उनके आस-पास अतर-सुगन्धकी अनुभूति की। कारण पूछनेपर श्रीकृष्णदासजीने कहा कि 'स्नानके उपरान्त श्रीराधाकृष्ण दोनों यहीं उपस्थित हैं, सखियाँ उनकी सेवामें लीन हैं, मेरे-ऐसे अभागेके हाथसे अतरकी शीशी गिरकर टूट गयी। मैं एक छोटी सेवा भी न कर सका। वैष्णवोंने शीशी गिरनेका कारण उनके शरीरमें स्तम्भभावका उदय समझा; उसी दिनसे वे सिद्धकी उपाधिसे समलङ्कृत किये जाने लगे। नित्यानन्ददास, बलरामदास, मधुसूदनदास आदि उनके अनेक सिद्ध शिष्य तथा अनुयायी अत्यन्त विख्यात हैं। सिद्ध श्रीकृष्णदासने भावना-सार-संग्रह-पद्धति, प्रार्थनामृततरङ्गिणी आदि ग्रन्थोंकी रचना की। उन्होंने सं० १८७८ से १८८३ वि० की अवधिमें इनमेंसे अधिकांश ग्रन्थोंकी रचना की। उन्होंने सौ वर्षकी पूरी आयु भोगकर परमधामकी यात्रा की। गौड़ीय सम्प्रदायमें उनके ग्रन्थोंका बड़ा आदर है। उनकी निधन-तिथि आश्विन शुक्ला चतुर्थी है। उनकी समाधि गोवर्धनमें चक्रेश्वर महादेवके सन्निकट ही है।

सिद्ध श्रीमधुसूदनदासजी महाशय

(लेखक—श्रीशङ्करसिंहजी, बी० ए०)

सिद्ध मधुसूदनदासजीके जन्म-स्थानका पता नहीं चलता; पर यह तो निश्चित ही है कि वे एक कुलीन बंगाली ब्राह्मण और श्रीकृष्णचरणानुरागी विरक्त भक्त थे। उनकी इच्छाके विरुद्ध उनके माता-पिताने विवाह कर दिया, पर विवाह होते ही वे ससुरालसे व्रजके लिये चल पड़े। परिचयके भयसे बिना कुछ खाये-पीये ही वे वनमें पड़े रहते थे। एक समय उनके मनमें वैष्णवी दीक्षा लेनेकी उत्कण्ठा हुई; अचानक उसी समय एक महात्मा आ गये और दीक्षा देकर अदृश्य हो गये। मन्त्र-ग्रहण करनेके बाद वे इतने भावावेशमें थे कि उनका परिचयतक न जान सके। दीक्षाके उपरान्त भजन आदिकी विधि समझनेके लिये उन्होंने गोवर्धनवाले सिद्ध श्रीकृष्णदासजीका आश्रय लिया। महाराजने उनसे गुरुपरम्पराके विषयमें पूछा तो वे निरुत्तर रहे; सिद्ध श्रीकृष्णदासने कहा कि 'बिना गुरुपरम्परा जाने भजनकी रीति बताना असम्भव है।' मधुसूदनदासजीको मार्मिक वेदना हुई। महाराजने उनको कामवनके सिद्ध बाबाके पास भेज दिया; पर उन्होंने भी वही उत्तर दिया और कहा कि 'गुरुपरम्परा बताये बिना रागानुगा भजनमें अधिकार नहीं है। भजन करते रहो, श्रीराधारानीकी कृपासे सब कुछ अच्छा ही होगा। कभी-न-कभी तुम्हारी इच्छा वे पूरी करेंगी ही।'

मधुसूदनदासजी खिन्न होकर राधाकुण्ड चले आये, उन्होंने मरण-सङ्कल्प कर लिया। रातमें एक गोवर्धनशिला बाँधकर वे राधाकुण्डमें कूद पड़े। जलके तलपर उनको एक दिव्य पुरुषका साक्षात्कार हुआ, उन्होंने उनके गलेसे शिला अलगकर एक तालपत्र प्रदानकर जलके ऊपर फेंक दिया। वे बहुत प्रसन्न हो उठे, तालपत्रपर कुछ अव्यक्त शब्द अङ्कित थे। पहले तो उन्होंने उसे श्रीकृष्णदासको दिखाया; वे उसका रहस्य न समझ सके, अतएव कामवनके सिद्ध बाबाके पास भेज दिया। सिद्ध बाबाने तालपत्र देखते ही कहा कि 'श्रीप्रियाजी तुमपर पूर्ण प्रसन्न और कृपालु हैं। यह तालपत्र सर्वथा अव्यक्त है। बहिर्जगत्के समझने योग्य नहीं है। तुम राधाकुण्डपर जाकर प्रियाजीसे प्रार्थना करो, वे तुम्हारा मनोरथ अवश्य सिद्ध करेंगी।' वे राधाकुण्डपर चले आये, प्रियाजीने दर्शन दिया, सूर्यकुण्ड जानेका आदेश दिया और उन्होंने निषेध किया कि 'उस मन्त्रकी दीक्षा और किसीको न देना।'

वे प्रतिवर्ष होली-लीला देखने बरसाने जाया करते थे। एक साल श्वेत वस्त्र धारणकर होलीके अवसरपर

बरसाने जा रहे थे। थोड़ी दूर गये थे कि रास्तेमें भगवान्‌की लीलाका दर्शन करके वे मूर्छित हो गये। गिर पड़े, सन्ध्यातक उसी दशामें पड़े रहे। ग्वालोंने आकर उठाया, उनकी विलक्षण दशा थी। नयनोंसे प्रेमाश्रुओंकी धारा प्रवाहित थी, शरीरमें अद्भुत रोमाञ्च था, वस्त्र विचित्र रंगोंसे रँगे थे; विशेष प्रकारकी सुगन्ध आ रही थी।

मधुसूदनदासजीके पूर्वाश्रमकी पत्नी उनके दर्शनके लिये बंगालसे व्रज आयी थीं, बाबाने दर्शन देना अस्वीकार कर दिया और वे आश्रम छोड़कर वनोंमें भ्रमण करने लगे। सती-साध्वी पत्नी पतिकी शान्तिमें बाधा नहीं उपस्थित करना चाहती थीं, वे घर लौट गयीं। उनके चले जानेके बाद मधुसूदनजी महाशयके पैरमें घाव हो गया, असह्य पीड़ासे दुःखी होनेपर प्राण-त्यागका सङ्कल्प करके वे गँभीर वनमें चले आये। तीन दिनोंतक भूखे पड़े रहे; राधारानीने बालिकावेष धारणकर उनको भोजन कराया, क्षुधा शान्त हुई, घाव भी ठीक हो गया। बाबाजी व्रजबालिकाके घरपर पधारे, उसकी माँसे पूछा कि 'लाली कहाँ है?' उत्तर मिला कि 'वह तो तीन माहसे ससुरालमें है।' बाबाजीको महान् खेद हुआ कि 'मेरे कारण श्रीराधारानीको इस तरह कष्ट उठाना पड़ा।' उनकी प्रसिद्धि बढ़ने लगी। भक्तोंका समूह एकत्र होने लगा। उन्होंने मार्गशीर्षकी शुक्ला अष्टमीको महाप्रयाण किया। उनकी समाधि सूर्यकुण्डपर है।

रणवारीवाले सिद्ध श्रीकृष्णदासजी

(लेखक—श्रीशङ्करसिंहजी, बी० ए०)

रणवारीवाले श्रीकृष्णदासजीका जन्म बंगालके यशोहर जनपदके मुहम्मुदपुर ग्राममें एक कुलीन ब्राह्मण श्रीगोकुलचन्द्रजी चट्टोपाध्यायके घर हुआ था। उनका बचपनका नाम कृष्णप्रसाद चट्टोपाध्याय था, घरमें भगवान्‌के श्रीविग्रहकी सेवा थी। अतएव उनका मन भगवान्‌के प्रति पूर्णरूपसे आसक्त हो चला, विवाहका प्रस्ताव सुनते ही उनके मनमें वैराग्यका उदय हुआ। वे वृन्दावन चले आये और इसके बाद रणवारीमें भजन करने लगे। कृष्णदासजी गोवर्धनवालेसे भी उनका विशेष सौहार्द था।

कुछ दिनोंके बाद उनके मनमें चारों धामकी यात्रा करनेकी इच्छा हुई, पर श्रीराधारानीने स्वप्नमें निषेध किया। उन्होंने स्वप्नकी ओर विशेष ध्यान न देकर तीर्थयात्रा आरम्भ की, द्वारका पहुँचकर तप्तमुद्रा धारण करनेपर उनके चित्तमें विक्षेप हुआ और वे वृन्दावन लौट आये। श्रीराधाजीने फिर स्वप्न दिया कि 'तप्तमुद्रा-छापके कारण तुम द्वारकाके परिकरमें सम्मिलित हो गये हो, तुमने व्रजवासका अधिकार खो दिया है।' महाराजजीने स्वप्नको सच माना, उनको बड़ी आत्मग्लानि हुई। 'राधारानीकी चरण-सेवाका सुख न मिलेगा'— यह सोचकर वे बहुत दुःखी हुए। उनका हृदय विरहानलमें जलने लगा। तीन मासतक बिना कुछ खाये-पीये पड़े रहे, भीतरका विरह-ताप बाहर प्रकट हो चला, सारा-का-सारा कृश शरीर झुलस उठा, वक्षःस्थलतक शरीरके दह्यमान होनेपर भी उनका हरिनाम-उच्चारण बंद नहीं हुआ। ग्रामवासी उनकी स्तुति करने लगे। महाराजने आशीर्वाद दिया कि इस ग्राममें कभी महामारी और दुर्भिक्षका प्रकोप नहीं होगा।

उन्होंने पौष मासकी अमावस्याको संसार-त्याग किया। इस पुण्य तिथिपर रणवारीमें उनकी समाधिपर प्रत्येक वर्ष उत्सव मनाया जाता है।

सिद्ध श्रीरामकृष्णदासजी

(लेखक—श्रीशङ्करसिंहजी बी० ए०)

श्रीरामकृष्णदासजीका जन्म सं० १९१४ वि० के भाद्रपद मासमें जयपुर नगरके अन्तर्गत भूराटीबा पंचगलीमें एक कुलीन गौड़-ब्राह्मणवंशमें हुआ था। उनके पिताका नाम रामप्रताप मिश्र था। वे वंश-परम्परासे जयपुर महाराजके अध्यापक थे। उन्हें राज्यकी ओरसे जागीर भी मिली थी।

बाल्यावस्थासे ही श्रीरामकृष्णदासका भगवान्‌के चरणारविन्दमें अनुराग था। वे अपना समय श्रीगोविन्दजीके मन्दिरमें ही दर्शन और खेल-कूदमें बिताया करते थे। गायत्री-मन्त्रकी दीक्षाके अनन्तर उन्होंने अनुष्ठानके फल-स्वरूप श्रीगायत्री देवीका साक्षात्कार किया। देवीके आदेशसे वे वृन्दावन चले आये और सिद्ध श्रीनित्यानन्ददासका दर्शन करके वे तेरह वर्षकी अवस्थासे ही वृन्दावनमें गोविन्ददेवजीके मन्दिरमें निवास करते हुए विद्याध्ययन करने लगे। उन्होंने श्रीसुदर्शन शास्त्रीसे न्याय और श्रीनीलमणि गोस्वामी तथा श्रीगोपीलाल गोस्वामीजी महाराजसे भक्तिशास्त्रकी शिक्षा प्राप्त की, उन्होंने विद्याप्राप्तिके बाद श्रीनित्यानन्ददासजी महाराजसे वैष्णवी दीक्षा ली। वे विनम्रता और साधुताकी प्रतिमूर्ति थे, अमानी और सहिष्णु महात्मा थे। दीक्षा लेनेके बाद वे भजन करने बरसाना चले आये। वहाँ एक वृद्ध महात्मासे वे गानविद्या सीखने लगे, अतएव भजनमें विक्षेप होने लगा। उनका मन ऐसी स्थितिमें पड़ गया कि न वे सङ्गीत ही सीख पाते थे और न स्वतन्त्रतापूर्वक भजन ही कर पाते थे।

तदनन्तर उन्होंने गुरुके आदेशसे उद्धव-क्यारीमें बैठकर ग्यारह दिनोंतक गोपाल-मन्त्रका अनुष्ठान किया, फलतः उन्हें श्रीराधा-कृष्णका साक्षात्कार हुआ। भगवान्‌की आज्ञासे वे गोवर्धन पूँछरीमें श्रीराघव पण्डितकी गुफामें तीस सालतक लगातार भजन करते रहे, प्रत्येक तीन-चार दिनपर मधुकरीवृत्तिसे भोजन करते थे। इसी बीचमें जयपुरसे उनकी माता भी आ गयीं, सात-आठ सालतक भजन करनेके बाद वे परमधाम चली गयीं। तत्कालीन ग्वालियर-नरेश श्रीमाधवरावजीके ज्येष्ठ भ्राता बलवन्तरावजी कभी-कभी उनसे मिलने आया करते थे। उन्होंने एक बड़ी रकम भेंट करनी चाही, पर रामकृष्णदासजी महाराजने उसको अस्वीकार कर दिया। वे पूँछरीसे श्यामकुटी और श्यामकुटीसे वृन्दावन चले आये एवं दाऊजीके उद्यानमें रहने लगे। बड़े-बड़े महात्मा उनके दर्शनके लिये आया करते थे। श्रीरामकृष्णदासजी सदा अपनी साधनामें लगे रहते थे। वे उपदेश देनेसे सदा दूर रहते थे, पर विशेष आग्रहपर निष्ठापूर्वक हरिभजनपर ही जोर देते थे। वे स्वार्थकी बात चलानेवालोंकी ओर कुछ ध्यान ही न देते थे। वे उच्च कोटिके विरक्त और आदर्श भक्त महात्मा थे।

कभी-कभी मरणोपम कष्ट होनेपर भी शारीरिक सुखके लिये उन्होंने अपने इष्टदेवको नहीं पुकारा। उनका दृढ़ मत था कि दैहिक, ऐहिक और पारलौकिक आदि सुखकी चाह परमेश्वरसे करना कदापि उचित नहीं है। उनसे प्रेमाभक्तिकी याचना करना ही विवेकी मनुष्यका कर्तव्य है। वे कभी अपना फोटो नहीं खिंचवाते थे तथा प्रचारसे बहुत दूर रहते थे। एक बार एक चित्रकारने फोटोके लिये प्रयत्न किया, पर उनका चित्र नहीं आया। जिन संतके कन्धेपर वे हाथ रखकर खड़े थे, उनका आ गया था। उनकी इष्ट, वैराग्य, अकिञ्चना भक्ति, गुरु तथा व्रत और सम्प्रदायके प्रति निष्ठा अत्यन्त स्तुत्य थी। उनका स्वभाव सहज, सरल और प्रीतिमय था। यह एक विचित्र बात थी कि समस्त वैष्णव-सम्प्रदायोंके संत-महात्मा उनके सत्सङ्गमें सम्मिलित होते थे। उनकी व्रजवासमें असाधारण निष्ठा थी, वे व्रजवासीके ही घरकी भिक्षा आदि स्वीकार करते थे। व्रजवासियोंके फटे वस्त्रोंसे बनी हुई गुदड़ी और व्रजकी मिट्टीका करवा ही उनका संबल था। उनका आदेश था कि उनकी अन्त्येष्टि-क्रियामें व्रज और व्रजवासीकी ही वस्तु और सामग्रीका उपयोग हो। वे अपने पास आनेवालेको सदा नामजपका उपदेश दिया करते थे। श्रीरामकृष्णदासजी महाराजने संवत् १९९७ वि० के आश्विन मासकी कृष्णा चतुर्थीको परम धामकी यात्रा की। उनके शिष्य श्रीकृपासिन्धुदासजी महाराजने श्रीभागवत-निवास-आश्रममें उनकी समाधि स्थापित की।

भक्तवर बाबा मनोहरदासजी

(लेखक—श्रीनिरञ्जनदासजी)

बाबा मनोहरदासजी उच्च कोटिके भक्त और महात्मा थे। वे गिरिराज गोवर्धनके सन्निकट गोविन्द-कुण्डपर रहते थे। वे उच्च कोटिके पण्डित थे। आजसे लगभग सवा सौ साल पहले उन्होंने बंगालमें एक कुलीन ब्राह्मण-परिवारमें जन्म लिया था। कुछ बड़े होनेपर माता-पिताने उनको विवाहके बन्धनमें जकड़नेका निश्चय किया। एक रातको वे वैराग्यभावसे अनुप्राणित होकर घरसे निकल पड़े। बचपनसे ही वे संसार और उसके प्रपञ्चोंके प्रति पूर्ण अनासक्त थे। यात्रा-कालमें एक विद्वान् पण्डितसे उन्होंने वेद-वेदाङ्ग, वेदान्त तथा अन्य शास्त्रोंका अध्ययन किया। उनकी वृत्ति ब्रह्म-चिन्तनमें लीन रहने लगी। उन्होंने हिमालयकी तलहटीमें एक अनुभवी योगीके सम्पर्कमें अष्टाङ्गयोगका साधन किया, धीरे-धीरे उनके मनपर श्रीमद्भागवतमें वर्णित गोपीप्रेमकी छाप पड़ी। वे भावुक तो थे ही, भगवान् श्रीकृष्णके नयनाभिराम रूप-लावण्यका आस्वादन करनेके लिये व्रजकी ओर चल पड़े और वृन्दावनमें भगवत्-रसिकोंके सत्सङ्गसे जीवनका परमानन्द प्राप्त किया। उसके पश्चात् निधुवन, कुसुमसरोवर, राधाकुण्ड आदिपर रहकर तपस्यापूर्ण जीवन अपनाया तथा गोविन्द-कुण्डपर स्थायीरूपसे रहने लगे। नामजप और भगवान्के स्वरूप-चिन्तनमें उनका मन इस तरह लगा कि वे भोजन-भिक्षा आदिकी भी सुध-बुध भूल गये। कई वर्षोंतक वे आटा जलमें घोलकर पीते और नीमकी पत्ती चबाकर ईश्वर-भजनके लिये पर्याप्त समय निकाल लेते थे। रातभर ध्यान और स्मरणमें जागते रहते थे।

उनका त्याग उच्च कोटिका था। लँगोटी, गाढ़ेकी चादर और मिट्टीके लोटेके सिवा वे अपने पास कुछ नहीं रखते थे। श्रीकृष्णने राधारानीसमेत उन्हें अपना दर्शन देकर कृतार्थ किया था। वे उन्मत्तकी तरह इधर-उधर घूमा करते थे। एक बार तो एक कदम्बके पेड़के नीचे तीन दिनोंतक समाधिस्थ होकर खड़े रहे। वे रात-रात गोविन्द-कुण्डमें खड़े रहते थे। कभी रोते, कभी हँसते थे। भगवान्का नाम ले-लेकर जोर-जोरसे प्रेमपूर्वक पुकारते थे, उस समय सूखे मोटे टिक्कड़ और नीमके झोल (रसा)-से ही काम चलाते थे। उनकी प्रेम-साधना विलक्षण थी।

उन्होंने अपने किसी भी शिष्यसे कभी शारीरिक सेवा नहीं ली। नब्बे वर्षकी अवस्थामें भी वे स्वावलम्बी ही बने रहे। वे बड़े सहिष्णु थे। एक बार एक शिष्यने मूर्खतावश उनपर भालेसे प्रहार किया। वे मौन रहे, मुसकराते रहे। अन्य शिष्योंने उसे आश्रमसे निकालनेकी प्रार्थना की तो उन्होंने कहा कि यदि मैं नहीं रखूँगा तो बेचारेको दूसरा कौन रखेगा। यदि उनको कोई साष्टाङ्ग दण्डवत् करता तो वे धरतीपर माथा टेककर प्रतिनमस्कार करते थे।

कभी-कभी भक्तिके आवेशमें बँगलाके पद भी रचते थे। उनका ग्रन्थ विदग्धविलास अत्यन्त प्रसिद्ध है। वे भजनानन्दी महात्मा थे।

महात्मा श्रीअवधदासजी

मैंने जिस दिन उन महापुरुषके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया, उस दिन उस समय उनके चरण शीतल हो चुके थे। उनमें किसीको पहचाननेकी शक्ति नहीं रही थी। उसके पश्चात् कुछ घंटों ही वे इस धरापर और रहे।

वे श्रीगौराङ्ग महाप्रभुके (गौड़ीय) सम्प्रदायके विरक्त वैष्णव थे। उनकी निष्ठा थी कि श्रीमद्भागवत ही साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र हैं। वे श्रीमद्भागवतका ही पूजन, आराधन और पाठ करते थे। जीवनभर वे श्रीमद्भागवतका पाठ करते रहे।

उनकी अवस्था सौ वर्षसे अधिक हो चुकी थी, दृष्टिशक्ति लुप्त हो गयी थी; किंतु उनको तो श्रीमद्भागवतका पूरा ग्रन्थ कण्ठस्थ था। यह भी स्मरण था कि उनके पाठ-ग्रन्थके किस पृष्ठमें कितने श्लोक हैं। आसनपर

बैठकर ग्रन्थके पृष्ठ यथाक्रम पलटते जाते और पाठ करते जाते थे।

उस दिन जब हमलोग उनके दर्शन करने गये, जाड़ोंके दिन थे। मध्याह्नमें पाठ-विश्राम करके वे आँगनमें धूपमें लेटे थे। उनके एक शिष्यने उन्हें पुकारकर सूचना दी थी। हमलोग तो दर्शन करके चले आये। वे कुछ देरपर उठे और हाथ-पैर धोकर, आचमन करके पाठ करने अपने आसनपर जा बिराजे। हाथमें श्रीमद्भागवतका पन्ना, सामने श्रीमद्भागवतकी खुली प्रति। उनका पाठ कब चलते-चलते रुक गया, किसीको पता नहीं। नित्य-समयपर जब वे न उठे, तब शिष्योंने जाकर उठाना चाहा। आसनपर वे ऐसे बैठे थे, जैसे अब भी पाठ करनेवाले हों, हाथमें पन्ना लिये जैसे अब उसके श्लोक बोलेंगे ही; किंतु वे तो जा चुके थे उस नित्यधाममें, जहाँ जाकर फिर कोई लौटता नहीं।

पं० श्रीअमोलकरामजी शास्त्री

एक सीधे-सादे वेश एवं सरल स्वभावके ब्राह्मणको देखकर कौन विश्वास करता कि वे न्यायशास्त्रके प्रकाण्ड विद्वान् हैं। वे कुरुक्षेत्रीय ब्राह्मण थे। उन्होंने काशीमें विद्याध्ययनका प्रारम्भ किया और नवद्वीप (बंगाल) जाकर न्यायशास्त्रकी विशेष योग्यता सम्पन्न की। परंतु जिसको आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र अपनाना चाहें, वह न्यायके तर्कजालमें कैसे उलझा रह सकता है। शास्त्रीजीको तर्कके अपार विस्तारमें रसानुभूति नहीं हुई। वे निम्बार्क-सम्प्रदायकी दीक्षा लेकर श्रीवृन्दावनवास करने लगे। व्रजका वास ही तो समस्त पुण्योंका परम फल है।

शास्त्रीजी स्वामी श्रीहरिदासजीकी परम्परामें दीक्षित हुए थे। शास्त्रोंके अध्ययनसे यदि श्रीव्रजेन्द्रनन्दनके चरणोंमें अनुराग न हुआ तो अध्ययन व्यर्थ गया, यह बात उनके हृदयमें आयी और मूर्तिमान् हो गयी। वृन्दावनका वास करके उन्होंने आहार-शुद्धिपर ध्यान दिया। ब्राह्मणको दान लेनेका अधिकार है, यह बात ठीक होनेपर भी यह बात शास्त्रोंमें स्पष्ट आयी है कि दान लेनेसे ब्राह्मणके तप तथा तेजका ह्रास होता है। पवित्र उपार्जनसे प्राप्त अन्न ही पवित्र मनका निर्माण करता है। शास्त्रीजीने ब्राह्मणके लिये इस युगमें सर्वोत्तम आजीविका शास्त्राध्यापन समझा और अन्ततक अध्यापन करके ही वे जीवन-निर्वाह करते रहे। बहुत आग्रह करनेपर भी किसीसे दान लेना उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया।

नित्य श्रीविहारीजी एवं टाटीस्थानके श्रीठाकुरजीके दर्शन करना और भगवान्की सेवा-पूजा करके प्रसाद ग्रहण करना, यह नियम शास्त्रीजीका कभी भङ्ग नहीं हुआ। श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायके अनेक ग्रन्थोंका शास्त्रीजीने प्रणयन किया। अनेक विद्वान् शास्त्रीजीके ग्रन्थोंको सम्प्रदायाचार्योंकी कृतियोंके समान ही महत्त्व देते हैं।

विद्याके गर्वको छोड़कर सीधा-सादा, नम्र, श्रद्धापूर्ण जीवन ही श्रीकृष्णको प्रसन्न करता है। अपने पूरे जीवनके द्वारा शास्त्रीजीने यही शिक्षा दी।

भक्त-वाणी

स्मितरुचिरविकासिताननाब्जमतिसुलभं सुरराजनीलनीलम्।
सितजलरुहचारुनेत्रशोभं रघुपतिमीशगुरोर्गुरुं प्रपद्ये॥ —जटायु

जिनका मुखकमल मनोहर मुसकानसे खिला रहता है। जो भक्तोंके लिये अति सुलभ हैं, जिनके शरीरकी कान्ति इन्द्रनीलमणिके समान सुन्दर नीलवर्ण है तथा जिनके मनोहर नेत्र श्वेत कमलकी-सी शोभावाले हैं, महादेवजीके पिता (ब्रह्माजी)-के भी पिता उन श्रीरघुनाथजीकी मैं शरण लेता हूँ।

भक्त ग्वारिया बाबा

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

अभी पंद्रह-सोलह वर्ष पूर्वकी ही बात है। वृन्दावनमें एक संत रहते थे। गौर वर्ण, लंबा शरीर, पैरतक लटकता ढीला-ढाला कुर्ता; शरीरका एक-एक रोमतक सफेद हो गया था। उनके शरीरकी थोड़ी झुर्रियाँ, रोम एवं केशोंकी श्वेतता ही कहती थी कि उनकी अवस्था पर्याप्त अधिक है। परंतु उनके कुर्ते या चोगेका वजन सात-आठ सेरसे अधिक ही रहता होगा। उसे पहने वे बच्चोंकी भाँति दौड़ते थे। उनका स्वास्थ्य एवं शारीरिक बल अच्छे स्वस्थ सबल युवकके लिये भी स्पृहणीय ही था। श्रीव्रजराजकुमारमें उनकी सख्य-निष्ठा थी, अतः वे अपनेको ग्वारिया (चरवाहा) कहते थे। संसारको भी उनके परिचयके रूपमें उनका यह 'ग्वारिया बाबा' नाम ही प्राप्त है।

शास्त्रकी आज्ञा है कि गृहत्यागी साधु अपने पूर्वाश्रमका स्मरण न करे, पूछनेपर भी घर तथा घरका नाम न बताये। श्रीग्वारिया बाबाने इस आज्ञाका इतनी दृढ़तासे पालन किया कि उनके घनिष्ठ परिचयमें रहनेवाले भी नहीं जानते कि बाबाकी जन्मभूमि कहाँ थी, उनका घरका नाम क्या था या उनका पूर्वपरिचय क्या है। किसीने पूछा—'बाबा! आपने किस सम्प्रदायमें दीक्षा ली है?' तो उत्तर मिला—'सभी सम्प्रदाय मेरे ही हैं।'

वृन्दावन आनेसे पूर्व श्रीग्वारिया बाबाका महाराज जयपुर (श्रीमाधवसिंहजी), महाराज ग्वालियर (श्रीमाधवरावजी) तथा दतिया एवं चरखारीके राजकुलसे घनिष्ठ सम्पर्क रहा। ये नरेश बाबाको अत्यन्त सम्मानकी दृष्टिसे देखते थे और प्रयत्न करते थे कि वे उनके यहाँ अधिक-से-अधिक रहें। ग्वारिया बाबा संगीतके कुशल मर्मज्ञ थे। राजमहलोंमें उनके भीतर जानेपर कभी प्रतिबन्ध नहीं रहा। उनसे राजकुलकी महिलाएँ अनेक बार सङ्गीत एवं वाद्यकी शिक्षा प्राप्त करती थीं।

महापुरुषोंकी प्रवृत्तिको समझना सांसारिक लोगोंके लिये कभी सरल नहीं रहा। उसमें भी चपलचूड़ामणि श्रीश्यामसुन्दरके सखाओंकी वृत्तिका तो पूछना ही क्या। ग्वारिया बाबाकी प्रकृतिमें यह अद्भुत भाव बहुत पर्याप्त था। जब वे किसी राजमहलमें रहते, तब स्वयं महलमें झाड़ू लगाया करते। उनके कार्यमें बाधा देनेका तो कभी कोई साहस करता ही न था। एक बार आपने जयपुर-महाराजसे आग्रह किया—'मैं जेलमें रहूँगा। तू मुझे जेलमें रख।' महाराजने एक लोहेके सीखचोंका पिंजड़े-जैसा कमरा बनवाया। वह कमरा महलमें रहे और उसमें ग्वारिया बाबा रहकर सन्तुष्ट हो जायँ, ऐसा महाराज चाहते थे; किंतु ग्वारिया बाबाको तो जेलमें रहना था। अन्तमें महाराजको संतका हठ स्वीकार करना पड़ा। वह पिंजड़ा जेलमें रखा गया। बंदियोंके वस्त्र पहनकर ग्वारिया बाबा जेलमें उस पिंजड़ेमें रहे। उन दिनों वे जेलका सामान्य भोजन ही करते थे और सामान्य बंदियोंके समान ही व्यवहार करते थे। वृन्दावन आनेपर वह पिंजड़ा भी बाबा अपने साथ लिवा लाये थे।

जयपुर रहते हुए ग्वारिया बाबा एक बार कई दिनोंतक पूरे दिनभर राजमहलसे बाहर रहते थे। किसीको कुछ विशेष पता नहीं था। उन दिनों जयपुरमें कोई मकान बन रहा था। प्रातःकाल मजदूरके वेशमें ढाठा बाँधकर आप वहाँ मजदूरी करने पहुँच जाते थे। दिनभर परिश्रम करते थे। सायंकाल ठेकेदारसे कहते—'मालिक! कलसे मैं नहीं आऊँगा। मुझे छुट्टी दे दी जाय। मेरे पैसे दे दीजिये।' ठेकेदार इतने परिश्रमी मजदूरको छोड़ना नहीं चाहता था। उसने कहा—'तुझे छुट्टी नहीं मिलेगी। पैसे तो सबको साथ ही बँटेंगे।' सप्ताहके अन्तमें मजदूरी बाँटनेका दिन आया। उस दिन ग्वारिया बाबा मजदूरके वेशमें न जाकर अपना लंबा लबादा पहनकर गये। ठेकेदार और मजदूर चकित रह गये। जो संत महाराज जयपुरके साथ बग्गीपर घूमने निकलते हैं, वे सात दिन उनके यहाँ सबसे कठोर श्रम करते रहे—यह समझना ही उनके लिये अद्भुत था। बाबाने अपनी मजदूरीके पैसे ठेकेदारसे लिये और उनके चने खरीदे। छोटे बालकोंको, मयूरोंको और बंदरोंको वे चने बड़ी उमंगसे उन्होंने खिलाये।

एक बार पतंग उड़ाते समय एक लड़का मकानकी छतसे गिर पड़ा। पतंगके पीछे देशमें ऐसी दुर्घटनाएँ प्रायः होती हैं; किंतु सत्पुरुष तो घटनाओंको यों घटना ही नहीं रहने देते। वे तो उनसे गम्भीर शिक्षा जगत्‌को देते हैं। ग्वारिया बाबाने लड़केके छतसे गिरनेकी बात सुनी तो अपने पूरे मुखमें कालिख पोत ली और एक पतंग छोटे धागेमें बाँधे कई दिन वे नगरमें घूमते रहे। किसीने ऐसा करनेका कारण पूछा तो बोले—'देखो, पतंग उड़ाते हुए वह लड़का मर गया और मेरा मुख काला हुआ। ऊपरकी ओर देखना और नीचेका ध्यान न रखना ऐसा ही सर्वनाश कराता है।'

ग्वारिया बाबा सदा व्रजभाषा ही बोलते और लिखते थे। वृन्दावन आनेपर अन्तिम कई वर्षोंतक वे मौन रहे। उस समय भी व्रजभाषामें ही लिखकर बात करते थे। दिनमें वे कहीं भी रहें, रात्रिमें वृन्दावनके समीपके जंगलोंमें घूमा करते थे। एक बार घूमते समय चोरोंके एक दलने उन्हें देखा। बाबाको तो वे पहचानते ही थे, सबने कहा—'ग्वारिया! चोरी करिबे चलैगो?' बाबाको लगा कि श्यामसुन्दरके सखा कहीं दही चोरी करने जा रहे हैं, सो प्रसन्नतासे साथ हो गये। एक घरमें चोर घुसे। चोर तो अपने काममें लग गये और ग्वारिया बाबा कोई खाने-पीनेकी सामग्री ढूँढ़ने लगे। उन्हें केवल गुड़ मिला और कहीं एक ढोलक लटकता मिल गया। आप ढोलक बजाने लगे। चोरोंने भागते-भागते भी इन्हें पीटा और घरके लोगोंने भी जगकर अन्धकारमें पीटा। जब प्रकाशमें पहचाने गये, तब सबको बड़ा दुःख हुआ। घरके लोगोंने देखा कि बाबा हाथमें जरा-सा गुड़ लिये हैं और कह रहे हैं—'यारोंके साथ चोरी करने आया था, सो मार तो खूब पड़ी।'

शरीर छोड़नेसे पंद्रह-बीस दिन पहले ही उन्होंने अपने इस धामको छोड़नेकी बात लोगोंसे कह दी और आग्रह किया—'मेरी शोक-सभा मेरे सामने ही मना लो।' बड़ी कठिनाईसे बाबाको लोग समझा पाये कि उनके रहते ऐसी अमङ्गलपूर्ण योजना करनेका साहस कोई कर नहीं पाता। 'मेरा कोई स्मारक न रखा जाय, कोई चरित न लिखा जाय।' यह बाबाका आदेश था। नश्वर शरीरकी स्मृति रखी जाय, यह उन्हें बिलकुल स्वीकार नहीं था। उन्होंने शरीर छोड़ते समय भगवान्‌के मन्दिरसे आया हुआ भगवान्‌का चरणामृत तथा संतोंका चरणामृत लेनेके लिये ही मुख खोला। उस समय उनके शरीरको शिथिल देखकर कुछ लोगोंने औषध देना चाहा, पर औषधके लिये बाबाने मुख खोला ही नहीं।

जैसी ग्वारिया बाबाकी इच्छा थी, उनका शरीर वृन्दावनके प्रमुख मन्दिरोंके सामनेसे होकर निकाला गया। मन्दिरोंसे उस नित्य-सखाकी देहके सत्कारके लिये माला, चन्दन आदि प्रसाद आया। इस प्रकार सभी प्रमुख मन्दिरोंका प्रसाद लेकर वह देह वंशीवटके समीप श्रीयमुनाजीकी गोदमें विसर्जित कर दिया गया।

सबसे आश्चर्यकी बात यह रही कि वृन्दावनके एक बंगाली डाक्टर कहीं बाहर गये थे। वे बाबाके शरीर छोड़नेके दो-तीन दिन बाद आये और एक संतसे कहने लगे—'मैंने सुना था कि ग्वारिया बाबा केवल व्रजवासियोंके घर ही प्रसाद लेते हैं; पर आज प्रातः वे मेरे यहाँ आये और माँगकर दूध पी गये हैं।' जब डाक्टरको बताया गया कि बाबाका शरीर तीन दिन पूर्व ही छूट चुका है, तब वे इसपर बड़ी कठिनाईसे विश्वास कर सके। इसी प्रकार अपने एक श्रद्धालुको बाबाने स्वप्नमें दर्शन दिया और बताया—'मैं तुम्हें भगवान्‌के पास ले आने आऊँगा।' वह व्यक्ति बीमार था, पर स्वप्न देखकर स्वस्थ हो गया। निश्चित तिथिको उसका शरीर सहसा ही छूट गया।

श्रीग्वारिया बाबा वृन्दावनके इस पिछले समयके सबसे प्रसिद्ध संतोंमें हुए हैं। उन्होंने अपनी मस्तीसे केवल एक शिक्षा दी है कि 'श्रीव्रजराजकुमार केवल भावके वश हैं। जो जिस भावसे उन्हें अपना मान ले, भाव दृढ़ हो तो वे उसके उसी सम्बन्धको सर्वथा सत्य स्वीकार कर लेते हैं।'

विद्यावारिधि श्रीकृष्णानन्ददासजी

(लेखक—श्रीरामदासजी शास्त्री)

आपका जन्म जालन्धर जिलेका था। ६० वर्षकी आयुमें सं० १९९८ के फाल्गुन मासमें आपने वृन्दावन-रज प्राप्त की। आप षड्दर्शनके विद्वान् थे; काशीमें अध्ययन हुआ, वहीं संन्यासकी दीक्षा ग्रहण की। आपका त्याग-वैराग्य एक विलक्षण ढंगका ही था, जो आज बहुत कम देखनेमें आता है। आप श्रीकृष्ण-भक्तिके रसिक थे। विद्याभ्यासके अनन्तर आप गङ्गातटपर भ्रमण करते रहे, किंतु हृदयको शान्ति न मिलती थी। तत्कालीन महात्मा श्रीअच्युत मुनिजीने आपको व्रजमण्डलका रास्ता बताया। व्रजमें आकर आपने चार-चार, छः-छः दिनके सूखे मधुकरीके टुकड़े खा-खाकर भागवत-अध्ययन और प्राचीन लीला-ग्रन्थोंका स्वाध्याय किया; पश्चात् आपने नवद्वीपके माध्वगौड़ीय आचार्यवंशमें वैष्णवी दीक्षा ग्रहण की और सखाभावका आश्रय ग्रहण किया। प्रायः आप ग्वारिया बाबाका सत्सङ्ग करते थे।

व्रजमें रहते आपकी विचित्र दशा थी। एक साफी, एक लँगोटी, करपात्र, भिक्षा सप्ताहमें एक दिन, एक वृक्षके नीचे एक दिन, मौनव्रत, स्त्री-अदर्शन आदि बड़े कड़े नियम थे। आप नामव्रती पक्के थे; जिस गाँवमें अखण्ड कीर्तन न हो, जिस भक्तके घरमें भगवत्-पूजा न हो, वहाँ आप जल ग्रहण नहीं करते थे। लोगोंको आप एक ही उपदेश देते—'भाई! गीध, अजामिल, गणिकासे तुम गये-बीते नहीं हो; मनुष्यकी देह मिली है। हरिनाम जपो और चलते-फिरते प्रभु-नामका कीर्तन करते रहो—

नहिं कलि कर्म न धर्म बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू॥

बस, यही आपका मुख्य उपदेश था।

एक दिन आपके साथ दैवी घटना घटी! आपके सारे शरीरको एक तेजःपुञ्जने जकड़ लिया और कहा—'क्या तुम छोकरीकी तरह अपने ही काममें लगे रहते हो? विद्यामें इतना श्रम किया है, इससे जन-कल्याण क्यों नहीं करते?' बस, उसी समयसे आपने प्रचार-कार्य शुरु किया। आचार्योंको आदर्श बनाया और धर्मरक्षार्थ अपने प्राणोंका लोभ भी परित्याग कर दिया। उत्तर प्रदेशके उत्तरी जिलोंमें ग्राम-ग्राममें आपने धर्मप्रचार किया। बीसवीं सदीके प्रथम चरणमें जब आर्यसमाज, देवसमाज, ब्रह्मसमाज आदि विविध मार्ग जोर पकड़ रहे थे, तब आपने एक-एक दिनमें पाँच-पाँच ग्रामोंमें सभा करके धर्मरक्षार्थ प्रबल आन्दोलन किया। व्रज और उसके बाहर लगभग २०० कीर्तन-संस्थाएँ स्थापित कीं, जिनका संचालन आज भी उनके 'चार सम्प्रदाय आश्रम,' वृन्दावनद्वारा हो रहा है। आपने कई धार्मिक एवं भावात्मक ग्रन्थ भी लिखे हैं; यह कहनेमें कोई सन्देह नहीं कि सहस्रों भोली ग्रामीण जनताने आपके उपदेशोंसे मार्ग प्राप्त किया था।

भक्तप्रवर श्रीराधिकादासजी महाराज

(लेखक—एक भक्त)

महात्मा पं० रामप्रसादजी अथवा श्रीराधिकादासजीने जयपुर राज्यके चिड़ावा नामक ग्राममें पण्डित लच्छीरामजी मिश्रके घर संवत् १९३३ माघ कृष्णा अष्टमी रविवारको जन्म ग्रहण किया था।

आप जब आठ वर्षके थे, तभीसे चिड़ावाके प्रसिद्ध मन्दिर श्रीकल्याणरायजीके नित्यप्रति दर्शन करनेको जाया करते और भगवान्से अनेक प्रार्थनाएँ करते। अन्तमें कहते—'हे कृपालु! सारे संसारका भला करके मेरा भी भला करना।'

आप उच्च कोटिके भक्त और श्रीभगवन्नामके बड़े रसिक थे। आपने भगवन्नाम, भगवद्भक्ति, भक्तमहिमा आदि विषयोंपर गङ्गाशतक, संस्कृत-भजनरत्नावली, भाषाभजनरत्नावली, वैराग्य-सुधाविन्दु, भक्तिसुधाविन्दु, विज्ञानसुधाविन्दु, हरिनामोपदेश, हरिजनमहिमोपदेश, भक्तनामावली, श्रीमत्सद्गुरुजीवनचरित्र, सिद्धान्तसुधाविन्दु, भक्तमन्दाकिनी, श्रीमदाचार्यस्तुति, सिद्धान्तषट्पदी,

पागल हरनाथ [पृ० ८३८]

प्रभु जगद्बन्धु [पृ० ८४१]

श्रीकाठियाबाबाजी [पृ० ८४१]

श्रीसंतदास बाबाजी [पृ० ८४२]

श्रीशिवरामकिङ्कर योगत्रयानन्दजी [पृ० ८४३]

श्रीनन्दकिशोर मुखोपाध्याय [पृ० ८४४]

स्वामी प्रणवानन्दजी महाराज [पृ० ८४७]
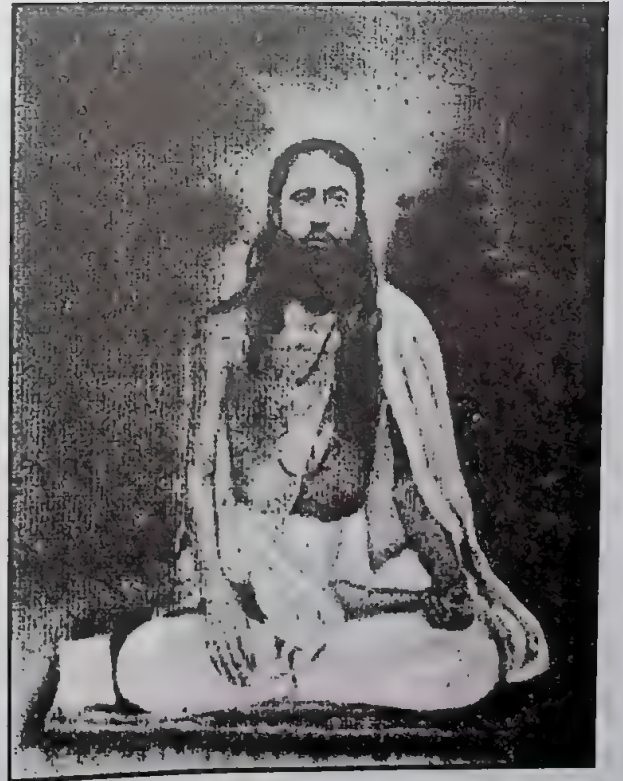
श्रीदाशरथि स्मृतिभूषण [पृ० ८५०]

विनयपद्यावली और श्रीकृष्णपरत्व आदि ग्रन्थोंकी रचना की। इन पुस्तकोंके मनन करनेसे जीवका कल्याण हो सकता है। इन्हींकी कृपासे 'सेकसरिया संस्कृतपाठशाला' चिड़ावामें सन्ध्याको हरिनामसङ्कीर्तन हुआ करता है।

आप श्रीनिम्बार्कसम्प्रदायके परम वैष्णव थे। भिन्न-भिन्न मतावलम्बियोंमें प्रायः परस्पर द्वेष रहा करता है, किंतु आप इस प्रमादके नितान्त अपवाद थे। आप वैष्णव होते हुए भी किसी अन्य देवके प्रति न तो अश्रद्धा रखते थे न किसी तरहकी विद्वेष-भावना ही आपके मनमें थी। प्रत्युत कहा करते थे कि '**सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति।**' धन्य है, सच्ची महानुभावता इसीका नाम है।

आपकी दिनचर्या बड़ी ही विचित्र थी। आप रात्रिके लगभग तीन बजे, कभी-कभी दो बजे ही उठ जाते थे और लघुशङ्कादिसे निवृत्ति हो हाथ-पैर धोकर भजन करने बैठ जाते थे। बादमें करीब दस बजे भजनसे उठकर शौचादि नित्यकर्मसे निवृत्त होकर फिर भजनमें बैठ जाते थे। इधर एक विद्यार्थी आपके नित्य-कर्मोंसे निवृत्त होनेके पहले ही लगभग दिनके तीन बजे श्रीगोपालजीका प्रसाद तैयार कर लिया करता था। तब आप अपना मौन तोड़ते थे और प्रसाद पाते थे। भजन-समयमें यदि कोई विशेष कार्य होता तो लिखकर या संस्कृतभाषामें बोलकर सम्पादन करते थे। आप नित्य एक लाख हरिनामके जप करनेका संकल्प करते थे। आपका यह भी एक दृढ़ नियम था कि श्रीभगवान्‌के अर्पण किये बिना जलतक ग्रहण नहीं करते थे और प्रसादके नामसे तो विषतकसे नहीं हिचकते थे।

आपकी भक्ति बहुत ही ऊँची थी। श्रीराधाकृष्णका नाम लेते ही आपकी आँखोंमें प्रेमाश्रु भर आते थे। दीनताकी तो आप मूर्ति ही थे। भगवान्‌का नाम लेनेवाला प्रत्येक व्यक्ति आपकी दृष्टिमें भक्त था। आप बड़े भारी विद्वान् और ब्राह्मण होनेपर भी भक्तमात्रके चरणरजको ग्रहण करना चाहते थे। हृदय ऐसा सरल और शुद्ध था कि आपकी दृष्टिमें शायद ही किसीका दोष दीखता था। आपमें दैवीसम्पत्तिका विशेष विकास था। श्रीराधेश्यामके नाम और लीलापर आप मुग्ध थे। परंतु भगवान्‌के किसी भी स्वरूपसे आपको अरुचि नहीं थी। सुना है एक बार कहीं श्रीरामलीला हो रही थी। आप देखने पधारे। भगवान् श्रीराम, श्रीलक्ष्मण तथा माता सीताजीके स्वरूपोंको देखते ही आप प्रेमावेशमें बेसुध हो गये। आपने श्रीरामजीके चरण पकड़ लिये। औरोंकी दृष्टिमें वे रामलीलाके एक बालक थे, परंतु आपकी दृष्टिमें साक्षात् भगवान् श्रीराम ही थे। आप स्तवन करने लगे। उस दिन रामलीला रुक गयी। परंतु असली रामलीला तो हो ही गयी। आपकी साधुता, श्रीकृष्णैकपरायणता, नामप्रेम, विनयका बर्ताव बहुत आदर्श था।

वैसे तो आप प्रतिवर्ष दो बार अर्थात् श्रावण और फाल्गुनमें वृन्दावन अवश्य जाया करते थे, किन्तु श्रीवृन्दावनवाससे पूर्वके पाँच वर्षोंमें तो आपका ध्यान श्रीवृन्दावनकी ओर विशेष आकर्षित हो गया था। इन दो वर्षोंमें आपको अपने शरीरपातकी शङ्का हो गयी थी। अतः आपने निरन्तर श्रीवृन्दावनमें रहना ही निश्चय कर लिया था। सं० १९८९ के चैत्र मासमें आप रुग्ण हो गये और साधारण चिकित्सासे कुछ लाभ नहीं हुआ। आपका मन औषध ग्रहण करनेका कम था, परंतु सेठोंके विशेष आग्रह तथा और भक्तोंके कहनेके अनुसार आपने दवा लेनी आरम्भ की; किंतु ईश्वरेच्छा और ही थी। आपके रुग्ण होनेसे आपकी धर्मपत्नी और पुत्र तथा सेठ गोरखरामजी तथा द्वारकादासजी आपके पास वृन्दावन चले गये और आपकी सेवा करने लगे। आपके आज्ञानुसार वहाँपर महीनों पहले आठ पहरका हरिकीर्तन होने लगा और कलियुगमें भी सत्ययुगका-सा समय आ गया। आपने श्रीवृन्दावनवास होनेके पच्चीस दिन पहलेसे अखण्ड मौनव्रत धारण कर लिया था और श्रीराधेश्याम-शब्दके अतिरिक्त अन्य समस्त शब्दोंका उच्चारण करना त्याग दिया था। मौनावस्थामें एक बार आपने स्लेटपर लिखा कि 'सात दिन रासलीला तथा सात दिन श्रीमद्भागवतकी कथा अच्छे सुयोग्य विद्वानोंसे होनी चाहिये।' महात्माजीके कथनानुसार सात दिन रासलीला तथा सात दिन श्रीमद्भागवतका पठन निर्विघ्न हुआ। इस तरह सच्चे भक्तका जीवन व्यतीत करते हुए श्रीमहाराजका सं० १९८९ श्रावण शुक्ला त्रयोदशीको प्रातःकाल नौ बजे श्रीवृन्दावननिकुञ्जवास हो गया और हमारी दृष्टिमें सदाके लिये एक दुर्लभ महापुरुषका अभाव हो गया।

श्रीरामनामके आढ़तियाजी

(लेखक—पं० झाबरमल्लजी शर्मा)

आढ़तियाजीका नाम पं० बालूरामजी था। बचपनमें ही उनको रामनामकी लगन लग गयी थी। साधारण पढ़ना-लिखना जानकर भी उन्होंने जो कार्य कर दिखाया, वह बड़े-बड़े ग्रन्थ रटकर विश्वविद्यालयोंकी ऊँची-से-ऊँची डिग्री पानेवालोंके लिये भी सहज साध्य नहीं है। उन्होंने चुपचाप एक महान् संस्थाका काम कर दिखाया। राजस्थान तो उनका घर ही था; आसाम, बंगाल, बिहार, युक्तप्रान्त, मध्यप्रदेश, दक्षिण, गुजरात आदि भारतके समस्त प्रान्तोंमें भी त्रितापहारी रामनामका प्रचार करके वे धन्य हो गये हैं। उनकी उपदेश-प्रणाली सरल किंतु हृदयग्राहिणी थी। मामूली समझके लोगोंसे लेकर बड़े-बड़े विद्वान्, वकील, बैरिस्टर, न्यायाधीश, राजा और जमींदार-ताल्लुकेदार आदि उनके उपदेशोंसे प्रभावित होकर रामनामकी माला जपनेका नियम ले चुके हैं। इसका प्रमाण श्रीआढ़तियाजीके वे बड़े-बड़े बहीखाते हैं, जिनमें रामनामकी माला फेरनेकी प्रतिज्ञा करनेवाले ऐसे हजारों नहीं, लाखों मनुष्योंके हस्ताक्षर हैं। महामना मालवीयजी-सरीखे पुरुषोंके हस्ताक्षर भी आपकी बहीमें हैं।

लोगोंको आढ़तियाजीकी सुख-दुःखमें सम-भावनाका पता उस समय लगा, जब सं० १९८१में उनके नौजवान विवाहित पुत्रकी मृत्यु हो गयी। वह मृत्यु नहीं, वज्रपात था; किंतु सबने उस दारुण दुःखदायक प्रसङ्गपर भी भक्तहृदय आढ़तियाजीको रामनाम लेकर नाचते हुए ही देखा था। जो लोग पहले उनकी मस्तीको बनावटी समझकर उनकी हँसी उड़ाया करते थे, वे भी उनकी धीरता, अविचलता देखकर दंग रह गये थे।

आढ़तियाजी परमार्थकामी उदार सज्जनोंकी सहायतासे नासिक, त्र्यम्बकेश्वर, उज्जैन, चित्रकूट, कुरुक्षेत्र, पुष्कर, काशी, प्रयाग, अयोध्या, हरिद्वार, गङ्गोत्री आदि स्थानोंमें अन्नसत्र और पाठशालाएँ स्थापित करनेमें भी समर्थ हुए थे। लक्ष्मणगढ़-ढानीकी संस्कृत-हिंदी-पाठशाला भी उन्हींका स्मृतिचिह्न है और लक्ष्मणगढ़से फतहपुर जानेवाले मार्गपर प्रायः दो मीलतककी लंबी पंक्तिबद्ध वृक्षावली तो उनकी कीर्तिकथा कहनेके लिये चिरकालतक विद्यमान रहेगी ही। उनके अपने बतलाये हुए आत्मपरिचयका संक्षेपमें यह सार है—

''मेरा जन्म शेखावटी सीकर-राज्यान्तर्गत लक्ष्मणगढ़में सं० १९३३ फाल्गुन शु० ८ को हुआ था। पिताजीका नाम रतीराम था। वे मुझको पढ़नेके लिये गुरुजीके यहाँ भेजते थे, किंतु मैं अन्तःकरणकी प्रेरणासे पढ़ने न जाकर मन्दिरोंमें चला जाता था। एक जगह मैंने प्रह्लादजीकी कथा सुनी, वह मुझे बड़ी प्यारी लगी और पढ़नेकी ओरसे अभिरुचि हटकर रामनामके माहात्म्यमें ही मेरा ध्यान जम गया। पिताजीने मुझे पढ़ानेकी बड़ी कोशिश की, किंतु साधारण पढ़ने-लिखने और मामूली हिसाब-किताब सीख लेनेके अतिरिक्त मेरी पढ़ाई आगे न बढ़ सकी। पश्चात् पिताजीकी आज्ञासे मैंने कुछ समयतक दूकानदारी की; परंतु उस काममें भी मेरा जी नहीं लगा। अतः उसे भी छोड़ना पड़ा।

''सं० १९६८ में मैं नवलगढ़के प्रसिद्ध मानसिंहका घरानेके श्रीयुक्त गणेशदास कन्हैयालाल—फर्ममें तीस रुपये मासिक वेतनपर मुनीम होकर आसामके तेतलिया नामक स्थानमें गया। कुछ समय काम करनेके बाद मुझको कपड़ा खरीदनेके लिये कलकत्ता भेजा गया। वहाँ तेतलियावालोंके निकट कुटुम्बी श्रीयुक्त सोनीराम हनुमानदासकी मार्फत कपड़ा खरीद लिया गया। उस फर्मके दूकानदार उन दिनों बाबू सालगराम मानसिंहका थे। उन्होंने कपड़ा खरीदनेके दूसरे दिन मुझसे कपड़ेकी गाँठ बँधवानेके लिये कहा। उनकी आज्ञा सुनकर मेरे मनमें सहसा यह विचार उठा कि 'नौकरी भी की जाय तो श्रीभगवान्‌की ही। भगवान्‌की भक्ति करते हुए दूसरेकी नौकरी करनेसे क्या लाभ है।' बस, उसी क्षण मेरे चित्तकी अवस्था बदल गयी। सालगराम बाबूने जब कई बार मुझसे कपड़ेकी गाँठें बँधानेके लिये कहा, तब मैंने उनसे साफ-साफ कह दिया कि 'मुझे कपड़ेकी गाँठोंसे मतलब नहीं है। आप ही बँधवाइये और

तेतलिया भेज दीजिये।' इसपर जब उन्होंने मुझसे फिर साश्चर्य पूछा कि 'तुम क्या काम करोगे?' तब मैंने कहा कि 'मैं तो राम-नाम जपूँगा, घूमूँगा और मौज करूँगा।'

''निदान सालगरामजीने ही कपड़ेकी गाँठ बँधवायी और तेतलिया भेजी। मैं पंद्रह-बीस दिनोंतक कलकत्तेमें ही रहकर राम-नामकी माला जपता रहा। तदनन्तर तेतलियासे कन्हैयालालजीकी चिट्ठी मेरे पास आयी, जिसमें उन्होंने बड़े आग्रहसे वहाँ बुलाया था। मैं चिट्ठी पाकर तेतलिया गया; परंतु जब उन्होंने भी मुझे दूकानपर खरीदारोंको कपड़ा दिखाने-देने आदिका काम सौंपना चाहा, तब मैंने उनसे भी कह दिया कि 'भैया! कपड़ा लेने-देनेका अपना काम तुम्हीं करो।' इस प्रकार मेरेद्वारा इनकार करनेपर भी कन्हैयालालजीने मुझको चौदह महीनोंतक अपने यहाँ रखा था, जो उनकी बड़ी भारी सज्जनता और उदारता थी। तेतलियासे ही मैंने लोगोंको चिट्ठियाँ देनी आरम्भ करके राम-नामकी आढ़तका कारोबार जारी कर दिया था। अब मैं प्रायः समस्त भारतको अपना कार्यक्षेत्र बनाकर भ्रमण करता हुआ अपनी राम-नामकी आढ़तका विस्तार करता हूँ। करनेवाले तो भगवान् हैं, मैं केवल निमित्तमात्र हूँ। राम-नामके जपद्वारा लोगोंको प्रभुका स्मरण बना रहे—यही मेरा मतलब है।'' वे कहते—

उसी गलीमें पूत है, उसी गलीमें मूत।
राम भजे सो पूत है, नहीं मूतका मूत॥
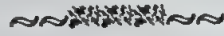
संत गङ्गानाथजी महाराज

(लेखक—श्रीगङ्गारामजी कोठारी)

संत गङ्गानाथजीका जन्म बीकानेर-राज्यके अन्तर्गत उदरामसर ग्रामके एक राजपूत-कुलमें हुआ था। वे बड़े विनम्र, क्षमाशील और पूर्णरूपसे भगवत्परायण थे। प्राणिमात्रके प्रति दयाभाव रखना तो उनका जन्मजात और सहज स्वभाव ही था। उनका त्याग अत्यन्त सराहनीय था। वे रुपये-पैसेसे तो सदा दूर ही रहते थे। उन्होंने बरोसर ग्राममें नित्यप्रति कबूतरोंके लिये दस-ग्यारह सेर चूनी देनेकी व्यवस्था की थी। आजतक उनके आदेशका पूर्ववत् पालन होता चला आ रहा है। संन्यासी-वेष अपनाकर भी उन्होंने एक सीधे-सादे भक्तकी तरह सदा भगवत्प्रतिमाका श्रद्धापूर्वक बड़ी भक्तिसे पूजन किया। उन्हें भजनके सामने खान-पानकी तनिक भी चिन्ता नहीं रहती थी। वे भजनानन्दी महात्मा थे। नामजपका उन्हें बड़ा सुन्दर अभ्यास था। सोते समय भी उनका जपका अभ्यास अनवरत चलता रहता था।

उन्होंने संवत् १९९९ वि० में बरोसर ग्राममें इस जीवनकी यात्रा समाप्त की, उनकी कुटीमें उनकी समाधि बनी हुई है।

रसिकभक्त प्रेमगोपीजी

(लेखक—श्री जी० भीखमचन्दजी पुरोहित विशारद)

रसिकभक्त प्रेमगोपीजीकी उपासना गोपीभावकी थी, वे उच्च कोटिके रसिक थे। राजस्थानके भक्तिक्षेत्रमें उनका नाम चिरस्मरणीय है। उनका जन्म जोधपुरके एक प्रतिष्ठित ब्राह्मणकुलमें हुआ था। उनका पहला नाम सुरेशचन्द्र था। उनकी अभिरुचि विशेषतया भक्ति और वैराग्यमें थी। घरवालोंने उनको विवाह-बन्धनमें फँसाकर घरमें ही रखना चाहा, पर वे इस प्रयत्नमें सर्वथा विफल रहे। प्रेमगोपीजी नित्य नये पदकी रचना करके भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें समर्पित किया करते थे। केवल श्रीकृष्णलीलापर ही उन्होंने तेरह सौ पदोंकी रचना की थी। उनके जीवनका अधिकांश समय सखीवेषमें ही बीता। उनके पदोंमें निर्गुण तथा सगुण उपासनाका अत्यन्त मधुर सम्मिश्रण हुआ है। संयोग और वियोग दोनों तरहके भावोंका समीचीन समन्वय पाया जाता है।

उन्होंने अभी हालमें ही शरीर-त्याग किया है। जोधपुर, बड़ौदा आदि स्थानोंमें उनके बहुत-से अनुयायी हैं।

श्रीरामकृष्ण परमहंस

श्रीरामकृष्ण परमहंस, जिनकी जन्मशताब्दी भारतवर्षभरमें तथा यूरोप और अमेरिकाके विभिन्न भागोंमें मनायी गयी है तथा जो एक मतसे आधुनिक भारतके संतशिरोमणि गिने जाते हैं, १७ फरवरी सन् १८३६ को बंगालप्रान्तान्तर्गत हुगली जिलेके 'कामारपुकुर' नामक एक अप्रसिद्ध गाँवमें पैदा हुए थे। इनका घरका नाम गदाधर चट्टोपाध्याय था और इनके माता-पिता बड़े ईश्वरप्रेमी, धार्मिक और उच्च आध्यात्मिक आदर्शोंसे सम्पन्न सनातनी ब्राह्मण थे।

श्रीरामकृष्णका असाधारण घटनाओंसे परिपूर्ण प्रारम्भिक जीवन जन्मस्थानमें ही व्यतीत हुआ। चार सालकी अवस्थामें ही वे पहले-पहल समाधिस्थ हुए और दिनों-दिन उनकी यह प्रवृत्ति बलवती होती गयी। पुस्तकी विद्यासे अरुचि होनेके कारण ग्रामीण प्राइमरी पाठशालासे उनकी शिक्षा समाप्त हो गयी; परंतु अपने अनुकरणीय चरित्र, कलानिपुणता, मधुर सुरीले स्वर, अपूर्व आनन्दमय अनुभव, अलौकिक व्यक्तित्व, असाधारण बुद्धि तथा सभी जातियों और सम्प्रदायोंके लोगोंसे निष्काम प्रेमके कारण वे आस-पासके समस्त ग्रामनिवासियोंकी प्रशंसा तथा भक्तिके पात्र हो गये।

सन् १८५३ ई० में श्रीरामकृष्ण अपने सबसे बड़े भाई रामकुमार चटर्जीके साथ कलकत्ते आये और सन् १८५६ ई० में जब रानी रासमणिने इनके बड़े भाईको कलकत्तेके निकटवर्ती दक्षिणेश्वरमन्दिरका प्रधान पुजारी नियुक्त किया, तब ये उनके सहायक बन गये। रामकुमारकी मृत्युके बाद ये कई महीने वहीं बड़े भाईके स्थानपर रहे। इसी समय इनकी हिंदूधर्मके विभिन्न अङ्गोंकी साधना आरम्भ हुई, जो बारह वर्षतक चलती रही। यहाँपर इन्होंने किस प्रकार तपस्या और त्यागमय जीवन व्यतीत किया, किस प्रकार तोतापुरीसे संन्यास लिया और उन्होंने इनका नाम 'रामकृष्ण परमहंस' रखा और किस प्रकार इन्होंने तान्त्रिक साधना तथा ख्रीष्ट और इस्लाम धर्मके अनुसार उन-उन धर्मोंके अनुयायियोंकी भाँति उपासना की—इन सब बातोंका वर्णन स्थानाभावके कारण नहीं हो सकता।

बचपनसे ही श्रीरामकृष्ण गंदी साम्प्रदायिकता तथा संकुचित भावोंके विरोधी थे; किंतु साथ ही उन्होंने यह भी बताया कि सभी सम्प्रदाय और मत-मतान्तर सच्चे जिज्ञासुओंको समस्त धर्मोंके सर्वसम्मत लक्ष्यतक पहुँचानेके लिय भिन्न-भिन्न रास्ते हैं। संसारके भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों और मत-मतान्तरोंके अनुसार साधना करके उन्होंने प्रत्येक विशिष्ट धर्मके सर्वोच्च ध्येयको प्राप्त किया और साधनाद्वारा प्राप्त अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियोंका पुञ्ज मानवजातिको दिया। उनके प्रत्येक विचार सीधे ईश्वरसे प्राप्त होते थे। उनमें मानवीय बुद्धि, संस्कार अथवा पाण्डित्यकी करामातोंका सम्मिश्रण नहीं था। जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त उनका प्रत्येक कार्य असाधारण था। उनके जीवनकी प्रत्येक अवस्था किसी नये शास्त्रका एक-एक अध्याय थी, जिसे मानो पौरस्त्य और पाश्चात्त्य सभी लोगोंको लाभ पहुँचानेके लिये तथा बीसवीं शताब्दीकी अध्यात्मसम्बन्धी आवश्यकताओंको पूर्ण करनेके लिये स्वयं भगवान्ने अपने अलक्ष्य हाथोंसे खास तौरपर लिखा था।

उनके चरित्र और उपदेश इतने अलौकिक एवं चमत्कारपूर्ण थे कि उनके १६ अगस्त १८८६ को संसारसे कूच करनेके दस वर्षके भीतर ही भूतपूर्व प्रोफेसर सी० एच० टॉनीने लन्दनके 'इम्पीरियल और क्वार्टर्ली रिव्यू'के सन् १८९६ ई० के जनवरीके अङ्कमें 'एक आधुनिक हिंदू संत' (श्रीरामकृष्ण) शीर्षक लेख छपवाया था। दिवंगत प्रोफेसर मैक्समूलरने भी सन् १८९६ ई० के 'नाइन्टीन्थ सेंचुरी' (उन्नीसवीं शताब्दी) नामकी अंग्रेजी पत्रिकाके अगस्त अङ्कमें "A Real Mahatma" (एक वास्तविक महात्मा) इस शीर्षकसे महात्मा रामकृष्णके जीवनका संक्षिप्त परिचय लिखा और बादमें 'Ramkrishna: His Life and Sayings' (श्रीरामकृष्ण, उनके चरित्र और उपदेश) नामकी पुस्तक लिखी।

सन् १९०३ ई० में न्यूयार्क (अमेरिका)-की वेदान्तसोसायटीने 'Sayings of Ramkrishna' (रामकृष्णके उपदेश) तथा सन् १९०७ ई० में 'Gospel

of Ramkrishna' (रामकृष्णका सन्देश) नामक ग्रन्थ प्रकाशित किये। इस 'सन्देश'का बादमें यूरोपकी स्पैनिश, पुर्तगीज, डैनिश, स्कैण्डिनेवियन और जेकोस्लैवाकी भाषामें अनुवाद हुआ।

श्रीरामकृष्णके प्राकट्यका हेतु

उनके अवतारका हेतु अपने जीवनके द्वारा यह दिखलाना था कि किस प्रकार कोई सच्चा आत्मज्ञानी इन्द्रियके विषयोंसे बहिर्मुख होकर परमानन्दमें लीन रह सकता है। वे यह सिद्ध करनेके लिये आये थे कि प्रत्येक आत्मा अमर है और ब्रह्मत्वको प्राप्त करनेकी सामर्थ्य रखता है। विभिन्न सम्प्रदायोंके अन्तस्तलमें सैद्धान्तिक एकता दिखाकर उनमें मेल स्थापित करना ही उनके जीवनका उद्देश्य था। पहले-पहल श्रीरामकृष्णने ही यह सिद्ध करके दिखाया कि समस्त धर्म एक नित्य सत्यकी ओर ले जानेवाले विभिन्न मार्ग हैं। परमात्मा एक है, किन्तु उसके अनेक रूप हैं। विभिन्न जातियाँ उसकी पूजा विभिन्न नामों और रूपोंसे करती हैं। वह साकार भी है और निराकार भी और दोनोंसे परे निर्गुण भी है। उसके नाम और रूप होनेपर भी वह बिना नाम और बिना रूपका है।

उनका ध्येय था—परमात्माको विश्वका माता-पिता सिद्ध करना तथा इस प्रकार स्त्रीत्वके आदर्शको जगदम्बाके पदपर प्रतिष्ठित करना। अपनी स्त्रीको वे मानवीरूपमें जगदम्बा ही समझते थे और 'षोडशी देवी' कहकर उसकी पूजा करते थे। इस प्रकार इस विलासिताके युगमें भी भौतिकेतर—आध्यात्मिक विवाहकी सत्यता उन्होंने प्रमाणित की। उनकी स्त्री भगवती कुमारी शारदादेवीने पवित्रता, सतीत्व और जगन्मातृत्वका आदर्श स्थापित किया और वे भी श्रीरामकृष्णको मानवरूपमें जगदीश्वर मानकर ही उनकी भक्ति करती थीं। संसारके धार्मिक इतिहासमें इस प्रकारके आध्यात्मिक विवाहका अन्य कोई उदाहरण नहीं मिलता। अपितु श्रीरामकृष्णने आध्यात्मिक जगत्में गुरुको स्त्रीरूपमें मानकर स्त्रीत्वके आदर्शको और भी ऊँचा बना दिया। धार्मिक इतिहासमें स्त्रीत्वको इतना सम्मान देनेवाला अन्य कोई मसीहा अथवा नेता नहीं देखा गया।

श्रीरामकृष्ण स्पर्शमात्रसे ही किसी भी पापीके चरित्रको अपनी दैवी शक्तिद्वारा पलट देते थे और उसे आध्यात्मिक जगत्में पहुँचा देते थे। वे दूसरोंके पाप अपने ऊपर ले लिया करते थे और अपनी आत्मिक शक्ति उनमें डालकर तथा उन्हें ईश्वरके दर्शन कराकर उनको पवित्र कर देते थे। ऐसी अलौकिक शक्ति साधारण संतों और महात्माओंमें देखनेको नहीं मिलती।

भक्त डॉक्टर दुर्गाचरण

डाक्टर दुर्गाचरण नाग महाशयका जन्म पूर्वबंगालमें नारायणगंजके पास देवभोग नामक एक छोटे-से गाँवमें हुआ था। आपके पिताका नाम दीनदयाल और माताका नाम त्रिपुरासुन्दरी था। नाग महाशयकी माता उनको आठ वर्षका छोड़कर ही मर गयी थीं। तबसे उनकी बुआ भगवतीने इनका पालन-पोषण किया था। नाग महाशयके पिता कलकत्तेमें नमकके व्यापारी श्रीराजकुमार हरिचरण पाल चौधरी महोदयके यहाँ नौकरी करते थे। पिताके साथ नाग महाशय भी कलकत्ते आ गये और कलकत्तेमें इन्होंने लगभग डेढ़ वर्ष 'कैम्बल मेडिकल स्कूल'में डाक्टरी पढ़ी और फिर प्रसिद्ध होमियोपैथिक डाक्टर भादुरी महाशयसे आपने होमियोपैथीकी शिक्षा ग्रहण की। लड़कपनसे ही नाग महाशयकी वृत्ति वैराग्यकी ओर थी। वे कलकत्तेमें अकेले काशीमित्र श्मशानघाटमें चले जाते और मुर्दोंको जलते देखकर जगत्‌की नश्वरतापर विचार करते। विभिन्न संन्यासियोंसे मिला करते तथा एकान्तमें ध्यान किया करते थे।

बुआके मरनेपर उनके मनमें बड़ा वैराग्य हुआ और भोगोंसे बड़ी ही निराशा हो गयी। वे रात-दिन विचारमग्न रहने लगे। आखिर पिताके आग्रहसे उन्होंने डाक्टरी शुरू की और कुछ ही दिनोंमें बहुत अच्छे डाक्टर हो गये। परंतु अपने व्यवसायमें उनके बाह्याडम्बर कुछ भी नहीं था। न वे कोट-पतलून पहनते थे, न गाड़ी-घोड़ेपर ही कहीं जाते थे। दूरसे बुलाहट आनेपर भी पैदल ही जाते।

पिताने एक दिन यह समझकर कि डाक्टरकी-सी पोशाक होनेसे लोगोंका विश्वास अधिक बढ़ेगा, पुत्रके लिये कोट-पतलून इत्यादि बनवाकर ला दिये। नाग महाशयने कहा—'पिताजी! मुझे पोशाककी आवश्यकता नहीं है। आप व्यर्थ ही ये कपड़े खरीदकर लाये; इन रुपयोंसे किसी गरीबकी सेवा की जाती तो बहुत उत्तम होता।'

इनकी विचित्र हालत थी। मुहल्लेमें कहाँ कौन बीमार है, किसके पास खानेको नहीं है, कौन दुःखी है—नाग महाशय इसीकी खोजमें रहते और अपनी शक्तिके अनुसार सेवा करनेसे कभी न चूकते। गरीबोंसे दिखायीके रुपये (फीस) तो लेते ही नहीं, दवाके दाम भी नहीं लेते। पथ्यका खर्च भी अपने पाससे दे आते। रास्तेमें पड़ा कोई निराश्रय रोगी मिल जाता तो उसे अपने घर लाकर उसका इलाज करते।

एक दिन एक गरीब रोगीके घर जाकर आपने देखा कि उसकी सेवा करनेवाला कोई नहीं है तो स्वयं चार घंटे वहाँ ठहरकर उसको दवा देते रहे और सेवा करते रहे। रातको फिर उसे देखने गये। जाड़ेकी मौसिम, टूटी-फूटी झोंपड़ी और रोगीके बदनपर ओढ़नेको एक कपड़ा नहीं—यह देखकर नाग महोदयका हृदय पिघल गया। उन्होंने अपनी भागलपुरी ऊनी चद्दर उतारकर रोगीको उढ़ा दी और धीरेसे निकल चले। सबेरे रोगीने कृतज्ञता प्रकट की, तब बोले 'आपको उस समय मुझसे अधिक जरूरत थी, इसलिये चद्दर आपको उढ़ा दी थी; आप कोई विचार न करें।'

एक दिन एक रोगीके घर जाकर आपने देखा कि वह जमीनपर लेट रहा है। उसी समय घरसे अपने शयनकी चौकी मँगाकर उसपर रोगीको सुला दिया। रोगीको इससे आराम मिला। उसे आराम मिला देखकर नाग महाशयको बड़ी प्रसन्नता हुई। *'पर दुख दुखी सुखी पर सुख तें'*—यह उनका व्रत था।

एक छोटे बच्चेको हैजा हो गया था। नाग महाशय दिनभर उसकी चिकित्सामें लगे रहे, परंतु बच्चा मर गया। घरवालोंने सोचा था आज दिनभरकी बहुत बड़ी फीस लेकर डाक्टर साहब घर लौटेंगे। शामको देखा गया आप खाली हाथ रोते हुए घर लौटे और कहने लगे 'बेचारे गृहस्थके एक ही बच्चा था। किसी तरह बच नहीं सका। उसका घर सूना हो गया।' उस रातको इन्होंने जलतक ग्रहण नहीं किया।

नाग महाशयकी जैसी प्रसिद्धि हो गयी थी, उसमें वे चाहते तो बहुत धन कमा सकते थे; परंतु उन्होंने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया। किसीसे भी वे फीस चाहते नहीं; जो देता सो ले लेते। कोई उधार माँगने आता तो 'ना' नहीं करते। एक पैसातक पास होता तो वह भी दे डालते। किसी-किसी दिन स्वयं दो-एक पैसेका भूजा लेकर दिन काटते, घरमें रसोई नहीं बनती; परंतु गरीबको देनेमें अपनी दशाका विचार कभी नहीं करते। कपट, दम्भ, अधर्म और बनावटसे नाग महाशयको बड़ी घृणा थी। सभीमें वे भगवान्‌को देखनेकी चेष्टा करते।

नाग महाशयके घर कोई आ जाता तो उसे बिना खिलाये नहीं लौटने देते। नारायण मानकर अतिथिसेवा करते। एक दिन नाग महाशयके पेटमें शूलका दर्द हो रहा था। दर्दके मारे बीच-बीचमें वे बेहोश हो जाते थे। घरमें कुछ था नहीं। अकस्मात् आठ-दस अतिथि आ गये। उसी बीमारीमें आप बाजार गये चावल लेने। कुलीके सिरपर सामान रखकर न लानेका आपका नियम था। चावलकी गठरी सिरपर रखकर लाते समय रास्तेमें पेटका दर्द बढ़ गया। आप गिर पड़े और बोले, 'हाय! हाय! यह क्या हुआ? घरमें नारायण उपस्थित हैं, उनकी सेवामें देर हो रही है। धिक्कार है, इस हाड़-मांसके चोलेको, जो आज इससे नारायणकी सेवा नहीं हो रही है।' दर्द कुछ कम होनेपर घर आये और अतिथियोंको प्रणाम करके कहने लगे, 'मैं बड़ा अपराधी हूँ, आज आपके भोजनमें बड़ा विलम्ब हो गया!'

वर्षाकालमें एक दिन नाग महाशयके घर दो अतिथि आ गये। बादल घिरे थे और झड़ी लगी हुई थी। नाग महाशयके मकानमें एक ही कमरा ऐसा था जिसमें पानी

नहीं गिरता था; उसीमें नाग महाशय सोते थे। अतिथियोंको भोजन करानेके बाद आपने अपनी धर्मशीला पत्नीसे कहा—'आज हमलोगोंका परम सौभाग्य है, जो साक्षात् नारायण ही अपने घर पधारे हैं; क्या उनके लिये जरा-सा कष्ट नहीं सह लिया जायगा? आओ, हमलोग बाहर दीवालके नीचे बैठकर भगवान्‌का नाम लें और इनको अंदर सोने दें।' कहना न होगा कि साध्वी पत्नीने पतिकी बातको बड़ी प्रसन्नतासे मान लिया और अतिथियोंको यह बात मालूम ही नहीं होने पायी!

नाग महाशय अपने लिये दूसरोंसे काम करवाना नहीं सह सकते थे, इसलिये वे कभी नौकर नहीं रखते थे। अतएव वे जब घर रहते, तब घरकी मरम्मत होना भी कठिन होता था। नाग महाशय जब बाहर जाते, तब पीछेसे उनकी पत्नी घरकी मरम्मत करवातीं। एक बार नाग महाशय बहुत दिनोंतक जन्मभूमिमें रहे। घरोंकी मरम्मत न होनेसे सब बेकाम हो गये। उनकी पत्नीने घर छानेके लिये एक थवई (छानेवाला) नियुक्त किया। थवईके घरमें आते ही नाग महाशयको उसकी सेवाकी चिन्ता लगी। उसे आपने चिलम भर दी और हवा करने लगे। किसी तरह इनसे छूटकर वह बेचारा ऊपर चढ़कर छाने लगा। नाग महाशयने बार-बार नीचे उतर आनेकी प्रार्थना की। जब वह नहीं उतरा, तब इनसे नहीं रहा गया और ये रोकर कहने लगे—'हे भगवन्! मेरे सुखके लिये दूसरे आदमीको इतना कष्ट हो रहा है और मैं खड़ा-खड़ा देख रहा हूँ; मुझको धिक्कार है!' इनकी व्याकुलता देखकर बेचारा थवई नीचे उतर आया। नाग महाशयने प्रसन्न होकर उसके लिये फिर एक चिलम भर दी और हवा करने लगे और थोड़ी देर बाद उसे दिनभरकी मजदूरी देकर विदा किया।

नाग महाशय कभी नावपर चढ़ते तो केवटको नाव नहीं खेने देते। उसकी लग्गी लेकर स्वयं नाव खेने लगते। बंगाली प्राय: मांस-मछली खानेमें कोई बुराई नहीं समझते; पर इनके लिये खाना तो दूर रहा, पशु-पक्षियोंका दु:ख भी इनसे नहीं देखा जाता। कई बार इन्होंने मछली बेचनेवालोंसे मछलियाँ खरीदकर तालाबोंमें छुड़वायी थीं। एक दिन नारायणगंजके पाटके कारखानेके कुछ साहब पक्षियोंका शिकार करने देवभोग आये। बंदूककी आवाज सुनते ही नाग महाशय दौड़े और हाथ जोड़कर साहब लोगोंसे विनती करने लगे। साहबलोग इनकी बातको सुनी-अनसुनी करके फिरसे बंदूकं चलानेकी तैयारी करने लगे, तब तो नाग महाशयने बड़े जोरसे डाँटकर उनकी बंदूकें छीन लीं। साहबोंने समझा, यह पागल है और वहाँसे लौटकर वे नाग महाशयपर मुकद्दमा चलानेका विचार करने लगे। नाग महाशयने घर आकर बंदूकोंको अलग रख दिया और प्राणघातक अस्त्रसे स्पर्श होनेके कारण हाथोंको अच्छी तरहसे धोया। कुछ देर बाद नाग महाशयने पाटके कारखानेके एक कर्मचारीके द्वारा बंदूकें लौटा दीं। कर्मचारीके मुखसे नाग महाशयके साधु-चरित्रकी प्रशंसा सुनकर साहबोंके मनमें उनके प्रति श्रद्धा हो गयी और फिर वे शिकार खेलनेके लिये देवभोग कभी नहीं गये।

उनके जीवनमें ऐसी अनेकों घटनाएँ हैं—जिनसे उनके साधुस्वभाव, अहिंसा-प्रेम, परदु:खकातरता, भगवद्भक्ति और अनोखी सहनशीलताका पता लगता है।

नाग महाशय परमहंस रामकृष्णके खास शिष्योंमेंसे थे और इनपर परमहंसदेवकी बड़ी ही कृपा रहती थी। सभी लोग इनको बड़े आदरकी दृष्टिसे देखते थे। प्रसिद्ध स्वामी विवेकानन्दने तो अमेरिकासे लौटकर यहाँतक कहा था कि 'हमारा जीवन तो तत्त्वकी खोजमें ही व्यर्थ बीत गया। हमलोगोंमें एक नाग महाशय ही ऐसे हैं, जो परमहंसदेवकी सफल सन्तान हैं।'

पिताके परलोकगमनके तीन वर्ष बाद तिरपन वर्षकी उम्रमें आपने देहत्याग किया। उस समय प्रसिद्ध स्वामी शारदानन्द आपके पास थे।

भक्त गोस्वामी विजयकृष्ण

जिन्होंने भागीरथीके पवित्र तटपर शान्तिपुरमें अद्वैत वेदान्तके परम ज्ञानका प्रचार करके यथाशक्ति उन्मार्गगामी देशवासियोंको शुद्ध ब्रह्मज्ञानका वितरणकर जगा दिया था। फिर नवद्वीपचन्द्रके कण्ठसे प्रेम-सुधा झरते देखकर *'नामे रुचि जीवे दया'* इस महान् धर्ममें अपनेको अभिषिक्त करके जो श्रीगौराङ्गदेवके अन्तरङ्ग स्वरूपमें मतवाले बन गये थे और उसी प्रकार जगत्‌को मतवाला बनानेके लिये जो नाच उठे थे, उन्हीं ज्ञानी, भक्त और तपस्वी श्रीअद्वैताचार्यके वंशमें गोस्वामी विजयकृष्णका शुभ जन्म हुआ था। इनका ईश्वरविश्वास पूर्वपुरुषोंकी धमनी-धारासे आकर इन्हें धन्य कर रहा था। ये लड़कपनमें गृहदेवता गोविन्दको अपने साथ खेलनेके लिये बार-बार बुलाया करते और न आनेपर उनपर क्रुद्ध होकर बुरा-भला कहने लगते। सचमुच ऐसी आस्तिक बुद्धि हुए बिना ईश्वरके दर्शन नहीं हो सकते।

विजयकृष्णका स्वभाव ही ऐसा था कि वे जिस विषयकी चर्चा करते, उसीमें अपनेको डुबाकर उसके गम्भीर रहस्यको उपलब्ध करना चाहते थे। उन्होंने वेदान्तके '**अहं ब्रह्म**' की अनुभूति पाकर नैष्ठिक साधनाका त्याग कर दिया, किंतु वेदान्तकी इस 'अहं-बुद्धि' का उनके स्वभावके साथ मेल नहीं हो सका। ब्राह्मधर्मके प्रति नाना प्रकारकी कुत्सित बातें फैलाकर लोग उस समय उस नवजात धर्मशिशुको गला दबाकर मार देना चाहते थे। विजयकृष्णकी इस धर्मके प्रति श्रद्धा नहीं रही थी। किंतु बगुड़ामें किशोरीनाथ रायकी ब्रह्मसभामें घटनाचक्रसे उपस्थित होनेपर उनका यह भ्रम दूर हो गया। उपासना-पद्धतिमें रुका हुआ भक्तिका झरना फिर फूट निकला। इसके बाद महर्षि देवेन्द्रनाथके कण्ठसे निकले हुए ईश्वरविषयक मधुर उपदेशोंसे इनका हृदय द्रवित हो गया और ये ब्राह्म हो गये!

आगे चलकर जब ब्राह्मधर्ममें उन्होंने सत्यरक्षाका अभाव देखा, तब उन्हें बड़ी व्यथा हुई। घटनाचक्रसे दक्षिणेश्वरमें—जहाँ प्रेम-भक्तिकी मन्दाकिनीधारा मस्तकपर उठाये शिव-कालीकी अनिर्वचनीय लीला चल रही थी—उपस्थित होनेपर विजयकृष्णके परवर्ती जीवनमें उनका सत्य स्वरूप प्रकाशित हो उठा। उन्होंने समझा सर्वेन्द्रिय-चेष्टाकी सर्वथा निवृत्ति हुए बिना सत्य-ईश्वरकी साधना नहीं होती। वे ईश्वरप्रेममें उन्मत्त हो उठे। उनका प्रचार, उपदेश—सभी कुछ भगवत्प्रेमके लिये होने लगा। कहीं भगवान्‌के सम्बन्धमें उपदेश देते-देते आत्माभिमान, धर्माभिमान न जाग उठे, इसके लिये वे सदा सावधान रहते थे। इसीलिये उनका लोकसंग्रहकी ओर विशेष ध्यान नहीं था। उन्होंने कोई सम्प्रदाय नहीं बनाया। उन्होंने अपने असंख्य शिष्योंमें साधनाका बीज बो दिया था, परंतु अपनेको कहीं जाहिर नहीं किया। उन्होंने देशवासियोंको माधुर्यकी साधना दी थी। सभी लोग भगवान्‌का भजन करें, सबमें प्रेम हो और घर-घरमें भगवान्‌की लीलाका माधुर्य खिल उठे; माधुर्य, ऐश्वर्य, वीर्य और सत्यसे भरकर संसार स्वर्ग हो जाय—विजयकृष्णके सिद्धजीवनके प्रत्येक कर्मसे उनकी यह इच्छा प्रकाशित होती थी। गोस्वामी विजयकृष्ण इस देशके वातावरणमें विलक्षण शक्ति, प्रभाव और स्फूर्ति लेकर आज भी वर्तमान हैं। भक्तोंको उनसे निर्देश और प्रेरणा मिलती है।

भक्त-वाणी

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः। तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥ —श्रीशुकदेवजी
(श्रीमद्भा० २। ३। १०)

जो बुद्धिमान् पुरुष है—वह चाहे निष्काम हो, समस्त कामनाओंसे युक्त हो अथवा मोक्ष चाहता हो, उसे तो तीव्र भक्तियोगसे केवल पुरुषोत्तम भगवान्‌की ही आराधना करनी चाहिये।

ब्रह्मचारी श्रीकुलदानन्दजी

(लेखक—ब्रह्मचारी श्रीगंगानन्दजी)

ब्रह्मचारी श्रीकुलदानन्दजीका जन्म बँगला सन् १२७४ में बंगालके विक्रमपुर पश्चिमपाड़ा ग्राममें एक ब्राह्मण-कुलमें हुआ था। उनके पिता कमलाकान्त वन्दोपाध्याय एक प्रसिद्ध तान्त्रिक थे। श्रीकुलदानन्दजीके चरित्र-विकासपर उनके पिताकी संयमित जीवनपद्धतिका बड़ा प्रभाव पड़ा था। ढाका विश्वविद्यालयमें उच्च शिक्षा प्राप्त करनेके बाद वे ब्राह्मसमाजमें सम्मिलित हो गये। कुछ दिनोंके बाद बंगालके सुप्रसिद्ध महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामीसे दीक्षित होकर वे सत्य-ज्ञानकी खोजमें लग गये। गुरुके आदेशसे उन्होंने कुछ दिन अवध क्षेत्रके फैजाबाद जनपदमें भी बिताये, अयोध्याके बड़े-बड़े संतों और भक्तोंके सत्सङ्गमें उन्होंने भगवद्रसका आस्वादन किया। फैजाबादसे लौटनेपर वे गुरुकी सेवामें ही रहकर तपस्या-पूर्ण जीवन बिताने लगे। गुरुकी शरणमें आनेपर उनका जीवन तपस्याका प्रतीक हो उठा। कुछ समयतक वे 'चण्डी' पहाड़पर गुरुके ही आदेशसे निवास करते रहे। गोस्वामीजी महाराजके शरीरान्तके बाद उन्होंने गयाकी पहाड़ियोंमें ब्रह्मचिन्तन आरम्भ किया। उन्होंने महात्मा गंभीरनाथके आदेशसे काशीवास किया और एकान्त स्थानमें अपनी अन्तरङ्ग साधना की।

चन्दननगरमें उन्होंने एक सुन्दर आश्रम स्थापित किया और गोस्वामीजी महाराजकी प्रतिमा प्रतिष्ठित की। अनेक अग्निहोत्री शिष्योंके साथ सप्तशती-महाहोमका प्रवर्तन किया। धीरे-धीरे उनके शिष्योंकी संख्या बढ़ने लगी। पुरीमें भी उन्होंने तीर्थयात्रियों तथा साधु-संतोंकी सुविधाके लिये एक आश्रम बनवाया।

उन्होंने बँगला सन् १३३७ के आषाढ़मासमें परधामकी यात्रा की। उनका समाधि-कार्य उनके आदेशसे पुरीमें ही सम्पन्न हुआ। उनकी प्रसिद्ध रचना 'सद्गुरु-सङ्ग' उनकी जीवनी है, इसमें उन्होंने अपने जीवनके कुछ वर्षोंकी अनुभूतियोंका सुन्दर दिग्दर्शन कराया है।

उन्होंने आजीवन अपने शिष्योंको सद्गृहस्थ-धर्म पालन करनेकी सीख दी। सेवा और दया तथा क्षमा आदि दैवी शक्तियोंको अपनानेके लिये उनका विशेष आग्रह रहता था।

उनके दर्शनमात्रसे ही लोग प्रभावित हो जाया करते थे। वे आदर्श भक्त, महात्मा और सत्यनिष्ठ संत थे।

पागल हरनाथ ठाकुर

महात्मा हरनाथ ठाकुरका जन्म बँगला सन् १२७२ की १८वीं आषाढ़को बाँकुड़ा जिलेके सोनामुखी गाँवमें पण्डित जयराम वन्द्योपाध्यायके औरस और श्रीभगवती सुन्दरी देवीके गर्भसे हुआ था। जब ये दो वर्षके थे, तभी इनके पिताका देहान्त हो गया था। उस समय इनकी बहिनकी उम्र छ: वर्षकी और बड़े भाईकी चार वर्षकी थी। ये बड़े ही प्रतिभाशाली पुरुष थे। इनके जीवनमें अनेकों आश्चर्यजनक घटनाएँ हुई हैं। इनके उपदेश बड़े ही सरल और उच्च होते थे। आपके उपदेशका कुछ अंश यह है—

'अत्यन्त मधुर हरिनामको अपना कण्ठहार बना लो। भीतर-बाहर एक रंगका एक चेहरा रखो। मुँह और मनमें खूब मेल बनाये रखो। मनुष्यकी आँखोंमें धूल झोंकनेके लिये हरिनामका चोला न पहनो। व्याधकी तरह कपटसे पर्णकुटीमें वास मत करो। किसी भी जीवको कष्ट पहुँचानेकी इच्छा मनमें कभी न करो। श्रीकृष्णकी प्राप्तिको ही जीवनका प्रधान उद्देश्य बना लो। साधुसङ्गके अतिरिक्त बुरे सङ्गकी कभी इच्छा ही न करो। बहुत प्यारसे अनुरोध किये जानेपर भी बुरे स्थानमें और बुरे सङ्गमें मत जाओ।'

स्वामी रामतीर्थ [पृ० ८५४]
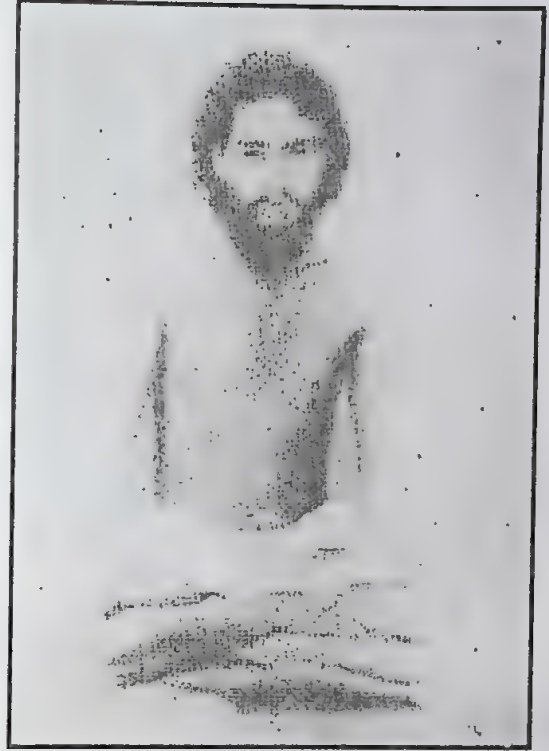
संत श्रीसियारामजी [पृ० ८९४]

भक्त श्रीरघुजी [पृ० ८५९]

भक्त कोकिलजी [पृ० ८६०]

भक्त रसिकमोहन विद्याभूषण [पृ० ८४९]
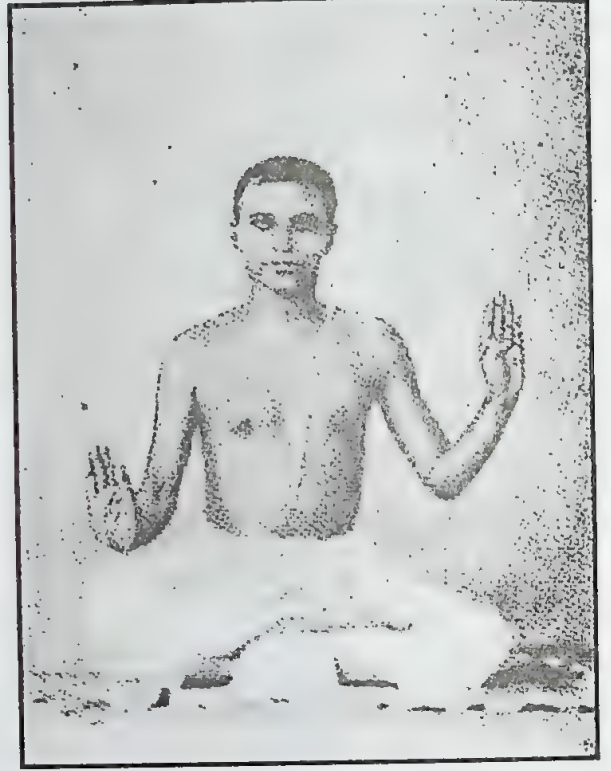
श्रीसत्यदेवजी महाराज [पृ० ८५२]

प्रभु श्रीअतुलकृष्ण गोस्वामी [पृ० ८४८]
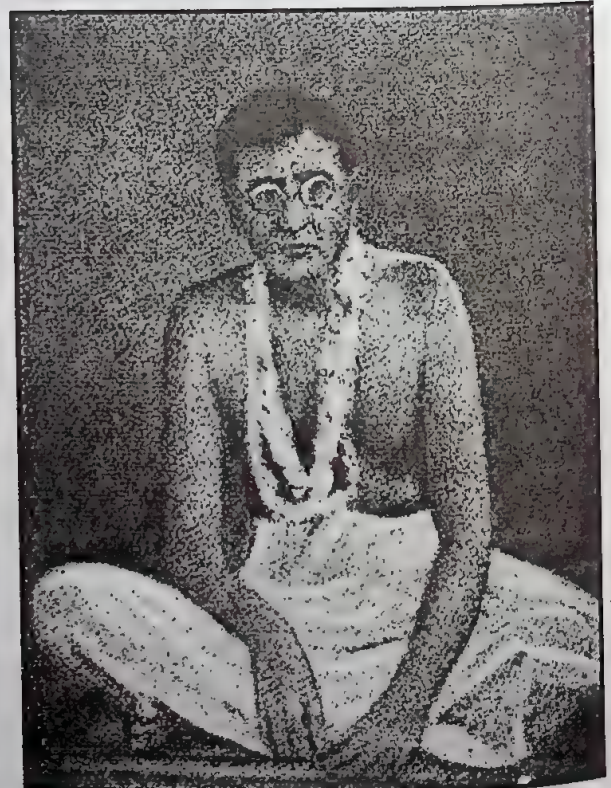
ठाकुर सरोजकुमार [पृ० ८५२]

प्रभु जगद्बन्धु

जगद्बन्धुजीका जन्म सन् १८७१ ई० में डाहापाड़ा (मुर्शिदाबाद) नामक गाँवके एक ब्राह्मण-कुलमें हुआ था। १६-१७ वर्षकी उम्रमें ही इनमें भगवद्भक्ति, वैराग्य, दयाभावका इतना विकास हो गया कि लोग इनकी ओर आकर्षित हुए बिना नहीं रह सके। सैकड़ों-हजारोंकी संख्यामें लोग इनके कीर्तनमें शामिल होने लगे और इनके अमूल्य उपदेशोंसे लाभ उठाने लगे। ये भी घूम-घूमकर बंगालभरमें हरि-नाम-सङ्कीर्तनका प्रचार करने लगे। कहते हैं, इनके शरीरमें एक प्रकारका दिव्य तेज था, जिसे सब लोग सहन नहीं कर सकते थे। इसीसे ये सर्वदा अपना शरीर ढका रखते थे और यह आदेश कर रखा था कि कोई कभी छिपकर भी न देखे। दो-एक आदमियोंने जब इस आज्ञाका उल्लङ्घन किया, तब इनके दर्शनमात्रसे वे बेहोश हो गये।

पिछले दिनों इनका शरीर बड़ा रुग्ण हो गया था; फिर भी उनका तेज ज्यों-का-त्यों था और निरन्तर हरि-नाम-सङ्कीर्तन इनके चारों ओर होता रहता था। इस तरह जीवनभर भक्तिमार्गका स्वयं अनुसरणकर और सर्वसाधारणमें उसका प्रचारकर इन्होंने अपनी कुटी श्रीअङ्गनमें १७ सितम्बर, सन् १९२१ को महाप्रस्थान किया। इसके ९ दिन बाद उसी स्थानमें इन्हें समाधि दी गयी थी।

श्रीरामदास काठियाबाबाजी

(लेखक—स्वामी श्रीपरमानन्ददासजी)

'महाराज! तुमको इतना बड़ा बनानेवाली वह कौन-सी चीज है, जिससे खिंचे हुए रोज चारों ओरसे इतने नर-नारी आ-आकर भक्तिपूर्वक तुम्हारे चरणोंमें प्रणाम करते हैं?'

'वत्स! वह वस्तु श्रीरामनाम है। रामनामने ही मुझको इतना बड़ा बनाया है।'

'मैं रामनाम लूँ तो क्या मैं भी इतना बड़ा बन सकता हूँ?'

'हाँ बाबा! रामनाम लोगे तो तुम भी इतने ही बड़े हो जाओगे।'

प्रायः डेढ़ सौ वर्ष पूर्व अमृतसर जिलेके लोनाचमारी गाँवसे कुछ दूरपर पेड़तले बैठे हुए एक परमहंसके साथ चार सालके एक छोटे-से ब्राह्मण-बालककी उपर्युक्त बातचीत हुई थी। इसी समयसे बालक मन-ही-मन रामनामका जप करने लगा था। यही बालक आगे चलकर प्रसिद्ध महात्मा रामदासजी काठियाबाबा हुए।

काठियाबाबाके पिता निष्ठावान् ब्राह्मण थे। बालकका यथासमय उपनयन-संस्कार हुआ और फिर उसे पढ़नेके लिये दूसरे गाँव गुरुके यहाँ भेज दिया गया। तीक्ष्णबुद्धि बालक बहुत थोड़े समयमें पाठ याद कर लेता, फिर एकान्तमें बैठकर रामनामका जप किया करता। सतरह-अठारह वर्षकी उम्रमें पढ़-लिखकर बालक अपने घर लौट आया। आनेके बाद और सब पुस्तकें तो बाँधकर रख दीं, एक गीताको हृदयसे लगाकर रखा।

तदनन्तर गायत्रीमन्त्र सिद्ध करनेके लिये आप यथाविधि मन्त्रजप करने लगे। प्रायः एक लाख मन्त्रजप हो जानेपर एक दिन गायत्रीदेवीने आकाशमण्डलमें आविर्भूत होकर आदेश दिया—'वत्स! तुम अब बाकीका जप श्रीज्वालामुखीमें जाकर पूरा करो और वर ग्रहण करो।' रामदासने कहा—'मातः! सन्तानपर तुम्हारी कृपा प्रतिक्षण बनी रहे, यही प्रार्थना है।' भगवती गायत्री 'एवमस्तु' कहकर अन्तर्धान हो गयी।

इस घटनाके बाद ज्वालामुखी जानेके समय रास्तेमें एक दिव्यकान्ति ज्योतिर्मय पुरुष मिले और रामदासजी उनके शरण हो गये। इन महात्माने कृपापूर्वक रामदासको शिष्यरूपमें ग्रहण कर लिया। इनका नाम था स्वामी देवदासजी। ये निम्बार्कसम्प्रदायके एक पूर्वाचार्य थे। पुत्रके संन्यासकी खबर पाकर पिता आये और उनके

गुरुदेवसे अनुनय-विनय करके कुछ दिनोंके लिये रामदासजीको घर ले गये। अत्यधिक स्नेहवश माता सदा रोती रहती, इससे साधनमें विघ्न होता देखकर ये घरसे निकल गये और फिर कभी जीवनभर अपने गाँवमें गये ही नहीं।

इस समयसे ये गुरुदेवकी सेवामें रहकर उनके आज्ञानुसार साधन करने लगे। गुरुदेवने समय-समयपर इनकी बड़ी कठिन परीक्षा ली। एक बार घूमते-घूमते गुरु-शिष्य हिमालयमें जा पहुँचे और वहाँ गुरुदेव एक कुटियामें रहने लगे और रामदासजी बाहर खुली जगहमें आसन जमाकर भजन-साधन करने लगे। शामसे सुबहतक बर्फ पड़ती। इससे सामने आग जलाकर रातभर ये गुरुके आज्ञानुसार भजन करते। इन्हें रातको अपने आसनसे उठनेकी आज्ञा नहीं थी। एक दिन रातको थोड़ी देरके लिये कुछ आलस्य आ गया, बर्फ गिरनेसे आग बुझ गयी और जाड़ेके मारे रामदासजी काँपने लगे। सोचा, धूनी चेतन किये बिना तो जाड़ेसे ठिठुरकर मरना ही पड़ेगा। शरीर क्रमशः ठिठुरा जा रहा था। मनमें गुरुजीका डर था कि वे क्या कहेंगे। अन्तमें साहस करके गये और चुपचाप कुटियाके बाहर खड़े हो गये। भीतरसे गुरुदेवने कहा—'बाहर कौन है?' शिष्यने कहा—'महाराज, सेवक रामदास।' पश्चात् गुरुके पूछनेपर सब बातें बतला दीं। गुरुदेवने धमकाकर कहा—'बेटा! क्या सोनेके लिये ही माँ-बापको रुलाकर घर छोड़कर यहाँ आये हो? आज तो आग ले जाओ; पर सावधान, आगे कभी ऐसा न हो।' इतना कहकर गुरुदेवने एक जलती हुई लकड़ी बाहर फेंक दी। रामदासजी उसे ले आये और उससे धूनी जगाकर भजन करने लगे।

एक बार गुरुदेवने इन्हें पहाड़से कूद जानेको कहा, ये तैयार हो गये। एक बार इन्हें बहुत मारा था। एक बार कहा कि 'मैं जबतक न लौटूँ, तबतक इसी आसनपर बैठे रहना' और आप लौटकर आये नवें दिन। रामदासजी आठ दिन, आठ रात एक आसनपर बैठे रहे। इस तरह बड़ी कड़ी-कड़ी परीक्षाएँ लेकर अन्तमें प्रसन्न होकर कहा—'वत्स! तुम्हारी परीक्षाएँ शेष हो गयी हैं। तुम इस शरीरसे भगवत्स्वरूपत्वको प्राप्त होओगे। ऋद्धि-सिद्धि तुम्हारे चरणोंमें लोटेंगी।'

गुरुदेवके अन्तर्धानके बाद आपने आठ बार पैदल चलकर भारतके सब तीर्थोंमें भ्रमण किया। अन्तमें भरतपुरके सैलानीकुण्डपर आपको भगवान्‌का साक्षात्कार हुआ। इसके सम्बन्धमें वे कहा करते—

रामदासको राम मिले हैं सैलानीके कुंडा।
संत सदा यह सच्ची मानें झूठी मानें गुंडा॥

अन्तिम जीवन आपका श्रीवृन्दावनमें बीता। काठकी लँगोटी लगानेसे आपका नाम 'काठियाबाबा' पड़ा। यहीं साधु-महात्मा आपके प्रभावको देखकर आपको 'व्रजविदेही' कहने लगे। एक दिन शेषरात्रिके समय योगासनसे बैठकर आपने नश्वर देहका त्यागकर परमधामको प्रयाण किया।

श्रीसन्तदास बाबाजी

श्रीसन्तदास बाबाजी महात्मा रामदासजी काठियाबाबाके शिष्य थे। आपका जन्म बँगला सन् १२६६ के २८ ज्येष्ठके दिन सिलहट जिलेके बासी गाँवमें एक ब्राह्मण-परिवारमें हुआ था। आपका गृहस्थाश्रमका नाम था—श्रीताराकिशोर चौधरी। ये बड़े अच्छे वकील थे। आखिर काठियाबाबाके प्रभावसे इन्होंने वृन्दावनमें उनसे दीक्षा ले ली। तब इनका नाम बाबा सन्तदासजी हुआ। ये बहुत बड़े विद्वान्, साधुस्वभाव, तत्त्वज्ञ तथा महान् भक्त संत थे। कुछ ही वर्षों पहले इनका देहान्त हुआ था।

स्वामी शिवरामकिंकर योगत्रयानन्दजी

(लेखक—पण्डित श्रीमहेन्द्रनाथ भट्टाचार्य)

स्वामीजीके गृहस्थाश्रमका नाम था शशिभूषण सान्याल। जन्मस्थान था हबड़ा जिलेके वराहनगरका गंगातीर। इनके पिताका नाम रामजीवन सान्याल था। लड़कपनसे ही इनमें प्रतिभा और योगभ्रष्ट पुरुषके लक्षण दीखने लगे थे। चौदह-पंद्रह वर्षकी उम्रमें इन्होंने बँगला, अँगरेजी और संस्कृत पढ़ ली और बिना ही गुरुकी सहायताके ये वेद, वेदान्त, षड्दर्शन, ज्यौतिष तथा पुराणादि समस्त शास्त्रोंके पण्डित हो गये। पाश्चात्त्य दर्शन और विज्ञानका सम्यक् अध्ययन करके उनकी भी योग्यता प्राप्त की। फिर साधनमार्गमें प्रवेश करके कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग—तीनोंका साथ ही अभ्यास किया। योगाभ्याससे आप समाधिस्थ हो जाते। आश्चर्यकी बात है कि गृहस्थमें रहते हुए ही आपने यह साधन किया। आपके धर्मपत्नी और तीन पुत्र थे। चिकित्साविज्ञानमें आपकी बड़ी पहुँच थी। कलकत्तेके केम्बल मेडिकल स्कूलमें कुछ दिनोंतक पढ़े थे। फिर अपनी प्रतिभासे ऐलोपैथी, होमियोपैथी, बायोकेमी और आयुर्वेदविज्ञानके पण्डित हो गये। इनकी विशिष्ट प्रतिभाकी बात कहनेपर शायद आजकलके लोग विश्वास नहीं करेंगे, परंतु वे वस्तुतः बड़े ही विलक्षण महापुरुष थे।

त्यागी, संन्यासी, संत अनेक हैं; किंतु स्त्री-पुत्रादिके साथ गृहस्थाश्रममें रहकर भगवान्‌पर निर्भर हो कुछ भी उपार्जन न करते हुए अनन्य शरणागत होनेपर वे अनन्त करुणामय दयासागर भगवान् उस निर्भर भक्तके अभावोंको किस प्रकार दूर करते हैं, स्वामीजीका जीवन इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है। शास्त्रानुसार सदाचारका पालन, आहारशुद्धि आदिका परिवारके सभी लोग पालन करते थे। स्वामीजी जिस कोठरीमें साधन-भजन करते, शौचादिको छोड़कर अन्य समय उस कोठरीसे कभी बाहर नहीं निकलते, न किसीसे बातचीत ही अधिक करते। वह कोठरी सदा ही सात्त्विक सुगन्धसे परिपूर्ण रहती। स्वामीजीकी बड़ी ही मनोरम मधुर मूर्ति थी। उन्हें जो कोई भी आसनपर बैठे देख लेता, मुग्ध हो जाता। वहाँसे दृष्टि हटानेकी इच्छा न करता। मुखमण्डलपर कभी किसी चिन्ताकी रेखा नहीं रहती, सर्वदा आनन्दमय हास्यमय!

स्वामीजीकी माताके बीमार होनेपर उन्हें काशी ले जाया गया और उनका काशीवास होनेपर स्वामीजीने लौटकर वराहनगरमें एक छोटे-से मकानमें रहना शुरू किया। अर्थोपार्जनकी चेष्टा छोड़ ब्राह्मणकी अयाचित भिक्षावृत्तिका अवलम्बन करके और पूर्णरूपसे भगवान्‌के चरणोंका आश्रय ग्रहणकर स्वामीजी स्त्री-पुत्रादिसहित आनन्दसे रहने लगे।

वराहनगर कलकत्तेसे उत्तर तीरपर है। स्वामीजीके घरका आँगन सदा सर्द रहता था। स्वामीजी एक कोठरीमें कम्बल बिछाकर बैठे ग्रन्थादि देखा करते, साधन-भजनके समय दरवाजा बंद कर लेते। दोपहरको एक बार दरवाजा खोलते। भोजनके लिये कोई दे जाता तो खा लेते, नहीं तो फिर दरवाजा बंद करके अपने काममें लग जाते।

एक बार घरमें अन्न नहीं रहा। साध्वी स्त्रीने किसी प्रकार दो-तीन दिन तो काम चलाया, पर अन्तमें उसके पास कुछ नहीं बचा। इसी समय सतीशचन्द्र नामक एक युवक आया और उसकी लायी हुई सामग्रीसे रसोई बन गयी। एक दिन फिर ऐसा हुआ कि घरमें कुछ भी नहीं रहा। रसोई नहीं बनी। बच्चे उपवासी रहे। इतनेमें ही कालीकृष्णदत्त नामक एक सज्जन, जो वराहनगरमें ही रहते थे और स्वामीजीको अपना गुरु मानते थे, दौड़े हुए आये और स्वामीजीके चरणोंमें दो रुपये रखकर प्रणाम किया। पूछनेपर बोले कि 'मैं अपने आफिसमें काम कर रहा था, दो बजेके लगभग हठात् हवामेंसे मेरे कानमें यह आवाज आयी कि तुम जिनको अपना गुरु मानते हो, वे आज सपरिवार भूखे हैं। मैं सहम गया और उसी वक्त मालिकसे छुट्टी लेकर नावसे यहाँ चला आया।' सतीशको रुपये दिये गये। सामग्री आयी और रसोई बनी। कुछ दिनों बाद बालीके जमींदार श्रीराजेन्द्र सान्याल स्वामीजीको

सपरिवार कलकत्ते ले गये और आवश्यक खर्च देने लगे। इसके बाद राजेन्द्र बाबूके सहायता बंद कर देनेपर महेन्द्रदास नामक एक कन्ट्राक्टर स्वामीजीके इच्छानुसार उन्हें काशी ले गये और वहाँ सुनारपुरामें मकान भाड़ेपर लेकर स्वामीजीको टिका दिया। काशीमें प्रसिद्ध दण्डी स्वामी श्रीअनन्ताश्रमजी तथा और भी बहुत-से लोग स्वामीजीके पास आते और वेदान्तकी अद्भुत व्याख्या सुनते।

स्वामीजीने १५-१६ वर्षकी उम्रमें ही दण्डी स्वामी श्रीशिवरामानन्दजीसे दीक्षा ली थी, इसीलिये उन्होंने गुरुदेवकी आज्ञा लेकर अपना नाम शिवरामकिंकर योगत्रयानन्द रखा। स्वामीजीकी भक्ति, ज्ञान और योगमें समान रति थी। काशीमें बम्बईके अटर्नी श्रीयुत भाईशंकर आये और स्वामीजीसे अंग्रेजीमें वेदान्ततत्त्वको सुनकर मुग्ध हो गये। बम्बईमें देहत्यागके समय भाईशंकरजीने अपने वसीयतनामेमें कई हजार रुपये स्वामीजीको दिये थे। स्वामीजीके पास बम्बईसे रुपये आये और उन्होंने उसी समय किसी ब्राह्मणको कन्यादानके लिये, किसीको ऋणमुक्तिके लिये सब दे डाले। सुनारपुरासे भदैनीमें आकर रहने लगे। वहाँ स्वर्गीय कश्मीरनरेश आये और स्वामीजीको कश्मीर ले जानेके लिये आग्रह करने लगे। काशीके राजा मोतीचंद तो स्वामीजीके भक्त ही थे। 'कल्याण'के लेखक स्व० श्रीयुत नन्दकिशोर मुखोपाध्यायके पिता श्रीयुत कालीपद मुखोपाध्याय रिटायर्ड सबजजने स्वामीजीसे शिष्यत्व ग्रहण किया। कालीपद बाबूने स्वामीजीके लिये राजघाटमें एक मकान बनवा दिया। स्वामीजी उसी मकानमें रहने लगे और खर्चके लिये सौ रुपये मासिक कालीपद बाबू देने लगे। तदनन्तर राधिकाप्रसाद राय इंजीनियर कलकत्तेमें तीन सौ रुपया मासिक भाड़ेपर मकान लेकर स्वामीजीको कलकत्ते ले गये। कलकत्तेमें हल्ला-गुल्ला विशेष होनेके कारण स्वामीजी उत्तरपाड़ा गङ्गातीरपर चले गये। मुजफ्फरपुरके वकील बाबू नगेन्द्रनाथ चौधरी खर्च देने लगे। इसके बाद यतीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय स्वामीजीकी सेवा करने लगे। कहनेका मतलब यह कि भगवान्ने अपने निर्भर भक्तका योगक्षेम बड़ी खूबीसे चलाया, यद्यपि स्वामीजीको सांसारिक योगक्षेमकी कभी कोई परवा नहीं थी!

स्वामीजी अगाध पण्डित, सिद्ध योगी, महान् ज्ञानी और परम आदर्श भक्त थे। उनके जीवनकी हजारों घटनाएँ हैं। यहाँ अधिक लिखनेके लिये स्थान नहीं है!

आराध्यपाद श्रीनन्दकिशोर मुखोपाध्याय

(लेखक—पण्डित श्रीगौरीशङ्करजी मिश्र)

उस सुख-सुविधासे विपत्ति सहस्रगुनी उत्तम है, जिसमें भगवान्के प्राणप्रिय भक्तके दर्शन और सन्निधि मिलती है तथा इसी कारण मैं अपनी प्रारम्भिक विपदाओंको भगवत्कृपाके अतिरिक्त और कुछ नहीं समझता। शैशवसे ही मैं संकटोंमें बढ़ रहा था, सांसारिक आपदाओंसे अत्यन्त आकुल हो गया था और तब मनमें बार-बार साधु-महात्मा और भगवद्भक्तोंके आशीर्वादसे शान्ति प्राप्त करनेकी कामना लिये उनकी टोहमें लगा रहता था।

'यह जन-शून्य विशाल भवन किसका है?' काशीमें राजघाटके समीप ही नया महादेव मुहल्लेमें श्रीगङ्गाजीके तटके समीप ही उस भवनको कई बार देखा था। वह चारों ओरसे बंद रहता, जैसे उसमें कोई रहता ही नहीं। इसी कारण मेरे मनमें जिज्ञासा हुई और पासके एक व्यक्तिसे मैंने पूछ लिया।

'यह मकान श्रीकालीपद मुखोपाध्याय पेन्शनर सबजजका था।' उन्होंने उत्तरमें कहा। 'किंतु इसे उन्होंने अपने गुरु श्री० श्रीशिवरामकिंकर योगत्रयानन्दजी महाराजको दे दिया था। श्रीयोगत्रयानन्दजी यह जगत् छोड़ चुके हैं, किंतु उनके शिष्य श्रीनन्दकिशोरजी मुखोपाध्याय इसमें रहते हैं। ये श्रीकालीपद मुखोपाध्यायके पुत्र हैं। श्रीनन्दकिशोरजीने श्रीयोगत्रयानन्दजीका एक बार दर्शन किया और उसी दिन मुंसिफीको ठोकर मार दी। अनुपम विद्वान्, नैष्ठिक गुरुभक्त, त्यागकी प्रतिमा और तपस्याकी

सजीव मूर्ति हैं ये। धन-सम्पत्तिसे तो इन्हें कुछ लेना नहीं है; फिर मकान भाड़ेपर क्यों दें और तब कोलाहल कैसे हो? समाधि-निरत साधु पुरुष हैं। इनके गुण कहाँतक कहे जायँ।'

'भैया कुछ और बता दो।' वे सज्जन जाने लगे थे। मैंने उनसे विनयपूर्वक श्रीमुखोपाध्यायजीके सम्बन्धमें पूछा। वे कदाचित् उनसे कुछ परिचित थे।

'आप उनसे स्वयं मिल लें।' उन्होंने कहा। 'जीवन सफल हो जायगा आपका। ऐसे भगवद्भक्त इस धरतीपर बहुत कम आते हैं। इनके पिताकी इनपर अद्वितीय प्रीति थी, पर ये श्रीशिवरामकिंकरजीके हाथों बिक चुके थे। विवाहके लिये परिवारका आग्रह कुछ नहीं कर सका। आजन्म ब्रह्मचारी हैं ये। इनके पिताने अपनी समस्त सम्पत्ति मृत्युके पूर्व इनके नाम कर दी, किंतु इन्होंने सब अपने भाइयोंके नाम परिवर्तित कर दिया। पता नहीं कैसे इनका काम चलता है। इनकी माताजी भी इनके साथ ही रहती हैं। ऐसे भगवद्भक्त पुत्रको छोड़कर वे कहाँ जायँगी। वे भी भजनमें सतत संलग्न रहती हैं।'

'आपने मुझपर बड़ी कृपा की, जो इतनी बातें बता दीं।' मैंने उनका आभार प्रदर्शन किया। वे चले गये। मैं वहीं बैठ रहा। दरवाजा बंद था। 'कैसे पुकारूँ उन्हें?' मन-ही-मन सोच रहा था कि खड़ाऊँकी ध्वनि कानमें पड़ी। मैंने साँकल हिला दी।

'कौन है?' उन्होंने प्रश्न किया और दरवाजा खुला।

दुबली-पतली तपोमूर्ति! मैं एकटक उनकी ओर देखने लगा। मेरे प्राणोंमें, मेरे रग-रगमें जैसे विद्युत्-धारा प्रवेश कर रही थी। मैं अपना सब कुछ भूल गया था। तनिक-सी चेतना लौटी तो मैं उनके चरणोंमें गिर पड़ा। दोनों चरण कसकर पकड़ लिये।

'आओ, ऊपर चलें।' अत्यन्त स्नेहसिक्त स्वरमें उन्होंने कहा। उनकी वाणीमें तनिक भी बंगीयताका पुट नहीं था। जैसे वे इधरके ही निवासी हों। आगे-आगे वे सीढ़ियोंसे ऊपर चढ़ रहे थे, पीछे-पीछे अपने भाग्यकी सराहना करता हुआ आनन्दमग्न मैं चल रहा था। वे छत पारकर अपने कमरेमें पहुँचे।

वहाँ चारों ओर ढेर-की-ढेर मोटी-मोटी पुस्तकें पड़ी थीं। पुस्तकोंके बीचमें तीन कुशासन एकमें ही फैले हुए थे। ये उसीपर बैठते और लेखादि लिखा करते थे। सामने ही एक छोटी-सी काठकी चौकीपर उनके गुरुदेव श्रीशिवरामकिंकर योगत्रयानन्दजीका चित्र अत्यन्त पवित्र, पर सुन्दर वस्त्रसे ढका हुआ था। धूपबत्ती जल रही थी। पास ही नारिकेल-कमण्डलु पड़ा था। धूपकी सुगन्धसे कमरा भर गया था।

'कैसे आये?' उन्होंने मुसकराते हुए पूछा।

मैंने उत्तर दिया—'सांसारिक विपत्तियोंसे आकुल, नामका ब्राह्मण हूँ। बड़े भाग्यसे आपके दर्शन हो गये। मैं आपकी कृपा चाहता हूँ।'

'भगवान्की कृपा सबपर है। हम उसका अनुभव नहीं कर पाते।' उन्होंने कहा। 'एक पशु मर जाता है और उसकी बगलमें ही दूसरा पागुर करता रहता है। यही दशा आज मनुष्यकी हो गयी है। वह प्रतिदिन लोगोंको मृत्युमुखमें जाते देखकर भी निश्चिन्त है। भगवान्को पानेके लिये तनिक भी प्रयास नहीं करता। मानव-जीवन फिर कब मिले, पता नहीं। यह अत्यन्त दुर्लभ है। अति शीघ्र इसका उपयोग कर लेना चाहिये।'

उन्होंने मुझे पढ़नेके लिये उपदेश किया, तब मैंने हाथ जोड़कर उन्हींसे कुछ पढ़ानेके लिये प्रार्थना की और उन्होंने कृपापूर्वक अपने भजनके समयसे एक घंटा निकालकर रात्रिके नौसे दसतक लघुकौमुदी पढ़ाना स्वीकार कर लिया।

उस दिनसे प्रतिदिन मैं उनके चरणोंमें उपस्थित हो जाता और वे ठीक नौ बजे भजनसे उठ जाते और मुझे पढ़ाने लगते।

श्रीमुखोपाध्यायजी उज्ज्वल वस्त्रमें संन्यासी थे। एक गैरिक वस्त्र भीतर पहनते, उसके ऊपर सूती उज्ज्वल मिर्जई पहने रहते। प्रातः पाँच बजे सन्ध्यामें बैठते तो साढ़े नौ बजे मध्याह्न-सन्ध्या सम्पन्न करके ही उठते। गायत्रीका मानसिक जप तो उनका निरन्तर चलता ही रहता। साढ़े नौ बजे वे नीचे उतरते और जलते चूल्हेपर बटुलीमें एक छटाँक चावल छोड़कर ऊपर आकर जपमें लग जाते। घड़ीकी सूई देखकर उठते और नीचे जाकर चावल उतार देते और दूसरी बटुलीमें शाक डाल पुनः

ऊपर जा जपमें लग जाते। फिर समयपर नीचे उतरकर कुशासनपर बैठ भोजन करने बैठते। अत्यन्त क्षीण काया और कुल डेढ़ छटाँक आहार। उसमें कुछ तो नीचे **'ॐ भूपतये नमः, ॐ भुवनपतये नमः, ॐ भूतानां पतये नमः'** आदि मन्त्रोंसे चढ़ा दिया जाता और शेष सब एक साथ ही एकमें मिलाकर नेत्र बंदकर भगवान्‌का ध्यान करते हुए एक-एक ग्रास कण्ठके नीचे उतारते रहते। श्रीस्वामीजीका निष्ठुर संयम देखकर मैं अत्यन्त दुःखी रहता था; पर क्या करता कोई वश नहीं था। उन्हें लोग स्वामीजी कहते, इसलिये मैं भी उसी नामसे उल्लेख कर रहा हूँ।

सायंकाल सन्ध्याके बाद कीर्तनके लिये वे अपने छोटे उपवनमें तुलसी-तरुके समीप नियमित रूपसे बैठते और—

राम राघव राम राघव राम राघव पाहि माम्।
जानकी वर मधुर मूरति राम राघव रक्ष माम्॥
कृष्ण केशव कृष्ण केशव कृष्ण केशव पाहि माम्।
राधिका वर मधुर मूरति कृष्ण केशव रक्ष माम्॥

—की रट लग जाती। यह उनके कीर्तनका सर्वाधिक प्रिय मन्त्र था।

नीरव रात्रिको वे एकान्तमें शान्त भजन किया करते। वे कब सोते, यह कहना कठिन था। मध्याह्नमें घंटे-डेढ़-घंटे बैठे-बैठे सो लेनेके अतिरिक्त उनका समस्त समय भजनमें बीतता। वे यथार्थ योगीके शिष्य थे और थे स्वयं योगसिद्ध महापुरुष, साथ ही भगवत्प्रेम, भगवद्भक्ति, भगवन्निष्ठा, त्याग और तप तथा संयम सब-के-सब उनमें कूट-कूटकर भरे हुए थे।

एक बार एक अंग्रेज अफसरके अत्यन्त आग्रहसे श्रीस्वामीजी उससे मिलने मुगलसराय गये। श्रीस्वामीजीका उपदेश सुन वह उनका मुँह देखता रहा। कुछ ही क्षणके लिये अपनी पत्नीको महाराजजीके पास छोड़ वह जाने लगा, तब महाराजजीने तुरंत कहा—'एकान्तमें किसी भी स्त्रीके साथ बैठना मेरे लिये सम्भव नहीं। शास्त्र यही आदेश देते हैं।' अंग्रेज मन-ही-मन झेपता हुआ अन्ततक उनके समीप बैठा रहा। बड़ी ही श्रद्धा-भक्तिसे उसने श्रीस्वामीजीको विदा किया। कई वर्षतक उनके साथ रहनेपर मैं इसी निष्कर्षको पहुँचा कि श्रीस्वामीजीने किसी भी स्त्रीको कभी भी अपना चरण भी स्पर्श करनेका अवसर नहीं दिया।

'शिव-शिवार्चनतत्त्व', 'दुर्गा-दुर्गार्चनतत्त्व', 'देवतातत्त्व', 'शक्तितत्त्व', 'पूजातत्त्व' आदि श्रीयोगत्रयानन्दजी महाराजके उत्कृष्ट उपदेशोंका संकलन श्रीस्वामीजी महाराजने ही अपने जीवनका कण-कण खपाकर किया है। उनकी लिखी विपुल सामग्रियाँ—जो आध्यात्मिक जगत्‌की अमूल्य निधि हैं—अब भी श्रीनकुलेश्वर मजूमदार, हेडमास्टर हरिहर-विद्यालय, काशीके पास सुरक्षित पड़ी हैं; किंतु खेद है अबतक उनका कोई उपयोग नहीं हो पाया है।

उनके पास एक पाई नहीं, पर उन्हें कोई चिन्ता नहीं। उनका त्याग, वैराग्य एवं भगवत्प्रेम देख कुछ भक्त समयपर जो भेज देते, उसीसे जैसे-तैसे काम चलता। उनके तीन भाई भी थे, पर अपने लिये ये कभी किसीसे कुछ नहीं चाहते थे। मेरे सामनेकी बात है, एक गुजराती सज्जन आये। स्वामीजीके दर्शन और ज्ञानोपदेशसे अत्यन्त आनन्दित हुए। कुछ सहायताके लिये प्रार्थना की तो स्वामीजीने उसे स्वीकार नहीं किया; फिर भी देश जाकर उन्होंने एक हजार रुपया मनीआर्डरसे भेज दिया। उस समय आपको रुपयेकी अत्यन्त आवश्यकता थी, किंतु आपने उसे शीघ्र ही वापस कर देनेके लिये पोस्टमैनसे कह दिया। मुझसे उन्होंने कहा, 'यह दानकी रकम मेरे लिये विषतुल्य है, जिसे मैं नहीं पचा सकता।' मैंने ऐसे कितने अवसर देखे हैं, जब उनके पास एक पैसा भी नहीं था। पर वे निश्चिन्त और आनन्दमग्न रहते थे। श्रीस्वामीजीकी भगवान्‌पर निर्भरता और भगवान्‌की ओरसे समुचित व्यवस्था देखकर गीताके—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

—इस वाक्यपर मेरी दृढ़ आस्था हो गयी।

गुमान नामक एक मल्लाह सपत्नीक श्रीस्वामीजीके यहाँ बर्तन आदि साफ करनेका काम करता था। उसे निवासका कष्ट था। आपके अधिकारमें थोड़ी भूमि थी। काशी-जैसे नगरकी भूमि आपने उसे वैसे ही दे दी और

उसके लिये मकान भी बनवा दिया। करुणाकी तो मूर्ति ही थे वे। किसीकी किञ्चित् भी व्यथा देखकर वे अधीर हो जाते।

श्रीस्वामीजी शास्त्र-वाक्यको भगवद्वाक्यकी भाँति आदर देते। शास्त्र और धर्मके विरुद्ध बातसे उन्हें बहुत धक्का लगता। किसीकी आलोचना तो उन्होंने अपने जीवनमें की नहीं। सत्यके वे सच्चे उपासक थे। किसी प्रकार भी मिथ्या भाषणको वे जघन्य कर्म समझते थे।

उपदेश देना साधारण बात है। पर विकट परिस्थितिमें भगवत्कृपाका अनुभव करते रहना भगवद्भक्तके ही वशकी बात होती है। गुरु, भाई तथा अन्य सगे-सम्बन्धीकी मृत्युके अवसरपर श्रीस्वामीजी भजन करते रहते और अपनी वृद्धा माताको इस प्रकार भगवत्कृपाका प्रभाव बताते कि वे तनिक भी चिन्ता नहीं कर पातीं, अपितु *'जय दुर्गा, जय जय दुर्गा'* का गान करने लगतीं।

जीवनके अन्तिम दिनोंमें वे प्रायः कहा करते—'जगत्से मैं घबरा रहा हूँ। दुनिया मुझे काटने दौड़ती है। अब तो श्रीगुरुजीसे यही प्रार्थना है कि वे मुझे अपने चरणोंमें ही बुला लें।'

कलकत्तेमें वे अपने गुरुपुत्रसे मिलने गये और वहीं बीमार पड़ गये। शरीर यों ही शक्तिहीन था। बीमारीसे उठना-बैठना कठिन हो गया। उन्होंने कहा—'मुझे बाबा विश्वनाथकी पुरीमें शरीर छोड़ना है।' उनके आदेशानुसार वे गाड़ीमें लिटाकर काशी लाये गये। काशी पहुँचनेपर एक घंटे बाद भगवान्का स्मरण करते हुए उन्होंने मानवकाया त्याग दी।

जिन्हें उनके दर्शन मिल चुके थे, वे दुःखी हुए; पर जो उनके चरणोंमें रहकर उनकी कृपाका लाभ उठा चुके हैं, उनकी व्यथा व्यक्त करना सम्भव नहीं। फिर भी जो उनका चरण-संस्पर्श पा चुके हैं, उनके भाग्यकी सराहना करनी ही पड़ेगी—यह भगवान्के भक्तकी महिमा है।

श्रीमत्स्वामी प्रणवानन्दजी महाराज

(लेखक—ब्रह्मचारी श्रीरमेशजी)

पूर्वबंगालके एक साधारण गाँवमें इस महापुरुषका जन्म हुआ था। इनके पिता जाग्रत् गृहदेवता नीलरुद्र महादेवके अनन्य उपासक थे। महादेवकी कृपासे ही उनको यह पुत्ररत्न प्राप्त हुआ था। बालकपनसे ही वे प्रायः उदास और अनासक्त भावमें रहते थे। बहुधा घरसे गायब हो जाते थे और माता-पिता जब व्याकुल होकर ढूँढ़ने निकलते, तब किसी पेड़के नीचे अकेले उनको ध्यानस्थ सिद्धार्थके समान बाह्यज्ञानशून्य अवस्थामें बैठे हुए मिलते। बाल्यावस्थामें वे न तो अनावश्यक कोई बात बोलते और न अनावश्यक किसी वस्तुके लिये आग्रह करते थे। अनावश्यक किसी ओर उनकी दृष्टि न जाती और न अनावश्यक किसी दिशामें पैर रखते थे। मानो पूर्ण संयम ही बालमूर्तिमें इस धराधाममें अवतीर्ण हुआ था। उनका नाम विनोद रखा गया था।

अब वे विद्यालयमें पढ़नेके लिये जाने लगे। वहाँ भी छुट्टी होनेके बाद जब शिक्षक और छात्र क्लाससे बाहर निकल जाते, तब विनोद प्रायः न जाने किस चिन्तामें मग्न बाह्यज्ञानशून्य बैठे ही रहते। वे शिक्षक और छात्र दोनोंको प्रिय थे, इसलिये कोई उनके इस भावमें बाधा नहीं डालता था। घरपर उनको बहुधा लोग रात्रिमें देरतक ध्यानमें बैठे पाते।

वे तुलसीके बड़े भक्त थे। अपने संघकी संन्यासी सन्तानको कहा करते थे कि 'तुलसी जाग्रत् देवता हैं। श्रद्धा और अनन्य भावसे देखनेपर कृपा प्रदान करती हैं।' सुनते हैं कि तुलसी-वृक्षोंकी अधिष्ठात्री तुलसी देवीने उनको दर्शन देकर कृतार्थ किया था।

सरल और आडम्बरशून्य जीवनयापन करना ही उनकी महान् साधना थी। साधारण आलू और नून-भात ही उनका प्रधान भोजन था। भोजनमें अटूट संयम और अखण्ड ब्रह्मचर्य-पालन करके उन्होंने अमित शक्ति सञ्चय कर ली थी। उनकी साधनकुटीमें सोने-बैठनेके लिये एक तख्ता, कुछ पुस्तकें, देवताओंके चित्र तथा

एक जोड़ा व्यायामके लिये विशाल मुगदर था। पहननेके लिये उनके पास सब ऋतुओंके लिये एक भगवाँ वस्त्र और ओढ़नेके लिये चादर रहती थी। रातको वे केवल एक घंटा सोते थे। आगे चलकर उन्होंने उसका भी त्याग कर दिया और लगातार छः वर्षोंतक निद्रारहित तपस्याका जीवन व्यतीत किया। एक बार वे नौ दिनोंतक लगातार समाधिमग्न अवस्थामें रहे। पहले शीतकालमें एक कम्बल ओढ़ते थे और बादको उसका भी त्याग कर दिया। वे प्रायः कहा करते थे कि 'उपादेय, गुरुपाक, पुष्टिकर भोजन करनेसे शरीरमें उत्तेजना आती है और शक्ति क्षीण होती है। अटूट ब्रह्मचर्यके पालनसे मेरे शरीर और मनमें असीम आनन्दकी अनुभूति होती है।'

१९१३ ई० में १७ वर्षकी उम्रमें उन्होंने योगिराज बाबा श्रीगम्भीरनाथजीसे दीक्षा ली। दीक्षा लेनेके बाद वे प्रायः बाह्यज्ञानशून्य ध्यानमग्न अवस्थामें या अर्द्धबाह्य अवस्थामें एकान्तमें पड़े रहते थे। बाबा गम्भीरनाथ उनको जंगल-झाड़ीमेंसे खोजकर निकाल लाते और कुछ भोजन कराते थे। उसके बाद नाथजीकी आज्ञासे वे काशीपुरीमें अस्सीघाटपर ध्यान-साधना करते रहे। उस समय उनकी अवस्था २० वर्षकी थी। उन्होंने जिस स्थानपर सिद्धि प्राप्त की थी, वहीं आज श्रीप्रणवमठ स्थापित है।

उन्होंने बतलाया था कि 'रागादि रिपुओंका दलन और इन्द्रियसंयम ही धर्मसाधनाके मूल हैं। ब्रह्मचर्यका पालन करना ही सर्वश्रेष्ठ साधना है। समाहित मन ही निर्जन गुफा है, भगवत्कृपा-लाभके लिये निर्जन गिरि-गुहाकी आवश्यकता नहीं है। मनको संयत और समाहित करनेके लिये सारे विषयोंमें संयमका अवलम्बन करना परमावश्यक है।'

'वे कहते थे कि धर्मका प्राण अनुभूति, अनुष्ठान और निष्ठामें निहित है। शास्त्र पढ़कर या लोगोंके मुखसे सुनकर कभी धर्मकी प्राप्ति नहीं होती। त्याग, संयम, सत्य और ब्रह्मचर्य-पालन ही धर्म-साधनाके मूल स्तम्भ हैं।'

'यत्र जीवस्तत्र शिवः' इस महामन्त्रकी साधनामें सिद्धि प्राप्त करके जातिको नवीन आदर्शमें गठित करनेके लिये आचार्य स्वामी प्रणवानन्दने अपने कर्ममय जीवनको लोकहितमें उत्सर्ग कर दिया था। भारतीय आर्यजातिके धर्म और साधनाको उन्होंने आधुनिक युगकी विकृतिसे मुक्त करनेका व्रत लिया था। उनका अध्यात्म-साधनासे समुज्ज्वल जीवनका महान् आदर्श हमारे लिये सत्य सिद्ध हो!

प्रभु अतुलकृष्ण गोस्वामी

(लेखक—आचार्य श्रीप्राणकिशोर गोस्वामी एम्० ए०, विद्याभूषण, साहित्यरत्न)

श्रीचैतन्यमहाप्रभुके नित्यसंगी श्रीनित्यानन्द प्रभुके वंशमें तेरहवीं पीढ़ीमें प्रभु अतुलकृष्ण गोस्वामीका जन्म संवत् १९२५ वि० की कार्तिक कृष्ण दशमीकी रात्रिको हुआ। उस समय बङ्गदेशमें घर-घर महाशक्तिकी पूजा हो रही थी, आवाहन-मन्त्र उच्चारित हो रहे थे। ऐसे पुण्यकालमें श्रीअतुलकृष्ण गोस्वामी शिशुरूपमें अवतीर्ण हुए। उस समय महामायाकी पूजाका मृदंग मानो मंगल-वाद्य बजा। शङ्खध्वनिने विजय-घोषणा की। वैष्णवी शक्तिके आवाहन-मन्त्र उनके जन्मकालका स्वस्तिवाचन बने। कलकत्तेका शिमुलिया गाँव उनके आविर्भावसे कृतार्थ हो गया।

बाल्यकालमें अध्ययन किया, यौवनमें उस्ताद रखकर संगीतकी शिक्षा प्राप्त की और गयाके पण्डा कन्हाईलालसे इसराज बजाना सीखा। इस प्रकार रसिकता और सहृदयताके द्वारा वे एक विदग्ध नागरिकके रूपमें प्रसिद्ध हो गये। इसके बाद उन्होंने कुछ दिनोंतक व्यवसाय भी किया। परंतु सांसारिक उल्लास-विलासमें उनको तृप्ति कहाँ मिलती। उनके अन्तःकरणमें तो अन्तःसलिला फल्गुके सदृश भक्तिकी धारा प्रवाहित हो रही थी। सांसारिक जीवनमें उनको रस कैसे मिल सकता था।

फिर तो उनका मन सत्सङ्गकी ओर झुका। श्रीरामानुजानुयायी वासुदेव महाराज, पुरी धामके बड़े बाबाजी, बंगालके प्रसिद्ध तान्त्रिक साधक ताराक्षेपा, वृन्दावनके बाबा रामकृष्णदासजी, सुप्रसिद्ध महात्मा पागल

हरनाथ, परमहंस रामकृष्ण, राजपूतानेके खण्डारीबाबा, सच्चिदानन्द बालकृष्ण व्रजवाला, वृन्दावनके ग्वारियाबाबा, श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी महाराज प्रभृति साधकोंके सत्सङ्ग और प्रभावसे उनके जीवनमें नवजीवनका सञ्चार हुआ। वे खड़दाके श्रीश्यामसुन्दरकी सेवा करनेमें लगे हुए एक महान् साधक थे। लक्ष्मण शास्त्री द्रविड़, महामहोपाध्याय प्रमथनाथ तर्कभूषण, महामहोपाध्याय फणिभूषण तर्कवागीश आदि विद्वान् उनके प्रभावसे गौड़ीय वैष्णव-धर्ममें अनुरक्त हुए थे। गौड़ीय वैष्णव-सम्मेलनके वे प्रतिष्ठाता और सभापति थे। उनका जीवन प्रेमभक्ति और वैराग्यके साधनमें अतिवाहित होता था। वे एक प्रसिद्ध वक्ता और शास्त्रव्याख्याता थे। उन्होंने जो उदार मत और साधनाकी पद्धति चलायी है, उससे अनुप्राणित होकर सहस्रों भक्तोंने वैष्णवधर्मको अपना जीवनादर्श बना लिया है। वृन्दावनीय रसकी साधना उनके जीवनमें मूर्तिमन्त हो गयी थी। कभी-कभी वे प्रेमसमाधिमें लीन हो जाते थे। उनके वचन 'सदुक्तिसंग्रह' नामक पुस्तकमें प्रकाशित हुए हैं। 'नानान निधि', 'भक्तेर जय', 'पूजार गल्प' आदि ग्रन्थोंमें साधना और अनुभूतिके विचित्र विन्यास साधकोंको विस्मित कर देते हैं। साहित्यके द्वारा भागवत-रस वितरण करना उनके जीवनकी विशेषता है। वे आदर्श भक्त महापुरुष अपने नित्यके व्यवहारकी सामग्रीको भी प्रार्थियोंको दान कर देते थे। उन्होंने जीवनमें जो अर्थसञ्चय किया था, उसका अधिकांश यक्ष्मारोगियोंकी चिकित्साके लिये कार्सिया अस्पतालको दान कर दिया।

संगीताचार्य विष्णुदिगम्बरजी उनके अन्तरंग मित्र थे। कासिमबाजारके राजा स्वर्गीय मणीन्द्रचन्द्र नन्दी उनके प्रधान अनुरागी भक्तोंमेंसे थे। वे कभी काशी, कभी पुरी और कभी वृन्दावनमें वास करते थे। महात्मा तुलसीदासजीकी नाम-महिमा-दोहावलीको 'तुलसी-मञ्जरी' नामसे बँगला भाषामें व्याख्याके साथ उन्होंने प्रकाशित किया था। वे सं० २००१में माघी अमावस्याके दिन इस लौकिक शरीरका त्याग करके अपने प्रियतम श्रीराधा-श्यामसुन्दरके पादपद्मोंमें विलीन हो गये। उन्होंने कहा था—भक्तकी जय हो, वह महान् है, वह नित्य प्रकाशरूप है, भक्त स्वयंप्रकाश भगवान्को भी प्रकाशित करता है, इसलिये भक्त भगवान्से भी बड़ा है।

भक्त श्रीरसिकमोहन विद्याभूषण

(लेखक—आचार्य श्रीप्राणकिशोर गोस्वामी एम्० ए०, विद्याभूषण, साहित्यरत्न)

बंगालके वीरभूमि जिलेके एकचक्रा ग्राममें इनका जन्म हुआ था। इन्होंने किसी स्कूल या कालेजमें शिक्षा नहीं पायी थी। घरपर एक मराठी पण्डित रहते थे। उनसे ही इन्होंने पाणिनीय व्याकरण और अन्य शास्त्र पढ़े थे। लिविंस्टॉन नामक एक विदेशी पण्डितसे घरपर ही इन्होंने अंग्रेजी सीख ली थी। इस तरह पूर्व-पश्चिमके अच्छे पण्डितोंका साथ करके इन्होंने चुने हुए ग्रन्थोंका एक पुस्तकालय कर लिया था जो एक विद्यालय ही हो गया था।

सतरह वर्षकी अवस्थामें पितृ-वियोग हो जानेके कारण इनके जीवनमें एक विशेष परिवर्तन हो गया। ये पूर्वबंगालके ढाका शहरमें जाकर दुःखी-गरीबोंकी सेवामें लग गये। परंतु पूर्ण सेवाके लिये चिकित्साशास्त्रके जाननेकी आवश्यकता थी। वे कलकत्ते वापस आये और किसी प्रकार मेडिकल कालेजमें चिकित्साशास्त्रका अध्ययन किया। साथ-ही-साथ संस्कृत कालेज पुस्तकालयसे संस्कृतकी पुस्तकें लेकर संस्कृत-भाषाका भी अभ्यास कर लिया।

इसी समय महात्मा शिशिरकुमार घोषने इनको श्रीगौराङ्गकी ओर लगाया। इस विषयपर ये 'विष्णुप्रिया', 'आनन्दबाजार' आदि पत्रिकाओंमें प्रबन्ध लिखते। आपने श्रीमत् रूपसनातन-शिक्षामृत, श्रीराय रामानन्द, श्रीकृष्णमाधुरी, गंभीरामें श्रीगौराङ्ग, श्रीगोपीगीता, श्रीनाममाधुरी, चण्डीदास-विद्यापति, जगन्नाथवल्लभ, अद्वैतवाद, आनन्दमीमांसा, आत्मनिवेदन, श्रीगीतगोविंद आदि बहुत-से वैष्णव-ग्रन्थोंकी रचना और अनुवाद भी किया था। बहुत-सी

पत्र-पत्रिकाओंका सम्पादन भी ये करते रहे। 'प्रयाग अखिल भारत वैष्णवसम्मेलन'के ये सभापति हुए थे।

विश्वकवि रवीन्द्रनाथसे इनकी खास घनिष्ठता थी। एक बार श्रीक्षितिमोहनके साथ ये कविगुरुसे मिलने गये थे। बातें करते बहुत देर हो गयी, विदा होते समय इन्होंने कहा—''इतना समय बीत गया है,यह तो पता ही नहीं था। सचमुच हम न तो 'काल'को ही जानते हैं और न 'काली' को ही। हम तो वैष्णव हैं, कहीं कोई जान या अनजानमें भाव (प्रेम)-के घरमें अपराध करेंगे तो प्रेमके ठाकुर हमें कभी क्षमा नहीं करनेके। बस, यह अपराध कभी न हो।' कविगुरुने उत्तरमें कहा—'विद्याभूषणजी! स्वार्थी मनुष्योंकी भाँति केवल अपने ही लिये यह प्रार्थना न करें, अपितु हमारे लिये और सारे जगत्के लिये भी यही प्रार्थना करें। भावके घरमें कोई अपराध न करे। जगत्के सारे अपराध क्षन्तव्य हैं, पर इस अपराधसे कहीं छुटकारा नहीं।'

एक सौ वर्षोंसे अधिक जीवित रहकर इन्होंने आदर्श जीवन बितानेका पथ दिखलाया है।

ये उज्ज्वल-मधुर भक्तिमार्गके उच्चश्रेणीके सिद्ध पुरुष थे, पर कर्मोंकी अवहेलना नहीं करते थे। गृहस्थ थे, परंतु अपना जीवन संन्यासीकी तरह बिताया करते थे। इनके पुत्र और स्त्रीकी मृत्यु छोटी अवस्थामें ही हो गयी थी। इन्होंने अपनी भक्ति-प्रेमप्लावित दार्शनिक प्रतिभासे और अपने दीर्घजीवनके आदर्श कार्यकलापसे वैष्णव-जगत्की जो अपूर्व सेवा की है, उसकी कहीं तुलना नहीं मिल सकती।

भक्त दाशरथि स्मृतिभूषण

(लेखक—संत श्रीसीतारामदास ओंकारनाथ महाराज)

हुगली जिलेके दिगसुई ग्राममें इनका जन्म हुआ था। इनके पितामह श्रीनारायणचन्द्र भट्टाचार्य बड़े भगवद्भक्त थे। भगवन्नामका जप करते हुए उन्होंने गङ्गाजीके पवित्र जलमें बैठकर अपने पार्थिव शरीरका परित्याग किया था।

श्रीदाशरथिके बाल्यकालमें ही इनके पिताका देहावसान हो गया था। उस समय इनकी दो बहिनें अविवाहिता थीं। माताने किसी प्रकार कष्ट सहन करके इनको पढ़ाया-लिखाया एवं इनकी बहिनोंका विवाह-कार्य सम्पन्न किया। बाल्यावस्थासे ही ये प्रतिभासम्पन्न थे। सहपाठीगण इनसे सदा प्रभावित रहते। गौर शरीर, प्रशस्त ललाट एवं हँसता-सा मुख सबको मोहित कर लेता। माताके इकलौते पुत्र होनेके कारण वे इन्हें अधिक दुलारसे रखतीं। इस दुलारने इनको स्वाभाविक ही उद्दण्ड बना दिया।

चौदह वर्षकी अवस्थातक इन्होंने व्याकरणकी शिक्षा प्राप्त की। इसके अनन्तर श्रीयादवचन्द्र स्मृतिरत्नसे इन्होंने स्मृतिशास्त्रका अध्ययन किया। अध्ययनकालमें सरकारकी ओरसे इनको छात्रवृत्ति भी मिलती थी। दुर्भाग्यवश अध्ययन कर ही रहे थे कि बीचमें ही माता वातव्याधिग्रस्त हो गयीं, जिसके कारण इनको बाध्य होकर घर जाना पड़ा। माताका यह रोग बढ़ता ही गया। सेवा-शुश्रूषामें रहनेके कारण ये फिर पढ़ने न जा सके।

अब अपने गाँवमें ही इन्होंने एक पाठशाला स्थापित कर ली। जो भी इनसे मिलता, वह इनका भक्त हो जाता। इनकी सब बातें अद्भुत थीं। किसीके घरमें कोई भी बीमार होता तो ये स्वयं उसकी सेवामें लग जाते, चिकित्सा आदिकी व्यवस्था करते, आवश्यकता होनेपर मित्रमण्डलीसहित रातभर जागरण करते और रोगीकी सुविधाका ध्यान रखते।

तेतरिया गाँवके दामोदर गोस्वामी बड़े भक्त थे। उनसे ही इन्होंने दीक्षा ली थी। दीक्षाके बाद ही ये अपनी साधनामें प्रवृत्त हुए। गाँवसे दूर खेतोंके बीचमें शीतलामाताका मन्दिर था। वहाँ जाकर ये ध्यान लगाया करते। एक दिनकी बात है, वे ध्याननिमग्न थे कि बड़ा भारी साँप आकर उनके शरीरपर चढ़ने लगा। उसके शीतल स्पर्शसे

इनका ध्यान भंग हुआ। इन्होंने देखा कि साँप है; परंतु ये निश्चिन्त बैठे रहे। साँप स्वयं बिना कष्ट दिये उतरकर धीरे-धीरे चला गया।

ये यजमानीसे अपनी जीविका चलाते। कुछ दिन तो इनका जीवन कष्टमय ही बीता। दरिद्रता चरम सीमापर थी। केवल यजमानोंकी दयापर ही ये निर्भर थे। खेती-बारी कुछ थी ही नहीं, किसी प्रकार बाजारसे चावल ले आते और पेट भरते। परंतु कभी-कभी तो अन्नाभावके कारण अनशनकी भी नौबत आ जाती। मनमें आया कहीं कोई नौकरी मिले तो कर लें; पर भगवान्‌की इच्छा, कहीं नहीं मिली। साधन बढ़नेपर तो इसकी इच्छा भी मर गयी।

कुछ मित्रोंके साथ एक बार वे नीलाचलधाममें भगवद्दर्शनार्थ पधारे। वहाँ पहुँचकर भावावेशमें वे इतने निमग्न हो गये कि बाह्यज्ञान लुप्त हो गया। साथियोंने उनके शरीरको हिलाया-डुलाया, परंतु कोई बाह्य चेष्टा उनकी न हुई। शरीरको न सँभाल सकनेके कारण ये सहसा समुद्रतटपर गिर पड़े।

भगवान्‌में इनका हृदय इतना आसक्त हो गया था कि नीलाचलधामसे लौटनेपर ये सदा भगवान्‌के चिन्तनमें ही निमग्न रहते और इनके नेत्रोंसे अश्रुधारा अजस्र बहा करती। अपने एक मित्रके अनुरोधसे बाध्य होकर इन्होंने एक समिति बनायी, जिसका उद्देश्य जगत्-कल्याण और आत्मोन्नति था। प्रति रविवारको नगरकीर्तनका दल निकलता था। संकीर्तनमें मस्त होकर ये दोनों हाथ उठाकर नाचते थे। भावावेशमें अश्रुधारासे इनका मुख भीग जाता, शरीर रोमाञ्चित हो उठता। कीर्तन-समाप्तिके बाद भी वे सारी रात भाव-समाधिमें ही रहते।

श्रीभागवतमहापुराणकी कथामें इनकी रुचि थी ही और इसीकी कथा वे यजमानोंके घरोंमें जाकर बराबर सुनाया करते थे। श्रीकृष्णलीलासम्बन्धी अनेक ग्रन्थोंका इन्होंने संग्रह किया। श्रीकृष्णलीलाके वर्णनमें ये तल्लीन हो जाते और उसको ये इतनी मधुर वाणीसे सुनाते कि लोग गद्‌गद हो जाते।

एक बार उन्हें निमोनिया हो गया। दो-तीन दिनतक वे बाह्यज्ञानशून्य रहे। इस बीच एक दिन वे उपस्थित लोगोंसे कहने लगे कि 'मैं अभी एक नये प्रदेशमें गया था। वहाँ मैंने बहुत-से महापुरुषोंको देखा। उनके लंबे-चौड़े दूधके समान श्वेत शरीर थे। जब मैं उनके समीप पहुँचा, तब मेरा रूप भी वैसा ही हो गया। महापुरुषोंकी वह मण्डली जीवोंके उद्धारके लिये ही आयोजित हुई थी। सब मत-मतान्तरोंके अनुसार सर्वसाधारणके लिये एक कल्याणकारक मार्ग निश्चत करना था। सारे महापुरुषोंने अपना-अपना मत मण्डलीके सम्मुख रखा। अन्तमें मुझे भी अपना मत प्रदान करनेकी आज्ञा मिली। मैंने शास्त्रप्रमाणसहित बतलाया कि *'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'*—इस मन्त्रका कीर्तन ही सरल साधन है। इसपर सब बहुत ही प्रसन्न हुए और भगवन्नामकीर्तनसे वह स्थान उसी समय गूँज उठा।'

उनकी इच्छा सब देशोंमें भगवन्नाम-कीर्तनके प्रचारकी थी और साधनसमितिमें इस महामन्त्रका ही संकीर्तन होता था। चारों ओर जोरोंसे नाम-प्रचार होने लगा। बालक, युवा, वृद्ध सभी भगवान्‌के नामकीर्तनमें मतवाले होने लगे। इस प्रकार संकीर्तनकी चारों ओर मानो एक बाढ़-सी आ गयी।

एक बार वे अपने किसी यजमानकी कन्याके विवाहमें धनबाद गये थे। वहाँसे तारीघाट गये। वहाँ अचानक वे निमोनियासे ग्रस्त हो गये। अवस्था बिगड़ने लगी। काशी जानेकी उनकी इच्छा थी; परंतु प्रभु यहीं उनको काशीवास देनेवाले थे। आधी रातको वे होशमें आये, सिरहाने गङ्गाजल था और भगवान्‌का नाम निरन्तर चल रहा था। इसी अवस्थामें उन्होंने नित्यधामकी यात्रा की!

उनकी साधन-समितिद्वारा आज भी भजन, नामकीर्तन जारी है।

भक्त श्रीसरोजकुमार

(लेखक—श्रीफणीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय)

श्रीसरोजकुमारका जन्म बंगालमें हुगली जिलेके 'विघाटी' नामक ग्राममें हुआ था। ये चौबीस परगनेके आगडपाड़ा नामक स्थानके रहनेवाले थे। इनकी माताका देहान्त इनकी बाल्यावस्थामें ही हो गया एवं विमाताने ही इनका लालन-पालन किया। अध्ययनकालमें पितासे भी वियोग हो गया, अतः अर्थाभावमें ही किसी प्रकार इन्होंने कलकत्ता मेडिकल कालेजसे एल्० एम्० एस्० डिगरी प्राप्त की। कुछ दिन पूना कृषि-कालेजके अध्यापक-पदपर रहकर आगडपाड़ा लौट आये और चिकित्साद्वारा ही अपना जीवन-निर्वाह करने लगे।

यहाँ इनका परिचय पानीहाटी ग्रामके भक्तप्रवर, शिक्षाव्रती नरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्यायसे हो गया। उनके प्रभावसे इन्होंने वैष्णवसाधना-पथ ग्रहण कर लिया। पानीहाटी ग्राममें उन दिनों भगवन्नामका खूब प्रचार था। अन्यतम ख्यातनामा नामप्रचारक श्रीराधारमण चरणदास बाबाजी भी कभी-कभी वहाँ आकर निवास किया करते एवं हजारों लोग उनकी नाम-कीर्तन-सरितामें स्नान करके कल्याण लाभ करते। नरेन्द्रनाथ अच्छे लेखक थे। इन्होंने चैतन्यचरितपर कई नाटक लिखे थे। सरोजकुमार अपने मित्रोंको उत्साहित करके उनके साथ इन नाटकोंका अभिनय करते। इन अभिनयोंमें हजारों लोग आते और इस प्रकारसे ये महाप्रभुकी लीला और नामका प्रचार किया करते।

सरोजकुमार एक ख्यातिप्राप्त चिकित्सक और उस ओरके प्रभावशाली व्यक्ति थे। नाम-कीर्तन-प्रचार आदिका अच्छी प्रकार सञ्चालन करनेके लिये उन्होंने एक संस्थाकी नींव डाली। इसका नाम 'हरिसभा' रखा गया। आगडपाड़ामें इस संस्थाका एक मकान बनाया गया। इस 'हरिसभागृह'में ये रोज नियमित रूपसे रात्रिमें सामूहिक नाम-कीर्तन किया करते एवं बादमें उपस्थित भक्तोंको सरोजकुमार उपदेश देते थे।

जीवनके लिये सर्वोपयोगी वस्तु एवं भवरोगकी एकमात्र अमृतौषधि ये भगवन्नामको ही बताया करते। महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवके प्रेमकी अति उच्च एवं विलक्षण चमत्कारोंसे पूर्ण स्थितिका वे वर्णन करते, उस समय ऐसा लगता मानो साक्षात् चैतन्यदेव ही स्वयं लीलाका अनुष्ठान कर रहे हैं। ये भावावेशमें गद्गद हो उठते और सभीको भगवन्नामकीर्तनका ही आश्रय लेनेके लिये उत्साहित करते थे। इन दिनों इनके द्वारा भक्तोंमें नाम-कीर्तनका प्रचार अत्यन्त बढ़ा।

ये अपने जीवनकी बात किसीसे नहीं कहते। वहाँ किसीकी पहुँच नहीं थी। हाँ, उनका जीवन एक नवीन पथका अनुसरण कर रहा है, यह सब लोग अनुभव करते थे।

सत्य है, ऐसे ही महापुरुषोंके आविर्भावसे अशान्तिमय जगत्में शान्तिका प्रवाह बढ़ सकता है, जीवोंमें पशु-प्रवृत्तिकी कमी होकर मानवताके भावोंका आविर्भाव हो सकता है।

ब्रह्मर्षि श्रीसत्यदेवजी महाराज

(लेखक—पं० श्रीबनवारीलालजी शर्मा)

ब्रह्मर्षि सत्यदेवजी महाराज शान्तिप्रिय और एकान्तनिष्ठ महात्मा थे। वे भगवान्‌को माँ कहा करते थे, माँके रूपमें ही उनकी उपासना करते थे। उनका जन्म पूर्ववङ्गके बरिसाल जिलेके नवग्राममें हुआ था। वे प्रसिद्ध साधक भैरवचन्द्रके दौहित्र कैलाशचन्द्रके पुत्र थे। उनकी माता शारदासुन्दरीने प्रसिद्ध तारापीठ-देवता श्रीसुनन्दा देवीकी उपासनाके फलस्वरूप उनको पाया था। बचपनसे ही उनके संस्कार शुभ थे। वे अपने पिताकी देखा-देखी नित्य भगवद्विग्रहके सामने बैठकर ध्यान और चिन्तन किया करते थे। उनका नाम शरच्चन्द्र था। उनकी बाल्यावस्थासे ही शास्त्रोंमें बड़ी अच्छी पहुँच थी। वे माताकी आज्ञासे जीविका-निर्वाहके लिये कलकत्ते चले आये। लोग उनकी सात्त्विकतासे आकृष्ट होकर शिष्य बननेकी प्रार्थना करने लगे, पर उन्होंने कहा कि 'मैं तो स्वयं अन्धा हूँ, एक अन्धा माँ (ईश्वर)-का प्रकाश किस तरह दिखा सकता है।' धीरे-धीरे उनकी वृत्ति भगवान्‌की

ओर बढ़ने लगी। स्वावलम्बनका भाव विकसित होने लगा। उनका मन विवाहित जीवनमें नहीं लग सका, वे रातको गङ्गा-तटपर विचरणकर माँको पुकारते रहते थे। उनकी माताको आशङ्का हुई कि कहीं वे घर छोड़कर चले न जायँ; पर उन्होंने घर न छोड़नेका पूरा-पूरा विश्वास दिलाया। वे घरपर रहकर ईश्वर-भजन करने लगे।

एक बार वे विरह-कातर होकर प्रियतम प्रभुकी खोजमें कलकत्तेकी चौड़ी सड़कपर चले जा रहे थे, वे अपने मित्र पाल महोदयके घर जा रहे थे। आधी रात्रिका समय था, उन्होंने थोड़ी दूरपर काली-भयावनी रातमें एक मन्द प्रकाश देखा। पहले तो उन्हें कुहासेका भ्रम हुआ, पर आधी रातको कुहासेकी सम्भावना तो थी नहीं। उन्होंने मन-ही-मन उस पवित्र ज्योतिको प्रणाम किया। उनको विश्वास हो गया कि माँ—(ईश्वर)-ने दर्शन दिया है। उनका जीवन बदल गया। संसारके प्रति वास्तविक वैराग्यका उदय हुआ। उन्होंने त्यागपूर्ण जीवनका वरण किया, परिवारवालोंकी सम्मतिसे वैराग्य धारण कर लिया।

ब्रह्मर्षि सत्यदेवजी महाराजने 'साधन-समर'—दुर्गासप्तशतीका विलक्षण भाष्य लिखा। वे प्राय: कहा करते थे कि 'भगवान् सर्वत्र व्याप्त हैं। उनका दर्शन कण-कणमें करना चाहिये; उनको खोजनेकी आवश्यकता नहीं है, वे तो—जड़ और जङ्गममें विद्यमान ही हैं। भक्ति-प्राप्तिके मूलाधार श्रद्धा और विश्वास हैं।' वे बड़े सत्यानुरागी महात्मा थे।

उन्होंने समाधि लेते समय कहा था—मैं नित्य सनातन ब्रह्म हूँ, जन्म-मृत्यु मिथ्या हैं, केवल ब्रह्म ही सत्य है। बँगला सन् १३३९ में उन्होंने समाधि ले ली।

भक्त महेश

(लेखक—श्रीगोपालचन्द्र चक्रवर्ती, वेदान्तशास्त्री)

भक्त महेशका जन्म बंगालमें हुआ था। विद्यार्थी-जीवन-कालमें ही पूर्वजन्मके शुभ संस्कारोंके फलस्वरूप उनके मनमें शुद्ध भक्तिभावका उदय हुआ। उनके गाँवमें एक जटाधर नामक साधु रहते थे, उनके सत्सङ्गसे उनकी भक्ति-निष्ठा उत्तरोत्तर दृढ़ होती गयी। भक्त महेश एकान्तमें बैठकर निष्कपटभावसे भगवान्‌से दर्शनकी याचना किया करते थे। घरमें भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्ति स्थापित थी, वे भगवान्‌के विग्रहके ध्यानमें रात-दिन मस्त रहते थे। भगवान्‌के ही शृङ्गार आदिमें वे अपने समयका सदुपयोग करते थे। माता-पिताको यह आशङ्का थी कि महेश घर छोड़कर चले न जायँ; इसलिये वे उन्हें सतरह वर्षकी कोमल अवस्थामें विवाह-बन्धनमें जकड़नेके लिये तैयार हो गये। महेश विवाहके पूर्व ही एक रातको भगवन्नामका जप करते हुए वृन्दावनके लिये चल पड़े। रतनपुरा ग्रामके हरिकीर्तन-उत्सवमें सम्मिलित होकर वे व्रजके प्रेमदेवता श्रीकृष्णका ध्यान कर रहे थे कि एक साधुने उनके कानमें 'हरि ॐ' मन्त्रका उच्चारण किया। वे वहाँसे आगे बढ़े।

उन्होंने कुछ दिनोंतक काशीमें निवासकर एक साधुके कहनेपर विन्ध्याचलकी यात्रा की, वे संतों और साधुओंके मिलनके लिये बड़े उत्सुक थे। कुछ दिनोंतक अष्टभुजी पहाड़ और उनके आस-पासके भागोंमें भ्रमण करते रहे। उन्होंने भगवान्‌के चिन्तन, ध्यान, पूजन तथा स्मरणमें खाने-पीनेकी चिन्ताको भुला दिया। तदनन्तर वे हरिनामकी ध्वनि करते हुए वृन्दावनकी ओर चल पड़े। नयन और हृदय भगवान् श्यामसुन्दरके दर्शन तथा मिलनके लिये लालायित थे। महेश भक्तिकी राजधानी वृन्दावनमें पहुँच गये। वे गोविन्दजीके मन्दिरमें गये। उस समय भगवान्‌की आरती हो रही थी। उन्होंने गोविन्ददेवकी कमनीय कान्ति और रमणीय छविका देवदुर्लभ रसास्वादन किया। उसके बाद वृन्दावनके प्रसिद्ध-प्रसिद्ध मन्दिरोंकी परिक्रमा करके भगवान्‌के दर्शनरसामृतसे अपने-आपको तृप्त किया। उनका मन तो गोविन्ददेवजीके रूपपर आसक्त हो चुका था। वे गोविन्दजीके मन्दिरमें लौटकर भगवान्‌को निहारने लगे। मन्दिरके गोस्वामीजीकी दृष्टि उनपर पड़ी, वे उनके रूप-लावण्यसे आश्चर्यचकित होकर पास आये। महेशने अपने मनकी बात बता दी, उन्होंने कहा कि—महाराज! मैं तो पूर्णरूपसे गोविन्दजीका ही हो चुका हूँ। गोस्वामीजीने उनको मन्दिरमें स्थायी निवास प्रदान किया। वे आजीवन गोविन्दजीकी ही सेवा करते रहे।

भक्त स्वामी श्रीरामतीर्थ

प्रसिद्ध महापुरुष स्वामी रामतीर्थका जन्म पंजाब-प्रान्तके मुरलीवाला गाँवमें एक उत्तम गोस्वामी ब्राह्मणकुलमें सन् १८७३ की दिवालीके दिन हुआ था। जन्मके कुछ ही दिनों बाद आपकी माताका स्वर्गवास हो गया और आपके पालन-पोषणका सारा भार आपकी बुआपर पड़ा। बुआ परम साध्वी थी और बालक रामको लेकर वह कथा-कीर्तन तथा मन्दिरोंमें जाया करती थी, इनका नाम तीर्थराम था।

गाँवकी पढ़ाई समाप्तकर तीर्थराम गुजराँवाला आये और वहाँ भगत धन्नारामकी देख-रेखमें आपकी शिक्षा शुरू हुई। आर्थिक स्थिति शोचनीय थी ही और विद्यार्थी-अवस्थामें आपको अनेकों महान् सङ्कटोंका सामना करना पड़ा। प्रायः ऐसा होता कि भूख लगी है, पर पासमें पैसे नहीं हैं कि भोजन मिले। फिर भी बड़े मस्त रहते। पढ़ने-लिखनेमें आपकी विचक्षण बुद्धि और अप्रतिम मेधा देखकर सभी चकित हो जाते। बी० ए० में प्रथम आनेपर आपको साठ रुपये मासिक छात्रवृत्ति मिलने लगी। गणितमें एम्० ए० करके आप उसी कालेजमें गणितके प्रोफेसर हो गये।

श्रीकृष्ण-प्रेमका नशा छाने लगा, रावी-किनारे प्रातः-सायं घंटों प्रेममें छके रहते। होशमें आते, तब 'हा कृष्ण! हा कृष्ण' कहकर रोने-तड़पने लगते। छुट्टियोंमें मथुरा-वृन्दावन पहुँचते और श्रीकृष्ण-भक्तिका अमृत पीते। उपनिषद् और वेदान्तके अन्यान्य ग्रन्थोंके अनुशीलनके साथ-साथ उत्तराखण्डमें जाकर एकान्तसेवनका चसका लगा। दृढ़ वैराग्य और अपार प्रेम! गङ्गा और यमुनाका अद्भुत मिलन! उस अलमस्तीका क्या कहना! 'मैं सूर्य हूँ, मैं सूर्य हूँ, संसाररूपी बुढ़ियाके नखरे-टखरे और हावभाव मुझे मुग्ध नहीं कर सकते।'

सन् १९०० ईस्वीमें नौकरी आदि छोड़कर आप वनको पधारे। तीर्थराम अब स्वामी रामतीर्थ हो गये। राम 'राम बादशाह' बन गया। अब आप सर्वथा उन्मुक्त होकर ॐ! ॐ! गुनगुनाते फिरते और अपने-आपको प्रभुमें खोये रहते। लोगोंके विशेष आग्रहपर विश्वधर्म-परिषद्में सम्मिलित होनेके लिये आप जापान गये और वहाँसे अमेरिका। जो भी आपकी मस्ती देखता, वही मुग्ध हो जाता। अमेरिकाके पत्रोंने आपका परिचय Living Crist 'जीवित ईसामसीह' के रूपमें दिया। वहाँ कई लोगोंने आपसे संन्यासकी दीक्षा ली।

ढाई वर्ष विदेशोंमें बिताकर आप पुनः उत्तराखण्ड लौट आये। सन् १९०६ की दिवालीका प्रातःकाल था। आज आपकी मस्तीका कुछ और ही अंदाज था। ॐ-ॐ की धुन लग रही थी। गङ्गामें डुबकी लगाने उतरे। गङ्गाकी प्रखर धारामें शरीर बह चला। शरीर गङ्गामें बहा जा रहा है और राम ॐ-ॐ की धुनमें चूर है! दिवालीके ही दिन वह आया था और दिवालीके ही दिन वह लौट गया अपने प्रभुमें!

संत श्रीनागा निरङ्कारीजी

(लेखक—स्वामीजी श्रीपलकनिधिजी महाराज)

संत श्रीनागा निरङ्कारीजी महाराजका जीवन-चरित अलौकिक और चमत्कारपूर्ण सिद्धियों और घटनाओंका प्रतीक ही नहीं, तपस्या, योगसाधना, वैराग्य और संयमका सजीव साहित्य भी है। अभी कुछ ही वर्षों पहले उन्होंने कार्तिक शुक्ला चतुर्दशीको महासमाधि ली थी। यह कहना आसान नहीं है कि उनका जन्म विक्रमकी किस शताब्दीमें हुआ था। उनकी आयुका अनुमान लगाना बहुत कठिन है। उनकी वाणी और पदरचनाकी ऐतिहासिक समीक्षासे पता चलता है कि उन्होंने उस समय जन्म लिया था, जब भारतमें यावनीय प्रभुता अपने तीसरे पहरपर थी, गोरी-सत्ताका प्रवेश नहीं हुआ था। वे पंजाब प्रान्तके अठीलपुरके राजाके घरमें पैदा हुए थे। बचपनसे ही साधु-संतोंमें उनकी प्रगाढ़ रुचि थी। वे बड़े अल्हड़ और मस्त रहा करते थे। भगवान्के आश्रयमें उनका उसी समयसे दृढ़ विश्वास था। वे कीमती-से-कीमती शाल, सोनेकी अँगूठी आदि सड़कोंपर खेलते समय साधुओंको दे दिया करते थे।

उनके पिता यवनोंसे लड़ते हुए एक युद्धमें मारे गये। नागाने राजमहल त्यागकर प्रकृतिकी रमणीय गोदमें, सरिताओंके तटपर, वनों और पहाड़ोंकी गुफाओंमें अलख जगाना आरम्भ किया। वे बड़ी श्रद्धा और भक्तिसे 'अलख निरञ्जन' कहा करते थे। धीरे-धीरे उनका मन नानकजीके तथा उनके उत्तराधिकारियों—रामदास, अमरदास, अंगद आदिके भक्ति-सिद्धान्तकी ओर आकृष्ट हुआ। उन्होंने अपनी ब्रह्मवाणीमें नानक आदिका बड़ी भक्तिसे स्मरण किया है और निःसन्देह उनके मतमें उनकी बड़ी आस्था और अचल निष्ठा भी थी।

नागाजी महाराज हठयोगी, राजयोगी और लययोगी—सब कुछ थे। वे परमहंस थे, अवधूत थे। पंजाब-भ्रमणके बाद उन्होंने उत्तर प्रदेशमें भगवती भागीरथी, कालिन्दी, सरयू तथा गोमती आदिके तटोंपर अलख जगाना आरम्भ किया, विशेषतया (कर्णपुर) कानपुरके आस-पासके जनपदोंमें उनके जीवनका अधिकांश बीता। कानपुर जनपदका पाली राज्य उनकी तपोभूमि है।

कभी-कभी मस्त होकर वे पद लिखाया करते थे; उनके पदोंसे पता चलता है कि वे लोक-लोकान्तर और जन्म-जन्मान्तरकी अनुभूतियोंके प्रतीक थे। शिवतत्त्वमें नागा-निरङ्कारीकी पूर्ण पहुँच थी; ऐसा लगता है कि वे बाह्यज्ञानशून्य होकर कैलाशलोकमें भ्रमण किया करते थे! सिद्धियाँ उनके चरणोंपर नत रहती थीं। वे तिब्बत, नैपाल और चीन पैदल गये थे, चीनमें केवल एक दिन ठहरे थे। एक अंग्रेजके उद्यानमें विश्राम कर रहे थे कि वह आया, श्रद्धापूर्वक उसने चाय-पान कराया।

एक बार आप हरद्वारमें गङ्गाजीमें कूदकर अदृश्य हो गये थे, लोगोंने समझा जल-समाधि ले ली; पर कुछ दिनोंके बाद अपनी तपोभूमि पालीमें दीख पड़े। वे पूरे अवधूत थे, छोटे-छोटे लड़कोंके साथ खेलते थे। लड़के उन्हें शीत, बरसात अथवा धूपमें जहाँ भी बैठा देते, वे तबतक बैठे रहते, जबतक कोई बालक उन्हें दूसरी जगह न ले जाता। असोथरके राजाने पागल समझकर उन्हें एक बार कमरेमें बंद करवा दिया था। उन्होंने 'अलख' शब्दका उच्चारण किया, राजाने उन्हें मुक्त कर दिया।

उन्होंने अपने पदोंमें भगवान् श्रीकृष्णके प्रति पूर्ण निष्ठा दिखायी है। उनकी ब्रह्मवाणी संत-साहित्यकी अद्भुत देन है। वे सत्य-खोजी थे। सं० १९९३ वि० में पालीमें उन्होंने समाधि ले ली। वहाँ कार्तिकमें बहुत बड़ा मेला लगता है।

रसिक भक्त सरसमाधुरीजी

(लेखक—श्रीरामलखनदासजी, श्रीबैजनाथदासजी)

अभी केवल कुछ ही दिनोंकी बात है। परम रसिक भक्त महात्मा सरसमाधुरीने भगवान्‌के रूप-लावण्य और सौन्दर्य-माधुर्यका चिन्तनकर राजस्थानमें श्रीराधा-कृष्णकी भक्तिका बड़ा प्रचार किया। केवल जयपुर ही नहीं, समस्त उत्तरी भारतकी भक्ति-चिन्तन-धारा उनके सरस पदों और लीला-चिन्तनसे प्रभावित हुई।

ग्वालियर राज्यके मन्दसौर ग्राममें सं० १९१२ वि० में सरसमाधुरीजीने जन्म लिया था। उनके पिताका नाम घासीराम और माताका पार्वती था। वे गौड़ ब्राह्मण थे। उनका परिवार अत्यन्त भगवद्भक्तिसम्पन्न था। पाँच वर्षकी अवस्थामें वे अपनी माताके साथ ननिहाल—अलवर आये। वहाँ बड़े-बड़े महात्माओं और साधु-संतोंके दर्शनने उनके हृदयमें श्रद्धा और भक्तिके बीज पूर्णरूपसे अंकुरित ही नहीं, प्रस्फुटित भी कर दिये।

उनके सत्सङ्गसे उनको बड़ा लाभ हुआ और मनमें शुद्ध भगवत्प्रेमका उदय हुआ। माताकी आज्ञासे उन्होंने विवाह कर लिया और जीवनपर्यन्त गृहस्थ बने रहे। उनके दीक्षा-गुरु श्रीबलदेवदासजी थे। सरसमाधुरीजी श्रीसम्प्रदायकी वैष्णवी निष्ठामें आस्था रखते थे। माधुर्यमिश्रित शृंगाररसकी उपासनाको भक्तिका सार तत्त्व समझते थे। उनके जीवनका अधिकांश समय जयपुरमें बीता।

सरसमाधुरीजीकी उपास्य और सेव्य, अवतार-अवतारीसे परे स्वकीया-परकीया-भावरहित नित्य-पूर्ण किशोर-अवस्थावाले द्विभुज राधा-कृष्णके नित्य-विहारमें ही प्रगाढ़ श्रद्धा थी। उनकी उपासनाके राधाकृष्ण निर्गुण-सगुणरूपसे परे सर्वथा दिव्य और अलौकिक हैं। उन्होंने राधा-कृष्ण-लीला-विषयक अनेक पदोंकी रचना की है। सं० १९८३ वि० में मार्गशीर्ष शुक्ल पक्षकी चतुर्दशीको उन्होंने स्वर्गकी यात्रा की। सरसमाधुरीजी वास्तवमें भगवद्भक्तिके माधुर्य गायक थे। उनका स्मरण परम पवित्र और मधुर है।
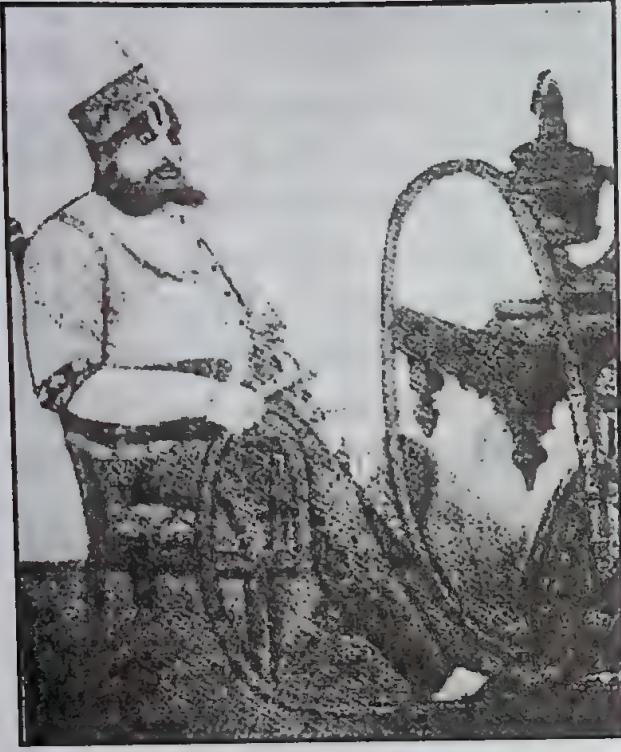
भक्त राजा रघुराजसिंहजी [पृ० ८६२]

भक्त राजा श्रीचतुरसिंहजी [पृ० ८६४]

श्रीश्रीअनन्तमहाप्रभुजी [पृ० ८६९]

भक्त पं० श्रीदेवीसहायजी [पृ० ८७३]
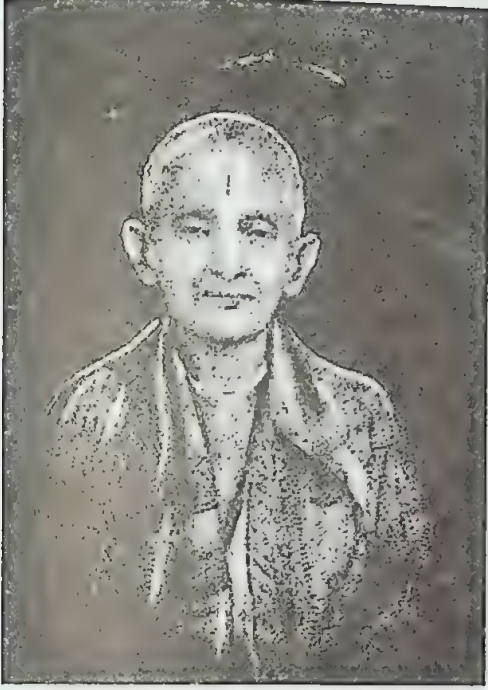
भक्तिमती यशोदामाई [पृ० ८८४]

श्रीदेवनायकाचार्यजी महाराज [पृ० ८९१]

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र [पृ० ८८६]

भक्त नन्दलाल

(लेखक—श्रीरामचन्द्रजी विजयवर्गी)

भक्त नन्दलालने कोटाके साँगोद ग्राममें जन्म लिया था। उनका परिवार अत्यन्त धर्मभीरु था, उनके पिता बहुत अच्छे भगवद्भक्त थे; अतएव उनकी निष्ठाका प्रभाव संस्कारी नन्दलालपर भी पड़ा था। थोड़े ही दिनोंके बाद उनके पिताकी मृत्यु हो गयी। भक्त नन्दलालने गृहस्थीका कार्य योग्यतापूर्वक निबाहा। गृहस्थीमें दत्तचित्त रहकर भी उनके नियम-संयम और भक्तिभाव तथा भजन-कार्यमें किसी भी प्रकारकी बाधा नहीं पड़ी। वे नित्य प्रातःकाल पवित्र नदीमें स्नानकर प्रत्येक मन्दिरमें भगवद्-विग्रहका दर्शन करते थे, कभी-कभी बाढ़के समय वे नदीके दूसरे तटपर स्थित रंगनाथ-मन्दिरमें स्वयं तैरकर पहुँच जाते थे।

भगवान् अपने भक्तकी कड़ी-से-कड़ी अग्नि-परीक्षा लेते हैं, विपत्तिकी कसौटीपर कसकर भक्तिका प्रमाणपत्र प्रदान करते हैं। उनके जीवन-खेतमें त्याग और दयाकी फसल हरी-भरी हो उठी। उन्होंने धनके लेन-देन व्यवसायको छोड़ दिया, ऋणियोंको ऋणमुक्त कर दिया; जो ऋण चुका सकते थे, उनके पैसोंका उन्होंने देव-कार्य, मन्दिर-निर्माण, सदाव्रत और साधुसेवा आदिमें सदुपयोग किया। कुछ समयके बाद वे निर्धन हो चले। लक्ष्मीसे वे सदा निःस्पृह रहते थे, अतएव निर्धनताको उन्होंने भगवत्कृपाके रूपमें वरण किया। दरिद्रतामें भी उन्होंने पूर्ण सन्तोषकी ही अनुभूति की। उनके पूरे परिवारका जीवन सङ्कटग्रस्त हो चला। नन्दलाल तो भगवान्के समर्पित ही थे, पर परिवारकी दैन्यपूर्ण स्थितिसे वे क्षुब्ध हो उठे। एक रातको कमरेमें पड़े-पड़े कुछ सोच रहे थे कि भगवान् लक्ष्मीपतिने दरवाजा खटखटाकर कहा कि 'तुम निर्धन नहीं हो, तुम्हारा परिवार दुःखी नहीं रह सकता; तुम्हें कल प्रातःकाल पुलियापर जीविका-निर्वाहका साधन मिल जायगा।' भक्तराजने परिचय पूछा। भगवान्ने कहा—'लक्ष्मीपति' और वे अदृश्य हो गये। वे तो कल्पतरुके मूलाधार हैं, चिन्तामणिके आधार हैं, भक्तने भगवान्की कृपाका उपयोग किया। वे प्रातःकाल पुलियापर पहुँचे और आपको जीविकाका साधन मिल गया। उनका पारिवारिक जीवन सुखपूर्वक बीतने लगा।

एक दिन भक्त नन्दलालजी नियमानुसार उषःकालसे कुछ पूर्व ही उठे और नित्यकर्मके लिये स्नान करने नदीपर गये। नित्यकर्मके अनन्तर वे नदीके दूसरे तटपर स्थित श्रीरंगनाथजीके मन्दिरमें दर्शनार्थ गये। मन्दिरमें पुजारी प्रतिदिन उषःकालसे पूर्व उठकर भगवान्को सुसज्जित करता है। परंतु उस दिन ईश्वरकी लीलासे पुजारीकी निद्रा नहीं टूटी। भक्त नन्दलालजीने दर्शन करनेके लिये अपनी खड़ाऊँ खोलनेके विचारसे दृष्टि नीचेकी ओर की। उस समय आप देखते हैं कि मन्दिरके प्राङ्गणमें भगवान् चतुर्भुजरूपसे विराजमान हैं। उनकी छटा निराली है। चरणामृतका पात्र भरा हुआ धरा है। ललाटपर गोरोचन लेप किये हुए सुशोभित हैं। सामने सजी हुई आरती रखी है, परंतु पुजारीजी नहीं हैं। आपने नियमानुसार आरती लेकर चरणामृतका पान किया और तिलक लगाया।

उपर्युक्त घटनाके कुछ दिनों पश्चात् ही एक दूसरी आश्चर्य-घटना हुई। ग्रामके मध्यमें श्रीलक्ष्मीनाथजीका राजमन्दिर है। वहाँ आप एक दिन नित्यकर्मसे निवृत्त हो दर्शनार्थ गये। उस दिन पुजारीजी प्रगाढ़ निद्रामें मस्त थे; परंतु आप देखते हैं कि श्रीलक्ष्मीनाथजी स्नान, तिलक और शृङ्गार करके सुसज्जित हैं। शृङ्गार विशेषरूपसे हो रहा है। आरती हो चुकी है। आपने आनन्दसे दर्शन किये और दण्डवत् किया। इसके पश्चात् आपने पुजारीजीका पता लगाया तो ज्ञात हुआ कि पुजारीजी शयन कर रहे हैं। तब आपको अत्यन्त आश्चर्य हुआ। आनन्दकी सीमा न रही। आपने पुजारीजीको साथ लिया और मन्दिरपर पहुँचे। पुजारीजीने भी दर्शन करके अपने-आपको कृतकृत्य समझा। दोनों प्रेममें विह्वल होकर कीर्तन करने लगे और उस दिन भगवान् भास्करके उदय होनेतक वहीं कीर्तनमें तन्मय रहे।

इन घटनाओंसे उनमें अब पूर्ण वैराग्यका उदय हो गया। वे सब कुछ तजकर भजनमें ही लग गये। नन्दलालजीकी निष्ठा और भक्ति धन्य थी।

विरही भक्त रघुजी

भूलसे, प्रमादसे या जान-बूझकर लोगोंको ठगनेके लिये भक्त या संतका-सा वेश बनानेवाले या संतोचित वाणी बोलनेवाले लोग बहुत मिलेंगे। किसी चमत्कारको दिखलाकर या चमत्कारके नामपर दुनियाको धोखा देनेवाले बहुत मिलेंगे; परंतु सच्चे सिद्ध या साधक संत-भक्तका मिलना कठिन है। वस्तुतः आजके जगत्में जितना दम्भ फैला है, उतना अबसे एक शताब्दी पूर्व भी नहीं था। जिस वेश या जैसी चालसे लोग धोखेमें आवें, उसीको धारण करके अपना काम बनानेके लिये आजकल स्त्री, धन और मानके भूखे हजारों धूर्त अच्छे सात्त्विक वेश और सुन्दर चालको कलङ्कित कर रहे हैं। यही कारण है कि ऐसे लोगोंके डरसे सच्चे संतकी पहचान और सेवा होना भी आज कठिन हो रहा है। संत समझकर जहाँ आत्मसमर्पण किया जाता है, वहीं आगे चलकर जब उस संतका असली स्वरूप सामने आता है, तब हृदय काँप उठता है, घृणासे चित्त भर जाता है, ऐसे संतपनेके विरुद्ध हृदयमें विद्रोह खड़ा हो जाता है। यही खास कारण है जिसने रूसी अनीश्वरवादके अङ्कुरको धर्मप्राण भारतवर्षमें अपनी जड़ जमाने और पनपनेके लिये स्थान दिला दिया है। परंतु याद रखना चाहिये ऐसे रँगे सियारोंसे भगवान् कभी धोखा नहीं खाते—आखिर उनका पापका घड़ा फूटता ही है! सचमुच ऐसे धूर्तलोग भगवान्‌को बड़े बुरे लगते हैं। सच्चे भक्त इस समय भी हैं, परंतु वे बाजारमें अपनी भक्तिका ढिंढोरा नहीं पीटते, इसीसे हम उन्हें पहचान नहीं सकते। यहाँ एक ऐसे ही सच्चे भक्तका जीवन-परिचय लिखा जाता है।

इनका नाम था ठाकुरदासजी उदेशी। जन्म संवत् १९६४ माघ मासमें रानीपुर सिन्धमें हुआ था। इनकी जाति भाटिया (भट्टी राजपूत) थी। इनके पूर्वज दस-बारह पीढ़ी पहले जैसलमेर (मारवाड़)-से उठकर सिन्धमें आ बसे थे। आपके पिताका नाम श्रीवल्लभदासजी उदेशी है, जो कराचीमें रहते थे। स्त्रीका देहान्त पचीस वर्षकी उम्रमें हो गया था। माता-पिताके बहुत आग्रह करनेपर भी आपने पुनः विवाह नहीं किया। इनकी माताका देहान्त कुछ ही वर्षों पहले हुआ था। कराचीमें एफ्० ए० तक पढ़नेके बाद तीन वर्षतक बम्बईमें पढ़े और वहाँ बी० कॉम० की परीक्षा देकर कराची लौट गये। बम्बईमें किसी महापुरुषके संगसे आप श्रीरामकी उपासना करने लगे। उपासनाकी बड़ी लगन लग गयी। भगवान्‌के ध्यान और नामस्मरणका अभ्यास उत्तरोत्तर बढ़ता गया। बोलना-चालना कम हो गया, धीरे-धीरे भगवान्‌के नाम और गुण सुनकर हृदय द्रवित होने लगा। तदनन्तर किसी मित्रसे कुछ सुनकर आप गोरखपुर आ गये। यहाँ कुछ दिन रहकर फिर कराची लौटे। पिताजीने काम-धंधेकी बातचीत की, पर इनका मन दूसरी ओर जाता ही न था। इसलिये इन्होंने अखण्ड मौन धारण कर लिया, जो जीवनके अन्ततक रहा। इसके बाद फिर गोरखपुर चले आये। यहाँ लगभग सालभर रहनेके बाद हमलोगोंने आग्रह करके कराची भेज दिया। परंतु वे घर नहीं गये। कुछ दिन इधर-उधर रहकर फिर गोरखपुर लौट आये। यहाँसे बीचमें कुछ दिनोंके लिये क्रमशः अयोध्या, चित्रकूट और प्रयाग गये थे। फिर अन्ततक यहीं रहे।

वैष्णव-शास्त्रोंमें वर्णित विरहकी दस दशाओंमेंसे बहुत-सी इनमें प्रत्यक्ष देखी जाती थीं। चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता, मलिनता, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, मोह और मृत्यु—ये विरहकी दस दशाएँ हैं; ये जब विषयवासनासे प्रेरित लौकिक पाञ्चभौतिक किसी पुतलेके लिये होती हैं, तब इनका स्वरूप तामसी होता है और फल दुःख होता है; परंतु ये ही जब सच्चिदानन्दघन, अचिन्त्य अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यनिधि भगवान्‌के लिये होती हैं, तब ये मोक्षपदको तुच्छ कर देती हैं; और सत्त्वगुण तो निरन्तर ऐसे विरहीकी सेवा किया करता है। विरहकी दस दशाओंकी भाँति ही प्रेमके आठ लक्षण माने गये हैं—स्तम्भ, कम्प, स्वेद, अश्रु, स्वरभंग, वैवर्ण्य, पुलक और प्रलय। इन आठों लक्षणोंका भी प्रादुर्भाव रघुबाबाजीमें था। आँसू तो उनके सूखते ही नहीं थे। लेखकने किसी-किसी समय बीस-बीस घंटे उन्हें रोते देखा है, वे सदा

भावावेशकी-सी अवस्थामें ही रहते थे। सत्संगकी बात तो सुनते थे, परंतु अन्य कोई भी चर्चा पास बैठे हुए भी वे नहीं सुनते थे। वे किसी अन्य ही राज्यमें विचरण करते थे।

वे भगवान् श्रीरामके अनन्य उपासक थे, भगवान् श्रीरामके एक चित्रपटकी पूजा करते थे। वह चित्र उनके लिये बहुमूल्य वस्तु था। वे इसमें साक्षात् भगवान्‌को देखते थे। इनका दर्शन वे किसीको नहीं कराते थे। कंगालके धनकी भाँति सदा इन्हें छिपाये रखते थे। दिन-रात 'रघु' नामका उच्चारण मन और वाणीसे करते थे, इसीसे उनका नाम 'रघुजी' पड़ गया। बहुत दिनोंसे मौन थे। एक बार इतना बोले थे—*'मैं तो प्रेम दिवानी मेरो दरद न जाणै कोय।'*

रामनवमीका उत्सव मनाया, एकादशीका निर्जल व्रत किया, रातको नियमानुसार स्वाध्याय करते रहे। एक साधकको बुलाकर उनसे जटायुकृत अन्तकालकी स्तुति दो बार सुनी—और द्वादशीको प्रातःकाल प्रयाण कर गये। शरीरत्यागके पहले दिनतक उन्होंने स्वयं कुएँसे जल निकालकर अपनी नित्यक्रिया की। न किसीसे सेवा करवायी, न प्रणाम कराया। बड़े ही छिपे सच्चे भक्त थे।

श्रीभक्त कोकिलजी

संसारके नश्वर भोगोंमें आसक्त हो मोहनिद्रामें सोये हुए जीवोंको जगाकर उन्हें दिव्य भगवत्प्रेमका रसास्वादन करानेके लिये स्वयं भगवान् ही अपने प्रेमी संतोंको इस धराधाममें भेजा करते हैं। श्रीभक्त कोकिलजी ऐसे ही उच्चकोटिके प्रेमी संतोंमेंसे एक थे। इनका आविर्भाव वि० संवत् १९४२ में सिन्धप्रान्तके जेकबाबाद जिलेके अन्तर्गत मीरपुर गाँवमें हुआ था। इनके पिताका नाम स्वामी रोचलदास और माताका नाम सुखदेवी था। छः महीनेकी आयुमें ही इन्हें माताका विछोह प्राप्त हुआ था। पिताने जन्मके कुछ दिन बाद ही अपने इस नवजात शिशुको संत स्वामी आत्माराम साहबकी गोदमें अर्पित कर दिया था। बचपनसे ही साधुसंग सुलभ होनेके कारण संतोंकी सेवामें इनकी स्वाभाविक लगन थी। पाँच वर्षकी अवस्थामें जब ये पाठशालामें पढ़नेके लिये भेजे गये, उस समय इन्होंने अपने अध्यापकको पहले श्रीरामचन्द्रजीकी लीलाकथा सुनायी, उसके बाद उनसे वर्णमालाकी शिक्षा ग्रहण की। कहते हैं, दो ही महीनोंमें इन्होंने सिन्धी भाषा, हिंदी, संस्कृत तथा फारसी आदि कई भाषाएँ सीख लीं। इनकी विलक्षण प्रतिभा देखकर सब लोग आश्चर्यचकित रह जाते थे। सभी विद्याएँ इनको स्वतः सिद्ध थीं। छः वर्षकी आयु होते-होते इनके पिताका भी परलोकवास हो गया। जब ये दस वर्षके हो गये, उस समय संत आत्माराम साहब भी संसारसे तिरोहित हो गये। मानो भगवान् अपने भक्तका एक-एक बन्धन स्वयं काटते चले जा रहे थे। माता, पिता तथा आश्रयदाता गुरु तीनोंसे विमुक्त होनेपर इनका मन संसारसे सर्वथा विरक्त हो गया। अब वे दरबारमें न रहकर एकान्तमें बहुधा समय व्यतीत करने लगे। एक दिन चुपचाप सद्गुरुकी खोजमें निकल पड़े। मार्गमें कथा-वार्ता और सत्संग करते हुए आगे बढ़ते गये। दो-चार महीनोंमें ही किसी अज्ञात प्रेरणासे खिंचे हुएकी भाँति एक डॉक्टरके साथ ये कोट-काँगड़ामें जा पहुँचे। वहीं इन्हें अभीष्ट सद्गुरु स्वामी श्रीअविनाशचन्द्रजी महाराजका दर्शन हुआ। वे बंगालसे भूकम्पपीडित जनताकी सहायता करनेके लिये वहाँ आये हुए थे। गुरुने अधिकारी शिष्यको पहचाना और कोकिलजीने सम्पूर्ण रूपसे उन्हें आत्मसमर्पण कर दिया। गुरुसेवामें तत्पर रहने लगे। एक दिन गुरुकृपासे उन्हें इस दिव्य झाँकीका प्रत्यक्ष दर्शन हुआ—''महर्षि वाल्मीकिका आश्रम, गङ्गाजीका तट और हरे-भरे वृक्षोंकी पङ्क्ति। सब ओर करुणामय हाहाकारकी ध्वनि छा रही है। अवधकी राजराजेश्वरी जनकनन्दिनी सीता आज पतिसे परित्यक्त होकर यहाँ विलाप कर रही हैं, प्रियतमकी विरहाग्निमें दग्ध हो रही हैं। उनके

आर्त कण्ठसे 'हा प्राणनाथ! हा रघुकुलचन्द!' की पुकार उठ रही है। रोम-रोमसे अग्निस्फुलिङ्गके समान 'श्रीराम! श्रीराम!' की अनाहत ध्वनि हो रही है। वे चारों ओर असहायकी भाँति देख रही हैं, झुंडसे विछुड़ी हुई त्रस्त हरिणीकी भाँति व्याकुल हो रही हैं। देखते-देखते उनके मुखसे एक चीत्कार निकलती है और वे बेहोश होकर माता-वसुन्धराके वक्षपर गिर जाती हैं।''

इस झाँकीके दर्शनसे भक्त कोकिलजीकी दशा कुछ और ही हो गयी। उनके मन-प्राण व्याकुल हो उठे। नेत्रोंमें आँसू छलक आये। शरीरमें रोमाञ्च हो आया और देहकी सुध-बुध जाती रही। श्रीअविनाशचन्द्रजी महाराजने भजनसे उठकर धैर्य धारण कराया, तब कहीं जाकर उनका चित्त शान्त हुआ। सद्गुरुकी आज्ञासे यही झाँकी उनकी ध्येय हो गयी। द्वितीय वनवासके समयकी विरहिणी सीता ही उनके प्राणोंकी आराध्य बन गयीं। वे उनकी विरह-व्यथासे तड़पने लगे। 'हा स्वामिनी! हा जानकी!' कहते-कहते मूर्छित होकर गिर पड़ते थे। इस भावावेशमें उन्हें कई बार श्रीजनकनन्दिनीके दर्शन होते थे। एक बार गुरुके आदेशसे इन्होंने एक स्थानपर मिट्टी खोदी; उसमेंसे एक दिव्य सोनेकी डिबिया निकली, उसके भीतर भोजपत्रपर अङ्कित श्रीस्वामिनीजीकी बड़ी सुन्दर मूर्ति थी। वे छोटी-सी कुटियामें उसी श्रीविग्रहको पालनेपर पधराकर धीरे-धीरे झुलाने लगे। वही उनका सेव्य विग्रह था। कोटकाँगड़ासे मीरपुर लौटनेपर उन्हें वहाँकी महंती मिल रही थी, पर उन्होंने दरबारकी सेवा स्वीकार करनेपर भी गद्दीपर महंत बनकर बैठना स्वीकार नहीं किया। एक बार इन्होंने अपनी स्वामिनीकी जन्मभूमि जनकपुरकी यात्रा की। वहाँ उन्हें कई दिव्य अनुभव हुए। वे 'श्रीखण्डिदासी' नामक बालिकाके रूपमें रहकर श्रीस्वामिनीजीकी सेवा करते थे। यही उनका भावमय दासी या सहचरीका शरीर था। वे दिव्य कोकिल पक्षीके भावमें रहकर वनमें स्वामिनीजीको प्रियतमका प्रेम-सन्देश सुनाकर धैर्य बँधाते और वहाँसे अयोध्यामें पहुँचकर प्रियाजीकी विरहवेदना सुना भगवान् श्रीरामका ध्यान उनकी ओर आकृष्ट करते थे। इसी भावनाके कारण उन्हें 'भक्त कोकिल' भी कहते हैं। कोकिलजीके भक्त उन्हें 'बाबुल साईं', 'सद्गुरु' आदि कहकर भी सम्बोधित करते थे। व्रजमें उन्होंने दो बार निवास किया। वहाँ उन्हें श्रीराधा और श्रीकृष्णकी दिव्य लीला तथा रासलीलाके भी अनेक बार दर्शन हुए थे। वे श्रीराधाजीसे भी श्रीजानकीजीकी चरणसेवा और उनके प्रति अनन्य प्रेमका ही वरदान माँगते थे। अयोध्यामें आनेपर उन्हें बड़ा उद्वेग होता था। वे कहते थे—जहाँ मेरी स्वामिनी नहीं, वह अयोध्या किस कामकी! कनकभवनमें युगलसरकारकी झाँकी करके भी वे यही अनुभव करते कि श्रीराघवेन्द्रके साथ स्वामिनीजीकी स्वर्णप्रतिमामात्र है। मेरी हृदयेश्वरी स्वामिनीको तो महाराजने वनमें छोड़ रखा है। उन्हें एकाधिक बार दर्शन देकर युगलसरकारने समझाया कि 'हम दोनों सदा एक साथ रहते हैं, वह त्याग और वनवास तो प्रजारञ्जनकी एक लीलामात्र है।' फिर भी उनका भावावेश कम नहीं होता था। वे जहाँ रहते, कीर्तन और सत्सङ्गकी धूम मची रहती थी। हिंदू और मुसलमान सभी उनके सत्सङ्गमें आते थे। वे सूफी फकीरोंसे भी मिलते और उनके सत्सङ्गसे लाभ उठाते थे। उनकी दृष्टिमें यही था कि सभी धर्मोंमें एक ही भगवान्‌की आराधना होती है। सभी धर्मग्रन्थोंको वे रामायणकी ही भाँति आदरणीय मानते थे। उनके साथके कितने ही प्रेमी साधक भावराज्यमें प्रवेश करके भगवान्‌की अनेकानेक दिव्यलीलाओंका साक्षात्कार करते थे। उनका सम्पूर्ण जीवन ही दिव्य प्रेमोन्मादसे परिपूर्ण था। आज लगभग तीन वर्ष हो गये, उन्होंने वृन्दावनमें इस संसारसे तिरोहित होकर दिव्यधामकी यात्रा की है। उन्होंने जो दिव्यप्रेमकी गङ्गा-यमुना बहायी है, उसमें अनवरत अवगाहन करके कलिके जीव सदा पाप-तापसे मुक्त हो भगवत्प्रेमका रसास्वादन करते रहेंगे।

महाराज श्रीरघुराजसिंहजी

(लेखक—श्रीगुरु रामप्यारेजी अग्निहोत्री)

वे प्राणी धन्य हैं, जो समृद्धि और ऐश्वर्यकी गोदमें पलकर एक पलके लिये भी भगवान्‌को नहीं भूलते। राजसुख भले ही छोड़ देना पड़े, जंगलमें वैराग्य लेकर भले ही भटकना पड़े, घर-घर घूमकर भीख भले ही माँगनी पड़े पर रामनामका विस्मरण उनके लिये मरणके दारुण दुःखसे भी भयङ्कर होता है। रीवाँ-राज्याधीश्वर महाराज रघुराजसिंहकी आदर्श भक्ति-परायणतासे यह सिद्ध हो जाता है कि उन्होंने राम और कृष्णके यशोगानके सामने इस लोकके वैभव और भोगको तुच्छ समझा।

महाराज रघुराजसिंहजी एक अत्यन्त संस्कारी और उन्नत जीव थे। उनका जन्म संवत् १८८० वि० में हुआ था। परमभक्त और धर्मनिष्ठ महाराज विश्वनाथसिंहजी उनके पिता थे। रीवाँ राजपरिवारकी भक्तिनिष्ठा और काव्यप्रेम आदि इतिहासगत तथ्य हैं। महाराज रघुराजसिंहकी प्रारम्भिक शिक्षा बड़े-बड़े संतों और धर्ममर्मज्ञ पण्डितोंकी देख-रेखमें हुई थी। संस्कृत, हिंदी, अंग्रेजी आदि भाषाओंका महाराज रघुराजसिंहको अच्छा ज्ञान था। महात्माओंका सत्सङ्ग उन्हें बचपनसे ही सुलभ था। इसके फलस्वरूप उनके हृदयमें भक्तिभावना दृढ़ होती गयी। उनकी धर्मनिष्ठा अत्यन्त स्तुत्य और सराहनीय थी। वे त्रिकाल सन्ध्या-वन्दनके अभ्यासी थे। उनके भक्तिपूर्ण हृदयमें भगवान्‌के ऐश्वर्यके लिये भी स्थान था। उनके पूजापात्र ही केवल पाँच लाख रुपयेके सोनेसे बने हुए थे। वे बिना एक हजार गायत्रीका मन्त्र-जप किये जलतक नहीं ग्रहण करते थे। अपने राज्यमें एक सौ एक भगवान्‌के मन्दिरोंका निर्माण कराकर उनके रागभोगके लिये लाखोंकी सम्पत्ति लगा दी थी। उन्होंने भारतके अनेक प्रसिद्ध तीर्थोंका पैदल भ्रमण किया था। उन तीर्थोंमें देवालय बनवाये और दानपत्र दिये। संवत् १९०७ वि० में रीवाँमें लक्ष्मणबाग नामक एक विशाल आश्रमकी स्थापना करके उसमें वैष्णव महात्मा श्रीमुकुन्दाचार्यजी महाराजको राजगुरुके पदपर प्रतिष्ठित किया तथा उनसे मन्त्र ग्रहण किया।

संवत् १९०८ वि० में महाराज रघुराजसिंहजीने तीर्थयात्रा आरम्भ की। उदयपुर होते हुए पुष्कर क्षेत्रमें उन्होंने इक्कीस हाथियोंका दान किया, द्वारकामें लाखोंकी सम्पत्ति धर्म-कार्यमें लगायी, मथुरामें असंख्य धनराशिका सदुपयोग करके स्वर्णतुलादान किया। संवत् १९१० वि० में काशीमें मणिकर्णिका घाटपर भी उन्होंने स्वर्ण तुलादान सम्पादन किया था। दूसरी तीर्थयात्रा उन्होंने संवत् १९१३ वि० में की। जगन्नाथपुरीमें भगवान्‌के मन्दिरके सामने पहुँचते ही पट अपने-आप बंद हो गये; महाराज रघुराजसिंहजीने विरहाभिभूत होकर 'जगदीश-शतक'की रचना की, रचना पूरी होते ही पट खुल गये। महाराज रधुराजसिंहने भगवान्‌की उस पवित्र लीलास्थलीमें 'रीवाँ क्षेत्र'की स्थापना की। उन्होंने अपने राजत्वकालमें अनेक विद्वान् ब्राह्मणोंसे महायज्ञोंका अनुष्ठान भी कराया था। उन्होंने 'वाजपेय और अग्निहोत्र' यज्ञ भी कराये थे।

महाराज रघुराजसिंहजी महान् कवि और कलाकार तथा भगवद्भक्त थे। कविता तो उनकी पैतृक सम्पत्ति ही थी। हिंदी और संस्कृत दोनों भाषाओंका उन्हें पूर्ण ज्ञान था। उन्होंने भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णकी परम पवित्र कथा लिखनेमें अपनी कवित्वशक्तिका सदुपयोग किया। भाषामें श्रीमद्भागवतका अनुवाद किया। भगवान् श्रीकृष्ण उनके उपास्य थे। भगवान् श्रीराममें भी उनकी महती निष्ठा थी। वे उनका दास्यभावसे भजन करते थे। उनके विद्यागुरु रामानुजदासजी थे, जो जीवनके अन्तिम दिनोंमें अयोध्यामें रहते थे। गुरुकी प्रसन्नताके लिये उन्होंने 'रामस्वयंवर' ग्रन्थके रूपमें भगवान् श्रीरामकी पवित्र कथाका गान किया। उन्होंने एक स्थलपर स्वयं कहा है—'मुझे ऐसा लगता है कि इस असार संसारमें रामसे बढ़कर कोई दूसरा कृपालु नहीं है।' उनका स्पष्ट कथन है कि मैंने 'रामस्वयंवर' ग्रन्थकी रचना नहीं की, भगवान् रामने स्वयं इसकी रचना की है। उनका वचन है—

'कहौं सत्य करि राम दोहाई। रच्यो ग्रंथ केवल रघुराई॥'

उन्होंने स्वीकार किया है कि एक बार वे काशीनरेशके रामनगरकी रामलीलासे बहुत प्रभावित हुए। उन्हींकी अनुप्रेरणासे रघुराजसिंहने 'रामस्वयंवर' ग्रन्थ लिखा। पूरे ग्रन्थका सार उन्होंने *'केवल राम सुजस जग पावन'* उक्तिमें भर दिया है। उन्होंने रुक्मिणीपरिणय, भक्तिविलास, रामरसिकावली, भक्तमाल आदि ग्रन्थोंकी रचना की। वे वैष्णवमतावलम्बी ही नहीं, वैष्णवमतके प्रचारक भी थे। भक्त होनेके साथ-ही-साथ वे एक जनप्रिय प्रजापालक शासक भी थे। वे विद्वानोंके आश्रयदाता थे, नित्य सायंकाल राजकार्यसे अवकाश ग्रहणकर अपने अमूल्य समयका सदुपयोग भगवच्चर्चा और पौराणिक कथा-श्रवण आदिमें करते थे।

संवत् १९३६ वि० में उनका देहावसान हो गया। मृत्युसे पाँच साल पहले ही उन्होंने राजप्रबन्धसे हाथ खींच लिया था।

भक्तवर श्रीगुमानसिंहजी

(लेखक—स्वर्गीय महाराजा श्रीचतुरसिंहजी देव)

चित्तौड़के प्रसिद्ध महाराजा श्रीलाखाजीके अजयमल्लजी हुए और उनके शारंगदेवजी हुए। शारंगदेवजीके वंशज शारंगदेवोत कहलाये। इसी शारंगदेवोत शाखामें भक्तवर गुमानसिंहने सं० १८९७ वि० की चैत्रकृष्णा नवमीको जन्म लिया। वे श्रीकल्याणसिंहजीके तीसरे पुत्र थे। उन्हें बचपनसे ही भगवान्‌के प्रति विशेष आकर्षण था। वे उनके नाम, गुण और लीलाका श्रवण करके बाल्यावस्थाके खेलोंमें प्रफुल्लित हो जाया करते थे। उनके संस्कार बड़े शुभ और भक्तिसम्पन्न थे। वे अपने ज्येष्ठ भ्राताके साथ बहुत दिनोंतक काशीमें रहे। विश्वनाथकी राजधानीमें उन्हें अच्छे-अच्छे महात्माओं—श्रीश्रद्धानन्दजी, श्रीभास्करानन्दजी आदिका सत्संग सुलभ हो चला, इसके परिणामस्वरूप उनकी भगवद्भक्ति दिनदूनी, रातचौगुनी बढ़ती गयी। वे एकान्तमें बैठकर भवसागरसे पार लगानेके लिये सदा भगवान्‌से प्रार्थना किया करते थे। उनकी परमार्थनिष्ठा उच्चकोटिकी थी। दया, क्षमा, तपस्या आदिके तो वे मूर्तिरूप ही थे। वे भक्त कवि थे, उन्होंने सरल भाषामें भगवद्रससे सनी हुई उत्तमोत्तम कविताओंकी रचना की है। वे भगवान्‌के चरणोंमें पूर्णरूपसे समर्पित थे। वे कुछ दिनोंतक देवल्ये प्रतापगढ़के नरेश उदयसिंहजीके साथ भी रहे । उन्होंने गुमानसिंहकी वीरतापर प्रसन्न होकर एक छोटी-सी जागीर भी दी थी।

उदयपुरसे दस कोस पूर्व लक्ष्मणपुरामें उन्होंने कुआँ तथा मन्दिर बनवाया और अपने लिये एकान्त स्थानमें एक कुटी बनवा ली, जिसे 'रामझरोखा' कहते हैं। वे पुरुषार्थको अधिक श्रेय देते थे। उनका कहना था कि बिना पुरुषार्थ किये न तो प्रारब्ध साथ देता है और न भगवान् ही सहायता करते हैं। सत्संगमें उनकी बड़ी रुचि थी। उन्होंने सीख दी कि बाहरी त्यागसे भक्ति नहीं सिद्ध होती, संसारके प्रति मनके पूर्णरूपसे अनासक्त हो जानेपर ही भगवान् अपनाते हैं। आपके द्वारा रचित 'मोक्षभवन', 'योगाङ्ग', 'सुबोधिनी' (पातञ्जलयोग-दर्शनपर छन्दोबद्ध टीका), 'मनीषालक्ष-चन्द्रिका', 'योगभानुप्रकाशिनी' (श्रीमद्भगवद्गीतापर भाषाटीका), 'रत्नसार' (भगवद्गीताके राजराजेश्वर श्लोकोंपर टीका), 'तत्त्वबोध', 'रामरत्नमाला', 'लययोगबत्तीसा', 'समयसारबावनी', 'अद्वैतबावनी' आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

मनीषालक्षचन्द्रिकामें आपने नये ढंगसे 'बुद्धि' का नायिकारूपमें वर्णन किया है। जहाँ स्त्री-नायिकाके भेदोंमें पड़कर लोग अपनी बुद्धिको मलिन करते हैं, वहाँ इस 'बुद्धि' नायिकाके भेद जानकर साधक अपनी उन्नति कर सकते हैं।

नमूना देखिये—

सत रज तम ये तीन गुन मति बिच एक प्रधान।
सत स्वकीय, परकीय रज, तम गनिका करि मान॥

सं० १९७१ वि० की फाल्गुनकृष्णा सप्तमीको भक्त गुमानसिंहजीने भगवद्धामकी प्राप्ति की।

महाराज श्रीचतुरसिंहजी

महाराणा श्रीफतहसिंहजीके जेठे भाई श्रीसूरतसिंहजीके चौथे पुत्र महाराज चतुरसिंहजीका जन्म सं० १९३६ वि० माघकृष्ण चतुर्दशीको उदयपुरमें हुआ था। वंशपरम्परागत संस्कारोंके प्रभावसे ज्ञान, भक्ति और उपरामताकी ओर बचपनसे ही आपका झुकाव था। प्रज्ञा आपकी प्रखर थी। ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य, रामानुजभाष्य, गीता, उपनिषद्, योगवासिष्ठ, पञ्चदशी, आत्मपुराण, विचारसागर, श्रीमद्भागवत, महाभारत आदि ग्रन्थोंका आपने बहुत उत्तम रीतिसे अनुशीलन किया था।

अट्ठाईस वर्षकी अवस्थामें आपकी धर्मपत्नीका स्वर्गवास हो गया और इसीके बाद आपके चित्तमें इस असार संसारके प्रति वैराग्य जागा। आप गुरुकी खोजमें निकले और नर्मदा-किनारे कमलभारतीजीसे आपका परिचय हुआ। कमलभारतीजीने गुमानसिंहजीका नाम बतलाकर वहीं दीक्षा लेनेका आदेश किया।

आप अपने गुरुदेवकी सेवामें रहने लगे। गाँवके पास ही एक कच्ची कुटी बनाकर उसीमें भजन-साधनमें लगे रहते थे। कहते हैं इसी पर्णकुटीमें सं० १९७८ वि० पौष शुक्ला तृतीया रविवारको आपको आत्मसाक्षात्कार हुआ। आप योगविद्यामें बहुत पारङ्गत थे और किसीके भी मनकी बात अनायास ही जान लेते थे। आपने प्रत्येक धर्मके यथार्थ तत्त्वको समझनेके लिये उनके धर्मशास्त्रोंका सम्यक् रीतिसे अध्ययन किया तथा संतोंके सत्संग किये। आपके लिखे सतरह ग्रन्थ मिलते हैं। आपके रचित कुछ दोहे यहाँ दिये जा रहे हैं—

यों संसार बिसार चित, ज्यों अबार करतार।
यों करतार सँभार नित, ज्यों अबार संसार॥
राम रावरे नाममें, यही अनोखी बात।
दो सूधे आखर तऊ, आखर याद न आत॥
जो टेरो तैं रामको, तो बेरो भवपार।
नाहिंत फेरो जगतको, परिहै बारंबार॥

आपमें भक्त और योगी संतके प्रायः सभी लक्षण वर्तमान थे। 'संसारके प्रति घोर वैराग्य और भगवान्के प्रति अनन्य आत्मसमर्पण' यही आपके भक्त जीवनका मूलमन्त्र था। सं० १९८६ वि० को आषाढ़कृष्णा नवमी प्रात:कालको नौ बजे आपने परम धामको प्रयाण किया। इसके कुछ ही पहले आप अपनी अलमस्तीमें यह कह गये—

जगदीश्वर जीवाय दियो, थें ही थारो काम कियो।
दरशण योग दिया कर दाया, मृत्तलोकमें अमर कियो॥
माँगूँ कड़ँ, कई अब बाकी, अणमाँग्याँ ही अभय दियो।
आबारा कागद साथे ज्यूँ, आखर पढताँ आय गियो॥
मनख शरीर दियो थें मालक, सागे जनम सुधार दियो।
सोजा रा सोजा मारगने, शहजाहीमें शोध दियो॥
दया दृष्टि आँखाँ देखीने सब साधनसूँ दूर दियो।
चातुर चोर चाकरी रो पण आखर थें अपणाय लियो॥

राठौड़ राव श्रीगोपालसिंहजी

राजस्थान खरवाके प्रसिद्ध देशभक्त राव साहब श्रीगोपालसिंहजी राष्ट्रवर बड़े स्पष्टभाषी, निर्भीक और राजपूती शानके सज्जन थे। उनकी प्रसिद्धि एक पुराने देशभक्त और हिंदू-सङ्गठन एवं शुद्धिके प्रबल समर्थकके रूपमें थी। हिंदू-महासभाके सभापति-पदको भी वे एक बार अलङ्कृत कर चुके थे। अपने सार्वजनिक जीवनके आरम्भमें वे भारतधर्म-महामण्डलके सहायक एवं सदस्य रहे। राजनीतिमें वे लोकमान्य तिलकके विचारानुयायी थे। आगे चलकर उनपर आर्य-समाजका रंग भी जम गया था; परंतु यह बात कदाचित् बहुत कम लोगोंको मालूम होगी कि गत कई वर्षोंसे वे भगवान् श्रीकृष्णके एकान्त भक्त बन गये थे। क्योंकि आत्माकी प्यास बुझानेके लिये उन्हें भगवान् श्रीकृष्णकी अव्यभिचारिणी प्रेम-भक्ति-सुधा-धाराकी ही खास जरूरत थी।

यह भक्तिधारा उन्हें भगवान् श्रीरामकृष्ण परमहंसदेवके उपदेशोंमें मिली। रामकृष्णसे उन्हें भगवत्-शरणागति प्राप्त हुई। वे श्रीकृष्णके अनन्य भक्त बन गये। पिछले आठ वर्ष उन्होंने वीतराग साधुकी भाँति कभी पुष्कर एवं कभी

खरवाके बाहर एकान्त स्थानमें रहकर भगवत्-स्मरणमें बिताये। वे अपने दिनोंमें उग्र राजनीतिके माने जाते थे। सच्चे राजपूतकी तरह देशके लिये मर-मिटनेकी उनकी निरन्तर साध थी। रणगङ्गामें स्नान करनेकी उनकी एकान्त इच्छा थी। इन विचारोंको उन्होंने कार्यरूपमें भी परिणत कर दिखाया। देशकी स्वाधीनताके लिये महान् बलशाली ब्रिटिश गवर्नमेंटसे भिड़ गये, बहुत कुछ कष्ट उठाये, यहाँतक कि खरवाके राज्यका भी त्याग करना पड़ा। यौवनमें वे जिस उत्साहसे मातृभूमिकी सेवामें संलग्न हुए थे, वार्धक्यमें उसी प्रकारके अविरल प्रेमसे भगवान् श्रीकृष्णकी भक्तिमें सनने लगे।

मृत्युसे लगभग दो मास पूर्व उनके शरीरमें उदर-विकारके लक्षण प्रकट हुए। कोई भी पथ्य—हल्के-से-हल्का भी खाते ही उदरशूल होती एवं वमन हो जाता। चिकित्सार्थ वे अजमेर आये। डा० श्रीअम्बालालजीने एक्सरेजद्वारा परीक्षा करायी एवं निश्चय हुआ कि उनके आँतोंका कैन्सर रोग है। यह रोग काफी बढ़ चुका था तथा शल्यचिकित्सा-साध्य भी नहीं रह गया था।

यह सब उन्होंने जान लिया और वे मृत्युके लिये तैयार हो गये। इन पिछले दो महीनेमें वे दो-चार चम्मच मौसम्बी या नारंगीके रसके सिवा कुछ नहीं ले पाते थे। इस प्रकार पूरा उपवास करते हुए उन्होंने करीब दो मास निकाल दिये। इस बुढ़ापेमें—६६ वर्षकी उमरमें, दो महीनेतक कुछ न खाकर भी उनमें तेज और साहसकी कमी नहीं हुई। वे नित्य नियमपूर्वक भगवान्के ध्यानमें बिना नागा बैठते थे।

वेदना इनकी इतनी भयङ्कर थी कि मार्फियाके इंजेक्शनसे भी कोई आराम नहीं मिलता था; किंतु इस भीषण वेदनामें भी मनको आश्चर्यजनक रूपसे एकाग्र करके श्रीकृष्ण-ध्यानमें वे नियमपूर्वक बैठते थे एवं जितने समय वे ध्यानमें रहते थे, वेदनाकी रेखा उनके ललाटपर जरा भी नहीं रहती थी। वे भगवान्के ध्यानमें आत्मविस्मृत होकर तल्लीन हो जाते थे। वहाँ वेदना और कष्टका कहाँ निर्वाह था। यह एक वास्तवमें आश्चर्यकी बात है। कैन्सर-जैसे महाभयङ्कर रोगकी वेदनाकी कल्पना नहीं की जा सकती। वह असह्य होती थी। मॉर्फिया, यूकोडल आदिकी पूरी मात्राके इंजेक्शन भी उस असीम कष्टमें कमी नहीं कर सकते थे। किंतु श्रीकृष्णके ध्यानमें वह असह्य कष्ट कहाँ चला जाता था, उसका पता नहीं। शान्त और प्रसन्न चेहरेसे वे बराबर ध्यानमें लगे रहते थे। **'तत्र कः शोकः को मोहः।'**

मृत्युसे चार दिन पूर्व रोगके विषके कारण उन्हें हिचकी और वमन शुरू हो गया था। पिछले चार दिनोंमें तो एक चम्मच पानी भी उनके पेटमें नहीं जा सका था, किंतु भगवान्का ध्यान तब भी नहीं छूटा था।

मृत्युके पहले दिन सायङ्कालके समय डा० अम्बालालजीने उनसे कहा कि 'यदि आपको कोई वसीयत आदि करना हो तो शीघ्र कर लें। विष (Toxemia) के कारण आप रात्रिमें मूर्च्छाकी अवस्थामें अवश्य हो जायँगे।'

यह सुनकर वे बोले—'क्या मैं मूर्च्छित हो जाऊँगा और मूर्च्छामें ही शरीर छूट जायगा?'

डाक्टरने कहा—'लक्षण तो ऐसे ही प्रतीत होते हैं।' वे कहने लगे—'डाक्टर साहब! यह असम्भव है कि गोपालसिंह हिंजड़ेकी मौत मर जाय। मौतसे भी चार हाथ होंगे। आप देखते जाइये, भगवान् श्रीकृष्ण क्या-क्या करते हैं।'

यह कहकर उन्होंने डाक्टरसे कहा कि गायकको बुलाकर—

आज जो हरिहि न शस्त्र गहाऊँ।
तो लाजूँ गंगा जननी कों संतनु सुत न कहाऊँ।

—यह भजन गवाइये। गायक बाहर गया हुआ था, अतः वे आप ही गुनगुनाने लगे।

डाक्टर साहब लिखते हैं—

''मुझे तो उस समय यह कल्पना भी नहीं थी कि वे अपने भक्तिबलसे मौतसे भी लड़ सकते हैं। मुझे तो सन्निपातका सन्देह होने लगा। रात हो चुकी थी, मैं पासके कमरेमें सो गया। मेरे आश्चर्यकी सीमा नहीं रही। जब प्रातःकाल पाँच बजे मैं उठा, मैंने उनको ध्यानमें बैठे देखा। ध्यान पूरा होनेपर वे कहने लगे—'डाक्टर साहब! आज हिचकी बंद है, वमन भी बंद है, दस्त भी स्वतः एक महीने बाद आज हुआ है। मैं बहुत अच्छा

हूँ, हलका हूँ।' मैंने एक डाक्टरकी तरह कहा, 'ईश्वर करे आप अच्छे हो जायँ।' कहने लगे—'नहीं, शरीर नहीं रहेगा; किंतु भगवान्‌के भजनमें विघ्न न हो, इसलिये श्रीकृष्णने स्वयं ही ये बाधाएँ दूर कर दी हैं।' यह कहकर मुझे—

कृष्ण त्वदीयपदपङ्कजपञ्जरान्ते
अद्यैव मे विशतु मानसराजहंसः।

—यह श्लोक सुनानेको कहा। मैंने सुनाया और उन्होंने अपने सेक्रेटरीसे कहकर इसको लिखवा लिया। इंजेक्शन देकर मैं दवाखाने चला गया। करीब १० बजे मैं आया तो देखा कि उनकी नाड़ी जा रही है। मैंने कहा—'राव साहब! अब करीब आधा घंटा शेष है।' राव साहब कहने लगे—'नहीं, अभी पाँच घंटे शेष हैं, घबरायें नहीं।' करीब डेढ़ बजे मैं घर चला गया। मेरे पहुँचते ही मोटर आयी। मैं तुरंत गया। राव साहब लेटे हुए थे। उनके पास कमरेमें करीब २५ सज्जन मौजूद थे, जिनमें रायपुरके ठाकुर साहब, राजकुमार खरवा, देवलियाके राव साहब आदि कई प्रतिष्ठित सज्जन थे। उस समय सवा दो बजे थे। मैं पहुँचा, मैंने नमस्कार किया। कहने लगे—'अब थोड़ा समय है, यहीं बैठे रहो।' फिर मुझे गीता सुनानेको कहा। मैं दूसरा अध्याय सुनाने लगा। कहा—'नहीं, विराट् स्वरूपका वर्णन सुनाओ।' मैं गद्गदकण्ठ हो रहा था, आँखोंमें आँसू आ रहे थे, किंतु गीता सुनाने लगा। कमरेमें बड़ी स्तब्धता थी। सब गीता सुन रहे थे। उनका मस्तिष्क कितना स्वच्छ था, इस समय भी वे कहीं-कहीं किसी पदका अर्थ पूछते थे।

''ठीक मृत्युसे पाँच मिनट पूर्व वे आसन लगाकर बैठ गये। गङ्गाजल-पान किया, तुलसी ली, गङ्गाजीकी मिट्टीका ललाटपर लेप किया एवं वृन्दावनकी रज सिरपर रखी। हाथ जोड़कर ध्यान करने लगे।

फिर बोले—'डाक्टर साहब! अब आपका चेहरा नहीं दीख रहा है, किंतु भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन हो रहे हैं।'

महात्मन्!

अब कूच हो रहा है। ये श्रीकृष्ण खड़े हैं, इनके चरणोंमें लीन हो रहा हूँ।

'हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ।'

बस, एक सेकंडमें महाप्रस्थान हो गया। उस कमरेमें बीस-तीस आदमी थे। मैंने, रायपुरके ठाकुर साहबने तथा अन्य सज्जनोंने घड़ी देखी, ठीक ३ बजे थे। क्या यह मृत्यु थी? नहीं, इस मृत्युपर हजार जिंदगी निछावर है।

द्वाविमौ पुरुषौ राजन् सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तोऽसौ रणे चाभिमुखे हतः॥

वे योगयुक्त परिव्राट् थे, श्रीकृष्णमें लीन हो गये। हम सब विस्फारित नेत्रोंसे देखते रह गये। धन्य आधुनिक भीष्म, धन्य मृत्युञ्जय, धन्य! तुम्हारी-जैसी मौतपर दुनियाकी बादशाहत कुर्बान है।''

भक्त श्रीराजेन्द्रसिंहजी

(लेखक—एक अज्ञेय)

झालावाड़नरेश श्रीराजेन्द्रसिंहजी स्वभावसे ही आस्तिक भक्त थे। पाश्चात्त्य-सभ्यता-प्रेमी पिताकी सन्तान होते हुए भी वे परम आस्तिक बने रहे। पिताके तत्त्वावधानमें, इंग्लैंडमें अंग्रेजी-शिक्षा पाकर भी वे पक्के ईश्वर-निष्ठ व्यक्ति सिद्ध हुए। यही नहीं, अपितु उनके पिताजीका जो पृथ्वी-विलास हर्म्य एक दिन केवल सरस्वतीका ही मन्दिर था, बादमें वही इनकी अपूर्व ईश्वर-निष्ठासे पूरा-का-पूरा उपासना-गृह भी बन सका।

ऐसे महाराजको हम अनन्य भक्त कहें या अनन्य राजा, यह समझमें नहीं आता। परंतु सच तो यह है कि वे दोनों ही थे। इनके जीवनमें इन दोनोंका ही समन्वय-सामञ्जस्य संसारने देखा। असलमें ये भक्ति और कर्मके मूर्तरूप थे। इस विषयमें उनका यह कहना था—

'एक भृत्य, जो स्वामीका काम तो अच्छा करता है परंतु उससे प्रेम नहीं करता—किंतु दूसरा स्वामीसे प्रेम तो करता है, परंतु काम अच्छा नहीं करता—इन दोनोंकी

अपेक्षा वह तीसरा व्यक्ति समधिक अच्छा है, जो भक्त भी है और काम भी अच्छा करता है।' साथ ही वे यह भी कहा करते थे कि गीतामें स्वयं भगवान्‌ने इसी बातको इस तरह स्पष्ट किया है—

'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।'
(८। ७)

ईश्वर-कृपासे उनका समस्त जीवन इसी तरह बीता। कार्यक्षेत्रमें वे प्रजाको वस्तुत: 'जनताजनार्दन' ही समझते थे और अपने-आपको उसका पुजारी। किंतु धीरे-धीरे उनकी श्रद्धा इतनी बढ़ी कि वे सम्पूर्ण जगत्‌को ही राममय देखने लगे और कहने लगे—

सीय राममय सब जग जानी।
करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

वैसे भी मनुष्योचित गुणोंकी वे खान थे। आदर्श व्यवहार तो उनकी अपनी कुल-परम्पराकी वस्तु थी। उनके पितामह महाराज श्रीछत्रसालजी तो इसके प्रतीक ही थे। पूज्य पिता श्रीभवानीसिंहजी महाराज भी इस दिशामें अपना सानी नहीं रखते थे।

यही कारण था कि उनके सद्व्यवहारका सभीपर अच्छा असर था। जो भी एक बार उनसे मिला, जन्मभर उनकी प्रशंसा ही करता रहा।

त्याग-वैराग्यके तो वे मूर्त रूप ही थे। एक भी दीन-दरिद्र कभी इनसे निराश नहीं लौटा। उनके वैराग्यका प्रतीक 'रैन-बसेरा' तो आजतक मौन भाषामें उनके वैराग्यकी कहानी सुना रहा है।

चरित्र-चारित्र्य तो उनकी अपनी पीढ़ियोंकी चीज थी। एकपत्नी-व्रतके तो वे साक्षात् आदर्श ही थे। युवावस्थामें विलायत रहते हुए भी वे लोकोत्तर चरित्रवान् प्रमाणित हुए।*

सबसे बड़ी बात यह थी कि वे ईश्वर-निष्ठाके पक्के आदमी थे। जीवनभर बड़े-से-बड़े दु:खमें और नास्तिक-वैज्ञानिकोंके सत्सङ्गमें भी उनकी ईश्वर-निष्ठामें नाममात्र भी शिथिलता नहीं आयी, प्रत्युत वह अधिकाधिक दृढ़ ही होती गयी—

जस जस सुरसा बदनु बढ़ावा। तासु दून कपि रूप देखावा॥

वे न केवल कर्मयोगी भक्त थे, परंतु भक्त-कवि भी थे। 'सुधाकर-काव्य-कला' इसका ज्वलन्त प्रमाण है। उसको पढ़कर प्रत्येक पाठक यह समझे बिना न रहेगा कि उनका व्यक्तित्व भक्ति, कर्म, चरित्र और कवित्वका व्यक्तित्व था; किंतु उनका कवित्व ऋषि-कल्प-सा था। झालावाड़की जनतापर अबतक उनके इसी व्यक्तित्वकी छाप है। आज भी वह उनके पद गा-गाकर उन्हें याद किया करती है। कविता-प्रेमी उनके इन शब्दोंको तो कभी नहीं भूल सकते—

तुमने मनको न विशुद्ध किया, अपने पुनि दोष मिटाये नहीं।
फिरते ही रहे नित नीचनमें, करते छल नेक लजाये नहीं।
कहे क्या-क्या 'सुधाकर' आर्यजनो, गत गौरव ध्यानमें लाये नहीं।
शतधा समझाया-बुझाया तुम्हें, तब भी कुछ लक्खन आये नहीं।

आओ आओ जी कृष्ण प्यारे, जल्दी दरस दिखाओ॥ टेक ॥
दर्शन का है प्यासा सुधाकर, आकर प्यास बुझाओ।
मधुर-मधुर वो टेर ·बाँसुरी मोहन बेग सुनाओ। आओ॥
आता हूँ, अब आता हूँ, यों कहके मत कलपाओ।
श्याम सखे! भक्तोंको अपने चुटकीमें न उड़ाओ। इत्यादि॥

उनका स्वर्गवास भाद्र शुक्ला ३ सं० २००० को हुआ। उस दिन वे सकुटुम्ब व्रती थे और मृत्युके कुछ देर पहलेतक भक्तिविषयक कुछ पद बना रहे थे।

---

* यह बात भी असन्दिग्ध है कि इन भक्त कर्मयोगी नरेशको अपने धार्मिक, राजनीतिक एवं भक्ति-विषयक कार्योंमें आपकी महाराणी श्रीहीराकुँवरबासे भी पूर्ण प्रेरणा और सहायता मिलती रही थी।

बाबा दूधनराम औघड़

(लेखक—महात्मा श्रीजयगौरीशङ्कर सीतारामजी)

बाबा दूधनराम औघड़ एक सिद्ध महात्मा थे। यह नहीं कहा जा सकता कि उनका जन्मस्थान किस प्रान्तमें था; पर उनकी तपोभूमि गाजीपुर जिलेका देवल ग्राम थी। उन्होंने पचीस सालतक इस भूमिभागमें रहकर कड़ी-से-कड़ी साधना और तपस्या की थी।

वे जातिके क्षत्रिय थे। उनका नाम दूधनाथ सिंह था, इसी नामके अनुसार वे दूधन बाबाके नामसे प्रसिद्ध हुए। देवलमें पधारनेपर हाथमें एक चिमटा लेकर इधर-उधर पागलकी तरह घूमा करते थे। कुछ दिनोंके बाद ग्रामकी पूर्व दिशामें धूनी जलाकर बैठ गये। धीरे-धीरे उनकी ख्याति बढ़ने लगी। एक दिन वे घोड़ेकी पीठपर सवार होकर कहीं जा रहे थे, एक महात्माने रास्तेमें टोक दिया कि 'तुम साधु होकर घोड़ेपर चढ़ते हो?' अचानक दूधन बाबा पृथ्वीपर खड़े होकर कीर्तन करने लगे, घोड़ा अदृश्य हो गया। ऐसे अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाओंसे उनकी जीवनगाथा परिपूर्ण है। वे प्रायः लड़कोंके साथ खेला करते थे। सदा *'श्रीराम जय राम जय जय राम'* मन्त्रका उच्चारण किया करते थे। भगवान्‌के विरहमें कभी रोते थे तो कभी हँसते थे। उन्होंने कर्मनाशाके तटपर रामशाला नामक एक मठ निर्माण किया था। इसी मठके सन्निकट रामतलाई नामका एक जलाशय भी है, जिसमें स्नान करनेपर ज्वर उतर जाता है। कुछ दिनोंके लिये वे चित्रकूट भी गये थे और प्रेमोन्मत्त होकर मन्दाकिनीके परम पवित्र तटपर रामनामध्वनिसे वातावरणको उन्होंने सरस और सम्पन्न कर दिया।

उन्होंने संवत् १८८२ वि० में शरीरत्याग किया।

तपोधन पण्डित बचानि आचारी

(लेखक—महाकवि पण्डित श्रीशिवरत्नजी शुक्ल 'सिरस')

तपोधन पण्डित बचानि आचारीका जीवन अत्यन्त संयमपूर्ण था। वे महान् व्रती और भगवद्भक्त थे। उनका जन्म उत्तर प्रदेशके रायबरेली जनपदके बछरावाँ ग्राममें संवत् १८८२ वि० में हुआ था। उनकी माता नन्दोदेवी बड़ी विदुषी थीं। वे अपने पुत्रसे संस्कृतमें ही बातचीत करती थीं। इससे वे बचपनमें ही धाराप्रवाह संस्कृत बोलने लग गये थे। एक बार वे अपने नाना पण्डित चंदीदीन अवस्थीके साथ एक पण्डितसभामें गये थे। उनकी विद्वत्ता और वादानुवाद-शैलीसे लोग बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने विरोधी पक्षको पराजित कर दिया। पर विद्याविवादमें विजित पक्षको बड़ा दुःख होता है, यह समझकर उन्होंने भविष्यमें कभी भी शास्त्रार्थ न करनेका कठोर व्रत लिया।

थोड़े समयके बाद एक दार्शनिक वैष्णव साधुके उपदेशोंने उनमें भगवान्‌की भक्तिभावना भर दी; वे नित्यप्रति श्रीमद्भागवतके कम-से-कम पाँच अध्यायोंका पाठ किया करते थे। उन्होंने जीवनपर्यन्त किसीका अन्न-द्रव्य नहीं स्वीकार किया। वे गृहस्थ भक्त थे, आचारी-सम्प्रदायमें दीक्षित थे। जो कुछ भगवान्‌की ओरसे खाने-पीनेको मिल जाता था, उसीमें संतोष करते थे। उनकी श्रीभागवतकी कथा बड़ी मधुर होती थी। धनी-मानी व्यक्ति उनको कथा कहनेके लिये आमन्त्रित करनेका साहस नहीं कर पाते थे। उनका प्रण था कि जहाँ भी कथा कहूँगा, वहाँ दूसरेका अन्न नहीं ग्रहण करूँगा, न कथाकी समाप्तिपर एक पैसा भी चढ़ने दूँगा। उनके त्याग और तपोमय जीवनसे लोग बहुत प्रभावित हुए। एक बार वे सेमरौताके राजाके अतिथि थे। राजाने बड़ा प्रयत्न किया कि वे उसका अन्न ग्रहण करें, भेंट स्वीकार करें, पर बचानि आचारीने कहा कि 'चातक तो स्वाति-घनकी ही ओर देखा करता है; अन्य पक्षी सरोवरमें बिना किसी रोक-टोकके जल पीते रहते हैं, पर चातक तो घनश्यामको ही चाहता है।'

आचारीजी महाराजकी रासपञ्चाध्यायीमें बड़ी निष्ठा

थी, रासलीलाकी कथा वे अद्भुत ढंगसे कहते थे। भगवान् श्रीकृष्ण ही उनके उपास्यदेव थे। संत-सेवामें उनकी बड़ी अभिरुचि थी। एक बार उनकी पत्नीने कहा—'आप पूर्वजोंकी सम्पत्ति उड़ा रहे हैं, बाल-बच्चोंके लिये भी तो कुछ सोचना चाहिये।' आचारीजीने कहा कि 'जिसके खजांची स्वयं भगवान् हैं, उसे द्रव्यके अभावकी चिन्ता ही किस तरह रह सकती है।' वे कहा करते थे कि लक्ष्मीकी प्राप्ति भगवान्‌की भक्तिसे ही सम्भव है; जहाँ लक्ष्मीपति हैं, वहीं लक्ष्मी हैं। वे भक्तिको लोक-परलोकसुखकी निधि मानते थे। उन्होंने आजीवन भगवन्नामाश्रय लिया। उनके जीवनमें तपस्या और भक्तिका सुन्दर समन्वय था।

परमहंस अनन्तमहाप्रभुजी महाराज

(लेखक—बाबा श्रीराघवदासजी)

श्रीसाकेतवासी योगिराज परमहंसजी महाराजने कार्तिक कृष्ण २, सं० १९७४ विक्रमीको १३९ वर्षकी आयुमें इस पाञ्चभौतिक शरीरका त्याग किया था। वे योगाभ्यासमें पूर्ण कुशल थे। शिथिलीकरण तथा प्रणवको उन्होंने सिद्ध कर लिया था। अपने शरीरको शिथिल करनेमें उनको इतनी सफलता प्राप्त थी कि वे वर्षों निद्रा लिये बिना भी पूर्ण स्वस्थ बने रहे। मृत्युके बाद भी उनके तेजस्वी शरीरको देखकर यह कोई नहीं कह सकता था कि यह मृत शरीर है। इस शिथिलीकरणके प्राप्त करनेका कारण था उनका निरन्तर ओंकारका निदिध्यास। कोई भी क्षण ऐसा नहीं, जिसमें मैंने उनको नामस्मरणसे रहित देखा हो। वे बात करते, तब भी उनकी अँगुलियाँ स्मरणका काम एक विशिष्ट प्रकारसे करती रहती थीं। इस सदैव ईश्वर-चिन्तनका परिणाम उनके शरीरपर स्पष्ट दिखायी देता था।

श्रीपरमहंसजी महाराजने अपनी सारी योगशक्तियोंका उपयोग भगवदाराधनमें ही किया था। रातके समय लोगोंने उनको सदैव रोते, हँसते, भजन गाते, डमरू बजाते हुए ही देखा। वे सदा अपनी मस्तीमें रहते थे, फिर भी उन्हें समयका ध्यान सदैव रहता। उनका प्रत्येक कार्य ठीक समयपर होता था। जिस प्रकार उनका भोजन परिमित था, उसी प्रकार उनका लोगोंसे मिलना आदि भी ठीक समयपर होता था। भगवच्चिन्तनसे उनकी वृत्तियाँ बड़ी कोमल हो गयी थीं। बालकके समान उनकी आन्तरिक पवित्रता मुखमण्डलपर स्पष्ट झलकती थी। मुझे तो उनको देखकर बारंबार भगवान् श्रीरामकृष्ण परमहंसका स्मरण हो आया करता था। उनकी निःस्पृहता भी पराकाष्ठाकी थी। एक बार जब वे अस्वस्थ हुए, तब उन्होंने मुझे बुलाकर कहा कि 'राघवदास! यदि श्रीबेचू साहु (उस बगीचेके मालिक, जिसमें श्रीपरमहंसजी महाराज रहा करते थे और उनके लिये इन्हीं श्रीसाहुजीकी ओरसे गुफा बनवायी गयी थी और दूधका प्रबन्ध था) मेरे बाद गुफामें भूसा भी रखना चाहे तो मने न करना। गुफा तो उनकी है। मैं तो केवल बगीचेका रखवाला हूँ।'

योगाभ्यास और विद्वत्ताके साथ भक्तिका मेल बहुत कम मिलता है, पर श्रीपरमहंसजी इसके अपवादस्वरूप थे। इनमें दोनों बातें थीं। भारतवर्षके सभी प्रान्तोंसे योगाभ्यासी उनके पास आते थे। एक बार एक तेजस्वी साठ वर्षके संन्यासी आये। कहने लगे—'मैंने सुना है कि आप कल्प कराते हैं; कृपाकर मुझे इसका रहस्य बतायें, मैं भी इसको करूँ।' इसपर ये मुसकराये और कहने लगे कि 'साँप भी केंचुल बदल देता है, पर इससे वह भगवान्‌का भक्त तो नहीं कहलाता। कल्पसे काम नहीं चलेगा। भगवद्भजनमें ही मन लगाना चाहिये। यही शास्त्रोंका सार है।'

श्रीपरमहंसजी महाराजका हृदय दयासे भरा था; जब कभी वे किसीको दुःखी तथा चिन्तित देखते थे तो उसके दुःख दूर करनेका प्रयत्न करते थे। परंतु मुकद्दमेमें जीत चाहनेवाले तथा पुत्रप्राप्तिकी इच्छा रखनेवाले स्त्री-पुरुषोंसे वे सदैव दूर रहते थे। श्रीपरमहंसजी महाराज उच्च कोटिके योगी, विद्वान् और भगवद्भक्त थे। काशीके प्रसिद्ध विद्वान् स्वर्गीय श्रीशिवकुमारजी शास्त्री, प्रो० श्रीराममूर्ति आदि पुरुषोंने उनकी विद्वत्ता तथा शारीरिक स्वास्थ्यकी प्रशंसा की थी। अनेक संतोंने उनकी अनन्य भक्तिको देखकर अपना पूज्य भाव व्यक्त किया था।

भक्त पयाहारी बाबा

(लेखिका—श्रीजानकीदेवी दूबे)

उत्तर प्रदेशके गाजीपुर जिलेमें गाङ्गी नामकी एक छोटी-सी नदी है। कुछ ही आगे जाकर वह पुण्यमयी गङ्गामें समा जाती है। इसी गाङ्गीके तटपर सिसौड़ा नामक एक छोटा-सा गाँव है और वहीं पयाहारी बाबाकी कुटी है।

आपने बनारस जिलेके महाईच परगनेके सिलौटा नामक गाँवमें जन्म लिया था। आपके पूर्वज अत्यन्त धार्मिक, सदाचारी और भगवत्प्रेमी होते आये हैं। उनके जीवनकी छाप आपपर भी पड़ी। आपका मन शैशवसे ही भजनमें लगता था। आप अधिक-से-अधिक एकान्तमें रहते। भगवन्नामका जप, प्रार्थना और कीर्तन करते रहते। प्रातः-सायं जब भी कोई देखे, उनके अधर हिलते रहते।

यौवन समाप्त भी नहीं हो पाया कि आपने पृथ्वीके समस्त खाद्य-पदार्थोंको त्याग दिया। केवल दूध और जल लिया करते। जब जीमें आता, पावभर राख निगल जाते। वे कहते 'मुझे इसीसे शक्ति मिलती है।'

उनका पत्थरका अपना पृथक् आसन था। उसे प्रतिदिन प्रातःकाल धो देते। स्त्री, पुरुष या बालक कोई उसे स्पर्श नहीं कर पाता था। अत्यन्त वृद्ध होनेपर भी अपने ही हाथसे कूप-जल निकालकर स्नान करते तथा अपने ही हाथका निकाला हुआ जल ग्रहण करते।

वे अहर्निश भजनमें लगे रहते। निद्रा बहुत कम लेते थे। कुटीपर आये भक्तोंको भक्ति एवं ज्ञानके उपदेशसे तृप्त कर देते। दीन-दुःखियोंकी सहायताके लिये वे आकुल हो जाते। श्रीकृष्णजन्माष्टमी, श्रीरामनवमी और मार्गशीर्षमें राम-विवाहका उत्सव वे बड़े उत्साह एवं समारोहसे मनाते। हाथीपर भगवान् श्रीरामकी बारात चलती। सिसौड़ाकी उक्त कुटीपर अब भी मार्गशीर्ष शुक्ल पञ्चमीको राम-विवाहका उत्सव होता और वहाँ मेला लगता है।

बाबा केवल पय (दूध) लेते थे, इसलिये उन्हें पयाहारी बाबा कहते थे। उक्त कुटीपर अब जो भी महात्मा रहेंगे, उन्हें पयाहारपर ही रहनेका नियम बना दिया गया है। उक्त बाबाके वंशज ही वहाँ पयाहारके नियमका निर्वाह करते हुए भगवान्‌की सेवामें निरत हैं।

बावन बाबा

काशीसे उत्तर चलकर कुछ दूरके पश्चात् श्रीगङ्गाजी पश्चिमकी ओर बही हैं। यहींपर संबसे लंबा गङ्गाजीका पश्चिममुख प्रवाह है। पश्चिमवाहिनी धाराके मोड़पर बलुआ नामक बाजार है गङ्गाजीके उत्तर तटपर। बाजारसे दो-तीन फर्लांगपर कुछ पेड़ोंके झुरमुट हैं, एक नाला है, छोटा-सा जंगल-जैसा बन गया है। बड़ा सुरम्य स्थान है। यहाँसे लगभग दो मीलपर कैथी नामका ग्राम है। वहाँके एक ब्राह्मणकुलके आजन्म ब्रह्मचारी, तपस्वी, विरक्त महापुरुषने इस स्थानपर भगवान् शङ्करका मन्दिर बनवाया और कुटी बनाकर भजन करते हुए जीवन व्यतीत किया।

श्रीब्रह्मचारीजी महाराज सिद्ध संत थे। उनकी उस प्रदेशमें बड़ी ख्याति थी। अपने गाँवके ही एक क्षत्रिय बालकको उन्होंने दीक्षा दी थी। यह बालक आकारसे वामन था, अतः सब लोग इसे बावन कहा करते थे। गुरुके शरीर छूट जानेपर भी बावनजी उसी कुटीपर भजन करते हुए रहे। अनेक बार उन्होंने तीर्थयात्राएँ की थीं; किंतु उनका चित्त अपने गुरुदेवकी समाधिके समीप पहुँचकर ही प्रसन्न होता था।

कांग्रेसका सत्याग्रह आन्दोलन चल रहा था। अंग्रेज-सरकार दमनपर उतारू थी। कांग्रेस गैरकानूनी संस्था घोषित कर दी गयी थी। स्वयंसेवकोंने जेलखानोंको भर दिया था। सरकारी कर्मचारी अब स्वयंसेवकोंको गिरफ्तार नहीं करते थे। वे स्वयंसेवकोंको आश्रय देनेवालेको गिरफ्तार करते और उनकी सम्पत्ति जब्त होती थी। भयके कारण कोई भी कांग्रेस-कार्यकर्ताओंको अपने

भक्त राधिकादासजी [पृ० ८२७]

भक्त रामनामके आढ़तिया [पृ० ८३१]

पं० मोहनलालजी अग्निहोत्री [पृ० ८८८]
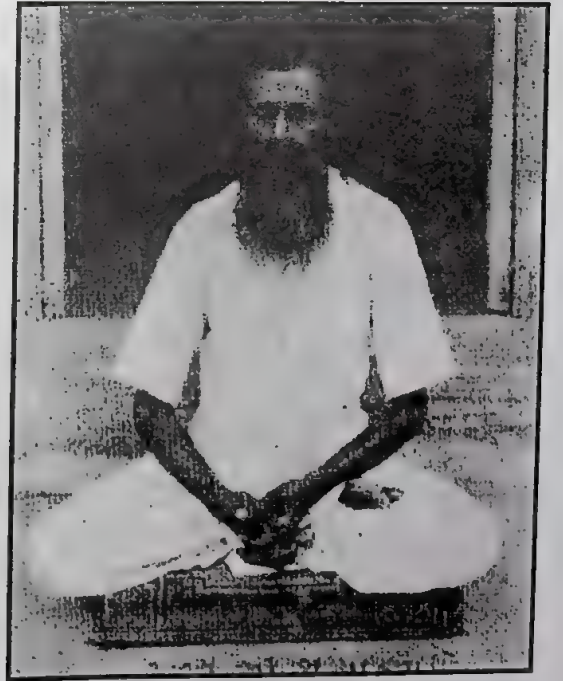
श्रीडाह्याभाई [पृ० ९०७]

भक्त श्रीजादवजी महाराज [पृ० ९०१]

भिक्षु अखण्डानन्दजी [पृ० ९०७]

भक्त श्रीहरिदासजी महाराज [पृ० ९०२]

भक्त कब्बू भाई [पृ० ९०३]

यहाँ टिकाना नहीं चाहता था। छिपकर सहायता देनेवाले तो बहुत थे, पर रहा कहाँ जाय? बावनजीने स्वयं आमन्त्रित किया शिबिर-मन्त्रीको। अपनी कुटिया और मन्दिरको शिबिरके उपयोगके लिये दे दिया इन्होंने। वे कह रहे थे—'मेरे पास है क्या जो पुलिसवाले ले जायँगे। मैं जेल जानेको पहलेसे तैयार बैठा हूँ।'

मन्त्रीने कहा—'हमलोग सत्याग्रह करके गाँजा-भाँग बंद करा रहे हैं, आप इन दोनोंका सेवन करते हैं। अतएव यहाँ शिबिर कैसे बनाया जा सकता है?'

बावनजीने उसी समय वहीं बैठे-बैठे गाँजेकी चिलम गङ्गाजीमें फेंक दी और बोले—'मैंने चिलम ही फेंक दी। अब गाँजा तो क्या, तम्बाकू भी नहीं पीऊँगा; भाँग और ठंढाई—सब आजसे छूट गयी। तुम निश्चिन्त यहाँ आ जाओ।'

उस समय बावनजीकी अवस्था लगभग पैंसठ-सत्तर वर्षकी होगी। सारे शरीरमें झुर्रियाँ पड़ गयी थीं। उनके यहाँ दिनभर भीड़ रहती थी। गाँजेकी चिलम ठंढी ही नहीं होती थी। वे स्वयं कहते थे—'मैं मजेसे पचास-साठ चिलम रोज फूँकता था। भाँगका एक छटाँक गोला नित्य लिया करता था।' नशेका इतना अधिक जो सेवन करता रहा हो, वह वृद्धावस्थामें एक क्षणमें सब छोड़ दे, यह बड़े ही दृढ़ सङ्कल्पकी बात थी। लोग धीरे-धीरे नशा छोड़नेकी बात करते हैं, बीमार हो जानेका भय बतलाते हैं, कोई अन्य सहारा लेते हैं नशा छोड़नेके लिये; पर बावनजीने यह कुछ नहीं किया। एक दिनमें उन्होंने अपने यहाँसे गँजेड़ी-भँगेड़ी लोगोंके समूहको भगा दिया। उनके स्वास्थ्यपर तनिक भी असर नहीं पड़ा।

बड़े सरल, प्रसन्नमुख और सीधे थे बावनजी। फसलके कटनेके दिनोंमें गाँवोंमें जाकर अन्न माँग लाते और फिर उनका वह भण्डार प्रत्येक आगत अतिथिके लिये खुला रहता। कांग्रेस-शिबिर जितने दिन वहाँ रहा, बावनजीके भण्डारका अन्न ही स्वयंसेवकोंके उपयोगमें आया।

भगवान् शङ्कर और गुरुदेवकी चरण-पादुकाकी नित्य पूजा, गङ्गाजीका स्नान और गङ्गाजलका पान तथा गङ्गातटपर विचरते हुए आनेवाले साधु-संतोंका यथाशक्य स्वागत-सत्कार—यही उनका जीवन-क्रम रहा अन्ततक। ऐसे आदर्श, निःस्पृह जीवन अपनेमें ही धन्य एवं पूर्ण होते हैं।

भक्तराज पं० देवीसहायजी

पं० देवीसहायजीका जन्म सं० १८६८ वि० में फर्रुखाबाद जिलेके अन्तर्गत सरायमीर नामक ग्राममें हुआ था। ये बड़े शिवभक्त थे। भगवान् शिवपर इनका अटूट विश्वास था। किसी भी आपत्तिके आ पड़नेपर अन्य किसीसे भी सहायताकी याचना न करके भगवान् शङ्करपर ही निर्भर रहा करते थे। भगवान् शङ्करने इन्हें कई बार प्रत्यक्ष दर्शन भी दिये थे। इनके जीवनकी अनेक अलौकिक घटनाओंसे इनकी आदर्श शिवभक्ति प्रकट होती है। वृद्धावस्थामें तो इनका एकमात्र काम ही था दिनभर शिवमन्त्रका जप, कीर्तन आदि और प्रातः एवं रात्रिमें स्वरचित सुललित पदोंद्वारा भगवान् शिवके गुणगान करना। इन्होंने सं० १९४४ वि० में शिवसायुज्य लाभ करके इहलीला संवरण की।

देवीसहायजीके रचे हुए पद अत्यन्त मर्मस्पर्शी एवं हृदयग्राही हैं। इनका एक सुन्दर पद नीचे दिया जाता है—

दीनबंधु दयाल शङ्कर, जानि जन अपनाइये।
भवसार पार उतार मोकौं, निज स्वरूप दिखाइये॥
जाने-अजाने पाप मेरे, तिनहिं आप नसाइये।
कर जोरि भोरि निहोरि माँगौं, बेगि दरस दिखाइये॥
'देबीसहाय' सुनाय शिव सों, प्रेमसहित जे गावहीं।
भवबन्ध ते छुटि जाहिं ते नर, सदा अति सुख पावहीं॥

भक्तवर उमापतिजी त्रिपाठी

(लेखक—पं० श्रीअम्बिकेश्वरपतिजी त्रिपाठी)

पण्डित उमापतिजी महाराज महान् विद्वान्, दिग्विजयी शास्त्री और भगवान् रामके परम भक्त थे। उनका जन्म गोरखपुर जनपदमें भगवती सरयूके परमपवित्र तटपर पिण्डीग्राममें संवत् १८५१ वि०में हुआ था। वे बाल्यकालसे प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे, उनके चरित्र-विकास और विद्याध्ययनपर उनके विद्वान् और संस्कृतज्ञ पिता पण्डित शंकरपतिजी त्रिपाठीका विशेष प्रभाव पड़ा था। जीविकोपार्जनकी दृष्टिसे उनका परिवार छपराके महुआ ग्राममें आ गया। उमापतिजीके पाण्डित्यसे सारा-का-सारा बिहार प्रान्त और उत्तर प्रदेश आश्चर्यचकित हो उठा। *'मिथिला शिथिला जाता समायाते उमापतौ'* की उक्ति बिहारमें अब भी प्रसिद्ध है। ये उच्च कोटिके विद्वान् थे। व्याकरण शास्त्रके अर्वाचीन मतका खण्डन करके प्राचीन मतके समर्थनके लिये उन्होंने दो बड़े ही मनोरम ग्रन्थ लिखे थे। वे सफल कवि भी थे; उन्होंने संस्कृत भाषामें भगवान् श्रीराम और श्रीसीताके स्तवनमें अनेक श्लोकोंकी रचना की है, जो बहुत सरस और पाण्डित्यपूर्ण हैं।

काशीमें कुछ कालतक निवास करनेके बाद उन्होंने विन्ध्याचलकी यात्रा की, भगवती विन्ध्यवासिनीने साक्षात् दर्शन दिया। देवीकी प्रेरणासे उन्होंने अयोध्यामें आश्रमकी स्थापना करके स्थायीरूपसे निवास किया। अयोध्यानरेश कविवर मानसिंह द्विजदेव तथा आगरा और अवधप्रान्तके प्रसिद्ध नरेश उनको बड़ी श्रद्धा और आदरकी दृष्टिसे देखते थे।

वे भगवान् रामकी उपासना गुरु-भावसे करते थे। रामको अपना शिष्य मानते थे। वे गलेकी पहनी हुई माला उनको पहनाते थे। अयोध्याकी संतमण्डली और भक्त-मण्डलीमें खलबली मच गयी कि एक वृद्ध ब्राह्मण भगवान् रामके प्रति ऐसा अनुचित व्यवहार करते हैं। लोगोंने पण्डितजीसे इस विषयमें शंका की। उन्होंने कहा कि आपलोग भगवद्-विग्रह मेरे दरवाजेपर लायें; यदि भगवान् मेरे हाथसे माला ग्रहण कर लें तो मेरी निष्ठा उचित समझियेगा। शोभायात्रा निकाली गयी। भगवान्का रथ उनके दरवाजेपर पहुँच गया; भक्त माला लिये खड़ा रहे और भगवान् खयाल न करें। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि भक्तने भगवान्को शिष्य भी तो माना था, गुरुका अपमान भगवान्से हो? दशरथनन्दन, अयोध्यापतिका मस्तक नत हो गया, रामकी चिन्मय प्रतिमाने हाथ जोड़कर प्रणाम किया, माला लेकर गलेमें डाल ली, अयोध्यानगरी उमापति-ऐसे परमभागवतकी उपस्थितिसे कृतार्थ हो उठी।

भगवती मिथिलेशनन्दिनीके चरणकमलोंमें उनकी अपार निष्ठा थी। एक बार कुछ संत आये, उन्होंने कार्तिक मासमें कटहल माँगा; पण्डितजीने जानकीजीसे प्रार्थना की, भण्डार कटहलसे परिपूर्ण हो उठा। एक बार घरमें चूड़ी पहनानेवाली आयी, घरमें दो स्त्रियाँ थीं; उसने कहा कि मैंने तीनको चूड़ियाँ पहनायी हैं। तीसरी स्त्री जानकीजी थीं! कितनी पूर्ण भक्ति-भावना थी उनकी। संवत् १९३० वि० में उन्होंने भगवान्के धामकी यात्रा की।

श्रीबुद्धू भक्त

पचास साल पहलेकी बात है, परम पवित्र भगवती कूपवाहिनी (कुआनो) के तटपर उत्तर प्रदेशके बस्ती जनपदके महाश्रम (महसों) ग्राममें एक अत्यन्त पवित्र वैश्यकुलमें दो भाइयोंने जन्म लिया, जिनकी शुभ कीर्तिकी पताका आज भी फहराकर भक्ति महारानीकी विजय-जयन्ती मना रही है। उनका नाम बुद्धू और लुद्धू था। दोनों भाई परम भगवद्भक्त और गृहस्थवेषमें भी महान् संत थे, दोनोंने आजीवन कठोर ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया। दोनों दूर-दूरतक 'भगतजी'के नामसे प्रसिद्ध थे। बुद्धू भक्त बड़े थे।

बचपनसे ही उनका मन भगवान्के चरणारविन्दमें आसक्त था। उनका जीवन सादगी, कोमलता, मृदुता और विनम्रताका प्रतीक था। बुद्धू भक्तका भ्रातृप्रेम अत्यन्त सराहनीय था। वे लुद्धूको बहुत मानते थे, परिवारमें

उनकी क्षमाशीलताके प्रभावसे कभी कलह या झगड़ेका उदय नहीं हुआ। बुद्धू भक्त बड़े संयमी और व्रती थे। वे नित्य प्रातःकाल नित्यकर्मसे निवृत्त होकर भजनमें लगते थे। परम शिवभक्त और श्रीकृष्णचरणानुरागी श्रीलालविहारीजी कायस्थके शिवमन्दिरमें बैठकर नित्य नियमपूर्वक तीन घंटेतक रामचरितमानस, शुकसागर तथा अन्य भक्तिग्रन्थोंका पाठ करते थे। वे राम और कृष्णमें कुछ भी भेद नहीं मानते थे। दोनोंकी उपासना समान भावसे करते थे। पाठ तथा भजन आदि समाप्त करनेपर दूकानके कार्यमें लग जाते थे। मिठाई बनाकर बेचा करते थे। दूकानपर बैठे-बैठे सदा साधु-संतोंकी राह निहारा करते थे। सौभाग्यसे उन्हें नित्य ही सत्पुरुषोंका सत्सङ्ग मिल जाया करता था और वे उनके साथ भगवच्चर्चा किया करते थे। उन्होंने भारतवर्षके समस्त पवित्र तीर्थोंकी यात्रा की थी, अयोध्या तो सालमें कई बार जाया करते थे। घरपर रामनवमी और जन्माष्टमीका उत्सव धूम-धामसे मनाया करते थे।

संतसेवामें उनका मन बहुत लगता था। एक बार गाँवमें एक अवधूत आये। परमहंसजीको गाँववालोंने पागल समझा। भक्त बुद्धू शिवमन्दिरमें पाठ कर रहे थे, उठते ही समाचार विदित होनेपर वे महात्माकी खोजमें चल पड़े। अवधूतजी गाँवमें ही थे, भक्त उनके चरणपर गिर पड़े; कहा कि 'गाँववाले आपको नहीं समझ सके, उनका अपराध क्षमा हो।' अवधूतजी हँसने लगे, भक्तके साथ उनके घर आये, बुद्धूने प्रेमपूर्वक भोजन कराया, उनका अङ्ग-अङ्ग रोमाञ्चित था। नयनोंमें सावनकी बरसात थी।

बुद्धू भक्त बड़े अध्यवसायी थे, स्वावलम्बी थे। उनके दर्शनसे ही लोगोंको महती शान्ति मिलती थी, पापी-से-पापी जीव भी उनके सामने आनेपर पुण्यात्मा हो जाता था। अभी बारह-तेरह साल पहले उन्होंने स्वर्गकी यात्रा की।

भक्त यज्ञनारायणजी पाण्डेय

(लेखक—पं० श्रीशिवनाथजी दूबे, साहित्यरत्न)

मिर्जापुर जिलेमें पुण्यतोया चन्द्रप्रभाके तटपर पसही नामका एक गाँव है। लगभग दो-ढाई सौ घर हैं इस गाँवमें। यहींके प्रतिष्ठित जमींदार पण्डित श्रीपञ्चानन्दजी पाण्डेयकी धर्मपत्नीकी कोखसे आपने जन्म लिया था। बाल्यकालसे ही आपकी आध्यात्मिक रुचि देखनेमें आती थी। संस्कृतके छोटे-छोटे स्तोत्रोंको कण्ठ कर लेना और उन्हें गाते रहना बड़ा प्रिय लगता था आपको। प्रारम्भिक शिक्षा आपकी गाँवमें हुई। पिताके सदाचरण एवं आध्यात्मिक जीवनकी आपके निर्मल मस्तिष्कपर अमिट छाप पड़ती गयी।

भगवान् श्रीराम आपके आराध्य बन गये। मानस आपने कण्ठ करना शुरू किया। कुछ समय बाद आपने पूरा रामचरितमानस मुखस्थ कर लिया। इसके बाद गीतावली, कवितावली और विनयपत्रिकाको भी आपने अक्षरशः याद किया। आपका कण्ठ अत्यन्त मधुर था। जब भी अवकाश मिलता और दो भी सत्सङ्ग-पिपासु आ जाते, बस राम-चर्चा छिड़ जाती। कोई सत्सङ्गी बैठ सके तो सारी रात्रि उनकी सत्सङ्गके लिये ही थी। रविवारको तो पसहीके राममन्दिरपर नियमित कथाका कार्यक्रम रहता ही था।

परिवारके लिये आप अकर्मण्य नहीं थे। भगवद्भजनके साथ बड़ी ही तत्परतासे वे गृहस्थीका कार्य करते। प्रातः अरुणोदयके पूर्व स्नान-सन्ध्यासे निवृत्त हो आशुतोष शिवकी पूजा कर लेते और फिर कमण्डलुभरा जल तथा दुर्गासप्तशतीकी पोथी लिये गन्नेके खेतके मचानपर चले जाते। वहाँ दुर्गासप्तशतीका सम्पुट पाठ करते। दुर्गासप्तशतीका सम्पुट पाठ किये बिना ये कभी जल नहीं ग्रहण करते थे।

इन्हें तीर्थयात्रा करनी थी, इसके लिये परिवारवालोंसे कुछ समयके लिये अवकाश लिया और परम पावन अवधधामसे दो संतोंके साथ यात्रा आरम्भ करनेका निश्चय हुआ। ये अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट और पहलवान भी थे।

दोनों महात्मा भी इन्हीं-जैसे तगड़े थे। ये उन महात्माओंके साथ पैदल ही जिस पथसे भगवान् श्रीरामने वन-गमन किया था, उसी पथसे उसी प्रकार हर स्थानोंके दर्शन करते रामेश्वरतक चले गये। मानस-कथा, भजन और सत्सङ्ग प्रातः-सायं चलता ही था। इसी प्रकार भजन एवं संत-सङ्गका सुख लेते हुए इन्होंने पुरी और द्वारकाकी भी यात्रा की। श्रीबदरीनाथ और केदारनाथजीके भी दर्शन कर आये, पर दो मीलके लिये भी कोई सवारी नहीं की। लोगोंका विश्वास है, श्रीबदरीविशाल जाते समय इन्हें भगवान्का साक्षात्कार हुआ था।

जीवनके चालीस वर्ष पार करते तो आपका जीवन विलक्षण बन गया। रात्रिके चार बजेसे ही मधुर स्वरोंमें प्रार्थना आरम्भ होती और फिर दिनभर भजन, पूजन और पाठका क्रम चलता रहता। रात्रिके बारह बजनेके पूर्व ये कभी शयन नहीं करते। माघमासमें प्रतिवर्ष अपनी धर्म-पत्नीके साथ तीर्थराज प्रयागमें त्रिवेणी-तटपर निवास करके स्नान, भजन और सत्सङ्ग करते और पूरे महीनेभर रामनगरकी रामलीला देखते। रामलीलाके समय इनकी बड़ी विचित्र स्थिति हो जाती। भगवान् श्रीरामकी ओर ये इस प्रकार एकटक देखा करते, जैसे जड हो गये हों।

वे भगवान्के अपूर्व भक्त थे। उनके तन-मन और प्राणमें भगवान् बसे थे। उनके जीवनका प्रत्येक क्षण भगवान्के लिये ही बीतता था। उनके सम्पर्कमें आनेवालोंका जीवन पवित्र ही नहीं हुआ, वे भगवान्को पानेके लिये उत्कट साधनमें लग गये।

श्रीपाण्डेयजीको इस जगत्से भगवान्के चरणोंमें पहुँचे अभी कुछ ही वर्ष बीते हैं। जीवनके अन्तिम दिनोंमें उनकी आकृति अत्यधिक तेजपूर्ण हो गयी थी।

बाबा रघुपतिदासजी

(लेखक—बाबा श्रीलक्ष्मणदासजी महाराज)

केवल कुछ दिनोंकी बात है, उत्तर प्रदेशके बलिया जनपदके केवरा गाँवमें बाबा रघुपतिदासने जन्म लिया। उनके पिताका नाम रामहित और माताका अलहन्ती देवी था। दोनों भगवद्भक्त थे, अतएव उनके बालक गोपीपर उनकी सरलता और भक्तिका सुन्दर प्रभाव पड़ा। उनके मनमें वैराग्य और संसारके प्रति अनासक्तिका उदय हो आया। उन्होंने मिल्की मठियाके स्वामीजी श्रीबच्चू बाबासे दीक्षा ली और वे मस्त होकर भजन करने लगे। धीरे-धीरे उनके तन और मन दोनोंपर भगवान्की भक्तिका अमिट रंग चढ़ने लगा। उनकी शारीरिक कान्ति अत्यन्त दिव्य थी। वे भजन करते-करते कभी विह्वल हो जाते, कभी रो पड़ते, कभी प्रेमोन्मादमें मतवाले हो उठते। उनकी सरलता और तपोमय जीवनसे लोग अधिकाधिक संख्यामें उनकी ओर आकृष्ट होने लगे।

एक समय वे चबूतरेपर स्नान कर रहे थे। स्नान अधूरा ही था कि सहसा दौड़कर कूद पड़े, फिर लौट पड़े, झूम-झूमकर हँसने लगे, लोगोंने उनको पागल समझा; पर बादमें उन्होंने स्वयं बताया कि 'मेरे सामने एक दिव्य मूर्ति प्रकट और अदृश्य होती रहती थी, मैं उसके आलिङ्गनके लिये दौड़ता था, पर वह ओझल हो जाती थी।' वे भक्तिका रसामृत पीकर कभी-कभी बड़े सुन्दर-सुन्दर कीर्तनके पदोंकी रचना करते और मस्त होकर गाया करते थे। भावावेशमें वे एक बार धर्मशालाके कमरेमें लगातार छः दिनतक समाधिस्थ रहे, भक्तोंके विशेष आग्रहपर वे बाहर आये। उस समय वे बड़े तेजस्वी दीख पड़ते थे।

उन्होंने भारतके समस्त प्रसिद्ध तीर्थोंका भ्रमण किया। एक बार वे वृन्दावनकी एक धर्मशालामें थे, कड़ाकेका जाड़ा पड़ रहा था, बदनपर कम्बल नामकी कोई वस्तु न थी। रासरसिकेश्वरकी राजधानीमें एक संत भक्त जाड़ेसे काँपता रहे, यह असम्भव था। बाबाने देखा कि उनके शरीरपर दो-दो शाल पड़े हुए हैं। वे वंशीवाले नन्दनन्दनकी कृपापर अपना सर्वस्व समर्पितकर खिलखिलाकर हँस पड़े, अङ्ग-अङ्गमें नया जीवन आ गया।

रघुपतिदासजी परम विरक्त और त्यागी थे। रुपये-पैसेके स्पर्शसे भी दूर रहते थे। उन्होंने अपनी आवश्यकताओंको बहुत कम कर दिया था। मठियामें किसी वस्तुका संग्रह नहीं करते थे। सर्वत्र—सबमें भगवद्बुद्धि रखते थे।

भक्त लाला भगवानसहायजी

(लेखक—श्रीवासुदेवजी चामलीकर 'मृगाङ्क')

भगवानसहायजीका जन्म कायस्थ सक्सेनाकुलमें संवत् १९३४ वि०में हुआ। कुरावली जिला मैनपुरीको उनकी जन्मभूमि होनेका गौरव प्राप्त हुआ। उनके पिता श्रीशंकरलालजी बड़े भगवद्भक्त, शिवोपासक और भजनप्रेमी व्यक्ति थे। समयके प्रवाहमें १८५७ में कुरावलीको छोड़ना पड़ा और जीविकोपार्जनके लिये ये ग्वालियर-राज्यान्तर्गत नरवर नामक कस्बेमें रहने लगे। यहाँ आकर उन्होंने राजकीय सेवा स्वीकार की।

लाला भगवानसहायजीकी शिक्षा योग्य गुरुओंके अनुशासनमें आरम्भ हुई। बाल्यकालमें वे एक गुरुभक्त तथा ईश्वरपरायण छात्र थे। युवावस्थामें उनको पुलिस-विभागमें नौकरी करनी पड़ी तथा उन्होंने उक्त विभागकी सेवा ग्यारह वर्षोंतक तन-मनसे की। भ्रष्टाचारसे सदैव दूर रहे। अपने सहयोगियोंके चंगुलमें फँस जानेपर यदि कभी कुछ अनुचित धन लेना ही पड़ता तो उसे घर न लाकर मार्गमें ही निर्धन भिखारियोंमें वितरित कर देते तथा घर आनेपर हाथ धोकर प्रायश्चित्त करते थे।

पुलिस-विभागमें यह बड़ी कठिन चीज है। सरकारी कार्यकी अपेक्षा पारलौकिक कर्तव्यका वे विशेष ध्यान रखते थे। ब्राह्ममुहूर्तमें उठते तथा भगवान्के ध्यानमें रत रहते। बड़े प्रेम और श्रद्धासे भगवान्का षोडशोपचार पूजन करते और तुलसीकृत रामायणका पाठ करते थे। नित्यका पूजन करनेके पूर्व कुछ भी खाते नहीं थे। यदि राजकीय कार्योंके कारण कभी नित्यकर्ममें बाधा आती तो उपवास करते थे तथा पूजन-पाठादि करनेके पश्चात् ही अन्न ग्रहण करते थे।

सरकारी कार्यसे निवृत्त होनेके पश्चात् सायङ्काल परिभ्रमणके लिये जाते थे। रात्रिमें 'भक्तमाल' आदि पुस्तकोंका स्वाध्याय तथा प्रार्थना करते थे। ग्यारह-बारह बजे भगवान्का स्मरण करते हुए सो जाते थे।

उनके पिता श्रीशंकरलालजी वृद्धावस्थामें नेत्रज्योतिहीन हो गये थे। अतः पिताजीकी सेवा सदैव स्वयं ही करते थे। स्थानान्तरमें विशेष उन्नतिके साथ बदली होनेपर उन्होंने यह कहकर कि 'नौकरियाँ तो और भी मिल सकेंगी परंतु पितृसेवाका अलभ्य लाभ फिर थोड़े ही मिलनेवाला है' त्यागपत्र प्रस्तुत कर दिया।

वे प्रत्येक कार्यको भगवान्की आज्ञा मानते थे तथा हर्ष-विषादसे दूर रहकर निर्लिप्त भावसे कर्म करते थे। वे दयावान्, मधुरभाषी, सरल प्रकृतिके होकर प्राणिमात्रके हितचिन्तक थे। किसी भी वस्तुको अपनी न कहकर 'रामजी' की कहते थे। कृषि-जमींदारी आदिसे जो कुछ प्राप्त हो जाता, उसीमें संतुष्ट रहते थे। सदैव तुलसीकी माला धारण करते तथा पक्षियों और चींटियोंको अन्न डालते थे।

उनका देहान्त सन् १९४४ ई० के मई मासमें हुआ। देहान्तके समय उनके दोनों पुत्र बाहर गये हुए थे। उनके लौटनेतक प्राणोंको ब्रह्माण्डमें धारण कर लिया। दो दिनतक इसी स्थितिमें रहे तथा उनके आनेपर शान्तिपूर्वक प्राणत्याग किया।

भक्त कुञ्जविहारीसिंहजी

(लेखक—पण्डित श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

वह सभी प्रकार दीन था। बाल्यकालमें तो अत्यन्त सुन्दर मनोहर एक पुष्ट बालक था, पर पीछे सभी अङ्गोंसे प्रायेण विकलाङ्ग हो गया था। उसकी अब भी जब कभी स्मृति हो जाती है—विशुद्ध भगवद्भक्तका रूप हृदयमें खिंच जाता है। नम्रता और विनयकी तो मानो वह मूर्ति ही था। अधिक पढ़ा-लिखा न होनेपर भी महामना विद्वान्-जैसा था। उसके मुखमें सभी समाधानोंके लिये *'नट मर्कट इव सबहिं नचावत। राम खगेस बेद अस गावत॥'* इस चौपाईका सर्वदा वास रहता था। रामायणका हृदयसे प्रेमी था तथा शङ्का-समाधानोंमें दिव्य आनन्द पाता था। प्रायः कुछ घंटोंमें ही 'मूलरामायण' के सभी श्लोकोंको कण्ठाग्रकर उसने अपनी विलक्षण स्मरण-शक्तिका परिचय दिया था। भगवान्की कथा जहाँ और जब भी होती हो, चाहे वह महीनोंतक क्यों न होती रहे,

अस्वस्थता तथा पङ्गुकी दशामें भी पहुँच ही जाता था। भगवच्चर्चा या कथा-श्रवणमें उसके नेत्रोंसे अविरल अश्रुप्रवाह तथा कभी-कभी दिव्य हर्षोद्रेक उमड़ पड़ता था। नामका वह अकिञ्चन प्रेमी था और कहा करता था कि 'लोग बेकार ही हल्ला करते हैं। पता नहीं वे क्या चाहते हैं। यदि कुछ काम कर, किसीकी नौकरी कर भृतिमात्र प्राप्त करना ही उन्हें इष्ट है, तब तो संसारके जीवमात्र ही भगवान्‌के कैङ्कर्यमें सदाके लिये (Permanent) नियुक्ति प्राप्त कर चुके हैं। भृति भी उनसे बढ़कर कौन देगा? ये लोग क्यों नहीं बराबर 'राम-राम' इस अद्‌भुत अमृतोपम वर्णद्वयीका जप करते हैं?'

सचमुच एक आदर्श भगवद्भक्त तो वही है, जो भगवत्कृपा प्राप्तकर, अथ च विश्वके सम्पूर्ण पदार्थोंका आधिपत्य प्राप्त कर लेनेपर भी स्वयं सुखोंसे बिलकुल दूर रहे। अपनेको तृणसे भी सुनीच तथा तरुसे भी सहिष्णु बनाये रखे और बराबर दूसरोंके उपकारोंको ध्यान रखे और अपनी विद्वत्ता, आढ्यता, प्रगल्भता आदिको लेशमात्र भी प्रकट न होने दे।[१] काम-क्रोधादिकोंका तो कोई प्रश्न ही नहीं—

रमा बिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥
राम चरन पंकज रति जिनहीं। बिषय भोग बस करै कि तिनहीं॥
सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रानसम मम ते प्रानी॥

आढ्यताके अतिरिक्त प्रायः उसमें ये सभी लक्षण मौजूद थे। वह दुराचारियोंको भी बड़े सौम्य तथा मधुर शब्दोंमें उन्मार्गसे विरत होनेकी प्रार्थना करता था। ऐसी कितनी घटनाएँ मेरे सामने हुई हैं।

वह अत्यन्त साधारण राजपूतपरिवारमें उत्पन्न हुआ। उसका सारा प्रायः चौंतीस वर्षोंका जीवन नानाविध संकटोंमें ही गया; पर उसकी भगवद्भक्तिनिष्ठा तो **'गाङ्गैवौघमुदन्वति'** की भाँति अनुदिन बढ़ती ही गयी और अन्ततक भी वह भगवत्स्मरणरत रहा। कष्टोंकी याद दिलानेपर भी वह प्रभुकी विलक्षण कृपा तथा कर्म-भोगोंकी बात कहकर सबको धैर्य देता रहा। कई महीनोंकी लंबी बीमारी भोगकर २००० विक्रमीके माघ शुक्ल पञ्चमीको वह गीता, रामायण, भगवन्नाम श्रवण करता हुआ ऐहिक शरीरसे मुक्त हुआ। उसके मरनेके समय एक विलक्षण बात तो हुई ही। उसके अनुज शिवबिहारीसिंहने भी स्वयं उसके साथ परलोक जानेकी हार्दिक प्रार्थना की और पूरा सप्ताह भी नहीं बीत पाया कि वह भी चल बसा।[२] जो हो, आजके विषम वातावरणमें वैसी विभूतियाँ देखनेमें बहुत कम आती हैं; उसमें भी जब साम्प्रदायिकताका नाम लेकर सनातनधर्मको मिटानेके लिये ही जब भारत-सरकारकी सम्पूर्ण शक्तिके व्यय करनेका डंका पीटा जाता है, तब क्या पता कि भारतमाताके नसीबमें क्या बदा है?

---

१. रोड़ा हो रहु बाटका, तजि ममता अभिमान। यही वेदका सार है, यही ज्ञान-विज्ञान॥
रोड़ा हुआ तो क्या हुआ, पंथीको दुख देह। साधू ऐसा चाहिये, ज्यों जंगलका खेह॥
खेहौ हुआ तो क्या हुआ, उड़ि उड़ि लागत अंग। साधू ऐसा चाहिये, ज्यों पानीका रंग॥
पानी हुआ तो क्या हुआ, तात सीर हो जाय। साधू ऐसा चाहिये, हरिमें रहे समाय॥
हरिहू हुआ तो क्या हुआ, हरिसे सब कछु होय। साधू ऐसा चाहिये, जाते कछू न होय॥

२. ऐसी तीन-चार घटनाएँ मेरे नेत्रोंके सामने हुई हैं। साम्प्रदायिकताके प्रेमियोंको इसका रहस्य समझने-समझानेका यत्न करना चाहिये।

श्रीचित्रकूटके मौनी बाबा

(लेखक—धर्मभूषण श्रीकामतासिंहजी वकील)

श्रीमौनी बाबा चित्रकूटके प्रसिद्ध भक्त थे। ये श्री १०८ स्वामी श्रीलक्ष्मणदासजीके शिष्य थे। इन्होंने अवधूत-वृत्तिमें जीवन व्यतीत किया। एक ही वृत्ति सदा रही। किसीसे कभी याचना नहीं की। इनके गुरुजी सिद्धावस्थाके योगी थे। खड़ाऊँ पहनकर बढ़ी हुई मन्दाकिनीमें उस पार जाया करते थे। इन्होंने एक ही स्थानमें रहकर अपना पूर्ण जीवन व्यतीत किया। एकान्तमें रात्रिके समय जब-तब कुछ गा पड़ते थे—*'मुड़ेहीकी मुरलिया बाज रही'* यही उनका प्रिय पद था। लगभग नब्बे वर्षकी अवस्थामें कार्तिक मास सन् ४२ या ४३ में शरीर त्यागकर स्वर्गको पधारे। लेखक शरीरत्यागके समय उन्हींके समीप था। उनकी समाधि चित्रकूटमें मन्दाकिनीतटपर बनी है। भक्तलोग दीपमालिका आदि पर्वोंमें उसका पूजन किया करते हैं।

चित्रकूटके परमत्यागी श्रीरामनारायण ब्रह्मचारीजी

(लेखक—धर्मभूषण श्रीकामतासिंहजी वकील)

श्रीब्रह्मचारीजी महाराज एक उत्कट त्यागी कर्मनिष्ठ महात्मा चित्रकूटमें हो गये हैं। इन्होंने सिरसा वन, चित्रकूटमें जीवन व्यतीत किया। सदा त्रिकाल-सन्ध्या करते। यम-नियमका पालन करते हुए नब्बे वर्षकी अवस्थामें भी स्वपाकी रहे। कर्मयोगके पक्के उपासक थे। जीवनमें किसीसे भी कभी कोई याचना नहीं की, न किसीका दिया कोई पदार्थ ही सेवन किया। एक बड़ा खेत था, किसानको दे दिया था, उसीकी आधी उपजमें भोजन करके भजन करते थे। लेखकको कई वर्षोंतक इनके सत्सङ्गका सौभाग्य प्राप्त हुआ। गीताका पाठ सदा करना आपका नित्य नियम था। बहुत-सी गुप्त विद्याएँ भी आप जानते थे, पर उन्हें वे कभी प्रकट नहीं करते। गौकी सेवा करते, घास स्वयं छीलकर खिलाते थे। बड़े ही सरल स्वभावके तथा मधुरभाषी थे। माघके महीनेमें लगभग ३८-३९ सन्में समाधिस्थ हुए।

बुखाराके भक्त बाजन्द

(लेखक—वैद्य श्रीबदरुद्दीन राणपुरी)

बादशाह बाजन्दके पिताको एक ज्योतिषीने कहा कि 'तुम्हारा पुत्र एक महान् त्यागी भक्त होगा।' बादशाहको इससे डर लगा और उसी दिनसे उसने बाजन्दको खूब ही मौज-शौक, ऐशो-आराम और अमन-चमनमें गर्क कर दिया। राज्यमें डुग्गी पिटवा दी कि कोई आदमी मर जाय तो उसकी अन्तिम क्रिया इस तरह करनी चाहिये ताकि बाजन्दको मौतकी खबर न हो। इसी समय स्वयं उसके पिताकी मृत्यु हुई; पर बाजन्दको पता न लगे, इसका ध्यान रखते हुए ही उनको मिट्टी दे दी गयी। बाजन्दको यह समझा दिया गया कि बादशाह हज करने गये हैं। पर भगवान्के विधानको कौन टाल सकता है!

आज बड़े धूम-धामसे बाजन्दकी सवारी निकली है। हाथी, घोड़े, रथ, म्याने, ऊँट, पालकी आदिका ठट्ट लग रहा है। डंके-निशान बज रहे हैं। सबके बीचमें राजकुँवर बाजन्द सजाये हुए हाथीपर विराजमान हैं। बाजन्द हीरा, मणिक आदि रत्नोंसे जड़ी बहुमूल्य पोशाक पहने हुए हैं और राजाके लिये शोभनीय राजसी ठाट-बाटसे अच्छी तरह सुसज्जित हैं। सवारी एक गाँवसे दूसरे गाँवको जा रही है। सब अपने-अपने राग-रंगमें मस्त हैं। अचानक सवारी रुकी; क्योंकि जब वह दो पहाड़ोंके बीचमें पहुँची, तब सबसे आगेके डंकेवाला ऊँट मर गया! रास्ता इतना सँकड़ा था कि ऊँटके मरकर गिर

पड़नेसे आगे बढ़नेका रास्ता रुक गया। सवारी रुकनेपर बाजन्द स्वयं हाथीसे नीचे उतरे और सवारी क्यों रुकी, इसका पता लगानेके लिये आगे बढ़े। चलते-चलते जब आगे पहुँचे, तब वहाँ ऊँटको पड़ा देखा।

बाजन्दने दीवानसे पूछा—'दीवान! इस ऊँटको जल्दी खड़ा करो। यह जल्द चले।'

दीवानने निराश होकर जवाब दिया—'जहाँपनाह! यह ऊँट मर गया है और अब यह चल नहीं सकता।'

बाजन्द—अरे भाई! इसमें मर क्या गया? हाथ है, पैर है, सिर है, पूँछ है, पेट है, छाती है—सभी कुछ तो है; तब मरा क्या?

दीवान—महाराज! सब कुछ होनेपर भी इसमें जो जीव था, वह निकल गया; इसलिये यह चल नहीं सकता।

बाजन्द—सब कुछ होते हुए भी जीवके बिना नहीं चल सकता?

दीवान—हाँ, गरीबपरवर! अब तो शरीर बेकाम हो गया, कामकी चीज तो जीव है। जीव गया तो सब गया! अब तो पञ्चभूत बाकी रह गया।

बाजन्द—अब इस मरे हुए ऊँटका क्या करोगे?

दीवान—इसे जमीनमें गाड़ देंगे।

बाजन्द—तो क्या मेरी इस सुन्दर कायामेंसे भी जीव चला जायगा?

दीवान—हाँ दयालु! यह तो संसारभरके लिये कुदरतने एक ही नियम बनाया है। जगत्‌में आने और जानेका स्थान राजा और रङ्कके लिये कुदरतने एक-सा ही रखा है।

बाजन्द—तो फिर मेरे प्राण चले जानेके बाद क्या होगा?

दीवान—बस, आपको भी कब्र खोदकर गाड़ देंगे और ऊपरसे धूल डाल देंगे। आपके माता-पिता और दादाकी भी यही हालत हुई है, सब मिट्टीमें मिलकर मिट्टी बन गये हैं। बड़े-बड़े सिकन्दर-जैसे सम्राट् भी मिट्टीमें मिल गये हैं।

बाजन्द—तो फिर इस सुन्दर कायाके उद्धारका भी कोई रास्ता है?

दीवान—हाँ, संतोंने इसका रास्ता बताया है—भगवान्‌का भजन। भगवान्‌का भजन करनेवाले मरकर भी अमर हो गये हैं और उन्होंने नित्य सुख-शान्ति प्राप्त की है।

बाजन्द—तो फिर यह राजपाटकी खटपट, दगा-धोखा और आधि-व्याधि-उपाधि—इनकी जीवनमें क्या जरूरत है? अब तो भजन करके ही भवसागर तरना और देहका उद्धार करना ठीक है। दीवानजी! अब तुम सवारी लौटा ले जाओ; और मैं अपना वही रास्ता पकड़ता हूँ जहाँ मृत्युका भय नहीं, दुःखका डर नहीं है और शान्तिका साम्राज्य है।

सिन्धके भक्त शाह अब्दुल लतीफ

(लेखक—श्रीबदरुद्दीन राणपुरी)

महान् भक्त कवि शाह अब्दुल लतीफका जन्म ईसवी सन् १६८९ में हाला गाँवमें हुआ था। उनके पिताका नाम सैयद था। कारणवश वे हाला छोड़कर कोटडीमें आ बसे थे। लड़कपनमें लतीफको नूरमहम्मद नामके मौलवीके पास पढ़नेके लिये भेजा गया। अलिफ-बे करके फारसीकी वर्णमाला शुरू होती है। शाहने मौलवी साहबको बतलाया कि वर्णमालाका पहला अक्षर 'अलिफ' ईश्वरके नामके साथ जुड़ा हुआ है; इसलिये मैं तो इसको सीखूँगा, बराबर इसीको पढ़ूँगा। बादके 'बे' आदि अक्षरोंसे मुझे क्या मतलब।

वे बड़े दार्शनिक, तत्त्वज्ञानी और प्रभुके प्रेमी हुए। सूफी मार्गके वे महान् संतोंमें गिने जाते हैं। उनके भजन आज भी हिंदू-मुसलमानोंमें बड़े ही प्रेमसे गाये जाते हैं, और गाने तथा सुननेवालोंके हृदयमें प्रेमकी खुमारी पैदा कर देते हैं। हिंदू और मुसलमान दोनों ही आपके शिष्य थे। उनमेंसे एक मुसलमान शिष्यने एक दिन उनसे पूछा कि आपके हिंदू और मुसलमान दोनों शिष्य हैं, उनमें बड़ा कौन है? शाहने एक हाथमें जमीनसे धूल उठायी और दूसरे हाथमें धूनीमेंसे राख ले ली और कहा—'बोलो, इसमें बड़ी कौन है? कोई नहीं? धूल और राख दोनों समान हैं। इसी प्रकार हिंदूको जलकर राख होना है और मुसलमानको मिट्टीमें मिलकर मिट्टी हो जाना है।

इनमें छोटा-बड़ा कोई है ही नहीं। प्रभुके बनाये सभी जीव बराबर हैं। भगवान्ने हिंदू और मुसलमानके आने और जानेका रास्ता एक ही बनाया है। भेद तो मनुष्यकृत है।'

एक बार उनके विरोधियोंने एक वेश्यासे कहा कि 'तू शाह साहबको क्रोधित कर दे तो तुझे पचास रुपये दिये जायँगे।' लालचके वश होकर वेश्याने कबूल कर लिया और शाह साहब जब उसे रास्तेमें मिले, तब उनको भोजनका निमन्त्रण दे दिया। उनकी दृष्टिमें सभी भगवान्के थे। अतः उन्होंने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। वेश्या घर गयी। एक बड़े मिट्टीके बर्तनमें थोड़ा ज्वारका आटा, दो-तीन सेर नमक और पंद्रह-बीस सेर पानी डालकर उसे चूल्हेपर चढ़ा दिया। निश्चित समयपर शाह भोजन करने आये। उस समय वेश्या उनको गाली देने लगी। उनके कपड़े फाड़ दिये और उनपर मार भी पड़ी। फिर भी शाहको जरा भी गुस्सा नहीं। वेश्या घबरायी कि 'हाय मेरे शर्तके पचास रुपये अब चले जायँगे।' वेश्याने नाना प्रकारसे लतीफको अकारण दुःख दिया, पर उसने उनके चेहरेकी शान्तिमें तनिक भी शिकन पड़ते नहीं देखी। वे प्रभुकी यह नयी लीला देखकर आनन्द मान रहे थे। यह सब देखकर वेश्याके क्रोधका पारा चढ़ गया और उसने जलती हुई राबका मटका उठाकर उनके सिरपर जोरसे दे मारा। मटका फूट गया और जलती हुई राब उनके सारे शरीरपर फैल गयी। जहाँ-जहाँ राब गिरी, वहाँ-वहाँ शाहके बदनकी चमड़ी उतर गयी और मांसका ढाँचा बाहरसे दीख पड़ने लगा। फिर भी उनकी शान्ति जैसी-की-तैसी बनी रही। मानो वे शान्तिके सागर थे। थोड़ी देरके बाद शरीरके ऊपर पड़ी हुई राब ठंडी हो गयी। तब वे जमीनके ऊपरसे राब उठाकर खाने लगे। यह देखकर वेश्याको बड़ा पछतावा हुआ। उसकी आँखोंसे आँसूकी धारा बहने लगी और वह शाहके पैरोंमें गिरकर बोली—'शाह! मैंने बड़ी भारी भूल की है; क्षमा कीजिये, क्षमा कीजिये! मैंने समझा नहीं और बेसमझीसे आप-जैसे संतको मैंने बेहद दुःख दिया। मेरी क्या हालत होगी? नरकमें भी मुझे स्थान नहीं मिलेगा। इसलिये क्षमा कीजिये।'

शाहने जवाब दिया—'अरी माई! इसमें क्षमाकी कौन-सी बात है? तुमने मेरा क्या बिगाड़ा है? मुझे तो अब भी वही आनन्द है, जो पहले था। बल्कि ऐसी बढ़िया राब तो मेरी माताने भी मुझे कभी नहीं खिलायी थी। इससे मेरा पेट साफ हो गया। अब मेरा शरीर नीरोग हो जायगा। माई! तुमने मेरा पेट साफ कर दिया, वैसे ही ईश्वर तुम्हारे दिलको साफ करे और तुम्हारा भला करे।'

बस, उसी दिनसे वह वेश्या महान् भक्त हो गयी और उसका सारा जीवन प्रभुपरायण हो गया।

इस त्यागी पुरुषका सारा जीवन-प्रसङ्ग बोधप्रद और मूल्यवान् है। जगत्के असंख्य जीवोंको भक्तिके मार्गमें लगाकर यह सूफी संत तिरसठ वर्षकी उम्रमें १७५२ ई० में ईश्वरके दरबारमें ईश्वरसे मिलनेके लिये सिधार गये। आज उनको मरे एक सौ पचहत्तर वर्ष बीत गये। फिर भी संसारमें उनकी कीर्ति शेष है! संत सदा अमर हैं!

उनके कुछ वाक्य यहाँ दिये जाते हैं—

'विनय या नम्रता ही जीवनका प्रधान भूषण है। अलङ्कारोंसे प्रियतमको संतोष नहीं होता। वृक्ष जैसे फलभारसे नीचे झुकता है, वैसे ही निरभिमानताके आभूषणसे जीवनको सुसज्जित करो। प्रियतमकी प्राप्तिके लिये असीम धैर्य चाहिये। किसीके द्वारा अनिष्ट या निन्दा किये जानेपर उसका बदला मत लो। हवामें थूकनेपर थूक अपने ही शरीरपर पड़ता है। अहङ्कार अस्थिरता उत्पन्न करता है। प्रेमराज्यमें अस्थिरता प्रधान विघ्न है। जो (अहङ्कारमें) आगे दौड़ना चाहता है, वह पीछे चला जाता है; और जो सबसे पीछे रहता है, वह सबसे आगे बढ़ जाता है।'

'पतङ्गकी तरह प्रेमकी अग्निमें कूद पड़ो। पतङ्ग जैसे विरह-बाणसे बिंधकर अपनेको भूल जाता है और अग्निमें कूदनेसे पूर्व भूत-भविष्यत्का जरा भी विचार नहीं करता, प्रेमीको भी इसी प्रकार बनना पड़ेगा। लाभकी आशा और स्वार्थकी कामना छोड़कर जो कूद पड़ते हैं, उन्हें शान्ति मिलती है। प्रेमकी अग्निमें जलन नहीं है, परंतु प्रकाश है। प्रेममें स्वार्थ आते ही जलन पैदा हो जाती है।'

'यदि सच्चे फकीर होना चाहते हो तो चुपचाप प्रियतमका ध्यान करो और मुँह बंद कर लो। वैराग्यके कपड़े पहन लो। वैराग्यके जलमें नहाये बिना देह और मनका मैल नहीं धुलता। असली प्रेमीको लोगदिखावेका रूप पहले छोड़ देना पड़ेगा।

भक्त होथी

(लेखक—श्रीमाणेकलाल शंकरलाल राणा)

संत होथी काठियावाड़के नेकनाम गाँवके मुसलमान थे। बचपनसे ही मोरारसाहेबकी भजनमण्डलीमें जाते और वहाँ भजन गाया करते थे। साधु-संतोंकी सेवा करनेकी उनकी टेव थी। यह चाल-ढाल उनके पिताको अच्छी नहीं लगी और वे बड़े दुःखी हुए। अपने कुलकी रिवाजके अनुसार लड़का तलवार, बंदूक, तमंचा, छुरी और भाला न ले, और तम्बूरा तथा मजीरा लेकर गाने-बजाने बैठ जाय—यह ठीक नहीं। बाप बेटेको हमेशा दुःख देता रहा। पर सोना आगमें तपकर और अधिक चमक उठता है। वैसे ही होथीके ऊपर जितना दुःख बढ़ने लगा, उतना ही अधिक वे भजन करने लगे। उनको रामके नामकी सच्ची लगन लगी थी और उनके सामने हिंदू-मुसलमान-धर्मका भेद मिट गया था।

एक दिन मोरारसाहेबकी भजनमण्डली हरिजनोंके निवासस्थानमें भजन करने गयी। होथीको उसके बाप सिकन्दरने वहाँ जानेसे रोका। फिर भी होथी गया। बड़ी रातको भजन समाप्त हुआ। मण्डली बिखर गयी। रास्ते जाते लोग होथीकी प्रशंसा कर रहे थे—'वाह! कैसा होथीका प्रेम है, कैसी प्रेमभरी मस्तीसे होथीने भजन गाया है?' यह प्रशंसा सुनकर होथीके पिताके दिलपर बड़ी चोट लगी और इसकी अपेक्षा उसने अपना मर जाना अच्छा समझा। दूसरे दिन जब होथी भजनमण्डलीमें जाने लगा तब पिताने अफीम घोलकर पुत्रसे कहा—'बेटा! अफीम तैयार है; इसे या तो तू पी जा, नहीं तो मैं पी लूँ! पर यह बदनामी मुसलमानकी जातिमें अब बरदाश्त नहीं होती।' भक्त पुत्रने नम्रतासे जवाब दिया—'पिताजी! आप क्यों पियेंगे, यह तो मुझे पीना चाहिये।' यों कहकर उसने हाथमें प्याला ले लिया और अश्रुभरी आँखोंसे भगवान्से प्रार्थना करने लगा—'प्यारे प्रभु! मैं अफीमसे मरूँ तो इसमें मुझे जरा भी गम नहीं! पर इसमें तुम्हारी और तुम्हारी भक्तिकी लाज जायगी। ऐसे ही समयमें तुमने मीराके विषके प्यालेको अमृत बना दिया था। द्रौपदीकी लाज जाते समय तुमने चीर बढ़ा दिया था। प्रभु! मेरी भक्ति यदि सच्ची हो तो मेरी लाज रखना।' यों कहकर भक्त होथी अफीम पी गये और कोठरी बंद करके कम्बल ओढ़कर सो गये। बापने बाहरसे ताला लगा दिया। सुनते हैं कि उसी रातको जब हरिजन-बस्तीमें भजन शुरू हुआ और वहाँसे लौटे हुए श्रोताओंके मुँहसे सिकन्दरने होथीके भजनकी प्रशंसा सुनी, तब चकित होकर वह हरिजन-बस्तीमें गया। वहाँ देखता क्या है कि होथी प्रेममग्न हो भजन गा रहा है। वहाँसे लौटकर उसने कोठरीमें होथीको सोये देखा। इससे उसके अचरजका ठिकाना न रहा। उसे बड़ा पश्चात्ताप हुआ और वह पुत्रके पैरोंमें जा गिरा। फिर पिताने उसे हिंदुओंमें भजन गानेकी छूट दे दी। होथी महान् भक्त हुए और 'दास होथी' नामसे अनेकों भजन बनाये।

भक्त बाबा ताजुद्दीन

(लेखक—श्रीसैयद कासिम अली, साहित्यालंकार)

सच्चे ईश्वरभक्त प्रत्येक जाति, धर्म और देशमें पैदा होते हैं। वे प्राणिमात्रके शुभचिन्तक और उपकारी होते हैं। मध्यप्रदेशमें मुसलमानके घरमें पैदा होकर बाबा ताजुद्दीनने एक महात्माके रूपमें प्रसिद्धि प्राप्त की। उनका जन्म २७ जनवरी सन् १८६२ ई० को कामठीमें हुआ था। बचपनमें ही उनके पिता फौजी जहाजपर रंगून जाते समय रास्तेमें ही स्वर्गवासी हो गये। सात सालकी अवस्थामें ही माताका भी स्वर्गवास हो गया। नानाने उनका पालन-पोषण किया।

बचपनसे ही आप एकान्तसेवी बन गये। तेरह वर्षकी अवस्थामें बस्तरके घने जंगलमें चार वर्षतक भक्ति-साधना करते रहे। वहाँसे कामठी लौट आये। उनका पैतृक घर कन्हान नदीकी धारामें विलीन हो गया था। पिताके स्थानपर उनको पल्टनमें नौकरी मिल गयी

और वे पल्टनके साथ सागर चले गये। तीन वर्ष नौकरी करनेके बाद इस्तीफा दे दिया। पल्टनमें वे सूबेदार हो गये थे, परंतु उनको ठाट-बाटका जीवन पसंद न था। उनको तो भक्तिरसका स्वाद मिल चुका था। अतएव फकीरीका आश्रय ले लिया, हाथमें तशवीह (जपमाला) लेकर वे दिन-रात उस प्रीतमकी यादमें ही बिताने लगे। प्रभुस्मरणकी लौ यहाँतक बढ़ी कि भोजन-वस्त्रकी भी सुधि न रही। कोई कुछ खिला देता तो खा लेते। आगे चलकर मस्ती इतनी बढ़ी, विषयोंसे इतनी विरक्ति हुई कि कोई कुछ खाने या पहननेके लिये देता तो उसे जिस किसीको दे देते अथवा फेंक देते और स्वयं फूल-पत्ते खाकर रहते थे। फिर तो वे प्रेमोन्मत्त दशामें रहने लगे। उनकी इस दशाको देखकर लोगोंने उनको पागल समझा और सन् १८८६ ई० में उन्हें नागपुर पागलखानेमें भेजवा दिया। कहा जाता है कि जब उनकी कृपासे वहाँके सिविल-सर्जनकी मनःकामना पूरी हुई, तब जेलमें भी उनका रंग जमा। लोग दर्शन करने आने लगे। १८ वर्षके बाद नागपुरके डिप्टी कमिश्नर और राजासाहबने उनको जेलसे मुक्त कराया।

जेलसे बाहर आनेके बाद बाबा निरन्तर अपनी मस्तीमें पड़े रहते और दुःखियोंका दुःख दूर करनेमें अपनी प्रभुप्रदत्त शक्तिका स्वभावतः उपयोग करते रहते। बहुतोंके संकटमें सहारा बने, बहुतोंको जीवनमें प्रभु-भक्तिके आदर्शकी ओर प्रेरित किया। १७ अगस्त १९२५ ई० में उन्होंने इस नश्वर शरीरका त्याग किया। नागपुरसे ४ मील दूर सकरदरामें राजा राघोजीराव भोंसलेने उनकी एक समाधि बनवायी। उस समाधिके पास आज ताजाबाद नामका एक छोटा कस्बा बन गया है। वहाँ एक पाठशाला और अस्पताल बाबाके भक्तोंके द्वारा संचालित होते हैं और सालमें दो बार मेला लगता है।

महात्माजी श्रीपावनहारी बाबा

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

श्रीपावनहारीजी बाबा एक उच्चकोटिके संत और रामभक्त थे। उन्होंने पंद्रह-सोलह सालकी ही अवस्थामें घर त्यागकर वैराग्य ले लिया था। तीर्थयात्रा करते समय बदरीनारायणमें एक प्रसिद्ध महात्मासे उन्होंने दीक्षा ली, योग सीखा, उनके पास एक लंबी अवधितक रहकर वे अपनी तपोभूमि—गाजीपुर जनपदमें चले आये। अपनी कुटियामें उन्होंने पूरे सोलह सालके लिये अखण्ड समाधि ले ली, बाहरके पट बंद कर दिये गये—कुछ दिनोंके बाद पुलिसका पहरा पड़ गया। ठीक सोलह सालके बाद दरवाजा खोला गया। पूज्य पावनहारीजी महाराज ध्यानमग्न बैठे हुए थे, पलकोंके बाल नीचेतक लटक रहे थे। भगवान् श्रीराम, श्रीजनकनन्दिनी और लक्ष्मणकी मूर्तिको एक हाथसे सप्रेम पंखा झल रहे थे। अपनी अखण्ड समाधिमें वे सोलह सालतक भगवान्‌को पंखा झलते रहे। उनके पवित्र दर्शन और सफल समाधिसे उत्साहित होकर भक्तमण्डलीने एक बहुत बड़ा भण्डारा-उत्सव किया, जिसमें दूर-दूरके संत और साधु तथा भक्त और महात्मा सम्मिलित हुए थे। भण्डारेका सारा सामान तो आ चुका था, केवल घीकी कमी रह गयी थी। बाबाने भक्तोंको आदेश दिया कि 'गङ्गाजीसे मेरे नामपर घी उधार ले आओ।' भक्तोंने खाली कनस्तर लेकर कुटीके निकट बहनेवाली गङ्गासे जल भर लिया, जल कड़ाहीमें पड़ते ही घी हो गया। सारा सामान बन गया। थोड़ी देरमें गाँववाले घी लाये, पावनहारीजी महाराजने सारा घी गङ्गाजीमें उँड़ेलवा दिया और वह जलमें रूपान्तरित हो गया। भण्डारा समाप्त होनेपर उन्होंने संत-महात्माओंको शाल और द्रव्य आदि दक्षिणा देकर विदा करना आरम्भ किया। बाबा एक ताखेपरसे दक्षिणाका सामान उठा-उठाकर देते जाते थे। स्वामी विवेकानन्दजी भी उस समय वहीं उपस्थित थे। उन्हें शङ्का हुई कि पावनहारीजी महाराज इतनी वस्तुएँ किस प्रकार देते जा रहे हैं; उन्होंने उझककर ताखकी ओर देखा, उसपर तो कुछ भी नहीं था। उन्होंने मन-ही-मन पावनहारीजीकी रामभक्ति और सिद्धिकी सराहना की।

भक्तिमती वनमाला

(लेखक—श्रीजयनारायणप्रसादजी)

सती-साध्वी वनमाला एक भक्त नारी थीं। उनके विचार-आचार उच्चकोटिके थे, उनका जीवन पूर्णरूपसे तपोमय और महान् था। वे बिहार प्रान्तके 'छोटा नागपुर' मण्डलमें एक थानेदारके घर पैदा हुई थीं, उनका परिवार अत्यन्त धर्मनिष्ठ था, वे स्वयं बाल्यावस्थासे ही ईश्वर-प्रेममें विमुग्ध रहती थीं। यथासमय उनका विवाह कर दिया गया। पति नयी रोशनीमें शिक्षित था, इसलिये वनमालाकी धर्मभीरुता और ईश्वर-निष्ठासे वह बहुत चिढ़ता था; पर साध्वी वनमाला उसे सदा ईश्वरोन्मुख करनेका प्रयत्न करती थीं। ज्यों-ज्यों वे समझाती थीं, त्यों-त्यों वह अधिकाधिक प्रतिकूल होता जाता था। उसने वनमालाको सताना आरम्भ किया, पर वनमालाने अद्भुत सहिष्णुता और विलक्षण पतिभक्तिका परिचय दिया। उनका जीवन भगवान्के मधुर तथा मङ्गलमय चिन्तनमें बीतने लगा।

उनके पतिने अपने क्रूर स्वभावका एक दिन बहुत बुरी तरह परिचय दिया, उसने धमकाते हुए कहा—'विपत्तिके समय ही सत्यकी परख होती है; किसी दिन तुम्हारे विपत्तिमें पड़नेपर देखूँगा कि ईश्वर किस तरह सहायता करते हैं तथा अपने भक्तोंकी मान-प्रतिष्ठा रखते हैं।' भक्तका जीवन तो अलौकिक चमत्कारों और दिव्य घटनाओंका प्रतीक ही होता है। भगवान्ने वनमालाकी भक्तिको प्रामाणिक सिद्ध करना चाहा, पतिकी चुनौतीको सार्थक करना चाहा। उसी दिन रातको वनमालाके गृहमें आग लग गयी। वे ईश्वर-भजनमें मस्त थीं, उन्हें आग-पानीकी चिन्ता किस तरह सता सकती थी, प्रभु उनके रक्षक थे। आग इतनी भीषण और दारुण थी कि देखनेवाले दूरसे तमाशा ही देखते रह गये, उनका साहस न हुआ कि वे आग बुझायें। वनमालाको बड़ा शोक हुआ कि भगवत्-विग्रह आगमें झुलस न उठे; प्रभुको कितना कष्ट होगा और पति भी ताना मारेंगे। वे भगवान्की करुणाकी राह देखने लगीं। भगवान् भक्तकी पुकारपर पिघल गये। थोड़ी ही देरमें जलवृष्टि आरम्भ हुई, अग्नि देवता शान्त हुए। वनमालाने पूजाघरमें जाकर देखा कि सब कुछ स्वाहा हो चुका था, पर भगवान्के विग्रह और सिंहासनको आगकी लपटें छूतक न सकी थीं। लोग इस घटनासे आश्चर्यचकित होकर वनमालाकी सराहना करने लगे, उनकी जय बोलने लगे। इस घटनाका उनके पतिपर विशेष प्रभाव पड़ा, उसका हृदय बदल गया। उसने क्षमा माँगी, वह भगवान्का पूर्ण भक्त हो गया। दम्पतिने भगवान्के भजन-पूजन और चिन्तनमें ही अपने जीवनका शेष समय लगा दिया।

कृष्णभक्ता श्रीयशोदा माई

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

श्रीयशोदा माईजी भगवान् श्रीकृष्णकी भक्त थीं। प्रसिद्ध अंग्रेज कृष्णभक्त श्रीकृष्णप्रेम (श्रीरोनाल्ड निक्सन महोदय)-की वे गुरुमाता थीं। बचपनमें उनपर गाजीपुरके प्रसिद्ध संत श्रीपावनहारीजी बाबाके दर्शन और सत्सङ्गका पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। उन्होंने अपने पति श्रीज्ञानेन्द्रनाथ चक्रवर्ती महाशयकी आज्ञासे वैराग्य ले लिया। कुछ दिनोंतक उन्होंने बनारसके प्रसिद्ध संत हरिहरबाबाजीका सत्सङ्ग-लाभ किया। धीरे-धीरे श्रीकृष्ण-भक्तिका हृदयमें पूर्णोदय होनेपर उन्होंने वृन्दावनके सुप्रसिद्ध माध्वगौड़ेश्वराचार्य गोस्वामी बालकृष्णजी महाराजसे दीक्षा ली। उन्होंने दीक्षा-ग्रहणके बाद अपने शिष्य श्रीकृष्ण-प्रेमजीके साथ अलमोड़ा आकर निकटकी बस्तीमें उत्तर-वृन्दावन नामक एक नया स्थान बनाया तथा श्रीराधा-कृष्णके मन्दिरका निर्माण कराकर बड़े प्रेमसे भजनमें लग गयीं। धीरे-धीरे भक्तोंकी संख्या बढ़ने लगी। आश्रममें कई अंग्रेज साधक आकर साधन-भजन करने लगे।

श्रीयशोदा माई रात-दिन श्रीराधा-कृष्णकी भक्तिसुधामें सराबोर रहती थीं, सदा भगवान्के ही शृङ्गार-चिन्तनमें लीन रहती थीं। भगवान्की सेवा-पूजामें किसी प्रकारकी त्रुटि नहीं होने देती थीं। उनका जीवन श्रीभगवान्के चरणोंमें पूर्ण-रूपसे समर्पित था। वृन्दावनमें उनकी अमित निष्ठा थी। वे कभी-कभी वहाँ जाया करती थीं। श्रीराधाकृष्णके गुणानुवादमें ही उन्होंने अपने अमूल्य समयका आजीवन सदुपयोग किया।

श्रीआनन्दीबाईजी

(लेखक—श्रीरामदासजी शास्त्री)

आपका जन्म काश्मीरी ब्राह्मण-घरमें अमृतसरमें हुआ था। आप रामानुजी वैष्णव दीक्षासे युक्त थीं, वृन्दावनमें आपने एक मन्दिर बनाकर श्रीराधावल्लभकी प्राण-प्रतिष्ठा की। श्रीराधाकृष्णमें आपका वात्सल्य-भाव था, श्रीकृष्ण पुत्र और राधा पुत्रवधूके रूपमें मान्य थीं। भाव-पोषणका साक्षात् दर्शन इन बाईमें होता था, अपने भावके विरुद्ध एक शब्द भी सुननेपर इन्हें मूर्च्छा हो जाती थी। कहा जाता है कि श्रीराधाकृष्ण प्रत्यक्ष इनकी गोदमें खेलते थे।

व्रजवासियोंके छोटे-छोटे बच्चोंसे आप अधिक स्नेह रखती थीं। महीनेमें एक-दो बार उन्हें निमन्त्रण देतीं; छोटे वस्त्र, कुर्त्ता, टोपी उन्हें दक्षिणामें देतीं। दीन-दु:खियोंकी सेवा तो आप स्वयं अपने हाथोंसे करती थीं, रोगग्रस्त जनोंकी सेवाका भार कई बार स्वयं सम्हालती थीं।

भक्तिमती श्रीगोपी मा

(लेखक—श्रीनिरञ्जनदासजी धीर)

वह प्राणी धन्य है, जिसकी सेवा-शुश्रूषाके लिये विशेष परिस्थितिमें स्वयं भगवान् ही प्रकट हो जाते हैं। श्रीगोपी मा भगवान्‌की एक ऐसी ही उपासिका थीं। उनके जीवनमें सरलता, भक्तसुलभ विनम्रता और उदारता कूट-कूटकर भरी हुई थी। त्याग और नि:स्वार्थकी तो वे सजीव मूर्ति ही थीं।

परम पवित्र भगवती सरयूके तटपर श्रीअयोध्यामें उनका जन्म हुआ था। उनके जीवनका अधिकांश लाहौरमें बीता। वे भाटीद्वार कन्यापाठशालामें सिलाई-कटाईकी अध्यापिका थीं। जीविका-निर्वाहके लिये थोड़ा-सा बचाकर शेष वेतन गरीब, असहाय और रोगियोंकी सेवामें लगा देनेमें उनको बड़ा आनन्द मिलता था। ग्रीष्म-ऋतुमें विद्यार्थिनी बालिकाओंको अपने पैसेसे मिश्रीका शरबत पिलाती थीं। अध्यापन-कार्यसे अवकाश ग्रहण करनेपर वे अयोध्या चली आयीं। उनके इष्टदेव भगवान् श्रीराम थे; पर उनके हृदयको श्यामसुन्दरके रूपने अपनी ओर पूर्णतया आकृष्ट कर लिया, उनके नयन कालिन्दीके श्वेत बालुकामय तटपर रास करनेवाले नन्दनन्दनकी छवि देखनेके लिये उत्सुक हो उठे, कान शत-शत काम-विचुम्बित चरणोंकी रसमयी पायलध्वनि सुननेके लिये लालायित हो उठे। अत: उनके चरण वृन्दावनमें विचरण करनेके लिये चल पड़े, वे व्रजमें आ पहुँचीं, भगवान् गोपीनाथने गोपी माका चित्त चुरा लिया। उन्होंने गोपीनाथ बाजारमें बंगाली बासेमें आठ आने किरायेपर एक कोठरी ले ली; वे दिन-रात श्रीगोपीनाथके भजन-पूजन और चिन्तनमें अपने अमूल्य समयका सदुपयोग करने लगीं। यमुना-स्नान, भगवत्सेवा, संकीर्तन आदिमें ही नित्य उनका दैनिक कार्यक्रम पूरा हो जाता था।

एक समय उनको मलेरिया ज्वरने आ घेरा। सिवा भगवान्‌के उनको और किसीका सहारा नहीं था। उन्होंने ज्वराक्रान्त स्थितिमें भगवान्‌को उलाहना देना आरम्भ किया कि 'यदि मैं अयोध्यामें होती तो परिवारवाले सेवा-शुश्रूषा तो करते, मैं तुम्हारे भरोसे यहाँ आ गयी और तुम ध्यानतक नहीं देते?' वे यों कहते-कहते सो गयीं। भक्तने भगवान्‌को सच्चे हृदयसे पुकारा था। भगवान्‌ने स्वप्नमें दर्शन देकर दूध पिलाया, मलाई खिलायी। आँख खुलते ही गोपी माने देखा कि मलाईका कुछ अंश मुखमें शेष है; दूधके मधुर स्वादकी याद थी, मिट्टीका कुल्हड़ पासमें ही पड़ा था। उन्होंने अपने सौभाग्यकी सराहना की। इस घटनाके पश्चात् भी वे कुछ दिनोंतक जीवित रहीं। सात-आठ साल पहले उन्होंने परमधामकी यात्रा की।

श्रीशान्तिदेवी

(लेखक—श्रीवीरबहादुरसिंहजी चौहान, 'प्रभाकर')

कुछ ही दिनों पहलेकी बात है, श्रीशान्तिदेवीकी विलक्षण और चमत्कारपूर्ण भगवद्भक्तिकी पवित्र कथा-सुधाके प्रभावने लोगोंको आश्चर्यचकित कर दिया। श्रीशान्तिदेवीका जीवन पूर्ण संयमित, तपोमय और साधन-सम्पन्न था। उनके पैदा होते ही माता-पिता चल बसे। उनके पालन-पोषणका भार उनके भाई और भाभीके कन्धोंपर आ पड़ा। एक सन्तान होते ही उन दोनोंने भी उनकी उपेक्षा कर दी। उनके यातनामय जीवनका आरम्भ हुआ। भाभी कड़ी-से-कड़ी ताड़ना देने लगी, पर शान्तिने सहिष्णुता और विनम्रताका परिचय दिया।

एक दूरके ग्राममें उनका विवाह कर दिया गया। ससुरालमें पति, सास और ससुर ही थे; इन तीनोंमें सासकी ही चलती थी। उसका स्वभाव बड़ा रूखा और कर्कश था। शान्तिको भी अनेक प्रकारसे सताते रहनेमें ही उसे आनन्द मिलता था। घरके सारे काम-काज उन्हींको करने पड़ते थे। उन्होंने ससुरालवालोंको सदा प्रसन्न रखनेकी चेष्टा की। वे एक समय ग्रीष्म-ऋतुमें दोपहरके समय छतपर खड़ी अस्त-व्यस्त-सी होकर कुछ सोच रही थीं कि एकाएक उन्होंने एक दिव्य ज्योति देखी; उसके दर्शनसे वे आश्वस्त हुईं। उनमें उसी दिनसे एक नयी शक्तिका संचार हुआ और वे दूने उत्साहसे घरकी देख-रेख करने लगीं।

वे उसी दिनसे नित्य प्रातःकाल स्नानकर रामायणका क्रमपूर्वक पाठ करती थीं। सूर्योदयके पूर्व ही घरके सारे कार्य कर डालतीं, पर सास उन्हें सताती ही रहती थी। सास उनको पूजा-अर्चनामें लिप्त देखकर कुढ़-सी गयी और एक कमरेमें जिसमें भूसा, कंडे, ईंधन आदिका संग्रह था, पूजाके सामान फेंक दिये और शान्तिको भी उसीमें बंद कर दिया। वे छः दिनोंतक उसीमें बंद रहीं। सातवें दिन प्रातःकाल कमरेके पट अपने-आप खुल गये। जोरोंसे घण्टा-नाद होने लगा, शङ्ख बज उठे। लोग उस ओर दौड़ पड़े। शान्ति भगवान्‌के ध्यानमें लीन थीं, कमरेमें दीपक जल रहा था। उनके मुखसे 'राम-राम' मन्त्रका उच्चारण हो रहा था। कमरेमें एक दिव्य ज्योति परिव्याप्त हो उठी। अचानक कमरेकी छत फट गयी, लोगोंने आश्चर्यसे देखा—न तो कमरेमें पूजाकी चौकी थी और न शान्ति ही दीख पड़ती थीं, निस्सन्देह वे उस दिव्य ज्योतिमें लीन हो गयीं।*

रसिकभक्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

(लेखक—राय श्रीअम्बिकानाथसिंहजी)

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र परम वैष्णव महाभागवत जयदेव, विरही चण्डीदास और प्रेमी विद्यापतिके नवीनतम समन्वय-संस्करण थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रका जन्म ९ सितम्बर १८५० ई० को काशीके एक प्रसिद्ध वैष्णव-परिवारमें हुआ था। उनका कुल अत्यन्त समृद्ध और सुखी था। वे इतिहासप्रसिद्ध सेठ अमीचन्दके वंशज थे। भारतेन्दुकी शिक्षा-दीक्षा उत्तम रीतिसे हुई थी। पाँच ही सालकी अवस्थामें उनकी माताका देहान्त हो गया, अतएव उनके पालन-पोषणका भार उनके पिता श्रीगिरिधरदासजीके कन्धोंपर आ पड़ा। भारतेन्दु बचपनसे ही पूर्वजन्मके शुभ संस्कारोंके फलस्वरूप कविसुलभ प्रतिभासे समलङ्कृत थे, बाल्यावस्थासे ही उनके हृदयमें ईश्वर-भक्तिकी निर्झरिणी प्रवाहित थी। उनके पिता स्वयं एक उच्च कोटिके कवि थे। उनके घरपर कवियोंका समागम होता रहता था। हरिश्चन्द्रजीके चरित्र-विकास, साहित्यिक अभिरुचि और भगवद्भक्तिपर इस वातावरणका

* श्रीशान्तिदेवीके जन्म-स्थान और ससुराल आदिका नाम जान-बूझकर इस भक्तगाथामें नहीं दिया गया है। सम्भव है, श्रीशान्तिदेवीके परिवारवालोंको इस सम्बन्धमें आपत्ति हो; श्रीशान्तिदेवीके पति तथा ससुर आदि अभी जीवित हैं।

बड़ा प्रभाव था। वे बाल्यकालसे ही कविता करने लग गये थे। एक बार कुछ कवि गिरिधरदासजीके पास बैठकर उनके 'कच्छप-कथामृत'के पहले पद *'करन चहत जस चारु, कछु कछुवा भगवान्को'* की व्याख्या कर रहे थे कि बीचमें ही हरिश्चन्द्रने कहा कि 'पिताजी! आप उन भगवान्का यश गाना चाहते हैं, जिनका आपने कुछ-कुछ स्पर्श किया है।' लोग उनकी इस व्याख्यासे आश्चर्यचकित हो उठे।

हरिश्चन्द्रजी दस ही वर्षके थे कि उनके पिता गोलोक चले गये। तेरह सालकी अवस्थामें उनका विवाह कर दिया गया। वे तो जन्मजात भागवत-रसिक थे, उनके गृहस्थाश्रमका आनन्द भी अद्वितीय ही था। वे बड़े उदार और विनम्र प्रकृतिके थे। लंबा कद, छरहरा शरीर, सुडौल नासिका, जादूभरे नैन, कानोंतक लटकती घुँघराली लटें, ऊँचा ललाट, साँवले रंगका माधुर्य लोगोंको उनकी ओर अपने-आप आकृष्ट कर लेता था। उनके मित्र उनको कलियुगके कन्हैया कहा करते थे।

वे उन्नीसवीं सदीकी हिंदीके साहित्य-आत्मा थे, बीस-बाईस भाषाओंके पण्डित थे। उन्होंने राष्ट्रके साहित्यिक, सामाजिक और राजनैतिक उत्थानमें महान् योग देकर अपनी देशभक्तिका प्रकृष्ट परिचय दिया। हिंदीकी राष्ट्रियताके आदि कलाकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र थे। अनेक ग्रन्थों, नाटकों और काव्योंकी रचना करके उन्होंने हिंदी साहित्यकी श्रीवृद्धि की। हिंदी-जगत्ने उनकी सेवाओंके सम्मांनार्थ उनको 'भारतेन्दु' की उपाधिसे विभूषितकर अपने-आपको गौरवान्वित किया था। उनकी उदारता और दानशीलता तथा मधुर स्वभावकी गाथा विश्व-इतिहासकी एक रसमयी देन है। उन्होंने अनेक कवियों और विद्वानोंको पुरस्कृतकर अपनी दानशीलताका समय-समयपर परिचय दिया। गरीब, दुःखी, अभावग्रस्त प्राणियोंका दुःख उनके अपने दुःखसे बढ़कर था और वे उनका दुःख दूर करने जाकर अपने लिये नये-नये दुःख मोल ले लेते थे और इसीमें सुखका अनुभव करते थे। *'सखा प्यारे कृष्ण के, गुलाम राधा रानी के'* उक्तिको चरितार्थकर उन्होंने घोषणा की थी कि जिस लक्ष्मीने मेरे परिवारको खाया, उसे मैं खा डालूँगा। उन्होंने अपव्यय नहीं किया, साहित्य और काव्यके प्रोत्साहनदाताके रूपमें एवं परदुःखकातर उदारहृदय महामनाके रूपमें उसका सदुपयोग किया। वे महान् गुणग्राही थे, कवियों और रसिकोंकी उनकी सभामें सदा भीड़ लगी रहती थी।

आर्थिक सङ्कट उपस्थित होनेपर भी उनकी दानशीलताका भाव नीचे नहीं गिरा। उन्होंने भक्तसर्वस्व, प्रेममालिका, प्रेमसरोवर, प्रेमाश्रुवर्षण, प्रेमतरङ्ग, उत्तरार्ध भक्तमाल, चन्द्रावली नाटिका, सत्यहरिश्चन्द्र, भारतदुर्दशा तथा अन्यान्य काव्य और नाटकोंकी रचना करके अपने साहित्यका विजयस्तम्भ स्थापित किया था।

भारतेन्दु बाबू श्रीवल्लभसम्प्रदायके दीक्षित वैष्णव थे। श्रीमद्वल्लभाचार्य और उनके पवित्र कुलके प्रति उनकी अडिग आस्था थी। रँगीले हरिश्चन्द्रने भगवान् श्रीकृष्णको ही आजीवन अपना उपास्य माना। राधारानीकी चरण-शरणमें अपनी भक्ति-कल्पना हरी-भरी की। उन्होंने रास-रसिकेश्वर घनश्यामकी वन्दनामें कहा—

'भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर।
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर॥'

भारतेन्दुकी कविता श्रीराधाकृष्णके चरणकमल-सुधा-रस-सागरकी कालिन्दी थी। वे क्रान्तद्रष्टा कवि थे; साहित्यके काव्यरूपको उन्होंने भक्तिके रस-मञ्चपर प्रतिष्ठित किया, यही उनकी भक्ति थी। उनकी विनम्रताने आत्मनिवेदनकी कसौटीपर अपने दोषकी परीक्षा की।

जगत जाल में नित बँध्यौ, पर्‍यो नारि के फंद।
मिथ्या अभिमानी पतित, झूठो कबि हरिचंद॥

उनकी भगवान् श्रीकृष्णके प्रति स्थायी अनन्यता और आस्था थी। आजीवन उनके लीला-गानसे अपनी मधुर रसवती वाणीको कृतार्थकर उन्होंने अपने-आपको धन्य कर लिया। उनके नयनोंने सदा श्रीराधाकृष्णके प्रेम-मिलन-चित्रका दर्शन किया, कानोंने नूपुर-ध्वनि सुनी, रसनाने कहा—

मंगल महा जुगल रसकेलि।
जिन तृन करि जग सकल अमंगल पायन दीने पेलि॥
सुख समूह आनंद अखंडित भरि भरि धर्‍यो सकेलि।
'हरीचंद' जन रीझि भिंजायो रस समुद्र उर मेलि॥

कभी वे दाम्पत्यभावसे ओत-प्रोत होकर नन्दनन्दनका आवाहन करते थे और कभी उनकी निर्ममता और

निष्ठुरतासे खीझकर उनको उलाहना देते थे; उनका भावुक मन श्रीराधाकृष्ण-प्रेमार्णवमें सदा डूबता-उतराता रहता था। उनका भजनानन्द प्रेममूलक था, वे केवल रसिक भक्त ही नहीं—ज्ञानी भी थे। पर उनके ज्ञानने सदा '**श्रीकृष्णः शरणं मम**' का ही जाप किया। उन्होंने समस्त जगत्में श्रीराधाकृष्णकी सरस परिव्याप्ति पायी। उनकी वाणीने आत्मचेतनाके पक्षमें कहा—

'हरीचंद एतेहू पै दरस दिखावै क्यों न,
तरसत रैनदिन प्यासे प्रानपातकी।
एरे ब्रजचंद! तेरे मुखकी चकोरी हूँ मैं
एरे घनस्याम तेरे रूप की हौं चातकी॥'

उनकी रीझ-खीझ—सब कुछ भगवान् श्रीकृष्णसे ही थी। श्रीराधारानीसे वे एक सीधे-सादे सच्चे भक्तकी तरह दिन-रात कहा करते थे।

'श्रीराधे मोहि अपनो कब करिहौ।
जुगल रूपरस अमित माधुरी कब इन नयननि भरिहौ॥'

भारतेन्दुके अन्तिम दिन लौकिक दृष्टिसे सङ्कटमय रहे। यद्यपि उनका बड़े-बड़े राजाओं और धनियोंसे मेल था, फिर भी अपने स्वाभिमानकी रक्षामें सदा तत्पर रहकर किसीकी भी आर्थिक सहायता उन्होंने स्वीकार नहीं की। अन्तिम दिनोंमें क्षयसे पीड़ित होनेपर उनकी शृङ्गारमूलक भक्तिने शान्तरसका वरण किया। अन्त समयमें राजा शिवप्रसादजी 'सितारे हिंद' से, जो उनकी शय्याके पास ही थे, कहा—'बड़ी प्यास लगी है।' राजा साहबने चाँदीके कटोरेमें जल भरकर दिया। बाबू साहबकी आन्तरिक वेदनाने तड़पकर कहा, 'पानी नहीं, घनानन्दका सवैया चाहिये।' राजा साहबने '*तुम कौन-सी पाटी पढ़े हो, लला! मन लेहु पै देहु छँटाक नहीं*' की सुधावाणीसे उनके अधरोंकी प्यास बुझायी। उन्होंने मृत्युशय्यापर भी अपनी श्रीकृष्णभक्ति और रसिकताका निर्वाह किया। ६ जनवरी सन् १८८५ ई० में उन्होंने लीलाधामकी यात्रा की।

भक्तवर पण्डित मोहनलालजी अग्निहोत्री

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

पण्डित मोहनलालजी बड़े भगवद्भक्त और विद्वान् थे। वे मेरठ जिलेके किसी गाँवमें रहा करते थे। बचपनमें उन्होंने बड़े परिश्रम और तत्परतासे विद्यार्जन किया, युवा होनेपर समयके प्रभावसे वे आर्यसमाजकी विचारधाराके प्रचारमें इधर-उधर भ्रमण किया करते थे। एक समय मेरठमें पंजाब प्रान्तके उपदेशक श्रीरलियारामजीका उन्होंने सारगर्भित व्याख्यान सुना, उनका मन सगुणोपासना और जप-तप तथा भगवच्चिन्तनमें लग गया। उन्होंने शास्त्रोक्त व्रतों और पूजाविधिके अनुसार जीवन-निर्माण किया। कट्टर-से-कट्टर नास्तिक भी उनके आदर्श और पवित्र चरित्रसे प्रभावित होकर आस्तिक हो जाते थे, भगवान्में उनका दृढ़ विश्वास हो जाता था। वे अपने पास चाँदीकी डिबियामें शालग्रामजीको रखकर भजन करते थे, बिना उनका दर्शन किये अन्न-जल कुछ भी नहीं ग्रहण करते थे। वे श्रीमद्भगवद्गीता, विष्णुसहस्रनाम आदि ग्रन्थोंका श्रद्धापूर्वक प्रेमसे पाठ करते थे। उनके जीवनमें पवित्रता, सात्त्विकता और दैवी सम्पत्तिका सुन्दर सञ्चय था। स्वभाव अत्यन्त कोमल, मधुर और चित्ताकर्षक था। उनकी भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णमें समानरूपसे भक्ति थी।

सन् १९३९ ई० में उन्होंने भगवान्की मोहिनी छवि, रूप-लावण्य और लीलारसका स्मरण करते हुए स्वर्गकी यात्रा की। वे सरलता और विनम्रताकी तो प्रतिमूर्ति ही थे।

स्वामी श्रीनिरञ्जनानन्दजी तीर्थ

(लेखक—पं० श्रीब्रह्मानन्दजी मिश्र)

स्वामी निरञ्जनानन्दजी तीर्थका जन्म संवत् १९०३ वि० में भाद्रपद शुक्ल तृतीयाको उत्तरप्रदेशके उन्नाव जनपदके काँथा ग्राममें पण्डित गयादीनजी मिश्रके घर हुआ था। बचपनसे ही उनकी रुचि अध्यात्मपरक थी। काँथाके तालुकेदार 'शिवसिंह-सरोज' के रचयिता श्रीशिवसिंहजी उनके परम मित्र थे। उनके सम्पर्कमें स्वामी निरञ्जनानन्दजीने काव्य तथा संगीत-विद्यामें पर्याप्त निपुणता प्राप्त की थी। दोनोंका बहुत दिनोंतक साथ रहा। सन् १८५७ का भारतीय स्वतन्त्रतासंग्राम समाप्त होनेपर शिवसिंहजी गोंडाके थानेदार नियुक्त हुए और स्वामीजी संन्यास लेनेके पूर्व उन्हींके साथ थानेपर बारह रुपये मासिकपर उनके सहायक अथवा लेखकके रूपमें जीविका-निर्वाह करते रहे। गोंडाके प्रसिद्ध वैष्णव विश्वेश्वरदाससे 'नारायणमन्त्र' की दीक्षा लेकर उन्होंने गृहस्थाश्रमका त्याग कर दिया। काँथाकी सीमापर एक जीर्ण-शीर्ण मन्दिरमें रहकर श्रीहनुमान्जीकी भक्ति करने लगे। यथावकाश उन्होंने तीर्थयात्रा आरम्भ की, निवृत्ति-मार्गके पूर्णावलम्बी हो चले। काशी पहुँचकर संवत् १९५२ वि० में उन्होंने स्वामी परमानन्दजी तीर्थसे संन्यास-दीक्षा ली। संन्यास-ग्रहणके पश्चात् वे सई नदीके तटपर एकान्त तथा रमणीय स्थानमें कुटी बनाकर विरक्तभावसे भजन करने लगे। संवत् १९६२ वि० में ककौंहा ग्रामके निकट ढाकके जंगलमें रहकर तपस्या करने लगे। वे शङ्करजीके एक तीन-चार सौ साल पूर्व बने हुए जीर्ण मन्दिरमें रहने लगे।

महात्मा निरञ्जनानन्दजी तीर्थ भगवल्लीला-सम्बन्धी उत्सव भी किया करते थे। धीरे-धीरे उनकी ख्याति बढ़ने लगी। दूर-दूरसे आकर लोग उनके शिष्य बनने लगे। महात्माजीकी रामायण-पाठमें बड़ी श्रद्धा थी, एक दिनके लिये भी उनके रामायण-पाठका क्रम नहीं टूटा। वे उच्च कोटिके ज्ञानी महात्मा होनेके साथ ही एक सच्चे भक्त भी थे। दैवी-सम्पत्तिसे पूर्ण समृद्ध थे।

उन्होंने विनयबसीठी, निरञ्जन-भजनावली, धनुषयज्ञ, राग-संग्रह आदि ग्रन्थोंकी रचना की थी। संवत् १९८१ वि० की फाल्गुन शुक्ल द्वितीयाको तीसरे पहर उन्होंने अपनी कुटीके समीप ही एक पीपल-वृक्षके नीचे समाधि ले ली।

भक्त संतदासजी

(लेखक—श्रीनेहपालसिंहजी, रिटायर्ड आई० ई० एस०)

भक्त संतदासजीने संवत् १९२० वि० में उत्तरप्रदेशके बुलन्दशहर जनपदके धूम ग्राममें एक समृद्ध परिवारमें ठाकुर केशरीसिंहजीके घर जन्म लिया। उनका नाम राजारामसिंह था। बचपनसे ही उनका मन वैराग्य और भक्तिमें आसक्त था। दस वर्षकी ही अवस्थामें बिसाहढ़ेके ठाकुर निहालसिंहकी पुत्रीसे उनका विवाह कर दिया गया। ससुरालवाले सत्सङ्गी थे। उनके यहाँ समय-समयपर साधु-महात्माओंका सत्सङ्ग होता रहता था। राजारामसिंहके पवित्र और भक्तिपूर्ण जीवन-निर्माणमें इस तरहके संत-सम्पर्कका बड़ा प्रभाव पड़ा था। उनपर संत कबीर साहबके पदों और वाणीका भी अच्छा प्रभाव पड़ा था। उन्होंने अपने ग्रामके ही एक सुयोग्य महात्मा ध्यानगिरिजीसे दीक्षा ले ली और गुरुकी तरह ब्रह्मचिन्तनमें तल्लीन हो गये। महात्मा ध्यानगिरिने राजारामका नाम बदलकर संतदास रख दिया, यद्यपि वे अड़ोस-पड़ोसमें 'भगतजी' नामसे ही विख्यात थे।

संतदासजी उपनिषद्, वेदान्तदर्शन आदिके अध्ययनमें बड़ी रुचि रखते थे। वे ज्ञान और भक्तिके सरल और निष्पक्ष समन्वय थे। जीवनपर्यन्त उनके घरपर रातमें भगवन्नामकीर्तनका कार्यक्रम चलता था। कीर्तन समाप्त होनेपर वे थोड़े समयतक प्रवचन भी करते थे। साधु-संतों, अतिथि और अभ्यागतोंके आदर-सत्कार, स्वागत-

सेवामें वे सदा तत्पर रहते थे। उन्हें समय-समयपर घर बैठे-बैठे ही अच्छे-अच्छे महात्माओं, संतों और विद्वानोंका दर्शन मिल जाता था और निःसन्देह वे इस तरहके दर्शन-सुखके अधिकारी भी थे।

वे सत्यभाषणपर विशेष जोर देते थे, जप-तप आदि साधनोंसे कहीं महत्त्वपूर्ण वे सत्यभाषणको समझते थे। उन्होंने अपने सत्सङ्गमें सदा सदाचार और सत्यकी महिमाका ही बखान किया। यौगिक क्रियाओंमें भी उनकी बड़ी रुचि थी। वे यथावकाश साधारण ढंगसे योगाभ्यास भी किया करते थे। उनके सम्पर्कमें गाँववालोंका ही नहीं, आस-पासके असंख्य व्यक्तियोंका जीवन भगवान्‌के चरण-चिन्तनमें समर्पित हो गया। उनका जीवन-क्रम अत्यन्त सरल और सद्‌गुणसम्पन्न था। यद्यपि वे थोड़ा-बहुत खेती-बारीका भी काम देखते थे, तो भी उनके समयका अधिकांश सत्सङ्गमें ही बीतता था। बड़े-से-बड़े पापी, चोर और हिंसक उनके सामने आते ही क्षणमात्रमें कुछ-से-कुछ हो जाते थे। उनका जीवन पूर्णरूपसे सात्त्विक हो जाया करता था।

संतदासजी असहायों और गरीबोंको निःशुल्क दवा भी देते थे। कभी-कभी समय आनेपर, अपने घरमें ही किसीके बीमार हो जानेपर या धनी व्यक्तिके अस्वस्थ हो जानेपर उन्होंने दवा देना अस्वीकार कर दिया; वे कहा करते थे कि 'यह दवा तो गरीबोंके लिये है; पैसेवाले तो समयपर डाक्टर भी बुला सकते हैं, पर बेचारे ग़रीब तो इसीसे आश्वस्त होंगे।'

वे कीर्तनके लिये पदोंकी रचना स्वयं करते थे। उनकी एक कीर्तन-पुस्तक—'शब्दावली आत्मज्ञान' प्रकाशित है। अन्तकालमें निमोनियासे पीड़ित होते हुए भी उन्होंने स्नान किया, छोटे-बड़े सबको सत्य-पालनका आशीर्वाद दिया और सदाके लिये आँखें मूँद लीं।

भक्तवर श्रीप्यारेलालजी

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

भक्त प्यारेलालजीका जन्म संवत् १९२४ में लखुवाके सन्निकट बाझेड़ा नामक ग्राममें लाला करोड़ीमल अग्रवालके घर हुआ था। शिक्षा-दीक्षा समाप्त करनेपर उनका विवाह प्यावली ग्राममें कर दिया गया। ससुरालमें श्रीधर महाराज नामक एक विद्वान् और आत्मज्ञानी पण्डितके सम्पर्कमें आनेपर उनका मन भगवद्भक्तिके रस-सागरमें सराबोर हो उठा। वे प्यावलीमें ही रहने लगे, उन्होंने श्रीधर महाराजसे अपना यज्ञोपवीत-संस्कार कराया तथा उनके सत्सङ्गसे प्रभावित होकर वे अपने समयका अधिकांश सन्ध्या-वन्दन, भगवान्‌के पूजन और चिन्तनमें लगाने लगे। कुछ दिनोंके बाद उनकी पत्नीका देहान्त हो गया। सन्तानोत्पत्तिके लिये, घरवालोंके विशेष आग्रह करनेपर, उन्होंने कुञ्जो देवीके साथ दूसरा विवाह कर लिया; वे बड़ी सती-साध्वी थीं। प्यारेलालजीके सुचारु जीवन-यापनमें वे बहुत सहायक सिद्ध हुईं। प्यारेलालजीका जीवन अत्यन्त शुद्ध और पवित्र था। वे खानपानमें, आचार-विचारमें शास्त्रोक्त नियमोंका दृढ़तासे पालन करते थे। उनका स्वभाव संयमपूर्ण था, उनपर कलिदेवताका तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा था। वे सदा भजन, संकीर्तन और भगवन्नामजपमें ही तल्लीन रहते थे। उनका जीवन ऋषियोंका-सा था। उन्होंने आजीवन ब्राह्मण और गौके प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा और दृढ़ भक्तिका परिचय दिया। उनके प्रभावसे उनके परिवारके ही लोग नहीं, दूर-दूरके भी लोग भगवद्भजन और कीर्तनमें मस्तीसे सदा संलग्न रहते थे। वृद्धावस्थामें आँखोंके खराब होनेपर आपको ऑपरेशन कराना पड़ा। एक दिन वे ऑपरेशनकी ही अवधिमें अस्पतालमें चिल्ला उठे कि 'भगवान् श्रीकृष्ण किस ओर निकल गये। वे तो अभी-अभी यहीं खड़े थे।' लोग इस घटनासे आश्चर्यचकित हो उठे। वे गङ्गाजी और दाऊजी महाराजमें बड़ी भक्ति रखते थे। कहा करते थे कि 'दाऊजी श्यामसुन्दरके बड़े भाई हैं। उनके प्रसन्न होनेपर भगवान् भक्तके वशमें हो जाते हैं।' ४ फरवरी सन् १९४२ ई० में उन्होंने गोलोककी यात्रा की।

बाबा श्रीरघुवीरदासजी

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

परम विरक्त भगवद्भक्त बाबा रघुवीरदासजीका जन्म बाँदा जनपदके दिवघर ग्राममें कान्यकुब्ज ब्राह्मणपरिवारमें पण्डित शिवबक्सजीके घर संवत् १९३९ वि०की भाद्र शुक्ल पञ्चमीको हुआ था। उनकी बाल्यावस्थासे ही भगवान् श्रीरामचन्द्रके चरणोंमें भक्ति थी। वे प्रायः चार-पाँच सौ संतोंकी मण्डली लेकर अपने आस-पासके प्रमुख नगरों और दिहातोंमें सीताराम-नामकी सरस ध्वनिमें समस्त वातावरणको सराबोर करके वैष्णव और भक्त-परिवारोंको कृतार्थ कर भ्रमण किया करते थे। लोग एक ही साथ एक बहुत बड़ी संतमण्डलीको देखकर, सत्सङ्ग लाभकर, कीर्तन, भजन और समारोहोंमें सम्मिलित होकर अपने सौभाग्यकी सराहना किया करते थे। बाबा रघुवीरदासजी रामानन्दी महात्मा थे। वे भजन और कीर्तनमें अद्भुत अनुरांग रखते थे। उन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया, वे जन्मजात संन्यासी थे। उनके मुखमण्डलपर सदैव एक दिव्य प्रकाश चमकता रहता था। लंबी जटाएँ, काली दाढ़ी और श्वेत उत्तरीयकी शोभा-सागरमें उनके गौर वर्णकी कान्ति परम अद्भुत और रमणीय थी। जो उनको देखता था, वह उनके चरणोंमें विनत होकर आत्मसमर्पण कर देता था। उन्होंने बड़ी तत्परतासे सनातन-धर्म और वर्णाश्रम-मर्यादाकी रक्षा की।

वे रामायणकी कथामें बड़ी अनुरक्ति और आदर-बुद्धि रखते थे। वे भगवान् श्रीरामके कट्टर भक्त थे। उन्होंने स्वधर्मरक्षापर अपने जीवन-कालमें विशेष ध्यान दिया।

उन्होंने कानपुरमें पतितपावनी भगवती भागीरथीके तटपर ५ फरवरी सन् १९३९ ई० को शरीर-त्याग कर दिया।

परम वैष्णव श्रीदेवनायकाचार्यजी

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

श्रीदेवनायकाचार्यजी महाराज सनातनधर्मके महान् स्तम्भ थे। उनके ओजस्वी भाषणसे और तेजस्वी स्वरूपको देखकर लोग आप-ही-आप श्रद्धापूर्वक उनके चरणोंपर नत हो जाया करते थे। श्रीदेवनायकाचार्यजीका जन्म संवत् १९३३ वि० फाल्गुन शुक्ल तृतीयाको गोरखपुर जनपदके सिरज ग्राममें एक शाण्डिल्य गोत्रीय त्रिपाठी ब्राह्मणकुलमें हुआ था। वे बाल्यावस्थासे ही तेजस्वी और विद्वत्ताकी मूर्ति-से लगते थे। उन्होंने अल्पकालमें ही प्रमुख शास्त्रोंका अध्ययन करके अपनी विलक्षण प्रतिभाका परिचय दिया और प्रसिद्ध वैष्णव तोताद्रि स्वामीसे दीक्षा ली। उनके आदेशसे वे सनातनधर्मके प्रचारके लिये निकल पड़े। उनकी विद्वत्ता और भगवत्परायणतासे समाकृष्ट होकर श्रीयमुनाबाईने संवत् १९८५ वि० में बड़गादी बम्बई स्थित श्रीराममन्दिर उनकी सेवामें समर्पित कर दिया। वे अनवरत श्रीभगवान्के ध्यान और चिन्तनमें तल्लीन रहते थे। उनकी भगवद्भक्ति और विद्वत्ताने देशके असंख्य प्राणियोंका कल्याण किया। उनका जीवन त्यागमय और तपस्यापूर्ण था। उन्होंने अपने जीवनमें सात्त्विकता, पवित्रता और सदाचारको बहुत महत्त्व दिया। शास्त्रका जीवनके किसी भी कार्यक्षेत्रमें उल्लङ्घन नहीं होने पाया।

उन्होंने भगवती गङ्गा-यमुना-सरस्वतीके पवित्र सङ्गमतटपर प्रयागमें संवत् २००२ वि० माघ शुक्ल प्रतिपदाको शरीर-त्याग किया।

भक्तवर पण्डित श्रीहरनारायणजी

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

भक्तवर हरनारायणजीका जन्म एक कुलीन ब्राह्मण-परिवारमें मेरठ जनपदके धनोरा ग्राममें हुआ था। उन्होंने कुछ दिनोंतक घरपर विद्याध्ययन करनेके पश्चात् काशीकी यात्रा की। काशीमें विद्या पढ़नेके बाद वे घर चले आये। विवाह होनेके पश्चात् वे सपत्नीक धनोरासे बुलन्दशहरके नथैला ग्राममें चले आये। वर्णाश्रमधर्मकी मर्यादासे जीवनको पूर्ण संयमितकर वे श्रीभगवान्के भजनमें लग गये। वे नित्य नियमपूर्वक भगवान्के मधुर नामका कीर्तन किया करते थे। उन्होंने आजीवन इस पवित्र नियमका पालन किया। वे पवित्रता और आचरणकी शुद्धताका विशेष ध्यान रखते थे। वे नित्य १०८ बार शालग्रामजीको साष्टाङ्ग दण्डवत् कर १०८ परिक्रमा करते थे। परिक्रमा करते समय विष्णुसहस्रनामका पाठ भी करते चलते थे। कभी-कभी मस्तीसे नाचने और गाने लगते थे तो कभी प्रेमोन्मत्त और विह्वल होकर भगवान्के श्रीविग्रहके सामने रोने लगते थे। उनका जीवन भगवान्के श्रीचरणोंमें समर्पित था, वे अपनी छोटी-सी-छोटी क्रियामें भी भगवन्नामका स्मरण नहीं भूलते थे। विनम्रता, क्षमा और त्यागके तो वे मूर्तिमान् रूप ही थे। जीवमात्रके प्रति उनमें करुणा और दया तथा सहानुभूतिके भाव उमड़ते रहते थे। वे अपनी माताकी सेवा-शुश्रूषामें बड़ी अभिरुचि रखते थे। उनकी गुरु-निष्ठा तो सर्वथा स्तुत्य और सराहनीय ही थी। गङ्गा, गुरु और ब्राह्मणके प्रति वे बड़ा आदर-भाव रखते थे। लोगोंको सदाचार और पवित्र आचरणका उपदेश देते थे। एक बार उनके उपास्य शालग्रामजीका श्रीविग्रह कहीं खो-सा गया। उन्होंने विरहमें कई दिनतक अन्न-जल नहीं ग्रहण किया। श्रीविग्रहके मिलनेपर ही भगवान्को भोग लगाकर उन्होंने प्रसाद लिया। उनमें नाममात्रको भी लोभ नहीं था। एक बार हरिद्वारमें किसी श्रद्धालु भक्तने उनके पैरपर सौ रुपयेका एक नोट रख दिया। हरनारायणजी तो पूरे निःस्पृह थे। जब उन्हें पता चला कि यह सौ रुपयेका नोट है, तब उन्होंने उसे श्रीधरजी महाराजके चरणोंपर चढ़ा दिया। वे सीधे-सादे भक्त थे। उनका तो विश्वपति भगवान्से प्रेम था। माया उनसे कोसों दूर रही। उन्होंने चारों धामकी पैदल यात्रा की थी। उन्होंने ऋषिकेशमें शरीर-त्याग किया।

परम भक्त संत श्रीहरिहरबाबाजी

(लेखक—पं० श्रीब्रह्मदत्तजी चतुर्वेदी, एम्० ए०)

संत श्रीहरिहरबाबाजी महाराज एक अद्भुत और सिद्ध महात्मा थे। उन्होंने काशीक्षेत्रमें रहकर जो तपस्या की, वह संत-साहित्यकी एक महान् देन है। पुण्यसलिला भगवती गङ्गाकी गोदमें ही उन्होंने अपने जीवनका अधिकांश बिताकर जो वात्सल्य-लाभ किया, वह उनकी गङ्गा-भक्ति और संयमपूर्ण आस्तिकताका परिचायक है। काशीमें आनेपर तीर्थयात्री उनका पवित्र दर्शन करते और अपने जन्म-जन्मके पाप धोकर अमित पुण्यका सञ्चय करनेका विश्वास करते थे। वे विश्वनाथकी नगरीमें शिवकी साधना कर, सत्यकी आराधना कर, सौन्दर्यरूप भगवान्की उपासना कर अमर हो गये। वे शाश्वत शान्ति और तपस्याकी प्रतिमूर्ति थे।

उन्होंने डेढ़ सौ साल पहले बिहार प्रान्तके छपरा जनपदके जाफरपुर ग्राममें एक कुलीन सरयूपारीण ब्राह्मण-परिवारमें जन्म लिया था। उनका बचपनका नाम सेनापति तिवारी था। बाल्यावस्थासे ही उनमें वैराग्यका उदय हुआ। उन्होंने थोड़ा-बहुत संस्कृतका अध्ययन करके काशीकी यात्रा की। वे काशीमें श्रीवीतरागानन्दजी महाराजके साथ रहने लगे। वे जन्मजात संत थे ही, उनके हृदयमें पवित्र भावना उठी कि उसमें श्रीहरिहरका निवास है। वे काशीमें 'हरिहर भैया' के नामसे विख्यात थे। उन्होंने जीवनको कठोरतम तपस्याके चरणोंमें समर्पित

कर दिया। उन्होंने शीतकालके कठोर जाड़ेको, ग्रीष्मकी भयङ्कर लूको और पावसके काले-काले बादलोंको तथा प्रबल झंझावातको चुनौती दी। उन्होंने सदा गङ्गाजीकी धारामें नावपर निवास करके भूखों रहकर, जलती बालुका खाकर श्रीरामकी उपासना करनेका दृढ़ सङ्कल्प किया। अभिनव तुलसीकी राममयी वाणीने, राम-नाम-ध्वनिने काशीमें ही नहीं, भारतभरमें दूर-दूरतक भक्तिकी भागीरथी प्रवाहित कर दी। दूर-दूरके तीर्थयात्री उनका सन्देश भारतके पवित्र तीर्थोंमें, प्रमुख नगरोंमें पहुँचाकर भगवान् रामकी विजयिनी पताका फहराने लगे।

कुछ दिनोंतक वे हिंदूविश्वविद्यालयके सन्निकट गङ्गा-माताकी गोदमें रहकर अस्सी घाटपर चले आये। विश्वविद्यालयका एक छात्र उनकी नावपर जूता पहनकर चला गया। महाराजके शिष्योंने उसे ऐसा करनेसे रोका; पर उसकी उद्दण्डता और बढ़ गयी, कुछ छात्रोंको लाकर उसने बड़ा उत्पात किया। हरिहरबाबा तो क्षमाकी मूर्ति थे, उन्होंने स्थान छोड़ दिया। महाभागवत मालवीयजी उस समय काशीमें नहीं थे। उन्होंने काशी आनेपर अस्सीघाटतक पैदल जाकर एक पैरपर खड़े होकर संतापराधके लिये क्षमा माँगी और महाराजसे उसी स्थानपर चलनेका अनुरोध किया। बाबा वहाँ न गये; पर उनके पवित्र दर्शनसे मालवीयजी महाराजको विश्वास हो गया कि उन्होंने क्षमा कर दिया।

श्रीहरिहरबाबा सब ऋतुओंमें गङ्गाके उस पार ही शौच आदिके लिये जाते थे। कभी-कभी तो नावकी प्रतीक्षा किये बिना ही तैरकर उस पार चले जाते थे, बादमें नावपर उधरसे आते थे। नावपर ही रहकर बड़ी शान्तिसे रामनामका आस्वादन किया करते थे। नौकापर शिष्योंद्वारा रामायण और श्रीमद्भागवत आदिका पाठ चलता रहता था। कीर्तन भी होता था। वे कहा करते थे कि 'यदि काशी और गङ्गाजीके बदले स्वर्ग भी मिले तो वह त्याज्य है।' उन्होंने वर्षों गङ्गाजीमें नंगे खड़े होकर सूर्यसे नेत्र मिलाकर तपस्या की थी। वे दिगम्बर वेषमें ही रहते थे। भगवान् शङ्कर और श्रीराममें उनकी अचल भक्ति और निष्ठा थी।

संवत् २००६ वि० की आषाढ़ शुक्ल पञ्चमीको गङ्गाजीकी गोदमें ही उन्होंने महानिर्वाणका वरण किया।

महात्मा प्रयागदासजी

(लेखक—श्रीउदयप्रतापनारायण बहादुर पाल)

महात्मा प्रयागदास परम भगवद्भक्त और विलक्षण संत थे। उन्होंने उत्तरप्रदेशके बस्ती जनपदको अपने तपस्यापूर्ण जीवनसे धन्य और गौरवान्वित किया था। दस-ग्यारह साल पहलेकी बात है, सवा सौ सालकी अवस्थामें उन्होंने भगवती सरयूके तटस्थ कुदरहा नामक ग्राममें समाधि ली।

यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने किस प्रान्तमें जन्म लिया था; पर ऐसी मान्यता है कि वे पश्चिमी प्रान्तके एक राजाके पुत्र थे। बचपनमें ही पूर्वजन्मके शुभ संस्कारोंके फलस्वरूप उन्होंने संन्यास ग्रहण किया और भगवती सरयू और कूपवाहिनी (कुआनों)-के तटवर्ती भूमिभागोंमें विचरण करके भगवान् रामकी सुमधुर भक्तिका प्रचार करने लगे।

वे शीतकालमें अपने आस-पासके ग्रामों और नगरोंका परिभ्रमण किया करते थे। उनके साथ संतोंकी एक बड़ी मण्डली रहती थी। जिस गृहस्थका वे निमन्त्रण स्वीकार कर लेते थे, वह अपना परम सौभाग्य समझता था। वे कहीं भी एक रातसे अधिक नहीं रहते थे। भ्रमणकालमें वे सन्ध्या होते-होते किसी गृहस्थ भक्तके घर पहुँच जाते थे। रातमें उसकी सुविधाके अनुसार संतमण्डलीके लिये सूक्ष्म आहार और दुग्धपान आदिकी व्यवस्था हो जाती थी। दूसरे दिन दोपहरको भण्डारा होता था। कुछ देर विश्राम करनेके बाद वे दूसरे स्थानके लिये प्रस्थान कर देते थे। प्रस्थान करते समय उनकी शोभा-यात्रामें एक विशेष दिव्यता और सात्त्विकताका दर्शन होता था; ऐसा लगता था कि भगवद्भक्ति ही साकार हो उठी है। घण्टा, घड़ियाल और शङ्खनादकी मनोरमता जड-जङ्गममें दिव्य शक्तिकी प्राणप्रतिष्ठा कर देती थी।

वे भगवान्‌के अनन्य भक्त तो थे ही, साथ ही सिद्ध योगी भी थे। उनकी योगसाधनाकी ख्याति दूर-दूरतक फैली हुई थी। कभी-कभी शिष्यों तथा भक्तोंद्वारा बोलनेके लिये विवश किये जानेपर वे भगवान्‌की अनन्य भक्तिपर ही विशेष जोर देते थे। दुग्धफेनकी धवलिमासे होड़ लेनेवाली श्वेत दाढ़ी, भूरे रंगके स्वर्णिम जटाजूट, लंबे कद और गौर वर्णसे विभूषित उनकी रमणीय आकृति योगकी साकार प्रतिमा थी।

उन्होंने आजीवन तप, सत्य और भगवद्भक्तिकी ही महिमाका बखान किया। धरतीपर भगवान्‌की महती और पुण्यमयी कृपाका उदय होनेपर ही इस तरहके विरक्त संत और भगवद्भक्त मानवोंका ही नहीं, जगत्‌मात्रका कल्याण करनेके लिये उतरते हैं। महात्मा प्रयागदास बड़े लोकप्रिय महात्मा थे। झोपड़ीसे लेकर राजमहलोंतकके रहनेवालोंपर उनकी कृपा रहती थी। महसोनरेश श्रीनरेन्द्रबहादुरपाल और उनके पुत्र राजा विजयप्रतापनारायण तथा उनके राजपरिवार और समस्त आस-पासकी जनताके वे आदरास्पद थे। अपनी तपोभूमिमें उन्होंने भगवद्भक्तिकी सरस्वती बहायी, सत्य और योगकी गङ्गा उतारी, प्रेमकी कालिन्दी प्रवाहित की। उनकी समाधिस्थलीमें आज भी अनेक संत निवासकर भक्ति-प्रचार—परम्पराकी रक्षा कर रहे हैं।

परमहंस स्वामी श्रीसियारामजी महाराज

(लेखक—श्रीरामरक्खाजी)

'कल्याण' के पाठक स्वामी श्रीसियारामजी महाराजके नामसे परिचित ही हैं। 'कल्याण'के पिछले अङ्कोंमें उनके सम्बन्धमें समय-समयपर लेख छपते रहे हैं। इस लेखमें महाराजजीके जीवनकी कुछ शिक्षाप्रद घटनाओं तथा कतिपय उपदेशोंका ही संक्षेपसे उल्लेख किया जायगा।

शिक्षाकालमें भी जीवनके उद्देश्यकी चिन्ता

आपके मित्र श्रीअयोध्याप्रसादजीको एक दिन पता चला कि महात्माजी (आपके सच्चे व्यवहार और आत्म-कल्याणकी दृढ़ जागरूक भावनासे प्रभावित आपके साथी इसी नामसे आपको स्मरण करते थे) प्रातःकालसे रो रहे हैं। कारण पूछनेपर उत्तर मिला कि 'संसारकी समस्याका हल नहीं सूझता कि ईश्वरने हमें इस सृष्टिमें क्यों भेज दिया। कष्ट सहते हुए भी इसका मर्म हम नहीं समझते और अपने कर्तव्य तथा लक्ष्यका भी कुछ पता नहीं चलता।' अपने जीवनके लक्ष्यको पा लेनेकी तीव्र भावना जिसके मनमें बचपनमें होती है, वही आगामी जीवनमें आत्मकल्याणके पथपर अग्रगामी होकर प्रभुभक्त बनता है। विद्यार्थी-जीवनमें भी आपका सत्सङ्गके लिये उत्साह तथा प्रेम था। जब भी समय मिलता, साधुसङ्गमें उपस्थित हो जाते थे। सत्सङ्ग तथा तीर्थयात्रा आपके जीवनकी प्यारी वस्तुएँ थीं।

कर्तव्यपरायणता

क़पूरथला कालेजमें जब आप शिक्षकका कार्य करते थे, उस समय एक उच्च राज्यकर्मचारीने आपसे प्रार्थना की कि 'आप मेरे पुत्रोंको प्राइवेट ट्यूशनके रूपमें पढ़ायें।' आपने कहा कि 'प्राइवेट ट्यूशनमें मुझे जो शक्ति व्यय करनी पड़ेगी, कालेजकी पढ़ाईमें उतनी शक्ति कम लगेगी; यह ईमानदारी नहीं है। कालेजसे जो वेतन मिलता है, उसको भोगते हुए बाहरी कार्यमें शक्तिका व्यय करना पाप है।' प्रिंसिपलके यह कहनेपर कि 'मैं आपको आज्ञा देता हूँ, आप पढ़ायें; अब आपके ऊपर इसकी जिम्मेदारी नहीं रही।' वे विद्यार्थी उनके पास पढ़नेके लिये आते रहे। इस बातपर आश्चर्य हुआ कि वे विद्यार्थी प्रो० सियारामके उसी पत्रमें अनुत्तीर्ण हो गये, जिसके कि वे स्वयं परीक्षक थे। आपने कहा कि 'जब विद्यार्थी कमसमझ थे, तब उन्हें अनुत्तीर्ण होना ही था। बदनामीके भयसे मैं उन्हें उत्तीर्ण करके कैसे पापका भागी बन सकता था।'

ईश्वरविश्वास

एक बार एक टीलेपर यह विचार लेकर बैठ गये कि यहाँसे हिलेंगे नहीं; देखें, भगवान् कैसे शरीरकी रक्षा

करता है। किसीको सूचना नहीं दी। वहाँ पहले एक आदमी आया, जो खिचड़ी पकनेको रख गया। परंतु वह खिचड़ी कच्ची रह गयी। पर आपका चित्त कुछ भी करनेका नहीं था। पीछे दूसरा आदमी आया, वह घरसे खिचड़ी बनाकर ले आया। उसके पश्चात् वह वहीं भोजन पहुँचा जाया करता था।

निरभिमानता

जब कभी सत्सङ्गी आते और उन्हें भजनमें प्रवृत्त किया जाता, तब उनका शरीर क्रियाओंसे सूक्ष्म तथा दुर्बल हो जाता था। ऐसी दशामें आप सर्वदा अपने शिष्योंकी सेवा किया करते थे। उन्हें रोटी बनाकर खिलाते थे। ऐसा अनुपम तथा निरभिमानतायुक्त व्यवहार था। शिष्यको मित्र समझना, उसके साथ समानताका व्यवहार ही नहीं, अपितु समयपर सेवा भी करना, नम्रता रखना, कभी बड़े नहीं बनना—उनका सबके प्रति ऐसा ही बर्ताव देखा गया। कहा करते थे कि 'हमें कोई शिष्य नहीं भासता, भाग्यानुसार अपनी-अपनी सेवा सभी ले रहे हैं।' यह भी कहा करते थे कि 'सब संतोंके दर्शन करने चाहिये। पता नहीं किसके प्रसादसे संसारके दुःखोंका निपटारा हो जाय। अथवा किस महात्माकी बातसे हमारे हृदयकी ग्रन्थि कट जाय। कभी किसी महात्माकी बात जँच जाती है, समय ऐसा होता है; अथवा किसीकी शैली ऐसी होती है कि हृदयमें बात जँच जाती है।'

एकाग्रता तथा तल्लीनता

कई बार आप गङ्गाकी ओर मुख करके बाह्य जगत्को भूले हुए बैठे रहते थे। पीछे कई लोग आकर खड़े हो जाते थे और बहुत देरतक उन्हें बोध भी नहीं होता था कि कोई व्यक्ति आया है।

सामान तैयार है। लारी लानेके लिये आदमी गया। एक स्थानसे प्रस्थान करना है कि महाराजजी समाधिस्थ हो गये। आने-जानेवाले सज्जनोंके पदाघातोंसे भी ध्यान नहीं टूटता। बहुत देरके बाद जागते थे।

जहाँ भी रहते, उनकी ऐसी मानसिक स्थिति हमेशा देखनेमें आती थी।

यम-नियमका पालन आवश्यक है

जब कभी कोई भजनमें लगाये जानेका आग्रह करता था, तब आप कहा करते कि 'किसीको भजनमें प्रवृत्त करनेमें संकोच होता है, क्योंकि व्यवहार शुद्ध न होनेसे उन्नति नहीं होती। यदि पहले कुछ उन्नति हो भी जाय तो आगे गाड़ी रुक जाती है।' आप यम-नियमके पालनपर बहुत अधिक बल देते थे। उनके सम्पर्कमें आनेवाले अथवा उनके उपदेशोंको सुननेवाले सज्जनोंके मनपर यह प्रभाव पड़ता कि वे वैराग्य तथा व्यवहार-शुद्धिपर अधिक बल देते थे। इसका मुख्य कारण यही प्रतीत होता है कि वर्तमान कालमें आचार-व्यवहारकी शुद्धि तथा वैराग्यपर जन-साधारणको आस्था नहीं है। साधक भी इन दो अत्युपयोगी साधनोंकी ओर ध्यान न देकर अन्य सरल उपायोंसे लक्ष्य-प्राप्तिकी आशा करते हैं।

शुद्ध मनपर बाह्य घटनाओंका प्रभाव

आपके रहनेके स्थानकी खिड़कीपर एक कपड़ेका पर्दा लटकाया गया तो आपने कहा कि इस पर्देसे खूनकी गन्ध आती है। कपड़ा नया था। पीछे पता चला कि जो पैसा उस कपड़ेको खरीदनेमें खर्च हुआ था, वह खूनके मुकद्दमेसे आया था।

हवन करते समय एक बार जो लकड़ियाँ आयीं, उन्हें छूने तथा पकड़नेमें घृणा तथा घबराहटके भाव उदय होते थे। कारण खोज करनेपर पता चला कि ये लकड़ियाँ एक ऐसे मकानकी छतमेंसे आयी हैं, जहाँ बहुत दिन पहले एक हत्या हुई थी।

एक छोटी बच्चीके आग्रह करनेपर उसे ध्यान करनेके लिये अपने पास बैठाया। थोड़ी ही देरमें वह बोली कि 'मुझे दूसरे कमरेकी वस्तुएँ दीख रही हैं।' महाराजजीने इस बातकी सत्यताकी खोज करनेके लिये अपने-आप जाकर उस कमरेकी चीजोंकी व्यवस्थामें कुछ उलट-फेर कर दिया और वापस आकर उस लड़कीसे पूछा तो उसने आँखें बंद किये हुए ही बता दिया कि 'अब वस्तुओंके क्रममें अमुक परिवर्तन हो गया है।' महापुरुषोंके अपने प्रभावसे ही ऐसी घटनाएँ हो जाती हैं; परंतु उन्हें इसका कोई मान अथवा अभिमान नहीं होता।

प्रार्थनाकी स्वीकृति

रुद्रनाथमें ठहरे हुए आपने एक बार श्रीरुद्रनाथजीसे

प्रार्थना की कि 'यदि हमारा कोई भोग हो तो वह भोग यहीं समाप्त कर दीजिये।' उसी दिन लकड़ी काटते समय आप लुढ़क गये और पर्याप्त चोट आयी। सिरसे खून भी बहुत निकला। परंतु आप प्रसन्न थे कि श्रीरुद्रनाथजीने हमारी प्रार्थना स्वीकार कर ली।

स्वतन्त्रताकी शिक्षा

सत्संगियोंको प्राय: उपदेश देते थे कि भोजन बनाना आदि सब कार्य अपने-आप करनेका अभ्यास होना चाहिये। स्वयं भी अपने हाथसे ही प्राय: भोजन बनाते थे। रोगी होनेपर भी शरीरकी सफाई, उपवास आदि तथा त्रिफला, बनफशा आदि ओषधियोंसे ही कार्य चलाते थे। डाक्टर या वैद्यकी बहुत कम सहायता लेते थे। सत्संगियोंको भी ऐसा ही करनेका उपदेश भी करते थे और उसे अपने व्यवहारसे जँचाते थे।

कुछ उपदेश—न्याययुक्त व्यवहार तथा ईश्वरप्रदत्त फलपर सन्तोष

कोई मनुष्य सबको खुश नहीं कर सकता। वह सिर्फ ईश्वरके सामने साफ-दिल रह सकता है। ईश्वर उसके सलूकका फल जरूर देंगे। हानि-लाभ—सब अपने कर्मोंके मुताबिक होता है। ईश्वरके न्यायपर भरोसा रखकर सब करना चाहिये। जब किसीके साथ काम पड़ता हो, तब साफ तौरपर शर्तें तय करो और बाद दिल साफ रखते हुए ईश्वरको हाजिर-नाजिर समझकर काम करते जाओ। इतनेपर अगर दूसरा खुश न हो तो तुम्हारा कोई कसूर नहीं।

सम्बन्धियोंमें यथार्थदृष्टि

मुसाफिरकी दृष्टिसे देखनेपर सब सम्बन्ध कल्पित मालूम होते हैं। ट्रेनके डिब्बेमें बहुत-से आदमी सवार रहते हैं, यात्रा समाप्त होनेपर उतरते जाते हैं। जबतक रहते हैं, एक-दूसरेकी सहायता करते हैं, मित्रता हो जाती है। मगर चले जानेपर कोई मोह नहीं करता। ऐसे ही विचार गृहस्थीको रखने चाहिये। संयोग-वियोग होनेका नाम ही सृष्टि है। अपना कर्तव्य करते जाओ, इतना ही सम्बन्ध है; और कोई सम्बन्ध नहीं।

कर्मका लक्ष्य ईश्वर-प्रसन्नता

सेवा सबकी करते जाओ और सृष्टिका नाटक देखते रहो। फिरसे देखनेकी इच्छा न रहने पाये; नहीं तो फिर यह झगड़ा आकर खड़ा हो जायगा। बाजीगरकी वृत्ति रहे। मदारी खेल दूसरोंको दिखलाता है परंतु अपने-आप उसमें आसक्त नहीं होता। उसका उद्देश्य केवल लोगोंको प्रसन्न करके पैसा कमाना होता है। इसी तरह अगर केवल ईश्वरको प्रसन्न करना लक्ष्य हो तो ठीक है; वे आप ही सँभाल लेंगे।

गृहस्थीको शिक्षा

१-स्त्रीको हिंदी पढ़ाना चाहिये, जिससे वह धर्मग्रन्थ पढ़ सके।

२-स्त्रीको कहना कि मैं तुमसे तब प्रसन्न होऊँगा, जब तुम हर प्रकारसे सास-ससुरकी तन-मनसे सेवा करोगी।

३-विषयभोगमें बहुत न फँसना, ब्रह्मचर्यके नियमोंका पालन करना चाहिये।

४-लोगोंसे व्यावहारिक वार्तालाप जरूरतसे ज्यादा न करे और न बहुत मिले-जुले।

५-जहाँतक हो, दिमागी ताकतका संग्रह रखे।

६-गृहस्थी अपना कर्तव्य करते हुए तमाशा देखनेवाला बननेकी कोशिश करे। दूसरोंके योग तथा बुद्धिको पलटना आपके अधीन नहीं, इसकी रग ईश्वरके हाथमें है। आप सिर्फ अपने कर्त्तव्यके उत्तरदाता हैं।

७-सास-बहूके झगड़ेको निपटाना कठिन है। कुछ-न-कुछ कसूर दोनों तरफ होता है।

८-धर्मशास्त्रके अनुसार पंद्रह प्रतिशत अपनी आमदनीका गृहस्थीको धर्मार्थ खर्च करना चाहिये।

स्त्रीको शिक्षा

१-पतिकी सेवा करना, उनको सन्तुष्ट रखना और उनकी आज्ञा लेकर भजनमें प्रवृत्त होना।

२-आहार सात्त्विक करना और स्वादको जीतना।

३-व्यवहारको सरल और निष्कपट बनाना।

४-मोटा कपड़ा पहनना और शृङ्गारको छोड़ना।

५-विधवाएँ अपने बाल कटवायें। चक्की तथा चर्खा चलायें।

६-पतिके आज्ञामें रहना। अगर पति कोई ऐसी बात करे, जो धर्मशास्त्रके प्रतिकूल हो, तो मधुर वाणीसे उसे

समझा दें।

निष्पाप जीवन बितानेके नियम

१-अहिंसा—मन-वचन-कर्मसे किसीको दु:ख न देना। यदि अपने प्राण और धर्मकी रक्षाके लिये धर्मशास्त्रानुसार किसीको दु:ख पहुँच जाय तो दोष नहीं। या दूसरोंकी भलाई करनेमें उसको या दूसरेको शास्त्रानुसार दु:ख पहुँच जाय तो दोष नहीं।

२-सत्य—जैसा दिलमें भाव हो, वैसा ही करना या कहना। भाव प्रकट करनेमें साफ शब्द बोलने चाहिये। यदि दूसरेको हानि पहुँचानेके लिये झूठ बोला जाय तो बहुत दोष लगता है। अपनी जान, माल और धर्मकी रक्षाके लिये झूठ बोलनेमें थोड़ा या बहुत कम दोष लगता है।

३-चोरी—किसीका हक छिपाकर या चालाकीसे या जबर्दस्ती लेना।

४-ब्रह्मचर्य—मन, वचन, कर्मसे पराये पुरुष या स्त्री या किसी पुरुष या स्त्रीके सङ्गकी इच्छा न रखना।

५-विषय-त्याग—अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध— किसीकी इच्छा न करना।

६-भोजन धार्मिक कमाईका होना चाहिये। रसवाला, चिकना, हृदयको हितकारी, नीरोग रखनेवाला, आयु, बल और बुद्धिको बढ़ानेवाला होना चाहिये। खट्टा, चटपटा, तीक्ष्ण, रूखा, कड़वा, बहुत नमकीन और बहुत गरम नहीं होना चाहिये। हृदयमें जलन पैदा करनेवाला, अपवित्र, दुर्गन्धित, बासी और भारी भोजन नहीं करना चाहिये।

७-व्यवहारमें मनको पवित्र रखना चाहिये। मन सरल रहे। छल, कपट, ईर्ष्या, द्वेषसे बचना चाहिये।

८-शरीरकी शुद्धि उसे नीरोग रखनेके लिये जितनी जिस समय आवश्यक समझी जाय, उतनी करनी चाहिये।

९-संसारी और योगका या कोई धर्मका काम करनेपर जितना या जैसा परिणाम हो, उसपर सन्तोष करना चाहिये।

१०-सुख-दु:ख, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा, नेकनामी-बदनामी तथा हानि-लाभमें हर्ष-शोक नहीं करना चाहिये। बल्कि विचारना चाहिये कि मेरे पिछले कर्मानुसार जैसा कुछ मेरा भोग था, वैसा ही मेरे सामने आ गया। दूसरा केवल भोग सिद्ध करनेमें निमित्तमात्र है।

११-स्वाध्याय—पढ़नेके लिये कोई धर्मपुस्तक, जिससे भक्ति, धर्म और वैराग्य बढ़े, होनी चाहिये।

१२-धर्म—कर्म करते हुए या किसीका उपकार करते हुए ईश्वरसे या संसारसे बदलेकी इच्छा नहीं करनी चाहिये। जिस तरह वे हमारा कल्याण समझेंगे, वैसे ही वे आप ही कर देंगे। भगवान्पर पूर्ण श्रद्धा और विश्वास रखते हुए उनकी रजामें राजी रहना चाहिये।

शान्ति और वैराग्य

विषयोंसे उपरामता आये बिना मनको शान्ति कहाँ मिल सकती है। प्रभुकी शरणमें वे ही विश्राम पा सकते हैं, जो मायासे विमुख हो चुके हैं। यम-नियम परमावश्यक हैं। पापको छोड़े बिना और शास्त्रानुसार व्यवहारको शुद्ध किये बिना तप और साधन कुछ नहीं चल सकते। प्राय: लोग सिद्धियोंसे आकर्षित होकर योगकी ओर दृष्टि देते हैं, परन्तु यम और नियमके बिना योग निरर्थक है।

प्रश्न—क्या वैराग्यके बिना ब्रह्मप्राप्ति हो सकती है?

उत्तर—वह उतनी ही संभव है, जितना पीठपर पत्थरोंकी गठरी लेकर पहाड़पर सीधा चढ़ना। विषयोंमें चित्त फँसा होनेसे सारा परिश्रम निष्फल हो जाता है। पहले वैराग्य होना जरूरी है।

वैराग्यके बिना अभ्यासमें बहुत पुरुषार्थ करना निरर्थक है। योगकी क्रिया कोई वैराग्यसे बढ़कर फलदायक नहीं हो सकती। कमजोरी और बीमारीमें भी वैराग्यका सहारा रहता है। सत्यके ग्रहण और असत्यके त्यागसे वैराग्यकी प्राप्ति होती है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकारका त्याग करनेसे वैराग्यकी सिद्धि होती है। वैराग्य ही सबसे मुख्य है।

वैराग्य-प्राप्तिका उपाय—दोषदृष्टिके बिना पदार्थोंसे वैराग्य होना सम्भव नहीं है। पीतलको सोना मत समझो। गुलाबका फूल गुलाबी दीखता है परंतु दूसरी ओर सफेद है। फूलकी डंडी दूरसे चिकनी दीखती है परंतु छूनेपर खुरदरी निकलती है। विषयोंमें इसी प्रकार धोखेसे सुख दीखता है। इसी प्रकार संसारमें बड़ा धोखा है। मनुष्य

भ्रममें पड़ा हुआ अनुमानके सहारे धोखा खाता है। यथार्थ बोधसे यह धोखा मिट सकता है।

जिस वस्तुकी प्राप्ति हमारे लिये ठीक न हो, उसका हठसे त्याग करना उचित है। फिर कुछ काल पश्चात् चित्त आप ही उसका चिन्तन छोड़ देगा। बिना हठके कोई काम नहीं हो सकता। विषयोंमें दोषदृष्टि विचार और युक्तिसे पैदा करनी चाहिये।

शारीरिक दुःख शारीरिक कुपथ्यसे और मानसिक दुःख मानसिक कुपथ्यसे उत्पन्न होता है; वह कुपथ्यसे अधिक तेज होता है, शान्त नहीं हो सकता। उसका प्रथम और अन्तिम इलाज परहेज है। शत्रुसे असावधान कभी नहीं होना चाहिये। जो पुरुष चोरोंकी सरायमें रहता है और असावधान सोता है, वह लूटा जाता है।

स्वाद-विजय

भोजन स्वादिष्ट बनाकर नहीं करना चाहिये। सप्ताहमें एक दिन बिना नमक-मसालेका दाल-साग खाय। सोंठ फंकी ले ले, घी पहले पी ले। फिर रूखा फुल्का-दाल खाये। दूधमें मीठा न डाले, जरूरी हो तो मीठा पहले खाकर फिर दूध पी ले। नमक खानेकी जरूरत हो तो नमक पहले खाकर फीका भोजन पीछे खाय।

धैर्य

यदि किसीको इतना पता चल जाय कि असल विरक्ति ऐसी है और वह लक्ष्यको पकड़कर वहाँ पहुँचनेके लिये अपनी शक्तिके अनुसार चल पड़े और बिना कदम पीछे हटाये आगे ही चलता रहे, तो उसपर ईश्वरकी बड़ी कृपा समझनी चाहिये। ग्रन्थोंको पढ़ लेना तो कठिन बात नहीं है, परंतु उनके अनुसार आचरण करना बड़े धैर्यका काम है। अधीर और विचारशून्य इस मार्गका अधिकारी नहीं है। जो मार खानेसे घबरायेगा नहीं, वह जल्दी सफलता प्राप्त करेगा।

सच्चे जिज्ञासुमें ये गुण होने चाहिये

(१) सच्चा वैराग्य। (२) जीभके स्वादसे हटना। (३) बातका धनी होना। (४) पापसे घृणा। (५) स्वास्थ्यको ठीक रखना, कुपथ्य न करना। (६) तन, मन, धन और समयको किफायतसे खर्च करना। (७) व्रत ले तो कष्ट आनेपर भी उसे निभाना। (८) काम दिखावेसे न करना। (९) अपने रहनेका तथा जीवनका भार दूसरेपर न डालना। (१०) इरादेका पक्का रहना।

गुजरातके महान् भक्त श्रीप्रीतमदासजी

भक्त प्रीतमदासजीका जन्म बारोट जातिमें सं० १७७४ में गुजरातके बावला गाँवमें हुआ था। उनके पिताका नाम प्रभातसिंह और माताका नाम जयकुँवरि बाई था। वे बचपनसे ही अन्धे थे।

एक समय बावला गाँवमें साधुओंकी एक जमात आयी। पंद्रह वर्षकी उम्रमें ही प्रीतमदासजी भगवान्‌की स्तुतिके नये-नये पद बना लेते थे। बालककी ऐसी अद्‌भुत शक्ति देखकर साधुओंको उसके ऊपर दया आयी। बालकपर सत्सङ्गका रंग चढ़ा और जमातके महन्त भाईदासजीसे उसने गुरु-मन्त्र ग्रहण किया।

उसके बाद घूमते-घूमते प्रीतमदासजी गुजरातके संदेसर गाँवमें आये और वहीं भजन करने लगे तथा आजीवन वहीं रहे।

प्रीतमदासजी महान् भक्त थे। उन्होंने सरस गीता, ज्ञान-ककहरा, सोरठ रागका महीना इत्यादि बहुत-से अच्छे ग्रन्थ लिखे हैं। उन्होंने १५००से अधिक भजन भी बनाये थे।

हरिनो मारग छे शूरानो, नहिं कायरनुं काम जोने।
परथम पहेलुं मस्तक मूकी वळती लेवुं नाम जोने॥
सुत वित दारा शीश समर्पे, ते पामे रस पीवा जोने।
सिंधु मध्ये मोती लेवा माँही पड्या मरजीवा जोने॥
मरण आगमे ते भरे मूठी दिलनी दुग्धा वामे जोने।
तीरे ऊभा जुवे तमासो ते कौडी नव पामे जोने॥
प्रेमपंथ पावकनी ज्वाळा भाळी पाछा भागे जोने।
माँही पड्या ते महासुख माणे, देखनारा दाझे जोने॥

माथा साटे मोंघी वस्तु, साँपडवी नहिं सहेल जोने।
महापद पाम्या ते मरजीवा, मूकी मननो मेल जोने॥
राम अमलमाँ राता माता, पूरा प्रेमी परखे जोने।
प्रीतमना स्वामीनी लीला, ते रजनी दंन नरखे जोने॥

महात्मा गाँधीका यह प्रिय पद प्रीतमदासका ही रचा हुआ है। उनकी रची हुई सरस गीता ऐसी है, जो प्रेमसे गानेवालेके द्वारा मधुर कण्ठसे गाये जानेपर भक्त श्रोताओंके हृदयको भक्तिरससे सराबोर कर देती है और उनकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगती है। उसमें गोपी-प्रेमका अगाध वर्णन है। अन्धे होनेके कारण उनके साथ सदा चार-पाँच भक्तजन रहते थे। वे जब भावमें आते, तब भजन बोलते जाते और उनके साथी भक्त उसे लिखते रहते थे। प्रीतमदास समर्थ त्यागी पुरुष थे। उनके चौबीस शिष्य थे, वे भी त्यागी थे।

रविसाहेब श्रीप्रीतमदासके समयके महान् भक्त थे और वे प्रीतमदाससे बहुत प्रेम करते थे। इन्होंने कोई नया पंथ नहीं चलाया। अपने जीवनमें जिस परम सत्यका अनुभव किया, उसीको सरल वाणीमें उस समयकी जनताके सामने उपस्थित कर दिया।

अन्तमें संवत् १८५४ की वैशाख बदी द्वादशीको वे भगवत्स्वरूपमें लीन हो गये।

श्रीवीरजी भक्त

(लेखक—वैद्य श्रीबदरुद्दीन राणपुरी)

श्रीवीरजी भक्तका जन्म भाडला गाँवमें संवत् १८७६ में हुआ था। उनके पिताका नाम वस्ता संघराज और माताका नाम लाडकीबाई था। उनके पिता चोटीलामें आये, तबसे उनका जीवन परमार्थके मार्गमें लग गया। छोटी उम्रमें उन्होंने एक साधुको जाड़ेमें ठिठुरते देखकर अपना धाबला उढ़ा दिया। सतरह वर्षकी उम्रमें उनके माता-पिताका देहान्त हो गया। उन्होंने छोटी-सी दूकान कर ली। उसमें जो कुछ बचता, उससे वे साधु-संतोंको रोटी देते। धीरे-धीरे इस सेवाको लेकर भक्तकी ख्याति बढ़ती गयी। बादको उन्होंने सदाव्रतके लिये जगह ठीक कर ली और वहाँ एक मन्दिर बनवाया। उस समय रेलवे लाइन न होनेके कारण वढवाणसे द्वारका जानेवाले हजारों साधु-संतोंको भक्तकी धर्मशालामें रोटी मिलती थी और ठहरनेके लिये जगह। उनके यहाँसे कोई साधु-संत कभी भूखे वापस नहीं जाते थे।

गाँवमें पानीका बहुत ही कष्ट था। उन्होंने खुद मेहनत की और एक कुआँ बँधवाया, जो अबतक 'भगतके कुएँ' के नामसे प्रसिद्ध है।

भगतजीमें प्रभु-प्रेम विचित्र ही था। रामनामकी धुन लगाते समय उनके चेहरेपर अजब तेज झलक उठता था। वे निरन्तर रामनामका जप करते रहते थे।

वे अखण्ड ब्रह्मचारी थे। उनका जीवन बिलकुल सादा था। उनकी रहनी-करनी निर्दोष थी। उनका जीवन प्रभुमय था। वे सबमें श्रीहरिका ही दर्शन करते थे। वे कहते थे कि 'मुझको तो सब प्रभुका ही रूप मालूम पड़ता है।' वे साधु-संतोंकी पगचम्पी करते और उनको जिमाते समय मक्खियाँ उड़ाते तथा गरमीके दिनोंमें पंखा झलते थे। इस प्रकार साधुओंको सदा प्रसन्न रखते थे।

सड़सठ वर्षकी उम्रमें संवत् १९४३ में चैत्र बदी पञ्चमी, गुरुवारको प्रातःकाल रामनामका उच्चारण करते हुए उनका देह छूटा और वे भगवत्स्वरूपमें लीन हो गये।

भक्त शास्त्रीजी शङ्करलाल माहेश्वर

(लेखक—वैद्य श्रीबदरुद्दीन राणपुरी)

मोरवी शहरकी कीर्ति देश-विदेशमें फैलानेवाले प्रसिद्ध भक्त श्रीशङ्करलाल शास्त्रीका जन्म मोरवी शहरमें संवत् १८९९ में हुआ था। वे पंद्रह वर्षकी उम्रमें सुन्दर कविताएँ लिख सकते थे।

उन्होंने अपने जीवनमें बहुत-से उत्तम ग्रन्थ लिखे। मोरवीके राजा सर बाघजी बहादुरने हिमालयकी और सारे हिन्दुस्थानकी यात्रामें शास्त्रीजीको साथ रखा था। उसके बाद मोरवीमें १०८ भागवत-पारायणका यज्ञ हुआ, जिसमें शास्त्रीजीको अग्रस्थान दिया गया। उस समय हिन्दुस्थानमें दो या तीन शतावधानी थे। उनमें एक शास्त्रीजी भी थे। एक दिन एक ब्राह्मणका लड़का उनके घर भिक्षा लेनेके लिये आया। घरमें कोई न था। केवल शास्त्रीजी पूजा करनेमें लगे थे। लड़केने देखा कि घरमें कोई नहीं है। इसलिये वह हवेलीमें पड़ी हुई एक तपेली चुराकर चलता बना। यह बात शास्त्रीजीने देख ली। कुछ दिनों बाद शास्त्रीजीने उस लड़केको बुलाया और प्रेमसे स्नान कराकर नये कपड़े पहनाये एवं घरमें जितने बर्तन चाहिये, उतने सब उसको दे दिये। जाते समय कहा—'भैया! उस दिन मेरे पास माँगते तो मैं दे देता। ऐसा नहीं करना चाहिये।' इससे वह लड़का बहुत लज्जित हुआ और उसका भविष्य-जीवन बहुत सुधर गया।

उनके यहाँ सदा साधु-संत आते और वे बहुत ही प्रेमसे उनकी सेवा करते। मोरवीमें सदा उनकी सुन्दर कथा हुआ करती थी और हजारों आदमी उससे लाभ उठाते थे।

शास्त्रीजी हमेशा दस बजेतक महादेवजीकी पूजामें लगे रहते थे। मोरवीके श्रीकुबेरनाथ महादेव उनके इष्टदेव थे।

भक्त हरिदास डाकोरवाला

गुजरातके तीर्थस्थान डाकोरमें श्रीहरिदास नामके एक भक्त हो गये हैं। आप गृहस्थ थे, पर आपका जीवन बिलकुल प्रभुपरायण था।

एक बार आप भगवत्सम्बन्धी कुछ लेखनकार्यमें लगे थे; इतनेमें समाचार मिला कि आपका जवान पुत्र मर गया। अपने इकलौते जवान पुत्रका देहान्त होनेपर भी आपके चेहरेपर जरा-सी शोककी छाया भी नहीं आयी। श्रीहरिदासजीने कहा—'चलो, आ रहा हूँ। प्रभुकी वस्तुको फिर प्रभुको ही आनन्दसे सौंप देना चाहिये और जरा भी दुःख या क्लेशके बिना पुत्रका श्मशानमें दाह करके फिर अपने भजनमें लग गये। आपके सम्बन्धमें अधिक बातें नहीं मिलतीं। आपका एक भजन गुजरातमें घर-घर गाया जाता है। जान पड़ता है उसमें उन्होंने अपने जीवनके सारे ज्ञानका समावेश कर दिया है।

नाम-रसायनमें पथ्य

(१) असत्य न बोलो। (२) किसीकी निन्दा न करो। (३) अपनी प्रशंसा न करो और न सुनो। (४) किसी प्रकारका भी व्यसन मत रखो। (५) अपने ही समान सबकी आत्माको जानकर किसीका दिल मत दुखाओ। (६) परधनको धूलके समान समझो और उसको न लो। (७) दम्भ, अभिमान और दुर्जनतासे हृदयको अपवित्र मत करो। (८) परस्त्रीको माताके समान समझकर कभी कुदृष्टि न डालो। (९) मैं प्रभुका हूँ और प्रभु मेरी सदा रक्षा करते हैं, यह विश्वास कभी न छोड़ो। (१०) प्रभु जो करते हैं, हमारे हितके लिये ही करते हैं—यह निश्चय दृढ़ रखो। (११) अपनी शक्तिके अनुसार दूसरोंकी भलाई करो। (१२) अपना स्वार्थ सिद्ध होता हो तो भी अधर्मका आचरण न करो। (१३) मैंने इतना भजन कर लिया, अब इतना भजन कर रहा हूँ—इस तरहकी बात जहाँ-तहाँ कभी मत कहो। (१४) मैं बड़ा भक्त हूँ, मुझको मान देना चाहिये, मेरी पूजा सबको करनी चाहिये—ऐसा अभिमान कभी

न करो। (१५) रामनामकी जो अतुलनीय महिमा है, वह व्यर्थकी प्रशंसामात्र है—ऐसा विचार स्वप्नमें भी न करो। (१६) आजीवन कभी भी कपट, दगा, छल, प्रपञ्च और मायाका आचरण न करो। (१७) मानव-सेवा प्रभुकी सेवा है, इस भावको सदा जीवनमें सच्चा उतारो। (१८) यह ऊँच है और यह नीच है—यह भेदभाव प्रभुके मार्गमें कभी न हो। (१९) किसी भी इष्ट-कामनाके लिये मनमें अशान्ति न आने दो। (२०) किसी प्रकारकी भी मायाके वशीभूत न हो।

उपर्युक्त पथ्यों (नियमों)-का सदा पालन करते रहनेसे और रामनामका जप करते रहनेसे प्रभुको पानेमें जरा भी देर नहीं लगती।

प्रसिद्ध भक्त श्रीजादवजी महाराज

बम्बईके प्रसिद्ध भक्तराज श्रीजादवजी महाराजका जन्म संवत् १९१२ वि० भाद्र शुक्ला द्वादशी श्रीवामनजयन्तीके दिन सुदामापुरीमें पुष्करणा ब्राह्मणके घर हुआ था। इनके पिताका नाम श्रीकेशव शर्मा और माताका नाम प्रेमाबाई था। सन्तान जीवित न रहनेके कारण माता-पिताने भगवान्से प्रार्थना की कि 'यह पुत्र दीर्घायु होगा तो इसे भक्त बनायेंगे।' इसके अनुसार वे पहलेसे ही जब कोई भी साधु-संत, भक्त घरमें आते, तब उनके चरणोंमें बालकको बैठाकर उसके हृदयमें भक्ति-अंकुर उत्पन्न और परिपुष्ट करनेका प्रयत्न करने लगे। परंतु इन महापुरुषको जन्म देनेवाले दम्पति अपने सुपुत्रकी महत्ता देखनेका सौभाग्य प्राप्त करनेसे पहले ही संसारसे विदा हो गये!

तदनन्तर श्रीजादवजीकी परमात्माके प्रति अभिमुखता दिनों-दिन बढ़ने लगी और वे एकान्त-सेवनकी दृढ़ इच्छासे वरडा पर्वतकी जाम्बुवानकी गुफामें जाकर तप करने लगे। इस समय वे केवल दूधपर रहते और ईश्वर-चिन्तनमें निमग्न होकर समाधिस्थ हो जाते। इनके काका बम्बई रहते थे, उन्होंने इन्हें बम्बई बुला लिया और इनका विवाह करके इन्हें अपने साथ रखने लगे तथा काम-काजमें लगानेका प्रयत्न करने लगे; परंतु इनका चित्त व्यापार-धंधेमें नहीं लगा और सत्सङ्ग तथा भगवन्नाम-कीर्तनमें ये अपना समय बिताने लगे। काकाने ऊबकर इनका त्याग कर दिया और इन्होंने मानो एक महान् बन्धनसे छूटकर सुखकी साँस ली। कुछ दिनों बाद वे नासिक चले गये और वहाँ पाण्डवगुफामें बैठकर ध्यान करने लगे। वहाँ डॉक्टर सर जेम्स वर्जेस, डॉक्टर कैम्पबेल, प्रो० जयकृष्ण इन्द्रजी तथा दूसरे अनेकों विद्वान् इनके सङ्ग और वचनामृतका लाभ उठाते थे।

नासिकसे लौटकर आप फिर बम्बई आ गये और भगवान्के नाम-कीर्तनका प्रचार करने लगे। बम्बईके बहुत बड़े-बड़े लोग आपके सङ्गसे लाभ उठाने लगे।

संवत् १९५६में सेठ मनमोहनदास कहानदास, उनकी माता गंगाबाई और अन्य कुटुम्बियोंने बम्बई, कालबादेवी रोडपर प्रसिद्ध श्रीनरनारायणके मन्दिरका निर्माण करवाया और श्रीजादवजी महाराजसे इस मन्दिरमें जनताको उपदेश देनेकी प्रार्थना की। तभीसे 'श्रीनरनारायण-सत्सङ्ग-मण्डल'की स्थापना हुई, जो दिनोंदिन उन्नति करता हुआ अबतक वर्तमान है और आज भी प्रातः, सन्ध्या और रात्रि—तीनों समय प्रतिदिन श्रीभगवान्के नामघोषसे बम्बईके विषय-विषाक्त वातावरणको पवित्र कर रहा है।

श्रीजादवजी महाराजने लगातार तैंतीस वर्षतक स्वयं उपदेश देकर और भगवन्नाम-कीर्तनमें लगाकर लाखों प्राणियोंको ईश्वराभिमुख किया। संवत् १९८८ की ज्येष्ठ कृष्ण एकादशीके दिन पचहत्तर वर्षकी आयुमें आपने परम धामकी यात्रा की। इस यात्राका संकेत कुछ दिनों पहले ही आपने कर दिया था।

अपने जीवनकालमें ही आपने अपने सुपुत्र श्रीहरिदास महाराजको अपनी ही देख-रेखमें रखकर उन्हें इस योग्य बना दिया कि वे अपने आचरणसे सबको मुग्ध करते हुए भगवन्नामका प्रचार करते रहें। उन्होंने अपनी सुयोग्य पुत्री श्रीपार्वती बहनको संस्कृतके साथ एम्० ए० तकका अभ्यास करवाकर जगत्को यह भी दिखला दिया कि वे आधुनिक जगत्की प्रवृत्तिसे भी अनभिज्ञ नहीं हैं। श्रीजादवजी महाराज सनातनधर्मके प्रसिद्ध सेवक, भगवन्नामप्रचारक और भगवान्के परम भक्त थे। ऐसे पुरुष जगत्में बहुत थोड़े होते हैं।

भक्त श्रीहरिदासजी महाराज

श्रीजादवजी महाराजके परमधाम-गमनके पश्चात् उनके सुपुत्र श्रीहरिदास महाराज अपनी सुयोग्य और सर्वथा सद्गुणसम्पन्न बहनोंके साथ पिताके पवित्र कार्योंकी पूर्तिमें लग गये। श्रीहरिदासजीका जन्म विक्रम संवत् १९५३ की शरत्पूर्णिमा—रासोत्सवके दिन हुआ था। उन्हें अपनी मातासे बहुत सुन्दर शिक्षा मिली थी। संवत् १९८३ में माताका देहान्त होनेके पश्चात् इनकी वृत्तिमें विशेषरूपसे वैराग्य आ गया। तदनन्तर आपने पाँच वर्षोंमें अनेकों उपनिषद् तथा धार्मिक ग्रन्थोंका अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टिसे अभ्यासकर अपार ज्ञान सम्पादन किया। इसके पाँच ही वर्ष बाद उनके पिता श्रीजादवजी महाराज भी परम धाम पधार गये। यों पाँच ही वर्षमें माता-पिता दोनोंका वियोग होनेपर श्रीहरिदास महाराजने तन-मन-धन और सम्पूर्ण धैर्यके साथ अपने पिताके लगाये हुए इस पवित्र सत्सङ्गवृक्षको विभिन्न भाँतिसे पल्लवित-पुष्पित और फलित किया। परंतु संवत् १९९९ वि० वैशाख शुक्ला एकादशीके दिन केवल छियालीस वर्षकी आयुमें आप अपने पिताजीके पास सिधार गये। हरिदासजी बड़े ही सज्जन, धैर्यवान्, सुशील, विद्वान्, भगवान्के परम भक्त थे। इनके देहोत्सर्गसे भक्तोंको और उनके कुटुम्बियोंको बड़ा आघात लगा। किंतु भगवान्के मङ्गलमय विधानको सिर चढ़ाकर सबने धैर्य धारण किया। आनन्दका विषय है कि प्रातःस्मरणीय श्रीजादवजी महाराजकी पुत्रियाँ अपने पिता और भाईके द्वारा लगभग पचास वर्ष पूर्व आरम्भ किये हुए इस महान् जप-कीर्तन-यज्ञको आज भी बड़े प्रेमसे चला रही हैं और हजारों नर-नारी श्रीनर-नारायणजीके मन्दिरमें तीनों काल श्रीहरिनाम-संकीर्तनकी ध्वनिसे अपने तथा जगत्के वातावरणको पवित्र कर रहे हैं। 'नर-नारायण-सत्सङ्ग-मण्डल'में जो लोग उत्साहपूर्वक सम्मिलित होकर उसे चला रहे हैं, वे सर्वथा आदर और कृतज्ञताके पात्र हैं।

महान् भक्त और पारमार्थिक लेखक श्रीअमृतलाल पढियार

गुजरात काठियावाड़में घर-घर 'स्वर्गकी' पुस्तकें पढ़ी जाती हैं। गरीब-अमीर, विद्वान्-मूर्ख सभी पढियारजीकी पुस्तकोंसे सुपरिचित हैं। उनकी पुस्तकें सादी, सरल और ग्रामीण भाषामें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार तथा धर्मसे सराबोर हैं।

श्रीपढियारजीका जन्म संवत् १९२६ के चैत्रमें हुआ था। पिता धार्मिक विचारके संस्कारी पुरुष थे। माता बचपनमें ही मर गयी। अट्ठाईस वर्षकी उम्रमें जिस दिन उनका ब्याह होनेवाला था, उसी दिन वे भाग निकले और संसारका सम्बन्ध तोड़कर अपना जीवन प्रभुके पवित्र पथमें बितानेका उन्होंने निश्चय कर लिया। घर छोड़नेके बाद जीवनभर वे गरीबोंकी सेवा, साहित्यकी सेवा और प्रभुके भजनमें ही लगे रहे। इससे पढियारजीको उनके सहवासमें आनेवाले लोग 'बाबाजी' कहकर ही बुलाते थे। असलमें भगवा वस्त्र पहने बिना ही वे सच्चे संन्यासी थे। उन्होंने अपना दिल रँगा था तथा सारे भारतवर्षकी यात्रा की थी और अनेकों साधु-संतोंके सत्सङ्गका लाभ उठाया था।

भिक्षु अखण्डानन्दजीकी संन्यास लेनेके बाद चौथे दिन पढियारजीसे भेंट हुई। गुजरातकी महान् संस्था 'सस्तुं साहित्यवर्द्धक कार्यालय' की स्थापनामें श्रीपढियारजीने अथक परिश्रम किया था और उसकी स्थापना भी बम्बईमें श्रीपढियारजीके कमरेमें ही हुई थी।

उन्होंने अपना सारा जीवन जनकल्याणमें ही बिताया। वे कहते थे कि जो कुछ मैंने भोगा है, कमाया है, बचाया है, खोया है, दान दिया है, सब मेरे पास है।

श्रीमहात्मा गाँधीजी लिखते हैं कि 'उनकी सादगी और रहन-सहनकी मेरे मनके ऊपर छाप पड़ी है। उनकी पुस्तकें सचमुच बाँचने योग्य हैं।'

वे अन्तिम अवस्थामें बम्बईमें श्रीमनु सूबेदारके यहाँ थे और वहीं सं० १९७५ की आषाढ़ कृष्णा पञ्चमीको प्रातःकाल उन्होंने नश्वर देहको छोड़कर परलोककी यात्रा की।

भक्त श्रीकबुभाईजी

(लेखक—श्रीभगवानदासजी जैथल्या)

भक्त श्रीकबुभाईजी महाराजका जन्म संवत् १९४४ वि० वैशाख कृष्ण त्रयोदशीको गुजरातके पारडी ग्राममें आत्मनिष्ठ वैष्णव आत्मारामजीके घर हुआ था। उनकी माताका नाम धनकुँवरबाई था। बचपनसे ही कबुभाईका मन त्याग और वैराग्यमें ही रस लेता था। वे दैवी-गुणसम्पन्न थे। शिक्षा-दीक्षा समाप्त करनेके बाद वे पारडीसे जीविकाकी दृष्टिसे बम्बई चले आये। सोलीसिटर-आफिसमें उनको एक अच्छा-सा काम मिल गया। पुण्यचरित पुरुषका जीवन तो सदा भगवान्‌के ही चरणपङ्कजमें समर्पित रहता है। मायासे तो वे बहुत दूर रहते हैं। यही दशा भक्त कबुभाईकी थी। उनका मन नौकरीमें कम लगने लगा, वे सोनापुर (मरघट)-में बैठकर देहकी विनश्वरता और संसारकी असारताका चिन्तन किया करते एवं भगवान्‌से सत्य और भक्तिका वरदान माँगा करते थे।

उन्होंने श्रीनर-नारायण-मन्दिरमें श्रीजादवजी महाराजके सत्सङ्गमें जाना आरम्भ किया। श्रीमहाराजकी कबुभाईपर बड़ी कृपा रहती थी। वे उनके प्रति पूर्ण प्रेमभाव रखते थे। धीरे-धीरे मित्रोंके अनुरोधसे कबुभाई अपने घरपर ही बैठकर सत्सङ्ग कराने लगे। भक्तिविषयक प्रवचन और भगवच्चिन्तनमें उनका मन पूर्णरूपसे अनुरक्त हो उठा। पर साथ-ही-साथ जादवजी महाराजके सत्सङ्गमें वे नियमपूर्वक नित्य जाते थे। धीरे-धीरे उनकी ख्याति चारों ओर बढ़ने लगी और सत्सङ्गमें नित्य तीन-चार सौ व्यक्ति आने लगे। कितना धन्य जीवन था भक्त कबुभाईका! अपना कल्याण तो उन्होंने किया ही; साथ-ही-साथ सहस्रों प्राणियोंको प्रभुके चरणारविन्द-मकरन्दका अनुरागी बना दिया। सत्सङ्ग ही उनका तप था, प्रभुका गुणगान ही उनका साधन था, भजन और पूजन था। भीड़से ऊबकर भक्त कबुभाईने मौन और एकान्त-व्रतका नियम लिया। वे परमात्माके चिन्तनमें लीन रहने लगे। केवल पाँच-सात मिनटके लिये भक्तों और शिष्योंको दर्शन देनेके लिये बाहर निकलते थे।

उन्होंने संवत् १९९२ वि० में आश्विन कृष्णा एकादशीको परम धामकी यात्रा की। उनके सत्सङ्गकी परम्परा उनके सुयोग्य पुत्र बालभक्त श्रीनवनीतभाईजीद्वारा अब भी चल रही है। संत कबुभाई सीधे-सादे भक्त और तपोनिष्ठ संत थे, वे आत्मानन्दी और भजनानन्दी दोनों थे। उनका जीवन परम पवित्र और धन्य था।

भक्तवर श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास

श्रीमगनलाल गुजरातके वसो नामक गाँवके रहनेवाले थे। ये जातिसे ब्राह्मण थे। महावामें मैट्रिकतक पढ़कर इन्होंने बड़ौदा-कॉलेजमें अध्ययन प्रारम्भ किया। वहाँ इनका परिचय श्रीछोटालाल जीवनलाल मास्टरसे हुआ और धीरे-धीरे ये उनके सम्पर्कमें आने लगे। मास्टर साहबके भाषणोंसे ये बहुत ही प्रभावित हुए और इनके विचारोंमें परिवर्तन होने लगा। ये वेदान्तकी ओर झुके और उसी समयसे इन्होंने वेदान्तका अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। संस्कृतका ज्ञान इनको बहुत अच्छा था। उम्र केवल अठारह वर्षकी थी।

वसोमें शिक्षकके रूपमें भी आपने कार्य किया। आपका स्वभाव शान्त और प्रकृति दयाप्लावित होनेसे सब विद्यार्थी आपसे प्रसन्न रहते थे। आपने शिक्षक-जीवनमें कभी भी किसी विद्यार्थीको न तो पीटा और न किसीपर कभी क्रोध ही किया। हर-एक विद्यार्थीके साथ इनका व्यवहार सुन्दर था।

धन-प्राप्तिके लिये इन्होंने बर्मा, स्याम, जापान और अफ्रीकाका भ्रमण किया। इनके विचार धार्मिक थे, अतः विदेशोंमें भी आचार-विचार और पठन आदिको ये अपने देशकी तरह ही निभाते थे। वहाँपर भी पाठ-पूजा, जप, ध्यान आदिमें पर्याप्त समय लगाते थे। धार्मिक पुस्तकों और ग्रन्थोंका शेष अध्ययन इन्होंने अफ्रीकामें

किया। रातमें घंटोंतक ये ध्यानका अभ्यास करते थे, फिर भी दिनमें आप काम-धंधोंमें पूर्ण सहयोग देते थे।

जिस समय ये अफ्रीकामें थे, उस समय वहाँ जर्मनोंका राज्य था। १९१४ की लड़ाईके समय ये पूर्वी अफ्रीकामें थे। लड़ाई शुरू होनेके साथ-साथ इनका पत्रव्यवहार बंद हो गया। ये जहाँ रहते थे, उस मकानके सामने भयङ्कर लड़ाई होती थी। हजारों सैनिकोंको इन्होंने लड़ते देखा था। इनके कहनेके अनुसार सैनिकोंमें भी बहुत-से लोग सबेरे पाठ-पूजा करके फिर लड़ाईमें जाते थे। सैनिक हिंदुस्थानी थे। जर्मनोंके हार जानेके बाद यह देश अंग्रेजोंके अधिकारमें चला गया।

ध्यानके सतत अभ्याससे बड़ी खाँसी हो जानेके कारण ये बहुत पीड़ित हुए। डॉक्टरोंकी अच्छी-से-अच्छी दवा करनेपर भी आराम नहीं हुआ। इनका ईश्वरमें पूर्ण विश्वास था। अतः ये दुःखसे डरते नहीं थे। दम फूलने या खाँसी आनेपर ये मनसे सोऽहं-सोऽहंका जप करते थे। इस प्रकार एक वर्ष बीत गया। प्रभुमें बड़ी श्रद्धाका परिणाम यह हुआ कि एक ही रातमें उनकी खाँसी अपने-आप मिट गयी और शरीर नीरोग हो गया।

जपके ये प्रखर अभ्यासी थे। रात्रिमें भी जप करते थे। दिनमें चलते-फिरते और काम करते ये जप करते थे। गायत्री-जप इनको बहुत प्रिय था। प्रतिदिन गायत्रीकी अस्सी माला जपते थे। शास्त्रका पठन भी इन्होंने बहुत किया। एक सौसे सवा सौतक भागवत-पारायण भी किया।

इनकी स्थिति सामान्य थी। ये बहुत पैसेवाले न थे। सादगीमें ही जीवन गुजारते थे। साधु-संत और गायोंके लिये बहुत ही परिश्रम करते थे। गायोंको घासके पूले डालने तथा डलवानेका कार्य इन्होंने पच्चीस वर्षतक किया। वसोमें कोई भी साधु-संत इनके घर आये बिना नहीं रहते थे। ये सत्सङ्गी थे। महादेवजीके उपासक थे। कामनाथ महादेवके मन्दिरमें इन्होंने बहुत जप किया।

ये परोपकारी थे। परदुःखसे दुःखी और परसुखसे सुखी होते थे। अतः सम्पर्कमें आनेवाले तथा गाँवके लोग इन्हें बहुत चाहते थे। प्रेम-भावके साथ-साथ ये सबको सम्मानकी दृष्टिसे देखते थे। अलिप्त जीवन गुजारते थे। इनके पुत्र जो व्यापार करते हैं, उनके कार्यमें ये हस्तक्षेप नहीं करते थे। इनका दिनभर आत्मचिन्तनमें बीतता था। इनका नित्यक्रम बड़ा सुन्दर था। प्रथम उठकर चित्त शुद्ध करते थे। ये निष्काम भावसे कर्म, भक्ति और दान वगैरह करते थे। जप अन्तरात्मासे करते थे। इनकी यह श्रद्धा थी कि अन्तरात्मासे जप करनेसे इष्टदर्शन और आत्मसाक्षात्कार होता है।

बुरी-से-बुरी स्थितिमें भी इनका भजन बंद नहीं होता था। एक बार ये रेलमें दो भाइयोंके साथ अहमदाबादसे वसो जा रहे थे। गाड़ीमें एक मूर्ख मनुष्य गाली-गलौज बक रहा था। एक भाईने कहा कि 'इस डिब्बेमें नहीं बैठना चाहिये। यहाँ आदमी गाली बकता है।' इन्होंने कहा कि 'हम तो यहाँ इस डिब्बेमें बैठकर ईश्वर-स्मरण करेंगे।' ये गाड़ीमें ईश्वर-स्मरण करने लगे, तो कुछ ही देरमें वह आदमी चुप हो गया।

आप वाणीके बहुत संयमी थे। ये कहा करते थे कि वाणी तो धनसे भी ज्यादा कीमती है। इन्होंने कई पुस्तकें भी लिखीं। ये नहीं चाहते थे कि मेरी पुस्तकें मेरी जीवनावस्थामें ही प्रकाशित हों। सत्सङ्ग-विषयपर इनकी ये पुस्तकें हैं—१. बोधमाला, २. तत्त्वचिन्तन, ३. आपणां ब्रतो, सत्सङ्गमाला और व्यवहारमाला। इनमें 'तत्त्वचिन्तन' और 'आपणां ब्रतो' छप रही हैं। सत्सङ्गमाला 'कल्याण'में प्रकाशित हो चुकी है।

इनका देहत्याग बड़ा सुन्दर था। मृत्यु समीप आ गयी है, इसका पता इनको पहलेसे था। बार-बार बहुत-से आदमियोंसे कहते थे कि 'मर जाऊँ तो अच्छा है। अब जिंदगीकी जरूरत नहीं है।' इनके कोई बीमारी नहीं थी। आषाढ़ कृष्णा सप्तमी, सोमवार, संवत् २००५ की सन्ध्याको ७॥ बजे पद्मासन लगाकर प्रणवका जप करते-करते ब्रह्मरन्ध्रके द्वारा इन्होंने ऊर्ध्वगति प्राप्त की। सामने भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्ति थी। वातावरण शान्त था। चारों ओर सब शान्त थे। पता नहीं लगा कि कब आत्माने दिव्य धामका रास्ता पकड़ा। ये अन्ततक सचेत थे।

भक्त श्रीहरि बापू

(लेखक—वैद्य श्रीबदरुद्दीन राणपुरी)

श्रीहरि बापू काठियावाड़के पञ्चाल-प्रदेशान्तर्गत चोटीला गाँवमें ये महान् भक्त हो गये हैं।

गाँवके बाहर एकान्त पहाड़ीके ऊपर एक मामूली झोंपड़ीमें आप हमेशा भगवान्‌के भजनमें मस्त रहते थे। 'श्रीहरि, श्रीहरि' यह आपका जपमन्त्र था। यही धुन अखण्ड चला करती थी। इसीसे इनका नाम 'श्रीहरि बापू' पड़ा था।

इनको अपने वाच-काछके ऊपर विलक्षण विजय प्राप्त थी। स्त्री क्या है और उसका क्या भाव है, इस विषयमें उनको पतातक नहीं था। जब वे भोजनके लिये गाँवमें भिक्षा लेने जाते, तब जहाँ जो कुछ मिल जाता, सबको एकमें मिलाकर खा लेते थे।

आप रामायणके बड़े प्रेमी थे। रातके दस-बारह बजे या जब कभी प्रेम जागता, उसी समय पहाड़ीसे उतरकर आप वीरजी बाबूके यहाँ आते और वहीं रहते। संत धारशी भगतको जगाते—'धारशी! क्यों सो गया? जाग! प्यारे, जाग! हमको रामायण सुननेकी इच्छा हुई है, थोड़ी-सी सुना दे।' उस समय भगतजी रामायण बाँचते और श्रीहरि बापू उसे सुनते-सुनते प्रेममें उन्मत्त हो जाते और उनको देहका भान न रहता।

एक दिन उनकी झोंपड़ीमें आग लग गयी, तब बाहर निकले और सामने बैठकर 'श्रीहरि, श्रीहरि' करने लगे। गाँवके लोगोंको बुलानेके लिये किसीको नहीं पुकारा। जब आगकी लपट ऊपरतक दिखायी दी, तब लोग दौड़े और झोंपड़ीकी आग बुझायी। लोगोंने पूछा—'बापू! यह क्या हो गया? आपने हमको पुकारा क्यों नहीं।' संत बोले—'भगवान् जाने क्या हुआ। भगवान्‌की मर्जी हुई और आग लगी। लगी तो फिर लगने दो। भगवान्‌ने लगायी तो हम बुझानेको क्यों पुकारते। जिसने लगायी, वही बुझायेगा।'

जब धीरे-धीरे वर्षा होती हो, अँधेरी रात हो, चारों ओर शान्तका साम्राज्य हो, बिलकुल एकान्त हो—ऐसे समयमें ये संत मुरली बजाते और घुँघरू पहनकर नाचते थे। बस, वह मुरलीकी मधुर सुरीली ध्वनि रातके ठंढे पहरमें सारे गाँवमें गूँज उठती और सोये आदमी जाग जाते। कहा जाता है कि उस समय भगवान् इन्हें साक्षात् दर्शन देते और ये गोपीभावसे भगवान्‌के सामने नाचते।

लगभग सत्तर वर्षकी उम्रमें उनका शरीर भगवत्-स्मरण करते हुए भगवत्स्वरूपमें लीन हो गया।

भक्त कान्हड़दासजी

(लेखक—श्रीसुधाकरजी पुजारी)

भक्त कान्हड़दासजीका जन्म जयपुर राज्यमें हुआ था। संतों और महात्माओंके जीवनमें अलौकिक और चमत्कारपूर्ण घटनाओंका समावेश होते रहना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। भक्त कान्हड़दासजी जयपुर तथा बीकानेर आदि राज्योंमें अपनी सिद्धियों और चमत्कारोंके लिये बहुत प्रसिद्ध थे। उनकी वाणी सर्वथा सिद्ध और सत्य होती थी। वे दादूपन्थी महात्मा थे।

एक समय वे बीकानेर गये। तत्कालीन महाराजने उनसे अपने निःसन्तान होनेकी मनोव्यथा कही। कान्हड़दासजीका नवनीतके समान हृदय द्रवित हो उठा। उन्होंने महाराजको पुत्र होनेका आशीर्वाद दिया। उनकी कृपामयी वाणीके प्रसादरूपमें पुत्र उत्पन्न होनेपर श्रीमहाराजने महात्मा कान्हड़दासको भगवान्‌की भक्तिके प्रचारके लिये एक लाख रुपयेकी भेंट दी, संतने उस द्रव्यका उपयोग गूडापूँखमें गुरुद्वारा निर्माण करनेमें किया और स्वयं वहीं रहकर तपस्या करने लगे।

जसरापुरके श्रीरघुनाथ-मन्दिरमें एक बहुत बड़े वचनसिद्ध महात्मा तपसी बाबा रहते थे। उन्होंने एक शिष्य भेजकर तूँबेमें कान्हड़दासजीके आश्रमसे दूध लानेके लिये कहा। कान्हड़दासने विनम्रतापूर्वक कहा कि अभी तो गायें बैठी हैं। थोड़ी देरमें तपसी बाबाके शिष्यने निवेदन किया कि गायें खड़ी हैं। महात्मा

कान्हड़दासने तूँबेमें दूध दुहनेका आदेश दिया। अधिक समयतक दूध दुहते रहनेपर भी तूँबा नहीं भर सका, तब कान्हड़दासने एक दोहनीमेंसे अलग दूध लाकर तूँबेमें उँडेलना आरम्भ किया। न तो तूँबा भरता था और न दोहनीके दूधकी धारा बंद होती थी। तपसी बाबाके आदेशसे उनका शिष्य लौट गया। संतोंकी जीवन-लीला विचित्र होती है, उनकी कृपासे पहाड़ राई और राईका पहाड़ हो जाता है।

महात्मा कान्हड़दासने सौ सालकी एक भविष्यवाणी (साठी) भी लिखी थी। यह पुस्तक जसरापुरके अस्तल नामक आश्रममें अब भी प्राप्य है।

परमहंस श्रीसीताशरणजी

इनका जन्म चौबेपुरनिवासी सुखदेवजी त्रिपाठीके घरमें श्रीगौरादेवीके गर्भसे हुआ था। बाल्यकालसे ही इनमें अलौकिक शक्तियाँ दिखलायी पड़ती थीं। एक बार जब इनके माता-पिता इनके साथ कामदगिरिको मनौतीके लिये जा रहे थे, तब वहाँ निरञ्जनपुर ग्रामके रहनेवाले एक ब्राह्मणने आकर इन्हें अपनी गोदमें ले लिया और पूछनेपर बोले कि 'आज मेरे समस्त दुःख दूर हो गये, मैं वर्षोंसे इसीकी खोजमें था।' यों कहकर और बालकका मुण्डन-संस्कार करवाके चले गये। आठ वर्षकी अवस्थामें इनके उपनयन-संस्कारके समय वे ही द्विजराज फिर आये और इन्हें उपदेश, आशीर्वाद एवं बद्रिकाश्रमके वनमें फिर मिलनेका आश्वासन देकर चले गये। तभीसे इनका जीवन बदल गया। अब ये निरन्तर भगवन्नामजप, सत्सङ्ग और भगवत्पूजन आदिमें ही लगे रहते। सर्वदा मौन होकर एकान्तमें बैठे रहते। इनकी यह दशा देखकर माता-पिता इनके विवाहकी तैयारी करने लगे; परंतु विवाहकी तिथिके तीन दिन पहले ही आधी रातको चुपकेसे घरसे निकलकर ये वृन्दावन जा पहुँचे। वहाँसे हरिद्वार और हरिद्वारसे सत्यनारायण-धाम पहुँचे। वहाँ मौन छोड़कर एक दादूपंथी संतसे गीता आदि नाना शास्त्रोंका अध्ययन किया। सात मासतक वहाँ रहकर फिर घूमते-घूमते बद्रिकाश्रम जा पहुँचे और वहीं कुटी बनाकर रहने लगे। एक दिन जब ये स्नान करके सन्ध्याकी तैयारी कर रहे थे, तब उन्हीं निरञ्जनपुरवाले द्विजराजने आकर इन्हें आज्ञा दी कि 'मेरा ही स्थूल देह इस समय अयोध्याजीमें शीलमणिके रूपमें अवस्थित है, तुम जाकर उन्हींसे दीक्षा ले लो।' वहाँ जाकर दीक्षा ली और गुरु-आज्ञानुसार साधनमें तत्पर रहने लगे। ये प्रमोदवनमें रहकर एक संतसे श्रीमानसके दो-दो पन्ने लाकर प्रतिदिन पढ़ा करते थे। इसी समय भगवान्‌ने इन्हें वैशाख मासमें श्रीमानसके सात पाठ करनेकी स्वप्नमें आज्ञा दी।

बादमें ये अयोध्यासे आठ कोस पश्चिमकी ओर स्थित गुरुपुरधाममें सरयूतटपर एक वट वृक्षके नीचे कुटी बनाकर नौ वर्षतक रहे। पीछे वहाँ भक्तोंकी अधिक भीड़ हो जानेके कारण वापस अयोध्याजी लौट आये और श्रीयुगलानन्यशरण स्वामीजीकी आज्ञासे श्रीलालसाहिबजीकी सेवा करने लगे। लालसाहिबजीकी सेवामें इनकी इतनी निष्ठा थी कि यदि कभी भूलसे सेवामें कोई त्रुटि रह जाती तो भगवान् स्वयं स्वप्नमें दर्शन देकर इन्हें वह भूल समझा दिया करते थे। ये झूला और होली आदि उत्सव प्रतिवर्ष बड़ी धूमधामसे मनाया करते थे। एक बार जब होली-उत्सवके उपरान्त ये रसरंगमणि साधुके साथ बैठे हुए थे, तब भगवान्‌ने होलीके रंगमें रँगे हुए तीनों भाइयों एवं सखाओंसहित इन्हें दर्शन दिये।

इनके अमूल्य उपदेशोंसे हजारों जिज्ञासु भक्तोंको आनन्दकी प्राप्ति हुई। इनके हजारों शिष्य हो गये थे। भक्तोंको ये नाम-जप, कीर्तन, सत्सङ्ग आदि साधनोंका नियम दिलवाया करते थे। इनके कई शिष्य सिद्ध संत भी हो चुके हैं। इस प्रकार बहुत समयतक लोकोपकार करते हुए अन्तमें संवत् १९६६ वि० कार्तिक शुक्ला द्वादशी, रविवारको भगवन्नाम-उच्चारण करते हुए इस अनित्य-देहको त्यागकर साकेतधाम पधार गये।

भिक्षु श्रीअखण्डानन्दजी

स्वामी अखण्डानन्दजी सच्चे त्यागी संन्यासी, कर्मसंलग्न रहनेपर भी कर्मासक्ति तथा फलासक्तिसे रहित महात्मा थे। 'सस्तुं साहित्य वर्धक कार्यालय'की स्थापना करके गुजरातीमें आपने जो ज्ञानगङ्गा बहायी है, वह चिरकालतक सबको पवित्र करती रहेगी।

आपका जन्म बोरसद नामक गाँवमें वि० संवत् १९३० में लोहाणा जातिमें हुआ था। आपके पिताका नाम श्रीजगजीवन नत्थुभाई ठक्कर था। इनका नाम लल्लूभाई था। इनके पिता लोहा, चीनी मिट्टीके बर्तन तथा अनाजका व्यापार करते थे। आपकी लड़कपनसे ही भजनमें बड़ी रुचि थी। व्यापारमें इनका मन ठीक नहीं लगा, न गृहस्थीमें ही चित्तकी आसक्ति हुई। धीरे-धीरे संसारकी ओरसे विरक्ति बढ़ने लगी। ये साधुसङ्ग, भगवद्भजन, ईश्वरस्मरण, धार्मिक ग्रन्थोंके श्रवण-मनन और निदिध्यासनमें चित्त लगाने लगे। शेरखी निवासी वयोवृद्ध परमहंस जानकीदासजी महाराजके सत्सङ्गसे आपको स्फूर्ति मिली। अन्तमें इन्होंने संवत् १९६०की शिवरात्रिके दिन साबरमतीके तटपर स्वामीजी श्रीशिवानन्दजीसे विधिपूर्वक संन्यासकी दीक्षा ले ली।

असत् साहित्यका प्रचार और सद्ग्रन्थोंकी बहुमूल्यता देखकर इनके मनमें सस्ते मूल्यपर सद्ग्रन्थोंके प्रचारका विचार आया। इन्होंने सबसे पहले 'भागवत एकादश स्कन्ध' प्रकाशित करनेका विचार किया। अन्तमें 'सस्तुं साहित्य वर्धक कार्यालय'की शुभ स्थापना हुई। फिर तो गुजरातमें सत्साहित्यका घर-घर प्रचार हो गया। लगातार पैंतीस वर्षोंतक इन्होंने अटूट परिश्रम करके सत्साहित्यका प्रकाशन तथा प्रचार किया।

लाखों रुपयोंके प्रकाशनका कार्य इनकी संस्थाके द्वारा हुआ। सस्ते मूल्यपर साहित्य प्रकाशित करनेपर भी संस्थामें लाखोंकी पूँजी हो गयी। ये ही उनके सर्वेसर्वा थे। परंतु ये अन्ततक संस्थासे धनके सम्बन्धमें वैसे ही निर्लिप्त रहे, जैसे जलमें कमल रहता है। ये अपने खान-पानमें केवल पंद्रह रुपये मासिक खर्च करते थे।

संन्यासधर्म स्वीकार करनेके बाद स्वामीजीने अपने पूर्वाश्रमके लोगोंके साथ किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रखा। कई वर्षोंके बाद इनके पुत्र मोतीलाल दर्शनार्थ आये। पर ये उनसे नहीं मिले। बहिन आयी तो उनसे भी मिलना अस्वीकार कर दिया।

'सस्तुं साहित्य वर्धक कार्यालय'की सेवाके अतिरिक्त इन्होंने तीर्थसेवन किया, साधुसङ्ग किया, अनेक लोकोपकारी संस्थाओंकी स्थापना और सहायता की। प्रयागमें 'गीताज्ञानयज्ञ' गीताप्रेस गोरखपुरके द्वारा करवाया। उसमें गुप्तरूपसे सहायता दी। इनकी लोकोपकारिणी क्रियाएँ बहुमुखी होती थीं।

स्वामीजीकी अनन्त गुणावलिमें प्रभुपरायणता, उदारता, भावुकता, उत्साहशीलता, कर्मशीलता, दक्षता, स्पष्टवादिता, सरलता, सुधारपरायणता, दीनवत्सलता, गुप्तदानशीलता, साधुप्रीति आदि गुण विशेष उल्लेख योग्य हैं।

संवत् १९९८ यानी सन् १९४२ की तीसरी जनवरीको आप इस धराधामको त्यागकर परधाम सिधार गये। आपके सदृश कर्मशील परन्तु कर्मफलासक्ति-रहित संन्यासी महापुरुष बहुत कम देखनेमें आते हैं।

भक्त श्रीडाह्याभाई

(लेखक—श्रीदास तुलसी)

श्रीडाह्याभाईका जन्म काठियावाड़के थान नामक गाँवमें श्रीमाली ब्राह्मण श्रीदेवरामजी दवेके घरमें हुआ था। बचपनमें ही पिताका स्वर्गवास हो गया था। माताने उनको पढ़ाया-लिखाया और पाल-पोसकर बड़ा किया। बचपनमें मातासे उनको उपदेश मिला था। माने उनको बतलाया कि 'भगवान् बड़े दयालु हैं, उनपर विश्वास रखो, वही सारे जगत्का पालन-पोषण करते हैं।' लड़कपनसे ही उनका मन भगवान्की ओर खिंच गया था।

उन्होंने मैट्रिकतक विद्याभ्यास किया और फिर जाफराबादमें कुछ दिन शिक्षकके रूपमें काम किया। पर उनका मन दीनप्रतिपालक भगवान्के भजनमें लगा रहता था। इसलिये उन्होंने वह काम छोड़ दिया और थानमें ही गाँवसे बाहर पर्णकुटी बनाकर वहीं वे साधन-भजन करने लगे। प्रतिदिन शामको कथा-वार्ता होती और बहुतेरे लोग उससे लाभ उठाते।

हरिनामकीर्तनके आप अत्यन्त ही प्रेमी थे और जब

कीर्तन खूब जमता था, तब वे भावावेशमें आ जाते थे। उस समय बहुधा उनकी नाड़ी भी बंद हो जाती थी। भावावेशमेंसे जाग्रत् अवस्थामें आनेके बाद वे बहुत देरतक रोते रहते थे।

उन्होंने बहुत-से प्रेम-भक्तिसे पूर्ण भजन बनाये हैं, जो सं० १९९२ में 'आनन्दसिन्धु' नामकी पुस्तकमें छपे हैं। गोरखपुरके अखण्ड सांवत्सरिक-संकीर्तनमें अन्तिम दो महीने श्रीडाह्याभाई भी सम्मिलित हुए थे। वहाँसे घर लौटनेके बाद तो उनका जीवन एकदम बदल गया था और उनका अधिक समय जप-ध्यान और भजनमें ही बीतने लगा था।

'कल्याण'में सवा लाख 'मानस-पारायण'की सूचना निकली, तब उनकी भी १०८ पाठ पूरा करनेकी इच्छा हुई। पर ६८ पाठ करनेके बाद वह काम बंद हो गया। अन्तमें वे छः महीने व्रजमें जाकर रहे। अन्तिम अवस्थामें उनको जूड़ीकी बीमारी हुई, पर उन्होंने दवा लेनेसे बिलकुल इनकार कर दिया और अखण्ड नाम-जप करते रहे। अन्तिम अवस्थामें उन्होंने भगवान्से प्रार्थना करते हुए कहा—'हे श्रीकृष्ण! अब मुझको अपनी शरणमें ले लो।' प्रार्थना करनेके बाद श्रीकृष्ण-श्रीकृष्ण कहते-कहते गोलोकवासी हो गये।

दुर्गाभक्त पण्डित राधानाथ दूबे

पण्डित राधानाथजी दूबे भगवती दुर्गाके परम भक्त थे। सात्त्विकता, तेजस्विता और अलौकिक पवित्रताके सजीव समन्वय थे। उनके गेहुआँ वर्ण, परिपुष्ट शरीर, अधपके केशसे समलङ्कृत मुखके भोलेपनमें एक विचित्र और मधुर आकर्षण था। उनका दर्शन करते ही प्राचीनकालके तपस्वी और ऋषियोंका स्मरण हो जाता था और मस्तक श्रद्धापूर्वक उनके चरणदेशपर विनत होकर आशीर्वाद प्राप्त करनेके लिये समुत्सुक हो उठता था। गम्भीर पाण्डित्यमें अनवरत सराबोर रहते थे।

साठ वर्ष पूर्व काशीक्षेत्रमें पुण्यतोया भगवती भागीरथीके पावन तटपर धानापुर ग्राममें उन्होंने सरयूपारीण द्विवेदी कुलमें जन्म लिया था। मातृगर्भमें आये चार मास ही बीते होंगे कि उनके पिता श्रीफेकू दूबेका स्वर्गवास हो गया। फेकू दूबे आचारनिष्ठ वैष्णव थे। संस्कृतके दिग्गज विद्वान्, व्याकरण और तुलसीकृत रामचरितमानसके अच्छे जानकार थे। राधानाथजीकी देख-रेखका भार उनकी तपस्विनी मातापर पड़ा। परिवारमें और कोई नहीं था। वे माताजीकी आज्ञासे विद्याध्ययन करनेके लिये काशी चले आये। पूर्ण युवा होनेपर उनका विवाह नियामताबादके प्रसिद्ध पण्डित श्रीकेदारनाथजी त्रिपाठीकी कन्यासे हो गया। उनका गृहस्थजीवन अत्यन्त सुखकर था। उनके जीविका-निर्वाहका मुख्य साधन खेती और पौरोहित्य था। गाँववाले उनके सादा जीवन और उच्च विचारके सिद्धान्तसे पूर्ण प्रभावित थे। वे उनको श्रद्धा और आदरकी दृष्टिसे देखते थे, उनके वचनोंमें दृढ़ आस्था रखते थे। पण्डितजी पूर्ण वैष्णव थे। घरमें शालग्रामकी सेवा होती थी। वे नियमित रूपसे गङ्गास्नान करते तथा चन्द्रप्रभा-तटपर तारकेश्वर महादेवका दर्शन करनेके लिये प्रति शिवरात्रिको अट्ठाईस मील दूर जाया करते थे। पण्डितजी वैष्णव होते हुए दुर्गा, भगवती गङ्गा और आशुतोष शिवके प्रेमी भक्त थे। तारकेश्वर मन्दिरकी छत्रछायामें निवास करनेवाले संत श्रीयज्ञनारायणजीकी उनपर बड़ी कृपा रहती थी। साधु-संत-सेवाको पण्डित राधानाथजी अपने जीवनकी अक्षुण्ण निधि स्वीकार करते थे।

उन्होंने जीवनके अन्तिम दिन एकान्तमें सार्थक किये। धानापुरमें ही अपने घरसे थोड़ी दूर अपने रमणीय उद्यानमें रहते थे। वहाँसे माता गङ्गाकी धाराके दर्शन होते रहते। प्रपञ्च और सांसारिक माया-जालसे दूर रहकर भगवच्चिन्तन करना ही उनका नित्यकर्म था। गङ्गा-स्नानमें उनकी बड़ी श्रद्धा थी, उसे वे मोक्षसे भी श्रेयस्कर मानते थे। दुर्गासप्तशतीका बिना पाठ किये वे अन्न-जल—कुछ भी नहीं ग्रहण करते थे। वे जहाँ-कहीं भी जाते, दुर्गापाठकी पोथी उनके साथ रहती और पाठका क्रम चलता रहता। भगवती दुर्गाकी महिमाके गानमें उनको बड़ा रस मिलता। स्वर्गारोहणके समय दुर्गासप्तशतीकी एक पोथीपर हाथ रखकर ही उन्होंने प्राण-त्याग किया। श्रीदुर्गाजीकी उनपर बड़ी कृपा थी। वे सीधे-सादे भक्त, आचारनिष्ठ ब्राह्मण और परोपकारी पुरुष थे।

बालभक्त ओमप्रकाश

बालभक्त ओमप्रकाशका जन्म राजस्थानके टोंक राज्यमें संवत् १९८१ वि० में वैशाख शुक्ला एकादशीको एक प्रतिष्ठित कायस्थ-परिवारमें श्रीरामनारायणजी सक्सेनाके घर हुआ था। उनके माता-पिता तथा परिवारके अन्यान्य सज्जन बहुत विनम्र, सीधे-सादे तथा भगवद्भक्त थे। बालक ओमप्रकाश उनके पवित्र सम्पर्कसे बहुत प्रभावित हुए थे। एक समय टोंकमें टिड्डियोंका आक्रमण हुआ; जिससे खेती चौपट हो जानेकी आशङ्कामें उनकी नानी रोने लगीं। ओमप्रकाश पूजा-घरमें गये, बालकने करुण कोमल कण्ठसे भगवान्की स्तुति की, टिड्डियोंका दल चला गया। नानीको उन्होंने खेती सुरक्षित रहनेका आश्वासन दिया था। उनकी अद्भुत प्रार्थना-शक्तिको देखकर लोग चकित हो गये। वे टोंकमें प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त कर विद्याध्ययनके लिये जयपुर चले आये। कभी-कभी प्राकृतिक दृश्योंकी रमणीयतामें उन्हें अपने उपास्यदेव श्रीकृष्णकी अप्रतिम रूप-मधुरिमाका दर्शन होने लगा। कभी-कभी स्वप्नमें भी उन्हें भगवत्साक्षात्कार-सुखका अनुभव होता था।

एक समय वे अवकाशमें जयपुरसे टोंक आये थे। अन्नपूर्णाकी पहाड़ीपर चाँदनी रातकी नीरवतामें एकान्तस्थ होकर चन्द्रमाकी कमनीय कान्तिमें अपने प्रियतमकी झाँकी देखनेमें रातके कई घंटे बिता दिये। अल्पवयस्क ओमप्रकाशके लिये यह बड़ी विलक्षण बात थी। दीपावलीकी रातमें तारोंकी चमक और दीपोंकी जगमगाहटने उन्हें अपने प्राणेश्वरके पास विरहपूर्ण पत्र लिखनेके लिये अनुप्राणित किया। उन्हें भक्तिपूर्ण उद्दीपन मिला। उन्होंने श्रीकृष्णको अनन्य प्रेम और मधुर आत्मीयताकी भाषामें लिखा कि 'इस समय मेरे हृदयमें जो विरह-वेदना हो रही है, उसकी ओषधि टोंकके चिकित्सालयमें भी नहीं है।' उन्होंने भावावेशमें लिखा पत्र श्रीकृष्णके चित्रपटके सामने रख दिया। उनके नयनोंमें श्यामसुन्दरकी मुसकानभरी मुखाकृतिकी ज्योत्स्ना समा गयी। विरहमें झुलसते प्राणोंके अधर शीतल हो गये।

वे प्रायः भगवच्चिन्तनमें ही लगे रहते थे। आचार-विचारकी पवित्रताका उनके जीवनमें पूर्ण समावेश था। ब्रह्मचर्यव्रत-पालनमें उनकी अडिग श्रद्धा थी। 'सादा जीवन, उच्च विचार' उनके जीवनका आदर्श था। ब्रह्मचर्यके ही प्रभावसे धर्म और ईश्वरमें उनकी अभिरुचि बढ़ी थी, ऐसा उन्होंने अपने मित्र चाँदमलजीसे स्वीकार किया था। वे शिक्षा-कालमें भी केवल उन्हीं वस्तुओंका उपयोग करते थे, जो अत्यन्त आवश्यक होतीं। साधारण धोती और आधी बाँहकी कमीजसे ही उनका काल चल जाता था। 'कल्याण' मासिकपत्रके लेख वे मननपूर्वक पढ़ते थे।

उच्च-शिक्षा प्राप्त करनेके लिये वे आगरा चले आये। बीच-बीचकी छुट्टियोंमें वे मथुरा और वृन्दावनमें भ्रमण करने आ जाया करते थे। वृन्दावन-दर्शन तो उनके लिये महान् पुण्य-अर्जन था। वृन्दावनमें नंगे पाँव ही भ्रमण किया करते थे। पैरोंमें छाले पड़ें तो पड़ जायँ, पर बालभक्त ओमप्रकाशका तो यही कहना था कि जिस दिव्य-भूमिमें श्रीकृष्णने नंगे पैर चलकर लीलाएँ की हैं, उसपर जूते पहनकर चलना नितान्त अशोभन और पापमूलक है। उन्होंने वृन्दावनकी यात्रा की, अक्रूरघाटसे चलकर चामड़देवीके सन्निकट वटवृक्षके नीचे निवास चुना। उन्होंने अन्तरात्माके आदेशसे सौन्दर्य-सुधा-सागर श्रीकृष्णके दर्शनके लिये प्राणोंके त्यागका संकल्प कर उपवास आरम्भ किया। वृन्दावनकी दिव्य आनन्दानुभूतिमें उनका मन रम गया। भक्तने निश्चय कर लिया कि यदि प्राण देनेसे हरिकी प्राप्ति होती हो तो विलम्ब करना ठीक नहीं है, कहीं ऐसा न हो कि प्राणोंको लेनेके लिये दूसरा ग्राहक आ जाय। उन्होंने अपने-आपको श्रीकृष्णके चरणोंमें समर्पित कर दिया। वे प्रेमोन्मत्त होकर वटवृक्षकी छत्रच्छायामें—

'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'

—महामन्त्रका जाप कर रासेश्वर नन्दनन्दनका आवाहन

करने लगे। विरहकी आगमें उनका मन शुद्ध होने लगा, उनके अधरोंने श्रीकृष्ण-प्रेमका प्याला पी लिया। इस विकट साधनाकालमें उनके पास केवल एक लँगोटी, धोती, कुरता, माला, कलम, चश्मा और श्रीकृष्णका एक सुन्दर चित्र था। वें जलमें खड़े होकर घंटों तप करने लगे। तपकालमें दो सर्प उनकी रक्षामें तत्पर रहते थे।

एक रातको लेटे-लेटे उनको एक महात्माके दर्शन हुए। वे ओमप्रकाशजीको साधनमें दृढ़ रहनेका आदेश देकर अन्तर्धान हो गये। ओमप्रकाशजीने उच्च कोटिके त्याग और संयमका परिचय दिया। उनको विश्वास था कि वे प्रभुकी ही आज्ञासे सब कुछ कर रहे हैं। उनका श्रीकृष्णके प्रति सखा-भाव था। उपवासके दिन बढ़ते गये, शरीर कमजोर होता गया; पर आत्मतेज उत्तरोत्तर निखरने लगा। पता चलनेपर उनके परिवारके लोग आये। माता और बड़े भाईने उनसे टोंक चलकर घरपर ही तप करनेका अनुरोध किया, पर उन्होंने अस्वीकार कर दिया।

संत नारायणस्वामीमें उनकी बड़ी श्रद्धा थी। ओमप्रकाशजी उन्हें साक्षात् अपना गुरु मानते थे। उनका आग्रह था कि जबतक अपने हाथसे दूध दुहकर भगवान् स्वयं नहीं पिलायेंगे, उपवास नहीं टूटेगा। लोगोंका विश्वास था कि नारायणस्वामीजीके हाथसे दूध पीकर वे उपवास छोड़ देंगे। उपवासके उनहत्तर दिन बीत चुके थे। ओमप्रकाशजी विरहकी आगमें जल रहे थे, वे श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये आकुल थे। लोगोंके समझानेपर उन्होंने नारायणस्वामीके हाथसे दूध पीनेकी स्वीकृति दे दी। परन्तु संवत् १९९८ विक्रमकी मार्गशीर्ष मोक्षदा एकादशीको प्रातःकाल वे भगवान्के विरहमें इतने उन्मत्त हो गये कि नारायणस्वामीके आनेके पहले ही श्रीकृष्णने उनको अपने दिव्यधामका यात्री बना लिया। उन्होंने दिव्य धामकी यात्रा की । श्रीयशोदा और श्रीराधारानीकी बालभक्त ओमप्रकाशपर प्रत्यक्ष कृपा रहती थी।

श्रीजगन्नाथप्रसाद परमहंस

(लेखक—श्रीरामस्वरूपजी)

श्रीजगन्नाथप्रसाद महाराज परमहंसका जन्म ग्वालियर रियासतमें सबलगढ़के पास विजयपुर नामक ग्राममें पण्डित ईश्वरीप्रसादजी उपाध्यायके घर सं० १९६३ कार्तिक शुक्ल ११को हुआ था। आप सनाढ्य ब्राह्मण थे। जब ये चार सालके थे, तभी इनके पिताका देहान्त हो गया। माता बड़ी भक्तिमती और धर्मपरायणा थी। वह बालकको भक्त और धर्मात्मा बनाना चाहती थी। इसलिये उसे अच्छे-अच्छे उपदेश दिया करती और सामने बैठाकर रामायण और महाभारतकी सुन्दर कथाएँ सुनाया करती। ये बड़े प्रेम और श्रद्धासे कथा सुनते। चौदह सालकी उम्रमें पढ़ाई छोड़कर ये घर आ गये। फिर तो इनका अधिकांश समय भजन-पूजन और सत्सङ्ग-ध्यानमें ही बीतने लगा। विवाह हुआ पर पत्नीका स्वभाव अनुकूल नहीं मिला। ये मिडिल स्कूलमें अध्यापक हो गये थे, पर दस वर्ष काम करके इन्होंने नौकरी छोड़ दी, तथा घरपर रहकर भी भजन करने लगे। ये श्रीहनुमान्जीको अपना गुरु मानते थे और दो-ढाई महीनेमें उनका नया शृङ्गार तैयार करके फिर दो-तीन दिनोंमें उन्हें नये शृङ्गारसे सुसज्जित कर पाते थे। गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी ये सदा निर्लिप्त-से रहे। केवल एक धोती पहनते थे, आधी कछी हुई और आधी कन्धेपर पड़ी रहती थी। इनके चेहरेपर सदा मुसकान छायी रहती। २१-२२ दिनोंतक भोजन नहीं करते। न किसीका निमन्त्रण स्वीकार करते। इन्होंने अपने जीवनमें कभी दवा नहीं ली। तुलसीदासजीकी पूरी रामायण इन्हें कण्ठस्थ थी। ये बड़े कृष्णभक्त थे। इनके जीवनमें बहुत-सी विचित्र घटनाएँ घटी हैं। सं० २००३ वैशाख सुदी ११ को इन्होंने शरीर त्यागकर विष्णुलोकको प्रयाण किया। जन्म और मरण दोनों ही एकादशीके पवित्र दिन हुए।

भक्त चेता माली

चेता नामक एक माली था। घरमें स्त्री थी। लड़का-वाला कोई न था। चार आनेसे अधिककी कमाईका काम नहीं करता था, कम भले हो। उसने एक छोटी-सी दूकान ले रखी थी, एक माला रोज दूकानका भाड़ा था। लोग उसको जान गये थे, इसलिये दूकान खोलते ही ग्राहक आ जुटते थे और उसके फूल खरीद ले जाते थे। जहाँ फूलोंके दाम चार आने हुए कि वह दूकान बंद करके बचे हुए सारे फूल पासके भगवान्के मन्दिरमें चढ़ा आता था। प्रति पूर्णिमाको वह पैदल दाऊजी जाया करता था। दाऊजी उसके घरसे बारह कोस हैं। वह चतुर्दशीके प्रातःकाल जाता, सन्ध्याको दाऊजी पहुँच जांता, पूर्णिमाको वहाँ ठहरता और प्रतिपदाको सबेरे चलकर शामको घर लौट आता था।

धीरे-धीरे उसका चित्त दाऊजीके स्वरूपमें लगने लगा, एक दिन पूर्णिमाकी सन्ध्याको वह श्रीदाऊजीके मन्दिरकी झाँकी करके एक कोनेमें बैठ गया और दाऊजीका ध्यान करने लगा। कुछ ही क्षणोंमें उसकी चित्तवृत्ति ध्येयाकार बन गयी और उसे अपने शरीरका तनिक भी भान न रहा। दैवयोगसे ऊपरके आलेमें रखी हुई दीपककी बत्ती झड़कर उसके साफेपर गिर पड़ी और साफेमेंसे धूआँ निकलने लगा। लगभग दो घंटेतक साफेसे धूआँ निकलता रहा। अन्तमें जब आग चमकने लगी, तब एक मनुष्यने आगको देखा। उस मनुष्यने पुजारीजीको आवाज दी। पुजारीजीने दौड़कर एक लकड़ीसे साफा गिरा दिया। साफा प्रायः जल ही गया था, परंतु चेताको कुछ भी पता नहीं था। पुजारीने देखा तो उसके सिरका एक भी बाल नहीं जला था। लोग आश्चर्य करने लगे। चेता ध्यानमग्न था। जब बहुत देर बाद चेताको बाह्यज्ञान हुआ, तब लोगोंने जला हुआ साफा दिखाया और पूछा—'क्या तुझे साफा जलनेका कुछ भी पता नहीं है?' उसने कहा—'नहीं, कुछ भी पता नहीं है। मैं तो दाऊजीके दर्शन कर रहा था, वहाँ दाऊजी थे और मैं था, तीसरा कोई था ही नहीं, मुझे बड़ा ही आनन्द आ रहा था। मुझे पता नहीं—कब आग लगी और कब साफा सिरसे उतारा गया!'

चेताकी भक्ति दिनोंदिन बढ़ती गयी और वह भगवान्का बड़ा प्यारा भक्त हो गया।

एक क्षत्रिय भक्त

(आदर्श मृत्यु)

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

शरीर छूटते समय मनुष्यके जो अन्तिम विचार होते हैं, उन्हींके अनुसार उसका अगला जन्म होता है; परंतु शरीर छूटते समय साधारणतः मनुष्यकी स्वप्नकी-सी दशा रहती है। उस समय बुद्धि सावधान नहीं रहती। इससे उस समय क्या सोचना चाहिये और क्या नहीं, इसका विवेक नहीं हो पाता। उस समय तो मनमें जो भाव बड़ी प्रबलतासे बैठा होगा, वही ऊपर आवेगा। जीवनमें हमारा मन राग या द्वेषसे जहाँ सबसे अधिक उलझा रहता है, अन्तकालमें प्रायः उसीका चिन्तन होता है। यह बात है संसारमें आसक्त साधारण लोगोंके लिये। जो लोग जीवनमें कभी प्रमाद नहीं करते, जिनकी बुद्धि सदा सावधान—विवेकयुक्त रहती है, उनकी बुद्धि मृत्युके समय भी कुण्ठित नहीं होती। वे मृत्युके क्षणमें भी कर्तव्यका निर्णय करनेके लिये सावधान रहते हैं।

लोगोंके मनमें यह बात बैठ गयी है कि भगवान्को पाना बड़ा कठिन है। उन्हें जिन्होंने प्राप्त किया, वे असाधारण लोग थे। उनमें असाधारण वैराग्य, त्याग, मनोबल आदि होना ही चाहिये। इसीसे 'भगवान् हमें भी

अवश्य मिलेंगे' यह आशा और उत्साह लोगोंके मनमें प्राय: नहीं होता। इसीसे भजनमें उनका चित्त नहीं लगता। यह बात तो ठीक है कि महापुरुषोंमें आरम्भसे बहुत अधिक मनोबल, त्याग, वैराग्य आदि होता है; किंतु ऐसा न हो तो भगवान् नहीं प्राप्त होंगे, ऐसी कोई बात नहीं है। भगवान् तो दुर्बलको, पापी-से-पापीको भी अपना लेते हैं। आवश्यकता है उनकी शरण लेने और उनकी दयापर पूरा-पूरा दृढ़ विश्वास करनेकी।

मैं जिनकी बात कह रहा हूँ, वे न त्यागी थे, न तपस्वी। भजन-पूजन भी उन्होंने कभी कोई उल्लेख योग्य नहीं किया था। जातिके क्षत्रिय थे। साधारण पढ़े-लिखे थे। घरपर खेतीका काम करते थे। कुछ कारणोंसे उनका नाम-गाँव मैं नहीं बताऊँगा। कांग्रेसके सन् १९३० ई० के सत्याग्रह आन्दोलनमें वे मेरे साथ रहे। सत्याग्रह करके जेल गये। जेलसे छूटकर घर आये और बीमार हो गये।

इतना और बता देना है कि उनके साथ रहकर मैंने देखा कि वे सर्वथा सच्चे, परिश्रमी और ईमानदार व्यक्ति थे। जो कुछ कह दिया जाता, उसे करनेमें जुटे रहते। कभी किसी बहसमें पड़ना उन्हें पसंद नहीं था। कोई कुछ कह भी दे तो सह लेते और हँसकर टाल देते। थोड़ेमें—कर्तव्यपरायण, परिश्रमी और सच्चे थे वे।

घरपर उन्हें ज्वर आ रहा था। छः महीनेतक चारपाईपर पड़े रहे। आस-पासके वैद्योंकी दवासे कोई लाभ न हुआ। स्वयं उठकर बैठनेकी शक्ति भी उनमें नहीं थी। अन्तमें एक दिन उन्होंने कहा—'मेरे ऊपर गङ्गाजल छिड़क दो। गोबरसे भूमि लीपकर कम्बल बिछाकर मुझे खाटसे उतारकर उसपर सुला दो। अब मेरा शरीर थोड़ी देरमें छूटनेवाला है। मुझे गीता सुनाओ और महात्मा गाँधीका एक चित्र दो!'

घरके लोगोंको रोने-धोनेसे उन्होंने मना कर दिया। पूज्य महात्माजीमें उनकी बड़ी श्रद्धा थी। उनको भूमि लीपकर कम्बल बिछाकर उसपर उतार लिया गया। गाँवके पास गङ्गा-किनारे एक विद्वान् संन्यासी महात्मा रहते थे। वे भी बुलानेपर आ गये। उन महात्माजीने कहा—'महात्मा गाँधीजी महापुरुष हैं, इसमें सन्देह नहीं, किंतु बेटा! तुम अब मरते समय तो अपना ध्यान सबको छोड़कर भगवान् श्रीकृष्णमें लगाओ!'

एक क्षण सोचकर उन्होंने महात्माजीका चित्र लौटा दिया और भगवान्का चित्र माँगा। चित्रको एकटक दो-तीन क्षण देखकर छातीपर रख लिया और नेत्र बंद करके बोले—'मैंने सबको मनसे हटा दिया। ये रहे श्रीकृष्ण भगवान्! अब मैं जाऊँगा। पूरी गीता सुननेके लिये मैं नहीं रुक सकता। झटपट यह अध्याय पूरा कर दो।'

सहसा अपने-आप उठकर बैठ गये आसन लगाकर। बोले—'स्वयं भगवान् मुझे लेने आये हैं। मैं जा रहा हूँ। भगवान् श्रीकृष्णकी जय!' और बस!

राजा खट्वाङ्गने दो घड़ीमें भगवान्को प्राप्त कर लिया था। यदि जीवन छल-कपटसे रहित शुद्ध हो, यदि मनमें श्रद्धा-विश्वास हो तो उन सर्वेश्वरको दो क्षणमें भी पाया जा सकता है, यह इन्होंने प्रत्यक्ष कर दिया।

भक्त-वाणी

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥

— गोपीजन

प्रभो! तुम्हारी लीला-कथा भी अमृतस्वरूप है। विरहसे सताये हुए लोगोंके लिये तो वह जीवन-सर्वस्व ही है। वास्तवमें उन्हें वही जिलाये रखती है। बड़े-बड़े ज्ञानी महात्माओंने उसका गायन किया है, उसकी महिमाका बखान किया है। वह सारे पाप-तापको तो मिटाती ही है, साथ ही परम मङ्गल, परम कल्याणका दान भी करती है। वह परम सुन्दर, परम मधुर और परम विस्तृत भी है। जो तुम्हारी उस लीला-कथाका गायन करते हैं, वास्तवमें भूलोकमें वे ही सबसे बड़े दाता हैं, सबसे अधिक दान करनेवाले हैं। उन्हींके द्वारा जगत्में सबसे अधिक उपकार होता है।

नम्र निवेदन और क्षमा-प्रार्थना

भक्तोंके चरित सदा ही नवीन हैं, सदा ही मङ्गलमय हैं, सदा ही सात्त्विक स्फूर्तिदायक हैं एवं सदा ही चिन्तन, मनन और सेवन करने योग्य हैं। इसीलिये 'कल्याण' के 'भक्ताङ्क' तथा 'संताङ्क' प्रकाशित हो जानेपर भी यह 'भक्तचरिताङ्क' प्रकाशित किया गया है। आदर्श व्यवहार, इन्द्रिय-मनपर विजय, पवित्र सेवाभाव, त्याग और तपस्या, विषयविरक्ति, भगवद्भक्ति और प्रेम आदिका सच्चा स्वरूप उपदेशोंमें नहीं मिलता—वह तो भक्तचरितोंमें ही प्रत्यक्ष प्राप्त होता है। इसलिये इस अङ्कके प्रथम खण्डमें केवल भक्त-नामावलि तथा भक्तचरित ही दिये गये हैं। भक्तचरित स्वयं मूर्तिमान् उपदेश हैं। भक्तोंके विभिन्न विचित्र असंख्य भाव होते हैं। अपने प्रभुके साथ वे अपने भावके अनुसार ही सम्बन्ध स्थापित करते हैं और भक्तबत्सल भगवान् भक्तके उसी भावको स्वीकारकर तदनुकूल ही लीला करके भक्तोंको सुख देते और भक्तके पवित्र प्रेमरसपूरित भावका रसास्वादन करते हैं। इस 'भक्त-चरिताङ्क' में ऐसे सैकड़ों भक्तोंके विभिन्न विचित्र भावोंकी पवित्र मधुर झाँकी मिलेगी और विचित्र पवित्र रसोंका आस्वादन प्राप्त होगा। भक्त-चरितोंको श्रद्धा, भक्ति तथा चित्तकी संलग्नतासे पढ़नेपर दुर्लभ भगवद्भक्तिकी प्राप्ति भी सहज हो सकती है।

इसमें आरम्भमें महर्षि शण्डिल्य और देवर्षि नारदके 'भक्तिसूत्र' महीन अक्षरोंमें दिये गये हैं। तदनन्तर भक्तराज श्रीनाभाजी महाराजका प्रसिद्ध 'भक्तमाल' मूल, भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रका 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' (जिसमें प्रधानतया श्रीनाभाजीके बादके भक्तोंके वर्णन हैं), एवं संस्कृत 'भक्तनामावली' या 'भक्तसहस्रनाम' दिये गये हैं। ये तीनों ही पाठ करके पवित्रता प्राप्त करनेके लिये हैं। भक्तोंका स्मरण और उनके नामोंका उच्चारण अन्तःकरणको पवित्र और भगवान्में प्रीति उत्पन्न करनेवाला है। इसलिये इनकी बहुत बड़ी उपयोगिता है। इसके पश्चात् प्रसिद्ध देवताओं-ऋषियोंसे लेकर अबतकके सैकड़ों भक्तोंके संक्षिप्त चरित्र हैं। इन चरित्रोंमें कई ऐसे नवीन चरित्र हैं, जो किसी भी 'भक्तमाल' में कहीं नहीं आये हैं और बड़ी खोज-बीनसे प्राप्त किये गये हैं। इन सभी चरित्रोंका यद्यपि स्थानाभावसे सङ्कोच किया गया है, फिर भी उनके जीवनकी कुछ खास-खास स्फूर्तिप्रद बातें देनेकी चेष्टा अवश्य की गयी है। इनमें आये हुए चरित्रगत उपदेश पाठकोंके लिये विशेष लाभदायक होंगे, ऐसी आशा है।

भक्तोंकी जीवनीमें कुछ-न-कुछ चमत्कारका उल्लेख करना एक नियमित प्रथा-सी हो गयी है और वस्तुतः भक्तजीवनमें चमत्कारिक घटनाओंका होना आश्चर्य भी नहीं है। पर यहाँ इन चरित्रोंमें चमत्कारकी बातें यथाशक्य कम देनेका ध्यान रखा गया है और उच्च चरित्र, उत्तमोत्तम आदर्श गुण, ईश्वरविश्वास, भक्तिनिष्ठा, दुःख-सङ्कटमें भी भगवान्के अनुग्रहकी अनुभूति आदि बातोंपर विशेष ध्यान दिया गया है। भक्त-जीवनमें चमत्कार हो सकते हैं, परंतु चमत्कार या अलौकिक घटनाओंमें पवित्र भक्तजीवनकी पूर्णता नहीं है। चमत्कारोंके बलपर भक्त कहलाना या कहना तो यथार्थतः सच्ची भक्तिका तिरस्कार करना है। भगवत्कृपाके बलपर भक्तके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है, पर इसमें विशेष महत्त्व नहीं है। फिर आजकल तो चमत्कार दिखानेवाले लोग अधिकांश धोखा देनेवाले ही पाये जाते हैं। भक्तमें तो उसके परमाराध्य अचिन्त्यानन्त विचित्र दिव्यगुण-गणालङ्कृत भगवान्के सदृश दैवी गुणोका विकास-प्रकाश होना चाहिये। भक्तकी यही सच्ची कसौटी है। भक्त-जीवनका सर्वथा शुद्ध, लोक-परलोक-कल्याणकारी, स्वाभाविक वैराग्यमय, ज्ञानमय और प्रेममय जीवनमें परिणत हो जाना ही उसका सबसे बड़ा आदरणीय, स्पृहणीय और अभिनन्दनीय चमत्कार है।

इन चरित्रोंमें कुछ पहलेके लिये गये हैं और कुछ नवीन लिखे-लिखाये गये हैं। जिनमें लेखकोंके नाम नहीं हैं, उन चरित्रोंके लेखकोंमें श्रीब्रह्मचारी श्रीप्रभुदत्तजी, पण्डित श्रीशान्तनुबिहारीजी (वर्तमान स्वामी अखण्डानन्दजी), पण्डित श्रीलक्ष्मणनारायणजी गर्दे, पण्डित श्रीरामनारायणजी शास्त्री, पण्डित श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र, एम० ए० 'माधव' और पण्डित श्रीशिवनाथजी दूबे हैं। कुछ चरित्र सम्पादकोंद्वारा लिखित हैं। पर इसमें अधिकांश चरित्र ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी तथा श्रीरामलालजीके लिखे हुए हैं।* शेष विभिन्न लेखकोंके द्वारा तथा सम्पादकोंके द्वारा लिखे हुए चरित्र हैं। लेखक महोदयोंके भेजे हुए जो

---

* इस 'भक्त-चरिताङ्क'में प्रकाशित कुछ संक्षिप्त चरित्रोंका सुन्दर विस्तार देखना हो तो 'गीताप्रेस'से प्रकाशित 'भक्त-चरितमाला'की सतरह पुस्तकें देखनी चाहिये। उनमें बहुत अच्छी साग्रमी मिलेगी।

चरित्र छपे हैं, उनमें अधिकांश बहुत संक्षिप्त कर दिये गये हैं। स्थानाभावसे बाध्य होकर ऐसा करना पड़ा है। सैकड़ों चरित्र तो बिलकुल ही नहीं दिये जा सके हैं। इस अवस्थामें चरित्र-लेखक सज्जनोंको क्षोभ होना स्वाभाविक है, परंतु हमलोग सर्वथा निरुपाय हैं। विशेषाङ्ककी इससे अधिक पृष्ठ-संख्या बढ़ानेकी जरा भी गुंजाइश होती तो हमलोग लेखकोंके निकट यह अपराध न करते; परंतु हमें बाध्य होकर ऐसा करना पड़ा है और इसके लिये हम हाथ जोड़कर उन सबसे क्षमा-प्रार्थना करते हैं। हमारी परिस्थितिपर विचार करके उदार लेखक महोदय हमें क्षमा करेंगे। जिन लेखक महानुभावोंने चरित्र लिखकर और चित्र संग्रह करके भेजे हैं तथा अन्यान्य प्रकारसे सहायता की है, उन सभीके हमलोग हृदयसे कृतज्ञ हैं।

इस विशेषाङ्कके सम्पादन, चरित्र-लेखन, प्रूफ-संशोधन, संशोधित लेखोंके पुनर्लेखन, सामग्री-संयोजन आदिमें हमें अपने कुछ सम्मान्य मित्रों और हमें गुरुजन माननेवाले कई प्यारे सहकर्मियोंसे बड़ी सहायता मिली है। पर उनको धन्यवाद देना उनके विशुद्ध प्रेमका तिरस्कार करना है और अपने मुँह अपनी बड़ाई करना है।

इस अङ्कमें बहुत-से ऐसे प्रसिद्ध (निर्गुण-निराकारवादी, ज्ञानमार्गी तथा सुधारवादी) संतोंके तथा विदेशी प्राचीन-अर्वाचीन संतों, महात्माओं, भक्तोंके चरित्र भी नहीं आ सके हैं, जिनके प्रति हमारे मनमें बड़ा आदर है और जिनके चरित्र-चित्र 'संताङ्क' में प्रकाशित हो चुके हैं। इसका भी सबसे प्रधान कारण स्थानाभाव ही है। प्राचीन-अर्वाचीन भक्तोंके भी बहुत चरित्र रह गये हैं। उनमेंसे कुछके पुण्य-स्मरणार्थ ही आरम्भमें दो हिंदी 'भक्तमाल' और एक संस्कृत 'भक्तसहस्रनाम' दिया गया है। असल बात तो यह है कि भक्त अनन्त हैं, उनके जानने, पहचानने, चरित्र संग्रह करने और छापनेकी शक्ति ही हममें कहाँ है। हम साधनरहित और अन्तर्दृष्टिहीन हैं। हमारी स्थूलदृष्टि केवल बाहरको ही देख सकती है, इसीसे भक्तोंकी पहचान करनेमें हम असमर्थ हैं। जिन भक्तोंके जीवनचरित इस अङ्कमें छपे हैं, उनमें सभी लोग सभीकी दृष्टिमें भक्त हों, अथवा सब एक ही श्रेणीके भक्त हों—ऐसी बात नहीं है। हम अपनी अल्पज्ञता और सीमित बुद्धिशक्तिसे अभक्तको भक्त मान सकते हैं और सच्चे भक्तको पहचाननेमें असमर्थ रह सकते हैं। भक्तोंकी पहचान कौन करे। तथापि यदि हम सच्चे हृदयसे किसीको भक्त मानते हैं तो भगवान् हमारी नीयतकी ओर देखकर हमें उसके अंदरसे भक्तकी ही झाँकी कराते हैं। फिर भी हम अपनी अल्पज्ञता और असमर्थताके लिये सभी भक्तों और संत-महात्माओंसे करबद्ध क्षमा-प्रार्थना करते हैं।

इस कार्यमें जिन महानुभावोंने हमारी सहायता की है, उनके प्रति हम फिर हृदयसे कृतज्ञता प्रकट करते हैं। इसमें जो कहीं कुछ अच्छापन है, उसका सारा श्रेय भगवत्कृपाको और भगवत्कृपाकी प्रेरणासे ही सहायता करनेवाले महानुभावोंको है। हम तो दोषोंके भण्डार हैं ही। तथापि हम अपने ऊपर भगवान्‌की बड़ी ही कृपा मानते हैं, जिन्होंने पवित्र भक्त-चरित-सुधा-सरितामें अवगाहन करनेका हमें सुअवसर दिया।

क्षमाप्रार्थी—

सम्पादक { **हनुमानप्रसाद पोद्दार**
चिम्मनलाल गोस्वामी

समर्पण

साधनहीन मलीन मन दीन विषय रस लीन। हम हैं अति दयनीय हरि! तू अति कृपा प्रवीन॥
भक्तचरित दुर्लभ परम, दुर्लभ उनका गान। तूने ही अवसर दिया करके कृपा महान॥
तेरे भक्तोंके चरित पावन परम उदार। तेरे सुदंर सुयशका करते शुभ विस्तार॥
तव भक्तोंके चरितकी कीरति यह कमनीय। तुझे समर्पित कर रहे प्रियतम वस्तु त्वदीय॥

गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित
'कल्याण' के पुनर्मुद्रित विशेषाङ्क

631 सं० ब्रह्मवैवर्तपुराण
1135 भगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना-अङ्क
572 परलोक और पुनर्जन्माङ्क
517 गर्ग-संहिता
1113 श्रीनरसिंहपुराण (हिन्दी-अनुवादसहित)
1362 अग्निपुराण (मूल संस्कृतका हिन्दी-अनुवाद)
1432 वामनपुराण (हिन्दी-अनुवादसहित)
557 मत्स्यमहापुराण (हिन्दी-अनुवादसहित)
657 श्रीगणेश-अङ्क
42 हनुमान-अङ्क
1361 सं० श्रीवराहपुराण
791 सूर्याङ्क
584 सं० भविष्यपुराण
586 शिवोपासनाङ्क
628 रामभक्ति-अङ्क
653 गोसेवा-अङ्क
1131 कूर्मपुराण (हिन्दी-अनुवादसहित)
448 भगवल्लीला-अङ्क
1044 वेद-कथाङ्क
1189 सं० गरुडपुराण
1592 आरोग्य-अङ्क—संवर्धित संस्करण
1472 नीतिसार-अङ्क
1467 भगवत्प्रेम-अङ्क
1548 व्रतपर्वोत्सव-अङ्क
1610 देवीपुराण [महाभागवत]-शक्तिपीठाङ्क

गीताप्रेस गोरखपुर

GITA PRESS, GORAKHPUR

गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५
फोन : (०५५१) २३३४७२१, फैक्स : २३३६९९७

ISBN 81-293-0113-X